पूज्य श्री केशवानन्द भारती श्रीपदगालवरु और कुछ अन्य

बनाम

केरल राज्य और कुछ अन्य

(His Holiness Kesavananda Bharati
Sripadagalvaru and Others

Vs.

State of Kerala and Others)

(24 अप्रैल, 1973)

(मुख्य न्यायाधिपति एस० एम० सीकरी, न्या० जे० एम० शेलत,
के० एस० हेगडे, ए० एन० ग्रोवर, ए० एन० रे, पी० जगनमोहन
रेड्डी, डी० जी० पालेकर, एच० आर० खन्ना, के० के०
मैथ्यू, एम० एच० बेग, एस० एन० द्विवेदी,
ए० के० मुखर्जी और वाई० वी० चन्द्रचूड़)

भारत का संविधान—अनुच्छेद 368 और अनुच्छेद 245, 246 तथा 248 के साथ पठित सप्तम अनुसूची की सूची I की प्रविष्टि 97 (अवशिष्ट शक्ति)—संविधान के संशोधन की शक्ति की विविमाग्यता—अनुच्छेद 368 के शीर्षक का 'संविधान का संशोधन' होना तथा भाग 20 में अनुच्छेद 368 को ही पृथक् रखा जाना—यह अनुच्छेद 'संशोधन की प्रक्रिया' और 'संशोधन की शक्ति' दोनों ही से सम्बन्धित है—'संशोधन की प्रक्रिया' नामक अनुच्छेद का साम्पार्श्विक टिप्पण 'संशोधन के परिणाम' के प्रति मौन होने के कारण अपूर्ण है—अनुच्छेद का शीर्षक 'संशोधन की शक्ति' का स्पष्ट द्योतक है—अनुच्छेद 368 के परन्तुक के विषयों में संविधान का संशोधन राज्य विधानमण्डलों के अनुसमर्थन के बिना नहीं हो सकता—अवशिष्ट शक्ति (रिसिड्यूअरि पॉवर) संसद् की अनन्य शक्ति होने के कारण संविधान का संशोधन उस शक्ति के अन्तर्गत नहीं किया जा सकता—संशोधन की शक्ति अवशिष्ट शक्ति के क्षेत्र से बाहर है।

—अनुच्छेद 368—पंचम अनुसूची का पैरा 7 और षष्ठ अनुसूची का पैरा 21 इन में संशोधन की शक्ति का विस्तार एवं व्यापकता—अनुच्छेद 4 (1) 2, 108 (4), 109 (3) (4), 111, 114 (2), 169 (2), 196 (2), 198 (3), 198 (4), 200, 201, 204 (2), 207 (1), (2) और (3), 240 (2), 274 (1), 304 (बी) और 349—इन अनुच्छेदों में प्रयुक्त शब्द 'संशोधन' के अन्तर्गत 'परिवर्द्धन, परिवर्तन और निरसन' आते हैं—अनुच्छेद 368

की भाषा स्पष्ट और उसका अर्थ असंदिग्ध है—इसमें संशोधन की शक्ति व्यापक और विस्तृत है—संविधान का संशोधन, परिवर्द्धन, परिवर्तन और निरसन द्वारा भी किया जा सकता है।

—अनुच्छेद 368 और 13 (2) तथा अनुच्छेद 245—अनुच्छेद 13 (2) में 'विधि' शब्द का स्वरूप—सांविधानिक विधि और मामूली विधि का अन्तर—अनुच्छेद 13 (2) में प्रयुक्त अभिव्यक्ति 'राज्य कोई विधि नहीं बनाएगा' तथा अनुच्छेद 245 में प्रयुक्त अभिव्यक्ति 'संसद विधि बना सकेगी' विधि के रूप की बाबत समानार्थी हैं—अनुच्छेद 13 (2) के अन्तर्गत 'सांविधानिक विधि' नहीं है—अनुच्छेद 368 में 'विधि' शब्द के साशय प्रयोग न करने का कारण सांविधानिक विधि और मामूली विधि का अन्तर प्रतिपादित करना है—'मूल अधिकारों' का संविधान की स्कीम में महत्वपूर्ण और उच्च स्थान होते हुए भी ये मूल अधिकार स्थायी नैसर्गिक अधिकार नहीं माने गए हैं—इनमें अनुच्छेद 368 के अधीन संशोधन किया जा सकता है।

—संविधान की प्रस्तावना और अनुच्छेद 368—संशोधन की शक्ति—अन्तर्निहित या विवक्षित परिसीमाएं—संशोधन की शक्ति व्यापक और असीमित है किन्तु वह संविधान के मूल तत्व या उसके बुनियादी ढांचे में परिवर्तन नहीं करती है—प्रस्तावना भी संविधान का एक भाग है और अनुच्छेद 368 के अधीन इसमें भी संशोधन किया जा सकता है।

—अनुच्छेद 368 और 13(2) तथा संविधान (चौबीसवां संशोधन) अधिनियम, 1971—यह संशोधन अधिनियम अनुच्छेद 368 के अधीन है—इसको अनुच्छेद 13(2) लागू नहीं होगा—संशोधन अधिनियम द्वारा अनुच्छेद 368 में 'संशोधन की शक्ति और उसके लिए प्रक्रिया' दोनों के अस्तित्व की बाबत संशोधन की पूर्व स्थिति को अभिव्यक्त करता है—सांविधानिक शक्ति के प्रयोग में बनाया गया यह संशोधन अधिनियम विधिमान्य है।

—अनुच्छेद 368, और 31 तथा संविधान (पच्चीसवां संशोधन) अधिनियम, 1971—संशोधन द्वारा अधिनियम की धारा 2(क) के द्वारा अनुच्छेद 31(2) में "अर्जित या अधिगृहीत की गई सम्पत्ति के लिए नियत 'राशि' के औचित्य या उसकी प्रकृति का विषय" का न्याय्य न होना—नियत 'राशि' अवास्तविक नहीं होनी चाहिए—सम्पत्ति के मूल्य से उसका युक्तियुक्त अनुपात होना आवश्यक है—न्यायालय को 'राशि' के इन दो पक्षों पर विचार करने की शक्ति होगी।

—संविधान (पच्चीसवां संशोधन) अधिनियम, 1971—धारा 3—इसके अधीन प्रस्थापित अनुच्छेद 31ग में यह उपबन्ध होना कि निदेशक तत्व विषयक अनुच्छेद 39(ख) या (ग) में निहित उद्देश्य को कार्यान्वित करने की घोषणा

करते हुए बनाई गई विधि न्याय्य नहीं होगी—न्यायालय को निदेशक तत्व लागू करने वाली विधि के अभिनिश्चय की इस आधार पर शक्ति और अधिकारिता होगी कि प्रस्थापित विधि का निदेशक तत्व से युक्तियुक्त सम्बन्ध है या नहीं—निदेशक तत्व के प्रतिकूल बनाई गई विधि को अनुच्छेद 14, 19 या 31 के अधीन चुनौती दी जा सकती है—संशोधन अधिनियम की धारा 3 विधिमान्य है।

—अनुच्छेद 368 और संविधान (उन्तीसवां संशोधन) अधिनियम, 1971—नवम अनुसूची में केरल के भूमि सुधार सम्बन्धी दो अधिनियमों का जोड़ा जाना—ये अनुच्छेद 31ख के अधीन संरक्षित है—यह संशोधन विधिमान्य है।

हमारे देश की स्वतन्त्रता से अब तक के 25 वर्षों के इतिहास में संविधान संशोधन सम्बन्धी यह मामला सबसे अधिक महत्वपूर्ण है और अभी तक उच्चतम न्यायालय ने जितने मामलों की सुनवाई की है उनमें यह सब से बड़ा है। इसमें संसद् के इस अधिकार को चुनौती दी गई थी कि उसे संविधान द्वारा गारन्टी किए गए मूल अधिकारों में संशोधन करने का अधिकार प्राप्त है। 1967 में गोलकनाथ के प्रसिद्ध मामले में उच्चतम न्यायालय ने यह निर्णय दिया था कि संसद् को मूल अधिकारों में संशोधन करने का अधिकार प्राप्त नहीं है। तब से यह विषय अत्यन्त विवादास्पद बना रहा। इस मामले में उच्चतम न्यायालय ने यह निर्णय किया है कि संसद् को मूल अधिकारों में संशोधन करने का अधिकार प्राप्त है किन्तु वह ऐसा संशोधन नहीं कर सकती जिससे कि संविधान के मूल तत्व या उसका बुनियादी ढांचा नष्ट हो जाए। इस तरह गोलक नाथ वाले मामले में दिए गए निर्णय को उलट दिया गया है।

उच्चतम न्यायालय की जिस विशेष न्यायपीठ ने यह निर्णय दिया है, उसमें 13 न्यायाधिपति थे। उच्चतम न्यायालय में कुल 14 न्यायाधिपति हैं अतः इससे बड़ी न्यायपीठ का गठन सम्भव नहीं था। इस मामले में अलग-अलग ग्यारह निर्णय दिए गए हैं। अभी तक सामूहिक रिट पिटीशनों में इतने निर्णय कभी भी नहीं दिए गए। छह रिट पिटीशन दायर किए गए थे और इन सभी में चौबीसवें, पच्चीसवें और उन्तीसवें संशोधन अधिनियम की विधिमान्यता पर आपत्ति की गई थी। उच्चतम न्यायालय के समक्ष बहस 67 दिन तक चलती रही। इसमें देश के लगभग सभी नामी वरिष्ठ अधिवक्ताओं ने बहस की। पिटीशनरों की ओर से सर्वश्री एन० ए० पालखीवाला, एम० सी० सीतलवाड, सी० के० दफ्तरी, एम० सी० छागला, और सोली सोराबजी, केरल राज्य की ओर से श्री एच० एम० सीरवाई, भारत सरकार की ओर से महान्यायवादी (अटर्नी जनरल) श्री नीरेन डे, और महासॉलिसिटर श्री लाल नारायण सिन्हा आदि अधिवक्ता थे।

इस मामले में केरल के एक धार्मिक गुरु स्वामी केशवानन्द भारती ने उच्चतम न्यायालय के समक्ष संविधान के चौबीसवें, पच्चीसवें और उन्तीसवें संशोधन पर आपत्ति की थी और इन संशोधनों की विधिमान्यता को चुनौती दी थी। चौबीसवें संशोधन अधिनियम द्वारा अनुच्छेद 13 में एक उपखण्ड जोड़ा गया है और अनुच्छेद 368 में संशोधन किया गया है जिनका उद्देश्य संसद् को संविधान के भाग 3 में संशोधन करके मूल अधिकारों को न्यून

करना है। पच्चीसवें संशोधन द्वारा एक नया अनुच्छेद 31ग जोड़ा गया है और संसद् को संविधान के भाग 3 में संशोधन करने की व्यापक शक्ति प्रदान की गई है जिससे कि संविधान के भाग 4 में दिए गए राज्य की नीति के निदेशक तत्वों (डाइरेक्टिव प्रिंसिपल्स ऑफ स्टेट पालिसी) के लक्ष्य पूरे किए जा सकें। पच्चीसवें संशोधन द्वारा अनुच्छेद 31 में लोक प्रयोजनार्थ राज्य द्वारा अर्जित या अधिगृहीत सम्पत्ति के लिए 'प्रतिकर' (कम्पनसेशन) शब्द के स्थान पर 'राशि' (एमाउन्ट) शब्द रख दिया गया है। संविधान के उन्तीसवें संशोधन द्वारा केरल राज्य के भूमि सुधार सम्बन्धी दो अधिनियमों को सांविधानिक दृष्टि से विधिमान्यता प्रदान की गई है और उन पर आपत्ति करने पर रोक लगा दी गई है।

उच्चतम न्यायालय ने मूल अधिकारों में संसद् द्वारा संशोधन करने के प्रश्न पर सबसे पहले 1951 में शंकरी प्रसाद बनाम भारत संघ (ए० आई० आर० 1951 एस० सी०, 458) में विचार किया था। शंकरी प्रसाद वाले मामले में संविधान के प्रथम संशोधन अधिनियम, 1951 पर आक्षेप किया गया था। उच्चतम न्यायालय ने संविधान के अनुच्छेद 368 के अधीन किए गए इस प्रथम संशोधन को वैध घोषित करते हुए यह निर्णय किया था कि अनुच्छेद 13 (2) में 'विधि' शब्द के अन्तर्गत ऐसी 'सांविधानिक विधि' नहीं आती है जो अनुच्छेद 368 के अधीन बनाई गई हो। उच्चतम न्यायालय ने अपने इस निर्णय की पुष्टि 1965 में सज्जन सिंह बनाम राजस्थान राज्य (ए० आई० आर० 1965 एस० सी० 245) में की किन्तु 1967 में गोलक नाथ के प्रसिद्ध मामले (आई० सी० गोलक नाथ बनाम पंजाब राज्य, ए० आई० आर० 1967 एस० सी० 1964) में उच्चतम न्यायालय ने अपने इस निर्णय को उलट दिया और यह निर्णय दिया कि अनुच्छेद 13 (2) में 'विधि' शब्द के अन्तर्गत सांविधानिक विधि भी सम्मिलित है और संसद् को अनुच्छेद 368 के अधीन संविधान के भाग 3 में मूल अधिकारों को न्यून करने वाला या निराकृत करने वाला कोई भी संशोधन करने का अधिकार प्राप्त नहीं है। गोलक नाथ वाले मामले में दिए गए निर्णय के परिणामस्वरूप संसद् ने संविधान सम्बन्धी चौबीसवां, पच्चीसवां और उन्तीसवां संशोधन पारित कर दिया।

पिटीशनर की ओर से श्री पालखीवाला ने अनेक तर्क प्रस्तुत किए थे जिनका सम्बन्ध विशेष रूप से संविधान के अनुच्छेद 13 (2) में 'विधि' शब्द और अनुच्छेद 368 में 'संशोधन' शब्द के सही अर्थ से था। संविधान के चौबीसवें संशोधन द्वारा इन दोनों अनुच्छेदों (13 और 368) में ऐसे संशोधन कर दिए गए थे जो अनुच्छेद 13 (2) द्वारा लगाए गए इस प्रतिबन्ध से कि राज्य ऐसी कोई विधि नहीं बनाएगी जो संविधान के भाग 3 द्वारा दिए गए मूल अधिकारों को छीनती या न्यून करती है, संविधान सम्बन्धी संशोधन करने वाले अधिनियमों को अपवर्जित कर देते हैं।

श्री पालखीवाला का दूसरा तर्क यह था कि देश की जनता में ही प्रभुत्व (सावरेनटी) निहित है इसलिए संसद् की शक्तियों पर अन्तर्निहित और विवक्षित परिसीमाएं (इन्हेरेण्ट एण्ड इम्पलाइड लिमिटेशन्स) हैं और संसद् अपनी शक्ति का प्रयोग इस प्रकार नहीं कर सकती जिससे कि संविधान के मूल तत्व (ईसेन्शल फ़ीचर्स) नष्ट हो जाएं। यदि संसद् अपनी शक्ति का प्रयोग इस तरह करेगी तो संविधान द्वारा सृष्ट शासनतंत्र के सभी अन्य अंग संसद् की मर्जी पर रहेंगे और हमारा संविधान नियंत्रित

संविधान (कण्ट्रोल्ड कांस्टिट्यूशन) नहीं रह जाएगा बल्कि अनियंत्रित संविधान हो जाएगा। श्री पालखीवाला की दलील यह थी कि संविधान के जो मूल तत्व हैं उन्हें संसद् नष्ट नहीं कर सकती—ये मूल तत्व इस प्रकार हैं—देश की प्रभुता और अखंडता, प्रजातांत्रिक और धर्म निरपेक्ष शासन, स्वतंत्र न्यायपालिका, बुनियादी मानव अधिकारों की गारण्टी, जीवन की लोकतांत्रिक पद्धति और विधानमण्डल, कार्यपालिका तथा न्यायपालिका में समुचित समन्वय। संसद् इन तत्वों में से किसी में भी ऐसा संशोधन नहीं कर सकती जिससे कि ये नष्ट हो जाएं। इसलिए 'संशोधन' शब्द का क्षेत्र बहुत सीमित है। श्री पालखीवाला का यह भी तर्क था कि यदि न्यायालय चौबीसवें संशोधन को विधिमान्य घोषित कर भी दे तो भी इस संशोधन को सीमित अर्थ में ही पढ़ा जाना चाहिए जिसमें कि सांविधानिक शक्ति पर विवक्षित परिसीमा (इम्पलाइड लिमिटेशन) का प्रतिबन्ध ज्यों का त्यों बना रहे। संसद् संविधान में केवल ऐसे संशोधन कर सकती है जो संविधान के बुनियादी ढांचे के अन्दर हों जिससे कि संविधान के मूल तत्व कायम बने रहें और वे नष्ट न हों।

महाराष्ट्र के महाधिवक्ता (एडवोकेट जनरल) श्री एच० एम० सीरवाई ने केरल राज्य की ओर से और भारत सरकार की ओर से महान्यायवादी श्री नीरेन डे तथा महासॉलिसिटर श्री लाल नारायण सिन्हा ने चौबीसवें संशोधन का समर्थन करते हुए यह बहस की कि इस संशोधन से संसद् को कोई नई शक्ति प्राप्त नहीं हुई है और न कोई शक्ति जोड़ी गई है बल्कि उच्चतम न्यायालय के न्यायाधिपतियों के बीच संसद् की शक्ति के बारे में जो मतभेद है और जो विभिन्न मत उन्होंने प्रकट किए हैं उनसे अस्पष्टता उत्पन्न हो गई है जिसे केवल दूर करने के लिए यह संशोधन अधिनियम पारित करना पड़ा है। उनका तर्क था कि संसद् को मूल अधिकारों में संशोधन करने का अधिकार सदैव से प्राप्त है और चौबीसवां संशोधन वस्तुस्थिति को केवल स्पष्ट करता है और मूल अधिकार संसद् की शक्ति के बाहर नहीं है। उन्होंने अनेक देशों के संविधान का उल्लेख करते हुए बताया कि संसार के जिन 71 देशों में लिखित संविधान लागू हैं, उनमें से 57 देशों में 'संशोधन' शब्द का प्रयोग किया गया है और सांविधानिक विधि में इस शब्द का अर्थ असंदिग्ध है। 'संशोधन' (एमेण्डमेण्ट) शब्द का अर्थ परिवर्धन, परिवर्तन, या निरसन है। इसका न तो कोई सीमित अर्थ है और न हो सकता है क्योंकि संविधान एक साधन मात्र है जिसका साध्य है समाज का व्यापक कल्याण। इसलिए 'संशोधन' शब्द व्यापक अर्थ देने वाला शब्द है और इसमें ऐसी कोई अन्तर्निहित या विवक्षित परिसीमा (इन्हेरेण्ट ऑर इम्पलाइड लिमिटेशन) नहीं है जो इसके प्रयोग किए जाने पर ऐसी रोक लगाती है जिससे किसी लिखत (इन्स्ट्रूमेण्ट) के मूल तत्वों में परिवर्तन हो जाए। उनका तर्क यह भी था कि मूल अधिकार मानव के नैसर्गिक अधिकार नहीं हैं बल्कि राज्य द्वारा मान्य और नियमित हैं और ये समयानुसार सामाजिक आवश्यकताओं के अनुरूप होने चाहिएं। ये संसद् के क्षेत्राधिकार से परे नहीं हैं और संसद् को इनमें संशोधन करने का पूरा अधिकार है। उन्होंने यह भी तर्क प्रस्तुत किया कि मूल अधिकारों और राज्य की नीति के निदेशक तत्वों में गहरा सम्बन्ध है, ये दोनों आपस में एक दूसरे पर आश्रित हैं और इनमें पूर्ण समन्वय आवश्यक है। मूल अधिकारों का प्रयोग इस तरह से नहीं किया जा सकता कि वे समाज के कल्याण के लिए निदेशक तत्वों को क्रियान्वित करने में बाधक बनें। यदि देश के

लाखों लोगों के पास मूल अधिकारों के उपभोग के लिए आर्थिक साधन उपलब्ध नहीं हैं तो उनके लिए मूल अधिकारों का कोई अर्थ नहीं है और इसी उद्देश्य के लिए निदेशक तत्वों को लागू करना अनिवार्य है।

प्रस्तुत मामले में उच्चतम न्यायालय की पूर्ण न्यायपीठ (फुल बेंच) ने संविधान के चौबीसवें और उन्तीसवें संशोधन को विधिमान्य घोषित कर दिया है और बहुमत से यह अभिनिर्धारित किया है कि संविधान के पच्चीसवें संशोधन अधिनियम की धारा 2क और 2ख विधिमान्य हैं। संविधान के पच्चीसवें संशोधन अधिनियम की धारा 3 का प्रथम भाग विधिमान्य घोषित कर दिया गया है, किन्तु द्वितीय भाग असांविधानिक और शून्य घोषित कर दिया गया है। न्यायालय ने उन्तीसवें संशोधन को भी विधिमान्य माना है जिसके अधीन कुछ अधिनियमितियों को संविधान की नवम अनुसूची में जोड़ कर उन्हें यह संरक्षण प्रदान किया गया है कि उनके विरुद्ध कतिपय आधारों पर आपत्तियां नहीं की जा सकतीं। इस विशेष न्यायपीठ ने यह निदेश दिया है कि अब केरल राज्य के विरुद्ध केशवानन्द भारती के पिटीशन और कुछ अन्य सम्बन्धित पिटीशनों पर संविधान-न्यायपीठ विचार करेगी और तत्पश्चात् विधि के अनुसार संविधान के छब्बीसवें संशोधन अधिनियम की विधिमान्यता तय करेगी।

उच्चतम न्यायालय ने यह निर्णय किया है कि संसद् को मूल अधिकार वाले अध्याय सहित संविधान के किसी भी भाग को संशोधित करने की शक्ति प्राप्त है, किन्तु बहुमत ने उसमें एक शर्त जोड़ दी है। शर्त यह है कि अनुच्छेद 368, जिससे संसद् को संविधान संशोधित करने की शक्ति दी गई है, संसद् को संविधान के 'बुनियादी' ढांचे में परिवर्तन करने की शक्ति प्रदान नहीं करता है।

इस मामले में उच्चतम न्यायालय के निर्णय से जो निष्कर्ष निकलते हैं और जिन्हें 13 न्यायाधिपतियों में से 9 न्यायाधिपतियों द्वारा अनुसमर्थन प्राप्त है वे इस प्रकार हैं—

1. गोलक नाथ के मामले में किया गया निर्णय उलट दिया गया है।

2. संविधान का अनुच्छेद 368 संसद् को मूल अधिकारों में संशोधन करने का अधिकार प्रदान करता है किन्तु शर्त यह है कि संविधान के मूल तत्व या बुनियादी ढांचे में कोई परिवर्तन न किया जाए।

3. संविधान (चौबीसवां संशोधन) अधिनियम, 1971 वैध है।

4. संविधान (पच्चीसवां संशोधन) अधिनियम, 1971 की धाराएं (2क) और (2ख) वैध हैं।

5. संविधान (पच्चीसवां संशोधन) अधिनियम 1971 की धारा 3 का प्रथम भाग वैध है। इस धारा का दूसरा भाग अर्थात् "जिस विधि में यह घोषणा हो कि वह अनुच्छेद 39 के खण्ड (ख) या खण्ड (ग) में उल्लिखित तत्वों को सुनिश्चित करने के लिए राज्य की नीति को प्रभावी करने के लिए है, उस पर किसी न्यायालय में इस आधार पर आपत्ति नहीं की जाएगी कि वह ऐसी नीति को प्रभावी नहीं करती" अवैध है।

6. संविधान (उन्तीसवां संशोधन) अधिनियम, 1971 वैध है । प्रत्येक निर्णय का सारांश नीचे दिया जा रहा है—

मुख्य न्यायाधिपति एस० एम० सीकरी के मतानुसार—

(क) गोलक नाथ वाले मामले में यह घोषित किया गया है कि यदि कोई सांविधानिक संशोधन अनुच्छेद 13(2) का अतिलंघन करता है तो वह अवैध होगा क्योंकि यह अनुच्छेद न केवल सामान्य विधान को ही लागू होता है बल्कि संविधान के संशोधन को भी लागू होता है ।

(ख) गोलक नाथ वाले मामले में यह विनिश्चय नहीं किया गया है कि क्या अनुच्छेद 368 के अधीन अनुच्छेद 13(2) संशोधित किया जा सकता है । उसमें अनुच्छेद 368 में प्रयुक्त 'इस संविधान के संशोधन' पद का अर्थ भी तय नहीं किया है ।

(ग) 'इस संविधान के संशोधन' पद संसद् को मूल अधिकार निराकृत करने या छीन लेने की या संविधान की मौलिक रूपरेखा को पूर्णतया इस प्रकार बदल देने की शक्ति प्रदान नहीं करता है कि उसका मूल स्वरूप ही बदल जाए । इन सीमाओं के अन्दर संसद् प्रत्येक अनुच्छेद संशोधित कर सकती है ।

(घ) उक्त निर्वचन के अनुसार संविधान (चौबीसवां संशोधन) अधिनियम, 1971 विधिमान्य रूप से अधिनियमित किया गया है ।

(ङ) अनुच्छेद 368 संसद् को इस बावत सशक्त नहीं करता है कि वह संविधायी हैसियत में संविधान संशोधित करने की अपनी शक्ति किसी अन्य विधानमण्डल को दे दे या यह कि वह अपनी साधारण विधायी हैसियत में संविधान संशोधित कर दे ।

(च) उपरोक्त निर्वचन के अनुसार संविधान (पच्चीसवां संशोधन) अधिनियम, 1971 की धारा 2 विधिमान्य है ।

(छ) संविधान (पच्चीसवां संशोधन) अधिनियम, 1971 की धारा 3 शून्य है क्योंकि वह संविधान संशोधित करने की शक्ति विधानमण्डलों को देती है ।

(ज) संविधान (उन्तीसवां संशोधन) अधिनियम, 1971 आक्षेपित अधिनियमों को, यदि वे मूल अधिकार निराकृत करते या छीनते हैं, संरक्षण प्रदान नहीं कर सकता है । सांविधानिक न्यायपीठ यह तय करेगी कि आक्षेपित अधिनियम मूल अधिकारों को छीनते हैं या केवल उन्हें न्यून (एब्रिज) करते हैं, और यदि वे न्यून करते हैं तो क्या न्यूनन (एब्रिजमेन्ट) उचित और लोक हित में है ।

सांविधानिक न्यायपीठ इस निर्णय और विधि के अनुसार संविधान (उन्तीसवां संशोधन) अधिनियम, 1971 की विधिमान्यता तय करेगी ।

न्या० जे० एम० शैलत और ए० एन० ग्रोवर के मतानुसार—

1. गोलक नाथ वाले मामले में दिया गया निर्णय केवल बौद्धिक रुचि का रह गया है क्योंकि यदि यह मान भी लिया जाए कि बहुमत का यह निर्णय, कि सांविधानिक संशोधन अनुच्छेद 13(2) में प्रयुक्त 'विधि' शब्द के अन्तर्गत आते हैं, सही है तो भी उक्त

प्रश्नों पर, जो गोलक नाथ वाले मामले से अधिक व्यापक रूप में हमारे समक्ष प्रस्तुत किए गए हैं, विनिश्चय नहीं होगा।

2. चौबीसवें संशोधन पर चर्चा से निम्नलिखित परिणाम निकले हैं—

(क) उक्त संशोधन की अभिव्यक्त भाषा वही बात स्पष्ट करती है जो असंशोधित अनुच्छेद 368 में अस्पष्ट है और संशोधन उस अनुच्छेद द्वारा मूलतः दी गई शक्ति में वृद्धि न तो करता है और न कर सकता है।

(ख) यद्यपि संशोधन शक्ति का अर्थ संकुचित नहीं किया जाना चाहिए और वह सभी अनुच्छेदों को लागू होता है तथापि वह इस प्रकार असीमित नहीं है कि उसके अधीन संविधान का मूल रूप या उसका बुनियादी ढांचा ही निराकृत या परिवर्तित हो जाए।

(ग) यदि यह मान लें कि संशोधन-शक्ति के अधीन अनुच्छेद 13(2) भी है (यह प्रश्न गोलक नाथ वाले मामले में तय नहीं किया गया है) तो भी वह शक्ति इतनी व्यापक नहीं है कि उससे मूल स्वतन्त्रताएं निराकृत हो जाएं या छीन ली जाएं; और

(घ) उपर्युक्त चौबीसवां संशोधन अधिनियम विधिमान्य है।

3. पच्चीसवें संशोधन अधिनियम की धारा 2 द्वारा यथा प्रतिस्थापित अनुच्छेद 31 का खण्ड (2) न तो संविधान के किसी भी बुनियादी तत्व को निराकृत करता है और न वह उसके स्वरूप को ही परिवर्तित करता है।

4. पच्चीसवें संशोधन की धारा 3 की, जिससे संविधान में अनुच्छेद 31ग जोड़ा गया है, विधिमान्यता पुष्ट नहीं की जा सकती है, क्योंकि उक्त अनुच्छेद में दो दोष हैं। पहला दोष यह है चूंकि उसके अधीन अनुच्छेद 14, 19 और 31 द्वारा दिए गए मूल अधिकारों को पूर्णतः निराकृत किया जा सकता है, अतः वह संविधान के बुनियादी तत्त्वों को निराकृत करने की शक्ति प्रदान करता है और दूसरा यह कि अनुच्छेद 368 द्वारा दी गई संशोधन-शक्ति एक विशिष्ट प्रकार की शक्ति है जो केवल संसद् को ही दी गई है और उसका प्रयोग उस अनुच्छेद में बताई गई रीति में ही किया जा सकता है। यह शक्ति देश में विद्यमान किसी भी अन्य विधानमण्डल को प्रत्यायोजित नहीं जा सकती है।

5. उन्तीसवां संशोधन विधिमान्य है। किन्तु इस प्रश्न पर कि उक्त संशोधन अधिनियम द्वारा नवम अनुसूची में जोड़े गए अधिनियम या उनके कोई उपबन्ध संविधान के ढांचे के किन्हीं बुनियादी तत्वों को निराकृत या उसके मूल स्वरूप को परिवर्तित करता है या नहीं, उस समय विचार करना होगा जब कि उन अधिनियमों की विधिमान्यता की बाबत परीक्षा की जाएगी।

न्या० के० एस० हेगडे और ए० के० मुखर्जी के मतानुसार—

(1) असंशोधित अनुच्छेद 368 के अधीन संविधान संशोधित करने की शक्ति संसद् को दी गई है और संसद् उस अनुच्छेद में विहित रीति और प्ररूप में संविधान के प्रत्येक अनुच्छेद और संविधान के प्रत्येक भाग को संशोधित कर सकती है।

(2) चौबीसवें संशोधन अधिनियम द्वारा अनुच्छेद 13 के संशोधित किए जाने से पूर्व अनुच्छेद 13(2) में प्रयुक्त 'विधि' शब्द के अन्तर्गत संविधान के संशोधन नहीं आते हैं।

(3) यद्यपि अनुच्छेद 368 के अधीन संविधान संशोधित करने की शक्ति अति व्यापक है, तथापि उसके अधीन संसद, अब भी, संविधान के बुनियादी तत्त्वों को या उसके मूल ढांचे को नष्ट या परिवर्तित नहीं कर सकती है।

(4) चौबीसवें संशोधन अधिनियम द्वारा संसद् की संविधान-शक्ति में वृद्धि नहीं की गई है। यह तो केवल मूल अनुच्छेद की अस्पष्टता को स्पष्ट करता है। अतः वह विधिमान्य है।

(5) (क) अभी हाल में जोड़ा गया अनुच्छेद 31(2) साम्पत्तिक अधिकार नष्ट नहीं करता है, क्योंकि—

(i) उस अनुच्छेद के अधीन तय की गई 'राशि' का अर्जित या अधिगृहीत सम्पत्ति के मूल्य के साथ युक्तियुक्त सम्बन्ध होना चाहिए।

(ii) अर्जित या अधिगृहीत सम्पत्ति के सम्बन्ध में देय 'राशि' निकालने के प्रयोजन के लिए उल्लिखित सिद्धान्त सुसंगत होने चाहिएं।

(iii) नियत राशि अवास्तविक नहीं होनी चाहिए, और

(iv) राशि मनमाने ढंग से तय नहीं की जानी चाहिए।

(6) पच्चीसवें संशोधन अधिनियम का खण्ड 2(ख), जिससे अनुच्छेद 31(2ख) जोड़ा गया है, भी विधिमान्य है, क्योंकि वह संविधान की महत्वपूर्ण रूपरेखा को न तो नष्ट करता है और न ही ठेस पहुंचाता है।

(7) पच्चीसवें संशोधन अधिनियम का खण्ड (3), जिससे संविधान में अनुच्छेद 31ग जोड़ा गया है, दो कारणों से अविधिमान्य है—(1) जहां तक कि प्रश्नगत संशोधन संविधान के विभिन्न बुनियादी तत्त्वों या मूल ढांचे को नष्ट करना अनुज्ञात करता है वहां तक वह संसद् की संशोधन-शक्ति से परे है, और (2) वह संसद् और राज्य विधानमण्डलों को अपनी साधारण विधायी शक्ति से नागरिकों को प्रत्याभूत कतिपय स्वतन्त्रताओं को विहित सीमा (प्रो टेम्टो) तक संशोधित करने की शक्ति देता है।

(8) उन्तीसवां संशोधन अधिनियम विधिमान्य है किन्तु संशोधन द्वारा नवम अनुसूची में जोड़े गए अधिनियम या उनका कोई उपबन्ध संविधान के बुनियादी तत्त्वों या आवश्यक ढांचे को निराकृत करता है या नहीं यह प्रश्न उस समय तय किया जाएगा जबकि सम्बन्धित अधिनियम की विधिमान्यता पर विचार किया जाएगा।

न्यायाधिपति ए० एन० रे के मतानुसार—

(1) संविधान संशोधित करने की शक्ति अनुच्छेद 368 में अन्तर्विष्ट है; (2) न तो संविधान और न उसका कोई संशोधन ही अनुच्छेद 13 के अर्थान्तर्गत विधि है; वह विधि हो भी नहीं सकता है; अनुच्छेद 13(2) के अनुसार संविधान विधि नहीं है;

संविधान सर्वोच्च विधि है; (3) संविधान का संशोधन सांविधानिक-शक्ति का प्रयोग है; इस बाबत गोलक नाथ वाले मामले में व्यक्त किया गया बहुमत गलत है, (4) संशोधन-शक्ति पर कोई अभिव्यक्त रोक नहीं है; (5) संशोधन शक्ति पर कोई अन्तर्निहित या विवक्षित रोक भी नहीं है; संशोधन-शक्ति पर न तो प्रस्तावना और न अनुच्छेद 13(2) ही कोई रोक लगाता है; (6) संशोधन-शक्ति व्यापक एवं असीम है। संशोधन शक्ति से अभिप्रेत है संविधान में कोई उपबन्ध जोड़ना या उसका कोई उपबन्ध परिवर्तित या निरसित करना। संविधान की मर्मभूत और अमर्मभूत रूपरेखा के बीच न तो ऐसा कोई अन्तर है और न हो ही सकता है जिसके आधार पर अभिकथित आवश्यक रूपरेखा के संशोधन पर आपत्ति की जा सके। सांविधानिक शक्ति के प्रयोग में संसद् संविधान के किसी भी उपबन्ध को संशोधित कर सकती है। अनुच्छेद 368 के अधीन संशोधन-शक्ति में वृद्धि भी की जा सकती है। चौबीसवां संशोधन विधिमान्य है।

पच्चीसवां संशोधन विधिमान्य है। नियत राशि की पर्याप्तता या विनिर्दिष्ट सिद्धान्त की न्यायिक जांच नहीं की जा सकती है। अनुच्छेद 31(2ख) विधिमान्य है। अनुच्छेद 31(2) स्वयं में पूर्ण है और अनुच्छेद 31(2) तथा 19(2)(च) परस्पर अलग-अलग हैं। मूल अधिकारों का संशोधन चौबीसवें संशोधन से पूर्व और पश्चात् विधिमान्य था और है। अनुच्छेद 31ग संविधान को संशोधित करने की शक्ति राज्य विधानमण्डल को न तो प्रत्यायोजित करता है और न प्रदत्त करता है। अनुच्छेद 31ग तो अनुच्छेद 39(ख) और (ग) के अधीन नीति के निदेशक तत्वों को प्रभावी बनाने के लिए किए जाने वाले विधान को भाग 3 द्वारा लगाए गए निर्बन्धनों से मुक्त करता है। अनुच्छेद 31ग के अधीन वाले विषयों पर संसद् और राज्य विधानमण्डल की विधायी-शक्ति को अनुच्छेद 14, 19 और 31 के प्रभाव से मुक्त कर दिया गया है।

उन्तीसवें संशोधन द्वारा नवम अनुसूची में 1969 के केरल अधिनियम संख्या 35 और 1971 के केरल अधिनियम संख्या 25 का जोड़ा जाना विधिमान्य है। अनुच्छेद 31ख अनुच्छेद 31क से स्वतन्त्र है।

न्यायाधिपति वाई० वी० चन्द्रचूड़ के मतानुसार—

1. गोलक नाथ वाले मामले में बहुमत का यह विनिश्चय ठीक नहीं है कि तत्समय विद्यमान अनुच्छेद 368 संविधान के संशोधन के लिए केवल प्रक्रिया विहित करता है और यह कि संशोधन-शक्ति अनुच्छेद 245, 246 और 248 के साथ पठित सप्तम अनुसूची की सूची I की प्रविष्टि 97 में खोजी जा सकती है।

2. बहुमत एवं न्यायाधिपति हिदायतुल्लाह का यह विनिश्चय ठीक नहीं है कि साधारण विधि और संविधान को संशोधित करने वाली विधि के बीच कोई अन्तर नहीं है। अनुच्छेद 13(2) केवल साधारण विधि को लागू होता है। वह अनुच्छेद 248 के अधीन सांविधानिक संशोधनों को लागू नहीं होता है।

3. बहुमत एवं न्यायाधिपति हिदायतुल्लाह का यह विनिश्चय भी ठीक नहीं है कि संसद् संविधान को इस प्रकार संशोधित नहीं कर सकती है कि उससे मूल अधिकार निराकृत हो जाएं या छिन जाएं।

4. तत्समय विद्यमान अनुच्छेद 368 द्वारा प्रदत्त संविधान-संशोधन शक्ति व्यापक एवं अनियन्त्रित है। वह संविधान के प्रत्येक भाग एवं उपबन्ध को लागू होती है।

5. प्रस्तावना संविधान का अंग है और वह अनुच्छेद 368 के अधीन वाली संशोधन-शक्ति से परे नहीं है।

6. संशोधन-शक्ति पर ऐसे कोई अन्तर्निहित निर्बन्धन नहीं हैं कि संसद् इस प्रकार संशोधन नहीं कर सकती है कि संविधान की मर्मभूत रूपरेखा या मौलिक सिद्धान्त नष्ट हो जाएं या उन्हें ठेस लगे।

7. पच्चीसवें संशोधन की धारा 2(क) और धारा 2 (ख) विधिमान्य है। यद्यपि न्यायालय के समक्ष संशोधन अधिनियम की धारा 2(क) द्वारा प्रतिस्थापित अनुच्छेद 31(2) में वर्णित विधि पर इस आधार पर आपत्ति नहीं की जा सकती है कि अनिवार्य अर्जन या अधिग्रहण के लिए नियत या तय की गई राशि पर्याप्त नहीं है या यह कि ऐसी राशि या उसका कोई भाग नकदी से भिन्न किसी रूप में दिया जाना है, तथापि न्यायालय के समक्ष ऐसी विधि पर आपत्ति की जा सकती है, बशर्ते कि (i) नियत राशि भ्रामक हो, या (ii) राशि तय करने के लिए विहित सिद्धान्त पूर्णतया विसंगत हो, या (iii) अनिवार्य अर्जन या अधिग्रहण की शक्ति का कोई गौण प्रयोजन हो, या (iv) अनिवार्य अर्जन या अधिग्रहण की विधि पच्चीसवें संशोधन अधिनियम की धारा 2(ख) द्वारा जोड़े गए अनुच्छेद 31(2ख) के अधीन अभिव्यक्ततः अपवर्जित उपबन्ध अर्थात्, अनुच्छेद 19(1)(च) से भिन्न संविधान के किन्हीं अन्य उपबन्धों को प्रतिकूलतः प्रभावित करती हो, या (v) विधि द्वारा संविधान के साथ छल किया गया हो।

8. पच्चीसवें संशोधन की धारा 3, जिससे संविधान में अनुच्छेद 31ग जोड़ा गया है, विधिमान्य है। किन्तु इस बात के होते हुए भी कि उसमें उल्लिखित घोषणा का निश्चायक होना तात्पर्यित है, न्यायालय को यह तय करने की शक्ति एवं अधिकारिता है कि प्रश्नगत विधि अनुच्छेद 39(ख) और (ग) में घोषित नीति को प्रभावी बनाती है या नहीं।

9. उन्तीसवां संशोधन अधिनियम विधिमान्य है। चूंकि उसमें उल्लिखित केरल के दो अधिनियमों को नवम अनुसूची में सम्मिलित कर दिया गया है, अतः उन्हें संविधान के अनुच्छेद 31ख का संरक्षण प्राप्त है।

न्यायाधिपति के० के० मैथ्यू के मतानुसार—

यह कि गोलक नाथ वाले मामले में किया गया यह विनिश्चय गलत है कि संसद् मूल अधिकारों में संशोधन इस प्रकार नहीं कर सकती है कि उससे कोई मूल अधिकार छिन जाए या न्यून हो जाए; यह कि चौबीसवें संशोधन अधिनियम के पूर्व यथा विद्यमान अनुच्छेद 368

के अधीन संशोधन-शक्ति सर्वांगीण थी और वह संविधान के प्रत्येक उपबन्ध को लागू होती है; यह कि चौबीसवें संशोधन ने असंशोधित अनुच्छेद 368 में कुछ भी जोड़ा नहीं है; यह कि उसकी प्रकृति, संशोधन-विधेयक पर राष्ट्रपति की अनिवार्य सम्मति के अलावा, घोषणात्मक ही है और यह कि संशोधित अनुच्छेद से यह स्पष्ट है कि संविधान का प्रत्येक उपबन्ध उसमें कुछ जोड़ कर या परिवर्तन अथवा निरसन करके, संशोधित किया जा सकता है। निर्बन्धन केवल यह है कि संविधान को संशोधन-शक्ति के प्रयोग द्वारा तब तक निरसित या निराकृत नहीं किया जा सकता है जब तक कि कोई ऐसा तन्त्र स्थापित नहीं कर दिया जाता जिसके द्वारा राज्य स्थापित और गठित हो सके। यह निर्बन्धन स्वयं अनुच्छेद की भाषा से उत्पन्न हुआ है।

मेरे विचार से उक्त अनुच्छेद के अधीन संशोधन-शक्ति के ऊपर कोई विवक्षित या अन्तर्निहित निर्बन्धन न तो था और न है।

अतः चौबीसवां संशोधन अधिनियम विधिमान्य है।

अनुच्छेद 31ग सहित पच्चीसवां संशोधन विधिमान्य है। यथा संशोधित अनुच्छेद 31(2) में प्रयुक्त 'राशि' शब्द यह संकेत नहीं मिलता है कि उससे निश्चय करने की कोई कसौटी निर्धारित की गई है। राशि नियत करना या राशि तय करने के लिए कोई सिद्धान्त विहित करना ऐसे विषय हैं जो पूर्णतः संसद् या राज्य विधानमण्डलों के स्वविवेक पर आधारित हैं। न्यायालय इस प्रश्न की बाबत छानबीन नहीं कर सकता है कि विधि द्वारा नियत राशि या राशि तय करने के लिए उल्लिखित सिद्धान्त पर्याप्त या सुसंगत है या नहीं।

अनुच्छेद 31ग में की गई घोषणा से यह आशयित है कि विधि का उद्देश्य संविधान के अनुच्छेद 39(ख) और (ग) में विनिर्दिष्ट सिद्धान्तों को सुनिश्चित करने की दिशा में राज्य की नीति को प्रभावी बनाना है और ऐसा करके वह न्यायालय को इस प्रश्न पर विचार करने की अधिकारिता को समाप्त नहीं करता है कि सम्बन्धित विधि उस नीति को प्रभावी बनाती है या नहीं। विधि से सम्बन्धित घोषणा विहित करने की संसद् या राज्य विधानमण्डलों की अधिकारिता इस बात पर आश्रित है कि विधि का उद्देश्य पूर्वोक्त सिद्धान्तों को सुनिश्चित करने की दिशा में राज्य की नीति को प्रभावी बनाना हो।

उन्तीसवां संशोधन विधिमान्य है।

न्यायाधिपति एच० आर० खन्ना के मतानुसार —

अनुच्छेद 31ग के द्वितीय भाग में राष्ट्रीय-विघटन के तत्त्व विद्यमान हैं और वह निम्नलिखित कारणों से अवैध है—

(1) उक्त अनुच्छेद द्वारा विधानमण्डल को अनुच्छेद 14, 19 और 31 का अतिक्रमण करने के लिए खुली छूट दे दी गई है और उसमें अपेक्षित घोषणा समाविष्ट करके उसे सभी प्रकार की आपत्तियों से संरक्षित कर दिया गया है। यदि अनुच्छेद 31ग को उसके द्वितीय भाग के साथ लिया जाए तो महत्त्वपूर्ण विषयों में बारे में संविधान को

संशोधित करने की शक्ति विधानमण्डलों को, जिसमें राज्य विधानमण्डल भी सम्मिलित है, दे दी गई है।

(2) इस बाबत विनिश्चय करने के लिए विधानमण्डल को अन्तिम प्राधिकारी बना दिया गया है कि उसके द्वारा बनाई गई विधि अनुच्छेद 31ग में उल्लिखित उद्देश्यों के लिए है या नहीं। अनुच्छेद 31ग का द्वितीय भाग इस दृष्टि से दोषपूर्ण है कि यदि अधिनियमित विधि अनुच्छेद 31ग में उल्लिखित उद्देश्य से भी नहीं बनाई गई है तो भी यदि विधानमण्डल ने उसमें सम्बन्धित घोषणा समाविष्ट कर दी है तो सम्बन्धित पक्षकार यह आपत्ति नहीं कर सकता है कि आक्षेपित विधि उपरोक्त उद्देश्य से नहीं बनाई गई है। राज्य विधानमण्डलों सहित विधानमण्डल द्वारा सीमित न्यायिक पुनरीक्षण का भी अपवर्जन संविधान के बुनियादी ढांचे पर प्रहार है। अनुच्छेद 31ग का द्वितीय भाग अनुच्छेद 368 के अधीन संशोधन क्या है, इसकी भी सीमा को लांघ गया है।

न्यायाधिपति डी० जी० पालेकर के मतानुसार—

1. संविधान के संशोधन की शक्ति और प्रक्रिया असंशोधित अनुच्छेद 368 में विद्यमान है। उस अनुच्छेद में विहित प्रक्रिया के अनुसार संविधान का संशोधन अनुच्छेद 13 के अर्थान्तर्गत 'विधि' नहीं है। संविधान के भाग 3 द्वारा प्रदत्त मूल अधिकार को न्यून करने या उसे छीन लेने वाला संविधान-संशोधन इस दृष्टि से अविधिमान्य नहीं है कि वह अनुच्छेद 13 (2) के किसी उपबन्ध का अतिक्रमण करता है। इस बाबत गोलक नाथ बनाम पंजाब राज्य में दिया गया बहुमत निर्णय सही नहीं है।

2. असंशोधित अनुच्छेद 368 के अधीन संशोधन-शक्ति पर इस बाबत कोई विवक्षित या अन्तर्निहित रुकावट नहीं थी कि उसका प्रभाव मूल अधिकारों पर पड़ता है। उक्त अनुच्छेद के संशोधन के पश्चात् ऐसी किसी रुकावट का प्रश्न ही नहीं उठता।

चौबीसवां, पच्चीसवां और उन्तीसवां संशोधन अधिनियम विधिमान्य हैं।

न्यायाधिपति एम० एच० बेग के मतानुसार—

1. गोलक नाथ वाले मामले में बहुमत का यह निर्णय त्रुटिपूर्ण है कि अनुच्छेद 368 के अधीन संविधान संशोधित करने की शक्ति पर अनुच्छेद 13 निर्बन्धन अधिरोपित करता है। इस सम्बन्ध में उक्त मामले में अल्प मत ठीक था।

2. चौबीसवां संशोधन विधिमान्य है।

3. अनुच्छेद 31ग सहित पच्चीसवां संशोधन विधिमान्य है।

4. यथा संशोधित अनुच्छेद 31(2) में प्रयुक्त 'राशि' शब्द से यह संकेत नहीं मिलता कि उसके निश्चय करने की कोई कसौटी निर्धारित की गई है। राशि का नियत किया जाना या राशि नियत करने के लिए किसी सिद्धान्त का विहित किया जाना ऐसे विषय हैं जो अनन्यत: संसद् या सम्बन्धित राज्य विधानमण्डल की अधिकारिता के अन्दर हैं। दूसरे शब्दों में सिद्धान्त और प्रतिकर की पर्याप्तता से सम्बन्धित प्रश्न की बाबत समाधान

या उसके युक्तियुक्त होने का विषय अनन्यतः विधायी प्राधिकारियों की सक्षमता के अन्तर्गत वाले विषय हैं।

5. अनुच्छेद 31ग द्वारा आशयित घोषणा एक प्रकार का प्रमाणपत्र है जो संविधान के अनुच्छेद 39 (ख) और (ग) में उल्लिखित सिद्धान्तों की सुसंगती पर विचार करने के पश्चात् दिया जाता है और इसलिए इससे न्यायालय की अधिकारिता समाप्त नहीं होती है। न्यायालय फिर भी इस बात पर विचार कर सकते हैं और विनिश्चय कर सकते हैं कि क्या सम्बन्धित घोषणा वस्तुतः ठीक है या किसी आभासी विधान से सम्बद्ध बहाना मात्र है अथवा आक्षेपित विधि कोई ऐसी विधि है जिसका संविधान के अनुच्छेद 39(ख) और (ग) में निहित सिद्धान्तों से कोई सम्बन्ध या वास्ता नहीं है। स्वीकृत किए जाने योग्य दो मतों में से—विधान का उक्त उद्देश्यों से सम्बन्ध के प्रश्न के बारे में भी—वह मत स्वीकार किया जाना चाहिए जो विधायी घोषणा के अनुरूप हो।

6. उन्तीसवां संशोधन विधिमान्य है।

न्यायाधिपति जगनमोहन रेड्डी के मतानुसार—

चौबीसवां संशोधन—अनुच्छेद 368 में प्रयुक्त 'संशोधन' शब्द से निरसन आशयित नहीं है। संसद् अनुच्छेद 368 और अनुच्छेद 13 का संशोधन कर सकती है और साथ ही वह सभी मूल अधिकार भी संशोधित कर सकती है और यद्यपि संशोधन की यह शक्ति व्यापक है तथापि वह इस प्रकार व्यापक नहीं है कि उसके अधीन मूल अधिकारों में से किसी को या संविधान के बुनियादी ढांचे के महत्वपूर्ण तत्वों को अथवा संविधान के मूल स्वरूप को निराकृत या न्यून किया जा सके या उसे विकृत किया जा सके। इन सीमाओं के अन्दर संसद् संविधान के किसी भी अनुच्छेद को संशोधित कर सकती है। अनुच्छेद 368 के अधीन संसद् अपनी संशोधन-शक्ति को इस प्रकार व्यापक नहीं बना सकती है कि वह स्वयं को संविधान को निरसित करने या निराकृत करने की शक्ति या मूल अधिकारों में से किसी भी मूल अधिकार को विकृत करने, न्यून करने या नष्ट करने की शक्ति को संविधान के बुनियादी ढांचे के महत्वपूर्ण तत्वों को विकृत करने, न्यून करने या नष्ट करने की शक्ति या संविधान के मूल स्वरूप को नष्ट करने की शक्ति प्रदान कर ले। मेरे उपरोक्त मतानुसार चौबीसवां संशोधन विधिमान्य है क्योंकि उसके द्वारा संशोधन से पूर्व विद्यमान संशोधन-शक्ति की प्रकृति या विस्तार को परिवर्तित नहीं किया गया है।

पच्चीसवां संशोधन अधिनियम की धारा 2 (क)—यथा प्रतिस्थापित अनुच्छेद 31 का खण्ड (2)—'राशि' शब्द, जिसका कोई विधिक विचार नहीं है और, जैसा कि संशोधित खण्ड से दर्शित होता है, उससे देश की चालू मुद्रा में केवल नकदी आशयित है और वह राशि किन्हीं सिद्धान्तों के अनुसार तय की जानी है। यदि एक बार न्यायालय का यह समाधान हो जाता है कि इस आधार पर आपत्ति कि राशि और उसकी अदायगी का रूप न तो मनमाना है और न भ्रामक ही अथवा जिन सिद्धान्तों के आधार पर यह राशि तय की जानी हो उसका अर्जित सम्पत्ति के मूल्य से युक्तियुक्त सम्बन्ध हो, तो न्यायालय इस प्रकार नियत राशि या ऐसे सिद्धान्तों के आधार पर निश्चित राशि की पर्याप्तता के प्रश्न पर विचार नहीं कर सकता है।

पच्चीसवें संशोधन अधिनियम की धारा 3—नया अनुच्छेद 31ग तभी विधिमान्य है जब कि 'असंगत है अथवा छीनती हैं', या 'अनुच्छेद 14' और "और जिस विधि में यह घोषणा हो कि वह ऐसी नीति को प्रभावी करने के लिए है, उस पर किसी न्यायालय में इस आधार पर आपत्ति नहीं की जाएगी कि वह ऐसी नीति को प्रभावी नहीं करती है" पद, जिसमें घोषणा समाविष्ट है, निकाल दिए जाएं। मेरे विचार से इन अंशों को निकाला जा सकता है। निकाल दिए जाने के पश्चात् जो कुछ शेष रहता है वह अनुच्छेद 19 और 31 के लागू होने की बाबत मेरे द्वारा किए गए निर्वचन के आधार पर प्रवृत्त और प्रभावी हो सकता है जिससे कि अनुच्छेद 31ग के अधीन बनाई जाने वाली विधि अनुच्छेद 39 (ख) और (ग) में अन्तर्विष्ट निदेशों को अग्रसर कर सके। परिणामस्वरूप उपरोक्त अंशों को निकाल देने के पश्चात् अनुच्छेद 31ग के अर्थान्वयन के आधार पर मैं यह निर्णय देता हूं कि पच्चीसवें संशोधन अधिनियम की धारा 3 विधिमान्य है।

उन्तीसवां संशोधन—यह दलील कि अनुच्छेद 31क और 31ख परस्पर सम्बद्ध हैं, स्वीकार नहीं की जा सकती और उसे नामंजूर किया जाता है। संविधान (उन्तीसवां संशोधन) अधिनियम विधिमान्य है किन्तु इस प्रश्न की परीक्षा—कि उक्त संशोधन द्वारा नवम अनुसूची में जोड़े गए अधिनियमों में से कोई भी अधिनियम भाग 3 में विनिर्दिष्ट किसी मूल अधिकार को या संविधान के बुनियादी तत्वों या महत्वपूर्ण रूपरेखा को निराकृत, शक्तिहीन, क्षतिग्रस्त या नष्ट करता है या नहीं—उस समय की जाएगी जबकि उस अधिनियम की विधिमान्यता पर आपत्ति के मामले में विचार किया जा रहा हो।

न्यायाधिपति एस० एन० द्विवेदी के मतानुसार--

(1) गोलक नाथ वाले मामले में बहुमत निर्णय ठीक नहीं है और उसे उलट दिया जाना चाहिए।

(2) अनुच्छेद 368 में प्रयुक्त 'संशोधन' शब्द इतना व्यापक है कि उसके अधीन भाग 3 सहित संविधान के प्रत्येक उपबन्ध को परिवर्तित, निरसित या निराकृत किया जा सकता है।

(3) अनुच्छेद 368 के अधीन संशोधन-शक्ति पर कोई अन्तर्निहित या विवक्षित निर्बन्धन नहीं लगाया गया है।

(4) चौबीसवां, पच्चीसवां और उन्तीसवां संशोधन सम्पूर्ण रूप से विधिमान्य हैं।

(5) अनुच्छेद 31(2) के अनुसार अर्जित या अधिगृहीत सम्पत्ति के लिए सम्बन्धित विधि द्वारा नियत राशि या ऐसी विधि द्वारा विहित सिद्धान्तों के अनुसार नियत राशि पर किसी भी न्यायालय में आपत्ति नहीं की जा सकती है।

(6) अनुच्छेद 31ग का अन्तिम भाग न्यायालयों की इस बाबत जांच करने सम्बन्धी अधिकारिता समाप्त नहीं करता है कि आक्षेपित विधि समुदाय की भौतिक सम्पत्ति के स्वामित्व और नियन्त्रण के वितरण या आर्थिक व्यवस्था और धन तथा उत्पादन-साधनों के अहितकारी केन्द्रण की बाबत सुसंगत है या नहीं।

[1973] 1 उम० नि० प० 895 :
नागपुर इम्प्रूवमेण्ट ट्रस्ट बनाम विट्ठल राव (Nagpur Improvement Trust *Vs.* Vithal Rao);

[1972] एस० सी० सी० 364=[1972] 3 उम० नि० प० 797 :
कुंजुकुट्टी साहिब बनाम केरल राज्य और एक अन्य (Kunjukutty Sahib *Vs.* State of Kerala and Another);

[1972] 2 एस० सी० आर० 133=[1972] 3 उम० नि० प० 273 :
बाल्मेडीज प्लान्टेशन लिमिटेड और कुछ अन्य बनाम तमिलनाडु राज्य (Balmadies Plantations Limited and Others *Vs.* State of Tamil Nadu);

[1972] 1 एस० सी० सी० 536, 546=[1972] 2 उम० नि० प०, नि० भा० 12 :
मोहम्मद मकबूल दमनू बनाम जम्मू और कश्मीर राज्य (Mohd. Maqbool Damnoo *Vs.* State of Jammu and Kashmir);

[1972] 2 एस० सी० आर० 33=[1972] 1 उम० नि० प० 565 :
भारत संघ बनाम हरभजन सिंह ढिल्लों (Union of India *Vs.* Harbhajan Singh Dhillon);

[1971] 2 एस० सी० सी० 63=[1971] 2 उम० नि० प० 612 :
यू० एन० आर० राव बनाम श्रीमती इन्दिरा गांधी (U. N. R. Rao *Vs.* Smt. Indira Gandhi);

[1971] 3 एस० सी० आर० 9=[1971] 1 उम० नि० प० 491 :
हिज हाइनेस महाराजाधिराज माधव राव बनाम भारत संघ (His Highness Maharajadhiraja Madhav Rao *Vs.* Union of India);

[1971] 2 एस० सी० आर० 790=[1971] 1 उम० नि० प० 311 :
खाजामियां वक्फ एस्टेट्स बनाम मद्रास राज्य (Khajamiyan Wakf Estates *Vs.* State of Madras);

[1971] 1 एस० सी० आर० 288, 294-297 :
अहमदाबाद नगर निगम, अहमदाबाद शहर बनाम न्यू शोरोक स्पिनिंग एण्ड वीविंग कम्पनी लिमिटेड (Municipal Corporation of the city of Ahmedabad *Vs.* New Shorock Spinning and Weaving Company Limited);

[1971] ए० आई० आर० 1971 केरल 98 :
वी० एन० नारायणन नायर बनाम केरल राज्य (V. N. Narayanan Nair *Vs.* State of Kerala);

[1971] 45 ए० एल० जे० 251, 252, 253 :
स्टेट ऑफ विक्टोरिया बनाम कॉमनवैल्थ (State of Victoria *Vs.* Commonwealth);

[1970] 3 एस० सी० आर० 530 :
रुस्तम कवासजी कूपर बनाम भारत संघ (Rustom Cawasji Cooper *Vs.* Union of India);

[1970] 2 एस० सी० आर० 732, 737=[1970] 3 उम० नि० प० 958 :
त्रिभुवन प्रकाश नय्यर बनाम भारत संघ (Tribhuban Parkash Nayyar *Vs.* Union of India);

[1970] 2 एस० सी० आर० 10, 15-16=[1970] 3 उम० नि० प० 37 :
बुद्धन सिंह बनाम नबी बक्स (Budhan Singh *Vs.* Nabi Bux);

[1970] 1 एस० सी० सी० 443 :
संजीवी नायडू बनाम मद्रास राज्य (Sanjeevi Naidu *Vs.* State of Madras);

[1970] 1 एस० सी० आर० 400=[1970] 2 उम० नि० प० 319 :
व्रजलाल मणिलाल एण्ड कम्पनी और कुछ अन्य बनाम मध्य प्रदेश राज्य और कुछ अन्य (Vrajlal Manilal and Company and Others *Vs.* State of Madhya Pradesh and Others);

[1970] 1 एस० सी० आर० 388, 392-393=[1970] 2 उम० नि० प० 302 :
श्री पृथ्वी कॉटन मिल्स लिमिटेड बनाम बरोच बरो म्युनिसिपैलिटी और कुछ अन्य (Shri Prithvi Cotton Mills Limited *Vs.* Broach Borough Municipality and Others);

[1969] 3 एस० सी० आर० 447=[1970] 1 उम० नि० प० 49 :
नगरपालिका समिति, अमृतसर और कुछ अन्य बनाम पंजाब राज्य (Municipal Committee, Amritsar and Others *Vs.* State of Punjab);

[1969] 3 एस० सी० आर० 374=[1969] 3 उम० नि० प० 795 :
रासबिहारी पाण्डा बनाम उड़ीसा राज्य (Rashbihari Panda *Vs.* State of Orissa);

[1969] 3 एस० सी० आर० 341=[1969] 3 उम० नि० प० 753 :
गुजरात राज्य बनाम शान्तीलाल मंगलदास (State of Gujarat *Vs.* Shantilal Mangaldas);

[1969] 1 ऑल इंग्लैण्ड रिपोर्ट्स 82, 87 :
कोरोक्राफ्ट बनाम पैन अमरीकन एयरवेज (Corocraft *Vs.* Pan American Airways);

[1968] 3 एस० सी० आर० 489=[1968] 2 उम० नि० प० 154 :
मध्य प्रदेश राज्य बनाम रानोजीराव शिन्दे (State of Madhya Pradesh *Vs.* Ranojirao Shinde);

[1968] 3 एस० सी० आर० 251 :
दिल्ली नगर निगम बनाम बिड़ला कॉटन मिल्स (Municipal Corporation of Delhi *Vs.* Birla Cotton Mills);

[1968] ए० आई० आर० 1968 एस० सी० 1232, 1266 :
दिल्ली नगरपालिका बनाम बिड़ला कॉटन एण्ड वुलन मिल्स (Delhi Municipality *Vs.* Birla Cotton and Woollen Mills);

[1968] ए० सी० 717, 743 :
मोहम्मद सम्सुद्दीन करियाप्पर बनाम एस० एस० विजेसिन्हा (Mohamed Samsudeen Kariapper *Vs.* S. S. Wijesinha);

[1967] 3 एस० सी० आर० 525, 542 :
सतवंत सिंह बनाम पासपोर्ट आफिसर (Satwant Singh *Vs.* Passport Officer);

[1967] 2 एस० सी० आर० 949 :
सीतावती देवी और एक अन्य बनाम पश्चिमी बंगाल राज्य और एक अन्य (Sitabati Debi and Another *Vs.* State of West Bengal and Another);

[1967] 2 एस० सी० आर० 762 :
आई० सी० गोलक नाथ बनाम पंजाब राज्य (I. C. Golak Nath *Vs.* State of Punjab);

[1967] 2 एस० सी० आर० 109, 112 :
मंगल सिंह बनाम भारत संघ (Mangal Singh *Vs.* Union of India);

[1967] 1 एस० सी० आर० 255 :
भारत संघ बनाम मेटल कॉर्पोरेशन ऑफ इण्डिया और एक अन्य (Union of India *Vs.* Metal Corporation of India and Another);

[1967] 2 ऑल इंग्लैण्ड रिपोर्ट्स 576, 578 :
बौर्न बनाम नोरविक क्रिमेटोरियम (Bourne *Vs.* Norwick Crematorium);

[1967] आयरिश रिपोर्ट्स 106 :
स्टेट बनाम मिनिस्टर फॉर जस्टिस (State *Vs.* Minister for Justice);

[1967] 1 ए० सी० 259 :
डॉन जॉन फ्रॅंसिस डग्लस लियांगे बनाम क्वीन (Don John Francis Dougles Liyange *Vs.* Queen);

[1965] 1 एस० सी० आर० 933 :
सज्जन सिंह बनाम राजस्थान राज्य (Sajjan Singh *Vs.* State of Rajasthan);

[1965] 1 एस० सी० आर० 636, 648 :
एन० बी० जीजीभाई बनाम सहायक कलक्टर, थाना (N. B. Jeejeebhay *Vs.* Assistant Collector, Thana);

[1965] 1 एस० सी० आर० 614 :
पी० वज्रवेलु मुदालियर बनाम विशेष उप कलक्टर, मद्रास (P. Vajravelu Mudaliar *Vs.* Special Deputy Collector, Madras);

[1965] ए० आई० आर० (1965) एस० सी० 1375 :
नवनीत लाल जावेरी बनाम सहायक आयुक्त (अपील) (Navnit Lal Javeri *Vs.* Appellate Assistant Commissioner);

[1965] ए० सी० 172 :
ब्राइबरि कमिश्नर बनाम पेड्रिक रणसिंघे (Bribery Commissioner *Vs.* Pedrick Ranasinghe);

[1964] ए० सी० 40, 64-65 :
रिज बनाम बाल्डविन (Ridge *Vs.* Baldwin);

[1963] सप्लीमेन्ट 2 एस० सी० आर० 691, 707 :
अकादसी पधान बनाम उड़ीसा राज्य (Akadasi Padhan *Vs.* State of Orissa);

[1963] 3 एस० सी० आर० 650 :
प्रान्तीय परिवहन सेवा बनाम राज्य औद्योगिक न्यायालय (Provincial Transport Service *Vs.* State Industrial Court);

[1963] 2 एस० सी० आर० 353 :
फर्म तिलक राम राम बक्स की ओर से लच्छमन दास बनाम पंजाब राज्य (Lachchman Das on behalf of Firm Tilak Ram Ram Bux *Vs.* State of Punjab);

[1963] 1 एस० सी० आर० 778, 926-7 :
उज्जमबाई बनाम उत्तर प्रदेश राज्य (Ujjambai *Vs.* State of Uttar Pradesh);

[1962] सप्लीमेण्ट 3 एस० सी० आर० 369 :
कामेश्वर प्रसाद बनाम बिहार राज्य (Kameshwar Prasad *Vs.* State of Bihar);

[1962] सप्लीमेण्ट 1 एस० सी० आर० 242 :
बर्मा कान्स्ट्रक्शन कम्पनी बनाम उड़ीसा राज्य (Burmah Construction Company *Vs.* State of Orissa);

[1962] 1 एस० सी० आर० 896, 899 :
सीमाशुल्क कलक्टर, बड़ौदा बनाम दिग्विजयसिंहजी स्पिनिंग एण्ड वीविंग मिल्स लिमिटेड (Collector of Customs, Baroda *Vs.* Digvijaysinghji Spinning and Weaving Mills Limited);

[1962] 1 एस० सी० आर० 549 :
ओरियेण्ट पेपर मिल्स बनाम उड़ीसा राज्य (Orient Paper Mills *Vs.* State of Orissa);

[1961] 1 एस० सी० आर० 341 :
वसंतलाल संजनवाला बनाम मुम्बई राज्य (Vasantlal Sanjanwala *Vs.* State of Bombay);

[1961] 1 एस० सी० आर० 14, 34 :
उत्तर प्रदेश राज्य बनाम देवोमन उपाध्याय (State of Uttar Pradesh *Vs.* Deoman Upadhyaya);

[1960] 3 एस० सी० आर० 250, 281-82 :
बेरुबारी यूनियन एण्ड एक्सचेंज ऑफ एन्क्लेव्स का मामला (Re. Berubari Union and Exchange of Enclaves);

[1960] 105 सी० एल० आर० 251 :
क्लेटन बनाम हफरफोन (Clayton *Vs.* Haffron);

[1959] सप्लीमेण्ट 1 एस० सी० आर० 806 :
पाण्डु एम० एस० एम० शर्मा बनाम श्री श्रीकृष्ण सिन्हा (Pandu M. S. M. Sharma *Vs.* Shri Srikrishna Sinha);

[1959] सप्लीमेण्ट 1 एस० सी० आर० 792 :
ग्रेवाल डी० एस० बनाम पंजाब राज्य (Grewal, D. S. *Vs.* State of Punjab);

[1959] सप्लीमेण्ट 1 एस० सी० आर० 528, 605 :
बशेशर नाथ बनाम आयकर आयुक्त (Basheshar Nath *Vs.* Commissioner of Income-tax);

[1959] 3 एस० सी० आर० 279 :
राम कृष्ण डालमियां बनाम श्री न्यायाधिपति एस० आर० तन्दोलकर और कुछ अन्य (Ram Krishna Dalmia *Vs.* Shri Justice S. R. Tendolkar and Others);

[1959] एस० सी० आर० 995, 1018-1019 :
केरल एजुकेशन बिल का मामला (*Re.* Kerala Education Bill);

[1959] एस० सी० आर० 629 :
मोहम्मद हनीफ कुरेशी और कुछ अन्य बनाम बिहार राज्य (Mohd. Hanif Qureshi and Others *Vs.* State of Bihar);

[1959] 107 सी० एल० आर० 208, 239 :
एक्स पारटि प्रोफेशनल इन्जीनियर्स एसोसिएशन (*Ex-Parte* Professional Engineers Association);

[1958] एस० सी० आर० 895 :
श्री वेंकटरमण बनाम मैसूर राज्य (Sri Venkataramana *Vs.* State of Mysore);

[1958] एस० सी० आर० 533, 544 :
उत्तर प्रदेश राज्य बनाम मनबोधन लाल श्रीवास्तव (State of Uttar Pradesh *Vs.* Manbodhan Lal Srivastava);

[1957] एस० सी० आर० 930 :
आर० एम० डी० चमरबौगवाला बनाम भारत संघ (R. M. D. Chamarbaugwalla *Vs.* Union of India);

[1957] कनाडा लॉ रिपोर्ट्स 285, 326 :
जॉन स्विट्ज़मैन बनाम फ्रेडा एल्बलिंग एण्ड अटर्नी जनरल ऑफ दि प्राविन्स ऑफ क्यूबक (John Switzman *Vs.* Freda Elbling and Attorney General of the Province of Quebec);

[1957] ए० सी० 436, 460 :
अटर्नी जनरल बनाम प्रिन्स अरनेस्ट ऑगस्टस ऑफ हैनोवर (Attorney General *Vs.* Prince Ernest Augustus of Hanover);

[1957] ए० सी० 288, 323 :
अटर्नी जनरल फॉर आस्ट्रेलिया बनाम क्वीन और बॉयलर मेकर्स सोसाइटी ऑफ आस्ट्रेलिया (Attorney General for Australia *Vs.* Queen and Boiler Makers' Society of Australia);

[1956] एस० सी० आर० 267 :
बीड़ी सप्लाई कम्पनी बनाम भारत संघ (Bidi Supply Company *Vs.* Union of India);

[1956] 94 सी० एल० आर० 295 :
क्वीन बनाम किरबी और कुछ अन्य (Queen *Vs.* Kirby and Others);

[1955] 2 एस० सी० आर० 225, 236 :
आर० एस० राम जवाया कपूर और कुछ अन्य बनाम पंजाब राज्य (R. S. Ram Jawaya Kapur and Others *Vs.* State of Punjab);

[1955] 1 एस० सी० आर० 699 :
मध्य प्रदेश राज्य बनाम जी० सी० मन्दावर (State of Madhya Pradesh *Vs.* G. C. Mandawar);

[1955] 1 एस० सी० आर० 613, 658 :
बहराम खुरशीद पसीकाका बनाम मुम्बई राज्य (Behram Khurshed Pesikaka *Vs.* State of Bombay);

[1955] 1 एस० सी० आर० 380 :
हरि शंकर बागला बनाम मध्य प्रदेश राज्य (Hari Shankar Bagla *Vs.* State of Madhya Pradesh);

[1955] 1 एस० सी० आर० 290 :
राजनारायण सिंह बनाम पटना प्रशासन (Rajnarain Singh *Vs.* Patna Administration);

[1955] 1 एस० सी० आर० 280 :
मद्रास राज्य बनाम जी० सी० मेनन (State of Madras Vs. G. C. Menon);

[1954] एस० सी० आर० 587, 596 :
पश्चिमी बंगाल राज्य बनाम सुबोध गोपाल बोस (State of West Bengal Vs. Subodh Gopal Bose);

[1954] एस० सी० आर० 558 :
पश्चिमी बंगाल राज्य बनाम श्रीमती बेला बनर्जी और कुछ अन्य (State of West Bengal Vs. Mrs. Bela Bannerji and Others);

[1954] एस० सी० आर० 25 :
कलकत्ता निगम बनाम कलकत्ता ट्रामवेज कम्पनी लिमिटेड (Corporation of Calcutta Vs. Calcutta Tramways Company Limited);

[1953] 1 एस० सी० आर० 491, 539-540 :
ऑटोमोबाइल ट्रान्सपोर्ट (राजस्थान) लिमिटेड बनाम राजस्थान राज्य और कुछ अन्य [Automobile Transport (Rajasthan) Limited Vs. State of Rajasthan and Others];

[1953] एस० सी० आर० 254, 264 :
पंजाब राज्य बनाम अजायब सिंह (State of Punjab Vs. Ajaib Singh);

[1952] एस० सी० आर० 1112, 1121 :
त्रावनकोर-कोचीन राज्य और कुछ अन्य बनाम बॉम्बे कम्पनी लिमिटेड (State of Travancore-Cochin and Others Vs. Bombay Company Limited);

[1952] एस० सी० आर० 1020, 1037 :
विश्वेश्वर राव बनाम मध्य प्रदेश राज्य (Visweshwar Rao Vs. State of Madhya Pradesh);

[1952] एस० सी० आर० 889, 914-15 :
बिहार राज्य बनाम महाराजाधिराज सर कामेश्वर सिंह (State of Bihar Vs. Maharajadhiraja Sir Kameshwar Singh);

[1952] एस० सी० आर० 597 :
मद्रास राज्य बनाम वी० जी० रॉव (State of Madras Vs. V. G. Row);

[1952] एस० सी० आर० 284, 293 :
पश्चिमी बंगाल राज्य बनाम अनवर अली सरकार (State of West Bengal *Vs.* Anwar Ali Sarkar);

[1952] एस० सी० आर० 89 :
श्री शंकरी प्रसाद सिंह देव बनाम भारत संघ और बिहार राज्य (Sri Sankari Prasad Singh Deo *Vs.* Union of India and State of Bihar);

[1951] एस० सी० आर० 747, 984-985 :
दिल्ली लॉज ऐक्ट का मामला (*Re.* Delhi Laws Act);

[1951] एस० सी० आर 682 :
मुम्बई राज्य और एक अन्य बनाम एफ० एन० बलसारा (State of Bombay and Another *Vs* F. N. Balsara);

[1951] एस० सी० आर० 525, 531 :
मद्रास राज्य बनाम श्रीमती चम्पाकम दोरायराजन (State of Madras *Vs.* Smt. Champakam Dorairajan);

[1951] आई० एल० आर० (1951) 1 इलाहाबाद 269, 387-8 :
मोतीलाल बनाम उत्तर प्रदेश राज्य (Motilal *Vs.* State of Uttar Pradesh);

[1951] एस० सी० आर० कनाडा-31 :
अटर्नी जनरल ऑफ नोवा स्कोशिया और अटर्नी जनरल ऑफ कनाडा और लॉर्ड नेल्सन होटल कम्पनी लिमिटेड (Attorney General of Nova Scotia and Attorney General of Canada and Lord Nelson Hotel Company Limited);

[1950] एस० सी० आर० 869, 902 :
चिरंजीत लाल चौधरी बनाम भारत संघ और कुछ अन्य (Chiranjit Lal Chowdhury *Vs.* Union of India and Others);

[1950] एस० सी० आर० 88 :
ए० के० गोपालन बनाम मद्रास राज्य (A. K. Gopalan *Vs.* State of Madras);

[1950] आयरिश रिपोर्ट्स 67 :
मार्गरेट बकले बनाम अटर्नी जनरल ऑफ आयर (Margaret Buckley *Vs.* Attorney General of Eire);

[1950] एस० सी० 235, 310 :

कॉमनवेल्थ ऑफ आस्ट्रेलिया बनाम बैंक ऑफ न्यू साउथ वेल्स (Commonwealth of Australia *Vs.* Bank of New South Wales);

[1949] डोमिनियन लॉ रिपार्ट्स 199, 208 :

रेक्स बनाम हेस (Rex *Vs.* Hess);

[1948] 1 चाम्सरी 145, 159 :

ग्रुण्ड्ट बनाम ग्रेट बौल्डर प्रोप्राइटरि माइन्स लिमिटेड (Grundt *Vs.* Great Boulder Proprietary Mines Limited);

[1948] 2 ऑल इंग्लैण्ड रिपोर्ट्स 995, 998 :

बिडी बनाम जनरल एक्सीडेण्ट फायर एण्ड लाइफ एश्योरेन्स कॉरपोरेशन (Bidie *Vs.* General Accident, Fire and Life Assurance Corporation);

[1947] 74 सी० एल० आर० 31 :

मेल्बोर्न कॉरपोरेशन बनाम कॉमनवेल्थ (Melbourne Corporation. *Vs.* Commonwealth);

[1945] 73 इण्डियन अपील्स 59=(1946) एफ० सी० आर० 1 :

पंजाब प्रान्त बनाम दौलत सिंह और कुछ अन्य (Punjab Province *Vs.* Daulat Singh and Others);

[1945] 70 सी० एल० आर० 100, 128 :

फ्रेसर हेनलियन प्राइवेट लिमिटेड बनाम कोडी (Fraser Henlein Private Limited *Vs.* Cody);

[1945] एफ० सी० आर० 195 :

सिबनाथ बनर्जी का मामला (Sibnath Banerji's case);

[1943] एस० सी० आर० 1 कनाडा :

केमिकल रेफरेन्स का मामला (*Re.* Chemical Reference);

[1941] एफ० सी० आर० 18 :

हिन्दू वुमेन्स राइट्स टू प्रापर्टी ऐक्ट का मामला (*Re.* Hindu Women's Rights to Property Act);

[1940] आयरिश रिपोर्ट्स 136 :

एडमण्ड बुर्क बनाम लिनोन (Edmund Burke *Vs.* Lenon);

[1939] ए० सी० 117, 132, 133 :
अटर्नी जनरल फॉर अल्बरटा बनाम अटर्नी जनरल फॉर कनाडा (Attorney General for Alberta *Vs.* Attorney General for Canada);

[1939] एफ० सी० आर० 18 :
सेंट्रल प्राविन्सेज एण्ड बरार ऐक्ट नं० XIV ऑफ 1938 का मामला (*Re.* Central Provinces and Berar Act No. XIV of 1938);

[1938] ए० सी० 708 :
शेनॉन बनाम लोग्रर मेनलैण्ड डेरि प्रॉडक्ट्स बोर्ड (Shannon *Vs.* Lower Mainland Dairy Products Board);

[1938] एस० सी० आर० 100 (कनाडा) :
अल्बरटा स्टेट्यूट्स का मामला (*Re.* Alberta Statutes);

[1937] ए० सी० 326,351
अटर्नी जनरल फॉर कनाडा बनाम अटर्नी जनरल फॉर ओन्टेरियो (Attorney General for Canada *Vs.* Attorney General for Ontario);

[1937] 56 सी० एल० आर० 657,682 :
वैस्ट बनाम कमिश्नर ऑफ टैक्सेशन (West *Vs.* Commissioner of Taxation);

[1936] ए० सी० 578,613 :
जेम्स बनाम कॉमनवैल्थ ऑफ आस्ट्रेलिया (James *Vs.* Commonwealth of Australia);

[1935] ए० सी० 500,518 :
ब्रिटिश कोल कॉरपोरेशन बनाम किंग (British Coal Corporation *Vs.* King);

[1935] ए० सी० 484 :
मूरा बनाम अटर्नी जनरल फॉर दि आयरिश फ्री स्टेट (Moora *Vs.* Attorney General for the Irish Free State);

[1935] आयरिश रिपोर्ट्स 170 :
स्टेट बनाम कैप्टन माइकल लेनॉन (State *Vs.* Captain Michael Lenon);

[1933] ए० सी० 378,389 :
कमिश्नर ऑफ स्टाम्प्स, स्ट्रेट्स सेटलमेन्ट्स बनाम ओइ त्जोंग स्वान (Commissioner of Stamps, Straits Settlements *Vs.* Oei Tjong Swan);

[1932] ए० सी० 526 :
अटर्नी जनरल फॉर न्यू साउथ वेल्स बनाम ट्रेथोवन (Attorney General for New South Wales *Vs.* Trethowan);

[1932] ए० सी० 54,20 :
रेगूलेशन एण्ड कण्ट्रोल ऑफ एयरोनॉटिक्स इन कनाडा का मामला (*Re.* The Regulation and Control of Aeronautics in Canada);

[1931] ए० सी० 310,317 :
प्रोप्राइटरि आर्टिकल्स ट्रेड एसोसिएशन बनाम अटर्नी जनरल फॉर कनाडा (Proprietary Articles Trade Association *Vs.* Attorney General for Canada);

[1930] ए० सी० 124 :
एडवर्ड्स बनाम अटर्नी जनरल ऑफ कनाडा (Edwards *Vs.* Attorney General of Canada);

[1930] 44 सी० एल० आर० 319,390 :
आस्ट्रेलियन रेलवेज यूनियन बनाम विक्टोरियन रेलवे कमिश्नर्स (Australian Railways Union *Vs.* Victorian Railway Commissioners);

[1926] ए० सी० 482 :
नाडान बनाम किंग (Nadan *Vs.* King);

[1925] ए० सी० 578,590 :
रोबर्ट्स बनाम होपवुड (Roberts *Vs.* Hopwood);

[1925] 37 सी० एल० आर० 36,58 :
एक्स पारटि वाल्श एण्ड जॉन्सन (*Ex-parte* Walsh and Johnson);

[1920] ए० सी० 691 :
मॅक्कॉले बनाम किंग (Maccawlay *Vs.* King);

[1920] 28 सी० एल० आर० 129 :
अमेलगमेटेड सोसाइटी ऑफ इन्जीनियर्स बनाम एडलायड स्टीमशिप कम्पनी लिमिटेड (Amalgamated Society of Engineers *Vs.* Adelaide Steamship Company Limited);

[1919] ए० सी० 935 :
इनिशिएटिव एण्ड रेफरेन्डम ऐक्ट का मामला (*Re.* Initiative and Refrendum Act);

[1918] 57 कनाडा एस० सी० आर 150 :
ग्रे का मामला (*Re*. Gray);

[1914] ए० सी० 237 :
अटर्नी जनरल फॉर दि कॉमनवेल्थ ऑफ आस्ट्रेलिया बनाम कलोनियल शुगर रिफाइनिंग कम्पनी (Attorney General for the Commonwealth of Australia *Vs.* Colonial Sugar Refining Company);

[1913] ए० सी० 107, 117-118 :
वाचर एण्ड सन्स बनाम लन्दन सोसाइटी ऑफ कम्पोजिटर्स (Vacher and Sons *Vs.* London Society of Compositors);

[1912] ए० सी० 571 :
अटर्नी जनरल ऑफ ओन्टेरियो बनाम अटर्नी जनरल ऑफ कनाडा (Attorney General of Ontario *Vs.* Attorney General of Canada);

[1911] ए० सी० 381 :
जेम्स लेसली विलियम्स बनाम हैनिस थॉमस (James Leslie Williams *Vs.* Haines Thomas);

[1908] 6 सी० एल० आर० 469, 611-612 :
अटर्नी जनरल फॉर न्यू साउथ वेल्स बनाम ब्रूअर एम्प्लॉइज यूनियन फॉर न्यू साउथ वेल्स (Attorney General for New South wales *Vs.* Brewer Employees Union of New South Wales);

[1907] ए० सी० 81:
वेब बनाम ऑउटरिम (Webb *Vs.* Outrim);

[1907] 4 सी० एल० आर० 1304 :
कूपर का मामला (Cooper's Case);

[1901] ए० सी० 102, 107 :
कुक बनाम चार्ल्स ए० वोगलर कम्पनी (Cooke *Vs.* Charles A. Vogeler Company);

[1899] ए० सी० 143 :
पोवेल बनाम केम्पटन पार्क रेसकोर्स कम्पनी लिमिटेड (Powell *Vs.* Kempton Park Race course Company Limited);

[1895] 22 आई० ए० 107, 118 :
महा प्रशासक, बंगाल बनाम प्रेम नाथ मल्लिक (Administrator General of Bengal *Vs.* Prem Nath Mallick);

[1892] 1 क्यू० बी० 273, 290 :

क्वीन बनाम जज ऑफ सिटि ऑफ लन्दन कोर्ट (Queen *Vs.* Judge of city of London Court);

[1887] 12 ए० सी० 575, 587 :

बैंक ऑफ टोरोण्टो बनाम लाम्बे (Bank of Toronto *Vs.* Lambe);

[1883] 9 अपील केसिस 117 :

हॉज बनाम क्वीन (Hodge *Vs.* Queen);

[1878] 3 अपील केसिस 1090 :

अटर्नी जनरल बनाम क्वीन इन्श्योरेन्स कम्पनी (Attorney General *Vs.* Queen Insurance Company);

[1878] 3 ए० सी० 905 :

क्वीन बनाम बुराह (Queen *Vs.* Burah);

[1876-77] 4 चान्सरी डिवीजन 588, 592 :

बेण्टले बनाम रोथरहम (Bentley *Vs.* Rotherham);

[1857] 6 एच० एल० सी० 61, 106 :

ग्रे बनाम पियर्सन (Grey *Vs.* Pearson);

[1855] 18 एचबो [illegible] 331, 348 :

डॉज बनाम वूल्से (Dodge *Vs.* Woolsey);

[1852] 7 अपील केसिस 829, 838-840 :

चार्ल्स रस्सेल बनाम क्वीन (Charles Russell *Vs.* Queen);

[1831] 11 [illegible] 480 :

वारबर्टन बनाम लवलैण्ड (Warburton *Vs.* Loveland);

100 लॉयर्स इडिशन 311 :

उल्लमान्न बनाम यूनाइटेड स्टेट्स (Ullmann *Vs.* United States);

87 लॉयर्स इडिशन 1796 :

[illegible] (Schnei[illegible] *Vs.* United States);

77 लॉयर्स इडिशन 1372, 1380 :

[illegible] States);

75 लॉयर्स इडिशन 640 :
यूनाइटेड स्टेट्स ऑफ अमरीका बनाम विलियम एच० सोरेग (United States of Amrica *Vs.* Willian H. Sorague);

66 लॉयर्स इडिशन 595 (511)-258 यू० एस० 13 :
लैसर बनाम गारनेट (Lesser *Vs.* Garnett);

65 लॉयर्स इडिशन 994 :
जे० जे० ढिल्लों बनाम आर० डब्ल्यू० ग्लोस (J.J. Dhillon *Vs.* R. W. Gloss);

64 लॉयर्स इडिशन 946 :
रहोड आइसलैण्ड बनाम पलमार (Rhode Island *Vs.* Palmar);

64 लॉयर्स इडिशन 871=283 यू० एस० 221 :
हॉक्स बनाम स्मिथ (Hawks *Vs.* Smith);

62 लॉयर्स इडिशन 372,376=245 यू० एस० 418,425 :
टोवी बनाम आइसनर (Towie *Vs.* Eisner);

40 लॉयर्स इडिशन 579,594 :
होल्मस बनाम जेनीसन (Holmes *Vs.* Jannison);

19 लॉयर्स इडिशन, सैकेण्ड 228 :
हॉवर्ड जोसेफ व्हाइटहिल बनाम विलसन एलकिन्स (Howard Joseph Whitehill *Vs.* Wilson Elkins);

4 लॉयर्स इडिशन 579,607 :
मेकक्लॉक बनाम मैरिलैण्ड (McCullock *Vs.* Maryland);

36 ए० एल० आर० 1451,1455 :
एक्स पारटि श्रीमती डी० सी० करबी (*Ex-parte* Mrs. D.C. Kerby);

95 सी० एल० आर० 529,547 :
अटर्नी जनरल ऑफ कॉमनवैल्थ ऑफ आस्ट्रेलिया बनाम क्वीन और कुछ अन्य (Attorney General of Commonwealth of Austrialia *Vs.* Queen and Others);

83 सी० एल० आर० 1 :
आस्ट्रेलियन कॉम्यूनिस्ट पार्टी बनाम कॉमनवैल्थ (Austrialian Communist Party *Vs.* Commonwealth);

46 सी० एल० आर० 155 :
न्यू साउथ वेल्स बनाम कॉमनवेल्थ (New South Wales *Vs.* Commonwealth);

23 सी० एल० आर० 457,
टेलर बनाम अटर्नी जनरल ऑफ क्वीन्सलैण्ड (Taylor *Vs.* Attorney General of Queensland);

343 यू० एस० 250 :
ब्यूहैरेनिस बनाम इल्लिनॉयस (Beauharanis *Vs.* Illinois);

282 यू० एस० 716 :
यूनाइटेड स्टेट्स बनाम स्प्रेग (United State *Vs.* Spriague);

169 यू० एस० 290,318 :
यूनाइटेड स्टेट्स बनाम ट्रान्स मिसोरी फ्रेट एसोसिएशन (United States *Vs.* Trans-Missouri Freight Association);

299 एन० डब्लयू० 574,578, एन० डी० 153 :
स्टेट एक्स० रेल० स्ट्रट बनाम बेकर (State ex. rel. Strut *Vs.* Baker);

14 सी० बी० (एन० एस०) 180 :
कूपर बनाम वडर्सवर्थ बोर्ड ऑफ वर्क्स (Cooper *Vs.* Wardsworth Board of Works);

साउथ वेस्टर्न रिपोर्टर वाल्यूम 33,1130 :
एडवर्ड्स बनाम लेस्यूर (Edwards *Vs.* Lesueur);

102 केल० 118 :
लीवरमोर बनाम वेटे (Livermore *Vs.* Waite);

262 फैडरल रिपोर्टर 563 (जिसका विनिश्चय 1920 में किया गया)।
एक्स पारटि डिल्लों (*Ex-parte* Dillon);

8 आर्क 436 :
स्टेट बनाम कोय (State *Vs.* Coy);

198 सदर्न रिपोर्टर 231 :
डाउन्स बनाम सिटि ऑफ बिरमिंघम (Downs *Vs.* City of Birmingham);

124 एन० ई० 172 :
स्टेट बनाम फुल्टन (State *Vs.* Fulton).

आरम्भिक अधिकारिता : 1970 का संख्या 135 वाला रिट पिटीशन।

(भारत के संविधान के अनुच्छेद 32 के अधीन मूल अधिकारों के प्रवर्तन के लिए पिटीशन)

पिटीशनर की ओर से (1970 के संख्या 135 वाले रिट पिटीशन में) — सर्वश्री एन० ए० पालखीवाला, सी० के० दफ्तरी, एम० सी० छागला, सोली सोराबजी, अनिल बी० दीवान, के० टी० हरिप्रसाद, जे० बी० दादाचांजी, बी० बी० मुर्डेश्वर, अनवरुल्ला पाशा, रविन्द्र नारायण, ओ० सी० माथुर, एस० स्वरूप, और एस० आई ठाकोर

प्रत्यर्थी संख्या 1 की ओर से (1970 के संख्या 135 वाले रिट पिटीशन में) — सर्वश्री एच० एम० सीरवाई (महाराष्ट्र के महाधिवक्ता), एम० एम० अब्दुल कादिर (केरल के महाधिवक्ता), टी० आर० अन्ध्यरुजिना और के० एम० के० नायर

प्रत्यर्थी संख्या 2 की ओर से (1970 के संख्या 135 वाले रिट पिटीशन में) — सर्वश्री नीरेन डे (भारत के महान्यायवादी), लाल नारायण सिन्हा (भारत के महासॉलिसिटर), आर० एन० सचदे, राम पंजवानी और कुमारी सुमित्रा चक्रवर्ती

आन्ध्र प्रदेश के महाधिवक्ता की ओर से (1970 के संख्या 135 वाले रिट पिटीशन में) — सर्वश्री पी० रामचन्द्रन रेड्डी (आन्ध्र प्रदेश के महाधिवक्ता), टी० बी० एस० नरसिंह-चारी और पी० परमेश्वर राव

आसाम राज्य के महाधिवक्ता की ओर से (1970 के संख्या 135 वाले रिट पिटीशन में) — डा० जे० सी० मेधी (आसाम राज्य के महाधिवक्ता), सर्वश्री मोईनुल हक चौधरी और नवनीत लाल

बिहार राज्य के महाधिवक्ता की ओर से (1970 के संख्या 135 वाले रिट पिटीशन में) — सर्वश्री बलभद्र प्रसाद सिंह, (बिहार राज्य के महाधिवक्ता) और यू० पी० सिंह

जम्मू और कश्मीर राज्य के महाधिवक्ता की ओर से (1970 के संख्या 135 वाले रिट पिटीशन में) — सर्वश्री आर० के० गर्ग, ओ० एन० टिक्कु, एस० सी० अग्रवाल और विनीत कुमार

मध्य प्रदेश राज्य के महाधिवक्ता की ओर से (1970 के संख्या 135 वाले रिट पिटीशन में) — सर्वश्री वाई० एस० धर्माधिकारी (महाधिवक्ता), बे० पी० बाजपयी, (मध्य प्रदेश राज्य के उप महाधिवक्ता) और आई० एन० श्रॉफ

महाराष्ट्र राज्य के महाधिवक्ता की ओर से (1970 के संख्या 135 वाले रिट पिटीशन में)	सर्वश्री एच० एम० सीरवाई (महाराष्ट्र राज्य के महाधिवक्ता), टी० आर० आण्ध्यरुजिना और एस० पी० नायर
मणीपुर राज्य के महाधिवक्ता की ओर से (1970 के संख्या 135 वाले रिट पिटीशन में)	सर्वश्री आर० एन० सचदे और एस० के० नन्दी
मेघालय राज्य के महाधिवक्ता की ओर से (1970 के संख्या 135 वाले रिट पिटीशन में)	सर्वश्री नीरेन्द्र मोहन लाहिड़ी (मेघालय राज्य के महाधिवक्ता) और डी० एन० मुखर्जी
मैसूर राज्य के महाधिवक्ता की ओर से (1970 के संख्या 135 वाले रिट पिटीशन में)	सर्वश्री आर० एन० बयरा रेड्डी (मैसूर राज्य महाधिवक्ता), चन्द्रकान्त उर्स (सरकारी अधिवक्ता, मैसूर) और एम० वीरप्पा
नागालैण्ड के महाधिवक्ता की ओर से (1970 के संख्या 135 वाले रिट पिटीशन में)	सर्वश्री एस० के० घोष (नागालैण्ड राज्य के महाधिवक्ता), नवनीत लाल, एन० के० सीमा और ए० आर० प्रस्ठाकर
उड़ीसा राज्य के महाधिवक्ता की ओर से (1970 के संख्या 135 वाले रिट पिटीशन में)	सर्वश्री गंगाधर रत्न (उड़ीसा राज्य के महाधिवक्ता), गोविन्द दास और बी पार्थसारथी
पंजाब राज्य के महाधिवक्ता की ओर से (1970 के संख्या 135 वाले रिट पिटिशन में)	श्री आर० एन० सचदे
राजस्थान राज्य के महाधिवक्ता की ओर से (1970 के संख्या 135 वाले रिट पिटीशन में)	डा० एल० एम० सिंघवी (राजस्थान राज्य के महाधिवक्ता), सर्वश्री के० बलदेव मेहता और सोभागमल जैन
तामिलनाडु राज्य के महाधिवक्ता की ओर से (1970 के संख्या 135 वाले रिट पिटीशन में)	सर्वश्री एस० गोविन्दस्वामीनाथन् (तमिलनाडु राज्य के महाधिवक्ता), ए० वी० रंगम्, एन० एस० श्रीराम और कुमारी ए० सुभाषिनी

उत्तर प्रदेश राज्य के महाधिवक्ता की ओर से (1970 के संख्या 135 वाले रिट पिटीशन में)	सर्वश्री एस० एन० कक्कड़ (उत्तर प्रदेश राज्य के महाधिवक्ता) और ओ० पी० राणा
मध्यक्षेपी संख्या 1 की ओर से (1970 के संख्या 135 वाले रिट पिटीशन में)	सर्वश्री विनायक बनर्जी, सोमन बोस, सुप्रकाश बनर्जी और जी० एस० चटर्जी
मध्यक्षेपी संख्या 2 और 3 की ओर से (1970 के संख्या 135 वाले रिट पिटीशन में)	सर्वश्री ओ०बी० रायका, एस० एस० जावाली, आर० एल० रुस्तम और एम० के० पुरी
मध्यक्षेपी संख्या 4 से 6 तक की ओर से (1970 के संख्या 135 वाले रिट पिटीशन में)	सर्वश्री डी० एम० पल्लकर, सी० के० रत्नपारखी और ए० जी० रत्नपारखी
मध्यक्षेपी संख्या 7 और 8 की ओर से (1970 के संख्या 135 वाले रिट पिटीशन में)	सर्वश्री महिन्द्रनाथ घोष, सोमन बोस, सचेन्द्र शेखर राय और जी० एस० चटर्जी
मध्यक्षेपी संख्या 20 की ओर से (1970 के संख्या 135 वाले रिट पिटीशन में)	कुमारी लिली थॉमस
मध्यक्षेपी संख्या 9 की ओर से (1970 के संख्या 135 और 1972 के संख्या 373 वाले रिट पिटीशनों में)	सर्वश्री अनिल दीवान, जे० बी० दादाचांजी, एस० आई० ठाकोर, पी० एम० दांडेकर, डी० एम० पोपट, एम० एल० भक्त, रवीन्द्र नारायण और ओ० सी० माथुर
मध्यक्षेपी संख्या 10 की ओर से (1970 के संख्या 135 और 1972 के संख्या 373 वाले रिट पिटीशनों में)	सर्वश्री एन० ए० पालखीवाला, वासुदेव प्रसाद, जे० बी० दादाचांजी, एस० आई० ठाकोर, पी० एम० दांडेकर, डी० एम० पोपट, एम० एल० भक्त, रवीन्द्र नारायण और ओ० सी० माथुर
मध्यक्षेपी संख्या 11 से 19 तक की ओर से (1970 के संख्या 135 और 1972 के संख्या 373 वाले रिट पिटीशनों में)	सर्वश्री एन० ए० पालखीवाला, अनिल दीवान, एस० आई० ठाकोर, पी० एम० दांडेकर, डी० एम० पोपट, एम० एल० भक्त, जे० बी० दादाचांजी, रवीन्द्र नारायण, ओ० सी० माथुर और एस० स्वरूप

पिटीशनर की ओर से (1972 के संख्या 351 वाले रिट पिटीशन में)	सर्वश्री एन० ए० पालखीवाला, एम० सी० छागला, सोली सोराबजी, बी० जी० मुड्डेश्वर, जे० बी० दादाचांजी, रवीन्द्र नारायण, ओ० सी० माथुर, एस० स्वरूप और ए० जी० मेनसेस
पिटीशनर की ओर से (1972 के संख्या 352 वाले रिट पिटीशन में)	सर्वश्री सोली सोराबजी, बी० जी० मुड्डेश्वर, रवीन्द्र नारायण, ओ० सी माथुर, एस० स्वरूप और ए० जी० मेनसेस
प्रत्यर्थी संख्या 1 की ओर से (1972 के संख्या 351 वाले रिट पिटीशन में)	सर्वश्री नीरेन डे (भारत के महान्यायवादी), लाल नारायण सिन्हा (भारत के महासॉलिसिटर), डी० पी० सिंह, जी० एल० सिंह, आर० एन० सचदे और बी० डी० शर्मा
प्रत्यर्थी संख्या 1 की ओर से (1972 के संख्या 352 वाले रिट पिटीशन में)	सर्वश्री नीरेन डे (भारत के महान्यायवादी), लाल नारायण सिन्हा (भारत के महासॉलिसिटर), डी० पी० सिंह, आर० एन० सचदे और बी० डी० शर्मा
आन्ध्र प्रदेश राज्य के महाधिवक्ता की ओर से (1972 के संख्या 351 और 352 वाले रिट पिटीशनों में)	सर्वश्री पी० रामचन्द्रन् रेड्डी (आन्ध्र प्रदेश राज्य के महाधिवक्ता), जी० नारायण राव, पी० परमेश्वर राव
बिहार राज्य के महाधिवक्ता की ओर से (1972 के संख्या 351 और 352 वाले रिट पिटीशनों में)	सर्वश्री बलभद्र प्रसाद सिंह (बिहार राज्य के महाधिवक्ता), राधा रमण, जय नारायण और यू० पी० सिंह
मनीपुर राज्य के महाधिवक्ता की ओर से (1972 के संख्या 351 और 352 वाले रिट पिटीशनों में)	सर्वश्री एन० इबोतोंबी सिंह, एस० के० नन्दी और आर० एन० सचदे
उड़ीसा राज्य के महाधिवक्ता की ओर से (1972 के संख्या 351 और 352 वाले रिट पिटीशनों में)	सर्वश्री गंगाधर रत्न (उड़ीसा राज्य के महाधिवक्ता) और जी० एस० चटर्जी

पंजाब राज्य के महाधिवक्ता की ओर से (1972 के संख्या 351 वाले रिट पिटीशन में)	श्री आर० एन० सचदे
मध्यक्षेपी संख्या 1 की ओर से (1972 के संख्या 351 वाले रिट पिटीशन में)	सर्वश्री बासुदेव प्रसाद और एन० एन० शर्मा
मध्यक्षेपी संख्या 2 की ओर से (1972 के संख्या 351 वाले रिट पिटीशन से)	सर्वश्री संतोख सिंह और बी० मायाकृष्णन्
पिटीशनर की ओर से (1972 के संख्या 373 वाले रिट पिटीशन में)	सर्वश्री सी० के० दफ्तरी, आर०-एन० बनर्जी, जे० बी० दादाचांजी, रवीन्द्र नारायण, ओ० सी माथुर, पी० सी० भरतरी और एस० स्वरूप
पिटीशनर की ओर से (1972 के संख्या 374 वाले रिट पिटीशन में)	सर्वश्री एम० सी० छागला, सी० के० दफ्तरी, आर० एन० बनर्जी जे० बी० दादाचांजी, रवीन्द्र नारायण, ओ० सी० माथुर, पी० सी० भरतरी, एस० स्वरूप और श्रीमती एन० ए० पालखीवाला
प्रत्यर्थी संख्या 1 की ओर से (1972 के संख्या 373 वाले रिट पिटीशन में)	सर्वश्री नीरेन डे (भारत के महान्यायवादी), लाल नारायण सिन्हा (भारत के महासॉलिसिटर), एम० के० राममूर्ति और आर० एन० सचदे
प्रत्यर्थी संख्या 1 की ओर से (1972 के संख्या 374 वाले रिट पिटीशन में)	सर्वश्री नीरेन डे (भारत के महान्यायवादी), लाल नारायण सिन्हा (भारत के महासॉलिसिटर), आर० एच० ढेबर, आर० एन० सचदे और बी० डी० शर्मा
पिटीशनर की ओर से (1972 के संख्या 400 वाले रिट पिटीशन में)	सर्वश्री एन० ए० पालखीवाला, सी० के० दफ्तरी, आर० एन० बनर्जी, जे० बी० दादाचांजी, रवीन्द्र नारायण, ओ० सी० माथुर, पी० सी० भरतरी और एस० स्वरूप
प्रत्यर्थी संख्या 1 की ओर से (1972 के संख्या 400 वाले रिट पिटीशन में)	सर्वश्री नीरेन डे (भारत के महान्यायवादी), लाल नारायण सिन्हा (भारत के महासॉलिसिटर), आर० एन० सचदे, एस० पी० नय्यर और श्री एस० एन० प्रसाद

मुख्य न्यायाधिपति सीकरी—

मैं अपने निर्णय को आठ भागों में बांटना चाहता हूं। पहला भाग प्रस्तावना से संबंधित है। दूसरा भाग गोलक नाथ वाले मामले के निर्वचन से, तीसरा भाग मूल अनुच्छेद 368 के, जैसा कि वह संशोधन के पूर्व था, निर्वचन से चौथा भाग संविधान (चौबीसवां संशोधन) अधिनियम की विधिमान्यता से, पांचवां भाग संविधान (पच्चीसवां संशोधन) अधिनियम की धारा 2 की विधिमान्यता से, छठा भाग संविधान (पच्चीसवां संशोधन) अधिनियम की धारा 3 की विधिमान्यता से, सातवां भाग संविधान (उन्तीसवां संशोधन) अधिनियम से तथा आठवां भाग निष्कर्षों से संबंधित है।

भाग I—प्रस्तावना

इन समस्त 6 रिट पिटीशनों में संविधान के चौबीसवें, पच्चीसवें और उन्तीसवें संशोधनों की विधिमान्यता का एक ही प्रश्न विचार के लिए है। मैं 1970 के संख्या 135 वाले रिट पिटीशन के तथ्यों को यह दर्शित करने के लिए दे रहा हूं कि कैसे इस पिटीशन में यह प्रश्न उत्पन्न हुआ था। पिटीशनर ने संविधान के अनुच्छेद 32 के अधीन संविधान के अनुच्छेद 25, 26, 14, 19 (1) (च) तथा 31 के अधीन अपने मूल अधिकारों के प्रवर्तन के लिए 21 मार्च, 1970 को 1970 का संख्या 135 वाला रिट पिटीशन फाइल किया था। उसमें यह प्रार्थना की थी कि केरल भूमि सुधार (संशोधन) अधिनियम, 1969 (1969 का अधिनियम 35) द्वारा यथा संशोधित केरल भूमि सुधार अधिनियम 1963 (1964 का अधिनियम 1) को असांविधानिक, अधिकारातीत और शून्य घोषित किया जाए। उसने यह और भी प्रार्थना की कि इस पिटीशन के लम्बन की अवधि में समुचित रिट या आदेश जारी किया जाए। इस न्यायालय ने 25 मार्च, 1970 को अन्तरिम आदेश जारी किया।

इस रिट पिटीशन के लम्बन की अवधि में केरल भूमि सुधार (संशोधन) अधिनियम, 1971 (1971 का केरल अधिनियम 25) पारित हुआ जिसे 7 अगस्त, 1971 को राष्ट्रपति ने अनुमति प्रदान की। पिटीशनर ने अतिरिक्त आधारों की दलील देने के लिए तथा केरल भूमि सुधार (संशोधन) अधिनियम, 1971 (1971 का केरल अधिनियम 25) की सांविधानिक विधिमान्यता पर आक्षेप करने के लिए अनुमति के लिए आवेदन फाइल किया।

इसी बीच उच्चतम न्यायालय ने 26 अप्रैल, 1971 वाले कुंजूकुट्टी साहिब बनाम केरल राज्य और एक अन्य([1]) वाले अपने निर्णय में केरल उच्च न्यायालय द्वारा वी० एम० नारायणन नायर बनाम केरल राज्य([2]) वाले मामले में दिए गए बहुमत के उस निर्णय को कायम रखा जिसके द्वारा अधिनियम की कतिपय धाराएं अभिखण्डित की गई थीं।

([1]) (1972) एस० सी० सी० 364=[1972] 3 उम० नि० प० 797.

([2]) ए० आई० आर० (1971) केरल 98.

संविधान (चौबीसवां संशोधन) अधिनियम 5 नवम्बर, 1971 को प्रभावी हुआ था। संविधान (पच्चीसवां संशोधन) अधिनियम 20 अप्रैल, 1972 को प्रभावी हुआ था और संविधान (उन्तीसवां संशोधन) अधिनियम 9 जून, 1972 को प्रवर्तन में आया था। संविधान के उन्तीसवें संशोधन का यह प्रभाव था कि इसके संविधान की नवम अनुसूची में निम्नलिखित अधिनियम अन्तःस्थापित किए गए थे।

"66. केरल भूमि सुधार (संशोधन) अधिनियम, 1969 (1969 का केरल अधिनियम 35)

66. केरल भूमि सुधार (संशोधन) अधिनियम, 1971 (1971 का केरल अधिनियम 25)।"

पिटीशनर ने तब अतिरिक्त आधारों की दलील देने के लिए तथा रिट पिटीशन के संशोधन के लिए एक आवेदन इसलिए दिया जिससे कि वह सांविधानिक संशोधनों को चुनौती दे सके।

न्यायालय ने अतिरिक्त आधारों पर दलील देने के लिए तथा रिट पिटीशन को संशोधित करने के लिए तारीख 10 अगस्त, 1972 को आवेदन मंजूर कर लिया और महाधिवक्ता को सूचनाएं जारी कीं कि जैसा कि उसे सलाह दी जाए उसके अनुसार वह इस न्यायालय के समक्ष उपस्थित होकर इन कार्यवाहियों में वैसी कार्यवाही करे।

जब यह मामला पूर्ण न्यायपीठ के समक्ष रखा गया तो इसने इस मामले को इसलिए बृहत्तर न्यायपीठ को निर्दिष्ट कर दिया कि वह आक्षेपित सांविधानिक संशोधनों की विधिमान्यता पर विचार करे।

दूसरे रिट पिटीशनों में भी इसी प्रकार के आदेश दिए गए।

तदनुसार बृहत्तर न्यायपीठ गठित किया गया। यह सोचा गया कि यह आवश्यक होगा कि यह विनिश्चय किया जाए कि आई० सी० गोलक नाथ बनाम पंजाब राज्य[1] वाला मामला सही तौर पर विनिश्चित किया गया था या नहीं। जैसा कि हम समझते हैं कि यद्यपि यह प्रश्न कि गोलक नाथ वाला मामला सही रूप में विनिश्चित किया गया था या नहीं यह महत्व का प्रश्न नहीं था क्योंकि वास्तविक प्रश्न इससे भिन्न था और इससे अधिक महत्वपूर्ण था। विवाद्यक यह था कि अनुच्छेद 13(2) के अतिरिक्त संविधान के अनुच्छेद 368 द्वारा संशोधन करने वाली जो शक्ति संसद् को प्राप्त है उसकी सीमा क्या है?

प्रत्यर्थियों का दावा है कि संसद् ऐसे मूल अधिकारों को निराकृत कर सकता है जैसे कि वाक् और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता, संस्था और संघ बनाने की स्वतन्त्रता तथा धर्म की स्वतन्त्रता। उनका दावा है कि लोकतन्त्र को हटाकर एक दलीय शासन भी स्थापित किया जा सकता है वास्तव में संविधान के निरसन को छोड़कर संसद् अनुच्छेद 368 के अधीन शक्तियों का प्रयोग करके किसी भी प्रकार की ऐसी सरकार की स्थापना कर सकता है जिसमें कि उसके नागरिकों को कोई अधिकार न हो।

(1) (1967) 2 एस० सी० आर० 762.

पिटीशनरों की ओर से यह दलील दी गई है कि संसद् की यह शक्ति बहुत ही अधिक सीमित है। पिटीशनरों का कहना है कि संविधान में भारतीय नागरिकों को वे स्वतन्त्रताएं प्रदान की है जिनको कि शाश्वत् बने रहना है तथा संविधान इस उद्देश्य से प्रारूपित किया गया था कि जनता के प्रतिनिधियों द्वारा की जाने वाली किसी भविष्य की निरंकुशता से राष्ट्र को बचाया जाए। यह निरंकुशता से बचने की स्वतन्त्रता है जो पिटीशनरों के कथनानुसार इस आक्षेपित अनुच्छेद 31ग द्वारा छीन ली गई है जिसे पच्चीसवें संशोधन में अन्तःस्थापित किया गया है। यदि अनुच्छेद 31ग विधिमान्य है तो उनका यह कहना है कि इसके पश्चात् संसद् और राज्य के विधानमंडल न कि संविधान यह निश्चित करेंगे कि नागरिकों के हित के लिए कितनी स्वतन्त्रता आवश्यक है।

इन मामलों से गम्भीर समस्याएं उत्पन्न हुई हैं किन्तु चाहे ये समस्याएं कितनी भी गम्भीर हों, इनका उत्तर उस संविधान के, जैसे कि जनता ने स्वयं को आत्मार्पित किया है, निर्वचन को लागू होने वाले सिद्धान्तों के आधार पर अनुच्छेद 368 की शब्दावली निर्वचन द्वारा दिया जाएगा।

मैं अनुच्छेद 368 का निर्वचन अपने संविधान की रचना, अपने इतिहास की पृष्ठभूमि तथा अपनी महत्वाकांक्षाओं और आशाओं तथा अन्य सुसंगत परिस्थितियों को दृष्टि में रख कर करूंगा। हमारे संविधान की तरह विश्व में कोई संविधान नहीं है। किसी भी संविधान के अधिकार सीमा में इतने विभिन्न प्रकार के लोग नहीं हैं जिनकी संख्या अब 55 करोड़ से अधिक हो गई है तथा जिनकी विभिन्न भाषाएं और धर्म हैं तथा जो आर्थिक विकास की विभिन्न अवस्थाओं में जीवनयापन कर रहे हैं। किसी भी दूसरे राष्ट्र के सामने इतनी विशाल सामाजिक और आर्थिक समस्याएं नहीं हैं।

हमें यह मत देना आवश्यक नहीं है कि हम एक मामूली कानून का निर्वचन नहीं कर रहे हैं बल्कि ऐसे संविधान का जिसमें सरकारी यन्त्र की स्थापना के अतिरिक्त उस में उच्च और महान भविष्य निरूपण की झलक है। इस झलक को प्रस्तावना के शब्दों द्वारा दर्शाया गया है और जनता को मूल अधिकार प्रदत्त करके भागतः इसका कार्यान्वयन किया गया है। इस भविष्य की झलक का यह उद्देश्य है कि निदेशक तत्वों को लागू करके इसे और कार्यान्वित किया जाए।

भाग II—गोलक नाथ वाले मामले का निर्वचन

मुख्य विषय पर विचार करने से पूर्व यह आवश्यक है कि इस प्रश्न का उत्तर दिया जाए कि आई० सी० गोलक नाथ बनाम पंजाब राज्य(1) वाले मामले में क्या विनिश्चय किया गया था। उस मामले को उचित रूप से समझने के लिए यह आवश्यक है कि श्री शंकरी प्रसाद सिंह देव बनाम भारत संघ और बिहार राज्य(2) और सज्जन सिंह बनाम राजस्थान राज्य(3) वाले मामलों का सिंहावलोकन कर दिया जाए।

(1) (1967) 2 एस० सी० आर० 762.
(2) (1952) एस० सी० आर० 89.
(3) (1965) 1 एस० सी० आर० 933.

संविधान (प्रथम संशोधन) अधिनियम, 1951 जिसमें अन्य बातों के साथ-साथ अनुच्छेद 31क और 31ख संविधान में अन्तःस्थापित किए गए थे शंकरी प्रसाद वाले मामले([1]) के विनिश्चय की विषयवस्तु थे। मुख्य दलीलों पर, जो इस मामले में सुसंगत हैं और जो इस न्यायालय के समक्ष पिटीशन के समर्थन में दी गई थीं, न्यायाधिपति पातन्जलि शास्त्री ने, जैसे कि वे उस समय थे, संक्षिप्त रूप में निम्नलिखित वर्णन किया है—

"प्रथम, अनुच्छेद 368 के अधीन उपबन्धित संविधान के संशोधन की शक्ति संसद् को प्रदत्त नहीं की गई थी अपितु अभिहित निकाय के रूप में संसद् के दोनों सदनों को प्रदत्त की गई थी और इसलिए अन्तरिम संसद् को अनुच्छेद 379 के अधीन उस शक्ति के प्रयोग करने की सक्षमता नहीं थी।

चौथी, उस दशा में जबकि अनुच्छेद 368 स्वतः एक सम्पूर्ण संहिता है और उसमें इस बात का उपबन्ध नहीं है कि जब कि सदन के समक्ष विधेयक पुरःस्थापित किए जाने के पश्चात् उसमें कोई संशोधन किया जाए। प्रस्तुत मामले में विधेयक सदन के वाचन के दौरान विभिन्न विशिष्टियों में संशोधित किया गया है, जिसे दोनों पक्ष स्वीकार करते हैं, इसलिए इस संशोधन अधिनियम के बारे में यह नहीं कहा जा सकता कि वह अनुच्छेद 368 में विहित प्रक्रिया के अनुरूप पारित किया गया है।

पांचवां, यह संशोधन अधिनियम, जहां तक इसका यह तात्पर्य है कि यह संविधान के भाग 3 द्वारा प्रदत्त अधिकारों को छीनता है या न्यून करता है, यह अनुच्छेद 13(2) के प्रतिषेध के अन्तर्गत आता है।"

× × × × ×

जैसा कि शीर्ष टिप्पण में कहा गया है, इस न्यायालय में यह अभिनिर्धारित किया था—

"अन्तरिम संसद् को अनुच्छेद 368 के अधीन संविधान को संशोधित करने की शक्ति के प्रयोग की सक्षमता नहीं है। इस तथ्य से कि उक्त अनुच्छेद संसद् के दोनों सदनों तथा पृथक् रूप से राष्ट्रपति के प्रति न कि संसद् के प्रति निर्देश करता है, यह उपधारणा नहीं की जा सकती कि वह निकाय जिसे संशोधन करने की शक्ति से विनिहित किया गया है, संसद् नहीं है अपितु ऐसा निकाय है जिसमें दोनों सदन सम्मिलित हैं। अनुच्छेद 379 में प्रयुक्त ये शब्द 'इस संविधान के उपबन्धों द्वारा संसद् को प्रदत्त समस्त शक्तियां' ऐसी शक्तियों से सीमित नहीं हैं, जो ऐसे अन्तरिम संसद् द्वारा प्रयुक्त की जा सकें जो केवल एकल सदनीय हो। किन्तु वे इतनी अधिक व्यापक हैं जिनके अन्तर्गत अनुच्छेद 368 द्वारा प्रदत्त संविधान को संशोधित करने की शक्ति आती है।

([1]) (1952) एस० सी० आर० 89.

मैं यहां यह उल्लेख कर दूं कि श्री सीरवाई ने यह दलील दी है कि जिस निष्कर्ष की अभी चर्चा की गई है वह गलत है कि वह निकाय, जो अनुच्छेद 368 के अधीन संविधान का संशोधन करता है, संसद् नहीं है ।

इस न्यायालय ने आगे यह अभिनिर्धारित किया था कि—

"यह दृष्टिकोण गलत है कि अनुच्छेद 368 उसके द्वारा उपबन्धित प्रक्रिया की बाबत स्वयं में एक पूर्ण संहिता है और उसमें उस दशा में संविधान के संशोधन के लिए विधेयक में कोई संशोधन अनुध्यात नहीं है जब कि विधायक पुरःस्थापित किया जा चुका हो और यह कि यदि सदन के वाचन के दौरान विधेयक संशोधित किया जाता है तो उस संशोधन अधिनियम के बारे में यह नहीं कहा जा सकता कि वह अनुच्छेद 368 द्वारा विहित प्रक्रिया के अनुरूप पारित किया गया है और वह अविधिमान्य होगा ।

यद्यपि विधि के अन्तर्गत मामूली तौर पर सांविधानिक विधि आनी चाहिए फिर भी उस मामूली विधि के, जो विधायी शक्ति के प्रयोग द्वारा बनाई जाती है, तथा उस सांविधानिक विधि के, जो सांविधानिक शक्ति के प्रयोग द्वारा बनाई जाती है, बीच स्पष्ट सीमांकन है । अनुच्छेद 13 के प्रसंग में 'विधि' का यह अर्थ लगाया जाना चाहिए कि वह मामूली विधायी शक्ति के प्रयोग में बनाए गए नियम और विनियम हैं न कि सांविधानिक शक्ति के प्रयोग द्वारा बनाए गए संविधान के संशोधन । फलस्वरूप अनुच्छेद 13(2) अनुच्छेद 368 के अधीन किए गए संशोधन को प्रभावित नहीं करता है ।"

यद्यपि शंकरी प्रसाद वाले मामले[1] में जो विनिश्चय किया गया था सज्जन सिंह वाले मामले[2] में उसको चुनौती नहीं दी गई है किन्तु मुख्य न्यायाधिपति गजेन्द्रगडकर ने यह उचित समझा कि उस विनिश्चय के प्रति पूर्ण सहमति प्रकट करने के लिए कारण दिए जाएं ।

इस न्यायालय के समक्ष मात्र यह दलील दी गई थी कि चूंकि "यह प्रतीत होता है कि अनुच्छेद 226 द्वारा विहित शक्तियां भाग 3 में अन्तर्विष्ट उपबन्धों के आशयित संशोधन द्वारा प्रभावित हो सकती हैं इसलिए ऐसे संशोधन करने के प्रयोजन से जो विधेयक पुरःस्थापित किया गया है उसे यह परन्तुक लागू होना चाहिए और चूंकि आक्षेपित अधिनियम को इस परन्तुक द्वारा विहित प्रक्रिया के अनुसार पारित नहीं किया गया है, जिसे कि दोनों पक्ष मानते हैं, इसलिए यह अविधिमान्य है । मुख्य न्यायाधिपति गजेन्द्रगडकर के मतानुसार "उससे अनुच्छेद 368 में अन्तर्विष्ट उपबन्धों के अर्थान्वयन के बारे में तथा अनुच्छेद 368 के मुख्य भाग और उसके परन्तुक के बीच के सम्बन्ध के बारे में प्रश्न उत्पन्न हुआ ।"

मुख्य न्यायाधिपति का यह निष्कर्ष था कि "जहां तक अर्थान्वयन का मामला है इस निष्कर्ष के लिए कोई गुंजाइश नहीं है कि अनुच्छेद 368 में भाग 3 में

---

(1) (1952) एस० सी० आर० 89.

(2) (1965) 1 एस० सी० आर० 933.

अन्तर्विष्ट उपबन्धों के संशोधन का ऐसा उपबन्ध है जिसमें संसद् पर परन्तुक द्वारा विहित प्रक्रिया का अनुसरण करने की बाध्यता आरोपित नहीं की गई है।"

विद्वान् मुख्य न्यायाधिपति का यह विचार था कि इस प्रसंग में संशोधन करने की शक्ति बहुत ही व्यापक शक्ति है। इसलिए "संशोधन करना" पद को शाब्दिक कोष के अर्थ द्वारा नहीं समझा जा सकता। उन्होंने अनुच्छेद 368 के अधीन किए गए संशोधन अधिनियमों में अनुच्छेद 13(2) लागू होने की बाबत न्यायाधिपति पतञ्जलि शास्त्री से पूर्ण सहमति प्रकट की। उन्होंने आगे यह अभिनिर्धारित किया कि जब अनुच्छेद 368 द्वारा संसद् को संविधान को संशोधित करने की शक्ति प्रदत्त की जाती है तो वह संविधान के समस्त उपबन्धों के लिए प्रयोग कर सकता है। उनका यह विचार था कि "यदि संविधान के निर्माताओं का यह आशय होता कि मूल अधिकारों की बाबत उपबन्धों के भविष्य के संशोधन को अनुच्छेद 13(2) के अधीन रखा जाए तो उन्होंने इस बात की पूरी सावधानी बरती होती और इस निमित्त स्पष्ट उपबन्ध करते।"

उन्होंने ए० के० गोपालन बनाम मद्रास राज्य[1] वाले मामले में मुख्य न्यायाधिपति कानिया के निम्न मतों के प्रति सहमति प्रकट की थी—

> "संविधान में अनुच्छेद 13(1) और (2) को सम्मिलित किए जाने से यह प्रतीत होता है कि यह यथेष्ट सावधानी बरतने के लिए की गई है। इसके अभाव में भी यदि किसी मूल अधिकार का किसी विधायी अधिनियमिति द्वारा अतिक्रमण होता है तो न्यायालय को शाश्वत् शक्ति है कि वह उस अधिनियमिति को उस सीमा तक अविधिमान्य घोषित कर दे जहां तक वह सीमाओं का अतिक्रमण करती है।"

उनका यह मत था कि यद्यपि भाग 3 के सुसंगत उपबन्धों को ठीक ही कहा गया है कि वे संविधान द्वारा प्रदत्त इस देश में लोकतांत्रिक जीवन पद्धति के उपभोग का आधारशिला और नींव हैं, इसके बारे में यह नहीं कहा जा सकता कि नागरिकों को प्रत्याभूत मूल अधिकार इस अर्थ में शाश्वत् और अक्षत हैं कि वे कभी भी न्यून नहीं किए जा सकते हैं या उन्हें संशोधित नहीं किया जा सकता।

उनके मतानुसार यह मानना विधिसम्मत है कि संविधान के निर्माताओं ने यह कल्पना की थी कि संसद् को इन अधिकारों में संशोधन करने की सक्षमता होगी जिससे कि वे उन समस्याओं का समाधान कर सकें जो देश की सामाजिक, आर्थिक प्रगति और विकास के दौरान उत्पन्न हों।

न्यायाधिपति हिदायतुल्लाह ने, जैसे कि वे उस समय थे, मुख्य न्यायाधिपति से इस बात से सहमति प्रकट की कि सत्रहवां संशोधन उस दशा में भी विधिमान्य है चाहे अनुच्छेद 368 के परन्तुक में अधिकथित प्रक्रिया का अनुसरण नहीं किया गया है।

(1) (1950) एस० सी० आर० 88, 100.

किन्तु उन्होंने शंकरी प्रसाद वाले मामले(1) में के तर्क के उस भाग को स्वीकार करने में कठिनाई का अनुभव किया था। उन्होंने निम्न प्रकार मत व्यक्त किया था—

"यह सही है कि अनुच्छेद में प्रयुक्त शब्द 'विधि' की कोई पूर्ण परिभाषा नहीं है। किन्तु यह महत्त्वपूर्ण है कि परिभाषा से सांविधानिक संशोधनों को अपवर्जित करना नहीं चाहा गया है यदि ऐसा चाहा गया होता तो परिभाषा में 'किन्तु इसके अन्तर्गत संविधान का संशोधन नहीं आएगा' शब्द जोड़कर उपदर्शित करना सरल था (पृष्ठ 958)।"

उन्होंने आगे यह मत व्यक्त किया था—

"अनुच्छेद 13 का अर्थ उस भाव पर निर्भर करता है जिसमें कि अनुच्छेद 13(2) में प्रयुक्त 'विधि' शब्द को समझा जाना है। यदि किसी संशोधन के बारे में यह कहा जाता है कि वह 'विधि' शब्द के अन्तर्गत है तो मूल अधिकार, यदि हम जापान के संविधान की भाषा का अनुसरण करें तो वे शाश्वत् और अक्षत हो जाते हैं। अनुच्छेद 13 अमरीकी परिसंघीय संविधान (अमरीकन फेडरल कांस्टिट्यूशन) के अनुच्छेद 5 की तरह अप्रवर्तनीय प्रतिषेध के अन्तर्गत है जब तक कि वह अस्तित्व में रहता है। (पृष्ठ 958)"

उनके मतानुसार "हमारे संविधान की प्रस्तावना यूनाइटेड स्टेट्स के संविधान की प्रस्तावना से अधिक अमरीका की स्वाधीनता की घोषणा (4 जुलाई, 1776) की प्रकृति से मिलती है। इसके द्वारा कोई शक्ति नहीं प्रदत्त की गई है किन्तु यह संविधान को भविष्य के लिए दिशा निदेश और उसके उद्देश्य के प्रति इंगित करता है जिसकी कि झलक भाग 3 और 4 में परिलक्षित है। क्या ऐसी कल्पना की जा सकती है कि राज्यों से परामर्श किए बिना ही दोनों सदनों के दो-तिहाई का बहुमत किसी समय इसमें संशोधन करने के लिए मात्र आवश्यक बात है। यह अनुच्छेद 368 के परन्तुक में भी सम्मिलित नहीं किया गया है और यह समझना कठिन है कि चूंकि इसे इस परन्तुक की संरक्षा प्राप्त नहीं है इसलिए इसे अनुच्छेद 368 के मुख्य भाग के अन्तर्गत होना चाहिए।"

उन्होंने आगे यह मत व्यक्त किया था—

"मुझे इस बात को स्वीकार करने के लिए कि मूल अधिकार वास्तव में मूल नहीं हैं, अपितु संविधान के दूसरे भागों के साथ समान रूप से संशोधन की शक्ति के अन्तर्गत उनका होना आशयित है तथा उसके लिए राज्यों की सहमति आवश्यक नहीं है। शंकरी प्रसाद वाले मामले(1) में दिए गए कारणों से अधिक प्रबल कारणों की आवश्यकता होगी।"

उन्होंने अभिनिर्धारित किया था—

"अनुच्छेद 368 में जो दिया गया है, उसमें संशोधन की रीति तथा संशोधन को प्रभावकारी बनाने के लिए आवश्यक शर्तें अधिकथित की गई हैं ...

(1) (1952) एस० सी० आर० 89.

संविधान के भाग 3 में बहुत से आश्वासन दिए गए हैं इनसे यह समझना कठिन है कि वे एक विशेष बहुमत के हाथों के खिलवाड़ हो सकते हैं। यह अभिनिर्धारित करना प्रथमदृष्टया यह अर्थ रखेगा कि हमारे संविधान के सर्वाधिक गुरुत्वपूर्ण भाग उसी धरातल पर रखे गए हैं जैसे कि दूसरे उपबन्ध और यहां तक कि इस परन्तुक में उल्लिखित अनुच्छेदों की अपेक्षा कम दृढ़ आधार पर ये रखे गए हैं।"

यद्यपि न्यायाधिपति मधोलकर ने इस बात से सहमति प्रकट की कि यह रिट पिटीशन खारिज किया जाए किन्तु उन्होंने विभिन्न संदेह प्रकट किए और यह कहा कि हम इस प्रश्न पर अपनी राय सुरक्षित रख रहे हैं कि क्या शंकरी प्रसाद वाला मामला (1) सही तौर पर विनिश्चित किया गया था। उनका विचार यह था—

"अनुच्छेद 368 की भाषा यह दर्शित करने के लिए बहुत ही स्पष्ट है कि संविधान का संशोधन करने में संसद् का कार्य उसकी प्रसामान्य विधायी शक्ति के प्रयोग के समान एक विधायी कृत्य है। संविधान के संशोधन की बाबत मात्र इतना अन्तर है कि संविधान को संशोधित करने वाले विधेयक को विशेष बहुमत द्वारा पारित किया जाना होता है। (यहां हमारे मस्तिष्क में केवल वही संशोधन है जिन्हें अनुच्छेद 368 का परन्तुक लागू नहीं होता) विधानमंडल के विधायी कार्य का परिणाम 'विधि' के अतिरिक्त दूसरा नहीं हो सकता और इसलिए हमें यह प्रतीत होता है कि यह तथ्य कि विधान संविधान के उपबंध के संशोधन से सम्बन्धित है इससे भी जो परिणाम होगा वह 'विधि' ही होगा।"

उनका मत निम्न था—

"यह सही है कि संविधान के भाग 3 संशोधन को सीधे तौर पर प्रतिषिद्ध नहीं करता है किन्तु वास्तव में यह विचित्र बात होगी कि वे अधिकार जो मूल समझे जाते हैं और जिनके अन्तर्गत संविधान के अनुच्छेद 32 के अनुसार प्रत्याभूत अधिकार आते हैं, उन्हें अनुच्छेद 368 के परन्तुक में निर्दिष्ट किन्हीं विषयों की अपेक्षा जिनमें से कुछ कदाचित मूल अधिकारों से कम महत्वपूर्ण हैं, अधिक सरलता से न्यून किए जा सकते हैं या निर्बन्धित किए जा सकते हैं। जैसा कि हमारे विद्वान् बन्धु ने यह सुझाव दिया है कि यह सम्भव है कि अनुच्छेद 368 केवल उस प्रक्रिया को अधिकथित करता है जो संविधान के संशोधन के लिए अनुसरित की जानी चाहिए और संविधान में संशोधन करने की शक्ति प्रदत्त नहीं करता है इसके बारे में मेरा विचार है कि इसका अभिनिश्चय उस उपबंध में जिसका कि संशोधन करना चाहा गया है या दूसरे सुसंगत उपबंधों या प्रस्तावना से किया जा सकता है।"

बाद में उन्होंने यह मत व्यक्त किया—

"सबके ऊपर यह गुरुत्वपूर्ण और उच्च प्रस्तावना प्रतिपादित की गई है जो हमारे संविधान के आधारभूत तत्वों का सार प्रतीत होती है। क्या कहा जा सकता है कि यह संविधान सभा के उस आशय की द्योतक है कि संविधान के इन आधारभूत तत्वों को स्थायी रूप प्रदान किया जाए।

(1) (1952) एस० सी० आर० 89.

उन्होंने आगे यह प्रश्न रखते हुए निम्नलिखित मत व्यक्त किया था—

यह भी विचार का विषय है कि क्या संविधान के आधारभूत तत्व में परिवर्तन करने के सम्बन्ध में यह माना जा सकता है कि यह एक संशोधन है या वास्तव में प्रभाव में यह संविधान के भाग को पुनः विरचित करना होगा और यदि यह अन्तर्वलित है अर्थात् पुनर्रचना है, तो क्या यह अनुच्छेद 368 के क्षेत्र के अधीन होगा।

इसके पश्चात् उन्होंने प्रस्तावना के सर्वोच्च महत्व पर बल दिया था—

"संविधान से उपदर्शित होता है कि संशोधन की तीन रीतियां हैं और यह मानते हुए कि अनुच्छेद 368 के उपबंध संविधान को संशोधित करने के लिए संसद को शक्ति प्रदान करते हैं तब भी इस पर विचार करना होगा जब तक प्रस्तावना असंशोधित रूप में विद्यमान है तो क्या उस शक्ति का प्रयोग संविधान के किसी आधारभूत तत्व को आहत किया जा सकता है।

अपनी बात को मैं और स्पष्ट करूं तो यह है कि जब तक शब्द 'सर्वप्रभुत्व-सम्पन्न लोकतंत्रात्मक गणराज्य' विद्यमान है क्या संविधान इस प्रकार संशोधित किया जा सकता है कि सरकार के लोकतांत्रिक प्ररूप अथवा उसके गणराज्यिक स्वरूप को बदल दिया जाए। यदि तब तक यह नहीं किया जा सकता जब तक कि शब्द सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय इत्यादि विद्यमान है। क्या अनुच्छेद 14 से 19, 21, 25, 31 और 32 में प्रगणित अधिकारों में से कोई अधिकार छीने जा सकते हैं। यदि वे छीने नहीं जा सकते हैं तो इस पर विचार करना होगा कि क्या उनका उपान्तरण किया जा सकता है। निस्सन्देह यह कहा गया है कि प्रस्तावना संविधान का एक भाग नहीं है किन्तु मेरे विचार में संविधान के व्यापक तत्वों की प्रस्तावना की तुलना करने पर यह प्रतीत होगा कि प्रस्तावना इन तत्वों का सार है। यदि इसको दूसरे शब्दों में कहा जाए और यदि ये तत्व प्रस्तावना में स्थापित धारणाओं के विस्तारण और दृढ़ीकरण हैं तो इस पर विचार करना होगा कि क्या प्रस्तावना संविधान का भाग नहीं है। इस प्रश्न पर विचार करते समय मस्तिष्क में यह रखना सुसंगत होगा कि प्रस्तावना वह चलताऊ बात नहीं है जैसे कि किसी विधानमंडल के अधिनियम में पाई जाती है। गम्भीर विचार-विमर्श के पश्चात् इसका जन्म हुआ है और इसमें स्पष्टता परिलक्षित है तो क्या इससे यह संकेत नहीं मिलता कि संविधान के निर्माताओं ने इस पर विशेष महत्व दिया था।"

गोलकनाथ बनाम पंजाब राज्य (1) पर अब हम विचार करते हैं। इसमें संविधान (सत्रहवां संशोधन) अधिनियम, 1964 की विधिमान्यता को चुनौती दी गई थी जिसके द्वारा दूसरे अधिनियमों के साथ पंजाब सिक्योरिटी ऑफ लैण्ड टेन्योर्स ऐक्ट, 1953 (1953 का अधिनियम 10) और मैसूर लैण्ड रिफार्म्स ऐक्ट (1962 का अधिनियम 10) जैसे कि वे 1965 के ऐक्ट 14 द्वारा संशोधित हुए थे, नवम अनुसूची में सम्मिलित किए गए थे।

---

(1) (1967) 2 एस० सी० आर० 762.

इस न्यायालय के समक्ष यह दलील दी गई कि शंकरी प्रसाद वाले मामले([1]) में जिसमें कि संविधान (प्रथम संशोधन) अधिनियम, 1951 की विधिमान्यता तथा सज्जन सिंह वाले मामले([2]) में जिसमें कि संविधान (सत्रहवां संशोधन) अधिनियम की विधिमान्यता को चुनौती दी गई थी, इस न्यायालय द्वारा गलत ढंग से विनिश्चित किए गए हैं।

अपनी ओर से निर्णय देते हुए मुख्य न्यायाधिपति सुब्बाराव तथा चार अन्य न्यायाधिपतियों ने पृष्ठ 815 पर अपने निष्कर्षों को संक्षिप्त रूप निम्न प्रकार दिया था—

"उपर्युक्त विचार-विमर्श से निम्नलिखित परिणाम निकलते हैं—

(1) संविधान को संशोधित करने की संसद् की शक्ति संविधान के अनुच्छेद 245, 246 और 248 द्वारा प्राप्त की जाती है न कि उसके अनुच्छेद 368 द्वारा जो कि केवल प्रक्रिया से सम्बन्धित है। संशोधन एक विधायी प्रक्रिया है।

(2) संशोधन संविधान के अनुच्छेद 13 के अर्थों के अन्तर्गत 'विधि' है और इसलिए यदि यह उसके भाग 3 द्वारा प्रदत्त अधिकारों को छीनता है या कम करता है तो यह शून्य है।

(3) संविधान (प्रथम संशोधन) अधिनियम, 1951, संविधान (चतुर्थ संशोधन) अधिनियम, 1956, तथा संविधान (सत्रहवां संशोधन) अधिनियम, 1964 मूल अधिकारों की व्याप्ति को कम करते हैं किन्तु इस न्यायालय के पूर्वतर विनिश्चयों के आधार पर वे विधिमान्य हैं।

(4) जैसा हमने पहले स्पष्ट किया है भविष्यलक्षी प्रभावकारिता (प्रोस्पेक्टिव ओवररूलिंग) के सिद्धान्त को लागू करने में हमारे विनिश्चय का केवल भविष्यलक्षी प्रवर्तन रहेगा इसलिए उक्त संशोधन विधिमान्य बने रहेंगे।

(5) हम यह घोषणा करते हैं कि इस विनिश्चय की तारीख से संसद् को संशोधन के भाग 3 के उपबन्धों में से किसी को संशोधन करने का इस रूप में अधिकार नहीं होगा कि उसमें दिए गए मूल अधिकार छीने जाएं या कम किए जाएं।

(6) चूंकि संविधान (सत्रहवां संशोधन) अधिनियम, प्रभावी है इसलिए 1965 के अधिनियम 14 द्वारा यथा संशोधित दोनों आक्षेपित अधिनियमों अर्थात् पंजाब सिक्योरिटी आफ लैण्ड टेन्योर्स ऐक्ट (1953 का 10) तथा मैसूर लैण्ड रिफार्म्स ऐक्ट (1962 का 10) की विधिमान्यता को इस आधार पर चुनौती नहीं दी जा सकती है कि उनसे संविधान के अनुच्छेद 13, 14 या 31 का उल्लंघन होता है।

([1]) (1952) एस० सी० आर० 89.

([2]) (1965) 1 एस० सी० आर० 933.

यह मस्तिष्क में रखना चाहिए कि यह निष्कर्ष संविधान को दृष्टि में रखते हुए दिए गए थे जैसा कि यह उस समय था अर्थात् जबकि अनुच्छेद 13(2) संविधान में विद्यमान था। तब यह विनिश्चय करना आवश्यक नहीं था कि अनुच्छेद 13(2) को संशोधन करने या स्वयं अनुच्छेद 368 को संशोधन करने की संसद् की शक्ति की बाबत अनुच्छेद 368 का क्षेत्र क्या था। ये वे प्रश्न हैं जिन्हें अब विनिश्चित करना है।

यह आगे मत दिया जा सकता है कि मुख्य न्यायाधिपति ने इस दलील पर अपनी राय अभिव्यक्त नहीं की कि संसद् संशोधन की शक्ति का प्रयोग करते हुए संविधान के मूल ढांचे को नष्ट कर सकता है किन्तु वह केवल मूल लिखत के ढांचे के अन्तर्गत उसके उत्तम प्रभावकारिता के लिए उसके उपबन्धों को ही उपान्तरित कर सकता है।

जैसा कि बाद में देखा जाएगा ऊपर के प्रथम निष्कर्ष पर अब विचार-विमर्श नहीं किया जा सकता क्योंकि पिटीशनरों की ओर से सही ही मान लिया गया है कि संविधान (चौबीसवां संशोधन) अधिनियम, 1971 जहां तक कि यह संविधान की अवशिष्टि प्रविष्टि (प्रविष्टि 97, सूची 1) या अनुच्छेद 248 से संविधान को संशोधित करने की शक्ति अनुच्छेद 368 को अन्तरित करता है, यह विधिमान्य है। दूसरे शब्दों में संविधान का अनुच्छेद 368 जैसा कि वह चौबीसवें संशोधन द्वारा संशोधित किया गया है केवल संशोधन की प्रक्रिया से ही सम्बन्धित नहीं है अपितु वह संसद् को संविधान को संशोधित करने की अभिव्यक्त शक्ति भी प्रदत्त करता है।

मैं दूसरे निष्कर्ष के गुणागुण पर भी विचार-विमर्श नहीं करूंगा क्योंकि इस मामले में भी वही परिणाम निकलेगा चाहे प्रत्यर्थियों के पक्ष में यह मान लिया जाए कि संविधान का संशोधन संविधान के अनुच्छेद 13(2) के अन्तर्गत विधि नहीं है।

न्यायाधिपति हिदायतुल्लाह, जैसे कि वे उस समय थे, ने पृष्ठ 902 पर निम्नलिखित निष्कर्ष दिए थे—

> "(i) मूल अधिकार संशोधन करने वाली प्रक्रिया उस दशा में बाहर है यदि संशोधन द्वारा अधिकारों को कम करना चाहा जाता है या छीना जाना चाहा जाता है।
>
> (ii) शंकरी प्रसाद वाले मामले([1]) के तथा उस सज्जन सिंह वाले मामले([2]) में जिसमें कि उसका अनुसरण हुआ था, अनुच्छेद 13(2) और 368 के बारे में गलत दृष्टिकोण के कारण यह माना गया था कि संविधान के भाग 3 में संशोधन करने की शक्ति है।
>
> (iii) यह कि प्रथम, चतुर्थ और सत्रहवां संशोधन अधिककाल की उपमति के द्वारा संविधान के भाग हैं इसलिए उनको चुनौती नहीं दी जा सकती उनमें सत्रहवें संशोधन के लिए प्राधिकार अन्तर्विष्ट है।

([1]) (1952) एस० सी० आर० 89.

([2]) (1965) 1 एस० सी० आर० 933.

(iv) यह कि इस न्यायालय ने यह अभिकथित करने के लिए कि मूल अधिकारों को अनुच्छेद 368 की संशोधन करने वाली प्रक्रिया के प्रयोग द्वारा न तो कम किया जा सकता है और न ही उन्हें छीना जा सकता है इन अधिकारों में जैसा कि वे भाग 3 में विद्यमान हैं, किसी प्रकार का अतिक्रमण तब तक अवैध और असांविधानिक होगा जब तक कि वह भाग 3 की साधारणतया तथा अनुच्छेद 13(2) की विशिष्टतया शर्तों को पूरा नहीं करता।

(v) यह कि मूल अधिकारों को कम करने के लिए या छीनने के लिए संविधान-सभा को बुलाना पड़ेगा।

(vi) यह कि 1965 के अधिनियम 14 द्वारा यथा संशोधित आक्षेपित अधिनियम, अर्थात् पंजाब सिक्योरिटी ऑफ लैण्ड रिफार्म्स ऐक्ट, 1953 (1953 का 10), तथा मैसूर लैण्ड रिफार्म्स ऐक्ट, 1961 (1962 का 10) संविधान के अन्तर्गत इसलिए विधिमान्य नहीं है कि वे संविधान की अनुसूची 9 में सम्मिलित किए गए हैं अपितु इसलिए कि अनुच्छेद 31क तथा राष्ट्रपति की अनुमति द्वारा संरक्षित हैं।"

मैं इन निष्कर्षों के लिए अपने कारण नहीं दे रहा हूं क्योंकि उनकी परीक्षा तब की जाएगी जब हम विभिन्न विषयों पर अपने समक्ष रखी गई दलीलों पर विचार करेंगे।

न्यायाधिपति वांचू ने, जैसे कि वे उस समय थे, और दो अन्य न्यायाधिपतियों की ओर से निर्णय देते हुए यह अभिनिर्धारित किया था कि शंकरी प्रसाद वाला मामला (1) सही रूप में विनिश्चित किया गया था और सज्जन सिंह वाला (2) बहुमत का मामला उस विनिश्चय को अनुसरण करने में सही था।

न्यायाधिपति बछावत ने निम्न प्रकार अभिनिर्धारित किया था—

"(1) अनुच्छेद 368 न केवल प्रक्रिया विहित करता है अपितु यह संशोधन की शक्ति भी प्रदत्त करता है।

(2) अनुच्छेद 368 संविधान के प्रत्येक उपबन्ध को संशोधन करने की शक्ति प्रदत्त करता है और चूंकि अनुच्छेद 13(2) संविधान का एक भाग है, इसलिए यह संशोधन करने वाली शक्ति के अन्तर्गत है।

(3) अनुच्छेद 368, अनुच्छेद 13(2) द्वारा नियन्त्रित नहीं है और अनुच्छेद 13(2) का प्रतिषेधात्मक आदेश इस संशोधन करने वाली शक्ति को लागू नहीं है।

(4) अनुच्छेद 368 के अधीन सांविधानिक संशोधन अनुच्छेद 13(2) के अर्थों के अन्तर्गत विधि नहीं है।

(1) (1952) एस० सी० आर० 89.

(2) (1965) 1 एस० सी० आर० 933.

[illegible] नहीं [illegible] भाग 3 [illegible] परिवर्तित नहीं किए जा सकते।

(6) प्रस्तावना संविधान के अनुच्छेदों की अर्थान्वयन भाषा को नियन्त्रित नहीं कर सकती।

संविधान के आधारभूत तत्वों के संशोधन की बाबत उनका निम्नलिखित [illegible] काउन्सेल ने कहा था कि वह आधारभूत तत्वों की सांगोपांग सूची नहीं दे सकता किन्तु सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न सरकार का गणतान्त्रिक रूप, परिसंघीय ढांचा और मूल अधिकार ये कुछ तत्व हैं। संशोधन द्वारा सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न को, गणराज्यिक रूप की सरकार को तथा परिसंघीय ढांचे को निरसित नहीं किया गया है और यह प्रश्न कि क्या इन्हें संशोधित किया जा सकता है इस निर्णय में नहीं उठता है। इन मामलों के प्रयोजनों के लिए यह कहना पर्याप्त है कि मूल अधिकार संशोधन करने वाली शक्ति के अन्तर्गत हैं।

न्यायाधिपति रामस्वामी ने निम्न प्रकार अभिनिर्धारित किया था—

"(1) अनुच्छेद 368 के अधीन संशोधन करने वाली शक्ति अनन्य है।

(2) अनुच्छेद 13(2) के अन्तर्गत 'विधि' के बारे में यह अर्थ नहीं लगाया जा सकता कि उसके अन्तर्गत अनुच्छेद 4, 168, 362, पंचम अनुसूची का भाग घ तथा षष्ठ अनुसूची के पैरा 21 के अधीन संसद् द्वारा बनाई गई विधि आती है।

(3) 'मूल अधिकार' अभिव्यक्ति मूल अधिकार को स्वतः संविधान के ऊपर नहीं रखती है।

(4) संशोधन करने की शक्ति तथा संशोधन करने की प्रक्रिया दोनों ही अनुच्छेद 368 में अधिनियमित हैं।

(5) संशोधन करने वाली शक्ति पर कोई विवक्षित परिसीमा नहीं है और संविधान के समस्त अनुच्छेद या तो अनुच्छेद 368 के परन्तुक के अधीन या उस अनुच्छेद के मुख्य भाग के अधीन संशोधित किए जा सकते हैं।

(6) परिसंघीय ढांचा हमारे संविधान का अनिवार्य भाग नहीं है।

(7) संशोधन करने वाली शक्ति तात्विक रूप में सम्पूर्ण प्रभुता को समन्वित करने के लिए है यदि ऐसा है तो इस पर कोई परिसीमा नहीं हो सकती।"

संक्षेप में 6 न्यायाधिपतियों ने यह अभिनिर्धारित किया था कि अनुच्छेद 13(2) को ध्यान में रखते हुए मूल अधिकारों को कम किया जा सकता है या उन्हें छीना जा सकता है। 5 न्यायाधिपतियों ने यह अभिनिर्धारित किया था कि अनुच्छेद 13(2) संविधान को संशोधन करने वाले अधिनियमों को लागू नहीं होता है।

भाग III—अनुच्छेद 368 का निर्वचन

अब हम अनुच्छेद 368 के, जैसा कि वह मूल रूप में अधिनियमित हुआ था, निर्वचन पर विचार करते हैं, यह निम्न प्रकार है—

> "इस संविधान के संशोधन का सूत्रपात उस प्रयोजन के लिए विधेयक को संसद् के किसी सदन में पुरःस्थापित करके ही किया जा सकेगा तथा जब प्रत्येक सदन द्वारा उस सदन की समस्त सदस्य-संख्या के बहुमत से तथा उस सदन के उपस्थित और मतदान करने वाले सदस्यों के दो-तिहाई से अन्यून बहुमत से वह विधेयक पारित हो जाता है तब वह राष्ट्रपति के समक्ष उसकी अनुमति के लिए रखा जाएगा तथा विधेयक को ऐसी अनुमति दी जाने के पश्चात् विधेयक के निबन्धनों के अनुसार संविधान संशोधित हो जाएगा :
>
> परन्तु यदि ऐसा कोई संशोधन—
>
> (क) अनुच्छेद 54, अनुच्छेद 55, अनुच्छेद 73, अनुच्छेद 162 या अनुच्छेद 241 में, अथवा
>
> (ख) भाग 5 के अध्याय 4, भाग 6 के अध्याय 5 या भाग 11 के अध्याय 1 में, अथवा
>
> (ग) सप्तम अनुसूची की सूचियों में से किसी में, अथवा
>
> (घ) संसद् में राज्य के प्रतिनिधित्व में, अथवा
>
> (ङ) इस अनुच्छेद के उपबन्धों में,
>
> कोई परिवर्तन करना चाहता है तो ऐसे उपबंध करने वाले विधेयक के राष्ट्रपति के समक्ष अनुमति के लिए उपस्थित किए जाने के पहले उस संशोधन के लिए प्रथम अनुसूची के भाग (क) और (ख) में उल्लिखित राज्यों में से कम से कम आधों के विधान-मण्डलों का उस प्रयोजन के लिए उन विधान-मण्डलों से पारित संकल्पों द्वारा अनुसमर्थन भी अपेक्षित होगा।"

यह देखा जा सकता है कि अनुच्छेद 368 एक पृथक् भाग में अन्तर्विष्ट है और उसका शीर्षक 'संविधान का संशोधन' है किन्तु पार्श्विक टिप्पण इस प्रकार है "संविधान के संशोधन के लिए प्रक्रिया"।

'संविधान का संशोधन' अभिव्यक्ति की न तो परिभाषा की गई है न ही किसी दूसरे रूप में इसकी व्याख्या की गई है यद्यपि संविधान के दूसरे भागों में 'संशोधन करना' या 'संशोधन' की व्याख्या की गई है जैसा कि बाद में बताया जाएगा। कुछ भागों में

स्पष्टतया उनके सीमित अर्थ हैं। इस समस्या पर इस परन्तुक से कुछ प्रकाश पड़ता है। प्रथम, इसमें यह अभिव्यक्ति प्रयुक्त की गई है 'यदि ऐसा कोई संशोधन इसमें कोई परिवर्तन करना चाहता है', इसमें 'इसका परिवर्तन' या 'इसका लोप' शब्द नहीं जोड़े गए हैं और यह उपबन्धित है कि 'इसमें कोई परिवर्तन करना चाहता है' अभिव्यक्ति के स्थान पर 'परिवर्तन करना चाहता है'।

अब उन अनुच्छेदों पर विचार किया जा सकता है जो इस परन्तुक में सम्मिलित किए गए हैं। भाग 5, अध्याय 1, कार्यपालिका से सम्बन्धित है। अनुच्छेद 52 में यह उपबंधित है कि भारत में एक राष्ट्रपति होगा और अनुच्छेद 53 राष्ट्रपति में संघ की कार्यपालिक शक्ति विनिहित करता है और यह उपबन्धित है कि कैसे वे उसका प्रयोग करेंगे। ये दोनों अनुच्छेद, अनुच्छेद 368 के परन्तुक में उल्लिखित नहीं हैं किन्तु अनुच्छेद 54 और 55 में उसमें उल्लिखित हैं। अनुच्छेद 54 निम्न रूप में उपबन्धित है—

> "54. राष्ट्रपति का निर्वाचन एक ऐसे निर्वाचक-गण के सदस्य करेंगे जिस में—
>
> (क) संसद् के दोनों सदनों के निर्वाचित सदस्य, तथा
>
> (ख) राज्यों की विधान-सभाओं के निर्वाचित सदस्य, होंगे।"

अनुच्छेद 55 में राष्ट्रपति के निर्वाचन की रीति विहित की गई है।

अनुच्छेद 368 के परन्तुक में अनुच्छेद 52, 53 का उल्लेख क्यों नहीं किया गया यदि यह आशय था कि राज्यों को देश के परिसंघीय ढांचे की बाबत अपनी बात रखने का अधिकार हो। एक उपधारणा जो की जा सकती है वह यह है कि संविधान निर्माताओं ने कभी यह कल्पना नहीं की थी कि अनुच्छेद 52 परिवर्तित किया जाएगा या भारत का कोई राष्ट्रपति नहीं होगा। दूसरे शब्दों में उन्होंने भारत में राजतन्त्र की स्थापना या किसी राष्ट्रपति के न होने की स्थिति के लिए अनुध्यात नहीं किया था।

दूसरा अनुच्छेद, जो अनुच्छेद 368 के परन्तुक में सम्मिलित किया गया है, वह अनुच्छेद 73 है। यह अनुच्छेद संघ की कार्यपालिक शक्तियों की सीमा से संबंधित है। जहां तक उपराष्ट्रपति का संबंध है, राज्यों को कोई अधिकार नहीं दिया गया है कि क्या कोई उपराष्ट्रपति होगा या नहीं। न तो उन्हें उसके चुनाव इत्यादि के तरीके की बाबत कोई अधिकार दिया गया है। किन्तु जो बात उल्लेखनीय है वह यह है कि जब हम संविधान के भाग 6 पर विचार करते हैं जो कि राज्यों से संबंधित है, और जो मात्र उपबंध अनुच्छेद 368 के परन्तुक में उल्लिखित है वह अनुच्छेद 162 है। यह अनुच्छेद राज्यों की कार्यपालिक शक्ति की सीमा से सम्बन्धित है। राज्यपाल की नियुक्ति, राज्यपाल की सेवा की शर्तें और मन्त्रिमंडल का गठन और उसके कृत्य तथा मंत्रियों एवं सरकारी कार्यवाही के संचालन की बाबत दूसरे उपबंध अनुच्छेद 368 के परन्तुक में बिल्कुल ही नहीं उल्लिखित किए गए हैं। दूसरा अनुच्छेद जो 368 के परन्तुक के खंड (क) में उल्लिखित किया गया है वह अनुच्छेद 241 है। यह मूलतः प्रथम अनुसूची के भाग ग के राज्यों के उच्च न्यायालयों से संबंधित है।

संविधान के भाग 5 का अध्याय 4 जो संघ की न्यायपालिका से संबंधित है और भाग 6 का अध्याय 5 जो राज्य के उच्च न्यायालयों से संबंधित है, उन्हें अनुच्छेद 368 के परन्तुक में सम्मिलित किया गया है। किन्तु यह असाधारण बात है कि भाग 6 का अध्याय 6 जो अधीनस्थ न्यायपालिका से संबंधित है, खंड (क) में उल्लिखित नहीं है। भाग 11 का अध्याय 1 इसमें सम्मिलित किया गया है और यह संघ और राज्यों के बीच विधायी संबंधों से संबंधित है। किन्तु भाग 11 का अध्याय 2 को जो संघ और राज्यों के बीच प्रशासकीय संबंधों तथा विभिन्न दूसरे ऐसे मामलों से, जिनमें कि राज्य हितबद्ध हों, सम्बन्धित हैं, इसमें सम्मिलित नहीं किया गया है। राज्य तथा व्यापार, और वाणिज्य के अधीन संव्यवहारों की बाबत उपबंध भी इस परन्तुक में सम्मिलित नहीं किए गए हैं।

अनुच्छेद 368 के परन्तुक के खंड (क) और (ख) में अन्तर्विष्ट उपबन्धों के विश्लेषण से यह दर्शित होता है कि परन्तुक में कतिपय अनुच्छेदों को सम्मिलित करने तथा कतिपय दूसरे अनुच्छेदों को अपवर्जित करने का कारण यह नहीं है कि सभी अनुच्छेद परिसंघीय ढांचे या राज्यों की हैसियत से संबंधित हैं और इसी लिए उन्हें परन्तुक में सम्मिलित करने के लिए चुना गया है।

परन्तुक के खंड (ग) में सप्तम अनुसूची की सूचियों का उल्लेख है। खंड (ग) में संसद् में राज्यों के प्रतिनिधित्व का उल्लेख है तथा खण्ड (ङ) में स्वयं अनुच्छेद 368 के उपबंध हैं। उपखंड (ग), (घ) और (ङ) के उपबन्धों के बारे में सही ही कहा जा सकता है कि उसमें परिसंघीय ढांचे की बात तथा राज्यों का अधिकार अन्तर्वलित है।

जो बात पुनः उल्लेखनीय है वह यह है कि इस परन्तुक में मूल अधिकारों को बिल्कुल ही सम्मिलित नहीं किया गया है। क्या राज्य अपनी जनता के मूल अधिकारों में हितबद्ध नहीं है कदाचित् प्रस्तुत मामले में यह मानते हुए कि अनुच्छेद 13(2) सांविधानिक संशोधनों को लागू है इस लोप का कारण यह है कि अनुच्छेद 13(2) के अभिव्यक्त उपबंध जिसमें यह उपबन्धित है कि राज्य ऐसी कोई विधि नहीं बनाएगा जो भाग 3 द्वारा प्रदत्त अधिकारों को छीनती है या कम करती है और इस खंड के उल्लंघन में बनाई गई कोई विधि उल्लंघन की सीमा तक शून्य होगी।

"इस संविधान का संशोधन" अभिव्यक्ति का अर्थान्वयन करते समय मुझे संविधान की सम्पूर्ण स्कीम को देखना पड़ेगा। शून्य में शब्दों का अर्थ करना (प्रसंग से अलग रख कर अर्थ करना) तथा किसी अनुच्छेद में पुनः उस अर्थ को अन्तःस्थापित करना सही नहीं है। बिडी बनाम जनरल एक्सीडेण्ट फायर एण्ड लाइफ एश्योरेन्स कॉरपोरेशन[1] वाले मामले में लार्ड ग्रीन ने निम्नलिखित मत दिया था—

> "प्रथम बात जो करती है हमें यह सोचने का साहस करता है कि संसद् के किसी अधिनियम की धारा के शब्दों का अर्थान्वयन करते समय उन शब्दों का अर्थ शून्य में (प्रसंग से अलग रख कर) इस उद्देश्य से नहीं करना चाहिए कि बाद में जिसे नैसर्गिक या या मामूली अर्थ कहा जाता है, उसको दिया जाए और उसे कहा जाए। अंग्रेजी भाषा में कुछ शब्द भाव में नैसर्गिक और मामूली अर्थ रखते हैं कि उनका

(1) (1948) 2 ऑल इंग्लैण्ड रिपोर्ट्स 955, 998.

अर्थ पूर्णतया उनके प्रसंग से भिन्न होता है। कानूनों का अर्थान्वयन करने की रीति में मैं यह अच्छा नहीं समझता हूं कि विशिष्ट शब्द को लिया जाए और उसे प्रसंग से हटकर रूपान्तरित करके वह अर्थ दिया जाए जो प्रथमदृष्ट्या नहीं है। सम्पूर्ण कानून को पढ़ना चाहिए और यह प्रश्न रखना चाहिए कि इस दशा में इस प्रसंग में और इस विषय-वस्तु की बाबत उस शब्द का सही अर्थ क्या है।"

मैं 'संविधान का संशोधन' अभिव्यक्ति का अर्थ करते समय दिए गए लार्ड ग्रीन के तर्क को आदरपूर्वक अंगीकार करता हूं।

यह लार्ड ग्रीन का ही अकेला दृष्टिकोण नहीं रहा है। बोर्न बनाम नोरविक क्रिमेटोरियम[1] वाले मामले में निम्न प्रकार मत व्यक्त किया गया था—

"अंग्रेजी शब्द उस परिवेश से स्वरूप प्राप्त करते हैं जिसमें कि वे प्रयुक्त होते हैं। वाक्य केवल शब्दों के ऐसे संग्रह नहीं हैं जो कोष या विनिश्चित मामलों के निर्देश से पृथक् रूप से परिभाषित वाक्य से पृथक् लिए जाते हैं और पुनः शब्दों के रूप में हम उन्हें उस वाक्य में उस अर्थ में रखते हैं जिस अर्थ को हमने दिया है। परिणाम यह होगा कि इससे उस वाक्य या शब्दावली को जो अर्थ दिया जाएगा, बिना अंग्रेजी भाषा को विकृत किए उस वाक्य या शब्दावली का वह अर्थ नहीं किया जा सकता।

टोवी बनाम आइसनर[2] वाले मामले में न्यायाधिपति होल्मस के भी यही विचार थे। उन्होंने निम्न प्रकार मत दिया था—

"शब्द निश्चित सुस्पष्ट और शाश्वत नहीं है। यह जीवन्त विचारों का तानाबाना है और उन परिस्थितियों के और उस समय के, जिसमें कि यह प्रयुक्त होता है, अनुसार इसके स्वरूप और अर्थबोध बहुत ही भिन्न हो सकते हैं।"

न्यायाधिपति होल्मस ने जो बात कही थी वह विशिष्टतया शब्द 'संशोधन' या 'संशोधन करना' के लिए सही है।

मैं मुख्य न्यायाधिपति ग्वायर के निम्नलिखित मत को भी निर्दिष्ट करना चाहता हूं—

"निस्संदेह 'साधारण शब्दावली में शक्ति को प्रदत्त करना' स्वयं में व्यापक अर्थ रखता है किन्तु यह उसी अधिनियमिति के दूसरे अभिव्यक्त उपबन्धों द्वारा प्रसंग की विवक्षा और यहां तक कि अधिनियम की साधारण स्कीम द्वारा उद्भूत हुए आधारों द्वारा नियन्त्रित हो सकता है। (मुख्य न्यायाधिपति ग्वायर के अनुसार—सेन्ट्रल प्रॉविन्सेज एण्ड बरार ऐक्ट, 1939, एफ० सी० आर० 18, 42)"

"तत्पश्चात् प्रश्न जो है वह अर्थान्वयन का है और अन्ततोगत्वा प्रयुक्त हुए ऐसे वास्तविक शब्दों के आधार पर उसका विनिश्चय किया जाना चाहिए जो प्रसंगानुकूल हो। जैसे कि किसी एकल जटिल लिखत में प्रयुक्त होने वाली शब्दावली को

(1) (1967) 2 ऑल इंग्लैण्ड रिपोर्ट्स 576, 578.
(2) 62 लॉयर्स इडिशन 372, 376=245 यू० एस० 418, 425.

जिसमें कि एक भाग द्वारा दूसरे भाग पर प्रकाश पड़ता है। चूंकि संविधान को परिसंघीय ढांचे का सार कहा गया है इसलिए अर्थान्वयन करते समय इसके सभी भागों में संतुलन होना चाहिए।" (लार्ड राइट द्वारा—जेम्स बनाम कॉमनवेल्थ ऑफ आस्ट्रेलिया—1936 ए० सी० 578, 613)

'संशोधन' या 'संशोधन करना' शब्द संविधान में विभिन्न अर्थों में विभिन्न स्थानों में प्रयुक्त किए गए हैं। कुछ अनुच्छेदों में प्रसंग के अन्तर्गत 'संशोधन' शब्द का व्यापक अर्थ है और दूसरे प्रसंग में उसका सीमित अर्थ है। अनुच्छेद 107 में जो विधायी प्रक्रिया से सम्बन्धित है, उसका खण्ड (2) यह उपबन्धित करता है "अनुच्छेद 108 और 109 के उपबन्धों के अधीन रहते हुए, कोई विधेयक संसद् के सदनों द्वारा तब तक पारित न समझा जाएगा जब तक कि, या तो बिना संशोधन के या केवल ऐसे संशोधनों के सहित, जो दोनों सदनों द्वारा स्वीकृत कर लिए गए हैं, दोनों सदनों द्वारा वह स्वीकृत न कर लिया गया हो।" यह बिल्कुल स्पष्ट है कि इस अनुच्छेद में 'संशोधन' शब्द का एक सीमित अर्थ है। इसी प्रकार संविधान के अनुच्छेद 111 में जिसके द्वारा राष्ट्रपति को इस बात के लिए सशक्त किया गया है कि वह संशोधनों को पुरःस्थापित करने की वांछनीयता पर विचार करने के लिए सदनों को अपना सन्देश भेजे इस संशोधन का भी अर्थ सीमित है।

अनुच्छेद 4(1) का प्रारम्भिक भाग इस प्रकार है—

> "4(1) अनुच्छेद 2 या अनुच्छेद 3 में निर्दिष्ट किसी विधि में प्रथम अनुसूची और चतुर्थ अनुसूची के संशोधन के लिए ऐसे उपबन्ध अन्तर्विष्ट होंगे जो उस विधि के उपबन्धों को प्रभावी बनाने के लिए आवश्यक हों............"

यहां 'संशोधन' शब्द का बहुत ही सीमित अर्थ है। अनुच्छेद 3 और 4 के अधीन बनाई गई विधि को 'संविधान द्वारा परिकल्पित लोकतांत्रिक पद्धति के अनुरूप' होना चाहिए। जो शक्ति संसद् प्रयुक्त करता है वह 'सांविधानिक स्कीम का अध्यारोहण करने की शक्ति नहीं है'। इसलिए कोई भी राज्य संसद् द्वारा अनुच्छेद 4 के अधीन न गठित किया जा सकता है, न सम्मिलित किया जा सकता है और न ही स्थापित किया जा सकता है जब तक कि उसके पास प्रभावकारी विधायी कार्यपालिक और न्यायिक अंग न हों। [न्यायाधिपति शाह के अनुसार—मंगल सिंह बनाम भारत संघ (1)] (महत्त्व देने के लिए रेखांकित किया गया है)

अनुच्छेद 169(2) इस प्रकार है—

> "खण्ड (1) में निर्दिष्ट किसी विधि में इस संविधान के संशोधन के लिए ऐसे उपबन्ध भी अन्तर्विष्ट होंगे जो उस विधि के उपबन्धों को प्रभावी बनाने के लिए आवश्यक हों तथा ऐसे अनुपूरक, प्रासंगिक और आनुषंगिक उपबन्ध हो सकेंगे जिन्हें संसद् आवश्यक समझे।"

यहां भी 'संशोधन' शब्द का एक सीमित अर्थ है।

---

(1) (1967) 2 एस० सी० आर० 109, 112.

पंचम अनुसूची के भाग घ का पैरा 7, जो अनुसूची के संशोधन से सम्बन्धित है, इस प्रकार है—

"7. **अनुसूची का संशोधन**—(1) संसद, समय-समय पर विधि द्वारा, जोड़, फेरफार या निरसन करके, इस अनुसूची के उपबन्धों में से किसी का संशोधन कर सकेगी तथा जब अनुसूची इस प्रकार संशोधित हो जाए तब इस संविधान में इस अनुसूची के प्रति किसी निर्देश का अर्थ ऐसा किया जाएगा कि मानो वह निर्देश इस प्रकार संशोधित ऐसी अनुसूची के प्रति हो।"

यहां 'संशोधन करना' पदकी 'जोड़, फेरफार या निरसन करके' अभिव्यक्ति के प्रयोग द्वारा व्याख्या की गई है। यह हमें प्रतीत होता है कि जहां भी जो संशोधन किए जाएंगे उन्हें सम्पूर्ण संविधान के अनुकूल होना चाहिए। इसी प्रकार षष्ठ अनुसूची के पैरा 21 के अधीन जिसमें पंचम अनुसूची के पैरा 7 की शब्दावली दोहराई गई है, हमें प्रतीत होता है कि जो संशोधन किए जाएंगे उन्हें संविधान के अनुकूल होना चाहिए।

अनुच्छेद 4, अनुच्छेद 169 पंचम अनुसूची के पैरा 7 तथा षष्ठ अनुसूची के पैरा 21 के अधीन शक्तियों का प्रयोग करते हुए किए गए संशोधनों के मामले में यह बताया जा सकता है कि यह उन उपबन्धों को अभिव्यक्त रूप से कथित किया गया है कि उनके बारे में यह नहीं समझा जाएगा कि वे अनुच्छेद 368 के प्रयोजनों के लिए संविधान के संशोधन हैं।

इस पर भी ध्यान देना महत्त्वपूर्ण है कि संविधान-सभा जिसमें कि 17 सितम्बर, 1949 को अनुच्छेद 368 को अंगीकृत किया था, 18 अगस्त, 1949 को गवर्नमेंट ऑफ इंडिया ऐक्ट, 1935 की पुरानी धारा 291 के स्थान में निम्नलिखित धारा प्रतिस्थापित की थी—

"291. **अधिनियम के कतिपय उपबन्धों तथा उसके अधीन किए गए आदेशों को संशोधित करने की गवर्नर जनरल की शक्ति**—

(1) गवर्नर जनरल किसी समय यदि वह आवश्यक समझता है तो निम्नलिखित विषयों में से किसी की बाबत किसी प्रान्तीय विधानमंडल के सम्बन्धित इस अधिनियम के उपबन्धों या उसके अधीन किए गए किसी आदेश में जोड़, फेरफार या निरसन द्वारा संशोधन कर सकता है—

(क) विधानमंडल के सदन या सदनों का गठन,

(ख) इस अधिनियम के अधीन निर्वाचन के प्रयोजनों के लिए राज्य क्षेत्रीय निर्वाचन क्षेत्रों का परिसीमन।

... ..."

यहां 'संशोधन' शब्द की व्याख्या की गई है। यह हो सकता है कि वास्तव में इसकी कोई व्याख्या न हो क्योंकि प्रत्येक संशोधन में किसी प्रावधान के भाग में जोड़ना, फेरफार करना या निरसन करना अन्तर्वलित है।

श्री. सीरवाई के कथनानुसार अनुच्छेद 2, 3, 169, पंचम सूची तथा षष्ठ अनुसूची के साथ पठित अनुच्छेद 4 द्वारा प्रदत्त संशोधन की शक्ति एक सीमित शक्ति है। यह केवल संविधान के कतिपय उपबन्धों तक सीमित है जब कि अनुच्छेद 368 के अधीन शक्ति सीमित नहीं है। यह सत्य है कि प्रत्येक उपबन्ध प्रथमदृष्टया अनुच्छेद 368 के अधीन संशोधनीय है किन्तु हमारे समक्ष जो समस्या है इससे उसका समाधान नहीं होता।

मैं यहां उल्लेख कर दूं कि 'फेरफार, जोड़ या निरसन' जोड़े जाने सम्बन्धी संशोधन प्रस्थापित करके अनुच्छेद 368 में प्रयुक्त 'संशोधन करना' पद को विस्तृत करने का प्रयत्न किया गया है किन्तु यह संशोधन अमान्य कर दिया गया। (सी० ए० डी० खण्ड 9, पृष्ठ 1663).

पुनः अनुच्छेद 196(2) में 'संशोधन' शब्द का एक सीमित अर्थ में प्रयोग किया गया है। अनुच्छेद 196(2) इस प्रकार है—

"196(2). अनुच्छेद 197 और 198 के उपबन्धों के अधीन रहते हुए कोई विधेयक, विधान-परिषद् वाले राज्य के विधान-मंडल के सदनों द्वारा तब तक पारित न समझा जाएगा जब तक कि या तो बिना संशोधन के या केवल ऐसे संशोधनों के सहित, जो दोनों सदनों द्वारा स्वीकृत कर लिए गए हैं, दोनों सदनों द्वारा वह स्वीकृत न कर लिया गया हो।"

इसी प्रकार अनुच्छेद 197(2) में प्रयुक्त 'संशोधन' शब्द का अर्थ किया जा सकता है, जो इस प्रकार है—

"197(2). यदि विधान-सभा द्वारा विधेयक के इस प्रकार दोबारा पारित हो जाने तथा विधान-परिषद् को पहुंचाए जाने के पश्चात्—

(क) परिषद् द्वारा विधेयक अस्वीकार कर दिया जाता है, अथवा

(ख) परिषद् के समक्ष विधेयक रखे जाने की तारीख से, उस से विधेयक पारित हुए बिना एक मास से अधिक समय व्यतीत हो जाता है, अथवा

(ग) परिषद् द्वारा विधेयक ऐसे संशोधनों सहित पारित होता है जिन्हें सभा स्वीकार नहीं करती,

तो विधेयक राज्य के विधान-मंडल के सदनों द्वारा उस रूप में पारित समझा जाएगा जिसमें कि वह विधान-सभा द्वारा ऐसे संशोधनों सहित, यदि कोई हों, जो कि विधान-परिषद् द्वारा किए या सुझाए गए हों तथा विधान-सभा ने स्वीकार कर लिए हों, दूसरी बार पारित किया गया था।"

अनुच्छेद 200 के अधीन राज्यपाल को सशक्त किया गया है कि वह ऐसे संशोधन को, जैसा कि वह अपने सन्देश में सिफारिश करें, पुरःस्थापित करने की वांछनीयता के लिए सुझाव दे सकता है। यहां पुनः 'संशोधन' का स्पष्टतया एक सीमित अर्थ है।

अनुच्छेद 35(ख) में प्रयुक्त शब्द इस प्रकार है—

"कोई प्रवृत्त विधि, जो भारत राज्य क्षेत्र में इस संविधान के प्रारम्भ होने से ठीक पहिले लागू थी, उस में दिए हुए निबन्धनों के तथा अनुच्छेद 372 के अधीन

उसमें किए गए किन्हीं अनुकूलनों और परिवर्तनों के अधीन रह कर तब तक प्रवृत्त रहेगी, जब तक कि वह संसद् द्वारा परिवर्तित या निरसित या संशोधित न की जाए।"

यहां समस्त तीनों शब्द ऐसे रूप में प्रयुक्त हुए हैं जो एक व्यापक अर्थ देते हैं। प्रारूपकार ने 'संशोधन करना' पद का ही केवल अवलम्ब लिया है।

अनुच्छेद 372 में भी इसी प्रकार की भाषा प्रयुक्त हुई है जिसके द्वारा विद्यमान विधियां तब तक प्रभावी बनी रहेंगी जब तक कि वे एक सक्षम विधानमंडल या दूसरे सक्षम प्राधिकारी द्वारा 'परिवर्तित, निरसित या संशोधित' न की जाएं।

मूल अनुच्छेद 243(1) जो प्रथम अनुसूची के भाग घ के राज्य-क्षेत्रों की शान्ति और सुशासन के लिए विनियम बनाने की शक्ति राष्ट्रपति को प्रदत्त करता है यह कथित किया गया है कि इस प्रकार से "बना हुआ कोई विनियम संसद्-निर्मित किसी विधि का × × × निरसन या संशोधन कर सकेगा।" यहां ये दो शब्द एक साथ संसद् द्वारा बनाई गई विधि की असंगति में राष्ट्रपति का विनियम बनाने की व्यापक शक्ति प्रदत्त करते हैं।

पुनः, अनुच्छेद 252 में ये दो शब्द इस प्रकार रखे गए हैं कि वे एक व्यापक शक्ति प्रदत्त करते हैं। अनुच्छेद 252 का खण्ड (2) इस प्रकार है—

> "संसद् द्वारा इस प्रकार पारित कोई अधिनियम इसी रीति से पारित या अंगीकृत संसद् के अधिनियम से संशोधित या निरसित किया जा सकेगा, किन्तु किसी राज्य के सम्बन्ध में, जहां वह लागू होता है, उस राज्य के विधान-मंडल के अधिनियम से संशोधित या निरसित न किया जाएगा।"

अनुच्छेद 254 के परन्तुक में जो कि संसद् द्वारा बनाई गई विधि तथा राज्यों के विधानमंडलों द्वारा बनाई गई विधियों की असंगति से सम्बन्धित है, यह कथित किया गया है कि—

> "परन्तु इस खण्ड की कोई बात संसद् को किसी समय उसी विषय के सम्बन्ध में कोई विधि, जिसके अन्तर्गत ऐसी विधि भी है, जो राज्य के विधान-मंडल द्वारा इस प्रकार निर्मित विधि का परिवर्धन, संशोधन, परिवर्तन या निरसन करती है, अधिनियमित करने से न रोकेगी।"

अनुच्छेद 320(5) में खंड (3) के परन्तुक के अधीन "× × × बनाए गए सब विनियम" उपान्तरित किए जा सकते हैं, ये उपान्तरण 'निरसन या संशोधन' दोनों के द्वारा हो सकते हैं। क्योंकि संसद् के दोनों सदन या राज्य के विधानमंडल के सदन या दोनों सदन सत्र के दौरान उस समय बना सकते हैं जबकि वे रखे जाते हैं।

हमने विभिन्न अनुच्छेदों की भाषा के फेरफार के प्रति जो कि संशोधन या निरसन के प्रश्न से बिल्कुल रूप से सम्बन्धित है, निर्देश किया है। क्योंकि हमारे संविधान का प्रारूपण बड़ी सावधानी से किया गया था और हमें मानना चाहिए कि प्रत्येक शब्द का चुनाव बड़ी सतर्कता के साथ किया गया था जिससे कि उसका उचित अर्थ निकल सके।

मैं इस सिद्धान्त के लिए यूनाइटेड स्टेट्स के सुप्रीम कोर्ट के होल्म्स बनाम जैनीसन[1] वाले मामले तथा जो कि विलियम बनाम यूनाइटेड स्टेट्स[2] वाले मामले में अनुसरित किया गया था के निम्नलिखित मतों का अवलम्बन करता हूं—

> "यूनाइटेड स्टेट्स के संविधान की व्याख्या करते समय प्रत्येक शब्द पर सम्यक् बल और उसका समुचित अर्थ देना चाहिए क्योंकि सम्पूर्ण लिखित से यह स्पष्ट है कि कोई भी शब्द न आवश्यक रूप से प्रयुक्त हुआ है और न ही अनावश्यक रूप से जोड़ा गया है।"

इंडियन इंडिपेंडेंस ऐक्ट, 1948 की धारा 6(2) के प्रति निर्देश किया गया है जिसमें उसकी अन्तिम तीन पंक्तियां निम्न प्रकार हैं—

> "...... और प्रत्येक डोमिनियन के विधानमंडल की शक्तियों के अन्तर्गत ऐसे अधिनियम, आदेश, नियम या विनियम जहां तक कि ये डोमिनियन की विधि के भाग हैं, को निरसित और संशोधित करने की शक्ति है।"

यहां 'निरसन या संशोधन करना' व्यापक अभिव्यक्ति से यह शक्ति प्रदत्त होती है कि संसद् के विद्यमान अधिनियम से भिन्न पूर्णतया नया अधिनियम रख दिया जाए।

इस प्रकार इन उपबन्धों को देखने से कोई सन्देह नहीं रहता कि जो विभिन्न शब्द प्रयुक्त किए गए हैं, वे विभिन्न अर्थों की पूर्ति के लिए प्रयुक्त हुए हैं। सम्पूर्ण संविधान में प्रयुक्त शब्दावली में जो अतिरिक्त फेरफार है, उसको ध्यान में रखते हुए यह अर्थ निकलता है कि शब्द 'संशोधन' को अनुच्छेद 368 द्वारा तथा संविधान के शेष उपबंधों द्वारा अपना स्वरूप प्राप्त करना चाहिए। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि इसका यह आशय नहीं है कि सम्पूर्ण संविधान को निरसित किया जाए। प्रत्यर्थियों के विद्वान् काउन्सेल ने यहां तक मान लिया है।

इसलिए अनुच्छेद 368 में प्रयुक्त "इस संविधान का संशोधन" अभिव्यक्ति की वास्तविक विषयवस्तु को समझने के लिए हमें संविधान के सम्पूर्ण ढांचे पर दृष्टिपात करना पड़ेगा। संविधान का प्रारम्भ इस प्रस्तावना के साथ होता है जो इस प्रकार है—

> "हम भारत के लोग, भारत को एक सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न लोकतंत्रात्मक गणराज्य बनाने के लिए, तथा उसके समस्त नागरिकों को :
>
> सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय,
> विचार अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म
> और उपासना की स्वतन्त्रता,
> प्रतिष्ठा और अवसर की समता
> प्राप्त कराने के लिए,
> तथा उन सब में

(1) 40 लॉयर्स इडिशन 579, 594.

(2) 77 लॉयर्स इडिशन, 1372, 1380.

व्यक्ति की गरिमा और राष्ट्र की
एकता सुनिश्चित करने वाली बन्धुता
बढ़ाने के लिए
दृढ़ संकल्प हो कर अपनी इस संविधान सभा में
आज तारीख 26 नवम्बर, 1949 ई० को एतद्द्वारा
इस संविधान को अंगीकृत, अधिनियमित और आत्मार्पित करते हैं ।"

यह प्रस्तावना 22 जनवरी, 1947 को अंगीकृत किए गए उद्देश्यमूलक संकल्प की दिशा और दृष्टि में प्रारूपित की गई थी जो इस प्रकार है—

(1) संविधान-सभा भारत को सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न गणराज्य उद्घोषित करने और उसके भविष्य के शासन के लिए एक संविधान बनाने के लिए अपने दृढ़ और पवित्र संकल्प की घोषणा करती है ।

(2) जिसमें कि वे राज्यक्षेत्र जो कि ब्रिटिश भारत के अब अंग हैं, वे राज्यक्षेत्र जो अब भारतीय राज्य हैं, और ऐसे दूसरे भारत के भाग जो ब्रिटिश भारत और देशी रियासतों के बाहर हैं तथा साथ ही साथ ऐसे दूसरे राज्यक्षेत्र जो स्वतन्त्र सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न भारत को गठित करने के लिए इच्छुक हैं, उन सभी का यह संघ होगा ।

(3) जिसमें कि उक्त राज्यक्षेत्र चाहे उनकी वर्तमान सीमाएं या ऐसी दूसरी सीमाएं जो संविधान-सभा द्वारा और तत्पश्चात् संविधान की विधि के अनुसार अवधारित हों, उन्हें अवशिष्ट शक्तियों के साथ स्वायत्त शासन की इकाई की हैसियत प्राप्त होगी और उसे बनाए रखेंगे । तथा ऐसी शक्तियों और कृत्यों के सिवाय जो संघ में विनिहित हों, या संघ को समनुदेशित हों, या संघ में अन्तर्निहित हों या विवक्षित हों या उससे उत्पन्न हों, सरकार और प्रशासन की समस्त शक्तियों और कृत्यों का प्रयोग करेंगे ।

(4) जिसमें कि सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न स्वतन्त्र भारत, उसके घटक भागों तथा सरकार के अंगों की समस्त शक्तियां जनता से प्राप्त की जाती हैं ।

(5) जिसमें कि भारत के समस्त लोगों को सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय तथा प्रतिष्ठा और अवसर की समता की गारण्टी की जाएगी और उन्हें सुनिश्चित किया जाएगा तथा उन्हें विधि के समक्ष विधि और लोक नैतिकता के अध्यधीन रहते हुए विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म, उपासना, व्यवसाय की तथा संस्था और संगम बनाने की स्वतन्त्रता होगी ।

(6) जिसमें कि अल्पसंख्यकों, पिछड़े जनजातीय क्षेत्रों तथा दलित एवं अन्य पिछड़े वर्गों के लिए समुचित सुरक्षा की व्यवस्था की जाएगी ।

(7) जिसके द्वारा गणराज्य के राज्य क्षेत्र की अखंडता और न्याय और सभ्य राष्ट्रों की विधि के अनुसार भूमि, जल और आकाश में के उसके सर्वप्रभुत्व-सम्पन्न अधिकारों को बनाए रखा जाएगा ।

(8) यह प्राचीन देश विश्व में अपना उचित और सम्मानित स्थान प्राप्त करता है और विश्व शान्ति तथा मनुष्य जाति के कल्याण के उत्थान के लिए अपनी पूर्ण और सक्रिय भूमिका का निर्वाह करता है ।

इस उद्देश्य मूलक संकल्प को स्वीकार करने के लिए संकल्प को रखते समय पंडित जवाहर लाल नेहरू ने निम्न प्रकार कहा था—

"हमने इतने दिनों से जो कुछ सोचा था और जिसका स्वप्न देखा था तथा निकट भविष्य में जिसको प्राप्त करने की हम आशा रखते हैं उन सबको यह (संकल्प) बड़ी नम्रतापूर्वक विश्व को बताना चाहता है। उसी भाव में मैंने इस संकल्प को सदन के समक्ष रखने का साहस किया और उसी भाव में मैं सदन पर विश्वास करता हूं कि वह उसे ग्रहण करके और अन्ततोगत्वा उसे पारित करेगा। श्रीमान्, मैं पूर्ण आदर के साथ आपको तथा सदन को यह भी सुझाव दे दूं कि जब इस संकल्प के पारित करने का समय आए तो हाथ उठाकर औपचारिक रूप से इसको न पारित किया जाए किन्तु हम सब खड़े होकर अधिक गम्भीरता के साथ इसको पारित करें और इस प्रकार हम यह नया प्रण करें।"

मैं यहां उस इतिहास को बता दूं जो इस प्रस्तावना को अन्तिम रूप देने का है। क्योंकि इससे यह दर्शित होगा कि जब इसको अन्तिम रूप से स्वीकृत किया गया था तो यह संविधान के अनुरूप था। न केवल संविधान प्रस्तावना को ध्यान में रखते हुए विरचित किया गया था अपितु यह प्रस्तावना भी अन्ततोगत्वा संविधान को ध्यान में रखकर सुनिश्चित की गई है। यह बात प्रस्तावना के विरचित करने के इतिहास के निम्नलिखित संक्षिप्त सर्वेक्षण से प्रतीत होती है जो बी० शिवराव द्वारा लिखित "फ्रेमिंग ऑफ इण्डियाज कांस्टिट्यूशन (ए स्टडी)" से उद्धृत किया गया है। सबसे पहले जो प्रारूप बना था उस में यह प्रस्तावना कुछ औपचारिक रूप की थी, जो इस प्रकार है—"हम भारत के लोग, जनसाधारण के कल्याण की वृद्धि के लिए एतद्द्वारा अपने चुने हुए प्रतिनिधियों के माध्यम से इस संविधान को अधिनियमित और अंगीकृत करते हैं तथा अपने को आत्मार्पित करते हैं[1]।"

3 जून, 1947 की योजना के पश्चात् जिसके द्वारा देश के विभाजन तथा भारत और पाकिस्तान की स्वतन्त्र डोमिनियनों की स्थापना का विनिश्चय हुआ था, 8 जून, 1947 को संघ संविधान और प्रदेशीय संविधान समितियों की एक संयुक्त उपसमिति ने यह अनुभव किया था कि हाल की ब्रिटिश सरकार की घोषणा को दृष्टि में रखते हुए इस उद्देश्य मूलक प्रस्ताव में संशोधन आवश्यक होगा। 3 जून, की घोषणा से यह स्पष्ट हो गया है कि 15 अगस्त, 1947 से भारत को डोमिनियन स्टेट्स के रूप में पूर्ण स्वतन्त्रता प्रदत्त की जाएगी। विभाजन की विवक्षाओं की परीक्षा करने के पश्चात् उपसमिति का यह विचार था कि उद्देश्य मूलक संकल्प में संशोधन करने के प्रश्न पर समुचित रूप से तभी विचार किया जा सकता है जबकि 3 जून वाली योजना वास्तविक रूप में कार्यान्वित हो जाए। संघ संविधान समिति ने अन्तरिम रूप से बी० एन० राव० द्वारा प्रारूपित प्रस्तावना को स्वीकार कर लिया और बिना किसी परिवर्तन के अपनी 4 जून, 1948 वाली रिपोर्ट में उसे पुनः इस स्पष्ट मान्यता के साथ उस प्रक्रम पर उद्धृत किया कि यह प्रस्तावना उद्देश्य मूलक प्रस्ताव पर ही अन्तिम रूप में आधारित होगी। 18 जून, 1947 को संविधान सभा के सदस्यों को भेजे गए एक कथन में पंडित जवाहर

---

(1) शिवराव की—फ्रेमिंग ऑफ इण्डियाज कांस्टिट्यूशन—ए स्टडी—पृष्ठ 127.

लाल नेहरू ने अन्य बातों के साथ-साथ यह कहा था कि यह प्रस्तावना किसी न किसी रूप में उद्देश्य मूलक प्रस्ताव के अन्तर्गत है जिसके लिए यह आशय था कि उसे विभाजन के कारण हुए राजनैतिक परिवर्तनों के कारण कुछ रूपान्तरणों के अध्यधीन रहते हुए अन्तिम संविधान में समाविष्ट कर लिया जाए। 3 दिन के पश्चात् संघ संविधान समिति की रिपोर्ट को विचार के लिए रखते हुए उन्होंने यह सुझाव दिया था कि इस प्रक्रम पर यह आवश्यक है कि प्रस्तावना के प्रारूप पर विचार किया जाए क्योंकि संविधान उद्देश्य मूलक संकल्प में अधिकथित आधारभूत सिद्धान्तों से बंधा है और इन्हें परिवर्तित परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए प्रस्तावना में समाविष्ट किया जा सकता है। इस सुझाव को संविधान सभा ने स्वीकार कर लिया और प्रस्तावना पर और अधिक विचार करने में रोक दिया गया।

हमें अन्तरवर्ती प्रारूपों पर विचार करना आवश्यक नहीं है क्योंकि इसी बीच अप्रैल, 1949 में विभिन्न कॉमनवेल्थ देशों की सरकार द्वारा घोषणा को अंगीकृत कर लिया गया [देखिए संविधान सभा वाद-विवाद, खण्ड 8, पृष्ठ 2] और यह संकल्प दो दिन के वाद-विवाद के पश्चात् 17 मई, 1949 को संविधान सभा द्वारा अनुसमर्थित किया गया।

इसी बीच भारतीय देशी रियासतों के विलयन और एकीकरण की प्रक्रिया भी पूरी हो गई और सरदार वल्लभ भाई पटेल ने 12 अक्तूबर, 1949 को संविधान सभा के समक्ष यह कहा कि यह नया संविधान लोकतन्त्रों और राजतन्त्रों के बीच सन्धि नहीं है अपितु यह जनता की सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्नता की आधारभूत उपधारणा के आधार पर बना हुआ भारतीय लोगों का एक संघ है।

संविधान सभा ने 17 अक्तूबर, 1949 को इस प्रारूपित प्रस्तावना पर विचार किया। शिव राव ने यह मत दिया था कि "संविधान सभा के अध्यक्ष ने यह स्पष्ट किया था कि प्रस्तावना को अन्त में रखने का उद्देश्य यह है कि यह सुनिश्चित किया जाए कि जिस रूप में संविधान स्वीकृत किया गया है यह उसके अनुरूप है। एक बार जब शक्ति का अन्तरण हो जाता है तो ब्रिटिश संसद के पश्चात्वर्ती अनुमोदन का, जैसा कि मई 1946 के ब्रिटिश कैबिनेट मिशन की मूल योजना में कल्पना की गई थी, कोई प्रश्न ही नहीं उठता। संविधान सभा जो सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न प्रकृति की है इस प्रकार बिना किसी विवाद के तीव्रगामी घटनाओं के कारण स्वतः सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न हो गई और प्रस्तावना के इन शब्दों का "इस संविधान को स्वयं को आत्मार्पित करते हैं" पूर्ण औचित्य हो गया। संविधान सभा ने इस प्रस्तावना को बिना किसी परिवर्तन के अंगीकृत कर लिया। तत्पश्चात् यह शब्द और अंक "कि यह तारीख 26 नवम्बर, 1949" अन्तिम पैरा में इसलिए जोड़े गए जिससे कि वह तारीख दर्शित हो जिस दिन कि संविधान सभा ने अन्तिम रूप से इस संविधान को अंगीकृत किया था।

मामूली कानूनों के निर्वचन में प्रस्तावना के उपयोग की बाबत कोई संदेह नहीं है कि उस दशा में भाषा को रूपान्तरित करने के लिए इसका प्रयोग नहीं किया जा सकता जबकि अधिनियमिति की भाषा सादी और स्पष्ट है यदि भाषा सादी और स्पष्ट नहीं है तो प्रस्तावना का प्रभाव अधिनियमिति के दस्तावेज में प्रयुक्त भाषा को विस्तारित करने या उसको निर्बन्धित करने का हो सकता है। तब उस दशा में उस

अर्थ को ग्रहण करना पड़ेगा जो प्रस्तावना के उद्देश्य और विस्तार के निकटतम हो। [देखिए—त्रिभुवन प्रकाश नय्यर बनाम भारत संघ(1)]

यद्यपि हम किसी मामूली कानून के निर्वचन से सम्पृक्त नहीं हैं जैसा कि एक सर्वप्रसिद्ध वकील सर अलादी कृष्णस्वामी ने कहा था "जहां तक इस प्रस्तावना का सम्बन्ध है यद्यपि हम मामूली कानून की प्रस्तावना पर अधिक महत्व नहीं देते हैं किन्तु सांविधानिक कानून में जो प्रस्तावना होती है उसे सर्वाधिक महत्व देना ही है"। (संविधान सभा विचार-विमर्श, खण्ड 10, पृष्ठ 417)। हमारी प्रस्तावना में सम्पूर्ण संविधान के उद्देश्यों की रूप रेखा है। अब तक "जो कुछ हमने सोचा था या जिसका स्वप्न देखा था" उसे यह अभिव्यक्त करती है।

बेरुबारी यूनियन एण्ड एक्सचेंज ऑफ एन्क्लेव्स(2), वाले निर्देश में प्रस्तावना के बारे में निम्न प्रकार कहा गया था —

> "इसमें कोई संदेह नहीं है कि संविधान की प्रस्तावना में अपनी सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न इच्छा का प्रयोग करते हुए भारत के लोगों ने जो-जो घोषणा की है वह स्टोरी के शब्दों में इस प्रकार है 'इससे संविधान निर्माताओं के उद्देश्य का पता चलता है' इससे यह दर्शित होता है कि उनके वे साधारण उद्देश्य क्या थे, जिनके लिए उन्होंने संविधान में इतने उपबन्ध किए थे। किन्तु फिर भी प्रस्तावना संविधान का एक भाग नहीं है क्योंकि जैसा कि विलोबी ने अमेरिकी संविधान की प्रस्तावना के बारे में इस प्रकार मत दिया है 'यह कभी नहीं माना गया है कि यूनाइटेड स्टेट्स की सरकार या उसके किसी विभाग को प्रदत्त किसी मुख्य शक्ति का यह स्रोत है। ऐसी शक्तियों के अन्तर्गत केवल वही शक्तियां आती हैं जो संविधान के ढांचे द्वारा अभिव्यक्त रूप से प्रदान की गई है और ऐसी शक्तियां जो कि इस प्रकार की शक्तियों द्वारा विवक्षित की जा सकती हैं।

जो बात शक्तियों के बारे में सही है वह सामान्य रूप से प्रतिषेधों और परिसीमाओं के बारे में सही है।"

गोलक नाथ बनाम पंजाब(3) वाले मामले में न्यायमूर्ति वांचू ने बेरुबारी वाले मामले(2) के मत का अवलम्ब किया और निम्न प्रकार कहा था—

> "तर्कों के आधार पर हमारी यह राय है कि प्रस्तावना अनुच्छेद 368 में अन्तर्विष्ट संविधान को संशोधन करने की शक्ति को न तो प्रतिषिद्ध कर सकती है, न तो किसी रूप में नियंत्रित कर सकती है और न ही उस पर किन्हीं विवक्षित प्रतिषेधों या परिसीमाओं को अधिरोपित कर सकती है।"

इस मामले में न्यायमूर्ति बछावत ने निम्नलिखित मत व्यक्त किया था—

> "जो भी हो यह प्रस्तावना संविधान के अनुच्छेदों की असंदिग्धार्थी भाषा को नियन्त्रित नहीं कर सकती है। देखिए विल्स, लेजिस्लेटिव एक्जीक्यूटिव एण्ड जूडीशियल

(1) (1970) 2 एस० सी० आर० 732, 737=[1970] 3 उम० नि० प० 958.

(2) (1960) 3 एस० सी० आर० 250, 281-82.

(3) (1967) 2 सी० एस० आर० 762, 838 और 914.

पावर्स इन आस्ट्रेलिया, तृतीय संस्करण, पृष्ठ 694-5 : क्वेकारी यूनियन एण्ड एक्सचेंज आफ एक्सेलेन्स वाला मामला(¹) ।"

इस बाबत जैसा कि ऊपर दर्शित किया गया है न्यायालय यह अभिनिर्धारित करने में गलत था कि यह प्रस्तावना उस दशा में तब तक संविधान का भाग नहीं है जब तक कि न्यायालय संविधान कानून और संविधान जैसा कि पालखीवाला ने उल्लिखित किया है के बीच स्पष्ट अन्तर होने की बात न सोचे । यह अभिव्यक्त रूप से मत दिया गया है कि यह संविधान का एक भाग है । आगे भी इसकी बाबत हमारे समक्ष किसी ऐसे प्रमाण के प्रति निर्देश नहीं किया गया है जिससे यह प्रतिपादना सिद्ध हो सके कि "जो बात शक्तियों के लिए सही है, वह सामान्य रूप से प्रतिषेधों और परिसीमाओं के बारे में भी सही है" । जैसा कि मैं बाद में दर्शित करूंगा परिसीमाएं प्रस्तावना से भी कुछ मामलों में व्युत्पन्न की गई हैं ।

पालखीवाला ने अपनी लिखित दलील में यह निवेदन किया है कि भारतीय संविधान कानून और भारत के संविधान के बीच अन्तर है । उन्होंने निम्न प्रकार दलील दी है—

> 'यह संविधान' वह संविधान है जो प्रस्तावना का अनुसरण करता है । यह अनुच्छेद प्रथम से प्रारम्भ होता है और मूलतः अष्ठम अनुसूची में समाप्त होता था । किन्तु अब प्रथम संशोधन अधिनियम, 1951 के पश्चात् नवम अनुसूची पर समाप्त होता है जिस रूप में यह प्रस्तावना प्राकल्पित की गई है उससे इस बात में कोई संदेह नहीं रह जाता कि प्रस्तावना से जो अर्थ निकलता है और जो अर्थ दिया होता है वह भारत का संविधान है ।"

उसने यह भी दलील दी है कि अनुच्छेद 394 में यथा उपबंधित अनुच्छेद 5, 6, 7 आदि के साथ 26 नम्बर, 1949 को यह प्रस्तावना प्रभावी हुई थी । क्योंकि अनुच्छेद 5, 6, 7 और उसमें उल्लिखित दूसरे अनुच्छेद प्रस्तावना के प्रभावी होने के पश्चात् उसमें उल्लिखित खण्डों की अधिनियमिति के बिना प्रभावी नहीं किए जा सकते थे । उसका कथन है कि प्रस्तावना संविधान कानून का एक भाग है न कि उस संविधान का भाग जो कि उसका पूर्ववर्ती है । इस दलील पर कुछ कहा जा सकता है किन्तु हमारे मतानुसार यह आवश्यक नहीं है कि हम इस अन्तर के ऊपर अपना विनिश्चय दें क्योंकि प्रस्तुत मामले में यह विनिश्चय करना आवश्यक नहीं है कि क्या अनुच्छेद 368 संसद् को सशक्त करता है कि वह प्रस्तावना को संशोधित करे । संसद् ने अभी तक प्रस्तावना को संशोधित करने के लिए नहीं चाहा है ।

बहराम खुरशीद पसीकाका बनाम मुम्बई राज्य(²) वाले मामले में इस न्यायालय ने प्रस्तावना का उपयोग अर्थान्वयन की सहायता के लिए किया था । भाग 3 के प्रति निर्देश करने के पश्चात् मुख्य न्यायाधिपति महाजन ने निम्नलिखित मत व्यक्त किया था—

> "हमारा विचार है कि जिन अधिकारों को मूल अधिकार कहा जाता है कि वे प्रस्तावना की घोषणा के आवश्यक परिणाम हैं कि भारत के लोगों ने भारत को एक सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न लोकतान्त्रिक गणराज्य बनाने के लिए अपना पवित्र संकल्प किया है ।

(¹) (1960) 3 एस० सी० आर० 250.

(²) (1955) 1 एस० सी० आर० 613, 658.

इसी प्रकार केरल शिक्षा विधेयक, 1957 की विधिमान्यता पर विचार करते समय मुख्य न्यायाधिपति दास ने केरल एजुकेशन बिल, 1957 के मामले (1) में अपना मत इन शब्दों में प्रकट किया—

"जिस विधेयक के सम्बन्ध में कहा जाता है कि उसने सन्देहों को जन्म दिया है, उसके उपबन्धों के सही अर्थ, आशय तथा उसकी विवक्षाओं को समझने के लिए पहले तो संविधान के कुछ उपबन्धों का हवाला देना आवश्यक है जिनका समीक्षाधीन प्रश्नों पर प्रभाव पड़ता है और बाद में विधेयक के वास्तविक उपबन्धों का भी हवाला देना जरूरी है। हमारे संविधान की प्रेरणादायक तथा उत्कृष्ट भाषा में अभिव्यक्त प्रस्तावना, भारत के लोगों के, भारत को एक सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न लोकतन्त्रात्मक गणराज्य बनाने के लिए तथा आदि आदि ······ (इसके बाद वे पूरी प्रस्तावना को उद्धृत करते हैं) ········ के लिए उनके दृढ़ संकल्प की चर्चा करती है। जनता को विचारों और अभिव्यक्ति की प्रेरणा किसी बात से इतनी नहीं मिलती है जितनी शिक्षा से। शिक्षा ही हमारे विश्वास और निष्ठा को स्पष्टता प्रदान करती है और उपासना की भावना को बलवती बनाती है। प्रस्तावना में वर्णित इन महानतम प्रयोजनों को पक्का करने और कार्यान्वित करने के लिए हमारे संविधान के भाग 3 ने हमें कुछ मूल अधिकार दिए हैं।"

यह मान लेने के बाद कि प्रस्तावना संविधान का भाग नहीं है न्यायाधिपति मधोलकर ने सज्जन सिंह बनाम राजस्थान राज्य(2) वाले मामले में अपना मत इस प्रकार प्रकट किया—

"इस प्रश्न पर विचार करते समय यह ध्यान में रखना सुसंगत होगा कि यह प्रस्तावना ऐसी साधारण कोटि की प्रस्तावना नहीं है जैसा कि विधानमण्डल के किसी अधिनियम में होती है। इस पर गहरे चिन्तन की छाप है और यथार्थता उसकी विशेषता है। क्या इसका अर्थ यह नहीं है कि संविधान की रचना करने वालों ने इसको विशेष महत्त्व प्रदान किया था।"

क्विक और गैरन ने 'एनोटेटिव कांस्टिट्यूशन ऑफ दि आस्ट्रेलियन कॉमनवैल्थ (1901 पृष्ठ 284)' नामक अपनी कृति में लार्ड थ्रिंग कृत 'प्रेक्टिकल लैजिस्लेशन' (पृष्ठ 36) से निम्नलिखित वाक्य अपना लिया—

"प्रस्तावना का प्रयोग अन्य प्रयोजनों के लिए भी किया जा सकता है: कुछ पदों के अर्थ-विस्तार को सीमित करना या तथ्यों को स्पष्ट करना या परिभाषाओं को प्रविष्ट करना।"

4. 'लैजिस्लेटिव डायरेक्टिव' (पृष्ठ 137) पर थार्टन ने यह राय दी है कि प्रस्तावना के अर्थान्वयन का प्रभाव या तो यह हो सकता है कि वह अधिनियमिति में प्रयुक्त सामान्य भाषा को अर्थ-विस्तार प्रदान करे या फिर उसके अर्थ को सीमित करे।

---

(1) (1959) एस० सी० आर० 995, 1018-1019.

(2) (1965) 1 एस० सी० आर० 933, 968.

अटर्नी जनरल बनाम प्रिन्स अरनेस्ट ऑगस्टस ऑफ हैनोवर([1]) वाले मामले में हाउस ऑफ लार्ड्स ने इस बात पर विचार किया कि प्रिन्सेस सोफिया नैचरलाइजेशन ऐक्ट, 1705 के निर्वचन पर उसकी प्रस्तावना का क्या प्रभाव पड़ता है। उस मामले में यह अभिनिर्धारित किया गया कि "ऐक्ट के अर्थान्वयन की दृष्टि से ऐक्ट या उसकी प्रस्तावना में कोई भी ऐसी बात नहीं है जिसका निर्वचन यदि पुराने सुसंगत कानूनों के प्रकाश से किया जाए तो .... वह अधिनियमित करने वाले उपबन्धों के सारवान् शब्दों के सरल तथा साधारण अर्थ को नियन्त्रित या सीमित कर सकती हो और यह कि "जन्मे या इसके बाद जन्म लेने वाले" पारम्परिक वंशज-वर्ग से समय विषयक किसी भी सीमा का विचार किए बिना सभी डिग्रियों के ऐसे ही वंशज अभिप्रेत हैं।" आगे चल कर हाउस ऑफ लार्ड्स ने यह अभिनिर्धारित किया कि सन् 1705 को ध्यान में रखते हुए यदि इस ऐक्ट पर विचार किया जाए तो इस अर्थान्वयन में कोई ऐसी स्पष्ट अर्थहीनता नहीं है जिसके आधार पर न्यायालय इसे नामंजूर कर सके।"

श्री सीरवाई ने लार्ड नारमण्ड के भाषण से पृष्ठ 467 पर प्रकाशित एक पैरे का हवाला दिया। यह पैरा बहुत लम्बा है फिर भी मैं इन वाक्यों को उद्धृत करता हूं—

> "प्रस्तावना उचित रूप से प्रभावी तभी हो सकती है जब अधिनियमन खण्ड के अपेक्षाकृत दुरुह या अनिश्चित शब्दों की तुलना में उससे प्रकट होने वाला अर्थ स्पष्ट और निश्चित हो .... यदि अधिनियम में खण्ड के शब्दों से केवल एक ही अर्थ निकलता हो तो उस अर्थ को प्रभाव दिया जाएगा चाहे फिर वह प्रस्तावना के साथ असंगत ही क्यों न हो, किन्तु यदि अधिनियमन खण्ड के शब्दों का अर्थ दोनों तरह से किया जा सकता हो जैसा कि पक्षकारों ने सुझाया हो तो अधिमान उस अर्थ को दिया जाएगा जिसका प्रस्तावना के साथ मेल बैठता हो।"

वाईकाउण्ट साइमॉण्ड्ज़ ने इसी विषय की विवेचना पृष्ठ 463 पर इन शब्दों में की है—

> "एक ओर यह प्रस्थापना स्वीकार की जा सकती है कि "यह सुस्थापित नियम है कि जब अधिनियमितियों को अभिव्यक्त करने वाले शब्द स्पष्ट हों और उनके अर्थ करने में कोई बात संदिग्ध न हो तब प्रस्तावना का उपयोग उन अधिनियमितियों के अर्थ पर बन्धन लगाने के लिए नहीं किया जा सकता।" मैं लॉर्ड जज चिट्टी का कथन उद्धृत करता हूं जिसको पोवेल बनाम केम्पटन पार्क रेसकोर्स कम्पनी लिमिटेड([2]) वाले मामले में लॉर्ड डेवी ने सराहना करते हुए अनुमोदित किया था। इसके विपरीत जब तक शब्दावली का अध्ययन उसके संदर्भ में न कर लिया गया हो तब तक यह कहना बहुधा कठिन होगा कि शब्दावली स्पष्ट है और उनके अर्थ के सम्बन्ध में कोई सन्देह नहीं है।"

इस मामले से प्रकट होता है कि संविधान के संदर्भ में अनुच्छेद 338 का अध्ययन करने पर यदि मैं अनुभव करूं कि "संशोधन" शब्द संदिग्धार्थी है तो मैं, यह पता लगाने के लिए कि कौन सा अर्थ प्रस्तावना के साथ पढ़े जाने पर ठीक बैठेगा, प्रस्तावना के प्रति निर्देश कर सकता हूं।

([1]) (1957) ए० सी० 436, 460.

([2]) (1899) ए० सी० 143, 185.

स्टेट ऑफ विक्टोरिया बनाम कॉमनवैल्थ(¹) वाले मामले में, जिसकी विस्तारपूर्ण चर्चा बाद में की गई है, बहुत से न्यायाधीशों ने संविधान की परिसंघीय (फेडरल) रचना की चर्चा की है। कॉमनवैल्थ ऑफ आस्ट्रेलिया कान्स्टिट्यूशन ऐक्ट, 1902 की प्रस्तावना में ही "वन इण्डिसोल्यूबल फेडरल कॉमनवैल्थ" (अविघटनीय परिसंघीय राष्ट्र संघ) का उल्लेख किया गया है।

इस प्रश्न पर आस्ट्रेलिया में तीव्र वाद-विवाद छिड़ा हुआ है कि क्या ऐसा संशोधन किया जा सकता है तो "अविघटनीय" स्वरूप को निर्दिष्ट करने वाले संविधान अधिनियम की प्रस्तावना और उन धाराओं के साथ असंगत हो जिनमें संविधान की परिसंघीय प्राकृति के प्रति निर्देश किया गया है। इस विवाद का उल्लेख करने के बाद वाइन कृत 'लेजिस्लेटिव एक्जक्यूटिव एण्ड जूडीशियल पावर्स इन आस्ट्रेलिया, चतुर्थ संस्करण पृष्ठ 506 में यह कहा गया है—

> "उस नियम के अतिरिक्त, जो यह कहता है कि प्रस्तावना पर कानूनी निर्वचन करते समय सामान्यतः ध्यान ही नहीं दिया जाना चाहिए यह स्पष्ट है कि कहा चाहे जो भी जाए, प्रस्तावना अधिक से अधिक यही कर सकती है कि उस आशय को व्यक्त करे जिसको अधिनियम प्रभावी बनाना चाहता है और वह भी विद्यमान (अर्थात् जो सन् 1900 में हो सकता था) आशय की अभिव्यक्ति मात्र है किन्तु संशोधन के प्रति संविधान में ही किया गया स्पष्ट निदेश अवश्य ही हर हालत में संविधान के सृजन के हेतुओं की अभिव्यक्ति के साथ लगाई गई शर्त के ही रूप में होगा।"

मुझे यह कहने की कोई आवश्यकता नहीं है कि कौन सा दृष्टिकोण सही है। किन्तु इससे इतना अवश्य प्रकट होता है कि आस्ट्रेलिया में इस सम्बन्ध में तीव्र वाद-विवाद छिड़ा हुआ है कि प्रस्तावना के आधार पर क्या संशोधन की शक्ति को सीमित किया जा सकता है।

'कमेण्ट्रीज ऑन कांस्टिट्यूशन ऑफ दि यूनाइटेड स्टेट्स (संयुक्त राज्य अमरीका के संविधान पर टीका) नामक अपनी कृति (1883, जिल्द¹) में स्टोरी कहता है कि—

"इसका (प्रस्तावना का) प्रयोग उचित रूप से तभी किया जाता है जब अधिनियम खण्ड के शब्दों के समझने में कोई बात सन्दिग्ध हो क्योंकि यदि वे बिलकुल स्पष्ट हों और उनका अर्थ भी असंदिग्ध हो तो निर्वचन का कोई अवसर पैदा नहीं होगा सिवाय उन मामलों के जिनमें कोई स्पष्ट अर्थहीनता प्रतीत होती हो या प्रस्तावना में अभिव्यक्त आशय प्रत्यक्ष रूप से बिलकुल उलट गया हो (पृष्ठ 444) ऐसा कोई कारण प्रतीत नहीं होता है कि मूल विधि या शासन के गठन में उतना ही ध्यान उसकी संरचना करने वालों के प्रस्तावना में यथा-कथित आशय की ओर क्यों न दिया जाए और यही कारण है कि हम देखते हैं कि संविधान

(¹) (1971) 45 ए० एल० जे० 251.

के उपबन्धों के अर्थान्वयन में सहायता के लिए राजनीतिज्ञों तथा विधि-वेत्ताओं ने प्रस्तावना का निरन्तर उपयोग किया है।" (पृष्ठ 444)

आगे चल कर स्टोरी पृष्ठ 447-448 पर कहता है—

> "और तदनुसार उच्चतम न्यायिक प्राधिकारी का एक ही मत रहा है और वह यह कि प्रस्तावना जनता की बनाई हुई है न कि राज्यों की और यह कि जनता के अधीन होने के कारण पश्चात्कथित इससे आबद्ध हैं। मुख्य न्यायाधिपति जे के शब्दों में "हम संविधान को देखें। जनता ने उसमें यह घोषित किया है कि उसकी प्रस्थापना जिस इरादे से की गई थी उसके छह उद्देश्य थे : (1) और भी पक्के संघ की संरचना करना; (2) न्याय की प्रस्थापना करना (3) आन्तरिक शान्ति को सुनिश्चित बनाना; (4) सामान सुरक्षा की व्यवस्था करना; (5) सामान्य कल्याण को प्रोन्नत करना; (6) अपने तथा अपने वंशजों के लिए स्वतन्त्रता का वरदान सुनिश्चित करना।" आगे चल कर वे कहते हैं "इन उद्देश्यों में से प्रत्येक का दूसरे के साथ जो संबंध है उस पर ध्यान देना तथा उसका अनुसरण करना और यह दिखाना आनन्ददायक तथा उपयोगी होगा कि समग्र रूप से उनमें हर वह बात आ जाती है जो किसी भी देश के लोगों को, भगवान की कृपा से, समृद्ध तथा सुखी बनाने के लिए आवश्यक है।" हण्टर बनाम मार्टिन,(1) व्हीट, आर० 305, 324) वाले मामले में सुप्रीम कोर्ट ने (जैसे कि हम देख चुके हैं) यह कहा है कि "संयुक्त राज्य अमरीका के संविधान को अपनी प्रभुत्व वाली हैसियत का प्रयोग करके राज्यों ने नहीं बनाया था बल्कि उसको संयुक्त राज्य अमरीका की जनता द्वारा अधिकारपूर्वक नियत तथा स्थापित किया गया था जैसे कि संविधान की प्रस्तावना में दृढ़तापूर्वक घोषित किया गया है" और यह देखा जाएगा कि अन्य गम्भीर अवसरों पर जिस भाषा का प्रयोग किया गया है वह और भी अभिव्यक्ति पूर्ण है।"

संयुक्त राज्य अमरीका के सुप्रीम कोर्ट ने (फेडरल संविधान की प्रस्तावना के कुछ शब्दों का प्रयोग करते हुए) ठीक ही कहा है कि संयुक्त राज्य अमरीका की जनता ने अपने संविधान अथवा शासन तन्त्रों की स्थापना स्वयं न्याय की स्थापना करने के लिए, सामान्य कल्याण को प्रोन्नत करने के लिए, स्वतन्त्रता के वरदान को सुनिश्चित करने के लिए, तथा अपनी देह तथा सम्पत्ति की हिंसा से रक्षा करने के लिए की है।" (अमरीकन जूरिसप्रूडेंस, द्वितीय-जिल्द-16 पृ० 184)

संयुक्त राज्य अमरीका में सांविधानिक प्रश्नों का निपटारा करते समय कभी-कभी स्वतन्त्रता की घोषणा (डेक्लेरेशन ऑफ इंडिपेंडेंस) का हवाला दिया जाता है। अमरीकन जूरिसप्रूडेंस (द्वितीय-16 पृ० 109) में कहा गया है कि—

> "यह तो ठीक है कि स्वतन्त्रता की घोषणा में जिन सिद्धान्तों का वर्णन किया गया है उनको आधारभूत विधि का बल नहीं प्राप्त है और इसलिए अधिकारों तथा कर्तव्यों के सीमा संबंधी न्यायिक विनिश्चयों के लिए उनको आधार नहीं बनाया जा सकता, फिर भी यह कहा गया है कि निरापद यही है कि संविधान की भाषा का विवेचन करते समय उसे उसी भावना से समझा

जाए जो स्वतन्त्रता की घोषणा की है और सांविधानिक प्रश्नों को तय करते समय न्यायालय बहुधा इस घोषणा का हवाला देते हैं।"

मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि हमारे संविधान की प्रस्तावना बहुत महत्वपूर्ण है और हमें चाहिए कि हम संविधान को भविष्य की उस उच्च और महान कल्पना के प्रकाश में देखें-सुने तथा उसका अर्थान्वयन करें जिसकी अभिव्यक्ति प्रस्तावना में हुई है।

अब मैं संविधान की स्कीम का संक्षेप में वर्णन करता हूं। संविधान का भाग 1 "संघ और उसका राज्यक्षेत्र" के संबंध में हैं। अपने मूल रूप से यथा अधिनियमित अनुच्छेद इस प्रकार है—

"1. भारत अर्थात् इण्डिया राज्यों का संघ होगा।

2. उस के राज्य और राज्य-क्षेत्र प्रथम अनुसूची के भाग (क), (ख) और (ग) में उल्लिखित राज्य और उनके राज्य-क्षेत्र होंगे।

3. भारत के राज्य-क्षेत्र में—

(क) राज्यों के राज्य-क्षेत्र

(ख) प्रथम अनुसूची के भाग (घ) में उल्लिखित राज्य-क्षेत्र; तथा

(ग) ऐसे अन्य राज्य-क्षेत्र जो अर्जित किए जाएं।

समाविष्ट होंगे।"

अनुच्छेद 2 के द्वारा संसद् को ऐसे निबन्धनों और शर्तों के साथ जिन्हें वह उचित समझे संघ में नए राज्यों का प्रवेश या प्रस्थापना करने के लिए समर्थ बनाया गया है। अनुच्छेद 3 और 4 नए राज्यों के निर्माण और वर्तमान राज्यों के क्षेत्रों, सीमाओं या नामों के बदलने के संबंध में है।

भाग 2 'नागरिकता' के सम्बन्ध में है। भाग 3 का शीर्षक 'मूल अधिकार' है। उसमें सब से पहले 'राज्य' पद की परिभाषा की गई है और यह कहा गया है कि 'राज्य' के अन्तर्गत भारत की सरकार और संसद् तथा राज्यों में से प्रत्येक की सरकार और विधान-मंडल तथा भारत राज्य-क्षेत्र के भीतर अथवा भारत सरकार के नियन्त्रण के अधीन सब स्थानीय और अन्य प्राधिकारी भी हैं। (अनुच्छेद 12)। अनुच्छेद 13 में यह उपबन्ध किया गया है कि मूल अधिकारों से असंगत अथवा उनका अल्पीकरण करने वाली विधियां शून्य होंगी। यह बात विद्यमान विधियों को तथा उन विधियों को भी लागू होगी जो संविधान के प्रवृत्त होने के बाद बनाई गई है। थोड़ी देर के लिए मैं यह माने लेता हूं कि अनुच्छेद 13(2) में 'विधि' शब्द के अन्तर्गत सवैधानिक संशोधन भी आते हैं।

संविधान द्वारा प्रदान किए गए मूल अधिकारों में विधि के समक्ष समता (अनुच्छेद 14) का, धर्म, मूल वंश, जाति, लिंग या जन्मस्थान के आधार पर विभेद के प्रतिषेध (अनुच्छेद 15) का, राज्याधीन नौकरी के विषय में अवसर-समता (अनुच्छेद 16) का, वाक्-स्वातंत्र्य और अभिव्यक्ति-स्वातंत्र्य का, शान्तिपूर्वक और निरायुध सम्मेलन का, संस्था या संघ बनाने का, भारत राज्य-क्षेत्र में सर्वत्र अबाध संचरण का, भारत राज्य-क्षेत्र के किसी भाग में निवास करने और बस जाने का, सम्पत्ति के अर्जन, धारण

और व्ययन का तथा कोई वृत्ति, उपजीविका, व्यापार या कारबार करने का, अधिकार सम्मिलित है (अनुच्छेद 19)। अनुच्छेद 19 के अधीन इन अधिकारों पर विभिन्न विषयों के सम्बन्ध में युक्तियुक्त निर्बन्धन लगाए जा सकते हैं।

अनुच्छेद 20 यह कहता है कि कोई व्यक्ति किसी अपराध के लिए सिद्धदोष नहीं ठहराया जाएगा जब तक कि उसने अपराध-आरोपित किया करने के समय किसी प्रवृत्त विधि का अतिक्रमण न किया हो और न वह उससे अधिक दण्ड का पात्र होगा जो उस अपराध के करने के समय दिया जा सकता था। आगे चल कर उसमें यह उपबन्ध किया गया है कि कोई भी व्यक्ति एक ही अपराध के लिए एक बार से अधिक बार अभियोजित और दण्डित न किया जाएगा। और किसी अपराध में अभियुक्त कोई व्यक्ति स्वयं अपने विरुद्ध साक्षी होने के लिए बाध्य न किया जाएगा।

अनुच्छेद 21 में यह उपबन्ध किया गया है कि किसी व्यक्ति को अपने प्राण अथवा दैहिक स्वाधीनता से, विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया को छोड़कर, अन्य प्रकार से वंचित नहीं किया जाएगा।

अनुच्छेद 22 कुछ अवस्थाओं में बन्दीकरण और निरोध से और अधिक संरक्षण प्रदान करता है। अनुच्छेद 22(1) यह उपबन्ध करता है कि 'कोई व्यक्ति जो बन्दी किया गया है, ऐसे बन्दीकरण के कारणों से यथाशक्य शीघ्र अवगत कराए बिना हवालात में निरुद्ध नहीं किया जाएगा और न अपनी रुचि के विधि-व्यवसायियों से परामर्श करने तथा प्रतिरक्षा कराने के अधिकार से वंचित रखा जाएगा।' अनुच्छेद 22(2) यह उपबन्ध करता है कि 'प्रत्येक व्यक्ति जो बन्दी किया गया है और हवालात में निरुद्ध किया गया है बन्दीकरण के स्थान से दण्डाधिकारी (मजिस्ट्रेट) के न्यायालय तक यात्रा के लिए आवश्यक समय को छोड़ कर ऐसे बन्दीकरण के लिए चौबीस घन्टे की कालावधि में निकटतम दण्डाधिकारी के समक्ष पेश किया जाएगा तथा ऐसा कोई व्यक्ति उक्त कालावधि से आगे दण्डाधिकारी के प्राधिकार के बिना निरुद्ध नहीं रखा जाएगा।'

अनुच्छेद 22(4) निवारक निरोध के सम्बन्ध में है। अनुच्छेद 23 मानव के पण्य और इसी प्रकार अन्य जबर्दस्ती लिए हुए श्रम का प्रतिषेध करता है। अनुच्छेद 24 यह उपबन्ध करता है कि चौदह वर्ष से कम आयु वाले किसी बालक को किसी कारखाने अथवा खान में नौकर न रखा जाएगा और किसी दूसरी संकटमय नौकरी में लगाया जाएगा।'

अनुच्छेद 25, 26, 27 और 28 धर्म-स्वातन्त्र्य के सम्बन्ध में है। अनुच्छेद 25(1) यह उपबन्ध करता है कि 'सार्वजनिक व्यवस्था, सदाचार, और स्वास्थ्य तथा इस भाग के दूसरे उपबन्धों के अधीन रहते हुए सब व्यक्तियों को अन्तःकरण की स्वतंत्रता का तथा धर्म के अबाध रूप से मानने, आचरण करने और प्रचार करने का समान हक होगा।' अनुच्छेद 26 प्रत्येक धार्मिक सम्प्रदाय अथवा उसके किसी भाग को धार्मिक और पूर्त प्रयोजनों के लिए संस्थाओं की स्थापना और पोषण अपने धार्मिक कार्यों सम्बन्धी विषयों का प्रबन्ध करने, जंगम, और स्थावर सम्पत्ति के अर्जन और

स्वामित्व, तथा ऐसी सम्पत्ति का विधि-अनुसार शासन करने के लिए समर्थ बनाता है। अनुच्छेद 27 व्यक्तियों को इस बात के लिए समर्थ बनाता है कि वे ऐसे करों को संदाय का प्रतिरोध कर सकें जिनके आगम किसी विशेष धर्म अथवा धार्मिक सम्प्रदाय की उन्नति या पोषण में व्यय करने के लिए विशेष रूप से विनियुक्त कर दिए गए हों। अनुच्छेद 28 कुछ शिक्षा संस्थाओं में धार्मिक शिक्षा अथवा धार्मिक उपासना में उपस्थित होने के विषय में स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में है।

अनुच्छेद 29 (1) अल्पसंख्यकों को संरक्षण प्रदान करता है और यह उपबन्ध करता है कि 'भारत के राज्य-क्षेत्र अथवा उसके किसी भाग के निवासी नागरिकों के किसी भी भाग को, जिसकी अपनी विशेष, भाषा लिपि या संस्कृति है उसे बनाए रखने का अधिकार होगा।' अनुच्छेद 29(2) यह उपबन्ध करता है कि 'राज्य द्वारा पोषित अथवा राज्य-निधि से सहायता पाने वाली किसी शिक्षा-संस्था में प्रवेश से किसी भी नागरिक को केवल धर्म, मूलवंश, जाति, भाषा अथवा इनमें से किसी के आधार पर वंचित न रखा जाएगा'।

अनुच्छेद 30 धर्म या भाषा पर आधारित सब अल्पसंख्यक वर्गों को अपनी रुचि की शिक्षा संस्थाओं की स्थापना और प्रशासन के अधिकार देता है। अनुच्छेद 30(2) शिक्षा संस्थाओं को सहायता देने में किसी भी शिक्षा विद्यालय के विरुद्ध इस आधार पर विभेद करने से राज्य को प्रतिषिद्ध करता है कि वह धर्म या भाषा पर आधारित किसी अल्पसंख्यक-वर्ग के प्रबन्ध में है।

जैसा कि आगे चल कर बताया जाएगा अल्पसंख्यकों के पक्ष में विशेष अधिकारों को शामिल करने का बड़ा महत्व है। स्पष्ट आशय यह था कि ऐसे अधिकार अन्य-असंक्राम्य हों।

सम्पत्ति का अधिकार भाग में आता है और उसका उपबन्ध अनुच्छेद 31 में किया गया है। जैसा कि मूल रूप से अधिनियमित है, यह उपबन्ध सम्पत्ति के अधिकार के बारे में किया गया है और विधि के प्राधिकार के बिना सम्पत्ति से वंचित किए जाने पर उसके द्वारा रोक लगाई गई है और उसके बाद यह उपबन्ध किया गया है कि लोक प्रयोजनों के लिए अनिवार्य अधिग्रहण प्रतिकर देकर ही किया जाएगा। उसमें तीन मुख्य उपबन्ध थे जिनसे पता चलता है कि सम्पत्ति के अधिकारों के सम्बन्ध में संविधान बनाने वालों का आशय क्या था। पहला अनुच्छेद 31(4) है। इस उपबन्ध का आशय भूमि सम्बन्धी सुधारों से सम्बद्ध विधानों को संरक्षण प्रदान करना था। दूसरा उपबन्ध अनुच्छेद 31(5)(क) है जो अनिवार्य अर्जन से सम्बद्ध विद्यमान विधानों को संरक्षण प्रदान करने के लिए बनाया गया था। इस उपबन्ध द्वारा बनाए गए कुछ अधिनियमों में पूरा प्रतिकर देने का उपबन्ध नहीं किया गया है, जैसे उत्तर प्रदेश नगर सुधार अधिनियम, 1919 (यू० पी० टाउन इम्प्रूवमेन्ट ऐक्ट, 1919)। तीसरा उपबन्ध [अनुच्छेद 31(6)] द्वारा संविधान के प्रारम्भ से आठ महीने से अनधिक पहले अधिनियमित ऐसी ही अन्य विधियों को संरक्षण प्रदान किया गया था।

मूल अधिकारों का महत्व इतना अधिक समझा गया था कि इस भाग द्वारा दिए गए अधिकारों को प्रवर्तित कराने के लिए व्यथित व्यक्ति को देश के सब से ऊंचे

न्यायालय अर्थात् उच्चतम न्यायालय को समुचित कार्यवाहियों द्वारा प्रचालित करने का अधिकार दिया गया था और यह अधिकार प्रत्याभूत किया गया था। अनुच्छेद 32(2) इस भाग द्वारा दिए गए अधिकारों में से किसी को प्रवर्तित कराने के लिए, ऐसे निदेश या आदेश या लेख, जिनके अन्तर्गत बन्दी प्रत्यक्षीकरण (हैबियस कार्पस), परमादेश (मेण्डेमस), प्रतिषेध (प्रोहिबिशन), अधिकार पृच्छा (को वारण्टो और उत्प्रेषण (सरशियोरारी) के प्रकार के लेख भी हैं, निकालने के लिए उच्चतम न्यायालय को बड़ी विस्तृत शक्तियां प्रदान करता है। अनुच्छेद 32(4) इससे भी अधिक इस बात का उपबन्ध करता है कि इस संविधान द्वारा अन्यथा उपबन्धित अवस्था को छोड़ कर 'इस अनुच्छेद द्वारा प्रत्याभूत अधिकार निलम्बित न किया जाएगा।'

अनुच्छेद 33 संसद् को विधि द्वारा इस बात का निर्धारण करने के लिए समर्थ बनाता है कि 'इस भाग द्वारा दिए गए अधिकारों में से किसी को सशस्त्र बलों अथवा सार्वजनिक व्यवस्था-भार वाले बलों के सदस्यों के लिए प्रयोग होने की अवस्था में किस मात्रा तक निर्बन्धित या निराकृत किया जाए ताकि उनके कर्तव्यों का उचित पालन तथा उन में अनुशासन बना रहना सुनिश्चित रहे।'

इस अनुच्छेद से प्रकट होता है कि इस विषय पर कि मूल अधिकारों को कितनी सावधानी के साथ तथा किन परिस्थितियों में निर्बन्धित या निराकृत किया जा सकेगा अच्छी तरह से सोच-विचार किया गया था तथा इसका वर्णन भी यथार्थतः के साथ कर दिया गया था।

अनुच्छेद 34 संसद् को समर्थ बनाता है जिससे वह विधि द्वारा संघ या राज्य की सेवा में के किसी व्यक्ति को, अथवा किसी अन्य व्यक्ति को, किसी ऐसे कार्य के विषय में, त्राण दे सकेगा जो उसने किसी क्षेत्र विशेष में, जहां सेना विधि प्रवृत्त थी, किया हो।

संविधान के भाग 4 में राज्य की नीति के निदेशक तत्व दिए गए हैं। अनुच्छेद 37 में विनिर्दिष्ट रूप से यह उपबन्ध किया गया है कि 'इस भाग में दिए गए उपबन्ध किसी न्यायालय द्वारा प्रवर्तनीय न होंगे किन्तु तो भी इनमें दिए हुए तत्त्व देश के शासन में मूलभूत हैं और विधि बनाने में इन तत्त्वों का प्रयोग करना राज्य का कर्तव्य होगा।' इससे साफ जाहिर होता है और इस न्यायालय द्वारा यह अधिकथित भी किया जा चुका है कि यह उपबन्ध वाद योग्य नहीं है और न किसी न्यायालय द्वारा इन्हें प्रवर्तित कराया जा सकता है। उदाहरण के लिए न्यायालय राज्य को यह निदेशित करने वाला परमादेश [मैण्डेमस] नहीं दे सकते हैं कि वह हर नागरिक को जीविका के पर्याप्त साधन कराए या यह कि समुदाय की भौतिक सम्पत्ति का स्वामित्व और नियंत्रण इस प्रकार बांटे कि जिससे सामूहिक हित का सर्वोत्तम रूप से साधन हो या यह कि पुरुषों और स्त्रियों दोनों का समान कार्य के लिए समान वेतन हो।

कुछ निदेशक तत्त्वों का देश के शासन में महान और मूलभूत महत्त्व है। किन्तु प्रश्न यह नहीं है कि उनका महत्त्व है या नहीं है प्रश्न तो यह है कि क्या उनको मूल अधिकारों पर अध्यारोही प्रभाव प्राप्त है। दूसरे शब्दों में क्या संसद् कुछ निदेशक तत्त्वों को प्रभावी बनाने के लिए मूल अधिकारों को निराकृत कर सकती है?

अब मैं भाग 4 में वर्णित निदेशक तत्व संक्षेप में प्रस्तुत करता हूं। अनुच्छेद 38 में यह उपबन्ध किया गया है कि "राज्य ऐसी सामाजिक व्यवस्था की जिसमें सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय राष्ट्रीय जीवन की सभी संस्थाओं को अनुप्राणित करे, कार्यसाधक रूप में स्थापना और संरक्षण करके लोक कल्याण की उन्नति का प्रयास करेगा।" अब यह निदेश मूल अधिकारों के अनुरूप है क्योंकि इसमें कोई संदेह नहीं कि अधिकांश मूल अधिकारों का उद्देश्य यह सुनिश्चित करना है कि देश में सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय हो। अनुच्छेद 39 जिसमें राज्य को निश्चित निदेश दिए गए हैं इस प्रकार हैं —

"39. राज्य अपनी नीति का विशेषतया ऐसा संचालन करेगा कि सुनिश्चित रूप से—

(क) समान रूप से नर और नारी सभी नागरिकों को जीविका के पर्याप्त साधन प्राप्त करने का अधिकार हो;

(ख) समुदाय की भौतिक सम्पत्ति का स्वामित्व और नियंत्रण इस प्रकार बंटा हो कि जिससे सामूहिक हित का सर्वोत्तम रूप से साधन हो;

(ग) आर्थिक व्यवस्था इस प्रकार चले कि जिस से धन और उत्पादन-साधनों का सर्वसाधारण के लिए अहितकारी केन्द्रण न हो;

(घ) पुरुषों और स्त्रियों दोनों का समान कार्य के लिए समान वेतन हो;

(ङ) श्रमिक पुरुषों और स्त्रियों का स्वास्थ्य और शक्ति तथा बालकों की सुकुमार अवस्था का दुरुपयोग न हो तथा आर्थिक आवश्यकता से विवश होकर नागरिकों को ऐसे रोजगारों में न जाना पड़े जो उनकी आयु या शक्ति के अनुकूल न हों;

(च) शैशव और किशोर अवस्था का शोषण से तथा नैतिक और आर्थिक परित्याग से संरक्षण हो।"

अनुच्छेद 40 ग्राम पंचायतों के संघटन के बारे में है। अनुच्छेद 41 कुछ अवस्थाओं में काम, शिक्षा और लोक सहायता पाने के अधिकार के बारे में है। अनुच्छेद 42 यह निदेश देता है कि राज्य काम की न्याय्य और मानवोचित दशाओं को सुनिश्चित करने के लिए तथा प्रसूति-सहायता के लिए उपबन्ध करेगा। अनुच्छेद 43 यह निर्देशित करता है कि "उपयुक्त विधान या आर्थिक संघटन द्वारा अथवा और किसी दूसरे प्रकार से राज्य कृषि के, उद्योग के या अन्य प्रकार के सब श्रमिकों को काम, निर्वाह-मजूरी, शिष्ट जीवन-स्तर तथा अवकाश का सम्पूर्ण उपभोग सुनिश्चित करने वाली काम की दशाएं और सामाजिक तथा सांस्कृतिक अवसर प्राप्त कराने का प्रयास करेगा तथा विशेष रूप से ग्रामों में कुटीर-उद्योगों को वैयक्तिक अथवा सहकारी आधार पर बढ़ाने का प्रयास करेगा।"

अनुच्छेद 44 का यह व्यादेश है कि "भारत के समस्त राज्य-क्षेत्र में नागरिकों के लिए राज्य एक समान व्यवहार-संहिता (सिविल कोड) प्राप्त कराने का प्रयास करेगा।" यद्यपि यह अत्यन्त वांछनीय है फिर भी सरकार इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए कोई भी प्रभावी कदम नहीं उठा पाई है। स्पष्ट है कि कोई भी न्यायालय सरकार को समान सिविल कोड बनाने के लिए विवश नहीं कर सकता है यद्यपि देश की अखण्डता और एकता के हित में ऐसा करना अत्यन्त आवश्यक है।

अनुच्छेद 45 यह निदेश देता है कि "राज्य इस संविधान के प्रारम्भ से दस वर्ष की कालावधि के भीतर सब बालकों को चौदह वर्ष की अवस्था-समाप्ति तक निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा देने के लिए उपबन्ध करने का प्रयास करेगा।" यह भी अत्यन्त वांछनीय निदेश है। यद्यपि सरकार इस काम को पूरा नहीं कर पाई है फिर भी कोई भी न्यायालय ऐसी शिक्षा की व्यवस्था करने के लिए उसे विवश नहीं कर सकता है।

अनुच्छेद 46 ऊपर दिए गए निदेश का अनुपूरक है और राज्य को यह व्यादेश देता है कि वह जनता के दुर्बलतर विभागों की विशेषतया अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित आदिमजातियों के शिक्षा तथा अर्थ सम्बन्धी हितों की विशेष सावधानी से उन्नति करेगा तथा सामाजिक अन्याय तथा सब प्रकारों के शोषण से उनका संरक्षण करेगा।

अनुच्छेद 47 यह कहता है कि जीवन स्तर को ऊँचा करने, सार्वजनिक स्वास्थ्य के सुधार करने तथा मादक पेयों का उपयोग प्रतिषिद्ध करने का राज्य का कर्तव्य है। अनुच्छेद 48 यह निदेश देता है कि राज्य कृषि और पशुपालन को आधुनिक और वैज्ञानिक प्रणालियों से संगठित करने का प्रयास करेगा तथा विशेषतः गायों और बछड़ों तथा अन्य दुधारू और वाहक ढोरों की नस्लों के परिरक्षण और सुधारने के लिए तथा उन के वध का प्रतिषेध करने के लिए अग्रसर होगा।

अनुच्छेद 49 राष्ट्रीय महत्त्व के स्मारकों, स्थानों और चीजों के संरक्षण के संबंध में है। अनुच्छेद 50 यह निदेश देता है कि राज्य की लोक सेवाओं में न्यायपालिका को कार्यपालिका से पृथक् करने के लिए राज्य अग्रसर होगा। यह उद्देश्य मूल अधिकारों का अतिलंघन किए बिना बहुत बड़ी हद तक पूरा किया जा चुका है।

मूल अधिकारों के संबंध में अपने प्रारम्भिक टिप्पणी में श्री बी० एन० राव ने निदेशक तत्त्वों का उल्लेख करते हुए अपना मत इस प्रकार प्रकट किया है—

> "इस भाग में दिए गए तत्त्व समुचित विधानमण्डलों और भारत सरकार (जिसे इसमें इसके पश्चात् समग्र रूप से राज्य कहा गया है) के सामान्य पथ-प्रदर्शन के लिए आशयित है। विधायन (लेजिसलेशन) तथा प्रशासन में इन तत्त्वों का उपयोग करना राज्य का कर्तव्य होगा किन्तु यह बात किसी न्यायालय द्वारा संज्ञेय नहीं होगी।

कुछ निदेशक तत्त्वों का वर्णन करने के बाद उन्होंने अपना मत इस प्रकार प्रकट किया—

> "यह स्पष्ट है कि ऊपर वाले उपबन्धों में से कोई भी ऐसा नहीं है जिसका परिवर्तन न्यायालय द्वारा कराया जा सके। वे वस्तुतः राज्य के प्राधिकारियों के लिए सदाचार संबंधी नीति वचन (मारेल प्रिसेप्ट्स) के रूप में हैं। यद्यपि

यह कहा जा सकता है कि नीति वचनों के लिए संविधान कोई उचित स्थान नहीं है तो भी इस प्रकार की नीति विषयक सांविधानिक घोषणाओं का चलन बढ़ता जा रहा है। (आई० एल० ओ० प्रकाशन कॉस्टिट्यूशनल प्रोविजन्स कन्सर्निंग सोशल एण्ड इकानामिक पालिसी माण्ट्रीयल, 1944 की भूमिका देखें) इनका कम से कम शिक्षात्मक मूल्य है।" पृ० 33-34 शिवराव कृत फ्रेमिंग ऑफ इण्डियन कांस्टिट्यूशन : डीयोसी जिल्द 11) (शिवराव कृत भारतीय संविधान की रचना जिल्द 11 पृ० 33-34)।

इसके बाद उन्होंने प्रारम्भिक टिप्पण में विभिन्न अनुच्छेदों की उत्पत्ति पर प्रकाश डाला है।

यहां पर हमें चाहिए कि थोड़ा ठहर जाएं और अपने से यह प्रश्न करें कि मूल अधिकारों को निदेशक तत्वों के अधीनस्थ करने के श्री बी० एन० राव के अनवरत प्रयासों का संविधान सभा ने क्यों विरोध किया। इसका उत्तर बिलकुल स्पष्ट मालूम होता है : संविधान-सभा ने जानबूझकर यह फैसला किया है कि वह ऐसा नहीं करेगी।

श्री अल्लादी कृष्णस्वामी अय्यर ने 14 मार्च, 1947 के अपने टिप्पण में अपना मत इस प्रकार प्रकट किया—

"उन अधिकारों के जो वाद-योग्य (जस्टीसिएबल) हैं और उन के बीच जिन अधिकारों का आशय राज्य की नीति के लिए केवल पथ-प्रदर्शक और निदेशक उद्देश्यों का काम करना है विभेद करना अत्यन्त आवश्यक है। (पृ० 67 यथोक्त)

निदेशक तत्वों को मूल अधिकारों के साथ बराबरी का दर्जा देना असम्भव है यद्यपि इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि वे बहुत महत्वपूर्ण हैं। किन्तु मुझे ऐसा जान पड़ता है कि यह कहना कि उन उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए, जिनका निदेशक तत्वों में निदेश दिया गया हो, मूल अधिकारों को छीन लेने का निदेश निदेशक तत्वों में दिया गया है, स्पष्टतः परस्पर-विरोधी कथन है।

मैं यहां पर यह बता दूं कि जब हमारे मूल अधिकार तथा निदेशक तत्व तैयार किए जा रहे थे और संविधान-सभा द्वारा उनका अनुमान किया जा रहा था उसी दौरान 10 दिसम्बर, 1948 को संयुक्त राष्ट्र महासभा ने मानव अधिकारों की सारभौम घोषणा (यूनिवर्सल डेक्लेरेशन ऑफ ह्यूमन राइट्स) को अंगीकृत किया। यह घोषणा वैध रूप से आबद्ध करने वाली लिखित चाहे न हो किन्तु वह यह बताती है कि मानव अधिकारों के स्वरूप को भारत कहां तक समझता था। मैं यहां पर केवल प्रस्तावना ही उद्धृत कर रहा हूं—

"यतः मानव परिवार के सब सदस्यों के समान और अन्य-असंक्राम्य अधिकारों की अन्तर्निहित गरिमा की मान्यता संसार भर की स्वतन्त्रता, न्याय और शान्ति का आधार है, (महत्त्व देने के लिए रेखांकित किया गया है)

यतः मानव अधिकारों की उपेक्षा तथा तिरस्कार के परिणामस्वरूप ऐसे बर्बरतापूर्ण कार्य हुए हैं जिन्होंने मानव आत्मा को दहला दिया है और ऐसे संसार के अभ्युदय को, जिसमें मानव-मात्र को वाक् और विश्वास-स्वातन्त्र्य तथा भय और अभाव से मुक्ति प्राप्त होगी, सामान्य जन की उच्चतम अभिलाषा के रूप में उद्घोषित किया है,

यतः यह आवश्यक है कि यदि मनुष्य को अन्ततः अत्याचार और उत्पीड़न के विरुद्ध विद्रोह का सहारा लेने पर विवश नहीं किया जाता है तो मानव अधिकारों को विधि के शासन द्वारा संरक्षण प्रदान किया जाना चाहिए,

यतः यह आवश्यक है कि विभिन्न राष्ट्रों के बीच मैत्रीपूर्ण संबंधों के विकास को प्रोन्नत किया जाए,

यतः संयुक्त राष्ट्र के सदस्य राज्यों के जन-जन ने मूल मानव अधिकारों में मानव देह की गरिमा और प्रतिष्ठा में और स्त्रियों और पुरुषों के समान अधिकारों में अपनी निष्ठा को चार्टर में पुनर्प्रतिज्ञात (रिअफर्म्ड) किया है और उच्चतर जीवन स्तर तथा सामाजिक प्रगति को और भी स्वतन्त्रता के साथ प्रोन्नत करने का दृढ़ निश्चय किया है।

यतः सदस्य राज्य मानव अधिकारों तथा स्वतन्त्रताओं के लिए सारभौम प्रतिष्ठा की अभिवृद्धि तथा उनके अनुपालन की अभिप्राप्ति कराने के लिए दृढ़-प्रतिज्ञ हो गए हैं।

यतः इस प्रतिज्ञा को पूरी तरह कार्यान्वित करने के लिए इन अधिकारों और स्वातन्त्र्यों की सामान्य जानकारी अत्यन्त महत्वपूर्ण है।"

आर्थिक और सामाजिक और सांस्कृतिक अधिकार विषयक अन्तर्राष्ट्रीय कन्वेंशन, 1966 की प्रस्तावना में, पहले पैरा में ही अधिकारों की अन्य-असंक्राम्यता (इनेलिएनेबिलिटि) इन शब्दों में प्राप्त की गई है—

"इस बात को समझते हुए कि संयुक्त राष्ट्र के चार्टर में उद्घोषित सिद्धान्तों के अनुसार, मानव परिवार के सब सदस्यों की अन्तर्निहित गरिमा और उनके समान और अन्य-असंक्राम्य अधिकारों की मान्यता, संसार भर की स्वतन्त्रता, न्याय और शांति का आधार है।"

यदि इन अधिकारों में इतना संशोधन किया जा सके जिससे कि उनका अस्तित्व ही समाप्त हो जाए तो क्या वे अन्य-असंक्राम्य (इनेलिएनेबिल) बने रह सकते हैं? संयुक्त राष्ट्र चार्टर की प्रस्तावना, उसके अनुच्छेद 1, 55, 56, 62, 68 और 76 ने ही मानव अधिकारों की सारभौम घोषणा में की गई व्याख्या के लिए आधार प्रदान किया है। यद्यपि इस सम्बन्ध में बड़ा तीव्र मतभेद है कि मानव की गरिमा तथा आधारभूत मानव अधिकारों के लिए मानव तथा चार्टर के अधीन आबद्धकारी है (ओपेनहीम कृत इण्टरनेशनल लॉ, 8वां संस्करण जिल्द 1 पृ० 740-41, पाद टिप्पण 3 देखिए) फिर भी मुझे प्रतीत होता है कि निदेशक तत्वों के अनुच्छेद 51 को ध्यान में रखते हुए, इस न्यायालय को चाहिए कि वह संविधान के शब्दों का निर्वचन यदि उसे अकाट्य मान कर न करे, जो आखिरकार राष्ट्र-विधि (म्युनिसिपल लॉ) ही है, तो संयुक्त राष्ट्र चार्टर और उस महत्वपूर्ण घोषणा के प्रकाश में अवश्य करे जिस पर भारत ने हस्ताक्षर किए हैं। अनुच्छेद 51 इस प्रकार है—

"51. राज्य —

(क) अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा की उन्नति का,

(ख) राष्ट्रों के बीच न्याय्य और सम्मानपूर्ण सम्बन्धों को बनाए रखने का,

(ग) संगठित लोगों के, एक दूसरे से व्यवहारों में अन्तर्राष्ट्रीय विधि और सन्धि-बन्धनों के प्रति आदर बढ़ाने का, तथा

(घ) अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के मध्यस्थता द्वारा निबटाए जाने के लिए प्रोत्साहन देने का,

प्रयास करेगा।"

जैसा कि लार्ड डेनिंग ने कोरोकायट बनाम पैन अमरीकन एयरवेज़[1] में कहा है "इन न्यायालयों का यह कर्तव्य है कि वे हमारे विधान का निर्वचन इस प्रकार करें जिससे उसके और अन्तर्राष्ट्रीय विधि के बीच अनुरूपता हो न कि टकराव" (ओपेनहीम यथोक्त पृ० 45-46; अमरीकन जूरिसप्रूडेंस द्वितीय, जिल्द 45, पृ० 351 भी देखिए)।

भाग 5 का अध्याय 1 कार्यपालिका के सम्बन्ध में है अध्याय 2 संसद्, उसके कार्यसंचालन, उसके सदस्यों की अर्हताओं तथा विधान प्रक्रिया आदि के सम्बन्ध में है। अनुच्छेद 83 यह उपबन्ध करता है कि—

"83(1) राज्य-सभा का विघटन न होगा, किन्तु उसके सदस्यों में से यथाशक्य निकटतम एक तिहाई, संसद्-निर्मित विधि द्वारा बनाए गए तद्विषयक उपबन्धों के अनुसार, प्रत्येक द्वितीय वर्ष की समाप्ति पर यथासम्भव शीघ्र निवृत्त हो जाएंगे।

(2) लोक-सभा, यदि पहिले ही विघटित न कर दी जाए तो, अपने प्रथम अधिवेशन के लिए नियुक्त तारीख से पांच वर्ष तक चालू रहेगी और इस से अधिक नहीं तथा पांच वर्ष की उक्त कालावधि की समाप्ति का परिणाम लोक-सभा का विघटन होगा . . .।"

परन्तुक के अधीन, उक्त कालावधि को, जब तक आपात की उद्घोषणा प्रवर्तन में है, किसी कालावधि के लिए बढ़ाया जा सकेगा, जो किसी अवस्था में भी उद्घोषणा के प्रवर्तन का अंत हो जाने के पश्चात् 6 मास की कालावधि से अधिक विस्तृत न होगी। अनुच्छेद 85(1) का संविधान (प्रथम संशोधन) अधिनियम, 1951 द्वारा संशोधन किए जाने के पहले उसमें यह उपबन्धित था कि संसद् के सदनों को प्रतिवर्ष कम से कम दो बार अधिवेशन के लिए आहूत किया जाएगा तथा उन के एक सत्र की अन्तिम बैठक तथा आगामी सत्र की प्रथम बैठक के लिए नियुक्त तारीख के बीच छह मास का अन्तर न होगा।

अनुच्छेद 123 राष्ट्रपति को संसद् के विश्रान्ति-काल में अध्यादेश प्रख्यापित करने की शक्ति देता है। अध्याय 4 संघ की न्यायपालिका के सम्बन्ध में है।

भाग 6 जैसा कि वह मूल रूप में अधिनियमित किया गया था, प्रथम अनुसूची के भाग क में के राज्यों—कार्यपालिका, राज्य के विधानमण्डल तथा राज्यों के उच्च न्यायालयों के बारे में है। अनुच्छेद 174 राज्य के विधानमण्डल आहूत करने के

(1) (1969) 1 ऑल इंग्लैण्ड रिपोर्ट्स 82, 87.

बारे में है और उसके उपबन्ध वैसे ही हैं जैसे अनुच्छेद 85 के हैं। अनुच्छेद 213 विधानमण्डल के विश्रान्ति-काल में अध्यादेशों के प्रख्यापन की विधायिनी शक्तियां राज्यपाल को प्रदान करता है।

भाग 11 संघ और राज्यों के सम्बन्ध में है। उसका अध्याय 1 विधायी सम्बन्धों का तथा अध्याय 2 प्रशासन सम्बन्धों का विनियमन करता है।

भाग 12 वित्त, सम्पत्ति, संविदाओं और व्यवहार-वादों के सम्बन्ध मे है। इसमें केवल अनुच्छेद 265 ध्यान देने के योग्य है जिसमें यह उपबन्ध किया गया है कि "विधि के प्राधिकार के सिवाय कोई कर न तो आरोपित और न संगृहीत किया जाएगा।"

भाग 13 भारत के राज्य-क्षेत्र के भीतर व्यापार, वाणिज्य और समागम के सम्बन्ध में है। इस अध्याय के अन्य उपबंधों के अधीन रहते हुए भारत राज्य-क्षेत्र में सर्वत्र व्यापार, वाणिज्य और समागम अबाध होगा। (अनुच्छेद 301)

भाग 14 संघ और राज्यों के अधीन सेवाओं के सम्बन्ध में है। भाग 16 में कतिपय वर्गों अर्थात् अनुसूचित जातियों, अनुसूचित आदिमजातियों आदि से सम्बद्ध विशेष उपबन्ध किए गए है। उसके द्वारा इन वर्गों के लिए लोक सभा में स्थान आरक्षित किए गए हैं। अनुच्छेद 331 में कहा गया है कि यदि राष्ट्रपति की राय हो कि लोक-सभा में आंग्ल-भारतीय समुदाय का प्रतिनिधित्व पर्याप्त नहीं है तो वे लोक-सभा में उस समुदाय के दो से अनधिक सदस्य नाम-निर्देशित कर सकेगा। अनुच्छेद 332 राज्यों की विधान सभाओं में अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित आदिमजातियों के लिए स्थानों के रक्षण के सम्बन्ध में है। अनुच्छेद 334 में यह उपबन्ध किया गया है कि स्थानों का पूर्व-निर्दिष्ट रक्षण तथा कतिपय वर्गों के लिए विशेष प्रतिनिधित्व इस संविधान के प्रारम्भ से दस वर्ष की कालावधि की समाप्ति पर प्रभावी नहीं रहेगा। अनुच्छेद 335 सेवाओं और पदों के लिए अनुसूचित जातियों और अनुसूचित आदिम-जातियों के दावे के सम्बन्ध में है। अनुच्छेद 336 कतिपय सेवाओं में आंग्ल-भारतीय समुदाय के लिए विशेष उपबन्ध करता है और अनुच्छेद 337 आंग्ल-भारतीय समुदाय के फायदे के लिए शिक्षण अनुदान के लिए विशेष उपबन्ध करता है। अनुच्छेद 338 अनुसूचित जातियों, अनुसूचित आदिमजातियों आदि के लिए राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त किए जाने वाले विशेष पदाधिकारी का उपबन्ध करता है और यह विहित करता है कि उसके कर्तव्य क्या होंगे। अनुच्छेद 340 राष्ट्रपति को इस बात के लिए समर्थ बनाता है कि वह भारत राज्य-क्षेत्र में सामाजिक और शिक्षा की दृष्टि से पिछड़े हुए वर्गों की दशाओं के अनुसंधान के लिए आयोग नियुक्त करे, जो एक रिपोर्ट देगा और उन उपायों के बारे में सिफारिश करेगा जो उन कठिनाइयों को दूर करने लिए और उनकी दशा में सुधार करने के लिए किए जाने चाहिए। अनुच्छेद 341 राष्ट्रपति को इस बात के लिए समर्थ बनाता है कि वह उन जातियों, मूल-वंशों या आदिमजातियों, को विनिर्दिष्ट करे जो इस संविधान के प्रयोजन के लिए उस राज्य के सम्बन्ध मे अनुसूचित जातियां समझी जाएंगी। इसी प्रकार अनुच्छेद 342 यह उपबन्ध करता है

कि राष्ट्रपति उन आदिम जातियों या आदिम जाति समुदायों को विनिर्दिष्ट करे जिन्हें उस राज्य के सम्बन्ध में अनुसूचित आदिमजातियां समझा जाएगा।

भाग 17 राजभाषा के सम्बन्ध में है और भाग 18 आपात उपबन्धों के सम्बन्ध में है। अनुच्छेद 352 महत्वपूर्ण है जो इस प्रकार है —

> "352.(1)—यदि राष्ट्रपति का समाधान हो जाए कि गम्भीर आपात विद्यमान है जिस से कि युद्ध या बाह्य आक्रमण या आभ्यंतरिक अशांति से भारत या उसके राज्य-क्षेत्र के किसी भाग की सुरक्षा संकट में है, तो वह उद्घोषणा द्वारा उस आशय की घोषणा कर सकेगा।"

अनुच्छेद 353 यह बताता है कि आपात की उद्घोषणा का क्या प्रभाव होगा। उसका प्रभाव यह होगा कि संघ की कार्यपालिका शक्ति का विस्तार किसी राज्य को उस विषय में निर्देश देने तक होगा कि वह राज्य अपनी कार्यपालिका शक्ति का किस रीति से प्रयोग करे और संसद् को ऐसी विधियां बनाने की शक्ति होगी जो किसी विषय के बारे में संघ या संघ के पदाधिकारियों और प्राधिकारियों को शक्तियां देती या कर्तव्य सौंपती हो अथवा शक्ति का दिया जाना, कर्तव्यों का सौंपा जाना प्राधिकृत करती हो, चाहे फिर वह विषय ऐसा हो जो संघ सूची में प्रगणित नहीं है। अनुच्छेद 354 राष्ट्रपति को आदेश के द्वारा अनुच्छेद 268 से लेकर अनुच्छेद 269 तक के उपबन्धों में अपवाद तथा उपान्तरण करने की शक्ति देता है। अनुच्छेद 355 के अधीन बाह्य आक्रमण और आभ्यंतरिक अशान्ति से प्रत्येक राज्य का संरक्षण करना, तथा प्रत्येक राज्य की सरकार इस संविधान के उपबन्धों के अनुसार चलाई जाए, यह सुनिश्चित करना संघ का कर्तव्य होगा। अनुच्छेद 356 में राज्यों में सांविधानिक तन्त्र के विफल हो जाने की अवस्था में काम आने वाले उपबन्ध हैं।

अनुच्छेद 358 आपात में अनुच्छेद 19 के उपबन्धों के निलम्बन के लिए उपबन्ध करता है। यह अनुच्छेद इस प्रकार है—

> "358. जब आपात की उद्घोषणा प्रवर्तन में है, तब अनुच्छेद 19 की किसी बात से राज्य की कोई ऐसी विधि बनाने की अथवा कोई ऐसी कार्यपालिका कार्यवाही करने की भाग 3 में परिभाषित शक्ति, जिसे वह राज्य उस भाग में अन्तर्विष्ट उपबन्धों के अभाव में बनाने अथवा करने के लिए सक्षम होता, निर्बन्धित नहीं होगी, किन्तु इस प्रकार निर्मित कोई विधि उद्घोषणा के प्रवर्तन में न रहने पर अक्षमता की मात्रा तक तुरन्त प्रभावशून्य हो जाएगी, सिवाय उन बातों के जो विधि के इस प्रकार प्रभावशून्य होने से पहले की गई या की जाने से छोड़ दी गई थीं।"

अनुच्छेद 359 हमारे प्रयोजन के लिए सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। इस अनुच्छेद में उपबन्ध किया गया है कि—

> "359. (1) जहां आपात की उद्घोषणा प्रवर्तन में है वहां राष्ट्रपति आदेश द्वारा घोषित कर सकेगा कि भाग 3 द्वारा दिए गए अधिकारों में से ऐसों को प्रवर्तित कराने के लिए, जैसे कि इस आदेश में वर्णित हों, किसी न्यायालय के

प्रवर्तन का अधिकार तथा इस प्रकार वर्णित अधिकारों को प्रवर्तित कराने के लिए किसी न्यायालय में लम्बित सब कार्यवाहियां उस कालावधि के लिए जिस में उद्घोषणा लागू रहती है अथवा उस से छोटी ऐसी कालावधि के लिए, जैसी कि आदेश में उल्लिखित की जाए, निलम्बित रहेंगी।

(2) उपरोक्त प्रकार किया हुआ आदेश भारत के समस्त राज्य-क्षेत्र में अथवा उस के किसी भाग पर विस्तृत हो सकेगा।

(3) खण्ड (1) के अधीन दिया गया प्रत्येक आदेश उसके दिए जाने के पश्चात् यथासम्भव शीघ्र संसद् के प्रत्येक सदन के समक्ष रखा जाएगा।"

इन दो अनुच्छेदों, अर्थात् अनुच्छेद 358 और 359 से यह स्पष्ट है कि संविधान बनाने वाले यह समझते थे कि ऐसा हो सकता है कि किसी आपात का सामना करने में मूल अधिकार राज्य के रास्ते में बाधक हों और इसीलिए यह उपबन्ध किया गया था कि यदि राष्ट्रपति आदेश द्वारा ऐसी घोषणा कर देता है तो अनुच्छेद 19 और इस प्रकार अनुच्छेद 32 तथा अनुच्छेद 226 सीमित समय के लिए प्रवर्तित नहीं होंगे। यदि सोचा यह गया होता कि हो सकता है कि मूल अधिकारों को निराकृत करना पड़े तो उन्होंने निश्चय ही कहीं न कहीं इसके लिए स्पष्ट रूप से उपबन्ध किया होता।

मैं यहां इस दलील की चर्चा करना चाहता हूं कि अनुच्छेद 358 और 359 का अधिनियमन यह जाहिर करता है कि मूल अधिकारों को अन्य-असंक्राम्य अधिकारों के रूप में नहीं समझा गया था। इन अनुच्छेदों से मैं ऐसा निष्कर्ष निकालने में असमर्थ हूं। आपात काल में प्रत्येक नागरिक पर गैर-मामूली निर्बन्धन लगाए जा सकते हैं।

मैं यहां कुछ सुसंगत तथ्यों की चर्चा करूंगा जिनकी पृष्ठभूमि में संविधान का प्रारूप तैयार किया गया था। भारतीय जन की बनावट की जटिलताओं से परिचित होने के कारण ही ब्रिटिश संसद् (पार्लियामेण्ट) ने भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम, 1947 (इंडियन इंडिपेण्डेन्स ऐक्ट, 1947) की धारा 6(6) में स्पष्ट शब्दों में यह उपबन्ध किया था कि "इस धारा की उपधारा (1) में निर्दिष्ट शक्तियों का विस्तार डोमीनियन के विधानमण्डल की शक्तियों को भविष्य में सीमाबद्ध करने वाली विधियों के बनाने तक है।" धारा 6 की उपधारा (1) इस प्रकार है—

*"नई डोमीनियनों में से प्रत्येक डोमीनियन के विधानमण्डल को उस डोमीनियन के लिए विधियां बनाने की पूरी शक्ति होगी जिसके अन्तर्गत राज्यक्षेत्रातीत प्रवर्तनवाली विधियां भी सम्मिलित हैं।"

---

*अंग्रेजी में यह इस प्रकार है—

"The legislature of each of the new Dominions shall have full power to make laws for that Dominion, including laws having extra-territorial operation."

यह बात कि धारा 6(1) में डोमीनियन के संविधान के विषय में उपबन्ध करना भी सम्मिलित है, धारा 8(1) से स्पष्ट है जिसमें यह उपबंध किया गया है कि—

*"नई डोमीनियनों में से हर एक की दशा में, डोमीनियन के विधानमण्डल की शक्तियां, डोमीनियन के संविधान विषयक उपबन्ध बनाने के प्रयोजन के लिए, प्रथमतः डोमीनियन की संविधान सभा द्वारा प्रयोक्तव्य होंगी और डोमीनियन के विधानमण्डल के प्रति इस अधिनियम में निर्देशों का अर्थ तदनुसार लगाया जाएगा।" (महत्व देने के लिए रेखांकित किया गया है)

भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम के ये उपबन्ध पर्याप्त रूप से यह स्पष्ट करते हैं कि जब संविधान-सभा ने कार्य करना आरम्भ किया तो वह यह जानती थी कि, यदि उसने भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम के अधीन कार्य किया, तो वह भावी डोमीनियन संसदों की शक्तियों को सीमाबद्ध कर सकेगी।

इंग्लैण्ड की संसद् द्वारा अन्य देशों के सम्बन्ध में अधिनियमित किसी भी स्वतन्त्रता अधिनियम (इण्डिपेण्डेन्स ऐक्ट) उदाहरणार्थ, श्रीलंका स्वतन्त्रता अधिनियम, 1947 (सीलोन इण्डिपेण्डेन्स ऐक्ट, 1947), घाना स्वतन्त्रता अधिनियम, 1957 (घाना इण्डिपेण्डेन्स ऐक्ट, 1957), मलाया संघ स्वतन्त्रता अधिनियम, 1957 (फेडरेशन ऑफ मलाया इण्डिपेण्डेन्स ऐक्ट, 1957), नाइजीरिया स्वतन्त्रता अधिनियम, 1960 (नाइजीरिया इण्डिपेण्डेन्स ऐक्ट, 1960), सियालोन स्वतन्त्रता अधिनियम, 1961 (सियालोन इण्डिपेण्डेन्स ऐक्ट, 1961), टांगानीका स्वतन्त्रता अधिनियम, 1961 (टांगानीका इण्डिपेण्डेन्स ऐक्ट, 1961), दक्षिणी रोडेशिया अधिनियम, 1965 (सदर्न रोडेशियन ऐक्ट 1965), जमैका स्वतन्त्रता अधिनियम, 1962 (जमैका इण्डिपेण्डेन्स ऐक्ट, 1962) में इस प्रकार का कोई भी उपबन्ध नहीं है।

मैं यह बता दूं कि भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम के पूर्वोक्त उपबन्धों का अधिनियमन तारीख 16 मई, 1947 के कैबिनेट वक्तव्य तथा कांग्रेस दल की स्थिति को देखते हुए किया गया था। केबिनेट मिशन के वक्तव्य के पैरा 20(28) में यह उपबन्धित था—

"नागरिकों, अल्पसंख्यकों, आदिमजाति क्षेत्रों तथा अपवर्जित क्षेत्रों के अधिकार सम्बन्धी सलाहकार समिति में उन सब लोगों का पूरा प्रतिनिधित्व होना चाहिए जिनके हित प्रभावित होते हों और उनका काम यह होगा कि वे मूल अधिकारों की सूची, अल्पसंख्यकों के संरक्षण सम्बन्धी खण्डों तथा आदिमजाति क्षेत्रों तथा अपवर्जित क्षेत्रों की प्रशासन सम्बन्धी स्कीम के सम्बन्ध में संघ संविधान सभा को रिपोर्ट दें और इस सम्बन्ध में सलाह दें कि इन अधिकारों को प्रान्तीय, समूहगत या संघ संविधान में सम्मिलित किया जाए।"

---

*अंग्रेजी में यह इस प्रकार है—

*"In the case of each of the new Dominions, the powers of legislature of the Dominion shall for the purpose of making provision as to the Constitution of the Dominion exercisable in the first instance by the Constituent Assembly of that Dominion and references in this Act to the legislature of the Diminion shall be construed accordingly."

इस वक्तव्य का स्पष्टीकरण देते हुए सर स्टैफोर्ड क्रिप्स ने तारीख 16 मई, 1946 के प्रेस सम्मेलन में इस प्रकार कहा—

"किन्तु इन अल्पसंख्यकों को और विशिष्टतः भारतीय ईसाइयों तथा आंग्ल-भारतीयों जैसे छोटे-छोटे अल्प संख्यकों और साथ ही आदिमजातीय प्रतिनिधियों को सम्बन्धित उपबन्धों को प्रभावित करने का सुअवसर देने के लिए हमने यह उपबन्ध किया है कि संविधान का निर्माण करने वाला निकाय एक प्रभावशाली सलाहकार आयोग गठित करे जो मूल अधिकारों की सूची, अल्पसंख्यकों के संरक्षण सम्बन्धी खण्डों तथा आदिमजाति क्षेत्रों और अपवर्जित क्षेत्रों के प्रशासन सम्बन्धी प्रस्थापनाओं को तैयार करने में पहल करे। यह आयोग संविधान का निर्माण करने वाले निकाय के सामने अपनी सिफारिशें रखेगा और इस सम्बन्ध में भी सुझाव देगा कि संविधान में कौन-कौन से प्रक्रम या प्रक्रमों पर इन उपबन्धों को अन्तर्विष्ट किया जाए, अर्थात् संघ के, समूहगत या प्रान्तीय संविधानों में उनमें से किन्हीं दो या दो से अधिक संविधानों में।" (पृष्ठ 224, यथोक्त)।

मौलाना अब्दुल कलाम आजाद द्वारा सेक्रेटरी ऑफ स्टेट को भेजे गए तारीख 20 मई, 1946 वाले पत्र में इस प्रकार कहा गया है—

"किन्तु जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है मुख्य बात यह है कि इस संविधान सभा को हम ऐसा प्रभुत्वसम्पन्न निकाय समझते हैं जो अपने सामने प्रस्तुत हर बात के बारे में, जैसा चाहे वैसा निर्णय कर सकता है और अपने विनिश्चयों को प्रभावी बना सकता है। एक ही बन्धन है जिसको हम मानते हैं और वह यह है कि कुछ महत्वपूर्ण साम्प्रदायिक प्रश्नों पर जो विनिश्चय किए जाएं वे दो बहुसंख्यक समुदायों में से प्रत्येक के बहुमत द्वारा किए गए हों।" (पृष्ठ 251, यथोक्त)

सेक्रेटरी ऑफ स्टेट ने तारीख 22 मई, 1946 के अपने उत्तर में यह कहा—

"जब संविधान-सभा अपना काम समाप्त कर लेगी तब हिज मैजिस्टि की सरकार संसद से ऐसी कार्यवाही करने की सिफारिश करेगी जैसी कि भारतीय जन को ऐसे दो परन्तुकों के अध्यधीन प्रभुत्व सौंपने के लिए आवश्यक हो जिनका वर्णन वक्तव्य में कर दिया गया है और जो हमारा विश्वास है कि वाद-विवाद से परे है अर्थात् अल्पसंख्यकों के संरक्षण के लिए पर्याप्त उपबन्ध तथा शक्ति के अन्तरण से पैदा होने वाले विषयों के सम्बन्ध में सन्धि करने के लिए रजामन्दी।" (महत्त्व देने के लिए रेखांकित किया गया है।) (पृष्ठ 252 यथोक्त)

तारीख 22 मई, 1946 के व्याख्यात्मक वक्तव्य में यही बात फिर से दोहरायी गई, जो इस प्रकार है—

"जब संविधान सभा अपना काम पूरा कर लेगी तब हिज मैजिस्टि की सरकार संसद् से ऐसी कार्यवाही करने की सिफारिश करेगी जैसी कि भारतीय जन को ऐसे दो बातों के अध्यधीन प्रतिनिधित्व सौंपने के लिए आवश्यक हो जिनका वर्णन

वक्तव्य में कर दिया गया है और जो हम समझते हैं कि वाद-विवाद से परे है अर्थात् अल्पसंख्यकों के संरक्षण के लिए पर्याप्त उपबन्ध (वक्तव्य का पैरा 20) तथा शक्ति के अन्तरण से पैदा होने वाले विषयों के सम्बन्ध में हिज मैजिस्टि की सरकार के साथ संधि करने के लिए रजामन्दी।" (वक्तव्य का पैरा 22) (महत्व देने के लिए रेखांकित किया गया है) (पृष्ठ 258, यथोक्त)

पूर्वोक्त के अनुसरण में, गोविन्द वल्लभ पन्त ने मूल अधिकारों की सलाहकार समिति की स्थापना के लिए एक संकल्प 24 जनवरी, 1946 को संविधान-सभा में प्रस्तावित किया। उन्होंने अल्पसंख्यकों के मसले को विशेष महत्व दिया है। अल्पसंख्यक उपसमिति सहित विभिन्न उप-समितियां गठित करने के लिए सलाहकार समिति का अधिवेशन 27 फरवरी, 1927 को हुआ। उसी दिन बाद में अल्पसंख्यक उपसमिति का भी अधिवेशन हुआ। राजनैतिक, आर्थिक, धार्मिक, शिक्षा सम्बन्धी तथा सांस्कृतिक रक्षोपायों के बारे में जांच करने के लिए एक प्रश्नावली का प्रारूपण किया गया। दूसरे शब्दों में, इन सब रक्षोपायों पर विचार किया गया।

परस्पर विरोधी मत व्यक्त किए गए और इस महत्वपूर्ण विषय पर विचार करने के लिए अल्पसंख्यक उप-समिति का अधिवेशन 17, 18 और 19 अप्रैल, 1947 को हुआ। इन अधिवेशनों में, उप-समिति ने मूल अधिकारों की उप-समिति की अन्तरिम प्रस्थापनाओं पर वहां तक विचार किया जहां तक अल्पसंख्यकों के अधिकारों पर उनका प्रभाव पड़ता है। यह वाद-विवाद ऐसे-ऐसे महत्वपूर्ण विषयों पर किया गया जैसे मूल-वंश, धर्म, जाति आदि के आधार पर विभेद का प्रतिषेध, अस्पृश्यता का अन्त तथा यह आज्ञापक अपेक्षा कि अस्पृश्यता से उपजी किसी भी निर्योग्यता को प्रवर्तित कराना विधि के अनुसार दण्डनीय अपराध बना दिया जाए; अपने धर्म को मानने, उस पर आचरण करने तथा उसका प्रचार करने की स्वतन्त्रता; धार्मिक तथा खैराती प्रयोजनों के लिए संस्थाएं स्थापित करने और उन्हें बनाए रखने का अधिकार; अपनी स्वीय-विधि से शासित किए जाने का अधिकार अपनी निजी मातृभाषा के उपयोग तथा साम्प्रदायिक या भाषागत स्कूलों की स्थापना आदि का अधिकार।

अल्पसंख्यकों के मूल अधिकारों के प्रश्न पर चर्चा करने के बाद अल्पसंख्यक उप-समिति का अधिवेशन अल्पसंख्यकों के लिए राजनैतिक रक्षोपायों और राज्यान्तर्गत सेवाओं में उनके प्रतिनिधित्व पर विचार करने के लिए 21 जुलाई, 1947 को फिर किया गया।

अल्पसंख्यकों के अधिकारों के विषय पर सलाहकार समिति की रिपोर्ट भेजते हुए सरदार वल्लभभाई पटेल ने 8 अगस्त, 1947 को अपनी रिपोर्ट में इस प्रकार कहा—

"...... यह रिपोर्ट उस रिपोर्ट की अनुपूरक समझी जाए जो मेरे पत्र सं० सी० ए०-24-काम-47, तारीख 23 अप्रैल, 1947 के साथ आपके पास भेजी जा चुकी है और जिस पर संविधान सभा अप्रैल सत्र में विचार कर चुकी है। उस रिपोर्ट में वाद-योग्य मूल अधिकारों की चर्चा की गई थी। ये अधिकार, चाहे

वे सब नागरिकों को सामान्य रूप से या विशेष रूप से अल्पसंख्यक समुदायों के सदस्यों के लिए लागू हों सामाजिक जीवन के बड़े व्यापक क्षेत्र में अल्पसंख्यकों के लिए सबसे मूल्यवान रक्षोपाय हैं। प्रस्तुत रिपोर्ट के अन्तर्गत जो विषय आया है उसे मोटे तौर से अल्पसंख्यकों के राजनैतिक रक्षोपायों का ही नाम दिया जा सकता है और उसके अन्तर्गत निम्नलिखित बातें आ गई हैं : (महत्व देने के लिए रेखांकित किया गया है) (पृष्ठ 411, यथोक्त)

(i) विधानमण्डल में प्रतिनिधित्व; संयुक्त बनाम पृथक् निर्वाचन प्रणाली; तथा अधिप्रतिनिधित्व (वेटेज)।

(ii) मन्त्रिमण्डल में अल्पसंख्यकों के लिए स्थानों का आरक्षण।

(iii) राज्याधीन सेवाओं में अल्पसंख्यकों के लिए आरक्षण।

(iv) अल्पसंख्यकों के अधिकारों के संरक्षण क सुनिश्चित करने के लिए प्रशासनतन्त्र।

27 अगस्त, 1947 को यह रिपोर्ट विचाराधीन प्रस्तुत करते हुए सरदार पटेल ने इस प्रकार कहा—

"आपको याद होगा कि हमने मूल अधिकार समिति की रिपोर्ट पारित की थी जो सलाहकार समिति से प्राप्त हुई थी। उनमें से अधिकांश अधिकार निपटाए जा चुके हैं और इस सदन द्वारा स्वीकार किए जा चुके हैं। इनके अन्तर्गत अल्पसंख्यकों के ऐसे अधिकारों का बहुत बड़ा क्षेत्र आ गया है जिनसे उनकी पर्याप्त संरक्षण प्राप्त होता है और इसके बाद भी कुछ राजनैतिक रक्षोपाय हैं जिन पर निर्दिष्ट रूप से विचार किया जाना है। इस रिपोर्ट में उन रक्षोपायों की जो सर्वविदित हैं, जैसे विधानमण्डलों में प्रतिनिधित्व अर्थात् संयुक्त बनाम पृथक् निर्वाचन प्रणाली, गणना करने का प्रयत्न किया गया है।" (महत्व देने के लिए रेखांकित किया गया है) (पृष्ठ 424, यथोक्त)

ऊपर की कार्यवाही से प्रकट होता है कि अल्पसंख्यकों को ऐसे मूल अधिकारों की चिन्ता विशेष रूप से थी जो मूल अधिकार समिति की चर्चा का विषय थे।

सलाहकार समिति और अल्पसंख्यक उप-समिति के काम का ऊपर दिया गया संक्षिप्त वर्णन यह बताता है कि यह बात कभी किसी ने सोची भी नहीं थी कि अल्पसंख्यकों के मूल अधिकारों को भी संविधान के संशोधन द्वारा निराकृत किया जा सकेगा। संविधान सभा की कार्यवाहियों के सम्बन्ध में भी यही बात सच है। कहीं भी इसका कोई संकेत नहीं मिलता है कि अल्पसंख्यकों के अधिकारों का निराकरण संविधान-सभा के महत्वपूर्ण सदस्यों के दिमाग में कभी भी आया था। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि 'संविधान का संशोधन' पद को ब्रिटिश योजना, अल्पसंख्यक उप-समिति तथा सलाहकार समिति की स्थापना तथा इन समितियों की कार्यवाही और साथ-साथ संविधान-सभा की पूर्वोक्त कार्यवाही के संदर्भ में ऐसे नहीं समझा जा सकता जैसे कि वह अल्पसंख्यकों के अधिकारों को निराकृत करने के लिए संसद् को सशक्त करता हो।

दोनों ही पक्षों ने संविधान-सभा में दिए गए भाषणों का आश्रय लिया है। किन्तु अर्थान्वयन का यह एक आधार नियम (साउण्ड रूल) है कि किसी कानून के अधिनियम सम्बन्धी वाद-विवाद के दौरान विधानमण्डल के सदस्यों द्वारा दिए गए भाषणों का उपयोग कानून के किसी उपबन्ध के निर्वचन में सहायता प्राप्त करने के लिए नहीं किया जा सकता। इस न्यायालय ने भी यह नियम ट्रावनकोर-कोचीन राज्य और कुछ अन्य बनाम बॉम्बे कम्पनी लिमिटेड([1]) वाले मामले में इस संविधान के उपबन्धों को लागू किया है। न्यायालय की ओर से बोलते हुए मुख्य न्यायाधिपति शास्त्री ने यह अभिनिर्धारित किया—

> "अब केवल यही बताना रह गया है कि प्रारूप संविधान सम्बन्धी वाद-विवाद के दौरान संविधान-सभा के सदस्यों द्वारा दिए गए भाषणों का निचले न्यायालय के विद्वान् न्यायाधीशों ने जो उपयोग किया वह बिना किसी समुचित आधार के किया गया। इंग्लैण्ड में यह आम तौर से माना जाता है कि इस प्रकार की बाहरी सहायता कानूनों के निर्वचन में अनुज्ञेय नहीं है और इसी नियम का पालन भारतीय कानूनों के अर्थान्वयन में किया गया है—महा प्रशासक बंगाल बनाम प्रेम नाथ मल्लिक([2]) देखिए।

इस नियम के पीछे काम करने वाले कारण की व्याख्या हमारे एक साथी ने ए० के० गोपालन वाले मामले([3]) में इन शब्दों में की थी—

> "विधेयक पर किए गए वाद-विवाद के दौरान दिया गया भाषण अधिक से अधिक यह बता सकता है कि वक्ता का व्यक्तिगत आशय क्या था, किन्तु वह विधेयक को पारित कराने वाले बहुमत के पीछे काम करने वाली मूक मानसिक क्रिया को व्यक्त नहीं कर सकता है। यह मान लेना भी तर्कसंगत नहीं है कि उन सब विधायकों का भी वही विचार था।"

या जैसा कि एक अमरीकी मामले में और भी कम शब्दों में कहा गया है—

> "हो सकता है कि जिन लोगों ने कोई भाषण नहीं दिए वे उनके साथ सहमत न हुए होते जिन्होंने भाषण दिए और जिन लोगों ने भाषण दिए वे आपस में एक दूसरे के साथ सहमत न हुए हों—यूनाइटेड स्टेट्स बनाम ट्रांस-मिस्सूरी फ्रेट एसोसिएशन।"
>
> अपवर्जन के इस नियम का पालन अमरीका में सदा से ही किया जा रहा हो ऐसी बात नहीं है। कभी-कभी कानून के प्रयोजन को अभिनिश्चित करने के लिए ऐसी सामग्री के प्रयोग तथा उसके अर्थ को अभिनिश्चित करने के लिए उसके प्रयोग के बीच विभेद माना जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह नियम कनाडा तथा आस्ट्रेलिया में अपना लिया गया है—क्रेज ऑन स्टेट्यूट लॉ, 5वां संस्करण पृ० 122 देखिए।"

([1]) (1952) एस० सी० आर० 1112, 1121.
([2]) (1895) 22 आई० ए० 107, 118.
([3]) (1950) एस० सी० आर० 88.

गोलक नाथ वाले मामले([1]) में मुख्य न्यायाधिपति सुब्बाराव ने पण्डित नेहरू तथा डा० अम्बेदकर के भाषणों के कुछ अंशों के प्रति निर्देश किया था किन्तु उन्होंने पृष्ठ 792 पर यह स्पष्ट कर दिया था कि इन भाषणों का हवाला उन्होंने "अनुच्छेद 368 के उपबन्धों का निर्वचन करने की दृष्टि से नहीं, जो हमारा विचार है कि हम उसके अपने शब्दों के आधार पर ही करेंगे, बल्कि संविधान के दो महत्वपूर्ण कर्णधारों द्वारा मूल अधिकारों को दिए गए अन्तः प्रेरणात्मक स्वरूप को समझने के लिए" दिया था। न्यायाधिपति बछावत ने पृष्ठ 922 पर यह अभिनिर्धारित किया था—

> "इस निर्णय का समापन करने के पहले मैं कुछ भाषणों का हवाला देना चाहूंगा जो प्रारूप संविधान विषयक वाद-विवाद के दौरान संविधान-सभा के सदस्यों द्वारा दिए गए थे। इन भाषणों को संविधान के निर्वचन के सहायकों के रूप में प्रयुक्त नहीं किया जा सकता है—त्रावनकोर-कोचीन राज्य और कुछ अन्य बनाम बॉम्बे कम्पनी लिमिटेड([2]) देखिए। तदनुसार अर्थान्वय में सहायकों के रूप में मैं उनका आश्रय नहीं लेता हूँ। किन्तु मैं उनका हवाला इसलिए देना चाहता हूं क्योंकि श्री ए० के० सेन ने डा० बी० आर० अम्बेदकर के भाषणों का सहारा बहुत ज्यादा लिया है। उनके अनुसार डा० अम्बेदकर के भाषणों से यह विदित है कि वे मूल अधिकारों को संशोधन-योग्य नहीं समझते थे। इस दलील का समर्थन भाषणों से नहीं होता है।...."

हिज हाइनेस महाराजाधिराज माधव राव बनाम भारत संघ([3]) में न्यायाधिपति शाह ने अपने निर्णय के बीच, गृह मन्त्री द्वारा दिए गए भाषण का संक्षिप्त उल्लेख किया था जिनके पास, उस समय जब उन्होंने अनुच्छेद 291 के अंगीकृत किए जाने के लिए प्रस्ताव रखा था, राज्यों का उत्तरदायित्व था। भाषण के इस अंश का हवाला उन्होंने ऐतिहासिक पृष्ठभूमि और उन परिस्थितियों को दर्शित करने के प्रयोजन के लिए दिया था जिनके कारण भूतपूर्व शासकों को कुछ प्रत्याभूतियों (गारण्टियों) का दिया जाना आवश्यक था।

यह सच है कि न्यायाधिपति मित्तर ने पृष्ठ 121 पर अपने विसम्मत निर्णय में वाद-विवाद का उपयोग अनुच्छेद 363 का निर्वचन करने के प्रयोजन के लिए किया था किन्तु उन्होंने इस बात की कोई चर्चा नहीं की कि ऐसा करना अनुज्ञेय है या नहीं।

भारत संघ बनाम हरभजन सिंह ढिल्लों([4]) में भाषणों के प्रति निर्देश करने के पहले मैंने बहुमत की ओर से पृष्ठ 58 पर यह अभिनिर्धारित किया था कि "वाद-विवाद के निम्नलिखित उद्धरणों से हमें यह निष्कर्ष निकालने में प्रसन्नता होती है कि हमारा निर्वचन भी उसी के अनुसार है जैसा कि आशयित था।" वाद-विवाद में अपने निर्वचन की पुष्टि की खोज में कोई हर्ज नहीं है, किन्तु संविधान के उपबन्धों का निर्वचन वाद-विवाद की रोशनी में करना बिल्कुल और ही बात है।

([1]) (1967) 2 एस० सी० आर० 762; 792; 922.

([2]) (1952) एस० सी० आर० 1112.

([3]) (1971) 3 एस० सी० आर० 9=[1971] 1 उम० नि० प० 491.

([4]) (1972) 2 एस० सी० आर० 33=[1972] 1 उम० नि० प० 565.

निर्वचन के प्रयोजन के लिए वाद-विवाद के प्रति निर्देश न करने का एक और भी कारण है। जहां तक अधिकांश देशी राज्यों का सवाल है संविधान का प्रवर्तन ही शासक या राजप्रमुख की स्वीकृति मिल जाने पर हुआ। यह बात 12 अक्तूबर, 1949 को संविधान-सभा में सरदार बल्लभभाई पटेल द्वारा दिए गए वक्तव्य के निम्नलिखित उद्धरण से प्रमाणित होती है: (संविधान-सभा वाद-विवाद जिल्द 10, पृष्ठ 161-3)

"दुर्भाग्यवश (मैसूर, सौराष्ट्र तथा त्रावनकोर और कोचीन संघ के अतिरिक्त) शेष राज्यों में कोई भी उचित रूप से गठित विधानमण्डल नहीं है और न यह सम्भव है कि संविधान के अन्तिम रूप में प्रकाश में आने से पहले उनमें विधानमण्डल गठित करा दिए जाएं। इसलिए हमारे सामने और कोई रास्ता ही नहीं है सिवाय इसके कि यथास्थिति शासक या राजप्रमुख की स्वीकृति के आधार पर, जो अपनी मन्त्रि-परिषद् की सलाह निस्संदेह रूप से लेंगे ही, संविधान का प्रवर्तन इन राज्यों में कर दिया जाए।"

इस वक्तव्य के अनुसार, शासकों अथवा राजप्रमुखों ने संविधान को स्वीकार करने की घोषणाएं जारी कर दीं।

मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि जब किसी शासक या राजप्रमुख या राज्य की जनता ने भारत के संविधान को उसके अन्तिम रूप में स्वीकार किया तो उसने यह संविधान उन भाषणों के अधीन स्वीकार नहीं किया था जो संविधान-सभा के वाद-विवाद के दौरान दिए गए थे। मेरे विचार से भाषणों का आश्रय केवल यह पता लगाने के लिए लिया जा सकता है कि किसी विशेष उपबन्ध या उपबन्धों पर किए गए वाद-विवाद से ऐतिहासिक पृष्ठ भूमि पर कोई प्रकाश पड़ता है या नहीं, या यह कि जनता के विभिन्न, अंशों के बीच कोई आपसी समझौता या करार हुआ था या नहीं [1]।

इस प्रसंग में प्रारूप संविधान के अनुच्छेद 305 का उल्लेख किया गया था जिसमें यह उपबंध किया गया था कि संविधान के अनुच्छेद 304 में अन्तर्विष्ट किसी बात के होते हुए भी मुसलमानों के लिए स्थानों के रक्षण आदि सम्बन्धी संविधान के उपबन्ध संविधान के प्रारम्भ से 10 वर्ष की अवधि के दौरान संशोधित नहीं किए जाएंगे। यद्यपि इस प्रारूप अनुच्छेद 305 का प्रतिस्थानी कोई भी अनुच्छेद हमारे संविधान में नहीं है फिर भी यह दलील दी गई कि इससे यह प्रकट होता है कि संविधान का हर एक उपबन्ध संशोधित किया जा सकता है। मैं इस निष्कर्ष पर पहुंचा हूं कि हर उपबन्ध का संशोधन कुछ सीमाओं के अन्दर रहते हुए ही किया जा सकता है और इस दलील से विवक्षित परिसीमा (इम्पलाईड लिमीटेशन्स) सम्बन्धी मेरे निष्कर्षों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है।

आइकार कमिश्नर बनाम पेड्रिक राणासिंघे [2] में प्रिवी काउन्सिल की जुडीशियल कमेटी का एक बहुत महत्वपूर्ण विनिश्चय समीक्षाधीन विषय पर बहुत प्रकाश डालता है। गोलक नाथ वाले मामले [3] में इस न्यायालय ने इस विनिश्चय के महत्व

---

(1) रेगुलेशन एण्ड कण्ट्रोल ऑफ एयरोनॉटिक्स इन कानाडा वाला मामला देखिए। (1932) ए० सी० 54, 70.

(2) (1965) ए० सी० 172.

(3) (1967) 2 एस० सी० आर० 762.

को पहचाना नहीं था। अल्पमत वाले न्यायाधिपतियों ने अपने निर्णयों में इस मामले का कोई भी उल्लेख नहीं किया है और मुख्य न्यायाधिपति सुब्बाराव ने भी इसका जो उल्लेख किया है वह बहुत ही चलताऊ ढंग से किया है। प्रिवी कौंसिल के इस विनिश्चय को पूरी तरह से समझने के लिए श्रीलंका सपरिषद स्वतन्त्रता आदेश, 1947 (सिलोन इण्डिपेण्डेन्स आर्डर इन काउन्सिल, 1947) के सुसंगत उपबन्धों को, जिसे इसमें इसके पश्चात् श्रीलंका संविधान कहा गया है, समझ लेना आवश्यक है।

श्री लंका संविधान का भाग III "विधान मण्डल" के संबंध में है। धारा 7 में यह उपबन्ध किया गया है कि *"इस द्वीप की एक संसद होगी जो हिज मैजिस्टि तथा दो सदनों से मिल कर बनेगी जो क्रमश: सिनेट तथा हाउस आफ रिप्रेजेंटेटिव्ज कहे जाएंगे"। धारा 18 मतदान के संबंध में है। वह इस प्रकार है—

**"18. धारा 29 की उपधारा (4) में अन्यथा उपबंधित को छोड़ कर दोनों सदनों में से किसी भी सदन द्वारा विनिश्चय के लिए प्रस्थापित किसी प्रश्न का निर्धारण उपस्थित तथा मत देने वाले सिनेटरों या सदस्यों के बहुमत से किया जाएगा। प्रेजीडेंट या स्पीकर या अध्यक्षता करने वाला अन्य व्यक्ति प्रथमतः मत न देगा किन्तु मत साम्य की अवस्था में उसका निर्णायक मत होगा और वह उसका प्रयोग करेगा।"

धारा 29 विधियां बनाने के बारे में संसद् की शक्ति के संबंध में है। वह इस प्रकार है—

***"29 (1) इस आदेश के उपबन्धों के अध्यधीन संसद् को इस द्वीप की शांति, व्यवस्था तथा सुशासन के लिए विधियां बनाने की शक्ति होगी।

(2) ऐसी कोई भी विधि—

(क) किसी भी धर्म के अबाध प्रयोग को न तो प्रतिषिद्ध करेगी और न निर्बन्धित करेगी, अथवा

---

*अंग्रेजी में इस प्रकार है—

"there shall be a Parliament of the Island which shall consist of His Majesty, and two Chambers to be known respectively as the Senate and the House of Representatives."

**"18. Save as otherwise provided in sub-section (4) of section 29, any question proposed for decision by either Chamber shall be determined by a majority of votes of the Senators or Members, as the case may be, present and voting. The President or speaker or other person residing shall not vote in the first instance but shall have and exercise a casting vote in the event of an equality of votes."

***"29. (1) Subject to the provisions of this Order, Parliament shall have power to make laws for the peace, order and good government of the Island.

(2) No such law shall—

(a) prohibit or restrict the free exercise of any religion, or

(ख) किसी भी समुदाय या धर्म के व्यक्तियों पर ऐसी निर्योग्यताएं निर्बन्धन लागू नहीं करेगी जो अन्य समुदायों या धर्मों के व्यक्तियों पर लागू न हो, अथवा

(ग) किसी भी समुदाय या धर्म के व्यक्तियों को कोई भी ऐसा विशेषाधिकार या फायदा प्रदान नहीं करेगी जो अन्य समुदायों या धार्मिकों के व्यक्तियों को प्रदान न किया गया हो, अथवा

(घ) किसी भी धार्मिक संस्था के गठन में कोई भी तब्दीली उस संस्था के शासी प्राधिकारी की सम्मति के बिना नहीं करेगी और वह भी इस प्रकार यदि कोई धार्मिक संस्था विधि द्वारा निगमित हो तो ऐसा कोई परिवर्तन उस दशा के सिवाए नहीं किया जाएगा जिसमें कि उस संस्था के शासी प्राधिकारी ने ऐसी प्रार्थना की हो;

परन्तु भारतीय तथा पाकिस्तानी निवासी (नागरिकता) अधिनियम के अधीन श्रीलंका के नागरिकों के रूप में रजिस्ट्रीकृत व्यक्तियों का प्रतिनिधित्व करने के लिए हाउस ऑफ रिप्रेजेंटेटिव्स के सदस्यों के निर्वाचन के लिए, के सम्बन्ध में या के प्रसंग में किसी विधि बनाने वाले उपबन्ध को इस उपधारा के पूर्ववर्ती उपबन्ध लागू नहीं होंगे ।

यह परन्तुक राजपत्र में प्रकाशित उद्घोषणा द्वारा गर्वनर-जनरल द्वारा नियत की गई तारीख को प्रभावी नहीं रहेगा ।

(b) make persons of any community or religion liable to disabilities or restrictions to which persons or other communities or religions are not made liable; or

(c) confer on persons of any community or religion any privilege or advantage which is not conferred on persons of other communities or religions; or

(d) alter the constitution of any religious body except with the consent of the governing authority of that body. So, however, that in any case where a religious body is incorporated by law, no such alteration shall be made except at the request of the governing authority of that body :

Provided, however, that the preceding provisions of this sub-section shall not apply to any law making provision for, relating to, or connected with the, election of Members of the House of Representatives, to represent persons registered as citizens of Ceylon under the Indian and Pakistani Residents (Citizenship) Act.

This proviso shall cease to have effect on a date to be fixed by the Governor-General by proclamation published in the Gazette.

(3) इस धारा की उपधारा (2) का उल्लंघन करते हुए बनाई गई कोई विधि ऐसे उल्लंघन की सीमा तक शून्य होगी।

(4) इस धारा के अधीन अपनी शक्तियों का प्रयोग करते हुए संसद् इस आदेश के या हर मैजिस्टि इन काउन्सिल के किसी अन्य आदेश के, जहां तक कि वह इस द्वीप को लागू हो, किसी उपबन्ध को संशोधित या निरसित कर सकेगी।

परन्तु इस आदेश के किसी भी उपबन्ध के संशोधन या निरसन करने वाला कोई भी विधेयक राजसी सम्मति (असेन्ट) के लिए तब तक पेश नहीं किया जाएगा जब तक स्पीकर के हस्ताक्षर से उस पर यह प्रमाणपत्र पृष्ठांकित न हो कि हाउस ऑफ रिप्रेजेंटेटिव्ज में उसके पक्ष में दिए गए मतों की संख्या हाउस की सम्पूर्ण सदस्य संख्या (उनको भी सम्मिलित करते हुए जो उपस्थित न हों) के दो-तिहाई से अन्यून थी।

इस उपधारा के अधीन स्पीकर का प्रत्येक प्रमाणपत्र सब प्रयोजनों के लिए निश्चायक होगा तथा किसी भी न्यायालय में प्रश्नास्पद नहीं किया जाएगा।"

श्री पालकीवाला के अनुसार, धारा 29 (1) हमारे संविधान के अनुच्छेद 245 और 246 के तथा धारा 29 (4) हमारे संविधान के अनुच्छेद 368 के तथा धारा 29(2) और 29 (3), मूल अधिकारों के साथ पठित हमारे संविधान के अनुच्छेद 13 (2) के अनुसार हैं।

प्रिवी काउन्सिल की जुडीशियल कमेटी के सामने जो प्रश्न विचाराधीन था वह यह था कि क्या रिश्वत (संशोधन) अधिनियम, 1958 [ब्राइबरि (अमेण्डमेण्ट ऐक्ट, 1958)] की धारा 41 श्रीलंका संविधान की धारा 29 (4) का अतिलंघन करती है और इस प्रकार अविधिमान्य है। यह प्रश्न जिन तथ्यों से पैदा हुआ वे इस प्रकार हैं। प्रत्यर्थी, राणासिंघे पर रिश्वत (संशोधन) अधिनियम, 1958 द्वारा गठित रिश्वत अधिकरण के समक्ष रिश्वत के अपराध में अभियोजन चलाया गया। इस अधिकरण ने उसे कतिपय

---

(3) Any law made in contravention of sub-section (2) of this section shall, to the extent of such contravention, be void.

(4) In the exercise of its powers under this section, Parliament may amend or repeal any of the provisions of this Order, or of any other Order of Her Mejesty in Council in its application to the Island:

Provided that no Bill for the amendment or repeal of any of the provisions of this Order shall be presented for the Royal Assent unless it has endorsed on it a certificate under the hand of the Speaker that the number of votes cast in favour thereof in the House of Representatives amounted to not less than two-thirds of the whole number of members of the House (including those not present).

Every certificate of the Speaker under this sub-section shall be conclusive for all purposes and shall not be questioned in any court of law."

अवधि के कारावास तथा जुर्माने से दण्डादिष्ट किया। सुप्रीम कोर्ट ने उसके विरुद्ध की गई दोषसिद्धि तथा पारित आदेशों को अपील में इस आधार पर वातिल और अप्रवर्तनीय घोषित किया कि अधिकरण का गठन करने वाले व्यक्ति अधिकरण में विधिमान्य रूप से नियुक्त नहीं किए गए थे।

श्रीलंका संविधान की धारा 62 में सुप्रीम कोर्ट के मुख्य न्यायाधिपति तथा पुईनस्थ (प्यूनी) न्यायाधीशों की नियुक्ति के लिए उपबन्ध किया गया था। धारा 53 में न्यायिक सेवा आयोग (जुडीशियल सर्विस कमीशन) की स्थापना की बात कही गई थी और यह कहा गया था कि यह आयोग सुप्रीम कोर्ट के मुख्य न्यायाधिपति तथा एक न्यायाधिपति तथा ऐसे एक अन्य व्यक्ति से मिल कर बनेगा जो सुप्रीम कोर्ट का न्यायाधिपति हो या रहा हो। उसमें यह उपबन्ध और किया गया था कि यदि कोई व्यक्ति सिनेटर या संसद् सदस्य हो तो वह न्यायिक सेवा आयोग के सदस्य के रूप में न तो नियुक्त किया जाएगा और न बना रहेगा। धारा 55 में अन्य न्यायिक अधिकारों की नियुक्ति के लिए उपबन्ध किया गया था। धारा 55 (1) इस प्रकार है—

> *"55 (1) न्यायिक अधिकारियों की नियुक्ति, अन्तरण, पदच्युति तथा उनका अनुशासनिक नियंत्रण एतद्द्वारा न्यायिक सेवा आयोग में निहित किया जाता है।"

जुडीशियल कमेटी ने इन उपबन्धों से जो निष्कर्ष निकाला वह इस प्रकार है—

> "इस प्रकार राजनैतिक नियंत्रण से स्वातन्त्र्य सुनिश्चित किया गया है और आयोग के किसी भी विनिश्चय को प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करने का प्रयत्न करना दण्डनीय अपराध है। (धारा 56) ।" (पृ० 190)

जुडीशियल कमेटी ने तब रिश्वत अधिकरण की स्थिति का वर्णन इन शब्दों में किया।—

> "रिश्वत अधिकरण, जो संख्या में जितने हो सकते हैं, तीन सदस्यों से मिल कर बनता है जो किसी तालिका (पैनल) से लिए गए हों। (धारा 42) तालिका 15 से अनधिक ऐसे व्यक्तियों की होती है जो न्याय मन्त्री की सलाह पर गवर्नर-जनरल द्वारा नियुक्त किए गए हों (धारा 41)। तालिका के सदस्यों को पारिश्रमिक दिया जाता है (धारा 45)।" (पृ० 192)

जुडीशियल कमेटी ने यह अभिनिर्धारित किया कि अधिकरण के सदस्य न्यायिक पद के धारक हैं और श्रीलंका संविधान की धारा 55 के अधीन न्यायिक अधिकारी हैं। उन्होंने यह भी अभिनिर्धारित किया कि संविधान की धारा 55 और रिश्वत संशोधन अधिनियम की धारा 41 के, जिसके अधीन तालिका की नियुक्ति की गई थी, बीच स्पष्ट विरोध है।

---

*अंग्रेजी में यह इस प्रकार है—

> "55. (1) The appointment, transfer, dismissal and disciplinary control of judicial officers is hereby vested in the Judicial Service Commission."

उसके बाद जुडीशियल कमेटी ने इस विरोध के प्रभाव की जांच की। धारा 18, धारा 29 (1) तथा धारा 29 (2) (ए) उद्धृत करने के पश्चात् जुडीशियल कमेटी ने यह अभिनिर्धारित किया—

> "इसके बाद (बी), (सी) और (डी) आते हैं जो और भी सुदृढ़ बनाए गए धार्मिक तथा मूलवंश सम्बन्धी (रेशियल) ऐसे विषयों का वर्णन करते हैं जिन के सम्बन्ध में विधान नहीं बनाए जा सकेंगे। वे श्रीलंका के नागरिकों के बीच उस सत्यनिष्ठापूर्ण अधिकार संतुलन अर्थात् उन आधारभूत शर्तों को व्यक्त करते हैं जिन पर आपस में उन्होंने संविधान को स्वीकार किया और इसलिए यह संविधान के अधीन बदले नहीं जा सकते।" (महत्त्व देने के लिए रेखांकित किया गया है) (पृ० 193)

इन निष्कर्षों का वर्णन करने के बाद, जुडीशियल कमेटी ने श्रीलंका संविधान की धारा 29 की उपधारा (3) और (4) को उद्धृत किया। जो उद्धारण मैंने ऊपर दिए हैं उनका श्री पालखीवाला ने अपने इस तर्क के समर्थन में बहुत अधिक आश्रय लिया है कि भाग 3 में भी विभिन्न धार्मिक और मूलवंश सम्बन्धी तथा अन्य विषय इसी प्रकार सुदृढ़ बनाए गए हैं और वे भारत के नागरिकों के बीच उस सत्यनिष्ठापूर्ण अधिकार संतुलन अर्थात् उन आधारभूत शर्तों को व्यक्त करते हैं जिन पर आपस में उन्होंने भारत के संविधान को स्वीकार किया और इसलिए ये भारत के संविधान के अधीन अपरिवर्तनीय हैं।

उसके उत्तर में श्री सीरवाई ने यह दलील रखी कि 'सुदृढ़ बनाए गए" शब्दों का और कोई अर्थ नहीं है सिवाए इसके कि इन उपबन्धों का संशोधन केवल उसी प्रक्रिया के अनुसार किया जा सकता है जो श्रीलंका संविधान की धारा 29 (4) में विहित है। किन्तु मैं यह निर्वचन स्वीकार नहीं कर सकता हूं क्योंकि इसका तो मतलब है कि संविधान के अन्य उपबन्ध भी समान रूप से सुदृढ़ बनाए गए उपबन्ध हैं, क्योंकि श्रीलंका संविधान के किसी भी उपबन्ध का संशोधन धारा 29 (4) में अधिकथित प्रक्रिया का अनुसरण किए बिना नहीं किया जा सकता है।

श्री पालखीवाला ने जिस निर्वचन की वकालत की है उसका समर्थन उस रीति से होता है जिसमें कि जुडीशियल कमेटी ने मैक्कालि वाले मामले की विशिष्टता बताई है [मैक्कालि बनाम किंग(1)] में यहां पर जुडीशियल कमेटी द्वारा प्रकट किए गए उस मत को उद्धृत करना चाहता हूं जो उसने मैक्कालि वाले मामले के सम्बन्ध में व्यक्त किया है। उनका कहना है कि—

> "अब यह संक्षेप में बताया जा सकता है कि मैक्कालि वाले मामले और इस मामले के बीच मुख्य अन्तर क्या है। उस मामले में विधानमण्डल ने, जिसे एक विषय को छोड़ कर जिसका वहां कोई प्रश्न ही नहीं था, बहुमत से विधियां बनाने की पूरी शक्ति थी, एक ऐसी विधि पारित की, जो उसके संविधान अधिनियम के एक विद्यमान निबन्धन के विरुद्ध थी। उसमें यह अभिनिर्धारित

(1) (1920) ए० सी० 691.

किया गया था कि यह विधिमान्य विधान है क्योंकि इसको संविधान की उस सीमा तक ऐसी तब्दीली माना जाएगा जो न तो इस अर्थ में आधारभूत थी कि वह परिवर्तन के परे थी और न उसकी रचना इस प्रकार की थी कि जिस विषय का उसमें वर्णन किया गया था उस पर किसी विशेष विधायी प्रक्रिया से उसके गुजरने की अपेक्षा की गई हो।" (महत्त्व देने के लिए रेखांकित किया गया है)। (पृ० 198)

... ... यह ठीक ही कहा गया है कि "जो न तो इस अर्थ में आधारभूत थी कि वह परिवर्तन के परे हो" पद में श्रीलंका संविधान की धारा 29(2) के प्रति निर्देश किया गया है। मुझे इसमें कोई सन्देह नहीं है कि जुडीशियल कमेटी ने यह अभिनिर्धारित किया था कि श्रीलंका संविधान में धारा 29 (2) के उपबन्धों का संशोधन नहीं किया जा सकता है। मैं यह बता देना चाहता हूं कि प्रोफेसर सी० डी० स्मिथ ने एल० जे० एम० कूपे द्वारा लिखित 'रिफलैक्शन्स ऑन दि कांस्टिट्यूशन एण्ड दि कांस्टिट्यूएंट असेम्बली (सिलोन कांस्टिट्यूशन)' पुस्तक की समीक्षा करते हुए, ब्राइबरि कमिश्नर बनाम रानसिंघे([1]) वाले मामले में जो इतरोक्त (ओबीटर डिक्टा) है उसके सम्बन्ध में कहा है कि संविधान के कतिपय उपबन्धों को विहित संशोधन प्रक्रिया द्वारा बदला नहीं जा सकता।

यह हो सकता है कि ये कथन इतरोक्त हों किन्तु चूंकि यह जुडीशियल कमेटी के शब्द हैं इसलिए इन पर बहुत ध्यान से विचार करने की आवश्यकता है।

जुडीशियल कमेटी ने यह क्यों कहा कि धारा 29 (2) के उपबन्धों में "संविधान के अधीन परिवर्तन नहीं किया जा सकता है" या "इस अर्थ में आधारभूत हैं कि उनमें कोई परिवर्तन नहीं किया जा सकता है"? धारा 29 (4) की भाषा में ऐसी कोई बात नहीं है जिससे श्रीलंका संसद् की शक्तियों पर लगाए गए किन्हीं बन्धनों का पता लगता हो। संविधान के किसी भी उपबन्ध में जिसके अन्तर्गत धारा 29 (2) तथा 29 (4) भी आती है। वह "संशोधन या निरसन" कर सकती है। इसका कारण धारा 29(4) के अधीन संशोधन करने की शक्ति पर वह विवक्षित परिसीमा मात्र ही हो सकती है जिसका निष्कर्ष "श्रीलंका के नागरिकों के बीच उस सत्यनिष्ठ अधिकार सन्तुलन अर्थात् उन आधारभूत शर्तों से निकाला जा सकता है जिन पर आपस में उन्होंने संविधान को स्वीकार किया" धारा 29(4) के अधीन संशोधन की शक्ति के प्रयोग पर जब तक कोई परिसीमा विवक्षित न की गई हो तब तक धारा 29(4) को ही इस प्रकार संशोधित किया जा सकता है जिससे यह स्पष्ट हो जाए कि धारा 29(2) का संशोधन किया जा सकता है।

यह मामला ऐसे मामले की यथावत् मिसाल है जिसमें संविधान को संशोधित करने की शक्ति पर विवक्षित बन्धन लगाए गए हैं जिनके बारे में अनुमान किसी साधारण निकाय ने नहीं बल्कि प्रिवी काउन्सिल की जुडीशियल कमेटी ने किया है।

श्री सीरवाई ने पृष्ठ 197-198 पर निम्नलिखित अंश के उतने भाग का आश्रय लिया है जो कोष्ठक में बन्द है—

"इन अंशों से यह साफ जाहिर होता है कि मैक्कॉले वाले मामले([2]) में बोर्ड ने वही दृष्टिकोण अपनाया था जिसकी सिफारिश उसने अर्थात् बोर्ड ने

([1]) (1965) ए० सी० 172, 193-194.

([2]) (1920) ए० सी० 691.

इस मामले में की है और वह यह है कि (किसी भी विधानमण्डल को विधान बनाने की उन शर्तों की उपेक्षा करने की शक्ति नहीं है जो विधान बनाने की अपनी शक्तियों को स्वयं विनियमित करने वाली लिखत द्वारा अधिकथित की गई हों। यह निबंन्धन इस बात के विचार के बिना ही स्वतन्त्र रूप से विद्यमान है कि विधानमण्डल प्रभुत्वसम्पन्न है जैसे कि श्रीलंका का विधानमण्डल है या संविधान "अनियंत्रित" है जैसा कि बोर्ड ने क्वीन्सलैण्ड के संविधान के सम्बन्ध में कहा है इसमें कोई सन्देह नहीं कि ऐसा संविधान विधानमण्डल द्वारा उस दशा में बदला या संशोधित किया जा सकता है जिसमें कि इन उपबन्धों के निबन्धनों का पालन किया गया हो और उस तब्दीली या संशोधन में स्वयं उन उपबन्धों की तब्दीली या उनको समाप्त करना भी सम्मिलित हो सकता हो। किन्तु जो प्रस्थापना मानने योग्य नहीं है वह यह कि एक बार स्थापित हो जाने पर किसी विधानमण्डल को अपनी स्थापना के तथ्य मात्र से व्युत्पन्न कोई अन्तर्निहित शक्ति साधारण बहुमत के संकल्प द्वारा ऐसी विधिमान्य विधि बनाने की बाबत प्राप्त हो जाती है जिसके बारे में स्वयं उसी को गठित करने वाली लिखत ने यह कहा हो कि वह तब तक विधिमान्य विधि नहीं होगी जब तक कि वह भिन्न प्रकार के बहुमत या भिन्न प्रकार की विधायी प्रक्रिया द्वारा बनाई गई हो और यही प्रस्थापना है जो वास्तव में इस दलील में विचाराधीन है।"

जो अंश कोष्ठक के बाहर है और जिसे श्री सीरवाई के लिखित निवेदनों में सम्मिलित नहीं किया गया है साफ जाहिर करता है कि इस अंश में जुडीशियल कमेटी श्रीलंका संविधान की धारा 29(2) के संशोधन के बारे में विचार नहीं कर रही थी और मैक्काले वाले मामले([1]) के सम्बन्ध में उसने यह समझा था कि वह श्रीलंका संविधान की धारा 29 (2) जैसे उपबन्ध के संशोधन के प्रश्न से सम्बद्ध नहीं है। इस अंश का अभिप्राय तो केवल इतना है कि विधानमण्डल प्रक्रिया सम्बन्धी उन शर्तों की उपेक्षा नहीं कर सकता है जो किसी विशिष्ट प्रकार के बहुमत को विहित करने वाली संविधायी (कांस्टिट्एण्ट) लिखत द्वारा उस पर अधिरोपित की गई हों बल्कि उनको तब संशोधित कर सकता है जब संविधायी लिखत में ऐसी शक्ति दी गई हो।

अगला अंश, जिसका कुछ भाग मैं पहले उद्धृत कर चुका हूं, और जो मैक्काले वाले मामले ([1]) और रानासिंघे वाले मामले([2]) के बीच अन्तर को व्यक्त करता है, यह बताता है कि जिस अंश का आश्रय लिया गया है उसमें जुडीशियल कमेटी श्रीलंका संविधान की धारा 29 (4) के प्रक्रिया सम्बन्धी अंश पर विचार कर रही थी। वह इस प्रकार है—

"अब यह संक्षेप में बताया जा सकता है कि मैक्काले वाले मामले([1]) और इस मामले के बीच मुख्य अन्तर क्या है। उस मामले में विधानमण्डल ने जिसे

([1]) (1920) ए० सी० 691.

([2]) (1965) ए० सी० 172, 193-194.

एक विषय को छोड़ कर जिसका वहां कोई प्रश्न ही नहीं था, बहुमत से विधियां बनाने की पूरी शक्ति थी, एक ऐसी विधि पारित की जो कि उसके संविधान अधिनियम के एक विद्यमान निबन्धन के विरुद्ध थी। उसमें यह अभिनिर्धारित किया गया था कि यह विधिमान्य विधान है, क्योंकि इसको संविधान की उस सीमा तक ऐसी तब्दीली माना जाएगा जो न तो इस अर्थ में आधारभूत थी कि वह परिवर्तन के परे थी और न उसकी रचना इस प्रकार की थी कि जिस विषय का उसमें वर्णन किया गया है उस पर किसी विशेष विधायी प्रक्रिया से उसके गुजरने की अपेक्षा की गई हो। इसके विपरीत, इस मामले में, विधानमण्डल द्वारा ऐसी विधि पारित करना अभिप्रेत है, जो सपरिषद् आदेश (आर्डर इन काउन्सिल) की धारा 55 के विरुद्ध होने के कारण, यदि उसको विधिमान्य माना जाता है तो उसे इस प्रकार का समझा जाना चाहिए जैसे कि वह न्यायिक अधिकारियों की नियुक्ति की बाबत सांविधानिक उपबन्धों का विवक्षित परिवर्तन हो। चूंकि ऐसे परिवर्तन, अभिव्यक्त हों तो भी, केवल ऐसी विधियों द्वारा ही किए जा सकते हैं, जो धारा 29 (4) में अधिकथित विशेष विधायी प्रक्रिया के अनुसार हों, इसलिए श्रीलंका विधानमण्डल को विधान बनाने की ऐसी सामान्य शक्ति नहीं है कि वह अपने संविधान को मामूली बहुमत वाले संकल्प द्वारा संशोधित कर सके, जैसी कि अपने संविधान अधिनियम की धारा 2 के अधीन क्वीन्सलण्ड विधानमण्डल को प्राप्त है, बल्कि ऐसे संशोधन करने के लिए वह ऐसी अवस्था में है जैसी में कि वह विधानमण्डल उसकी धारा 9 के आधार से समझा गया था अर्थात् वांछित परिणाम पर पहुंचने के लिए एक विशेष प्रक्रिया प्रवर्तित करने के लिए विवश किया गया था।" (पृ० 198)

मैं यहां यह बता दूं कि ब्रिटिश उत्तर अमेरिका अधिनियम, 1867 (ब्रिटिश नार्थ अमेरिका ऐक्ट, 1867) का निर्वचन करते समय, जुडीशियल कमेटी ने अल्पसंख्यकों के अधिकारों के बनाए रखने की बात भी अपने ध्यान में रखी थी क्योंकि रेगूलेशन एण्ड कन्ट्रोल ऑफ एरोनॉटिक्स इन कनाडा वाले मामले[1] में उन्होंने कहा है—

> "चूंकि इस ऐक्ट (ब्रिटिश नार्थ अमेरिका ऐक्ट) में एक ऐसा समझौता शामिल है जिसके अधीन मूल प्रान्त फैडरेशन में सम्मिलित होने पर सहमत हुए थे, इसलिए इस बात को ध्यान में रखना बहुत महत्वपूर्ण है कि अल्पसंख्यकों के अधिकारों को बनाए रखना एक ऐसी शर्त थी जिस पर ऐसे अल्पसंख्यक फैडरेशन में प्रविष्ट हुए थे और यही वह आधार था जिस पर सारा ढांचा तत्पश्चात् खड़ा किया गया था। कुछ समय बीत जाने के बाद यह इजाजत नहीं दी जानी चाहिए कि निर्वचन करते-करते उस मूल संविदा के उपबन्धों को धूमिल या विलुप्त हो जाने दिया जाए जिस पर फैडरेशन आधारित था और न यह विधिसम्मत है कि धारा 91 तथा धारा 92 का ऐसा न्यायिक अर्थान्वयन किया जाए जो फैडरेशन में शामिल होने वाले निकायों पर एक बिल्कुल नई और भिन्न संविदा अधिरोपित कर दे।

(1) (1932) ए० सी० 54, 70.

(शेष अगले अंक में)

गतांक से आगे—

रणासिंघे के मामले में (1) जुडीशियल कमेटी के शब्द प्रासंगिक और सारगर्भित हैं। 'ये शब्द श्रीलंका के नागरिकों के बीच अधिकारों का सत्यनिष्ठ सन्तुलन और उन मूल शर्तों को प्रतिदर्शित करते हैं जिन पर आपस में उन्होंने संविधान को स्वीकार किया था और इसलिए ये शर्तें संविधान के अधीन अपरिवर्तनीय हैं।' यह सच है कि जुडीशियल कमेटी ने श्रीलंका में अल्पसंख्यकों और धार्मिक अधिकारों के संदर्भ में "अपरिवर्तनीय" (अन-आल्टरेबल) शब्द का उपयोग किया था। किन्तु भारतीय संदर्भ में यह कुछ भिन्न है। मूल अधिकारों की गारण्टी का विस्तार अनेक अधिकारों तक है और यह आशय नहीं हो सकता कि उनमें से सभी अधिकार पूर्णतया अपरिवर्तनीय बने रहेंगे चाहे संविधान के अनुच्छेद 13(2) के सम्बन्ध में यह समझा जाए कि उसके अन्तर्गत सांविधानिक संशोधन आते हैं। संविधान की पूर्ण स्कीम से एक अधिक युक्तियुक्त अनुमान यह लगाया जा सकता है कि 'संशोधन' (अमेण्डमेण्ट) का कोई दूसरा अर्थ बहुत अधिक उपयुक्त हो। महान्यायवादी (अटर्नी जनरल) और श्री सीरवाई द्वारा इस बात को मान लेने से भी इस निष्कर्ष को समर्थन प्राप्त हुआ है कि सम्पूर्ण संविधान निराकृत या निरसित नहीं किया जा सकता और उसके स्थान पर नया संविधान नहीं रखा जा सकता। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि 'इस संविधान का संशोधन' (अमेण्डमेण्ट ऑफ दिस कांस्टिट्यूशन) पद के अन्तर्गत सम्पूर्ण संविधान का पुनरीक्षण नहीं आता। यदि यह सच है—मेरा यह कहना है कि यह बात ठीक ही मानी गई थी—तब 'संशोधन' शब्द का वह अर्थ क्या है जो बहुत अधिक उपयुक्त है और जो संविधान की पूरी स्कीम में फिट बैठता है। मेरे मतानुसार वही अर्थ उपयुक्त होगा जो देश के संविधान के प्रजातन्त्रात्मक ढांचे को और भाग 3 में प्रत्याभूत अन्यसंक्रमणीय अधिकारों को नष्ट किए बिना और प्रस्तावना में दर्शाई गई रूपरेखा से परे जाए बिना सामाजिक और आर्थिक क्रान्ति प्राप्त करने के लिए देश को सफल बनाए।

मैं कुछ अन्य कारणों के आधार पर इस निष्कर्ष पर पहुंचा हूं। लिखित संविधान में ऐसा बहुत कम होता है कि हर बात अभिव्यक्त रूप से कह दी गई हो। आवश्यकता से या संविधान की स्कीम से शक्तियों और निर्बन्धनों की विवक्षा की जाती है। मैं कुछ ऐसे उदाहरण देता हूं जिनका जुडीशियल कमेटी और इस न्यायालय तथा अन्य न्यायालयों द्वारा अनुमोदन किया गया है। मैं पहले उस सिद्धान्त पर विचार करूंगा जो संसद् को उन आनुषंगिक और समनुषंगी विषयों पर कार्यवाही करने की शक्ति देता है जो उस विधायी प्रविष्टि के अन्तर्गत नहीं आते हैं जिसके सम्बन्ध में विधान बनाया जा रहा है।

लेफरॉय ने अपनी पुस्तक 'ए शार्ट ट्रिटाइज ऑन कांस्टीट्यूशनल लॉ' के पृष्ठ 94 पर इस विषय के सम्बन्ध में इस प्रकार कहा है—

*"किन्तु जब यह (डोमीनियन पार्लियामेण्ट) फेडरेशन ऐक्ट की धारा 91 में प्रगणित डोमीनियन विषयों पर विधान बना रही हो तो यह अभिनिर्धारित किया

---

*अंग्रेजी में यह इस प्रकार है—

"But when it (Dominion Parliament) is legislating upon the enumerated Dominion subject-matters of sec. 91 of the Federation

(1) (1965) ए. सी. 172, 193-194.

गया है कि इम्पीरियल पार्लियामेण्ट का, आवश्यक विवक्षा द्वारा, आशय धारा 92 के अधीन प्रान्तीय विधानमण्डलों को अन्यथा समनुदिष्ट विषयों में हस्तक्षेप करने, उन पर कार्यवाही करने और उनका अतिक्रमण करने के लिए स्वयं को विधायी शक्ति प्रदान करना है, जहां तक कि उन विषयों से सम्बन्धित साधारण विधि उसे प्रभावित कर सके जैसा कि वह उस विस्तार तक ऐसे आनुषंगिक उपबन्धों को बना सकती है जिससे कि ऐसी विधि की स्कीम विफल न हो जाए। प्रिवी काउन्सिल ने इस बात को कई विनिश्चयों में सिद्ध किया है और समझाया है।"

यह बात प्रान्तीय या राज्य विधानमण्डलों की विधायी शक्ति पर तत्समान निर्बन्धन के रूप में लागू होती है।

इस न्यायालय ने अनेक विनिश्चयों में इसी प्रकार की शक्तियों की विवक्षा की है। [उदाहरणार्थ कुछ मामले देखिए, जैसे ओरियेण्ट पेपर मिल्स बनाम उड़ीसा राज्य(1); बर्मा कन्स्ट्रक्शन कम्पनी बनाम उड़ीसा राज्य(2); नवनीत लाल जावेरी बनाम सहायक आयुक्त अपील (3)]।

अक्सर ऐसा होता है कि किसी एक संविधान में न्यायालयों द्वारा जो कुछ विवक्षित किया गया था, वह अभिव्यक्त रूप से किसी दूसरे संविधान में प्रदत्त कर दिया जाता है। उदाहरणार्थ संयुक्त राज्य (अमेरिका) के संविधान में धारा 8 का खण्ड 18 अभिव्यक्त रूप से आनुषंगिक शक्तियां प्रदान करता है—

> *"कांग्रेस को······पूर्वगामी शक्तियों को और संयुक्त राज्य की सरकार या उसके किसी विभाग या किसी आफिसर में संविधान द्वारा निहित सभी अन्य शक्तियों को निष्पादित करने के लिए ऐसी सभी विधियां बनाने की शक्ति होगी जो आवश्यक और उचित हों।"

Act, it is held that the Imperial Parliament, by necessary implication, intended to confer on it legislative power to interfere with, deal with, and encroach upon, matters otherwise assigned to the provincial legislatures under sec. 92, so far as a general law relating to those subjects may effect them, as it may also do to the extent of such ancillary provisions as may be required to prevent the scheme of such a law from being defeated. The Privy Council has established and illustrated this in many decisions."

*"The Congress shall have power ... to make all laws which shall be necessary and proper for carrying into execution the foregoing powers and all other powers vested by this Constitution in the Government of the United States, or in any department or officer thereof."

---

(1) (1962) 1 एस० सी० आर० 549.
(2) (1962) सप्लीमेण्ट 1 एस० सी० आर० 242.
(3) ए० आई० आर० (1965) एस० सी० 1375.

संयुक्त राज्य अमरीका के संविधान में ऊपर वर्णित अभिव्यक्त उपबन्ध के आधार पर यह दलील देना उचित नहीं होगा कि यदि संविधान निर्माता भारत की संसद् को ऐसी शक्ति देना चाहते तो वे आनुषंगिक शक्तियां अभिव्यक्त रूप से प्रदत्त कर सकते थे।

स्टोरी का कहना है कि खण्ड 18 में, यदि यह अभिव्यक्त रूप से अन्तःस्थापित नहीं किया गया है तो उससे ज्यादा अर्थ नहीं निकलता है जितना आवश्यक विवक्षा से निकलता (पृष्ठ 112 और 113, खण्ड 3 देखिए)।

राम जवाया कपूर बनाम पंजाब राज्य(1) वाले मामले में इस न्यायालय ने यह विवक्षा की कि 'इस प्रकार राष्ट्रपति कार्यपालिका का औपचारिक या सांविधानिक प्रधान बनाया गया है और असली कार्यपालिका शक्तियां मन्त्रियों में या मन्त्रिमण्डल (केबिनेट) में निहित हैं। राज्यों की सरकार के सम्बन्ध में ऐसे ही उपबन्ध राज्यपाल या राजप्रमुख की बाबत हैं.....।'

संजीवी नायडू बनाम मद्रास राज्य(2) वाले मामले में न्यायाधिपति हेगड़े ने यह अभिनिर्धारित किया कि राज्यपाल निश्चित रूप से सांविधानिक दृष्टि से प्रधान है और राज्य का प्रशासन मन्त्रि-परिषद् द्वारा चलाया जाता है।

यू० एम० आर० राव बनाम श्रीमती इन्दिरा गांधी(3) वाले मामले में एक अन्य संविधान न्यायपीठ ने उपर्युक्त दोनों विनिश्चयों का अनुसरण किया।

यह निष्कर्ष राष्ट्रपति और राज्यपालों की शक्तियों पर विवक्षित परिसीमाएं (इम्पलाइड लिमिटेशन) हैं। इस न्यायालय ने राम जवाया कपूर वाले मामले(1) में यह और विवक्षा की कि किसी विनिर्दिष्ट विधायी मंजूरी के बिना भी सरकार कोई व्यापार और कारबार कर सकती है।

समय बचाने की दृष्टि से हमने ऊपर वर्णित तीनों मामलों के सम्बन्ध में श्री सीरवाई के विचार नहीं सुने। मैंने केवल उदाहरण देने के लिए ही उन्हें वर्णित किया है।

यह ध्यान देने की बात है कि व्यापार करने की बाबत जिस बात की विवक्षा की गई थी वह संविधान (सप्तम संशोधन) अधिनियम, 1956 द्वारा उस समय संविधान का एक अभिव्यक्त उपबन्ध बना दी गई जब एक नया अनुच्छेद 298 प्रतिस्थापित किया गया। फेडरल न्यायालय और भारत के उच्चतम न्यायालय ने अन्य मामलों में इस सिद्धान्त को मान्यता दी है और उसे लागू किया है—

> "(i) साधारण शब्दों के द्वारा मंजूर की गई शक्ति का अपने आप में निस्संदेह व्यापक अर्थ में अर्थान्वयन किया जाएगा। किन्तु वह संदर्भ की विवक्षाओं (इम्पलीकेशन्स) से और ऐसी बातों से जो अधिनियम की साधारण स्कीम से उद्भूत हों, उसी अधिनियमिति के अन्य अभिव्यक्त उपबन्धों से विशेषित हो सकती है। (मुख्य न्यायाधिपति ग्वायर के अनुसार—सी० पी० एण्ड बरार ऐक्ट, 1939, एफ० सी० आर० 18 पृष्ठ 42)।

(1) (1955) 2 एस० सी० आर० 225, 236-37.

(2) (1970) 1 एस० सी० सी० 443.

(3) (1971) 2 एस० सी० सी० 63=[1971] 2 उम० नि० प० 612.

(ii) 1955 में संशोधित किए जाने के पहले अनुच्छेद 31 (2) इस प्रकार पढ़ा गया जैसे कि उसमें यह विवक्षित निर्बन्धन अन्तर्विष्ट हो कि राज्य केवल लोक प्रयोजन के लिए ही अर्जन कर सकता है (1955 में चतुर्थ संशोधन द्वारा यह निर्बन्धन अभिव्यक्त रूप से अधिनियमित कर दिया गया)।

(क) प्राइवेट सम्पत्ति के अर्जन या कब्जे की बाबत अधिरोपित एक निर्बन्धन जो उस खण्ड में विवक्षित है, यह है कि सम्पत्ति का इस प्रकार लिया जाना केवल लोक प्रयोजन के लिए ही हो (चिरंजीत लाल चौधरी बनाम भारत संघ, 1950 एस० सी० आर० 869 पृष्ठ 902 पर न्यायाधिपति मुखर्जी के अनुसार)

(ख) 'लोक प्रयोजन' का अस्तित्व राज्य द्वारा अर्जन के लिए अनिवार्य शक्तियों के प्रयोग किए जाने की निस्संदेह एक विवक्षित शर्त है ..."(बिहार राज्य बनाम दरभंगा महाराजाधिराज 1952 एस० सी० आर० 889, पृष्ठ 934 पर न्यायाधिपति महाजन के अनुसार)

(iii) उच्चतम न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया है कि विधायी शक्ति पर विवक्षित परिसीमाएं हैं; विधानमण्डल विधायी कृत्यों के अत्यावश्यक तत्वों को प्रत्यायोजित नहीं कर सकता—

"......विधानमण्डल अपने ऐसे अत्यावश्यक विधायी कृत्य नहीं छोड़ सकता जिसमें विधानमण्डल की नीति घोषित करना और उसे आचरण का एक आबद्धकर नियम बनाना सम्मिलित है......अतः भारत में प्रत्यायोजन की शक्तियों की सीमाएं अर्थान्वयन के तौर पर स्वतः संविधान के उपबन्धों से ही सुनिश्चित करनी होंगी और जैसा मैंने कहा है, प्रत्यायोजन का अधिकार विधायी शक्ति के प्रयोग में केवल उस विस्तार तक ही विवक्षित किया जा सकता है कि शक्ति का प्रयोग प्रभावी और पूरा करने के लिए यह जरूरी है। (दिल्ली लॉज ऐक्ट वाले मामले में न्यायाधिपति मुखर्जी के अनुसार—1951 एस० सी० आर० 747, पृष्ठ 984-985)"

प्रत्यायोजन के क्षेत्र में विधानमण्डल पर उसी विवक्षित परिसीमा का निम्नलिखित मामलों में सहारा लिया गया और उसे लागू किया गया—

"राज नारायण सिंह बनाम पटना प्रशासन—(1955) 1 एस० सी० आर० 290.

हरि शंकर बागला बनाम मध्य प्रदेश राज्य—(1955) 1 एस० सी० आर० 380.

वसन्तलाल सन्जनवाला बनाम मुम्बई राज्य—(1961) 1 एस० सी० आर० 341.

दिल्ली नगर निगम बनाम बिड़ला कॉटन मिल्स—(1968) 3 एस० सी० आर० 251.

देवीदास बनाम पंजाब राज्य—1959 सप्लीमेण्ट 1 एस० सी० आर० 792.

(iv) संविधान के अनुच्छेद 3 और 4 द्वारा नए राज्य के निर्माण के लिए प्रदत्त की गई शक्ति के सम्बन्ध में और उस प्रयोजन के लिए संविधान को संशोधित करने के लिए इस निर्वचन की विवक्षा की गई कि—

"नया राज्य संविधान द्वारा परिकल्पित प्रजातान्त्रिक पद्धति के अनुकूल होना चाहिए और संसद् जिस शक्ति का प्रयोग कर सकती है··· वह सांविधानिक स्कीम का अध्यारोहण (ओवर राइड) करने की शक्ति नहीं है। अतः संसद् द्वारा अनुच्छेद 4 के अधीन विधि द्वारा कोई भी ऐसा राज्य न तो निर्मित किया जा सकता है न प्रविष्ट किया जा सकता है या गठित किया जा सकता है जिसमें प्रभावशील विधानमण्डल, कार्यपालिका और न्यायपालिका न हो [मंगल सिंह बनाम भारत संघ वाले मामले में न्यायाधिपति शाह के अनुसार—(1967) 2 एस० सी० आर० 109 पृष्ठ 112 (महत्व देने के लिए रेखांकित किया गया है)।"

इस तथ्य के कारण यह बात बहुत जोर देकर कही गई कि संविधान की स्कीम के परिणामस्वरूप कोई विवक्षित परिसीमाएं नहीं हो सकती हैं। अतः ऊपर वर्णित नजीरों के प्रति निर्देश किया गया है।

आस्ट्रेलिया के उच्च न्यायालय के हाल ही के एक विनिश्चय के प्रति निर्देश करने के पहले पूर्ववर्ती कुछ मामलों में व्यक्त किए गए मत नीचे उद्धृत किए जाते हैं—

"ऐसा प्रतीत होता है कि इन्जीनियर्स वाले मामले (1920) 28 सी० एल० आर० 129 के बाद से यह विचार काफी लोकप्रिय हुआ कि संविधान का निर्वचन करते समय कोई विवक्षाएं नहीं की जा सकतीं। अर्थान्वयन की ऐसी पद्धति से किसी भी लिखत का आशय विफल हो जाएगा किन्तु ऐसी सभी लिखतों में लिखित संविधान सबसे बाद में आता है जिस पर यह पद्धति लागू की जा सकती है। मेरा यह विचार नहीं है कि इन्जीनियर्स वाले मामले के निर्णय में न्यायालय ने बहुमत से ऐसा कोई सिद्धान्त प्रतिपादित किया है। [वैस्ट बनाम कमिश्नर ऑफ टैक्सेशन (न्यू साउथ वेल्स)—56 सी० एल० आर० 657 पृष्ठ 681-682 न्यायाधिपति डिक्सन के मतानुसार]

"कुछ विवक्षाएं संविधान के ढांचे से ही आवश्यक हैं किन्तु यह भी अपरिहार्य है कि मैं यह समझूं कि ये विवक्षाएं न्यायिक विनिश्चय की क्रमिक प्रक्रिया द्वारा ही परिभाषित की जा सकती हैं" (साउथ आस्ट्रेलिया बनाम कॉमनवैल्थ 65 सी० एल० आर० 373, 447 न्या० स्टार्क के मतानुसार, महत्व देने के लिए रेखांकित किया गया है)।

"आस्ट्रेलिया के संविधान में अपने फेडरल स्वरूप के कारण अपनी ही विवक्षाएं हैं या वह दूसरी (विवक्षाओं) को नष्ट करता है। (मेलबोर्न कारपोरेशन बनाम कामनवैल्थ 74 सी० एल० आर० 31 पृष्ठ 70 न्या० स्टार्क के मतानुसार (महत्व देने के लिए रेखांकित किया गया है)।

शक्ति के प्रयोग करने में राज्यों को नियन्त्रित करने के लिए अवरोध लगाए जाने का आधार फेडरल पद्धति ही है राज्य के विरुद्ध कामनवैल्थ द्वारा और

कॉमनवेल्थ के विरुद्ध राज्य द्वारा और एक या दूसरे के कृत्यों के स्वतन्त्र रूप से प्रयोग न किए जाने या उसे घटाने के लिए प्रकल्पित कार्यों के लिए किसी शक्ति के प्रयोग किए जाने के विरुद्ध विवक्षित अवरोध लगाए जाने की बाबत विवक्षा की गई है।" (74 सी० एल० आर० 31 पृष्ठ 81-82)

अब मैं स्टेट ऑफ विक्टोरिया बनाम कॉमनवेल्थ(1) के प्रति निर्देश करता हूं जिसमें आस्ट्रेलिया के संविधान के समान संविधान में विवक्षा किए जाने के प्रश्न पर चर्चा की गई है। आस्ट्रेलिया का संविधान कॉमनवेल्थ ऐक्ट में अन्तर्विष्ट है। उससे उस विषय पर उस न्यायालय के नवीनतम विचार वर्णित हैं।

विवाद्य प्रश्न यह था कि कॉमनवेल्थ की पार्लियामेण्ट (संविधान के अध्यधीन कराधान की बाबत विधि बनाने में किन्तु राज्यों या राज्यों के भागों के बीच विभेद करने के लिए नहीं) संविधान की धारा 51(ii) के अधीन अपनी शक्ति के प्रयोग में, कर अधिरोपित करने वाली विधि या कर के निर्धारण का उपबन्ध करने वाली विधि के प्रवर्तन में राज्य के अधिकार की जगह क्राउन को सम्मिलित कर सकती है।

एक अन्य विवाद्य प्रश्न, साधारण और ऐतिहासिक तौर पर और विशेष रूप से इस प्रश्न के प्रति निर्देश करते हुए विचार करने पर कि संविधान के अधीन कामनवेल्थ और राज्यों की प्रास्थिति क्या है और वह विस्तार क्या है जिस तक कामनवेल्थ की पार्लियामेण्ट राज्यों पर आबद्धकर विधि पारित कर सकती है और क्या कॉमनवेल्थ की विधायी शक्ति पर कोई विवक्षित निर्बन्धन है। प्रस्तुत मामले के लिए पश्चात्वर्ती प्रश्न पर चर्चा ही सुसंगत है।

इस प्रश्न पर न्यायाधीशों में मतभेद था। मुख्य न्यायाधिपति बार्विक ने निम्नलिखित अभिनिर्धारित किया—

> संविधान के अर्थान्वयन के आधारभूत सिद्धान्त इस न्यायालय ने अमलगमेटेड सोसाइटी ऑफ इन्जीनियर्स बनाम एडलाय स्टीमशिप कम्पनी लिमिटेड (इन्जीनियर्स वाला मामला) (2) वाले मामले में निश्चित रूप से प्रतिस्थापित किए थे। क्वीन बनाम बुराह (1878) 3 अपील केसेज 889 पृष्ठ 904-905 पर लार्ड सेलबर्न की भाषा स्वीकार कर ली गई और उसी प्रकार लागू की गई जिस प्रकार कि अटर्नी जनरल फॉर ओंटारियो बनाम अटर्नी जनरल फॉर कनाडा (1912) ए० सी० 583 पर अर्ल लोर बर्न की भाषा स्वीकार कर ली गई थी।

मुख्य न्यायाधिपति के मतानुसार इंग्लैण्ड में न्यायालय ने सुस्पष्ट रूप से इस सिद्धान्त को नामंजूर कर दिया कि अर्थान्वयन के सामान्य नियमों द्वारा कॉमनवेल्थ की विधायी शक्ति के एक बार सुनिश्चित किए जाने पर राज्य के सम्बन्ध में प्रतिकूल रूप से उसके प्रयोग किए जाने की बाबत संविधान में "विवक्षित प्रतिषेध (इम्प्लाइड प्रोहिबिशन) है। यह ऐसा सिद्धान्त है जो इसके पश्चात् ग्रहण किया गया था और इसके सम्बन्ध में यह कहा गया है कि यह किसी बाहरी और सम्भवतः विरोधी पक्ष के आक्रमण से "संरक्षण" की किसी अनुमानित आवश्यकता पर आधारित है। न्यायालय ने इस बात पर जोर दिया

(1) (1971) 45 ए० एल० आर० जे० 251, 252, 253.

(2) (1920) 28 सी० एल० आर० 129.

कि यदि शक्ति के दुरुपयोग के विरुद्ध संरक्षण की जरूरत थी तो ऐसा संरक्षण निर्वाचक मण्डल द्वारा किया जाना चाहिए न कि न्यायपालिका द्वारा। "संविधान के अर्थ के सम्बन्ध में न्यायिक जांच का एक सीधा-सा तरीका उन परिस्थितियों के साथ जिनमें संविधान निर्मित किया गया था और कॉमन लॉ और कानून विधि (स्टेट्यूट लॉ) को, जो उसके पहले थी, ध्यान में रखते हुए उसे स्वभाविक रूप में पढ़ना है और फिर सुसेट ईप्सा गर सी" (पृष्ठ 253)।

इस निर्णय का श्री सीरवाई और विद्वान् महान्यायवादी ने आश्रय लिया है। इसके विपरीत श्री पालखीवाला ने न्यायाधिपति मैन्जिज के निर्णय का सहारा लिया है—

> "क्या इस तथ्य से कि संविधान परिसंघीय है, ऐसी विवक्षाएं उद्भूत होती हैं जो राज्य के सम्बन्ध में कॉमनवैल्थ की पार्लियामेण्ट की विधि बनाने की शक्ति को सीमित करती है ?
>
> इस प्रश्न की बाबत सिद्धान्त और नजीर दोनों ही आधारों पर मुझे कोई संदेह नहीं है कि इसका सकारात्मक उत्तर दिया जाना चाहिए। अविघटनीय परिसंघीय कॉमनवैल्थ का उपबन्ध करने वाला संविधान कॉमनवैल्थ और राज्य दोनों को ही संरक्षण देगा। राज्य संविधान के बाहर नहीं हैं। वे कॉमनवैल्थ के राज्य हैं (धारा 106); तदनुसार यद्यपि संविधान में पार्लियामेण्ट द्वारा निर्मित विधियों के अध्यधीन राज्यों को करके ऐसा स्पष्ट रूप से किया गया है किन्तु ऐसा कुछ निर्बन्धन के साथ किया गया है।" (पृष्ठ 262)

उपरोक्त मत व्यक्त करने के पश्चात् विद्वान् न्यायाधीश ने नजीरों की परीक्षा की और मेल्बोर्न कॉरपोरेशन बनाम कॉमनवैल्थ(1) वाले मामले से समर्थन प्राप्त किया है। इसके पश्चात् माननीय न्यायाधीश ने उपर्युक्त सिद्धान्तों के समर्थन के लिए विभिन्न मामलों की परीक्षा की।

उस मामले में न्यायपीठ के अन्य विद्वान् न्यायाधीशों के निर्णयों के जिन उद्धरणों का सहारा लिया गया है, वे इस प्रकार हैं—

न्यायाधिपति विक्सेयर—हर एक मामले में विवक्षा का अर्थ होता है कि कोई बात जो अभिव्यक्त न की गई हो, समझ ली जानी चाहिए। किन्तु एक मामले में इसके अन्तर्गत जो अभिव्यक्त किया गया है उसके अतिरिक्त भी कुछ आता है। दूसरे मामले में सम्भवतः जो कुछ अभिव्यक्त किया गया है, उसका प्रभाव इससे स्पष्ट होता है। मेरा विचार है इस पश्चात्वर्ती अर्थ में संविधान के निर्वचन में विवक्षाओं का स्थान है और मेरा विचार है कि न्यायाधिपति डिक्सन ने आस्ट्रेलियन नेशनल एयरवेज प्राइवेट लिमिटेड बनाम कॉमनवैल्थ (1945) 71 सी० एल० आर० 29 पर जो मत व्यक्त किया है उसका आशय यह था कि "सरकार के किसी लिखत पर कार्यवाही करते समय अति सिद्धान्तवादी और संकुचित अर्थान्वयनों से बचना चाहिए और मुझे कोई कारण प्रतीत नहीं होता कि विवक्षा करने से हम क्यों डरें। माननीय मुख्य न्यायाधिपति ने इस मत को लामशेड बनाम लेक (1958) 99 सी० एल० आर० 132 पृष्ठ 144 वाले मामले में दोहराया है। स्पैट्ट बनाम हर्मेस (1965) 114 सी० एल० आर० 226 पृष्ठ 272 वाले मामले में मैंने यह

(1) (1947) 74 सी० एल० आर० 31.

मत व्यक्त किया था कि इस बात को याद रखना अच्छा है। अब भी मेरा ऐसा ही विचार है। एकमात्र संशोधन जो मैं करना चाहूंगा, वह यह है कि मैं "विवक्षा करना" कहना नहीं चाहूंगा क्योंकि हमारा माना हुआ काम ऐसी विवक्षाओं को जो पहले से ही अस्तित्व में हों, प्रगट या अनावृत करना है।

मेल्बोर्न कॉरपोरेशन बनाम कॉमनवैल्थ (1947) 74 सी० एल० आर० 31, वाले मामले में न्यायाधिपति स्टार्क ने पृष्ठ 70 पर निम्नलिखित मत व्यक्त किया।

> "आस्ट्रेलिया के संविधान के परिसंघीय स्वरूप में" उसकी अपनी कुछ विवक्षाएं हैं। (पृष्ठ 268).
>
> "मैं जो दृष्टिकोण अपनाता हूं वह इस प्रकार है—विभिन्न विषयों को जिन के सम्बन्ध में संविधान द्वारा कॉमनवैल्थ, कॉमनवैल्थ की शांति, व्यवस्था और सुशासन के लिए विधि बनाने के लिए सशक्त किया गया है, विवक्षाओं द्वारा कम या निर्बन्धित नहीं किया जा सकता। उन विषयों के विस्तार की सीमा केवल उन शब्दों पर ही निर्भर है जिन शब्दों के द्वारा वे अभिव्यक्त किए गए हैं। किन्तु कॉमनवैल्थ के भाग स्वरूप और उसके परिसंघीय संगठन के नाते राज्यों के अस्तित्व में रहने से उद्भूत होने वाली विवक्षाओं से किसी विशिष्ट विषय-वस्तु के सम्बन्ध में पार्लियामेण्ट द्वारा वैध रूप से विधि बनाने की शक्ति का तरीका निर्बन्धित किया जा सकता है। ये विवक्षाएं या शायद यह कहना अधिक अच्छा होगा कि संविधान में अंतर्निहित उपधारणाएं ऐसी शक्ति के प्रयोग किए जाने से सम्बन्धित हैं जो विधि की विषय-वस्तु में अंतर्निहित प्रकृति के अनुसार नहीं है। इस बात का विनिश्चय करना कि कोई विधि शान्ति, व्यवस्था और सुशासन की अभिवृद्धि करती है या नहीं, संसद् का काम है न कि न्यायालय का। किन्तु कोई विधि भले ही वह किसी अभिहित विषय-वस्तु से सम्बन्धित हो, यदि वह कॉमनवैल्थ के भाग होने के नाते राज्यों द्वारा अपने कृत्यों के पालन न किए जाने के प्रति निर्दिष्ट हो तो वह न्यायालय की शांति व्यवस्था और सुशासन के लिए नहीं हो सकती। ...." (पृष्ठ 269).

× × × ×

न्यायाधिपति डिक्सन—"कानूनी अर्थान्वयन मामूली सिद्धान्त विवक्षा करने से निवारित नहीं करते हैं। जब कि पूरे कानून को देखने से ही विधानमण्डल के आशय को प्रभावी करने के लिए विवक्षाएं आवश्यक हों, इम्पीरियल विधानमण्डल का संविधान अधिनियम को अधिनियमित करने का आशय आस्ट्रेलिया की जनता की इच्छा को प्रभावी करना था। वह इच्छा एक फेडरल संघ में सम्मिलित होने की थी और संविधान का प्रयोजन आस्ट्रेलिया के प्रशासन के लिए एक परिसंघीय न कि एकात्मक पद्धति स्थापित करना था और तदनुसार कॉमनवैल्थ और राज्यों के बीच सरकार की शक्तियों को विभाजित करने के लिए उपबंध करना था। फैडरेशन का निर्माण करने वालों ने कॉमनवैल्थ के राष्ट्रीय हितों की अपेक्षा के अनुसार सर्वोपरि स्थिति में रखा गया था। किन्तु यह बात फैडरेशन के मूल आधार से ही असंगत होगी कि कॉमनवैल्थ की शक्तियां राज्यों की स्थिति को अधीनस्थता की ऐसी स्थिति तक ला दें कि उनका अस्तित्व ही या स्वतन्त्र यूनिटों के आधार पर प्रभावकारी

रूप से कृत्य करने की उनकी सामर्थ्य उस रीति पर निर्भर हो जाए जिस रीति में कॉमनवैल्थ अपनी शक्तियों का प्रयोग करे जब कि ऐसा स्वत: उनकी शक्तियों की विधिक सीमाओं के आधार पर ही होना चाहिए। इस प्रकार संविधान से और उस स्कीम के प्रयोजन से जिसके द्वारा उसे प्रभावी करना आशयित है, आवश्यक रूप से उन विवक्षाओं का जन्म होता है जिन में क्रमश: कॉमनवैल्थ और राज्य एक दूसरे के मुकाबले अपनी शक्तियों का प्रयोग कर सकें।"

× × × × (पृष्ठ 275)

आस्ट्रेलिया के राज्यों के संविधानों के संशोधन की बाबत चर्चा करते हुए वाइन्स (1) पूरी स्थिति को संक्षेप में इस प्रकार वर्णित करता है। हम उन प्रस्थापनाओं के प्रति जो हमारे मामले से सुसंगत हैं, निर्देश करते हैं।

(1) धारा 5 के आधार पर प्रत्येक राज्य विधानमण्डल को उसके गठन, शक्तियों और प्रक्रियाओं के सम्बन्ध में किसी भी उपबन्ध का संशोधन करने की पूरी शक्ति है।

(2) किन्तु (ऐसा मालूम पड़ता है कि) वह अपने प्रतिनिधिमूलक स्वरूप को नहीं बदल सकती।

(3) विधानमण्डल के "गठन" का अर्थ है उसका गठन, रूप या उसके सदन या सदनों का स्वरूप और इसके अन्तर्गत क्राउन के प्रति निर्देश नहीं है।

(4) कोई भी औपनिवेशिक विधानमण्डल हमेशा के लिए संशोधन की अपनी शक्ति निराकृत नहीं कर सकता और इस प्रकार अपने संविधान को आत्यंतिक रूप से अप्रवर्तनशील नहीं बना सकता। इस उद्देश्य को प्रभावी करने के लिए तात्पर्यिक विधि अधिनियम की धारा 5 के विरुद्ध होने के कारण अधिनियम की धारा 2 के अधीन शून्य होगी।

ऊपर वर्णित प्रस्थापना (2) के लिए पाद-टिप्पण में टेलर बनाम अटर्नी जनरल ऑफ क्वीन्सलैण्ड (2) के प्रति निर्देश किया गया है। वे सुसंगत उद्धरण जिनसे प्रस्थापना संख्या 2 की पुष्टि होती है, इस प्रकार हैं :—

"मैं विधानमण्डल के गठन का अर्थ जिस प्रकार इस पद का यहां प्रयोग किया गया है, जहां केवल एक ही सदन है या यदि विधानमण्डल में दो सदन हैं, तो उसके एक सदन या दोनों सदनों का गठन, रूप या प्रकृति मानता हूं। सम्भवत: अधिनियम के अर्थान्तर्गत विधानमण्डल के प्रतिनिधिमूलक स्वरूप को समाप्त करने की सीमा तक शक्ति नहीं है (न्या० बार्टन के अनुसार देखिए पृष्ठ 468) "ऐसे विधानमण्डल का गठन" शब्दों को मैं इस प्रकार पढ़ता हूं जैसे कि इनके अन्तर्गत एक सदनीय पद्धति से द्विसदनीय पद्धति या इसके प्रतिकूल भी सम्मिलित हो। जिस शक्ति का आश्रय लिया गया है उसके लिए आधारभूत तर्क सम्भवत:

(1) वाइन्स लेजिस्लेटिव, एक्जेक्यूटिव एण्ड जुडीशियल पॉवर इन आस्ट्रेलिया, चौथा संस्करण, पृष्ठ 503.

(2) 23 सी० एल० आर० 457.

विधानमण्डल का प्रतिनिधिमूलक स्वरूप है और वह 'ऐसे' (सच) शब्द द्वारा परिरक्षित है किन्तु इस बात को मानने पर प्रश्नगत शब्दों का इस प्रकार साधारण नैसर्गिक अर्थ करने का मुझे कोई कारण प्रतीत नहीं होता जिससे स्वशासित समुदाय को यह कहने की शक्ति अपवर्जित हो जाए कि 'राज्य के प्रयोजनों के लिए विधायन के अंग के तौर पर एक सदन ही पर्याप्त है।" (न्यायाधिपति इजाक के अनुसार—पृष्ठ 474)

(प्रस्थापना संख्या 3 के लिए देखिए, टेलर बनाम अटर्नी जनरल ऑफ क्वीन्सलैण्ड ([1]) और क्लेटन बनाम हफकरो([2]);

इसके पश्चात् कॉमनवैल्थ के संविधान के सम्बन्ध में चर्चा करते हुए उन्होंने कहा—

"सुझाया गया दूसरा निर्बन्धन संविधान अधिनियम की सम्बन्धित धाराओं (कवरिंग सेक्शन्स) और स्वतः संविधान के प्रभेद पर आधारित है। सभी यह मानते हैं कि धारा 128 में उन धाराओं में किसी प्रकार के संशोधन की इजाजत नहीं दी गई है। (और इस सम्बन्ध में वेस्टमिनिस्टर का स्टेट्यूट संशोधन की कोई नई शक्ति प्रदत्त नहीं करता है—असल में अभिव्यक्त रूप से यह उपबन्ध किया गया है कि विद्यमान विधि के अनुसार के सिवाय स्टेट्यूट में की कोई बात संविधान या संविधान अधिनियम को निरसित करने या उसमें फेरफार करने की कोई शक्ति प्रदत्त करने वाली न समझी जाएगी)। उनका स्वरूप इम्पीरियल अधिनियमितियों का होने के कारण संविधान की सम्बन्धित धाराओं में फेरफार केवल इम्पीरियल पार्लियामेण्ट द्वारा ही किया जा सकता है। इस सिद्धान्त को मान लेने पर प्रश्न यह है कि संशोधन करने की शक्ति पर संविधान किस सीमा तक निर्बन्धन के तौर पर प्रवृत्त होता है। यह कहा गया कि ऐसा कोई संशोधन अविधिमान्य होगा जो अधिनियम की प्रस्तावना से जिसमें अविघटनीय स्वरूप के प्रति निर्देश है और धाराओं से जिनमें संविधान के परिसंघीय स्वरूप के प्रति निर्देश हैं, असंगत होगा। इस विषय के सम्बन्ध में बहुत मतभेद रहा है, यहां जो मत अपनाया गया है, वह यह है कि प्रस्तावना किसी भी रीति से फेरफार करने की शक्ति को प्रभावित नहीं करती है।" (पृष्ठ 505)

इस प्रकार के मतभेद को देखते हुए सैद्धान्तिक ग्रन्थों से कोई सहायता नहीं ली जा सकती।

अटर्नी जनरल ऑफ नोवा स्कोटिया और अटर्नी जनरल ऑफ कनाडा और लार्ड नेलसन होटल कम्पनी लिमिटेड([3]) वाला मामला एक अन्य उदाहरण है जिसमें परिसीमाओं (लिमिटेशन्स) की विवक्षा की गई है। नोवा स्कोटिया प्रान्त के विधानमण्डल ने कनाडा की पार्लियामेण्ट को अधिकारिता नोवा स्कोटिया के विधानमण्डल को एवं इसके विलोमतः अधिकारिता प्रत्यायोजित करते हुए एक अधिनियम पारित किया। यह प्रश्न उद्भूत हुआ कि क्या यदि विधेयक अधिनियमित कर दिया जाए तो यह विधेयक सांविधानिक रूप से विधिमान्य होगा क्योंकि इसमें पार्लियामेण्ट द्वारा नोवा स्कोटिया के विधानमण्डल को ऐसी

(1) 23 सी० एल० आर० 457.
(2) (1960) 105 सी० एल० आर० 251.
(3) (1951) एस० सी० आर०—कनाडा 31.

शक्ति के प्रत्यायोजन अनुध्यात किया गया है जो ब्रिटिश नार्थ अमेरिका ऐक्ट की धारा 91 द्वारा पार्लियामेण्ट में अनन्य रूप से निहित की गई है और क्या उस विधानमण्डल द्वारा ऐसी शक्तियों का प्रत्यायोजन जो अधिनियम की धारा 92 के अधीन अनन्य रूप से प्रान्तीय विधानमण्डलों में निहित थी, पार्लियामेण्ट को प्रत्यायोजन करना विधिमान्य होगा।

शीर्ष-टिप्पण में न्यायालय के विनिश्चय का सारांश इस प्रकार दिया गया है--

> "कनाडा की पार्लियामेण्ट और प्रत्येक प्रान्तीय विधानमण्डल अपने कार्य क्षेत्र में प्रभुत्वसम्पन्न है और यथास्थिति धारा 91 या धारा 92 के अधीन उन्हें समनुदिष्ट विषयों के सम्बन्ध में विधि निर्माण करने की उन्हें अनन्य अधिकारिता प्राप्त है। अतः उनमें कोई भी दूसरे को ऐसी शक्तियों का प्रत्यायोजन करने में समर्थ नहीं है जो उसमें निहित हो और न दूसरे से ऐसी शक्तियां प्राप्त करने में समर्थ है जो दूसरे में निहित की गई है।"

मुख्य न्यायाधिपति ने यह मत व्यक्त किया—

> "कनाडा का संविधान न तो पार्लियामेण्ट का है और न, वह विधानमण्डलों का है। वह पूरे देश का है और इसलिए देश के नागरिकों के उन अधिकारों को संरक्षित किया जाएगा जिनके वे हकदार हैं। यह इस संरक्षण का एक भाग है कि पार्लियामेण्ट केवल ऐसे विषयों के सम्बन्ध में ही विधि बना सकती है जो धारा 91 में निर्दिष्ट किए गए हैं और प्रत्येक प्रान्त अनन्य रूप से ऐसे विषयों पर ही विधि बना सकता है जो उसे धारा 92 द्वारा निर्दिष्ट की गई है। (पृष्ठ 34)

उन्होंने आगे यह मत व्यक्त किया—

> "ब्रिटिश नार्थ अमेरिकन ऐक्ट की स्कीम के अधीन दि लेबर कन्वेन्शन्स रेफरेन्स [(1937) ए० सी० 326] वाले मामले में लार्ड एटकिन के शब्दों में अधिकार-क्षेत्र पूर्ण रूप से निश्चित थे जो मूल ढांचे के अत्यावश्यक भाग हैं। (पैरा 34)

उसने ग्रे (1) और कैमिकल रेफरेन्स के मामलों(2) में यह मत व्यक्त करके प्रभेद बतलाया कि जिस प्रकार के प्रत्यायोजनों की उन मामलों में चर्चा की गई है, वे ऐसे निकायों को किए गए प्रत्यायोजन थे जो पार्लियामेण्ट के अधीन थीं और प्रत्यायोजन उस स्वरूप के प्रत्यायोजन से जो अब न्यायालय के समक्ष प्रस्तुत विधेयक द्वारा तात्पर्यित हैं, भिन्न स्वरूप के थे।

न्या० केविन ने इनिशिएटिव एण्ड रेफरेण्डम ऐक्ट के मामले(3) में माननीय न्यायाधीशों द्वारा निर्दिष्ट किए गए कारणों को ज्ञानवर्धक बतलाया। उस मामले के असली विनिश्चय को निर्दिष्ट करने के पश्चात् उसने लार्ड हाल्डेन द्वारा व्यक्त किए गए

---

(1) (1918) 57 कनाडा एस० सी० आर० 150.

(2) (1943) एस० सी० आर० 1 कनाडा.

(3) (1919) ए० सी० 935.

मत के प्रति निर्देश किया जिसे मैंने इनिशिएटिव रेफरेण्डम वाले मामले (1) पर चर्चा करते समय आगे उपवर्णित किया और यह अभिनिर्धारित किया—

"ब्रिटिश नार्थ अमेरिका ऐक्ट कनाडा की पार्लियामेण्ट और प्रांतों के विधान-मण्डलों की विधायी अधिकारिता विनिश्चित करता है और ऐसा कोई तरीका नहीं है जिससे यह निकाय किसी अन्य विभाजन के लिए सहमत हो सकें। (पृष्ठ 38)

न्यायाधिपति टसचेरयू ने यह मत व्यक्त किया—

"विधि की यह सुस्थापित प्रस्तावना है कि सम्मति से अधिकारिता प्रदत्त नहीं की जा सकती। इन में से कोई भी निकाय प्रत्यक्ष रूप से या अप्रत्यक्ष रूप से ऐसी कोई शक्ति निहित नहीं कर सकता जो उसे ब्रिटिश नार्थ अमेरिका ऐक्ट द्वारा नहीं दी गई है और इसलिए जो उनकी सांविधानिक अधिकारिता के अंतर्गत नहीं है।" (पृष्ठ 40)

उन्होंने कई नजीरों के प्रति निर्देश किया जिनमें यह अभिनिर्धारित किया गया है कि न तो डोमीनियन और न प्रान्त ही एक दूसरे को ऐसी शक्तियां प्रत्यायोजित कर सकते हैं जो ब्रिटिश नार्थ अमेरिका ऐक्ट के अधीन अभिव्यक्त रूप से प्राप्त नहीं हैं। उसने हॉज बनाम क्वीन (2), ग्रे के मामले (3), शेनॉन बनाम लोअर मेन्लैण्ड डेरि प्रॉडक्ट्स बोर्ड (4) और केमिकल्स रेफरेन्स (5) के मामलों का प्रभेद बतलाते हुए यह मत व्यक्त किया—

"प्रत्यायोजन के इन सभी मामलों में प्राधिकारी ने विधायी अधिनियमितियों को प्रवर्तित करने के प्रयोजन के लिए अपनी शक्तियां अधीनस्थ बोर्डों को प्रत्यायोजित की थीं।" (पृष्ठ 43)

जस्टिस रैण्ड ने इस बात पर जोर दिया कि प्रत्यायोजन में अधीनस्थता विवक्षित है और अधीनस्थता में कर्तव्य विवक्षित है।

जस्टिस फॉटॉक्स ने, जैसे वे उस समय थे, अटर्नी जनरल फॉर कनाडा बनाम अटर्नी जनरल फॉर ओण्टेरियो (6) में लार्ड एटकिन द्वारा व्यक्त किए गए निम्नलिखित मत के प्रति निर्देश किया—

"इस बात पर कोई भी संदेह नहीं कर सकता कि ब्रिटिश नार्थ अमेरिका ऐक्ट जिसे अन्तर्प्रान्तीय करार के लिए प्रभावी की गई शक्तियों का इस प्रकार विभाजन एक बहुत महत्वपूर्ण शर्त है और सम्भवतः यह सबसे महत्वपूर्ण शर्त है।"

इसके पश्चात् उसने यह मत व्यक्त किया—

"परिणामस्वरूप प्रत्येक प्रान्त जो क्रमशः अपने क्षेत्र के भीतर संघ में सम्मिलित होने के समय तक है, दूसरे के सम्बन्ध में स्वतंत्रता का उपभोग कर रहा था। कनाडा की पार्लियामेण्ट को अपनी शक्तियां अभ्यर्पित कर दीं और उस पर यह

(1) (1919) ए० सी० 935.
(2) (1883) 9 अपील केसेज 117.
(3) (1918) 57 कनाडा एस० सी० आर० 150.
(4) (1938) ए० सी० 708.
(5) (1943) एस० सी० आर० 1 कनाडा.
(6) (1937) ए० सी० 326, 351.

जिम्मेदारी सौंप दी और ऐसी बातों के सम्बन्ध में जो उस समय पूरे देश के लिए सामान्य हित की बातें समझी जातीं थीं, विधि के प्राधिकार दे दिए और अपने पास ऐसी शक्तियां रखीं और ऐसे दायित्व को अंगीकार किया और स्थानीय मामलों के सम्बन्ध में अपने-अपने क्षेत्र में विधि बनाने का प्राधिकार अपने पास रखा। शासन की यह ऐसी पद्धति है जिसके द्वारा कन्फेडरेशन के निर्माताओं का आशय ऐक्ट में क्रियान्वित किया गया है—जो विभिन्न प्रान्तों के विभिन्न हितों को संरक्षित करना और संघ के कार्य संचालन में दक्षता और सामन्जस्य और स्थायित्व सुनिश्चित करना था।" (पृष्ठ 36)

हाल ही में निर्दिष्ट किए गए मामले में कनाडा के सुप्रीम कोर्ट ने पार्लियामेण्ट और प्रान्तों के विधानमण्डलों पर दूसरे निकायों को विधायी शक्ति के प्रत्यायोजन की बाबत निर्बन्धन की विवक्षा की यद्यपि कनाडा के संविधान की धारा 91 और 92 के शब्दों के अनुसार ऐसा कोई अभिव्यक्त निर्बन्धन नहीं था इस मामले से यह बात भी स्पष्ट हो जाती है कि विधि बनाने सम्बन्धी शक्ति का प्रत्यायोजन केवल किसी अधीनस्थ निकाय को ही किया जा सकता है। इस विनिश्चय के विनिर्णयाधार को प्रस्तुत मामले में लागू करते समय यह नहीं कहा जा सकता कि राज्य विधानमण्डल या संसद् अपनी मामूली विधायी हैसियत से कार्य करते समय संविधान के अनुच्छेद 68 के अधीन कार्य करने वाली संसद् के अधीनस्थ निकाय हैं। अतः अनुच्छेद 368 के अधीन संविधान का संशोधन करने के अपने अधिकार राज्य विधानमण्डलों को या अपनी मामूली विधायी हैसियत में ऐसे अधिकार स्वयं को प्रत्यायोजित करना अनुज्ञेय नहीं है। किन्तु इस पहलू पर मैं बाद में अधिक विस्तार में चर्चा करूंगा जब मैं इनिशिएटिव एण्ड रेफरेण्डम ऐक्ट वाले मामले के प्रति निर्देश करूंगा।

कनाडा में कुछ न्यायाधीशों ने यह विवक्षा की कि कनाडा के संविधान की प्रस्तावना के अर्थात् "सैद्धान्तिक दृष्टि से यूनाइटेड किंगडम के संविधान के समान संविधान से" शब्दों से पार्लियामेण्ट या प्रान्तीय विधानमण्डलों द्वारा वाक्-स्वातन्त्र्य और प्रेस स्वातन्त्र्य को निराकृत नहीं किया जा सकता। व्यक्त किए गए मत में से कुछ इस प्रकार हैं—

> "यद्यपि प्रस्तुत अपील के प्रयोजन के लिए इस प्रश्न को अवधारित करना जरूरी नहीं है। किन्तु चूंकि कनाडा का संविधान सिद्धान्ततः यूनाइटेड किंगडम के संविधान के समान घोषित किया गया है अतः मेरी भी यह राय है कि हमारा सांविधानिक अधिनियम जैसा इस सम्बन्ध में है, उसके अनुसार स्वयं पार्लियामेण्ट भी विचार-विमर्श और वाद-विवाद करने के इस अधिकार को निराकृत नहीं कर सकती। (न्यायाधिपति अबोट के अनुसार स्विट्जमैन बनाम एल्बलिंग—1957 कनाडा एस० सी० 285 पृष्ठ 328)

> "मैं इस निष्कर्ष पर पहुंचता हूं कि ब्रिटिश नार्थ अमेरिका ऐक्ट, 1867 की प्रस्तावना के प्रारम्भिक पैरा में जिसमें सिद्धान्ततः यूनाइटेड किंगडम के संविधान के समान संविधान का उपबन्ध किया गया है और तद्द्वारा वैसे ही सांविधानिक सिद्धान्त अपनाए गए हैं। अतः जब तक हमारा संविधान सांविधानिक प्रजातन्त्र के अपने वर्तमान रूप में बना रहता है तब तक धारा 1025-ए कनाडा के संविधान के

प्रतिकूल है और वह पार्लियामेण्ट या किसी प्रांतीय विधानमण्डल की अधिनियमित करने की सक्षमता से परे है।" (न्या० ओ'हैलोरन के अनुसार रैक्स बनाम हेस 1949 (4 डी० एल० आर० 199 पृष्ठ 208)।

"अलबर्टा लेजिस्लेशन (1938), 2 डी० एल० आर० 81, एस० सी० आर० 100, पर सर लीमैन पी० एफ० सी० जे० सी० ने इस विषय की चर्चा की है। प्रस्थापित विधान द्वारा कार्यकलापों की समाचार-पत्रों में चर्चा किए जाने पर रोक लगाने का प्रयत्न नहीं किया गया था। किन्तु उन्हें सरकारी नीति के तथ्यों और उद्देश्यों को प्राप्त करने में होने वाली कठिनाइयों को प्रकाशित करने के लिए बाध्य किया गया था। जेम्स बनाम कॉमनवेल्थ ऑफ आस्ट्रेलिया (1936) ए० सी० 578 पृ० 627 पर लार्ड राइट एम० आर० के शब्दों को उद्धृत करते हुए विचार-विमर्श की स्वतंत्रता का अर्थ है "विधि द्वारा शासित स्वतंत्रता।" यह मत पृष्ठ 107 डी० एल० आर० पृष्ठ 133 एस० सी० आर० पर उन्होंने व्यक्त किया है। यह स्वत: सिद्ध है कि लोक जीवन से सम्बन्धित बातों की बावत जनता द्वारा स्वतंत्र रूप से विचार-विमर्श करने की परिपाटी अपनी आनुषंगिक खामियों के बावजूद संसदीय संस्थाओं जीवन का मूल आधार है।

वह इस बात को इस सिद्धान्त से संरक्षित करने के लिए निष्कर्ष निकालता है कि संविधान के परिरक्षण के लिए अपेक्षित शक्तियां पूरे फेडरेशन ऐक्ट की आवश्यक विवक्षा से ही उद्भूत होती हैं। [न्या० रैण्ड के अनुसार समर बनाम सिटी ऑफ क्यूबक, (1953) 4 डी० एल० आर० 641 पृष्ठ 671] (महत्व देने के लिए रेखांकित किया गया है)

यह महत्वपूर्ण बात है कि भारत संघ की ओर से उपसंजात होने वाले महासॉलिसिटर ने यह बात कही कि संविधान से विवक्षा उद्भूत हो सकती है किन्तु उन्होंने यह कहा कि अनुच्छेद 368 के उपबन्धों से आवश्यक रूप से कोई विवक्षा उद्भूत नहीं होती है। लियांगे वाले मामले (1) में जुडीशियल कमेटी द्वारा दिए गए एक अन्य विनिश्चय के प्रति मैं निर्देश करता हूं जिसका श्री सीरवाई ने यह दर्शाने के लिए सहारा लिया है कि संविधान के संशोधन को किसी अस्पष्ट आधार पर ही संविधान के विरुद्ध होने के कारण या संविधान की प्रस्तावना के असंगत होने के कारण शून्य अभिनिर्धारित नहीं किया जा सकता।

श्रीलंका की पार्लियामेण्ट ने क्रिमिनल लॉ (स्पेशल प्राविजन्स) ऐक्ट, 1962 द्वारा क्रिमिनल प्रोसीजर कोड में बहुत से उपान्तरण किए। अपीलार्थियों का क्वीन के विरुद्ध युद्ध आरम्भ करने के षड्यंत्र करने के समान कई अपराधों के लिए श्रीलंका के सुप्रीम कोर्ट द्वारा दोषसिद्ध किया गया।

दो सुसंगत दलीलें इस प्रकार दी गईं—

"पहली दलील यह है कि श्रीलंका की संसद् ऐसा विधान पास करने में असमर्थ है जो न्याय के मूल सिद्धान्तों के प्रतिकूल हो। यह कहा गया है कि 1962 के ऐक्ट ऐसे सिद्धान्तों के प्रतिकूल हैं क्योंकि वे न केवल व्यक्तियों के

(1) (1967) 1 ए० सी० 259.

विरुद्ध है किन्तु उनके द्वारा अपराध और दण्ड भूतलक्षी रूप से सृष्ट किए गए हैं और उनके द्वारा ऐसे उचित रक्षोपाय नष्ट किए गए हैं जिनसे वे व्यक्ति अन्यथा संरक्षित थे।

अपीलार्थियों की दूसरी दलील यह है कि 1962 के ऐक्ट संविधान का अतिवर्तन करते हैं क्योंकि वे अपीलार्थियों को सिद्धदोष करने के निदेश की कोटि के हैं या वे विधायन की योजना के लिए हैं जिनसे दोषसिद्धि निश्चित हो जाए और अपीलार्थियों को कठोर दण्ड दिया जा सके और इससे विधानमण्डल द्वारा अनुचित रूप से न्यायिक शक्ति का ग्रहण किया जाना गठित होता है या न्यायिक शक्ति में ऐसा हस्तक्षेप गठित होता है जो विधानमण्डल की क्षमता के परे है और जो विधानमण्डल, कार्यपालिका और न्यायपालिका की शक्तियों के पृथक्करण से, जो संविधान द्वारा अधिकारिता पूर्वक विहित किए गए हैं, असंगत हैं।" (पृ० 283)

श्री सीरवाई पहली दलील के उत्तर का सहारा लेते हैं। श्री सीरवाई के अनुसार उत्तर से यह ज्ञात होता है कि सांविधानिक शक्ति से विधायी शक्ति पृथक् है और जब सांविधानिक शक्ति दी गई है तब वह सर्वसमावेशी है और ऐसी कोई बात नहीं बच रहती है जो उसके अन्तर्गत न आती हो।"

प्रो० कीथ द्वारा लिखित "सावरेण्टी ऑफ दि ब्रिटिश डोमिनियन्स" और के० सी० वियरे द्वारा लिखित "दि स्टेट्यूट्स ऑफ वैस्टमिनिस्टर एण्ड डोमिनियन स्टेट्स" पुस्तकों के उद्धरणों के प्रति निर्देश करने के पश्चात् जुडीशियल कमेटी ने पृ० 284 पर निम्नलिखित मत व्यक्त किया—

> "माननीय न्यायाधीश यह मत स्वीकार नहीं कर सकते कि इंगलिश लॉ के विरुद्ध होने के बन्धन को हटाते समय, ऐसे बन्धन को बने रहने दिया जो नैसर्गिक न्याय की किसी अविनिर्दिष्ट अस्पष्ट विधि के विरुद्ध था। कलोनियल लॉज वेलिडिटी ऐक्ट के निबन्धनों और विशेष रूप से धारा 2 के "किन्तु अन्यथा नहीं" शब्दों से यह स्पष्ट हो जाता है कि पार्लियामेण्ट का यह इरादा था कि कि वह विधि-विरुद्ध होने के पूरे प्रश्न पर ही विचार करे।"

जुडीशियल कमेटी ने सिलोन इण्डिपेण्डेन्स ऐक्ट, 1947 और दि लेजिस्लेटिव पॉवर ऑफ सिलोन के प्रति निर्देश किया और यह मत व्यक्त किया—

> "स्वतन्त्रता देने वाले इन उपबन्धों में इस प्रकार 1865 ऐक्ट के समर्थ बनाने वाले निबन्धनों को निगमित और विस्तृत किया गया है और यह स्पष्ट है कि आर्डर-इन-काउन्सेल, 1946 और 1947 के ऐक्ट का संयुक्त प्रभाव श्रीलंका की पार्लियामेण्ट को एक स्वतन्त्र और प्रभुत्वसम्पन्न राज्य की पूरी विधायी शक्तियां देने का था और इससे ऐसा ही परिणाम निकला। इब्रालेब्बे बनाम क्वीन —(1964) ए० सी० 900)"

श्री सीरवाई ने इस आधार पर यह दलील देने का प्रयत्न किया कि इस प्रकार अनुच्छेद 368 के अधीन संसद् की संशोधन करने की शक्तियों पर कोई निर्बन्धन नहीं है और यह शक्ति नैसर्गिक और अन्य-असंक्राम्य अधिकारों और प्रस्तावना के विरुद्ध होने के किसी अस्पष्ट सिद्धान्त के आधार पर निर्बन्धित नहीं की जा सकती। हम इस बात से

सहमत नहीं हूँ कि श्री पालखीवाला की दलीलों और श्री ग्रेटीन की दलीलों में कोई समानता है। अनुच्छेद 368 का निर्वचन करने के लिए श्री पालखीवाला प्रस्तावना और संविधान की स्कीम का सहारा लेते हैं और संविधान के प्रवर्तन को प्रस्तावना की रूपरेखा और स्कीम तक ही सीमित करते हैं। भारत के संविधान की प्रस्तावना नैसर्गिक न्याय की विधि के समान कोई अस्पष्ट सिद्धान्त विहित नहीं करती है, भले ही नैसर्गिक न्याय की विधि को इस न्यायालय के विभिन्न विनिश्चयों के प्रतिकूल अस्पष्ट मान लिया जाए।

तथापि इस मामले में एक दूसरा उदाहरण और मिलता है जिसके द्वारा विवक्षित परिसीमाओं का अनुमान लगाया गया था। न्यायपालिका और न्यायाधीशों से सम्बन्धित उपबन्धों के प्रति निर्देश करने के पश्चात् बोर्ड ने यह मत व्यक्त किया—

> "इन उपबन्धों से राजनैतिक विधायी और कार्यपालिका के नियन्त्रण से न्यायपालिका की स्वतन्त्रता को निश्चित करने का आशय स्पष्ट होता है। ये ऐसे संविधान में पूर्ण रूप से उपयुक्त हैं जिसका यह आशय है कि न्यायिक शक्ति केवल न्यायपालिका में ही निहित होगी। ये ऐसे संविधान में अनुपयुक्त होंगे जिसके द्वारा यह आशयित हो कि न्यायिक शक्ति का कार्यपालिका या विधायिका द्वारा आपस में बटवारा करके प्रयोग किया जाएगा। न्यायिक शक्ति के निहित किए जाने के सम्बन्ध में संविधान में कोई उपबन्ध न होना, इस बात से सुसंगत है कि उसे न्यायपालिका के पास ही रहना चाहिए। यह शक्ति पिछली एक शताब्दी से भी ज्यादा समय से रही है। यह किसी भी आशय से संगत नहीं है कि अब उससे यह शक्ति कार्यपालिका या विधानमण्डल के पास चली जाए या कार्यपालिका या विधानमण्डल भी उस शक्ति का प्रयोग करे।

जुडीशियल कमेटी का यह मत था कि न्यायपालिका में एक पृथक् शक्ति है जो उस समय यथा लागू संविधान के अधीन कार्यपालिका या विधानमण्डल द्वारा हथियायी नहीं जा सकती या उसका अतिलंघन नहीं किया जा सकता। जुडीशियल कमेटी ने धारा 29(1) के शब्दों का स्पष्ट रूप से यह अर्थान्वयन किया—

> "संविधान की धारा 29(1) में उपबन्ध है: "इस आदेश के उपबन्धों के तधीन पार्लियामेण्ट को इस द्वीप की शान्ति, व्यवस्था और सुशासन के लिए विधि बनाने की शक्ति होगी।" इन शब्दों के विस्तार का यथा रीति पूर्ण रूप से अर्थान्वयन किया गया। धारा 29(4) में उपबन्धित है कि इस प्रकार से प्रमाणपत्र प्राप्त करके पार्लियामेण्ट दो तिहाई बहुमत से संविधान को संशोधित कर सकती है। तथापि, माननीय न्यायाधीश धारा 29(1) के शब्दों को इस प्रकार नहीं पढ़ सकते, जैसे कि उनके द्वारा पार्लियामेण्ट को ऐसा विधान पारित करने का हक हो जो न्यायपालिका की न्यायिक शक्ति हथिया ले अर्थात्, किसी विधि के विरुद्ध अपराध (अटेण्डर) का अधिनियम पारित करके या किसी ऐसे व्यक्ति के दोषसिद्धि का फैसला देने के लिए, जिसका विचारण किया जा रहा हो, दोषसिद्धि के लिए न्यायाधीश को अनुदेश दिया जाए। विधि के अनुसार इस प्रकार का दखल अन्यथा भी संविधान के प्रतिकूल होगा।"

जुडीशियल कमेटी ने अन्त में यह अभिनिर्धारित किया कि न्यायपालिका के कृत्यों में हस्तक्षेप किया गया था और आक्षेपित अधिनियमितियों का ऐसा प्रभाव सम्भाव्य ही नहीं था किन्तु आशयित भी था और यह उनकी विधिमान्यता के लिए घातक था।

माननीय न्यायधीशों ने यह चेतावनी दी जिसे सांविधानिक मामलों पर कार्यवाही करते समय हमेशा ध्यान में रखना चाहिए। जो कुछ एक बार कर दिया जाता है, यदि उसे मंजूरी दे दी जाती है तो वह पुनः किया जाएगा और ऐसा पहले की स्थिति से कम संकटपूर्ण स्थिति में और कम गम्भीर परिस्थितियों में किया जाएगा और इस प्रकार न्यायिक शक्ति समाप्त कर दी जाएगी। न्यायिक शक्ति का इस प्रकार समाप्त किया जाना संविधान के स्पष्ट आशय के प्रतिकूल है। यह बात उस दलील के उत्तर में कही गई जो इस प्रकार थी कि विधानमण्डल का न्यायिक शक्तियों को ग्रहण करने का ऐसा कोई साधारण आशय नहीं था और उसने विधि इसलिए पारित कर दी थी क्योंकि उसे गम्भीर स्थिति का मुकाबला करना था और उसने ऐसी स्थिति से निपटने के लिए गम्भीर उपाय अपनाए। इन बातों पर विचार करके यह अनुमान करना चाहिए कि उसे ऐसा करने की शक्ति थी और इस प्रकार कार्य करना ठीक था। माननीय न्यायाधीशों के मतानुसार इस प्रकार की बात पर विचार करना असंगत था और इससे उन अधिनियमों को कोई विधिमान्यता प्राप्त नहीं हो जाती है जिनके द्वारा संविधान का अतिलंघन हुआ है।

मैक्कॉले बनाम किंग([1]) वाले मामले का श्री सीरवाई ने सहारा लिया। वह मामला आस्ट्रेलिया के उच्च न्यायालय के निर्णय के विरुद्ध था जो 26 सी० एल० आर० पृष्ठ 89 पर रिपोर्ट किया गया है। इण्डस्ट्रियल आर्बिट्रेशन ऐक्ट की धारा 6 की उपधारा (6) के निर्वचन और उस कमीशन के, जो जारी किया गया था, अधिविन्यसन के प्रश्नों के अलावा जो मुख्य प्रश्न था और जिसके सम्बन्ध में उच्च न्यायालय और आर्बिट्रेशन और बोर्ड के समक्ष वाद-विवाद किया गया था, वह यह था कि क्या क्वीन्सलैण्ड का विधानमण्डल क्वीन्सलैण्ड के संविधान के उपबंध का और विधायी अधिनियमिति का अधिनियमन किए बिना प्रत्यक्षतः संशोधन करके संविधान का संशोधन कर सकता है। बोर्ड के समक्ष प्रत्यर्थियों ने इस प्रकार दलील दी—

> किसी परिवर्तन के विधिमान्य होने के लिए उसे प्रत्यक्ष विधायी अधिनियमिति द्वारा बनाया जाना चाहिए। संविधान परिवर्तित किया जा सकता है किन्तु उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। जब तक वह अस्तित्व में रहता है, वह विधानमण्डल द्वारा अधिनियमित विधियों की विधिमान्यता की कसौटी है। कूपर के मामले ([2]) में आस्ट्रेलिया के उच्च न्यायालय ने ऐसा विनिश्चय किया है। (पृष्ठ 695)

इसके विपरीत, अपीलार्थियों ने यह दलील दी कि क्वीन्सलैण्ड के विधानमण्डल को दोनों सदनों द्वारा पारित और क्राउन के नाम पर गवर्नर द्वारा अनुमत मामूली अधिनियमिति द्वारा क्वीन्सलैण्ड के संविधान में परिवर्तन करने की शक्ति है। इसके अन्तर्गत राज्य की न्यायिक संस्थाओं और न्यायाधीशों की पदावधि भी सम्मिलित है ·········क्वीन्सलैण्ड को लागू सभी विधियां जिन्हें परिवर्तित करने के लिए क्वीन्सलैण्ड का विधानमण्डल सक्षम है, इसी प्रकार मामूली अधिनियमिति बनाने की रीति से ही परिवर्तित की जा सकती हैं।

([1]) 1920 ए० सी० 691.

([2]) (1907) 4 सी० एल० आर० 1304.

उच्च न्यायालय में इस प्रश्न पर मतभेद था। मुख्य न्यायाधिपति ग्रिफिथ की यह राय थी कि क्वीन्सलैण्ड की पार्लियामेण्ट 1867 के संविधान अधिनियम से असंगत विधि अधिनियमित करने मात्र से ही संविधान के उपबंधों को उलट नहीं सकती। यद्यपि वह उचित प्रक्रियाओं के अनुसार अधिनियम पारित कर सकती है जिसके द्वारा उसमें स्पष्ट रूप से परिवर्तन किया गया हो या उसे निरसित किया गया हो। न्यायाधिपति इसाक और न्यायाधिपति रिच ने, जिनसे बोर्ड करीब-करीब पूरी तौर पर सहमत था, इसके विपरीत अभिनिर्धारित किया। बोर्ड ने इस प्रश्न पर विचार करते हुए पहले ऐसे विधानों के प्रति निर्देश किया जिनके निबन्धन किसी अन्य प्रक्रिया के बिना जो अन्य विधानों की दशा में आवश्यक है, उपान्तरित या निरसित किए जा सकते हैं और उसने ऐसे मामलों से प्रभेद बतलाया जिनमें विशेष रूप से बुलाई गई सभा द्वारा ही उपबंध उपान्तरित या निरसित किए जा सकते हैं।

इसके पश्चात् लार्ड बर्कनहेड, एल० सी० ने पृष्ठ 704 पर यह मत व्यक्त किया—

"इन दो विषम प्रकार के संविधानों में अन्तर बतलाने के लिए पाठ्य-पुस्तकों में कई अलग-अलग शब्द प्रयुक्त किए गए हैं। उनके विशेष गुण सम्भवतः उनमें से एक को नियंत्रित और दूसरे को अनियंत्रित संविधान कहकर स्पष्ट रूप से प्रदर्शित किए जा सकते हैं और कोई अन्य नाम से उनको संज्ञापित करके भी ऐसा कहा जा सकता है। और न ही कोई संविधान अनियंत्रित संविधान माने जाने से केवल इस कारण से वंचित किया जा सकता है कि वह ब्रिटिश संविधान के समान ऐतिहासिक विकास द्वारा गठित नहीं हुआ है किन्तु उसकी उत्पत्ति एक मूल दस्तावेज में निहित है जिसमें कुछ शर्तें अन्तर्विष्ट हों जो उस शक्ति के सिवाय, जिसने उसे जन्म दिया, किसी अन्य व्यक्ति द्वारा परिवर्तित नहीं की जा सकती। ध्यान देने के लिए यह एक बहुत महत्वपूर्ण बात है कि जहां संविधान अनियंत्रित है वहां उसकी स्वतन्त्रता के परिणामों पर किसी प्रकार की रोक नहीं लगाई गई है। यह सिद्धान्त हर प्रकार की तर्कपूर्ण और कठोर यथार्थता के साथ क्रियान्वित किया गया है। किन्तु जब निचले न्यायालय के विद्वान् न्यायाधीशों में से एक ने यह मत व्यक्त किया कि अपीलार्थी के कथनानुसार संविधान की इस प्रकार उपेक्षा की जा सकती है जैसे कि वह डॉग ऐक्ट हो तो वह वास्तव में अपनी यह राय व्यक्त कर रहे थे कि संविधान वास्तव में नियंत्रित है। यदि वह अनियंत्रित होता तो यह एक सामान्य बात होती कि विधि की दृष्टि में विधायी दस्तावेज या दस्तावेजों की, जो उसे परिभाषित करती/करतीं, स्थिति निश्चित रूप से डॉग ऐक्ट या किसी अन्य ऐक्ट के समान ही होती, भले ही उनकी विषय-वस्तु कितनी भी नगण्य क्यों न होती।"

इसके पश्चात् जुडीशियल कमेटी ने क्वीन्सलैण्ड के संविधान पर कार्यवाही प्रारम्भ की और यह अभिनिर्धारित किया कि वह एक अनियंत्रित संविधान है। बाद में माननीय न्यायाधीशों ने यह मत व्यक्त किया—

"इम्पीरियल लेजिस्लेचर की नीतियां आस्ट्रेलिया के नवजात विधान-मण्डलों द्वारा किसी भी सुसंगत समय पर सुझायी गई रीति से विधायी शक्तियों में बाधा डालने या उन्हें नियंत्रित करने की नहीं रही। ब्रिटेन के नागरिकों की

असाधारण प्रतिभा के अनुरूप जो कुछ भी किया गया, वह पूर्ण रूप से और सुस्पष्टतः किया गया और वह ऐसे विश्वास के साथ किया गया जो इस घटना के कारण पूर्ण रूप से न्यायसंगत था कि ये नवजात समुदाय सांविधानिक दृष्टि से अपना उद्धार करने के लिए और उससे सफलतापूर्वक कार्य करने के लिए अपना संविधान खुद बनाएं" । (पृष्ठ 706)

श्री सीरवाई ने इस मामले से निम्नलिखित प्रस्थापनाएं निकालने का प्रयत्न किया—

"प्रथमतः, जब तक संविधान के किसी भाग का संशोधन करने के लिए कोई विशेष प्रक्रिया विहित न हो, संविधान अनियंत्रित है और वह एक ऐसे ऐक्ट द्वारा ऐसे रूप में जो मामूली विधि को अधिनियमित करने के लिए विहित हो, संशोधित किया जा सकता है और इसलिए कोई पश्चात्वर्ती विधि जो संविधान से असंगत हो, उस सीमा तक संविधान को निरसित कर देगी।

द्वितीयतः, बहुत अंशों में या साधारण तौर पर अनियंत्रित संविधान में एक या अधिक ऐसे उपबन्ध हो सकते हैं, जिनके द्वारा उसे संशोधित करने की प्रक्रिया उस प्रक्रिया से भिन्न विहित की गई हो जो किसी मामूली विधि को संशोधित करने के लिए विहित हो और उस दशा में कोई मामूली विधि उसे संशोधित नहीं कर सकती और यदि वह संशोधन किया जाना है तो प्रक्रिया का यथावत् अनुपालन किया ही जाना चाहिए।

तृतीयतः, शक्ति पर परिसीमा की विवक्षाओं को साधारण सिद्धान्तों से नहीं मान लेना चाहिए। किन्तु ऐसा केवल अभिव्यक्त या आवश्यक विवक्षित परिसीमा के आधार पर ही किया जाना चाहिए (अर्थात् ऐसी विवक्षित परिसीमा जिसके बिना संविधान को कार्य रूप में परिणत नहीं किया जा सकता)।

चतुर्थतः, ब्रिटिश पार्लियामेण्ट ने काफी पहले 1865 में ही औपनिवेशिक विधानमण्डलों को विधि बनाने की मंजूरी देते समय—धारा 2—विधि के साधारण सिद्धान्तों जैसे अस्पष्ट स्वरूप के निर्बन्धनों को वस्तुपरक मानदण्डों तक जैसे पार्लियामेंट के किसी स्टेट्यूट या किसी ऐक्ट या पार्लियामेण्ट के अधिनियमों के अधीन बनाए गए आदेश या विनियम तक सीमित रखा।"

मैं इस बात से सहमत हूं कि प्रथम और द्वितीय प्रस्थापनाएं मैक्कॉलि के मामले([1]) से ज्ञात होती हैं। किन्तु मैं विद्वान् काउन्सेल की इस बात से सहमत नहीं हो सकता कि उन्होंने जो तृतीय प्रस्थापना प्रतिपादित की है, वह इस मामले से ही उद्भूत होती है। प्रत्यर्थी की ओर से विद्वान् काउन्सेल ने जिस एकमात्र विवक्षित परिसीमा के प्रति बहस की है, वह यह है कि क्वीन्सलैण्ड के विधानमण्डल को पहले प्रत्यक्ष रूप से संविधान को संशोधित कर देना चाहिए और फिर एक ऐक्ट पारित करना चाहिए जो, यदि संविधान संशोधित नहीं किया गया होता तो असंगत होता। न्यायाधिपति इसाक और डफ्फ के निर्णय से यह प्रतीत होता है कि साउथ आस्ट्रेलिया के दो विद्वान् न्यायाधीशों ने पहले यह अभिनिर्धारित किया था कि विधायन, विधानमण्डल के गठन में परिवर्तन करने के उद्देश्यों

([1]) (1920) ए० सी० 691.

से होना चाहिए। लार्ड सेलबर्न, सर राउंडल पामर और सर रॉबर्ट कॉलियर ने विसम्मति प्रकट की और कलोनियल लॉज वैलिडिटी ऐक्ट, 1865 के समान एक कानून के अधिनियमित किए जाने की सिफारिश की।

चौथी प्रस्थापना में एक तथ्य वर्णित किया गया है। वह तथ्य यह है कि 1865 में ब्रिटिश पार्लियामेण्ट ने तथाकथित अस्पष्ट निर्बन्धन लगाने से इन्कार कर दिया। इस तथ्य से हमें इस बात का विनिश्चय करने में कोई सहायता नहीं मिलती है कि क्या अनुच्छेद 368 के अधीन संशोधन करने की शक्ति पर कोई विवक्षित परिसीमा नहीं हो सकती है।

आगे मैं कुछ और मामलों की परीक्षा करूंगा जिनमें विधि बनाने की शक्ति पर आस्ट्रेलिया, यू० एस० ए० और कनाडा में परिसीमाओं की विवक्षा की गई है। मैक्कॉले का मामला (1) केवल इस प्रस्थापना के लिए नजीर है कि यदि संविधान अनियंत्रित है तब विधानमण्डल के लिए ऐसा अधिनियम पारित करना जरूरी नहीं है जो संविधान में संशोधन कहलाए। वह किसी अन्य विधि के समान संविधान का संशोधन कर सकता है।

अटर्नी जनरल फॉर न्यू साउथ वेल्स बनाम ट्रेथोवन(2) वाला मामला वास्तव में ही कलोनियल लॉज वैलिडिटी ऐक्ट, 1865 की धारा 5 के निर्वचन से और उसके परिणामस्वरूप न्यू साउथ वेल्स के विधानमण्डल की शक्तियों से सम्बन्धित थे। 1929 में यथा संशोधित कांस्टिट्यूशन ऐक्ट, 1902 में धारा 7-ए अंतःस्थापित की गई थी। उसका सुसंगत भाग इस प्रकार है—

> *"7-ए. (1) विधान परिषद् समाप्त नहीं की जाएगी और न इस धारा में उपबंधित रीति के सिवाय इस धारा की उपधारा (6) के उपबन्धों के अध्यधीन उसका गठन या शक्तियां परिवर्तित की जाएंगी। (2) इस धारा की उपधारा (1) के अधीन किसी भी प्रयोजन के लिए कोई विधेयक गवर्नर को हिज मैजिस्टि की अनुमति के लिए तब तक पेश नहीं किया जाएगा जब तक कि विधेयक निर्वाचकों द्वारा अनुमोदित न कर दिया जाए। निर्वाचकों द्वारा अनुमोदित कर दिए जाने पर विधेयक गवर्नर के समक्ष हिज मैजिस्टि की अनुमति के लिए पेश किया जाएगा।

*अंग्रेजी में यह इस प्रकार है—

> "7-A. (1) The Legislative Council shall not be abolished nor, subject to the provisions of sub-s. (6) of this section, shall its constitution or powers be altered except in the manner provided in this section. (2) A Bill for any purpose with in sub-s. (1) of this section shall not be presented to the Governor for His Majesty's assent until the Bill has been approved by the electors in accordance with electors voting approve the Bill, it shall be presented to the Governor for His Majesty's assent. (6) The provisions of this section shall extend to any Bill for the repeal

(1) (1920) ए० सी० 691.

(2) (1932) ए० सी० 526.

(6) इस धारा के उपबन्ध निरसन या संशोधन के हर एक विधेयक को लागू होंगे किन्तु इस ऐक्ट की निम्नलिखित धाराओं अर्थात् धारा 13, 14, 15, 18, 19, 20, 21 और 22 में से किसी एक के निरसन या संशोधन के लिए किसी विधेयक को लागू न होंगे।

1930 के अन्त तक न्यू साउथ वेल्स विधानमण्डल के दोनों सदनों ने दो विधेयक पारित किए। पहले विधेयक द्वारा यह अधिनियमित किया गया कि ऊपर वर्णित धारा 7-ए निरसित की गई और विधेयक उपधारा (1) के खण्ड 2 द्वारा दूसरा विधेयक अधिनियमित किया गया जिसमें उपबन्धित था कि "न्यू साउथ वेल्स की विधान परिषद् समाप्त की जाती है।"

जुडीशियल कमेटी के समक्ष पेश की गई दलीलें इस प्रकार हैं—

"अपीलार्थियों ने दलील दी कि (1) विधान परिषद् और विधानसभा की सलाह और सहमति से किंग को धारा 7-ए निरसित करने वाला विधेयक अधिनियमित करने की पूरी शक्ति थी।

(2) कांस्टिट्यूशन ऐक्ट की धारा 7-ए की उपधारा (6) शून्य है। क्योंकि : (क) न्यू साउथ वेल्स विधानमण्डल को अपने उत्तराधिकारियों पर प्रतिषेध लगाने या उन्हें नियंत्रित करने की कोई शक्ति नहीं है न्यू साउथ वेल्स का संविधान सारतः अनियंत्रित संविधान है; (ख) यह कांस्टिट्यूशन स्टेट्यूट, 1855 की धारा 4 के विरुद्ध है; (ग) यह कलोनियल लॉज वैलिडिटी ऐक्ट, 1865 की धारा 5 के विरुद्ध है।

प्रत्यर्थियों की ओर से यह दलील दी गई—(1) धारा 7-ए न्यू साउथ वेल्स के संविधान का एक विधिमान्य संशोधन है जो विहित रीति में विधिमान्य रूप से अधिनियमित की गई है और वह न्यू साउथ वेल्स में विधिक रूप से आबद्धकर है।

(2) यह कि न्यू साउथ वेल्स के विधानमण्डल को इम्पीरियल स्टेट्यूट्स के द्वारा ऐसे विधानमण्डल के गठन, उसकी शक्तियों और प्रक्रिया को परिवर्तित करने की सर्वांगीण शक्ति दी गई है।

(3) यह कि जब विधानमण्डल एक बार या तो गठन या शक्तियों और प्रक्रिया में परिवर्तन कर देती है तब गठन और शक्तियां तथा प्रक्रिया जैसे वे पहले अस्तित्व में थे, अस्तित्व में नहीं रहते और नए संविधान और शक्तियों द्वारा प्रतिस्थापित कर दिए जाते हैं।

(4) यह कि इस सर्वांगीण शक्ति पर संभाव्य निर्बन्धन निम्नलिखित थे—(क) किसी इम्पीरियल या कलोनियल विधि द्वारा विहित रीति और प्ररूप के अनुसार ही इस शक्ति का प्रयोग किया जाना चाहिए, और (ख) विधानमण्डल को कलोनियल लॉज वैलिडिटी ऐक्ट, 1865 में दी गई परिभाषा के अनुसार प्रतिनिधिमूलक विधानमण्डल बने रहना चाहिए।

---

or amendment of this section, but shall not apply to any Bill for the repeal or amendment of any of the following sections of this Act, namely, ss. 13, 14, 15, 18, 19, 20, 21 and 22."

(5) संविधान में धारा 7-ए के जोड़े जाने का प्रभाव (क) यह था कि उससे संविधान में वर्णित सांविधानिक अधिनियमितियों के प्रयोजन के लिए विधायी निकाय में किंग, विधान परिषद्, सभा और जनता सम्मिलित थी और (ख) यह था इन सांविधानिक अधिनियमितियों के प्रति निर्देश में विधायन की रीति और प्रारूप अधिरोपित करना था जो इसके पश्चात् जब तक विहित रीति और ढंग से निरसित न कर दिया जाए, तब तक कलोनियल लॉज वैलिडिटी ऐक्ट, 1865 के आधार पर विधानमण्डल पर आबद्धकर था।

(6) कांस्टिट्यूशन स्टेट्यूट, 1855 की धारा 4 द्वारा संविधान में परिवर्तन करने के लिए प्रदत्त शक्ति को कलोनियल लॉज वैलिडिटी ऐक्ट, 1865 के अध्यधीन पढ़ा जाना चाहिए और विशेष रूप से 1865 के ऐक्ट द्वारा विहित रीति और प्रारूप की बाबत निर्बन्धन पर संविधान के पश्चात्वर्ती संशोधन लागू होने चाहिएं चाहे वे पूर्ववर्ती ऐक्ट में किए जाने के लिए तात्पर्यित हों या न हों।" (पृष्ठ 537)

जुडीशियल कमेटी ने कांस्टिट्यूशन स्टेट्यूट की धारा 4 के साथ पठित 1865 के ऐक्ट की धारा 5 के अर्थ और प्रभाव पर विचार किया। धारा 5 के सुसंगत भाग को ध्यान में रखना जरूरी है, जो इस प्रकार है—

*"धारा 5—प्रत्येक औपनिवेशिक विधानमण्डल ... और प्रत्येक प्रतिनिधि विधानमण्डल को अपनी अधिकारिता के अधीन ऐसे विधानमण्डल के गठन, उसकी शक्तियों और प्रक्रिया से सम्बन्धित विधि बनाने की पूरी शक्ति होगी और उसके पास हमेशा ही ऐसी शक्ति समझी जाएगी, परन्तु ऐसी विधियां ऐसी रीति में और ऐसे प्रारूप में पारित की गई हों जैसा कि उक्त उपनिवेश में तत्समय प्रवृत्त पार्लियामेण्ट के किसी ऐक्ट, लैटर्स पेटेंट, आर्डर इन काउन्सिल या औपनिवेशिक विधि द्वारा समय-समय पर अपेक्षित किया जाए।"

जुडीशियल कमेटी ने धारा 5 का निर्वचन इस प्रकार किया—

"पूरी धारा को एक साथ पढ़ने पर यह न्यू साउथ वेल्स के विधानमण्डलों को कतिपय शक्तियां देती हैं जो इस बात के अध्यधीन है कि कतिपय विधियां केवल तभी बनाई जा सकती हैं यदि वे ऐसी रीति और प्रारूप में पारित की गई हों जैसा कि "स्टेट्यूट बुक" पर मान्य किसी अधिनियम द्वारा समय-समय पर

---

*अंग्रेजी में यह इस प्रकार है—

"Section 5.—Every colonial legislature .... and every representative legislature shall, in respect to the colony under its jurisdiction, have, and be deemed at all times to have had, full power to make laws respecting the constitution, powers, and procedure of such legislature; provided that such laws shall have been passed in such manner and form as may from time to time be required by any Act of Parliament, Letters Patent, Order in Council, or colonial law, for the time being in force in the said colony."

अपेक्षित हो। इसके अलावा "रीति और प्ररूप" शब्द इतने व्यापक हैं कि उनके अन्तर्गत ऐसी अधिनियमिति आ जाती है जिसमें यह उपबन्ध हो कि विधेयक निर्वाचकों को प्रस्तुत किया जाएगा और जब तक कि मत देने वाले निर्वाचक विधेयक का अनुमोदन नहीं कर देते, तब तक वह हिज मैजिस्टि की अनुमति के लिए गवर्नर के समक्ष प्रस्तुत नहीं किया जाएगा।"

जुडीशियल कमेटी ने पहले यह प्रश्न उठाया:—"क्या वह विधेयक जो एक निरसन विधेयक था दोनों सदनों द्वारा पारित किए जाने के पश्चात् विहित प्ररूप में निर्वाचकों का पहले अनुमोदन प्राप्त किए बिना विधिक रूप से हिज मैजिस्टि की अनुमति के लिए प्रस्तुत किया जा सकता है और उसका इस प्रकार उत्तर दिया—

> "माननीय न्यायाधीशों के मतानुसार विधेयक इस प्रकार विधिपूर्वक प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। 1865 के ऐक्ट की धारा 5 के द्वितीय वाक्य में जो परन्तुक है उसमें एक शर्त बतलाई गई है जो विधानमण्डल द्वारा उस वाक्य में निर्दिष्ट प्रकार की विधियों को विधिमान्य रूप से बनाए जाने के लिए अपनी शक्ति का प्रयोग किए जाने के पहले पूरी की जानी चाहिए। इस हेतु कि धारा 7-ए निरसित की जा सके (दूसरे शब्दों में इसलिए कि विधानमण्डल के गठन, शक्तियां और प्रक्रिया से सम्बन्धित कोई विशिष्ट विधि विधिमान्य रूप से बनाई जा सके) उस प्रयोजन के लिए बनाई गई विधि धारा 7-ए द्वारा, जो न्यू साउथ वेल्स में तत्समय प्रवृत्त कलोनियल विधि है, अपेक्षित रूप से पारित की गई होनी चाहिए।"

हमारे समक्ष जो प्रश्न उठाए गए हैं, यह मामला उनमें से किसी भी प्रश्न से सुसंगत नहीं है। इस बारे में कोई संदेह नहीं है कि हमारे समक्ष जो मामला है, उसमें आक्षेपित सांविधानिक संशोधन, हमारे संविधान के अनुच्छेद 368 में वर्णित प्ररूप और विधि के अनुसार पारित किए गए हैं। तथापि यह ध्यान देने योग्य बात है कि दलील संख्या 4 में जो ऊपर वर्णित की गई है, इस बात पर जोर दिया गया है कि विधानमण्डल को प्रदत्त सर्वांगीण शक्तियों के बावजूद एक सम्भाव्य निर्बन्धन यह था कि विधानमण्डल को कलोनियल लॉज वेलिडिटी ऐक्ट, 1865 में दी गई परिभाषा के अनुसार प्रतिनिधिमूलक विधानमण्डल बने रहना चाहिए।

विवक्षित परिसीमाओं के कुछ उदाहरणों के प्रति भी मैं कुछ निर्देश कर दूं जो यूनाइटेड स्टेट्स में न्यायिक रूप से मान लिए गए हैं। कांस्टिट्यूशनल लिमिटेशन्स पर कूले और कांस्टिट्यूशन ऑफ दि यूनाइटेड स्टेट्स ऑफ अमेरिका जिसका सम्पादन कार्विन ने किया है, (1952) के प्रति निर्देश करना ही पर्याप्त होगा।

> *"......किन्तु कुछ अन्य निर्बन्धन भी हैं जिनकी विवक्षा की गई है और जिसका प्रभाव अमरीका की सरकार की जटिल पद्धति के अधीन परिस्थिति के अनुसार व्याप्ति और पहुंच से कराधान की फेडरल शक्ति या विभिन्न राज्यों की शक्ति से

---

*अंग्रेजी में यह इस प्रकार है—

"............ but there are some others which are implied, and which under the complex system of American government have the effect to exempt some subjects otherwise taxable from the

कुछ विषयों को छूट देने का है जो अन्यथा कराधेय हैं। विवक्षित परिसीमाओं में से एक वह है जो राज्यों को अभिकरणों पर कर लगाने से रोक लगाती है जिसके द्वारा साधारण सरकार अपने कृत्यों का पालन करती है। इसका कारण यह है कि यदि उन्हें यह प्राधिकार होता तो वे राष्ट्रीय सरकार के उचित और सांविधानिक कार्यक्षेत्र के भीतर कार्य करने को यदि पूर्ण रूप से असफल करने के लिए नहीं तो काफी हद तक उसको पंगु बनाने के विस्तार तक कर लगाते और ऐसा कर लगाना उनकी शक्ति के अन्तर्गत होता।"

इसके पश्चात् उसने मेक्कुलॉक बनाम मैरीलैण्ड(1) वाले मामले में मुख्य न्यायाधिपति मार्शल के निर्णय का एक अंश उद्धृत किया।

कार्विन द्वारा लिखित कान्स्टिट्यूशन आई दि यूनाइटेड स्टेट्स ऑफ अमरीका (1952) के पृष्ठ 728-729 पर यह कहा गया है—

**"मेक्कुलॉक बनाम मैरिलेण्ड वाले मामले में दिए गए इस विनिश्चय के कि फेडरल सरकार के किसी अभिकरण पर राज्य कर नहीं लगाएगा, पांच वर्ष के बाद न्यायालय ने ऑसबार्न बनाम बैंक ऑफ दि यूनाइटेड स्टेट्स वाले मामले में इस पूरे प्रश्न की पुनः परीक्षा की। इस मामले में ओहियो राज्य के काउन्सेल ने जिसके बैंक पर कर अधिरोपित करने के प्रयत्न पर आक्षेप किया गया था, दो महत्त्वपूर्ण दलीलें दीं। पहली 'दलील यह थी कि यह मान लें कि कांग्रेस को शक्ति थी तो इस छूट पर निगमन की कार्रवाई में अभिव्यक्त रूप से अधिक जोर दिया जाना चाहिए था और चूंकि यह अभिव्यक्त नहीं किया गया है अतः न्यायालय को इसकी विवक्षा नहीं करना चाहिए'। मार्शल ने इसका उत्तर यह दिया कि 'कांग्रेस के कार्य

---

scope and reach, according to circumstances, of either to Federal power to tax or the power of the several States. One of the implied limitations is that which precludes the States from taxing the agencies whereby the general government performs its functions. The reason is that, if they possessed this authority it would be within their power to impose taxation to an extent that might cripple, if not wholly defeat, the operations of the national authority within its proper and constitution sphere of action."

**"Five years after the decision in McCullock V. Maryland that a State may not tax an instrumentality of the Federal Government, the Court was asked to and did re-exmine the entire question in Osborne *Vs.* Bank of the United States. In that case counsel for the State of Ohio, whose attempt to tax the Bank was challenged, put forward two arguments of great importance. In the first place it was 'contended, that, admitting Congress to possess the power, this exemption ought to have been expressly asserted in the act of incorporation; and, not being expressed, ought not to be

---

(1) 4 लॉयर्स एडिशन 579, 607.

के लिए अभिव्यक्त किए बिना राज्य के नियंत्रण से इस छूट की ही विवक्षा करना कोई अप्रायिक बात नहीं है जिसकी बाबत इस मामले में यह कहा गया है कि यह बहुत अधिक आपत्ति योग्य है'। दूसरी बात यह है कि अपीलार्थियों ने 'बैंक और लोक संस्थाओं जैसे कि टकसाल या डाक के अन्तर का बहुत सहारा लिया है। यह कहा गया है कि उन कार्यालयों के अभिकर्ता सरकार के अधिकारी होते हैं ···बैंक के निदेशक ऐसे अधिकारी नहीं होते। बैंक से सरकार के सम्बन्ध की तुलना उस सम्बन्ध से की गई है जो ठेकेदारों के साथ रहता है'। मार्शल ने इस सादृश्यता को मान लिया किन्तु इससे अपीलार्थियों को होने वाले लाभ को नहीं माना। उन्होंने केवल यह संकेत दिया कि सभी ठेकेदार जो सरकार के साथ कारबार करते हैं, ऐसे संव्यवहारों पर कराधान से उन्मुक्त होने के हकदार हैं। इस प्रकार मैक्कुलोक बनाम मेरिलैण्ड वाले मामले की न्यायालय ने पुनः पुष्टि की है किन्तु उससे बाद में आने वाली दशाब्दियों में अनुसरण किए जाने वाले उन्मुक्ति के सिद्धान्तों के व्यापक प्रसार के लिए नींव भी रख दी गई।"

फिलहाल हमें यूनाईटेड स्टेट्स में इस सिद्धान्त के असली विस्तार की परीक्षा करना जरूरी नहीं है क्योंकि इन दृष्टांतों को उद्धृत करने का प्रयोजन प्रत्यर्थियों की इस दलील का खण्डन करना है कि विवक्षित निर्बन्धन के समान कोई निर्बन्धन नहीं हो सकते।

1952 में जब पुस्तक लिखी गई थी तब जो स्थिति थी वह पुस्तक के पृष्ठ 731 पर वर्णित है। कार्विन ने मोटे तौर पर स्थिति को संक्षेप में पृष्ठ 736 पर वर्णित किया है—

*"मोटे तौर पर कहा जाए तो जो उन्मुक्ति अस्तित्व में बची रहती है वह स्वतः सरकार की गतिविधियों तक और उस गतिविधि तक सीमित है, जो कानून द्वारा स्पष्टतः सृष्ट है, अर्थात् जो उन्मुक्ति कांग्रेस द्वारा चार्टर की गई फैडरल प्रतिभूतियों

---

implied by the Court. To which Marshall replies that: 'It is no unusual thing for an act of Congress to imply, without expressing, this very exemption from State control which is said to be so objectionable in this instance'. Secondly the appellants relied greatly on the distinction between the bank and the public institutions, such as the mint or the post-office. The agents in those offices are, it is said, officers of Government, ***Not so the directors of the bank. The connection of the government with the bank, is likened to that with contractors'. Marshall accepted this analogy, but not the advantage of the appellants. He simply indicated that all contractors who dealt with the Government were entitled to immunity from taxation upon such transactions. Thus not only was the decision of McCullock *Vs.* Maryland reaffirmed but the foundation was laid for the vast expansion of the principle of immunity that was to follow in the succeeding decades."

*"Broadly speaking, the immunity which remains is limited to activities of the Government itself and to that which is explicitly created by statute, e. g. that granted to federal securities and to

को और आर्थिक संस्थाओं को दी जाती है। किन्तु निबन्धनों, गतिविधियों का अर्थान्वयन व्यापक तौर पर किया जाएगा।"

राज्यों पर कराधान के सम्बन्ध में कूले ने पृष्ठ 995-997 पर यह मत व्यक्त किया है—

*"यदि राज्य उन साधनों पर कर नहीं लगा सकते जिनके द्वारा राष्ट्रीय सरकार अपने कृत्यों का पालन करती है तब इसके विपरीत और ऐसे ही कारणों से पश्चात्वर्ती भी राज्य सरकारों के अभिकरणों पर कर नहीं लगा सकती। उसी सर्वोपरि शक्ति द्वारा, जिससे साधारण सरकार के विभाग स्थापित किए गए, यह अवधारित किया गया कि स्थानीय सरकारों को भी अपने प्रयोजन के लिए अस्तित्व में रहना चाहिए और उसने उसके बिना जनता के सामान्य हित का संरक्षण किया जाना असम्भव बना दिया। इन विभिन्न अभिकरणों में से हर एक अपने-अपने कार्य क्षेत्र में सीमित है और यह उस संविधान के अधीन है जो उन्हें सीमित करता है और यह अभिकरण एक दूसरे से स्वतन्त्र है सिवाय उस विस्तार के जिसके अधीन संविधान द्वारा वे एक दूसरे पर निर्भर बनाए गए हैं। यूनाइटेड स्टेट्स के संविधान में ऐसा कुछ भी नहीं है जिसके द्वारा किसी राज्य के प्राधिकार में, उसकी विधिपूर्ण सीमाओं के अधीन उसके अस्तित्व को सुरक्षित बनाए रखने के विरुद्ध कांग्रेस कोई हस्तक्षेप कर सके और कराधान के प्रत्यक्ष माध्यम द्वारा ऐसे हस्तक्षेप राष्ट्रीय विधानमण्डल की शक्ति से उसी प्रकार परे हैं जैसे कि हस्तक्षेप प्रत्यक्ष और अतिवादी रूप से किया गया हो। अतः यह अभिनिर्धारित किया गया कि न्यायिक प्रक्रिया पर स्टैम्प लगाने की अपेक्षा करने

---

fiscal institutions chartered by congress. But the terms, activities, will be broadly construed."

*"If the States cannot tax the means by which the national government performs its functions, neither, on the other hand and for the same reasons can the latter tax the agencies of the State governments. 'The same supreme power which established the departments of the general government determined that the local governments should also exist for their own purposes, and made it impossible to protect the people in their common interest without them. Each of these several agencies is confined to its own sphere, and all are strictly subordinate to the Constitution which limits them, and independent of other agencies, except as thereby made dependent. There is nothing in the Constitution of the United States which can be made to admit of any interference by Congress with the secure existence of any State authority within its lawful bounds. And any such interference by the indirect means of taxation is quite as much beyond the power of the national legislature as if interference were direct and extreme. It has, therefore, been held that law of Congress requiring judicial

वाली कांग्रेस की विधि, राज्य के न्यायालयों की प्रक्रिया पर सांविधानिक तौर पर लागू नहीं की जा सकती चूंकि अन्यथा कांग्रेस राज्य के न्यायालयों पर अन्यथा ऐसे निबंधन लगा सकती है जिससे वे प्रभावशील रूप से कार्य न कर सकें और जो उन्हें पूर्ण रूप से समाप्त करने के बराबर हों। ऐसा ही विनिर्णय दूसरे ऐसे ही मामलों में किया गया किन्तु राज्य के अभिकरणों और इंस्ट्रूमेण्टेलिटीज को राष्ट्रीय कराधान से छूट केवल ऐसे अभिकरणों और इंस्ट्रूमेण्टेलिटीज तक ही सीमित है जिनका स्वरूप स्पष्ट तौर पर सरकारी है और यह छूट ऐसे अभिकरणों और इंस्ट्रूमेण्टेलिटीज पर लागू नहीं होती है जिनका प्रयोग राज्य मामूली प्राइवेट कारबार करने के लिए करता है।"

मैं यह और वर्णित कर दूं कि निष्कर्ष में जिस बात की विवक्षा की गई है वह हमारे संविधान के अभिव्यक्त उपबन्धों की विषय-वस्तु है (अनुच्छेद 285, 287, 288 और 289 देखिए)।

हमारे समक्ष यह दलील दी गई है कि इन मामलों में से एक मामले में संशोधन करने की शक्ति पर विवक्षित परिसीमा की चर्चा की गई है। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि चार मामले इस प्रश्न से स्पष्ट रूप से सम्बन्धित हैं। मैं उन्हें पहले ही निर्दिष्ट कर चुका हूं—

1. आइकरि कमिश्नर बनाम पैट्रिक रामासिंघे (1)
2. मंगल सिंह बनाम भारत संघ (2)
3. टेलर बनाम अटर्नी जनरल ऑफ क्वीन्सलैण्ड (3)

और कुछ आगे मैं इनीशिएटिव और रेफरेण्डम ऐक्ट वाले मामले (4) की चर्चा करूंगा।

संविधान के सभी उपबन्धों से आवश्यक विवक्षा क्या है ?

मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि प्रस्तावना को पढ़ने से व्यक्ति की स्वतन्त्रता की अहमियत को और उसके अन्य-असंक्राम्य होने को और प्रस्तावना में वर्णित आर्थिक, सामाजिक

---

process to be stamped could not constitutionally be applied to the process of the State courts; since otherwise Congress might impose such restrictions upon the State courts as would put an end to their effective action, and be equivalent practically to abolishing them altogether. And a similar ruling has been made in other analogous cases. But 'the exemption of States agencies and instrumentalities from national taxation is limited to those which are of a strictly governmental character, and does not extend to those which are used by the State in the carrying on of an ordinary private business."

---

(1) (1965) ए० सी० 172.
(2) (1967) 2 एस० सी० आर० 109, 112.
(3) 23 सी० एल० आर० 457.
(4) (1919) ए० सी० 935.

और राजनैतिक न्याय के सिद्धान्त और, निदेशक तत्वों और अनुच्छेद 52, 53 और विभिन्न अन्य उपबन्धों को, जिनके प्रति पहले ही निर्देश किया जा चुका है, अनुच्छेद 368 में सम्मिलित न किए जाने से एक अनिवार्य निष्कर्ष यह निकलता है कि "संशोधन" शब्द को व्यापकतम अर्थ में प्रयुक्त करने का आशय नहीं था।

सभी लोग यह समझते थे कि मूल अधिकार सारतः वैसे ही बने रहेंगे जैसे वे हैं और उन्हें इस प्रकार संशोधित नहीं किया जाएगा कि उनका अस्तित्व ही समाप्त हो जाए। ऐसा प्रतीत होता है कि सभी लोग सामान्य तौर पर यह भी समझते थे कि संविधान के मूल तत्व, धर्म निरपेक्षता, प्रजातन्त्र और व्यक्ति की स्वतन्त्रता, कल्याणकारी राज्य में हमेशा बनी रहेगी।

ऊपर वर्णित कारणों को देखते हुए एक आवश्यक विवक्षा यह उद्भूत होती है कि संसद् की शक्ति पर विवक्षित परिसीमा है और यह कि हमारे संविधान में "इस संविधान का संशोधन" अभिव्यक्ति का सीमित अर्थ है और इसका वह अर्थ नहीं है कि जो प्रत्यर्थियों ने सुझाया है।

यदि मैं दोनों पक्षों द्वारा दी गई दलीलों पर विचार करूं तो मेरे इस निष्कर्ष की पुष्टि हो जाती है। प्रत्यर्थी जो बहुत जोर देकर प्रजातान्त्रिक सिद्धान्तों के लिए अपील करते हैं, यह दलील देते हैं कि संविधान का संशोधन करने के लिए संसद् के अधिकारों की कोई सीमा नहीं है। अनुच्छेद 368 को ही इस प्रकार संशोधित किया जा सकता है कि संविधान को पूर्ण रूप से नमनीय या बहुत अधिक अनम्य और असंशोधनीय बना दिया जाए, यदि ऐसा है तो संसद् में कुछ वर्ष के लिए दो-तिहाई बहुमत वाला कोई राजनैतिक दल संविधान को इस प्रकार संशोधित कर सकता है जिससे कि कोई अन्य दल कार्य ही न कर सके। वह एक दलीयपद्धति स्थापित कर सकता है जनता को गुलाम बना सकता है और इन प्रयोजनों को पूरा करने के पश्चात् संविधान को असंशोधनीय या बहुत अधिक अनम्य बना सकता है। निस्संदेह इससे संविधानेत्तर क्रांति होगी। अतः प्रत्यर्थियों की प्रजातान्त्रिक सिद्धान्तों के प्रति अपील और उनकी इस दलील का कि क्रांति को रोकने के लिए संशोधन करने की आत्यंतिक शक्ति की आवश्यकता है, समर्थन करना निरर्थक है क्योंकि यदि उनकी यह दलील मान ली जाती है तो प्रजातान्त्रिक सिद्धान्त ही, जिनके सम्बन्ध में वे अपील करते हैं, लुप्त हो जाएंगे और क्रांति एक सम्भावना मात्र ही बन जाएगी।

तथापि जो अर्थ मैंने सुझाया है, यदि वह मान लिया जाता है तो प्रत्येक नागरिक की स्वतंत्रता और गरिमा को बनाए रख कर क्रमशः सामाजिक और आर्थिक क्रांति हो सकती है।

ऊपर वर्णित कारणों से मैं इस निष्कर्ष पर पहुंचता हूं कि अनुच्छेद 368 में "इस संविधान का संशोधन" का अर्थ है, प्रस्तावना और संविधान की परिधि के अन्तर्गत संविधान में किसी उपबन्ध का जोड़ा जाना या उसमें परिवर्तन करना जिससे कि प्रस्तावना के उद्देश्यों और निदेशक तत्वों को क्रियान्वित किया जा सके। मूल अधिकारों के सम्बन्ध में इस बात को लागू करने पर इसका अर्थ होगा कि मूल अधिकार निराकृत नहीं किए जा सकते किन्तु लोक-हित में मूल अधिकारों को युक्तियुक्त रूप से न्यून किया जा सकता है।

वास्तव में इस बात का विनिश्चय करना संसद् का काम है कि क्या संशोधन करना जरूरी है। संशोधन करने की आवश्यकता से न्यायालयों का कोई सम्बन्ध नहीं है।

यदि यह अर्थ दिया जाता है तो इससे इस बात को सुनिश्चित करने के लिए कि प्रत्येक नागरिक की स्वतन्त्रता और गरिमा को बनाए रखते हुए निदेशक तत्त्वों में दिए गए निदेश को किस प्रकार पूरा किया जाए, संसद् मूल अधिकारों में समायोजन करने के लिए समर्थ हो जाएगी।

श्री सीरवाई ने यह दलील दी कि हम बहुत अधिक असंतोषजनक कसौटी अधिकथित कर रहे हैं जिसे संसद् के लिए समझना और उसका अनुसरण करना कठिन होगा। उन्होंने कहा कि निश्चितता की दृष्टि से संविधान निर्माताओं ने "सम्यक् प्रक्रिया" (ड्यू प्रासेस) की विचारधारा का परित्याग कर दिया और उन्होंने अनुच्छेद 21 में "विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया" शब्द प्रतिस्थापित किए। मैं यह बात समझने में असमर्थ हूं कि "सम्यक् प्रक्रिया" शब्द को छोड़ने का इस प्रश्न से क्या सम्बन्ध है। संविधान में ही अनुच्छेद 19 में 'युक्तियुक्त निर्बन्धन" जैसे शब्द प्रयुक्त किए गए हैं जिनका कोई निश्चित अर्थ नहीं है—जिनको सभी मामलों में जो इस न्यायालय के समक्ष लाए जाएं, लागू करने के लिए सूक्ष्म रूप से परिभाषित नहीं किया जा सकता। यह बात प्रत्येक मामले के तथ्यों पर निर्भर होगी कि विधानमण्डल द्वारा अधिरोपित निर्बन्धन युक्तियुक्त हैं या नहीं। इसके अतिरिक्त रिज बनाम बाल्डविन([1]) में लार्ड रीड ने यह मत व्यक्त किया—

> "वर्तमान समय में इस प्रकार की राय व्यक्त की गई है कि नैसर्गिक न्याय इतना अस्पष्ट है कि वह व्यावहारिक रूप से अर्थ हीन था। किन्तु इस प्रकार के विचारों को मैं इस स्थायी भ्रम से युक्त होने के कारण दूषित मानता हूं क्योंकि यदि कोई बात अच्छी तरह से तोली नहीं जा सकती या उसका अन्दाजा नहीं लगाया जा सकता तो वह अस्तित्व में नहीं रहती। उपेक्षा की विचारधारा की भी समान रूप से निश्चित परिभाषा नहीं की जा सकती है, किन्तु किन्हीं विशिष्ट परिस्थितियों में कोई युक्तियुक्त व्यक्ति किसे उचित प्रक्रिया समझेगा और विशिष्ट परिस्थितियों में किसे उपेक्षा मानेगा ये दोनों बातें विधि में कसौटी के तौर पर काम लिए जाने में समर्थ हैं और नैसर्गिक न्याय, जैसा इस न्यायालय ने उसका निर्वचन किया है, उसकी अपेक्षा बहुत अधिक निश्चित है।" (महत्व देने के लिए रेखांकित किया गया है)

मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि प्रस्तावना और संविधान की रूपरेखा के अन्तर्गत संशोधन की विचारधारा अस्पष्ट और असंतोषजनक नहीं कही जा सकती जिसे संसद्-सदस्य और जनता समझ न सके।

[विद्वान् महान्यायवादी ने कहा है कि संविधान का प्रत्येक उपबन्ध अत्यंत आवश्यक है अन्यथा वह संविधान में नहीं रखा जाता। यह सच है किन्तु इससे संविधान का प्रत्येक उपबन्ध समान स्थिति का नहीं हो जाता। सही स्थिति यह है कि संविधान का प्रत्येक उपबन्ध संशोधित किया जा सकता है परन्तु इसके परिणामस्वरूप संविधान का

([1]) (1964) एस० सी० 40, 64-65.

बुनियादी आधार और मूल ढांचा वैसा ही बना रहे। यह कहा जा सकता है कि मूल ढांचा निम्नलिखित तथ्यों से मिलकर बना है—

(1) संविधान की सर्वोपरिता ;

(2) सरकार का गणतन्त्रात्मक और प्रजातन्त्रात्मक रूप;

(3) संविधान का धर्म निरपेक्ष स्वरूप ;

(4) विधानमण्डल कार्यपालिका और न्यायपालिका के बीच शक्तियों का पृथक्करण ।

(5) संविधान की परिसंघीय (फेडरल) प्रकृति ।

उपरोक्त ढांचे का बुनियादी आधार व्यक्ति की गरिमा और स्वतन्त्रता है। यह अत्यधिक महत्व की बात है। इसे किसी भी प्रकार के संशोधन से नष्ट नहीं किया जा सकता है।

उपरोक्त आधार और उपरोक्त बुनियादी तत्व (बेसिक फीचर्स) संविधान की प्रस्तावना से ही नहीं वरन् उसकी सम्पूर्ण योजना से सरलता से प्रकट हो जाते हैं। इनकी चर्चा मैं पहले ही कर चुका हूं।]

मूल अधिकारों के निराकरण के प्रश्न के सम्बन्ध में श्री सीरवाई ने स्पष्टतः यह कहा है कि उनमें नैसर्गिक या अन्य असंक्राम्य अधिकार जैसी कोई बात नहीं है क्योंकि भाग 3 की योजना से ही यह प्रकट हो जाता है कि गैर-नागरिकों को मूल स्वतन्त्रताएं प्रदान नहीं की गई हैं। उदाहरण के लिए अनुच्छेद 19 है जिसमें केवल नागरिकों का ही उल्लेख है। उनका कहना है कि यदि वे नैसर्गिक अधिकार हैं तो फिर वे गैर-नागरिकों को क्यों नहीं प्रदान किए गए हैं। इसका उत्तर यही हो सकता है कि वे नैसर्गिक अधिकार तो हैं किन्तु हमारे देश में यह उचित नहीं समझा गया है कि अनुच्छेद 19 में उल्लिखित मूल अधिकार जैसे अधिकार गैर-नागरिकों को भी दिए जाएं। किन्तु कुछ अन्य अधिकार ऐसे हैं जो गैर-नागरिकों को भी प्रदत्त किए गए हैं क्योंकि संविधान निर्माताओं का यह विचार था कि ऐसा करना देश के लिए अहितकर न होगा।

तत्पश्चात् उन्होंने कहा कि संविधान के अनुच्छेद 33 के अधीन उक्त अधिकारों को नागरिकों के सम्बन्ध में भी उपान्तरित किया जा सकता है। उक्त अनुच्छेद के अधीन संसद् सशस्त्र बलों पर उक्त अधिकार के लागू होने में उपान्तरण कर सकती है। संसद् को यह शक्ति इस उद्देश्य से प्रदान की गई है कि सशस्त्र बलों में अनुशासन, जो देश की सुरक्षा के लिए आवश्यक है, बना रहे। किन्तु इसका यह आशय नहीं है कि वे अधिकार नैसर्गिक या मानवीय अधिकार नहीं रह गए हैं। आगे उन्होंने कहा कि इसी प्रकार किसी क्षेत्र में सेना विधि प्रवृत्त होने की दशा में ऐसे अधिकारों के निर्बन्धित किए जाने की बाबत अनुच्छेद 34 द्वारा उपबन्ध किए गए हैं। ऐसी व्यवस्था भी देश की सुरक्षा को ही प्रमुखता देने के उद्देश्य से की गई है। नागरिकों को देश हित में अनेक निर्बन्धनों में रहना पड़ता है।

आगे उन्होंने अनुच्छेद 358 और 359 का उल्लेख किया जिसमें आपात में कतिपय अधिकारों के निलम्बन की बात कही गई है। ये उपबन्ध भी देश की सुरक्षा पर ही आधारित हैं।

उन्होंने अनुच्छेद 13(2) में प्रयुक्त 'दिए अधिकारों' और 'इस भाग द्वारा दिए गए अधिकारों को प्रवर्तित कराने के लिए' पदों का अवलम्ब भी यह दर्शित करने के लिए लिया कि वे अधिकार प्राकृतिक या अन्य असंक्राम्य नहीं हैं और उनके लिए दावा नहीं किया जा सकता है। प्रभुत्वसम्पन्न जनता द्वारा किसी पृथक् प्राधिकारी से उनकी बाबत दावे का प्रश्न ही नहीं उठता है। जनता ने संविधान सभा के माध्यम से कार्य करते हुए यह इच्छा व्यक्त की कि भाग 3 में उल्लिखित अधिकारों की गारण्टी दी जाए। परिणामस्वरूप भाग तीन अधिनियमित कर दिया गया। सम्बन्धित प्रसंग में 'दिए' शब्द का यह अर्थ नहीं है कि किसी वरिष्ठ प्राधिकारी ने ये अधिकार दिए हैं। यह तो बहुत कुछ राजा द्वारा स्वयं को 'हिज इम्पीरियल मैजिस्टि' की उपाधि देने जैसी बात है।

मैं यह अभिनिर्धारित नहीं कर सकता कि इन उपबन्धों से यह दर्शित होता है कि कुछ अधिकार नैसर्गिक या अन्य असंक्राम्य अधिकार नहीं हैं। तथ्यतः भारत भी मानव अधिकारों की सार्वभौम घोषणा में, जिनका उल्लेख मैं पहले ही कर चुका हूं, एक पक्षकार था और उस घोषणा में कुछ मूल अधिकारों को अन्य असंक्राम्य कहा गया है।

इस न्यायालय के अनेक विनिश्चयों में मूल अधिकारों को नैसर्गिक अधिकार या 'मानव अधिकार' कहा गया है। कुछ उद्धरण ऐसे ही कुछ विनिश्चयों में से नीचे दिए जा रहे हैं—

> "निस्संदेह भारत की जनता ने प्रस्तावना में यथा अभिव्यक्त अपनी प्रभुत्वसम्पन्न इच्छानुसार ऐसे प्रजातान्त्रिक आदर्श को अंगीकार किया है जो नागरिकों को व्यक्ति की गरिमा और अति प्रिय मानवीय मूल्य सुनिश्चित करता है और जिसे उसके व्यक्तित्व के पूर्ण विकास और अभिव्यक्ति का माध्यम माना गया है और विधानमण्डल, कार्यपालिका तथा न्यायपालिका को संविधान में यथा उल्लिखित उनकी अपनी शक्तियां प्रत्यायोजित करके अपने लिए, मेरे विचार से तथाकथित कतिपय मूल अधिकार आरक्षित कर लिए हैं क्योंकि उन अधिकारों को जनता ने अपने पास ही बनाए रखा है और उन्हें अमरीकी प्रतिरूप के समान प्रत्यायोजित शक्तियों से ऊपर रखा है।" [गोपालन बनाम मद्रास राज्य[1] में न्यायाधिपति पातंजलि शास्त्री के मतानुसार] (महत्व देने के लिए रेखांकित किया गया है)
>
> (ii) "उस अनुच्छेद (अनुच्छेद 19 में) में 'स्वातन्त्र्य अधिकार' शीर्षक के अधीन कतिपय स्वतन्त्रताओं को गिनाया गया है और उसमें महत्वपूर्ण और बुनियादी अधिकारों का उल्लेख है जिन्हें नैसर्गिक अधिकारों के रूप में मान्यता दी गई है और जो उसी रूप में गारण्टी किए गए हैं। वे ऐसे अधिकार माने गए हैं जो किसी स्वतन्त्र देश के नागरिक में अन्तर्निहित हैं। ["पश्चिमी बंगाल राज्य बनाम सुबोध गोपाल बोस[2] में मुख्य न्यायाधिपति पातञ्जलि शास्त्री के मतानुसार]।
>
> "निस्संदेह मेरे विचार से हमारे संविधान निर्माताओं ने भी यही भेद बताया है और प्राकृतिक अधिकारों या 'सम्पत्ति अर्जित, धारण और व्ययनित करने की

---

(1) (1950) एस० सी० आर० 88, 198-199.

(2) (1954) एस० सी० आर० 587, 596.

नागरिक की सामर्थ्य को उन्हीं अन्य नैसर्गिक अधिकारों और स्वतन्त्रताओं के वर्ग में रख दिया है, किसी स्वतन्त्र नागरिक में अन्तर्निहित हैं और उन्हें अनुच्छेद 19(1) में विनिर्दिष्ट कर दिया है। (पूर्वोक्त मामले का पृष्ठ 597) (महत्व देने के लिए रेखांकित किया गया है)

"इन्हीं सब कारणों से मेरी यह राय है कि संविधान की योजना के अनुसार वे सभी व्यापक और बुनियादी स्वतन्त्रताओं को जो एक स्वतन्त्र व्यक्ति के रूप में नागरिक में अन्तर्निहित हैं, राज्य के हस्तक्षेप से संरक्षित रखने के लिए अनुच्छेद 19 के खण्ड (1) में विनिर्दिष्ट कर दिया गया है।

(iii) "किन्तु जनता कुछ अधिकारों को सर्वोपरि मानती है, क्योंकि वे व्यक्ति को अपने निजी जीवन में, सामाजिक आदान-प्रदान में और देश के प्रशासन और अन्य क्षेत्रों में हिस्सा बटाने की स्वतन्त्रता प्रदान करते हैं। जनता ने, जिसने सरकार के तीन अंगों को अपनी शक्तियां और प्राधिकार प्रदान किए हैं, नागरिकों के इन अधिकारों और किन्हीं दशाओं में गैर नागरिकों के अधिकारों को अपने पास ही रखा है और उन्हें कुछ निश्चित परिस्थितियों में के सिवाय, अनतिक्रमणीय बना दिया है। इस प्रकार आरक्षित अधिकारों को संविधान के भाग 3 में रख दिया गया है। इस भाग का शीर्षक है "मूल अधिकार" और इसी भाग में वे परिस्थितियां वर्णित कर दी गई हैं जिनमें इन अधिकारों को न्यून किया जा सकता है। [उज्जमबाई बनाम उत्तर प्रदेश राज्य[1] में न्यायाधिपति हिदायतुल्लाह के मतानुसार) (महत्व देने के लिए रेखांकित किया गया है)।

इलाहाबाद उच्च न्यायालय ने उन्हें इस प्रकार वर्णित किया है—

(iv) "....मनुष्य को कुछ नैसर्गिक या अन्य असंक्राम्य अधिकार प्राप्त हैं और इस उद्देश्य से कि मानवीय स्वतन्त्रताएं बनी रहें और मानवीय व्यक्तित्व का विकास हो, राज्य का यह कृत्य है कि वह उन अधिकारों को मान्यता दे और उनका मुक्त प्रयोग होने दे........."

"इतना ही कह देना पर्याप्त है कि वे हमारे समय की प्रजातान्त्रिक विचारधारा के प्रवाह के प्रतीक हैं। [मोतीलाल बनाम उत्तर प्रदेश राज्य [2] (महत्व देने के लिए रेखांकित किया गया है)।

श्री सोरबाई ने बशेशर नाथ बनाम आयकर आयुक्त[3] वाले मामले में न्यायाधिपति एस० के० दास के निम्नलिखित मत का अवलम्ब लिया है —

"मेरा यह मत है कि नैसर्गिक अधिकारों का सिद्धान्त केवल मात्र इस विचारधारा को पुष्ट करने के लिए अस्थिर रेत का आधार प्रस्तुत करता है कि अधित्यजन (वेवर) का सिद्धान्त हमारे संविधान के भाग 3 में प्रत्याभूत अधिकारों को लागू नहीं होता है।"

---

(1) (1963) 1 एस० सी० आर० 778; 926-7.
(2) आई० एल० आर० (1951) 1 इलाहाबाद 269; 387-8.
(3) (1959) सप्लीमेण्ट 1 एस० सी० आर० 528; 605.

मैं यह भी बता दूं कि विद्वान् न्यायाधिपति ने अल्पमत राय व्यक्त करते हुए यह अभिनिर्धारित किया था कि कुछ परिस्थितियों में मूल अधिकारों का अधित्यजन किया जा सकता है। मुख्य न्यायाधिपति दास और न्यायाधिपति कपूर ने यह अभिनिर्धारित किया था कि संविधान के अनुच्छेद 14 पर आधारित मूल अधिकार का अधित्यजन किया जा सकता है, किन्तु न्यायाधिपति भगवती एवं सुब्बाराव ने यह अभिनिर्धारित किया था कि उक्त अनुच्छेद के अधीन वाले मूल अधिकार का ही नहीं वरन् संविधान के भाग 3 में प्रत्याभूत किसी भी मूल अधिकार का अधित्यजन नहीं किया जा सकता है।

अनुच्छेद 14 निम्नलिखित विभिन्न रूपों में वर्णित किया गया है—

(1) "गणराज्य का बुनियादी सिद्धान्त" [पश्चिमी बंगाल राज्य बनाम अन्वर अली सरकार(1) में मुख्य न्यायाधिपति पातन्जलि शास्त्री के मतानुसार]।

(2) "गणराज्य का सिद्धान्त" (उक्त मामले में न्यायाधिपति महाजन के मतानुसार)।

(3) "सभी सभ्य देशों में मान्य एवं मूल्यांकित स्वस्थ लोक-नीति पर आधारित" [बशेशर नाथ बनाम आयकर आयुक्त(2) में मुख्य न्यायाधिपति दास के मतानुसार]।

(4) "विधि-शासन के उच्च-विचार का अनिवार्य उप-सिद्धान्त" [सतवंत सिंह बनाम पासपोर्ट आफिसर(3) में मुख्य न्यायाधिपति सुब्बाराव के मतानुसार]।

(5) गणराज्यिक संस्थाओं का मर्मभूत सिद्धान्त (अमरीकन ज्यूरिसप्रूडेन्स खण्ड 16, 2 की पृष्ठ 731, अनुच्छेद 391)।

उक्त कसौटी अब तक किए गए सांविधानिक संशोधनों के सम्बन्ध में किस प्रकार लागू होगी ? मेरे विचार से संविधान (प्रथम संशोधन) अधिनियम, 1951 से अनुच्छेद 15 और 19 में किए गए संशोधन और अनुच्छेद 31क का [इस प्रश्न के अलावा कि क्या संविधान संशोधित करने की शक्ति प्रत्यायोजित की गई है, और इस प्रश्न के भी अलावा कि मूल अधिकारों का निराकरण (एब्रोगेशन) हुआ है या नहीं] जोड़ा जाना, और संविधान (चतुर्थ संशोधन) अधिनियम से अनुच्छेद 31(2) में किए गए संशोधन अनुच्छेद 368 के अधीन संसद् की संशोधन-शक्ति के अन्तर्गत हैं।

मोहम्मद मकबूल दमनू बनाम जम्मू और कश्मीर राज्य(4) वाले मामले का हवाला दिया जा सकता है। उस मामले में इस न्यायालय ने विद्वान् काउन्सेल के इस तर्क को अस्वीकार कर दिया था कि जम्मू और कश्मीर के संविधान की धारा 26 तथा 27 में किए गए संशोधन अविधिमान्य हैं क्योंकि उनसे संविधान का ढांचा नष्ट हो गया है। विद्वान् काउन्सेल का तर्क यह था कि उससे जम्मू और कश्मीर राज्य के संविधान

---

(1) (1952) एस० सी० आर० 284, 292-293.

(2) (1959) सप्लीमेण्ट (1) एस० सी० आर० 528, 551.

(3) (1967) 3 एस० सी० आर० 525, 542.

(4) (1972) 1 एस० सी० सी० 536, 546=[1972] 2 उम० नि० प०, नि० सा० 12.

के मूल आधार नष्ट हो गए हैं। इस तर्क को अस्वीकार करते हुए निम्नलिखित शब्द कहे गए थे—

"किन्तु जो पैरा उन्होंने उद्धृत किया है उसका लाभ वे इस कारण नहीं उठा सकते हैं कि जिन संशोधनों पर उन्होंने आक्षेप किया है उनसे अपने संविधान के अनुच्छेद 370 के स्पष्टीकरण की प्रकृति के बारे में जो कुछ हमने कहा है उसके प्रकाश में—जम्मू और कश्मीर के संविधान की रूपरेखा या मूल आधारों में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। राज्यपाल अब भी सरकार का प्रधान प्राधिकारी है। उसकी सहायता के लिए मंत्रि-परिषद् विद्यमान है। परिवर्तन तो केवल उसके पदनाम और उसकी नियुक्ति की रीति में ही किया गया है। संशोधन का प्रभाव यह नहीं है कि राज्य सरकार राज्य विधानमण्डल के प्रति उत्तरदायी नहीं रह गई है अथवा यह कि उत्तरदायी सरकार के रूप में उसकी मौलिक प्रकृति परिवर्तित हो गई है। जिस प्रकार कि पहले उक्त सरकार के प्रधान के अभिधान को परिवर्तित करके सदर-ए-रियासत का पद सृष्ट किया गया था उसी प्रकार सदर-ए-रियासत के अभिधान को परिवर्तित करके अब राज्यपाल का पद सृष्ट किया गया है। ऐसा करना इस कारण आवश्यक हो गया था कि सदर-ए-रियासत के स्थान पर राज्यपाल शब्द प्रतिस्थापित कर दिया गया था। ऐसी कोई बात नहीं है कि ऐसे परिवर्तन से प्रजातान्त्रिक सरकार अप्रजातान्त्रिक सरकार हो गई है।"

इस विषय को समाप्त करने से पूर्व मैं उन तर्कों की बाबत चर्चा करना चाहूंगा जो मेरे समक्ष प्रस्तुत किए गए हैं। श्री सीरवाई ने संविधान सहित कानूनों के अर्थान्वयन के सिद्धान्त की एक लम्बी व्याख्या की है। मेरे विचार से संविधान के अनुच्छेद 245 और 246 की विधायी प्रविष्टियों के निर्वचन के सिद्धान्तों से सम्बन्धित विनिश्चयों पर पुनर्विचार आवश्यक नहीं है। इस सम्बन्ध में फेडरल न्यायालय और इस न्यायालय ने उन सिद्धान्तों का अनुसरण किया है जो जुडीशियल कमेटी ने कनाडा के संविधान की धारा 91 और 92 का निर्वचन करते हुए प्रतिपादित किए हैं। मेरा इन मतों से कोई मतभेद नहीं है किन्तु मेरे विचार से इन मतों का अनुच्छेद 368 के निर्वचन से कोई सम्बन्ध नहीं है। यह बात कि विधायी प्रविष्टियों का व्यापक निर्वचन किया जाना चाहिए, अनुच्छेद 368 के निर्वचन के लिए सुसंगत नहीं है। जिन द्वितीय वर्ग के मामलों का हवाला दिया गया है वे इस प्रश्न के बारे में है कि क्या किसी विशिष्ट अर्थान्वयन के परिणामों पर विचार करना विधिपूर्ण है।

उन्होंने बाकर एण्ड सन्स बनाम लन्दन सोसाइटी ऑफ कम्पोजिटर्स[1] का हवाला दिया। इस विनिश्चय से उनके इस मत को समर्थन नहीं मिलता है कि किसी विशिष्ट अर्थान्वयन के परिणामों पर विचार नहीं किया जा सकता है। लार्ड मेकन्हन ने पृष्ठ 117 पर निम्नलिखित मत व्यक्त किया है—

"ग्रे बनाम पियर्सन[2] में लार्ड वेन्सलेडेल के मतानुसार अब यह एक 'सामान्य नियम' हो गया है कि सभी लिखित विलेखों के अनुसार कानूनों के

---

(1) (1913) ए० सी० 107; 117-118.

(2) (1857) 6 एच० एल० सी० 61; 106.

निर्वचन में शब्दों का व्याकरणिक और सामान्य अर्थ ही लगाया जाना चाहिए, बशर्ते कि इससे कोई अर्थहीनता या लिखत के शेष भाग से कोई विरोध या प्रतिकूलता उत्पन्न न होती हो। किन्तु यदि ऐसी स्थिति उत्पन्न होती हो तो शब्दों के व्याकरणिक और सामान्य अर्थ में रूपांतरण किया जा सकता है और ऐसी अर्थहीनता या प्रतिकूलता से बचा जा सकता है। किन्तु इससे अधिक रूपान्तरण नहीं किया जा सकता है।"

पृष्ठ 118 पर उन्होंने निम्नलिखित मत व्यक्त किया—

"प्रस्तावना के अभाव में, मेरे विचार से, केवल दो दशाओं में ही अधिनियमिति के सामान्य और स्वाभाविक अर्थ से विचलन अनुज्ञेय है। या तो यह दर्शित किया जाना चाहिए कि सम्बन्धित शब्दों के स्वाभाविक अर्थ लगाने से अर्थहीनता उत्पन्न होती है या फिर यह कि यदि प्रश्नगत अधिनियमिति में प्रयुक्त भाषा का सामान्य अर्थ लगाया जाता है तो वह उस अधिनियम के किसी अन्य खण्ड के प्रतिकूल या उसका विरोधी साबित होता है।"

लार्ड एटकिन ने पृष्ठ 121-122 पर यह मत व्यक्त किया है—

"निस्संदेह यह सुस्थिर मत है कि किसी कानून के, जिसके एक से अधिक अर्थ लगाए जा सकते हों, शब्दों का अर्थान्वयन करते समय उन परिणामों पर विचार कर लेना आवश्यक है जो किसी विशिष्ट अर्थान्वयन से उत्पन्न होते हों, क्योंकि ऐसे बहुत से परिणाम हो सकते हैं जिनके बारे में यह अनुमान लगाया जा सकता है कि विधानमण्डल का आशय उनकी बाबत उपबन्ध करना नहीं था। अत: ऐसे अर्थान्वयन को ही अधिमान दिया जाना चाहिए जिससे उक्त स्थितियों में से कोई भी स्थिति उत्पन्न न होती हो। किन्तु जैसा कि कुक बनाम चार्ल्स ए० वोगलर कम्पनी([1]) में लार्ड हेल्सबरी ने अधिकथित किया है—न्यायालय का कानून के किसी उपबन्ध के औचित्य या अनौचित्य से केवल इतना ही सम्बन्ध है कि वह उसके द्वारा व्यक्त विधानमण्डल के आशय का निर्वचन कर दे। यदि कानून की भाषा स्पष्ट है, और उसका केवल एक ही अर्थ निकलता हो, तो विधानमण्डल का केवल वही अर्थ और आशय समझा जाना चाहिए जो उसने स्पष्टत: अभिव्यक्त किया हो, और जो कुछ उसने स्पष्ट शब्दों में अधिनियमित किया हो, उसे ही प्रवृत्त किया जाना चाहिए, भले ही इससे अर्थहीन या अहितकारी परिणाम उत्पन्न होते हों। यदि इस उपधारा की भाषा अधिनियमिति के किन्हीं अन्य उपबन्धों से नियन्त्रित नहीं है तो उसे प्रवृत्त किया ही जाना चाहिए, क्योंकि उसकी भाषा स्पष्ट एवं असंदिग्ध है, और न्यायिक हैसियत से कार्यरत माननीय लार्डशिप्स का इस प्रश्न से कोई वास्ता नहीं है कि उक्त उपधारा की नीति विवेकपूर्ण है या नहीं अथवा उसके परिणाम न्यायोचित या अन्यायोचित हैं या वे हितकर या अहितकर हैं।"

([1]) (1901) ए० सी० 102, 107

निर्देशित मामलों में अगला मामला था बैंक ऑफ टोरेन्टो बनाम लाम्बे, (1) किन्तु इस मामले को अटर्नी जनरल फॉर अल्बरटा बनाम अटर्नी जनरल फॉर कनाडा (2) में स्पष्ट किया गया है। जुडीशियल कमेटी ने पहले निम्नलिखित मत व्यक्त किया —

"अपीलार्थी की ओर से दी गई यह दलील ठीक है कि उच्चतम न्यायालय और बोर्ड का उस विधानमण्डल के, जिसके विधेयक पर आपत्ति की गई है, कौशल से कोई वास्ता नहीं है; तर्क यह भी दिया गया है कि यदि बैंकों पर अत्यधिक करारोपण के गम्भीर परिणामों के बारे में न्यायालय के सदस्यों के दृष्टिकोण को स्वीकार कर लिया जाता है और उसके आधार पर विधेयक शक्तिवाह्य घोषित कर दिया जाता है तो यह एक खतरनाक पूर्वनिर्णय (प्रेसीडेण्ट) होगा। लार्डशिप्स इस मत से सहमत नहीं है कि यह तर्क ऐसे मामले में स्वीकार कर लिया जाए जिसमें करारोपण कारबार की व्यवहारिक दृष्टि से निषेधात्मक हो।"

तत्पश्चात् बैंक ऑफ टोरोन्टो बनाम लाम्बे (1) वाले मामले में जुडीशियल कमेटी के विनिश्चय पर लार्डशिप्स ने निम्नलिखित मत व्यक्त किया है—

"इस मामले के कारण उच्चतम न्यायालय के कुछ विद्वान् न्यायाधिपतियों के मस्तिष्क में एक समस्या उत्पन्न हो गई है। यह ध्यान देने की बात है कि उस मामले में क्यूबेक अधिनियम पर दो विनिर्दिष्ट आधारों पर आपत्ति की गई थी। प्रथम आधार था कि कर 'प्रान्त के अन्दर ही करायेय नहीं है' और द्वितीय आधार था कि कर 'प्रत्यक्ष कर' नहीं है। न तो कभी यह सुझाव दिया गया है और न ऐसा सुझाव देने के लिए कोई आधार ही है कि अधिनियम का प्रभाव यह अनुमानित किया गया है कि वह ऐसे वर्ग के विषयों में हस्तक्षेप करता है जो अनन्यतः डोमीनियन की शक्तियों के अन्तर्गत हैं। दूसरी ओर ऐसी कोई दलील (शिथिल या अनन्तिम) भी नहीं दी गई है कि अधिनियम का उद्देश्य प्रान्तीय आवश्यकताओं के लिए राजस्व जैसे विधिमान्य प्रयोजन के लिए धन वसूल करने के अलावा और कुछ है....... । बोर्ड ने कभी भी यह अभिकथित नहीं किया है कि यदि प्रान्तीय शक्तियों का इस प्रकार प्रयोग किया जाए कि उससे डोमीनियन-शक्ति में तात्विक हस्तक्षेप हो, तो प्रान्त द्वारा की गई कार्यवाही वैध होगी।"

यह मामला यह भी दर्शित करता है कि गम्भीर परिणामों पर विचार किया जा सकता है।

मैं क्वीन बनाम जज ऑफ सिटी ऑफ लन्दन (3) कोर्ट में लार्ड एशर द्वारा व्यक्त मत से सहमत हूं। यह मत इस प्रकार है—

"यदि सम्बन्धित अधिनियम की शब्दावली स्पष्ट है तो उसका ही अनुसरण किया जाना चाहिए भले ही उससे स्पष्ट अर्थहीनता उत्पन्न होती हो। न्यायालय का इस प्रश्न से कोई वास्ता नहीं है कि क्या विधानमण्डल ने कोई अर्थहीनता

(1) (1887) 12 एस० सी० 575, 586.
(2) (1939) ए० सी० 117, 132, 133.
(3) (1892) 1 क्यू० बी० 273, 290.

सृष्ट कर दी है। मेरे विचार से मान्य नियम सदैव यही रहा है कि यदि अधिनियम की शब्दावली के दो अर्थ निकलते हों और उनमें से एक अर्थहीनता की स्थिति उत्पन्न करता हो और दूसरा नहीं तो न्यायालय को यही निष्कर्ष निकालना चाहिए कि विधानमण्डल का आशय अर्थहीनता सृष्ट करना नहीं था और उसे दूसरा अर्थ ही स्वीकार कर लेना चाहिए।"

तत्पश्चात् उसने यंग बनाम ब्रिस्टल एयरोप्लेन कंपनी लिमिटेड(1) वाले मामले में लार्ड ग्रीन, एम० आर० के मत का अवलम्ब लिया—

"मेरे विचार से यह नियम तो बिल्कुल स्पष्ट है और यह मुझे मेरे प्रस्थान के स्थान पर पुनः लाकर खड़ा कर देता है—अर्थात् अर्थहीनता का सिद्धान्त—यद्यपि संदिग्ध शब्दों के दो सम्भाव्य अर्थों में से किसी एक निष्कर्ष को दूसरे निष्कर्ष की तुलना में एक अर्थ अपनाने के लिए अर्थहीनता या अर्थपूर्णता न्यायालय के लिए सहायक हो सकती है, और अक्सर वह होती भी है, तो भी यह एक ऐसा सिद्धान्त है जिसे बड़ी सावधानी से लागू किया जाना चाहिए और यह बात ध्यान में रखी जानी चाहिए कि अर्थहीनता के ऐसे प्रश्न की बाबत न्यायाधीश गलती कर सकते हैं और किसी भी दशा में उक्त सिद्धान्त को लागू करके प्रयुक्त भाषा का मोड़-तोड़ कर ऐसा अर्थ नहीं निकाला जाना चाहिए जो उससे न निकल सकता हो; यह एक ऐसा सिद्धान्त है जिसका भरोसा नहीं किया जा सकता है और उसका प्रयोग प्रश्नगत उपबन्ध की भाषा के इस प्रकार पुनर्लेखन के लिए नहीं किया जाना चाहिए कि वह मूल भाषा से भिन्न हो जाए।"

पृष्ठ 158 पर उन्होंने कहा है--

"मैं तो यही समझता हूं कि लोक-नीति की तरह अर्थहीनता का सिद्धान्त भी एक उच्छृंखल घोड़े की तरह है।"

मेरे विचार से लार्ड ग्रीन का आशय यही था कि अर्थहीनता उच्छृंखल घोड़े के ही समान है, किन्तु यह संदिग्ध शब्दों के सम्भावित दो अर्थों में से कोई एक अर्थ अपनाने के लिए सहायक हो सकता है और अक्सर होता भी है और जैसा कि मैं ऊपर उल्लेख कर चुका हूं, परिणामों का प्रयोग न्यायालय इसी रूप में कर सकता है।

श्री सीरवाई ने पंजाब राज्य बनाम अजायब सिंह(2) वाले मामले का हवाला देते हुए न्यायाधिपति दास का निम्नलिखित मत उद्धृत किया—

"हम विद्वान् काउन्सेल की दलील से केवल इस सीमा तक ही सहमत हैं कि यदि अनुच्छेद की भाषा स्पष्ट और असंदिग्ध है और उसका केवल एक ही अर्थ निकलता है तो न्यायालय का यह कर्त्तव्य है कि वह उसी अर्थ को स्वीकार कर ले भले ही ऐसा अर्थ लगाने में असुविधा क्यों न हो। किन्तु यदि दो अर्थ निकाले जा सकते हों, तो न्यायालय को वही अर्थ अपनाना चाहिए जिससे संविधान का अनुपालन निर्बाध रूप से और सामंजस्यपूर्ण ढंग से किया जा सके। दूसरे ऐसे अर्थ

(1) (1948) 1 आल्ईआर 145, 159.
(2) (1953) एस० सी० आर० 254, 264.

को त्याग देना चाहिए जो अर्थहीनता उत्पन्न करे या विद्यमान विधि के सुस्थिर उपबन्धों को निष्फल करे।"

उन्होंने सीमा शुल्क कलक्टर, बड़ौदा बनाम दिग्विजयसिंहजी स्पिनिंग एण्ड वीविंग मिल्स लिमिटेड (1) वाले मामले में दिए गए विनिश्चय के निम्नलिखित पैरा का भी हवाला दिया—

"अर्थान्वयन का यह एक सुस्थिर नियम है कि यदि 'प्रश्नगत कानून की शब्दावली स्वयं में प्रमित और असंदिग्ध है तो उस शब्दावली का स्वाभाविक और साधारण अर्थ ही लगाया जाना पर्याप्त है। ऐसे मामले में स्वयं शब्दावली ही विधायी आशय प्रकट करती है।' अर्थान्वयन का यह सिद्धान्त भी सुस्थिर है कि जब विचाराधीन उपबन्ध के दो अर्थ लगाए जा सकते हों तो उस अर्थ को ही स्वीकार किया जाना चाहिए जो उस पद्धति के, जिसका विनियमन उस कानून द्वारा आशयित हो निर्बाध कार्यकरण के लिए सुसंगत हो और जिस अर्थ से अनिश्चितता उत्पन्न होती हो उसे अस्वीकार कर दिया जाना चाहिए।"

उन्होंने उपरोक्त अन्तिम दो मामलों का अवलम्ब लेते हुए यह तर्क पेश किया कि यदि हम 'संशोधन' शब्द का अर्थ सीमित कर देते हैं तो प्रणाली के कार्यकरण में अनिश्चितता, टकराव और शंकाएं उत्पन्न हो जाएंगी। परिणामस्वरूप हमें सीमित अर्थ नहीं लगाना चाहिए।

यदि संसद् को आक्षेपित संशोधन अधिनियम पारित करने की शक्ति प्राप्त है तो निस्सन्देह मुझे संसद् की बुद्धिमत्ता पर आपत्ति का कोई हक नहीं है, किन्तु यदि मेरे निर्वचन का वास्तविक परिणाम संसद् को मूल अधिकारों और ऊपर उल्लिखित बुनियादी रूपरेखा को निराकृत करने से रोकता है तो मेरे विचार से ऐसे निर्वचन से कोई अनिश्चितता, टकराव या शंका उत्पन्न होने की गुंजाइश नहीं है।

उन्होंने हमारा ध्यान बुद्धन सिंह बनाम नबी बख्श (2) वाले मामले में न्यायाधिपति हेगडे के निम्नलिखित मत की ओर आकर्षित किया—

"'वृत' शब्द के अर्थ पर विचार करने से पूर्व यह बता देना आवश्यक है कि हमें यह मानकर चलना चाहिए कि विधायक, जो जनता के प्रतिनिधि हैं, ऐसा विधान ही करते हैं जिसे समाज निष्पक्ष, स्वच्छ और न्यायोचित मानता है। प्रत्येक विधान का उद्देश्य लोक-कल्याण को आगे बढ़ाना है। दूसरे शब्दों में—जैसा कि क्राफोर्ड ने अपनी पुस्तक स्टेट्यूटरी कन्स्ट्रक्शन में कहा है—सम्पूर्ण विधान-प्रक्रिया न्याय एवं तर्क पर ही आश्रित है। परिणामस्वरूप जब बताया गया अर्थान्वयन क्रूर या हास्यास्पद हो या वह किसी भी दृष्टि से न्याय एवं तर्क की तत्समय विद्यमान विचारधाराओं के प्रतिकूल हो, तो अधिकतर मामलों में यही विदित होगा कि सम्बन्धित कानून का प्रकट या सुझाया गया अर्थ वह नहीं है जो विधायकों द्वारा आशयित है। यदि इस बात के लिए कोई आधार नहीं मिलता है कि कानून का क्रूर या हास्यास्पद प्रभाव विधानमण्डल द्वारा वस्तुतः आशयित था

(1) (1962) 1 एस० सी० आर० 896, 899.

(2) (1970) 2 एस० सी० आर० 10, 15-16=[1970] 3 उम० नि० प० 37.

तो इस तर्क को स्वीकार नहीं किया जा सकता है कि वह विधायी आशय प्रकट करता है।"

मेरी समझ से उक्त मत प्रत्यर्थियों की सहायता न करके उनके विरोधी हैं और जब मैं पच्चीसवें संशोधन के निर्वचन के प्रश्न पर विचार करूंगा उस समय मैं उक्त मतों को ध्यान में रख कर उसका निर्वचन करूंगा।

श्री सीरवाई तथा विद्वान् महान्यायवादी ने संयुक्त राज्य अमरीका के अनुच्छेद 5 और कुछ राज्यों के संविधानों के निर्वचन से सम्बन्धित संयुक्त राज्य अमरीका के सुप्रीम कोर्ट, फेडरल कोर्ट और राज्य-न्यायालयों के विनिश्चयों का गम्भीरता से अवलम्ब लिया है। दूसरी ओर श्री पालखीवाला ने अपने मत के समर्थन में कुछ राज्य-विनिश्चयों का अवलम्ब लिया है।

संयुक्त राज्य अमरीका के संविधान का अनुच्छेद 5 हमारे संविधान के अनुच्छेद 368 से बहुत कुछ भिन्न है। हवाले को सुकर बनाने की दृष्टि से अनुच्छेद 5 का उद्धरण लाभकर होगा—

*"जब भी दोनों सदन अपने दो तिहाई बहुमत से ऐसा करना आवश्यक समझें, कांग्रेस इस संविधान में संशोधन प्रस्तावित करेगी या राज्यों के दो-तिहाई विधानमण्डलों द्वारा आवेदन किए जाने पर कांग्रेस संशोधन प्रस्तावित करने के लिए कन्वेन्शन बुलाएगी और ऐसा प्रस्तावित संशोधन विभिन्न राज्यों के तीन चौथाई विधानमण्डलों द्वारा या कन्वेन्शन में उनके तीन-चौथाई बहुमत से अनुसमर्थित हो जाने पर अनुसमर्थन के दो तरीकों में से जिसे कांग्रेस प्रस्तावित करे उसके द्वारा समर्थित हो जाने पर दोनों ही दशाओं में सभी आशयों और प्रयोजनों के लिए इस संविधान के भाग के रूप में विधिमान्य होगा;

परन्तु यह कि ऐसा कोई भी संशोधन जो 1808 से पूर्व किया जाए, किसी भी प्रकार प्रथम अनुच्छेद की नवीं धारा के प्रथम और चतुर्थ खण्ड को प्रभावित

---

*अंग्रेजी में यह इस प्रकार है—

"The Congress, whenever two thirds of both Houses shall deem it necessary, shall propose amendments to this Constitution, or, on the application of the Legislatures of two thirds of several States, shall call a convention for proposing amendments, which, in either case, shall be valid to all intents and purposes, as part of this Constitution, when ratified by the Legislatures of three forths of the several States, or by convention in three forth thereof, as the one or the other mode of ratification may be proposed by the Congress:

Provided that no amendment which may be made prior to the year one thousand eight hundred and eight shall in any manner affect the first and fourth clauses in the ninth section

नहीं करेगा और यह कि किसी भी राज्य को, उसकी सम्मति के बिना, सीनेट में समान मतदान करने के उसके अधिकार से वंचित न किया जाएगा।"

यह स्पष्ट है कि अनुच्छेद 5 संविधान के संशोधन के लिए दो प्रक्रम उपबन्धित करता है। प्रथम प्रक्रम है संशोधन का प्रस्ताव और दूसरा प्रक्रम है प्रस्ताव का अनुसमर्थन। प्रस्ताव या तो कांग्रेस के दोनों सदनों के दो-तिहाई बहुमत से रखा जा सकता है या विभिन्न राज्यों के दो-तिहाई विधानमण्डलों के आवेदन पर कांग्रेस द्वारा बुलाए गए कन्वेन्शन द्वारा रखा जा सकता है।

कांग्रेस यह तय करती है कि दोनों में से कौन-सा निकाय प्रस्ताव का अनुसमर्थन करेगा। यह या तो तीन-चौथाई राज्यों के विधानमण्डल हो सकते हैं या तीन-चौथाई राज्यों का कन्वेन्शन हो सकता है।

यदि प्रस्ताव कन्वेन्शन ने रखा हो और उसका तीन चौथाई राज्यों ने कन्वेन्शन में अनुसमर्थन कर दिया हो तो इस बारे में कोई सन्देह नहीं हो सकता है कि संशोधन जनता ने किया है। इसी प्रकार यदि प्रस्ताव कांग्रेस ने किया है और अनुसमर्थन कन्वेन्शन ने किया है तो भी यही समझा जाएगा कि संविधान में संशोधन जनता ने किया है। इस संदर्भ में कांग्रेस द्वारा प्रस्ताव और राज्य के तीन-चौथाई विधानमण्डलों द्वारा अनुसमर्थन को जनता द्वारा की गई कार्यवाही माना जा सकता है। किन्तु ध्यान देने योग्य बात यह है कि कांग्रेस, जो एक परिसंघीय विधानमण्डल है, स्वयं संविधान संशोधित नहीं करती है।

भारत में स्थिति भिन्न है। यहां संसद् को ही, जो परिसंघीय विधानमण्डल है संविधान संशोधित करने की शक्ति दी गई है, किन्तु संशोधन परन्तुक में उल्लिखित विषयों की बाबत नहीं किया जा सकता है। मैं यह पुनः बता दूं कि मूल अधिकार सहित अन्य बहुत से महत्त्वपूर्ण उपबन्ध परन्तुक में उल्लिखित नहीं हैं। क्या हम कह सकते हैं कि संसद् द्वारा किया गया संशोधन जनता द्वारा किया गया संशोधन है। यह एक ऐसी बात है जिसे चौबीसवें संशोधन से पूर्व यथा विद्यमान अनुच्छेद 368 में प्रयुक्त 'इस संविधान के संशोधन' पद का सही अर्थ लगाते समय ध्यान में रखना होगा।

संयुक्त राज्य अमरीका का अनुच्छेद 5 अनुच्छेद 368 से एक और दृष्टि से भी भिन्न है। उसके द्वारा संशोधन-शक्ति पर अभिव्यक्त निर्बन्धन लगा दिए गए हैं। प्रथम निर्बन्धन, जो अब अप्रभावी हो गया है, प्रथम अनुच्छेद की नवीं धारा के प्रथम और चतुर्थ खण्डों के बारे में है और द्वितीय निर्बन्धन सीनेट में राज्य को उसके मताधिकार से, उसकी सम्मति के बिना, वंचित करने से सम्बन्धित है। अनुच्छेद 368 की तुलना में अनुच्छेद 5 में उपरोक्त व्यापक अन्तर होने के अलावा, भारत का संविधान ऐसी कई बातों में उससे भिन्न है जो संविधान संशोधित करने की संसद् की शक्ति के विस्तार से सम्बन्धित हैं। संक्षेप में वे इस प्रकार हैं— स्वाधीनता-संग्राम की पृष्ठभूमि, इस संग्राम के दौरान अभिव्यक्त विभिन्न राष्ट्रीय भावनाएं, 22 जनवरी, 1947 के 'आब्जेक्टिव रेज़ोल्यूशन' (उद्देश्यों का संकल्प) में यथा उल्लिखित राष्ट्रीय उद्देश्य और प्रस्तावना, भारत-राष्ट्र का

---

of the first article, and that no State, without its consent shall be deprived of its equal suffrage in the Senate."

जटिल ढांचा, जिसमें विभिन्न जातियां, धर्म और भाषाएं तथा आर्थिक-विकास के विभिन्न प्रक्रम सम्मिलित हैं। संयुक्त राज्य अमरीका में राज्यों का अपना-अपना संविधान है। उन्हें परिसंघीय संविधान के अनुकूल अपने संविधान में संशोधन करने का अधिकार है। भारत में राज्य, संविधान का वह भाग संशोधित नहीं कर सकते हैं जिसके अधीन उनका गठन किया गया है। उन्हें कुछ विनिर्दिष्ट विषयों पर विधान करने की शक्ति प्राप्त है। अवशिष्ट शक्तियां संसद् में विहित हैं।

संयुक्त राज्य अमरीका के सुप्रीम कोर्ट के विनिश्चयों का हवाला देने से पूर्व मैं यह कहना चाहूंगा कि उस न्यायालय के समक्ष अभी तक ऐसा प्रश्न उत्पन्न नहीं हुआ है जैसा कि हमारे समक्ष मौजूद है। क्या अनुच्छेद 368 के अधीन अपनी शक्ति के प्रयोग में संसद् अनिवार्य बुनियादी तत्वों और एक मूल अधिकार के पश्चात् दूसरा मूल अधिकार, जिसमें वाक्-स्वातन्त्र्य धार्मिक स्वातन्त्र्य, जीवन-स्वातन्त्र्य सम्मिलित है, निराकृत कर सकती है? अमरीकी विनिश्चय इस संदर्भ में सहायक हो सकते थे यदि उक्त मौलिक प्रश्न उसके समक्ष उठाए गए होते और यदि परिसंघीय संविधान संशोधित करने की शक्ति कांग्रेस के दो-तिहाई बहुमत को उपलब्ध होती।

हॉक्स बनाम स्मिथ [1] में न्यायालय के समक्ष प्रश्न यह था कि क्या राज्य संविधान के अनुच्छेद 5 के अधीन प्रस्थापनाओं का अनुसमर्थन करते समय अनुच्छेद 5 में उल्लिखित अनुसमर्थन की रीतियों का (अर्थात् कांग्रेस द्वारा यथा विनिश्चित विधानमण्डलों द्वारा या कन्वेन्शनों में) ही अनुसरण करेंगे, अथवा क्या वे प्रस्तावित संशोधन का अनुसमर्थन अपने संविधानों या कानूनों में उल्लिखित जनमत-संग्रह (रेफरेण्डम) सम्बन्धी उपबन्धों के अनुसार करेंगे।

न्यायालय ने अभिनिर्धारित किया कि "अनुसमर्थन की रीति तय करना ऐसी राष्ट्रीय शक्ति का प्रयोग है जो संविधान द्वारा विनिर्दिष्टत: प्रदान की गई है "और" "अनुच्छेद की भाषा स्पष्ट है और उसका निर्वचन करने में कोई सन्देह पैदा नहीं होता है।" न्यायालय ने यह भी तय किया कि यह शक्ति कांग्रेस को दी गई है और इसका केवल दो प्रकार से ही प्रयोग किया जा सकता है, अर्थात्, राज्यों के तीन चौथाई विधानमण्डलों द्वारा या तीन-चौथाई राज्यों में कन्वेन्शन द्वारा।

न्यायालय ने यह भी विनिश्चित किया कि परिसंघीय संविधान में प्रस्तावित संशोधन के अनुसमर्थन की शक्ति का स्रोत परिसंघीय संविधान ही है और राज्य द्वारा अनुसमर्थन का कार्य उसी परिसंघीय संविधान द्वारा प्राधिकृत है, जिसे राज्य और उसकी जनता, दोनों की ही अनुमति (एसेण्ट) प्राप्त है।

उक्त मामला संविधान के अनुच्छेद 368 के निर्वचन में हमारी सहायता नहीं कर सकता है।

अब हम सुप्रीम कोर्ट द्वारा विनिश्चित र्होड आइसलैण्ड बनाम पालमर [2] वाले मामले पर विचार करेंगे। यह मामला अठारहवें संशोधन और राष्ट्रीय प्रतिषेध विधि (वोल्स्टेड ऐक्ट) के कुछ सामान्य लक्षणों की विधिमान्यता से सम्बन्धित था। न्यायालय

(1) 64 लॉयर्स इडिशन 871.

(2) 64 लॉयर्स इडिशन 946.

ने अपने निष्कर्ष-आधार नहीं बताए थे। निष्कर्षों में से निष्कर्ष संख्या 4 और 5 हमारे प्रयोजन के लिए सुसंगत हो सकते हैं। विद्वान् काउन्सेल ने उक्त निष्कर्षों का आधार की गई बहस (जो 64 लॉयर्स इडिशन में प्रतिवेदित है) और 264 फेडरल रिपोर्ट्स 186 में विद्वान् न्यायाधिपति द्वारा व्यक्त कारण बताया है, किन्तु उक्त विनिश्चय सुप्रीम कोर्ट ने उलट कर अप्रत्यक्ष रूप में अस्वीकार कर दिया है।

काउन्सेल ने अपने उक्त तर्क के समर्थन में विद्वान् अमरीकी लेखकों का यह मत उद्धृत किया है कि अट्ठारहवें संशोधन की विधिमान्यता के विरुद्ध तर्क अस्वीकार कर दिए गए हैं, भले ही अस्वीकृति के कारण नहीं बताए गए हैं। मैं संयुक्त राज्य अमरीका के सुप्रीम कोर्ट के न्यायाधिपतियों का आदर करता हूं, किन्तु यदि उन्होंने निर्णय-आधार नहीं उल्लिखित किए हैं तो विनिश्चय आधार (रेशियो) सुनिश्चित करना कठिन हो जाता है। विनिश्चय यदि न भी होता तो भी मैं अट्ठारहवें संशोधन को विधिमान्य अभिनिर्धारित कर देता, बशर्ते कि यह संशोधन हमारी संसद् ने किया होता और हमारे संविधान में जोड़ दिया होता, क्योंकि मेरे मत से ऐसे संशोधन द्वारा न तो मूल अधिकार ही छिनते हैं और न संविधान के बुनियादी ढांचे में ही ऐसा कोई परिवर्तन होता है जिससे कि संशोधन प्रस्तावना या संविधान की बुनियादी रूपरेखा के बाहर हो जाए।

यूनाईटेड स्टेट्स ऑफ अमरीका बनाम विलियम एच० सोरेस (¹) भी अट्ठारहवें संशोधन से सम्बन्धित था। डिस्ट्रिक्ट कोर्ट ने अभिनिर्धारित किया था कि अट्ठारहवें संशोधन को उचित अनुसमर्थन नहीं मिला है, अतः वह संविधान का अंग नहीं हो सकता है। सुप्रीम कोर्ट के समक्ष प्रत्यर्थियों की दलील यह थी कि यद्यपि अनुच्छेद 5 की जिसके द्वारा अनुसमर्थन की रीति, अर्थात् अनुसमर्थन विधानमण्डलों द्वारा होगा या कन्वेन्शन द्वारा, तय करने की बाबत कांग्रेस को शक्ति प्रदान की गई है, भाषा स्पष्ट है फिर भी इस संशोधन का अनुसमर्थन कन्वेन्शन ही कर सकता था। प्रत्यर्थियों ने यह निवेदन किया कि संशोधन दो प्रकार के होते हैं। एक तो वे जो परिसंघीय स्रोत या तन्त्र की प्रकृति में परिवर्तन करते हैं और दूसरे वे जो नागरिकों की स्वतन्त्रता को प्रभावित करने वाले विषयों में परिवर्तन करते हैं। उक्त दोनों प्रकार के परिवर्तनों में अन्तर है। उक्त मामले में संशोधन-शक्ति की सीमा की बाबत कोई प्रश्न उत्पन्न नहीं हुआ था। दूसरे शब्दों में उक्त मामले में यह प्रश्न नहीं उठाया गया था कि संशोधन की विषय-वस्तु संविधान के अनुच्छेद 5 के अन्तर्गत है या नहीं।

न्यायालय ने यह निर्णय दिया कि अनुसमर्थन की रीति की बाबत विकल्प पूर्णतः कांग्रेस के विवेक पर आधारित है। उनका मत था—

> "अनुच्छेद 5, संविधान के मूल प्रारूप के ही एक भाग के रूप में कन्वेन्शन में एकत्रित जनता के समक्ष रखा गया था। उन्होंने संशोधन के अनुसमर्थन की रीति तय करने की बाबत असित स्वेच्छा से कांग्रेस को दी थी। जब तक वह अनुच्छेद संशोधित नहीं कर दिया जाता तब तक अनुसमर्थन की रीति तय करने के लिए जनता के प्रत्यायुक्त-अभिकर्ता (डेलीगेटेड एजेण्ट) के रूप में कांग्रेस ही कार्य करती रहेगी।"

(¹) 75 लॉयर्स इडिशन 640.

न्यायालय ने यह भी निर्णय दिया कि अट्ठारहवां संशोधन जनता द्वारा अनुच्छेद 5 के अधीन कांग्रेस को प्रत्यायोजित कृत्यों को सीमित या विशिष्टत: प्रभावित नहीं करता है।

मेरे विचार से उक्त मामला प्रत्यर्थियों के लिए किसी भी प्रकार से सहायक नहीं हो सकता है। अनुच्छेद की स्पष्ट भाषा के आधार पर न्यायालय इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि अनुसमर्थन की रीति की बाबत विकल्प कांग्रेस को सौंपा गया है। ऐसा कोई प्रश्न प्रस्तुत मामले में विचाराधीन नहीं है।

श्री सीरवाई ने यह तर्क दिया कि डिस्ट्रिक्ट कोर्ट के निर्णय से यह दर्शित होता है कि संविधान के अट्ठारहवें संशोधन की अविधिमान्यता दो प्रकार के आधारों पर आश्रित है; प्रथम प्रकार में वे आधार आते हैं जो, अमेण्डमेण्ट (संशोधन) शब्द के अर्थ और दशम संशोधन या परिसंघीय पद्धति की प्रकृति का संविधान के अनुच्छेद 5 पर प्रभाव, से सम्बन्धित हैं, और यह कि अनुच्छेद 5 द्वारा कन्वेन्शन या विधानमण्डल द्वारा अनुसमर्थन की दो वैकल्पिक रीतियां विहित करने से यह दर्शित होता है कि जब संशोधन जनता के अधिकारों को प्रभावित करता हो तो उसका अनुसमर्थन कन्वेन्शन द्वारा ही होना चाहिए। द्वितीय प्रकार के आधार वे हैं जिनके आधार पर डिस्ट्रिक्ट कोर्ट ने अट्ठारहवां संशोधन अविधिमान्य घोषित किया है। उनका मत था कि "संशोधन का सार, और परिणामस्वरूप पूर्णतः नए संविधान का सार, सरकार की विद्यमान न्यायिक शाखा द्वारा अभिनिर्धारित राजनीति-शास्त्र, समाज-शास्त्र, अर्थशास्त्र आदि के विशिष्ट सिद्धान्तों के अनुरूप होना चाहिए।"

तत्पश्चात् उन्होंने बताया कि काउन्सेल ने द्वितीय ग्रुप में उल्लिखित आधार, जो बहुत कुछ श्री पालखीवाला के तर्क के अनुरूप ही हैं; सुप्रीम कोर्ट के समक्ष प्रस्तुत नहीं किए थे और इसलिए इन आधारों को हमें पूर्णत: अस्वीकार्य मानना चाहिए। किन्तु मेरे विचार से श्री पालखीवाला के तर्क द्वितीय ग्रुप में उल्लिखित आधारों के अनुरूप नहीं हैं। यह सच है कि मरबरी के - "दि लिमिटेशन्स अपॉन दि अमेण्डिंग पॉवर, 33 हारवर्ड लॉ रिव्यू 232"; और मैक गोरनी के—"इज दि एट्टीन्थ अमेण्डमेण्ट वॉयड बिकाज ऑफ इट्स कण्टेण्ट्स ?" 20 कोलिम्स लॉ रिव्यू 499 जैसे लेख मेरे समक्ष रखे गए थे किन्तु उनका प्रयोजन कुछ और ही था। वस्तुत: जिला न्यायाधीश ने उक्त लेखकों की आलोचना करते हुए कहा था कि ये लेखक "संशोधन के सार की सांविधानिकता पर विचार करने में" फंस गए थे। यही प्रश्न हमारे समक्ष भी पेश है। जिला न्यायाधीश का मत था कि उक्त सार या विषय-वस्तु और उसे अंगीकार करने की रीति के बीच विद्यमान सम्बन्ध के कारण उसका सम्बन्ध अट्ठारहवें संशोधन की विषय-वस्तु से था (पृष्ठ 969)।

मैं संशोधन की विधिमान्यता की परख राजनीतिशास्त्र, समाजशास्त्र या अर्थशास्त्र के किसी विशिष्ट सिद्धान्त के आधार पर नहीं कर सकता हूं। हमारे संविधान को ऐसी कोई भी पार्टी कार्यान्वित कर सकती है जिसकी प्रजातान्त्रिक संस्थाओं में आस्था हो। कसौटी तो संविधान-निर्माताओं का आशय ही है। यह आशय संविधान से और जिन परिस्थितियों में वह प्रारूपित या अभिनियमित किया गया है, उन परिस्थितियों से प्रकट हो सकता है।

पिटीशनरों और प्रत्यर्थियों, दोनों ने ही, राज्य-न्यायालयों के अनेक विनिश्चयों का हवाला दिया है, किन्तु राज्यों के संविधान के प्रारूपण की शर्तें और परिस्थितियां

इतनी भिन्न हैं कि उक्त विनिश्चय हमारे कार्य में सहायक नहीं हो सकते हैं। तथ्यतः संविधान में संशोधन सदैव जनता ही करती है।

संविधान संशोधित करने की शक्ति की बाबत ये विनिश्चय अधिक सहायक नहीं हैं क्योंकि "राज्य के संविधान में संशोधन अन्ततः जनता के मतदान से ही होता है—इसमें कोई अपवाद नहीं है। साधारणतया प्रस्तावित संशोधन जनता के अनुमोदन या निरनुमोदन के लिए दो रूपों में उसके पास भेजा जाता है—सम्पूर्ण दस्तावेज के पुनरीक्षण के स्पष्ट उद्देश्य से जनता द्वारा चुने गए प्रतिनिधियों के कन्वेन्शन के समक्ष रख कर या संविधान के विशिष्ट विषयों को संशोधित करने के लिए विधानमण्डलों द्वारा (अपने द्वारा अनुमोदित) प्रस्थापना रख कर। किन्तु कुछ राज्यों में सांविधानिक संशोधन विधानमण्डल के बाहर नागरिकों के विधि निर्माण के अधिकार (इनिशिएटिव) और लोकमत-संग्रह की कार्यवाही के अधीन प्रस्तावित किए जा सकते हैं, और राज्य के संविधान में संशोधन करने के लिए उक्त कार्यवाही के अधीन विधानमण्डल के बाहर नागरिकों के विधि निर्माण के अधिकार और लोकमत-संग्रह द्वारा कानूनों के पारित किए जाने की प्रक्रिया की अपेक्षाओं का अनुसरण किया जाता है।" (अमरीकन ज्यूरिसप्रूडेन्स खण्ड 16, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ 201)। टिप्पण संख्या 9 में निम्नलिखित कथन किया गया है—

> "सांविधानिक संशोधन का अनुसमर्थन या संविधान-संशोधित करने की प्रक्रिया का एक अति महत्वपूर्ण तत्व है।" (टाउन बनाम स्टूल्स–208 जी ए 838, 69 एस ई द्वितीय संस्करण 742)। यह प्रश्न, कि क्या सांविधानिक शर्तों के अनुसार जनता अपनी संशोधन-शक्ति किसी अन्य को प्रत्यायोजित (डेलीगेट) कर सकती है—उदाहरणार्थ किसी सांविधानिक कन्वेन्शन को—यह एक ऐसा प्रश्न है जिसके लिए कोई प्राधिकृत व्यवस्था नहीं है। दिलचस्प प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि क्या यह शक्ति विधानमण्डल को प्रत्यायोजित की जा सकती है, और यदि की जा सकती है तो क्या वह लिखत, जिसे संशोधित करने के लिए विधानमण्डल सशक्त होगा, संशोधन के पश्चात् भी सही अर्थों में संविधान बनी रहेगी।"

उक्त टिप्पण से यह स्पष्ट है कि जिन संविधानों द्वारा संशोधन की शक्ति संसद् को दी गई है उनके निर्वचन के लिए विनिश्चयों का हवाला देना निरर्थक है।

संविधान संशोधित करने की बाबत जनता और विधानमण्डल की शक्ति के बीच अन्तर है। यह अन्तर एक्स पारटि श्रीमती डी० सी० करबी([1]), में स्पष्ट किया गया है और यह मामला प्रत्यर्थी द्वारा उद्धृत मामलों में से एक है। न्यायालय की ओर से निर्णय देते हुए न्यायाधिपति मेक्कोर्ट ने एलम बनाम स्टेट वाले मामले से प्रभेद निम्न प्रकार किया है—

> "पिटीशनर ने केवल एक ही नजीर पेश की है जो इस दलील का समर्थन कर सकती है कि संविधान के अधिकार पत्र (बिल ऑफ राइट्स) सम्बन्धी उपबन्ध संशोधित नहीं किए जा सकते हैं (उक्त एलम बनाम स्टेट वाला मामला)। परीक्षा की जाने पर उक्त मामले से यह प्रकट होता है कि आर्कान के संविधान में यह उपबन्धित है कि "परन्तु यह है कि विधानमण्डल विहित प्रक्रिया का

([1]) 36 ए० एल० आर० 1451, 1455.

अनुपालन करके, प्रस्तावित संशोधन पर राज्य की जनता का मत प्राप्त किए बिना ही संविधान संशोधित कर सकता है और उस संविधान के अधिकार पत्र में एक ऐसा उपबन्ध था जो आर्कान के संविधान में नहीं था, अर्थात्—'इस अनुच्छेद का प्रत्येक उपबन्ध सरकार की सामान्य शक्ति से अपवादित है'।"

न्यायालय ने तय किया कि उक्त खण्ड द्वारा अधिकार पत्र सम्बन्धी उपबन्धों को, संशोधित करने के लिए विधानमण्डल को प्रत्यायोजित प्राधिकार से, बाहर कर दिया गया है और ऐसे संशोधन का अधिकार जनता के लिए आरक्षित कर दिया गया है, जिससे कि उक्त मामला इस बात के लिए एक निर्णायक व्यवस्था हो जाए कि ऐसे संशोधन स्वीकार करने का अधिकार जनता को ही प्राप्त है।

प्रस्तुत मामले और उक्त मामले के बीच स्पष्ट प्रभेद दर्शित किया जा सकता है, क्योंकि आर्कान के संविधान में किए गए संशोधन को प्रभावी बनाने के लिए यह आवश्यक है कि प्रत्येक प्रस्तावित संशोधन को राज्य के निर्वाचन के समय जनता के अभिलिखित मतदाताओं के बहुमत का समर्थन प्राप्त होना चाहिए और परिणामस्वरूप जब जनता संशोधन अनुमोदित करके स्वीकार कर ले तो ऐसा संशोधन किसी विशिष्ट विषय की बाबत जनता की इच्छा की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति हो जाता है, चाहे वह संशोधन जनता द्वारा प्रस्तावित किया गया हो चाहे विधायी संकल्प द्वारा।

मेरे समक्ष एलम बनाम स्टेट में दिया गया विनिश्चय प्रस्तुत नहीं किया गया है किन्तु पृष्ठ 1457 पर किए गए टिप्पण से यह प्रकट होता है कि यह बात स्वीकार की गई है कि सांविधानिक उपबन्ध निरसित किया जा सकता है बशर्ते कि ऐसा निरसन उचित रीति में, अर्थात् ऐसी जनता ने किया हो जिसे ऐसा करने का अविशेषित अधिकार प्राप्त है। न्यायालय ने कहा—

> "और जनता इस अविशेषित अधिकार का सांविधानिक प्रयोग साधारण सभा (जनरल असैम्बली) की विधायी कार्यवाही के माध्यम से विधि द्वारा यह उपबन्धित करा कर कर सकती है कि सरकार का पूर्णतः या भागतः पुनर्गठन या उसमें सुधार सम्पूर्ण जनता के कन्वेन्शन को बुला कर कराया जाए। और ऐसा कन्वेन्शन जब बुलाया जाए और उसे जनता की सम्पूर्ण प्रभु-शक्तियां (उन शक्तियों को छोड़कर जो परिसंघीय सरकार को प्रत्यायोजित कर दी गई हों) प्राप्त हों, अधिकार पत्र में घोषित सिद्धान्तों में से कोई भी सिद्धान्त साधिकार रद्द कर सकता है या उसे रूपान्तरित कर सकता है, बशर्ते कि परिसंघीय संविधान द्वारा उसे ऐसा करने से वर्जित न कर दिया गया हो।"

दोनों ही पक्षकारों ने सुविज्ञ और सुविख्यात लेखकों का हवाला दिया है। मैं उनके प्रति निर्देश करना लाभकर नहीं समझता हूं क्योंकि भारत के संविधान का निर्वचन उसके निबन्धनों और देश की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि एवं परिस्थितियों के अनुसार किया जाना चाहिए। भारत के संविधान की जो व्याख्या की गई है उसे उद्धृत करने से यह निर्णय बोझिल हो जाएगा। मैंने दोनों ही पक्षकारों की विस्तृत एवं महत्वपूर्ण बहस सुनी है और निर्वचन करने में मुझे अपना ही मस्तिष्क लगाना चाहिए।

विद्वान् महान्यायवादी ने हमारे समक्ष 71 संविधानों के उद्धरण प्रस्तुत किए हैं। इस गवेषणा की मैं प्रशंसा करता हूं किन्तु अनुच्छेद 368 के निर्वचन के लिए मेरे विचार से—यह सामग्री सहायक नहीं है। पहली बात तो यह है कि प्रत्येक संविधान की भाषा एवं स्वरूप भिन्न-भिन्न हैं। संयुक्त राज्य अमरीका में किए गए विनिश्चयों के अलावा ऐसे कोई अन्य न्यायिक विनिश्चय नहीं हैं जिनसे हमें इन संविधानों के संशोधन सम्बन्धी शब्दों का अर्थ लगाने में मार्गदर्शन प्राप्त हो सके। जब संसद् के एक अधिनियम पर आधारित तर्क उसी संसद् के दूसरे अधिनियम के सम्बन्ध में देना लाभकर नहीं होता है तो फिर एक संविधान पर आधारित तर्क अन्य पूर्णतः भिन्न संविधान के सम्बन्ध में देना और भी निरर्थक होगा [कमिश्नर ऑफ स्टाम्प्स स्ट्रेट्स सेटलमेण्ट्स बनाम ओइ ऑग स्वाम (1) और बैंक ऑफ टोरोण्टो बनाम लाम्बे (2) देखिए]।

बहस के दौरान काउन्सेल का ध्यान मैंने आयरलैण्ड के सुप्रीम कोर्ट के उस विनिश्चय की ओर आकर्षित किया जो उसने दि स्टेट (ऐट दि प्रासीक्यूशन ऑफ जुरेमिया रेयान) बनाम कैप्टेन माइकल लेनान और कुछ अन्य में दिया है और जिसका प्रत्यर्थियों ने बहुत सहारा लिया है। मैं यह बता दूं कि यह मामला गोलक नाथ वाले मामले की सुनवाई के समय न्यायपीठ के समक्ष उद्धृत नहीं किया गया था। इस मामले पर भली प्रकार विचार करने के पश्चात् मेरा यह विचार है कि वह एक भिन्न मामला है जो संविधान के अनुच्छेद 368 के निर्वचन के लिए कोई मार्गदर्शन नहीं करता है।

आयरलैण्ड के संविधान के अनुच्छेद 50 और भारत के संविधान के अनुच्छेद 368 के बीच अन्तर समझने के लिए असंशोधित अनुच्छेद 50 का उद्धरण आवश्यक है। वह इस प्रकार था—

*"50 अनुसूचित-सन्धि के निबन्धनों के अनुसार इस संविधान को आरिक्टास द्वारा संशोधित किया जा सकता है, किन्तु ऐसा कोई भी संशोधन, जो आरिक्टास के दोनों सदनों द्वारा पारित कर दिया गया हो, इस संविधान के प्रवर्तन की तारीख से आठ वर्ष बीत जाने के पश्चात् तब तक वैध नहीं माना जाएगा जब तक कि वह आरिक्टास के दोनों सदनों द्वारा पारित हो जाने या पारित हो गए समझे जाने के पश्चात्, जनता के लोकमत-संग्रह के लिए प्रस्तुत न कर दिया गया हो और जब तक कि रजिस्टर में दर्ज मतदाताओं के बहुमत ने

---

*अंग्रेजी में यह इस प्रकार है—

"50. Amendments of this Constitution within the Scheduled Treaty may be made by the Oireachtas, but no such amendment, passed by both Houses of the Oireachast, after the expiration of a period of eight years from the date of the coming into operation of this Constitution, shall become law, unless the same shall, after it has been passed or deemed to have been passed by the said two Houses of the Oireachtas, have been submitted to a Referendum of the people, and unless a majority of the voters on

---

(1) (1933) ए० सी० 378, 389.

(2) (1887) 12 ए० सी० 575, 587.

लोकमत-संग्रह में अपना मत न दे दिया हो और जब तक कि या तो रजिस्ट्रीकृत मतदाताओं का बहुमत या फिर कुल डाले गए मतों के दो-तिहाई मत ऐसे संशोधन के हक में न पड़े हों। उक्त आठ वर्ष की कालावधि में ऐसा कोई भी संशोधन साधारण विधायी प्रक्रिया द्वारा किया जा सकता है और वह अनुच्छेद 47 के उपबन्धों के अधीन होगा।"

यह ध्यान देने योग्य बात है कि उक्त अनुच्छेद में उल्लिखित आठ वर्ष की कालावधि के बीत जाने के पश्चात् संशोधन-शक्ति आरिचटास के पास नहीं रह गई थी, क्योंकि उस कालावधि के पश्चात् प्रत्येक संशोधन का आरिचटास के दोनों सदनों द्वारा पारित होना और तत्पश्चात् लोकमत-संग्रह के लिए प्रस्तुत किया जाना अनिवार्य कर दिया गया था। लोकमत संग्रह की शर्त यह थी कि ऐसे संग्रह में, रजिस्ट्रीकृत मतदाताओं के बहुमत ने मतदान किया हो और या तो रजिस्ट्रीकृत मतदाताओं का बहुमत या फिर डाले गए कुल मतों के दो-तिहाई मत ऐसे संशोधन के हक में पड़े हों अतः आठ वर्ष बीत जाने के पश्चात् संशोधन स्वयं जनता ही कर सकती थी। संशोधन-प्रक्रिया से जनता का ऐसा कोई सीधा सम्बन्ध अनुच्छेद 368 द्वारा नहीं जोड़ा गया है।

आयरलैण्ड के संविधान और भारत के संविधान के बीच एक और भी अन्तर है। उसमें ऐसा कोई भी अध्याय नहीं है जिसका शीर्षक मूल अधिकार हो। अनुच्छेद 32 जैसा कोई प्रत्याभूत (गारण्टीड) उपबन्ध भी उसमें नहीं है। आयरलैण्ड के संविधान में 'मूल अधिकार' पद का आशय लोप किया गया है। (बरा 'ओ' ब्रिएन के आयरिश कांस्टिट्यूशन के पृष्ठ 67 का टिप्पण 9 देखिए)। इसी प्रकार आयरलैण्ड के संविधान में धार्मिक या अन्य अल्पसंख्यकों को कोई भी प्रत्याभूति नहीं दी गई है।

यह भी ध्यान देने की बात है कि प्रथम आठ वर्षों में संशोधन साधारण विधायी प्रक्रिया द्वारा किए जा सकते थे। षष्ठ संशोधन से इस अनुच्छेद में से "और यह अनुच्छेद 47 के उपबन्धों के अधीन होगा" पद निकाल दिया गया है। दूसरे शब्दों में, प्रथम आठ वर्ष तक उक्त संविधान नमनीय (फ्लेक्सिबल) संविधान था, परिणामस्वरूप सांविधानिक संशोधन के लिए कोई विशिष्ट प्रक्रिया आवश्यक नहीं थी।

दो संविधानों में उक्त अन्तर को ध्यान में रखते हुए अब मैं सुप्रीम कोर्ट के वास्तविक विनिश्चय पर विचार करूंगा। हाई कोर्ट और सुप्रीम कोर्ट का सम्बन्ध, संविधान के उपबन्धों को ध्यान में रखते हुए, संविधान (संशोधन संख्या 17) अधिनियम, 1931 (1931 का 37) की विधिमान्यता से था। उक्त अधिनियम की विधिमान्यता संविधान (संशोधन संख्या 10) अधिनियम, 1928 (1928 का 8) और संविधान (संशोधन संख्या 16) अधिनियम, 1929 (1929 का 10) की विधिमान्यता पर आधारित थी।

---

the register, or two-thirds of the votes recorded, shall have been cast in favour of such amendment. Any such amendment may be made within the said period of eight years by way of ordinary legislation, and as such shall be subject to the provisions of art. 47 thereof."

संविधान (संशोधन संख्या 17) अधिनियम, 1931 आरिचटास के अधिनियम के रूप में 17 अक्तूबर, 1931 को, अर्थात् संविधान के मूल अनुच्छेद 50 में उल्लिखित आठ वर्ष के बीत जाने के लगभग 11 महीने पश्चात् पारित हुआ था। उक्त संशोधन लोकमत-संग्रह के लिए प्रस्तुत नहीं किया गया था। उसका विस्तृत नाम था "जनता के अधिकारों के संरक्षण के लिए बेहतर उपबन्ध करने और अव्यवस्था का मुकाबला करने के लिए उपबन्ध विहित करने के उद्देश्य से संविधान में एक नया अनुच्छेद जोड़ कर उसे संशोधित करने के लिए अधिनियम" (Act to amend the Constitution by inserting therein an Artile making better provision for safeguarding the rights of the people and containing provisions for meeting a prevalence of disorder.) निस्संदेह इस संशोधन का प्रभाव आयरलैण्ड के संविधान द्वारा प्रदत्त विभिन्न मानवीय अधिकारों पर पड़ा था।

संविधान (संशोधन संख्या 10) अधिनियम, 1928 (1928 का 8) द्वारा संविधान के अनुच्छेद 47 और 48 और मूल अनुच्छेद 50 का अन्तिम अंश "यह अनुच्छेद 47 के उपबन्धों के अध्यधीन होगा" हटा दिया गया। संविधान (संशोधन संख्या 16) अधिनियम, 1929 (1929 का 10) का आशय संविधान के अनुच्छेद 50 में प्रयुक्त "आठ वर्ष" पद के स्थान पर "सोलह वर्ष" पद रखना था।

हाई कोर्ट ने आक्षेपित उक्त संशोधन विधिमान्य अभिनिर्धारित कर दिया। न्यायाधिपति सुलीवान पी० ने एडवर्ड्स बनाम अटर्नी जनरल ऑफ कनाडा(1) वाले मामले का व्यापक रूप से अवलम्ब लेते हुए अनुच्छेद 50 में प्रयुक्त "संशोधन" शब्द का निर्वचन किया। न्यायाधिपति मियरडिथ ने इस तथ्य का अवलम्ब लिया कि प्रथम आठ वर्ष के दौरान वाली संशोधन शक्ति आठ वर्ष के पश्चात् वाली संशोधन-शक्ति परस्पर समविस्तीर्ण (को एक्सटेण्टिव) हैं और उनके विचार से प्राथमिक (प्राइमरी) महत्व के अनुच्छेद और द्वितीयक (सेकण्डरी) महत्व के अनुच्छेद के बीच कोई अन्तर नहीं है। न्यायाधिपति ओ'बाइरने के अनुसार 'संशोधन' (अमेण्डमेण्ट) और "संशोधित या निरसित" (अमेण्ड आर रिपील) पद के बीच कोई अन्तर नहीं है।

सुप्रीम कोर्ट में मुख्य न्यायाधिपति ने इस तथ्य को महत्व दिया कि "संविधान, संविधान-सभा के रूप में आसीन थर्ड डायल ने, न कि आरिचटास ने, जिसे स्वयं संविधान ने सृष्ट किया है—अधिनियमित किया है।" उन्होंने बताया कि संविधान में तीन परिसीमाएं (लिमिटेशन) हैं। प्रथम सर्वोपरि परिसीमा का वर्णन उन्होंने निम्न प्रकार किया है—

> "संविधान सभा ने संविधान-अधिनियम में सबसे पहले यह घोषित किया है कि जनता को सभी विधिक अधिकार ईश्वर से प्राप्त होते हैं और संविधान के अनुच्छेद 2 द्वारा यह घोषित किया गया है कि 'आयरलैण्ड की सरकार की सभी शक्तियां और सभी प्राधिकार—विधायी, कार्यपालक और न्यायिक—आयरलैण्ड की जनता से प्राप्त हुए हैं'……" (पृष्ठ 204)

परिसीमा इस प्रकार समझी गई है—"इसका अर्थ है कि संविधान के अधीन विधिपूर्ण होने के लिए यह आवश्यक है कि प्रत्येक कार्य, चाहे वह विधायी कार्य हो या

(1) 1930 ए० सी० 124.

जो कार्यपालक अथवा न्यायिक, ऐसे प्राधिकार के अधीन न्यायोचित ठहराया जा सकता हो, जिसकी बाबत यह कहा गया हो कि वह ईश्वर से प्राप्त प्राधिकार है।"

उक्त परिसीमा जहां तक कि वह आयरिश राज्य में व्याप्त इस विश्वास से उत्पन्न होती है कि जनता को सभी विधिपूर्ण प्राधिकार ईश्वर से प्राप्त हुए हैं, हमारे संविधान को लागू नहीं हो सकती है।

दूसरी परिसीमा उन्होंने आयरिश फ्री स्टेट ऐक्ट की धारा 2 और आयरलैण्ड के संविधान के अनुच्छेद 50 से उत्पन्न मानी है। वह परिसीमा यह है कि अनुसूचित सन्धि के प्रतिकूल संशोधन शून्य एवं अप्रवर्तनीय होगा।

तीसरी परिभाषा इस प्रकार है—

"अत: संविधान-सभा के रूप में तृतीय डायल ने अपने सर्वोच्च प्राधिकार से अपने द्वारा अधिनियमित संविधान के सम्बन्ध में कतिपय सिद्धान्त घोषित किए हैं और उनकी स्वीकृति प्रख्यापित की है, और ऐसी घोषणा ऐसी भाषा में की है जो असंदिग्ध रूप से यह स्पष्ट करती है कि वे ऐसे शासी-सिद्धान्त हैं जो आधारभूत और अनन्य हैं (अभिव्यक्त रूप से विशेषित सिद्धान्तों को छोड़ कर) और परिणामस्वरूप वे सनातन हैं। क्या एआक्तोस को प्रदत्त संशोधन-शक्ति का प्रयोग विधिपूर्वक इस प्रकार किया जा सकता है कि उससे उक्त सिद्धान्तों का, ऐसे सिद्धान्तों के रूप में जिन्हें एआक्तोस संशोधित नहीं कर सकता है, अतिक्रमण हो? मेरे विचार से इस प्रश्न का एक यही उत्तर हो सकता है कि संविधान-सभा की बाबत यह धारणा नहीं की जा सकती है कि उसने एक ओर तो कुछ सिद्धान्तों को बुनियादी एवं सनातन घोषित किया है, अथवा यही भाव अन्य शब्दों में व्यक्त किया जा सकता है, अर्थात् उन्हें अनुल्लंघनीय घोषित किया है, और दूसरी ओर एआक्तोस को उनके अतिक्रमण या परिवर्तन की शक्ति प्रदान कर दी है। मेरे विचार से संविधान सभा द्वारा प्रदत्त शक्ति के अधीन संविधान का किया गया तात्पर्यित ऐसा हर संशोधन, जो इस प्रकार घोषित मूल सिद्धान्तों का अतिक्रमण करता है या उनके प्रतिकूल है, अनिवार्यत: उक्त शक्ति से परे और अविधिमान्य तथा शून्य है।" (पृष्ठ 209)

उन्होंने आगे कहा कि उक्त परिसीमाएं आठ वर्ष की अवधि समाप्त हो जाने के पश्चात् भी लागू होंगी। उन्होंने कहा—

"मैं ऐसे संशोधनों के सम्बन्ध में संशोधन-शक्ति की परिसीमाओं पर विचार कर रहा हूं जो उक्त शक्ति के अन्दर नहीं आते हैं और जो सदैव इस बात के निरपेक्षत: कि संशोधन आठ वर्ष की आरम्भिक कालावधि में या उसके पश्चात् किया गया है अथवा किस प्रक्रिया से किया गया है, उससे बाहर रखे गए हैं"। (पृष्ठ 209)

तत्पश्चात् उन्होंने सोलहवें संशोधन की विधिमान्यता पर निम्नलिखित मत व्यक्त किया—

"अत: क्या संशोधन संख्या 16 को 1929 के अधिनियम संख्या 10 द्वारा विधिपूर्वक अधिनियमित किया गया है? उसकी विधिमान्यता पर आपत्ति दो प्रमुख आधारों पर की जा सकती है; (1) लोकमत संग्रह के प्रयोग का किसी

की दशा में प्रभावकारी रूप में विधिमान्यतया या अन्यथा समाप्त कर दिया जाना; (2) संशोधन संख्या 16 संशोधन-शक्ति की परिधि के अन्तर्गत नहीं आता है और इसलिए एजाक्तोस उसे अधिनियमित नहीं कर सकता था।" (पृष्ठ 212)

उन्होंने सोचा—

"अतः एजाक्तोस को, जिसका सृजन संविधान ने किया है, सृष्ट हो जाने के पश्चात् ऐसी और केवल ऐसी ही संशोधन शक्ति, यदि कोई है, प्राप्त है, जो संविधान-सभा ने संविधान के अधीन उसे दी है, अर्थात्, वह अभिव्यक्त शक्ति जो अनुच्छेद 50 में वर्णित है और संविधान का संशोधन विधिमान्यतया उक्त शक्ति की सीमा के अन्दर और उसमें वर्णित रीति में ही किया जा सकता है।" (पृष्ठ 213)

उन्होंने फिर कहा—

"अब संशोधन-शक्ति पूर्णतः एक अनुच्छेद में ही समाविष्ट है, किन्तु शक्ति प्राप्तकर्ता और उसके प्रयोग की रीति में समय की दृष्टि से परस्पर इतनी भिन्नता है कि उसने व्यावहारिक दृष्टि से दो अलग-अलग शक्तियों का रूप ले लिया है—एक शक्ति का प्रयोग प्रारम्भिक आठ वर्ष के दौरान ही किया जा सकता था और दूसरी शक्ति का, जो पूर्णतः भिन्न और स्थायी शक्ति है, प्रयोग उक्त प्रारम्भिक कालावधि के बीत जाने के पश्चात् ही होना था और इस कारण वह बाद में भी बनी रहनी थी।" (पृष्ठ 213)

शर्त का (यह अनुच्छेद 47 के उपबन्धों के अध्यधीन होगी) हवाला देते हुए उन्होंने सोचा—

"संविधान-सभा ने जो प्रारम्भिक कालावधि में भी, जनता के मूलभूत प्राधिकार में कोई कमी नहीं की है और जनता को अभिव्यक्त रूप से उस दशा में हस्तक्षेप करने का अधिकार दिया है जब वह एजाक्तोस की संविधान को प्रभावित करने वाली कार्यवाही को रोकना आवश्यक समझे। इस उपबन्ध की रचना से मुझे यह स्पष्ट हो गया है कि विहित शक्ति के अधीन संविधान के संशोधन द्वारा एजाक्तोस के साधारण विधान को अनुच्छेद 47 का लागू होना समाप्त भी किया जा सकता है फिर भी उस खण्ड के उपबन्धों को आवश्यक आशय अभिव्यक्त और आज्ञापक रूप में यह घोषित कर दिया गया है कि वे आरम्भिक आठ वर्ष की कालावधि के दौरान संविधान के संशोधन के प्रयोजन के लिए प्रभावी एवं प्रवृत्त बने रहेंगे।" (पृष्ठ 213)

उनके अनुसार "स्थायी संशोधन-शक्ति आठ वर्ष की विहित कालावधि के बीत जाने पर उपलब्ध होगी और वह शक्ति, प्राप्तकर्ता की दृष्टि से एवं उसके प्रयोग की विधि की दृष्टि से पूर्णतः भिन्न है।"

उन्होंने अभिनिर्धारित किया कि एजाक्तोस संविधान-सभा द्वारा उसे प्रदत्त शक्ति में से उन अपेक्षाओं को अलग नहीं कर सकता है जो स्वयं शक्ति प्रदान करने की शर्तों द्वारा शक्ति के प्रयोग के लिए उससे सम्बद्ध की गई हैं।

उनका मत था—

"मेरे विचार से 1928 के संख्या 8 वाले कानून के उपबन्ध अविधिमान्य हैं, क्योंकि शक्तियों की सामान्य विधि की दृष्टि से उनमें 'अत्यधिक निष्पादन' (एक्सेसिव एक्जीक्यूशन) का दोष है। वह शक्ति से परे है। मुझे न तो ऐसा कोई दृष्टान्त ही बताया गया है और न मिला ही है जिसमें कि किसी शक्ति का इस प्रकार प्रयोग किया गया हो। मेरे विचार से ऐसा कोई दृष्टान्त हो भी नहीं सकता है क्योंकि वह तर्क और आधार से परे है। अतः मेरे विचार से वह अवैध है।" (पृष्ठ 216)

'आठ वर्ष' के स्थान पर 'सोलह वर्ष' के रख दिए जाने के बारे में उनका कहना था—

"यदि यह संशोधन वैध है तो यह समझ में नहीं आता कि एआक्तोस ने अनुच्छेद 50 में अब तक कोई बहुत लम्बी कालावधि क्यों नहीं विहित कर दी। वह अनुच्छेद 50 की दूसरी लाइन में 'एआक्तोस द्वारा' पद 'और संशोधित किया जा सकता है' पद को छोड़कर अनुच्छेद के अन्त तक का अंश लुप्त कर सकता है।" (पृष्ठ 216)

आगे उन्होंने कहा—

"जनता से यह अधिकार, यह अनन्य शक्ति और प्राधिकार लेकर और संविधान-संशोधन की सम्पूर्ण एवं अनियन्त्रित शक्ति, जनता को निर्दिष्ट किए बिना ही (वर्तमान परिस्थितियों में यह विषय सुसंगत नहीं है कि यह शक्ति कुछ वर्षों के लिए दी गई है या 1938 तक या टिब्बस ईव तक के लिए दी गई है) एआक्तोस को देना एक प्रकार का अपहरण ही है, क्योंकि मेरे विचार से यह कार्य बिना किसी प्राधिकार के किया गया है। काउन्सेल ने इस कार्य को अपहरण की संज्ञा ठीक ही दी है।" (पृष्ठ 217)

उन्होंने यह दलील अस्वीकार कर दी कि अनुच्छेद 50 ही उसे संशोधित करने की शक्ति प्रदान करता है। इस निष्कर्ष के आधार उन्होंने पृष्ठ 219 पर इस प्रकार बताए हैं—

"मेरे विचार से वर्तमान शक्ति के सही निर्वचन से, खण्ड में उल्लिखित अभिव्यक्त प्रतिषेध, परिसीमाओं और अपेक्षाओं के होते हुए, किसी अभिव्यक्त प्राधिकार के अभाव में, समस्त जनता को शक्ति के प्रभावकारी रूप में प्रयोग के लिए कार्य कर सकने की शक्ति देने से, विद्यमान सुसंगत परिस्थितियों से, जिनका हवाला मैं ऊपर दे चुका हूं और सम्बन्धित दस्तावेज तथा उनकी सम्पूर्ण प्रभाव अवधि से यह स्पष्ट है कि प्रस्तुत मामले में स्वयं संशोधन-शक्ति को संशोधित करने की शक्ति न तो अभिव्यक्त रूप से और न अनिवार्य विवक्षा द्वारा ही दी गई है।"

विद्वान् महान्यायवादी की इस दलील से मैं सहमत नहीं हूं कि मुख्य न्यायाधिपति कनेडी के विनिश्चय का एकमात्र आधार यह था कि स्वयं अनुच्छेद 50 के उपबंधों में संशोधन करने की शक्ति अनुच्छेद 50 में अन्तर्विष्ट नहीं है। उन्होंने इसके लिए अनेक कारण बताए हैं, मैं उनका पहले ही उल्लेख कर चुका हूं।

न्यायाधिपति फिट्ज गिब्बन ने यह अभिनिर्धारित किया कि 'संशोधन' शब्द इतना व्यापक है कि उसमें संशोधन, परिवर्तन या निरसन की शक्ति भी सम्मिलित है और अनुच्छेद 50 में ऐसा कोई अभिव्यक्त प्रतिषेध नहीं है कि अनुच्छेद 50 सहित संविधान का कोई अनुच्छेद संशोधित नहीं किया जा सकता है। उनके विचार से केवल एक ही परिसीमा थी कि अनुसूचित सन्धि के उपबंध संशोधित नहीं किए जा सकते हैं। उन्होंने निम्नलिखित मत व्यक्त किया—

"यह अभिनिर्धारित करने के लिए मुझे कोई आधार नहीं मिला है कि आठ वर्ष बीत जाने के पश्चात् इन अनुच्छेदों में से कोई भी अनुच्छेद 'एआरक्तोस द्वारा' लोकमत-संग्रह के अधीन रहते हुए, संशोधित नहीं किया जा सकता था और यदि ऐसा होता तो परिणाम यह होता कि अनुच्छेद 43 में से 'नहीं' (नो) शब्द निकाल देने वाला संशोधन ही उस कालावधि के अन्दर या आठ वर्ष के स्थान पर सोलह वर्ष रख दिए जाने के पश्चात् सोलह वर्ष के अन्दर 'साधारण विधान द्वारा' किया जा सकता था।" (पृष्ठ 228)

उनके अनुसार, दूसरे शब्दों में, यदि एआरक्तोस अनुच्छेद 50 में उल्लिखित लोकमत-संग्रह के अधीन रहते हुए कोई भी अनुच्छेद संशोधित कर सकता था तो ऐसा वह आठ वर्ष की अवधि में भी कर सकता था। किन्तु उन्होंने देखा कि अन्य दूसरे संविधानों में ऐसे अनुच्छेद, विधियां या उपबंध हैं, जिन्हें उदाहरणार्थ स्वीडन में विशिष्टतः 'मूल' (फण्डामेण्टल) या उदाहरणार्थ आस्ट्रिया, चेकोस्लावोकिया और फ्रांस में सांविधानिक (कांस्टिट्यूशनल) कहा गया है। इन उपबंधों के बारे में संशोधन-शक्ति को स्वयं संविधान द्वारा अभिव्यक्त रूप से निर्बन्धित कर दिया गया है किन्तु सोरस्टेट के संविधान में ऐसा कोई विभाजन नहीं है और मेरे विचार से किसी भी अनुच्छेद को संशोधित करने सम्बन्धी शक्ति का प्रयोग किसी भी अन्य अनुच्छेद के (अनुसूचित-सन्धि को छोड़ कर) सम्बन्ध में किया जा सकता है। उन्होंने आगे कहा कि —

"अतः यदि हमारे संविधान के अभिव्यक्त उपबन्धों द्वारा यह स्पष्टतः प्रकट न हो कि ये अधिकार अन्य-असंक्राम्य (इनेलिएनेबल) हैं और उन्हें किसी भी विधायी कार्यवाही द्वारा उपान्तरित या छीना नहीं जा सकता है, तो मैं यह तर्क स्वीकार नहीं कर सकता कि एआरक्तोस उन्हें परिवर्तित, उपान्तरित या निरसित नहीं कर सकता है भले ही संविधान-निर्माताओं का यह आशय रहा हो कि कोई भी व्यक्ति लगातार एक के बाद दूसरा संविधान बना कर क्षति न पहुंचा सके, किन्तु यदि उन्होंने ऐसा किया है तो वे अपने उद्देश्य में निष्फल हो गए हैं क्योंकि उन्होंने उसे क्षति पहुंचाने सम्बन्धी ताले की चाबी अनुच्छेद 50 द्वारा सौंप दी है।" (पृष्ठ 234)

न्यायाधिपति मुरनाम ने 'इस बात पर जोर दिया है कि जनता की इच्छा की बाबत उनसे सीधे परामर्श से यह प्रकट होता है कि सभी उपबन्धों को, वे कितने ही मूल उपबन्ध क्यों न हों, संशोधित किया जा सकता है। दूसरी ओर अपीलार्थियों की ओर से दी गई दलील की परम सीमा यह हो सकती है कि संविधान के कुछ अनुच्छेद या सिद्धान्त कभी भी संशोधित नहीं किए जा सकते हैं, भले ही मतदाता एक स्पष्ट बहुमत से ऐसा करने की मांग करें'।

उक्त मत से आयरलैण्ड के संविधान के अनुच्छेद 50 और भारत के संविधान के अनुच्छेद 368 के बीच अन्तर स्पष्ट हो जाता है। जैसा कि मैं पहले ही बता चुका हूं कि हमारे संविधान के अनुच्छेद 368 में जन-इच्छा से सीधे सम्पर्क की बाबत कोई व्यवस्था नहीं की गई है।

अनुच्छेद 50 में उन्हें केवल यह परिसीमा ही मिली है कि संविधान का संशोधन अनुसूचित-सन्धि की शर्तों के अनुसार ही किया जा सकता है।

जैसा कि मैं पहले बता चुका हूं आयरलैण्ड के संविधान का अनुच्छेद 50 भारत के संविधान के अनुच्छेद 368 से पूर्णतः भिन्न है और मैं समझता हूं कि भारत के संविधान के अनुच्छेद 368 के सम्बन्ध में आयरलैण्ड के संविधान के अनुच्छेद 50 के तर्क देना उचित नहीं है। चाहे जो भी हो यदि मुझ से सहमति देने को कहा जाता है तो मैं विद्वान् मुख्य न्यायाधिपति के मत से इस बाबत सहमत हूं कि एआक्तोस 'आठ वर्ष' के स्थान पर 'सोलह वर्ष' रख कर अपनी संशोधन-शक्ति में वृद्धि नहीं कर सकता था।

मैंने काउन्सेल का ध्यान मूरा बनाम अटर्नी जनरल फॉर दि आयरिश फ्री स्टेट ([1]) वाले मामले की ओर भी आकर्षित किया था और प्रत्यर्थियों ने उक्त मामले का गम्भीर रूप से अवलम्ब लिया है। उक्त मामला संविधान (संशोधन संख्या 22) अधिनियम, 1933 (1933 का 6) की विधिमान्यता के बारे में था। यह कहा गया था कि चूंकि उक्त संशोधन शून्य है, अतः पिटीशनर, जो अपीलार्थी थे, जुडीशियल कमेटी के समक्ष अपनी अपील कायम रख सकते हैं और उक्त संशोधन उसे ऐसा करने से रोकता नहीं है।

3 मई, 1933 को एआक्तोस ने कांस्टिट्यूशन (रिमूवल ऑफ ओथ) ऐक्ट, 1933 (1933 का 6) नामक अधिनियम पारित किया। इस ऐक्ट की धारा 2 द्वारा यह उपबन्धित किया गया है कि कांस्टिट्यूशन ऑफ दि आयरिश फ्री स्टेट (सौरस्टेट आयरेन) ऐक्ट, 1922 की धारा 2 निरसित कर दी जाए और धारा 3 द्वारा संविधान के उक्त अनुच्छेद 50 में संशोधन करके उसमें से "अनुसूचित-सन्धि के निबंन्धनों के अन्दर" (विद इन दि टर्म्स ऑफ दि शेड्यूल्ड ट्रीटी) पद निकाल दिया जाए।

15 नवम्बर, 1933 को एआक्तोस ने संविधान (संशोधन संख्या 22) अधिनियम, 1933 अधिनियमित करके संविधान के अनुच्छेद 66 को संशोधित करके हिज मैजिस्टि इन काउन्सिल से अपील करने का अधिकार समाप्त कर दिया।

अन्तिम संशोधन अधिनियम की विधिमान्यता पूर्वतर अधिनियम (1933 का 6) की विधिमान्यता पर आश्रित थी अर्थात् जिसके द्वारा अनुच्छेद 50 में से यह शर्त हटा दी गई थी कि संविधान में ऐसा कोई संशोधन नहीं किया जा सकता है जो अनुसूचित-सन्धि की शर्तों के अन्दर नहीं आता है।

ऐसा लगता है कि श्री विलफिड ग्रीन ने पिटीशनरों की ओर से बहस करते हुए यह स्वीकार किया है कि संविधान (संशोधन संख्या 16) अधिनियम, 1929 नियमित विधि है और यह कि पश्चात्वर्ती संशोधनों की विधिमान्यता पर इस आधार पर आपत्ति नहीं की जा सकती है कि वे लोकमत-संग्रह के लिए प्रस्तुत नहीं किए गए हैं।

([1]) (1935) ए० सी० 484.

यह सच है कि जुडीशियल कमेटी ने यह कहा है कि श्री ग्रीन ने यह बात ठीक ही स्वीकार कर ली है, किन्तु हमें वे कारण पता नहीं हैं जिन्होंने जुडीशियल कमेटी को यह कहने के लिए विवश किया है कि रियायत ठीक ही दी गई है। आयरलैण्ड के संविधान के अनुच्छेद 50 और हमारे संविधान के अनुच्छेद 368 के बीच अन्तर को ध्यान में रखते हुए इस रियायत का प्रस्तुत मामले में कोई महत्व नहीं हो सकता है। मामले में जो विनिश्चय हुआ है वह भी हमारे लिए सहायक नहीं हो सकता है क्योंकि उसका आधार यह है कि स्टेट्यूट ऑफ वेस्टमिनिस्टर द्वारा कांस्टिट्यूशन ऑफ दि आयरिश फ्री स्टेट ऐक्ट, 1922 में अन्तर्विष्ट निर्बन्धनों को हटा दिया गया है।

श्री ग्रीन ने 1933 के अधिनियम संख्या 6 की विधिमान्यता पर निम्नलिखित रूप में आपत्ति की है —

> "संविधान का जन्म इम्पीरियल पार्लियामेण्ट के किसी विधान से न होकर आयरिश निकाय (संविधान-सभा) की, जिसे आयरलैण्ड में थर्ड डायल आयरेन कहा जाता है, प्रक्रियाओं से हुआ है। यह कहा गया है कि यद्यपि इस निकाय का उल्लेख आयरिश फ्री स्टेट (एग्रीमेण्ट) ऐक्ट, 1922 में किया गया है तथापि इसका निर्वाचन सेकिण्ड डायल आयरेन और आयरिश लेजिसलेटिव असेम्बली के 20 मई, 1922 के संकल्प द्वारा हुआ है। अतः यह कहा गया है कि थर्ड डायल आयरेन संविधान सभा के रूप में, आयरलैण्ड की जनता का अपने ही प्राधिकार से निर्वाचन द्वारा आयरलैण्ड में स्थापित हुई है और उसका कार्य संविधान तैयार करना था और अपना यह कार्य पूरा कर लेने के पश्चात् वह समाप्त हो गई। न तो उसका कोई उत्तरवर्ती था और न कोई ऐसा प्राधिकारी था जो संविधान-अधिनियम संशोधित कर सकता। उस तर्क का परिणाम यह हुआ कि एक संविधान उपलब्ध कर दिया गया जिसे श्री ग्रीन ने अर्ध-अनम्य (सेमि रिजिड) संविधान कहा है, क्योंकि वह भिन्न-भिन्न अनुच्छेदों में अन्तर्विष्ट शर्तों के अनुसार विस्तृत रूप में संशोधित किया जा सकता था किन्तु जहां तक कि संविधान-अधिनियम का प्रश्न था, उसमें परिवर्तन तब तक नहीं किया जा सकता था जब तक कि आयरलैण्ड की जनता नई संविधान सभा बुला कर ऐसा संशोधन नहीं कराती है। इस प्रकार संविधान के अनुच्छेदों को अनुच्छेद 50 के, जो ऐसे संशोधन ही अनुज्ञात करता है जो अनुसूचित सन्धि के अन्दर आते हैं, अनुसार ही संशोधित किया जा सकता है। इसी आधार पर श्री ग्रीन ने यह तर्क दिया था कि 1933 की संख्या 6 वाली विधि शक्तिबाह्य है और उसी के साथ 1922 का संशोधन (संख्या 22) भी अवैध हो जाता है।" (पृष्ठ 496)

श्री ग्रीन ने स्टेट बनाम लेनॉन (1) वाले मामले की ओर लार्डशिप्स का ध्यान आकर्षित किया। यह कहा गया है कि उस मामले में मुख्य न्यायाधिपति केनेडी ने जो मत व्यक्त किया है वह श्री ग्रीन की दलील से प्रकट मत के सारतः अनुरूप है।

---

(1) (1935) आयरिश रिपोर्ट्स 170.

यही दलीलें हैं जो मैंने ऊपर बताई हैं और जिन्हें लार्डशिप्स ने स्वीकार नहीं किया है। उनका मत था—

"उनके मतानुसार संविधान अधिनियम और आयरिश फ्री स्टेट के संविधान की विधिमान्यता इम्पीरियल पार्लियमेण्ट के अधिनियम आयरिश फ्री स्टेट कांस्टिट्यूशन ऐक्ट, 1922 से उत्पन्न हुई है। इस अधिनियम से तय हो गया था कि उक्त संविधान को, संविधान अधिनियमों के उपबन्धों के अधीन रहते हुए, आयरिश फ्री स्टेट का संविधान होना चाहिए और उसे हिज मैजिस्टि द्वारा उद्घोषण (प्रोक्लेम) कर दिए जाने पर - जैसा कि 6 दिसम्बर, 1922 को किया गया है—प्रवृत्त होना चाहिए। तद्द्वारा पार्लियामेण्ट के हाउस के कार्य को अनुसमर्थित कर दिया गया है।" (पृष्ठ 497)

संक्षेप में स्थिति इस प्रकार बताई गई है—

"(1) क्रमशः सन्धि और संविधान अधिनियम संयुक्त राज्य की अधिनियमित विधि के अंग हैं। उनमें से प्रत्येक इम्पीरियल ऐक्ट के भागरूप हैं; (2) स्टेट्यूट ऑफ वेस्टमिनिस्टर के पारित होने से पूर्व आयरिश फ्री स्टेट की पार्लियामेण्ट सन्धि को निराकृत करने के लिए अधिनियम पारित नहीं कर सकती थी क्योंकि कालोनियल लॉ वैलिडिटी ऐक्ट द्वारा इम्पीरियल ऐक्ट के प्रतिकूल विधि पारित करना वर्जित कर दिया गया था; (3) स्टेट्यूट ऑफ वेस्टमिनिस्टर का प्रभाव यह हुआ कि कालोनियल लॉज वैलिडिटी ऐक्ट द्वारा आयरिश फ्री स्टेट के विधानमण्डल पर लगाया गया प्रतिबन्ध दूर हो गया। अब वह विधानमण्डल इम्पीरियल ऐक्ट के प्रतिकूल अधिनियम भी पारित कर सकता है। प्रस्तुत मामले में उसने ऐसा ही किया है।" (पृष्ठ 498)

मेरे विचार से उक्त संक्षेप से यह सुस्पष्ट हो जाता है कि स्टेट्यूट ऑफ वेस्टमिनिस्टर के कारण ही आयरिश फ्री स्टेट की पार्लियामेण्ट संविधान अधिनियम संशोधित कर सकती है।

भाग IV—चौबीसवें संशोधन की विधिमान्यता

अब हम इस प्रश्न पर विचार करेंगे कि संविधान (चौबीसवां संशोधन) अधिनियम, 1971 विधिमान्य है या नहीं। वह अधिनियम इस प्रकार है—

" ... ...

(2) संविधान के अनुच्छेद 13 में, खण्ड (3) के पश्चात् निम्नलिखित खण्ड जोड़ दिया जाएगा, अर्थात्—

"(4) इस अनुच्छेद की कोई बात अनुच्छेद 368 के अधीन किए गए इस संविधान के किसी संशोधन को लागू न होगी।"

(3) संविधान के अनुच्छेद 368 को उसके खण्ड (2) के रूप में पुनः संख्यांकित किया जाएगा, और;

(क) उस अनुच्छेद के पार्श्व-शीर्षक के स्थान पर निम्नलिखित पार्श्व-शीर्षक रख दिया जाएगा, अर्थात्—

"संविधान का संशोधन करने की संसद की शक्ति और उसके लिए प्रक्रिया।"

(ख) इस प्रकार पुनः संख्यांकित खण्ड (2) के पूर्व निम्नलिखित खण्ड जोड़ दिया जाएगा, अर्थात्—

(i) इस संविधान में किसी बात के होते हुए भी, संसद् अपनी संविधायी शक्ति का प्रयोग करते हुए इस संविधान के किसी उपबन्ध का परिवर्धन, परिवर्तन, अथवा निरसन के रूप में संशोधन इस अनुच्छेद में दी गई प्रक्रिया के अनुसार कर सकेगी।"

(ग) इस प्रकार पुनः संख्यांकित खण्ड (2) में वह 'राष्ट्रपति के समक्ष उसकी अनुमति के लिए रखा जाएगा तथा विधेयक को ऐसी अनुमति दी जाने के पश्चात् विधेयक के निबन्धनों के अनुसार संविधान' शब्दों के स्थान पर 'वह राष्ट्रपति के समक्ष रखा जाएगा जो विधेयक को अपनी अनुमति देगा और तब संविधान विधेयक के निबन्धनों के अनुसार' शब्द रख दिए जाएंगे ;

(घ) इस प्रकार पुनः संख्यांकित खण्ड (2) के पश्चात् निम्नलिखित खण्ड जोड़ दिया जाएगा, अर्थात् :

"(3) अनुच्छेद 13 की कोई बात इस अनुच्छेद के अधीन किए गए किसी संशोधन को लागू न होगी।"

पिटीशनर के मतानुसार, चौबीसवें संशोधन द्वारा पांच परिणाम निकालना उद्दिष्ट है—

(i) उसने (चौबीसवें संशोधन ने) अनुच्छेद 368 में यह उपदर्शित करने के लिए कि संशोधन-शक्ति का स्रोत स्वयं उसी अनुच्छेद में मिल जाएगा अभिव्यक्त उपबन्ध अन्तःस्थापित किया है।

(ii) उसने राष्ट्रपति के लिए यह बाध्यकर कर दिया है कि उन्हें उस अनुच्छेद के अधीन सम्यक् रूप से पारित किसी भी विधेयक को अपनी अनुमति देनी पड़ेगी।

(iii) उसने अनुच्छेद 368 में आए 'संशोधन' शब्द की सहज अर्थव्याप्ति के स्थान पर 'परिवर्धन, परिवर्तन अथवा निरसन के रूप में संशोधन······' शब्द प्रतिस्थापित कर दिए हैं।

(iv) उसने यह बात स्पष्ट कर दी है कि जब संसद् अनुच्छेद 368 के अधीन सांविधानिक संशोधन करती है, तो वह 'अपनी संविधायी शक्ति का प्रयोग' करती है।

(v) अनुच्छेद 13 और 368 में किए गए संशोधनों द्वारा, उसने अभिव्यक्त रूप से यह उपबन्ध किया है कि किसी भी मूल अधिकार को न्यून करने या छीनने के विरुद्ध अनुच्छेद 13 में जो वर्जन किया गया है, वह अनुच्छेद 368 के अधीन किए गए किसी भी संशोधन को लागू नहीं होगा।"

श्री पालखीवाला ने इस बात के सम्बन्ध में कोई भी विवाद नहीं उठाया कि उपर्युक्त (i) और (ii) के अन्तर्गत आने वाले संशोधन संसद् की संशोधन-शक्ति के भीतर

आते हैं। मैं इस प्रश्न पर कि क्या मुख्य न्यायाधिपति सुब्बाराव ने यह ठीक तौर से विनिश्चित किया था कि संशोधन-शक्ति सूची 1, प्रविष्टि 97, या अनुच्छेद 248 में अन्तर्निहित है, विचार करना आवश्यक नहीं समझता क्योंकि यह अब निरर्थक है।

श्री पालखीवाला ने ठीक ही यह स्वीकार किया था कि संसद् संशोधन-शक्ति के स्रोत को सूची 1, प्रविष्टि 97 से अनुच्छेद 368 में अन्तरित करने की दृष्टि से अनुच्छेद 368 का विधिमान्य रूप से संशोधन कर सकती है।

किन्तु श्री पालखीवाला ने यह दलील दी कि "यदि उपर्युक्त (iii) और (iv) के अन्तर्गत आने वाले संशोधनों के बारे में यह समझा जाता है कि वे संसद् को स्वयं लोगों की पूर्ण संविधायी शक्ति का प्रयोग करने के लिए सशक्त करते हैं, और यह कि वे संसद् में लोगों की मूलभूत विधिक प्रभुसत्ता निहित करते हैं और यह कि वे संविधान के आवश्यक लक्षणों, आधारिक तत्वों और मूल सिद्धान्तों में से सभी या किन्हीं को (जिन्हें इसमें इसके पश्चात् 'आवश्यक लक्षण' के रूप में निर्दिष्ट किया गया है) परिवर्तित या नष्ट करने के लिए संसद् को प्राधिकृत करते हैं, तो उन संशोधनों के बारे में यह अवश्य ही अभिनिर्धारित किया जाना चाहिए कि वे अवैध और शून्य हैं।" इसके अलावा उन्होंने यह दलील दी है कि "यदि (v) के अन्तर्गत आने वाले संशोधन के बारे में यह समझा जाता है कि वह मूल अधिकारों में से सभी या किसी अधिकार के सार को प्रतिकूल रूप से प्रभावित या नष्ट करने के लिए संसद् को प्राधिकृत करता है, तो ऐसे संशोधन के बारे में यह अवश्य ही अभिनिर्धारित किया जाना चाहिए कि वह अवैध और शून्य है।" उनकी दलील यह है कि चौबीसवां संशोधन निम्नलिखित कारणों से शून्य और अवैध है —"चूंकि संसद् संविधान के परिणामस्वरूप अस्तित्व में आई है, इसलिए उसे केवल ऐसी ही संशोधन-शक्ति प्राप्त हो सकती है जो कि उसे उस संविधान द्वारा प्रदत्त की गई हो, जिसे लोगों ने आत्मार्पित किया है। उस संशोधन-शक्ति का प्रयोग करने का तात्पर्य रखते हुए संसद् उस शक्ति में वृद्धि नहीं कर सकती। इसमें कोई संदेह नहीं है कि संसद् को स्वयं अनुच्छेद 368 का संशोधन करने की शक्ति प्राप्त थी, किन्तु उससे यह अर्थ नहीं निकलता है कि संसद् अनुच्छेद 368 को इस प्रकार से संशोधित कर सकती थी जिससे कि वह अपनी ही संशोधन-शक्ति को किन्हीं निश्चित् सीमाओं से परे परिवर्तित कर ले। उसके अधीन कार्य करने का तात्पर्य रखते हुए, संविधान के परिणामस्वरूप अस्तित्व में आई हुई शक्ति, किसी मामूली विधि के अधीन कार्य करने का तात्पर्य रखते हुए, उस विधि के परिणामस्वरूप अस्तित्व में आई हुई शक्ति से अधिक, किसी भी स्थिति में, अपनी शक्ति में संविधान को लांघकर वृद्धि नहीं कर सकती। संशोधन-शक्ति की परिधि के भीतर संशोधन करने की शक्ति में वृद्धि करने की, या उन निबन्धनों के अनुसार जिनके आधार पर शक्ति प्रदत्त की गई थी, अन्तर्निहित या विवक्षित परिसीमाओं (इम्प्लाइड लिमिटेशन्स) को निराकृत करने की शक्ति सम्भवत: नहीं आ सकती। यदि इसके विरुद्ध कोई मत अपनाया जाता है, तो उसके कारण अन्तर्निहित और विवक्षित परिसीमाओं का सम्पूर्ण सिद्धान्त (प्रिंसिपल ऑफ इन्हेरेण्ट एण्ड इम्प्लाइड लिमिटेशन्स) अर्थहीन हो जाएगा।

प्रत्यर्थियों की ओर से यह दलील दी गई है कि यदि गोलक नाथ वाले मामले ([1]) ने उसे सीमित कर दिया था, तो चौबीसवां संशोधन संविधान का संशोधन करने के सम्बन्ध में संसद् की शक्ति में निश्चित् रूप से वृद्धि करता है, और चूंकि अनुच्छेद 368 में स्वयं

([1]) (1967) 2 एस० सी० आर० 762.

अनुच्छेद 368 के संशोधन के सम्बन्ध में स्पष्ट रूप से परिकल्पना की गई है, इसलिए संसद् संशोधन करने की अतिरिक्त शक्तियां स्वयं को प्रदत्त कर सकती है।

लेमॉन के मामले([1]) और मूरा वाले मामले ([2]) का आश्रय लिया गया। इन मामलों पर हमने पहले ही विचार कर लिया है।

मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि अनुच्छेद 368 का इस प्रकार से निर्वचन करना उचित नहीं है। परन्तुक का खण्ड (ङ) मुख्य अनुच्छेद में अन्तर्विष्ट शक्ति से भिन्न कोई दूसरी शक्ति प्रदत्त नहीं करता। परन्तुक को पढ़ने पर "संविधान का संशोधन" अभिव्यक्ति के अर्थ में कोई भी तब्दीली नहीं मालूम पड़ती। यदि अर्थ वही है, तो अनुच्छेद 368 का संशोधन इस प्रकार से ही किया जा सकता है जिससे कि उसका स्वरूप सम्पूर्ण रूप से तब्दील न हो जाए। उदाहरण के लिए, संसद् विहित दो-तिहाई बहुमत को सादा बहुमत में बदल कर संविधान को अनियंत्रित नहीं बना सकती। इसी प्रकार से वह "संविधान का संशोधन" अभिव्यक्ति के वास्तविक अर्थ को इस प्रकार से समाप्त नहीं कर सकती जिससे कि उसे मूल अधिकारों की निराकृत (एब्रोगेट) करने की शक्ति प्राप्त हो जाए।

यदि "इस संविधान में किसी बात के होते हुए भी" शब्दों से "संविधान का संशोधन" शब्द के अर्थ को व्यापक बनाना आशयित है, तो उनके बारे में यह अभिनिर्धारित करना होगा कि वे, संशोधन-शक्ति के बाहर होने के कारण, शून्य हैं। किन्तु मैं इनका यह अर्थ नहीं समझता। इनके परिणामस्वरूप यह दलील समाप्त हो जाती है कि अनुच्छेद 248 और सूची 1, प्रविष्टि 97 में संशोधन करने की शक्ति मौजूद है। इसी प्रकार से, "अपनी संविधायी शक्ति का प्रयोग करते हुए" शब्दों के अन्तःस्थापित कर दिए जाने से अनुच्छेद 248 और सूची 1, प्रविष्टि 97 का तथा इस बल का कि संसद् अनुच्छेद 368 के अधीन अपनी मामूली विधायी शक्ति का प्रयोग नहीं करती बल्कि संविधान को संशोधित करने की विधायी शक्ति का प्रयोग करती है, प्रभाव समाप्त हो जाता है।

यह दलील दी गई कि यदि संसद् संशोधन करने की अपनी शक्ति में वृद्धि नहीं कर सकती, तो चौबीसवें संशोधन की धारा 3 का खण्ड (ख), जो कि यह उपबन्ध करता है कि अनुच्छेद 13 संविधान के संशोधन को लागू नहीं होगा, अवैध होगा। इस दलील में मुझे कोई भी बल नहीं दिखाई पड़ता। जैसा कि अनुच्छेद 13(2) चौबीसवें संशोधन के पूर्व था और जैसा कि बहुमत ने गोलक नाथ वाले मामले([3]) में उसका निर्वचन किया था, उसने विधानमण्डलों को अनुच्छेद 13 द्वारा प्रदत्त अधिकारों को छीनने या न्यून करने से निवारित किया था। अन्य शब्दों में, जो विधि मूल अधिकार को थोड़ा-सा भी न्यून करती है, वह अभिखण्डित किए जाने के लायक है। अनुच्छेद 368 के अधीन संसद् संविधान के प्रत्येक अनुच्छेद का तब तक संशोधन कर सकती है जब तक कि उसका परिणाम मेरे द्वारा पहले ही अधिकथित सीमाओं के भीतर हो। अनुच्छेद 13 (2) का संशोधन अधिकथित सीमाओं के बाहर नहीं जाता, क्योंकि संसद् संशोधन के पश्चात् भी, मूल अधिकारों को निराकृत, या उनके निराकरण या छीनने के लिए प्राधिकृत नहीं कर सकती। संशोधन के पश्चात्

([1]) (1935) आयरिश रिपोर्ट 170.
([2]) (1935) ए० सी० 484.
([3]) (1967) 2 एस० सी० आर० 762.

अधिकथित सीमाओं के भीतर रहते हुए, जिस विधि का प्रभाव किसी अधिकार को न्यून करना मात्र हो, वह अभिखण्डित किए जाने के लायक नहीं होगी।

परिणामतः, जैसा कि मैंने चौबीसवें संशोधन का निर्वचन किया है, मेरी राय में वह विधिमान्य है।

भाग V—संविधान (पच्चीसवां संशोधन) अधिनियम, 1971 की धारा 2 की विधिमान्यता

संविधान (पच्चीसवां संशोधन) अधिनियम, 1971 की धारा 2 निम्नलिखित रूप में अधिनियमित की गई है—

(क) खण्ड (2) के स्थान पर निम्नलिखित खण्ड रख दिया जाएगा, अर्थात्—

"(2) कोई सम्पत्ति, सार्वजनिक प्रयोजन के लिए ही और केवल ऐसी विधि के प्राधिकार से अनिवार्यतः अर्जित या अधिगृहीत की जाएगी, जो सम्पत्ति के अर्जन या अधिग्रहण का, ऐसी राशि के बदले जो उस विधि द्वारा नियत की जाए या जो ऐसे सिद्धान्तों के अनुसार अवधारित की जाए और ऐसी रीति से दी जाए जो उस विधि में विनिर्दिष्ट हों, उपबन्ध करती है; और ऐसी किसी विधि पर किसी न्यायालय में इस आधार पर आपत्ति नहीं की जाएगी कि इस प्रकार नियत या अवधारित राशि पर्याप्त नहीं है अथवा ऐसी पूरी राशि या उसका कोई भाग नकद न दिया जाकर अन्यथा दिया जाना है :

परन्तु अनुच्छेद 30 के खण्ड (1) में निर्दिष्ट किसी अल्पसंख्यक वर्ग द्वारा स्थापित और प्रशासित किसी शिक्षा-संस्था की सम्पत्ति के अनिवार्य-अर्जन के लिए उपबन्ध करने से सम्बद्ध विधि बनाते समय, राज्य यह सुनिश्चित करेगा कि ऐसी सम्पत्ति के अर्जन के लिए ऐसी विधि के अधीन जो राशि नियत या अवधारित की जाए, वह ऐसी हो जो उस खण्ड के अधीन प्रत्याभूत अधिकार को निर्बन्धित या निराकृत न करे।"

(ख) खण्ड (2क) के पश्चात् निम्नलिखित खण्ड जोड़ दिया जाएगा, अर्थात्—

"(2ख) अनुच्छेद 19 के खण्ड (1) के उपखण्ड (च) की कोई बात किसी ऐसी विधि पर प्रभाव नहीं डालेगी जो खण्ड (2) में निर्दिष्ट है।"

इस बात के सम्बन्ध में कोई भी संदेह नहीं हो सकता कि संशोधन का उद्देश्य रुस्तम कवासजी कूपर बनाम् भारत संघ[1] वाले मामले में इस न्यायालय द्वारा दिए गए विनिश्चय को उपान्तरित करना है, जिसमें दस न्यायाधीशों ने यह अभिनिर्धारित किया था कि बैंककारी कम्पनी (उपक्रमों का अर्जन और अन्तरण) अधिनियम, 1970 ने अनुच्छेद 31 (2) के अधीन प्रतिकर सम्बन्धी गारण्टी का उस सीमा तक अतिक्रमण किया है जिस सीमा तक उसने उन सिद्धान्तों के अनुसार जो कि सम्बन्धित बैंकों के उपक्रम के प्रतिकर के अवधारण में सुसंगत नहीं थे, अवधारित किन्हीं राशियों को देने के सम्बन्ध में

(1) (1970) 3 एस० सी० आर० 530.

उपबन्ध किया था, और विहित पद्धति द्वारा, इस प्रकार से घोषित राशियों को प्रतिकर के रूप में नहीं माना जा सकता।

अनुच्छेद 31(2) की, जैसे कि वह पच्चीसवें संशोधन के पहले और बाद में था, यदि हम तुलना करें, तो ऐसा प्रतीत होता है कि निम्नलिखित शब्दीलियां की गई हैं। जब कि संशोधन के पूर्व, अनुच्छेद 31(2) के द्वारा यह अपेक्षित था कि विधि के अधीन या तो प्रतिकर की राशि नियत करके या उन सिद्धान्तों को, जिन पर और उस रीति को जिसमें प्रतिकर अवधारित किया जाना चाहिए, विनिर्दिष्ट करके प्रतिकर के लिए उपबन्ध या अर्जन के लिए उपबन्ध किया जाना चाहिए, संशोधन के पश्चात् अनुच्छेद 31(2) द्वारा यह अपेक्षित है कि ऐसी विधि के अधीन एक ऐसी "राशि" के लिए उपबन्ध किया जाना चाहिए जो कि अर्जन या अधिग्रहण के लिए उपबन्ध करने वाली विधि द्वारा नियत की जाए या ऐसे सिद्धांतों के अनुसार अवधारित की जाए और ऐसी रीति में दी जाए जैसी कि विधि में विनिर्दिष्ट हो। अन्य शब्दों में इस विचार के स्थान पर कि प्रतिकर दिया जाना चाहिए, अब यह विचार है कि "राशि" दी जानी चाहिए। यह राशि विधि द्वारा सीधे ही नियत की जा सकती है या ऐसे सिद्धांतों के अनुसार अवधारित की जा सकेगी जैसे कि विनिर्दिष्ट किए जाएं।

"राशि" शब्द को जो अर्थ दिया जा सकता है, उसका वास्तविक अर्थ समझना बहुत ही कठिन है। इस संदर्भ में, यह सच है कि उसका प्रयोग प्रतिकर के स्थान पर किया जा रहा है, किन्तु "राशि" शब्द वैसा विधिक विचार नहीं है जैसा कि "प्रतिकर"।

शार्टर आक्सफोर्ड इंगलिश डिक्शनरी, तृतीय संस्करण, पृष्ठ 57, के अनुसार "अमाउंण्ट" (राशि) शब्द का अर्थ निम्नलिखित है—

> "Amount (amount) sb. 1710 (f. The vb.) 1. The sum total to which anything amounts up; spec. the sum of the principal and interest 1796. 2. fig. The full value, effect, or significance 1732. 3. A quantity or sum viewed as a total 1833."

वेबस्टर के थर्ड न्यू इण्टरनेशनल डिक्शनरी, पृष्ठ 72 के अनुसार, "अमाउण्ट" से अभिप्रेत है —

> "amount 1. a:the total number of quantity; AGGREGATE (the amount of the fine is doubled): SUM, NUMBER (add the same amount to each column) (the amount of the policy is 10,000 dollars) b; the sum of the individuals (the unique amount of worthless IOU's collected during each day's business—R. L. Taylor) c; the quantity at hand or under consideration (only a small amount of trouble involved) (a surprising amount of patience) 2. the whole or final effect, significance, or import (the amount of his remarks is that we are hopelessly beaten) 3. accounting: a principal sum and the interest on it syn see SUM."

हमने आक्सफोर्ड इंगलिश डिक्शनरी, जिल्द I, पृष्ठ 289 पर दिए गए "अमाउण्ट" (राशि) शब्द का अर्थ देख लिया है, किन्तु हमें उससे यथा संशोधित अनुच्छेद 31(2) को दिए जाने

वाले अर्थ के सम्बन्ध में बहुत अधिक मार्गदर्शन प्राप्त नहीं होता । मैं "प्रतिकर" शब्द को जानबूझकर छोड़ देने और उसके स्थान पर "राशि" शब्द को प्रतिस्थापित कर देने के कारण उसका प्रयोग लाक्षणिक अर्थ में अर्थात् "पूरा मूल्य" के अर्थ में नहीं कर सकता ।

अब हम इस बात पर विचार करना चाहेंगे कि क्या अनुच्छेद का दूसरा भाग "राशि" शब्द पर कोई प्रकाश डालता है । उस अनुच्छेद में यह अनुध्यात है कि किन्हीं मामलों में, राशि अवधारित करने के लिए सिद्धान्त अधिकथित किए जा सकते हैं और इन सिद्धांतों के परिणामस्वरूप राशि पर्याप्त हो सकती है या अपर्याप्त हो सकती है । इससे तो यह पता चलता है कि यहां पर "राशि" शब्द से ऐसी चीज अभिप्रेत है जो कि अर्जित की जाने वाली सम्पत्ति के बदले में दी जाए किन्तु इस राशि को कुछ सिद्धांत अधिकथित करके ही निकालना पड़ेगा और निकाला जा सकता भी है । इन सिद्धांतों का उस सम्पत्ति से युक्तियुक्त सम्बन्ध होना चाहिए, जो कि अर्जित की जानी हो । यदि यह बात ऐसी है, तो सिद्धान्तों को लागू करके अन्त में जो राशि निकाली जानी है, उसका कुछ युक्तियुक्त सम्बन्ध अर्जित की जाने वाली सम्पत्ति से होना चाहिए; अन्यथा अधिनियम के सिद्धांत अनुच्छेद 31(2) के अर्थान्तर्गत आने वाले सिद्धांत नहीं हो सकते ।

यदि "राशि" शब्द का यह अर्थ किया जाता है, अर्थात्, यह कि जो राशि नकदी या अन्यथा दी जाती है, ऐसी प्रकृति की है जिसे उन सिद्धांतों के अनुसार निकाला गया है जिनका संबंध अर्जित की जाने वाली सम्पत्ति से है, तो प्रश्न यह उठता है—"इस प्रकार नियत...... राशि" अभिव्यक्ति का क्या अर्थ किया जा सकता है । राशि विधि द्वारा नियत की जानी होती है, किन्तु इस प्रकार नियत राशि को किन्हीं सिद्धांतों के अनुसार नियत किया जाना चाहिए, क्योंकि यह आशय नहीं हो सकता कि यदि विधि द्वारा राशि नियत की जाती है, तो विधानमण्डल उस राशि को मनमाने ढंग से नियत करेगा । उदाहरण के लिए वह उस रकम को लाट निकाल कर नियत नहीं कर सकता ।

विधि ऐसा विधेयक पारित करके जो कि पुरःस्थापित किया जाता है, अधिनियमित की जाती है । संविधान और विधायी प्रक्रिया में यह परिकल्पना की गई है कि विचार-विमर्श होगा और उस वाद-विवाद में विधानमण्डल का सरकारी प्रवक्ता उस नियत राशि को न्यायोचित ठहराने में समर्थ होगा । मान लिया कि इस प्रकार नियत राशि के सम्बन्ध में संशोधन पेश किया जाता है । वादविवाद कैसे चलेगा ? क्या मंत्री महोदय यह कहेंगे कि—

"यह राशि वैसे नियत की गई है जैसे कि सरकार की इच्छा है ।" स्पष्टतः ऐसा नहीं कहेंगे । इसलिए इससे यह अर्थ निकलता है कि यदि विधानमण्डल राशि नियत करता है, तो उसे किन्हीं सिद्धान्तों के अनुसार ही नियत करना होगा । ये सिद्धान्त उन सिद्धान्तों से भिन्न नहीं हो सकते जिन्हें विधानमण्डल अधिकथित करेगा ।

इस सम्बन्ध में यह बात ध्यान देने योग्य है कि अनुच्छेद 31(2) अभी भी मूल अधिकार बना हुआ है । तो वह कौन सी तब्दीली है जो कि इस संशोधन द्वारा लाई गई है । इस सम्बन्ध में कोई भी सन्देह नहीं है कि ऐसी तब्दीली आशयित थी । मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि जो तब्दीली की गई है वह यह है कि जिस व्यक्ति की सम्पत्ति अर्जित की जाएगी वह पूरे प्रतिकर या न्यायोचित प्रतिकर का दावा अब आगे नहीं कर

सकेगा, किन्तु वह अब भी यह दावा कर सकता है कि ऐसी राशि अवधारित करने के लिए, जो कि उसे मिलनी है, विधि द्वारा सिद्धान्त अधिकथित किए जाने चाहिएं, और इन सिद्धान्तों का अर्जित की जाने वाली सम्पत्ति से तर्कसंगत सम्बन्ध होना चाहिए। यदि विधि के अधीन यह सिद्धान्त अधिकथित करना होता कि अर्जित सोने की ईंटों के बदले में दी जाने वाली राशि वही होगी जो कि मामूली ईंट या चांदी की ईंट का बाजार मूल्य है, तो उसके बारे में यह अभिनिर्धारित नहीं किया जा सकता कि वह किसी भी स्थिति में सिद्धान्त है। उसी प्रकार से यदि यह बात दर्शित कर दी जाए कि ऐसी राशि जो कि सोने की ईंट के लिए नियत की गई है, मामूली ईंट या चांदी की ईंट का चालू मूल्य है, तो इस प्रकार नियत राशि अवैध होगी। यदि मैं अनुच्छेद 31(2) का निर्वचन इस अर्थ में करता कि मनमानी या भ्रामक या बहुत ही कम राशि भी दी जा सकती है, जिससे न केवल न्यायप्रिय व्यक्तियों की अन्तर्आत्मा को धक्का लगेगा बल्कि प्रत्येक तर्कसंगत मनुष्य की अन्तर्आत्मा को भी धक्का लगेगा, तो बहुत ही गम्भीर प्रश्न उत्पन्न होगा कि क्या संसद् ने संविधान के अनुच्छेद 368 के अधीन अपनी संशोधन-शक्ति का अतिक्रमण नहीं किया है। अनुच्छेद 31 के अधीन, सम्पत्ति के मूल अधिकार का सार तीन बातों के सम्बन्ध में देखा जा सकता है—पहली, यह कि सम्पत्ति का अर्जन विधिमान्य विधि द्वारा या उसके अधीन किया जाएगा; दूसरी, यह कि उसका अर्जन लोक प्रयोजन के लिए ही किया जाएगा; और, तीसरी बात यह कि जिस व्यक्ति को सम्पत्ति अर्जित की गई है, उसे उसके बदले में ऐसी राशि दी जाएगी, जो कि, जैसा कि मैं पहले ही कह चुका हूं, मनमानी, भ्रामक या न्यायप्रिय व्यक्तियों की अन्तर्आत्मा को या मनुष्य-मात्र की अन्तर्आत्मा को धक्का पहुंचाने वाली न हो। मैंने पहले ही यह अभिनिर्धारित कर दिया है कि संसद् को अनुच्छेद 368 के अधीन ऐसी कोई शक्ति प्राप्त नहीं है जिससे कि वह मूल अधिकारों को निराकृत कर सके, किन्तु वह अपनी संशोधन-शक्तियों का प्रयोग करते हुए, उनको नष्ट किए बिना, उनको संशोधित या विनियमित या समायोजित कर सकती है। सम्पत्ति के मूल अधिकार को यदि यह सिद्धान्त लागू किया जाए, तो, संसद् विधानमण्डलों को इस बात के लिए सशक्त नहीं कर सकती कि वे ऐसी मनमानी राशि या भ्रामक राशि या ऐसी राशि जो कि वस्तुतः अधिहरण (कान्फिसकेशन) की कोटि में आती है, नियत करे। वही बातें अदायगी की रीति को लागू होती हैं। निर्वचन करते हुए मैं इसका यह अर्थ नहीं निकाल सकता कि अदायगी की मनमानी रीति के सम्बन्ध में परिकल्पना की गई है। उदाहरणार्थ यदि कोई राशि 10,000 रुपये अवधारित की जाती है या नियत की जाती है, तो विधानमण्डल यह अधिकथित नहीं कर सकता कि उसकी अदायगी 10 रुपये प्रति वर्ष या 10 रुपये प्रति मास की दर से की जाएगी।

ऐसे दो मामलों का हवाला दिया जा सकता है जिनसे यह पता चलता है कि यदि विवेकाधिकार प्रदत्त किया जाता है, तो उसका प्रयोग युक्तियुक्त रूप से किया जाना चाहिए।

रोबर्ट्स बनाम होपवुड([1]) वाले मामले में यह अभिनिर्धारित किया गया था कि मैट्रोपोलिस मैनेजमेण्ट ऐक्ट, 1855 की धारा 62 द्वारा काउन्सिल को जो विवेकाधिकार

([1]) (1925) ए० सी० 578, 590.

प्रदत्त किया गया था, उसका प्रयोग युक्तियुक्त रूप से किया जाना चाहिए। लार्ड बकमास्टर के निम्नलिखित विचार महत्वपूर्ण हैं—

"जो कारण मैंने बताए हैं, उनके आधार पर मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि वे उस बात पर विचार नहीं कर सकते थे जिसके बारे में उनका कहना है कि उससे हम प्रभावित हुए हैं, और यह कि उन्होंने इस आधार पर अपना विनिश्चय नहीं दिया था कि कार्य के लिए जो पारितोषिक दिया जाता है, वह ऐसे कार्य का मूल्य होता है जो कि युक्तियुक्त रूप से तथा उदारतापूर्वक भी आंका गया हो, किन्तु यह कि उन्होंने मनमाने सिद्धान्त को अपनाया और मनमानी राशि नियत कर दी, जो कि उस विवेकाधिकार का उचित प्रयोग नहीं था जिसे कानून ने उनको प्रदत्त किया था।"

हम लार्ड रेनबरी के पृष्ठ 613 पर दिए गए विचारों का हवाला भी दे सकते हैं—

"मेरी राय उच्च आधारों पर कायम की गई है। जिस व्यक्ति में विवेकाधिकार निहित किया जाता है, उसे युक्तियुक्त आधारों पर ही अपने विवेकाधिकार का प्रयोग करना चाहिए। विवेकाधिकार मनुष्य को वह बात करने के लिए जो कि उसे पसन्द हो, केवल इसलिए सशक्त नहीं करता क्योंकि वह ऐसा करना चाहता है—अपने विवेकाधिकार के प्रयोग में उसे न केवल वह बात करनी चाहिए जो कि वह पसन्द करता है, बल्कि उसे वह बात करनी चाहिए जो कि उसे करनी चाहिए। दूसरे शब्दों में अपने तर्क का प्रयोग करके उसे वह रास्ता निश्चित करना चाहिए और उसका अनुसरण करना चाहिए जो कि युक्तिसंगत हो। उसे युक्तियुक्त रूप से कार्य करना चाहिए।"

जेम्स लैसली विलियम्स बनाम हैनिस थॉमस(1) वाले मामले के शीर्ष-टिप्पण में जो तथ्य दिए गए हैं, वे निम्नलिखित रूप में हैं—

"न्यू साउथ वेल्स पब्लिक सर्विस सुपरनुएशन ऐक्ट, 1903 की धारा 4 के अधीन, पब्लिक सर्विस बोर्ड ने वादी को 23 पौंड, 10 शिलिंग, 1 पेंस प्रति मास की दर से उपदान दिया था, जो कि 9 दिसम्बर, 1875 से जो कि उसके स्थायी नियोजन की तारीख थी, 23 दिसम्बर, 1895 तक की सेवा के प्रत्येक वर्ष के लिए संगणित किया गया था; और उसके यह दावा किए जाने पर कि उसकी सेवा की गणना 16 अगस्त, 1902 तक की जाए, उसे 23 दिसम्बर, 1895 के बाद 16 अगस्त, 1902 तक के प्रत्येक वर्ष के सम्बन्ध में जो कि उस वर्ष के पब्लिक सेवा ऐक्ट के प्रारम्भ की तारीख थी, 1 पैंस की दर से अतिरिक्त उपदान दिया गया।"

जुडीशियल कमेटी ने यह अभिनिर्धारित किया कि वह अधिनिर्णय भ्रामक था। जुडीशियल कमेटी ने यह मत व्यक्त किया कि—

"..........माननीय न्यायाधीशों को यह बात बिल्कुल ही स्पष्ट मालूम होती है कि भले ही इस प्रकार का भ्रामक अधिनिर्णय—जो कि ऐसा अधिनिर्णय है जिसका आशय अनुचित और अपर्याप्त है—प्रयोग किए जाने वाले विवेकाधिकार के आवरण में क्यों न किया गया हो, फिर भी वह सर्वाधिक रूप से ईमानदार कार्य

(1) (1911) ए० सी० 381.

है और पार्लियामेण्ट द्वारा बोर्ड को दिए गए विवेकाधिकार का प्रयोग करने के सम्बन्ध में उसके द्वारा इंकार किए जाने की कोटि में आता है।"

यद्यपि मैं अनुच्छेद 31 में खण्ड (2ख) को अन्तःस्थापित करने की बुद्धिमत्ता को समझने में असमर्थ हूं, जिसका प्रभाव यह है कि अनुच्छेद 19(1) (च) लागू नहीं होगा, फिर भी मैं यह नहीं कह सकता कि अनुच्छेद 19(1) (च) के अधीन अधिकारों का अयुक्तियुक्त न्यूनन (अनरीज़नेबल एब्रिजमेण्ट) है। सिद्धान्त निश्चित करने वाली विधि पारित करते समय, विधानमण्डल राशि का अवधारण करने वाली प्रक्रिया के सम्बन्ध में उपबंध करने के लिए बाध्य है और यदि वह प्रक्रिया मनमानी है तो उस उपबंध को अनुच्छेद 14 के अधीन अभिखण्डित किया जा सकेगा।

मैंने यथा संशोधित नवीन अनुच्छेद 31(2) का जो निर्वचन किया है, उसको देखते हुए, यह नहीं कहा जा सकता कि संसद् ने नवीन अनुच्छेद 31(2) को अधिनियमित करते हुए अनुच्छेद 368 के अधीन अपनी संशोधन-शक्ति का अतिक्रमण किया है।

उपर्युक्त कारणों से, मैं यह अभिनिर्धारित करता हूं कि जैसा कि मैंने संविधान (पच्चीसवां संशोधन) अधिनियम, 1971 की धारा 2, का निर्वचन किया है, वह विधिमान्य है।

संविधान (पच्चीसवां संशोधन) अधिनियम, 1971 की धारा 3 की विधिमान्यता

पच्चीसवें संशोधन की धारा 3 निम्नलिखित रूप में है—

"3. संविधान के अनुच्छेद 31ख के पश्चात् निम्नलिखित अनुच्छेद जोड़ दिया जाएगा—

"31ग. अनुच्छेद 13 में किसी बात के होते हुए भी, कोई विधि, जो अनुच्छेद 39 के खण्ड (ख) या खण्ड (ग) में उल्लिखित तत्वों को सुनिश्चित करने के लिए राज्य की नीति को प्रभावी करने वाली हो, इस आधार पर शून्य न समझी जाएगी कि वह अनुच्छेद 14, अनुच्छेद 19 या अनुच्छेद 31 द्वारा प्रदत्त अधिकारों में से किसी से असंगत है अथवा उसे छीनती या न्यून करती है; और जिस विधि में यह घोषणा हो कि वह ऐसी नीति को प्रभावी करने के लिए है, उस पर किसी न्यायालय में इस आधार पर आपत्ति नहीं की जाएगी कि वह ऐसी नीति को प्रभावी नहीं करती :

परन्तु जहां ऐसी विधि किसी राज्य के विधान-मण्डल द्वारा बनाई जाए, वहां इस अनुच्छेद के उपबन्ध उसे तब तक लागू न होंगे जब तक कि ऐसी विधि को, राष्ट्रपति के विचार के लिए रक्षित किए जाने के पश्चात्, उसकी अनुमति न मिल गई हो।"

यह ध्यान देने की बात है कि अनुच्छेद 31ग "अनुच्छेद 13 में किसी बात के होते हुए भी" अभिव्यक्ति से आरम्भ होता है। किन्तु इससे यह अर्थ नहीं निकल सकता कि न केवल अनुच्छेद 19(1)(च) या अनुच्छेद 31 जैसे मूल अधिकार ही अपवर्जित कर दिए गए हैं बल्कि ऐसे सभी मूल अधिकार भी जो कि अल्पसंख्यकों और धार्मिक समूहों से सम्बन्धित हैं, अपवर्जित कर दिए गए हैं। इस अनुच्छेद का तात्पर्य उन विधियों को, जिन्हें

राज्य अनुच्छेद 39 के खण्ड (ख) या (ग) में विनिर्दिष्ट सिद्धान्तों को सुनिश्चित करने की दृष्टि से बनाए, इस आधार पर चुनौती दिए जाने से संरक्षा प्रदान करना है, कि वह अनुच्छेद 14, 19 या 31 द्वारा प्रदत्त अधिकारों में से किसी अधिकार से असंगत है अथवा उसे छीनती या न्यून करती है। यह एक मात्र ऐसा आधार है जिस पर उन्हें चुनौती नहीं दी जा सकती। यह ध्यान देने योग्य बात है कि अनुच्छेद में यह उपबंध किया गया है कि यदि किसी विधि में यह घोषणा मौजूद है कि वह ऐसी नीति को प्रभावी बनाने के लिए है, तो उसे किसी भी न्यायालय में इस आधार पर चुनौती नहीं दी जाएगी कि वह ऐसी नीति को प्रभावी नहीं बनाती है। दूसरे शब्दों में यदि ऐसी घोषणा की जाती है, तो कोई भी न्यायालय उस विधि को इस आधार पर असंगत नहीं बना सकता कि उसका सम्बन्ध उक्त नीति को प्रभावी बनाने से नहीं है; यह बात कि क्या ऐसी विधि किसी अन्य नीति को प्रभावी बनाती है, असंगत है। इसके अलावा किसी विधि में ऐसे उपबंध हो सकते हैं जिनमें अनुच्छेद 39 के खण्ड (ख) या (ग) में विनिर्दिष्ट सिद्धान्तों के बारे में चर्चा हो सकती है, जब कि अन्य धाराओं का उनसे कोई भी सम्बन्ध नहीं हो सकता, फिर भी वह विधि किसी भी न्यायालय की ऐसे प्रश्न पर विचार करने सम्बन्धी शक्ति को तथा उसकी अधिकारिता को छीनती है।

इस घोषणा को देखते हुए यह न्यायालय ऐसे आनुषंगिक उपबन्धों की विधिमान्यता को कसौटी पर कसने में असमर्थ होगा, जो कि ऐसी नीति के आवश्यक और महत्त्वपूर्ण भाग हों, जो अनुच्छेद 39(ख) और अनुच्छेद 39(ग) को प्रभावी बनाने के लिए हो।

अकादसी प्रधान बनाम उड़ीसा राज्य (1) वाले मामले में मुख्य न्यायाधिपति गजेन्द्रगडकर ने न्यायालय की ओर से निर्णय देते हुए यह मत व्यक्त किया कि—

> "इस संदर्भ में, राज्य एकाधिकार (मोनोपली) से सम्बन्धित विधि में, ऐसे सभी उपबन्ध शामिल होते हैं जो कि उक्त विधि में अन्तर्विष्ट हों, चाहे उनका सीधा सम्बन्ध एकाधिकार की उत्पत्ति से हो या न हो। हमारी राय में, उक्त अभिव्यक्ति से ऐसी विधि अभिप्रेत समझी जानी चाहिए जो कि उसके पूर्ण रूप से आवश्यक लक्षणों में एकाधिकार से सम्बन्धित हो। यदि कोई विधि राज्य एकाधिकार को उत्पन्न करते हुए पारित की जाती है, तो न्यायालय को यह जांच करनी चाहिए कि उक्त विधि के ऐसे कौन से उपबन्ध हैं जो कि आधारिक रूप से तथा आवश्यक रूप से राज्य एकाधिकार को उत्पन्न करने के लिए जरूरी हैं। केवल आवश्यक और आधारिक उपबन्धों को ही अनुच्छेद 19(6) के बाद वाले भाग की संरक्षा प्राप्त है। यदि अधिनियम द्वारा बनाए गए ऐसे अन्य उपबन्ध जो कि एकाधिकार के प्रवर्तन के लिए समनुषंगी (सबसिडयरी), आनुषंगिक (इन्सीडेण्टल) या सहायक हैं, तो वे उक्त भाग के अधीन नहीं आते और उनकी विधिमान्यता के सम्बन्ध में अनुच्छेद 19(6) के प्रथम भाग के अधीन निर्णय किया जाना चाहिए।"

(1) (1963) सप्लीमेण्ट 2 एस० सी० आर० 691, 707.

न्यायाधिपति शाह ने आर० सी० कूपर बनाम भारत संघ([1]) वाले मामले में बड़ी न्यायपीठ की ओर से निर्णय सुनाते हुए, निम्नलिखित बातों को, अनुमोदन सहित, उद्धृत किया था। न्यायाधिपति शाह ने विचारों को उद्धृत करने के पश्चात्, यह मत व्यक्त किया था कि—

"यही बात रासबिहारी पाण्डा और कुछ अन्य बनाम उड़ीसा राज्य ([2]), व्रजलाल मनिलाल एण्ड कम्पनी और एक अन्य बनाम मध्य प्रदेश राज्य और कुछ अन्य ([3]), और नगरपालिका समिति, अमृतसर और कुछ अन्य बनाम पंजाब राज्य ([4]) वाले मामले में दुहराई गई थी।

बॉम्बे प्रोहिबिशन ऐक्ट, 1949 (1949 का 25) की विधिमान्यता पर विचार करते हुए, इस न्यायालय ने मुम्बई राज्य और एक अन्य बनाम एफ० एन० बलसारा ([5]) वाले मामले में दो उपबंधों को इस आधार पर अभिखण्डित कर दिया था कि वे संविधान के अनुच्छेद 19(1)(क) द्वारा प्रत्याभूत वाक्-स्वातंत्र्य और अभिव्यक्ति स्वातंत्र्य के मूल अधिकारों के विरुद्ध हैं। ये उपबंध धारा 23(क) और 24(1)(क) हैं, जो कि इस प्रकार हैं—

*"23. कोई भी व्यक्ति—

(क) किसी मादक द्रव्य या भांग, का गुणकथन, उसके उपयोग के लिए अनुरोधपूर्वक याचना या उसके सम्बन्ध में प्रस्थापना नहीं करेगा, या...

24 (1). कोई भी व्यक्ति किसी समाचारपत्र, समाचारपत्रक, पुस्तक, पर्चे, पुस्तिका या किसी अन्य एकल या सावधिक प्रकाशन में या किसी ऐसे विज्ञापन या अन्य सामग्री को—

(क) जिसमें कि किसी मादक द्रव्य या भांग का गुणकथन उसके उपयोग के लिए अनुरोधपूर्वक याचना या उसके सम्बन्ध में प्रस्थापना की गई हो, ...

मुद्रित नहीं करेगा या प्रकाशित नहीं करेगा या अन्यथा प्रदर्शित या वितरित नहीं करेगा।"

---

* अंग्रेजी में यह इस प्रकार है—

"23. No person shall—

(a) commend, solicit the use of, offer any intoxicant or hemp, or.........

24 (1). No person shall print or publish in any newspaper news-sheet, book, leaflet, booklet or any other single or periodical publication or otherwise display or distribute any advertisement or other matter—

(a) which commends, solicits the use of or offers any intoxicant or hamp......"

([1]) (1970) 3 एस० सी० आर० 530, 582.

([2]) (1969) 3 एस० सी० आर० 374=[1969] 3 उम० नि० प० 795.

([3]) (1970) 1 एस० सी० आर० 400=[1970] 2 उम० नि० प० 319.

([4]) (1969) 3 एस० सी० आर० 447=[1970] 1 उम० नि० प० 49.

([5]) (1951) एस० सी० आर० 682.

धारा 23 (ख) के बारे में भी यह अभिनिर्धारित किया गया कि वह शून्य है। यह अभिनिर्धारित किया गया कि "उकसाएगा" और "प्रोत्साहित करेगा" शब्द इतने विस्तृत हैं कि उनके अन्तर्गत शब्दों और अभिव्यक्तियों द्वारा तथा कार्यों द्वारा भी उकसाने का कार्य और प्रोत्साहन आ जाता है तथा इस धारा में प्रयुक्त शब्द इतने व्यापक और अस्पष्ट हैं कि इस खण्ड के बारे में यह अभिनिर्धारित किया जाना चाहिए कि वह पूरी तरह से शून्य है।

धारा 23 (ख) इस प्रकार है—

* "23. कोई भी व्यक्ति—

(क) ....

(ख) जनता के किसी व्यक्ति को या जनता के व्यक्तियों में से किसी वर्ग को साधारण रूप से कोई ऐसा कार्य करने के लिए नहीं उकसाएगा या प्रोत्साहित नहीं करेगा, जो कि इस ऐक्ट या किसी नियम, या विनियम या तदधीन किए गए आदेश के उपबंधों को विफल या निष्फल नहीं करेगा, या ... ..."

श्री पालखीवाला की दलील यह है—और मैं सोचता हूं कि वह ठीक ही है—कि यह न्यायालय इन उपबंधों को उस दशा में अभिखण्डित नहीं कर सकेगा यदि उसी प्रकार की घोषणाएं बॉम्बे प्रोहिबिशन ऐक्ट में समाविष्ट की जाती हैं कि यह विधि अनुच्छेद 47 को प्रभावी बनाने के लिए है, जो कि राज्य के लिए यह कर्तव्य विहित करती है कि वह मादक पेय द्रव्यों को प्रतिषिद्ध करे। यदि आक्षेपित केरल अधिनियम में उसी प्रकार के उपबन्ध समाविष्ट किए गए थे जिनके द्वारा अधिनियमों की नीति की आलोचना करने, विफल करने या उसे निष्फल करने को आपराधिक दण्ड बनाया गया था, तो उन उपबन्धों को अनुच्छेद 31ग के अधीन संरक्षा प्राप्त होगी।

जो एकमात्र संरक्षा दी गई है, वह यह है कि यदि राज्य विधानमण्डल ऐसी विधि पारित करता है, तो उसे राष्ट्रपति की अनुमति प्राप्त होनी चाहिए। हमारे समक्ष यह दलील दी गई है कि यह संरक्षा तो है ही नहीं, क्योंकि राष्ट्रपति केन्द्रीय मंत्रिमण्डल की सलाह पर अपनी अनुमति देंगे।

जहां तक अनुच्छेद 31ग की प्रकृति का सम्बन्ध है, वह अनुच्छेद 31क से भिन्न है, जिसे चतुर्थ संशोधन द्वारा अन्तःस्थापित किया गया था।

"31क. (1) अनुच्छेद 13 में अन्तर्विष्ट किसी बात के होते हुए भी—

(क) किसी संपदा के या उसमें किन्हीं अधिकारों के राज्य द्वारा अर्जन के लिए या किन्हीं ऐसे अधिकारों के निर्वापन या उनमें परिवर्तन के लिए, या

---

*अंग्रेजी में यह इस प्रकार है—

"23. No person shall—

(a) ....

(b) incite or encourage any member of the public or any class of individuals of the public generally to commit any act, which frustrates or defeats the provisions of this Act, or any rule, regulation or order made thereunder, or........."

(ख) किसी संपत्ति का प्रबन्ध या तो लोकहित में या उस संपत्ति का उचित प्रबन्ध सुनिश्चित करने के उद्देश्य से राज्य द्वारा मर्यादित कालावधि के लिए ले लिए जाने के लिए, या

(ग) दो या अधिक निगमों को या तो लोकहित में या उन निगमों में से किसी का उचित प्रबन्ध सुनिश्चित करने के उद्देश्य से समामेलित करने के लिए, या

(घ) निगमों के प्रबन्ध अभिकर्ताओं, सचिवों और कोषाध्यक्षों, प्रबन्ध निदेशकों, निदेशकों या प्रबन्धकों के किन्हीं अधिकारों या अंशधारियों के किन्हीं मतदान-अधिकारों के निर्वापन या उनमें परिवर्तन के लिए, या

(ङ) किसी खनिज या खनिज तेल को खोजने या लब्ध करने के प्रयोजन के लिए किसी करार, पट्टे या अनुज्ञप्ति के बल पर प्रोद्भूत होने वाले किन्हीं अधिकारों के निर्वापन या उनमें परिवर्तन के लिए या किसी ऐसे करार, पट्टे या अनुज्ञप्ति को समय से पूर्व पर्यवसित करने या प्रतिसंहृत करने लिए,

उपबन्ध करने वाली विधि इस आधार पर शून्य न समझी जाएगी कि वह अनुच्छेद 14, अनुच्छेद 19 या अनुच्छेद 31 द्वारा प्रदत्त अधिकारों में से किसी से असंगत है अथवा उसे छीनती या न्यून करती है :

परन्तु…………"

अनुच्छेद 31क में विधान की विषय-वस्तु स्पष्ट रूप से उपवर्णित है अर्थात् किसी सम्पदा का या उसमें किन्हीं अधिकारों का राज्य द्वारा अर्जन [अनुच्छेद 31क(क)]। इसी प्रकार अनुच्छेद 31क के खण्ड (ख), (ग) और (घ) में विधान की विषय-वस्तु विनिर्दिष्ट रूप से उपवर्णित है। किन्तु अनुच्छेद 31ग की परिधि अनन्त है, क्योंकि वह प्रत्येक राज्य को इस बात की इजाजत देती है कि वह अनुच्छेद 39 के खण्ड (ख) और (ग) में विनिर्दिष्ट सिद्धान्तों को सुनिश्चित करने के लिए अभ्युपाय करे। अनुच्छेद 39(ख) और 39(ग) की शब्दावली बहुत ही व्यापक है। अनुच्छेद 39(ग) में "आर्थिक व्यवस्था" अभिव्यक्ति के अन्तर्गत वृत्तिक और अन्य सेवाएं भी आ सकती हैं। एनसाइक्लोपीडिया अमेरिकाना (1970 का संस्करण, जिल्द 9, पृष्ठ 600) के अनुसार, "आर्थिक व्यवस्थाएं माल और सेवाएं उत्पन्न करने के लिए और यह अवधारित करने के लिए कि उनको किस प्रकार से वितरित किया जाएगा, सामाजिक संगठन के रूप हैं राज्य द्वारा दी गई इस दलील का प्रतिरोध करना कठिन होगा कि विधि में का प्रत्येक उपबन्ध राज्य की नीति को प्रभावी बनाने के प्रयोजन के लिए ही किया गया है।

यह दलील दी गई है कि यदि अनुच्छेद 31ग के बाद वाले भाग को, जिसमें सम्बन्धित घोषणा के बारे में चर्चा की गई है, असांविधानिक मान लिया जाता है, तो न्यायालय इस प्रश्न पर विचार करने का अधिकारी होगा कि क्या आक्षेपित विधि और अनुच्छेद 39(ख) और अनुच्छेद 39(ग) के बीच कोई सम्बन्ध है। मैं इस दलील को समझने में कठिनाई का अनुभव कर रहा हूं। कोई ऐसी विधि हो सकती है जिसमें राज्य

नीति का कोई कथन ही न हो। यदि प्रस्तावना में नीति सम्बन्धी कथन मौजूद है, तो भी वह मुख्य उपबन्धों को उस दशा में नियंत्रित नहीं करेगी यदि वे स्पष्ट हैं। किन्तु यह बात मानते हुए कि उसके सम्बन्ध में स्पष्ट कथन मौजूद है, यह विनिश्चित करना राज्य विधानमण्डल पर निर्भर होगा कि क्या इस उपबन्ध से उन उद्देश्यों की पूर्ति में सहायता मिलेगी।

न्यायालय आनुषंगिक (इन्सीडेण्टल) उपबन्धों और मात्र आनुषंगिक उपबन्धों को निश्चित रूप से पृथक् करने में असमर्थ होंगे। इसके अलावा जैसा कि मैंने पहले ही बता दिया है, यदि किसी विधि में यह घोषणा मौजूद हो कि यह ऐसी नीति को प्रभावी बनाने के लिए है, तो यह प्रश्न न्याय्य (जस्टिशिएबल) नहीं होगा। श्री पालखीवाला के मतानुसार, अनुच्छेद 31ग में एकदलीय पद्धति (टोटैलिटैरिएनिज्म) की चार मुख्य बातें मौजूद हैं— (1) कोई समानता नहीं होती है। शासक दल अपने दल के सदस्यों के साथ पक्षपात कर सकता है, (2) वाक्-स्वातंत्र्य की कोई भी आवश्यकता नहीं होती, (3) ऐसे वैयक्तिक स्वातंत्र्य की आवश्यकता नहीं होती जो कि अनुच्छेद 19(1)(ख) के अन्तर्गत आता है, और (4) सम्पत्ति राज्य की दया पर निर्भर होती है। दूसरे शब्दों में किसी भी व्यक्ति की सम्पत्ति का अधिहरण (कान्फिसकेशन) अनुज्ञेय होगा।

मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि अन्ततः अनुच्छेद 31ग राज्यों को ऐसी नीति अपनाने में जो कि वे पसन्द करते हैं, और संविधान के अनुच्छेद 14, 19 और 31 को अपनी इच्छानुसार निराकृत (एब्रोगेट) करने में समर्थ बनाता है। दूसरे शब्दों में, यह राज्य को संविधान का संशोधन करने में समर्थ बनाता है। उदाहरण के लिए अनुच्छेद 14 राज्य की नीति के अनुसार, न कि संशोधन करने वाले निकाय अर्थात् संसद् की नीति के अनुसार, राज्य द्वारा परिसीमित किया जाएगा, और उसी प्रकार से अनुच्छेद 19 और अनुच्छेद 31 भी परिसीमित किए जाएंगे, जब कि ये मूल अधिकार संविधान में मौजूद रहेंगे। यह दलील दी गई कि जब संसद् या किसी विधानमण्डल का कोई अधिनियम अनुज्ञेय सीमाओं के भीतर रहते हुए अपनी विधायी शक्ति का प्रत्यायोजन करता है, तो प्रत्यायोजित विधान अपना प्राधिकार संसद् के अधिनियम से प्राप्त करता है। यह दलील दी गई कि उसी प्रकार से राज्य की विधि अनुच्छेद 31ग से प्राधिकार प्राप्त करेगी। यह सच है कि राज्य की विधि अनुच्छेद 31ग से प्राधिकार प्राप्त करेगी किन्तु प्रत्यायोजित विधान और अनुच्छेद 31ग के अधीन बनाई गई राज्य की विधि के बीच जो अन्तर है, वह यह है—किन्हीं सीमाओं के भीतर रहते हुए, विधानमण्डल के लिए विधि बनाने की दृष्टि से अपने कृत्यों का प्रत्यायोजन करना अनुज्ञेय है। इसके अलावा, प्रत्यायोजित विधान को राज्य के अधिनियम की विधिमान्यता पर ध्यान न देते हुए, इस आधार पर चुनौती दी जा सकेगी कि उससे मूल अधिकारों का अतिक्रमण हुआ है। किन्तु राज्य विधानमण्डल संविधान में संशोधन करने के लिए प्राधिकृत नहीं कर सकता और राज्य की ऐसी विधि को, जो कि अनुच्छेद 31ग से प्राधिकार प्राप्त करती है, इस आधार पर चुनौती नहीं दी जा सकती कि वह अनुच्छेद 14, 19 और 31 का अतिक्रमण करती है।

यह स्मरणीय है कि अनुच्छेद 19 में न केवल सम्पत्ति के अधिकार के सम्बन्ध में उपबन्ध किया गया है, बल्कि उसके अधीन विभिन्न अधिकारों के सम्बन्ध में गारण्टी भी दी गई है : वाक्-स्वातंत्र्य और अभिव्यक्ति-स्वातंत्र्य का अधिकार; शान्तिपूर्वक और

निरायुद्ध सम्मेलन का अधिकार; संस्था या संघ बनाने का अधिकार; भारत राज्य-क्षेत्र में सर्वत्र अबाध संचरण का अधिकार; कोई वृत्ति, उपजीविका, व्यापार या कारबार का अधिकार। मैं यह समझने में असमर्थ हूं कि विधानमण्डल को उपर्युक्त स्वतंत्रताओं को निराकृत करने की ऐसी शक्तियां देने का क्या कारण है। वास्तव में संसद् विधानमण्डलों को यह घोषणा करने में समर्थ बना रही है कि "नागरिक स्वतंत्र नहीं होगा; उसे राज्य की नीति की आलोचना करने का वाक्-स्वातंत्र्य प्राप्त नहीं होगा; राज्य के विरुद्ध आपत्ति करने के लिए वह सम्मेलन नहीं करेगा; वह एक नगर या जिला तक ही सीमित रहेगा और अपने राज्य के बाहर संचरण नहीं करेगा; किसी अन्य राज्य का निवासी उस राज्य में प्रवेश नहीं करेगा, जो यह विधान बना रहा हो; यदि वह वकील है, तो वह उन लोगों की पैरवी नहीं करेगा जिन्होंने विधि का अतिक्रमण किया है"। वास्तव में उसके अधीन विधानमण्डलों को इस बात के लिए समर्थ बनाया गया है कि वे शासक दल के राजनीतिक विरोधियों को एक विधि लागू करें और उस दल के सदस्यों को उक्त विधि की परिधि के बाहर रखें। संक्षेप में, वह राज्य विधानमण्डल को इस बात के लिए समर्थ बनाता है कि वह राज्य में पूर्ण रूप से एकदलीय पद्धति (टोटेलिटेरिएनिज्म) स्थापित करे। ऐसा प्रतीत होता है कि संसद् ने इन कठिनाइयों की ओर ध्यान नहीं दिया था यद्यपि श्री पालखीवाला की दलील यह है कि जो भी कठिनाई उत्पन्न की गई है, वह जानबूझकर साशय की गई।

मुझे इस बारे में कोई संदेह नहीं है कि राज्य विधानमण्डल और संसद्, अपनी मामूली विधायी हैसियत में, इस नई शक्ति का जो कि उनको प्रदत्त की गई है, पूरी तरह से प्रयोग नहीं करेंगे किन्तु यहां पर मेरा सम्बन्ध अनुच्छेद 31ग द्वारा प्रदत्त शक्ति के विस्तार से है, न कि उस बात से कि विधानमण्डल इस प्रकार प्रदत्त शक्तियों के अधीन क्या कर सकते हैं या क्या नहीं कर सकते हैं।

मैंने पहले ही यह अभिनिर्धारित कर दिया है कि संसद्, अनुच्छेद 368 के अधीन, मूल अधिकारों को निराकृत नहीं कर सकती। उसी प्रकार से संसद् विधानमण्डलों को इस बात के लिए समर्थ नहीं बना सकती कि वे मूल अधिकारों को निराकृत कर दें। इस प्रकार से यह उपबन्ध विधानमण्डलों को इस बात के लिए समर्थ बनाता है कि वे मूल अधिकारों को निराकृत कर सकेंगे और इसी लिए उसे असांविधानिक घोषित करना पड़ेगा।

हमारे समक्ष यह दलील दी गई है कि पच्चीसवें संशोधन अधिनियम की धारा 3 शून्य है, क्योंकि वास्तव में वह संशोधन करने की संविधायी शक्ति का राज्य विधानमण्डलों को प्रत्यायोजन करती है। तो प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि क्या अनुच्छेद 368 संसद् को इस बात के लिए समर्थ बनाता है कि वह संविधान को संशोधित करने का अपना कृत्य किसी अन्य निकाय को प्रत्यायोजित कर सकेगी। मुझे यह बात बिल्कुल स्पष्ट दिखाई पड़ती है कि वह ऐसा नहीं करता। यह ध्यान देने की बात है कि इस संविधान के अनुच्छेद 368 में ही यह उपबन्ध किया गया है कि संसद् के दोनों सदनों में से किसी सदन में सम्बन्धित प्रयोजन के लिए विधेयक पुरः स्थापित करके ही संशोधन पेश किया जा सकता है। दूसरे शब्दों में अनुच्छेद 368 में संसद् द्वारा संशोधन करने का कोई अन्य ढंग परिकल्पित नहीं है और उसी प्रकार से उसमें इस बात के बारे में भी कोई परिकल्पना नहीं की गई है कि संसद् संविधान को संशोधित करने के लिए कोई अन्य निकाय स्थापित कर सकती है।

भारत में यह बात बिल्कुल सुस्थिर हो चुकी है कि संसद् अपने आवश्यक विधायी कृत्यों का प्रत्यायोजन नहीं कर सकती।

देखिए—

(1) न्या० मुखर्जी के अनुसार : दिल्ली लॉज ऐक्ट, 1912 का मामला—(1951) एस० सी० आर० 747, 984-5;

(2) राजनारायण सिंह बनाम पटना प्रशासन—1955 (1) एस० सी० आर० 290;

(3) हरि शंकर बागला बनाम मध्य प्रदेश राज्य—1955 (1) एस० सी० आर० 380;

(4) बसंतलाल संगनवाला बनाम मुम्बई राज्य—1961 (1) एस० सी० आर० 341;

(5) दिल्ली नगर निगम बनाम बिड़ला कॉटन मिल्स—1968 (3) एस० सी० आर० 251;

(6) गे्वाल बनाम पंजाब राज्य—1959 सप्लीमेण्ट (1) एस० सी० आर० 792 :

अनेक ऐसे देशों में जहां कि न्यायालयों ने भारतीय न्यायालयों से भिन्न स्थिति अपनाई है, यह बात सुस्थिर हो चुकी है कि विधानमण्डल कोई दूसरा विधायी निकाय सृष्ट नहीं कर सकता। यहां पर इनिशिएटिव एण्ड रेफरेण्डम ऐक्ट का मामला (1) और अटर्नी जनरल ऑफ नोवा स्कोटिया बनाम अटर्नी जनरल ऑफ कनाडा (2) वाले मामलों का हवाला दिया गया है। मैंने विवक्षित परिसीमा (इम्प्लाइड लिमिटेशन) पर विचार करते हुए बाद वाले मामले पर विचार कर लिया है। श्री पालखीवाला ने इनिशिएटिव एण्ड रेफरेण्डम वाले मामले (1) का आश्रय यह साबित करने के लिए बहुत ही जोर देकर लिया है कि संशोधन-शक्ति प्रत्यायोजित नहीं की जा सकती। इस मामले में प्रिवी काउन्सिल की जुडीशियल कमेटी का सम्बन्ध ब्रिटिश नार्थ अमेरिका ऐक्ट, 1867 की धारा 92, शीर्ष I के निर्वचन से था, जो कि प्रान्तीय विधानमण्डल को इस बात के लिए सशक्त करती है कि वह, "लैफ्टीनेण्ट-गवर्नर के पद के सम्बन्ध में संशोधन को छोड़ कर", प्रान्त के संविधान में संशोधन कर सकेगा। मनीटोबा की विधान सभा ने इनिशिएटिव एण्ड रिफरेण्डम ऐक्ट अधिनियमित किया था, जो कि वस्तुत: लैफ्टीनेण्ट गवर्नर को इस बात के लिए विवश करता है कि वह प्रस्थापित विधि को मतदाताओं के ऐसे निकाय के समक्ष प्रस्तुत करे जो कि ऐसे विधानमण्डल से बिल्कुल ही भिन्न है जिसका कि वह सांविधानिक प्रमुख है और यदि वे मतदाता उसका अनुमोदन करें, तो वह उसको वास्तविक विधि होने से रोकने में उसे अशक्त बनाता है।

कोर्ट ऑफ अपील का निर्णय 27 मैन० एल० आर० 1 में रिपोर्ट किया गया है; वह रिपोर्ट मुझे उपलब्ध नहीं हुई है, किन्तु कोर्ट ऑफ अपील के विद्वान् न्यायाधीशों ने जो

---

(1) (1919) ए० सी० 935.

(2) (1951) एस० सी० आर०, कनाडा 31.

कारण बताए थे, वे संक्षेप में (1919) ए० सी० के पृष्ठ 936 पर निम्नलिखित रूप में दिए गए हैं—

"ब्रिटिश नार्थ अमेरिका ऐक्ट, 1867 में यह घोषित किया गया था कि प्रत्येक प्रान्त के लिए एक विधानमण्डल होना चाहिए, जिसमें धारा 92 के अधीन विधि बनाने की शक्ति निहित की गई थी; विधानमण्डल यह शक्ति स्वयं अपने से भिन्न किसी अन्य निकाय को प्रदत्त नहीं कर सकता था। प्रश्नगत ऐक्ट के द्वारा जो कि धारा 92 के अर्थान्तर्गत विधानमण्डल का अधिनियम नहीं होगा प्रस्थापित की गई प्रक्रिया कनाडा के संविधान की भावना और सिद्धान्तों के बिल्कुल ही विरुद्ध होगी, तथा वह उस विधानमण्डल को अध्यारोहित (ओवरराइड) करेगी जिसके बारे में तद्द्वारा उपबन्ध किया गया है। इसके अलावा धारा 92, शीर्ष I द्वारा प्रदत्त संविधान में संशोधन करने की शक्ति के अधीन "लैफ्टीनेण्ट गवर्नर के पद" को अभिव्यक्त रूप से छोड़ दिया गया है। जब कि प्रस्थापित अधिनियम की धारा 7 गवर्नर-जनरल द्वारा निषेधाधिकार (वीटो) और अननुज्ञा की ऐसी शक्ति को परिरक्षित करती है जो 1867 के ऐक्ट की धारा 56 और 90 द्वारा उपबन्धित थी, उसको उस ऐक्ट की धारा 56 और 90 द्वारा उपबन्धित लैफ्टीनेण्ट गवर्नर की अनुमति की आवश्यकता नहीं है; यदि धारा 7 का आशय उस अनुमति को त्यागना नहीं था, तो भी धारा 11 का स्पष्ट रूप से आशय यही था। प्रस्थापित ऐक्ट ने भी धन-विधेयकों से सम्बन्धित (धारा 90 के साथ जोड़ कर) धारा 54 के उपबन्धों का अतिक्रमण किया था।"

जुडीशियल कमेटी के माननीय न्यायाधीशों ने पृष्ठ 944 पर यह मत व्यक्त किया था—

"माननीय न्यायाधीशों का यह मत है कि ऐक्ट की भाषा का अर्थान्वयन उससे भिन्न नहीं किया जा सकता जो कि लैफ्टीनेण्ट गवर्नर की, विधानमण्डल के आवश्यक भाग के रूप में, स्थिति को प्रभावित करने की दृष्टि से गम्भीरता के साथ आशयित था, और जो कि उन अधिकारों से वंचित करना आशयित था जो कि उस स्थिति सम्बन्धी विधिक सिद्धान्तों में महत्वपूर्ण है; क्योंकि, यदि ऐक्ट विधिमान्य है, तो वह उसे इस बात के लिए विवश करता है कि वह प्रस्थापित विधि को मतदाताओं के ऐसे निकाय के समक्ष प्रस्तुत करे जो कि ऐसे विधानमण्डल से बिल्कुल ही भिन्न है जिसका कि वह सांविधानिक प्रमुख है, और यदि वे मतदाता बहुमत से उसका अनुमोदन करें, तो वास्तविक विधि होने से उसको रोकने में उसे अशक्त बनाती है। यह दलील दी गई कि जिन शब्दों के प्रति पहले ही निर्देश कर दिया गया है, और जो कि धारा 7 में मौजूद हैं, वे निषेधाधिकार और अननुज्ञा को उसकी शक्तियों को परिरक्षित करते हैं। माननीय न्यायाधीश इस दलील को स्वीकार करने में असमर्थ हैं। एकमात्र परिरक्षित शक्तियां वे शक्तियां हैं जो कि संविधान सभा के उन अधिनियमों से सम्बन्धित हैं जो कि विधेयकों से भिन्न होते हैं, और ऊपर निर्दिष्ट निषेधाधिकार और अननुज्ञा की शक्तियां 1867 के ऐक्ट की धारा 90 के अधीन गवर्नर-जनरल की शक्तियां मात्र होती हैं, न कि लैफ्टीनेण्ट गवर्नर की वे शक्तियां, वे शक्तियां उस समय समाप्त हो जाती हैं जब

कि कोई विधेयक अधिनियम बन जाता है। इनिशिएटिव एण्ड रेफरेण्डम ऐक्ट की धारा 11 लैफ्टीनेण्ट गवर्नर के अधिकारों के साथ समन्वय करना कम कठिन नहीं है। उसमें यह उपबन्ध किया गया है कि जब किसी विधि को निरसित करने की प्रस्थापना को मतदान करने वाले निर्वाचकों के बहुमत ने अनुमोदित कर दिया हो, तो उस विधि के बारे में यह समझा जाएगा कि वह ऐक्जीक्यूटिव काउन्सिल के क्लार्क द्वारा मनीटोबा गजट में मतदान के परिणाम सम्बन्धी विवरण को प्रकाशित किए जाने के बाद 30 दिनों की समाप्ति पर स्वतः ही निरसित हो गई है। इस प्रकार से ऐसा प्रतीत होता है कि लैफ्टीनेण्ट गवर्नर को नवीन विधायी प्राधिकार से पूर्णतः अपवर्जित कर दिया गया है।"

मैंने इस उद्धरण को सविस्तार उपवर्णित किया है क्योंकि इसमें कोर्ट ऑफ अपील द्वारा दिए गए तर्क का एक भाग मौजूद है। अन्य भाग अर्थात् इसके संदर्भ में क्या विधानमण्डल अपने से भिन्न किसी निकाय को वह शक्ति प्रदत्त कर सकता है, जुडीशियल कमेटी ने पृष्ठ 945 पर यह मत व्यक्त किया था—

"इतना कह लेने के बाद, माननीय न्यायाधीश उससे अधिक जो कि अत्यन्त आवश्यक हो, विनिश्चित न करने की आम परिपाटी का अनुसरण करते हुए, किसी ऐसी दूसरी कठिनाई पर अन्तिम रूप से विचार नहीं करना चाहेंगे जिसका सामना उन लोगों को करना होता है, जो कि इस ऐक्ट की विधिमान्यता के पक्ष में दलील देते हैं, चूंकि यह मुद्दा निचले न्यायालय में उठाया गया है, इसलिए वे उसके प्रति निर्देश करना ठीक समझते हैं। 1867 के ऐक्ट की धारा 92 के अधीन प्रान्त की विधायी शक्ति उसके विधानमण्डल को, और केवल उसी विधानमण्डल को सौंपी गई है। इसमें कोई संदेह नहीं है कि ऐसा निकाय जिसे, इतने ही विस्तार के साथ जितना कि कनाडा का प्रान्तीय विधानमण्डल उपभोग करता है, सौंपे गए विषयों के सम्बन्ध में विधान बनाने की शक्ति प्राप्त हो, अपनी हैसियत को यथावत् परिरक्षित करते हुए, अधीनस्थ अभिकरणों (सबार्डीनेट एजेंसीज) की सहायता वैसे प्राप्त कर सकता है, जैसे कि उस समय किया गया था जब कि हॉज बनाम क्वीन ([1]) वाले मामले में ओण्टेरियो के विधानमण्डल के बारे में यह अभिनिर्धारित किया गया था कि वह कमिश्नर के बोर्ड को मदिरालयों से सम्बन्धित विनियम अधिनियमित करने के प्राधिकार को सौंपने का हकदार है; किन्तु इससे यह अर्थ नहीं निकलता कि वह अपनी ही हैसियत के अनुसार ऐसी नई विधायी शक्ति सृष्ट कर सकता है या सौंप सकता है जो कि उस अधिनियम द्वारा सृष्ट न की गई हो जिसके परिणामस्वरूप वह अस्तित्व में आया हो। माननीय न्यायाधीशों का आशय इस प्रकार से उत्पन्न सांविधानिक प्रश्नों की गम्भीरता के प्रति ध्यान आकृष्ट करना ही है। (महत्व देने के लिए रेखांकित किया गया है)।"

यह ध्यान देना दिलचस्प होगा कि जुडीशियल कमेटी के सदस्य सर ए० हॉबहाउस ने इस स्थिति की ओर उस समय इंगित किया था जब कि हॉज बनाम क्वीन ([1])

([1]) (1883) 9 ए० सी० 117.

वाले मामले पर बहस की जा रही थी। कैनेडियन फ़ेडरल (पृष्ठ 387) पर लैफराय के विचारों से यह प्रतीत होता है कि—

"हॉज बनाम क्वीन(1) वाले मामले में प्रिवी काउन्सिल के समक्ष जो दलील दी गई थी, उसके आधार पर, श्री हौरेस डैवी ने यह दलील दी कि इस उपधारा [कैनेडियन संविधान की धारा 92(1)] के अधीन प्रान्तीय विधानमण्डल वह बात जो कि लार्ड सिलबोर्न ने क्वीन बनाम बुराह (2) वाले मामले में कही थी और जो कि निस्संदिग्ध रूप से सही बात थी, कर सकते थे जो भारतीय विधानमण्डल नहीं कर सकता, अर्थात् यह कि वह किसी अन्य निकाय के पक्ष में अपने सम्पूर्ण विधायी कृत्य को छोड़ नहीं सकता। किन्तु जैसा कि सर ए० हॉबहाऊस ने मत व्यक्त किया था, वे ऐसा नहीं कर सकते। 'उनमें उत्तरदायित्व निहित होता है। प्रत्येक बात उनके द्वारा और ऐसे अधिकारों के द्वारा की जाती है जिसे वे सृष्ट करते हैं और जिसके सम्बन्ध में वे विवेकाधिकार देते हैं'।"

विद्वान् महान्यायवादी ने यह दलील दी है कि इस मामले में केवल यह विनिश्चित किया गया था कि धारा 92, शीर्ष 1 में स्पष्ट और असंदिग्ध भाषा के अभाव में, जो शक्ति क्राउन का प्रत्यक्षतः प्रतिनिधित्व करने वाले व्यक्ति के जरिए क्राउन प्राप्त करता है, वह निराकृत नहीं की जा सकती। यह सच है कि यह वास्तविक विनिश्चय था, किन्तु बाद में प्रकट किए गए ऐसे विचारों से, जिन्हें कि मैंने ऊपर उपवर्णित कर दिया है, यह बात बिल्कुल स्पष्ट रूप से दर्शित होती है कि जुडीशियल कमेटी यह अर्थ निकालने के लिए तैयार थी कि उक्त बात परिसीमा के अध्यधीन वैसे ही है जैसे कि कोर्ट ऑफ अपील ने धारा 92, शीर्ष 1 द्वारा प्रान्तीय विधानमण्डल को प्रदत्त संशोधन करने की शक्ति के सम्बन्ध में किया था।

महान्यायवादी ने यह मत व्यक्त किया कि इस विनिश्चय के विस्तार के सम्बन्ध में नाडान बनाम किंग(3) वाले मामले में दिए विनिश्चय का हवाला दिया गया था; उस विनिश्चय के पृष्ठ 495 पर इस मामले का निम्नलिखित शब्दों में हवाला दिया गया था—

"इनिशिएटिव एण्ड रेफरेण्डम ऐक्ट वाले मामले में (4), लार्ड हैल्डेन ने, बोर्ड का निर्णय घोषित करते हुए, 'धारा 92 के अर्थान्वयन के, स्पष्ट और असंदिग्ध भाषा के अभाव में, मनौचित्य के प्रति इस प्रकार निर्देश किया कि वह किसी ऐसी शक्ति को निराकृत करने की इजाजत देती है जो क्राउन का प्रत्यक्षतः प्रतिनिधित्व करने वाले व्यक्ति के जरिए क्राउन प्राप्त करता है' यह ऐसा मत है जो कि 1867 वाले ऐक्ट की धारा 91 को तथा ऐसी शक्ति के निराकरण को जो कि स्वयं क्राउन में निहित रहती है, समान रूप से लागू होता है।"

किन्तु इस उद्धरण में विनिश्चित किए गए वास्तविक मुद्दे के सम्बन्ध में विचार प्रकट किया गया था, न कि इतरोक्ति (ओबीटर डिक्टा) के सम्बन्ध में।

नाडान बनाम किंग(3) वाले मामले में दिए गए शीर्ष टिप्पण के प्रथम पैरा में प्रिवी काउन्सिल के वास्तविक विनिश्चय को संक्षिप्त रूप में इस प्रकार दिया गया है—

(1) (1883) 9 एस० सी० 117.
(2) (1878) 3 ए० सी० 905.
(3) (1926) ए० सी० 482.
(4) (1919) एस० सी० 935.

"यदि और जहां तक कि कनाडा की दण्ड संहिता की धारा 1025 किसी दाण्डिक मामले में, कनाडा के न्यायालय के आदेश के विरुद्ध अपील करने की प्रभावशील इजाजत देने से सपरिषद् सम्राट (किंग इन काउन्सिल) को रोकना आशयित है, वहां तक वह अविधिमान्य है। दाण्डिक विधि और प्रक्रिया के सम्बन्ध में कनाडा की पार्लियामेंट का विधायी प्राधिकार, 1867 के ब्रिटिश नार्थ अमेरिका ऐक्ट की धारा 91 के अधीन, उस कार्यवाही तक ही सीमित है जो कि कनाडा में की जाती हो। इसके अलावा अपील करने की विशेष इजाजत देने के लिए राजशाही परमाधिकार (रायल प्रिरोगेटिव) को वातिल करने वाली अधिनियमिति जुडीशियल कमेटी ऐक्ट, 1833 और 1844 से असंगत है और इसी लिए वह कालोनियल लॉज वैलीडिटी ऐक्ट, 1865 की धारा 2 के अधीन अविधिमान्य है। दण्ड संहिता के सम्बन्ध में जो राजशाही अनुमति थी, वह उस अधिनियमिति को विधिमान्य नहीं ठहरा सकती जो कि साम्राज्यिक कानून द्वारा शून्य हो; परमाधिकार का अपवर्जन साम्राज्यिक कानून द्वारा ही किया जा सकता है।"

उपर्युक्त कारणों से मैं महान्यायवादी से सहमत नहीं हूं और मैं यह अभिनिर्धारित करता हूं कि इनिशिएटिव एण्ड रेफरेण्डम ऐक्ट वाला जो मामला था, उससे यह दर्शित होता है कि परिसीमाएं किसी संशोधन शक्ति में विवक्षित हो सकती हैं।

श्री सीरवाई इस मामले को अन्य आधारों पर प्रभेदित करना चाहते हैं। उनके मतानुसार वे विचार इतरोक्ति थे, किन्तु यदि उन्हें इतरोक्ति मान लिया जाए, तो भी उनके परिणामस्वरूप प्रत्यायोजित विधान को लागू होने वाले सिद्धान्तों में ऐसी कोई बात समाविष्ट नहीं होती, जो कि प्रत्यायोजित विधान को लागू होते हैं, क्योंकि इस उद्धरण में केवल वह बात दोहराई गई है जो कि क्वीन बनाम बुराह(1) वाले मामले में ही अधिकथित किया गया था, जिसमें प्रिवी काउन्सिल ने एक बहुत ही महत्वपूर्ण उद्धरण में यह मत व्यक्त किया था—

"किन्तु माननीय न्यायाधीशों का यह मत है कि न्यायालय का बहुमत वाला सिद्धान्त गलत है, और यह कि वह भारतीय विधानमण्डल की शक्तियों के, तथा वास्तव में विधान बनाने की प्रकृति और सिद्धान्तों के गलत दृष्टिकोण पर आधारित है। भारतीय विधानमण्डल को अभिव्यक्त रूप से ऐसी शक्तियां प्राप्त हैं जो साम्राज्यिक पार्लियामेंट के, जिसने उसे सृष्ट किया था, ऐक्ट द्वारा अभिव्यक्त रूप से परिसीमित की गई हैं, और वह निस्संदिग्ध रूप से उन परिसीमाओं के बाहर नहीं जा सकता जो कि उन शक्तियों को नियंत्रित करती हैं। किन्तु जब इन परिसीमाओं के भीतर कार्य किया जा रहा हो, तो वह किसी भी अर्थ में साम्राज्यिक पार्लियामेंट का अभिकर्ता या प्रतिनिधि नहीं रह जाता, किन्तु उसके पास विधान बनाने की उतनी समग्र शक्तियां रहती हैं या उसके पास होना आशयित होता है, जितनी कि और जिस प्रकृति की स्वयं पार्लियामेंट की शक्तियां हैं। जब कि यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या विहित परिसीमाओं का अतिलंघन किया गया है, तो स्थापित न्यायालयों को निश्चित रूप से उस प्रश्न को अवधारित

---

(1) (1878) 3 ए० सी० 889, 904-905.

करना होगा; और जिस एकमात्र रास्ते के जरिए वे उसे उचित रूप से कर सकते हैं, वह उस लिखत के निबन्धनों का सहारा लेना है जिसके द्वारा, सकारात्मक रूप से, विधायी शक्तियां सृष्ट की गई हों, और जिसके द्वारा, नकारात्मक रूप से, उन्हें निर्बन्धित किया गया हो। यदि उन सकारात्मक शब्दों की साधारण परिधि के भीतर जो कि शक्ति प्रदान करते हैं, जो कुछ किया गया है, विधान है, और यदि वह किसी ऐसी अभिव्यक्त शर्त या निर्बन्धन का अतिक्रमण नहीं करती है जिसके द्वारा वह शक्ति परिसीमित की गई है (जिस प्रवर्ग में, साम्राज्यिक पार्लियामेंट का कोई ऐसा अधिनियम जो कि उससे असंगत हो, निस्संदिग्ध रूप से शामिल किया जाएगा), तो यह बात किसी न्यायालय पर निर्भर नहीं करेगी कि वह उन शर्तों और निर्बन्धनों के बारे में और आगे जांच करे या उनमें अन्वयाश्रित रूप से (कंस्ट्रक्टिवली) वृद्धि करे।"

जैसा कि ऊपर उपवर्णित कर दिया गया है, श्री सीरवाई का यह भी कहना है कि प्रिवी काउन्सिल ने विधि अधिकथित करके यह भी मत व्यक्त किया—

"माननीय न्यायाधीश इस बात से सहमत हैं कि सपरिषद् गवर्नर जनरल (गवर्नर जनरल इन काउन्सिल), किसी भी अधिनियमिति के किसी प्ररूप द्वारा, कोई ऐसी विधायी नई शक्ति जो कि काउन्सिल के अधिनियम द्वारा सृष्ट या प्राधिकृत न की गई हो, भारत में सृष्ट नहीं कर सकता था, और साधारण विधायी प्राधिकार से लैस नहीं कर सकता था।"

हम उनसे सहमत होने में असमर्थ हैं कि जुडीशियल कमेटी की इस उक्ति में उसी विषय के बारे में मत व्यक्त किया गया है जिसके बारे में बुराह वाले मामले(1) में किया गया है। बुराह वाले मामले(1) का सम्बन्ध संविधान को संशोधित करने की शक्ति से नहीं था किन्तु उसका सम्बन्ध केवल ऐसे विधान से था जिसे भारतीय विधानमण्डल ने अधिनियमित किया हो। यह बात लेफराय से प्रोद्धृत उद्धरण से स्पष्ट रूप से प्रकट होती है। सपरिषद् गवर्नर-जनरल को ऐसी कोई शक्ति प्राप्त नहीं थी कि वह भारत शासन अधिनियम (गवर्नमेण्ट ऑफ इण्डिया ऐक्ट) को संशोधित कर सकता है, जिसके अधीन वह कार्य करता था।

दिल्ली नगरपालिका बनाम बिड़ला कॉटन एण्ड वुलन मिल्स(2) मामले में हम में से एक न्यायाधीश द्वारा प्रकट किए गए मत के प्रति भी निर्देश किया गया, जिसमें मैंने निम्नलिखित रूप से मत व्यक्त किया था—

"यदि प्राधिकार की बात को छोड़ दिया जाए, तो मेरी राय से संसद् को ऐसी पूरी शक्ति प्राप्त है कि वह अधीनस्थ निकायों को विधायी प्राधिकार प्रत्यायोजित कर सके। मेरी राय में, यह शक्ति संविधान के अनुच्छेद 246 से प्राप्त होती है। 'अनन्य' शब्द से अभिप्रेत है किसी अन्य विधान का अनन्य होना, न कि किसी अधीनस्थ निकाय का अपवर्जित होना। इस सम्बन्ध में एक निर्बन्धन है और वह बात अनुच्छेद 246 में मौजूद है। संसद् को चाहिए कि वह सुसंगत

(1) (1878) 3 ए० सी० 889.
(2) ए० आई० आर० (1968) एस० सी० 1232, 1266.

सूची की मद या मदों के सम्बन्ध में विधि पारित करे। नकारात्मक रूप से इसका अर्थ यह है कि संसद् अपने कृत्यों का अधित्याग (एबडिकेट) नहीं कर सकती।"

दूसरे उद्धरण का हवाला भी दिया गया था जिसमें कि मैंने यह मत व्यक्त किया था कि—

"1919 ए० सी० 935 वाले मामले में इस बात के उदाहरण के बारे में उपबन्ध किया गया है कि विधानमण्डल अपने कृत्यों का अधित्याग कैसे करता है। इस मामले से यह अनुमान नहीं लगाया जा सकता कि जिस प्रकार के प्रत्यायोजन से हमारा सम्बन्ध है, वे कृत्यों के अधित्याग की कोटि में आते हैं।"

यह बात स्पष्ट है कि ये विचार इस न्यायालय के अनेक विनिश्चयों के विरुद्ध हैं, और जैसा कि मैं कह चुका हूं, मैंने इन विचारों को बिना किसी प्राधिकार के व्यक्त किया था। किन्तु न तो इस न्यायालय का और न ही जुडीशियल कमेटी का क्वीन बनाम बुराह(1) वाले मामले में संशोधन करने की शक्ति से सम्बन्ध था, और प्रिवी काउन्सिल के इतरोक्ति के तौर पर व्यक्त किए गए मत का महत्व इस तथ्य पर निर्भर है कि संशोधन करने की अपनी शक्ति के प्रयोग में भी, विधानमण्डल कोई ऐसी नई विधायी शक्ति जिसे ऐसे अधिनियम द्वारा सृष्ट न किया गया हो जिसके परिणामस्वरूप विधानमण्डल "अस्तित्व में आया या सृष्ट नहीं कर सकता और न अपनी ही हैसियत के आधार पर सौंप ही सकता है," और वह इस तथ्य पर निर्भर है कि कनाडा में परिसीमित प्रत्यायोजित विधान का सिद्धान्त उस प्रकार से प्रभिभावी नहीं है जिस प्रकार से कि वह भारत में है।

हमारे समक्ष यह दलील दी गई है कि वास्तव में अनुच्छेद 31ग द्वारा संशोधन करने की शक्ति का राज्य विधानमण्डलों को कोई भी प्रत्यायोजन नहीं किया गया है और जो बात की गई है, वह यह है कि अनुच्छेद 31ग किन्हीं विधियों पर से उस बन्धन को समाप्त करता है जोकि भाग 3 द्वारा अधिरोपित किया गया है। मैं बन्धन को हटाने के इस विचार को समझने में असमर्थ हूं। मूल अधिकार संविधान के भाग हैं और उनको देखते हुए, वे प्रत्येक नागरिक को मूल अधिकार की गारण्टी देते हैं किन्तु जबकि राज्य विधानमण्डल अनुच्छेद 31ग और किसी अन्य विधि के अधीन इन सांविधानिक अधिकारों को निराकृत करते हैं या छीनते हैं, तो उन मूल अधिकारों का कोई भी प्रभाव नहीं रह जाएगा। जो संशोधन किया गया है, वह संसद् द्वारा नहीं किया गया है, क्योंकि संशोधन की सीमा उस समय तक ज्ञात नहीं होती जब तक कि राज्य विधान नहीं बनाता। जब राज्य विधान बनाता है, उसी समय ही मूल अधिकारों की निराकरण या न्यूनन सीमा स्पष्ट हो जाती है। सभी आशयों और प्रयोजनों के सम्बन्ध में मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि राज्य द्वारा बनाए गए विधान का संविधान के संशोधन पर असर पड़ता है। यदि यह बात मान ली जाए कि अनुच्छेद 31ग राज्यों को संविधान का संशोधन करने में समर्थ नहीं बनाता, तो अनुच्छेद 31ग अप्रभावी रहेगा, क्योंकि ऐसी विधि जोकि विशेषतः मूल अधिकारों को निराकृत करती है या छीनती है, पारित न की गई होती, बल्कि ऐसे

(1) (1878) 3 ए० सी० 889.

किसी अन्य निकाय द्वारा पारित की गई होती जोकि अनुच्छेद 368 द्वारा मान्य नहीं है, और उस आधार पर वह शून्य होगी।

विद्वान् महासॉलिसिटर ने मोहम्मद सम्सुद्दीन कारियाप्पर बनाम एस० एस० बिजे सिन्हा (¹) वाले मामले का आश्रय लेते हुए यह दलील दी कि संविधान का विवक्षित संशोधन (इम्प्लाइड अमेण्डमेण्ट) हो सकता है और अनुच्छेद 31ग का अर्थान्वयन इस प्रकार किया जा सकता है कि वह अनुच्छेद 368 का विवक्षित संशोधन है। इस मामले में जुडीशियल कमेटी ने जो बात विनिश्चित की थी, वह यह थी कि ऐसा विधेयक जिसके सम्बन्ध में स्पीकर के पास इस प्रभाव का प्रमाणपत्र आ जाने पर कि हाउस ऑफ रेप्रिजेण्टेटिव्ज में उसके पक्ष में डाले गए मतों की संख्या सदन के सदस्यों की कुल संख्या के दो-तिहाई से अन्यून हो वस्तुतः ऐसे विधेयक की कोटि में आता है जो कि किसी आदेश के उपबंधों में से किसी का संशोधन करने के लिए या निरसित किए जाने के लिए प्रस्तुत किया गया हो, और "संशोधन या निरसित" शब्दों के भीतर विवक्षित संशोधन आ जाता है।

जुडीशियल कमेटी की ओर से निर्णय सुनाते हुए न्या० मैंजीज ने यह मत व्यक्त किया —

> "अतः उपधारा (4) के परन्तुक के अलावा, धारा 29(4) के पहले वाले भाग में "संशोधन या निरसित" शब्दों का अर्थान्वयन इस प्रकार न करने के लिए कि वह असंगत विधि द्वारा किए गए संशोधन या निरसन को लागू होता है, बोर्ड को कोई भी कारण नहीं मिला है:...... ..यदि कोई विधेयक अधिनियम बन जाता है, तो वह किसी आदेश के किसी उपबन्ध को संशोधित या निरसित करता है और वह ऐसा विधेयक होता है जो कि आदेश के उपबन्ध को संशोधित या निरसित करने के लिए प्रस्तुत किया जाता है।" (पृष्ठ 745)

बाद में उसने यह मत व्यक्त किया—

> "जो विधेयक अधिनियम बन गया, वह ऐसा विधेयक था जो केवल इसलिए संविधान की धारा 24 का संशोधन करने वाला विधेयक था क्योंकि उसके निबन्धन उस धारा से असंगत थे। जब कोई विधेयक विधि बन जाता है, तो उसके प्रवर्तन के परिणामस्वरूप उसे सांविधानिक स्वरूप प्राप्त हो जाता है, न कि किसी ऐसे विशिष्ट नाम के कारण जोकि उसे प्रदान किया गया हो। ऐसे विधेयक को जिसके बारे में यह वर्णित किया गया हो कि वह संविधान का संशोधन करने के लिए पेश किया गया है, और जिसमें संविधान को संशोधित करने सम्बन्धी कोई भी प्रवर्तन करने वाला उपबन्ध समाविष्ट न हो, विधिमान्य विधि होने के लिए विहित औपचारिकताओं की अपेक्षा नहीं होगी, जबकि ऐसा विधेयक, जो अधिनियम के रूप में पारित होने पर तथा विधिमान्य होने पर संविधान में संशोधन करता है, उन औपचारिकताओं की पूर्ति किए बिना विधिमान्य नहीं होगा।"

(¹) (1968) ए० सी० 717, 743.

यहां पर हमारा सम्बन्ध उस प्रश्न से नहीं है जोकि जुडीशियल कमेटी के समक्ष उठाया गया था, क्योंकि किसी ने भी इस बात से इन्कार नहीं किया है कि अनुच्छेद 31ग संविधान का संशोधन है। जिस एक मात्र प्रश्न से हमारा सम्बन्ध है, वह यह है कि क्या अनुच्छेद 31ग का अर्थान्वियन यह किया जा सकता है कि वह अनुच्छेद 368 का विवक्षित संशोधन है और यदि उसका अर्थान्वयन इस प्रकार से किया जाता है, तो वह स्वयं अनुच्छेद 368 के संशोधन करने विषयक संसद् की शक्तियों के भीतर विधिमान्य है।

मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि अनुच्छेद 31ग का अर्थान्वयन यह नहीं किया जा सकता कि वह अनुच्छेद 368 का विवक्षित संशोधन है, क्योंकि वह "अनुच्छेद 13 में किसी बात के होते हुए भी" शब्दों से आरम्भ होता है और अनुच्छेद 31ग में यह बात कि "अनुच्छेद 368 में किसी बात के होते हुए भी", मौजूद नहीं है। अनुच्छेद 31ग से जो बात हुई है, वह यह है कि उसने विधानमण्डलों को, अनुच्छेद 31ग में अधिकथित शर्तों के अध्यधीन रहते हुए, इस बात के लिए सशक्त किया है कि वे अनुच्छेद 14, 19 और 31 द्वारा प्रदत्त अधिकारों को छीन सकेंगे या न्यून कर सकेंगे। किसी भी स्थिति में, यदि उसे अनुच्छेद 368 का संशोधन समझा जाता है, तो वह अनुच्छेद 368 द्वारा प्रदत्त शक्तियों के विपरीत है। अनुच्छेद 368 संसद् को इस बात के लिए समर्थ बनाता है कि वह स्वयं अनुच्छेद 368 को संशोधित करने की अपनी शक्ति का प्रयोग करते हुए, संविधान का संशोधन करने के लिए कोई अन्य विधानमण्डल गठित करे।

उपर्युक्त कारणों से मैं यह अभिनिर्धारित करता हूं कि संविधान (पच्चीसवां संशोधन) अधिनियम, 1971 की धारा 3 शून्य है क्योंकि वह संविधान का संशोधन करने के लिए विधानमण्डलों को अपनी शक्ति का प्रत्यायोजन करती है।

भाग VII—उन्तीसवां संशोधन

संविधान (उन्तीसवां संशोधन) इस प्रकार है—

"2 : नवम अनुसूची का संशोधन

"संविधान की नवम अनुसूची में, प्रविष्टि 64 के पश्चात् और व्याख्या के पूर्व, निम्नलिखित प्रविष्टियां जोड़ दी जाएंगी, अर्थात्—

"65. केरल भूमि सुधार (संशोधन) अधिनियम, 1969 (1969 का केरल अधिनियम 35)

"66. केरल भूमि सुधार (संशोधन) अधिनियम, 1971 (1971 का केरल अधिनियम 25)।"

नवम अनुसूची में उन दो केरल अधिनियमों को जोड़ दिए जाने का प्रभाव यह है कि अनुच्छेद 31ख के उपबन्ध लागू हो गए हैं। अनुच्छेद 31ख, जो संविधान (प्रथम संशोधन) अधिनियम, 1951 की धारा 5 द्वारा जोड़ा गया था, इस प्रकार है—

"नए अनुच्छेद 31ख का जोड़ा जाना

5. धारा 4 द्वारा जोड़े गए संविधान के अनुच्छेद 31-क के पश्चात् निम्नलिखित अनुच्छेद जोड़ दिया जाएगा, अर्थात्—

कतिपय अधिनियमों और विनियमों का मान्यकरण

31ख. अनुच्छेद 31क में अन्तर्विष्ट उपबन्धों की व्यापकता पर प्रतिकूल प्रभाव

डाले बिना नवम अनुसूची में उल्लिखित अधिनियमों और विनियमों में से और उनके उपबंधों में से कोई इस आधार पर शून्य या कभी शून्य हुआ न समझा जाएगा कि वह अधिनियम, विनियम या उपबन्ध इस भाग के किन्हीं उपबन्धों द्वारा प्रदत्त अधिकारों में से किसी से असंगत है अथवा उसे छीनता या न्यून करता है और न्यायालय या न्याय-अधिकरण के किसी प्रतिकूल निर्णय, आज्ञप्ति या आदेश के होते हुए भी, उक्त अधिनियमों और विनियमों में से प्रत्येक, उसे निरसित या संशोधित करने की किसी सक्षम विधान-मण्डल की शक्ति के अधीन रहते हुए, प्रवृत्त बना रहेगा।"

प्रथम संशोधन द्वारा अनुच्छेद 31क तथा नवम अनुसूची, जिसमें भूमि सुधारों से सम्बन्धित 13 राज्य अधिनियमितियां शामिल हैं, अन्तःस्थापित किए गए थे।

हमारे समक्ष जिन मुद्दों पर वाद-विवाद किया गया है, उन पर विचार करने के पूर्व यह बताना आवश्यक है कि मूल अनुच्छेद के स्थान पर नवीन अनुच्छेद 31क को संविधान (चतुर्थ संशोधन) अधिनियम, 1955 द्वारा भूतलक्षी प्रभाव से प्रतिस्थापित किया गया था। नवीन अनुच्छेद में मूल अनुच्छेद 31क(1, खण्ड (क) के रूप में समाविष्ट है और उसके द्वारा खण्ड (ख) से लेकर (ङ) तक जोड़े गए थे तथा उसने संरक्षात्मक उपबन्धों की प्रकृति में तब्दीली भी की थी। जैसा कि अनुच्छेद 31क(1) को प्रतिस्थापित किया गया था, उसके सुसंगत भाग को पहले ही उपवर्णित कर दिया गया है।

जैसा कि प्रथम संशोधन द्वारा अनुच्छेद 31क को जोड़ा गया था, उसके अधीन किसी विधि को उस दशा में भी संरक्षा प्राप्त थी यदि वह भाग 3 के किन्हीं उपबन्धों द्वारा प्रदत्त किन्हीं अधिकारों से असंगत हो या छीनती हो या न्यून करती हो। चतुर्थ संशोधन के अधीन, संरक्षात्मक उपबन्ध केवल अनुच्छेद 14, अनुच्छेद 19 या अनुच्छेद 31 को ही लागू होते थे। इसके अलावा सत्रहवें संशोधन द्वारा अनुच्छेद 31क में "सम्पदा" शब्द की परिभाषा को संशोधित कर दिया गया था। उसके द्वारा नवम अनुसूची में सात अधिनियम जोड़े गए थे।

मामले के इस भाग के सम्बन्ध में श्री पालखीवाला ने दो प्रकार की दलील पेश की। उनकी पहली दलील यह थी कि, जैसा कि अनुच्छेद 31ख को मूलतः जोड़ा गया था, उसका निकट का सम्बन्ध भूमि-सुधारों से था, क्योंकि उस प्रक्रम में अनुच्छेद 31क में भूमि सुधारों के सम्बन्ध में ही उपबन्ध किए गए थे। उनके मतानुसार, "अनुच्छेद 31क में अन्तर्विष्ट उपबन्धों की व्यापकता पर प्रतिकूल प्रभाव डाले बिना" शब्द इसी बात का संकेत करते हैं। उनका कहना वास्तव में यह था कि चूंकि अनुच्छेद 31ख का मूलतः यही अर्थ था, इसलिए उसके द्वारा उसके अर्थ या उसके विस्तार में कोई भी तब्दीली तब नहीं हुई जबकि अनुच्छेद 31क, जिसमें खण्ड (ख) से लेकर (ङ) तक समाविष्ट किए गए थे, जोड़ा गया था।

मैं इन दलीलों को स्वीकार करने में असमर्थ हूं। इस न्यायालय ने अनुच्छेद 31ख की परिधि को इन तीन विनिश्चयों में अवधारित किया है: **बिहार राज्य बनाम महाराजाधिराज सर कामेश्वर सिंह**[1] वाले मामले में मुख्य न्यायाधिपति पातञ्जलि शास्त्री

---

[1] (1952) एस० सी० आर० 889, 914-915.

ने सोमय्या द्वारा ऊपर उद्धृत सीमित अर्थ को अस्वीकृत कर दिया, और यह मत व्यक्त किया—

"अनुच्छेद 31ख में यह उपदर्शित करने के लिए कोई भी बात नहीं है कि किन्हीं कानूनों का विनिर्दिष्ट रूप से जिक्र करने का आशय केवल अनुच्छेद 31ख के ऐसे साधारण शब्दों के लागू होने सम्बन्धी व्याख्या करना है, जिनका एकमात्र आशय यह स्पष्ट करना है कि अनुच्छेद 31क को, वहां तक जहां तक कि उसके लागू होने का सम्बन्ध है, अनुच्छेद 31ख में अन्तर्विष्ट किसी बात के कारण निर्बन्धित नहीं कर दिया जाना चाहिए और उनके बारे में किसी भी प्रकार से यह नहीं समझा जाना चाहिए कि वे बाद वाले अनुच्छेद के या उसमें निर्दिष्ट अधिनियमितियों के लागू होने की बात को "सम्पदा" के अर्जन तक ही सीमित करते हैं।"

मैंने यह अभिनिर्धारित किया है कि शिवनाथ बनर्जी के मामले ([1]) में जो विनिश्चय किया गया था उसकी समानता इस मामले से किसी भी प्रकार से नहीं है।

विश्वेश्वर राव बनाम मध्य प्रदेश राज्य([2]) वाले मामले में न्या० महाजन ने इस दलील को इन शब्दों में अस्वीकृत किया—

"मेरी राय में शिवनाथ बनर्जी के मामले ([1]) में जो मत व्यक्त किए गए थे, वे पेश की गई इस दलील को समर्थन देने की बजाय उसे अस्वीकृत ही करते हैं। अनुच्छेद 31क के उपबन्धों के बावजूद, अनुच्छेद 31ख अनुसूची में विनिर्दिष्ट रूप से वर्णित किन्हीं अधिनियमों को विधिमान्य ठहराता है और अनुच्छेद 31क की व्याख्या नहीं करता और न ही उस पर निर्भर है।"

एन० बी० जीजीभाई बनाम सहायक कलक्टर, थाना([3]) वाले मामले में, जिसके सम्बन्ध में निर्णय देने वालों में से मैं भी एक था, मु० न्या० सुब्बा राव ने यह मत व्यक्त किया कि—"अनुच्छेद 31ख, अनुच्छेद 31क द्वारा शासित नहीं होता और यह कि अनुच्छेद 31ख ऐसी सांविधानिक युक्ति है जिसके द्वारा विनिर्दिष्ट कानूनों को इस आधार पर किसी चुनौती के विरुद्ध संरक्षण दी जाती है कि वे संविधान के भाग 3 का अतिक्रमण करते हैं"।

मैं यह बात कहना चाहूंगा कि इस युक्ति की विधिमान्यता को इस न्यायालय के समक्ष उस समय चुनौती नहीं दी गई थी।

यद्यपि मैं इस दलील को स्वीकार नहीं करता कि अनुच्छेद 31ख उस उपबन्ध द्वारा परिसीमित किया जा सकता है जो कि अनुच्छेद 31क में समाविष्ट है, फिर भी प्रश्न यह उठता है कि क्या उन्तीसवां संशोधन विधिमान्य है।

मैंने यह अभिनिर्धारित किया है कि अनुच्छेद 368 संसद् को इस बात के लिए समर्थ नहीं बनाता है कि वह मूल अधिकारों को निराकृत करे या छीन ले। यदि

([1]) (1945) एफ० सी० आर० 195.

([2]) (1952) एस० सी० आर० 1020, 1037.

([3]) (1965) 1 एस० सी० आर० 636, 648.

ऐसी बात है तो वह संसद् को अनुच्छेद 31ख और नवम अनुसूची की युक्ति सहित, किसी भी प्रकार से ऐसा करने में समर्थ नहीं बनाता । अनुच्छेद 31ख और नवम अनुसूची की यह युक्ति वहां तक अवैध है जहां तक कि वे इन कानूनों को संरक्षा प्रदान करते हैं, भले ही वे मूल अधिकारों को ही क्यों न छीनते हों । अतः यह घोषित करना आवश्यक है कि उन्तीसवां संशोधन आक्षेपित अधिनियमों को संरक्षा प्रदान करने में उस दशा में अप्रभावी है, यदि वे उन मूल अधिकारों को छीनते हैं ।

इस सम्बन्ध में मैं इस दलील पर विचार करना चाहूंगा कि इस न्यायालय ने अनुच्छेद 31ख और नवम अनुसूची की युक्ति को अभी तक कायम रखा है और उसको अभिखण्डित करना अब उचित नहीं होगा । किन्तु हमारे समक्ष जो मुद्दा अब उठाया गया है, वह न तो कभी उठाया गया था और न उस पर पहले कोई वादविवाद हुआ था । जैसा कि लार्ड एटकिन ने प्रोप्राइटरि आर्टिकल्स ट्रेड एसोसिएशन बनाम अटर्नी जनरल फॉर कनाडा(1) वाले मामले में मत व्यक्त किया था—

"माननीय न्यायाधीशों के मन में ऐसा कोई भी संदेह नहीं है कि केवल समय ही किसी ऐसे अधिनियम को विधिमान्य नहीं बनाता जो कि चुनौती दिए जाने पर अधिकारातीत पाया जाता है; और न तो आहिस्ता-आहिस्ता उस समय तक बढ़ते चले आने का इतिहास जब तक कि वह सीमा अन्तिम रूप से पार न हो जाए, वास्तविक अतिक्रमण (एनक्रोचमेण्ट) को संरक्षा प्रदान ही करेगा ।"

यदि इनके अतिरिक्त किसी प्रमाण की आवश्यकता हो, तो मैं अटर्नी जनरल फॉर आस्ट्रेलिया बनाम क्वीन और बॉयलर मेकर्स सोसाइटी ऑफ आस्ट्रेलिया(2) वाले मामले का हवाला दे सकता हूं । इस प्रश्न पर विचार करते हुए कि क्या कन्सीलिएशन एण्ड आर्बिट्रेशन ऐक्ट (समझौता और मध्यस्थता अधिनियम), 1904-1952 की कुछ धाराएं अधिकारातीत हैं क्योंकि समझौता और मध्यस्थता से सम्बन्धित कॉमनवेल्थ न्यायालय में न्यायिक शक्तियों के साथ-साथ कार्यपालक शक्तियां भी निहित की गई थीं, जुडीशियल कमेटी ने इस मुद्दे के प्रति निर्देश किया कि क्या कारण है जिससे कि चौथाई शताब्दी तक किसी भी मुकदमेबाज ने इस स्पष्ट अवैध संघ की विधिमान्यता को चुनौती नहीं दी थी, और उन्होंने यह मत व्यक्त किया कि—

"जो कुछ भी कारण हो, जिस प्रकार से उस मूल अधिनियम में, जिसको अनेक वर्षों तक चुनौती नहीं दी गई, निश्चित अविधिमान्यता मौजूद थी, उसी प्रकार से काफी वर्षों तक उस अविधिमान्यता की, जो उच्च न्यायालय के माननीय न्यायाधीशों के बहुमत के समक्ष निश्चित रूप से दर्शित कर दी गई थी, उपेक्षा कर दी है । न्यायोचित निर्णय में इस प्रकार का स्पष्ट विश्वास मौजूद होना चाहिए ।"

हमने यह विनिश्चित किया था कि हम अलग-अलग मामलों के गुणागुण पर विचार नहीं करेंगे और उसी के अनुसार काउन्सेल ने केरल राज्य विधानमण्डल द्वारा पारित आक्षेपित अधिनियमों के सम्बन्ध में कोई भी दलीलें पेश नहीं की हैं । संविधान

(1) (1931) ए० सी० 310, 317.

(2) (1957) ए० सी० 288, 323.

न्यायपीठ यह विनिश्चित करेगी कि क्या आक्षेपित अधिनियम मूल अधिकारों को छीनते हैं। यदि वे ऐसा करते हैं, तो उन्हें अभिखण्डित करना ही पड़ेगा। यदि वे मूल अधिकारों को न्यून मात्र करते हैं, तो संविधान न्यायपीठ ही यह अवधारित करेगी कि क्या उन्हें युक्तियुक्त रूप से इस प्रकार न्यून किया गया है कि वे लोक हित में आवश्यक हैं।

मोटे तौर पर, अभी तक अनुच्छेद 19 और अनुच्छेद 13 में जो सांविधानिक संशोधन किए गए हैं और विभिन्न राज्यों द्वारा भूमि सुधार सम्बन्धी जो विधियां अधिनियमित की गई हैं, वे मूल अधिकारों को लोकहित में युक्तियुक्त रूप से न्यून करने के दृष्टान्त उपस्थित करते हैं। दलील के दौरान यह बात कही गई कि अनुच्छेद 31ख का एक उद्देश्य उस मुकदमेबाजी को रोकना है जिसमें समय का बहुत अपव्यय होता है और जिसके कारण आवश्यक सुधारों को कार्यान्वित करने में बाधा उत्पन्न होती है। यदि किसी अधिनियमिति की विधिमान्यता को चुनौती देते हुए कोई पिटीशन उच्च न्यायालय में फाइल किया जाता है या कोई वाद किसी अधीनस्थ न्यायालय में फाइल किया जाता है, या किसी मजिस्ट्रेट के समक्ष कोई मुद्दा उठाया जाता है तो उस अधिनियमिति की विधिमान्यता को अन्तिम रूप से अवधारित करने में वर्षों लग जाते हैं। निश्चित रूप से यह बहुत अच्छा कारण नहीं है जिसके आधार पर लोगों को उनके मूल अधिकारों से वंचित किया जाए। सरकार के पास अन्य ऐसे रास्ते हैं जिनके द्वारा वह मुकदमों का फैसला कराने में शीघ्रता करा सकती है। उदाहरण के लिए वह ऐसे साधारण विधान की प्रस्थापना कर सकती है जिससे कि पक्षकार संविधान के निर्वचन के सारवान प्रश्नों का अवधारण करने के लिए उच्चतम न्यायालय में ऐसे मामलों को अन्तरित किए जाने के लिए उच्चतम न्यायालय के समक्ष आवेदन कर सकें।

भाग-8 — निष्कर्ष

संक्षेप में मैं यह अभिनिर्धारित करता हूं—

"(क) आई० सी० गोलक नाथ बनाम पंजाब राज्य ([1]) वाले मामले में यह घोषित किया गया था कि सांविधानिक संशोधन उस दशा में अवैध होगा यदि वह अनुच्छेद 13(2) का अतिलंघन करता है, क्योंकि यह अनुच्छेद न केवल साधारण विधान को लागू होता है, बल्कि संविधान के संशोधन को भी लागू होता है।

(ख) गोलक नाथ के मामले ([1]) में यह बात विनिश्चित नहीं की गई थी कि क्या अनुच्छेद 13(2) का संशोधन अनुच्छेद 368 के अधीन किया जा सकता है, या अनुच्छेद 368 में "इस संविधान का संशोधन" अभिव्यक्ति का निश्चित अर्थ अवधारित नहीं किया गया था।

(ग) "इस संविधान का संशोधन" अभिव्यक्ति संसद् को इस बात के लिए समर्थ नहीं बनाती है कि वह मूल अधिकारों को इस प्रकार निराकृत करे या छीने या संविधान की मूल बातों को इस प्रकार पूरी तरह से तब्दील करे कि उसका स्वरूप ही नष्ट हो जाए। इन परिसीमाओं के भीतर रह कर संसद् प्रत्येक अनुच्छेद का संशोधन कर सकती है।

([1]) (1967) 2 एस० सी० आर० 762.

(घ) जैसा कि मैंने संविधान (चौबीसवां संशोधन) अधिनियम, 1971 का निर्वचन किया है, उसे विधिमान्य रूप से अधिनियमित किया गया है।

(ङ) अनुच्छेद 368 संसद् को इस बात के लिए समर्थ नहीं बनाता कि वह अपनी संविधायी हैसियत में संविधान को संशोधित करने के अपने इस कृत्य को किसी अन्य विधानमण्डल को या अपनी मामूली विधायी हैसियत में अपने को प्रत्यायोजित करे।

(च) जैसा कि मैंने संविधान (पच्चीसवां संशोधन) अधिनियम, 1971 की धारा 2 का निर्वचन किया है, वह विधिमान्य है।

(छ) संविधान (पच्चीसवां संशोधन) अधिनियम, 1971 की धारा 3 शून्य है क्योंकि वह विधानमण्डलों को संविधान का संशोधन करने की शक्ति प्रत्यायोजित करती है।

(ज) संविधान (उन्तीसवां संशोधन) अधिनियम, 1971 आक्षेपित अधिनियमों को संरक्षा प्रदान करने में उस दशा में अप्रभावी है यदि वे अधिनियम मूल अधिकारों को निराकृत या न्यून करते हैं। संविधान न्यायपीठ यह विनिश्चित करेगी कि क्या आक्षेपित अधिनियम मूल अधिकारों को छीनते हैं या उन को केवल न्यून करते हैं और बाद वाली स्थिति में, क्या वे उन अधिकारों का लोकहित में युक्तियुक्त रूप से न्यून करते हैं।"

संविधान न्यायपीठ, संविधान (छब्बीसवां संशोधन) अधिनियम, 1971 की विधिमान्यता को इस निर्णय और विधि के अनुसार अवधारित करेगी।

ये मामले संविधान न्यायपीठ के पास इसलिए भेजे जा रहे हैं जिससे कि वह उनका इस निर्णय और विधि के अनुसार विनिश्चय कर सके। पक्षकार अपने-अपने खर्च स्वयं भरेंगे।

न्या० जे० एम० शेलत और ए० एन० ग्रोवर—

इन सभी छह रिट पिटीशनों में संविधान के चौबीसवें, पच्चीसवें और उन्तीसवें संशोधनों की विधिमान्यता के सम्बन्ध में सामान्य प्रश्न उद्भूत हुए हैं। तथ्यों का वर्णन विद्वान् मुख्य न्यायाधिपति के निर्णय में पहले ही संक्षेप में किया जा चुका है, अतः उन्हें फिर से देना आवश्यक नहीं है।

जब बृहत्तर न्यायपीठ का गठन किया गया था तो इस बात पर विचार किया गया था कि हमारे समक्ष जो प्रश्न हैं उन का विनिश्चय मोटे तौर पर आई० सी० गोलक नाथ बनाम पंजाब राज्य (1) में इस न्यायालय के विनिश्चय के सही होने या न होने पर निर्भर करेगा। उस विनिश्चय के अनुसार, बहुमत द्वारा यह अभिनिर्धारित किया गया था कि संविधान का अनुच्छेद 13(2) अनुच्छेद 368 के अधीन किए गए सांविधानिक संशोधनों को लागू होता है और इसीलिए भाग 3 में मूल अधिकारों को किसी भी रीति में न्यून नहीं किया जा सकता है अथवा छीना नहीं जा सकता है। गोलक नाथ(1) वाले विनिश्चय का अब केवल बौद्धिक महत्त्व ही रह गया है क्योंकि यदि यह मान भी लिया

(1) (1967) 2 एस० सी० आर० 762.

जाए कि उस मामले में बहुमत का विनिश्चय सही नहीं था तो भी जो प्रश्न हमारे समक्ष उठाए गए हैं उनका परिणाम हमारी राय में ठीक वैसा ही होगा। जो विवाद्यक उठाए गए हैं वे उस विनिश्चय की परिधि से कहीं अधिक व्यापक हैं और जिस मुख्य प्रश्न का अब अवधारण किया जाना है वह अनुच्छेद 368 द्वारा प्रदत्त संशोधन करने की शक्ति की परिधि, क्षेत्र तथा विस्तार का प्रश्न है। उसी पर मुख्य रूप से पच्चीसवें तथा उन्तीसवें संशोधनों से पैदा होने वाले अन्य विषयों का विनिश्चय निर्भर करेगा।

पक्षकारों के विद्वान् काउन्सेलों द्वारा जो अलग-अलग दृष्टिकोण अपनाए गए हैं वे एक दूसरे से बहुत भिन्न हैं और उनका आपस में समाधान नहीं हो सकता है। पिटीशनरों की ओर से, अन्य बातों के साथ-साथ, यह दलील दी गई है कि अनुच्छेद 368 के अधीन संशोधन करने वाले निकाय (संसद्) की शक्ति सीमित स्वरूप की है। संविधान द्वारा भारतीय नागरिकों को आधारभूत स्वतंत्रताएं और एक ऐसी राजनीति अथवा ऐसे ढंग की सरकार दी गई है जिनका टिकाऊ तथा स्थायी होना अभिप्रेत था। इसलिए संशोधन करने की शक्ति का विस्तार संविधान के आवश्यक लक्षणों, सारभूत तत्त्वों तथा मूल सिद्धान्तों में से सभी या उनमें से किन्हीं के परिवर्तन अथवा विनाश करने तक नहीं है और उस शक्ति के बारे में यह कहा गया है कि वह केवल भारतीय लोगों में ही निहित है जिन्होंने संविधान को आत्मार्पित किया था, जैसा कि प्रस्तावना में कहा गया है।

दूसरी ओर प्रत्यर्थियों ने संशोधन करने वाले निकाय के सम्बन्ध में असीमित शक्ति का दावा किया है। यह दावा किया गया है कि उसे वह पूर्ण संविधायी शक्ति प्राप्त है जिसका प्रयोग विधिक प्रभुत्वसम्पन्न द्वारा किया जा सकता है, परन्तु यह तब जब कि अनुच्छेद 368 में अधिकथित शर्तों को पूरा कर दिया गया हो। इस शक्ति की विषयवस्तु तथा परिमाण इतने व्यापक हैं कि यदि ऐसी इच्छा की जाए तो भाग 3 (मूल अधिकार) में अन्तर्विष्ट सभी अधिकारों, जैसे कि वाक् तथा अभिव्यक्ति स्वातन्त्र्य, संस्था या संघ बनाने की स्वतन्त्रता और अनुच्छेद 19(1) द्वारा प्रत्याभूत अन्य स्वतन्त्रताओं तथा अनुच्छेद 25 से 28 में अन्तर्विष्ट धर्म की स्वतन्त्रता, अल्पसंख्यकों के हितों की संरक्षा सहित (केवल अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अधिकारों का ही वर्णन करते हुए) सभी का निराकरण किया जा सकता है अथवा उन्हें छीना जा सकता है। इसी प्रकार, अनुच्छेद 32, जो इस न्यायालय को प्रचालित करने का अधिकार उस दशा में प्रदत्त करता है जिसमें कि किसी मूल अधिकार को भंग किया गया हो, निरसित अथवा निराकृत किया जा सकता है। भाग 4 के निदेशक तत्त्वों में न केवल आमूल परिवर्तन किया जा सकता है बल्कि उनका निराकरण भी किया जा सकता है। यह दावा किया गया है कि लोकतन्त्र के स्थान पर किसी भी अन्य प्रकार की सरकार स्थापित की जा सकती है जो पूर्णतया अलोकतन्त्रात्मक हो, परिसंघीय ढांचे के स्थान पर, सभी राज्यों को समाप्त करके एकात्मक प्रणाली का प्रतिस्थापन किया जा सकता है और पुनर्विलोकन के न्यायिक अधिकार को पूर्णतया छीना जा सकता है। स्वयं प्रस्तावना, जिसमें यह घोषणा की गई है कि भारत के लोगों ने उसमें वर्णित मुख्य उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए प्रभुत्वसम्पन्न लोकतन्त्रात्मक गणराज्य के रूप में भारत का गठन करने के लिए इस संविधान को आत्मार्पित किया था, संशोधित की जा सकती है। इस प्रकार प्रत्यर्थियों का यह कहना है कि संविधान के पूर्ण निराकरण अथवा निरसन को छोड़कर, संशोधन करने वाला

निकाय अनुच्छेद 368 के अधीन सर्वशक्तिमान है और जब तक कि देश के शासन में कोई रिक्ति न हो संविधान का किसी भी समय परिवर्धन, परिवर्तन या निरसन द्वारा संशोधन किया जा सकता है।

इन पिटीशनों से, जिन पर कि बहुत लम्बे समय तक बहस की गई है, अत्यधिक सांविधानिक महत्व के बड़े विवादक उद्भूत हुए हैं। हमारा संविधान संसार भर में बड़ा होने के अलावा अद्वितीय संविधान है। यह जनसंख्या की दृष्टि से संसार में द्वितीय स्थान रखने वाले देश के लिए बनाया गया है जिसमें भिन्न-भिन्न लोग भिन्न-भिन्न भाषाएं बोलते हैं और विभिन्न धर्मों को मानते हैं। महान राजनीतिक नेताओं तथा विधि के क्षेत्र में प्रतिभासम्पन्न व्यक्तियों ने, जिनमें से अधिकांश ने अंग्रेजों के शिकंजे से स्वतन्त्रता को पाने के लिए किए गए संघर्ष में सक्रिय रूप से भाग लिया था और जिन्हें इस बात का ज्ञान था कि मूल स्वतन्त्रताओं के प्रवंचन तथा भारत के लाखों लोगों के शोषण की दृष्टि से विदेशी शासन के साम्राज्य का क्या अभिप्राय होता है, इसको बड़ी कुशलता से बनाया और संवारा है। संविधान एक संघटनात्मक दस्तावेज है जिसका विकास होते रहना चाहिए और यह आवश्यक है कि वह विस्तृत सामाजिक-एवं-आर्थिक समस्याओं का, विशेष रूप से राष्ट्र की गरिमा तथा एकता के अनुरूप साधारण आदमी की स्थिति में सुधार लाने की समस्या का जायजा ले।

शुरू में ही हम यह बता दें कि हम इस उपधारणा के आधार पर कि संसद् उस रीति में शक्ति का प्रयोग करेगी जिसका दावा प्रत्यर्थियों की ओर से किया गया है अपने समक्ष उठाए गए विषयों की जांच करने का प्रस्ताव नहीं करते हैं और न प्रत्यर्थियों ने यह दलील ही दी थी कि इस शक्ति का इस प्रकार प्रयोग किया जाएगा। किन्तु सांविधानिक उपबन्धों का निर्वचन करते समय उनकी व्यापकता अथवा विस्तार का अवधारण करना आवश्यक है। वास्तव में इस शक्ति की न्यूनतम तथा अधिकतम सीमाओं के प्रवर्तन-क्षेत्र का सीमांकन अथवा अवधारण परस्पर-विरोधी दावों की पूर्ण रूप से परीक्षा किए बिना नहीं किया जा सकता है। जब तक ऐसा न कर लिया जाए तब तक संशोधन करने की शक्ति के क्षेत्र, विषयवस्तु, परिधि तथा विस्तार का विनिश्चय समुचित और सही रूप से नहीं किया जा सकता है।

हमारे प्रयोजन के लिए यह आवश्यक नहीं है कि 1934 से पूर्व की स्थिति पर विचार किया जाए। उसी वर्ष इण्डियन नेशनल कांग्रेस ने अपनी नीति के भाग के रूप में एक संविधान सभा की मांग रखी थी। इस मांग को 1937 में कांग्रेस के प्रतिनिधियों ने दुहराया था। "शिमला कान्फ्रेंस, 1945" नाम से ज्ञात कान्फ्रेंस द्वारा कांग्रेस ने अपना यह दृष्टिकोण फिर से दोहराया कि भारत केवल अपने लोगों द्वारा तैयार किए गए संविधान को ही स्वीकार कर सकता है। द्वितीय महायुद्ध के समाप्त होने के पश्चात् यह मांग महात्मा गांधी सहित भारतीय नेताओं द्वारा अति प्रबल रूप में पेश की गई। सर स्टैफोर्ड क्रिप्स ने ब्रिटेन का प्रतिनिधित्व करते हुए यह विचार स्वीकार किया था कि भारत के संविधान की रचना भारतीयों के निर्वाचित निकाय द्वारा की जानी चाहिए। निर्वाचन कराए जाते थे, ताकि नवनिर्वाचित प्रांतीय विधानमण्डल संविधान सभा के लिए निर्वाचक निकायों के रूप में कार्य कर सकें। जनवरी, 1946 में संसद् का एक प्रतिनिधि-मण्डल भारत भेजा गया और तत्पश्चात् कैबिनेट मिशन भारत आया था। इण्डियन

नेशनल कांग्रेस तथा मुस्लिम लीग (जिसका नेतृत्व श्री एम० ए० जिन्ना ने किया था) के दृष्टिकोण के बीच मतभेदों के कारण बहुत सी कठिनाइयां पैदा हुई थीं। कैबिनेट मिशन ने एक योजना तैयार की जिसे 16 मई, 1946 को घोषित किया गया। जून के अन्त तक मुस्लिम लीग तथा कांग्रेस दोनों ने ही कुछ आरक्षणों सहित उसे स्वीकार कर लिया। कैबिनेट मिशन के कथन में अन्तर्विष्ट सुझाव के परिणामस्वरूप संविधान सभा को जुलाई-अगस्त, 1946 के बीच निर्वाचित किया गया। कांग्रेस तथा मुस्लिम लीग के बीच समझौता कराने सम्बन्धी एटली सरकार की कोशिशों के असफल हो जाने के कारण 3 जून, 1947 को ब्रिटिश सरकार की घोषणा के परिणामस्वरूप देश का विभाजन हो गया। उस घोषणा के परिणामस्वरूप, संविधान सभा में कुछ परिवर्तन हुए। दिसम्बर, 1946 तथा नवम्बर, 1949 के बीच समय-समय पर भारतीय राज्यों के प्रतिनिधित्व में भी पुनः समंजन किया गया। बहुत से छोटे राज्य प्रान्तों में विलीन हो गए, बहुत से राज्य राज्यों का संघ गठित करने के लिए इकट्ठे हो गए और कुछ राज्य कमिश्नर के प्रान्तों के रूप में प्रशासित किए जाने लगे। इस प्रकार एक क्रमिक प्रक्रिया देखने में आई, जिससे कि संविधान सभा विभिन्न समुदायों तथा हितों की, जिसमें राजनैतिक, बौद्धिक, सामाजिक, तथा सांस्कृतिक हित शामिल थे, पूर्ण रूप से प्रतिनिधि बन गई। इण्डियन इण्डिपेण्डेन्स ऐक्ट, 1947 की धारा 8 के आधार पर संविधान सभा में भारत का संविधान विरचित करने के लिए विधिक प्राधिकार निहित किया गया।

संविधान सभा का प्रथम अधिवेशन 9 दिसम्बर, 1946 को हुआ जब कि सदस्यों द्वारा शपथ ली गई और स्थायी सभापति के रखे जाने तक कामकाज चलाने के लिए एक अस्थायी सभापति का निर्वाचन किया गया। 13 दिसम्बर, 1946 को पंडित जवाहरलाल नेहरू ने विख्यात "उद्देश्यों का संकल्प" (आबजैक्टिव्ज रेजूल्यूशन) पेश किया जिसमें संविधान की रूप-रेखा, लक्ष्य तथा उद्देश्य दिए गए थे। यह संकल्प वस्तुतः 22 जनवरी, 1947 को संविधान सभा (स्थायी) के सभी सदस्यों द्वारा पारित कर दिया गया और अन्य बातों के साथ-साथ इसमें यह घोषणा की गई कि प्रभुत्वसम्पन्न स्वतन्त्र भारत, उसके संघटक भागों तथा सरकार के अंगों की सारी शक्ति और प्राधिकार, लोगों से व्युत्पन्न किए गए हैं। 26 नवम्बर, 1949 तक संविधान सभा के विचार-विमर्श समाप्त हो गए थे और संविधान की रचना कर ली गई थी। जैसा कि प्रस्तावना में उपवर्णन किया गया है, उसी तारीख को भारत के लोगों ने संविधान सभा में इस संविधान को अंगीकृत, अधिनियमित तथा आत्मार्पित किया था, जिसे अनुच्छेद 393 के अनुसार "भारत का संविधान" नाम दिया गया था। अनुच्छेद 394 के अनुसार वह अनुच्छेद और अन्य ऐसे अनुच्छेद जिनका उसमें उल्लेख किया गया था तुरन्त लागू हो जाने थे, किन्तु संविधान के शेष उपबन्ध 26 जनवरी, 1950 को प्रवृत्त होने थे। इससे पूर्व कि संविधान की स्कीम की कुछ विस्तार से परीक्षा की जाए यह आवश्यक है कि वह पद्धति बता दी जाए जिसका अनुसरण उसकी रचना करने में किया गया था। संविधान सभा एक ऐसी सांविधानिक पद्धति का उद्गम करने में, जो सम्पूर्ण रूप से भारतीय लोगों की मनःबुद्धि तथा अपेक्षाओं के लिए समुचित हो, किसी भी पूर्ववर्ती वचन द्वारा नियंत्रित नहीं थी। सभा के समक्ष गवर्नमेण्ट आफ इण्डिया ऐक्ट, 1935 के कार्यकरण का अनुभव विद्यमान था और नए संविधान के लिए उसके कई लक्षण ग्रहण किए जा सकते थे। हमारे संविधान ने अन्य

देशों के जैसे कि यूनाईटेड किंगडम, कनाडा, आस्ट्रेलिया, आयरलैण्ड, यूनाइटेड स्टेट्स ऑफ अमेरिका और स्विट्जरलैण्ड के संविधानों से बहुत कुछ ग्रहण किया। चूंकि संविधान सर्वोच्च होता है, इसलिए सभी अंग तथा निकाय अपने अस्तित्व के लिए उसके ऋणी होते हैं। उनमें से कोई भी दूसरे से वरिष्ठ होने का दावा नहीं कर सकता और प्रत्येक को सांविधानिक उपबन्धों की परिधि में कृत्यशील होना पड़ता है। प्रस्तावना राज्य के आधारभूत स्वरूप के अलावा, जो कि अस्तित्वशील होना था, अर्थात् प्रभुत्वसम्पन्न लोकतन्त्रात्मक गणराज्य, उसके उपबन्धों में अंतर्निहित महान प्रयोजनों, उद्देश्यों तथा नीति को सन्निविष्ट करती है। भाग 3 तथा 4, जिनमें मूल अधिकार तथा राज्यनीति के निदेशक तत्व सन्निविष्ट हैं, संविधान की आत्मा के रूप में वर्णित किए गए हैं।(1) संघ की संसद् तथा राज्य विधानमण्डलों के बीच जिस विधायी शक्ति को बांटा गया है उसका प्रयोग इस प्रकार नहीं किया जा सकता है कि भाग 3 में अंतर्विष्ट मूल अधिकारों को छीना जा सके या उन्हें न्यून किया जा सके। संघ तथा राज्यों की शक्तियों में, समुचित अनुतोष के लिए उच्चतम न्यायालय में आवेदन द्वारा भाग 3 में अन्तर्विष्ट मूल अधिकारों को प्रवर्तित करने का अधिकार प्रदान करके और भी कमी कर दी गई है। स्वयं अनुच्छेद 32 को एक मूल अधिकार के रूप में गठित किया गया है (2)। भाग 4, जिसमें राज्य की नीति के निदेशक तत्व अन्तर्विष्ट है मुख्य रूप से आयर रिपब्लिक के संविधान (1937) में अन्तर्विष्ट समरूप उपबन्धों द्वारा प्रेरित किया गया था। बी० एन० राव के अनुसार यह भाग अन्तिम प्रभुत्वसम्पन्न अर्थात् भारत के लोगों से प्राप्त अनुदेशों के विलेख (इन्स्ट्रूमेण्ट ऑफ इंस्ट्रक्शन्स) के रूप में है। संविधान में परिसंघीय ढांचे के सभी आवश्यक तत्व हैं(3) जैसा कि गवर्नमेण्ट ऑफ इण्डिया ऐक्ट, 1935 की दशा में था और परिसंघवाद का सार परिसंघ अथवा संघ के बीच और राज्यों अथवा प्रान्तों के बीच शक्तियों का वितरण है। सभी राज्य-विधानमण्डलों को सम्पूर्ण शक्तियां प्राप्त हैं, किन्तु ये शक्तियां स्वयं संविधान की मूल धारणाओं द्वारा नियंत्रित हैं और वे उसमें अधिकथित सीमाओं के अन्दर ही कृत्यशील हैं(4)। सभी कार्यकर्ता, चाहे वे विधायक हों, या कार्यपालिका अथवा न्यायपालिका के सदस्य हों, संविधान के प्रति राजनिष्ठा की शपथ लेते हैं और उसके उपबन्धों से ही अपना प्राधिकार तथा अधिकारिता प्राप्त करते हैं। संविधान द्वारा इस देश में न्यायपालिका को संविधान के उपबन्धों का अर्थान्वयन करने तथा मूल अधिकारों की रक्षा करने का काम सौंपा गया है (4)। यह एक लिखित तथा नियंत्रित संविधान है। इसका संशोधन केवल उसमें अन्तर्विष्ट उपबन्धों के विस्तार तक और उनके अनुकूल ही किया जा सकता है और इस सम्बन्ध में अनुच्छेद 368 मुख्य उपबन्ध है। यद्यपि हमारे संविधान का ढांचा परिसंघीय है, जिसमें

---

(1) दि इण्डियन कांस्टिट्यूशन बाई ग्रानविले आस्टिन पृष्ठ 50.

(2) मु० न्या० कानिया के अनुसार ए० के० गोपालन बनाम मद्रास राज्य—(1950) एस० सी० आर० 88 पृष्ठ 96-97.

(3) बी० एन० राव, कृत इण्डियांज कांस्टिट्यूशन इन दि मेकिंग, पृष्ठ 393.

(4) मु० न्या० गजेन्द्रगडकर के अनुसार—स्पेशल रेफरेन्स 1 ऑफ 1964—(1965) 1 एस०सी० आर० 413 पृष्ठ 445. 446.

एक ऐसी प्रणाली की व्यवस्था है जो ब्रिटिश संसदीय प्रणाली पर आधारित है। सरकारी नीति तैयार करने का मुख्य उत्तरदायित्व, जब कभी आवश्यक हो "उसे विधि में परिवर्तित करके" कार्यपालिका पर ही है। "कार्यपालिका कृत्य में नीति का अवधारण तथा उसे निष्पादित करना दोनों ही आते हैं। स्पष्ट है कि इसमें विधायन का सूत्रपात करना, व्यवस्था बनाए रखना, सामाजिक तथा आर्थिक कल्याण की प्रगति, विदेश नीति का निदेशन, वस्तुतः राज्य के सामान्य प्रशासन को चलाना अथवा उसका पर्यवेक्षण करना आता है"(1)। असैनिक सेनाओं तथा न्यायपालिका की स्थिति के बारे में ब्रिटिश पद्धति अपनाई गई है क्योंकि भारत के उच्चतम न्यायालय तथा राज्यों के उच्च न्यायालय दोनों के न्यायाधीशों की नियुक्ति राजनैतिक संविवादों से मुक्त रखी गई है। उनकी स्वतन्त्रता का आश्वासन दिया गया है, किन्तु संसदीय प्रभुता का सिद्धान्त, जैसा कि वह इंग्लैण्ड में विद्यमान है, यहां प्रचलित नहीं है, सिवाय वहां तक कि संविधान में उसका उपबन्ध किया गया है। संविधान की सम्पूर्ण स्कीम ऐसी है कि वह निर्बाध तथा निष्पक्ष निर्वाचनों पर आधारित संसदीय संस्थाओं द्वारा गणराज्य के रूप में देश की प्रभुता तथा अखण्डता और लोकतन्त्रात्मक जीवन पद्धति को सुनिश्चित बनाती है।

भारत एक धर्म निरपेक्ष राज्य है जिसमें राज्य का अपना कोई धर्म विद्यमान नहीं है। संविधान में ऐसे विशेष उपबन्ध बनाए गए हैं जो अन्तःकरण की स्वतन्त्रता का तथा धर्म के अबाध रूप से मानने, आचरण करने, प्रचार करने और धार्मिक कार्यों का प्रबन्ध करने की स्वतन्त्रता तथा अल्पसंख्यकों के हितों की संरक्षा की गारण्टी देते हैं। अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जनजातियों को विशेष व्यवहार मिला है। विधि के शासन को न्यायिक पुनर्विलोकन के लिए उपबन्ध करके सुनिश्चित बनाया गया है। वयस्क मताधिकार जो, "लोकतन्त्र की पूर्णतम विवक्षाओं का ग्रहण" है संविधान के प्रमुख लक्षणों में से एक है। के० एम० पानिकर के अनुसार(2) यह दावा किया जा सकता है कि संविधान भारत के लोगों के प्रति एक सत्यनिष्ठ वचन है कि विधानमण्डल नए सिद्धान्तों पर समाज का नवीकरण और पुनर्गठन करने के लिए हर सम्भव प्रयत्न करेगा। अब हम प्रस्तावना का अवलोकन करेंगे—

"हम भारत के लोग भारत को एक सम्पूर्ण
प्रभुत्व-सम्पन्न लोकतन्त्रात्मक गणराज्य बनाने
के लिए, तथा उसके समस्त नागरिकों को :
सामाजिक आर्थिक और राजनैतिक न्याय,
विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म
और उपासना की स्वतन्त्रता,
प्रतिष्ठा और अवसर की समता
प्राप्त कराने के लिए,
तथा उन सब में

(1) आर० एस० राम जवाया कपूर और कुछ अन्य बनाम पंजाब राज्य—(1955) 2 एस० सी० आर० 225, 236.

(2) हिन्दू सोसाइटी एट क्रासरोड् (वाई० के० एम० पानिकर) पृष्ठ 63-64.

व्यक्ति की गरिमा और राष्ट्र की
एकता सुनिश्चित करने वाली बन्धुता
बढ़ाने के लिए
दृढ़संकल्प हो कर अपनी इस संविधान सभा में
आज तारीख 26 नवम्बर, 1949 ई० (मिति मार्गशीर्ष
शुक्ला सप्तमी, सम्वत दो हजार छह विक्रमी) को
एतद्द्वारा इस संविधान को अंगीकृत, अधि-
नियमित और आत्मार्पित करते हैं।

यह उल्लेखनीय है कि यह प्रस्तावना और वस्तुतः समस्त संविधान का प्रारूपण 22 जनवरी, 1947 को अंगीकृत "उद्देश्यों का संकल्प" के प्रकाश में तथा उसमें अन्तर्विष्ट निदेशों के अनुसार किया गया था।

ग्रैनविल आस्टिन के अनुसार, राज्य की नीति के निदेशक तत्व उन लोकोपकारी धारणाओं को उपवर्णित करते हैं जो भारतीय सामाजिक क्रान्ति के लक्ष्य थे। ग्रैनविल आस्टिन ने मूल अधिकारों तथा निदेशक तत्वों के आपसी सम्बन्ध का सारांश देते हुए यह कहा है कि यह बिलकुल स्पष्ट है कि मूल अधिकारों तथा निदेशक तत्वों को सभा के सदस्यों द्वारा सामाजिक क्रान्ति के महान सुधारों को लाने वाली मुख्य युक्तियों के रूप में बनाया गया था। उन्होंने इस प्रश्न का सकारात्मक उत्तर दिया है कि क्या उनसे भारतीय समाज को सब लोगों के लिए संविधान के सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक न्याय के उद्देश्य को संविधान के निकट लाने में मदद मिली है। मु० न्या० दास ने केरल एजुकेशन बिल, 1957 के मामले[1] में भाग 3 तथा 4 के बारे में निम्नलिखित मत व्यक्त किए—

> "जब कि हमारे मूल अधिकारों के बारे में संविधान के भाग 3 द्वारा गारन्टी दी गई है, उसके भाग 4 में राज्य की नीति के कुछ निदेशक तत्वों को प्रतिकथित किया गया है। उस भाग में अंतर्विष्ट उपबन्ध किसी न्यायालय द्वारा प्रवर्तित नहीं किए जा सकते हैं, तथापि वहां प्रतिकथित तत्व देश के शासन के सम्बन्ध में आधारभूत है और राज्य का यह कर्तव्य होगा कि वह इन तत्वों को विधियां बनाने में लागू करे। अनुच्छेद 39 राज्य को यह आदेश देता है कि वह अपनी नीति का संचालन अन्य बातों के साथ-साथ यह सुनिश्चित करने के लिए करे कि नर और नारी, सभी नागरिकों को आजीविका के पर्याप्त साधन प्राप्त करने का अधिकार हो।"

यद्यपि मद्रास राज्य बनाम श्रीमती चम्पाकम दोरायराजन[2] तथा मोहम्मद हनीफ कुरैशी और कुछ अन्य बनाम बिहार राज्य[3] में इस न्यायालय के पूर्ववर्ती विनिश्चयों में यह अभिनिर्धारित किया गया था कि राज्य की नीति के निदेशक तत्व मूल अधिकारों

---

(1) (1959) एस० सी० आर० 995, 1020.
(2) (1951) एस० सी० आर० 525, 531.
(3) (1959) एस० सी० आर० 629.

के अध्याय के अनुकूल ही होंगे और उसके अधीनस्थ रहेंगे, विद्वान् मुख्य न्यायाधिपति का निम्नलिखित दृष्टिकोण था जो उनके अनुसार ही नीचे दिया जा रहा है—

> "तथापि किसी व्यक्ति अथवा निकाय द्वारा या उसकी ओर से जिन मूल अधिकारों का अवलम्ब लिया जाता है उसकी परिधि और क्षेत्र का अवधारण करने में न्यायालय संविधान के भाग 4 में अधिकथित राज्य की नीति के इन निदेशक तत्त्वों की सर्वथा अपेक्षा नहीं कर सकेगा, किन्तु उसे सामंजस्यपूर्ण अर्थान्वयन का सिद्धान्त अपनाना चाहिए और यथा सम्भव इन दोनों को कार्यान्वित करने का प्रयत्न करना चाहिए।"

प्राथमिक महत्त्व का पहला प्रश्न संविधान का संशोधन अधिनियम, 1971 (जिसे इसमें इसके पश्चात् चौबीसवां संशोधन कहा गया है) की विधिमान्यता की बाबत है। इसके द्वारा संविधान के अनुच्छेद 368 का पहली बार संशोधन किया गया था। चौबीसवें संशोधन से सम्बन्धित विधेयक में उद्देश्यों तथा कारणों के कथन के अनुसार गोलक नाथ वाले मामले में[1] इस न्यायालय के निर्णय का परिणाम यह हुआ है कि संसद् के बारे में यह समझा गया है कि उसे संविधान के भाग 3 द्वारा गारण्टी किए गए मूल अधिकारों में से किसी को छीनने या कम करने की कोई शक्ति नहीं है, भले ही राज्य की नीति के निदेशक तत्त्वों को कार्यान्वित करने के लिए और संविधान की प्रस्तावना में उपवर्णित उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए ऐसा करना आवश्यक ही क्यों न हो जाए। इसलिए यह आवश्यक हो गया कि अभिव्यक्त रूप से यह उपबन्ध किया जाए कि संसद् को संविधान के किसी भी उपबन्ध का, जिसमें भाग 3 में अंतर्विष्ट उपबन्ध भी शामिल होंगे, संशोधन करने की शक्ति है।

अनुच्छेद 368 एक पृथक् भाग अर्थात् भाग 20 में है। चौबीसवें संशोधन से पूर्व इसका पार्श्व टिप्पण यह था। "संविधान के संशोधन के लिए प्रक्रिया।" इसमें अनुच्छेद के अधिष्ठायी भाग में यह उपबन्ध था कि जब "इस संविधान के संशोधन" का संसद् के किसी भी सदन में विधेयक पुरःस्थापित करके सूत्रपात किया गया हो तो संविधान इस प्रकार "संशोधित हो जाएगा"। निम्नलिखित शर्तें पूरी की जानी होती थीं—

> (i) विधेयक को किस सदन में उस सदन की समस्त सदस्य-संख्या के बहुमत से तथा उस सदन के उपस्थित और मतदान करने वाले सदस्यों के दो-तिहाई से अन्यून बहुमत से वह विधेयक पारित हो जाता है।
>
> (ii) विधेयक को राष्ट्रपति की अनुमति के लिए पुरःस्थापित किया जाना होता था और उनकी अनुमति प्राप्त की जानी होती थी।

परन्तुक के अधीन यदि संशोधन द्वारा खण्ड (क) से (ङ) में वर्णित अनुच्छेदों, अध्यायों आदि में कोई परिवर्तन किए जाने की ईप्सा की गई हो तो विधेयक के राष्ट्रपति की अनुमति के लिए पेश किए जाने से पूर्व आधे राज्यों से अन्यून राज्यों के विधानमण्डलों का अनुसमर्थन संकल्पों द्वारा अभिप्राप्त करना आवश्यक था। खण्ड (ङ) "इस अनुच्छेद के उपबन्ध" के रूप में था।

---

(1) (1967) 2 एस० सी० आर० 762.

चौबीसवें संशोधन द्वारा निम्नलिखित परिवर्तन किए गए थे—

(i) पार्श्व शीर्षक के स्थान पर "संविधान का संशोधन करने की संसद् की शक्ति और उसके लिए प्रक्रिया।" पार्श्व शीर्षक रख दिया गया है।

(ii) अनुच्छेद 368 के खण्ड (2) के रूप में पुन:संख्यांकित कर दिया गया है।

(iii) खण्ड (2) से पूर्व, निम्नलिखित खण्ड अन्त:स्थापित किया गया है—

"इस संविधान में किसी बात के होते हुए भी, संसद् अपनी संविधायी शक्ति का प्रयोग करते हुए इस संविधान के किसी उपबन्ध का परिवर्धन, परिवर्तन या निरसन के रूप में संशोधन इस अनुच्छेद में दी गई प्रक्रिया के अनुसार कर सकेगी।"

(iv) पुन:संख्यांकित खण्ड (2) में, "वह राष्ट्रपति के समक्ष उसकी अनुमति के लिए रखा जाएगा तथा विधेयक को ऐसी अनुमति दी जाने के पश्चात्" शब्दों के स्थान पर "वह राष्ट्रपति के समक्ष रखा जाएगा, जो विधेयक को अपनी अनुमति देगा और तब" प्रतिस्थापित कर दिए गए हैं।

(v) एक नया खण्ड (3) अन्त:स्थापित किया गया है, अर्थात्—

"(3) अनुच्छेद 13 की कोई बात इस अनुच्छेद के अधीन किए गए किसी संशोधन को लागू न होगी।"

यहां इस बात का उल्लेख कर दिया जाए कि चौबीसवें संशोधन द्वारा स्वयं अनुच्छेद 13 में खण्ड (4) अन्त:स्थापित किया गया है। वह इस प्रकार है—

"(4) इस अनुच्छेद की कोई बात अनुच्छेद 368 के अधीन किए गए इस संविधान के किसी संशोधन को लागू न होगी।"

पिटीशनरों की ओर से श्री पालखीवाला ने यह कहा कि मैं इस मामले के प्रयोजनों के लिए चौबीसवें संशोधन पर इस बारे में विवाद नहीं करना चाहता हूं जहां तक कि उसके निम्नलिखित परिणाम निकलते हैं—

(i) अनुच्छेद 368 में अभिव्यक्त उपबन्ध का अन्त:स्थापन कि संशोधन करने की शक्ति का स्रोत स्वयं अनुच्छेद में है।

(ii) राष्ट्रपति उस अनुच्छेद के अधीन सम्यक् रूप से पारित किए गए किसी विधेयक को अनुमति देने के लिए आबद्ध है।

किन्तु जहां तक निम्नलिखित तीन परिणामों का सम्बन्ध है, उनके बारे में काफी तर्क-वितर्क किया गया है—

(i) अनुच्छेद 368 में "संशोधन" की अवधारणा के स्थान में "परिवर्धन, परिवर्तन या निरसन के रूप में संशोधन······" शब्दों का प्रतिस्थापन।

(ii) उक्त अनुच्छेद में यह स्पष्ट किया जाना कि जब संसद् इस अनुच्छेद के अधीन सांविधानिक संशोधन करती है तो वह "अपनी संविधायी शक्ति के प्रयोग में" कार्य करती है।

(iii) अनुच्छेद 13 और 368 में यह अभिव्यक्त उपबन्ध कि किसी भी मूल अधिकार को न्यून करने या उसे छीनने के विरुद्ध पूर्ववर्ती अनुच्छेद में यह वर्जन पश्चात्वर्ती अनुच्छेद के अधीन किए गए संशोधन को लागू नहीं होना चाहिए।

मुख्य न्यायाधिपति सुब्बाराव द्वारा, जिनके साथ चार अन्य विद्वान् न्यायाधीशों ने सहमति व्यक्त की थी, गोलक नाथ के मामले(1) में दिए गए निर्णय में संशोधन करने वाली शक्ति के स्रोत के बारे में यह अभिनिर्धारित किया गया था कि वह सप्तम अनुसूची की सूची 1 की प्रविष्टि 97 के साथ पठित अनुच्छेद 248 में पाई जाती है। चूंकि श्री पालखीवाला ने यह स्वीकार कर लिया है कि अनुच्छेद 368 का संशोधन हो जाने के कारण ऐसी शक्ति को, यदि यह मान भी लिया जाए कि वह मूल रूप में अनुच्छेद 368 में निहित नहीं थी, तो भी उसे विधिमान्य रूप से अब उक्त अनुच्छेद में ढूंढा जा सकता है, अब इस बात पर विचार करने की आवश्यकता नहीं रही है कि क्या उस मत को कायम रखा जा सकता है या नहीं। इसलिए वास्तविक आक्षेप, जहां तक कि ऊपर बताए गए तीन परिणामों का सम्बन्ध है, चौबीसवें संशोधन के विरुद्ध किया गया है। यह दलील दी गई है कि यदि उन परिणामों का प्रभाव यह है कि संसद् ने पूर्ण संविधायी शक्ति को ग्रहण करके विधिक प्रभुसत्ता को अपने हाथ में ले लिया है जिसे केवल भारत के लोग ही धारण करते हैं और यदि संसद् इस शक्ति का प्रयोग करते हुए संविधान के आवश्यक लक्षणों में से सभी को या उनमें से किसी को परिवर्तित या विनष्ट कर सकती है तो चौबीसवां संशोधन शून्य हो जाएगा। भाग 3 में समाविष्ट मूल अधिकार "आवश्यक लक्षणों" का एक भाग है और यदि उनके सार या मर्म को हानि पहुंचाई जा सकती है या उसे छीना जा सकता है तो चौबीसवां संशोधन शून्य तथा अवैध हो जाएगा।

प्रत्यर्थियों के ओर से जो स्थिति अपनाई गई है वह यह है कि जहां तक अनुच्छेद 368 का सम्बन्ध है, चौबीसवें संशोधन द्वारा केवल उन संदेहों को दूर किया गया है जो कि गोलक नाथ के मामले(1) में बहुमत के निर्णय में उत्पन्न हुए थे। उस अनुच्छेद में मूल रूप में संविधायी शक्ति अन्तर्विष्ट थी जिसके आधार पर संविधान के सभी या कोई उपबन्ध, जिनमें कि प्रस्तावना भी शामिल है, परिवर्धित, परिवर्तित या निरसित किए जा सकते थे। दूसरे शब्दों में, संशोधन करने की शक्ति असीमित तथा अनियंत्रित थी और वह किन्हीं ऐसी परिसीमाओं द्वारा सीमित नहीं की गई थी जिनका सुझाव पिटीशनरों की ओर से दिया गया है। इसलिए गूढ़ विषय इस बात का अवधारण करना है कि चौबीसवें संशोधन द्वारा अनुच्छेद 368 में की गई तब्दीलियों और परिवर्तनों से पूर्व अनुच्छेद 368 में पाए जाने वाले संशोधन करने वाले उपबन्धों का सही विस्तार, परिधि तथा क्षेत्र क्या है। यदि अनुच्छेद द्वारा उस परिमाण की शक्ति प्रदत्त की गई है जो अब चौबीसवें संशोधन के अन्तर्गत आता है तो कोई नई बात नहीं की गई है और उक्त संशोधन पर आक्षेप नहीं किया जा सकता है। किन्तु यदि मूल शक्ति, संविधायी तत्व धारण करते हुए भी सीमित थी तो उसमें वृद्धि की जा सकती थी। दूसरे शब्दों में, संशोधन करने वाला निकाय अपनी ही शक्तियों का विस्तार नहीं कर सकता था।

---

(1) (1967) एस० सी० आर० 762.

तो संविधान के अनुच्छेद 368 में प्रयुक्त "संशोधन" शब्द का क्या अर्थ है ? प्रत्यर्थियों की ओर से यह दलील दी गई है कि "इस संविधान के संशोधन" का केवल एक ही अर्थ हो सकता है। "संशोधन" पद के निर्वचन या अर्थान्वयन के विषय में अन्य साधनों का सहारा लेने का प्रश्न ही नहीं उठ सकता है। दूसरी ओर श्री पालखीवाला की दलील "संशोधन" पद के उस रूप पर निर्भर करती है जिसके एक से अधिक अर्थ हो सकते हैं और इस कारण यह आवश्यक है कि इसके सही अर्थ तथा विस्तार का उस पर ध्यान देते हुए तथा अर्थान्वयन के अन्य अनुज्ञात साधनों पर विचार करते हुए, पता लगाया जाए। दोनों ही ओर से विभिन्न शब्दकोषों तथा ग्रन्थकारों और लेखकों की प्रामाणिक पुस्तकों तथा मतों से "संशोधन" तथा "संशोधन करना" शब्दों के सभी अर्थ देने की पूरी-पूरी कोशिश की गई है।

किन्तु अधिक उचित यह होगा कि शब्दकोषों की बजाय स्वयं संविधान में से "संशोधन" शब्द के सही अर्थ को खोजा जाए। पहले हम स्वयं अनुच्छेद 368, जैसे कि वह चौबीसवें संशोधन से पूर्व विद्यमान था, की स्कीम का विश्लेषण करेंगे।

(i) "संविधान का संशोधन" पद की परिभाषा या उसका स्पष्टीकरण किसी भी प्रकार से नहीं किया गया है, यद्यपि संविधान के अन्य भागों में "संशोधन करना" शब्दों का विस्तार, जैसे कि इसमें इसके पश्चात् देखा जाएगा, "परिवर्धन, परिवर्तन या निरसन के रूप में संशोधन करना" पदावलि का प्रयोग करके किया गया है।

(ii) संशोधन की बाबत शक्ति अभिव्यक्त शब्दों द्वारा प्रदत्त नहीं की गई है। इसका अनुमान केवल आवश्यक विवक्षा द्वारा लगाया जा सकता है।

(iii) परन्तुक में "यदि ऐसा कोई संशोधन × × × में कोई परिवर्तन करना चाहता है" शब्दों का प्रयोग किया गया है। उसमें "का परिवर्तन" अथवा "परिवर्तन" मात्र शब्दों का प्रयोग नहीं किया गया है।

(iv) परन्तुक में वर्णित संविधान के उपबन्ध यह दर्शित नहीं करते हैं कि यदि उसमें अधिकथित प्रक्रिया का अनुसरण किया जाता है तो संविधान का मूल ढांचा बदला जा सकता है। उदाहरण के लिए, परन्तुक में खण्ड (क) अनुच्छेद 54 तथा 55 के प्रति निर्देश करता है जो राष्ट्रपति के निर्वाचन से सम्बन्धित है। यह उल्लेखनीय है कि अनुच्छेद 52 जिसमें यह उपबन्ध किया गया है कि भारत का एक राष्ट्रपति होगा और अनुच्छेद 53 जो कि संघ की शक्ति राष्ट्रपति में निहित करता है और यह उपबन्ध करता है कि उसका प्रयोग किस प्रकार किया जाएगा, खण्ड (क) में अन्तर्विष्ट नहीं है। यह समझ में नहीं आता है कि भला संविधान बनाने वालों का यह आशय क्यों कर हो सकता था कि यदि अनुच्छेद 54 तथा 55 में कोई परिवर्तन किए जाने हों तो अपेक्षित संख्या में विधानमण्डलों तथा राज्यों का अनुसमर्थन अभिप्राप्त किया जाना चाहिए किन्तु यदि राष्ट्रपति के पद को समाप्त करना हो तो ऐसा कोई अनुसमर्थन आवश्यक नहीं था और संघ की कार्यपालिका शक्ति का प्रयोग किसी अन्य व्यक्ति या प्राधिकारी द्वारा किया जाना था।

(v) एक अन्य अनुच्छेद, जिसका उल्लेख खण्ड (क) में किया गया है, अनुच्छेद 73 है जो संघ की कार्यपालिका शक्ति के विस्तार की बाबत है। जहां तक उपराष्ट्रपति का सम्बन्ध है, उससे सम्बन्धित सुसंगत अनुच्छेदों का कोई उल्लेख नहीं किया गया है। दूसरे शब्दों

में, राज्यों को इस प्रश्न के विनिश्चय में कोई अधिकार नहीं दिया गया है कि क्या उपराष्ट्रपति का पद जारी रखा जाना है या उसे समाप्त किया जाना है अथवा उसके निर्वाचन की पद्धति क्या होगी ?

(vi) खण्ड (क) में वर्णित अगला अनुच्छेद 162 है जो राज्यों की कार्यपालक शक्ति के विस्तार की बाबत है। खण्ड (क) में अथवा परन्तुक के किसी अन्य भाग में राज्यपाल की नियुक्ति तथा सेवा की शर्तों, उसकी मंत्रिपरिषद् के गठन तथा कृत्यों तथा कारबार के संचालन से सम्बन्धित अनुच्छेदों का वर्णन नहीं किया गया है।

(vii) परन्तुक के खण्ड (क) में अनुच्छेद 54, 55, 73 तथा 162 के साथ-साथ अनुच्छेद 241 का भी उल्लेख किया गया है। मूल रूप में यह अनुच्छेद केवल प्रथम सूची के भाग ग के राज्यों के लिए उच्च न्यायालय की बाबत ही था।

(viii) संविधान के भाग 5 का अध्याय 4 संघ-न्यायपालिका की बाबत है तथा भाग 6 का अध्याय 5 राज्य के उच्च न्यायालयों की बाबत है। यद्यपि इन्हें परन्तुक के खण्ड (ख) में अन्तर्विष्ट किया गया है, तथापि यह अचम्भे की बात है कि भाग 6 के अध्याय 6 का, जो कि अधीनस्थ न्यायपालिका से सम्बन्धित है, बिल्कुल भी जिक्र नहीं किया गया है, हालांकि इससे राज्यों का ठीक निकट का सम्बन्ध है।

(ix) भाग 11 का अध्याय 1 जो संघ तथा राज्यों के बीच विधायी सम्बन्धों की बाबत है, परन्तुक के खण्ड (ख) में अन्तर्विष्ट किया गया है, किन्तु उस भाग का अध्याय 2, जो कि संघ तथा राज्यों के बीच प्रशासनिक सम्बन्धों तथा ऐसे अन्य विषयों की बाबत है जिनमें कि राज्यों की मार्मिक दिलचस्पी है, उसमें शामिल नहीं किया गया है।

(x) राज्याधीन सेवाओं से सम्बन्धित संविधान के उपबन्धों को तथा ऐसे उपबन्धों को, जो व्यापार तथा वाणिज्य की बाबत हैं, इस परन्तुक में शामिल नहीं किया गया है।

(xi) परन्तुक के खण्ड (ग) में सप्तम अनुसूची की सूची का उल्लेख है। खण्ड (घ) संसद् में राज्यों के प्रतिनिधित्व से सम्बन्धित है और खण्ड (ङ) स्वयं अनुच्छेद 368 के उपबन्धों की बाबत है।

इसका निश्चित परिणाम यह है कि परन्तुक के खण्ड (क) तथा (ख) में अन्तर्विष्ट उपबन्ध उन अनुच्छेदों के अन्तर्विष्ट किए जाने पर, जो सम्पूर्ण परसंघीय ढांचे की बाबत हैं, तर्क, अनुक्रम अथवा व्यवस्थित प्रबन्ध पर कोई प्रकाश नहीं डालते हैं। इन खण्डों से यह प्रदर्शित होता है कि इस उपबन्ध में कतिपय अनुच्छेदों के शामिल किए जाने और कतिपय अन्य अनुच्छेदों के उनमें से अपवर्जित किए जाने का कारण यह नहीं था कि ऐसे सभी अनुच्छेद जो परसंघीय ढांचे की बाबत थे अथवा राज्यों की बाबत थे, परन्तुक में शामिल किए जाने के लिए चुन लिए गए थे। दूसरा असाधारण परिणाम यह है कि यदि मूल अधिकार, जो भाग 3 में अन्तर्विष्ट हैं, संशोधित किए जाने हों तो उक्त परन्तुक के उपबन्धों का पालन किए बिना ही ऐसा किया जा सकता है। यह समझना कठिन है कि संविधान बनाने वालों ने ऐसी दशा में जिसमें कि ऐसे महत्वपूर्ण तथा तात्विक अधिकारों का पूर्णतः या भागतः निराकरण किया जाना हो या छीना जाना हो, अनुसमर्थन को आवश्यक क्यों नहीं समझा है। यह भी दिलचस्प बात है कि अनुच्छेद 52 तथा 53 के, जो कि राष्ट्रपति के

होने तथा उनमें संघ के कार्यपालक कृत्यों के निहित होने की बाबत है, लोप से उत्पन्न कठिनाई को दूर करने के लिए विद्वान् महा सॉलिसीटर ने विवक्षा द्वारा यह अर्थ लगाने की कोशिश की कि वे अनुच्छेद उसमें अन्तर्विष्ट थे क्योंकि उनके कथनानुसार यदि राष्ट्रपति का पद समाप्त कर दिया जाता है तो निर्वाचन का ऐसा कोई प्रश्न उत्पन्न नहीं हो सकता है जिससे कि अनुच्छेद 54 तथा 55 सम्बन्धित हैं।

इसके बाद, हम संविधान के अन्य अनुच्छेदों में "संशोधन" अथवा "संशोधित" शब्दों के प्रयोग के प्रति निर्देश करते हैं। कुछ अनुच्छेदों में इन शब्दों का संदर्भ के अनुसार व्यापक अर्थ है और किसी अन्य संदर्भ में संकुचित अर्थ है। जिन अनुच्छेदों के समूह में संसद् को अभिव्यक्त रूप से संशोधित करने की शक्ति दी गई है वे पांच अनुच्छेद हैं, जिनमें अनुच्छेद 368 भी शामिल है। इनमें प्रथम अनुच्छेद 4 है। यह उन विधियों से सम्बन्धित है जिनमें अनुच्छेद 2 और 3 के अधीन प्रथम तथा द्वितीय अनुसूची के संशोधन के लिए और अनुपूरक आनुषंगिक तथा पारिणामिक विषयों के संशोधन के लिए उपबन्ध किया गया है। दूसरा अनुच्छेद 169 है जिसमें राज्यों में विधान-परिषदों के समाप्त किए जाने अथवा सृष्ट किए जाने के लिए उपबन्ध किया गया है। तीसरा तथा चौथा उपबन्ध क्रमशः पंचम तथा षष्ठ अनुसूची के पैरा 7 और 21 हैं जिन्हें अनुच्छेद 244 के साथ पढ़ना होगा और जो अनुसूचित क्षेत्रों तथा आदिमजातीय क्षेत्रों के प्रशासन की बाबत हैं। अनुच्छेद 4 तथा 169 में प्रयुक्त पद "संशोधन" है। पैरा 7 और 21 में विस्तारपूर्ण पदावली का प्रयोग किया गया है अर्थात्, "परिवर्धन, परिवर्तन या निरसन के रूप में संशोधन"। संसद् को यह शक्ति दी गई है कि वह विधि द्वारा इन संशोधनों को पढ़ सके और यह अभिव्यक्त रूप से उपबन्ध किया गया है कि किसी भी ऐसी विधि को अनुच्छेद 368 के प्रयोजन के लिए संविधान का संशोधन नहीं माना जाएगा।

यह स्पष्ट है कि "संशोधन" शब्द का प्रयोग अनुच्छेद 4 में संकुचित अर्थों में किया गया है। इस दलील का खण्डन कि यदि यह मान लिया जाता है कि संसद् में अनुच्छेद 4 के अधीन व्यापक शक्तियां निहित की गई हैं तो यह सोचा जा सकता है कि वह राज्य के विधायी तथा न्यायिक अंगों का पूर्णतः उत्सादन करने सम्बन्धी शक्ति का प्रयोग करेगा, इस न्यायालय द्वारा यह कह कर किया गया था कि विधि के अधीन किसी राज्य का अनुच्छेद 4 के अधीन गठन, प्रविष्टि अथवा स्थापना संसद् द्वारा नहीं की जा सकती है जो कि संविधान द्वारा कल्पित प्रजातंत्रीय पद्धति के अनुकूल न हो। इसी प्रकार कोई ऐसी विधि जिसमें राज्यों में विधान-परिषदों के उत्सादन या सृष्ट किए जाने के प्रयोजन के लिए संविधान का संशोधन करने के लिए उपबन्ध अंतर्विष्ट हो, केवल उस प्रयोजन तक ही सीमित है और "संशोधन" शब्द आवश्यक रूप से संकुचित अर्थों में प्रयुक्त किया गया है। किन्तु पैरा 7 और 21 में विस्तृत अभिव्यक्ति का प्रयोग किया गया है और वास्तव में संविधान सभा में भी अनुच्छेद 304 के प्रारूप (प्रस्तुत अनुच्छेद 368) के खण्ड (1) से पूर्व एक नया खण्ड अंतःस्थापित करने के लिए उपबन्ध किया गया था। संशोधन संख्या 3239 की प्रस्थापना श्री एच० वी० कामथ(1) ने रखी थी और वह निम्नलिखित थी—

> "इस संविधान के किसी भी उपबन्ध को चाहे परिवर्तन, परिवर्धन या निरसन द्वारा इस अनुच्छेद में उपबन्धित रीति में संशोधित किया जा सकता है।"

(1) कांस्टिट्यूएंट असेम्बली डिबेट्स, खण्ड 9 पृष्ठ 1663.

श्री कामथ ने अनुच्छेद 304 के परन्तुक में "राष्ट्रपति के समक्ष उसके रखे जाने पर उसे ऐसी अनुमति दी जाएगी" शब्दों को प्रतिस्थापित करने के लिए और संशोधन पेश किया था। इन दोनों संशोधनों को संविधान सभा ने नामंजूर कर दिया था†। यह उल्लेखनीय है कि चौबीसवें संशोधन, जैसे कि वह अब अन्तःस्थापित किया गया है, द्वारा सारवान रूप से वही संशोधन पुरःस्थापित किए गए हैं जिन्हें संविधान सभा ने तब स्वीकार नहीं किया था।

संविधान सभा के बारे में यह उपधारणा निश्चित रूप से होनी चाहिए कि "परिवर्धन" अभिव्यक्ति का पूर्ण रूप से उसे ज्ञान था क्योंकि उसमें 17 सितम्बर, 1949 को 1949 के कांस्टीट्यूएंट असेम्बली ऐक्ट सं० 4 द्वारा गवर्नमेण्ट ऑफ इण्डिया ऐक्ट, 1935 की पुरानी धारा 291 के स्थान पर निम्नलिखित धारा प्रतिस्थापित की गई थी—

*"291. अधिनियम तथा तदधीन निकाले गए आदेश के कतिपय उपबन्धों को संशोधित करने की गवर्नर जनरल की शक्ति—

(1) गवर्नर जनरल किसी भी समय आदेश द्वारा इस अधिनियम के अथवा तदधीन बनाए गए किसी आदेश के उपबन्धों में ऐसे संशोधन कर सकेगा जैसे कि वह आवश्यक समझे, चाहे वे परिवर्धन, रूपांतरण अथवा निरसन के रूप में हों (महत्व देने के लिए रेखांकित किया गया है) जो निम्नलिखित विषयों में से किसी भी विषय की बाबत किसी प्रान्तीय विधानमण्डल के सम्बन्ध में हों—

(क).."

"संशोधन" शब्द का प्रयोग कतिपय ऐसे अनुच्छेदों में भी किया गया है, जैसे कि अनुच्छेद 107, जो कि विधायी प्रक्रिया की बाबत है तथा अनुच्छेद 111 जो कि राष्ट्रपति को इस योग्य बनाता है कि वह सदनों को यह प्रार्थना करने सम्बन्धी निदेश भेज सके कि वे संशोधन इत्यादि पुरःस्थापित करने की वांछनीयता पर विचार करें। इन अनुच्छेदों में "संशोधन" शब्द के प्रयोग के अर्थ संकुचित ही हो सकते हैं, जैसा कि संदर्भ से स्पष्ट है। पिटीशनरों की ओर से, अनुच्छेद 4, 169 और पंचम तथा षष्ठ अनुसूचियों के पैरा 7 तथा 21 में, जिनमें कि संश्लिष्ट अभिव्यक्त "परिवर्धन, परिवर्तन या निरसन के

---

*अंग्रेजी में यह इस प्रकार है—

"291, power of the Governor General to amend certain provisions of the Act and order made thereunder—

(1) The Governor General may at any time by Order make such amendments as he considers necessary whether by way of addition, modification, or repeal (emphasis supp[illegible]d) in the provisions of this Act or of any Order made the[illegible] in relation to any Provincial Legislature with r[illegible] v of the following matters, that is to say—

[illegible] ...."

† यथोपरि

रूप में संशोधन" का प्रयोग किया गया है, "संशोधन" शब्द के प्रयोग के बीच भेद का जोरदार अवलम्ब लिया गया है। यह निवेदन किया गया है कि अनुच्छेद 368 में केवल "संशोधन" शब्द का ही प्रयोग किया गया है और यदि संविधान बनाने वालों का यह आशय होता है कि इसका विस्तृत अर्थ होना चाहिए, तो इस बात का कोई कारण नहीं था कि ठीक उसी शब्दावलि का प्रयोग क्यों नहीं किया गया होता जिसका कि पैरा 7 और 21 में किया गया है अथवा जैसे अब चौबीसवें संशोधन द्वारा अन्तःस्थापित किया गया है। इस दलील में निम्नलिखित कड़ियां हैं—

(i) संशोधन की बाबत संविधान के विभिन्न उपबन्धों में प्रयुक्त भाषा में भेद।

(ii) पंचम तथा षष्ठ अनुसूचियों के प्रयोजन के लिए अधिक व्यापक शक्ति का प्रदत्त किया जाना, जो कि संसद् को उनके द्वारा अनुध्यात संस्थाओं से सम्बन्धित उन अनुसूचियों के उपबन्धों, उनके अधीन स्थापित विधि बनाने सम्बन्धी प्राधिकार और इन दोनों अनुसूचियों में पाए जाने वाले प्रशासन के मूलभूत आधार को प्रवर्तित तथा निरसित करने की शक्ति देती है।

(iii) इन दोनों अनुसूचियों के पैरा 7 और 21 में प्रयुक्त व्यापक भाषा का प्रयोग इस प्रयोजन के लिए किया गया था कि भविष्य में समुचित समय पर अथवा जब कभी आवश्यक समझा जाए, सूचियों के सम्पूर्ण आधारभूत ढांचे को निरसित किया जा सकेगा और उनके अन्तर्गत जो क्षेत्र तथा जन-जातियां आती हैं, उन पर शेष भारत की भांति शासन तथा प्रशासन किया जा सकेगा।

(iv) यह निश्चित है कि अनुच्छेद 368 में "संशोधन" शब्द मात्र के प्रयोग का उस संश्लिष्ट अभिव्यक्ति अर्थात्, परिवर्धन, परिवर्तन अथवा निरसन के रूप में "संशोधन करना" अथवा "संशोधन" के मुकाबले में संकुचित अर्थ होगा और वह अनुच्छेद 4 तथा 169 में 'संशोधन करना' अथवा 'संशोधन' शब्द के अर्थ का तत्स्थानी होना चाहिए।

(v) संविधान को संशोधित करने की शक्ति अनुच्छेद 368 में ही केन्द्रित नहीं है, बल्कि वह बिखरी है क्योंकि वह अन्य अनुच्छेदों तथा उपबन्धों में भी पाई जाती है जिनका उल्लेख किया गया है। इस बात का अभिप्राय कि यह क्यों जोड़ दिया गया था, कि उन उपबन्धों के अधीन संसद् द्वारा पारित की गई कोई भी विधि अनुच्छेद 368 के प्रयोजन के लिए इस संविधान का संशोधन नहीं समझी जाएगी, केवल यह स्पष्ट करना था कि अनुच्छेद 368 द्वारा विहित रूप तथा रीति का अनुसरण नहीं किया जाएगा और संसद् मामूली तौर पर विधायी अधिनियमितियों को पारित करने के लिए अधिकथित प्रक्रिया का अनुसरण करके उस सीमा तक संविधान का संशोधन कर सकती है जिसका उल्लेख उन अनुच्छेदों तथा उपबन्धों में किया गया है।

महाराष्ट्र के विद्वान् महाधिवक्ता ने, जो प्रत्यर्थी सं० 1 की ओर से हाजिर हुए हैं, इस तथ्य पर अत्यधिक जोर दिया है कि अनुच्छेद 368 एकमात्र ऐसा अनुच्छेद है जो एक अलग भाग में अन्तर्विष्ट है जिसका शीर्षक "संविधान का संशोधन" है। वही ऐसा अनुच्छेद है जिसके अधीन अन्य सभी उपबन्ध, जिनमें अनुच्छेद 4, 169 तथा पंचम तथा

षष्ठ अनुसूचियों के क्रमशः पैरा 7 और 21 भी है, संशोधित किए जा सकते हैं। अनुच्छेदों के पश्चात्‌वर्ती समूह में एक सीमित शक्ति अन्तर्विष्ट है क्योंकि वे अनुच्छेद, अनुच्छेद 368 के अधीनस्थ हैं। इसका दृष्टांत इस निश्चायक कथन से मिलता है जो उन उपबन्धों के प्रत्येक उपबन्ध में अन्तर्विष्ट है अर्थात् यह कि संविधान का संशोधन करने वाली कोई ऐसी विधि अनुच्छेद 368 के प्रयोजन के लिए "उसका संशोधन नहीं समझी जाएगी"। जहां तक दोनों अनुसूचियों के पैरा 7 और 21 में प्रयुक्त "परिवर्धन, परिवर्तन अथवा निरसन के रूप में संशोधन" संश्लिष्ट अभिव्यक्ति का सम्बन्ध है यह कहा गया है कि खण्ड (ii) से, जिसमें कि "इस संविधान का संशोधन" शब्दों का प्रयोग किया गया है, यह स्पष्ट दर्शित होता है कि किसी उपबन्ध का परिवर्धन, परिवर्तन अथवा निरसन "संशोधन" के अन्तर्गत आएगा। विद्वान् महान्यायवादी के कथनानुसार "संशोधन" शब्द से परिवर्तन, परिवर्धन अथवा निरसन ही अभिप्रेत है। उन्होंने अनुसूची 5 और 6 के पैरा 7 और 21 के पीछे जो इतिहास है उसका अनुशीलन यह दर्शित करने के लिए किया है कि "परिवर्धन, परिवर्तन अथवा निरसन के रूप में संशोधन" अभिव्यक्ति का ऐसा कोई महत्व नहीं है और उससे 'संशोधन' शब्द के अर्थ में विस्तार नहीं होता है। हमारा ध्यान स्वयं संविधान में अनेक अनुच्छेदों की ओर दिलाया गया है जिनमें से अनुच्छेद 320(5) तथा 392(1) का उल्लेख किया जा सकता है जिनमें कि "निरसन या संशोधन द्वारा किए गए ऐसे परिवर्तनों" और "ऐसे अनुकूलनों × × × चाहे वे परिवर्तन या जोड़ या लोप के रूप में हों" अभिव्यक्तियों का प्रयोग किया गया है। यह दलील दी गई है कि "इस संविधान का संशोधन" अभिव्यक्ति का लिखित संविधान के संदर्भ में गत वर्षों में अधिष्ठायी अर्थ बन गया है और इससे यह अभिप्रेत है कि संविधान के किसी भाग को परिवर्तन, परिवर्धन अथवा निरसन द्वारा तब्दील करके संशोधित किया जा सकता है।

डा० बी० आर० अम्बेडकर ने, जो न केवल प्रारूपण समिति के अध्यक्ष थे बल्कि संविधान के मुख्य निर्माता भी थे, यह स्पष्ट कर दिया था कि संविधान के अनुच्छेद[1] भिन्न-भिन्न प्रवर्गों में बांटे गए थे। प्रथम प्रवर्ग वह प्रवर्ग था जिसमें ऐसे अनुच्छेद शामिल थे जिन्हें संसद् द्वारा बहुमत मात्र से ही संशोधित किया जा सकता था। अनुच्छेद का दूसरा समूह वे अनुच्छेद थे जिन्हें संशोधित करने के लिए दो-तिहाई बहुमत की अपेक्षा थी। स्पष्ट है कि यहां उन अनुच्छेदों के समूह के प्रति निर्देश किया गया है जिनमें क्रमशः अनुच्छेद 4, 169 तथा दोनों अनुसूचियों के पैरा 7 और 21 और अनुच्छेद 368 शामिल हैं। डा० बी० आर० अम्बेडकर ने संशोधन करने वाले उपबन्धों की स्कीम की जो रूपरेखा तैयार की थी उससे यह दर्शित होता है कि संविधान बनाने वालों के मन में अन्य अनुच्छेदों द्वारा तथा अनुच्छेद 368 द्वारा प्रदत्त की गई संशोधन करने की शक्ति के बीच केवल एक प्रभेद ही था। उनके विचार में जिस प्रकार का प्रभेद विद्वान् महाधिवक्ता द्वारा इंगित किया गया है ऐसा कोई प्रभेद विद्यमान नहीं था कि अनुच्छेद 367 से भिन्न अनुच्छेदों द्वारा प्रदत्त संशोधन करने की शक्ति केवल गौण स्वरूप की शक्ति ही थी। एक प्रकार से प्रथम समूह के अनुच्छेदों में अन्तर्विष्ट शक्ति के बारे में इस रूप में उसका गौण होना कहा जा सकता है कि स्वयं उन अनुच्छेदों को अनुच्छेद 368 द्वारा विहित प्रक्रिया से संशोधित किया जा

(1) कांस्टिट्यूएंट असेम्बली डिबेट्स, वाल्यूम 9 पृष्ठ 1661.

सकता था। किन्तु स्वयं उस अनुच्छेद को उसी प्रक्रिया द्वारा संशोधित किया जा सकता था। इसलिए यह कहना गलत नहीं होगा कि संशोधन करने की शक्ति विस्तृत प्रकार की थी और वह संविधान के एक से अधिक उपबन्धों में अन्तर्विष्ट थी। ऐसा प्रतीत होता है कि अनुच्छेद 368 से भिन्न अनुच्छेदों में तथा संशोधन करने की शक्ति को अन्तर्विष्ट करने वाले उपबन्धों में यह कथन कि उन अनुच्छेदों के अधीन किया गया कोई भी संशोधन अनुच्छेद 368 के अधीन "संशोधन" की कोटि में नहीं आएगा केवल उस प्रभेद को सन्निविष्ट करता है जिस पर डा० बी० आर० अम्बेदकर द्वारा जोर दिया गया है अर्थात् यह कि एक प्रवर्ग को संसद् द्वारा मात्र बहुमत से संशोधित किया जा सकता है और शेष अन्य सभी अनुच्छेदों को उक्त निकाय द्वारा संशोधित तो किया जा सकता है किन्तु ऐसा केवल तब जब कि अनुच्छेद 368 द्वारा विहित रूप तथा रीति का अनुसरण किया जाए। यद्यपि प्रथमदृष्टया यह प्रतीत होगा कि संविधान बनाने वालों ने कुछ विशेष कारणों से अनुच्छेद 368 में संक्षिप्त अभिव्यक्ति का प्रयोग नहीं किया था और श्री कामथ द्वारा पेश किए गए उस संशोधन को नामंजूर कर दिया था जिससे कि मर्मस्पर्शी रूप से उनके ध्यान में यह बात लाई गई थी कि यह पर्याप्त महत्वपूर्ण था कि विस्तृत अभिव्यक्ति का प्रयोग किया जाए, तो अनुच्छेद 368 में 'संशोधन' शब्द के अर्थ का अवधारण करने के लिए इस पहलू पर विचार करना शायद निश्चायक नहीं होगा।

श्री पालखीवाला का यह कहना है कि 'संशोधन' शब्द के तीन अर्थ हो सकते हैं—

(i) सुधार करना या बेहतर बनाना; त्रुटि दूर करना, जहां कि सुधार के प्रश्न पर संविधान में अंतर्निहित आधारभूत दर्शन की दृष्टि से किन्तु उसके आवश्यक लक्षणों के अधीन रहते हुए विचार किया गया हो।

(ii) ऐसे परिवर्तन करना जो (i) के अन्तर्गत नहीं आते हैं किन्तु जो संविधान के ऐसे किन्हीं आधारभूत लक्षणों, आवश्यक तत्वों अथवा मूल सिद्धान्तों को परिवर्तित या विनष्ट नहीं करते हैं।

(iii) किसी भी प्रकार के कोई परिवर्तन करना, जिनके अन्तर्गत ऐसे परिवर्तन भी हैं जो (ii) से बाहर आते हैं।

उनका यह दावा है कि बेहतर अर्थ वह अर्थ है जो कि (i) में अन्तर्विष्ट है, किन्तु जो (ii) में बताया गया है वह भी सम्भव अर्थान्वयन है। प्रवर्ग (iii) को सर्वथा रद्द कर दिया जाना चाहिए। प्रवर्ग (i) और (ii) में एक समान तत्व हैं अर्थात् यह कि आवश्यक लक्षणों को हानि नहीं पहुंचाई जा सकती है अथवा विनष्ट नहीं किया जा सकता है।

प्रत्यर्थियों की ओर से इस बात पर विवाद नहीं किया गया है कि "इस संविधान का संशोधन" शब्दों से इस संविधान का निरसन या निराकरण अभिप्रेत नहीं है। किन्तु संशोधन करने की शक्ति के बारे में प्रत्यर्थियों की ओर से यह दावा किया गया है कि वह संविधान के प्रत्येक उपबन्ध के परिवर्धन, परिवर्तन, प्रतिस्थापन, उपान्तरण, लोप को लागू होती है। महान्यायवादी का तर्क यह है कि अनुच्छेद 368 में जैसे कि वह चौबीसवें संशोधन से पूर्व था और जैसे कि वह अब है, संशोधन करने की शक्ति सदैव विधायी शक्ति रही है और बनी हुई है, जैसे कि संविधान अथवा उसके किसी भाग को संगठित करने अथवा पुनर्गठित करने की शक्ति। संविधान का किसी भी समय, परिवर्तन परिवर्धन अथवा निरसन द्वारा किसी प्रकार संशोधन नहीं किया जा सकता है जिससे

कि देश के शासन में रिक्ति रह जाए। संशोधन करने की शक्ति का सम्पूर्ण उद्देश्य तथा आवश्यकता यह है कि संविधान को बना रहने दिया जाए और ऐसी संविधायी शक्ति, जब तक कि वह अभिव्यक्त रूप से स्वयं संविधान में ही सीमित न हो, स्वभावतः किसी प्रकार से सीमित नहीं रह सकती है क्योंकि यदि किसी सीमा को मान लिया जाता है, यद्यपि वह अभिव्यक्त रूप से संविधान में नहीं पाई जाती है तो संशोधन करने की शक्ति का सारा प्रयोजन ही अकृत हो जाएगा। यह दलील दी गई है कि संविधान के प्रथम संशोधन अधिनियम में जो भारत के संविधान के प्रवृत्त होने के शीघ्र ही पश्चात् अधिनियमित किया गया था, कुछ उपबन्ध अन्तःस्थापित किए गए थे, कुछ अन्य प्रतिस्थापित अथवा लुप्त किए गए थे और इन सभी को उनमें वर्णित अनुच्छेद का संशोधन कहा गया था। संविधान के संदर्भ में संशोधन प्रत्येक उपबन्ध के बारे में हो सकता है जिसमें प्रस्तावना भी शामिल है और इसमें कोई ऐसी संदिग्धार्थता नहीं है जिससे कि यह न्यायोचित बनता हो कि हम संशोधनकारी शक्ति की परिधि का अवधारण करने के लिए अन्य अनुच्छेदों पर दृष्टिपात करें अथवा संविधान की प्रस्तावना अथवा स्कीम अथवा अर्थान्वयन के अन्य अनुज्ञात साधनों पर विचार-विमर्श करें।

यूनाइटेड स्टेट्स के संविधान के, जिसे इसमें इसके पश्चात् "अमरीका का संविधान" कहा गया है, अनुच्छेद 5 का, जो संशोधन तथा अमरीका के न्यायालयों द्वारा उसके निर्वचन की बाबत है, प्रत्यर्थियों की ओर से पर्याप्त रूप से अवलम्ब लिया गया है। उन ग्रन्थकारों तथा लेखकों की कृतियों के प्रति निर्देश किया गया है जिन्होंने अमरीका के संविधान में 'संशोधन' (अमेंडमेंट) शब्द के अर्थ पर विचार-विमर्श किया है। यह दलील दी गई है कि उस संविधान के अनुच्छेद 5 में जिस शब्द का प्रयोग किया गया है वह 'अमेंडमेंट' शब्द है और हमारे संविधान के बनाने वालों के मन में वही शब्द था जब उन्होंने अनुच्छेद 368 में "इस संविधान का संशोधन" अभिव्यक्ति का प्रयोग किया था। हमारा विचार है कि बाद में अन्य आदेशों के कुछ विनिश्चयों का हवाला दिया जाए जिनमें यूनाइटेड स्टेट्स के सुप्रीम कोर्ट के विनिश्चय भी होंगे। यहां हम यह मत व्यक्त करना चाहते हैं कि हमारे संविधान के प्रवर्तकों के ध्यान में जापान के अलावा कनाडा, आस्ट्रेलिया, आयरलैण्ड, यू० एस० ए० तथा स्विटजरलैण्ड के संविधान मुख्य रूप से थे। अनुच्छेद 368 की सम्पूर्ण स्कीम तथा भाषा उन देशों के संविधानों में आने वाले संशोधन सम्बन्धी उपबन्धों से बिल्कुल भिन्न है। उदाहरण के लिए यू० एस० ए०, आयर, आस्ट्रेलिया, स्विटजरलैण्ड तथा जापान में जनता को, किसी न किसी रीति में, संशोधन की प्रक्रिया में सीधे शामिल किया गया है। जब तक कि संशोधन करने वाली धारा अथवा अनुच्छेद की पूरी स्कीम को ध्यान में न रख लिया जाए, किसी अन्य देश के संविधान में "संशोधन करना" अथवा "संशोधन" शब्दों के प्रयोग का आश्रय लेना बिल्कुल कल्पित अथवा आनुमानिक होगा। भारत में संसद् निश्चित रूप से लोगों की प्रतिनिधि है। किन्तु इसी प्रकार ऊपर जिन देशों का उल्लेख किया गया है उनकी संसदें भी लोगों की प्रतिनिधि हैं, तथापि वहां प्रस्थापित विधि के सीधे निर्वाचकों द्वारा कन्वेन्शन अथवा लोकमतसंग्रह अथवा प्रस्तुतिकरण द्वारा अनुसमर्थन के लिए उपबन्ध किया गया है। उस अर्थ का पता चलाने के लिए जिसका कि दोनों पक्षकारों ने अवलम्ब लिया था एक अन्य रीति यह है कि उन विभिन्न भाषणों के प्रति निर्देश किया जाए जो स्वर्गीय

प्रधानमंत्री पण्डित जवाहर लाल नेहरू तथा संविधान के मुख्य निर्माता स्वर्गीय डा० बी० आर० अम्बेदकर द्वारा संविधान सभा में दिए गए थे। उनके भाषणों की परीक्षा करने से जो स्थिति पैदा होती है उससे कोई स्पष्ट तथा निश्चायक परिणाम नहीं निकलता है। उनके भाषणों से यह दिखाई देता है कि हमारा संविधान संशोधनीय संविधान है और इसके बारे में अधिक अनम्यता (रिजिडिटी) आशयित नहीं थी। पण्डित नेहरू ने कई बार इस बात पर जोर दिया कि जब कि यह संविधान एक ठोस और स्थायी संरचना के रूप में होना अभिप्रेत है, तथापि इस संविधान में कोई स्थायीपन नहीं है और कुछ नमनीयता होनी ही चाहिए, अन्यथा इससे राष्ट्र की प्रगति समाप्त हो जाएगी। डा० अम्बेदकर ने वर्तमान अनुच्छेद 32 के तत्स्थानी अनुच्छेद 25 के प्ररूप पर विचार करते समय यह कहा था कि जिस सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अनुच्छेद के बिना यह संविधान अकृत हो जाएगा और जो संविधान की स्वयं आत्मा है और उसका हृदय है वह भी यही अनुच्छेद है। किन्तु बाद में जो उन्होंने कहा उससे ऐसा प्रतीत होता है कि यह सुझाव मिलता है कि स्वयं उस अनुच्छेद का भी संशोधन किया जा सकता था और प्रत्यर्थियों का तो यह कहना है कि उसे निराकृत भी किया जा सकता है। इस दृष्टांत से यह दर्शित होता है कि 'संशोधन' शब्द के निर्वचन के प्रयोजन के लिए इन भाषणों के प्रति निर्देश करने से कोई निश्चायक स्थिति पैदा नहीं होती है।

प्रत्यर्थियों की ओर से दी गई इस दलील को स्वीकार करना सम्भव नहीं है कि संशोधन का केवल एक ही अर्थ हो सकता है। इस शब्द अथवा अभिव्यक्ति के कई अर्थ हैं और उसमें इसके सही अर्थ का अवधारण अनुच्छेद 368 के संदर्भ में तथा प्रयुक्त अर्थान्वयन के अन्य अनुज्ञात साधनों से सहायता लेकर करना होगा। निस्सन्देह उसमें निर्वचन तथा अर्थान्वयन के जाने-माने सिद्धान्तों को तो ध्यान में रखना ही होगा, विशेष रूप से संविधान जैसी लिखत के सम्बन्ध में। संविधान का अर्थान्वयन किसी संकुचित तथा शास्त्रीय अर्थों में नहीं किया जाना होता है। जिन पर इसके निर्वचन का कर्त्तव्य हो उन्हें चाहिए कि वे एक व्यापक तथा उदार भावना से प्रेरित होते रहें। मु० न्या० ग्वायर ने(1) न्या० हिगिन्स के, जो कि आस्ट्रेलिया के उच्च न्यायालय के न्यायाधिपति थे, शब्दों को जो कि अटर्नी जनरल फॉर न्यू साउथ वेल्स बनाम ब्रूवर एम्पलॉइज यूनियन ऑफ न्यू साउथ वेल्स (2) के विनिश्चय में प्रयुक्त किया गया था, अपनाया था। उक्त मत के अनुसार यद्यपि किसी संविधान के शब्दों का निर्वचन, निर्वचन के उन्हीं सिद्धान्तों के आधार पर किया जाना होता है जो किसी विधि को लागू किए जाते हैं, तथापि, निर्वचन के इन्हीं सिद्धान्तों से यह अपेक्षा की जाती है कि उनमें यह स्मरण रखते हुए कि 'यह एक संविधान है, एक ऐसी प्राविधि है जिसके अधीन विधियां बनाई जानी होती हैं और यह कोई अधिनियम मात्र नहीं है जो यह घोषित करता हो कि क्या विधि अपनाई जानी है"(3) अधिनियम के स्वरूप तथा परिधि को ध्यान में रखा जाए। यह आवश्यक है कि विनिश्चय

---

(1) सी० पी० एण्ड बरार सेल्स ऑफ मोटर स्प्रिट एण्ड मोटर लुब्रीकेण्ट्स टैक्सेशन ऐक्ट, 1938 का मामला—(1939) एफ० सी० आर० 18.

(2) (1908) 6 सी० एल० आर० 469, 611, 612.

(3) (1939) एफ० सी० आर० 18, 37.

संविधान के शब्दों पर ही निर्भर हो क्योंकि किन्हीं भी दो संविधानों के उपबन्ध समान शब्दों में नहीं होते हैं। उन्हीं विद्वान् मुख्य न्यायाधिपति ने यह कहा था कि 'सामान्य शब्दों में शक्ति का अनुदान अपने आप में निस्सन्देह व्यापक अर्थ में लिया जाएगा, किन्तु उसे उसी अधिनियमिति में संदर्भ की विवक्षा द्वारा और अन्य अभिव्यक्त उपबन्धों द्वारा और ऐसे आधारों द्वारा भी सीमित किया जा सकता है जो उस स्थिति से उत्पन्न होते हैं जो अधिनियम की सामान्य स्कीम मात्र प्रतीत होती है'(1)। जेम्स बनाम कॉमनवेल्थ ऑफ आस्ट्रेलिया(2) में लार्ड राईट के सम्प्रेक्षण भी फेडरल कोर्ट ऑफ इण्डिया के पूर्ववर्ती निर्णय में पृष्ठ 73 पर उद्धृत किए गए थे—

> "तो प्रश्न अर्थान्वयन का है और अन्तिम विश्लेषण में इसका अवधारण उन शब्दों के आधार पर करना होगा जो वस्तुतः प्रयोग में लाए गए हैं और उनका परिशीलन संदर्भ के अनुसार करना होगा, किन्तु यह इस प्रकार से जैसे कि वे शब्द एक संश्लिष्ट लिखत में आते हैं जहां कि एक भाग किसी अन्य भाग पर प्रकाश डाल सकता है। संविधान को परिसंघीय (फेडरल) संविदा के रूप में वर्णित किया गया है और यह आवश्यक है कि अर्थान्वयन ऐसा हो कि उसके सभी भागों के बीच संतुलन बना रहे।"

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि और संविधान की संयोजना के अलावा, प्रस्तावना का सदैव प्रयोग किया गया है और यदि "संशोधन" शब्द के एक से अधिक अर्थ हैं तो ऐसा किया जा सकता है। लार्ड ग्रीन ने बिडी बनाम जनरल एक्सीडेण्ट, फायर एण्ड लाइफ एश्योरेन्स कॉरपोरेशन(3) में यह कहा था कि शब्दों का निर्वचन असम्बद्ध रूप में कदापि नहीं किया जाना चाहिए क्योंकि अंग्रेजी भाषा में ऐसे शब्द कदाचित् ही होंगे जिनका कि स्वाभाविक अथवा मामूली अर्थ हो, अर्थात् उन्हें इस प्रकार पढ़ा जा सके कि उनका अर्थ उनके संदर्भ से बिल्कुल स्वतन्त्र हो। जिस पद्धति को उन्होंने बेहतर माना था वह यह नहीं थी कि विशिष्ट शब्दों को ले लिया जाए और उनका प्रथम दृष्टया ऐसा अर्थ मान लिया जाए जिसे कि विस्थापित अथवा उपांतरित करना पड़ सके। स्वयं उनके अपने शब्दों में, "कानून" (स्टेट्यूट) का परिशीलन पूरे रूप में करना होगा और अपने आप से यह प्रश्न पूछना चाहिए कि—

> "इस दशा में, इस संदर्भ में, इस विषयवस्तु के सम्बन्ध में उस शब्द का सही अर्थ क्या है?"

पहले हम अपने संविधान की प्रस्तावना पर विचार करेंगे। संविधान बनाने वालों ने प्रस्तावना को गौरवमय स्थान दिया था। उसमें सत्यनिष्ठा के रूप में उन सभी आदर्शों तथा आकांक्षाओं को सन्निविष्ट किया गया था जिनके लिए देश ने ब्रिटिश साम्राज्य के दौरान संघर्ष किया था और यह ईप्सा की गई थी कि संविधान को भारतीय जनता के प्रतिभा (जीनियस) के अनुसार अधिनियमित किया जाए। इसमें निश्चित रूप से उन स्कीमों तथा आदर्शों को प्रतिनिधि रूप दिया गया है जो कि अन्य देशों के संविधानों

---

(1) यथोपरि पृष्ठ 42.
(2) (1936) ए० सी० 578, 613.
(3) (1948) 2 आल इंग्लैण्ड रिपोर्ट्स 995, 998.

में से अपनाए गए हैं। किन्तु संविधान के प्रत्येक अनुच्छेद में जो निरन्तर स्वर सर्वत्र मिलता है वह प्रस्तावना में प्रतिबिम्बित होता है और उसे पवित्र रूप दिया जा सकता था और अब भी दिया जा सकता है। यह बात महत्त्वहीन नहीं है कि प्रस्तावना केवल तब पारित की गई थी जब कि संविधान के अनुच्छेद के प्रारूपणों को ऐसे रूपांतरणों के साथ स्वीकार कर लिया गया था, जिनका कि संविधान सभा ने अनुमोदन किया था। इसलिए प्रस्तावना से यह अभिप्रेत था कि वह थोड़े से तथा सुपरिभाषित शब्दों में संविधान के अवबोध के आधार को सन्निविष्ट करेगी।

यहां उन विभिन्न प्रक्रमों का हवाला देना अनुदेशात्मक होगा जिनमें से कि प्रस्तावना, संविधान सभा द्वारा अन्त में अंगीकृत किए जाने से पूर्व गुजरी थी। संघ के संविधान के पूर्ववर्ती प्रारूप में प्रस्तावना किंचित औपचारिक ही थी। जिस प्रस्तावना का प्रारूप बी० एन० राव ने तैयार किया था वह इस प्रकार थी—

> "हम, भारत के लोग, सामान्य हित को अग्रसर करने के लिए, अपने चुने हुए प्रतिनिधियों द्वारा, इस संविधान को अधिनियमित, अंगीकृत तथा आत्मार्पित करते हैं।"

संघ संविधान समिति ने बी० एन० राव की प्रस्तावना के प्रारूप को अनन्तिम रूप से अस्वीकार कर दिया और 4 जुलाई, 1947 की अपनी रिपोर्ट में उस प्रक्रम पर इस पारस्परिक मान्यता के साथ बिना किसी परिवर्तन के उसे यहां दे दिया कि प्रस्तावना अन्तिम रूप में उद्देश्यों के संकल्प पर आधारित होगी।

18 जुलाई, 1947 को पण्डित नेहरू ने एक कथन में यह मत व्यक्त किया कि प्रस्तावना काफी हद तक उद्देश्यों के संकल्प के अन्तर्गत आती है और यह आशयित था कि उसे अन्तिम संविधान में सन्निविष्ट कर लिया जाएगा। तीन दिन बाद, संघ संविधान समिति की रिपोर्ट को पेश करते समय उन्होंने यह सुझाव दिया कि उस प्रक्रम पर प्रस्तावना पर विचार करने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि सभा उद्देश्यों के संकल्प में अधिकथित मूलभूत सिद्धान्तों द्वारा बाध्य है और उन्हें बाद में प्रस्तावना में सन्निविष्ट किया जा सकता है। इस सुझाव को स्वीकार कर लिया गया और प्रस्तावना पर आगे विचार स्थगित कर दिया गया।

प्रारूपण समिति ने फरवरी, 1948 में अपनी अनेक बैठकों में प्रस्तावना पर विचार किया। समिति ने उद्देश्यों के संकल्प के उस भाग को निकाल दिया जिसमें यह घोषणा की गई थी कि भारत के राज्यक्षेत्र स्वायत्त इकाइयों की प्रास्थिति धारण करेंगे और साथ ही उन्हें अवशिष्ट शक्तियां भी प्राप्त होंगी। इस समय तक यह राय बन गई थी कि एक मजबूत केन्द्र हो जिसे अवशिष्ट शक्तियां भी प्राप्त हों। प्रारूपण समिति ने यह महसूस किया कि प्रस्तावना नए राज्य के आवश्यक लक्षणों तथा उसके आधारभूत सामाजिक एवं राजनैतिक उद्देश्यों को परिभाषित करने तक ही सीमित हो और जिन अन्य बातों पर संकल्प में विचार किया गया है उनके बारे में संविधान के अधिष्ठायी भागों में उपबन्ध करना अधिक उचित होगा। तदनुसार उसने एक ऐसी प्रस्तावना का प्रारूप बनाया जो कि सारवान् रूप से ऐसी ही थी जैसी कि वह अब है।

इसी बीच भारतीय राज्यों के बारे में एक महत्वपूर्ण प्रगति हुई। भारतीय राज्यों के विलय तथा एकीकरण की प्रक्रिया के पूरा होने के साथ-साथ यह सिद्धान्त

स्वीकार कर लिया गया था कि (i) प्रभुत्वसम्पन्न शक्तियां लोगों में निहित होंगी, तथा (ii) उनके संविधानों की रचना संविधान सभा द्वारा की जानी चाहिए और वे नए संविधान का समाहित भाग होनी चाहिएं। 12 अक्तूबर, 1949 को सरदार पटेल ने सभा में यह घोषणा की कि नया संविधान प्रजाजनों तथा राजवंशों के बीच संधि के रूप में नहीं होगा जो जनता की प्रभुसत्ता की मूल धारणा पर बनाए गए हों।

प्रस्तावना के प्रारूप पर सभा ने 17 अक्तूबर, 1949 को विचार किया। सभा के अध्यक्ष ने यह स्पष्ट किया कि प्रस्तावना को अन्त में रखने का उद्देश्य यह है कि वह संविधान के स्वीकृत रूप के अनुकूल हो। इस प्रक्रम पर विभिन्न संशोधनों का सुझाव रखा गया किन्तु उन्हें नामंजूर कर दिया गया। इन संशोधनों में से एक सुझाव यह था कि उसमें "परमात्मा के नाम पर" (इन दि नेम ऑफ गाड) शब्दों को अंतःस्थापित किया जाए। उसे इस आधार पर नामंजूर कर दिया गया कि यह धर्म की स्वतंत्रता के अनुकूल नहीं था जिसका कि न केवल स्वयं प्रस्तावना में वचन दिया गया था बल्कि जिसके बारे में मूल अधिकार के रूप में भी गारण्टी दी गई थी।

संविधान सभा में एक यह संशोधन रखा गया कि इसे संदेहातीत रूप में स्पष्ट कर दिया जाए कि प्रभुसत्ता जनता में निहित है। इसे इस संक्षिप्त आधार पर नामंजूर कर दिया गया कि प्रस्तावना का जिस प्रकार प्रारूपण किया गया है उससे इसके सिवाय कोई अन्य अर्थ नहीं निकलता है कि संविधान लोगों से उत्पन्न होता है और इस संविधान को बनाने की प्रभुसत्ता उन्हीं में निहित है।

प्रारूपण के इतिहास और प्रस्तावना के अन्तिम अंगीकरण से यह दर्शित होता है—

(1) कि वह संविधान की पूर्वगामी नहीं थी, जैसा कि यूनाइटेड स्टेट्स कॉन्स्टिट्यूशन की प्रस्तावना के बारे में कहा गया है;

(2) कि उसे अन्त में संविधान के भाग के रूप में अंगीकृत किया गया था;

(3) कि उसमें सन्निविष्ट सिद्धान्त मुख्य रूप से उद्देश्यों के संकल्प में से लिए गए थे;

(4) प्रारूपण समिति ने यह महसूस किया कि वह उसमें नए राज्य के आवश्यक लक्षणों को सन्निविष्ट करे;

(5) कि उसमें इस मौलिक अवधारणा को सन्निविष्ट किया गया था कि प्रभुसत्ता जनता में निहित है।

इस बात को समझने के लिए कि प्रस्तावना अनुच्छेद 368 में प्रयुक्त 'संशोधन' शब्द के अर्थ का पता लगाने में हमारी किस प्रकार सहायता करेगी, हम पुनः प्रत्यर्थियों द्वारा दी गई दलील पर ध्यान देते हैं कि संशोधन करने वाला निकाय संविधान के किसी भी उपबन्ध में परिवर्तन, फेरफार या निरसन कर सकता है और उसे अधिनियमित कर सकता है तथा उस प्रक्रिया को पूर्ण निरसन तथा निराकरण को छोड़कर, सम्पूर्ण संविधान पर लागू कर सकता है। प्रत्यर्थियों की ओर से यह दलील दी गई है कि संशोधन करने की शक्ति के आधार पर स्वयं प्रस्तावना में भी फेरफार, परिवर्तन या निरसन

किया जा सकता है। किन्तु श्री पालखीवाला ने इस दलील का समर्थन करने के लिए, प्रस्तावना पर अत्यधिक बल दिया कि "संशोधन" का ऐसा व्यापक अर्थ सम्भव नहीं है जिसका दावा प्रत्यर्थियों द्वारा किया गया है और कुछ ऐसी परिसीमाएं हैं जो कि संशोधन करने की शक्ति के प्रयोग में विद्यमान हैं और इसलिए 'संशोधन' पद का अर्थान्वयन उन परिसीमाओं के प्रकाश में किया जाना चाहिए। यह कहा गया है कि सांविधानिक संरचना के सभी तत्त्व प्रस्तावना में पाए जाते हैं और संशोधन करने वाला निकाय उन आवश्यक तत्त्वों का निरसन अथवा निराकरण नहीं कर सकता है क्योंकि यदि उनमें से कोई भी निकाल लिया जाए तो जिस प्रकार ढांचे का निर्माण किया गया है उसका गिर जाना निश्चित है।

महाराष्ट्र के विद्वान् महाधिवक्ता ने यह कहा है कि स्वयं प्रस्तावना संदिग्धार्थी है और ऐसी स्थिति में उससे कोई सहायता प्राप्त नहीं की जा सकती। आगे यह दलील दी है कि प्रस्तावना में जिन अवधारणाओं का वर्णन किया गया है, जैसे कि 'व्यक्ति की गरिमा', 'सामाजिक तथा आर्थिक न्याय', वे अस्पष्ट हैं और विभिन्न विचारधाराओं द्वारा उनकी अवधारणाओं के बारे में भिन्न-भिन्न रूप से कल्पना की गई है। हम इस दलील को स्वीकार करने में पूर्णतया असमर्थ हैं। प्रस्तावना को एक लम्बे विचार-विमर्श के पश्चात् अन्तिम रूप दिया गया था और इसे इसीलिए अन्त में अंगीकृत किया गया था कि उसमें उन मूलभूत बातों को सम्मिविष्ट किया जा सके जो संविधान की संरचना में अन्तर्निहित हैं। यह सही है कि सामाजिक तथा आर्थिक न्याय जैसी अवधारणाओं के बारे में भिन्न-भिन्न विचारधाराएं हो सकती हैं, किन्तु संविधान बनाने वालों को इस बात का ज्ञान था कि उन अवधारणाओं से उनका क्या अभिप्राय था और उन्होंने उन्हें कार्यान्वित करने की दृष्टि से ही भाग 3 (मूल अधिकार) तथा भाग 4 (राज्य की नीति के निदेशक तत्त्व) अधिनियमित किए थे। ये दोनों ही मौलिक प्रकृति के हैं और इनमें उन्होंने भावी सरकारों के लिए मार्ग-दर्शक सिद्धान्त अधिकथित करके एक ओर व्यक्ति को आधारभूत स्वतन्त्रताएं और दूसरी ओर सामाजिक सुरक्षा, न्याय तथा शोषण से मुक्ति दी थी।

हमारे न्यायालय की दृष्टि मार्गदर्शन के लिए, निरन्तर प्रस्तावना की ओर लगी रही है और उसने संविधान अथवा अन्य विधियों का निर्वचन करते समय उसे सर्वश्रेष्ठ पद दिया है। इसके प्रतिबहराम खुरशीद पसीकाका वाले मामले में(1) इस रूप में ही निर्देश किया गया था। न्या० भगवती ने बशेश्वरनाथ बनाम आयकर आयुक्त(2) में किसी मूल अधिकार के अधित्याग के उपबन्ध पर विचार करते समय प्रस्तावना के प्रति निर्देश किया था और मूल अधिकारों की घोषणा की सृष्टि के प्रति निर्देश किया था जिसका स्रोत 1928 की नेहरू कमेटी की रिपोर्ट में मिलता है। उन्होंने आगे यह कहा था कि "जिस उद्देश्य को प्राप्त करने की कोशिश की गई थी वह उसी रूप में है जैसे कि संविधान की प्रस्तावना में कथन किया गया है ...."। केरल एजुकेशन बिल, 1957 के मामले (3) में इस न्यायालय ने प्रस्तावना का विस्तृत रूप से हवाला दिया और यह मत व्यक्त किया था कि मूल अधिकारों का उपबन्ध प्रस्तावना में उपवर्णित

(1) (1955) 1 एस० सी० आर० 613, 653.

(2) (1959) सप्लीमेण्ट 1 एस० सी० आर० 528.

(3) (1959) एस० सी० आर० 995.

सर्वोच्च प्रयोजन को कार्यान्वित करने और सुदृढ़ बनाने के लिए किया गया था। न्यायालय ने केरल एजुकेशन बिल, 1957 के विभिन्न उपबन्धों की विधिमान्यता के बारे में राय व्यक्त करते समय "हमारे संविधान की प्रेरणादायक तथा उत्कृष्ट रूप से अभिव्यक्त की गई प्रस्थापना" शब्दों का प्रयोग किया था। इस न्यायालय के निर्णयों में से और ऐसे उद्धरण देना अनावश्यक है जिनमें कि प्रस्तावना को अलंघ्य प्रायः स्थान दिया गया है और विधायी उपबन्धों का निर्वचन करने के प्रयोजन के लिए उसका अवलम्ब लिया गया है या उनके प्रति निर्देश किया गया है। दूसरे देशों में भी, जिनमें कि विधिशास्त्र की समान प्रणाली का अनुसरण किया जाता है, किसी संविधान में अंतर्निहित सांविधानिक सिद्धान्तों को ढूंढ निकालने के लिए प्रस्तावना के प्रति निर्देश किया गया है। रैंकस बनाम हैल(1) में यह कहा गया था—

> "इसके अतिरिक्त मैं यह निष्कर्ष निकालता हूं कि बी० एन० ए० ऐक्ट, 1867 की प्रस्तावना का आरम्भिक पैरा में जिसमें कि ऐसे संविधान के लिए उपबन्ध किया गया है जो सैद्धान्तिक रूप से युनाइटेड किंगडम के संविधान के समान है, तद्द्वारा समान सांविधानिक सिद्धान्त अपनाए गए हैं और इसलिए धारा 1025-ए कनाडा के संविधान के प्रतिकूल है और वह जहां तक उसके अधिनियमित किए जाने का सम्बन्ध है, संसद् अथवा किसी भी प्रान्तीय विधानमण्डल की सक्षमता के बाहर तब तक है जब तक कि हमारा संविधान सांविधानिक लोकतन्त्र के अपने प्रस्तुत रूप में बना रहता है।"

स्विट्ज़मैन बनाम फ्रेडा एल्बलिंग एण्ड अटर्नी जनरल ऑफ दि प्राविन्स ऑफ क्यूबक(2) में न्या० ऐबट ने मु० न्या० डफ के उन सम्प्रेक्षणों का अवलम्ब लिया था जो कि उन्होंने अलबरटा स्टेट्यूट्स के मामले (3) में पूर्ववर्ती विनिश्चय में किए थे जिनकी कि अटर्नी जनरल फॉर अल्बरटा बनाम अटर्नी जनरल फॉर कनाडा(4) में पुष्टि की गई थी। वह मत यह था कि ब्रिटिश नार्थ अमरीका ऐक्ट की प्रस्तावना से यह काफी स्पष्ट रूप से दर्शित होता है कि डोमिनियन का संविधान सैद्धान्तिक रूप से युनाइटेड किंगडम के संविधान के समरूप होगा। स्टेट्यूट में एक ऐसी संसदीय कार्यकरण की कल्पना की गई जो लोक-मत तथा सामाजिक विचार-विमर्श के प्रभाव के अधीन हो। मैक्कॉले बनाम किंग(5) लार्ड बर्कनहेड (लार्ड चान्सलर) ने इस दलील की जांच करते हुए कि कांस्टिट्यूशन ऐक्ट ऑफ 1867 (क्वीन्सलैण्ड, आस्ट्रेलिया) द्वारा ऐसी प्रकृति के कुछ मौलिक रचनात्मक उपबन्ध अधिनियमित किए गए थे जिनसे संविधान अपरिवर्तनीय अथवा नियन्त्रित हो गया था, आगे पृष्ठ 711 पर निम्नलिखित मत व्यक्त किया—

> "यह आधार के रूप में माना जा सकता है कि यदि इतना महत्वपूर्ण परिवर्तन करने की कल्पना की गई होती तो स्वाभाविक रूप से यह आशा की जा

(1) (1949) डोमिनियन लॉ रिपोर्ट्स 199, 208.
(2) (1959) कनाडा लॉ रिपोर्ट्स 285, 326 (सुप्रीम कोर्ट).
(3) (1938) एस० सी० आर० 100 (कनाडा).
(4) (1939) ए० सी० 117.
(5) [1920] ए० सी० 691.

सकती थी कि विधानमण्डल इस अधिनियम की प्रति विस्तृत प्रस्तावना में इस आशय का संकेत करता। यह देखा गया है कि ऐसी किसी दस्तावेज या विलेख की ओर संकेत करना असम्भव है जिससे कि कांस्टिट्यूशन ऑफ क्वीन्सलैण्ड को सन् 1867 से पूर्व यह विशेषता प्रदान की गई हो या अधिरोपित की गई हो। तथापि माननीय न्यायाधीशों को इस बात का संकेत नहीं मिला है कि इसका आशय पहली बार ऐसे उपबन्ध करने का है जो अलंघ्य है अथवा वे कम से कम ऐसे हैं जिनका रूपान्तरण ऐसी पद्धति से किया जा सकता है जिसकी अपेक्षा पहले कभी भी नहीं की गई थी।"

बेरुबारी यूनियन एण्ड एक्सचेंज ऑफ एन्क्लेव्स के मामले (1) में यह दलील दी गई थी कि प्रस्तावना में यह आधारतत्व स्पष्ट रूप से प्रस्तुत किया गया था कि भारत का समस्त राज्य-क्षेत्र संसद् की पहुंच के बाहर था और उस पर न तो मामूली विधायन द्वारा और न ही सांविधानिक संशोधन द्वारा प्रभाव डाला जा सकता था। न्यायालय ने उस दलील को पराकोटि की दलील माना और निम्नलिखित प्रस्थापनाएं निर्धारित कीं—

1. संविधान की प्रस्तावना उसके निर्माताओं के विचारों को स्पष्ट करने का काम देती है और वह उन सामान्य प्रयोजनों को दर्शित करती है जिनके लिए कि उन्होंने संविधान में विभिन्न उपबन्ध बनाए थे।

2. प्रस्तावना हमारे संविधान का भाग नहीं है।

3. यह उन विभिन्न शक्तियों का स्रोत नहीं है जो संविधान के उपबन्धों के अधीन सरकार को प्रदत्त की गई हैं।

4. ऐसी शक्तियां उन शक्तियों को समाविष्ट करती हैं जिन्हें संविधान के निकाय में अभिव्यक्त रूप से अनुदत्त किया गया है और इस प्रकार उनकी विवक्षा उन शक्तियों से की जा सकती है जो अनुदत्त की गई हैं।

5. शक्तियों के बारे में जो कुछ भी सही है वह प्रतिषेधों तथा परिसीमाओं के बारे में भी उतना ही सत्य है।

6. प्रस्तावना में इस धारणा का संकेत नहीं किया गया था कि प्रस्तावना का प्रथम भाग प्रभुता के अत्यन्त महत्वपूर्ण विशिष्ट गुणों में से एक गुण पर एक अत्यन्त गम्भीर परिसीमा को आधारतत्त्व के रूप में माना जाता है, अर्थात् सन्धि करने की राज्य की प्रभुशक्ति के प्रयोग के परिणामस्वरूप राज्य क्षेत्र को अध्यर्पित करना तथा राज्य क्षेत्र के किसी भाग को अध्यर्पित करने का परिणाम।

प्रत्यर्थियों की ओर से इस मामले का अवलम्ब इस प्रस्थापना के लिए लिया गया है कि प्रस्थापना के आधार पर किसी परिसीमा के होने का अर्थ नहीं लगाया गया था। निर्णय को ध्यानपूर्वक पढ़ने से यह दर्शित होता है कि खण्डन इस दलील का किया गया था कि प्रस्तावना शक्ति का स्रोत थी। वास्तव में यह अभिनिर्धारित किया गया था कि प्रस्तावना संविधान का भाग ही नहीं है और शक्ति तथा उसकी परिधि को संविधान के उपबन्धों में ढूंढना चाहिए। इस निष्कर्ष का आधार यह था कि प्रस्तावना शक्ति का स्रोत नहीं है क्योंकि वह संविधान का भाग नहीं है। महाराष्ट्र के विद्वान् महाधिवक्ता ने

(1) (1960) 3 एस० सी० आर० 250.

स्वयं पूर्वोक्त निर्णय में दिए गए इस निष्कर्ष पर आपत्ति की है कि प्रस्तावना संविधान का भाग नहीं है। यह साबित हो चुका है कि इसे संविधान सभा ने समस्त संविधान के अंगीकृत कर लिए जाने के पश्चात् अपनाया था।

श्री पालखीवाला ने इस बात का एक विलक्षण स्पष्टीकरण दिया है कि प्रस्तावना को हमारे संविधान का भाग क्यों नहीं माना जा सकता है। उन्होंने संविधान की अवधारणा तथा संविधान के परिणामों की अवधारणा में भेद दर्शित किया है। श्री पालखीवाला के अनुसार, प्रस्तावना के अन्तिम शब्दों 'इस संविधान को' से वह संविधान अभिप्रेत है जो प्रस्तावना के पश्चात् आरम्भ होता है। यह अनुच्छेद 1 से शुरू होता है और मूल रूप में उसका अन्त अष्टम अनुसूची पर होता था और अब वह प्रथम संशोधन अधिनियम, 1951 के पश्चात् नवम अनुसूची पर समाप्त होता है। इससे यह निष्कर्ष निकालने की कोशिश की गई है कि जिस प्रकार से इस प्रस्तावना का प्राक्रपण किया गया है उससे यह संकेत मिलता है कि प्रस्तावना के पश्चात् जो कुछ है या जो कुछ उससे संलग्न है वह भारत का संविधान है। आगे यह दलील दी गई है कि—

> "भारत का सांविधानिक स्टेट्यूट दो भागों में है ·········एक तो प्रस्तावना और दूसरा संविधान। प्रस्तावना सांविधानिक स्टेट्यूट का भाग है, किन्तु वह संविधान का भाग नहीं है। वह उससे पूर्व आती है। प्रस्तावना 26 नवम्बर, 1949 को, न कि 26 जनवरी, 1950 को जैसी कि प्रत्यर्थी संख्या 1 की ओर से दलील दी गई है, प्रवृत्त हुई थी।"

प्रस्तावना में इस बात का स्पष्ट रूप से उल्लेख किया गया है कि भारत के लोगों ने 26 नवम्बर, 1949 को यह संविधान आत्मार्पित किया था। यद्यपि प्रस्तावना वस्तुतः संविधान सभा द्वारा एक पश्चात्वर्ती दिन को अंगीकृत की गई थी, कोई भी प्रस्तावना में किए गए इस कथन को प्रश्नगत नहीं कर सकता है कि संविधान उसमें बताई गई तारीख को प्रवृत्त हुआ था। स्वयं प्रस्तावना के बारे में एक विधिक कल्पना द्वारा यह माना जाना चाहिए कि वह 26 नवम्बर, 1949 को ही प्रवृत्त हो गई थी। यद्यपि यह निष्कर्ष मान्य हो सकता है, ऐसा प्रतीत नहीं होता है कि वह संविधान बेरुबारी वाले मामले([1]) में व्यक्त किए गए इस मत का पर्याप्त रूप से समर्थन करता है कि प्रस्तावना संविधान का भाग नहीं थी। हमारे विचार में इस बात से कोई खास फर्क नहीं पड़ता कि प्रस्तावना संविधान का भाग है या नहीं। प्रस्तावना से कई महत्वपूर्ण प्रयोजन सिद्ध होते हैं। एक तो इसमें उस स्रोत का संकेत मिलता है जिससे कि संविधान उद्भूत हुआ है अर्थात् 'भारत के लोग'। इसके बाद इसमें अधिनियमन खण्ड अन्तर्विष्ट है जो संविधान को प्रवृत्त करता है। तीसरे, इसमें उन महान अधिकारों तथा स्वतंत्रताओं की घोषणा की गई है जिन्हें भारत के लोगों ने सभी नागरिकों के लिए सुनिश्चित बनाने की ईप्सा की थी और इसमें उस मौलिक रूप की सरकार तथा नीति की घोषणा की गई है, जिसकी स्थापना की जानी थी। यदि संविधान के किसी उपबन्ध का निर्वचन करना हो और यदि उसमें प्रयुक्त अभिव्यक्तियां संदिग्धार्थी हों, तो प्रस्तावना निश्चित रूप से इस विषय में मूल्यवान मार्गदर्शन प्रस्तुत करेगी, विशेष रूप से वहां जहां कि अनुच्छेद 368 द्वारा

([1]) (1960) 3 एस० सी० आर० 250.

प्रदत्त की जाने के लिए आशयित शक्ति की सही व्याप्ति, परिधि तथा विस्तार का प्रश्न हो।

प्रत्यर्थियों की ओर से अपनाई गई यह स्थिति कि स्वयं प्रस्तावना में फेरफार, परिवर्तन अथवा उसका निरसन किया जा सकता है एक असाधारण स्थिति है। साधारण कानूनों के बारे में यह सही हो सकती है, किन्तु ऐतिहासिक पृष्ठभूमि तथा उद्देश्यों के संकल्प के प्रकाश में, जो कि प्रस्तावना का आधार गठित करते हैं, और उस आधारभूत स्थान को ध्यान में रखते हुए जो कि हमारे संविधान में प्रस्तावना का है, इसे कायम रखना सम्भव नहीं है। यह भारत के इतिहास में एक युगान्तरकारी घटना है और ऐतिहासिक तथ्य के रूप में यह उपवर्णित करती है कि भारत के लोगों ने अपनी भावी विधि को ढालने के लिए क्या संकल्प किया था। यह सोचा भी नहीं जा सकता है कि संविधान के निर्माताओं ने कभी किसी ऐसे प्रक्रम की कल्पना की थी जब यह मांग की जा सकेगी कि स्वयं प्रस्तावना को ही निराकृत अथवा विलुप्त कर दिया जाए।

यदि प्रस्तावना में हमारे संविधान के आधारभूत अंग अन्तर्विष्ट हैं तो देखना यह है कि क्या अनुच्छेद 368 में "संशोधन" शब्द का ऐसा अर्थान्वयन किया जाना चाहिए कि संविधान का संशोधन करने की शक्ति के बल पर अनन्यता की पूर्ण रूप से समाप्ति होने दी जा सकती है अथवा उन मौलिक तथ्यों का उल्लंघन किया जा सकता है अथवा उन्हें छीना जा सकता है जिन पर कि सांविधानिक ढांचा खड़ा किया गया है। यूनाइटेड स्टेट्स कांस्टिट्यूशन की प्रस्तावना पर विचार करते हुए स्टोरी ने यह मत व्यक्त किया था (कमेण्ट्रीज ऑन दि कांस्टिट्यूशन ऑफ दि यूनाइटेड स्टेट्स, 1833 संस्करण, खण्ड I) की प्रस्तावना को सूत्रावली मात्र के रूप में नहीं अपनाया गया था बल्कि एक आधारभूत तथ्य के सत्यनिष्ठ प्रख्यापन के रूप में अपनाया गया था जो कि सरकार के स्वरूप तथा कार्यकलाप के लिए मार्मिक था। इसका सही कर्तव्य उन शक्तियों की प्रकृति और विस्तार तथा लागू होने का प्रतिपादन करना है जो संविधान द्वारा प्रदत्त की गई है, न कि उनका सारवान् रूप से सृष्टि करना (1)।

अब हम संविधान के अनुच्छेद 368 में प्रयुक्त "संशोधन" शब्द के निर्वचन पर, प्रस्तावना में अन्तर्विष्ट घोषणाओं तथा कथनों के प्रभाव की जांच करेंगे। भारत के लोगों ने जो प्रथम संकल्प किया था वह यह था कि अपने देश को प्रभुत्व-सम्पन्न लोकतंत्रात्मक गणराज्य के रूप में गठित किया जाएगा। इस बात का कोई भी सुझाव नहीं दे सकता है कि ये शब्द तथा अभिव्यक्तियां किसी भी प्रकार से संदिग्धार्थी हैं। उनका सही अर्थ तथा भाव इतना सुविदित है कि इसमें संदिग्धार्थता का कोई भी प्रश्न नहीं उठता है। अब प्रश्न यह पैदा होता है कि क्या अनुच्छेद 368 में प्रयुक्त "संशोधन" या "संशोधित" शब्दों का ऐसा निर्वचन किया जा सकता है कि संशोधन करने वाले निकाय को यह शक्ति प्रदत्त की जा सके कि वह हमारी राजनीति की इन तीन मौलिक तथा आधारभूत विशेषताओं को छीन सके। क्या यह कहा जा सकता है अथवा इस बात का सुझाव दिया जा सकता है कि संशोधन करने वाला निकाय हमारे संविधान द्वारा सृष्ट की गई संस्थाओं को लोकतंत्रात्मक के स्थान पर अलोकतंत्रात्मक बना सकता है; अथवा राष्ट्रपति के पद

(1) स्टोरी, पैरा 462 पृष्ठ 445.

को समाप्त कर सकता है और उसकी बजाय राज्य का कोई और अध्यक्ष बना सकता है जो "गणराज्य" की अवधारणा में ठीक न बैठता हो। प्रत्यर्थियों की ओर से जिस शक्ति का दावा किया गया है उसका विस्तार इतना अधिक है कि प्रस्तावना के उपर्युक्त भाग को भी विनष्ट किया जा सकता है, जिसका परिणाम यह होगा कि भारत प्रभुत्व सम्पन्न लोकतंत्रात्मक गणराज्य ही नहीं रह जाएगा और वह ऐसी राजनीति अपना सकेगा जिसमें प्रभुता, लोकतंत्र तथा गणराज्य का स्वरूप ही न रहे।

किसी ने भी इस बात का सुझाव नहीं दिया है—किसी द्वारा सुझाव के दिए जाने की बात सोची भी नहीं जा सकती है—कि संशोधन करने वाला निकाय अनुच्छेद 368 के अधीन कार्यवाही करते हुए हमारे देश में ऊपर बताई गई बातों में से कोई भी बात कदापि करेगा, अर्थात् संविधान में ऐसी तब्दीली कर सकेगा कि वह प्रभुत्व-सम्पन्न लोकतंत्रात्मक गणराज्य ही नहीं रह जाए। किन्तु इस शक्ति के विस्तार की जांच करते समय इसकी अधिकतम तथा न्यूनतम परिसीमाओं पर और उसकी समस्त परिधि तथा परिमाण पर ध्यान देना आवश्यक है और इसी प्रयोजन के लिए इस पहलू की जांच की जा रही है। सांविधानिक उपबन्ध, जिसके बल पर इस शक्ति का दावा किया गया है, उसकी परिधि तथा विस्तार का विश्लेषण करते समय इस बात का बिल्कुल कोई महत्व नहीं है कि क्या इस बात की कोई सम्भावना है कि ऐसी स्थिति कभी पैदा होगी अथवा नहीं।

श्री पालखीवाला ने हाल के इतिहास में अनेक देशों का उदाहरण दिया जहां लोकतंत्रात्मक संविधान में से संशोधन शक्ति का ऐसा प्रयोग किया गया कि उस देश को सर्वथा अलोकतंत्रात्मक बना दिया गया जिसके परिणामस्वरूप एक दल अथवा अल्पतंत्र का शासन स्थापित करके लोकतंत्र का विनाश कर दिया गया। इन उदाहरणों तथा दृष्टान्तों से हम बिल्कुल भी प्रभावित नहीं हुए हैं। जो प्रश्न हमारे सामने हैं उनका विनिश्चय करने में हम यह नहीं चाहते कि हम राजनीतिक क्षेत्र में चले जाएं क्योंकि हमारा यह विचार है कि वह न्यायपालिका की सीमाओं के बाहर है और इस परम्परा का इस न्यायालय द्वारा निरन्तर अनुसरण किया जाता रहा है। (देखिए न्या० वांचू—जैसे वे तब थे—गोलक नाथ के मामले में) (1)।

चूंकि स्वयं प्रत्यर्थियों ने इतने अधिक परिमाण में शक्तियों का दावा किया है कि जिन परिणामों का संक्षेप में उल्लेख किया गया है वे परिणाम ऐसे अन्य परिणामों के अलावा निकल सकते हैं जिनकी हम अभी चर्चा करेंगे, इसलिए जैसा कि इस न्यायालय द्वारा कई बार किया गया है सम्भावित अर्थान्वयन के परिणामों और प्रभाव को दृष्टि में रखना होगा। जहां दो प्रकार से अर्थान्वयन सम्भव हों, वहां न्यायालय के लिए यह आवश्यक है कि वह उस अर्थान्वयन को अपनाए जो संविधान के अबाध तथा सामंजस्यपूर्ण कार्यकरण को सुनिश्चित बनाता हो और दूसरे अर्थान्वयन का परित्याग करे जिसके परिणामस्वरूप अर्थहीनता या व्यावहारिक कठिनाई पैदा होती है अथवा जिससे विद्यमान विधि के सुस्थिर उपबन्ध निरर्थक हो जाते हैं (2)।

---

(1) (1967) 2 एस० सी० आर० 762, 850.

(2) पंजाब राज्य बनाम अजायब सिंह (1953) एस० सी० आर० 254, 264.

ऑन जॉन फ्रांसिस डग्लस लियांगे बनाम क्वीन(1) में लार्ड पीयर्सन ने सीलोन कांस्टिट्यूशन की धारा 29(2) के शब्दों का ऐसा अर्थ लगाने से इन्कार कर दिया था कि वह संसद् को यह अधिकार देती है कि वह ऐसा विधान पारित कर सकेगी जो कुछ लोगों के विरुद्ध ऐक्ट ऑफ एटेण्डर पारित करके न्यायपालिका (ज्युडिकेचर) की न्यायिक शक्ति को अनधिकार रूप से छीन लेता है अथवा किसी न्यायाधीश को ऐसा अनुदेश देने के लिए कि वह किसी ऐसे व्यक्ति के विरुद्ध दोषी होने का निर्णय दे जिसका विचारण किया जा रहा हो—यदि विधि के अनुसार ऐसा अनधिकार रूप से हस्तगतकरण अन्यथा संविधान के विरुद्ध हो।

मैक्सवेल कृत इण्टरप्रिटेशन ऑफ स्टेट्यूट्स (12वां संस्करण) का अध्याय 5 सीमित निर्वचन की बाबत है और सर्वप्रथम खण्ड में इस प्रश्न पर विचार-विमर्श किया गया है कि क्या अपनाए जाने वाले किसी अर्थान्वयन विशेष के परिणामों पर विचार किया जा सकता है और इंग्लैण्ड में विनिश्चित किए गए मामलों में से परिणामों के प्रति निर्देश से उदाहरण दिए गए हैं। अमेरिकन ज्यूरिसप्रुडेंस, खण्ड 50, 1962 रीप्रिण्ट, पृष्ठ 372 तथा 373 के अनुसार, ऐसे मामले भी हैं जिनमें किसी अर्थान्वयन विशेष के परिणाम प्रश्न के सही हल के बारे में स्वतः निश्चायक होते हैं।

महाराष्ट्र के विद्वान् महाधिवक्ता ने यह दलील दी है कि किसी संशोधन करने वाले उपबन्ध का अर्थान्वयन करने का सही तरीका यह है कि किसी ऐसे अनुमान पर विचार किया जाए कि उसके द्वारा प्रदत्त शक्तियों का दुरुपयोग होगा। यह कहा गया है कि किसी विधि के विधिमान्य होने का विनिश्चय करने वाला कोई न्यायालय आतिशयिक कल्पनात्मक उदाहरणों पर विचार नहीं कर सकता है अथवा यह उपधारणा नहीं कर सकता है कि कोई उत्तरदायी विधान शक्ति का अतिशय प्रयोग करेगा (2)।

श्री पालखीवाला के अनुसार किसी शक्ति की सही व्यापकता की परख यह नहीं है कि यह कहां तक सम्भाव्य है कि इसका प्रयोग किया जाएगा बल्कि यह है कि उसके अधीन क्या करना सम्भव है। शक्ति का दुरुपयोग अथवा कुप्रयोग सर्वथा असंगत है। शक्ति के विस्तार का प्रश्न उसके प्रयोग के प्रश्न में शामिल नहीं किया जा सकता है और जब वास्तविक प्रश्न शक्ति की व्यापकता के सम्बन्ध में हो तो यह प्रत्याशा कि उसका प्रयोग कदापि नहीं किया जाएगा उतनी ही असंगत है जितना कि उसके प्रयोग किए जाने का सम्भाव्य खतरा। न्यायालय इस बात का विनिश्चय नहीं करता है कि सर्वोत्तम क्या है और निकृष्ट क्या है। वह तो केवल इस बात का विनिश्चय करता है कि यदि किसी शक्ति को प्रदत्त करने वाले शब्दों का ऐसा अर्थान्वयन किया जाए कि उनमें अनियन्त्रित तथा असीमित व्यापकता विद्यमान है, जैसा कि प्रत्यर्थियों की ओर से दावा किया गया है, तो उस शक्ति के अधीन क्या करना सम्भव है।

प्रत्यर्थियों की ओर से दी गई इस दलील को स्वीकार करना कठिन है कि किसी संविधान में अन्तर्विष्ट संशोधन करने की शक्ति की व्यापकता के प्रति निर्देश से परिणामों पर विचार करते समय उसके दुरुपयोग का कोई प्रश्न अन्तर्वलित होता है। किसी संविधान अथवा स्टेट्यूट में किसी विशिष्ट उपबन्ध की बुद्धिमत्ता अथवा नीति के प्रश्न

(1) (1967) 1 ए० सी० 259.

(2) बैंक ऑफ टोरोण्टो बनाम लाम्बे—(1887) 12 ए० सी० 575, 586-87.

पर विचार करना न्यायालयों का काम नहीं है। यह काम तो संविधान बनाने वालों अथवा संसद् का या विधानमण्डल का है। किन्तु यह सुस्थिर है कि इस शक्ति की व्यापकता के बारे में विनिश्चय करते समय वास्तविक परिणामों पर विचार किया जा सकता है। न्यायालय उन परिणामों की उपेक्षा नहीं कर सकता है जो कि किसी विशिष्ट अर्थान्वयन से, शक्ति अनुदत्त करने सम्बन्धी उपबन्धों की परिसीमाओं को अभिनिश्चित करते समय, निकल सकते हैं। विद्वान् महाधिवक्ता के अनुसार, हमारे संविधान की प्रस्तावना में भारत के लोगों का उसे प्रभुत्वसम्पन्न, लोकतंत्रात्मक गणराज्य में गठित करने का संकल्प केवल एक आशय सम्बन्धी घोषणा है जो 1947 में की गई थी और संशोधित करने वाला निकाय अब अनुच्छेद 368 के अधीन इस बात के लिए स्वतन्त्र है कि वह प्रभुत्वसम्पन्न लोकतंत्रात्मक गणराज्य को किसी अन्य किस्म की राजनीति में बदल सके। इससे अपने आप यह दर्शित होता है कि उक्त अनुच्छेद द्वारा प्रदत्त शक्ति की परिधि और विस्तार का पता चलाने के लिए उसमें आने वाले महत्वपूर्ण शब्दों का जो अर्थ लगाया जाना ईप्सित है उसे स्वीकार करने के क्या परिणाम होंगे।

अब प्रस्तावना के दूसरे भाग पर विचार किया जाएगा। प्रभुत्वसम्पन्न लोकतन्त्रात्मक गणराज्य का गठन सभी नागरिकों के लिए उन उद्देश्यों को सुनिश्चित बनाना है जिनका उल्लेख किया गया है। उन उद्देश्यों की प्राप्ति संविधान का ताना-बाना है और उसकी सारी स्कीम में वह व्याप्त है। जब कि सबसे अधिक इष्ट स्वतन्त्रताओं और अधिकारों की गारण्टी दी गई है, सरकार पर यह सत्यनिष्ठ कर्तव्य आरोपित किया गया है कि वह निदेशक तत्वों को कार्यान्वित करे। भाग 3 और 4, जो उन्हें समाविष्ट करते हैं, दोनों में संतुलन और सामंजस्य स्थापित करना होगा—केवल तभी व्यक्ति की गरिमा प्राप्त की जा सकती है। भाग 3 और 4 को प्रस्तावना के मुख्य उद्देश्यों को कार्यान्वित करने के लिए ही अधिनियमित किया गया था। सरकार के तीन मुख्य अंग विधानमण्डल, कार्यपालिका तथा न्यायपालिका हैं और उनके कृत्यशील होने की सम्पूर्ण प्राविधि की रचना प्रस्तावना के उद्देश्यों, उसमें वर्णित राजनीति की प्रकृति और समेकित तथा स्वतन्त्र भारत की जो महान झांकी देखी गई थी उसके प्रकाश में की गई थी जिसमें कि प्रत्येक व्यक्ति चाहे वह ऊंचा हो या नीचा, उस सब का भागी होगा जिसे प्राप्त किया जा सकता है। इसलिए हमें उस पृष्ठभूमि का उल्लेख करना होगा जिसमें भाग 3 और 4 अधिनियमित किए गए थे क्योंकि वे निश्चित रूप से संविधान का आधारभूत तत्त्व गठित करते हैं जिसके बिना उसकी अनन्यता बिल्कुल ही बदल जाएगी।

ब्रिटिश साम्राज्य के विरुद्ध स्वतन्त्रता के लिए जो महान संघर्ष हुआ था उससे लेकर स्वतन्त्रता प्राप्ति तक की पृष्ठभूमि पर विस्तृत रूप से विचार करना सम्भव नहीं है। ब्रिटिश कार्यपालिका के मनमाने कार्य, विचारण के बिना नजरबन्दी तथा निवासन (डिपोर्टेशन्स) और प्रेस तथा व्यक्ति की स्वतन्त्रता पर अवरोध भारतीय इतिहास के प्रत्येक छात्र के लिए इतने सुविदित हैं कि उनका विशेष रूप से उल्लेख करने की कोई आवश्यकता नहीं है। यह स्थिति उस समय की है जब ब्रिटिश सामान्य विधि तथा विधि शास्त्र पर आधारित कोई आवश्यक अधिकार अभी विभिन्न संसदीय अधिनियमितियों में सन्निविष्ट नहीं किए गए थे। बी० एन० राव[1] के अनुसार, कुछ अपवादों के साथ मानव अधिकारों

(1) ईयर बुक ऑफ ह्यूमन राइट्स 1947.

को संविधान (गवर्नमेंट ऑफ इण्डिया ऐक्ट) द्वारा प्रत्याभूत नहीं किया गया था। शिव राव ने अपने मूल्यवान अध्ययन(1) में 1895 से लेकर 'कांस्टिट्यूशन ऑफ इण्डिया बिल/के पारित होने तक, जिसे इण्डियन नेशनल कांग्रेस द्वारा विरचित किया गया था और जिसमें एक ऐसे संविधान की कल्पना की गई थी जिसमें बहुत सी स्वतन्त्रताओं तथा अधिकारों की गारण्टी दी गई थी, विभिन्न प्रक्रमों का उल्लेख किया है। बाद में दो ऐसी घटनाएं हुईं जिनका भारतीय नेताओं पर निश्चायक प्रभाव पड़ा। एक तो कांस्टिट्यूशन ऑफ आइरिश फ्री स्टेट में 1921 में मूल अधिकारों की सूची का शामिल किया जाना है और दूसरा अल्पसंख्यकों की समस्या है।(2)

तत्पश्चात् 1928 में नेहरू कमेटी की रिपोर्ट, मार्च 1931 में कराची सत्र में इण्डियन नेशनल कांग्रेस के सत्र में संकल्प का दुहराया जाना और, कुछ ब्यौरों को न देते हुए, आल इण्डिया पार्टीज कांफ्रेंस द्वारा नियुक्त सप्रू कमेटी के विचार-विमर्श (1944-45) आते हैं। 1946 में ब्रिटिश कैबिनेट मिशन ने, अन्य बातों के साथ-साथ, मूल अधिकारों के सम्बन्ध में रिपोर्ट देने के लिए एक सलाहकार समिति के स्थापित किए जाने की सिफारिश की थी। इससे पूर्व कि 22 जनवरी, 1947 को बनाए गए उद्देश्यों के संकल्प का हवाला दिया जाए, यह स्मरणीय है कि यूरोप में, विशेष रूप से पश्चिमी जर्मनी में युद्धोत्तर कालावधि में विधि सम्बन्धी विचारधारा में एक आधारभूत पूर्वाभिमुखीकरण (ओरियेनटेशन) देखा गया था जिसमें वस्तुनिष्ठावाद (पाजिटिविज्म) का त्याग कर दिया गया था जो वस्तुनिष्ठावादी विधि सम्बन्धी चिंतन के प्रभाव के अधीन था, युद्धपूर्व काल में, अधिकतर जर्मन संविधानों में न्यायिक पुनर्विलोकन का उपबन्ध नहीं किया गया था जो कि वीमर (Weimar) संविधान में सर्वथा नहीं था, यद्यपि ह्यूगो प्रूस (Hugo Preuss) ने, जिसे प्रायः संविधान का संस्थापक माना जाता है, इसके शामिल किए जाने पर जोर दिया था। दूसरे विश्व युद्ध के पश्चात् जब कि वस्तुनिष्ठावादी सिद्धांतों के विनाशक परिणाम महसूस किए गए थे तो कुछ ऐसे सिद्धान्त बनाने के पक्ष में प्रतिक्रिया हुई जिनमें कि संशोधन अथवा निराकरण से उन्मुक्ति मिलती हो। फैडरल रिपब्लिक ऑफ जर्मनी के संविधान में ऐसा ही किया गया। इन विषयों पर विचार करते समय, दूसरे विश्वयुद्ध के दौरान किए गए अत्याचारों तथा मानव अधिकारों के लिए विश्वव्यापी संघर्ष को, जिन्हें अन्ततोगत्वा यू० एन० डिक्लेरेशन ऑफ ह्यूमन राइट्स में समाविष्ट कर दिया गया था, नहीं भूलना चाहिए, जिनके आधार पर हमारे संविधान के भाग 3 तथा 4 के अनेक उपबन्धों की रचना की गई है। ग्रेट ब्रिटेन में भी जहां कि संसद् की विधिक प्रभुता का सिद्धान्त अर्सकीन, ब्लैकस्टोन, आस्टिन तथा अन्त में डाइसी के समय से लेकर व्याप्त रहा है, न्यायिक विनिश्चयों में नया झुकाव यह अभिनिर्धारित करता है कि विधानमण्डल की विधायी शक्तियों पर कम-से-कम प्रक्रिया सम्बन्धी परिसीमाएं (स्वरूप तथा रीति सम्बन्धी अपेक्षाएं) तो हो ही सकती हैं।(3) उद्देश्यों के संकल्प में अन्य बातों के साथ-साथ यह दृढ़ तथा सत्यनिष्ठ संकल्प किया गया था कि

(1) फ्रेमिंग ऑफ इण्डियाज कांस्टिट्यूशन (आर० शिव राव).

(2) यथोपरि पृष्ठ 172.

(3) मूरा बनाम अटर्नी जनरल फॉर दि आयरिश फ्री स्टेट—(1935) ए० सी० 484. अटर्नी जनरल फॉर न्यू साउथ वेल्स बनाम ट्रेथोवान—(1932) ए० सी० 526.

भारत को एक स्वतंत्र प्रभुत्वसम्पन्न गणतंत्र के रूप में उद्घोषित किया जाएगा और उसके भावी शासन के लिए एक संविधान तैयार किया जाएगा। अवशिष्ट शक्तियां राज्यों में निहित की गई थीं। प्रभुत्वसम्पन्न स्वतंत्र भारत उसके संघटक भागों तथा सरकार के अंगों की समस्त शक्ति तथा प्राधिकार लोगों से लिए गए थे और यह कथन किया गया था —

> "(5) जिसमें कि भारत के सभी लोगों को सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक न्याय विधि के समक्ष प्रास्थिति तथा अवसर की समता और विधि के समक्ष समता; विधि और लोक नीति के अध्यधीन विचार, अभिव्यक्ति, आस्था, विश्वास, उपासना, उपजीविका, संस्था तथा कार्य की स्वतंत्रता की गारण्टी दी जाए और उन्हें सुनिश्चित बनाया जाएगा; तथा
>
> (6) जिसमें कि अल्पसंख्यकों, पिछड़े हुए तथा आदिमजातीय क्षेत्रों और दलित तथा अन्य पिछड़े हुए वर्गों के लिए पर्याप्त रक्षोपायों के लिए उपबन्ध किया जाएगा; तथा
>
> (7) जिसके द्वारा गणराज्य के क्षेत्र और भूमि, समुद्र तथा वायु में उसके प्रभुत्वसम्पन्न अधिकारों की अखण्डता को न्याय तथा सभ्य राष्ट्रों की विधि के अनुसार बनाए रखा जाएगा; तथा"

यह स्मरणीय है कि जहां तक अल्पसंख्यकों का सम्बन्ध है कैबिनेट मिशन ने 6 मई, 1946 को ब्रिटिश संसद् को दी गई अपनी रिपोर्ट में केवल तीन मुख्य समुदाय माने थे—सामान्य, मुस्लिम तथा सिख। सामान्य समुदाय में वे सभी शामिल थे जो गैर मुसलमान अथवा गैर सिख थे। मिशन ने यह सिफारिश की थी कि संविधान सभा द्वारा एक सलाहकार समिति की स्थापना की जाए जो नागरिकों, अल्पसंख्यकों आदिमजातीय लोगों तथा अपवर्जित क्षेत्रों के अधिकारों की रचना करे। कैबिनेट मिशन के कथन में वस्तुतः केवल दो बातों के अधीन रहते हुए भारतीय लोगों को प्रभुत्व सौंपे जाने के लिए उपबन्ध किया गया था, अर्थात्— (1) शक्ति के अंतरण से पैदा होने वाले विषयों को अंतर्वलित करने के लिए हिज मैजिस्टि की सरकार के साथ संधि करने की रजामन्दी, तथा (2) अल्पसंख्यकों के संरक्षण के लिए पर्याप्त उपबन्ध। उपर्युक्त तथा उद्देश्यों के संकल्प के पैरा 5 तथा 6 के परिणामस्वरूप संविधान सभा ने 24 जनवरी, 1947 को एक सलाहकार समिति का गठन किया। इस समिति में हिन्दुओं के अलावा मुसलमानों, पीड़ित वर्गों अथवा अनुसूचित जातियों, सिखों ईसाइयों, पारसियों, आंग्ल-भारतियों आदिमजातीय लोगों तथा अपवर्जित क्षेत्रों के प्रतिनिधि शामिल किए जाने थे। ऐतिहासिक तथ्य के रूप में यह कहना उचित होगा कि 11 मई, 1949 को हुई एक बैठक में अनुसूचित जातियों से भिन्न अल्पसंख्यकों के लिए सभी आरक्षणों की समाप्ति के लिए एक संकल्प को सलाहकार समिति के सदस्यों के भारी बहुमत से पूरे दिल से समर्थन प्राप्त हुआ था। जहां तक अनुसूचित जातियों का सम्बन्ध है यह महसूस किया गया था कि उनकी विशिष्ट स्थिति के कारण उनके लिए 10 वर्ष की कालावधि के लिए विशेष आरक्षण आवश्यक होंगे। यह कहना गलत नहीं होगा कि अल्पसंख्यकों के पृथक् प्रतिनिधित्व का, जो कि पूर्ववर्ती संविधानों का एक लक्षण रहा था और जिसके कारण पर्याप्त साम्प्रदायिक तनाव तथा संघर्ष देखने में आया था, मूल अधिकारों तथा अल्पसंख्यक

अधिकारों की प्रत्याभूति के प्रतिफलस्वरूप, जिसे नए संविधान में सन्निविष्ट करने का विनिश्चय किया गया था, संयुक्त निर्वाचक मण्डलों के पक्ष में, त्याग कर दिया गया था। उद्देश्यों के संकल्प को एक ऐसे ऐतिहासिक तथ्य के रूप में माना जा सकता है जिससे कि उसके स्वरूप तथा प्रकृति की रचना की गई थी। चूंकि प्रस्तावना की भाषा स्वयं संकल्प में से ली गई थी, इसलिए प्रस्तावना में यह घोषणा कि भारत एक ऐसा प्रभुत्वसम्पन्न लोकतंत्रात्मक गणराज्य होगा जो अपने सभी नागरिकों को न्याय, स्वतंत्रता तथा समता सुनिश्चित करेगा संविधान के भाग 3 और 4 में तथा अन्य उपबन्धों में कार्यान्वित की गई थी। ये न केवल संविधान के आवश्यक तत्त्व थे, बल्कि ऐसी मूल शर्तें थीं जिन पर तथा जिनके आधार पर विभिन्न समूहों तथा हितों द्वारा संविधान को अंगीकृत किया गया था क्योंकि प्रस्तावना में यह आशा व्यक्त की गई थी कि एक एकीभूत, समाहित समुदाय की सृष्टि की जा सकेगी (1)। ब्राइबरि कमिश्नर बनाम रंडुक राणासिंघे(2) में प्रिवी काउन्सिल के विनिश्चय पर, इस प्रश्न पर आधारित दोनों ही पक्षों द्वारा दिए गए विस्तृत तर्कों को ध्यान में रखते हुए, अधिक विस्तार से विचार-विमर्श करना होगा। किन्तु अभी केवल यह कहना ही आवश्यक है कि उपर्युक्त भाषा मुख्य रूप से लार्ड पियर्स के निर्णय में से ली गई है, जिन्होंने सीलोन कांस्टिट्यूशनल आर्डर की धारा 29 की रचना करने के पश्चात् जिससे कि संसद् को द्वीप की शांति, व्यवस्था तथा सुशासन के लिए विधियां बनाने की शक्ति दी गई थी, खण्ड (2) के बारे में, जिसके अनुसार कोई भी विधि किसी धर्म के स्वच्छंद प्रयोग को प्रतिषिद्ध या निर्बन्धित नहीं कर सकती है, यह कहा था—

> "इसके बाद (बी), (सी) तथा (डी) आते हैं जिनमें अतिरिक्त गम्भीर धार्मिक तथा वंशज विषय उपवर्णित किए गए हैं जो कि विधायन का विषय नहीं होंगे। वे सीलोन के नागरिकों के बीच अधिकारों के सत्यनिष्ठ संतुलन को, उन मूल शर्तों को जिन पर कि उन्होंने परस्पर रूप से संविधान को स्वीकार किया था, निरूपित करते हैं और इसलिए ये संविधान के अधीन अप्रवर्तनीय हैं।"

इस सम्बन्ध में एक अन्य विरोधी मत रेगुलेशन एण्ड कण्ट्रोल आफ एयरोनॉटिक्स इन कनाडा वाले मामले (3) में, ब्रिटिश नार्थ अमेरिका ऐक्ट, 1867 का निर्वचन करते समय व्यक्त किया गया था। यह कहा गया था कि चूंकि अधिनियम में एक ऐसा समझौता सन्निविष्ट था जिसके अधीन मूल प्रान्त परिसंघ बनाने के लिए सहमत हो गए थे। इसलिए यह बात ध्यान में रखना महत्वपूर्ण है कि अल्पसंख्यकों के अधिकारों का परिरक्षण एक ऐसी शर्त थी जिस पर ऐसे अल्पसंख्यक परिसंघ (फैडरेशन) में शामिल हुए थे और यह ऐसा आधार था जिस पर कि संपूर्ण ढांचा बाद में खड़ा किया गया था।

हमारे संविधान का स्वरूप परिसंघीय (फैडरल), न कि एकात्मक (यूनिटरी) है। परिसंघीय ढांचे में संघ तथा राज्य दोनों का ही अस्तित्व अत्यावश्यक है और न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति भी समान रूप से आवश्यक है।

---

(1) कांस्टिट्यूएण्ट एसेम्बली डिबेट्स, वाल्यूम 2 पृष्ठ 330-349.

(2) (1965) ए० सी० 172, 193-194.

(3) (1932) ए० सी० 54, 70.

डाइसी के अनुसार (1)—

"परिसंघीय राज्य अपना अस्तित्व संविधान से उसी प्रकार ग्रहण करता है जैसे कि कोई निगम अपना अस्तित्व ऐसे अनुदान से प्राप्त करता है जिसके द्वारा उसकी सृष्टि की गई हो। अतः प्रत्येक शक्ति—कार्यपालक, विधायी अथवा न्यायिक— चाहे वह राष्ट्र की हो अथवा विभिन्न राज्यों की, संविधान के अधीनस्थ है तथा उसके द्वारा नियंत्रित है।"

जिस उद्देश्य के लिए परिसंघीय राज्य का गठन किया जाता है उसमें राष्ट्रीय सरकार तथा अलग अलग राज्यों के बीच प्राधिकार का विभाजन अन्तर्वलित होता है। परिसंघवाद (फैडूलिज्म) केवल ऐसे समुदायों में पनप सकता है जिनमें विधि की भावना कूट-कूट कर भरी हो और जिन्हें विधि का सत्कार करने का प्रशिक्षण मिला हो। डाइसी के अनुसार स्विट्जरलैण्ड का परिसंघवाद न्यायालयों के उस सम्पूर्ण प्राधिकार को बनाए रखने में, जो कि निर्बाध परिसंघीय प्रणाली के लिए आवश्यक है, वहीं असफल हो जाता है जहां कि उसके असफल होने की आशा की जा सकती है (2)। महाराष्ट्र के विद्वान् महाधिवक्ता ने अपने अन्य मुद्दों के समर्थन में डाइसी की सुविदित कृति का पर्याप्त रूप से अवलम्ब लेते हुए यह निवेदन किया है कि यद्यपि डाइसी इंग्लैण्ड के संविधान सम्बन्धी विधि के प्रमुख लेखकों में से थे उनकी पुस्तक केवल दो या तीन मार्गदर्शक सिद्धान्तों से ही सम्बद्ध थी जो कि इंग्लैण्ड के आधुनिक संविधान में व्याप्त है। उनकी पुस्तक में परिसंघीय सरकार की चर्चा एक गौण भाग था और उस चर्चा का उद्देश्य परिसंघीय सरकार के संविधान में अन्तर्निहित भिन्न-भिन्न सिद्धान्तों के साथ इंग्लैण्ड संविधान के दो या तीन मार्गदर्शक सिद्धान्तों में प्रभेद करके स्पष्ट करना था। प्रोफेसर वियर की पुस्तक में किए गए इस कथन का अवलम्ब लिया गया है कि स्विट्जरलैण्ड के न्यायालयों से संविधान द्वारा यह अपेक्षा की गई है कि वे परिसंघीय सभा द्वारा पारित सभी विधियों को विधिमान्य समझें यद्यपि उनमें कैण्टोनल विधियों को शून्य घोषित किया गया हो और यह इस परिसंघीय सिद्धान्त का उल्लंघन नहीं है कि स्विट्जरलैण्ड के लोगों के बारे में यह नहीं माना जा सकता है कि उनका परिसंघीय संविधान है और उनकी सरकार परिसंघीय है। स्विट्जरलैण्ड सम्भवतः एकमात्र ऐसा देश है जिसका कि ऐसा परिसंघीय संविधान है जिसमें न्यायिक पुनर्विलोकन के परिपूर्ण अधिकार का उपबन्ध नहीं किया गया था। हम यह नहीं समझ पाए हैं कि जब न्यायिक पुनर्विलोकन हमारे संविधान का एक अभिन्न अंग है तो भला यह यहां कैसे सुसंगत हो सकता है।

पिटीशनरों की ओर से यह कहा गया है कि स्वयं अनुच्छेद 368 की स्कीम में इस बात के अन्तर्निहित साक्ष्य के तत्त्व विद्यमान हैं कि "संशोधन" शब्द को सीमित अर्थ दिया जाए। एक तो अनुच्छेद 368 में 'इस संविधान के संशोधन' के प्रति निर्देश किया गया है और संशोधन का परिणाम यह होगा कि 'संविधान संशोधित हो जाएगा।' चूंकि संविधान की अपनी अनन्यता होती है, इसलिए कोई संशोधन जो किसी ऐसी शक्ति के अधीन किया गया हो जिसकी शब्द-रचना अतिव्यापक स्वरूप में की गई हो, ऐसा संशोधन नहीं हो

---

(1) लॉ ऑफ दि कांस्टिट्यूशन बाइ ए० वी० डाइसी, पृष्ठ 144.

(2) यथोपरि पृष्ठ 151.

सकता है जिससे कि संविधान की प्रकृति तथा स्वरूप ही नष्ट हो जाएं। दूसरे शब्दों में, संशोधन ऐसा नहीं हो सकता है जिससे कि संविधान से उसकी अनन्यता ही छीन ली जाए। संशोधन करने की शक्ति संसद् के दोनों सदनों को प्रदत्त की गई है जिनकी अनन्यता संविधान के उपबन्धों द्वारा स्पष्ट रूप से साबित होती है। यह निश्चित रूप से प्रभुत्व-सम्पन्न लोकतंत्रात्मक गणराज्य की संसद् ही होनी चाहिए। किसी भी संसद् को संशोधन करने की ऐसी शक्ति प्राप्त नहीं है, बल्कि यह शक्ति केवल उस संसद् को प्राप्त है जिसकी सृष्टि संविधान द्वारा की गई है। दूसरे शब्दों में, यह आवश्यक है कि वह प्रभुत्वसम्पन्न तथा लोकतंत्रात्मक गणराज्य की संसद् बनी रहे। राज्यों की संस्था भी आवश्यक रूप से बनी रहनी चाहिए जिससे कि वे परन्तुक के अधीन आने वाली दशाओं में संशोधन करने की शक्ति के साथ सहयोजित बनी रहें। यदि प्रत्यर्थियों का कहना सही है, तो इस परन्तुक को पूर्ण रूप से विलुप्त किया जा सकता है क्योंकि स्वयं अनुच्छेद 368 संशोधित किया जा सकता है। यह अनुच्छेद 368 की स्कीम के बिल्कुल विरुद्ध होगा क्योंकि परन्तुक में आने वाले उपबन्धों का संशोधन करने के लिए दो अभिकरणों की व्यवस्था की गई है। एक अभिकरण संशोधन करने की शक्ति का स्वयं प्रयोग करके दूसरे अभिकरण को नष्ट नहीं कर सकता। अनुच्छेद 368 के संशोधन की बाबत संशोधन करने की असीमित शक्ति का प्रभाव संविधान की रक्षा के लिए सहायक नहीं हो सकता है क्योंकि स्वयं संशोधन करने की शक्ति भी छीनी जा सकती है और संविधान एक असम्भव बहुमत के लिए उपबन्ध करके असंशोधनीय अथवा लगभग असंशोधनीय बनाया जा सकता है।

उपर्युक्त दलीलों की परीक्षा करते समय यह आवश्यक है कि प्रत्यर्थियों के इस दावे पर विचार किया जाए कि अनुच्छेद 368 के अधीन संशोधन करने वाले निकाय को पूर्ण संविधायी शक्ति प्राप्त है। यह सुझाव दिया गया है कि ऐसे अवसर पर जब संसद् के दोनों सदनों द्वारा अनुच्छेद 368 में अधिकथित प्रक्रिया का अनुसरण किया जाता है और राष्ट्रपति द्वारा मंजूरी दी जाती है, तब संविधान सभा के कार्यों को दोहराया जाता है। दूसरे शब्दों में, संसद् उक्त अनुच्छेद के अधीन संशोधन की शक्ति का प्रयोग करते समय उसी हैसियत में कार्यवाही करती है जैसे कि संविधान सभा। इस दलील में उस स्वीकृति पर ध्यान नहीं दिया गया है जो प्रत्यर्थियों की ओर से की गई थी अर्थात् यह कि सम्पूर्ण संविधान को संशोधन निकाय द्वारा निरसित अथवा निराकृत नहीं किया जा सकता है। यह निर्विवाद है कि ऐसी संविधान सभा को, जो उस प्रयोजन के लिए विशेष रूप से आयोजित की गई हो, संविधान का पूर्णतया पुनरीक्षण, निरसन अथवा निराकरण करने की शक्ति होगी। इससे यह दर्शित होता है कि अनुच्छेद 368 के अधीन संशोधन करने वाले निकाय को वही शक्तियां प्राप्त नहीं हो सकती हैं जो कि संविधान सभा को प्राप्त हैं। यदि यह मान भी लिया जाए कि विधि को अधिनियमित करने तथा उसका संशोधन करने के बीच शक्ति की प्रकृति के प्रति निदेश किया गया है, तो भी दोनों ही शक्तियां संविधान में से ही ली गई हैं। संशोधन करने वाले निकाय की सृष्टि स्वयं संविधान द्वारा की गई है। वह केवल उन शक्तियों का प्रयोग कर सकता है जो उसमें निहित की गई हैं और जब उस शक्ति की अपनी सीमाएं हों तो उसका प्रयोग केवल उन सीमाओं के भीतर ही किया जा सकता है।

प्रत्यर्थियों ने यह स्थिति अपनाई है कि यदि अनुच्छेद 368 के, जैसे कि वह मूल रूप में था, अधीन शक्ति कुछ हद तक सीमित थी तो भी उस शक्ति का परन्तुक के खण्ड (ङ) के आधार पर विस्तार किया जा सकता है। यह उल्लेखनीय है कि संशोधन करने की शक्ति अनुच्छेद 368 के प्रथम भाग में निहित है। परन्तुक का खण्ड (ङ) यह उपबन्ध करता है कि यदि अनुच्छेद 368 संशोधित किया जाता है तो ऐसे संशोधन के लिए, मुख्य भाग में उपबन्धित बृहत्तर बहुमत के अलावा राज्यों द्वारा अनुसमर्थन की अपेक्षा होती है। यदि अनुच्छेद 368 के अधीन संशोधन करने की शक्ति की कुछ सीमाएं हैं और वह असीमित नहीं है, तो अनुच्छेद 368 का संशोधन इस प्रकार नहीं किया जा सकता कि इन सीमाओं को हटा दिया जाए और न इसका संशोधन इस प्रकार ही किया जा सकता है कि संशोधन करने की प्रक्रिया में राज्यों के अधिकार को छीन लिया जाए। यदि संविधान बनाने वालों का झुकाव इस ओर था कि संविधान सभा को पूर्ण शक्ति प्रदत्त की जाए, तो इसका उपबन्ध समुचित शब्दों में आसानी से किया जा सकता था। किन्तु यदि मूल शक्ति कुछ हद तक सीमित थी तो इसे सीमित शक्ति रखने वाले निकाय द्वारा बढ़ाया नहीं जा सकता था। ऐसी स्थिति में जहां कि संशोधन करने की शक्ति व्यापक शब्दों में अभिव्यक्त की गई हो वहां भी इसका प्रयोग संविधान के ढांचे के अन्दर ही करना होगा। यह न तो संविधान का निराकरण कर सकती है और न ही नए संविधान की रचना कर सकती है; न ही वह सांविधानिक ढांचे के आवश्यक तत्वों में परिवर्तन या तब्दीली कर सकती है। इस बात को नजरअन्दाज नहीं किया जा सकता है कि हमारे संविधान का मूलभूत सिद्धान्त यह है कि *"Pouvoir Constituent"* (संविधान बनाने की शक्ति) लोगों में निहित है और उसका प्रयोग उनके लिए तथा उनकी ओर से संविधान सभा द्वारा संविधान की विरचना करने के प्रयोजन के लिए किया गया था।

यह कहना, जैसा कि प्रत्यर्थियों की ओर से कहा गया कि संविधान केवल दो प्रकार का होता है अर्थात् अनम्य अथवा नियंत्रित तथा नमनीय अथवा अनियंत्रित और उन दोनों के बीच भेद केवल संशोधन के लिए की गई व्यवस्था की प्रक्रिया की बाबत ही होता है, बात को अत्यधिक सरल ढंग से कहना है। कुछ संविधानों में संशोधन करने की शक्ति पर प्रक्रिया सम्बन्धी और/या अधिष्ठायी परिसीमाएं हो सकती हैं। प्रक्रिया सम्बन्धी परिसीमाएं विहित प्ररूप तथा रीति के रूप में हो सकती हैं जिनके गठित किए बिना कोई विधिमान्य संशोधन नहीं हो सकता है। प्ररूप तथा रीति भिन्न-भिन्न प्रकार के हो सकते हैं, जैसे कि, या तो सम्यक् विधानमण्डल के सदनों के रूप में जो संयुक्त रूप से बैठक कर सकते हैं अथवा अलग-अलग अथवा कन्वेन्शन, लोकमत-संग्रह (रिफ्रेण्डम) इत्यादि के रूप में। इन परिसीमाओं के अलावा, शक्ति की विषयवस्तु तथा परिधि के सम्बन्ध में भी परिसीमाएं हो सकती हैं। दृष्टांत के रूप में, यद्यपि यू० एस० कांस्टिट्यूशन के अनुच्छेद 5 के अधीन संशोधन करने की शक्ति अंततोगत्वा जनता में ही निहित है, तथापि उसका प्रयोग इन दोनों पद्धतियों में से किसी भी पद्धति में किया जा सकता है जो कांग्रेस द्वारा विहित की जाए, अर्थात् राज्य विधानमण्डलों द्वारा अनुसमर्थन के जरिए अथवा तत्प्रयोजनार्थ विशेष रूप से आयोजित कन्वेन्शनों के जरिए। प्रत्येक राज्य को अनुदत्त सीनेट में समान मतदान में राज्य की अनुमति के बिना कोई परिवर्तन नहीं किया जा सकता है। नियन्त्रित और अनियन्त्रित संविधान के बीच वास्तविक प्रभेद केवल

संशोधन की प्रक्रिया का भेद नहीं है, बल्कि वह इस तथ्य में है कि नियन्त्रित संविधानों में संविधान का अधिक ऊंचा दर्जा होता है और उसकी कसौटी (टचस्टोन) से विधानमण्डल तथा उसके द्वारा स्थापित किसी भी अंग द्वारा बनाई गई विधि को न्यायिक पुनर्विलोकन की प्रक्रिया के अध्यधीन किया जाता है। जहां लिखित संविधान हो जिसमें जनता में प्रभुता होने के बारे में 'प्रस्तावना' अंगीकृत की गई हो, वहां एक तो इस बात का कोई प्रश्न ही नहीं होता है कि विधि बनाने वाला निकाय प्रभुत्वसम्पन्न निकाय होगा, क्योंकि वह निकाय केवल उन शक्तियों को ही रखता है जो उसे प्रदत्त की गई हैं। दूसरे, चाहे उसका प्रतिनिधि स्वरूप कितना भी क्यों न हो उसे जनता के साथ बराबरी नहीं दी जा सकती। विशेष रूप से यह वहां होता है जहां कि संविधान में अधिकार-सूची(बिल ऑफ राइट्स) अंतर्विष्ट हो क्योंकि ऐसा सूची उस निकाय पर अवरोध लगाती है अर्थात् वह उस निकाय के जनता के समकक्ष रखे जाने का प्रत्याख्यान करता है।

अनुच्छेद 368 में "इस संविधान के संशोधन" शब्दों के निर्वचन अथवा अर्थान्वयन के प्रविषय को समाप्त करने से पूर्व, यह आवश्यक है कि अमरीका के संविधान के अनुच्छेद 5 से सम्बन्धित कुछ अमरीकी विनिश्चयों की चर्चा की जाए जिनका प्रत्यर्थियों की ओर से यह साबित करने के लिए काफी अवलम्ब लिया गया था कि 'संशोधन' शब्द का स्पष्ट तथा सुनिश्चित अर्थ है जिसका अतिव्यापक परिमाण है। प्रथम विनिश्चय अट्ठारहवें संशोधन की बाबत है और वह नैशनल प्रोहिबिशन केसेज में स्टेट ऑफ रहोड आइसलैण्ड बनाम ए० मिचल पॅलमॅट (1) के नाम से ज्ञात है। उस मामले में तथा अन्य मामलों में, जो उसके साथ सुने गए थे, नैशनल प्रोहिबिशन लॉ जिसे वोलस्टेड ऐक्ट कहा गया था और जिसे संशोधन को लागू करने के लिए अंगीकृत किया गया था के कुछ लक्षणों की बाबत अट्ठारहवें संशोधन की विधिमान्यता के सम्बन्ध में विस्तृत रूप से बहस की गई थी। प्रत्येक मामले में जिस अनुतोष की मांग की गई थी वह उस अधिनियम के निष्पादन के विरुद्ध व्यादेश दिए जाने के लिए था। न्यायालय ने केवल अपने निष्कर्षों का उल्लेख किया था और कोई आधार नहीं दिए थे और इस बात पर मु० न्या० व्हाईट ने अत्यधिक खेद व्यक्त किया था। निकाले गए निष्कर्षों तथा मु० न्या० की राय से यह प्रतीत होता है कि संशोधन की धारा 2 के बारे में बहुत कुछ विवाद था। धारा 2 इस प्रकार थी—"कांग्रेस तथा विभिन्न राज्यों को समुचित विधायन द्वारा इस अनुच्छेद को लागू करने की शक्ति होगी।" न्या० मॅकेना की विसम्मति प्रकट करने वाली राय में यह कहा गया था कि अट्ठारहवें संशोधन की सांविधानिक विधिमान्यता पर भी आक्षेप किया गया था और यद्यपि उन्होंने कुछ अन्य विषयों में विसम्मति प्रकट की थी, वे इस बारे में सहमत थे कि अट्ठारहवां संशोधन यूनाइटेड स्टेट्स के संविधान का ही भाग था। महाराष्ट्र के विद्वान् महाधिवक्ता ने इस विनिश्चय का पर्याप्त रूप से अवलम्ब लिया है। उन्होंने यह दलील दी है कि यद्यपि रहोड आइसलैण्ड वाले मामले(1) में जो निर्णय दिया गया था उसमें कोई आधार नहीं बताए गए थे फिर भी यह समझने के लिए कि क्या दलीलें दी गई थीं और विनिश्चय क्या किया गया था विभिन्न मामलों में काउन्सेल द्वारा प्रस्तुत किए गए

(1) 64 लॉयर्स एडिशन 654.

विस्तृत पक्षसार (ब्रीफ) पर तथा उनके मौखिक तर्कों पर ध्यान देना उचित होगा। एक मुख्य दलील यह दी गई थी कि अट्ठारहवां संशोधन वस्तुत: "संशोधन" नहीं था, क्योंकि संशोधन किसी ऐसे उपबन्ध का, जो संविधान में पहले से विद्यमान हो, परिवर्तन अथवा सुधार होता है और उस पद में किसी शक्ति की नई मंजूरी का परिवर्धन शामिल करना आशयित नहीं है। इस निर्णय से यह दर्शित होता है कि इस दलील को विचार करने योग्य भी नहीं समझा गया था और इसे तुरन्त रद्द कर दिया गया था। अब यह महत्त्वपूर्ण है कि अधिकतर न्यायाधिपतियों ने जिनमें मुख्य न्यायाधिपति भी थे, जिन्होंने निर्णय सुनाए थे केवल ऐसे प्रश्नों पर विचार किया था जिनका 'संशोधन' शब्द के अर्थ से कोई सम्बन्ध नहीं था। इसलिए इस निर्णय से अधिक मदद प्राप्त करना सम्भव नहीं है।

जे० जे० हिल्लों बनाम डब्ल्यू० एम० ग्लोस[1] में यह मत व्यक्त किया गया था कि अनुच्छेद 5 की परीक्षा करने से यह प्रकट होता है कि उसका आशय कांग्रेस में संशोधनों की प्रस्थापना करने के सम्बन्ध में व्यापक शक्ति निहित करना था। किन्तु व्यक्त किए गए निम्नलिखित उल्लेखनीय है और उनका अवलम्ब पिटीशनरों के इस पक्षकथन के समर्थन में लिया गया है कि युनाइटेड स्टेट्स कांस्टिट्यूशन के अनुसार स्वयं जनता ही संशोधनों के मामले में शामिल होती है। "प्रस्थापना का एक और पद्धति जिसका अभी तक आश्रय नहीं लिया गया है—उपबन्धित की गई है जो यह है कि दो-तिहाई राज्यों के आवेदन पर कांग्रेस इस प्रयोजन के लिए एक कन्वेन्शन बुलाएगी। जब दोनों पद्धतियों में से किसी एक में प्रस्तावना रखी जाती है, तो संशोधनों के प्रभावी होने के लिए उनका कांग्रेस द्वारा प्रस्तावित अनुसमर्थन की पद्धति के अनुसार तीन चौथाई राज्यों में विधानमण्डलों द्वारा अथवा कन्वेन्शन द्वारा अनुसमर्थन किया जा जाना आवश्यक है।" इस प्रकार संयुक्त राज्य अमरीका के लोगों ने जिन्होंने संविधान का आदेश दिया था तथा उसकी स्थापना की थी, उस विलेख का संशोधन करने के लिए यह शर्त रखी है कि संशोधन को विभिन्न राज्यों में प्रतिनिधि सभाओं को पेश करना होगा और तीन चौथाई राज्यों द्वारा उनका अनुसमर्थन प्राप्त करना होगा। इसका कारण यह है कि (क) सभी संशोधनों को संयुक्त राज्य अमरीका के लोगों की, जो शक्ति के मूल स्रोत हैं, प्रतिनिधि सभाओं की मंजूरी प्राप्त होनी चाहिए, तथा (ख) तीन चौथाई राज्यों का इन सभाओं द्वारा अनुसमर्थन इस बारे में निश्चायक माना जाएगा कि वह लोगों की इच्छा को अभिव्यक्त करता है और वह सभी पर आबद्धकर होगा।

यद्यपि सभी संशोधन अपेक्षित संख्या में राज्य विधानमंडलों द्वारा अनुसमर्थन की पद्धति द्वारा किए गए थे, जब अट्ठारहवें संशोधन को इक्कीसवें संशोधन द्वारा निरसित किया गया तो कन्वेन्शन की पद्धति अपनाई गई थी। एक अन्य मामले अर्थात् यूनाइटेड स्टेट्स ऑफ अमरीका बनाम विलियम एच० सोरेन एण्ड विलियम जे० हौवे [2] पर, विवक्षित परिसीमाओं के प्रश्न पर विचार करते समय, अधिक विस्तृत रूप से विचार विमर्श किया जाएगा। "संशोधन" के अर्थ के प्रयोजन के लिए इससे केवल यह स्थिर होता है कि संशोधन करने वाली शक्ति प्रदत्त करने वाले अनुच्छेद की साधारण भाषा

---

(1) 65 लॉयर्स एडिशन 994.

(2) 75 लॉयर्स एडिशन 640, 644.

पर ही ध्यान देना चाहिए और उससे बाहर नहीं जाना चाहिए। यह कहा गया था कि अनुच्छेद 5 में सिवाय इस बात के कि कोई राज्य उसकी सम्मति के बिना सीनेट में समान प्रतिनिधित्व से प्रवंचित नहीं किया जाएगा, किसी भी वर्तमान परिसीमा के बिना संशोधन द्वारा सांविधानिक परिवर्तन के लिए प्रक्रिया सम्बन्धी उपबन्ध शामिल थे। न्या० डगलस ने हॉवर्ड जोसेफ काइहिल बनाम विलसन एलकिन्स (1) में न्यायालय की राय सुनाते हुए स्पष्ट शब्दों में यह कहा था कि संविधान में अनुच्छेद 5 में संशोधन करने की प्रक्रिया द्वारा परिवर्तन की पद्धति विहित की गई है और जब कि उसे संशोधित करने की प्रक्रिया सीमित है इस बारे में कोई अवरोध नहीं है कि इस प्रकार का संशोधन पेश किया जा सकता है। इस प्रकार प्रर्थियों के काउन्सेल की ओर से मुख्य दलील यह रही है कि यूनाइटेड स्टेट्स कांस्टिट्यूशन का अनुच्छेद 5 हमारे संविधान के अनुच्छेद 368 के लिए एक प्रतिरूप का काम करता है।

अनुच्छेद 5 में संशोधन की विभिन्न पद्धतियों का उपबन्ध किया गया था। इन पद्धतियों का इस प्रकार विश्लेषण किया जा सकता है —

प्रस्थापनाएं—

(1) कांग्रेस के दोनों सदनों की दो-तिहाई द्वारा, अथवा

(2) दो-तिहाई राज्यों के विधानमण्डलों के आवेदन पर कांग्रेस द्वारा संशोधन प्रस्तुत करने के लिए किए जाने वाले कन्वेन्शन द्वारा, रखी जा सकती हैं।

प्रस्थापनाओं का अनुसमर्थन

(1) तीन चौथाई राज्यों के विधानमण्डलों द्वारा, अथवा

(2) उनके तीन चौथाई में कन्वेन्शन द्वारा (कांग्रेस द्वारा प्रस्तावित अनुसमर्थन की पद्धति के अनुकूल) करना होगा। हॉक्स बनाम स्मिथ (2) में यह प्रश्न उठाया गया था कि क्या यूनाइटेड स्टेट्स कांस्टिट्यूशन के अनुच्छेद 5 में, जो कि कांग्रेस को यह उपबन्ध करने की शक्ति देता है कि क्या अनुसमर्थन राज्य विधानमण्डलों द्वारा अथवा कन्वेन्शन द्वारा किया जाना चाहिए, तथा ओहियो के यथा संशोधित संविधान में कोई मतभेद था। सुप्रीम कोर्ट ने यह अभिनिर्धारित किया कि अनुच्छेद 5 लोगों द्वारा कांग्रेस को प्राधिकार की मंजूरी के रूप में था। अनुसमर्थन की पद्धति का अवधारण संविधान द्वारा विनिर्दिष्ट रूप से अनुदत्त राष्ट्रीय शक्ति का प्रयोग था और यह शक्ति दो पद्धतियों तक ही सीमित थी, राज्य विधानमण्डलों द्वारा अथवा कन्वेन्शन द्वारा। किन्तु अनुसमर्थन की पद्धति कांग्रेस की पसन्द पर छोड़ दी गई थी। अनुच्छेद की भाषा स्पष्ट थी और उसके निर्वचन में किसी संदेह की गुंजाइश नहीं थी।

उस मामले में ओहियो के संविधान में, संशोधन के पश्चात् भी, जिसमें कि लोकमत संग्रह के लिए उपबन्ध किया गया था, विधायी शक्ति को मुख्य रूप से साधारण सभा में जिसमें कि सीनेट तथा प्रतिनिधि सदन थे, निहित किया गया था। यद्यपि किसी राज्य की विधि

(1) 19 लॉयर्स एडिशन 228.

(2) 64 लॉयर्स एडिशन 871.

बनाने की शक्ति लोगों से प्राप्त की गई थी, परिसंघीय संविधान में प्रस्तावित संशोधन का अनुसमर्थन करने के लिए परिसंघीय शक्ति का स्रोत-उस संविधान में ही था। उस राज्य द्वारा अनुसमर्थन का कार्य अपने प्राधिकार को परिसंघीय संविधान से प्राप्त करता था। इसलिए उस प्राधिकारी का पता चलाने के लिए जिसे अनुसमर्थन करने की शक्ति प्राप्त थी, अनुच्छेद 5 का ही अवलम्ब लिया जाता था, न कि राज्य के संविधान का। अनुसमर्थन के साधनों का चुनाव विभिन्न राज्यों में परस्पर विरोधी कार्यवाही पर न छोड़कर बुद्धिमत्ता से काम लिया गया था।

प्रत्यर्थियों की ओर से यह दावा किया गया है कि इन विनिश्चयों से साबित होता है कि अनुच्छेद 5 द्वारा प्रदत्त संशोधन की शक्ति अत्यधिक व्यापक है, इसका प्रयोग जनता के प्रतिनिधियों द्वारा कांग्रेस में और राज्य विधानमण्डल दोनों में किया जा सकता है। अनुच्छेद 368 की दशा में भी संसद् में जनता के प्रतिनिधि होते हैं और वही धारणा की जा सकती है कि संसद् को जनता द्वारा प्राधिकार दिया गया है। इस दलील में इस तथ्य पर ध्यान नहीं दिया गया है कि अमरीकी शासन सिद्धान्त के अधीन शक्ति जनता में अन्तर्निहित होती है जिसके अन्तर्गत सरकार के आधारभूत लिखत को परिवर्तित और संशोधित करने का अधिकार भी है। निस्संदेह लगभग सभी राज्य संविधान संशोधन करने की प्रक्रिया में जनता को साथ में लेते हैं। संयुक्त राज्य अमरीका के सुप्रीम कोर्ट एवं कुछ राज्यों के सुप्रीम कोर्ट के विनिश्चयों का पूर्ण आधार यह है कि जनता ही संविधान का संशोधन करती है और उन्हें परिसंघीय संविधान बनाने की या न बनाने की शक्ति है। इसका कारण बिल्कुल स्पष्ट है। जहां तक कि अमरीकी संविधान के अनुच्छेद 5 का सम्बन्ध है, संशोधन के लिए उपबन्धित वैकल्पिक रीतियों में से केवल एक रीति में ही जनता प्रत्यक्ष रूप से सहयुक्त नहीं होती है जबकि अन्य रीतियों में वे संशोधन प्रक्रिया में सहयुक्त होती है, उदाहरणार्थ कांग्रेस के दोनों सदनों के दो-तिहाई द्वारा संशोधन करने की प्रस्थापना और कन्वेन्शन द्वारा तीन चौथाई राज्यों द्वारा उसका अनुसमर्थन अथवा दो तिहाई राज्य विधानमण्डलों के आवेदन पर आहूत कन्वेन्शन द्वारा संशोधन की प्रस्थापना और या तो तीन चौथाई राज्यों में किसी कन्वेन्शन द्वारा या उतने ही राज्यों के विधानमण्डलों द्वारा उसका अनुसमर्थन।

हमारे संविधान के अनुच्छेद 368 में संशोधन की शक्ति पर "अन्तर्निहित और विवक्षित परिसीमाएं" जो कही गई हैं उसके प्रश्न पर श्री पालखीवाला ने दलील दी है कि अन्तर्निहित परिसीमाएं वे होती हैं जो अपनी मूल प्रकृति, स्वभाव और संघठन के कारण किसी प्राधिकारी में निहित होती हैं। जबकि विवक्षित परिसीमाएं वे होती हैं जो अभिव्यक्त नहीं होती हैं अपितु संविधान की योजना में ऐसी शक्ति प्रदान करते हुए विवक्षित होती हैं। उसने दलील दी है कि "यह नियम किसी शंका के बिना साबित हो गया है कि संयुक्त राज्य अमरीका के संविधान का अर्थान्वयन करते समय जो कुछ भी विवक्षित होता है वह भी उतना ही उस लिखत का भाग है जो कि उसमें अभिव्यक्त है।" यद्यपि, न्यायालयों ने विभिन्न मामलों में यह दलील नामंजूर की है कि कोई विशिष्ट अन्तर्निहित या विवक्षित परिसीमा किसी विनिर्दिष्ट सांविधानिक शक्ति पर लगाई जानी चाहिए, तथापि, श्री पालखीवाला ने कहा है कि किसी न्यायालय ने इस सिद्धान्त को कभी भी नामंजूर नहीं किया है कि वे परिसीमाएं जिनका ठीक-ठीक और उचित रूप से

संविधान की योजना से अनुमान लगाया जा सकता है, उस शक्ति पर जो साधारण शब्दों में अभिव्यक्त है, निर्बन्धन मानी जानी चाहिएं। उच्चतम न्यायालय, प्रिवी काउन्सिल, आयरलैण्ड के न्यायालय, कनाडा और आस्ट्रेलिया के न्यायालयों के अनेक विनिश्चय उसके द्वारा दी गई दलील के समर्थन में प्रोद्धृत किए गए हैं। इस प्रश्न के सम्बन्ध में हमें अनिवार्य रूप से पहले अपने विनिश्चयों पर विचार करना चाहिए। वे दो प्रवर्गों में हैं। प्रथम प्रवर्ग में वे मामले हैं जिनमें सांविधानिक उपबन्धों के आधार पर परिसीमाएं मानी गई हैं, दूसरे प्रवर्ग में ऐसे विनिश्चय हैं, जिनमें अधिकथित है कि विधायी शक्ति पर विवक्षित परिसीमा होती है।

प्रथम प्रवर्ग के मामलों पर विचार करते हुए, यह कह दिया जाए कि 1955 के पूर्व अनुच्छेद 13(2) को इस प्रकार पढ़ा गया था कि मानो उसमें विवक्षित परिसीमा हो कि राज्य केवल लोक प्रयोजन के लिए ही सम्पत्ति अर्जित कर सकता है (चतुर्थ संशोधन द्वारा यह परिसीमा 1955 में अभिव्यक्त रूप से अविनियमित की गई थी)। चिरंजीत लाल चौधरी बनाम भारत संघ और कुछ अन्य(1) में यह मत प्रकट किया गया था कि निजी सम्पत्तियों के अर्जन या कब्जा लेने पर अधिरोपित परिसीमा, जो कि इस खण्ड में विवक्षित है, यह है कि इस प्रकार का अर्जन लोक प्रयोजन के लिए होना चाहिए। न्यायाधिपति महाजन ने (जो बाद में मुख्य न्यायाधिपति बने) बिहार राज्य बनाम महाराजाधिराज सर कामेश्वर सिंह(2) में कहा था कि लोक प्रयोजन का विद्यमान होना निस्संदेह राज्य द्वारा बलात अर्जन की शक्ति के प्रयोग की बाबत एक विवक्षित शर्त है। संविधान के अनुच्छेद 3 और 4 द्वारा नए राज्य के गठन की बाबत और तत्प्रयोजनार्थ संविधान का संशोधन करने की बाबत प्रदत्त शक्ति के सम्बन्ध में कहा गया है कि उसमें यह विवक्षित परिसीमा होती है कि नया राज्य, संविधान द्वारा प्रकल्पित लोकतन्त्रात्मक प्रकृति के अनुरूप होना चाहिए और जिस शक्ति का संसद् प्रयोग कर सकती है वह सांविधानिक योजना का उल्लंघन करने की शक्ति नहीं है। यह उल्लेखनीय है(3) कि जहां तक अनुच्छेद 368 का सम्बन्ध है, इस प्रश्न पर कि कोई अन्तर्निहित या विवक्षित परिसीमाएं हैं या नहीं, गोलक नाथ के मामले(4) में बहुत अधिक चर्चा की जा चुकी है। इस दलील पर विचार करते हुए कि संसद् संशोधन करने की शक्ति का प्रयोग करते हुए संविधान की संरचना का अतिलंघन नहीं कर सकती है अपितु वह उसको अधिक प्रभावी बनाने के लिए उस मूल लिखित की रूपरेखा के भीतर उसके उपबन्धों को केवल उपान्तरित कर सकती है, मुख्य न्यायाधिपति सुब्बा राव ने यह मत प्रकट किया कि अनुच्छेद 13(2) में "विधि" शब्द के अर्थ की बाबत अपनाए जाने वाले मत के कारण इस अत्यधिक महत्वपूर्ण प्रश्न पर कोई राय अभिव्यक्त करने की कोई आवश्यकता नहीं है। किन्तु यह बात मानी गई कि इस दलील में काफी बल है। न्यायाधिपति वांचू ने (जैसे कि वे तब थे) कुछ विस्तार तक विवक्षित परिसीमाओं के प्रश्न पर विचार किया, किन्तु यह मत प्रकट किया कि यदि संशोधन करने की शक्ति पर कोई ऐसी विवक्षित परिसीमा

(1) (1950) एस० सी० आर० 869, 902.

(2) (1952) एस० सी० आर० 889, 934.

(3) मंगल सिंह और एक अन्य बनाम भारत संघ—(1967) 2 एस० सी० आर० 109,112.

(4) (1967) 2 एस० सी० आर० 762.

लगाई गई कि संविधान के आधारभूत तत्वों को बदला या परिवर्तित नहीं किया जा सकता तो इसके परिणामस्वरूप संविधान में किए गए प्रत्येक संशोधन के सम्बन्ध में मुकदमेबाजी होगी। अनुच्छेद 368 के स्पष्ट शब्दों के आधार पर संशोधन की शक्ति पर किसी विवक्षित परिसीमा का अनुमान लगाना सम्भव नहीं है। न्यायाधिपति हिदायतुल्लाह (जो बाद में मुख्य न्यायाधिपति बने) ने विवक्षित परिसीमाओं के प्रश्न पर चर्चा की थी और इस विषय पर विभिन्न लेखों का उल्लेख किया था। उन्होंने इस मामले पर कोई राय अभिव्यक्त नहीं की क्योंकि उनके विचार से हमारे संविधान में अनुच्छेद 13(2) के अन्तर्गत सांविधानिक संशोधन भी आते हैं। न्यायाधिपति बछावत ने मामले को यह कहते हुए निपटा दिया कि इस दलील में संविधान की गतिशील प्रकृति की ओर ध्यान नहीं दिया गया है। न्यायाधिपति रामस्वामी ने विवक्षित परिसीमाओं पर आधारित दलील को इस आधार पर स्पष्टतः नामंजूर कर दिया कि यदि संशोधन करने की शक्ति प्रभुत्व पर अवलम्बित है तो उसमें कोई परिसीमा नहीं हो सकती है।

दूसरे प्रवर्ग में आने वाले मामले निश्चित रूप से अनेक हैं। यह बारम्बार अधिकथित किया गया है कि विधायी शक्ति पर विवक्षित परिसीमा होती है, विधानमण्डल अनिवार्य विधायी कृत्यों का प्रत्यायोजन नहीं कर सकता है। न्यायाधिपति मुखर्जी (जो बाद में मुख्य न्यायाधिपति बने) ने दिल्ली लॉज ऐक्ट, 1972 के मामले (1) में स्पष्ट भाषा में कहा था कि विधायी शक्ति के प्रयोग में प्रत्यायोजन के अधिकार की विवक्षा केवल उस सीमा तक की जा सकती है जहां तक इस शक्ति के प्रयोग का प्रभावी और पूर्ण बनाया जाना आवश्यक हो। प्रत्यायोजन के क्षेत्र में विधानमण्डल पर इसी विवक्षित परिसीमा की राजनारायण सिंह बनाम पटना प्रशासन(2), हरि शंकर बागला बनाम मध्य प्रदेश राज्य(3) वसंत लाल संजनवाला बनाम मुम्बई राज्य(4), दिल्ली नगर निगम बनाम बिड़ला कॉटन मिल्स(5) और ग्रेवाल, डी० एस० बनाम पंजाब राज्य(6) में सहायता ली गई थी। विधानमण्डलों पर विवक्षित परिसीमाएं भी लगाई गई हैं, जो ऐसे विधानों को अविधिमान्य बनाती हैं जिनमें न्यायिक शक्ति पर अंकुश हो। [उदाहरणार्थ देखिए श्री पृथ्वी कॉटन मिल्स लिमिटेड बनाम ब्रोच बरो म्यूनिसिपैलिटी और कुछ अन्य(7) और अहमदाबाद नगर निगम अहमदाबाद शहर बनाम न्यू शोरौक स्पिनिंग एण्ड वीविंग कम्पनी लिमिटेड(8)]।

इससे पूर्व कि हम अन्य देशों के न्यायालयों द्वारा विनिश्चित मामलों पर विचार करें, कुछ ऐसे सांविधानिक उपबन्धों का निर्देश करना उपयोगी होगा जो उन विवक्षाओं के सिद्धान्त को स्पष्ट करते हैं जिन्हें उनकी भाषा और संदर्भ से विवक्षित किया जा सकता

---

(1) (1951) एस० सी० आर० 747, 984-985.
(2) (1955) 1 एस० सी० आर० 290.
(3) (1955) 1 एस० सी० आर० 380.
(4) (1961) 1 एस० सी० आर० 341.
(5) (1968) 3 एस० सी० आर० 251.
(6) (1959) सप्लीमेण्ट 1 एस० सी० आर० 792.
(7) (1970) 1 एस० सी० आर० 388, 392-393=[1970] 2 उम० नि० प० 302.
(8) (1971) 1 एस० सी० आर० 288, 294-297.

है। इस सम्बन्ध में प्रथम उपबन्ध स्वयं अनुच्छेद 368 है। पूर्ववर्ती विवेचन के प्रक्रम पर यह देखा गया है कि संशोधन की शक्ति विवक्षा द्वारा ही केवल इसी अनुच्छेद में पाई गई है क्योंकि अभिव्यक्त रूप से यह शक्ति इस अनुच्छेद में प्रदत्त नहीं है। विद्वान् महासॉलिसिटर ने यह स्वीकार कर लिया है कि विवक्षा द्वारा विभिन्न अनुच्छेद, परन्तुक के खण्डों में अन्तर्विष्ट अभिव्यक्त शक्ति को प्रभावी बनाने की आवश्यकता के कारण शामिल हैं, उदाहरणार्थ अनुच्छेद 52 और 53 को ऐसे पढ़ा जाना चाहिए मानों उनमें विवक्षित रूप से अनुच्छेद 54 और 55 का, जो कि परन्तुक के खण्ड (क) में अभिव्यक्त रूप से वर्णित नहीं है, संशोधन करने की शक्ति सम्मिलित है। यह विवक्षा की गई है कि राष्ट्रपति को कार्यपालिका का प्ररूपिक या सांविधानिक प्रधान बनाया गया है और वास्तविक कार्यपालिक शक्ति मंत्रिपरिषद् और मंत्रिमण्डल में निहित होती है। अनुच्छेद 53 में यह घोषित है([1]) कि संघ की कार्यपालिका शक्ति राष्ट्रपति में निहित होगी। अनुच्छेद 74 मंत्रिपरिषद् का, जिसका प्रधान प्रधानमन्त्री होगा, राष्ट्रपति को अपने कृत्यों का सम्पादन करने में सहायता और मंत्रणा देने के लिए उपबन्ध करता है। अनुच्छेद 75 में कहा गया है कि प्रधानमंत्री की नियुक्ति राष्ट्रपति करेगा तथा अन्य मंत्रियों की नियुक्ति राष्ट्रपति प्रधानमंत्री की मंत्रणा पर करेगा। राष्ट्रपति के प्रसाद पर्यंत मंत्री अपने पद धारण करेंगे और मंत्रिपरिषद् लोक-सभा के प्रति सामूहिक रूप से उत्तरदायी होंगे। यद्यपि राष्ट्रपति की कार्यपालिक शक्ति स्पष्ट रूप से असीमित रूप में अभिव्यक्त है तथापि उनकी शक्ति पर विवक्षित परिसीमा इस आधार पर लगाई गई है कि वह कार्यपालिका का प्ररूपिक या सांविधानिक प्रधान है और वास्तविक कार्यपालिक शक्ति मंत्रिपरिषद् में निहित होती है। इस निष्कर्ष के बारे में जो कि मंत्रिमण्डलीय शासन पद्धति की विवक्षाओं पर आधारित है, यह कहा जा सकता है कि इसमें राष्ट्रपति और राज्यपालों की शक्तियों पर विवक्षित परिसीमा लगाई गई है।

महाराष्ट्र के महाधिवक्ता के प्रति पूर्ण सद्भाव रखते हुए, यह कह दिया जाए कि न्यायालय यह नहीं चाहता था कि वे इस बारे में विस्तार से कहें कि राष्ट्रपति या राज्यपाल सांविधानिक प्रधान है और मंत्रिमण्डलीय शासन पद्धति से कौन सी विवक्षाएं उत्पन्न होंगी। इस पर दिए गए विनिश्चयों के प्रति निर्देश यह देखने के प्रयोजनार्थ किया जा रहा है कि उनके अनुसार राष्ट्रपति या राज्यपाल में, यद्यपि, पूर्णकार्यपालिक शक्तियां निहित हैं तथापि वे व्यक्तिगत रूप से उनका प्रयोग नहीं कर सकते हैं और केवल मंत्रिपरिषद् ही सभी कार्यपालिक कृत्यों का प्रयोग करती है। ऐसा संविधान में इस प्रभाव के किन्हीं अभिव्यक्त उपबन्धों के न होने पर है।

इसके पश्चात् विचाराधीन प्रश्न को विनिश्चित करने के लिए प्रिवी काउंसिल के उन विनिश्चयों के प्रति निर्देश कर दिया जाए जिनका एक या अन्य पक्षकार ने अवलम्ब लिया है। महाराष्ट्र के महाधिवक्ता ने क्वीन बनाम बुराह([2]) में प्रतिपादित सिद्धांत पर अत्यधिक जोर दिया है। उनके अनुसार, यह मामला फेडरल न्यायालय एवं इस न्यायालय द्वारा बारम्बार अनुसरित किया गया है। सिद्धांत यह है कि जब इस बारे में कोई प्रश्न

([1]) आर० एस० राम जवाया कपूर और कुछ अन्य बनाम पंजाब राज्य (1955) 2— एस० सी० आर० 225.

([2]) (1878) 3 ए० सी० 889, 904-5.

पैदा हो कि विहित सीमाओं का अतिलंघन हुआ है तो न्यायालय को लिखत के उन निर्बंधनों पर विचार करना चाहिए "जिनके द्वारा विधायी शक्तियां सकारात्मक रूप से सृजित हुई थीं और जिनके द्वारा वे नकारात्मक रूप से निर्बन्धित की गई थीं। यदि जो कुछ भी किया गया है वह उन सकारात्मक शब्दों की साधारण परिधि के भीतर जो शक्ति प्रदान करती हैं, विधायी कार्य है, और यदि वह किसी ऐसी अभिव्यक्त शर्त या निर्बन्धन का अतिक्रमण नहीं करता है जिसके द्वारा वह शक्ति सीमित है तो कोई न्यायालय उन शर्तों या निर्बन्धनों की आगे जांच नहीं करेगा या आन्वयिक रूप में उन शर्तों और निर्बन्धनों का विस्तार नहीं करेगा।" इस विनिश्चय का निर्णयाधार यह है कि सशर्त विधान और विधायी शक्ति के प्रत्यायोजन के बीच प्रभेद करना चाहिए और यह कि विधानमण्डल सशर्त विधान बनाने के सम्बन्ध में किसी अभिव्यक्त प्रतिषेधात्मक शब्दों के न होने पर सशर्त विधान बना सकता है। सकारात्मक शक्ति प्रदत्त करने और ऐसी शक्ति पर अभिव्यक्त निर्बन्धन न होने की बाबत साधारणतः उद्धृत शब्दों का प्रयोग केवल इस दलील का विरोध करने के लिए ही किया जाता है कि सशर्त विधान विवक्षा द्वारा वर्जित है। यह बात महत्वपूर्ण है कि यदि क्वीन बनाम बुराह([1]) के मामले को इस रूप में मानना है कि उसमें यह सिद्धांत अधिकथित है कि सांविधानिक शक्तियां केवल सकारात्मक शब्दों में ही प्रदत्त की जानी चाहिएं, तो स्वयं प्रत्यर्थियों की इस दलील में कमी है कि अनुच्छेद 368 (चौबीसवें संशोधन के पूर्व) की भाषा से आवश्यक विवक्षा द्वारा ही संशोधन करने की शक्ति के स्रोत के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि वह इस अनुच्छेद में है। अभिव्यक्त या सकारात्मक शब्दों में ऐसे कोई शब्द नहीं हैं जो ऐसी शक्ति प्रदान करते हों। निस्संदेह गोलक नाथ के मामले ([2]) में इस प्रश्न पर अत्यधिक मतभेद था। मुख्य न्यायाधिपति सुब्बा राव ने, जिनके साथ चार अन्य न्यायाधीश सहमत हुए थे, अभिनिर्धारित किया था कि संशोधन करने की शक्ति का स्रोत अवशिष्ट उपबन्ध प्रदत्त करने वाले उपबन्धों अर्थात् सप्तम अनुसूची की प्रविष्टि 97 के साथ पठित अनुच्छेद 248, में पाया जाता है। अन्य छः न्यायाधीशों का, जिनमें न्यायाधिपति हिदायतुल्लाह भी थे, यह मत था कि यह शक्ति स्वयं अनुच्छेद 368 में पाई जाती है।

इनिशिएटिव एण्ड रेफरेण्डम ऐक्ट के मामले ([3]) में संक्षेप में स्थिति यह थी कि दि ब्रिटिश नार्थ अमेरीका ऐक्ट, 1867, धारा 92 शीर्ष (1) में, जो प्रान्तीय विधानमण्डलों को "लैफ्टिनेण्ट गवर्नर के पद के सिवाए" प्रान्त के संविधान का संशोधन करने के लिए सशक्त बनाता था, ऐसी विधि बनाने को अपवर्जित किया गया था जो क्राउन, लैफ्टिनेण्ट गवर्नर के माध्यम से, जो कि प्रत्यक्षतः क्राउन का प्रतिनिधि था, रखता था। मनीटोबा विधानसभा ने इनिशिएटिव एण्ड रेफरेण्डम ऐक्ट पारित किया। यह प्रस्थापित विधि को मतदाताओं के ऐसे निकाय के समक्ष प्रस्तुत करने के लिए लैफ्टिनेण्ट गवर्नर को विवश करता था जो विधानमण्डल से, जिसका कि वह सांविधानिक प्रधान था, पूर्णतया भिन्न था। प्रिवी काउन्सिल की यह राय थी कि उपबन्धों के या उस विधि के अधीन लैफ्टिनेण्ट गवर्नर प्रस्थापित विधि के अधिनियम के अनुसार पारित होने पर उसको वास्तविक विधि बनने से रोकने के लिए शक्तिहीन बना दिया गया है। उस अधिनियम की भाषा का अर्थान्वयन

([1]) (1878) 3 ए० सी० 889, 904-5.
([2]) (1967) 2 एस० सी० आर० 762.
([3]) (1919) ए० सी० 935.

आशय के विपरीत नहीं किया जा सकता था, जिससे कि विधानमण्डल का अभिन्न अंग होने के रूप में उपराज्यपाल की स्थिति पर गम्भीर प्रभाव पड़ता था और उन अधिकारों को कम करता था जो कि उस स्थिति के विधिक सिद्धांतों के अनुसार महत्वपूर्ण थे । 1867 के अधिनियम की धारा 92 प्रान्त की विधायी शक्ति से अपने विधानमण्डल को और केवल विधानमण्डल को ही सौंपती है। ऐसा निकाय जिसे अपने को सौंपे गए विषयों पर विधान बनाने की शक्ति है और यह शक्ति उतनी काफी है, जितनी कि कनाडा में प्रान्तीय विधानमण्डल की है, "अपनी हैसियत को यथावत् रखते हुए अधीनस्थ अभिकरण की सहायता प्राप्त कर सकता है············ ············किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि यह अपनी सामर्थ्य से एक ऐसी नई विधायी शक्ति बना सकता और दे सकता है, जो उस अधिनियम द्वारा नहीं बनाई गई है जिसके आधार पर वह स्वयं बना है।(1)

यह मामला पच्चीसवें संशोधन के उस भाग की विधिमान्यता पर विचार करने के लिए अधिक सुसंगत है, जिसके द्वारा अनुच्छेद 31(ग) अन्तःस्थापित किया गया था, किन्तु इससे स्पष्ट है कि ब्रिटिश नार्थ अमरीका ऐक्ट, 1867 के सांविधानिक उपबन्धों में, जो उस अधिनियम द्वारा गठित किए गए प्रान्तों के विधानमण्डल को विधायी शक्ति प्रदान करते हैं, विवक्षित परिसीमा मानी गई थी।

मक्कावॉले बनाम किंग(2) सांविधानिक प्रश्नों के विषय में एक अन्य मामला है। क्वीन्सलैण्ड (आस्ट्रेलिया) के विधान मण्डल को किसी अधिनियम में ऐसा उपबन्ध शामिल करने की शक्ति थी जो 1959 के सपरिषद् आदेश में अन्तर्विष्ट अभिव्यक्त निर्बन्धनों के भीतर न हो। किन्तु क्वीन्सलैण्ड के संविधान के निबन्धनों के विपरीत, उसको दी गई संशोधन की शक्तियों के अधीन प्रश्नगत निबन्धन का पहले संशोधन किए बिना, इण्डस्ट्रियल आर्बिट्रेशन ऐक्ट, 1916 में ऐसे उपबन्ध थे जो सपरिषद् सरकार को औद्योगिक माध्यस्थम न्यायालय के किसी न्यायाधीश की नियुक्ति क्वीन्सलैण्ड के सुप्रीम कोर्ट के न्यायाधीश के रूप में करने के लिए प्राधिकृत करते थे। नियंत्रित और अनियंत्रित संविधान के बीच प्रभेद स्पष्ट करने के पश्चात्, माननीय न्यायाधीशों ने इस दलील की परीक्षा की कि क्वीन्सलैण्ड के संविधान को ऐसा विधान अधिनियमित करके ही परिवर्तित नहीं किया जा सकता था जो उसके अनुच्छेदों के विरुद्ध हो। उसे केवल ऐसे अधिनियम द्वारा परिवर्तित किया जा सकता था जो उसके सम्बन्ध में निर्दिष्ट स्पष्ट और सही भाषा में उसे परिवर्तित करने के विधानमण्डल के आशय को प्रकथित करे और फलस्वरूप उसके असंगत उपबन्धों द्वारा उस आशय को प्रभावी बनाए। यह दलील यह कहते हुए नामंजूर कर दी गई (3)।

> "इम्पीरियल लैजिस्लेचर की किसी सुसंगत समय पर नवजात आस्ट्रेलियाई विधानमण्डलों की विधायी शक्ति को बांधने या नियन्त्रित करने की नीति नहीं थी।"

कलोनियल लॉज वेलिडिटी ऐक्ट, 1865 की धारा 5 के बारे में अभिनिर्धारित किया गया था कि वह उपनिवेशीय विधानमण्डलों को न्यायालय स्थापित करने और उन्हें

(1) (1919) ए० सी० 935, 945.

(2) (1920) ए० सी० 691.

(3) यथोपरि 706.

उत्सादित और पुनर्गठित करने का अधिकार स्पष्टतः प्रदान करती है। यह प्रश्न उठाया गया था कि 1867 का कांस्टिट्यूशन ऐक्ट, ऐसी प्रकृति के कतिपय मूल आधारभूत उपबन्ध अधिनियमित करता है जिससे संविधान नियंत्रित बन जाता है। यह कहा गया था कि यदि इस प्रकार का परिवर्तन अनुध्यात है तो अधिनियम की अत्यधिक लम्बी प्रस्तावना में कोई संकेत उस आशय का अवश्य होता। माननीय न्यायाधीशों को प्रस्तावना में कहीं पर भी ऐसा कोई संकेत नहीं मिला कि सर्वप्रथम ऐसे उपबन्ध करने का आशय था जो पवित्र हों अथवा जो कम से कम ऐसी रीतियों द्वारा उपान्तरित किए जा सकते हों जो पहले कदापि अपेक्षित न थीं। अन्तिम रूप से यह अभिनिर्धारित किया गया कि क्वीन्सलैंड का विधानमण्डल विशेष मामलों में उसकी शक्ति निर्बन्धित होने के सिवाए, अपने राज्य का स्वयं प्रणेता है। ऐसा कोई निर्बन्धन साबित न हो पाया और वस्तुतः कोई विद्यमान भी नहीं था।

महाराष्ट्र के महाधिवक्ता ने आस्ट्रेलिया के उच्च न्यायालय के न्या० इसाक और रिच के विसम्मत निर्णय से, जिसका उपरोक्त मामले में प्रिवी काउन्सिल द्वारा अनुमोदन किया गया था, निम्नलिखित निष्कर्ष निकालने चाहे हैं —

(1) जब तक कि संविधान के किसी भाग का संशोधन करने के लिए विहित विशेष प्रक्रिया न हो तब तक संविधान अनियन्त्रित है और उसे किसी साधारण विधि अधिनियमित करने के लिए अधिकथित रीति द्वारा संशोधित किया जा सकता है और इसलिए संविधान से असंगत पश्चात्वर्ती विधि उस सीमा तक संविधान का निरसन करेगी;

(2) वृहत् रूप से या सामान्यतः अनियन्त्रित संविधान में ऐसा एक या अधिक उपबन्ध हो सकता है जो उसके संशोधन के लिए भिन्न प्रक्रिया विहित करे। ऐसी दशा में साधारण विधि उसका संशोधन नहीं करती है और यदि संशोधन को प्रभावी बनाना है तो उस प्रक्रिया का यथावत् पालन किया जाना चाहिए।

(3) शक्ति को परिसीमित करने विषयक विवक्षा सामान्य सिद्धान्तों से नहीं ली जानी चाहिए अपितु अभिव्यक्त या अनिवार्यतः विवक्षित परिसीमाओं से ही ली जानी चाहिए। (महत्त्व देने के लिए रेखांकित किया गया है)

(4) उपनिवेशीय विधानमण्डलों को शक्ति देते हुए ब्रिटेन की संसद् ने 1865 में ही अस्पष्ट प्रकृति की परिसीमाएं लगाने से इंकार किया था। किन्तु उसने उन परिसीमाओं को सापेक्ष मानकों उदाहरणार्थ कानून, कानूनी विनियमन आदि तक सीमित रखा था।

हमने पहले ही इस दलील को नामन्जूर कर दिया है कि नियन्त्रित और अनियन्त्रित संविधान के बीच एकमात्र अन्तर यह है कि नियन्त्रित संविधान में संविधान के किसी भाग का संशोधन करने के लिए विहित प्रक्रिया का यथावत् पालन किया जाता है। दूसरा प्रतिपादन भी इसी प्रकार का है और उसका शायद ही विरोध किया जा सके। जहां तक कि तीसरे और चौथे प्रतिपादन का सम्बन्ध है, केवल यह कहा जाना आवश्यक है कि मैक्कॉले के मामले (1) में प्रत्यर्थियों की ओर से काउन्सेल द्वारा विवक्षित परिसीमा के सम्बन्ध

(1) (1920) ए० सी० 691.

में यह माग की गई थी कि क्वीन्सलैण्ड के विधानमण्डल को पहले संविधान का संशोधन करना चाहिए और फिर ऐसा अधिनियम पारित करना चाहिए जो अन्यथा असंगत होता। क्योंकि संविधान का संशोधन नहीं किया गया था। यह दलील इस रूप में नामन्जूर कर दी गई। मैक्कॉले के मामले (1) में संविधान अनियन्त्रित था और इसलिए क्वीन्सलैण्ड के विधानमण्डल को संविधान का भंग करने वाली किसी भी विधि को अधिनियमित करने की शक्ति थी। इसके अतिरिक्त लार्ड बर्किनहेड ने मैक्कॉले के मामले(1) में एक विद्वतापूर्ण अवतरण में स्वयं सांविधानिक विधि के विस्तार पर लेखकों के बीच मतभेद होने का निर्देश किया है, "जिसका सम्बन्ध मुख्यतः उस राष्ट्र की भावनाओं और प्रतिभा के साथ हो सकता है, जिसमें कि वह विशिष्ट संविधान बनाया गया है"। कुछ समुदायों ने "इस धारणा को मानने में संकोच प्रकट किया है कि उनकी पीढ़ी में बुद्धिमत्ता और दूरदर्शिता का होना स्वीकार किया गया है जो कि उनके उत्तराधिकारियों में नहीं होगी या न हो।" जिन्होंने दूसरा मत अपनाया है, वे शायद यह मानते हैं कि "ऐसे मामले में निश्चितता और स्थिरता सर्वाधिक आवश्यक हैं।" यह इंगित किया गया कि पाठ्य पुस्तकों के लेखकों द्वारा इन दो प्रकार के विरोधी संविधान के बीच अन्तर बताने के लिए भिन्न शब्दों का प्रयोग किया गया है। यह भी कहा गया कि—

> "एक को नियन्त्रित और दूसरे को अनियन्त्रित संविधान कह कर, या कोई अन्य नाम देकर, उनकी विशेषताओं को शायद स्पष्टतः प्रदर्शित किया जा सकता है।"

लार्ड बर्किनहेड ने 'नियन्त्रित' और 'अनियन्त्रित' इन दोनों शब्दों को यथार्थतः विधिक शब्दों के रूप में परिभाषित करने का कोई प्रयास नहीं किया, अपितु उनका प्रयोग सुविधाजन्य अभिव्यक्तियों के रूप में किया है।

अगला महत्वपूर्ण मामला अटर्नी जनरल फॉर न्यू साउथ वेल्स बनाम ट्रेथोवन(2) है। न्यू साउथ वेल्स के विधानमण्डल द्वारा अधिनियमित कांस्टिट्यूशन ऐक्ट, 1902, सन् 1929 में धारा 7-ए को जोड़कर संशोधित किया गया था, जिसमें उपबन्धित था कि विधान परिषद् को समाप्त करने विषयक कोई विधेयक राज्यपाल को हिज मैजिस्टि की अनुमति के लिए तब तक पेश नहीं किया जाना चाहिए जब तक उसका अनुमोदन उस धारा के अनुसार किए गए निवेदन पर मतदान करने वाले बहुसंख्यक मतदाताओं द्वारा न कर दिया जाए। यही उपबन्ध उस धारा का निरसन करने विषयक विधेयक को लागू होना था। 1930 में विधानमण्डल द्वारा दो विधेयक पारित किए गए। एक धारा 7-ए को निरसित करने के बारे में था और दूसरा विधान परिषद् को समाप्त करने की बाबत था। इन दोनों विधेयकों में से कोई भी धारा 7-ए के अनुसार अनुमोदित नहीं था। कलोनियल लॉज वेलिडिटी ऐक्ट, 1865 की धारा 5 के प्रति निर्देश किया गया, जो राज्य के विधानमण्डल को संविधान की बाबत अन्य बातों के साथ-साथ विधियां बनाने की पूर्ण शक्ति ऐसी "रीति और प्ररूप" में देती है जैसी समय-समय पर संसद् के किसी अधिनियम द्वारा, लेटर्स पेटेन्ट, उपनिवेश आदि में प्रवृत्त उपनिवेशीय विधि द्वारा उपबन्धित

---

(1) (1920) ए० सी० 691, 703-704.

(2) (1932) ए० सी० 526.

हो। यह अभिनिर्धारित किया गया था कि सम्पूर्ण धारा 7-ए को विरचित करने के लिए राज्य का विधानमण्डल कलोनियल लॉज वेलिडिटी ऐक्ट की धारा 5 के अधीन सक्षम था यह उपबन्ध कि विधेयकों को पेश करने के पूर्व निर्वाचकों द्वारा अनुमोदित किया जाना चाहिए, प्रारूप और रीति सम्बन्धी उपबन्ध था और तदनुसार विधेयकों को तब तक विधिपूर्ण रूप से पेश नहीं किया जा सकता था जब तक उनका अनुमोदन मत देने वाले बहुसंख्यक निर्वाचकों द्वारा न किया गया हो। अनेक दलीलें दी गई हैं जिनमें से निम्नलिखित का उल्लेख कर दिया जाए—

(क) न्यू साउथ वेल्स के विधानमण्डल को इम्पीरियल स्टेट्यूट्स द्वारा संविधान में परिवर्तन करने की और ऐसे विधानमण्डल की शक्तियों और प्रक्रिया में परिवर्तन करने की पूर्ण शक्ति दी गई थी।

(ख) विधानमण्डल द्वारा एक बार संविधान या शक्तियों एवं प्रक्रिया का परिवर्तन कर देने पर जो संविधान और शक्तियां और प्रक्रिया पहले थीं वे नहीं रहीं और उनके स्थान पर नया संविधान और शक्तियां प्रतिस्थापित हो गईं।

माननीय न्यायाधीशों के अनुसार, यह मानते हुए कि संविधान की धारा 4 अब भी कुछ प्रवर्तनीय प्रभाव रखती है, इसका उत्तर पूर्ण रूप से सांविधानिक कानून की धारा 4 के साथ पठित कालोनियल लॉज वेलिडिटी ऐक्ट की धारा 5 के अर्थ पर विचार करने पर निर्भर करेगा। सम्पूर्ण धारा 7-ए को अधिनियमित करना सक्षम अभिनिर्धारित किया गया था। तथापि प्रिवी काउन्सिल ने अभिनिर्धारित किया कि निरसन करने वाले विधेयक के दोनों सदनों द्वारा पारित हो जाने पर वह विहित रीति में निर्वाचकों का पहले अनुमोदन प्राप्त किए बिना राजशाही (रॉयल) अनुमति के लिए विधिपूर्ण रूप से पेश नहीं किया जा सकता था। इसके विधिमान्य रूप से पारित होने के लिए यह विधि धारा 7-ए द्वारा विहित रीति में, जो कि तत्समय प्रवृत्त थी, पारित होनी चाहिए थी। ट्रेथोवन का मामला(1) पूर्णतः स्पष्ट करता है कि प्रिवी काउन्सिल ऐसी परिसीमाओं को किस प्रकार प्रवर्तित करती है, यद्यपि वे प्रक्रिया विषयक परिसीमाएं हैं, जिन्हें उस प्रारूप और रीति के सम्बन्ध में, जिसमें कि ऐसा कोई कानून परिवर्तित या निरसित किया जा सकता है, सांविधानिक कानून में उपबन्धित किया गया है।

ये विनिश्चय, विशेषतः (ट्रेथोवन का मामला) यह स्पष्ट करते हैं कि प्रिवी काउन्सिल ने प्रभुत्वसम्पन्न विधानमण्डल की विधायी शक्तियों की बाबत निर्बन्धन को मान्यता दी है, यद्यपि वह संविधानिक अधिनियम का संशोधन करने के लिए संविधान में अधिकथित प्रारूप और रीति तक ही सीमित हैं। ऐसे देश में जो अब भी संसदीय प्रभुता के सिद्धान्त पर अटल है, किसी अन्य प्रकार की परिसीमाएं कुछ-कुछ सिद्धान्त विरुद्ध और परम्परा विरुद्ध मानी जाएंगी।

ब्राइबरि कमिश्नर बनाम पेद्रिक रानासिंघे(2) में प्रिवी काउन्सिल के विनिश्चय का दोनों पक्षों की ओर से अत्यधिक अवलम्ब लिया गया है। पिटीशनरों की ओर से उस

---

(1) (1932) ए० सी० 526.

(2) (1965) ए० सी० 172.

मत का समर्थन प्राप्त किया गया है जो मूल अधिकारों को अपरिवर्तनीय मानने की बाबत है। इसमें हुआ यह था कि ब्राइबरि अमेण्डमेण्ट ऐक्ट, 1956 की धारा 41 के आधार पर एक उपबन्ध ब्राइबरि ट्रिब्यूनल की नियुक्ति के लिए किया गया था जो सिलोन कांस्टिट्यूशन (आर्डर इन काउन्सिल, 1946) जिसे इसमें इसके पश्चात् 'सिलोन कांस्टिट्यूशन ऐक्ट कहा गया है, की धारा 55 की अपेक्षाओं के विरुद्ध था, जिसके अनुसार न्यायिक अधिकारियों की नियुक्ति न्याय सेवा आयोग में निहित की गई थी। सिलोन कांस्टिट्यूशन ऐक्ट की धारा 29 की उपधारा (1) में उपबन्धित था कि आदेश के उपबन्धों के अध्यधीन रहते हुए संसद् को उस द्वीप की शान्ति, व्यवस्था और अच्छे प्रशासन के लिए विधियां बनाने की शक्ति है। उपधारा (2) में उपबन्धित था कि ऐसी कोई विधि (क) किसी धर्म आदि को विहित नहीं करेगी या उसके स्वतन्त्र प्रयोग पर निर्बन्धन नहीं लगाएगी। इसके बाद खण्ड (बी), (सी) और (डी) हैं, जिनमें अन्य धार्मिक और मूल वंश सम्बन्धी मामले उपवर्णित हैं, जो कि माननीय न्यायाधीशों के अनुसार विधायी विषय नहीं हो सकते हैं। माननीय न्यायाधीशों के शब्दों में "वे सिलोन के नागरिकों के बीच अधिकारों के सत्यनिष्ठ संतुलन का प्रतिनिधित्व करते हैं, जिन मूल शर्तों पर उन्होंने परस्पर संविधान को स्वीकार किया था और इसलिए ये संविधान के अधीन अपरिवर्तनीय हैं। उपधारा (3) द्वारा उपधारा (2) के उल्लंघन में बनाई गई कोई विधि ऐसे उल्लंघन की सीमा तक शून्य होगी। उपधारा (4) नीचे उद्धृत कर दी जाए—

*"(4) इस धारा के अधीन अपनी शक्तियों का प्रयोग करते हुए, संसद् इस आदेश या सपरिषद् हर मैजिस्टि के किसी अन्य आदेश के किसी उपबन्ध का संशोधन या निरसन इस द्वीप को लागू करने के सम्बन्ध में कर सकती है;

परन्तु इस आदेश के किसी उपबन्ध का संशोधन या निरसन करने के लिए कोई विधेयक राजशाही अनुमति के लिए तब तक पेश नहीं किया जाएगा जब तक उसने उस पर अध्यक्ष के हस्ताक्षर सहित एक प्रमाणपत्र इस बारे में पृष्ठांकित न किया हो कि उसके पक्ष में प्रतिनिधि सभा में दिए गए मतों की संख्या सदन की सम्पूर्ण सदस्य संख्या (अनुपस्थित सदस्यों को मिलाकर) के दो-तिहाई से कम नहीं थी।

---

*अंग्रेजी में यह इस प्रकार है—

"(4) In the exercise of its powers under this section, Parliament may amend or repeal any of the provisions of this Order, or of any other Order of Her Majesty in Council in its application to the Island:

Provided that no Bill for the amendment or repeal of any of the provisions of this Order shall be presented for the Royal Assent unless it has endorsed on it a certificate under the hand of the Speaker that the number of votes cast in favour thereof in the House of Representatives amounted to not less than two-thirds of the whole number of Members of the House (including those not present),

अध्यक्ष द्वारा इस उपधारा के अधीन दिया गया प्रत्येक प्रमाणपत्र सभी प्रयोजनों के लिए निश्चायक होगा और किसी न्यायालय में इस पर प्रश्न नहीं उठाया जाएगा।"

ब्राइबरि अमेण्डमेण्ट ऐक्ट, 1958 सिलोन कांस्टिट्यूशन ऐक्ट की धारा 29 की उपधारा (4) में अन्तर्विष्ट उपबन्धों के अनुसार अधिनियमित नहीं किया गया था। चूंकि उसमें संविधान का उल्लंघन हुआ था, अतः यह मत प्रकट किया गया कि उपधारा (4) में अपेक्षित रूप में अध्यक्ष द्वारा प्रमाणपत्र का दिया जाना अधिनियम बनाने की प्रक्रिया का एक आवश्यक अंग है। प्रिवी काउन्सिल का विशेष ध्यान इस बात पर गया कि जब प्रभुत्वसम्पन्न संसद् कोई विधेयक अधिनियमित करना चाहती है और उस विधेयक को राजशाही अनुमति प्राप्त हो जाती है तो क्या वह विधिमान्य अधिनियम माना जाएगा, जबकि उसको पारित करने के दौरान प्रक्रिया सम्बन्धी त्रुटि हुई थी या वह ऐसा अविधिमान्य अधिनियम है, जिसे संसद् को उस रीति में पारित करने की कोई शक्ति नहीं थी? अपीलार्थी की दलीलों की परीक्षा करते हुए, धारा 29(3), जो कि धारा 29(2) के उल्लंघन में और उसके द्वारा प्रतिषिद्ध मामलों की बाबत पारित किसी अधिनियम को अभिव्यक्त रूप से शून्य बनाती है जब कि धारा 29(4) में ऐसा कोई उपबन्ध नहीं है, किन्तु ऐसा प्रतिषेध प्रक्रिया सम्बन्धी निबन्धनों में है, प्रभेद किया गया था। अपीलार्थी ब्राइबरि कमिश्नर (रिश्वत आयुक्त) की ओर से मैक्कॉलि के मामले([1]) में दिए गए विनिश्चय का अवलम्ब लिया गया। यह कहा गया कि जहां तक इसके लिए मैक्कॉलि का मामला([1]) सुसंगत है, वह वास्तव में अपीलार्थी के तर्कों के विरुद्ध है। उसे इस आधार पर प्रभेद्य बताया गया कि सिलोन के विधानमण्डल ने ऐसी विधि पारित करनी चाही थी जो सिलोन कांस्टिट्यूशन ऐक्ट की धारा 55 के विरुद्ध होने के कारण न्यायिक अधिकारियों की नियुक्ति विषयक सांविधानिक उपबन्धों के विवक्षित परिवर्तन के रूप में, यदि उसे विधिमान्य बनाना है तो, मानी जानी चाहिए। यह अभिनिर्धारित किया गया कि इस प्रकार के परिवर्तन यद्यपि वे अभिव्यक्त हैं, केवल ऐसी विधियों द्वारा किए जा सकते हैं, जिनमें कि धारा 29(4) में अधिकथित विशेष विधायी प्रक्रिया का अनुपालन किया गया हो। सिलोन विधानमण्डल को साधारण विधायी शक्ति नहीं थी जिससे कि वह साधारण बहुमत संकल्पों द्वारा अपने संविधान का संशोधन कर सके, जैसा कि क्वीन्सलैण्ड के कांस्टिट्यूशन ऐक्ट की धारा 2 के अधीन क्वीन्सलैण्ड के विधानमण्डल की बाबत पाया गया है।

महाराष्ट्र के विद्वान् महाधिवक्ता ने रानासिंघे के मामले([2]) में दी गई दलीलों का निर्देश किया है और आक्षेपित उपबन्धों की बाबत व्यक्त मतों को कि वे अप्रवर्तनीय हैं, यह कहते हुए स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि वे मत इतिरोक्ति के रूप में थे। उनके अनुसार, प्रत्यर्थी का यह पक्षकथन नहीं था कि कोई उपबन्ध संशोधनीय नहीं है। सत्यनिष्ठ करार आदि के सम्बन्ध में निर्देश भी इतिरोक्ति थे क्योंकि अपील में धारा 29 की उपधारा (2) द्वारा संरक्षित धार्मिक अधिकारों की बाबत कोई प्रश्न

Every certificate of the Speaker under this sub-section shall be conclusive for all purposes and shall not be questioned in any court of law."

([1]) (1920) ए० सी० 691.

([2]) (1965) ए० सी० 172.

नहीं उठाया गया था और विवाधक पूर्णत: भिन्न थे। यह दावा किया गया है कि यह विनिश्चय प्रत्यर्थियों की ओर से बताई गई इस स्थिति का समर्थन करता है कि नियन्त्रित संविधान में केवल प्ररूप और रीति ही तात्विक होती है और उपरोक्त विनिश्चय इस प्रतिपादन के सम्बन्ध में एक नजीर है कि संशोधन करने की शक्ति का प्रयोग करते हुए नियन्त्रित संविधान अनियंत्रित संविधान के रूप में सम्परिवर्तित किया जा सकता है। संसद् की संशोधन करने की शक्ति की बाबत कोई विवक्षित परिसीमा यहां स्वयं अनुच्छेद 368 का संशोधन करके निराकृत की जा सकती है और संशोधन करने की शक्ति का इसी शक्ति का प्रयोग करने से विस्तार किया जा सकता है। श्री पालखीवाला के अनुसार यह दलील पूर्णत: निराधार है। पहली बात यह है कि, प्रिवी काउन्सिल का यह मत केवल संशोधन के प्ररूप और रीति की बाबत है और वह संशोधन की शक्ति पर सारवान परिसीमा से बिल्कुल भी सम्बन्धित नहीं है। संशोधन करने की शक्ति पर परिसीमा लगाने की बात से विशेष विधायी प्रक्रिया के प्रश्न का भ्रम नहीं हो सकता जिसके प्रति भी माननीय न्यायाधीशों ने निर्दिष्ट किया है। दूसरी बात यह है कि सिलोन का संविधान संसद् को संविधान का संशोधन या निरसन करने का प्राधिकार देता है। यह शक्ति अनुच्छेद 368 द्वारा प्रदत्त संशोधन करने की शक्ति से कहीं अधिक व्यापक है। यह सुझाव दिया है कि रानासिंघे का मामला ([1]) प्रत्यर्थियों के विरुद्ध एक प्रत्यक्ष नजीर है क्योंकि उसमें धार्मिक और मूल वंशीय अधिकारों को अप्रवर्तनीय अभिनिर्धारित किया गया था, जिससे स्पष्ट रूप से विवक्षित है कि संसद् सिलोन कांस्टिट्यूशन ऐक्ट की धारा 29 की उपधारा (4) में विहित प्ररूप और रीति का अनुसरण करते हुए संविधान का संशोधन करने की अपनी शक्ति का प्रयोग करने पर भी उन अधिकारों को छीनने के लिए सक्षम नहीं है। इस मामले का तात्विक महत्त्व यह है कि यद्यपि यह मत माननीय न्यायाधीशों द्वारा व्यक्त किया गया था जो कि एक प्रकार से इतिरोक्ति हो सकता है, तथापि वे सिलोन कांस्टिट्यूशन ऐक्ट की धारा 29 से उद्भूत होने वाली आवश्यक विवक्षाओं पर आधारित थे और उन्हें सांविधानिक उपबन्धों के निर्वचन के संदर्भ में, जो (महाराष्ट्र के महाधिवक्ता ने स्वयं स्वीकार किया) हमारे संविधान के कुछ भागों के साथ विशेषत: उन भागों के साथ जो मूल अधिकारों के सम्बन्ध में हैं, काफी समरूप हैं, व्यक्त किया गया था।

कॉन्ज जॉन फ्रेंसिस डगलस लियांगे बनाम क्वीन([2]) ऐसा एक अन्य विनिश्चय है, जिस पर पिटीशनरों की ओर से अत्यधिक अवलम्ब लिया गया है। सिलोन की संसद् ने एक अधिनियम पारित किया था जिसके द्वारा दण्ड प्रक्रिया संहिता को सारवान रूप से उपान्तरित किया गया था। ऐसा अन्य बातों के साथ-साथ ऐसे किसी व्यक्ति के 60 दिनों के निरोध को भूतलक्षी रूप से विधिमान्य बनाते हुए किया गया था, जिसके बारे में आशंका हो कि उसने राज्य के विरुद्ध अपराध किया है। इस वर्ग के अपराध का, जिनके लिए जूरी के बिना ऐसे तीन न्यायाधीशों द्वारा, जो कि न्यायमंत्री द्वारा नामनिर्दिष्ट हों, विचारण आदिष्ट किया जा सकता था, विस्तार किया गया और सम्राज्ञी के विरुद्ध युद्ध करने के लिए वारण्ट के बिना गिरफ्तारी की जा सकती है। नई न्यूनतम शास्तियां

([1]) (1965) ए० सी० 172.
([2]) (1967) 1 ए० सी० 259.

उस अपराध के लिए उपबन्धित की गई। प्रिवी काउन्सिल ने अभिनिर्धारित किया कि आक्षेपित विधान में विधानमण्डल द्वारा न्यायिक शक्तियों का बलपूर्वक अपहरण और अतिलंघन किया गया है, जो कि सिलोन के लिखित संविधान के विरुद्ध है, जिसमें कि न्यायिक कृत्यों को न्यायपालिका में निहित न करते हुए, न्यायपालिका में राजनीतिक, विधायी कार्यपालिक नियंत्रण से मुक्ति सुनिश्चित करने का आशय स्पष्ट है और उसमें वास्तव में 1833 के चार्टर ऑफ जस्टिस द्वारा स्थापित न्यायिक प्रतिनिधि को अछूता छोड़ा गया है। यह विधान शून्य कहते हुए विखंडित किया गया। माननीय न्यायाधीशों ने अन्य बातों के साथ यह मत प्रकट किया कि लिखित संविधान वाले देशों में शक्तियों का प्रयोग संविधान के उन निबन्धनों के अनुसार, जिनसे कि वह प्राप्त की गई हैं, होना चाहिए। न्यायिक सेवा आयोग द्वारा न्यायाधीशों की नियुक्ति के सम्बन्ध में संविधान के उपबन्धों को निर्दिष्ट किया गया और यह कहा गया कि इन उपबन्धों में न्यायपालिका में राजनीतिक, विधायी और कार्यपालिक नियंत्रण से मुक्ति सुनिश्चित करने का आशय स्पष्ट है। यह कहा गया कि ये उपबन्ध ऐसे संविधान में पूर्णतः उचित हैं जिसका आशय यह हो कि न्यायिक शक्ति केवल न्यायपालिका में ही निहित होगी। वे ऐसे संविधान में अनुचित होंगे जिसके द्वारा यह आशयित हो कि न्यायिक शक्ति का प्रयोग कार्यपालिका या विधानमण्डल दोनों द्वारा किया जाना चाहिए।

श्री पालखीवाला की इस दलील में काफी सार प्रतीत होता है कि उपरोक्त विनिश्चय विवक्षित परिसीमा के सिद्धांत पर आधारित है क्योंकि अन्यथा सिलोन कांस्टिट्यूशन ऐक्ट की धारा 29(1) के अधीन संसद् उस आदेश के उपबन्धों के अध्यधीन रहते हुए उस द्वीप की शान्ति, व्यवस्था और अच्छे शासन के लिए विधियां बनाने के लिए सक्षम है। आक्षेपित अधिनियमितियों की वास्तविक प्रकृति और प्रयोजन के सम्बन्ध में ठोस मत व्यक्त किए गए और यह कहा गया कि न्यायपालिका के कृत्यों में उनके द्वारा किए गए परिवर्तन न्यायक्षेत्र में जानबूझकर किया गया गम्भीर प्रकृति का हस्तक्षेप है। निम्नलिखित अवतरण उल्लेखनीय एवं प्रकाश डालने वाला है—

> "यदि इस प्रकार के अधिनियम विधिमान्य हों तो विधानमण्डल न्यायिक शक्ति को पूर्णतया आत्मसात कर सकता है और उसे न्यायाधीशों के हाथों से छीन सकता है। यह बात सराहनीय है कि विधानमण्डल का कोई ऐसा सामान्य आशय नहीं है। उससे गम्भीर स्थिति पैदा हो गई थी और यह मानते हुए, ऐसी उपधारणा की ही जानी चाहिए कि उसे ऐसा करने की शक्ति थी और वह सही तौर पर कार्य कर रहा था उसको सामान्य करने के लिए कठोर उपाय किए गए। किन्तु यह विचार असंगत है और ऐसे अधिनियमों को कोई विधिमान्यता प्रदान नहीं करता है, जो कि संविधान का अतिलंघन करते हैं। जो बात एक बार की गई हो, यदि उसे करने दिया जाए तो उसे अपेक्षाकृत कम संकट में और कम गम्भीर परिस्थितियों में पुनः किया जा सकता है और इसप्रकार न्यायिक शक्ति समाप्त हो सकती है। इस प्रकार की समाप्ति संविधान के स्पष्ट आशय के विपरीत है।"

केरल राज्य की ओर से मोहम्मद समसुदीन करियाप्पर बनाम एस० एस० विजेसिन्हा और एक अन्य [1] के मामले को इस प्रतिपादन के लिए प्रोद्धृत किया गया है कि

---

(1) (1968) ए० सी० 717.

न्यायिक शक्ति संविधान का संशोधन करके विधानमण्डल को अंतरित की जा सकती है और इस प्रकार विवक्षित परिसीमा के सिद्धान्त को प्रभावहीन बनाया जा सकता है । उस मामले में कमिशन ऑफ इन्क्वारी ऐक्ट के अधीन एक रिपोर्ट संसद् के कुछ ऐसे सदस्यों के विरुद्ध, जिनमें अपीलार्थी भी एक था, रिश्वत के कतिपय साबित हुए अभिवाकों की बाबत दी गई थी । एक अधिनियम विशेष के अधीन ऐसे व्यक्तियों पर जिन्हें अधिनियम लागू किया गया, सिविल निर्योग्यताएं अधिरोपित की गई थीं । उसमें यह उपबन्ध भी था कि विद्यमान विधि के साथ असंगति होने की दशा में यह अधिनियम प्रभावी होना चाहिए । अपीलार्थी ने उस अधिनियम की विधिमान्यता को इस आधार पर चुनौती दी कि वह संविधान से असंगत है और उस द्वारा न्यायिक शक्ति को बलपूर्वक छीना गया है । यह वर्णित कर दिया जाए कि अध्यक्ष ने सिलोन के संविधान की धारा 29(4) के परन्तुक के अनुसार इम्पोजिशन ऑफ सिविल डिसएबिलीटीज (स्पेशल प्रोविजन्स) ऐक्ट के विधेयक पर अपने हस्ताक्षरों के साथ एक प्रमाणपत्र पृष्ठांकित किया था । प्रिवी काउन्सिल ने अभिनिर्धारित किया कि उक्त अधिनियम विधायी शक्ति का प्रयोग करते हुए पारित किया गया है और उसको द्वारा न्यायिक शक्ति को बलपूर्वक छीना नहीं गया है । सिलोन का संविधान नियंत्रित संविधान है और अधिनियम इसलिए असंगत विधि है, इस अधिनियम के बारे में यह मानना चाहिए कि वह संविधान का संशोधन करता है जब तक कि अधिनियम के कुछ उपबन्ध, जिनमें अधिनियम का संविधानिक प्रभाव नहीं माना गया हैं, संशोधन की शक्ति पर अधिरोपित सांविधानिक निबन्धनों में न पाए जाएं । कांस्टिट्यूशन ऐक्ट की धारा 29(4) के परन्तुक के अतिरिक्त उस उपबन्ध में "अमेण्ड और रिपील" (संशोधन या निरसन) शब्दों का यह अर्थान्वयन करने का कोई कारण नहीं था कि ये शब्द असंगत विधि द्वारा किए गए संशोधन या निरसन के सम्बन्ध में भी लागू होंगे । अतः इस अधिनियम द्वारा संविधान का संशोधन हुआ । अन्ततः गुणागुण पर यह मत प्रकट किया गया कि इस निष्कर्ष को देखते हुए कि यह अधिनियम विधि है और न्यायिक शक्ति का प्रयोग मात्र नहीं है, इस प्रश्न पर विचार करना आवश्यक नहीं था कि संसद् धारा 29(4) के परन्तुक के अनुसार पारित विधि द्वारा न्यायिक शक्ति ग्रहण कर सकती थी और उस विधि विशेष में उसका प्रयोग कर सकती थी या नहीं ।

उपर्युक्त विनिश्चय की सहायता नजीर के रूप में इस प्रतिपादन के लिए निश्चय ही ली जा सकती है कि नियंत्रित संविधान में भी, जहां ऐसे अधिनियम का, जो उससे असंगत होगा और जिसके बारे में अभिव्यक्त शब्दों में यह नहीं कहा गया है कि वह संशोधन करने वाला अधिनियम है, संशोधन करने के लिए प्ररूप और रीति का पालन किया जाता है, वहां इसका प्रभाव संविधान का परिवर्तन करने का होगा । किन्तु इससे प्रत्यर्थियों की ओर से दिए गए किसी ऐसी दलील का समर्थन नहीं होता है कि न्यायिक शक्ति हमारे संविधान का संशोधन करके विधानमण्डल को अंतरित की जा सकती है । इसके अतिरिक्त जैसा कि माननीय न्यायाधीशों ने अभिव्यक्त रूप से कहा है, सिलोन का संविधान संसद् को संविधान का "संशोधन या निरसन" करने के लिए सशक्त बनाता है और इसलिए सिलोन की संसद् की संशोधन करने की शक्ति और अनुच्छेद 368 के अधीन संशोधन करने वाले निकाय की संशोधन करने की शक्ति के बीच कोई तुलना नहीं की जा सकती है ।

इसके पश्चात् हम आस्ट्रेलिया के न्यायालयों के विनिश्चयों पर विचार करेंगे क्योंकि उन विनिश्चयों में विवक्षित परिसीमाओं की बाबत जो कि अभिव्यक्त परिसीमाओं के अभाव में उद्भूत हो सकती हैं, काफी चर्चा की गई है। इन विनिश्चयों में से अनेकों विनिश्चयों में विषय-वस्तु राष्ट्रमण्डल की कराधान की शक्ति की बाबत रही है। आस्ट्रेलिया के संविधान की धारा 51 व्यापक शब्दों में किन्तु कतिपय अभिव्यक्त आरक्षणों सहित, उदाहरणार्थ यह कि सीमाशुल्क समान होना चाहिए, यह कि कराधान सम्बन्धी विधियां राज्यों के बीच भेदभाव न करें, न ही राजस्व सम्बन्धी विधियां एक राज्य की अपेक्षा दूसरे राज्य को अधिमान दें, राष्ट्रमण्डल को कराधान के संबंध में विधायी शक्ति प्रदान करती है। धारा 114 राष्ट्रमण्डल को राज्य की किसी प्रकार की सम्पत्ति पर कर लगाने से वर्जित करती है। **एमैलग्मेटेड सोसाइटी ऑफ इन्जीनियर्स बनाम एडलेड स्टीमशिप कम्पनी लिमिटेड**(1) में आस्ट्रेलिया उच्च न्यायालय ने **क्वीन बनाम बुराह** (2) **और अटर्नी जनरल ऑफ ओण्टेरियो बनाम अटर्नी जनरल ऑफ कनाडा** (3) में प्रिवी काउन्सिल द्वारा अधिकथित संविधान के अर्थान्वयन के इस सिद्धान्त को स्वीकार किया कि एकमात्र रास्ता जिसके द्वारा न्यायालय यह अवधारित कर सकता है कि क्या विधायी शक्ति विषयक विहित परिसीमाओं का अतिलंघन हुआ है या नहीं, "उस लिखत के निबन्धनों को जिसके द्वारा सकारात्मक रूप से विधायी शक्ति का सृजन हुआ था और जिसके द्वारा नकारात्मक रूप से उन्हें निर्बन्धित किया गया था, देखना है"। आवश्यकता की नीति के आधार, जो कि परिसंघीय किस्म के शासन की प्रकृति से उद्भूत होती है या उद्भूत हुई मानी जाती है, उसकी बाबत कोई अनुमान नहीं लगाया जाना चाहिए। न ही न्यायालय को विधानमण्डल के हेतु के बारे में अनुमान लगाना चाहिए, स्पष्ट रूप से प्रतीत होता है कि एक बार यह अभिनिश्चित हो जाने पर कि शक्ति का प्रयोग अर्थान्वयन के सामान्य नियमों के अनुसार किया गया है, ये शब्द संविधान में शक्ति के प्रयोग के विरुद्ध विवक्षित परिसीमाओं के बारे में किसी प्रतिपादन का खंडन करते हैं। **इन्जीनियर्स वाले मामले**(1) का ऐसा निर्वचन, जिसके बारे में अनुमान है कि उसने सदा के लिए विवक्षित परिसीमाओं का सिद्धान्त समाप्त कर दिया था, सर्वसम्मति से स्वीकार नहीं किया गया है, न ही ऊपर अधिकथित मापमान का पालन किया गया है। **अटर्नी जनरल फॉर न्यू साउथ वेल्स बनाम ब्रूअरी एम्प्लॉइज यूनियन** (4) में न्या० हिगिन्स ने इस बारे में सावधान किया कि "यद्यपि संविधान के शब्दों का निर्वचन, उन्हीं निर्वचन के सिद्धान्तों पर करना है जो कि किसी सामान्य विधि को लागू होते हैं, तथापि निर्वचन के यही सिद्धान्त हमें अधिनियम के स्वरूप और परिधि को ध्यान में रखने के लिए विवश करते हैं" जिससे हम यह याद रखें कि यह एक संविधान है, एक ऐसा तन्त्र है जिसके अधीन विधियां बनाई जाती हैं और केवल अधिनियम ही नहीं है जो कि यह घोषित करता है कि विधि क्या होगी है।

---

(1) (1920) 28 सी० एल० आर० 129.

(2) (1878) 3 ए० सी० 889.

(3) (1912) ए० सी० 571.

(4) (1908) 6 सी० एल० आर० 469, 611-612.

आस्ट्रेलियन रेलवेज यूनियन बनाम विक्टोरियन रेलवे कमिश्नर्स(1) और बाद में वेस्ट बनाम कमिश्नर ऑफ टैक्सेशन(2) में सर ओवन डिक्सन ने वह मत व्यक्त किया जो उनके अनुसार इंजीनियर्स के मामले(3) में अधिकथित आधारभूत सिद्धान्त था और उस विनिश्चय में अधिकथित निर्वचन के प्रथमदृष्टया नियम से सम्बन्धित अर्हताओं के आरक्षण संबंधी मत, जो कि उनके विचार से व्यक्त किए गए थे, व्यक्त किए। एक्स पारटि प्रोफेशनल इन्जीनियर्स एसोसिएशन के मामले(4) में उन्होंने पुनः इन्जीनियर्स के मामले(3) को निर्दिष्ट किया और सुझाव दिया कि शायद "कराधान की परिसंघीय शक्ति और राज्यों से विशेषतः संबंधित एवं क्राउन की उद्घोषणा के संबंध में उसमें अभिव्यक्त आरक्षण और अर्हताओं पर बहुत कम ध्यान दिया गया था।" मेलबोर्न कॉरपोरेशन बनाम कॉमनवेल्थ के मामले(5) में विवक्षित परिसीमाओं की बाबत प्रश्न प्रत्यक्षतः उठाया गया था और विनिश्चित किया गया था। यह अभिनिर्धारित किया गया था कि बैंकिंग ऐक्ट, 1945 की धारा 48, जो कि बैंकों को राज्य के लिए और राज्य के किसी प्राधिकरण के लिए, जिसके अन्तर्गत स्थानीय शासन, प्राधिकरण आते हैं, बैंक का कारबार संचालित करने से प्रतिषिद्ध करती है, अविधिमान्य है। इस मामले में दो दलीलें दी गई हैं — (1) यह कि आक्षेपित अधिनियम धारा 51(xiii) के अन्तर्गत बैंक संबंधी विधि नहीं है क्योंकि वह बैंक की बाबत विधि नहीं है और (2) यह कि धारा 51(xiii) में शक्ति का दिया जाना राज्य के पक्ष में परिसीमाओं के अध्यधीन मानना चाहिए चूंकि ऐसा परिसंघीय संविधान में होता है जिससे कि यद्यपि धारा 48 को बैंक कारबार की बाबत विधि मान भी लिया जाए, तो भी वह अविधिमान्य होगी क्योंकि उसको प्रवर्तित करने से राज्य के शासकीय कृत्यों का प्रयोग करने में हस्तक्षेप होता है। दूसरी दलील बहुमत द्वारा मंजूर कर ली गई थी। मु० न्या० लाथम ने कहा कि जो विधियां राज्य के विरुद्ध भेदभाव करती हैं या जो राज्यों के शासकीय कृत्यों के प्रयोग में हस्तक्षेप करती हैं संविधान द्वारा प्राधिकृत विधियां नहीं हैं, चाहे वे राष्ट्रमण्डलीय संसद् की विधायी शक्ति के अन्तर्गत आने वाली विषयवस्तु की बाबत विधियां क्यों न हों। न्या० रिच ने अभिनिर्धारित किया कि संविधान में राज्यों के निरन्तर बने रहने का उपबन्ध है और इसलिए राष्ट्रमण्डल द्वारा अपनी सांविधानिक शक्तियों का प्रयोग करते हुए किया गया कोई ऐसा कार्य जो राज्य को अस्तित्व में बने रहने से या काम करने से प्रवारित करेगा अनिवार्य रूप से संविधान के अभिव्यक्त उपबन्धों के साथ असंगत होने के कारण अविधिमान्य होगी। न्या० स्टार्क ने कहा था कि आस्ट्रेलिया के संविधान के परिसंघीय स्वरूप के साथ उसकी अपनी विवक्षाएं हैं, यह कि शासन द्विमुखी है जो शासन के अंगों और शक्तियों के अलग-अलग होने पर आधारित है और फलस्वरूप राज्यों और उनकी शक्तियों का बनाए रखना संविधान का उतना ही उद्देश्य है जितना कि राष्ट्रमण्डल और

---

(1) (1930) 44 सी० एल० आर० 319, 390.
(2) (1937) 56 सी० एल० आर० 657, 682.
(3) (1920) 28 सी० एल० आर० 129.
(4) (1959) 107 सी० एल० आर० 208, 239.
(5) (1947) 74 सी० एल० आर० 31.

उसकी शक्तियों का बनाए रखना है। अतः दोनों में से किसी को भी दूसरे को समाप्त या विनष्ट करने की शक्ति नहीं है।

यही दलील स्टेट ऑफ विक्टोरिया बनाम कॉमनवैल्थ ([1]) के हाल ही के मामले में दी गई थी जिसमें पे-रोल टैक्स ऐक्ट, 1941 और पे-रोल टैक्स असेसमेण्ट ऐक्ट, 1941-1969 के सम्बन्ध में आक्षेप किया गया था। ये अधिनियम चाइल्ड एण्डाउमेण्ट ऐक्ट, 1941 के उपबन्धों का वित्त पोषण करने के लिए नियोक्ताओं द्वारा संदत्त मजदूरी पर कर लगा कर नियोक्ताओं पर भार डालने के लिए राष्ट्रमण्डलीय संसद् द्वारा पारित किए गए थे। राज्य का अधिकार प्राप्त क्राउन प्रत्येक राज्य में काफी श्रमिकों का नियोजक था और कुछ राज्यों में औद्योगिक श्रमिकों का नियोजक था। राज्य का अधिकार प्राप्त क्राउन अधिनियम के प्रयोजनार्थ "नियोजक" की परिभाषा में आता था। इस बारे में विनिश्चय के लिए प्रश्न उठाया गया था कि यह अधिनियम कहां तक सांविधानिक रूप से विधिमान्य है चूंकि इसके द्वारा विक्टोरिया राज्य पर दावा-विवरण में नामित कतिपय विभागों में नियुक्त लोक सेवकों को संदत्त वेतन और मजदूरी की रकम की दर पर पे-रोल टैक्स देने की बाध्यता अधिरोपित की गई थी। मु० न्या० बार्विक द्वारा संक्षेप में कथित विक्टोरिया राज्य की दलील यह थी कि यद्यपि आक्षेपित अधिनियम कांस्टिट्यूशन ऐक्ट की धारा 51 में प्रगणित कराधान की शक्ति के अधीन आता है तथापि वह धारा राज्य का अधिकार प्राप्त क्राउन पर कर अधिरोपित करना प्राधिकृत नहीं करती है क्योंकि इस राष्ट्रमण्डलीय शक्ति पर, जोकि सर्वव्यापी हैं, राज्य के सभी क्रियाकलापों की बाबत विवक्षित सांविधानिक परिसीमा है। तथापि जिस बारे में अत्यधिक जोर दिया गया वह कुछ-कुछ सीमित प्रकृति का था अर्थात् यह कि कराधान से सम्बन्धित विधायी शक्ति का विस्तार राज्य के "किसी अविभाज्य शासकीय क्रियाकलाप" पर कर अधिरोपित करने के प्राधिकार तक नहीं है और इसलिए कम से कम धारा 51 के अधीन शक्ति राज्य के सिविल सेवकों को संदत्त मजदूरी की बाबत राज्य पर कर लगाना प्राधिकृत नहीं करती है। दूसरे शब्दों में इस प्रकार की परिसीमा चाहे वह सर्वव्यापी रूप से या सीमित रूप से प्रवर्तित होती हो, संविधान के परिसंघीय स्वरूप से विवक्षा द्वारा व्युत्पन्न होती है और इसलिए सरकार के विभागों में नियोजित सेवकों को संदत्त मजदूरी की दर पर कर का उद्ग्रहण राज्य के शासकीय कृत्यों को इतना प्रभावित करता है कि उन कृत्यों के स्वतंत्र प्रयोग पर दबाव डालता है, उसे क्षीण करता है और आघात पहुंचाता है। सातों न्यायाधीशों ने प्रथमतः इस बारे में सहमति प्रकट की कि अधिनियम विधिमान्य है और दूसरे इन्जीनियर्स के मामले ([2]) में और कतिपय अन्य विनिश्चयों में भी अधिकथित इस प्रतिपादन की बाबत सहमति प्रकट की कि जब धारा 51 (ii) जैसे विनिर्दिष्ट उपबन्धों द्वारा राष्ट्रमण्डल को शक्ति प्रदान की गई है तो राष्ट्रमण्डल ऐसी विधि पारित कर सकता है जो राज्यों पर उसी रूप में आबद्धकर होगी जिस रूप में वह व्यक्ति विशेष पर आबद्धकर होगी। तथापि न्यायाधीशों के बीच ऐसी शक्ति पर, चाहे वह अभिव्यक्त रूप

([1]) (1971) 45 ए० एल० जे० 251.

([2]) (1920) 28 सी० एल० आर० 129.

से ही क्यों न दी गई हो, विवक्षित परिसीमा के प्रश्न की बाबत मतभेद था। मु० न्या० वार्विक और न्या० ओवन का यह मत था कि जो विधि सारतः किसी राज्य या उसकी शक्तियों या उसके सरकारी कृत्यों को अपनी विषयवस्तु मान लेती है, अविधिमान्य है क्योंकि उसका समर्थन किसी अनुदत्त विधायी शक्ति द्वारा नहीं किया जा सकता। किन्तु संविधान के अधीन राष्ट्रमण्डलीय विधायी शक्ति पर कोई ऐसी विवक्षित परिसीमा नहीं है जो उसके परिसंघीय स्वरूप के कारण उद्भूत होती हो। न्या० मैंटनीरम का भी यही मत था कि ऐसी कोई आवश्यक विवक्षा नहीं है जो राष्ट्रमण्डल को विधि बनाने से अवरुद्ध करती हो। तथापि न्या० मैंनजीज, विडेयर, वाल्श और गिब्स ने स्पष्ट शब्दों में अभिनिर्धारित किया कि संविधान के परिसंघीय स्वरूप के कारण संविधान के अधीन राष्ट्रमण्डलीय विधायी शक्ति पर विवक्षित परिसीमा है। न्या० मैंनजीज के अनुसार ऐसे संविधान को जिसमें विघटन न किए जा सकने योग्य परिसंघीय राष्ट्रमण्डल का उपबन्ध है, राष्ट्रमण्डल और राज्य दोनों की संरक्षा करनी चाहिए। राज्य संविधान के बाहर नहीं हैं। तदनुसार यद्यपि संविधान काफी स्पष्ट रूप से राज्यों को राष्ट्रमण्डलीय संसद द्वारा निर्मित विधियों के अध्यधीन बनाता है तथापि वह ऐसा कुछ परिसीमाओं के अधीन करता है। न्या० विडेयर ने मेलबोर्न कॉरपोरेशन वाले मामले (1) को इस रूप में माना मानो उसमें विवक्षा के सिद्धान्त की पुष्टि की गई है और आगे कहा कि न्यायालय को संविधान पढ़ते समय "विवक्षा" शब्द की उपेक्षा और उस द्वारा अभिप्रेत प्रत्येक धारणा को अस्वीकार नहीं करना चाहिए" न्यायाधिपति वाल्श ने इस दलील को नामंजूर कर दिया कि इन्जीनियर्स के मामले (2) में अधिकथित अर्थान्वयन के सिद्धान्तों से यह बात असंगत है कि प्रगणित विषयों की बाबत शक्ति की परिधि ऐसे अभिव्यक्त उपबंधों से, जिनमें विशेषतः उन पर कुछ परिभाषित परिसीमा अधिरोपित की गई है, भिन्न रूप में निर्वाचित की जानी चाहिए और यह मत प्रकट किया –

> "इस प्रतिपादन के लिए काफी नजीरें हैं कि संविधान का परिसंघीय स्वरूप ऐसी विवक्षाएं पैदा नहीं करता है जिनके द्वारा राष्ट्रमण्डलीय संसद की शक्ति के विस्तार पर कुछ परिसीमाएं राज्यों को उसकी विधायी शक्ति के अधीन बनाने के लिए अधिरोपित की जाती हैं।"

न्यायाधिपति गिब्ज के अनुसार कानूनी निर्वचन के सामान्य सिद्धान्त जब सम्पूर्ण कानून में प्रकट विधानमण्डल के आशय को प्रभावी बनाने के लिए आवश्यक हों तब वे विवक्षाओं का किया जाना प्रवारित नहीं करते हैं। इम्पीरियल पार्लियामेंट का संविधान अधिनियमित करने का आशय आस्ट्रेलिया की जनता की फेडरल संघ में सम्मिलित होने और परिसंघीय न कि एकात्मक पद्धति स्थापित करने की इच्छाओं को प्रभावी करने का था। कुछ बातों में राष्ट्रमण्डल को सर्वोच्च स्थिति प्रदान की गई क्योंकि राष्ट्रीय हित में ऐसा अपेक्षित था किन्तु यह परिसंघ के मूल आधार से असंगत होगा कि राष्ट्रमण्डलीय शक्ति राज्यों को ऐसे अधीनस्थ राज्य की स्थिति में ला दे जिससे कि स्वतन्त्र राज्य के रूप में उन का मूल

---

(1) (1947) 74 सी० एल० आर० 31.

(2) (1920) 28 सी० एल० आर० 129.

अस्तित्व स्वयं उन शक्तियों की विधिक परिसीमाओं की अपेक्षा उस रीति पर निर्भर करेगा जिसमें कि राष्ट्रमण्डल अपनी शक्तियों का प्रयोग करता है। उन्होंने आगे कहा—

> "अतः संविधान का प्रयोजन और वह योजना जिसके द्वारा उसको प्रभावी करना आशयित है, आवश्यक रूप से उसी रीति की बाबत विवक्षाएं पैदा करता है जिसमें क्रमशः राष्ट्रमण्डल और राज्य परस्पर एक दूसरे के साथ अपनी शक्तियों का प्रयोग कर सकते हैं।"

महाराष्ट्र के महाधिवक्ता ने इस बात का विरोध नहीं किया है कि परिसंघीय संविधान में आवश्यक विवक्षाएं होती हैं, उदाहरणार्थ संविधान के किसी उपबन्ध का अतिक्रमण करने वाली कोई विधि, इस प्रभाव की अभिव्यक्त घोषणा के बिना भी, शून्य होती है। पुनश्च, लोकतंत्रात्मक संविधान में यह आवश्यक विवक्षा होती है कि विदेशी राज्य—यूनाइटेड किंगडम का शासक फ्यूगिटिव ऑफेण्डर्स ऐक्ट में उपबन्धित रूप में सपरिषद् आदेशों द्वारा भारतीय राज्यक्षेत्र को समूहों में नहीं बांट सकता है और इसलिए वह अधिनियम भारत के लोकतंत्रात्मक संविधान से असंगत है और अनुच्छेद 372 द्वारा प्रवृत्त नहीं किया गया गया है। देखिए मद्रास राज्य बनाम जी० सी० मेनन ([1])। किन्तु उसने आग्रह किया है कि क्वीन बनाम बुराह ([2]) का सिद्धान्त किसी रूप में उलटा नहीं गया है। उसके अनुसार, बुराह के मामले([2]) में निर्वचन के सिद्धान्त अधिकथित हैं और ऐसा करने में स्वयं प्रिवी काउन्सिल ने अधिकारातीत होने का सिद्धान्त प्रतिपादित किया है जो की ब्रिटेन की संसद् के उन अधिनियम में की आवश्यक विवक्षा है जिसके द्वारा सीमित शक्तियों वाले निकाय और प्राधिकरणों का सृजन किया गया है। यह दर्शित करने का प्रयास किया गया है कि उपरोक्त आस्ट्रेलिया के विनिश्चय में मु० न्या० डिक्सन के निर्णय में अर्थान्वयन के आधारभूत सिद्धान्त सही रूप में अधिकथित किए गए हैं और वे सिद्धान्त हमारे संविधान को भी लागू होते हैं क्योंकि वह विनिश्चय क्वीन बनाम बुराह ([2])पर आधारित था और यह मामला इस न्यायालय द्वारा निरन्तर अनुसरित किया गया है। हमने पहले ही उस विनिश्चय पर विचार किया है और हम इस बात से सहमत होने में असमर्थ हैं कि क्वीन बनाम बुराह ([2]) का मामला विवक्षाएं करने के मार्ग में तब बाधक है जब संविधान का प्रयोजन और वह योजना जिसके द्वारा उसको प्रभावी करना आशयित है कतिपय विवक्षाएं आवश्यक रूप से पैदा करती हैं।

कनाडा के विनिश्चयों पर चर्चा करते समय हमारे लिए केवल उन विनिश्चयों का उल्लेख करना ही आवश्यक है जिनका तात्विक सम्बन्ध हमारे समक्ष वाले प्रश्नों के साथ है। अटर्नी जनरल ऑफ नोवा स्कोटिया बनाम अटर्नी जनरल ऑफ कनाडा([3]) में कनाडा की संसद् द्वारा नोवा स्कोटिया के विधानमण्डल को और नोवा स्कोटिया के विधानमण्डल द्वारा कनाडा की संसद् को अधिकारिता के प्रत्यायोजन से सम्बन्धित अधिनियम के सांविधानिक होने की दलील दी गई थी। कनाडा की सुप्रीम कोर्ट ने

([1]) (1955) 1 एस० सी० आर० 280.

([2]) (1878) 3 ए० सी० 889.

([3]) (1951) एस० सी० आर० कनाडा—31.

अभिनिर्धारित किया कि चूंकि उसमें संसद् द्वारा नोवा स्कोटिया के विधानमण्डल को ऐसी शक्तियों का प्रत्यायोजन किया जाना, जो अनन्य रूप से ब्रिटिश नार्थ अमरीका ऐक्ट की धारा 91 द्वारा उसमें निहित है और उस विधानमण्डल द्वारा ऐसी शक्तियों का प्रत्यायोजन, जो ऐक्ट टू पार्लियामेंट की धारा 92 के अधीन प्रान्तीय विधानमण्डल में अनन्य रूप से निहित हैं, अनुध्यात है, अतः वह सांविधानिक रूप से विधिमान्य नहीं हो सकता। जिस मुख्य आधार पर यह विनिश्चय किया गया था, वह यह था कि कनाडा की संसद् और प्रत्येक प्रान्तीय विधान सभा अपनी परिधि के भीतर प्रभुत्वसम्पन्न निकाय है जिसके पास यथास्थिति धारा 91 या धारा 92 के अधीन उसे सौंपे गए मामलों की बाबत विधि बनाने की अनन्य अधिकारिता है। अतः उनमें से किसी को भी दूसरे को ऐसी शक्तियों का प्रत्यायोजन करने का अधिकार नहीं है जो कि उसमें निहित की गई हैं न ही उन्हें दूसरे से ऐसी शक्ति प्राप्त करने का अधिकार है जो कि दूसरे में निहित की गई हैं। विद्वान् मुख्य न्यायाधिपति ने यह मत प्रकट किया कि कनाडा का संविधान "न तो संसद् का है न ही विधानमण्डलों का, वह तो देश का है और संविधान में ही देश के नागरिकों के लिए वे अधिकार संरक्षित हैं जिनके वे हकदार हैं।"

यद्यपि ब्रिटिश नार्थ अमरीका ऐक्ट की धारा 91 या 92 में अभिव्यक्त रूप से कुछ भी वर्णित नहीं किया गया था, तथापि संसद् और प्रान्तीय विधानमण्डलों की विधायी शक्ति का प्रत्यायोजन करने के सम्बन्ध में परिसीमा विवक्षित थी। जॉन स्विट्जमैन बनाम फ्रैंक एल्बलिंग([1]) का मामला भी वर्णित कर दिया जाए, जिसके बारे में हमने प्रस्तावना का प्रयोग करने के प्रश्न पर विचार करते हुए पहले ही निर्देश किया है। उस मामले में क्यूबेक प्रान्त के साम्यवादी प्रचार से सम्बन्धित अधिनियम की विधिमान्यता को प्रान्तीय विधानमण्डल के अधिकारातीत अभिनिर्धारित किया गया था। न्या० एबोट ने प्रिवी काउन्सिल तथा कनाडा की सुप्रीम कोर्ट ([2]) के विभिन्न विनिश्चयों को निर्दिष्ट करने के पश्चात् कहा कि कनाडा इलेक्शन ऐक्ट, ब्रिटिश नार्थ अमरीका ऐक्ट के वे उपबन्ध जिनमें वर्ष में कम से कम एक बार संसदीय अधिवेशनों के लिए और पांच वर्ष में एक बार नई संसद् के निर्वाचन के लिए उपबन्ध है और सीनेट एण्ड हाउस ऑफ कामन्स ऐक्ट ऐसी अधिनियमितियों के उदाहरण हैं जिनमें सार्वजनिक विचार-विमर्श और सार्वजनिक चर्चा के अधिकार के प्रयोग को सुनिश्चित करने के लिए विनिर्दिष्ट कानूनी उपबन्ध किए गए हैं। "ऐसे सभी विधानों में संसद् या विधानमण्डलों के अभ्यर्थियों और सामान्यतः नागरिकों के, यथा सम्भव स्वतंत्र रूप में ऐसे मामलों को, जैसे कि ऐसे अभ्यर्थियों की अर्हताएं, या उन राजनीतिक पार्टियों या समूहों द्वारा, जिसके वे सदस्य हैं, समर्थित नीतियों और राजनीतिक, आर्थिक एवं सामाजिक सिद्धान्त स्पष्ट करने, उनकी आलोचना करने, उन पर चर्चा करने और उन पर बातचीत करने के अधिकार विवक्षित हैं।" यह अधिकार प्रान्तीय विधानमण्डल द्वारा निराकृत नहीं किया जा सकता और उसकी शक्ति शुद्धतः प्राइवेट अधिकारों को संरक्षित करने के लिए आवश्यक शक्ति तक ही सीमित है। उसकी यह राय भी थी कि कनाडा के संविधान

([1]) (1957) कनाडा लॉ रिपोर्ट्स 285, 327.

([2]) विशेषतः देखिए—मु० न्या० डफ का मत—अल्बरटा स्टेट्यूट्स के मामले में—(1938) एस० सी० आर० (कनाडा) 100, 132-33.

के अनुसार, जैसा कि वह है, स्वयं संसद् बातचीत और विचार-विमर्श के इस अधिकार को निराकृत नहीं कर सकती है।

महाराष्ट्र के महाधिवक्ता ने इंगित किया है कि ये विनिश्चय प्रान्तीय विधान-मण्डलों की सिविल स्वतंत्रताओं को, जैसे कि वाक् स्वातंत्र्य, धार्मिक स्वतंत्रता या दाण्डिक मामलों की बाबत विधान बनाने की स्वतंत्रता, प्रभावित करने की विधायी सक्षमता के सम्बन्ध में है। वे संविधान के अधीन संशोधन करने की शक्ति अवधारित करने के प्रयोजनार्थ सुसंगत नहीं हैं। जहां तक कि कनाडा में सिविल अधिकारों का सम्बन्ध है, महाधिवक्ता के अनुसार, यह उल्लेखनीय है कि कैनेडियन बिल ऑफ राइट्स, 1960, उसमें दिए गए अधिकारों को इस अभिव्यक्त घोषणा द्वारा निरसनीय बनाता है कि संसद् का अधिनियम कैनेडियन बिल ऑफ राइट्स के होते पर भी प्रवृत्त होगा। यह भी निवेदन किया गया है कि आस्ट्रेलिया और कनाडा दोनों देशों की सांविधानिक विधि के सुविख्यात लेखकों ने भी विवक्षित परिसीमा के सिद्धांत को न तो कोई महत्व दिया है न ही उसे स्वीकार किया है।[1] हमारे समक्ष लेखकों की राय को दोनों पक्षों द्वारा इतने विस्तार के साथ प्रोद्धृत किया गया है कि हम उनके द्वारा अभिव्यक्त राय में काफी मतभेद पाते हैं और उन पर विश्वास करना निरापद नहीं होगा। जिन न्यायाधीशों ने विवक्षा द्वारा परिसीमाएं मानी हैं, वे इतने सुविख्यात हैं और प्रसिद्ध हैं कि उनके मतों को महाधिवक्ता द्वारा दिए गए सुझाव के आधार पर नामंजूर करना उचित नहीं है।

आयरलैण्ड के न्यायालयों के विनिश्चयों की विस्तार से चर्चा करना हमारे लिए शायद आवश्यक नहीं है। दि स्टेट (एट दि प्रोसीक्यूशन ऑफ जरमिह रेयन) बनाम कैप्टेन माइकल लेनॉन[2] में दिए गए बहुमत निर्णय से उद्भूत सिद्धान्त कि 1922 के संविधान की धारा 50 के अधीन (जिसमें पहले 8 वर्ष की कालावधि के दौरान सामान्य विधि द्वारा संविधान का संशोधन करने का उपबन्ध था, जिसे कि बाद में 16 वर्ष के लिए बढ़ा दिया गया था) संविधान के उपबंधों से असंगत सामान्य विधि का प्रभाव संविधान का संशोधन करने का होता है, काफी विवादग्रस्त बन गया था। इस विवाद के दौरान इस बारे में बलपूर्वक आग्रह किया गया था कि संविधान का संशोधन करने की शक्ति पोवोयर कॉन्स्टिट्यूयेण्ट के समरूप नहीं है, यह कि वे अभिकरण, जिनमें संविधान का संशोधन करने की शक्ति निहित है, राज्य की संगठनात्मक संरचना का आमूल परिवर्तन करने के लिए, राजतंत्रात्मक राज्य को लोकतंत्रात्मक राज्य के रूप में परिवर्तित करने के लिए और प्रतिनिधित्व सरकार को सीधे चुनी गई सरकार के रूप में परिवर्तित करने के लिए सक्षम नहीं है। यह दलील 1884 के फ्रैन्च लॉ के अनुच्छेद 2 में अन्तर्निहित धारणा पर आधारित थी। 1884 के फ्रैंच लॉ के अनुच्छेद 2 में उपबन्धित है कि लोकतंत्रात्मक सरकार के सम्बन्ध में सांविधानिक संशोधन नहीं किया जा सकता है। उस संविधान की विशेषतः धारा 50 की आलोचना की गई है कि वह प्रथम आठ वर्ष की कालावधि के सम्बन्ध में बहुत परिवर्तनीय है और उसके बाद की कालावधि के

---

(1) देखिए—डब्ल्यू० ए० वाइन्स द्वारा लिखित 'लेजिसलेटिव एक्जीक्यूटिव एण्ड जुडिशियल पावर्स इन आस्ट्रेलिया' और बोरा लसकिन की कनाडियन कांस्टिट्यूशनल लॉ.

(2) (1935) आयरिश रिपोर्ट्स 170.

लिए बहुत अपरिवर्तनीय है[1]। 1937 के संविधान के पश्चात्, जो कि हमारे संविधान के निर्माताओं के लिए आदर्श बना, न्यायिक विचारधारा में परिवर्तन आया और किसी अधिनियम को संविधान के असंगत मानने के स्थान पर कि उसका प्रभाव विवक्षित रूप से संविधान का संशोधन करना है, ऐसा अधिनियम केवल उस सीमा तक ही अविधिमान्य माना गया जिस तक कि वह संविधान से असंगत था। देखिए एडमण्ड बुर्क बनाम लिनोन[2] और मार्गरेट बकले बनाम अटर्नी जनरल ऑफ आयर[3]। 1922 का संविधान इतना "हल्का" समझा गया कि 15 वर्ष की कालावधि के भीतर कम से कम 27 अधिनियमों के बारे में अधिकथित किया गया था कि वे विवक्षित रूप से संविधान का संशोधन करते हैं। 1922-27[4] की कालावधि के दौरान न्यायाधीश संसद् की प्रभुता सम्बन्धी ब्रिटिश धारणा से प्रभावित थे और मूल विधि की धारणाएं उनके प्रशिक्षण और विचारधारा के बाहर थी। 1937 का संविधान 1922 के संविधान की अपेक्षा अधिक अनम्य है यद्यपि अनुच्छेद 51 एउारुतोस (Oireachtas) को प्रथम तीन वर्षों के दौरान संविधान का संशोधन सामान्य विधि द्वारा करने के लिए अनुज्ञात करता है। तथापि ऐसा विधान 1922 के संविधान के अनुच्छेद 55 के विपरीत संशोधन करने की शक्ति से अभिव्यक्त रूप से अपवर्जित है। स्टेट बनाम मिनिस्टर फॉर जस्टिस[5] आदि का उल्लेख कर दिया जाए जिसमें अभिनिर्धारित किया गया था कि ल्यूनैटिक ऐसाइलम्स (आयरलैंड) ऐक्ट, 1875 की धारा 13 के उपबन्ध, जो अभियुक्त व्यक्ति को उसके प्रतिप्रेषण की वापसी की तारीख को उसे न्यायालय के समक्ष उपस्थित होने से प्रवारित करते हैं, न्याय प्रशासित करने की न्यायिक शक्ति के प्रयोग में हस्तक्षेप करते हैं। यह मामला और इसी प्रकार के मामले उदाहरणार्थ मार्गरेट बकले बनाम अटर्नी जनरल ऑफ आयर[3], संविधान में संशोधन करने की शक्ति के सम्बन्ध में विवक्षित परिसीमा विषयक् प्रश्न अवधारित करने में अधिक सहायक नहीं है क्योंकि वे मुख्यतः सामान्य विधान के सांविधानिक उपबन्धों के विरुद्ध होने के प्रश्न की बाबत हैं। तथापि मुख्य विनिश्चय रैयन के मामले[6] में दिया गया था, जिसमें मुख्य न्यायाधिपति केनेडी ने संविधान से विभिन्न विवक्षाओं की थीं, किन्तु बहुसंख्यक न्यायाधीशों ने ऐसा करने से इन्कार कर दिया और "अमेण्डमेण्ट" (संशोधन) शब्द को इतना व्यापक माना कि वह अनेक अनुच्छेदों का, चाहे वे सारतः कितने ही महत्वपूर्ण क्यों न हों, निरसन अनुज्ञात करता है। प्रत्यर्थी की ओर से दी गई इस दलील पर विचार करना समानतः अनावश्यक है कि प्रिवी काउन्सिल ने मूरा बनाम अटर्नी जनरल फॉर दि आयरिश फ्री स्टेट[7] में मु० न्या० केनेडी के तर्क पर

---

(1) जी कोहन कृत 'दि कांस्टिट्यूशन ऑफ दि आयरिश फ्री स्टेट' पृ० 257-259.

(2) (1940) आयरिश रिपोर्ट्स 136.

(3) (1950) आयरिश रिपोर्ट्स 67.

(4) देखिए सामान्यतः जे० एम० कैली, फण्डामेण्टल राइट्स ऑन दि आयरिश लॉ एण्ड कांस्टिट्यूशन(1968) (1-17).

(5) (1967) आयरिश रिपोर्ट्स 106.

(6) (1935) आयरिश रिपोर्ट्स 170.

(7) (1935) एस० सी० 484.

आधारित काउन्सेल की दलील नामन्जूर कर दी थी जैसा कि माननीय न्यायाधीशों द्वारा स्थिति का उपसंहार करते हुए स्पष्ट किया गया है, पूरा वाला मामला स्टेट्यूट ऑफ वैस्टमिनिस्टर के पारित होने के प्रभाव पर मुख्यतः विनिश्चित किया गया था(1)।

जहां तक कि संयुक्त राज्य अमरीका की स्थिति का सम्बन्ध है, प्रत्यर्थियों की ओर से यूनाइटेड स्टेट्स ऑफ अमरीका बनाम विलियम एच० स्प्रेग (2) का अत्यधिक अवलम्ब राज्य विधानमण्डलों के समक्ष रखने और संविधान के अनुच्छेद 5 के अधीन राज्य कन्वेन्शनों के समक्ष रखने के बीच का विकल्प पूर्ण रूप से कांग्रेस के विवेकाधीन है, चाहे वह संशोधन शासनतंत्र की बाबत या नागरिकों की स्वतन्त्रता को प्रभावित करने वाले विषयों की बाबत हो। यह दलील दी गई है कि संशोधन विभिन्न प्रकार के हो सकते हैं, उदाहरणार्थ एक ओर शासन तन्त्र के परिसंघीय माध्यमों के स्वरूप में परिवर्तन मात्र और दूसरी ओर नागरिकों की स्वतन्त्रता पर प्रभाव डालने वाले विषय। यह कहा गया है कि संविधान के निर्माताओं ने पूर्वकथित दशा में विधानमण्डल द्वारा अनुसमर्थन किया जाना स्वीकार किया था जबकि पश्चात्कथित दशा में उनका आशय यह था कि ऐसे मामले जनता को निर्दिष्ट किए जाएं क्योंकि विधानमण्डल में अनुसमर्थन करने की शक्ति का न केवल अभाव ही है, अपितु इस बारे में सन्देह होने के कारण भी कि वे वास्तव में जनता का प्रतिनिधित्व करते हैं। न्यायालय ने यह मत व्यक्त किया कि जब आशय स्पष्ट हो, तब अर्थान्वयन की कोई गुंजाइश नहीं है और अन्तरवेशन या जोड़ने के लिए कोई बहाना नहीं होगा और पूर्ववर्ती विनिश्चयों में यह बारम्बार और लगातार घोषित किया गया है कि रीति विषयक विकल्प पूर्णतः कांग्रेस के विवेकाधीन है। इस विनिश्चय से यह निष्कर्ष निकालने का प्रयास किया गया है कि संयुक्त राज्य अमरीका की सुप्रीम कोर्ट ने ऐसी किसी विवक्षा को मानने से इन्कार किया था जिस प्रकृति की विवक्षा की इस मामले में दलील दी गई है।

श्री पालखीवाला ने कहा है कि यूनाइटेड स्टेट्स ऑफ अमरीका बनाम विलियम एच० स्प्रेग (2) में दिया गया विनिश्चय हमारे समक्ष वाले प्रश्नों से बिल्कुल भी सुसंगत नहीं है। उसमें केवल यह अधिकथित है कि कांग्रेस को यह विनिश्चय करने का पूर्ण विवेक प्राप्त है कि प्रस्थापित संशोधन राज्य विधानमण्डलों को भेजना चाहिए या राज्य कन्वेन्शनों को। अनुच्छेद 5 की भाषा से ही दर्शित होता है कि इस विषय में पूर्ण विवेक कांग्रेस को दिया गया है चाहे वह संशोधन शासनतन्त्र की बाबत है, या नागरिकों के अधिकारों और स्वतन्त्रता पर प्रभाव डालने वाले विषयों की बाबत है। यह दलील दी गई है कि रहोड आइसलैण्ड बनाम पलमार(3) में सुप्रीम कोर्ट के विनिश्चय के पश्चात् स्प्रेग वाले मामले में केवल यह तर्क देने का नए सिरे से प्रयास किया गया था कि अठारहवां संशोधन, जिसके द्वारा मद्यनिषेध किया गया था, असांविधानिक था, क्योंकि उसका अनुसमर्थन राज्य विधानमण्डलों द्वारा किया गया था और यह प्रयास सही तौर पर असफल रहा था। श्री पालखीवाला द्वारा दिए गए कारणों से, जिनमें काफी सार प्रतीत

(1) (1935) ए० सी० 498.
(2) 75 लॉयर्स इडिशन 640.
(3) 64 लॉयर्स इडिशन 946.

होता है, हम यूनाइटेड स्टेट्स ऑफ अमरीका बनाम विलियम एच० स्प्रेग([2]) से किसी प्रकार की सहायता लेने में असमर्थ हैं।

महाराष्ट्र के महाधिवक्ता ने इस प्रभाव के अन्य सिद्धान्त की सहायता ली है कि जब तक संशोधन की शक्ति संविधान के अधीन विधियों का अविधिमान्यकरण करने की न्यायिक शक्ति के साथ, सहविस्तारी है तब तक न्यायपालिका सर्वोपरि रहेगी। अतः संशोधन की शक्ति न्यायिक शक्ति की सहविस्तारी होनी चाहिए। इस न्यायालय द्वारा जो कुछ बारम्बार अभिनिर्धारित किया गया है उससे यह निष्कर्ष निकलता है कि हमारे संविधान के अधीन राज्य के तीन महान विभागों में से कोई भी सर्वोपरि नहीं है और केवल संविधान ही सर्वोपरि है और वह ही विधि सम्मत शासन का, न कि व्यक्तियों के शासन का उपबन्ध करता है। श्री पालखीवाला ने उत्तर दिया है कि यदि संविधान सर्वोपरि है, जैसा कि वह है, तो इससे आवश्यक रूप से यह परिणाम निकलता है कि संशोधन करने की शक्ति पर निश्चित रूप से परिसीमा होनी चाहिए क्योंकि यदि कोई परिसीमा नहीं है तो विधानमण्डल सर्वोपरि होगा और संविधान सर्वोपरि नहीं होगा। यदि संविधान का संशोधन करने की विधानमण्डल की शक्ति संविधान के अधीन बनाई गई विधियों को अविधिमान्यकरण करने की न्यायिक शक्ति की सहविस्तारी है तो विधानमण्डल हर प्रकार से संविधान को अपनी इच्छानुसार दबा सकता है जिसके परिणाम उसके विपरीत होंगे, जो कि संविधान में उपबन्धित हैं अर्थात् यह कि राज्य के तीन महान विभाग हैं और उनमें से कोई भी दूसरे पर सर्वोपरिता नहीं रख सकता है। श्री पालखीवाला ने कहा है कि जब न्यायपालिका संशोधन करने की शक्तियों पर वास्तविक अर्थान्वयन के सम्बन्ध में ही केवल परिसीमा लगाती है तब इसका परिणाम यह नहीं होता कि न्यायपालिका सर्वोपरि है, अपितु यह होता है कि संविधान सर्वोपरि है। यह दावा किया गया है कि उसकी दलीलों के आधार पर विधानमण्डल, कार्यपालिका और न्यायपालिका समन्वित रहते हैं जो कि संविधान के अधीन वास्तविक वस्तुस्थिति है। यदि प्रत्यर्थी की दलील मान ली जाए तो संशोधन करने की शक्ति आत्यन्तिक और असीमित है। वह न्यायपालिका और कार्यपालिका को पूर्णतः अपने अधीनस्थ बना सकती है या उनकी शक्तियां छीन सकती है।

हम यह नहीं समझ पाए हैं कि न्यायिक पुनरीक्षण की शक्ति किस प्रकार न्यायपालिका को किसी रूप में सर्वोपरि बनाती है ? यह शक्ति परिसंघीय संविधान में अत्यधिक महत्व रखती है। यह निस्सन्देह कहा गया है कि लोकतन्त्र का सार और मर्म न्यायिक प्रक्रिया में होता है। [कोड़ी सप्लाई कम्पनी बनाम भारत संघ([1]) न्या० बोस के अनुसार] मद्रास राज्य बनाम वी० जी० रॉव([2]) में मु० न्या० पातन्जलि शास्त्री का केवल यह मत, जो कि विधि-शास्त्र का अंग बन गया है, यहां पर इस सम्बन्ध में दोहराना आवश्यक है। न्यायालय न्यायिक पुनर्विलोकन में "किसी मिशनरी भावना से प्रेरित होकर विधायी प्राधिकार को प्रभावहीन करने की इच्छा नहीं करता है अपितु ऐसा उस कर्तव्य के निर्वहन में करता है जिसे संविधान द्वारा स्पष्ट रूप से उसको सौंपा गया है।" प्रत्यर्थियों ने यह भी दलील दी है कि न्यायालय को सांविधानिक संशोधनों के सम्बन्ध में

([2]) (1956) एस० सी० आर० 267.
([3]) (1952) एस० सी० आर० 597.

न्यायिक पुनर्विलोकन का अधिकार देने का अर्थ न्यायालय को राजनीतिक प्रश्नों में डालना होगा। इस का उत्तर कॉमनवैल्थ ऑफ आस्ट्रेलिया बनाम बैंक ऑफ न्यू साउथ वेल्स[1] में लार्ड पोर्टर के शब्दों में दिया जा सकता है—

> "जिस समस्या को सुलझाना होता है वह आमतौर पर विधिक समस्या इतनी नहीं होती जितनी कि वह राजनीतिक, सामाजिक या आर्थिक होती तथापि उसे न्यायालय द्वारा सुलझाया जाना चाहिए क्योंकि जब विवाद, जैसा कि यहां पर है, केवल राष्ट्रमण्डल और नागरिक के बीच ही केवल नहीं है अपितु एक ओर राष्ट्रमण्डल और मध्यक्षेपी राज्यों के बीच है और दूसरी ओर नागरिकों और राज्यों के बीच है, वहां केवल न्यायालय ही उस प्रश्न को विनिश्चित कर सकता है, संसद् की सहायता लेना व्यर्थ है।"

511. [यह संविधान में यह उपदर्शित करने के लिए काफी कुछ किया गया है कि वह नियंत्रण और संतुलन की व्यवस्था करता है जिसके कारण शक्तियां इस प्रकार वितरित की गई हैं कि उसके द्वारा बनाए गए तीनों अंगों में से कोई भी इतना अधिक प्रभावशाली नहीं बन सकता जिससे कि वह दूसरे अंग को सौंपी गई शक्तियों का प्रयोग करने से और कृत्यों का निर्वहन करने से असमर्थ बना दे। यद्यपि संविधान में संयुक्त राज्य अमरीका के संविधान की भांति शक्तियों के पृथक्करण का सिद्धान्त उतनी अनम्यता के साथ अधिकथित नहीं है तथापि उसमें इस प्रकार का पृथक्करण उतनी मात्रा तक प्रकल्पित है जितनी के बारे में राणासिंघे के मामले[2] में निष्कर्ष दिया गया था। हमारे संविधान के अनुच्छेद 226 और 32 में अभिव्यक्त रूप से उपबन्धित न्यायिक पुनर्विलोकन एक ऐसी मुख्य बात है जिस पर नियन्त्रण और संतुलन की पद्धति आधारित है।] इसके अतिरिक्त जैसा कि पहले कहा गया है अधिनियम की सक्षमता या असक्षमता के सम्बन्ध में न्यायिक विनिश्चय की आवश्यकता संविधान के परिसंघीय स्वरूप के कारण ही उद्भूत होती है। [अटर्नी जनरल फॉर दि कॉमनवैल्थ ऑफ आस्ट्रेलिया बनाम कोलोनियल शुगर रिफाइनिंग कम्पनी[3] और एक्स पारटि वाल्श एण्ड जॉह्नसन, येट्स के मामले[4] में लार्ड चांसलर हैल्डेन के अनुसार] अतः संविधान का निर्वचन करने का कृत्य राज्य की न्यायिक शक्ति को सौंपे जाने से यह प्रश्न कि विधि का विषय विधानमण्डल को संविधान द्वारा प्रदत्त एक या अधिक शक्तियों की परिधि के भीतर आता है, सदैव संविधान के निर्वचन का प्रश्न होगा। यह वर्णित कर दिया जाए कि किसी भी प्रक्रम पर प्रत्यर्थियों ने इस प्रतिपादन का विरोध नहीं किया है कि सांविधानिक संशोधन की विधिमान्यता का पुनर्विलोकन यह न्यायालय कर सकता है। महाराष्ट्र के महाधिवक्ता ने न्यायिक पुनर्विलोकन को अलोकतान्त्रिक बताया है। किन्तु हमारे संविधान में ऐसा इन कारणों से नहीं हो सकता है कि हमारे संविधान में न्यायाधीशों की नियुक्ति, मूल अधिकारों विषयक विनिर्दिष्ट निर्बन्धन, अनुच्छेद 21 में सम्यक् प्रक्रिया विषयक खण्ड का जानबूझकर अपवर्जन और अनुच्छेद 141 में इस बात की पुष्टि कि न्यायाधीश विधि घोषित करते हैं किन्तु बनाते नहीं हैं, विषयक

---

(1) (1950) ए० सी० 235, 310.

(2) (1965) एस० सी० 172.

(3) (1914) ए० सी० 237.

(4) (1925) 37 सी० एल० आर० 36, 58.

उपबन्ध दिए गए हैं। इसमें संशोधन करने की प्रक्रिया भी जोड़ी जा सकती है जो कि बहुत बड़ी प्रक्रिया नहीं है और जो दो-तिहाई बहुमत एवं अनुसमर्थन की अतिरिक्त अपेक्षा के माध्यम द्वारा संशोधन प्राधिकृत करती है।

विद्वान् महान्यायवादी के अनुसार विवक्षित परिसीमाओं के आधार पर दिया गया सम्पूर्ण तर्क मूलतः गलत है। उन्होंने बुराह वाले मामले में(1) दिए गए विनिश्चय का एवं ऐसे अन्य विनिश्चयों का अत्यधिक अवलम्ब लिया है। यह कहा गया है कि उस प्रयोजन को देखते हुए, जिसके लिए संशोधन की शक्ति आवश्यक है, संशोधन की शक्ति के बारे में कोई अन्तर्निहित परिसीमा नहीं हो सकती। संविधान की अनिवार्य संरचना का संशोधन न किए जा सकने की बाबत दलील अवास्तविक है क्योंकि सांविधानिक दस्तावेज के प्रत्येक भाग में त्रुटिपूर्ण प्रारूपण या अस्पष्टता की सम्भाव्यता हो सकती है। यहां तक कि आधारभूत धारणाएं अथवा आदर्शों में क्रमिक परिवर्तन हो जाता है। यह बलपूर्वक आग्रह किया गया है कि सम्पूर्ण संविधान को पढ़ने पर उसमें वर्तमान सामाजिक और आर्थिक असमानता को स्थायी बनाना अनुध्यात नहीं है और राज्य का यह कर्तव्य है कि वह नई सामाजिक व्यवस्था का गठन करे। महान्यायवादी ने अनेक लेखकों की राय अपनी इस दलील के समर्थन में व्यक्त की कि किसी ऐसे उपबन्ध में जो कि संविधान के संशोधन का उपबन्ध करता हो, परिसीमा विषयक अभिव्यक्त शब्द होने चाहिएं जिससे यह निष्कर्ष निकलता हो कि उसमें विवक्षित परिसीमाएं नहीं मानी जा सकती हैं।

किसी ऐसी विधायी उपबन्ध में, जिसके अन्तर्गत सांविधानिक दस्तावेज भी आती है, विवक्षित परिसीमाओं के प्रश्न की बाबत, सही विचार निर्वचन की दृष्टि से किया जाना चाहिए। यह कोई ऐसा नया सिद्धान्त या दृष्टिकोण नहीं है जिसे उनके द्वारा, जो अपने सिद्धान्त का समर्थन करने के लिए परम्परा विरोधी तरीके अपनाते हैं, ईजाद की गई नई पद्धति मान लिया जाए। यह दलील कि चूंकि अभिव्यक्त परिसीमाएं नहीं हैं इसलिए विवक्षित परिसीमाएं भी नहीं हैं, विरोधी कथन है। विवक्षित परिसीमाएं केवल तब ही पैदा होती हैं जब अभिव्यक्त परिसीमाएं नहीं होती हैं। विद्वान् महान्यायवादी की इस दलील का कि संविधान का संशोधन करने की शक्ति में किसी प्रकार की विवक्षाएं नहीं मानी जा सकती हैं, वैस्ट बनाम कमिश्नर ऑफ टैक्सेशन (2) (एन० एस० डब्ल्यू०) में न्या० डिक्सन के शब्दों में विरोध किया जाना चाहिए—

> "इन्जीनियर के मामले के पश्चात् ऐसा प्रतीत होता है कि यह धारणा आम हो गई है कि संविधान का निर्वचन करने में किसी प्रकार की विवक्षाएं नहीं की जा सकती हैं। अर्थान्वयन की यह रीति किसी लिखत के आशय को, किन्तु ऐसी लिखतों में ऐसा प्रतीत होता है कि संविधान ही ऐसी अन्तिम लिखत है जिसके आशय को, वह निष्फल बना सकती है।"

हम यह अभिनिर्धारित करने में समान रूप से असमर्थ हैं कि प्रस्तावना संविधान की सम्पूर्ण स्कीम, संविधान के सुसंगत उपबन्ध और वह संदर्भ को, जिसमें सात्विक अभिव्यक्तियों का प्रयोग अनुच्छेद 368 में हुआ है, देखते हुए संशोधन की शक्ति के प्रयोग के सम्बन्ध में विवक्षित परिसीमाएं पैदा नहीं होती हैं। प्रत्यर्थियों ने इस बात का

(1) (1878) 3 ए० सी० 905.

(2) (1937) 56 सी० एल० आर० 657.

विरोध नहीं किया है कि आवश्यक विवक्षा द्वारा कतिपय परिसीमाएं पैदा होती हैं उदाहरणार्थ यह कि संविधान सम्पूर्ण रूप से निराकृत या निरसित नहीं किया जा सकता है और यह कि भारतीय राजतन्त्र प्रभुत्वसम्पन्न लोकतन्त्रात्मक गणराज्य रहेगा। इसके अतिरिक्त अनुच्छेद 368 से उद्भूत होने वाली अनेक अन्य विवक्षाएं जिनके बारे में हमने ध्यान दिया है।

यह तर्क कि राष्ट्र आगे तब तक नहीं बढ़ सकता है और प्रस्तावना में उपवर्णित उद्देश्य तब तक प्राप्त नहीं किए जा सकते जब तक कि संशोधन करने वाली शक्ति की परिधि और उसका विस्तार स्वयं संविधान सभा या स्वयं जनता की शक्ति की तरह न हो, ठोस आधार पर आधारित प्रतीत नहीं होता है। संविधान के निर्माताओं ने सभी क्षेत्रों में अर्थात् सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक क्षेत्रों में देश के विकास की व्यवस्था की थी। संविधान का निर्माण समानतावादी समाज की धारणा पर आधारित है। किन्तु संविधान निर्माताओं ने यह नहीं चाहा था कि यह एक ऐसा समाज होना चाहिए जिसमें नागरिक विभिन्न स्वतन्त्रताओं का और उन अधिकारों का, जो कि ऐसी स्वतन्त्रताओं के मूल तत्व हैं उदाहरणार्थ समानता का अधिकार, धार्मिक स्वतन्त्रता का अधिकार आदि, उपभोग न करें जिससे कि एक व्यक्ति के रूप में उसकी गरिमा बनी रह सके। प्रत्यर्थियों की ओर से यह बलपूर्वक आग्रह किया गया है कि किसी नागरिक की उस दशा में अपनी गरिमा नहीं हो सकती है यदि वह आर्थिक रूप से या सामाजिक रूप से पिछड़ा हुआ है। कोई भी इस कथन का विरोध नहीं कर सकता है किन्तु संविधान में निहित सम्पूर्ण योजना व्यक्ति विशेष की गरिमा को छीने बिना आर्थिक और सामाजिक परिवर्तनों को लाने की है। वस्तुतः यह गरिमा इतने उच्च आसन पर रखी गई है कि स्वतन्त्रता आदि सुनिश्चित करने के लिए उनके उल्लंघन को इस देश के उच्चतम न्यायालय द्वारा निर्णय बनाया गया है। केरल एजुकेशन बिल में मु० न्या० दास की यह इतरोक्ति उस वस्तुस्थिति को सही चित्रित करती है जिसमें कि भाग 3 और 4 के बीच समरसता होनी चाहिए। वास्तव में यदि उसका कोई महत्वपूर्ण उपबन्ध काट दिया गया या उसका वह स्वरूप नष्ट कर दिया गया तो वस्तु-स्थिति विरूपित और अस्पष्ट बन जाएगी।

[संविधान का मूलभूत ढांचा कोई अस्पष्ट धारणा नहीं है और प्रत्यर्थियों की ओर से अभिव्यक्त आशंकाएं कि न तो नागरिक और न संसद् ही इसे समझ पाएंगे, निराधार हैं। यदि संविधान की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, प्रस्तावना, सम्पूर्ण स्कीम, अनुच्छेद 368 सहित संविधान के सुसंगत उपबन्धों को ध्यान में रखा जाए तो यह काम लेने में कोई कठिनाई नहीं होगी कि सांविधानिक संरचना के निम्नलिखित मूलभूत तत्व माने जा सकते हैं। (इन्हें तालिकाबद्ध नहीं किया जा सकता किन्तु केवल दृष्टांत के रूप में ही दिया जा सकता है)—

1. संविधान की सर्वोपरिता।

2. गणतन्त्रात्मक और लोकतन्त्रात्मक शासन-पद्धति और देश का प्रभुत्व-सम्पन्न होना।

3. संविधान का धर्मनिरपेक्ष एवं परिसंघीय स्वरूप।

4. विधानमण्डल, कार्यपालिका और न्यायपालिका के बीच शक्ति का सीमांकन।

5. भाग 3 में दी गई विभिन्न स्वतन्त्रताओं एवं मूल अधिकारों द्वारा सुनिश्चित व्यक्ति विशेष की प्रतिष्ठा और भाग 4 में अन्तर्विष्ट कल्याणकारी राज्य बनाने का आदेश।

6. राष्ट्र की एकता और अखण्डता।

यह सम्पूर्ण विवेचन अनुच्छेद 368 में प्रयुक्त "संशोधन" अभिव्यक्ति के अर्थ की दृष्टि से और उन परिसीमाओं की दृष्टि से जो विवक्षाओं द्वारा उद्भूत होती हैं, इस परिणाम की ओर ले जाता है कि अनुच्छेद 368 के अधीन संशोधन करने की शक्ति न तो संकीर्ण है न ही असीमित। जिस आधार पर हमने विचार किया है उसके अनुसार चौबीसवें संशोधन की विधिमान्यता उस दशा में बनी रह सकती है यदि अनुच्छेद 368, जैसा कि वह मूलतः था और संशोधन के पश्चात्, उस रूप में पढ़ा जाए जिसमें कि हमने पढ़ा है। अनुच्छेद 13(4) और 368(3) के अंतःस्थापित किए जाने से और अन्य संशोधन करने से इस परिणाम पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा अर्थात् यह कि अनुच्छेद 368 में दी गई शक्ति इतनी विस्तृत है कि वह परिवर्धन, परिवर्तन या निरसन द्वारा प्रत्येक अनुच्छेद का संशोधन उस दशा में अनुज्ञात करती है यदि उसके मूलभूत तत्वों का निराकरण न हो अथवा उनका अस्तित्व समाप्त न हो।

इसके पश्चात् हम संविधान (पच्चीसवां संशोधन) अधिनियम की विधिमान्यता पर विचार करेंगे। संशोधन अधिनियम की धारा 2 में इस प्रकार उपबन्धित है—

"2. संविधान के अनुच्छेद 31 में,—

(क) खण्ड (2) के स्थान पर निम्नलिखित खण्ड रख दिया जाएगा, अर्थात्—

'(2). कोई सम्पत्ति, सार्वजनिक प्रयोजन के लिए ही और केवल ऐसी विधि के प्राधिकार से अनिवार्यतः अर्जित या अधिगृहीत की जाएगी, जो सम्पत्ति के अर्जन या अधिग्रहण का, ऐसी राशि के बदले जो उस विधि द्वारा नियत की जाए या जो ऐसे सिद्धान्तों के अनुसार अवधारित की जाए और ऐसी रीति से दी जाए जो उस विधि में विनिर्दिष्ट हों, उपबन्ध करती है; और ऐसी किसी विधि पर किसी न्यायालय में इस आधार पर आपत्ति नहीं की जाएगी कि इस प्रकार नियत या अवधारित राशि पर्याप्त नहीं है अथवा ऐसी पूरी राशि या उसका कोई भाग नकद न दिया जाकर अन्यथा दिया जाना है :

परन्तु...............'

(ख) खण्ड (2-क) के पश्चात् निम्नलिखित खण्ड जोड़ दिया जाएगा, अर्थात्—

(2-ख). अनुच्छेद 19 के खण्ड (1) के उपखण्ड (च) की कोई बात किसी ऐसी विधि पर प्रभाव नहीं डालेगी जो खण्ड (2) में निर्दिष्ट है।"

जैसा कि विधेयक (1971 का संख्या 106) के उद्देश्यों और कारणों के कथन में कहा गया है "प्रतिकर" शब्द को अनुच्छेद 31(2) से लुप्त करने का प्रयास किया गया है और "राशि" शब्द को उसके स्थान पर रखा गया है। यह स्पष्ट किया जा रहा था कि उक्त 'राशि" को नकद न दिया जाकर अन्यथा दिया जाता है। यह भी उपबन्ध किया गया था अनुच्छेद 19(1)(च) सार्वजनिक प्रयोजन के लिए सम्पत्ति के अर्जन या अधिकरण से

सम्बन्धित किसी विधि को लागू नहीं होगा। प्रत्यर्थियों की स्थिति यह है कि इस न्यायालय के विनिश्चयों के अनुसार "प्रतिकर" को उस बाजार भाव या न्यायोचित समतुल्य रकम के अर्थ में माना गया है जिससे कि स्वामी वंचित हुआ है। इसके कारण चतुर्थ संशोधन अधिनियम, 1955 अधिनियमित हुआ था। पश्चात्वर्ती विनिश्चयों में "प्रतिकर" की धारणा को, अर्थात् अर्जित सम्पत्ति के मूल्य की न्यायोचित समतुल्य राशि को, 1955 में किए गए संशोधनों के बावजूद भी स्वीकार किया जाता रहा। [गुजरात राज्य बनाम शान्तीलाल मंगलदास (1) में मेटल कारपोरेशन ऑफ इण्डिया वाले मामले (2) में दिया गया विनिश्चय उलट दिया गया और गुजरात राज्य बनाम शान्तीलाल मंगलदास वाला विनिश्चय (1) स्वयं आर० सी० कूपर बनाम भारत संघ (3) द्वारा वस्तुत: उलट दिया गया।] महाराष्ट्र के महाधिवक्ता के अनुसार यदि शान्तीलाल मंगलदास वाला मामला (1) आर० सी० कूपर बनाम भारत संघ (3) द्वारा उलटा नहीं गया होता तो अनुच्छेद 31(2) के संशोधन करने की कोई आवश्यकता नहीं थी।

पहले इस प्रश्न को अवधारित करना है कि "राशि" शब्द का क्या अर्थ है। "प्रतिकर" शब्द से भिन्न रूप में इसका कोई विधिक अर्थ नहीं है। वह एक अनिश्चित वर्णहीन शब्द है। सांविधानिक उपबन्ध में प्रयुक्त इस शब्द के वास्तविक अर्थ को जानने में शब्दकोश में दिए गए अर्थ सहायक नहीं हैं। यह एक पैसे से लेकर रुपयों में कोई भी अंक हो सकता है। अत: इसके अर्थ को उस संदर्भ के अनुसार, जिसमें कि इसका प्रयोग किया गया है, और उसके पूर्ववर्ती एवं पश्चात्वर्ती शब्दों के संदर्भ में, अभिनिश्चित करना होगा।

अनुच्छेद 31(2) की संयोजना अब इस प्रकार है—

1. सम्पत्ति का अनिवार्य रूप से अर्जन या अधिग्रहण होना है।
2. ऐसा सार्वजनिक प्रयोजन के लिए होना है।
3. ऐसा विधि द्वारा किया जाना है।
4. विधि में ऐसी राशि का उपबन्ध होना चाहिए जो—
   (i) ऐसी विधि द्वारा नियत हो; या
   (ii) ऐसे सिद्धान्तों के अनुसार अवधारित की जाए जैसे कि ऐसी विधि में विनिर्दिष्ट हैं।
5. ऐसी विधि को न्यायालय में इस आधार पर प्रश्नगत नहीं किया जाएगा—
   (i) कि इस प्रकार नियत या अवधारित राशि पर्याप्त नहीं है, या
   (ii) ऐसी सम्पूर्ण राशि या उसका कोई भाग नकद न दिया जाकर अन्यथा दिया जाना है।

यह बात महत्वपूर्ण है कि यह राशि यदि स्वयं विधि द्वारा नियत न की गई हो तो विनिर्दिष्ट सिद्धान्तों के अनुसार अवधारित की जा सकती है। इसके अतिरिक्त उसकी पर्याप्तता को न्यायालय में प्रश्नगत नहीं किया जा सकता है। "सिद्धान्त" शब्द का प्रयोग

(1) (1969) 3 एस० सी० आर० 341=[1969] 3 उम० नि० प० 753.
(2) (1967) 1 एस० सी० आर० 255.
(3) (1970) 3 एस० सी० आर० 530.

और अपर्याप्तता का प्रश्न केवल तब पैदा हो सकता है यदि उस राशि का कोई मानक हो। यदि उसका कोई मानक नहीं है तो सिद्धान्तों को विनिर्दिष्ट करने का कोई प्रश्न पैदा नहीं होता है, न ही उसकी पर्याप्तता को अवधारित करने का कोई अवसर होगा। इस तथ्य से कि न्यायालय पर्याप्तता के प्रश्न पर विचार करने से विवर्जित किए गए हैं, यह दर्शित होता है कि "राशि" पर्याप्त या अपर्याप्त दोनों ही हो सकती हैं। यदि वह अपर्याप्त है तो उस राशि के नियतन या अवधारण को चुनौती नहीं दी जा सकती है। इसमें किसी स्तरमान या मानक के विद्यमान होने की परिकल्पना है, जिसके बिना पर्याप्तता की बाबत कोई जांच पूर्णतः अनावश्यक और असंगत बन जाती है। इसके अतिरिक्त राशि देने की बाबत दोनों में से किसी भी रीति का एक ही परिणाम निकलना चाहिए। दूसरे शब्दों में यदि सम्पत्ति के अर्जन के लिए एक हजार रुपये की रकम दी जानी है तो उसे या तो नियत किया जाना चाहिए या उसके नियत न किए जाने की दशा में वह विनिर्दिष्ट सिद्धान्तों द्वारा अवधारणीय होनी चाहिए। यह आशय नहीं हो सकता कि दोनों वैकल्पिक रीतियों के भिन्न-भिन्न परिणाम निकलें अर्थात् यह कि वह एक हजार रुपये पर नियत की जा सकती है किन्तु यदि सिद्धान्त विनिर्दिष्ट हों तो वह राशि भिन्न हो सकती है।

महाराष्ट्र के महाधिवक्ता ने कहा है कि स्वामी का अधिकार केवल उतना ही है जितना कि सरकार उसे अवधारित करे। सरकार जो चाहे दे सकती है और जब चाहे दे सकती है। इस प्रकार की दलील मानने योग्य नहीं है और उसमें मनमानेपन का तत्व है जो संसद् को नहीं दिया जा सकता।

शान्तीलाल मंगलदास वाले मामले ([1]) में जिसमें कि महाधिवक्ता के निवेदन के अनुसार अनुच्छेद 31(2) से, जैसा कि वह तब था, सम्बन्धित सही सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया है, यह अधिकथित किया गया था कि ऐसे विनिर्दिष्ट सिद्धान्तों को लागू करके नियत या अवधारित कोई राशि, जोकि अवास्तविक है, या किसी भी रूप में प्रतिकर नहीं मानी जा सकती है, न्यायालयों द्वारा मंजूर नहीं की जा सकेगी, "क्योंकि ऐसा करने से मनमानेपन का अधिकार देना होगा एवं सांविधानिक गारण्टी को विफल करने की रीति अनुज्ञात करना होगा।" यह भी कहा गया कि इन सिद्धान्तों को इस आधार पर चुनौती दी जा सकती है कि वे प्रतिकर का अवधारण करने की बाबत असंगत हैं। किन्तु इस अभिवाक् को चुनौती नहीं दी जा सकती कि जो कुछ दिया गया है वह न्यायोचित या ऋजु प्रतिकर नहीं है। अतः न्यायालय नियत की गई रकम के मनमाने होने या उसके अवास्तविक होने के प्रश्न पर शान्तीलाल मंगलदास वाले मामले([1]) में अधिकथित विधि के अधीन भी विचार कर सकते हैं। इन सिद्धान्तों की उपयुक्तता को भी न्यायालयों द्वारा निर्णय अभिनिर्धारित किया गया है। आर० सी० कूपर के मामले([2]) में भिन्न सिद्धान्त अधिकथित नहीं किए गए हैं। किन्तु उसमें व्यक्त मत के बारे में यह समझा गया था कि न्यायोचित समतुल्य का सिद्धान्त, जिसे कि शान्तीलाल के मामले([1]) में स्वीकार नहीं किया गया था, पुनः स्वीकार किया गया था। जो संशोधन अब किया गया है वह स्पष्ट रूप से इस सिद्धान्त को हटाने के आशय से किया गया है और इस कारणवश 'प्रतिकर' के स्थान पर 'राशि' शब्द

([1]) (1969) 3 एस० सी० आर 341=[1969] 3 उम० नि० प० 753.
([2]) (1970) 3 एस० सी० आर 530.

प्रतिस्थापित किया गया है। ऐसा विशेष रूप से इसलिए किया गया है क्योंकि हम इस सुस्थिर नियम का उल्लंघन नहीं करना चाहते कि ऐसी परिस्थितियों में संसद् ने पूर्ववर्ती विनिश्चयों के निर्णयाधार की पूर्ण जानकारी रखते हुए संशोधन किया है।

महाराष्ट्र के महाधिवक्ता ने निवेदन किया है कि राशि नियत करना या विकल्पतः ऐसी राशि अवधारित करने के लिए सिद्धान्त विनिर्दिष्ट करना पूर्णतः विधानमण्डल के निर्णयाधीन है और संशोधन का मुख्य उद्देश्य न्यायिक पुनर्विलोकन का, जिसे कि प्रतिकर के सिद्धान्त के आधार पर न्यायालयों द्वारा लागू किया गया है, अपवर्जन करना है। किन्तु फिर भी विधानमण्डल के सदस्यों के समक्ष कोई आधार या सिद्धान्त होने चाहिएं जिससे कि वे यह राशि नियत कर सकें क्योंकि यह राशि मनमाने रूप में नियत नहीं की जा सकती है। लेकिन उसने यह अप्रायिक स्पष्टीकरण दिया है कि मन्त्रीमण्डलीय शासन में केवल सरकार ही यह राशि अवधारित या वे सिद्धान्त विनिर्दिष्ट कर सकती है जैसे कि वे करना चाहे। सत्ताधारी दल के विधायक ऐसे उपाय का समर्थन करने के लिए आबद्ध हैं, चाहे यह आधार, जिस पर राशि अवधारित की गई है, उन्हें बताया जाता है या नहीं। यह बात पूर्णतः अबोध्य है कि जब तक सत्ताधारी दल और विरोधी दल दोनों के सदस्यों द्वारा विचार-विमर्श और चर्चा की गुंजाइश न हो तब तक विधायी निर्णय या विनिश्चय कैसे लिया जा सकता है। नियत की गई किसी 'राशि' या विनिर्दिष्ट सिद्धान्तों की बाबत किसी चर्चा के लिए सम्पूर्ण आधार को बतलाना होगा। जब तक कि कोई स्तरमान या मानक न हो तब तक कोई आधार नहीं हो सकता है।

विद्वान् महासॉलिसिटर ने सहमति प्रकट की है कि अनुच्छेद 31(2) संशोधन के पश्चात् भी विधानमण्डल को या तो नकदी के रूप में या अन्यथा धनराशि स्वामी को देने का उपबन्ध करने के लिए विवश करता है। 'राशि' नियत करने में विधानमण्डल को कुछ सिद्धान्तों पर चलना होगा। ऐसा अनुच्छेद 31(2) से उद्भूत होने वाली किसी विशिष्ट बाध्यता के कारण नहीं है अपितु स्वयं विधायी शक्ति की सामान्य प्रकृति के कारण है। विधान का चाहे कोई भी विषय या स्वरूप हो वह सदैव सिद्धान्तों के अनुसार होता है—ऐसा विधायी नीति पर आधारित है। सिद्धान्त के अन्तर्गत सामाजिक न्याय सम्बन्धी बातें भी आ सकती हैं। 'राशि' की अपर्याप्तता और संदाय की रीति के आधार पर न्यायिक पुनर्विलोकन किया जाना अभिव्यक्त भाषा द्वारा अपवर्जित है। कोई अन्य प्रश्न अपवर्जित नहीं है। वह स्वामी जिसकी सम्पत्ति छीनी गई है, अब भी मूल अधिकार रखता है। यह दलील भी बिल्कुल वैसी नहीं है जैसी कि विद्वान् महासॉलिसिटर की है।

यह बात सही है कि स्वामी को दी जाने वाली 'राशि' उसका बाजार मूल्य न हो। सम्पत्ति की कीमत ऐसे भिन्न कारणों से बढ़ सकती है जिसके लिए स्वामी ने कोई मूल्य नहीं दिया है। सामाजिक न्याय के तत्व पर विचार करना होता है। किन्तु फिर भी विद्वान् महासॉलिसिटर की दलील के अनुसार 'राशि' प्राप्त करने का अधिकार मूल अधिकार बना रहता है। उसके अस्तित्व से इन्कार नहीं किया जा सकता। राशि नियत करते समय किसी सिद्धान्त पर चलने की बाध्यता अनुच्छेद 31(2) और विधायी शक्ति के स्वरूप दोनों से उद्भूत होती है। ऐसी कोई शक्ति नहीं हो सकती है जो लोकतान्त्रिक पद्धति में शक्ति का मनमाना प्रयोग अनुज्ञात करे। यदि कोई व्यथित स्वामी यह कहते हुए न्यायालय से निवेदन करता है कि वह उस अधिकार से उन आधारों पर वंचित किया जा रहा है जोकि उसे उपलभ्य हैं, तो न्यायालय उस विषय पर विचार करने से इन्कार

नहीं कर सकता है। न्यायालय निश्चित रूप से विधायी निर्णय पर सम्यक् विचार करेगा। किन्तु 'राशि' नियत करने या अवधारित करने के मानक या सिद्धान्त न्यायालय को बतलाने होंगे। न्यायालय का समाधान करना होगा कि 'राशि' का अर्जित या अधिगृहीत सम्पत्ति के मूल्य के साथ युक्तियुक्त सम्बन्ध है और एक या अधिक सुसंगत सिद्धान्तों को लागू किया गया है और इसके अतिरिक्त वह 'राशि' न तो अवास्तविक ही है, न ही वह मनमानी तौर पर नियत की गई है, न ही वह ऐसी मात्रा में नियत की गई है जिसका अर्थ अनुच्छेद 31(2) के अधीन अधिकार से पूर्णतः वंचित करने का हो। तथापि पर्याप्तता या अपर्याप्तता के प्रश्न पर विचार नहीं किया जा सकता है।

जहां तक कि संदाय की रीति का सम्बन्ध है, संशोधित अनुच्छेद से यह उपदर्शित नहीं होता है कि संदाय की कोई मनमानी रीति अनुध्यात है। यह बात सुविदित है कि विवेक का प्रयोग युक्तियुक्त रूप में करना होता है।

जहां तक कि अनुच्छेद 31 में अन्तःस्थापित खण्ड (2ख) का, जो कि अनुच्छेद 19(1)(च) को लागू होने से रोकता है, सम्बन्ध है, यह उपधारणा करने का कोई आधार नहीं है कि ऐसी प्रक्रिया का उपबन्ध किया जाएगा जो युक्तियुक्त नहीं होगी या नैसर्गिक न्याय के नियमों के विरुद्ध होगी। पच्चीसवें संशोधन की धारा 2 उसके सम्बन्ध में ऊपर दिए गए अर्थान्वयन के आधार पर कायम रखी जा सकती है।

अब हम पच्चीसवें संशोधन के अधिकतम विवादग्रस्त उपबन्ध पर अर्थात् धारा 3 पर आते हैं जिसके द्वारा निम्नलिखित अनुच्छेद अन्तःस्थापित किया गया है—

> "31ग. अनुच्छेद 13 में किसी बात के होते हुए भी, कोई विधि, जो अनुच्छेद 39 के खण्ड (ख) या खण्ड (ग) में उल्लिखित तत्त्वों को सुनिश्चित करने के लिए राज्य की नीति को प्रभावी करने वाली हो, इस आधार पर शून्य न समझी जाएगी कि वह अनुच्छेद 14, अनुच्छेद 19 या अनुच्छेद 31 द्वारा प्रदत्त अधिकारों में से किसी से असंगत है अथवा उसे छीनती या न्यून करती है; और जिस विधि में यह घोषणा हो कि वह ऐसी नीति को प्रभावी करने के लिए है, उस पर किसी न्यायालय में इस आधार पर आपत्ति नहीं की जाएगी कि वह ऐसी नीति को प्रभावी नहीं करती :
>
> परन्तु जहां ऐसी विधि किसी राज्य के विधानमण्डल द्वारा बनाई जाए वहां इस अनुच्छेद के उपबन्ध उसे तब तक लागू न होंगे जब तक कि ऐसी विधि को, राष्ट्रपति के विचार के लिए रक्षित किए जाने के पश्चात्, उसकी अनुमति न मिल गई हो।"

1971 के विधेयक संख्या 106 में दिए गए उद्देश्यों और कारणों के कथन के अनुसार इस नए अनुच्छेद को यह उपबन्धित करने के लिए पुरःस्थापित किया गया है कि यदि कोई विधि अनुच्छेद 39 के खण्ड (ख) और (ग) में अन्तर्विष्ट नीति के निदेशक तत्त्वों को प्रभावी बनाने के लिए पारित की जाती है और उसमें इस प्रभाव की घोषणा है तो ऐसी विधि इस आधार पर शून्य नहीं मानी जाएगी कि वह अनुच्छेद 14, 19 या 31 में अन्तर्विष्ट अधिकारों में से किसी अधिकार को छीनती है या न्यून करती है और उसे इस आधार पर प्रश्नगत नहीं किया जाएगा कि वह इन सिद्धान्तों को प्रभावी नहीं बनाती है। राज्य विधानमण्डलों द्वारा बनाई गई विधियों की दशा में इस उपबन्ध को लागू करने के लिए यह आवश्यक है कि सुसंगत विधेयक राष्ट्रपति के विचारार्थ रक्षित किया जाए और राष्ट्रपति की अनुमति प्राप्त करे।

अनुच्छेद 39 में नीति के कुछ निदेशक तत्व दिए गए हैं जिनका राज्य द्वारा पालन किया जाना है। उसमें अन्य बातों के साथ-साथ राज्य को व्यादिष्ट किया गया है कि वह अपनी नीति का विशेषतया ऐसा संचालन करेगा कि सुनिश्चित रूप से—

"(ख). समुदाय की भौतिक सम्पत्ति का स्वामित्व और नियन्त्रण इस प्रकार बंटा हो कि जिस से सामूहिक हित का सर्वोत्तम रूप से साधन हो ;

(ग) आर्थिक व्यवस्था इस प्रकार चले कि जिस से धन और उत्पादन-साधनों का सर्वसाधारण के लिए अहितकारी केन्द्रण न हो ;"

इन उपबन्धों में तथा संविधान के अन्य उपबन्धों में यह मुख्य उद्देश्य अन्तर्विष्ट है अर्थात् हमारे देश में कल्याणकारी राज्य और समानतावादी सामाजिक व्यवस्था का निर्माण। जैसा कि इससे पूर्व कहा गया है मूल अधिकार और निदेशक तत्वों को "हमारे संविधान की अन्तरात्मा" के रूप में वर्णित किया गया है। संविधान निर्माताओं के समक्ष अन्य उद्देश्यों के अतिरिक्त एक महत्वपूर्ण उद्देश्य आम व्यक्ति की स्थिति में उन्नति और सुधार लाने का था और सामाजिक न्याय के सिद्धान्तों पर आधारित सामाजिक-आर्थिक परिवर्तन लाने का था। जबकि संविधान के निर्माताओं ने सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक क्षेत्रों में विकास की कल्पना की, उनकी यह इच्छा नहीं थी कि यह एक ऐसा समाज हो जिसमें नागरिक का व्यक्ति के रूप में कोई महत्व नहीं होना चाहिए। संविधान के भाग 3 से दर्शित होता है कि संविधान के निर्माता समान रूप से इस बारे में चिन्तित थे कि यह एक ऐसा समाज हो जिसमें नागरिक विभिन्न स्वतन्त्रताओं और ऐसे अधिकारों का उपभोग करें जो उन स्वतन्त्रताओं के आधारभूत तत्व हैं और जिनके बिना व्यक्ति का कोई महत्व नहीं हो सकता है। हमारे संविधान के निर्माताओं ने मूल अधिकारों और निदेशक तत्वों के बीच किसी प्रकार के विरोध की कल्पना नहीं की थी। वे तो एक-दूसरे के अनुपूरक होने के लिए आशयित थे। यह कहा जा सकता है कि निदेशक तत्वों में उद्देश्य की प्राप्ति विहित है और मूल अधिकारों में वह रीति अधिकथित है जिसके द्वारा वह उद्देश्य प्राप्त करना है। जबकि पिटीशनरों की ओर से मूल अधिकारों के सम्बन्ध में अत्यधिक बल दिया गया है, प्रत्यर्थियों की ओर से काउन्सिल का कहना है कि मूल अधिकारों को निदेशक तत्वों के अधीनस्थ होना चाहिए। संविधान सभा ने बी० एन० राव द्वारा दिए गए ऐसे सुझाव को नहीं माना था। यह सुझाव दिया गया है कि अब ऐसी स्थिति आ गई है जब कुछ आधारभूत स्वतन्त्रताएं और अधिकारों को निराकृत करना उस दशा में आवश्यक हो गया है यदि उद्देश्य के अनुसार यह न्यायोचित हो। हमारी सांविधानिक विधि के इस विकास क्रम में इससे पूर्व यह मत अपनाया गया था कि राज्य की नीति के निदेशक तत्व मूल अधिकारों के अध्याय के अनुरूप होंगे और उससे गौण रूप में रहेंगे। किन्तु केरल एजुकेशन बिल, 1957 में मुख्य न्यायाधिपति दास ने सामंजस्यपूर्ण अर्थान्वयन का नियम अधिकथित किया और यह कहा कि मूल अधिकारों और निदेशक तत्वों दोनों को ही प्रभावी करने का प्रयास करना चाहिए।

श्री पालखीवाला के अनुसार अनुच्छेद 31ग संविधान के अनेक अनिवार्य तत्वों को नष्ट करता है। उसने कहा है कि इन दोनों दशाओं के बीच अत्यधिक अन्तर है। (क) तब जबकि मूल अधिकारों का संशोधन ऐसी विधियों को विधिमान्य रूप से पारित करने के लिए किया जाता है जो संशोधन के पूर्व शून्य होतीं, और (ख) तब जबकि मूल

अधिकार असंशोधित रहते हैं किन्तु वे विधियां जो ऐसे अधिकारों का उल्लंघन करने के कारण शून्य हैं, इस विधिक कल्पना द्वारा विधिमान्य बनाई जाती हैं कि उन्हें शून्य नहीं माना जाएगा। उसने आगे कहा है कि अनुच्छेद 31ग के अनुसार यह सर्वग्राही अनुच्छेद अपना लेना अनुज्ञेय होगा कि संविधान में अन्तर्विष्ट किसी बात के होते हुए संसद् या किसी राज्य विधानमण्डल द्वारा पारित कोई विधि किसी प्रकार के किसी आधार पर शून्य नहीं मानी जाएगी। उसके अनुसार अनुच्छेद 31ग न केवल संसद् को अपितु सभी राज्य विधानमण्डलों को संविधान का संशोधन करने का अबाध अधिकार देता है। इसके विपरीत प्रत्यर्थियों की ओर से यह दलील दी गई कि अनुच्छेद 31ग, अनुच्छेद 31क और 31ख के समरूप है और इस अनुच्छेद को अन्तःस्थापित करने का उद्देश्य कुछ प्रकार की विधियों को, संविधान के भाग 3 द्वारा मूल अधिकारों को देकर विधायी शक्ति पर अधिरोपित परिसीमा से मुक्त करने का है। महाराष्ट्र के महाधिवक्ता ने यह कहा है कि चूंकि ये अधिकार अनुच्छेद 32 के अधीन निर्णय हैं अतः ऐसा करने का एकमात्र मार्ग ऐसी विधियों के सम्बन्ध में विधान का न्यायिक पुनर्विलोकन अपवर्जित करना ही था। यदि अनुच्छेद 31क विधिमान्य है तो यह कहने का कोई कारण या न्यायोचित्य नहीं है कि अनुच्छेद 31ग में श्री पालखीवाला द्वारा इंगित सभी बुराइयां हैं।

महासॉलिसिटर के अनुसार अनुच्छेद 31ग केवल विधि की संरक्षा करता है और कार्यपालिक कार्य की संरक्षा नहीं करता है। विधि या तो संसद् द्वारा या राज्य विधानमण्डलों द्वारा बनाई जा सकती है। अनुच्छेद 31ग को, अनुच्छेद 39 के खण्ड (ख) और (ग) में उपवर्णित उद्देश्यों की प्राप्ति के प्रयोजनार्थ अधिनियमित किया गया है। उसके अधीन अधिनियमित विधि 'भौतिक सम्पत्ति", "धन का केन्द्रण" और "उत्पादन साधन" के सम्बन्ध में प्रवर्तित होगी। सामान्यतः विधायी प्रयास इस प्रकार होगा—(i) समुदाय की भौतिक सम्पत्ति का राष्ट्रीयकरण, और (ii) मुख्य उद्योगों और अनिवार्य वस्तुओं के उत्पादों के उत्पादन, प्रदाय और वितरण के सम्बन्ध में नियन्त्रण का अधिरोपित किया जाना। अतः यह एक विशेष प्रकार की आर्थिक पद्धति का ही केवल विरोध करता है।

हमारे मतानुसार अनुच्छेद 31ग की विधिमान्यता के प्रश्न की परीक्षा मुख्यतः दो दृष्टिकोणों के आधार पर करनी है; पहला दृष्टिकोण अनुच्छेद 19 द्वारा गारण्टी की गई विभिन्न स्वतन्त्रताओं पर उसका प्रभाव, अनुच्छेद 14 द्वारा गारण्टी की गई समानता के अधिकार और अनुच्छेद 31 में अन्तर्विष्ट सम्पत्ति के अधिकार का निराकरण है। दूसरा दृष्टिकोण यह है कि क्या अनुच्छेद 368 के अधीन संशोधन करने वाला निकाय संशोधन करने की अपनी शक्ति का प्रत्यायोजन संघ के और राज्यों के विधानमण्डलों को कर सकता है। विकल्पतः यह कि क्या संसद् और राज्य विधानमण्डल अनुच्छेद 31ग के अधीन संविधान का संशोधन अनुच्छेद 368 में अधिकथित प्ररूप और रीति का अनुपालन किए बिना कर सकते हैं। अब यह बिल्कुल स्पष्ट है कि अनुच्छेद 31ग के अधीन संसद् या राज्य विधानमण्डलों द्वारा पारित विधि इस आधार पर शून्य नहीं मानी जाएगी कि वह अनुच्छेद 14, 19 और 31 द्वारा प्रदत्त अधिकारों में से किसी को छीन लेती है या उसे न्यून करती है, जब तक कि वह विधि अनुच्छेद 39 के खण्ड (ख) और खण्ड (ग) में विनिर्दिष्ट सिद्धान्तों को सुनिश्चित करने के लिए राज्य की नीति को प्रभावी बनाने के

लिए घोषित न की गई हो। यदि अनुच्छेद 31ग का उद्देश्य किसी विशिष्ट आर्थिक पद्धति को हटाने का है, जैसा कि महासालिसिटर ने सुझाव दिया है, तो यह समझना कठिन है कि अनुच्छेद 19 के खण्ड (क) से (च) में अन्तर्विष्ट स्वतन्त्रताओं के साथ-साथ अनुच्छेद 14 के अधीन समानता का अधिकार क्यों छीनना पड़ेगा। संविधान भंग करने वाली विधियों को अधिनियमित करने की यह शक्ति राज्य विधानमण्डल के छोटे से बहुमत तक को सौंपी गई है। श्री पालखीवाला ने कहा है कि उदाहरणार्थ प्रेस की स्वतन्त्रता को अनुच्छेद 31ग के अधीन नष्ट किया जा सकता है क्योंकि प्रत्यर्थियों ने दावा किया है कि उन्हें किसी औद्योगिक या आर्थिक क्रियाकलाप का राष्ट्रीयकरण करने का अधिकार है। इसके अतिरिक्त किसी व्यक्ति को किसी ऐसी नीति का समर्थन करने के लिए, जोकि सरकारी नीति के विरुद्ध है, जेल में डाला जा सकता है। ऐसे विधान को चुनौती नहीं दी जा सकती है क्योंकि अनुच्छेद 19(1)(क) लागू नहीं होगा और अनुच्छेद 21 में दैहिक स्वाधीनता से विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया के अनुसार वंचित किया जाना अनुज्ञात है। मुम्बई राज्य और एक अन्य बनाम एफ० एन० बलसारा[1] का मामला सुसंगत है। किसी मादक वस्तु के प्रयोग का प्रचार अपराध बनाया गया। उसे इस न्यायालय द्वारा अनुच्छेद 19(1)(क) का अतिक्रमण करने के कारण अभिखण्डित किया गया। यदि अनुच्छेद 31ग सांविधानिक है तो अनुच्छेद 39(क) और (ख) के भीतर आने वाले मामलों से सम्बन्धित विधि के अधीन अधिनियमित इस प्रकार का उपबन्ध भी विधिमान्य होगा। वास्तव में इस बारे में कोई स्पष्ट या समाधानप्रद स्पष्टीकरण नहीं दिया गया है कि अनुच्छेद 19 द्वारा गारण्टी की गई सभी स्वतन्त्रताओं को छीन लेना और अनुच्छेद 14 के अधीन समानता के महत्वपूर्ण अधिकार को, जिसको कि गणतन्त्र के आधारभूत सिद्धान्त के रूप में वर्णित किया गया है, निराकृत करना क्यों आवश्यक था[2]। इस अनुच्छेद में विधि-शासन का इंग्लैण्ड का सिद्धान्त और अमरीकी संविधान के चौदहवें संशोधन का 'समान संरक्षण खण्ड' दोनों हैं। अतः इसके अनुसार यह है कि अनुच्छेद 31ग [3] पूर्ण शक्ति के साथ अनेक मूल अधिकारों से टकराता है जोकि संसद् और राज्य विधानमण्डलों द्वारा निराकृत होने योग्य बन जाते हैं।

जहां तक कि संशोधन करने की शक्ति के प्रत्यायोजन का प्रश्न है यह बात उल्लेखनीय है कि स्वयं अनुच्छेद 368 में कोई ऐसा संशोधन नहीं किया गया है जिससे कि सांविधानिक शक्ति का प्रत्यायोजन किया जा सके। विशेष रूप से राज्य विधानमण्डलों को ऐसी शक्ति का प्रत्यायोजन करने के गम्भीर परिणाम निकलते हैं। यह बात सुस्थिर है कि एक विधान-मण्डल एक अन्य विधायी निकाय सृजित नहीं कर सकता है। यह बात बहुत स्पष्ट रूप से प्रिवी काउन्सिल के दो विनिश्चयों में अधिकथित की गई है। इनिशिएटिव एण्ड रेफरेण्डम ऐक्ट के मामले[4] में जिसके बारे में हमने पहले ही चर्चा की है, इस बारे में कोई संदेह प्रकट

(1) (1951) एस० सी० आर० 682.

(2) पश्चिमी बंगाल राज्य बनाम अनवर अली सरकार (न्या० पातञ्जलि और मुख्य न्यायाधिपति शास्त्री के अनुसार)—1952 एस०सी०आर० 284 पृष्ठ 293 और 313.

(3) बसेसर नाथ बनाम आयकर आयुक्त, दिल्ली राजस्थान (मुख्य न्यायाधिपति दास के अनुसार)—(1959) सप्लीमेण्ट 1 एस० सी० आर० 528, 551.

(4) (1919) ए० सी० 935.

नहीं किया गया था कि ऐसा निकाय जिसे विधान बनाने की शक्ति उसको सौंपे गए विषयों की बाबत है, यद्यपि वह शक्ति इतनी व्यापक है जितनी कि कनाडा के प्रान्तीय विधानमण्डल की है, तथापि वह स्वयं अपने अधिकारस्वरूप कोई ऐसी नई विधायी शक्ति नहीं बना सकता और दे सकता है जिसे कि उस अधिनियम द्वारा नहीं बनाया गया है जिसके कारण कि वह स्वयं अस्तित्व में आया था। अटर्नी जनरल ऑफ नोवॉस्कोटिया बनाम अटर्नी जनरल ऑफ कनाडा[1] का मामला इस मत के सम्बन्ध में एक अन्य प्रत्यक्ष नजीर है कि कनाडा की संसद् या कोई भी विधानमण्डल अपनी शक्तियों को नहीं छोड़ सकता है और विधान के प्रयोजनार्थ ऐसे निकायों में विनिहित नहीं कर सकता है जो ब्रिटिश नार्थ अमरीकन ऐक्ट के निबन्धनों के अनुसार इस प्रकार का प्रत्यायोजन स्वीकार करने और ऐसे विषयों पर विधान बनाने के लिए सशक्त नहीं हैं। प्रत्यर्थियों की ओर से काउन्सेल द्वारा किया गया प्रभेद और उसके द्वारा अवलम्बित मामले विद्वान् मुख्य न्यायाधिपति के निर्णय में पूर्णत: चर्चित हैं और हमें उन्हीं आधारों पर विचार करने की आवश्यकता नहीं है।

संविधान के अनुच्छेद 4, 169 और अनुसूची 5 और 6 के सुसंगत पैराओं के अतिरिक्त जिस एकमात्र रीति में संविधान का संशोधन किया जा सकता है वह अनुच्छेद 368 में अधिकथित प्रक्रिया है। यदि वह ही एकमात्र विहित प्रक्रिया है तो यह समझना सम्भव नहीं है कि साधारण विधियों द्वारा संसद् या राज्य विधानमण्डल किस प्रकार संविधान का संशोधन कर सकते हैं विशेषत: तब जब अनुच्छेद 368 में संशोधन की कोई अन्य रीति या संविधान का संशोधन करने के लिए किसी अन्य निकाय को गठित करना, अनुध्यात नहीं है। अनुच्छेद 31ग की परीक्षा करते समय एक अन्य कठिनाई, जोकि तुरन्त सामने आती है, उस अनुच्छेद में उपबन्धित घोषणा का प्रभाव है। अनुच्छेद 31ग की योजना में किसी प्रकार के सामाजिक या आर्थिक विधान को बैठा देना सम्भव है। यदि न्यायालयों को इस प्रश्न पर विचार करने से विवर्जित किया जाता है कि अधिनियमित विधियां अनुच्छेद 39(ख) और (ग) में उपवर्णित नीति को प्रभावी करने के लिए अधिनियमित की गई हैं, तो न्यायालय अनुच्छेद 14, 19 और 31 के अधीन गारण्टी किए गए अधिकारों के सम्बन्ध में आनुषंगिक हस्तक्षेप की जांच करने से भी प्रवारित हो जाएंगे। अनुच्छेद 31क के अधीन अधिनियमित विधियों के सम्बन्ध में यह सम्भव नहीं है। इन विधियों को उसी दशा में कायम रखा जा सकता है यदि वे पूर्वोक्त अनुच्छेदों का उल्लंघन उनको प्रभावी बनाने के लिए आवश्यक सीमा तक ही करती हैं। यद्यपि प्रत्यर्थियों की ओर से यह कहा गया है कि न्यायालय इस बात की परीक्षा कर सकते हैं कि अनुच्छेद 31ग के अधीन बनाई गई विधियों और अनुच्छेद 39(ख) और (ग) के बीच कोई सम्बन्ध है, तथापि शायद ही ऐसी कोई विधि हो जिसके बारे में यह अभिनिर्धारित किया जा सके कि उसका अनुच्छेद 39(ख) और (ग) के साथ, जिसकी परिधि बहुत विस्तृत है, कोई सम्बन्ध नहीं है।

अनुच्छेद 31क और 31ख के बीच अनिवार्य अन्तर यह है कि अनुच्छेद 31क केवल विनिर्दिष्ट विषयों तक ही सीमित है जब कि अनुच्छेद 31ग में विशिष्ट विषय नहीं दिए गए हैं अपितु विधानमण्डलों पर यह बात छोड़ दी गई है कि वह कोई भी ऐसा विषय चुन लें जिसका अनुच्छेद 39(ख) और (ग) में दिए गए उद्देश्यों

---

(1) (1951) एस० सी० आर० कनाडा-31.

के साथ कुछ सम्बन्ध तात्पर्यित हो सके । दूसरे शब्दों में अनुच्छेद 31ग ऐसे विषयों की बाबत है जिनकी विषयवस्तु असीमित है ।

यह दलील कि अनुच्छेद 31ग उस रोक को हटा देता है जोकि अनुच्छेद 14, 19 और 31 के अधीन राज्य विधानमण्डल और संसद् पर थी और यह कि उसे अनुच्छेद 368 का संशोधन मानना चाहिए, विद्वान् मुख्य न्यायाधिपति द्वारा आज दिए गए अपने निर्णय में चर्चित है और हम इस दलील का विरोध करने के लिए उसके तर्क को ससम्मान अंगीकार करते हैं ।

हमारी विवेक-बुद्धि के अनुसार अनुच्छेद 31ग में दो प्रकार की बुराइयां हैं जोकि उसकी विधिमान्यता पर गम्भीर प्रभाव डालती हैं । पहली बुराई यह है कि वह अनुच्छेद 14, 19 और 31 में दिए गए मूल अधिकारों का पूर्ण निराकरण कर सकता है और दूसरे यह कि अनुच्छेद 368 में दी गई संशोधन की शक्ति विशेष प्रकृति की है जिसे कि अनन्य रूप से संसद् को प्रदत्त किया गया है और उसका प्रयोग उस अनुच्छेद में अधिकथित विषय के सम्बन्ध में ही किया जा सकता है । यह कदापि आशयित नहीं था कि उसे किसी अन्य विधानमण्डल को, जिसके अन्तर्गत राज्य विधानमण्डल भी है, प्रत्यायोजित किया जा सकता है ।

अनुच्छेद 31ग द्वारा प्राप्त करने के लिए ईप्सित प्रयोजन, जैसा कि विद्वान् महासॉलिसीटर ने कहा है, अत्यधिक सराहनीय हो सकता है किन्तु उसको समुचित विधियों द्वारा, जो कि सांविधानिक रूप से स्वीकार की जा सकें, प्राप्त करना चाहिए । जो कुछ भी कहा गया है उसको देखते हुए हमारे पास इसके सिवाय कोई अन्य विकल्प नहीं है कि हम अभिनिर्धारित करें कि अनुच्छेद 31ग की विधिमान्यता कायम नहीं रखी जा सकती है ।

अन्तिम विषय उन्तीसवां संशोधन अधिनियम, 1972 की विधिमान्यता का अवधारण करना है । चुनौती केवल दो अधिनियमों के संविधान की नवम अनुसूची में सम्मिलित किए जाने के विरुद्ध दी गई है । ये अधिनियम केरल लैण्ड रिफार्म्स (अमेण्डमेण्ट) ऐक्ट, 1969 और इसी प्रकार का 1971 का केरल ऐक्ट है ।

पिटीशनरों की ओर से मुख्य दलील अनुच्छेद 31क और अनुच्छेद 31ख के बीच के सम्बन्ध तक सीमित है । यह दलील दी गई है कि अनुच्छेद 31ख, अनुच्छेद 31क के साथ अत्यधिक जुड़ा हुआ है और इसलिए केवल वे विधायी अधिनियमितियां जो अनुच्छेद 31क के अधीन आती हैं, अनुच्छेद 31ख के अधीन नवम अनुसूची में सम्मिलित की जा सकती हैं । इस मामले के सम्बन्ध में अब दलील नहीं दी जा सकती है क्योंकि यह विषय इस न्यायालय के अनेक विनिश्चयों द्वारा तय हो गया है । देखिए बिहार राज्य बनाम महाराजाधिराज सर कामेश्वर सिंह ऑफ दरभंगा और कुछ अन्य(1), विश्वेश्वर राव बनाम मध्य प्रदेश राज्य(2) और एन० बी० जीजीभाई बनाम सहायक कलक्टर, थाना प्रान्त, थाना(3) । इन सभी मामलों में यह अभिनिर्धारित किया गया था

(1) (1952) एस० सी० आर० 889.
(2) (1952) एस० सी० आर० 1020.
(3) (1965) 1 एस० सी० आर० 636.

कि अनुच्छेद 31ख अनुच्छेद 31क पर आधारित नहीं है। जो मामला इतने वर्षों से स्थिर है उस पर अब विचार नहीं किया जा सकता है । तथापि न्यायालय यह विनिश्चित करने के लिए अब भी स्वतंत्र होंगे कि जो अधिनियम उन्तीसवें संशोधन अधिनियम द्वारा या उसके किसी उपबंध द्वारा नवम अनुसूची में सम्मिलित किए गए हैं, वे सांविधानिक संरचना के किसी आधारभूत तत्व को निराकृत या उसके अस्तित्व को समाप्त करते हैं या नहीं।

संक्षेप में हमारे निष्कर्ष इस प्रकार हैं—

1. गोलक नाथ के मामले का विनिश्चय सैद्धान्तिक बन गया है क्योंकि यद्यपि यह मान लिया जाए कि बहुमत का निर्णय कि अनुच्छेद 13 (2) में "विधि" शब्द के अन्तर्गत सांविधानिक संशोधन आते हैं, सही नहीं है, तथापि इन प्रश्नों पर, जो कि गोलक नाथ के मामले में उठाए गए प्रश्नों से अधिक व्यापक हैं, और जिन्हें अब हमारे समक्ष उठाया गया है, परिणाम बिल्कुल वही होगा ।

2. चौबीसवें संशोधन पर किया गया विचार-विमर्श इस परिणाम की ओर ले जाता है—

(क) कि उक्त संशोधन असंशोधित अनुच्छेद 368 में जो कुछ विवक्षित था उसे अभिव्यक्त भाषा में स्पष्ट करने के अतिरिक्त कुछ और नहीं करता है और वह तद्धीन मूलतः प्रदत्त शक्ति का विस्तार नहीं करता है या कर सकता है;

(ख) यद्यपि संशोधन की शक्ति का संकीर्ण अर्थान्वयन नहीं किया जा सकता है और वह सभी अनुच्छेदों के सम्बन्ध में लागू होती है तथापि यह इतनी असीमित नहीं है जिससे कि उसके अन्तर्गत संविधान के अस्तित्व का निराकरण या उसके आधारभूत तत्वों का परिवर्तन करने की शक्ति आती हो;

(ग) यद्यपि संशोधन करने की शक्ति के अन्तर्गत अनुच्छेद 13 (2) का संशोधन करने की शक्ति है, एक ऐसा प्रश्न जिसे गोलक नाथ के मामले में विनिश्चित नहीं किया गया था, तथापि यह शक्ति इतनी व्यापक नहीं है जिससे कि इसके अन्तर्गत मूल स्वतंत्रताओं का निराकरण या छीन लेने की शक्ति आती हो; और

(घ) चौबीसवां संशोधन अधिनियम पूर्वोक्त रूप में पढ़े जाने पर विधिमान्य है ।

3. पच्चीसवें संशोधन की धारा 2 द्वारा प्रतिस्थापित रूप में अनुच्छेद 31 का खण्ड (2) संविधान के किसी आधारभूत तत्व का निराकरण नहीं करता है न ही वह उसका अस्तित्व समाप्त करता है क्योंकि—

(क) उस अनुच्छेद के अधीन "राशि" का नियतन या अवधारण किसी ऐसे मानक या सिद्धांत पर आधारित होगा जो अर्जित या अधिगृहीत सम्पत्ति की बाबत संदेय राशि मालूम करने के प्रयोजनार्थ सुसंगत होना चाहिए ;

(ख) यह आवश्यक नहीं है कि यह राशि बाजार मूल्य हो किन्तु उसका ऐसी सम्पत्ति के मूल्य के साथ युक्तियुक्त सम्बन्ध होना चाहिए;

(ग) यह राशि न तो अवास्तविक होनी चाहिए न ही मनमाने रूप में नियत की जानी चाहिए, और

(घ) यद्यपि न्यायालय इस राशि की पर्याप्तता के प्रश्न पर विचार करने से विवर्जित किए गए हैं और वे विधायी निर्णय को सम्यक् महत्व देंगे तथापि ऊपर (क), (ख) और (ग) में दिए गए सभी विषयों की न्यायिक पुनर्विलोकन द्वारा परीक्षा की जा सकेगी।

4. अनुच्छेद 31 में अन्तःस्थापित खण्ड (2ख) के सम्बन्ध में, जो कि अनुच्छेद 19(1)(च) को अप्रवर्तनीय बनाता है, यह मानने का कोई कारण नहीं है कि विधि में अधिकथित सिद्धान्तों पर राशि का अवधारण करने के लिए किसी ऐसी प्रक्रिया का उपबन्ध किया जाएगा जो अयुक्तियुक्त होगी या नैसर्गिक न्याय के नियमों के विरुद्ध होगी।

5. उपर्युक्त मत के अनुसार पच्चीसवें संशोधन की धारा 2 विधिमान्य है।

6. पच्चीसवें संशोधन की धारा 3 की विधिमान्यता, जो कि अनुच्छेद 31ग को संविधान में पुरःस्थापित करती है, कायम नहीं रखी जा सकती क्योंकि उक्त अनुच्छेद में दो बुराइयां हैं। पहले तो यह कि उसके कारण संविधान के आधारभूत तत्वों का निराकरण हो सकता है यहां तक कि अनुच्छेद 14, 19 और 31 में अन्तर्विष्ट मूल अधिकारों को पूर्णतः समाप्त किया जा सकता है और दूसरे अनुच्छेद 368 में अन्तर्विष्ट संशोधन की शक्ति एक विशेष प्रकार की शक्ति है जिसे कि अनन्य रूप से संसद् को दिया गया है और उसका प्रयोग केवल उस अनुच्छेद में अधिकथित रीति में ही किया जा सकता है। इस शक्ति का प्रत्यायोजन देश के किसी अन्य विधानमण्डल को नहीं किया जा सकता है। अतः धारा 3 को असांविधानिक और अविधिमान्य घोषित किया जाना चाहिए।

7. उन्तीसवां संशोधन विधिमान्य है तथापि इस प्रश्न की कि इस संशोधन द्वारा या उन अधिनियमों के किसी उपबन्ध द्वारा नवम अनुसूची में सम्मिलित अधिनियम सांविधानिक संरचना के किसी आधारभूत तत्व का निराकरण करते हैं या उसका अस्तित्व समाप्त करते हैं, उस समय परीक्षा की जाएगी जब इन अधिनियमों की विधिमान्यता पर विचार किया जाएगा।

इन पिटीशनों का विनिश्चय इस निर्णय और विधि के अनुसार करने के लिए इन्हें सांविधानिक न्यायपीठ को प्रतिप्रेषित किया जाता है। सांविधानिक न्यायपीठ हमारे निर्णय को देखते हुए छब्बीसवें संशोधन की विधिमान्यता को भी विनिश्चित करेगी।

न्यायाधिपति हेगड़े और मुखर्जी इन पिटीशनों पर विचार के लिए अत्यधिक सांविधानिक महत्व के प्रश्न उद्भूत हुए हैं। इसमें हमें संविधान के चौबीसवें, पच्चीसवें, छब्बीसवें और उन्तीसवें संशोधनों की सांविधानिक विधिमान्यता का विनिश्चय करना है। हमें बहुत ही विशद् एवं उद्बोधक तर्क सुनने का अवसर मिला जिसमें कि 65 दिन लग गए। हमारे समक्ष इस न्यायालय के तथा इंग्लैण्ड, यूनाइटेड स्टेट्स, कनाडा, आस्ट्रेलिया, जर्मनी, आयरलैण्ड और सिलोन के न्यायालयों के अनेक विनिश्चयों का हवाला दिया गया है। हमारा ध्यान विभिन्न देशों के वर्तमान तथा विगत विधि वेत्ताओं के विभिन्न लेखों की ओर भी आकृष्ट किया गया है। समय के अभाव के कारण हमने छब्बीसवें संशोधन की विधिमान्यता के प्रश्न पर विचार नहीं किया है। इस प्रश्न पर विचार सुगमतापूर्वक बाद

में किया जा सकता है, जब कि यह न्यायपीठ विनिश्चय के लिए उद्भूत कतिपय मूल विधिक प्रश्नों को विनिश्चय कर चुकेगी। इसी कारण से हमने इस प्रक्रम पर इन विभिन्न रिट पिटीशनों के गुणागुण पर भी विचार नहीं किया है। इस समय हम चौबीसवें, पच्चीसवें और उन्तीसवें संविधान के संशोधनों के प्रविषय और उसकी विधिमान्यता का ही विनिश्चय करते हैं।

पूर्वतर उल्लिखित संशोधनों की विधिमान्यता का विनिश्चय करने के लिए यह आवश्यक है कि उस शक्ति के प्रविषय पर विचार किया जाए जो संविधान के अनुच्छेद 368, जैसा कि वह चौबीसवें संशोधन अधिनियम के पूर्व था, द्वारा संसद् को प्रदत्त की गई थी और जो 5 नवम्बर, 1971 को प्रवृत्त हुई थी। संविधान के भाग 20 में केवल अनुच्छेद 368 ही पाया जाता है। इस भाग का शीर्षक है, 'संविधान का संशोधन'। इसका पार्श्व शीर्षक जैसा कि मूलतः था, इस प्रकार है—'संविधान के संशोधन के लिए प्रक्रिया'—यह अनुच्छेद इस प्रकार है—

"इस संविधान के संशोधन का सूत्रपात उस प्रयोजन के लिए विधेयक को संसद् के किसी सदन में पुरःस्थापित करके ही किया जा सकेगा तथा जब प्रत्येक सदन द्वारा उस सदन की समस्त सदस्य-संख्या के बहुमत से तथा उस सदन के उपस्थित और मतदान करने वाले सदस्यों के दो-तिहाई से अन्यून बहुमत से वह विधेयक पारित हो जाता है तब वह राष्ट्रपति के समक्ष उसकी अनुमति के लिए रखा जाएगा तथा विधेयक को ऐसी अनुमति दी जाने के पश्चात् विधेयक के निबन्धनों के अनुसार संविधान संशोधित हो जाएगा :

परन्तु यदि ऐसा कोई संशोधन—

(क) अनुच्छेद 54, अनुच्छेद 55, अनुच्छेद 73, अनुच्छेद 162 या अनुच्छेद 241 में, अथवा

(ख) भाग 5 के अध्याय 4, भाग 6 के अध्याय 5 या भाग 11 के अध्याय 1 में, अथवा

(ग) सप्तम अनुसूची की सूचियों में से किसी में, अथवा

(घ) संसद् में राज्यों के प्रतिनिधित्व में, अथवा

(ङ) इस अनुच्छेद के उपबन्धों में,

कोई परिवर्तन करना चाहता है तो ऐसे उपबन्ध करने वाले विधेयक के राष्ट्रपति के समक्षअनुमति के लिए उपस्थित किए जाने के पहले उस संशोधन के लिए प्रथम अनुसूची के भाग (क) और (ख) में उल्लिखित राज्यों में से कम से कम आधों के विधान-मण्डलों का उस प्रयोजन के लिए उन विधान-मण्डलों से पारित संकल्पों द्वारा अनुसमर्थन भी अपेक्षित होगा।"

पिटीशनरों के विद्वान् काउन्सेल श्री पालखीवाला ने उस अनुच्छेद के प्रविषय की बाबत दो तरह की दलील दी है। उनकी पहली दलील यह है कि अनुच्छेद 368 के अधीन, जैसा कि वह अपने संशोधन के पूर्व था, शक्तियों का प्रयोग करते हुए संसद् के लिए अनुज्ञेय नहीं है कि वह संविधान के भाग 3 द्वारा प्रदत्त अधिकारों में से किसी को छीन

सके या न्यून कर सके। उसकी दूसरी और व्यापक दलील यह है कि अनुच्छेद 368 के अधीन संसद् को प्रदत्त शक्ति उसे यह अनुज्ञा नहीं देती कि वह संविधान के आधारभूत या मूल तत्वों या सारभूत तत्वों को विकृत कर सके या नष्ट कर सके। इन भागों के सम्बन्ध में जो दलीलें हैं वे आवश्यक रूप से एक-दूसरे से मिलती हैं। किन्तु उचित विधिक दृष्टिकोण के लिए यह आवश्यक है कि जहां तक सम्भव हो उन्हें अलग रखा जाए। इसलिए प्रथम दलील के सही होने के बारे में विचार करते समय हम मूल अधिकारों के महत्व पर विचार करेंगे। इस प्रश्न पर अनुच्छेद 368 के प्रति हमारा दृष्टिकोण अनुच्छेद 368 तथा अनुच्छेद 13 की भाषा पर आधारित होगा। मूल अधिकारों के महत्व या उसकी श्रेष्ठ प्रकृति के बारे में तथा साथ ही संशोधन करने की शक्ति पर, यदि कोई हो, उसके विवक्षित या अन्तर्निहित परिसीमाओं के बारे में हम उस समय विचार करेंगे जब कि हम श्री पालखीवाला द्वारा दी गई दो आनुकल्पिक दलीलों में से द्वितीय दलील पर विचार करेंगे।

हम पहले इस प्रश्न पर विचार करेंगे कि क्या अनुच्छेद 368, द्वारा जैसा कि वह मूलत: था, प्रदत्त संशोधन की शक्तियों का प्रयोग करके संसद् भाग 3 द्वारा प्रदत्त मूल अधिकारों में से किसी को छीन सकती है। श्री पालखीवाला के कथनानुसार अनुच्छेद 368, जैसा कि वह संशोधन के पूर्व था, केवल संशोधन के लिए प्रक्रिया अधिकथित करता है। संविधान के संशोधन करने की शक्ति को कहीं अन्यत्र संविधान में खोजना पड़ेगा। अनुच्छेद 368 के अधीन संसद् द्वारा प्रयुक्त की जाने वाली शक्ति प्रकृति में विधायी है और उसके परिणामस्वरूप जो बात निकलती है वह विधि है। इसलिए ऐसी विधि अनुच्छेद 13(2) को ध्यान में रखते हुए, जैसा कि उसमें कथन है कि "राज्य ऐसी कोई विधि नहीं बनाएगा जो इस भाग द्वारा दिए अधिकारों को छीनती या न्यून करती हो और इस खण्ड के उल्लंघन में बनी प्रत्येक विधि उल्लंघन की मात्रा तक शून्य होगी।" यह विधिमान्य रूप से मूल अधिकारों को न तो छीन सकती है और न ही न्यून कर सकती है। उन्होंने और यह दलील दी है कि अनुच्छेद 13 (1) में प्रयुक्त 'विधि' शब्द से न केवल विधायी अधिनियमिति अपितु सांविधानिक अभ्युपाय भी अभिप्रेत हैं और इसमें सम्मिलित हैं। काउन्सेल ने यह दलील दी है कि कोई कारण नहीं है कि अनुच्छेद 13 (2) में प्रयुक्त 'विधि' शब्द को भिन्न अर्थ दिया जाए। उनकी अधिक महत्वपूर्ण दलील यह है कि संविधान में संशोधन करने की शक्ति, चाहे यह मान लिया जाए कि वह अनुच्छेद 368 में अन्तर्विष्ट है, किसी भी रीति में अनन्य शक्ति नहीं है क्योंकि कतिपय बातों की बाबत तथा कतिपय शर्तों के अध्यधीन उसी रूप में विधि अधिनियमित करके जैसे अन्य विधायी अभ्युपाय अधिनियमित किए जाते हैं, संसद् साधारण बहुमत द्वारा भी संविधान का संशोधन कर सकती है। इस सम्बन्ध में उसने हमारा ध्यान अनुच्छेद 4, अनुच्छेद 169, पंचम अनुसूची के पैरा 7 तथा षष्ठ अनुसूची के पैरा 21 की ओर आकृष्ट किया है। काउन्सेल की यह दलील है कि यदि इसमें निर्दिशित संविधान के उपबन्धों के संशोधन को सांविधानिक शक्ति के प्रयोग करने के रूप में समझा जा सकता है और परिणामस्वरूप ऐसा संशोधन अनुच्छेद 13 के अभिव्यक्त अर्थों के अन्तर्गत विधि नहीं समझा जा सकता, तब संसद् मात्र उपस्थित तथा मत देने वाले सदस्यों के साधारण बहुमत द्वारा (यदि कोरम की बाबत

नियम की शर्तों को पूरा कर दिया जाता है) इस देश के लोगों के कुछ वर्गों के मूल अधिकारों को छीन सकती है या न्यून कर सकती है।

इसके विपरीत विद्वान् महान्यायवादी तथा महाराष्ट्र राज्य के विद्वान् महाधिवक्ता, जो केरल राज्य की ओर से उपसंजात हुए हैं तथा दूसरे अन्य काउन्सेल जो विभिन्न राज्यों की ओर से उपसंजात हुए हैं उनकी यह दलील है कि अनुच्छेद 368 को सादे रूप में पढ़ने से यह दर्शित होता है कि संविधान का संशोधन करने की शक्ति और साथ ही संशोधन की प्रक्रिया दोनों इस अनुच्छेद में अन्तर्विष्ट हैं। एक बार जब इस अनुच्छेद में अधिकथित प्ररूप और रीति की शर्तों को पूरा कर लिया जाता है तो उसका परिणाम संविधान का संशोधन होगा। उनके कथनानुसार अनुच्छेद 368 में प्रयुक्त 'इस संविधान का संशोधन' अभिव्यक्ति का अर्थ संविधान के प्रत्येक उपबन्ध या भाग का संशोधन है। एक बार जब अनुच्छेद 368 में उपबन्धित प्ररूप और प्रक्रिया पूरी कर ली जाती है तो संशोधित अनुच्छेद उसी प्रकार प्रभावी होता है जैसा कि स्वतः मूल अनुच्छेद और इसलिए मूल अनुच्छेद की भांति ही संशोधित अनुच्छेद की विधिमान्यता को भी चुनौती नहीं दी जा सकती है। उन्होंने आगे यह दलील दी है कि अनुच्छेद 13 में प्रयुक्त 'विधि' से केवल विधायी अधिनियमितियां या अध्यादेश या आदेश या उपविधि या नियम या विनियम या अधिसूचनाएं या रूढ़ियां या प्रथाएं, जो भारत के राज्य-क्षेत्र में विधि का प्रभाव रखते हैं, अभिप्रेत हैं और उस अभिव्यक्ति में सांविधानिक विधि सम्मिलित नहीं है यद्यपि व्यापक अर्थों में सांविधानिक विधि भी एक विधि है। उन्होंने आगे यह दलील दी है कि अनुच्छेद 13 में प्रयुक्त 'विधि' शब्द का अर्थान्वयन अनुच्छेद 368 के अनुकूल करना चाहिए और यदि इसका अर्थान्वयन ऐसे किया जाता है तो इसमें कोई सन्देह नहीं रह जाता है कि अनुच्छेद 13 में प्रयुक्त 'विधि' अभिव्यक्ति के अन्तर्गत सांविधानिक विधि नहीं है। उन्होंने श्री पालखीवाला की इस दलील का खण्डन किया है कि उस समय ऐसे रूप में कोई सांविधानिक विधि प्रभावी थी जबकि यह संविधान प्रवर्तन में आया। इसलिए उनके कथनानुसार अनुच्छेद 13(2) के अधीन प्रयुक्त 'विधि' अभिव्यक्ति के अन्तर्गत संविधान का संशोधन नहीं आता है। उनके कथनानुसार अनुच्छेद 169, पंचम अनुसूची के पैरा 7 और षष्ठ अनुसूची के पैरा 21 के अधीन अधिनियमित विधियों के बारे में यह नहीं समझा जा सकता कि वे संविधान के संशोधन हैं जैसा कि इन उपबन्धों में अधिकथित किया गया है। यद्यपि वास्तव में वे कुछ बातों के बारे में संविधान का संशोधन करते हैं किन्तु वे संसद् द्वारा अधिनियमित किए गए दूसरे विधायी अध्युपायों से भिन्न नहीं हैं। इसलिए इन उपबन्धों के अधीन अधिनियमित की गई विधियां मूल अधिकारों को न तो छीन सकती हैं, और न ही कम कर सकती हैं। अब हमें यह देखना है कि इन तर्कों में कौन सा तर्क मान्य है।

यह प्रश्न कि क्या अनुच्छेद 368 के अधीन उसमें अधिकथित प्रक्रिया के अनुसार अपनी शक्तियों का प्रयोग करके संसद् मूल अधिकारों को न्यून कर सकती है, संविधान के तुरन्त प्रभावी होने के पश्चात् इस न्यायालय के समक्ष विचार के लिए उत्पन्न हुआ था। संविधान (प्रथम संशोधन) अधिनियम, 1951 शंकरी प्रसाद सिंह देव बनाम भारत संघ और बिहार राज्य (1) वाले मामले में इस न्यायालय में विचार के लिए आया

(1) (1952) एस० सी० आर० 89.

था। उस मामले में अनुच्छेद 368 तथा अनुच्छेद 13 (2) को आमने-सामने रख कर उसके प्रविषय पर बहस की गई थी। इस न्यायालय ने उसमें के पिटीशनरों की दलील को अमान्य करते हुए कि संसद् के लिए यह अनुज्ञेय नहीं है कि वह अनुच्छेद 368 के अधीन मूल अधिकारों में से किसी को न्यून कर सके, यह अभिनिर्धारित किया था कि—"यद्यपि विधि के अन्तर्गत मामूली तौर से सांविधानिक विधि भी सम्मिलित होनी चाहिए किन्तु उस मामूली विधि, जो कि विधायी शक्ति के प्रयोग में बनाई जाती है और उस सांविधानिक विधि, जो कि सांविधानिक शक्ति के प्रयोग में बनाई जाती है, के बीच स्पष्ट अन्तर है।" इस न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया था कि "अनुच्छेद 13 के प्रसंग में यह माना जाना चाहिए कि विधि से मामूली विधायी शक्ति के प्रयोग में बनाए गए नियम या विनियम अभिप्रेत हैं न कि संविधायी शक्ति के प्रयोग में बनाए गए संविधान के संशोधन। इसका परिणाम यह है कि अनुच्छेद 13(2) अनुच्छेद 368 के अधीन बनाए गए संशोधन को प्रभावित नहीं करता है।" उस मामले में इस न्यायालय ने यह भी राय दी थी कि अनुच्छेद 368 द्वारा संसद् को संविधान में संशोधन करने की शक्ति स्पष्ट रूप से प्रदत्त की गई है और भिन्न बहुमत की अपेक्षा मात्र प्रक्रियात्मक है। उसने इस दलील को भी अमान्य कर दिया कि अनुच्छेद 368 स्वयं में एक सम्पूर्ण संहिता है और सरकार की इस दलील को कायम रखा कि अनुच्छेद 368 के अधीन कार्य करते हुए संसद् दूसरे विधायी अभ्युपायों को अधिनियमित करने में अनुच्छेद 368 में उपबन्धित सीमा के सिवाय उन प्रक्रियाओं को अंगीकृत कर सकती है जिन्हें उसे अंगीकृत करना चाहिए।

अनुच्छेद 368 के अधीन मूल अधिकारों को कम करने की संसद् की शक्ति के बारे में इस न्यायालय ने पुनः सज्जन सिंह बनाम राजस्थान राज्य[1] वाले मामले में विचार किया था अर्थात्—(1) क्या संविधान का संशोधन जहां तक कि उसका तात्पर्य संविधान के भाग 3 द्वारा प्रदत्त अधिकारों को छीनने या न्यून करने से है, अनुच्छेद 13(2) के प्रतिषेध के अन्तर्गत है? (2) क्या अनुच्छेद 31 क और 31 ख (सत्रहवां संशोधन अधिनियम द्वारा यथा संशोधित) अनुच्छेद 132, अनुच्छेद 136, अनुच्छेद 226 या सप्तम अनुसूची की किसी सूची में परिवर्तन करना चाहते हैं और इसलिए अनुच्छेद 368 के परन्तुक में विहित शर्तों को पूरा किया जाना आवश्यक है। न्यायालय के निर्णय से यह स्पष्ट है कि न्यायालय के समक्ष पहले प्रश्न पर बहस नहीं की गई यद्यपि बहुमत के न्यायाधीशों तथा अल्पमत के न्यायाधीशों ने बिना बहस की सहायता से स्पष्टतया इन प्रश्नों पर विचार किया था। अपनी ओर से निर्णय देते हुए मुख्य न्यायाधिपति गजेन्द्रगडकर तथा न्यायाधिपति वान्चू और रघुबरदयाल ने शंकरी प्रसाद वाले मामले[2] में इस न्यायालय द्वारा अपनाए गए दृष्टिकोण से सहमति प्रकट की थी किन्तु न्यायाधिपति हिदायतुल्लाह (जैसे कि वे उस समय थे) और न्यायाधिपति मधोलकर ने प्रथम प्रश्न के उस विनिश्चय

---

(1) (1965) 1 एस० सी० आर० 933.

(2) (1952) एस० सी० आर० 89.

के सही होने के बारे में सन्देह प्रकट किया था किन्तु उन्होंने दूसरे प्रश्न पर बहुमत के न्यायाधीशों द्वारा अपनाए गए दृष्टिकोण से सहमति प्रकट की थी। न्यायाधिपति हिदायतुल्लाह तथा मधोलकर ने रिट पिटीशनों को खारिज करने में अपनी सहमति प्रकट की क्योंकि पिटीशनरों ने प्रथम प्रश्न पर दिए गए शंकरी प्रसाद वाले मामले (1) में इस न्यायालय के विनिश्चय के सही होने की बाबत चुनौती नहीं दी थी।

यह प्रश्न कि क्या संसद् अनुच्छेद 368 के अधीन अपनी शक्तियों का प्रयोग करके किन्हीं मूल अधिकारों को निराकृत कर सकती है या छीन सकती है, पुन: आई० सी० गोलक नाथ और कुछ अन्य बनाम पंजाब राज्य (2) वाले मामले में इस न्यायालय के समक्ष विचार के लिए आया था। उस मामले की सुनवाई ग्यारह न्यायाधिपतियों की पूर्ण न्यायपीठ ने की थी। उस मामले में पांच के मुकाबले में छ: के बहुमत से इस न्यायालय का यह निष्कर्ष था कि शंकरी प्रसाद वाला मामला (1) तथा साथ ही सज्जन सिंह वाला मामला (3) सही रूप से विनिश्चित नहीं किए गए थे। बहुमत ने यह अभिनिर्धारित किया था कि अनुच्छेद 13 (2) प्रयुक्त 'विधि' अभिव्यक्ति के अन्तर्गत सांविधानिक संशोधन भी आते हैं। अल्पमत ने पूर्वतर विनिश्चयों से सहमति प्रकट करते हुए अभिनिर्धारित किया था कि अनुच्छेद 13(2) में प्रयुक्त 'विधि' अभिव्यक्ति के अन्तर्गत सांविधानिक संशोधन नहीं आते हैं। बहुमत के पांच न्यायाधीशों अर्थात् न्यायाधिपति सुब्बाराव, शाह, सीकरी, शैलत तथा वैद्यलिंगम् ने यह अभिनिर्धारित किया था कि अनुच्छेद 368 अपने निबन्धनों के अन्तर्गत केवल संशोधन के मामले में अपनाई जाने वाली उन विभिन्न प्रक्रियाओं को विहित करता है और उस अनुच्छेद से यह आभास मिलता है कि संशोधन करने की शक्ति संविधान में कहीं अन्यत्र विद्यमान है। उनके मतानुसार अनुच्छेद 368 में उल्लिखित प्रक्रियात्मक बातों के मात्र पूरे होने से संविधान का विधिमान्य संशोधन नहीं हो सकता। उनकी राय में संशोधन की शक्ति अनुच्छेद 368 द्वारा विवक्षित नहीं की जा सकती। उन्होंने अनुच्छेद 368 में विवक्षा द्वारा ऐसी शक्ति की उपधारणा करने से इन्कार किया क्योंकि उन्होंने यह सोचा कि यह इसलिए आवश्यक नहीं है क्योंकि संसद् को सप्तम अनुसूची की सूची 1 की प्रविष्टि 97 के साथ पठित अनुच्छेद 248 के अधीन कोई भी विधि बनाने की सर्वांगीण शक्ति है जिसके अन्तर्गत उसमें अन्तर्विष्ट परिसीमाओं के अध्यधीन रहते हुए संविधान का संशोधन करने की विधि भी है। उनका मत था कि संविधान को संशोधित करने की संसद् की शक्ति अनुच्छेद 245, अनुच्छेद 246, सूची 1 की प्रविष्टि 97 के साथ पठित अनुच्छेद 248 से प्राप्त की जा सकती है। शेष छ: न्यायाधीशों ने अभिनिर्धारित किया था कि संशोधन की शक्ति सप्तम अनुसूची की सूची 1 की प्रविष्टि 97 के साथ पठित अनुच्छेद 248 से प्राप्त नहीं की जा सकती है। न्यायाधिपति वांचू (जैसे कि वे उस समय थे) तथा न्यायाधिपति भार्गव, मित्तर और बछावत ने यह अभिनिर्धारित किया था कि संशोधन की शक्ति अनुच्छेद 368 में पाई जाती है और न्यायाधिपति रामस्वामी ने यह अभिनिर्धारित किया था कि अनुच्छेद 368 संसद् को संविधान को संशोधित करने की शक्ति या अधिकार प्रदत्त करता है। न्यायाधिपति

(1) (1952) एस० सी० आर० 89.
(2) (1967) 2 एस० सी० आर० 762.
(3) (1965) 1 एस० सी० आर० 933.

हिदायतुल्लाह (जैसे कि वे उस समय थे) ने यह अभिनिर्धारित किया था कि अनुच्छेद 368 ऐसी प्रक्रिया विहित करता है जिसका कि यदि यथार्थत: अनुसरण किया जाए तो उससे जो परिणाम निकलेगा वह संविधान का संशोधन होगा। वह अनुच्छेद किसी विशिष्ट व्यक्ति या व्यक्तियों को शक्ति प्रदत्त नहीं करता है और संशोधन की वह शक्ति, यदि उसे वास्तव में शक्ति कहा जाए, एक विधायी शक्ति है किन्तु यह एक अनन्य शक्ति है और यह संविधान की सप्तम अनुसूची की तीनों सूचियों के बाहर विद्यमान है। न्यायाधिपति हिदायतुल्लाह के इस तर्क को यदि युक्तियुक्त ढंग से समझा जाए तो इससे यह संकेत मिलता है कि संशोधन की शक्ति अनुच्छेद 368 में आवश्यक रूप से विवक्षित है। उस बहुमत के न्यायाधीशों ने, जिन्होंने यह अभिनिर्धारित किया था कि संसद् के लिए अनुज्ञेय नहीं है कि वह संविधान के संशोधन द्वारा मूल अधिकारों में से किसी को छीन सके या न्यून कर सके, उन्होंने प्रथम, चतुर्थ और सत्रहवें संशोधनों को अभिखण्डित नहीं किया है। उनमें से पांच ने भविष्यलक्षी प्रभावकारिता (प्रास्पैक्टिव ओवर रूलिंग) के सिद्धान्त (मुख्य न्यायाधिपति सुब्बाराव, न्यायाधिपति शाह, सीकरी, शेलत और वैद्यलिंगम्) और न्यायाधिपति हिदायतुल्लाह ने उन संशोधनों को बचाने के लिए उपमति के सिद्धान्त (डाक्ट्राइन ऑफ एक्वीसेन्स) का अवलम्ब किया। स्पष्ट है कि गोलक नाथ के मामले (1) के विनिश्चय से जो प्रभाव हुआ था उसको समाप्त करने के प्रयत्न के रूप में संसद् ने चौबीसवां संशोधन अधिनियम, 1971 में अधिनियमित किया है और वह राज्यों के विधानमण्डलों के आधे से अधिक द्वारा अनुसमर्थित किया जा चुका है।

अब हम पक्षकारों द्वारा दी गई दलीलों पर पुन: विचार करते हैं। हम पहले संघ तथा कुछ राज्यों की इस दलील पर विचार करते हैं कि एक बार जब अनुच्छेद 368 में विहित "प्ररूप और रीति" को पूरा कर लिया जाता है तो संविधान संशोधित हो जाता है और उसके पश्चात् संविधान के संशोधन की विधिमान्यता को चुनौती नहीं दी जा सकती है। यह दलील कायम नहीं रखी जा सकती है। इसके पूर्व कि संविधान विधिमान्य रूप से संशोधित किया जाए इसकी दो अपेक्षाओं का समाधान करना पड़ेगा। पहली, जिस उपबन्ध को संशोधित करना चाहा गया है उसको संशोधित करने की शक्ति होनी चाहिए और दूसरी, अनुच्छेद 368 में विहित "प्ररूप और रीति" का समाधान होना चाहिए। यदि अनुच्छेद को संशोधित करने की शक्ति नहीं है, यह तथ्य कि संसद् ने अनुच्छेद 368 में विहित "प्ररूप और रीति" का अनुसरण किया है, निरर्थक हो जाता है। इसलिए मुख्य प्रश्न यह है कि क्या संसद् को संविधान के भाग 3 में विहित मूल अधिकारों में से किसी को न्यून करने और छीनने की शक्ति है।

यह जानने के लिए कि क्या संसद् अनुच्छेद 368 के अधीन अपनी शक्तियों का प्रयोग करके मूल अधिकारों में से किसी को छीनने या न्यून करने की शक्ति रखती है हमें प्रथमत: उस अनुच्छेद के सही विस्तार को अभिनिश्चित करना होगा। जैसा कि शंकरी प्रसाद वाले मामले(2) में पहले देखा गया है कि इस न्यायालय ने यह विनिर्णय दिया था कि संविधान को संशोधित करने की शक्ति अनुच्छेद 368 में पाई जाती है। यही मत

(1) (1967) 2 एस० सी० आर० 762.
(2) (1952) एस० सी० आर० 89.

सज्जन सिंह वाले मामले([1]) में भी बहुमत के न्यायाधीशों ने दिया था तथा गोलक नाथ वाले मामले([2])में भी। हम आदरपूर्वक यह अभिनिर्धारित करते हैं कि वह मत सही मत है। जैसा पहले उल्लेख किया गया है कि संविधान का भाग 20, जो संविधान के संशोधन से सम्बन्धित होने से तात्पर्यित है, केवल उसमें एक ही अनुच्छेद अर्थात् अनुच्छेद 368 अन्तर्विष्ट है। उस भाग का नाम 'संविधान का संशोधन' है। यह तथ्य कि संविधान का पृथक् भाग संविधान के संशोधन के लिए आरक्षित है, एक बहुत ही महत्वपूर्ण परिस्थिति है। देखिए—डॉन ऑन फ्रैंसिस डगलस लियांगे बनाम क्वीन;([3]) उत्तर प्रदेश राज्य बनाम मनबोधन लाल श्रीवास्तव([4])। संविधान के संशोधन से सम्बन्धित उपबन्ध आज के किसी भी संविधान के सर्वाधिक महत्वपूर्ण तत्व है। आज के सभी संविधान संशोधन करने वाले उपबन्धों को महत्व प्रदान करते हैं। मुख्य न्यायाधिपति सुब्बा राव द्वारा अभिव्यक्त किए गए मत तथा उन विद्वान् न्यायाधीशों के, जिन्होंने कि उनसे इस बात में सहमति प्रकट की थी कि संविधान को संशोधित करने की शक्ति अनुच्छेद 368 में आवश्यक विवक्षा द्वारा नहीं पाई जा सकती अपितु उसे अन्यत्र खोजना पड़ेगा, मत को स्वीकार करना कठिन है। उस शक्ति को अन्यत्र खोजने के निस्संदेह कठिन कार्य में उन्हें संविधान की सप्तम अनुसूची की सूची 1 से 3 की प्रविष्टि 97 का आश्रय लेना पड़ा जो केवल संघ और राज्यों में विधान के विषयों को बांटती है। यह स्पष्ट है कि इन सूचियों को सावधानी के साथ तैयार किया गया है। वे सामान्यतः सांगोपांग हैं। सूची 1 की प्रविष्टि 97 को इसलिए सम्मिलित किया गया है कि अप्रत्याशित और अकल्पित आकस्मिकताओं को पूरा किया जा सके। यह विश्वास करना कठिन है कि हमारे वे संविधान निर्माता, जो संविधान के संशोधन से सम्बन्धित उपबन्धों के महत्व के बारे में बहुत ही जागरूक थे और जिस प्रश्न पर उन्होंने कई दिनों तक विचार-विमर्श किए थे कैसे इस महत्वपूर्ण शक्ति को, सूची 1 की प्रविष्टि 97 में गुप्त रख कर न्यायालयों को यह अवसर देते कि वे उस प्रविष्टि में उस शक्ति को खोजें। हम उन विद्वान् न्यायाधीशों से उस मत से सहमत होने के लिए असमर्थ हैं कि जिसका उन्होंने संघ को प्रदत्त संशोधन की शक्ति को अवशिष्ट शक्ति में पाने के प्रयोजन के लिए अनुच्छेद 242, अनुच्छेद 246 तथा अनुच्छेद 248 एवं सूची 1 की प्रविष्टि 97 का अवलम्ब करना चाहा है। इस बाबत उनके तर्क इस तथ्य का मूल्यांकन करने में असफल रहे हैं कि उन अनुच्छेदों के अधीन शक्ति का प्रयोग "इस संविधान के उपबन्धों के अध्यधीन" है। मुश्किल से संविधान के कुछ संशोधन संविधान के विद्यमान उपबन्धों के अध्यधीन किए जा सकते हैं। संविधान के अधिकांश संशोधन निश्चित रूप से संविधान के विद्यमान उपबन्धों में से एक या दूसरे का आवश्यक रूप से अतिक्रमण करेंगे। हमारे दिमाग में कोई संदेह नहीं है कि अनुच्छेद 245 से अनुच्छेद 248 तथा सप्तम अनुसूची की सूचियां केवल विधायी शक्ति से सम्बन्धित हैं न कि सांविधानिक शक्ति से।

([1]) (1965) 1 एस० सी० आर० 933.

([2]) (1967) 2 एस० सी० आर० 762.

([3]) (1967) 1 एस० सी० 259, 287.

([4]) (1958) एस० सी० आर० 533, 544.

अब जब हम पुनः अनुच्छेद 368 पर विचार करते हैं तो इस पर ध्यान दिया जा सकता है कि इसके तीन अंग हैं। पहला, यह संविधान के संशोधन से सम्बन्धित है। दूसरा, यह उस निकाय या निकायों को अभिहित करता है जो संविधान का संशोधन कर सकते हैं और अन्त में यह उस प्ररूप और रीति को विहित करता है जिसमें कि संविधान का संशोधन किया जा सकता है। यह अनुच्छेद अभिव्यक्त रूप से संशोधन करने की शक्ति प्रदत्त नहीं करता है। यह शक्ति आवश्यक रूप से इस अनुच्छेद में विवक्षित है। यह अनुच्छेद यह स्पष्ट करता है कि संसद् ही केवल संविधान का संशोधन कर सकती है किन्तु इसके परन्तुक में आने वाले मामलों की दशा में राज्यों के आधे से अधिक विधानमण्डलों का अनुसमर्थन भी आवश्यक है। उस अनुच्छेद में विविध बातों के अनुबन्ध हैं। पहली बात तो यही है कि इस संविधान के संशोधन का सूत्रपात उस प्रयोजन के लिए विधेयक को संसद् के किसी सदन में पुरःस्थापित करके ही किया जा सकेगा। प्रत्येक सदन द्वारा उस सदन की समस्त सदस्य-संख्या के बहुमत तथा उस सदन में उपस्थित और मतदान करने वाले सदस्यों के दो-तिहाई के अन्यून बहुमत से इस विधेयक को पारित होना चाहिए। यदि संशोधन परन्तुक में उल्लिखित उपबन्धों में कोई परिवर्तन करना चाहता है तो इसे राज्य विधानमण्डलों के कम-से-कम आधे विधानमण्डलों द्वारा अनुसमर्थित होना चाहिए। तत्पश्चात् इसे राष्ट्रपति के समक्ष उसकी अनुमति के लिए रखा जाना चाहिए। इसमें आगे यह कथन है कि विधेयक को ऐसीअनुमति दी जाने के पश्चात् "विधेयक के निबन्धनों के अनुसार संविधान संशोधित हो जाएगा।" यदि इस स्थिति का पुनः वर्णन किया जाए तो वह यह है कि अनुच्छेद 368 संविधान के संशोधन से सम्बन्धित है। इस अनुच्छेद में संविधान को संशोधित करने की शक्ति तथा उसकी प्रक्रिया दोनों अन्तर्विष्ट हैं। उस पार्श्व टिप्पण पर असम्यक् रूप से महत्व नहीं देना चाहिए जिससे कि "संविधान के संशोधन के लिए प्रक्रिया" का कथन है। कानूनी उपबन्ध के अर्थान्वियन में पार्श्व टिप्पण की बहुत कम भूमिका होती है और सांविधानिक उपबन्ध के अर्थान्वयन में तो इससे भी कम महत्व होता है। हमारे मस्तिष्क में अनुच्छेद 368 की भाषा स्पष्ट और असंदिग्ध है इसलिए हम अर्थान्वयन के उन नियमों में से किसी का आश्रय लेने की आवश्यकता नहीं समझते जिसके बारे में सुनवाई के समय बहुत ही अधिक बहस की गई है। चूंकि इस अनुच्छेद के अधीन, जैसा कि वह मूलतः था, संशोधन की शक्ति केवल विवक्षित है इसलिए पार्श्व टिप्पण सही ही संशोधन की प्रक्रिया के प्रति निर्दिष्ट है। पार्श्व टिप्पण में प्रक्रियाओं के प्रति निर्देश से अनुच्छेद में विवक्षित शक्ति का अस्तित्व समाप्त नहीं होता है।

दूसरा प्रश्न यह है कि क्या अनुच्छेद 368 के अधीन प्रदत्त शक्ति संविधान के प्रत्येक उपबन्ध के संशोधन के लिए उपलभ्य है। इस अनुच्छेद का प्रारम्भ इस कथन से होता है—"इस संविधान के संशोधन से" इससे संविधान के प्रत्येक उपबन्ध और भाग का संशोधन अभिप्रेत है। हम उस अनुच्छेद में उसके विस्तार को निर्बन्धित करने वाली कोई बात नहीं पाते हैं। यदि हम स्वयं अनुच्छेद 368 को पढ़ें तो इसमें कोई सन्देह नहीं रहता कि उस अनुच्छेद में विवक्षित संशोधन की शक्ति संविधान के प्रत्येक अनुच्छेद तथा प्रत्येक भाग को लागू है।

अनुच्छेद 368 के सही प्रविषय को अभिनिश्चित करने के पश्चात् अब हम अनुच्छेद 13 पर विचार करते हैं। पिटीशनरों के विद्वान् काउन्सेल ने अनुच्छेद 13(1) और (2) में प्रयुक्त 'विधि' अभिव्यक्ति का बहुत ही अधिक अवलम्ब किया है। जैसा कि पहले देखा गया है सज्जन सिंह वाले मामले(1) में दो न्यायाधीशों ने तथा गोलक नाथ वाले मामले(2) में बहुमत के न्यायाधीशों ने यह राय दी थी कि अनुच्छेद 13 (2) में प्रयुक्त 'विधि' शब्द के अन्तर्गत सांविधानिक विधि भी है अर्थात् वह विधि जो संविधान का संशोधन करती है और हम इस दलील में कोई बल नहीं पाते हैं कि संविधान का संशोधन विधि नहीं है। संविधान संशोधन अधिनियमों को अधिनियमित करके संशोधित किया जाता है। संविधान न केवल एक विधि है अपितु देश की सार्वभौम विधि है। उस विधि का संशोधन भी आवश्यक रूप से विधि होना चाहिए। यह तथ्य कि अनुच्छेद 368 में विधि शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है, कोई महत्व नहीं रखता है। उस बात के लिए अनुच्छेद 110 भी यह उपबन्धित नहीं करता है कि जब राष्ट्रपति द्वारा किसी विधेयक को अनुमति दी जाती है तो वह विधि हो जाता है। संविधान के संशोधन का सूत्रपात विधेयक द्वारा किया जाता है और इसे अनुच्छेद 368 में अधिकथित प्रक्रिया से गुजरना होता है तथा जहां आवश्यक हो और जो अनुच्छेद 107 में विहित है, उस अनुपूरक प्रक्रिया से भी उसे गुजरना होता है। [देखिए शंकरी प्रसाद वाला मामला(3)] यह विधेयक संसद् के दोनों सदनों द्वारा पारित किया जाता है और अनुच्छेद 368 के परन्तुक के अधीन वाले मामलों में राज्य विधानमण्डलों के आवश्यक अनुसमर्थन प्राप्त करने के पश्चात् यह राष्ट्रपति को उसकी अनुमति के लिए रखा जाता है। जो प्रक्रिया अपनाई जाती है वह वही प्रक्रिया है जो अनुच्छेद 368 में उपबन्धित सीमा के सिवाय मामूली कानून को अधिनियमित करने में अपनाई जाती है। चाहे यह भिन्न भी हो तब भी इसमें कोई सन्देह नहीं है कि संविधान का संशोधन एक विधि है। शंकरी प्रसाद वाले मामले(3) में न्यायालय की ओर से निर्णय देते हुए न्यायाधिपति पातन्जलि शास्त्री (जैसे कि वे उस समय थे) विनिर्णय देते हुए उन्हें कोई संदेह नहीं था कि 'विधि' अभिव्यक्ति के अन्तर्गत मामूली तौर से 'सांविधानिक विधि' सम्मिलित है। यही मत सज्जन सिंह वाले मामले(1) में सभी न्यायाधीशों ने तथा गोलक नाथ वाले मामले (2) में अधिकांश न्यायाधीशों ने भी दिया था।

किन्तु यह प्रश्न अब भी शेष है कि क्या हमारे संविधान के निर्माताओं का यह आशय था कि अनुच्छेद 13 (2) में प्रयुक्त 'विधि' अभिव्यक्ति के अन्तर्गत अनुच्छेद 368 के अधीन संसद् की संशोधन करने की शक्ति का प्रयोग भी है। हमने पहले ही अनुच्छेद 368 के प्रविषय और सीमा को स्पष्ट कर दिया है। अनुच्छेद 13(2) में प्रयुक्त 'विधि' शब्द के अर्थ को समझने के लिए हमें अनुच्छेद 368 के प्रविषय को ध्यान में रखना चाहिए। दोनों अनुच्छेदों का अर्थान्वयन अनुकूलित ढंग से किया जाना चाहिए। 'विधि' अभिव्यक्ति से दो बातों में से किसी एक से अभिप्रेत है अर्थात् या तो

---

(1) (1965) 1 एस० सी० आर० 933.
(2) (1967) 2 एस० सी० आर० 762.
(3) (1952) एस० सी० आर० 89.

अनुच्छेद 13(3) में प्रगणित वे अध्युपाय तथा विधानमण्डलों द्वारा पारित कानून या इसके अतिरिक्त सांविधानिक विधि (संशोधन) भी। इस सम्बन्ध में कार्पस ज्यूरिस सेकण्डम के निम्नलिखित लेखांश की ओर निर्देश किया जा सकता है (जिल्द 16—टाइटल कांस्टिट्यूशनल लॉ, अनुच्छेद 1, पृष्ठ 20)। यह इस प्रकार है—

"'संविधान' शब्द मामूली तौर से उस संगठनात्मक विधि को प्रकट करने के लिए प्रयुक्त होता है जो उस 'विधि' शब्द से सुभिन्न है जोकि साधारणतया कानूनों या विधायी अधिनियमितियों को अभिहित करने के लिए प्रयुक्त होता है। तदनुसार इस भिन्नता के अधीन 'विधि' शब्द के अन्तर्गत सांविधानिक संशोधन नहीं आता है। यद्यपि 'विधि' शब्द में प्रसंग के अनुसार, जिसमें यह प्रयुक्त किया जाता है इसके अन्तर्गत संविधान या सांविधानिक उपबन्ध या संशोधन आते हैं या ये संविधान या सांविधानिक उपबन्ध या संशोधन समझे जा सकते हैं।"

यह सही है कि अनुच्छेद 13(3) में वह परिभाषा अन्तर्विष्ट है जो 'विधि' शब्द को परिभाषित करने के लिए है। इसलिए यह प्रश्न कि क्या इसके अन्तर्गत सांविधानिक संशोधन भी आता है, उस खण्ड के निर्देश से भी इसका उत्तर नहीं दिया जा सकता। फिर भी चूंकि 'विधि' अभिव्यक्ति के दो अर्थ हो सकते हैं, जैसा कि ऊपर उल्लेख किया गया है, हमें उस अर्थ को ग्रहण करना चाहिए जो अनुच्छेद 368 के अनुकूल है। जैसा कि पहले उल्लेख किया गया है कि पहले वाला अनुच्छेद 368 असंदिग्ध है जबकि अनुच्छेद 13 इस तथ्य के कारण संदिग्ध है कि 'विधि' शब्द के अन्तर्गत सांविधानिक संशोधन आ सकते हैं या नहीं आ सकते। इसके अतिरिक्त भी जब हम विधि के बारे में कहते हैं हम मूलतः विधायी शक्ति के प्रयोग के प्रति निर्देश करते हैं। इसलिए अनुच्छेद 13(2) में प्रयुक्त 'विधि' शब्द का इस रूप में अर्थान्वयन किया जाना चाहिए कि उसका निर्देश मामूली विधायी शक्ति के प्रयोग के प्रति है।

हमारे संविधान के विभिन्न उपबन्धों की परीक्षा से यह दर्शित होता है कि इसमें 'संविधान' और 'विधियों' के बीच अन्तर किया गया है। ये दोनों सदैव पृथक्-पृथक् माने गए हैं। देखिए—अनुच्छेद 60, 61, अनुच्छेद 73(1) का परन्तुक, तृतीय अनुसूची के साथ पठित अनुच्छेद 75(4), अनुच्छेद 76(2), तृतीय अनुसूची के साथ पठित 124(6), अनुच्छेद 148(5), अनुच्छेद 159 और तृतीय अनुसूची के साथ पठित अनुच्छेद 219। ये उपबन्ध स्पष्टतया यह सिद्ध करते हैं कि संविधान निर्माताओं ने 'विधि' अभिव्यक्ति का प्रयोग संविधान में इसलिए नहीं किया है कि उसके अन्तर्गत सांविधानिक विधि है।

श्री पालखीवाला ने यह दलील दी है कि अनुच्छेद 13(1) में प्रयुक्त 'विधि' शब्द के अन्तर्गत सांविधानिक विधि भी है। अपनी ओर से तथा दो अन्य न्यायाधीशों की ओर से निर्णय देते हुए न्यायाधिपति वांचू ने गोलक नाथ वाले मामले([1]) में यह अभिनिर्धारित किया था कि जिस दिन यह संविधान प्रवृत्त हुआ, उस समय कोई सांविधानिक विधि प्रवृत्त नहीं थी। इसलिए उनके मत में अनुच्छेद 13(1) में प्रयुक्त 'विधि' शब्द

([1]) (1967) 2 एस० सी० आर 762.

से विधायी अभ्युपायों या अध्यादेशों या उपविधियों, नियमों, विनियमों, अधिसूचनाओं, रूढ़ियों और प्रथाओं के प्रति निर्देश होता है। श्री पालखीवाला ने यह दलील दी है कि उक्त निष्कर्ष सही नहीं है। इस सम्बन्ध में उन्होंने भूतपूर्व भारतीय रियासतों के शासकों तथा केन्द्रीय सरकार के बीच की गई संधियां तथा किए गए करार साथ ही कुछ अन्य अभ्युपायों, जो उस समय प्रभावी थे जब कि यह संविधान प्रवृत्त हुआ, उनके कथनानुसार वे 'सांविधानिक विधियां' हैं और उस आधार पर उन्होंने दलील दी है कि कुछ सांविधानिक विधियां' उस दिन भी प्रभावी थीं जब कि संविधान प्रवृत्त हुआ। हम इस बात से सन्तुष्ट नहीं हैं कि यह दलील सही है। अनुच्छेद 395 के अधीन इण्डियन इण्डिपेण्डेन्स ऐक्ट, 1947 तथा गवर्नमेण्ट ऑफ इण्डियन ऐक्ट, 1935, दोनों निरसित कर दिए गए। जो विधियां जो अनुच्छेद 373 के अधीन संविधान के प्रवृत्त होने के पश्चात् बनी रहीं वे अपनी शक्ति द्वारा प्रवर्तित नहीं थी। अपनी विधिमान्यता के लिए उन्हें अनुच्छेद 372 पर निर्भर करना था और उस अनुच्छेद में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि वे विधियां 'संविधान के अन्य उपबन्धों के अध्यधीन' बनी रहेंगी। जैसे भी हो वे यह आवश्यक नहीं है कि इस प्रश्न का विनिश्चय किया जाए कि क्या वे विधियां सांविधानिक विधियां हैं। अनुच्छेद 13(1) इस रूप में 'विधियों' के प्रति निर्देश नहीं करता है। यह 'इस संविधान के प्रारम्भ के ठीक पूर्व भारतीय राज्य-क्षेत्र में प्रवृत्त विधि' के प्रति निर्देश करता है। यह कुछ विधियों को मान्यता देता है और उनकी विधिमान्यता की सीमा को अवधारित करता है। अनुच्छेद 13(1) का विस्तार अनुच्छेद 13(2) में प्रयुक्त 'विधि' अभिव्यक्ति के निर्वचन के ऊपर आधारित नहीं है।

अब हम श्री पालखीवाला की उस दलील की परीक्षा करेंगे जो अनुच्छेद 4, अनुच्छेद 169, अनुसूची 5 के पैरा 7 और अनुसूची 6 के पैरा 21 पर आधारित है। उनकी यह दलील है और निस्संदेह हम उसे सही मानते हैं कि संविधान न केवल अनुच्छेद 368 के अधीन अपितु अनुच्छेद 4, अनुच्छेद 169, अनुसूची 5 के पैरा 7 और अनुसूची 6 के पैरा 21 के अधीन भी संशोधित किया जा सकता है। इन उपबन्धों के अधीन संशोधन संसद् द्वारा सदन में उपस्थित सदस्यों तथा मत देने वाले सदस्यों के साधारण बहुमत द्वारा उस समय किया जा सकता है जब विहित गणपूर्ति है। यदि दोनों सदन उन उपबन्धों के अधीन किए गए संशोधन में से किसी पर अपनी सहमति नहीं देते हैं तो उसका विनिश्चय दोनों सदनों की संयुक्त बैठक द्वारा किया जाता है, यह अनुच्छेद 108 में उपबन्धित है। यह इस कारण है क्योंकि इन उपबन्धों के अधीन किए गए संशोधनों को अनुच्छेद 368 के लागू होने से अभिव्यक्त रूप से अपवर्जित किया गया है। श्री पालखीवाला के कथनानुसार संसद् इस शक्ति का प्रयोग करके उपर्युक्त उल्लिखित उपबन्धों के अधीन कतिपय बातों में इस देश के कुछ वर्ग के लोगों के मूल अधिकारों को छीन सकती है या न्यून कर सकती है। उसने इस बात का एक निराशाजनक चित्र खींचा है कि यदि इन उपबन्धों के अधीन संसद् अपनी शक्ति का प्रयोग करेगी तो क्या स्थिति होगी। यह सही है कि उपर्युक्त उल्लिखित उपबन्धों के अधीन प्रदत्त शक्ति संशोधन की शक्ति है किन्तु यह उपबन्ध यह स्पष्ट करते हैं कि उन उपबन्धों के अधीन शक्ति के प्रयोग के बारे में "यह नहीं समझा जाएगा कि वह अनुच्छेद 368 के प्रयोजन के लिए इस संविधान का एक संशोधन है।"

"उपर्युक्त रूप की विधि अनुच्छेद 368 के प्रयोजन के लिए इस संविधान का संशोधन नहीं समझी जाएगी" अभिव्यक्ति का यथार्थतः आशय क्या है। इसमें कोई संदेह नहीं है कि इन शब्दों का केवल यही अर्थ है कि अनुच्छेद 368 के विहित प्ररूप और रीति का पालन करना आवश्यक नहीं है। एक बार जब यह स्थिति स्वीकार कर ली जाती है तो उन उपबंधों के अधीन अपनाई गई कोई विधि मामूली विधि का स्वरूप धारण करती है और वह विधि अनुच्छेद 13(2) के सहित संविधान के अन्य उपबन्धों के अध्यधीन हो जाती है।

दोनों तरफ के काउन्सेलों ने हमारे समक्ष अनुच्छेद 368 से सम्बन्धित संविधान सभा में हुए विचार-विमर्श की ओर ध्यान आकृष्ट कराया है। स्पष्ट है कि उन्होंने प्रत्येक उन विभिन्न सदस्यों के भाषणों, जिन्होंने उस विचार-विमर्श में भाग लिया था और विशिष्टतया स्वर्गीय प्रधानमंत्री नेहरू के भाषणों तथा तत्समय विधि मंत्री डाक्टर अम्बेदकर के उन भाषणों का अवलम्ब लिया है जो उनकी दलीलों को समर्थित करते हैं। उन भाषणों को देखने के पश्चात् हम इस बात से आश्वस्त हैं कि संविधान निर्माताओं के उद्देश्य की इन भाषा में से कोई विनिश्चायक उपधारणा नहीं की जा सकती। इसलिए हम इस प्रक्रम में इस प्रश्न पर विचार करना आवश्यक नहीं समझते हैं कि क्या अनुच्छेद 368 के सही प्रविषय को जानने के लिए उन भाषणों का अवलम्ब लेना सही है।

श्री पालखीवाला ने उन प्रक्रमों का बहुत ही अधिक अवलम्बन लिया है जिनके वर्तमान अनुच्छेद 13 पारित किया गया था। संविधान सभा के अभिलेखों से यह दर्शित है कि जब संविधान सभा में उस उपबन्ध पर जिसके परिणामस्वरूप अनुच्छेद 13(2) हुआ, विचार कर रही थी, संविधान सभा के सदस्यों में से एक श्री सन्थानम् ने यह स्पष्ट करने के लिए एक संशोधन पेश किया कि अनुच्छेद 13(2) में 'विधि' अभिव्यक्त के अन्तर्गत प्रारूपित अनुच्छेद 304 (वर्तमान अनुच्छेद 368) के अधीन संविधान का संशोधन नहीं है और तब वह संशोधन सलाहकार समिति के अध्यक्ष सरदार पटेल द्वारा स्वीकार कर लिया गया। उस विनिश्चय के आधार पर सांविधानिक सलाहकार श्री बी० एन० राव ने उस सम्बन्धित उपबन्ध को पुनः प्रारूपित किया और उनके अन्तर्गत संविधान के संशोधनों के प्रवर्तन को विनिर्दिष्ट रूप से अपवर्जित कर दिया। जब यह मामला प्रारूपण समिति के, जिसमें ख्यातिप्राप्त वकील थे, समक्ष गया तब उन्होंने उस खण्ड को इस प्रकार पुनः प्रारूपित किया—

> "राज्य कोई ऐसी विधि नहीं बनाएगा जो इस भाग द्वारा प्रदत्त अधिकारों को छीनती हो या न्यून करती हो और इस खण्ड के उल्लंघन में बनाई गई कोई विधि उल्लंघन की मात्रा तक शून्य होगी।"

दूसरे शब्दों में प्रारूपण समिति ने बी० एन० राव के प्रारूप से उन शब्दों को निकाल दिया जिनसे संविधान के संशोधनों का उस खण्ड द्वारा प्रवर्तन अपवर्जित किया गया था। श्री पालखीवाला यह उपधारणा करना चाहते हैं कि संविधान सभा ने अन्तिम रूप से अनुच्छेद 13(2) की परिधि के अधीन सांविधानिक संशोधनों को भी लाने का विनिश्चय किया था। हम इस दलील को स्वीकार करने में असमर्थ हैं। यह स्पष्ट

नहीं है कि क्यों प्रारूपण समिति ने अनुच्छेद 13(2) में संविधान के संशोधन के निर्देश को निकाल दिया। यह सम्भव है कि उनकी राय रही हो कि इन उपबन्धों की स्पष्ट भाषा को ध्यान में रखते हुए, जो संविधान के संशोधनों से सम्बन्धित है, अर्थात् प्रारूपित अनुच्छेद 304—यह अनावश्यक है कि अनुच्छेद 13(2) में यह उपबन्धित किया जाए कि इसकी परिधि के अन्तर्गत संविधान का संशोधन नहीं आता है।

यह सही है कि इस न्यायालय ने ए० के० गोपालन बनाम मद्रास राज्य(1) वाले मामले में मूल अधिकारों को 'सर्वोपरि' रूप में तथा मद्रास राज्य बनाम श्रीमती चम्पाकम दोराइराजन(2) वाले मामलों में 'पवित्र' तथा पाण्डु एम० एस० एम० शर्मा बनाम श्रीकृष्ण सिन्हा(3) वाले मामले में 'जनता के द्वारा प्रारक्षित अधिकार' तथा उज्जमबाई बनाम उत्तर प्रदेश राज्य (4) वाले मामले में अविच्छेद्य और अभेद्य तथा अन्य अनेक मामलों में 'उच्च' के रूप में वर्णित किया था। उन मामलों में मूल अधिकारों को इस रूप में वर्णित करने में इस न्यायालय का यह आशय नहीं था कि ये मूल अधिकार ही केवल संविधान के बुनियादी तत्व या मूल तत्व हैं। श्री पालखीवाला ने यह मान लिया है कि संविधान के बुनियादी तत्व और मूल तत्व न केवल संविधान के भाग 3 में पाए जाते हैं अपितु ये संविधान के विभिन्न दूसरे भागों में फैले हुए हैं। ये संविधान के भाग 4 द्वारा स्थापित निदेशक तत्वों में से कुछ में भी तथा देश की सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्नता, संविधान के गणराज्यिक और लोकतान्त्रिक प्रकृति से सम्बन्धित उपबन्धों में पाए जाते हैं। कावन्सेल के कथनानुसार देश की एकता से सम्बन्धित उपबन्ध भी संविधान के बुनियादी तत्व हैं।

यह दलील दी गई है कि चूंकि कम महत्व के अनेक उपबन्धों के संशोधन भी राज्यों के बहुमत के विधानमण्डलों के अनुसमर्थन की अपेक्षा करते हैं इसलिए यह सम्भव नहीं है कि संविधान निर्माताओं ने मूल अधिकारों से सम्बन्धित उपबन्धों के संशोधन को संसद् के हाथों का खिलवाड़ बनाया होगा। इस दलील से यद्यपि किसी सुनिश्चित निष्कर्ष पर नहीं पहुंचा जा सकता है तथापि यह सम्भव नहीं है कि संविधान के निर्माताओं ने यह सोचा हो कि अनुच्छेद 368 के परन्तुक में उल्लिखित उपबन्धों में राज्य विशिष्ट रूप से हितबद्ध हों। इसलिए उन उपबन्धों के संशोधनों के लिए राज्यों के बहुमत के विधानमण्डलों का अनुसमर्थन अपेक्षित होना चाहिए। जब अनुच्छेद 368 की भाषा स्पष्ट है, जैसा कि हम समझते हैं कि वह है, तो फिर उस अनुच्छेद के अर्थान्वयन का कोई प्रश्न नहीं उठता है। यहां संविधान निर्माताओं के आशय को खोजने की आवश्यकता नहीं है।

प्रत्येक संविधान से यह प्रत्याशित है कि वह बहुत दिनों तक कायम रहेगा इसलिए इसे आवश्यक रूप से परिवर्तनशील होना चाहिए। यह सम्भव नहीं है कि समाज को अवरुद्ध रखा जाए। समाज बढ़ता है और उसकी आवश्यकताएं परिवर्तित होती हैं। संविधान और विधियों को उन आवश्यकताओं के अनुरूप बदलना होता है।

(1) (1950) एस० सी० आर० 88, 198.
(2) (1951) एस० सी० आर० 525.
(3) (1959) सप्लीमेण्ट 1 एस० सी० आर० 806.
(4) (1963) 1 एस० सी० आर० 778.

कोई भी एक पीढ़ी भविष्य की पीढ़ी के मार्ग को अवरुद्ध नहीं कर सकती । इसलिए बुद्धिमत्तापूर्वक विरचित किसी भी संविधान में उसके संशोधन के लिए उपबन्ध होता है । हम पृथक् रूप से श्री पालखीवाला की उस दलील पर विचार करेंगे कि हमारे संविधान में कुछ ऐसे लक्षण समाविष्ट हैं जो इतने बुनियादी हैं कि उन्हें कोई भी स्वतन्त्र और सभ्य समाज अमान्य नहीं कर सकता और किसी भी कल्पित भविष्य में वे लक्षण इस देश के लिए असंगत नहीं हो सकते । इस समय हम श्री पालखीवाला की इस दलील पर विचार करने के लिए इसको अलग रखेंगे कि संसद् केवल एक गठित निकाय है जो संविधान के आवश्यक तत्वों को विकृत या नष्ट नहीं कर सकती । अब तक हमने मात्र इस प्रश्न तक अपना ध्यान सीमित रखा है कि अनुच्छेद 368 का अविषय और उसका प्रभाव क्या है । इस न्यायालय ने हमारे संविधान के अधीन गारण्टी किए गए मूल अधिकार पर सदैव बहुत अधिक महत्व दिया है । इसने भाग 4 में दिए गए निदेशक तत्वों में से कुछ को भी कम महत्व नहीं दिया है । जो निदेशक तत्त्व संविधान के भाग 4 में समाविष्ट किए गए हैं वे किसी भी रूप में मूल अधिकारों से कम महत्वपूर्ण नहीं हैं । ग्रेनविल आस्टिन के शब्दों को हम नीचे उद्धृत करते हैं (दि इण्डियन कांस्टिट्यूशन—कार्नर स्टोन ऑफ ए नेशन, पृष्ठ 50)—

> "भारतीय संविधान प्रथमतः और सर्वोपरि रूप में एक सामाजिक दस्तावेज है । इसके अधिकांश उपबन्ध या तो प्रत्यक्षतः सामाजिक क्रान्ति के उद्देश्य को पूरा करने के लिए आवश्यक दशाओं की स्थापना करते हुए सामाजिक क्रान्ति के लक्ष्यों को आगे बढ़ाने के लिए या जो सीधे उपबन्धित हैं फिर भी सम्पूर्ण संविधान में राष्ट्रीय पुनर्जागरण का लक्ष्य व्याप्त होते हुए भी सामाजिक क्रान्ति के लिए वचनबद्धता का जो मर्म है वह भाग 3 और 8 के मूल अधिकारों तथा राज्य की नीति के निदेशक तत्वों में है । यह संविधान की आत्मा है ।"

इसलिए भाग 4 के अधीन राज्य पर अधिरोपित कर्तव्यों के क्रियान्वयन के लिए यह आवश्यक हो सकता है कि भाग 3 के अधीन नागरिकों या व्यष्टियों को प्रदत्त अधिकारों को किसी सीमा तक कम किया जाए । जैसे कि पिछड़े वर्गों तथा अनुसूचित जातियों और अनुसूचित आदिमजातियों के फायदे के लिए अनुच्छेद 15 के खण्ड (4) का समाविष्ट किया जाने का मामला तथा लोक व्यवस्था तथा विदेशी राज्यों से मैत्री सम्बन्ध को प्रभावकारी बनाए रखने के लिए अनुच्छेद 19(2) में किया गया संशोधन । इसलिए हम संशोधन की शक्ति का अर्थान्वयन संकीर्ण रूप में या पाण्डित्य प्रदर्शन के रूप में करने में असमर्थ हैं । किसी भी परिस्थिति में इस शक्ति का व्यापक और उदारतापूर्ण निर्वचन करना चाहिए । इसका विस्तार कितना होना चाहिए यह ऐसा प्रश्न है जिसकी सूक्ष्म परीक्षा की जानी चाहिए । सिद्धान्त तथा अनुच्छेद 368 की भाषा, दोनों के आधार पर हम इस दलील को मानने में असमर्थ हैं कि भाग 3 द्वारा गारण्टी किया गया कोई अधिकार न्यून नहीं किया जा सकता ।

यह न्यायालय सदैव अपने पूर्वतर विनिश्चयों को उलटने में अन्यमनस्क रहा है । इस न्यायालय के पूर्वतर विनिश्चयों को उलटने के लिए प्रबल कारण होने चाहिएं । जैसा कि पहले देखा गया है कि अनुच्छेद 368 के विस्तार की बाबत परस्पर विरोधी

विनिश्चय है। 1951 में शंकरी प्रसाद वाले मामले(1) में इस न्यायालय ने यह मत दिया था कि अनुच्छेद 368 के अधीन प्रदत्त संशोधन की शक्ति के अन्तर्गत संविधान के भाग 3 द्वारा समाविष्ट मूल अधिकारों को न्यून करने या छीनने की शक्ति है। उस मत के सही होने के बारे में अनेक दूसरे विनिश्चयों में कोई आक्षेप नहीं किया गया। वही मत सज्जन सिंह वाले मामले(2) में दिया गया। वह मत गोलक नाथ वाले मामले(3) में एक बहुत ही थोड़े बहुमत द्वारा अमान्य ठहराया गया। उस विनिश्चय के विनाशकारी प्रभाव को मस्तिष्क में रखते हुए जो कि उन बहुत सी महत्त्वपूर्ण विधियों पर पड़ता जो कि 1951 से 1967 वर्षों के बीच संघ और राज्यों द्वारा अधिनियमित हुई हैं। इस न्यायालय ने भविष्यलक्षी प्रभावकारिता के सिद्धान्त तथा उपमति के सिद्धान्त का अवलम्ब लेते हुए उन विधियों को अविधिमान्य नहीं किया।

दूसरी परिस्थिति जो बहुत महत्त्वपूर्ण है वह यह है कि संविधान का प्रथम संशोधन अस्थाई संसद् द्वारा किया गया था जिनके वही सदस्य थे जो कि संविधान सभा के सदस्य थे। यह बात स्मरण रखनी चाहिए कि संविधान सभा के सदस्य 1952 के सामान्य निर्वाचन तक अस्थाई संसद् के सदस्य बने रहे। वे उस आशय से अवगत रहे होंगे जिसके लिए अनुच्छेद 368 अधिनियमित हुआ था। ये महत्त्वपूर्ण परिस्थितियां हैं। जब हम सांविधानिक उपबन्ध का, विशिष्टतया ऐसा उपबन्ध जैसा कि अनुच्छेद 368 है, निर्वचन करते हैं तो हमें राष्ट्रीय हित को नीचे नहीं रखना है। इसे ऐसा होना चाहिए कि वह उन उद्देश्यों को आगे बढ़ावे जिनको पूरा करने के लिए संविधान का आशय है और उसमें अन्तर्निहित दर्शन को कार्यान्वित करे। मुख्य न्यायाधिपति मार्शल के स्मरणीय शब्दों को यदि हम उद्धृत करें, तो वे ये हैं कि हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि हम संविधान की व्याख्या कर रहे हैं।

अब हम श्री पालखीवाला की इस दूसरी दलील पर विचार करते हैं कि 'संशोधन' शब्द का एक सीमित अर्थ है और अनुच्छेद 368 संविधान के बुनियादी या मूल तत्त्वों या आवश्यक तत्त्वों को विकृत या विनष्ट करने की अनुज्ञा नहीं देता है। श्री पालखीवाला की यह दलील है कि 'संशोधन करना' शब्दों से मामूली तौर पर 'किसी पाठ में कतिपय परिवर्तन करना या कुछ सुधार करना' अभिप्रेत है। उनके कथनानुसार ये शब्द सिवाय विशिष्ट परिस्थितियों के, उस दस्तावेज को निराकृत करने या उसके बुनियादी तत्त्वों को निरसित करने के सहित दस्तावेजों में प्रत्येक परिवर्तन करने की व्यापक शक्ति का अर्थ नहीं रखते हैं। उनकी दलील है कि वही बात कानून या संविधान के संशोधन की शक्ति के बारे में सही है। अपनी दलील के समर्थन में उन्होंने विभिन्न शब्दकोशों में 'संशोधन' या 'संशोधन करना' पद को दिए गए विभिन्न अर्थों की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया है। उन्होंने आगे यह दलील दी है कि अनुच्छेद 368 में प्रयुक्त 'संशोधन' शब्द के अर्थ का अर्थान्वयन करने में हमें, आदाता (डोनी) जिसको संविधान में संशोधन करने की

---

(1) (1952) एस० सी० आर० 89.

(2) (1965) 1 एस० सी० आर० 933.

(3) (1967) 2 एस० सी० आर० 762.

शक्ति प्रदत्त की गई है तथा उस परिवेश को, जिसमें कि संविधान अधिनियमित हुआ था, यह अभिनिर्धारित करने के उस परिणाम को कि संविधान के प्रविषय तथा उसकी स्कीम में यह शक्ति असीमित है, ध्यान में रखना चाहिए। उसकी दलील है कि अन्तिम विश्लेषण में न्यायालय का कर्त्तव्य संविधान निर्माताओं के सही आशय का पता लगाना है और इसलिए हमारे सामने जो प्रश्न है वह यह है कि क्या संविधान के जनकों का इस संविधान के अधीन गठित निकाय के रूप में संसद् को उस मूल आधार को ही विकृत या नष्ट करने की शक्ति प्रदत्त करता था जिस पर कि हमारा संविधान रचा गया है। इसके विपरीत भारत संघ तथा केरल राज्य एवं अन्य राज्यों की ओर से यह दलील दी गई है कि अनुच्छेद 368 के अधीन प्रदत्त संशोधन की शक्ति व्यापक रूप से विस्तृत है। इस पर कोई परिसीमा नहीं है। यह वह शक्ति है जिसके द्वारा संविधान की रक्षा तथा संविधान का विनाश एवं नए संविधान की पुनर्रचना हो सकती है। यह दलील दी गई है कि समाज कभी भी निश्चल नहीं रह सकता। सामाजिक आदर्श, राजनैतिक और आर्थिक सिद्धान्त बदलते रहते हैं और प्रत्येक संविधान को आवश्यकताओं के अनुसार समाज के विकास के साथ सामंजस्य रखने के लिए समय-समय पर बदलना पड़ता है। यह और भी दलील दी गई है कि कोई भी पीढ़ी अपनी इच्छा को भविष्य की पीढ़ियों पर स्थाई रूप से अधिरोपित नहीं कर सकती। हमारे संविधान के जनक बुद्धिमान् थे किन्तु बुद्धिमानी केवल उनका ही एकाधिकार नहीं था उन्होंने यह स्वयं ही अनुभव किया था। वे यह जानते थे कि एक बदलते हुए विश्व में कोई भी वस्तु स्थाई नहीं हो सकती और इसलिए संविधान को राजनैतिक, आर्थिक और सामाजिक आदर्शों की बदलती हुई धारणाओं के साथ सामंजस्य रखने के लिए उन्होंने अनुच्छेद 368 में एक ऐसे तन्त्र का उपबन्ध किया था जो न तो इतना परिवर्तनशील है, न ही इतना अपरिवर्तनशील और इससे समय की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए संविधान को नया रूप देना सम्भव है। उनके कथनानुसार अनुच्छेद 368 में विहित प्ररूप और रीति के अनुसरण द्वारा संसद् उसी शक्ति का प्रयोग कर सकती है जिस शक्ति का प्रयोग संविधान सभा ने किया था। अब हमें यह विचार करना है कि इन दोनों दलीलों में से कौन सी दलील मान्य है।

कानून या संविधान के उपबन्ध का निर्वचन करते समय न्यायालय का मुख्य कर्त्तव्य यह है कि वह विधायी आशय का पता लगाए। प्रस्तुत मामले में हमारा कर्त्तव्य यह है कि हम अनुच्छेद 368 के अधिनियमित करने में, जो हमारे संविधान के जनकों का आशय था, उसका पता लगाएं। मामूली तौर से विधायी आशय प्रयुक्त की गई भाषा से जाने जाते हैं। यदि प्रयुक्त की गई भाषा स्पष्ट और असंदिग्ध है तो उन परिणामों की चिन्ता किए बिना, जो उससे उद्भूत होंगे, हमें वही अर्थ देना चाहिए। किन्तु यदि प्रयुक्त की गई भाषा युक्तियुक्त रूप से एक से अधिक अर्थ देने वाली है तो इस न्यायालय को अर्थान्वयन के सुस्थिर सिद्धान्तों तथा विशिष्टतया विधायी इतिहास तथा उस बुराई का पता लगा कर, जिसको कि दूर करना चाहा गया था तथा कुछ अन्य मामलों में विधान में निहित प्रयोजन, विधायी स्कीम तथा उन परिणामों से, जो निर्वचनों के एक या दूसरे रूप को स्वीकार करने से निकलेंगे, सहायता लेनी चाहिए क्योंकि किसी भी विधायी निकाय के बारे में यह अनुमान नहीं किया जा सकता कि वह ऐसी शक्ति प्रदत्त करती है जिससे उसका दुरुपयोग हो सकता है।

बहस के दौरान यह मान लिया गया है कि साधारणतया, यदि कहा जाए तो अधिकांश अंग्रेजी के शब्दों की तरह 'संशोधन' शब्द तथा उस विषय के लिए किसी भी भाषा में कोई स्पष्ट अर्थ नहीं है। 'विक्रय' या 'उत्पाद शुल्क' के विपरीत यह विधि का शब्द नहीं है। इससे व्यापक और सीमित दोनों अर्थ निकल सकते हैं। कुछ प्रसंगों में संविधान के संशोधन की शक्ति के अन्तर्गत उस संविधान को निराकृत करने या निरसित करने की शक्ति भी आती है। कुछ परिस्थितियों में यह उस शक्ति से अभिप्रेत है जो संकुचित सीमाओं के अन्तर्गत परिवर्तन कर सकती है। कभी-कभी इससे वह शक्ति अभिप्रेत है जो कतिपय परिसीमाओं के अध्यधीन भी अत्यधिक व्यापक अर्थ दे सकती है। संक्षेप में यदि कहा जाए तो 'संशोधन' शब्द का कोई स्वरूप नहीं है। इसका कोई स्पष्ट अर्थ नहीं है। यह उस प्रसंग से अर्थ ग्रहण करता है जिसमें कि यह प्रयुक्त होता है। इसका निर्वचन शून्य में (प्रसंग से बाहर) नहीं किया जा सकता। अंग्रेजी भाषा के कुछ शब्द इस अर्थ में नैसर्गिक और मामूली अर्थ रखते हैं कि यदि उनको इस तरह से पढ़ा जाए तो प्रसंग से पूर्णतया भिन्न अर्थ रखते हैं। टोवी बनाम आइसनर (1) वाले मामले में जैसा कि न्यायाधिपति होल्म्स ने मत दिया—

> "शब्द सुनिश्चित, स्पष्ट और अपरिवर्तित नहीं होता है। यह जीवन्त विचारों का ताना-बाना है तथा उन परिस्थितियों और उस काल जिसमें कि यह प्रयुक्त हुआ है, के अनुसार उसके स्वरूप और उसकी विषय-वस्तु में बहुत अन्तर हो सकता है।"

हमें अनुच्छेद 368 में प्रयुक्त 'संशोधन' शब्द का अर्थान्वियन अलग रख कर नहीं करना चाहिए किन्तु उस रूप में करना चाहिए जैसा कि इस एकल जटिल लिखित में यह प्रयुक्त हुआ है। अनुच्छेद 368 संविधान का एक भाग है। संविधान विधानमण्डलों को तथा अन्य प्राधिकारियों को विभिन्न शक्तियां प्रदत्त करता है। यह उन प्राधिकारियों पर कर्तव्य भी अधिरोपित करता है। अनुच्छेद 368 के अधीन प्रदत्त शक्ति भी उसी प्रकार की एक शक्ति है। जब तक कि सांविधानिक स्कीम से यह स्पष्ट है कि अनुच्छेद 368 के अधीन प्रदत्त शक्ति एक उच्च शक्ति है और जैसा कि संघ तथा राज्यों की ओर से यह दलील दी गई है कि दूसरी समस्त शक्तियों तथा संविधान के विभिन्न भागों को नष्ट कर सकती है तब तक अनुच्छेद 368 के सही प्रयोजन को अभिनिश्चित करने के लिए संविधान के दूसरे भागों का अर्थान्वियन सामंजस्यपूर्ण ढंग से किया जाना चाहिए।

संयुक्त राज्य अमरीका के संविधान के विपरीत हमारे संविधान में 'संशोधन' या 'संशोधन करना' शब्द विभिन्न स्थानों पर विभिन्न अर्थ देने के लिए प्रयुक्त किए गए हैं। कुछ अनुच्छेदों में सीमित अर्थ देने के लिए इसका प्रयोग किया गया है अर्थात् ऐसी शक्ति जोकि केवल विहित परिसीमाओं के अन्तर्गत परिवर्तन कर सकती है। देखिए अनुच्छेद 4, 107(2), 111, 169(2), 196(2), 197(2) तथा 200। संविधान की पंचम अनुसूची के पैरा 7 तथा षष्ठ अनुसूची के पैरा 21 में उन अनुसूचियों का संशोधन करने की एक बहुत ही सीमित शक्ति संसद् को प्रदत्त की गई है। उस शक्ति के अन्तर्गत परिवर्धन, परिवर्तन या निरसन के द्वारा संशोधन करने की शक्ति आती है। यही स्थिति निरसित अनुच्छेद 243(2), अनुच्छेद 252(2) तथा अनुच्छेद 350(5)

(1) 245 यू० एस० 418, 425.

में है। यह सही है कि पंचम और षष्ठ अनुसूची के अधीन प्रदत्त संशोधन की शक्ति मात्र उन अनुच्छेदों को संशोधित करने की मात्र शक्ति है किन्तु यदि संविधान निर्माताओं की यह राय होती कि 'संशोधन' या 'संशोधन करना' शब्दों के अन्तर्गत तथा इसके प्रविषय के अन्तर्गत जब तक कि अन्यथा परिसीमित न किया जाए, परिवर्धन, परिवर्तन करने या निरसित करने की शक्ति आती है तो उन अनुसूचियों या भागों में परिवर्धन, परिवर्तन या निरसन द्वारा संशोधन करने का उल्लेख करने का कोई प्रयोजन न होता। इस सम्बन्ध में यह भी स्मरण रखना चाहिए कि संविधान सभा ने गवर्नमेण्ट ऑफ इण्डिया ऐक्ट, 1935 की धारा, 291 का संशोधन 21 अगस्त, 1949 को उस समय कुछ दिनों के पूर्व जब कि इसने अनुच्छेद 368 को अनुमोदित किया था अर्थात् 17 सितम्बर, 1949, को संशोधित किया था। संशोधित धारा 291 गवर्नर जनरल को परिवर्धन, परिवर्तन या निरसन के द्वारा 1935 के ऐक्ट के कुछ उपबन्धों में संशोधन करने के लिए सशक्त करती थी। इन परिस्थितियों से विश्वास करने का प्रथमदृष्ट्या कारण है कि हमारे संविधान निर्माताओं की मात्र संशोधन करने की शक्ति तथा परिवर्धन, परिवर्तन या निरसन द्वारा संशोधन करने की शक्ति के बीच स्पष्ट विभेद किया था। यह निर्वचन के मान्य सिद्धान्त में से एक सिद्धान्त है कि न्यायालयों को यह अनुमान करना चाहिए कि मामूली तौर से विधानमण्डल कानून में उन शब्दों का वही अर्थ देने के लिए प्रयोग करता है। यदि उसी कानून में विभिन्न शब्द प्रयुक्त किए गए हैं तो यह अनुमान करना युक्तियुक्त है कि जब तक प्रथम प्रसंग से अन्यथा दर्शित न हो, विधानमण्डल का आशय उन शब्दों को भिन्न अर्थ देने का था। निर्वचन का यह सिद्धान्त संविधान के अर्थान्वयन में भी लागू होता है।

अब हम इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि अनुच्छेद 368 में प्रयुक्त 'संशोधन' शब्द ऐसा नहीं है जिसका स्पष्ट अर्थ है और संविधान के विभिन्न अनुच्छेदों तथा भागों में उसका प्रयोग सदैव उसी एक स्पष्ट अर्थ को देने के लिए नहीं हुआ है। यह आवश्यक है कि संविधान निर्माताओं का आशय जानने के लिए अर्थान्वयन के दूसरे सुसंगत सिद्धांत का आश्रय लिया जाए।

यह प्रश्न कि क्या अनुच्छेद 368 के अधीन संशोधन करने की शक्ति पर कोई विवक्षित परिसीमा है, इस न्यायालय द्वारा अब तक विनिश्चित नहीं किया गया है। यह प्रश्न शंकरी प्रसाद वाले मामले ([1]) में विचार के लिए नहीं आया था। सज्जन सिंह वाले मामले ([2]) में बहुमत की ओर से निर्णय देते हुए न तो मुख्य न्यायाधिपति गजेन्द्रगडकर ने, और न ही न्यायाधिपति हिदायतुल्लाह (जैसे कि वह उस समय थे) ने उस प्रश्न पर विचार किया। किन्तु न्यायाधिपति मधोलकर ने उस पक्ष के महत्त्व की कल्पना की थी। उन्होंने अपना निर्णय देते हुए निम्नलिखित मत व्यक्त किया—

> "हमें इस तथ्य को ध्यान में रखना है कि हमारा संविधान एक लिखित संविधान है। संविधान सभा, जो सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्नता की धात्री थी, ब्रिटिश पद्धति के आधार पर वह सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न संसद् की सृष्टि कर सकती थी। किन्तु इसके स्थान पर उसने एक लिखित संविधान अभिलिखित किया और राज्य के तीन अंग सृष्ट किए और संघ की कार्यपालिका को संसद् के प्रति तथा राज्य

([1]) (1952) एस० सी० आर० 89.
([2]) (1965) 1 एस० सी० आर० 933.

की कार्यपालिका को राज्य विधानमण्डलों के प्रति उत्तरदायी बनाया। एक परिसंघीय ढांचे की रचना की और संसद् और राज्य विधानमण्डलों के बीच शक्ति का बंटवारा किया, कुछ अधिकारों को मूल अधिकारों के रूप में मान्यता प्रदान की और उनके प्रवर्तन के लिए उपबन्ध किया। पद की शपथ या प्रतिज्ञान के उन प्ररूपों को विहित किया, जो उनके लिए आवश्यक था और जो भारत के संविधान की राज्य निष्ठा के लिए वचनबद्ध थे और इसके आगे भी परिसंघीय न्यायपालिका तथा राज्यों में की उक्त न्यायपालिका से अपेक्षा की गई कि वे संविधान को कायम रखें। सबसे बड़ी बात यह हुई कि इसने एक पवित्र और उच्च प्रस्तावना को विरचित किया जो संविधान के बुनियादी तत्वों के सार रूप में प्रतीत होती है। क्या यह नहीं कहा जा सकता है कि यह उस संविधान सभा के आशय का द्योतक है कि वे संविधान के बुनियादी तत्वों को स्थायी रूप देना चाहती थी। यह भी विचार का विषय है कि क्या संविधान के बुनियादी तत्वों में परिवर्तन करने के बारे में केवल यह समझा जा सकता है कि वह एक संशोधन है या कि इस भाव में कि वह संविधान के भाग को पुनः विरचित करना है। यदि यह पश्चात्‌वर्ती है अर्थात् पुनः विरचित करना है तो क्या अनुच्छेद 368 के क्षेत्र के अन्तर्गत होगा।"

पहली बार गोलकनाथ वाले मामले(1) में यह दलील दी गई कि अनुच्छेद 368 के अधीन संशोधन की शक्ति कतिपय अन्तर्निहित और विवक्षित परिसीमाओं के अध्यधीन है। अपनी ओर से तथा अपने चार सहयोगियों की ओर से निर्णय देते हुए मुख्य न्यायाधिपति सुब्बाराव ने इस दलील में बल होने की बात को मानते हुए उस पर कोई निर्णय नहीं दिया। न्यायाधिपति वांचू (जैसे कि वह उस समय थे) अपनी ओर से निर्णय देते हुए तथा दो अन्य न्यायाधीशों ने यह मत दिया था कि अनुच्छेद 368 के अधीन जो शक्ति है वह बहुत व्यापक शक्ति है किन्तु इसके अन्तर्गत संविधान को निराकृत करने की शक्ति नहीं है। उन्होंने अवश्य इस बात को स्पष्ट किया कि 'संशोधन को निराकृत करना' का क्या अर्थ है। न्यायाधिपति हिदायतुल्लाह (जैसे कि वह उस समय थे) ने इस प्रश्न का उत्तर नहीं दिया। न्यायाधिपति बछावत ने यह कहते हुए उस प्रश्न का उत्तर टाल दिया कि आक्षेपित अधिनियम संविधान के बुनियादी तत्व को नष्ट नहीं करते हैं। केवल एक ऐसे न्यायाधिपति, जिन्होंने इस दलील को कि संविधान की शक्ति पर अन्तर्निहित या विवक्षित परिसीमाएं हैं, अमान्य किया था, वह न्यायाधिपति रामस्वामी थे। उपर्युक्त विचार-विमर्श से यह स्पष्ट है कि भूतकाल में इस न्यायालय के समक्ष जो प्रश्न विचार के लिए आया था, अनेक न्यायाधीशों ने इस बात की सम्भावना पर विचार नहीं किया कि अनुच्छेद 368 के अधीन संशोधन की शक्ति पर कुछ परिसीमा है यद्यपि उस प्रश्न पर उन्होंने निश्चित रूप से निर्णय नहीं दिया।

निर्वचन के नियमों का जो सुमान्य नियम है वह नियम हेडन वाले मामले में अभिकथित किया गया है। कौन सी वह बुराई थी जिसको कि संविधान निर्माताओं ने दूर करने का आशय किया था। संविधान द्वारा किस प्रयोजन को प्राप्त करने का उद्देश्य है। इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए यह आवश्यक है कि 1885 के आगे के राष्ट्रीय

(1) (1967) 2 एस० सी० आर० 762.

आन्दोलन तथा उन उद्देश्यों का, जो उस आन्दोलन द्वारा प्राप्त करने चाहे गए थे, संक्षिप्त से सिंहावलोकन कर लिया जाए।

हमारे संविधान के अन्तर्गत हीं उद्देश्य छिपे हुए हैं वे उन शक्तियों के परिणामस्वरूप रूप लेने लगे थे जो ब्रिटिश शासन के दौरान राष्ट्रीय संघर्ष में प्रवर्तित थीं। जबकि ब्रिटिश सरकार अत्याचारों के मनमाने कार्यों का आश्रय ले रही थी, जैसे कि निहत्थे सत्याग्रहियों पर निर्मम हमले, स्थानबद्ध रूप में नजरबन्दी, निर्वासन, बिना विचारण के निरोध तथा प्रेस का दमन। कार्यपालिका ने जो निन्दनीय उपायों द्वारा अत्याचार किया उससे मूल अधिकारों के सांविधानिक गारण्टी के लिए मांग बलवती होने लगी। 1895 में कुछ गणमान्य भारतीयों द्वारा तैयार किए गए "कांस्टिट्यूशन ऑफ इण्डिया बिल" में यह परिकल्पना की गई कि भारत का एक संविधान हो जिसमें हमारे प्रत्येक नागरिक को अभिव्यक्ति स्वतन्त्रता, किसी के घर में अतिक्रमण न करने, सम्पत्ति के अधिकार, विधि के समक्ष समता, लोक पदों को पाने के लिए समान अवसर, दावा, पिटीशन तथा शिकायत पेश करने के अधिकार तथा वैयक्तिक स्वतन्त्रता के अधिकार की गारण्टी हो। मण्टेग्यू चैम्सफोर्ड की रिपोर्ट के प्रकाशन के पश्चात् भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने अगस्त, 1918 में बम्बई में हुए विशेष अधिवेशन में यह मांग की कि उनके लिए गवर्नमेण्ट ऑफ इण्डिया ऐक्ट के अन्तर्गत "ब्रिटिश नागरिकों के रूप में भारत के लोगों के अधिकार की घोषणा" होनी चाहिए। इस प्रस्थापित घोषणा में अन्य बातों के साथ-साथ विधि के समक्ष समता, जीवन और स्वतन्त्रता की संरक्षा, वाक् और प्रेस की स्वतन्त्रता और संघ स्थापित करने का अधिकार समाविष्ट थे। उसी वर्ष में दिसम्बर में अपने अधिवेशन में कांग्रेस ने दूसरा संकल्प पारित किया और ऐसी समस्त विधियों, विनियमों और अध्यादेशों के निरसन की मांग की जोकि राजनैतिक प्रश्नों पर तथा भारत की किसी ब्रिटिश प्रजा को मामूली सिविल या दाण्डिक विधि के अतिरिक्त कार्यपालिका पर गिरफ्तार करने, निरुद्ध करने, नजरबन्द करने, देश निकाला करने या जेल भेजने की शक्ति प्रदत्त करने पर स्वतन्त्र विचार-विमर्श को रोकती थी तथा यह मांग की कि इंग्लैण्ड की तरह राजद्रोह की विधि को भी बनाया जाए। राष्ट्रीय अधिवेशन में जो कॉमनवैल्थ ऑफ इण्डिया बिल को 1926 में अन्तिम रूप दिया गया था उसमें ऐसे अधिकारों की विनिर्दिष्ट घोषणा समाविष्ट थी जिसमें यह कल्पना की गई थी कि प्रत्येक व्यक्ति को आयरिश संविधान के सुसंगत उपबन्धों की तरह व्यवहारिक रूप में कतिपय अधिकार दिए जाएं। भारत में अल्पसंख्यकों की समस्याओं से भी इस बात को बल मिला कि भारतीय संविधान में मूल अधिकार सम्मिलित किए जाएं। 1927 में मद्रास के अपने अधिवेशन में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने दृढ़तापूर्वक यह प्रस्ताव रखा कि भविष्य में संविधान का आधार मूल अधिकारों की घोषणा होगी। 1928 में नेहरू समिति ने अपनी रिपोर्ट में ऐसे अधिकारों को बताते हुए उपबन्ध रखा और यह सिफारिश की कि भविष्य के भारत के संविधान के भाग के रूप में इसे अंगीकृत किया जाए। साइमन कमीशन ने इस आधार पर इस मांग को अस्वीकार कर दिया कि ऐसे अधिकारों की अमूर्त घोषणा तब तक निरर्थक है जब तक कि उसको प्रभावकारी बनाने के लिए संकल्प और साधन न हों। 1925 में अपने कराची अधिवेशन में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने अपने संकल्प को पुनः दोहराया कि भारत में स्थापित होने वाले सांविधानिक ढांचे में अनिवार्य रूप से मूल अधिकारों की लिखित गारण्टी की जाए। राउण्ड टेबल कांफ्रेंस के समय भारतीय

नेताओं ने सांविधानिक दस्तावेज में मूल अधिकारों को समाविष्ट करने की मांग पर जोर दिया। ब्रिटिश पार्लियामेण्ट की संयुक्त प्रवर समिति ने उन मांगों को अस्वीकार कर दिया। सप्रू कमेटी (1944-45) की यह राय थी कि भारत की विशिष्ट परिस्थितियों को देखते हुए कि मूल अधिकार न केवल अल्पसंख्यकों के आश्वासन और गारण्टी के रूप में आवश्यक हैं अपितु विधानमण्डलों, सरकारों और न्यायालयों के आचरण का मानक विहित करने के लिए भी। कमेटी ने यह अनुभव किया कि संविधान बनाने वाली संसद् का यह कर्त्तव्य है कि वह मूल अधिकारों की सूची प्रथमत: समाविष्ट करे और न्याय्य और अन्याय्य अधिकारों का बटवारा करे और उनके प्रवर्तन के लिए उपयुक्त तन्त्र की व्यवस्था करे।

द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान की गई नृशंसता और मानवीय अधिकारों के लिए विश्व-व्यापी आन्दोलन, एटलाण्टिक चार्टर में गारण्टी की गई स्वतन्त्रताएं तथा यू० एन चार्टर एवं ह्यूमन राइट्स कमीशन द्वारा मानवीय अधिकारों की घोषणा से हमारे संविधान में मूल अधिकारों को समाविष्ट किए जाने की मांग को बल मिला। ब्रिटिश कैबिनेट मिशन ने 1946 में भारत के संविधान में मूल अधिकारों के लिखित गारण्टी की आवश्यकता को मान्यता दी। तदनुसार इसने अन्य बातों के साथ-साथ मूल अधिकारों के ऊपर रिपोर्ट के लिए एक परामर्शी समिति का गठन करने के लिए सिफारिश की। 22 जनवरी, 1947 को जो उद्देश्यमूलक संकल्प अंगीकृत किया गया था, संविधान सभा ने गम्भीरतापूर्वक भारत के भविष्य के शासन के लिए ऐसे संविधान की विरचना के लिए प्रण किया था जिसमें कि विधि और लोक नैतिकता के अध्यधीन "भारत के समस्त लोगों को सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय, प्रतिष्ठा और अवसर की समानता, विधि के समक्ष समता, विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म, उपासना, पेशा तथा संघ बनाने और कार्य करने की स्वतन्त्रता की गारण्टी की जाएगी और उसे सुरक्षित रखा जाएगा और जिसमें कि अल्पसंख्यकों, पिछड़े तथा आदिमजाति क्षेत्रों तथा दलित एवं अन्य पिछड़े वर्गों के लिए समुचित सुरक्षा की व्यवस्था की जाएगी"। फ्रांस की राजक्रान्ति के पश्चात् से राजनैतिक स्वतन्त्रता और सामाजिक न्याय के सम्बन्ध में एक ही धारणा हो गई है। प्रथम विश्व युद्ध के अन्त से इस बात पर अत्यधिक रूप से मान्यता दी गई कि विश्व में शान्ति उसी दशा में स्थापित की जा सकती है जबकि इसका आधार सामाजिक न्याय हो। आज के अधिकांश संविधानों में सामाजिक और आर्थिक सिद्धान्तों की घोषणा अन्तर्विष्ट होती है जो अन्य बातों के साथ सामाजिक सुरक्षा के प्रयत्न करने के लिए तथा काम और शिक्षा तथा अपने नागरिकों के नियोजन की उचित दशाओं के लिए राज्य के कर्त्तव्य पर जोर देते हैं। मूल अधिकारों और निदेशक तत्वों को विरचित करने में हमारे संविधान के जनकों ने विश्व के विभिन्न भागों में गठित घटनाओं से अनुभव प्राप्त करने के अतिरिक्त अपने भूतकाल के अनुभवों का भी बहुत अधिक अवलम्ब किया है। निदेशक तत्व तथा मूल अधिकार मुख्यतया मानवीय अधिकारों के आधार पर गढ़े गए हैं। साधारण मनुष्य को आर्थिक और सामाजिक न्याय के बिना जन-प्रतिनिधित्व के लोक लोकतन्त्रों का कोई अर्थ नहीं होगा। यह विश्वव्यापी अनुभव रहा है। विदेशी शासन से स्वतन्त्रता को केवल इस रूप में देखा जा सकता है कि उससे आर्थिक और सामाजिक उत्थान का अवसर मिलता है। अन्ततोगत्वा स्वतन्त्रता कुछ भी नहीं है बल्कि

अधिक अच्छा होने का एक अवसर है। यह अधिक अच्छा होने की स्वतन्त्रता ही है कि जो संविधान के भाग 4 में राज्य नीति के निदेशक तत्वों की विषयवस्तु है।

जनवरी, 1948 में संविधान सभा ने जो उद्देश्य मूलक प्रस्ताव पास किया था वह निश्चित रूप से एक युगान्तकारी घटना है। यह हमारे संविधान की प्रस्तावना का अग्रदूत है। यह उन उद्देश्यों को विस्तृत रूप से वर्णित करता है जोकि संविधान निर्माताओं के समक्ष थे। ये उद्देश्य हमारे संविधान की प्रस्तावना में समाविष्ट किए गए हैं जो इस प्रकार हैं—

"हम भारत के भारत के लोग, भारत को एक सम्पूर्ण
प्रभुत्व-सम्पन्न लोकतन्त्रात्मक गणराज्य बनाने
के लिए तथा उसके समस्त नागरिकों को :
सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय,
विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म
और उपासना की स्वतन्त्रता,
प्रतिष्ठा और अवसर की समता
प्राप्त कराने के लिए,
तथा उन सब में
व्यक्ति की गरिमा और राष्ट्र की
एकता सुनिश्चित करने वाली बन्धुता
बढ़ाने के लिए
दृढ़संकल्प हो कर अपनी इस संविधान सभा में
आज तारीख 26 नवम्बर, 1949 ई० (मिति मार्गशीर्ष
शुक्ला सप्तमी, संवत् दो हजार छह विक्रमी) को
एतद्द्वारा इस संविधान को अंगीकृत, अधिनियमित
और आत्मार्पित करते हैं।"

प्रस्तावना से यह स्पष्ट है कि संविधान सभा के समक्ष दो मुख्य उद्देश्य थे—(1) भारत को एक सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न लोकतान्त्रिक गणराज्य गठित करना, तथा (2) उसमें वर्णित अधिकारों को उसके नागरिकों को प्राप्त कराना। किसी न किसी रूप में हमारे संविधान के जनकों में से अधिकांश व्यक्तियों ने उन्हीं उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए बलिदान किए थे। उनके लिए ब्रिटिश शासन से स्वतन्त्रता इस देश के करोड़ों निवासियों को सामाजिक न्याय देने के लिए तथा इस देश के प्रत्येक और समस्त व्यक्तियों को आवश्यक मानवीय अधिकारों को प्राप्त कराने का एक आवश्यक कदम था। उनकी सांविधानिक योजना यह थी कि लोक कल्याणकारी राज्य तथा समाजवादी समाज की स्थापना की जाए।

अब हमने उन उद्देश्यों को वर्णित कर दिया है जिसे हमारे संविधान के जनकों ने प्राप्त करने का आशय किया था। अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि क्या उन्हीं व्यक्तियों का यह आशय हो सकता था कि वे संविधान के अधीन गठित निकाय के रूप में संसद् को उन आदर्शों को नष्ट करने के लिए सशक्त करते जिसके लिए उन्होंने अभिलाषा की थी और जिसके लिए उन्होंने संघर्ष किया था तथा बलिदान किया था।

यदि प्रदत्त शक्ति की प्रकृति स्पष्ट और असंदिग्ध है तो यह तथ्य कि इसका दुरुपयोग हो सकता है, यह बात पूर्णतया असंगत है। किन्तु यदि प्रदत्त की गई शक्ति के बारे में युक्तियुक्त सन्देह है तो न्यायालय को उन परिणामों पर विचार करना पड़ेगा जो उक्त शक्ति को असीमित रूप में निर्वचन करने के बाद उत्पन्न होंगे। (हम पहले इस निष्कर्ष पर पहुंच चुके हैं कि 'संशोधन' शब्द ऐसी अभिव्यक्ति नहीं है जिसका यथार्थ अर्थबोध है। इसके एक से अधिक अर्थ हैं। इसलिए यह आवश्यक है कि संघ और राज्यों की दलील को स्वीकार करने के परिणाम की परीक्षा की जाए। इसलिए हमें उन परिणामों को समझना पड़ेगा जोकि उस शक्ति को असीमित शक्ति के रूप में निर्वचन करने पर उत्पन्न होंगे)। संघ और राज्यों के कथनानुसार इस शक्ति में अन्य बातों के साथ-साथ—(1) इस देश की सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्नता को नष्ट करने तथा इस देश को किसी अन्य देश का उपनिवेश बनाने की शक्ति है; (2) लोकतान्त्रिक रूप की सरकार के स्थान पर राजतान्त्रिक या अधिनायकवादी सरकार प्रतिस्थापित करने की शक्ति है; (3) इस देश की अखण्डता को भंग करने तथा विभिन्न स्वतन्त्र राज्यों को बनाने की शक्ति है; (4) इस देश की असाम्प्रदायिक प्रकृति को नष्ट करने तथा उसके स्थान पर धर्मतान्त्रिक सरकार की प्रतिस्थापना करने की शक्ति है; (5) नागरिकों तथा अल्पसंख्यकों को प्रदत्त विभिन्न अधिकारों को पूर्णतः निराकृत करने की शक्ति है; (6) लोक कल्याणकारी राज्य की स्थापना करने के लिए राज्यों को दी गई आज्ञा को प्रतिसंहृत करने की शक्ति है; (7) अनिश्चित काल तक के लिए संसद् के दोनों सदनों का कार्यकाल बढ़ाने की शक्ति है, (8) संशोधन करने की शक्ति इस रूप में संशोधन करने की शक्ति है कि संविधान विधिक रूप में या किसी भी सूरत में, व्यवहारिक रूप में, असंशोधनीय हो जाए। वास्तव में यह दलील दी गई थी कि अन्तिम विश्लेषण में विधिक प्रभुसत्ता संशोधन करने की शक्ति में विद्यमान् है। एक प्रक्रम पर संघ और राज्यों के काउन्सेल ने अनिच्छा से यह बात स्वीकार की कि अनुच्छेद 368 के अधीन प्रदत्त शक्ति को संविधान को निराकृत करने के लिए प्रयुक्त नहीं किया जा सकता किन्तु बाद में हम में से कुछ के द्वारा किए गए प्रश्नों के दबाव के कारण उन्होंने अपनी बात बदल दी और यह कहा कि निराकरण से सम्पूर्ण संविधान के निरसन अभिप्रेत है। जब उनसे यह पूछा गया कि उनके इस कहने का क्या अर्थ है कि अनुच्छेद 368 द्वारा प्रदत्त शक्ति का प्रयोग संविधान को निरसित करने के लिए नहीं किया जा सकता तो जो कुछ भी उन्होंने कहा वह यह है कि संविधान का संशोधन करते समय कम से कम संविधान के एक खण्ड को बना रहना चाहिए यद्यपि प्रस्तावना के सहित संविधान का प्रत्येक दूसरा खण्ड और भाग हटाए जा सकते हैं और कुछ दूसरे उपबन्ध प्रतिस्थापित किए जा सकते हैं। संक्षेप में उनका कथन यह था कि जब तक कि 'भारत का संविधान' अभिव्यक्ति विद्यमान है उसका प्रत्येक अन्य अनुच्छेद या भाग बदला जा सकता है। उन्होंने अपने दावों के प्रभाव को यह कहते हुए हलका किया कि यद्यपि विधिक रूप में संशोधन करने की शक्ति पर यह कोई परिसीमा नहीं है किन्तु ऐसी राजनैतिक विवशताएं आ सकती हैं और जनता को स्वीकार न करने के कारण संसद् के लिए संशोधन की शक्ति का प्रयोग असम्भव हो जाए। राजनैतिक शक्ति की प्रतिक्रियाएं अनिश्चित हैं। यह विभिन्न बातों पर निर्भर करती है जैसे कि जनता की राजनैतिक जागरूकता, उनकी शिक्षा का स्तर, देश में विभिन्न राजनैतिक संगठनों की शक्ति, वह रीति, जिसमें जन माध्यम का प्रयोग किया जाता है तथा अन्त में सरकार का आन्दोलनों को

दबाने का सामर्थ्य। इसलिए यह बात कि जनता की इच्छा अवांछित संशोधन का विरोध करेगी, संशोधन की शक्ति के क्षेत्र का निर्वचन करते समय ध्यान में नहीं रखी जा सकती। अतिरिक्त विधिक शक्तियां पूर्णतः भिन्न धरातल पर काम करती हैं।

[हमें इस दलील को स्वीकार करना कठिन लगता है कि हमारे संविधान के उन निर्माताओं ने, जिन्होंने कि कुछ आदर्शों को प्राप्त करने के लिए घोर बलिदान किए थे, उन आदर्शों को नष्ट करने के लिए स्वयं संविधान में उपबन्ध किए होंगे। अनुभव और सुदृढ़ राजनैतिक ज्ञान के उन व्यक्तियों ने यह अवश्य समझा होगा कि समय के अनुक्रम में सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक परिवर्तनों का आना निश्चित है और संविधान को ऐसा होना चाहिए कि उसे उन नई समस्याओं के समाधान के लिए अनुकूल बनाया जा सके। हमारा संविधान मात्र केवल राजनैतिक दस्तावेज नहीं है। यह निश्चित रूप से एक सामाजिक दस्तावेज है। यह एक सामाजिक दर्शन पर आधारित है और प्रत्येक धर्म के सदृश प्रत्येक सामाजिक दर्शन के भी दो मुख्य तत्व होते हैं अर्थात् बुनियादी और परिस्थितिजन्य। पहला स्थाई बना रहता है किन्तु दूसरा परिवर्तित होता रहता है। धर्म का दर्शन सदैव स्थाई बना रहता है किन्तु इसके आचार बदलते रहते हैं। इसी प्रकार हमारा जो संविधान है उसमें कुछ ऐसे तत्व हैं जो ऐसे आवश्यक हैं कि उन्हें बदला या नष्ट नहीं किया जा सकता। किसी भी दशा में यह अन्दर से नष्ट नहीं किया जा सकता। दूसरे शब्दों में कोई भी संविधान का प्रयोग उसको नष्ट करने के लिए नहीं कर सकता। अनुच्छेद 368 के अधीन संशोधित संविधान को ऐसा 'संशोधन' बना रहना चाहिए जो मूल संविधान कहा जाता है। जब हम संविधान के 'निराकरण' और निरसन की बात करते हैं तो हम किसी प्ररूप के प्रति नहीं अपितु सार की ओर निर्देश करते हैं। यदि संविधान के बुनियादी तत्वों में से एक या अधिक उस सीमा तक छीन लिए जाते हैं तो संविधान निराकृत या निरसित हो जाता है। यदि संविधान के समस्त बुनियादी तत्व निरसित कर दिए जाते हैं तो यह अनुच्छेद 368 में निर्देशित संविधान नहीं रह सकता। संविधान का स्वरूप अपरिवर्तित रहना चाहिए।]

यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि संविधान के अधीन गठित निकाय के रूप में संसद् को संविधान को संशोधित करने की शक्ति प्रदत्त की गई है। इस रूप में जनता संविधान के संशोधन से सम्बद्ध नहीं है। प्रस्तावना से हम यह पाते हैं कि यह इस देश के लोग हैं जिन्होंने इस संविधान को अपने को प्रदत्त किया था। प्रस्तावना का यह कथन कि इस देश के लोग अपने को इस संविधान को प्रदत्त करते हैं इस न्यायालय के समक्ष इस पर चुनौती नहीं दी जा सकती। न्यायालय इसके तथ्यगत सत्यता के बारे में विचार नहीं कर सकता क्योंकि पुनः यह संविधान द्वारा किया गया सृजन है। प्रस्तावना में दिए गए तथ्यों को इस न्यायालय को सही रूप में स्वीकार करना पड़ेगा। कोई भी व्यक्ति जो संविधान सभा के गठन के बारे में जानता है उस सभा के सदस्यों के इस दावे के बारे में विवाद नहीं कर सकता कि उनकी आवाज लोगों की आवाज थी। वे सही रूप में जनता के प्रतिनिधि थे यद्यपि वे एक सीमित मताधिकार के अधीन चुने गए थे। उनके द्वारा विरचित संविधान स्वीकार किया गया है और 23 वर्ष से जनता ने उसका पालन किया है और इस समय यह अवसर नहीं है कि इस तथ्य को कि इस देश के लोगों ने

संविधान को अपने को प्रदत्त किया है, ऐसी चुनौती दी जाए, जैसा कि एक अवसर पर महाराष्ट्र के महाधिवक्ता ने करना चाहा था।

जब संविधान को संशोधित करने की शक्ति जनता को दी जाती है तो इसके बारे में अपेक्षाकृत उस शक्ति के, जो उस संविधान के अधीन गठित किसी निकाय को दी जाती है, व्यापक रूप से अर्थान्वयन किया जाना चाहिए। संसद् के दोनों सदनों के सदस्यों के दो-तिहाई मत के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वे इस देश की जनता के बहुमत का प्रतिनिधित्व करें। हमारी चुनाव प्रणाली इस प्रकार है कि मतदाताओं का अल्पमत भी संसद् के किसी भी सदन के सदस्यों के दो-तिहाई से अधिक का निर्वाचन कर सकता है, भूतकाल के हमारे अनुभव से यह स्पष्ट है। इसके अतिरिक्त हमारा संविधान मतैक्य के आधार पर विरचित हुआ था न कि बहुमत के मतों के आधार पर। इसमें अल्पसंख्यकों के संरक्षण के लिए उपबन्ध है। यदि बहुमत की राय निर्णायक बात मानी जाए तो अल्पसंख्यकों को दी गई गारण्टी निरर्थक हो जाएगी यह बात सुविज्ञात है कि संविधान सभा में अल्पसंख्यकों के प्रतिनिधियों ने विशेष संरक्षण के अपने दावे का उस स्थिति में परित्याग कर दिया जिसकी कि वे भूतकाल से मांग कर रहे थे क्योंकि उन्हें मूल अधिकारों की गारण्टी प्राप्त हो गई थी। इसलिए संघ और राज्यों की ओर से दी गई यह दलील अमान्य है कि संसद् के दोनों सदनों के सदस्यों के दो-तिहाई मत को इस देश के सम्पूर्ण जनता की ओर से कहने के लिए प्राधिकृत किया गया है।

पूर्व इसके कि राष्ट्रपति अपने पद का भार ग्रहण करें उन्हें संविधान के अनुच्छेद 60 के अधीन इस आशय की शपथ लेना अपेक्षित है "अपनी पूरी योग्यता से संविधान और विधि का परिरक्षण, संरक्षण तथा प्रतिरक्षण करूंगा"। राज्य के राज्यपालों, केन्द्र और राज्य के मंत्रियों, उच्चतर न्यायालयों के न्यायाधीशों तथा अन्य महत्वपूर्ण कृत्यकारियों को भी इसी प्रकार के शपथ लेनी पड़ती है। जब कि भारत के राष्ट्रपति को ऐसे सांविधानिक संशोधन को अपनी अनुमति देने के लिए विवश होना पड़े जो कि संविधान के बुनियादी तथ्यों को नष्ट करता है तो क्या यह कहा जा सकता है कि "संविधान का परिरक्षण, संरक्षण तथा प्रतिरक्षण" करने की उनकी शपथ कहां तक सही है या कि इस शपथ का केवल यह अर्थ है कि वह संसद् को संशोधन करने की शक्ति को रक्षित करने के लिए है। क्या संसद् की संशोधन करने की शक्ति को संविधान के रूप में समझा जा सकता है। हमारे संविधान की सम्पूर्ण स्कीम और ढांचा इस आधार पर विरचित किए गए हैं कि उसमें कुछ ऐसे बुनियादी तत्त्व हैं जिन्हें स्थायी बना रहने की आशा की गई है।

किसी कानून के अधीन प्रदत्त शक्तियों पर विवक्षित परिसीमाएं सभी कानूनों में पाया जाने वाला साधारण लक्षण है। यह बात संविधान के अधीन प्रदत्त शक्ति के बारे में भिन्न नहीं हो सकती। साधारण शब्दों में या आत्यंतिक निबन्धनों में जो शक्ति प्रदत्त की जाती है वह भी उसी अधिनियमिति के अभिव्यक्त उपबन्धों द्वारा नियंत्रित की जाती है अथवा-उस सन्दर्भ की विवक्षाओं या उससे उत्पन्न होने वाली उन अपेक्षाओं के, जो कानून की साधारण स्कीम के रूप में प्रतीत होती है, द्वारा नियन्त्रित की जा सकती है। सेंट्रल प्रॉविन्सेज एण्ड बरार ऐक्ट नं० XIV ऑफ 1938 का मामला[1]

(1) (1939) एफ० सी० आर० 18.

वाले निर्देश में पृष्ठ 42 पर मु० न्या० मोरिस ग्वायर ने निम्नलिखित मत दिया था—

> "साधारण निबन्धनों में जो शक्ति प्रदत्त की जाती है निस्सन्देह उसका अर्थ व्यापक रूप में करना चाहिए; किन्तु यह उसी अधिनियमिति के अभिव्यक्त उपबन्धों, प्रसंग की विवक्षाओं, और यहां तक कि उससे उत्पन्न होने वाली उन अपेक्षाओं द्वारा, जो अधिनियम की साधारण स्कीम के रूप में प्रदत्त होती है नियंत्रित की जा सकती है।"

47. जेम्स बनाम कॉमनवेल्थ ऑफ आस्ट्रेलिया(1) वाले मामले में लार्ड राईट ने इस प्रकार विधि को कथित किया था—

> "यह प्रश्न एक अर्थान्वयन का प्रश्न है और अन्त में इसका अवधारण प्रयुक्त हुए वास्तविक शब्दों के आधार पर किया जाना चाहिए जिन्हें प्रसंग से अलग रख कर न पढ़ा जाए अपितु ऐसे एकल जटिल लिखत में प्रयुक्त होने के रूप में, जिसमें कि एक भाग दूसरे भाग पर प्रकाश डालता हो। संविधान परिसंघीय ढांचे के सार के रूप में वर्णित किया गया है और इसके अर्थान्वयन में इसके सभी भागों में संतुलन होना चाहिए।"

हमारे संविधान द्वारा प्रदत्त बहुत सी शक्तियों के बारे में यह अभिनिर्धारित किया गया है कि वे विवक्षित परिसीमाओं के अध्यधीन हैं यद्यपि वे शक्तियां साधारण शब्दों में या यहां तक कि आत्यंतिक निबन्धनों में अभिव्यक्त की गई हैं। संघ की कार्यपालिक शक्ति राष्ट्रपति में निहित की गई है और उसे संविधान के अनुसार प्रत्यक्षतः या अपने अधीनस्थ अधिकारियों के माध्यम से प्रयुक्त करने के लिए प्राधिकृत किया गया है। अनुच्छेद 75 के अधीन राष्ट्रपति ही प्रधानमन्त्री को नियुक्त कर सकता है और मंत्रियों के उनके प्रसाद पर्यन्त अपने पद को धारण करेंगे। संविधान की स्कीम के कारण साधारण तथा आत्यन्तिक निबन्धनों में इस शक्ति के प्रदत्त होने के बावजूद भी इसमें संविधान के दूसरे उपबन्धों से उत्पन्न होने वाले अन्तर्निहित सिद्धान्तों और विवक्षाओं के बारे में इस न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया है कि अनेक मामलों में राष्ट्रपति एक सांविधानिक प्रधान है और वास्तविक कार्यपालिक शक्ति मन्त्रिमण्डल में निहित है। इसी प्रकार यद्यपि संसद् को तथा राज्य विधानमण्डलों को उनको आबंटित किए गए विधायी विषयों की बाबत सर्वांगीण शक्तियां प्रदत्त की गई हैं फिर भी इस न्यायालय ने यह मत दिया है कि इस शक्ति का प्रयोग करते हुए न तो संसद् और न ही राज्य विधानमण्डल अपने आवश्यक विधायी कृत्यों को किसी दूसरे प्राधिकारी को प्रत्यायोजित कर सकते हैं और न वे न्यायिक शक्ति का अतिक्रमण कर सकते हैं। प्रदत्त की गई शक्ति की प्रकृति तथा संविधान की स्कीम से ऐसी परिसीमाओं की विवक्षा की जाती है। किन्तु संघ और राज्यों की ओर से यह दलील दी गई है कि यद्यपि संविधान के अधीन प्रदत्त दूसरी शक्तियों पर विवक्षित परिसीमाएं हो सकती हैं किन्तु संशोधन की शक्ति पर कोई विवक्षित परिसीमा नहीं हो सकती। हम इस अन्तर का कोई आधार नहीं पाते हैं। संशोधन करने की शक्ति उन्हीं शक्तियों में से एक शक्ति है जो संविधान द्वारा प्रदत्त होती है चाहे उस शक्ति की प्रकृति कुछ भी हो। इसके अतिरिक्त सुनवाई के दौरान विद्वान् महासालिसिटर को यह बात

(1) (1936) ए० सी० 578, 613.

माननी पड़ी कि स्वयं संशोधन करने की शक्ति पर कुछ विवक्षित परिसीमाएं हैं। संसद् को संशोधन करने की शक्ति किन्हीं बातों की बाबत अनुच्छेद 368 के परन्तुक द्वारा रखी गई अभिव्यक्त परिसीमाओं के अध्यधीन है। अनुच्छेद 368 यह विहित करता है कि यदि संसद् अनुच्छेद 54 को संशोधित करना चाहती है जो अनुच्छेद कि राष्ट्रपति के निर्वाचन से सम्बन्धित है तो प्रश्नगत उस संशोधन को राज्यों के आधे से अधिक विधान-मण्डलों द्वारा उसे अनुसमर्थित होना चाहिए। अनुच्छेद 52 की, जो कि यह उपबन्धित करता है कि भारत का एक राष्ट्रपति होगा, बाबत संशोधन करने की संसद् की शक्ति पर कोई ऐसी अभिव्यक्त परिसीमा नहीं है। यदि यह अभिनिर्धारित किया जाता है कि अनुच्छेद 368 के परन्तुक की अपेक्षाओं का पालन किए बिना अनुच्छेद 52 संशोधित किया जा सकता है तो अनुच्छेद 54 के संशोधन की बाबत संसद् पर अधिरोपित परिसीमा निरर्थक हो जाएगी। जब यह असंगति विद्वान् महासॉलिसिटर को बताई गई तो इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए उन्होंने यह मान लिया कि पूर्व इसके कि अनुच्छेद 54 संशोधित किया जाए, अनुच्छेद 368 के परन्तुक में अधिकथित प्ररूप और रीति का अनुसरण किया जाना चाहिए, इसका यह अर्थ होता है कि विवक्षा के रूप में अनुच्छेद 52 के संशोधन की स्थिति में वही बात होगी। क्योंकि जो दूसरी आनुकल्पिक धारणा होगी वह यह होगी कि अनुच्छेद 52 का संशोधन कभी भी नहीं किया जा सकता। उन दूसरी विवक्षाओं पर विचार करना आवश्यक नहीं है जो अनुच्छेद 368 की भाषा से उत्पन्न होंगी।

जैसा कि ऊपर कहा गया है उससे यह स्पष्ट है कि अनुच्छेद 368 के अधीन संशोधन की शक्ति भी विवक्षित परिसीमाओं के अध्यधीन है। यह दलील कि संविधान को संशोधित करने की शक्ति किसी विवक्षित परिसीमा के अध्यधीन नहीं हो सकती इसका खण्डन ब्राइबरि कमिश्नर बनाम रानासिंघे[1] वाले मामले में जुडीशियल कमेटी के मतों द्वारा किया जा चुका है। लियांगे वाले मामले[2] में जुडीशियल कमेटी के उस विनिश्चय से, जिसमें कि यह अभिनिर्धारित किया गया था कि सिलोन की संसद् न्यायिक शक्ति को अतिक्रमण करने के लिए सक्षम नहीं है, भी हमारे निष्कर्षों को बल मिलता है कि संशोधन की शक्ति पर विवक्षित परिसीमाएं हैं।

इस दलील के समर्थन में कि संशोधन करने की शक्ति पर कोई विवक्षित परिसीमा नहीं हो सकती हमारा ध्यान विभिन्न ख्यातिप्राप्त विधिवेत्ताओं के लेखों की ओर आकर्षित किया गया है। बहुत से लेख यूनाइटेड स्टेट्स के संविधान के अनुच्छेद 5 के अधीन संशोधन की शक्ति से सम्बन्धित हैं। यह सही है कि यूनाइटेड स्टेट्स में अधिकांश लेखक इस मत के हैं कि यूनाइटेड स्टेट्स के संविधान के अधीन संशोधन करने की शक्ति पर कोई विवक्षित परिसीमा नहीं है। यूनाइटेड स्टेट्स की सुप्रीम कोर्ट ने इस प्रश्न पर विनिर्दिष्ट रूप से कोई निर्णय नहीं दिया है। केवल मात्र वह मामला जिसमें कि यूनाइटेड स्टेट्स के संविधान के अधीन संशोधन की शक्ति पर विवक्षित परिसीमा का प्रश्न विचारार्थ आया था वह र्होड आइसलैण्ड बनाम पलमॉर[3] वाला मामला है। उस

---

(1) (1965) ए० सी० 172.

(2) (1967) 1 ए० सी० 259.

(3) 64 लॉयर्स इडिशन 946.

मामले में यूनाइटेड स्टेट्स की सुप्रीम कोर्ट ने इस दलील को अमान्य करते हुए कि अट्ठारहवां संशोधन—राष्ट्रीय मद्यनिषेध संशोधन—अनुच्छेद 5 के अधीन संशोधन की शक्ति के इसलिए बाहर है क्योंकि उस शक्ति पर विवक्षित परिसीमाएं हैं और यह अभिनिर्धारित किया था कि यह संशोधन विधिमान्य है। यद्यपि सुप्रीम कोर्ट ने संशोधन करने की शक्ति पर विवक्षित परिसीमाओं के प्रश्न की बात पर उस रूप में विचार-विमर्श नहीं किया था। वास्तव में जो निर्णय दिया गया था उसमें कोई कारण नहीं दिए गए थे। केवल कुछ प्रश्न विरचित किए गए थे और उनके उत्तर दिए गए थे। निर्णय से यह स्पष्ट नहीं है कि क्या विशिष्ट प्रकार की परिसीमा, जिसकी दलील दी गई थी, अमान्य ठहराई गई या क्या संशोधन करने की शक्ति पर विवक्षित परिसीमा की दलील को अमान्य ठहराया गया था यद्यपि अधिकांश पाठ्य पुस्तकों के लेखकों का यही मत है कि न्यायालय ने संशोधन की शक्ति पर विवक्षित परिसीमाओं की दलील को अमान्य ठहराया था। यह ध्यान देने योग्य बात है कि यूनाइटेड स्टेट्स में किसी भी मानवीय अधिकार को न छीना गया है न उसके अधिपथ को सीमित किया गया है। वहां जो विवाद था वह मात्र दो प्रश्नों तक सीमित था अर्थात् (1) दासता का उन्मूलन और (2) मद्य के विक्रय और उपभोग पर प्रतिषेध। यदि हम ऐसी बातों की बाबत विवादों के आधार पर अपने संविधान की व्याख्या करते हैं तो यह न्यायोचित नहीं होगा। यूनाइटेड स्टेट्स के संविधान का अनुच्छेद 5 हमारे संविधान के अनुच्छेद 368 के समान नहीं है। पूर्ववर्ती अनुच्छेद में संशोधन करने की शक्ति पर अर्थात् सीनेट में राज्यों के प्रतिनिधित्व की बाबत अभिव्यक्त परिसीमा है। इसके अतिरिक्त यूनाइटेड स्टेट्स के संविधान के अनुच्छेद 5 के अधीन संशोधन की प्रस्थापना कांग्रेस या राज्य सम्मेलनों द्वारा किया जा सकता है। उन्हें कम से कम तीन-चौथाई राज्य विधानमण्डलों या सम्मेलनों द्वारा, जो कि कम से कम तीन चौथाई राज्यों में हुए हों, अनुसमर्थित होना चाहिए। यह प्रश्न कि क्या किसी विशिष्ट संशोधन को विधानमण्डलों या राज्य सम्मेलनों द्वारा अनुसमर्थित होना चाहिए, पूर्णतया कांग्रेस के विवेकाधिकार पर छोड़ दिया गया है। जैसा कि यूनाइटेड स्टेट्स की सुप्रीम कोर्ट ने यह अभिनिर्धारित किया है कि उस प्रश्न पर कांग्रेस का विनिश्चय अन्तिम है। संविधान निर्माताओं ने इस आधार पर संविधान का विरचन किया होगा कि संविधान के बुनियादी तत्वों या मूल तत्वों में संशोधन को राज्य सम्मेलनों द्वारा अनुसमर्थित होने की अपेक्षा की जाएगी। किसी भी दो संविधानों की स्कीम एक प्रकार की नहीं होती है। उनके उपबन्ध समान नहीं होते हैं। एक संविधान में प्रयुक्त खण्डों को संशोधन करने के लिए भाषा दूसरे संविधान से भिन्न होती है। उनमें अन्तर्निहित उद्देश्य भी भिन्न होंगे। प्रत्येक देश की अपनी आवश्यकता तथा अपना दर्शन, अपने जीवनयापन का तरीका तथा सर्वोपरि उसकी समस्याएं होती हैं। इसलिए हमारी राय में यदि हम दूसरे संविधान पर लिखे गए विभिन्न लेखकों के लेखों या दूसरे संविधान के उपबन्धों के आधार पर दिए गए विनिश्चयों का अनुसरण करते हैं तो हम विवादकों को उलझा देंगे यद्यपि प्रत्येक ओर के काउन्सेल ने हमारे समक्ष विभिन्न लेखकों द्वारा दी गई विभिन्न रायों तथा यूनाइटेड स्टेट्स ऑफ अमरीका के राज्य न्यायालय के सहित विभिन्न न्यायालयों द्वारा दिए गए विनिश्चयों को हमारे समक्ष रखने में कोई कसर नहीं उठा रखी है।

क्वीन बनाम बुराह(1) वाले मामले में जुडीशियल कमेटी ने जो सिद्धान्त अधिकथित किया है वह इस प्रकार है। "सकारात्मक शब्दों के साधारण प्रविषय के अधीन जिसे ऐसा विधान कहा गया है जो शक्ति प्रदत्त करता है और यदि यह उस अभिव्यक्त शर्त या निबन्धन का, जिसके द्वारा कि शक्ति परिसीमित की गई है, उल्लंघन नहीं करता है तो किसी न्यायालय को यह अधिकार नहीं है कि वह इस पर और विचार करे या अर्थान्वयन द्वारा उन शर्तों और निबन्धनों को विस्तारित करे" इस बात का श्री सीरवाई ने बहुत अधिक अवलम्ब किया है। यद्यपि यह विनिश्चय शर्तों वाले विधानों के निर्वचन तक सीमित है और जो नियम उसमें अधिकथित किया गया है इस प्रश्न का अवधारण करते समय इसको लागू नहीं किया जा सकता कि क्या किसी कानून या संविधान के अधीन प्रदत्त शक्तियों पर कोई विवक्षित परिसीमाएं हैं।

संघ तथा राज्यों की ओर से यह जोरदार दलील दी गई है कि यदि हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि अनुच्छेद 368 के अधीन संसद् की संशोधन की शक्ति पर विवक्षित या अन्तर्निहित परिसीमाएं हैं तो यह संसद् के लिए नितान्त असम्भव हो जाएगा कि वह पहले से इसका विनिश्चय कर सके कि कौन से संशोधन वह कर सकती है और कौन से संशोधन करना निषिद्ध है। संघ और राज्यों के काउन्सेलों के कथनानुसार बुनियादी तत्वों और मूल तत्वों की धारणाएं काल्पनिक धारणाएं हैं और एक न्यायाधीश दूसरे न्यायाधीश से भिन्न रूप में उसका अवधारण कर सकता है। इसलिए यदि हम इस दलील को कायम रखें कि अनुच्छेद 368 के अधीन संशोधन की शक्ति पर विवक्षित या अन्तर्निहित परिसीमाएं हैं तो इससे संसद् का कार्य करना असम्भव हो जाएगा। हम इस दलील को मानने में असमर्थ हैं। हमारे संविधान के बुनियादी तत्वों या मूल तत्वों की व्यापक सीमाएं स्पष्ट रूप से प्रस्तावना में परिसीमित हैं। दूसरे अधिकांश संविधानों के विपरीत हमारे संविधान के मामले में सापेक्ष रूप से यह सरल है कि अपने संविधान के बुनियादी तत्वों या मूल तत्वों को समझा जाए या उसको अवधारित किया जाए। ऐसा करने में हमें प्रस्तावना को ही देखना पड़ेगा। यह सही है कि ऐसे मिलते जुलते मामले आ सकते हैं जहां मत की विभिन्नता हो। सभी महत्वपूर्ण विधिक प्रश्नों में ऐसी बात होती है किन्तु न्यायालय साधारणतया सभी विधानों की विधिमान्यता की उपधारणा पर कार्य करते हैं। कानून की सांविधानिक विधिमान्यता की उपधारणा सांविधानिक संशोधनों को भी लागू है। यह कहना सही नहीं है कि जो बात विनिश्चित करने में कठिनाई होती है उसका अस्तित्व ही नहीं होता। उस बात के लिए संसद् के समक्ष कोई ऐसे स्पष्ट मार्गदर्शक सिद्धान्त नहीं हैं कि वह यह अवधारित करे कि वे ऐसे कौन से आवश्यक विधायी कृत्य हैं जिन्हें प्रत्यायोजित नहीं किया जा सकता या कौन से विधान न्यायिक शक्ति का अतिक्रमण करते हैं या कौन से निर्बन्धन अनुच्छेद 19(2) से अनुच्छेद 19(6) के अधीन लोक हित में युक्तियुक्त निर्बन्धन हैं और तब भी सामान्यतया संसद् या विधानमण्डलों द्वारा उन बातों की बाबत बनाए गए विधान न्यायालयों द्वारा कायम रखे गए हैं। निस्संदेह ऐसे अवसर आए थे जब कि न्यायालय को विवश हो कर उन विधानों को संविधान के अधिकारातीत होने के रूप में अभिनिश्चित करना पड़ा। संविधान के बुनियादी तत्वों और मूल तत्वों के अभिनिश्चय की बाबत जो स्थिति है उससे

(1) (1878) 3 ए० सी० 905.

कठिन नहीं है जितनी कि कठिन विधानमण्डलों की दूसरी विभिन्न मदों के अधीन बनाए गए विधानों की विधिमान्यता को पहले से अवधारित करने की स्थिति होती है। विधानमण्डलों द्वारा अनुभव की जाने वाली कठिनाई के आधार पर दी गई ये दलीलें कुछ भी महत्वपूर्ण नहीं हैं और ये वे दलीलें हैं जो आवश्यक रूप से न्यायिक पुनर्विलोकन के विरुद्ध दी गई हैं।

यू० एस० ए०, कनाडा, आस्ट्रेलिया, यूनाइटेड किंगडम, सिलोन तथा आयरलैण्ड के न्यायालयों द्वारा संशोधन की शक्ति पर विवक्षित परिसीमाओं के प्रश्न पर तथा "संशोधन" शब्द के अर्थ की बाबत दिए गए बहुत से विनिश्चयों को सुनवाई के दौरान हमारे समक्ष पढ़ा गया। उनमें से जो विनिश्चय सुसंगत हैं उन पर विद्वान् मुख्य न्यायाधिपति ने अपने उस निर्णय में विचार किया है जो उन्होंने अभी-अभी दिया है। हम उनके द्वारा अभिव्यक्त किए गए मतों से पूर्णतया सहमति प्रकट करते हैं और उसमें कोई और बात जोड़ना लाभदायक नहीं होगा।

संघ तथा राज्यों की ओर से यह दलील दी गई है कि संविधान को पवित्र वस्तु के रूप में नहीं मानना चाहिए। उसे ठीक उसी प्रकार से मानना चाहिए जैसे कि दूसरी मानवीय संस्थाएं हैं। यह सम्भव होना चाहिए कि इस उद्देश्य से समय-समय पर इसके किसी भाग का परिवर्तन किया जा सके जिससे कि इसे नई और परिवर्तित दशाओं के अनुरूप बनाया जाए। इस दलील के समर्थन में हमारा ध्यान विभिन्न लेखकों जैसे कि बर्जेस, ब्राइस, विल्लिस, ओरफील्ड, वीवर लिविंगस्टन आदि के लेखों की ओर आकृष्ट किया गया है। आगे यह भी दलील दी गई है कि संविधान सभा ने इस बात को समझते हुए कि यह विसर्जित कर दी जाएगी। अनुच्छेद 368 के अधीन इस उद्देश्य से संविधान सभा के पुनर्सृजन की व्यवस्था की थी कि समय की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए संविधान को वैसा रूप दिया जाए। ये सिद्धान्त अमूर्त रूप में चाहे कितने ही आकर्षक हों किन्तु इनकी सूक्ष्म परीक्षा करने के पश्चात् यह स्पष्ट होगा कि ये विशिष्टतः ऐसे सांविधानिक ढांचे के लिए, जैसा कि हमारा है, भ्रामक हैं। हमने पहले ही देखा है कि निर्वाचन प्रणाली के अधीन यह सम्भव है कि एक दल संसद् के दोनों सदनों में दो-तिहाई का बहुमत प्राप्त कर ले चाहे यह दल निर्वाचन में दिए गए मतों के पूर्ण बहुमत को न प्राप्त कर सका हो। इसके अतिरिक्त जब कि एक दल चुनाव में लड़ता है वह परस्पर विरोधी कार्यक्रमों को निर्वाचक मण्डल के समक्ष प्रस्तुत करता है और विभिन्न वायदे करता है। पेश किए गए कार्यक्रमों या किए गए वायदों में यह आवश्यक नहीं है कि आवश्यक रूप से संविधान के संशोधन की प्रस्थापनाएं सम्मिलित हों। 1952, 1957, 1962 तथा 1967 में हुए संसद् के साधारण निर्वाचन के दौरान यह प्रतीत नहीं होता है कि निर्वाचकमण्डल के समक्ष संविधान को संशोधन करने की कोई प्रस्थापना रखी गई थी। यहां तक कि जब 1971 में कांग्रेस दल ने निर्वाचकमण्डल के समक्ष संविधान के संशोधन की प्रस्थापनाओं को रखा था वे प्रस्थापित संशोधन निर्वाचकमण्डल के समक्ष नहीं रखे गए थे। इन परिस्थितियों को देखते हुए यह दावा कि निर्वाचकमण्डल ने किसी विशिष्ट रीति में संविधान को संशोधन करने के लिए दल को आज्ञा प्रदान की है न्यायोचित नहीं है और भी ऐसे संसदीय लोकतन्त्र, जैसा कि हमारा है, दलीय पद्धति के आधार पर कृत्य करते हैं। दलीय आचार के प्रचालन तथा मन्त्रिमण्डलीय

सरकार की प्रणाली का जो तन्त्र है वह ऐसा है कि विस्तृत विधि बनाने के मामले में समग्र रूप में जनता का कोई नियन्त्रण नहीं है। "..........आज के राज्य की व्यवहारिक रूप से प्रत्येक समस्या के ऊपर करोड़ों विवश मतदाता केवल पेश किए गए समाधानों को स्वीकार या अस्वीकार करने के अतिरिक्त कुछ भी नहीं कर सकते। वह समय अभी दूर है जब कि वे उस पारिमाणिक अन्तर की सुस्पष्ट झलक को जिसका वे अनुभव करते हैं लोकमानस पर उसका प्रभाव डाल सकें। न उनके पास इतना समय है न वैसी जानकारी है कि वे उनकी इच्छा की सामान्य प्रवृत्तियों को दर्शित करने के अतिरिक्त कुछ और कर सकें। विधि बनाने की प्रक्रिया में यह बात आवश्यक है कि सूक्ष्मतर समायोजन करना चाहिए।" (लास्की : ए ग्रामर ऑफ पॉलीटिक्स; 5वां संस्करण पृष्ठ 313-314)

यह प्रस्थान कि संसद् के सदस्यों का बहुमत या संसद् के सदस्यों का दो-तिहाई भी राष्ट्र की ओर से कथन करते हैं इस तथ्य का कोई आधार नहीं है। वास्तव में सत्तारूढ़ दल के लिए यह सम्भव हो सकता है वह निर्वाचकमण्डल का विश्वास खोने के बाद भी महत्वपूर्ण सांविधानिक संशोधन कर सकता है। लोक सभा के सदस्य 5 वर्षों के कार्यकाल के लिए चुने जाते हैं। सत्तारूढ़ दल या उसके सदस्य अपने पद के कार्यकाल में लगातार निर्वाचकमण्डल का विश्वास कायम रख सकते हैं और नहीं भी कायम रख सकते हैं। इसलिए यह कहना सही नहीं होगा कि जब कभी संसद् संविधान का संशोधन करती है तो इसके बारे में यह अभिनिर्धारित किया जाना चाहिए कि वह जनता की आकांक्षाओं के अनुसार किया गया है।

इस दलील में यह और भी दोष है कि जब कभी संविधान संशोधित किया जाता है हमें यह उपधारणा करनी चाहिए कि प्रश्नगत संशोधन जनता की बढ़ती हुई आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए संशोधन को अनुकूलित करने के लिए किया गया था। हमने पहले यह देखा है कि संशोधन की शक्ति का प्रयोग करके सैद्धान्तिक रूप में संसद् के लिए यह सम्भव है कि वह अनिश्चितकाल के लिए अपना कार्यकाल बढ़ा दे और ऐसी रीति में संविधान का संशोधन कर दे जिससे कि इसके पश्चात् सदैव के लिए विधिक या व्यवहारिक रूप से यह असंशोधनीय हो जाए। ऐसी शक्ति जो स्वयं जनता के विरुद्ध प्रयुक्त की जा सकती है उसके बारे में यह नहीं समझा जा सकता कि वह ऐसी शक्ति है जो जनता की ओर से या उसके हित में प्रयुक्त की गई है।

[इस मामले के विभिन्न पक्षों पर सावधानीपूर्वक विचार करने के पश्चात् हम इस बात से आश्वस्त हो गए हैं कि संसद् को संविधान के बुनियादी तत्व या मूल तत्वों को निराकृत करने या उसको प्रभावहीन बनाने की शक्ति नहीं है। उदाहरणार्थ भारत की सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्नता, हमारे राजशासन की लोकतांत्रिक प्रकृति, देश की अखण्डता, नागरिकों को सुरक्षित किए गए वैयक्तिक स्वतन्त्रताओं के आवश्यक तत्व। संसद् को लोक कल्याणकारी या समतावादी समाज बनाने की आज्ञा को प्रतिसंहृत करने की भी शक्ति नहीं है।] ये परिसीमाएं केवल दृष्टान्त के रूप में हैं। यह सांगोपांग नहीं हैं। इन परिसीमाओं के बावजूद यद्यपि यह कोई प्रश्न नहीं है कि संशोधन की शक्ति व्यापक है और यह संविधान के प्रत्येक अनुच्छेद और प्रत्येक

भाग को लागू है। इस शक्ति का प्रयोग करके राज्य को अधिरोपित बाध्यताओं को पूरा करने के लिए संविधान को नया रूप दिया जा सकता है। इसका प्रयोग करके पहले उल्लिखित सीमाओं के भीतर सामाजिक कल्याण के लिए इसे एक प्रभावकारी साधन बनाने के निमित्त संविधान को नया रूप दिया जा सकता है। हम इस दलील से सहमत होने में असमर्थ हैं कि कल्याणकारी राज्य बनाने के लिए यह आवश्यक है कि कुछ मानवीय स्वतन्त्रताओं को नष्ट किया जाए। किसी भी सूरत में यह बात हमारे संविधान के परिप्रेक्ष्य में नहीं है। हमारे संविधान से यह परिकल्पित है कि राज्य लोकतान्त्रिक रीति में उन स्वतन्त्रताओं का वास्तविक फायदा इस देश के समस्त नागरिकों को बिना विलम्ब के उपलब्ध कराए। मानवीय स्वतन्त्रताएं धीरे-धीरे तथा अदृश्य रूप में नष्ट हो जाती हैं और उनके विनाश के पश्चात् धीरे-धीरे अधिनायकवादी शासन स्थापित हो जाता है। यही वह बात है जो इतिहास हमें बताता है। स्वतन्त्रता और शक्ति के बीच में संघर्ष शाश्वत् है। समस्त लोकतान्त्रिक समाज की तरह हमें भी संविधान में प्रतिष्ठापित लोकतान्त्रिक मूल्यों की सुरक्षा के लिए जागरूक रहना चाहिए। यहां तक कि सर्वोत्तम सरकारें भी अपनी उन योजनाओं और कार्यक्रमों को, जिनमें वे सच्चाई के साथ विश्वास करती हैं कि वे लोक हित में हैं, कार्यान्वित करने के लिए अधिक से अधिक शक्ति का प्रयोग करने से विमुख नहीं होती हैं। किन्तु एक बार जब स्वतन्त्रता नष्ट हो जाती है तो केवल क्रान्ति के सिवाय उसको पुनः प्राप्त नहीं किया जा सकता। एक बार जब स्वतन्त्रताओं पर अतिक्रमण होता है तो वह अतिक्रमण आगे के अतिक्रमण के लिए वे मार्ग प्रशस्त करता है। हमारी सांविधानिक योजना यह है कि वैयक्तिक स्वतन्त्रताओं को नष्ट किए बिना निर्धनता मिटाई जाए।

परिणामस्वरूप हम श्री पालखीवाला की इस दलील को मान्य ठहराते हैं कि अनुच्छेद 368 में "संशोधन" शब्द पर कुछ परिसीमा है और यह और कि अनुच्छेद 368 के अधीन प्रदत्त शक्ति यद्यपि काफी व्यापक शक्ति है फिर भी वह विवक्षित परिसीमाओं के अध्यधीन है।

अब हम इसके पश्चात् चौबीसवें, पच्चीसवें और उन्तीसवें संशोधनों की विधिमान्यता की बाबत श्री पालखीवाला की दलील पर विचार करेंगे।

पिटीशनरों की ओर से यह दलील दी गई है कि चौबीसवें संशोधन अधिनियम को अधिनियमित करते समय संसद् ने अपनी शक्तियों की सीमा का उल्लंघन किया है। इसके द्वारा संशोधन की सीमित शक्ति को असीमित शक्ति में विस्तृत करना तात्पर्यित है जिसका प्रयोग करके वह संविधान के बुनियादी तत्वों या मूल तत्वों को विकृत या विनष्ट कर सकती है। यह कहा गया है कि इस प्रकार से शक्ति का प्रयोग अवैध रूप से शक्ति का हड़पना है। फलस्वरूप चौबीसवें संशोधन अधिनियम को अभिखण्डित होना चाहिए। इस दलील पर निर्णय देने के लिए यह आवश्यक है कि पहले इस बात की परीक्षा की जाए कि क्या चौबीसवें संशोधन अधिनियम द्वारा वास्तविक रूप में संसद् की शक्तियों का विस्तारण हुआ है। यदि हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि इसके द्वारा संसद् की शक्ति का विस्तारण हुआ है, जैसा कि हम समझते हैं कि नहीं हुआ है, इसलिए श्री पालखीवाला की विभिन्न दलीलों पर विचार करने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता।

अब हम यह देखना चाहेंगे कि संविधान चौबीसवां संशोधन अधिनियम, 1971 का सही प्रभाव क्या है । इस अधिनियम द्वारा अनुच्छेद 13 और अनुच्छेद 368 संशोधित हुए हैं । किन्तु उस अधिनियम द्वारा अनुच्छेद 13 में एक उप-अनुच्छेद अर्थात् उप-अनुच्छेद (4) जोड़ा गया है जो इस प्रकार है—

"इस अनुच्छेद की कोई बात अनुच्छेद 368 के अधीन किए गए इस संविधान के किसी संशोधन को लागू न होगी ।"

उस अधिनियम की धारा 3 द्वारा अनुच्छेद 368 का संशोधन हुआ है जो इस प्रकार है—

"संविधान के अनुच्छेद 368 को उसके खण्ड (2) के रूप में पुनःसंख्यांकित किया जाएगा, और—

(क) उस अनुच्छेद के पार्श्व-शीर्षक के स्थान पर निम्नलिखित पार्श्व-शीर्षक रख दिया जाएगा, अर्थात्—

'संविधान का संशोधन करने की संसद् की शक्ति और उसके लिए प्रक्रिया ।'

(ख) इस प्रकार पुनः संख्यांकित खण्ड (2) के पूर्व निम्नलिखित खण्ड जोड़ दिया जाएगा, अर्थात्—

'इस संविधान में किसी बात के होते हुए भी, संसद् अपनी संविधायी शक्ति का प्रयोग करते हुए इस संविधान के किसी उपबंध का परिवर्धन, परिवर्तन अथवा निरसन के रूप में संशोधन इस अनुच्छेद में दी गई प्रक्रिया के अनुसार कर सकेगी ।'

(ग) इस प्रकार पुनः संख्यांकित खण्ड (2) में, 'वह राष्ट्रपति के समक्ष उसकी अनुमति के लिए रखा जाएगा तथा विधेयक को ऐसी अनुमति दी जाने के पश्चात् विधेयक के निबंधनों के अनुसार संविधान' शब्दों के स्थान पर 'वह राष्ट्रपति के समक्ष रखा जाएगा जो विधेयक को अपनी अनुमति देगा और तब संविधान विधेयक के निबंधनों के अनुसार' शब्द रख दिए जाएंगे ;

(घ) इस प्रकार पुनः संख्यांकित खण्ड(2) के पश्चात् निम्नलिखित खण्ड जोड़ दिया जाएगा, अर्थात् :—

'(3) अनुच्छेद 13 की कोई बात इस अनुच्छेद के अधीन किए गए किसी संशोधन को लागू न होगी ।'

इस अधिनियम द्वारा किए गए तात्त्विक परिवर्तन इस प्रकार हैं—

1. अनुच्छेद 13 में खण्ड (4) तथा अनुच्छेद 368 में खण्ड (3) का जोड़ा जाना;

2. पार्श्व शीर्षक में परिवर्तन ;

3. इस तथ्य का विनिर्दिष्ट उल्लेख कि संविधान का संशोधन करने की शक्ति संसद् को प्रदत्त की गई है;

4. संसद् को प्रदत्त शक्ति की बाबत यह दावा किया गया है कि वह एक सांविधानिक शक्ति है;

5. "इस संविधान के किसी उपबन्ध परिवर्धन, परिवर्तन अथवा निरसन के रूप में संशोधन" करने की शक्ति के रूप में उस शक्ति को वर्णित किया गया है; तथा

6. संविधान को संशोधन करने वाले विधेयक पर अनुमति देने के लिए राष्ट्रपति को बाध्य बनाना।

हमारी राय में चौबीसवें संशोधन द्वारा अनुच्छेद 368 में, जैसा कि वह मूल रूप में था, कोई भी तात्त्विक परिवर्तन नहीं किए गए हैं। यह सही है कि मूल अनुच्छेद में विनिर्दिष्ट रूप में यह कथन नहीं है कि संशोधन की शक्ति संसद् को है। इसके विपरीत संशोधन की प्रक्रिया को उपवर्णित करते हुए इसके अलावा संसद् के दोनों सदनों तथा राष्ट्रपति के कृत्यों के प्रति निर्देश किया गया है। इस तथ्य के कारण कि संसद् का अनुच्छेद 368 में, जैसा कि वह मूल रूप में था, विनिर्दिष्ट रूप से निर्दिष्ट नहीं किया गया है। महाराष्ट्र राज्य के विद्वान् महाधिवक्ता ने हम से यह कहलवाना चाहा कि अनुच्छेद 368 के, जैसा कि वह मूल रूप में था, अधीन प्रदत्त शक्ति उस रूप में संसद् को प्रदत्त नहीं की गई थी अपितु संसद् के दोनों सदनों को प्रदत्त की गई थी। हमने पहले ही इस दलील को अमान्य कर दिया है। हम विद्वान् महाधिवक्ता से इस बात में सहमत हैं कि प्रश्नगत शक्ति संसद् को प्रदत्त की गई है। अनुच्छेद 79 में यह कथन है कि "संघ के लिए एक संसद् होगी जो राष्ट्रपति और दो सदनों से मिल कर बनेगी, जिनके नाम क्रमशः राज्य-सभा और लोक-सभा होंगे'। चाहे कोई अधिनियमिति संसद् के तीनों अंगों के प्रति पृथक् रूप से निर्देश करती है या उन समस्त तीनों को जिन्हें संक्षिप्त रूप में संसद् कहा जाता है इस। विधि में कोई अन्तर नहीं पड़ता। शंकरी प्रसाद वाले मामले([1]), सज्जन सिंह वाले मामले ([2]) तथा गोलक नाथ वाले मामले ([3]) में उन न्यायाधीशों ने, जिन्होंने निर्णय दिए थे, उनमें से प्रत्येक ने विनिर्दिष्ट रूप से इसका उल्लेख किया है कि संविधान का संशोधन करने की शक्ति संसद् में निहित की गई है यद्यपि इस प्रश्न पर उनकी राय में मतैक्य नहीं था कि क्या यह शक्ति अनुच्छेद 368 में प्राप्त की जा सकती है या सूची 1 की प्रविष्टि 97 के साथ पठित अनुच्छेद 248 में। इससे भिन्न मत देने का कोई आधार नहीं है।

हम इस निष्कर्ष पर पहले ही पहुंच चुके हैं कि अनुच्छेद 368 के, जैसा कि यह मूल रूप में था, अन्तर्गत संविधान का संशोधन करने की शक्ति तथा उसकी प्रक्रिया है। इसलिए पार्श्व-शीर्षक में किए गए परिवर्तन का कुछ भी महत्व नहीं है। पार्श्व-शीर्षक जैसा कि पहले था, एक अर्थ में अपूर्ण है। 'सांविधानिक शक्ति' अभिव्यक्ति का प्रयोग संशोधन की शक्ति की प्रकृति को केवल वर्णित करने के लिए किया गया है। प्रत्येक

([1]) (1952) एस० सी० आर० 89.
([2]) (1965) 1 एस० सी० आर० 933.
([3]) (1967) 2 एस० सी० आर० 762.

संशोधन की शक्ति चाहे वह कितनी व्यापक या सीमित हो सांविधानिक शक्ति का एक पक्ष है। यद्यपि जिस शक्ति को 'सांविधानिक शक्ति' के रूप में वर्णित किया गया है वह अब भी संशोधन करने की शक्ति ही बनी रहती है। शक्ति का विस्तार एवं उसका क्षेत्र 'संशोधन' शब्द में आवश्यक रूप से अन्तर्विष्ट है। इसलिए इस तथ्य के कारण कि नया अनुच्छेद सांविधानिक शक्ति के रूप में उस शक्ति के प्रति निर्देश करता है। इससे यह नहीं समझा जा सकता कि इस शक्ति की विषय-वस्तु में कोई परिवर्तन हुआ है। चूंकि मूल अनुच्छेद के अधीन प्रदत्त शक्ति संविधान का संशोधन करने की एक सीमित शक्ति है, इसलिए संशोधन अनुच्छेद में निर्दिष्ट संविधान का संशोधन करने की सांविधानिक शक्ति के बारे में भी यह अभिनिर्धारित किया जाना चाहिए कि उस पर वे ही परिसीमाएं हैं जिन परिसीमाओं के अध्यधीन पहले वाली शक्ति थी। मूल अनुच्छेद में पाई जाने वाली 'संविधान का संशोधन' अभिव्यक्ति के स्थान में संशोधित अनुच्छेद में पाई जाने वाली अभिव्यक्ति 'इस संविधान के किसी उपबन्ध का परिवर्धन, परिवर्तन या निरसन के द्वारा संशोधन किया जाना' का प्रतिस्थापन भी कोई महत्वपूर्ण नहीं है। कानून में संशोधन करने की प्रत्येक शक्ति के अन्तर्गत आवश्यक रूप से इस कानून के किसी उपबन्ध का परिवर्धन, परिवर्तन या निरसन के द्वारा उसका संशोधन करना आता है। यहां पुनः मूल अनुच्छेद के अधीन प्रदत्त शक्ति एक सीमित शक्ति है और शब्दावली में परिवर्तन होने पर भी यह परिसीमा प्रभावी बनी रहेगी। परिवर्धन, परिवर्तन या निरसन' शब्द केवल उस ढंग या रीति को विहित करते हैं जिसके द्वारा संशोधन किया जा सकता है किन्तु वे संशोधन की शक्ति के विस्तार को अवधारित नहीं करते हैं। मूल अनुच्छेद 368 में यह उल्लेख है कि जब संविधान में संशोधन करने का विधेयक अनुच्छेद 368 में विहित रीति में संसद् के दोनों सदनों द्वारा पारित कर दिया जाता है तब 'वह राष्ट्रपति के समक्ष उसकी अनुमति के लिए रखा जाएगा तथा विधेयक को ऐसी अनुमति दी जाने के पश्चात् विधेयक के निबन्धनों के अनुसार संविधान संशोधित हो जाएगा।' संशोधित अनुच्छेद में एक परिवर्तन किया गया है। वह यह विहित करता है कि जब विधेयक राष्ट्रपति के समक्ष रखा जाता है तो वह 'विधेयक को अपनी अनुमति देगा'। बहस के दौरान विधेयक को अपनी अनुमति देने के लिए राष्ट्रपति को दी गई अनुचित आज्ञा की बाबत टीका-टिप्पणी की गई है। यह प्रश्न औचित्य का है। मामले का सार यह है कि जब विधेयक राष्ट्रपति के समक्ष रखा जाता है तो वह अपनी अनुमति को रोक नहीं सकता। इस परिवर्तन के बारे में यह नहीं कहा जा सकता कि इसके द्वारा संविधान के बुनियादी तत्वों को विकृत किया गया है या उन्हें नष्ट किया गया है। वास्तव में अनुच्छेद 111 में, जो विधेयकों की अनुमति से सम्बन्धित है, यह विनिर्दिष्ट रूप से विहित है कि जब कि कोई धन विधेयक संसद् के दोनों सदनों के द्वारा पारित होने के पश्चात् राष्ट्रपति के समक्ष रखा जाता है तो वह 'उसकी अनुमति नहीं रोकेगा'। इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि राष्ट्रपति की अनुमति से सम्बन्धित अनुच्छेद 368 में जो परिवर्तन किया गया है उसका हमारे संविधान की स्कीम में कोई बहुत बड़ा महत्व है। वास्तव में हमारे संविधान में राष्ट्रपति केवल एक सांविधानिक प्रधान है। मूलतः उसे मन्त्रिमण्डल की सलाह पर ही कृत्य करना पड़ता है। ऐसी सम्भावना नहीं है कि मन्त्रिमण्डल की इच्छा के विपरीत संविधान संशोधित किया जा सके।

एक ही तब्दीली रह गई है जिस पर विचार किया जाना है और वह संविधान के संशोधन पर अनुच्छेद 13 के लागू होने का अपवर्जन करने के सम्बन्ध में है। यह निष्कर्ष हम पहले ही निकाल चुके हैं कि अनुच्छेद 13 में, जिस रूप में कि वह पहले था, संविधान के संशोधन के सम्बन्ध कोई वर्जन (बार) नहीं था । अनुच्छेद 13(4) तथा 368(3) में यह बात स्पष्ट कर दी गई है जिसकी ओर केवल संकेत किया गया था ।

यह दलील दी गई कि चौबीसवें संशोधन द्वारा संसद् का आशय अपनी संशोधन शक्ति को बढ़ाना था और वास्तव में अभिप्राय भी यही करना था । इस प्रसंग में उस विधेयक के उद्देश्यों और कारणों के विवरण का आश्रय लिया गया जो अन्त में चौबीसवां संशोधन बन गया । संसद् की शक्ति उसी के कथनानुसार उसके आश्रय पर निर्भर नहीं है । वह ऐसी शक्ति को अर्जित नहीं कर सकती है जो अन्यथा उसे प्राप्त न हो । हम यह दलील नहीं मान सकते हैं कि अनुच्छेद 368 के परन्तुक का खण्ड (ङ), संसद् को ऐसी शक्ति प्रदान करता है जिससे संसद् अपनी शक्ति को बढ़ा सकती है । हमारी समझ में संविधान को संशोधित करने की शक्ति तथा संविधान के किसी भी अंश को संशोधित करने की मामूली प्रक्रिया वही थी और वही है जो अनुच्छेद के मुख्य अंश में दी गई है । यह परन्तुक उन अनुच्छेदों को, जिनका वर्णन उसमें किया गया है, संशोधित करने की प्रक्रिया पर और अधिक निर्बन्धन लगाता है । परन्तुक का खण्ड (ङ) यह कहता है कि अनुच्छेद 368 में कोई संशोधन, उस रीति से किए जाने के सिवाय नहीं किया जा सकता है जो कि परन्तुक में उपबन्धित है । यह खण्ड यदि न रहा होता तो अनुच्छेद 368 का संशोधन, उस प्रक्रिया का अनुसरण करते हुए, किया जा सकता जो मुख्य अंश में अधिकथित है । अधिक से अधिक परन्तुक का खण्ड (ङ) केवल यह बताता है कि अनुच्छेद 368 स्वयं भी अपने विस्तार के अन्दर आ जाता है । जैसा कि हम पहले देख चुके हैं, अनुच्छेद 368 के मुख्य भाग में जिस रूप में कि वह पहले था, स्पष्ट शब्दों में केवल उस प्रक्रिया का वर्णन किया गया है जिसका अनुसरण संविधान के संशोधन में किया जाना है । संशोधन करने की शक्ति उसमें केवल विवक्षित रूप में है ।

इस दलील को स्वीकार करना कठिन है कि विवक्षित शक्ति को बढ़ाने की इजाजत भी विवक्षित रूप में दी गई थी । यदि ऐसा ही था तो प्रारम्भ से ही उस शक्ति पर बन्धन लगाने का कोई अर्थ नहीं था । संविधान में संशोधन करने की शक्ति पर जो बन्धन लगाया गया है वह उस समय भी प्रवर्तित होगा जब अनुच्छेद 368 में संशोधन किया जाता है । किसी भी परिसीमित शक्ति का प्रयोग इस प्रकार नहीं किया जा सकता कि उस शक्ति को इतना बढ़ाया जाए कि वह आत्यंतिक शक्ति (एब्सोल्यूट पावर) हो जाए । गोलक नाथ वाले मामले(1) में न्यायाधीश हिदायतुल्लाह (जैसे कि वे तब थे) के इस मत के साथ हम सम्मान के साथ सहमत हैं कि जो काम संसद् प्रत्यक्ष रूप से नहीं कर सकती है उसे वह अप्रत्यक्ष रूप से भी नहीं कर सकती । हमने यह पहले अभिनिर्धारित किया है कि "इस संविधान के संशोधन" शब्दों से संविधान के प्रत्येक भाग का संशोधन अभिप्रेत है । इससे इंकार नहीं किया जा सकता कि अनुच्छेद 368 भी संविधान का एक अंश है । इसलिए केवल इस बात से कि चौबीसवें संशोधन अधिनियम के प्रस्तावक ने

(1) (1967) 2 एस० सी० आर० 762.

उद्देश्यों और कारणों के विवरण में किसी शक्ति के बारे में दावा किया था, यह नहीं प्रकट होता है कि संसद् ने या तो उस दावे की अभिपुष्टि कर दी थी या वह शक्ति स्वयं ही ग्रहण कर ली थी । समझा यही जाना चाहिए कि उसने केवल उसी शक्ति का प्रयोग किया है जो कि उसके पास थी । यह निर्वचन का सुस्वीकृत नियम है कि यदि किसी उपबन्ध के युक्तियुक्त रूप से दो निर्वचन हो सकते हों तो न्यायालय को चाहिए कि वह उस निर्वचन को स्वीकार करे जिससे वह उपबन्ध विधिमान्य हो जाता हो । यदि अनुच्छेद 368 के अधीन, जैसा कि वह मूल रूप में था, संविधान को संशोधित करने के लिए संसद् को प्रदत्त शक्ति सीमित शक्ति है, जैसा कि हम समझते हैं, तो संसद् उस शक्ति का विस्तार बढ़ा नहीं सकती है । अटर्नी जनरल फॉर न्यू साउथ वेल्स बनाम ब्रूअरि एम्पलॉइज यूनियन फॉर न्यू साउथ वेल्स([1]), एक्स पारटि वाल्श एण्ड जॉहनसन फॉर येट्स का मामला ([2]) तथा आस्ट्रेलियन कॉम्यूनिस्ट पार्टी बनाम कॉमनवैल्थ([3]) देखिए ।

जिन कारणों का उल्लेख अभी तक किया गया है उनको देखते हुए अभिनिर्धारित यह किया जाना चाहिए कि अनुच्छेद 368 की भाषा में किए गए परिवर्तनों के होने पर भी, संविधान या उसके किसी अंश को संशोधित करने की संसद् की शक्ति का विस्तार उतना ही है जितना कि वह चौबीसवें संशोधन के पहले था । चौबीसवें संशोधन ने उस बात को स्पष्ट कर दिया जो असंशोधित अनुच्छेद 368 में संकेत रूप में थी । इस बात को देखते हुए यह अभिनिर्धारित किया जाना चाहिए कि चौबीसवां संशोधन विधिमान्य है ।

अब हमारे सामने संविधान (पच्चीसवां संशोधन) अधिनियम की विधिमान्यता का प्रश्न है । इस बात का फैसला करने के लिए कि इस अधिनियम या उसके किसी उपबन्ध के बारे में यह अभिनिर्धारित किया जा सकता है कि वह संसद् की संशोधन करने की शक्ति के बाहर है इस अधिनियम के विस्तार तथा उसके प्रभाव की परीक्षा करना आवश्यक है । इस अधिनियम में तीन धाराएं हैं । पहली धारा से हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है जिसमें संक्षिप्त नाम दिया गया है । दूसरी धारा का खण्ड (क) अनुच्छेद 31(2) को संशोधित करता है । उसी धारा का खण्ड (ख) संविधान में अनुच्छेद 31(2ख) शामिल करता है । धारा 3 संविधान में एक नया अनुच्छेद अर्थात् अनुच्छेद 31ग जोड़ता है ।

पहले हम नव प्रस्थापित अनुच्छेद 31(2) को देखेंगे जो पुराने अनुच्छेद 31(2) के स्थान पर रखा गया है और यह देखेंगे कि उसका विस्तार कहां तक है । ऐसा करने के लिए इस अनुच्छेद के इतिहास को देखना आवश्यक है ।

अनुच्छेद 31(2) में बहुत से परिवर्तन हो चुके हैं । मूल रूप में वह इस प्रकार अधिनियमित था—

> "कोई स्थावर और जंगम सम्पत्ति, जिसके अन्तर्गत किसी वाणिज्यिक या औद्योगिक उपक्रम में या उसकी स्वामिनी किसी कम्पनी में कोई अंश भी है, ऐसी विधि के अधीन जो ऐसा कब्जा या अर्जन करने का प्राधिकार देती है, सार्वजनिक

([1]) (1908) 6 सी० एल० आर० 469.

([2]) (1925) 37 सी० एल० आर० 36, 67.

([3]) 83 सी० एल० आर० 1.

प्रयोजन के लिए कब्जाकृत या अर्जित तब तक नहीं की जाएगी, जब तक कि वह विधि कब्जाकृत या अर्जित सम्पत्ति के लिए प्रतिकर का उपबन्ध न करती हो और या तो प्रतिकर की राशि को नियत न कर दे या उन सिद्धान्तों और रीति का उल्लेख न कर दे जिनसे प्रतिकर निर्धारित होना है और दिया जाना है।"

इस अनुच्छेद में संशोधन पहले चतुर्थ संशोधन अधिनियम, 1955 द्वारा और उसके बाद पच्चीसवें संशोधन अधिनियम, 1971 द्वारा किया गया। आगे चलकर हमें इस बात की जरूरत होगी कि हम अनुच्छेद 31(2) के उस रूप की जैसे कि वह चतुर्थ संशोधन अधिनियम के पश्चात् था, तुलना उस रूप से करें जिसमें कि वह पच्चीसवें संशोधन अधिनियम के पश्चात् है। इसलिए हम उसके दोनों पाठ आमने-सामने उद्धृत करते हैं।

चतुर्थ संशोधन अधिनियम, 1955 द्वारा यथा प्रतिस्थापित अनुच्छेद 31(2)

"कोई सम्पत्ति, सार्वजनिक प्रयोजन के सिवाय, और ऐसी किसी विधि के, जो इस प्रकार अर्जित या अधिगृहीत सम्पत्ति के लिए प्रतिकर के लिए उपबन्ध करती है और या तो प्रतिकर की राशि को नियत करती है या उन सिद्धान्तों और रीति का उल्लेख करती है जिनसे प्रतिकर निर्धारित होना है और दिया जाना है, प्राधिकार के सिवाय अनिवार्यतः अर्जित या अधिगृहीत न की जाएगी; और किसी ऐसी विधि पर किसी न्यायालय में इस आधार पर आपत्ति नहीं की जाएगी कि उस विधि द्वारा उपबन्धित प्रतिकर पर्याप्त नहीं है।"

पच्चीसवें संशोधन अधिनियम, 1971 द्वारा यथा प्रतिस्थापित अनुच्छेद 31(2)

"कोई सम्पत्ति, सार्वजनिक प्रयोजन के लिए ही और केवल ऐसी विधि के प्राधिकार से अनिवार्यतः अर्जित या अधिगृहीत की जाएगी, जो सम्पत्ति के अर्जन या अधिग्रहण का, ऐसी राशि के बदले जो उस विधि द्वारा नियत की जाए या जो ऐसे सिद्धान्तों के अनुसार अवधारित की जाए और ऐसी रीति से दी जाए जो उस विधि में विनिर्दिष्ट हों, उपबन्ध करती है; और ऐसी किसी विधि पर किसी न्यायालय में इस आधार पर आपत्ति नहीं की जाएगी कि इस प्रकार नियत या अवधारित राशि पर्याप्त नहीं है अथवा ऐसी पूरी राशि या उसका कोई भाग नकद न दिया जाकर अन्यथा दिया जाना है :

परन्तु अनुच्छेद 30 के खण्ड (1) में निर्दिष्ट किसी अल्पसंख्यक-वर्ग द्वारा स्थापित और प्रशासित किसी शिक्षा-संस्था की सम्पत्ति के अनिवार्य अर्जन के लिए उपबन्ध करने से सम्बद्ध विधि बनाते समय, राज्य यह सुनिश्चित करेगा कि ऐसी सम्पत्ति के अर्जन के लिए ऐसी विधि के अधीन जो राशि नियत या अवधारित की जाए वह ऐसी हो जो उस उस खण्ड के अधीन प्रत्याभूत अधिकार को निर्बन्धित या निराकृत न करे।"

अनुच्छेद 31(2) का, जैसा कि वह अब है, सही विस्तार जानने के लिए महाराष्ट्र के विद्वान् महाधिवक्ता और महासॉलिसिटर ने भी हमारा ध्यान इस अनुच्छेद के इतिहास की ओर दिलाया है। उनके अनुसार यह अनुच्छेद, जिस रूप में कि वह अब है, संविधान के निर्माताओं के आशय को सही-सही व्यक्त करता है। इस दलील के समर्थन में हमसे यह कहा गया कि हम इस अनुच्छेद से सम्बन्ध रखने वाले संविधान सभा वाद-विवाद का अवलोकन करें। विशेष अनुग्रह हमसे पण्डित नेहरू, सर अल्लादीकृष्णास्वामी अय्यर, डॉ० मुन्शी तथा डॉ० अम्बेदकर के भाषणों को देखने का किया गया है। हमारी राय यह है कि हमें ऐसा करने की इजाज़त नहीं है। अर्थान्वयन का यह एक सुस्थापित नियम है कि जो भाषण विधानमण्डल के सदस्यों द्वारा किसी कानून के अधिनियमन सम्बन्धी वाद-विवाद के दौरान दिए गए हों, उनका उपयोग कानून के किसी उपबन्ध का निर्वचन करने में सहायता प्राप्त करने के लिए नहीं किया जा सकता है। यही नियम उस समय भी लागू होता है, जब कि हमसे संविधान के उपबन्धों का निर्वचन करने की अपेक्षा की गई है। त्रावनकोर-कोचीन राज्य और कुछ अन्य बनाम बॉम्बे कम्पनी लिमिटेड([1]) में इस न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया था कि संविधान-सभा के सदस्यों ने जो भाषण प्रारूप-संविधान पर वाद-विवाद के दौरान दिए हैं उनका उपयोग संविधान के निर्वचन के सहायक के रूप में नहीं किया जा सकता है। संविधान न्यायपीठ की ओर से निर्णय देते हुए मुख्य न्यायाधिपति पातञ्जलि शास्त्री ने अपने निर्णय में रिपोर्ट के पृष्ठ 1121 पर यह कहा था—

> "अब केवल यही बताना रह गया है कि प्रारूप संविधान सम्बन्धी वाद-विवाद के दौरान संविधान सभा के सदस्यों द्वारा दिए गए भाषणों का निचले न्यायालय के विद्वान् न्यायाधीशों ने जो उपयोग किया वह बिना किसी समुचित आधार के किया गया है। इंग्लैण्ड में आमतौर से यह माना जाता है कि इस प्रकार की बाहरी सहायता कानूनों के निर्वचन में अनुज्ञेय नहीं है और इसी नियम का पालन भारतीय कानूनों के अर्थान्वयन में किया गया है [देखिए—महा प्रशासक बंगाल बनाम प्रेम नाथ मल्लिक (1895) 22 आई० ए० 107-118]। इस नियम के पीछे काम करने वाले कारण की व्याख्या हमारे एक साथी ने गोपालन वाले मामले(2) में इन शब्दों में की थी—
>
> > 'विधेयक पर किए गए वाद-विवाद के दौरान दिया गया भाषण अधिक से अधिक यह बता सकता है कि वक्ता का व्यक्तिगत आशय क्या था, किन्तु वह विधेयक को पारित कराने वाले बहुमत के पीछे काम करने वाली मूक मानसिक क्रिया को व्यक्त नहीं कर सकता है। यह मान लेना भी तर्कसंगत नहीं है कि उन सब विधायकों का भी वही विचार था' या जैसा कि एक अमरीकी मामले में और भी थोड़े शब्दों में कहा गया है—
> >
> > > 'हो सकता है कि जिन लोगों ने कोई भाषण नहीं दिए वे उनके साथ सहमत न हुए होते जिन्होंने भाषण दिए और जिन लोगों

(1) (1952) एस० सी० आर० 1112, 1121.
(2) (1950) एस० सी० आर० 88, 144.

ने भाषण दिए वे आपस में एक दूसरे के साथ सहमत न हुए हों—यूनाइटेड स्टेट्स बनाम ट्रान्स-मिसोरी फ्रेट एसोसिएशन([1])' ।"

हमारा ध्यान इस न्यायालय के किसी ऐसे निर्णय की ओर आकर्षित नहीं किया गया है जिसमें ऊपर के मामले में अपनाए गए मत से भिन्न मत अपनाया गया हो। किन्तु दलील यह दी गई थी कि इस न्यायालय ने बॉम्बे कम्पनी वाले मामले ([2]) में, गोलक नाथ वाले मामले([3]) में तथा उस मामले में जो आमतौर से प्रिवी पर्स वाला मामला([4]) कहलाता है, अधिकथित निर्णय की उपेक्षा की है। हम नहीं समझते हैं कि क्या कहना सही है। गोलक नाथ वाले मामले ([3]) में मुख्य न्यायाधिपति सुब्बा राव ने पण्डित नेहरू तथा डॉ० अम्बेदकर द्वारा दिए गए भाषणों के कुछ अंशों के प्रति निर्देश किया था। किन्तु उसी रिपोर्ट के पृष्ठ 792 पर उन्होंने उस विनिर्दिष्ट प्रयोजन को भी स्पष्ट कर दिया था जिसके लिए उन्होंने इन भाषणों के प्रति निर्देश किया था। जो कुछ उन्होंने कहा था वह इस प्रकार है—

"हमने पण्डित जवाहरलाल नेहरू तथा डॉ० अम्बेदकर के भाषणों के प्रति निर्देश, अनुच्छेद 368 के उपबन्धों का निर्वचन करने की दृष्टि से नहीं, जो हम उसी अनुच्छेद के शब्दों की सहायता से करना चाहते थे, बल्कि संविधान के दो महत्वपूर्ण कर्णधारों द्वारा मूल अधिकारों को दिए गए अन्तःप्रेरणात्मक स्वरूप की ओर संकेत करने के विचार से किया था।"

न्यायाधिपति बछावत ने भी अपने निर्णय में कुछ ऐसे भाषणों के प्रति निर्देश किया जो अनुच्छेद 368 पर हुए वाद-विवाद के दौरान दिए गए थे। किन्तु ऐसा करने के पहले जो कुछ उन्होंने कहा वह रिपोर्ट के पृष्ठ 922 पर इस प्रकार दिया गया है—

"इस निर्णय का समापन करने के पहले मैं कुछ भाषणों का हवाला देना चाहूंगा जो प्रारूप-संविधान विषयक वाद-विवाद के दौरान संविधान सभा के सदस्यों द्वारा दिए गए थे। इन भाषणों को संविधान के निर्वचन के सहायकों के रूप में प्रयुक्त नहीं किया जा सकता है देखिए—ट्रावनकोर-कोचीन राज्य और कुछ अन्य बनाम बॉम्बे कम्पनी लिमिटेड([2])। तदनुसार मैंने उनका आशय अर्थान्वयन के सहायकों के रूप में नहीं लिया है। फिर भी मैं उनका हवाला इसलिए देना चाहता हूं क्योंकि श्री ए० के० सेन ने डॉ० बी० आर० अम्बेदकर के भाषणों का सहारा बहुत ज्यादा लिया है। उनके अनुसार डॉ० अम्बेदकर के भाषणों से यह विदित है कि वे मूल अधिकारों को संशोधन-योग्य नहीं समझते थे। इस दलील का समर्थन भाषणों से नहीं होता है·············।"

इन उद्धरणों से, यह स्पष्ट है कि विद्वान् न्यायाधीश भाषणों के प्रति जो निर्देश कर रहे थे वह संविधान के किसी उपबन्ध के निर्वचन के सहायक रूप में नहीं था।

([1]) 169 यू० एस० 290, 318.

([2]) (1952) एस० सी० आर० 1112, 1121.

([3]) (1967) 2 एस० सी० आर० 762; 792; 922.

([4]) (1971) 3 एस० सी० आर० 9—[1971] 1 उम० नि० प० 491.

अब हम प्रिवी पर्स वाले मामले(1) में इस न्यायालय के निर्णय पर विचार करेंगे। न्यायाधिपति शाह ने (जैसे कि वे तब थे) अपने निर्णय में (रिपोर्ट के पृष्ठ 83 पर) गृह मंत्री सरदार पटेल के भाषण का एक अंश, संविधान के किसी उपबन्ध का निर्वचन करने के प्रयोजन के लिए नहीं, बल्कि उन परिस्थितियों को दर्शाने के लिए उद्धृत किया जिनके कारण भूतपूर्व शासकों को कुछ गारण्टियां देना आवश्यक हो गया था। उस भाषण में यह बात संक्षेप में बताई गई है कि शासकों को कुछ गारण्टियां क्यों दी गई थीं। इसलिए यह कहना ठीक नहीं है कि स्वयं अपनी ओर से तथा 6 अन्य न्यायाधिपतियों की ओर से निर्णय सुनाते हुए न्यायाधिपति शाह ने सरदार पटेल के भाषण का उपयोग संविधान के किसी अनुच्छेद के निर्वचन में सहायता प्राप्त करने के लिए किया। यह सच है कि न्यायाधिपति मित्तर ने अपने विसम्मत निर्णय में (रिपोर्ट के पृष्ठ 121 पर) श्री टी० टी० कृष्णामाचारी के भाषण का उपयोग, अनुच्छेद 363 का अर्थान्वयन करने के प्रयोजन के लिए किया था किन्तु विद्वान् न्यायाधिपति ने अपने निर्णय में इस प्रश्न की चर्चा कहीं भी नहीं की कि संविधान सभा के सदस्यों के भाषण से संविधान के किसी उपबन्ध के निर्वचन में सहायता लेना अनुज्ञेय है या नहीं।

इस विषय की चर्चा समाप्त करने के पहले इस न्यायालय के एक और निर्णय अर्थात् भारत संघ बनाम एच० एस० ढिल्लों(2) वाले विनिश्चय के प्रति निर्देश करना आवश्यक है। उस मामले में इस न्यायालय से इस बात का फैसला करने की अपेक्षा की गई थी कि कृषि सम्पत्ति के पूंजीगत मूल्य पर कर के उद्ग्रहण का उपबन्ध करने वाले धनकर अधिनियम, 1957 के उपबन्धों का संविधान की दृष्टि से समर्थन किया जा सकता है या नहीं। तीन के मुकाबले चार के बहुमत से इस न्यायालय ने उद्ग्रहण की पुष्टि की। स्वयं अपनी ओर से तथा दो अन्य न्यायाधीशों की ओर से निर्णय देते हुए मुख्य न्यायाधिपति सीकरी ने संविधान के सुसंगत उपबन्धों तथा निर्णीत मामलों की परीक्षा करने के बाद और उक्त उपबन्ध की विधिमान्यता की पुष्टि करने के पश्चात्, उन निष्कर्षों के समर्थन में जिन पर वह पहले ही पहुंच चुके थे, संविधान-सभा के वाद-विवाद के दौरान दिए गए कुछ भाषणों के प्रति निर्देश किया। उन भाषणों के प्रति निर्देश करने के पहले विद्वान् न्यायाधीश ने पृष्ठ 58 पर जो कुछ कहा वह इस प्रकार है—

> "यह देख कर हमें प्रसन्नता है कि वाद-विवाद के निम्नलिखित उद्धरणों से प्रतीत होता है कि हमारा निर्वचन भी वही है जैसा कि आशयित था।"

इससे यह जाहिर है कि विद्वान् न्यायाधीश ने सुसंगत उपबन्ध का निर्वचन करने के प्रयोजन के लिए भाषणों से कोई सहायता नहीं ली। इस बात पर ध्यान देना आवश्यक है कि विद्वान् न्यायाधीश ने उस मत से अपनी विसम्मति प्रकट नहीं की जो इस न्यायालय द्वारा बॉम्बे कम्पनी लिमिटेड वाले मामले(3) में पहले व्यक्त किया गया था। इसलिए विधि का जैसा कथन बॉम्बे कम्पनी वाले मामले(3) में किया गया है वही हमारे लिए भी आबद्धकर है और हमारे सामने उसकी सत्यता को कोई चुनौती नहीं दी गई।

---

(1) (1971) 3 एस० सी० आर० 9=[1971] 1 उम० नि० प० 491.
(2) (1972) 2 एस० सी० आर० 33=[1972] 1 उम० नि० प० 565.
(3) (1952) एस० सी० आर० 1112.

महाराष्ट्र के विद्वान महाधिवक्ता का यह दलील देना ठीक है कि अनुच्छेद 31(2) में, जिस रूप में वह इस समय है, उसके सही विस्तार का पता लगाने के लिए हमें उस रिष्टि (मिसचिफ) की खोज करनी चाहिए जिसका उपचार प्रस्तुत संशोधन का आशय था। दूसरे शब्दों में हमें इस बात का पता लगाना चाहिए कि वह संशोधन कौन से उद्देश्य की पूर्ति करने के लिए आशयित था। मूल अनुच्छेद 31(2) पर इस न्यायालय को सबसे पहले पश्चिम बंगाल राज्य बनाम श्रीमती बेला बनर्जी और कुछ अन्य[1] वाले मामले में विचार करना पड़ा जिसमें न्यायालय की ओर से निर्णय देते हुए मुख्य न्यायाधिपति पातंजलि शास्त्री ने अपना मत इस प्रकार प्रकट किया—

"यह तो सही है कि विधानमण्डल को वे सिद्धान्त नियत करने की वैयक्तिक शक्ति (डिस्क्रिशनरी पावर) दी गई है जो विनियोजित सम्पत्ति (अप्रोप्रिएटेड प्रापर्टी)मद्धे स्वामी को दी जाने वाली रकम के अवधारण पर लागू होने चाहिएं फिर भी चाहिए यह कि इन सिद्धान्तों से यह सुनिश्चित हो जाए कि जो कुछ संदेय अवधारित किया जाता है वह प्रतिकर ही है अथवा जो कुछ स्वामी से लिया गया है उसका मुनासिब समतुल्य (जस्ट इक्वीवेलेण्ट) है। जिस स्वामी का स्वत्वहरण (एक्सप्रोप्रिएशन) किया गया हो उसकी सम्पूर्ण क्षतिपूर्ति की इस आधारभूत अपेक्षा की सीमाओं के अन्दर, संविधान इस सम्बन्ध में अपनी समझ से काम लेने की विधानमण्डल को पूरी स्वतन्त्रता देता है कि संदेय राशि का अवधारण किन सिद्धान्तों के अनुसार किया जाए। यह वाद-योग्य विवाद्यक (जस्टिसिएबल इशू) है कि ऐसे सिद्धान्तों में क्या वे सब बातें ध्यान में रखी गई हैं जिनके आधार पर विनियोजित सम्पत्ति का सही मूल्य निर्धारित किया जाता है और उपेक्षा की जाने वाली सब बातों को अपवर्जित किया गया है और इस बाबत न्यायनिर्णय न्यायालय द्वारा किया जाना है। इस सम्बन्ध में निश्चित रूप से कोई भी विवाद नहीं है।"

हमसे यह कहा गया है कि अनुच्छेद 31(2) का संशोधन चतुर्थ संशोधन अधिनियम द्वारा श्रीमती बेला बनर्जी वाले मामले [1] में इस न्यायालय के विनिश्चय को ध्यान में रखते हुए ही किया गया है। चतुर्थ संशोधन द्वारा अधिनियम यथा संशोधित अनुच्छेद के विस्तार पर इस न्यायालय ने पी० वजवेलु मुदालियर बनाम विशेष उपकलक्टर, मद्रास[2] वाले मामले में विचार किया। उस मामले में स्वयं अपने तथा न्यायाधिपति वांचू, हिदायतुल्लाह, रघुवर दयाल तथा सीकरी से मिलकर बनी न्यायपीठ की ओर से अपना निर्णय सुनाते हुए न्यायाधिपति सुब्बा राव ने अपना मत इस प्रकार प्रकट किया (पृ० 626)—

"यह बात कि संसद् ने वही शब्द अर्थात् 'प्रतिकर' तथा 'सिद्धान्त', जो संशोधन के पहले अनुच्छेद 31 में मौजूद थे, प्रयुक्त किए हैं। इस बात का स्पष्ट संकेत है कि संसद् ने उस अर्थ को स्वीकार कर लिया जिसमें श्रीमती बेला बनर्जी वाले मामले [1] में इस न्यायालय ने उन शब्दों को समझा था। इसका

---

(1) (1954) एस० सी० आर० 558.
(2) (1965) 1 एस० सी० आर० 614.

मतलब हुआ कि अर्जन या अधिग्रहण विधि बनाते समय विधानमण्डल, उस सम्पत्ति की, जो भी स्वामी से ली गई है, समतुल्य मुनासिब की व्यवस्था या उस सम्पत्ति की, जो भी स्वामी से ली गई है 'मुनासिब समतुल्य' को निश्चित करने के प्रयोजन के लिए सिद्धान्तों का उल्लेख करेगा। यदि संसद् का आशय यथा परिभाषित प्रतिकर के लिए व्यवस्था किए बिना ही ऐसी विधि बनाने के लिए विधानमण्डल को समर्थ बनाना होता तो वह 'कीमत', 'प्रतिफल' आदि जैसे अन्य शब्दों का का प्रयोग करता।"

आगे चल कर विद्वान् न्यायाधीश ने कहा है—

"वास्तविक कठिनाई यह है कि इस आधार पर कि जिस 'प्रतिकर' की व्यवस्था विधि द्वारा की गई है वह पर्याप्त नहीं है विधि को आपत्ति का विषय बनाने की न्यायालय की अधिकारिता समाप्त कर देने का प्रभाव क्या है? ध्यान देने की बात यह है कि अर्जन या अधिग्रहण विधि ऐसी नहीं है कि न्यायालय को उसकी छानबीन करने से पूर्ण रूप से वंचित किया गया हो। न्यायालय की अधिकारिता से जो कुछ अपवर्जित किया गया है वह यह है कि उक्त विधि पर आपत्ति इस आधार पर नहीं की जा सकती कि विधि द्वारा उपबन्धित प्रतिकर पर्याप्त नहीं है। इसके अतिरिक्त यह भी बात ध्यान देने की है कि न्यायालय की अधिकारिता को अपवर्जित करने वाले खण्ड में भी 'प्रतिकर' शब्द का प्रयोग किया गया है जिससे यह प्रकट होता है कि न्यायालय की अधिकारिता से जो कुछ अपवर्जित किया गया है वह न्यायालय द्वारा नियत प्रतिकर की पर्याप्तता है। यह तर्क कि 'प्रतिकर' शब्द से अर्जित सम्पत्ति का मुनासिब समतुल्य अभिप्रेत है और इसलिए न्यायालय इस बात का फैसला कर सकता है कि वह 'मुनासिब समतुल्य' है या नहीं, संविधान के संशोधन को निरर्थक बना देता है। यह तो घुमफिर कर एक ही बात को दोहराते रहना है। इसलिए अधिक युक्तियुक्त निर्वचन यह है कि न तो 'मुनासिब समतुल्य' विहित करने वाले सिद्धान्त और न 'मुनासिब समतुल्य' पर न्यायालय द्वारा आपत्ति नियत किए गए प्रतिकर या सिद्धान्तों को लागू करने के बाद निकाले गए प्रतिकर की अपर्याप्तता के आधार पर नहीं की जा सकती। उदाहरण के लिए किसी मकान को अर्जित करने के लिए विधि बनाई जाती है, अर्जन के समय उसका मूल्य नियत किया जाता है; मूल्यांकन के बहुत से ढंग है, अर्थात् इंजीनियर द्वारा प्राक्कलन, उसी प्रकार के विक्रयों से प्रकट होने वाला मूल्य, किराए का पूंजीकरण तथा इसी प्रकार के अन्य तरीके। अलग-अलग सिद्धान्तों को लागू करने से अलग-अलग नतीजे निकल सकते हैं। हो सकता है कि एक सिद्धान्त को स्वीकार करने से अधिक मूल्य निकले जब कि दूसरे सिद्धान्त को स्वीकार करने से कम मूल्य निकले। तो भी वही ऐसे सिद्धान्त है जिन पर और ऐसी रीति है जिसमें प्रतिकर अवधारित किया जाता है। स्पष्ट है कि न्यायालय यह नहीं कह सकता है कि विधि को चाहिए था कि वह इस सिद्धान्त को मानती न कि दूसरे को क्योंकि उसका सम्बन्ध तो मात्र पर्याप्तता के प्रश्न से है। इसके विपरीत यदि विधि में ऐसे सिद्धान्त अधिकथित हों जो अर्जित सम्पत्ति के साथ या सम्पत्ति के उस समय के जब वह अर्जित की

आती है मूल्य के साथ संगत न हों तो यह कहा जा सकता है कि वे ऐसे सिद्धांत नहीं हैं जिनकी कल्पना संविधान के अनुच्छेद 31(2) में की गई थी.........
ऐसे मामले में सिद्धान्तों की विधिमान्यता की छानबीन की जा सकती है। यह भी हो सकता है कि विधि मे ऐसे प्रतिकर की व्यवस्था की हो जो अवास्तविक हो; जैसे वह लाखों की सम्पत्ति के अधिग्रहण के लिए 100 रुपये की तुच्छ राशि की व्यवस्था कर सकता है। उस मामले के प्रसंग में प्रश्न का सम्बन्ध प्रतिकर की पर्याप्तता से नहीं है क्योंकि वह तो कोई प्रतिकर है ही नहीं। जो उदाहरण हमने दिए हैं वे इस प्रकार के मामलों के नहीं हैं और भी बहुत से उदाहरण हो सकते हैं जिनमें किसी का सुझाव इधर की ओर हो तो दूसरे का दूसरी ओर। किन्तु इतनी बात स्पष्ट है। यदि प्रतिकर अवास्तविक है या यदि विहित सिद्धान्त सम्पत्ति के उस समय के जब वह अर्जित की जाती है मूल्य के साथ संगत न हो तो यह कहा जा सकता है कि विधानमण्डल ने शक्ति के प्रयोग के बहाने कपट से काम लिया है और इसलिए यह विधि दूषित है। यह अनुच्छेद 31 के संरक्षण का उपयोग ऐसी रीति में करना है जैसी कि अनुच्छेद में आशयित नहीं थी।' (महत्व देने के लिए रेखांकित किया गया है)।

वन्नेसु वाले मामले(1) के विनिश्चय से निकलने वाले सिद्धान्त ये हैं—(1) प्रतिकर से अर्जित सम्पत्ति के मूल्य का मुनासिब समतुल्य अभिप्रेत है; (2) विहित सिद्धान्त ऐसे होने चाहिएं जिनमें प्रतिकर के लिए व्यवस्था की गई हो; (3) नियत या उपवर्णित सिद्धान्तों के आधार पर अवधारित किए जाने वाले प्रतिकर की पर्याप्तता की जांच न्यायालय द्वारा नहीं की जा सकती है; (4) जो सिद्धान्त नियत किए गए हों वे अर्जित सम्पत्ति तथा सम्पत्ति के उस समय के जब वह अर्जित की जाती है मूल्य के साथ सुसंगत होने चाहिएं; (5) नियत किया गया प्रतिकर अवास्तविक नहीं होना चाहिए और (6) यदि नियत किए गए सिद्धान्त असंगत हों या यदि दिया गया प्रतिकर अवास्तविक हो तो न्यायालय को यह शक्ति होनी चाहिएं कि वह उस विधि को शक्ति के प्रयोग के बहाने कपट से काम लेने के आधार पर अविधिमान्य घोषित कर दे।

दूसरा विनिश्चय, जिसका हवाला हमारे सामने दिया गया है, भारत संघ बनाम मेटल कॉर्पोरेशन ऑफ इण्डिया और एक अन्य(2) में इस न्यायालय का विनिश्चय है। यह विनिश्चय मुख्य न्यायाधिपति सुब्बा राव तथा न्यायाधिपति शैलत से मिल कर बनी खण्ड न्यायपीठ का विनिश्चय है। चूंकि उस विनिश्चय को गुजरात राज्य बनाम शान्तीलाल मंगलदास (3) में इस न्यायालय ने उलट दिया है इसलिए उसके निर्णयाधार (रेशियो) के प्रति निर्देश करना आवश्यक नहीं है।

इस प्रकार अब शान्तीलाल वाले मामले (3) में इस न्यायालय का विनिश्चय हमारे सामने है। यह मामला मुम्बई नगर योजना अधिनियम, 1955 (बॉम्बे टाउन प्लानिंग ऐक्ट, 1955) के अधीन नगर योजना स्कीम बनाने के लिए अहमदाबाद की बरो

(1) (1965) 1 एस० सी० आर० 614.
(2) (1967) 1 एस० सी० आर० 255.
(3) (1969) 3 एस० सी० आर० 341=[1969] 3 उम० नि० प० 753.

म्युनिसिपैलिटी की ओर से भूमि के रूप में कुछ सम्पत्ति के अर्जन के सम्बन्ध में था । इस अधिनियम की धारा 53 और 57 द्वारा कुछ सिद्धान्त अर्जित भूमि के लिए प्रतिकर के अवधारण के लिए नियत किए गए थे । गुजरात उच्च न्यायालय ने यह फैसला किया कि ये उपबन्ध वहां तक अधिकारातीत (अल्ट्रा वायरस) हैं जहां तक कि स्थानीय प्राधिकारी को नगर योजना स्कीम के अधीन भूमि अर्जित करने के लिए उनके द्वारा प्राधिकृत किया गया है और इसी के उपसिद्धान्त (कारोलरी) के रूप में शहर प्राचीर सुधार नगर योजना स्कीम नं० 5 (सिटी वाल इम्प्रूवमेण्ट टाउन प्लानिंग स्कीम नं० 5) को, जो अधिनियम के अधीन प्रदत्त शक्तियों का प्रयोग करते हुए तयार की गई थी, अधिकारातीत घोषित कर दिया । इस प्रकार का फैसला देने में उनका विचार था कि उन्होंने वजावेलु मुदालियर वाले मामले(1) में इस न्यायालय के विनिश्चय का अनुसरण किया है । इस न्यायालय की एक संविधान-न्यायपीठ ने गुजरात उच्च न्यायालय के विनिश्चय को उलट दिया । उस मामले में न्यायालय की ओर से निर्णय देते हुए न्यायाधिपति शाह ने अनुच्छेद 31(2) के सम्बन्ध में इस न्यायालय के पुराने विनिश्चयों का विशद् पुनर्विलोकन किया जिसके पश्चात् उन्होंने रिपोर्ट के पृष्ठ 365 पर अपना मत इस प्रकार प्रकट किया—

> "संविधान (चतुर्थ संशोधन) अधिनियम, 1955 द्वारा अनुच्छेद 31 के खण्ड (2) में किए गए संशोधन पर फिर से विचार किया जाए तो यह स्पष्ट है कि विधानमण्डल द्वारा निर्धारित अथवा निर्धारण के लिए विधानमण्डल द्वारा उल्लिखित सिद्धान्त के अनुसार दिलाए गए प्रतिकर की पर्याप्तता वाद योग्य (जस्टिसिएबल) नहीं है । यथा संशोधित अनुच्छेद 31(2) के निबन्धनों का यह साफ मतलब है कि यदि प्रतिकर विधानमण्डल द्वारा निर्धारित किया गया हो तो संदेय प्रतिकर की रकम वाद योग्य नहीं है क्योंकि ऐसे मामले में चुनौती, विधायी शक्ति के दुरुपयोग की बात रहने दी जाए तो प्रतिकर की पर्याप्तता को ही चुनौती होगी । यदि विधानमण्डल द्वारा नियत प्रतिकर—'प्रतिकर' शब्द का प्रयोग करने से हमारा अभिप्राय उससे है जिसको विधानमण्डल सम्पत्ति के अनिवार्य स्वत्वहरण (एक्सप्रोप्रिएशन) के लिए उचित रूप से ठीक-ठीक और मुनासिब प्रतिकर मानता हो, न कि उससे जो विधायी शक्ति के बेजा इस्तेमाल से चाहे फिर उसे प्रतिकर ही क्यों न कहा गया हो; किसी भी अर्थ में प्रतिकर ही हो न हो या ऐसा कुछ हो जो बिल्कुल अवास्तविक हो—इस आधार पर वाद योग्य नहीं है कि वह अनिवार्यतः अर्जित सम्पत्ति का उचित समतुल्य नहीं है तो क्या न्यायालयों को यह स्वतंत्रता है कि वे इस बात की जांच कर सकें कि क्या वे सिद्धान्त, जो प्रतिकर निर्धारित करने के लिए विधानमण्डल द्वारा उल्लिखित किए गए हों स्वत्वहरण के शिकार बनाए गए स्वामी को मुनासिब प्रतिकर नहीं दिलाते हैं ? हमारे विचार से ऐसी जांच, संविधान (चतुर्थ संशोधन) अधिनियम द्वारा संविधान में किए गए संशोधनों के पश्चात्, अधिनियमित कानूनों के अधीन न्यायालय द्वारा नहीं की जा सकती है । विधानमण्डल द्वारा निर्धारित प्रतिकर की मात्रा के बारे में यदि न्यायालय के सामने इस आधार पर कि वह मुनासिब

---

(1) (1965) 1 एस० सी० आर० 614.

समतुल्य नहीं है कुछ नहीं कहा जा सकता है जो प्रतिकर के निर्धारण के लिए उल्लिखित सिद्धान्तों को भी चुनौती इस दलील पर नहीं दी जा सकेगी कि उन सिद्धान्तों को लागू करने के बाद निर्धारित प्रतिकर मुनासिब समतुल्य नहीं है। जिस अधिकार की घोषणा संविधान में की गई है वह इस बात की गारन्टी देता है कि लोक प्रयोजन के लिए किसी व्यक्ति की सम्पत्ति अनिवार्य रूप से लिए जाने के पहले उसे प्रतिकर दिया जाएगा। गारन्टी उस चीज की दी गई है जो कानून द्वारा या प्रतिकर के निर्धारण के लिए उल्लिखित सिद्धान्तों को लागू करने के बाद प्रतिकर के रूप में निर्धारित की जाती है; किन्तु इसका यह मतलब नहीं है कि कुछ भी जो उल्लिखित सिद्धान्तों को लागू करने के बाद नियत या निर्धारित किया गया है और जो अवास्तविक है या इस प्रकार का है कि उसे किसी भी अर्थ में प्रतिकर नहीं माना जा सकता है उसकी भी न्यायालयों को पुष्टि करनी पड़ेगी क्योंकि ऐसा करना स्वेच्छाचारिता का अनुज्ञापत्र देना और सांविधानिक गारन्टी को विफल बना देने वाली युक्ति की इजाजत देना होगा। किन्तु विधानमण्डल द्वारा नियत या उसके द्वारा उल्लिखित सिद्धान्तों के अनुसार अवधारित प्रतिकर को चुनौती देने की इजाजत इस अनिश्चित दलील पर नहीं दी जा सकती कि वह उचित तथा मुनासिब समतुल्य नहीं है। सिद्धान्तों को चुनौती इस आधार पर दी जा सकेगी कि वे प्रतिकर के निर्धारण के साथ असंगत हैं न कि इस आधार पर कि उन सिद्धान्तों को लागू करने के फलस्वरूप जो कुछ दिलाया गया है वह उचित तथा मुनासिब प्रतिकर नहीं है। कानून को दी गई यह चुनौती कि उसके द्वारा उल्लिखित सिद्धान्त मुनासिब समतुल्य नहीं दिलाते हैं, संविधान की इस घोषणा का स्पष्ट अतिक्रमण करने के बाद ही दी जा सकेगी कि दिलाए गए प्रतिकर की अपर्याप्तता वाद योग्य नहीं है।" (महत्त्व देने के लिए रेखांकित किया गया है)

महाराष्ट्र के महाधिवक्ता ने यह कहा कि यदि इस फैसले को बैंक राष्ट्रीयकरण वाले मामले [आर० सी० कूपर बनाम भारत संघ(1)] द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से उलट न दिया गया होता तो अनुच्छेद 31(2) में और अधिक संशोधन करने का कोई अवसर ही न आता। इसलिए यह साफ तरह से जान लेना आवश्यक है कि इस विनिश्चय में निर्धारित सिद्धान्त कौन-कौन से हैं। इस विनिश्चय में यह बात दृढ़ता के साथ तय की गई है कि प्रतिकर के मनमाने निर्धारण को न्यायालय विधायी शक्ति के दुरुपयोग के रूप में अविधिमान्य घोषित कर सकता है। आगे चलकर इसमें यह भी तय किया गया है कि निर्धारित सिद्धान्तों को चुनौती इस आधार पर दी जा सकती है कि वे अर्जित सम्पत्ति के स्वामी को संदेय प्रतिकर निर्धारित करने के प्रयोजन के साथ सुसंगत नहीं हैं। यदि नियत या निर्धारित प्रतिकर मनमाना या अवास्तविक नहीं है या यदि निर्धारित सिद्धान्त प्रश्नगत सम्पत्ति के अर्जन या अधिग्रहण के प्रयोजन के साथ सुसंगत है तो न्यायालय इस बात की जांच नहीं कर सकते हैं कि संदाय पर्याप्त है या नहीं।

(1) (1970) 3 एस० सी० आर० 530.

इसके बाद बैंक राष्ट्रीकरण वाला मामला(1) आया। उस मामले में बहुमत की ओर से निर्णय न्यायाधिपति शाह द्वारा (जैसे कि वे तब थे) सुनाया गया था। उस निर्णय में उन्होंने शान्तीलाल मंगलदास वाले मामले(2) तथा अन्य मामलों में इस न्यायालय द्वारा दिए गए विनिश्चयों की विस्तार के साथ चर्चा की है। उनका अभिप्राय शांतीलाल वाले मामले (2) में अधिकथित नियम का उल्लंघन करना नहीं था। अनुच्छेद 31(2) के सम्बन्ध में उस विनिश्चय का निर्णयाधार रिपोर्ट के पृष्ठ 598 पर देखा जा सकता है। विद्वान् न्यायाधीश ने यह अभिनिर्धारित किया है—

"[वजावेलु वाले मामले (3) में और शान्तीलाल वाले मामले(2) में] दोनों ही विचार पद्धतियां जिनका अन्तिम निष्कर्ष एक ही है, इस विचार की पुष्टि करती हैं कि प्रतिकर के निर्धारण के लिए विधि द्वारा उल्लिखित सिद्धान्त को उस दशा में चुनौती नहीं दी जा सकती जिसमें वह प्रतिकर के निर्धारण के साथ सुसंगत है और कोई मान्यताप्राप्त सिद्धान्त है जो अनिवार्यतः अर्जित सम्पत्ति के लिए प्रतिकर के अवधारण को लागू है और वह सिद्धान्त अर्जित की जाने वाली सम्पत्ति का जो वर्ग है उस वर्ग की सम्पत्ति का मूल्य निर्धारित करने के लिए उचित है। पी० वजावेलु मुदालियर वाले मामले (3) में या शान्तीलाल मंगलदास वाले मामले(2) में दिए गए निर्णय को लागू करने पर, यह अधिनियम हमारी समझ से, अविधिमान्य घोषित किए जाने योग्य है क्योंकि यह उन बैंकों को, जिनका स्वत्वहरण किया गया है, सुसंगत नियमों के अनुसार निर्धारित प्रतिकर नहीं दिलाता है।"

आगे चलकर विद्वान् न्यायाधीश ने पृष्ठ 509 पर अपना मत इस प्रकार प्रकट किया—

"हम यह नहीं मान सकते हैं कि अर्जित की जाने वाली सम्पत्ति का प्रतिकर निर्धारित करने के लिए संसद् द्वारा उल्लिखित सिद्धान्त निश्चायक हैं। यदि यह मत प्रकट किया जाता है तो संसद् को स्वेच्छाचारिता के साथ काम लेने का आज्ञापत्र मिल जाएगा और विधायी प्रक्रिया के दुरुपयोग द्वारा, प्रतिकर के अधिकार की सांविधानिक गारण्टी का बल गम्भीर रूप से कम हो जाएगा। जो सिद्धान्त उल्लिखित किया जाए वह अर्जित की जाने वाली सम्पत्ति के विशिष्ट वर्ग के लिए प्रतिकर निर्धारित करने की दृष्टि से समुचित होना चाहिए यदि बहुत से सिद्धान्त उचित हों और उनमें से एक को अर्जित की जाने वाली सम्पत्ति का मूल्य निर्धारित करने के लिए चुन लिया गया हो तो इस बात को चुनौती नहीं दी जा सकती कि दूसरे सिद्धान्तों को क्यों छोड़ दिया गया और वही सिद्धान्त क्यों चुना गया क्योंकि सिद्धान्त के चुनाव को तो संसद् के विवेक पर ही छोड़ना होगा।"

ऊपर दिए गए उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि इस मामले में भी इस बात पर जोर दिया गया कि अर्जित सम्पत्ति के लिए प्रतिकर निर्धारित करने की संसद् को दी गई शक्ति कोई मनमानी शक्ति नहीं है। इसके अतिरिक्त प्रतिकर के निर्धारित करने

(1) (1970) 3 एस० सी० आर० 530.
(2) (1969) 3 एस० सी० आर० 341=[1969] 3 उम० नि० प० 753.
(3) (1965) 1 एस० सी० आर० 614.

के लिए जो सिद्धान्त विहित किए गए हों वे उस वस्तु के साथ सुसंगत होने चाहिएं जिसका अर्जन या अधिग्रहण किया जाता है। उसी विनिश्चय में यह बात भी तय की गई है कि क्या प्रतिकर मनमाने रूप से निर्धारित किया गया है या क्या नियत किए गए सिद्धान्त असंगत हैं, इन दोनों प्रश्नों का न्यायिक पुनर्विलोकन किया जा सकता है।

आइए अब हम अनुच्छेद 31 (2) की, जिस रूप में वह है, परीक्षा पूर्वनिर्दिष्ट विनिश्चयों को देखते हुए करें। पच्चीसवें संशोधन अधिनियम के अधीन उस अनुच्छेद में किया गया एकमात्र सारवान परिवर्तन इस प्रकार है—

(1) 'प्रतिकर' शब्द के स्थान पर 'राशि' शब्द रख दिया गया है, और

(2) एक और खण्ड जोड़ दिया गया है जिसमें यह कहा गया है "अथवा ऐसी पूरी राशि या उसका कोई भाग नकद न दिया जाकर अन्यथा दिया जाना है"।

इस मामले में इस प्रकार जोड़े गए खण्ड के प्रभाव से हमारा कोई सरोकार नहीं है। इस विषय में कोई दलीलें नहीं दी गई हैं। हमारा सम्बन्ध तो बस इस बात से है कि "प्रतिकर' शब्द के स्थान पर "राशि" शब्द रख देने का क्या प्रभाव हुआ है। अभी-अभी हम देख चुके हैं कि जिन विनिश्चयों का हवाला पहले दिया गया है उनमें "प्रतिकर" शब्द का निर्वचन अर्जित सम्पत्ति के मूल्य के "मुनासिब समतुल्य" के रूप में किया गया है। यह संकल्पना अब निकाल दी गई है। और बातों में इस अनुच्छेद में कोई तब्दीली नहीं की गई है। जैसा यह पहले था वैसा ही अब भी है। हम पहले देख चुके हैं कि इस न्यायालय के विनिश्चय ने यह बात दृढ़ता के साथ अभिनिर्धारित की थी कि अनुच्छेद 31 (2) जिस रूप में चतुर्थ संशोधन अधिनियम के अधीन संशोधित किए जाने के बाद था उस रूप में उसके अधीन बनाई गई विधि की विधिमान्यता की परीक्षा करते समय न्यायालय इस प्रश्न की जांच कर सकता है कि क्या प्रतिकर मनमाने रूप से निर्धारित किया गया है और क्या वह अवास्तविक है। आगे चल कर इन विनिश्चयों में यह अभिनिर्धारित किया कि न्यायालय नियत किए गए सिद्धान्तों की सुसंगति की जांच कर सकते हैं। इसमें कोई संदेह नहीं कि संसद को उन विनिश्चयों का निर्णयाधार ज्ञात होगा। यही विधिक उपधारणा (लीगल प्रिजम्पशन) भी है। इसलिए यदि संसद् का आशय नियत राशि की पर्याप्तता से भिन्न किसी अन्य दृष्टि से किए जाने वाले न्यायिक पुनर्विलोकन (जुडीशियल रिव्यू) को समाप्त करना ही होता तो उसने अपना आशय उपयुक्त शब्दों में व्यक्त किया होता। इसलिए यह मान लेना तर्कसंगत है कि उसने, प्रतिकर की संकल्पना को छोड़ कर दूसरी सब बातों में इस न्यायालय द्वारा किए गए निर्वचन को स्वीकार कर लिया है। यह बात कि यही वह रिष्टि है जिसको पच्चीसवां संशोधन, अनुच्छेद 31(2) का संशोधन करके, दूर करना चाहता है, संशोधित अनुच्छेद की भाषा से भी स्पष्ट है। वह कहता है कि ऐसी किसी विधि पर किसी न्यायालय में इस आधार पर आपत्ति नहीं की जाएगी कि इस प्रकार नियत या अवधारित राशि पर्याप्त नहीं है। पर्याप्त राशि क्या है? किसी राशि को पर्याप्त तभी कहा जा सकता है जब सम्पत्ति के स्वामी को पूरा-पूरा प्रतिकर मिल गया हो अर्थात् जब उसे इतनी राशि दी गई हो जो अर्जित या अधिगृहीत सम्पत्ति के मूल्य के बराबर हो और यही अर्थ है जो कि 'प्रतिकर' की संकल्पना से इस

न्यायालय ने लगाया है। इसलिए संक्षेप में कहा जाए तो पच्चीसवें संशोधन द्वारा जिस जांच को अवाद-योग्य (नान-जस्टिसिएबल) बना दिया गया है वह इस प्रश्न की जांच है कि नियत या निर्धारित रकम क्या अर्जित या अधिगृहीत सम्पत्ति का बराबर वाला मूल्य या 'प्रतिकर' है।

"राशि" शब्द ऐसा है जो न इस पक्ष की सहायता करता है न उस पक्ष की। अपने आप में उसका कोई मानदण्ड नहीं है और वह पूर्णतः आभासहीन है। इस प्रसंग में इस शब्द का शब्दकोश वाला अर्थ "कुल रकम या अंक" (सम टोटल ऑर ए फीगर) है। हमें इस शब्द का अर्थ प्रसंग के अनुसार लगाना है। ऐसा करते समय हमें यह बात ध्यान में रखनी है कि अनुच्छेद 31(2) अब भी मूल अधिकार है। महाराष्ट्र के विद्वान् महाधिवक्ता तथा विद्वान् महासॉलिसिटर की यह दलील नहीं मानी जा सकती कि अब स्वामी का अधिकार केवल इतना है कि सरकार जो भी देना चाहे जब भी देना चाहे और जैसे भी देना चाहे वह उसे स्वीकार करे। जो स्थिति इतनी अनिश्चित हो उसे अधिकार ही नहीं माना जा सकता, मूल अधिकार की तो बात ही क्या है और अनुच्छेद 31(2) अब भी मूल अधिकार है।

यह विश्वास करना कठिन है कि संसद् का आशय अनुच्छेद 31(2) द्वारा दिए गए मूल अधिकार की खिल्ली उड़ाना भर था। यह नहीं हो सकता कि लोक प्रयोजन के लिए ली गई सम्पत्ति के बदले में "राशि" पाने के नागरिकों के मूल अधिकार का संरक्षण करने के लिए अभिप्रेत होने के साथ ही संविधान ने नागरिक से वस्तुतः उसका सम्पूर्ण अधिकार ही छीन लिया है।

निस्संदेह रूप से अनुच्छेद 31 किसी "राशि" के लिए किसी नागरिक की सम्पत्ति को अर्जित या अधिगृहीत करने के लिए विधानमण्डल को सशक्त करता है। इस अनुच्छेद में "राशि" शब्द से क्या अभिप्रेत है? जैसा हम पहले कह चुके हैं यह शब्द अपने आप में किसी मानदण्ड को व्यक्त नहीं करता है। किन्तु "राशि" शब्द के पश्चात् "जो उस विधि द्वारा नियत की जाए या जो ऐसे सिद्धान्तों के अनुसार अवधारित की जाए और ऐसी रीति से दी जाए जो उस विधि में निर्दिष्ट हो ... और ऐसी किसी विधि पर किसी न्यायालय में इस आधार पर आपत्ति नहीं की जाएगी कि इस प्रकार नियत या अवधारित राशि पर्याप्त नहीं है" शब्द आए हैं।

यदि "राशि" शब्द का कोई मानदण्ड ही नहीं है और राशि वही है जो संसद् बताए तो उस "राशि" को निर्धारित करने के लिए सिद्धान्त विहित करने का कोई प्रश्न ही नहीं हो सकता है और न उसकी पर्याप्तता का पता लगाने की कोई गुंजाइश हो सकती है। संशोधित अनुच्छेद 31(2) के अधीन विधानमण्डलों को इस बात की इजाजत दी गई है कि वे या तो "अर्जित सम्पत्ति के बदले में दी जाने वाली राशि नियत करें या उस राशि के अवधारण के लिए सिद्धान्त निर्धारित करें"। इन दोनों आनुकल्पिक ढंगों का परिणाम लगभग एक सा ही निकलना चाहिए। यदि नियत सिद्धान्तों की सुसंगति का न्यायिक पुनर्विलोकन किया जा सकता है, जैसा कि पूर्वनिर्दिष्ट निर्णयों को देखते हुए होना ही चाहिए, तो हमारी समझ में नहीं आता कि "राशि" का

निर्धारण, जो ली गई सम्पत्ति के बदले में दिया जाने वाला प्रतिकर अवधारित करने का आनुकल्पिक ढंग है, न्यायिक पुनर्विलोकन से कैसे अपवर्जित किया जा सकता है।

अनुच्छेद 31(2) में "नियत" (फिक्स्ड) शब्द यह अर्थ सूचित करता है या स्वयंसिद्ध मान लेता है कि कोई न कोई मानदण्ड या सिद्धान्त होना चाहिए जिसको लागू करने के बाद विधानमण्डल राशि की निश्चित रूप से संगणना करता है या उसे निर्धारित करता है। बायर की लॉ डिक्शनरी (1946) के पृष्ठ 421 पर 'नियत' (फिक्स) शब्द की परिभाषा इस प्रकार की गई है—"निश्चित करना; तय करना। इस आशय के सांविधानिक उपबन्ध से कि अधिकारियों का प्रतिकर महासभा (जनरल असेम्बली) नियत करेगी यह अभिप्रेत है कि वह उस नियम को विहित या नियत करेगी जिसके अनुसार ऐसा प्रतिकर निर्धारित किया जाना है।" [साण्डर कृत शब्द तथा वाक्यांश: कानूनी परिभाषा (वर्ड्स एण्ड फ्रेजेज़ लीगली डिफाइण्ड) जिल्द 2 पृष्ठ 258 (1967) में उद्धृत प्रोसर हेनलियन प्राइवेट लिमिटेड बनाम कोही([1]) भी देखिए]। चूंकि 'नियत' शब्द का यह अर्थ है इसलिए विधानमण्डल के लिए यह आवश्यक होगा कि वह या तो उस विधि में ही नियत कर दे या अन्यथा वे सिद्धान्त बता दे जिनके आधार पर सम्पत्ति के अर्जन या अधिग्रहण के लिए राशि नियत करती है। यदि राशि को निर्धारित करने के पहले ढंग का यह अर्थ लगाया जाता है तो इस ढंग में और दूसरे ढंग में कोई अन्तर नहीं होगा जिसके द्वारा विधानमण्डल सिद्धान्तों को निर्धारित करता है और ऐसे सिद्धान्तों के अनुसार राशि को निर्धारित करने का काम किसी अन्य प्राधिकारी के लिए छोड़ देती है। विधानमण्डल चाहे एक तरीका अपनाए या दूसरा, अनुच्छेद 31(2) की अपेक्षा वही रहेगी अर्थात् यह कि कोई न कोई सिद्धान्त होने चाहिएं जिनके आधार पर वह राशि निर्धारित की जाती है। ऐसी राशि या तो विधानमण्डल द्वारा या विधानमण्डल द्वारा प्राधिकृत किसी अन्य प्राधिकारी द्वारा निर्धारित की जा सकेगी। अनुच्छेद 31(2) के अधिकार की वास्तविकता क्या है यह इस पर निर्भर नहीं है कि विधानमण्डल ने राशि को निर्धारित करने का पहला ढंग अपनाया है या दूसरा। इन दोनों तरीकों में कोई भी आपसी विरोध नहीं है। यह सच है कि दोनों ही तरीकों में न्यायिक पुनर्विलोकन आवश्यक रूप से सीमित है क्योंकि उसका विस्तार इतना नहीं किया जा सकता कि उसके अन्तर्गत नियत या निर्धारित की जाने वाली राशि की पर्याप्तता की परीक्षा भी आ जाए। विरोधी प्रत्यर्थियों की ओर से यह मान लिया गया है कि न्यायालय इस प्रश्न की जांच कर सकता है कि क्या नियत की गई "राशि" अवास्तविक है। इस रियायत से ही प्रकट होता है कि संघ की ओर से पेश की गई दलील कितनी अमान्य (अनटेनेबल) है। यह तय करने के लिए कि नियत "राशि" अवास्तविक है या नहीं किसी के लिए भी पहले यह आवश्यक होगा कि सम्पत्ति का मूल्य अवधारित किया जाए क्योंकि सम्पत्ति का सही मूल्य जाने बिना कोई भी न्यायालय यह नहीं कह सकता है कि नियत "राशि" अवास्तविक है। इसके अतिरिक्त जब अनुच्छेद 31 (2) यह कहता है कि न्यायालय इस बात की जांच नहीं कर सकता कि नियत या निर्धारित "राशि" पर्याप्त है या नहीं, तो उसका अभिप्राय निश्चित रूप से यही है कि देय "राशि" का

([1]) (1945) 70 सी० एल० आर० 100, 128.

निर्धारण, अर्जित या अधिगृहीत सम्पत्ति के मूल्य के अवधारण के लिए सुसंगत सिद्धान्तों के आधार पर किया जाना है। पर्याप्तता का कोई प्रश्न ही नहीं हो सकता, जब तक कि संदेय राशि, कुछ मानदण्डों के अनुसार, न कि मनमाने ढंग से और सम्पत्ति के मूल्य पर ध्यान दिए बिना ही, निर्धारित न कर दी गई हो।

इसके अतिरिक्त, अनुच्छेद 31(2) में सम्पत्ति के अर्जन या अधिग्रहण के लिए राशि नियत करने या निर्धारित करने के लिए उपबन्ध किया गया है। अभी भी राज्य की कार्रवाई को 'अर्जन या अधिग्रहण' (एक्विजिशन आर रिक्विजिशन) कहा गया है, न कि 'अधिहरण' (कॉन्फिसकेशन)। इसलिए जो भी सिद्धान्त राशि को नियत करने या निर्धारित करने के लिए हों, वे 'अर्जन या अधिग्रहण' के साथ, न कि 'अधिहरण' के साथ सुसंगत होने चाहिएं। नियत की गई या निर्धारित राशि से यह नहीं प्रकट होना चाहिए कि यह कार्रवाई अधिहरण की है। राशि को नियत या निर्धारित करने वाले सिद्धान्त, अर्जन या अधिग्रहण के साथ सुसंगत उसी दशा में कहे जा सकते हैं जब कि अर्जित या अधिगृहीत सम्पत्ति के मूल्य के साथ उनका कोई तर्कसंगत सम्बन्ध हो।

इसके अतिरिक्त इस दलील को स्वीकार करने में एक व्यावहारिक कठिनाई यह है कि "राशि" शब्द का प्रयोग जिस प्रसंग में हुआ है उसमें उसका कोई मानदण्ड ही नहीं है। राशि का निर्धारण विधानमण्डलों अर्थात् विधानमण्डल के सदस्यों द्वारा किया जाना है। कुछ प्रकार की सम्पत्तियों के अर्जन के लिए जब कोई विधि अधिनियमित की जाती है तो इसका मतलब यह नहीं है कि विधानमण्डल के सदस्य अर्थात् हर एक सदस्य जो विधि को बनाने में भाग लेता है वह पहले जाएगा और अर्जित की जाने वाली सम्पत्ति का निरीक्षण करेगा और तब उस सम्पत्ति का मूल्य निर्धारित करेगा। इसलिए स्वाभाविक है कि संदेय "राशि" का निर्धारण कुछ सिद्धान्तों के अनुसार ही किया जाना है। यदि ऐसी बात है, जो कि हमें भी स्पष्ट प्रतीत होती है तो यह आवश्यक है कि राशि को अवधारित करने के लिए विधानमण्डल के सामने कुछ सिद्धान्त होने चाहिएं। इस प्रसंग में महाराष्ट्र के महाधिवक्ता ने ऐसी सफाई पेश करने की कोशिश की जो हमें न तो सन्तोषप्रद मालूम होती है और न मानने-योग्य। उनका कहना यह था कि हमारी लोकतन्त्र दलगत प्रणाली (पार्टी सिस्टम) के आधार पर काम करता है। सत्ताधारी दल के पीछे विधानमण्डल के सदस्यों का बहुमत होता है। इसलिए विरोधी दल के सदस्यों को यह मालूम करने की कोई जरूरत ही नहीं है कि अर्जित सम्पत्ति के मूल्य के निर्धारण का आधार क्या है। सत्ताधारी दल के सदस्यों से भी उस आधार के बारे में, जिसके अनुसार मूल्य निर्धारित किया गया है, कहने-सुनने की कोई जरूरत नहीं है। उनके सामने दो ही रास्ते हैं या तो वे कैबिनेट या सम्बद्ध मन्त्री द्वारा निर्धारित राशि को स्वीकार करें या उस प्रस्थापना को नामंजूर करें और फिर उसके परिणाम का सामना करें। यदि सही स्थिति यही है तो हमारी राय में यह संसदीय लोकतन्त्र का निषेध है। सभी सच्चे संसदीय लोकतन्त्रों के समान हमारे लोकतन्त्र का भी आधार वाद-विवाद तथा विचार-विमर्श के सिद्धान्तों पर है। विधानमण्डलों में फैसले यथा सम्भव मतैक्य के आधार पर किए जाते हैं। हमारे संविधान में एकदल के शासन के लिए कोई उपबन्ध नहीं है जहां विरोध के लिए कोई स्थान नहीं होता है। हमारे संविधान के अधीन विरोधी दलों की बहुत महत्त्वपूर्ण भूमिका है। विरोधी दलों के सदस्यों को विधियां बनाने में भाग लेने का

उतना ही अधिकार है जितना सत्ताधारी दल के सदस्यों को इसके अतिरिक्त विद्वान् महाधिवक्ता की यह धारणा सही नहीं है कि सत्ताधारी दल के सदस्यों का काम कार्यपालिका द्वारा प्रायोजित प्रस्थापनाओं का आंख बन्द करके समर्थन करना है। वाद-विवाद तथा विचार-विमर्श द्वारा हर प्रस्थापना को रूप देने का उनका अधिकार ही नहीं बल्कि कर्त्तव्य भी है। यदि अनुच्छेद 31(2) के अधीन "राशि" को नियत करने के प्रश्न को कार्यपालिका का अनन्य कृत्य समझा जाता है, तब न केवल न्यायिक पुनर्विलोकन ही समाप्त हो जाएगा, बल्कि विधानमण्डल को भी नियत "राशि" की शुद्धता या औचित्य की परीक्षा करने का कोई अवसर नहीं मिलेगा। जो शक्ति इतनी मनमानी है उसका ह्रास होते-होते हो सकता है कि वह जल्दी ही उत्पीड़न के साधन में बदल जाए और तब यह सम्भाव्यता है कि उसका उपयोग सहवर्ती प्रयोजनों (कोलेटरल पर्पजेज) के लिए होने लगे। शक्ति का दुरुपयोग कम से कम सम्भव हो, इसके लिए हमारे संविधान में रोकथाम के उपाय (चैक्स एण्ड बैलेंसेस) किए गए हैं। इसमें कोई संदेह नहीं कि महाराष्ट्र के महाधिवक्ता द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त को अपने संविधान की दृष्टि से पूर्णतः विजातीय (फारेन) समझ कर हमारे विधानमण्डल तथा कैबिनेट नामंजूर कर देंगी।

यदि हम इस बात को ध्यान में रखें कि प्रश्नगत "राशि" का संदाय अर्जित सम्पत्ति के बदले में किया जाना है तो इसका यह मतलब है कि ली गई सम्पत्ति के मूल्य के साथ उसका कोई तर्कसंगत सम्बन्ध होना चाहिए। यह हो सकता है कि वह अर्जित सम्पत्ति का बाजार मूल्य न हो। सम्पत्ति का बाजार मूल्य विभिन्न शक्तियों की प्रतिक्रिया से बनता है। हो सकता है कि उसका कोई भी मुनासिब सम्बन्ध उस विनिधान (इन्वेस्टमेण्ट) के साथ न हो जो उसके उत्तरोत्तर स्वामियों द्वारा किया गया है। यह भी हो सकता है कि अर्जित सम्पत्ति का मूल्य सोसाइटी द्वारा किए गए ऐसे विभिन्न योगदानों के कारण बढ़ा हो जैसे प्रश्नगत इलाके में राज्य द्वारा किए गए सुधार या ग्रामीण क्षेत्र का शहरी क्षेत्र में सम्परिवर्तन। निस्संदेह राज्य सम्पत्ति के बाजार मूल्य के उतने भाग का विनियोजन करके अपने पास रख सकता है जितना उस सम्पत्ति के स्वामियों द्वारा किए गए किसी योगदान का फल नहीं है। किसी विशिष्ट मामले में कोई विशिष्ट "राशि" नियत करने के लिए या दी जाने वाली कीमत के अवधारण के लिए एक या अनेक सुसंगत सिद्धान्तों को अपनाने के लिए दूसरे बहुत से सुसंगत आधार हो सकते हैं। इन सब विषयों में विधायी निर्णय इस बात का हकदार है कि उसको ज्यादा वजन दिया जाए। न्यायालय का इस सम्बन्ध में स्पष्ट समाधान कराना व्यथित पक्षकार का काम होगा कि विधानमण्डल द्वारा अपनाए गए आधार का अर्जित सम्पत्ति के मूल्य के साथ कोई तर्कसंगत सम्बन्ध नहीं है या यह कि संदत्त की जाने वाली राशि मनमाने ढंग से नियत की गई है या यह कि वह ली गई सम्पत्ति का अवास्तविक प्रतिदान है। जब तक सम्पत्ति के मूल्य की संगणना करने के लिए अपनाया गया आधार प्रश्नगत अर्जन के साथ सुसंगत है या निर्धारित राशि को किसी और आधार पर न्यायोचित ठहराया जा सकता है, तब तक न्यायालय ऐसी कोई जांच नहीं कर सकता है कि नियत या निर्धारित की जाने वाली राशि पर्याप्त है या नहीं। किन्तु न्यायालय इस बात की जांच अभी भी कर सकता है कि क्या प्रश्नगत राशि मनमाने ढंग से अवधारित की गई है या यह कि क्या वह ली गई सम्पत्ति का अवास्तविक प्रतिदान है। न्यायालय इस बात की भी जांच कर

सकता है कि क्या राशि को अवधारित करने के लिए नियत सिद्धान्त प्रश्नगत अर्जन या अधिग्रहण के साथ असंगत हैं। दूसरे शब्दों से कहा जाए तो संशोधित अनुच्छेद 31(2) के अधीन किए जाने वाले न्यायिक पुनर्विलोकन का क्षेत्र बहुत है। न्यायालय इस प्रश्न की जांच नहीं कर सकता कि जो कुछ दिया गया है या संदेय है वह क्या प्रतिकर है। वह केवल इसी बात की परीक्षा कर सकता है कि प्रश्नगत राशि क्या मनमाने ढंग से नियत की गई है जिससे कि वह बिल्कुल अवास्तविक हो गई है या संदेय "राशि" के अवधारण के प्रयोजन के लिए नियत सिद्धान्तों का क्या अर्जित या अधिगृहीत सम्पत्ति के साथ कोई तर्कसंगत सम्बन्ध है।

यदि संशोधित अनुच्छेद 31(2) का अर्थ उसी प्रकार लगाया जाता है जैसा कि ऊपर बताया गया है, तो यह नहीं कहा जा सकता कि सम्पत्ति का अधिकार विकृत या नष्ट कर दिया गया है। हमारे मतानुसार संशोधित अनुच्छेद 31(2) व्यक्ति के तथा सोसाइटी के हितों का पूरा-पूरा संरक्षण करता है। इसलिए उसकी विधिमान्यता को चुनौती नहीं दी जा सकती।

अब हम अनुच्छेद 31(2ख) पर विचार करेंगे। वह कहता है कि "अनुच्छेद 19 के खण्ड (1) के उपखण्ड (च) की कोई बात किसी ऐसी विधि पर प्रभाव नहीं डालेगी जो खण्ड (2) में निर्दिष्ट है।" इस उपबन्ध के अनुच्छेद 31(2) द्वारा प्रदत्त अधिकार के साथ कोई वास्तविक टक्कर नहीं है। अनुच्छेद 31(2) लोक प्रयोजनों के लिए सम्पत्ति को अनिवार्य रूप से अर्जित या अधिगृहीत करने के लिए राज्य को सशक्त करता है। जब सम्पत्ति लोक प्रयोजन के लिए अर्जित या अधिगृहीत की जाती है तब सम्पत्ति के स्वामी का सम्पत्ति के धारण या व्ययन का अधिकार अवश्य ही समाप्त हो जाता है। इसलिए अनुच्छेद 19(1)(च) तथा अनुच्छेद 31(2) के बीच कोई विपरीतता नहीं है। ऐसा होने के कारण एकमात्र सहायता, जो अर्जित या अधिगृहीत सम्पत्ति के स्वामी को अनुच्छेद 19 के उप-अनुच्छेद (5) के साथ पठित अनुच्छेद 19(1)(च) से प्राप्त हुई होती, वह इस बात पर बल देने का अधिकार मात्र होता कि जो विधि अनुच्छेद 31(2) के, जिस रूप में वह अपने हाल ही के संशोधन के पहले था, अधीन बनाई गई हो, उसको दोनों ही बातों में अर्थात् उसको बेकब्जा करने में तथा उसको देय "राशि" निर्धारित करने में किसी युक्तियुक्त प्रक्रिया का पालन करना होगा। एक प्रकार से इन अधिकारों को नैसर्गिक न्याय के सिद्धान्तों द्वारा दिया गया संरक्षण प्राप्त है।

ऊपर बताए गए कारणों से हम पिटीशनरों की ओर से रखी गई इस दलील को मानने के लिए तैयार नहीं हैं कि पच्चीसवें संशोधन अधिनियम, 1971 की धारा 2 अविधिमान्य है।

इस प्रकार हम पच्चीसवें संशोधन अधिनियम की धारा 3 तक पहुंच गए हैं जो अब संविधान में अनुच्छेद 31ग के रूप में देखी जा सकती है। यह अनुच्छेद, अनुच्छेद 39 के खण्ड (ख) या खण्ड (ग) में उल्लिखित तत्वों को सुनिश्चित करने के लिए राज्य की नीति को प्रभावी बनाने वाली विधि को अधिनियमित करने के लिए ऐसा करते समय अनुच्छेद 14, 19 तथा 31 की पूर्ण रूप से उपेक्षा करते हुए, संसद् तथा स्थानीय विधानमण्डलों को सशक्त करता है। इसके अतिरिक्त वह यह भी निर्धारित

करता है कि यदि प्रश्नगत विधि में यह घोषणा हो कि वह ऐसी नीति को प्रभावी करने के लिए है तो उस पर किसी न्यायालय में इस आधार पर आपत्ति नहीं की जाएगी कि वह ऐसी नीति को प्रभावी नहीं करती है। उस अनुच्छेद का परन्तुक यह विहित करता है कि जहां ऐसी विधि किसी राज्य के विधानमण्डल द्वारा बनाई जाए, वहां अनुच्छेद 31ग के उपबन्ध उसे तब तक लागू न होंगे जब तक कि ऐसी विधि को राष्ट्रपति के विचार के लिए रक्षित किए जाने के पश्चात् उसकी अनुमति न मिल गई हो। इस अनुच्छेद के दो भाग हैं। पहला भाग यह कहता है कि अनुच्छेद 39 के खण्ड (ख) या खण्ड (ग) में उल्लिखित तत्वों को सुनिश्चित करने के लिए राज्य की नीति को प्रभावी करने के लिए संसद् द्वारा तथा स्थानीय विधानमण्डलों द्वारा अधिनियमित विधियां इस आधार पर शून्य न समझी जाएंगी कि वे अनुच्छेद 13 में अन्तर्विष्ट किसी बात के होते हुए भी अनुच्छेद 14, अनुच्छेद 19 और अनुच्छेद 31 द्वारा प्रदत्त अधिकारों में से किसी से असंगत हैं अथवा उसे छीनती या न्यून करती हैं और दूसरा भाग यह उपबन्धित करता है कि जिस विधि में यह घोषणा हो कि वह ऐसी नीति को प्रभावी करने के लिए है, उस पर किसी न्यायालय में इस आधार पर आपत्ति नहीं की जाएगी कि वह ऐसी नीति को प्रभावी नहीं करती। अनुच्छेद 39 के खण्ड (ख) तथा खण्ड (ग) में विधान का कोई विषय विहित नहीं है। उसमें कुछ ऐसे उद्देश्य दिए गए हैं जिनको प्राप्त किया जाना है। उन उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए अपनाए जाने वाले ढंग कितने ही हो सकते हैं। उन खण्डों के अन्दर संघ तथा राज्यों के सामाजिक तथा आर्थिक कार्यों का बहुत बड़ा क्षेत्र आ जाता है। अनुच्छेद 39 का खण्ड (ख) यह कहता है कि राज्य अपनी नीति का ऐसा संचालन करेगा कि सुनिश्चित रूप से समुदाय की भौतिक सम्पत्ति का स्वामित्व और नियंत्रण इस प्रकार बंटा हो कि जिससे सामूहिक हित का सर्वोत्तम रूप से साधन हो और उस अनुच्छेद का खण्ड (ग) यह कहता है कि राज्य अपनी नीति का ऐसा संचालन करेगा कि सुनिश्चित रूप से आर्थिक व्यवस्था इस प्रकार चले कि जिससे धन और उत्पादन-साधनों का सर्वसाधारण के लिए अहितकारी केन्द्रण न हो। इन दो उपबन्धों में एक विशेष राजनीतिक दर्शन प्रतिपादित है। संविधान के कुछ अन्य उपबन्धों के साथ मिल कर यह उपबन्ध राज्य को एक कल्याणकारी राज्य का निर्माण करने का निदेश देते हैं।

निदेशक तत्वों के महत्त्व से कोई इंकार नहीं कर सकता है। मूल अधिकार तथा निदेशक तत्त्व हमारे संविधान का 'अन्तःकरण' हैं। मूल अधिकारों का प्रयोजन समताप्रिय (इगैलिटेरियन) सोसाइटी का निर्माण करना, सोसाइटी के उत्पीड़न या बन्धनों से सब नागरिकों को मुक्त कराना और सबके लिए स्वतंत्रता की उपलब्धि कराना है। निदेशक तत्वों का प्रयोजन कुछ ऐसे सामाजिक और आर्थिक उद्देश्य नियत करना है जो अहिंसात्मक, सामाजिक क्रांति द्वारा तत्काल प्राप्त किए जा सकते हों। ऐसी सामाजिक क्रान्ति द्वारा संविधान साधारणजन की आधारभूत आवश्यकताओं को पूरा करना चाहता है और यह चाहता है कि हमारी सोसाइटी की रचना बदल दे। उसका उद्देश्य भारतीय जनता को निश्चित अर्थों में मुक्त कराना है।

संविधान का भाग 4 उस सामाजिक तथा आर्थिक क्रान्ति को लाने के लिए बनाया गया था जिसकी पूर्ति स्वतंत्रता के बाद ही होने को थी। संविधान का उद्देश्य

कुछ स्वतन्त्रताओं की गारण्टी केवल थोड़े से नागरिकों को ही नहीं बल्कि सब नागरिकों को देना है। संविधान में हमारी सोसाइटी की कल्पना उसके सम्पूर्ण रूप में की गई है और उसमें विचार इस बात का रखा गया है कि सोसाइटी का हर सदस्य प्रत्याभूत स्वतन्त्रताओं में भाग ले। भाग 4 की उपेक्षा करने का मतलब है संविधान में उपबन्धित शक्ति, राष्ट्र को दिखाई गई आशाओं तथा उन आदर्शों की उपेक्षा करना है जिन पर हमारे संविधान का निर्माण किया गया है। निदेशक तत्वों का निष्ठापूर्वक अनुपालन किए बिना संविधान में परिकल्पित कल्याणकारी राज्य की प्राप्ति असम्भव है। निर्धनता तथा अज्ञान में डूबी हुई हमारी जैसी सोसाइटी इस देश के हर नागरिक की न्यूनतम आर्थिक आवश्यकताओं को पूरा किए बिना मानव अधिकारों का फायदा नहीं प्राप्त कर सकती। किसी भी सरकार के लिए, जो संविधान के अधीन की गई प्रतिज्ञा को पूरा नहीं करती है, यह नहीं कहा जा सकता है कि उसने संविधान के प्रति तथा उसकी प्रतिबद्धताओं के प्रति निष्ठापूर्ण व्यवहार किया है।

इसी प्रकार लोकतन्त्र के सामने उपस्थित उस खतरे की उपेक्षा नहीं की जा सकती है जो कर्तव्यों पर अत्यधिक बल देने के कारण उपस्थित है। नाजी जर्मनी में भोगी गई दारुण विपत्ति के अपने अनुभव से एक जर्मन मनीषी, कुर्ट रेजलर ने यह चेतावनी दी है—

> "यदि ऐसा समझा जाए कि ····मनुष्य के ये कर्तव्य 'सोसाइटी' के 'लोक कल्याण' तथा 'राज्य' के प्रति कर्तव्य हैं और अधिकारों के साथ यह शर्त लगी हो कि उनकी प्राप्ति तभी हो सकेगी जब ये कर्तव्य पूरे हो गए हों तो यह कर्तव्य अधिकारों का समूल विनाश कर देंगे। अधिकार समाप्त हो जाएंगे और राज्य पूरे न किए गए कर्तव्यों का प्रयोग अधिकारों पर झाड़ू फेरने के लिए कर सकेगा। किसी भी अधिकार-पत्र (बिल ऑफ राइट्स) को जिसने अधिकारों के साथ सोसाइटी या राज्य के प्रति कर्तव्यों को शर्त के रूप में जोड़ रखा हो, चाहे फिर उसमें मानव की गरिमा, स्वतन्त्रता, भगवान या किसी भी अन्य विषय पर कितना ही बल क्यों न दिया गया हो, कोई तानाशाह नेता स्वीकार कर लेगा। वह अधिकारों की उपेक्षा करता जाएगा और कर्तव्यों को मनवाता जाएगा।

वास्तव में व्यक्तिगत अधिकारों तथा सामाजिक आवश्यकताओं के बीच का संतुलन बहुत ही नाजुक है। यह प्रथमतः "राज्य" की और अन्त में संविधान तथा विधियों के निर्वचनकर्ता की हैसियत से न्यायालयों की जिम्मेदारी है।

हमारे पूर्वजों का, जिन्होंने संविधान की बुनियाद डाली थी, इस सम्बन्ध में समाधान हो गया था कि मूल अधिकारों तथा निदेशक तत्वों के बीच कोई विपरीतता नहीं है। एक दूसरे का अनुपूरक है। निदेशक तत्वों में वे उद्देश्य निर्धारित किए गए हैं जिनकी पूर्ति होना है और भाग 3 में वे सिद्धान्त विहित किए गए हैं जिनके द्वारा उस उद्देश्य की पूर्ति की जानी है। हमारा संविधान इस सिद्धान्त को नहीं मानता है कि जिन साधनों को अपनाने से उद्देश्यों की पूर्ति हो वही सिद्धान्त उचित है। पिटीशनरों के काउन्सेल ने कहा है कि निदेशक तत्वों को पूरा करने में हमारी असफलता का कारण मूल अधिकार नहीं है। उनके अनुसार यह संविधान नहीं है जिसने हमारा साथ नहीं दिया है बल्कि हम ही

हैं जो इतनी उन्नति नहीं कर सके हैं जितनी हमसे आशा थी। उन्होंने इस बात पर बल दिया कि मूल अधिकारों पर प्रहार का तो मात्र बहाना है और जो लोग निदेशों का पालन करने में असमर्थ रहे हैं या जो निदेशों का पालन करने पर रजामन्द नहीं थे उनके द्वारा बलि का बकरा ढूंढने का प्रयास है। संघ तथा राज्यों की ओर से इन आरोपों का खण्डन किया गया है। उनकी ओर से यह कहा गया है कि जो निर्वचन संविधान के भाग 3 के कुछ अनुच्छेदों का न्यायालयों ने किया है उसके कारण निदेशक तत्वों का पालन करने में राज्यों के रास्ते में बाधाएं उपस्थित हो गई हैं। इस वाद-विवाद का निर्णय न्यायालयों द्वारा नहीं किया जा सकता।

इसमें कोई संदेह नहीं कि अनुच्छेद 31ग के अधीन प्रदान की गई शक्ति का मतलब यदि उसी प्रकार लगाया जाए जैसा कि संघ तथा राज्यों की ओर से कहा गया है तो इसके परिणामस्वरूप समता के अधिकार, अनुच्छेद 19 के अधीन प्रत्याभूत सात स्वतन्त्रताओं के अधिकार तथा उस व्यक्ति द्वारा, जिसकी सम्पत्ति लोक प्रयोजन के लिए ली गई है, कुछ तर्कसंगत प्रतिदान पाने का अधिकार बिल्कुल खोखला रह जाएगा। अनुच्छेद 31क की बात और है, अनुच्छेद 31ग तो कुछ विशिष्ट विषयों तक ही सीमित नहीं है। उसके अन्तर्गत मानव कार्यों का बहुत बड़ा भाग आ गया है। उसके द्वारा प्रदान की गई शक्ति मनमानी शक्ति है। उसका उपयोग सहवर्ती प्रयोजनों के लिए किया जा सकता है। उसका उपयोग वाक् स्वातन्त्र्य की, शान्तिपूर्वक सम्मेलन की, भारत में सर्वत्र अबाध संचरण की, भारत के किसी भाग में निवास करने और बस जाने की, सम्पत्ति के अर्जन, धारण और व्ययन की, कोई भी वृत्ति, उपजीविका या व्यापार करने की स्वतन्त्रता का गला घोटने के लिए किया जा सकता है। इस उपबन्ध के अधीन प्रदत्त शक्ति सामान्य शक्ति है। विधानमण्डल का छोटा से छोटा बहुमत भी लोकतन्त्र को बिगाड़ देने, यहां तक कि नष्ट कर देने के लिए, उस शक्ति का उपयोग कर सकता है। उस शक्ति का उपयोग इस देश की एकता तथा अखंडता को निर्बल बनाने के लिए भी किया जा सकता है। इस अनुच्छेद को हमारे संविधान के साथ कोई मेल नहीं है। उसके निहितार्थ (इम्पलीकेशन्स) बहुत से हैं। पिटीशनरों की इस दलील में बल है कि यह अनुच्छेद इतना खतरनाक है कि यह हमारे संविधान की जड़ें भी हिला सकता है।

अनुच्छेद 31ग द्वारा प्रदत्त शक्ति का स्वरूप क्या है? दावा यह किया जाता है कि संविधान के अधीन प्रत्याभूत अधिकार या अधिरोपित कर्तव्य को प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से साधारण विधि द्वारा छीन लेने की शक्ति, संविधान को भी, उसी सीमा तक निराकृत करने की शक्ति है। यदि साधारण विधायी प्रक्रिया द्वारा संविधान संशोधित करने के लिए विधानमण्डल को सशक्त किया जाता है तो उसके द्वारा अधिनियमित किसी विधि का प्रभाव, चाहे उसका अभिप्राय संविधान का संशोधन करना न हो फिर भी यदि वह संविधान के एक या एक से अधिक उपबन्धों के साथ असंगत हो तो इस असंगतता की सीमा तक संविधान का निराकरण हो सकता है। यह बात मैक्कॉले बनाम किंग[1] में जुडीसियल कमेटी के निर्णय से स्पष्ट हो गई है। दूसरे शब्दों में, इस अनुच्छेद द्वारा प्रदत्त शक्ति, ऐसे विधान अधिनियमित करने के साथ-साथ जो अनुच्छेद की परिधि में आते हों संविधान का कुछ आवश्यक बातों में संशोधन करने की भी शक्ति है। यह शक्ति,

(1) 1920 ए० सी० 691.

अनुच्छेद 14, 19 और 31 के अधीन प्रत्याभूत अधिकारों को, साधारण विधि द्वारा, न केवल न्यून करने की बल्कि उन्हें छीन लेने की भी शक्ति है। इसके अतिरिक्त यह शक्ति न केवल संसद् को बल्कि राज्य विधानमण्डलों को भी प्रदान की गई है।

अनुच्छेद 368 में इस बात का उपबन्ध विनिर्दिष्ट रूप से किया गया है कि संविधान का संशोधन केवल उसी रीति में किया जा सकता है जो उसमें उपबन्धित है। यह सच है कि संविधान में ऐसे उपबन्ध हैं जिनके अधीन संसद् संविधान के कुछ अंशों को साधारण विधि द्वारा संशोधित कर सकती है—देखिए अनुच्छेद 2 से 4 तक, अनुच्छेद 169, अनुसूची 5 का पैरा 7 तथा अनुसूची 6 का पैरा 21। किन्तु इन उपबन्धों में यह बात साफ तौर पर बता दी गई है कि इनके अधीन अधिनियमित विधियां "अनुच्छेद 368 के प्रयोजनों के लिए इस संविधान का संशोधन नहीं समझी जाएंगी।" संविधान में कुछ ऐसे अन्तरकालीन उपबन्ध भी हैं जिनको संसद् विधि द्वारा बदल सकती है। अनुच्छेद 31क को, जो सबसे पहले प्रथम संशोधन अधिनियम, 1951 द्वारा पुरःस्थापित किया गया था, यदि अलग से विचार करने के लिए छोड़ दिया जाए तो अनुच्छेद 31(4) के अतिरिक्त संविधान में कोई भी ऐसा उपबन्ध नहीं है जो भाग 3 के एक या अनेक उपबन्धों का अतिलंघन करने वाली विधियां अधिनियमित करने के लिए राज्य विधानमण्डलों को अनुज्ञात करता हो। अनुच्छेद 31(4) उन विधानों के सम्बन्ध में है जो संविधान के प्रवृत्त होने के समय राज्य विधानमण्डलों के सामने विचाराधीन थे। उनके विस्तार कहां तक है इस बात से संविधान के निर्माता परिचित थे। यह उपबन्ध कुछ जिमींदारी उन्मूलन विधियों को, जो बिलकुल तैयारी की हालत में थीं, संरक्षण प्रदान करने के लिए अधिनियमित किया गया था। किन्तु यह बात याद रखने की है कि संविधान के मूल उपबन्धों पर अनुच्छेद 368 का कोई नियंत्रण नहीं था। यह अनुच्छेद संविधान का बनाया हुआ उतना ही है जितना दूसरे अनुच्छेद। अनुच्छेद 368 में विहित प्ररूप तथा रीति वही नहीं थी जो संविधान सभा के संचालन को लागू हो। अनुच्छेद 368 में दिए गए आदेश केवल उन संशोधनों को लागू हैं जो संविधान में किए जाते हैं। संविधान को संशोधित करने की शक्ति अनन्य रूप से संसद् को दी गई थी, न कि किसी अन्य संस्था को। उस शक्ति का प्रयोग करने की रीति स्पष्ट रूप से विहित है। अनुच्छेद 31ग अपनी परिधि के अन्दर आने वाली विधियों के अधिनियमन द्वारा संविधान को उसी सीमा तक संशोधित करने के लिए राज्य विधानमण्डल तथा संसद् को जो शक्ति देता है वह बड़ी व्यापक है। दूसरे शब्दों में कहा जाए तो गणपूर्ति (कोरम) सम्बन्धी नियम यदि भंग न हो रहा हो तो अनुच्छेद 31ग उपस्थित तथा मतदान करने वाले सदस्यों के साधारण बहुमत से संविधान भंग करने वाली विधियां अधिनियमित करने के लिए राज्य विधानमण्डल तथा संसद् को अनुज्ञात करता है।

यह नहीं कहा जा सकता कि अनुच्छेद 31ग उसी प्रकार का है जैसे अनुच्छेद 4, अनुच्छेद 169, अनुसूची 5 का पैरा 7 तथा अनुसूची 6 का पैरा 21 है। इन अनुच्छेदों में से हर एक में यह बात स्पष्ट कर दी गई है कि इन अनुच्छेदों के अधीन पारित विधियों को अनुच्छेद 368 के प्रयोजन के लिए संविधान का संशोधन नहीं समझा जाना है। इन विधियों से संविधान की आधारभूत विशेषताएं प्रभावित नहीं हो सकती हैं। इनके प्रवर्तन का क्षेत्र बहुत संकीर्ण है।

महाराष्ट्र के विद्वान् महाधिवक्ता ने यह कहा कि अनुच्छेद 31ग ने वह रोक उठा ली है जो अनुच्छेद 14, 19 और 31 के अधीन राज्य विधानमण्डलों और संसद् पर लगाई गई थी। यह सच है कि संविधान में बहुत से ऐसे उपबन्ध हैं जो संविधान के एक न एक अनुच्छेद द्वारा राज्य विधानमण्डलों की तथा संसद् की विधायी शक्ति पर लगाई गई रोक को हटाते हैं, उदाहरण के लिए, अनुच्छेद 15(4), 16(3), 16(4), 16(5), 19(2) से 19(6), 22(3), 22(6), 23(2), 28(2), 31(4) 31(6) आदि। इनमें से हर एक अनुच्छेद, विधानमण्डलों की विधायी शक्ति पर संविधान के एक न एक उपबन्ध द्वारा, विशिष्टतः उन उपबन्धों द्वारा, जो भाग 3 में हैं, लगाई गई रोक हटाते हैं। किन्तु इस बन्धन को इस प्रकार हटाते समय अधिनियमित विधि तथा अनुच्छेद 13 के बीच किसी प्रकार की टक्कर नहीं होती है। ऐसी दशा में, यह उपबन्ध करने का अवसर कहां है कि अनुच्छेद 13 में अन्तर्विष्ट किसी बात के होते हुए भी अधिनियमित विधि को शून्य नहीं समझा जाएगा। पहले ही उपवर्णित उपबन्धों के अधीन बनाई गई विधियां अपनी प्रकृति से ही ऐसी हैं कि वे संविधान से उसकी किसी भी मौलिक विशेषता को छीन नहीं सकती हैं। उनमें से किसी न किसी का उपान्तरण मात्र कर सकती हैं। अनुच्छेद 31ग बना ही इस आधार पर है कि इस अनुच्छेद के अधीन अधिनियमित विधियों की अनुच्छेद 13 के साथ टक्कर है और वे प्रथम दृष्टया शून्य हैं। अन्यथा उस अनुच्छेद में यह उपबन्ध करने का कोई प्रयोजन नहीं था कि "अनुच्छेद 13 में किसी बात के होते हुए भी, कोई विधि, जो अनुच्छेद 39 के खण्ड (ख) या खण्ड (ग) में उल्लिखित तत्वों को सुनिश्चित करने के लिए राज्य की नीति को प्रभावी करने वाली हो, इस आधार पर शून्य न समझी जाएगी कि वह अनुच्छेद 14, अनुच्छेद 19 या अनुच्छेद 31 द्वारा प्रदत्त अधिकारों में से किसी से असंगत है अथवा उसे छीनती या न्यून करती है.........." अतः यह दलील स्वीकार नहीं की जा सकती है कि अनुच्छेद 14, 19 तथा 31 द्वारा संघ तथा राज्यों की विधायी शक्ति पर अधिरोपित परिसीमाएं वहां तक हटा ली गई हैं जहां तक कि अनुच्छेद 31ग में उपबन्धित है।

यह सच है कि अनुच्छेद 31क के अधीन तथा अनुच्छेद 31ग के अधीन बनाई गई विधियों में कोई न कोई बातें ऐसी हैं जो मिलती-जुलती हैं। पश्चात्कथित अनुच्छेद का विस्तार, पूर्वकथित अनुच्छेद के विस्तार से कहीं अधिक बड़ा है। इन दोनों अनुच्छेदों के अधीन बनाई गई विधियों की प्रकृति कुछ-कुछ मिलती-जुलती है। एक दलील यह दी गई कि यदि अनुच्छेद 31क के अधीन बनाई गई विधियां,...अनुच्छेद 14, 19 तथा 31 के अधीन प्रदत्त अधिकारों को छीन लेने या न्यून करने पर भी, विधिमान्य हैं तो अनुच्छेद 31ग के अधीन बनाई गई विधियां भी इसी कारण विधिमान्य समझी जानी चाहिएं। एक दलील यह दी गई कि अब जब कि इस न्यायालय ने अनुच्छेद 31क की विधिमान्यता की पुष्टि कर दी है, हमें चाहिए कि हम अनुच्छेद 31ग की विधिमान्यता की भी पुष्टि करें। इस प्रसंग में, लैसर बनाम गारनेट([1]) में युनाइटेड स्टेट्स के सुप्रीम कोर्ट के न्यायाधिपति ब्रैण्डीज के निम्नलिखित मत का आश्रय लिया गया—

> "अपनी प्रकृति तथा भाषा की दृष्टि से यह संशोधन (उन्नीसवां संशोधन) ठीक वैसा ही है जैसा कि पन्द्रहवां संशोधन। उनमें से हर एक के लिए अंगीकरण

([1]) 66 लायर्स एडीशन 595(511)=258 यू० एस० 13.

की उसी पद्धति का अनुसरण किया गया था। ऐसा नहीं हो सकता कि एक विधिमान्य तथा दूसरा अविधिमान्य। यह बात कि पन्द्रहवां संशोधन विधिमान्य है आधी शताब्दी पहले से मानी जाती रही है और उसके अनुसार व्यवहार किया जाता रहा है। यह सुझाव नहीं माना जा सकता कि पन्द्रहवां संशोधन का संविधान में समावेश, विधि के अनुसार नहीं बल्कि वस्तुत: ऐसे युद्धोपाय के रूप में किया गया था जिसका विधिमान्यकरण उपमति द्वारा किया गया है।"

इन उद्धरणों में विधि का कोई सिद्धान्त नहीं प्रतिपादित किया गया है। उन्नीसवें संशोधन की विधिमान्यता की पुष्टि अनेक आधारों पर की गई थी, न कि केवल इस आधार पर कि पन्द्रहवें संशोधन को पुष्टि पहले हो चुकी थी।

अनुच्छेद 31क के अधीन अधिनियमित विधियां, अपने स्वभाव से ही, उन अधिकारों को निराकरण नहीं कर सकती हैं जो अनुच्छेद 14, 19 और 31 में समाविष्ट हैं। ये विधियां अनुच्छेद 14, 19 और 31 के अधीन प्रत्याभूत अधिकारों का केवल उतना ही अतिक्रमण कर सकती हैं जितना कि उन्हें प्रभावी बनाने के लिए आवश्यक है। इसके लिए आवश्यक यह है कि जो विधियां बनाई जाएं वे वही होनी चाहिएं जो अनुच्छेद 31क में वर्णित विधान के विषयों के अधीन बनाई गई हों। इसलिए अनुच्छेद 14, 19, और 31 के अधीन प्रत्याभूत अधिकारों का अतिक्रमण अवश्य ही प्रासंगिक होगा। यदि यह पता चले की अतिक्रमण बहुत अत्यधिक है, तो इसे अवैध घोषित किया जा सकता है। इस प्रसंग में, अकादसी पधान बनाम उड़ीसा राज्य ([1]) में इस न्यायालय के विनिश्चय के प्रति निर्देश करना उपयोगी हो सकता है। उसमें अनुच्छेद 19(6)(ii) के अधीन अधिनियमित एक कानून अर्थात् केन्दु पत्तियों में राज्य के एकाधिकार के लिए उपबन्ध करने वाली विधि के एक उपबन्ध की विधिमान्यता पर विचार किया जाना था। न्यायालय के सामने विनिश्चय के लिए जो प्रश्न प्रस्तुत किया गया वह यह था कि क्या वह विधि अनुच्छेद 19(1)(छ) के अधीन प्रत्याभूत अधिकार का अनुचित रूप से अतिक्रमण कर सकती है। न्यायालय की ओर से निर्णय सुनाते हुए न्यायाधिपति गजेन्द्रगडकर (जैसे कि वे तब थे) ने इस प्रश्न का उत्तर इस प्रकार दिया—

"राज्य के एकाधिकार 'से सम्बद्ध विधि' उक्त विधि में सम्मिलित सभी उपबन्धों को चाहे एकाधिकार के सृजन के साथ उनका प्रत्यक्ष सम्बन्ध हो या न हो, प्रसंग से अपने में शामिल नहीं कर सकती है। हमारी राय में उक्त अभिव्यक्ति का अर्थान्वयन एकाधिकार के आवश्यक लक्षणों से सम्बन्ध रखने वाली एकाधिकार विषयक् विधि के रूप में किया जाना चाहिए। यदि राज्य के एकाधिकार की सृष्टि करने वाली कोई विधि पारित की जाती है तो न्यायालय को इस बात की जांच करनी चाहिए कि उक्त विधि के कौन-कौन से उपबन्ध ऐसे हैं जो राज्य के एकाधिकार की सृष्टि करने के लिए आधारभूत तथा आवश्यक हैं। केवल उन्हीं आवश्यक तथा आधारभूत उपबन्धों को ही अनुच्छेद 19(6) के पश्चात्वर्ती अंश द्वारा संरक्षण प्रदान किया गया है। यदि उस अधिनियम द्वारा बनाए गए अन्य

([1]) (1963) सप्लीमेण्ट 2 एस० सी० आर० 691.

उपबन्ध इस प्रकार के हों कि वे एकाधिकार के संचालन की दृष्टि से गौण, प्रासंगिक या सहायक हों तो वे उक्त अंश के अंतर्गत नहीं आएंगे और उनकी विधिमान्यता के सम्बन्ध में विचार अनुच्छेद 19(6) के पहले वाले अंश के अधीन किया जाना चाहिए। दूसरे शब्दों में, अनुच्छेद 19(6) में किए गए संशोधन का प्रभाव एकाधिकार के सृजन से सम्बद्ध विधि को संरक्षण प्रदान करना है। इसका अर्थ यह है कि उसी विधि के उपबन्धों को जो आधारभूत तथा आवश्यक रूप से एकाधिकार के सृजन से सम्बद्ध हैं संरक्षण प्रदान किया गया है। शेष उपबन्ध, जो प्रासंगिक हो सकते हैं, अनुच्छेद 19(6) के पश्चात्वर्ती अंश के अधीन नहीं आते हैं, इसलिए उनकी अनिवार्य रूप से अनुच्छेद 19(6) के पश्चात्वर्ती अंश के अधीन नहीं आते हैं, इसलिए उनको अनिवार्य रूप से अनुच्छेद 19(6) के पहले अंश की कसौटी पर खरा उतरना होगा।"

बैंक नेशनलाइजेशन वाले मामले में पूर्ण न्यायपीठ ने यही सिद्धान्त प्रतिपादित किया था।

बहुत पहले सन् 1951 की बात है जब कि इस न्यायालय ने मुम्बई राज्य और एक अन्य बनाम एफ० एन० बलसारा ([1]) में यह अभिनिर्धारित किया था कि केवल इसलिए कि विधि का अधिनियमन किसी निदेशक तत्व का पालन करने के लिए किया गया था, यह नहीं हो सकता कि वह बिना रोक-टोक मूल अधिकारों का अतिक्रमण करे। एकादसी पथान वाले मामले ([2]) का निर्णयाधार अनुच्छेद 31क के अधीन बनाई गई उन विधियों के सम्बन्ध में भी समान रूप से लागू होगा, जिसमें उल्लेख उसी में वर्णित विषयों "के लिए उपबन्ध करने वाली विधियों" का किया गया है। किन्तु उस निर्णयाधार को उस दशा में प्रभावी रूप में लागू नहीं किया जा सकता है जब हम अनुच्छेद 31ग के अधीन बनाई गई विधियों पर विचार करते हैं। अनुच्छेद 31ग का विस्तार बहुत व्यापक है। उस अनुच्छेद की स्कीम में कोई भी आर्थिक या सामाजिक विधान फिट हो सकता है। इसके अतिरिक्त, न्यायालय इस बाबत भी जांच नहीं कर सकते हैं कि बनाई गई विधियां अनुच्छेद 39(ख) तथा (ग) में उपवर्णित नीति को प्रभावी बनाती हैं या नहीं। संघ तथा राज्यों की ओर से हमें यह बताया गया है कि न्यायालय यह देख सकते हैं कि अनुच्छेद 31ग तथा अनुच्छेद 39(ख) और (ग) के अधीन बनाई गई विधियों के बीच परस्पर जोड़ने वाला कोई सम्बन्ध (नेक्सस) है या नहीं और जिस बात की जांच करने से न्यायालयों को अपवर्जित किया गया है, वह आशयित प्रयोजन की प्राप्ति में विधि की प्रभावशीलता है। किन्तु ऐसी शक्ति अपनी प्रकृति से ही बहुत क्षीण (टेनुअस) है। शायद ही कोई ऐसी विधि हो जिसके सम्बन्ध में यह अभिनिर्धारित किया जा सके कि अनुच्छेद 38(ख) और (ग) के साथ उसको परस्पर जोड़ने वाला कोई सम्बन्ध नहीं है। कुछ भी हो, अधिकांश विधियों को ऐसा रूप दिया जा सकता है जिससे यह प्रकट हो कि अनुच्छेद 39 (ख) और (ग) में उल्लिखित उद्देश्यों को प्राप्त करना ही उनका लक्ष्य है। एक बार यह दिखावा कर दिया जाए तो उसके बाद बनाई गई विधियां हमारे संविधान

([1]) (1951) एस० सी० आर० 682.

([2]) (1963) सप्लीमेण्ट 2 एस० सी० आर० 691, 707.

को जड़ से ही नष्ट कर सकती हैं। मूल्यवान सांविधानिक प्रत्याभूतियों को अतिक्रमण सामान्यतः इस प्रकार आरम्भ होता है कि पता नहीं चलता। उसका प्रारम्भ अच्छे इरादे से ही किया जाता है, किन्तु यह प्रयास जब एक बार सफल हो जाता है तो और अधिक अतिक्रमण प्रायः होते ही रहते हैं वह भी बुरे इरादे से नहीं बल्कि हो सकता है कि अपनाए गए रास्ते की तथा प्राप्त किए जाने के लिए आशयित उद्देश्यों के औचित्य के सम्बन्ध में पक्का विश्वास हो जाने पर ही किए गए हैं, फिर भी हो सकता है कि वे पूर्ण रूप से असांविधानिक हों। प्रोप्राइटरि आर्टिकल्स ट्रेडर्स एसोसिएशन और कुछ अन्य बनाम अटर्नी जनरल फॉर कनाडा और कुछ अन्य (1) में लार्ड एटकिन ने अपना मत इस प्रकार व्यक्त किया है —

> "यह ऐक्ट और ये धाराएं दोनों का ही विधायी इतिहास ऐसा है जो इस चर्चा के साथ सुसंगत है। माननीय न्यायाधिपतियों को इसमें कोई संदेह नहीं है कि जिस ऐक्ट के बारे में चुनौती दिए जाने पर पता चलता है कि वह अधिकारातीत (अल्ट्रावायरस) है वह ऐक्ट केवल समय बीतने से ही विधिमान्य नहीं हो जाएगा और न इस सीमा का अन्तिम अतिक्रमण किए जाने तक इस सीमा की ओर धीरे-धीरे बढ़ते रहने का इतिहास ही अन्तिम अतिक्रमण को रोकने में कुछ काम आएगा।"

लार्ड एटकिन का यह कहना कि "न इस सीमा का अन्तिम अतिक्रमण किए जाने तक इस सीमा की ओर धीरे-धीरे बढ़ते रहने का इतिहास ही अन्तिम अतिक्रमण को रोकने में कुछ काम आएगा" हमारे वर्तमान प्रयोजन के लिए अत्यन्त उपयुक्त है। पहले संशोधन अधिनियम ने एक विधि के सम्बन्ध में संविधान भंग करने वाली विधियों के अधिनियमन की इजाजत दी; चतुर्थ संशोधन अधिनियम ने उस क्षेत्र का विस्तार किया और पांच विषयों पर अनुच्छेद 14, 19, तथा 31 की उपेक्षा करते हुए विधियां बनाने की इजाजत विधानमण्डलों को दी। अब पच्चीसवें संशोधन अधिनियम ने अन्त में वह सीमा भी तोड़ दी।

यह नहीं कहा जा सकता कि अनुच्छेद 31ग के अधीन संसद् ने राज्य विधानमण्डलों को अपनी संशोधन शक्ति ही प्रत्यायोजित की है और ऐसा प्रत्यायोजन विधिमान्य है। अनुच्छेद 368 के अधीन संसद् को प्रदान की गई शक्ति की प्रकृति ही ऐसी है कि वह प्रत्यायोजित नहीं की जा सकती है। यह एक विशेष शक्ति है जिसका प्रयोग संसद् द्वारा अनन्य रूप से और वह भी ऐसी रीति में किया जाता है, जो अनुच्छेद 368 में विहित है। राज्य विधानमण्डल ऐसी संस्था नहीं है जो संसद् के अधीनस्थ हो। संसद् और राज्य विधानमण्डल दोनों ही अपने क्षेत्रों में प्रभुत्वसम्पन्न हैं। संसद् अपनी विधायी शक्तियां तक—संशोधन की शक्ति का तो कहना ही क्या है—राज्य विधानमण्डलों को प्रत्यायोजित नहीं कर सकती है। यह प्रश्न कि क्या विधानमण्डल अपनी विधायी शक्तियों का प्रयोग करने की शक्ति, किसी अन्य स्वतन्त्र विधायी निकाय को दे सकते हैं, इनिशिएटिव एण्ड रेफरेण्डम ऐक्ट वाले मामले (2) में जुडिशियल कमेटी के सामने

(1) (1931) ए० सी० 310, 317.

(2) (1919) ए० सी० 935, 945.

विचारार्थ उपस्थित हुआ था। उसमें वाइकाउण्ट हालडेन ने बोर्ड की तरफ से अपना निर्णय सुनाते हुए इस प्रकार कहा था—

> "1887 के ऐक्ट (ब्रिटिश नार्थ अमेरीकन ऐक्ट) की धारा 92 किसी प्रान्त में विधायी शक्ति उसके विधानमण्डल को और केवल उसके विधानमण्डल को ही सौंपती है। इसमें संदेह नहीं कि जिस निकाय के पास अपने को सौंपे गए विषयों पर इतनी व्यापक शक्ति हो जितनी कनाडा में प्रान्तीय विधानमण्डल को है, वह अपनी हैसियत में कोई भी कमी किए बिना अधीनस्थ निकायों (एजेन्सी) की सहायता ले सकता है, जैसा कि हॉज बनाम क्वीन(1) में कहा गया है, जिसमें यह अभिनिर्धारित किया गया था कि ओण्टेरियो के विधानमण्डल को टावनर्स की बाबत विनियम अधिनियमित करने का प्राधिकार बोर्ड ऑफ कमिश्नर्स को सौंपने का हक है, किन्तु इससे यह मतलब नहीं निकलता है कि वह विधानमण्डल विधान बनाने वाली कोई नई शक्ति जिसका सृजन उस ऐक्ट द्वारा, जिस पर वह अपने अस्तित्व के लिए निर्भर है, न किया गया हो, स्वयं अपनी सामर्थ्य से पैदा कर सकती है और उसको विन्यस्त कर सकती है। माननीय न्यायाधिपतियों ने इससे अधिक कुछ नहीं किया है कि उन्होंने इस प्रकार उठने वाले सांविधानिक प्रश्नों के महत्व की ओर ध्यान आकर्षित किया है।"

क्वीन बनाम बुराह (2) वाले मामले में जुडिशियल कमेटी ने अपना मत इस प्रकार व्यक्त किया—

> "माननीय न्यायाधिपति इस बात पर सहमत हैं कि सपरिषद् गवर्नर जनरल विधि बनाने वाली कोई नई शक्ति जिसका सृजन या प्राधिकरण काउन्सेल ऐक्ट द्वारा न किया गया हो, किसी भी प्रकार के अधिनियमन से भारत में न तो पैदा कर सकता है और न उसे सामान्य विधायी प्राधिकार दे सकता है।"

हम इन कथनों के साथ सादर सहमत हैं। इन उद्धरणों से यह अर्थ निकलता है कि नई शक्ति (संविधान के कुछ उपबन्धों की उपेक्षा करने की शक्ति) का सृजन करने के लिए और राज्य विधानमण्डलों को वह शक्ति प्रदान करने के लिए संसद् सक्षम नहीं थी। यह शक्ति अनन्य रूप से संसद् को प्रदान की गई थी जिससे देश की एकता और अखण्डता तुच्छ प्रवृत्तियों के कारण किसी जोखिम में न पड़ जाए। स्पष्ट है कि संविधान बनाने वालों की यह राय थी कि देश का प्रभुत्व, राज्य-तंत्र का लोकसत्तात्मक स्वरूप तथा व्यक्तिगत स्वतंत्रताएं भली प्रकार सुरक्षित तब रह सकेंगी जब संशोधन की शक्ति अनन्य रूप से संसद् के हाथ में रहने दी जाए। संशोधन की शक्ति का संसद् को अनन्य रूप से प्रदान किया जाना संविधान की एक आधारभूत विशेषता है और इसका अतिक्रमण प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष किसी भी रूप से नहीं किया जा सकता है। अनुच्छेद 31क ने इस विशेषता पर छोटी सी चोट लगाई और जिसकी ओर ध्यान नहीं दिया गया। उस उपबन्ध को अब निर्णीतानुसरण के सिद्धान्त (प्रिन्सिपल ऑफ स्टेयर डेसाइसिस) का संरक्षण प्राप्त है। यदि हम इन विनिश्चयों को उलट दें और वह संरक्षण छीन लें जो बहुत से कानूनों को दिया जा चुका है तो लोकहित की हानि होगी।

---

(1) (1883) 9 ए० सी० 117.

(2) (1878) 3 ए० सी० 905.

प्रोप्राइटरि आर्टिकल्स ट्रेडर्स एसोसिएशन वाले मामले(1) में लार्ड एटकिन के शब्दों में, अब तो 'हद-बन्दी की रेखा लांघी जा चुकी है' और संविधान की आधारभूत संकल्पनाओं के सामने ही चुनौती खड़ी है। इसलिए पिछले मामले में प्रश्नों की जो उपेक्षा की गई है, तथा उनसे बचने का जो प्रयत्न किया गया है, उसे अच्छी दलील के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। क्वीन बनाम किरबी और कुछ अन्य (2) में मुख्य न्यायाधिपति डिक्सन ने अपना मत इस प्रकार प्रकट किया—

"इन मामलों से और शायद कुछ और उदाहरण भी उन सामान्य धारणाओं का महत्व जो समय की गति से, पुराने मामलों में प्रश्न की उपेक्षा या उससे कतराते रहने से पैदा हो गई हों और उन धारणाओं को जो प्रश्नगत उपबन्धों की विधिमान्यता के सम्बन्ध में स्वीकृत हो चुकी हैं निर्विघ्न पड़े रहने दिए जाने की स्पष्ट वांछनीयता भी निस्संदेह रूप से बढ़ गई है। इसके साथ ही, न्यायालय को इस बात का बहुत ज्यादा आश्रय लेने का हक नहीं है कि उसके सामने उपस्थित जिन मामलों में हो सकता था कि उसके सामने यह प्रश्न बहस या फैसले के लिए उठाया जाता, उन मामलों में न्यायालय के किसी भी न्यायाधीश ने ऐसा नहीं किया, और न इसका कि इसके विपरीत सभी न्यायाधीशों ने पक्षकारों की सामान्य उपधारणाओं को स्वीकार कर लिया और तदनुसार मामले का फैसला कर दिया। यद्यपि यह बहुत ही अवांछनीय है कि विधिमान्यता के जिन प्रश्नों के बारे में संदेह हो, उनकी उपेक्षा की जाए, फिर भी तथ्य यह है कि जब तक विधि को विनिर्दिष्ट रूप से चुनौती नहीं दी जाती तब तक न्यायालय प्रायः विधिमान्यता को स्वीकार करते हुए ही विनिश्चय करते हैं।"

अटर्नी जनरल ऑफ कॉमनवेल्थ ऑफ आस्ट्रेलिया बनाम क्वीन और कुछ अन्य(2) में जुडीशियल कमेटी की ओर से निर्णय सुनाते हुए वाइकाउण्ट साइमण्ड्स का भी मत ऐसा ही था—

"इसलिए यह पूछा जाता है और निस्संदेह रूप से यह बड़ा विकट प्रश्न है कि क्या कारण था कि मुकदमा लड़ने वाले किसी भी पक्षकार ने चौथाई शताब्दी तक इस स्पष्टतः अवैध संघ की विधिमान्यता पर आक्षेप क्यों नहीं किया। अलेक्जण्डर वाले मामले [(1918) 25 सी० एल० आर० 434] में ही क्यों आपत्ति नहीं की गई ? यह कैसे हो गया, बहुमत वाले तथा विसम्मति वाले निर्णयों में उल्लिखित लगातार कई मामलों में बिना किसी आपत्ति के यह मान लिया गया कि वे उपबन्ध, जिन पर अब आक्षेप किया गया है, विधिमान्य हैं ? बहुमत वाले निर्णय से यह स्पष्ट है कि विद्वान मुख्य न्यायाधिपति तथा अन्य न्यायाधिपतियों पर, जो उनके साथ सहमत थे, सबसे अधिक दबाव इसी विचार का था। इसके विपरीत कुछ हो भी नहीं सकता था। इसके बावजूद वे इस निष्कर्ष पर इस दृढ़ विश्वास के साथ पहुंचे कि संविधान के साथ संगति को ध्यान में रखा जाए तो आक्षेपित उपबन्ध की विधिमान्यता का समर्थन नहीं किया जा सकता है। यह बताना विद्वान् न्यायाधिपतियों का काम नहीं है कि यदि

(1) (1931) ए० सी० 310.
(2) (1956) 94 सी० एल० आर० 295.
(3) 95 सी० एल० आर० 529, 547.

उनकी विधिमान्यता का न्यायिक अवधारण ठीक-ठीक इसी प्रश्न पर की गई पूरी बहस सुनने के बाद पहले ही किया गया होता तथा वह न्यायिक सिद्धान्त तथा सामान्य धारणाओं पर आधारित न होता तो परिणाम क्या बिल्कुल भिन्न होता। दूरगामी सांविधानिक महत्व के विषयों को निर्णीतानुसरण का सिद्धान्त लागू होने के प्रश्न पर उन्हें उच्च न्यायालय की सहायता की अनिवार्य रूप से आवश्यकता होगी। किन्तु यहां ऐसा कोई प्रश्न नहीं है। कारण चाहे जो भी हो, जैसे मूल अधिनियम में एक प्रत्यक्ष अविधिमान्यता (पेटेण्ट इनवैलिडिटी) थी जिसको अनेक वर्ष कोई चुनौती नहीं दी गई, उसी प्रकार ऐसी अविधिमान्यता की जो उच्च न्यायालय के बहुमत का जहां तक प्रश्न है उसके न्यायाधिपतियों के सामने संतोषप्रद रूप में प्रदर्शित कर दी गई है और भी कितने ही वर्षों से उपेक्षा होती रही है। ऐसे स्पष्ट विश्वास की अभिव्यक्ति किसी उचित निर्णय में अवश्य ही होनी चाहिए।"

यह दलील कि अनुच्छेद 31ग को अनुच्छेद 368 का संशोधन समझा जाए तर्कसंगत नहीं है। तात्पर्य भी उसका यह नहीं है कि उसका यह अर्थ समझा जाए। इस अनुच्छेद को संविधान के भाग 20 में कोई स्थान नहीं दिया गया है। इस अनुच्छेद को संविधान के संशोधन विषयक एकमात्र अनुच्छेद, अनुच्छेद 368 के परन्तुक का भी स्थान नहीं दिया गया है। अनुच्छेद 31ग यह नहीं कहता है कि उस अनुच्छेद द्वारा प्रदत्त शक्तियों का प्रयोग "अनुच्छेद 368 में अन्तर्विष्ट किसी बात के होते हुए भी" या "इस संविधान में किसी बात के होने पर भी" किया जा सकेगा। यह अभिनिर्धारित करने का कोई आधार नहीं है कि संसद् का आशय यह था कि अनुच्छेद 31ग का प्रवर्तन अनुच्छेद 368 के संशोधन के रूप में हो। इस निष्कर्ष पर हम पहले ही पहुंच चुके हैं कि राज्य विधानमण्डलों को संविधान का संशोधन करने की शक्ति नहीं दी जा सकती है।

यदि अनुच्छेद 31ग का प्रयोजन कुछ आर्थिक क्षेत्रों में उत्पादन के साधनों का नियन्त्रण अनन्य रूप से या अन्यथा सरकार के लिए सुनिश्चित करना है तो इस उद्देश्य की प्राप्ति अनुच्छेद 31(2) के अधीन या अनुच्छेद 19(6)(ii) के साथ पठित अनुच्छेद 31(2) के अधीन विधायी शक्ति के प्रयोग से भी हो सकती है। इसके विपरीत यदि उद्देश्य देश में वर्तमान आर्थिक विषमता को कम करना है, तो उस उद्देश्य की प्राप्ति संविधान के अधीन विधानमण्डलों को प्रदत्त विभिन्न शक्तियों के प्रयोग से, विशिष्टतः करारोपण की शक्ति के प्रयोग से हो सकती है, जिसका क्षेत्र सबसे अधिक विस्तृत है। इस शक्ति का प्रयोग जनता के किसी भी हिस्से के विरुद्ध विभेद किए बिना ही किया जा सकता है। हमारे संविधान के पीछे काम करने वाला एक बुनियादी सिद्धान्त यह है कि हर शासकीय शक्ति का प्रयोग, जिसमें कार्यपालिका तथा विधानमण्डल दोनों की शक्तियां सम्मिलित हैं, इस प्रकार किया जाना चाहिए जिससे किसी को इस विधिसम्मत शिकायत का अवसर न मिले कि उसका प्रयोग बदनियती से और बेइन्साफी के साथ किया गया है।

ऊपर बताए गए कारणों से, हम यह अभिनिर्धारित करते हैं कि अनुच्छेद 31ग हमारे संविधान की कुछ आधारभूत विशेषताओं के विनाश की अनुज्ञा देता है और इसके परिणामस्वरूप वह शून्य है।

अन्त में, हम उन्तीसवें संशोधन अधिनियम, 1972 की विधिमान्यता पर विचार करेंगे। संविधान के उन्तीसवें संशोधन अधिनियम के सम्बन्ध में रखी गई दलीलों का क्षेत्र बहुत सीमित है। सिर्फ एक ही दलील रखी गई और वह यह कि यदि उन्तीसवें संशोधन अधिनियम के माध्यम से संविधान की नवम अनुसूची में सम्मिलित किए गए दोनों अधिनियमों में कोई भी उपबन्ध ऐसा है जिससे अनुच्छेद 31क(1)(क) की अपेक्षाएं पूरी नहीं होती है तो उस उपबन्ध को अनुच्छेद 31ख का संरक्षण नहीं प्राप्त होगा।

उन्तीसवें संशोधन अधिनियम के फलस्वरूप, केरल भूमि सुधार (संशोधन) अधिनियम, 1969 [केरल लैण्ड रिफार्म्स (अमेण्डमेण्ट) ऐक्ट, 1969] (1969 का केरल अधिनियम 33) तथा केरल भूमि सुधार (संशोधन) अधिनियम, 1971 [केरल लैण्ड रिफार्म्स (अमेण्डमेण्ट) ऐक्ट, 1971] (1971 का केरल अधिनियम 25) संविधान की नवम अनुसूची में मद 65 तथा 66 के रूप में बढ़ाए गए थे। नवम अनुसूची अनुच्छेद 31ख के साथ जुड़ी हुई है जो इस प्रकार है—

> "अनुच्छेद 31क में अन्तर्विष्ट उपबंधों की व्यापकता पर प्रतिकूल प्रभाव डाले बिना, नवम अनुसूची में उल्लिखित अधिनियमों और विनियमों में से और उनके उपबंधों में से कोई इस आधार पर शून्य या कभी शून्य हुआ न समझा जाएगा कि वह अधिनियम, विनियम या उपबन्ध इस भाग के किन्हीं उपबन्धों द्वारा प्रदत्त अधिकारों में से किसी से असंगत है अथवा उसे छीनता या न्यून करता है, और किसी न्यायालय या न्यायाधिकरण के किसी प्रतिकूल निर्णय, आज्ञप्ति या आदेश के होते हुए भी, उक्त अधिनियमों और विनियमों में से प्रत्येक, उसे निरसित या संशोधित करने की किसी सक्षम विधानमण्डल की शक्ति के अधीन रहते हुए, प्रवृत्त बना रहेगा।"

पिटीशनरों के विद्वान् काउन्सेल ने अनुच्छेद 31ख की विधिमान्यता को चुनौती नहीं दी। उसकी विधिमान्यता को यह न्यायालय बहुत से मामलों में स्वीकार कर चुका है। उनकी सिर्फ एक ही दलील थी और वह यह कि इसके पहले कि नवम अनुसूची में सम्मिलित किसी अधिनियम या अधिनियम के किसी उपबन्ध को अनुच्छेद 31ख का संरक्षण प्रदान किया जाए, प्रश्नगत अधिनियम या उपबन्ध को अनुच्छेद 31क के किसी न किसी उपबन्ध की अपेक्षाओं को पूरा करना होगा। अपनी इस दलील के लिए उन्होंने अनुच्छेद 31ख के आरम्भिक शब्द "अनुच्छेद 31क में अन्तर्विष्ट उपबंधों की व्यापकता पर प्रतिकूल प्रभाव डाले बिना" का आश्रय लिया। उन्होंने यह कहा कि यदि अनुच्छेद 31ख स्वतन्त्र उपबन्ध होता और उसका कोई भी सम्बन्ध अनुच्छेद 31क के साथ न होता, जैसा कि विरोध करने वाले प्रत्यर्थियों की ओर से कहा गया है, तो उन शब्दों के प्रति निर्देश करने का, जिनका हवाला अनुच्छेद 31ख में दिया गया है, अवसर ही कहां था। उन्होंने अनुच्छेद 31क और 31ख का इतिहास बताने और यह साबित करने की कोशिश की कि दोनों अनुच्छेदों के बीच गहरा सम्बन्ध है। यद्यपि इन दलीलों में कुछ बल है फिर भी जो विधि के प्रश्न उठाया गया है वह अब कोई अनिर्णीत विषय (रेस इनटीगरा) नहीं है। इसका फैसला इस न्यायालय के अनेक विनिश्चयों द्वारा किया

आ चुका है और इस प्रश्न को फिर से चर्चा का विषय बनाने के लिए हमें कोई औचित्य दिखाई नहीं देता।

बिहार राज्य बनाम महाराजाधिराज सर कामेश्वर सिंह ऑफ दरभंगा और कुछ अन्य(1) में श्री सोमय्या द्वारा भी वैसी ही दलील पेश की गई थी जैसी कि श्री पालखीवाला ने रखी है। न्यायालय की ओर से निर्णय सुनाते हुए मु० न्या० पातञ्जलि शास्त्री ने यह कहते हुए वह दलील खारिज कर दी—

"किन्तु श्री सोमय्या ने यह कहा कि अनुच्छेद 31ख के प्रारम्भिक शब्दों से अर्थात् 'अनुच्छेद 31क में अन्तर्विष्ट उपबन्धों की व्यापकता पर प्रतिकूल प्रभाव डाले बिना' यह दर्शित होता है कि नवम अनुसूची के साथ पठित अनुच्छेद 31ख में विशिष्ट कानूनों का वर्णन केवल दृष्टान्त स्वरूप है और यह कि तदनुसार अनुच्छेद 31ख प्रविषय में इससे अधिक नहीं हो सकता है। इस तर्क के समर्थन में आश्रय उस विनिश्चय का लिया गया जो प्रिवी काउन्सिल ने **सिबनाथ बनर्जी वाले मामले** [(1945) एफ० सी० आर० 195] में सुनाया था। मैं उस दृष्टिकोण से सहमत नहीं हूं। अनुच्छेद 31ख में ऐसी कोई बात नहीं है जिससे यह प्रकट होता हो कि कुछ कानूनों के विनिर्दिष्ट उल्लेख का आशय केवल इतना ही था कि अनुच्छेद 31क के सामान्य शब्दों के लागू होने का दृष्टान्त प्रस्तुत किया जाए। अनुच्छेद 31ख का आरम्भ जिन शब्दों से होता है उनका आशय केवल यह स्पष्ट करना है कि अनुच्छेद 31क को लागू करने में अनुच्छेद 31ख में अन्तर्विष्ट किसी बात के कारण निर्बन्धन न लगाया जाए और उन शब्दों में किसी प्रकार भी यह प्रकल्पित नहीं है कि पूर्वकथित अनुच्छेद या उसमें विनिर्दिष्ट अधिनियमों का लागू होना "सम्पदाओं" के अर्जन तक ही सीमित रखा जाए।"

विश्वेश्वर राव बनाम मध्य प्रदेश राज्य(2) में न्या० महाजन ने भी (जैसे कि वे तब थे) यही बात दोहराई है।

उन्होंने कहा है—

"यह दलील दी गई कि अनुच्छेद 31ख उस नियम का दृष्टान्त मात्र है जो अनुच्छेद 31क में कथित है और यदि अनुच्छेद 31क लागू नहीं हो सकता है तो उस अनुच्छेद पर भी कोई ध्यान नहीं दिया जाना चाहिए ......

अनुच्छेद 31ख के प्रारम्भिक शब्दों तथा भारत रक्षा अधिनियम (डिफेन्स ऑफ इण्डिया ऐक्ट) की धारा 2 की उपधारा (2) के प्रारम्भिक शब्दों, अर्थात् "अनुच्छेद 31क में अन्तर्विष्ट उपबन्धों की व्यापकता पर प्रतिकूल प्रभाव डाले बिना" के बीच जो समानता है उसके आधार पर यह कहा गया कि अनुच्छेद 31ख, अनुच्छेद 31क का दृष्टान्त मात्र है और चूंकि पश्चातकथित का लागू होना उसमें यथा परिभाषित सम्पदाओं तक सीमित है, इसलिए अनुच्छेद 31ख भी उसी प्रकार सीमित है। मेरी राय में, **सिबनाथ बनर्जी वाले मामले** की उक्तियां, उस दलील का, जो रखी गई है, समर्थन करने के बजाय उसे

(1) (1952) एस० सी० आर० 889.
(2) (1952) एस० सी० आर० 1020.

काटती है। अनुच्छेद 31ख, अनुसूची में वर्णित कतिपय अधिनियमों को अनुच्छेद 31क के उपबन्धों के बावजूद, विनिर्दिष्ट रूप से विधिमान्य घोषित करता है, किन्तु उससे बिल्कुल स्वतंत्र है। इस स्थिति में आक्षेपित अधिनियमों को, जिनके द्वारा आठ मालगुजारी ग्रामों का अर्जन किया गया है, इस आधार पर है कि वह संविधान के अनुच्छेद 31(2) के उपबंधों का या भाग 3 के किसी अन्य उपबंध का अतिलंघन करता है, चुनौती नहीं दी जा सकती है।"

ऐसा ही मत इस न्यायालय ने एन० बी० जीजीभाई बनाम सहायक कलक्टर, थाना प्रान्त, थाना(1) में व्यक्त किया था। उसमें न्यायालय की ओर से निर्णय सुनाते हुए न्यायाधिपति सुब्बाराव ने (जैसे कि वे तब थे) यह कहा था—

"विद्वान् महान्यायवादी ने यह कहा है कि अनुच्छेद 31क तथा अनुच्छेद 31ख एक साथ पढ़े जाने चाहिएं और यदि ऐसा किया जाए तो अनुच्छेद 31ख में केवल ऐसे मामलों का दृष्टान्त मिलेगा जो अन्यथा अनुच्छेद 31क के अधीन आते और इसलिए जो अर्थान्वयन संविधान के अनुच्छेद 31ख का किया जाएगा वही अनुच्छेद 31क को भी लागू होगा। इस अर्थान्वयन का आधार अनुच्छेद 31ख के प्रारम्भिक शब्दों अर्थात् 'अनुच्छेद 31क में अन्तर्विष्ट उपबन्धों की व्यापकता पर प्रतिकूल प्रभाव डाले बिना' को बनाने का प्रयास किया गया। हम इस दलील को नहीं मान सकते हैं। 'उपबन्धों की व्यापकता पर प्रतिकूल प्रभाव डाले बिना' शब्द यह बताते हैं कि नवम अनुसूची में उल्लिखित अधिनियमों और विनियमों को उन्मुक्ति उस दशा में प्राप्त होती जिसमें उनको संविधान का अनुच्छेद 31क भी लागू नहीं होता। यदि नवम अनुसूची में समाविष्ट हुए अधिनियम अनुच्छेद 31क के अधीन आ जाएगा तो यह अनुच्छेद व्यर्थ हो जाएगा। वास्तव में, उसमें उल्लिखित कुछ अधिनियम, जैसे नवम अनुसूची में बढ़ाई गई 14 से 20 तक की मदें तथा कुछ अन्य अधिनियमों के बारे में यह नहीं प्रतीत होता है कि वे संविधान के अनुच्छेद 31क(2) में यथा परिभाषित सम्पदाओं से सम्बद्ध हैं। इसलिए हम यह अभिनिर्धारित करते हैं कि अनुच्छेद 31ख अनुच्छेद 31क का कोई नियंत्रण नहीं है और यह कि अनुच्छेद 31ख विनिर्दिष्ट कानूनों को ऐसा स्थान प्रदान करने की संविधानिक युक्ति है जिससे उन पर कोई भी आक्षेप इस आधार पर न किया जा सके कि वे संविधान के भाग 3 का अतिलंघन करते हैं······।"

इस न्यायालय के और भी कई विनिश्चय इस आधार पर दिए गए हैं कि अनुच्छेद 31ख अनुच्छेद 31क से स्वतन्त्र है। इस प्रश्न को फिर से चर्चा का विषय बनाया जाए, इसके लिए बहुत विलम्ब हो चुका है। इस बात की परीक्षा कि जो अधिनियम उन्तीसवें संशोधन अधिनियम द्वारा नवम अनुसूची में शामिल किए गए हैं वे या उनमें से किसी में कोई उपबन्ध, क्या संविधान के आधारभूत तत्वों या स्वाभाविक विशेषताओं का निराकरण करते हैं, उस समय की जा सकती है जब उन अधिनियमों की विधिमान्यता की जांच की जाए।

---

(1) (1965) 1 एस० सी० आर० 636.

पूर्वोक्त कारणों से, हम पिटीशनरों की यह दलील नामंजूर करते हैं कि नवम अनुसूची में किसी अधिनियम को सम्मिलित करने के पहले यह आवश्यक है कि वह अनुच्छेद 31क की अपेक्षाओं को पूरा करता हो।

परिणामस्वरूप, हम यह अभिनिर्धारित करते हैं—

"(1) अनुच्छेद 368 ने जैसा कि वह अपने संशोधन के पहले था, संविधान के एक-एक अनुच्छेद तथा उसके हर भाग को उक्त अनुच्छेद में नियत प्ररूप तथा रीति का अनुसरण करते हुए संशोधित करने की शक्ति संसद् को दी है।

(2) संविधान के संशोधन, चौबीसवें संशोधन अधिनियम द्वारा अनुच्छेद 13 का संशोधन किए जाने के पहले भी, अनुच्छेद 31(2) में "विधि" शब्द के अन्तर्गत नहीं आते थे।

(3) अनुच्छेद 368 के अधीन संविधान को संशोधित करने की शक्ति का विस्तार बहुत बड़ा है फिर भी संविधान के आधारभूत तत्वों तथा मूल विशेषताओं को नष्ट करने या निष्प्रभाव बनाने की शक्ति उसमें सम्मिलित नहीं है।

(4) चौबीसवें संशोधन अधिनियम ने संसद् की संशोधन करने की शक्ति में कोई विस्तार नहीं किया है। उसने तो केवल इतना ही किया है कि मूल अनुच्छेद में जो अन्तर्निहित था उसे स्पष्ट कर दिया है। अतः वह विधिमान्य है।

(5) (क) नव प्रतिस्थापित अनुच्छेद 31(2) सम्पत्ति के अधिकार को समाप्त नहीं करता है क्योंकि—

(i) इस अनुच्छेद के अधीन "राशि" के निर्धारण का अर्जित या अधिगृहीत सम्पत्ति के मूल्य के साथ कोई तर्कसंगत सम्बन्ध होना चाहिए;

(ii) जो सिद्धान्त निर्धारित किए जाएं वे अर्जित या अधिगृहीत सम्पत्ति लेखे सन्देय "राशि" की संगणना के प्रयोजन के लिए सुसंगत होने चाहिएं;

(iii) नियत "राशि" अवास्तविक नहीं होनी चाहिए; और

(iv) उसका निर्धारण मनमाने ढंग से नहीं किया जाना चाहिए।

(ख) इस बात का न्यायिक पुनर्विलोकन किया जा सकता है कि प्रश्नगत "राशि" क्या मनमाने ढंग से नियत की गई है या क्या वह अवास्तविक है या जब प्रश्नगत सम्पत्ति अर्जित या अधिगृहीत की जाती है उस समय उसे निर्धारित करने के लिए नियत सिद्धान्त क्या अर्जन या अधिग्रहण की वस्तु के साथ सुसंगत है। किन्तु इसकी कोई जांच न्यायालय नहीं कर सकता है कि क्या नियत या निर्धारित सिद्धान्तों के आधार पर अवधारित की जाने वाली राशि पर्याप्त है।

(6) पच्चीसवें संशोधन अधिनियम का खण्ड 2(ख) भी, जिसके द्वारा अनुच्छेद 31(2ख) को सम्मिलित किया गया था, विधिमान्य है, क्योंकि वह संविधान की स्वाभाविक विशेषताओं को न तो विकृत करता है और न ही नष्ट करता है।

(7) पच्चीसवां संशोधन अधिनियम का खण्ड (3), जिसने संविधान में अनुच्छेद 31ग पुरःस्थापित किया है, दो कारणों से अविधिमान्य है अर्थात् (1) खण्ड (3), वहां तक संसद् की संशोधन की शक्ति के परे है जहां तक कि वह प्रश्नगत संशोधन संविधान के अनेक आधारभूत तत्वों या उसकी मूल विशेषताओं को नष्ट करने की इजाजत देता है। (2) खण्ड (3) नागरिकों के लिए प्रत्याभूत कतिपय मानवीय स्वतन्त्रताओं को, अपनी साधारण विधायी शक्ति के प्रयोग से उसी सीमा तक (प्रोटण्टो) संशोधित करने के लिए संसद् तथा राज्य विधानमण्डलों को सशक्त करता है।

(8) उन्तीसवां संशोधन विधिमान्य है किन्तु यह बात कि क्या वे अधिनियम, जो उस संशोधन द्वारा नवम अनुसूची में शामिल किए गए थे, या उनमें से किसी में कोई उपबन्ध, संविधान के किसी आधारभूत तत्व या उसके सारभूत तत्वों को निराकृत करते हैं, उस समय देखी जानी है जब उन अधिनियमों की विधिमान्यता की जांच की जाए।

इस मामले की परिस्थितियों को देखते हुए, हम यह निदेश देते हैं कि पक्षकार इन मामलों में अब तक हुए अपने-अपने खर्चों को स्वयं बर्दाश्त करें।

न्यायाधिपति रे—संविधान चौबीसवें, पच्चीसवें और उन्तीसवें संशोधन अधिनियमों की विधिमान्यता को चुनौती दी गई है। संविधान चौबीसवें संशोधन अधिनियम द्वारा अनुच्छेद 368 का संशोधन हुआ है। असंशोधित प्ररूप में अनुच्छेद 368 में 'इस संविधान का संशोधन' तथा किस तरह से संविधान संशोधित किया जाएगा, वर्णित है। संविधान चौबीसवें संशोधन अधिनियम में यह अधिनियमित है कि संसद् उस अनुच्छेद में अधिकथित प्रक्रिया के अनुसार इस संविधान के किसी उपबन्ध का परिवर्धन, परिवर्तन या निरसन के रूप में संशोधन करने की संविधायी शक्ति का प्रयोग कर सकेगी। इस संशोधन का दूसरा भाग यह है कि इस अनुच्छेद की कोई बात 368 के अधीन किए गए इस संविधान के किसी संशोधन को लागू नहीं होगी। संविधान पच्चीसवें संशोधन अधिनियम द्वारा अनुच्छेद 31(2) तथा अनुच्छेद 31(2क) को भी संशोधित किया गया है। अनुच्छेद 31(2) तथा 31(2क) की बाबत किए गए इन संशोधनों का प्रभाव दो प्रकार का है। पहला यह कि कोई सम्पत्ति सार्वजनिक प्रयोजन के लिए ही और केवल ऐसी विधि के प्राधिकार से अनिवार्यतः अर्जित या अधिगृहीत की जाएगी जो ऐसी राशि के लिए उपबन्ध करती है जो विधि द्वारा नियत की जाए या जो उस विधि में विनिर्दिष्ट सिद्धान्तों के अनुसार अवधारित की जाए, उपबन्ध करती है। दूसरा यह कि अनुच्छेद 19(1)(च) की कोई बात अनुच्छेद 31(2) में निर्दिष्ट किसी विधि को प्रभावित नहीं करेगी। संविधान पच्चीसवें संशोधन के द्वितीय भाग द्वारा अनुच्छेद 31ग जोड़ा गया है जो यह अधिनियमित करता है कि अनुच्छेद 13 में किसी बात के होते हुए भी, कोई विधि, जो अनुच्छेद 39 के खण्ड (ख) या खण्ड (ग) में उल्लिखित तत्वों को सुनिश्चित करने के लिए राज्य की नीति को प्रभावी करने वाली हो, इस आधार पर शून्य न समझी जाएगी कि वह अनुच्छेद 14, अनुच्छेद 19 या अनुच्छेद 31 द्वारा प्रदत्त अधिकारों में से किसी से असंगत है अथवा उसे छीनती या न्यून करती है; और जिस विधि में यह घोषणा हो कि

वह ऐसी नीति को प्रभावी करने के लिए है, उस पर किसी न्यायालय में इस आधार पर आपत्ति नहीं की जाएगी कि वह ऐसी नीति को प्रभावी नहीं करती।" संविधान उन्तीसवें संशोधन अधिनियम द्वारा केरल भूमि सुधार संशोधन अधिनियम, 1969 तथा केरल भूमि सुधार संशोधन अधिनियम, 1971 को संविधान की नवम अनुसूची में जोड़ा गया है।

अवधारण के लिए मुख्य प्रश्न यह है कि क्या संशोधन की शक्ति अनुच्छेद 13(2) के किसी अभिव्यक्त परिसीमा के अधीन है। दूसरा प्रश्न यह है कि क्या संशोधन की शक्ति पर विवक्षित या अन्तर्निहित परिसीमाएं हैं? क्या बिना अपवाद के संशोधन की अभिव्यक्त शक्ति के होते हुए इस पर कोई विवक्षित या अन्तर्निहित परिसीमा है? ये प्रश्न उठाए गए हैं कि क्या संविधान के सारभूत तत्व संशोधित किए जा सकते हैं? क्या संविधान द्वारा मूल और गौण तत्वों के बीच अन्तर माना गया है? इसको कौन अवधारित करेगा कि मूल तत्व कौन-से हैं? वह कौन-सा प्राधिकारी है जो यह निर्णय करेगा कि कौन-से तत्व मूल हैं। मुख्य प्रश्न यह है कि यद्यपि संशोधन में संविधान की शक्ति में कोई अपवाद नहीं है फिर भी क्या संशोधन की शक्ति को कम या निर्बन्धित किया जा सकता है। जनता ने इस संविधान को जनता को ही आत्मार्पित किया है। जनता ने संशोधन की शक्ति संसद् को प्रदत्त की है। लोकतन्त्र अपने प्रतिनिधियों को निर्वाचित करने में जनता के विश्वास और सामर्थ्य तथा जनता का प्रतिनिधित्व करने के लिए प्रतिनिधियों में विश्वास के आधार पर चलता है। मानव जाति के इतिहास में निरन्तर जो प्रेरक शक्ति दूसरे से अधिक प्रभावकारी रही है वह जनता में विश्वास की शक्ति है। जनता में विश्वास का आदर्श ही हमारे लिए सबसे अधिक सहायक है। ग्रीस के इतिहासकार ग्रोटे ने कहा था कि सांविधानिक नैतिकता का विस्तार न केवल किसी समुदाय के बहुमत में है अपितु वह सम्पूर्ण समुदायों में है और यही स्वतन्त्र और शान्तिमय सरकार के लिए एक अपरिहार्य शर्त है। ग्रोटे ने सांविधानिक नैतिकता से संविधान के रूपों के प्रति सर्वोपरि सम्मान रखने का अर्थ किया था जो दलगत प्रतिद्वन्द्विता के बावजूद प्रत्येक नागरिक के हृदय में इस पूर्ण विश्वास के साथ हो कि उसकी दृष्टि में संविधान के रूप जितने पवित्र हैं उससे कम पवित्र वे उसके विरोधियों की दृष्टि में नहीं होंगे। प्रश्न यह है कि 'जिस व्यक्ति ने कान बनाया क्या वह नहीं सुनेगा? या जिस व्यक्ति ने आंख बनाई क्या वह नहीं देखेगा?"

वास्तविक प्रश्न यह है कि क्या संविधान का संशोधन करने की कोई शक्ति है और यदि वह है तो क्या उस शक्ति पर कोई परिसीमा है? इस प्रश्न का उत्तर इन बातों पर विचार करने पर मिलेगा। पहला यह है कि आई० सी० गोलक नाथ बनाम पंजाब राज्य (1) वाले मामले का सही निर्णयाधार और प्रभाव क्या है। दूसरा, क्या इस निर्णयाधार को कायम रखना चाहिए। तीसरा, क्या संविधान को संशोधित करने की शक्ति पर कोई परिसीमा है। चौथा, क्या चौबीसवां संशोधन विधिमान्य रूप से अधिनियमित किया गया है। यदि यह बात है तो क्या यथा संशोधित अनुच्छेद 368 के अधीन उक्त शक्ति पर कोई अन्तर्निहित या विवक्षित परिसीमा है।

अनुच्छेद 368 के, जैसा कि वह संविधान चौबीसवें संशोधन अधिनियम के पूर्व था, अधीन संविधान का संशोधन करने का विस्तार और शक्ति, विचार के लिए है।

---

(1) (1967) 2 एस० सी० आर० 762.

दो मुख्य प्रश्न उद्भूत होते हैं। पहला, यह कि क्या संविधान तथा साथ ही संविधान का संशोधन अनुच्छेद 13(2) के अर्थों के अन्तर्गत है। दूसरा, यह कि क्या अनुच्छेद 13(2) के अतिरिक्त संशोधन करने की शक्ति पर कोई विवक्षित और अन्तर्निहित परिसीमा है।

श्री पालखीवाला ने यह दलील दी है कि असंशोधित अनुच्छेद 368 अनुच्छेद 13(2) के अध्यधीन था। यह कहा गया है कि संविधान का यह संशोधन विधि है और इसलिए कोई विधि जो मूल अधिकारों का अतिक्रमण करती है, शून्य है। यह भी कहा गया है कि अनुच्छेद 368, अनुच्छेद 13 पर न तो अभिभावी होता है और न ही वह अध्यारोही है। यह कहा गया है कि अनुच्छेद 13 के अधीन चार वर्जन हैं। पहला वर्जन राज्य के विरुद्ध अधिरोपित किया गया है अर्थात् राज्य की समस्त शक्तियों की एकात्मकता के विरुद्ध है। द्वितीय, विधि के समस्त प्रवर्ग इस वर्जन के अन्तर्गत हैं, चाहे वे संविधायी संशोधन या उपविधियां या कार्यपालक आदेश या अधिसूचनाएं हों। तृतीय, अनुच्छेद 372 के अधीन प्रवृत्त समस्त विधियां या किसी भविष्य की तारीख को प्रवृत्त होने वाली समस्त विधियां या इस वर्जन के प्रविषय के अधीन लाई जाने वाली समस्त विधियां। चतुर्थ, इस वर्जन का प्रभाव विधि को शून्य कर देना है।

श्री पालखीवाला ने यह कहा है कि प्रस्तावना से स्पष्ट है कि संविधान का उद्देश्य बुनियादी मानव स्वतन्त्रताओं को सुरक्षित करना है और यह गारण्टी उस दशा में निरर्थक के हो जाएगी यदि वे विधानमण्डल, जिनके विरुद्ध इस गारण्टी को प्रवर्तित होना है, उस गारण्टी को निराकृत करने की स्वतन्त्रता प्राप्त कर ले। यह कहा गया है कि विधि इतनी व्यापक है कि उसके अन्तर्गत मामूली विधि और संविधायी विधि दोनों आती हैं। संविधान की तृतीय अनुसूची में शपथ के विभिन्न प्ररूपों में 'विधि द्वारा स्थापित संविधान' के प्रति निर्देश किया गया है। इसलिए पिटीशनर ने यह दलील दी है कि संविधान स्वयं मूलत: विधि द्वारा स्थापित किया गया था और प्रत्येक संशोधन को प्रभावी होने के लिए उसी प्रकार उसे विधि द्वारा स्थापित होना चाहिए। इस पर बल दिया गया है कि संविधायी संशोधन एक विधि है और इसलिए अनुच्छेद 13(2) में प्रयुक्त 'विधि' शब्द के अन्तर्गत संविधायी संशोधन आते हैं।

महा न्यायवादी तथा श्री सीरवाई ने यह कहा है कि संविधान एक सर्वोपरि उच्च विधि है। संविधान का संशोधन संविधायी शक्ति के प्रयोग द्वारा किया जाता है। संशोधन करने की शक्ति विधायी शक्ति नहीं है। अनुच्छेद 13(2) में प्रयुक्त विधि के अन्तर्गत वह अधिकारातीत का सिद्धान्त समाविष्ट है जिसके द्वारा संविधान के अधीन अधिनियमित किसी विधि को शून्य घोषित किया जाता है।

शंकरी प्रसाद सिंह देव बनाम भारत संघ (1) तथा सज्जन सिंह बनाम राजस्थान राज्य (2) वाले मामलों में इस न्यायालय ने संशोधन करने की शक्ति के प्रश्न पर विचार किया था।

---

(1) (1952) एस० सी० आर० 89.
(2) (1965) 1 एस० सी० आर० 933.

शंकरी प्रसाद वाले मामले[1] में संविधान प्रथम संशोधन अधिनियम को चुनौती दी गई थी। मुख्य दलील यह है कि प्रथम संशोधन जहां तक कि इसका तात्पर्य संविधान के तृतीय भाग द्वारा प्रदत्त अधिकारों को छीनना या न्यून करना है यह संविधान के अनुच्छेद 13(2) के प्रतिषेध के अन्तर्गत आता है।

शंकरी प्रसाद वाले मामले [1] में इस न्यायालय का सर्वसम्मत मत यह था कि यद्यपि मामूली तौर पर विधि के अन्तर्गत संविधायी विधि भी आती है किन्तु मामूली विधि जो कि विधायी शक्ति के प्रयोग द्वारा बनाई जाती है तथा संविधायी विधि जो कि संविधायी शक्ति के प्रयोग द्वारा बनाई जाती है, के बीच स्पष्ट सीमांकन है। तत्प्रतिकूल किसी स्पष्ट संकेत के अभाव में यह अभिनिर्धारित करना कठिन है कि संविधान के निर्माताओं का यह उद्देश्य था कि उन्होंने मूल अधिकारों को संविधायी संशोधन से निर्मुक्त बनाया है। अनुच्छेद 368 के निर्बन्धन संसद् को बिना किसी अपवाद के संविधान के संशोधन को साधारण रूप से सशक्त करते हैं। अनुच्छेद 13 के प्रसंग में यह अर्थ है कि अनुच्छेद 13(2) में प्रयुक्त विधि मामूली विधायी शक्ति के प्रयोग से सम्बन्धित है न कि संविधान के संशोधन से।

संविधान चतुर्थ संशोधन अधिनियम 5 अक्तूबर, 1963 को अस्तित्व में आया। संविधान सत्रहवां संशोधन अधिनियम 20 जून, 1964 को प्रभावी हुआ था। सत्रहवां संशोधन अधिनियम द्वारा एक और परन्तुक प्रतिस्थापित करते हुए अनुच्छेद 31क का खण्ड (1) संशोधित हुआ था। एक नया उपखण्ड (क) अनुच्छेद 31 के खण्ड (2) के मूल उपखण्ड (क) के स्थान पर भूतलक्षी प्रभाव से प्रस्थापित किया गया था। नवम अनुसूची में 44 अधिनियम जोड़े गए थे। सत्रहवें संशोधन की विधिमान्यता को सज्जन सिंह वाले मामले [2] में इस न्यायालय में चुनौती दी गई थी।

सज्जन सिंह वाले मामले[2] में जो मुख्य दलील दी गई थी वह यह थी कि सत्रहवें संशोधन द्वारा अनुच्छेद 226 में विहित शक्ति के प्रभावित होने की सम्भावना है और इसलिए यह आवश्यक है कि अनुच्छेद 368 के परन्तुक में विशिष्ट प्रक्रिया का अनुसरण किया जाना चाहिए। सत्रहवां संशोधन अधिनियम के बारे में यह कहा गया था कि वह उस प्रक्रिया का अनुसरण न करने के कारण अविधिमान्य है।

सज्जन सिंह वाले मामले[2] में इस न्यायालय का बहुमत यह था कि अनुच्छेद 368 में स्पष्ट और असंदिग्ध रूप से संविधान के समस्त उपबन्धों के संशोधन का आशय है। अनुच्छेद 13(2) में प्रयुक्त "विधि" शब्द के बारे में यह अभिनिर्धारित किया गया कि उसके अन्तर्गत अनुच्छेद 368 के अधीन पारित किए गए संविधान संशोधन अधिनियम नहीं हैं। यह भी कहा गया कि अनुच्छेद 19 में के मूल अधिकार खण्ड (2) से (6) तक में विनिर्दिष्ट रूप में नियन्त्रित किए जा सकते हैं। यह नहीं कहा जा सकता कि संविधान निर्माताओं की यह धारणा थी कि मूल अधिकार गतिहीन हैं और उनमें कोई विस्तार नहीं किया जा सकता। यह कहा गया कि लोक हित तथा अन्य महत्त्वपूर्ण बातों को ध्यान में रखने की धारणा में, जो कि अनुच्छेद 19 के खण्ड (2) से (6) तक का आधार

(1) (1952) एस० सी० आर० 89.
(2) (1965) 1 एस० सी० आर० 933.

है "परिवर्तन किया जा सकेगा और उसमें विस्तार भी किया जा सकेगा।" बहुमत की यह राय थी कि "संविधान निर्माता यह जानते थे कि संसद् उस दशा में उन अधिकारों (मूल अधिकारों से आशय था) को संशोधित करने के लिए सक्षम नहीं हो सकती थी जब कि उसे सामाजिक-आर्थिक प्रगति और देश के विकास के दौरान उत्पन्न हुई समस्याओं का सामना करना पड़ेगा और उसका वह समाधान खोजेगी।

सज्जन सिंह वाले मामले[1] में अल्पमत यह था कि उसमें शंकरी प्रसाद वाले मामले [2] के सर्वसम्मत मत के सही होने के बारे में सन्देह प्रकट किया गया था। यह सन्देह इस प्रश्न पर था कि क्या अनुच्छेद 368 के अधीन शक्ति का प्रयोग करके मूल अधिकार कम किए जा सकते हैं। सज्जन सिंह वाले मामले[1] में अल्पमत की राय यह थी कि समाज के अधिकार सर्वोपरि बनाए गए हैं और उन्हें व्यक्तियों के अधिकार के ऊपर रखा गया है। किन्तु अल्पमत की यह राय थी कि यद्यपि मूल अधिकार अनुच्छेद 19 के खण्ड (2) से (6) तक के अधीन निर्बन्धित किए जा सकते हैं किन्तु ऐसे अधिकारों को एकदम से हटाया या नष्ट नहीं किया जा सकता।

गोलकनाथ वाले मामले[3] में पंजाब सिक्योरिटी ऑफ लैण्ड टेन्योर्स ऐक्ट, 1953 को इस आधार पर चुनौती दी गई थी कि वह मूल अधिकारों का अतिक्रमण करता है और प्रथम संविधान संशोधन अधिनियम, 1951, संविधान चतुर्थ संशोधन अधिनियम, 1955 तथा संविधान सत्रहवां संशोधन अधिनियम द्वारा संरक्षित नहीं है। 1965 के अधिनियम 14 द्वारा यथा संशोधित मैसूर लैण्ड रिफार्म्स ऐक्ट, 1962 की विधिमान्यता को भी उन्हीं आधारों पर चुनौती दी गई थी। पंजाब का अधिनियम तथा मैसूर का अधिनियम नवम अनुसूची में जोड़े गए थे। एक ही पक्षकथन था कि यदि सत्रहवां संशोधन अधिनियम द्वारा नवम अनुसूची में पंजाब अधिनियम और मैसूर अधिनियम का जोड़ा जाना विधिमान्य है तो इन दोनों अधिनियमों को किसी आधार पर आक्षेपित नहीं किया जा सकता।

गोलक नाथ वाले मामले [3] में इस न्यायालय के बहुमत का विनिश्चय यह था कि संविधान का संशोधन 13(2) के अर्थों के अन्तर्गत विधि है। इस निष्कर्ष पर पहुंचने के लिए बहुमत की राय में दो तर्क दिए गए थे। बहुमत की राय, जिसमें कि मुख्य न्यायाधिपति सुब्बा राव ने निर्णय दिया था, इस प्रकार थी। संविधान का संशोधन करने की शक्ति संविधान के अनुच्छेद 245, 246 और 248 द्वारा प्राप्त की जाती है और न कि अनुच्छेद 368 द्वारा। अनुच्छेद 368 केवल प्रक्रिया से सम्बन्धित है। संशोधन एक विधायी प्रक्रिया है। संशोधन अनुच्छेद 13 के अर्थान्तर्गत विधि है। इसलिए यदि किसी संशोधन से संविधान के भाग 3 द्वारा प्रदत्त अधिकारों को छीना जाता है या न्यून किया जाता है तो वह शून्य है। संविधान प्रथम संशोधन अधिनियम, संविधान चतुर्थ संशोधन अधिनियम और संविधान सत्रहवां संशोधन अधिनियम मूल अधिकारों के प्रविषय को न्यून करते हैं। इस न्यायालय के पूर्ववर्ती विनिश्चयों के आधार पर इन संशोधन अधिनियमों को विधिमान्य घोषित कर दिया गया। अविधिमान्यकरण की भविष्यलक्षी

---

(1) (1965) 1 एस० सी० आर० 933.
(2) (1952) एस० सी० आर० 89.
(3) (1967) 2 एस० सी० आर० 762.

प्रभावकारिता के लागू करने के आधार पर यह संशोधन विधिमान्य बने रहेंगे। संसद् को इस विनिश्चय (इससे गोलक नाथ वाले विनिश्चय का अर्थ है) की तारीख से संविधान के भाग 3 के किसी उपबन्ध को संशोधित करने की शक्ति इस रूप में नहीं रहेगी जिससे कि मूल अधिकारों को छीना जाए या उन्हें न्यून किया जाए। संविधान सत्रहवां संशोधन अधिनियम प्रभावी है। इसलिए पंजाब अधिनियम और मैसूर अधिनियम को चुनौती नहीं दी जा सकती है।

बहुमत से सहमति रखने वाले न्यायाधिपति हिदायतुल्लाह का मत यह था। मूल अधिकार संशोधन करने की प्रक्रिया से उस दशा में बाहर है जबकि संशोधन उनमें से किसी अधिकार को न्यून करना चाहता है या छीनना चाहता है। चूंकि प्रथम, चतुर्थ और सत्रहवां संशोधन अधिनियम लम्बी अवधि की उपमति के कारण संविधान का भाग हो चुके हैं इसलिए इनको चुनौती नहीं दी जा सकती। इन संविधान संशोधन अधिनियमों में सत्रहवां संशोधन अधिनियम के लिए प्राधिकार अन्तर्विष्ट है। इस विनिश्चय की तारीख पर, उन मूल अधिकारों का जैसे कि ये मूल अधिकार हैं, कोई अतिक्रमण तब तक अवैध और असांविधानिक होगा जब तक कि यह साधारणतया भाग 3 तथा विशिष्टतया अनुच्छेद 13(2) का पालन नहीं करता। मूल अधिकारों को न्यून करने या उन्हें छीनने के लिए संविधान-सभा को बुलाना पड़ेगा। पंजाब अधिनियम और मैसूर अधिनियम इस कारण विधिमान्य नहीं हैं कि वे संविधान की नवम अनुसूची में जोड़े गए हैं अपितु इसलिए कि वे अनुच्छेद 31क तथा राष्ट्रपति की अनुमति द्वारा संरक्षित हैं।

दो मत जो बहुमत के पक्ष में थे उनके भी यही निष्कर्ष थे कि संविधान का संशोधन अनुच्छेद 13(2) के पर्यान्तर्गत विधि होने के कारण उस दशा में असांविधानिक होगा जबकि ऐसा संशोधन किसी मूल अधिकार को न्यून करता है। प्रमुख बहुमत के मत द्वारा इस बाबत कोई अन्तिम राय अभिव्यक्त नहीं की गई कि क्या अवशिष्ट शक्ति का प्रयोग करके या नए संविधान बनाने के लिए या उसमें मूलभूत परिवर्तन करने के लिए संविधान-सभा बुलाकर संसद् मूल अधिकारों को न्यून कर सकती है। बहुमत के मत से सहमति प्रकट करने वाले मत में यह अभिनिर्धारित किया गया था कि संविधान-सभा बुलाकर अनुच्छेद 368 को उपर्युक्त रूप से संशोधित करके मूल अधिकार न्यून किए जा सकते हैं। बहुमत से सहमति प्रकट करने वाला मत यह था कि सूची 1 की प्रविष्टि 97 के अधीन विधि पारित करके संविधान-सभा बुलाई जा सकती है और तत्पश्चात् वह संविधान-सभा मूल अधिकारों को न्यून करने या छीनने के लिए सशक्त होगी।

गोलक नाथ वाले मामले ([1]) में छः विद्वान् न्यायाधीशों के बहुमत के मुकाबले में पांच विद्वान् न्यायाधीशों का अल्पमत जो तीन निर्णयों में अभिव्यक्त किया गया था, इस प्रकार है।

न्यायाधिपति वांचु ने अपनी ओर से तथा दो सहमति प्रकट करने वाले विद्वान् न्यायाधीशों की ओर से यह कहा था—अनुच्छेद 368 में संविधान का संशोधन

([1]) (1967) 2 एस० सी० आर० 762.

करने की शक्ति तथा उसके लिए प्रक्रिया दोनों अन्तर्विष्ट हैं। यह समझना कठिन है कि संसद् की अवशिष्ट शक्ति संविधान के संशोधन को लागू होगी जबकि संशोधन की प्रक्रिया यह है कि राज्यों द्वारा संशोधन का अनुसमर्थन किया जाए। जब कि संविधान का एक सम्पूर्ण भाग संशोधन के लिए रखा गया है। यह अधिक औचित्यपूर्ण होगा कि अनुच्छेद 368 को इस रूप में पढ़ा जाए कि उसमें संशोधन करने की शक्ति अन्तर्विष्ट है क्योंकि अनुच्छेद 348 में या सूची 1 की किसी प्रविष्टि में संशोधन का कोई विनिर्दिष्ट उल्लेख नहीं है। संविधान एक मूल विधि है और कोई ऐसी अभिव्यक्त शक्ति के बिना विधायी शक्ति संविधान में कोई परिवर्तन नहीं कर सकती। विधायी अधिनियम संविधान द्वारा प्रदत्त शक्ति के अधीन पारित किए जाते हैं। अनुच्छेद 245, जो भारत के सम्पूर्ण राज्य-क्षेत्र या उसके किसी भाग के लिए विधि बनाने की शक्ति प्रदत्त करता है, इस संविधान के उपबन्धों के अध्यधीन है। लेकिन यदि सूची 1 में अवशिष्ट प्रविष्टि के साथ पठित अनुच्छेद 248 में संशोधन की शक्ति है तो उस शक्ति का प्रयोग संविधान के अध्यधीन करना पड़ेगा और वह उस संविधान को परिवर्तित नहीं कर सकता जो मूल विधि है। यह इस कारण है कि संविधान के अधीन मूल विधि तथा विधायी शक्ति के बीच अन्तर है। यह संशोधन की शक्ति उस अवशिष्ट प्रविष्टि में नहीं पाई जा सकती जो कि संविधान के अधीन विधि बनाने की शक्ति है।

अनुच्छेद 368 उसमें उपबन्धित प्रक्रिया के अध्यधीन संविधान के किसी उपबन्ध को संशोधित करने के लिए संसद् को शक्ति प्रदत्त करता है। यह असम्भव है कि सुधार की किसी विचारधारा को संशोधन की धारणा में लागू किया जाए। "संशोधन" शब्द को इसका पूर्ण अर्थ दिया जाना चाहिए। इसका अर्थ यह है कि संशोधन द्वारा कोई भी विद्यमान संविधान या विधि परिवर्तित की जा सकती है। यह परिवर्तन किसी विद्यमान उपबन्धों में परिवर्धन के रूप में किया जा सकता है या विद्यमान उपबन्धों के परिवर्तन के रूप में या उसके स्थान पर दूसरे उपबन्धों का प्रतिस्थापन या कुछ उपबन्धों को बिल्कुल निकाल करके किया जा सकता है। संविधान के भाग 11 के अध्याय 1 के अधीन प्रदत्त शक्तियों के अधीन किया गया संविधान का संशोधन एक मामूली विधि नहीं है और इसलिए वह अनुच्छेद 13(2) के अधीन नहीं हो सकती। यह आश्चर्य की बात है कि अनुच्छेद 368 द्वारा प्रदत्त शक्ति को अनुच्छेद 13(2) में प्रयुक्त 'विधि' शब्द के ऐसे निर्वचन द्वारा परिसीमित कहा गया है कि उसके अन्तर्गत संविधायी विधि भी आती है। किसी शक्ति के दुरुपयोग की बात सम्भावना की उस शक्ति के अस्तित्व की बाबत प्रश्न पर विचार करने में कोई सुसंगति नहीं है। संशोधन की शक्ति सुरक्षा के रूप में रखी गई है जो एक बड़ी सीमा तक सुदृढ़ विकास के लिए तथा हिंसक क्रांति को अनावश्यक बनाने के लिए उपलब्ध करती है ?

अल्पमत का समर्थन करने वाले दो मत इस प्रकार थे। न्यायाधिपति बछावत ने ये निष्कर्ष निकाले थे। अनुच्छेद 368 की भाषा से संशोधन की शक्ति पर कोई परिसीमा नहीं समझी जा सकती है। इसलिए संविधान का प्रत्येक भाग अनुच्छेद 368 के अधीन संशोधित किया जा सकता है। संविधान तथा विधियों के बीच इतना मूल अन्तर है कि संविधान के बारे में यह नहीं माना जा सकता कि वह एक विधि है या विधायी अधिनियम। यह इस कारण है कि संविधान संशोधन अधिनियम द्वारा

संविधान का संशोधन हो सकता है जो कि एक विधि नहीं है और अनुच्छेद 368 में संसद् द्वारा बनाई गई किसी विधि का निर्देश नहीं है। जैसे ही अनुच्छेद 368 के अनुरूप विधेयक पारित हो जाता है संविधान विधेयक के निबन्धनों के अनुसार संशोधित हो जाता है। कुछ अनुच्छेदों में संशोधन या परिवर्तन से आवश्यक रूप से सुधार अभिप्रेत नहीं है।

न्यायाधिपति रामस्वामी ने ये मत व्यक्त किए। अनुच्छेद 13(3) के अधीन विधि की परिभाषा के अन्तर्गत निबन्धनों में संविधायी संशोधन नहीं आता है यद्यपि इसके अन्तर्गत अध्यादेश, आदेश, उपविधि, नियम, विनियम, अधिसूचना, रूढ़ि या प्रथा आते हैं। अनुच्छेद 368 की भाषा पूर्णतया साधारण है और यह संसद् को बिना किसी अपवाद के संविधान को संशोधित करने के लिए सशक्त करती है। यदि संविधान निर्माताओं का यही आशय होता कि भाग 3 के अधीन गारण्टी किए गए मूल अधिकार अनुच्छेद 368 के प्रविषय से पूर्णतया बाहर रहने चाहिएं तो ऐसा मानना युक्तियुक्त है उन्होंने उस प्रभाव का स्पष्ट उपबन्ध किया होता। 'मूल' अभिव्यक्त से मूल अधिकार स्वयं संविधान के ऊपर नहीं हो सकते। संविधायी संशोधन के मामले में यह मानना ठीक नहीं है कि इसमें शक्ति का दुरुपयोग होगा और तब इसको संशोधन की शक्ति के प्रविषय को जानने के लिए कसौटी के रूप में प्रयोग किया जाए।

गोलक नाथ वाले मामले(1) में बहुमत यह था कि अनुच्छेद 368 के अनुसरण में किया गया संविधान का संशोधन अनुच्छेद 13(2) के अर्थों के अन्तर्गत विधि है और इसलिए संविधान का संशोधन, जो मूल अधिकारों को न्यून करता है, शून्य होगा। बहुमत का आधार यह था कि अनुच्छेद 13(2) तथा अनुच्छेद 368 के बीच परस्पर विरोध है और यह आधार संविधान की स्कीम के मूल अधिकारों की प्रकृति और उसकी क्वालिटी के कारण था।

इसलिए प्रारम्भ में ही यह देखा जाना चाहिए कि क्या अनुच्छेद 13(2) और अनुच्छेद 368 में कोई टकराव है अर्थात् क्या संविधान का संशोधन अनुच्छेद 13(2) में प्रयुक्त विधि के अर्थान्तर्गत एक विधि है। अनुच्छेद 368 में स्पष्ट और असंदिग्ध निबन्धनों में यह उपबन्ध है कि उसमें कथित प्रक्रिया के पालन के पश्चात् संशोधन विधेयक जब पारित होता है और जब राष्ट्रपति उस पर अपनी अनुमति दे देते हैं तो संविधान विधेयक के निबन्धनों के अनुसार संशोधित हो जाता है। इस संविधायी आज्ञा के अनुसार संविधान के किसी अन्य अनुच्छेद के साथ टकराव की किसी गुंजाइश को मान्यता नहीं दी गई है और न ही उसके लिए उपबन्ध किया गया है। यह मूल विधि है। संविधान के किसी दूसरे अनुच्छेद द्वारा इसके विस्तार को परिसीमित नहीं किया गया है। जिस क्षण राष्ट्रपति संशोधन विधेयक पर अपनी अनुमति दे देते हैं तब संशोधन संविधान का एक भाग हो जाता है। राष्ट्रपति की अनुमति के पूर्व कोई विधि अस्तित्व में नहीं हो सकती। इसलिए ऐसी कल्पित विधि की विधिमान्यता का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। संविधान का संशोधन मूल विधि का भाग हो जाता है। संशोधन की वैधता पर यदि आक्षेप किया जाता है तो स्वयं संविधान पर आक्षेप किया जाता है। असंशोधित अनुच्छेद 368 का प्रारम्भिक भाग

(1) (1967) 2 एस० सी० आर० 762.

अर्थात् 'इस संविधान के संशोधन का सूत्रपात किया जा सकेगा' और इसका परन्तु के पूर्व का अन्तिम भाग अर्थात् 'संविधान संशोधित हो जाएगा' से स्पष्ट रूप से यह दर्शित होता है कि सम्पूर्ण संविधान को संशोधित किया जा सकता है और संविधान का कोई भी भाग संशोधन से अपवर्जित नहीं है। इसी बात में संविधान तथा मामूली विधि के बीच तात्विक अन्तर पाया जाता है।

विधिमान्यता के मानदण्ड में भी अन्तर है। मामूली विधि की विधिमान्यता को चुनौती दी जा सकती है। जब इसको चुनौती दी जाती है तो उच्चतर विधि के निर्देश द्वारा इसका औचित्य बताया जा सकता है। संविधान की दशा में विधिमान्यता अन्तर्निहित है और स्वयं इसमें विद्यमान है। संविधायी विधि की विधिमान्यता को किसी दूसरी उच्चतर विधि के निर्देश द्वारा उसका औचित्य नहीं बताया जा सकता। प्रत्येक विधिक नियम या मानक अपनी विधिमान्यता के लिए कुछ उच्चतर विधिक नियम या मानक पर आधारित होते हैं। संविधान एक आधारभूत मानदण्ड है। संविधान अपनी विधिमान्यता का स्वयं जन्मदाता है। यह इसलिए विधिमान्य है कि वह विद्यमान है। संविधान इसलिए बाध्यकर है क्योंकि वह संविधान है। कोई दूसरी विधि केवल उस सीमा तक बाध्यकर है जहां तक कि वह संविधान के अनुरूप है। संविधान की विधिमान्यता इस सामाजिक तथ्य में निहित है कि समुदाय को वह संविधान मान्य है। संविधायी नियम स्वयं विधिक व्यवस्था के बुनियादी नियम हैं। संविधान को विधि के अन्य रूपों से अधिमानता प्राप्त है और यह इस कारण नहीं है कि संविधान में या अन्यत्र उस भाग के इस आशय का कोई उपबन्ध है बल्कि इस कारण है कि समुदाय द्वारा इस आशय की अन्तर्निहित मान्यता के कारण है। यदि संसद् मूल अधिकार को न्यून करते हुए संघ सूची की मदों में से किन्हीं के अधीन विधि पारित करती है और स्वयं उस विधि में यह उपबन्ध करती है कि संविधान के भाग 3 के अनुच्छेद 13 में किसी बात के होते हुए भी यह अविधिमान्य नहीं होगी तब भी संसद् द्वारा बनाई गई विधि संविधान के भाग 3 के असंगति की सीमा तक अविधिमान्य होगी। यह इसलिए अविधिमान्य होगा क्योंकि अनुच्छेद 13 उस संविधान में विद्यमान है जो कि सर्वोपरि है। आक्षेपित अधिनियम इस प्रकार अधिनियमित नहीं कर सकता कि वह संविधान के होते हुए भी विधिमान्य होगा।

वास्तविक अन्तर यह है कि संविधायी विधि समस्त विधिक विधिमान्यता का स्रोत है और यह स्वयं सदैव विधिमान्य है। इसके विपरीत साधारण विधि उस उच्चतर विधिक स्रोतों से अपनी विधिमान्यता प्राप्त करती है जो अन्ततोगत्वा संविधान है। संविधान के अनुच्छेद 13 (2) में विधि से केवल यही अर्थ हो सकता है कि यह वह विधि है जिसको किसी उच्चतर स्रोत से विधिमान्यता की आवश्यकता है और जब यह उच्चतर विधि के टकराव में आती है तो इसके बारे में यह नहीं समझा जा सकता और न यह समझा जाना चाहिए कि यह अविधिमान्य है। सम्भवतः इसके अन्तर्गत ही वह विधि नहीं है जो स्वयं विधिमान्यकरण करती है और जो कभी अविधिमान्य नहीं होती है। अनुच्छेद 13 में विधि की परिभाषा में विधि के उन समस्त रूपों को कमोबेश सांगोपांग रूप में प्रगणित किया गया है जिन्हें उच्चतर स्रोत से विधिमान्यता की आवश्यकता होती है और वे उस समय अविधिमान्य हो जाती है जब वे संविधान के टकराव में आती है। इस परिभाषा

में संविधायी संशोधन का उल्लेख नहीं है। यह इस कारण है कि संशोधन स्वयं संविधान है जो कभी भी प्रविधिमान्य नहीं हो सकता। जब प्रक्रिया का पालन हो जाता है तब संशोधन किया जाता है। एक बार जब प्रक्रिया का पालन हो जाता है तो यह संविधान का भाग हो जाता है।

'विधि' अभिव्यक्ति संविधान के भाग 3 के अनेक अनुच्छेदों में प्रयुक्त हुई है। ये अनुच्छेद 17, 19 का खण्ड (2) से (6), 21, 22, 25, 26, 31, 33, 34 और 35 है। यदि इसे स्पष्ट किया जाए तो जैसे अनुच्छेद 17 में यह उपबन्ध है कि अस्पृश्यता का अन्त किया जा सकता है और उसका किसी भी रूप में आचरण निषिद्ध किया जाता है। अनुच्छेद 17 में यह भी उपबन्ध है कि अस्पृश्यता से उद्भूत होने वाली किसी निर्योग्यता को लागू करना अपराध होगा। अनुच्छेद 17 में प्रयुक्त 'विधि' शब्द से संविधान अभिप्रेत नहीं है। संविधान में विधि के प्रवर्तन और विधि द्वारा दिए जाने वाले दण्ड का मामला छोड़ दिया गया है।

गोलक नाथ वाले मामले[1] में बहुमत का आधार कि अनुच्छेद 13(2) के अन्तर्गत उसके क्षेत्र के अधीन संविधायी विधि है यह है कि संशोधन एक विधायी प्रक्रिया है और वह विधायी शक्ति का प्रयोग है। बहुमत ने मैक्कॉर्ले बनाम किंग[2] और आइबरि कमिश्नर बनाम पैड्रिक राणासिंघे[3] वाले मामले के विनिश्चय को अपने इस मत के समर्थन के लिए अवलम्बन किया है कि मामूली विधान और सांविधानिक संशोधन के बीच कोई अन्तर नहीं है। शंकरी प्रसाद वाले मामले[4] में जो सर्वसम्मत विनिश्चय था उसका आधार यह है कि विधायी शक्ति और संविधायी शक्ति में अन्तर है। इसलिए गोलक नाथ वाले मामले[1] के बहुमत मत ने शंकरी प्रसाद वाले मामले[4] में दिए गए मत को उलट दिया। अनुच्छेद 13(2) में अभिव्यक्त रूप से यह घोषणा है कि भाग 3 द्वारा प्रदत्त अधिकारों को जो विधि छीनती है या न्यून करती है वह शून्य होगी। इस सिद्धान्त के अन्तर्गत लिखित संविधान में पाया जाने वाला अधिकारातीत का सिद्धान्त (डाक्ट्रीन ऑफ अल्ट्रावायरस) समाविष्ट है। ए० के० गोपालन बनाम मद्रास राज्य[5] वाले मामले में मुख्य न्यायाधिपति कानिया का यह मत था कि अनुच्छेद 13(2) इस कारण अत्यधिक सावधानी (*ex majore Cautela*) के रूप में जोड़ा गया क्योंकि यदि अनुच्छेद 13 भी न होता तो भी जो विधि मूल अधिकारों को न्यून करती है या छीनती है वह भाग 3 के मूल अधिकारों के उल्लंघन या असंगति की सीमा तक शून्य होती। यह अधिकारातीत के सिद्धान्त के प्रति निर्देश करती है जोकि हमारे संविधान की एक आवश्यक विवक्षा है। इसलिए अनुच्छेद 13(2) जो अभिव्यक्त रूप से अधिकारातीत के सिद्धान्त को प्रतिज्ञात करता है और अधिकारातीत के सिद्धान्त की आवश्यक विवक्षा में, जो हमारे संविधान के प्रत्येक भाग को लागू है, कोई अन्तर नहीं है। यदि 'अधिकारातीत के सिद्धान्त' अभिव्यक्ति द्वारा संविधान के भाग 3 का संशोधन

(1) (1967) 2 एस० सी० आर० 762.
(2) (1920) ए० सी० 691.
(3) (1965) एस० सी० 172.
(4) (1952) एस० सी० आर० 89.
(5) (1950) एस० सी० आर० 88.

उसके निर्बंधनों के प्रतिकूल निवारित करता है तो संविधान के दूसरे भागों का संशोधन उसके निबन्धनों के प्रतिकूल अधिकारातीत के विकसित सिद्धान्त द्वारा निवारित हो जाएगा। इसका परिणाम यह होगा कि संविधान का वह संशोधन, जो विद्यमान संशोधन के निबन्धनों का उल्लंघन करता है, शून्य होगा। इससे एक अनिश्चित स्थिति हो जाएगी। इसी कारण अनुच्छेद 368 में संविधान के संशोधन के लिए अभिव्यक्त उपबन्ध है।

पिटीशनर की ओर से श्री पालखीवाला ने यह दलील दी है कि संविधान का संशोधन अनुच्छेद 13(2) के अन्तर्गत विधि है और यह उस सीमा तक शून्य है जहां तक कि यह मूल अधिकारों का अतिक्रमण करता है और अनुच्छेद 368 इन कारणों से अनुच्छेद 13 पर न तो अभिभावी है और न ही अध्यारोही प्रभाव रखता है। तृतीय अनुसूची के, जिसमें कि 'विधि द्वारा स्थापित संविधान' शब्दों का प्रयोग हुआ है, शपथ के प्ररूप का भी हवाला दिया गया है। यह इस आशय से किया गया है कि हमारा संविधान विधि द्वारा मूलतः स्थापित हुआ था और इसलिए उसमें प्रत्येक संशोधन भी उसी प्रकार विधि द्वारा स्थापित हुआ माना जाएगा। यह भी कहा गया है कि अनुच्छेद 13 के अन्तर्गत निरसित इण्डियन इण्डिपेण्डेन्स ऐक्ट, 1947, गवर्नमेण्ट ऑफ इण्डिया ऐक्ट, 1935, भारती देशी रियासतों की सांविधानिक विधियां या विद्यमान ब्रिटिश भारत की दूसरी सांविधानिक विधियां हैं। इसलिए अनुच्छेद 13(2) में प्रयुक्त 'विधि' शब्द के अन्तर्गत सांविधानिक विधि भी है। अनुच्छेद 13(2) में प्रयुक्त 'विधि' शब्द के अन्तर्गत मामूली अर्थ में सांविधानिक विधि भी है और इसमें कोई कारण नहीं है कि 'विधि' शब्द को निर्बन्धित अर्थ में इसलिए पढ़ा जाए कि वह मामूली विधियों तक सीमित रहे। वास्तविक प्रश्न यह नहीं है कि क्या अनुच्छेद 368 में कोई परिसीमा के शब्द हैं बल्कि यह है क्या अनुच्छेद 13(2) में परिसीमा के कोई शब्द हैं। इसको व्याख्या यह अर्थ देने के लिए कि अनुच्छेद 368 और 13(2) में से किसी में परिसीमा होने का अर्थ लगाया जाता है तो कोई कारण नहीं है कि इसको इस रूप में पढ़ा जाए कि वह संसद् को मूल अधिकारों को छीनने या न्यून करने के लिए सशक्त करता है।

अनुच्छेद 368 में 'विधि' शब्द का बिल्कुल प्रयोग नहीं हुआ है। परिणामस्वरूप अनुच्छेद 368 की भाषा द्वारा अनुच्छेद 13(2) के लागू होने की बाबत कोई प्रश्न नहीं उठता है। इसकी कल्पना नहीं की जा सकती कि भारतीय देशी रियासतों की सांविधानिक विधियां या ब्रिटिश भारत की सांविधानिक विधियां हमारे संविधान के अस्तित्व में आने के पश्चात् सांविधानिक विधि के रूप में विद्यमान थीं। हमारा संविधान ही मूल विधि है। अन्य समस्त विधियां जो हमारे संविधान के अधीन प्रवर्तित हैं वे मामूली विधियां हैं। अनुच्छेद 13(2) के अधीन 'विधि' अभिव्यक्ति के अन्तर्गत जो संविधान के संशोधन को सम्मिलित करने की मूल गलती हुई है वह संविधायी और विधायी शक्तियों के बीच महत्वपूर्ण अन्तर को दृष्टि से ओझल करने के कारण तथा इन शक्तियों को गलत ढंग से समान स्तर पर रखने के कारण हुई है। अनुच्छेद 12 में 'राज्यों' की परिभाषा के अन्तर्गत संसद् है। संविधान के भाग 5 में संघ सरकार के तीनों अंगों की शक्तियों की बाबत उपबन्ध अन्तर्विष्ट है। भाग 5 का अध्याय 2 संसद् की विधायी शक्तियों से सम्बन्धित है। अनुच्छेद 79 के अधीन संसद् संविधान द्वारा उपबन्धित संघ का विधानमण्डल है। इसलिए अनुच्छेद 13(2) में प्रयुक्त 'विधि' से भाग 5 के

अध्याय 2 के अधीन कृत्य करते हुए संसद् द्वारा बनाई गई विधि अभिप्रेत है। इससे न तो स्वयं संविधान और न ही संविधान का संशोधन अभिप्रेत हो सकता है। कारण यह है कि संविधान अपने संशोधन के साथ सर्वोपरि प्राधिकार है और राज्य के तीनों अंग इसी सर्वोपरि प्राधिकार से शक्ति प्राप्त करते हैं।

जब 'विधि' शब्द सांविधानिक विधि की, जो कि मूल विधि है, बाबत प्रयुक्त किया जाता है और मामूली विधि केवल इसके समध्वनीय भिन्नार्थक शब्द नहीं है। यदि यहां 'विधि' शब्द समध्वनीय भिन्नार्थक शब्द नहीं है तब यह समझना गलत है कि जिन सारे मामलों को वह लागू की जाती है, समान रूप से उसकी एक क्वालिटी या क्वालिटियों का एक वर्ग धारण करती हो। कोई साधारण कसौटी या मानदण्ड है जिसके द्वारा मूल विधि के नियम या मामूली विधियों की पद्धति के नियमों की परीक्षा की जाती है या उन्हें पहचाना जाता है। जब 'विधि' शब्द सांविधानिक विधि के सम्बन्ध में प्रयुक्त किया जाता है तब उसका वही अर्थ नहीं हो सकता जो साधारण विधि का होता है। साधारण विधि से इसके अन्तर के बावजूद सांविधानिक विधि के सम्बन्ध में 'विधि' शब्द को प्रयुक्त करना मनमाना नहीं है।

श्री पालखीवाला ने यह दलील दी है कि हमारे संविधान से पूर्व देशी रियासतों और ब्रिटिश भारत की सांविधानिक विधियां अनुच्छेद 372 के अधीन प्रवृत्त विधियों के रूप में विद्यमान थीं। अनुच्छेद 372 इसलिए आवश्यक हो गया कि वह 1935 के ऐक्ट तथा इण्डियन इण्डिपेण्डेन्स ऐक्ट, 1947 के निरसन के पश्चात् गवर्नमेण्ट ऑफ इण्डिया ऐक्ट, 1935 की धारा 392 के समान उपबन्ध करे। अनुच्छेद 372 का प्रयोजन भारत में विद्यमान किसी विधि की सम्भावना को समाप्त करना है क्योंकि इसके बारे में यह माना गया है कि यह इसके अधिनियमन को प्राधिकृत करने वाली विधि के निरसन के कारण प्रवर्तन में नहीं रह गई। अनुच्छेद 372 के रूप का यह अपवाद वाला खण्ड केवल इसलिए रखा गया है कि जिससे निरसित संविधान के अधीन बनाई गई विधियों को चुनौती देने से बचाया जाए। तत्समय ब्रिटिश भारत में बनाई गई समस्त विधियों को गवर्नमेण्ट ऑफ इण्डिया ऐक्ट, 1935 के कारण केवल 14 अगस्त, 1947 तक विधिक प्राधिकार प्राप्त था। गवर्नमेण्ट ऑफ इण्डिया ऐक्ट, 1935 अनुकूलनों सहित, तथा इण्डियन इण्डिपेण्डेन्स ऐक्ट, 1947 द्वारा 25 जनवरी, 1950 तक उन विधियों के प्राधिकार को परिरक्षित रखा गया। यहां तक तो यह विवादहीन है कि गवर्नमेण्ट ऑफ इण्डिया ऐक्ट, 1935 तथा इण्डियन इण्डिपेण्डेन्स ऐक्ट, 1947 निरसित कर दिए गए तो उन अधिनियमों का प्रतिनिधित्व करने वाली सांविधानिक विधियों का निरसन हो गया। हमारे संविधान द्वारा हमारे देश में प्रचलित समस्त दूसरी सांविधानिक विधियों का निरसन हो गया है। देशी रियासतों में के 'संविधान' का भी निरसन हो गया है।

अब संविधान के उन उपबन्धों के बीच के अन्तर का प्रश्न उठता है जो सांविधानिक विधि के रूप में वर्णित हैं और कानून के उन उपबन्धों के, जो ऐसे कानून से सम्बन्धित हैं जिसके सांविधानिक पक्ष हैं, रूप में वर्णित है। पश्चात्वर्ती प्रकार के लिए ऐसे कानून को उदाहरणस्वरूप लिया जा सकता है जो न्यायपालिका के लिए उपबन्ध करता है। श्री सीरवाई ने सही ही कहा है कि पालखीवाला की दलील में सांविधानिक विधि के दो सुभिन्न अर्थ मिश्रित कर दिए गए हैं। पहले अर्थ में सांविधानिक विधि

संविधान के उपबन्ध को लागू होती है और दूसरे अर्थ में विषयवस्तु के कुछ वर्गों से सम्बन्धित संविधान के अधीन अधिनियमित विधि को लागू होती है। दूसरे वर्ग की विधियां बदलती रहती हैं। संविधान का संशोधन स्वयं संविधान का भाग बन जाता है। श्री सीरवाई ने यह सही दलील दी है कि यह दर्शित करने के लिए कि अनुच्छेद 13(2) में प्रयुक्त 'विधि' शब्द अन्तर्गत संविधान का संशोधन है। यह भी आवश्यक है कि यह दर्शित किया जाए कि अनुच्छेद 13(1) में प्रयुक्त 'प्रवृत्त विधियां' अभिव्यक्ति के अन्तर्गत सांविधानिक संशोधन या स्वयं संविधान हैं। इस दलील को स्वीकार करना असम्भव है कि अनुच्छेद 13(2) में प्रयुक्त विधि के अन्तर्गत संविधान है। स्वयं संविधान के अन्तर्गत संविधान नहीं हो सकता। यह वह संविधान है जो प्रवृत्त विधियों को बनाए रखता है। इसलिए अनुच्छेद 13 में प्रयुक्त विधि संविधान से भिन्न कोई दूसरी विधि है और यह बात और बलवती है कि यह संविधान के संशोधन से भिन्न है।

जब यह संविधान प्रवृत्त हुआ तो गैर ब्रिटिश राज्य-क्षेत्र में देशी रियासतों का संविधान सही अर्थ में सांविधानिक विधि का स्वरूप खो बैठा। उसी यथार्थ भाव में न्यायाधिपति वांचू ने गोलक नाथ वाले मामले[1] में यह सही ही कहा था कि हमारे संविधान के अस्तित्व में आने के पश्चात् कोई दूसरी सांविधानिक विधि विद्यमान नहीं थी। हमारे संविधान के अनुच्छेद 353 में यह कथन है कि संविधान को 'भारत का संविधान' कहा जाएगा। प्रस्तावना में यह कथन है कि संविधान सभा के लोगों ने इस संविधान को 'भारत का संविधान' का अर्थ दिया था। इसलिए उन्होंने जो अपने को आत्मार्पित किया था वह कोई दूसरा संविधान नहीं था और दूसरी विधियां चाहे यथार्थ सांविधानिक विधि के रूप में उनका पूर्ववर्ती स्वरूप कुछ भी रहा हो, हमारे संविधान के उपबन्धों के अध्यधीन वे अधीनस्थ विधियां हो गईं और यही स्थिति अनुच्छेद 372 की भाषा से स्पष्ट है। व्यापक अर्थ में विधि के अन्तर्गत संविधान तथा विधानमण्डल द्वारा अधिनियमित विधि है। यद्यपि विधायी शक्ति का प्रयोग करके बनाई गई मामूली विधि तथा संविधायी शक्ति का प्रयोग करके बनाई गई संविधायी विधि के बीच स्पष्ट सीमा-रेखा है। इसलिए संविधान को संशोधित करने की शक्ति मामूली विधि में संशोधन करने की शक्ति से भिन्न है। श्री पालखीवाला ने यह कहा है कि विधायी शक्ति विधि बनाने की शक्ति है तथा संविधायी शक्ति संविधायी विधि बनाने या संशोधित करने की शक्ति है और चूंकि विधि के मामूली अर्थों के अन्तर्गत संविधायी विधि है इसलिए विधायी शक्ति मूल शाखा है और संविधायी शक्ति उसकी शाखा है। परिवर्तनशील या अनियन्त्रित संविधान में विधायी तथा संविधायी शक्ति के बीच का अन्तर धारणात्मक है जो विषय-वस्तु पर निर्भर करता है। इंग्लैण्ड में बनाया गया डॉग ऐक्ट प्रथम दृष्टया विधायी शक्ति के प्रयोग में बनाया गया है। बिल ऑफ राइट्स विद्यमान संविधायी व्यवस्थाओं में रूपान्तरण करते हुए विधायी शक्ति के प्रयोग द्वारा बनाया गया था। किन्तु इस धारणात्मक अन्तर से कोई भिन्न-विधिक परिणाम नहीं निकलते हैं। चूंकि डॉग ऐक्ट के उपबन्ध बिल ऑफ राइट्स के पूर्ववर्ती उपबन्धों से असंगत थे इसलिए इतने के लिए वे उपबन्ध निरसित हो जाएंगे। अपरिवर्तनीय या नियन्त्रित संविधान में विधायी शक्ति और संविधायी शक्ति में अन्तर केवल धारणात्मक ही नहीं है अपितु ऐसा तात्त्विक और महत्वपूर्ण है जिससे कि विधिक परिणाम निकलते हैं। नियन्त्रित संविधान में यह कहना सही नहीं है कि विधायी शक्ति

(1) (1967) 2 एस० सी० आर० 762.

मूल है और संविधायी शक्ति उसकी शाखा है। तब तुरन्त प्रश्न यह उठता है कि वह कौन-सा अन्तर है जिससे एक ही मूल की, एक जाति से दूसरी जाति में, सुभिन्नता प्रकट होती है। यह कहना सही होगा कि विधि बनाने की शक्ति मूल शक्ति है और विधायी शक्ति और संविधायी शक्ति उसकी जातियां हैं। यह अन्तर मामूली विधि बनाने के लिए विहित शक्ति से सुभिन्न संविधायी शक्ति के प्रयोग के लिए विहित भिन्न प्रक्रिया में पाई जाती है। विधायी शक्ति और संविधायी शक्ति के बीच जो अन्तर है वह अपरिवर्तनीय या नियन्त्रित संविधान में महत्वपूर्ण है क्योंकि यह वह अन्तर है जो इस सिद्धान्त को जन्म देता है कि जो विधि संविधान के अधिकारातीत होती है वह शून्य हो जाती है। चूंकि संविधान विधिमान्यता की कसौटी है और इसलिए संविधान का कोई भी उपबन्ध अधिकारातीत नहीं हो सकता।

हमारे संविधान के अधीन गठित विधानमण्डलों को सप्तम अनुसूची की सूची 1 से 3 में दर्शित विषयों तथा संविधान के कुछ उपबन्धों में विनिर्दिष्ट रूप से समाविष्ट विषयों पर विधियां अधिनियमित करने की शक्ति है। विधियां अधिनियमित करने की शक्ति के अन्तर्गत उनको संशोधित या निरसित करने की शक्ति आती है। विधानमण्डलों की इन शक्तियों के अन्तर्गत संविधान को संशोधित करने की शक्ति नहीं है क्योंकि यह वह संविधान-सभा है जिसने इस संविधान को अधिनियमित किया था और अनुच्छेद 368 द्वारा संसद् और विधानमण्डलों को जो स्वरूप दिया गया है वह संविधान सभा का स्वरूप है। समस्त परिसंघीय संविधानों के लिए संविधान को संशोधित करने की शक्ति तथा विधियां अधिनियमित करने की मामूली शक्ति के बीच मूल अन्तर है। जब संसद् संशोधन की प्रक्रिया में संलग्न रहती है तो यह विधान नहीं बनाती है। यह एक विशिष्ट प्रकार की शक्ति का प्रयोग करती है यह संविधान के संशोधन करने वाले खण्डों द्वारा उसको प्रदत्त शक्ति अनन्य है। इस प्रकार अनुच्छेद 368 के अधीन संविधान का संशोधन एक संविधायी विधि है और अनुच्छेद 13(2) के अर्थान्तर्गत अनुच्छेद 13(3)(क) में यथा परिभाषित रूप में विधि नहीं है।

यह प्रक्रिया कि संविधान के संशोधन का विधेयक संसद् के किसी सदन में पुरःस्थापित किया जाता है और दोनों सदनों द्वारा पारित किया जाता है इससे संविधान-सभा के रूप में संविधान का संशोधन करने का संसद् का स्वरूप परिवर्तित नहीं होता है और उससे संघ विधानमण्डलों का स्वरूप उसे प्राप्त नहीं होता है। उस प्रक्रम पर यह कहा गया है कि शंकरी प्रसाद वाले मामले(1) में यह कहा गया था कि व्यापक अर्थों के अन्तर्गत संविधान तथा संशोधन करने की प्रक्रिया मामूली विधायी प्रक्रिया से मिली हुई है। इस प्रक्रिया का मिश्रण दोनों प्रक्रियाओं को समान नहीं बनाता है। न तो दोनों पृथक् शक्तियों का स्वरूप ही नष्ट होता है। संविधान-सभा जो 19 दिसम्बर, 1946 को संविधान विरचित करने के लिए बुलाई गई थी, उसे स्वतन्त्रता के पश्चात् विधायी शक्ति भी विनिहित की गई थी। इसने संविधान-सभा के रूप में संविधान को विरचित किया। इसने विधानमण्डल के रूप में मामूली विधियों को अधिनियमित किया है। अमरीका के संविधान के अनुच्छेद 5 के अधीन कांग्रेस न केवल विधानमण्डल के रूप में कृत्य करती है अपितु संविधान-सभा के रूप में भी। आस्ट्रेलिया में जब संशोधन का विधेयक कॉमनवैल्थ की

(1) (1952) एस० सी० आर० 89.

पार्लियामेण्ट द्वारा पारित किया जाता है तो उसे निर्वाचक मण्डल के निर्णय के लिए रखा जाता है। यह प्रक्रिया कॉमनवैल्थ की पार्लियामेण्ट की मामूली विधायी प्रक्रिया नहीं है। हमारे संविधान में जब अनुच्छेद 368 के परन्तुक के अन्तर्गत किया जाता है तो इसे राज्य विधानमण्डलों के कम से कम आधे की संख्या द्वारा अनुसमर्थित होना चाहिए। यह प्रक्रिया मामूली विधायी प्रक्रिया से मूल रूप में भिन्न है। संघ विधानमण्डल का भाग 5 के अध्याय 2 के अधीन कृत्य करते हुए राज्य विधानमण्डलों से कोई सम्बन्ध नहीं है इसलिए जब संशोधन अनुच्छेद 368 के परन्तुक के अधीन किया जाता है तो संसद् संघ विधानमण्डल के रूप में कृत्य नहीं करती। इस तथ्य से कि संविधान के संशोधन के लिए विधेयक को पारित करने के लिए मामूली विधायी प्रक्रिया को अंगीकृत करना पड़ता है, कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। यदि संविधान निर्माताओं का यह आशय रहा होता कि संशोधन करने की शक्ति संघ विधानमण्डल पर छोड़ दी जाए तो बिना पृथक भाग अधिनियमित किए इसके निमित्त भाग 5 के अध्याय 2 में एक उपबन्ध अन्तः-स्थापित करना तथा संविधान के संशोधन के लिए उपबन्ध अन्तःस्थापित करना पर्याप्त होता।

अनुच्छेद 368 के खण्ड (ई) में स्वयं अनुच्छेद का संशोधन किया जा सकता है। इसलिए अनुच्छेद 368 का संशोधन, जिसमें कि भाग 3 के उपबन्धों को संशोधित करने के लिए उपबन्ध है, संविधायी होंगे। यदि अनुच्छेद 13(2) का यह आशय था कि अनुच्छेद 368 के खण्ड (ई) के लागू होने से पूर्णतया भाग 3 को अपवर्जित किया जाए तो इसे अधिनियमित न किया होता। संविधान-सभा ने इस प्रकार अनुच्छेद 368 को इसलिए अधिनियमित किया कि संशोधन करने की शक्ति न तो इतनी कठिन हो और न ही इतनी सरल। अनुच्छेद 368 के खण्ड (ई) द्वारा यह अपेक्षित है कि संशोधन राज्यों के आधे से न्यून विधानमण्डलों द्वारा अनुसमर्थित किया जाए। भाग 20 का नाम तथा अनुच्छेद 368 के प्रारम्भिक शब्द यह दर्शित करते हैं कि यह उपबन्ध 'संविधान का संशोधन' करने के लिए किए गए हैं जो मामूली भाव में यह अर्थ रखता है कि संविधान का प्रत्येक भाग संशोधित किया जा सकता है। इसके अन्तर्गत स्वतः अनुच्छेद 368 भी आता है। जो संशोधन किए जा सकते हैं उन पर कोई परिसीमा या अपवाद अधिरोपित नहीं किया गया है। यह अनुमेय नहीं है कि अनुच्छेद 368 में परिसीमा के वे शब्द जोड़े जाएं जो कि वहां नहीं हैं।

संविधान के संशोधन का सूत्रपात संसद् द्वारा किया जाता है न कि राज्यों द्वारा। संशोधन का विधेयक संसद् के किसी सदन में पुरःस्थापित किया जाता है। पुनः इस विधेयक को उपस्थित तथा मतदान करने वाले सदस्यों के दो-तिहाई के अन्यून बहुमत से प्रत्येक सदन द्वारा पारित किया जाना चाहिए। प्रत्येक सदन के लिए अपेक्षित गणपूर्ति उसके कुल सदस्यों का बहुमत है। परन्तुक के अधीन आने वाले मामले में संशोधन को राज्यों के आधे से अन्यून विधानमण्डलों द्वारा अनुसमर्थित किया जाना चाहिए। मामूली विधायी प्रक्रिया पूर्णतः भिन्न होती है। किसी विधि का सूत्रपात करने वाला कोई विधेयक सदन की बैठक में उपस्थित तथा मत देने वाले सदस्यों के बहुमत द्वारा या दोनों सदनों की संयुक्त बैठक द्वारा पारित किया जा सकता है। प्रत्येक सदन की बैठक की गणपूर्ति सदन के कुल सदस्यों का दसवां भाग है।

विधायी प्रक्रिया अनुच्छेद 100 के साथ पठित अनुच्छेद 107 से 111 में विहित की गई है। अनुच्छेद 100 में यह उपबन्धित है "इस संविधान में अन्यथा उपबन्धित अवस्था को छोड़ कर किसी सदन की किसी बैठक में अथवा सदनों की संयुक्त बैठक में सब प्रश्नों का निर्धारण ××× उपस्थित तथा मत देने वाले सब सदस्यों के बहुमत से किया जाएगा"। यद्यपि अनुच्छेद 368 में दो भाग हैं किन्तु अनुच्छेद अपने में समग्र रूप से पूर्ण है जैसा कि इन शब्दों "संशोधन के लिए अनुसमर्थन भी अपेक्षित होगा" से स्पष्ट है। अनुच्छेद 368 के प्रथम भाग द्वारा यह अपेक्षित है कि विधेयक को (1) उस सदन के कुल सदस्यों के बहुमत द्वारा तथा (2) उपस्थित और मतदान देने वाले सदस्यों के दो तिहाई से अन्यून बहुमत द्वारा प्रत्येक सदन में इसे पारित होना चाहिए। इन उपबन्धों से दोनों सदनों के बीच असहमति को सुलझाने के लिए अनुच्छेद 108 के अधीन जो दोनों सदनों की संयुक्त बैठक की जाती है इसमें यह नहीं है। पुनः, विधेयक को प्रत्येक सदन में पारित किए जाने की अपेक्षा अनुच्छेद 100 में उपस्थित और मतदान देने वाले सदस्यों के बहुमत के रूप में नहीं है किन्तु प्रत्येक सदन के कुल सदस्यों का बहुमत है तथा उस सदन में उपस्थित तथा मतदान देने वाले सदस्यों के दो तिहाई से अन्यून बहुमत है। यह उपबन्ध संविधान का संशोधन करते समय महत्वपूर्ण सुरक्षा ही नहीं है अपितु विधायी शक्ति की तुलना में संविधायी शक्ति के लक्षणों का अन्तर भी बताते हैं। असंशोधित अनुच्छेद 368 के प्रथम भाग के अधीन जब विधेयक प्रत्येक सदन में अपेक्षित बहुमत द्वारा पारित किया जाता है तो विधेयक को राष्ट्रपति की अनुमति के लिए रखा जाता है।

संसद् की विधियां अधिनियमित करने की शक्ति न तो राज्य विधानमण्डलों पर निर्भर करती है न ही वह राज्य विधानमण्डलों के बहुमत द्वारा नष्ट की जा सकती है। अनुच्छेद 368 के परन्तुक के उपबन्ध, जो राज्य के विधानमण्डलों के अनुसमर्थन के निमित्त हैं, संसद् की मामूली विधायी शक्ति से तात्विक रूप से पृथक् हैं। अनुसमर्थन की राज्य विधायी प्रक्रिया को मामूली विधायी प्रक्रिया के समान नहीं माना जा सकता। यदि विधेयक अनुसमर्थित नहीं होता है तो विधेयक असफल हो जाता है। यदि यह अनुसमर्थित हो जाता है तो वह राष्ट्रपति के समक्ष उनकी अनुमति के लिए रखा जाता है। यदि राष्ट्रपति अनुच्छेद-368 द्वारा विहित प्रक्रिया पर अपनी अनुमति देते हैं तो वह प्रक्रिया समाप्त हो जाती है और वे विहित परिणाम परिवर्तन में आते हैं कि संविधान विधेयक के निबन्धनों में संशोधित हो जाए। किन्तु यह परिणाम विधि नहीं है, अपितु संशोधन का एक भाग है और कोई न्यायालय संशोधन के किसी भाग के बारे में यह निर्णय नहीं दे सकता कि वह अविधिमान्य है।

राज्य विधानमण्डलों द्वारा अनुसमर्थन की शक्ति का प्रयोग एक विधायी शक्ति है और वह मामूली विधि बनाने वाली शक्ति नहीं है। यह नहीं कहा जा सकता कि इस परन्तुक के अधीन अनुच्छेद 368 संविधायी शक्ति प्रदत्त करता है न कि मुख्य भाग के अधीन। यदि प्रक्रिया का अनुसरण किया गया है तो संशोधन की अविधिमान्यता का कोई प्रश्न नहीं उठता है।

अनुच्छेद 4, 169, पंचम अनुसूची के पैरा 7(2) तथा षष्ठ अनुसूची के पैरा 21(2) के उपबन्धों को यह दर्शित करने के लिए उनका हवाला दिया गया है कि इन उपबन्धों में प्रयुक्त "विधि" शब्द संविधान के संशोधनों से सम्बन्धित है। ये चार

उपबन्ध संसद् को संशोधन की सीमित शक्ति प्रदत्त करते हैं। इन चारों उपबन्धों में दो बातें समान हैं। प्रथम, वे संसद् को विधि बनाने की ऐसी शक्ति प्रदत्त करते हैं जिसमें अन्य बातों के साथ-साथ संशोधनों के एक विनिर्दिष्ट वर्ग के लिए उपबन्ध है। द्वितीय, इन उपबन्धों में यह कथन है कि यथा पूर्वोक्त ऐसी किसी विधि को अनुच्छेद 368 के प्रयोजन के लिए संविधान का संशोधन नहीं समझा जाएगा। इन चारों उपबन्धों के अधीन संशोधन की विनिर्दिष्ट संशोधनों के लिए शक्ति है न कि विधायी सूची या अवशिष्ट विधायी सूची में अन्तर्विष्ट विधायी शक्ति।

अनुच्छेद 4 के अधीन संशोधन से वह विधि अभिप्रेत है जिसमें नये राज्यों के बनाने तथा वर्तमान राज्यों के क्षेत्रों, सीमाओं और नामों को बदलने का उपबन्ध है। संसद् के लिए यह बाध्यता है कि वह अनुसूची 1 से 4 में संशोधन करे और उसे ऐसे संशोधन करना भी आवश्यक है जो अनुपूरक, प्रासंगिक और आनुषंगिक हों। ऐसी विधि बनाने में, जहां तक कि वह राज्य को प्रभावित करती है और संघ राज्य-क्षेत्र को प्रभावित नहीं करती, एक विशेष प्रक्रिया का अनुसरण करना होगा।

अनुच्छेद 169 के अधीन राज्य विधान परिषदों के उत्सादन और सृजन के लिए उपबन्ध है। संसद् को विधान सभा के इस उद्देश्य का संकल्प सभा की समस्त सदस्य संख्या के बहुमत से तथा उपस्थित और मतदान देने वाले सदस्यों की संख्या के दो तिहाई से अन्यून बहुमत के आधार पर पारित करने की शक्ति है। यदि संसद् ऐसी विधि बनाती है तो उसे संविधान में आवश्यक संशोधन करने होंगे।

अनुसूची 5 और 6 में अनुसूचित एवं आदिमजाति क्षेत्रों के प्रशासन के लिए उपबन्ध हैं जो भाग 10 द्वारा शासित होते हैं न कि उस भाग 11 द्वारा जिससे संघ और राज्य शासित होते हैं। अनुसूचियां उन क्षेत्रों के शासन की रीति के लिए उपबन्ध करती हैं जो राज्यों और संघ की सरकार से मूल रूप से भिन्न हैं। भाग 11 के विपरीत संविधान का भाग 10 "इस संविधान के उपबन्धों के अध्यधीन" नहीं है। पंचम अनुसूची के पैरा 7 और षष्ठ अनुसूची का पैरा 21 संसद् को विधि द्वारा सूचियों में संशोधन करने की शक्ति प्रदत्त करते हैं किन्तु ऐसी विधि बनाने के लिए कोई विशेष प्रक्रिया नहीं विहित की गई है।

प्रस्तुत मामले में यद्यपि इन चारों उपबन्धों के बारे में कोई प्रश्न नहीं उठता है। अनुच्छेद 368 में "विधि" शब्द बिल्कुल ही प्रयुक्त नहीं हुआ है। संशोधन के ये चारों उपबन्ध उन बातों से सम्बन्धित हैं जिनके बारे में यह वांछनीय नहीं समझा गया कि उन पर अनुच्छेद 368 की अपेक्षाएं अधिरोपित की जाएं और इसलिए स्पष्ट रूप से यह उपबन्धित करना आवश्यक हो गया कि ऐसे संशोधन अनुच्छेद 368 के प्रयोजन के लिए संविधान के संशोधन नहीं समझे जाएंगे। इन चारों उपबन्धों से संविधायी शक्ति तथा विधायी शक्ति के बीच का अन्तर दर्शित होता है। यदि संशोधन की शक्ति संघ सूची की प्रविष्टि 97 में स्थित है तो यह आवश्यक नहीं होगा कि इन चारों उपबन्धों में पुनः संशोधन की शक्ति प्रदत्त की जाए। ये चारों उपबन्ध यह दर्शित करते हैं कि संविधान निर्माताओं का यह आशय था कि इस संविधान के उपबन्धों में संशोधन करने की शक्ति संसद् को प्रदत्त करें और इन चारों उपबन्धों के अन्तर्गत आने वाले मामलों की बाबत अनुसरण की जाने वाली विशिष्ट प्रक्रिया को उपबन्धित करने के पश्चात्

उन्होंने अनुच्छेद 368 की अपेक्षाओं को पालन करने के पश्चात् दूसरे अनुच्छेदों में संशोधन करने की साधारण शक्ति संसद् को प्रदत्त की।

गोलक नाथ वाले मामले (1) में बहुमत वाले मत में यह कहा गया है कि संसद् या तो अवशिष्ट शक्ति के अधीन प्रत्यक्षतः या अवशिष्ट प्रविष्टि के अधीन विधि बना कर मूल अधिकारों में संशोधन करने के लिए संविधान सभा बुला सकती है। ये दो मत जिससे बहुमत वाला मत बनता था उनमें से एक मत द्वारा इस बाबत कोई राय अभिव्यक्त नहीं की गई कि क्या ऐसी संविधान सभा मूल अधिकारों को छीन सकती है या न्यून कर सकती है किन्तु दूसरे मत द्वारा यह राय अभिव्यक्त की गई कि ऐसी संविधान सभा मूल अधिकारों को न्यून कर सकती है। गोलक नाथ वाले मामले (1) में बहुमत का जो मत था वह यह था कि संसद् एक गठित निकाय है न कि एक संविधायी निकाय और एक गठित निकाय मूल अधिकारों को न तो न्यून कर सकता है और न छीन सकता है। बहुमत वाले मत से यह दर्शित होता है कि मूल अधिकारों को संशोधन करने के लिए संविधायी शक्ति अपेक्षित है।

बहुमत वाले मत में इस पक्ष की पूर्णतः उपेक्षा की गई है कि संविधायी शक्ति अनुच्छेद 368 में विद्यमान है और इसलिए उस अनुच्छेद में संशोधन अनुच्छेद 13(2) के अर्न्तगत विधि नहीं है। यदि संसद् एक गठित निकाय है जैसा कि गोलक नाथ वाले मामले (1) में बहुमत वाले मत में कहा गया था तो यह अभिनिर्धारित करना कठिन होगा कि ऐसी शक्ति द्वारा किसी संविधान सभा का जन्म हो सकता है। इस सुविज्ञात सिद्धान्त से कि जो बात प्रत्यक्षतः नहीं की जा सकती उसे अप्रत्यक्षतः नहीं किया जा सकता, बहुमत वाले मत की बुनियादी कमजोरी सिद्ध हो जाती है। यदि मूल अधिकार अवशिष्ट प्रविष्टि के अधीन संविधान सभा बुला कर संसद् द्वारा कम किए जा सकते हैं तो ऐसी संविधान सभा संसद् से भिन्न निकाय होगी और वह अपनी कार्यवाही के नियम बनाएगी और अनुच्छेद 368 उसको किसी भी रूप में लागू नहीं होगा। यह एक आश्चर्यजनक एवं भयप्रद परिणाम होगा।

अनुच्छेद 368 को अन्तर्विष्ट करने वाली संविधान की स्कीम में संविधान सभा को संविधायी साधनों के परे माना जाएगा और उसे संविधान के अधीन नहीं माना जाएगा। संविधान केवल संविधान में अधिकथित प्रक्रिया के अनुसार ही संशोधित किया जा सकता है और संविधान के संशोधन के लिए जो उपबन्ध हैं उसमें दर्शित विषयों के अतिरिक्त कोई और दूसरी रीति संविधायी रूप से सम्भव नहीं है। एक बार जब उसमें उल्लिखित निकायों में संविधान संशोधन की शक्ति विनिहित कर देता है तो संविधान का संशोधन करने के लिए केवल वही निकाय रहता है। जिन लोगों ने संविधान को आत्मार्पित किया है उन्होंने उसमें परिवर्तन करने की रीति को भी अभिव्यक्त किया है।

अपरिवर्तनीय संविधान में संविधायी और विधायी शक्ति का अन्तर उसके इस लक्षण से ज्ञात होता है कि संशोधन में अपनाई जाने वाली प्रक्रिया इस प्रक्रिया से भिन्न होती है जिसके द्वारा मामूली विधि में परिवर्तन किया जाता है। इसलिए संशोधन की शक्ति के बारे में यह कहा जाता है कि जब भी प्रत्येक समय संसद्

(1) (1967) 2 एस० सी० आर० 762.

अनुच्छेद 368 के अनुसार संविधान का संशोधन करती है तो संविधान सभा का पुनर्सृजन हो जाता है।

मैक्कॉले बनाम किंग (1) तथा ब्राइबरि कमिश्नर बनाम रानासिंघे (2) के जो दो विनिश्चय हैं, जिनका गोलक नाथ वाले मामले (3) में यह अभिनिर्धारित करने के लिए अवधारण किया गया है कि संविधान का संशोधन एक मामूली विधायी प्रक्रिया है। उनसे उस निष्कर्ष को समर्थन नहीं मिलता है। संशोधन की बाबत परिवर्तनीय या अनियंत्रित तथा अपरिवर्तनीय या नियंत्रित संविधानों में यह अन्तर है कि अपरिवर्तनीय या नियंत्रित संविधान में संशोधन के लिए विशेष रीतियां हैं। अपरिवर्तनीय संविधान में, संशोधन मामूली विधायी शक्ति के प्रयोग से नहीं किया जाता है। इसलिए अपरिवर्तनीय संविधान में संशोधन की शक्ति को संविधायी शक्ति के रूप में इसलिए वर्णित किया जाता है कि उसकी शक्ति की प्रकृति भिन्न है। परिवर्तनीय संविधान में संशोधन की जो प्रक्रिया है वह मामूली विधि बनाने के समान है। जब संविधान अनियंत्रित रहता है तो विधायी और संविधायी शक्तियों के बीच का अन्तर इसलिए समाप्त हो जाता है क्योंकि संशोधन की असंगति में बनाई गई कोई विधि, जैसा कि मैक्कॉले वाले मामले(1) में अभिनिर्धारित किया गया था, संविधान को उस असंगति की सीमा तक निरसित कर देता है। डाइसी ने अपनी पुस्तक लॉ ऑफ कांस्टिट्यूशन (दसवां संस्करण) में इस मत को अपनी राय द्वारा इस प्रकार स्पष्ट किया है कि यदि डेण्टिस्ट्स ऐक्ट बिल ऑफ राइट्स के किसी भी रूप में प्रतिकूल है जिसे कि संविधायी दस्तावेज के रूप में वर्णित किया गया है तो डेण्टिस्ट्स ऐक्ट अभिभावी रहेगा। परिवर्तनीय या अलिखित संविधान में शब्द संविधायी विधि इसलिए स्पष्ट नहीं होती है क्योंकि यह विधि की विषयवस्तु की बाबत प्रयुक्त होती है अर्थात् विधानमण्डल से सम्बन्धित विधि अपरिवर्तनीय और लिखित संविधान में जो कुछ भी संविधान में है वह संविधान की विधि है।

मैक्कॉले वाले मामले(1) में क्वीन्सलैण्ड की सुप्रीम कोर्ट के न्यायाधीश के रूप में मैक्कॉले की नियुक्ति की विधिमान्यता को इस अभिकथन पर चुनौती दी गई थी कि यह शून्य है कि इण्डस्ट्रियल आर्बिट्रेशन ऐक्ट, 1916 की धारा 6 की उपधारा (6) कांस्टिट्यूशन ऐक्ट ऑफ क्वीन्सलैण्ड, 1867 के उपबन्धों के प्रतिकूल है। इण्डस्ट्रियल आर्बिट्रेशन ऐक्ट, 1916 की धारा 6 की उपधारा (6) द्वारा गवर्नर को इस निमित्त प्राधिकृत किया गया था कि कोर्ट ऑफ इण्डस्ट्रियल आर्बिट्रेशन के किसी न्यायाधीश को सुप्रीम कोर्ट ऑफ क्वीन्सलैण्ड का न्यायाधीश नियुक्त करे और उसमें यह उपबन्ध था कि इस प्रकार नियुक्त उस न्यायाधीश को दोनों पदों की अधिकारिता होगी और अपने उत्तम आचरण पर्यन्त सुप्रीम कोर्ट के न्यायाधीश के रूप में पदधारित करेगा। इस उपधारा में आगे यह उपबन्ध था कि कोर्ट ऑफ इण्डस्ट्रियल आर्बिट्रेशन का न्यायाधीश सात वर्षों के लिए पद धारित करेगा। गवर्नर इन काउन्सिल ने धारा 6 की उपधारा (6) का आश्रय लेते हुए कमीशन द्वारा मैक्कॉले को उसके उत्तम आचरण पर्यन्त सुप्रीम कोर्ट का न्यायाधीश नियुक्त किया जो कोर्ट ऑफ इण्डस्ट्रियल आर्बिट्रेशन का न्यायाधीश और

(1) (1920) ए० सी० 691.
(2) (1965) ए० सी० 172.
(3) (1967) 2 एस० सी० आर० 762.

अध्यक्ष था । 1867 के संविधान की धारा 15 और 16 द्वारा सुप्रीम कोर्ट के न्यायाधीश उस काल तक के लिए पद धारित कर सकते थे जब तक कि वे उत्तम आचरण रखते थे। दलील यह थी कि इण्डस्ट्रियल आर्बिट्रेशन ऐक्ट, 1916 के अधीन सात वर्ष की सीमित कालावधि के लिए मैक्कॉले की नियुक्ति इसलिए अविधिमान्य है कि चूंकि यह ऐक्ट कांस्टिट्यूशन ऐक्ट, 1867 के असंगत है और यह भी कि 1916 का ऐक्ट कांस्टिट्यूशन ऐक्ट के उपबन्धों को निरसित या उपान्तरित नहीं कर सकता है।

प्रिवी काउन्सिल ने यह अभिनिर्धारित किया कि क्वीन्सलैण्ड के विधानमण्डल को कालोनियल लॉज वैलीडिटी ऐक्ट, 1865 की धारा 5 तथा इसके अतिरिक्त आर्डर इन काउन्सिल ऑफ 1859 के खण्ड 2 और 22 ऐक्ट की धारा 7, 18 और 19 विक्ट० सी० 54 तथा कांस्टिट्यूशन ऐक्ट, 1867 की धारा 2 और 9 के अधीन सीमित कालावधि के लिए सुप्रीम कोर्ट के न्यायाधीश की नियुक्ति के लिए प्राधिकृत करने की शक्ति है। ऐक्ट की धारा 7 तथा 9 विक्ट० सी० 54 का यह आशय है कि आर्डर इन काउन्सिल कालोनी की सरकार के लिए तथा विधानमण्डल की स्थापना के लिए उपबंध करे। आर्डर इन काउन्सिल, 1859 के खण्ड 2 द्वारा कालोनी के विधानमण्डल को इस निमित्त और उपबन्ध बनाने की पूर्ण शक्ति प्रदत्त की गई है। 1859 के आर्डर इन काउन्सिल के खण्ड 22 द्वारा विधानमण्डल को समय-समय पर इस आर्डर के उपबन्धों में से समस्त को या किसी को संशोधित करते हुए या निरसित करते हुए विधियां बनाने की उसी प्रकार पूर्ण शक्ति और प्राधिकार दिया गया है जैसे कि कालोनी के सुशासन के लिए किसी दूसरी विधि बनाने का।

कालोनियल लॉज वैलीडिटी ऐक्ट की धारा 5 द्वारा विधानमण्डल को संविधान को परिवर्तित करने के लिए पूर्ण शक्ति प्रदत्त की गई है।

कांस्टिट्यूशन ऐक्ट, 1867 की धारा 2 द्वारा विधानमण्डल को कालोनी की प्रशान्ति, लोक कल्याण और सुशासन के लिए विधियां बनाने की शक्ति प्रदत्त की गई है। संविधान की धारा 9 द्वारा लैजिसलैटिव काउन्सिल और लैजिसलैटिव असेम्बली के दो-तिहाई के बहुमत की लैजिसलैटिव काउन्सिल के संविधान को परिवर्तित करने वाले विधान की विधिमान्यता के लिए पुरोभाव्य शर्त अपेक्षित की गई है। धारा 6 की उपधारा (6) जो सुप्रीम कोर्ट के न्यायाधीश की नियुक्ति को उस अवधि के लिए जब कि नियुक्त व्यक्ति उस अवधि में इण्डस्ट्रियल आर्बिट्रेशन कोर्ट का न्यायाधीश था इसे एक विधिमान्य विधान माना गया। यह पाया गया कि क्वीन्सलैण्ड का संविधान अपरिवर्तनीय संविधान से सुभिन्न एक परिवर्तनीय संविधान है। मामूली विधि द्वारा संविधान का संशोधन करने की शक्ति के बारे में भी यह कहा गया कि यह कालोनियल लॉज वैलीडिटी ऐक्ट, 1865 की धारा 5 के आधार पर तथा आर्डर इन काउन्सिल, 1859 के खण्ड 22 तथा कांस्टिट्यूशन ऐक्ट, 1867 की धारा 2 और 9 के आधार पर विद्यमान है।

मैक्कॉले वाले मामले में ([1]) दिए गए विनिश्चय से यह दर्शित होता है कि जब तक संविधान के किसी भाग को संशोधन करने के लिए विशेष प्रक्रिया विहित नहीं है। संविधान अनियन्त्रित रहता है और मामूली विधि को अधिनियमित करने के लिए विहित

([1]) (1920) ए० सी० 691.

रीति में वह संशोधित किया जा सकता है और इसलिए संविधान से असंगत पश्चात्वर्ती विधि संविधान की असंगति की सीमा तक निरसित कर देगी। इस विनिश्चय से यह भी सिद्ध हो चुका है कि व्यापक रूप से या साधारणतया अनियंत्रित संविधान में एक या ऐसे अधिक उपबन्ध अन्तर्विष्ट हो सकते हैं जो संविधान के उपबन्धों का संशोधन करने के लिए भिन्न प्रक्रिया विहित करते हैं। यदि इस प्रकार विहित किया जाता है तो संशोधन की प्रक्रिया का कड़ाई के साथ पालन किया जाना चाहिए।

क्वीन्सलैण्ड का विधानमण्डल अपने मामलों का, सिवाय उस सीमा तक जहां तक कि विशेष मामलों में इसकी शक्तियां निर्बन्धित हैं, पूर्ण स्वामी है। प्रिवी काउन्सिल के समक्ष जो मामला था उसमें कोई ऐसा निर्बन्धन सिद्ध नहीं किया गया। विधानमण्डल को वहां सर्वांगीण शक्ति है। विधानमण्डल से यह अपेक्षित नहीं है कि पूर्व इसके कि वह संविधायी दस्तावेज के उपबन्धों की असंगति में कोई विधि बनाये किसी विशिष्ट प्रक्रिया का अनुसरण करे या किन्हीं विनिर्दिष्ट शर्तों का पालन करे।

मैक्कॉले वाले मामले([1]) में प्रत्यर्थी की यह दलील थी कि क्वीन्सलैण्ड का संविधान नियंत्रित है और यह इसके अनुच्छेदों की असंगति में केवल विधान अधिनियमित करके परिवर्तित नहीं किया जा सकता अपितु यह ऐसे अधिनियम द्वारा संशोधित किया जा सकता है जो संशोधन करने सम्बन्धी विधानमण्डल के स्पष्ट असंदिग्ध आशय को व्यक्त करता हो और आनुषंगिक रूप से उस आशय को प्रवर्तनीय उपबन्धों द्वारा कार्यान्वित करता हो। जुडीशियल कमेटी का यह विचार था कि वह संविधान उस संविधान के अन्तर्गत है जो न तो नियंत्रित है और न ही अनियंत्रित। यह इसलिए अनियंत्रित है क्योंकि भविष्य की पीढ़ी मात्र औपचारिक अधिनियम द्वारा अपनी स्वेच्छानुसार इसे संशुद्ध कर सकती है। यह कहा गया कि यह इसलिए अनियंत्रित है क्योंकि संविधान के निर्माताओं ने अपने उत्तराधिकारियों के लिए एक विशिष्ट रीति को विहित किया जिसके द्वारा उन्हें सांविधानिक परिवर्तन करने के लिए आज्ञा प्रदान की गई। आर्डर इन काउन्सिल की धारा 22 द्वारा समय-समय पर आर्डर इन काउन्सिल के उपबन्धों में समस्त को या किसी को परिवर्तित करके या निरसित करके विधियां बनाने की उसी प्रकार शक्ति और प्राधिकार प्रदत्त किए गए हैं जैसे कि इस देश के सुशासन के लिए किसी अन्य विधि को बनाने के लिए। कांस्टिट्यूशन ऐक्ट, 1867 के बारे में यह दलील दी गई कि उसके द्वारा ऐसी ही प्रकृति के कुछ मूल संघटनात्मक उपबन्ध अधिनियमित हुए हैं जो संविधान को नियंत्रित करते हैं किन्तु क्वीन्सलैण्ड के संविधान के लिए ऐसी क्वालिटी का अधिरोपण करने वाले या ऐसी क्वालिटी प्रदत्त करने वाले किसी भी दस्तावेज या अनुदेश को नहीं दिखाया गया। मैक्कॉले वाले मामले([1]) में जो विनिश्चय था वह अनियंत्रित संविधान से संबंधित है जो विधानमण्डल को एक विषय के सिवाय विधियां बनाने की पूर्ण शक्ति प्रदत्त करता है और इसलिए ऐसे संविधान के अधीन विधानमण्डल द्वारा बनाई गई विधि संविधान का उतनी सीमा तक अतिक्रमण करती है तथा उसको निरसित करती है।

([1]) (1920) ए० सी० 691.

राणासिंघे वाले मामले (¹) में ब्राइबरि ट्रिब्यूनल की नियुक्ति की विधिमान्यता को चुनौती दी गई थी। सिलोन की सुप्रीम कोर्ट का यह मत था कि ब्राइबरि ट्रिब्यूनल सिलोन कांस्टिट्यूशन आर्डर इन काउन्सिल की धारा 55 के उपबन्धों के अनुसार जुडीशियल सर्विस कमीशन द्वारा नियुक्त नहीं हुआ था। इसलिए वह वैध रूप में नियुक्त नहीं हुआ था। यह एक ही आधार था कि सिलोन कांस्टिट्यूशन आर्डर इन काउन्सिल, 1946 की धारा 55 के अनुसार ब्राइबरि ट्रिब्यूनल की नियुक्ति नहीं की गई थी। धारा 55 द्वारा जुडीशियल सर्विस कमीशन में जुडीशियल आफिसरों अर्थात् निचले रैंक के न्यायाधीशों की नियुक्ति, पदच्युति और अनुशासनिक नियंत्रण की शक्ति विनिहित की गई है। सुप्रीम कोर्ट के न्यायाधीशों की पदच्युति गवर्नर जनरल द्वारा सीनेट तथा हाऊस ऑफ रिप्रेजेंटेटिव्स के संबोधन के पश्चात् की जा सकती है।

सिलोन (कांस्टिट्यूशन) आर्डर इन काउन्सिल की धारा 29 में उपधारा (1), (2), (3) और (4) में यह उपबन्धित है—

"29 (1) इस आर्डर के उपबन्धों के अध्यधीन संसद् को द्वीप की प्रशान्ति, व्यवस्था और सुशासन के लिए विधियां बनाने की शक्ति होगी।

(2) कोई भी विधि (क) किसी धर्म के स्वतंत्र रूप से पालन को न प्रतिषिद्ध करेगी और न ही निर्बन्धित करेगी;

× × ×

(3) इस धारा की उपधारा (2) के उल्लंघन में बनाई गई कोई विधि उल्लंघन की मात्रा तक शून्य होगी।

(4) इस धारा के अधीन शक्तियों का प्रयोग करके संसद् इस आर्डर के उपबन्धों या हर मैजिस्टि इन काउन्सिल के किसी दूसरे आर्डर को इस द्वीप में लागू होने के लिए संशोधित कर सकती है या निरसित कर सकती है;

---

* अंग्रेजी में यह इस प्रकार है—

"29. (1) Subject to the provisions of this Order, Parliament shall have power to make laws for the peace, order and good government of the Island.

(2) No such law shall—(a) prohibit or restrict the free exercise of any religion;

× × ×

(3) Any law made in contravention of sub-section (2) of this section shall, to the extent of such contravention, be void.

(4) In the exercise of its powers under this section Parliament may amend or repeal any of the provisions of this Order, or of any other Order of Her Majesty in Council in its application to the Island :

(¹) (1965) ए० सी० 172.

परन्तु इस आदेश के उपबन्धों को संशोधित करने या निरसित करने का कोई विधेयक सम्राट की अनुमति के लिए तब तक नहीं रखा जाएगा जब तक कि अध्यक्ष के हस्ताक्षर के अन्तर्गत ऐसा प्रमाणपत्र कि हाऊस ऑफ रिप्रेजेंटेटिव्स में इसके पक्ष में दिए गए मतों की संख्या सदन के कुल सदस्यों की संख्या के दो-तिहाई से अन्यून है। (उन सदस्यों को भी सम्मिलित करते हुए जो उपस्थित नहीं हैं), पृष्ठांकित न किया गया हो।

इस उपधारा के अधीन अध्यक्ष का प्रत्येक प्रमाणपत्र सभी प्रयोजनों के लिए निर्णायक होगा तथा विधि के किसी न्यायालय में उसको चुनौती नहीं दी जाएगी।"

जुडीशियल कमेटी का यह निष्कर्ष था कि सिलोन कांस्टिट्यूशन आर्डर की धारा 55 तथा ब्राइबरि अमेण्डमेण्ट ऐक्ट की धारा 41 के बीच परस्पर विरोध है। प्रिवी काउन्सिल का यह निष्कर्ष था कि आर्डर की धारा 29(4) लागू होती है किन्तु धारा 29(4) की अपेक्षाओं को पूरा नहीं किया गया है और इसलिए ब्राइबरि ट्रिब्यूनल की नियुक्ति अविधिमान्य है। सिलोन कांस्टिट्यूशन आर्डर की धारा 29(4) के परन्तुक के अधीन अध्यक्ष का प्रमाणपत्र विधायी प्रक्रिया का एक आवश्यक भाग है। उस विधान के मामले में ऐसा प्रमाणपत्र नहीं दिया गया है जिसमें कि आक्षेपित ट्रिब्यूनल की नियुक्ति की गई है। जुडीशियल कमेटी ने यह कहा था कि विधानमण्डल को विधान बनाने की उन शर्तों को, जो विनियमित करने वाली लिखत द्वारा अधिरोपित की जाती हैं उपेक्षा करने की कोई शक्ति नहीं है। यह निर्बन्धन इस प्रश्न से अलग भी विद्यमान रहता है कि क्या विधानमण्डल सिलोन के विधानमण्डल के रूप में सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न है या क्या वह अनियंत्रित है जैसा कि क्वीन्सलैण्ड के संविधान की बाबत मैक्कालें वाले मामले(1) में पाया गया था।

जुडीशियल कमेटी ने यह कहा था कि "संविधान विधानमण्डल द्वारा निश्चित ही उस दशा में बदला जा सकता है या संशोधित किया जा सकता है यदि विनियमित करने वाला लिखत इस प्रकार उपबन्धित करता है और उन उपबन्धों की शर्तें पूरी की जाती हैं। इस परिवर्तन या संशोधन के अन्तर्गत इन उपबन्धों का परिवर्तन या उन्मूलन है। किन्तु यह प्रस्थापना जिसे स्वीकार नहीं किया जा सकता कि जब विधानमण्डल एक बार स्थापित हो जाता है तो मात्र अपनी स्थापना के कारण उस मात्र

"Provided that no Bill for the amendment or repeal of any of the provisions of this Order shall be presented for the Royal Assent unless it has endorsed on it a certificate under the hand of the Speaker that the number of votes cast in favour there of in the House of Representatives amounted to not less than two thirds of the whole number of Members of the House (including those not present).

Every certificate of the Speaker under this sub-section shall be conclusive for all purposes and shall not be questioned in any court of law."

(1) (1920) ए० सी० 691.

बहुमत के संकल्प द्वारा ऐसी विधिमान्य विधि बनाने की अन्तर्निहित शक्ति प्राप्त करता है जिसके बारे में उसकी संविधायी लिखत में उपबन्ध है कि यह तब तक विधिमान्य विधि नहीं होगी जब तक कि यह भिन्न प्रकार के बहुमत या भिन्न विधायी प्रक्रिया द्वारा नहीं बनाई जाती।

यह दलील दी गई है कि जैसे कि क्वीन्सलैण्ड कालोनी के विधानमण्डल को मात्र बहुमत द्वारा न्यायिक पद के कार्यकाल के सम्बन्ध में ऐसे अधिनियम को पारित करने की शक्ति है जो उस कालोनी के वर्तमान संविधान के उपबन्धों के असंगत है। उसी प्रकार सिलोन के विधानमण्डल को उससे इस प्रकार की कम शक्ति नहीं है कि वह सिलोन के संविधान की धारा 18 और 29(4) की शब्दावली के होते हुए भी धारा 55 जैसी धारा की अपेक्षाओं का पालन न करे। धारा 18 वास्तव में यह कहती है कि कोई विधान संविधान की धारा 29(4) के उपबन्धों के अध्यधीन मतों के बहुमत द्वारा पारित किया जा सकता है। जुडीशियल कमेटी ने यह कहा था कि मैक्कॉले वाले मामले ([1]) में विधानमण्डल को सिवाय उस एक विषय के अध्यधीन रहते हुए जिसके बारे में कोई प्रश्न नहीं था बहुमत द्वारा विधियों को बनाने की पूर्ण शक्ति थी। इस विधान के बारे में यह अभिनिर्धारित किया गया कि यह इसलिए विधिमान्य है कि इसको संविधान की एक सीमा तक के परिवर्तन के लिए माना गया जो इस भाव में ऐसा मूल नहीं था कि उसमें परिवर्तन न किया जा सके और न ही ऐसा गठित किया गया था कि उससे सम्बन्धित विषयों पर विधि पारित करने के लिए कोई विशेष प्रक्रिया अपेक्षित हो। "मूल" शब्द "परिवर्तन के परे" के भाव में उस अभिव्यक्त परिसीमाओं के प्रति निर्देश करता है जो शक्ति या रीति या परिवर्तन के प्ररूप पर हैं। जैसा कि पालखीवाला ने दलील दी है इन शब्दों से यह अभिप्रेत नहीं है कि यह संशोधन के मूल तत्व नहीं हैं जिन्हें संशोधित नहीं किया जा सकता।

विधानमण्डल द्वारा जब आर्डर इन काउन्सिल की धारा 55 की असंगति में विधि पारित करना तात्पर्यित है यदि इससे विधिमान्य माना जाना है तो जुडिशियल आफिसरों की नियुक्ति के बारे में सांविधानिक उपबन्धों का इसे विवक्षित परिवर्तन माना जाना चाहिए। ऐसे परिवर्तन ऐसी ही विधियों द्वारा किए जा सकते हैं जो धारा 29(4) में अधिकथित विशेष विधायी प्रक्रिया के पालन में बनाई जाती हैं। धारा 29(4) के जो उपबन्ध हैं उनके बारे में यह नहीं पाया गया कि वे सिलोन विधानमण्डल को इस प्रकार के विधान बनाने की साधारण शक्ति प्रदत्त करते हैं जिससे कि मामूली बहुमत के संकल्प द्वारा संविधान का संशोधन किया जाए जैसे कि क्वीन्सलैण्ड के विधानमण्डल के बारे में यह पाया गया था कि क्वीन्सलैण्ड कांस्टिट्यूशन ऐक्ट की धारा 2 के अधीन उसे वह शक्ति है।

राणासिंघे वाले मामले([2]) से यह दर्शित होता है कि यह संसद् जिसने कि अपने ही अधिनियम द्वारा विधायी शक्ति पर प्रक्रियात्मक शर्तों को अधिरोपित किया है वह उस विधानमण्डल की अपेक्षा जिस पर कि संविधायी लिखत द्वारा ऐसी शर्तें अधिरोपित की

([1]) (1920) एस० सी० 691.

([2]) (1965) ए० सी० 172.

गई हैं अधिक सीमित या अप्रभुत्वसम्पन्न नहीं रही है। एक संविधायी लिखित जो विधि बनाने के प्रक्रमों पर प्रक्रियात्मक रोक लगाता विधानमण्डल को उसे पालन करने के लिए बाध्य बनाता है। मैक्कॉले वाले मामले([1]) में यह कहा गया था कि उपनिवेशीय विधानमण्डल को सर्वांगीण शक्तियां हैं और उसकी सांविधानिक लिखत ऐसी है कि जिसमें उसकी शक्तियां परिभाषित हैं जैसे कि डॉग ऐक्ट था। राणासिंघे वाले मामले([2]) के परिणामस्वरूप यह प्रस्थापना इस सीमा तक संकुचित हो गई है कि जहां सांविधानिक दस्तावेज में प्रक्रियात्मक विशेष बहुमत के लिए उपबन्ध अधिकथित होते हैं वे डॉग ऐक्ट के उपबन्ध के रूप में नहीं माने जा सकते।

इन विनिश्चयों से विधायी प्रक्रिया पर प्रक्रियात्मक तथा मुख्य परिसीमाओं के बीच का अन्तर दर्शित होता है। राणासिंघे वाले मामले([2]) में विवाद्यक इस भाव में वैयक्तिक स्वतन्त्रता का यह था कि प्रत्यर्थी ने विधिमान्य विधि द्वारा के सिवाय गिरफ्तार न किए जाने के अधिकार का दावा किया था। कोई भी प्रश्न सिलोन संविधान की धारा 29(2) और (3) द्वारा संरक्षित धर्म के अधिकार की बाबत नहीं उठाया गया था। यह भी प्रत्यर्थी का पक्षकथन नहीं था कि संविधान का कोई उपबन्ध संशोधित नहीं किया जा सकता प्रसंगयोचित के रूप में प्रिवी काउन्सिल का यह कहना प्रासंगिक था कि प्रत्यर्थी की दलील के प्रतिकूल इस उपबन्ध का संशोधन नहीं किया जा सकता। यद्यपि प्रिवी काउन्सिल ने संविधान का संशोधन करने वाली विधियों से मामूली विधि का अन्तर दर्शित करते हुए "विधायी और संविधायी" शब्दों का प्रयोग नहीं किया किन्तु प्रिवी काउन्सिल ने सिलोन कांस्टिट्यूशन के लिखत के प्रति निर्देश करते हुए यह दर्शित किया कि इसी प्रकार का अन्तर इस निर्णय का आधार है।

धारा 29 पर विचार करते समय प्रिवी काउन्सिल ने उस विशेष शीर्षक को, जिसके अधीन संविधान में धारा 29 रखी गई है, ध्यान में रखा था। विशेष शीर्षक "विधायी शक्ति और प्रक्रिया" है। धारा 29 के प्रारम्भिक शब्द इस प्रकार हैं कि इस आर्डर के उपबन्धों के अध्यधीन संसद् को विधियां बनाने की शक्तियां होंगी। ये हमारे संविधान के अनुच्छेद 245 के प्रारम्भिक शब्दों के समान हैं। सिलोन कांस्टिट्यूशन की धारा 18 में मात्र बहुमत द्वारा विधियां बनाने के लिए मामूली विधायी प्रक्रिया विहित की गई है जब तक कि संविधान द्वारा अन्यथा उपबन्धित न हो जैसे कि यह सिलोन के संविधान की धारा 29(4) में पाई जाती है। हमारे संविधान के अनुच्छेद 100 में मामूली विधायी प्रक्रिया के लिए समान रूप से उपबन्ध है। धारा 29(2) द्वारा धर्म के अधिकार प्रदत्त किए गए हैं और धारा 29(3) में यह उपबन्ध है कि ऐसी स्वतन्त्रता को प्रतिषिद्ध करने वाली या उसको निर्बन्धित करने वाली कोई भी विधि नहीं बनाई जाएगी। हमारे संविधान के भाग 3 में दूसरे मूल अधिकारों के बीच धर्म की स्वतन्त्रता के अधिकार अन्तर्विष्ट हैं। धारा 29(3) में यह अभिव्यक्त रूप से उपबन्ध है कि धारा 29(2) के उल्लंघन में बनाई गई विधि उल्लंघन की मात्रा तक शून्य होगी। हमारे संविधान के अनुच्छेद 13(2) में अभिव्यक्त रूप से यह उपबन्ध है कि वह विधि, जो मूल अधिकारों को छीनती है या न्यून करती है, उल्लंघन की मात्रा तक शून्य होगी। संविधान

(1) (1920) एस० सी० 691.
(2) (1965) ए० सी० 172.

के संशोधन से सम्बन्धित सिलोन के कान्स्टिट्यूशन की धारा 29(4) संविधान का संशोधन करने वाली विधि को अभिव्यक्त रूप से शून्य नहीं बनाती है।

मैक्कौले वाले मामले ([1]) तथा राणासिंघे वाले मामले([2]) से यह निष्कर्ष निकलता है कि विधानमण्डल को विधि बनाने पर अधिरोपित उन शर्तों की उपेक्षा करने की शक्ति नहीं है जो उसके द्वारा अधिरोपित की जाती हैं जो विधि बनाने की उसकी शक्ति को विनियमित करता है। सिलोन विधानमण्डल को इस प्रकार विधान बनाने की साधारण शक्ति नहीं है कि वह मामूली बहुमत के संकल्पों द्वारा अपनी साधारण शक्ति को संशोधित कर सके जैसे कि क्वीन्सलैण्ड के विधानमण्डल के बारे में यह पाया गया कि उसे क्वीन्सलैण्ड के संविधान की धारा 2 के अधीन वह शक्ति है। सिलोन संविधान की धारा 29(1) में प्रयुक्त शान्ति, व्यवस्था तथा सुशासन सिलोन के संविधान की धारा 29(4) में अनुध्यात संशोधन के रूप में वही नहीं है। राणासिंघे वाले मामले([2]) में जुडीशियल कमेटी ने सामाजिक प्रभाव के प्रति निर्देश किया था। सामाजिक प्रभाव यह है। सिलोन के निवासियों ने इस आधार पर सिलोन के संविधान को स्वीकार किया था कि विधि के अधीन प्रदत्त विभिन्न अधिकार अधिरोपित विभिन्न दायित्व तथा विहित विभिन्न कर्तव्यों को मात्र बहुमत द्वारा मामूली ढंग के विधान में परिवर्तित नहीं किया जा सकता। किन्तु यदि इन सभी को परिवर्तित किया जाना है तो ऐसा परिवर्तन तभी किया जा सकता है जबकि संशोधन करने की प्रक्रिया को प्रबलतम सुरक्षा के रूप में रखा जाए और जो सिलोन के मामले में कुल सदस्यों के दो-तिहाई के अन्यून का बहुमत है। ये अधिकार पवित्र अधिकार हैं। ये मूल्यवान अधिकार जनता को प्रदत्त किए गए हैं। मामूली बहुमत द्वारा मामूली विधि के अधीन इनको नहीं छीना जा सकता।

सिलोन संविधान की धारा 29(4) में ऐसे अभिव्यक्त उपबन्ध के अभाव में कि उस उपधारा के निबन्धनों के उल्लंघन में संविधान का कोई संशोधन शून्य होगा, इस निष्कर्ष को समर्थित करने के लिए आवश्यक नहीं है कि ऐसा संशोधन विधिमान्य होगा। सिलोन संविधान की धारा 29(1) अभिव्यक्त रूप में "इस आर्डर के उपबन्धों के अध्यधीन" है और धारा 29(4) के अधीन कोई शक्ति अभिव्यक्त रूप से उस परन्तुक के अध्यधीन होगी। प्रिवी काउन्सिल ने यह अभिनिर्धारित किया था कि धारा 29 के प्रारम्भिक शब्द सिलोन के संविधान में आवश्यक रूप से अधिकारातीत का विवक्षित सिद्धान्त लागू करते हैं। यह प्रस्थापना हमारे अनुच्छेद 245 के उन्हीं प्रारम्भिक शब्दों को भी प्रत्यक्षतः लागू होगी। प्रिवी काउन्सिल ने उस अन्तर को मैक्कौले वाले मामले([1]) के मत में क्वीन्सलैण्ड के संविधान की धारा 9 के प्रति निर्देश करते हुए तथा बल देते हुए स्वीकार किया जो नियन्त्रित और अनियन्त्रित संविधानों के बीच पाया गया था। सिलोन के संविधान की धारा 29(2) के अतिक्रमित उपबन्ध के विवरण से यह अभिप्रेत है कि वह धारा 29(4) की विशेष प्रक्रिया द्वारा ही संशोधित किया जा सकता है। "अतिक्रमित" शब्द का यही अर्थ है। केवल यही अर्थ संशोधन की शक्ति तथा उस विनिश्चय की स्पष्ट भाषा से संगत है। धारा 29(4) सिलोन विधानमण्डल की सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्नता को परिसीमित नहीं

([1]) (1920) ए० सी० 691.
([2]) (1965) ए० सी० 172.

करती है क्योंकि विधानमण्डल सदैव दो-तिहाई बहुमत तथा प्रमाणपत्र प्राप्त करने के पश्चात् संशोधन कर सकता है।

रानासिंघे वाले मामले(1) में प्रत्यर्थी के काउन्सेल ने यह दलील दी है कि प्रक्रिया के सिवाय कोई परिसीमा नहीं है और वह परिसीमा भी उपधारा (4) का पालन करते हुए संशोधन द्वारा हटाई जा सकती है। प्रिवी काउन्सिल ने उस स्थिति को अभिपुष्ट कर दिया। समुचित संशोधन द्वारा सिलोन संविधान की धारा 29(4) को हटाने में कोई रोक नहीं है। इसके पश्चात् संसद् को मामूली बहुमत द्वारा संशोधन करने की शक्ति प्राप्त हो जाती है। धारा 29(1) केवल विधायी शक्ति नहीं है अपितु जब इसे सिलोन के संविधान के प्रसंग में धारा 29(4) के साथ पढ़ा जाता है तो यह एक मिश्रित शक्ति है। इसके अन्तर्गत विधायी और संविधायी दोनों शक्तियां हैं। धारा 29 की उपधारा (2) और (3) द्वारा शक्तियां प्रदत्त नहीं होतीं अपितु यह शक्ति पर परिसीमा है। इसके निबन्धन यह दर्शित करते हैं कि धारा 29 की उपधारा (2) और (3) के प्रतिकूल विधियों को अधिनियमित करने की विधायी शक्तियों पर परिसीमा है। यह विधायी और संविधायी शक्तियों की मिश्रित शक्ति है और उपधारा (2) और (3) विधायी शक्ति पर रोक हैं तथा संविधायी शक्ति उपधारा (4) के अधीन अप्रभावित रहती है। धारा 29(4) अलग रखी गई है जो केवल इस मत के संगत है कि जहां तक उपधारा (2) और (3) के संशोधन का सम्बन्ध है इस संशोधन को अनुज्ञा दी गई है और धारा 29(4) के अधीन संविधायी शक्ति पर कोई परिसीमा नहीं है। प्रिवी काउन्सिल ने संशोधन की शक्ति के बारे में व्यापक दृष्टिकोण अपनाया था। वास्तव में संकुचित दृष्टिकोण के पक्ष की कोई दलील नहीं दी गई थी।

हमारे संविधान का अनुच्छेद 13(2) व्यापक रूप से परिभाषित विधि और राज्य के प्रति निर्देश करते हुए अपने निबन्धनों के उल्लंघन में बनाई गई विधि को शून्य घोषित करने में इतना सक्षम नहीं है जितना कि अनुच्छेद 245 के प्रारम्भिक शब्द उसमें उल्लिखित निबन्धनों के उल्लंघन में बनाई गई विधि को शून्य घोषित करने में सक्षम हैं। इसलिए अनुच्छेद 13(2) को संविधायी संशोधन की उस प्रकार का प्रभाव वाला मानने में गोलक नाथ वाले मामले(2) में बहुमत का निर्णय अनुपयुक्त था। गोलक नाथ वाले मामले(2) में प्रमुख-बहुमत के मत में जो विधायी और संविधायी शक्तियों के बीच के अन्तर को नहीं माना गया था वह इस कारण था कि उसमें नामों (संविधायी और विधायी) का प्रयोग नहीं है और यही मत प्रिवी काउन्सिल ने विधायी और संविधायी शक्तियों के तात्विक लक्षणों को पूर्णतया वर्णित करते हुए स्पष्ट रूप से दर्शित किए थे।

यदि अनुच्छेद 368 का प्रारम्भ अविगणेय खण्ड (नान-आब्सटेण्टे क्लाज) से हुआ होता तो उसमें यह न कहा गया होता कि अनुच्छेद 368 के अधीन संशोधन अनुच्छेद 13(2) के अर्थान्तर्गत विधि होगा। महान्यायवादी ने ठीक ही कहा है कि अनुच्छेद 368 में कोई अविगणेय खण्ड इसलिए नहीं है क्योंकि इस संशोधन की शक्ति की ऐसी क्वालिटी है और संशोधन की शक्ति एक संविधायी शक्ति है न कि एक मामूली विधायी शक्ति। लिखित संविधान में संशोधन के खण्ड की यही स्थिति होती है। जबकि

(1) (1965) एस० सी० 172.
(2) (1967) 2 एस० सी० आर० 762.

अनुच्छेद 368 के अधीन संसद् शक्ति का प्रयोग करती है तो वह पुनः सृजित संविधान सभा के रूप में कृत्य करती है। इसलिए ऐसी शक्ति को किसी दूसरे उपबन्ध द्वारा न निर्बन्धित किया जा सकता है और न ही विस्तारित किया जा सकता है। जैसे ही संशोधन किया जाता है वह संविधान का भाग हो जाता है। संशोधन संशोधित अनुच्छेद या अनुच्छेदों पर अभिभावी हो जाता है। यह तथ्य कि अनुच्छेद 368 संविधायी शक्ति प्रदत्त करता है, इस अनुच्छेद में विहित विशेष शर्तों से स्पष्ट है। ये शर्तें मामूली विधि बनाने की प्रक्रिया से भिन्न शर्तें हैं। अनुच्छेद 368 मामूली विधि बनाने की प्रक्रिया पर रोक लगाता है और इस प्रकार संविधायी शक्ति प्रदत्त करता है। संविधान सभा इस बात से पूर्ण रूप से अवगत थी कि यदि इस संशोधन की शक्ति पर कोई परिसीमा लगाई जाती है तो उस परिसीमा को अभिव्यक्त रूप से उपबन्धित करना पड़ेगा। प्रारूपित संविधान के अनुच्छेद 305 में 10 वर्षों के लिए विधानमण्डल में कुछ वर्गों के लोगों के लिए स्थानों (सीटों) का आरक्षण था। संविधान सभा ने इस आरक्षण को स्वीकार नहीं किया। इससे यह दर्शित होता है कि यदि प्रारूपण समिति या संविधान सभा प्रारूप संविधान के अनुच्छेद 304 के समरूपी अनुच्छेद 368 के प्रभाव से इन मूल अधिकारों को बचाना चाहती तो उन्होंने अभिव्यक्त रूप से ऐसा किया होता।

सुलाम सरवर बनाम भारत संघ([1]) वाले मामले में यह कहा गया था कि स्वतः संविधायी उपबन्ध की शक्ति द्वारा मूल अधिकारों का बंधन तथा सांविधानिक उपबन्ध के अधीन राष्ट्रपति द्वारा उसको प्रदत्त शक्तियों का प्रयोग करते हुए किए गए आदेश द्वारा ऐसे अधिकारों के बंधन में अन्तर है। सुलाम सरवर वाले मामले ([1]) में विसम्मत मत यह था कि राष्ट्रपति का आदेश अनुच्छेद 13(2) के अर्थान्तर्गत विधि नहीं है। मोहम्मद याकूब बनाम जम्मू और काश्मीर राज्य([2]) वाले मामले में पूर्ण न्यायपीठ के बहुमत का यह मत था कि अनुच्छेद 359 के अधीन राष्ट्रपति का आदेश अनुच्छेद 13(2) के अर्थान्तर्गत विधि नहीं है। अनुच्छेद 358 और अनुच्छेद 359(1) के बीच कोई अन्तर नहीं है। अनुच्छेद 358 अपनी शक्ति द्वारा अनुच्छेद 19 द्वारा गारण्टी किए गए मूल अधिकारों को निलम्बित कर देता है। इसके विपरीत अनुच्छेद 359(1) स्वतः अपनी शक्ति द्वारा किसी मूल अधिकार को निलम्बित नहीं करता है किन्तु वह राष्ट्रपति को किसी मूल अधिकार के प्रवर्तन का निलम्बन घोषित करते हुए आदेश देने के लिए शक्ति प्रदान करता है। मोहम्मद याकूब वाले मामले([2]) में यह कहा गया कि अनुच्छेद 359(1) के अधीन किसी विशिष्ट मूल अधिकार के प्रवर्तन को निलम्बित करने वाले आदेश से यह अर्थ नहीं है कि इसकी परीक्षा उसी मूल अधिकार के अधीन की जाए जिसे कि इसने निलम्बित किया है। मोहम्मद याकूब वाले मामले([2]) में यह सिद्ध हो चुका है कि अनुच्छेद 13(2) में प्रयुक्त अभिव्यक्ति विधि के अन्तर्गत अनुच्छेद 13(3)(क) में विधि-अनन्य परिभाषा के बावजूद भी सभी बातें नहीं आती हैं।

"विधि" शब्द हमारे संविधान में विभिन्न अनुच्छेदों में प्रयुक्त हुआ है किन्तु अनुच्छेद 368 में नहीं हुआ। इसका कारण यह है कि अनुच्छेद 368 के अधीन जो शक्ति है वह संविधान के अधीन मामूली विधियां बनाने की शक्ति नहीं है अपितु

([1]) (1967) 2 एस० सी० आर० 271.
([2]) (1963) 2 एस० सी० आर० 227.

यह एक संविधायी शक्ति है। इसके पूर्व कि अनुच्छेद 368 के अधीन संशोधन संविधान का एक भाग हो जाए अनुच्छेद 13(2) के अर्थान्तर्गत किसी भी प्रक्रम पर वह विधि नहीं हो सकता। इस बात में कोई भेद नहीं है कि संशोधन किसी प्रक्रम पर विधि हो और उसके पश्चात् संविधान का भाग हो जाए। संविधान का संशोधन करने के लिए विधेयक की प्रक्रिया पूर्ण होने के ठीक पश्चात् संविधान संशोधित हो जाता है।

अनुच्छेद 13(2) की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि इस प्रश्न पर कुछ प्रकाश डालती है कि क्या अनुच्छेद 13(2) अनुच्छेद 368 पर अभिभावी है। 17 मार्च, 1947 को सांविधानिक सलाहकार श्री बी० एन० राव ने केन्द्रीय और प्रान्तीय विधानमण्डलों के सदस्यों को एक पत्र भेजा था। उस पत्र के साथ एक प्रश्नावली उपाबद्ध थी। प्रश्न सं० 27 इस प्रकार था "संविधान के संशोधन की बाबत क्या उपबन्ध किए जाने चाहिए"। उस प्रश्न पर एक टिप्पण भी जोड़ा गया था जो शिवा राव द्वारा लिखित फ्रेमिंग ऑफ इण्डियाज कांस्टिट्यूशन, जिसे शिवा राव जिल्द 11 पृष्ठ 448-451 कहा गया है, में पाया गया जाता है। यूनाइटेड किंगडम, कनाडा, आस्ट्रेलिया, यूनाइटेड स्टेट्स ऑफ अमरीका, स्वीटज़रलैण्ड और आयरलैण्ड के संविधान के संशोधन की रीतियों को उस टिप्पण में स्पष्ट किया गया था। उस टिप्पण में इस तथ्य की ओर भी ध्यान आकृष्ट किया गया था कि विभिन्न संविधानों में संविधान के कुछ उपबन्धों को संशोधन पर अभिव्यक्त परिसीमाएं हैं। आस्ट्रेलिया के संविधान से सम्बन्धित उस टिप्पण के भाग में ऐसी परिसीमाएं वर्णित की गई थीं।

तारीख 3 अप्रैल, 1947 की मूल अधिकारों की उपसमिति की प्रारूपित रिपोर्ट में एक उपाबन्ध अन्तर्विष्ट है जो मूल अधिकारों से सम्बन्धित है। देखिए शिवा राव, जिल्द 11 पृष्ठ 137। उपाबन्ध का खण्ड 2 इस प्रकार है—

> "इस संविधान के प्रवर्तन के ठीक पूर्व संघ के राज्य-क्षेत्रों के अन्तर्गत प्रवृत्त कोई विधि या प्रथा और ऐसी कोई विधि जो इसके पश्चात् इस अध्याय के उपबन्धों की असंगति में राज्य द्वारा बनाई जाए तो वह संविधान ऐसी असंगति की मात्रा तक शून्य होगी।"

सांविधानिक सलाहकार ने यह सुझाव दिया था कि "अध्याय" शब्द की अपेक्षा "संविधान" शब्द को ग्रहण करना चाहिए क्योंकि सम्पूर्ण संविधान विधि पर अभिभावी होगा।

23 अप्रैल, 1947 को मूल अधिकारों पर गठित सलाहकार समिति ने संविधान सभा के अध्यक्ष को सम्बोधित करते हुए अपनी अन्तरिम रिपोर्ट पेश की थी जिसमें न्याय्य मूल अधिकारों के लिए उपबन्ध करते हुए एक उपाबन्ध अन्तर्विष्ट था। देखिए शिवा राव जिल्द 11 पृष्ठ 294-296। उस रिपोर्ट के उपाबन्ध का खण्ड 2 इस प्रकार है—

> "संविधान के इस भाग के अधीन गारण्टी किए गए अधिकारों से असंगत संघ के राज्य-क्षेत्रों के अन्तर्गत प्रवृत्त समस्त वर्तमान विधियां, अधिसूचना, विनियम, रूढ़ियां या प्रथाएं अपनी असंगति की मात्रा तक निराकृत हो जाएंगी। न तो संघ और न ही उसकी कोई इकाई ऐसी कोई विधि बनाएगी जो ऐसे अधिकारों को छीनती हो या न्यून करती हो।"

अन्तरिम रिपोर्ट के उपाबन्ध के खण्ड 2 पर 29 अप्रैल, 1947 को संविधान सभा में विचार-विमर्श हुआ था। श्री के० संथानम् ने खण्ड 2 में एक संशोधन पेश किया था।

यह संशोधन इस प्रकार है—खण्ड 2 में शब्द "न तो संघ न ही उसकी कोई इकाई ऐसी विधि बनाएगी जो ऐसे किसी अधिकार को छीनती हो या न्यून करती हो" के स्थान पर निम्नलिखित शब्द "सिवाय इस संविधान के संशोधन के कोई ऐसा अधिकार न तो छीना जाएगा और न ही न्यून किया जाएगा" प्रतिस्थापित किए जाएं। यह संशोधन स्वीकार कर लिया गया जैसा कि कांस्टिट्यूएण्ट असेम्बली डिबेट्स जिल्द III पृष्ठ 416 में दिया गया है।

अक्तूबर, 1947 में सांविधानिक सलाहकार ने प्रारूपित संविधान को तैयार किया था। उक्त प्रारूपित संविधान का खण्ड 9(2) जो बाद में हमारे संविधान के अनुच्छेद 13(2) का समरूपी हो गया, इस प्रकार था—

> "इस संविधान की किसी बात से यह नहीं समझा जाएगा कि राज्य ऐसी विधि बनाने के लिए सशक्त है जो सिवाय धारा 232 के अधीन इस संविधान के संशोधन द्वारा इस भाग के अध्याय 2 द्वारा प्रदत्त अधिकारों को न्यून करती है या छीनती है और इस उपधारा के उल्लंघन में बनी कोई ऐसी विधि उल्लंघन की मात्रा तक शून्य होगी।"

यह देखा जाएगा कि प्रारूपित संविधान के अनुच्छेद 9(2) के अन्तर्गत "सिवाय धारा 232 के अधीन संविधान के संशोधन द्वारा" नियन्त्रण है। प्रारूपित संविधान के खण्ड 232 को जिसे कि सांविधानिक सलाहकार ने तैयार किया था प्रारूपण समिति द्वारा तैयार किए गए संविधान में अनुच्छेद 305 हो गया और स्पष्टतः वह हमारे संविधान का अनुच्छेद 368 हो गया है। शिवा राव, जिल्द III पृष्ठ 325 में यह प्रतीत होता है कि 30 अक्तूबर, 1947 को एक बैठक में प्रारूपण समिति ने उस बैठक की कार्यवाही में यह टिप्पण दिया था कि खण्ड 9(2) इस प्रकार पुनरीक्षित कर दिया जाए—

> "राज्य कोई ऐसी विधि नहीं बनाएगा जो इस भाग द्वारा प्रदत्त अधिकारों को न्यून करती हो या छीनती हो और इस उपधारा के उल्लंघन में बनाई गई कोई विधि उल्लंघन की मात्रा तक शून्य होगी।"

इन कार्यवाहियों में कोई कारण नहीं दिए गए हैं कि श्री सन्थानम के संशोधन को पारित करते हुए संविधान सभा ने जो संकल्प अंगीकृत किया था उसको क्यों नहीं माना गया। डा० अम्बेदकर ने जो पत्र जारी किया था उसमें जोड़े गए टिप्पण में भी कोई संकेत नहीं मिलता है कि श्री सन्थानम के उस संशोधन को जिसे कि संविधान सभा ने स्वीकार किया था क्यों निकाल दिया गया। न ही प्रारूपित संशोधन से न उसकी विषयवस्तु से और न ही किसी दूसरी रीति में यह दर्शित होता है कि कैसे संविधान सभा का यह विनिश्चय नहीं माना गया।

अनुच्छेद 13(2) के गठन और विरचन के इतिहास से यह दर्शित है कि संविधान सभा का यह आशय था कि अनुच्छेद 13(2) संविधान के संशोधन की बाबत अनुच्छेदों को नियंत्रित नहीं करता है। यह मानना चाहिए कि उस प्रारूपण समिति ने, जिसमें ख्याति प्राप्त व्यक्ति थे, यह समझा होगा कि अनुच्छेद 13(2) के समरूपी खण्ड का अभिव्यक्त अपवर्जन अनावश्यक है और यह भय कि उस अनुच्छेद के अन्तर्गत संशोधन का अनुच्छेद है, आधारहीन है। यह भी प्रतीत होता है कि जब प्रारूपित संविधान को डॉ० अम्बेदकर ने संविधान सभा के समक्ष पेश किया था तो श्री संथानम के संशोधन के

निकाले जाने या उसको न मानने के बारे में कोई विचार-विमर्श नहीं हुआ था। अनुच्छेद 13(2) का इतिहास यह दर्शित करता है कि संविधान सभा का यह स्पष्ट निष्कर्ष था कि यह संविधान के संशोधन को लागू नहीं है।

लिखित संविधान में संविधायी और विधायी शक्ति के बीच का अन्तर बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। संविधान का कोई भी उपबन्ध शून्य इसलिए नहीं घोषित किया जा सकता क्योंकि संविधान विधिमान्यता की कसौटी है। संविधान के परे विधिमान्यता की कोई कसौटी नहीं है। नियंत्रित संविधान में प्रत्येक उपबन्ध आवश्यक है या संविधान के निर्माताओं ने इस प्रकार सोचा था क्योंकि संविधान के अनुसार ही उसे संशोधित करने के लिए संरक्षित कर रखा है। प्रत्येक अनुच्छेद को यह संरक्षण प्राप्त है। अनुच्छेद 13(2) की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि से यह दर्शित है कि संविधान निर्माताओं ने भाग 11 में उन्हीं बातों के लिए उपबन्ध करके पृथक् रूप से विधायी शक्ति का वर्णन किया है और अनुच्छेद 368 में उल्लिखित प्राधिकारियों को संशोधन की शक्ति सौंपी है तथा उस प्राधिकारी को वही शक्ति प्राप्त है जैसे कि संविधान सभा को प्राप्त थी। क्योंकि इस पर कोई बन्धन नहीं रखा गया है। प्रारूपित अनुच्छेद 305 को, जिसमें कुछ बातों के संशोधन के लिए समय की परिसीमा के लिए उपबन्ध था, बाद में निकाल दिया गया। यदि संविधान निर्माताओं ने किसी बात के प्रतिषेध के लिए चाहा होता तो उन्होंने उस प्रकार कहा होता।

संविधायी शक्ति की ओजस्विता न केवल यह दर्शित करती है कि संविधान मैटलैण्ड के शब्दों में एक सर्वोपरि शक्ति (*supreme potastas*) है अपितु यह तथ्य भी कि संशोधन की शक्ति संविधान के पृथक् अनुच्छेद और पृथक् भाग में रखी गई है जिससे यह सिद्ध होता है कि यह विधायी शक्ति से भिन्न विषयों से सम्बन्धित है और इस शक्ति से अभिप्रेत सांगोपांग शक्ति है जिसके अन्तर्गत सभी कुछ आता है। यह तथ्य कि संविधान की शक्ति किसी विधायी शक्ति के अन्तर्गत नहीं है या उस विषय से सम्बन्धित नहीं है जो चार प्रकार के उपबन्धों को छोड़कर अर्थात्, अनुच्छेद 4, 169, पंचम अनुसूची का पैरा 7 और षष्ठ अनुसूची का पैरा 21 जिसमें संशोधन की विनिर्दिष्ट शक्ति अन्तर्विष्ट है, विधायी शक्ति की विषयवस्तु है इससे दर्शित होता है कि विधायी शक्ति से सांगोपांग और सर्वांगीण शक्ति अभिप्रेत है। यदि बिना किसी अभिव्यक्त परिसीमा के संशोधन की शक्ति प्रदत्त की गई है तो इसका कारण यह है कि संविधान में विधिक और सांविधानिक रीति द्वारा परिवर्तन करना वांछनीय या आवश्यक माना गया है। अन्यथा विधिक रूप से ऐसा कोई परिवर्तन न किया जा सकेगा। संविधान निर्माताओं पर यह बात नहीं थोपी जा सकती कि उनका यह आशय था कि संविधान या उसका कोई भाग असांविधानिक या अवैध रीति से बदला जा सकता है।

यदि संविधान का संशोधन अनुच्छेद 13(2) के अध्यधीन किया जाता है तो आवश्यक निष्कर्ष यह होगा कि संविधान का कोई संशोधन सम्भव नहीं है। अनुच्छेद 245 के आरम्भिक शब्द, जो विधायी शक्ति से सम्बन्धित हैं, यह दर्शित करते हैं कि सप्तम अनुसूची की सूची 1 के साथ पठित अनुच्छेद 246(1) के अधीन बनाई गई कोई विधि संविधान के समस्त अनुच्छेदों द्वारा अधिरोपित विधायी शक्ति के ऊपर लगाई गई परिसीमाओं के अध्यधीन है। इन परिसीमाओं को उस दशा में विधायी शक्ति का प्रयोग

करके न तो बदला जा सकता है और न ही संशोधित किया जा सकता है, यदि संशोधन शक्ति के बारे में यह कहा जाता है कि वह सूची I की प्रविष्टि 97 में विद्यमान है। गवर्नमेण्ट ऑफ इण्डिया ऐक्ट, 1935 में अवशिष्ट शक्ति के इतिहास से, जिसकी स्कीम को इस संविधान में अंगीकृत किया गया था, यह दर्शित है कि संशोधन का विषय संविधान सभा के दिमाग में न केवल मौजूद था अपितु यह भी बात उनके दिमाग में थी कि संविधायी शक्ति के अन्तर्गत नहीं है।

इस प्रश्न के ये निष्कर्ष कि क्या अनुच्छेद 13(2) अनुच्छेद 368 का अध्यारोहण करता है, इस प्रकार हैं। अनुच्छेद 13(2) संविधान के अधीन विधियों से सम्बन्धित है। संविधान के अधीन विधियां अनुच्छेद 13(2) द्वारा शासित हैं। अनुच्छेद 368 संविधान के संशोधन की शक्ति की प्रक्रिया से सम्बन्धित है। संविधान के संशोधन के पश्चात् संविधान संशोधित हो जाएगा। संविधान स्वतः विधिमान्यकरण करता है तथा स्वतः निष्पादित होता है। अनुच्छेद 13(2) अनुच्छेद 368 का अध्यारोहण नहीं करता। अनुच्छेद 13(2) मूल अधिकार नहीं है। संविधान एक कसौटी है। सांविधानिक शक्ति अनन्य है। गोलक नाथ वाले मामले(1) में बहुमत वाला मत यह था कि अनुच्छेद 13(2) अनुच्छेद 368 पर इस आधार पर अभिभावी है कि संविधायी और विधायी शक्ति में कोई अन्तर नहीं है और संविधान का संशोधन एक विधि है और ऐसी विधि को अनुच्छेद 245 के आरम्भिक शब्द लागू हैं और परिणामस्वरूप उन्हें अनुच्छेद 13(2) के उपबन्ध लागू होते हैं। संसद् ने परस्पर विरोधी मतों को अपने ध्यान में रखा जो कि असंशोधित अनुच्छेद 368 के बारे में दिए गए थे और इस महत्वपूर्ण न्यायिक राय को भी अर्थात् जो शंकरी प्रसाद वाले मामले(2) तथा सज्जन सिंह वाले मामले(3) के विनिश्चयों को तथा गोलक नाथ वाले मामले(1) में अल्पमत के पांच विद्वान् न्यायाधीशों के मतों को, ध्यान में रखा जो इस मत के पक्ष में थे कि अनुच्छेद 368 में संशोधन करने की शक्ति अन्तर्विष्ट है और वह शक्ति संसद् की संविधायी शक्ति है। न्यायाधिपति वांचू ने गोलक नाथ वाले मामले(1) में ठीक ही कहा था कि अनुच्छेद 368 के अधीन जो शक्ति है वह मूल विधि को परिवर्तन करने की संविधायी शक्ति है अर्थात् संविधान साधारण विधायी शक्ति से सुभिन्न है। जब तक कि इस अन्तर को ध्यान में रखा जाता है संसद् को संविधान को संशोधित करने की शक्ति अनुच्छेद 368 के अधीन होगी और संसद् अनुच्छेद 368 के अधीन जो संशोधन करती है वह साधारण विधि का बनाना नहीं है जो अनुच्छेद 13(2) या संविधान के दूसरे अनुच्छेद के अध्यधीन है। न्यायाधिपति वांचू के इस मत को संसद् ने संविधान, (चौबीसवां संशोधन) अधिनियम में अंगीकृत किया। इस संशोधन अधिनियम में अनुच्छेद 368 के अधीन यह स्पष्ट उपबन्ध किया गया है कि संसद् को इस संविधान को संशोधित करने की विधायी शक्ति है।

श्री पालखीवाला की संशोधन शक्ति पर विवक्षित और अन्तर्निहित परिसीमाओं की दूसरी दलीलों को समझने और उनका मूल्यांकन करने के लिए यह

---

(1) (1967) 2 एस० सी० आर० 762.

(2) (1952) एस० सी० आर० 89.

(3) (1965) 1 एस० सी० आर० 933.

आवश्यक है कि 'संशोधन' अभिव्यक्ति का सही अर्थ जानने के लिए संशोधन की शक्ति की आवश्यकता और महत्त्व को जाना जाए।

श्री पालखीवाला ने ये दलीलें दी हैं। एक ओर संशोधन से यह अभिप्रेत है कि वह सारभूत तत्वों को परिवर्तित या नष्ट करने की शक्ति नहीं है और इसके विपरीत यह है कि संशोधन की शक्ति पर अन्तर्निहित और विवक्षित परिसीमाएं हैं। यह अनिवार्य है कि सीमित शक्ति के अभिवाक् के तथा असीमित शक्ति के अभिवाक् के भी परिणामों पर विचार किया जाए। इस शक्ति के सही विस्तार की कसौटी यह नहीं है कि कितने अधिसम्भाव्य रूप से इसका प्रयोग किया जाता है अपितु यह है कि इसके अधीन सम्भवतः क्या किया जाता है। यह आशा और प्रत्याशा कि इसका कभी प्रयोग नहीं किया जाएगा, सुसंगत नहीं है। मैक्सवैल कृत इण्टरप्रिटेशन ऑफ स्टेट्यूट्स (बारहवां संस्करण, 1969 पृष्ठ 105-106) के मतों का अवलम्ब लिया गया है। यह महत्त्वपूर्ण है कि किसी ऐसे लेखांश के, जिससे एक से अधिक अर्थ की सम्भावना हो, किसी प्रस्थापित अर्थान्वयन को अंगीकृत करने के पूर्व उन प्रभावों और उन परिणामों पर विचार किया जाए जो इसके द्वारा उत्पन्न होंगे क्योंकि उनसे बहुधा शब्दों के सही अर्थ व्यक्त होते हैं। एक ओर ऐसे विशिष्ट अर्थान्वयन से जो परिणामों की युक्तियुक्तता प्राप्त होती है तथा दूसरी ओर जिसके द्वारा युक्तियुक्तता प्राप्त होती है, संसद् के सही आशय को खोज करने के लिए ये दो विकल्प हैं। क्राफोर्ड द्वारा लिखित 'कंस्ट्रक्शन ऑफ स्टेट्यूट्स' (1940 संस्करण, पृष्ठ 286-290) इस प्रस्थापना के लिए निर्दिष्ट किया गया है कि जहां कानून ऐसा है कि उसके एक से अधिक अर्थ के लिए सन्देह या संशय पैदा होता है तो उस अर्थान्वयन को जो कानून को अयुक्तियुक्त बनाता है, छोड़ देना चाहिए। अर्थान्वयन में अनिश्चय, टकराव या उलझन से बचना चाहिए क्योंकि इस बात पर अभिमान देना चाहिए कि कानून सुगमतापूर्वक चलता रहे। न्यायालय उस अर्थान्वयन को अंगीकृत करता है जो युक्तियुक्त तथा आशयपूर्ण है न कि ऐसे अर्थान्वयन को जिनमें ये बातें नहीं हैं। यह अनुमान नहीं किया जाना चाहिए कि विधानमण्डल का यह आशय था कि विधान से असाम्यिक परिणाम निकले। संविधान के प्रतिकूल शक्ति का हड़पना बचाया जाना चाहिए।

श्री पालखीवाला ने अमरीकन ज्युरिसप्रुडेन्स, सेकण्ड, जिल्द 16, अनुच्छेद 59 पृष्ठ 231-232, अनुच्छेद 72, पृष्ठ 251, अनुच्छेद 87, पृष्ठ 270-271 तथा अनुच्छेद 88, पृष्ठ 273-274 का अवलम्ब इन प्रस्थापनाओं के समर्थन के लिए किया है। प्रथम, सांविधानिक अर्थान्वयन के प्रश्न मुख्य रूप से उन्हीं साधारण सिद्धान्तों द्वारा शासित होते हैं जिनसे समस्त लिखितों विशिष्टतया कानूनों के अर्थ का अभिनिश्चय शासित होता है। विजातीय सहायता या मनमाने नियम, जो संविधान के अर्थान्वयन में लागू किए जाते हैं, उनका कोई निश्चित मूल्य नहीं हैं और उनका प्रयोग सोच समझकर तथा सावधानी के साथ किया जाना चाहिए। द्वितीय, संविधान साधारण होते हैं और बहुत सी आवश्यक बातें जिनसे संविधान का सम्बन्ध होता है विवक्षित रूप से उन्हें नियन्त्रित किया जाता है या उन पर विचार किया जाता है। सांविधानिक अर्थान्वयन में विवक्षा की एक बहुत महत्त्वपूर्ण भूमिका है। जो बात विवक्षित होती है वह उस लिखत का वैसा ही भाग है जैसे कि जो बात अभिव्यक्त होती है। तृतीय, न्यायालय समय के इतिहास को देखता है और उस समय विद्यमान वस्तुस्थिति की परीक्षा करता है जब कि

संविधान विरचित हुआ था और अंगीकृत किया गया था। न्यायालय को समकालीन इतिहास की रोशनी में तथा उसकी सहायता से उन प्रश्नगत विशिष्ट शक्तियों, कर्त्तव्यों और अधिकारों की प्रकृति और उसके उद्देश्य को देखना चाहिए। चतुर्थ, कन्वेन्शनों और वाद-विवादों की कार्यवाहियां संदिग्ध शब्दावली को स्पष्ट करने के लिए बहुत ही सीमित महत्व रखती हैं। उसी प्रकार वैयक्तिक सदस्यों की राय भी मुश्किल से किसी तात्विक महत्व की होती है।

श्री पालखीवाला ने कहा है कि 'संशोधन करना' शब्दों के तीन अर्थ हो सकते हैं। प्रथम इससे अभिप्रेत है किसी गलती में सुधार करना या इससे अच्छा उसे दूर करना है। इस सुधार की क्वालिटी पर संविधान में अन्तर्निहित बुनियादी दर्शन के दृष्टिकोण के अनुसार विचार करना चाहिए। द्वितीय, इससे ऐसे परिवर्तन करना अभिप्रेत है जो प्रथम अर्थ के अन्तर्गत नहीं आता है अपितु जो संविधान के किसी आधारभूत तत्व या किसी सारभूत तत्व को न तो परिवर्तित करता है और न ही नष्ट करता है। तृतीय, इससे संविधान में ऐसे परिवर्तन करना अभिप्रेत है जिसके अन्तर्गत द्वितीय अर्थ के परे के परिवर्तन हैं। प्रथम अर्थ को अच्छा माना गया है। द्वितीय के बारे में यह कहा गया कि वह एक सम्भव अर्थान्वयन है और तृतीय को अमान्य ठहराया गया।

मामले की जटिलता 'संशोधन' शब्द के अर्थ में है। इस शब्द का आक्सफोर्ड डिक्शनरी का अर्थ यह है कि संसद् के समक्ष के अध्युपाय में औपचारिक रूप में प्रकट सुधार करना, विस्तृत रूप में परिवर्तन करना यद्यपि व्यवहारिक रूप सिद्धान्त को भी बदलना है जिससे वह व्यर्थ हो जाए। आक्सफोर्ड डिक्शनरी के अर्थ ये भी हैं – संसद् के समक्ष विधेयक में परिवर्तन, दूसरों के स्थान पर किसी खण्ड, पैरा या शब्दों के प्रतिस्थापन की प्रस्थापना या किसी विधेयक में ऐसी बात को अन्तःस्थापित किया जाना कि जिसके अंगीकृत किए जाने के फलस्वरूप उस अध्युपाय का उद्देश्य ही विफल हो जाए। वर्ड्स एण्ड फ्रेजेज परमानेण्ट इडिशन, जिल्द 3 में 'संशोधन करना' और 'संशोधन' शब्दों के अर्थ हैं बदलना या परिवर्तन करना। संशोधन में परिवर्धन, छीना जाना या रूपान्तरण के रूप में परिवर्तन या बदला जाना अन्तर्वलित है। 'संशोधन' शब्द की व्यापक परिभाषा के अन्तर्गत कोई परिवर्धन या परिवर्तन आता है। 'संशोधन' शब्द जब संविधान के सम्बन्ध में प्रयुक्त किया जाता है तो वह एक नए और स्वतन्त्र विषय के, जो अपने आप में पूर्ण हो और दूसरे उपबन्धों से या कुछ विशिष्ट अनुच्छेद या खण्डों से पूर्णतया पृथक् हो, उपबन्ध में परिवर्धन के प्रति निर्देश करता है और तब यह उस विशिष्ट अनुच्छेद या खण्ड में कोई परिवर्धन या कोई अभिखण्डन या कोई परिवर्तन को दर्शित करने के लिए प्रयुक्त किया जाता है।

यह दलील कि अनुच्छेद 368 में प्रयुक्त 'संशोधन' शब्द अनुसूची 5 और 6 के पैरा 7 और 21 में प्रयुक्त इस अभिव्यक्ति 'परिवर्धन, परिवर्तन या निरसन' करके इस अनुसूची के उपबन्धों में किसी का संशोधन की दृष्टि से उसका एक सीमित अर्थ है, निम्नलिखित कारणों से सुदृढ़ नहीं है।

पहला यह कि इन चार उपबन्धों द्वारा अर्थात् अनुच्छेद 2 और अनुच्छेद 3 के साथ पठित अनुच्छेद 4 और अनुच्छेद 169, अनुसूची 5 के पैरा 7 और अनुसूची 6 के पैरा 21 द्वारा प्रदत्त संशोधन की शक्ति एक प्रकार की सीमित शक्ति है। यह विनिर्दिष्ट विषयों तक सीमित है। इन चारों उपबन्धों के अधीन संशोधन की शक्ति, यदि स्वयं

अनुच्छेदों के अनुसार मानी जाए, अनियन्त्रित शक्ति है क्योंकि इस शक्ति का प्रयोग साधारण विधि द्वारा किया जा सकता है। किन्तु संविधान का भाग होने के कारण यह शक्ति अधीनस्थ शक्ति है क्योंकि ये अनुच्छेद, स्वयं संशोधन करने वाले अनुच्छेद 368 के अध्यधीन हैं। अनुच्छेद 368 ही संविधान का एकमात्र ऐसा उपबन्ध है जिसमें इस संविधान अर्थात् भारत के संविधान के और उसके प्रत्येक भाग के संशोधन के विषय में उपबन्ध है। यह वर्णित कर दिया जाए कि अनुच्छेद 368 का अर्थान्वयन करने में इस भाग का शीर्षक "संविधान का संशोधन" अर्थान्वयन के लिए अत्यधिक सहायक है। पार्श्व-टिप्पण जिसमें कि संशोधन की प्रक्रिया के बारे में कहा गया है, स्वतः पूर्ण नहीं है क्योंकि जब प्रक्रिया का पालन किया जाता है तो उसके परिणामस्वरूप संविधान का संशोधन होता है जो कि प्रक्रिया सम्बन्धी विषय ही नहीं है।

दूसरा यह कि ये चारों उपबन्ध, जोकि एक जैसे शब्दों में हैं अर्थात् "ऐसी कोई विधि अनुच्छेद 368 के प्रयोजनों के लिए इस संविधान का संशोधन नहीं समझी जाएगी", यह दर्शित करते हैं कि यदि ये शब्द न होते तो संशोधन अनुच्छेद 368 के अन्तर्गत आता और उसे अनुच्छेद 368 के बाहर ले जाया जा रहा है। यह एक महत्वपूर्ण बात है विशेषतः यह अनुसूची 5 और 6 के सम्बन्ध में, जिसमें यह उपबन्धित है कि संसद् समय-समय पर विधि द्वारा परिवर्धन, परिवर्तन या निरसन करके इस अनुसूची के उपबन्धों में से किसी का संशोधन कर सकेगी, महत्वपूर्ण बात है। इन उपबन्धों से दर्शित होता है कि परिवर्धन, परिवर्तन या निरसन के रूप में संशोधन भी अनुच्छेद 368 में उपबन्धित संविधान के संशोधन के अन्तर्गत आएगा, किन्तु उसे अनुच्छेद 368 के बाहर ले जाया जा रहा है। अभिव्यक्त रूप से इस प्रकार का अपवर्जन इस बात का स्पष्ट साक्ष्य है कि अनुच्छेद 368 में "संशोधन" शब्द के अर्थान्तर्गत परिवर्धन, परिवर्तन या निरसन करके संशोधन भी है।

तीसरा यह कि अनुसूची 5 का पैरा 7 और अनुसूची 6 का पैरा 21, जिनमें उपबन्धित है कि संसद् समय-समय पर विधि द्वारा जोड़, फेरफार या निरसन करके संशोधन कर सकती है, समय-समय पर संशोधन करने की आवश्यकता उपदर्शित करते हैं। "करके" अभिव्यक्ति "संशोधन" शब्द का अर्थ-विस्तार नहीं करती है अपितु उसे स्पष्ट करती है। "करके" अभिव्यक्ति से दर्शित होता है कि परिवर्धन, फेरफार या निरसन शब्द "संशोधन" शब्द के स्थान पर प्रयुक्त किए जा सकते हैं और आशय के रूप में हैं। इस सम्पूर्ण अनुसूची का निरसन न तो पैरा 7 द्वारा न ही पैरा 21 द्वारा किया जा सकता है क्योंकि अनुच्छेद 244 में दोनों अनुसूचियों के लागू होने पर, अनुसूचित क्षेत्रों और आदिम-जाति क्षेत्रों के प्रशासन के बारे में उपबन्ध है। "समय-समय पर" शब्द भी यह दर्शित करते हैं कि विषयवस्तु के कारण संशोधन समय समय पर किए जा सकते हैं। इन दोनों अनुसूचियों का इतिहास गवर्नमेण्ट ऑफ इण्डिया ऐक्ट, 1935 की धारा 91 और 92 से, जोकि अपवर्जित क्षेत्रों और भागतः अपवर्जित क्षेत्रों की बाबत हैं, प्रारम्भ होता है।

चौथा, यह कि इण्डियन इण्डिपेण्डेन्स ऐक्ट, 1947 की धारा 9(1)(सी) के प्रति निर्देश किया गया था। यह धारा गवर्नर-जनरल को गवर्नमेण्ट ऑफ इण्डिया ऐक्ट, 1935 में से लोप करने, उसमें परिवर्धन करने, उसे अंगीकार करने और रूपान्तरण करने के लिए सशक्त बनाती है। गवर्नमेण्ट ऑफ इण्डिया (थर्ड अमेण्डमेण्ट) ऐक्ट, 1949 द्वारा

1935 के ऐक्ट की धारा 291 का संशोधन किया गया और उस द्वारा गवर्नर-जनरल को ऐसे संशोधन करने की शक्ति दी गई जैसे कि वह परिवर्धन, उपान्तरण या निरसन करके आवश्यक समझे। अतः यह कहा गया था कि जब हमारे संविधान में "परिवर्धन, उपान्तरण या निरसन करके' (बाई वे ऑफ एडीशन, माडिफिकेशन और रिपील) अभिव्यक्ति का प्रयोग नहीं किया गया तो अनुच्छेद 268 में "संशोधन" शब्द का संकुचित अर्थ होगा। "संशोधन" अभिव्यक्त का संविधान के अनेक अनुच्छेदों में प्रयोग किया गया है। ये अनुच्छेद हैं—अनुच्छेद 4(1) और (2), 108(4), 109(3) और (4), 111, 114(2), 169(2), 196(2), 198(3) और (4), 200, 201, 204(2), 207(1), (2) और (3), 240(2), 274(1), 304(ख) और 349। प्रत्येक दशा में संशोधन, फेरफार, परिवर्धन या निरसन करके होगा। इसके अतिरिक्त अन्य अनुच्छेदों में भिन्न-भिन्न अभिव्यक्तियों का प्रयोग हुआ है। अनुच्छेद 35(ख) में "परिवर्तन", "निरसन" शब्दों का प्रयोग हुआ है। अनुच्छेद 243(1) में "निरसन" या "संशोधित" शब्दों का प्रयोग हुआ है। अनुच्छेद 252(2) में ,'संशोधित" या "निरसित" अभिव्यक्ति का प्रयोग हुआ है। अनुच्छेद 254(2) के परन्तुक में 'परिवर्धन, संशोधन, परिवर्तन या निरसन' शब्दों का प्रयोग हुआ है। अनुच्छेद 320(4) में "निरसन या संशोधन द्वारा किए गए ऐसे परिवर्तनों" शब्दों का प्रयोग हुआ है। अनुच्छेद 372(1) में बदली या निरसित या संशोधित शब्दों का प्रयोग हुआ है। अनुच्छेद 372(2) में "ऐसे अनुकूलन और उसमें ऐसे परिवर्तन, चाहे निरसन या चाहे संशोधन द्वारा" शब्दों का प्रयोग हुआ है। अनुच्छेद 392(1) में "ऐसे अनुकूलनों के अधीन, चाहे वे परिवर्तन या जोड़ या लोप के रूप में हों" अभिव्यक्ति का प्रयोग हुआ है। पुनः अनुच्छेद 241(2) में "परिवर्तनों या अपवादों" शब्दों का प्रयोग हुआ है। अनुच्छेद 364 में "अपवादों या परिवर्तनों" शब्दों का प्रयोग हुआ है। अनुच्छेद 370(1)(घ) और (3) में "परिवर्तनों और अपवादों" शब्दों का प्रयोग हुआ है। इसके अतिरिक्त अनुसूची 5 पैरा 5(1) और अनुसूची 6 पैरा 12(क)(ख), 19(1)(क) में "अपवादों या परिवर्तनों" शब्दों का प्रयोग हुआ है। संविधान के संदर्भ में अनुच्छेद 370(1)(घ) में दिए उपान्तरण शब्द को व्यापक अर्थ दिया जाना चाहिए और उस भाव में उसके अन्तर्गत संशोधन भी आता है और उसको ऐसे उपान्तरणों तक सीमित नहीं रखा जा सकता जिनके कारण कोई आमूल परिवर्तन नहीं होता है।

विभिन्न संशोधन अधिनियमों से दर्शित होता है कि संविधान में संशोधन, परिवर्धन प्रतिस्थापन, निरसन करके किए जाते हैं। महान्यायवादी ने सही दलील दी है कि "इस संविधान का संशोधन" अभिव्यक्ति का लिखित संविधान के संदर्भ में स्पष्ट अधिष्ठायी अर्थ है और उसका यह है कि संविधान का कोई भी भाग फेरफार, परिवर्धन या निरसन करके संशोधित किया जा सकता है।

अनुच्छेद 368 में "इस संविधान के संशोधन का सूत्रपात" शब्द और "विधेयक के निबन्धनों के अनुसार संविधान संशोधित हो जाएगा" शब्द यह उपदर्शित करते हैं कि "संशोधन" शब्द का प्रयोग असंदिग्ध और स्पष्ट रीति में किया गया है। महान्यायवादी ने यह कहा कि हमारा संविधान पहला या अन्तिम संविधान नहीं है जिसमें कि "संशोधन" शब्द का प्रयोग हुआ है। अमरीका के संविधान में 1787 में संशोधन शब्द प्रयुक्त हुआ

अन्य देशों के विभिन्न संविधानों में "संशोधन" शब्द प्रयुक्त हुआ है। संविधान में "संशोधन" शब्द का प्रयोग किसी प्रकार के परिवर्तन के अर्थ में किया जाता है। कुछ संविधानों में परिवर्तन या पुनरीक्षण शब्दों का प्रयोग "संशोधन" शब्द के स्थान पर या संशोधन शब्द के साथ-साथ किया गया है। कभी-कभी संविधान का परिवर्तन और पुनरीक्षण, संविधान के संशोधन के अर्थ में किया जाता है।

सांविधानिक उपबन्धों के बारे में यह उपधारणा की जाती है कि वे सावधानी से और जानबूझकर विरचित किए गए हैं। परिवर्तन या संशोधन शब्द, संशोधन या पुनरीक्षण शब्द, पुनरीक्षण और परिवर्तन शब्द साथ-साथ यह उपदर्शित करने के लिए प्रयुक्त किए जाते हैं कि इन शब्दों का संविधान में संशोधन और परिवर्तन करने के सम्बन्ध में एक जैसा ही अर्थ है।

लिखित संविधान में संशोधन करने की शक्ति का अर्थ और प्रविषय संशोधन के उद्देश्य और आवश्यकता पर होता है।

हमारे संविधान में पहले ही जो अनेक संशोधन किए गए हैं उनसे यह दर्शित होता है कि उपबन्धों का जोड़ा या परिवर्तित या प्रतिस्थापित किया गया है। महान्यायवादी ने लिखित संविधान में संशोधन की शक्ति के उद्देश्य और आवश्यकता के सम्बन्ध में दो सही कारण बताए हैं। पहला यह कि लिखित संविधान में संशोधन के उद्देश्य और आवश्यकता से व्यवस्थित रीति में संविधान को बदलने की आवश्यकता अभिप्रेत है क्योंकि अन्यथा संविधान को केवल इतर सांविधानिक रीति या क्रान्ति द्वारा ही परिवर्तित किया जा सकता है। दूसरा यह कि संशोधन का मूल उद्देश्य मूल विधि या संघटनात्मक विधि में परिवर्तन करना है, संविधान में मूल परिवर्तन करना है, संविधान के मूल सिद्धान्तों या बुनियादी सिद्धान्तों का परिवर्तन करना है अन्यथा क्रान्ति को बचाने के लिए संशोधन करने की उक्त शक्ति को इतना महत्व देने की कोई आवश्यकता नहीं होगी।

संशोधन करने का उद्देश्य यह देखना है कि संविधान संरक्षित रहे। विद्रोह या क्रान्ति परिवर्तन लाने के लिए एक अवैध माध्यम है। "शासित की सम्मति" यह है कि प्रत्येक पीढ़ी को स्वयं अपनी विधि स्थापित करने का अधिकार है। परिस्थितियां बदलती हैं। लोग बदलते हैं। अतः राजनैतिक संस्थाओं और सरकार के सिद्धान्तों में तत्सम्बन्धी परिवर्तन लाने के अवसर पैदा होते हैं। असंशोधनीय संविधान फ्रांस का संविधान था जिसने कि 1884 में संविधान का संशोधन करके घोषित किया कि नैशनल असेम्बली गणतन्त्रीय शासन पद्धति को समाप्त करने की किसी प्रस्थापना पर कदापि विचार नहीं करेगी। यूनाइटेड स्टेट्स के संविधान में उपबन्धित है कि दासों के आयात को प्रतिषिद्ध करने विषयक अनुच्छेद 1 की धारा 9 के प्रथम और चतुर्थ खण्डों को प्रभावित करने वाला कोई संशोधन 1808 के पूर्व नहीं किया जा सकेगा और कोई राज्य उसकी सम्मति के बिना सीनेट में समान मताधिकार से वंचित नहीं किया जाएगा। ये संविधान का परिवर्तन करने के सम्बन्ध में जनता की प्रभुत्वसम्पन्न शक्ति को सीमित करने के उदाहरण हैं।

असंशोधनीय संविधान को अपने समय का घोरतम अत्याचार कहा जाता है। जैफर्सन ने 1789 में कहा था कि प्रत्येक पीढ़ी को ऐसी विधि अवधारित करने का अधिकार है जिसके अधीन वह रहे। यह भूमि जीवित व्यक्तियों के उपयोग के लिए है,

मूल व्यक्तियों की उस पर न तो कोई शक्ति है और न ही अधिकार है। संशोधन करने की व्यवस्था सेफ्टी वाल्व की भांति है। इसका प्रयोग अधिक सुविधाजनक नहीं होना चाहिए, न ही वह अधिक कठिन होना चाहिए। इससे संविधान नष्ट हो जाएगा।

अधिकतर संविधान इस रूप में अनम्य हैं कि उनका संशोधन उस प्रक्रिया से भिन्न रूप में ही किया जा सकता है जिसके द्वारा साधारण विधियों को परिवर्तित किया जा सकता है। अतः संविधायी शक्ति और विधायी शक्ति के बीच उनमें स्पष्टतः अन्तर है, प्रत्येक का उपयोग एक भिन्न संस्था द्वारा भिन्न प्रक्रिया के अनुसार होता है। मुख्य न्यायाधिपति मार्शल ने कहा है कि परिवर्तन लाने का विरोध करने वाले व्यक्ति उतना ही परिवर्तन चाहते हैं जितना कि कोई अन्य व्यक्ति चाहता है तथापि वे यह अभिनिश्चित करना चाहते हैं कि परिवर्तन किस प्रकार के होंगे।

संशोधन संविधान के विकास का एक रूप इस माने में है कि संशोधन से आधारभूत परिवर्तन अभिप्रेत हैं। जिन आधारभूत सिद्धान्तों से सरकार बनायी जाती है उनमें संशोधन या परिवर्तन करने के लिए संविधान में विशेष तन्त्र या तरीके अपनाए जाते हैं। आधारभूत सिद्धान्तों को संशोधित या परिवर्तित करने के लिए विशेष तन्त्र या विशेष रीतियां अपनाई जाती हैं। संशोधन ग्रेट ब्रिटेन की भांति साधारण विधि बनाने वाले निकाय द्वारा किया जा सकता है या विधि बनाने वाले साधारण निकाय द्वारा विशेष प्रक्रिया या अप्राधिक बहुमत सहित किया जा सकता है या सरकार के ऐसे विशेष तन्त्रों द्वारा संशोधन किया जा सकता है जो इस प्रयोजन के लिए बनाए गए हैं जैसे कि संविधायी कन्वेन्शन या लोकमत-संग्रह के रूप में मतदाताओं द्वारा या लोकमत-संग्रह करके संशोधन किया जा सकता है। यदि लिखित संविधान में संशोधन के लिए कोई उपबन्ध नहीं हो तो सामान्यतः यही माना जाता है कि राष्ट्रीय विधि बनाने वाला निकाय साधारण प्रक्रिया द्वारा संविधान का संशोधन कर सकता है। यदि संविधान में संशोधन की रीति उपबन्धित हो तो केवल वही रीति वैध होती है। संशोधन की किसी अन्य रीति का अपनाया जाना एक प्रकार की क्रान्ति होगी। सामाजिक आवश्यकता के लिए और संविधान को स्थिरता प्रदान करने के लिए सोच-समझ कर और निर्बन्धित प्रक्रियाओं से संविधान में व्यवस्थित रूप से परिवर्तन लाया जा सकता है।

भारत के लोगों ने हमारे संविधान की प्रस्तावना में अपने को अभिव्यक्त किया है। अनुच्छेद 368 में वर्णित निकायों को यह संविधान, जिसके अन्तर्गत संविधान का संशोधन करने की शक्ति भी है, दिया गया है। ये निकाय जनता का प्रतिनिधित्व करते हैं। अनुच्छेद 368 में उपबन्धित रूप में संविधान के किसी भाग का संशोधन करने की रीति का पालन किया जाना चाहिए। कोई अन्य रीति, उदाहरणार्थ संविधान सभा का आयोजन या लोकमत-संग्रह, इतर सांविधानिक या क्रान्तिकारी होगी। हमारे संविधान में अनुच्छेद 368 में संशोधन के लिए अपेक्षित प्रक्रिया या रीति और प्ररूप के बारे में ही केवल निर्बन्धन है। किन्तु संशोधन की प्रकृति या स्वरूप की बाबत निर्बन्धन नहीं है। संशोधन की शक्ति पर कोई विवक्षित परिसीमाएं नहीं हैं। महान्यायवादी ने सारगर्भित रूप में कहा है कि सांविधानिक अधिनियम न केवल जनता के लिए हैं अपितु वे जनता पर निर्भर करते हैं।

महान्यायवादी ने इन प्रतिपादनों के समर्थन में अमरीका के अनेक न्यायालयों के विनिश्चयों का अवलम्ब लिया है। पहला, यह कि "संशोधन" शब्द से सुधार अभिप्रेत नहीं है। लिवरमोर बनाम वेडे (1) में विद्वान् एकल न्यायाधीश द्वारा व्यक्त किया गया मत कि संशोधन से सुधार अभिप्रेत है, एडवर्ड्स बनाम लेस्यूर (2), में स्वीकार नहीं किया गया था। दूसरा, राज्य की जनता द्वारा अनुसमर्थन तो उस दशा में शून्य होगा जब कांग्रेस द्वारा प्रस्थापित परिसंघीय संशोधन का राज्यों के विधानमण्डलों द्वारा अनुसमर्थन किया जाना अपेक्षित हो, एक्स पारटि डिल्लों(3)। विधानमण्डल तो प्रस्थापित संशोधन का अनुसमर्थन करने के लिए एक अभिकरण मात्र है। एक्स पारटि डिल्लों(3) में लिवरमोर बनाम वेडे (1) वाले मामले में विद्वान् एकल न्यायाधीश द्वारा अभिव्यक्त इस मत को स्वीकार नहीं किया गया था कि संशोधन से केवल सुधार अभिप्रेत है। तीसरा यह दलील कि 'संशोधन' शब्द की राज्य विधानमण्डलों द्वारा लोकमत संग्रह की रीति अपनाकर आधारभूत सिद्धान्तों या राज्य की शक्ति या व्यक्तिविशेष के आचरण के नियन्त्रण की बाबत अपनी परिसीमाएं हैं, संशोधन की एक नई रीति अपनाना है। यह अनुज्ञेय नहीं है। फीगेन्सपेन बनाम बोडाइन (4) संशोधन की एकमात्र रीति वह है जो संविधान द्वारा विहित है। राज्य विधानमण्डलों द्वारा लोकमत-संग्रह का सिद्धान्त विधिमान्य नहीं है। चौथा, यह धारणा कि राज्य विधानमण्डलों द्वारा अनुसमर्थन से जनता की इच्छा प्रकट होगी, संशोधन की विहित रीति के विरुद्ध हैं और अमरीका के संविधान के अनुच्छेद 5 में अधिकथित रीति में जनता द्वारा कांग्रेस को दिए गए प्राधिकार के विरुद्ध है। न्यायालयों या विधायी निकायों का काम संविधान द्वारा नियत रीति को परिवर्तित करने का नहीं है। अनुसमर्थन विधायी कार्य नहीं है। इसका प्राधिकार संविधान से व्युत्पन्न होता है। हाक्स बनाम स्मिथ (5), डिल्लों बनाम ग्लोस (6), लेसर बनाम गारनेट (7) पांचवें संशोधन की शक्ति का विस्तार संविधान के प्रत्येक भाग के सम्बन्ध में है। संविधान का संशोधन करने में जनरल असेम्बली कन्वेन्शन के रूप में और हैसियत में कार्य करती है और प्रभुत्वसम्पन्न जनता की मूल इच्छा को अभिव्यक्त करती है और संविधान को छोड़कर उसकी शक्ति असीमित है। एक्स पारटि श्रीमती डी० सी० करबो(8)। छठा, यह दलील कि जनता के अधिकारों से सम्बन्धित संशोधन कन्वेन्शन द्वारा किए जाने चाहिए, अमरीका के सुप्रीम कोर्ट द्वारा नामंजूर की गई है। अमरीका के संविधान का अनुच्छेद 5 कथन और अर्थ की दृष्टि से स्पष्ट है और उसमें कोई अस्पष्टता नहीं है। जब आशय स्पष्ट हो तब

---

(1) 102 केल० 118.

(2) साउथ वेस्टर्न रिपोर्टर वाल्यूम 33, 1130.

(3) 262 फेडरल रिपोर्टर 563.

(4) 264 फेडरल रिपोर्टर 186.

(5) 283 यू० एस० 221=64 लॉयर्स इडिशन 871.

(6) 256 यू० एस० 358=65 लॉयर्स इडिशन 994.

(7) 258 यू० एस० 13=66 लॉयर्स इडिशन 595.

(8) 36 ए० एल० आर० 1451.

अर्थान्वयन की कोई गुंजाइश नहीं होती है। र्होड आइसलैण्ड बनाम पामर([1]), यूनाइटेड स्टेट्स बनाम स्प्रेग ([2])। सातवां अनुच्छेद 5 के अधीन सांविधानिक सिद्धान्तों को परिवर्तित किया जा सकता है—श्नाइडरमैन बनाम यूनाइटेड स्टेट्स ऑफ अमरीका ([3])। आठवां, संविधान में परिवर्तन की रीतियां उपबन्धित हैं। जबकि संविधान का संशोधन करने की प्रक्रिया निर्बन्धित है, इस बारे में कोई निर्बन्धन नहीं है कि संशोधन किस प्रकार का होगा। व्हाइटहिल बनाम एल्किन्स ([4])।

अनम्य या नियन्त्रित संविधान में संशोधन की विशेष रीतियों को छोड़कर, यद्यपि विभिन्न संविधानों में यह रीतियां भिन्न-भिन्न हों और अनम्य या नियन्त्रित संविधानों में अभिव्यक्त परिसीमाओं, यदि कोई हों, के सिवाय, संशोधन करने की शक्ति का अर्थ और प्रविषय नमनीय और अनम्य प्रकार के संविधानों में एक जैसा ही होता है।

नमनीय संविधान वह होता है जिस के अधीन प्रत्येक प्रकार की प्रत्येक विधि उतनी ही सरलता के साथ और उसी रीति में विधिक रूप में एक ही निकाय द्वारा परिवर्तित की जा सकती है। नमनीय संविधान में विधियों को इस कारण सांविधानिक कहा जाता है क्योंकि वे ऐसे विषयों का निर्देश करती हैं जिनके बारे में यह माना जाता है कि वे राज्य की आधारभूत संस्थाओं पर प्रभाव डालते हैं और इस कारण नहीं कि वे विधिक रूप में अन्य विधियों की अपेक्षा अधिक पवित्र हैं या उनका परिवर्तन करना कठिन है।

अनम्य संविधान वह होता है जिसके अधीन सांविधानिक या आधारभूत विधियों के रूप में सामान्यतः ज्ञात कतिपय विधियां उसी रीति में परिवर्तित नहीं की जा सकती हैं जिसमें कि साधारण विधियां परिवर्तित की जाती हैं। संविधान को अनम्य तब कहा जाता है जब विधानमण्डल को अपनी साधारण हैसियत में काम करते हुए सांविधानिक या आधारभूत कहे जाने वाली विनिर्दिष्ट विधियों को उपान्तरित या निरसित करने के लिए कोई अधिकार न हो। अनम्य संविधान में, "संविधान" शब्द से संविधान के अनुच्छेदों से सम्बन्धित ऐसी अधिनियमिति अभिप्रेत है जिसे उसी सरलता और उसी रीति में विधिपूर्वक परिवर्तित नहीं किया जा सकता जैसे कि सामान्य विधियों को परिवर्तित किया जा सकता है।

सांविधानिक संशोधन के लिए विशेष तन्त्र का होना विधानमण्डल की शक्ति पर एक प्रकार का निर्बन्धन है कि संशोधन साधारण विधानमण्डल की विधि की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली विधि द्वारा किया जाता है। संविधान सभा ने यह जानते हुए कि वह नहीं रहेगी और वास्तविक विधायी कारबार एक अन्य निकाय को सौंप देगी, प्रस्थापित संविधान में भावी कार्यों के लिए यथा सम्भव अधिक मार्गदर्शक तत्व लाने का प्रयास किया है। उसने ऐसे विषयों पर भविष्य में विचार होने की दशा में "संविधान सभा के पुनः सृजन" की व्यवस्था करने का प्रयास किया है यद्यपि वह सभा कतिपय निर्बन्धनों के अधीन कार्य करने वाले साधारण विधानमण्डल से अधिक कुछ न होगी।

([1]) 253 यू० एस० 350=64 लॉयर्स इडिशन 946.

([2]) 282 यू० एस० 716.

([3]) 320 यू० एस० 118=87 लॉयर्स इडिशन 1796.

([4]) 389 यू० एस० 54=19 लॉयर्स इडिशन, सैकेण्ड 228.

संविधान के कुछ ऐसे तत्व हो सकते हैं जिन्हें संविधान सभा अपरिवर्तनीय रखना चाहती है। इन तत्वों का बाकी तत्वों से प्रभेद करना है। यूनाइटेड स्टेट्स के संविधान का पंचम खण्ड यह है कि कोई राज्य उसकी अपनी सम्मति के बिना सीनेट में अपने समान मताधिकार से वंचित नहीं होगा। महान्यायवादी ने ठीक ही कहा है कि जैसे नमनीय संविधानों में कोई विवक्षित परिसीमा नहीं होती है वैसे ही अनम्य संविधान में कोई विवक्षित परिसीमाएं नहीं होती हैं। अन्तर केवल संशोधन की रीति का होता है। संशोधन साधारण विधानमण्डल द्वारा कतिपय निर्बन्धनों के अधीन किया जा सकता है या लोकमत-संग्रह द्वारा जनता संशोधन कर सकती है या संशोधन परिसंघीय राज्य के सभी यूनिटों के बहुसंख्यक मत द्वारा किया जा सकता है या विशेष कन्वेन्शन द्वारा किया जा सकता है। अनम्य संविधान में विधानमण्डल अपनी पूर्णतः परिपक्व, लम्बी और सोच-समझ कर अपनाई गई राय के आधार पर असंदिग्ध बहुमत की इच्छा का प्रतिनिधित्व करते हैं। किन्तु ऐसी इच्छा मूल विधि का संशोधन करने में अल्पसंख्यकों की इच्छा द्वारा निष्फल की जा सकती है। यदि संशोधन का विरोध करने वाले अल्पसंख्यकों द्वारा अपेक्षित बहुमत अभिप्राप्त नहीं किया जाता है तो राज्य को क्रान्ति और हिंसा से उतना ही खतरा है जितना कि बहुमत के हठ से खतरा कहा जाता है। अतः आमूल परिवर्तनों के विरुद्ध किए गए संरक्षण लोक-तान्त्रिक राज्य में शक्ति के मूल स्रोत को अप्रसन्न किए बिना परित्राण, परिपक्वता और शुद्ध अन्तःकरण सुनिश्चित करने का श्रेष्ठतर और स्वाभाविक मार्ग है।

"संशोधन" शब्द से सांविधानिक परिवर्तन की एक निश्चित एवं प्राकृपिक प्रक्रिया अभिप्रेत है। परम्परा और रूढ़ि और न्यायिक निर्वचन के सभी दबाव का राज्य की आधारभूत संरचना पर प्रभाव पड़ सकता है। परिवर्तन की ये प्रक्रियाएं संविधान को मोड़ना है।

जिस पृष्ठभूमि में संविधान सभा द्वारा अनुच्छेद 368 अधिनियमित किया गया था, उसका संशोधन की शक्ति के अर्थ और प्रविषय के साथ महत्वपूर्ण सम्बन्ध है।

12 नवम्बर, 1946 को सांविधानिक सलाहकार सर बी० एन० राव ने एक पुस्तिका तैयार की थी जिसमें ब्रिटिश राष्ट्रमण्डलीय देशों के संविधान और अन्य देशों के संविधान थे। संशोधनों की विभिन्न रीतियों को अपनाने वाले विभिन्न देशों का निर्देश किया गया था। उसी जिल्द में तेरह शीर्षकों के अधीन तेरह चुने हुए देशों के, जैसे कि यू० एस० ए० स्विटजरलैण्ड, जर्मनी, रूस, आयरलैण्ड, कनाडा, आस्ट्रेलिया, मूल अधिकारों को उद्धृत किया गया था। इस सूची में दो बातें सामने आईं। पहली, यह कि इस बारे में कोई आत्यंतिक मानक नहीं है कि मूल अधिकार क्या होते हैं। संसार के सर्वसम्मत मूल अधिकारों जैसी कोई वस्तु नहीं है। दूसरी, जिन मूल अधिकारों को हमारे संविधान में स्वीकार किया गया है वे अन्य संविधानों के मूल अधिकारों से अधिक श्रेष्ठ नहीं हैं, न ही यह कहा जा सकता है कि हमारे संविधान में मूल अधिकार निदेशक तत्वों की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण है।

17 मार्च, 1947 को इस विषय पर एक प्रश्नसूची परिचालित की गई थी कि संविधान के संशोधन की बाबत क्या उपबन्ध किए जाने चाहिएं। सांविधानिक सलाहकार द्वारा तैयार किए गए संविधान के संशोधन विषयक खण्ड के प्रारूप में उस समय उपदर्शित

किया गया था कि संशोधन का सूत्रपात संघीय संसद् के किसी सदन में किया जा सकता है और जब प्रस्थापित संशोधन उस सदन की कुल सदस्य संख्या के अन्यून दो-तिहाई बहुमत द्वारा प्रत्येक सदन में पारित हो जाता है और चीफ कमिश्नर प्रान्तों को छोड़कर संघ के अन्यून दो-तिहाई यूनिटों के विधानमण्डलों द्वारा अनुसमर्थित किया जाता है, तो उसे राष्ट्रपति की अनुमति के लिए पेश किया जाएगा और ऐसी अनुमति मिल जाने पर वह संशोधन प्रवर्तित होगा। इस खण्ड के दो स्पष्टीकरण थे।

29 अप्रैल, 1947 को इस खण्ड के प्रारूप के विषय में श्री संथानम् का संशोधन स्वीकार किया गया। संशोधन यह था कि "यदि आवश्यक हो तो यह खण्ड भी उसी रूप में संशोधित किया जा सकेगा जिसमें कि संविधान के किसी अन्य खण्ड को संशोधित किया जा सकता है।" जून, 1947 में संशोधन करने वाले खण्ड का प्रारूपण प्रारम्भ हुआ। मूलतः इसका संख्यांक 232 था। अन्ततः अनुच्छेद 304 और 305 अनुच्छेद 232 के प्रारूप के स्थान पर अस्तित्व में आए। संशोधन करने वाले खण्ड का प्रथम प्रारूप सर बी० एन० राव द्वारा मार्च, 1947 में दिया गया। जून, 1947 तक और उसके बाद उसने उस प्रक्रिया की सिफारिश की जिसका सर अल्लादी कृष्णास्वामी अय्यर और सर गोपालस्वामी आयंगर ने समर्थन किया था अर्थात् संसद् में दो-तिहाई बहुमत द्वारा पारित होना और प्रान्तीय विधानमण्डलों के दो-तिहाई द्वारा अनुसमर्थन। 21 फरवरी, 1948 को संविधान का प्रारूप तैयार था। अनुच्छेद 304 और 305 का प्रारूप संशोधन की बाबत था। अनुच्छेद 305 में दस वर्ष के लिए अल्पसंख्यकों के लिए, जब तक संविधान के संशोधन द्वारा उसका प्रवर्तन चालू न रखा जाए, स्थानों के आरक्षण का उपबन्ध था।

इससे निम्नलिखित बातें सामने आती हैं। पहली, यह कि संविधान सभा ने सारभूत और गौण तत्वों के बीच कोई अन्तर नहीं किया था। दूसरी, यह कि संविधान सभा में किसी ने भी यह नहीं कहा था कि मूल अधिकारों का संशोधन नहीं किया जा सकता है। संविधान के निर्माताओं ने इस सम्बन्ध में कोई विचार-विमर्श नहीं किया था। तीसरी, यह कि प्रथम संविधान संशोधन पर विचार करते समय किसी ने भी मूल अधिकारों के परिवर्तन या संशोधन की बाबत सन्देह प्रकट नहीं किया था। किसी भी प्रक्रम पर यह प्रतीत नहीं हुआ कि मूल अधिकार आत्यंतिक हैं। जबकि संविधान को ठोस और सुस्थिर बनाना चाहिए, उसे नमनीय होना चाहिए और कुछ कालावधि के लिए अपेक्षाकृत सरलता के साथ आवश्यक परिवर्तन करना सम्भव होना चाहिए।

अनुच्छेद 304 में कतिपय संशोधन प्रस्थापित किए गए थे। एक प्रस्थापित संशोधन संख्या 118 यह था कि संशोधन दोनों सदनों के प्रत्येक सदन की कुल संख्या के स्पष्ट बहुमत द्वारा पारित किया जाएगा। दूसरा प्रस्थापित संशोधन संख्या 210 यह था कि संविधान के प्रारम्भ से तीन वर्ष की कालावधि के लिए कोई संशोधन, जोकि राष्ट्रपति द्वारा प्रमाणीकृत रूप में सारवान् नहीं है, साधारण बहुमत द्वारा किया जा सकता है। इसमें यह भी कहा गया कि इसके अन्तर्गत, उच्चतम न्यायालय के बहुसंख्यक न्यायाधीशों द्वारा सिफारिश किया गया कोई औपचारिक संशोधन भी, संविधान को प्रशासित करने में आने वाली कठिनाइयों को दूर करने के आधार पर या लोकहित में संविधान का क्रियान्वयन करने के प्रयोजनार्थ होगा। तीसरा प्रस्थापित संशोधन संख्या 212 यह था कि ऐसा कोई संशोधन, जो किसी व्यक्ति विशेष के अधिकारों, सम्पत्ति के सम्बन्ध में या

अन्यथा किसी व्यक्ति या व्यक्तियों के किन्हीं अधिकारों की परिधि का अतिलंघन या निर्बन्धन या न्यूनन कर सकता है, अनुज्ञेय नहीं होगा और कोई ऐसा संशोधन, जिसका ऐसा प्रभाव हो या होना सम्भाव्य हो, शून्य होगा और किसी विधानमण्डल के अधिकारातीत होगा। यह बात ध्यान देने योग्य है कि इस संशोधन को वापस ले लिया गया था। देखिए—कांस्टिट्यूएण्ट असेम्बली डिबेट्स जिल्द 9, पृष्ठ 1665.

प्रथम प्रवर्ग में निर्माताओं ने संसद् के साधारण बहुमत द्वारा संशोधन करना प्रारम्भ किया। ये अनुच्छेद 2 और 4 हैं जो राज्यों के सम्बन्ध में हैं। जहां तक कि राज्यों के सृजन या पुनर्गठन का सम्बन्ध है, यह बात संसद् पर छोड़ दी गई कि वह इसे साधारण बहुमत द्वारा करे। इसके अतिरिक्त अनुच्छेद 148क के प्ररूप ने, जो अन्ततः अनुच्छेद 169 बना और जो राज्यों में विधान परिषदों के सम्बन्ध में है, संसद् को विधान परिषदों को समाप्त करने या नए विधान परिषदों का सृजन करने की शक्ति प्रदान की। अनुसूची 5 और 6 को संसद् द्वारा साधारण बहुमत द्वारा संशोधित करने के लिए छोड़ दिया गया। दूसरे प्रवर्ग के संशोधन में दो-तिहाई बहुमत अपेक्षित है। इसी सम्बन्ध में ही श्री पालखीवाला ने डाक्टर अम्बेदकर के इस कथन को "कि यदि भावी संसद् ऐसे किसी विशिष्ट अनुच्छेद का संशोधन करना चाहती है, जो भाग 3 या अनुच्छेद 304 में वर्णित नहीं है तो उनके लिए केवल दो-तिहाई बहुमत का होना ही जरूरी है, तब वे उसका संशोधन कर सकते हैं" सहायता अपनी इस दलील के समर्थन में ली थी कि भाग 3 का संशोधन नहीं किया जा सकता है। उस भाषण को इस रूप में पढ़ना बिल्कुल गलत है। भाषण से यह दर्शित होता है कि कुछ अनुच्छेदों का संशोधन केवल बहुमत द्वारा ही किया जा सकता है, अन्य अनुच्छेदों के सम्बन्ध में दो-तिहाई बहुमत अपेक्षित है और तीसरे प्रवर्ग के लिए दो-तिहाई बहुमत और राज्यों द्वारा अनुसमर्थन अपेक्षित है।

संविधान सभा की कार्यवाहियों से यह दर्शित होता है कि सम्पूर्ण संविधान के सम्बन्ध में व्यापक दृष्टिकोण अपनाया गया था और संशोधनों के तीन प्रवर्ग थे जिनमें कि साधारण बहुमत का या दो-तिहाई बहुमत का या दो-तिहाई बहुमत और राज्यों द्वारा अनुसमर्थन का उपबन्ध था। इन भिन्न-भिन्न प्रक्रियाओं को अनम्यता से बचने के लिए अधिकथित किया गया था।

संविधान प्रथम संशोधन अधिनियम, जिसके द्वारा अनुच्छेद 15(4) जोड़ा गया, अनुच्छेद 19(2) और अनुच्छेद 19(6) के शब्दों को प्रस्थापित किया गया, अनुच्छेद 31क को अन्तःस्थापित किया गया, उल्लेखनीय तत्व दर्शित करता है। उस समय दो प्रकार की आलोचना की गई थी पहली यह कि इतनी जल्दी क्या थी और दूसरी यह कि सरकार स्वयं अधिक शक्ति प्राप्त करने का प्रयास कर रही है। इसके उत्तर ये हैं कि ऐसा संविधान, जोकि जनता की इच्छा और उनके विचारों के अनुसार चलता है और जिसका यदाकदा संशोधन किया जा सकता है, सम्मानित माना जाएगा और लोग संशोधन के विरुद्ध नहीं लड़ेंगे। अन्यथा यदि लोगों को यह ज्ञात हो कि वह असंशोधनीय है और इसको छुआ तक नहीं जा सकता तो जो व्यक्ति संशोधन लाना चाहते हैं वे केवल उसका भंग करने का प्रयास ही करेंगे। यह एक खतरनाक और बुरी बात है।

इस पृष्ठभूमि में अनुच्छेद 368 के अर्थ और विस्तार की बाबत कोई सन्देह नहीं है। महान्यायवादी ने ठीक ही कहा है कि यदि कोई सन्देह होगा तो संविधान को

समसामयिक व्यावहारिक व्याख्या इतनी प्रबल और दृढ़ है कि उसे भंग या नियन्त्रित नहीं किया जा सकता है। कारसन बनाम ब्लेकर[1] में यह कहा गया है कि जब सीधे और स्पष्ट शब्द हों तो कोई कठिनाई नहीं होती है। किन्तु जहां सन्देह और अस्पष्टता हो वहां समसामयिक और व्यावहारिक व्याख्या अत्यधिक महत्वपूर्ण होती है। ऑटोमोबाइल ट्रान्सपोर्ट (राजस्थान) लिमिटेड बनाम राजस्थान राज्य और कुछ अन्य[2] में इस न्यायालय ने इस बात का ध्यान रखा था कि संविधान निर्माताओं को अन्य देशों के संविधानों की एवं सांविधानिक समस्याओं की गहरी जानकारी थी।

श्री सीरवाई ने ब्रिटिश कोल कॉरपोरेशन बनाम किंग[3] का अवलम्ब लेते हुए दलील दी है कि संविधायी या आधारभूत कानून का निर्वचन करते समय ऐसे अर्थान्वयन को अपनाना चाहिए जोकि यथासम्भव अधिकतम लोगों के लिए लाभदायक हो। दाण्डिक या कराधान सम्बन्धी कानूनों को लागू किए जाने वाला यथावत् अर्थान्वयन संसद् के वास्तविक आशय को समाप्त कर देगा यदि उसका प्रयोग ऐसे अधिनियम के सम्बन्ध में किया गया जिसे शान्ति, व्यवस्था और अच्छी सरकार सुनिश्चित करने के लिए पारित किया गया है। आवंटित विनिर्दिष्ट शक्ति को व्यापक अर्थ दिया जाता है। यदि शक्ति पर कोई परिसीमाएं नहीं हैं तो वह सम्पूर्ण शक्ति है। संशोधन करने की शक्ति का दिया जाना अभिव्यक्त या विवक्षित परिसीमाओं के सिवाय कम नहीं किया जा सकता। निष्कर्ष यह है कि "संशोधन" शब्द का अर्थ व्यापक है और निर्बन्धित नहीं है।

पिटीशनर की ओर से श्री पालखीवाला ने यह दलील दी है कि अनुच्छेद 368 के अधीन, जैसा कि वह संशोधन के पूर्व था, संशोधन की शक्ति पर विवक्षित और अन्तर्निहित परिसीमाएं थीं। यह कहा गया कि "संशोधन" शब्द संविधान की अनिवार्य बातों और आधारभूत तत्वों और मूल सिद्धान्तों को परिवर्तित या समाप्त करने की शक्ति प्रदान करता है। इस दलील को इस प्रकार स्पष्ट किया गया—जनता ने संविधान स्वयं अपने को दिया है। संशोधन विषयक विनिश्चय करने की शक्ति पंचवर्षीय संसद् को दी गई है जिसे संविधान द्वारा बनाया गया है। अनुच्छेद 368 ऐसे खण्ड से प्रारम्भ नहीं होता है जिससे अन्यत्र किसी बात के होते हुए भी कोई दूसरी बात कही जाए। अनुच्छेद 368 में केवल "संशोधन" शब्द का प्रयोग किया गया है। संविधान के अन्य भागों में कम महत्त्वपूर्ण विषयों में संशोधन की शक्ति देने वाले उपबन्धों में "परिवर्धित, परिवर्तित, निरसित या फेरफार किया गया" शब्दों का प्रयोग "संशोधन" शब्द के अतिरिक्त किया गया है, जैसा कि अनुच्छेद 31ख, 35(ख), 252(2), 372(2), 372क(2), अनुसूची 5 के पैरा 7 और अनुसूची 6 के पैरा 21 से प्रतीत होता है। अनुच्छेद 368 में इस संविधान के संशोधन की बाबत कहा गया है और संशोधन करने की शक्ति का विस्तार "इस संविधान के सभी या किसी उपबन्ध" तक नहीं है। "संशोधन" शब्द के विस्तृत अर्थान्वयन के अनुसार अपेक्षित बहुमत द्वारा सभी मूल अधिकारों को छीना जा सकता है जब कि कम महत्त्वपूर्ण विषयों में उस अनुच्छेद के परन्तुक के अधीन कम से कम आधे राज्यों की अनुमति अपेक्षित है।

---

(1) 146 यू० एस० 1=36 लॉयर्स इण्डियन 869.

(2) (1953) 1 एस० सी० आर० 491.

(3) (1935) ए० सी० 500.

मुख्य मानवीय स्वतन्त्रताएं सभी राज्यों और सभी नागरिकों के लिए अत्यधिक महत्व रखती हैं। अनुच्छेद 32 राज्यों के नागरिकों के लिए अनुच्छेद 226 की अपेक्षा कम महत्वपूर्ण नहीं है। प्रस्तावना संविधान का भाग या उपबन्ध नहीं है। अतः प्रस्तावना का अनुच्छेद 368 के अधीन संशोधन नहीं किया जा सकता है। प्रस्तावना का स्वरूप और उसकी अन्तर्वस्तु ऐसी है जिसका कि संशोधन नहीं किया जा सकता है। यदि प्रस्तावना अपरिवर्तनीय है तो इससे आवश्यकतया यह निष्कर्ष निकलता है कि संविधान के वे उपबन्ध जोकि प्रस्तावना को प्रभावी बनाने के लिए आवश्यक हैं, अपरिवर्तनीय हैं। मूल अधिकार प्रस्तावना को प्रभावी बनाने के लिए आशयित हैं अतः उनका न्यूनन नहीं किया जा सकता या उन्हें छीना नहीं जा सकता है। स्वयं अनुच्छेद 368 के उपबन्धों का उसी अनुच्छेद के अधीन संशोधन किया जा सकता है। यदि "संशोधन" शब्द का व्यापक अर्थ लगाया जाए तो संसद् को अनुच्छेद 368 में अपेक्षित बहुमत से छुटकारा पाने की शक्ति होगी और संसद् के लिए केवल बहुमत द्वारा किन्हीं भी सांविधानिक संशोधनों को करना सम्भव होगा, संसद् यह उपबन्ध कर सकती है कि एतत्पश्चात् यह संविधान अपरिवर्तनीय होगा। संसद् भारत को ऐसी प्रास्थिति दे सकती है जोकि न तो प्रभुत्वसम्पन्न हो, न ही लोकतान्त्रिक हो और न ही गणतन्त्रीय हो और जिसमें कि आधारभूत मानवीय अधिकारों का अभाव स्पष्टतः दृष्टिगोचर हो।

श्री पालखीवाला ने यह दलील दी है कि नियन्त्रित संविधान का संशोधन करने की शक्ति पर अन्तर्निहित या विवक्षित परिसीमाओं का सिद्धान्त तीन आधारभूत बातों से उद्भूत होता है। पहले यह कि वास्तविक विधिक प्रभुता जनता के पास होती है; दूसरे यह कि सृजन केवल संविधान के अधीन किया जाता है; तीसरे यह कि संविधान का संशोधन करने की शक्ति या संविधान की अनिवार्य बातों को नष्ट करने की शक्ति वास्तविक विधिक प्रभु के पास है।

श्री पालखीवाला ने 12 अनिवार्य बातें बताई हैं। वे इस प्रकार हैं—(1) संविधान की सर्वोपरिता, (2) भारत की प्रभुता, (3) देश की अखण्डता, (4) लोक तान्त्रिक जीवन, (5) गणतन्त्रीय शासन, (6) संविधान के भाग 3 में वर्णित आधारभूत मानवीय अधिकारों की गारण्टी, (7) धर्मनिरपेक्ष राज्य, (8) निष्पक्ष और स्वतन्त्र न्यायपालिका, (9) संघ और राज्यों की दोहरी संरचना, (10) विधानमण्डल, कार्यपालिका और न्यायपालिका के बीच संतुलन, (11) राष्ट्रपतीय शासन पद्धति से भिन्न रूप में संसदीय शासन पद्धति, (12) अनुच्छेद 368 का संशोधन किया जा सकता है किन्तु उसका संशोधन संसद् को संविधान की किसी अनिवार्य बात को परिवर्तित या विनष्ट करने की शक्ति देते हुए और इस संविधान को शब्दशः अथवा व्यावहारिक रूप में असंशोधनीय बनाते हुए, उसे संसद् में केवल बहुमत द्वारा सामान्यतः संशोधनीय बनाते हुए, राज्य विधानमण्डलों को या तो अभिव्यक्त रूप से या वस्तुतः संशोधन की शक्ति प्रदान करते हुए और परन्तुक का लोप करते हुए, एवं राज्यों को अनुसमर्थन की शक्ति से, जोकि आज मोटी-मोटी बातों में उन्हें दी गई है, वंचित करते हुए, नहीं किया जा सकता है।

श्री पालखीवाला ने तीन आधारों पर संविधान (चौबीसवां संशोधन) अधिनियम का विरोध किया है। पहला यह कि अनुच्छेद 368 में "संशोधन" के स्थान पर "परिवर्धन, परिवर्तन अथवा निरसन करके संशोधन" शब्दों को प्रतिस्थापित करके शक्ति

को व्यापक बनाया गया है। दूसरा यह कि चौबीसवें संशोधन में यह बात स्पष्ट कर दी गई है कि जब संसद् अनुच्छेद 368 के अधीन सांविधानिक संशोधन करती है तो वह संविधायी शक्ति का प्रयोग करते हुए कार्य करती है तीसरा यह कि उसके द्वारा अनुच्छेद 13 और 368 में संशोधन करके उपबन्धित किया गया है कि अनुच्छेद 13(2) में मूल अधिकारों को न्यून करने या उन्हें छीनने के विरुद्ध शक्ति अनुच्छेद 368 के अधीन किसी संशोधन की बाबत लागू नहीं होगी। अतः संविधान (चौबीसवां संशोधन) अधिनियम का अर्थान्वयन इस प्रकार किया जाना चाहिए मानो संसद् को जनता की सम्पूर्ण सांविधानिक शक्तियों का प्रयोग करने के लिए सशक्त बनाया गया है और संसद् में जनता की वास्तविक विधिक प्रभुता निहित की गई है और संसद् को संविधान की अनिवार्य बातों, आधारभूत तत्वों और मूल सिद्धान्तों में से सभी या किसी को परिवर्तित या समाप्त करने के लिए प्राधिकृत किया गया है। इसी प्रकार ही संविधान (चौबीसवां संशोधन) अधिनियम द्वारा संसद् के बारे में अभिप्रेत है कि उसे सभी या किन्हीं मूल अधिकारों के अस्तित्व को विकृत या नष्ट करने के लिए प्राधिकृत किया गया है। अतः ये संशोधन अवैध और अविधिमान्य होने चाहिएं।

विकल्पतः पिटीशनर की ओर से यह दलील दी गई है कि यदि संशोधन (चौबीसवां संशोधन) अधिनियम विधिमान्य है तो ऐसा केवल अनुच्छेद 13 और 368 के संशोधित उपबन्धों को घुमा फिरा कर पढ़ते हुए ही किया जा सकता है जिसके कारण मूल, अन्तर्निहित और विवक्षित परिसीमाएं बनी रहेंगी। संविधान (चौबीसवां संशोधन) अधिनियम के पश्चात् भी संसद् को संविधान के अनिवार्य तत्वों को परिवर्तित या नष्ट करने की कोई शक्ति नहीं होगी और दूसरे यह कि मूल अधिकार संविधान के अनिवार्य तत्वों में आते हैं और इसलिए किसी भी मूल अधिकार की मूल भावना को परिवर्तित, नष्ट या विकृत उस समय भी नहीं किया जा सकता है जब उनका न्यूनन करना ईप्सित हो।

महान्यायवादी ने उस पृष्ठभूमि पर जोर दिया है जिसमें अनुच्छेद 368 संविधान सभा द्वारा अधिनियमित किया गया था। ऐसा यह दर्शित करने के लिए किया गया है कि संशोधन की शक्ति पर कोई परिसीमा कदापि विवादग्रस्त नहीं रही है। एकमात्र विवाद संविधान के सभी उपबन्धों के संशोधन की नमनीयता की मात्रा विषयक था। हमारे संविधान में संविधान का संशोधन करने की तीन रीतियां अपनाई गई हैं। संविधान के कुछ उपबन्धों का संशोधन संसद् में साधारण बहुमत द्वारा किया जा सकता है। अन्य उपबन्धों का संशोधन दो-तिहाई बहुमत द्वारा किया जा सकता है। तीसरे प्रकार के उपबन्धों में किया गया संशोधन आधे राज्यों द्वारा अनुसमर्थित होना चाहिए। इस योजना द्वारा राज्यों के अधिकारों की संरक्षा करते हुए और संविधान के अन्य उपबन्धों का संशोधन सरल बनाते हुए, एक अच्छा संतुलन बिठाया गया है। संविधान का संशोधन करने की तीन रीतियों में से दो रीतियां स्वयं अनुच्छेद 368 में अधिकथित हैं और तीसरी रीति लगभग 24 अन्य अनुच्छेदों में उपबन्धित है।

सांविधानिक सलाहकार ने अक्तूबर, 1947 में अपने द्वारा तैयार किए गए संविधान के प्रारूप में, संघीय संविधान समिति की अनुपूरक रिपोर्ट में अन्तर्विष्ट एक सिफारिश का उल्लेख किया था। सलाहकार समिति की सिफारिश का पालन करते हुए

उसने यह परन्तुक शामिल किया था कि मुसलमानों, अनुसूचित जातियों, अनुसूचित आदिम-जातियों, भारतीय इसाइयों और सिखों के लिए या तो परिसंघीय संसद् में या किसी प्रान्तीय विधानमण्डल में स्थानों के आरक्षण सम्बन्धी सांविधानिक उपबन्धों का संशोधन संविधान के प्रारम्भ होने से दस वर्ष के अवसान के पूर्व नहीं किया जाना चाहिए।

फरवरी, 1948 से प्रारूपण समिति ने संशोधन सम्बन्धी उपबन्धों पर विचार किया। उसने सांविधानिक सलाहकार द्वारा दिए गए उपबन्धों में तीन महत्वपूर्ण परिवर्तन किए। पहला यह कि समिति ने विधानमण्डलों में अल्पसंख्यकों के लिए स्थानों के आरक्षण की बाबत एक स्वतःपूर्ण और पृथक् अनुच्छेद विरचित किया। इन उपबन्धों का दस वर्ष की कालावधि तक संशोधन नहीं किया जा सकता था और वे उसके बाद यदि संविधान का संशोधन करते हुए उनका प्रवर्तन चालू न रखा गया तो प्रभावहीन हो जाएंगे। दूसरा यह कि प्रस्थापित परिवर्तन द्वारा राज्य विधानमण्डलों को सांविधानिक संशोधनों का सूत्रपात्र करने की एक सीमित शक्ति दी गई। यह शक्ति दो विषयों की बाबत थी। ये विषय राज्यपालों के चुनने और राज्यों में विधान परिषदों की स्थापना करने या उन्हें समाप्त करने से सम्बन्धित थे। तीसरा यह कि प्रस्थापित संशोधनों में कहा गया था कि किसी विधायी सूची (केवल परिसंघ की सूची ही नहीं) में किए गए परिवर्तन कम से कम आधे प्रान्तीय विधानमण्डलों द्वारा और एक-तिहाई देशी राज्यों के विधानमण्डलों द्वारा अनुसमर्थित होने चाहिए।

संविधान का संशोधन करने की शक्ति के सम्पूर्ण इतिहास से प्रथमतः यह दर्शित होता है कि संविधान के प्रारूप में विस्तृत और कठिन प्रक्रियाओं को, जैसे कि कन्वेंशन या लोकमत-संग्रह द्वारा विनिश्चय को, निकाल दिया गया था। संशोधन करने की शक्तियां संघ और राज्यों के विधानमण्डलों को दे दी गई हैं, दूसरा यह कि केवल विनिर्दिष्ट विषयों का संशोधन करने के लिए ही राज्य विधानमण्डलों द्वारा अनुसमर्थन किया जाना अपेक्षित है। अन्य सभी अनुच्छेदों को संसद् द्वारा संशोधित किया जा सकता है, एकमात्र परिसीमा प्रत्येक सदन में उपस्थित और मतदान करने वाले सदस्यों की कम से कम दो-तिहाई बहुमत की है और प्रत्येक सदन के कुल सदस्यों के बहुमत की है। तीसरा यह कि जब अमरीका और आस्ट्रेलिया के संविधानों के साथ तुलना की जाती है तो हम देखते हैं कि संविधान का संशोधन करने विषयक उपबन्ध सरल न कि कठिन बनाए गए थे।

संशोधन की शक्ति पर अन्तर्निहित और विवक्षित परिसीमा का सिद्धान्त "संशोधन" शब्द के एक संकुचित और निर्बन्धित अर्थ की धारणा पर आधारित है जिससे यह इंगित होता है कि संविधान की आधारभूत तत्व या सारभूत तत्व और उसका लोकतन्त्रात्मक गणराज्यीय स्वरूप बिगाड़ा या समाप्त नहीं किया जा सकता है। संविधान की प्रस्तावना पर यह दलील देने के लिए जोर दिया गया है कि अन्तर्निहित और विवक्षित परिसीमाएं सभी प्रस्तावना से उद्भूत होती हैं। प्रस्तावना के बारे में कहा गया है कि वह संविधान का भाग नहीं है। प्रस्तावना के बारे में कहा गया है कि वह अपरिवर्तनीय है। अतः यह दलील दी गई है कि अन्य उपबन्ध जो प्रस्तावना को प्रभावी बनाते हैं, संशोधित नहीं किए जा सकते हैं।

बेरुबारी वाले मामले(1) में इस न्यायालय के विनिश्चय का इस प्रतिपादन के समर्थन में अवलम्ब लिया गया है कि प्रस्तावना संविधान का भाग नहीं है। यह निष्कर्ष निकाला गया है कि प्रस्तावना के विरुद्ध संविधान का कोई संशोधन नहीं किया जा सकता है। प्रस्तावना के बारे में यह कहा गया है कि वह संशोधन की शक्ति पर एक बार की विवक्षित परिसीमा है। इस न्यायालय ने बेरुबारी वाले मामले में कहा था कि प्रस्तावना को किसी अधिष्ठायी शक्ति का स्रोत कदापि नहीं माना गया है क्योंकि ऐसी शक्तियां स्वयं संविधान में अभिव्यक्त रूप से दी जाती हैं। इस न्यायालय ने कहा था कि "जो कुछ भी शक्तियों की बाबत सही है वही समानतः प्रतिषेधों और परिसीमाओं की बाबत सही है।" बेरुबारी वाले मामले में यह सुझाव दिया गया था कि संविधान की प्रस्तावना में यह प्रकल्पित है कि लोकतान्त्रिक गणराज्यीय शासन पद्धति की भांति, सम्पूर्ण भारतीय राज्यक्षेत्र संसद् की पहुंच के बाहर है और न तो साधारण विधान द्वारा, न ही सांविधानिक संशोधन द्वारा उसके सम्बन्ध में कुछ अधिनियमित किया जा सकता है। साधारण विधि द्वारा या संविधान का संशोधन करके राज्य क्षेत्र को समर्पित करने की शक्ति को कम करने के लिए प्रस्तावना की सहायता ली गई थी। इस न्यायालय ने कहा था कि "स्टोरी" के शब्दों में प्रस्तावना "निर्माताओं के मस्तिष्कों को जानने की कुंजी है, किन्तु फिर भी प्रस्तावना के बारे में यह नहीं कहा जा सकता कि उसमें प्रभुता के एक अत्यधिक महत्वपूर्ण अंग पर किसी प्रकार की परिसीमा प्रकल्पित है।" इस न्यायालय ने इस सिद्धान्त को अस्वीकार किया था कि प्रस्तावना द्वारा प्रभुता के सारभूत तत्वों पर गम्भीर प्रकृति की परिसीमाएं अधिरोपित की जा सकती हैं। परिसीमा सम्बन्धी यह दलील कि प्रस्तावना भारत के राज्यक्षेत्र की अखण्डता की पुष्टि करती है जिससे कि संशोधन की शक्ति के बारे में यह विवक्षित होना चाहिए कि वह राज्यक्षेत्र समर्पित करने का अपवर्जन करती है, इस विनिश्चय द्वारा नामंजूर की गई है।

पिटीशनर की यह दलील कि प्रस्तावना संविधान का भाग नहीं है, पिटीशनर द्वारा प्रस्तावना को सभी अन्तर्निहित परिसीमाओं का स्रोत मानने, प्रस्तावना का निर्देश करने और उसका अवलम्ब लेने से निराधार हो जाती है। बेरुबारी वाले मामले(1) में अभिनिर्धारित किया गया था कि अनुच्छेद 1 को अनुच्छेद 368 के अधीन संशोधित किया जा सकता है और ऐसे संशोधन द्वारा भारत के राज्यक्षेत्र का भाग दिया जा सकता है। अनुच्छेद 1 का संशोधन करके राज्यक्षेत्र देने की शक्ति को प्रस्तावना में परिसीमित नहीं किया गया है।

बेरुबारी वाले मामले(1) में यह मत प्रकट किया गया है कि प्रस्तावना संविधान का भाग नहीं है। प्रस्तावना पर संविधान सभा ने अन्त में विचार किया था क्योंकि उसे संविधान के अनुरूप होना था। प्रस्तावना पर विचार-विमर्श हुआ था और मतदान हुआ था और यह प्रस्ताव कि "प्रस्तावना संविधान का भाग है" स्वीकार किया गया था। अतः श्री सीरवाई ने ठीक ही दलील दी है कि प्रस्तावना कानून का अभिन्न अंग होता है। प्रस्तावना को निरसित किया जा सकता है। (देखिए—क्रेईस रचित स्टेट्यूट, छठा संस्करण, पृष्ठ 200 और हेल्सबरी द्वारा रचित लॉज ऑफ इंग्लैण्ड, तृतीय संस्करण जिल्द 36, पृष्ठ 370).

(1) (1960) 3 एस० सी० आर० 250.

गोपालन वाले मामले (1) में प्रस्तावना की बाबत यह दलील दी गई थी कि जनता ने नागरिकों को मूल अधिकारों की गारन्टी देते हुए संविधान आत्मार्पित किया था और इसलिए भाग 3 के उपबन्धों का अर्थान्वयन इस रूप में किया जाना चाहिए मानो वे विधायी इच्छा से उच्च हैं और चूंकि अन्यथा जीवन और वैयक्तिक स्वतन्त्रता सम्बन्धी मूल अधिकारों को विधायी कार्यों के विरुद्ध संरक्षित नहीं रखा जा सकेगा। न्यायाधिपति पातञ्जलि शास्त्री ने कहा था कि प्रस्तावना का उच्च उद्देश्य और भावना तथा मूल अधिकारों की घोषणा विषयक संविधायी महत्व ध्यान में रखा जाना चाहिए। वहां यह कहा गया था कि उपबन्धों की भाषा किसी अधिनियमिति, संविधान या अन्य विधान के निर्वचन के महत्वपूर्ण नियम की अवहेलना करते हुए खींची नहीं जानी चाहिए और उसके आशय के समान ही उसकी भावना को प्रयुक्त किए गए शब्दों के स्वाभाविक अर्थ में मुख्यतः ग्रहण किया जाना चाहिए। अनुच्छेद 21 में "विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया" शब्दों के बारे में यह मानना चाहिए कि ये उस प्रक्रिया का निर्देश करते हैं जोकि कानूनी है। "विधि" शब्द के बारे में यह कहा गया कि उसका अर्थ नैसर्गिक न्याय के अपरिवर्तनीय और सर्वग्राही सिद्धान्तों से है। न्यायाधिपति पातञ्जलि शास्त्री द्वारा दिया गया तर्क यह था कि "ऐसे अस्पष्ट और अनिश्चित सिद्धान्तों द्वारा, जैसे कि नैसर्गिक न्याय का अपरिवर्तनीय और सर्वग्राही सिद्धान्त हैं, कोई प्रक्रिया स्थापित हुई जान नहीं पड़ती या स्थापित हुई कही नहीं जा सकती है"। गोपालन वाले मामले में इस न्यायालय ने सम्यक प्रक्रिया को संविधान की विवक्षा के रूप में पढ़ने से इन्कार कर दिया था।

केरल एजुकेशन बिल, 1957 वाले मामले (2) में मुख्य न्यायाधिपति दास ने प्रस्तावना के प्रति निर्देश किया और कहा कि "प्रस्तावना में उपवर्णित मुख्य प्रयोजन को कार्यान्वित करने और शक्तिशाली बनाने के लिए हमारे संविधान के भाग 3 में हमारे लिए कतिपय मूल अधिकार उपबन्धित हैं।" उसी मामले में मुख्य न्यायाधिपति दास ने कहा कि "जब तक कि संविधान इसी प्रकार बना रहता है और परिवर्तित नहीं किया जाता है, तब तक निश्चित रूप से इस न्यायालय का यह कर्तव्य है कि मूल अधिकारों को बनाए रखे और तद्द्वारा अल्पसंख्यक समुदाय के प्रति, जोकि हमारे अपने ही अंग हैं, हमारी पवित्र बाध्यता का पालन करे।" इस मत से यह दर्शित होता है कि मूल अधिकारों को संशोधित किया जा सकता है और प्रस्तावना मार्ग में बाधक नहीं है।

बसेशर नाथ बनाम आयकर आयुक्त, दिल्ली (3) में न्यायाधिपति भगवती ने मूल अधिकार के अधित्यजन के प्रश्न की चर्चा करते हुए प्रस्तावना के प्रति निर्देश किया और हमारी प्रस्तावना की तुलना संयुक्त राज्य अमरीका के संविधान की प्रस्तावना के साथ की। अमरीका के संविधान की प्रस्तावना में बिल ऑफ राइट्स नहीं हैं और बिल ऑफ राइट्स ने, जोकि संयुक्त राज्य अमरीका के संविधान के भाग बने, उसके स्वरूप को सारतः बदल दिया और वे एक प्रकार से सिद्धान्ततः हमारे मूल अधिकारों से किसी प्रकार भिन्न नहीं थे।

(1) (1950) एस० सी० आर० 88.
(2) (1959) एस० सी० आर० 995.
(3) (1959) सप्लीमेण्ट 1 एस० सी० आर० 528.

प्रस्तावना की उचित रूप से तब सहायता ली जाती है जब अधिनियमन करने वाले भाग के शब्दों की बाबत संदेह या अस्पष्टता पैदा होती है। यदि अधिनियम करने वाले शब्द स्पष्ट और असंदिग्ध हैं तो निर्वचन की कम गुंजाइश होती है सिवाय उन दशाओं के जिनमें स्पष्ट गलती हो या प्रस्तावना में अभिव्यक्त आशय के बिल्कुल प्रतिकूल बात हो। यह स्टोरी का मत है। साधारण शासन में निहित शक्तियों का विस्तार करने के लिए प्रस्तावना की कदापि सहायता नहीं ली जा सकती है। प्रस्तावना में संविधान द्वारा वस्तुतः प्रदत्त शक्तियों के स्वरूप, विस्तार और प्रवर्तन की व्याख्या हो सकती है, वह इनका अधिष्ठायी रूप से सृजन नहीं कर सकती है।

गोपालन वाले मामले (1) में, कोल बीयरिंग एरियाज ऐक्ट वाले मामले (2) में और राजस्थान राज्य बनाम लीला जैन (3) वाले मामले में इस न्यायालय के विनिश्चय यह है कि यदि अधिनियमिति की भाषा स्पष्ट हो तो प्रस्तावना उस अधिनियमिति को प्रकुत या कम नहीं कर सकती है। सेक्रेटरी ऑफ स्टेट फॉर इण्डिया इन काउन्सिल बनाम महाराजा ऑफ मोबिल्ली (4) में जुडीशियल कमेटी ने कहा था कि विधानमण्डल का आशय यह हो सकता है कि अधिनियमन करने वाले भाग का विस्तार प्रस्तावना की स्पष्ट परिधि या उसके मूल प्रभाव क्षेत्र के आगे होना चाहिए। अटर्नी जनरल बनाम प्रिन्स अर्नेस्ट ऑगस्टस ऑफ हैनोवर (5) भी देखिए। हैमिल्टन बनाम कॉमनवेल्थ ऑफ मसाचूसेट्स (6) में अमरीकी विनिश्चय से दर्शित होता है कि शक्ति प्रस्तावना द्वारा नहीं दी जाती है बल्कि वह संविधान में होती है।

किसी कानून के अधिनियमन में अस्पष्टता होने पर प्रस्तावना सुसंगत हो सकती है। कानून में संशोधन करने की शक्ति नहीं होती है। इसका कारण केवल यह है कि कानून का संशोधन विधायी शक्ति के अधीन किया जा सकता है। महान्यायवादी ने ठीक ही कहा है कि संविधान में प्रस्तावना, प्रस्तावना के समय संविधान की विरचना के प्रति निर्देश करती है और इसलिए सम्भवतः उसका भविष्य में होने वाली, जब स्वयं उस संविधान को परिवर्तित किया जा सकता है, संविधायी शक्ति के साथ कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता है। चाहे संविधायी शक्ति का प्रयोग जनता द्वारा अपने लिए संविधान में उपबन्धित संशोधन करने वाले निकाय द्वारा किया जाए या संविधान में लोकमत-संग्रह का उपबन्ध होने पर लोकमत-संग्रह द्वारा किया जाए, जहां तक कि प्रस्तावना का सम्बन्ध है, स्थिति वैसी ही रहेगी। महान्यायवादी ने अपनी दलील के समर्थन में आस्ट्रेलिया के संविधान की धारा 128 के समरूप निर्वचन के सम्बन्ध में कैनावे और वाइन्स के मतों का अवलम्ब लिया है।

कैनावे ने "फेल्योर ऑफ फैडेलिज्म इन आस्ट्रेलिया" में "आल्टरेशन ऑफ दि कान्स्टिट्यूशन" शीर्षक के अधीन आस्ट्रेलिया के संविधान की धारा 128 की चर्चा करते

(1) (1950) एस० सी० आर० 88.
(2) (1962) 1 एस० सी० आर० 44.
(3) (1965) 1 एस० सी० आर० 276.
(4) आई० एल० आर० 43 मद्रास 529.
(5) (1957) ए० सी० 436.
(6) 197 यू० एस० 11.

हुए यह मत प्रकट किया है कि इस धारा को संविधान का परिवर्तन करने की अधिष्ठायी शक्ति देने वाली समझना चाहिए और इस धारा का नकारात्मक रूप उस शक्ति की व्यापकता को किसी रूप में कम नहीं करता है। कैनावे ने आगे कहा है कि धारा 128 के प्रभाव के सम्बन्ध में प्रस्तावना को निर्दिष्ट करना अनुज्ञेय नहीं है और यदि फिर भी इस प्रकार का निर्देश किया जाता है तो इस निष्कर्ष का किसी प्रकार विरोध नहीं किया जा सकता कि संशोधन करने की पूर्ण शक्ति है। प्रस्तावना में एक चिरस्थायी परिसंघीय राष्ट्रमण्डल में संगठित होने का प्रारम्भिक करार परिवर्णित है। आस्ट्रेलिया के संविधान की धारा 128 उस संविधान का अभिन्न अंग है। करार के समय से यह अनुध्यात किया गया होगा कि संविधान उस धारा द्वारा प्रदत्त शक्ति की पूर्ण सीमा तक परिवर्तनीय होना चाहिए। अतः आस्ट्रेलिया के संविधान की धारा 128 में "आल्टर" शब्द प्रस्तावना से सम्बन्धित किसी निर्देश द्वारा निर्बन्धित नहीं है।

वाइन्स ने "लैजिसलेटिव, एक्जीक्यूटिव एण्ड जुडीशियल पावर्स इन आस्ट्रेलिया", चतुर्थ संस्करण, पृष्ठ 505-506 में यह मत व्यक्त किया है कि उस नियम के अतिरिक्त जो कि कानूनी निर्वचन में सामान्यतः प्रस्तावना पर विचार करने की मनाही करता है, यह स्पष्ट है कि जब सब कुछ कह दिया और कर दिया जाता है तो प्रस्तावना अधिक से अधिक वर्तमान आशय का परिवर्णन मात्र ही होती है। ऐसा कहा जाता है कि स्वयं संविधान में संशोधन सम्बन्धी अभिव्यक्त निर्देश अन्तःस्थापित करने से, उसके सृजन के कारणों का परिवर्णन मात्र विशेषित हो जाता है।

संविधान सभा में संविधान के प्रारूप के दूसरे वाचन के समय यह प्रस्ताव स्वीकार किया गया था कि प्रस्तावना हमारे संविधान का भाग है। प्रस्तावना संविधान का भाग है। 26 नवम्बर, 1949 को संविधान के कतिपय अनुच्छेदों को प्रवृत्त किया गया था। अनुच्छेद 393, 26 नवम्बर, 1949 को प्रवृत्त नहीं हुआ था। अतः प्रस्तावना 26 नवम्बर, 1949 को प्रवृत्त नहीं हुई। जहां तक कि सामान्य विधियों का सम्बन्ध है, स्थिति यह है कि प्रस्तावना को कानून का भाग माना गया है।

विधानमण्डलों और न्यायालयों दोनों के सम्बन्ध में स्पष्ट संविधायी उपबन्धों का होना अनिवार्य है। जब संविधायी उपबन्ध की परिधि स्वतः पूर्ण है और उसमें निर्वचन की कोई गुंजाइश नहीं है तो न्यायालयों को संविधायी उपबन्ध का संशोधन, परिवर्धन या न्यूनन करने, अथवा विवक्षा द्वारा उनके अपवाद विरचित करने की कोई शक्ति नहीं है। (देखिए—कोरपस ज्यूरिस सैकण्डम, जिल्द 16, पृष्ठ 65)। जब लोगों ने संविधान को विरचित करते समय सावधानी के साथ और नपे तुले शब्दों में अपने विचारों को अभिव्यक्त कर दिया है और उन्होंने यथा सम्भव कम से कम विवक्षाओं की गुंजाइश छोड़ी है तो वर्तमान व्यवस्था में सशर्त संशोधन या परिवर्तन प्रस्तावना का, जोकि संविधान की विरचना के समय विद्यमान आशय की अभिव्यक्ति है, निर्देश करते हुए विवक्षाएं लगाने पर नहीं छोड़े जा सकते हैं। अतः संविधान का संशोधन करने की शक्ति प्रस्तावना द्वारा निर्बन्धित और नियन्त्रित नहीं है।

यह दलील कि अनुच्छेद 368 के, जैसा कि वह संविधान (चौबीसवां संशोधन) अधिनियम के पूर्व था, अधीन सारभूत तत्वों का संशोधन नहीं किया जा सकता है, न केवल संशोधन की अभिव्यक्त शक्ति पर नकारात्मक निर्बन्धन मानना है अपितु ऐसा करना उलटी

दिशा में चलना होगा। कानून के अर्थान्वयन का एक महत्वपूर्ण सिद्धान्त क्वीन बनाम बुराह् (1) में दिया गया है। उस मामले में यह अवधारित करना था कि क्या उपनिवेशीय विधानमण्डल की विहित परिसीमाओं का अतिलंघन हुआ है। जुडीशियल कमेटी ने कहा कि कर्त्तव्य का पालन उस लिखत के निबन्धनों के अनुसार होना चाहिए जिसके द्वारा सकारात्मक रूप से विधायी शक्तियों का सृजन हुआ है और जिसके द्वारा नकारात्मक रूप से वे निर्बन्धित होती हैं। "यदि जो कुछ भी किया गया है वह उन सकारात्मक शब्दों की सामान्य परिधि के भीतर जिनके द्वारा शक्ति दी गई है विद्यमान है और यदि उसके द्वारा ऐसी किसी अभिव्यक्त शर्त या निर्बन्धन का, जिसके द्वारा वह शक्ति परिसीमित है, अतिक्रमण नहीं होता है तो कोई न्यायालय उसकी आगे जांच नहीं कर सकता अथवा उन शर्तों या निर्बन्धनों का आन्वयिक रूप से विस्तार नहीं कर सकता।" वेब्ब बनाम ऑउटरिम (2) में इसी प्रकार ही "अभिव्यक्त तथ्य विवक्षित को समाप्त करता है" (एक्सप्रेसम फेसिटम सिजारे टैसिटम) नियम को लागू किया गया था। विवक्षित और अन्तर्निहित परिसीमाओं के सिद्धान्त को सर्वश्रेष्ठ रूप में संशोधन की सकारात्मक शक्ति को समाप्त करने के युक्तिपूर्ण प्रयास के रूप में वर्णित किया जा सकता है। फील्डिंग बनाम थॉमस (3) में लार्ड हैल्सबरी ने कहा था कि यदि विधानमण्डल को विधियां बनाने की पूर्ण शक्ति है तो यह मानना कठिन है कि वह शक्ति कैसी छीनी जा सकती है। इस प्रयोजन के लिए शक्ति सदैव पर्याप्त होती है। ब्राडमैन बनाम सेडलर (4) में लार्ड क्युनेडिन ने कहा था कि "अभिव्यक्त अधिनियमिति और विवक्षाएं करने के द्वार बन्द कर देती है।"

यह कहा गया कि सारभूत तत्वों का संशोधन सुधार के तौर पर किया जा सकता है किन्तु उन्हें विकृत या नष्ट नहीं किया जा सकता है। यह कहा गया कि भारत को एकदलीय अधिनायक-तन्त्र में सम्परिवर्तित नहीं किया जा सकता है। अनुच्छेद 368 में अन्तर्विष्ट संशोधन की शक्ति के सम्बन्ध में पिटीशनर के सम्पूर्ण दृष्टिकोण में इस तथ्य की उपेक्षा की गई है कि संविधान का उद्देश्य देश के शासन के लिए न्यायपालिका, विधानमण्डल और कार्यपालिका जैसे राजकीय अंगों की व्यवस्था करना है। बाहरी आक्रमण के विरुद्ध प्रतिरक्षा और आन्तरिक व्यवस्था बनाए रखने के अनिवार्य कृत्यों के अतिरिक्त आधुनिक राज्य का निर्माण जनता के कल्याण के लिए किया जाता है। भारत एक प्रभुत्वसम्पन्न लोकतन्त्रात्मक गणराज्य है जिसका अर्थ यह है कि संसद् और राज्य विधानमण्डल सर्वसाधारण वयस्क मताधिकार के अनुसार निर्वाचित होते हैं। देश मन्त्रिमण्डलीय शासन पद्धति द्वारा शासित होता है और मंत्रालय क्रमशः लोक सभा और राज्य विधान सभाओं के प्रति उत्तरदायी होते हैं। लोकतन्त्र में वे नीतियां जिनका पालन किया जाता है केवल निर्वाचन में दिए गए बहुमत के आधार पर अवधारित की जा सकती हैं और तत्पश्चात् विधानमण्डल में निर्वाचित प्रतिनिधियों

---

(1) (1878) 3 ए० सी० 889.

(2) (1907) ए० सी० 89.

(3) (1896) ए० सी० 600.

(4) (1910) ए० सी० 514.

के बहुमत द्वारा अवधारित की जा सकती है। न्यायाधिपति होम्ज ने कहा है कि "लोकतन्त्र में लोगों को अपनी राय विधि में सन्निविष्ट करने का अधिकार है।"

यह दलील कि यदि अनियन्त्रित शक्तियां प्रदान की गई तो संविधान नष्ट या समाप्त किया जा सकता है भारत में वास्तविक अनुभव के आधार पर ठीक नहीं उतरती है। श्री सीरवाई ने आग्रह किया है कि 1951 से लेकर, जब शंकरी प्रसाद वाले मामले(1) में संशोधन की असीमित शक्ति को मान्यता दी गई थी, 1967 में गोलक नाथ वाले मामले(2) तक राज्य के विभागों की प्रसामान्य लोकतन्त्रात्मक प्रक्रिया संविधान में उपबंधित रूप में चलती रही है। निर्वाचन इस प्रकार किए गए हैं जिस प्रकार संविधान में उपबन्धित है। यदि कोई निकाय या संगठित दल हमारे निष्पक्ष संविधान को नष्ट करने के लिए तुला होता तब यदि संशोधन की कोई शक्ति नहीं होती तो भी संसद् को शक्ति प्राप्त है जिससे इस प्रकार का विनाश हो सकता है। बड़े-बड़े प्रभुत्वसम्पन्न देशों के शासन के लिए बड़ी और व्यापक शक्तियां दी गई हैं और ऐसी शक्तियां इस आधार पर विधारित नहीं की जा सकतीं कि उनका प्रयोग बाहरी तौर पर या अन्यायपूर्ण रूप से हो सकता है। संविधानों का निर्वचन करने में अर्थान्वयन के सुस्थिर सिद्धान्तों के अनुसार संविधान की उस भाषा से भिन्न, जिसका निर्वचन किया जाना है, संविधान की भाषा को राजनैतिक, न्यायिक या सामाजिक धारणाओं द्वारा सीमित किया जाना प्रवारित है। बोध कम्ब बनाम उत्तर प्रदेश राज्य और कुछ अन्य(3) में इस न्यायालय ने क्वीन बनाम बुराह(4) में अधिकथित इस मापदण्ड का अवलम्ब लिया था कि उस लिखत के निबन्धनों पर जिनके द्वारा सकारात्मक रूप से शक्तियों का सृजन हुआ है, और जिसके द्वारा नकारात्मक रूप से उन्हें निर्बन्धित किया गया है, विचार करना चाहिए। अटर्नी जनरल फॉर ओण्टेरियो बनाम अटर्नी जनरल फॉर कनाडा(5) में जुडीशियल कमेटी ने विधिक सिद्धान्त को निम्नलिखित रूप में संक्षेप में कहा था : "यदि पाठ स्पष्ट है तो वह पाठ उन बातों में, जिनके बारे में वह निदेश देता है और जिनको वह प्रतिषिद्ध करता है, समानतः निश्चायक है।" यह लिखित संविधान के अर्थान्वयन का सर्वश्रेष्ठ नियम है।

गोपालन वाले मामले(6) में इस न्यायालय से "संविधान की भावना" से संविधान में विवक्षाएं करने के लिए कहा गया था। मुख्य न्यायाधिपति कानिया ने कहा था कि अर्थान्वयन के अनुमानित सिद्धान्त के आधार पर किसी विधि को विखण्डित करना, न्यायपालिका के हाथों में स्वयं अपनी संरक्षा के लिए या निजी अधिकारों की संरक्षा के लिए बहुत व्यापक और बहुत अनिश्चित शक्तियां सौंपना है। मुख्य न्यायाधिपति कानिया ने यह भी कहा था कि संविधान का निर्वचन व्यापक रूप में और उदारता के साथ किया जाना चाहिए। इसका यह अर्थ नहीं कि न्यायालय किसी विधिक या संविधायी सिद्धान्त के हित में संविधान की भाषा को खींचने या मोड़ने के लिए स्वतंत्र है। इस न्यायालय ने

---

(1) (1952) एस० सी० आर 89.
(2) (1967) 2 एस० सी० आर० 762.
(3) (1959) सप्लीमेण्ट 2 एस० सी० आर० 8.
(4) (1878) 3 ए० सी० 905.
(5) (1912) ए० सी० 571.
(6) (1950) एस० सी० आर० 88.

केशवन माधवन मेनन बनाम मुम्बई राज्य (1) में इस दलील को नामंजूर किया था कि संविधान का निर्वचन करने में संविधान की भावना की सहायता लेनी चाहिए। बनवारी लाल शर्मा वाले मामले (2) में प्रिवी काउन्सिल ने फेडरल कोर्ट के निर्णय को यह कहते हुए उलट दिया था कि न्यायशास्त्र या नीति विषयक प्रश्न सकारात्मक भाषा में प्रदत्त शक्ति का, जोकि नकारात्मक शब्दों द्वारा निर्बन्धित नहीं है, अर्थान्वयन करने के लिए सुसंगत नहीं है।

संविधान अनिवार्य रूप से शासन की रूपरेखा है जिसमें विधानमण्डल, कार्यपालिका और न्यायपालिका द्वारा प्रयुक्त की जाने वाली शासकीय शक्तियां अधिकथित होती हैं। फिर भी किसी देश के संविधान में ऐसे अन्य उपबन्धों को सम्मिलित किया जाता है जो उस संविधान निर्माताओं द्वारा ऐसे विशेष महत्व के माने जाते हैं कि उन्हें संविधान या आधारभूत विधि में सम्मिलित किया जाना चाहिए। अतः संविधान के सभी उपबन्ध अनिवार्य हैं और संशोधन की दृष्टि से सारभूत और गौण तत्वों के बीच तब तक कोई अभेद नहीं किया जा सकता जब तक कि संविधान निर्माता स्वयं संविधान में उसे अभिव्यक्त रूप से स्पष्ट न कर दें। महान्यायवादी ने ठीक ही कहा है कि यदि अनुच्छेद 368 में "इस संविधान के संशोधन" की सकारात्मक शक्ति सारभूत तत्वों की या गौण तत्वों के मर्म की दीवार खड़ी करके निर्बन्धित की जाती है तो संविधान सभा का स्पष्ट आशय निष्फल हो जाएगा और उससे यह संविधान हास्यास्पद बन जाएगा और उसके कारण संविधान नष्ट जाएगा जिससे कि संविधान में इतर संविधायिक या क्रान्तिपूर्ण परिवर्तन करने का मार्ग खुल जाएगा। विवक्षित और अन्तर्निहित परिसीमाओं के सिद्धान्त को संशोधन की स्पष्ट और असंदिग्ध शक्ति को निगल जाने के रूप में कार्य करने के लिए अनुज्ञात नहीं किया जा सकता।

यदि अनुच्छेद 368 में संशोधन के विरुद्ध कोई अभिव्यक्त प्रतिषेध नहीं है तो ऐसे किसी निर्बन्धन के न होने का आशय यह नहीं है कि कोई निर्बन्धन अधिरोपित किया गया है। जब कतिपय निर्बन्धन अधिरोपित किए जाते हैं तो उनका यह आशय नहीं होता कि अन्य अपरिभाषित निर्बन्धनों को विवक्षा द्वारा अधिरोपित किया जाना चाहिए। सामान्य नियम यह है कि कानून में ऐसे शब्द न लाए जाएं जो उसमें नहीं दिए गए हैं। शब्दों को कानून की भाषा में विवक्षा द्वारा तब तक नहीं जोड़ा जा सकता है जब तक ऐसा करना उसके संदर्भ में उस पैरा को बोधगम्य और अर्थपूर्ण बनाने के लिए आवश्यक न हों। यदि कोई विषय कानून से पूर्णतः लुप्त हो गया है तो विवक्षा द्वारा उसे अन्तःस्थापित करना अनुज्ञेय नहीं है। जब किसी अधिनियम की भाषा स्पष्ट और असंदिग्ध है तो उसके चाहे जो भी परिणाम निकलें, उसे प्रभावी बनाना होता है। कानून के शब्दों से विधानमण्डल का आशय प्रकट होता है। जब कानून को पढ़ने से बोधगम्य परिणाम निकलते हैं तब विधानमण्डल के अनुमानित आशय के अनुसार किसी शब्द को पढ़ने या किसी शब्द को बदलने का कोई आधार नहीं होता है। यदि कोई कानून किसी कार्य को करने के प्रयोजनार्थ पारित किया जाता है किन्तु शब्दों में कुछ ऐसे विवरण देने रह

(1) (1951) एस० सी० आर० 228.
(2) 72 आई० ए० 57.

जाते हैं जोकि उस कार्य के उचित पालन के लिए, जोकि कानून में अनुध्यात है, बहुत महत्वपूर्ण हैं तो न्यायालय यह अनुमान लगाने के लिए स्वतन्त्र है कि वह कानून विवक्षित रूप में विवरण देने के लिए सशक्त बनाता है। विवक्षा यह है कि प्राधिकारी को वह कार्य करने के लिए सशक्त बनाया जाए जोकि वास्तविक उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए आवश्यक है।

डा० पालखीवाला ने संशोधन की सकारात्मक शक्ति को समाप्त करने के लिए अनुच्छेद 368 में नकारात्मक शब्दों को पढ़ने के प्रयोजनार्थ विवक्षा करनी चाही है। इस देश की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि और विशेष समस्याओं को देखते हुए हमारे संविधान के उपबंधों से दर्शित होता है किसी भी उपबन्ध को अनिवार्य नहीं माना जा सकता है। संविधान निर्माताओं ने ऐसा नहीं सोचा था। महान्यायवादी ने ठीक ही दलील दी है कि किसी को भी यह कहने की शक्ति या प्राधिकार नहीं है कि कोई भी एक उपबन्ध दूसरे की अपेक्षा अधिक अनिवार्य है या यह कि अनुच्छेद 368 के अधीन संशोधन की शक्ति अभिकथित अनिवार्यता के आधार पर किसी उपबन्ध के सम्बन्ध में प्रवर्तित नहीं होती है, जबकि अनुच्छेद 368 में इस संविधान का संशोधन, जिसका स्पष्टतः अर्थ है कि प्रत्येक उपबन्ध को मिलाकर इस सम्पूर्ण संविधान का संशोधन करने की बाबत उपबन्ध है। संविधान में संविधान के भिन्न-भिन्न भागों के भिन्न-भिन्न महत्व के आधार पर संशोधन की भिन्न-भिन्न रीतियां अधिकथित की जा सकती हैं। अनुच्छेद 368 की भाषा के अतिरिक्त संविधान के प्ररूप से, जैसा कि संविधान सभा के माध्यम से वह प्राप्त हुआ, दर्शित होता है कि संविधान का कोई भी उपबन्ध संशोधन की शक्ति से अपवर्जित नहीं था।

संशोधन के प्रयोजनार्थ उन उपबन्धों को चार प्रवर्गों में विभक्त किया गया था। पहले दो प्रवर्ग अनुच्छेद 368 में दिए गए हैं। जैसा कि परन्तुक में वर्णित है कतिपय उपबन्धों के लिए राज्यों की अपेक्षित संख्या द्वारा अनुसमर्थन किया जाना अनिवार्य है। अन्य उपबन्ध, जोकि परन्तुक के अन्तर्गत नहीं आते हैं, उपबन्धित दो प्रकार के बहुमत द्वारा संशोधनीय हैं। तीसरे प्रवर्ग के अन्तर्गत अनुच्छेद 4, 169, 240(1), अनुसूची 5 का पैरा 7 और अनुसूची 6 का पैरा 21 हैं। चौथे प्रवर्ग के अन्तर्गत वे उपबन्ध आते हैं जिनके बारे में महान्यायवादी ने कहा है कि वे "जब तक संसद् अन्यथा उपबन्ध न करे" अभिव्यक्ति या ऐसी ही अभिव्यक्तियों द्वारा उपबन्धों का परिवर्तन करने के लिए संसद् को समर्थकारी शक्ति प्रदान करते हैं। उसने उदाहरण दिए हैं जोकि अनुच्छेद 73(2), 100(3), 105(3), 119(2), 120(2), 125, 133(3), 171(2), 189(3), 194(3), 210(2), 242(1), 283(1) और (2), 285(1) और (2), 342(3), 345, 348(1) हैं।

उन उपबन्धों के, जो स्वयं अनुच्छेद 368 के परन्तुक के अधीन संशोधनीय हैं, स्वरूप से दर्शित होता है कि पिटीशनर की यह दलील कि अनिवार्य तत्वों का संशोधन नहीं किया जा सकता है निराधार है। अनुच्छेद 54 में राष्ट्रपति के निर्वाचन की रीति दी गई है। इसे बदला जा सकता है। राष्ट्रपति के निर्वाचन के सम्बन्ध में विभिन्न राज्यों के प्रतिनिधित्व की रीति या संख्या को भी बदला जा सकता है। संघ और राज्य की कार्यपालिक शक्ति को बदला जा सकता है। भाग 5 का अध्याय 4 (संघ की

न्यायपालिका), भाग 6 का अध्याय 5 (राज्यों के उच्च न्यायालय) भी अनुच्छेद 368 में वर्णित है कि उन्हें बदला जा सकता है। अनुच्छेद 141 को भी बदला जा सकता है। भाग 2 का अध्याय 1 और सप्तम अनुसूची (संघ और राज्यों के बीच विधायी सम्बन्ध) भी बदले जा सकते हैं। संसद् में राज्यों का प्रतिनिधित्व (अनुच्छेद 80 और 81) भी बदला जा सकता है। प्रतिनिधियों की संख्या बढ़ाई या घटाई जा सकती है। ऐसे प्रतिनिधियों के निर्वाचन की रीति जिसे संसद् विधि द्वारा विहित करे और लोक सभा के सदस्यों की संख्या बढ़ाई या घटाई जा सकती है। लोक सभा के लिए निर्वाचन की रीति बदली जा सकती है। अन्त में स्वयं अनुच्छेद 368 के उपबन्धों को, जो संविधान का अत्यधिक महत्वपूर्ण भाग है, बदला जा सकता है।

सारभूत या गौण तत्वों को जानना व्यर्थ की मेहनत है। जब संविधान में सारभूत और गौण तत्वों के बीच कोई प्रभेद नहीं किया गया है तो यह समझ में नहीं आता कि ऐसा प्रभेद कैसे किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त यह प्रश्न पैदा होता है कि इस प्रकार का प्रभेद कौन करेगा। इन दोनों बातों से संविधान के सारभूत तत्वों या गौण तत्वों के मर्म के असंशोध्य होने की बाबत अन्तर्निहित और विवक्षित परिसीमाओं का विचित्र स्वरूप सामने आता है। इस बात का निर्णय कौन करेगा कि सारभूत तत्व कौन से हैं। किस कसौटी पर सारभूत तत्वों को मापा जाएगा। क्या कोई ऐसा मानदण्ड है जिससे कि इसे मापा जा सकता है। कितना सारभूत है और कितना गौण है? सारभूत तत्वों या गौण तत्वों के मर्म को किस प्रकार अवधारित किया जा सकता है। यदि संविधान में सारभूत तत्वों की बाबत कोई संकेत नहीं है तो संविधान के संशोधन का कार्य अकथनीय और अनिश्चित कार्य बन जाता है। वस्तुगत आंकड़े और मानदण्ड होने चाहिए जिसके द्वारा यह कहा जा सके कि सारभूत क्या है और गौण क्या है। यदि संसद् इन तत्वों का निर्णय नहीं कर सकती है तो संसद् संविधान का संशोधन नहीं कर सकती है। इसके विपरीत पिटीशनरों ने दलील दी है कि यदि संशोधन संसद् द्वारा किए जाते हैं तो अन्ततः न्यायालय यह बात मालूम करेंगे कि वे संशोधन सारभूत तत्वों या गौण तत्वों के मर्म का अतिक्रमण या न्यूनन करते हैं या नहीं। अन्ततः न्यायालय ही इस बारे में बताएगा कि संशोधन अनुज्ञेय है या नहीं। इस प्रकार के अर्थान्वयन से संसद् संशोधन की शक्ति से वंचित हो जाएगी और संशोधन की विधिमान्यता को अभिव्यक्त करने की अन्तिम शक्ति न्यायालयों में होगी।

श्री पालखीवाला ने कहा है कि यद्यपि सारभूत तत्वों का संशोधन किया जा सकता है, सारभूत तत्वों के मर्म का संशोधन नहीं किया जा सकता। उसने कहा है कि यह जानने के लिए कि क्या सारभूत है और क्या गौण है कोई दृढ़ कसौटी नहीं है और यदि कोई ठीक-ठीक परिभाषा नहीं दी जा सकती है तो इससे यह अभिनिर्धारित करने का कोई कारण नहीं बनता है कि सारभूत तत्वों और गौण तत्वों के मर्म का संशोधन किया जा सकता है। यह कहा गया है कि प्रशिक्षित न्यायिक मस्तिष्क को सम्मान देना ही यह जानने का एकमात्र रास्ता है कि सारभूत तत्व क्या हैं।

श्री सीरवाई ने ठीक ही दलील दी है कि यह मानने का कोई आधार नहीं है कि जिस प्रकार न्यायाधीश विधि में युक्तियुक्तता की परीक्षा करते हैं उसी प्रकार न्यायिक मस्तिष्क युक्तियुक्तता की परीक्षा करने पर अनिवार्य तत्वों को जान लेंगे। विधि में

युक्तियुक्तता को वस्तुनिष्ठ कसौटी के रूप में माना जाता है चूंकि मनुष्य युक्तिपूर्ण होता है अत: उसमें तर्क होता है। जिस नागरिक के अधिकारों पर प्रभाव पड़ता है वह तर्क का सहारा लेता है और जब वह किसी विधि का विरोध करता है तो उसका अपना मापमान ऐसा होता है जिसके द्वारा वह न्यायालय पर दबाव डाल सकता है कि विधि अयुक्तियुक्त है। जो विधानमण्डल विधि बनाता है उसका युक्तियुक्तता का अपना मापमान होता है और इसके अतिरिक्त वह उस मापमान का प्रयोग उन लोगों की, जिनका विधानमण्डल प्रतिनिधित्व करता है, आवश्यकताओं, इच्छाओं और जरूरतों की जानकारी रखने के कारण कर सकता है। जहां तक कि न्यायाधीश का सम्बन्ध है, न केवल वह युक्तियुक्त व्यक्ति की युक्तियुक्तता को समझता है अपितु उसका प्रशिक्षित मस्तिष्क कतिपय बातों को स्पष्टत: देखने में समर्थ होता है। न्यायालय द्वारा अधिकथित विधान के न्यायिक पुनर्विलोकन की प्रक्रिया यह है कि न्यायालय इस उपधारणा के आधार पर कार्यवाही करेंगे कि अधिनियमित विधियां युक्तियुक्त हैं। वस्तुनिष्ठ मापमान युक्तियुक्तता के पक्ष में है। इसी कारण ही संविदा विधि में युक्तियुक्त कीमत न्यायालयों द्वारा अभिनिश्चित की जाती है। अपकृत्य विधि में न्यायालय यह मालूम करते हैं कि युक्तियुक्त सावधानी क्या है। सम्पत्ति विषयक विधि में युक्तियुक्त आचरण न्यायालयों द्वारा दुष्परिणामों से बचने के लिए मालूम किया जाता है। युक्तियुक्तता का निर्णय उस अधिकार के संदर्भ में करना होता है जिसको कि अनुच्छेद 19 पर विचार करते समय निर्बन्धित किया गया है।

अमरीका के न्यायालयों ने अधिष्ठायी सम्यक् प्रक्रिया (सबस्टैन्टिव ड्यू प्रासेस) के सिद्धान्त द्वारा युक्तियुक्तता की कसौटी विकसित की थी। अधिष्ठायी सम्यक् प्रक्रिया का अर्थ यह नहीं है कि विधि अयुक्तियुक्त है अपितु यह है कि राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक आधारों पर बहुसंख्यक न्यायाधीशों का विचार है कि ऐसी विधि निर्मित करने की अनुज्ञा नहीं दी जानी चाहिए। इसमें महत्वपूर्ण बात यह है कि अमरीका के संविधान के विरुद्ध जहां कि अधिकारों को व्यापक साधारण शब्दों में दिया गया है और यह बात न्यायालयों पर छोड़ दी गई है कि वे आवश्यक विवक्षाएं विकसित करें, हमारे संविधान में ठीक-ठीक शब्दों द्वारा उदाहरणस्वरूप अनुच्छेद 19 और 21 में परिसीमा लगाते हुए उन्हें परिसीमित किया गया है। अनुच्छेद 21 में संविधान निर्माताओं ने "विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया" शब्दों को "विधि की सम्यक् प्रक्रिया" शब्दों के स्थान पर रखा है। इस परिवर्तन का कारण यह है कि विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया एक विनिर्दिष्ट प्रक्रिया है। संविधान निर्माताओं ने राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक आधारों पर विधियों की अस्पष्ट, अनिश्चित युक्तियुक्तता, को नहीं माना था। गोपालन वाले मामले([1]) में सम्यक् प्रक्रिया का सिद्धान्त, अर्जित अधिकारों को स्पष्टत: परिसीमित करते हुए और अनिश्चित सम्यक् प्रक्रिया के सिद्धान्त को न मानते हुए, नामंजूर किया गया था। संविधान निर्माताओं ने न्यायिक पुनर्विलोकन को सापेक्ष अवधारणा से मुक्त किया था। विधि का अविधिमान्यता की कसौटी के रूप में सम्यक् प्रक्रिया का सिद्धान्त जानबूझकर नहीं माना गया एवं नामंजूर किया गया था। न्यायालयों का सम्बन्ध विधानमण्डल की प्रज्ञा शक्ति या नीति के साथ नहीं है। न्यायालयों का सम्बन्ध विधान की उपयुक्तता या नीति के साथ नहीं है। इसी प्रकार ही न्यायालयों का सम्बन्ध संविधान का संशोधन करने की उपयुक्तता या नीति के साथ नहीं है।

([1]) (1950) एस० सी० आर० 88.

श्री पालखीवाला ने रिज बनाम बाल्डविन([1]) का अवलम्ब किया है । इसमें यह कहा गया है कि यह राय कि नैसर्गिक न्याय इतना अस्पष्ट है कि वह व्यवहारिक रूप से अर्थहीन है, इस चिरस्थायी भ्रान्ति पर आधारित है कि चूंकि किसी वस्तु को निकाला या सुखाया या ठीक तौला या मापा नहीं जा सकता है अतः वह विद्यमान नहीं है । उसी मामले में यह कहा गया था कि उपेक्षा की भी ठीक-ठीक परिभाषा नहीं की जा सकती है किन्तु विशिष्ट परिस्थितियों में युक्तियुक्त व्यक्ति जो कुछ भी ऋजु प्रक्रिया समझता है और जो वह विशिष्ट परिस्थितियों में उपेक्षा समझता है वे विधि में समानतः मापमानों के रूप में कार्य कर सकते हैं । इन मतों को उद्धृत करते हुए श्री पालखीवाला ने यह कहा कि यद्यपि सारभूत तत्वों और गौण तत्वों के बीच सीमा रेखा बताई नहीं जा सकती है अथवा यह कि विस्तार से ऐसे संशोधन को विनिर्दिष्ट करना सम्भव नहीं है जो इस सिद्धान्त पर अविधिमान्य हो सकता है तथापि कोई ऐसा कारण नहीं है जिसके आधार पर हमारे संविधान का संशोधन करने के लिए अन्तर्निहित और विवक्षित परिसीमाओं के सिद्धान्त को स्वीकार नहीं किया जाना चाहिए । जब संविधान में किसी उपबन्ध का संशोधन करने के विरुद्ध कोई अभिव्यक्त प्रतिषेध नहीं है तो अन्तर्निहित और विवक्षित परिसीमाएं किसी देववाणी से पैदा नहीं हो सकती हैं । जब अनुच्छेद 365 में संविधान के उन उपबन्धों में परिवर्तन की बाबत कहा गया है जो कि परन्तुक के खण्ड (क) से लेकर (घ) में उपवर्णित हैं तो यह स्पष्ट है कि संविधान निर्माताओं ने कोई गलती किए बिना पूर्णतः सही रूप में अपना यह आशय अभिव्यक्त किया था कि वे तत्व जिन्हें मोटे तौर पर परिसंघीय तत्व कहा जा सकता है और उस दृष्टि से "अनिवार्य तत्व" कहा जा सकता है, संशोधित किए जा सकते हैं । इन अभिव्यक्त उपबन्धों को देखते हुए यह अभिनिर्धारित करना असम्भव है कि संविधान में संविधान के तथाकथित अनिवार्य तत्वों का संशोधन अनुध्यात नहीं है । परन्तुक न्यायपालिका, कार्यपालिका और विधानमण्डल के सम्बन्ध में, जिनमें किसी को भी अननिवार्य नहीं कहा जा सकता, यह शक्ति प्रदान करता है । निस्सन्देह यह कल्पना करनी कठिन है कि संविधान में कोई ऐसा उपबन्ध है जो अननिवार्य है । यह कहना शायद ही आवश्यक हो कि संशोधन से उपबन्ध का परिवर्तन, परिवर्धन या निरसन ही केवल अभिप्रेत नहीं है अपितु किसी भाग का लोप, नए भाग का आपतः निरसन और परिवर्धन भी अभिप्रेत है ।

यह कहा गया कि यदि हमारी संसदीय पद्धति को राष्ट्रपतीय पद्धति में परिवर्तित कर दिया गया तो इसका अर्थ हमारे संविधान के मर्म का संशोधन करने का होगा । किन्तु इस प्रकार का परिवर्तन अनुच्छेद 368 के अधीन अनुज्ञेय है । लोग इस प्रकार के संशोधन को अंगीकार करेंगे या नहीं यह एक विभिन्न विषय है और यहां पर हमारे लिए विचारणीय नहीं है हमारे देश में परिसंघीय शासन पद्धति का मर्म देश की अखण्डता बनाए रखने के लिए राज्यों की अपेक्षा संघ की संसद् में अधिक शक्तियों का होना है । परिसंघ बनाकर या केन्द्र को अधिक शक्तियां प्रदान करते हुए परिवर्तन किए जा सकते हैं । अनिवार्य तत्वों की असंशोधनीयता सम्बन्धी दलील में इस बात पर विचार नहीं किया गया है कि संविधान के उपबन्धों में किए गए किसी परिवर्तन की प्रकृति और स्वरूप को अनुच्छेद 368 के अधीन विधानमण्डलों द्वारा संशोधन करने वाले

([1]) (1964) ए० सी० 40.

निकायों के रूप में और लोकतन्त्र में जनता के प्रतिनिधियों के रूप में अवधारित किया जाएगा और न्यायालयों का काम इस प्रकार का अवधारण करने का नहीं है।

श्री पालखीवाला ने दलील दी है कि संविधान (चौबीसवां संशोधन) अधिनियम, असांविधानिक है क्योंकि संसद् चौबीसवें संशोधन के पूर्व विद्यमान संशोधन की शक्ति विषयक विवक्षित और अन्तर्निहित परिसीमाओं को पार नहीं कर सकती है। चौबीसवें संशोधन द्वारा पार्श्व-टिप्पण "संविधान का संशोधन करने की संसद् की शक्ति और उसके लिए प्रक्रिया" को मूल टिप्पण "संविधान का संशोधन करने की प्रक्रिया" के स्थान पर प्रतिस्थापित किया गया है। यह परिवर्तन इस कारण किया गया है क्योंकि गोलक नाथ वाले मामले(1) में महत्वपूर्ण बहुमत निर्णय के अनुसार असंशोधित अनुच्छेद केवल संशोधन की प्रक्रिया की बाबत था और संशोधन की शक्ति विधान की अवशिष्ट शक्ति के रूप में थी। चौबीसवें संशोधन द्वारा घोषित किया गया है कि संविधान का संशोधन करने की शक्ति अनुच्छेद 368 में है यही मत इस न्यायालय का पूर्ववर्ती विनिश्चयों में था। यही गोलक नाथ वाले मामले (1) में अल्पसंख्यक मत था। संशोधन द्वारा वह मत संविधायी आदेश बन गया है।

चौबीसवें संशोधनों के परिणामस्वरूप दूसरा परिवर्तन यह हुआ है कि "इस संविधान के संशोधन का सूत्रपात...किया जा सकेगा" शब्दों के स्थान पर "संसद् अपनी संविधायी शक्ति का प्रयोग करते हुए...संशोधन" शब्द प्रतिस्थापित किए गए हैं। इस परिवर्तन का कारण इस न्यायालय के शंकरी प्रसाद वाले मामले(2) में दिए गए विनिश्चयों को प्रभावी बनाना था। शंकरी प्रसाद वाले मामले(2) में संशोधन की विधिमान्यता पर विचार करते हुए संविधायी शक्ति और विधायी शक्ति के बीच आवश्यक प्रभेद को मान्यता दी गई थी और सम्पुष्ट किया गया था और यह विनिश्चित किया गया था कि अनुच्छेद 13(2) में "विधि" शब्द विधायी शक्ति के प्रयोग के सम्बन्ध में लागू होता है और संविधान के संशोधन को लागू नहीं होता है। सज्जन सिंह वाले मामले(3) में इस न्यायालय के बहुमत द्वारा इसी प्रभेद को मंजूर किया गया था। गोलक नाथ के मामले(1) में बहुसंख्यक और सहमत निर्णय में विधायी और संविधायी शक्ति के बीच प्रभेद का होना नामंजूर किया गया और अभिनिर्धारित किया गया कि अनुच्छेद 13(2), अनुच्छेद 368 के अधीन संविधान के संशोधन के सम्बन्ध में लागू होता है क्योंकि विधायी और संविधायी शक्ति के बीच कोई प्रभेद नहीं है। इसके परिणामस्वरूप गोलक नाथ वाले मामले(1) में महत्वपूर्ण बहुमत निर्णय द्वारा अभिनिर्धारित किया गया कि संसद् मूल अधिकारों का संशोधन नहीं कर सकती है। गोलक नाथ वाले मामले(1) में विसम्मत निर्णयों द्वारा विधायी और संविधायी शक्तियों के बीच मूल अन्तर का होना मंजूर किया गया और अभिनिर्धारित किया गया कि शंकरी प्रसाद वाले मामले(2) में दिया गया विनिश्चय और सज्जन सिंह वाले मामले(3) में बहुमत विनिश्चय सही हैं और संसद् के मूल अधिकारों का संशोधन करने की शक्ति है चूंकि संविधान का संशोधन अनुच्छेद 13(2) के अर्थान्तर्गत विधि नहीं है। इन बातों से वे आधार ज्ञात होते हैं जिनके कारण "संसद् अपनी संविधायी शक्ति का प्रयोग करते हुए" अभिव्यक्ति चौबीसवें संशोधन द्वारा अन्तःस्थापित की गई है।

(1) (1967) 2 एस० सी० आर० 762.
(2) (1952) एस० सी० आर० 89.
(3) (1965) 1 एस० सी० आर० 933.

है । संसद् ने दोनों विरोधी मतों पर और असंशोधित अनुच्छेद 368 पर विचार किया था । संसद् ने इस मत के पक्ष में कि अनुच्छेद 368 में संशोधन की शक्ति है और वह शक्ति संविधायी शक्ति है, प्रबल न्यायिक राय को ध्यान में रखा था । न्यायाधिपति वांचू ने अभिनिर्धारित किया था कि अनुच्छेद 368 के अधीन शक्ति संविधायी शक्ति है और मूल विधि का अर्थात् संविधान का परिवर्तन किया जा सकता है । संविधान के अधीन संविधायी शक्ति संसद् की है चूंकि वह संविधान द्वारा दी गई है । चौबीसवें संशोधन द्वारा उस बात को स्पष्ट किया गया है जो कि शंकरी प्रसाद वाले मामले(1) में दिए गए निर्णय और सज्जन सिंह वाले मामले(2) में दिए गए बहुमत निर्णय और गोलक नाथ वाले मामले(3) में दिए गए विसम्मत निर्णयों में कही गई थी, अर्थात् यह कि संसद् को संविधान का संशोधन करने की संविधायी शक्ति है ।

असंशोधित अनुच्छेद में "इस संविधान के संशोधन" शब्दों का प्रयोग किया गया है । चौबीसवें संशोधन में "संसद...इस संविधान के किसी उपबन्ध का परिवर्धन, परिवर्तन अथवा निरसन के रूप में संशोधन" शब्दों का प्रयोग किया गया है । यह इस कारण किया गया है क्योंकि गोलक नाथ वाले मामले(3) में महत्वपूर्ण बहुमत निर्णय में यह मत अभिव्यक्त किया गया था कि इस दलील में काफी बल है कि अनुच्छेद 368 में "संशोधन" अभिव्यक्ति में सकारात्मक और नकारात्मक दोनों बातें हैं जिनका प्रयोग करते हुए संसद् संविधान की संरचना का विनाश नहीं कर सकती है किन्तु वह उसको और अच्छे रूप में प्रभावी बनाने के लिए उसकी मूल सिखल की संरचना के अन्तर्गत रहते हुए उसके उपबंधों को केवल रूपान्तरित कर सकती है । गोलक नाथ वाले मामले(3) में दिए गए इस मत के कारण "संशोधन" शब्द के अर्थ की बाबत सन्देह पैदा हो गया था । चौबीसवें संशोधन ने उस सन्देह का अभिव्यक्त रूप से स्पष्टीकरण कर दिया है ।

गोलक नाथ वाले मामले(3) में महत्वपूर्ण निर्णय और सम्मत निर्णय दोनों में अभिनिर्धारित किया गया था कि मूल अधिकारों का संशोधन संसद् द्वारा नहीं किया जा सकता है । महत्वपूर्ण बहुमत निर्णय में "संशोधन" शब्द के अर्थ का निर्देश करते हुए और उस विषय को विनिश्चित किए बिना कहा गया था कि इस दलील में बहुत बल है कि कतिपय मूल बातें उदाहरणार्थ परिसंघ की धारणा, राष्ट्रपति एवं संसदीय कार्यपालिकों की संस्था को संशोधन द्वारा समाप्त नहीं किया जा सकता है । शंकरी प्रसाद वाले मामले(1) में, सज्जनसिंह वाले मामले(2) में और गोलक नाथ वाले मामले(3) के विसम्मत अल्पसंख्यक निर्णय में यह मत अपनाया गया था कि संविधान के प्रत्येक उपबन्ध का संशोधन संविधायी शक्ति का प्रयोग करते हुए किया जा सकता है । इसका आवश्यक परिणाम यह होगा कि चौबीसवें संशोधन अनुच्छेद 13 का एक नए उप-अनुच्छेद (4) द्वारा संशोधन करते हुए, अनुच्छेद 13 का प्रवर्तन अपवर्जित करता है कि अनुच्छेद 13 की कोई बात अनुच्छेद 368 के अधीन किए गए संशोधन को लागू न होगी । उप-अनुच्छेद (4) को अन्तःस्थापित करते हुए अनुच्छेद 13 में किए गए संशोधन को, चौबीसवें संशोधन द्वारा अनुच्छेद 368 में अन्तःस्थापित

(1) (1965) 1 एस० सी० आर० 933.
(2) (1952) एस० सी० आर० 89.
(3) (1967) 2 एस० सी० आर० 762.

इन प्रारम्भिक शब्दों से अधिक बल मिलता है अर्थात् "इस संविधान में किसी बात के होते हुए भी" ये शब्द निश्चित रूप से अनुच्छेद 13 का अपवर्जन करते हैं।

संविधान (चौबीसवां संशोधन) अधिनियम में तीन बातें उठाई गई हैं। पहली यह कि क्या "संशोधन" शब्द के अन्तर्गत सम्पूर्ण संविधान का निराकरण या निरसन भी है? क्या संशोधन से यह अभिप्रेत है कि संविधान के कुछ ऐसे उपबन्ध हैं जिनको परिवर्तित नहीं किया जा सकता है? दूसरी यह कि अनुच्छेद 368 का परन्तुक संशोधन की शक्ति के स्वरूप पर क्या प्रकाश डालता है और संशोधन की इस शक्ति पर कि संविधान के अनिवार्य तत्व विकृत या नष्ट नहीं किए जा सकते हैं, अन्तर्निहित और परिसीमित विवक्षाओं के सिद्धान्त पर क्या प्रकाश डालता है? तीसरी, क्या अनुच्छेद 368 के परन्तुक का खण्ड (ङ) संसद् को और राज्यों की अपेक्षित बहुसंख्या को संशोधन की उस शक्ति को बढ़ाने के लिए समर्थ बनाता है जो अनुच्छेद 368 द्वारा दी गई है।

असंशोधित अनुच्छेद 368 में शक्ति एवं स्वतः निष्पादनीय प्रक्रिया दी गई थी जिसका विहित प्राधिकारियों द्वारा पालन किए जाने पर संविधान का संशोधन किया जा सकता था। महान्यायवादी और श्री सीरवाई दोनों ने ठीक ही कहा है कि अनुच्छेद 368 में "संविधान संशोधित हो जाएगा" शब्द साधारण निरसन का अपवर्जन करते हैं अर्थात् यह कि निरसित संविधान के स्थान पर कुछ और प्रतिस्थापित नहीं करते हैं। यदि संविधान को पूर्णतः निरसित कर दिया जाता है और शून्य की स्थिति आ जाती है तो यह नहीं कहा जा सकता कि संविधान संशोधित हो गया है। संविधान से वह रीति अभिप्रेत है जिसमें राज्य का गठन या संगठन विशेषतया प्रभुत्वसम्पन्न शक्ति की स्थिति के अनुसार होता है। संविधान से वह पद्धति या मूल सिद्धान्त भी अभिप्रेत हैं जिनके अनुसार राष्ट्र, राज्य और राजनीति का गठन और शासन होता है। लिखित संविधान की दशा में संविधान किसी विशिष्ट विधि की अपेक्षा अधिक सारवान होता है और उसमें वह सिद्धान्त अन्तर्विष्ट होता है जिसके साथ सभी विधान समरसता की स्थिति में होने चाहिएं। अतः संविधान का संशोधन ऐसा संशोधन है जिसमें ऐसी पद्धति उपबन्धित है जिसके अनुसार राष्ट्र या राज्य शासित किया जाता है। संविधान का संशोधन करना संविधान में आधारभूत परिवर्तन करना है। मूल या आधारभूत सिद्धान्तों को परिवर्तित किया जा सकता है। संविधान में बुनियादी परिवर्तन किए जा सकते हैं। ये परिवर्तन मन्त्रिमण्डलीय पद्धति के स्थान पर राष्ट्रपतीय शासन पद्धति या परिसंघीय पद्धति के स्थान पर एकात्मक पद्धति अन्तःस्थापित करने जैसे हो सकते हैं। किन्तु इस प्रकार के संशोधन से उस नई पद्धति को सुचारु रूप से चलाने के लिए सभी पारिणामिक परिवर्तन स्वयं हो जाएंगे।

चाहे जितना बुनियादी परिवर्तन राज्य के गठन या संगठन को रीति की बाबत संशोधन द्वारा किया गया हो, श्री पालखीवाला द्वारा आमतौर पर रखा गया यह प्रश्न कि प्रस्तुत संविधान के स्थान पर एकदलीय राज्य हो सकता है केवल यह कहते हुए उत्तर दिया जा सकता है कि "संविधान संशोधित हो जाएगा" शब्द उपदर्शित करते हैं कि भारत के संविधान को निर्दिष्ट किया जा रहा है। जब तक कि संविधान का अर्थात् ऐसी आधारभूत लिखत का, जिसमें निर्वचन करने और विधि का क्रियान्वयन करने का उपबन्ध है, संशोधन होता है तब तक संशोधन की शक्ति असीमित है।

अनुच्छेद 368 में, विशेषकर परन्तुक के खण्ड (क) से (च) में, अभिव्यक्त उपबन्धों को देखते हुए तथाकथित सारभूत तत्वों की असंशोधनीयता के सिद्धान्त में कोई गुणागुण नहीं है। खण्ड (क) से (च) उन 66 अनुच्छेदों से सम्बन्धित हैं जो संविधान के कुछ अत्यधिक महत्वपूर्ण तत्वों की बाबत हैं। ये अनुच्छेद न्यायपालिका, विधानमण्डल और कार्यपालिका से सम्बन्धित हैं। संघ और राज्यों के बीच विधायी सम्बन्ध तथा उनके बीच विधायी शक्तियों का वितरण सभी संशोधन की परिधि के भीतर आते हैं।

श्री पालखीवाला ने यह प्रश्न उठाया था कि क्या असंशोधित अनुच्छेद 368 के परन्तुक (ङ) के अधीन संशोधन की शक्ति बढ़ाई जा सकती है। इसका उत्तर सकारात्मक रूप में दिया जाता है। मोटे तौर पर इसके तीन कारण हैं।

पहला यह कि अनुच्छेद 368 के परन्तुक (ङ) के अधीन संशोधन की शक्ति पर किसी प्रकार की परिसीमा, जिसके बारे में अभिकथित है कि वह संविधान के किसी अन्य अनुच्छेद में है, हटाई जा सकती है। संशोधन की सम्पूर्ण शक्ति, जो परिसीमा के न होने पर विद्यमान होती, प्रत्यावर्तित की जा सकती है और संशोधन की शक्ति परिवर्धित की जा सकती है। गोलक नाथ वाले मामले ([1]) में बहुसंख्यक मत यह था कि अनुच्छेद 13(2) संशोधन की शक्ति पर परिसीमा के रूप में लागू होता है। चौबीसवें संशोधन में इस विनिश्चय पर ध्यान दिया गया था और अनुच्छेद 13(2) का संशोधन करके और वहां एक नया उप-अनुच्छेद (4) उपबन्धित करके और अनुच्छेद 368 को इस रूप में संशोधित करके भी कि अनुच्छेद 13(2) संविधान के किसी संशोधन के सम्बन्ध में लागू नहीं होगा, सभी संदेह दूर किए गए। यदि अभिव्यक्त परिसीमा को, जिनके बारे में न्यायिक रूप से अभिनिर्धारित किया गया है कि वे मूल अधिकारों के संशोधन का वर्जन करती हैं, अनुच्छेद 368 का संशोधन करके परन्तुक के खण्ड (ङ) के अधीन संशोधन करके दूर किया जा सकता है तो किसी अन्य अभिकथित विवक्षित परिसीमा को भी उसी प्रकार दूर किया जा सकता है।

दूसरा यह कि न्यायिक विनिश्चयों से यह दर्शित होता है कि संशोधन की शक्ति प्रदान करने वाले अनुच्छेद का संशोधन करके मूल अनुच्छेद द्वारा प्रदत्त शक्ति की अपेक्षा संविधान का संशोधन करने की उच्चतर शक्ति अभिप्राप्त की जा सकती है। रेयन वाले मामले में ([2]) मुख्य न्यायाधिपति को छोड़कर सभी विद्वान् न्यायाधीशों ने अभिनिर्धारित किया था कि आयरलैण्ड के संविधान की धारा 50 का, जो तत्सम्बन्धी कतिपय निर्बन्धनों के अध्यधीन रहते हुए संशोधन की शक्ति प्रदान करती है, जिससे कि उस धारा में अन्तर्विष्ट निर्बन्धन दूर हो जाएं, पहले संशोधन करके आयरलैण्ड की संसद् ने अपनी शक्तियों को प्रभावी रूप से बढ़ा लिया जिससे कि ऐसे संशोधन हो सकते थे जिन्हें कि उन अभिव्यक्त निर्बन्धनों द्वारा प्रतिषिद्ध किया गया होता। पुनश्च: राणा सिंघे वाले मामले ([3]) में यह कहा गया था कि विधानमण्डल को विधि बनाने की उन शर्तों को

([1]) (1967) 2 एस० सी० आर० 762.
([2]) (1935) आयरिश रिपोर्ट्स 170.
([3]) (1965) ए० सी० 172.

उपेक्षा करने की कोई शक्ति नहीं है जो उसकी शक्ति को विनियमित करने वाली लिखत द्वारा अधिरोपित की जाती हैं। लिखत द्वारा सृजित यह निर्बन्धन इस प्रश्न पर निर्भर नहीं करता कि विधानमण्डल प्रभुत्वसम्पन्न है या यह कि संविधान अनियन्त्रित है। जुडीशियल कमेटी ने अभिनिर्धारित किया था कि "इस प्रकार का संविधान विधानमण्डल द्वारा निस्संदेह परिवर्तित या संशोधित किया जा सकता है यदि विनियामक लिखत में ऐसा उपबन्धित हो और यदि उन उपबन्धों के निबन्धनों का अनुपालन किया जाए और परिवर्तन या संशोधन में उन्हीं उपबन्धों का परिवर्तन या लोप हो"। अतः नियन्त्रित संविधान को अनियन्त्रित संविधान के रूप में सम्परिवर्तित किया जा सकता है और संशोधन की शक्ति की अत्यधिक वृद्धि की जा सकती है।

तीसरा यह कि संशोधन करने वाले अनुच्छेद का संशोधन करने की शक्ति के अन्तर्गत उस अनुच्छेद के किसी भाग का परिवर्धन, परिवर्तन या निरसन करने की शक्ति होनी चाहिए और ऐसा कोई कारण नहीं है जिससे कि परिवर्धन करके संशोधन की वह शक्ति, जो अनुच्छेद 368 में नामित प्राधिकारियों के पास नहीं है, नहीं दी जा सकती है। संशोधन की शक्ति का प्रयोग करके ऐसा उपबन्ध किया जा सकता है जिससे कि संसद् की शक्तियां बढ़ाई जा सकती हों अथवा राज्यों की शक्तियां बढ़ाई जा सकती हों। इसके अतिरिक्त संशोधन करके भावी संशोधनों को अधिक कठिन बनाया जा सकता है। श्री पालखीवाला द्वारा दी गई यह दलील कि पूर्णतः संशोधन का प्रतिषेध करके या अव्यावहारिक रूप से बड़ा बहुमत विहित करके भावी संशोधन असम्भव बनाया जा सकता है, ऐसे संशोधन के सम्बन्ध में कोई विधिक बाधा उपस्थित नहीं करती है। इस प्रकार की कार्यवाही के विरुद्ध बाह्य संरक्षा है। ऐसे किसी संशोधन के प्रस्थापित किए जाने और स्वीकार किए जाने की आकस्मिकता बहुत ही कम है क्योंकि इस प्रकार के संशोधन से क्रान्ति के बीज बोए जाएंगे जिसके द्वारा केवल संविधान में ही परिवर्तन हो पाएगा। महासॉलिसीटर ने ठीक ही कहा है कि संशोधन का प्रभाव यह है कि "वह विधेयक के निबन्धनों के अनुसार संशोधित हो जाएगा।" उसका परिणाम "यह संविधान" होना अपेक्षित नहीं है। वह बिल्कुल पहले जैसा संविधान नहीं होगा। वह तो परिवर्तित या संशोधित संविधान होगा और उसकी समरूपता परिवर्तन की सीमा पर निर्भर करेगी। लोकमत-संग्रह या इनिशिएटिव या और अधिक बहुमत या और अधिक राज्यों द्वारा अनुसमर्थन जैसी अधिक अनम्य प्रक्रियाएं संशोधन द्वारा अन्तःस्थापित की जा सकती हैं।

यह बात उल्लेखनीय है कि अनुच्छेद 368 का परन्तुक (ङ) अर्थात् अनुच्छेद 368 का संशोधन करने की शक्ति शायद कुछ उन संविधानों से भिन्न है जो संविधान सभा के समक्ष हमारे संविधान को विरचित करते समय थे। न तो अमरीका के संविधान में न ही आस्ट्रेलिया के संविधान में स्वयं संशोधन करने वाले उपबन्ध का संशोधन करने की किसी शक्ति का उपबन्ध है। महान्यायवादी ने ठीक ही दलील दी है कि यह बात संविधान सभा के इस स्पष्ट और साशयित आशय को अत्यधिक अभिव्यक्त करती है कि संशोधन की प्रक्रिया को कम कठोर बनाने के अतिरिक्त संविधान सभा ने अमरीका में पैदा हुए इस विवाद से कि स्वयं अमरीका के संविधान के अनुच्छेद 5 पर सीनेट में राज्यों के समान मताधिकार की बाबत अभिव्यक्त परिसीमा या आस्ट्रेलिया में इस बाबत विवाद से कि स्वयं आस्ट्रेलिया के संविधान की धारा 128 का संशोधन किया जा सकता है, क्योंकि ऐसे संशोधन के सम्बन्ध में कोई अभिव्यक्त परिसीमा नहीं थी, बचने का ध्यान रखा था।

संविधान सभा ने अनुच्छेद 368 के खण्ड (ङ) में स्वयं अनुच्छेद 368 का संशोधन करने की अभिव्यक्त और विनिर्दिष्ट शक्ति का उपबन्ध किया है।

हमारे संविधान में संशोधन करने की शक्ति की व्यापकता अमरीका के संविधान के अनुच्छेद 5, आस्ट्रेलिया के संविधान की धारा 128 और आयरलैण्ड के संविधान की धारा 50 की अपेक्षा, जिसमें से किसी से भी ऐसी शक्ति प्रदान नहीं की गई है, बहुत उल्लेखनीय है। डॉक्टर वाइन्स ने अपनी पुस्तक लेजिस्लेटिव पॉवर्स इन आस्ट्रेलिया, चतुर्थ संस्करण, पृष्ठ 505 पर यह मत अभिव्यक्त किया है कि यद्यपि धारा 128 नकारात्मक रूप में है किन्तु संशोधन करने की शक्ति का विस्तार "इस संविधान का" परिवर्तन करने तक है और यह शक्ति उसके निबन्धनों द्वारा विवक्षित है। डॉक्टर वाइन्स ने यह भी कहा है कि राज्यों की सम्मति से धारा 128 के अन्तिम भाग का संशोधन किया जा सकता है। यह केवल यह बताने के लिए है कि अन्य संविधानों को न्यायशास्त्रियों द्वारा अपने देशों में कैसा समझा है। हमारे अनुच्छेद 368 में संशोधन की शक्ति पर कोई अभिव्यक्त परिसीमा नहीं है। अनुच्छेद 368 के परन्तुक के खण्ड (ङ) में दिया गया उपबन्ध परिसंघीय तत्वों तक ही सीमित नहीं है।

आयरलैण्ड के संविधान की धारा 50 में "इस संविधान का संशोधन" शब्द जो रेयन वाले मामले (1) की विषयवस्तु थे, मुख्य न्यायाधिपति कैनेडी द्वारा अपनी विसम्मत राय में इस अर्थ में पढ़े गए थे कि यदि स्वयं धारा 50 के संशोधन करने की शक्ति को देने का आशय था तो संविधान निर्माताओं ने ऐसा कहा होता। श्री पालखीवाला ने इस विसम्मत मत का अवलम्ब लिया है। अन्य विद्वान् न्यायाधीशों ने, जिन्होंने बहुमत निर्णय दिया था, अभिनिर्धारित किया था कि "इस संविधान का संशोधन" शब्द धारा 50 का संशोधन करने की शक्ति भी प्रदान करते हैं। विसम्मत निर्णय यह था कि यदि स्वयं इस धारा का संशोधन करने का कोई आशय अभिव्यक्त नहीं है तो किसी बात की विवक्षा नहीं की जा सकती है। अतः विसम्मत निर्णय के अनुसार भी यह निष्कर्ष निकलता है कि धारा 50 में संशोधन की शक्ति पर किसी प्रकार की विवक्षित परिसीमाएं उस दशा में नहीं मानी जा सकती हैं यदि संविधान द्वारा संशोधन की अभिव्यक्त शक्ति प्रदान की गई है।

श्री पालखीवाला ने यह दलील दी है कि लोगों ने संविधान के सारभूत तत्वों का संशोधन करने की शक्ति को अपने पास आरक्षित रखा था और यदि ऐसा कोई संशोधन करना हो तो उसे लोकमत-संग्रह द्वारा लोगों को निर्दिष्ट करना चाहिए। यह कहा गया कि संविधान निर्माताओं का यह आशय नहीं था कि सारभूत तत्वों को जनता द्वारा विकृतया नष्ट किया जाए, और इसलिए संविधान में लोकमत-संग्रह की बाबत उपबन्ध नहीं किया गया। पिटीशनर की ओर से दूसरी दलील यह थी कि लोकमत-संग्रह का उपबन्ध इस कारण नहीं किया गया क्योंकि उन निबन्धनों पर संविधान की स्वीकृति कठिन होती। दूसरे मत के कारण लोकमत-संग्रह को संशोधन की रीति के रूप में अन्तःस्थापित न करना सम्भव नहीं है। यदि संशोधन द्वारा लोकमत-संग्रह का उपबन्ध किया गया होता तो जनता को सारभूत तत्वों के सम्बन्ध में विचार करने की पूर्ण शक्ति होती। दूसरा प्रश्न यह होता कि क्या प्रस्तावना और मूल अधिकार जनता की इस शक्ति को परिसीमित

(1) (1935) आयरिश रिपोर्ट्स 170.

करेंगे। पिटीशनर की ओर से यह कहा गया कि इन प्रश्नों को विनिश्चित करना आवश्यक नहीं है। महान्यायवादी और श्री सीरवाई दोनों ने ठीक ही कहा है कि पिटीशनर की ओर से दी गई दलीलों से दर्शित होता है कि यदि जनता द्वारा सारभूत तत्वों का संशोधन किया जा सकता है तो यह तथ्य कि संविधान सभा ने संशोधन की रीति के रूप में लोकमत-संग्रह शामिल नहीं किया और संविधान निर्माताओं ने संविधान के किसी भाग का संशोधन अपवर्जित नहीं किया, साबित करता है कि लिखित संविधान का संशोधन संविधान द्वारा विहित रीति द्वारा ही केवल वैध रूप से किया जा सकता है। यदि श्री पालखीवाला द्वारा दिए गए सुझाव के अनुसार संशोधन के प्रयोजनार्थ लोकमत-संग्रह की रीति अपनाई जाती है तो वह संविधानेतर या क्रान्तिकारी होगी। संविधान का संशोधन करने के लिए संशोधन करने वाला निकाय जनता की इच्छा का प्रतिनिधित्व करता है।

अतः जब तक कि परन्तुक (ङ.) के अधीन अनुच्छेद 368 का संशोधन किया जा सकता है, लोकमत-संग्रह द्वारा संविधान का किसी प्रकार भी संशोधन क्रान्तिकारी होगा। पिटीशनर की ओर से श्री पालखीवाला ने गोलक नाथ वाले मामले(1) में इस बहुमत विनिश्चय का अवलम्ब नहीं लिया है कि मूल अधिकारों को केवल संविधान सभा बुलाकर ही न्यून किया जा सकता है या उन्हें छीना जा सकता है। उन्होंने अपनी दलील जनता की विधिक प्रभुसत्ता के सिद्धान्त पर आधारित की है। संविधान सभी शासकीय अंगों एवं जनता पर आबद्धकर है। महान्यायवादी ने ठीक ही दलील दी है कि संसदीय लोकतन्त्र में लोकप्रिय प्रभुसत्ता की धारणा सुस्थिर हो गई है और इसका यह अर्थ है कि जनता संविधान द्वारा विहित संशोधन करने वाले निकाय के रूप में साधारण निर्वाचन में अपने द्वारा निर्वाचित अपने प्रतिनिधियों के माध्यम से अपनी इच्छा अभिव्यक्त करती है।

क्या मूल अधिकार असंशोधनीय हैं? श्री पालखीवाला ने यह दलील दी है कि अनुच्छेद 13(2) के अतिरिक्त मूल अधिकार यूनिवर्सल डेक्लेरेशन ऑफ ह्यूमेन राइट्स पर आधारित हैं और वे नैसर्गिक अधिकार हैं और इसलिए वे संशोधन की परिधि के बाहर हैं। गोलक नाथ वाले मामले(1) में बहुमत निर्णय में मूल अधिकारों को छोड़कर अभिकथित सारभूत तत्वों के सम्बन्ध में कोई राय देने से इन्कार किया गया था। सम्मत मत यह था कि मूल अधिकारों का इस कारण संशोधन नहीं किया जा सकता है क्योंकि वे मूल हैं। न्यायाधिपति वांचू ने अपनी ओर से और दो अन्य विद्वान् न्यायाधीशों की ओर से और न्यायाधिपति रामस्वामी ने विवक्षित परिसीमाओं का सिद्धान्त ठीक ही नामंजूर किया था। न्यायाधिपति वांचू द्वारा ये तीन कारण बताए गए थे। पहला यह कि सारभूत और गौण तत्वों के सिद्धान्त के कारण अनिश्चितता पैदा हो जाएगी। दूसरा यह कि संशोधन की संविधायी शक्ति में विवक्षित निर्बन्धनों की कोई बाधा नहीं है; तीसरा, यह कि चूंकि कोई अभिव्यक्त परिसीमा नहीं है अतः कोई विवक्षित परिसीमा नहीं हो सकती है।

श्री सीरवाई ने ठीक ही दलील दी है कि स्वयं भाग 3 के उपबन्धों में इस बाबत स्पष्ट साक्ष्य है कि हमारे संविधान में इस सिद्धान्त को अंगीकार नहीं किया गया है कि मूल अधिकार नैसर्गिक अधिकार या नैतिक अधिकार हैं जिन्हें कि प्रत्येक मनुष्य सभी समय रखता है। इसका केवल यह कारण है कि अन्य जीवधारियों से भिन्न रूप में वह युक्तिपूर्ण और नैतिक होता है। अनुच्छेद 13(2) की भाषा से दर्शित होता है कि इन अधिकारों

(1) (1967) 2 एस० सी० आर० 762.

को संविधान के अधीन भारत के लोगों द्वारा प्रदत्त किया गया है और ये वे अधिकार हैं जिन्हें लोगों ने संगठित समाज में या राज्य में, जिसका वे निर्माण करने जा रहे थे, उचित समझा था। 26 जनवरी, 1950 के पूर्व यह अधिकार भारत के लोगों के पास नहीं थे और उनके द्वारा ऐसे अधिकारों का दावा नहीं किया जा सकता था। अनुच्छेद 19 में मूल्यवान अधिकार दिए गए हैं। अनुच्छेद 19 के अधीन दिए गए अधिकार केवल नागरिकों तक ही सीमित हैं। विदेशी व्यक्ति भी मनुष्य हैं किन्तु उन्हें मूल अधिकार नहीं दिए गए हैं क्योंकि ये अधिकार केवल नागरिकों को नागरिकों के रूप में दिए गए हैं।

अनुच्छेद 33 में अधिनियमित है कि संसद् सशस्त्र बलों के सम्बन्ध में भाग 3 द्वारा प्रदत्त अधिकारों का उपान्तरण विधि द्वारा कर सकेगी। संसद् सशस्त्र बलों के कर्तव्यों का उचित पालन तथा उनमें अनुशासन बना रहना सुनिश्चित करने के लिए भाग 3 द्वारा प्रदत्त किसी भी अधिकार को निर्बन्धित या निराकृत कर सकती है। अतः अनुच्छेद 33 से दर्शित होता है कि नागरिकों को कुछ अधिकारों से वंचित किया जा सकता है। यदि ये नैसर्गिक अधिकार होते तो इन्हें निराकृत नहीं किया जा सकता है। अनुच्छेद 34 से दर्शित होता है कि संसद् विधि द्वारा किसी व्यक्ति को किसी ऐसे कार्य के विषय में तारण दे सकेगी जो उसने भारत राज्यक्षेत्र के भीतर किसी ऐसे क्षेत्र में, जहां सेना विधि प्रवृत्त थी, व्यवस्था के बनाए रखने या पुनःस्थापन के सम्बन्ध में किया है अथवा ऐसे क्षेत्र में सेना विधि के अधीन किसी दिए गए दण्डादेश, दिए गए दण्ड, आदिष्ट की हुई जब्ती, अथवा किए गए अन्य कार्य को मान्य कर सकेगी। इसके अतिरिक्त अनुच्छेद 34 से दर्शित होता है कि किसी क्षेत्र में सेना विधि के प्रवृत्त होने पर भाग 3 द्वारा प्रदत्त अधिकारों को निर्बन्धित किया जा सकता है। मुख्य धारणा सामाजिक लाभ ही है। जहां पर कोई अवरोध नहीं होता है वहां समाज असफल रहता है।

अनुच्छेद 352 और 358 से भी दर्शित होता है कि आपातकालीन उद्घोषणा के प्रवृत्त रहने पर अनुच्छेद 19 के उपबन्ध आपात स्थिति में किस प्रकार निलम्बित किए जाते हैं। संविधान निर्माताओं ने इन अधिकारों की सामाजिक अन्तर्वस्तु पर जोर दिया था। अतः मूल अधिकारों की मुख्य धारणा सामाजिक है और उसका सामाजिक कार्य है। यह अधिकार संविधान द्वारा प्रदत्त किए जाते हैं। मूल अधिकारों पर लगे निर्बन्धन के स्वरूप से दर्शित होता है कि उन अधिकारों में कुछ भी नैसर्गिक नहीं है। वाक् स्वातन्त्र्य के सम्बन्ध में अनुच्छेद 19(2) के अधीन अनुपात निर्बन्धन सुसंगठित एवं विकसित समाज के अनिवार्य अंग हैं। शक्ति किस के पास है इसे नहीं देखना चाहिए अपितु यह देखना चाहिए कि वह किस प्रकार कार्य करती है। अनुच्छेद 19 में अनुपात निर्बन्धन मूलतः सामाजिक और राजनैतिक हैं। विदेशी राज्यों के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों का होना इन निर्बन्धनों के राजनैतिक पहलू को बताता है। इसी प्रकार ही अबाध संचरण के अधिकार पर निर्बन्धन हैं। समाज के हित में अनुसूचित आदिमजातियों की संरक्षा भी युक्तियुक्त है। बशेशर नाथ बनाम आयकर आयुक्त दिल्ली[1] में इस न्यायालय ने कहा था कि हमारे संविधान के अधीन कोई नैसर्गिक अधिकार नहीं हैं और संविधान के उपबन्धों की विरचना में नैसर्गिक अधिकारों पर विचार नहीं किया गया था।

---

(1) (1959) सप्लीमेण्ट 1 एस० सी० आर० 528.

अनुच्छेद 25 और 26 के प्रारम्भिक शब्दों से दर्शित होता है कि धर्म स्वातन्त्र्य का अधिकार समाज के मुख्य हित के अध्यधीन है और इस अधिकार का कोई भाग चाहे वह भक्तों के लिए कितना भी महत्वपूर्ण क्यों न हो, ऐसा नहीं है जो सभ्य समाज में मना नहीं किया जा सकता और बहुत दशाओं में मना नहीं किया गया है।

गोलक नाथ वाले मामले([1]) में मुख्य न्यायाधिपति सुब्बा राव ने मूल अधिकारों की समता नैसर्गिक अधिकारों या मूलभूत अधिकारों के साथ की थी। तथापि गोलक नाथ वाले मामले ([1]) में सम्मत बहुसंख्यक मत में कहा गया था कि सम्पत्ति में कोई नैसर्गिक अधिकार नहीं होता है और नैसर्गिक अधिकार नागरिक की प्रास्थिति के बाह्य क्रियाकलापों के सम्बन्ध में होते हैं। महान्यायवादी और श्री सीरवाई दोनों ने ठीक ही दलील दी है कि मूल अधिकार संविधान द्वारा दिए जाते हैं और इसलिए उन्हें स्वयं लोग, जनता के प्रतिनिधियों के रूप में राज्य के संगठित समाज में कार्य करते हुए, स्वयं संविधान में अधिकथित संशोधन करने की प्रक्रिया के माध्यम से न्यून कर सकते हैं अथवा उन्हें छीन सकते हैं। हमारे संविधान के भाग 3 में ऐसे बहुत से अनुच्छेद हैं जिनकी किसी भी दशा में नैसर्गिक अधिकार के भाव में किसी मूल अधिकार से समता नहीं की जा सकती है। दृष्टांत के रूप में अनुच्छेद 17 अस्पृश्यता निवारण की बाबत है। अनुच्छेद 18 में खिताबों की समाप्ति की बाबत कहा गया है। अनुच्छेद 20 अपराधों के लिए दोषसिद्धि के विषय में संरक्षण की बाबत है। अनुच्छेद 23 मानव के पण्य और बलात्श्रम के प्रतिषेध की बाबत है। अनुच्छेद 24 कारखाने आदि, में बच्चों को नौकर रखने के प्रतिषेध की बाबत है। अनुच्छेद 27 किसी विशेष धर्म की उन्नति के लिए करों के देने के बारे में स्वतन्त्रता की बाबत है। अनुच्छेद 28 में कुछ शिक्षा संस्थाओं में धार्मिक शिक्षा अथवा धार्मिक उपासना में उपस्थित होने के विषय में स्वतन्त्रता अनुध्यात है। अनुच्छेद 29 अल्पसंख्यकों के हितों के संरक्षण की बाबत है। अनुच्छेद 31(2) में संविधान (पच्चीसवां संशोधन) अधिनियम के पूर्व सम्पत्ति के अर्जन या अधिग्रहण के लिए न्यायोचित समतुल्य राशि के संदाय की बाबत कहा गया था। अनुच्छेद 31(4) संविधान के प्रारम्भ के समय लम्बित विधानों की बाबत है। अनुच्छेद 31(5) और (6) में कतिपय प्रकार की विधियों की व्यावृत्ति है। अनुच्छेद 31(क) में सम्पदा, आदि के अर्जन हेतु उपबन्ध करने वाली विधियों की व्यावृत्ति है। अनुच्छेद 32 उच्चतम न्यायालय को प्रचालित करने का अधिकार देता है।

संविधान उच्चतर विधि है और उसकी स्थिति ऐसी है जिसके कारण उसे पूर्णतः भिन्न प्रकार की विधिमान्यता, प्रभुत्वसम्पन्न जनता से प्राप्त होने वाली कानूनी विधिमान्य, देना सम्भव है। उच्चतर विधि कानूनी रूप पा लेने पर और न्यायिक पुनर्विलोकन द्वारा कार्यान्वित किए जाने पर जनता के लिए न्यायिक रूप से सर्वाधिक लाभदायक बन जाती है। संविधान से उच्चतर कोई अन्य विधि नहीं है।

श्री पालखीवाला ने कोनराड द्वारा लिखित एक लेख "लिमिटेशन ऑफ अमेण्डमेण्ट प्रोसीजर एण्ड दि कांस्टिट्यूशनल पावर" का अवलम्ब लिया है। लेखक ने पश्चिमी जर्मनी के प्रान्तीय संविधान का निर्देश किया है। इस संविधान में मूल अधिकारों का

([1]) (1967) 2 एस० सी० आर० 762.

संशोधन अभिव्यक्त रूप से अपवर्जित है। यदि ऐसा है तो उच्चतर विधि या नैसर्गिक विधि के आधार पर मूल अधिकारों के असंशोधनीय होने का प्रश्न उत्पन्न नहीं होता है। लेखक का निष्कर्ष यह है कि जबकि अमरीका के न्यायालय उच्चतर विधि के विरोध के कारण किसी संविधायी मानदण्ड को शून्य घोषित करने की बाबत विचार नहीं करते हैं, जर्मनी के न्यायशास्त्र में नैसर्गिक न्याय के आधार पर न्यायिक पुनर्विलोकन की धारणा का विस्तार किया गया है। युद्ध के बाद के संविधान में पश्चिमी जर्मनी ने उच्चतर और निम्नतर संविधायी विधियों के बीच प्रभेद किया था क्योंकि कुछ विधियों का संशोधन नहीं किया जा सकता है और कुछ का किया जा सकता है।

महान्यायवादी ने फ्रीडमैन रचित लीगल थ्योरी, पांचवां संस्करण पृष्ठ 350 का अवलम्ब यह दर्शित करने के लिए लिया कि समसामयिक जर्मन विधिक दर्शन में नैसर्गिक विधि का सिद्धान्त पुनः प्रवर्तित हो गया है। नैसर्गिक विधि का यह सिद्धान्त नाजी साम्राज्य के अत्याचारों के विरुद्ध प्रतिक्रिया के कारण पैदा हुआ है। फ्रीडमैन का मत यह है कि नैसर्गिक विधि छद्म रूप से मूल्यों के बीच विरोध के तौर पर सामने आ सकती है। यह प्रतियोगी हितों, प्रयोजनों और नीतियों के बीच स्थायी और दुखदायी समायोजन की समस्या है। यह समस्या नैतिक या राजनैतिक विकास द्वारा सुलझाई जा सकती है। नैतिक या राजनैतिक विकास विधायी नीतियों में और विधि के विकास विषयक परिवर्तनशील विचारों के प्रभाव में पाया जाता है।

मूल अधिकार सामाजिक अधिकार हैं जो संविधान द्वारा प्रदत्त किए गए हैं। संविधान के ऊपर कोई विधि नहीं है। संविधान में किसी प्रकार की विधि को नैसर्गिक विधि के रूप में मान्यता नहीं दी गई है। नैसर्गिक अधिकार प्यूरिटन क्रान्ति के दौरान प्रचलित सूत्र के अधीन अर्थात् प्राण स्वतन्त्रता और सम्पत्ति सूत्र के अधीन संक्षेप में कहे गए हैं। कुछ देशों में, विशेषतः जर्मनी में युद्ध के बाद नैसर्गिक विधि के पुनः प्रवर्तित होने पर उच्चतर वास्तविक विधि से भिन्न प्रति वास्तविक विधि द्वारा वास्तविक मानदण्डों के विकास के सिद्धान्त के महत्वपूर्ण परिणाम निकले थे। उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ से नाजी साम्राज्य तक जर्मनी के संविधान के बहुत भाग में न्यायिक पुनर्विलोकन का उपबन्ध नहीं था। वेमर के साम्राज्य में विधानमण्डल का सर्वोपरि साम्राज्य था और विधिक वास्तविकतावाद में क्षति आ गई थी। दूसरे विश्व युद्ध के पश्चात् की प्रतिक्रिया के कारण न्यायिक शक्ति की वृद्धि के साथ-साथ विधायी शक्ति का ह्रास हुआ। इस संदर्भ में ही कोनराड के उस लेख को, जिसका श्री पालखीवाला ने अवलम्ब लिया है, समझना है। सम्पूर्ण सुझाव यह है कि मानकों का निर्णय केवल उच्चतर विधि द्वारा अर्थात् सांविधानिक विधि द्वारा ही नहीं किया जा सकता अपितु न्यायिक पुनर्विलोकन की परिधि का विस्तार करने के लिए नैसर्गिक विधि द्वारा किया जा सकता है। न्यायिक पुनर्विलोकन के सिद्धान्त को स्वीकार करने को स्वतंत्रता की घोषणा और फिलाडेलफिया के फेडरल कन्वेन्शन के बीच सांविधानिक सिद्धान्त में हुई प्रगति के रूप में माना गया है।

एक ओर प्रतिवादी नैसर्गिक विधि के दार्शनिकों की विचारधारा है, जिन्होंने दावा किया है कि नैसर्गिक व्यवस्था यह साबित करती है कि प्राइवेट पूंजीवाद अच्छा है और समाजवाद बुरा है। दूसरी ओर एक दलीय विधिक दर्शन का प्रतिवादी दृष्टिकोण, मानव व्यक्तित्व के आधारभूत मूल्यों को नकारता है। इन प्रतिवादी दृष्टिकोणों से

बाहर अत्यधिक सामान्य आकांक्षाएं हैं। आधारभूत स्वायत्तता और मानव व्यक्तित्व की गरिमा आधुनिक नैसर्गिक विधि दार्शनिकों, जैसे कि मारीटेन, की शिक्षा का असामान्य आधार है। इस संदर्भ में ही हमारे मूल अधिकारों और निदेशक तत्वों को पढ़ा जाना चाहिए कि उनमें अन्ततः सामान्य लाभ की बात कही गई है। निदेशक तत्व व्यक्तियों के मूल अधिकारों की अपेक्षा गौण तत्वों के रूप में नहीं हैं। निदेशक तत्वों में मूल अधिकारों को रूप देने के लिए सामाजिक तत्व सन्निविष्ट हैं जिससे कि राज्य के व्यापक कल्याण कार्यों का निर्बाध रूप से विस्तार किया जा सके। अतः मूल अधिकारों की नैसर्गिक, अन्यसंक्रमणीय, मूलभूत अधिकारों के साथ, जोकि संविधान की जकड़ से बाहर हैं, बराबरी करना गलत होगा। इस संदर्भ में ही इस न्यायालय ने बिशेश्वर नाथ बनाम आयकर आयुक्त, दिल्ली (1) में कहा था कि नैसर्गिक अधिकारों का सिद्धान्त कुछ अन्य नहीं अपितु अस्थायी आधार है।

श्री सीरवाई ने ठीक ही कहा है कि यदि संविधान के संशोधन की शक्ति न्यायपालिका की विधियों को अविधिमान्य बनाने की शक्ति की सहविस्तारी है तो लोकतान्त्रिक प्रक्रिया और राज्य के महान विभागों का समन्वित स्वरूप बना रह सकता है। लोकतान्त्रिक प्रक्रिया इस कारण बनी रहती है क्योंकि लोगों की संविधान का संशोधन करके विधियां अधिनियमित करने की आवश्यक शक्ति प्राप्त करने की इच्छा विफल नहीं होती है। लोकतान्त्रिक प्रक्रिया का सम्मान इस कारण भी किया जाता है क्योंकि जब न्यायपालिका किसी विधि को शक्ति के अभाव के आधार पर या शक्ति पर लगी परिसीमा का अतिक्रमण करने के आधार पर विखण्डित करती है तो विधानमण्डल का यह कर्त्तव्य है कि वह उस स्थिति को स्वीकार करे किन्तु यदि आवश्यक शक्ति अर्जित करके वही विधि पारित करनी हो तो विधिमान्य रूप से अधिनियमित संशोधन विधानमण्डल को ऐसा करने के योग्य बना देता है और लोकतान्त्रिक इच्छा प्रभावी होती है। यह प्रक्रिया हमारे संविधान के इस सिद्धान्त के अनुरूप है कि राज्य के तीनों महान विभाग अर्थात् विधानमण्डल, न्यायपालिका और कार्यपालिका समन्वित हैं और कोई भी दूसरे की अपेक्षा उच्चतर नहीं है। विधानमण्डल द्वारा विधि अधिनियमित करने की, न्यायालयों द्वारा निर्वचन करने की और विधानमण्डल द्वारा संविधान का संशोधन करने की असामान्य अन्तःक्रिया, उसी रूप में चलती रहती है जैसी कि वह आशयित थी।

यदि संशोधन की शक्ति में कोई परिसीमा नहीं है और यदि संशोधन की यह शक्ति संविधान में अन्तर्निहित परिसीमाओं को, संविधान के अनिवार्य तत्वों के सिद्धान्तों पर, जो अपरिभाषित और अस्पष्ट हैं, सभी संशोधनों को समाप्त करने के लिए मानने से अस्वीकार की जाती है तो न्यायालयों को एक नया संविधान अधिकथित करना होगा।

यह कहा गया कि संविधान का संशोधन करके शासन पद्धति को परिवर्तित या निराकृत नहीं किया जा सकता। हमारे समक्ष शासन पद्धति के निराकरण या पिटीशनरों द्वारा आशंकित परिवर्तनों, जैसे कि न्यायपालिका का निराकरण या संसद् के समय की वृद्धि, जैसी कोई बात नहीं है।

---

(1) (1959) सप्लीमेण्ट 1 एस० सी० आर० 528.

समय की समस्याओं और उन समस्याओं के समाधान पर संविधान बनाते समय विचार किया जाता है। किन्तु जो संविधान बनाते हैं उन्हें यह भी पता होता है कि नई और अप्रत्याशित समस्याएं आ सकती हैं, जो समस्याएं आज महत्त्वपूर्ण मानी जा रही हैं अपना महत्त्व खो सकती हैं क्योंकि पूर्विकताएं बदल सकती हैं, यह कि समस्याओं के जिन समाधानों को आज ठीक और अपरिहार्य समझा गया है, गलत हो सकते हैं या उनमें काफी उपान्तरण अपेक्षित हो सकता है, यह कि न्यायिक निर्वचन के कारण कतिपय उपबन्धों का आशयित प्रभाव नष्ट हो सकता है, यह कि लोक मत एक शासन पद्धति से दूसरी ओर जा सकता है। अतः संविधान में परिवर्तन जनता की सहायता करने के लए, जिससे कि वे जीवन में वह प्राप्त कर सकें जो वह चाहते हैं, जनता के प्रति कर्त्तव्य की भावना से प्रेरित होते हैं। मनुष्य का कोई ऐसा भाग्य नहीं है जिसमें कि कुछ व्यक्ति उचित रूप से अन्य व्यक्तियों को नियन्त्रित कर सकते हैं। मनुष्य की तो वास्तव में केवल इच्छाएं और अधिमान्यताएं और महत्त्वाकांक्षाएं हैं। खुशहाली को अधिकाधिक करने के कर्त्तव्य से अभिप्रेत है कि लोगों को इस बारे में विवश करने की अपेक्षा कि वे वही चाहें जो हम उन्हें सरलता से दे सकते हैं, यह सब कुछ देना सरल है जो वे चाहते हैं। संविधान निर्माताओं ने संशोधन की शक्ति पर कोई परिसीमा नहीं लगाई थी क्योंकि संविधान का उद्देश्य लोगों की सुरक्षा, महानता और कल्याण है। संविधान में किए गए परिवर्तन इन महान उद्देश्यों की पूर्ति करते हैं और संविधान का वास्तविक प्रयोजन पूरा करते हैं।

संविधान का निर्वचन करते समय श्री पालखीवाला ने अन्तर्निहित और विवक्षित परिसीमाओं के सिद्धान्त की इस रूप में सहायता ली थी कि संविधान के अधीन शक्ति की कसौटी यह अभिनिश्चित करना है कि ऐसी शक्ति का प्रयोग करते हुए अधिक से अधिक कितना बुरा हो सकता है। श्री पालखीवाला ने यह दलील दी है कि यदि संशोधन की अनियन्त्रित शक्ति अनुज्ञात की गई तो हमारे संविधान के आधारभूत तत्व अर्थात् गणतन्त्रीय और या लोकतन्त्रीय शासन पद्धति और मूल अधिकार नष्ट हो सकते हैं और भारत को एकदलीय अधिनायकवाद के रूप में सम्परिवर्तित किया जा सकता है। न्यायालय से कहा गया था कि वह वर्णित प्रकार के परिणामों को ध्यान में रखे। श्री पालखीवाला ने दलील दी कि संशोधन की व्यापक शक्ति हमारे संविधान को समाप्त कर देगी।

महान्यायवादी ने ठीक ही कहा है कि विवक्षित परिसीमाओं के सिद्धान्त का पोषण करने के लिए संशोधन के स्पष्ट अर्थ को नष्ट नहीं किया जा सकता। उसने यह भी कहा कि शक्ति और शक्ति के प्रयोग के बीच का ज्वलंत प्रभेद सर्वसाधारण की इच्छा और सर्वसाधारण के नियन्त्रण के अध्यधीन है। विवक्षित और अन्तर्निहित परिसीमा का सिद्धान्त लोकतान्त्रिक प्रक्रिया का निराकरण है। महान्यायवादी और श्री सीरवाई ने भी ठीक ही कहा है कि संविधान के अनुच्छेद 368 में अन्तर्विष्ट संशोधन की शक्ति के सम्बन्ध में पिटीशनर के दृष्टिकोण में इस तथ्य की उपेक्षा की गई है कि "संविधान का उद्देश्य देश को शासित करने के लिए न्यायपालिका, विधानमण्डल और कार्यपालिका जैसे राज्यों के विभागों की व्यवस्था करना है। बाह्य आक्रमण के विरुद्ध प्रतिरक्षा और आन्तरिक व्यवस्था बनाए रखने के अनिवार्य कृत्यों के अतिरिक्त आधुनिक राज्य जनता

के कल्याण को सुनिश्चित करने के लिए संगठित किया जाता है। संसद् और राज्य विधानमण्डलों का निर्वाचन साधारण वयस्क मताधिकार के आधार पर होता है। देश मन्त्रिमण्डलीय शासन पद्धति द्वारा शासित होता है जिसमें कि लोक सभा और विधान सभाओं के प्रति उत्तरदायित्व रखने वाले मन्त्रालय होते हैं।

लोकतन्त्र में सही नीतियों का अवधारण निर्वाचन में दिए गए बहुसंख्यक मत द्वारा और तत्पश्चात् विधानमण्डल में निर्वाचित प्रतिनिधियों के बहुमत द्वारा ही किया जा सकता है। लोकतन्त्र अपने प्रतिनिधियों को निर्वाचित करने की हैसियत रखने के विश्वास पर और लोगों का प्रतिनिधित्व करने वाले प्रतिनिधियों में होने वाले विश्वास पर चलता है। यह दलील कि भारत के संविधान को समाप्त या नष्ट किया जा सकता है, उत्साहवर्धक प्रभाव रख सकती है किन्तु इसका समर्थन हमारे देश में या किसी अन्य देश में वास्तविक अनुभव से नहीं होता है। लोकतन्त्र के दो आधारभूत तत्त्व मानव-तर्क में विश्वास और मानव प्रकृति में विश्वास है। लोकतान्त्रिक प्रक्रिया में विश्वास होने से उच्चतर कोई अन्य विश्वास नहीं है। हमारे देश में वयस्क मताधिकार पर आधारित लोकतन्त्र एक महान अनुभव है। हमारे लोकतन्त्र की जड़ें देश में और सर्वसाधारण में इसके प्रति विश्वास में है। इसी कारण ही श्री सीरवाई ने कहा है कि 1951 से, जब इस न्यायालय ने शंकरी प्रसाद वाले मामले (1) में संशोधन की असीमित शक्ति को मान्यता दी थी, 1967 में गोलक नाथ वाले मामले(2) तक, हमारे देश में असामान्य लोकतान्त्रिक प्रक्रिया संविधान द्वारा उपबन्धित रूप में चलती रही है।

परिणामों को ध्यान में रखने के सिद्धान्त के पीछे जो नियम कार्य करता है उसकी सबसे अच्छी अभिव्यक्ति बाचर एण्ड सन्स बनाम लन्दन सोसाइटी ऑफ कम्पोजिटर्स (3) में की गई है, जिसमें यह कहा गया था यदि किसी कानून के शब्दों का अर्थान्वयन करते समय किसी विशेष अर्थान्वयन के एक से अधिक अभिप्राय हो सकते हों तो उन परिणामों को ध्यान में रखना विधिसंगत है जो किसी विशेष अर्थान्वयन से पैदा हो सकते हैं। इसका कारण यह है कि बहुत सी बातें ऐसी हैं जिनके बारे में यह समझा जाता है कि विधानमण्डल का आशय उनको अस्तित्व में लाना नहीं था और इसलिए अधिमान ऐसे अर्थान्वयन को, जिनसे ऐसी कोई बात पैदा न हो, न कि ऐसे अर्थान्वयन जिनसे वैसा या उनमें से कोई परिणाम निकले, दिया जाना चाहिए।

परिणामों के सिद्धान्त का, संविधान द्वारा प्रदत्त शक्ति के प्रदान के अर्थान्वयन में, कोई स्थान नहीं है। किसी शक्ति के प्रदान की बाबत विचार करने में, उसे पूर्णरूप से प्रभावशाली बनाने के लिए उन शब्दों का सबसे व्यापक अर्थ लगाया जाना चाहिए जिनमें वह व्यक्त की गई हो। इस नियम के दो अपवाद हैं, जो इस प्रकार हैं। पहला यह है कि विभिन्न विधानमण्डलों को अनन्य रूप से प्रदान की गई शक्तियों का एक दूसरे के साथ सामंजस्य स्थापित करने के लिए उनमें से किसी का भी अर्थ सीमित किया जा सकता है जिससे कि दोनों शक्तियों का यथा-सम्भव पूरा-पूरा प्रवर्तन हो सके

(1) (1952) एस० सी० आर० 82.
(2) (1967) 2 एस० सी० आर० 762.
(3) (1913) ए० सी० 107.

[देखिए—सी० पी० एण्ड बरार वाला मामला (1) तथा मद्रास प्रान्त बनाम गवर्नर जनरल(2)]। दूसरा यह है कि तकनीकी शब्दों को उनके तकनीकी अर्थ में ही समझना चाहिए चाहे फिर साधारण या आम अर्थ को देखते हुए वह सीमित ही क्यों न हो। मद्रास राज्य बनाम गैन्नन डंकरले एण्ड कम्पनी (मद्रास) लिमिटेड(3)। हमारे संविधान में शक्तियों का विभाजन फेडरेशन तथा राज्यों के बीच किया गया है। प्रयत्न यह होना चाहिए कि कोई भी शक्ति हो, उसे किसी न किसी प्रविष्टि में अवश्य रखा जाए, क्योंकि समझा यही जाना चाहिए कि आशय यह था कि कोई भी शक्ति छूटने न पाए।

परिणामों के सिद्धान्त का अर्थ गलत लगाना है यदि उससे यह समझा जाए कि परिणामों के अन्तर्गत नीति, बुद्धिमानी तथा सामाजिक या आर्थिक नीतियों के विषय भी आते हैं। वाचर वाले मामले(4) में यह बता दिया गया था कि न्यायिक अधिकरण को किसी अधिनियम की नीति से कोई सरोकार नहीं है और न्यायालय का एकमात्र कर्त्तव्य यह है कि वह अधिनियम की भाषा का अर्थ वही लगाए जो अर्थान्वयन के निश्चित नियमों के अनुसार होना चाहिए। अटर्नी जनरल फॉर ओन्टेरियो बनाम अटर्नी जनरल फॉर डोमिनियन्स(5) में प्रिवी काउन्सिल ने कनाडा के संविधान में यह निहितार्थ (इम्पलीकेशन) मानने से इन्कार कर दिया कि चूंकि परामर्श के रूप में प्रकट की जाने वाली राय न्याय के विशुद्ध प्रशासन के प्रतिकूल है और स्वयं उन न्यायाधीशों को जिन्होंने वह राय दी हो असमंजस में डालने वाली है क्योंकि यदि वे कोई राय दे चुके हैं तो उनके लिए किसी मामले की सुनवाई गुणदोष के आधार पर करना कठिन होगा, इसलिए उच्चतम न्यायालय की राय के लिए कोई मामला निर्दिष्ट करने की कोई शक्ति ही नहीं है। प्रिवी काउन्सिल ने यह दलील नहीं मानी और उसने यह कहा यदि यह बुद्धिमानी तथा नीति का प्रश्न है तो इसका फैसला करना संसद् का काम है। बैंक ऑफ टोरोण्टो बनाम लाम्बे(6) में प्रिवी काउन्सिल से यह कहा गया कि वह यह अभिनिर्धारित करे कि प्रान्त का विधानमण्डल बैंक में पूंजी स्टाक पर कोई भी कर अधिगृहीत नहीं कर सकता क्योंकि उस शक्ति का प्रयोग इस प्रकार हो सकता है जिससे उस बैंक ही को समूल नष्ट कर दिया जाए। प्रिवी काउन्सिल ने अपना मत प्रकट करते हुए यह कहा कि यदि ब्रिटिश नार्थ अमरीका ऐक्ट की धारा 92 का सही अर्थान्वयन करने पर वह शक्ति उक्त धारा के अन्तर्गत आती है तो केवल इसलिए कि हो सकता है कि उसका दुरुपयोग किया जाए, उसके अस्तित्व से इन्कार करना गलत होगा।

शक्ति के प्रयोग से बड़े से बड़ा अनर्थ जो किया जा सकता है उसकी कसौटी कितनी निरर्थक है, यह बात पास मैन(7) में मुख्य न्यायाधिपति टैफ्ट के निर्णय से स्पष्ट है जिसमें यह कहा गया था कि यदि वे लोग, जिनके पास शासन की तीनों शाखाओं में से

(1) (1938) एफ० सी० आर० 18.
(2) 72 आई० ए० 93.
(3) (1959) एस० सी० आर० 379.
(4) (1913) ए० सी० 107.
(5) (1912) ए० सी० 571.
(6) (1887) 12 ए० सी० 575.
(7) 69 लॉयर्स एडिशन 527—267 यु० एस० 86.

एक-एक का नियंत्रण अलग-अलग है, एक दूसरे के काम को विफल बनाने पर तुले हुए हों तो शासन का सामान्य काम रुक जाएगा और शासन को ठप किया जा सकता है। शासन के साधारण कार्य यह मान कर किए जाते हैं कि शासन चलना है तो उसकी तीनों शाखाओं को एक दूसरे के साथ सहयोग करना चाहिए। जहां अर्थ स्पष्ट हो वहां न्यायालय को चाहिए कि उसे प्रभावशील करे, चाहे फिर वह समझता हो कि ऐसे अर्थ के अवांछनीय परिणाम होंगे। बिहार भूमि सुधार वाले मामले(1) में न्यायाधिपति महाजन ने यह कहा था कि कृषि भूमि सम्बन्धी विधियों में, जिन्हें विधानमण्डल द्वारा अधिनियमित किया गया है तथा जो अनुच्छेद 31 (3) और (4) द्वारा संरक्षित हैं ऐसा प्रतिकर दिया गया है जो न्यायालय को अन्यायपूर्ण तथा अनुचित प्रतीत हो सकता है। किन्तु न्यायालय ने अनुच्छेद 31 (3) और (4) को इसलिए प्रभावी किया क्योंकि यही परिणाम आशयित थे और अन्याय का उपचार विधानमण्डल के पास था, न कि न्यायालयों के पास। इसलिए कि निरर्थकता पैदा न हो, अर्थान्वयन का प्रयोग बड़ी सावधानी के साथ किया जाना चाहिए।

गुजरात वाले मामले(2) में यह कहा गया था कि जब संदिग्धार्थी शब्दों के दो अर्थ हो सकते हों, तो उनमें से किसको पसंद किया जाए, इसका निर्णय करने में एक के मुकाबले में दूसरे परिणाम की निरर्थकता या गैर-निरर्थकता से सहायता ली जा सकती है, किन्तु उसका प्रयोग किसी दशा में भी ऐसा नहीं किया जाना चाहिए कि उसका परिणाम यह हो कि भाषा को तोड़-मरोड़ कर ऐसा अर्थ किया जाए जो हो ही न सकता हो।

महान्यायवादी ने यह ठीक ही कहा कि यदि शक्ति प्रदान करने के लिए ऐसी भाषा का प्रयोग किया गया हो, जो स्पष्ट तथा असंदिग्धार्थी हो और उसे एक से अधिक अर्थ में न समझा जा सकता हो, तो फिर उस शक्ति के प्रयोग से होने वाले परिणामों पर विचार करके और इस प्रकार उस शक्ति को छोटा बना कर उस शक्ति के स्पष्ट अर्थ तथा उसके विस्तार में कमी करने का कोई मौका नहीं हो सकता है। प्रश्न यह नहीं है कि किस बात के सम्बन्ध में माना जाए कि वह आशयित थी बल्कि यह कि कहा क्या गया है। देखिए—रॉस बनाम इल्लीसन(3)। कैसेल हावर्ड बनाम इल्लिनॉयस सेण्ट्रल रेल रोड कम्पनी(4) में सुप्रीम कोर्ट ने यह कहा था कि न तो आप बचाने के लिए नष्ट कर सकते हैं और न नष्ट करने के लिए बचा सकते हैं। वास्तविक आशय यह है कि नई विधि निर्माण अर्थान्वयन के द्वारा नहीं किया जा सकता है। प्रश्न आशय का है। कोई बात का अर्थ उससे भिन्न नहीं हो सकता जो युक्तियुक्त रूप से उसमें समा न सके, अन्यथा वह आशय के साथ असंगत हो जाएगा। संसदीय लोकतंत्र का आधार ही यह है कि शक्ति का प्रयोग सदा जनता की इच्छा और उसके नियंत्रण के अधीन किया जाता है। विवक्षित और अन्तर्निहित परिसीमाओं का पिटीशनर द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त इस लोकतंत्रात्मक प्रक्रिया का निषेध है। लोकतंत्रात्मक शासन का अन्तर्निहित सिद्धान्त लॉचनर बनाम न्यूयार्क(5) में न्यायाधिपति होम्स के मतानुसार "संविधान द्वारा अधिरोपित परिसीमाओं

(1) (1952) एस० सी० आर० 889.
(2) (1948) 1 चांसरी 145.
(3) (1930) ए० सी० 1.
(4) 207 यू० एस० 463.
(5) 198 यू० एस० 45—49 लॉयर्स एडिशन 937.

के अध्यधीन अपनी राय को विधि का रूप प्रदान करने का अधिकार है। हमारे संविधान में, अनुच्छेद 368 ने संविधान के किसी भी उपबन्ध के संशोधन पर अभिव्यक्त रूप में कोई बन्धन नहीं लगाया है।

श्री पालखीवाला ने अपनी, इस दलील के समर्थन में कि "संशोधन" शब्द का सीमित अर्थ लगाया जाना चाहिए और संशोधन के अर्थ तथा उसकी शक्ति के सम्बन्ध में यह समझा जाना चाहिए कि वह विवक्षित तथा अन्तर्निहित बन्धन के अध्यधीन है, अमरीका, कनाडा, आस्ट्रेलिया, आयरलैण्ड तथा श्रीलंका के संविधानों के संशोधन सम्बन्धी उपबन्धों तथा उन देशों में संशोधन की शक्ति विषयक विनिश्चयों का भी आश्रय लिया।

श्री पालखीवाला ने ट्रीटाइज ऑन कांस्टिट्यूशनल लिमिटेशन्स के पृष्ठ 36-37 पर दत्त श्री कूली की इस राय का भी आश्रय लिया है कि "लिखित संविधान शासन की शक्तियों पर जहां तक कि वे अभिकर्ता के हाथ में हों, सदा बंधन का काम करता है; क्योंकि लिखित गणतन्त्रात्मक संविधान कभी ऐसा बना ही नहीं, जिसके द्वारा वे सारी अप्रत्यक्ष शक्तियां (लैटेण्ट पावर्स) कृत्यकारियों (फंक्शनरीज) को प्रत्यायोजित हों जो हर राष्ट्र में दबी पड़ी रहती हैं, जिनका विस्तार सीमा-विहीन होता है तथा जिनकी परिभाषा नहीं हो सकती है।" कूली का यह दृष्टिकोण अमरीका के संविधान के अनुच्छेद 5 में दी गई संशोधन विषयक शक्ति के साथ सुसंगत नहीं है। यह दृष्टिकोण ऐसी विधायी शक्ति के साथ सम्बद्ध है जिसके अनुसार लिखित संविधान, शासन की शक्तियों, अर्थात् विधानमण्डल, कार्यपालिका तथा न्यायपालिका के लिए बंधन है।

ट्रीटाइज ऑन कांस्टिट्यूशनल लिमिटेशन्स के पृष्ठ 341-343, 345-348, 351-354 पर व्यक्त किए गए श्री कूली के अन्य विचार इस प्रकार हैं। पहला यह कि उस दशा को छोड़कर जिसमें संविधान द्वारा विधायी शक्ति पर परिसीमाएं अधिरोपित की गई हों, समझा यह जाना चाहिए कि विधायी शक्ति वास्तव में आत्यंतिक है, चाहे फिर उसका प्रवर्तन किसी विशिष्ट मामले में नैसर्गिक न्याय के अनुकूल हो या न हो। दूसरा यह कि सांविधानिक निर्बन्धनों के न होने पर राज्य सरकार के विधायी विभाग के पास अनन्य तथा पर्याप्त शक्ति होती है और उस विषय पर उसका जो भी कथन हो वही राज्य की लोक नीति बन जाती है और संविधान का ऐसा निर्वचन, जैसे कि विधानमण्डल पर इस बाबत कोई निर्बन्धन अधिरोपित है, न्यायालयों की शक्ति के बाहर है। तीसरा यह कि यदि न्यायालयों को इतनी स्वतन्त्रता नहीं है कि वे कानूनों को उनकी अनीति से होने वाले स्पष्ट अन्याय के कारण शून्य घोषित कर सकें तो वे इस कारण भी ऐसा नहीं कर सकेंगे कि न्यायाधीशों को यह प्रतीत होता है कि वे गणतन्त्रात्मक शासन के मूलभूत सिद्धान्तों का अतिक्रमण करते हैं जब तक कि यह निष्कर्ष न निकलता हो कि उन सिद्धान्तों को संविधान द्वारा विधायी अतिलंघन से परे रखा गया है। गणतंत्रात्मक शासन के सिद्धान्त संविधान में सजीव तथा क्रियाशील यद्यपि अभिव्यक्त न किए गए अनमनीय नियमों (इनफ्लैक्सीबल रूल्स) का संवर्ग (सेट) नहीं हैं, बल्कि नीति तथा सार्वजनिक आवश्यकता की दृष्टि से उनमें फेरफार और रुपान्तरण किए जा सकते हैं। चौथा यह कि न्यायालयों को कोई भी अधिनियम इस आधार पर शून्य घोषित करने की स्वतन्त्रता नहीं है कि उनकी राय में वह अधिनियम संविधान में सर्वत्र विद्यमान समझी जाने वाली किन्तु स्पष्ट शब्दों में अव्यक्त भावना के प्रतिकूल है।

श्री पालखीवाला ने विवक्षित तथा अन्तर्निहित परिसीमाओं का सिद्धान्त प्रतिपादित करने के लिए 18 मीचीगन लॉ रिव्यू (1919-1920) पृष्ठ 21-225 में प्रकाशित श्री चार्ज स्किनर के विचारों का आश्रय लिया है, जो इस प्रकार हैं। संविधान द्वारा दी गई शक्ति का अर्थान्वयन इस प्रकार नहीं किया जा सकता है, जिससे उसी लिखत की अन्य शक्तियों का विनाश प्राधिकृत हो जाए। शासन का अनिवार्य स्वरूप तथा उसकी प्रकृति को नहीं बदला जा सकता है, क्योंकि उसका अवधारण इस बात से होता है कि शक्ति कहां पर स्थित है तथा उसका वितरण किस प्रकार का है, प्रशासनिक कृत्यों का प्रयोग मात्र विनियमित किया जा सकता है। उसी लॉ रिव्यू में श्री स्किनर का ही इससे कुछ भिन्न मत यह है कि इस बात की कोई सम्भाव्यता नहीं है कि संशोधन प्रस्थापित करने की कांग्रेस की शक्ति पर सुप्रीम कोर्ट कोई बन्धन लगाएगी और पांचवें अनुच्छेद का अर्थान्वयन करते समय वह यह कहने के लिए रजामन्द नहीं होगा कि कांग्रेस ने ऐसा संशोधन प्रस्थापित किया जिसे वह आवश्यक नहीं समझती थी। विवेक पूर्ण रूप से कांग्रेस के पास ही रहने दिया गया है।

दूसरा मत जिसका अवलम्ब श्री पालखीवाला ने किया है 33 हार्वर्ड लॉ रिव्यू (1919-1920) पृष्ठ 223-235 पर प्रकाशित श्री विलियम एल० मरबरी का है। श्री पालखीवाला ने जो मत उद्धृत किया है वह यह है कि प्रस्तावना स्वरूप यह मान लेना निरापद है कि संविधान संशोधन की शक्ति में उसके विनाश की शक्ति सम्मिलित नहीं है। मरबरी ने लीवरमोर बनाम वेटे(1) का आश्रय लिया है जिसमें यह कहा गया है कि "संशोधन" शब्द में मूल लिखत की सीमाओं के अन्दर रहते हुए ऐसा परिवर्धन या परिवर्तन अन्तर्निहित है जो सुधार ला सकता हो या जो उस प्रयोजन को और अच्छी तरह से कार्यान्वित कर सकता हो जिसके लिए उसकी रचना की गई हो।

मरबरी के कुछ और विचार भी हैं जिनका अवलम्ब महान्यायवादी ने किया है किन्तु जिनके प्रति श्री पालखीवाला ने कोई निर्देश नहीं किया है। वे विचार ये कहते हैं कि अमरीका के संविधान के अनुच्छेद 5 में, उसकी संशोधन विषयक शक्ति के विस्तार से ऐसे संशोधनों को अपवर्जित कर देने पर भी जो राज्य की विधायी शक्तियों को छीन लेते हैं, उसके प्रवर्तन के लिए बड़ा विस्तृत क्षेत्र बच रहता है। जिस फेडरल शासन की स्थापना के लिए संविधान बनाया गया था, उसमें हर प्रकार के संशोधन किए जा सकेंगे चाहे वह उसके ढांचे को बदल देने वाला हो या सरकार के विभिन्न विभागों में शक्ति का वितरण तब्दील करने वाला हो या उन पर अतिरिक्त बन्धन लगाने वाला हो या सिविल स्वतन्त्रता की पुरानी प्रत्याभूतियों को समाप्त करने वाला और नई प्रत्याभूतियां स्थापित करने वाला हो।

महान्यायवादी ने मरबरी के उत्तर में 33 हार्वर्ड लॉ रिव्यू पृष्ठ 659-666 में प्रकाशित श्री फ्रियरसन का मत व्यक्त करने वाले एक लेख का भी आश्रय लिया है। फ्रियरसन का मत यह है कि राज्यों के लिए सुरक्षा का उपबन्ध तीन चौथाई राज्यों द्वारा अनुसमर्थन को आवश्यक बनाकर कर किया गया है। संविधान ने यह तय करने का कर्त्तव्य कि कौन-कौन संशोधन आवश्यक हैं, कांग्रेस को सौंपा है न कि न्यायालयों को।

(1) 102 कैल० 118.

राज्यों के अधिकार निस्सन्देह उस समय तक अधिक सुरक्षित हैं जब तक कि वे उन्हीं राज्यों में से तीन-चौथाई के हाथ में हैं। संविधान की रचना करने वालों का विचार है कि इस प्रकार राज्यों की अखण्डता बनी रहेगी।

महान्यायवादी ने जिल्द 20 कोलम्बिया लॉ रिव्यू में प्रकाशित श्री मैकगोवनी के विचारों का भी आश्रय लिया है। मैकगोवनी इस बात का अनुभव करने के लिए कि सांविधानिक परिसीमाएं प्रशासी निकायों के विरुद्ध हैं, यह बताते हैं कि एक ओर राजनैतिक सोसाइटी या राज्य और दूसरी ओर प्रशासी निकायों के बीच क्या अन्तर है। यह लेखक समझता है कि किसी प्रभुत्वसम्पन्न संगठित राजनैतिक सोसाइटी के विरुद्ध किसी व्यक्ति को सिवाय उन अधिकारों के, जो सोसाइटी ने प्रदान किए हों कोई भी कानूनी अधिकार प्राप्त नहीं हैं। राष्ट्रीय प्रभुत्व (नैशनल सोवरिंग्नटी) का सिद्धान्त यह है कि फेडरल तथा राज्य सरकारों के बीच शक्तियों का वर्तमान वितरण जिन लोगों ने किया है वही उसे तब्दील कर सकते हैं। संशोधन को विधानमण्डलों के हाथ में छोड़ देने का कारण यह है कि सुविधा की दृष्टि से सामान्यतः विधानमण्डल ही जनता की इच्छा व्यक्त कर सकते हैं। संविधान में जनता उस रीति को विहित कर देती है जिसमें वे संशोधन करेंगे। मैकगोवनी का कहना है कि किसी कानून विशेष के संशोधन से प्रायः ऐसा परिवर्तन अभिप्रेत है जो उस कानून के विषय के साथ सुसंगत हो। राष्ट्र के शासन में कोई भी परिवर्तन संविधान के साथ सुसंगत है। इसलिए शक्ति के वितरण को बदलने वाला कोई भी परिवर्तन लिखत के प्रयोजनों के साथ सुसंगत होगा। मैकगोवनी का मत यह है कि यह स्पष्ट है कि सुसंगति के आवश्यक होने की इस संकल्पना का मतलब यह नहीं लगाया जा सकता कि संशोधन की शक्ति पर कोई बन्धन है।

महान्यायवादी ने 30 येल लॉ जर्नल पृष्ठ 321 और उसके आगे दिए गए डब्ल्यू० एफ० डाड के विचारों की बाबत एक लेख और 16 वर्जीनिया लॉ रिव्यू, पृष्ठ 647 और उसके आगे दिए गए एच० डब्ल्यू० टैफ्ट के विचारों की बाबत एक लेख का भी आश्रय लिया है। डाड का मत यह है कि संशोधन की शक्ति पर अन्तर्निहित बन्धन कोई नहीं हैं। सुप्रीम कोर्ट ने नैशनल प्रोहिबिशन वाले मामलों में उन दलीलों को नामंजूर कर दिया जो अन्तर्निहित बन्धनों के पक्ष में पेश की गई थीं। संशोधन के अर्थ को सीमित करने या अन्तर्निहित बन्धनों को स्वीकार करने का नतीजा केवल यही नहीं होगा कि संशोधन की शक्ति का उपयोग सीमित हो जाएगा बल्कि उसका नतीजा यह भी होगा कि हर मामले में संशोधन की शक्ति के प्रश्न का निपटारा न्यायिक विनिश्चय पर निर्भर रहेगा और उसके पथ प्रदर्शन के लिए कोई विधिक सिद्धान्त भी नहीं होगा। टैफ्ट का विचार है कि इस कारण कि दसवें संशोधन में यह उपबन्ध किया गया है कि जो शक्तियां 'संविधान द्वारा संयुक्त राज्य अमरीका को प्रत्यायोजित नहीं है और न राज्यों को दिए जाने पर कोई प्रतिषेध उसके द्वारा लगाया गया है, वे क्रमशः राज्यों के लिए और जनता के लिए आरक्षित हैं, अमरीका के संविधान के अनुच्छेद 5 में उल्लिखित संशोधन की शक्ति दसवें संशोधन द्वारा सीमित नहीं है।

अमरीका के संविधान के पांचवें अनुच्छेद के सम्बन्ध में जो प्रश्न उठा है वह यह है कि क्या संशोधन करने की शक्ति पर कोई अन्तर्निहित परिसीमा है। दो स्पष्ट

परिसीमाएं इस प्रकार हैं। पहली यह कि कोई भी संशोधन, जो 1808 के पहले का हो, प्रथम अनुच्छेद की नवम धारा के पहले और चौथे खण्डों को किसी भी रीति में प्रभावित नहीं करेगा। यह परिसीमा समय बीतने के साथ-साथ समाप्त हो गई है। दूसरी स्पष्ट परिसीमा यह है कि किसी भी राज्य को सीनेट में उसके समान प्रतिनिधित्व (सफ्रेज) से, उसकी सम्मति के बिना वंचित नहीं किया जाएगा। स्पष्ट परिसीमा, सीनेट के अन्दर छोटे-छोटे राज्यों के समान प्रतिनिधित्व को सुरक्षित रखना है। इस परिसीमा में परिवर्तन, राज्यों की सर्वसम्मति से ही किया जा सकता है।

अट्ठारहवें संशोधन पर नेशनल प्रोहिबिशन वाले मामलों में की गई जोरदार आपत्ति का आधार यह था कि संविधान में संशोधन करने की शक्ति पर लगाई गई तथाकथित विवक्षित परिसीमाओं का उसमें अतिलंघन किया गया है। उसके समर्थन में जो दलीलें दी गई वे इस प्रकार हैं—पहली यह कि अट्ठारहवां संशोधन, जिसके द्वारा मद्य निषेध लागू किया गया, वास्तव में संशोधन नहीं था, क्योंकि संशोधन तो उसका विकल्प या सुधार है जो संविधान में पहले से मौजूद हो और इस शब्द का आशय यह नहीं है कि शक्ति के नितान्त नवीन अनुदान भी उसके अन्तर्गत आ जाएं। दूसरी दलील यह दी गई कि यह संशोधन संविधान के अर्थ में संशोधन नहीं है, क्योंकि यह संशोधन अपनी प्रकृति से विधान है और यह कि संविधान का संशोधन सरकार की शक्तियों को ही प्रभावित कर सकता है और व्यक्तियों के अधिकारों पर उसका कोई प्रत्यक्ष प्रभाव नहीं हो सकता। तीसरी यह कि संविधान के सब भागों में नाश न होने वाले राज्यों से मिल कर बना एक नाश न होने वाला राष्ट्र प्रकल्पित है। संशोधन की शक्ति परिवर्तन तथा सुधार के प्रयोजन के लिए दी गई थी और संघ के मूलभूत आधार में परिवर्तन करने का कोई भी प्रयास पांचवें अनुच्छेद द्वारा प्रत्यायोजित शक्ति के परे है। नेशनल प्रोहिबिशन वाले मामलों का विनिश्चय यह है कि संविधान में संशोधन करने की शक्ति पर इसके सिवाय कोई भी बन्धन नहीं है कि राज्य को सीनेट में उसके समान प्रतिनिधित्व से उसकी सम्मति के बिना वंचित नहीं किया जा सकता।

र्होड आइसलैण्ड बनाम पलमार(1) में अट्ठारहवें संशोधन को यह चुनौती दी गई थी कि वह अनुच्छेद 5 की परिधि में नहीं है। र्होड आइसलैण्ड वाले मामले का विनिश्चय यह था कि यह संशोधन विधिमान्य है। र्होड आइसलैण्ड वाले मामले(1) में आपत्ति का आधार यह था कि यह संशोधन स्वरूप से विधायी, नैसर्गिक अधिकारों की अवहेलना तथा दोहरे प्रभुत्व के मूलभूत सिद्धान्तों का अतिक्रमण है, किन्तु इन दलीलों को नामंजूर कर दिया गया।

हॉक्स बनाम स्मिथ(2) में एक प्रश्न यह उठा कि क्या नेशनल प्रोहिबिशन के रूप में ज्ञात अट्ठारहवें संशोधन का अनुसमर्थन करने वाली ओहियो महासभा की कार्यवाही को राज्य-संविधान के उपबन्धों के अधीन राज्य के निर्वाचकों के पास भेजा सकता है। अभिनिर्धारित यह किया गया था कि राज्य के ये उपबन्ध संयुक्त राज्य अमरीका के संविधान के साथ असंगत हैं। न्यायालय का विनिश्चय सर्वसम्मति से किया गया

(1) 253 यू० एस० 350=64 लॉयर्स इडिशन 947.
(2) 253 यू० एस० 221=64 लॉयर्स इडिशन 871.

विनिश्चय था। संविधान के अनुच्छेद 5 द्वारा विहित अनुसमर्थन के दो ढंगों में से एक तीन-चौथाई राज्यों के विधानमण्डलों द्वारा किया जाने वाला अनुसमर्थन और दूसरा उतने ही राज्यों में कन्वेन्शनों द्वारा किया जाने वाला अनुसमर्थन है। अनुसमर्थन का ढंग नियत करना, संविधान द्वारा विनिर्दिष्ट रूप से प्रदत्त राष्ट्रीय शक्ति का उपयोग है। यह शक्ति कांग्रेस को प्रदान की गई है। अनुच्छेद 5 के सम्बन्ध में यह अभिनिर्धारित किया गया कि यह स्पष्ट है और उसके निर्वचन में किसी प्रकार के संदेह की गुंजाइश नहीं है। बुद्धिमानी से काम लेते हुए, अनुसमर्थन के ढंग के चुनाव के बारे में अनेक राज्यों में परस्पर विरोधी कार्रवाई नहीं होने दी गई।

लेसर बनाम गारनेट(1) में एक बार फिर, एक दावा दायर किया गया जिसका उद्देश्य मतदाताओं के रजिस्टर से औरतों के नामों को इस आधार पर काट देना था कि राज्य संविधान के अनुसार प्रतिनिधित्व पुरुषों तक ही सीमित है तथा फेडरल संविधान के उन्नीसवें संशोधन को विधिमान्य रूप में अंगीकृत नहीं किया गया था। उन्नीसवें संशोधन में कहा गया था कि नागरिकों को उनके मताधिकार से लिंगभेद के आधार पर वंचित नहीं किया जाएगा। दलील यह दी गई कि संशोधन की शक्ति का इतना विस्तार नहीं किया जा सकता कि यह स्थिति उसके अन्तर्गत आ जाए। उस मामले में सुप्रीम कोर्ट ने उस दलील को नामंजूर कर दिया। सुप्रीम कोर्ट ने कहा कि संशोधन की प्रस्थापना विषयक कांग्रेस के कृत्य के समान ही, फेडरल संविधान में प्रस्थापित संशोधन का अनुसमर्थन करने का राज्य विधानमण्डल का कृत्य भी फेडरल संविधान से व्युत्पन्न फेडरल कृत्य है और इसकी राह की बाधा कोई ऐसे बन्धन नहीं बन सकते हैं जिनको अधिरोपित करने का प्रयास जनता द्वारा किया गया हो।

यूनाइटेड स्टेट्स बनाम स्प्रेग(2) में एक दलील यह दी गई कि दसवें संशोधन ने यह माना है कि राज्यों के लिए आरक्षित शक्तियों तथा जनता के लिए आरक्षित शक्तियों के बीच अन्तर है और वह यह कि राज्य विधानमण्डल राज्य के लिए आरक्षित शक्तियां ही राष्ट्रीय सरकार को प्रत्यायोजित करने के लिए सक्षम हैं। जनता के लिए आरक्षित शक्तियों के प्रत्यायोजन के लिए विभिन्न राज्यों में कन्वेन्शनों के रूप में होने वाली सार्वजनिक कार्रवाई अपेक्षित है। अठारहवां संशोधन चूंकि बाद वाली किस्म का है इसलिए यह दलील दी गई कि राज्य विधानमण्डलों द्वारा अनुसमर्थन अविधिमान्य है। सुप्रीम कोर्ट ने इस दलील को नामंजूर कर दिया। उसने यह अभिनिर्धारित किया कि अनुच्छेद 5 की भाषा इतनी स्पष्ट है कि उसका अर्थ इस प्रकार नहीं किया जा सकता जिससे विवक्षा द्वारा उसमें किसी अपवाद की गुंजाइश पैदा हो जाए।

रहोड आइलैण्ड बनाम पलमार(3), हॉक्स बनाम स्मिथ(4), लेसर बानम गारनेट(1) तथा यूनाइटेड स्टेट्स बनाम स्प्रेग(2) वाले फैसलों में से सभी इस मत की नजीरें हैं कि

---

(1) 258 यू० एस० 130.
(2) 282 यू० एस० 716.
(3) 253 यू० एस० 350.
(4) 253 यू० एस० 221.

संशोधन करने की शक्ति के लिए कोई भी विवक्षित परिसीमा नहीं है। अट्ठारहवें संशोधन को इस आधार पर चुनौती दी गई कि साधारण विधि, सांविधानिक संशोधन के रूप में प्रस्तुत नहीं की जा सकती और यह कि कांग्रेस कोई भी ऐसा संशोधन सांविधानिक रूप से प्रस्थापित नहीं कर सकती जिसमें राज्य की प्रभुत्व विषयक शक्तियों का प्रयोग या उनका परित्याग हुआ हो। उन्नीसवें संशोधन पर आक्षेप इससे भी सीमित आधार पर किया गया जो यह था कि जिस राज्य ने संशोधन का अनुसमर्थन नहीं किया है वह सीनेट में अपने समान प्रतिनिधित्व से वंचित हो जाएगा क्योंकि उस संस्था में उसके प्रतिनिधि ऐसे व्यक्ति होंगे जो उसके चुने हुए नहीं हैं। सुप्रीम कोर्ट ने इन दलीलों को यह कह कर नामंजूर कर दिया कि ये ध्यान देने योग्य नहीं हैं और यह अभिनिर्धारित किया कि दोनों संशोधन विधिमान्य हैं।

श्री पालखीवाला ने यह कहा कि अनुच्छेद 368 में 'संशोधन' शब्द का अर्थ, परन्तुक में आए 'उपबन्धों में परिवर्तन' शब्दों के अनुसार ही लगाया जाएगा। अमरीका के निर्णय बताते हैं कि किस प्रकार सुप्रीम कोर्ट ने अपने संविधान के अनुच्छेद 5 में 'संशोधन' शब्द के अर्थ को, विधानमण्डलों या कन्वेन्शनों द्वारा अनुसमर्थन के प्रति निर्देश का बहाना ले कर सीमित करने के प्रयास, निरन्तर नामंजूर किया है। जहां शब्दों को उनके अपने प्रसंग में ग्रहण किया जाता है, वहां विवक्षा का कोई प्रश्न ही नहीं उठता है क्योंकि प्रसंग से वे अंश अभिप्रेत हैं जो किसी विशेष पैरे या पाठ के पहले या बाद में आते हैं और उसके अर्थ को निश्चित करते हैं।

साहचर्येणज्ञायते (*noscitur a sociis*) नियम का अर्थ यह है कि जहां ऐसे दो या अधिक शब्द एक साथ आए हों जिनके मिलते-जुलते अर्थ हों वहां यह समझा जाता है कि उनका प्रयोग उनके सजातीय अर्थ में किया गया है। वे एक दूसरे के अर्थों को प्रभावित करते हैं और जो शब्द अधिक व्यापक होते हैं उनके अर्थ को उसी अर्थ तक सीमित रखा जाता है जो कम व्यापक शब्द के अर्थ के सदृश हो।

देखा यह गया है कि यह नियम अमरीका के संविधान के अनुच्छेद 5 पर लागू नहीं होता है क्योंकि कन्वेन्शन तथा विधानमण्डल, दोनों ही विचार-विमर्शी निकाय हैं और यदि कोई संशोधन कांग्रेस के आत्यन्तिक विवेक (ऐब्सोल्यूट डिस्क्रीशन) के अनुसार राज्यों के विधानमण्डलों या कन्वेन्शनों के पास भेजा जा सकता है तो यह कहना कठिन है कि उस संशोधन के स्वरूप पर उस तन्त्र का किसी प्रकार प्रभाव पड़ता है जिसके द्वारा उस संशोधन का अनुसमर्थन किया जाना है। रहोड आइसलैण्ड वाले मामले([1]) में यह दलील नामंजूर कर दी गई कि संविधान के संशोधन का अनुसमर्थन कन्वेन्शनों द्वारा कराया जाना चाहिए, न कि विधानमण्डलों द्वारा। स्प्रेग वाले मामले([2]) में यह दलील नहीं मानी गई कि नागरिकों की स्वतन्त्रता को प्रभावित करने वाले विषयों का अनुसमर्थन केवल कन्वेन्शनों द्वारा ही किया जा सकता है और सुप्रीम कोर्ट ने यह मानने से इन्कार कर दिया कि अमरीका के संविधान के अनुच्छेद 5 का कोई निहितार्थ है। सुप्रीम कोर्ट ने कहा कि अनुच्छेद 5 की भाषा के स्पष्ट होने के बावजूद, न्यायालय से कहा गया कि वह उस विवेक में जो उसे कांग्रेस के

([1]) 282 यू० एस० 716.

([2]) 253 यू० एस० 350—64 लॉयर्स एडिशन 947.

द्वारा प्रदान किया गया है, एक बन्धन की गुंजायश पैदा करें। सुप्रीम कोर्ट ने एक भी अन्तर्निहित परिसीमा नहीं मानी। जहां आशय स्पष्ट है वहां अर्थान्वयन की कोई गुंजायश ही नहीं है और न अन्तर्वेशन (इण्टरपोलेशन) या परिवर्धन के लिए कोई बहाना हो सकता है'। फोमनस्पेन बनाम बोडीन(1) में यह कहा गया था कि जब जनता ने संशोधन की शक्ति अपने प्रतिनिधियों को प्रत्यायोजित कर दी, तो संशोधन की शक्ति का अपवर्जन उस द्वारा विहित रीति से भिन्न किसी रीति में या वहां पर बताए गए साधन से भिन्न किसी साधन द्वारा नहीं किया जाएगा।

श्री पालखीवाला ने कनाडा के कुछ निर्णयों का आश्रय तीन प्रस्थापनाओं के समर्थन में लिया। वे निर्णय इनिशिएटिव एण्ड रेफरेण्डम(2), स्विट्समैन बनाम एल्बलिंग(3), रैंकस बनाम हेस(4), सामूर बनाम सिटी ऑफ क्यूबेक एण्ड अटर्नी जनरल ऑफ क्यूबेक(5) तथा कैंबोट बनाम स्कूल कमिश्नर्स ऑफ लामोरेण्डियर एण्ड अटर्नी जनरल फॉर क्यूबेक(6) हैं। पहली प्रस्थापना यह है कि कनाडा की डोमीनियन पार्लियामेण्ट की असीम विधायी अधिकारिता, ब्रिटिश नार्थ अमरीका ऐक्ट की प्रस्तावना के कारण जो यह कहती है कि यह संविधान सिद्धान्ततः उसी प्रकार का है जैसा कि यूनाइटेड किंगडम का अन्तर्निहित परिसीमा के अधीन है। दूसरी प्रस्थापना यह है कि डोमीनियन विधानमण्डल वाक्-स्वातन्त्र्य तथा राजनैतिक संगम (पोलिटीकल एसोसिएशन) के ऐसे आधारभूत अधिकारों को कम नहीं कर सकता है जो यूनाइटेड किंगडम में उपलब्ध हैं। तीसरी प्रस्थापना यह है कि जिन अधिकारों की जड़ें नैसर्गिक विधि में हैं, वे ऊपर से लादी गई विधि (पाजिटिव लॉ) द्वारा छीने नहीं जा सकते हैं।

इनिशिएटिव एण्ड रेफरेण्डम वाले मामले (2) में जुडीशियल कमेटी ने यह कहा है कि ब्रिटिश नार्थ अमरीका ऐक्ट ने किसी भी प्रान्त में विधायी शक्ति उसके विधानमण्डल को ही तथा उसके विधानमण्डल मात्र को सौंपी है। कनाडा के प्रान्तीय विधानमण्डल को प्राप्त कोई भी विधायी शक्ति, स्वयं अपनी सामर्थ्य को यथावत् बनाए रखते हुए, अधीनस्थ अभिकरणों की सहायता ले सकती है जिस प्रकार कि हॉज बनाम क्वीन(7) में यह अभिनिर्धारित किया गया था कि ओण्टेरियो के विधानमण्डल को यह हक है कि वह विनियम बनाने का प्राधिकार, बोर्ड ऑफ कमिश्नर्स को सौंप दे। इसका मतलब यह नहीं है कि ऐसा विधानमण्डल किसी विधायी शक्ति को उत्पन्न कर सकता है और अपनी शक्ति उसको विन्यस्त कर सकता है। इनिशिएटिव एण्ड रेफरेण्डम वाले मामले(2) में यह स्वीकार किया गया था कि स्पष्ट तथा असंदिग्ध भाषा का प्रयोग,

(1) 264 एफ० 186.
(2) (1919) ए० सी० 935.
(3) (1957) कनाडा लॉ रिपोर्ट्स 285.
(4) (1949) 4 डोमिनियन लॉ रिपोर्ट 199.
(5) (1953) 4 डी० एल० आर० 641.
(6) (1958) 12 डी० एल० आर० 796.
(7) 9 अपील केसेज 117.

यदि न किया गया हो तो जो शक्ति, क्राउन का प्रत्यक्ष प्रतिनिधित्व करने वाले व्यक्ति द्वारा क्राउन को प्राप्त हो, उसका निराकरण नहीं किया जा सकता है। ब्रिटिश नार्थ अमरीका ऐक्ट के अधीन, जिससे बी० एन० ए० ऐक्ट कहा गया है, लैफ्टीनेण्ट गवर्नर, विधानमण्डल का अविभाज्य (इण्टिग्रल) अंग था। यह देखा गया है कि इनीशिएटिव एण्ड रेफरेण्डम ऐक्ट ऐसा है जिसने लैफ्टीनेण्ट गवर्नर को विधायी प्राधिकार से पूर्णतः अलग कर दिया है। इनिशिएटिव एण्ड रेफरेण्डम ऐक्ट द्वारा परिरक्षित निषेध तथा नामंजूरी (वीटो एण्ड डिसअलाउएन्स) की एकमात्र शक्तियों का सम्बन्ध विधान सभा के अधिनियमों के साथ है, न कि विधेयकों के साथ। इसलिए निषेध तथा नामंजूरी की शक्तियां, बी० एन० ए० ऐक्ट की धारा 90 के अधीन, गवर्नर-जनरल की ही, न कि लैफ्टीनेण्ट गवर्नर की शक्तियां हो सकती हैं, जो विधेयक के अधिनियम बन जाते ही समाप्त हो जाती हैं। ऐक्ट की धारा 11 में यह उपबन्ध किया गया था कि यदि किसी विधि के निरसन की प्रस्थापना का अनुमोदन, मतदान करने वाले विधायकों के बहुमत द्वारा कर दिया गया हो तो राजपत्र में प्रकाशन के पश्चात् 30 दिन की समाप्ति पर वह विधि अपने आप ही निरसित समझी जाएगी। इस प्रकार प्रतीत यह होता है कि लैफ्टीनेण्ट गवर्नर को विधायी प्राधिकार से बिल्कुल अलग कर दिया गया है। इनिशिएटिव एण्ड रेफरेण्डम वाले मामले([1]) का सम्बन्ध पहले तो विधानमण्डल के अधिनियम के साथ और फिर उस अधिनियम के अधिकारातीत होने के कारण बी० एन० ए० ऐक्ट के उपबन्धों के एक साथ था। संविधान के संशोधन विषयक शक्ति के साथ इसका कोई संबंध नहीं है। उस अधिनियम को अविधिमान्य इसलिए घोषित किया गया था कि जो व्यवस्था (मशीनरी) उसमें विधियां बनाने के लिए की गई थी, वह बी० एन० ए० ऐक्ट द्वारा स्थापित व्यवस्था के प्रतिकूल थी। आक्षेपित अधिनियम द्वारा किसी विधि को, जो मतदाताओं के पास भेजी जा चुकी हो, वास्तविक विधि बनने से रोक दिया जाए, इसके लिए, उस दशा में जिसमें कि वह विधि मतदाताओं द्वारा अनुमोदित कर दी गई हो। लैफ्टीनेण्ट-गवर्नर को शक्तिहीन कर दिया गया है। आक्षेपित अधिनियम ने बी० एन० ए० ऐक्ट द्वारा गठित विधानमण्डल से भिन्न विधानमण्डल स्थापित किया और ऐसा करने की शक्ति विधानमण्डल को नहीं थी।

कनाडा के अन्य विनिश्चय तीन अभिप्रायों पर आधारित है। पहला बी० एन० ए० ऐक्ट की प्रस्तावना पर आधारित है जिसमें यह कहा गया है कि प्रान्तों ने एक डोमिनियन में संगठित होने की इच्छा व्यक्त की है और वे चाहते हैं कि उनका संविधान वैसा ही हो जैसा कि यूनाइटेड किंगडम का है। इस प्रस्तावना से निकलने वाला अनुसिद्धान्त (कारोलरी) यह है कि, बी० एन० ए० ऐक्ट की प्रस्तावना तथा इंग्लैण्ड के सांविधानिक इतिहास के प्रति किए गए निर्देश के कारण, न तो पार्लियामेण्ट और न प्रान्तीय विधानमण्डल परम्परागत स्वतंत्रताओं का अतिक्रमण कर सकते हैं। दूसरा अभिप्राय जो इन विनिश्चयों में व्यक्त किया गया है यह है कि आधारभूत स्वतन्त्रताएं बी० एन० ए० ऐक्ट की कतिपय धाराओं में विवक्षित रूप में प्रत्याभूत (गारण्टीड) हैं। धारा 17 कनाडा के लिए पार्लियामेण्ट की स्थापना करती है। धारा 50

([1]) (1919) एस० सी० 935.

यह उपबन्ध करती है कि कोई भी हाउस ऑफ कॉमन्स पांच साल से अधिक अस्तित्वशील नहीं रहेगा। कनाडा के विनिश्चयों में इन धाराओं का अर्थ यह लगाया गया है कि वाक्-स्वातन्त्र्य तथा राजनैतिक संगम की स्वतन्त्रता कायम रहनी चाहिए। तीसरा अभिप्राय यह है कि कुछ अधिकारों की जड़ें नैसर्गिक विधि में हैं और ऐसे अधिकार ऊपर से लादी गई विधि द्वारा छीने नहीं जा सकते हैं।

पहला अभिप्राय स्विट्जमैन वाले मामले(1) में व्यक्त किया गया है। एक ऐक्ट ऐसा था जिसका सम्बन्ध साम्यवादी प्रचार के साथ था। बहुमत वाले न्यायाधीशों ने यह निर्णय किया कि यह विषय बी० एन० ए० ऐक्ट की धारा 92 द्वारा प्रान्त को सौंपी गई शक्तियों के अन्तर्गत नहीं आता है। इसके अतिरिक्त उन्होंने यह अभिनिर्धारित किया कि यह ऐक्ट, कनाडा में स्थापित लोकतन्त्रात्मक शासन के अधीन अनिवार्य वाक् तथा अभिव्यक्ति स्वातन्त्र्य में अनुचित हस्तक्षेप है। कनाडा इलैक्शन्स ऐक्ट तथा बी० एन० ए० ऐक्ट ने यह उपबन्धित किया कि संसद् का निर्वाचन हर पांच साल के बाद तथा संसद् का अधिवेशन वर्ष में एक बार किया जाए। दलील यह दी गई कि राजनैतिक, आर्थिक तथा सामाजिक सिद्धान्तों की आलोचना, उनके सम्बन्ध में वाद-विवाद तथा उन पर विचार-विमर्श का उम्मीदवारों का अधिकार, सब विधानों में अन्तर्निहित है।

हैस वाले मामले(2) में जमानत मंजूर करने की बाबत न्यायालय की अधिकारिता का प्रश्न उठा था। क्रिमिनल कोड की धारा 1025ए के अधीन किसी व्यक्ति को निरुद्ध किया गया था। धारा 1025ए में यह उपबन्ध किया गया था कि किसी भी अभियुक्त को अटर्नी जनरल के सामने की गई अपील के लम्बित रहने तक जमानत के बिना निरोध में रखा जा सकता है।

सामूर वाला मामला(3) ऐसी नगरपालीय उप-विधि के बारे में था जिसके अनुसार शहर की सड़कों पर पुस्तकों तथा ट्रैक्टों के वितरण के लिए इजाजत लेना आवश्यक था। सामूर वाले मामले में मुख्य न्यायाधीश डफ के उस कथन का आश्रय लिया गया जो उन्होंने एलबर्टा लेजिस्लेशन(4) वाले मामले में किया था और जिसके अनुसार सार्वजनिक विषयों पर स्वतन्त्रतापूर्वक सार्वजनिक चर्चा का अधिकार संसदीय संस्थाओं की जान है।

शैबोट वाले मामले(1) में क्यूबेक प्रान्त के सार्वजनिक स्कूलों का संचालन ऐसे करदाताओं द्वारा निर्वाचित स्कूल-कमिश्नरों के हाथ में था जिनमें से अधिकांश कैथोलिक थे। किसी भिन्न धर्मावलम्बी करदाता ने यह सवाल उठाया कि क्या यह सम्भव है कि भिन्न धर्मावलम्बी जन स्वयं अपने स्कूल स्थापित कर लें या अपने बच्चों को पड़ोस की किसी नगरपालिका वाले स्कूल में भेज दें और ऐसा होने पर वे कर देने से मुक्त हो जाएं। बहुमत ने यह अभिनिर्धारित किया कि कैथोलिक कमेटी द्वारा पारित कुछ विनियम ऐसे हैं जो अधिकारातीत (इण्ट्रा वायरस) हैं क्योंकि उनके बारे में समझा यह जाना चाहिए कि वे कैथोलिक बच्चों तक ही सीमित हैं।

---

(1) 1957 कनाडा लॉ रिपोर्ट्स 285.

(2) (1949) 4 डोमीनियन लॉ रिपोर्ट 199.

(3) (1953) 4 डी० एल० आर० 641.

(4) (1938) 2 डी० एल० आर० 81=(1938) एस० सी० आर० 100 (कनाडा)

कनाडा के विनिश्चयों से पहली बात यह मालूम होती है कि कुछ न्यायाधीशों ने बी० एन० ए० ऐक्ट की प्रस्तावना का आश्रय इस बात के लिए लेते हुए कि कनाडा का संविधान सिद्धान्त रूप में वैसा ही है जैसा कि यूनाइटेड किंगडम का, वाक्-स्वातन्त्र्य सम्बन्धी कुछ विधानों की अधिकारिता (वायरस) का प्रश्न उठाया। दूसरी बात यह मालूम होती है कि कनाडा का संविधान ब्रिटिश पार्लियामेण्ट का बनाया हुआ था और यदि न्यायाधीशों ने, जो ऐसी उक्तियां (डिक्श) पेश किया करते थे, प्रस्तावना के उस भाग का हवाला दिया, तो उनका आग्रह यह था कि कनाडा की जनता के अधिकार वैसे ही हैं जैसे कि इंग्लैण्ड की जनता के। तीसरी बात यह मालूम होती है कि यह बात याद रखने की है कि कनाडा का संविधान, प्रचलन (यूसेज) तथा परिपाटी (कन्वेन्शन्स) से विकसित हुआ है।

इन विनिश्चयों में से किसी भी विनिश्चय का सम्बन्ध संविधान के संशोधन के साथ नहीं है। उनमें से किसी भी विनिश्चय से यह नहीं प्रकट होता है कि संविधान के संशोधन पर कोई अन्तर्निहित बन्धन है। बी० एन० ए० ऐक्ट की प्रस्तावना यह बताती है कि कनाडा के संविधान ने इंग्लैण्ड की सांविधानिक परिपाटी (कांस्टिट्यूशनल प्रेक्टिस) के मौलिक सिद्धान्तों का अनुपालन व्यादिष्ट किया है। कनाडा के संविधान का विकास ऐसे प्रचलन तथा परिपाटी से हुआ है। हमारा संविधान एक प्रभुत्वसम्पन्न स्वतन्त्र गणतंत्रात्मक देश का संविधान है। हमारा संविधान किसी भी अन्य संविधान से न तो बल प्राप्त करता है और न वह विदेशों की परम्पराओं और सिद्धान्तों पर आधारित है।

ब्रिटिश नार्थ अमरीका ऐक्ट में स्पष्ट रूप में प्रत्याभूत स्वतन्त्रताएं कोई नहीं थीं। कनाडा के सिविल स्वतन्त्रता विधान में सांविधानिक प्रश्न केवल इतना है कि क्या अमुक अतिलंघन या अभिवृद्धि विशेष, यथास्थिति डोमीनियन या प्रान्त की क्षमता के अन्दर है। धारा 92(13) में आए 'प्रान्त में सिविल अधिकार, वाक्यांश को छोड़ दिया जाए तो, धारा 91 और 92 में एक शब्द भी ऐसा नहीं है जो सिविल स्वातन्त्र्य विषयक मूल्यों को थोड़ा भी व्यक्त करता हो।

1960 में अनुमति-प्राप्त कैनेडियन बिल ऑफ राइट्स की धारा 2 में यह कहा गया है कि जब तक कि कनाडा के पार्लियामेण्ट के किसी ऐक्ट द्वारा यह बात स्पष्ट रूप में घोषित न की गई हो कि कनाडा की कोई विधि कैनेडियन बिल ऑफ राइट्स में किसी बात के होते हुए भी प्रवृत्त होगी, वहां की हर विधि का अर्थान्वयन इस प्रकार किया जाएगा तथा वह ऐसे लागू की जाएगी जिससे कि मान्यता-प्राप्त तथा घोषित स्वातन्त्र्य अधिकारों में से किसी का भी न तो निराकरण हो, न वह कम किया जाए, न उनका अतिलंघन हो और न उनका निराकरण कम किया जाना अथवा अतिलंघन प्राधिकृत किया जाए। कैनेडियन कांस्टिट्यूशन लॉ (तृतीय संस्करण) (1969) में लास्किन का मत है कि जहां तक विधायी शक्ति के निबन्धनों का प्रश्न है, राजनैतिक स्वतन्त्रताएं ऐसे स्वतन्त्र सांविधानिक महत्वों को व्यक्त करती हैं, जो अनन्य रूप से फेडरेशन को सौंपे गए हैं। कैनेडियन बिल ऑफ राइट्स का अधिनियमन जब से हुआ है तब से इस प्रश्न का कोई महत्व नहीं रहा, क्योंकि कनाडा की संसद्, बिल ऑफ राइट्स की धारा 2 के निबन्धनों के अनुसार यह घोषित कर सकती है कि बिल ऑफ राइट्स में उपवर्णित किसी स्वतन्त्रता का निराकरण करने वाली विधि प्रवर्तन में है।

([1]) (1958) 12 डी० एल० आर० 796.

श्री पालखीवाला, ने, इस प्रस्थापना के समर्थन में कि संशोधन की शक्ति पर अन्तर्निहित तथा विवक्षित परिसीमाएं हैं, टेलर बनाम अटॉर्नी जनरल ऑफ क्वीन्सलैण्ड(1) तथा विक्टोरिया बनाम क्वीन्सलैण्ड(2) में आस्ट्रेलियन विनिश्चय का आश्रय लिया।

टेलर वाले मामले(1) में पार्लियामेण्टरी बिल्स रेफरेण्डम ऐक्ट, 1908 को चुनौती दी गई थी। पार्लियामेण्टरी बिल्स रेफरेण्डम ऐक्ट में यह उपबन्ध किया गया था कि जब दो क्रमवर्ती सत्रों में विधान सभा द्वारा पारित कोई विधेयक विधान परिषद् द्वारा उन्हीं दो सत्रों में नामंजूर कर दिया गया हो तो वह लोकमत-संग्रह द्वारा निर्वाचकों के पास भेजा जा सकता है और यदि वह उनके द्वारा अनुमोदित हो जाता है तो हिज मैजिस्टि की अनुमति के लिए वह गवर्नर के सामने पेश किया जाएगा और ऐसी अनुमति के प्राप्त होने पर और इसके प्रतिकूल कोई विधि होते हुए भी, वह विधेयक उसी रीति में संसद् का अधिनियम हो जाएगा मानो वह संसद् के दोनों सदनों द्वारा पारित कर दिया गया हो। आस्ट्रेलियन स्टेट्स कांस्टिट्यूशन ऐक्ट, 1907 में यह उपबन्ध किया गया है कि यदि गवर्नर को अनुमति प्रदान करने के बारे में हिज मैजिस्टि के अनुदेश पहले ही प्राप्त हो चुके हैं और वह विधेयक को तदनुसार अनुमति प्रदान कर देता है तो किसी भी राज्य के विधानमण्डल द्वारा पारित किसी विधेयक पर हिज मैजिस्टि की अनुमति अंकित कराने के लिए उसे आरक्षित करना आवश्यक नहीं होगा।

सन् 1915 में, क्वीन्सलैण्ड की विधान सभा (लेजिसलेटिव असेम्बली) ने विधान परिषद् (लेजिसलेटिव काउन्सिल) का उत्सादन करके क्वीन्सलैण्ड का संविधान संशोधित करने के लिए एक विधेयक पारित किया। वह विधेयक विधान सभा द्वारा पारित कर दिया गया। विधान परिषद् ने विधेयक को नामंजूर कर दिया। विधान सभा ने उस विधेयक को फिर पारित कर दिया। विधान परिषद् ने उस विधेयक को फिर नामंजूर कर दिया। गवर्नर ने पार्लियामेण्टरी बिल्स रेफरेण्डम ऐक्ट, 1908 के अनुसार लकोमत-संग्रह कराने का उपबन्ध करने वाले विनियम जारी कर दिए। इस मामले में यह बहस की गई कि यहां पर आवश्यक यह था कि पहले संविधान को संशोधित किया जाता।

न्यायालय के मत के लिए रखे गए प्रश्न इस प्रकार थे—(1) क्या संविधान (संशोधन) अधिनियम, 1908 [कांस्टिट्यूशन (अमेण्डमेण्ट) ऐक्ट, 1908] संसद् का विधिमान्य तथा प्रभावी अधिनियम है? (2) संसदीय विधेयक लोकमत-संग्रह अधिनियम, 1908 (पार्लियामेण्टरी बिल्स रेफरेण्डम ऐक्ट, 1908) संसद् का विधिमान्य अथवा प्रभावी अधिनियम है? (3) क्या पार्लियामेण्टरी बिल्स रेफरेण्डम ऐक्ट, 1908 के उपबन्धों के अनुसार पारित अधिनियम द्वारा क्वीन्सलैण्ड की विधान परिषद् को उत्सादित करने की शक्ति है? (4) क्या लोकमत-संग्रह विधिमान्य था?

औपनिवेशिक विधियों की विधिमान्यता अधिनियम, 1865 (कालोनियल लॉज वैलिडिटी ऐक्ट, 1865) ने धारा 5 में हर प्रतिनिधि विधानमण्डल को ऐसे विधानमण्डल के गठन, उसकी शक्तियों तथा उसकी प्रक्रिया के बारे में विधियां बनाने की पूरी-पूरी

(1) 23 सी० एल० आर० 457.

(2) 45 आस्ट्रेलिया लॉ जर्नल, 251.

शक्ति प्रदान की है, परन्तु यह तब जब कि ऐसी विधियां ऐसी रीति में तथा ऐसे रूप में पारित की गई हों जैसी कि उक्त उपनिवेश में तत्समय प्रवृत्त संसद् के किसी अधिनियम, लैटर्स पेटेन्ट, सपरिषद् आदेश (आर्डर इन काउन्सिल) या औपनिवेशिक विधियों द्वारा अपेक्षित हो। पार्लियामेण्टरी बिल्स रेफरेंडम ऐक्ट के बारे में यह अभिनिर्धारित किया गया कि यह ऐक्ट विधानमण्डल की शक्तियों से सम्बन्ध रखने वाला अधिनियम है। इस विधान के लिए उक्त प्राधिकार का उपबन्ध कालोनियल लॉज वैलिडिटी ऐक्ट की धारा 5 द्वारा किया गया था।

श्री पालखीवाला ने टेलर वाले मामले(1) से तीन प्रस्थापनाओं का प्रतिपादन किया। पहली यह कि सम्भवतः ऐसे विधानमण्डल के गठन, उसकी शक्ति तथा प्रक्रिया के बारे में विधेयक बनाने की शक्ति इतनी नहीं है कि वह विधानमण्डल के प्रतिनिधिक स्वरूप का विलोपन ऐक्ट के अर्थों में प्राधिकृत कर सके (पृष्ठ 468 न्या० वार्टन के अनुसार)। दूसरी यह कि विधानमण्डल का प्रतिनिधिक स्वरूप सम्भवतः उस शक्ति की आधारभूत शर्त है जिसका आश्रय लिया गया है और उसका परिरक्षण संविधान में "ऐसे विधानमण्डल का" शब्द समूह में "ऐसे" शब्द द्वारा किया गया है (पृष्ठ 447 न्यायाधिपति इवान्स के अनुसार)। तीसरी यह कि जब किसी औपनिवेशिक विधानमण्डल को उस विधानमण्डल के संविधान तब्दील करने की शक्ति दी जाती है तो उसे इस आधारभूत संकल्पना के अध्यधीन समझा जाना चाहिए कि जैसी कि साम्राज्य रूपी संगठन की प्रकृति है उसके साथ सुसंगतता को ध्यान में रखते हुए ऐसी शक्ति की परिधि में क्राउन नहीं आता है (पृष्ठ 474 न्यायाधीश इवान्स के अनुसार)।

टेलर वाले मामले(1) में विनिश्चय यह किया गया था कि इन ऐक्टों ने न तो विधानमण्डल के कालोनियल लॉज वैलिडिटी ऐक्ट, 1865 की धारा 1 में यथा परिभाषित प्रतिनिधिक स्वरूप को तब्दील किया है और न उन्होंने क्राउन की स्थिति पर ही कोई प्रभाव डाला है। पहली दो प्रस्थापनाओं के पहले, जिनका आश्रय श्री पालखीवाला ने लिया है, अर्थात् न्यायाधिपति वार्टन तथा न्यायाधिपति इवान्स दोनों के मत (पृष्ठ 468 तथा पृष्ठ 474) "सम्भवतः" शब्द से आरम्भ होते हैं जिससे यह साफ जाहिर होता है कि यह मत इतरोक्ति (आबिटर) है। इस प्रश्न का कोई निपटारा करने की आवश्यकता ही नहीं थी कि विधानमण्डल का प्रतिनिधिक स्वरूप बदला जा सकता है या नहीं या यह कि क्राउन का विलोपन किया जा सकता है या नहीं। अन्य विद्वान् न्यायाधीश कावन उफी तथा रिच का कहना था कि "यह हो सकता है कि विधानमण्डल सदा ही कि वह कानून में यथा परिभाषित प्रतिनिधिक विधानमण्डल बना रहे, किन्तु प्रस्तुत मामले में यह तय करना आवश्यक नहीं है कि ऐसी बात है या नहीं।"

न्यायाधीश इवान्स ने उस मामले में यह अभिनिर्धारित किया कि "विधानमण्डल" शब्द के अन्तर्गत क्राउन नहीं है क्योंकि कालोनियल्स लॉज वैलिडिटी ऐक्ट की धारा 7 ने यह दिखाने के लिए कि विधानमण्डल में क्राउन सम्मिलित नहीं है, "विधानमण्डल" शब्द के बाद ही "या ऐसे विधानमण्डल के रूप में तत्समय कार्यशील व्यक्तियों या व्यक्ति-निकायों द्वारा" शब्दों का प्रयोग किया है। इस प्रकार क्वीन या गवर्नर की अनुमति को

(1) 23 सी० एल० आर० 457.

एक फालतू तत्व के रूप में समझा जाता था। इसलिए न्यायाधीश. इवाक्स का कहना था कि जब औपनिवेशिक विधानमण्डल को संविधान बदलने की शक्ति दी जाती है तो उसे इस आधारभूत संकल्पना के अध्यधीन समझना चाहिए कि ऐसी शक्ति की परिधि में क्राउन सम्मिलित नहीं है। ये बातें कालोनियल लॉज वैलिडिटी ऐक्ट के उपबन्धों के प्रसंग में कही गई थीं जहां "उपनिवेश" की परिभाषा इस प्रकार की गई है जिससे "हर मैजिस्टि के अधिकृत समस्त समुद्र-पार स्थान" उसके अन्तर्गत आ जाएं। इस कथन का अभिप्राय इसलिए यह है कि संविधान को बदलने की शक्ति जब किसी ऐसे उपनिवेश को प्रदान की जाती है जो हर मैजिस्टि के अधिकृत समुद्र-पार क्षेत्रों का भाग है तो यह मान लेना युक्तियुक्त है कि उपनिवेशिक विधानमण्डल के भाग के रूप में क्वीन का विलोपन करने की शक्ति ऐसी शक्ति के अन्तर्गत नहीं है।

विधानमण्डल के प्रतिनिधिक स्वरूप के साथ संशोधन की शक्ति पर अन्तर्निहित परिसीमाओं का कोई सिद्धान्त अन्तर्ग्रस्त नहीं है। जैसा कि न्यायाधिपति इवाक्स ने जोर देकर कहा है ऐसे विधानमण्डल से प्रकट होता है कि संशोधन की शक्ति पर लगाई गई परिसीमा, कालोनियल लॉज वैलिडिटी ऐक्ट की धारा 5 की स्पष्ट भाषा का परिणाम है और उसका आधार किसी अन्तर्निहित अर्थ नहीं है।

स्टेट ऑफ विक्टोरिया वाले मामले (1) में पे-रोल टैक्स ऐक्ट, 1941 की विधिमान्यता को इस आधार पर चुनौती दी गई थी कि वह कॉमनवैल्थ की विधायी क्षमता के परे है। पे-रोल टैक्स असेसमेण्ट ऐक्ट, 1941-69 ने विक्टोरिया राज्य के उन कर्मचारी संवर्गों को, जिनके नाम दिए गए थे, देय मजदूरी पर कर देने का दायित्व, क्राउन पर रखा था। यह अभिनिर्धारित किया गया था कि कॉमनवैल्थ पार्लियामेण्ट कराधान के बारे में विधियां बनाने के लिए संविधान की धारा 51 (ii) के अधीन अपनी शक्तियों का प्रयोग करते हुए, किन्तु इस प्रकार कि वह राज्यों या राज्यों के भागों के बीच विभेदकारी न हों, इस बात के लिए सक्षम है कि वह कर अधिरोपित करने वाली या कर के निर्धारण का उपबन्ध करने वाली विधि के प्रवर्तन के समय राज्य अधिकार में क्राउन को भी सम्मिलित कर ले। पे-रोल टैक्सेशन असेसमेण्ट ऐक्ट 1941-69 की धारा 3(1) में "नियोजक" की परिभाषा में राज्य अधिकार में क्राउन को सम्मिलित करना और इस प्रकार विशुद्ध रूप से शासकीय कृत्यों में संलग्न विभागों के कर्मचारियों को सम्मिलित करते हुए, कर्मचारियों को दी गई मजदूरी के बारे में राज्य-अधिकार के नाते क्राउन को कर देने के लिए जिम्मेदार बनाना भी संविधान की धारा 51 के अधीन कॉमनवैल्थ शक्ति का विधिमान्य प्रयोग माना गया है। संविधान की धारा 114 राज्य की सम्पत्ति पर कॉमनवैल्थ द्वारा किसी कर के अधिरोपण को प्रतिषिद्ध करती है। इस प्रतिषेध को भंग नहीं किया गया। जिस विधि ने किसी राज्य या उसकी शक्तियों या शासन के कृत्यों को सारवान रूप में अपना विषय बनाया हो, वह अविधिमान्य है, क्योंकि उसका समर्थन विधायी शक्ति के किसी भी अनुदान के आधार पर नहीं किया जा सकता, किन्तु संविधान के अधीन कॉमनवैल्थ की विधायी शक्ति पर ऐसा कोई अन्तर्निहित बन्धन नहीं है जो संविधान की फेडरल प्रकृति से उत्पन्न होता हो। तीन विद्वान् न्यायाधीशों के

(1) 45 आस्ट्रेलिया लॉ जर्नल, 251.

मत के अनुसार कोई भी ऐसा अनिवार्य निहितार्थ नहीं है जो कॉमनवैल्थ को विधि बनाने से रोकता हो। चार अन्य विद्वान् न्यायाधीशों ने यह अभिनिर्धारित किया है कि, कॉमनवैल्थ विधायी शक्ति के अभाव में, विवक्षित बन्धन तो है किन्तु इस ऐक्ट ने ऐसे किसी बन्धन की अवहेलना नहीं की है।

जिस बन्धन को स्वीकार करने का सुझाव दिया गया था वह यह था कि यदि कॉमनवैल्थ विधिक राज्यों के विरुद्ध इस अर्थ में प्रभेद की नीति अपनाता है कि उसने उन पर कोई विशेष भार या निर्योग्यता थोप दी है, तो वह दूषित है, जिससे कि उसको ऐसी विधि कहा जा सकता है जिसका लक्ष्य उन पर निर्बन्धन लगाना या उन्हें नियंत्रण में रखना हो।

एक आस्ट्रेलियाई मामले में मुख्य न्यायाधिपति लाथम ने यह कहा कि आस्ट्रेलियाई संविधान के अर्थान्वयन के आधारभूत सिद्धान्त अमेलगमेटेड सोसाइटी ऑफ इन्जीनियर्स बनाम एडलायड स्टीमशिप कम्पनी लिमिटेड (1) में निश्चित रूप से कथित किया गया था, जिसमें यह बात साफ शब्दों में नामंजूर कर दी गई थी कि संविधान के साधारण नियमों के अनुसार किसी राज्य के प्रसंग में कॉमनवैल्थ की विधायी शक्ति के प्रयोग के विरुद्ध संविधान में कोई अन्तर्निहित प्रतिषेध है।

विवक्षित तथा अन्तर्निहित परिसीमाओं के सिद्धान्त के समर्थन में श्री पालखीवाला ने आयरलैण्ड के कुछ मामलों का आश्रय लिया है।

रैयन वाले मामले में, (1935 आयरिश रिपोर्ट्स 170) आयरिश संविधान के अनुच्छेद 50 के संशोधन की, विधिमान्यता पर जो 1922 का था विचार किया जाना था। अनुच्छेद 50 में यह उपबन्ध किया गया था कि संशोधन संविधान के प्रारम्भ से आठ वर्ष के अन्दर साधारण विधान द्वारा किया जाए। वही संशोधन 8 वर्ष की समाप्ति के पश्चात् लोकमत-संग्रह द्वारा किया गया। अनुच्छेद 50 में दूसरा उपबन्ध यह था कि संशोधन संविधान के "अनुच्छेद 147 के उपबन्धों के अध्यधीन होगा"। अनुच्छेद 47 में, किसी विधेयक को कुछ दशाओं में 90 दिन की अवधि तक निलम्बन में रखने के लिए तथा यदि ऐसी मांग की जाए तो इस प्रकार निलम्बित किसी विधेयक को लोकमत-संग्रह के लिए भेजने के लिए उपबन्ध किए गए थे एक संशोधन अधिनियम द्वारा 1928 में वह निर्देश निरसित कर दिया गया। जो अनुच्छेद 47 के प्रति किया गया था। 8 वर्ष की समाप्ति के पहले, 1929 में संविधान का संशोधन किया गया जिसके द्वारा 8 वर्ष की अवधि को बदल कर 16 वर्ष कर दिया गया। इन दोनों संशोधनों की पुष्टि की गई। इस संशोधन को दो आधारों पर चुनौती दी गई, पहला यह कि संविधान के बहुत से अनुच्छेद इतने मूलभूत हैं कि उनमें कोई परिवर्तन नहीं किया जा सकता और दूसरा यह कि अनुच्छेद 50 इन मूलभूत अनुच्छेदों में कोई भी तब्दीली प्राधिकृत नहीं करता है।

मूरा और कुछ अन्य बनाम अटर्नी जनरल फॉर दि आयरिश फ्री स्टेट और कुछ अन्य (2) में जुडीशियल कमेटी का विनिश्चय लिखित संविधान में संशोधन की शक्ति

(1) (1920) 28 सी० एल० आर० 129.

(2) (1935) ए० सी० 434.

विषयक संशोधन के प्रश्न पर बहुत प्रकाश डालता है। आयरिश फ्री कांस्टिट्यूशन ऐक्ट, 1922 के साथ अनुच्छेद के रूप में संलग्न संधि तथा कांस्टिट्यूएण्ट ऐक्ट, जो इम्पीरियल ऐक्ट का ही अंश थे, यूनाइटेड किंगडम के कानूनों में सम्मिलित थे। संधि के पहले खण्ड में यह उपबन्ध किया गया था कि ब्रिटिश साम्राज्य के नाम से ज्ञात राष्ट्र-मण्डल में आयरलैण्ड की वही सांविधानिक हैसियत होगी जो डोमिनियम ऑफ कनाडा, कॉमनवैल्थ ऑफ आस्ट्रेलिया, डोमिनियन ऑफ न्यूज़ीलैण्ड तथा यूनियन ऑफ साऊथ अफ्रीका की थी और उसकी भी एक पार्लियामेण्ट होगी जिसे आयरलैण्ड की शान्ति व्यवस्था तथा सुशासन के लिए विधियां बनाने की शक्ति होगी, उस संसद् (पार्लियामेण्ट) के प्रति उत्तरदायी एक कार्यपालिका होगी तथा उसका नामादि आयरिश फ्री स्टेट होगा और वह इसी नाम से ज्ञात होगी। उस सन्धि के दूसरे खण्ड में यह उपबन्ध किया गया है कि क्राउन तथा क्राउन के तथा इम्पीरियल पार्लियामेण्ट के प्रतिनिधि के डोमिनियम ऑफ कनाडा के साथ सम्बन्धों पर लागू होने वाली विधि, पद्धति तथा सांविधानिक प्रथा, आयरिश फ्री स्टेट के साथ उनके सम्बन्धों को भी लागू होगी। संविधान के अनुच्छेदों में से, अनुच्छेद 12 ने एज़ाल्तोस (आयरलैण्ड की संसद्) नाम से ज्ञात एक विधानमण्डल स्थापित किया और आयरिश फ्री स्टेट की शान्ति-व्यवस्था तथा सुशासन के लिए विधियां बनाने की एकल तथा अनन्य शक्ति एज़ाल्तोस में निहित थी।

अनुच्छेद 50 में यह उपबन्ध किया गया था कि संविधान में संशोधन अनुसूची के रूप में संलग्न सन्धि के निबन्धनों के अनुसार, एज़ाल्तोस द्वारा किए जा सकेंगे। अनुच्छेद 66 में यह उपबन्ध किया गया था कि उच्च न्यायालय के सब विनिश्चयों के विरुद्ध अपीलीय अधिकारिता आयरिश फ्री स्टेट के सुप्रीम कोर्ट को प्राप्त होगी तथा सुप्रीम कोर्ट का विनिश्चय अन्तिम और निश्चयात्मक होगा। उस अनुच्छेद के परन्तुक में यह कहा गया था कि सुप्रीम कोर्ट के विरुद्ध सपरिषद् हिज़ मैजिस्टि के सामने अपील करने के विशेष इजाज़त के लिए हिज़ मैजिस्टि के सामने पिटीशन प्रस्तुत करने के किसी व्यक्ति के अधिकार को, संविधान की किसी बात से कोई क्षति नहीं पहुंचने दी जाएगी। सन्धि के अनुच्छेद को प्रभावशील बनाने के लिए अनुच्छेद 66 का परन्तुक अन्तःस्थापित किया गया था और इसलिए संविधान के अनुच्छेद 50 के अधीन यह कहा गया कि अनुच्छेद 66 के परन्तुक में संशोधन उस तरह से नहीं किया जाएगा जैसे कि अपील के अधिकार को समाप्त करके उसे संशोधित करने का प्रयास किया गया। अनुच्छेद 50 में एक अन्य परिसीमा यह थी कि संशोधन सन्धि के निबन्धनानुसार उसके खण्ड 2 द्वारा किए जा सकेंगे परन्तु यह तब जब कि इम्पीरियल पार्लियामेण्ट के साथ सम्बन्ध वैसे ही हों जैसे कि कनाडा की संसद् के साथ थे। "सन्धि के निबन्धनानुसार" शब्द संशोधन अधिनियम, (1933 का 6) द्वारा निकाल दिए गए। तत्पश्चात् संशोधन अधिनियम, 1933 का 22 पास कर दिया गया जिसके द्वारा प्रिवी काउन्सिल में अपील का अधिकार निराकृत कर दिया गया।

मूरा वाले मामले(1) में जुडीशियल कमेटी ने यह कहा कि श्री विलफ्रिड ग्रीन ने पिटीशनरों की ओर से यह ठीक ही स्वीकार किया है कि 1929 का अमेण्डमेण्ट ऐक्ट सं० 16, जिसने अनुच्छेद 50 में विनिर्दिष्ट 8 वर्ष के स्थान पर, जिसके अन्दर संशोधन

---

(1) (1935) एस० सी० 434.

लोकमत-संग्रह के बिना ही किया जा सकता था, 16 वर्ष की अवधि प्रतिस्थापित कर दी, नियमित था और यह कि पश्चात्वर्ती संशोधनों की विधिमान्यता पर आपत्ति इस आधार पर नहीं की जा सकती है कि वे लोकमत-संग्रह के लिए जनता के पास नहीं भेजे गए।

उस मामले में श्री ग्रीन ने यह दलील दी कि संविधान-सभा का अस्तित्व उस काम के पूरा होने के पश्चात् नहीं रहा और न उसने अपना कोई उत्तराधिकारी या ऐसा प्राधिकार-सम्पन्न कोई निकाय छोड़ा जो संविधान अधिनियम को संशोधित करने की क्षमता रखता हो। वास्तव में तर्क यह था कि वह संविधान एक अर्द्धनम्य (सेमी-रिजिड) संविधान था अर्थात् ऐसा संविधान था जिसके विभिन्न अनुच्छेदों का विस्तार के साथ संशोधन उनके अपने निबन्धनों के अनुसार किया जा सकता था। किन्तु जिसमें संविधान अधिनियम विषयक कोई तब्दीली तब तक नहीं की जा सकती थी, जब तक कि वह आयरलैण्ड की जनता द्वारा एक नई संविधान सभा आहूत करके न की जाए। रेयन वाले मामले([1]) में आयरलैण्ड के सुप्रीम कोर्ट के विनिश्चय के प्रति जुडीशियल कमेटी द्वारा निर्देश किया गया था। जुडीशियल कमेटी ने यह अभिनिर्धारित किया कि एआरुतोस को संविधान अधिनियम (कांस्टिट्यूएण्ट ऐक्ट) को निरसित या संशोधित करने की शक्ति थी और इम्पीरियल स्टेट्यूट के कुछ अंश अर्थात् आयरिश फ्री स्टेट कांस्टिट्यूशन ऐक्ट, 1922 को निरसित या संशोधित करके एआरुतोस ने जो कुछ किया उसके सम्बन्ध में यह समझा जाना चाहिए कि वह उसी रीति में किया गया जिस एकमात्र रीति में ही अर्थात् कानून द्वारा दी गई शक्तियों के आधार से वह विधिक रूप से किया जा सकता था। प्रिवी काउन्सिल के समक्ष होने वाली अपीलों का समाप्त किया जाना विधिमान्यपूर्ण संशोधन था।

श्री पालखीवाला ने अन्तर्निहित तथा विवक्षित परिसीमाओं के सिद्धान्त को साबित करने के लिए लियांगे बनाम क्वीन([2]) के विनिश्चय का भी आश्रय लिया था। 1962 में सिलोन की संसद् द्वारा पारित क्रिमिनल लॉ अमेण्डमेण्ट ऐक्ट में क्रिमिनल प्रोसीजर कोड (दण्ड प्रक्रिया संहिता) का सारभूत उपान्तरण था। ऐसे अपराध वर्ग का विस्तार करके जिसके सम्बन्ध में न्याय मन्त्री द्वारा नामनिर्देशित तीन न्यायाधीशों द्वारा जूरी विहीन विचारण का आदेश दिया जा सकता था, राज्य के विरुद्ध अपराध करने का संदेह जिस व्यक्ति पर हो ऐसे किसी व्यक्ति के 60 दिन तक निरोध का भूतलक्षी प्रभाव वाला (एक्स पोस्ट फैक्टो) विधान बनाया गया क्वीन के विरुद्ध युद्ध चलाने के लिए वारण्ट के बिना गिरफ्तारी अनुज्ञेय हो गई उस अपराध के लिए और क्वीन के विरुद्ध युद्ध चलाने की साजिश (कांस्पिरेसी) के लिए तथा शासन को आपराधिक बल द्वारा आतंकित करने के लिए न्यूनतम शास्तियां विहित कर दी गईं और उस अपराध का विस्तार बढ़ाकर पुलिस के सामने की गई कुछ स्वीकारोक्तियों तथा बयानों के, जो साक्ष्य संहिता के अधीन अग्राह्य थे, साक्ष्य में ग्रहण किए जाने के लिए भी उपबन्ध इस ऐक्ट में कर दिया गया। यह कहा गया था कि अधिनियम का भूतलक्षी प्रभाव होगा जिससे 27 जनवरी, 1962 को की गई हुकूमत का तख्ता उलटने की असफल साजिश भी जिसमें लियांगे तथा अन्य व्यक्तियों ने भाग लिया था उसके अन्तर्गत आ जाए और ऐक्ट के प्रारम्भ की तारीख को या उसके

([1]) (1935) आयरिश रिपोर्ट्स 170.
([2]) (1967) 1 ए० सी० 259.

निकट, जो भी पश्चात्वर्ती हो, किए गए राज्य के विरुद्ध किसी अपराध के साथ संसक्त या उसकी प्रासंगिक सब विधिक कार्यवाहियों के समाप्त हो जाने के बाद वह प्रवर्तन में नहीं रहेगा। द्वितीय क्रिमिनल लॉ अमेण्डमेण्ट ऐक्ट, 1962 (1962 का 31) ने तीन न्यायाधीशों को नामनिर्देशित करने वाले व्यक्ति के रूप में न्याय मंत्री के स्थान पर मुख्य न्यायाधिपति को प्रतिस्थापित कर दिया किन्तु पूर्ववर्ती अधिनियम के अन्य उपबन्धों को यथावत रहने दिया।

सिलोन की सुप्रीम कोर्ट ने अपीलार्थियों को सिद्धदोष ठहराया और उन्हें 10 वर्ष का, जो क्रिमिनल लॉ अमेण्डमेण्ट ऐक्ट (1962 का 1) द्वारा विहित न्यूनतम अवधि थी, कठिन कारावास का दण्ड दिया।

प्रिवी काउन्सिल ने उस विधान को दो आधारों पर अधिकारातीत अभिनिर्धारित किया। इन अधिनियमों को इस आधार पर चुनौती नहीं दी जा सकती थी कि ये न्याय के मूल भूत सिद्धान्तों के प्रतिकूल हैं। कालोनियल लॉज वैलीडिटी ऐक्ट, 1865 के बाद, जिसमें यह उपबन्ध किया गया था कि कालोनियल लॉज जहां तक कि वे यूनाइटेड किंगडम के किसी ऐक्ट के प्रतिकूल हों वहां तक शून्य समझा जाना चाहिए और उन्हें इस आधार पर शून्य नहीं समझा जाना चाहिए कि वे इंग्लैण्ड की विधि के प्रतिकूल हैं, किसी अस्पष्ट तथा अनिश्चित नैसर्गिक न्याय की विधि की प्रतिकूलता का बन्धन शेष नहीं रहा। सिलोन इण्डिपेण्डन्स ऐक्ट, 1947 द्वारा सिलोन की संसद् को प्रभुत्व सम्पन्न स्वतन्त्र राज्य को सम्पूर्ण विधायी शक्तियां प्रदान कर दी गई। इन ऐक्टों को इसलिए दूषित घोषित किया कि उनमें न्यायिक शक्तियों पर विधानमण्डल का ऐसा अनाधिकृत कब्जा तथा अतिलंघन था जो सिलोन के लिखित संविधान के साथ असंगत था। न्यायिक शक्ति के निधान (वेस्टिंग) के सम्बन्ध में सिलोन के संविधान का मौन इस आशय के साथ असंगत था कि वह कार्यपालिका या विधानमण्डल के पास या उन दोनों के हाथ में रहे। निर्णयाधार (रेशो ऑफ दि डिसीडन्डि) यह है कि न्यायिक शक्ति पर विधानमण्डल अनाधिकृत रूप से कब्जा में नहीं कर सकता है। रिपोर्ट के पृष्ठ 289 पर यह कहा गया है कि सिलोन संविधान की धारा 29(1), जो संसद् को विधान पास करने की शक्ति देती है, विधि को इतनी सामर्थ्य प्रदत्त नहीं करती है कि वह न्यायपालिका की न्यायिक शक्ति पर अनधिकृत रूप से कब्जा कर ले। जुडीशियल कमेटी ने उस प्रश्न का उत्तर, जो इस सम्बन्ध में पूछा गया था कि यदि संसद् दो-तिहाई बहुमत से पहले संविधान का संशोधन करने के बाद, ऐसा यही काम करना चाहे तो स्थिति क्या होगी, यह कह कर दिया कि ऐसी स्थिति वहां पैदा नहीं हुई थी और यदि कोई ऐक्ट सिलोन संविधान की धारा 29(4) के अनुपालन के बिना पारित किया जाता है तो वह अधिकारातीत होगा। जुडिशियल कमेटी ने यह निष्कर्ष निकाला कि सिलोन संविधान की धारा 29(4) के अधीन कोई भी संशोधन तभी किया जा सकता है जब परन्तुक का पालन किया गया हो जो यह बताएगा कि रीति तथा प्ररूप क्या हो न कि शक्ति के विस्तार पर कोई परिसीमा हो। सिलोन वाला मामला संशोधन विषयक शक्ति पर विवक्षित या अन्तर्निहित परिसीमा वाली प्रस्थापना के लिए कोई नजीर नहीं है।

लियांगे वाले मामले(1) में प्रिवी काउन्सिल ने यह दलील नामंजूर कर दी कि "ब्रिटिश विधि के मूल सिद्धान्त" वाली अनिश्चित तथा अस्पष्ट पदावली का हवाला देकर सिलोन विधायी शक्तियों को कम कर देना चाहिए। यह तय करने में कि सिलोन के संविधान में क्या विधानमण्डल तथा न्यायपालिका के परस्पर पृथक्करण के लिए उपबन्ध है, प्रिवी काउन्सिल ने इसका कोई उल्लेख नहीं किया कि परिणाम क्या होंगे बल्कि इतना ही कहा कि विधानमण्डल तथा न्यायपालिका से सम्बद्ध उपबन्ध संविधान के दो अलग-अलग भागों में दिए गए हैं। अनन्य रूप से न्यायाधीशों से मिल कर बने ऐसे प्रायोग द्वारा, जिसमें किसी विधायक (लैजिस्लेटर) को सदस्य बनाने के विरुद्ध प्रतिषेध था, अधीनस्थ न्यायपालिका की नियुक्ति सम्बन्धी उपबन्धों और इसके अतिरिक्त उस उपबन्ध के बारे में कि जुडीशियल कमेटी के विनिश्चय को प्रभावित करने का कोई भी प्रयास दाण्डिक अपराध है, जुडीशियल कमेटी द्वारा यह अभिनिर्धारित किया गया था कि उनसे यह प्रकट होता है कि आशय यह था कि न्यायपालिका को विधानमण्डल तथा कार्यपालिका से पृथक् रखा जाए। यह निष्कर्ष अधिनियम के उपबन्धों के यथावत् अर्थान्वयन पर आधारित था। परिणामों के प्रति निर्देश दूसरे प्रसंग में किया गया था। प्रिवी काउन्सिल ने यह स्वीकार किया कि आक्षेपित विधि में एक गम्भीर असाधारण स्थिति के बारे में कार्रवाई का उपबन्ध किया था और वे यह मानने के लिए तैयार थे कि विधानमण्डल का यह विश्वास था कि उस ऐक्ट को अधिनियमित करने की उसे शक्ति थी।

करियाप्पर वाले मामले(2) में एक बार फिर जुडीशियल कमेटी ने सिलोन अधिनियम पर विचार किया जो सिलोन संविधान के साथ असंगत था। अधिनियम ने किसी ऐसे व्यक्ति पर जिसको यह ऐक्ट लागू हो 7 वर्ष तक सिविल निरर्हताएं अधिरोपित की थी और संसद्-सदस्य के रूप में स्थान को रिक्ति के लिए उपबन्ध कर दिया था। सिलोन संविधान की धारा 29(4) में "संशोधन या निरसन" शब्दों से जुडीशियल कमेटी ने यह अर्थ निकाला कि किसी असंगत अधिनियम द्वारा किया गया कोई संशोधन या निरसन उसके अन्तर्गत है। संशोधन तथा निरसन शब्द मात्र का संदिग्ध अर्थ लगाने की कोई गुंजाइश नहीं थी।

हमारे संविधान की सारभूत तत्वों में, न कि मर्म में संशोधन करने की शक्ति की पुष्टि, इस सिद्धान्त पर करके कि जो भी परिवर्तन करना हो उसे लोकमत-संग्रह द्वारा केवल जनता ही कर सकती है, "संशोधन" शब्द के अर्थ पर विवक्षित तथा अन्तर्निहित परिसीमाओं के सिद्धान्त का हमारे संविधान में समावेश करना, संविधान का प्रारूपण फिर से करना है। राणासिंघे(3) तथा करियाप्पर वाले मामले(2) में किए विनिश्चय, दो प्रस्थापनाओं की नजीरें हैं। पहली यह कि संशोधन की शक्ति का प्रयोग करते हुए, किसी नियंत्रित संविधान को अनियन्त्रित संविधान में बदला जा सकता है और दूसरी यह कि "संशोधन" शब्द से परिवर्तन अभिप्रेत है। इब्रालीब वाले मामले(4) में जुडीशियल कमेटी ने यह कहा कि यदि सिलोन का विधानमण्डल प्रिवी काउन्सिल के समक्ष

---

(1) (1967) 1 ए० सी० 259.
(2) (1968) ए० सी० 717.
(3) (1965) ए० सी० 172.
(4) (1964) ए० सी० 900.

होने वाली अपील का निराकरण कर देता है तो यह न्यायपालिका विषयक गठन का संशोधन होगा।

श्री पालखीवाला ने मंगल सिंह बनाम भारत संघ[1] में विनिश्चय का आश्रय इस प्रस्थापना के समर्थन में लिया है कि संशोधन विषयक शक्ति विवक्षित परिसीमा के अध्यधीन है। संविधान का अनुच्छेद 4, जिसका निर्वचन मंगल सिंह वाले मामले[1] में किया गया था, अनुच्छेद 2 और 3 के साथ पढ़ा जाना है। अनुच्छेद 4 में संशोधन की शक्ति अनुच्छेद 2 और 3 में विदित किसी विधि को प्रभावी करने के लिए प्रथम अनुसूची और चतुर्थ अनुसूची में जो संशोधन आवश्यक हों उन संशोधनों तक तथा अनुपूरक प्रासंगिक और आनुषंगिक उपबन्धों तक सीमित शक्ति है। न्यायाधिपति शाह ने मंगल सिंह वाले मामले[1] में यह कहा था कि जो शक्ति संसद् को अनुच्छेद 2 और 3 द्वारा दी गई है वह राज्यों के प्रवेश या स्थापना या उन्हें विरचित करने की शक्ति है या ऐसे नए राज्यों को प्रवेश देने, स्थापित करने की जो संविधान द्वारा परिकल्पित लोकतन्त्रात्मक पैटर्न के अनुकूल हों, न कि सांविधानिक स्कीम पर अध्यारोही होने की शक्ति है। यह स्पष्ट है कि जब अनुच्छेद 2 और 3 के अनुसार कोई नया राज्य बनाया जाता है तो अनुच्छेद 4 के अधीन ऐसा संशोधन किया ही जाएगा जैसा कि उसे प्रभावी करने के लिए आवश्यक है। ऐसा संशोधन सांविधानिक स्कीम पर अध्यारोही प्रभाव नहीं रखता है। यह सीमित प्रकार की संशोधन विषयक शक्ति है और संविधान द्वारा यथा अनुध्यात किसी राज्य के प्रवेश, स्थापना या उसकी विरचना की अनुपूरक, प्रासंगिक या आनुषंगिक है। इस विनिश्चय में यह नहीं कहा गया है कि संशोधन की शक्ति की बाबत कोई विवक्षित परिसीमाएं हैं।

पिटीशनर ने संविधान (पच्चीसवां संशोधन) अधिनियम की वैधता तथा विधिमान्यता को चुनौती दी है।

संविधान (पच्चीसवां संशोधन) अधिनियम ने पहला काम यह किया कि अनुच्छेद 31(2) को संशोधित किया, दूसरा यह कि अनुच्छेद 31(2क) बढ़ा दिया और तीसरा यह कि अनुच्छेद 31ग पुर:स्थापित किया। अनुच्छेद 31(2) दो बातों में संशोधित किया गया है। पहली यह कि अर्जित या अधिगृहीत सम्पत्ति के लिए "प्रतिकर" शब्द के स्थान पर "राशि" शब्द रख दिया गया है। दूसरी यह कि यह उपबन्ध किया गया है कि अर्जन या अधिग्रहण विधि पर इस आधार पर आपत्ति नहीं की जाएगी कि ऐसी पूरी राशि या उसका कोई भाग नकद न दिया जा कर अन्यथा दिया जाना है। अनुच्छेद 31(2ख) अन्त:स्थापित करके यह कहा गया है कि अनुच्छेद 19 के खण्ड (1) के उपखण्ड (च) की कोई बात किसी ऐसी विधि पर प्रभाव नहीं डालेगी जो खण्ड (2) में निर्दिष्ट है।

अनुच्छेद 31ग यह कहता है कि अनुच्छेद 13 में किसी बात के होते हुए भी, कोई विधि, जो अनुच्छेद 39 के खण्ड (ख) या खण्ड (ग) में उल्लिखित तत्वों को

---

(1) (1967) 2 एस० सी० आर० 109.

सुनिश्चित करने के लिए राज्य की नीति को प्रभावी करने वाली हो, इस आधार पर शून्य न समझी जाएगी कि वह अनुच्छेद 14, अनुच्छेद 19 या अनुच्छेद 31 द्वारा प्रदत्त अधिकारों में से किसी से असंगत है अथवा उसे छीनती या न्यून करती है; और जिस विधि में यह घोषणा हो कि वह ऐसी नीति को प्रभावी करने के लिए है, उस पर किसी न्यायालय में इस आधार पर आपत्ति नहीं की जाएगी कि वह ऐसी नीति को प्रभावी नहीं करती। इसमें यह उपबन्ध किया गया है कि जहां ऐसी विधि किसी राज्य के विधानमंडल द्वारा बनाई जाए वहां इस अनुच्छेद के उपबन्ध उसे तब तक लागू न होंगे जब तक कि ऐसी विधि को, राष्ट्रपति के विचार के लिए आरक्षित किए जाने के पश्चात्, उसकी अनुमति न मिल गई हो।

बुनियादी मतभेद वास्तव में सम्पत्ति के अधिकार तथा राज्य द्वारा सम्पत्ति के अधिग्रहण के सम्बन्ध में है। भारत का संविधान भारत के सब नागरिकों को एक ओर राजनैतिक स्वतन्त्रता और दूसरी ओर आर्थिक तथा सामाजिक स्वतन्त्रता प्राप्त कराने के लिए बनाया गया था। संविधान के निदेशक तत्व भी देश के शासन में मूलभूत हैं और विधि बनाने में इन तथ्यों का प्रयोग करना राज्य का कर्त्तव्य है। इस उद्देश्य की प्राप्ति सोसाइटी के आर्थिक तथा सामाजिक ढांचे में तब्दीलियां करके ही की जा सकती है।

सन् 1929, 1931, 1945 में हुए कांग्रेस के संकल्प तथा 22 जनवरी, 1947 को उद्देश्य सम्बन्धी (आब्जेक्टिव) संकल्प तथा 1947 में हुई अखिल भारतीय कांग्रेस कार्यकारिणी समिति के संकल्प, पुरानी घटनाओं का स्मरणमात्र नहीं कराते हैं। 1929 में कांग्रेस का संकल्प यह था कि सोसाइटी के आर्थिक तथा सामाजिक ढांचे में क्रांतिकारी परिवर्तन करना और तीव्र विषमताओं को दूर करना आवश्यक है। यह भी संकल्प किया गया था कि राजनैतिक स्वतन्त्रता के अन्तर्गत असंख्य क्षुधा-पीड़ित जनों के लिए आर्थिक स्वतन्त्रता भी होनी चाहिए। ऐसे आर्थिक तथा सामाजिक कार्यक्रम में बुनियादी उद्योगों तथा सेवाओं, खनिज साधनों, रेलों, जलपथों (वाटरवेज), नौवहन तथा लोक परिवहन के अन्य साधनों का स्वामित्व तथा नियंत्रण राज्य के पास रहना है। 1945 में कार्यकारिणी समिति ने यह कहा कि व्यक्तियों तथा समूहों के हाथ में धन तथा शक्ति के केन्द्रीकरण को रोका जाना है। देश को विकसित करके उसे एक सहकारी कॉमनवैल्थ का रूप देने के लिए, खनिज साधनों तथा भूमि सम्बन्धी उत्पादन और वितरण के मुख्य तरीकों और उद्योग का और राष्ट्रीय कार्यकलाप के अन्य विभागों का सामाजिक नियन्त्रण आवश्यक है। जिन उद्योगों की प्रकृति ही ऐसी है कि वे बड़े पैमाने पर और केन्द्रित आधार पर ही चलाए जा सकते हैं। उनके बारे में यह अनुभव किया गया कि वे समुदाय के स्वामित्वाधीन रहें और उनका गठन इस प्रकार का हो कि कर्मकार लाभ में केवल सहभागी ही न हों, बल्कि उद्योग के प्रबन्ध तथा प्रशासन के साथ उनका सहयोग, दिन प्रतिदिन बढ़ता रहे। भूमि तथा उत्पादन एवं वितरण और विनिमय के सब अन्य साधनों पर, समुदाय के ही हित में, उसका अपना स्वामित्व और विनियमन होना चाहिए। संविधान के रचनाकार ऐसा सामाजिक ढांचा चाहते थे जिसमें निजी पूंजीवाद की बटोर लेने वाली अर्थ व्यवस्था (एक्वीज़ीटिव इकानमी) तथा तानाशाही राज्य के सैनिक अनुशासन (रेजीमेण्टेशन ऑफ ए टोटेलीटेरियन स्टेट) के लिए कोई भी स्थान न हो।

इस पृष्ठभूमि में, संविधान की रचना सामाजिक क्रान्ति करने के उद्देश्य से की गई थी। सामाजिक क्रान्ति के प्रति प्रतिबद्धता (कमिटमेण्ट) का मर्म संविधान का भाग 3 और 4 है। उन्हें "संविधान का अन्तःकरण" कहा गया है। भाग 3 का उद्देश्य "मानव शक्ति को, ऐसे वितरण के लिए जिसमें सबका कल्याण हो, समान रूप से मुक्त कराना" था। नागरिकों के कल्याण की जिम्मेदारी राज्य को अपने ऊपर लेनी होगी। निदेशक तत्व, आर्थिक स्वतन्त्रता की घोषणा है जिसका उद्देश्य यह है कि देश का आर्थिक तथा राजनैतिक नियंत्रण हमारे देशवासियों के हाथ में रहे।

श्री पालखीवाला ने कहा है कि मूल अधिकारों का केन्द्र-बिन्दु अनुच्छेद 14, 19 और 31 हैं। यह केन्द्र-बिन्दु सम्पत्ति का अधिकार है। किन्तु निदेशक तत्व भी मूलभूत हैं। वे प्रभावशील तभी हो सकते हैं जब जनकल्याण को आगे बढ़ाने के लिए इन्हें थोड़े से व्यक्तियों के मूल अधिकारों पर अध्यारोही प्रभाव दिया जाए और आर्थिक व्यवस्था का संचालन इस प्रकार न होने दिया जाए जिसमें सामान्य जन का नुकसान हो। सामान्य कल्याण का उन्नयन राज्य का कर्तव्य है। यदि दूसरे लोगों के साथ सहयोग की प्रेरणा देने वाली शक्ति उनके निजी स्वार्थ को आगे बढ़ाने की इच्छा मात्र है, तो वे अपने साथियों को साधन मात्र समझेंगे, साध्य कभी नहीं समझेंगे। सामान्य कल्याण की परिकल्पना की आवश्यकता, युक्तियुक्त स्वार्थपरता तथा परोपकारिता के सिद्धान्तों के बीच का अन्तर स्पष्ट करने के लिए अनुभव की गई। भौतिक साधनों का वितरण इस प्रकार किया जाना है जिससे सामान्य कल्याण को आगे बढ़ाया जाए। भौतिक साधनों को स्वामित्व तथा नियन्त्रण इस प्रकार का हो जो सामान्य कल्याण को आगे बढ़ाए। आर्थिक ढांचे का संचालन ऐसी रीति में किया जाना है जिससे धन का केन्द्रीकरण ऐसा न हो जो सामान्यजन को हानि पहुंचाने वाला हो। इसके अतिरिक्त आर्थिक व्यवस्था का संचालन ऐसी रीति में किया जाना है जिससे उत्पादन के साधनों का प्रयोग सामान्य-जन को नुकसान पहुंचाने वाली रीति में न किया जा सके।

मानव अधिकारों की घोषणा के सम्बन्ध में, जिनका आश्रय श्री पालखीवाला ने यह साबित करने के लिए लिया है कि मूल अधिकार संशोधन-योग्य नहीं है, महान्यायवादी द्वारा यह ठीक ही कहा गया है कि संशोधन विषयक शक्ति के लिए वे न तो रुकावट के रूप में हैं और न उनसे सम्पत्ति के अधिकार की अनतिक्रमणीयता (इनवायोलेबिलिटी) सम्बन्धी पिटीशनर की दलील का समर्थन होता है। महान्यायवादी ने निदेशक तत्वों के सम्बन्ध में यह कहा था कि वे किसी लोकतंत्रात्मक राज्य में सामान्य जन के कल्याण के उन्नयन के प्रयोजन के लिए, लोगों को उनके अधिकार दिलाने तथा मानव गरिमा के लिए आर्थिक और सामाजिक अधिकारों की प्राप्ति कराने के लिए मूलभूत हैं। संविधान के अधीन मूल अधिकारों के उपभोग का दावा हर नागरिक का है। इसी प्रकार हर नागरिक का यह कर्तव्य भी हो जाता है कि वह निदेशक तत्वों को कार्यान्वित करने की इजाजत राज्य को देकर सब नागरिक के मूल अधिकारों तथा सब नागरिकों की गरिमा को प्रभावपूर्ण बनाएं। राज्य का कर्त्तव्य व्यक्तिगत हितों की रक्षा तक ही सीमित नहीं है, बल्कि जहां भी वह निरापद रूप में कार्य कर सकें उन सब मामलों में उसका विस्तार जनकल्याण के कार्यों तक है, और सरकार के कार्यों पर एकमात्र पाबन्दी वही है, जो

समय की मांग के अनुभव से प्रतीत हो। हो सकता है कि किसी भी मूल अधिकार को एक पीढ़ी मूलभूत माने और उसी के बारे में दूसरी पीढ़ी का विचार करे कि यह मूल अधिकार विधायी शक्ति पर असुविधाजनक बन्धन है। लोक प्रभुत्व से यह अभिप्रेत है कि जिस हित को अध्यारोही प्रभाव दिया गया है वह जन-समूह का हित है। यदि अधिकारों का आधार सम्पत्ति ही है तो जिनके पास कोई सम्पत्ति नहीं है उनके कोई अधिकार ही नहीं होंगे। यही कारण है कि राज्य को, व्यक्ति के हित को, सोसाइटी के हित के साथ संतुलित रखना पड़ता है। औद्योगिक लोकतंत्र, राजनीतिक लोकतंत्र का अनिवार्य रूप से पूरक है। राज्य को सोसाइटी के सदस्यों की सेवा, उपभोग का मार्ग प्रशस्त करके करनी पड़ती है। यह काम सामान्य कल्याण के हित में उन अंशों के समाजीकरण द्वारा किया जा सकता है जो समुदाय की समृद्धि के साथ अभिन्न रूप से जुड़े हुए हैं।

अनुच्छेद 31(2) के संशोधन को पिटीशनर द्वारा दी गई चुनौती इस प्रकार है। सम्पत्ति का अधिकार संविधान का सारभूत तत्व है। दूसरे अनेक मूल अधिकारों के साथ उसका चोली दामन का साथ है। यदि प्रकाशक से उसका प्रिंटिंग प्रेस तथा उसका वह भवन, जिसमें वह प्रेस लगा हुआ है, प्रतिकर के बिना छीना जा सकता है तो अनुच्छेद 19(1)(क) के अधीन प्रेस स्वातंत्र्य का अधिकार निरर्थक है। यदि किसी व्यापारी संघ की सम्पत्ति बिना किसी प्रतिकर राज्य द्वारा अर्जित की जा सकती है, तो अनुच्छेद 19(1)(ग) के अधीन व्यापारी संघ (ट्रेड यूनियन) संगठित करने के मूल अधिकार निस्सार हो जाएंगे। यदि किसी नागरिक के दैहिक श्रम के फलस्वरूप हुई शुद्ध बचत, राज्य द्वारा बिना किसी प्रतिकर के अर्जित की जा सकती है तो अनुच्छेद 19(1)(छ) के अधीन कोई वृत्ति, उपजीविका, व्यापार या कारबार करने का अधिकार, राज्य के लिए जबरिया बेगार वसूल करने का अधिकार बन जाएगा। यदि समुदाय के धार्मिक तथा खैराती प्रयोजनों के लिए, समुदाय द्वारा प्रतिपालित संस्थाएं, बिना किसी प्रतिकर के अर्जित की जा सकें तो अनुच्छेद 26 में वर्णित धर्म की स्वतंत्रता बिल्कुल खोखली रह जाएगी। अनुच्छेद 31(2) के परन्तुक में यह विवक्षित है कि सम्पत्ति के अर्जन के लिए राज्य इतनी राशि नियत कर सकता है जितनी से किसी भी अन्य मूल अधिकार को कम किया या छीना जा सके। सम्पत्ति से, प्रतिकर के बिना, वंचित किए जाने का विधिक अर्थ में प्रभाव मूल अधिकारों के प्रयोग पर पड़ेगा। राज्य की इस शक्ति का एकमात्र अपवाद, शैक्षिक संस्था के मामलों में किया गया है, जिसका उपबन्ध परन्तुक में है। अनुच्छेद 31(2), संविधान (पच्चीसवां संशोधन) अधिनियम के फलस्वरूप, राज्य को इस बात के लिए सशक्त करता है कि वह ऐसे आधार पर राशि नियत करे जिनका रहस्योद्घाटन विधानमण्डल के सदस्यों पर भी करने की जरूरत नहीं पड़ेगी और जिनका, अर्जित की जाने वाली सम्पत्ति के साथ, कोई सम्बन्ध होना भी अपेक्षित नहीं है। इस राशि के लिए यह आवश्यक नहीं है कि उसके निर्धारण में प्रतिकर के किसी भी सिद्धान्त का पालन किया गया हो। उसे नगद देने की भी आवश्यकता नहीं है और इतना होने पर भी, उसे कानून की विधिमान्यता को चुनौती देने का आधार नहीं माना जा सकता है। अनुच्छेद 31(2) का सम्पदा, जमींदारियों, भूमि-सम्बन्धी सुधारों या कृषि सम्बन्धी सुधारों के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है जिनका विनिर्दिष्ट उल्लेख अनुच्छेद 31क में किया गया है।

अनुच्छेद 19(1)(च) के अधीन सम्पत्ति के अर्जन, धारण और व्ययन के अधिकार पर अनुच्छेद 19(5) के अधीन सार्वजनिक हित में युक्तियुक्त निर्बन्धन लगाए जा सकते हैं। यदि अनुच्छेद 19(5) में ऐसे युक्तियुक्त निर्बन्धन अनुज्ञात हैं तो पिटीशनरों का कहना है कि अनुच्छेद 31(2ख) द्वारा किए गए इस उपबन्ध का, कि अनुच्छेद 19(1)(च) लागू नहीं होगा, एकमात्र उद्देश्य अर्जन तथा अधिग्रहण विधियों को, इन उपबन्धों पर ऐसे निर्बन्धन लगाने का सामर्थ्य प्रदान करना है जो अयुक्तियुक्त हैं और जिनमें कोई लोक हित भी नहीं है। श्री पालखीवाला द्वारा बैंक राष्ट्रीयकरण वाले मामले ([1]) का तथा पृष्ठ 577 पर दर्ज की गई इन बातों का आश्रय लिया गया है कि यदि अनुच्छेद 19(1)(च) अर्जन या अधिग्रहण को लागू है तो वह विधि, जिसने, किसी सम्पत्ति का, उसके स्वामी को (उस मामले में जहां स्वामी को सुना जाना नैसर्गिक न्याय के नियमों के अनुसार अपेक्षित है) सुने गए बिना, लिया जाना अनुज्ञात किया है, इसलिए शून्य समझी जाएगी कि वह अनुच्छेद 19(1)(च) के प्रतिकूल है। यह उद्धरण देने के बाद कहा गया है कि किसी व्यक्ति को सुने गए बिना या भूमि अर्जन अधिनियम में इस बात का उपबन्ध करने वाला संशोधन किए बिना, कि उसकी भूमि या उसका मकान, हेतु दर्शित करने की या साबित करने की सूचना कि अर्जित सम्पत्ति के लिए उसे कितनी राशि उचित रूप से दी जानी चाहिए, स्वामी को दिए बिना नियत राशि अर्जित की जा सकती है, सम्पत्ति के मूल अधिकार के मर्म या उसके आन्तरिक स्वरूप को विकृत कर देगी।

संविधान (पच्चीसवां संशोधन) अधिनियम द्वारा अनुच्छेद 31(2) में "प्रतिकर" के स्थान पर "राशि" जैसा गोलमोल पद प्रतिस्थापित करने के पश्चात् भी, यह अनुच्छेद विधानमण्डल को इस बात के लिए आबद्ध करता है कि वह स्वामी को कोई भी राशि या तो नकद या अन्यथा अदा करे। विधानमण्डल या तो यह कर सकता है कि राशि के अवधारण के सिद्धान्त निर्धारित कर दे या वह राशि स्वयं ही नियत कर दे। संशोधन के पूर्व, अनुच्छेद 31(2) का निर्वचन यह था कि विधि को ऐसा प्रतिकर देने वाला उपबन्ध करना पड़ेगा जो अर्जित सम्पत्ति के मूल्य के समतुल्य के अर्थ में प्रतिकर हो। संविधान (चतुर्थ संशोधन) अधिनियम के बाद भी, जिसमें यह कहा गया था कि प्रतिकर की पर्याप्तता को चुनौती नहीं दी जा सकेगी, यही निर्वचन बैंक राष्ट्रीयकरण वाले मामले([1]) में किया गया था। संविधान (पच्चीसवां संशोधन) अधिनियम यह कहता है कि अब इस की कोई आवश्यकता नहीं है कि विधि उतना संदाय करने का उपबन्ध करे जितना अर्जित सम्पत्ति के मूल्य के बराबर हो। यदि राशि विधि द्वारा प्रत्यक्ष रूप से निर्धारित की जाती है, तो राशि का परिमाण और उसके परिमाण-निर्धारण के सिद्धान्त ऐसे विषय हैं, जो विधानमण्डल के देखने के हैं। सिद्धान्तों के विनिर्देश से उनके अन्तर्गत आने वाले सब व्यक्तियों या संव्यवहारों को लागू पथप्रदर्शक नियमों का निर्धारित करना अभिप्रेत है। राशि को निर्धारित करने में विधानमण्डल विधायी शक्ति की सामान्य प्रकृति के सम्बन्ध में कार्रवाई करेगा। हो सकता है कि सिद्धान्त का उल्लेख कर दिया जाए। हो सकता है कि उस सिद्धान्त में जिसका अनुपालन विधानमण्डल द्वारा राशि निर्धारित करते समय

([1]) (1970) 3 एस० सी० आर० 530.

किया जाए अर्जित सम्पत्ति के मूल्य के बराबर संदाय के मुकाबले में सामाजिक न्याय विषयक विचारों को ध्यान में रखा गया हो। सामाजिक न्याय विषयक विचारों में सुसंगत निदेशक तत्व, विशिष्टतः अनुच्छेद 39 (ख) और (ग), भी हैं। इन सिद्धान्तों का उद्देश्य सामान्य कल्याण को बढ़ाना तथा जनता के नुकसान को रोकना है। संविधान (चतुर्थ संशोधन) अधिनियम द्वारा पर्याप्तता का प्रश्न अनुच्छेद 31(2) से अपवर्जित कर दिया गया है। यह नहीं कहा जा सकता है कि विधानमण्डल के लिए यह आवश्यक है कि वह राशि के निर्धारण के प्रसंग में पर्याप्तता की माप करने के लिए किसी मानक का उपबन्ध करे। राशि की पर्याप्तता और उस रीति के आधार पर, जिसके अनुसार राशि का संदाय नकद रूप में या अन्यथा किया जाना है, संविधान किसी विधि के न्यायिक पुनर्विलोकन की इजाजत नहीं देता है।

महासॉलिसिटर ने यह कहा है कि यदि "प्रतिकर" शब्द से, जिस रूप में कि वह अनुच्छेद 31(2) के संशोधन के पहले था, नकदी में उतना ही मूल्य अभिप्रेत होता है तो धन का केन्द्रीकरण जैसा-का-तैसा बना रहेगा और अनुच्छेद 39, 41, 42, 43, 45, 46 और 47 में जिस सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक न्याय की बात कही गई है, वह विफल हो जाएगी। निदेशक तत्वों का अनुपालन एक अर्थ में सम्पत्ति के अधिकार मात्र से कहीं अधिक मूलभूत है। निदेशक तत्वों को जब तक प्रभावी रूप में कार्यान्वित नहीं किया जाता है तब तक सामाजिक व्यवस्था का सुधार आसानी से नहीं हो सकता है। नई सामाजिक व्यवस्था का उदय आज की सभ्यता के लिए चुनौती है। यदि उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तथा बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में राष्ट्रों ने स्वतन्त्रता तथा प्रभुत्व की मांग की थी तो इस शताब्दी के मध्य से पूर्व इस सुसंगठित तथा सुनियोजित सोसाइटी में व्यक्तिगत गरिमा, व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य और व्यक्तिगत हैसियत की मांग इस शताब्दी के मध्य से क्षितिज पर विराजमान है। इस पृष्ठभूमि में पच्चीसवां संशोधन विधि को केवल एक ही बात में संरक्षण प्रदान करता है और वह यह है कि स्वामी को संदेय राशि की माप अब इस अर्थ में नहीं होनी है कि वह मूल्य में अर्जित सम्पत्ति के समतुल्य है या नहीं। राशि के परिमाण के विषय में न्यायिक पुनर्विलोकन नहीं हो सकता है। जब से चतुर्थ संशोधन हुआ है तब से प्रतिकर की पर्याप्तता संविधान द्वारा अपवर्जित कर दी गई है। इसका कारण यह है कि संविधान ने स्पष्ट शब्दों में यह घोषित कर दिया है कि पर्याप्तता वाद-योग्य (जस्टिसिएबल) नहीं है। इसलिए किसी विषय को, जो स्पष्ट रूप से वर्जित है, यह अभिनिर्धारित करके कि वह विवक्षा द्वारा किसी अन्य उपबन्ध में अन्तर्विष्ट है और इसलिए उसकी परीक्षा की जा सकती है, अप्रत्यक्ष रूप से वाद-योग्य नहीं बनाया जा सकता है।

प्रतिकर के साथ असंगत सिद्धान्त जिस प्रकार संविधान के पच्चीसवें संशोधन के पहले अविधिमान्य थे, उसी प्रकार यह कहा गया कि यदि ऐसे सिद्धान्त अपनाए जाते हैं जो विधिक संकल्पना या ऐसी संकल्पना के रूप में, जिसकी कोई कसौटी हो, राशि की संकल्पना के साथ असंगत हैं तो वह विधि अविधिमान्य होगी, क्योंकि वह राशि विशुद्ध रूप से राज्य की इच्छा तथा विवेक पर निर्भर होगी। अतः यह कहा गया कि जब राशि को विधि निर्धारित करती है तो उसे चाहिए कि वे सिद्धान्त बता दे जिनके अनुसार वह राशि

निकाली गई है या फिर न्यायालय उन सिद्धान्तों की जांच कर सकेगी जिनके आधार पर वह राशि नियत की गई है। पिटीशनर के अनुसार इसके प्रतिकूल कोई दृष्टिकोण अपनाने का अर्थ यह होगा कि अनुच्छेद 31(2) के अधीन राज्य को ऐसे सिद्धान्त उल्लिखित करने का प्राधिकार होगा जो मनमाने हो सकते हैं या ऐसी राशि उल्लिखित करने का प्राधिकार होगा जो मनमानी हो सकती है।

यह भी कहा जाता है कि अनुच्छेद 31(1) में निर्दिष्ट अल्पसंख्यकों द्वारा स्थापित शिक्षा संस्था की सम्पत्ति के अनिवार्य अर्जन के लिए उपबन्ध करने वाली विधि अर्थात् पच्चीसवें संशोधन के बाद वाले अनुच्छेद 31(2) के परन्तुक के फलस्वरूप राज्य को यह सुनिश्चित करना था कि जो रकम नियत या निर्धारित की जाए वह उक्त खण्ड के अधीन प्रत्याभूत अधिकार को निर्बन्धित या निराकृत न करे। यह राशि उतनी राशि से अधिक होनी चाहिए जो इतनी पर्याप्त हो कि उससे उस अधिकार का सार नष्ट न होने पाए। किन्तु पच्चीसवें संशोधन के पश्चात् अनुच्छेद 31(2) के अधीन, जिस मामले में यह परन्तुक लागू न हो, वहां के लिए यह कहा गया कि हो सकता है कि मूल अधिकारों का तत्व विकृत या नष्ट हो जाएगा।

पच्चीसवें संशोधन के पश्चात्, अनुच्छेद 31(2) में "राशि" शब्द को उसके सम्पूर्ण प्रसंग में पढ़ा जाना है। किसी भी विधि पर किसी भी न्यायालय में इस आधार पर आपत्ति नहीं की जाएगी कि इस प्रकार नियत या निर्धारित राशि अपर्याप्त है या वह सम्पूर्ण राशि या उसका कोई भाग नकद दिया गया है। अनुच्छेद 31(2) में नकद संदाय के साथ-साथ "राशि" शब्द का प्रयोग यह बताता है कि बात धनराशि (सम ऑफ मनी) की, की जा रही है। रकम राशि है जिससे धन का कोई भी परिमाण या रकम अभिप्रेत है, अथवा दूसरे शब्दों में, राशि से धनराशि अभिप्रेत है।

पच्चीसवें संशोधन के पहले वाले तथा बाद के अनुच्छेद 31(2) से प्रकट होता है कि विधानमण्डल के सामने दो रास्ते हैं। या तो वह राशि के निर्धारण के सिद्धान्त उल्लिखित करे या संशोधन के पहले वाला "प्रतिकर" या राशि नियत करे। राशि या प्रतिकर निर्धारित करते समय, विधानमण्डल से यह अपेक्षित नहीं है कि वह विधि में उन सिद्धान्तों का वर्णन करे जिनके आधार पर असंशोधित खण्ड में प्रतिकर नियत किया गया हो या संशोधित खण्ड में राशि नियत की गई हो।

अनुच्छेद 19(1)(च) यह उपबन्ध करता है कि सब नागरिकों को सम्पत्ति के धारण, अर्जन अथवा व्ययन के अधिकार होंगे जब कि अनुच्छेद 31(2) उस विधि के सम्बन्ध में है जिसके अनुसार सम्पत्ति अर्जित की जाती है। सम्पत्ति अर्जित करने वाली ऐसी विधि, अर्जित सम्पत्ति के धारण या व्ययन का अधिकार प्रत्यक्ष रूप से समाप्त करती है। अनुच्छेद 31(2) को आत्मनिर्भर बनाने के लिए, अनुच्छेद 31(2) में से अनुच्छेद 19(1)(च) को अपवर्जित कर दिया गया है। सम्पत्ति के धारण का अधिकार तथा सम्पत्ति को अर्जित करने का राज्य का अधिकार, दोनों का अस्तित्व एक साथ सम्भव नहीं है। यही कारण है कि अनुच्छेद 31(2) को अनुच्छेद 31क, 31ख और 31ग के साथ पढ़ा जाना है, क्योंकि ये सभी अनुच्छेद "सम्पत्ति के अधिकार" शीर्षक के अधीन हैं।

एच० एम० राणा बनाम गुजरात राज्य(1) में इस न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया है कि भूमि अर्जन अधिनियम में न्यायिककल्प प्रक्रिया के अधिकार या नैसर्गिक न्याय की अपेक्षाओं का कोई उल्लेख नहीं है क्योंकि उसकी धारा 5क के सम्बन्ध में यह अभिनिर्धारित किया गया है कि वह प्रशासनिक है। इस न्यायालय ने यह भी अभिनिर्धारित किया है कि ऐसे अधिग्रहण अधिनियम द्वारा, जो अधिग्रहण का आदेश दिए जाने के पहले अभ्यावेदन का अधिकार न देता हो, अनुच्छेद 19(1)(च) का अतिक्रमण नहीं होता है। [देखिए -- एस० एम० मन्दी बनाम पश्चिमी बंगाल राज्य(2)]।

पच्चीसवें संशोधन का दूसरा भाग, जिसको पिटीशनर ने चुनौती दी है, अनुच्छेद 31ग है। श्री पालखीवाला के कथनानुसार अनुच्छेद 31ग संविधान के विभिन्न सारभूत तत्वों को नष्ट करता है, जिसके कारण इस प्रकार हैं—पहला यह कि जिन मामलों में मूल अधिकारों का संशोधन किया गया है और जो विधियां पच्चीसवें संशोधन के पहले शून्य हो गई होतीं, उन्हें विधिमान्य रूप से पारित होने दिया गया है तथा जिन मामलों में मूल अधिकार असंशोधित हैं किन्तु मूल अधिकारों का अतिलंघन करने के कारण जो विधियां शून्य हैं वे इस विधिक कल्पना (लीगल फिक्शन) द्वारा कि उनके बारे में यह नहीं समझा जाएगा कि वे शून्य हैं, विधिमान्य कर दी गई हैं, इन दोनों प्रकार के मामलों में भेद है। पहले मामले में विधि वास्तव में सांविधानिक है जब कि दूसरे मामले में विधि वास्तव में असांविधानिक है, किन्तु उसके बारे में विधिक कल्पना द्वारा यह समझा जाता है कि वह शून्य नहीं है, जिसका परिणाम यह है कि जो विधियां संविधान का अतिक्रमण करती हैं उनका विधिमान्यकरण कर दिया गया है और संविधान का निषेध होने दिया गया है। यदि अनुच्छेद 31ग विधिमान्य है तो संसद् को इस बात की इजाजत होगी कि वह संविधान में ऐसे संशोधन करे जिससे वे सब विधियां विधिमान्य घोषित कर दी जाएं जिनको संसद् या राज्य विधानमण्डलों ने अतिशय विधायी क्षमता का प्रयोग करते हुए पारित किया हो या जो भाग 3 में सुरक्षित आधारभूत मानव अधिकारों अथवा अनुच्छेद 301 द्वारा प्रदत्त अन्तर्राज्यिक व्यापार स्वातन्त्र्य का अतिक्रमण करती हों। अनुच्छेद 31ग संसद् तथा राज्यों के विधानमण्डलों को संविधान की अवहेलना करने की अथवा संविधान की सर्वोपरिता को विकृत या नष्ट करने की खुली छूट देता है। दूसरा यह कि अनुच्छेद 31ग मूल अधिकारों को निदेशक तत्वों की तुलना में गौण स्थान देता है। मूल अधिकारों के प्रवर्तित कराने का अधिकार अनुच्छेद 32 के अधीन प्रत्याभूत है। निदेशक तत्व अनुच्छेद 37 के कारण प्रवर्तनीय नहीं है। फिर भी यह कहा जाता है कि निदेशक तत्वों को प्रभावशील करते समय मूल अधिकारों का निराकरण किया गया है। तीसरा यह कि एक भी मूल अधिकार के संशोधन के लिए तो उपस्थित तथा मतदान करने वाले कम से कम दो-तिहाई संसद्-सदस्यों का बहुमत अपेक्षित है किन्तु अनुच्छेद 31ग के अधीन बनाई जाने वाली विधि, जो अनेक मूल अधिकारों पर अभ्यारोही प्रभाव रखती हो या उनका हनन करती हो, साधारण बहुमत द्वारा पारित की जा सकती है। चौथा यह कि प्रत्येक मूल अधिकार संविधान का सारभूत तत्व है और

(1) (1964) 5 एस० सी० आर० 294.

(2) ए० आई० आर० 1971 एस० सी० 961.

अनुच्छेद 31ग उनमें से अनेक मूल अधिकारों को छीन लेने के लिए अभिप्रेत है। पांचवां यह कि न्यायालय को इस बात पर विचार करने का अधिकार नहीं है कि अनुच्छेद 31ग के अधीन बनाई जाने वाली विधि क्या ऐसी है जो सम्बद्ध निदेशक तत्व को सम्भवतः सुनिश्चित कर सकती हो। छठा यह कि कोई भी राज्य विधानमण्डल मूल अधिकारों को या संविधान के किसी अन्य भाग को संशोधित नहीं कर सकता है किन्तु अनुच्छेद 31ग राज्य विधानमण्डल को ऐसी विधियां बनाने के लिए, जिनके द्वारा वस्तुतः मूल अधिकारों का निरसन होता हो सशक्त करता है। संविधान को संशोधित करने की शक्ति राज्य विधानमण्डलों को प्रत्यायोजित कर दी गई है।

अन्त में यह कहा गया है कि अनुच्छेद 14, 19 और 31 के अधीन, जिनके सम्बन्ध में कहा गया है कि अनुच्छेद 31ग द्वारा उनकी अवहेलना करने का प्रयास किया गया है, अल्पसंख्यकों के विनिर्दिष्ट अधिकारों को अर्थपूर्ण बनाने के लिए जिनकी गारण्टी अनुच्छेद 25 से अनुच्छेद 30 द्वारा दी गई है, मूल अधिकार आवश्यक हैं। अनुच्छेद 31(2) का परन्तुक यह बताता है कि किसी अल्पसंख्यक वर्ग द्वारा स्थापित किसी शिक्षा संस्था की सम्पत्ति के अर्जन के मामले में, नियत राशि ऐसी हो जो अनुच्छेद 31 के अधीन अल्पसंख्यकों के अधिकार को निर्बन्धित या निराकृत न करे। अतः यह कहा जाता है कि विवक्षा यह है कि यदि सम्पत्ति अल्पसंख्यकों से भिन्न अन्य व्यक्तियों की दशा में अर्जित की जाती है तो ऐसी राशि नियत की जा सकेगी जो किसी मूल अधिकार को निर्बन्धित या निराकृत करती हो। इसके अतिरिक्त यह कहा गया है कि यदि कोई विधि अनुच्छेद 25 से अनुच्छेद 30 के अधीन अल्पसंख्यकों के अधिकारों का अतिक्रमण करती है तो ऐसी विधि को विधि नहीं समझा जाएगा। अतः ऐसी विधि के अधीन सम्पत्ति के छीने जाने से अनुच्छेद 31(1) का अतिक्रमण होगा। किन्तु पच्चीसवां संशोधन अधिनियम, अनुच्छेद 31ग द्वारा अनुच्छेद 31(1) को निराकृत करता है और ऐसी विधि द्वारा जो अनुच्छेद 25 से अनुच्छेद 30 तक का अतिक्रमण करती हो अल्पसंख्यकों को प्राइवेट तौर पर या सार्वजनिक खैराती धार्मिक न्यासों के अधीन धारित उनकी सम्पत्तियों से वंचित किया जा सकेगा।

अनुच्छेद 31ग की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह केवल विधि को संरक्षण प्रदान करता है। इसलिए अनुच्छेद 31(1) के अतिक्रमण का कोई प्रश्न ही पैदा नहीं होता है। अनुच्छेद 31ग में निर्दिष्ट विधि या तो संसद् द्वारा या राज्य विधानमण्डल द्वारा विधि को अधिनियमित करने की विधायी प्रक्रिया के अनुसार ही बनाई गई होगी। संविधान में अनेक अनुच्छेद ऐसे हैं जिनमें "विधि" पद का प्रयोग विधि बनाने वाले प्राधिकारी के प्रसंग में किया गया है। ये अनुच्छेद 17, 19(2) से (6), 21, 22, 23(1), 26, 31, 33, 34 तथा 35 हैं। ये अनुच्छेद बताते हैं कि उनमें "विधि" पद से ऐसी विधि अभिप्रेत है, जो विधानमण्डल ने अपनी मामूली विधायी प्रक्रिया के अनुसार बनाई हो। "विधि" पद के अन्तर्गत न तो अध्यादेश, आदेश, उपविधि, नियम, विनियम, अधिसूचना, विधि का बल रखने वाली रूढ़ि या प्रथा है और न अनुच्छेद 368 में विहित प्रक्रिया के अनुसार किया गया संविधान का कोई संशोधन है। अनुच्छेद 13 में

"विधि" पद का प्रयोग व्यापक अर्थ में किया गया है। इसके लिए अनुच्छेद 31(3) में एक परिभाषा दी गई है जिसके द्वारा उसमें कुछ अन्य प्रवर्ग सम्मिलित किए गए हैं। अनुच्छेद 13(3) वाली परिभाषा, अभिव्यक्त रूप से अनुच्छेद 13 तक ही सीमित है। अनुच्छेद 31ग में विधि के अर्थ वही (अर्थात् विधानमण्डल द्वारा पारित कानून) होने चाहिएं जिसमें कि उसका प्रयोग सामान्य रूप से अन्य अनुच्छेदों में किया गया है।

यह सच है कि ऐसी विधि के मामले में यह आवश्यक हो सकता है कि उसके ब्यौरे अन्य अभिकर्ताओं (एजेंसियों) द्वारा भरे जाएं, किन्तु अनुच्छेद 31ग के आवश्यक तत्व ऐसे हैं जिनके लिए उपबन्ध प्रत्यक्ष रूप से इस अधिनियमिति द्वारा ही किया जाना चाहिए। अनुच्छेद 254 के सम्बन्ध में एक प्रश्न यह पैदा हुआ कि क्या आवश्यक वस्तु अधिनियम के अधीन बनाए गए चीनी नियंत्रण आदेश, 1955 के प्रभावस्वरूप तत्स्थानी उत्तर प्रदेश राज्य की विधि निरसित हो गई। इस न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि निरसन की शक्ति संसद् में निहित है और इस सम्बन्ध में समुचित उपबन्ध का विनियमन करके केवल संसद् ही उसका प्रयोग कर सकती है। संसद् निरसन की यह शक्ति किसी कार्यपालिक प्राधिकारी को प्रत्यायोजित नहीं कर सकती है। [देखिए—चौधरी टीका रामजी और कुछ अन्य बनाम उत्तर प्रदेश राज्य और कुछ अन्य([1])]

अनुच्छेद 31घ, अनुच्छेद 39(ख) और (ग) के साथ अभिन्न रूप से गुंथा हुआ है क्योंकि दोनों अनुच्छेदों का प्रयोजन तथा उनकी भाषा मुख्य रूप से एक-समान है। भूमि सम्बन्धी विधियों में सुधार के लिए, अनुच्छेद 39(ख) और (ग) के निदेशक तत्वों को कार्यान्वित करने के विधायी प्रयत्न कुछ राज्यों में किए गए थे। अनुच्छेद 31क और 31ख संविधान प्रथम संशोधन अधिनियम, 1951 द्वारा पुरःस्थापित किए गए थे। अनुच्छेद 31क तथा अनुच्छेद 31ख बढ़ाने का मुख्य कारण उन उपबन्धों से सम्पूर्ण भाग 3 के प्रवर्तन को अपवर्जित करना था। भाग 4 में निदेशक तत्वों तथा भाग 3 में मूल अधिकारों के बीच का सही सम्बन्ध स्पष्ट हो गया। यह अनुभव किया गया कि यद्यपि व्यक्ति की स्वतंत्रता मूल्यवान है फिर भी चाहिए यह कि निदेशक तत्वों को कार्यान्वित करने की राह में उनका प्रवर्तन, अलंघ्य बाधा न बन जाए। सज्जन सिंह वाले मामले([2]) में यह कहा गया था कि "सोसाइटी के अधिकार सर्वोपरि बना दिए गए हैं और उन्हें व्यक्ति के अधिकारों से ऊंचा स्थान दिया गया है"। बिहार भूमि सुधार([3]) वाले मामले में यह कहा गया था कि "हमारे संविधान में एक सिरे से दूसरे सिरे तक एक नया ही दृष्टिकोण मिलेगा, जिसमें समुदाय के सामान्य हित को, व्यक्तियों के हितों से ऊंचा स्थान प्रदान किया गया है"।

अनुच्छेद 31ग में जिस विधि की कल्पना की गई है समुदाय के भौतिक साधनों के स्वामित्व तथा नियंत्रण पर उसके प्रवर्तन के फलस्वरूप उसका वितरण इस प्रकार हो कि सामूहिक हित का सर्वोत्तम रूप से साधन हो। आर्थिक व्यवस्था का संचालन इस

([1]) (1956) एस० सी० आर० 393.
([2]) (1965) 1 एस० सी० आर० 933.
([3]) (1952) एस० सी० आर० 889.

प्रकार नहीं होना चाहिए जिसके परिणामस्वरूप धन का केन्द्रीयकरण हो। उत्पादन के साधनों का उपयोग इस प्रकार नहीं होना चाहिए जिससे सामान्य जन को नुकसान पहुंचे। भौतिक साधनों पर समुदाय का स्वामित्व और नियन्त्रण, राष्ट्रीयकरण तथा सुनियोजित अर्थ-व्यवस्था द्वारा कराया जा सकता है। आर्थिक व्यवस्था के संचालन से मूल उद्योगों के उत्पादों तथा आवश्यक वस्तुओं की तैयारी, प्रदाय तथा वितरण पर नियन्त्रण अधिरोपित करना अभिप्रेत है। ऐसी विधियां, सप्तम अनुसूची की सूची 3, प्रविष्टि सं० 42, 43, सूची 1, प्रविष्टि सं० 52 से 54 के अन्दर तथा सूची 2, प्रविष्टि सं० 23, 24, 26 और 27 के अन्दर हो सकती हैं।

अनुच्छेद 31ग के इन उपबन्धों पर कि जिस विधि में यह घोषणा हो कि वह ऐसी नीति को प्रभावी करने के लिए है उस विधि पर किसी न्यायालय में इस आधार पर आपत्ति नहीं की जाएगी कि वह ऐसी नीति को प्रभावी नहीं करती है, पिटीशनर द्वारा आपत्ति, न्यायिक पुनर्विलोकन को अपवर्जित करने के लिए है और इसलिए उठाई गई थी कि वे अवैध हैं। दूसरी बात जो अनुच्छेद 31ग के बारे में कही गई वह यह थी कि यह अनुच्छेद राज्य विधानमण्डलों को, भारत की अखण्डता नष्ट करने वाली विभेदकारी विधियां बनाने के लिए समर्थ बनाता है। तीसरी बात यह थी कि अनुच्छेद 31ग के सम्बन्ध में यह कहा गया कि यह अनुच्छेद राज्य विधानमण्डल या संसद् को, उनकी अपनी मामूली विधायी हैसियत में, संशोधन सम्बन्धी शक्ति प्रत्यायोजित करता है।

अनुच्छेद 31ग में वर्णित घोषणा अनुच्छेद 39(ख) या (ग) के सिद्धान्तों को सुनिश्चित करने वाली राज्य की नीति को प्रभावी करने के लिए है। किसी विधि में ऐसी घोषणा पर आपत्ति इस आधार पर नहीं की जाएगी कि वह घोषणा ऐसी नीति को प्रभावी नहीं करती है। जिन विधियों को अनुच्छेद 31ग के अधीन संरक्षण प्रदान किया जाता है, वे ऐसी विधियां हैं जो अनुच्छेद 39(ख) और (ग) के निदेशक तत्वों को सुनिश्चित करने के लिए बनाई गई हों। उस विधि तथा अनुच्छेद 39(ख) और (ग) में उपवर्णित उद्देश्यों के बीच सम्बन्ध का होना अनुच्छेद 31ग के लागू होने की पुरोभाव्य शर्त है। संघ तथा राज्य की ओर से यह दलील नहीं दी गई है कि यह प्रश्न कि क्या ऐसा सम्बन्ध मौजूद है वाद-योग्य नहीं है। ऐसी घोषणा पर, इस आधार पर कि वह ऐसी नीति को प्रभावी नहीं करती है, न्यायालय में, आपत्ति उठाए जाने से मुक्त करने का वास्तविक कारण विधायी नीति तथा बुद्धिमानी का प्रश्न, विधानमण्डल पर छोड़ देना है। कुछ लोगों का विचार हो सकता है कि वह विधान निदेशक तत्वों को प्रभावी नहीं करता है। अतः अपनी नीति के प्ररूपण तथा विधान द्वारा उसे प्रभावी करने के सम्बन्ध में विधानमण्डलों को जिम्मेदार बना दिया गया है। यह ऐसे उपायों का निर्धारण तथा उनके बारे में अनुमान है जिसकी घोषणा द्वारा विधायी पुनर्विलोकन से अपवर्जित करने के चेष्टा की गई है।

यह तय करने के लिए कि कानून अनुच्छेद 31ग के अन्तर्गत आता है या नहीं न्यायालय विधान के स्वरूप तथा उसके विषय की परीक्षा यह देखने के लिए कर सकता है कि अनुच्छेद 39(ख) और (ग) में वर्णित सिद्धान्तों के साथ उस विधि का कोई सम्बन्ध है या नहीं। यदि यह प्रतीत हो कि उस विधान तथा अनुच्छेद 39(ख) और (ग) में

वर्णित उद्देश्यों और सिद्धान्तों के बीच कोई सम्बन्ध नहीं है तो उस विधान को ऐसा संरक्षण प्राप्त नहीं होगा। यदि तथ्यों तथा परिस्थितियों के अनुसार ऐसा करना उचित हो तो न्यायालय कानून के वास्तविक स्वरूप को निश्चित करने के लिए उसकी परीक्षा कर सकता है।

अनुच्छेद 14, 19 और 31 को अनुच्छेद 31ग से अपवर्जित करने का कारण वही है जो अनुच्छेद 31क में था। महासॉलीसिटर ने ठीक ही कहा है कि विभेद का भय तीन रक्षोपायों (सेफगार्ड) द्वारा दूर किया गया है। पहला और सबसे बड़ा रक्षोपाय विधानमण्डल की सुबुद्धि तथा समुदाय की सहज बुद्धि है। दूसरा रक्षोपाय राष्ट्रपति की अनुमति है। तीसरा रक्षोपाय यह है कि समुचित मामलों में यह देखा जा सकता है कि विधि तथा कार्यान्वित किए जाने वाले निदेशक तत्वों के बीच कोई सम्बन्ध है या नहीं। नागरिक चरित्र, विधानमण्डल की प्रकृति, प्रतिनिधियों में जनता के विश्वास तथा राष्ट्र के प्रति प्रतिनिधियों की जिम्मेदारी की भावना से बढ़ कर कोई भी रक्षोपाय नहीं है। जनता के प्रतिनिधियों को गैर-जिम्मेदार कभी नहीं कहा जा सकता है। अनुच्छेद 14 का अपवर्जन, निदेशक तत्वों के प्रकाश में समता के नये सिद्धान्तों के विकास के लिए है। अनुच्छेद 19 के अपवर्जन का आधार यह है कि जो विधियां निदेशक तत्वों को प्रभावी करने के लिए हैं वे व्यक्ति की स्वतंत्रता पर युक्तियुक्त निर्बन्धन समझी जाएंगी। अनुच्छेद 31(2) का अपवर्जन, अर्जन के मामले में सामाजिक न्याय का समावेश करने के लिए किया गया है। निदेशक तत्व, भूमि सम्बन्धी अथवा कृषि सम्बन्धी सुधारों तक ही सीमित नहीं हैं। निदेशक तत्वों की आवश्यकता देश में उद्योग की उन्नति तथा विकास के लिए भी है।

अनुच्छेद 31(4) तथा 31(6) में यह कहा गया है कि कुछ विधि वर्गों के सम्बन्ध में इस आधार पर कि वे अनुच्छेद 31(2) का उल्लंघन करते हैं आपत्ति नहीं की जाएगी। अनुच्छेद 31क उसी में वर्णित वर्ग की विधियों के सम्बन्ध में है जो इस आधार पर शून्य नहीं समझी जानी हैं कि वे अनुच्छेद 14, 19 तथा 31 द्वारा प्रदत्त मूल अधिकारों में से किसी के साथ असंगत हैं या उन्हें छीन लेती हैं या उन्हें कम करती हैं। अनुच्छेद 15(4) कहता है कि अनुच्छेद 15 की या अनुच्छेद 29(2) की किसी बात से राज्य को सामाजिक और शिक्षात्मक दृष्टि से पिछड़े हुए किन्हीं नागरिक वर्गों की उन्नति के लिए या अनुसूचित जातियों और अनुसूचित आदिम जातियों के लिए कोई विशेष उपबन्ध करने में बाधा न होगी। अनुच्छेद 31(5)(ख)(ii) कहता है कि अनुच्छेद 31(2) की किसी बात से ऐसी किसी विधि के उपबन्धों पर, जो राज्य ने सार्वजनिक स्वास्थ्य की उन्नति के लिए बनाई हो, प्रभाव नहीं होगा। अनुच्छेद 33 सार्वजनिक व्यवस्था-भार वाले सशस्त्र बलों के सदस्यों के लिए प्रयोग होने वाली विधि का उल्लेख उनके कर्तव्यों का उचित पालन तथा उनमें अनुशासन बनाए रखना सुनिश्चित करने के लिए करता है और इस प्रयोजन के लिए भाग 3 के कुछ मूल अधिकारों का प्रवर्तन उपान्तरित किया गया है।

महासॉलिसिटर ने यह ठीक ही कहा है कि इसी प्रकार अनुच्छेद 31ग ने विधायन के उद्देश्य से सम्बन्ध रखने वाला एक विधायी क्षेत्र का सृजन किया है। वह

भी वैसा ही है जैसा कि अनुच्छेद 15(4), अनुच्छेद 31(5)(ख)(ii) तथा अनुच्छेद 33 में परिकल्पित विधियां हैं। इनमें से हर एक अनुच्छेद, मूल अधिकार प्रदान करने वाले किसी न किसी अनुच्छेद या अनुच्छेदों में से कुछ प्रभाव क्षेत्र अपवर्जित कर लेता है। विभिन्न अनुच्छेदों द्वारा अपवर्जित प्रभाव क्षेत्र कहीं छोटे हैं तो कहीं बड़े हैं। मूल अधिकार विषयक कुछ अनुच्छेदों के प्रवर्तन से कतिपय विधायी क्षेत्र के अपवर्जन की सम्पूर्ण प्रक्रिया के रूप में संविधान की आज्ञा (मैण्डेट) की ही पूर्ति की गई है। यह कहना गलत है कि संविधान, संसद् को अथवा राज्यों को, संशोधन विषयक शक्ति प्रत्यायोजित करता है। पच्चीसवें संशोधन के फलस्वरूप वर्तमान विधायी क्षेत्र को बांधने वाली ऐसी जंजीर से मुक्त किया गया है जो हमारे संविधान के भाग 3 के विधायी शक्ति विषयक कुछ उपबन्धों के रूप में विद्यमान है।

अनुच्छेद 31ग का प्रवर्तन औद्योगिक क्षेत्र में उसी रीति में होता है जैसे कि अनुच्छेद 31क का प्रवर्तन भूमि सम्बन्धी या कृषि सम्बन्धी क्षेत्र में होता है। समस्याएं एक ही प्रकार की हैं किन्तु उनकी गुरुता (मैगनीट्यूड) अलग-अलग है। महासॉलिसिटर ने ठीक ही कहा है कि संक्षेप में कहा जाए तो अनुच्छेद 31ग उद्योग के क्षेत्र में वही सिद्धान्त लागू करता है, जो अनुच्छेद 31(4) तथा 31(6) तथा अनुच्छेद 31क में अन्तर्निहित है।

संविधान में उपबन्ध बना कर, किसी भी विधि वर्ग की पहचान निर्धारित की जा सकती है, विधायी क्षेत्र मूल अधिकारों के प्रवर्तन से अलग किया जा सकता है अथवा उन मूल अधिकारों में से कुछ को अपवर्जित किया जा सकता है। अनुच्छेद 31(4) तथा 31(6) में विधियों की पहचान उस अवधि के प्रति निर्देश करते हुए नियत की गई हैं जिसमें वे बनाई गई हैं। अनुच्छेद 31(4), संविधान के प्रारम्भ पर, किसी राज्य के विधानमण्डल के सामने लम्बित ऐसे किसी विधेयक के सम्बन्ध में है जो विधानमण्डल द्वारा पारित होने के बाद राष्ट्रपति की अनुमति पा चुकी हो और उसके सम्बन्ध में यह कहता है कि उस पर इस आधार पर आपत्ति नहीं की जाएगी कि वह अनुच्छेद 31(2) का उल्लंघन करता है। अनुच्छेद 31(6) राज्य की किसी ऐसी विधि के सम्बन्ध में है जो संविधान के प्रारम्भ से 18 महीने से अनधिक पहले अधिनियमित हुई हो और राष्ट्रपति के प्रमाण के लिए उसके सामने रखी जानी हो और राष्ट्रपति द्वारा ऐसा प्रमाणन कर दिए जाने पर उस पर इस आधार पर आपत्ति नहीं की जाएगी कि वह अनुच्छेद 31(2) का उल्लंघन करता है। अनुच्छेद 31(2) तथा अनुच्छेद 31क विधायी क्षेत्र की पहचान विधि के विषय के प्रति निर्देश से करते हैं। अनुच्छेद 15(4) तथा 33 तथा अनुच्छेद 31(5)(ख)(ii) में विधियों की पहचान, विधानमण्डल के उद्देश्य के प्रति निर्देश से की गई हैं। संविधान के भाग 3 के किसी न किसी भाग या किन्हीं अनुच्छेदों में किए गए अपवाद संविधान द्वारा किए गए हैं और जो विधि संविधान द्वारा प्रदत्त ऐसी शक्ति के अनुसरण में बनाई गई है वह संविधान के भाग 3 में इन अनुच्छेदों के प्रवर्तन या उनके लागू होने में संशोधन नहीं करती है। इस विषय का सार यह है कि भाग 3 में कुछ अनुच्छेदों के लागू होने के बारे में जिस उपान्तरण या अपवाद का उपबन्ध है वह संविधान की आज्ञा स्वरूप किया गया है, न कि उस विधि के अनुसार जो अनुच्छेद 31ग के अधीन संसद् या राज्य द्वारा बनाई जानी है। इसलिए संशोधन विषयक शक्तियों का कोई संशोधन प्रत्यायोजन

नहीं किया गया है । ऐसी विधि से भी किसी सांविधानिक उपबन्ध का संशोधन भी नहीं है ।

संविधान प्रथम संशोधन अधिनियम, 1951 ने अनुच्छेद 31क तथा 31ख तथा अनुसूची 9 प्रस्थापित किया जिन्हें एक साथ पढ़ा जाना है । अनुच्छेद 31क ने उस अनुच्छेद में वर्णित प्रकार की विधियों के लिए जो अपवर्जन किया वह सम्पूर्ण भाग 3 के अधीन दी जाने वाली चुनौती का अपवर्जन है । अनुच्छेद 31ख ने अनुसूची 9 में वर्णित विधियों को भाग 3 के अधीन और साथ ही इस आधार पर कि वे भारत शासन अधिनियम, 1935 (गवर्नमेण्ट ऑफ इण्डिया ऐक्ट, 1935) की धारा 299 का अतिक्रमण करती हैं, दी जाने वाली चुनौती के विरुद्ध उनका विधिमान्यकरण भूतलक्षी प्रभाव के साथ किया है । यहां यह बता दिया जाए कि जिस संसद् ने संविधान प्रथम संशोधन अधिनियम, 1951 पारित किया वह विधानमण्डल के रूप में काम करने वाली संविधान सभा तब तक थी जब तक कि निर्वाचन नहीं हो गए और संविधान के अधीन यथा उपबन्धित संसद् बनाई नहीं जा सकी । संविधान के रचयिताओं का अनुच्छेद 31(4) तथा 31(6) में यथा वर्णित यह आशय कि भूमि सम्बन्धी विधान अथवा कृषि सम्बन्धी सुधार प्रवर्तित किया जाना है और अनुच्छेद 39 में वर्णित राज्य की नीति के निदेशक तत्वों को कार्यान्वित करने की राह में मूल अधिकारों को बाधा नहीं बनने दिया जाएगा, अनुच्छेद 31क तथा 31ख द्वारा पूरा किया गया है । अनुच्छेद 31(4) तथा 31(6) में निर्दिष्ट विधियों को संरक्षण प्रदान करने के लिए उस मूल अधिकार को, जो अनुच्छेद 31(2) के अधीन प्रदान किया गया था, अनुच्छेद 39(ख) और (ग) के अधीन रखा गया है । जब यह उद्देश्य विफल हो गया और वह विधि अनुच्छेद 14 के अधीन अविधिमान्य घोषित कर दी गई, तो संसद् ने भाग 3 के हर अनुच्छेद के अधीन दी जाने वाली चुनौती का अपवर्जन करके, अनुच्छेद 31(4) तथा 31(6) में अन्तर्निहित नीति को प्रभावी किया । बिहार भूमि सुधार वाले मामले(1) में इस न्यायालय ने कहा कि बिहार भूमि सुधार अधिनियम के पीछे कार्यशील प्रयोजन यह था कि समुदाय के सामान्य फायदे के लिए, बिहार की भू-वितरण प्रणाली में सुधार किया जाए और विधानमण्डल इस बाबत सबसे अच्छा निर्णय कर सकता था कि समुदाय की भलाई किस में है और इस न्यायालय के लिए यह कहना सम्भव नहीं है कि कानून में परिकल्पित अर्जन के पीछे कोई भी लोक प्रयोजन नहीं था ।

पश्चिमी बंगाल राज्य बनाम बेला बनर्जी(2) में इस न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि "प्रतिकर" शब्द से अधिगृहीत सम्पत्ति के लिए उचित समतुल्य या पूरी क्षतिपूर्ति अभिप्रेत है । द्वारकादास श्रीनिवास बनाम शोलापुर स्पिनिंग एण्ड विविंग कम्पनी लिमिटेड(3) में शोलापुर मिल का प्रबन्ध अपने हाथ में लेने वाली विधि को इस आधार पर अविधिमान्य घोषित किया गया कि वह अर्जन की कोटि में आती है और चूंकि उसमें किसी भी प्रतिकर का उपबन्ध नहीं किया गया है इसलिए यह अभिनिर्धारित

---

(1) (1952) एस० सी० आर० 889.
(2) (1954) एस० सी० आर० 558.
(3) (1954) एस० सी० आर० 674.

किया गया कि वह विधि शून्य है। अनिवार्य कल्याणकारी विधान (एसेंशियल वैलफेयर लैजिस्लेशन) के प्रवर्तन में सुधार करने के लिए संविधान चतुर्थ संशोधन अधिनियम, 1955 पारित किया गया। चतुर्थ संशोधन अधिनियम का एक उपबन्ध प्रतिकर की पर्याप्तता को अवादयोग्य बनाने वाला अनुच्छेद 31 का संशोधन था तथा दूसरा अनुच्छेद 31क को संशोधित करने के लिए बनाया गया था। जो सूत्र अनुच्छेद 31(2) का अतिक्रमण अपवर्जित करने के लिए अनुच्छेद 31(4) तथा 31(6) में प्रयुक्त किया गया था, वही प्रतिकर की पर्याप्तता के सम्बन्ध में अपनाया गया। अनुच्छेद 31क के संशोधन के फलस्वरूप अब उस अनुच्छेद में कुछ प्रवर्ग बढ़ा दिए गए हैं तथा नवम अनुसूची में नए अधिनियम जोड़ दिए गए हैं। सत्रहवें संशोधन अधिनियम ने अनुच्छेद 31क(1) तथा परन्तुक में परिवर्तन किए और अनुसूची 9 में नया अधिनियम अन्तःस्थापित करके उसे संशोधित किया।

संविधान के उत्तरोत्तर संशोधनों द्वारा, अनुच्छेद 31 खण्ड (4) और (6) में समाविष्ट इस सिद्धान्त मात्र को कार्यान्वित किया गया कि सार्वजनिक लाभ को सुनिश्चित करने के लिए, तथा अनुच्छेद 39(ख) और (ग) के अधीन निदेशक तत्वों को कार्यान्वित करने के लिए, बनाए गए विधान को व्यक्तिगत अधिकारों पर पूर्विकता प्राप्त होनी चाहिए और यह कि इसलिए मूल अधिकारों को राज्य की नीति के निदेशक तत्वों के अधीन समझा जाना है।

अनुच्छेद 31(2) में, जैसा कि वह अपने मूलरूप में था, सम्पत्ति के अर्जन या अधिग्रहण के लिए प्रतिकर का उल्लेख किया गया था। न्यायालय द्वारा प्रतिकर का जो अर्थ लगाया गया वह पूर्ण बाजार मूल्य था। "प्रतिकर" शब्द को प्रभावी करने की कोई भी गुंजाइश नहीं थी अनुच्छेद 31(1) सामाजिक हित के बारे में अनुच्छेद 31(2) में किसी नमनीयता को स्थान नहीं दिया गया था। अनुच्छेद 31(2) का क्षेत्र इतना विस्तृत था कि सामाजिक हित की कोई संकल्पना उसके अनुसार असंगत हो जाती थी। यही रिष्टि है जिसका उपाय पच्चीसवें संशोधन में किया गया था। यदि भाग 3 के साथ-साथ निदेशक तत्वों को कार्य रूप दिया जाना है तो विधानमण्डल को ऐसी विधियां बनानी ही होंगी। संविधान के भाग 3 और 4 परस्पर सम्बद्ध हैं तथा एक-दूसरे को उपान्तरित करते हैं। वे एक-दूसरे के समानान्तर नहीं हैं। विभिन्न विधानों के रूप में विभिन्न सामाजिक सिद्धान्तों को प्रस्तुत किया जाएगा। यह तब तक अनुज्ञेय नहीं होगा जब तक कि सामाजिक तत्व का प्रवर्तन लचीले ढंग से करने की इजाजत नहीं दी जाएगी। यही कारण है कि पच्चीसवें संशोधन में अनुच्छेद 31(2) का संशोधन अर्जित या अधिगृहीत की जाने वाली सम्पत्ति के बाजार मूल्य की संकल्पना को बहिष्कृत करने के लिए किया गया है।

यदि प्रतिकर से सामाजिक न्याय के सिद्धान्तों के अनुसार निर्धारित राशि अभिप्रेत है तो भाग 3 और 4 के बीच सामान्य तारतम्य (हारमनी) बना रहेगा। दूसरी बात यह है कि यदि प्रतिकर से बाजार मूल्य अभिप्रेत है तो भाग 3 में उल्लिखित सम्पत्ति-अधिकार की संकल्पना सम्पत्ति को अपने स्वामित्व तथा कब्जे में रखने का अथवा पूरी कीमत प्राप्त करने का आत्यन्तिक अधिकार अभिप्रेत है, जब कि भाग 4 में

सम्पत्ति-अधिकार की संकल्पना सामाजिक हित तथा सामाजिक न्याय के परिवेश में की गई है। भाग 3 में दी गई गारण्टी को कायम रखते हुए, भाग 4 के निदेशक तत्वों को प्रभावी करने में एक प्रकार का अन्तर्निहित संघर्ष बराबर चलता रहेगा। यही कारण है कि अनुच्छेद 31 के खण्ड (4) और (6) इस महत्वपूर्ण सिद्धान्त का दृष्टान्त प्रस्तुत करते हैं कि निदेशक तत्वों के अनुसार परिवर्तन करने के लिए विशिष्टतः उन परिवर्तनों को, जो अनुच्छेद 39(ख) और (ग) में दिए गए हैं, करने वाले किसी विधायी प्रयास को सफल बनाने के लिए अनुच्छेद 31(2) में कमी करनी पड़ सकती है। सामाजिक हित तथा न्याय समय-समय पर तथा क्षेत्र के अनुसार बदल सकता है और हो सकता है कि व्यक्तिगत अधिकारों को सीमित करना पड़े।

जिस प्रकार राशि सामाजिक न्याय सिद्धान्तों के अनुसार नियत की जा सकती है, उसी प्रकार सामाजिक न्याय के उन्हीं विचारों को ध्यान में रखते हुए उस राशि को नियत करने वाले सिद्धान्त भी उल्लिखित किए जा सकते हैं। निदेशक तत्वों के अनुसार सामाजिक न्याय का जो भी स्तर हो उसको ध्यान में रखते हुए राशि नियत की जाती है अथवा सिद्धांत उल्लिखित किए जाते हैं।

"प्रतिकर" के स्थान पर "राशि" शब्द प्रतिस्थापित करके, पच्चीसवें संशोधन के अधीन, अनुच्छेद 31(2) को संशोधित करके नियत राशि को अवाद-योग्य (नान-जस्टिसिएबल) बना दिया गया है तथा न्यायालय की अधिकारिता अपवर्जित कर दी गई है, क्योंकि ऐसी राशि नियत करने के कारणों को विधान में स्थान देना आवश्यक नहीं होगा। यदि नियत राशि से परिवेदित कोई व्यक्ति चुनौती देता है, तो न्यायालय न तो पर्याप्तता के प्रश्न पर विचार कर सकता है और न इस बात पर कि वह राशि कैसे नियत की गई है। यदि पर्याप्तता पर आपत्ति नहीं की जा सकती है तो यह मालूम करने का कोई भी प्रयत्न कि कोई राशि विशेष कैसे नियत की गई है या विधि के अधीन वह राशि कैसे नियत की गई है, पर्याप्तता की जांच करना होगा, जो सांविधानिक आदेश के रूप में प्रतिषिद्ध है। यदि कोई कहता है कि वह राशि अवास्तविक है तो उसे इस अलंघ्य सांविधानिक प्रतिषेध का सामना करना होगा कि नियत राशि की पर्याप्तता या उसका तथाकथित मनमानापन न्यायालयों में आपत्ति के क्षेत्र के अन्दर नहीं आता है।

नियत राशि वाद-योग्य नहीं है। पर्याप्तता पर आपत्ति नहीं की जा सकती। राशि के औचित्य को चुनौती नहीं दी जा सकती। उल्लिखित सिद्धान्त वाद-योग्य नहीं है।

दूसरी ओर यदि विधानमण्डल राशि को नियत नहीं करता है बल्कि राशि के निर्धारण के सिद्धान्तों का उल्लेख करता है तो यह दलील कोई अर्थ नहीं रखती है कि राशि को निर्धारित करने के सिद्धान्त असंगत न हों क्योंकि उस परिणाम को, जो उल्लिखित सिद्धान्तों को लागू करने पर निर्धारित राशि के रूप में प्रकट होगा, अपर्याप्तता के आधार पर चुनौती नहीं दी जा सकती। यदि राशि के निर्धारित करने के लिए सिद्धान्त उल्लिखित किए जाते हैं और उन सिद्धान्तों को लागू करने के फलस्वरूप प्राप्त होने

वाला परिणाम बाजार मूल्य से कम है तो भी पर्याप्तता को चुनौती देने का वही प्रश्न फिर पैदा हो जाएगा।

सिद्धान्तों की सुसंगति पर आक्षेप नहीं किया जा सकता और न यह आक्षेप किया जा सकता है कि सिद्धान्त युक्तियुक्त नहीं हैं।

अनुच्छेद 14 में वर्गीकरण की नमनीयता है। अनुच्छेद 19 में युक्तियुक्त निर्बन्धनों की नमनीयता है। व्यक्तिगत अधिकार की प्रकृति तथा ऐसे अधिकार पर निर्बन्धन, सामाजिक न्याय के अनुसार निर्धारित किए जाएंगे। सामाजिक न्याय के अनुसार भाग 3 के अधीन अधिकारों में उपान्तरण करने या उन पर निर्बन्धन लगाने की अपेक्षा होगी। संविधान की स्कीम सामान्य रूप से यह बताती है कि सामाजिक न्याय के सिद्धान्तों को व्यक्तिगत अधिकारों से ऊंचा स्थान दिया गया है और जब कभी और जहां कहीं इस बात की आवश्यकता अनुभव हुई सामाजिक न्याय के सिद्धान्तों को प्रभावी बनाने के लिए व्यक्तिगत अधिकारों को गौण स्थान दिया गया है या उन्हें कम कर दिया गया है। सामाजिक न्याय से ऐसी विभिन्न संकल्पनाएं अभिप्रेत हैं जिनका समावेश राज्य की नीति के निदेशक तत्वों में पाया जाता है।

पच्चीसवें संशोधन ने दो उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए अनुच्छेद 31(2) को संशोधित किया है तथा अनुच्छेद 31(2ख) का पुरःस्थापन भी किया है। पहला उद्देश्य सम्पत्ति के अर्जन या अधिग्रहण के लिए नियत की जाने वाली राशि से बाजार मूल्य की संकल्पना को बहिष्कृत करना है। दूसरा उद्देश्य अनुच्छेद 31 के खण्ड (2ख) में से अनुच्छेद 19(1)(च) के लागू होने का अपवर्जन करना है। अनुच्छेद 31क और 31ख सम्पत्ति के अर्जन और अधिग्रहण को लागू हैं। अनुच्छेद 31ग का प्रयोजन निदेशक तत्वों को प्रभावी करने वाली विधियों को बनाने के लिए, सांविधानिक आदेश द्वारा संसद् तथा राज्य को शक्ति प्रदान करना है। अनुच्छेद 31क और 31ख से सम्पूर्ण भाग 3 के अपवर्जन का महत्व यह है कि इस प्रकार संविधान के भाग 4 और भाग 3 के उपबन्धों के बीच का वास्तविक सम्बन्ध निस्संदेह रूप में प्रकट हो जाएगा।

जहां तक भूमि सम्बन्धी विधान का सम्बन्ध है अनुच्छेद 31 के खण्ड (4) और (6) में व्यक्तियों के मूल अधिकारों को सामान्य हित के नीचे स्थान दिया जाना स्पष्ट है। संविधान प्रथम संशोधन अधिनियम द्वारा, जिसने अनुच्छेद 31क, 31ख तथा अनुसूची 9 का समावेश किया, यह बात और भी स्पष्ट कर दी गई है। अनुच्छेद 31क, 31ख, अनुसूची 9 तथा अनुच्छेद 31ग ने केवल उन निर्बन्धनों को हटा दिया जो संविधान के भाग 3 द्वारा विधायी शक्ति पर अधिरोपित थे। चतुर्थ संशोधन के पश्चात्, अनुच्छेद 31क ने अनुच्छेद 14, 19 और 31 द्वारा विधायी शक्ति पर अधिरोपित निर्बन्धनों को हटा दिया है। अनुच्छेद 31क में खण्ड (ख), (ग) और (घ) का अधिनियमन करके संसद् ऐसे सामाजिक नियन्त्रण को प्रभावी कर रही थी, जो यद्यपि भूमि सुधारों से कम अर्जेण्ट था, फिर भी धीरे-धीरे बहुत महत्वपूर्ण बन गया। अनुच्छेद 31ख ने, पहले संशोधन से, अनुसूची 9 में उल्लिखित विधियों को भूतलक्षी प्रभाव के साथ

विधिमान्य कर दिया और ऐसा करने के लिए उन विधियों में वह सब अविधिमान्यता भूतलक्षी प्रभाव के साथ दूर कर दी जो भाग 3 के अधिकारों का अतिक्रमण करने के कारण थी। इसके अतिरिक्त चतुर्थ संशोधन अधिनियम द्वारा नवम अनुसूची में बढ़ाए गए सात नए अधिनियमों का भूमि सम्बन्धी या कृषि सम्बन्धी सुधार के साथ कोई सम्बन्ध नहीं था बल्कि उनका सम्बन्ध महान राष्ट्रीय महत्व के अन्य विषयों के साथ था। संविधान चतुर्थ संशोधन अधिनियम का आशय लोक हित के लिए आवश्यक समझे जाने वाले भूमि सम्बन्धी विधान के बारे में, अनुच्छेद 14, 19 और 31(2) की रुकावटों को दूर करना था।

राज्य विधानमण्डल इस बाधा को दूर नहीं कर सकते हैं। उन्हें संविधान में संशोधन करने की कोई शक्ति नहीं है। संसद् भी इन बाधाओं को सामान्य विधि द्वारा नहीं हटा सकती है। संविधान का संशोधन करके संसद् ही एक या अधिक मूल अधिकार या अधिकारों को बहिष्कृत करके या कुछ विधियों या विधि-वर्गों का अपवर्जन करके इन बाधाओं को दूर कर सकती है।

अनुच्छेद 31क, 31ख, नवम अनुसूची और अनुच्छेद 31ग का सबसे अच्छा ज्ञान शंकरी प्रसाद वाले मामले(1) में मुख्य न्यायाधिपति पातञ्जलि शास्त्री तथा गोलक नाथ वाले मामले(2) में न्यायाधिपति बांचू के अभिकथनों को देखने से होता है। शंकरी प्रसाद वाले मामले(1) में मुख्य न्यायाधिपति पातञ्जलि शास्त्री ने कहा है "अनुच्छेद 31क और 31ख वास्तव में यह चाहते हैं कि कुछ विधि वर्गों या कुछ विनिर्दिष्ट विधियों को जो पहले ही पारित की जा चुकी हैं भाग 3 के अन्य सुसंगत अनुच्छेदों के साथ पठित अनुच्छेद 13 के संयुक्त प्रवर्तन से संरक्षण प्रदान करें। नए अनुच्छेद चूंकि मूल रूप से संविधान के संशोधन हैं, इसलिए उनमें विधियां अधिनियमित करने की शक्ति है। कहा यह गया था कि संसद् उस विधि का विधिमान्यकरण नहीं कर सकती है जिसके अधिनियमित करने की शक्ति उसको प्राप्त नहीं है। आक्षेपित उपबन्ध की विधिमान्यता चाहे इस बात पर निर्भर हो या न हो कि वह विषय उस विधानमण्डल की अधिकारिता के अन्दर है या नहीं, जिसने उसे पारित किया है, फिर भी यह प्रस्थापना अपने स्थान पर अकाट्य है। किन्तु ऐसी विधि को, जो संविधान का अतिलंघन करती है सांविधानिक रूप से विधिमान्य बनाना, संविधान के संशोधन करने की बात है और इस प्रकार यह संसद् की अनन्य शक्ति के अन्दर है।" अनुच्छेद 31ख के बारे में न्यायाधिपति बांचू ने कहा था "उन विधियों को राज्य विधानमण्डल पारित कर चुका था और यदि उनमें कोई सांविधानिक निर्बलता थी तो वह नवम अनुसूची के साथ पठित अनुच्छेद 31ख में अपनाई गई युक्ति द्वारा दूर की जा रही थी.......... इस काम को संसद् अनुच्छेद 368 के अधीन अकेले ही नहीं कर सकती थी और चूंकि भाग 3 का संशोधन, परन्तुक में उल्लिखित नहीं है इसलिए उस परन्तुक के अधीन किसी अनुसमर्थन की आवश्यकता भी नहीं थी।"

---

(1) (1952) एस० सी० आर० 89.
(2) (1967) 2 एस० सी० आर० 762.

अनुच्छेद 31ग के अधीन किसी विधि में पच्चीसवें संशोधन द्वारा पुर:स्थापित घोषणा की निश्चायकता (कन्क्लूसिवनेस) को अनुच्छेद 31ग के सम्पूर्ण प्रसंग में ग्रहण किया जाना है। अनुच्छेद 31ग के अधीन किसी विधि सम्बन्धी भाग 3 के निर्बन्धनों को हटाने में किसी भी विधानमण्डल को शक्ति का कोई प्रत्यायोजन नहीं किया जाता है। अनुच्छेद 14, 19 तथा 31 द्वारा विधायी शक्ति पर अधिरोपित निर्बन्धनों को केवल हटा दिया गया है। अनुच्छेद 31ग संविधान को संशोधित करने की कोई भी शक्ति प्रदान नहीं करता है। अनुच्छेद 31 का अपवर्जन आक्षेपित विधि को अनुच्छेद 14, 19 और 31 के अधीन दी जाने वाली चुनौती से संरक्षण प्रदान करने का अनिवार्य परिणाम है क्योंकि यदि उसका अपवर्जन अनुच्छेद 31ग में न किया गया होता तो अनुच्छेद 13(2) ऐसी विधियों को शून्य कर देता। घोषणा वाले खण्ड की तुलना भूमि अर्जन अधिनियम, 1894 की धारा 6(3) के साथ की जा सकती है। उसमें भी इस आशय का एक निश्चायक साक्ष्य खण्ड (कन्क्लूसिव एविडेन्स क्लाज) है कि यह घोषणा इस बात का निश्चायक साक्ष्य होगी कि अमुक भूमि यथा स्थिति लोक प्रयोजन के लिए तथा किसी कम्पनी के लिए आवश्यक है। निश्चायक घोषणा का प्रयोग किसी मूल अधिकार को समाप्त करने के लिए नहीं किया जा सकेगा। अनुच्छेद 31(5) में यह उपबन्धित है कि खण्ड (2) की किसी बात से, ऐसी किसी विधि को छोड़ कर जिस पर कि खण्ड (6) के उपबन्ध लागू होते हों, किसी अन्य वर्तमान विधि के उपबन्धों पर प्रभाव नहीं होगा और चूंकि भूमि अर्जन अधिनियम, 1894 वर्तमान विधि है इसलिए निश्चायक घोषणा खण्ड प्रभिभावी होगा और वह वाद-योग्य नहीं है। देखिए—बाबू बरकया ठाकुर बनाम मुम्बई राज्य और कुछ अन्य[1]। श्रीमती सोमवन्ती और कुछ अन्य बनाम पंजाब राज्य और कुछ अन्य[2] में भी यही बात इस न्यायालय ने दोहराई थी और यह कहा था कि भूमि अर्जन अधिनियम के अधीन घोषणा केवल आवश्यकता के बारे में ही निश्चायक नहीं है बल्कि वैसे भी निश्चायक है क्योंकि वह आवश्यकता ही लोक प्रयोजन थी।

निश्चायक सबूत की परिभाषा भारतीय साक्ष्य अधिनियम में की गई है। इसलिए यह स्पष्ट है कि विधायी शक्ति में निश्चायक सबूत का उपबन्ध करने की भी शक्ति सम्मिलित है जिससे न्यायालय की अधिकारिता को अपवर्जित किया जा सके। घोषणा का प्रयोजन यह है कि इस दृष्टि से किए जाने वाले गुणों और दोषों के आधार पर विधान के मूल्यांकन को अपवर्जित किया जा सके कि क्या इन विधियों का वही परिणाम हुआ है जो आशयित था। यदि यह प्रश्न उठता है कि किसी विधान का, जिसमें ऐसी घोषणा की गई हो क्या अनुच्छेद 39(ख) तथा (ग) के निदेशक तत्वों के साथ सम्बन्ध है तो उस विधान के प्रविषय, उद्देश्य तथा सार पर विचार करने के बाद उस विधान की पहचान करने के प्रयोजन के लिए न्यायालय इस प्रश्न की जांच कर सकता है। अतः पच्चीसवां संशोधन विधिमान्य है।

---

(1) (1961) 1 एस० सी० आर० 128.
(2) (1963) 2 एस० सी० आर० 774.

पिटीशनर की ओर से यह दलील दी गई थी कि अनुच्छेद 31ख भूमि विषयक तथा कृषि सम्बन्धी सुधारों को लागू है, या फिर अनुच्छेद 31ख, अनुच्छेद 31क साथ जुड़ा हुआ है और उसे इस प्रकार ग्रहण किया जाता है जैसे कि वह अनुच्छेद 31क में वर्णित किए गए पांच विषयों से सम्बन्ध रखने वाली विधियों को लागू है। प्रथम संशोधन अधिनियम, 1951 द्वारा यथा अधिनियमित नवम अनुसूची में वर्णित 13 अधिनियम, सम्पदाओं तथा कृषि सम्बन्धी सुधारों के सम्बन्ध में थे। अनुच्छेद 31ख की किसी बात से यह नहीं प्रकट होता है कि उसका सम्बन्ध भी उन्हीं विषयों के साथ है जो अनुच्छेद 31क में वर्णित है। बिहार भूमि सुधार वाले मामले(1) में मुख्य न्यायाधिपति पातञ्जलि शास्त्री ने मामले की रिपोर्ट के पृष्ठ 914-915 पर कहा है कि अनुच्छेद 31ख के प्रारम्भिक शब्दों का आशय, केवल यही स्पष्ट करना है कि अनुच्छेद 31ख में अन्तर्विष्ट किसी बात के कारण अनुच्छेद 31क के लागू होने में कोई रुकावट नहीं आने देना चाहिए। इसके अतिरिक्त उन शब्दों का आशय अनुच्छेद 31क या सम्पदाओं के अर्जन के सम्बन्ध में उसमें निदिष्ट अधिनियमितियों के लागू होने में कोई बाधा उत्पन्न नहीं करना है।

विश्वेश्वर राव बनाम मध्य प्रदेश राज्य(2) में यह कहा गया है कि अनुच्छेद 31ख, अनुच्छेद 31क का दृष्टान्त मात्र है और चूंकि अनुच्छेद 31क केवल उन्हीं सम्पदाओं को लागू है जो उसमें परिभाषित हैं इसलिए अनुच्छेद 31ख भी उसी प्रकार सीमित है। यह दलील नामंजूर कर दी गई और यह कहा गया कि अनुच्छेद 31क के उपबन्धों के बावजूद अनुच्छेद 31ख अनुसूची में वर्णित कुछ अधिनियमों का विधिमान्यकरण करता है तथा अनुच्छेद 31क का दृष्टान्त नहीं है बल्कि उससे बिल्कुल स्वतंत्र है।

इसके अतिरिक्त जीजीभाई बनाम सहायक कलक्टर(3) में यह दलील दी गई थी कि अनुच्छेद 31क और 31ख एक साथ पढ़े जाने चाहिएं और यदि ऐसा किया जाएगा तो यह देखा जाएगा कि अनुच्छेद 31ख केवल उन मामलों का दृष्टान्त प्रस्तुत करता है जो अन्यथा अनुच्छेद 31क के अन्दर आए होते और इसलिए जो अर्थान्वयन अनुच्छेद 31ख का किया जाता है वही अनुच्छेद 31क को लागू होना चाहिए। इस न्यायालय ने इस दलील को स्वीकार नहीं किया। उसने कहा कि "अनुच्छेद 31क में अन्तर्विष्ट उपबन्धों की व्यापकता पर प्रतिकूल प्रभाव डाले बिना" शब्द यह बताते हैं कि नवम अनुसूची में विनिर्दिष्ट अधिनियमों तथा विनियमों को यह छूट उस दशा में भी मिली होती जिसमें कि उन पर संविधान का अनुच्छेद 31क लागू न हुआ होता। यदि नवम अनुसूची का हर अधिनियम, अनुच्छेद 31क के अन्तर्गत आ जाएगा तो अनुच्छेद 31ख निरर्थक हो जाएगा। नवम अनुसूची में वर्णित कुछ अधिनियम अर्थात् मद 14 से 20 तथा नवम अनुसूची में जोड़े गए कुछ अन्य अधिनियम संविधान के अनुच्छेद 31क(2) में यथा परिभाषित सम्पदाओं से सम्बद्ध प्रतीत नहीं होते हैं। इसलिए जीजीभाई वाले मामले(3) में यह

(1) (1952) एस० सी० आर० 889.

(2) (1952) एस० सी० आर० 1020.

(3) (1965) 1 एस० सी० आर० 636.

अभिनिर्धारित किया गया कि अनुच्छेद 31ख, विनिर्दिष्ट कानूनों को इस आधार पर कि वे संविधान के भाग 3 का अतिलंघन करते हैं, आक्षेप से दूर रखने के लिए अपनाई गई सांविधानिक युक्ति थी।

अनुच्छेद 31ख के "अनुच्छेद 31क में अन्तर्विष्ट उपबन्धों की व्यापकता पर प्रतिकूल प्रभाव डाले बिना" शब्द यह बताते हैं कि अनुच्छेद 31ख, अनुच्छेद 31क से बिल्कुल स्वतन्त्र है। अनुच्छेद 31ख तथा अनुसूची का प्रारूपण इस प्रकार किया गया है कि उन पर कोई भी आपत्ति इस आधार पर नहीं की जा सकती है कि वे संविधान के भाग 3 का अतिलंघन करते हैं। अनुच्छेद 31ख के लिए यह आवश्यक नहीं है कि उसका सम्बन्ध किसी विशेष प्रकार के विधान के साथ हो। अनुच्छेद 31ख अनुसूची में वर्णित अधिनियमों तथा विनियमों को मूल अधिकारों पर आधारित चुनौती के विरुद्ध पूरा-पूरा संरक्षण प्रदान करता है। अनुच्छेद 31क पांच विषयों से सम्बन्ध रखने वाली विधियों को अनुच्छेद 14, 19 तथा 31 के आधार पर दी जाने वाली चुनौती से बचाता है, किन्तु यह संरक्षण भूतलक्षी प्रभाव के साथ नहीं दिया गया है। अनुच्छेद 31ख अनुसूची में वर्णित अधिनियमों और विनियमों को बचाता है किन्तु किसी भी अनुसूची में वर्णित अधिनियम के बारे में यह नहीं समझा जाता है कि वह किसी मूल अधिकार के अतिलंघन के आधार पर शून्य है या शून्य हो गई है।

संविधान उन्तीसवें संशोधन अधिनियम की विधिमान्यता का क्षेत्र बहुत सीमित है। अनुच्छेद 31ख के सम्बन्ध में यह न्यायालय अभिनिर्धारित कर चुका है कि यह विधिमान्य संशोधन है। अनुच्छेद 31ख सम्बन्ध में इस न्यायालय ने यह भी अभिनिर्धारित किया है कि यह स्वतन्त्र उपबन्ध है। अनुच्छेद 31 का 31क के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। बिहार भूमि सुधार वाले(2) तथा जीजीभाई वाले मामले(1) इस प्रस्थापना के लिए सुस्थापित नजीरें हैं। इसलिए इससे यह नतीजा निकलता है कि श्री पालखीवाला की यह दलील नहीं मानी जा सकती है कि अधिनियम नवम अनुसूची में तभी सम्मिलित किए जा सकते हैं जब अनुच्छेद 31क की अपेक्षाओं का पालन कर दिया गया हो।

पूर्वगामी कारणों से ये निष्कर्ष निकलते हैं।

पहला यह कि संविधान को संशोधित करने की शक्ति अनुच्छेद 368 में स्थित है। दूसरा यह कि न तो संविधान और न संविधान का संशोधन अनुच्छेद 13 के अर्थ में विधि हो सकता है या विधि है। अनुच्छेद 13 में विधि से संविधान के उपबन्ध के अधीन विधानमण्डल द्वारा अधिनियमित विधियां अभिप्रेत हैं। अनुच्छेद 13(2) में विधि से संविधान अभिप्रेत नहीं है। संविधान उच्चतम विधि है। तीसरा यह कि संविधान का संशोधन संविधायी शक्ति का प्रयोग है। हम सम्मान के साथ कहना चाहते हैं कि गोलक नाथ वाले मामले(3) में बहुमत का फैसला गलत है। चौथा यह कि संशोधन

(1) (1965) 1 एस० सी० आर० 636.
(2) (1952) एस० सी० आर० 889.
(3) (1967) 2 एस० सी० आर० 762.

विषयक शक्ति पर कोई भी अभिव्यक्त निर्बन्धन नहीं है। पांचवां यह कि संशोधन विषयक शक्ति के लिए कोई भी विवक्षित या अन्तर्निहित परिसीमाएं नहीं हैं। न तो प्रस्तावना और न अनुच्छेद 13(2) किसी भी प्रकार संशोधन विषयक शक्ति पर परिसीमा है। छठा यह कि संशोधन करने की शक्ति बड़ी विस्तृत है तथा उसकी कोई सीमा नहीं है। संशोधन करने की शक्ति से संविधान के किसी भी उपबन्ध में परिवर्धन, परिवर्तन या निरसन करने की शक्ति अभिप्रेत है। संविधान के सारभूत तथा गौण तत्वों में न तो कोई ऐसा भेद हो सकता है और न है कि जो तथाकथित सारभूत तत्वों के संशोधन की राह में कोई रुकावट खड़ी करे। संसद् संविधायी शक्ति का प्रयोग करते हुए इस संविधान के किसी उपबन्ध को संशोधित कर सकती है। अनुच्छेद 368 के अधीन संशोधन करने की शक्ति परिवर्धित भी की जा सकती है। चौबीसवां संशोधन विधिमान्य है। श्री पालखीवाला की इस दलील के उत्तर में कि संशोधन की शक्ति यदि बिना किसी सीमा के दे दी गई तो उसके अन्तर्गत संविधान को निराकृत करने की शक्ति भी प्राप्त हो जाएगी महान्यायवादी तथा श्री सीरवाई ने यह ठीक ही कहा है कि संशोधन से संविधान का निराकरण या सम्पूर्ण निरसन मात्र ही अभिप्रेत नहीं है। महान्यायवादी तथा श्री सीरवाई ने इस बात पर जोर दिया कि संशोधनों के बाद एक ऐसा संघटनात्मक तन्त्र शेष रहेगा जिसमें राज्य के लिए संविधान संगठन तथा प्रणाली का उपबन्ध किया गया है। यदि संविधान का विकास नहीं होने दिया जाएगा तो वह धीरे-धीरे समाप्त हो जाएगा। यही कारण है कि प्रत्यर्थियों की की ओर से इस बात पर जोर दिया गया है कि सांविधानिक रीति से किए गए सुव्यवस्थित तथा शान्तिपूर्ण परिवर्तनों के अन्तर्गत संविधान के सब उपबन्धों में होने वाले ऐसे सब संशोधन आ जाएंगे जो अन्ततः "और इस संविधान का संशोधन" के अन्तर्गत समझे जाएंगे।

पच्चीसवां संशोधन विधिमान्य है। नियत राशि की पर्याप्तता अथवा उल्लिखित सिद्धान्तों के सम्बन्ध में न्यायिक पुनर्विलोकन नहीं किया जा सकता है। अनुच्छेद 31(2ख) का संशोधन विधिमान्य है। अनुच्छेद 31(2) आत्मनिर्भर है तथा अनुच्छेद 31(2) और 19(i)(च) इस प्रकार के हैं कि वे एक दूसरे का अपवर्जन करते हैं। संशोधन के पहले मूल अधिकार विधिमान्य था और अब चौबीसवें संशोधन के बाद विधिमान्य है। अनुच्छेद 31ग संविधान को संशोधित करने की कोई भी शक्ति राज्यों के विधानमण्डल को न तो प्रत्यायोजित करती है और न उनको प्रदान करती है। अनुच्छेद 31ग ऐसे किसी विधान से, जो अनुच्छेद 39(ख) और (ग) के अधीन निदेशक तत्वों को प्रभावी करता हो, भाग 3 के निर्बन्धनों को केवल हटाने का काम करता है। ऐसे विधान वर्ग के बारे में, जो अनुच्छेद 31ग के अधीन आता हो, विधान बनाने की संसद् की तथा राज्यों के विधानमण्डलों की शक्ति को अनुच्छेद 14, 19 तथा 31 से मुक्त कर दिया गया है।

नवम अनुसूची में उन्तीसवें संशोधन द्वारा केरल अधिनियम, 1969 (1969 का 35) तथा केरल अधिनियम, 1971 (1971 का 25) का सम्मिलित किया जाना विधिमान्य है। अनुच्छेद 31ख अनुच्छेद 31क से बिल्कुल स्वतन्त्र है।

इसके परिणामस्वरूप श्री पालखीवाला की दलीलें व्यर्थ हो गई हैं। प्रत्येक पक्षकार अपने-अपने खर्चों का संदाय स्वयं करेगा तथा उसका वहन करेगा। ये पिटीशन विधि के अनुसार निपटाए जाने के लिए संविधान न्यायपीठ के सामने प्रस्तुत किए जाएंगे।

न्यायाधिपति रेड्डी—

हमारे समक्ष जो विस्तृत दलीलें 66 दिनों तक दी जाती रही हैं उन्हें माननीय मुख्य न्यायाधिपति ने अपने निर्णय में (जो अभी सुनाया गया है) वर्णित कर दिया है। मैं उक्त दलीलों में से केवल उन्हीं पर विचार करूंगा जो सुसंगत विवाद्यक तय करने के लिए आवश्यक हैं। यद्यपि मैं मुख्य न्यायाधिपति के कुछ निष्कर्षों से सहमत हूं—किन्तु चूंकि निष्कर्ष पर पहुंचने का दृष्टिकोण उतना ही महत्वपूर्ण है जितना कि निष्कर्ष स्वयं है, और विशेष कर ऐसे विषयों की बाबत जो ऐसे महत्वपूर्ण सांविधानिक प्रश्नों से सम्बन्धित हैं जिनका इस देश की जनता की मौलिक स्वतन्त्रता पर और राज्य की नीति के निदेशक तत्वों के अधीन राज्य के लिए प्राप्तव्य सामाजिक उद्देश्यों पर व्यापक प्रभाव पड़ता है—इसलिए उन निष्कर्षों के लिए मैं अपना दृष्टिकोण अपने ही ढंग से व्यक्त करना आवश्यक समझता हूं।

प्रस्तुत मामले में 1971 के संविधान (चौबीसवां संशोधन) और (पच्चीसवां संशोधन) अधिनियम की विधिमान्यता पर इस आधार पर आपत्ति की गई है कि वे संविधान के अनुच्छेद 368 द्वारा संसद् को प्रदत्त संशोधन शक्ति की सीमाओं के बाहर हैं और फलस्वरूप वे अविधिमान्य हैं।

चौबीसवें संशोधन की विधिमान्यता दो महत्वपूर्ण अनुच्छेदों (13 और 368) और दो शब्दों—प्रत्येक अनुच्छेद में एक, अर्थात् अनुच्छेद 13 में 'विधि' शब्द और अनुच्छेद 368 में 'संशोधन' शब्द पर आश्रित है। इन अनुच्छेदों के वास्तविक आशय एवं विस्तार को समझने के प्रयोजन से आई० सी० गोलक नाथ और कुछ अन्य बनाम पंजाब राज्य[1] (जिसे आगे महत्वपूर्ण बहुमत निर्णय कहा गया है) में न्यायालय ने पहली बार बुनियादी प्रश्न पर विचार किया था कि भारत के संविधान को संशोधित करने की शक्ति कहां से प्राप्त हुई है? मुख्य न्यायाधिपति सुब्बा राव ने, जिनसे न्यायाधिपति शाह और सीकरी (जैसे कि वे उस समय थे) तथा न्यायाधिपति शैलत और वैद्यलिंगम् ने सहमति प्रकट की थी, यह अभिनिर्धारित किया था कि संशोधन-शक्ति अनुसूची 7 की सूची 1 की प्रविष्टि 97 के साथ पठित अनुच्छेद 245, 246 और 248 द्वारा, न कि अनुच्छेद 368 द्वारा, जो केवल संशोधन-प्रक्रिया विहित करता है, दी गई है। न्यायाधिपति हिदायतुल्लाह ने (जैसे कि वे उस समय थे) अपने सम्मत निर्णय में यह अभिनिर्धारित किया था कि संशोधन-प्रक्रिया, यदि उसे शक्ति कहा जाए तो विधायी शक्ति है, किन्तु यह शक्ति अपने बल से प्रभावी होती है और वह संविधान की तीनों सूचियों से परे है और यह कि अनुच्छेद 368 उस प्रक्रिया की रूपरेखा विहित करता है जिसे यथावत रूप में पालन करने

(1) (1967) 2 एस० सी० आर० 762.

से संविधान संशोधित हो जाता है। अत: उनका मत था कि उक्त अनुच्छेद किसी विशिष्ट व्यक्ति या व्यक्तियों को कोई शक्ति प्रदान नहीं करता है। अनुच्छेद में नामित सभी प्राधिकारियों को उद्देश्य-प्राप्ति के लिए उसकी शब्दावली के अनुसार ही कार्य करना है।

न्यायाधिपति वांचू (जैसे कि वे उस समय थे) ने अपनी ओर न्यायाधिपति बछावत एवं रामस्वामी की ओर से, यह निष्कर्ष निकाला था कि संशोधन-शक्ति अनुच्छेद 368 में ही, न कि सूची 1 की प्रविष्टि 97 के साथ पठित अनुच्छेद 245, 246 और 248 में निहित है।

अत: महाराष्ट्र के विद्वान् अधिवक्ता की पहली दलील यह थी कि महत्वपूर्ण निर्णय में यह निष्कर्ष कि मूल अधिकार संशोधित नहीं किए जा सकते हैं, इस विनिश्चय पर आधारित था कि संशोधन-शक्ति अनुसूची 7 को सूची 1 की प्रविष्टि 97 के साथ पठित अनुच्छेद 248 में विद्यमान है। इस निष्कर्ष का कोई आधार नहीं है क्योंकि छः न्यायाधिपतियों ने यह अभिनिर्धारित किया था कि संशोधन-शक्ति सूची 1 की प्रविष्टि 97 के साथ पठित अवशिष्ट अनुच्छेद 248 में विद्यमान नहीं है। उनकी दूसरी दलील यह थी कि यह निष्कर्ष कि मूल अधिकार संशोधित नहीं किए जा सकते हैं महत्वपूर्ण बहुमत निर्णय में इस आधार पर निकाला गया था कि अनुच्छेद 245 के प्रारम्भिक शब्द उस अनुच्छेद पर अनुच्छेद 13(2) लागू कर देते हैं और इसलिए सूची 1 की प्रविष्टि 97 के अधीन संविधान को संशोधित करने वाली विधि अनुच्छेद 245 में निर्दिष्ट विधि है और चूंकि ऐसी विधि अनुच्छेद 13(2) के प्रतिकूल है, अत: वह शून्य है।

पुन: यह दलील दी गई कि इस निष्कर्ष की विधिमान्यता तभी समाप्त हो गई जबकि पांच न्यायाधिपतियों ने यह अभिनिर्धारित किया कि संशोधन शक्ति सूची 1 की प्रविष्टि 97 में अन्तर्विष्ट न होकर अनुच्छेद 368 में अन्तर्विष्ट है। न्यायाधिपति हिदायतुल्लाह के इस निष्कर्ष की दृष्टि से कि संशोधन शक्ति और संशोधन की प्रक्रिया, दोनों ही अनुच्छेद 368 में मौजूद हैं, उन्होंने यह मत व्यक्त किया था कि निर्णयाधार यदि वह यह है, कि संशोधन शक्ति अवशिष्ट अनुच्छेद में न होकर अनुच्छेद 368 में विद्यमान है, इस न्यायालय पर आबद्धकर नहीं होता है। इस तर्क की कोई विधिमान्यता नहीं है क्योंकि विनिश्चय का निर्णयाधार, जहां तक कि न्यायालय के समक्ष विनिश्चय के लिए कोई सीधा प्रश्न उठाया गया हो, वह होता है जो वह विनिश्चित करता है और उस दशा में संशोधन शक्ति जहां भी प्राप्य हो, चाहे वह अनुच्छेद 368 में प्राप्य हो या चाहे अनुसूची 7 की सूची 1 की अवशिष्ट प्रविष्टि 97 में, विवाद यह था कि अनुच्छेद 368 के अधीन किया गया संशोधन अनुच्छेद 13(2) के अर्थान्तर्गत 'विधि' है या नहीं और यदि वह संशोधन विधि है तो राज्य ऐसी कोई विधि नहीं बना सकता है जो भारत के संविधान के भाग 3 द्वारा दिए गए अधिकारों को छीनती या न्यून करती है। चूंकि उक्त प्रश्न का उत्तर बहुमत ने 'हां' में दिया था अतः गोलक नाथ वाले मामले[1] का विनिश्चय यह हुआ कि अनुच्छेद 368 के अधीन संशोधन अनुच्छेद 13(2) के अर्थान्तर्गत 'विधि' है। उक्त महत्वपूर्ण बहुमत निर्णय में यह विनिश्चित नहीं किया गया था कि क्या अनुच्छेद 368 को भी उस अनुच्छेद के परन्तुक के अधीन, जो सम्पूर्ण संविधान को संशोधित

करने की शक्ति प्रदान करता है, संशोधित किया जा सकता है। पृष्ठ 805 पर मुख्य न्यायाधिपति सुब्बा राव ने यह मत व्यक्त किया कि "अनुच्छेद 368 के प्रविषय और मूल अधिकारों के पारस्परिक सम्बन्ध के बारे में जो हमने दृष्टिकोण अपनाया है उसके अनुसार इस प्रश्न पर अपनी राय व्यक्त करना हमारे लिए अनावश्यक है कि मूल अधिकारों का संशोधन अनुच्छेद 368 के परन्तुक के अन्तर्गत आता है या नहीं। अल्पमत के पांच न्यायाधिपतियों ने यद्यपि यह अभिनिर्धारित किया था कि अनुच्छेद 368 के अधीन दी गई शक्ति और उक्त अनुच्छेद द्वारा विहित प्रक्रिया का अनुसरण करके संविधान के किसी भी अनुच्छेद को संशोधित किया जा सकता है तथापि न्यायाधिपति हिदायतुल्लाह ने यह अभिनिर्धारित किया था कि संसद् अनुच्छेद 368 को संशोधित करके वह अप्रत्यक्षतः ऐसा कार्य नहीं कर सकती है जो वह प्रत्यक्षतः नहीं कर सकती है अर्थात् वह अनुच्छेद 13(2) के प्रतिकूल नहीं कर सकती है अथवा उसके किसी भी उपबन्ध को निष्फल नहीं बना सकती है क्योंकि, जैसा कि उन्होंने कहा है, संविधान के प्रत्येक उपबन्ध को संशोधित किया जा सकता है। केवल दो दर्जन अनुच्छेद ही अनुच्छेद 368 के परे हैं और यह इसलिए कि संविधान द्वारा वे बुनियादी अनुच्छेद माने गए हैं (देखिए—पृष्ठ 878 अतः इस निवेदन के लिए आधार मौजूद है कि गोलक नाथ वाले मामले[1] में यह प्रश्न तय नहीं किया गया है (जो प्रश्न इस न्यायालय के समक्ष अब उत्पन्न हुआ है) कि क्या अनुच्छेद 368 के अधीन संशोधन शक्ति के प्रयोग द्वारा भाग 3 में विहित मूल अधिकार भी संशोधित किए जा सकते हैं। चाहे जो भी हो छः न्यायाधिपतियों में से पांच ने यह मत व्यक्त किया है कि संसद् मूल अधिकार सम्बन्धी उपबन्ध संशोधित कर सकती हैं।

यह भी दलील दी गई है कि गोलक नाथ वाले मामले[1] में विनिश्चयार्थ यह प्रश्न वस्तुतः उत्पन्न नहीं हुआ था कि संसद् भविष्य में मूल अधिकार संशोधित नहीं कर सकती है क्योंकि उक्त मामले का सम्बन्ध मूल अधिकारों में पहले ही किए गए संशोधनों से था और इसलिए मुख्य न्यायाधिपति सुब्बा राव, न्यायाधिपति हिदायतुल्लाह के बहुमत निर्णयों में अभिव्यक्त मत, जो संशोधन शक्ति के भविष्य में प्रयोग से सम्बन्धित था, पूर्णतः इतरोक्ति (ओबिटर) है। यह ध्यान देने की बात है कि बहुमत निर्णय और अल्पमत निर्णय, दोनों ही पिटीशन खारिज करने के लिए सहमत नहीं थे। बहुमत निर्णय का आधार यह था कि प्रथम, चतुर्थ और सप्तम संशोधन न तो भविष्यलक्षी प्रभाव के सिद्धान्त (प्रास्पैक्टिव ओवर रूलिंग) के आधार पर और न उपमति (एक्यूसेन्स) के आधार पर ही और न ही इस आधार पर कि वे संशोधन अनुच्छेद 368 के अधीन वाली संशोधन शक्ति के विधिमान्य प्रयोग के आधार पर किए गए हैं, प्रभावित नहीं हुए हैं। इस आधार पर यह दलील दी गई थी कि इस बाबत कोई निर्णयाधार उक्त मामले में उपलब्ध नहीं है कि संसद् मूल अधिकार संशोधित नहीं कर सकती है। अतः ऐसा कोई भी निर्णयाधार इस न्यायालय पर आबद्धकर नहीं है और न इस बाबत ही

(1) (1967) 2 एस० सी० आर० 762.

कोई निर्णयाधार उपलब्ध है कि संसद् अनुच्छेद 368 को संशोधित करके मूल अधिकारों को छीन ले या उन्हें न्यून कर दे।

चाहे प्रथम, चतुर्थ और सप्तम संशोधन के बारे में अभिनिर्धारण विधिमान्य हो या न हो, उक्त अधिनियम का निर्णयाधार, जैसा कि पहले बताया गया है, यह है कि अनुच्छेद 368 के, अपने संशोधन से पूर्व रूप में, अधीन संसद् संविधान को इस प्रकार संशोधित नहीं कर सकती है कि संविधान के भाग 3 द्वारा प्रदत्त मूल अधिकारों में से कोई भी अधिकार छिन जाए या न्यून हो जाए और यह प्रश्न तभी महत्वपूर्ण होगा जबकि यह न्यायालय इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि न्यायाधिपति हिदायतुल्लाह का यह विनिश्चय कि संसद् अनुच्छेद 368 के परन्तुक (ङ) को इस प्रकार संशोधित नहीं कर सकती है कि जिससे मूल अधिकारों में से कोई अधिकार छिन जाए या न्यून हो जाए या अनुच्छेद 13(2) को इस प्रकार संशोधित कर दे कि ऐसा संशोधन अनुच्छेद 368 के अधीन संशोधन मान लिया जाए। यदि ऐसी कोई शक्ति विद्यमान है तो यह प्रश्न कि अनुच्छेद 368 के अधीन संशोधन अनुच्छेद 13(2) के अर्थान्तर्गत 'विधि' है या नहीं, स्पष्टतः महत्वपूर्ण न होगा। उक्त समस्या के दो पहलू हैं—(1) क्या अनुच्छेद 13(2) में प्रयुक्त 'विधि' शब्द के अन्तर्गत अनुच्छेद 368 के अधीन किया गया सांविधानिक संशोधन है; और (2) यदि यह न्यायालय यह अभिनिर्धारित करता है कि अनुच्छेद 13(2) में प्रयुक्त 'विधि' शब्द के अन्तर्गत अनुच्छेद 368 के अधीन किया गया संशोधन नहीं है तो प्रश्न यह उत्पन्न होगा कि क्या संविधान (चौबीसवां संशोधन) अधिनियम द्वारा सम्बन्धित संशोधन से ऐसी किसी शक्ति का प्रयोग तात्पर्यित है जो उस अनुच्छेद के अधीन नहीं दी गई है? दूसरे शब्दों में क्या अनुच्छेद 368 के अधीन संशोधन पर कुछ प्रतिबन्ध लगाए गए हैं? यदि ऐसे कोई प्रतिबन्ध लगाए गए हैं तो जैसा कि न्यायाधिपति हिदायतुल्लाह ने अभिनिर्धारित किया है, अनुच्छेद 368 के अधीन संसद् को दी गई संशोधन-शक्ति संविधायी शक्ति नहीं है और उस शक्ति के अधीन किया गया कोई भी संशोधन ऐसी विधायी शक्ति का प्रयोग है जो अनुच्छेद 13(2) के अर्थान्तर्गत 'विधि' है, तो संसद् अप्रत्यक्षतः ऐसा कोई कार्य नहीं कर सकती है जो वह प्रत्यक्षतः नहीं कर सकती है।

विनिश्चयार्थ पहला प्रश्न यह उत्पन्न हुआ है कि अनुच्छेद 13(2) में प्रयुक्त 'विधि' शब्द का क्या महत्व है और क्या ऐसा कोई आन्तरिक साक्ष्य मौजूद है जिससे यह पता चलता हो कि उस शब्द के अन्तर्गत अनुच्छेद 368 के अधीन किया गया संशोधन भी आता है और यदि ऐसा है तो उस पर कोई प्रतिबन्ध हैं और यदि हैं तो वे क्या हैं? दलील यह दी गई है कि अनुच्छेद 13(2) में प्रयुक्त 'विधि' के अन्तर्गत न केवल साधारण विधायी विधि ही आती है वरन् उसके अन्तर्गत सांविधानिक विधि भी है।

मेरे विचार से इस प्रश्न पर विचार करना आवश्यक नहीं होगा कि अनुच्छेद 368 के अधीन संशोधन सांविधानिक शक्ति के प्रयोग में नहीं किया जाता है वरन् वह संविधान-सभा द्वारा किया जाता है, यदि भाग 3 के उपबन्धों की परीक्षा से ऐसा कोई आन्तरिक साक्ष्य मिल जाए, जिससे अनिवार्यतः यह निष्कर्ष निकले कि अनुच्छेद 13(2) का उद्देश्य तथाकथित विधानमण्डल द्वारा अनुच्छेद 368 के अधीन संविधान के संशोधन

है, जो मिलकर सामान्य अर्थों में 'विधि' ही है [जैसा कि शंकरी प्रसाद सिंह देव बनाम भारत संघ और बिहार राज्य(1) सज्जन सिंह बनाम राजस्थान राज्य(2) और गोलक नाथ वाले मामले(3) में कुछ विद्वान् न्यायाधिपतियों ने मत व्यक्त किया है] भिन्न बताई गई विधि पर प्रतिबन्ध लगाता है। संविधान के निर्माताओं ने अनुच्छेद 13 के खण्ड (3) के उपखण्ड (क) में 'विधि' शब्द परिभाषित किया है और इस परिभाषा से स्पष्टतः यह प्रकट होता है कि यह उक्त अनुच्छेद 13 के खण्ड (2) को ही लागू होती है। किन्तु वह उक्त अनुच्छेद के खण्ड (1) को भी लागू होगी। यह बात 'यदि प्रसंग से दूसरा अर्थ अपेक्षित न हो' पद से प्रकट होती है। जबकि 'प्रवृत्त विधियों' पद खण्ड (1) के प्रयोजनों के लिए खण्ड (3) के उपखण्ड (ख) में इस प्रकार परिभाषित किया गया है कि उसमें ऐसी विधि भी आती है जिसे किसी विधानमण्डल या अन्य क्षमताशाली प्राधिकारी ने इस संविधान के प्रारम्भ से पूर्व पारित अथवा निर्मित किया है, तथापि अध्यादेश, उपविधि, नियम, विनियम, अधिसूचनाएं, रूढ़ियां, प्रथाएं, जो भारत के राज्यक्षेत्र में विधि के समान प्रभावी हैं और जो अनुच्छेद 372 द्वारा व्यावृत्त हैं, खण्ड (3) के उपखण्ड (क) के आधार पर अनुच्छेद 13 के खण्ड (1) को समान रूप से लागू होती है।

पुनश्च: यद्यपि खण्ड (3) के उपखण्ड (क) में 'विधि' शब्द को सम्मिलित करने वाली परिभाषा दी गई है और उसमें विनिर्दिष्टतः ऐसी विधि का हवाला नहीं दिया गया है जिसे संसद् ने या राज्य विधानमण्डल ने बनाया है, तथापि यह नहीं हो सकता है, और न इस तथ्य से इन्कार ही किया गया है कि उनके द्वारा बनाई गई विधियां अनुच्छेद 13(2) के अर्थान्तर्गत 'विधि' हैं। दलील यह दी गई थी कि उसमें संविधान-संशोधन या सांविधानिक विधि भी सम्मिलित है। इस प्रस्थापना के समर्थन के लिए कोई विस्तृत तर्क देना आवश्यक नहीं है कि अनुच्छेद 13(2) में प्रयुक्त 'विधि' शब्द में संसद् या राज्य विधानमण्डल द्वारा निर्मित विधि भी सम्मिलित है। जबकि अपनी विधायी शक्ति से अनुच्छेद 123 के अधीन राष्ट्रपति या अनुच्छेद 213 के अधीन राज्यपाल द्वारा निर्मित अध्यादेश का, उक्त अनुच्छेदों के उपखण्ड (2) के अधीन वही बल और प्रभाव होता है जो, यथास्थिति, राष्ट्रपति या राज्यपाल द्वारा अनुमत संसद्-अधिनियम या राज्य विधानमण्डल के अधिनियम का होता है और उसे (अध्यादेश) अनुच्छेद 13(3)(क) में सम्मिलित कर लिया गया है तो अनुच्छेद 245 के अधीन, जो विनिर्दिष्टतः संसद् को भारत के सम्पूर्ण राज्यक्षेत्र अथवा उसके किसी भाग के लिए विधि बनाने तथा किसी राज्य के विधानमण्डल को उस सम्पूर्ण राज्य के लिए अथवा उसके किसी भाग के लिए विधि बनाने की शक्ति प्रदान करता है, संसद् या राज्य विधानमण्डल द्वारा पारित विधि भी 'विधि' शब्द के अन्तर्गत आएगी। अनुच्छेद 246 से लेकर 255 तक सप्तम अनुसूची की सम्बन्धित सूचियों के अधीन विधि बनाने के सम्बन्ध में संसद् एवं राज्य-विधानमण्डलों के बीच विधायी-शक्ति के वितरण के बारे में हैं। साथ ही

(1) (1952) एस० सी० आर० 89.

(2) (1965) एस० सी० आर० 933.

(3) (1967) 2 एस० सी० आर० 762.

अनुच्छेद 248(1) और (2) में यह भी उल्लेख कर दिया गया है कि संसद् को ऐसे किसी विषय के बारे में, जो 'समवर्ती सूची' अथवा 'राज्य-सूची' में प्रगणित नहीं है, विधि बनाने की अनन्य शक्ति है। इस शक्ति में ऐसे कर, जो उन सूचियों में से किसी में वर्णित नहीं है, लगाने के लिए कोई विधि बनाने की शक्ति भी सम्मिलित है।

जबकि अनुच्छेद 13(3)(क) में 'विधि' शब्द की परिभाषा के अन्दर रूढ़ि या प्रथा को, जिसका भारत राज्यक्षेत्र में विधि के समान प्रभाव हो, विनिर्दिष्टतः सम्मिलित कर लिया गया है, और भले ही उसमें अनुच्छेद 368 के अधीन संशोधन का या संसद् अथवा विधानमण्डल द्वारा निर्मित विधि का विनिर्दिष्टतः उल्लेख नहीं किया गया है, फिर भी उसके अन्तर्गत ऐसी विधि अवश्य है जो उक्त विधायी-निकायों ने संविधान के उपरोक्त विधायी उपबन्धों के अधीन बनाई है। संशोधन-शक्ति के महत्व को ध्यान में रखते हुए, चाहे संविधायी शक्ति (कांस्टिट्यूएण्ट पॉवर) कहा जाए या चाहे नियत-शक्ति (कांस्टिट्यूटेड पॉवर) कहा जाए, विनिर्दिष्टतः उसे सम्मिलित करने में लोप करने से, यह दलील दी गई है, यह प्रकट होता है कि संविधान निर्माताओं के ध्यान में यह बात नहीं थी कि अनुच्छेद 13(2) में उपबन्धित प्रतिबन्ध अनुच्छेद 368 के अधीन संशोधन को भी लागू कर दिया जाए। मेरे विचार से यह सोचना गलत है कि संविधान निर्माताओं ने अनुच्छेद 13(3) में प्रयुक्त 'विधि' शब्द की परिभाषा में छोटे-छोटे विधायी अधिनियमों को तो सम्मिलित कर दिया है, किन्तु उन्होंने उसमें संविधान के संशोधनों को सम्मिलित करना उचित नहीं समझा, जबकि उस दिशा में संविधान-सभा में संविधान के पारित होने के अन्तिम समय तक, प्रयत्न किए जाते रहे हैं। यह दलील दी गई है कि इस प्रश्न का उत्तर यह हो सकता है कि चूंकि निर्माताओं ने उस परिभाषा के अन्तर्गत विधानमण्डल द्वारा निर्मित विधि को विनिर्दिष्टतः सम्मिलित नहीं किया है, अतः सभी विधियां चाहे वे विधायी हों या चाहे संविधान-संशोधन हों उसकी परिधि के अन्तर्गत हैं। इस दृष्टि से यह दलील महत्वहीन हो जाती है कि नियम, उपविधि, विनियम और अधिसूचना, जिनका स्रोत और अस्तित्व विधायी-विधि ही है—जैसी विधियों के प्रगणन से यह स्पष्टतः दर्शित होता है कि उसमें संसद् या राज्य-विधानमण्डलों द्वारा निर्मित विधि भी सम्मिलित है। प्रारूप, अनुच्छेद (ड्राफ्ट आर्टिकल) के विभिन्न प्रक्रमों पर विचार करते समय मैं यह बताऊंगा कि इस सब का कारण यह नहीं है कि निर्माताओं ने परिभाषा पर की गई आपत्तियों या उसके दोषों पर अतिसावधानीपूर्वक विचार नहीं किया है।

सबसे पहले इस बात की परीक्षा करना आवश्यक है कि क्या 'विधि' शब्द को सम्मिलित करने वाली परिभाषा के संदर्भ में, और इस बात को ध्यान में रखते हुए कि अनुच्छेद 368 के अधीन किया गया संशोधन भी 'विधि' कहा जा सकता है, यह प्रतिषेध, कि राज्य भाग 3 के किसी भी उपबन्ध के अधीन प्रदत्त अधिकार को छीन या न्यून नहीं कर सकता है, केवल ऐसी विधियों को ही लागू होता है, जिनका हवाला मैं विशिष्टतः ऊपर दे चुका हूं, अर्थात् संसद् या राज्य के विधानमण्डलों द्वारा निर्मित और अनुच्छेद 13(3)(क) में उल्लिखित विधि। मेरे विचार से अनुच्छेद 14, अनुच्छेद 16

के खण्ड (3) और (5), अनुच्छेद 17, अनुच्छेद 19 के खण्ड (2) से (6) अनुच्छेद 20 और 21, अनुच्छेद 22 के खण्ड (4) और (7), अनुच्छेद 23 के खण्ड (1), अनुच्छेद 25 के खण्ड (2), अनुच्छेद 31, अनुच्छेद 32 के खण्ड (3), अनुच्छेद 33 और 34 तथा अनुच्छेद 55 के खण्ड (क) में निर्दिष्ट विधि ऐसी है, जिसके अधिनियमन की अपेक्षा संसद् या राज्य विधानमण्डल से या यथा स्थिति दोनों से हो, भाग 3 द्वारा प्रदत्त अधिकारों को प्रभावी बनाने के लिए या उन्हें निर्बन्धित करने के लिए की गई है"। दूसरे शब्दों में, उसमें अनुज्ञेय परिसीमाएं उल्लिखित कर दी गई हैं। साथ ही अनुच्छेद 15 में 'विशेष उपबन्ध' और अनुच्छेद 1८ के खण्ड (4) में राज्य द्वारा किए जाने वाले कोई भी उपबन्ध, और अनुच्छेद 23 के खण्ड (2) में सार्वजनिक प्रयोजनों के लिए राज्य द्वारा आव्य-सेवा लागू करने या अनुच्छेद 28 के अधीन राज्य को कोई कार्यवाही करने से रोकने या उसे ऐसी कोई कार्यवाही करने की अनुज्ञा देने, अनुच्छेद 29 के खण्ड (2) और अनुच्छेद 30 के खण्ड (2) के अधीन कार्यवाही करने सम्बन्धी व्यवस्था या तो साधारण विधायी विधि द्वारा की जा सकती है या फिर सरकारी आदेश या अधिसूचना द्वारा, जो चाहे किसी भी विधि के अधीन हो या न हो किन्तु जो भारत-सरकार या राज्य सरकार की पूर्णतः कार्यपालक-शक्ति के, जिसका विधि के समान प्रभाव हो, प्रयोग में निकाला या निकाली गई हो, की जा सकती है।

जहां युक्तियुक्त प्रतिबन्ध लगाना अनुज्ञात किया गया है, जैसा कि अनुच्छेद 19 के खण्ड (2) से (6) में है, या जहां (अनुच्छेद 33 के अधीन) सशस्त्र बलों या सार्वजनिक व्यवस्था बनाए रखने के लिए तैनात बलों के सदस्यों के सम्बन्ध में भाग 3 में उल्लिखित मूल अधिकारों को प्रतिबन्धित करने या पूर्णतः निराकृत करने की शक्ति दी गई है या जहां संघ या राज्य की सेवा में लगे व्यक्तियों या किन्हीं अन्य व्यक्तियों की क्षतिपूर्ति उपबन्धित है, वहां भी इस बाबत विधि बनाने की शक्ति संसद् को ही दी गई है। यह ध्यान देने की बात है कि अनुच्छेद 35 'विफलीकरण खण्ड' (नान आब्स्टेण्टे क्लाज) से प्रारम्भ हुआ है अर्थात् 'इस संविधान में किसी बात के होते हुए भी' (क) संसद् को शक्ति होगी तथा किसी राज्य के विधानमण्डल को शक्ति न होगी कि·········
······ विधि बनाए······ ··········· "। इस खण्ड के कारण ही उसमें वर्णित विषयों की बाबत विधायी-शक्ति अनन्यतः संसद् को प्राप्त हो गई है। यह शक्ति उसे अन्यथा प्राप्त नहीं हो सकती थी क्योंकि उनमें (शक्ति) से कुछ का प्रयोग राज्य-विधानमण्डल ही कर सकते थे। किन्तु न्यायाधिपति हिदायतुल्लाह् का यह मत था कि अनुच्छेद 35 की आरम्भिक शब्दावली 'विफलीकरण खण्ड' से भी कुछ अधिक है और उसमें से अनुच्छेद 368 अपवर्जित कर दिया गया है। उक्त निष्कर्ष आस्ट्रेलिया के संविधान के अनुच्छेद 105ए से उक्त अनुच्छेद की तुलना पर आधारित है। इस बाबत (अनुच्छेद 105ए) न्यू साउथ वेल्स बनाम कॉमनवल्थ([1]) में यह अभिनिर्धारित किया गया है कि वह धारा 128 का अपवाद है। [देखिए—गोलक नाथ वाला मामला([2]),

---

([1]) 46 सी० एल० आर० 155.

([2]) (1967) 2 एस० सी० आर० 762.

पृष्ठ 902] किन्तु आस्ट्रेलिया उच्च न्यायालय के इस मत से वाइन्स सहमत नहीं थे। (देखिए—लेजिसलेटिव, एक्जीक्यूटिव एण्ड जुडीशियल पॉवर्स इन आस्ट्रेलिया, पृष्ठ 695-698) । इस मत से न्यायाधिपति हिदायतुल्लाह सहमत नहीं थे। मेरे विचार से अन्य संविधान के अधीन उत्पन्न हुए मामलों का अवलम्ब लेना सुरक्षित नहीं है। साथ ही विषय-वस्तु की दृष्टि से अनुच्छेद 36 भी आस्ट्रेलिया के संविधान के अनुच्छेद 105ए के समान नहीं है क्योंकि अनुच्छेद 105ए उसके ही अधीन किए गए वित्तीय करार की आबद्धकर प्रकृति के बारे में है। अतः सादृश्यता ठीक नहीं है। अनुच्छेद 36 की विषयवस्तु में ऐसा कोई भी उपबन्ध नहीं है जिसके आधार पर अनुच्छेद 368 के अधीन संशोधन से उसे बचाया जा सके। दूसरी ओर से यह अनुच्छेद संसद् को मूल अधिकार प्रभावी बनाने के लिए सशक्त करता है और अनुच्छेद 368 के अधीन संशोधन-शक्ति को सीमित करने की बावत उसमें कोई संकेत नहीं है।

यह सच है कि स्वयं संविधान में ही वे प्रतिबन्ध उल्लिखित कर दिए गए हैं जो भाग 3 में गारण्टी किए गए मूल अधिकारों पर लगाए जा सकते हैं, किन्तु उन प्रतिबन्धों को साधारण विधि द्वारा ही, न कि सांविधानिक विधि द्वारा, प्रभावी बनाया जा सकता है और उन प्रतिबन्धों को लगाने के लिए संविधान-संशोधित करना आवश्यक नहीं है। जब कोई अधिकार नागरिक को दिया गया है तो उस अधिकार को किस सीमा तक निर्बन्धित किया जा सकता है या जब राज्य किसी विशिष्ट रीति में कार्य करने से रोक दिया गया है तो उसे किस सीमा तक छूट दी जा सकती है—यह सब विषय साधारण विधि द्वारा विनियमित किए जा सकते हैं। यदि ऐसा है तो यह स्पष्ट है कि अनुज्ञात सीमाओं से परे जाने के विरुद्ध प्रतिबन्ध उसी राज्य पर लगाया जाना चाहिए जो ऐसी विधि निर्मित करता है। ऐसी परिस्थिति में क्या यह कहा जा सकता है कि संविधान-निर्माताओं का यह आशय था कि अनुच्छेद 13(2) में विद्यमान प्रतिबन्ध साधारण विधि के अलावा किसी अन्य विधि पर भी लागू होगा। अनुच्छेद 13(2) के प्रयोजनों के लिए अनुच्छेद 13(3)(क) में दी गई 'विधि' शब्द की परिभाषा में अनुच्छेद 368 के अधीन किए गए संशोधन को सम्मिलित करके अनुच्छेद 368 के अधीन, जिसमें 'विधि' का कोई जिक्र नहीं है, शक्ति के विस्तार एवं परिधि को सीमित करने का अर्थ है सम्बन्धित उपबन्धों का अनुचित अर्थान्वयन करके उक्त शक्ति को सीमित करना या संविधान निर्माताओं पर केवल विवक्षा के आधार पर यह आरोप लगाना कि उन्होंने अनुच्छेद 13(2) के प्रतिबन्ध को संशोधन-शक्ति पर लागू करके संशोधन-शक्ति के महत्व को कम कर दिया है, विशिष्टतः तब जब कि उन्होंने (निर्माताओं ने) कम महत्व की बातों तक को 'विधि' शब्द की परिभाषा में सम्मिलित करने में पूर्णतः सतर्कता बरती है।

जब स्थिति ऐसी है तो मेरे विचार से, अनुच्छेद 13(2) के साथ पठित भाग 3 में उल्लिखित विभिन्न अधिकारों की रूपरेखा पर विचार करने से यह प्रकट होता है कि उक्त अनुच्छेद विधानमण्डल, संसद् एवं राज्य विधानमण्डल द्वारा निर्मित विधि द्वारा या कार्यपालक-कार्यवाही द्वारा इन अधिकारों के छीने जाने या न्यून किए जाने को प्रतिषिद्ध करता है। मेरे इस निष्कर्ष को समर्थन मिल सकता है यदि अनुच्छेद 13(2) को भाग 3

में के प्रत्येक अनुच्छेद के यदि उसमें से किसी में 'विधि' शब्द प्रयुक्त हुआ हो, जिसका वस्तुतः उक्त अर्थ लगाया जा सकता हो, साथ पढ़ा जाए। अनुच्छेद 13(2) के जोड़े जाने का उद्देश्य मूल अधिकार प्रदान करने वाले प्रत्येक अनुच्छेद में उसकी पुनरावृत्ति से बचना है। मेरे इस निष्कर्ष के समर्थन में एक ही उदाहरण देना पर्याप्त है। अनुच्छेद 19 के खण्ड (2) से (6) भी, जो क्रमशः अनुच्छेद के खण्ड (1) के उपखण्ड (क) से (छ) में वर्णित स्वतन्त्रताओं पर प्रतिबन्ध लगाते हैं, उसी प्रकार के हैं और यदि मैं इन खण्डों में से एक को दृष्टान्त के रूप में उद्धृत करूं तो उससे भली प्रकार यह दर्शित हो जाएगा कि निर्माताओं ने अनुच्छेद 13(2) और अनुच्छेद 19 के खण्ड (2) से (6) में, 'विधि' शब्द का प्रयोग साधारण विधि के ही रूप में किया है। यदि अनुच्छेद 19(1) के उपखण्ड (क) और उसी अनुच्छेद के खण्ड (2) को संविधान के अनुच्छेद 13(2) (जिस रूप में वह 26-1-1950 को था) के साथ इस प्रकार पढ़ा जाए तो उनका पुनः प्रारूपण इस प्रकार हो सकता है—

*"19(1) सब नागरिकों को—

(क) वाक् और अभिव्यक्ति स्वातन्त्र्य

....

....

का अधिकार होगा।

(2) राज्य ऐसी कोई विधि नहीं बनाएगा जो इस अनुच्छेद द्वारा दिए गए अधिकार को छीनती या न्यून करती हो और इस खण्ड के उल्लंघन में बनी प्रत्येक विधि उल्लंघन की मात्रा तक शून्य होगी :

परन्तु खण्ड (1) के उपखण्ड (क) की कोई बात अपमान-लेख अपमान-वचन, मानहानि, न्यायालय-अवमान अथवा शिष्टाचार या सदाचार पर आघात

---

*अंग्रेजी में यह इस प्रकार है—

"19(1) All citizens shall have the right—

(a) to freedom of speech and expression;

....

....

(2) The state shall not make any law which takes away or abridges the rights conferred by this article and any law made in contravention of this clause shall, to the extent of the contravention be void:

Provided that nothing in sub-clause (a) of clause (1) shall affect the operation of any existing law in so far as it relates to,

करने वाले अथवा राज्य की सुरक्षा को दुर्बल करने अथवा राज्य को उलटने की प्रवृत्ति वाले किसी विषय से, जहां तक कोई वर्तमान विधि सम्बन्ध रखती हो वहां तक उसके प्रवर्तन पर प्रभाव, अथवा सम्बन्ध रखने वाली कोई विधि बनाने में राज्य के लिए रुकावट, न डालेगी।"

उक्त प्रारूप में खण्ड (2) द्वारा अनुच्छेद 13 के सम्पूर्ण खण्ड (2) को जोड़ दिया गया है सिर्फ 'भाग 3' के स्थान पर 'अनुच्छेद' शब्द प्रयुक्त हुआ है और अनुच्छेद 19 के खण्ड (2) को परन्तुक के रूप में रख दिया गया है।

अनुकल्पतः, यदि अनुच्छेद 19 के खण्ड (2) से (6) को अनुच्छेद 13(2) के परन्तुक के रूप में पढ़ा जाए तो वे इस प्रकार होंगे—

*"राज्य ऐसी कोई विधि नहीं बनाएगा जो इस अनुच्छेद द्वारा दिए गए अधिकार को छीनती या न्यून करती हो और इस खण्ड के उल्लंघन में बनी प्रत्येक विधि उल्लंघन की मात्रा तक शून्य होगी :

परन्तु अनुच्छेद 19 के खण्ड (1) क उपखण्ड (क) की कोई बात अपमान-लेख, अपमान वचन, मानहानि न्यायालय-अवमान अथवा राज्य की सुरक्षा को दुर्बल करने अथवा राज्य को उलटने की प्रवृत्ति वाले किसी विषय से, जहां तक कोई वर्तमान विधि सम्बन्ध रखती हो, वहां तक उसके प्रवर्तन पर प्रभाव, अथवा सम्बन्ध रखने वाली कोई विधि बनाने में राज्य के लिए रुकावट न डालेगी।"

अनुच्छेद 19 के खण्ड (3) से (6) में से प्रत्येक में 'जहां तक कोई वर्तमान विधि लगाती हो.............अथवा लगाने वाली कोई विधि बनाने में राज्य के लिए रुकावट' पद समान रूप में प्रयुक्त हुआ है और यदि इन खण्डों को परन्तुक के रूप में उसी प्रकार पढ़ा जाए जिस प्रकार कि अनुच्छेद 19 के खण्ड (2) के उक्त दो प्रारूपों में से किसी भी रूप में पढ़ा गया है, तो इन सभी खण्डों में और अनुच्छेद 13 के खण्ड (2) में भी शब्द

---

or prevent the State from making any law relating to libel, slander, defamation, contempt of court or any matter which offends against decency or morality or which undermines the security of, tends to overthrow, the State".

*"The State shall not make any law which takes away or abridges the rights conferred by this part and any law made in contravention of this clause shall, to the extent of the contravention be void:

Provided nothing in sub-clause (a) of clause (1) of Article 19 shall affect the operation of any existing law in so far as it relates to, or prevent the State from making any law relating to libel, slander, defamation, contempt of court or any matter which offends against the decency or morality or which undermines the security of, tends to overthrow, the State."

'विधि' समान रूप से प्रयुक्त हुआ है और उसका अर्थ भी समान ही होगा। इस प्रकार अनुच्छेद 16(3) और (5) और अनुच्छेद 22(3) को भी पढ़ा जा सकता है। उक्त अनुच्छेदों या भाग 3 के किसी भी अनुच्छेद 13(2) के साथ पढ़ने से मुझे यह स्पष्ट हुआ है कि 'विधि', 'विधि अनुसार' या 'विधि के प्राधिकार' पद से स्पष्टतः यह दर्शित होता है कि अनुच्छेद 13(2) में प्रयुक्त 'विधि' शब्द से साधारण विधायी निकाय द्वारा बनाई गई विधि अभिप्रेत है। जब मैं उन विभिन्न प्रक्रमों की, जिनसे होकर वर्तमान अनुच्छेद 13(2) का तत्स्थानी प्रारूप अनुच्छेद प्रारूप-समिति और संविधान-सभा के समक्ष होकर गुजरा था, चर्चा करते समय भी बताऊंगा कि अनुच्छेद 8 के परन्तुक से भी यही निष्कर्ष निकलता है।

यद्यपि 'राज्य' शब्द का व्यापक अर्थ है और उसमें संसद् या अनुच्छेद 368 के अधीन संशोधन करने में एक साथ कार्यरत संसद् तथा राज्य विधानमण्डल सम्मिलित हैं, तथापि ऐसे निर्बन्धनों या परिसीमाओं के, जो भाग 3 के उपबन्धों में उल्लिखित कतिपय विनिर्दिष्ट आधारों पर, विधि द्वारा लगाई जा सकती है, (विशिष्टतः वे जो ऊपर उल्लिखित की गई हैं) रहते हुए विधानमण्डल द्वारा बनाई गई विधि केवल ऐसी ही विधि होगी जो संविधान के संशोधन से अन्यथा विधि हो, क्योंकि भाग 3 के उपबन्धों में से किसी के अधीन मूल अधिकारों पर विहित सीमाओं के अन्दर निर्बन्धन या प्रतिबन्ध लगाने के लिए संविधान का संशोधन आवश्यक नहीं है और इस कारण ऐसा कोई आशय हो भी नहीं सकता है। यह भी स्पष्ट है कि अनुच्छेद 13(2) के साथ पठित अनुच्छेद 12 में प्रयुक्त 'राज्य' शब्द की परिभाषा राज्य के अभिकरणों, संयुक्ततः और पृथक्तः, संशोधन जो एक प्रकार की विधि ही है, करने से रोकती है साथ ही भाग 3 द्वारा प्रदत्त अधिकारों को छीनने या न्यून करने से या स्वयं अनुच्छेद 13(2) को संशोधित करने से भी रोकती है। इस सम्बन्ध में न्यायाधिपति हिदायतुल्लाह ने (गोलक नाथ वाला मामला पृष्ठ 865) अनुच्छेद 12 में 'राज्य' शब्द का अर्थ लगाया है—उन सभी अभिकरणों का योग जिनका अनुच्छेद 12 में अलग-अलग उल्लेख किया गया है "और इसलिए परिभाषा द्वारा सभी अंगों को पृथकतः प्रतिषेध में सम्मिलित कर लिया गया है।" दूसरे शब्दों में उन्होंने परिभाषा का अर्थ लगाया एक साथ कार्यरत सभी अभिकरण, अर्थात्, संसद् और विधानमण्डल, और यदि अनुच्छेद 368(1) के अधीन संसद् के दोनों सदन या परन्तुक के अधीन एक साथ कार्यरत संसद् के दोनों सदन तथा विधानमण्डल संशोधन कर सकते हैं तो यह संशोधन अनुच्छेद 13(2) के अर्थान्तर्गत 'राज्य' द्वारा बनाई गई विधि होगा। पृष्ठ 866 पर उन्होंने कहा है कि—"यदि राज्य कृत्यकारियों (फंक्शनरीज) से अधिक शक्तिशाली है तो राज्य और उसके अभिकरणों के (सरकार, संसद् और राज्य के विधानमण्डल तथा स्थानीय और अन्य प्राधिकारी) बीच अन्तर होना अनिवार्य है। स्पष्टतः राज्य इनमें से प्रत्येक से और एक साथ सबसे बड़ा है। अनुच्छेद 13(2) से यह स्पष्ट हो गया है कि राज्य को मूल अधिकारों के अधीन करने से अकेले कार्यरत कोई भी अभिकरण या एक साथ कार्यरत सभी अभिकरण मूल अधिकारों से ऊपर नहीं हैं। अतः जब लोक सभा या राज्य सभा मूल अधिकार कम करने के लिए विधेयक पेश करती है तो वह अपने विरुद्ध न्यादेश के प्रतिकूल कार्य करती है और यदि दोनों सदन विधेयक पारित कर भी

देते हैं तो आदेश राष्ट्रपति को लागू हो जाता है क्योंकि साधारण खण्ड अधिनियम के अनुसार 'भारत सरकार' पद का अर्थ है "भारत का राष्ट्रपति"। यह मत साधारण विधि एवं संविधान-संशोधन, दोनों को ही समान रूप से लागू होता है। उन्होंने अपने मत के समर्थन में निकारगुआ के संविधान के अनुच्छेद 325 का अवलम्ब लिया था जिसमें स्पष्टतः यह उल्लिखित है कि "सरकारी अभिकरणों को संविधान में यथा उपबन्धित के सिवाय, संयुक्ततः या पृथकतः, संविधान निलम्बित करने या उसके द्वारा दिए गए अधिकार निर्बन्धित करने से रोक दिया गया है।" (The agencies of the Government, jointly or separately, are forbidden to suspend the Constitution or to restrict the rights granted by it except in the cases provided therein.) उन्होंने कहा कि "हमारे संविधान में अभिकरणों को संयुक्त एवं पृथक् रूप में नियन्त्रित रखा गया है और प्रतिषेध राज्य के सम्पूर्ण बल पर, चाहे वह कार्यपालिका के रूप में कार्यरत हो या चाहे विधानमण्डल के रूप में, लगाया गया है।" सम्मानपूर्वक मैं यह कह सकता हूं कि यह तर्क ऐसी धारणा पर आधारित है जो अनुच्छेद 12 में 'राज्य' शब्द की परिभाषा के अधीन अपेक्षित नहीं है। साथ ही मेरे विचार से, समर्थन किसी ऐसे संविधान से लेना भी उचित नहीं है, जिसकी शब्दावली भिन्न हो। यह धारणा न्यायोचित नहीं है कि 'राज्य' का अर्थ है, यदि अभिकरणों को पृथक्तः प्रगणित किया गया है, संयुक्ततः या पृथकतः सरकार के सभी अभिकरण। अनुच्छेद 13(2) का प्रतिषेध अकेले कार्यरत प्रत्येक अभिकरण को लागू होता है। संसद् या राज्य विधानमण्डल अथवा एक साथ कार्यरत संसद् या कोई स्थानीय प्राधिकारी या अन्य प्राधिकारी या उक्त में से कोई भी अन्य के साथ कार्यरत का प्रश्न नहीं उठता। साथ ही संविधान के अधीन भी एक साथ कार्यरत-ऐसे प्राधिकारियों का समूह विधि नहीं बना सकता है। सम्मिलित परिभाषा के आधार पर न्यायाधिपति हिदायतुल्लाह के मतानुसार राज्य का अर्थ है—"उनमें से किसी से या एक साथ उन सब से अधिक"। मेरे विचार से यह मत राजनैतिक दृष्टिकोण, न कि विधिक दृष्टि से, ठीक है। निदेशक तत्वों के अनुच्छेद 51 के अधीन यह आदिष्ट किया गया है राज्य अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा की उन्नति का या राष्ट्रों के बीच न्याय्य और सम्मानपूर्ण सम्बन्धों को बनाए रखने आदि का प्रयत्न करेगा। संदर्भानुसार 'राज्य' का अर्थ है सरकार या भारत की संसद्। अनुच्छेद 246 के साथ पठित सप्तम अनुसूची की सूची I की प्रविष्टि 10, "विदेशीय कार्य; सब विषय जिनके द्वारा संघ का किसी विदेश से सम्बन्ध होता है" उक्त अभिकरणों को विधायी शक्ति प्रदान करती है। 'यदि प्रसंग से दूसरा अर्थ अपेक्षित नहीं है" पद—मेरे विचार से—उन अभिकरणों से सम्बन्धित है जो पृथक्तः कार्य करते हैं। यदि परिभाषा का निर्वचन करने के लिए अन्य संविधानों के आधार पर अनुमान लगाना अनुज्ञात है, मेरे विचार से यह नहीं हो सकता है, तो बर्मा के संविधान के अनुच्छेद 9 का हवाला देने से यह दर्शित होता है कि 'राज्य' की परिभाषा सम्मिलित करने वाली (इन्क्लुसिव) परिभाषा नहीं है। उसके अनुसार 'राज्य' से अभिप्रेत है परिभाषा में उल्लिखित विभिन्न अंग। अतः मैं यह समझता हूं कि उक्त तर्क यह दर्शित करता है कि अनुच्छेद 13(2) न तो अनुच्छेद 368 के अधीन संशोधनों पर प्रतिबन्ध लगाता है और न वह यह अभिनिर्धारित करने के लिए कि ये अंग एक साथ कार्यरत

होकर भाग 3 में उल्लिखित अधिकारों को प्रभावित करने वाला संशोधन ही कर सकते हैं, राज्य और सरकार के बीच अन्तर करने को प्राधिकृत ही करता है।

उक्त निष्कर्ष निकालने के लिए एक अन्य कारण यह है कि यदि संविधान का संशोधन 'विधि' है तो संविधान भी विधि ही होगा। संविधान निर्माताओं ने 'संविधान' और 'विधि' या 'विधियों' के बीच अन्तर किया है। अपना आशय उन्होंने 'विधि' शब्द का प्रयोग 'संविधान' के विपरीत अर्थ के रूप में किया है और इससे यह दर्शित किया है कि जहां कहीं 'विधि' शब्द आया है, उसका अर्थ साधारण विधायी विधि है और 'संविधान' उससे बिल्कुल भिन्न है। अनुच्छेद 60 द्वारा राष्ट्रपति से और अनुच्छेद 159 द्वारा राज्यपाल से यह अपेक्षा की गई है कि वे अपना पद ग्रहण करते समय इस बात की शपथ लें कि वे संविधान और विधि का परिरक्षण, संरक्षण और प्रतिरक्षण करेंगे। अनुच्छेद 61 के अधीन राष्ट्रपति पर संविधान के अतिक्रमण के लिए महाभियोग चलाया जा सकता है। अनुच्छेद 73 के खण्ड (1) के उपखण्ड (क) और (ख) में कार्यपालिका-शक्ति का विस्तार उल्लिखत करते हुए परन्तुक द्वारा यह उल्लिखित किया गया है कि इस संविधान में, अथवा संसद् द्वारा बनाई गई किसी विधि में, स्पष्टतापूर्वक उपबन्धित स्थिति के अतिरिक्त, उपखण्ड (क) में उल्लिखित कार्यपालिका शक्ति का विस्तार किसी राज्य में ऐसे विषयों तक न होगा जिनके बारे में उस राज्य के विधानमण्डल को भी विधि बनाने की शक्ति है। उक्त शब्द 'विधि' या 'विधियां' निश्चित रूप से संसद् या राज्य के विधानमण्डल द्वारा निर्मित विधि की ओर संकेत करते हैं। अनुच्छेद 75(1) के अधीन केन्द्रीय मन्त्री को जो शपथ लेनी है वह अनुसूची 3 में उल्लिखित है। उन्हें यह शपथ लेनी होती है कि वे संविधान और विधि के अनुसार सब प्रकार के लोगों के प्रति न्याय करेंगे। उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालय के न्यायाधिपतियों से यह अपेक्षा की गई है कि वे विधि और संविधान की मर्यादा बनाए रखेंगे। [देखिए—अनुसूची 3 के साथ पठित अनुच्छेद 124(6) और अनुच्छेद 219। इस अनुच्छेद 76(2) में यह उल्लिखित है कि महान्यायवादी से यह अपेक्षा की गई है कि वे इस संविधान या तत्समय प्रवृत्त किसी अन्य विधि द्वारा या अधीन उन्हें दिए गए कृत्यों का निर्वहन करेंगे। अनुच्छेद 148(5) को, जो भारतीय लेखा-परीक्षा और लेखा-विभाग आदि में सेवा करने वाले व्यक्तियों की सेवा-शर्तों के बारे में है, संविधान के तथा संसद् निर्मित किसी विधि के उपबन्धों के अधीन कर दिया गया है। यद्यपि संविधान-निर्माताओं ने कुछ उपबन्धों में संविधान को विधि द्वारा स्थापित संविधान कहा है, तथापि उन्होंने संविधान और 'विधि' या 'विधियों' के बीच अन्तर व्यक्त करते समय स्पष्टतः यह उल्लिखित किया है कि 'विधि' से विधायी-विधि अभिप्रेत है। उन स्थानों पर के अलावा जहां कि इस बात पर जोर दिया गया है कि 'विधि द्वारा स्थापित' पद से यह आशयित है कि संविधान को विधि का बल प्राप्त है, संविधान को इस प्रकार वर्णित नहीं किया गया है।

यदि यह मत सही है, और मेरे विचार से यह सही है, तो प्रश्न यह उठेगा कि क्या अनुच्छेद 13(2) वस्तुतः अनावश्यक है और क्या न्यायालयों को उसका अर्थान्वयन

इस प्रकार करना चाहिए कि निर्माताओं ने साशय संविधान में उद्देश्यहीन उपबन्ध किए हैं। यह सुस्थिर मत है कि न्यायालय को साधारणतः किसी भी उपबन्ध का ऐसा अर्थ नहीं लगाना चाहिए कि वह अनावश्यक हो जाए। उसे कानून या विधि के प्रत्येक उपबन्ध को प्रभावी बनाना चाहिए। इस तर्क के समर्थन में यह दलील दी गई थी कि, जहां तक कि अनुच्छेद 13(1) का सम्बन्ध है, 'प्रवृत्त विधियों' की परिभाषा अनुच्छेद 13(3)(ख) में दी गई है, किन्तु अनुच्छेद 372(1) और उसके स्पष्टीकरण के आधार पर यही परिणाम निकलेगा और ऐसे संविधान पूर्व सांविधानिक-विधि, जिसे उस अनुच्छेद के आधार पर विधि का बल मिल गया हो, "संविधान के अन्य उपबन्धों के अधीन" हो गई है और परिणामस्वरूप वह भाग 3 के उपबन्धों के भी अधीन हो गई है। इसी प्रकार संविधान के प्रवृत्त हो जाने के पश्चात् बनाई गई विधि उस सीमा तक शून्य होगी जहां तक कि वह भाग 3 में उल्लिखित उपबन्धों सहित संविधान के किसी भी उपबन्ध के प्रतिकूल है। यहां पर अधिकारातीत का सिद्धान्त लागू होगा। यह तर्क दिया गया था कि यदि ऐसा है तो अनुच्छेद 13(2) का अधिनियमन निष्प्रयोजन था। दूसरी ओर, पिटीशनर के विद्वान् अधिवक्ता ने यह कहा कि अनुच्छेद 13(2) प्रयोजनहीन नहीं है, क्योंकि उसके आधार पर तत्समय प्रवृत्त विधियों में से सांविधानिक प्रकृति की ऐसी विधियां, जो भूतपूर्व रियासतों में प्रवृत्त थीं या भारत शासन अधिनियम, 1935 के अधीन प्रवृत्त थीं, जिनकी बाबत गवर्नर, जनरल ने तत्प्रकृति के आदेश कर दिए थे, व्यावृत्त हो गईं। सरदार वल्लभ भाई पटेल ने 29-4-1947 को संविधान-सभा में यह कहा था कि ऐसी स्थिति उत्पन्न हो सकती है और इसी कारण अनुच्छेद 13(1) भाग 3 में जोड़ा गया है, और इसी कारणवश मूल अधिकारों को, जो बुनियादी मानवीय स्वतन्त्रताएं हैं, संविधान के संशोधन द्वारा भी छीन लिए जाने या कम कर दिए जाने से बचाने के लिए उक्त अनुच्छेद जोड़ दिया गया है। इसके प्रति निर्देश करने से यह प्रकट होता है कि सरदार वल्लभभाई पटेल ने जो बात कही थी वह यह थी कि प्रारूप अनुच्छेद के खण्ड (2) का विद्यमान विपुल विधान पर क्या प्रभाव पड़ेगा, इस पर सविस्तार विचार करने के लिए उनके पास पर्याप्त समय नहीं था और इस कारण विद्यमान विधि पर उस खण्ड के प्रभाव की परीक्षा करनी शेष रह गई थी जो संविधान के उक्त खण्ड के अन्तिम रूप से प्राकृति करने से पूर्व की जानी थी। कार्यवाही या वाद-विवाद से यह इंगित नहीं होता है कि कुछ सांविधानिक विधियों को व्यावृत्त करने का आशय था या यह है कि विधि में सांविधानिक विधि भी सम्मिलित है। साथ ही दलील यह भी नहीं दी गई है कि अनुच्छेद 13(1) की रचना विशिष्टतः की गई है जिससे कि संविधान-पूर्व विद्यमान विधियां इस बात के होते हुए भी व्यावृत्त हो जाएं कि भारत शासन अधिनियम और भारत स्वाधीनता अधिनियम को अनुच्छेद 395 से निरसित कर दिया गया था। यदि निरसित विधियों से भिन्न कोई सांविधानिक विधियां प्रवर्तन में थीं तो उन्हें अनुच्छेद 372(1) द्वारा वही बल प्रदान कर दिया गया है जो किसी भी अन्य साधारण विधायी विधि को संविधान के अन्य उपबन्धों के अधीन रहते हुए, प्राप्त होता है और ऐसी विधियां तभी तक प्रवर्तन में बनी रह सकती थीं जब तक कि उन्हें कोई सक्षम विधानमण्डल या अन्य सक्षम प्राधिकार परिवर्तित, निरसित या संशोधित नहीं कर देता है। इस बाबत कोई संकेत नहीं मिलता है कि इन

विधियों को संविधान के किसी भी उपबन्ध की कोटि में रख दिया गया था और न वे उनके साथ इस प्रकार प्रवृत्त रह सकती थीं कि उनके बारे में यह कहा जा सके कि उनमें परिवर्तन अनुच्छेद 368 के अधीन संशोधन द्वारा ही किया जा सकता है। मुख्य न्यायाधिपति कानिया ने ए० के० गोपालन वाले मामले(1) में निस्संदेह यह बताया है कि "अनुच्छेद 13(1) और (2) का विधान अति सतर्कता का विषय है" और यह कि "यदि ये अनुच्छेद न भी होते और किसी भी मूल अधिकार का किसी विधायी अधिनियमन द्वारा अतिलंघन किया जाता तो न्यायालयों को ऐसी अधिनियमिति को उस सीमा तक अविधिमान्य घोषित करने की शक्ति प्राप्त होती जिस तक कि वह विहित सीमा के बाहर होता।" न्यायाधिपति हिदायतुल्लाह ने (जैसे कि वे उस समय थे) सज्जन सिंह वाले मामले(2) में पृष्ठ 961 पर मुख्य न्यायाधिपति कानिया के उक्त मत की आलोचना करते हुए कहा है कि "उनके मत का अर्थ स्पष्ट नहीं है। इस अनुच्छेद का एक महान उद्देश्य है। कदाचित मुख्य न्यायाधिपति ने उक्त अनुच्छेद की महत्ता पर, उसे कम करने का तो प्रश्न ही नहीं उठता, बल दिया है और अनुच्छेद 13 की रचना का आधार अत्यधिक सतर्कता मात्र है। उसका कोई अन्य या आन्तरिक उद्देश्य नहीं है। उसके अभाव में भी मूल अधिकारों की प्रमुखता के सादृश्य के आधार पर अनुच्छेद 32(1) की बाबत भी हमें यही मत व्यक्त करना चाहिए। क्योंकि यदि गारण्टी न भी दी गई होती तो भी न्यायालय अनुच्छेद 32(2) के अधीन अपना कर्तव्य सम्पादित करते।" इस बात से कोई इन्कार नहीं कर सकता है कि अनुच्छेद 13(2) का एक प्रयोजन है और न्यायाधिपति हिदायतुल्लाह के मतानुसार, यह प्रयोजन है मूल अधिकारों की महत्ता और प्रमुखता पर बल देना, क्योंकि संविधान में अधिकार-पत्र के उल्लिखित कर दिए जाने की बाबत हुए आन्दोलन के इतिहास को, जिसका मैं ऊपर उल्लेख कर चुका हूं, और इस देश की जनता की इन आशाओं को भी कि संविधान में कुछ ऐसे मूल बुनियादी अधिकार हों जिनकी बाबत उन्हें गारण्टी दी जाए और जिन्हें विधानमण्डल मनमाने रूप से नष्ट न कर सके ध्यान में रखते हुए राज्य को आदिष्ट किया गया है कि वह उन अधिकारों को न तो छीने और न न्यून करे। भाग 3 में वर्णित अधिकारों को, जिसमें अनुच्छेद 32 द्वारा गारण्टी किए गए प्रतितोष (रिड्रेस) अधिकार भी सम्मिलित है, स्वयं में पूर्ण बनाने का आशय था। उक्त प्रतितोष का अधिकार संयुक्त राज्य अमरीका में अन्य रूप में विद्यमान है, अर्थात् न्यायपालिका ने वर्षों श्रम करके न्यायिक-पुनर्विलोकन का सिद्धान्त स्थापित किया है। अधिकारों के घोषणामात्र से वे प्रभावी नहीं किए जा सकते थे। अनुभव से यह सिद्ध हुआ है कि ऐसे सामान्य अधिकार आधुनिक राज्य की शासन-शक्ति पर नियन्त्रण रखने में सफल नहीं होते हैं। हमारे संविधान निर्माताओं ने विभिन्न संविधानों में न्यायिक-पुनर्विलोकन सम्बन्धी उपबन्धों पर विचार करके संविधान में ऐसे अधिकारों के अतिक्रमण के विरुद्ध प्रभावशाली उपचार विहित किए हैं। यदि मूल अधिकारों का अतिक्रमण होता है तो अनुच्छेद 32(2) के अधीन सीधे उच्चतम न्यायालय की सहायता ली जा सकती है।

(1) (1950) एस० सी० आर० 88.
(2) (1965) 1 एस० सी० आर० 933.

यदि ऐसा उपबन्ध न किया गया होता तो उच्चतम न्यायालय के समक्ष मामला अनुच्छेद 226 के अधीन उच्च न्यायालय द्वारा दिए गए विनिश्चय के विरुद्ध अनुच्छेद 133 के अधीन अपील के रूप में या अनुच्छेद 136 के अधिन विशेष इजाजत से पेश होता। यही प्रयोजन है जिस पर बल अनुच्छेद 32 के साथ पठित अनुच्छेद 13(2) द्वारा दिया गया है। हमारे संविधान निर्माता जिन्हें अमरीका के न्यायिक-पुनर्विलोकन शक्ति के नए-नए रूपों में प्रयोग के मार्ग में आने वाली कठिनाइयों और असुविधाओं का ज्ञान था, यह सुनिश्चित करना चाहते थे कि शून्य और सापेक्षतः शून्य के सिद्धान्त (डाक्ट्रिन ऑफ वॉयड एण्ड रिलेटिवली वॉयड) को—जो एक विचित्र अमरीकी सिद्धान्त है—हम अपने संविधान में स्थान नहीं देंगे। गोलक नाथ वाले मामले[1] में महत्वपूर्ण बहुमत निर्णय और न्यायाधिपति हिदायतुल्लाह के मतानुसार यदि मूल अधिकार संशोधन-शक्ति के अधीन नहीं है तो यह सोचा भी नहीं जा सकता है कि हमारे संविधान निर्माता, जिन्होंने बड़ी सावधानी से उक्त अधिकारों को संविधान में वर्णित किया है (यह बात संविधान-सभा की कार्यवाही से स्पष्ट है), उन अधिकारों को संशोधन-प्रक्रिया के विरुद्ध विशिष्टतः संरक्षण प्रदान क्यों न कर देते। इसके विपरीत यह तर्क मुझे मालूम है कि यदि वे यह चाहते कि अनुच्छेद 368 के अधीन संशोधन-प्रक्रिया को अनुच्छेद 13(2) से प्रतिबन्धित न किया जाए तो इस बाबत वे स्पष्ट उपबन्ध या तो अनुच्छेद 368 में कर देते या फिर अनुच्छेद 13(2) में। वस्तुतः ऐसे प्रयत्न उपयुक्त संशोधन प्रस्तावित करके किए भी गए हैं, जो प्रारूप संविधान के अन्तिम प्रक्रमों पर, जैसा कि हम आगे देखेंगे, या तो वापस ले लिए गए थे या उन पर जोर नहीं दिया गया था या वे अस्वीकार कर दिए गए थे। किन्तु यह दो में से किसी भी अनुच्छेद में नहीं किया गया, क्योंकि यदि संविधान निर्माताओं का यह मत था कि अनुच्छेद 13(2) का प्रतिबन्ध केवल विधायी विधि को ही लागू होता है तो कदाचित वे यह महसूस करते कि ऐसी परिसीमाओं के जिनके कारण अनुच्छेद 13(2) अनुच्छेद 368 पर लागू न रह जाए, उल्लेख की आवश्यकता नहीं है।

संविधान सभा की कार्यवाही का हवाला देने से पूर्व मैं पहले इस प्रश्न पर विचार करूंगा कि क्या इन उपबन्धों के अर्थान्वयन के लिए न्यायालय संविधान-सभा में हुए वाद-विवादों (डिबेट) को ध्यान में ले सकता है। महाराष्ट्र राज्य के महाधिवक्ता का कहना है कि एच० एच० महाराजाधिराज माधव राव जीवाजी राव सिंधिया बहादुर और कुछ अन्य बनाम भारत संघ[2] (जिसे सामान्यतः प्रिवी पर्स वाला मामला कहा गया है) में इस न्यायालय के विनिश्चय से पूर्व तक वाद-विवाद और कार्यवाहियां ग्राह्य नहीं मानी जाती थीं। फिर भी दोनों ही पक्षकारों के काउन्सेलों ने भरपूर उनका हवाला दिया है। साधारण विधान के निर्वचन के बारे में आम अभिनिर्धारित मत यह है कि यद्यपि अर्थान्वयन में सहायक के रूप में वाद-विवाद का हवाला अनुज्ञेय नहीं है, तथापि विभिन्न प्रक्रम, जिनसे होकर प्रारूप गुजरा है, प्रारूप का

---

(1) (1967) 2 एस० सी० आर० 762.
(2) (1971) 3 एस० सी० आर० 9=[1971] 1 उम० नि० प० 491.

कोई अंश हटा देने या कोई अंश उसमें जोड़ देने के लिए प्रस्तावित संशोधन, संशोधनों के लिए प्रयत्न करने का प्रयोजन, उसके अस्वीकार होने के कारण आदि संविधान निर्माताओं या प्रारूपकार के आशय पर प्रकाश डाल सकते हैं। विधानमण्डल में दिए गए भाषणों के बारे में भी यही कहा गया है कि वे मार्ग दर्शन नहीं कर सकते हैं क्योंकि जो सदस्य किसी उपबन्ध या संशोधन के पक्ष या विपक्ष में बोलते हैं, वे केवल यह प्रकट करते हैं कि उस उपबन्ध या संशोधन का उन्होंने क्या अर्थ लगाया है। अतः सम्बन्धित उपबन्ध के अर्थान्वयन के लिए उसे सहायक मान कर स्वीकार नहीं किया जा सकता है। सदस्य अपना मत व्यक्त करते हैं। मत परस्पर भिन्न भी होते हैं, और इस बाबत यह निश्चित नहीं किया जा सकता है कि न बोलने वाले सदस्यों का क्या मत है। अतः वाद-विवाद में व्यक्त मतों का परिणाम क्या निकला—यह पता लगाना मुश्किल हो जाता है। इससे केवल यह पता अवश्य लग जाता है कि कोई विशिष्ट उपबन्ध या संशोधन स्वीकार किया गया है या अस्वीकार किया गया है। अर्थान्वयन करने में उक्त सामग्री सहायक के रूप में ग्रहण नहीं की जा सकती। इतना अवश्य है कि सम्बन्धित विधायी इतिवृत्त की सहायता से यह पता लगाया जा सकता है कि किस बुराई को दूर करने के लिए विधान किया गया है अथवा अधिनियमन का प्रयोजन क्या है, बशर्ते कि इन बातों का पता लगाया जाना सुसंगत हो। किन्तु ट्रावनकोर कोचीन राज्य और कुछ अन्य बनाम बॉम्बे कम्पनी लिमिटेड (1) में गोलक नाथ(2), प्रिवी पर्स(3) तथा भारत संघ बनाम एच० एस० ढिल्लों(3) वाले मामले निर्दिष्ट किए गए थे और उनमें यह व्याख्या की गई थी कि संविधान सभा में दिए गए भाषणों का हवाला नहीं दिया जा सकता है। और अन्तिम उल्लिखित मामले में भाषणों का हवाला निकाले गए निष्कर्षों के समर्थन के लिए दिया गया था। गोलक नाथ वाले मामले (2) में और प्रिवी पर्स वाले मामले(3) में भी, भाषणों का हवाला दिया गया था किन्तु यह हवाला सम्बन्धित उपबन्ध के निर्वचन के सम्बन्ध में नहीं दिया गया था। वह या तो मूल अधिकारों की अतिश्रेष्ठता की जांच करने के लिए दिया गया था या उन परिस्थितियों को स्पष्ट करने के लिए दिया गया था जिनके कारण शासकों को गारन्टी देना आवश्यक हो गया था। संविधान सभा में किए गए भाषणों का हवाला चाहे जिस प्रयोजन से किया जाए कहा सदैव यही जाता है कि ऐसा हवाला ग्राह्य नहीं है बशर्ते कि सम्बन्धित उपबन्ध का अर्थ स्पष्ट न हो या यदि अर्थ स्पष्ट हो तो निकाले गए निष्कर्षों को समर्थन देना हो। दोनों ही दशाओं में उनका अवलोकन किया जाता है मेरे विचार से हमें उनका निःशंक रूप में अवलोकन करना चाहिए जिससे कि हम अपने संविधान निर्माताओं का आशय समझ सकें और यह पता लगा सकें कि उन्होंने अपना आशय किस प्रकार अभिव्यक्त किया है। ऐसी सामग्री का अवलोकन प्रतिषिद्ध करने या उसे प्रतिषिद्ध सामग्री कहने के लिए तर्क क्या है ? सांविधानिक मामले में, जिसमें कि लिखित दस्तावेज में यथा उल्लिखित रूप में संविधान निर्माताओं का आशय पता लगाना हो, न्यायालय को

---

(1) (1952) एस० सी० आर० 1112.

(2) (1967) 2 एस० सी० आर० 762.

(3) (1972) 2 एस० सी० आर० 33=[1972] 1 उम० नि० प० 565.

ऐसी कार्यवाही या सुसंगत आंकड़ों का, जिनमें भाषण भी सम्मिलित है, अवलोकन करना चाहिए जो विधायी आशय समझने में सहायक हों। यदि वे समस्या पर प्रकाश न डालते हों या उसे अस्पष्ट ही रखते हों तो न्यायालय उन्हें अस्वीकार कर सकता है। संविधान किसी अधिनियमिति से भिन्न है। वह तो सरकार के कार्यकरण का साधन है। इसका प्रारूप जनता ने, जो इसे राष्ट्रीय लिखत बनाकर पीढ़ी दर पीढ़ी तक उपयोगी बनाए रखना चाहती थी, तैयार किया है। संविधान सभा में योग्य, महत्वपूर्ण, विद्वान् एवं अनुभवी व्यक्ति थे और उनकी सहायता के लिए एक सुयोग्य सलाहकार, श्री बी० एन० राव थे। श्री राव ने एक ज्ञापन तैयार किया था जो जनता के सभी वर्गों, वृत्तिक निकायों, विधायकों, सार्वजनिक संस्थाओं और बहुत से अन्य लोगों को भेजा गया था और उसका व्यापक प्रचार भी किया गया था। जब ज्ञापन के सम्बन्ध में आलोचनाएं, टिप्पणियां और सुझाव प्राप्त हुए तो इनको ध्यान में रख कर एक प्रारूप तैयार किया गया और वह संविधान-सभा के समक्ष रखा गया। संविधान-सभा के समक्ष प्रस्तुत करते समय डा० अम्बेदकर ने एक भाषण दिया था। तदुपरि सभा ने तीन समितियां गठित कीं—(1) संघ शक्ति समिति; (2) प्रान्तीय-शक्ति-समिति, और (3) मूल अधिकारों एवं अल्पसंख्यकों के लिए समिति। इन समितियों के विचार-विमर्श एवं सिफारिशें, प्रारूप समिति की कार्यवाही और तैयार प्रारूप के प्रस्तुत करते समय दिया गया डा० अम्बेदकर का भाषण और इन समितियों की रिपोर्ट आदि सभी महत्वपूर्ण सामग्री है। सभा का उद्देश्य, किसी आलोचना का उत्तर देने का ढंग, उनके बारे में लिया गया अन्तिम निर्णय, प्रस्तावित संशोधन उनके पक्ष-विपक्ष में दिए गए भाषण और उनका अन्ततः स्वीकार या अस्वीकार कर दिया जाना आदि विवादास्पद विषय पर प्रकाश डाल सकते हैं। जैसा कि मैंने पहले भी कहा है, साधारण प्रारूप-विधेयक की बाबत विधानमण्डल में हुई कार्यवाही के पक्षपातपूर्ण और क्रुद्ध वाद-विवाद हो सकते हैं जो अक्सर न्यायालय के समक्ष विचाराधीन विषय पर कोई प्रकाश डालने वाले नहीं होते हैं, किन्तु संविधान-सभा की कार्यवाही में ऐसे किसी पक्षपात आदि का दोष नहीं होता है और उसका अनन्य उद्देश्य राष्ट्र को एक ऐसा कार्यकरण दस्तावेज (वर्किंग इन्स्ट्रूमेण्ट) देना है जिसमें उसके बुनियादी ढांचे और मानव मूल्यों (ह्यूमन वैल्यूज) के बीच सामंजस्य स्थापित किया गया हो और जो विभिन्न शक्तियों की पारस्परिक प्रतिक्रिया (इण्टरप्ले) का सामना करते हुए भावी पीढ़ियों की आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकता हो। उसके अधीन सृजित सर्वोच्च न्यायालय जिसे उसे समझने और उसकी व्याख्या करने का कार्य सौंपा गया है, संविधान निर्माताओं के उद्देश्यों को समझने के लिए संविधान-सभा की कार्यवाही और विचार-विमर्श के अभिलेख के मार्ग-दर्शन का लाभ उठा सकता है। जो भी हो, इस समय तो मेरा आशय केवल उन प्रक्रमों की परीक्षा करना है जिनसे होकर प्रारूप गुजरा है और यह कि क्या प्रारूप में कोई शब्द या पद जोड़ने या उसमें से ऐसे किसी पद या शब्द को निकाल देने के लिए, जो प्रारूप में मौजूद थे, कोई प्रयत्न किए गए हैं और उन प्रयत्नों का स्वरूप एवं प्रयोजन क्या था। देखना यह भी है कि यदि उक्त कार्यवाहियों की परीक्षा उक्त दृष्टिकोण से की जाए तो क्या वे मेरे मत पर कोई प्रकाश डालते हैं या उसका समर्थन करते हैं ?

प्रारूप अनुच्छेद 8 और 304 पर, जो क्रमशः वर्तमान अनुच्छेद 13 और 368 हैं, विचार करने से सम्बन्धित संविधान-सभा की कार्यवाही के विभिन्न प्रक्रमों से यह दर्शित होता है कि उक्त दोनों ही अनुच्छेदों में यह स्पष्ट करने के लिए संशोधन प्रस्तावित किए गए थे कि अनुच्छेद 13(2) का प्रतिबन्ध अनुच्छेद 368 के अधीन किए गए संशोधन को लागू नहीं होता है। सबसे पहले संविधान-सभा के सदस्य श्री के० सन्थानम् ने 29-4-1947 को प्रारूप के, जो मूल अधिकारों पर अन्तरिम रिपोर्ट के साथ संविधान सभा के समक्ष प्रस्तुत किया गया था, खण्ड (2) में संशोधन प्रस्तावित किया। संशोधन यह था कि 'न तो संघ और न इकाई ही ऐसी कोई विधि बनाएगा जो ऐसे किसी अधिकार को छीनने या न्यून करने वाली हो' पद के स्थान पर निम्नलिखित पद रख दिया जाए—

> "और न कोई ऐसा अधिकार संविधान में संशोधन किए बिना छीना या न्यून किया जाएगा।"

सदस्य ने स्पष्ट किया कि 'यदि उक्त खण्ड मूल रूप में ही बना रहने दिया जाता है तो हम संविधान में संशोधन करके भी इन अधिकारों में से, यदि वे असमाधानकारी पाए जाएं, किसी में भी कोई परिवर्तन नहीं कर सकेंगे। कुछ संविधानों में यह उपबन्धित कर दिया गया है कि संविधान के कुछ भागों को भावी सांविधानिक-संशोधनों द्वारा परिवर्तन किया जा सकता है और अन्य भाग इस प्रकार परिवर्तित नहीं किए जा सकते हैं। ऐसी कोई शंका न रह जाए, इस उद्देश्य से मैंने यह संशोधन प्रस्तावित किया है और मुझे यह आशा है कि इसे स्वीकार कर लिया जाएगा।' यह संशोधन सरदार वल्लभ भाई पटेल ने मान लिया था और संविधान-सभा ने इसे स्वीकार कर लिया था। उक्त रूप में संशोधित कर दिए जाने के पश्चात् खण्ड (2) निम्नलिखित रूप में था—

> "संघ राज्य-क्षेत्र में प्रवृत्त ऐसी सभी विद्यमान विधियां, अधिसूचनाएं, विनियम, रूढ़ियां या प्रथाएं, जो संविधान के इस भाग के अधीन गारण्टी किए गए अधिकारों के प्रतिकूलता हों, ऐसी प्रतिकूलता की सीमा तक निराकृत हो जाएंगी। साथ ही सांविधानिक-संशोधन के बिना ऐसे किसी भी अधिकार को छीना या न्यून न किया जाएगा।"

प्रारूप में मूलतः विद्यमान खण्ड के अनुसार केवल 'संघ' या 'इकाई' को ही ऐसी विधि बनाने से प्रतिषिद्ध कर दिया गया था जो ऐसे किसी भी अधिकार को छीनती या न्यून करती हो। उस प्रक्रम में यह दर्शित करने के लिए कोई सामग्री नहीं थी कि संविधान संशोधित करने के बारे में कोई उपबन्ध प्रारूपित कर दिया गया था या संविधान-सभा के समक्ष विचाराधीन था। किन्तु अन्यथा भी मामला यह नहीं था कि ऐसी विधि बनाने से संघ या संघ और इकाइयों को प्रतिषिद्ध कर दिया गया था। इस दलील को न्यायोचित ठहराने के लिए, कि राज्य के सभी अंगों को, जिनमें संघ या संघ और इकाइयां भी सम्मिलित हैं, संविधान संशोधित करने से प्रतिषिद्ध कर दिया गया था, केवल एक यही संकेत मिलता है कि मूल अधिकारों को छीनने या न्यून करने वाली विधि 'संघ' या 'इकाई' द्वारा बनाई गई विधि है। श्री सन्थानम् का संशोधन प्रारूपकार ने मूल अधिकारों पर अनुपूरक रिपोर्ट

में सम्मिलित कर दिया था और वह रिपोर्ट संविधान-सभा के समक्ष 25 अगस्त, 1947 को पेश की गई थी, किन्तु बाद में इस संशोधन को प्रारूप समिति ने निकाल दिया था। 21 फरवरी, 1948 को प्रारूप संविधान संविधान-सभा के अध्यक्ष को दे दिए जाने और उसका भली प्रकार प्रचार कर दिए जाने के पश्चात्, ऐसा प्रतीत होता है, कि जो उपबन्ध उस समय अनुच्छेद 8 (2) था, उसकी कुछ आलोचना हुई थी। वह अनुच्छेद इस प्रकार था—

> "राज्य ऐसी कोई विधि बनाएगा जो इस भाग द्वारा दिए गए अधिकारों को छीनती हो या न्यून करती हो, और इस खण्ड के उल्लंघन में बनी प्रत्येक विधि, उल्लंघन की मात्रा तक शून्य होगी।'
>
> परन्तु इस खण्ड की कोई बात राज्य को तत्समय विद्यमान किसी विधि से उत्पन्न असमानता, अन्तर, अहित या विभेद को दूर करने के लिए विधि बनाने से न रोकेगी।"

उक्त परन्तुक के जोड़े जाने के बारे में निम्नलिखित टिप्पण किया गया था—

> "परन्तुक इस उद्देश्य से जोड़ा गया है कि राज्य विधि द्वारा विद्यमान विभेद को, यदि कोई हो, दूर कर सके। ऐसी विधि अनिवार्यतः इस दृष्टि से विभेदकारी होगी कि वह केवल उन व्यक्तियों के विरुद्ध ही प्रवृत्त होगी जिन्होंने उस समय तक अनुचित लाभ उठाया है। अतः यह स्पष्ट है कि ऐसी प्रकृति की विधि को प्रतिषिद्ध न किया जाए।"

संविधान-सलाहकार ने जो टिप्पण प्रारूप-समिति को दिया है वह यह दर्शित करता है कि किसी आलोचक ने यह बताया है कि 'अनुच्छेद 8(2) प्रारूप अनुच्छेद 304 के अधीन पारित विधि द्वारा मूल अधिकारों से सम्बन्धित सांविधानिक उपबन्धों के संशोधन पर प्रतिबन्ध लगाता है, और इसलिए यह स्पष्ट कर दिया जाना चाहिए कि अनुच्छेद 304 के अधीन ऐसे उपबन्धों को संशोधित करने की संसद् की शक्ति पर कोई प्रतिबन्ध नहीं है'। इस आपत्ति के सम्बन्ध में सांविधानिक-सलाहकार की टिप्पणी यह थी कि 'अनुच्छेद 8 का खण्ड (2) संविधान के अनुच्छेद 304 के उपबन्धों पर अध्यारोही नहीं है। उक्त खण्ड में प्रयुक्त 'विधि' शब्द से साधारण विधान आशयित है'। किन्तु सम्भाव्य सन्देह दूर करने के लिए अनुच्छेद 8 में निम्नलिखित संशोधन किए जा सकते हैं—

> "अनुच्छेद 8 के खण्ड (2) के परन्तुक में 'इस खण्ड की कोई बात' पद के पश्चात् 'संविधान के अनुच्छेद 304 के उपबन्धों को प्रभावित नहीं करेगी या' पद रख दिया जाए।"

प्रारूप समिति ने कदाचित यह सुझाव स्वीकार नहीं किया, क्योंकि परन्तुक उस समय तक मूल रूप में ही बना रहा था जब कि उसे महबूब अली बेग के संशोधन संख्या 262 के परिणामस्वरूप निकाल दिया गया था। 25 नवम्बर, 1948 को यह संशोधन प्रस्तावित

करते हुए पण्डित लक्ष्मीकान्त मैत्रा ने कहा—'इस संशोधन का प्रयोजन स्वतः स्पष्ट है और चूंकि मुझ से गम्भीर रूप से कहा गया है कि मैं इस बारे में कोई भाषण न करूं, अतः मैं इस संशोधन को प्रस्तावित मात्र ही कर रहा हूं'। यह संशोधन 29-11-1948 को स्वीकार कर लिया गया था और परन्तुक निकाल दिया गया था। (देखिए—कांस्टिट्यूएण्ट असेम्बली डिबेट्स, खण्ड 7 पृष्ठ 611 और 645)।

कितने विस्तार में इस अनुच्छेद पर विचार किया गया है, यह बात नजरुद्दीन अहमद की इस आपत्ति पर की गई कार्यवाही से स्पष्ट हो जाती है कि अनुच्छेद 8(3)(क) [जो अनुच्छेद 13(3)(क) हो गया है] में 'विधि' शब्द की परिभाषा में प्रयुक्त 'रूढ़ि और प्रथा' पद अनुच्छेद 8(2) को लागू होगा, किन्तु राज्य 'रूढ़ि या प्रथा' नहीं बनाता है। डॉ० अम्बेडकर ने बताया कि नजरुद्दीन अहमद के संशोधन से कठिनाई उत्पन्न हो गई है जिसे दूर करना आवश्यक है और अन्त में भावी कठिनाइयों से बचने के लिए उन्होंने अनुच्छेद 8 के खण्ड (3) में 'यदि प्रसंग से दूसरा अर्थ अपेक्षित न हो' जोड़ने के लिए संशोधन प्रस्तावित किया। यह संशोधन खण्ड (क) और (ख) दोनों को लागू होता है। यह संशोधन स्वीकार कर लिया गया। (देखिए—कांस्टिट्यूएण्ट असेम्बली डिबेट्स, खण्ड 7 पृष्ठ 644)। इसके बाद ही परन्तुक निकाला गया।

निकाल दिए जाने से पूर्व परन्तुक को, यदि प्रारूप अनुच्छेद 8 के खण्ड (2) के साथ पढ़ा जाए और उसके जोड़े जाने के प्रयोजन की बाबत जो टिप्पण किया गया है उसे देखा जाए तो उससे यह प्रकट होता है कि उसमें जिस विधि का उल्लेख है वह विधायी विधि है भाषा की खींचतान करके उसका किसी भी प्रकार यह अर्थ नहीं निकाला जा सकता है कि उसमें प्रारूप अनुच्छेद 304 के अधीन संशोधन भी सम्मिलित है क्योंकि परन्तुक का उद्देश्य अनुच्छेद 8 के खण्ड (2) द्वारा विहित प्रतिबन्ध का राज्य पर लागू होना समाप्त करना था जिससे कि राज्य किसी भी तत्समय विद्यमान विधि के कारण उत्पन्न होने वाली असमानता, अन्तर या अहित या विभेद को दूर कर सके। यदि परन्तुक में प्रयुक्त 'राज्य' और 'विधि' को कोई विशिष्ट अर्थ दिया जाना है तो वही अर्थ उन शब्दों को खण्ड (2) में भी देना होगा और चूंकि परन्तुक स्पष्टतः विधायी विधि से सम्बद्ध है, अतः वह अनुच्छेद 8 के खण्ड (2) में प्रयुक्त 'विधि' शब्द के निर्वचन के लिए एक कुञ्जी का कार्य करता है अर्थात् उस शब्द से विधायी विधि ही आशयित है।

अनुच्छेद 304 में भी संशोधन प्रस्तावित किए गए थे। पहला संशोधन (संशोधन संख्या 157) श्री के० सन्थानम् के नाम से था किन्तु उन्होंने कहा कि वह संशोधन वे प्रस्तावित नहीं करना चाहते हैं (देखिए—कांस्टिट्यूएण्ट असेम्बली डिबेट्स, खण्ड 9, पृष्ठ 1643)। महान्यायवादी और महाराष्ट्र के महाधिवक्ता, दोनों, ने ही कहा कि वे यह पता नहीं लगा सके कि उक्त संशोधन क्या थे। किन्तु यदि यह मान भी लिया जाए कि इस संशोधन का उद्देश्य अनुच्छेद 13(2) द्वारा विहित प्रतिबन्ध को अनुच्छेद 368 को लागू करना था, तो भी उससे कोई धारणा नहीं बनाई जा सकती। दूसरी ओर

डॉक्टर देशमुख ने मूल अधिकारों को संरक्षित रखना चाहा। उन्होंने संशोधन संख्या 212 प्रस्तावित करके अनुच्छेद 304 के पश्चात् अनुच्छेद 304-क जोड़ना चाहा—

"304-क. इस संविधान में किसी प्रतिकूल बात के होते हुए भी, ऐसा कोई भी संशोधन, जो किसी भी वैयक्तिक अधिकार के प्रविषय का या व्यक्तियों के सामाजिक या अन्य अधिकारों का अतिलंघन, निर्बन्धन करता या उसमें कमी करने वाला हो, संविधान के अधीन अनुज्ञेय नहीं होगा और ऐसा कोई भी संशोधन, जिसका ऐसा प्रभाव हो या होना सम्भाव्य हो, शून्य एवं किसी भी विधानमण्डल के अधिकारातीत होगा।"

अनुच्छेद 304 के अधीन संशोधन के प्रविषय के बारे में डॉक्टर अम्बेदकर के भाषण के पश्चात् इजाजत लेकर यह संशोधन वापस ले लिया गया (देखिए—कांस्टिट्यूएण्ट असेम्बली डिबेट्स, खण्ड 9, पृष्ठ 1665)।

इससे पहले जब प्रारूप समिति उद्देश्यों पर विचार कर रही थी तब श्री के० सन्थानम्, श्री अनन्तासयनम् आयंगर, श्री टी० टी० कृष्णामाचारी और श्रीमती जी० दुर्गाबाई ने यह प्रस्ताव रखा था कि अनुच्छेद 304 के परन्तुक में भाग 3, 4, 9 और 16 जोड़ दिए जाएं। किन्तु संविधान-सलाहकार ने यह बताया कि ऐसा संशोधन नीति का विषय है। प्रारूप समिति ने यह संशोधन स्वीकार नहीं किया। यदि यह संशोधन स्वीकार कर लिया जाता तो मूल अधिकारों को संशोधन के लिए विहित प्रक्रिया से संशोधित किया जा सकता था जो संसद् के प्रत्येक सदन के दो-तिहाई बहुमत से और साथ ही उल्लिखित राज्यों में से कम से कम आधे के विधानमण्डलों द्वारा पारित संकल्पों से समर्थित होना चाहिए था। इस प्रयत्न से भी ऐसी कोई बात पता नहीं लगती है कि भाग 3 में विहित मूल अधिकारों को अनुच्छेद 368 के अधीन संशोधित नहीं किया जा सकता है या यह कि अनुच्छेद 13(2) में प्रयुक्त 'विधि' से साधारण विधायी विधि ही अभिप्रेत न होकर उसमें अनुच्छेद 368 के अधीन किया गया संशोधन भी सम्मिलित है। यह दर्शित करने का प्रयत्न किया गया था कि 17 सितम्बर, 1949 को जब डॉक्टर अम्बेदकर प्रारूप अनुच्छेद 304 के सम्बन्ध में बोल रहे थे, तो उन्होंने कहा था कि भाग 3 में संशोधन नहीं किए जा सकते हैं। इस तथ्य की ओर ध्यान दिलाते हुए कि उन्होंने अनुच्छेदों को तीन वर्गों में बांट दिया है डॉक्टर अम्बेदकर ने यह बताया था कि प्रथम वर्ग के अनुच्छेदों को साधारण बहुमत से संशोधित किया जा सकता है और दूसरे वर्ग के अनुच्छेदों के बारे में उन्होंने कहा—"यदि संसद् भाग 3 में उल्लिखित अनुच्छेदों में से किसी विशेष अनुच्छेद या अनुच्छेद 304 को संशोधित करना चाहती है तो उसके लिए उसे केवल दो-तिहाई बहुमत प्राप्त करना आवश्यक है"। उन्होंने बताया कि संशोधन के प्रयोजनों के लिए तृतीय वर्ग के लिए दो-तिहाई बहुमत और राज्यों का अनुसमर्थन अपेक्षित है। प्रथम प्रत्यर्थी की ओर से यह कहा गया है कि भाग 3 को द्वितीय वर्ग से अपवादित करने से एक भूल हो गई है और यह कि वे यह सोच रहे थे कि अनुच्छेद 304 सहित भाग 3 तृतीय वर्ग में आते हैं। नागालैण्ड के महाधिवक्ता ने कहा कि तृतीय वर्ग के लिए भूल से

भाग 3 कह दिया गया है। उन्होंने वर्ग 3 के स्थान पर भाग 3 या तो कहा है या ऐसा समझा गया है। उनके भाषण को सही-सही पढ़ा गया है या नहीं। यह सुसंगत नहीं है क्योंकि किसी उपबन्ध का निर्वचन उसमें प्रयुक्त शब्द, जिस संदर्भ में वे शब्द प्रयुक्त हुए हैं, वह संदर्भ और संविधान की स्कीम में उस उपबन्ध का आशयित प्रयोजन ही विचारणीय विषय हैं। किसी आधार पर यह तथ्य सुसंगत नहीं है कि संविधान (प्रथम संशोधन) विधेयक पर विचार होते समय और बाद में जो अधिनियम बनाते समय सदस्यों में से किसी को भी, जो अनन्तिम संसद् के भी सदस्य थे, भाग 3 के संशोधनीय होने के बारे में कोई सन्देह नहीं था।

भाग 3 के अन्य उपबन्धों के साथ पठित अनुच्छेद 13 के अर्थान्वयन की बाबत मेरे दृष्टिकोण के अनुसार अनुच्छेद 13(2) भाग 3 में उल्लिखित किसी भी अधिकार को संशोधित करने के लिए अनुच्छेद 368 पर कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाता है और इस कारण इस प्रश्न पर विचार करना आवश्यक नहीं है कि क्या इस बाबत महत्वपूर्ण बहुमत निर्णय ठीक है कि संशोधन शक्ति अनुसूची 3 की सूची 1 की अवशिष्ट मद 97 में विद्यमान है। साथ ही उक्त निर्णय की दृष्टि से यह भी उचित नहीं है कि संशोधन शक्ति अनुच्छेद 368 में विद्यमान है। क्या संशोधन शक्ति विवक्षित रूप से विद्यमान है और उसका विस्तार क्या है और क्या संसद् उसमें वृद्धि कर सकती है, इन सब बातों पर विचार किया जा सकता है किन्तु इस बाबत कोई सन्देह नहीं किया जा सकता है कि अनुच्छेद 368 में संशोधन की शक्ति और प्रक्रिया दोनों ही विहित हैं। यह मत गोलक नाथ वाले मामले([1]) में पांच न्यायाधिपतियों एवं न्यायाधिपति हिदायतुल्लाह के बहुमत से स्थापित कर दिया गया है। यह भी ध्यान देने की बात है कि महत्वपूर्ण बहुमत निर्णय द्वारा इस बारे में कोई मत व्यक्त नहीं किया गया है कि क्या अनुच्छेद 368 के परन्तुक के अधीन, उस अनुच्छेद को ही संशोधित करके मूल अधिकारों को संशोधित किया जा सकता है (देखिए—पृष्ठ 805 पर मुख्य न्यायाधिपति का निर्णय)।

अब प्रश्न यह उठता है कि क्या चौबीसवां संशोधन विधिमान्य है और यदि वह विधिमान्य है तो क्या यथा संशोधित अनुच्छेद 368 पर कोई प्रतिबन्ध हैं और यदि हैं तो वे क्या हैं। चौबीसवें संशोधन विधेयक के उद्देश्य और कारणों से उसके अधिनियमन का प्रयोजन प्रकट हो जाता है। उससे यह भी प्रकट हो जाता है कि किस बुराई को दूर करने के लिए वह अधिनियमित किया गया है। उसके पैरा 2 में निम्नलिखित कथन किया गया है —

> "उक्त प्रयोजन के लिए विधेयक अनुच्छेद 368 को उपयुक्त रूप में संशोधित करना चाहता है और वह यह स्पष्ट करता है कि अनुच्छेद 368 संविधान के संशोधन और, साथ ही, उसकी प्रक्रिया विहित करता है। विधेयक यह भी उपबन्धित करता है कि जब संसद् के दोनों सदनों द्वारा कोई संविधान

([1]) (1967) 2 एस० सी० आर० 762.

संशोधन विधेयक पारित हो जाता है तो वह राष्ट्रपति की अनुमति के लिए उनके समक्ष पेश किया जाएगा और राष्ट्रपति उस पर अपनी अनुमति देंगे। विधेयक अनुच्छेद 13 को भी इस प्रकार संशोधित करना चाहता है कि अनुच्छेद 368 के अधीन संविधान के संशोधन को वह अनुच्छेद लागू न रह जाए।"

उक्त संशोधन का प्रभाव क्या हुआ है यह संशोधन से पूर्व और पश्चात् अनुच्छेद 368 के सुसंगत उपबन्धों को पढ़ने से और अनुच्छेद 13 में जोड़े गए नए खण्ड (4) से सम्बद्ध करके पढ़ने से स्पष्ट हो जाता है—

संशोधन से पूर्व

संविधान के संशोधन के लिए प्रक्रिया। "368. इस संविधान के संशोधन का सूत्रपात उस प्रयोजन के लिए विधेयक को संसद् के किसी सदन में पुरःस्थापित करके ही किया जा सकेगा तथा जब प्रत्येक सदन द्वारा उस सदन की समस्त सदस्य-संख्या के बहुमत से तथा उस सदन के उपस्थित और मतदान करने वाले सदस्यों के दो-तिहाई से अन्यून बहुमत से वह विधेयक पारित हो जाता है तब वह राष्ट्रपति के समक्ष उसकी अनुमति के लिए रखा जाएगा तथा विधेयक को ऐसी अनुमति दी जाने के पश्चात् विधेयक के निबन्धनों के अनुसार संविधान संशोधित हो जाएगा :

परन्तु यदि ऐसा कोई संशोधन—

× × ×

कोई परिवर्तन करना चाहता है तो ऐसे उपबन्ध करने वाले विधेयक के राष्ट्रपति के समक्ष अनुमति के लिए उपस्थित किए जाने के पहिले उस संशोधन के लिए प्रथम अनुसूची के भाग (क) और (ख) में उल्लिखित राज्यों में से कम से कम आधों के

संशोधन के पश्चात्

संविधान का संशोधन करने की संसद् की शक्ति और उसके लिए प्रक्रिया। "368(1). इस संविधान में किसी बात के होते हुए भी, संसद् अपनी संविधायी शक्ति का प्रयोग करते हुए इस संविधान के किसी उपबन्ध का परिवर्धन, परिवर्तन अथवा निरसन के रूप में संशोधन, इस अनुच्छेद में दी गई प्रक्रिया के अनुसार कर सकेगी।

(2) इस संविधान के संशोधन का सूत्रपात उस प्रयोजन के लिए विधेयक संसद् के किसी सदन में पुरःस्थापित करके ही किया जा सकेगा तथा जब प्रत्येक सदन द्वारा उस सदन की समस्त सदस्य-संख्या के बहुमत से तथा उस सदन के उपस्थित और मतदान करने वाले सदस्यों के दो-तिहाई से अन्यून बहुमत से वह विधेयक पारित हो जाता है तब वह राष्ट्रपति के समक्ष रखा जाएगा, जो विधेयक को अपनी अनुमति देगा और तब संविधान विधेयक के निबन्धनों के अनुसार संशोधित हो जाएगा :

परन्तु यदि ऐसा कोई संशोधन—

× × ×

कोई परिवर्तन करना चाहता है तो ऐसे उपबन्ध करने वाले विधेयक के राष्ट्रपति के समक्ष अनुमति के लिए उपस्थित किए जाने के पहिले उस संशोधन के लिए राज्यों में से कम से कम आधे राज्यों के विधानमण्डलों

विधानमण्डलों का उस प्रयोजन के लिए उन विधानमण्डलों से पारित संकल्पों द्वारा अनुसमर्थन भी अपेक्षित होगा।"

का उस प्रयोजन के लिए उन विधानमण्डलों से पारित संकल्पों द्वारा अनुसमर्थन भी अपेक्षित होगा।

(3) अनुच्छेद 13 की कोई बात इस अनुच्छेद के अधीन किए गए किसी संशोधन को लागू न होगी।"

"13(4). इस अनुच्छेद की कोई बात अनुच्छेद 368 के अधीन किए गए इस संविधान के किसी संशोधन को लागू न होगी।"

उपरोक्त संशोधन उपबन्धित करता है कि —(1) अनुच्छेद 368 संशोधन-शक्ति का स्रोत है; (2) संसद् सांविधानिक संशोधन "अपनी सांविधायी शक्ति के प्रयोग में" करती है; (3) संशोधन-शक्ति का प्रयोग परिवर्धन, परिवर्तन या निरसन द्वारा किया जाता है; (4) मूल अधिकारों में से किसी को छीन लेने या न्यून करने की बाबत अनुच्छेद 13 में उपबन्धित प्रतिबन्ध अनुच्छेद 368 के अधीन किए गए संशोधन को लागू नहीं होता है; (5) अनुच्छेद 13 की कोई बात अनुच्छेद 368 के अधीन किए जाने वाले सांविधानिक संशोधन को लागू नहीं होती है; (6) "संविधान के किसी उपबन्ध का" पद इसलिए जोड़ा गया था कि 'किसी' शब्द से अभिप्रेत है 'कोई भी उपबन्ध'; और (7) उक्त अनुच्छेद के अधीन सम्यक् रूप से पारित विधेयक पर अपनी अनुमति देने के लिए राष्ट्रपति बाध्य है।

जहां तक कि इस दलील का सम्बन्ध है, कि अनुच्छेद 13(2) सांविधानिक-संशोधनों पर प्रतिबन्ध लगाता है तो मैं पहले ही इस बाबत तर्क दे चुका हूं कि पिटीशनर यह दलील इस कारण नहीं दे सकते हैं कि जो प्रतिबन्ध लगाया गया है वह साधारण विधायी विधि को ही लागू होता है। तथापि प्रश्न यह है कि अनुच्छेद 13(2), जो संसद् या राज्य विधानमण्डल द्वारा या अनुच्छेद 13(3)(क) में उल्लिखित अधिनियमितियों द्वारा मूल अधिकार छीने जाने या न्यून किए जाने पर प्रतिबन्ध लगाता है, संविधान का महत्वपूर्ण लक्षण है या नहीं। यदि नहीं है तो वह अनुच्छेद 368 के अधीन संशोधित किया जा सकता है। इस स्थिति को स्वीकार करते हुए पिटीशनर ने यह दलील दी कि यदि संशोधक अनुच्छेद 368 और अनुच्छेद 13 का प्रभाव साधारण विधायी विधि पर से अनुच्छेद 13 के प्रतिबन्ध को हटाना है, जिसके द्वारा बाद में मूल अधिकारों को निराकृत किया जा सकता है या उन्हें छीना जा सकता है, तो वह संविधान का महत्वपूर्ण लक्षण ही होगा।

यह प्रश्न कि अनुच्छेद 368 के अधीन संशोधन-शक्ति पर कोई विवक्षित प्रतिबन्ध है अथवा क्या उस अनुच्छेद के अधीन संशोधन, संविधान के बुनियादी ढांचे को क्षतिग्रस्त या नष्ट कर सकता है, चौबीसवें संशोधन से यथा पूर्व विद्यमान "संशोधन" शब्द के अर्थ पर जैसा कि मैंने पहले कहा है, आधारित है। यदि उस शब्द का सीमित अर्थ है, जैसे कि पिटीशनर ने कहा है, तो यह दलील दी गई है कि संशोधन-शक्ति को "परिवर्धन, परिवर्तन और निरसन के रूप में "संशोधित" पद का प्रयोग करके वर्धित नहीं किया जा सकता है।

यह उल्लेखनीय है कि जो तर्क गोलक नाथ वाले मामले[1] में दिए गए थे वे ही अब प्रस्तुत मामले में दिए गए हैं, अर्थात् (1) यह कि अनुच्छेद 368 में 'संशोधन' शब्द में सकारात्मक एवं नकारात्मक (पाजिटिव एण्ड निगेटिव) दोनों ही तत्व हैं और यह कि उस शक्ति के प्रयोग में संसद् संविधान के ढांचे को नष्ट नहीं कर सकती है। वह तो संविधान को बेहतर ढंग में प्रभावी बनाने के लिए उसकी मूल रूप रेखा के अन्दर ही उसके उपबन्धों को परिवर्तित कर सकती है; (2) यह कि यदि बुनियादी तत्वों को विशेष बहुमत से साधारण संशोधन-प्रक्रिया द्वारा परिवर्तित किया जा सकता है तो राष्ट्रपति पद समाप्त किया जा सकता है, संसदीय कार्यपालिका निराकृत की जा सकती है परिसंघ के सिद्धान्त को तिलांजलि दी जा सकती है और संक्षेप में, प्रभुत्वसम्पन्न लोकतन्त्रात्मक गणराज्य को सर्वसत्तावादी सरकार में परिवर्तित किया जा सकता है। महत्वपूर्ण बहुमत निर्णय में, यद्यपि यह निष्कर्ष समाविष्ट था कि तर्क अत्यन्त सबल है, यह कहा गया था कि अब उनके लिए इस महत्वपूर्ण प्रश्न का उत्तर देना आवश्यक नहीं रह गया था, किन्तु जहां तक कि मूल अधिकारों का प्रश्न था तो उसका उत्तर संकीर्ण रूप में दिया जा सकता था। मुख्य न्यायाधिपति सुब्बा राव ने पृष्ठ 805 पर कहा है—"विचारार्थ यह प्रश्न उसी दशा में उत्पन्न होता है जब कि संसद् संविधान के भाग 3 से भिन्न अन्य उपबन्धों में उल्लिखित संविधान के ढांचे को नष्ट करना चाहती हो। अतः इस बाबत हम अपना मत व्यक्त नहीं कर रहे हैं"।

दूसरी ओर मुख्य न्यायाधिपति हिदायतुल्लाह ने संयुक्त राज्य अमरीका के संविधान के अनुच्छेद 5 और उसके अधीन दिए गए विनिश्चयों के प्रति निर्देश करते हुए विवक्षित परिसीमाओं पर विचार करते हुए यह बताया है कि यद्यपि संयुक्त राज्य अमरीका के सुप्रीम कोर्ट का इस बाबत कोई स्पष्ट निर्णय नहीं है तथापि वहां इस बाबत एक महत्वपूर्ण विवाद यह विद्यमान है कि क्या न्यायालय के समक्ष कभी भी सारपूर्ण प्रश्न विचारार्थ उत्पन्न नहीं हो सकता है और क्या संशोधन-शक्ति पर कोई विवक्षित परिसीमाएं हैं। पाठ्यग्रन्थ लेखकों के, विशिष्टतः मारफील्ड के, दृष्टिकोणों पर विचार करने के पश्चात् और अंग्रेजी तथा फ्रांसीसी संविधानों की स्थिति पर (देखिए—पृष्ठ 870-77) विचार करने के पश्चात् उन्होंने पृष्ठ 878 पर कहा है—"ऐसा दृष्टिकोण समाज को निर्जीव और राज्य को प्रभुत्वहीन बना देता है। ऐसी दशा में यदि परिवर्तन आवश्यक है तो उसके लिए एकमात्र विकल्प है क्रान्ति। सम्पूर्ण संविधान संशोधित किया जा सकता है। केवल दो दर्जन अनुच्छेद 368 की पहुंच के बाहर हैं। यह उस कारण कि संविधान द्वारा उन्हें बुनियादी बना दिया गया है। जो कुछ राज्य के काउन्सेल ने सुझाव दिया है वह स्वयं क्रान्तिकारी है क्योंकि जैसी वस्तुस्थिति है, उसके अनुसार सुझाई गई संशोधन-रीति अवैध है"।

न्यायाधिपति वांचू ने विवक्षित परिसीमाओं के सिद्धान्त को अस्वीकार कर दिया किन्तु उन्हें इस बात सन्देह था कि संविधान निराकृत किया जा सकता है या

(1) (1967) 2 एस० सी० आर० 762.

उसके बदले में कोई नया संविधान रखा जा सकता है (देखिए—पृष्ठ 838)। पृष्ठ 836 पर उन्होंने कहा है—"हमने इस तर्क पर भली प्रकार विचार किया है कि अनुच्छेद 368 के अधीन संविधान के कुछ बुनियादी लक्षणों को संशोधित नहीं किया जा सकता है और हम इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि अनुच्छेद 368 के अधीन प्रदत्त संशोधन-शक्ति पर कोई भी विवक्षित परिसीमा न तो लगाई जा सकती है और न लगाना उचित ही है ..."। हमारी समझ में नहीं आता है कि यदि संविधान के किसी भाग को असंशोधनीय बनाने का आशय था तो संविधान-सभा ने ऐसा आशय अनुच्छेद 368 में अभिव्यक्त रूप में क्यों नहीं जोड़ा।......अनुच्छेद 368 की "शब्दावली" के, जो संविधान के संशोधन के बारे में है, अर्थात्, उसका कोई भी उपबन्ध संशोधित किया जा सकता है—आधार पर हम संविधान के किसी भी उपबन्ध को, चाहे वह बुनियादी उपबन्ध हो या कोई अन्य उपबन्ध, बाबत संशोधन-शक्ति पर कोई भी विवक्षित परिसीमा अनुमानित नहीं कर सकते हैं। पृष्ठ 831 पर व्यक्त मत इस प्रकार है—"यह कि जब संविधान-संशोधन विधेयक राष्ट्रपति को उनकी अनुमति के लिए दिया जाए तो वे ऐसे विधेयक पर अपनी अनुमति देने से इन्कार कर सकते हैं। इसका परिणाम यह होगा कि विधेयक पूर्णतः असफल हो जाएगा, क्योंकि अनुच्छेद 368 में ऐसी कोई बात उल्लिखित नहीं है, जैसी कि अनुच्छेद 111 में है, जिसके आधार पर विधेयक की बाबत कोई आगे कार्यवाही की जा सके।"

न्यायाधिपति बछावत ने बुनियादी लक्षणों से सम्बद्ध तर्क सुने किन्तु उन्होंने कोई मत व्यक्त नहीं किया क्योंकि उन्होंने कहा था : "इतना ही उल्लेख पर्याप्त है कि मूल अधिकार संशोधन-शक्ति के अन्तर्गत है"। दूसरी ओर न्यायाधिपति रामस्वामी ने विवक्षित परिसीमा के सिद्धान्त को अस्वीकार कर दिया क्योंकि अनुच्छेद 368 में अभिव्यक्त रूप में ऐसी कोई बात नहीं कही गई है। पृष्ठ 933 पर उन्होंने कहा—"यदि संविधान निर्माताओं का आशय था कि संविधान के कुछ बुनियादी लक्षण हैं, जो स्थायी हैं तो निश्चय ही उन्होंने अनुच्छेद में यह अभिव्यक्त कर दिया होता कि ऐसे बुनियादी लक्षण संशोधनीय नहीं हैं"।

पिटीशनर और प्रत्यर्थियों की ओर से दिए जा रहे विस्तृत तर्कों के दौरान हमारे समक्ष संसार के अनेक देशों के संविधानों की चर्चा की गई। परस्पर विरोधी दलीलों के समर्थन में संयुक्त राज्य अमरीका के सुप्रीम कोर्ट और उसके विभिन्न राज्यों तथा कनाडा, आयरलैण्ड, आस्ट्रेलिया के न्यायालयों और प्रिवी काउन्सिल के बहुत से विनिश्चय उद्धृत किए गए। सांविधानिक विधि के अनेक ग्रन्थों, विद्वान् विधिवेत्ताओं के मतों, नैसर्गिक विधि या उच्चतर विधि के लागू होने के सिद्धान्तों, लास्की की कृति 'ग्रामर ऑफ पालिटिक्स' के उद्धरणों, मूल अधिकारों की मांग के इतिहास और संविधान-सभा तथा संविधान (प्रथम संशोधन) विधेयक पर तात्कालिक संसद् में हुए विचार-विमर्श के दौरान दिए गए भाषणों, का भी हवाला दिया गया। वर्तमान सुनवाई की लम्बी अवधि के दौरान हमारे समक्ष दिए गए तर्कों से जो अत्यन्त श्रमसाध्य एवं पाण्डित्यपूर्ण थे और जिस तत्परता से हम में से प्रत्येक की शंकाओं को पिटीशनर के विद्वान् अधिवक्ता, महान्यायवादी, महासॉलिसिटर

और राज्यों के महाधिवक्ताओं और प्रस्तुत कार्यवाही में मध्यक्षेपी विद्वान् अधिवक्ताओं ने दूर किया है उससे इस मामले में विचाराधीन महत्त्वपूर्ण और दूरगामी प्रभाव वाले प्रश्नों की अन्तर्वस्तु पूर्णतः सारहीन कर दिया है, यद्यपि इन तर्कों से कभी-कभी कुछ ऐसे पहलू सामने आ जाते थे जिनका सम्बन्ध इन महत्त्वपूर्ण प्रश्नों से केवल ऊपरी रूप में था और वे उनकी गहराई तक नहीं पहुंच पाते थे, विशेषकर तब जब कि ऐसे शास्त्रकारों के, जिन्हें किसी भी मामले में विनिश्चय के लिए उत्पन्न होने वाले स्पष्ट प्रश्नों से असम्बद्ध काल्पनिक समस्याओं पर अभिव्यक्ति की अधिकतम स्वतन्त्रता प्राप्त है, मतों पर हमारे समक्ष जोर दिया गया है। कुछ विद्वानों की पूर्वधारणाओं और पूर्वनिर्णयों के दृढ़ पहलुओं की परिसीमाओं से, जो हमारी विधि को उपयोगी बनाते हैं, व्यावहारिक आवश्यकताओं की अक्सर पूर्ति नहीं होती है। ऐसे परिणामों को ध्यान में रखने की बाबत भी तर्क दिए गए जो वस्तुतः यह स्पष्ट करते हैं कि यदि विनिश्चय का परिणाम पक्ष या विपक्ष में होता है तो उसका वास्तविक परिणाम क्या होगा, किन्तु इस न्यायालय का इन पक्षों से कोई सम्बन्ध नहीं होना चाहिए, बशर्ते कि हमारा विनिश्चय उसके विधिक दृष्टिकोण के अनुरूप हो। हमें ऐसे विचारों से अपने को स्वतन्त्र कर लेना चाहिए जो मस्तिष्क पर दबाव डालने वाले हों। हमारा यह विचार है कि हमें अस्पष्टता की ओर नहीं भागना चाहिए। जैसा कि मिल्टन ने कहा भी है "हमें काल्पनिक विश्व की आशा में वास्तविक विश्व का त्याग नहीं करना चाहिए और हमें बुद्धि से काम लेना चाहिए"। मेरे विचार से सांविधानिक उपबन्धों के अर्थान्वयन और सही निर्वचन के सुमान्य सिद्धान्तों के अनुसार उक्त मत सही है।

अर्थान्वयन के नियमों के सम्बन्ध में हमारे समक्ष विस्तृत तर्क पेश किए गए हैं। इस सन्दर्भ में बहुत से अमरीकी मामलों का हवाला यह दर्शित करने के लिए दिया गया है कि विधानमण्डलों और सरकारों के माध्यम से अभिव्यक्त जनता की इच्छा को प्रभावी बनाने की सर्वोपरिता को ध्यान में रखते हुए, सांविधानिक विषयों पर विनिश्चय करते समय हमारा दृष्टिकोण क्या होना चाहिए। मैं यह मानता हूं कि इनमें कुछ तर्कों से यह दर्शित होता है कि अन्य देशों के न्यायाधिपतियों के मतों के अवलम्बन की एक आदत सी हो गई है जबकि हमारे ही देश के सुविद् सर्वोच्च न्यायालय ने पिछले बीस वर्षों में इस बाबत अपना दृष्टिकोण दृढ़तापूर्वक स्पष्ट कर दिया है और संविधान के निर्वचन के बारे में लागू होने वाले नियम प्रतिपादित कर दिए हैं। ऐसा कोई भी सांविधानिक विषय नहीं है जो किसी न किसी रूप में राजनैतिक, सामाजिक या आर्थिक प्रश्नों से सम्बद्ध न हो और यदि संविधान निर्माताओं ने इस न्यायालय को न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति दी है और ऐसी शक्ति देते समय उसे प्रमुख स्थान दिया है और उसे संविधान का हृदय और आत्मा कहा है, तो हमें इस शक्ति के प्रयोग से इस कारण ही विचलित नहीं होना चाहिए कि विधान की विधिमान्यता आदि उसकी (विधान की) राजनैतिक या सामाजिक नीति को प्रभावित करेगी। इस न्यायालय का मूल दृष्टिकोण यही रहा है और सदैव यही होना चाहिए कि नीति निर्धारण और उसे (नीति को) विधि का रूप देना एकमात्र विधानमंडल

का कार्य है। विधान की सांविधानिकता की बाबत उपधारणा की जानी चाहिए बशर्ते कि यह निर्णय करने के लिए सबल और विश्वसनीय आधार न हों कि वह किसी सांविधानिक उपबन्ध के प्रतिकूल है। इस सन्दर्भ में विधानमण्डल और कार्यपालिका ही नहीं वरन् न्यायपालिका भी सर्वोपरि विधान से आबद्ध है और इसलिए कोई भी न्यायालय या न्यायाधीश अपनी न्यायिक शक्तियों का प्रयोग उसके प्रतिकूल नहीं करेगा। वह संविधान से ऊपर सर्वोच्च विधानमण्डल के रूप में भी कार्य नहीं करेगा। तीनों ही अंगों का सद्भाव एक बुनियादी उपधारणा है और यह सम्भव है कि तीनों अंगों में से कोई भी अंग त्रुटि कर सकता है किन्तु साथ ही उसमें यह भी उपबन्धित है कि उनकी त्रुटि को संविधान में अन्तर्निहित परिसीमाओं के अधीन रहते हुए उसमें विहित रीति एवं ढंग से ठीक किया जा सकता है।

इस न्यायालय का न तो किसी राजनीति-दर्शन से कोई सरोकार है और न इसका कोई अपना दर्शन ही है। न्यायाधीशों को अपने पूर्वाग्रहों या तत्समय के प्रचलित नैतिक दृष्टिकोण का उल्लेख अपने निर्णयों में नहीं करना चाहिए। उसे विधान की परख समाज की, जिसके लिए उसे बनाया गया है, अनुभूत आवश्यकताओं और संविधान के अनुसार ही करनी चाहिए। निस्सन्देह राजनैतिक या सामाजिक नीति विधिक-प्रणाली पर प्रविभावी हो सकती है। जैसा कि मैंने पहले भी कहा है जब विधानमण्डल उन नीतियों को प्रभावी बनाने के लिए उन्हें विधि का रूप दे देता है और जब न्यायालय को, जब ऐसे किसी उपबन्ध पर आपत्ति की गई हो, उसकी विधिमान्यता तय करने के लिए ऐसी नीतियों की परीक्षा करनी होती है तो वे नीतियां विधिक विषय बन जाती हैं जो कुछ समय तक हावी रहता है और नीतियों के लिए अहितकर हो जाता है।

जब नागरिकों के अधिकार प्रतिकूलतः प्रभावित होते हैं तो वह उनकी रक्षा के लिए न्यायिक शक्ति का सहारा लेता है। किन्तु अपने कर्तव्यों के निर्वहन में न्यायालयों का विधान की बुद्धिमत्ता या नीति से कोई वास्ता नहीं होता है। जब न्यायालय कोई विधि घोषित करता है तो वह भविष्य को इस आशय से बन्धकित नहीं कर देता है कि आने वाली पीढ़ियों के हित उस घोषित विधि से आबद्ध हो जाएं। न तो ऐसे निर्णयों का प्रभाव शाश्वत होता है और न अनन्त ही। इसके प्रतिकूल विचार यह है कि भूतकाल में घोषित विधि समाज के स्थिर निर्णय और तत्समय विद्यमान सामाजिक, आर्थिक परिस्थितियों के अनुरूप थे और यह कि यदि वे निर्णय तत्समय विद्यमान समाज की अपेक्षाओं की पूर्ति करने वाले थे तो उन्हें सुविदित विधिक प्रक्रिया द्वारा (चाहे तो विधायी प्रक्रिया द्वारा या चाहे न्यायिक पुनर्विलोकन, जहां वह सम्भव हो, द्वारा) परिवर्तित करना होगा। अतः न्यायालयों का यह कर्तव्य है और इस बाबत वे सशक्त भी हैं कि वे अपनी निर्वचन सम्बन्धी कर्तव्य की सीमाओं के भीतर वैसी विधि की उसके लागू रहने की अवधि में हुए अनुभवों के आधार पर परीक्षा करें और उन्हें पुनः घोषित करें जिससे कि वह सम्बन्धित पीढ़ी के सामाजिक, आर्थिक परिवर्तनों और विधिशास्त्रीय दृष्टिकोण के अनुरूप हो जाए। विधि की भाषा बायबिल के जोजेफ की भांति बहुरंगी हो सकती है

किन्तु उसका अर्थ संदर्भानुसार लगाया जाना चाहिए और यदि सम्भव हो तो उसका अर्थान्वयन इस प्रकार किया जाए कि उससे समाज की अनुभूत आवश्यकताओं की पूर्ति हो जाए। इस उद्देश्य की पूर्ति निर्वचन-प्रक्रिया में लोच और गति लाए बिना नहीं की जा सकती है।

अन्य देशों के संविधान के उपबन्धों या उनके अधीन किए गए विनिश्चयों की ओर आकर्षित होते समय या उनका अवलम्ब लेते समय सतर्क रहना आवश्यक है। इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता है कि अन्य देशों के संविधानों के उपबन्ध उन देशों की जनता के लिए और उनके राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक दृष्टिकोणों के अनुरूप बनाए गए हैं। संविधान के बीज सम्बन्धित देश की मिट्टी में बोये जाते हैं और उस देश की मिट्टी तथा जलवायु ही उन बीजों के उगने में मदद देती है और वही यह तय करती है कि उसकी जनता को क्या लाभ प्रदान किए जाएं। वही बीज हम किसी अन्य भूमि या अन्य जलवायु में नहीं उगा सकते हैं और वहां पर हम वैसी ही प्रगति और फायदे प्राप्त नहीं कर सकते हैं। समय और स्थान के अनुसार विधि बदलती रहती है। इस प्रकार न्याय एक सापेक्ष विषय है जो सामाजिक एवं आर्थिक परिस्थितियों के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार के समाज में भिन्न-भिन्न होता है। मेरे विचार से कठिनाई, जो विदेशी मामलों या कॉमनवैल्थ देशों के, जिसकी प्रत्येक इकाई के विधिक ढांचे का आधार कामन लॉ है, जैसा कि बहुत कुछ इस देश की भी है, अन्दर विनिश्चित मामलों का हवाला देने में होती है वह यह कि वे बहुधा विधि के ऐसे उपबन्धों की व्याख्या और निर्वचन से सम्बन्धित होते हैं जो हमारे समक्ष विचाराधीन विषयों से भिन्न होते हैं। उन देशों के न्यायालयों के समक्ष उत्पन्न समस्या, जिसके सामाजिक विकास, सामाजिक एवं आर्थिक वातावरण जनता की, जिसका नैतिक और आध्यात्मिक स्तर तथा मनःस्थिति एवं दृष्टिकोण पूर्णतः भिन्न होता है, आवश्यकताओं की पृष्ठभूमि इस देश के न्यायालयों के समक्ष उत्पन्न समस्याओं और दृष्टिकोणों से पूर्णतः भिन्न होती है। इसका यह अर्थ नहीं है कि हम ऐसे प्रकाश से दूर रहना चाहते हैं जो हमारी समस्या को लाभकारी रूप में प्रकाशित कर सकता है। इसका अर्थ तो यह है कि हम उस प्रकाश से अन्धे नहीं बनना चाहते हैं। भारत शासन अधिनियम, 1935 के अधीन स्थापित परिसंघीय ढांचे वाले सांविधानिक प्रजातन्त्र के प्रारम्भिक काल में ही भारत के मुख्य न्यायाधिपति ने यह मत व्यक्त कर दिया था कि कॉमनवैल्थ देशों के संविधान पर आधारित विनिश्चयों का अनुसरण करने में विशेष सावधानी बरती जानी चाहिए। यह मत अमरीका के संविधान के अधीन विनिश्चित मामलों को समान रूप से, यदि उससे अधिक नहीं, लागू होता है। मुख्य न्यायाधिपति ग्वायर ने सैण्ट्रल प्रोविन्सेज एण्ड बरार ऐक्ट नं० XIV ऑफ 1938 वाले मामले([1]) में, जो 1935 के अधिनियम के अधीन सबसे पहला मामला था, पृष्ठ 38 पर कहा है—"किन्तु कुछ ऐसे विषय हैं जिन पर अन्य न्यायालयों के विनिश्चयों

([1]) (1939) एफ० सी० आर० 18.

को लागू करने में बड़ी सतर्कता बरतनी होती है, क्योंकि न्यायालय का विनिश्चय सम्बन्धित संविधान की शब्दावली पर ही आधारित होता है। किन्हीं भी दो देशों के संविधानों की भाषा एवं शर्तें समान नहीं होती हैं। यह उपधारणा करना अत्यधिक जोखिमपूर्ण है कि किसी एक संविधान के अधीन विनिश्चय को किसी अन्य संविधान के अधीन मामले को बिना किसी अपवाद के लागू किया जा सकता है"। यह मत मुख्य न्यायाधिपति गजेन्द्रगडकर ने सात न्यायाधिपतियों की ओर से निर्णय सुनाते हुए 1964 के विशेष निर्देश संख्या 1([1]) में अंगीकार किया था।

हमारे समक्ष गम्भीरतापूर्वक उद्धृत अमरीकी विनिश्चय,अमरीकी जनता के उपनिवेशवाद के विरुद्ध संग्राम के इतिहास, परिसंघ गठित करने वाले विभिन्न राज्यों का प्रभुत्व, परिसंघीय सरकार के लिए संविधान बनाने के लिए उत्प्रेरित करने वाला मानसिक दबाव एवं उलझन और लगभग 200 वर्ष से भी अधिक समय की कालावधि में विधि एवं न्याय के अन्तर्निहित सिद्धान्तों के सन्दर्भ में किए गए थे। अतः हमारे संविधान के अधीन उत्पन्न होने वाले मामलों के विनिश्चय के संदर्भ में उनके प्रयोग के लिए इस न्यायालय को बाध्य नहीं किया जा सकता है। संयुक्त राज्य अमरीका के सुप्रीम कोर्ट के विनिश्चय जनता के लिए लाभकर होते हुए भी सरकार के लिए असुविधाजनक थे, किन्तु फिर भी सरकार ने उन्हें तब तक अस्वीकार नहीं किया जब तक कि वहां न्यायालय का दृष्टिकोण बदल नहीं गया। जनता, सरकार और न्यायालय के संयम और उस धैर्य के, जिससे ये असुविधाएं, यदि कोई थीं, सहन की गई हैं, कारण ही विधि उन्नत हुई है और इस लम्बी कालावधि में संयुक्त राज्य का संविधान केवल 24 बार ही संशोधित हुआ है। अमरीका के संविधान के अधीन संशोधन-शक्ति का प्रयोग एक कठिन प्रक्रिया है क्योंकि उसे राज्य विधानमण्डल या कन्वेन्शन में जनता के प्रतिनिधियों के अनुसमर्थन से सम्बद्ध कर दिया गया है। अतः ये विनिश्चय हमारे संविधान के, जिसमें संशोधन के लिए पूर्णतः भिन्न प्रक्रिया उपबन्धित है, निर्वचन के लिए व्यवहारिक दृष्टि से उपयोगी नहीं हैं। निस्सन्देह अर्थान्वयन के जो सिद्धान्त हमारे न्यायालय लागू करते हैं वे अंग्रेजी विनिश्चय एवं प्रिवी काउन्सिल के निर्णयों पर ही आधृत हैं। प्रिवी काउन्सिल के विनिश्चयों द्वारा घोषित विधि तो इस देश पर उसकी अधिकारिता समाप्त होने से पूर्व तक लागू होती रही है। आज भी हमारे देश में इंग्लैण्ड, कॉमनवैल्थ देशों और, अमरीका के न्यायालयों के विनिश्चय समान विषयक मामलों में अनुसरणीय माने जाते हैं।

इस प्रस्थापना के लिए कि 'संशोधन' शब्द के अर्थ सुनिश्चित करने के लिए, लिखित संविधान में संशोधन के उद्देश्य एवं आवश्यकता पर विचार किया जाना चाहिए, अर्थात्—

(क) व्यवस्थित रूप में संविधान संशोधित करने के लिए ऐसा करना आवश्यक है, अन्यथा संविधानेतर रीति या क्रान्ति द्वारा संविधान नष्ट हो जाएगा,

---

([1]) (1965) 1 एस० सी० आर० 413, 487.

(ख) चूंकि प्रधान उद्देश्य मूल या संघठन सम्बन्धी विधि में परिवर्तन करना है, अर्थात्, संविधान के मूल या बुनियादी सिद्धान्तों में परिवर्तन, अतः संशोधन-शक्ति के बारे में यह नहीं कहा जा सकता है कि उसके अधीन केवल ऐसे विषयों को ही संशोधित किया जा सकता है जो सारभूत विषय नहीं हैं।

महान्यायवादी ने इस दलील के लिए विभिन्न लेखकों की कृतियों से उद्धरण पेश किए जिनमें से कुछ उद्धरणों को मैं नीचे उद्धृत करता हूं—

वुडरो विल्सन ने "कांस्टिट्यूशनल गवर्नमेण्ट इन दि यूनाइटेड स्टेट्स" में कहा है—

"सांविधानिक-सरकार, जो स्वतन्त्रता कायम रखने का एक साधन है, उपयुक्त समायोजन बनाए रखने के लिए एक साधन है और उसमें समयानुकूल बनने की क्षमता भी होनी चाहिए (पृष्ठ 4-6)"

"अतः सांविधानिक सरकार के बारे में विशिष्टतः यह सत्य कि सांविधानिक पद्धति की अन्तर्निहित धारणाएं जीवन और परिस्थितियों में तथा मतों में तत्समान परिवर्तनों द्वारा समय-समय पर बदलती रहती हैं। वे किसी अपरिवर्तनीय रूप में स्थिर नहीं रहती हैं और राष्ट्र की आवश्यकताओं और प्रयोजनों के साथ उन्नत और परिवर्तित होती रहती हैं।" (पृष्ठ 22)

"कांस्टिट्यूशनल कन्वेन्शन्स—देयर नेचर, पॉवर्स एण्ड लिमिटेशान्स" नामक पुस्तक में रोगर शेरमन होर ने अमरीका के संविधान को लोक-प्रभुत्व पर आधारित बताते हुए कहा है—

"परिसंघीय संविधान संयुक्त राज्य की जनता द्वारा आदिष्ट और स्थापित किया है (संयुक्त राज्य के संविधान की प्रस्तावना) और उसमें विभिन्न राज्यों में से प्रत्येक राज्य को "गणतन्त्रात्मक सरकार" की गारण्टी की गई है। (संयुक्त राज्य संविधान, अनुच्छेद IV)। दूसरे शब्दों में इसका अर्थ है प्रतिनिधि सरकार। यह इस सिद्धान्त पर आधारित है कि जनता शासन करने के लिए योग्य है, किन्तु स्वयं पर सीधे शासन करना उसके लिए अति दुष्कर है। अतः प्रक्रिया को सुकर बनाने के लिए—किन्तु किसी अन्य उद्देश्य से नहीं—जनता ने अपने दृष्टिकोण के प्रतिनिधित्व की अभिव्यक्ति तथा अपनी सामूहिक इच्छा को प्रभावी बनाने के लिए अपनों में से ही अपने प्रतिनिधि चुने हैं।" (पृष्ठ 11)

जेमसन की कृति "वर्क्स ऑफ डेनियल वेब्सटर" में से उद्धरण देते हुए पृष्ठ 12 पर पुनः कहा गया है—

"इन सिद्धान्तों को हमारे पूर्वजों ने विभिन्न अधिकार-पत्र, जो सारतः यह घोषित करते हैं कि चूंकि सम्पूर्ण शक्ति मूलतः जनता में निहित होती है और उससे ही व्युत्पन्न होती है अतः विभिन्न सरकारी मजिस्ट्रेट और अधिकारी जनता

के प्रतिनिधि और अभिकर्ता हैं और वे सदैव जनता के प्रति उत्तरदायी हैं, तैयार करते समय मान्यता दी है।

जनता के विभिन्न अभिकर्ताओं को केवल ऐसी शक्तियां ही प्रदान की गई हैं जो उन्हें संविधान या ऐसी विधि द्वारा, जिनके अधीन वे पदासीन हैं, प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में प्रत्यायोजित की गई हैं; और उन्हें ये शक्तियां भी प्राप्त न होतीं यदि संविधान या विधियां ऐसी शक्तियां प्रदान करने के लिए समर्थ न होते।"

स्वाभाविक रूप से एक प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या उक्त धाराएं हमारे संविधान की बुनियाद हैं ?

उक्त पैराओं का हवाला देने के पश्चात् महान्यायवादी ने कहा कि भारतीय जनता ने, जैसा कि संविधान की प्रस्तावना से स्पष्ट है, संविधान संशोधित करने की शक्ति अनुच्छेद 368 में उल्लिखित विधानमण्डलों को दी है। ये निकाय जनता का प्रतिनिधित्व करते हैं और संविधान के किसी भी भाग का संशोधन अनुच्छेद 368 में उल्लिखित रीति के अनुसार ही किया जा सकता है। उनके विचार से कोई अन्य रीति, संविधान-सभा या लोकमत-संग्रह द्वारा, संविधान-सम्मत न होगी और वह क्रान्तिकारी होगी। अनुच्छेद 368 तो केवल संशोधन-प्रक्रिया या संशोधन की रीति या प्रारूप पर प्रतिबन्ध लगाता है। वह किए जाने वाले संशोधनों के प्रकार या प्रकृति पर कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाता है। अनुच्छेद 368 के अधीन संशोधन-शक्ति पर कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाए गए हैं। संविधान में अनुच्छेद 368 का समावेश जनता ने किया है। हमारे समक्ष उद्धृत विभिन्न अमरीका के मामलों में कन्वेन्शन द्वारा या विधानमण्डल के अनुसमर्थन द्वारा संशोधन प्रक्रिया में जनता द्वारा भाग लिए जाने का सतत उल्लेख है। उक्त अनुसमर्थन को न्यायपालिका जनता द्वारा अनुसमर्थन मानती आ रही है। उस संदर्भ में 'संशोधन' शब्द का अर्थान्वयन व्यापक रूप में किया गया है क्योंकि जब संविधान-संशोधन में जनता की प्रभुत्वसम्पन्न इच्छा की अभिव्यक्ति हुई है तो यह माना गया है मानो संविधान का प्रारूप तैयार करने वाले कन्वेन्शन में भी जनता की ही मूल प्रभुत्वसम्पन्न इच्छा का प्रतिनिधित्व हुआ है। इस बाबत अमरीका के विद्वानों में मतैक्य नहीं है कि क्या सीनेट में राज्यों के प्रतिनिधित्व सम्बन्धी उपबन्ध, जिसे सम्बन्धित राज्य की सम्मति के बिना संशोधित नहीं किया जा सकता है, उस दशा में भी संशोधित किए जा सकते हैं जबकि सम्बन्धित राज्य को छोड़कर अन्य सभी राज्यों ने प्रश्नगत अधिकार के छीन लिए जाने या कम कर दिए जाने की बाबत संशोधन को अपना अनुसमर्थन दे दिया हो। हमारे लिए इस पक्ष या अमरीका के संविधान के अन्य अनेकों पक्षों के बारे में व्याख्या करना आवश्यक नहीं है और न उनसे हमारा कोई सम्बन्ध ही है। हमारा सम्बन्ध तो पिटीशनर के इस दावे से है कि क्या जनता ने मूल अधिकार अपने लिए आरक्षित कर लिए हैं, और महान्यायवादी के इस विरोधी दावे से है कि जनता ने ही अनुच्छेद 368 जोड़ कर उसमें अपनी सम्पूर्ण प्रभुता समाविष्ट कर दी है और उस अनुच्छेद में व्यक्त रूप और रीति में उसके प्रयोग से

संविधान का कोई भी उपबन्ध संशोधित किया जा सकता है। इस सम्बन्ध में संशोधन की प्रकृति या प्रकार पर कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाया गया है। विद्वान् महान्यायवादी ने कहा कि जनता को संशोधन-प्रक्रिया से विलग कर दिया गया है क्योंकि वे अशिक्षित एवं निरक्षर होने के कारण उस प्रक्रिया में तब तक भाग नहीं ले सकते हैं जब तक कि उन्हें उस सम्बन्ध में उचित ज्ञान एवं समझ नहीं हो जाती है। मेरे विचार से यह विचित्र सी बात है। जब उन पर निर्वाचन अभियान में, जिसमें ऐसे राजनीति के उद्देश्य और सामाजिक लाभ सम्मिलित होते हैं जो उस दल के अनुसरण से प्राप्त हो सकते हैं, घोषित जटिलतर समस्याओं की बाबत मतदान करने के लिए भरोसा किया जा सकता है तो निश्चय ही संविधान-संशोधन जैसे सीधे सादे विषय की बाबत भी उन पर भरोसा किया जा सकता है। किन्तु संविधान की सम्पूर्ण स्कीम से यह दर्शित होता है कि जनता के मतदान के प्रत्यक्ष प्रभाव से उन्हें दूर रखा गया है। यह आशय निम्नलिखित बातों से स्पष्ट हो जाता है – (1) निर्वाचन पद्धति द्वारा जिसके अधीन ऐसा अवसर हो सकता है कि मतदाताओं के अल्पमत से ही संसद् और राज्य विधानमण्डलों में उनका एक बड़ा बहुमत हो जाए और मतदाताओं के बहुमत का प्रतिनिधित्व अल्पमत प्रतिनिधि करें। यह बात 12 मार्च, 1973 को भारत संघ द्वारा हाल ही के निर्वाचनों के सम्बन्ध में दाखिल किए गए शपथ-पत्र से स्पष्ट हो जाती है, और (2) जब कि राष्ट्रपति का निर्वाचन विधानमण्डलों के सदस्यों द्वारा आनुपातिक प्रतिनिधित्व के आधार पर किया जाता है। ऐसी स्थिति का ज्ञान संविधान निर्माताओं को था, यह बात डा० अम्बेदकर के भाषण से स्पष्ट हो जाती है। उन्होंने कहा था – सांविधानिक नैतिकता कोई नैसर्गिक-भावना नहीं है। इसे तैयार करना होगा। हमें यह समझना चाहिए कि हमारी जनता को यह अभी सीखना है। भारत में प्रजातन्त्र भारत-भूमि पर खाद बिछाने के समान है जो निश्चय ही अप्रजातान्त्रिक है।" (कांस्टिट्यूएण्ट असेम्बली डिबेट्स, खण्ड 7, पृष्ठ 38) किन्तु इस पक्ष से इस न्यायालय का कोई सम्बन्ध नहीं है क्योंकि यह जो कुछ हो चुका है उसके बारे में है, किन्तु चूंकि जनता के बारे में काफी कहा जा चुका है और चूंकि अनुच्छेद 368 के अधीन संशोधन-शक्ति जनता की प्रभुत्वसम्पन्न इच्छा का प्रतिनिधित्व करती है, इसलिए मैंने उसका हवाला दिया है।

निस्सन्देह इस तथ्य के कि जनता ने मूल अधिकार अपने लिए आरक्षित कर लिए हैं, समर्थन के लिए कुछ आधार हैं। न्यायाधिपति पातञ्जलि शास्त्री ने ए० के० गोपालन बनाम मद्रास राज्य(1) में यही मत व्यक्त किया है। इसका जिक्र पहले किया जा चुका है और इसलिए यह निवेदन किया गया है कि इन अधिकारों को सांविधानिक-संशोधन द्वारा भी छीना या न्यून नहीं किया जा सकता है। उक्त तथ्य ऐतिहासिक तथ्यों के अनुरूप नहीं है, यद्यपि प्रस्तावना में, जिसे 17 अक्तूबर, 1949 को संविधान के भाग रूप में स्वीकार किया गया है, ऐसा ही कहा गया है (संविधान के भाग रूप में प्रस्तावना के अंगीकार किए जाने से सम्बन्धित कांस्टिट्यूएण्ट असेम्बली डिबेट्स, खण्ड 10,

(1) (1950) एस० सी० आर० 88, 100.

पृष्ठ 456 देखिए)। ऐसा प्रतीत होता है कि बेरुबारी यूनियन एण्ड एक्सचेंज ऑफ एन्क्लेव्ज वाले मामले(¹)में व्यक्त किया गया यह मत कि प्रस्तावना संविधान का अंग नहीं है, इस तथ्य की उपेक्षा करके व्यक्त किया गया है कि संविधान-सभा ने इस विषय पर विचार-विमर्श किया था और इस भाव का एक संकल्प पारित किया था कि "प्रस्तावना संविधान का अंग है"। मुझे ऐसा लगता है कि यदि संयुक्त राज्य अमरीका के संविधान के अनुच्छेद की, जो संविधान-संशोधन का उपबन्ध करता है, तुलना अपने संविधान के अनुच्छेद 368 से की जाए तो यह प्रकट होगा कि दोनों संविधानों के संशोधन-प्रक्रिया से सम्बन्धित उपबन्ध परस्पर बिल्कुल भिन्न-भिन्न हैं। मेरे विचार से, यदि हम अपने संविधान के निर्वचन के लिए अमरीका के सुप्रीम कोर्ट के विद्वान् न्यायाधिपतियों के विचारों और मतों को लागू करते हैं तो उक्त तुलना से भ्रम उत्पन्न हो जाएगा। यदि हम विद्वान् महाग्यायवादी की यह दलील स्वीकार कर लेते हैं कि प्रभुत्व अनुच्छेद 368 में निहित है तो संविधान-निर्माण के इतिहास के अवलोकन से यही निष्कर्ष निकलेगा कि भारतीय जनता ने वस्तुतः कभी भी संविधान के प्रारूपण में या उसे अंगीकार करने में भाग नहीं लिया है और न उसे किसी भी प्रक्रम में उसके संशोधन में ही भाग लेने दिया गया है। हां संघ और राज्य सरकारों का कार्य चलाने के लिए समय-समय पर निर्वाचित प्रतिनिधियों के माध्यम से जनता ने अप्रत्यक्ष रूप में अवश्य भाग लिया है। इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता है कि संविधान-सभा के सदस्यों का निर्वाचन वयस्क मताधिकार के आधार पर नहीं किया गया था और न ही उसमें सम्पूर्ण भारतीय राज्यक्षेत्र की जनता का प्रतिनिधित्व उस सीमित मताधिकार के, जो सम्पत्ति, शिक्षा और अन्य अर्हताओं के प्रतिबन्धों के कारण देश की 15 प्रतिशत जनता को ही; अर्थात्, लगभग 40 लाख निर्वाचकों को प्राप्त हुआ था, आधार पर ही हुआ है जिसकी बाबत उपबन्ध 16 मई, 1946 के केबिनेट मिशन प्लान के अधीन किए गए थे। भूतपूर्व रियासतों की जनता को सभा में निर्वाचित नहीं किया गया था, यद्यपि उन रियासतों के प्रतिनिधियों का नामांकन उनके शासकों ने कर दिया था। 15 अगस्त, 1947 को सत्ता के हस्तान्तरण से एक दिन पूर्व देशी राज्य ब्रिटिश क्राउन की सर्वोपरिता (पैरामाउण्ट्सी) के अधीन ही थे। 15 अगस्त, 1947 को हैदराबाद, जूनागढ़ और जम्मू और कश्मीर राज्यों को छोड़ कर अन्य सभी राज्य स्वेच्छा से भारत डोमिनियन में सम्मिलित हो गए थे।

संविधान का प्रारूप तैयार करने के लिए जनता से प्राप्त शक्ति का दावा करने वाला उद्देश्य-संकल्प संविधान-सभा के समक्ष 13 दिसम्बर, 1966 को, जब कि संविधान-सभा सर्वप्रथम समवेत हुई थी और जब कि मुस्लिम लीग ने सभा का बहिष्कार किया था, रखा गया था (देखिए कांस्टिट्यूएण्ट असेम्बली डिबेट्स, खण्ड 1, पृष्ठ 59)। उस संकल्प के खण्ड में यह उपबन्धित था कि प्रभुत्वसम्पन्न स्वतन्त्र भारत की सभी शक्तियां और प्राधिकार, उसके संघटक अंग तथा सरकारी विभाग जनता से व्युत्पन्न हुए हैं। संकल्प में यह कहा गया है

(¹) (1960) 3 एस० सी० आर० 250.

कि भारत को स्वतन्त्र प्रभुत्वसम्पन्न गणराज्य घोषित करके और उसके भावी शासन के लिए संविधान की रचना करके भारतीय जनता को सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय, प्रतिष्ठा और अवसर की तथा विधि के समक्ष समानता, विधि और लोक नैतिकता के अधीन रहते हुए, विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, और व्यवसाय संगम और कार्य तथा उपासना की स्वतन्त्रता की गारण्टी की गई है और उक्त बातें सुनिश्चित की गई हैं और अल्पसंख्यक पिछड़े हुए लोगों और जनजाति-क्षेत्रों तथा अन्य शोषित और पिछड़े हुए वर्गों के लिए पर्याप्त संरक्षण प्रदान किया गया है। इसे सभी सदस्यों ने बड़े गौरवपूर्ण ढंग से खड़े होकर अंगीकार किया है। (देखिए—कांस्टिट्यूएण्ट असेम्बली डिबेट्स, खण्ड 11 पृष्ठ 324)।

इस प्रकार दावा करते समय और संकल्प अंगीकार करते समय भारत पर विधिक-प्रभुत्व ब्रिटिश क्राउन और ब्रिटिश पार्लियामेण्ट में निहित बना रहा और जब सत्ता हस्तान्तरित की गई तो वह प्रभुत्व भारत स्वाधीनता अधिनियम, 1947 द्वारा संविधान-सभा को हस्तान्तरित कर दिया गया। धारा 6 और 8 के अधीन संविधान-सभा को संविधान अधिनियमित करने के लिए पूर्ण शक्ति प्रदान कर दी गई। इन विधियों को इस आधार पर शून्य या अप्रवर्तनीय नहीं माना जा सकता था कि वे इंग्लैण्ड की विधि या भारत स्वाधीनता अधिनियम, 1947 के उपबन्धों या यूनाइटेड किंगडम की पार्लियामेण्ट के किसी भी विद्यमान अधिनियम, या भावी अधिनियम, या ऐसे अधिनियम के अधीन बनाए गए किसी भी नियम, आदेश या विनियम के प्रतिकूल हैं, और भारतीय डोमीनियन के विधानमण्डल की विधायी शक्तियों में ऐसा किसी अधिनियम, आदेश, नियम या विनियम को, जहां तक वह डोमिनियन की विधि का भाग हो, निरसित या संशोधित करने की शक्ति भी सम्मिलित थी [देखिए—धारा 6(2)]। धारा 8(1) के अधीन संविधान बनाने के लिए डोमिनियन के विधानमण्डल की ये शक्तियां संविधान-सभा को दी गई थीं और उक्त अधिनियम में डोमिनियन के विधानमण्डल के हवाले का अर्थ तदनुसार लगाया जाना था।

संविधान तैयार हो जाने के पश्चात् नवम्बर, 1949 में शासक-राजाओं ने अपनी और अपनी जनता की ओर से उसे अंगीकार किया। संविधान को जनता ने अनुसमर्थित नहीं किया था किन्तु वह अनुच्छेद 394 के आधार पर 26 जनवरी, 1950 को प्रवृत्त हुआ। अनुच्छेद 395 से भारत स्वाधीनता अधिनियम, 1947 और भारत शासन अधिनियम, 1935 निरसित कर दिए गए।

यह भी उल्लेखनीय है कि संविधान-सभा में वाद-विवाद के दौरान बहुत से वक्ताओं ने यह बताया था कि सभा, अपनी इसी हैसियत में, जनता का प्रतिनिधित्व नहीं करती है, क्योंकि उसका निर्वाचन वयस्क मताधिकार के आधार पर नहीं हुआ है। कुछ लोगों ने तो यह संकल्प प्रस्तावित किया कि संविधान पर जनता का अनुसमर्थन ले लिया जाए। किन्तु उक्त दावा और मांग दोनों ही अस्वीकार कर दिए गए। डॉक्टर अम्बेदकर

ने कहा कि 'संविधान बनाने में संविधान-सभा का कोई पक्षपातपूर्ण हेतुक नहीं है'। "अच्छा और उपयोगी संविधान बनाने के पश्चात् उसका (सभा) और कोई कार्य शेष नहीं है। संविधान के अनुच्छेदों पर विचार करते समय किसी विशिष्ट उपबन्ध को पारित करा लेने की ओर उसका ध्यान नहीं था। भावी संसद् के यदि वह संविधान-सभा के रूप में समवेत होती है, सदस्य पक्षपातपूर्ण रूप में कार्यवाही करेंगे और वे संविधान में ऐसे संशोधन करना चाहेंगे जिससे कि उनके दल के उद्देश्यों की पूर्ति हो सके और जिनकी पूर्ति वे संविधान के किसी अनुच्छेद के कारण संसद् में नहीं कर पाए थे। किन्तु संविधान-सभा का ऐसा कोई उद्देश्य नहीं था। संविधान-सभा और भावी संसद् में यही अन्तर है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि संसद् को, यद्यपि उसका निर्वाचन वयस्क मताधिकार के आधार पर हुआ है, वैसी ही संशोधन-शक्ति क्यों नहीं दी गई है।" (कांस्टिट्यूएण्ट असेम्बली डिबेट्स, खण्ड 8, पृष्ठ 43-44)।

संशोधन-अनुच्छेद पर वाद-विवाद के अन्तिम प्रक्रम में डॉक्टर अम्बेदकर ने इस आपत्ति का उत्तर देते हुए, कि संविधान-सभा प्रतिनिधि सभा नहीं है, क्योंकि उसका निर्वाचन वयस्क मताधिकार पर आधारित नहीं है, यह कि जनता के बहुत बड़े भाग का प्रतिनिधित्व नहीं हुआ है और परिणामस्वरूप संविधान की रचना में सभा को यह कहने का अधिकार प्राप्त नहीं है कि इस संविधान को अनुच्छेद 304 द्वारा दी गई अन्तिमता प्राप्त होनी चाहिए, कहा कि "महानुभाव, यह सच हो सकता है कि यह सभा इस दृष्टि से प्रतिनिधि-सभा नहीं है कि इसके सदस्यों का निर्वाचन वयस्क मताधिकार के आधार पर नहीं हुआ है। मैं यह तर्क स्वीकार करने को तैयार हूं किन्तु मैं यह नहीं मान सकता कि यदि सभा का निर्वाचन वयस्क मताधिकार के आधार पर हुआ होता तो राजनीतिक ज्ञान और बुद्धिमता की दृष्टि से वह अधिक कुशल होती (कांस्टिट्यूएण्ट असेम्बली डिबेट्स, खण्ड 9, पृष्ठ 1663)।

यह तथ्य, कि प्रस्तावना में असंदिग्ध रूप में यह कहा गया है कि भारत के लोगों ने ही संविधान अंगीकृत, अधिनियमित और आत्मार्पित किया है, यह कि संविधान का अनुसरण पिछले 23 वर्षों से भी अधिक समय से निर्विवाद रूप से किया जाता रहा है और हर शक्ति एवं प्राधिकार के प्रयोग के बारे में यह माना जाता रहा है कि वह संविधान के अधीन किया गया है; और यह कि जनता के एक बड़े बहुमत ने, संविधान के अधीन कार्य करते हुए, पांच साधारण निर्वाचनों में संसद् और राज्य विधानमण्डलों के लिए अपने प्रतिनिधि चुने हैं, इस प्रस्थापना को निर्विवाद कर देती है कि संविधान का स्रोत और आदि बल भारत की जनता की प्रभुत्व सम्पन्न इच्छा है।

उक्त धारणा के आधार पर किसी भी राज्य को अन्तिम शक्ति प्राप्त नहीं है और वस्तुतः परिसंघीय राजनीति में ऐसा कोई सिद्धान्त स्वीकार्य नहीं होता है। संयुक्त राज्य अमरीका, कनाडा और आस्ट्रेलिया तथा अपने देश का उदाहरण दिया जा सकता है जहां केन्द्रीय और राज्य विधानमण्डल क्रमशः अपने-अपने कार्य-क्षेत्रों में सर्वोपरि हैं। यदि इनमें

कोई टकराव होता है तो उच्चतम न्यायालय उसे तय करता है क्योंकि विधि घोषित करने का कर्तव्य उच्चतम न्यायालय का ही है। एकात्मक राज्य में पले व्यक्ति परिसंघीय संविधान में विद्यमान परिसीमाओं को मान्यता नहीं दे सकते हैं। संविधानों का विभिन्न रूपों में वर्गीकरण किया गया है, अर्थात्, परिवर्तनशील और अपरिवर्तनशील, नियन्त्रित या अनियन्त्रित, किन्तु इन वर्गीकरणों पर विचार किए बिना ही यह स्पष्ट है कि यदि राज्य को ऐसा समाज मान लिया जाए "जिसे कतिपय अनिश्चित, किन्तु असीमित नहीं, शक्तियां प्राप्त हैं, तो यह निर्णय देने में कोई कठिनाई न होगी कि राज्य-शक्ति के प्रयोग को सीमित किया जा सकता है" (ए० एल० गुडहार्टकृत' इंग्लिश लॉ एण्ड दि मॉरल लॉ, पृष्ठ 54)। यूनाइटेड किंगडम जैसे एकात्मक राज्य के बारे में, जहां कि यह विश्वास किया जाता है कि पार्लियामेण्ट सहित क्वीन सर्वोपरि है, प्रोफेसर गुडहार्ट ने उपरोक्त पुस्तक में यह बताया है कि यह कथन उसी प्रकार भ्रामक है जिस प्रकार यह कथन कि क्वीन की अनुमति आवश्यक है। उसने डाइसी, कोक और ब्लैकस्टोन के इस मत का हवाला देते हुए कि संसदीय सरकार एक प्रकार की निरंकुश सरकार है, कहा कि "ऐसा मत न केवल इस दृष्टकोण के ही प्रतिकूल है कि क्या उपयुक्त है वरन् हमारी इस मान्यता के भी प्रतिकूल है कि तथ्यतः क्या होता है। मुझे यह विश्वास है कि इसका उत्तर यह है कि सम्पूर्ण जनता और संसद् स्वयं यह स्वीकार करती है कि अलिखित संविधान के अधीन कुछ ऐसे निश्चित सिद्धान्त हैं जो संसद् के क्षेत्राधिकार को सीमित करते हैं। यह सच है कि न्यायालय इन सिद्धान्तों को उसी प्रकार प्रवृत्त नहीं करा सकते हैं जिस प्रकार कि वे अमरीका की परिसंघीय पद्धति में कराए जा सकते हैं, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि ये सिद्धान्त आवश्यकर या प्रभावी नहीं हैं। उस दृष्टि से आज उनमें से कुछ सिद्धान्तों को इंग्लैण्ड में संयुक्त राज्य अमरीका से भी अधिक संरक्षण प्राप्त है। मुझे विश्वास है कि ऐसे चार बुनियादी सिद्धान्त हैं।" (गुडहार्ट, पृष्ठ 55)। तत्पश्चात् उसने यह बताया कि चार सिद्धान्त क्या हैं—(1) कोई भी व्यक्ति विधि से ऊपर नहीं है; (2) जो ग्रेट ब्रिटेन पर शासन करते हैं वे ऐसा प्रतिनिधि के रूप में करते हैं और उन्हें बदला जा सकता है, क्योंकि अनश्वर सरकार अनैतिक सरकार बन सकती है; (3) वाक् या विचार और सम्मेलन स्वातन्त्र्य ऐसे किसी भी संविधान के महत्त्वपूर्ण अंग हैं जो यह उपबन्धित करता है कि जनता स्वयं पर शासन करती है क्योंकि बिना उनके स्वशासन असम्भव हो जाता है; और (4) स्वतन्त्र न्यायपालिका, जो अंग्रेजी संगठन का बुनियादी अंग है और यह सोचा भी नहीं जा सकता है कि पार्लियामेण्ट यह समझ ले कि वह उन सिद्धान्तों को समाप्त कर सकती है। जिन्हें 1701 के ऐक्ट ऑफ सेटलमेण्ट के समय से स्वतन्त्रता का अत्यावश्यक अंग माना जाता रहा है। प्रोफेसर गुडहार्ट ने अन्त में कहा—

"अतः मुझे विश्वास है कि यह कहना ठीक है कि यह सुझाव देना सिद्धान्ततः उसी प्रकार गलत है जिस प्रकार कि तथ्यतः है कि ब्रिटिश संगठन एक प्रकार का प्रबुद्ध (एनलाइटेड) निरंकुश शासन है। जो राज्य के नाम में शक्ति

का प्रयोग करते हैं वे विधि से आबद्ध हैं और कुछ ऐसे निश्चित सिद्धान्त हैं जो उक्त शक्ति के प्रयोग को सीमित करते हैं।"

विस्तृत दलीलों पर विचार करने से पूर्व यह देख लेना आवश्यक है कि चौबीसवें संशोधन का आशयित लक्ष्य क्या है। अनुच्छेद 368 में जो संशोधन किए गए हैं उनका जिकर मैं पहले ही कर चुका हूं। वे इस प्रकार हैं—

"(क) 'संविधान के संशोधन के लिए प्रक्रिया' पार्श्व-शीर्षक के स्थान पर 'संविधान का संशोधन करने की संसद् की शक्ति और उसके लिए प्रक्रिया' पार्श्व-शीर्षक रख दिया गया है। यह प्रतिस्थापन ऐसा कोई सन्देह दूर करने के उद्देश्य से किया गया है कि पार्श्व-शीर्षक संशोधन-प्रक्रिया विहित करती है संशोधन शक्ति नहीं, यद्यपि गोलक नाथ वाले मामले में बहुमत निर्णय था कि अनुच्छेद 368 में शक्ति और प्रक्रिया दोनों ही विहित हैं;

(ख) खण्ड (1) जोड़ कर तीन परिवर्तन किए गए हैं, अर्थात् (i) विफलीकरण खण्ड "इस संविधान में किसी बात के होते हुए भी", (ii) "संसद् अपनी संवैधानिक शक्ति के प्रयोग में" और (iii) "इस संविधान के किसी उपबन्ध का परिवर्धन, परिवर्तन या निरसन के रूप में संशोधन इस अनुच्छेद में दी गई प्रक्रिया के अनुसार कर सकेगी।"

शंकरी प्रसाद[1] और सज्जन सिंह वाले मामले[2] में इस बात पर विचार किया जा चुका है और संसद् के दोनों सदन संसद् माने गए हैं और वे पृथक् निकाय नहीं हैं। गोलक नाथ वाले मामले ([3]) में भी सभी न्यायाधीशों ने यह अभिनिर्धारित किया कि वह निकाय केवल संसद् ही है जो संशोधन करती है। तथापि यह प्रश्न पर विवाद किया गया है कि क्या अनुच्छेद 368 में की शक्ति सांविधानिक शक्ति है या विधायी शक्ति है। विधि के सामान्य निबन्धनों में विधि के अन्तर्गत सांविधानिक विधि अर्थात् संविधान सभा द्वारा बनाया गया संविधान, जैसा कि "विधि द्वारा यथा स्थापित संविधान" शब्दों से दर्शित होता है या संविधान में अन्तर्विष्ट उपबन्धों के अनुसार किया गया संशोधन एवं एक मामूली विधायी विधि जो आधारभूत लिखत द्वारा सृष्ट विधायी निकाय द्वारा बनाई जाती है, आती है। विधि की क्वालिटी और प्रकृति अलग-अलग ढंग से वर्णित की गई है, किन्तु मोटे तौर पर कहा जाए तो संविधान या उसके संशोधन विधि कहे गए हैं, जो सांविधानिक शक्ति का प्रयोग करके बनाए जाते हैं, यद्यपि प्रत्येक का व्याप्ति क्षेत्र अलग-अलग हो सकता है। यदि, जैसी दलील दी गई है, यह सच है कि इन दोनों ही शक्तियों के विस्तार के क्षेत्र समविस्तृत हैं तो किसी भी दृष्टि से विचार करने पर संशोधन करने की शक्ति को

(1) (1952) एस० सी० आर० 89.
(2) (1965) एस० सी० आर० 933.
(3) (1967) 2 एस० सी० आर० 762.

सांविधानिक शक्ति के तौर पर वर्णित करने में कोई कठिनाई नहीं है। इसके अलावा भी सांविधानिक निकाय द्वारा शक्ति के प्रयोग किए जाने और गठित किए गए निकाय द्वारा शक्ति के प्रयोग किए जाने के बीच में बारीकी या प्रभेद से अन्तर बतलाए बिना, चूंकि दोनों का सम्बन्ध संविधान बनाने या उसे संशोधित करने से है, अतः इन्हें सांविधानिक शक्ति माना जा सकता है। संशोधन करने की शक्ति सांविधानिक शक्ति का एक पहलू है, किन्तु वह पूर्ण सांविधानिक शक्ति नहीं है। संशोधन किए जाने के पश्चात् अनुच्छेद 368 की शक्ति अब भी संशोधन करने की शक्ति के तौर पर वर्णित की जाती है। चौबीसवें संशोधन द्वारा यह बात बहुत स्पष्ट होती है क्योंकि उससे इस सन्देह को और अधिक दिनों तक नहीं पाला गया है कि क्योंकि वही निकाय अर्थात् संसद् ही, अनुच्छेद 245 से 248 तक में अनुदत्त निबन्धनों के अनुसार मामूली विधि बनाती है और अनुच्छेद 368 के शब्दों के अनुसार संशोधन करती है, यह नहीं माना जाना चाहिए कि ये दोनों प्रकार की विधियां अनुच्छेद 13(2) के अर्न्तगत विधायी विधियां हैं। यह बात गोलक नाथ वाले मामले ([1]) में बहुमत द्वारा मानी गई थी। मैंने जो यह दृष्टिकोण अपनाया है कि अनुच्छेद 13(2) केवल मामूली विधायी विधियों तक ही सीमित है और वह ऐसी विधियों तक ही सीमित है, और वह ऐसी विधियों तक विस्तृत नहीं है जो अनुच्छेद 368 के अधीन बनाई गई हैं, अनुच्छेद 368 में खण्ड (1) के जोड़े जाने से जहां तक उसमें यह घोषित किया गया है कि जब संसद् उस उपबन्ध के अधीन शक्ति का प्रयोग करती है तब वह अपनी संवैधानिक शक्ति का प्रयोग करती है और इससे जो बात अन्तर्निहित थी, वह स्पष्ट कर दी गई है। अतः मेरा मत है कि संशोधन से उस स्थिति में कोई अन्तर नहीं पड़ा है जो संशोधन के पहले थी।

यह भी देखा गया है कि संशोधन से अनुच्छेद 368 में खण्ड (3) जोड़ा गया है "अनुच्छेद 13 की कोई बात इस अनुच्छेद के अधीन किए गए किसी संशोधन को लागू नहीं होगी" और अनुच्छेद 13 में खण्ड 4 जोड़ा गया है "इस अनुच्छेद की कोई बात अनुच्छेद 368 के अधीन किए गए इस संविधान के किसी संशोधन को लागू न होगी।" मैंने जो यह दृष्टिकोण अपनाया है कि अनुच्छेद 13(2) द्वारा अनुच्छेद 368 में तब तक कोई अभिव्यक्त परिसीमा अधिरोपित की गई नहीं मानी जा सकती, जब तक कि अनुच्छेद 368 में ही इस शक्ति के विस्तार के सम्बन्ध में कोई परिसीमा न हो, जो इस अनुच्छेद में दी गई शक्ति की व्यापकता के संदर्भ में और संविधान के अन्य उपबन्धों के अधीन "संशोधन" शब्द से दर्शित हो। उपरोक्त उपबन्धों के जोड़े जाने से वह बात जो उसमें अन्तर्निहित थी, स्पष्ट की गई है।

अब महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि "संशोधन" शब्द का क्या अर्थ है? क्या इस शब्द का अर्थ व्यापक है या सीमित है; क्या "संशोधन" शब्द के अन्तर्गत निरसन या पुनरीक्षण आता है और क्या संविधान के अन्य उपबन्धों को ध्यान में रखते हुए अनुच्छेद 368 में आए "संशोधन" शब्द के संदर्भ से ही उसका सीमित अर्थ है और इसके परिणामस्वरूप

([1]) (1967) 2 एस० सी० आर० 762.

क्या इस अनुच्छेद द्वारा संविधान के सारभूत तत्वों को विकृत या नष्ट करने की शक्ति प्रदत्त नहीं की गई है।

ऐसे लिखित संविधान में जिसमें इस शक्ति पर कोई अभिव्यक्त निर्बन्धन अन्तर्विष्ट नहीं है, संशोधन की शक्ति पर किसी विवक्षित परिसीमा के अस्तित्व या अनस्तित्व के सम्बन्ध में हमारे समक्ष कई दिनों तक बहुत जोरदार बहस की गई। मैंने उन दलीलों में से कुछ दलीलों को पहले वर्णित किया है। यदि "संशोधन" शब्द का सीमित अर्थ है तो क्या "परिवर्धन, परिवर्तन या निरसन द्वारा संशोधन" शब्दों के प्रयोग से यह शक्ति बढ़ाई गई है या इन शब्दों का वही अर्थ है जो "संशोधन" का था। यदि ये शब्द संशोधन से अधिक व्यापक हैं तो क्या संसद् अनुच्छेद 368 में अन्तर्विष्ट अपनी संशोधन करने की शक्ति का प्रयोग करते हुए इस शक्ति को बढ़ा सकती है। इस पहलू पर हमारे समक्ष गम्भीरतापूर्वक बहस की गई है और यह कह कर कि उस बहस में कोई दम नहीं था, इसे सरसरी तौर पर ही निरर्थक नहीं कहा जा सकता। इस पहलू पर विचार करने में दो तरीके हो सकते हैं। एक दृष्टिकोण यह हो सकता है कि क्या हमारे समक्ष प्रस्तुत समस्या का सबसे सीधा-सादा हल इस बात का अनुमान करना हो सकता है कि संशोधन करने की शक्ति सर्वोपरि प्रभुत्वसम्पन्न है। इसके पश्चात् यह कार्य सरल हो जाएगा क्योंकि विश्वविख्यात लेखकों ने इस विषय पर बहुत अधिक लिखा है और इस निष्कर्ष के सम्बन्ध में व्यक्त किए गए मतों का पता लगाना कठिन नहीं होगा। बहुत वर्ष पहले ओलीवर वैण्डल होम्स ने लिखा था "आप किसी भी निष्कर्ष को तार्किक रूप दे सकते हैं और कोई भी व्यक्ति केवल यही कहेगा कि यह निष्कर्ष कितना सही है। तथापि इस तरीके को टालना चाहिए"। इसका पहला कारण कार्यकरण की उपधारणा है और ऐसे लेखकों पर निर्भर रहने में कल्पना का अस्तित्व अन्तर्निहित है और दूसरी बात यह है कि ऐसे विद्वान् लेखकों द्वारा संविधान, जो कई हैं, के सम्बन्ध में किए गए निर्वचन का यदि आश्रय लिया जाए तो उसका प्रभाव उन्हें अपने संविधान का निर्वचन करने की अनुमति देना होगा जो यद्यपि उससे व्युत्पन्न होगा किन्तु उसके उपबन्धों के आधार पर और उसमें सन्निहित प्रतिध्वनि के आधार पर ही उसका निर्वचन करना होगा। अतः हमारी राष्ट्रीय आकांक्षाएं संविधान-सभा द्वारा बनाए गए उद्देश्य, जैसे वे कार्यकारी मूल लिखत द्वारा पेश किए गए हैं, उस पृष्ठभूमि को जिसमें संसदीय शासन पद्धति द्वारा प्रजातांत्रिक प्रभुसत्ता स्थापित की गई है जिसके अधीन नागरिकों के व्यापक अधिकारों और समाज के प्रति उनके कर्तव्य जिनका पालन करने के लिए राज्य व्यावृष्ट किया गया है, और संसद् और राज्य विधान-मण्डलों के बीच विधायी-शक्ति का बंटवारा किया गया है, और संविधान के संशोधन आदि के लिए उपबन्ध की व्यवस्था की गई है, अभिनिश्चित करना जरूरी होगा। इन सभी पहलुओं का संविधान में अच्छी तरह से संतुलन बैठाया गया है जैसे कि अच्छे मौसम के लिए बनाए गए जहाज को बुरे मौसम के लिए भी उपयुक्त बनाया जाता है। अतः यही उचित दृष्टिकोण होगा।

महान्यायवादी ने यह दलील दी कि संशोधन शब्द का स्पष्ट, संक्षिप्त निश्चित और असंदिग्ध विधिक अर्थ है और यह शब्द जब से लिखित संविधान का चलन आरम्भ

हुआ है, तब से अन्य देशों के लिखित संविधानों में भी इस प्रकार प्रयुक्त हुआ है। उनके मतानुसार 'संशोधन' शब्द का सुमान्य अर्थान्वयन किया जा चुका है जिसके आधार पर उस पर लगाई किसी परिसीमा से उसके व्यापक क्षेत्र को निबन्धित नहीं किया जा सकता तथापि यह निवेदन करते समय महाधिवक्ता ने यह बतलाया कि यद्यपि हमारे संविधान में विभिन्न स्थानों पर पृथक्-पृथक् अभिव्यक्तियां प्रयुक्त की गई हैं, किन्तु इससे यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि उनसे आवश्यक रूप से एक ही अर्थ नहीं निकलता। इसके विपरीत पिटीशनर के अधिवक्ता ने यह कहा कि इस शब्द का कोई संक्षिप्त और निश्चित या प्राथमिक और मूल अर्थ नहीं है और इसलिए अर्थान्वयन से सम्बन्धित मामले जिन्हें प्रत्यर्थी ने उद्धृत किया है कि न्यायालय का विधानमण्डल की नीति से कोई सम्बन्ध नहीं है, लागू नहीं होते। इसके विपरीत उसने यह बतलाया कि चूंकि यह शब्द संदिग्ध है अतः न्यायालयों को इस शक्ति की व्यापकता संविधान की साधारण स्कीम और संदर्भ से जिसमें वह संविधान में आया है और अन्य सुसंगत संकेतों और सिद्धांतों से सुनिश्चित करना ही होगा। उसने जेम्स बनाम कॉमनवैल्थ ऑफ आस्ट्रेलिया (1) वाले मामले में लार्ड राइट द्वारा व्यक्त किए गए मत का सहारा लिया जिसे प्रथम प्रत्यर्थी की ओर से उद्धृत किया गया था कि एक अच्छा प्रारूपकार यह अनुभव करेगा कि शब्द को साधारणतः मात्र ही से उसके निर्वचन में निर्बन्धन लग जाएगा। स्वतंत्रता शब्द अपने आप में अस्पष्ट और अनिश्चित है। उसका अर्थ संदर्भ से ही निकाला जा सकेगा।

विद्वान् महाधिवक्ता ने अमरीका के न्यायालयों के विनिश्चयों का सहारा लेते हुए आगे यह दलील दी कि यह अभिनिर्धारित किया गया है कि पुनरीक्षण और संशोधन समानार्थी शब्द हैं और यह कि यदि आप संशोधन करने की शक्ति को संशोधित करने की शक्ति देते हैं तो संशोधन करने की शक्ति बहुत व्यापक हो जाएगी। मार्डर्न पोलीटिकल कांस्टिट्यूशन में स्ट्रॉंग द्वारा व्यक्त की गई इस दलील का भी उसने सहारा लिया है कि संशोधन करने वाले उपबन्धों से संविधान सभा पुनः सृष्ट होती है और उसमें कुछ तत्वों का उपबन्ध किया जाता है जो अपरिवर्तनीय हैं और चूंकि हमारे संविधान निर्माताओं ने यूनाइटेड स्टेट्स की इस स्थिति के प्रति जागरूक रहते हुए इन्हीं शब्दों का प्रयोग किया है, अतः उनका यह आशय समझा जाना चाहिए कि उन्होंने इस शब्द का प्रयोग उसे व्यापकतम शक्ति देने के लिए किया होगा और चूंकि कोई अभिव्यक्त परिसीमा नहीं है अतः उस शक्ति के सम्बन्ध में विवक्षा द्वारा कोई निर्बन्धन नहीं पढ़े जा सकते। या तो यूनाइटेड स्टेट्स या राज्यों के संविधानों के, जहां जनता को संशोधन करने वाली प्रक्रिया में भाग लेने का बहुत महत्वपूर्ण अवसर मिलता है, संशोधनों से सम्बन्धित उपबन्ध के प्रति निर्देश, मेरी राय में, हमारे संविधान के अर्थान्वयन के लिए अनुपयुक्त और लागू न किए जाने योग्य है। हमारे संविधान में संशोधन के लिए जनता को जानबूझ कर छोड़ दिया गया है। यूनाइटेड स्टेट्स और राज्यों के संविधानों में संशोधन की प्रक्रियाओं में

(1) (1936) ए० सी० 578, 627 (पी० सी०).

जनता का बहुत महत्त्वपूर्ण योगदान रहता है जब कि हमारे संविधान में यह स्थिति नहीं है। मैं यह बात इसलिए कह रहा हूं क्योंकि संविधान सभा में संविधान के संशोधन के लिए इस देश के नागरिकों को सम्मिलित करने के लिए किए गए उपायों के प्रति हमारे समक्ष निर्देश किया गया है, किन्तु ऐसे प्रयत्न सफल नहीं हुए। बृजेश्वर प्रसाद ने वास्तव में संशोधन करने के लिए आस्ट्रेलिया के संविधान में किए गए उपबन्धों के समान उपबन्ध करने के लिए एक संशोधन प्रस्तुत किया था और यह मत व्यक्त किया था कि "जो कुछ आस्ट्रेलिया में सम्भव है, वह यहां भी सम्भव है। यदि आस्ट्रेलिया की जनता संशोधन की इस पद्धति को अपनाने के लिए सक्षम और आगे बढ़ी हुई है तो यदि हम आस्ट्रेलिया निवासियों से अधिक सक्षम नहीं हैं तो उनके बराबर तो हैं ही और हम उसे अपनाने के लिए हकदार हैं। संविधान को संशोधित करने की प्रक्रिया में राज्य विधानमण्डलों को सहयोजित करना नहीं चाहता। उसने यह भी कहा था कि यदि आप जमींदारी प्रथा समाप्त करना चाहते हैं तो आप जमींदारों की सम्मति की आशा नहीं कर सकते और इसी प्रकार यदि आप पूंजीवाद समाप्त करना चाहते हैं तो आप पूंजीपतियों की सहमति की अपेक्षा नहीं कर सकते।" (कांस्टिट्यूएण्ट असेम्बली डिबेट्स, खण्ड 9, (पृष्ठ 1646) तथापि यह संशोधन रद्द कर दिया गया था। (कांस्टिट्यूएण्ट असेम्बली डिबेट्स, खण्ड 9, पृष्ठ 1665)

× × ×

इस सम्बन्ध में प्रारूप अनुच्छेद 305 के प्रति यह दर्शाने के लिए निर्देश किया गया है कि "संशोधन" शब्द का अर्थ निरसन या कम करना होगा। यदि यह मान लें कि वह अनुच्छेद संविधान में निगमित किया गया था, तब उस सन्दर्भ में "संशोधन" शब्द का क्या अर्थ होगा। पहली बात यह है कि प्रारूप अनुच्छेद 305 एक निष्फलीकरण खण्ड (नॉन आब्स्टेंटे क्लाज) "अनुच्छेद 304 में किसी बात के होते हुए भी" (वर्तमान अनुच्छेद 368) से प्रारम्भ होता है और दूसरी बात यह है कि अल्पसंख्यकों के लिए स्थानों के परिरक्षण से सम्बन्धित उपबन्ध 'इस संविधान के प्रारम्भ से 10 वर्षों की कालावधि में संशोधित नहीं किए जाएंगे' और उक्त कालावधि समाप्त होने पर उनका प्रभाव समाप्त हो जाएगा जब तक कि संविधान का संशोधन करके उनके प्रवर्तन को चालू न रखा जाए। इस खण्ड से संशोधन की शक्ति की व्यापकता पर कोई जानकारी प्राप्त होने के बजाय केवल यह ज्ञात होता है कि यह खण्ड इस अर्थ में पूर्ण रूप से सीमित है कि उस उपबन्ध को प्रभावित करने के लिए 10 वर्षों तक कुछ भी नहीं किया जा सकता। यह परिसीमा निष्फलीकरण खण्ड के साथ उक्त कालावधि के दौरान अनुच्छेद 304 को पूर्ण रूप से अपवर्जित कर देती है। यदि उस कालावधि के पश्चात् इसका विस्तार किया जाता है तो उस अनुच्छेद का संशोधन किया जा सकता है किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि वह निरसित किया जा सकता है क्योंकि उसका सम्बन्ध या तो कालावधि के विस्तार से है या उन उपबन्धों और शर्तों में परिवर्तन से है जिनके अधीन परिरक्षण चालू बना रहेगा।

यह दलील दी गई कि अनुच्छेद 368 में आए "संशोधन" शब्द का इस प्रकार अर्थान्वयन किया जाना चाहिए कि उसका अर्थ अच्छाई के लिए परिवर्तन, सुधार आदि हो। गोलक नाथ वाले मामले([1]) में विद्वान् न्यायाधीशों में से कुछ न्यायाधीशों ने ऐसी ही दलील नामंजूर कर दी थी। पांच न्यायाधीशों की ओर से निर्णय देते हुए मुख्य न्यायाधिपति सुब्बा राव ने कोई मत व्यक्त नहीं किया यद्यपि उन्होंने यह कहा है कि यह दलील कि संसद् संविधान के ढांचे को नष्ट नहीं कर सकती किन्तु वह संविधान को अधिक अच्छी तरह से प्रभावी करने के लिए मूल सिद्धान्त की रूप रेखा के अन्तर्गत उसके उपबन्धों को रूपांतरित कर सकती है, काफी दमदार है। किन्तु विद्वान् न्यायाधीश ने इस प्रश्न के सम्बन्ध में कोई राय व्यक्त करना आवश्यक नहीं समझा क्योंकि उठाए गए प्रश्न का सीमित आधार पर ही उत्तर दिया जा सकता था। माननीय मुख्य न्यायाधीश ने यह मत व्यक्त किया। "यह प्रश्न विचार हेतु तभी उद्भूत हो सकता है यदि संसद् संविधान के भाग 3 के अलावा अन्य उपबन्धों में अन्तर्विष्ट उपबन्धों को नष्ट करके संविधान के ढांचे को ही नष्ट करने का प्रयत्न करे। अतः इस सम्बन्ध में हम कोई राय व्यक्त करना नहीं चाहते।" (पृष्ठ 804 और 805)।

पृष्ठ 862 पर न्यायाधिपति हिदायतुल्लाह ने यह मत व्यक्त किया—

> "मैं 'संशोधन' शब्द का इस प्रकार सीमित अर्थ नहीं करता हूं जिससे कि साधारण रूप रेखा के अन्तर्गत केवल छोटे-मोटे परिवर्तन ही आएं। संशोधन के द्वारा नई सामग्री जोड़ी जा सकती है और पुरानी हटाई या परिवर्तित की जा सकती है।"

न्यायाधिपति वांचू ने (अपनी ओर से और दो अन्य न्यायाधीशों की ओर से) पृष्ठ 834 पर यह मत व्यक्त किया—

> "यह कहना कि विधि के अनुसार 'संशोधन' शब्द का अर्थ केवल ऐसा परिवर्तन है जिसके परिणामस्वरूप सुधार होता है, संशोधन किया जाना असम्भव हो जाएगा क्योंकि वर्तमान विधि में जो कुछ सुधार किया गया है, उस विषय पर राय भिन्न-भिन्न हो सकती है और उदाहरण के लिए विधानमण्डल जिसे सुधार समझे, वह अन्य व्यक्तियों द्वारा सुधार नहीं समझा जा सकता है। अतः हमारी राय है कि अनुच्छेद 368 में यथा प्रयुक्त संशोधन की विचारधारा में संविधान के ब्यौरों की बाबत सुधार की विचारधारा को पुरःस्थापित करना असम्भव है। अतः अनुच्छेद 368 में प्रयुक्त 'संशोधन' शब्द को उसका पूरा अर्थ दिया जाना चाहिए जैसा कि विधि क्षेत्र में यह शब्द प्रयुक्त किया जाता है और उसका अर्थ है कि संशोधन द्वारा वर्तमान संविधान या विधि में परिवर्तन किया जा सकता है और इस परिवर्तन द्वारा या तो वर्तमान उपबन्धों में कुछ जोड़ा जा सकता है या वर्तमान उपबन्धों में परिवर्तन किया जा सकता है या उन्हें अन्य उपबन्धों

([1]) (1967) 2 एस० सी० आर० 762.

द्वारा प्रतिस्थापित किया जा सकता है या कुछ उपबन्धों को पूर्ण रूप से निकाला जा सकता है।"

षष्ठ अनुसूची की पैरा 21 में "संशोधन" शब्द को देखने के पश्चात् जिसके पहले जोड़, परिवर्तन या निरसन शब्द आए हैं और संविधान के अन्य अनुच्छेदों में भी कमोबेश ऐसी ही अभिव्यक्तियां प्रयुक्त हुई हैं, माननीय न्यायाधीश ने यह मत व्यक्त किया कि यह कहना बहुत कठिन है कि यह क्यों किया गया। किन्तु मेरा विचार है कि इस तथ्य से कि अनुच्छेद 368 में ऐसे कोई शब्द नहीं हैं, कोई अन्तर नहीं पड़ता है क्योंकि विधि में "संशोधन" शब्द का अर्थ स्पष्ट रूप से वसा ही है जैसा हमने ऊपर बतलाया है और हमारी राय है कि ऊपर बताए गए स्वरूप के व्याख्यात्मक शब्दों के होने या न होने से कोई अन्तर नहीं पड़ता है। न्यायाधिपति बछावत ने पृष्ठ 915-916 पर यह मत व्यक्त किया—

"अनुच्छेद 368 से यह दर्शित होता है कि 'संशोधन' शब्द का अर्थ परिवर्तन है। परन्तुक के सम्बन्ध में यह कहा गया है कि वह ऐसे संशोधनों को लागू होता है जिनसे कुछ अनुच्छेदों में कोई परिवर्तन किए जाने का प्रयत्न किया गया है। इस प्रकार अनुच्छेद 368 के मुख्य भाग द्वारा संविधान में संशोधन करने या परिवर्तन करने की शक्ति दी गई है। यह जरूरी नहीं है कि कोई परिवर्तन सुधार हो ही। सामान्य रूप से परिवर्तन सुधार करने के उद्देश्य से किया जाता है। किन्तु यह हो सकता है कि प्रयोग से प्रयोजन प्राप्त न हो सके। 'संशोधन' शब्द के शब्दकोष में दिए गए साधारण अर्थ से भी इस दलील का समर्थन नहीं होता है कि संशोधन के अन्तर्गत सुधार अवश्य ही आएगा। देखिए—आक्सफोर्ड इंग्लिश डिक्शनरी जहां 'संशोधन' शब्द की इस प्रकार परिभाषा की गई है—'4' (संसद् के समक्ष किसी अध्युपाय द्वारा) घोषित सुधार करना, अल्पिक तौर पर ब्यौरों में परिवर्तन करना। यद्यपि व्यावहारिक रूप से यह उसके सिद्धान्तों को परिवर्तित करके कम करता हो। प्रथम, चतुर्थ, सोलहवें और सत्रहवें संशोधन अधिनियमों से संविधान के भाग 3 में परिवर्तन किए गए। ये सभी परिवर्तन अनुच्छेद 368 द्वारा प्राधिकृत हैं।

न्यायाधिपति रामस्वामी ने "संशोधन" शब्द के अर्थ के सम्बन्ध में विशिष्ट रूप से विचार नहीं किया है।

इन मतों से यह स्पष्ट है कि "संशोधन" शब्द को "सुधार" शब्द के अर्थ तक सीमित करने के प्रयत्न को गोलक नाथ वाले मामले[1] में पांच विद्वान् न्यायाधीशों ने नामंजूर कर दिया था।

तथापि विद्वान् महान्यायवादी ने अपनी बहस का जो लिखित संक्षेप प्रस्तुत किया, उसमें उसने यह कहा "गोलक नाथ वाले मामले में बहुसंख्यक विद्वान् न्यायाधीशों ने इस

---

(1) (1967) 2 एस० सी० आर० 762.

प्रकार की दलील नामन्जूर कर दी थी कि संविधान का संशोधन अभिव्यक्ति का संकुचित अर्थ है। इस प्रकार पिटीशनर इस प्रश्न पर बहुमत निर्णय को उलटने का प्रयत्न करता है। (पृष्ठ 30, पैरा 9) यह कथन तब तक सही प्रतीत नहीं होता जब तक कि वह विवक्षित परिसीमा के अस्तित्व की बाबत दी गई दलील के रद्द किए जाने को इस बात के साथ नहीं जोड़ता है कि संशोधन शब्द का व्यापक अर्थ है। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि विवक्षित परिसीमाओं और संशोधन शब्द के अर्थ की व्याप्ति दो अलग-अलग विचार-धाराएं हैं, क्योंकि पूर्ववर्ती संविधान के साधारण या विनिर्दिष्ट उपबन्धों की विवक्षा से उद्भूत होती है, जब कि पश्चात्वर्ती स्वत: संशोधन शब्द के विस्तार और व्याप्ति क्षेत्र से सम्बन्धित है। यदि शक्ति व्यापक है तो विवक्षित परिसीमाएं भी निराकृत की जा सकती हैं किन्तु विवक्षित परिसीमाओं के अस्तित्व से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। इसके विपरीत न्यायाधिपति हिदायतुल्लाह ने यद्यपि उन्होंने संशोधन शब्द के संकुचित या अन्यथा अर्थ के सम्बन्ध में विचार किया है, किन्तु उन्होंने हमारे संविधान के अधीन विवक्षित परिसीमा के अस्तित्व में होने या अस्तित्व में न होने के सम्बन्ध में विचार नहीं किया। पृष्ठ 915 और 916 पर न्यायाधिपति बछावत ने भी विवक्षित परिसीमाओं के सम्बन्ध में मत व्यक्त करना जरूरी नहीं समझा और न्यायाधिपति वांचू के समान उन्होंने इन दोनों विचारधाराओं के सम्बन्ध में अलग-अलग विचार किया। (देखिए—पृ० 833, 834, 835 और 836)। इन उदाहरणों से यह बात स्पष्ट होती है जो मैंने ऊपर कही है। इस आधार पर भी, न्यायाधीशों के बहुमत द्वारा अभिनिर्धारित नहीं किया गया था कि विवक्षित परिसीमाएं नहीं हैं।

महाराष्ट्र के विद्वान् महाधिवक्ता ने यह निवेदन किया कि जब कोई व्यक्ति संशोधन प्रस्तुत करता है और यह पूछा जाता है कि क्या वह सुधार के लिए आशयित है तो इसका उत्तर हमेशा ही "हां" में होगा, क्योंकि वह यह नहीं कह सकता कि उसका आशय सुधार करने का नहीं था और यह कि विभिन्न शब्दकोशों में "संशोधन" शब्द का अर्थ देखने पर यदि उसे सुधार के समान कहा जाए, तो यह कड़ी बात को मधुर बोली में कहने का ढंग होगा। यही कारण है जिससे "संशोधन" शब्द पूर्ववर्ती अर्थ में मामूली तौर पर लोक-भाषणों, पाठ्य-पुस्तकों या अनुच्छेदों में विद्वान् लेखकों द्वारा प्रयुक्त किया गया है। यह बात यह कहने से बहुत भिन्न है कि संशोधन सुधार करने के लिए ही किए गए परिवर्तन होने चाहिएं।

न्यायाधिपति बछावत ने गोलक नाथ वाले मामले(1) में पृष्ठ 915 पर लीवरमोर बनाम ई० सी० वेटे(2) वाले मामले में किए गए विनिश्चय के प्रति निर्देश किया। यह बात इस दलील के समर्थन में कही गई कि संशोधन से संविधान में सुधार होना चाहिए। उन्होंने लीवरमोर के मामले में व्यक्त किया गया मत इस प्रकार उद्धृत किया—

> "इसके विपरीत मूल लिखत की विषय-वस्तु के अन्तर्गत 'संशोधन' शब्द के महत्व में ऐसा जोड़ा जाना या परिवर्तन विवक्षित है जिससे सुधार किया जाए

(1) (1967) 2 एस० सी० आर० 762.

(2) 102 केल० 118.

या वह प्रयोजन विवक्षित है जिसके लिए वह बनाया गया था या बनाए जाने का प्रयोजन अच्छी तरह से क्रियान्वित किया जा सके।"

इस उद्धरण के सम्बन्ध में न्यायाधिपति बछावत ने यह मत व्यक्त किया—

"यूनाइटेड स्टेट्स की सुप्रीम कोर्ट द्वारा नेशनल प्रोहिबिशन केस (रहोड आइसलैण्ड बनाम पलमार), 253 यू० एस० 350=64 लॉयर्स इडिशन 947, 960, 978 वाले मामले में यूनाइटेड स्टेट्स के संविधान के अट्ठारहवें संशोधन पर आधारित आक्षेप रद्द कर दिया गया। इस विनिश्चय से यह दलील पूर्ण रूप से नामंजूर कर दी गई थी कि 'संशोधन' अपने व्याप्ति-क्षेत्र में ऐसे परिवर्तन या सुधार तक ही सीमित रहना चाहिए जो संविधान में पहले से ही अन्तर्विष्ट कर दिया गया है और संशोधन से संविधान के आधारभूत ढांचे में परिवर्तन नहीं किया जा सकता और उसमें फेडरल सरकार को शक्ति का नए ढंग से दिया जाना सम्मिलित नहीं है और न राज्य से ऐसे अधिकार लिए जा सकते हैं जो उसे पहले ही मंजूर किए जा चुके हैं (देखिए—केलू ऑन कांस्टिट्यूशनल लॉ, अध्याय 3, अनुच्छेद 5, पृष्ठ 46-47)।"

नेशनल प्रोहिबिशन वाले मामले[1] के प्रति निर्देश करने से और न्यायाधिपति बछावत द्वारा उस रिपोर्ट के पृष्ठों अर्थात् 64 लॉयर्स इडिशन, 947, 960 और 978 से मुझे यह ज्ञात होता है कि न्यायाधिपति वान देवान्टर ने पृष्ठ 978 पर उस प्रश्न का कोई मत व्यक्त नहीं किया था। उस मामले में सुप्रीम कोर्ट, जिला न्यायालय के निर्णय के विरुद्ध अपील पर विचार कर रही थी जिसने यह दलील नामंजूर कर दी थी कि अट्ठारहवां संशोधन इस आधार पर विधिमान्य नहीं है कि "संशोधन" शब्द की परिभाषा के अन्तर्गत पहले ही चर्चा किए गए विषयों का जोड़ा जाना एवं उनमें सुधार किया जाना आता है और इस संदर्भ में अनुच्छेद 5 में ऐसी कोई बात नहीं है जिससे यह ज्ञात हो कि उसका प्रयोग निर्बन्धित अर्थ में किया गया था। नेशनल प्रोहिबिशन वाले मामले [रहोड आइसलैण्ड बनाम पलमार (1)] वाले मामले में नीचे के न्यायालय की डिक्री की पुष्टि कर दी गई थी। रहोड आइसलैण्ड महान्यायवादी के और कुछ अन्य की ओर से पृष्ठ 960 पर फाइल किए गए संक्षेप में उस अंश के प्रति निर्देश किया गया है जिसे न्यायाधिपति बछावत ने लीवरमोर बनाम वेटे[2] वाले मामले से उद्धृत किया है। किन्तु नेशनल प्रोहिबिशन वाले मामले में किसी भी न्यायाधीश ने न तो लीवरमोर वाले अंश के प्रति निर्देश किया और न उन्होंने संशोधन करने की शक्ति के विस्तार के सम्बन्ध में विचार किया और इसलिए न तो यह कहा जा सकता है कि वह दलील नामंजूर कर दी गई थी और न यह कहा जा सकता है कि नेशनल प्रोहिबिशन वाले मामले में वह दलील पूर्ण रूप से अस्वीकार कर दी गई थी। "कांस्टिट्यूशनल लॉ" नामक पुस्तक में कूले द्वारा व्यक्त की गई राय यह हो सकती है कि लीवरमोर वाले मामले

(1) 64 लॉयर्स इडिशन 946.

(2) 102 केल० 118.

में से न्यायाधिपति बछावत ने जो अंश उद्धृत किया था, उससे उसमें वर्णित प्रस्थापना को कोई मदद नहीं मिलती है। किन्तु उस मामले में संशोधन के विरुद्ध दी गई सभी दलीलों के सम्बन्ध में, यदि वे विनिश्चय के लिए जरूरी नहीं थीं, तो यह नहीं माना जा सकता कि वे अस्वीकृत कर दी गई थीं। कौन सी दलीलें अस्वीकृत कर दी गई थीं, इस बाबत कोई भी निश्चयपूर्वक नहीं कह सकता। यदि नैशनल प्रोहिबिशन वाले मामले में सुप्रीम कोर्ट द्वारा दिया गया निष्कर्ष जिला न्यायालय द्वारा दिए गए निष्कर्ष के साथ पढ़ा जाता है जिसकी डिक्री पुष्ट कर दी गई थी तो यह माना जा सकता है कि यह अभिनिर्धारित किया गया था कि संशोधन शब्द के अन्तर्गत संविधान में किसी परन्तुक का जोड़ा जाना है और इस निष्कर्ष से इससे अधिक किसी बात का अनुमान नहीं लगाया जा सकता।

महाधिवक्ता की दलील यह है कि 'इस संविधान का संशोधन' शब्द जो सम्बन्धित अनुसूचियों के पैरा 7 के उपपैरा (2) और पैरा 21 के उपपैरा (2) में आए हैं, वे अनुसूचियों के पैरा 7 और 21 के उपपैरा (1) के प्रति निर्दिष्ट है। इसलिए 'इस संविधान का संशोधन' शब्दों को इस प्रकार पढ़ना चाहिए जिससे उनका अर्थ यह हो कि यह जोड़, परिवर्तन या निरसन के तौर पर एक संशोधन है। गोलक नाथ वाले मामले(1) में इस बात पर ध्यान दिया गया था। न्यायाधिपति वांचू उस कारण का पता नहीं लगा सके जिससे अनुसूची 5 के पैरा 7 और अनुसूची 6 के पैरा 21 में 'जोड़, परिवर्तन या निरसन के तौर पर' पद प्रयुक्त किया गया था। तथापि उनका यह विचार था कि स्पष्टीकरण सम्बन्धी शब्दों के होने या न होने से 'संशोधन' शब्द के अर्थ में कोई अन्तर नहीं पड़ता। दूसरे शब्दों में विद्वान् महाधिवक्ता के मतानुसार अनुच्छेद 368 में आया हुआ 'संशोधन' शब्द 'जोड़, परिवर्तन या निरसन के तौर पर संशोधन' अभिव्यक्ति का समानार्थी है जिससे कि इस मत के अनुसार चौबीसवां संशोधन और सम्भवतः चौबीसवें संशोधन के अनुरूप व्याख्यात्मक शब्द प्रयुक्त किए गए हैं और उनका यह अर्थ है कि इस संशोधन के किए जाने के बाद भी संशोधन शब्द का वही अर्थ है जैसा कि अनुच्छेद 368 के संशोधित किए जाने के पहले था। न्यायाधिपति वांचू ने यह भी बतलाया कि संशोधन से क्या हो सकता है, अर्थात् यह कि वर्तमान संविधान बदला जा सकता है और यह परिवर्तन या तो वर्तमान उपबन्धों में जोड़े जाने और दूसरे उपबन्धों द्वारा उनके प्रतिस्थापित किए जाने या कुछ उपबन्धों के बिल्कुल ही निकाल दिए जाने के तौर पर किया जा सकता है। उन्होंने कहा कि यद्यपि यह सब किया जा सकता है किन्तु इस बारे में संदेह है कि अनुच्छेद 368 में अन्तर्विष्ट संशोधन की शक्ति उस विस्तार तक है कि उसके द्वारा वर्तमान संविधान पूर्ण रूप से निराकृत कर दिया जाए और बिल्कुल ही नए संविधान द्वारा प्रतिस्थापित कर दिया जाए (पृष्ठ 834)।

विद्वान् महान्यायवादी, महासॉलिसिटर और महाराष्ट्र के महाधिवक्ता ने इस बारे में विवाद नहीं किया कि संविधान का संशोधन संविधान के निराकृत किए जाने तक

(1) (1967) 2 एस० सी० आर० 762.

विस्तारित नहीं है और महाधिवक्ता की इस दलील के आधार पर कि निराकृत करने का अर्थ निरसित करना है और दोनों शब्द समानार्थी हैं और यह कि संविधान को नए संविधान द्वारा प्रतिस्थापित नहीं किया जा सकता।

अपनी दलीलों को और स्पष्ट करते हुए महान्यायवादी ने कहा कि चौबीसवें संशोधन के पहले संशोधन करने की जो शक्ति अनुच्छेद 368 में थी और जैसी वह अब है, वह हमेशा ही सांविधानिक शक्ति बनी रही और अब भी बनी हुई है अर्थात् संविधान को समाप्त करने या उसे फिर से बनाने या उसके किसी भाग को फिर से बनाने की शक्ति। ऐसी शक्ति संविधान के किसी भाग में कुछ जोड़ने या परिवर्तन करने तक विस्तारित है। किन्तु संशोधन करने वाली शक्ति का यह अर्थ नहीं है कि किसी एक क्षण संविधान को परिवर्धन, परिवर्तन या निरसन द्वारा इस प्रकार संशोधित किया जाएगा जिससे कि देश के प्रशासन में शून्यता आ जाए। उसके मतानुसार संविधान में संशोधन करने की शक्ति का पूर्ण उद्देश्य और आवश्यकता यही है जिससे कि संविधान चालू बना रहे और सांविधानिक शक्ति जब तक कि वह संविधान द्वारा ही अभिव्यक्त रूप से सीमित न की जाए, अपनी प्रकृति के कारण ही सीमाहीन बनी रहे क्योंकि यदि ऐसी किसी सीमा का अनुमान किया जाता है यद्यपि यह बात संविधान में अभिव्यक्त न हो, तो संशोधन करने की शक्ति का सम्पूर्ण उद्देश्य और प्रयोजन ही अकृत हो जाएगा।

यदि संशोधन का अर्थ जैसा कि महाधिवक्ता ने तारीख 23 फरवरी, 1973 के अपने टिप्पण में कहा है, निराकरण या निरसन नहीं है तो जैसा कि उन्होंने उस टिप्पण में कहा है कि "निरसन और निराकृत करने" का एक ही अर्थ है क्योंकि 'निरसन' के कई अर्थों में से एक अर्थ निराकृत करना और निराकृत करने के कई अर्थों में से एक अर्थ निरसित करना है, अतः यह प्रश्न उठता है कि इसके बीच अन्तर कैसे किया जाए।

विद्वान् महान्यायवादी ने कहा कि अनुच्छेद 368 के खण्ड (ङ) के परन्तुक में संशोधन करने की शक्ति को संशोधित करने की शक्ति दी गई है। इसके द्वारा संशोधन की एक व्यापक शक्ति प्रदत्त की गई है किन्तु उससे यह विवक्षा नहीं होती है कि असंशोधित अनुच्छेद में संशोधन करने का सीमित अर्थ है और यह कि 'संशोधन' शब्द का केवल एक ही अर्थ है और वह एक व्यापक शक्ति है और अनुच्छेद 368 में संविधान सभा के पुनर्निर्माण का उपबन्ध है। यदि यह दलील सही है तो यह संविधान को निराकृत करने या उसे दूसरे संविधान द्वारा प्रतिस्थापित करने तक विस्तारित क्यों नहीं हो सकती।

इस प्रश्न के सम्बन्ध में महान्यायवादी का उत्तर यह था कि परन्तुक में खण्ड(ङ) इसी प्रकार की आलोचना को, जो यूनाइटेड स्टेट्स के संविधान के अनुच्छेद 5 के विरुद्ध की गई थी, असफल करने के लिए बहुत अधिक सावधानी के तौर पर जोड़ा गया था। महाराष्ट्र के महाधिवक्ता के मतानुसार स्टेट (रेयन और कुछ अन्य) बनाम लेनॉन और कुछ अन्य[1] वाले मामले में आयरलैण्ड के मुख्य न्यायाधिपति की उपधारणा का मुकाबला करने के लिए परन्तुक का खण्ड (ङ) अन्तःस्थापित किया गया था और यह कि यदि

---

(1) (1935) आयरिश रिपोर्ट्स 170.

संशोधन करने से सम्बन्धित उपबन्ध संशोधित किया जा सकता है तब इस सम्बन्ध में कोई परिसीमा नहीं समझी जा सकती। विद्वान् मुख्य न्यायाधिपति ने इस पहलू पर बहुत विस्तार से चर्चा की है और इसलिए मैं केवल इतना कहने के सिवाय कि यह सादृश्यता अनुच्छेद 368 के निर्वचन के सम्बन्ध में लागू नहीं होती है इसके प्रति निर्देश करना नहीं चाहता।

इस बात के अलावा कि संशोधन करने की शक्ति संविधान को निराकृत करने तक विस्तारित नहीं है प्रत्यर्थियों, भारत संघ और केरल राज्य द्वारा दी गई दलीलों से यह प्रतीत होगा कि कम से कम आधे राज्यों की सहमति के बिना राष्ट्रपति का पद समाप्त नहीं किया जा सकता यद्यपि अनुच्छेद 52 और 53 अनुच्छेद 368 के परन्तुक में सम्मिलित नहीं हैं। यह तथ्य है कि अनुच्छेद 54 और अनुच्छेद 55 परन्तुक में सम्मिलित हैं। महासॉलिसिटर के मतानुसार यह विवक्षित है कि राष्ट्रपति का पद राज्यों की सहमति के बिना समाप्त नहीं किया जा सकता। गोलक नाथ वाले मामले(1) में न्यायाधिपति वांचू ने पृष्ठ 844 पर ऐसी ही दलील के सम्बन्ध में चर्चा की है। यद्यपि उनका विचार था कि यह अनुमान असम्भव है और मैं इस बारे में उनसे पूर्ण रूप से सहमत हूं कि इस बात की कोई सम्भावना नहीं है फिर भी ऐसे मामले में यह अभिनिर्धारित करना सही होगा कि राष्ट्रपति के पद को समाप्त करने के लिए संसद् अनुच्छेद 52 में परिवर्तन नहीं कर सकती है... इसके लिए अनुसमर्थन अपेक्षित होगा। संविधान के मूल ढांचे को ध्यान में रखते हुए मेरा यह विचार है कि यह सम्भव नहीं है कि अनुच्छेद 368 का सहारा लेकर राष्ट्रपति के पद को समाप्त कर दिया जाए और चूंकि अनुमति जरूरी है और कोई भी राष्ट्रपति जो संविधान के संरक्षण और प्रतिरक्षण के सम्बन्ध में ली गई शपथ के प्रति आबद्ध होगा, वह स्वयं अपना ही उन्मूलन नहीं करेगा। अतः इस विशिष्ट उदाहरण से यह प्रतीत होता है कि चूंकि अनुच्छेद 54 अनुच्छेद 368 के परन्तुक के अन्तर्गत आता है, अतः विवक्षित परिसीमा मानी जा सकती है। विद्वान् महाधिवक्ता का कहना है कि अनुच्छेद 53 भी, जिसके द्वारा संघ की कार्यपालिका शक्ति राष्ट्रपति में अनुच्छेद 53 के अन्तर्गत निहित है और उसके उपखण्ड(2) द्वारा संघ के रक्षाबलों का सर्वोच्च समादेश राष्ट्रपति में निहित है, अतः अनुच्छेद 52 के समान राज्यों के अनुसमर्थन द्वारा इस अनुच्छेद में भी संशोधन किया जाना जरूरी होगा। एक दूसरा उदाहरण यह है कि अनुच्छेद 368 में संशोधन करने की विवक्षित शक्ति है। जब प्ररूप और रीति का अनुपालन कर दिया जाता है तब संविधान संशोधित हो जाता है। इस उपबन्ध से और साथ ही इस तथ्य से कि अनुच्छेद 368 एक पृथक् भाग में है जिसका शीर्षक है "संविधान का संशोधन", अतः ऊपर वर्णित निष्कर्ष निकाला जा सकता है। यह बात स्वभाविक है कि पिटीशनर का काउन्सेल यह पूछता है कि जैसा केरल राज्य की ओर से कहा गया है यदि क्वीन बनाम बुराह(2) की शक्तियों के अस्तित्व के जो सकारात्मक शब्दों द्वारा प्रदत्त नहीं की गई है, विरुद्ध एक नजीर के तौर पर पढ़ा जाए

(1) (1967) 2 एस० सी० आर० 762.

(2) (1878) 3 ए० सी० 905.

और उसे परिसीमाओं के अस्तित्व के विरुद्ध पढ़ा जाए तो इस प्रस्थापना से प्रत्यर्थियों की दूसरी दलील स्पष्ट रूप से अस्वीकृत हो जाती है। प्रत्यर्थियों की दूसरी दलील यह है कि संशोधन करने की शक्ति के स्रोत को विवक्षित रूप से अनुच्छेद 368 में ही जोड़ा जाना चाहिए यद्यपि ऐसी शक्ति सकारात्मक तौर पर प्रदत्त की गई मालूम नहीं पड़ती है।

यद्यपि यह स्वाभाविक है कि प्रत्येक संघटनात्मक लिखत (आरगेनिक इन्स्ट्रूमेण्ट) में कुछ परिसीमाएं होती ही हैं क्योंकि प्रत्येक संस्था या मानव अभिकरण द्वारा अस्तित्व में लाए गए किसी अन्य निकाय में कुछ परिसीमाएं होना अनिवार्य सा ही है और माननीय मुख्य न्यायाधिपति ने इस पहलू पर पूर्ण रूप से विचार किया है और मेरी राय है कि इस सम्बन्ध में इस प्रश्न पर विचार करने की जरूरत नहीं है कि विवक्षित या अन्तर्निहित परिसीमाएं अस्तित्व में है या अस्तित्व में नहीं है क्योंकि यदि संशोधन करने की शक्ति व्यापक और सर्वसमावेशी है तो उन परिसीमाओं की अवहेलना की जा सकती है क्योंकि अनुच्छेद 368 के संशोधित खण्ड (1) में सन्निहित विफलीकरण खण्ड उस उद्देश्य को पूरा करने के लिए आशयित था। जिस बात पर विचार किया जाना है वह यह है कि क्या 'संशोधन' शब्द इतना व्यापक है कि उसके द्वारा इतनी अधिक शक्ति प्रदत्त की जा सकती है कि उसमें निरसन या निराकृत करने की शक्ति शामिल हो।

महाधिवक्ता ने आगे यह दलील दी कि संविधान में ही इस बावत साक्ष्य अन्तर्विष्ट है कि अनुच्छेद 368 में 'संशोधन' शब्द से अभिप्रेत है, परिवर्धन, फेरफार या निरसन द्वारा संशोधन 'क्योंकि यदि ऐसा नहीं होता तो अनुसूची 5 के पैरा 7 के उप पैरा (2) द्वारा उप पैरा (1) के अधीन बनाई गई विधि जिससे संसद् को उस अनुसूची के किसी भी उपबन्ध को परिवर्धन, परिवर्तन या निरसन द्वारा संशोधन करने की शक्ति है, अनुच्छेद 368 के प्रवर्तन से बाहर नहीं रखी जाती। यही अर्थ अनुसूची 6 के पैरा 21 का भी किया जाना चाहिए। विद्वान् महान्यायवादी ने विभिन्न अनुच्छेदों के प्रति निर्देश किया है जिनमें 'संशोधन' शब्द का प्रयोग किया गया है। साथ ही उन्होंने ऐसे अन्य अनुच्छेदों के प्रति निर्देश किया है जिनमें उस शब्द या उसके बदले हुए रूप अन्य शब्दों के साथ प्रयुक्त किए गए हैं। किन्तु इन अभिव्यक्तियों से यह ज्ञात नहीं होता कि 'संशोधन' शब्द संकुचित या सीमित है। उनका कहना है कि प्रत्येक मामले में जहां संविधान में संशोधन किया गया है, कोई बात जोड़ी गई है, कोई बात प्रतिस्थापित की गई है, कोई बात निरसित की गई है और पुनः अधिनियमित की गई है और कुछ भाग लुप्त कर दिए गए हैं। संविधान (प्रथम संशोधन) अधिनियम इस बात के दृष्टान्त स्वरूप बतलाया गया है। उनके मतानुसार ऐसी भी कोई बात नहीं है जो इस बात पर निर्भर हो कि अनुच्छेद 368 को अन्तिम रूप दिए जाने के कुछ सप्ताह पहले ही भारत शासन अधिनियम, 1935 की धारा 291 संशोधित की गई थी और उसमें 'परिवर्धन, परिवर्तन या निरसन के तौर पर संशोधन' शब्दों के स्थान पर 'संशोधन' शब्द प्रतिस्थापित किया गया था। उनके मतानुसार इस न्यायालय को इस बात पर विचार करना चाहिए कि चूंकि अनुच्छेद 368 में संविधान सभा को फिर से गठित करने का उपबन्ध किया गया है और

उसके द्वारा वैसी ही शक्ति का प्रयोग किया जाता है जैसी कि संविधान सभा को थी अतः उसे व्यापक अर्थ में पढ़ा जाना चाहिए।

यदि संशोधन की शक्ति असीमित है और संसद् वह सब कुछ कर सकती है जिसकी बाबत पिटीशनर यह दलील देते हैं कि संसद् अनुच्छेद 368 के अधीन वैसा कर सकती है तब प्रत्यर्थियों का यह कहना है कि यह अनुमान नहीं किया जाना चाहिए कि शक्ति का दुरुपयोग किया जाएगा। किन्तु इसके विपरीत उपधारणा यह है कि शक्ति का प्रयोग होशियारी से और युक्तियुक्त रूप से किया जाएगा और इस दुरुपयोग के विरुद्ध एकमात्र आश्वासन जनता द्वारा विधायी अंगों पर प्रयुक्त किए जाने वाला संयम है। किन्तु इस स्वतः सिद्ध वचन को मान्यता प्राप्त है कि शक्ति भ्रष्ट करती है और आत्यंतिक शक्ति आत्यन्तिक रूप से भ्रष्ट करती है। अतः इसी कारण अनुभवी और व्यवहारिक व्यक्तियों ने बुद्धिमानी से न केवल लिखित संविधान बनाया है और विधानमण्डल की शक्तियां सीमित है किन्तु लिखित संविधान द्वारा उन्होंने नागरिकों के कुछ मूल अधिकारों को राज्य के विरुद्ध सुनिश्चित किया है। यदि शासकों पर इतना अधिक विश्वास हो और शक्ति के अत्यधिक प्रयोग या उसके दुरुपयोग पर रोक लगाने की जनता की सामर्थ्य पर इतना अधिक विश्वास हो, तब इतने विस्तृत संविधान की कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि जो कुछ अपेक्षित है वह संसद् को सर्वशक्तिमान और सर्वोपरि सत्ता बनाना है किन्तु संविधान निर्माताओं ने ऐसा नहीं किया है और इसलिए प्रश्न यह होगा कि क्या अनुच्छेद 368 के संशोधन द्वारा संसद् अपने आप को बिल्कुल बदल कर सर्वोपरि और सर्वोच्च बना सकती है। मेरा ऐसा विचार नहीं है कि संविधान निर्माताओं को उन उदाहरणों की जानकारी नहीं थी जो उनके दिमाग में ताजे होंगे,और जब एक बार कोई सीमित विधानमण्डल ऐसी शक्ति जबर्दस्ती ले लेता है जो विधिमान्य रूप से उसे प्राप्त नहीं होती तब उसे पदच्युत किए जाने के प्रयत्न संघर्ष, रक्तपात और पश्चाताप की दुखद प्रक्रिया द्वारा ही होते हैं जिसे सामान्य बोलचाल में क्रान्ति कहा जाता है। कोई भी यह नहीं चाहता कि ऐसा होगा। किन्तु किसी को भी इस प्रकार निश्चिन्त नहीं होना चाहिए कि वह सम्भव नहीं होगा क्योंकि यदि शक्ति अस्तित्व में रहती है तो उसके द्वारा विनाशकारी उद्देश्य भी प्राप्त किया जा सकता है। शक्ति के दुरुपयोग के विरुद्ध ही शक्ति के सांविधानिक ढांचे में जांच और सन्तुलन (चेक्स एण्ड बेलेन्सेज) द्वारा सम्बन्ध कायम रखने का तरीका अपनाया गया है और ऐसे रक्षोपायों का अभिव्यक्त रूप से या आवश्यक विवक्षा द्वारा उपबन्ध किया गया है और प्रश्न यह है कि क्या हमारे संविधान में ऐसे रक्षोपाय हैं और यदि हैं तो क्या उन्हें संशोधन करने की शक्ति द्वारा विकृत या नष्ट किया जा सकता है।

पिटीशनर के काउन्सेल, महाधिवक्ता और महान्यायवादी ने हमारे समक्ष विभिन्न शब्दकोशों से उद्धरण प्रस्तुत किए हैं और महान्यायवादी ने हमारे समक्ष बहुत से संविधानों के प्रति निर्देश किया है जिनमें 'संशोधन' शब्द या संविधान का संशोधन करने के लिए प्रयोग किए गए शब्दों का उपयोग किया गया है। ऐसा यह दर्शाने के लिए किया गया है कि इन शब्दों और 'संशोधन' शब्द के बीच कोई अन्तर या प्रभेद नहीं है। इन संविधानों

के सम्बन्ध में मैंने यह कहा कि ये विभिन्न प्रकार की जनता के लिए हैं, जिसका सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक दृष्टिकोण अलग-अलग है, और दुनिया के अन्य संविधानों से इनकी तुलना करना उपयुक्त नहीं है। इनमें प्रयुक्त किए गए शब्द या तो 'संशोधन' या अन्य शब्दों के साथ या पूर्ण रूप से पृथक् शब्दों के साथ बने योजक शब्द हैं। हमारे समक्ष जिन संविधानों की तालिका प्रस्तुत की गई है उनमें से कुछ संविधानों में केवल 'संशोधन' शब्द ही प्रयुक्त किया गया है और संशोधन की शक्ति का प्रयोग किया जाना जनता द्वारा अनुसमर्थन से जटिल रूप से जुड़ा हुआ है। ऐसे देशों में सर्वोपरि सत्ता लोकमत-संग्रह द्वारा या कन्वेन्शनों द्वारा या विधानमण्डलों द्वारा जनता में ही निहित है। अन्य देशों के संविधान जिनके प्रति विद्वान् महान्यायवादी ने विशिष्ट रूप से निर्देश किया है, वे सिवरिया, त्रिनिदाद और टोबागो, सोमालिया, जॉर्डन, कुवैत, लेबनान, वियतनाम डेमोक्रेटिक रिपब्लिक, बेलिज्यिम, कोस्टारिका, क्यूबा, और निकारागुआ के हैं। मैंने संशोधन सम्बन्धी प्रक्रिया के बारे में इन संविधानों के सुसंगत उपबन्धों की परीक्षा की है। इन संविधानों में हमारे संविधान में प्रयुक्त किए गए शब्दों से पृथक् शब्द प्रयुक्त किए गए हैं। जब 'संशोधन' या 'संशोधित करना' शब्द प्रयुक्त किए गए हैं, तब उनके साथ अक्सर 'परिवर्तन', या 'निरसन' या 'पुनरीक्षण' या 'फेरफार' या 'परिवर्धन', या 'निरसन' या 'उपान्तरण' या 'निलम्बन' या 'परिवर्धन' या 'निकाल देना' या 'आंशिक संशोधन करना' या 'साधारण संशोधन' या 'विनिर्दिष्ट, आवश्यक या पूर्ण' या 'पूर्णरूप से या अनावश्यक रूप से संशोधन' या इन अभिव्यक्तियों में से एक या अधिक का मेल प्रयुक्त किए गए हैं। इन संविधानों में से एक संविधान अर्थात् त्रिनिदाद और टोबागो में 'परिवर्तन' (वेरिएशन) शब्द की परिभाषा की गई है और उसके अन्तर्गत संशोधन, उपान्तरण या उस उपबन्ध का उपान्तरण, उस उपबन्ध का निलम्बन या निरसन और उस उपबन्ध के एवज में एक पृथक् उपबन्ध का किया जाना आता है।

कुछ अन्य संविधानों में, जिनके प्रति महान्यायवादी ने निर्देश नहीं किया है, संशोधन करने की प्रक्रिया लोकमत-संग्रह द्वारा या कन्वेन्शन में अनुसमर्थन द्वारा मतदाताओं के प्रति निर्दिष्ट नहीं है। 'संशोधन' शब्द के साथ 'परिवर्तन', 'परिवर्धन', 'वृद्धि करना', 'निरसन' या ऐसे ही शब्द संशोधन की शक्ति की व्यापकता बतलाने के लिए प्रयुक्त किए गए हैं। सिलोन कांस्टिट्यूशनल आर्डर, 1946 की धारा 29(4) जो लियांगे बनाम क्वीन[1] और दि ब्राइबरि कमिश्नर बनाम राणासिंघे[2] वाले मामलों की विषयवस्तु रही है। और इस न्यायालय में भी प्रत्येक पक्ष के काउन्सेल ने उस पर वाद-विवाद किया है। उक्त धारा में उपबन्धित है कि उस धारा के अधीन अपनी शक्तियों का प्रयोग करने में "संसद् इस आर्डर या किसी अन्य आर्डर के किसी भी उपबन्ध को संशोधित या निरसित कर सकती है।" किन्तु यह उपधारा उपधारा (2) के अन्तर्गत आती है जिसमें कुछ बातों के सम्बन्ध में संशोधन किए जाने पर रोक लगाई गई है क्योंकि जैसा प्रिवी

---

(1) (1967) 1 ए० सी० 259.

(2) (1965) ए० सी० 172.

काउन्सिल ने मत व्यक्त किया था "ये बातें सिलोन के नागरिकों के बीच के अधिकारों के सत्यनिष्ठ सन्तुलन प्रदर्शित करती हैं"। फिनलैण्ड के संविधान में प्रयुक्त किए गए शब्द मूल विधि को अंगीकृत करना, संशोधित करना या निराकृत करना है। आयरिश संविधान, 1937 में अनुच्छेद 46(1) द्वारा उपबन्ध किया गया है कि संविधान का कोई भी उपबन्ध परिवर्तन, परिवर्धन या निरसन द्वारा उस रीति में संशोधित किया जा सकता है जो उस अनुच्छेद में उपबन्धित है और मलाया के संविधान के अनुच्छेद 159 के खण्ड (6) में संशोधन शब्द परिभाषित किया गया है जिसके अन्तर्गत परिवर्धन और निरसन आता है। इस्लामिक रिपब्लिक ऑफ पाकिस्तान के संविधान में भी संशोधित या निरसित शब्द प्रयुक्त किए गए हैं। यूनियन ऑफ साउथ अफ्रिका के संविधान में निरसन या परिवर्तन शब्द प्रयुक्त किए गए हैं और यूनाइटेड स्टेट्स ऑफ ब्राजील के संविधान के अनुच्छेद 217 के खण्ड (6) में यह बाधा लगाने वाला उपबन्ध किया गया है कि फैडरेशन और गणतन्त्र को समाप्त करने वाला बिल विचार हेतु स्वीकार नहीं किया जाएगा।

इन निर्देशों से न केवल यह बात ज्ञात नहीं होती कि स्वयं 'संशोधन' शब्द ही शक्ति की प्रचुरता दर्शाने के लिए प्रयुक्त किया गया है किन्तु इसके विपरीत वह यह दर्शाने के लिए प्रयुक्त किया गया है कि इसके द्वारा एक ऐसी प्रक्रिया विहित की जाती है जिसमें संशोधनों पर विचार करने के लिए जनता को सहयोजित किया जाता है या संविधान सभा बुलाई जाती है या नए चुनाव कराना अपेक्षित होता है। इनमें से कुछ संविधानों में पूर्ण और आंशिक संशोधन के बीच भी अन्तर किया गया है और जहां 'परिवर्तन' शब्द प्रयुक्त किया गया है वहां यह परिभाषित किया गया है कि इस शब्द के अन्तर्गत क्या आता है। अतः महान्यायवादी द्वारा निर्दिष्ट किए गए संविधानों से या उन संविधानों से जिनके प्रति मैंने निर्देश किया है, कोई सहायता नहीं मिलती और यदि कोई सहायता मिलती भी है तो केवल यह ज्ञात होता है कि जैसी दलील दी गई है संशोधन शब्द का अर्थ असंदिग्ध, पर्याप्त या विस्तृत नहीं है।

यह कहा गया है कि परिवर्धन, परिवर्तन या निरसन के तौर पर संशोधन' शब्द का क्रमशः अनुसूची 5 और अनुसूची 6 के पैरा 7 के उपपैरा (2) और पैरा 21 में अर्थ संशोधन के समान ही है और परिणामस्वरूप अनुच्छेद 368 द्वारा संविधान के किसी भी उपबन्ध का निरसन सशक्त किया गया है। यदि 'निरसन' शब्द का अर्थ निराकृत करना है, तब अनुच्छेद 368 के अधीन कोई संशोधन संविधान को निराकृत न करके संविधान के किसी भी उपबन्ध को निराकृत कर सकता है और उसके स्थान पर एक नया उपबन्ध प्रतिस्थापित कर दिया जाएगा। मेरा मत है कि 'के तौर पर' (बाई वे ऑफ) मुहावरे को चाहे स्वयं का शब्द या व्याख्यात्मक कहें, यह एक मुहावरा है और इसका सही अर्थ निकालना मुश्किल है। मुहावरा एक माना हुआ वाक्यांश होता है। उसका पर्यान्वयन या उसकी अभिव्यक्ति भाषा की सामान्य प्रकृति के विपरीत होती है या उसका अर्थ शाब्दिक अर्थों से भिन्न होता है, जैसा कि वर्ड्स एण्ड फ्रेजिज परमिण्ट एडिशन, वाल्यूम 5, पृष्ठ 1111, से ज्ञात होगा 'के तौर पर' का अर्थ 'के प्रयोजन के लिए, के स्वरूप का, के समान होना' माना जा सकता है और अधिनियम में उसका इस प्रकार

अर्थान्वयन किया जाना आशयित था, जिसमें यह उपबन्ध किया गया था कि कुछ कम्पनियों को अपनी निर्गमित मत देने की शक्ति के लिए लाइसेंस के तौर पर राज्य के उपयोग के लिए वार्षिक कर का संदाय करना चाहिए। दिए गए उदाहरण से ज्ञात होगा कि वास्तव में लाइसेंस फीस का संदाय कर नहीं है। किन्तु वह कर के तौर पर माना गया है। अतः मेरी राय है कि 'संशोधन' शब्द के स्थान पर परिवर्धन, परिवर्तन या निरसन के तौर पर संशोधन' पद से कोई अन्तर नहीं पड़ता है क्योंकि इसका वही अर्थ है जो 'संशोधन' शब्द का है।

अपने मामूली अर्थ में 'संशोधन' शब्द जैसा कि शार्टर आक्सफोर्ड डिक्शनरी में इसका अर्थ दिया गया है, परिवर्तन करना है। कुछ शब्दकोशों में इसका अर्थ परिवर्तन, रूपान्तरण, पुनः लिखा जाना या किसी में परिवर्धन करना, या किसी से घटाना दिया गया है। जुडीशियल एण्ड स्टेट्यूटरी डेफिनेशन्स ऑफ वर्ड्स एण्ड फेजिज सैकण्ड सीरीज, वाल्यूम I, में 'संशोधन' शब्द सही करना, सुधार करना और परिशोधन करना का पर्यायवाची माना गया है। यह भी कहा गया है कि किसी कानून के 'संशोधन' में उसका अस्तित्व में बना रहना विवक्षित है न कि उसका नष्ट हो जाना। विधिक शब्दावली में साधारणरूप से 'संशोधन' शब्द का वैसा ही अर्थ नहीं है जैसा 'निरसन' का क्योंकि निरसन और संशोधन के बीच अन्तर है किन्तु इससे यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि कानून के संशोधन उसके कुछ भाग के निरसित किए जाने से प्रायः पूरे नहीं किए जा सकते और यद्यपि 'संशोधन' प्रत्यक्षतः निरसन की कोटि का न हो, किन्तु उसका ऐसा पारिणामिक प्रभाव हो सकता है।" क्राफोर्ड ने अपनी पुस्तक 'दि कंस्ट्रक्शन ऑफ स्टेट्यूट्स' 1940 पृष्ठ 170-171 पर, जिसके प्रति इस न्यायालय में अक्सर निर्देश किया गया है और जिसका इस न्यायालय में उपयोग किया गया है, वर्णित है कि कोई विधि तब संशोधित की जाती है जब वह पूर्णतः या भागतः वैसी ही बनी रहने दी जाती है और उसमें कुछ जोड़ा जाता है या उसमें से कुछ कम कर दिया जाता है या उसे किसी तरीके से इस उद्देश्य से परिवर्तित या रूपान्तरित कर दिया जाता है कि वह और अधिक पूर्ण या निष्पन्न या प्रभावी बना दी जाए। तथापि यह ध्यान में रखने की बात है कि संशोधन निरसन के समान ही नहीं है। यद्यपि कुछ अंशों में वह निरसन के तौर पर प्रवृत्त हो। निरसन, विधायी अधिनियम द्वारा विधि का निराकरण या नष्ट किया जाना है। अतः हम यह कह सकते हैं कि विधायी अधिनियम के प्रभाव से ही उसका स्वरूप अवधारित होता है"। इस परिभाषा के पहले भाग की गोलक नाथ वाले मामले (1) में पृष्ठ 833 पर न्यायाधिपति वांचू द्वारा दर्शाए गए अर्थ से तुलना की जा सकती है, जिसके प्रति पहले ही निर्देश किया जा चुका है।

पिटीशनर के विद्वान् अधिवक्ता और महान्यायवादी, दोनों ने ही यूनाइटेड स्टेट्स के राज्य न्यायालयों के विनिश्चयों का 'संशोधन' शब्द के अर्थ के लिए अपनी-अपनी दलीलों के समर्थन में निर्देश किया है। किन्तु इन विनिश्चयों से जो अमरीका के

---

(1) (1967) 2 एस० सी० आर० 762.

तत्सम्बन्धी राज्यों के संविधानों के संदर्भ में दिए गए थे, इस मामले में कोई मदद नहीं मिलती है क्योंकि वहां संविधान का संशोधन करने के लिए जनता द्वारा अनुसमर्थन एक शर्त है, इन मामलों में भी 'संशोधन' शब्द पुनरीक्षण शब्द के प्रतिकूल प्रयुक्त किया गया है। वर्ड्स एण्ड फ्रेजिज परमानेंट इडिशन, वाल्यूम 37 में कहा गया है कि 'निरसन' शब्द समाप्त करना, विखण्डित करना और प्रकृत करना का समानार्थी है। संशोधन का फेरफार या परिवर्तन से प्रभेद बतलाया गया है। यह कहा गया है कि संशोधन जीवित रखता है जब कि निरसन नष्ट करता है। देखिए—स्टेट एक्स० रेल स्टूट बनाम बेकर[1]। अत: 'संशोधन' शब्द के अर्थ से यह स्पष्ट है कि इसके अन्तर्गत निरसन या निराकरण नहीं आता और न यह पुनरीक्षण के समान है।

अब मैं संविधान के कुछ उपबन्धों के प्रति निर्देश करूंगा जहां 'संशोधन' या 'निरसन' शब्द यह दर्शाने के लिए प्रयुक्त किए गए हैं कि संशोधन करने का व्याप्तिक्षेत्र निरसन तक विस्तारित नहीं है। विधि के किसी उपबन्ध का निरसन स्वत: विधि के निरसन से अलग है। स्वत; संविधान में ही विधि के संशोधन और विधि के निरसन में अन्तर किया गया है। यदि हम अनुच्छेद 372(2) के प्रति निर्देश करें तो यह स्पष्ट हो जाता है। उस अनुच्छेद में किसी विधि के उपबन्धों को इस संविधान के उपबन्धों से संगत करने के प्रयोजन से राष्ट्रपति आदेश द्वारा ऐसी विधि के ऐसे अनुकूलन और उसमें ऐसे परिवर्तन चाहे निरसन या चाहे संशोधन द्वारा कर सकेगा जैसे कि आवश्यक या इष्टकर हों। अनुच्छेद 372(2)(ख) भी देखिए। अनुच्छेद 252 के खण्ड (2) में उपबन्धित है कि दो या अधिक राज्यों के लिए संसद् द्वारा पारित अधिनियम संसद् के अधिनियम द्वारा संशोधित या निरसित किया जा सकेगा। इस खण्ड में 'संशोधन' शब्द के प्रतिकूल 'निरसन' शब्द के प्रयुक्त किए जाने से यह स्पष्ट रूप से लक्षित होता है कि 'संशोधन' के अन्तर्गत स्वत: अधिनियम का निरसन नहीं आता। अनुच्छेद 372(1) में भी यह अन्तर वहां स्पष्ट किया गया है जहां इस संविधान के प्रारम्भ से ठीक पहले प्रवृत्त विधि तब तक प्रवृत्त बनी रहेगी जब तक कि सक्षम प्राधिकारी द्वारा परिवर्तित या निरसित या संशोधित न की जाए। इसी प्रकार अनुच्छेद 35(ख) में भी ऐसे राज्य-क्षेत्र में इस संविधान के प्रारम्भ होने के तत्काल पूर्व प्रवृत्त कोई विधि जो भारत राज्य-क्षेत्र में इस संविधान के प्रारम्भ होने से ठीक पहले लागू थी, उसमें दिए गए निबन्धनों के तथा अनुच्छेद 372 के अधीन उसमें किए गए किन्हीं अनुकूलनों और परिवर्तनों के अधीन रह तब तक प्रवृत्त रहेगी जब तक कि वह संसद् द्वारा परिवर्तित, निरसित या संशोधित न की जाए। अनुच्छेद 252 के खण्ड (2) के परन्तुक और अनुच्छेद 350 के खण्ड (5) देखिए। यह भी ध्यान देने की बात है कि अनुच्छेद 243 के निरसित किए जाने के पहले उसके खण्ड (2) में उपबन्धित था कि राष्ट्रपति प्रथम अनुसूची के भाग घ में के राज्यक्षेत्र की शान्ति और सुशासन के लिए विनियम बना सकेगा और इस प्रकार बना हुआ कोई विनियम संसद् निर्मित किसी विधि का अथवा किसी वर्तमान विधि का जो ऐसे राज्य-क्षेत्र में तत्समय लागू है, निरसन या संशोधन कर सकेगा।

(1) 299 एन० डब्ल्यू० 574, 578 एन० डी० 153.

अतः यह मत व्यक्त किया जाता है कि जहां सक्षम विधानमण्डल या किसी अन्य सक्षम प्राधिकारी को भी प्रवृत्त किसी विधि के सम्बन्ध में शक्ति दी जाती है और वह ऊपर निर्दिष्ट उपबन्धों के आधार पर प्रवृत्त बनी रहती है, वहां संविधान निर्माताओं ने ने विधि का 'संशोधन' शब्द के प्रतिकूल विधि का 'निरसन' शब्द प्रयुक्त किया है। काफी बलपूर्वक यह दलील दी जा सकती है कि जहां प्रवृत्त विधियों के सम्बन्ध में कार्यवाही करने के लिए सक्षम विधानमण्डलों को संविधान निर्माताओं द्वारा पूरे और प्रचुर अधिकार दिए जाना आशयित था, वहां उन्होंने दो सुभिन्न शब्दों का प्रयोग काफी सावधानी से किया है। यदि 'संशोधन' या 'संशोधन करना' शब्दों का अर्थ अपने सामान्य रूप में निरसन है, तब ये शब्द कुछ अनुच्छेदों में 'संशोधन' या 'संशोधन करने' के, तौर पर प्रयुक्त नहीं किए गए होते और अन्य अनुच्छेदों में केवल 'संशोधन' या 'संशोधन करना' शब्द ही प्रयुक्त किए गए हैं। जहां तक प्रवृत्त विधियों का सम्बन्ध है, यह प्रतीत होगा कि आशय उनमें कुछ परिवर्धनकरने का नहीं था यद्यपि 'परिवर्तन' शब्द में 'फेरफार' भी विवक्षित है। फिर भी यह स्पष्ट है कि 'संशोधन' शब्द से जैसा वह अनुच्छेद 368 में प्रयुक्त हुआ है, शक्ति की प्रचुरता ज्ञात नहीं होती है। यह बात इण्डियन इण्डिपेण्डेन्स ऐक्ट, 1947 की धारा 6 की उपधारा (2) से भी स्पष्ट है जो, जैसा पहले बतलाया गया है, संविधान सभा द्वारा अपने कब्जे की शक्ति के संदर्भ में भी निराकृत करने या निरसित करने की शक्ति की प्रचुरता दर्शाने के लिए 'निरसन' या 'संशोधन' शब्द प्रयुक्त किया गया था। भारत शासन अधिनियम की धारा 32, 37, 74, 83 और 107(2) में भी 'संशोधन' शब्द 'परिवर्तन' के अर्थ में प्रयोग किया गया है और वह विधि के निरसन के तौर पर प्रयुक्त नहीं किया गया है। इसके विपरीत भारत शासन अधिनियम की धारा 106(2) और अनुच्छेद 372(1) में 'निरसन' शब्द प्रयुक्त हुआ है। पूर्ववर्ती में विधि को निरसित करने की शक्ति दी गई है और पश्चात्वर्ती में यह उपबन्ध किया गया है कि अनुच्छेद 395 में निर्दिष्ट की गई अधिनियमितियों के निरसन के बावजूद जिसके अन्तर्गत इण्डियन इण्डिपेण्डेन्स ऐक्ट आदि आते हैं, प्रवृत्त सभी विधियां इस अर्थ में प्रतिस्थापित कर दी जाएंगी कि वे निराकृत की जा सकती है। इसके अतिरिक्त अनुच्छेद 109 के खण्ड (3) और (4) में राज्यसभा को धन विधेयक के सम्बन्ध में संशोधन करने के लिए सशक्त किया गया है जिसे लोक सभा माने या न माने और यदि वह नहीं मानती है तो वह ऐसे किसी संशोधन के बिना पारित हो जाएगा। राज्य सभा विधेयक को बिल्कुल ही नामंजूर नहीं कर सकती किन्तु वह उसमें केवल परिवर्तन कर सकती है।

यह दलील कि यदि 'संशोधन' शब्द का व्यापक अर्थान्वयन किया जाए तो अपेक्षित बहुमत द्वारा सभी मूल अधिकार छीने जा सकते हैं जब कि इससे कम महत्व के मामलों में परन्तुक के अधीन आधे से कम न होने वाले राज्यों की सहमति अपेक्षित है। यह बात इस भ्रम पर आधारित है कि यूनाइटेड स्टेट्स के विपरीत जहां दोहरी नागरिकता है, एक यूनाइटेड स्टेट्स के नागरिक के तौर पर और दूसरे संघ में किसी विशिष्ट राज्य के नागरिक के तौर पर, किन्तु हमारे यहां एक ही नागरिकता है और वह भारत के नागरिक के तौर पर है और संसद् और केवल संसद् ही इस अधिकार के सम्बन्ध में विधान बना सकती है। इस अधिकार को प्रभावित करने के लिए किसी भी राज्य को विधायी शक्तियां प्राप्त

नहीं हैं और इसलिए जहां अनुच्छेद 368 के अधीन मूल अधिकारों को संशोधित करने के बारे में कहा गया है, वहां राज्यों को अनुसमर्थन करने की शक्ति नहीं दी गई है। तथापि यह पहलू अनुच्छेद 368 के अधीन संशोधन की शक्ति के विस्तार का विनिश्चायक नहीं है। अन्य उपबन्धों के साथ 'संशोधन' शब्द को पढ़ने से यह ज्ञात होता है कि इसका उपयोग नष्ट करने के प्रतिकूल परिवर्तन के लिए सशक्त करने के अर्थ में हुआ है। नष्ट करना, निरसन या निराकृत करने में विवक्षित है। जैसा कि परन्तुक से स्पष्ट है, अनुच्छेद 368 संविधान में केवल परिवर्तन करने के लिए सशक्त करता है उसमें यह अपेक्षित है कि जहां खण्ड(क) से (ङ) तक में विनिर्दिष्ट उपबन्धों को संशोधित किया जाना है, वहां राज्यों के आधे से कम न होने वाले विधानमण्डलों के संकल्प के द्वारा उनका अनुसमर्थन होना चाहिए। इस परन्तुक द्वारा संशोधन शब्द का अर्थ समझने की कुञ्जी उपलब्ध की गई है। इससे यह बात ज्ञात होती है कि अनुच्छेदों को नष्ट किए बिना इस प्रकार परिवर्तित किया जा सकता है जिससे कि पूरा संविधान निराकृत न किया सके और उसके एवज में नया संविधान प्रतिस्थापित कर दिया जाए। इस दृष्टि से मैं विद्वान् मुख्य न्यायाधिपति द्वारा दिए गए कारणों से सहमत हूं। मैं इस बात से सहमत हूं कि अनुच्छेद 368 में संशोधन की शक्ति की प्रचुरता को अनुच्छेद 368 के परन्तुक (ङ) के अधीन संशोधन करने की शक्ति को संशोधित करके बढ़ाया नहीं जा सकता।

इस निष्कर्ष के बाद अगला प्रश्न आता है जिस पर विचार किया जाना है। यह कहा गया है कि संशोधन द्वारा संविधान का बुनियादी ढांचा परिवर्तित नहीं किया जाना चाहिए या संशोधन प्रस्तावना में वर्णित उद्देश्यों के प्रतिकूल नहीं होना चाहिए और उसका इस प्रकार प्रयोग नहीं किया जा सकता है कि इस देश की जनता द्वारा स्वीकार की गई प्रजातन्त्रात्मक जीवन पद्धति की मूल विचारधारा को परिवर्तित करके संविधान का रूप बदल दे। यदि पूरा संविधान निराकृत नहीं किया जा सकता तब क्या मूल संविधान की प्रस्तावना और एक या कुछ अनुच्छेदों को छोड़कर संविधान के सभी उपबन्ध किए जा सकते हैं और उनके स्थान पर अन्य उपबन्ध रखे जा सकते हैं जिससे संविधान का पूरा ढांचा, तीनों विभागों का शक्ति के सम्बन्ध में आपसी सम्बन्ध, राज्य का फेडरल स्वरूप और नागरिक और राज्य के बीच के अधिकारों को निराकृत कर दिया जाए और नई संस्थाएं, शक्ति के विभाजन से सम्बन्धित उपबन्ध और संविधान के मूल तत्व प्रतिस्थापित कर दिए जाएं। मेरा मत है कि ऐसा प्रयत्न संविधान को निराकृत करने की कोटि का ही होगा क्योंकि शक्ति का इस प्रकार प्रयोग किए जाने से संविधान में कुछ बचेगा ही नहीं और वह पूर्ण रूप से नए संविधान को प्रतिस्थापित करने के बराबर होगा जिसके बारे में यह इन्कार नहीं किया गया है कि अनुच्छेद 368 के अधीन ऐसा नहीं किया जा सकता।

(शेष अगले अंक में)

गतांक से आगे—

संविधान की प्रस्तावना जिसे संविधान निर्माताओं ने संविधान बनाने के पश्चात् संविधान में अन्तर्विष्ट किया, जनता के आदर्शों और आकांक्षाओं को ध्यान में रखकर अन्तिम रूप में तय की गई थी, उसमें बहुत स्पष्ट शब्दों में वे प्रयोजन और उद्देश्य घोषित किए गए थे, जो संविधान द्वारा पूरे किए जाने के लिए आशयित थे। संविधान का निर्वचन करने में प्रस्तावना की कहां तक सहायता ली जा सकती है, यह वाद-विवाद का विषय रहा है। यह दलील दी गई कि यह संविधान का भाग नहीं है और जैसा हमें बतलाया गया है इस विचारधारा को **बेरूबारी यूनियन एण्ड एक्सचेंज ऑफ एन्क्लेव्ज वाले मामले** (1) में इस न्यायालय ने अपनी अनुमति दी है। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि न्यायालय के ध्यान में यह बात नहीं आई कि प्रस्तावना संविधान के एक भाग के तौर पर संविधान सभा द्वारा अंगीकृत की गई थी। मु० न्या० गजेन्द्रगडकर ने जो मत व्यक्त किया, उसे उस सन्दर्भ में उनकी इस उपधारणा द्वारा समझा जाना चाहिए कि प्रस्तावना संविधान का भाग नहीं है। स्टोरी के प्रति निर्देश करने के पश्चात् कि प्रस्तावना निर्माताओं की विचारधारा जानने की कुंजी है और विलोबी का यह उद्धरण कि प्रस्तावना कभी भी किसी अधिष्ठायी शक्ति का स्रोत आदि नहीं माना गया है, मुख्य न्यायाधिपति ने इस प्रकार अपना निष्कर्ष वर्णित किया (पृष्ठ 282)—

> "शक्तियों के सम्बन्ध में जो बात सही है, वह निषेधों और परिसीमाओं के बारे में उतनी ही सही है। इसके अतिरिक्त इस उपधारणा को स्वीकार करना सरल नहीं है कि प्रस्तावना के पहले भाग में प्रभुत्वसम्पन्नता के एक बहुत महत्वपूर्ण तत्व पर ही बहुत गम्भीर परिसीमा की कल्पना की गई है। जैसा हम बाद में बतलाएंगे, यह सर्वमान्य है कि प्रभुत्वसम्पन्नता का एक तत्व राष्ट्रीय राज्यक्षेत्र के भागों को यदि जरूरी हो तो सौंप देना है। अधिक से अधिक यह दलील दी जा सकती है कि यदि संविधान के किसी अनुच्छेद में प्रयुक्त की गई भाषा संदिग्ध है या उसके दो अर्थ किए जा सकते हैं तो उनका अर्थान्वयन करते समय प्रस्तावना में सन्निविष्ट उद्देश्यों से कुछ मदद ली जा सकती है। अतः श्री चटर्जी की यह दलील सही नहीं है कि प्रस्तावना द्वारा उस शक्ति के प्रयोग पर कोई निर्बन्धन लगाया गया है जो मामूली तौर पर प्रभुत्वसम्पन्नता का एक जरूरी और अत्यावश्यक तत्व माना जाता है।"

यह बतला दिया जाए कि उक्त निर्णय में स्टोरी और विलोबी के उद्धृत किए गए अंश पूर्ण रूप से उद्धृत नहीं किए गए हैं। इन लेखकों के मत का उचित मूल्यांकन करने के लिए सुसंगत अंशों की पूर्ण रूप से परीक्षा करना जरूरी है। स्टोरी का कहना है कि यह सुमान्य सिद्धान्त है······कि बुराइयों के संबंध में जिन्हें दूर किया जाना है, और उद्देश्यों के सम्बन्ध में जो किसी कानून के उपबंधों द्वारा पूरे किए जाने हैं, कानून की प्रस्तावना उसके निर्माताओं की विचारधारा समझने की कुंजी है······विधानमण्डल की इच्छा और उसके आशय का सम्मान करना चाहिए और उसका अनुसरण करना चाहिए। प्रस्तावना का उचित रूप से वहां प्रयोग होता है जहां अधिनियमित किए गए भाग के शब्दों से सन्देह या संदिग्धता उद्भूत होती है क्योंकि यदि वे स्पष्ट और असंदिग्ध हैं, तब उन मामलों के सिवाय जिनमें स्पष्ट रूप से बेतुकापन होता है या प्रस्तावना में अभिव्यक्त आशय स्पष्ट रूप से उलट दिया जाता

(1) (1960) 3 एस० सी० आर० 250.

है, निर्वचन की बहुत कम गुंजाइश होती है। इस सम्बन्ध में कोई कारण प्रतीत नहीं होता है कि मूल विधि को या सरकार के संविधान की बाबत निर्माताओं के आशय को जैसा वह प्रस्तावना में वर्णित किया जाता है, एक सा महत्त्व क्यों नहीं दिया जाना चाहिए। साधारण सरकार को या उसके किसी विभाग को दी गई शक्तियों को बढ़ाने के लिए प्रस्तावना का कभी भी सहारा नहीं लिया जा सकता है। स्वतः प्रस्तावना से कोई शक्ति प्रदत्त नहीं की जा सकती है। विवक्षा द्वारा वह ऐसी किसी शक्ति की वृद्धि की कोटि की नहीं हो सकती जो अभिव्यक्त रूप से दी गई है। वह कभी भी किसी विवक्षित शक्ति का विधिमान्य स्रोत नहीं हो सकती जब कि ऐसी शक्ति संविधान द्वारा अन्यथा वापस ले ली गई है। इसका असली प्रयोजन संविधान द्वारा वास्तव में प्रदत्त की गई शक्तियों के स्वरूप और विस्तार और उनके उपयोजन की व्याख्या करना है न कि उन्हें अधिष्ठायी रूप से सृष्ट करना है। ......हमें इस बात का पूरा विश्वास है कि औपचारिता के तौर पर ही यह प्रस्तावना अंगीकृत नहीं की गई थी। किन्तु यह एक मूल तथ्य को संजीदगी से प्रख्यापन करने के समान है जो सरकार के स्वरूप और सरकार द्वारा कार्यवाही करने के लिए महत्वपूर्ण है। (स्टोरी द्वारा लिखित कांस्टिट्यूशन ऑफ दि यूनाइटेड स्टेट्स, जिल्द 1, पृष्ठ 443-446)

स्टोरी के ऊपर वर्णित मत से यह स्पष्ट है कि—(क) बुराइयों की बाबत जिन्हें समाप्त किया जाना है, निर्माताओं की विचारधारा को समझने के लिए प्रस्तावना एक कुंजी है, (ख) प्रस्तावना का उस स्थिति में उचित रूप से प्रयोग किया जाता है जहां अधिनियमित किए गए भाग के शब्दों से सन्देह या संदिग्धता उद्भूत होती है, (ग) जहां शब्द स्पष्ट और असंदिग्ध होते हैं, वहां भी इसका प्रयोग किसी स्पष्ट बेतुकेपन या प्रस्तावना में अभिव्यक्त आशय की प्रत्यक्ष तौर पर अवमानना करने की स्थिति में किया जा सकता है और यदि शब्द संदिग्ध है तब इसका उपयोग और भी अधिक किया जा सकता है, (घ) इस बारे में कोई सन्देह नहीं है कि मूल विधि या सरकार के संविधान में निर्माताओं के आशय पर जैसा वह प्रस्तावना में वर्णित है, पर्याप्त ध्यान क्यों नहीं दिया जाना चाहिए, (ङ) अभिव्यक्त रूप से दी गई शक्तियों को बढ़ाने के लिए या अधिष्ठायी रूप से किसी शक्ति को सृष्ट करने के लिए या किसी शक्ति की विवक्षा करने के लिए जो अन्यथा संविधान से पहले ही वापस ले ली गई है, प्रस्तावना का कभी भी सहारा नहीं लिया जा सकता, (च) इसका असली कार्य संविधान द्वारा वास्तव में प्रदत्त की गई शक्तियों के स्वरूप, विस्तार और उपयोजन का प्रतिपादन करना है।

विलोबी से उद्धृत किए गए अंश, से निस्सन्देह यह दर्शित होता है कि प्रस्तावना का फेडरल प्राधिकार के स्रोत के तौर पर सहारा नहीं लिया जा सकता। किन्तु उसके मूल्य और उपयोग के सम्बन्ध में विद्वान् लेखक ने यह मत व्यक्त किया है—

> "विभिन्न समयों पर संविधान की प्रस्तावना में प्रयुक्त की गई विभिन्न अभिव्यक्तियों को विशेष महत्व दिया गया है। ये अभिव्यक्तियां इस प्रकार हैं—
>
> 1. 'हम यूनाइटेड स्टेट्स के नागरिक' पद का प्रयोग संविधान के विधायी स्रोत को दर्शित करने के लिए किया गया है।

2. लिखत को 'संविधान' नाम दिया गया है।

3. बनाए गए फेडरेशन को और अधिक पूर्ण यूनियन के तौर पर वर्णित किया गया है।

4. नए संविधान द्वारा जिन उद्देश्यों की वृद्धि की जानी है, उनमें सामान्य प्रतिरक्षा और साधारण लोक हित प्रगणित किए गए हैं (विलोबी, जिल्द 1, पृष्ठ 62)।"

अतः अमरीका के ये लेखक इस बात को मान्यता देते हैं कि संविधान में अन्तर्निहित अत्यावश्यक विचारधारा सुनिश्चित करने के लिए प्रस्तावना का उपयोग किया जा सकता है।

इंग्लैण्ड के मामलों से यह ज्ञात होता है कि विधायी आशय को जानने के एक माध्यम के तौर पर प्रस्तावना का सहारा लिया जा सकता है। उन मामलों में से एक मामला उद्धृत किया जाता है। अटर्नी जनरल बनाम प्रिन्स अरनेस्ट ऑगस्टस ([1]) वाले मामले में हाउस ऑफ लार्ड्स ने इस प्रश्न पर विचार किया कि क्या और किस विस्तार तक कानून को अधिनियमित करने वाले भाग का अर्थान्वयन करने के लिए किसी कानून की प्रस्तावना का सहारा लिया जा सकता है। वाइकाउण्ट साइमन (जिससे लार्ड टकर सहमत थे) ने पृष्ठ 461 पर यह मत व्यक्त किया—क्योंकि शब्द और विशेष रूप से साधारण शब्द अकेले नहीं पढ़े जा सकते। उनका रूप और उनकी अन्तर्वस्तु सन्दर्भ से ज्ञात की जाती है। अतः मैं कानून के प्रत्येक शब्द की उसके सन्दर्भ में परीक्षा करना अपना अधिकार और कर्तव्य समझता हूं और मैं 'सन्दर्भ' शब्द का प्रयोग उसके व्यापकतम अर्थ में करता हूं जिसके बारे में मैंने पहले ही यह दर्शा दिया है कि उसके अन्तर्गत उसी कानून का अधिनियमन करने वाले उपबंध ही नहीं आते हैं किन्तु उसकी प्रस्तावना, विधि की वर्तमान स्थिति और समविषयक अन्य कानून और बुराई जो उन और अन्य विधिमान्य तरीकों से ज्ञात की जा सकती है—जिसे दूर करने का कानून का आशय था, भी आती है। पोवेल बनाम केम्पटन पार्क रेसकोर्स कम्पनी लिमिटेड ([2]) वाले मामले में व्यक्त किए गए इस मत के प्रति निर्देश करते हुए कि जहां अधिनियमितियां स्पष्ट और असंदिग्ध शब्दों में अभिव्यक्त की गई हैं, वहां प्रस्तावना का स्वतः अधिनियमितियों को ही नियंत्रित करने के लिए उपयोग नहीं किया जा सकता, पृष्ठ 463 पर वाइकाउण्ट साइमन ने कहा—अक्सर यह कहना कठिन है कि कोई शब्द स्पष्ट और असंदिग्ध है, जब तक कि उन्हें उनके सन्दर्भ में न पढ़ा जाए। कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि इस चेतावनी की अवहेलना की जाए और प्रस्तावना की मदद लेने की दृष्टि से कोई संदिग्धता सृष्ट की जाए या उसकी कल्पना की जाए। इसका अर्थ केवल यह है कि इस प्रारम्भिक नियम का पालन किया जाना चाहिए कि किसी भी व्यक्ति को किसी कानून के किसी भाग या किसी अन्य दस्तावेज को समझने का तब तक दावा नहीं करना चाहिए जब तक कि उसने उसे पूरा न पढ़ लिया हो। जब तक उसने ऐसा न किया हो, उसे यह कहने का हक नहीं है कि वह दस्तावेज या उसका कोई भाग स्पष्ट और असंदिग्ध है......। मेरा यह सुझाव है कि इस प्रकार अभिव्यक्त करके यह बात और अच्छी तरह से कही गई है कि अधिनियमित किए गए भाग का अर्थ प्रस्तावना के सन्दर्भ से तब तक प्रभावित नहीं होना चाहिए जब तक कि इसके लिए कोई बहुत अच्छा कारण न हो और

([1]) (1957) ए० सी० 436.

([2]) (1899) ए० सी० 143.

मेरा विचार उस अभिव्यक्ति को परिभाषित करने का नहीं है, मैं केवल नकारात्मक रूप से यह विचार व्यक्त कर रहा हूं कि उसका केवल इस तथ्य द्वारा पता नहीं लग सकता कि अधिनियमित किए गए शब्दों का प्रस्तावना में दर्शित अर्थ से अधिक अर्थ निकलता है। प्रस्तावना अधिनियमित शब्दों के अर्थ को इससे भी कम उस स्थिति में प्रभावित करती है जब प्रस्तावना का अर्थ ही सन्देहपूर्ण हो।

इस पहलू पर लार्ड नारमण्ड ने पृष्ठ 467-468 पर यह मत व्यक्त किया—"जहां कोई प्रस्तावना होती है वहां उसके पाठ में ही उसके द्वारा दूर की जाने वाली बुराई और अधिनियम के विस्तार का वर्णन किया जाता है। अतः यह बहुत स्पष्ट है कि अधिनियमित किए गए उपबंध का अर्थान्वयन करने में मदद लेने के लिए उसका सहारा लिया जाना अनुज्ञेय है। फिर भी किसी अधिनियम की धारा के अर्थान्वयन करने के लिए प्रस्तावना का उतना महत्व नहीं है जितना महत्व अधिनियम में या संबंधित अधिनियमों में अन्य सुसंगत अधिनियमित शब्दों का होता है। जब अस्पष्ट और अनिश्चित अधिनियमित शब्दों की तुलना में प्रस्तावना द्वारा स्पष्ट और निश्चित मत ज्ञात होता है तब प्रस्तावना विधिमान्य रूप से प्रभावी हो सकती है। थोड़ी भी कठिनाई होने वाले मामले में विधिक और तथ्यात्मक सन्दर्भ में जिसके अन्तर्गत प्रस्तावना भी आती है, जानकारी प्राप्त करना और इस जानकारी को ध्यान में रखते हुए इस बात पर विचार करना न्यायालय का काम है कि क्या पेश किया गया परस्पर विरोधी अर्थान्वयन अधिनियमित शब्दों में अन्तर्वलित है। यदि इन शब्दों द्वारा केवल एक ही अर्थान्वयन किया जा सकता है, तब वह अर्थान्वयन प्रभावी किया जाएगा भले ही वह प्रस्तावना से असंगत हो। किन्तु यदि पक्षकारों द्वारा किए गए दो अर्थान्वयनों में से एक अर्थान्वयन किया जा सके तो उस अर्थान्वयन को ही तरजीह दी जाएगी जो प्रस्तावना के अनुरूप हो।" लार्ड समरवैल ने पृष्ठ 474 पर यह मत व्यक्त किया "असंदिग्ध" शब्दों का उनके सन्दर्भ में अर्थ "असंदिग्ध" ही होना चाहिए। इंग्लैण्ड के महान प्रारूपकारों में से एक लार्ड थ्रिग ने अपनी पुस्तक 'प्रैक्टिकल लेजिशलेशन' के अध्याय 4 के पृष्ठ 92-93 पर प्रस्तावनाओं के संबंध में यह सटीक मत व्यक्त किया है, उनका कहना है कि प्रस्तावना का उपयोग अधिनियम में प्रयुक्त की गई कतिपय अभिव्यक्तियों के विस्तार क्षेत्र को सीमित करने के लिए किया जा सकता है और जब अधिनियम का उद्देश्य लोकप्रिय होता है, और वह प्रभावशाली वाक्य या वाक्यों में कहे जाने योग्य होता है तो कभी-कभी प्रस्तावना राजनैतिक कारणों से भी अन्तःस्थापित की जाती है। सज्जन सिंह के मामले [1] में पृष्ठ 968 पर न्या० मुधोलकर ने इस दलील पर ध्यान देते हुए कि यह कहा गया है कि प्रस्तावना संविधान का कोई भाग नहीं है, यह मत व्यक्त किया—"किन्तु मेरा विचार है कि यदि संविधान के मोटे-मोटे तत्वों की प्रस्तावना से तुलना करने पर यह ज्ञात हो कि प्रस्तावना उन तत्वों का सारांश है या इसे दूसरे प्रकार से कहा जाए तो यदि ये तत्व प्रस्तावना में उपवर्णित विचारधाराओं के विस्तृत रूप या मूर्त रूप हैं, तो इस बात पर विचार करना होगा कि क्या प्रस्तावना संविधान का कोई भाग नहीं है। इस प्रश्न पर विचार करते हुए इस बात को ध्यान में रखना सुसंगत होगा कि प्रस्तावना सामान्य प्रकार की नहीं होती है, जैसी कि वह विधानमण्डल के किसी अधिनियम में पाई जाती है। उस

(1) (1965) 1 एस० सी० आर० 933.

पर गम्भीरतापूर्वक किए गए विचार-विमर्श की छाप होती है और उसमें यथार्थता होती है। क्या इससे यह ज्ञात नहीं होगा कि संविधान निर्माताओं ने उसे विशेष महत्व दिया था ?" उन्होंने जो मत व्यक्त किया है, उससे मैं सादर सहमत हूं।

हाउस ऑफ लार्ड्स, विद्वान् लेखकों और ऊपर निर्दिष्ट न्यायाधीशों द्वारा व्यक्त किए गए इन मतों से यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि जहां शब्द संदिग्ध हैं, या जहां शब्द असंदिग्ध हैं, वहां भी प्रस्तावना ऐसे अर्थान्वयन के लिए सहायक होगी जिसके परिणामस्वरूप बेतुकापन न हो और प्रस्तावना कानून के अर्थान्वयन के लिए मार्गदर्शक का कार्य करेगी। जहां प्रस्तावना से स्पष्ट और निश्चित मत ज्ञात होता है, वहां वह अधिनियमित किए गए ऐसे शब्दों पर अभिभावी होगी जो अपेक्षया अस्पष्ट और अनिश्चित है या यदि शब्दों का एक से अधिक अर्थान्वयन किया जा सकता है तो उस अर्थान्वयन को ही तरजीह दी जाएगी जो प्रस्तावना के अनुकूल हो।

बेरुबारी यूनियन एण्ड एक्सचेंज ऑफ एन्क्लेव्ज वाले मामले [1] में इस न्यायालय ने स्टोरी के इस मत के प्रति निर्देश नहीं किया और न इस पर विचार किया कि प्रस्तावना का उपयोग शक्तियों के स्वरूप, उनके विस्तार और उनके उपयोजन को प्रतिपादित करने के लिए किया जा सकता है या प्रस्तावना का उपयोग स्पष्ट बेतुकेपन या अधिनियम में स्पष्ट रूप से व्यक्त किए गए आशय के बिल्कुल विपरीत काम करने पर किया जा सकता है। यह मत भी व्यक्त कर दिया जाए कि उस मामले में न्यायालय ने यह बात साफ-साफ कही थी कि प्रस्तावना के पहले भाग द्वारा गम्भीर परिसीमा नहीं लगाई गई है। यदि न्यायालय ने यह निश्चित मत अपनाया कि प्रस्तावना परिसीमा का स्रोत नहीं थी तो यह मत कि इस उपधारणा को स्वीकार करना सरल नहीं है कि प्रस्तावना के पहले भाग में सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न गणराज्य के एक बहुत महत्वपूर्ण तत्व की बाबत बहुत गम्भीर परिसीमा (महत्व देने के लिए रेखांकित किया गया है) की कल्पना की गई है। यह आवश्यक नहीं था क्योंकि इसमें यह विवक्षित है कि प्रस्तावना के कुछ भागों के बारे में यह स्थापित किया जा सकता है कि वे गम्भीर परिसीमाओं के स्रोत हैं, यदि ऐसी परिसीमाएं अस्तित्व में हो। किसी भी दशा में यद्यपि परामर्शपूर्ण राय को बहुत अधिक आदर दिया जाना चाहिए किन्तु वह तब आबद्धकर नहीं है जब अवधारणा के लिए कोई ठोस प्रश्न उद्भूत होता है, विशेष रूप से उस समय जब कि उस मामले में संशोधन करने की शक्ति के विस्तार पर विचार नहीं किया गया था और वास्तव में वह विचार किए जाने हेतु उद्भूत भी नहीं हुआ था।

अब हम उस प्रश्न पर विचार करेंगे जिसके सम्बन्ध में हमारे समक्ष बहुत जोर दे कर बहस की गई है अर्थात् यह कि संविधान में कोई अत्यावश्यक तत्व नहीं हैं और संविधान का प्रत्येक तत्व ही अत्यावश्यक है और यदि ऐसी बात नहीं होती तो संविधान के अधीन संशोधन करने की शक्ति केवल ऐसे उपबन्धों को ही लागू होगी जो अब अत्यावश्यक तत्व कहे जाते हैं और इस बात की कल्पना करना कठिन है कि अनुच्छेद 368 का उपबंध करने में संविधान निर्माताओं का केवल यही प्रयोजन था और यह कि संविधान में ऐसी विचारधारा पढ़ने का कोई औचित्य नहीं है। यह दलील प्रथमदृष्टया आकर्षक है किन्तु यदि हम अपने

(1) (1960) 3 एस० सी० आर० 250.

आप से यह प्रश्न पूछें कि क्या संविधान का कोई ढांचा है या वह ढांचे के रहित है या जैसा कि पिटीशनर के विद्वान् अधिवक्ता ने विशेषण प्रयुक्त किया है, यह एक 'रसभरी मछली' (जेली फिश) है तो इसका जो उत्तर होगा उससे हमारी शंका दूर हो जाएगी। यदि संविधान को एक तन्त्र माना जाए या उसे एक व्यवस्थित लिखित माना जाए या संविधानिक इंजीनियरी का एक भाग माना जाए, तो जो कुछ भी वह हो, उसका एक ढांचा या गठन या आधार या नींव होनी चाहिए। वह जो कुछ भी है वह उसी दशा में सुनिश्चित किया जा सकता है यदि हम उन उपबन्धों की परीक्षा करें जिनके सम्बन्ध में विद्वान् मुख्य न्यायाधिपति ने काफी विस्तार से विचार किया है और विचार करने के पश्चात् उन्होंने बुनियादी ढांचे के मूल तत्व वर्णित किए हैं। मैं पुनः उसी बात की परीक्षा करना नहीं चाहता। प्रस्तावना में अस्पष्ट या अनिश्चित कुछ भी नहीं है और यदि उसमें जो कुछ कहा गया है, उसकी इस प्रकार आलोचना की जाती है तो यह बात अनुच्छेद 39 (ख) और (ग) में जो कुछ वर्णित है, उस पर भी समान रूप से लागू होगी क्योंकि ये भी देश के शासन के लिए मूल उद्देश्यों हैं। जनता की बेहतरी और सुख के लिए राज्य को इन्हें प्राप्त करने का आदेश दिया गया है। बुनियादी ढांचे के तत्व प्रस्तावना में वर्णित हैं और वे संविधान के विभिन्न उपबन्धों में कार्यान्वित किए गए हैं। हमारे संविधान की इमारत विभिन्न स्तम्भों से बनी है और उन पर खड़ी है। उनमें से किसी एक को भी हटाने पर संविधान ढह जाएगा। मूल तत्व इस प्रकार हैं (1) सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न लोकतन्त्रात्मक गणराज्य, (2) सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय, (3) विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपासना की स्वतन्त्रता, (4) प्रतिष्ठा और अवसर की समानता। इनमें से प्रत्येक महत्वपूर्ण हैं और सामूहिक रूप से इनसे भारतीय जनता की जीवन पद्धति सुनिश्चित होती है और संविधान इस जीवन पद्धति की गारण्टी देता है। ऊपर वर्णित किसी भी तत्व को वापस लेने पर ढांचा अस्तित्व में नहीं बना रहेगा और संविधान भी वैसा ही नहीं रहेगा या यह संविधान नहीं रहेगा और न इससे संविधान का मूल तत्व कायम रहेगा, यदि इस संविधान के स्थान पर एक बिल्कुल अलग संविधान प्रतिस्थापित कर दिया जाता है, ऐसा कार्य जनता की सर्वोपरि इच्छा द्वारा ही किया जा सकता है इससे, संविधान का रूप कायम नहीं रह सकता। लोकतन्त्रात्मक गणराज्य इस अर्थ में हो सकता है कि जनता को एक दल या केवल एक सदस्य को सकारात्मक या नकारात्मक तौर पर मत देने का अधिकार हो और उन्हें उसका विरोध करने वाले दूसरे व्यक्ति को चुनने का अवसर प्राप्त न हो। ऐसा गणतन्त्र नहीं होगा जो जनता को दिया गया है और संविधान का परिरक्षण, संरक्षण या प्रतिरक्षण करने या उसे क्रियान्वित करने या उसे कायम रखने के लिए जो शपथ लेने वाला कोई भी व्यक्ति इस बात की कल्पना भी नहीं कर सकता। जिस लोकतन्त्रात्मक गणराज्य की परिकल्पना की गई है, वह प्रतिनिधियों की पद्धति पर आधारित है जिसमें एक दूसरे के विरुद्ध विचार रखने वाले व्यक्ति उम्मीदवार हो सकते हैं, और वे मतदाताओं से मत देने की प्रार्थना कर सकते हैं। यदि लोकतन्त्रात्मक गणराज्य की आधारशिला यह पद्धति ही है तो इस बात की कल्पना भी नहीं की जा सकती कि ऊपर वर्णित तत्व संख्या (2) से (4) तक सामूहिक रूप से या पृथक् रूप से अस्तित्व में रह सकते हैं। सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय के बिना लोकतन्त्र क्या है, या जहां उसके नागरिकों को विचार, विश्वास, धर्म या उपासना

की स्वतन्त्रता नहीं है या जहां प्रतिष्ठा, और अवसर की समता नहीं है, वहां लोकतन्त्रात्मक का क्या मूल्य है। तब हमारे संविधान के ढांचे के अत्यावश्यक तत्व या मूल तत्व क्या हैं, इस बात पर विस्तार से विचार करने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि किसी ठोस मामले में इस पर विचार किया जाएगा जहां इनके सम्बन्ध में कहा जाएगा कि ये निराकृत कर दिए गए हैं या अस्तित्वहीन बना दिए गए हैं। यह तथ्य कि अत्यावश्यक तत्व गठित करने वाली बातों की पूरी सूची नहीं बनाई गई है, इस बात से इन्कार करने का कोई कारण नहीं है कि वे अस्तित्व में हैं. क्या वे सभी तत्वों का जिन से कोई विधि शून्य और असांविधानिक होती है, संविधान के सन्दर्भ में अभिनिर्णीत किए जाने पर किसी विधि की विधिमान्यता या अविधिमान्यता के लिए क्रमबद्ध किया जाना अपेक्षित है। सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न लोकतन्त्रात्मक गणराज्य, संसदीय लोकतन्त्र और राज्य के तीन अंग निश्चित रूप से मेरी राय में मूल ढांचे के भाग हैं। किन्तु क्या भाग 3 में अन्तर्विष्ट मूल अधिकार और भाग 4 के निदेशक तत्वों से हमारे संविधान के मूल ढांचे के अत्यावश्यक तत्व गठित होते हैं और क्या इनके बिना संविधान, संविधान बना रहेगा। दूसरे शब्दों में यदि भाग 3 और भाग 4 या इनमें से कोई पूर्ण रूप से निराकृत कर दिया जाता है तो क्या यह कहा जा सकता है कि वह व्यवस्थित लिखत के तौर पर, जिसके द्वारा प्रस्तावना में सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न लोकतन्त्रात्मक गणराज्य स्थापित करने की कल्पना की गई थी, वैसा ही बना रहता है। जिस अर्थ में मैं सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न लोकतन्त्रात्मक गणराज्य को समझता हूं, मूल अधिकारों या निदेशक तत्वों के बिना वह नहीं रह सकता। यदि वह राजनैतिक, आर्थिक या सामाजिक न्याय सुनिश्चित नहीं हो पाता है तो ऐसी सरकार क्या होगी।

राजनैतिक स्वतन्त्रता, मूल अधिकार और स्वायत्त शासन के लिए क्रान्ति का इतिहास अच्छी तरह से ज्ञात है। जैसा मैंने पहले बतलाया है, 19वीं शताब्दी के द्वितीय अर्धांश से संघर्ष चालू है और विभाजन के बावजूद जब अन्ततः भारत का अपनी स्वतन्त्रता और उत्तर से दक्षिण और पूर्व से पश्चिम तक राज्यक्षेत्रीय एकता का मनोवांछित सपना पूरा हुआ, जो कई वर्षों में वह प्राप्त नहीं कर सका था, तब मूल उद्देश्य देश की आधारशिला बने। जैसा कि नविल आस्टिन ने अपनी पुस्तक 'दि इण्डियन कान्स्टिट्यूशन' के पृष्ठ 50 पर बहुत अच्छे ढंग से कहा है "भारतीय संविधान सबसे पहले एक सामाजिक दस्तावेज है। इसके उपबन्धों में से अधिकांश उपबन्ध या तो स्पष्ट रूप से सामाजिक क्रान्ति के उद्देश्य को पूरा करने के लिए निदेशित हैं, या इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए आवश्यक स्थितियों को स्थापित करके इस क्रान्ति को बढ़ाने का प्रयत्न करने के लिए हैं। फिर भी राष्ट्रीय नवजागरण के बावजूद पूरे संविधान की अन्तर्भावना, मूल अधिकार और राज्य की नीति के निदेशक तत्वों में, जो भाग 3 और 4 में हैं, निहित है। ये संविधान की अन्तरात्मा हैं। मूल अधिकारों और निदेशक तत्वों की जड़ स्वाधीनता के संघर्ष में काफी गहरी थी और उन्हें संविधान में इस आशा और विश्वास के साथ सम्मिलित किया गया था कि एक दिन सच्ची स्वतन्त्रता का वृक्ष भारत में प्रस्फुटित होगा इस प्रकार अधिकार और सिद्धान्त भारत का भविष्य, वर्तमान और भूत जोड़ते हैं। संविधान में उनके सम्मिलित किए जाने के लिए उनका महत्व बहुत बढ़ गया है और भारत में सामाजिक क्रान्ति की खोज मजबूत बनी है।

मूल अधिकारों की मांग की प्रेरणा मैगनाकार्टा, दि इंगलिश बिल ऑफ राइट्स, फ्रेंच रेवोल्यूशन, दि अमेरिकन बिल ऑफ राइट्स में, जो यूनाइटेड स्टेट्स के संविधान में 1791 में निर्गमित किया गया, निहित है। पहली बार 1885 में इण्डियन नेशनल कांग्रेस गठित हुई और कांस्टिट्यूशन ऑफ इण्डिया बिल, 1885 में इनके लिए मांग की और समय-समय पर इन मांगों को दोहराया गया। कॉमनवेल्थ ऑफ इण्डिया बिल में जिसे एनीबिसेंट ने तैयार किया था 7 मूल अधिकारों के लिए मांग की गई थी। साइमन कमीशन ने मूल अधिकारों में सम्मिलित किए जाने की इन मांगों को नामंजूर कर दिया था किन्तु मोतीलाल नेहरू कमेटी ने भारत के लिए एक स्वराज्य संविधान प्रारूपित किया और उसमें अधिकारों की घोषणा निगमित की गई। इन अधिकारों के सम्बन्ध में रिपोर्ट में कहा गया है—

> "यह स्पष्ट है कि हमें सब से पहले इस बात की चिन्ता है कि हमारे मूल अधिकारों के सम्बन्ध में इस प्रकार गारण्टी दी जाए जिससे किसी भी परिस्थिति में उन्हें वापस न लिया जा सके × × ×।"

आर्थिक और सामाजिक परिवर्तन के सम्बन्ध में मूल अधिकारों में जोड़े गए नए सांविधानिक अधिकारों की बाबत मार्च, 1931 के कराची संकल्प द्वारा सांविधानिक अधिकारों में नए रूप से विस्तार हुआ। उस समय तक सरकार को क्या नहीं करना चाहिए इस संबंध में उसकी बाध्यताओं पर ही जोर दिया गया था। उस संकल्प द्वारा अब समान रूप से इस मांग पर भी जोर दिया गया कि राज्य पर यह निश्चित बाध्यता है कि वह जनता के लिए ऐसी आर्थिक और समाजिक स्थिति कायम करे जिसमें उनके नकारात्मक अधिकारों का असल में कोई अर्थ हो (ग्रेनविल आस्टिन पृष्ठ 56)। सप्रू कमेटी ने भी इन मूल अधिकारों को निगमित किया और पहली बार उन्हें न्यायालय में चुनौती दिए जाने योग्य और न्यायालय में चुनौती न दिए जाने योग्य अधिकारों की दो श्रेणियों में बांटा। संविधान सभा में हुए वाद-विवाद के दौरान मूल अधिकारों के सम्बन्ध में सदस्यों के दिमाग में जो भ्रम था, उस पर चर्चा करते हुए पंडित जवाहर लाल नेहरू ने यह कहा—इस सम्बन्ध में भ्रम और अतिव्याप्ति है और इसलिए मैं सोचता हूं कि इस सम्बन्ध में बहुत अधिक कठिनाई उत्पन्न हो गई है। मूल अधिकारों को किसी विशिष्ट साम्पिक कठिनाई की दृष्टि से नहीं देखा जाना चाहिए किन्तु उन्हें इस प्रकार देखा जाना चाहिए जिन्हें हम संविधान में स्थायी बनाना चाहते हैं। दूसरी बात पर भले ही वह कितनी ही महत्वपूर्ण हो, इस स्थायी और मूल दृष्टिकोण से नहीं देखा जाना चाहिए किन्तु अधिकतर अस्थायी दृष्टिकोण से देखा जाना चाहिए (महत्व देने के लिए रेखांकित किया गया है)। डाक्टर राधाकृष्णन् ने मूल स्वतंत्रताओं की घोषणा को जनता के प्रति प्रतिज्ञा और सभ्य संसार के साथ एक गठबंधन कहा (संविधान सभा के वाद-विवाद, जिल्द 2, पृष्ठ 273)। डाक्टर अम्बेदकर ने उद्देश्यों के संकल्प के संबंध में बोलते हुए कहा कि "जब संकल्प के उस भाग को कोई व्यक्ति पढ़ता है तो उसे मानव के अधिकारों की एक घोषणा की याद आ जाती है जिसे फ्रांस की संविधान सभा ने घोषित किया था। मेरा विचार है कि मेरा यह कहना सही है कि करीब-करीब 450 वर्ष बीतने के पश्चात्, मानव के अधिकारों की घोषणा और वे सिद्धांत जो उसमें अन्तर्विष्ट है, अब हमारे मानसिक दृष्टिकोण के अनिवार्य अंग बन गए हैं। मेरा यह मत है

कि संसार के प्रत्येक सभ्य देश के आधुनिक मानव के मानसिक दृष्टिकोण के वे अनिवार्य अंग ही नहीं हैं किन्तु वे हमारे देश के प्रत्येक व्यक्ति के मानसिक दृष्टिकोण के भी अंग हैं। यद्यपि हमारा देश काफी दकियानूसी और अपने विचार और समाजिक ढांचे में काफी पुरातन है, किन्तु मानव के अधिकारों की घोषणा की विधिमान्यता से शायद ही कोई इन्कार करे। अब उसे दोहराना जैसा कि संकल्प में किया गया है, अतिसिद्धांतवादिता दर्शाना ही कहा जाएगा। ये सिद्धान्त हमारे दृष्टिकोण के मूक और निष्कलंक आदर्श वाक्य बन गए हैं। अतः इन्हें हमारे सिद्धांत के भाग घोषित करना अनावश्यक है। संकल्प में कुछ और भी खामियां हैं। मेरा विचार है कि यद्यपि संकल्प के इस भाग में कुछ अधिकार स्पष्ट किए गए हैं, किन्तु इसमें उपचारों के सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा गया है। हम सभी इस बात को जानते हैं कि अधिकारों का कोई महत्त्व नहीं है जब तक कि ऐसे उपचारों का उपबन्ध न हो जिनके द्वारा जनता जब उसके अधिकारों पर आक्रमण किया जाए तो अनुतोष प्राप्त कर सके। उपचार के सम्बन्ध में निर्देश उद्देश्यों के संकल्प में नहीं था। इस खामी को अनुच्छेद 32 में सम्मिलित करके दूर किया गया जिसके सम्बन्ध में डाक्टर अम्बेदकर ने कहा कि यह ऐसा अनुच्छेद है जिसके बिना यह संविधान अकृत होगा...... मैं इस अनुच्छेद के अलावा किसी अन्य अनुच्छेद के प्रति निर्देश नहीं कर सकता। यह संविधान की आत्मा है और यह उसका हृदय है और मुझे इस बात की प्रसन्नता है कि सदन ने इसके महत्त्व को समझा है.........उपचार ही अधिकार को असली रूप प्रदान करता है। यदि उपचार नहीं है तो अधिकार नहीं रहता (महत्त्व देने के लिए रेखांकित किया गया है)। कांस्टिट्यूएण्ट असेम्बली डिबेट्स, खण्ड जिल्द 7 पृष्ठ 953)। इंग्लैण्ड की हाई प्रिरोगेटिव रिट की उपयुक्तता के सम्बन्ध में चर्चा करते हुए उन्होंने कहा कि इन रिटों द्वारा प्रभावशाली उपचार किया जाता है और इन्हें संशोधित किया जा सकता है किन्तु उन्होंने यह नहीं कहा कि न्यायिक पुनरीक्षण को या तो निराकृत किया जा सकता है या उसे संशोधन द्वारा छीना जा सकता है या स्वतः न्यायालय को ही समाप्त किया जा सकता है। इस सम्बन्ध में भी उन्होंने कुछ नहीं कहा और न ही इस सम्बन्ध में किसी सदस्य ने कोई प्रश्न उठाया। डाक्टर अम्बेदकर के मत को इस प्रकार नहीं पढ़ा जा सकता जिससे यह मालूम हो कि संविधान के संशोधन से अनुच्छेद 32 निराकृत किया जा सकता है क्योंकि यदि ऐसा होता, तो उनका मत अनुच्छेद 32 के खण्ड (4) में अभिव्यक्त भाषा के बिल्कुल विपरीत होता। अनुच्छेद 32 के खण्ड (4) में जो गारण्टी दी गई है, उसकी केवल संशोधन करने की शक्ति के विरुद्ध ही कल्पना की जा सकती है क्योंकि जब तक स्वतः संविधान द्वारा मंजूरी न दे दी जाए, संविधान द्वारा दिए गए अधिकार को किसी मामूली विधि द्वारा निलम्बित नहीं किया जा सकता। जब अनुच्छेद 32 का खण्ड (4), अनुच्छेद 32 के अधीन सिवाय संविधान में अन्यथा उपबंधित के अर्थात् अनुच्छेद 359 द्वारा निलम्बित किए जाने के, निलम्बित किए जाने की अनुमति नहीं देता है तो इस बात की कल्पना भी नहीं की जा सकती कि संशोधन द्वारा यह अधिकार निराकृत किया जा सकता है। मूल अधिकारों के इस महत्त्वपूर्ण तत्त्व से यह स्पष्ट होता है कि इस बुनियादी ढांचे को विकृत या नष्ट नहीं किया जा सकता है। जब कोई उपचार निराकृत नहीं किया जा सकता तो इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि मूल अधिकारों को इस कारण से निराकृत नहीं किया जा सकता कि अधिकारों के बिना उपचार

का अस्तित्व में रहना निरर्थक होगा। वाद-विवाद में और कुछ भी नहीं है जिससे यह ज्ञात हो सके कि सदस्यों में से किसी भी सदस्य ने किसी भी मूल अधिकार के निराकृत किए जाने के संबंध में सोचा था। सदस्यों की मानसिक विचारधारा और उस समर्पित ढंग से जिसमें उन्होंने इन अधिकारों के सम्बन्ध में विचार व्यक्त किया, यह ज्ञात होता है कि जनता इन अधिकारों का संवर्द्धन करना चाहती थी। इस बात की कल्पना भी नहीं की जा सकती कि कोई भी सदस्य इसके विपरीत सुझाव देता। निदेशक तत्वों के सम्बन्ध में यद्यपि हर एक ने यह अनुभव किया कि वे बहुत महत्वपूर्ण हैं किन्तु श्री बी० एन० राव ने प्रारूपण समिति को इस बाबत मनाने के लिए कई बार प्रयत्न किया कि वह मूल अधिकारों को निदेशक तत्वों के अधीन कर दे। किन्तु श्री राव इसमें सफल नहीं हुए। सर अलादि कृष्णस्वामी अय्यर ने जो एक विख्यात वकील थे, तारीख 14 मार्च, 1947 के अपने टिप्पण में निदेशक तत्वों और मूल अधिकारों के बीच प्रभेद किया और यह कहा कि उन्हें बराबर मानना असम्भव है यद्यपि इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि वे बहुत महत्वपूर्ण है। इस बारे में कोई संदेह नहीं है कि मूल अधिकारों का उद्देश्य राजनैतिक लोकतंत्र के आदर्श को सुनिश्चित करना और सत्तावादी शासन को रोकना है जब कि राज्य की नीति के निदेशक तत्वों का उद्देश्य कल्याणकारी राज्य स्थापित करना है जिसमें आर्थिक और समाजिक स्वतंत्रता होगी जिसके बिना राजनैतिक लोकतंत्र का कोई अर्थ नहीं है। संविधान में यह अन्तर्निहित है कि संविधान और विधियों का अर्थान्वयन करने का कर्तव्य न्यायालयों का है जिससे कि निदेशक सिद्धांतों को आगे बढ़ाया जा सके जो अनुच्छेद 37 के अधीन देश के शासन में मूलभूत महत्व के हैं। जैसा कि विद्वान् मुख्य न्यायाधिपति ने कहा है कि यह कहना कि निदेशक तत्वों द्वारा मूल अधिकारों को छीनने का निदेश दिया गया है, परस्पर-विरोधी प्रतीत होता है। इस दलील में कोई आधार नहीं है कि निदेशक तत्वों को केवल तभी प्रभावी किया जा सकता है जब कि मूल अधिकारों को निराकृत कर दिया जाए। यदि वे अड़चन डालने वाले थे तो प्रत्येक सरकार, जिसके हाथ में शासन आया और जिसे राज्य नीति के निदेशक तत्वों को अपने नागरिकों के कल्याण को सुनिश्चित करने के लिए प्रभावी करना होगा, यह कह सकती है कि क्योंकि वह उन्हें तब तक प्रभावी नहीं कर सकती जब तक कि मूल अधिकार अस्तित्व में रहते हैं अतः मूल अधिकारों को निराकृत किया जाना चाहिए। मेरा विचार यह नहीं है कि संविधान में ऐसा कोई अन्तर्निहित विचार है। इनमें से कुछ अधिकार यद्यपि सीमित हैं किन्तु वे ब्रिटिश शासन के दिनों से ही जो उस समय की विधि थी अस्तित्व में हैं। फिर भी कुछ ऐसी विधियां थीं जो दमनकारी थीं जैसे दि बंगाल रेगुलेशन, 1818 का सं० 3, मद्रास रेगुलेशन, 1819 का सं० 2, बॉम्बे रेगुलेशन, 1827 का सं० 25, दि इण्डियन क्रिमिनल लॉ अमेण्डमेण्ट, ऐक्ट, 1908 (1908 का अधिनियम सं० 14) आदि जिनका जनता की स्वतंत्रता का दमन करने के लिए और राजनैतिक आधारों पर व्यक्तियों को उस समय निरुद्ध करने के लिए जब वे शासकों के लिए अड़चन पैदा करने वाले कार्य करते थे, और उनका दमन करने के लिए उपयोग किया जाता था। उस समय से मूल अधिकारों को सुनिश्चित करने की मांग धर्म सिद्धांत (आर्टिकल ऑफ फेथ) बन गई है और

जैसा डाक्टर अम्बेदकर ने कहा है, जनता की मानसिक विचारधारा और उसके शान्त और निष्कलंक आदर्श का अनिवार्य भाग बन गई है। संविधान निर्माताओं के दृष्टिकोण से

ऐसी परिस्थिति का उपबंध नहीं किया जा सकता था जहां वे निराकृत किए जा सकते और न ही किसी दृष्टि से वे जैफर्सन की थिअरि के सहवर्ती थे, जो यह है कि आने वाली पीढ़ी को कोई भी आबद्ध नहीं कर सकता। ऐसी पीढ़ी देश की बहुसंख्यक जनता की इच्छा के अनुसार स्वयं को आबद्ध कर सकती है। इसके बाद से अमरीका में एक मत यह था और यह मत अब भी है जो न्यायाधिपति ह्यूगो ब्लैक ने अभिव्यक्त किया था। वह सुप्रीम कोर्ट के विख्यात न्यायाधीशों में से एक हैं। उन्होंने कहा "मैं बिल ऑफ राइट्स को 18वीं शताब्दी के स्ट्रेट जैकेट के समान घिसा पिटा नहीं मान सकता। कुछ व्यक्ति उसके उपबंधों को पुराने समय में निकाला गया निचोड़ मान सकते हैं और यह सच है कि वे प्राचीनकाल की बुराइयों को दूर करने के लिए विरचित किए गए हैं। किन्तु सभी मानवीय बुराइयों के लिए वे वैसे ही हैं और शताब्दी प्रति शताब्दी तक जब कभी बहुत से व्यक्तियों को नुकसान पहुंचाकर कुछ के फायदे के लिए शक्ति का अत्यधिक उपयोग किया गया तब इनके द्वारा वे बुराइयां दूर की गईं। 1895 में प्रसिद्ध विधिवेत्ता मिटलैंड ने मैगनाकार्टा के सम्बन्ध में यह मत व्यक्त किया कि जहां संसद सर्वोच्च है वहां यह दस्तावेज पवित्र मूल ग्रंथ बन जाता है और ऐसा ठीक ही है यह एक मूल कानून है जो इंग्लैण्ड में कभी भी था और यह निरसित न किया जाने वाला कानून है (पोलक एण्ड मिटलैंड (1898), जिल्द 1, पृष्ठ 173)"।

जनता की विचारधारा में जिसमें हमारी मानसिक विचारधारा और हमारे दृष्टिकोण का निष्कलंक होना स्पष्ट तत्व है, हमारे संविधान के निर्माताओं ने ऐसी स्वतंत्रताओं के लिए उपबन्ध नहीं किया होता जो सभ्य मनुष्य के अधिकार के एक भाग के तौर पर निराकृत या नष्ट की जा सके। समुदाय और समाज का हित खतरे में नहीं पड़ेगा और इन अधिकारों को निराकृत, विकृत प्रभावहीन या नष्ट किए बिना इस प्रकार समायोजित किया जा सकता है। कि जो मूल अधिकारों के निराकरण के समान हो। मैसूर के महाधिवक्ता ने कहा कि भले ही मूल अधिकार पूर्णतया निराकृत कर दिए जाते हैं, तब भी यह बात नहीं है कि जनता के पास कोई अधिकार नहीं होंगे। वे विधि के अधीन मामूली अधिकारों के अध्यधीन होंगे। मैं इस दलील को नामंजूर करता हूं क्योंकि तब इतिहास को पीछे उसी स्थिति में ले जाया जाएगा जहां यह उस समय था जब अंग्रेज भारत पर शासन करते थे और जिस शासन के विरुद्ध हमारे नेताओं ने स्वतंत्रता, गरिमा और मूल अधिकारों को स्थापित करने के लिए लड़ाई लड़ी थी। इस दृष्टिकोण से मेरा यह मत है कि अनुच्छेद 13 (2) में केवल ऐसी विधि पर ही रोक लगाई गई है जो मामूली विधायी अभिकरण द्वारा बनाई गई है और जो अनुच्छेद 368 के अधीन संशोधन नहीं है। संसद् अनुच्छेद 368 के अधीन अनुच्छेद 13 को और मूल अधिकारों को संशोधित कर सकती है और यद्यपि अनुच्छेद 368 के अधीन संशोधन की शक्ति व्यापक है, वह इतनी व्यापक नहीं है कि उससे मूल अधिकार पूरी तौर पर निराकृत कर दिए जाएं या जिससे मूल अधिकार इस प्रकार निराकृत या प्रभावहीन या नष्ट कर दिए जाएं कि ऐसा कार्य मूल अधिकारों में से किसी अधिकार के या संविधान के बुनियादी ढांचे के अन्य अत्यावश्यक तत्वों में से किसी के निराकृत करने और संविधान के मूल तत्वों को नष्ट करने के बराबर हो। इन परिसीमाओं के अन्तर्गत संसद् प्रत्येक अनुच्छेद को संशोधित कर सकती है। अनुच्छेद 368 में संशोधन की शक्ति के विस्तार के सम्बन्ध में इस दृष्टिकोण के कारण मैं यह अभिनिर्धारित करता

हूं कि चौबीसवां संशोधन विधिमान्य है क्योंकि उसके अधीन संशोधन की वही शक्ति है जो संशोधन के पहले थी।

पच्चीसवां संशोधन जैसा कि विधिक उद्देश्यों और कारणों से ज्ञात होता है मुख्य रूप से आर० सी० कूपर बनाम भारत संघ (1) (जिसे इसमें आगे बैंकों के राष्ट्रीयकरण वाला मामला कहा गया है) वाले मामले में दिए गए विनिश्चय से उत्पन्न कठिनाइयों को दूर करने के उद्देश्य से अधिनियमित किया गया था। इस न्यायालय के पूर्ववर्ती विनिश्चय जो पश्चिमी बंगाल राज्य बनाम श्रीमती बेला बनर्जी(2) वाले मामले से जिसके कारण संविधान (चतुर्थ संशोधन) अधिनियम, 1955 अधिनियमित किया गया था, आरम्भ होते हैं और पी० वजरवेलु मुदालियर बनाम विशेष उप कलक्टर, मद्रास और एक अन्य (3) भारत संघ बनाम मेटल कॉरपोरेशन ऑफ-इण्डिया लिमिटेड और एक अन्य (4) गुजरात राज्य बनाम शान्तीलाल मंगलदास और कुछ अन्य (5), की मेरे विद्वान् भ्राता न्यायाधिपति हेगड़े ने अपने निर्णय में, जो अभी हाल ही में सुनाया गया है, परीक्षा की है। प्रत्यर्थियों द्वारा जो दलीलें दी गई हैं उनके प्रति मैं निर्देश करना या उन विनिश्चयों के निर्णयाधार को फिर से वर्णित करना जरूरी नहीं समझता हूं।

ऊपर वर्णित संशोधन की धारा 2 द्वारा अधिनियमित अनुच्छेद 31 के खंड (2) में संशोधन से यह मालूम होता है कि (1) 'प्रतिकर' शब्द के स्थान पर 'राशि' शब्द रखा गया है और (2) 'अथवा ऐसी पूरी राशि या उसका कोई भाग नकद न दिया जाकर अन्यथा दिया जाना है' शब्द जोड़े गए हैं। संशोधन का प्रभाव यह है कि अब विधि द्वारा मूल्य में समतुल्य या अर्जित की गई सम्पत्ति के मूल्य का उचित समतुल्य दिए जाने के बाबत उपबंध करने की जरूरत नहीं है और इसलिए पूरी राशि या उसका कोई भाग नकद की बजाए अन्यथा संदत्त किया जा सकता है। अब यह प्रश्न उद्भूत होता है कि यदि 'राशि' शब्द का, जिसकी कोई विधिक विचारधारा नहीं है और जैसा कि संशोधित खंड से उपदर्शित होता है, अर्थ केवल नकद है, जो देश की मुद्रा में होगा, क्या चालू सिक्के की निम्नतम राशि नियत की जा सकती है और यदि नियत की जाती है तो क्या वह अर्जित सम्पत्ति के एवज में किए गए संदाय की कोटि की होगी।

संविधान (चतुर्थ संशोधन) अधिनियम से अब तक इस न्यायालय ने लगातार यह अभिनिर्धारित किया है कि किसी नागरिक की छीन ली गई सम्पत्ति के एवज में नागरिक को जो कुछ दिया जाता है, यदि वह काल्पनिक या मनमाना है या जिसे प्रतिकर नहीं माना जा सकता और जिसका अर्जित की गई सम्पत्ति से कोई युक्तियुक्त संबंध ज्ञात नहीं होता है, न्यायालय उस पर विचार कर सकता है कि क्या यह अर्जन की विषयवस्तु से सुसंगत है। 'प्रतिकर' शब्द के स्थान पर 'राशि' शब्द को प्रतिस्थापित करने मात्र से केवल संशोधन करके किसी भी प्रकार से इस स्थिति को प्रभावित नहीं किया जा सकता। अतः यदि राशि

(1) (1970) 3 एस० सी० आर० 530.

(2) (1954) एस० सी० आर० 558.

(3) (1965) 1 एस० सी० आर० 614.

(4) (1967) 1 एस० सी० आर० 255.

(5) (1969) 3 एस० सी० आर० 341=[1969] 3 उम० नि० प० 753.

अवास्तविक या मनमानी है और वह ऐसी है कि जिससे किसी भी युक्तियुक्त व्यक्ति की अन्तरात्मा को झटका लगता है और जिसका अर्जित सम्पत्ति के मूल्य से कोई युक्तियुक्त संबंध नहीं है, तब न्यायालय उसकी परीक्षा करने से निवारित नहीं है।

यह दलील दी गई कि संसद् या विधानमंडल या तो राशि अवधारित करने के लिए किन्हीं सिद्धान्तों का वर्णन किए बिना राशि नियत कर सकता है या राशि अवधारित करने के लिए सिद्धान्त वर्णित कर सकता है। प्रत्यर्थियों ने यह दलील दी है कि पूर्ववर्ती दशा में न्यायालय को इस बात की परीक्षा करने का अधिकार नहीं होगा कि किन सिद्धान्तों के आधार पर राशि नियत की गई है। यदि विधानमंडल अर्जन या अधिग्रहण के लिए विधि में केवल राशि वर्णित करता है तो वह मनमानी राशि हो सकती है या अर्जित या अधिगृहीत सम्पत्ति के मूल्य से उसका कोई संबंध या सुसंगती हो सकती है। पूर्ववर्ती बात नहीं हो सकती क्योंकि यह उपबंध किया गया है कि अर्जन ऐसी राशि के लिए है जो नियत की जाए। यदि वह नियत की जाती है और जैसा कि उस शब्द से ज्ञात होता है, वह किसी सिद्धान्त या मानदंड के आधार पर ही नियत की जानी चाहिए अन्यथा राशि नियत करने का कोई प्रश्न ही उद्भूत नहीं होगा। वह मनमाने तौर पर राशि वर्णित करना मात्र होगा। महाराष्ट्र के महाधिवक्ता ने यह बात स्पष्ट रूप से स्वीकार कर ली है कि यदि सिद्धान्त नियत कर दिए जाते हैं तो उनके अधीन अवधारित राशि के संबंध में न्यायायल में चुनौती दी जा सकती है। किन्तु यदि बिना किन्हीं सिद्धान्तों के वर्णन किए राशि नियत कर दी जाती है तो इसके संबंध में चुनौती नहीं दी जा सकती और इस कारण से विधानमंडल के सदस्यों को भी चाहे वे विरोधी दलों के हों या शासक दल के हों, यह बताने की आवश्यकता नहीं है कि किस आधार पर या किन सिद्धान्तों पर राशि नियत की गई है क्योंकि यदि यह बात प्रकट की जाती है तो न्यायालय उस आधार या उन सिद्धान्तों की परीक्षा करेंगे। किन्तु इसे किस प्रकार टाला जा सकता है क्योंकि यदि सिद्धान्त नियत कर दिए जाते हैं तो उनकी सुसंगती के संबंध में विचार किया जा सकता है जैसा कि इस न्यायालय का हमेशा ही मत रहा है और फिर भी यह कहा जाता है कि यदि किन्हीं सिद्धान्तों के प्रति निर्देश किए बिना और मनमाने तौर पर राशि नियत की जाती है तो न्यायालय उसकी परीक्षा नहीं कर सकता। इस दृष्टिकोण का कोई माकूल या तर्कसंगत आधार नहीं है। विधानमंडल ऐसे मामलों में भी जहां वह किसी सम्पत्ति के अर्जन या अधिग्रहण के लिए राशि नियत करता है, यह अनुमान किया जाना चाहिए कि उसने वह राशि किसी आधार पर नियत की है या कोई मानदंड लागू किया है या इस प्रकार नियत राशि को अवधारित करने के सिद्धान्त निश्चित किए हैं और इसलिए जहां किसी विधि को मनमानेपन या अवास्तविकता या विसंगत सिद्धान्तों पर आधारित होने के कारण या अन्य किसी ऐसे कारण पर जिसे ऐसा स्वामी चुनौती दे सके जिसकी सम्पत्ति छीन ली गई हो, चुनौती दी जाती है वहां राज्य को इस चुनौती का सामना करना होगा और न्यायालय को इन प्रश्नों पर विचार करना होगा। यह बात संदाय की रीति के सम्बन्ध में भी लागू होगी। जब एक बार न्यायालय का समाधान कर दिया जाता है कि इस आधार पर चुनौती दिया जाना कि राशि या उसके संदाय की रीति न तो मनमानी है, और न ही अवास्तविक और न ही जिन सिद्धान्तों के आधार पर वह नियत की गई है, उनका अर्जित की गई सम्पत्ति के मूल्य से युक्तियुक्त

सम्बन्ध है, न्यायालय ऐसे सिद्धान्तों के आधार पर इस प्रकार नियत राशि की पर्याप्तता के प्रश्न पर विचार नहीं कर सकता ।

खंड (2ख) के कारण अनुच्छेद 19(1) का उपखंड (च) अनुच्छेद 31 के उपखंड (2) को लागू नहीं होता । बैंक राष्ट्रीयकरण वाले मामले ([1]) में 10 के मुकाबले 1 के बहुमत से इस न्यायालय ने ए० के० गोपालन वाले मामले ([2]) से अब तक के सभी मामलों का विस्तारपूर्वक पुनरीक्षण किया और यह अभिनिर्धारित किया कि "यदि अर्जन लोक प्रयोजन के लिए है तो जब तक अन्यथा साबित न कर दिया जाए निर्बन्धन की सारभूत युक्तियुक्तता का' जिसके अन्तर्गत वंचित किया जाना भी आता है, अनुमान किया जाएगा । किन्तु प्रक्रिया सम्बन्धी उपबंधों की युक्तियुक्तता के सम्बन्ध में जांच अपवर्जित नहीं की जाएगी । उदाहरण के लिए यदि अनिवार्य रूप से अर्जित की गई सम्पत्ति के लिए सम्पत्ति के स्वामी की सुनवाई किए बिना किसी अधिनियम के अधीन कोई प्राधिकरण प्रतिकर अवधारित करने के लिए प्राधिकृत कर दिया जाता है तो अधिनियम अनुच्छेद 19 (1) (च) के अधीन अभिखण्डित किए जाने के दायित्वाधीन होगा ।" (पृष्ठ 577) ।

इस प्रकार यह ज्ञात होता है कि जहां अर्जन किसी लोक प्रयोजन के लिए होता है, उस दशा में खंड (2ख) द्वारा जो कुछ अपवर्जित किया जाना वांछित है, वह अनुच्छेद 19(1)(च)को लागू न होने वाला बनाकर प्रक्रिया सम्बन्धी उपबंधों की युक्तियुक्तता है । इस संशोधन के होते हुए भी यह स्पष्ट है कि ऐसे स्वामी को जिसकी सम्पत्ति छीन ली गई हो, इस बात के मूल अधिकार बने रहते हैं कि उसकी सम्पत्ति विधि के प्राधिकार के बिना और लोक प्रयोजन के सिवाय अर्जित नहीं की जाएगी । विद्वान् महासॉलिसिटर ने ये बातें स्वीकार की हैं । इस प्रश्न पर न्यायालय में चुनौती दी जा सकती है, कि क्या अर्जन लोक प्रयोजन के लिए किया गया है । केवल राशि की पर्याप्तता पर आक्षेप नहीं किया जा सकता यदि ऐसी स्थिति है तो ऐसा स्वामी जिसकी सम्पत्ति छीन ली गई है, यह कैसे साबित करेगा कि अर्जन लोक प्रयोजन के लिए नहीं है जब तक कि विधि के अधीन प्रक्रिया सम्बन्धी कुछ अपेक्षाओं का पालन किया जाना अपेक्षित न हो । एक सूचना तामील करनी होगी और उसे अर्जन के सम्बन्ध में प्रतिवाद, करने के लिए अवसर देना होगा । खंड (2ख) में उपबंधित है कि "अनुच्छेद 19 के खंड (1) के उपखंड(च)की कोई बात खंड किसी ऐसी विधि पर प्रभाव नहीं डालेगी जो खंड (2) में निर्दिष्ट है" । क्या इसका यह अर्थ है कि अनुच्छेद 19 (1)(च) के अधीन प्रक्रिया सम्बन्धी स्वरूप के युक्तियुक्त निर्बन्धन सम्पत्ति के अर्जन या अधिग्रहण की किसी विधि के विरुद्ध उपलभ्य होगा, जैसा कि बैंक राष्ट्रीयकरण वाले मामले ([1]) में अभिनिर्धारित किया गया है, निराकृत या नष्ट कर दिए गए हैं ? इस प्रश्न का उत्तर इस बात पर निर्भर रहेगा कि "प्रभाव डालना" (अफेक्ट) पद को क्या अर्थ दिया जाए । दो प्रकार से अर्थान्वयन किया जाना सम्भव है । एक यह कि अनुच्छेद 31 ([2]) के अधीन बनाई गई अर्जन की किसी विधि के अधीन ऐसे स्वामी को जिसकी सम्पत्ति छीन ली गई हो, अनुच्छेद 19(1)(च)बिल्कुल भी उपलभ्य नहीं होगा या इसे दूसरी प्रकार से इस प्रकार कहा जा सकता है कि किसी सम्पत्ति के अर्जन या अधिग्रहण के लिए अनुच्छेद 31(2) के अधीन

([1]) (1970) 3 एस० सी० आर० 530.

([2]) (1967) 2 एस० सी० आर० 762.

बनाई गई कोई विधि अनुच्छेद 19(1)(च) को निराकृत करती है। दूसरी बात यह है कि खण्ड(2ख) का आशय इस बात का उपबन्ध करना था कि अर्जन या अधिग्रहण की विधि इस आधार पर शून्य नहीं होगी कि उससे अनुच्छेद 19(1) (च) के अधीन अधिकार न्यून या प्रभावित होते हैं। इन दो अर्थान्वयनों में से किसी को भी चुनते समय उस अर्थान्वयन को महत्त्व दिया जाना चाहिए जिसके परिणामस्वरूप संशोधन अविधिमान्य और शून्य अभिनिर्धारित न किया जा सके। इस दृष्टिकोण से दूसरा अर्थान्वयन संशोधन के अधिक अनुकूल है क्योंकि संशोधन में जिस बात का उपबन्ध किया गया है, वह यह है कि अनुच्छेद 19 (1)(च) ऐसी किसी विधि को प्रभावित नहीं करेगा और इससे यह विवक्षा की जाती है कि ऐसी किसी विधि के सम्बन्ध में अनुच्छेद 19(1)(च)के विरुद्ध वर्जन थोड़े या आंशिक अतिक्रमण से कुछ अन्तर के साथ पूर्ण प्रतिषेध या लागू न किए जाने तक हो सकता है। किन्तु चूंकि किसी संशोधन द्वारा कोई मूल अधिकार पूर्ण रूप से निराकृत नहीं किया जा सकता है, अतः इसे "लागू किए जाने में पृथक् करने" के सिद्धान्त को अपनाकर पढ़ा जा सकता है और तदनुसार खंड (2ख) के सम्बन्ध में यह अभिनिर्धारित किया जाना चाहिए कि वह अनुच्छेद 19 (1) (च) के अधीन न्यून करने तक ही निर्बन्धित है जो निराकृत करने, नष्ट करने या विकृत करने से सुभिन्न है। जैसा मैंने पहले कहा है अनुच्छेद 31 (2) के अधीन अधिकारों के प्रभावी ढंग से प्रयुक्त किए जाने के लिए अर्जन या अधिग्रहण से संम्बन्धित विधि में युक्तियुक्त प्रक्रिया होनी चाहिए। यह प्रक्रिया युक्तियुक्त सूचना के लिए और सामग्री पेश करने के लिए सुनवाई का अवसर देने के लिए हो सकती है और अन्य साक्ष्य यह बात साबित करने के लिए जरूरी हो सकता है कि कोई विशिष्ट अर्जन लोक प्रयोजन के लिए नहीं है। प्रक्रिया सम्पत्ति का मूल्य और अन्य सामग्री साबित करने के लिए हो सकती है इसमें राशि नियत करने के लिए अपनाया गया कोई विशिष्ट सिद्धान्त अन्तर्वलित हो सकता है या वह यह दर्शाने के लिए हो सकती है कि जो कुछ संदत्त किया जा रहा है वह अवास्तविक मनमाना आदि है।

इसके अलावा खंड (2ख) में ऐसी कोई बात नहीं है जिससे नैसर्गिक न्याय के सिद्धान्तों पर प्रतिषेध लगता हो। नैसर्गिक न्याय के सिद्धान्त हमारी विधि के एक भाग हैं और विधि का शासन उनमें सर्वोपरि है और ऐसी कोई बात नहीं है कि ये सिद्धान्त उस दशा में लागू न हों जब किसी विधि द्वारा किसी व्यक्ति की स्वतंत्रता या उसकी सम्पत्ति प्रभावित होती है। मुझे उस संशोधन में कोई कुटिल उद्देश्य नहीं जान पड़ता है जिसके द्वारा हमारे देश में विधि के शासन को निराकृत करने या नागरिकों को 'दूसरे पक्ष को भी सुनो' *(audi alteram Partem)* सूत्र के फायदे से वंचित करने की विधानमंडल से अपेक्षा की गई हो कोई भी व्यक्ति बिना सुनवाई के दोषसिद्ध नहीं किया जाएगा, यह नैसर्गिक न्याय का एक नियम है जिसे हमारे प्राचीन इतिहास में भी बहुत अधिक मान्यता प्राप्त रही है, और यह बात कूपर बनाम वाड्सवर्थ बोर्ड ऑफ वर्क्स (1) वाले मामले में न्या० बाइलस ने निम्नलिखित सुन्दर सूत्र में अभिव्यक्त की है "देवता और मनुष्य दोनों की विधियों में पक्षकार को अपनी प्रतिरक्षा करने का, यदि वह कोई प्रतिरक्षा करना चाहे, अवसर दिया जाता है"।

(1) 14 सी० बी० (एन० एस०) 180.

एक अन्य ऐसा पहलू भी है जिस पर पिटीशनर के विद्वान् अधिवक्ता ने जोर दिया है और यदि संशोधन को कायम रखा जाता है, अर्थात् यह कि यदि अब नागरिकों की सम्पत्ति के अधिकार के अधिहरण (कॉन्फिस्केशन) सम्बन्धी राज्य के अधिकार में परिवर्तित कर दिया जाता है, या यह कि यदि भूमि अर्जन अधिनियम के अधीन तथा उसी प्रकार की अन्य विधियों के अधीन किया गया अर्जन, निजी-क्षेत्र में की परिसीमित कम्पनियों के फायदे के लिए भी किया जा सकता है, और यह कि यदि अनुच्छेद 25 से लेकर 30 द्वारा प्रत्याभूत धार्मिक स्वतंत्रताओं को धार्मिक और पूर्त प्रयोजनों के लिए धृत सम्पत्तियां छीन कर वस्तुतः नष्टप्राय किया जा सकता है, तो उस पहलू के गम्भीर परिणाम हो सकते हैं। यदि विधि के अधीन संसद् उन बातों में से ऐसी कोई बात कर सकती है, जिनके प्रति निर्देश किया गया है, तो यह न्यायालय इस प्रकार से बनाई गई विधि के परिणामों को होने से रोक नहीं सकता। मैंने उस बात की व्याख्या की है जो कि की जा सकती है। अनुच्छेद 31 के खण्ड 2 के अधीन अर्जन के लिए बनाई गई विधि को यह शर्त पूरी करनी होती है कि उसे लोक प्रयोजन के लिए ही बनाया जा रहा है। इस प्रश्न को कि क्या प्राइवेट व्यक्ति या कम्पनी के लिए किया गया अर्जन लोक प्रयोजन के लिए है, चुनौती दी जा सकती है और न्यायालय उचित रूप से वाद लाए जाने पर इस बात को अवधारित कर सकते हैं। जहां तक कि उन सिद्धांतों का सम्बन्ध है जो कि अर्जन के लिए अदा की जाने वाली राशि का अवधारण करने के लिए बारदोली की भूमियों के अर्जन सम्बन्धी विधेयक में लागू होंगे, और जिस बात को संघ के विद्वान् महासॉलिसिटर और महाराष्ट्र के महाधिवक्ता दोनों ने ही स्वीकार किया है, तो किसी भी स्थिति में वह अधिहरण का मामला नहीं होगा, क्योंकि उसके स्वामी को उन वर्षों के लिए, जिनके दौरान वह सम्पत्ति उसके पास थी, हुई ब्याज की हानि सहित, किसी भी स्थिति में उसके द्वारा अदा की गई राशि मिलेगी। यह दलील भी कि धार्मिक स्वतंत्रताएं नष्ट हो जाएंगी, कायम नहीं रखी जा सकती, क्योंकि इस न्यायालय ने खाजामियां वक्फ एस्टेट्स बनाम मद्रास राज्य([1]) वाले मामले में पहले ही यह अभिनिर्धारित कर दिया है कि संविधान के अनुच्छेद 26(ग) और (घ) में यह उपबंधित है कि धार्मिक सम्प्रदायों को सम्पत्ति के स्वामित्व और उसके अर्जन का तथा ऐसी सम्पत्ति को विधि अनुसार प्रशासन करने का अधिकार होगा। किन्तु उससे यह अर्थ नहीं निकलता कि जो सम्पत्तियां, उनके स्वामित्वाधीन हैं, उन्हें राज्य अर्जित नहीं कर सकता। जो दृष्टिकोण मैंने अपनाया है और जो कारण मैंने ऊपर बताए हैं, उनके आधार पर मैं पच्चीसवें संशोधन की धारा 2 को विधिमान्य अभिनिर्धारित करता हूं।

पच्चीसवें संशोधन की धारा 3 ने मेरे समक्ष काफी कठिनाई उत्पन्न कर दी है, क्योंकि मैंने एक ओर तो इस संशोधन का उद्देश्य समुदाय के व्यापक हितों में राज्य की नीति के निदेशक सिद्धांतों के अनुच्छेद 39 (ख) और (ग) को प्रभावी बनाना है और दूसरी ओर, इसमें अन्तर्निहित जो मूल धारणा है, वह यह है कि यह बात अनुच्छेद 14, 19, और 31 द्वारा प्रदत्त अधिकारों में से किसी भी अधिकार को छीने या न्यून किए बिना नहीं की जा सकती और यह कि जहां ऐसी विधि में यह घोषणा मौजूद हो कि वह उपर्युक्त नीति को प्रभावी बनाने के लिए है, वहां उस विधि को किसी भी न्यायालय में इस आधार पर चुनौती नहीं दी जा सकती कि वह ऐसी नीति को प्रभावी नहीं बनाती है। यदि कोई

([1]) (1971) 2 एस० सी० आर० 790 [1971] 1 उम० नि० प० 311.

संशोधन अनुच्छेद 368 में विहित रूप और रीति के अनुसार किया गया है और यह संशोधन शक्ति की परिधि के भीतर है, तो प्रभावपूर्ण स्पष्ट तथा अस्पष्ट प्रतिपादन के कारण अनुच्छेद 368 के अधीन किया गया कोई भी संशोधन अविधिमान्य अभिनिर्धारित नहीं किया जा सकता, किन्तु यदि बहुत बारीकी से छानबीन करने पर, कठोर निष्कर्ष के परिणामस्वरूप कोई भिन्न निष्कर्ष निकलता है, तो उसे इसी प्रकार से अभिनिर्धारित करना होगा। अनुच्छेद 31ग इस प्रकार है—

> "अनुच्छेद 13 में किसी बात के होते हुए भी, कोई विधि, जो अनुच्छेद 39 के खण्ड (ख) या खण्ड (ग) में उल्लिखित तत्वों को सुनिश्चित करने के लिए राज्य की नीति को प्रभावी करने वाली हो, इस आधार पर शून्य न समझी जाएगी कि वह अनुच्छेद 14, अनुच्छेद 19 या अनुच्छेद 31 द्वारा प्रदत्त अधिकारों में से किसी से असंगत है; अथवा उसे छीनती या न्यून करती है; और जिस विधि में यह घोषणा हो कि वह ऐसी नीति को प्रभावी करने के लिए है, उस पर किसी न्यायालय में इस आधार पर आपत्ति नहीं की जाएगी कि वह ऐसी नीति को प्रभावी नहीं करती :
>
> परन्तु जहां ऐसी विधि किसी राज्य के विधानमण्डल द्वारा बनाई जाए वहां इस अनुच्छेद के उपबन्ध उसे तब तक लागू न होंगे जब तक कि ऐसी विधि को, राष्ट्रपति के विचार के लिए रक्षित किए जाने के पश्चात्, उसकी अनुमति न मिल गई हो।"

पिटीशनर के विद्वान् अधिवक्ता की दलील यह है कि अनुच्छेद 31ग संविधान के सात आवश्यक लक्षणों को नष्ट करता है, (i) वह संसद् तथा सभी राज्य विधानमण्डलों को संविधान को चुनौती देने तथा उसकी उपेक्षा करने के लिए अनियन्त्रित अधिकार देकर, संविधान की सर्वोच्चता को नष्ट करता है; (ii) वह मूल अधिकारों की अपेक्षा राज्य की नीति के निदेशक तत्वों को अधिक महत्व देता है और इस प्रकार से संविधान के आधारों में से एक आधार को नष्ट करता है; (iii) अनुच्छेद 368 में अधिकथित संशोधन की "रीति और रूप" को वस्तुतः निराकृत कर दिया गया है, क्यों कि जब मूल अधिकार प्रकटतः कानून-ग्रन्थ में अब भी मौजूद हैं और अनुच्छेद 368 असंशोधित बना हुआ है, तो मूल अधिकारों को ऐसी विधि द्वारा जिसे विधानमण्डल में साधारण बहुमत द्वारा पारित किया गया हो, प्रभावी रूप से निष्प्रभाव किया जा सकता है, (iv) वे दस मूल अधिकार जो कि लोकतंत्र, विधि के शासन और गणराज्य की गरिमा और एकता के अस्तित्व के लिए महत्वपूर्ण हैं, वस्तुतः निराकृत कर दिए गए हैं। उन दस मूल अधिकारों में से सात सम्पत्ति से संबंधित नहीं हैं; (v) न्यायालयों द्वारा मूल अधिकारों के पुनर्विलोकन तथा उनकी प्रवर्तनीयता को, जो कि संविधान का एक दूसरा आवश्यक लक्षण है, नष्ट कर दिया गया है, क्योंकि न्यायालय को इस प्रश्न पर विचार करने से कि क्या आक्षेपित विधि निदेशक तत्वों को प्रभावी बनाती है या नहीं, प्रतिषिद्ध कर दिया गया है; (vi) राज्य विधानमण्डलों को जो कि अन्यथा अनुच्छेद 368 को संशोधित नहीं कर सकते, इस बात की अनुज्ञा दी गई है कि वे मूल अधिकारों की सम्पूर्ण शृंखला को अतिष्ठित कर सकेंगे, जिसके परिणामस्वरूप किन्हीं राज्यों में मूल अधिकार अभिभावी हो सकते हैं और अन्य राज्यों में नहीं हो सकते, और यह बात राज्य सरकार के स्वरूप पर निर्भर होगी; और

(vii) अल्पमत को तथा उनके धार्मिक, सांस्कृतिक, भाषायी और शैक्षणिक अधिकारों को दी गई संरक्षा पर इस आधार पर गम्भीर प्रभाव पड़ सकता है कि इस विधि का आशय निदेशक तत्वों को प्रभावी बनाना है।

प्रत्यर्थी, केरल राज्य, की ओर से महाराष्ट्र के महाधिवक्ता ने यह दलील दी "कि अनुच्छेद 31ग गुजरात राज्य बनाम शान्तीलाल ([1])वाले मामले को बैंक राष्ट्रीयकरण वाले मामले ([2])में जिसमें वस्तुतः पूरे प्रतिकर के विचार को ही पुनर्जीवित कर दिया गया था, उलट दिए जाने के कारण और जहां विधि में अनुच्छेद 39 के खण्ड(ख) या(ग)में उपबंधित सिद्धांतों को सुनिश्चित करने के लिए उपबन्ध किया गया है, वहां उस विधि पर न्यायालयों द्वारा विचार किए जाने की बात को अपवर्जित करने की दृष्टि से पुनःस्थापित किया गया था।" उसके मतानुसार, अनुच्छेद 31ग के अधीन संविधान को परिवर्तित या संशोधित करने संबंधी शक्ति का कोई भी प्रत्यायोजन राज्य विधानमण्डल को नहीं किया गया है, किन्तु उसके द्वारा मात्र उन निर्बन्धनों को हटाया गया है जो कि संविधान के अनुच्छेद 14, 19 और 31 में दिए गए मूल अधिकारों द्वारा राज्य विधानमण्डलों और संसद् की विधायी शक्ति पर लगाए गए हैं; मूल अधिकार ऐसे अधिकार है जिन्हें भाग 3 द्वारा प्रदत्त किया गया है और जिनके उल्लंघन के परिणामस्वरूप कोई भी विधि शून्य हो जाएगी। अपनी दलील में, उसने जो बात कही है, वह उस निर्बन्धन को हटाने के बराबर है जोकि केवल तभी किया जा सकता है जबकि अनुच्छेद 13 को लागू न होने दिया जाए। इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कि क्या अनुच्छेद 31ग में यथा परिकल्पित ऐसी घोषणा जोकि उस विधि में मौजूद हो, और जिसके अधिकांश भाग का संबंध अनुच्छेद 39 के खण्ड (ख) या (ग) से न हो, ऐसी विधि की संरक्षा करेगी, यह दलील दी गई कि "अकादसी पधान बनाम उड़ीसा राज्य ([3]) वाले मामले में उच्चतम न्यायालय द्वारा अधिकथित सिद्धांत के आधार पर, जो उत्तर होना चाहिए, वह नकारात्मक होना चाहिए, और यह कि अनुच्छेद 31ग में निर्दिष्ट घोषणा का जो उचित अर्थान्वयन किया जाना चाहिए "वह यह है कि आक्षेपित विधि को यह पूर्व शर्त पूरी करनी होगी कि उसका उद्देश्य अनुच्छेद 39 के खण्ड (ख) या खण्ड (ग) में विनिर्दिष्ट सिद्धांतों को सुनिश्चित करना है, और यदि वह उन सिद्धांतों को प्रभावी नहीं बना सकती, तो अकादसी पधान वाले मामले([3])के आधार पर इस घोषणा से सम्बन्धित उपबन्ध का न्यायालय द्वारा यह अर्थान्वयन किया जाना न्यायोचित होगा कि उसके अन्तर्गत यह मामला नहीं आता है; जहां कि अनुच्छेद 39 (ख) और (ग) के उद्देश्यों को अग्रसर करने के लिए केवल थोड़ी ही धाराएं हैं, वहीं अन्य धाराएं उससे संबंधित नहीं हैं। उसके मतानुसार उस निष्कर्ष पर पहुंचने के लिए जो एक दूसरा ढंग है, वह यह है कि अनुच्छेद 31ग में यह अनुध्यात किया गया है कि विधि तथा अनुच्छेद 39 (ख) और (ग) में समाविष्ट राज्य की नीति के निदेशक तत्वों के बीच कोई न कोई संबंध, वह संबंध चाहे कितना ही दूर का क्यों न हो, होना चाहिए, और यह कि "यदि कोई भी युक्तियुक्त व्यक्ति इस निष्कर्ष पर नहीं पहुंच सकता कि अनुच्छेद 31ग और उसके अधीन की गई घोषणा द्वारा संरक्षण प्राप्त किसी भी अधिनियम के आक्षेपित उपबन्धों और अनुच्छेद 39 (ख) और (ग) का कोई भी संबंध

([1]) (1969)3 एस० सी० आर० 341=[1969] 3 उम० नि० प० 753.

([2]) (1970) 3 एस० सी० आर० 530.

([3]) (1963) सप्लीमेण्ट 2 एस० सी० आर० 691.

है, तो न्यायालय यह अभिनिर्धारित कर सकता है कि अधिनियम से यह दर्शित होता है कि विधानमण्डल ने अपनी शक्ति के संबंध में गलत उपधारणा के आधार पर कार्यवाही की है और यह कि इसी कारण न्यायालय विधानमण्डल की गलत उपधारणाओं को प्रभावी बनाने के लिए आबद्ध नहीं है।" प्रान्तीय परिवहन सेवा बनाम राज्य औद्योगिक न्यायालय (1) वाले मामले में न्या० दास गुप्ता ने जो मत व्यक्त किए थे, वे प्रोद्धृत किए गए। इस दलील का उत्तर देते हुए कि चूंकि अनुच्छेद 39 (ख) और (ग) में समाविष्ट सिद्धांत व्यापक रूप से अभिव्यक्त किए गए हैं और इस प्रकार से उनके तथा व्यवहारत: किसी भी प्रकार की विधि के बीच सदैव कोई न कोई संबंध होगा, महाराष्ट्र के महाधिवक्ता ने यह दलील पेश की कि अनुच्छेद 39(ख) और (ग) में समाविष्ट सिद्धांतों का उद्देश्य बहुत ही व्यापक रूप से अभिव्यक्त किया गया है, किन्तु उसे उन निदेशक तत्वों को कार्यान्वित करने वाली विधि पर कोई आपत्ति नहीं माना जा सकता क्योंकि लोकहित बहुत ही विस्तृत विचार है और अनेक अधिकार लोकहित के अध्यधीन होते हैं, "और किसी विधि की विधिमान्यता को कायम रखने के लिए उसे आपत्ति के रूप में नहीं माना जा सकता। जो उत्तर दिया गया है, वह अस्पष्ट और अनिश्चित प्रतीत होता है, क्योंकि पहले वाले भाग में जो बात स्वीकार की गई है, उसे बाद में वापस ले लिया गया है।

विद्वान् महासॉलिसिटर की पहली दलील यह है कि अनुच्छेद 31ग केवल विधि को संरक्षा प्रदान करता है, न कि मात्र कार्यपालक कार्यवाही को, दूसरी बात यह है कि उसमें निर्दिष्ट विधि या तो संसद् द्वारा या राज्य विधानमण्डल द्वारा बनाई जानी चाहिए और उसके अन्तर्गत अनुच्छेद 368 में विहित प्रक्रिया के अनुसार अध्यादेश, आदेश, नियम, विनियम, अधिसूचना, रूढ़ि, या प्रथा आती है, तीसरी बात यह है कि संविधान के निर्माताओं के, जिन्होंने अनुच्छेद, 31 के खण्ड (4) और (6) को अधिनियमित किया था, अनुच्छेद 31 (ख) और (ग) में उपवर्णित राज्य की नीति के निदेशक तत्वों को प्रभावशाली करने संबंधी आशय को इसलिए प्रभावी नहीं बनाया जा सका, क्योंकि ऐसी अनेक सांविधानिक अड़चनें थीं जिनके परिणामस्वरूप संविधान (प्रथम संशोधन) अधिनियम अधिनियमित किया गया था, जिसके द्वारा अनुच्छेद 31क और 31ख को जोड़ा गया था तथा जिसके अधीन भाग 3 के प्रवर्तन को पूर्णत: अपवर्जित कर दिया गया था। उसके मतानुसार, भाग 3 के सम्पूर्ण रूप से इस प्रकार से अपवर्जित करने का महत्व यह है कि उसके परिणामस्वरूप संविधान के भाग 4 और भाग 3 के उपबंधों के बीच असंदिग्ध रीति से वास्तविक संबंध स्थापित हो जाता है, अर्थात् यह कि व्यक्ति की स्वतंत्रता जोकि निश्चित रूप से मूल्यवान है, भाग 4 में परिकल्पित समाज के लक्ष्य को प्राप्त करने की दृष्टि से विधायी प्रयत्नों के रास्ते में ऐसी बाधा नहीं बनेगी जिसको कि पार न किया जा सके, और जबकि तथा जिस सीमा तक ऐसी समस्या उत्पन्न होगी, संशोधन करने की प्रक्रिया द्वारा उसे सुलझा लिया जाएगा। उसने बिहार राज्य बनाम महाराजाधिराज सर कामेश्वर सिंह और कुछ अन्य (2) वाले मामले में न्या० दास के मत को प्रोद्धृत करते हुए यह दलील दी कि "हमारे संविधान में एक ऐसा नवीन दृष्टिकोण छाया हुआ है जोकि समुदाय

(1) (1963) 3 एस० सी० आर० 650.
(2) (1952) एस० सी० आर० 889-997.

के सामान्य हितों को व्यक्ति के हित के ऊपर रखता है," और उसने न्या० हिदायतुल्ला द्वारा सज्जन सिंह वाले मामले (1) में दिए गए विसम्मत निर्णय में व्यक्त इन विचारों के प्रति भी निदेश किया और मत व्यक्त किया कि "समाज के अधिकार सर्वोच्च बनाए गए हैं और उन्हें व्यक्ति के अधिकारों के ऊपर रखा गया है।" यदि मैं ऐसा कहूं, तो इस विवाद में से विशिष्टतः न्या० हिदायतुल्ला के विचार से दो विचार उत्पन्न होते हैं, जिसमें इस तथ्य पर जोर देने के पश्चात कि अनुच्छेद 19 अपने खण्ड (2) से (6) द्वारा लोकहित में इन अधिकारों को न्यून करने की बात के लिए अनुज्ञात करता है, जिससे कि यह बात इंगित होती है कि भाग 3 स्थिर नहीं है और उसमें तब्दीली तथा प्रगति के लिए उपबन्ध किया गया है किन्तु साथ ही साथ उसमें वैयक्तिक अधिकारों का परिरक्षण भी किया गया है, ऊपर निर्दिष्ट मत को प्रोद्धृत करने के पश्चात् उसका मत यह था कि "यह बात वैसे ही है जैसे कि होनी चाहिए" (पृष्ठ 962)। भारत संघ का यह भी पक्ष कथन है कि केवल उन विधियों को अनुच्छेद 31ग की संरक्षा प्राप्त होगी, जिनमें उस विधि और अनुच्छेद 39(ख) और (ग) में जो कि अनुच्छेद 31ग को लागू करने के लिए पूर्व शर्त है, उपवर्णित उद्देश्यों के बीच संबंध मौजूद होगा, और इस प्रकार से यह प्रश्न न्याय्य (जस्टिशिएबल) है और घोषणा का एकमात्र प्रयोजन राजनीतिक प्रकृति के प्रश्नों का न्यायालयों के पुनर्विलोकन की परिधि से बाहर है। उदाहरण के तौर पर, विद्वान् महासॉलिसिटर ने ऐसी विधि के संबंध में उदाहरण दिया जिसमें विवाह विच्छेद के संबंध में उपबन्ध किया गया था और जिसको किसी घोषणा के द्वारा संरक्षा प्रदान नहीं की गई थी, और ऐसी विधि को, किन्हीं ऐसी अन्य विधियों के साथ जो कि अनुच्छेद 31ग के भीतर वस्तुतः आती है, सम्मिलित करने मात्र से किसी घोषणा द्वारा संरक्षा प्रदान की जा सकती है। अतः ऐसे मामले में न्यायालय इस बात के लिए सदैव सक्षम होगा कि वह "विचाराधीन विशिष्ट मामले में विधान की वास्तविक प्रकृति और स्वरूप—उसके उद्देश्य और उसमें चर्चित मुख्य बातों की—उसके लक्ष्य और उसके विस्तार की परीक्षा कर सकेगा। [(1882) 7 ए० सी० 836-840]"। इसके अलावा यह भी दलील दी गई कि यदि संविधान द्वारा प्रदत्त शक्तियों में से किसी शक्ति के अधीन स्पष्ट रूप से अधिनियमित विधान विशिष्टतः तथा तथ्यतः, अप्राधिकृत प्रयोजन को पूरा करता है, तो, जैसा कि अटर्नी जनरल बनाम क्वीन इन्श्योरेन्स कम्पनी वाले मामले (2) में मत व्यक्त किया गया था, न्यायालय उस आवरण को हटाने तथा कानून की वास्तविक प्रकृति के अनुसार विनिश्चित करने का हकदार होगा, और यह कि अनुच्छेद 14, 19 और 31 को छोड़कर, संविधान के शेष सुसंगत उपबन्ध लागू होंगे और न्यायालय अन्य अधिकारों के अतिलंघन सम्बन्धी चुनौती पर विचार करने का हकदार है तथा इस विभेद के दुर्गुण के विरुद्ध तीन रक्षोपाय हैं, अर्थात् (क) समुदाय और विधानमण्डल तथा प्रशासनिक की नैसर्गिक सद्भावना, (ख) अनुच्छेद 31ग का परन्तुक, जिसमें राष्ट्रपति की अनुमति प्राप्त करने की अपेक्षा की गई है, (ग) न्यायालयों के उस सीमा तक, जिस तक अपवर्जित नहीं किया गया है, पुनर्विलोकन की शक्ति, और इनमें से 'प्रथम रक्षोपाय अन्ततः वास्तविक रक्षोपाय है," और "नागरिकों के आचरण के स्थान पर कोई भी बात वास्तविक रूप से प्रतिस्थापित नहीं की

(1) (1965) 1 एस० सी० आर० 933.
(2) (1878) 3 अपील केसिस 1090.

जा सकती।" जिस बात की जांच करने के लिए न्यायालयों को अधिकार प्राप्त है, वह यह है कि क्या अनुच्छेद 15, 16, 286 और भाग 13 (अनुच्छेद 301 303, और 304) के उपबन्धों का कोई अतिक्रमण हुआ है। अनुच्छेद 15, 16 आदि को अपवर्जित किए बिना, अनुच्छेद 14 का अपवर्जन विधानमण्डलों तथा संसद् को इस बात के लिए समर्थ बनाता है कि वे निदेशक तत्त्वों में उपवर्णित उद्देश्यों की रोशनी में समानता के नवीन सिद्धांतों का, विभेद के बिना, प्रतिपादन करें। अनुच्छेद 19 का अपवर्जन इस आधार पर किया गया है कि जिन विधियों द्वारा भाग 4 में उपवर्णित निदेशक तत्त्वों को प्रभावी किया जाता है, उनमें वैयक्तिक स्वतंत्रता पर युक्तियुक्त निर्बन्धन अवश्य होना चाहिए और अनुच्छेद 31 (2) का अपवर्जन, अर्जन के मामले में सामाजिक न्याय के विचारों का सूत्रपात करना है।

जहां तक कि इस प्रश्न का सम्बन्ध है कि क्या अनुच्छेद 31ग संशोधन करने की शक्ति का राज्य विधानमण्डलों को या संसद् को उसकी मामूली विधायी हैसियत में प्रत्यायोजित करने की कोटि में आता है, जहां तक महासॉलिसिटर का यह निवेदन है कि किसी वर्ग के विधान या विधायी क्षेत्र की तुलना अनेक प्रकार से की जा सकती है या उसे प्रवर्गीकृत किया जा सकता है. उदाहरण के लिए यह बात उस कालावधि के प्रति, जिसके भीतर वह विधि पारित की गई हो, [अनुच्छेद 31 (4) और अनुच्छेद 31 (6)] या विधान के विषय के प्रति [अनुच्छेद 21(2) और अनुच्छेद 31क], निर्देश करके की जा सकती है, या पिछड़े हुए किन्हीं वर्ग के नागरिकों की उन्नति के लिए विधान के उद्देश्य या प्रयोजन के लिए [अनुच्छेद 15 (4)], स्वास्थ्य की उन्नति के लिए अनुच्छेद [31 (5)(ii)] और बलों आदि में उचित अनुशासन के लिए (अनुच्छेद 33) की जा सकती है। इसी प्रकार से अनुच्छेद 31ग विधान बनाने के उद्देश्य के संदर्भ में विधायी क्षेत्र निश्चित करता है और इस संबंध में वह अनुच्छेद 15 (4) 31ख (ii) और 33 के समरूप है। इन अनुच्छेदों में से प्रत्येक अनुच्छेद सामाजिक उद्देश्य प्राप्त करने की दृष्टि से विधायी क्षेत्र का निर्माण करता है और इस प्रयोजन के लिए वह भाग 3 में दिए गए किन्हीं मूल अधिकारों के प्रवर्तन में तब्दीली करता है। यह मानते हुए कि अनुच्छेद 31ग में संशोधन करने की शक्ति को प्रत्यायोजित करने का तत्त्व मौजूद है उसकी दलील यह है कि अनुच्छेद 368 का अतिक्रमण नहीं किया गया है और नॉन आब्सटैन्टी क्लाज अर्थात् ऐसे खण्ड के अभाव में जिसमें अन्यत्र किसी बात के होते हुए भी, कोई दूसरी बात कही गई हो, या उसी प्रकार के किसी अन्य बात से कोई भी अन्तर नहीं पड़ सकता और चूंकि अनुच्छेद 31ग में अपने ही संशोधन की शक्ति निहित है, इसलिए उससे यह अर्थ निकलता है कि यदि संशोधन करने के तंत्र और प्रक्रिया के स्थान पर थोड़ी सी अन्य बात प्रतिस्थापित कर दी जाए, तो अनुच्छेद 31ग, अनुच्छेद 368 के आंशिक रूपान्तरण के रूप में प्रवृत्त होगा।

यह दलील दी गई है कि अनुच्छेद 31ग, अनुच्छेद 31क और 31ख में अपनाई गई विधायी युक्ति के समान है। अनुच्छेद 31क और 31ख को संविधान (प्रथम संशोधन) अधिनियम, 1950 द्वारा जोड़ा गया था, इन अनुच्छेदों में से प्रथम अनुच्छेद में यह घोषित किया गया था कि इस भाग (अर्थात् भाग 3) के पूर्वगामी उपबन्धों में किसी बात के होते

हुए भी, किसी सम्पदा के या उसमें किन्हीं अधिकारों के राज्य द्वारा अर्जन के लिए या किन्हीं ऐसे अधिकारों के निर्वापन या उनमें परिवर्तन के लिए उपबंध करने वाली विधि इस आधार पर शून्य न समझी जाएगी कि वह इस भाग, अर्थात् भाग 3 उपबन्धों में से किसी उपबंध द्वारा प्रदत्त अधिकारों में से किसी से असंगत है, अथवा उसे छीनती है या न्यून करती है। अनुच्छेद 31ख के निबन्धन भी उसी प्रकार के हैं और वह उन अधिनियमों को जो कि, नवम अनुसूची में विनिर्दिष्ट किए गए हैं, भाग 3 के उपबन्धों में से किसी भी उपबंध से पूर्ण संरक्षा प्रदान करता है।

जहां तक कि अनुच्छेद 31क का सम्बन्ध था, वहां तक उसने ऐसी विधि को प्राधिकृत किया था जो कि खण्ड (2) में यथा परिभाषित सम्पदा के अर्जन के लिए बनाई गई हो। प्रथम संशोधन द्वारा यथा पुरःस्थापित अनुच्छेद 31ख ने, भाग 3 में दिए गए अधिकारों के अतिलंघन के आधार पर, भूमि सम्बन्धी सुधारों के लिए अधिनियमित किए गए उन्हीं अधिनियमों को चुनौती दिए जाने से संरक्षा प्रदान किया था, जिन्हें इस बात की सावधानी-पूर्वक छानबीन करने के पश्चात् कि वे भूमि सम्बन्धी सुधारों से सम्बन्धित हैं, नवम अनुसूचि में जोड़ा गया था। जमींदारी उन्मूलन तथा भूमि सम्बन्धी सुधार स्वतंत्र भारत में विश्वास जागृत करने वाले अनुच्छेद हो गए थे और जिनके संबंध में या तो विधेयक उस समय लम्बित थे जब कि संविधान बनाया जा रहा था, या उन्हें संविधान के प्रारम्भ के पश्चात् विधि के रूप में अधिनियमित कर दिया गया था। अनुच्छेद 31 के संबंध में संविधान सभा में जो वाद-विवाद हुए थे, उनसे यह पता चलेगा कि उन पर लगभग एक वर्ष के लिए विचार करने की बात को स्थगित करने के पश्चात्, अंत में उन लोगों के, जो कि ऐसी अर्जनविधि के पक्ष में थे जिसमें पूर्ण प्रतिकर की अदायगी के लिए उपबंध किया गया हो, और उन लोगों के, जो कि यह चाहते थे कि अनुच्छेद 31 में के अधिकार भूमि संबंधी सुधारों को प्रभावी बनाने के लिए भूमि को लागू नहीं होनी चाहिए, बीच एक समझौता हुआ था। इस समझौते के परिणामस्वरूप खण्ड (4) और (6) को जोड़ा गया था जिनमें तदधीन बनाई गई विधियों को न्यायालय में चुनौती दिए जाने से संरक्षा प्रदान की गई थी; खण्ड (4) की दशा में, उन विधियों को संरक्षा प्रदान की गई थी जिनमें ऐसे भूमि सुधारों के सम्बन्ध में उपबन्ध किया गया था, जिनके बारे में संविधान के प्रारम्भ के समय किसी भी राज्य-विधानमण्डल में विधेयक लम्बित थे और जिन्हें राष्ट्रपति के विचार के लिए आरक्षित किया गया था, जिसने बाद में चल कर उनको अपनी अनुमति प्रदान की थी, और उन विधियों को भी संरक्षा प्रदान की गई थी जो कि संविधान के प्रारम्भ के पूर्व 18 महीने से अनधिक की कालावधि के दौरान पारित की गई थीं और ऐसे प्रारम्भ के पश्चात् तीन मास के भीतर राष्ट्रपति के प्रमाणपत्र के लिए उसके समक्ष प्रस्तुत की गई थीं। और राष्ट्रपति ने लोक अधिसूचना द्वारा उनके सम्बन्ध में इस प्रकार का प्रमाणपत्र जारी कर दिया था। यह बात सोची गई कि न्यायालयों की अधिकारिता उपर्युक्त प्रकार के विधान के सम्बन्ध में वर्जित होगी। किन्तु पटना उच्च न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया था कि अनुच्छेद 14 लागू होता है और जब कि इस न्यायालय में अपील लम्बित हो, तब भी संविधान (प्रथम संशोधन) अधिनियम, 1950 पारित किया गया था और अनुच्छेद 31क तथा अनुच्छेद 31ख को संविधान का संशोधन करके जोड़ा गया था। उस समय नवम

अनुसूची में केवल 13 अधिनियम जोड़े गए थे किन्तु जब कि अनन्तिम संसद् के किन्हीं सदस्यों ने प्रवर समिति द्वारा उस विधेयक की जांच किए जाने के पश्चात् अनेक अन्य अधिनियमों को जोड़ना चाहा, तो प्रधानमंत्री ने उनसे ऐसा न करने के लिए अनुरोध किया। उन्होंने यह कहा कि—

> "मैं माननीय सदस्यों से यह प्रार्थना करूंगा कि वे इस बात पर जोर न दें। हमारे लिए यह बहुत सन्तोष या प्रसन्नता की बात नहीं है कि हमने यह बड़ी लम्बी अनुसूची जोड़ी है।"

ये वाद-विवाद स्फूर्तिदायक थे, तथा उन्हें पढ़ना अत्यंत दिलचस्प है; उनके पढ़ने से मन पर यह प्रभाव पड़ता है कि जो बात की जा रही थी, वह वही थी जो की संविधान के निर्माता करना चाहते थे, किन्तु उस अनुच्छेद की भाषा में कोई कमी होने के कारण वे उस उद्देश्य को प्रभावी नहीं बना सके। प्रधानमंत्री ने यह कहा था—

> "यदि कोई ऐसी बात है जिसका हमने पिछली पीढ़ी से, एक दल के रूप में, वायदा किया था, तो वह भूमि सम्बन्धी सुधार तथा जमींदारी पद्धति को उन्मूलन की बात है।"
>
> श्री हुसैन इमाम (बिहार) :
>
> "प्रतिकर सहित।"
>
> श्री जवाहरलाल नेहरू :
>
> पर्याप्त और उचित प्रतिकर सहित, किन्तु बहुत अधिक नहीं।"
>
> श्री हुसैन इमाम :
>
> पर्याप्त शब्द बिल्कुल उचित है।"

विरोधी विचार का प्रतिनिधित्व करते हुए श्री श्यामाप्रसाद मुखर्जी ने उन खतरों की ओर संकेत किया जो कि इस संशोधन में अंतर्निहित थे; उन्होंने ऐसा इसलिए नहीं किया कि वे भूमि सम्बन्धी सुधारों के विरुद्ध थे, बल्कि इसलिए किया क्योंकि इसकी एक नजीर सृष्ट हो जाएगी। उन्होंने यह कहा कि : "संविधान में यह संशोधन करके आप यह कह रहे हैं कि जो भी विधान पारित किया जाता है, उसे विधि समझा जाना चाहिए। तो, आपको इन मूल अधिकारों की आवश्यकता ही क्या है ? आपसे यह किसने कहा था कि आप इन मूल अधिकारों को इसमें शामिल करें ? आप यह भी कह सकते थे कि संसद् सर्वोच्च है और संसद् समय-समय पर, जिस मामले में भी चाहे, कोई विधि पारित कर सकती है और वही ऐसी विधि होगी जो कि लोगों के लिए आबद्धकार होगी।" कुछ उदाहरण देकर, मैं केवल यह दर्शित करना चाहता हूं कि संशोधन का क्या उद्देश्य था और उसके सम्बन्ध में किस प्रकार के भय उन लोगों के मन में थे।

प्रथम संशोधन को शंकरी प्रसाद वाले मामले [1] में चुनौती दी गई थी किन्तु इस न्यायालय ने उसे विधिमान्य ठहराया था। जैसा कि हम पहले देख चुके हैं, जो प्रश्न था, वह यह था कि क्या अनुच्छेद 368 के उपबंधों के अनुसार मूल अधिकारों को संशोधित करने से अनुच्छेद 13 (2) के अधीन वर्जित किया गया है। यह अभिनिर्धारित किया गया कि इस प्रकार से वर्जित नहीं किया गया है, किन्तु उसके समक्ष कोई भी ऐसी दलील न तो पेश की गई और न ही उसके सम्बन्ध में कोई तर्क ही दिया गया कि अनुच्छेद 13(2) के अलावा

(1) (1952) एस० सी० आर० 89.

थी, संशोधन करने की शक्ति मूल अधिकारों के निराकरण को लागू नहीं होती। सज्जन सिंह वाले मामले ([1])में जो मुख्य मुद्दा था और जिस पर हमारे समक्ष दलील पेश की गई थी वह यह थी कि आक्षेपित संविधान (सप्तम संशोधन) अधिनियम इस कारण से अविधिमान्य है कि राष्ट्रपति के समक्ष उसे उसकी सम्मति के लिए उपस्थित करने के पूर्व अनुच्छेद 368 के परन्तुक द्वारा विहित प्रक्रिया का अनुसरण नहीं किया गया, यद्यपि वह अधिनियम ऐसा अधिनियम था जो कि उक्त परन्तुक की परिधि के भीतर आता था। किन्तु न्यायालय के समक्ष इस सम्बन्ध में कोई भी विवाद नहीं उठाया गया कि अनुच्छेद 368 के अधीन संसद् को इस बात के लिए सशक्त किया गया है कि वह, संविधान के भाग 3 में अन्तर्विष्ट मूल अधिकारों से सम्बन्धित उपबंधों सहित, संविधान के किसी भी उपबंध को संशोधित कर सकेगी। किन्तु न्या० हिदायतुल्ला और मधोलकर ने इस बात के सम्बन्ध में संदेह व्यक्त किया था कि क्या संसद् के लिए संविधान के भाग 3 में कोई भी संशोधन करना सक्षम होगा (पृष्ठ 961 और 968 देखिए)। इसके अलावा न्या० मधोलकर ने यह प्रश्न उठाया कि क्या संसद् उस सीमा तक जा सकती है जिस सीमा तक कि वह उस समय गई थी जबकि उसने प्रथम संशोधन अधिनियम और नवम् अनुसूची अधिनियमित की थी और अब उसने उसमें भूमि सम्बन्धी 44 विधियां जोड़ दी है ? या क्या संसद् ने 1950 में अनुच्छेद 31क अधिनियमित करके और अब सम्पदा की परिभाषा को संशोधित करके अपनी सीमाओं का उल्लंघन किया है ?(पृष्ठ 969)गोलक नाथ वाले मामले([2]) में भी हमारे समक्ष जो प्रश्न उठाया गया था, उसे विनिश्चायक रूप से विनिश्चित नहीं किया गया है। विधि की इस स्थिति को देखते हुए, यह कहना कि चूंकि अनुच्छेद 31ग, अनुच्छेद 31 क और 31ख के समरूप है और चूंकि बाद वाले अनुच्छेदों के बारे में शंकरी प्रसाद वाले मामले([3]) में यह अभिनिर्धारित किया गया था कि वे विधिमान्य हैं, इसलिए मूल अधिकारों को संशोधन द्वारा निराकृत किया जा सकता है, न्यायोचित नहीं होगा। यह मत व्यक्त किया जा सकता है कि सज्जन सिंह वाले मामले ([1]) और गोलक नाथ वाले मामले ([2]) में, जिन आधारों पर विचार किया गया था, उनमें से एक आधार यह था कि यदि संशोधन को अविधिमान्य माना जाएगा, तो लाखों आदमियों पर प्रभाव पड़ेगा और चूंकि बाद वाले मामले में बहुमत ने यह अभिनिर्धारित किया था कि संसद् अनुच्छेद 368 के अधीन इस प्रकार से संशोधन नहीं कर सकती थी जिससे कि मूल अधिकारों पर प्रभाव पड़े, इसलिए भविष्यलक्षी प्रभाव के सिद्धांत या उपमति के सिद्धांत (डाक्ट्रिन ऑफ प्रास्पेक्टिव ओवर रूलिंग या एक्वीसेंस) का सहारा लिया गया। किन्तु चूंकि संशोधन करने की शक्ति के विस्तार का विनिश्चायक प्रश्न आज तक गठित सबसे बड़ी न्यायपीठ के समक्ष इस मामले में उठाया गया था, और उसके सम्बन्ध में पूरी तरह से दलील पेश की गई थी, इसलिए इस पहलू पर पुनर्विचार किया जा सकता है। इस सम्बन्ध में मुख्य न्या० गजेन्द्रगडकर ने, पूर्वनिर्णय का अवलोकन करने के सिद्धांत (स्टेअर डेसिसी) पर विचार करते हुए, सज्जन सिंह वाले मामले ([1])में (पृष्ठ 947-948) पर यह मत व्यक्त किया था :

> "यह सच है कि संविधान हमारी शक्तियों पर कोई ऐसा निर्बन्धन अधिरोपित नहीं करता है जिससे कि हम अपने पहले वाले विनिश्चयों का पुनर्विलोकन न कर सकें या उनसे दूर न हट सकें और इस बात के सम्बन्ध में कोई भी संदेह नहीं किया

([1]) (1965) 1 एस० सी० आर० 933.
([2]) (1967 2) एस० सी० आर० 762.
([3]) (1952) एस० सी० आर० 89.

जा सकता कि ऐसे सांविधानिक मुद्दों के जिनका नागरिकों के मूल अधिकारों पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है, विनिश्चय से संबंधित मामलों में, हम लोक कल्याण के हित में अपने पहले वाले विनिश्चयों का पुनर्विलोकन करने के लिए तैयार रहेंगे। पूर्व निर्णयों का अवलोकन करने के सिद्धांत को इस संदर्भ में यथार्थ रूप से लागू नहीं किया जा सकता और इस स्थिति के सम्बन्ध में विवाद ही उठाया जा सकता है कि उक्त सिद्धान्त को साधारण जनता के कल्याण के विरुद्ध इस न्यायालय द्वारा दिए गए गलत विनिश्चयों को बनाए रखने की इजाजत नहीं दी जानी चाहिए। यदि ऐसा है, तो भी इस सामान्य सिद्धान्त को कि इस न्यायालय द्वारा दिए गए निर्णय अन्तिम होंगे, नजर-अंदाज नहीं किया जा सकता और जब तक कि महत्त्वपूर्ण तथा आवश्यक प्रकृति की बातों के कारण ऐसा करना आवश्यक न हो जाए, हमें पहले वाले विनिश्चयों के सही होने की बात पर संदेह करने की तथा उनसे दूर हटने की जल्दबाजी नहीं करनी चाहिए।"

मैंने यह पहले ही बता दिया है कि विद्वान् न्यायाधिपतियों में से दो न्यायाधिपतियों ने मूल अधिकारों को संशोधित करने की संसद् की शक्ति पर सन्देह प्रकट किया है और तब से यह प्रश्न ऐसा नहीं रहा कि है कि इसे या तो ऐसे संशोधनों को रोकने वाले अनुच्छेद 13(2) के आधार पर या हमारे समक्ष पेश किए अन्य आधारों पर चुनौती न दी गई हो। इन परिस्थितियों के अधीन यह कहना उचित नहीं है कि चूंकि इस न्यायालय ने अनुच्छेद 31क और 31ग की विधिमान्यता का समर्थन किया है, यद्यपि गोलक नाथ वाले मामले ([1])में ऐसा समीचीनता के आधार पर किया गया था। अनुच्छेद 31ग का भी उसी आधार पर समर्थन किया जाना चाहिए। लेकिन अनुच्छेद 33, अनुच्छेद 15(4) और अनुच्छेद 16(4) जैसे अन्य अनुच्छेदों की सादृश्यता को इस दलील के समर्थन में कि अनुच्छेद 31ग में ऐसी ही युक्ति अपनाई गई है, पेश करने का प्रयास किया गया है। मुझे ऐसा मालूम हुआ है कि विद्वान् महासॉलिसीटर ने जिन अनुच्छेदों की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है उनमें से किसी भी अनुच्छेद में किसी भी ऐसे अधिकार का, जिसे अनुच्छेद 31ग द्वारा प्रभावित करने का प्रयास किया गया है, पूर्णतया निराकरण नहीं हुआ है। उदाहरणार्थ अनुच्छेद 33 भाग 3 में के मूल अधिकारों को केवल सशस्त्र बलों अथवा लोक व्यवस्था बनाए रखने से सम्बन्धित बलों के अनुशासन तक ही निर्बन्धित या निराकृत करता है। यह अनुच्छेद न तो सेवा में भर्ती करने के लिए विभेद को और न ही सशस्त्र बलों के नागरिकों के ऐसे अन्य अधिकारों को लागू होता है जो उनके कर्त्तव्यों के उचित निर्वहन से तथा इन बलों के बीच अनुशासन को बनाए रखने से सम्बन्धित नहीं हैं। अनुच्छेद 15(4) का, जिसका उल्लेख विधान के उद्देश्य या प्रयोजन के आधार पर शक्ति देने वाले उदाहरण के रूप में किया गया था, अनुच्छेद 31ग के साथ कोई सादृश्य नहीं है। प्रथमतः अनुच्छेद 15 उस वर्गीकरण का, जो अनुच्छेद 14 के अधीन अनुज्ञेय होता है, उदाहरणार्थ, धर्म, मूल वंश, जाति, लिंग या जन्म-स्थान के आधार पर अपवाद है। अतः अनुच्छेद 15 में नागरिकों के सम्बन्ध में ऐसे वर्गीकरण का प्रतिषेध किया गया है और अनुच्छेद 16 में लोक नियोजन की दशा में 'उद्भव' (डिसेण्ट) शब्द को जोड़कर इसी प्रकार का उपबंध किया गया है। निर्बन्धन का ऐसे क्षेत्र तक सीमित विस्तार है जो वर्गीकरण में

([1]) (1967) 2 एस० सी० आर० 762.

व्यापक विविचता लाने की अनुज्ञा देता है। अनुच्छेद 15 का खण्ड (4) राज्य को सामाजिक और शिक्षात्मक दृष्टि से पिछड़े हुए किन्हीं नागरिक वर्गों की उन्नति के लिए या अनुसूचित जातियों और अनुसूचित आदिमजातियों के लिए उपबन्ध करने में समर्थ बनाने के लिए संविधान (प्रथम संशोधन) अधिनियम, 1950 द्वारा जोड़ा गया था। इसी प्रकार अनुच्छेद 16 का खण्ड (4) राज्य को पिछड़े हुए किसी नागरिक वर्ग के पक्ष में, जिनका प्रतिनिधित्व राज्य की राय में राज्याधीन सेवाओं में पर्याप्त नहीं है, नियुक्तियों या पदों के रक्षण के लिए उपबन्ध करने में समर्थ बनाता है। इन संशोधनों का प्रभाव इस आधार पर हितकर व्यवहार करने के लिए वर्गीकरण करने की अनुज्ञा देना है कि जिन व्यक्तियों का इस प्रकार हित किया गया है, वे अनुसूचित जातियां, अनुसूचित आदिमजातियां आदि हैं जो अन्यथा अनुच्छेद 14 के अधीन विधि के उद्देश्यों से अपने युक्तियुक्त सम्बन्ध की सीमा तक अनुज्ञेय होते यदि वे अनुच्छेद 15(1) और अनुच्छेद 16(2) द्वारा प्रतिषिद्ध न किए गए होते। इन उपबन्धों से किसी भी प्रकार से अनुच्छेद 14 का अधिकार निराकृत नहीं होता है और मेरा यह विचार है कि इन उपबन्धों और अनुच्छेद 31ग के बीच जो सादृश्य है वह संगत नहीं है।

अनुच्छेद 39(ख) और (ग) के अधीन निदेशक तत्व व्यापक और अनिश्चित हैं। उनका प्रभाव मानव क्रियाकलाप अर्थात् समाज के सम्पूर्ण क्षेत्र पर पड़ता है। राज्य को यह सुनिश्चित करने के लिए आदिष्ट किया गया है कि समुदाय की भौतिक सम्पत्ति का स्वामित्व और नियन्त्रण इस प्रकार बंटा हो कि जिससे सामूहिक हित का सर्वोत्तम रूप से साधन हो और यह कि आर्थिक व्यवस्था इस प्रकार चले कि जिससे धन और उत्पादन साधनों का सर्वसाधारण के लिए अहितकारी केन्द्रण न हो। ये निदेशक तत्व ऐसे ध्येय हैं जिन्हें शासक दल विभिन्न दार्शनिक विचारों, राजनैतिक विचार-धाराओं या आर्थिक सिद्धान्तों में से किसी का आश्रय लेकर विधायी कार्यवाही के माध्यम से कार्यान्वित कर सकता है। इन निदेशक तत्वों का कार्यान्वयन साधन है। ये सिद्धान्त और विचारधाराएं, चाहे वे राजनैतिक, आर्थिक या सामाजिक हों, युग-युग से और समय-समय पर उन सामाजिक स्थितियों के अनुसार, जो इतिहास की किसी विशिष्ट कालावधि के दौरान विद्यमान हों, बदलती रहती हैं और उनमें परिवर्तन होता रहता है। आज संसार में ऐसे देश हैं जिन्होंने भिन्न-भिन्न राजनैतिक पद्धतियां अपनाई हुई हैं, जो आर्थिक विचारधारा के ऐतिहासिक विकास तथा ऐसे दर्शन या विचारधारा के अनुसार हैं जिसे उस विशिष्ट समाज के सामूहिक हित के लिए सर्वोत्तम समझा जाता है। ऐसा कोई मानक मौजूद नहीं है, जो बात एक देश के लिए अच्छी है वह हो सकता है कि दूसरे देश के लिए उपयुक्त न हो। गतिमान तकनीकी उन्नति और इन विकासों और खोजों के शोषण से समाज में प्रचलित आर्थिक विचारधारा का संकेत मिलता है। अतः विभिन्न सिद्धान्त आदि का सम्बन्ध विकास तथा उन व्यवहारिक साधनों से है जो ध्येय को पूरा करने के लिए अपनाए जाते हैं। विकासशील देशों में जैसा कि हमारा देश है, जहां लाखों लोग जीवन निर्वाह के स्तर से बहुत नीचे हैं और जिनके पास जीवन की सामान्य आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए कोई साधन नहीं हैं, वहां इस प्रकार के समाज और जीवन की ऐसी विशेषता के, जिसे प्राप्त करना होता है, सम्बन्ध में और भी अधिक गम्भीर दार्शनिक प्रश्न उत्पन्न होता है। इसलिए राज्य का यह कर्तव्य है कि ध्येय की पूर्ति के लिए उपाय एवं साधन निकाले। जो सरकार किसी ऐसे विशिष्ट राजनैतिक

दर्शन या आर्थिक सिद्धान्त के साथ शक्ति में आती है जिनका मतदाताओं द्वारा समर्थन किया जाता है उसे नीति को ऐसी रीति में प्रभावित करना होता है जिसे वह उस ध्येय की पूर्ति के लिए सर्वोत्तम साधन समझे। इन ध्येयों की पूर्ति के लिए सिद्धान्तों और नीति को प्रभावित करने के लिए कोई विधान ऐसा विधायी निर्णय है जो यह परीक्षण करने के लिए न्यायालयों के अधिकार-क्षेत्र में नहीं आता कि क्या वस्तुतः वे इन ध्येयों के साधन हैं क्योंकि "अन्यथा न्यायाधीशों और संसद् के बीच विरोध पैदा हो जाएगा कि क्या कोई बात देश के लिए अच्छी थी या नहीं और क्या न्याय का सम्पूर्ण तन्त्र उस विचारधारा के लिए समुचित नहीं था (देखिए—लिवाशे का मसला पृष्ठ 267)। सरकार और संसद् या किसी राज्य की सरकार या विधानमण्डल को अपनी-अपनी सीमाओं के भीतर आबंटित ऐसी विधायी कार्यवाही करने का असंदिग्ध अधिकार प्राप्त है जिसके बारे में उनका यह विचार है कि उससे सामान्य हित अर्थात् अधिक से अधिक लोगों की समृद्धि सुनिश्चित होगी और इस प्रकार उन्हें भूलें करने और ऐसी भूलें ठीक करने के लिए पहले उठाए गए कदमों को पुनः उठाने का अधिकार प्राप्त है जब उन्हें ऊपर वर्णित निदेशक तत्त्वों को प्रभावी करने के लिए आत्म ज्ञान होता है। किन्तु जब प्रजातान्त्रिक प्रक्रिया के माध्यम से कोई भूल करने की शक्ति किसी सत्तावादी पद्धति को समर्थ करके छीन ली जाती है तब इसका अर्थ संसदीय प्रजातन्त्र को अस्वीकार करना होगा। अतः राज्य को किसी वांछित उद्देश्य की पूर्ति के लिए अपनी नीति को कार्यान्वित करने के लिए प्रयोग करने की पूरी स्वतंत्रता होती है। जैसा कि मैंने कहा है कि यद्यपि न्यायालयों को इन नीतियों के बनाने या यह अवधारित करने के लिए कि क्या वे समुदाय के लिए अच्छी हैं या बुरी, कुछ नहीं करना होता है तथापि उन ध्येयों को अग्रसित करने में राज्य द्वारा की गई विधायी कार्यवाही का परीक्षण करते हुए यह सुनिश्चित करना होता है कि जो साधन अपनाए गए हैं उनका संविधान के उन उपबन्धों के साथ प्रतिविरोध नहीं है जिनकी परिधि के भीतर राज्य कार्यवाही को सीमित रखना होता है। अतः ध्येयों की पूर्ति के लिए साधनों का प्रभावक्षेत्र अवधारित करने में अनुच्छेद 39 (ख) और (ग) में अनुदिष्ट सरकारी क्रियाकलाप के व्यापक क्षेत्र को तथा मूल अधिकारों पर उन साधनों के, जिन पर अनुच्छेद 31ग का प्रभाव पड़ता है, पड़ने वाले आघात को ध्यान में रखना आवश्यक है।

आक्षेपित अनुच्छेद 31ग में संसद् और राज्य विधानमण्डलों को अनुच्छेद 39(ख) और (ग) में इंगित व्यापक और अपरिभाषित निदेशक तत्त्वों के क्षेत्र के सम्बन्ध में अनुच्छेद 14, 19 और 31 द्वारा अनियन्त्रित विधियां बनाने के लिए समर्थ किया गया है। संशोधन से पूर्व इन सभी निदेशक तत्त्वों को सप्तम अनुसूची में प्रगणित ऐसी विधायी शक्ति के प्रयोग से ही पूरा करना होता था जिसका साधारणतया प्रयोग संविधान और मूल अधिकारों द्वारा अधिरोपित सीमाओं के भीतर ही किया जाना होता है। संशोधन से ये परिसीमाएं हटा दी गई हैं यद्यपि बनाई गई विधि तब भी अनुसूची 7 के अधीन प्रदत्त विधायी शक्तियों के भीतर होनी चाहिए और वह संसद् और राज्य विधानमण्डलों को विद्यमान सदस्यों की एक-दशांश गणपूर्ति तथा साधारण बहुमत के अध्यधीन ऐसी विधियां अधिनियमित करने के लिए समर्थ करती है जो अनुच्छेद 14, 19 और 31 के अधीन प्रदत्त मूल अधिकारों का उल्लंघन करती हैं और जिनसे अनुच्छेद 368 के अधीन उपबन्धित रूप

और रीति का अनुपालन करते हुए केवल संसद् ही प्रभावशील कर सकती है। चाहे कोई उसे विधायी अंगों पर से निर्बन्धन हटाना कहे या अनुच्छेद 39(ख) और (ग) में अन्तर्निहित व्यापक क्षेत्र के भीतर उन पर सम्पूर्ण प्रभुता प्रदत्त करना कहे, वस्तुतः यह एक ही बात है। यह दलील दी गई है कि अनुच्छेद 31ग द्वारा संसद् और विधानमण्डलों पर यह शक्ति प्रदत्त करने से, अनुच्छेद 245 से 248 के अधीन कार्य करते हुए संसद् ने अनुच्छेद 368 के अधीन अपने कृत्यों को त्याग दिया है और उसके अधीन उपबन्धित प्रारूप और रीति का अनुपालन किए बिना संशोधन करने की अनुज्ञा दे दी है।

जो दृष्टिकोण मैंने अपनाया है उसके अनुसार इस प्रश्न पर विचार करना आवश्यक नहीं है कि क्या अनुच्छेद 31ग संशोधन करने की शक्ति राज्य विधानमण्डलों और संसद् को प्रत्यायोजित करता है या यह कि उससे विधान की विषयवस्तु का संकेत नहीं मिलता है जैसे कि अनुच्छेद 31क में किया गया है बल्कि उसमें केवल यह तात्पर्यित है कि विधायी अंग ऐसे क्षेत्र से विषयवस्तु को चुनने के लिए समर्थ हों जिसके बारे में मैंने यह कहा है कि वह इतना व्यापक और अनिश्चित है जितना कि 'आर्थिक पद्धति की प्रक्रिया' (ऑपरेशन ऑफ दि इकनामिक सिस्टम) पद से व्यक्त होगा। मैं अनुच्छेद 31ग के बारे में यह सोचना चाहूंगा कि उससे वह ऐसा अनुच्छेद है जिससे उसमें विनिर्दिष्ट अनुच्छेदों का वर्जन उठ जाता है और जहां तक विधान की विषयवस्तु का सम्बन्ध है, यद्यपि क्षेत्र बहुत व्यापक है तथापि निदेशक तत्वों को प्रभावी करने के लिए कोई भी साधन केवल ऐसा साधन हो सकता है जो संविधान की अनुसूची 7 के अधीन अपने-अपने विधायी अंगों पर प्रदत्त विधायी शक्ति के अधीन अनुज्ञेय हो।

यदि संसद् अनुच्छेद 368 के अधीन संविधान का संशोधन करके संविधान की मूल संरचना या उस मूल संरचना में समाविष्ट आवश्यक तत्वों में से किसी तत्व को निराकृत, विकृत या नष्ट नहीं कर सकती अथवा प्रस्तावना में घोषित संविधान के उद्देश्यों को विफल करने के प्रतिकूल कार्य नहीं कर सकती और यदि हर एक मूल अधिकार संविधान का आवश्यक अंग है तो जिस प्रश्न पर विचार किया जाना है वह यह है कि क्या संविधान के भाग 3 में मूल अधिकार के रूप में अनुच्छेद 31ग को जोड़कर जो संशोधन किया गया है उससे मूल अधिकारों में से कोई अधिकार निराकृत, विकृत या नष्ट हुआ है।

अनुच्छेद 31ग के चार तत्व हैं—(i) इस अनुच्छेद में विधानमण्डल को अनुच्छेद 39(ख) और अनुच्छेद 39 (ग) को प्रभावी करने वाली और अनुच्छेद 14, 19 और 31 द्वारा प्रदत्त अधिकारों में से किसी से असंगत विधि बनाने की इजाजत दी गई है; (ii) इस अनुच्छेद में विधानमण्डल को अनुच्छेद 39(ख) और 39(ग) के अधिकारों में से किसी को प्रभावी करने वाली और अनुच्छेद 14, 19 और 31 द्वारा प्रदत्त अधिकारों में से किसी को छीनने वाली विधि बनाने के लिए इजाजत दी गई है; (iii) इस अनुच्छेद में विधानमण्डल को अनुच्छेद 39(ख) और (ग) को प्रभावी करने वाली और अनुच्छेद 14, 19 और 31 द्वारा प्रदत्त अधिकारों में से किसी को न्यून करने वाली विधि बनाने के लिए इजाजत दी गई है; और (iv) इस अनुच्छेद में किसी न्यायालय में ऐसी विधि पर, यदि उसमें यह घोषणा हो कि वह अनुच्छेद 39 के खण्ड (ख) और (ग) में विनिर्दिष्ट सिद्धान्तों

को सुनिश्चित करने के लिए राज्य-नीति को प्रभावी करने के लिए है इस आधार पर कि वह राज्य की ऐसी नीति को प्रभावी नहीं करती, आक्षेप करना प्रतिषिद्ध किया गया है।

ऐसा प्रतीत होता है कि पहला तत्व अत्यधिक सावधानी के रूप में जोड़ा गया है क्योंकि इसके अन्तर्गत अन्य दोनों तत्व अर्थात् अनुच्छेद 14, 19 और 31 द्वारा प्रदत्त अधिकारों को छीन लेना या न्यून करना, आते हैं। लेकिन यह तत्व अनुच्छेद 368 द्वारा प्रदत्त संशोधन-शक्ति के अधिकारातीत होगा यदि उसके भीतर इन मूल अधिकारों को विकृत या नष्ट करना अन्तर्विष्ट है। दूसरा तत्व अर्थात् इन मूल अधिकारों को छीन लेना, संशोधन शक्ति के अधिकारातीत होगा क्योंकि इन मूल अधिकारों को छीन लेना उन्हें नष्ट करने के समानार्थक है। जहां तक तीसरे तत्व अर्थात् इन अधिकारों के न्यून किए जाने का सम्बन्ध है, विधिमान्यता का परीक्षण करना होगा और इन मूल अधिकारों में से हर एक के सम्बन्ध में पृथक् रूप से इस प्रश्न पर विचार करना होगा क्योंकि मूल अधिकार का न्यून किया जाना वही बात नहीं है जैसे कि उन अधिकारों को विकृत करना है। न्यून किया जाना उस दशा में न्यून किया जाना नहीं रह जाता जब उससे अधिकार की आधारभूत या आवश्यक अन्तर्वस्तु पर प्रभाव पड़ने लगता है और उससे वह केवल नाममात्र का अधिकार रह जाता है। ऐसी दशा में ऐसा न्यून किया जाना स्वयं अधिकार को विकृत करने या प्रभावहीन करने के समान होगा और वह अनुच्छेद 368 के अधीन शक्ति के अधिकारातीत होगा। किन्तु किसी अधिकार को कुछ सीमा तक तो बचाया जा सकता है किन्तु इस प्रकार नहीं जिससे कि उसकी आधारभूत या अनिवार्य अन्तर्वस्तु प्रभावित हो जाए या वह प्रभावहीन हो जाए जहां तक अनुच्छेद 31ग, अनुच्छेद 19 द्वारा प्रदत्त अधिकार को न्यून किया जाना प्राधिकृत करता है या न्यून किए जाने की इजाजत देता है वहां तक वह अनुच्छेद 368 के अधीन संशोधन शक्ति के अधिकार के भीतर होगा क्योंकि उससे इन अधिकारों को विकृत करने या प्रभावहीन करने के लिए प्राधिकृत नहीं किया गया है। इसलिए यह परीक्षण करना आवश्यक होगा कि अनुच्छेद 14 और अनुच्छेद 19 में किस बात की गारण्टी की गई है।

अनुच्छेद 14 में समता की जो गारण्टी है उसमें संविधान की प्रस्तावना में समाविष्ट 'स्वतन्त्रता' और 'समता' का सिद्धान्त सम्मिलित है। प्रतिषेध न केवल विधान-मण्डलों के लिए है बल्कि कार्यपालिका और स्थानीय प्राधिकारियों के लिए भी है। इस प्रत्याभूति में दो धारणाएं अन्तर्निहित हैं—पहली, 'विधि के समक्ष समता', जो इंग्लैण्ड के कॉमन लॉ के अधीन प्रत्याभूति के समान निषेधात्मक प्रत्याभूति है; और दूसरी, 'विधियों का समान संरक्षण,' जो संयुक्त राज्य संविधान के अधीन आदेशात्मक प्रत्याभूति है। निषेधात्मक धारणा विभेद के विरुद्ध प्रतिषेध के रूप में है और आदेशात्मक धारणा एक समान परिस्थितियों में और उसी प्रकार की स्थितियों में के सभी व्यक्तियों को विधि के अधीन समान संरक्षण है (देखिये—उत्तर प्रदेश राज्य बनाम देवोमन उपाध्याय में न्यायाधिपति सुब्बाराव का मत)।

निषेधात्मक विषयवस्तु का आदेशात्मक पहलू पर जो आघात हुआ है वह अभी तक इस न्यायालय के विनिश्चयों में स्पष्ट रूप से प्रकट नहीं हुआ है जिनका सम्बन्ध अधिकतर

(¹) (1961) I एस० सी० आर० 14, 34.

आदेशात्मक पहलू से रहा है। इसके उपरान्त न्यायाधिपति सुब्बा राव ने फर्म तिलक राम राव बक्श की ओर से लक्ष्मन दास बनाम पंजाब राज्य (¹) में अपना विसम्मत निर्णय देते समय जब यह अभिनिर्धारित किया था कि पटियाला रिकवरी ऑफ स्टेट ड्यूज़ ऐक्ट से संविधान के अनुच्छेद 14 का उल्लंघन नहीं होता है, पृष्ठ 395 पर यह कहा—

"यह बात ध्यान रखने की है कि हर नागरिक को विधि के समक्ष समता के मूल अधिकार का हक प्राप्त है और यह कि वर्गीकरण का सिद्धान्त एक आनुषंगिक नियम है जिसका विकास न्यायालयों द्वारा उक्त सिद्धान्त को व्यावहारिक पुट देने के लिए किया गया है। वर्गीकरण के सिद्धान्त पर अत्यधिक जोर देने या वर्गीकरण के लिए किसी आधार को खोजने के लिए आकुलतापूर्ण और सतत प्रयत्न करने से उस अनुच्छेद का महत्व तत्व धीरे-धीरे और अति सूक्ष्म रूप से समाप्त हो जाएगा। उस प्रक्रिया का अन्त अनिवार्य रूप से समता के सिद्धान्त के स्थान पर वर्गीकरण का सिद्धान्त रखने तक होगा। विधि के समक्ष समता और विधियों का समान संरक्षण के मूल अधिकार के स्थान पर वर्गीकरण का सिद्धान्त रखा जा सकता है।"

रामकृष्ण डालमियां बनाम श्री न्यायाधिपति एस० आर० तन्दोलकार और कुछ अन्य (²) में मुख्य न्यायाधिपति दास ने अपने द्वारा निर्दिष्ट अनेक मामलों में प्रतिपादित और पश्चात्वर्ती मामलों में लगातार अपनाए गए और लागू किए गए सिद्धान्त के सम्बन्ध में निम्नलिखित सारांश किया—

"अब यह सुस्थापित है कि जबकि अनुच्छेद 14 में वर्ग-विधान का निषेध किया गया है तथापि विधान के प्रयोजनों के लिए उसमें युक्तियुक्त वर्गीकरण का निषेध नहीं है। लेकिन अनुज्ञेय वर्गीकरण की कसौटी पर खरा उतरने के लिए दो शर्तें पूरी की जानी चाहिएं अर्थात् (i) यह कि वर्गीकरण बोधगम्य वैशिष्ट्य पर आधारित होना चाहिए जिससे उन व्यक्तियों या चीजों का, जिन्हें एक समूह में एकत्रित किया जाता है, उन व्यक्तियों और चीजों से, जिन्हें समूह से निकाल दिया जाता है, अन्तर मालूम हो जाए तथा (ii) यह कि उस वैशिष्ट्य का उस उद्देश्य के साथ यथोचित सम्बन्ध होना चाहिए जिसकी पूर्ति के लिए प्रश्नगत कानून द्वारा प्रयास किया गया है। वर्गीकरण भिन्न-भिन्न आधारों पर अर्थात् भौगोलिक या उद्देश्यों या उपजीविकाओं या तत्समान किन्हीं बातों पर आधारित हो सकता है। जो बात आवश्यक है वह यह है कि वर्गीकरण के आधार और विचाराधीन अधिनियम के उद्देश्यों के बीच सम्बन्ध होना चाहिए। इस न्यायालय के विनिश्चयों से यह भी सुस्थापित है कि अनुच्छेद 14 में न केवल अधिष्ठायी विधि द्वारा बल्कि प्रक्रिया सम्बन्धी विधि द्वारा विभेद को तिरस्कृत किया गया है।"

पश्चात्वर्ती मामलों में एक ऐसे अन्य सिद्धान्त को मान्यता दी गई है जिसके द्वारा अनुच्छेद 14 का भी एक ही विषयवस्तु से सम्बन्धित दो विधियों द्वारा अतिक्रमण नहीं

(¹) (1963) 2 एस० सी० आर० 353.

(²) (1959) 3 एस० सी० आर० 279.

होता है यदि दोनों विधियों के स्रोत भिन्न-भिन्न हों (देखिये—मध्य प्रदेश राज्य बनाम जी० सी० मण्डावर) (¹)। इस समय मेरा इस बात से कोई सम्बन्ध नहीं है कि क्या इस पश्चात्‌वर्ती सिद्धान्त से भ्रम में पड़ने की सम्भावना है, मैं तो केवल वर्गीकरण की उन विभिन्न धारणाओं का उल्लेख करूंगा जिन्हें अब तक इस न्यायालय में मान्यता प्राप्त हुई है। लेकिन यह बता दिया जाता है कि यद्यपि वर्गीकरण की कोटियों का कभी भी अन्त नहीं होता है तथापि ऐसा हो सकता है कि अनुच्छेद 39 (ख) और (ग) के उद्देश्य विधि की प्रकृति, प्रयोजन, जिसके लिए यह अधिनियम अधिनियमित किया गया था और नागरिकों के अधिकारों पर पड़ने वाले असर, पर निर्भर करते हुए वर्गीकरण का आधार बन सकते हैं। अनुच्छेद 14 में उपबन्धित विधि के समक्ष समता और विधियों का समान संरक्षण को वर्गीकरण द्वारा समाप्त नहीं किया जा सकता।

अनुच्छेद 31ग के अधीन राष्ट्रपति या किसी राज्य के विधानमण्डल द्वारा बनाई गई किसी विधि पर अनुच्छेद 14 की निषेधाज्ञा को यह उपबन्धित करके हटाने से कि अनुच्छेद 39 के खण्ड (ख) और (ग) में विनिर्दिष्ट सिद्धान्तों को सुनिश्चित करने के लिए राज्य की नीति को प्रभावी करने के लिए इन विधायी अंगों द्वारा बनाई गई किसी विधि के बारे में यह नहीं समझा जाएगा कि वह इस आधार पर शून्य है कि वह उसमें प्रदत्त अधिकार से असंगत है या उसे छीन लेती है या उसे न्यून करती है, मेरे मतानुसार, यह अधिकार बिल्कुल निराकृत हो जाएगा। मैंने यह अभिनिर्धारित किया है कि संसद् अनुच्छेद 368 के अधीन किसी भी मूल अधिकार को निराकृत, विकृत या नष्ट नहीं कर सकती यद्यपि वह उसे उस सीमा तक न्यून कर सकती है जहां वह अधिकार निराकृत, विकृत या नष्ट किए जाने की कोटि में नहीं आता। प्रश्न यह है कि क्या 'से असंगत है अथवा उसे छीनती है या'—शब्द यदि अलग कर दिए जाएं तो इससे संशोधन का प्रयोजन पूरा हो जाता है ? अनुच्छेद 14 का न्यूनन उस अधिकार की अन्तर्वस्तु खोए बिना कैसे प्रभावी किया जा सकता है ? क्या अनुच्छेद 31ग के अधीन अनुज्ञात विधि असमान रूप से स्थित उसी प्रकार व्यक्तियों को प्रभावी कर सकती है अथवा क्या विधियों का समान संरक्षण एक ही प्रकार से स्थित या एक जैसी परिस्थितियों में रहने वाले व्यक्तियों को उपलभ्य नहीं होगा ? जबकि अनुच्छेद 39 (ख) और (ग) में वर्गीकरण के लिए उपबन्ध किया जा सकता है तथापि उस वर्गीकरण का प्रश्नगत कानून द्वारा पूरे किए जाने वाले उद्देश्य के साथ युक्तिसंगत सम्बन्ध होना चाहिए।

जहां तक अनुच्छेद 14 द्वारा अधिकार के न्यून किए जाने का सम्बन्ध है, वह इस कारण शक्तिबाह्य होगा कि इस अधिकार का अतिक्रमण करना ही अधिकार को छीन लेने या विकृत करने के समान है। अनुच्छेद 31क में अधिकार के संरक्षण से इन्कार किया गया है क्योंकि न्यायालयों ने सम्पदाओं के अर्जन आदि के लिए प्रतिकर से सम्बन्धित कतिपय भूमि-सुधार विषयक विधानों के उपबन्धों को अनुच्छेद 14 के अधीन अविधिमान्य अभिनिर्धारित किया था। यह बात न तो स्पष्ट है और न ही समझ में आ रही है कि अनुच्छेद 31ग के अधीन विधियों को अनुच्छेद 14 के लागू किए जाने से अपवर्जित करने की क्या आवश्यकता है। अनुच्छेद 31ग के अधीन को किसी विधि की सम्पत्ति के स्वामियों या धारकों द्वारा

(¹) (1955) 1 एस० सी० आर० 699.

अनुच्छेद 14 के अधीन सम्भवतः इसलिए चुनौती नहीं दी जा सकती क्योंकि सम्पत्ति के स्वामियों या धारकों के साथ प्रतिकर के विषय में एक समान व्यवहार करना अनुच्छेद 39 (ख) और (ग) में सम्मिलित उद्देश्यों के प्रतिकूल होगा। उन नीतियों को जिनकी रूपरेखा अनुच्छेद 39 (ख) और (ग) में तैयार की गई है, प्रभावी करने के लिए प्रकल्पित वर्गीकरण के युक्तियुक्त सिद्धान्तों को अनुच्छेद 14 के अधीन विधियों के समान सुरक्षा की कसौटी पर खरा उतरने में कोई कठिनाई नहीं होगी। अनुच्छेद 31ग में अनुच्छेद 14 का अपवर्जन भूमि सुधार से सम्बन्धित विधियों के सम्बन्ध में अर्जन और प्रतिकर के पहलू तक ही सीमित है किन्तु अनुच्छेद 31क के अधीन विधियों को अनुच्छेद 14 के अधीन चुनौती दिए जाने से उन्मुक्ति प्राप्त नहीं है यदि कृषि-विषयक सुधारों पर यह लांछन हो कि वे मनमाने हैं। यद्यपि इस प्रश्न पर अनुच्छेद 31क के अधीन मामलों में से किसी भी मामले में इस न्यायालय द्वारा अन्तिम रूप से विनिश्चय नहीं किया गया है तथापि वह प्रश्न बालमेडीच प्लाण्टेशन लिमिटेड और कुछ अन्य बनाम तमिलनाडु राज्य (1) में उठाया गया था। उस मामले में अपीलार्थियों ने यह दलील दी थी कि सरकार गुडलूर जन्मम् एस्टेट (एबोलीशन एण्ड कन्वर्जन इनटू रय्यतवारी) ऐक्ट, 1969 की धारा 17 के अधीन सूचना द्वारा पट्टेदार के अधिकार का पर्यवसान नहीं कर सकती क्योंकि उससे संविधान के अनुच्छेद 14, 19 और 31 के अधीन अधिकारों का अतिक्रमण होगा। लेकिन इस न्यायालय ने इस विषय के इस पहलू पर विचार करना आवश्यक नहीं समझा क्योंकि यह स्वीकार किया गया था कि ऐक्ट की धारा 17 के अधीन पट्टेदार के अधिकारों के पर्यवसान के बारे में कोई सूचना किसी भी अपीलार्थी के नाम नहीं निकाली गई थी और यह प्रश्न केवल ऐक्ट के प्रवृत्त होने के पश्चात् ही उठ सकता है। हम में से न्यायाधिपति खन्ना ने न्यायालय की ओर से आगे यह मत व्यक्त किया—

> "ऐक्ट के प्रवृत्त होने के पश्चात् भी, सरकार को इस प्रश्न पर अपनी बुद्धि का प्रयोग करना पड़ेगा कि क्या उसकी राय में बागान के पट्टेदारों के अधिकारों को समाप्त करना लोक हित में है। ऐसी सूचना जारी किए जाने के समय तक मामला केवल शास्त्रीय प्रकृति का है। उस दशा में कि सरकार बागान के पट्टेदारों के पट्टे को समाप्त करने के लिए विनिश्चय करती है, इस मामले में कोई भी चर्चा व्यर्थ की माथापच्ची होगी। इसके विपरीत यदि सरकार बागान सम्बन्धी फसल के उगाने के प्रयोजन के लिए भूमि के किसी पट्टे के सम्बन्ध में धारा 17 के अधीन कार्यवाही करती है, तो व्यथित पक्षकार समुचित अनुतोष प्राप्त करने के लिए न्यायालय में जा सकता है।"

यह बता दिया जाता है कि उस मामले में ऐक्ट की धारा 3 को, जहां तक उसका सम्बन्ध जन्मम् सम्पदाओं में वनों के सरकार को अन्तरित किए जाने से है, बारे में यह अभिनिर्धारित किया गया था कि उससे संविधान का अतिक्रमण होता है। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि विषयवस्तु का यह पहलू विवादग्रस्त विषय (रेस इन्टेगरा) नहीं है। दूसरी ओर इससे इस दृष्टिकोण की पुष्टि हो जाती है कि विधि को चुनौती नहीं दी जा सकती है।

---

(1) (1972) 2 एस० सी० आर० 133 [1972]3 उम० नि० प० 273.

नागपुर इम्प्रूवमेण्ट ट्रस्ट बनाम विट्ठल राव ([1]) में तथा इसके पश्चात्वर्ती दो अन्य मामलों में इस न्यायालय के विनिश्चयों से भी मेरे इस मत पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता कि अनुच्छेद 14, अनुच्छेद 39(ख) और (ग) की नीतियों को प्रभावशाली करने के लिए अधिनियमित विधियों के अधीन प्रतिकर से सम्बन्धित विषयों को लागू नहीं होता है। उपर्युक्त मामले में राज्य को ही दो विभिन्न कानूनों के अधीन, जिनमें से एक में कम प्रतिकर के लिए उपबन्ध किया गया था, और दूसरे में पूरे प्रतिकर के लिए उपबन्ध किया गया था, एक ही लोक प्रयोजन के लिए सम्पत्ति अर्जित करने की शक्ति दी गई थी। मुख्य न्यायाधिपति ने सात न्यायाधीशों की सांविधानिक न्यायपीठ की ओर से निर्णय देते समय यह अभिनिर्धारित करते हुए कि इन उपबंधों से अनुच्छेद 14 का अतिलंघन होता है, [1973] 1 उम० नि० प० पृष्ठ 907 पर यह मत व्यक्त किया—

> "इस बारे में कोई विवाद नहीं किया जा सकता कि अर्जित की गई भूमि के लिए इस आधार पर प्रतिकर के लिए अलग-अलग सिद्धान्त सूचित नहीं किए जा सकते कि स्वामी बूढ़ा या जवान, स्वस्थ या बीमार, ऊंचा या ठिगना है या क्योंकि स्वामी ने सम्पत्ति विरासत में प्राप्त की है या अपने प्रयत्नों से बनाई है या स्वामी राजनीतिज्ञ या अधिवक्ता है। इस प्रकार का वर्गीकरण कायम क्यों नहीं रखा जा सकता क्योंकि उद्देश्य लोक प्रयोजन के लिए अनिवार्य रूप से अर्जित करना है, अतः यह उद्देश्य समान रूप से पूरा हो जाता है भले ही भूमि एक प्रकार या दूसरे प्रकार के "स्वामी की हो।"

उपर्युक्त मामले में न तो स्वामित्व के वितरण का और न ही भौतिक साधनों के नियन्त्रण का और न ही धन के केन्द्रण या उत्पादन के साधनों को तोड़ने का प्रश्न था जो अनुच्छेद 31(2) में अनुध्यात उद्देश्य से भिन्न उद्देश्य है। यदि एक जैसी परिस्थितियों के दो मामलों में एक की सम्पत्ति अनुच्छेद 31ग के अधीन और दूसरे की सम्पत्ति अनुच्छेद 31(2) के अधीन ले ली जाती है तो वह विभेद की कोटि में आएगा और नागपुर इम्प्रूवमेण्ट का मामला ([1]) लागू होगा। इस प्रकार के मामले में आक्षेप पर इसलिए जोर नहीं दिया जाता है कि अनुच्छेद 14 लागू किया जा रहा है बल्कि वह तो अनुच्छेद (ख) और (ग) के प्रतिकूल सिद्धान्तों को अपनाने के लिए दिया जाता है क्योंकि एक व्यक्ति का, जो यद्यपि दूसरे व्यक्ति के समान की स्थिति में है अनुच्छेद 39(ख) और (ग) से असम्बद्ध कारणों से निश्चित रूप से पक्षपोषण किया जाता है। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि अनुच्छेद 14 को गलती से लागू किया गया है या वह अनुच्छेद 39 (ख) और (ग) में निदेशात्मक तत्त्वों को अग्रसित करने में रुकावट है, जिसके बारे में यह माना जाता है कि वह ऐसे मामले में कार्यान्वियन का उद्देश्य है। यदि ऐसे दुरुपयोग की उपधारणा नहीं की जाती तो ऐसी आशंका की कोई आवश्यकता नहीं होती कि अनुच्छेद 14 उक्त निदेशात्मक तत्त्वों की पूर्ति में रुकावट डालेगा।

अनुच्छेद 31ग की व्यापकता अनुच्छेद 31क से बहुत अधिक है और अनुच्छेद 14 को उन विषयों के सम्बन्ध में अपवर्जित किया जाता है जहां अनुच्छेद 39 (ख) और (ग) के निदेशात्मक तत्त्वों में अन्तर्विष्ट राज्य की असली और सद्भावपूर्ण इच्छा को कार्यान्वित करने

([1]) (1973) 1 उम० नि० प० 895.

के लिए संरक्षण की अत्यधिक आवश्यकता होती है। उदाहरणार्थ, एक ही वर्ग के कुछ व्यक्तियों को सम्पत्ति से वंचित करके और अन्य व्यक्तियों को अपनी सम्पत्ति रखे रखने अथवा रखने के लिए अनुज्ञात सम्पत्ति के सम्बन्ध में इजाजत देकर अथवा तद्द्वारा अर्जित भौतिक साधनों के असमान वितरण करके, कुछ व्यक्तियों की तरफदारी करके और अन्य व्यक्तियों के प्रति विभेद करके, एक ही स्थिति में के व्यक्तियों के साथ असमान व्यवहार किया जा सकता है। इस पहलू को और अच्छी तरह से स्पष्ट करने के लिए यह कहा जा सकता है कि निदेशक तत्वों को अग्रसित करने के लिए व्यक्तियों की, उस सम्पत्ति के, जो उनके स्वामित्व में है या जिसे वे धारण किए हुए हैं, या जो आर्थिक शक्ति उनके पास है या जो सम्पत्ति उनके स्वामित्व या कब्जे में है उसकी सीमा या उसके मूल्य पर निर्भर करते हुए भिन्न-भिन्न वर्गों के व्यक्तियों को भिन्न-भिन्न दरों पर प्रतिकर के संदाय के, अथवा उन व्यक्ति-वर्गों के सम्बन्ध में, जिन्हें देश के भौतिक साधन वितरित किए जाते हैं एक साथ रखा जा सकता है। अनुच्छेद 39 के खण्ड (ख) और (ग) का उद्देश्य धन के केन्द्रण या भौतिक साधनों के वितरण को तोड़ना है। यदि अनुच्छेद 39 के खण्ड (ख) और (ग) के अधीन निदेशक तत्वों को अग्रसित करने में ली गई सम्पत्ति के लिए पूरा प्रतिकर दिया जाता है तो वह उद्देश्य असफल हो जाएगा जिसे कार्यान्वित करने का प्रयास किया गया है, क्योंकि इससे वस्तुतः धन का केन्द्रण या भौतिक स्थानों के वितरण तो नहीं टूटेगा। अतः यह स्पष्ट है कि निदेशक तत्वों की प्रकृति ऐसी है कि अनुच्छेद 14 लागू नहीं होता है, इसका पहला कारण यह है कि प्रतिकर के सम्बन्ध में समता का कोई प्रश्न नहीं हो सकता और दूसरा कारण यह है कि उसे अपवर्जित करना आवश्यक नहीं है क्योंकि कोई ऐसी विधि जो अनुच्छेद 39 (ख) और (ग) के निदेशक तत्वों को अग्रसित करने के लिए युक्तियुक्त वर्गीकरण करती है, वह निस्सन्देह अनुच्छेद 14 की अपेक्षाओं को पूरा करती है। अनुच्छेद 14 स्वत्वहारी स्वामी (एक्सप्रोप्रियेटेड ओनर) या धारक की वस्तुतः कोई सहायता नहीं करता क्योंकि यदि उसे पूरा प्रतिकर दिया जाएगा तो अनुच्छेद 39(ख) और (ग) के निदेशक तत्व निरर्थक हो जाएंगे। दूसरी ओर उससे ली गई सम्पत्ति के वितरण की समता के सम्बन्ध में उसकी किसी भी प्रकार से कोई दिलचस्पी नहीं होगी क्योंकि उससे ली गई सम्पत्ति में उसे आगे कोई अधिकार नहीं होंगे। अनुच्छेद 14 के अपवर्जन से जो एकमात्र प्रयोजन पूरा होगा वह स्वेच्छाचारिता, वितरण में असमानता को सुविधाजनक बनाना या प्रश्रय आदि लेने में समर्थ बनाना होगा। अनुच्छेद 14 के अधीन यह अधिकार केवल उस व्यक्ति या व्यक्ति वर्ग को उपलब्ध होगा जिसे विधि के अधीन वितरण के फायदे उठाने का हक प्राप्त होगा। वस्तुतः अनुच्छेद 31ग के अधीन विधियों के सम्बन्ध में अनुच्छेद 14 की उपलभ्यता से 'वितरण विषयक न्याय' या 'आर्थिक न्याय' सुनिश्चित हो जाएगा जो इसके बिना निष्फल हो जाएगा। अनुच्छेद 31ग और उसके मुकाबले अनुच्छेद 14 के इस दृष्टिकोण से अनुच्छेद 31ग और अनुच्छेद 31क के बीच कोई सादृश्य, जिसे लाने का प्रयास किया गया है, मिथ्या है क्योंकि पश्चात्वर्ती उपबन्ध के अधीन अनुच्छेद 14 का अपवर्जन स्वत्वहारी स्वामी को संदेय प्रतिकर के सम्बन्ध में तदधीन अनुज्ञेय विधान की विषय-वस्तु को संरक्षित करने के लिए आवश्यक था। एक और भी कारण है कि अनुच्छेद 31क और अनुच्छेद 31ग के बीच तुलना क्यों नहीं की जा सकती, क्योंकि अनुच्छेद 31क में अनुच्छेद 14 का अपवर्जन

सम्पत्ति के अर्जन आदि तक ही न कि वितरण के पहलू तक सीमित था और वह उस अनुच्छेद की विषय-वस्तु नहीं हैं जबकि, जैसे कि पहले बताया जा चुका है, अनुच्छेद 14 का अपवर्जन वितरण को प्रभावित करता है जो कि अनुच्छेद 39 (ख) और (ग) की विषयवस्तु है।

इस बात की सविस्तार परीक्षा करने की आवश्यकता नहीं है कि अनुच्छेद 14 के न्यून किए जाने या छीन लिए जाने से क्या रिष्टि होगी। यह कहना कोई उत्तर नहीं है कि ऐसा न किया जाए और दुरुपयोग की उपधारणा नहीं की जानी चाहिए। यह सच हो सकता है किन्तु जिस बात से मेरा सम्बन्ध है वह यह है कि विधायी अंगों के पास जो शक्ति होगी उसका विस्तार कितना होगा। जब एक बार ऐसा सब कुछ करने की, जिसके बारे में ऊपर उल्लेख किया गया है, शक्ति को मान्यता प्राप्त हो जाती है तब दुरुपयोग की कोई भी उपधारणा नहीं की जा सकती। किन्तु यदि शक्ति का विस्तार अधिकार के नष्ट, विकृत या निराकृत किए जाने तक नहीं होता तो दुरुपयोग के प्रश्न की, यदि कोई हो, कोई सुसंगति नहीं होती। यह उपधारणा नहीं की जा सकती कि संसद् का यह आशय था कि अनुच्छेद 368 के अधीन संशोधन करने की अपनी शक्ति का प्रयोग करके संसद् तथा राज्यों के विधानमण्डलों पर एक ही स्थिति के व्यक्तियों के बीच विभेद करने या उन्हें विधियों के समान संरक्षण से वंचित करने का अधिकार प्रदत्त किया जाए। अनुच्छेद 39 (ख) और (ग) के अधीन जिन निदेशक तत्वों की पूर्ति के लिए प्रयास किया गया है उनकी पूर्ति तब की जा सकती है यदि इस अनुच्छेद को पृथक् कर दिया जाए।

अनुच्छेद 31ग द्वारा अनुच्छेद 19 के अपवर्जन के सम्बन्ध में 12 जनवरी, 1973 अर्थात् 35वें दिन को महाराष्ट्र के विद्वान महाधिवक्ता द्वारा बहस किए जाने के दौरान हममें से एक ने यह प्रश्न किया था कि वाक्-स्वातंत्र्य और संचरण स्वातंत्र्य पर ऐसे निर्बन्धन लगाने का सामाजिक तत्व क्या है जो उन निर्बन्धनों में पहले से ही अन्तर्विष्ट नहीं है जिनके अध्यधीन वे अधिकार हैं? विद्वान् महाधिवक्ता ने यह कहा कि वह इस पर विचार करके और अपना निवेदन करेगा। 1 मार्च, 1973 को उसने इस मान्यता के आधार पर अपना निवेदन किया कि प्रश्न अनुच्छेद 31ग के संदर्भ में पूछा गया था जिसमें न केवल अनुच्छेद 19(1)(च) और 19(1)(छ) बल्कि सम्पूर्ण अनुच्छेद 19 का प्रवर्तन अपवर्जित है। विद्वान् महाधिवक्ता ने इस प्रश्न का स्वरूप यह बताया कि वह बहुत महत्वपूर्ण विषय उठाने वाला प्रश्न है। मेरे मतानुसार उस प्रश्न में जो कुछ विवक्षित था वह हमारे समक्ष विवाद्यक का सार है कि क्या संचरण स्वातंत्र्य और वाक्-स्वातंत्र्य जैसे मूल्यवान अधिकारों पर अधिक निर्बन्धन, जो संविधान निर्माताओं ने अनुच्छेद 19(2) से (6) में पहले ही उपबन्धित कर दिए हैं, लगाना न्यायोचित हो सकता है। संविधान प्रथम, चतुर्थ और सत्रहवां संशोधन अधिनियमित करने के इतिहास और उद्देश्यों और कारणों का उल्लेख करने के पश्चात् तथा इस न्यायालय के उन विनिश्चयों का उल्लेख करने के पश्चात्, जिनमें से सभी सम्पत्ति के अर्जन से सम्बन्धित हैं और जिनका वाक्-स्वातंत्र्य या संचरण

स्वातंत्र्य से कोई सम्बन्ध नहीं है, उसने निम्नलिखित शीर्षकों के अधीन किए गए प्रश्न पर विचार किया और उसका उत्तर इस प्रकार दिया—

"(i) साधारणतया उन युक्तियुक्त निर्बन्धनों के प्रति निर्देश में, जिनके सम्बन्ध में अनुच्छेद 19(2) से (6) के अधीन अनुच्छेद 19(1)(क) से (छ) द्वारा प्रदत्त मूल अधिकार अध्यधीन है ;

(ii) युक्तियुक्त निर्बन्धन जिनके सम्बन्ध में क्रमशः अनुच्छेद 19(2) और(5) के अधीन वाक्-स्वातंत्र्य और भारत राज्य-क्षेत्र में सर्वत्र संचरण का अधिकार अध्यधीन होना चाहिए ।"

प्रथम शीर्षक के अधीन विद्वान् महाधिवक्ता ने यह प्रस्थापना पेश की कि उन निर्बन्धनों का, जिनके सम्बन्ध में अनुच्छेद 19(1)(क) से (छ) के अधीन मूल अधिकार अध्यधीन हैं, सामाजिक तत्त्व उन सभी सुसंगत सामाजिक विचारणों से संकीर्ण है जिनके सम्बन्ध में मूल अधिकारों को अध्यधीन बनाया जा सकता है, इसके लिए जो कारण दिए गए थे वे ऐतिहासिक थे विशिष्टतया यह तथ्य कि संविधान सभा ने श्री बी० एन० राव द्वारा दिए गए इस सुझाव को नामंजूर कर दिया था कि मूल अधिकारों और निदेशक तत्त्वों के बीच प्रतिविरोध होने की दशा में निदेशक तत्त्व अभिभावी होने चाहिएं अन्यथा आवश्यक सामाजिक विधान में बाधा पड़ सकती है। इससे यह अभिप्रेत है कि निदेशक तत्त्वों का सामाजिक तत्त्व मूल अधिकारों पर अनुज्ञेय निर्बन्धनों के सामाजिक तत्त्व से अधिक व्यापक था। क्योंकि यदि ऐसा न होता तो मूल अधिकारों के साथ प्रतिविरोध की दशा में निदेशक तत्त्वों को प्रधानता देने का कोई प्रश्न ही नहीं उठ सकता था क्योंकि मूल अधिकारों और निदेशात्मक तत्त्वों का सामाजिक तत्त्व एक ही होगा। चूंकि संविधान में निदेशक तत्त्वों के मुकाबले में मूल अधिकारों को प्रधानता दी गई है और मूल अधिकारों को न्यायालय में प्रवर्तनीय बनाया गया है और निदेशक तत्त्वों को इस प्रकार प्रवर्तनीय नहीं बनाया गया है, इसलिए मूल अधिकारों पर निर्बन्धनों के सामाजिक तत्त्व को नागरिकों या किसी व्यक्ति द्वारा अधिकारों के प्रवर्तन की रूपरेखा के भीतर रखा गया था। स्वभावतः व्यक्तिगत मूल अधिकारों के इस प्रवर्तन से विलम्बकारी मुकदमेबाजी द्वारा की गई लोक अच्छाई को क्षति पहुंची है उसकी उपेक्षा की गई है जिससे अनेक व्यक्तियों को प्रभावित करने वाले आवश्यक सामाजिक विधान की बड़ी-बड़ी स्कीमें रुक सकती हैं। इस सामाजिक बुराई को रोकने के लिए संविधान के प्रथम और चतुर्थ संशोधन अधिनियमित किए गए थे।

अनुच्छेद 19(2) से (6) के अधीन जो निर्बन्धन अधिरोपित किए जा सकते हैं उनके सामाजिक तत्त्व में स्वाभावतः सामाजिक विधान की बड़ी-बड़ी स्कीमों के रुकने से विलम्बकारी मुकदमेबाजी द्वारा लोक अच्छाई को जो क्षति पहुंचती है उस पर ध्यान नहीं दिया गया है। अनुच्छेद 19(1)(क) से (छ) द्वारा प्रदत्त मूल अधिकार परस्पर अनन्य नहीं हैं बल्कि वे अतिव्याप्त हैं। उदाहरणार्थ अनुच्छेद 19(1)(ख) द्वारा प्रदत्त शान्तिपूर्वक और निरायुद्ध सम्मेलन के अधिकार को वाक् और अभिव्यक्ति स्वातन्त्र्य के अधिकार के साथ जोड़ा जा सकता है यदि वे व्यक्ति जो शान्तिपूर्वक इकट्ठे हुए हों, पोस्टर उठाए हुए हों या माइक्रोफोन के जरिए भाषण देते हों। पुनः अनुच्छेद 19(1)(छ) के अधीन कारबार का

अधिकार सम्पत्ति के धारण, अर्जन और व्ययन के अधिकार को अतिव्याप्त करेगा क्योंकि साधारणतया कारबार संपत्ति के उपयोग के बिना नहीं चलाया जा सकता । इस प्रश्न पर विचार करते समय इस बात का ध्यान दिया जाना चाहिए कि अनुच्छेद 19(1)(च) के, जो सम्पत्ति के सम्बन्ध में है, और अनुच्छेद 19(1)(छ) के, जो कारबार के सम्बन्ध में है, जिसमें साधारणतया सम्पत्ति के उपयोग की अपेक्षा की गई है, अधीन ही चुनौती को अपवर्जित करने की बजाए सम्पूर्ण अनुच्छेद 19 के अधीन अनुच्छेद 31ग द्वारा संरक्षित विधियों को चुनौती देना अनुच्छेद 31ग से क्यों अपवर्जित किया गया है ।

दूसरे शीर्षक के अधीन विद्वान् महाधिवक्ता ने यह निवेदन किया कि यह बात सुस्थापित है कि वाक् स्वातन्त्र्य के अधिकार के अन्तर्गत प्रेस स्वातन्त्र्य आता है और उसके पश्चात् उसने लार्ड ब्राइस की पुस्तक माडर्न डेमोक्रेसीज के अध्याय में 'प्रेस इन ए डेमोक्रेसी' का उल्लेख किया और उक्त अध्याय में से लम्बे-लम्बे उद्धरण दिए गए ये जिनमें उन परिवर्तनों के सम्बन्ध में, जो प्रेस में हुए हैं और व्यवसायीसंघ (सिण्डीकेट) प्रेसों की तानाशाही के सम्बन्ध में चर्चा की गई है । यूनाइटेड स्टेट्स के संविधान के प्रथम संशोधन का भी उल्लेख किया गया था । तत्पश्चात् उसने यह निवेदन किया कि हमारे संविधान में वाक् और अभिव्यक्ति स्वातंत्र्य की प्रत्याभूति की गई है और न्यायिक अर्थान्वयन से उस स्वातन्त्र्य के बारे में यह अभिनिर्धारित किया जा चुका है कि उसके अन्तर्गत प्रेस स्वातंत्र्य आता है । किन्तु उसके अनुसार व्यक्तिगत अधिकार के रूप में वाक्-स्वतंत्र्य का प्रेस स्वातंत्र्य से विभेद किया जाना चाहिए और चूंकि साधारणतया लोक वाक्-स्वातंत्र्य के अपने व्यक्तिगत अधिकार का आग्रह करते समय कोई व्यापार या कारबार नहीं चलाते हैं तथा अर्जन विषयक विधि वाक् और अभिव्यक्ति स्वातंत्र्य के ऐसे व्यक्तिगत अधिकार को लागू नहीं होती । किन्तु जब वाक् और अभिव्यक्ति स्वातंत्र्य के अन्तर्गत प्रेस आती है, जिसे चलाना स्पष्टतया एक कारबार है, उस समय भिन्न-भिन्न विचारधाराएं लागू होती हैं ।

अनुच्छेद 19(1)(क) का अनुच्छेद 19(1)(छ) और (च) से इतना गहरा सम्बन्ध है कि यदि अन्तिम दो उप अनुच्छेद, सम्पत्ति के अर्जन से सम्बन्धित किसी विधि द्वारा अपवर्जित कर दिए जाते हैं तो इस तर्क को रोकने के लिए अनुच्छेद 19(1)(क) को अपवर्जित करना आवश्यक है कि अधिकार इतने जटिल रूप से मिले हुए हैं कि प्रेस के चलाने का कारबार करने या प्रेस को चलाने के लिए आवश्यक सम्पत्ति का स्वामित्व रखने के अधिकार के ह्रास करने का अर्थ वाक्-स्वातंत्र्य के अधिकार का ह्रास करना है । पुनः भारत के सम्पूर्ण राज्य-क्षेत्र में संचरण स्वातंत्र्य के अधिकार को अनुच्छेद 19(5) द्वारा अनुच्छेद 19(1)(ङ) द्वारा प्रदत्त भारत राज्य-क्षेत्र के किसी भाग में निवास करने या बस जाने के अधिकार के साथ जोड़ दिया गया है तथा सम्पत्ति के अर्जन, धारण और व्ययन के अधिकार को अनुच्छेद 19(6) द्वारा साधारण जनता के हितों में या किसी अनुसूचित आदिमजाति के हित को संरक्षित करने के लिए युक्तियुक्त निर्बन्धन लगाने के अधिकार को जोड़ दिया गया है ।

गोपालन के मामले (1) में न्यायाधिपति पातन्जलि शास्त्री और मुकर्जी द्वारा व्यक्त किए गए मतों का उल्लेख करने के पश्चात् विद्वान् महाधिवक्ता ने यह निवेदन किया कि

(1) (1950) एस० सी० आर० 88.

व्यक्त किए गए उन मतों से यह दर्शित होता है कि यदि भूमि अर्जन से सम्बन्धित विधि को अनुच्छेद 19(1)(च) के अधीन चुनौती देने से संरक्षित करना हो तो उसे अनुच्छेद 19 (1) (घ) और (ङ) के अधीन चुनौती देने से संरक्षित करना, किसी दलील पर प्रतिबन्ध लगाना कि अनुच्छेद 19(1)(घ), (ङ) और (च) के अधीन अधिकारों का इस प्रकार गहरा सम्बन्ध है कि अनुच्छेद 19(1)(च) के अधीन अधिकार को छीनने का अर्थ है अनुच्छेद 19(1)(घ) और (ङ) के अधीन अधिकारों को उनके व्यवहारिक अंश से शक्तिहीन बनाना। इन कारणों के लिए संसद् ने प्रथम, चतुर्थ और सत्रहवां संशोधन अधिनियमित करके उन संशोधनों द्वारा संरक्षित विधियों को न केवल अनुच्छेद 19(1) (च) और (छ) के अधीन बल्कि सम्पूर्ण अनुच्छेद 19 के अधीन चुनौती को ठीक ही अपवर्जित किया है। परिणामतः यह निवेदन किया गया है कि अनुच्छेद 31ग में केवल मूल अधिकारों के मुकाबले में राज्य की नीति के निदेशक तत्वों को प्रधानता देने की प्रक्रिया अनुध्यात है जिसे पहले अनुच्छेद 31(4) और (6) में मान्यता दी गई थी और बाद में जिसका अनुच्छेद 31क और 31ख और अनुसूची 9 द्वारा विस्तार किया गया था जैसे कि वे पहली बार अधिनियमित किए गए थे और तत्पश्चात् चतुर्थ और सत्रहवें संशोधन द्वारा परिवर्धित किए गए थे और उन सब के बारे में यह अभिनिर्धारित किया गया है कि वे विधिमान्य हैं। निदेशक तत्व भी मूल तत्व है और संशोधन करने वाली शक्ति भावी संसद् और राज्य विधानमण्डलों को ऐसी पूर्विकताओं में परिवर्तन करने के लिए उपबन्ध करने के लिए परिकल्पित की गई है जो संविधान के विरचित किए जाने के पश्चात् घटें और संशोधन शक्ति का विस्तार अनुच्छेद 31ग को अधिनियमित करने तक किया गया है।

मैंने सविस्तार यह बात उपवर्णित की है जो विद्वान् महाधिवक्ता के अनुसार अनुच्छेद 31ग द्वारा अनुच्छेद 19 को अपवर्जित करने का आधार और मुख्य प्रयोजन है। इस दक्ष विश्लेषण से अनुच्छेद 19 को अपवर्जित करने में अनुच्छेद 31ग की छिपी हुई विलक्षणाएं उभर आती हैं। उन निवेदनों के आधार पर नागरिकों को प्रत्याभूत समस्त मूल अधिकार वस्तुतः निराकृत हो जाते हैं। अनुच्छेद 14 छीन लिया जाता है; अनुच्छेद 19(1) (ङ) से (छ) को इस आधार पर अपवर्जित किया जाता है कि उन दोनों का भाग (3) के अधिकारों में से किसी एक या दूसरे अधिकार पर असर पड़ता है और चूंकि ये अधिकार परस्पर अनन्य नहीं हैं और अनुच्छेद 31ग के अधीन विधानमण्डल द्वारा जो आवश्यक रूप से सम्पत्ति के सम्बन्ध में होना चाहिए, किसी सम्पत्ति और व्यापार या कारबार पर प्रभाव पड़ता है यदि अनुच्छेद 39(ख) और (ग)के निदेशक तत्वों को प्रभावशील करना हो तो वे विद्वान् महाधिवक्ता के अनुसार न केवल अनुच्छेद 19(1)(च) और (छ) के प्रतिकूल होंगे बल्कि उस अनुच्छेद के खण्ड (1) के उपखण्ड (क) से (ङ) के प्रतिकूल भी होंगे।

जहां तक मुझे मालूम है किसी भी विधि से, जो अनुच्छेद 31क अधीन अधिनियमित की गई है और जिसे इस न्यायालय के समक्ष चुनौती दी गई है, सिवाय अनुच्छेद 19 (1) (च) और (छ) के, अनुच्छेद 19 (1) (क) से (ङ) तक के अधिकारों में से किसी अधिकार को प्रभावित करने का प्रयास नहीं किया गया है और इसलिए यह प्रश्न इस न्यायालय के समक्ष विचारार्थ नहीं आया था। किन्तु इसके अलावा मुझे यह समझ में नहीं आता है कि किस तर्क के आधार पर शांतिपूर्वक और निरायुद्ध सम्मेलन के, या किसी

नागरिक के लिए भारत राज्य-क्षेत्र में सर्वत्र अबाध संचरण के या भारत राज्य-क्षेत्र के किसी भाग में निवास करने या बस जाने के स्वातंत्र्य का सम्पत्ति के अर्जन, धारण और व्ययन के या कोई वृत्ति, उपजीविका, व्यापार या कारबार करने के अधिकार से सम्बन्ध हो सकता है। क्या वे व्यक्ति जिनका व्यापार और कारबार छीन लिया जाता है या जिन्हें उनकी सम्पत्ति से वंचित कर दिया जाता है, भारत में सर्वत्र अबाध संचरन या भारत के किसी भाग में बस जाने के या कोई वृत्ति या उपजीविका करने के प्रत्याभूत अधिकारों के हकदार नहीं हैं ? जब उन्हें उनकी सम्पत्ति से वंचित कर दिया जाता है तब वे और क्या कर सकते हैं सिवाय इसके कि वे कोई अन्य नौकरी या उपजीविका पाने के लिए कोई और साधन या रास्ते ढूंढें और उस प्रयत्न में वे भारत में सर्वत्र संचरण करें या भारत के किसी भाग में बस जाएं ? यदि उन्हें इन आधारभूत अधिकारों का प्रयोग करने से रोक दिया जाए तो वे गुलाम मात्र हो जाएंगे क्योंकि उनके स्वामित्व में ऐसी सम्पत्ति थी जिसे राज्य अपनी नीति को अग्रसित करने के लिए जब्त कर लिया है। यदि निदेशक तत्वों के अधीन बनाई गई विधि का सम्पत्ति से कोई सम्बन्ध नहीं है तो धन के केंद्रण या उत्पादन साधनों से होने वाली आर्थिक पद्धति के प्रवर्तन को रोकने के कर्तव्य का नागरिकों के भारत में सर्वत्र संचरण या भारत के किसी भाग में बस जाने के अधिकार के साथ क्या सुसंगत या सम्बन्ध है ? क्या उन व्यक्तियों को, जिन्हें निदेशक तत्वों को अग्रसित करने में सम्पत्ति वितरित की जाती है, अनुच्छेद 31 ग के अधीन बनाई गई विधियों द्वारा इस प्रकार वितरित सम्पत्ति में उन अधिकारों के अतिलंघन से सुरक्षित नहीं रखा जाना चाहिए ? ऐसा मालूम होता है कि जिन व्यक्तियों के फायदे के लिए विधान उन अन्य व्यक्तियों को वंचित करता है जिनमें धन का केन्द्रण होता है, उन्हें अनुच्छेद 19 और अनुच्छेद 14 का संरक्षण प्राप्त नहीं हो सकता यदि अनुच्छेद 31ग उन अधिकारों को छीन सकता है या उन्हें नष्ट कर सकता है। ऐसे संरक्षण के बिना उन्हें प्रजातंत्र को जीवित रखने के लिए बाजी नहीं लगानी पड़ेगी और न ही उन्हें यह विश्वास दिलाया जा सकता है कि उन्हें आर्थिक न्याय मिलेगा और न ही मैं यह समझ पा रहा हूं कि जहां किसी उद्योग या उपक्रम को ले लिया जाता है वहां उस उद्योग या उपक्रम में कर्मकारों के संगम या यूनियन बनाने के अधिकार को छीन लेना आवश्यक क्यों हो जाता है। स्वामियों से ले लिए गए उद्योग का उसमें काम करने वाले कर्मकारों से कोई सम्बन्ध नहीं होता और केवल इसलिए कि वे उसमें काम करते हैं इसलिए उन्हें भी उनके अधिकारों से वंचित किया जाएगा। मैंने अनुच्छेद 31ग द्वारा न्यून किए जाने वाले असम्बद्ध अधिकारों के कुछ पहलुओं का वर्णन किया है। निस्सन्देह अनुच्छेद 19 (1) (क) के अधीन वाक् और अभिव्यक्ति स्वातन्त्र्य की प्रत्याभूति में प्रेस स्वातन्त्र्य की मान्यता के सम्बन्ध में महाराष्ट्र के विद्वान् महाधिवक्ता ने प्रकाश डाला था। क्या इससे यह अभिप्रेत है कि यदि प्रेस के एकाधिकार को प्रतिषिद्ध किया जाता है या जहां अनुच्छेद 39 (ख) और (ग) के अधीन उसे तोड़ने का प्रयास किया जाता है और मुद्रण प्रेसों और ऐसी प्रेस के उपक्रमों को किसी विधि के अधीन अर्जित कर लिया जाता है तो क्या नागरिकों को अन्य प्रेस आरम्भ करने और अपने वाक् और अभिव्यक्ति स्वातंत्र्य का प्रयोग करने के अधिकार से वंचित किया जाना चाहिए ? यदि यह अधिकार छीन लिए

जाने हैं तो देश के नागरिकों के वाक् और अभिव्यक्ति स्वातन्त्र्य का क्या होगा, जो कि संसदीय प्रजातंत्र का आवश्यक अंग है ? मुम्बई राज्य और एक अन्य बनाम एफ. एन. बलसारा ([1]) में अनुच्छेद 19 के असंशोधित खण्ड (2) के अधीन यह अभिनिर्धारित किया गया था कि धारा 23 (क) और धारा 24 (1) (क), जिनमें जनता के समक्ष मादक पदार्थों की प्रशंसा करना या विज्ञापन करना प्रतिषिद्ध किया गया है, अनुच्छेद 19 (1)(क) में प्रत्याभूत अधिकार के प्रतिविरुद्ध हैं क्योंकि उस अनुच्छेद के खण्ड (2) में की शर्तों में से कोई भी शर्त लागू नहीं होती है। किन्तु प्रथम 'संशोधन से अपराध उद्दीपन के सम्बन्ध में, शब्दों को युक्तियुक्त निर्बन्धन के रूप में जोड़ा गया है जिसका राज्य विधि द्वारा उपबन्ध कर सकता है। जो भी हो ऐसी विधि बनाने की शक्ति का अभाव नागरिकों के वाक् और अभिव्यक्ति स्वातन्त्र्य समस्त अधिकार को निराकृत करने का कोई आधार नहीं है।

अनुच्छेद 15 अधिकार को केवल उन व्यक्तियों तक सीमित रखता है जो महिलाएं नहीं हैं, सामाजिक और शिक्षात्मक दृष्टि से पिछड़े हुए नागरिक वर्ग, अनुसूचित जातियां या अनुसूचित आदिम जातियां नहीं हैं और इन सब को संरक्षण देकर विभेद किया गया था। अनुच्छेद 16 भी इसी प्रकार की शर्त है। अनुच्छेद 17, 18, 23 और 24 ऐसे प्रतिषेध हैं जिन्हें प्रभावी करने के लिए राज्य को व्यादिष्ट किया गया है। अनुच्छेद 25 से 28 पर, जिनमें धार्मिक स्वातन्त्र्य प्रत्याभूत किया गया है, निदेशक तत्वों को अग्रसित करने के लिए अनुच्छेद 31ग द्वारा प्रभाव पड़ सकता है क्योंकि इन वर्गों के स्वामित्व में सम्पत्तियां, स्कूल, संस्थाएं आदि होती हैं। ये सब सम्पत्ति धारण करने के अधिकार के बिना निरर्थक हो जाएंगे। इसी प्रकार अनुच्छेद 29 और 30 भी व्यर्थ हो जाएंगे जब अनुच्छेद 19 और 14 पूर्णतया निराकृत हो जाएंगे। जो अनुच्छेद बाकी बच गए हैं वे हैं अनुच्छेद 20, 51 और 22, जिनमें से अनुच्छेद 22 खण्ड (4) से (7) में निवारक निरोध का उपबन्ध होने के कारण न्यून हो गया है जो निस्सन्देह नागरिकों और राज्य की सुरक्षा, प्रशान्ति और सुरक्षा के अत्यधिक हित में है। मैंने प्रत्यर्थियों की ओर से दी गई दलीलों की विवक्षाएं यह दर्शित करने के लिए बता दी है कि यदि इन्हें स्वीकार कर लिया जाता है तो यह देश संविधान और उस प्रस्तावना के विहीन हो जाएगा जिसमें उसके नागरिकों के मूल अधिकारों को प्राप्त कराने के लिए उद्घोषणा की गई है। उन व्यक्तिगत अधिकारों को, जो किसी प्रजातन्त्र में नागरिकों के राजनैतिक अधिकार सुनिश्चित करते हैं सामाजिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए निदेशक तत्वों के अधीन होना पड़ेगा किन्तु उन्हें अभिभूत नहीं किया जा सकता और न ही उन्हें अस्तित्वहीन बनाया जा सकता है। ऐसा अनुध्यात नहीं किया जा सकता कि यह बात संशोधन शक्ति के प्रविषय के भीतर आती है।

यद्यपि अनुच्छेद 31 क अपनी परिधि के भीतर आने वाली विधियों को अनुच्छेद 19 द्वारा प्रदत्त अधिकारों से संरक्षण प्रदान करता है तथापि ऐसा संरक्षण अनुच्छेद 19 (1) के खण्ड (च) और (छ) द्वारा प्रदत्त अधिकारों के विरुद्ध ही हो सकता है, क्योंकि उसकी विषयवस्तु के बारे में अभिव्यक्त रूप से यह कथित किया गया था कि वह

([1]) (1951) एल० सी० आर० 682.

किसी सम्पदा में, जैसे कि वह उसके खण्ड (2) में परिभाषित की गई है, अधिकारों का अर्जन या निर्वापन (इक्सटिंग्विशमेण्ट) या संशोधन करना है और प्रबन्ध करने तथा कतिपय पट्टाधृति हितों के अधिकारों का ले लिया जाना या उनका समामेलन या पर्यवसान आदि करना है। अनुच्छेद 31ग अनुच्छेद 39 (ख) और (ग) में की नीतियों को प्रभावी करने वाली विधियों को संरक्षण प्रदान करता है। इन दोनों उद्देश्यों की पूर्ति के लिए व्यक्तियों के जिन अधिकारों को न्यून किया जाना है वे केवल अनुच्छेद 19 के वही अधिकार हो सकते हैं जो सम्पत्ति और व्यापार, कारबार, वृत्ति या उपजीविका से सम्बन्धित हैं। यद्यपि 'आर्थिक व्यवस्था' अभिव्यक्ति का उपयोग अनुच्छेद 39 (ग) में किया गया है तथापि उस अनुच्छेद का उद्देश्य साधारणतया आर्थिक व्यवस्था में परिवर्तन लाना नहीं है। किन्तु वह धन और उत्पादन साधनों के सर्वसाधारण के लिए अहितकारी केन्द्रण को रोकने के लिए ही सीमित है। इस खण्ड में जो कुछ परिकल्पित है वह यह है कि राज्य यह सुनिश्चित करे कि आर्थिक व्यवस्था इस प्रकार चले जिससे धन और उत्पादन साधनों का सर्वसाधारण के लिए अहितकारी केन्द्रण न हो। धन और उत्पादन साधनों का जहां केन्द्रण हुआ है जो सर्वसाधारण के लिए अहितकारी है वहां अनुच्छेद 39 (ग) के अधीन विधि धन और उत्पादन साधनों के केन्द्रण को यथावश्यक तोड़ने या विनियमित करने के लिए होगी। बाकी सब अधिकार अनुच्छेद 31ग की परिधि के बाहर हैं और इस सम्बन्ध में अनुच्छेद 31क और अनुच्छेद 31ग के बारे में यह कहा जा सकता है कि उनका भविष्य एक समान है न कि भिन्न। अतः मेरे मतानुसार विद्वान् महासॉलिसिटर ने यह ठीक ही निवेदन किया है कि अनुच्छेद 31ग के अधीन विधि 'भौतिक साधनों,' 'धन का केन्द्रण' और 'उत्पादन साधनों' पर ही प्रवृत्त होगी और यदि ऐसा है तो अनुच्छेद 19(1) (क) से (ङ) के अधिकारों की कोई सुसंगति नहीं होगी और वे लागू नहीं होंगे।

अनुच्छेद 31ग द्वारा अनुच्छेद 31के अपवर्जन के सम्बन्ध में अनुच्छेद 31का खण्ड (1) वस्तुतः अनुच्छेद 31ग द्वारा प्रभावित नहीं होता क्योंकि पश्चात्वर्ती अनुच्छेद के अधीन जो अधिकार प्रभावित होते हैं वे केवल विधि द्वारा ही होने चाहिए। यदि अनुच्छेद 31ग का अधिनियमन सम्पत्ति पर प्रभाव डालने वाले अनुच्छेद 39 (ख) और (ग) के निदेशक तत्वों को अग्रसित करने में विधियां बनाने के लिए किया गया था तो उन विधियों को अनुच्छेद 31 (1) के अनुरूप होना होगा क्योंकि वे व्यक्तियों को उनकी सम्पत्ति से वंचित करने वाली विधियां होंगी। अनुच्छेद 31ग में भी कि अनुच्छेद 39 (ख) और (ग) के निदेशक तत्वों को प्रभावी बनाने के लिए किसी विधि का बनाया जाना अनुध्यात है। जहां तक अनुच्छेद 31(2) का सम्बन्ध है पच्चीसवें संशोधन की धारा 2 से अनुच्छेद 31(2) में अन्तर्विष्ट अधिकार को पहले ही न्यून कर दिया है और अनुच्छेद 31ग द्वारा प्राधिकृत इस अधिकार का और न्यून किया जाना किसी विशिष्ट मामले में उस अधिकार का नाश या निराकरण होगा और तब हर एक मामले में यह विचार करना होगा कि क्या किसी विशिष्ट विधि में प्रश्नगत सम्पत्ति के अर्जन या अधिग्रहण के लिए ऐसी रकम के लिए उपबन्ध किया गया है जो अनुच्छेद 31(2) के, जैसे कि वह संविधान पच्चीसवां संशोधन के पूर्व था, अधीन अधिकार को निराकृत करना या उसे शक्तिहीन बनाना होगा।

चौथे तत्व के सम्बन्ध में मैं अपने विद्वान् भ्राता न्यायाधिपति खन्ना के तर्क और निष्कर्ष से सहमत हूं, मुझे इस निर्णय का परिशीलन करने का अवसर प्राप्त हुआ है। जहां तक कि उसका सम्बन्ध घोषणा से सम्बन्धित भाग के पृथक् किए जाने से है, और आदर सहित मैं भी केवल इसी पहलू पर पहले तीनों तत्वों पर अपने निष्कर्षों के समर्थन के लिए अतिरिक्त कारण के रूप में तर्क को अपनाता हूं।

यदि अनुच्छेद 31ग के प्रथम भाग को इस रीति में पढ़ा जाए तो उसके बारे में यह अभिनिर्धारित किया जाएगा कि वह संशोधन शक्ति के अधिकार के अन्तर्गत है। यदि केवल अनुच्छेद के वे भाग, जो उसे संशोधन शक्ति के अधिकारातीत बनाते हैं, शेष भाग से पृथक कर दिए जाएं। जो भाग पृथक् किए जा सकते हैं वे ये शब्द हैं 'से असंगत है अथवा उसे छीनती है या' और शब्द 'अनुच्छेद 14' और घोषणा से सम्बन्धित वह भाग जिसके कारण न्यायिक पुनर्विलोकन अपवर्जित किया जाता है। इन भागों को पृथक् किया जाना पंजाब प्रान्त बनाम दौलत सिंह और कुछ अन्य (¹) में प्रिवी काउन्सिल के विनिश्चय तथा आर० एम० डी० चमरबौगवाला बनाम भारत संघ (²) में इस न्यायालय द्वारा अधिकथित सिद्धान्तों की दृष्टि से अनुज्ञेय है।

यह सिद्धान्त कि किसी कानून के साधारण शब्दों का अर्थान्वयन उस विधानमण्डल की, जो उसे अधिनियमित करता है, शक्तियों के प्रति निर्देश से किया जाना चाहिए, और यह कि यह साधारण उपधारणा कि विधानमण्डल का आशय अपनी अधिकारिता से बाहर जाने का नहीं होता, स्थापित है। हिन्दू वुमेन्स राइट्स टू प्रापर्टी ऐक्ट के मामले (³) में और दौलत सिंह के मामले में (¹) यह अभिनिर्धारित हो चुका है कि साधारण उपधारणा के आधार पर विधानमण्डल का आशय अपनी अधिकारिता से बाहर जाने का नहीं होता और यह कि यदि जो कुछ बाकी रह जाता है उसे प्रभावी किया जा सकता हो तो न्यायालय उपबन्ध के उस भाग को पृथक कर सकता है जो उस शक्ति के आधिक्य में हो। पूर्ववर्ती मामले में चूंकि ऐक्ट उपचारक (रिमिडिअल) ऐक्ट था जिसमें उस बात को हटाने या कम करने का प्रयास किया गया है जिसे सम्भवतः विधानमण्डल ने रिष्टि माना था इसलिए उसका फायदाप्रद निर्वचन किया गया था (देखिए—पृष्ठ 31 पर मु० न्या० ग्वायर द्वारा व्यक्त किए गए मत)। पश्चात्वर्ती मामले में पंजाब एलियनेशन ऑफ लैण्ड ऐक्ट, 1900 की धारा 13ए के उपबन्ध, जिसे पंजाब एलियनेशन ऑफ लैण्ड (सेकण्ड अमेण्डमेण्ट) ऐक्ट, 1938 (1938 का 10) की धारा 5 द्वारा जोड़ा गया था और जिनमें उस ऐक्ट में यथा विनिर्दिष्ट उन बेनामी संव्यवहारों के निवारण के लिए, जो 1938 के ऐक्ट के प्रारम्भ के पूर्व या पश्चात् किए गए थे और अन्यसंक्रामक (एलियनर) द्वारा कब्जे की वसूली के लिए उपबन्ध किया गया था, गवर्नमेंट ऑफ इण्डिया ऐक्ट, 1935 की धारा 298 की उपधारा (1) का उल्लंघन करने वाले के रूप में प्रान्तीय विधानमण्डल के शक्तिबाह्य होंगे क्योंकि कुछ मामलों में धारा 13ए केवल वंश परम्परा के आधार पर प्रतिषेध के रूप में प्रवृत्त होगी, किन्तु जहां तक भावी संव्यवहारों का सम्बन्ध है उसे इण्डिया एण्ड बर्मा (टेम्पोरेरी एण्ड मिसलेनियस प्रोविजन्स) ऐक्ट, 1972 की धारा 4 द्वारा यथा संशोधित 1935 के ऐक्ट की धारा 298 की उपधारा (2)(ए) द्वारा प्राधिकृत किया गया था और

(¹) (1945) 73 इण्डियन अपील्स 59=(1946) एफ० सी० आर० 1.
(²) (1957) एस० सी० आर० 930.
(³) (1941) एफ० सी० आर० 18.

उसे अविधिमान्यता से संरक्षण प्राप्त था। क्योंकि धारा 13ए के उपबन्ध, जहां तक कि वे भूतलक्षी प्रभाव से प्रवृत्त होने के लिए तात्पर्यित थे, शक्तिवाह्य और शून्य होते, प्रिवी काउन्सेल ने धारा में 'पूर्व या' शब्द हटा कर भूतलक्षी तत्त्व को पृथक् कर दिया और शेष धारा को विधिमान्य रूप से प्रवृत्त होने के लिए छोड़ दिया। लार्ड थैंकरटन ने प्रिवी काउन्सिल की ओर से राय अभिव्यक्त करते हुए पृष्ठ 19-20 पर यह मत व्यक्त किया—

> "लार्डशिप्स की राय के अनुसार यह निष्कर्ष निकलता है कि आक्षेपित ऐक्ट, जहां तक कि वह भूतलक्षी है, प्रान्तीय विधानमण्डल की विधायी शक्ति के बाहर था और यदि भूतलक्षी तत्त्व को शेष उपबन्धों से पृथक् नहीं किया जा सकता तो निर्विवाद यह सिद्ध हो जाता है कि सम्पूर्ण ऐक्ट को शक्तिवाह्य और शून्य घोषित करना होगा। किन्तु यह खुशी की बात है कि आक्षेपित ऐक्ट में भूतलक्षी तत्त्व को आसानी से पृथक् किया जा सकता है और आक्षेपित ऐक्ट की धारा 5 से 'पूर्व या' शब्द हटा कर आक्षेपित ऐक्ट के शेष उपबन्ध विधिमान्य रूप से प्रवृत्त हो सकते हैं।"

चमरबौगवाला के मामले ([1]) में एफ० एन० बलसारा के मामले ([2]) के सहित विभिन्न मामलों का उल्लेख करने के पश्चात् न्यायाधिपति वेंकटराम अय्यर ने इस सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया कि जब कोई कानून भागतः शून्य हो तब वह शेष भाग के सम्बन्ध में प्रवृत्त किया जाएगा यदि उसे उस भाग से पृथक् किया जा सकता हो जो अविधिमान्य है। इस नियम के प्रयोजन के लिए यह बात अतात्विक है कि क्या कानून की अविधिमान्यता इस कारण से कि उसकी विषय-वस्तु विधानमण्डल की सक्षमता के बाहर है या इस कारण से कि उसके उपबन्धों द्वारा सांविधानिक प्रतिषेधों का उल्लंघन होता है, उद्भूत होती है। न्यायाधिपति वेंकटराम अय्यर ने पृथक् किए जाने के सम्बन्ध में सात नियम प्रतिपादित किए हैं। एफ० एन० बलसारा के मामले ([2]) में धारा 23(ए) और (बी) तथा धारा 24(1)(ए) के अलावा, जो कि गुणकथन और उद्दीपन के सम्बन्ध में है धारा 2 (24)(ए) में 'लिकर' शब्द की परिभाषा से 'सभी द्रव्य पदार्थ जिसमें अल्कोहल सम्मिलित या अन्तर्विष्ट है' शब्द पृथक् कर दिए गए थे क्योंकि इनमें औषधीय निर्मितियां शामिल थीं। ऐसा मालूम होता है कि न तो सम्पूर्ण उपखण्ड (ए) हटाया गया था और न ही सम्पूर्ण खण्ड (24) पृथक् किया गया था। केवल उपर्युक्त शब्द ही पृथक् किए गए थे और यह अभिनिर्धारित किया गया था कि परिभाषा का शेष भाग विधिमान्य है।

कलकत्ता निगम बनाम कलकत्ता ट्रामवेज कम्पनी लिमिटेड ([3]) में प्रश्न यह था कि क्या कलकत्ता म्यूनिसिपल ऐक्ट, 1951 की धारा 437 (1)(बी) अनुच्छेद 19(1)(छ) के अधीन अविधिमान्य थी जहां तक कि वह धारा निगम की राय को निश्चायक और किसी न्यायालय में चुनौती के अयोग्य बनाती है। धारा 437(1) का उपखण्ड (बी) इस प्रकार है—

([1]) (1957) एस० सी० आर० 930.

([2]) (1951) एस० सी० आर० 682.

([3]) (1954) एस० सी० आर० 25.

*"कोई ऐसा प्रयोजन, जो निगम की राय में (जो राय निश्चायक होगी और उसे किसी न्यायालय में चुनौती नहीं दी जाएगी) जीवन, स्वास्थ्य या सम्पत्ति के लिए खतरनाक है या जिससे न्यूसेन्स होने की सम्भावना है।"

इस न्यायालय ने कोष्ठक में दिए गए भाग को अनुच्छेद 19(1)(छ) का अतिक्रमण करने वाला अभिनिर्धारित किया। यह दलील दी गई थी कि उपखण्ड का उपर्युक्त भाग शेष भाग से जटिल रूप से मिला हुआ है और इसलिए उसे पृथक् नहीं किया जा सकता। न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि चमरबौगवाला के मामले (1) में तीसरी प्रस्थापना अर्थात् कि जब ऐसे उपबन्ध, जो विधिमान्य हों, उन उपबन्धों से सुभिन्न और पृथक् हैं, जो अविधिमान्य हैं, यदि वे सब ऐसी एकल स्कीम के भाग हैं जो सम्पूर्ण रूप से प्रवृत्त किए जाने के लिए आशयित है, तब भी किसी एक भाग की अविधिमान्यता सम्पूर्ण भाग के विफल होने का कारण बनेगी, लागू नहीं होती है। न्यायाधिपति वांचू ने यह दृष्टिकोण अभिव्यक्त किया कि जो खण्ड कोष्ठक में है और जिसमें 'जो राय निश्चायक होगी और उसे किसी न्यायालय में चुनौती नहीं दी जाएगी' शब्द शामिल हैं, ऊपर निर्दिष्ट खण्ड के शेष भाग से पृथक् किया जा सकता है।

कामेश्वर प्रसाद बनाम बिहार राज्य (2) के मामले में बिहार गवर्नमेंट सर्वेण्ट्स कण्डक्ट रूल्स, 1956 के नियम 4ए में यह उपबन्धित था कि **"कोई सरकारी सेवक अपनी सेवा की शर्तों से सम्बन्धित किसी विषय के सम्बन्ध में किसी प्रदर्शन में भाग नहीं लेगा या किसी भी प्रकार की हड़ताल नहीं करेगा'। न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि वह नियम अनुच्छेद 19(1)(क) और (ख) का वहां तक अतिक्रमण करता है जहां तक उसमें अहिंसा या अन्यथा किसी भी प्रकार के प्रदर्शन का प्रतिषेध किया गया है और चूंकि इस प्रकार पढ़ना सम्भव नहीं है जिससे कि उसे उस उपबन्ध के विधिक भाग को असांविधानिक भाग से पृथक् किया जा सके, किसी प्रदर्शन में भाग लेने से सम्बन्धित सम्पूर्ण नियम को शक्तिबाह्य घोषित किया जाना चाहिए। लेकिन न्यायालय ने सम्पूर्ण नियम 4ए का खण्डन नहीं किया था बल्कि शेष भाग से केवल उस भाग को अलग किया था जो प्रदर्शन से सम्बन्धित था और हड़ताल से सम्बन्धित भाग जिसे कायम रखा गया था, उपर्युक्त भाग को पृथक् किए जाने के पश्चात् भी वह अस्तित्व में बना रहा। लेकिन मध्य प्रदेश राज्य बनाम रानोजीराव शिन्दे (3) में पृथक्करण का सिद्धान्त लागू नहीं किया

*अंग्रेजी में यह इस प्रकार है—

"any purpose which is, in the opinion of the Corporation (which opinion shall be conclusive and shall not be challenged in any court) dangerous to life, health or property or likely to creat a nuisance,"

**"No Government servant shall participate in any demonstration or resort to any form of strike in connection with any matter pertaining to his conditions of service."

(1) (1957) एस० सी० आर० 930.

(2) (1962) सप्लीमेण्ट 3 एस० सी० आर० 369.

(3) (1968) 3 एस० सी० आर० 489 = [1968] 2 उम० नि० प० 154.

गया था। उस मामले में मध्य प्रदेश एबोलिशन ऑफ कैश ग्राण्ट्स ऐक्ट, 1963 की धारा 2(1) में 'ग्राण्ट' (अनुदान) शब्द की परिभाषा ऐसी भाषा में की गई थी जो बहुत व्यापक थी और उसमें विभिन्न प्रकार के नकदी अनुदानों के विभिन्न प्रकारों में कोई भेद नहीं किया गया था। इस न्यायालय को उसमें सम्मिलित विभिन्न अनुदानों में से कुछ अनुदानों को पृथक् करने का कोई आधार दिखाई नहीं दिया और इसलिए उस न्यायालय ने यह मत अभिव्यक्त किया कि उस खण्ड को पुनः लिखना अनुज्ञेय नहीं है और उस परिभाषा को ऐसे नकदी अनुदानों तक सीमित रखा जिन्हें विधानमण्डल समाप्त करने के लिए सक्षम हो। अतः इस मामले का विभेद किया जा सकता है क्योंकि नियम ऐसे उदाहरणों को लागू नहीं होता है।

मैंने पृथक्करण के सिद्धान्त को लागू करके अनुच्छेद 31ग की विधिमान्यता पर विचार किया है, यद्यपि किसी भी दशा में अनुच्छेद 31ग के सम्बन्ध में इस पहलू पर विचार नहीं किया गया है क्योंकि दोनों ने ही उग्र स्थिति अपनाई थी। यदि उसे स्वीकार कर लिया जाता है तो उसका परिणाम या तो पूर्ण अविधिमान्य होगा या उसकी विधिमान्यता को पूर्णतया कायम रखना होगा। यदि, जैसे कि पिटीशनर ने दलील दी है कि किसी संशोधन द्वारा मूल अधिकारों में से किसी अधिकार को विकृत या नष्ट नहीं किया जा सकता तो इस निमित्त दलील का अगला तर्कपूर्ण कदम यह सिद्ध करना होगा कि सम्पूर्ण अनुच्छेद 31ग उस हद्द बुरा है और यदि ऐसा नहीं है तो किस सीमा तक पृथक्करण के सिद्धान्त को लागू करके उसका समर्थन किया जा सकेगा विशिष्टतया जबकि अनुच्छेद 31ग के घोषणा सम्बन्धी भाग के पृथक् किए जाने के बारे बहस के दौरान सबसे आगे थी। इसी प्रकार प्रत्यर्थियों को यह जानते हुए कि पिटीशनर का मामला क्या है यह परीक्षा करनी चाहिए थी और यह निवेदन करना चाहिए था कि पिटीशनरों की दलील के अनुसार अनुच्छेद 31ग किस सीमा तक अविधिमान्य है। जब 19 फरवरी, 1973 को यह प्रश्न पूछा गया था कि 'यदि एक बार यह स्वीकार कर लिया जाता है कि किसी संविधान को निराकृत नहीं किया जा सकता तब जो कुछ मालूम किया जाना होता है वह यह है कि किस सीमा तक संशोधन से निराकरण होता है' और इसका उत्तर यह है कि 'सम्पूर्ण संविधान संशोधित नहीं किया जा सकता' और यह भी कि जब यह प्रश्न उठाया गया था कि अनुच्छेद 31ग की भाषा से यह मालूम होता है कि वह अप्रभावी है, दोनों पक्षकारों में से किसी ने भी इस पहलू पर कोई दलील नहीं दी। और न ही बहस के दौरान कई अवसरों पर जब घोषणा सम्बन्धी भाग के पृथक्करण का प्रश्न उठाया गया था, दोनों पक्षकारों में से किसी ने भी यह निवेदन किया कि क्या ऐसा पृथक्करण सम्भव है या नहीं। उन परिस्थितियों में न्यायालय स्वयं ही परीक्षा और विचार करता है कि इन दो चरम सीमाओं के बीच कौन सी स्थिति ठीक है। सांविधानिक संशोधन को, जो अनुच्छेद 368 में विहित प्ररूप और रीति का अनुसरण करने के पश्चात् अधिनियमित किया गया हो, जैसे कि मैंने पहले बताया है, अविधिमान्य अभिनिर्धारित नहीं किया जाना चाहिए, यदि उसे आक्षेपनीय भाग को पृथक् करके भी कायम रखा जा सकता हो, जहां कि विधिमान्य भाग अपने पैरों पर खड़ा हो सकता है। सांविधानिक संशोधन की विधिमान्यता पर विचार करने की बात को केवल ऐसी दलीलों तक ही, जिन्हें पक्षकार पेश करना चाहते हों, सीमित रखना सदा लोक हित में नहीं होता अन्यथा हम केवल उस प्रकाश के अनुसार, जैसा हमारे समक्ष डाला गया है न कि

इस बात पर कि उसे हम क्या समझते हैं कि आक्षेपित संशोधन की सही प्रकृति क्या है, संविधान का निर्वचन करने के लिए विवश हो जाएंगे। चाहे अकेले मेरा ही यह विचार है, जिन भागों का मैंने संकेत किया है वे पृथक् किए जा सकते हैं और पृथक् न किए गए भाग प्रवृत्त और प्रभावशाली बने रह सकते हैं जिससे कि अनुच्छेद 39(ख) और (ग) में अन्तर्निहित राज्य की नीति के निदेशक तत्वों को अनुच्छेद 31ग के अधीन बनाई गई विधियों द्वारा अग्रसित किया जा सके। जो मत मैंने अपनाया है उसके अनुसार 'से असंगत है अथवा उसे छीनती या' शब्द 'अनुच्छेद 14' शब्द तथा वह भाग भी 'जिस विधि में यह घोषणा हो कि वह ऐसी नीति को प्रभावी करने के लिए है उस पर किसी न्यायालय में इस आधार पर आपत्ति नहीं की जाएगी कि वह ऐसी नीति को प्रभावी नहीं करती है', पृथक् किए जा सकते हैं, इसलिए उन्हें अनुच्छेद 31ग से हटा दिया जाए। परिणामतः ऊपर संकेतित भागों को पृथक् करने के पश्चात् अनुच्छेद 31ग के अर्थान्वयन के आधार पर मैं पच्चीसवें संशोधन की धारा 3 को विधिमान्य अभिनिर्धारित करता हूं।

संविधान(पच्चीसवां संशोधन)अधिनियम की विधिमान्यता पर मुख्य न्यायाधिपति ने यह निष्कर्ष निकाला है कि इस संशोधन के होते हुए भी संविधान न्यायपीठ यह विनिश्चय करेगी कि क्या आक्षेपित अधिनियम मूल अधिकारों को छीन लेते हैं या उन्हें केवल न्यून करते हैं और यह कि क्या उनसे लोक हित में युक्तियुक्त न्यूनन होता है और यदि उनसे मूल अधिकार छीन लिए जाते हैं तो उनका खण्डन किया जाना होगा। मेरे विद्वान् भ्राता न्यायाधिपति हेगड़े और मुखर्जी ने वस्तुतः यही निष्कर्ष निकाला है जब उन्होंने यह अभिनिर्धारित किया कि यह संशोधन विधिमान्य है। किन्तु क्या वे अधिनियम जो नवम अनुसूची में उस संशोधन द्वारा रखे गए थे या उनमें का कोई उपबन्ध संविधान के आधारभूत तत्वों या सारभूत तत्वों में से किसी का निराकरण करते हैं, इस बात की परीक्षा उस समय करनी होगी जबकि उन अधिनियमों की विधिमान्यता पर विचार-विमर्श किया जाएगा। आदर सहित मैं वस्तुतः इन निष्कर्षों से सहमति प्रकट करता हूं जो उस मत से संगत हैं जो मैंने अनुच्छेद 31क और 31ख के सम्बन्ध में अभिव्यक्त किया है। मैं इस बात से भी सहमत हूं कि पिटीशनर की ओर से विद्वान् अधिवक्ता की यह दलील कि अनुच्छेद 31ख का अनुच्छेद 31 से गहरा सम्बन्ध है, स्वीकार नहीं की जा सकती और उसे इन निर्णयों में दिए गए कारणों से नामंजूर किया जाना चाहिए। इस प्रश्न का कि क्या मूल अधिकार आक्षेपित संशोधन द्वारा सम्मिलित इन अधिनियमों में से या इन अधिनियमों के ऐसे उपबन्धों में से किसी एक द्वारा निराकृत या शक्तिहीन हो जाते हैं, उस समय परीक्षण किया जाएगा जब इन अधिनियमों की विधिमान्यता पर विचार विमर्श किया जाएगा और इस आरक्षण के अध्यधीन मैं संविधान (पच्चीसवां) संशोधन अधिनियम को विधिमान्य अभिनिर्धारित करता हूं।

अब मैं अपने निष्कर्ष बताता हूं जो इस प्रकार हैं—

"(1). अनुच्छेद 12, 13 और भाग 3 के अन्य उपबन्धों और अनुच्छेद 368 के अर्थान्वयन के अनुसार अनुच्छेद 13 (2) भाग 3 में के किन्हीं अधिकारों को संशोधित करने के लिए अनुच्छेद 368 पर कोई निषेधाज्ञा नहीं लगाता है और इस दृष्टिकोण से यह विनिश्चय करना अनावश्यक है कि क्या गोलक नाथ वाले मामले में प्रमुख बहुमत निर्णय में अनुसूची 7 की सूची I की अवशिष्ट प्रविष्टि 97 में संशोधन

की शक्ति को ढूंढ कर ठीक ही किया है और न ही उस मामले में बहुमत विनिश्चय को ध्यान में रखते हुए यह अपेक्षा की गई है कि संशोधन की शक्ति स्वयं अनुच्छेद 368 में पाई जा सकती है।"

(2) चौबीसवां संशोधन—अनुच्छेद 368 में 'संशोधन' शब्द के अन्तर्गत निरसन नहीं आता। संसद् अनुच्छेद 368 और 13 तथा सभी मूल अधिकारों का भी संशोधन कर सकती है और यद्यपि संशोधन की शक्ति बहुत व्यापक है तथापि वह इतनी व्यापक नहीं है कि वह मूल अधिकारों में से किसी अधिकार को या संविधान के आधारभूत ढांचे में से सारभूत तत्वों को पूर्णतया निराकृत या शक्तिहीन या विकृत कर सकती है या संविधान के अस्तित्व को नष्ट कर सकती है। इन परिसीमाओं के भीतर संसद् संविधान के हर एक अनुच्छेद का संशोधन कर सकती है। संसद् अनुच्छेद 368 के अधीन संशोधन करने की अपनी शक्ति का ऐसा विस्तार नहीं कर सकती जिससे कि वह अपने ऊपर संविधान को निरसित, निराकृत करने अथवा मूल अधिकारों या संविधान के आधारभूत ढांचे के सारभूत तत्वों में से किसी को विकृत, शक्तिहीन या नष्ट करने अथवा संविधान के अस्तित्व को नष्ट करने की शक्ति प्रदत्त कर सके तथा जो अर्थान्वयन मैंने किया है उसके अनुसार चौबीसवां संशोधन विधिमान्य है क्योंकि इससे संशोधन शक्ति की प्रकृति और प्रविषय में, जैसे कि वह संशोधन के पूर्व विद्यमान थे, कोई परिवर्तन नहीं हुआ है।

(3) पच्चीसवां संशोधन—

(i) धारा 3.

(क) यथा प्रतिस्थापित अनुच्छेद 31 का खण्ड (2)—अनुच्छेद 31 के खण्ड (2) का वही अर्थ और प्रयोजन है जैसा कि निर्दिष्ट विभिन्न विनिश्चयों में किया गया है सिवाय इस बात के कि 'रकम' शब्द 'प्रतिकर' शब्द के स्थान पर रखा गया है जिसके पश्चात् मूल्य के बराबर या अर्जित सम्पत्ति के मूल्य के ठीक समतुल्य का सिद्धान्त अब लागू नहीं होता है। 'रकम' शब्द से, जिसके सम्बन्ध में कोई विधिक धारणा नहीं है और जैसा कि संशोधित खण्ड में संकेत किया गया है, केवल नकदी अभिप्रेत है जो कि देश की करेंसि में होगी और जिसे किसी सिद्धान्त के आधार पर नियत किया जाना होगा। जब एक बार न्यायालय का यह समाधान हो जाता है कि इस आधार पर चुनौती कि रकम या उसके संदाय की रीति न तो मनमानी है और न ही भ्रामक है अथवा जहां उन सिद्धान्तों के, जिनके अनुसार रकम नियत की जाती है, बारे में यह पाया जाता है कि उनका अर्जित सम्पत्ति के मूल्य के साथ युक्तियुक्त सम्बन्ध है तो न्यायालय ऐसे सिद्धान्तों के आधार पर इस प्रकार नियत या अवधारित रकम की पर्याप्तता के प्रश्न पर विचार-विमर्श नहीं कर सकता।

(ख) खण्ड (2) जैसे कि वह जोड़ा गया है—अनुच्छेद 19(1) (च) के अनुच्छेद 31 के खण्ड(2) को लागू किए जाने पर 'प्रभाव' शब्द से दो अर्थान्वयन सम्भव हो जाते हैं। पहला यह कि अनुच्छेद 19(1) (च) स्वत्वधारी स्वामी को बिल्कुल भी उपलब्ध नहीं होगा और इस बात से दूसरे शब्दों में यह अभिप्रेत है कि इससे ऐसे मामलों में अधिकार पूर्णतया निराकृत हो जाते हैं और दूसरा यह कि खण्ड (2ख) यह उपबन्धित करने के लिए आशयित है कि अर्जन या अधिग्रहण से सम्बन्धित विधि इस आधार पर शून्य नहीं होगी कि उससे अनुच्छेद 19(1) (च) के अधीन अधिकार न्यून या प्रभावित होता है। दूसरे अर्थान्वयन

को, जो संशोधन को विधिमान्य बनाता है, अभिप्राय देना होगा और यह कि खण्ड (2क) लागू किए जाने में पृथक्करण के सिद्धान्त को अपनाने से, अनुच्छेद 31(2) के अधीन अधिकार के प्रभावशाली प्रयोग के लिए अर्जन या अधिग्रहण की किसी विधि के सम्बन्ध में युक्तियुक्त प्रक्रिया के अधिकार के न्यूनकरण न कि निराकरण, नष्ट या विकृत किए जाने तक निर्बन्धित किया गया है; क्योंकि युक्तियुक्त सूचना, सुनवाई, सामग्री और अन्य साक्ष्य पेश करने के लिए अवसर देना यह सिद्ध करने के लिए आवश्यक है कि कोई विशिष्ट अर्जन लोक प्रयोजन के लिए तथा सम्पत्ति के मूल्य और अन्य ऐसे विषयों के लिए नहीं है जो राशि नियत किए जाने में अपनाए गए किसी विशिष्ट सिद्धान्त में अन्तर्वलित हों, या यह दर्शित करने के लिए कि जो कुछ किया जा रहा वह भ्रामक, मनमाना आदि है। अतः अपनाए गए मत और इस निर्णय में दिए गए कारणों से पच्चीसवें संशोधन की धारा 2 विधिमान्य है।

(ii) पच्चीसवें संशोधन की धारा 3—नया अनुच्छेद 31ग केवल तभी विधिमान्य है यदि 'से असंगत अथवा उसे छीनता या', 'अनुच्छेद 14' शब्द और घोषणा सम्बन्धी भाग और 'जिस विधि में यह घोषणा हो कि वह ऐसी नीति को प्रभावी करने के लिए है, उस पर किसी न्यायालय में इस आधार पर आपत्ति नहीं की जाएगी कि वह ऐसी नीति को प्रभावी नहीं करती' शब्द पृथक् कर दिए जाएं, क्योंकि मेरे मतानुसार उन्हें पृथक् किया जा सकता है। पृथक् किए जाने के पश्चात् जो कुछ बाकी रह जाता है वह प्रवृत्त हो सकता है और अनुच्छेद 19 और 31 के लागू होने के सम्बन्ध में जो मैंने निर्वचन किया है उसको प्रभावित कर सकता है जिससे कि अनुच्छेद 31ग के अधीन बनाई गई विधियों अनुच्छेद 39(ख) और (ग) में अन्तर्निहित निदेशक तत्वों को अग्रसित कर सकें। परिणामतः अनुच्छेद 31ग के अर्थान्वयन के आधार पर, ऊपर वर्णित भागों को पृथक् करने के पश्चात्, मैं पच्चीसवें संशोधन की धारा 3 को विधिमान्य अभिनिर्धारित करता हूं।

(4) उन्तीसवां संशोधन—यह दलील कि अनुच्छेद 31क और 31ख का एक दूसरे से सम्बद्ध हैं, स्वीकार नहीं की जा सकती और उसे नामंजूर किया है। संविधान (उन्तीसवां संशोधन) विधिमान्य है, किन्तु क्या अनुसूची 9 में तद्द्वारा सम्मिलित अधिनियमों में से कोई अधिनियम भाग 3 के मूल अधिकारों में से किसी अधिकार या आधारभूत तत्वों में से किसी तत्व, या संविधान के सारभूत तत्वों में से किसी तत्व को निराकृत करता है, शक्तिहीन बनाता है, विकृत या नष्ट करता है, इस बात की परीक्षा उस समय करनी होगी जब इन अधिनियमों की विधिमान्यता को चुनौती दी जाएगी।

अब इन पिटीशनों को ऊपर निकाले गए निष्कर्षों के अनुसार निपटारे के लिए संविधान न्यायपीठ के समक्ष सुनवाई के लिए रखा जाएगा। इन परिस्थितियों के अनुसार पक्षकार अपना-अपना खर्चा स्वयं करेंगे।

न्यायाधिपति पालेकर—

इस पिटीशन के तथ्य न्यायाधिपति के निर्णय में वर्णित किए जा चुके हैं और इसलिए उन्हें पुनः वर्णित करना आवश्यक नहीं है।

इस पिटीशन में केरल भूमि सुधार (संशोधन) अधिनियम, 1969 तथा केरल भूमि सुधार (संशोधन) अधिनियम, 1971 की सांविधानिक विधिमान्यता को चुनौती दी गई है। चूंकि पिटीशनर को यह आशंका है कि हाल में पारित किए गए संविधान अधिनियमों को दृष्टि में रखते हुए उसकी चुनौती सफल नहीं होगी इसलिए उसने इन अधिनियमों की विधिमान्यता को भी चुनौती दी है। वे इस प्रकार हैं—(1) संविधान चौबीसवां संशोधन अधिनियम, 1971; (2) संविधान (पच्चीसवां संशोधन) अधिनियम, 1971 तथा (3) संविधान उन्तीसवां संशोधन अधिनियम, 1972। इसमें जो जटिल प्रश्न अन्तर्वलित है वह यह है कि क्या संसद् संविधान को इस रूप में संशोधित कर सकती है कि संविधान के भाग 3 द्वारा प्रदत्त मूल अधिकारों को कम किया जा सकता है या उसे छीना जा सकता है।

चौबीसवें संशोधन द्वारा अनुच्छेद 13 और 368 में इस उद्देश्य से कुछ परिवर्तन किए गए हैं कि उन्हें अनुच्छेद 13 और 368 के अविषय और परिधि की बाबत इस न्यायालय के बहुसंख्यक न्यायाधीशों द्वारा अभिव्यक्त मतों के अनुरूप किया जाए। शंकरी प्रसाद सिंह देव बनाम भारत संघ ([1]) वाले मामले में इस न्यायालय के पांच न्यायाधीशों की पूर्ण न्यायपीठ ने सर्व सम्मति से यह अभिनिर्धारित किया था कि अनुच्छेद 368 के अधीन संविधान के संशोधन द्वारा मूल अधिकार न्यून किए जा सकते हैं या छीने जा सकते हैं। सज्जन सिंह बनाम राजस्थान राज्य ([2]) वाले दूसरे मामले में तीन न्यायाधीशों के बहुमत ने यह निर्णय दिया था कि शंकरी प्रसाद वाला मामला ([1])सही रूप से विनिश्चित किया गया था। दो न्यायाधीशों ने इस मत के सम्बन्ध में संदेह प्रकट किया था किन्तु उन्होंने यह समझा कि यह आवश्यक नहीं है कि इस विनिश्चय से विसम्मत निर्णय दिया जाए क्योंकि इस न्यायालय के समक्ष यह प्रश्न स्पष्ट रूप से नहीं रखा गया था। तीसरे मामले में अर्थात् गोलक नाथ बनाम पंजाब राज्य ([3]) वाले मामले में पूर्वतर मामलों के आठ न्यायाधीशों द्वारा दिए गए मत को 5 के मुकाबले 6 न्यायाधीशों के बहुमत द्वारा उलट दिया गया। बहुमत ने यह अभिनिर्धारित किया था कि संसद् को अनुच्छेद 368 के अधीन संविधान को इस रूप में संशोधन करने की शक्ति नहीं है कि वह मूल अधिकारों को न्यून कर सके या छीन सके। उनमें से एक (न्यायाधिपति हिदायतुल्लाह) जिन्होंने पृथक् रूप से निर्णय दिया था यह मत अभिव्यक्त किया कि संसद् को आवश्यक शक्ति से लैस करने के उद्देश्य से अनुच्छेद 368 में संशोधन करके भी यह नहीं किया जा सकता। इस दशा में संघ सरकार को विवश होना पड़ा कि वह एक निश्चित दृष्टिकोण अपनाए। यह प्रतीत होता है कि संघ सरकार तथा संसद् शंकरी प्रसाद वाले मामले ([1]) में तथा सज्जन सिंह वाले मामले ([2]) में बहुसंख्यक न्यायाधीशों द्वारा दिये गए मत तथा गोलकनाथ वाले मामले ([3])में न्यायाधीशों के वास्तविक अल्पमत से सहमत थी। वे गोलकनाथ वाले मामले ([3]) बहुसंख्यक न्यायाधीशों द्वारा अपनाए गए दृष्टिकोण से सहमत नहीं थे अर्थों से इस न्यायालय के बहुसंख्यक न्यायाधीशों द्वारा जिसके बारे में यह अभिनिर्धारित किया गया था कि वह अनुच्छेद 13 और 368 में विवक्षित है,उसे इस संशोधन द्वारा सुस्पष्ट रूप से स्पष्ट करना चाहा

([1]) (1952) एस० सी० आर० 89.
([2]) (1965) 1 एस० सी० आर० 933.
([3]) (1967) 2 एस० सी० आर० 762.

गया है । इसलिए चौबीसवां संशोधन किया है अर्थात् (i) अनुच्छेद 13 में की कोई बात अनुच्छेद 368 के अधीन संविधान के किसी संशोधन को लागू नहीं होगी:(2) अनुच्छेद 368 न केवल सांविधानिक संशोधन के लिए प्रक्रिया अधिकथित करता है अपितु इसमें संशोधन करने की शक्ति भी अन्तर्विष्ट है; (3) अनुच्छेद 368 के अधीन संसद् की शक्ति विधायी शक्ति से सुभिन्न एक संविधायी शक्ति है ; (4) इस संशोधन की शक्ति के अन्तर्गत संविधान के किसी उपबंध का परिवर्धन, परिवर्तन या निरसन द्वारा संशोधन करने की शक्ति है ।

चौबीसवां संशोधन पारित करने के पश्चात् चौबीसवें संशोधन द्वारा यथा संशोधित संविधान के अनुसार दो दूसरा संशोधन पारित किए गए ।

श्री पालखीवाला ने पिटीशनर की ओर से उपसंजात होते हुए हमारे समक्ष अपनी दलील में अनुपूरक दलीलों के साथ गोलक नाथ वाले मामले([1]) के बहुमत के विनिश्चय को समर्थित किया है । उन्होंने आगे यह दलील दी है कि किसी भी दशा में अनुच्छेद 368 के अधीन संविधान का संशोधन करने का संसद् की शक्ति इतनी विस्तृत नहीं हो सकती कि वह उसको विकृत या विनष्ट कर सके जिसे संविधान के सारभूत तत्त्व और बुनियादी सिद्धान्त कहा गया है और चूंकि मूल अधिकार उसी प्रवर्ग के अन्तर्गत हैं इसलिए कोई ऐसा संशोधन, जो इन अधिकारों के मर्म को विकृत या विनष्ट करता है, अनुज्ञेय नहीं है । केरल राज्य तथा भारत संघ की ओर से यह दलील दी गई कि स्थिति स्पष्ट करने वाले चौबीसवें संशोधन के पश्चात न केवल संविधान के संशोधन द्वारा मूल अधिकारों का कम करना या छीना जाना अनुज्ञेय है अपितु सारभूत तत्वों तथा संविधान के बुनियादी सिद्धान्तों की बाबत श्री पालखीवाला की परिष्कृत दलीलों के होते हुए भी असंशोधित अनुच्छेद 13 और 368 के अधीन भी यह सम्भव है । इसलिए हम चौबीसवें संशोधन के पूर्व जो विनिश्चय पर विचार करने के लिए विवश हैं और यह विचार करते हैं कि क्या गोलक नाथ वाले मामले ([1])में बहुसंख्यक न्यायाधीशों का सही मत है ? इसलिए 13 न्यायाधीशों की एक पूर्ण न्यायपीठ गठित की गई है और हमारा यह कर्त्तव्य होगा कि हम इसमें जो जटिल प्रश्न अन्तर्वलित है उस पर विचार करें । यह दलील दी गई है कि इस प्रक्रिया की उपेक्षा नहीं की जा सकती क्योंकि यदि मूल अधिकारों को संसद् इस रूप में संशोधित नहीं कर सकती कि उन्हें छीना जाए तो संसद् अनुच्छेद 13 और 368 को संशोधित करने की युक्ति द्वारा ऐसा करके अपनी शक्ति को नहीं बढ़ा सकती चाहे कोई यह कहे कि यह संशोधन स्थिति स्पष्ट करने वाला है या अन्यथा । मुख्य प्रश्न यह है कि क्या संविधान ने संसद् को वह शक्ति प्रदान की है कि उस बाबत वह संविधान का संशोधन करे क्योंकि यदि इसने ऐसा नहीं किया है तो अनुच्छेद 13 और 368 का कोई भी संशोधन संसद् में वह शक्ति विनिहित नहीं कर सकता । इसलिए हमें उस संविधान पर विचार करना है जो चौबीसवें संशोधन के पूर्व था ।

चूंकि संविधान की बाबत मूल प्रश्न उठाए गए हैं इसलिए यह आवश्यक होगा कि संविधान की बाबत कुछ प्रारम्भिक टिप्पणी दे दी जाए । संविधान कोई अपने देश

([1]) (1967) 2 एस० सी० आर० 762.

की उपज नहीं है। जिन्होंने इसकी विरचना की उनके बारे में ऑटोमोबाइल्स ट्रान्सपोर्ट (राजस्थान लिमिटेड बनाम राजस्थान राज्य और कुछ अन्य (1) वाले मामले में इस न्यायालय ने उन्हें इस रूप में माना था कि वे विश्व के महत्वपूर्ण संविधानों तथा सांविधानिक समस्याओं से विशिष्टतया अंग्रेजी बोलने वाले देशों के, पूर्ण रूप से अवगत थे। उन्हें एकात्मक और परिसंघीय प्रकृति के संविधानों तथा सरकार की लोकतांत्रिक और राष्ट्रपतीय पद्धतियों की जानकारी थी। वे यह जानते थे कि कौन से संविधान नमनीय माने जाते हैं और कौन से संविधान अनम्य संविधान माने जाते हैं। उन्हें यह और भी जानकारी थी कि आज के समस्त लिखित संविधानों में संविधान के संशोधन के लिए विशिष्ट उपबन्ध किए जाते हैं। इसके अतिरिक्त गवर्नमेण्ट ऑफ इण्डिया ऐक्ट, 1935 के पश्चात् यह देश सरकार की लोकतांत्रिक पद्धति से तथा परिसंघीय संविधान के ऐसे ढांचे से, जिसमें केन्द्र तथा राज्यों के बीच शक्तियों का वितरण है प्रत्यक्ष रूप में अच्छी तरह अवगत हो गया था। इस समस्त ज्ञान और अनुभव का प्रयोग हमारे संविधान की रचना में हुआ था जो कि मोटे तौर पर एक ऐसा अर्द्ध परिसंघीय संविधान है जिसमें केन्द्र और राज्यों के स्तर पर वयस्क मताधिकार के आधार पर सरकार की लोकतांत्रिक पद्धति को अंगीकृत किया गया है।

उपर वर्णित दो शब्द 'नमनीय' तथा 'अनम्य' सर्व प्रथम लार्ड ब्राइस ने क्रमशः इंग्लैण्ड के संविधान और अमरीका के संविधान का वर्णन करने के लिए गढ़ा था। इन शब्दों को डायसी ने अपनी पुस्तक 'लॉ ऑफ दि कांस्टिट्यूशन' जो सर्व प्रथम 1885 में प्रकाशित हुई थी प्रचलित किया था। इसके पश्चात् कई पीढ़ी के वकील जिन्होंने कि डाइसी को संविधान की विधि का एक बड़ा व्याख्याता माना था इन शब्दों का प्रयोग करने लगे। 'नमनीय' संविधान वह है जिसके अधीन प्रत्येक प्रकार की प्रत्येक विधि (संविधान से सम्बन्धित विधि सहित) उसी सरलता से उसी रीति में उस एक ही निकाय द्वारा विधिक रूप से बदली जा सकती है। 'अनम्य' संविधान वह है जिसके अधीन कुछ ऐसी विधियां, जिन्हें साधारणतया सांविधानिक या मूल विधियां कहा जाता है, उस रीति में नहीं बदली जा सकती जिस रीति में कि मामूली विधियां बदली जा सकती हैं। देखिए डाइसी का लॉ ऑफ कांस्टिट्यूशन 10वां संस्करण, 1964 पृष्ठ 127। यह ध्यान देने योग्य बात है कि 'परिवर्तन' शब्द के ऊपर जोर दिया गया है जो इन दो प्रकारों के संविधानों के बीच अन्तर बताता है। मैक्कालें बनाम किंग (2) वाले मामले में प्रिवी काउन्सिल की जुडीशियल कमेटी की ओर से निर्णय देते हुए लार्ड बिरकनहैड ने 'नमनीय' तथा 'अनम्य' शब्दों के स्थान पर क्रमशः 'अनियंत्रित' तथा 'नियंत्रित' शब्द जो उस समय प्रचलित थे प्रयुक्त किए थे। उन्हें इस विवादग्रस्त प्रश्न का विनिश्चय करने के लिए इसकी परीक्षा करनी थी कि क्वीन्सलैण्ड का संविधान किस प्रकार का है। क्या यह 'नमनीय' संविधान है या 'अनम्य' संविधान है। उन्होंने पृष्ठ 703 पर यह मत दिया था कि पहला प्रश्न जिस पर विचार किया जाना है वह इन दो संविधानों की सुभिन्नता पर आधारित है, जिसके निबन्धन को बिना किसी ऐसी औपचारिकता के, जो कि दूसरे विधान के मामले में आवश्यक है, उपांतरित या निरसित

(1) (1953) 1 एस० सी० आर० 491, 539-540.

(2) (1920) ए० सी० 691.

किया जा सकता है और वे संविधान जो कुछ विशिष्ट औपचारिकता के साथ तथा कुछ मामलों में विशिष्ट रूप से बुलाई गई असेम्बली द्वारा ही परिवर्तित किए जा सकते हैं। उन्हें ऐसा इसलिए करना पड़ा क्योंकि दोनों प्रकार के संविधानों के बीच जो सुभिन्नता थी वह प्रिवी काउन्सिल के समक्ष वाले विवाद को विनिश्चय करने के लिए महत्वपूर्ण थी। पृष्ठ 704 पर उन्होंने आगे यह कहा था कि 'पाठ्य पुस्तकों में बहुत सी भिन्न शब्दावली इसलिए प्रयुक्त की गई है कि इन दो प्रकार के परस्पर विरोधी प्रकार के संविधानों के बीच सुभिन्नता प्रकट की जाए। स्पष्ट रूप से एक को 'नियंत्रित' तथा दूसरे को 'अनियंत्रित' संविधान कहते हुए कदाचित इन विशिष्ट लक्षणों का प्रकट किया गया है जैसे कि कोई दूसरा नाम देकर किया जाए। कदाचित 'नमनीय' तथा 'अनम्य' शब्दों को न प्रयोग करने की यह एक सफाई थी जो कि उस समय प्रचलित थे जब कि उन्होंने यह निर्णय दिया था। वास्तव में अपनी बहस के दौरान उस मामले में सर जॉन साइमन ने 'नमनीय' और 'अनम्य' शब्द प्रयुक्त किए थे और उन्होंने विनिर्दिष्ट रूप से डाइसी के 'लॉ ऑफ कांस्टिट्यूशन' के प्रति निर्देश किया था। स्ट्रॉग ने मॉडर्न पोलीटिकल कांस्टिट्यूशन के ऊपर अपनी पाठ्य पुस्तक, 7वां पुनरीक्षित संस्करण, 1966-1970 में पुनः मुद्रित, पृष्ठ 153 पर यह कहता है कि 'अनम्य' संविधान की एकमात्र कसौटी यह है कि क्या वह संविधान सभा जिसने कि संविधान बनाया था ऐसे कोई विशिष्ट निदेश दिए थे कि इसे कैसे बदला जा सकता है। यदि संविधान में ऐसे निदेश नहीं हैं या यदि निदेश स्पष्ट रूप से विधानमण्डल को उसकी स्वतन्त्र इच्छा पर छोड़ देते हैं तब यह संविधान नमनीय होगा।

संविधानों की प्रकृति को उपर्युक्त विवेचना यह दर्शित करने के लिए आवश्यक है कि जब संविधान 1949 में विरचित किया गया तो संविधान के निर्माता यह जानते थे कि विश्व में लोकतांत्रिक संविधानों के परस्पर विरोधी रूप प्रचलित हैं—एक 'नमनीय' प्रकार का है जो विधि बनाने को शासित करने वाली मामूली प्रक्रिया द्वारा संशोधित किया जा सकता है और दूसरा 'अनम्य' प्रकार का है जो इस प्रकार संशोधित नहीं किया जा सकता है किन्तु उसके संशोधन के लिए विशेष प्रक्रिया अपेक्षित है। हमारे संविधान के निर्माताओं ने इनमें से किस को अंगीकृत किया था अर्थात् क्या 'नमनीय' को या 'अनम्य' को ? उपर्युक्त प्रश्न के उत्तर से कुछ ऐसे महत्वपूर्ण परिणाम निकलेंगे जो हमारी जांच के लिए सुसंगत हैं।

हमारे संविधान में केन्द्र तथा राज्यों के स्तर पर विधानमण्डल के लिए उपबन्ध है। केन्द्र स्तर पर संसद् है जिसमें लोक सभा तथा राज्य सभा सम्मिलित हैं। राज्यों में विधानमण्डल के अन्तर्गत राज्य विधान सभा सम्मिलित है और उनमें से कुछ में एक उच्च सदन, जिसे विधान परिषद् कहा जाता है, सम्मिलित है। केन्द्र और राज्यों के बीच विधायी शक्ति का वितरण किया गया है। संसद् को सप्तम अनुसूची की सूची 1 में अन्तर्विष्ट विषय वस्तुओं की बाबत विधियां बनाने की शक्ति है तथा राज्य विधानमण्डलों को सूची 2 की विषय-वस्तुओं की बाबत विधियां बनाने की शक्ति है। एक सूची 3 भी है जिसमें ऐसे मामले प्रगणित किए गए हैं जिनकी बाबत संसद् और राज्य विधानमण्डलों दोनों को विधियां बनाने की समवर्ती शक्तियां हैं। यह शक्ति अनुच्छेद 245 से 248 द्वारा विधि बनाने के लिए इन निकायों को दी गई है। संसद् के लिए विधि बनाने की प्रक्रिया अनुच्छेद 107 से 122 में

अन्तर्विष्ट है और राज्य विधानमण्डलों के लिए वह प्रक्रिया अनुच्छेद 196 से 213 में अन्तर्विष्ट है। सप्तम अनुसूची की तीनों सूचियों में कहीं भी न तो संसद् के लिए और न ही राज्य विधानमण्डलों के लिए विधान की विषय-वस्तुओं के रूप में संविधान का संशोधन उल्लिखित है। इसके विपरीत प्रथम 19 भागों में, जिनमें अनुच्छेद 367 तक आते हैं, संविधान के स्थायी हित के समस्त महत्वपूर्ण मामलों को वर्णित करने के पश्चात् संविधान द्वारा भाग 20 में एकल अनुच्छेद अर्थात् अनुच्छेद 368 में संविधान के संशोधन के लिए विशेष उपबन्ध किया गया है। संशोधन के लिए एक विशिष्ट प्रक्रिया भी उपबंधित है जो ऐसी नहीं है जैसी कि अनुच्छेद 245 से 248 के अधीन मामूली विधियां बनाने के लिए उपबंधित है। केन्द्र स्तर पर विधायी प्रक्रिया के मुख्य तत्त्व ये है कि विधि को संसद् के दोनों सदनों द्वारा सदन में उपस्थित तथा मतदान देने वाले सदस्यों के बहुमत से पारित होना चाहिए और सदन के दोनों सदनों में विरोध होने की दशा में उसे संयुक्त बैठक के बहुमत द्वारा पारित होना चाहिए। जो कुछ भी आवश्यक है वह यह है कि गणपूर्ति होनी चाहिए जिसे कि हम समझते हैं कि वह सदन के कुल सदस्यों की संख्या का 10% है और यदि ऐसा कोरम (गणपूर्ति) उपलब्ध है तो दोनों सदन पृथक रूप से या संयुक्त रूप से बैठक में, जैसी भी दशा हो, अनुच्छेद 107 से 122 में अधिकथित विधायी प्रक्रिया के अनुसार विधि बना सकते हैं। जिस बात पर ध्यान देना है वह यह है कि संसद् जिन समस्त मामूली विधियों को अनुच्छेद 245 से 248 के अनुसार बनाती है उन्हें विधायी प्रक्रिया के अनुसार होना चाहिए न कि दूसरी प्रकार से। यद्यपि अनुच्छेद 368 के अधीन संविधान को संशोधित करने के लिए एक भिन्न और विशिष्ट प्रक्रिया उपबंधित है। विधेयक को संसद् के दोनों सदनों में से किसी में पुरःस्थापित करना होता है और इसे प्रत्येक सदन द्वारा पृथक् रूप से विशिष्ट बहुमत द्वारा पारित होना चाहिए इसे न केवल उपस्थित तथा मतदान देने वाले सदस्यों के दो-तिहाई के बहुमत से अपितु सदन के कुल सदस्यों के बहुमत से भी पारित होना चाहिए। यहां दोनों सदनों की संयुक्त बैठक अनुज्ञेय नहीं है। संविधान के कुछ दूसरे ऐसे उपबन्धों के मामले में जो प्रत्यक्षतः या अप्रत्यक्षतः अन्तर्राज्यीय सम्बन्धों को प्रभावित करता है, प्रस्थापित संशोधन को पूर्व इसके कि संशोधन प्रस्थापित करने वाला विधेयक राष्ट्रपति को उसकी अनुमति के लिए रखा जाए। राज्यों की आधे से अधिक संख्या के विधानमण्डलों द्वारा अनुसमर्थित किया जाना अपेक्षित है। यह एक विधायी प्रक्रिया नहीं है। यह प्रक्रिया इस भाव में विशिष्ट है कि यह भिन्न है और उस प्रक्रिया से जो संसद् द्वारा मामूली विधि बनाने की प्रक्रिया है अधिक वाध्यकारी और निर्बन्धनकारी है। दूसरी, कुछ मामलों में राज्य विधानमण्डल संशोधन करने की प्रक्रिया में अन्तर्वलित है। मामूली प्रक्रिया द्वारा अपनी विधियां बनाने में संसद् और राज्य विधानमण्डलों के बीच ऐसी भागीदारी को संविधान द्वारा मान्यता नहीं दी गई है। संविधान के संशोधन के लिए अनुच्छेद 368 में किए गए विशेष उपबन्ध से यह अर्थ निकलता है कि हमारा संविधान एक 'अनम्य' या 'नियंत्रित' संविधान है क्योंकि संविधान सभा ने यह विशिष्ट निदेश छोड़ रखा है कि कैसे संविधान बदला जा सकता है।' अनुच्छेद 368 को ध्यान में रखते हुए जब सफलतापूर्वक यह विशिष्ट प्रक्रिया पूरी कर ली जाती है तो

प्रस्थापित संशोधन अपने आप संविधान का भाग हो जाता है या दूसरे शब्दों में यह स्वयं संविधान में अपने को स्थापित कर लेता है ।

उपर्युक्त विचार-विमर्श से यह दर्शित होता है कि एक, विधि बनाने तथा दूसरी संविधान का संशोधन करने के लिए दो पृथक् प्रक्रियाएं प्राक्कलन का संयोग नहीं है । दोनों प्रक्रियाओं का जानबूझकर उपबन्ध किया गया था जिससे कि उन सुविज्ञात सांविधानिक पद्धतियों की पुष्टि जा सके जिनमें भिन्न-भिन्न प्रक्रियाओं की मुख्य-मुख्य बातों को दर्शित करने के लिए ऐसे पृथक् उपबंध किए जाते हैं जिनमें से एक को साधारणतया विधायी प्रक्रिया कहा जाता है और दूसरी को संविधायी प्रक्रिया कहा जाता है 'संविधायी' शब्द आज के राजनीतिक संविधानों में इतना प्रसिद्ध हो गया है कि यह शब्दकोषों में इस प्रकार परिभाषित है 'संविधान को विरचित करने या परिवर्तन करने के लिए समर्थ बनाना' । संविधान को विरचित या परिवर्तन करने की शक्ति को संविधायी शक्ति कहा जाता है । देखिए— कंसाइज आॅक्सफोर्ड डिक्शनरी ।

जब यह बात है तब हमारे संविधान में विधायी शक्ति और संविधायी शक्ति कहां विद्यमान है । विधायी शक्ति संविधान के अध्यधीन अनुच्छेद 245 से 248 द्वारा विनिर्दिष्ट रूप से दी गई है और ये अनुच्छेद 'विधायी शक्तियों का वितरण' के शीर्षक के अधीन पाए जाते हैं । यही बात यह दर्शित करने के लिए पर्याप्त है कि ये अनुच्छेद संविधायी शक्ति से सम्बन्धित नहीं हैं । यह बात महत्वपूर्ण है क्योंकि गोलक नाथ वाले मामले (1) के मुख्य बहुमत का निर्णय इसी आधार पर दिया गया था कि यह शक्ति सप्तम अनुसूची की सूची I की अवशिष्ट प्रविष्टि 97 के साथ पठित अनुच्छेद 248 में स्थित है । यह निष्कर्ष इस विनिश्चय का आधार था क्योंकि जब तक संविधान का संशोधन सप्तम अनुसूची की सूची I की प्रविष्टियों में से एक या दूसरे के अधीन संसद् द्वारा बनाई गई विधि के समान नहीं माना जाता तो यह कठिन होगा कि अनुच्छेद 13(2) के वर्जन को लागू किया जाए । श्री पालकीवाला का कथन है कि उनकी इस बात में कोई रुचि नहीं है कि क्या यह शक्ति अनुच्छेद 248 या कहीं और पाई जाती है । किन्तु इससे प्रश्न का समाधान नहीं होता क्योंकि यदि हम इस मत से सहमत होते हैं कि यह अनुच्छेद 248 के अन्तर्गत है तो यह विनिश्चय कि मूल अधिकारों को छीनने या कम करने वाला संशोधन अनुच्छेद 248 के अधीन विधि होने के कारण अनुच्छेद 13(2) द्वारा वर्जित होगा तब इसको चुनौती नहीं दी जा सकती ।

गोलक नाथ वाले मामले (1) में मुख्य न्यायाधिपति सुब्बा राव ने, जिन्होंने अपनी ओर से तथा अपने चार विद्वान् सहयोगियों की ओर से निर्णय दिया था, यह अभिनिर्धारित किया था कि संविधान का संशोधन करने की शक्ति अनुच्छेद 368 में नहीं पाई जाती अपितु वह सप्तम अनुसूची की सूची I की अवशिष्ट प्रविष्टि 97 के साथ पठित अनुच्छेद 248 में पाई जाती है । पांच विद्वान् न्यायाधीश जो अल्पमत में थे उन्होंने यह अभिनिर्धारित किया था कि यह शक्ति अनुच्छेद 368 में है । इसके विपरीत न्यायाधिपति हिदायतुल्लाह ने यह अभिनिर्धारित किया था कि अनुच्छेद 368 किसी विशिष्ट व्यक्ति या व्यक्तियों को यह शक्ति नहीं प्रदत्त करता है और यदि उक्त नामित प्राधिकारी उस अनुच्छेद की विधि के अनुसार कार्य करते हैं तो संशोधन के परिणाम प्राप्त होंगे और यदि इस प्रक्रिया के बारे में यह समझा जाता

(1) (1950) एस० सी० आर० 88.

है कि किसी दशा में यही यह शक्ति है तो यह एक ऐसी अनन्य विधायी शक्ति है जो संविधान की सप्तम अनुसूची की तीनों सूचियों के बाहर पाई जाएगी दूसरे शब्दों में 6 विद्वान् न्यायाधीशों ने इस शक्ति को सूची 1 की अवशिष्ट प्रविष्टि 97 में नहीं माना था किन्तु पांच न्यायाधीशों का यह निष्कर्ष था कि यह शक्ति वहां विद्यमान है। इसलिए हमें यह देखना है कि क्या मुख्य न्यायाधिपति सुब्बा राव तथा उनके चार सहयोगियों का, जिन्होंने कि यह अभिनिर्धारित किया था कि यह शक्ति अवशिष्ट प्रविष्टि 97 के साथ पठित अनुच्छेद 248 में विद्यमान है मत सही है। अत्यन्त आदर के साथ हमारे मतानुसार यह सही नहीं है।

अनुच्छेद 368 भाग 20 में एक एकल अनुच्छेद है जिसका कि नाम 'संविधान का संशोधन' है। यह एक विशिष्ट विषय है जो उस भाग में वर्णित है। अनुच्छेद 4,169, पंचम अनुसूची का पैरा 7 और षष्ठ अनुसूची का पैरा 21 की तरह दूसरे अनुच्छेद में संसद् को ऐसी विधि द्वारा विनिर्दिष्ट उपबंधों को संशोधन की शक्ति प्रदत्त की गई है अर्थात् विधान की मामूली प्रक्रिया को अंगीकृत करके, यद्यपि इससे संविधान के कुछ उपबंधों का परिवर्तन किया जा सकता है। संसद् द्वारा किए गए परिवर्तन 'विधि' हैं और इसलिए संविधान के उपबन्धों की असंगति के मामले में वे उस समय तक अभिखण्डित किए जा सकते हैं जब कि वे विनिर्दिष्ट रूप से अपवादों द्वारा संरक्षित न हों। द्वितीय, प्रत्येक ऐसे मामले में स्पष्ट करते हुए उपबंध जानबूझकर जोड़ा गया है कि विधि द्वारा किए गए ऐसे संशोधन के बारे में यह नहीं समझा जाएगा कि यह अनुच्छेद 368 के प्रयोजन के लिए संविधान का संशोधन है। यह चेतावनी इसलिए आवश्यक थी कि इस बात पर बल दिया जाए कि अनुच्छेद 368 में अधिकथित प्रक्रिया के अनुसार संविधान का संशोधन एक विशेष क्वालिटी का है—अर्थात् ऐसी क्वालिटी जो संसद् द्वारा विधि द्वारा किए गए संशोधनों से भिन्न है। यह विशेष क्वालिटी इस तथ्य से प्रकट होती है कि संसद् और राज्यों को अपने मामूली विधायी कृत्य के पूरा करने की प्रक्रिया में संयुक्त रूप से भाग नहीं लेना है अपितु उस विशेष कृत्य में, जिसे समस्त परिसंघीय और अर्द्ध परिसंघीय नियंत्रित संविधानों में संविधायी कृत्य कहा गया है। विधि बनाने के मामूली कृत्य तथा संविधान के संशोधन के कृत्य के बीच जो अन्तर है उसका महत्व ब्रिटिश संसद् के समान या न्यूजीलैण्ड संसद् के समान है, सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न निकाय की दशा में समाप्त हो जाता है। जिसका कि एकात्मक रूप का लिखित संविधान होते हैं। ये निकाय सांविधानिक विधि में उसी सरलता से संशोधन कर सकते हैं जिस सरलता से वे मामूली विधि बनाते हैं। इसका कारण यह है कि उनके संविधान नमनीय संविधान हैं। किन्तु ऐसे देशों में जिनके कि लिखित संविधान हैं और जो अनम्य या नियंत्रित संविधान है संविधान केवल विशेष प्रक्रिया के द्वारा ही संशोधित किया जा सकता है और वह निकाय या उन निकायों के, जिन्हें कि संविधान के संशोधन की शक्ति समनुदेशित की जाती है, के बारे में यह माना जाता है कि वे संविधान के अधीन मामूली विधान बनाने की शक्ति का जो प्रयोग करते हैं उस शक्ति से भिन्न वे संविधायी शक्ति का प्रयोग करते हैं। जहां तक कि हमारा संबंध है, हमारा संविधान सुनिश्चित विषयों की बाबत संसद् को तथा राज्य विधानमण्डलों को मामूली विधान बनाने की विनिर्दिष्ट शक्तियां प्रदत्त करता है। किन्तु जब संविधान के संशोधन की बात आती है तो उसके लिए अनुच्छेद 368 में एक

विशिष्ट प्रक्रिया विहित की गई है। चूंकि अनुच्छेद के अधीन विशिष्ट प्रक्रिया का अनुसरण करने का जो परिणाम है वह संविधान का संशोधन है और वह प्रक्रिया जिससे यह परिणाम निकलता है उसे संविधान के संशोधन के कार्य से सम्बद्ध निकायों द्वारा संविधायी शक्ति का प्रयोग कहा जाता है। इसलिए यह स्पष्ट है कि जब संसद् और राज्य विधान-मण्डल संविधान का संशोधन करने की दृष्टि से अनुच्छेद 368 के अधीन कृत्य करते हैं तो वे अनुच्छेद 246 से 248 के अधीन अपनी मामूली विधायी शक्ति से भिन्न संविधायी शक्ति का प्रयोग करते हैं। अनुच्छेद 368 पूर्णतया प्रक्रियात्मक नहीं है। निस्संदेह इसका एक भाग प्रक्रियात्मक है। किन्तु वहां यह स्पष्ट आशा है कि उस प्रक्रिया का अनुसरण करने के पश्चात्, जो कि अनुच्छेद 368 का मुख्य भाग है, प्रस्थापित संशोधन संविधान का भाग हो जाता है। इसलिए संविधान को संशोधित करने की यह विलक्षण और विशिष्ट शक्ति केवल अनुच्छेद 368 में ही खोजी जा सकती है कहीं अन्यत्र नहीं।

इसके पश्चात् पुनः यदि संविधान सभा ने संविधान को संशोधित करने की शक्ति को मामूली विधायी शक्ति से अधिक महत्त्वपूर्ण न माना होता- तो संविधान के निर्माताओं ने जो कि संविधान के संशोधन की शक्ति के लिए उपबन्ध करने की आवश्यकता को जानते थे उन्होंने इसको अवशिष्ट प्रविष्टि में खोजे जाने के लिए छोड़ने के स्थान पर सप्तम अनुसूची की एक या दूसरी सूचियों में उस भाव की विनिर्दिष्ट प्रविष्टि को जोड़ना न भूलते। यह तथ्य है कि संविधान के निर्माताओं ने सूची में इसे विनिर्दिष्ट रूप में सम्मिलित करने से छोड़ दिया और संविधान के भाग 20 में विशेष शीर्षक के रूप में उसे उपबंधित किया इस तथ्य का परिचायक है कि यह शक्ति अवशिष्ट प्रविष्टि या अवशिष्ट अनुच्छेद 248 में नहीं खोजी जा सकती। इस सम्बन्ध में इस बात को स्मरण रखना चाहिए कि प्रारूपित संविधान में अनुच्छेद 304 के खण्ड 2 में एक पृथक् उपबंध था। उस अनुच्छेद का खण्ड 1 हमारे वर्तमान अनुच्छेद 368 के काफी समरूप है। खण्ड 2 में राज्यों को यह शक्ति दी गई थी कि वे कुछ मामलों में संशोधनों की प्रस्थापना करें और संसद् को ऐसे संशोधनों का अनुसमर्थन करना था। वहां पर इस प्रकार संशोधन की उलटी प्रक्रिया थी। राज्यों के पास कोई अवशिष्ट शक्ति नहीं थी और संविधान का संशोधन प्रारूपित सूची II में विधायी शक्ति का विनिर्दिष्ट विषय नहीं था। इससे यह दर्शित होता है कि हमारे प्रारूपित संविधान में दो को छोड़ कर समस्त विषयों के लिए संशोधन की प्रस्थापना संसद् द्वारा की जानी थी और दो विनिर्दिष्ट विषयों के लिए संशोधन की प्रस्थापना राज्य विधानमण्डलों द्वारा की जानी थी। यदि पश्चात्वर्ती दो विषयों के लिए जो शक्ति है वह प्रारूपित संविधान के अनुच्छेद 304 के खण्ड 2 में पाई जाती है तो यह अभिनिर्धारित करना ही युक्तियुक्त है कि शेष संविधान को संशोधित करने की संसद् की शक्ति उस अनुच्छेद 304(1) में पाई जाएगी जो हमारे वर्तमान अनुच्छेद 368 के समरूप है।

इसके अतिरिक्त अनुच्छेद 245 की वास्तविक शब्दावली जो अनुच्छेद 246 से 248 तक के साथ "विधायी शक्तियों का वितरण" नामक प्रकरण के अन्तर्गत है बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। अनुच्छेद 245 में यह उपबंध है कि संसद् भारत के सम्पूर्ण राज्य-क्षेत्र अथवा उसके किसी भाग के लिए विधि बना सकेगी तथा किसी राज्य का विधान-मण्डल

सम्पूर्ण राज्य के अथवा उसके किसी भाग के लिए विधि बना सकेगा। इस प्रकार अनुच्छेद 245 संसद् तथा राज्य के विधानमण्डलों को आबंटित राज्य-क्षेत्र के लिए तथा उसके अन्तर्गत विधियां बनाने की शक्ति प्रदत्त करता है। इस शक्ति को प्रदत्त करने के पश्चात् अनुच्छेद 246 से 248 उस विधान की ऐसी विषय-वस्तुओं का वितरण करते हैं जिनकी बाबत संसद् तथा राज्य के विधानमण्डल को अनुच्छेद 245 में निर्दिष्ट विधियों को बनाने की शक्ति है। किन्तु शासित करने वाले ऐसे शब्दों में इस शक्ति पर महत्वपूर्ण परिसीमा है जिन शब्दों के साथ अनुच्छेद 245 प्रारम्भ होता है। यह वही शक्ति है जिनके द्वारा विधियों के ऊपर संविधान को रखते हुए इसे संविधान के उपबन्धों के अध्यधीन किया गया है। इसका अर्थ यह होगा कि संसद् और राज्य के विधानमण्डल वास्तव में उपदर्शित उन क्षेत्रों तथा उन विषय-वस्तुओं की बाबत विधियां बना सकते हैं, किन्तु इस शक्ति का प्रयोग संविधान के उपबन्धों के अध्यधीन होना चाहिए जिसका यह अर्थ है कि विधियां बनाने की शक्ति ऐसी विधि बनाने की शक्ति तक विस्तारित नहीं की जा सकती जो उस संविधान के, जो कि इस देश की उच्चतम विधि है, उपबन्धों का उल्लंघन करता है या उससे असंगत है। विधि उस समय संविधान के उपबन्ध से असंगत होती है जब कि इसके प्रवर्तन के पश्चात् वह संविधान के उपबन्ध का ह्रास करती है या उसे प्रकुत करती है। संविधान के उपबन्ध के पाठ को संशोधित करने से अधिक संविधान का ह्रास करने या उसको प्रकृत करने की किसी सरलतर रीति की कल्पना नहीं की जा सकती। चूंकि सांविधानिक उपबन्ध के पाठ को संशोधित करने वाली विधि के लिए आवश्यक रूप से ह्रास करना और प्रकृत करना अपरिहार्य होगा इसलिए उससे संविधान के उपबन्ध का उल्लंघन होगा या वह उससे असंगत होगी और इसलिए अनुच्छेद 245 में शासित करने वाले शब्दों 'संविधान के उपबंधों के अध्यधीन' के अधीन वह अनुज्ञेय और अविधिमान्य होगी। इसका अर्थ यह है कि यदि इस धारणा पर कि यह सूची I की प्रविष्टि 97 के साथ पठित अनुच्छेद 248 के अधीन संसद् की अवशिष्ट शक्तियों के अन्तर्गत है, संविधान को संशोधित करने वाली कोई ऐसी विधि बनाई जाती है तो यह सदैव अविधिमान्य होगी। इसके पश्चात् पुनः अनुच्छेद 245 से 248 के अधीन बनाई गई विधि को इसके बनाने के लिए उस मामूली विधायी प्रक्रिया के अनुरूप होना चाहिए जो संसद् के लिए अध्याय 2 के भाग 5 में अधिकथित है और जो राज्य विधानमण्डल के लिए संविधान के भाग 6, अध्याय 3 में अधिकथित है न कि किसी भिन्न प्रक्रिया के अनुरूप होना चाहिए। इस प्रकार से यह कहना कि विधि बनाने की शक्ति अनुच्छेद 245 में विद्यमान है और विधि बनाने की प्रक्रिया अनुच्छेद 368 में विद्यमान है न केवल इस विवक्षता की उपेक्षा करना है अपितु जैसे कि आज के अधिकांश नियंत्रित संविधानों में संविधान के संशोधन के लिए विशिष्ट प्रक्रिया विहित है जो कि मामूली विधियों के बनाने के लिए अधिकथित प्रक्रिया से भिन्न है, हमारे संविधान में अनुसरित की जाने वाली मूल सांविधानिक पद्धति की भी उपेक्षा करना है। इसलिए निष्कर्ष यह है कि संशोधन की शक्ति अवशिष्ट प्रविष्टि के साथ पठित अनुच्छेद 248 में नहीं पाई जा सकती। यह दलील कि अनुच्छेद 368 में संशोधन की शक्ति का कोई उल्लेख नहीं है बल्कि केवल अन्यत्र पाई जाने वाली शक्ति के अनुसरण में संशोधन की प्रक्रिया का ही उल्लेख है स्पष्ट रूप से अमान्य है। सही स्थिति यह है कि अनुच्छेद 368 में विहित विशिष्ट प्रक्रिया की कीमियागेरी से

संविधायी शक्ति उत्पन्न होती है जो संविधान में प्रस्थापित संशोधन को प्रतिष्ठित करती है और उसे संविधान के दूसरे भागों के बराबर हैसियत प्रदान करती है।

इसके अतिरिक्त यदि संविधान का संशोधन सूची 1 की प्रविष्टि 97 के साथ पठित अनुच्छेद 248 के अधीन बनाई गई एक विधि है तो इससे विचित्र परिणाम निकलेंगे। यदि गोलक नाथ वाले मामले [1] में दिया गया मत सही है तो ऐसी विधि अनुच्छेद 13(2) के असंगत होने के कारण अभिव्यक्त रूप से उस सीमा तक अविधिमान्य हो जाएगी जहां तक कि संविधान के भाग 3 का सम्बन्ध है और संविधान के किसी दूसरे अनुच्छेद को संशोधित करने वाली ऐसी विधि भी उन शासित करने वाले शब्दों के, अर्थात् 'इस संविधान के उपबंधों के अध्यधीन' जिससे कि अनुच्छेद 245 प्रारम्भ होता है, कारण अविधिमान्य हो जाएगी। इस दशा में संविधान का कोई भी अनुच्छेद संशोधित नहीं किया जा सकता। इसके विपरीत यदि संविधान के किसी अनुच्छेद को संशोधित करने वाली विधि के बारे में यह समझा जाता है कि वह उस अनुच्छेद के असंगत नहीं है जो कि संशोधित किया जा रहा है, तब मूल अधिकारों को समाविष्ट करने वाले उन अनुच्छेदों सहित प्रत्येक अनुच्छेद, अनुच्छेद 13(2) के वर्जन को लागू किए बिना जो कि असंगति की दशा में ही लागू होता है, संशोधित किया जा सकता है। इसलिए इस दलील पर कि संशोधन अनुच्छेद 248 के अधीन बनाई गई एक विधि है सम्पूर्ण संविधान असंशोधनीय हो जाता है और इस दलील पर कि ऐसी विधि कभी भी संशोधित अनुच्छेद के असंगत नहीं होती है सम्पूर्ण संविधान संशोधनीय हो जाता है जिस दशा में कि हम अनुच्छेद 13(2) के लिए हम कोई निश्चित मूल्य नहीं दे सकेंगे। सूची 1 की अवशिष्ट प्रविष्टि 97 के साथ पठित अनुच्छेद 248 में इस शक्ति का पता लगाने के लिए इस जटिल मार्ग का अनुसरण करने के स्थान पर यह सही होगा कि हम इसे अनुच्छेद 368 में खोजें क्योंकि यह एक विशिष्ट अनुच्छेद है जो संविधान के संशोधन के प्रयोजनों के लिए सुविचारित है और जो भाग 30 का विषय शीर्षक भी है हमारी राय में, इसलिए, संविधान को संशोधित करने की शक्ति और उसकी प्रक्रिया अनुच्छेद 368 में विद्यमान है।

दूसरा प्रश्न यह है कि जिसको कि इस संविधायी शक्ति के प्रकृति में, विशिष्टतया, 'नियंत्रित' या 'अपरिवर्तनीय' संशोधन की दशा में स्पष्ट करना अपेक्षित है। आज के राजनीतिक संविधानों का विद्यार्थी यह जानता है कि आज के सांविधानिक संशोधन की रीतियां इस प्रकार हैं (1) साधारण विधानमण्डल द्वारा किन्तु कुछ निर्बन्धनों के अधीन ; (2) लोकमत संग्रह के माध्यम से जनता द्वारा; (3) परिसंघीय राज्य के समस्त संघों के बहुमत द्वारा ; (4) विशेष अधिवेशन द्वारा तथा (5) उपर्युक्त रीतियों में से दो या अधिक का मिला कर जो रीति में अनम्यता बढ़ाने के उद्देश्य से उल्लिखित है। जहां संविधानों के संशोधन की शक्ति की एक विशिष्ट स्थिति है। स्ट्रांग ने अपनी पुस्तक के, जिसका पहले ही हवाला दिया जा चुका है, पृष्ठ 152 पर इस प्रकार मत दिया है "संविधान सभा यह जानती थी कि वह विसर्जित हो जाएगी और वह दूसरे निकाय को विधान बनाने का वास्तविक कार्य छोड़ देगी उसने संविधान में ऐसी बातों को समाविष्ट करने का प्रयत्न

(1) (1967) 2 एस० सी० आर० 762.

किया है जो यथा सम्भव भविष्य की कार्रवाई के लिए मार्गदर्शक तत्व के रूप में प्रस्थापित हैं। यदि वह चाहती जैसा कि सामान्यतया होता है, कि अपने स्वयं के कृत्य द्वारा संविधान को संशोधित करने की शक्ति को मामूली विधान मण्डल के हाथ से छीन ले किन्तु चूंकि वह सम्भवत: समस्त भविष्य की घटनाओं का अनुमान नहीं लगा सकती थी इसलिए उसे संशोधन की कुछ रीति की व्यवस्था करनी पड़ी। "संक्षेप में कहा जाए तो उसने यह प्रयास किया गया है कि जब कभी ऐसे विषयों पर भविष्य में विचार करना हो तो संविधान सभा को पुनर्गठित किया जा सके, चाहे वह सभा कुछ निर्बन्धनों के अधीन कार्य करने वाले विधानमण्डल से अधिक कुछ और हो न।" (महत्व देने के लिए रेखांकित किया गया है)।

ऐसे प्रमाणों का अभाव नहीं है जो यह घोषित करते हैं कि संशोधन करने की शक्ति एक सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न संविधायी शक्ति है। ओरफील्ड ने अपनी पुस्तक 'दि अमेण्डिंग ऑफ दि फेडरल कान्स्टिट्यूशन (1942) पृष्ठ 155, (1971 का संस्करण) में यह कहा है कि अमरीका में संशोधन करने वाला निकाय विधि और तथ्य के अनुसार सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न है। हरमन फाइनर ने अपनी पुस्तक 'दि थ्यूरी एण्ड प्रैक्टिस ऑफ माडर्न गवर्नमेंट, चतुर्थ संस्करण, 1961 (1965 में पुन: मुद्रित, पृष्ठ 156/157) में यह कहा है कि "मुख्यतया संशोधन की प्रक्रिया में सर्वोपरिता दर्शित की जाती है और उसे कायम रखा जाता है।... संक्षेप में अत्यन्त कठिन प्रक्रिया संशोधन करने वाले खण्ड के प्रयोजन को ही अन्ततोगत्वा विनिष्ट कर देती है...। संशोधन करने वाला खण्ड संविधान में इतना मूल होता है कि मैं उसे स्वत: संविधान कहने के लिए प्रेरित हूं।" ज्योफरी मार्शल ने अपनी पुस्तक 'कान्स्टिट्यूशनल थ्यूरी' (1971, पृष्ठ 36) पर यह कहता है कि "अधिकांश सांविधानिक पद्धतियों में जटिल रूप के संशोधन की ऐसी प्रक्रिया तथा कुछ व्यक्तियों के ऐसे समूह होते हैं जिनमें किसी विधिक नियम को परिवर्तित करने के लिए सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न प्राधिकार अन्तर्निहित होता है। ऐसे संविधान, जो समस्त या कुछ बातों की बाबत असंशोधनीय हैं, स्टैण्डर्ड के मामले नहीं हैं और सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्नता का ऐसा अस्तित्व कि क्या (जैसा कि ब्रिटेन में है) एक सादे विधायी बहुमत या एक सामूहिक और विशिष्ट रूप से बुलाए गए सम्मेलनों के बहुमत में है। अधिकांश समस्त पद्धतियों में पाया जाता है और उसे 'सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्नता' का नाम दिया जा सकता है।" वेड ने अपनी पुस्तक 'इण्ट्रोडक्शन टू डायसीस लॉ ऑफ दि कांस्टिट्यूशन, दसवां संस्करण के पृष्ठ 37 पर इस प्रकार कहा है 'परिसंघीय सरकार की एक ऐसी पद्धति है जिसमें केन्द्र तथा अनेक परिक्षेत्रीय प्राधिकारियों के बीच शक्ति का वितरण समाविष्ट होता है। इनमें से प्रत्येक अपने क्षेत्र में दूसरों के साथ समन्वित है और दूसरों से स्वतन्त्र है।" इसमें सर्वांगीण शक्तियों का वितरण अन्तर्वलित है और ऐसे वितरण से सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्नता समाप्त होती है। फिर भी कहीं अन्यत्र इस वितरण में परिवर्तन करने की शक्ति पाई जाती है। जहां कहीं वह शक्ति पाई जाती है वहां विधिक सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्नता पाई जाती है।" विधिवेत्ताओं के इस मत को ध्यान में रखते हुए इस बात में आश्चर्य नहीं है

कि शंकरी प्रसाद वाले मामले ([1]) में न्यायालय की ओर से निर्णय देते हुए न्यायाधिपति पातञ्जलि शास्त्री ने अनुच्छेद 368 के अधीन संशोधन की शक्ति को 'सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न संविधायी शक्ति के रूप में वर्णित किया था (पृष्ठ 106)। इस शक्ति को संपूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न संविधायी शक्ति वर्णित करने में यह आशय नहीं है कि उस स्थिति में इसकी घोषणा की जाए यदि कोई व्यक्ति इस विचार के प्रति अनुभूतिशील है कि विधिक सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्नता इस निकाय या उस निकाय में विद्यमान है। यह आवश्यक नहीं है कि हमारा जो तात्कालिक प्रयोजन है उसके लिए हम ऐसा करें। 'सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न' शब्द संविधान के अधीन प्रदत्त दूसरी शक्तियों के ऊपर उसकी उच्चता को प्रदर्शित करने के लिए इस शक्ति के सुगम गुणात्मक विवरण के रूप में प्रयुक्त हुए हैं। उदाहरणार्थ, विधायी शक्ति संविधान के अध्यधीन होती है किन्तु संशोधन की शक्ति अध्यधीन नहीं होती है। विधायी शक्ति संविधान के अध्यधीन ही प्रवर्तित हो सकती है। किन्तु संशोधन करने की शक्ति संविधान के ऊपर प्रवर्तित होती है। इसलिए 'सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न' शब्द हमारे प्रयोजन के लिए उस शक्ति के प्रकार के रूप में सादे तौर पर प्रयुक्त हुआ है जो संविधान द्वारा उसकी सहायता के लिए प्रदत्त दूसरी शक्तियों में से प्रत्येक से उच्चतर है।

संविधायी शक्ति के विस्तार और उसकी प्रभावकारिता का इसलिए ह्रास नहीं होता है कि उसका प्रयोग इस या उस प्रतिनिधि निकाय या लोकमत संग्रह में जनता द्वारा किया जाता है। कोई यह नहीं कह सकता कि जब यह शक्ति संविधान द्वारा अपेक्षित रूप में मामूली विधानमण्डल द्वारा प्रयुक्त की जाती है तब कम है और जब विशेष सम्मेलन द्वारा प्रयुक्त की जाती है तब अधिक है। यह प्रश्न सुसंगत है क्योंकि यह दलील दी गई है कि हमारी संसद् 'एक गठित निकाय' अर्थात् 'संविधान की सृष्टि' है और वह संविधान को संशोधित करने की शक्ति का उस सीमा तक प्रयोग नहीं कर सकती जिस सीमा तक कि उस प्रयोजन के लिए विशिष्ट रूप से बुलाई गई संविधान सभा कर सकती है। यह दलील दी गई है कि सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्नता जनता में अब भी बनी हुई है और जबकि जनता को सम्मेलन द्वारा या संविधान सभा द्वारा संविधान में संशोधन करने के लिए, जिस रीति में वह चाहे, उसे अधिकार प्राप्त है, किन्तु मामूली संसद् 'गठित निकाय' के ऊपर ऐसी परिसीमाएं हैं जो ऐसे संशोधनों को करने से निवारित करती हैं जिससे कि संविधान के आधारभूत लक्षण या तत्व विकृत या नष्ट होते हैं। हम इस पश्चात्वर्ती दलील पर उसके उचित प्रक्रम पर विचार करेंगे। किन्तु इस समय हम इस बात से सम्पृक्त हैं कि हम देखें कि क्या संशोधन करने की शक्ति अपनी विषयवस्तु में उस निकाय की प्रकृति के अनुरूप है जो संशोधन करता है। हमारे मत में यह ऐसा नहीं है। क्योंकि जैसा कि स्ट्रांग ने, अपने इस लेखांश, जिसे पहले ही उद्धृत किया जा चुका है, इस प्रकार स्पष्ट किया है "संक्षेप में यह कहा जाए (अर्थात् संविधान सभा जिसने कि संविधान को विरचित किया) यह उस समग्र संविधान सभा के पुनः सृजन की व्यवस्था के लिए प्रयत्न करती है जबकि ऐसे मामलों पर भविष्य में विचार किया जाता है। यद्यपि वह संविधान-सभा कुछ

([1]) (1952) एस० सी० आर० 89.

निर्बन्धनों के अधीन कृत्य करने वाले विधानमण्डल से अधिक कुछ नहीं है।"। केवल संशोधन करने वाली रीतियां, देश के उस ऐतिहासिक और राजनैतिक पृष्ठभूमि के अनुसार जिसके लिए संविधान विरचित हुआ है कहीं कुछ कम कठिन हैं और कहीं कुछ अधिक कठिन हैं। उदाहरण के लिए, अमरीकी संविधान के अनुच्छेद 5 में औपचारिक संशोधन करने के लिए जो प्रक्रिया है उसके दो भाग हैं—प्रस्थापना और अनुसमर्थन। दो रीतियों में संशोधन की प्रस्तावना जा सकेगी—(1) कांग्रेस के दोनों सदनों के दो-तिहाई मतों द्वारा, (2) दो-तिहाई राज्य विधानमण्डलों के आवेदन पर कांग्रेस द्वारा बुलाए गए राष्ट्रीय सांविधानिक सम्मेलनों द्वारा। संशोधनों को दो रीतियों में अनुसमर्थित किया जा सकेगा—(1) तीन-चौथाई राज्यों के विधानमण्डलों द्वारा, (2) तीन-चौथाई राज्यों के विशिष्ट सम्मेलनों द्वारा। कांग्रेस को इस बात के लिए एकमात्र शक्ति है कि वह यह अवधारित करे कि अनुसमर्थन की कौन-सी रीति प्रयुक्त की जानी है। यह निदेश दे सकेगी कि अनुसमर्थन राज्य विधानमण्डलों या विशिष्ट सम्मेलनों द्वारा किया जा सकेगा।

जहां तक कि अनुच्छेद 5 का सम्बन्ध है एक बात यह है कि इसमें संविधानिक संशोधन की प्रक्रिया के रूप में लोकमत संग्रह को पूर्णतया अपवर्जित किया गया है। वास्तव में अमरीका की सुप्रीम कोर्ट ने डॉज बनाम वूल्सै (1) वाले मामले में यह अभिनिर्धारित किया था कि संविधान यूनाइटेड स्टेट्स की जनता की सामूहिक रूप में या उनकी पृथक् सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्नताओं से उच्चतम है। क्योंकि उन्होंने उसमें संशोधन करने में अपने को प्रत्यक्ष या तात्कालिक अभिकरण बनाने से अपवर्जित रखा और यह निदेश दिया है कि संशोधन उनके प्रतिनिधियों द्वारा किए जाएंगे। दूसरे शब्दों में जनता ने अनुच्छेद 5 में उल्लिखित निकायों को संविधान के संशोधन की शक्ति को समनुदेशित करने के पश्चात् संशोधन करने की प्रक्रिया से अपने को पूर्णतया अलग रखा है। अनुच्छेद 5 में निर्दिष्ट निकायों के दो समवायों में से एक कांग्रेस और राज्य विधानमण्डलों का समवाय है। यद्यपि वे आपस में गठित निकाय हैं, किन्तु वे उस सीमा तक संविधान का गुणात्मक संशोधन कर सकते हैं जैसे कि कांग्रेस द्वारा की गई प्रस्थापना को तीन-चौथाई राज्यों के सम्मेलन द्वारा अनुसमर्थित किया जाता है। तथ्य यह है कि कांग्रेस द्वारा की गई प्रस्थापना के आधार पर सिवाय इक्कीसवां संशोधन, जिसने कि अट्ठारहवें संशोधन को निरसित किया था यूनाइटेड स्टेट्स के संविधान के समस्त संशोधन, राज्य विधानमण्डलों द्वारा अनुसमर्थित किए गए हैं। कांग्रेस तथा राज्य विधानमण्डलों द्वारा संयुक्त रूप में सम्पादित ऐसे संशोधन के बारे में यूनाइटेड स्टेट्स की सुप्रीम कोर्ट ने यह अभिनिर्धारित नहीं किया है कि यह किसी रूप में कम इस कारण प्रभावकारी है क्योंकि कांग्रेस को राज्यों के सम्मेलन द्वारा अनुसमर्थन प्राप्त नहीं हुआ है। यह प्रश्न यूनाइटेड स्टेट्स बनाम स्प्रेग (2) वाले मामले में उठा था। यह मामला अट्ठारहवां (मद्य निषेध) संशोधन के सम्बन्ध में था। यह संशोधन कांग्रेस की प्रस्थापना के पश्चात् तथा राज्य विधानमण्डलों के अनुसमर्थन के आधार पर संविधान का भाग हो गया। इस आधार पर संशोधन की विधिमान्यता को आक्षेपित किया गया कि चूंकि संशोधन

(1) (1855) 18 एच०ओ० हावर्ड 331,348.

(2) 282 यू० एस० 716.

द्वारा प्रजा की वैयक्तिक स्वतन्त्रता प्रभावित हुई है और अनुच्छेद 10 के अधीन जनता ने वे अधिकार अब भी अपने पास रखे हैं जिसे कि उन्होंने परिसंघीय संविधान को अभ्यर्पित नहीं किया है। इसलिए विशेष सम्मेलन पर जनता के प्रतिनिधियों द्वारा इसका अनुसमर्थन होना चाहिए न कि राज्य के विधानमण्डलों द्वारा। यह आक्षेप इस आधार पर खारिज कर दिया गया कि कांग्रेस को ही यह चुनने का अधिकार है कि क्या राज्य के विधानमंडल या सम्मेलन संशोधन को अनुसमर्थित करेंगे। हॉक्स बनाम स्मिथ(¹) वाले मामले में जो अट्ठारहवें संशोधन से सम्बन्धित है विलोमतः यह अभिनिर्धारित किया गया था कि ओहियो राज्य में जनप्रिय लोकमत संग्रह द्वारा अट्ठारहवें संशोधन के अनुसमर्थन के लिए उपबन्ध नहीं है। चूंकि ऐसी प्रक्रियाओं से अनुच्छेद 5 की उस स्पष्ट भाषा में परिवर्तन होता है जो जनता के प्रत्यक्ष कार्यवाही की अपेक्षा राज्य विधानमण्डलों के अनुसमर्थन के लिए उपबन्ध करती है। इस मामले से यह देखा जाएगा कि ओहियो के राज्य विधानमण्डल ने स्वतः अनुसमर्थन के आधार पर विनिश्चय करने के स्थान पर, जैसा कि वह अनुच्छेद 5 के अधीन करने के लिए बाध्य था लोकमत संग्रह द्वारा जनता की राय लेने का विनिश्चय किया था। किन्तु ऐसी प्रक्रिया के बारे में यह अभिनिर्धारित किया गया कि वह अवैध है क्योंकि यह अनुच्छेद 5 में नहीं है। इससे सिद्ध होता है कि संविधान के संशोधन को यथार्थतः संविधान में अधिकथित रीति के अनुरूप होना चाहिए और इससे किसी प्रकार का विचलन, चाहे उस प्रश्न पर जनता की सही इच्छाओं को अभिनिश्चित करने के प्रयोजन के लिए ही हो, अनुज्ञेय नहीं होगी। संविधान का संशोधन संविधान में अधिकथित प्रक्रिया के अनुसार ही किया जा सकता है और चाहे वे व्यक्ति या निकाय, जो यह समझते हैं कि संविधान सभा या सम्मेलन या उसी प्रकार के किसी प्राधिकारी द्वारा इसका किया जाना अधिक अच्छा है। वास्तव में इसकी कोई सुसंगति नहीं है।

अनुच्छेद 368 के अधीन परन्तुक में निर्दिष्ट मामलों के सिवाय संसद् संविधान को संशोधन करने के लिए मुख्य निकाय है। परन्तुक द्वारा अपवादित मामलों को छोड़ कर संसद् को संविधान के संशोधन करने में राज्य विधानमण्डलों के साथ सम्मिलित होना नहीं है। यह बात दृष्टि से ओझल नहीं की जा सकती कि संसद् व्यापक रूप में जनता की इच्छा का प्रतिनिधित्व करती है। संसद् में दो सदन सम्मिलित हैं, लोक सभा और राज्य सभा। लोक सभा वयस्क मताधिकार के आधार पर पांच वर्ष के लिए निर्वाचित होती है। राज्य सभा स्थायी निकाय है जिसके सदस्य चक्रानुक्रम में निवृत्त होते हैं। राज्य सभा में राज्य विधानमण्डलों द्वारा निर्वाचित सदस्य होते हैं जो स्वयं उन विधानमण्डलों के लिए वयस्क मताधिकार के आधार पर निर्वाचित होते हैं। इसके पश्चात् पुनः यूनाइटेड स्टेट्स के राष्ट्रपति से सम्बन्धित कांग्रेस द्वारा गृहीत स्थिति तथा भारत में संसद् और राज्य विधान-मण्डलों से सम्बन्धित कार्यपालिका की स्थिति में महत्वपूर्ण अन्तर है। अमरीका में राष्ट्रपति एक कालावधि के लिए जनता द्वारा प्रत्यक्षतः निर्वाचित होता है और वह परिसंघीय सरकार का कार्यपालिक प्रधान है। कांग्रेस विधि बना सकती है किन्तु राष्ट्रपति कांग्रेस के प्रति उत्तरदायी नहीं है। भारत में यद्यपि हमारी लोकतन्त्र की संसदीय पद्धति में, जैसा कि ग्रेट

(¹) 64 लॉयर्स इडिशन 871—253 यू० एस० 221.

ब्रिटेन में है, कार्यपालिका पूर्णतया विधानमण्डल के प्रति उत्तरदायी है। यूनाइटेड स्टेट्स ऑफ अमरीका में कांग्रेस जनता के प्रति उनकी बाबत उत्तरदायी नहीं मानी जाएगी जिसे राष्ट्रपति ने अपनी कार्यपालिक हैसियत में किया है। यही बात अमरीका के राज्य विधानमण्डल की बाबत भी सही है। भारत में जनता संसद् को किसी भी कार्यपालिक कार्य के लिए, जो मन्त्रिमण्डल ने किया है उत्तरदायी मानेगी जबकि सांविधानिक संशोधन के प्रसंग में संविधायी निकाय के रूप में संसद् की स्थिति का अवमूल्यन करना सरल है। किन्तु हम इस तथ्य की उपेक्षा नहीं कर सकते कि ग्रेट ब्रिटेन और न्यूजीलैण्ड दोनों में जिसमें एक में अलिखित संविधान है और दूसरे में लिखित संविधान है और जो संसदीय लोकतन्त्र द्वारा शासित हैं वहां संविधान मामूली बहुमत द्वारा बदला जा सकता है।

संविधान को संशोधित करने की शक्ति मुख्य रूप में संसद् को क्यों दी गई यह पूर्णतया स्पष्ट नहीं है। किन्तु दो बातें स्पष्ट हैं। एक यह है कि जैसे अमरीका में, जिन्होंने संविधान को बनाया उन्होंने अपने को संशोधन की प्रक्रिया से पूर्णतया अलग रखा। दूसरे, हम अपने संविधान के मुख्य निर्माताओं में से डाक्टर अम्बेदकर के इन शब्दों को जानते हैं कि लोकमत संग्रह या सम्मेलन की आनुकाल्पिक रीतियों पर विचार हुआ था और निश्चित रूप से उन्हें अमान्य किया गया था (देखिए कांस्टिट्यूएंट असेम्बली डिबेट्स, जिल्द 7, पृष्ठ 43)। उन्होंने संसद् को शक्ति देने के लिए विनिश्चित किया था और अभिलेख के अनुसार डॉ० अम्बेदकर ने यह कहा कि संविधान के संशोधन को जानबूझ कर अनुच्छेद 368 में रीति विहित करते हुए उतना सरल बनाया गया था जितना कि युक्तियुक्त रूप में सम्भव था। संविधान सभा के वाद-विवाद से यह दर्शित होता है कि मुख्य विवाद उस नमनीयता की कोटि के बारे में था जिसे कि संविधान में लागू किया जाना था। संसद् के लिए संविधान सभा ने जो अधिमान दिया उसके लिए अनेक ऐतिहासिक कारण थे। हमारा देश एक बहुत बड़ा महाद्वीप है जिसकी बहुत बड़ी जनसंख्या है। साक्षरता का स्तर बहुत ही नीचे है और जनता भाषा, जातियों समुदायों में बंटी है और जो सभी एक दिशा में नहीं चलते हैं। सर्वव्यापी निरक्षरता के कारण राजनैतिक मुद्दों को समझने तथा क्षेत्रगत एवं संकीर्ण संवादों से ऊपर उठने का सामर्थ्य बहुत सीमित है राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य को अध्यवसाय द्वारा अब भी विकसित करना आवश्यक है। इसलिए यह अपरिहार्य है कि जो निकाय केन्द्र में अखिल भारतीय नेतृत्व का प्रतिनिधित्व करता है उसको चुना जाए। चाहे जो भी कारण रहा हो संविधान सभा ने संशोधन की शक्ति को संसद् को समनुदेशित किया और चाहे जो कुछ भी अन्य लोग किसी सम्भव अच्छे मार्ग की बाबत सोचते हों वे मार्ग नहीं हैं जिसके लिए संविधान सभा ने आज्ञा दी है। जनता ने स्वयं को संशोधन की प्रक्रिया से अलग रखते हुए किसी अन्य प्रतिनिधि निकाय के स्थान पर संसद् को यह कार्य समनुदेशित किया। यह स्पष्ट है कि संविधान के संशोधन के लिए संविधान द्वारा पदाभिहित प्राधिकारियों की शक्ति को उस सम्मेलन या संविधान सभा की शक्तियों के उस दशा में सह-विस्तारी होना चाहिए यदि उस प्रकार की प्रक्रिया के लिए संविधान द्वारा अनुज्ञा दी गई होती।

हमने पहले ही दर्शित कर दिया है कि संविधान शक्ति विधायी शक्ति से गुणात्मक रूप में उच्च है। कनाडा की पार्लियामेण्ट की विधायी समक्षता की बाबत निर्णय देते हुए वाईकाउण्ट सैंके एल० सी० ने ब्रिटिश कोल कारपोरेशन बनाम किंग (1) वाले मामले में प्रिवी काउन्सिल की जूडीशियल कमेटी की ओर से निर्णय देते हुए इस प्रकार मत व्यक्त किया— "वास्तव में ऐसे संविधायी का संघटनात्मक कानून का निर्वचन करते समय, "जैसा कि ब्रिटिश नार्थ अमरीका ऐक्ट है, इस अर्थान्वियन को, जो उसकी शक्तियों के अत्यधिक व्यापक सम्भव विस्तार के लिए फायदाप्रद हो, अपनाया जाना चाहिए।" यह सिद्धान्त एडवर्ड्स बनाम अटर्नी जनरल फॉर कनाडा(2) वाले मामले में जूडीशियल कमेटी द्वारा पुनः स्पष्ट रूप से अधिकथित किया गया है। "लार्डशिप्स की यह धारणा नहीं है कि इस बोर्ड का यह कर्तव्य होना चाहिए। निश्चित रूप से उनकी यह इच्छा नहीं है—कि संकीर्ण और अतिगहन शास्त्रीय प्रकृति के अर्थान्वियन द्वारा अधिनियम के उपबन्धों को छोटा किया जाए अपितु इसकी अपेक्षा उनको ऐसा व्यापक और उदारतापूर्ण निर्वचन किया जाए जिससे कि डोमिनियन कुछ निश्चित परिसीमाओं के भीतर बड़े विस्तार तक अपने क्षेत्र की उसी प्रकार पूर्ण स्वामी हो सके जैसे कि प्रान्त कुछ निश्चित परिसीमाओं के भीतर, किन्तु बड़े विस्तार तक अपने क्षेत्रों के स्वामी है। यदि यह विधायी शक्ति का मानदण्ड है तो संविधान के संशोधन करने की शक्ति का विस्तार कम नहीं हो सकता।

संशोधन की शक्ति का विस्तार दूसरे दृष्टिकोण से भी अवधारित किया जा सकता है। महा न्यायवादी ने विश्व के लगभग 71 आधुनिकसंविधानों से उद्धरण दिए हैं औरउनमें से पचास संविधानों से यह दर्शित होता है कि उन संविधानों में उनके संशोधन के लिए उपबन्ध है। उनमें जैसी भी स्थिति हो 'संशोधन करना', 'पुनरीक्षित करना' या 'परिवर्तन करना' शब्द प्रयुक्त किए गए हैं और उनमें से कुछ में उन शब्दों में परिवर्तन करके यह दर्शित करने के लिए प्रयुक्त किया गया है कि सांविधानिक उपबन्ध अधिकथित कुछ विशिष्ट प्रक्रिया के अनुसार परिवर्तित किए जा सकते हैं। कुछ ने सम्पूर्ण संविधान को संशोधनीय माना है। कुछ दूसरों ने कुछ उपबन्धों को असंशोधनीय माना है और सोमालिया और वैस्ट जर्मनी के दोनों संशोधनों में मानवीय अधिकारों की बाबत उपबन्ध असंशोधनीय बनाए गए हैं। कुछ अन्य संविधानों में कुछ उपबन्ध भागतः संशोधनीय हैं और दूसरे उपबन्ध भी विशिष्ट निबन्धनों के अधीन ही संशोधनीय हैं। किन्तु सभी ने यह उपबन्धित किया है जिसे सामान्य रूप से 'संशोधन करने की शक्ति' कहा गया है और जिसका प्रयोग अधिक या कम कठिन परिस्थितियों में किया जा सकता है। रीतियां और प्रक्रियाएं अधिक कठिन या कम कठिन हो सकती हैं। किन्तु शक्ति वही है अर्थात् संशोधन की शक्ति।

संविधान में संशोधन के लिए उपबन्ध करने का उद्देश्य यह है कि व्यवस्थित रूप से परिवर्तन की आवश्यकता है। वास्तव में कोई भी संविधान हिंसक, असांविधानिक उथल-पुथल के विरुद्ध सुरक्षित नहीं है किन्तु संविधान में ऐसा उपबन्ध करने का उद्देश्य

(1) (1935) ए० सी० 500,518.

(2) (1930) ए० सी० 124.

यह है कि ऐसी उथल पुथल को निरुत्साहित किया जाए और संविधान के अनुसार व्यवस्थित रूप से परिवर्तन के लिए उपबन्ध किया जाए। इस प्रश्न पर सभी पाठ्य पुस्तकों तथा प्रमाणों का एक मत है जिन्होंने कि इस संविधान को विरचित किया था निश्चय ही वे चाहते थे कि यह बना रहे किन्तु चाहे कितने ही वे प्रतिभाशाली रहे हों वे उस स्थिति में भविष्य के लिए कोई योजना नहीं बना सकते थे। जब कि आन्तरिक या बाह्य दबावों या देश के सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक परिवर्तनों के कारण परिवर्तित दशाओं में जनता की इच्छा के सदैव अनुरूप होने के लिए सांविधानिक लिखत में परिवर्तन करना आवश्यक हो जाए। इस प्रकार केवल यही व्यवस्थित रूप से किया जाने वाला परिवर्तन है जो सुरक्षित है। यदि संविधान में ऐसा परिवर्तन सम्भव नहीं है तो उन शक्तियों द्वारा जो संविधान के अधीन सृजित शक्ति की लिखतों द्वारा नियन्त्रित नहीं की जा सकती, संविधान के ध्वस्त किए जाने का बहुत बड़ा खतरा है। संविधान की अतिवादी अनम्यता के विरुद्ध किए जाने वाले सर्वव्यापी प्रचलित विद्रोह मामूली प्रश्नों पर उत्पन्न नहीं होते हैं अपितु विशद समस्याओं द्वारा उत्पन्न होते हैं। जनता इसलिए विद्रोह नहीं करती कि तथाकथित संविधान के 'गौण' भाग परिवर्तित नहीं हो सकते बल्कि इस कारण कि आधारभूत भाग परिवर्तित नहीं हो सकते। ये आधारभूत भाग सुधार करने की उनकी प्रगति में बाधक माने जाते हैं। इसलिए यह स्पष्ट है कि चाहे किसी कारण, चाहे वह संविधान की अत्यन्त अनम्यता है या जो सत्ता में हैं संशोधन द्वारा परिवर्तन लाने की अरुचि है, यदि इन आधारभूत भागों को, जो संशोधित नहीं किए जा सकते हैं, जनता अविश्वास की दृष्टि से देखती है और संविधान जनता की इच्छा के विरुद्ध कायम नहीं रह सकता। यदि संविधान को बना रहना है तो उसे जनता द्वारा चाहे गए परिवर्तनों को समाविष्ट करते हुए उसे आवश्यक रूप से जनता की इच्छा के अनुरूप होना चाहिए। अमरीका के संविधान के बने रहने के लिए साधारणतया जो बात कही जाती है वह संविधान का संशोधन करने वाला अनुच्छेद 5 उतना महत्वपूर्ण नहीं है जितना कि उसकी वह अस्पष्टता है, जिसका कि प्रयोग अमरीका की सुप्रीम कोर्ट के महान न्यायाधीशों ने अपने विनिर्णयों द्वारा परिवर्तित दशाओं के अनुरूप संविधान को अनुकूल बनाया है। विधायी अधिनियमितियां, रूढ़ि और प्रथा भी एक भूमिका होती है। यदि संविधान को केवल सांविधानिक संशोधनों पर निर्भर रहना पड़ा तो ऐसे लोग हैं जो विश्वास करते हैं कि संविधान ऐसी स्थिति में कायम नहीं रह सकता। संशोधन की प्रक्रिया की अत्यन्त अनम्यता इसका कारण है। किन्तु भारत की तरह आज के संविधान के निर्माताओं ने दूसरे देशों के अनुभव को सीख कर ऐसा प्रयत्न किया है कि वे यथा सम्भव अपने संविधान को ऐसा स्पष्ट और विस्तृत बनावें जिससे कि किसी को उसके बने रहने की बाबत न्यायिक निर्वचनों का आश्रय न लेना पड़े। तदनुरूप उन्होंने इसे और भी नमनीय बनाया है जिससे कि जब कभी संविधान में परिवर्तन की आवश्यकता हो तो उसमें संशोधन किया जा सके।

इस प्रश्न पर बहुत ही तर्क-वितर्क किया गया कि क्या संविधान का संशोधन का विस्तार संविधान के निरसन तक होगा। यह विशुद्धतावादी और सिद्धान्तवादी विधिवेत्ता के चिंतन के लिए रोचक विषय है, किन्तु वे राजनीतिज्ञ जो सरकार के व्यवहारिक प्रयोजनों के लिए संविधान को विरचित करते हैं साधारणतया उनका सम्बन्ध ऐसी अटकलबाजियों से

नही होता । संविधान के विरचित करने का मुख्य उद्देश्य यह है कि व्यवस्थित रूप से सरकार की स्थापना हो । यह जानते हुए कि कोई संविधान, जब कि यह विरचित किया गया, देखने में चाहे कितना ही अच्छा हो भविष्य की आवश्यकताओं को पूरा नहीं कर सकेगा इसलिए संविधान के निर्माता बुद्धिमत्तापूर्वक व्यवस्थित रूप से परिवर्तन के हित में संविधान में संशोधन करने के लिए उपबंध करते हैं। वे समकक्ष बातों के अर्थात् व्यवस्थित रूप से बनाई गई सरकार की आवश्यकता तथा व्यवस्थित रूप से परिवर्तन के लिए मांगों, दोनों को संविधान के अनुसार होना चाहिए । संविधान के निर्माता व्यापकतम सम्भव सीमा तक इसके संशोधन के लिए उपबंध करते हैं। यदि किसी उपबंध में परिवर्धन, परिवर्तन या निरसन के द्वारा संशोधन अपेक्षित है तो यह परिवर्तन पूर्णतया अनुज्ञेय होगा । यदि कोई संविधान निर्माताओं से यह अलंककारिक प्रश्न पूछे कि क्या उन्होंने संविधान के निरसन के लिए अनुध्यात किया था तो सम्पूर्ण अधिसम्भाव्यताओं में इसका उत्तर नकारात्मक होगा। उन्होंने वर्षों संविधान बनाने में इस उद्देश्य से श्रम नहीं किया था कि उन प्राधिकरणों द्वारा यह निरसित किया जाए जिनको कि संविधान के संशोधन की शक्ति समनुदेशित की जाती है। यह जानते हुए कि समय बदलता रहता है और व्यवस्थित रीति में किए गए समस्त अपेक्षित परिवर्तनों को समाविष्ट करते हुए इसकी उपयोगिता बनी रहेगी, उन्होंने यह चाहा था कि वह स्थायी तो रहे ही चाहे वह शाश्वत् न रहे । संविधान में अपनी आस्था की घोषणा करते हुए उन्होंने अपना विश्वास प्रकट किया कि जिस संविधान को उन्होंने अपनी जनता की जानकारी के तथा उनके इतिहास के आधार पर विरचित किया है वह उस स्थिति में समस्त समय के परिवर्तनों को झेल सकेगा जब कि संशोधन की प्रक्रिया द्वारा उसमें व्यवस्थित रूप में परिवर्तन किए जाएंगे । उन्होंने यह नहीं सोचा था कि अंधाधुंध निरसन किया जा सकता है, किन्तु यह सोचा था कि समय और परिस्थितियों के अनुरूप ऐसे आवश्यक परिवर्तन किए जा सकते हैं जो तत्कालीन प्राधिकारियों के मत में वर्तमान सांविधानिक लिखत के लिए ग्राह्य हों । न्यायालयों के लिए उसी प्रकार यह पर्याप्त है कि वे इसी पर कार्यवाही करें जैसे कि संविधान के निर्माताओं के लिए यह पर्याप्त था । 'संशोधन' शब्द के अर्थ का यह वाद्हल कि क्या इसमें सम्पूर्ण संविधान का निरसन भी अन्तर्वलित असंगत और अनुपयोगी है। सौभाग्य से हमारे लिए अनुच्छेद 368 में 'संशोधन' शब्द के अतिरिक्त हम उसी अनुच्छेद में स्पष्ट शब्द 'बदला जाना' भी पाते हैं और इस प्रकार संविधान के निर्माताओं का आशय पर्याप्त रूप से ज्ञात हो जाता है। तत्पश्चात् पुनः 'संविधान का संशोधन' अभिव्यक्ति संविधान के निर्माताओं ने नहीं गढ़ी थी। यह अभिव्यक्ति आज के संविधानों में अच्छी तरह प्रचलित है और यह सामान्य रूप से इसके उपबंधों में परिवर्तन, रूपभेद या 'बदला जाना' के लिए स्वीकार किया गया।

संविधान में संशोधन करने की शक्ति को किसी पक्ष से देखा जाए तो इसमें कोई सन्देह नहीं है कि उस शक्ति के प्रयोग को तब तक शक्ति के विस्तार के समरूप होना चाहिए जब तक कि उस शक्ति के प्रयोग पर अभिव्यक्त या आवश्यक रूप से विवक्षित परिसीमाएं न हों। हम थोड़े बाद के प्रक्रम पर अभिव्यक्त और विवक्षित परिसीमाओं के प्रश्न पर विचार करेंगे। किन्तु पहले जिस प्रश्न पर विचार-विमर्श किया गया है उस

सिद्धान्त की व्यापकता को ध्यान में रखते हुए 'संविधान का संशोधन' शब्दों का अर्थ 'संविधान के किसी उपबंध के परिवर्तन या निरसन द्वारा किए गए ऐसे संशोधन से कम नहीं है जो कि चौबीसवें सांविधानिक संशोधन द्वारा स्वीकार की गई अभिव्यक्ति का स्पष्टीकरण है।

अब हम यह देखेंगे कि क्या अनुच्छेद 368 में स्वतः अभिव्यक्त या विवक्षित परिसीमाएं हैं। अनुच्छेद 368 संविधान के उस भाग 20 में पाया जाता है जो केवल एक विषय अर्थात् संविधान का संशोधन से सम्बन्धित है। इस अनुच्छेद में यह उपबन्धित है कि इसके द्वारा निर्देशित विशेष प्रक्रिया जब सफलतापूर्वक अनुसरित कर ली जाती है तो संविधान विधेयक में किए गए संशोधन की प्रस्थापना के निबन्धनों के अनुसार संशोधित हो जाता है। संविधान के जिस भी उपबंध को संशोधित करना चाहा जाए वह संशोधन संविधान का संशोधन होगा। क्षेत्र तो यह सम्पूर्ण संविधान है जिससे संविधान के समस्त उपबंध अभिप्रेत है। संविधान का कोई भाग संशोधन से अभिव्यक्त रूप में अपवादित नहीं है। जब कि संविधान के स्थायी उपबंध पूर्व के 19 भागों तक समाप्त हो जाते हैं भाग 20 और अनुच्छेद 368 पूर्णतया से अलग रखे गये हैं। संशोधन की शक्ति को संविधान के किसी दूसरे उपबंध के अध्यधीन अभिव्यक्त रूप से नहीं किया गया है। इसमें संविधान के अध्यधीन' या 'संविधान का यह या वह भाग' जैसे शासित करने वाले शब्द प्रयुक्त नहीं हैं। यदि संविधान के निर्माताओं ने संशोधन से संविधान के किसी भाग या उपबंध को अपवर्जित करना आवश्यक समझा होता तो उन्होंने इस भाग में उसी प्रकार किया होता जैसे कि अमरीका के संविधान में किया गया था। उस संविधान का अनुच्छेद 5 निःसन्देह जिससे अनुच्छेद 368 के प्रारूपण के समय प्रेरणा प्राप्त की गई थी उसमें दो विनिर्दिष्ट अपवाद किए गए थे। अनुच्छेद 5 की भाषा की रचना हमारे अनुच्छेद 368 की भाषा की रचना से बहुत कुछ मिलती जुलती है। इसलिए यदि यह आशय होता कि संविधान के किसी भाग को संशोधन करने की शक्ति के प्रवर्तन से अपवर्जित किया जाए तो उसे अनुच्छेद 368 में या उसके नीचे प्रसामान्य रूप से स्थान प्राप्त हुआ होता। तथ्य यह है कि प्रारूपित संविधान में अनुच्छेद 304 के नीचे जो वर्तमान अनुच्छेद 368 के समरूप है एक ऐसा अनुच्छेद 305 था जिसके द्वारा कुछ उपबंध संशोधन से अपवर्जित किए गए थे। किन्तु बाद में अनुच्छेद305 स्वतः निकाल दिया गया। यहां तक कि अनुच्छेद 368 स्वतः भी संशोधन से मुक्त नहीं था क्योंकि अनुच्छेद 368 के परन्तुक से यह दर्शित होता है कि इस अनुच्छेद के उपबंध बदले जा सकते हैं। तत्पश्चात् पुनः हम यह पाते हैं कि जब जनता ने संविधान सभा के माध्यम से संशोधन की शक्ति प्रदत्त की तो उन्होंने अपने पक्ष में कोई आरक्षण नहीं रखा। जनता पूर्णतया संशोधन की प्रक्रिया से अलग हो गई। दूसरे शब्दों में यह जो शक्ति प्रदत्त की गई थी वह बिना किसी शर्त के थी। दूसरी बात जो ध्यान देने योग्य है वह यह है कि जब संविधान सभा ने यह निदेश दिया कि विहित रीति द्वारा संविधान का संशोधन किया जाना चाहिए तो उन्होंने संविधान के संशोधन की प्रत्येक दूसरी रीति को आवश्यक रूप से अपवर्जित कर दिया। जब तक यह अनुच्छेद अपने वर्तमान रूप में विद्यमान है तब तक संसद् संविधान सभा या सम्मेलन बुला कर या इसी प्रकार की कोई बात करके संविधान को संशोधित करने की अपनी प्रक्रिया सम्भवतः लागू नहीं कर सकती। पूर्णरूपेण यह बात

देखी जाएगी कि अनुच्छेद 368 के अधीन जो शक्ति दी गई है वह सर्वांगीण, बिना किसी शर्त के तथा बिना किन्हीं परिसीमाओं के है, सिवाय अनुसरित की जाने वाली उस विशेष प्रक्रिया के।

संविधान में किए जाने वाले संशोधन का स्वरूप संविधान की नमनीयता या अनम्यता पर निर्भर नहीं करता। एक बार जब निर्बन्धनकारी प्रक्रिया की अनम्यता पर विजय प्राप्त कर ली जाती है तो संविधान उसी मात्रा तक संशोधित हो सकता है जैसे कि नमनीय संविधान। जहां तक ग्रेट ब्रिटेन जैसे नमनीय संविधान का सम्बन्ध है वहां इस बात की कोई सीमा नहीं है कि संसद् संशोधन द्वारा क्या कर सकती है। जैसा कि डाइसी ने बताया है यह डेण्टिस्ट्स ऐक्ट के भी समुचित उपबंधों द्वारा यूनियन ऑफ स्काटलैण्ड के ऐक्ट को निरसित कर सकती है। (लॉ ऑफ कांस्टिट्यूशन पृष्ठ 145)। हम जानते हैं कि ब्रिटिश संसद् ने वैस्ट मिनिस्टर के स्टेट्यूट द्वारा स्वशासित उपनिवेशों से अधिकांश राजतंत्रीय बंधनों को हटाया है और इण्डिपेंडेन्स ऑफ इण्डिया ऐक्ट, 1947 द्वारा अपने भारतीय साम्राज्य को अभ्यर्पित किया है। हाल ही में ब्रिटिश संसद् ने संयुक्त बाजार में सम्मिलित होते हुए अपनी सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्नता में भी अतिक्रमण सहा है। इसी प्रकार जैसा कि पूर्व निर्दिष्ट मैक्कॉले वाले मामले (1) में हमने देखा है क्वींसलैण्ड का विधानमण्डल जिसका कि एक नमनीय संविधान है उसके बारे में यह अभिनिर्धारित किया गया कि इण्डस्ट्रियल आर्बिट्रेशन के विषय पर 1916 में पारित पश्चात्वर्ती अधिनियम द्वारा सुप्रीम कोर्ट के न्यायाधीशों की पद के अवधि की बाबत सांविधानिक उपबंध को संशोधित करने के लिए सक्षम है। इस आपत्ति पर कि संविधान के ऐसे महत्वपूर्ण उपबंध को ऐसी विधि द्वारा, जो इण्डस्ट्रीयल आर्बिट्रेशन से सम्बन्धित है, अप्रत्यक्ष रूप से संशोधित करना अनुज्ञेय नहीं है, लार्ड बिरकनहैड ने पृष्ठ 713 पर यह उत्तर दिया था कि "इस दलील को मानने के लिए बोर्ड और भी कम तैयार है, जिसे कि किसी समय इसके समक्ष दिया गया था कि अधिनियम से सम्बन्धित विभिन्न मामलों के बीच अन्तर किया जाना चाहिए जिससे कि किसी एक धारा की बाबत कोई बात विधिपूर्ण हो जाए। यह धारा मूल या संघटनात्मक है; यह ऐसी रीति में ही बदली जा सकती है और दूसरी रीति में नहीं" "यह धारा इस प्रकार की नहीं है; यह बिना किसी औपचारिकता के बदली जा सकती है जैसे कि कोई अन्य कानूनी उपबंध।" इसलिए लार्डशिप्स ने न्या० इजाक्स और रिच द्वारा किए गए मतों की युक्तियुक्तता से पूर्णतया सहमति प्रकट की कि तत्प्रतिकूल किसी संकेत के अभाव में अधिनियम की किसी धारा को कोई ऐसा स्वरूप नहीं दिया जा सकता जिसे बिल्कुल स्वीकार ही नहीं किया जा सकता और तब यदि धारा 15 और 16 (न्यायाधीशों के पद की अवधि की बाबत) का उस प्रकार का अर्थान्वयन करना है, जैसा कि प्रत्यर्थी चाहते हैं, तो वही स्वरूप उस धारा 56 को देना होगा जिसमें यह उपबंध है कि किसी पक्ष से कोई उद्धरण मुद्रित करने के लिए प्रक्रियाओं में यह दर्शित किया जा सकता है कि ऐसा उद्धरण सद्भाविक रूप से किया गया है।" इससे इसी बात पर बल पड़ता है कि संविधान के समस्त उपबन्धों को एक ही स्वरूप का मानना चाहिए और यह कहना सम्भव नहीं है कि एक अधिक

(1) (1919) ए० सी० 691.

महत्वपूर्ण है और दूसरा कम महत्वपूर्ण जब विधानमण्डल को संशोधन करने की आवश्यक शक्ति प्राप्त है तो वह बिना किसी औपचारिकता के महत्वपूर्ण सांविधानिक उपबंध को उसी प्रकार संशोधित कर सकता है जैसे कि वह संविधान के अमहत्वपूर्ण उपबन्ध का संशोधन कर सकता है। डाइसी ने अपनी पुस्तक लॉ ऑफ कांस्टिट्यूशन, 10वां संस्करण पृष्ठ 127 में इस प्रकार मत दिया है—"हमारे संविधान की "नमनीयता" में किसी भी विधि को रुपान्तरित करना या निरसित करना दोनों सदनों तथा सम्राट के अधिकार के अन्तर्गत है वे सम्राट के उत्तराधिकार को बदल सकते हैं तथा उसी रीति में संघ के अधिनियमों को निरसित कर सकते हैं जिस रीति में कि वे आक्सफोर्ड से लण्डन तक नई रेलवे लाइन बनाने के लिए कम्पनी को समर्थ करने के लिए कोई अधिनियम बना सकते हैं।

जैसा कि पहले ही बताया जा चुका है 'अनम्य' संविधान की 'नमनीय संविधान' से जो सुभिन्नता है वह यह है कि इसके संशोधन के लिए एक विशेष प्रक्रिया अपेक्षित है। यह उसी सरलता तथा उसी रीति में विधिक रूप से नहीं बदला जा सकता जिस सरलता तथा जिस विधिक रूप में मामूली विधियां बदली जा सकती हैं। किन्तु यदि यह कठिन प्रक्रिया सफलतापूर्वक अनुसरित की जाती है तो बिना किसी भेद के संविधान के समस्त उपबन्धों पर समान रूप से संशोधन की शक्ति प्रवर्तित होती है। वास्तव में अनम्य संविधानों में विशिष्ट प्रक्रिया द्वारा भी किए जाने वाले संशोधन से कुछ उपबन्धों के लिए सुरक्षाएं हैं। किन्तु जहां ऐसा उपबन्ध संरक्षित नहीं है वहां संशोधन की शक्ति में ऐसे ही व्यापक है जैसे कि उस संसद् की है जिसका कि नमीनय संविधान है। 'अनम्य' तथा 'नमनीय' संविधान के बीच जो प्राथमिक अन्तर की बात है वह संशोधन के मामले में प्रक्रिया की कठिनता है और जब इस विशिष्ट प्रक्रिया का अनुसरण करके इस अनम्यता को विजित कर लिया जाता है तो संशोधन की शक्ति पर इस तथ्य के कारण कोई निषेध नहीं रहता है कि सांविधानिक उपबन्ध महत्वपूर्ण है या कि अमहत्वपूर्ण। संशोधन की शक्ति समस्त उपबंधों पर उसी प्रभावकारिता के साथ प्रवर्तित होती है जैसे कि नमनीय संविधान में होती है। यदि उपबंध की प्रकृति इतनी महत्वपूर्ण है कि स्वतः संविधान में, इसके संशोधन के विरुद्ध उपबंध है तो संशोधन की शक्ति को इस उपबंध के अध्यधीन होना पड़ेगा। किन्तु यदि वह इस प्रकार संरक्षित नहीं है तो महत्वपूर्ण या अन्यथा प्रत्येक उपबंध को उपबंधित विशिष्ट प्रक्रिया के द्वारा संशोधित किया जा सकता है। उस बाबत यह तथ्य कि संविधान एक 'अनम्य' संविधान है इससे कोई अतिरिक्त रोक नहीं लगता है।

हमने पहले ही लिखित संविधान में संशोधन करने वाले उपबन्ध में निहित सिद्धान्त के प्रति निर्देश किया है। कुछ संविधानों में विशिष्ट प्रक्रिया बहुत कठिन होती है जैसे कि अमरीका के संविधान में है। दूसरों में विशिष्टतया और अधिक आधुनिक संविधानों में अत्यन्त कठिन और निर्बन्धनकारी प्रक्रियाओं का उपबंध करने की असुविधाओं को ध्यान में रखते हुए संशोधन की प्रक्रियाओं को अधिक से अधिक नमनीय बनाया गया है। हमारे संविधान में जिसमें कि उसी प्रकार के दूसरे संविधानों के अनुभव को समाविष्ट किया गया है उसमें संशोधन की प्रक्रिया को वहां तक नमनीय बनाया गया है जहां तक कि युक्तियुक्त रूप से सम्भव है। संविधान में ऐसे अनेक अनुच्छेद हैं जो संसद् को ऐसी विधि बनाने की अनुज्ञा देते हैं जिनका कि सांविधानिक स्वरूप है। उसमें कुछ ऐसे दूसरे अनुच्छेद हैं जो मामूली

विधायी प्रक्रिया द्वारा संविधान के कुछ दूसरे विनिर्दिष्ट उपबन्धों को संशोधित करने के लिए अनुज्ञा देते हैं। शेष के लिए अनुच्छेद 368 है जिसमें अमरीका के संविधान की अपेक्षा और अधिक नमनीय प्रक्रिया उपबंधित है। एक महान् विधिवेत्ता जाह्न डब्ल्यू० बरगैस द्वारा लिखित 'पोलीटिकल साइन्स एण्ड कम्पैरेटिव कांस्टिट्यूशनल लॉ', जिल्द 1 के निम्नलिखित उद्धरण से यह दर्शित है कि संशोधन करने वाले खण्ड के सम्मिलित किए जाने का क्या औचित्य है तथा संशोधन की प्रक्रिया को यथा सम्भव कम से कम कठिन बनाने की क्या आवश्यकता है। पृष्ठ 137 पर वह कहता है 'एक सम्पूर्ण संविधान उसे कहा जा सकता है जिसमें तीन मूल भाग सम्मिलित हों।' प्रथम यह है कि संविधान में भविष्य के परिवर्तन को करने के लिए राज्य का संगठन है प्रायः इसे संशोधन करने वाला खण्ड कहा जाता है और यह शक्ति जिस बात को वर्णित करती है या जिसको विनियमित करती है उसे संशोधन की शक्ति कहा जाता है। यह संविधान का सबसे महत्वपूर्ण भाग है। इसके अस्तित्व और इसकी सत्यता के आधार पर अर्थात् वास्तविक और नैसर्गिक दशाओं से इसकी समरूपता पर यह प्रश्न निर्भर करता है कि क्या राज्य शान्तिमय रीति से अविच्छिन्न रहते हुए विकसित होगा या गतिहीनता, अधोगति और क्रान्ति के परिवर्तनों से पीड़ित होगा। किसी संविधान दूसरे भाग अपूर्ण और त्रुटिपूर्ण हो सकते हैं उन्हें आसानी से उस दशा में अनुपूरित और शुद्ध किया जा सकता, यदि राज्य संविधान के अन्तर्गत सही तौर पर संगठित किया गया है; किन्तु यदि यह बात पूरी नहीं की जाती तो गलती इतनी संचित हो जाएगी कि क्रान्ति के सिवाय कुछ और राज्य की रक्षा नहीं कर सकता। पृष्ठ 150/151 पर अमेरीकन संविधान की संशोधन की प्रक्रिया की असुविधाओं पर टीका करते हुए वह टीका करता है जब हम यह दर्शित करते हैं कि जब कि हमारे नैसर्गिक दशाओं और सम्बन्धों की यह अपेक्षा रही है कि केन्द्रीय सरकार की शक्तियां धीरे-धीरे दृढ़ और विस्तृत हों, सिवाय गृह युद्ध के परिणाम के रूप में, उस अनुच्छेद में विहित संशोधन की प्रक्रिया के माध्यम से इस दिशा में एक भी कदम नहीं उठाया गया है। मैं यह निष्कर्ष निकालने के लिए बाध्य हूं कि संविधान के अन्तर्गत सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न शक्ति उस प्रयोजन को पूरा करने में असफल रही है जिसके लिए वह रची गई थी, किन्तु मैं यह अवश्य कहूंगा कि जब कि राज्य को अपनी स्वयं की राजनीति के आन्तरिक प्रश्नों को सुलझाने के लिए युद्ध का आश्रय लेना पड़े तो वह इस बात की निर्विवाद साक्ष्य है कि संविधान के अन्तर्गत इसके संगठन की विधि अपूर्ण है और जब राज्य इसमें अपने को सत्य रूप में अभिव्यक्त करने के लिए समय-समय पर अपने संविधान को उपान्तरित या संशोधित नहीं कर सकता और अपने संविधान के बन्धनों में तब तक जकड़ा रहता है जब तक यह उनको नष्ट नहीं कर देता या तोड़ नहीं देता, यह पुनः इस बात का निर्विवाद साक्ष्य है कि संविधान के अन्तर्गत इसके संगठन की विधि अपूर्ण और मिथ्या है। मेरे मत में गलती इस बात में है कि जहां सांविधानिक परिवर्तनों को करने के लिए कृत्रिम रूप में अत्यधिक बहुमतों की अपेक्षा की जाती है।" इन उद्धरणों से यूनाइटेड स्टेट्स आफ अमरीका के संविधान में विहित संशोधन की प्रचलित प्रक्रिया के प्रति विधिवेत्ता की गहरी मनोव्यथा तथा उसकी निराशा प्रकट होती है। वह संविधान में संशोधन करने वाले उपबंध को उच्चतम महत्व देता है और चाहता है कि जिस रूप में वह है उससे बहुत कम कठिन हो जाए जिससे कि संविधान समकालीन

सामाजिक और आर्थिक परिवर्तनों की सचाई के अनुकूल हो सके। संशोधन के लिए उपबंध करने का कुल उद्देश्य यह है कि संविधान को यथा सम्भव समकालीन दशाओं के अनुकूल बनाया जाए क्योंकि यदि ऐसा नहीं किया जाता है तो तेजी से बदलते हुए विश्व में जनप्रिय विद्रोह, गृह युद्ध या यहां तक कि क्रांति के ऐसे खतरे हो सकते हैं जो जनता पर छा जाएं। संशोधन के उपबंध के पीछे यही राजनैतिक दर्शन है। यह स्पष्ट है कि इस उपबन्ध से, जैसे कि नमनीय संविधान वाले संसदीय लोकतन्त्र में होता है, वही प्रयोजन सिद्ध होना चाहिए। पश्चात्वर्ती तुरन्त अपने को बदलती दशाओं के साथ अनुकूल कर सकता है और इस प्रकार हिंसक क्रांतियों को निरुत्साहित कर सकता है। यदि संविधान का यही उद्देश्य है अर्थात् व्यवस्थित रूप से बनाई गई सरकार और विधि के अनुसार व्यवस्थित रूप से परिवर्तन। यह स्वीकार किया जाना चाहिए कि चाहे नमनीय या अनम्य संविधान हों उन्हें एक ही सीमा तक संविधान में संशोधन करने की शक्ति होनी चाहिए। यदि नमनीय संविधान में उसके सर्वाधिक प्रिय सांविधानिक सिद्धांतों में आवश्यक परिवर्तन करने की शक्ति होती है। इस शक्ति से मात्र इस आधार पर कि ऐसे संविधान को वंचित नहीं किया जा सकता कि यह एक अनम्य संविधान है। इसलिए ऐसे संविधान में संशोधन की शक्ति सभी ऐसे समस्त उपबन्धों को लागू होगी जो चाहे महत्वपूर्ण हों या अमहत्वपूर्ण, चाहे वे आधारभूत हों या गौण।

उपर्युक्त प्रस्थापना को अमरीका के सुप्रीम कोर्ट तथा अमरीका के राज्यों के सुप्रीम कोर्टों के अनेक विनिश्चयों द्वारा समर्थित किया गया है जिनमें कि संविधान अनम्य हैं। एडवर्ड्स बनाम लेस्यूर([1]) वाले मामले में यह अभिनिर्धारित किया गया कि यदि राज्य का संविधान यह उपबन्ध करता है कि यदि उसकी साधारण सभा उस लिखित में ऐसे संशोधन करने की किसी समय प्रस्थापना करती है क्योंकि प्रत्येक सदन में चुने गए सदस्यों का बहुमत इसे समीचीन समझता है। किसी समय तो संशोधन का तत्व और उसकी सीमा साधारण सभा के पूर्व विवेकाधिकार पर छोड़ दी जाती है। लीवरमोर बनाम वेटे ([2]) वाले मामले में न्यायाधीशों में से केवल एक न्यायाधीश हेरिसन ने यह मत देते हुए अभिनिर्धारित किया था कि राज्य के संविधान में 'संशोधन' शब्द में मूल लिखित के अनुसार ऐसा परिवर्धन या परिवर्तन विवक्षित है जो उस प्रयोजन को पूरा करने के लिए सुधार या उत्तमता लाएगा जिसके लिए यह विरचित किया गया है। किन्तु दूसरों ने इस मत को नहीं माना था। केलिफोर्निया राज्य के संविधान में 'संशोधन' शब्द 'पुनरीक्षण' शब्द के अतिरिक्त प्रयुक्त हुआ था और न्यायाधीश ने कदाचित उसी से प्रभावित होकर 'संशोधन' शब्द को विशेष अर्थ दिया था। उपर्युक्त निर्दिष्ट निर्णय, जो लगभग दस वर्ष पश्चात् विनिश्चित हुआ था। यह वास्तविक विनिश्चय एडवर्ड्स बनाम लेस्युर ([1]) वाले मामले की विसम्मती में था और 'संशोधन' शब्द के अर्थ की बाबत न्यायाधीश हेरिसन की राय एक्स पार्टि ढिल्लों वाले मामले ([3]) से विसम्मत थी। यह मामला ढिल्लों बनाम ग्लास([4]) वाले

([1]) साउथ वेस्टर्न रिपोर्टर वाल्यूम 33, 1130

([2]) 102 केल० 118.

([3]) 262 फेडरल रिपोर्टर 563 जिसका विनिश्चय सन् 1920 में किया गया।

([4]) 65 लॉयर्स इडिशन 994.

मामले में अमरीका की सुप्रीम कोर्ट तक पहुंचा था और उस विनिश्चय को अभिपुष्ट किया गया था। चुनौती मद्य निषेध संशोधन (18 वां) को दी गई थी और न्यायालय ने पृष्ठ 996 पर यह मत दिया था। "अनुच्छेद 5 की परीक्षा करने के पश्चात् यह प्रकट होता है कि इसका आशय यह है कि संशोधन प्रस्थापित करने के लिए कांग्रेस में व्यापक शक्ति विनिहित की जाए। ऐसे उपबन्ध को पारित करना, जो बहुत पहले समाप्त हो चुका है (वह उपबन्ध 1808 में समाप्त हो चुका था) इससे यह शक्ति केवल दो निर्बन्धनों के अध्यधीन हो जाती है। एक यह है कि प्रस्थापना को दोनों सदनों के दो-तिहाई बहुमत का अनुमोदन प्राप्त होना चाहिए और दूसरी यह है कि ऐसा संशोधन नहीं किया जाना चाहिए जिससे कि किसी राज्य को सीनेट के अपने समान मताधिकार से बिना उसकी अनुमति के वंचित किया जा सके। एक और प्रस्थापना कि रीति, जिसका आश्रय अब तक कभी नहीं लिया गया उपबन्धित है जो यह है कि दो-तिहाई राज्यों के आवेदन पर कांग्रेस इस प्रयोजन के लिए सम्मेलन बुलाएगी। जब इनमें से किसी रूप में यह प्रस्थापित किया जाता है जिससे कि संशोधन प्रभावकारी हों, इसे तीन-चौथाई राज्यों के विधानमण्डलों द्वारा या सम्मेलनों द्वारा अनुसमर्थित होना चाहिए। यह एक या दूसरी अनुसमर्थन की रीति है जिसे कांग्रेस प्रस्थापित कर सकती है। इस प्रकार यूनाइटेड स्टेट्स की उस जनता ने, जिसने कि संविधान विरचित किया और स्थापित किया उस लिखत को संशोधित करने के लिए यह शर्त रखी है कि संशोधन को अनेक राज्यों की प्रतिनिधि सभाओं में रखा जाना चाहिए। और उनमें से तीन-चौथाई द्वारा उसका अनुसमर्थन होना चाहिए। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि (1) सभी संशोधनों को यूनाइटेड स्टेट्स की जनता की मंजूरी मिलनी चाहिए जो कि प्रतिनिधि सभाओं के माध्यम से कृत्य करते हुए शक्ति के मूल स्रोत हैं और (2) तीन-चौथाई राज्यों की इन सभाओं द्वारा उसे अनुसमर्थित होना चाहिए। ये जनता की इच्छा की निर्णायक अभिव्यक्ति माने जाएंगे और सब पर आबद्धकर होंगे। यह उपर्युक्त उद्धरण की दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। एक यह है कि अनुच्छेद 5 द्वारा संशोधन की शक्ति पर कोई निर्बन्धन नहीं हैं सिवाय जो स्वयं अनुच्छेद में अभिव्यक्त रूप से निर्दिष्ट दो निर्बन्धन और दूसरी बात जो हमारे प्रयोजन के लिए सुसंगत है, वह यह है कि जिनका कि अनुसमर्थन दो रीतियों में से किसी एक द्वारा प्राप्त किया जा सकता है अर्थात् राज्य विधानमण्डलों द्वारा या राज्य सम्मेलनों द्वारा। यह कांग्रेस का अधिकार है कि वह अनुसमर्थन की दो रीतियों में से किसी को चुने। किन्तु जो भी रीति चुनी जाती है चाहे राज्य विधानमण्डलों द्वारा या विशेष सम्मेलनों द्वारा, जो अनुसमर्थन है वह जनता की ओर से किया गया अनुसमर्थन है, क्योंकि वे ऐसी प्रतिनिधि सभाएं हैं जो जनता की इच्छा की निर्णायक अभिव्यक्ति दे सकती हैं। तथ्य यह है कि यद्यपि अनुच्छेद 5 के अधीन संविधान में अनेक संशोधन किए गए हैं केवल एक ही ऐसा संशोधन है अर्थात् इक्कीसवां संशोधन जो राज्य सम्मेलनों को निर्दिष्ट किया गया था। समस्त दूसरे संशोधन कांग्रेस द्वारा प्रतिस्थापित किए गए थे और राज्य विधानमण्डलों द्वारा अनुसमर्थित किए गए थे क्योंकि अनुसमर्थन को जनता के उन प्रतिनिधियों द्वारा किया गया माना गया है जो निर्णायक रूप से जनता की इच्छा को अभिव्यक्त करते हैं। यदि अमरीका के इन राज्य विधानमण्डलों के, जो राज्य की कार्यपालिक सरकार के लिए उत्तरदायी नहीं हैं, बारे में यह माना जाता है कि वे जनता की इच्छा के प्रतीक हैं तो यह अभिनिर्धारित करने के लिए और प्रबलतर कारण है कि हमारी

संसद् तथा हमारे राज्य विधानमण्डल उस दशा में जनता की इच्छा की किसी रूप में कम प्रतिनिधि नहीं हैं जब कि वे संविधान में संशोधन की प्रक्रिया में भाग लेते हैं।

'संविधान के संशोधन' के स्वरूप पर जब हम विचार करते हैं तो अमरीका के विनिश्चित मामलों से यह पाते हैं कि उस पर सिवाय उसके, जोकि संविधान द्वारा अभिव्यक्त रूप से अधिकथित किए गए हैं, कोई परिसीमा नहीं है। 1922 में ओरेगन की सुप्रीम कोर्ट द्वारा विनिश्चित एक्स परिटि श्रीमती डी० सी० करबी (1) वाले मामलों में, जो ऐसे संशोधन से सम्बन्धित था, जो उस मृत्युदण्ड को पुनः कायम रखने से सम्बन्धित था और जो राज्य के संविधान के बिल ऑफ राइट्स के पूर्व संशोधन द्वारा समाप्त कर दिया गया था। उसमें स्टेट बनाम कोय (2) वाले निम्नलिखित मतों को अनुमोदन करते हुए उद्धृत किया गया—"संविधान उस लिखत को संशोधित करने की रीति विहित करने में इसके किसी विशिष्ट भाग द्वारा प्रदत्त किसी शक्ति पर परिसीमा नहीं लगाता है और दूसरे उपबन्धों को यह घोषित करते हुए कि वे असंशोधनीय हैं अपवादित नहीं करता है। साधारण सभा अपनी साधारण शक्तियों के मामूली विधायी प्राधिकार का प्रयोग करते हुए संविधान के संशोधन में कृत्य नहीं करती है, अपितु उसका स्वरूप और उसकी हैसियत सम्मेलन के स्वरूप और हैसियत जैसा होता है और वह उसके स्वरूप कृत्य करती है और सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न जनता की उच्चतम इच्छा को अभिव्यक्त करने वाला सम्मेलन स्वतः तदर्थ होता है और यूनाइटेड स्टेट्स के संविधान द्वारा विहित के सिवाय अपनी शक्तियों में असीमित है। इसलिए जनता की मांग पर मूल विधि में किया गया प्रत्येक परिवर्तन, वह जन कल्याण के लिए होगा। वह उपर्युक्त नामित परिसीमा के अध्यधीन किया जा सकता।"

डाउन्स बनाम सिटि ऑफ बिर्मिंघम (3) वाले मामले में अलबामा की सुप्रीम कोर्ट ने यह अभिनिर्धारित किया था कि राज्य के संविधान का संशोधन राज्य की सरकार के स्वरूप के परिवर्तन तक विस्तारित हो सकता है। वह किसी भी बाबत हो सकता है सिवाय इसके कि जैसा कि यूनाइटेड स्टेट्स के परिसंघीय संविधान द्वारा अपेक्षित है वह सरकार सरकार के गणराज्यिक स्वरूप में बनी रहे। परिसंघीय संविधान, जिसका उल्लंघन नहीं किया जा सकता और उस संविधान के अधीन अर्जित अधिकार संविधान में संशोधन करने की अनुज्ञा देने वाले सांविधानिक उपबन्धों के अध्यधीन होते हैं और उस राज्य के संविधान के अधीन कोई ऐसा अधिकार अर्जित नहीं किया जा सकता जो संविधान संशोधन के द्वारा कम न किया जा सकता हो और ऐसा नियम संविदा और सम्पत्ति अधिकारों तक विस्तारित हो सकता है।

श्नाइडरमैन बनाम यूनाइटेड स्टेट्स ऑफ अमरीका (4) वाले मामले में जो अमरीका के संविधान के सिद्धान्तों की अराजनिष्ठा के आधार पर नागरिकता से वंचित करने

---

(1) 103 ओरेगन 612=36 ए० एल० आर० 1451, 1455.

(2) 8 आर्क 436.

(3) 198 सदर्न रिपोर्टर 231.

(4) 87 लॉयर्स इडिशन 1796.

वाला मामला था उसमें न्यायाधिपति मर्फी ने न्यायालय का निर्णय देते हुए पृष्ठ 1808-1809 पर यह कहा था—"संविधान के जनकों ने क्रान्ति से बल प्राप्त कर भावी पीढ़ियों के लिए राजनैतिक जकड़जामा नहीं बनाया था अपितु इसके स्थान पर अनुच्छेद 5 रचा था और शीघ्र ही विचारों की स्वतंत्रता की गारण्टी करने वाला प्रथम संशोधन किया गया। अनुच्छेद 5 में सिवाय इस बात के कि कोई राज्य उसकी अनुमति के बिना सीनेट के समान प्रतिनिधित्व से वंचित नहीं किया जा सकेगा, बिना किसी वर्तमान परिसीमा के संशोधन द्वारा सांविधानिक परिवर्तन करने के लिए उसमें प्रक्रियात्मक उपबन्ध अन्तर्विष्ट है। देखिए—नेशनल प्रोहिबिशन के मामले रहोड आइसलैण्ड बनाम पलमार(1)। यह उपबन्ध तथा 1787 से संविधान में किए गए बहुत से महत्त्वपूर्ण और दूरगामी परिवर्तन इस विचार का खण्डन करते हैं कि किसी विशिष्ट उपबन्ध या उपबन्धों पर महत्त्व देना आवश्यक है या वह व्यक्ति जो क्रान्तिकारी परिवर्तनों का हिमायती है, आवश्यक रूप से संविधान को महत्त्व नहीं देता है।"

उल्लमान्न बनाम यूनाइटेड स्टेट्स (2) वाले मामले में स्वयं को अपराध में फसाने के विरुद्ध विशेषाधिकार पर (पंचम संशोधन,) जो कि हमारे संविधान द्वारा मूल अधिकारों के रूप में मान्यता प्राप्त है, सुप्रीम कोर्ट की ओर से निर्णय देते हुए न्यायाधिपति फ्रैंकफर्टर ने मुख्य न्यायाधिपति मैकगूडर का अनुमोदन करते हुए उनके कथनों को उद्धृत किया और यह कहा—"यदि यह नहीं समझा जाता है कि इस आज के युग की दशाओं में यह विशेषाधिकार पुराना हो गया है तो जो बात करनी है वह यह है कि इसे संविधान से निकाल दिया जाए न कि न्यायिक राय के सूक्ष्म अधिक्रमणों द्वारा इसका महत्त्व कम किया जाए।"

हाल में व्हाइटहिल बनाम एलकिन्स (3) वाले मामले में न्यायाधिपति डगलस ने न्यायालय का निर्णय देते हुए पृष्ठ 231 पर यह मत व्यक्त किया—"यदि परिसंघीय संविधान हमारा मार्गदर्शक है तो वह व्यक्ति जो हमारे संविधान के स्वरूप को बदलना चाहता है उसे गहरी अन्धकार में न टटोलना पड़े। क्योंकि संविधान अनुच्छेद 5 में संशोधन की प्रक्रिया द्वारा परिवर्तन की रीति विहित करता है और जबकि संशोधन की प्रक्रिया निर्बन्धित होती है किन्तु किए जाने वाले संशोधन के प्रकार पर कोई निर्बन्धन नहीं है।"

यह अनावश्यक है कि अनन्य संविधान में संशोधन की शक्ति के विस्तार को समझने के लिए अनेक मामलों का हवाला दिया जाए। यहां तक कि शब्दकोषों से भी वही अर्थ निकलता है। शब्द 'संशोधन करना', 'चरित्र में सुधार करना', 'किसी पत्र या दस्तावेज में संशोधन करना', 'किसी अभिवाक् में संशोधन करना', 'विधि का संशोधन करना' या 'संविधान का संशोधन करना' की तरह विभिन्न प्रसंगों में उसके अर्थ के सूक्ष्म अन्तर हैं। हमारा सम्बन्ध अन्तिम अर्थ से है अर्थात् उस संविधान के प्रसंग में संशोधन का क्या अर्थ है जिसमें संशोधन करने वाला खण्ड अन्तर्विष्ट है। आक्सफोर्ड इंगलिश डिक्शनरी, जिल्द 1 में

(1) 64 लॉयर्स इडिशन 946.

(2) 100 लॉयर्स इडिशन 311.

(3) 19 लॉयर्स इडिशन, सैकेण्ड 228.

शब्द 'संशोधन करना' के बारे में यह वर्णित है कि उससे औपचारिक रूप से संसद् के समक्ष किसी अध्युपाय में प्रकट सुधार करना, विस्तृत रूप में परिवर्तन करना, यद्यपि व्यवहारिक रूप में इससे उसके सिद्धान्त का ऐसा परिवर्तन हो जाए कि वह व्यर्थ हो जाए, अभिप्रेत है ।

अपनी पुस्तक स्टैट्यूट्स एण्ड स्टैट्यूटरी कन्स्ट्रक्शन, तृतीय संस्करण, जिल्द I, पृष्ठ 325 पर सदरलैण्ड ने, संशोधन करने वाले अधिनियम को इस रूप में स्पष्ट किया है जैसे, किसी वर्तमान कानून के विस्तार और उसके प्रभाव में कोई परिवर्तन, चाहे वह उपबन्धों के परिवर्धन, लोप या प्रतिस्थापन से किया जाए और जो पूर्णतया उसके अस्तित्व को समाप्त न करे और चाहे संशोधन करने, निरसन करने, पुनरीक्षित करने या अनुपूरित करने के लिए तात्पर्यित किसी कृत्य के द्वारा किया जाए या स्वतन्त्र और मूल रूप के कृत्य द्वारा किया जाए ।

वर्ड्स एण्ड फ्रेजिज, स्थायी संस्करण, जिल्द 3, पृष्ठ 447 में साधारण तौर पर यह कहा गया है कि 'संशोधन' शब्द में परिवर्तन करना है या उसका बदला जाना है, यह स्पष्ट किया गया है कि शब्द 'संशोधन करना', 'परिवर्तन करना' तथा 'रूपान्तरण करना' साधारण प्रयोग में हैं और उनके अर्थ अनिश्चित नहीं हैं । प्रत्येक का अर्थ बदलना है । 'संशोधन' शब्द की व्यापक परिभाषा के अन्तर्गत कोई परिवर्तन या कुछ बदला जाना है । आगे पृष्ठ 458 पर संविधान के प्रसंग में यह स्पष्ट किया गया है कि संविधान का संशोधन कुछ उपबन्धों को निरसित करता है या बदलता है या संशोधित लिखत में कुछ जोड़ता है । तत्पश्चात् डाउन्स बनाम सिटि ऑफ बिर्मिंघम ([1]) वाले मामले को उद्धृत करते हुए, जिसे कि पहले ही निर्दिष्ट किया जा चुका है, यह कहा गया है कि ऐसी प्रत्येक प्रस्थापना जो संविधान में परिवर्तन लाती है, या उसमें जोड़ती है या उसमें से कुछ छीनती है, यह 'संशोधन' है और इस प्रस्थापना का न तो संविधान के किसी दूसरे तत्व से और न ही उस तत्व से, जो संशोधित किया जाता है, संगत होना आवश्यक नहीं है ।

इसी प्रकार स्टेट बनाम कुल्डन ([2]) वाले मामले को उद्धृत करते हुए यह स्पष्ट किया गया है कि 'संशोधन' शब्द जब संविधान के सम्बन्ध में प्रयुक्त किया जाता है तो अपने में स्वतः पूर्ण तथा दूसरे उपबन्धों से पूर्णतया असम्बद्ध नए और स्वतन्त्र विषय के उपबन्ध या कुछ विशिष्ट अनुच्छेदों या धारा के परिवर्धन के प्रति निर्देश करता है और तब उस विशिष्ट धारा में परिवर्धन या कुछ निकाले जाने या कुछ बदले-जाने को प्रदर्शित करने के लिए प्रयुक्त होता है ।

फंक और वागनाल्स की स्टैण्डर्ड डिक्शनरी में 'संशोधन' इस प्रकार परिभाषित है, —'राजनीतिक संविधान के रूप में किसी मूल विधि को बदलने का कृत्य या संशोधन द्वारा विधि में परिवर्तन करने के रूप में प्रक्रिया की विहित रीति के अनुसार कुछ बदलना, संविधान का संशोधन ।'

सामाजिक विज्ञान के उस शब्दकोष जो जुलियस गोल्ड द्वारा सम्पादित है तथा जो यूनेस्को के तत्वावधान में विलियम एल० काब द्वारा संकलित है 'संशोधन' शब्द

([1]) 198 सॅदर्न रिपोर्टर 231.

([2]) 124 एन० इ० 172.

को इस प्रकार स्पष्ट किया गया है। 'संशोधन' शब्द जब कभी प्रयुक्त किया जाता है तो परिवर्तन करने या बदले जाने के मर्म का अर्थबोध रखता है। ऐतिहासिक रूप से बदले जाने या परिवर्तन से यह प्रकट होता है कि यह शुद्धि या सुधार के लिए है। राजनीति की यथार्थताओं और विवादों में यद्यपि शुद्धि या सुधार की प्रकृति इसलिए अनिश्चित रहती है इसलिए जिस रूप में यह शब्द प्रयुक्त किया जाता है निर्विवाद रूप से केवल परिवर्तन या बदला जाना अर्थ बच रहता है। कदाचित सर्वाधिक औपचारिक संशोधन का मूल रूप वह है जो लिखित संविधानों की औपचारिक भाषा के परिवर्तन द्वारा गठित होता है। गम्भीर सामाजिक परिवर्तन के समय संशोधन की प्रक्रिया का महत्व के बारे में मुख्य न्यायाधिपति फ्राइडरिच ने बताया है। भली प्रकार विरचित किए गए संविधान में उसमें इसके संशोधन के लिए इस रूप में उपबन्ध होंगे जिससे कि मानवीय रूप से सम्भव रीति में क्रान्तिकारी उथलपुथल की पहले से ही रोकथाम की जाए। ऐसा होने के कारण संशोधन के उपबन्ध आधुनिक संविधानों में एक महत्त्वपूर्ण भाग हो जाते हैं (कांस्टिट्यूशनल गवर्नमेण्ट एण्ड डेमोक्रेसी बोस्टन 1941 पृष्ठ 135) इस प्रकार से यह दर्शित होगा कि आज के संविधान में संशोधन करने वाले खण्ड के उपबन्ध करने के उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए संशोधन को उसके उपबन्धों में परिवर्तन किए जाने तथा बदले जाने के लिए अनुकूलित होना चाहिए।

यह कि यही आशय था जो कि अनुच्छेद 368 की शब्दावली से स्पष्ट है। अनुच्छेद के मुख्य भाग में केवल 'इस संविधान का संशोधन' कथित किया गया है। इससे दर्शित होता है कि कैसे संशोधन के लिए प्रस्थापना संविधान का भाग हो जाती है। अनुच्छेद 368 की भाषा की रचना अमरीका के संविधान के अनुच्छेद 5 की भाषा की रचना का स्मरण दिलाती है। उसमें भी जो शब्द प्रयुक्त किए गए हैं वे "इस संविधान का संशोधन" हैं और इससे अधिक कुछ नहीं है। 'परिवर्धन, परिवर्तन या निरसन द्वारा' के सदृश्य कोई ऐसे अनुपूरक शब्द प्रयुक्त नहीं किए गए हैं। तब भी हमने यह देखा है कि जहां तक अनुच्छेद 5 का सम्बन्ध है अनुच्छेद 5 के अधीन किए गए संशोधन में संविधान के परिवर्तन और बदले जाने की बात अन्तर्वलित है। अनुच्छेद 368 में एक परन्तुक है जिसका प्रारम्भ इन शब्दों से होता है—'परन्तु यदि ऐसा कोई संशोधन'—(क) अनुच्छेद 54, अनुच्छेद 55, अनुच्छेद 73, अनुच्छेद 162, या अनुच्छेद 241 में, अथवा (ख) भाग 11 के अध्याय 1 में, अथवा (ग) सप्तम् अनुसूची की सूचियों में से किसी में, अथवा (घ) संसद् में राज्यों के प्रतिनिधित्व में, अथवा (ङ) इस अनुच्छेद के उपबन्धों में, कोई परिवर्तन करना चाहता है तो ऐसे संशोधन को विधानमण्डलों आदि के द्वारा अनुसमर्थन किया जाना अपेक्षित है अतः परन्तुक से यह विवक्षित है कि अनुच्छेद 368 के अधीन संशोधन संविधान के उपबंधों में परिवर्तन करना चाहता है। यदि संशोधन द्वारा उपखण्ड (क) से (ङ) तक में निर्दिष्ट उपबंधों में परिवर्तन करना चाहा जाता है तो ऐसे संशोधन ही का जो इन उपबंधों में ऐसा परिवर्तन करता है राज्य विधानमण्डलों के द्वारा अनुसमर्थित किया जाना अपेक्षित है। अन्यथा दूसरे उपबंधों में परिवर्तन करने के लिए किए गए संशोधन का अनुसमर्थन अपेक्षित नहीं है। हमने पहले ही यह मत व्यक्त किया है कि 'बदलना' शब्द का अर्थ स्पष्ट है और इसे आसानी से ग्रहण किया जा सकता है और समझा जा सकता है। शार्टर आक्सफोर्ड इंगलिश डिक्शनरी के अनुसार संज्ञा 'बदला जाना' से 'दूसरे के स्थान पर किसी वस्तु का प्रतिस्थापन या उसका उत्तराधिकार,

दूसरी दशाओं या रूपों का प्रतिस्थापन' अभिप्रेत है। इससे 'किसी चीज की दशा या क्वालिटी में परिवर्तन, रूपभेद' भी अभिप्रेत है। इसलिए इसमें तनिक भी संदेह नहीं है कि हमारे संविधान में संशोधन करने वाले खण्ड के महत्व को ध्यान में रखते हुए संशोधन में संविधान के उपबन्धों के बदला जाना अनुध्यात किया गया है जिन्हें परिवर्धन, परिवर्तन या निरसन द्वारा, जैसा समय-समय पर आवश्यक समझा जाए, किया जा सके। वास्तव में यह सोचना असम्भव है कि बिना परिवर्धन, परिवर्तन या निरसन के कोई सादे से सादे रूप का संशोधन भी नहीं किया जा सकता है। यदि आप संशोधन के उपबन्ध में कुछ शब्द जोड़ते हैं आप उस उपबन्ध में उसके द्वारा परिवर्तन करते हैं। यदि आप कुछ शब्द प्रतिस्थापित करते हैं आप परिवर्तन और निरसन करते हैं। श्री पालखीवाला ने यह स्वीकार किया है कि उन्हें संशोधन में सुधार करने के लिए किए गए किसी ऐसे संशोधन के प्रति कुछ भी आपत्ति नहीं है जिससे जनता की अधिक सेवा हो सकती है। उन्होंने यह कहा है कि संसद् को यह अधिकार है कि वह आवश्यक परिवर्तन करके संविधान की विषय-वस्तु में सुधार कर सके। जो भी संविधान के उपबन्ध के परिवर्धन, परिवर्तन या निरसन के द्वारा किए गए संशोधन में आवश्यक रूप में विवक्षित है यह वही है जो चौबीसवां संशोधन करना चाहता है। वास्तव में संविधान का कोई ऐसा संशोधन जिसे जनता के प्रतिनिधि करना चाहते हैं वह प्रकट रूप में एक सुधार है। चाहे उसके विरोधी तत्प्रतिकूल कुछ भी कहें संविधान के संशोधन का कोई प्रस्थापक यह कभी नहीं स्वीकार करेगा कि उसकी प्रस्थापना अधोगति की ओर ले जाने वाली है। इसलिए सुधार या असुधार किसी संशोधन की सही कसौटी नहीं हो सकता। उपबन्धों में परिवर्तन करना या उनका बदला जाना ही ऐसा स्पष्ट अर्थ है जिसे वह जनता समझेगी जिसके लिए कि संविधान बनाया गया है।

संविधान में संशोधन करने वाले शब्द के महत्व, उसमें निहित दर्शन तथा उस शक्ति के विस्तार की परीक्षा करने के पश्चात् यह अनुचित होगा कि भिन्न प्रसंग में संविधान के दूसरे उपबन्धों या दूसरे कानूनों में प्रयुक्त उन्हीं शब्दों से इसकी तुलना करके 'संविधान का संशोधन' अभिव्यक्ति में शब्द 'संशोधन' के अर्थ को कम किया जाए। यह बात नहीं है कि ऐसी तुलना से वह उद्देश्य ही पूरा होगा जिसके लिए यह बनाया गया है बल्कि अभाव रूप में यह दो ऐसे शब्दों की तुलना होगी जैसे 'एक उच्च धरातल पर प्रवर्तित होने वाला तथा दूसरा निम्न धरातल पर प्रवर्तित होने वाला' अभिव्यक्ति 'संविधान का संशोधन' में शब्द 'संशोधन' उच्चतर धरातल पर प्रवर्तित है और पूर्णतया भिन्न प्रसंग में संविधान के कुछ दूसरे उपबन्धों में या कुछ दूसरे कानूनों में निम्न धरातल पर प्रयुक्त उन्हीं शब्दों के अर्थबोध से यह तात्विक रूप से भिन्न है। यदि यह कहा जाए कि 'संविधान का संशोधन' में शब्द संशोधन निम्न धरातल पर प्रयुक्त हुआ है क्योंकि 'परिवर्धन, परिवर्तन या निरसन द्वारा संशोधन के सदृश्य अर्थ के विस्तार वाले शब्द इस संविधान में अन्यत्र प्रयुक्त हुए हैं तो यह शब्द 'संशोधन' के स्वरूप की उस दशा में उपेक्षा करना होगा जब कि यह संविधान के संशोधन के प्रसंग में प्रयुक्त हुआ है। वास्तव में अभिव्यक्ति 'परिवर्धन, परिवर्तन या निरसन द्वारा 'संशोधन' के अन्तर्गत 'संशोधन' भी है.1 किन्तु यह उस दशा में अधिक समुचित रूप में प्रयुक्त किया जाता है जब कानून के कुछ सुभिन्न उपबन्ध विचाराधीन होते हैं और इसमें ऐसे उपबन्धों का अतिवादी सीमा का निरसन भी अनुध्यात है। संविधान के संशोधन की

दशा में यह संविधान के निरसन की प्रतिषाडी सीमा उस रूप की नहीं है जैसे कि मामूली तौर से अनुध्यात की जाती है जिसे पहले ही बताया जा चुका है। प्रस्तुत मामले में तुलना क्रमशः पंचम और षष्ठ अनुसूचियों के पैरा 7 के उप पैरा (1) तथा पैरा 21 में पाए जाने वाले 'परिवर्धन, परिवर्तन या निरसन द्वारा संशोधन' से की गई है। इन दोनों मामलों में संसद् को प्राधिकृत किया गया है कि वह समय-समय पर विधि द्वारा इन दो सूचियों के किन्हीं उपबन्धों में संशोधन करे। प्राधिकार केवल इसी बात के लिए नहीं है कि उपबन्ध में कुछ परिवर्धन कर सकती है या उसमें परिवर्तन कर सकती है बल्कि यह भी है कि वह उस उपबन्ध का निरसन भी कर सकती है। उप पैरा (1) में उस रीति में उपबन्ध करने के पश्चात् संविधान के निर्माताओं ने प्रत्येक मामले के उप पैरा (2) में यह इसलिए जोड़ा कि जो बात उप पैरा (1) के अनुसार की गई तब उसके बिना यह समझे जाने की सम्भावना थी कि यह अनुच्छेद 368 में वर्णित रूप का संविधान का संशोधन है। शब्दशः अनुसूची के उपबन्ध संशोधित हो जाएंगे। किन्तु यह संशोधन विधि द्वारा किया जाता है। इसके विपरीत यदि संविधान के किसी उपबन्ध का एक शब्द भी अनुच्छेद 368 के अनुसार बदला जाता है तो यह उस उपबन्ध का संशोधन नहीं कहा जाएगा अपितु अपने व्यापक अर्थबोधों के साथ यह संविधान का संशोधन होगा।

अनुच्छेद 4 और 169(2) में हम विधि द्वारा संविधान के कुछ उपबन्धों को संशोधन के लिए 'संशोधन' शब्द पाते हैं। ये दोनों अपने प्रसंग में यह दर्शित करते हैं कि बिना ऐसे व्यर्थ के विस्तार वाले शब्दों का प्रयोग किए भी वास्तव में ऐसा संशोधन परिवर्धन, परिवर्तन और निरसन के लिए किया जाएगा। तत्पश्चात् पुनः ऐसे संशोधन "अनुच्छेद 368 के प्रयोजनों के लिए संविधान के संशोधन" के वर्ग से अभिव्यक्त रूप से अलग किए गए हैं क्योंकि उसके बिना उन्हें शब्दशः संशोधन के अन्तर्गत माना जाता।

भारत शासन अधिनियम, 1935 की धारा 291 में संविधान-सभा ने जो संशोधन किए हैं, उनके प्रति भी निर्देश किया गया था। इस धारा में भी 'संशोधन' शब्द के साथ कुछ अनावश्यक शब्द रखे गए थे। वहां भी यह स्पष्ट था कि संशोधन संविधान का संशोधन नहीं है। यह तो प्रान्तीय विधानमण्डलों से सम्बन्धित कुछ उपबन्धों को, जिन्हें निरसित भी किया जा सकता था, आदेश द्वारा संशोधित करने के लिए गवर्नर जनरल को प्राधिकृत करना है। किसी अन्य कानून का, जिसमें संदर्भानुसार कोई विशिष्ट शब्दावली प्रयुक्त हुई है, हवाला देकर अनुच्छेद 368 के अधीन शक्ति के बारे में कोई विवक्षा नहीं की जा सकती है। दूसरी ओर धारा 308 (जो बाद में निरसित कर दी गई है) की शब्दावली से इसकी प्रतिकूलता दर्शित की जा सकती है। धारा 308 में परिसंघीय और राज्य विधानमण्डलों के कहने पर "अधिनियम और सपरिषद् आदेश में संशोधन" के लिए उपबन्ध किए गए थे। जिस अधिनियम का हवाला दिया गया है वह भारत शासन अधिनियम, 1935 है। इस धारा में कोई भी अनावश्यक शब्द प्रयुक्त नहीं हुए हैं, यद्यपि संदर्भ से यह दर्शित होता है कि संशोधन से भारत शासन अधिनियम या सपरिषद् आदेशों के कुछ उपबन्धों में परिवर्धन, परिवर्तन या निरसन ही अनुध्यात है।

चौबीसवें संशोधन से अनुच्छेद 368 का विन्यास ही परिवर्तित हो गया है और 'इस संविधान के किसी उपबन्ध का परिवर्धन, परिवर्तन अथवा निरसन के रूप में संशोधन, जैसी विस्तृत पदावली अंगीकार की गई है। मूल अनुच्छेद 368 का भाषा विन्यास कुछ भिन्न था और उसमें संविधान के 'उपबन्ध' (दि प्रोवीजन्स) का कोई जिकर नहीं था। उक्त अनुच्छेद का प्रारम्भ 'इस संविधान के संशोधन' पद से हुआ है और उसमें 'उपबन्धों' का कोइ जिकर नहीं था। 'इस संविधान के किसी उपबन्ध' पद निकाल देने के पश्चात् ही किया गया परिवर्धन, परिवर्तन या निरसन के रूप में पद द्वारा 'संविधान के संशोधन' पद को स्पष्ट करने के लिए 'इस संविधान के किसी उपबन्ध' पद को निकाल देना उचित न होता, क्योंकि ऐसे अनावश्यक शब्दों से यह अनुमान लगाया जा सकता था कि विधायी आशय सम्पूर्ण संविधान में परिवर्धन, परिवर्तन या निरसन करने का है। सम्पूर्ण संविधान के परिवर्तन या निरसन का आशय नहीं हो सकता है और इस कारण प्रारूपकार को अनावश्यक शब्द ठीक नहीं लगे। और चूंकि ऐसा आशय नहीं था, अतः हमें सबसे पहले 'इस संविधान' पद का अर्थ 'इस संविधान का प्रत्येक उपबन्ध' के रूप में लगाना चाहिए और तब हमें 'उपबन्धों' के संदर्भ में उक्त अनावश्यक शब्दों पर विचार करना चाहिए। 'संशोधन' शब्द के सामान्य अर्थों को ध्यान में रखते हुए ऐसा अर्थान्वयन पूर्णतः उचित है। चूंकि महत्वपूर्ण बहुमत निर्णय में अन्य छः न्यायाधिपतियों के इस मत के प्रतिकूल कि संशोधन शब्द अति व्यापक है, पांच न्यायाधिपतियों ने सन्देह व्यक्त किया था, अतः स्थिति स्पष्ट करने के लिए चौबीसवां संशोधन किया गया है।

अमरीका के संविधान के अनुच्छेद 5 में केवल 'अमेण्डमेण्ट ऑफ दि कांस्टिट्यूशन (संविधान में संशोधन) पद प्रयुक्त हुआ है। उसमें 'परिवर्धन, परिवर्तन अथवा निरसन' जैसी अनावश्यक शब्दावली प्रयुक्त नहीं हुई है और फिर भी किसी ने भी इस तथ्य पर आपत्ति नहीं की है कि 1789 के, जब कि संविधान की रचना की गई थी, पश्चात् कई परिवर्धन, परिवर्तन और निरसन हुए हैं। वस्तुतः अट्ठारहवें संशोधन को इक्कीसवें संशोधन से निरसित कर दिया गया था।

अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि जहां तक कि अनुच्छेद 368 की शब्दावली का सम्बन्ध है, उसमें ऐसी कोई बात नहीं है जो संशोधन-शक्ति को विवक्षित या अभिव्यक्त रूप में परिसीमित करती हो। यह मानी हुई बात है कि यह शक्ति अति व्यापक है। कोई चाहे या न चाहे, न्यायालय का यह कार्य नहीं है कि जहां शक्ति परिसीमित नहीं है वहां वह उसे परिसीमित कर दिया जाए। शक्ति के मनमाने प्रयोग के परिणाम राजनीतिक हो सकते हैं, किन्तु उनसे हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है। शक्ति के प्रविषय एवं विस्तार पर विचार करने में परिणामों को ध्यान में लिया जा सकता है, बशर्ते कि जिस कानून के अधीन शक्ति दी गई है उसका पाठ अस्पष्ट या संदिग्ध हो। जहां कानून स्पष्ट और असंदिग्ध है वहां न्यायालय को, यह सोचे बिना कि वह अच्छा है या बुरा अथवा न्यायोचित है या अन्यायोचित, उसे लागू करना ही होगा। वाचर वाले मामले ([1]) में पृष्ठ 126 पर लार्ड शा ने निम्नलिखित मत व्यक्त किया है:

([1]) (1913) ए० सी० 107.

"यदि शब्द संदिग्ध हैं तो उनका अर्थ स्पष्ट करने के लिए अन्य धाराओं या उपधाराओं का सहारा लिया जा सकता है, किन्तु यदि वे असंदिग्ध हैं तो ऐसे सहारे से उनके अर्थ का अनर्थ हो जाएगा और इस प्रकार गलती हो जाएगी। साथ ही यदि किसी ऐसे निर्देश का सहारा लिया जाता है जो सम्बन्धित अधिनियमिति के उपबन्धों के प्रति न होकर किसी अन्य उपबन्ध के प्रति है तो यह और भी गलत होगा। उदाहरणार्थ, यदि तर्क यह दिया जाए कि चूंकि संसद् ने आगा पीछा सोचा है और विचारग्रस्त विषय के इतिहास और अपनी भाषा के भावी परिणामों को ध्यान में रखा है अतः उसका आशय अभिव्यक्त बात से भिन्न होगा, तो इसका उत्तर यही दिया जा सकता है कि ऐसा विचार तो मनोवैज्ञानिक पटुता की दृष्टि से मनोरंजक तो हो सकता है, यह भाषा को क्षीण या नष्ट भी कर सकता है लेकिन ऐसा सोचना न्यायालयों जैसे निर्वचनकर्ताओं के लिए बहुत खतरनाक होगा, क्योंकि न्यायालयों का कर्तव्य प्रयुक्त शब्दावली को निष्ठापूर्वक मानना और उसे सीधे साधे ढंग में प्रतिपादित करना है।"

अब हमें देखना यह है कि क्या संविधान के ऐसे प्रत्यक्ष उपबन्ध अन्यत्र कहीं हैं जो संशोधन-शक्ति को परिसीमित करते हों। इस सम्बन्ध में हमारा ध्यान अनुच्छेद 13(2) की ओर ही आकर्षित किया गया है। चौबीसवें संशोधन से पूर्व अनुच्छेद 13 इस प्रकार था :

"13. (1) इस संविधान के प्रारम्भ होने से ठीक पहिले भारत राज्य-क्षेत्र में सब प्रवृत्त विधियां उस मात्रा तक शून्य होंगी जिस तक कि वे इस भाग के उपबन्धों से असंगत हैं।

(2) राज्य ऐसी कोई विधि नहीं बनाएगा जो इस भाग द्वारा दिए गए अधिकारों को छीनती या न्यून करती हो और इस खण्ड के उल्लंघन में बनी प्रत्येक विधि उल्लंघन की मात्रा तक शून्य होगी।

(3) यदि प्रसंग से दूसरा अर्थ अपेक्षित न हो तो इस अनुच्छेद में,—

(क) भारत राज्य क्षेत्र में विधि के समान प्रभावी कोई अध्यादेश, आदेश, उपविधि, नियम, विनियम, अधिसूचना, रूढ़ि अथवा प्रथा 'विधि' के अन्तर्गत होगी;

(ख) भारत राज्यक्षेत्र में किसी विधानमण्डल या अन्य क्षमताशाली प्राधिकारी द्वारा इस संविधान से प्रारम्भ से पूर्व पारित अथवा निर्मित विधि, जो पहिले ही निरसित न हो गई हो, चाहे ऐसी कोई विधि या उसका कोई भाग उस समय पूर्णतया या विशेष क्षेत्रों में प्रवर्तन में न भी हो, 'प्रवृत्त विधियों' के अन्तर्गत होगी।"

अनुच्छेद 13(1) और 13(2) से यह स्पष्ट दर्शित होता है कि विधायी आशय मूल अधिकारों को सर्वोपरि बनाने का था और ऐसी सभी विधियां अविछिन्नमान्य बनाने का था जो मूल अधिकारों के प्रतिकूल थीं। भारत के संविधान के प्रवर्तन के समय निश्चय ही कुछ विधियां प्रवर्तित थीं हीं और इसलिए अनुच्छेद 372 (2) द्वारा संविधान के प्रारम्भ से ठीक पूर्व भारतीय राज्य-क्षेत्र में प्रवृत्त सभी विधियां उस समय तक प्रवृत्त बनी रहने दी

गई थीं जब तक कि उन्हें किसी सक्षम विधानमण्डल द्वारा या सक्षम प्राधिकारी द्वारा परिवर्तित, निरसित या संशोधित नहीं कर दिया जाता। संविधान के प्रारम्भ के समय प्रवृत्त तथा अनुच्छेद 372 (1) के अधीन प्रवृत्त बनाई रखी गई विधियों को उस सीमा तक शून्य घोषित कर दिया गया जिस तक कि वे भाग 3 में उल्लिखित मूल अधिकारों के प्रतिकूल थीं। भावी विधियों के लिए व्यवस्था खण्ड (2) में कर दी गई। इस खण्ड के अनुसार राज्य ऐसी कोई विधि नहीं बनाएगा जो भाग 3 द्वारा प्रदत्त मूल अधिकारों को छीनती या न्यून करती हो। साथ ही यह भी उल्लिखित कर दिया गया है कि यदि उक्त खण्ड के उल्लंघन में कोई विधि बनाई जाती है तो वह उल्लंघन की सीमा तक शून्य होगी।

हमारे समक्ष दलील यह दी गई है कि अनुच्छेद 368 के अधीन संविधान का संशोधन राज्य द्वारा निर्मित विधि है इसलिए जिस सीमा तक वह खण्ड (2) का उल्लंघन करेगी उस सीमा तक यह संशोधन शून्य होगा। ऐसी ही दलील गोलक नाथ वाले मामले ([1]) में दी गई थी और उसे न्यायाधिपतियों ने बहुमत से स्वीकार कर लिया था। महत्वपूर्ण बहुमत निर्णय में यह अभिनिर्धारित किया गया था कि वह (संशोधन) सप्तम अनुसूची की सूची I की अवशिष्ट प्रविष्टि 97 के साथ पठित अनुच्छेद 248 के अधीन बनाई गई विधि है और इसलिए यदि वह कोई भी मूल अधिकार छीनती है या उसे न्यून करती है तो वह शून्य होगी। न्यायाधिपति हिदायतुल्लाह, जो निष्कर्ष से तो सहमत थे, इस मत से सहमत नहीं थे कि संशोधन-शक्ति उपरोक्त अवशिष्ट अनुच्छेद में उल्लिखित है। फिर भी उन्होंने अभिनिर्धारित किया कि 'अनुच्छेद 13(2) के प्रयोजन के लिए उसे (संशोधन को) देश की अन्य विधियों से भिन्न नहीं माना जा सकता है।' अन्य अल्पमत पांच न्यायाधिपति शंकरी प्रसाद ([2]) और सज्जन सिंह वाले मामलों ([3]) में अभिव्यक्त रूप में इस मत से सहमत थे कि संशोधन अनुच्छेद 13(2) के अनुसार विधि नहीं है क्योंकि, उनकी राय थी कि अनुच्छेद 368 के अधीन संविधान का संशोधन संविधायी शक्ति का प्रयोग है और इसलिए वह अनुच्छेद 13 (2) की परिधि से बाहर है।

श्री पालखीवाला ने कहा कि वे इस बाबत विवाद नहीं उठाना चाहते हैं कि संशोधन शक्ति किस उपबन्ध में निहित है। उन्होंने दलील दी कि यदि यह मान भी लें कि संशोधन-शक्ति अनुच्छेद 368 में विद्यमान है तो भी अधिक से अधिक यह हो सकता है कि संशोधन सांविधानिक विधिमान लिया जाए और (उनके अनुसार) यह विधि भी अनुच्छेद 13(2) के अन्तर्गत आ जाएगी। इस संदर्भ में उन्होंने कहा कि भारतीय राज्यों में बनी ऐसी विधियां थीं अथवा कुछ अन्य ऐसी विधियां थीं जिन्हें सांविधानिक विधि कहना उचित है और जो संविधान के प्रारम्भ के पश्चात् प्रवृत्त बनी रही हैं और वे अनुच्छेद 13(1) में वर्णित वर्ग में आ गई थीं और इसलिए कोई कारण नहीं है कि संविधान का संशोधन, जो कि एक प्रकार की सांविधानिक विधि ही है, अनुच्छेद 13(2) के प्रतिषेध के अन्दर न आए। इण्डियन इण्डिपेण्डेन्स ऐक्ट, 1947 और गवर्नमेन्ट ऑफ इण्डिया ऐक्ट, 1935 को, जो दो

([1]) (1967) 2 एस० सी० आर० 762.
([2]) (1952) एस० सी० आर० 89.
([3]) (1965) 1 एस० सी० आर० 933.

प्रमुख सांविधानिक अधिनियमितियां हैं और जिनसे देश शासित होता था, अनुच्छेद 395 से विनिर्दिष्टतः निरसित कर दिया गया है। समान क्षमता एवं गुण वाला और कोई अन्य कानून हमारे संविधान के पश्चात् प्रयुक्त नहीं रहा है। यह अवश्य है कि राज्यों के कुछ कानून और अन्य सांविधानिक दस्तावेज अनुच्छेद 13(1) के अधीन विधियों के रूप में प्रवृत्त बने रहे हैं किन्तु उस कारण यह अनुमान लगाना गलत होगा कि संविधान-संशोधन, जो सांविधानिक विधि ही है, अनुच्छेद 13(2)के अधीन 'विधि' ही माना जाएगा। हमें यह पता लगाना होगा कि लिखित संविधान में 'सांविधानिक-विधि' का क्या अर्थ है। जेनिंग ने अपनी कृति 'लॉ एण्ड कांस्टिट्यूशन' (पांचवां संस्करण) पृष्ठ 62-65 पर यह बताया है कि सांविधानिक विधि और अन्य विधि में मौलिक अन्तर है और यह कि 'सांविधानिक विधि' (कांस्टिट्यूशन लॉ) पद का प्रयोग कभी भी इस रूप में नहीं किया जा सकता है कि उसमें 'संविधान विधि' (लॉ ऑफ कांस्टिट्यूशन) और उसके अधीन निर्मित विधि भी आ जाए। विवादग्रस्त प्रश्न के संदर्भ में हमारा सम्बन्ध अपने संविधान से है, जो सर्वोच्च मूल विधि है, जिसके आधार पर ही सभी अन्य विधियों की—जो प्रवृत्त हैं या जो राज्य द्वारा बनाई जाएगी—विधिमान्यता तय की जाती है और चूंकि सर्वोच्च विधि का संशोधन, जैसा कि पहले बताया जा चुका है, संविधान के अन्य उपबन्धों के समान ही होता है, अतः हमें देखना यह है कि क्या ऐसे महत्त्व के संशोधन को अनुच्छेद 13(2) द्वारा अविधिमान्य घोषित किया जा सकता है। संविधान के प्रारम्भ के समय प्रवृत्त अन्य सभी विधियां, जिनमें राज्यों द्वारा की गई संधियां या राज्य के कानून सम्मिलित हैं, इतने महत्त्व की नहीं थीं। वस्तुतः अनुच्छेद 372 (1) से यह दर्शित है कि यदि उन्हें प्रवर्तन में बने रहना था तो ऐसा संविधान के अन्य उपबन्धों के अधीन रहते हुए ही हो सकता था और उसे सक्षम विधानमण्डल द्वारा या अन्य सक्षम प्राधिकारी द्वारा परिवर्तित, निरसित या संशोधित किया जा सकता था। यद्यपि इन सभी विधियों को मोटे तौर पर सांविधानिक विधि कहा जाता है तथापि उन्हें पूर्णतः संविधान के अधीन कर दिया गया है। इस दृष्टि से वे ऐसी किन्हीं अन्य विधियों से उच्चतर नहीं हैं जो संविधान के प्रारम्भ के पश्चात् प्रवृत्त बनी रहने दी गई हैं और उस सीमा तक वे उन्हीं विधियों के समान थीं जो संविधान के प्रारम्भ के पश्चात् प्रवृत्त बनी रही हैं। उनकी प्रास्थिति पूर्णतः संविधान के अधीनस्थ थी। दूसरी ओर सांविधानिक संशोधन की स्थिति, जैसा कि हम पहले बता चुके हैं, वही है जो संविधान स्वयं की है और इसलिए संविधान को तथाकथित सांविधानिक विधि या ऐसे दस्तावेज के समकक्ष रखना गलत होगा जो अनुच्छेद 372 (1) के अधीन संविधान के प्रारम्भ के पश्चात् प्रवृत्त बनी रही है।

संविधान में मानी गई विधि के रूप में संविधान संशोधन को संविधान के अधीन विधि नहीं माना जा सकता है। 'विधि', 'विधि द्वारा', 'विधि बनाएगा' पद सम्पूर्ण संविधान में प्रयुक्त हुए हैं। जैसा कि न्यायाधिपति बछावत ने गोलक नाथ वाले मामले [1] में पृष्ठ 904 और 905 पर दर्शित किया है कि कुछ अनुच्छेद उस समय तक के लिए अभिव्यक्त रूप से लागू बनाए रखे गए हैं जब तक कि उस बाबत विधि द्वारा संविधान कुछ अनुच्छेद तब तक बने रहते हैं जब तक कि विधि द्वारा अन्यथा उपबन्ध नहीं कर दिया जाता; कुछ तब तक बने रहते हैं जब कि विधि द्वारा अन्यथा के सिवाय उपबन्ध नहीं कर दिया जाता।

(1) (1967) 2 एस० सी० आर० 762.

कुछ अनुच्छेदों को ऐसी विधि के उपबन्धों के अधीन कर दिया गया है जो बनाई जाती है और कुछ अनुच्छेदों के बारे में यह अभिव्यक्त कर दिया गया है कि वे विधि बनाने की शक्ति का अल्पीकरण नहीं करेंगे। अनुच्छेद 4, 169, पंचम और षष्ठ अनुसूची के क्रमशः पैरा 5 और 21 संसद् को अनुसूची 1, 4, 5 और 6 के उपबन्धों को विधि द्वारा संशोधित करने की शक्ति प्रदान करते हैं। उक्त सभी अनुच्छेदों के अध्ययन से यह दर्शित होता है कि इन सभी अनुच्छेदों में प्रयुक्त 'विधि' शब्द से ऐसी विधि अभिप्रेत है जिसे संसद् अपनी साधारण विधायी प्रक्रिया के अनुसार बनाती है। दूसरी ओर यह भी महत्वपूर्ण बात है कि अनुच्छेद 368 में 'विधि' शब्द के प्रयोग का जानबूझकर अपवर्जन किया गया है। विधेयक के रूप में संसद् में संशोधन के लिए प्रस्ताव कर देने के पश्चात् जब वह दोनों सदनों में अपेक्षित बहुमत से पृथक्-पृथक् रूप में पारित हो जाता है और उसे राष्ट्रपति की अनुमति प्राप्त हो जाती है तथा परन्तुक में उल्लिखित कुछ मामलों में राज्यों की अपेक्षित संख्या द्वारा पूर्व अनुसमर्थन प्राप्त हो जाता है तो प्रस्तावित संशोधन संविधान में इस प्रकार समाविष्ट हो जाता है मानो वह संविधान का ही एक भाग है। जैसा कि पहले भी बताया जा चुका है, संशोधन किसी अन्य विधि की तरह से सक्षम विधानमण्डल द्वारा साधारण प्रक्रिया का अनुसरण करके पारित नहीं होता है। राज्य के विधानमण्डलों द्वारा संकल्प पारित करके अनुसमर्थन कोई विधायी कार्य नहीं है। सम्पूर्ण प्रक्रिया यह दर्शित करती है कि संशोधन ऐसी प्रक्रिया द्वारा किया जाता है जो उस प्रक्रिया से भिन्न है जिसका अनुसरण करके संसद् या कोई राज्य-विधानमण्डल अन्य विधि बनाता है और यही कारण है कि अनुच्छेद 368 में 'विधि' शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है। कदाचित उक्त कार्य संविधान के निर्माताओं ने अमरीका के अनेक न्याय-शास्त्रियों के इस मत से प्रभावित होकर किया है कि अमरीका के संविधान के अनुच्छेद 5 के, जो भाषा की संरचना की दृष्टि से किसी सीमा तक भारतीय संविधान के अनुच्छेद 368 अनुरूप है, के अनुसार संशोधन को विधायी कार्य नहीं माना गया है। जैसा कि हम पहले ही देख चुके हैं, फाइनर ने उक्त संशोधन को स्वयं संविधान ही माना है। 'सांविधानिक संशोधन' प्रस्तावित करने में विधानमण्डल अपने साधारण विधायी कृत्यों का पालन नहीं करता है। (कार्पस ज्यूरिस सेकेण्डम, जिल्द 16, पृष्ठ 48-49)। अमरीका के संविधान के अनुच्छेद 5 के अधीन संशोधन के लिए कांग्रेस द्वारा पेश किए गए प्रस्ताव और राज्यों द्वारा उनका अनुसमर्थन विधायी कार्य नहीं है। (बरडिक्ट की कृति 'दि लॉ ऑफ दि अमरीकन कांस्टिट्यूशन, पृष्ठ 40-42')। 'राज्य द्वारा अनुसमर्थन विधायी कार्य नहीं है' (ह्वीवर की कृति 'कांस्टिट्यूशनल लॉ एण्ड इट्स एडमिनिस्ट्रेशन, पृष्ठ 50,)।

दूसरी बात यह है कि हमारे संविधान में कई स्थानों पर एक साथ 'संविधान' और 'विधि' शब्द प्रयुक्त हुए हैं। यदि 'विधि' शब्द के अन्तर्गत 'संविधान' भी आता है तो उक्त दोनों शब्दों का प्रयोग अनावश्यक था। उदाहरण के तौर पर अनुच्छेद 60, में जिसमें राष्ट्रपति की शपथ का प्रारूप दिया गया है और अनुच्छेद 159 में, जिसमें राज्य के राज्यपाल की शपथ का प्रारूप दिया गया है, शपथ पर इतना ही प्रतिज्ञान करना पर्याप्त होता कि मैं 'विधि का परिरक्षण, संरक्षण और प्रतिरक्षण करूंगा' और जैसा कि स्पष्ट

है 'संविधान और विधि का परिरक्षण, संरक्षण और प्रतिरक्षण करूंगा' पद आवश्यक न होता। इसी प्रकार अनुच्छेद 78 के अधीन महान्यायवादी और अनुच्छेद 165 के अधीन राज्य के महाधिवक्ता के लिए शपथ पर इतना ही प्रतिज्ञान पर्याप्त होता कि वह "विधि द्वारा प्रदत्त कृत्यों का निर्वहन करेगा" और उसकी बाबत यह प्रतिज्ञान करना आवश्यक न होता कि वह 'इस संविधान या तत्समय प्रवृत्त किसी अन्य विधि द्वारा या उसके अधीन सौंपे गए कृत्यों का निर्वहन करेगा'। यही स्थिति उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालय के न्यायाधिपतियों तथा नियन्त्रक और महालेखा परीक्षक के लिए अनुसूची 3 में विहित शपथ की है। निस्सन्देह यह तर्क दिया ही जा सकता है कि संविधान का उल्लेख विशेष कर उसके महत्व को बढ़ाने के लिए किया गया है। किन्तु यह तो बहुत महत्व की बात है। उसका महत्व तो इसमें है कि वह अन्य सभी प्रकार की विधियों के ऊपर है। संविधान की ऐसी विशिष्ट स्थिति थी जिसका कि ज्ञान संविधान निर्माताओं को भली प्रकार था। संविधान निर्माताओं को विश्व के अन्य बड़े-बड़े देशों के परिसंघीय (फेडरल और परिसंधीयवत् (क्वासी फेडरल) संविधानों की भली प्रकार से जानकारी थी। इतना तो स्पष्ट है कि संविधान निर्माताओं को यह ज्ञात था कि संविधान अन्य विधियों से भिन्न है। इस आधार पर युक्तियुक्त रूप में यह आशा की जा सकती है कि यदि संशोधन को जिसकी प्रकृति साधारण विधि जैसी नहीं है, अनुच्छेद 13 (2) में 'विधि' शब्द में सम्मिलित करने का आशय था, तो इसका उल्लेख अनुच्छेद 13 के खण्ड 3(1) में 'विधि' शब्द की परिभाषा में विशिष्टत: कर दिया गया होता। यह परिभाषा यह बताने वाली है कि इसके अन्तर्गत क्या-क्या आता है। उन्होंने परिभाषा में अधिनियमित विधि या कानूनी विधि का उल्लेख नहीं किया है। इसका कारण स्पष्ट है कि किसी को यह बताने की आवश्यकता नहीं है कि विधानमण्डल द्वारा बनाया गया अधिनियम विधि है। किन्तु इसमें अध्यादेश, आदेश, उपविधि, नियम, विनियम, अधिसूचना, रुढ़ि या प्रथा सम्मिलित है और ऐसा उल्लेख यह स्पष्ट करने के लिए किया गया है कि यद्यपि उक्त सब उपबन्ध विधानमण्डल की अधिनिमितियां नहीं हैं तथापि वे ऐसी 'विधि' हैं जो उक्त परिभाषा के अन्तर्गत आती हैं। कदाचित आपत्ति इस प्रत्याशा में की गई है कि अध्यादेश, आदेश उपविधियां आदि, जो विधानमण्डल के अधिनियम नहीं हैं, विधियां नहीं हैं। स्पष्टत: यही कारण है कि उन्हें विशिष्ट रूप से परिभाषा में सम्मिलित कर दिया गया है। अत: यदि संविधान के संशोधन को 'विधि' मान लेना आशयित था जो कि विधानमण्डल का साधारण कानून नहीं है तो उसे परिभाषा में विशिष्टत: सम्मिलित करने के लिए पुष्ट आधार मौजूद था। अत: परिभाषा में इसका उल्लेख न किया जाना बहुत महत्वपूर्ण है।

महत्व की बात तो यह है कि संविधान या उसका संशोधन न तो अनुच्छेद 13 (1) के अर्थान्तर्गत प्रवृत्त विधि और अनुच्छेद 372 (1) के अधीन प्रवृत्त बनाई रखी गई विधि है और न उसे अनुच्छेद 13 (2) के अर्थान्तर्गत राज्य द्वारा बनाए गई विधि ही माना जा सकता है। अनुच्छेद 13 (2) के अधीन प्रतिबन्ध न केवल विधि के विरुद्ध ही है वरन राज्य द्वारा बनाई गई विधि के विरुद्ध भी है। भाग 3 द्वारा प्रदत्त मूल अधिकार 'राज्य' द्वारा बनाई गई विधि से न तो छीना जा सकता है और न ही न्यून ही किया जा सकता है।

'राज्य' शब्द का अर्थ स्पष्ट करने के उद्देश्य से भाग 3 के, जिसमें मूल अधिकार उल्लिखित हैं, अनुच्छेद (12) में 'राज्य' शब्द की परिभाषा प्रारम्भ में ही दे दी गई है। उक्त परिभाषा के अनुसार राज्य के अन्तर्गत भारत की सरकार और संसद्, तथा राज्यों में से प्रत्येक की सरकार और विधानमण्डल तथा भारत राज्यक्षेत्र के भीतर अथवा भारत सरकार के नियन्त्रण के अधीन सब स्थानीय और अन्य प्राधिकारी भी हैं। इस प्रकार परिभाषा में भारत के राज्यक्षेत्र के अन्दर के सभी सरकारी अंग सम्मिलित हैं और यह सरकारी अंग या तो संविधान के अधीन सृष्ट हुए हैं या फिर अनुच्छेद 372 के अधीन में संविधान द्वारा अंगीकृत विधियों के अधीन सृष्ट हुए हैं। दूसरे शब्दों में ये सभी अंग या अभिकरण संविधान के अधीन प्रवृत्त हैं वे संविधान के ही अधीनस्थ हैं। अतः यह कहना गलत होगा कि अनुच्छेद 13(2) में उल्लिखित 'राज्य' ऐसे किसी अभिकरण से अधिक है जो संविधान के माध्यम से सृष्ट हुआ है या अंगीकार किया गया है। और जिससे संविधान के अनुरूप कार्य करने की अपेक्षा की गई है। राज्य शब्द को राष्ट्र का प्रतिमान नहीं माना जा सकता और न उसे सभी सरकारी अभिकरणों का योग ही माना जा सकता है। 'राष्ट्र' एक अस्पष्ट विचार है। अनुच्छेद 13 (2) के अधीन प्रतिबन्ध राज्य के मूर्त अंगों के विरुद्ध है। ये अंग वे हैं जो संविधान के अनुसार विधि बना सकते हैं।

जैसा कि पहले भी उल्लेख किया गया है 'राज्य' शब्द की परिभाषा के अनुसार ऐसा कोई निकाय या निकायों का समूह, जो कि संविधान में उल्लिखित है, प्रभुत्वसम्पन्न संविधायी शक्ति का प्रयोग करता है, चाहे वह 'नमनीय' संविधान के अधीन हो चाहे 'अनम्य' के अधीन ऐसा सरकारी अंग नहीं है जो संविधान के सर्वश्रेष्ठता के अधीन हो। निकाय और निकायों के समूह संविधान के अधीन प्रवृत्त नहीं होते हैं। वे संविधान के ऊपर होते हैं। अतः संशोधन के समय वे सरकारी अंगों के रूप में कार्य नहीं करते हैं। अतः संविधान के भाग 3 के प्रयोजनों के लिए उन्हें राज्य नहीं माना जा सकता।

परिणामस्वरूप, हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि संविधान का संशोधन राज्य द्वारा बनाई गई विधि नहीं है और इसलिए संविधान के संशोधन को अनुच्छेद 13(2) का नियन्त्रण लागू नहीं होगा।

यही निष्कर्ष किंचित भिन्न मार्ग अपना कर भी निकाला जा सकता है। अनुच्छेद 13(2) में ऐसी विधि का उल्लेख है जो उस सीमा तक शून्य है जिस तक कि वह संविधान के भाग 3 के उपबन्धों या कतिपय अनुच्छेदों द्वारा प्रदत्त मूल अधिकार को छीनती या कम करती है। इस प्रकार उसमें शक्ति बाह्यता का वह सिद्धान्त समाविष्ट है जो इंग्लैण्ड की विधि में सुविदित है। दूसरे शब्दों में वह एक ऐसी विधि है जिसकी संविधान के उपबन्धों के सम्बन्ध में अविधिमान्यता के बारे में पूर्व धारणा की जा सकती है। यह तभी सम्भव है जबकि उसे राज्य के किसी अंग द्वारा बनाई गई विधि मान लिया जाए। हम यह पहले ही बता चुके हैं कि जब कोई संशोधन किया जाता है तो वह संविधान का एक भाग बन जाता है और वह संविधान के अन्य उपबन्धों के समान ही हो जाता है। शून्यता के बारे में पूर्व धारणा किसी वरिष्ठ विधि, न कि समकक्ष विधि, के सम्बन्ध में ही की जा सकती है। ऐसी कोई भी वरिष्ठ विधि नहीं है जिसके निर्देश में उसकी (संशोधन की) शून्यता की बाबत

विनिश्चय किया जा सके। वस्तुतः यदि संशोधन संविधान के कुछ अन्य उपबन्धों के पूर्णतः अनुरूप नहीं है तो न्यायालय को उन उपबन्धों में सामंजस्य स्थापित करना होगा [जैसा कि श्री वेंकटरमण बनाम मैसूर राज्य (1) में किया गया है]। उक्त मामले में अनुच्छेद 26(ख) के अधीन मूल अधिकार को संविधान के अनुच्छेद 25(2)(ख) के अधीन रख कर पढ़ा गया है। तथापि विचारणीय विषय यह है कि न्यायालय एक उपविधि के किसी एक उपबन्ध के निर्देश में उसी विधि के किसी अन्य उपबन्ध की उपेक्षा नहीं कर सकते। यह केवल अर्थान्वयन का विषय हो जाता है। अतः संविधान का संशोधन, जिसकी किसी वरिष्ठ विधि के निर्देश में उपेक्षा नहीं की जा सकती है, कोई ऐसी विधि नहीं है, जिसकी उपेक्षा की बाबत आप कोई पूर्व धारणा कर सकते हों, और परिणामस्वरूप वह अनुच्छेद 13(2) की परिधि से बाहर हो जाता है।

यदि भाग 3 में उल्लिखित मूल अधिकार संशोधनीय नहीं हैं तो भाग 20 में विनिर्दिष्ट रूप में ऐसा उपबन्ध सरलता से किया जा सकता था। भाग 20 विशिष्टतः संविधान के संशोधन के बारे में है। उसी भाग में इस बाबत उपबन्ध करना उपयुक्त होता। अमरीका के संविधान के अनुच्छेद 5 में उन दो विषयों का स्पष्ट उल्लेख है जो संशोधनीय नहीं हैं। प्रारूप संविधान से तथ्यतः यह दर्शित होता है कि एक अनुच्छेद 305 था जिसका विषय था 'संविधान का संशोधन' और उस अनुच्छेद के अधीन संविधान के कुछ भागों को विशिष्टतः असंशोधनीय बना दिया गया था। बाद में यह अनुच्छेद 305 निकाल दिया गया और प्रारूप-संविधान में मुख्य संशोधन अनुच्छेद के रूप में अनुच्छेद 304 जोड़ा गया, जो वर्तमान संविधान के अनुच्छेद 368 के रूप में विद्यमान है। किन्तु इस अनुच्छेद के परन्तुक में कुछ अन्य विषय भी जोड़ दिए गए हैं।

'संविधान' और 'विधि' के बीच अन्तर बताने के लिए संविधान निर्माताओं ने विधि का कोई ऐसा नया सिद्धान्त प्रतिपादित नहीं किया है जो संविधान के अधीन हो। यह एक ऐसा सिद्धान्त है जो ऐसे परिसंघीय संविधानों में सुमान्य है जिनमें संविधान के संशोधन के लिए कोई विशेष प्रक्रिया विहित की गई है।

इस बाबत कोई आपत्ति नहीं कर सकता है कि व्यापक अर्थ की दृष्टि से 'विधि' शब्द के अन्तर्गत सांविधानिक विधि भी है। क्योंकि उसके अन्तर्गत नैसर्गिक विधि, रूढ़िजन्य विधि या धर्म-विधि भी सम्मिलित है। प्रश्न यह है कि क्या हमारे संविधान में प्रयुक्त 'विधि' शब्द में 'संविधान का संशोधन' भी सम्मिलित है। जैसा कि स्पष्ट है, हमारे संविधान में साधारण विधायी प्रक्रिया द्वारा किसी विधानमण्डल द्वारा बनाई गई साधारण विधि और अनुच्छेद 368 के अधीन संविधान-संशोधन के बीच साफ अन्तर दर्शित किया गया है। यह बात उन स्थलों पर और भी स्पष्ट हो जाती है जहां कि संविधान के कुछ उपबन्धों को साधारण विधि द्वारा संशोधित किया जा सकता है। जैसा कि पहले भी कहा गया है अनुच्छेद 4, 169 और क्रमशः पंचम और षष्ठ अनुसूची का पैरा 7 और पैरा 22 संसद् को विधि द्वारा संविधान में संशोधन करने के लिए सशक्त करते हैं। किन्तु हर एक दशा में यह उपबन्धित कर दिया गया है कि अनुच्छेद 368 के प्रयोजनों के लिए इसे संविधान का

(1) (1958) एस० सी० आर० 895.

संशोधन नहीं माना जाएगा। जब 'विधि' और 'संविधान का संशोधन' के बीच ऐसी भिन्नता दर्शित की गई है तो उसकी अपेक्षा मेक्कावले वाले मामले ([1]) और राणासिंघे वाले मामले([2])में प्रिवी कांउसिल द्वारा व्यापक रूप में प्रयुक्त'विधि'शब्द के प्रति निर्देश करके नहीं किया जा सकता है। पूर्व कथित मामले में सम्बन्धित संविधान एक नमनीय संविधान था। पश्चात्कथित मामले में यद्यपि संविधान एक नियन्त्रित संविधान था तथापि संविधान के संशोधन से सम्बन्धित उपबन्ध अर्थात् सिलोन (कांस्टिट्यूशन) आर्डर इन काउन्सिल की धारा 29 (4), धारा 29 का ही भाग थी, जो विशिष्टतः विधियां बनाने के बारे में थी और जो विधायी शक्ति और प्रक्रिया नामक शीर्षक के अन्तर्गत आई थी। दोनों ही मामलों में विधानमण्डल प्रभुत्वसम्पन्न था और जैसा कि उन विधानमण्डलों की दशा में होता है, जो ब्रिटिश संसद् के अनुरूप ही गठित किए गए होते हैं, सांविधानिक विधि और साधारण विधि के बीच अन्तर कुछ लुप्तसा हो जाता है और सांविधानिक विधि को दर्शित करने के लिए 'विधि' शब्द का प्रयोग अस्पष्ट होता है। किन्तु हमारा सम्बन्ध तो अपने संविधान से है और हम उस अन्तर की उपेक्षा नहीं कर सकते हैं जो संविधान में साधारण विधियों और अनुच्छेद 368 के अधीन संविधान के संशोधन के बीच किया गया है। तृतीय अनुसूची में शपथ के प्रारूपों में 'विधि द्वारा स्थापित संविधान' पद के प्रयोग से कोई प्रतिकूल बात साबित नहीं होती है। क्योंकि 'विधि द्वारा स्थापित' पद का अर्थ है 'विधितः स्थापित' संविधान। उसमें ऐसा कोई उपबन्ध नहीं है जिससे 'विधि' और संविधान के बीच कोई अन्तर आशयित होता हो।

यह दर्शित करने के लिए, कि जो उपबन्ध अब अनुच्छेद 13 के रूप में विद्यमान है उसके मूल रूप में समय-समय पर क्या परिवर्तन हुए हैं, संविधान-सभा की डिबेटों और संविधान के अनेक प्रारूपों का हवाला दिया गया था। इस तथ्य से, कि मूलतः अनुच्छेद 13 इस प्रकार प्रारूपित किया गया था कि मूल अधिकारों के संशोधन को वह निष्फल न कर सके, किन्तु बाद में प्रारूपण समिति ने उस उपबन्ध को निकाल दिया था, यह सिद्ध नहीं होता है कि संविधान निर्माताओं का यह विचार था कि यदि संविधान के संशोधन से मूल अधिकार न्यून होते हैं तो ऐसे संशोधन को अनुच्छेद 13 (2) लागू हो जाएगा। प्रथम प्रारूप से सम्बद्ध एक टिप्पण में यह विशेषकर उल्लिखित था कि अनुच्छेद 13 (2) संविधान के संशोधन को नियन्त्रित नहीं करेगा और इसलिए किसी विशिष्ट उपबन्ध द्वारा इस भाव का कोई भी स्पष्टीकरण कि मूल अधिकार संशोधित किए जा सकते हैं, आवश्यक नहीं था। यदि ऐसा कोई उपबन्ध किया जाता तो वह अत्यन्त सतर्कता का विषय हो जाता (शिवराव की कृति 'दि फ्रेमिंग ऑफ इण्डियास कांस्टिट्यूशन, खण्ड IV पृष्ठ 26 देखिए)। यही कारण था कि अनुच्छेद 13 का वह भाग निकाल दिया गया जिसमें यह उल्लेख था कि अनुच्छेद 13 संविधान के ऐसे संशोधन में बाधक नहीं होगा जिससे मूल अधिकार कम या समाप्त होते हों। न तो संविधान के प्रारूपण से सम्बन्धित नेताओं के भाषणों से और न

([1]) (1920) एस० सी० 691

([2]) (1965) ए० सी० 172

प्रथम संशोधन के, जिसके द्वारा अनुच्छेद 15, 19 और 31 द्वारा प्रदत्त मूल अधिकारों में भारी कमी की गई है, पारित होने के समय उनके द्वारा दिए गए भाषणों (वही संविधान सभा अन्तिम संसद् के रूप में बनी रही थी) से ही यह दर्शित होता है कि मूल अधिकारों को असंशोधनीय माना या समझा गया है। वस्तुतः स्थिति तो इसके प्रतिकूल ही थी।

इस तर्क की, कि मूल अधिकार अन्य-असंक्राम्य नैसर्गिक अधिकार हैं और इसलिए वे इस प्रकार संशोधनीय नहीं हैं कि वे न्यून हो जाएं या छिन जाएं, सविस्तार परीक्षा आवश्यक नहीं है। अनुच्छेद 13 और 22 से यह प्रकट होता है कि उनके अधीन वाले अधिकार जनता ने स्वयं को 'प्रदान किए' हैं। उनमें से अधिकतर नैसर्गिक अधिकार नहीं हैं। अस्पृश्यता का अन्त (अनुच्छेद 17); खिताबों का अन्त (अनुच्छेद 18); दोहरे अभियोजन और दण्ड के विरुद्ध संरक्षण [अनुच्छेद 20(2)]; कारखानों में बच्चों को नौकर रखने का प्रतिबन्ध (अनुच्छेद 24); कुछ शिक्षा-संस्थाओं में धार्मिक शिक्षा अथवा धार्मिक उपासना में उपस्थित होने के विषय में स्वतन्त्रता (अनुच्छेद 28); नैसर्गिक अधिकार नहीं हैं। साथ ही सभी मूल अधिकार सभी व्यक्तियों को मानव मात्र मानकर नहीं दिए गए हैं। अनुच्छेद 19 के अधीन अनेक स्वतन्त्रताएं केवल नागरिकों को ही दी गई हैं, अनागरिकों को नहीं। जो अधिकार दिए गए हैं वे भी अनियन्त्रित नहीं हैं। सभी अधिकारों को सामान्य जनता, सार्वजनिक व्यवस्था, सार्वजनिक सदाचार, राज्य की सुरक्षा और तत्समान अन्य बातों के हित में निर्बन्धित कर दिया गया है। इससे यह दर्शित होता है कि हमारे संगठित समाज में सामाजिक और राजनीतिक दृष्टिकोण अधिक महत्वपूर्ण है। निवारक निरोध के लिए उपबन्ध करके दैहिक स्वाधीनता (पर्सनल लिबर्टी) को सीमित कर दिया गया है। निवारक निरोध, विद्यमान परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए शान्ति-काल में भी, किया जा सकता है। संविधान-सभा के कई सदस्यों ने स्वतन्त्रताओं के सीमित किए जाने पर यह कहकर आपत्ति की थी कि जो कुछ प्रदान किया जा रहा है वह सारहीन है। संविधान से पूर्व इन अधिकारों की बाबत विधिक दृष्टि से कभी भी यह नहीं कहा गया है कि वे अन्य-असंक्राम्य हैं, क्योंकि विधि द्वारा उन्हें छीना जा सकता था।

तथाकथित नैसर्गिक अधिकार का सिद्धान्त, जिसे शताब्दियों पूर्व दार्शनिकों ने तत्समय विद्यमान राजनीतिक और सामाजिक अन्यायों के विरुद्ध संरक्षण का रूप दिया है, कुछ समय पश्चात्, आर्थिक-क्षेत्र में 'हस्तक्षेप न करने' (लेसेज फेयर) के सिद्धान्त के समान, शीघ्रगति से परिवर्तनशील संसार में अनुपयोगी हो गया और उसे आधुनिक राजनीतिक संविधानों में इसी रूप में मान्यता दी गई है कि संगठित समाज उसे आदर की दृष्टि से देखता है। इसी कारण से संविधान में विशिष्टतया यह कहा गया है कि ये अधिकार जनता ने स्वयं को प्रदान किए हैं और इस कारण वे संविधान द्वारा दिए गए उपहार हैं। विश्व के अत्यन्त उन्नतशील और सुव्यवस्थित प्रजातन्त्रीय समाजों में भी, जिनमें एक बड़ी सीमा तक राजनीतिक समानता प्राप्त की जा चुकी है, स्वतन्त्रता की विषयवस्तु को सामाजिक और आर्थिक न्याय के उत्पाद के रूप में उत्तरोत्तर मान्यता दी जाती है क्योंकि इसके बिना अन्य स्वतन्त्रताएं अर्थहीन हो जाती हैं। अवसर की समानता का दावा ऐसे समाज में करना, जिसमें सम्पत्ति और सामाजिक तथा राजनीति उन्नति के साधनों में गम्भीर असमानता है, जीवन के तथ्यों से दूर भागना है। स्वतन्त्रता केवल गिने चुने सौभाग्यशालियों के लिए ही

नहीं है। वह तो ऐसे व्यक्तियों को भी उपलब्ध होनी चाहिए जिनका सारा समय जीवित बने रहने के लिए साधनों की तलाश में बीत जाता है। संविधान के दर्शन का मर्म सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय में ही निहित है। हमारे संविधान का प्रमुख उद्देश्य यही है और वह उसकी प्रस्तावना एवं अनुच्छेद 38 में उल्लिखित है। ऐसे न्याय के प्राप्ति के लिए समाज या सरकार का प्रयत्न निश्चय ही निजी सम्पत्ति और उसे धारण करने के मूल अधिकार की 'पवित्रता' पर प्रहार होता है। राज्य की नीति के निदेशक तत्व, जो हमारे संविधान के अनुसार देश के शासन के लिए बुनियादी आधार हैं, राज्य से अपेक्षा करते हैं कि वह इस प्रकार कार्य करे कि नागरिकों को जीवन यापन के लिए पर्याप्त साधन उपलब्ध हो सकें। इस उद्देश्य से समुदाय की भौतिक सम्पत्ति का स्वामित्व और नियन्त्रण इस प्रकार बांटा जाए कि उससे सामूहिक हित हो और आर्थिक व्यवस्था इस प्रकार चलाई जाए कि धन और उत्पादन के साधनों का सर्वसाधारण के लिए अहितकारी केन्द्रण न हो। (अनुच्छेद 37-39 देखिए)। वह निदेश राज्य के लिए उतने ही महत्व का है जितना कि उसके लिए वैयक्तिक स्वतन्त्रता बनाए रखना है और इसलिए अन्तिम विश्लेषण के अनुसार सामान्य जन-हित को ध्यान में रखते हुए राज्य का यह सतत प्रयत्न होता है कि वह निदेशक तत्वों और मूल अधिकारों के बीच इस प्रकार सामंजस्य स्थापित करे, जहां तक कि सम्पत्तिक अधिकारों का सम्बन्ध है, सम्पत्ति धारण करने की स्वतन्त्रता निदेशक तत्वों द्वारा निर्दिष्ट राज्य की नीति के दावों के अनुरूप समायोजित हो सके। किसी भी रूप में सम्पत्ति से वंचन और उसका हरण, अनेक व्यक्तियों की दृष्टि में, प्रजातान्त्रिक संगठन में न्यायोचित है बशर्ते कि वंचित व्यक्ति ने उसे अपने ही प्रयत्नों से कमाया न हो या वह जिस समाज में रहता है उसे उसके बदले में पर्याप्त लाभ उपलब्ध न करता हो। सम्पत्ति की 'पवित्रता' समानता पर आधारित (इगैलीटेरियन) समाज में समाप्त हो जाती है। यदि एक बार यह बात स्वीकार कर ली जाए और वंचन तथा सम्पत्ति-हरण को किसी बेहतर सामाजिक संगठन के, जिसमें कि स्वाधीनता और स्वतन्त्रता की वास्तविकता को अधिक विस्तृत रूप में प्राप्त किया जा सकता है, हित में अनिवार्यतः मान्यता दे दी जाए तो सम्पत्ति धारकों का यह दावा समाप्त हो जाता है कि साम्पत्तिक अधिकार सनातन और अन्य-असंक्रमणीय हैं। संविधान के किसी भाग को यह कह कर संविधान से उच्चतर नहीं बनाया जा सकता है कि उसे संविधान से परे किसी रूप में वरिष्ठता प्राप्त है। संविधान एक विधिक दस्तावेज है और यदि उसमें यह कहा गया है कि उसका प्रत्येक अंश संशोधनीय है तो हम मूल अधिकारों को संशोधन-शक्ति से परे नहीं रख सकते हैं। प्रस्तुत मामले में यह ध्यान देने की बात है कि यद्यपि दलील सभी मूल अधिकारों की बाबत की गई है तथापि जिस मूल अधिकार पर हमें प्रधानतः विचार करना है वह सम्पत्ति का अधिकार ही है। इतना ही ध्यान में रखना पर्याप्त है कि आधुनिक प्रजातन्त्रों में सम्पत्ति-अधिकार को अन्य-असंक्राम्य नैसर्गिक अधिकार के रूप में मान्यता नहीं दी जाती है। यहां पर डब्ल्यू० फ्रीडमन की कृति 'लीगल थ्योरि, पंचम संस्करण पृष्ठ 1967 से एक पैरा उद्धृत करना लाभकर होगा—

> "आधुनिक रोमन कैथोलिक गिरजाघर का रेरम नोवारम (1891) के बाद से और अधिकतर नवशास्त्रीय दार्शिकों का प्राधिकारिक शासकीय सिद्धांत यह है कि निजी सम्पत्ति का अधिकार नैसर्गिक विधि की देन है। किन्तु सेण्ट थामस

एक्वीनास तथा सुआरेज ने निजी सम्पत्ति के अधिकार की उत्पत्ति नैसर्गिक विधि से स्वीकार नहीं की है और उन्होंने उसे सामाजिक उपयोगिता की दृष्टि से मान्यता दी है।" (जैसा कि मैं ठीक मानता हूं) पृष्ठ 357।

जब कोई विशिष्ट विधिक समस्या हमारे समक्ष उत्पन्न होती है तो अक्सर हम यही देखते है कि नैसर्गिक विधि के सिद्धान्त उन मान्यताओं के बीच उत्पन्न विवाद को, जो प्रतिद्वन्द्वी हितों, प्रयोजनों और नीतियों के बीच समायोजन की एक सतत् और दुखदायी समस्या है, सुलझाने के बजाए उसे उलझा देते हैं। इस समस्या का समाधान नैतिक या राजनीतिक मूल्यांकन का विषय है, जिसे वर्तमान चालू विधायी नीतियों में और किसी सीमा तक न्यायिक निर्वचन पर परिवर्तनशील विचारों के प्रभाव मेंअभिव्यक्ति मिलती है। और वस्तुत: हमें जिम्मेदार मानव या नागरिक के रूप में यह निश्चय कर लेना चाहिए कि हमारादृष्टिकोण—उदाहरणार्थ राज्य की सुरक्षा और वैयक्तिक स्वतन्त्रता के बीच तनाव के प्रश्न पर—क्या होना चाहिए। खतरा यह है कि यदि हम अपने विश्वास को नैसर्गिक विधि के अधीन करते हैं तो हम उसकी आत्यन्तिक प्रकृति होने का दावा भी कर सकते हैं और इसी आधार पर हम किसी भी अन्य विश्वास को सरलता से बुरा-भला कह सकते हैं या उसे नाश कर सकते हैं।" (पृष्ठ 357-358)

"वह समय बीत चुका है जब कि सभी विषयों की परख पाश्चात्य मान्यताओं के आधार पर की जाती थी। साथ ही नैसर्गिक न्याय की परिकल्पना वास्तविक विधि के पालन की सीमाओं की पीड़ाकारक समस्या के समाधान में अधिक सहायक नहीं हो सकती है।" (पृष्ठ 359)

"आधुनिक प्रजातान्त्रिक विचारधारा के विकास के मुख्य स्रोत हैं—व्यक्ति के संरक्षक वैयक्तिक अधिकारों का उदात्त विचार और अधिकारों की समानता तथा जन-प्रभुत्व प्रस्थापित करने वाला प्रजातान्त्रिक विचार। राजनीति से बढ़ कर सामाजिक और आर्थिक क्षेत्रों में समानता के विचार के क्रमिक विस्तार से सामाजिक सुरक्षा और आर्थिक प्रयोजन की समस्याओं में वृद्धि हो गई है। इन सिद्धान्तों का कार्यान्वयन और सामंजस्य ही प्रजातन्त्र की मुख्य समस्या बनी हुई है।" (पृष्ठ 398)

"किन्तु प्रजातान्त्रिक समाज ने, यद्यपि भिन्न मात्रा एवं विस्तार में, सर्वत्र यह स्वीकार किया है कि सामाजिक दायित्वों के कारण वैयक्तिक अधिकार सीमित हो जाते हैं।" (पृष्ठ 399)

"किन्तु आधुनिक प्रजातन्त्र को, उसी प्रक्रिया से, जिससे पड़ोसी और समाज के प्रति सामाजिक कर्तव्यों के कारण वैयक्तिक अधिकारों में दिन पर दिन परिवर्तन होता आ रहा है, सम्पत्ति से सम्बद्ध सामाजिक दायित्वों को सर्वत्र साम्पत्तिक स्वातन्त्र्य से जोड़ना पड़ रहा है। सम्पत्ति पर प्रतिबन्ध विभिन्न प्रकार के हैं। राज्य का कर लगाने का अधिकार, उसकी पुलिस-शक्ति और उचित प्रतिकर देकर सम्पत्ति आहरण की शक्ति आदि सम्पत्ति के स्वातन्त्र्य पर सार्वजनिक प्रतिबन्ध के उदाहरण हैं और ये प्रतिबन्ध सर्वव्यापी एवं सर्वमान्य हैं। सम्पत्ति के उपयोग के स्वातन्त्र्य से सम्बन्धित एक प्रतिबन्ध और भी है। यह प्रतिबंध औद्योगिक सम्पत्ति

के उपयोग या नियोजन संविदाओं से विधि द्वारा सम्बद्ध सामाजिक बाध्यताओं की संस्थाओं में दिनोंदिन वृद्धि के रूप में प्रकट हो रहा है।" (पृष्ठ 405)।

"निजी सम्पत्ति पर सार्वजनिक नियन्त्रण की मात्रा आर्थिक परिस्थितियों में तनाव पर आश्रित होती है। यूरोप में समृद्धि में वृद्धि और उपभोग की वस्तुओं की उपलब्धता के कारण आर्थिक नियन्त्रण में भारी कमी हो रही है और यह स्थिति समाजवाद को दूर छोड़ रही है। किन्तु भारत जैसे संघर्षमय नए प्रजातन्त्र में—जहां कि पूंजी और विकसित साधनों की कमी है और जो अपनी हाल ही में प्राप्त सम्प्रभुता के प्रति सजग है—सार्वजनिक प्रयोजन और महत्त्वपूर्ण साधनों पर नियन्त्रण को अत्यावश्यक समझा जाता है। पश्चिमी जर्मनी के 1949 के संविधान में, जिसमें प्रजातन्त्र के आर्थिक पहलुओं की बाबत अमरीकी, ब्रिटिश और युद्धोपरान्त जर्मन विचारों का सम्मिश्रण है, यह उल्लिखित है कि भूमि, खनिज और उत्पादन के साधनों का समाजीकरण कानून द्वारा या सार्वजनिक नियन्त्रण के अन्य रूपों के अधीन किया जा सकता है और ऐसे कानून द्वारा प्रतिकर की भी उचित व्यवस्था की जा सकती है। ऐसे प्रतिकर द्वारा समाज और व्यक्ति के हितों के बीच सामजस्य स्थापित किया जाना चाहिए और प्रभावित व्यक्तियों के लिए विधि का आश्रय लेने के लिए मार्ग खुला होना चाहिए। इससे राजनीतिक और आर्थिक दर्शन के बीच विषमता समाप्त नहीं होती है, किन्तु सम्पत्ति पर सामाजिक नियन्त्रण को मान्यता देने में, जिसमें समाजीकरण को वैध न कि आवश्यक माना गया है, प्रजातन्त्रीय विचारों के आधुनिक विकास का प्रतिबिम्ब मिलता है। संयुक्त राज्य के पूंजीवादी प्रजातन्त्र और भारत के सामाजिक प्रजातन्त्र के बीच बहुत से रूप और भेद हैं। किन्तु आधुनिक प्रजातन्त्र साम्पत्तिक अधिकार को सामाजिक आवश्यकताओं की दृष्टि से सामाजिक दायित्वों के अनुसार व्यवस्थित करता है। यह कार्य उसने 'विभिन्न हितों के बीच सन्तुलन' स्थापित करके, जिसे आधुनिक विधिशास्त्र में अति व्यापक स्थान मिला है, न कि निजी सम्पत्ति को पूर्वप्रादिष्ट या अनहस्तक्षेपणीय मानकर किया है।" (पृष्ठ 406)

मूल अधिकारों को, जिनमें सम्पत्ति-अधिकार भी सम्मिलित है, जनता द्वारा स्वयं को 'आरक्षित' अधिकार कहना ठीक नहीं है। संविधान में 'आरक्षित' (रिज़र्वड्) शब्द प्रयुक्त नहीं हुआ है। उसमें तो यह कहा गया है कि अधिकार जनता ने स्वयं को दिए हैं। इससे यह प्रकट होता है कि अधिकार संविधान ने उपहार के रूप में दिए हैं। अतः संविधान को उन्हें वापिस लेने का भी अधिकार प्राप्त है। यह बात गोलक नाथ वाले मामले (1) में अप्रत्यक्ष रूप में स्वीकार की गई है। उसमें बहुमत ने यह स्वीकार किया है कि सभी मूल अधिकारों को विशिष्टतः बुलाई गई संविधान-सभा द्वारा छीना जा सकता है। जब कि अधिकारों को जनता ने आरक्षित किया है तो उन्हें छीनने के लिए सामान्य रीति, जैसी कि अनेक अमरीका के राज्यों में विद्यमान है, लोक-मत संग्रह है। इसका अन्तर्निहित सिद्धांत यह है कि अन्ततः तो जनता ने ही संविधान और उसमें वर्णित अधिकार दिए हैं और वही उन्हें वापस लेने का विनिश्चय कर सकती है। हमारे संविधान में जनता ने सम्पूर्ण संविधान

(1) (1967) ए० सी० आर० 762.

संशोधित करने की शक्ति संसद् को न्यस्त कर दी है और स्वयं को संशोधन प्रक्रिया से पृथक् कर लिया है। फलतः यह स्पष्ट उल्लेख कर दिया गया है कि कोई 'ग्रारक्षण' नहीं किया गया है। जो कुछ संविधान द्वारा दिया गया है उसे आवश्यकता पड़ने पर संशोधन प्रक्रिया द्वारा वापस लिया जा सकता है। अतः अनुच्छेद 13(2) सांविधानिक संशोधनों को नियन्त्रित नहीं करता है। इस निष्कर्ष के आधार पर यह कहा जा सकता है कि गोलक नाथ वाले मामले ([1]) में बहुमत निर्णय सही नहीं है।

संविधान के किसी अन्य उपबन्ध का, जो संशोधन-शक्ति पर स्पष्ट प्रतिबंध लगाता हो, हवाला नहीं दिया गया है।

तत्पश्चात् दलील यह दी गई है कि संविधान के ढांचे में ही उसके सिद्धांतों और उसके बुनियादी तत्वों तथा लक्षणों (जिन्हें संक्षेप में आवश्यक लक्षण कहा गया है) में परिवर्तन करने की बाबत संशोधन-शक्ति पर विवक्षित या अन्तर्निहित परिसीमाएं अधिरोपित की गई हैं। उन्हें इतना अच्छा और वांछनीय बताया गया है कि यह आशयित नहीं हो सकता है कि संशोधन द्वारा उन्हें प्रतिकूलतः प्रभावित किया जा सकता है। संविधाधान के कुछ आवश्यक तत्व इस प्रकार हैं—

(1) संविधान की सर्वोपरिता;
(2) भारत का प्रभुत्व;
(3) देश की अखण्डता;
(4) प्रजातन्त्रीय जीवन;
(5) गणतन्त्रीय सरकार;
(6) प्रस्तावना में उल्लिखित बुनियादी मानवीय अधिकारों की गारण्टी,
(7) धर्मनिरपेक्ष राज्य
(8) स्वतन्त्र और अनाश्रित न्यायपालिका
(9) संघ और राज्यों का द्वैत ढांचा
(10) विधानमण्डल, कार्यपालिका और न्यायपालिका के बीच सन्तुलन;
(11) राष्ट्रपतीय सरकार से भिन्न संसदीय सरकार;
(12) अनुच्छेद 368 की बुनियादी स्कीम के अनुसार संविधान की संशोधनीयता।

श्री पालखीवाला के अनुसार संशोधन के ये कुछ सारभूत तत्व हैं और उन्हें संशोधन प्रक्रिया द्वारा सारतः परिवर्तित नहीं किया जा सकता है।

उक्त दलील से एक व्यापक प्रश्न उत्पन्न हो गया है। जहां तक कि प्रस्तुत मामले का सम्बन्ध है, चौबीसवें संशोधन से संसद् द्वारा स्वीकृत उस दृष्टिकोण को ही प्रभावी बनाया है जो कि मूल अधिकारों के सम्बन्ध में संशोधन-शक्ति की प्रकृति के बारे में शंकरी प्रसाद वाले मामले ([2]) तथा सज्जन सिंह वाले मामले ([3]) में अल्पमत ने अपनाया था। यह दृष्टिकोण अनुच्छेद 368 को स्पष्ट करता है। अनुच्छेद 368 में जो कुछ अस्पष्ट था उसे

([1]) (1967) 2 एस० सी० आर० 762.

([2]) (1952) एस० सी० आर० 89.

([3]) (1965) 1 एस० सी० आर० 933.

अब स्पष्ट कर दिया गया है और अनुच्छेद 368 के सारभूत तत्व को कायम रखा गया है। अतः चौबीसवें संशोधन पर इस आधार पर आपत्ति नहीं की जा सकती कि संविधान के किसी सारभूत तत्व को प्रतिकूलतः परिवर्तित किया गया है।

पच्चीसवें संशोधन से सम्पत्ति के मूल अधिकार को कुछ न्यून किया गया है संविधान के अधीन सम्पत्ति के अधिकार को न्यून किया जा सकता है [अनुच्छेद 31 (4) और (6) देखिए] और पच्चीसवां संशोधन सम्पत्ति के मूल अधिकार में उससे आगे भी हस्तक्षेप करता है। गोलक नाथ वाले मामले का (1) में बहुमत द्वारा यह अभिनिर्धारित किया गया है कि प्रथम, चतुर्थ और सत्रहवां संशोधन अनुच्छेद 13(2) का उल्लंघन करता है, किन्तु उन्हें अवैध घोषित नहीं किया गया है। चूंकि मैं इस निष्कर्ष पर पहुंचा हूं कि अनुच्छेद 13(2) का नियन्त्रण संविधान के संशोधन को लागू नहीं होता है, अतः अभिनिर्धारित यही किया जाना चाहिए कि संविधान में अब तक किए गए किसी भी संशोधन पर इस आधार पर आपत्ति नहीं की जा सकती कि वह अनुच्छेद 13(2) के प्रतिकूल है। इसका यह अर्थ हुआ कि किसी भी संशोधन पर उक्त आधार पर आपत्ति नहीं की जा सकती और यह बात चौबीसवें संशोधन के लिए ही नहीं पच्चीसवें और उन्तीसवें संशोधन के लिए भी कही जा सकती है।

प्रश्न फिर भी शेष रहता है कि क्या पच्चीसवां और उन्तीसवां संशोधन इस दृष्टि से अविधिमान्य है कि, जैसा कि पालखीवाला ने कहा है, उनके द्वारा संविधान के सारभूत तत्व प्रतिकूलतः प्रभावित हुए हैं। यह तर्क इस धारणा पर आधारित है कि, संशोधन-शक्ति पर किसी प्रत्यक्ष प्रतिबन्ध के अभाव में, संविधान के सभी उपबन्ध संशोधित किए जा सकते हैं। इस मत से वे सहमत हैं कि यदि आवश्यक हो तो मूल अधिकारों में भी कुछ कमी की जा सकती है। इस सम्बन्ध में उन्होंने प्रथम संशोधन का हवाला दिया जिसके द्वारा अनुच्छेद 15 और 19 संशोधित किया गया है और इन दोनों ही संशोधनों से मूल अधिकारों में कमी की गई है। इसी प्रकार उन्होंने यह दलील भी दी कि अनुच्छेद 31क और 31ख या तो समाप्त कर दिए गए हैं या फिर सारतः परिवर्तित कर दिए गए हैं, किन्तु ऐसा कृषिक-सुधार की दृष्टि से किया गया है। यह दृष्टिकोण भारतीय राज्य व्यवस्था के अनुसार अति महत्व का है। इसकी उपेक्षा और अधिक नहीं की जा सकती थी क्योंकि सत्तारूढ़ दल काफी समय से ऐसा करने के लिए वचनबद्ध था। अतः यद्यपि ऐसे संशोधन हुए हैं जिनसे मूल अधिकारों में कमी हुई है तथापि उनके अनुसार इन संशोधनों से मूल अधिकार विकृत या नष्ट नहीं हुए हैं। उनके अनुसार संशोधनों से मूल अधिकारों में कोई मर्मभूत परिवर्तन नहीं हुआ है। दूसरे शब्दों में उनकी दलील यह है कि संविधान में कुछ बहुत अच्छे और वांछनीय विषय हैं। उनमें से एक विषय मूल अधिकार है और यद्यपि इन अधिकारों को किसी सीमा तक न्यून किया जा सकता है तथापि यह अनुज्ञेय नहीं है कि संशोधन द्वारा मूल अधिकारों में, जिनमें सम्पत्ति का मूल अधिकार भी सम्मिलित है, मर्मभूत परिवर्तन कर दिए जाएं। इस तर्क के समर्थन के लिए उन्होंने प्रथमतः तैयार किए गए संविधान की मूल स्कीम का सहारा लिया और यह दलील दी कि उसके पश्चात् किया गया कोई भी संशोधन, जिसमें चौबीसवां संशोधन भी सम्मिलित है, उनके तर्कों को प्रभावित नहीं कर सकता है, क्योंकि उनके मतानुसार, उनमें से प्रत्येक का मूल्यांकन उक्त मूल स्कीम में विहित सिद्धांतों

(1) (1967) 2 एस० सी० आर० 762.

और विचारों के आधार पर ही किया जाना चाहिए । उनका आगे यह कहना था कि यदि संशोधन द्वारा मूल अधिकार में मर्मभूत परिवर्तन करके उसे विकृत या नष्ट कर दिया जाता है तो ऐसा संशोधन अवैध होगा और यह न्यायालय संविधान के संरक्षक के नाते उसे अविधिमान्य घोषित कर सकता है । उक्त दलील से यह स्पष्ट हो जाता है कि श्री पालखीवाला इस न्यायालय से यह विनिश्चय कराना चाहते हैं कि क्या किसी विशिष्ट संशोधन से मूल अधिकार जैसे सारभूत तत्व का मर्म विकृत या नष्ट हुआ है। निस्सन्देह इस न्यायालय के लिए ऐसी गम्भीर जिम्मेदारी लेना बहुत कठिन कार्य है । यह बड़ी विचित्र सी बात है कि जब संविधान निर्माताओं ने ही संविधान के किसी भी उपबन्ध को संशोधन से परे रखने का अपना आशय अभिव्यक्त रूप में स्पष्ट करना आवश्यक नहीं समझा तो फिर उनका आशय यह कैसे हो सकता है कि यह न्यायालय, संविधान के संरक्षक के रूप में, संशोधन-शक्ति पर विवक्षित प्रतिबन्ध लगा कर संविधान के किसी भी पक्ष को उसका उल्लंघन करने से रोक देगा । न्यायालय ऐसा संरक्षक नहीं बन सकता है जो संविधान सम्मत परिवर्तन भी न होने दे ।

यद्यपि उक्त तर्क अति व्यापक है, अर्थात् यह कि अनेक आवश्यक तत्वों को, जिन्हें श्री पालखीवाला ने प्रगणित किया है, विकृत या नष्ट नहीं किया जा सकता है, तथापि अन्ततः प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि क्या सम्पत्ति के मूल अधिकार के मर्म को संशोधन द्वारा, विशिष्टतः पच्चीसवें संशोधन द्वारा, विकृत या नष्ट किया गया है और यदि ऐसा है तो क्या संशोधन-शक्ति पर ऐसा कोई विवक्षित या अन्तर्निहित प्रतिबन्ध है जो ऐसे संशोधन को रोकता है । श्री पालखीवाला द्वारा गिनाए गए विभिन्न आवश्यक तत्वों का प्रस्तुत मामले से कोई वास्ता नहीं है । दलील यह नहीं है कि हाल ही के पच्चीसवें संशोधन द्वारा भारत के प्रभुत्व पर प्रभाव पड़ा है या गणतन्त्रीय सरकार नष्ट हुई है । उनके विभिन्न आवश्यक तत्वों में से एक है मूल अधिकार । मूल अधिकारों में से बहुतों को अभी तक छुआ भी नहीं गया है। पच्चीसवां संशोधन प्रधानतः साम्पत्तिक अधिकारों और उनसे सम्बद्ध अनुच्छेद 14, 19 और 31 के बारे में है । उस संशोधन द्वारा मुख्यतः दो उद्देश्यों की पूर्ति आशयित है—(1) न्यायिक निर्वचन के अनुसार सार्वजनिक प्रयोजन से राज्य द्वारा अर्जन के लिए 'प्रतिकर' पाने का कोई अधिकार नहीं है । केवल 'राशि' प्राप्त की जा सकती है ; (2) समुदाय के साधनों के उचित वितरण या उत्पादन के साधनों और धन के केन्द्रण को रोकने के लिए बनाई गई विधि पर इस आधार पर आपत्ति नहीं की जा सकती है कि वह अनुच्छेद 14, 19 और 31 का उल्लंघन करती है । चूंकि इस न्यायालय की ऐसे प्रश्न तय करने की पद्धति नहीं रही है जिनकी बाबत कोई विद्यमान विवाद न हो, अतः यह घोषित करना उचित न होगा कि संशोधन द्वारा एक या अन्य कोई विशेष तथाकथित आवश्यक तत्त्व विकृत या नष्ट नहीं किया जा सकता है। किन्तु चूंकि राज्य की ओर से यह तर्क दिया गया है कि संविधान में स्पष्टतः उपबन्धित परिसीमाओं के अलावा संशोधन-शक्ति पर कोई परिसीमा नहीं हो सकती है और चूंकि उससे पच्चीसवें संशोधन पर हमारे निर्णय पर प्रभाव पड़ेगा, अतः हमें विवक्षित और अन्तर्निहित परिसीमाओं के प्रश्न पर मूल अधिकारों के, जिनमें सम्पत्ति का अधिकार भी सम्मिलित है, प्रति विशेष निर्देश में संक्षेप में विचार करना होगा ।

भाग 3 द्वारा प्रदत्त अधिकारों को सारभूत तत्त्वों के रूप में वर्णित करने की वैधता के बारे में चाहे जो भी कहा जाए पर एक बात तो बिल्कुल स्पष्ट है। जहां तक कि सम्पत्ति के अधिकार का प्रश्न है, यद्यपि संविधान द्वारा यह विहित कर दिया गया है कि किसी भी व्यक्ति को विधि के प्राधिकार के बिना उसकी सम्पत्ति से वंचित नहीं किया जाएगा और अनिवार्यतः अर्जन की दशा में [अनुच्छेद 31(1) और (2)] उचित प्रतिकर दिया जाएगा तथापि उसमें यह भी स्पष्ट उल्लेख है कि राज्य सार्वजनिक हित में किसी भी रूप में धन और उत्पादन के साधनों का केन्द्रण न होने देगा और समुदाय के भौतिक साधनों पर स्वामित्व और नियन्त्रण के पुनर्वितरण की व्यवस्था करेगा। [अनुच्छेद 39(ख) और (ग) देखिए]। यदि संविधान में किसी उपबन्ध को सारभूत तत्त्व कहा जा सकता है तो वह उक्त निश्चय को ही कहा जा सकता है। हमारे समक्ष वाले मामले में यही प्रमुख प्रश्न है, भले ही तर्कों के दौरान कितने ही श्रम से उसकी महत्ता को कम करने का प्रयत्न किया गया हो और यह कहा गया हो कि उक्त निश्चय के क्रियान्वयन से अनुच्छेद 14, 19 और 31 के अधीन प्रदत्त मूल अधिकारों का हनन होता है। संविधान इस निश्चय का उल्लेख करके ही शान्त नहीं हो गया है वरन् उसने इसका कार्यान्वियन संविधान के प्रारम्भ से ही आरम्भ कर दिया है। यह कार्य अनुच्छेद 31 में खण्ड (4) और (5) जोड़ कर किया गया है। प्रथम दो खण्डों में सम्पत्ति के मूल अधिकार का उल्लेख किया गया है। इस तथ्य के अलावा कि संविधान-सभा में हुए विचार-विमर्श के दौरान उक्त अनुच्छेद की बाबत पण्डित जवाहर लाल नेहरू ने क्या कहा है और जो कुछ भी कहा है वह श्री पालखीवाला द्वारा इस न्यायालय के समक्ष दिए गए तर्कों के लगभग प्रतिकूल ही है, खण्ड (2), के (अपने मूल रूप में) अधीन प्रतिकर प्राप्त करने का मूल अधिकार खण्ड (4) और खण्ड (6) द्वारा पूर्णतः निरर्थक हो गया है और यह कार्य कम से कम धन और भौतिक साधनों के केन्द्रण के बारे में, अर्थात्, जमींदारी और भू-सम्पदा के मामले में तो हुआ ही है। इन खण्डों को मूल अनुच्छेद 31 में साशय जोड़ा गया था जिससे कि इस बाबत कोई सन्देह न रह जाए कि जमींदारी और सम्पदाएं कल्पित प्रतिकर के बदले में भी समाप्त की जा सकती हैं। इस बारे में विभिन्न राज्यों ने या तो विधियां पहले ही बना दी थीं या वे ऐसी विधियां बनाने की ओर उन्मुख थे और उक्त दो खण्डों में विशिष्ट उपबन्ध करके यह विहित कर दिया गया था कि ऐसी विधियों पर इस आधार पर आपत्ति नहीं की जा सकती है कि अनिवार्यतः अर्जित सम्पत्ति किसी लोक प्रयोजन के लिए अर्जित नहीं की गई है अथवा यह कि उसके लिए पर्याप्त प्रतिकर नहीं दिया गया है। बिहार लैण्ड रिफार्म्स ऐक्ट, 1950 के अधीन बिहार राज्य बनाम कामेश्वर सिंह ([1]) वाले मामले में यह दर्शित कर दिया गया था कि सम्बन्धित विधि पूर्णतः अन्यायोचित है (न्याय के प्रचलित दृष्टिकोण के आधार पर) और कुछ मामलों में दिया गया प्रतिकर पूर्णतः भ्रामक है (न्यायाधिपति महाजन का निर्णय पृष्ठ 936) तथापि अनुच्छेद 31(4) के आधार पर उस अधिनियम और अन्य तत्समान विधियों पर उक्त आधार पर आपत्ति नहीं की जा सकती थी। गलती से अनुच्छेद 14 और अनुच्छेद 19 के अधीन ऐसी विधियों पर आपत्ति न की जा सकने के बारे में स्पष्ट उपबन्ध नहीं किया गया था और इसलिए जब मामला इस न्यायालय में विचाराधीन था उसी समय प्रथम संशोधन अधिनियम पारित हुआ और संविधान में अनुच्छेद 31क और

([1]) (1952) एस० सी० आर० 889.

31ख जोड़ दिए गए। उक्त दो अनुच्छेदों द्वारा भाग 3 में उल्लिखित मूल अधिकारों पर आधारित आपत्तियां पूर्णतः, इस बाबत प्रयोग नहीं किए गए, वर्जित कर दी गई। संविधान और उसके प्रथम संशोधन ने जो तरीका अपनाया है उससे यह बात स्पष्ट हो गई है कि जमींदारी और सम्पदाओं के आहरण का आशय प्रारम्भ से ही था और प्रतिकर के भुगतान के सम्बन्ध में किसी भी मर्म को सुरक्षित करने का प्रयत्न नहीं किया गया था। जब 1955 में चतुर्थ संशोधन पारित हुआ तब यह स्पष्ट हो गया कि पुनर्वितरण की स्कीम या सम्पत्ति के केन्द्रण को समाप्त करने की स्कीम पर आपत्ति अनुच्छेद 14, 19 और 31 तक ही सामान्यतः सीमित थी और इसलिए अनुच्छेद 31क संशोधित कर दिया गया। इस संशोधन द्वारा सभी मध्यवर्तियों को, जिनमें छोटे-छोटे अनुपस्थित भूस्वामी भी सम्मिलित थे, समाप्त कर दिया गया और अनुच्छेद 31क पर आपत्ति को अनुच्छेद 14, 19 और 31 के अधीन ही अपवर्जित कर दिया गया। संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि कृषिक भू-सम्पत्ति में अधिकार को यह बात सोचे बिना ही समाप्त कर दिया गया है कि उसके लिए कोई उचित प्रतिकर देना आवश्यक है। वस्तुतः कृषि भूमियों से सम्बन्धित किसी भी रूप में धन के केन्द्रण को समाप्त कर दिया गया है और समुदाय के साधनों का पुनर्वितरण कर दिया गया है। दूसरी ओर माल और सेवाओं में वृद्धि करने की दृष्टि से व्यापार और उद्योग के क्षेत्र में नियंत्रण द्वारा संरक्षित आर्थिक पद्धति (प्रोटेक्शनिस्ट इकनामिक सिस्टम) लागू कर दी गई है और इसी प्रकार स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् ही उत्पादन के साधनों पर भी नियंत्रण प्राप्त कर लिया गया है। इस प्रकार पच्चीसवां संशोधन प्रवृत्त हुआ। उसका उद्देश्य यही था, अर्थात्, अनुच्छेद 39(ख) और (ग) का कार्यान्वयन। उक्त संशोधन द्वारा यह स्पष्ट कर दिया गया है कि जब कोई सम्पत्ति सार्वजनिक प्रयोजन के लिए अर्जित की जाती है तो उसका स्वामी इस न्यायालय द्वारा निर्वचन किए गए प्रतिकर का हकदार नहीं है और उक्त उद्देश्य से बनाई गई किसी विधि पर आपत्ति अनुच्छेद 14, 19 और 31 के अधीन नहीं की जा सकती है। सिद्धान्ततः पच्चीसवें संशोधन द्वारा जोड़े गए अनुच्छेद 31ग और अनुच्छेद 31क के बीच कोई अन्तर नहीं है। सारभूत तत्त्वों के मर्म-सिद्धान्त की बाबत अपने तर्कों के समर्थन में श्री पालखीवाला ने अनुच्छेद 31(4) और 31(6) तथा अनुच्छेद 31क के महत्व को कम करने का प्रयत्न किया है। यह उन्होंने इस आधार पर किया है कि उक्त उपबन्ध अत्यावश्यक कृषिक सुधारों से सम्बन्धित हैं और ऐसे सुधार करने के लिए संविधान-सभा में विद्यमान बहुमत दल संविधान से पूर्व कई वर्षों से वचनबद्ध था। किन्तु यह कोई विधिक तर्क नहीं है। अनुच्छेद 31(4) और 31(6) तथा अनुच्छेद 31क से यह स्पष्टतः दर्शित होता है कि समुदाय के हितों को सर्वोपरि माना गया है और उक्त अनुच्छेद 39(ख) और (ग) में निहित निदेशक तत्त्वों के कार्यान्वयन की दिशा में ही एक कदम है [(1952) एस० सी० आर० 889 पर न्यायाधिपति दास के मत से तुलना कीजिए]। संविधान में सम्पत्ति के अधिकारों से सम्बन्धित मर्म-सिद्धान्त को निश्चित रूप से अस्वीकार कर दिया गया है, बशर्ते कि सम्पत्ति को निदेशक तत्त्वों के अनुसरण में सार्वजनिक हित में अर्जित किया जाता है। बहुमत दल का आशय उत्तर प्रदेश के तत्समय विद्यमान मुख्य मंत्री पण्डित गोविन्द वल्लभ पन्त के भाषण से स्पष्ट हो जाता है। उन्होंने अनुच्छेद 31 और जमींदारी तथा कृषिक सम्पदाओं (उस समय उत्तर प्रदेश में ही केवल बीस लाख जमींदार थे) से सम्बन्धित विधियों के बारे में अनुच्छेद 31(4) और 31(6) के उपबन्धों को न्यायोचित ठहराते हुए कहा—

'मैं यह मानकर चलता हूं कि यदि यह विधानमण्डल भविष्य में कभी भी उद्योग का राष्ट्रीयकरण करना चाहे और उस पर नियंत्रण रखना चाहे, चाहे वह किसी उद्योग विशेष पर हो या चाहे उद्योग के किसी वर्ग विशेष पर हो (उदाहरणार्थ कपड़ा उद्योग या खान उद्योग), तो वह ऐसे प्रयोजन के लिए विधि निर्मित कर सकता है और सिद्धान्त अधिकथित कर सकता है और ऐसे सिद्धान्तों पर किसी भी न्यायालय में आपत्ति नहीं की जा सकेगी। उन पर आपत्ति केवल इसी आधार पर ही की जा सकती हैं कि ऐसे सिद्धान्त संविधान के प्रतिकूल हैं। यह बात हमारे देश के सुविख्यात न्यायशास्त्री श्री अल्लादी कृष्णास्वामी अय्यर ने कही थी।' (कांस्टिट्यूएण्ट असेम्बली डिबेट्स खण्ड 9, पृष्ठ 1289, देखिए)। उक्त उल्लेख से यह दर्शित होता है कि अनुच्छेद 31 (4) और 31(6) अनुच्छेद 39 (ख) और (ग) में विहित निदेशक तत्वों के कार्यान्वयन की दिशा में, भूमि सम्बन्धी विधान की दिशा में पहला कदम है और वह समय दूर नहीं है जबकि ऐसे सिद्धान्त धन और उसके वितरण के केन्द्रण के अन्य रूपों को लागू किए जाएंगे। जैसा कि न्यायाधिपति महाजन ने बिहार राज्य बनाम कामेश्वर सिंह(1)(पृष्ठ 929-30) में कहा है 'हमारे संविधान ने सम्पत्ति के अनिवार्यतः अर्जन के लिए प्रतिकर देने की बाध्यता को मूल अधिकार का स्तर दे दिया है। साथ ही अनुच्छेद 31 में खण्ड (4) और (6) विशिष्टतः जोड़ कर उसके द्वारा कृषिक सम्पत्ति के रूप में धन केन्द्रण और वितरण से सम्बन्धित कुछ विनिर्दिष्ट विधियों के बारे में अनुच्छेद 31 (2) में विहित लोक प्रयोजन और प्रतिकर की बात को अन्याय्य बना दिया है। इससे संविधान के सारभूत तत्वों के रूप में व्यक्ति के हाथ में धन के केन्द्रण के संरक्षण का विचार स्पष्टतः समाप्त हो जाता है। न्यायाधिपति हिदायतुल्लाह का आशय व्यावहारिक दृष्टि से, गोलक नाथ वाले मामले (2) में, यही था कि भाग 3 में सम्पत्ति के अधिकारों को सम्मिलित करना गलत है और ये अधिकार सबसे कमजोर मूल अधिकार हैं (पृष्ठ 887)।

मैं संविधान के संशोधन-खण्ड द्वारा प्रदत्त शक्ति की व्यापकता पर पहले ही विचार कर चुका हूं। अमरीका और आस्ट्रेलिया जैसे देशों में, जहां कि संशोधन खण्ड में ही स्पष्ट परिसीमाएं अधिरोपित कर दी गई हैं, इस मत के लिए पर्याप्त आधार मौजूद हैं कि इन स्पष्ट परिसीमाओं को भी संशोधन-खण्ड में उल्लिखित प्रक्रिया का अनुसरण करके दूर किया जा सकता है। उनके अनुसार यह कार्य दो चरणों में किया जा सकता है। पहला चरण होगा संशोधन-खण्ड को ही संशोधित करना। इस विषय पर आगे छानबीन करना हमारे लिए आवश्यक नहीं है, क्योंकि अनुच्छेद 368 में ऐसी कोई भी स्पष्ट परिसीमा विहित नहीं है। दूसरी ओर उक्त अनुच्छेद के अधीन संशोधन शक्ति अत्यन्त व्यापक है और उस शक्ति के प्रयोग में अनुच्छेद 368 भी संशोधित किया जा सकता है [उक्त अनुच्छेद का परन्तुक (ङ) देखिए]। दूसरे शब्दों में अनुच्छेद 368 में संशोधन-खण्ड सहित संविधान के किसी भी उपबन्ध को संशोधित करने की अनिर्बन्धित और सर्वांगीण शक्ति विद्यमान है। अतः संविधान में साकारात्मक रूप में दी गई स्पष्ट शक्ति पर विवक्षित प्रतिषेध अधिरोपित करना संविधान के सुस्थिर सिद्धांतों के प्रतिकूल होगा। (देखिए—मैक्काले बनाम किंग 26 सी०

(1) (1952) 2 एस० सी० आर० 889.
(2) (1967) 2 एस० सी० आर० 762.

एस० आर०, पृष्ठ 43-68 में न्या० ड्यूक और रिच के विसम्मत निर्णय, जिसे प्रिवी काउन्सिल ने 1920 ए० सी० 69 द्वारा अनुमोदित कर दिया है,)।

यदि संशोधन-शक्ति को प्रभावित किए बिना ही संशोधन-खण्ड को संशोधित किया जाता है तो उसमें प्रधानतः संशोधन-प्रक्रिया का अनुसरण करना होगा। इससे संशोधन सरल या अधिक कठिन हो सकता है। प्रक्रिया सारतः भी भिन्न हो सकती है। संशोधन प्रक्रिया से संसद् को दूर रखा जा सकता है और यह शक्ति राज्यों को दी जा सकती है। परन्तुक हटाया जा सकता है और तद्द्वारा संसद् का कार्य-क्षेत्र बढ़ाया जा सकता है। दूसरी ओर लोकमत संग्रह, जनमत संग्रह या विशेष कन्वेन्शन की बाबत उपबन्ध करके संसद् और राज्य विधान-सभाओं को संशोधन कार्य से मुक्त किया जा सकता है। इस प्रकार विहित प्रक्रिया के अनुसार शक्ति का रूप तो एक ही रहता है किन्तु जिन प्राधिकारियों को शक्ति दी जाती है वे समय-समय पर विहित प्रक्रिया के अनुरूप भिन्न-भिन्न हो सकते हैं। इस सम्बन्ध में न्यायाधिपति हिदायतुल्लाह ने यह ठीक ही बताया है कि संशोधन शक्ति किसी प्राधिकारी विशेष को ही सुपुर्द नहीं की जाती है। अनुच्छेद में विनिर्दिष्ट प्राधिकारी द्वारा विहित प्रक्रिया के अनुसरण से संशोधन शक्ति का जन्म होता है। चूंकि प्राधिकारियों में उचित संशोधन करके परिवर्तन किया जा सकता है, अतः यह कहना गलत होगा कि संविधान सभा ने यह शक्ति किसी निकाय विशेष को न्यस्त कर दी है। यदि किसी समय संसद् से किसी विशिष्ट प्रक्रिया के अनुसरण की अपेक्षा की गई है तो यह कहना सुविधाजनक होगा कि संसद् ही ऐसा प्राधिकारी है जिसे शक्ति दी गई है। किन्तु यथावत् रूप से यह कहना गलत होगा क्योंकि ऐसी शक्ति किसी को नहीं दी गई है। किसी समय कोई भी प्राधिकारी क्यों न हो संशोधन की शक्ति पर कोई प्रतिबन्ध नहीं होता है।

यदि विवक्षित परिसीमाओं का सिद्धांत ठीक है और उपधारणा यह की जाती है कि उसका प्रादुर्भाव प्रस्तावना और मूल अधिकारों सहित अन्य सांविधानिक उपबन्धों से हुआ है, तो इन परिसीमाओं से संशोधन-शक्ति बाधित अवश्य होती है चाहे इस शक्ति का प्रयोग कोई भी अभिकरण (एजेन्सी) क्यों न करे। संविधान का शेष भाग केवल इस कारण परिवर्तित नहीं होता है कि अनुच्छेद 368 में विहित प्रक्रिया परिवर्तित कर दी गई है। अतः विवक्षित परिसीमाओं को उक्त शक्ति को बाधित करना ही चाहिए। तार्किक दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि यदि अनुच्छेद 368 को इस प्रकार संशोधित कर दिया जाए कि संशोधन के लिए कन्वेन्शन या लोकमत संग्रह की आवश्यकता हो जाए तो लोकमत संग्रह भी विवक्षित परिसीमाओं से आबद्ध होगा किन्तु यह निष्कर्ष श्री पालखीवाला स्वीकार नहीं करेंगे। वे उन न्यायशास्त्रियों से सहमत हैं जिन्होंने यह मत व्यक्त किया है कि कनवेन्शन या लोकमत संग्रह पर कोई भी परिसीमाएं लागू नहीं होती है। कारण इसका यह बताया गया है कि लोकमत संग्रह में जनता सीधे भाग लेती है और कन्वेन्शन में वह अपने निर्वाचित प्रतिनिधियों के माध्यम से भाग लेती है। गोलक नाथ वाले मामले (1) में भी यह स्वीकार किया गया है कि मूल अधिकारों सहित संविधान के किसी भी भाग को संविधान सभा संशोधन द्वारा समाप्त कर सकती है।

(1) (1967) 2 एस० सी० आर० 762.

तर्क लगता है कि जनता द्वारा शक्ति के प्रयोग और संसद् द्वारा शक्ति के प्रयोग के बीच अन्तर किया जाना चाहिए। वस्तुत: श्री पालखीवाला का सम्पूर्ण दृष्टिकोण यह है कि संसद् का जन्म संविधान से हुआ है और इसलिए परिसीमाएं उसमें (संसद् में) अन्तर्निहित होंगी क्योंकि संसद् संविधान द्वारा गठित प्राधिकारी है। इस प्रश्न की हम पहले ही जांच कर चुके हैं और यह बता चुके हैं कि जब जनता ने स्वयं को संशोधन प्रक्रिया से पूर्णत: पृथक् कर लिया है तो सांविधानिक-निकाय, जिसे कि संशोधन-शक्ति न्यस्त की गई है, ऐसी शक्ति का प्रयोग उसी सीमा तक कर सकती है जिस सीमा तक कि संविधान-सभा कर सकती थी और शक्ति का रूप शक्ति प्रयोगकर्ता के अनुसार भिन्न-भिन्न नहीं हो सकता है। अतः यह तर्क भी ठीक नहीं है कि संसद् एक सांविधानिक निकाय है और इसलिए उस पर परिसीमाएं अन्तर्निहित हैं।

इस निष्कर्ष का कि संशोधन-शक्ति, चाहे उसका प्रयोग कोई भी करे, अनिर्बन्धित है, परिणाम यह हुआ कि संशोधन शक्ति पर कोई भी विवक्षित या अन्तर्निहित परिसीमाएं अधिरोपित नहीं की जा सकती हैं। यदि किसी विशेष कन्वेन्शन पर कोई परिसीमाएं नहीं लगाई जा सकती हैं तो किसी भी अन्य सांविधानिक निकाय को भी उनके अध्यधीन नहीं किया जा सकता है।

गोलक नाथ वाले मामले ([1]) में महत्वपूर्ण बहुमत निर्णय में विवक्षित परिसीमाओं के सिद्धांत को कुछ मान्यता दी गई है (पृष्ठ 808) किन्तु इस बाबत उक्त मामले में निश्चय करना आवश्यक नहीं समझा गया था। उक्त निर्णय के कारण जो भी सन्देह उत्पन्न हुए हैं उन्हें दूर करने के लिए ही चौबीसवां संशोधन पारित किया गया है। उसके प्रथम खण्ड में यह कहा गया है कि संसद्, संविधान में अन्तर्विष्ट किसी बात के होते हुए भी उसके किसी भी उपबन्ध को संशोधित कर सकती है। अतः संशोधन की बाबत संसद् पर अब संविधान के अन्य अभिव्यक्त उपबन्ध लागू नहीं होंगे, जिसका अर्थ यह हुआ कि संसद् ऐसे उपबन्धों से उत्पन्न होने वाली पेचीदगियों की भी उपेक्षा कर सकती है।

जब संशोधन-शक्ति को संशोधित करने की शक्ति दी गई हो, जैसा कि हमारे संविधान में हुआ है, तो इस शक्ति का प्रयोग किसी भी सीमा तक किया जा सकता है। इस शक्ति में चाहे तो वृद्धि की जा सकती है अथवा उसे कम किया जा सकता है। यह बात रेयम बनाम लेन्नॉक्स ([2]) में भली प्रकार प्रकट हो गई है। 1922 के आयरिश स्टेट कांस्टिट्यूशन ऐक्ट के अधीन संसद् (एआस्तास) को अधिनियम के अनुच्छेद 50 के अधीन संविधान संशोधित करने की शक्ति दी गई है। उस अनुच्छेद के अधीन संविधान के प्रारम्भ के पश्चात् वाले प्रथम आठ वर्षों के दौरान संशोधन विधिमान्यत: किए जा सकते हैं और इसके लिए लोकमत-संग्रह की आवश्यकता न होगी बशर्ते कि लोकमत संग्रह की मांग अनुच्छेद 47 में विनिर्दिष्ट रीति में जनता ने विशिष्टत: न की हो, किन्तु उक्त कालावधि के पश्चात् किए गए प्रत्येक संशोधन को लोकमत-संग्रह और जनता का अनुमोदन प्राप्त होना अनिवार्य है। 1928 के (संशोधन संख्या 10) सांविधानिक संशोधन से अनुच्छेद 47

([1]) (1967) 2 एस० सी० आर० 762.

([2]) (1935) आयरिश रिपोर्ट्स 170.

की अनिवार्यता समाप्त कर दी गई थी और 1929 के (संशोधन संख्या 16) संशोधन से उपरोक्त आठ वर्ष की कालावधि को बढ़ा कर सोलह वर्ष कर दी गई थी। परिणाम यह हुआ कि संविधान ने अपने प्रारम्भ से सोलह वर्ष की कालावधि तक में सांविधानिक संशोधन करने के लिए संसद् को सशक्त कर दिया है और संसद् के लिए लोकमत संग्रह का अनुसरण आवश्यक नहीं रह गया है। 1931 में एक और संशोधन (संशोधन संख्या 17) करके व्यापक परिवर्तन कर दिए गए हैं। जिनके द्वारा अन्य बातों के साथ-साथ वैयक्तिक स्वाधीनता कम कर दी गई है और ज्यूरी या किसी नियमित न्यायालय द्वारा विचारण भी समाप्त कर दिया गया है। उक्त संशोधित विधि के शिकार रेयन ने हैबियस कार्पस रिट किए जाने के लिए उच्च न्यायालय में इस आधार पर आवेदन किया कि उक्त संशोधनों में से बहुत से संशोधन अविधिमान्य हैं। विशिष्टतः संशोधन संख्या 16 है जिसके द्वारा आठ वर्ष की कालावधि बढ़ा कर सोलह वर्ष कर दी गई है। यदि संशोधन संख्या 16 अविधिमान्य है तो परिणामतः संशोधन संख्या 17 भी अविधिमान्य हो जाएगा क्योंकि यह संशोधन प्रथम आठ वर्ष की कालावधि के पश्चात् किया गया है। उच्च न्यायालय ने (तीन न्यायाधिपतियों ने) एक मत होकर यह अभिनिर्धारित किया था कि सभी संशोधन विधिमान्य हैं। जब उच्चतम न्यायालय में अपील की गई तो उच्च न्यायालय के निर्णय की पुष्टि बहुमत ने कर दी। किन्तु मुख्य न्यायाधिपति केनेडी ने विसम्मत निर्णय दिया था। संशोधन संख्या 16 पर मुख्य आपत्ति यह थी कि संसद् लोकमत संग्रह द्वारा साधारण विधान किए बिना अपनी आठ वर्ष की शक्ति को बढ़ा कर सोलह वर्ष करने के लिए संविधान में संशोधन नहीं कर सकती है। यह दलील बहुमत ने अस्वीकार कर दी। मुख्य न्यायाधिपति केनेडी ने संशोधन के बारे में भिन्न मत व्यक्त किया है। उन्होंने अभिनिर्धारित किया कि अनुच्छेद 50 में संशोधन शक्ति को संशोधित करने की बाबत कोई उपबन्ध नहीं है और यह स्वीकार किया है कि अन्यथा उक्त शक्ति में वृद्धि की ही जा सकती है। चूंकि प्रस्तुत मामले में इस बाबत कोई विवाद नहीं है कि अनुच्छेद 368 के परन्तुक के खण्ड (3) के कारण संशोधन शक्ति को संशोधन करने की शक्ति दे दी गई है, अतः संसद् संशोधन करके अपनी संशोधन शक्ति में वृद्धि कर सकती है। यदि यह मान लिया जाए (हम पहले ही बता चुके हैं कि ऐसी उपधारणा नहीं की जा सकती है) कि ऐसी कुछ विवक्षित परिसीमाएं हैं, जो संविधान के अन्य उपबन्धों में उल्लिखित हैं, तो वह परिसीमा, यदि कोई है, संशोधित अनुच्छेद 368 के खण्ड (1) में विहित निष्फलीकरण खण्ड (नॉन ऑब्सटेण्टे क्लाज़) से दूर हो गई है।

यह एक दिलचस्प बात है कि मूरा बनाम अटर्नी जनरल फॉर दि आयरिश फ्री स्टेट ([1]) वाले मामले में, जो बाद में प्रिवी काउन्सिल के समक्ष विचारार्थ पेश हुआ था और जिसमें आयरिश पार्लियामेण्ट द्वारा 1933 के संशोधन संख्या 22 द्वारा किए गए संविधान संशोधन पर आपत्ति की गई थी, श्री ग्रीन (जो बाद में लार्ड ग्रीन हो गए थे) ने प्रिवी काउन्सिल के समक्ष यह स्वीकार किया था कि 1929 का संशोधन संख्या 16 विधिमान्य है और प्रिवी काउन्सिल ने यह मत व्यक्त किया था कि—"पिटीशनरों की ओर से श्री ग्रीन ने यह ठीक

([1]) (1935) ए० सी० 484.

ही स्वीकार किया है कि संशोधन संख्या 16 नियमित है और यह कि इन पश्चात्वर्ती संशोधनों की विधिमान्यता पर इस आधार पर आपत्ति नहीं की जा सकती है कि वे जनता के समक्ष लोकमत-संग्रह के लिए पेश नहीं किए गए हैं।" संशोधन संख्या 16 पिटीशनर के मामले के लिए इतना महत्त्वपूर्ण था कि इस बात पर विश्वास करना असम्भव था कि लार्ड ग्रीन जैसे अनुभवी काउन्सेल उस पर आपत्ति न करते और प्रिवी काउन्सिल के मतानुसार यह ठीक ही था। कीथ का कहना है कि रेयन वाले मामले ([1]) में मुख्य न्यायाधिपति केनेडी का निर्णय गलत है। (देखिए—लेटर्स ऑन इम्पीरियल रिलेशन्स इण्डियन रिफार्म कान्स्टिट्यूशन एण्ड इण्टरनेशनल लॉ, 1916-1935 पृष्ठ 157)

रेयन वाले मामले ([1]) का महत्त्व इस तथ्य पर आधारित है कि यद्यपि आयरिश फ्री स्टेट कान्स्टिट्यूशन के अनुच्छेद 50 में अभिव्यक्त रूप से यह नहीं कहा गया है कि अनुच्छेद 50 भी संशोधित किया जा सकता है, तथापि आयरिश न्यायालयों के कम से कम पांच न्यायाधिपतियों ने यह अभिनिर्धारित किया है कि उसे संशोधित किया जा सकता है, भले ही ऐसे संशोधन से संविधान संशोधित करने की आयरिश पार्लियामेण्ट की शक्ति में वृद्धि हो जाए। यह शक्ति कितनी व्यापक थी यह बात मूरा वाले मामले ([2]) में साबित हो गई है। उसमें यह अभिनिर्धारित किया गया है कि संशोधन संख्या 22 विधिमान्य है, भले ही इस संशोधन से प्रिवी काउन्सिल में अपील करने की बाबत शाही विशेषाधिकार (रॉयल प्रिरोगेटिव) की बाबत यह अभिनिर्धारित हो गया था कि स्टेट्यूट ऑफ वैस्ट मिनिस्टर और सांविधानिक संशोधन के संयुक्त प्रवर्तन से वह निराकृत हो गया है, यद्यपि अनुच्छेद 50 को 1922 की शेड्यूल्ड ट्रीटी की शर्तों के अनुसार मूलतः सीमित कर दिया गया था। प्रस्तुत मामले में अनुच्छेद 368 में उसके ही संशोधन का प्राधिकार दिया गया है और आवश्यकता पड़ने पर ऐसा संशोधन संसद् की शक्ति में वृद्धि कर सकता है।

ऊपर बताए गए कारणों के अलावा भी हम इस सिद्धान्त पर विचार करेंगे कि क्या सांविधानिक निकाय मूल अधिकारों के, विशिष्टतः सम्पत्ति के अधिकार के, तथाकथित 'सारभूत तत्त्वों' का आदर करने के लिए बाध्य है। इसके लिए यह पर्याप्त कारण नहीं है कि कुछ लोग उन्हें अच्छे और वांछनीय मानते हैं। वस्तुतः प्रश्न यह है कि क्या सांविधानिक निकाय समय की कसौटी पर उनके खरे उतरने के लिए उनमें संशोधन अपेक्षित समझती है। संशोधन खण्ड का दर्शन यह है कि परिवर्तन व्यवस्थित रूप में हो, इसके लिए वह अभय कपाट है और यदि अच्छा और वांछनीय तत्त्व जनता के लिए लाभकर नहीं रह गया है तो निस्सन्देह सांविधानिक-निकाय को उसे संशोधित करने का अधिकार है।

वस्तुतः संविधान के कुछ अंशों को अभिव्यक्त रूप में असंशोधनीय बना दिया गया है तो सांविधानिक निकाय उन्हें संशोधित करने के लिए सक्षम नहीं है या यदि सारभूत तत्वों से सम्बन्धित सांविधानिक उपबन्धों में ऐसी कोई बात है जो उनके संशोधन को अनिवार्य विवक्षा द्वारा प्रतिषिद्ध करती है तो वे उपबन्ध भी असंशोधनीय हो जाएंगे। कारण यह है कि विधि में अभिव्यक्त परिसीमा और ऐसी परिसीमा के बीच कोई अन्तर नहीं है जो अनिवार्य विवक्षा द्वारा लगाई जाती है। दूसरी बात यह है कि अर्थान्वयन का यह एक सुमान्य सिद्धान्त है कि यद्यपि शक्ति प्रदान करने वाले उपबन्ध में कोई परिसीमा विहित न हो तथापि यह स्थिति निश्चायक नहीं मानी जाएगी। ऐसी परिसीमाएं

([1]) (1935) आयरिश रिपोर्ट्स 170.
([2]) (1933) ए० सी० 484.

अधिनियमिति के अन्य उपबन्धों में विद्यमान हो सकती है। किन्तु हमें यह बात याद रखनी होगी कि अनुच्छेद 368 अभिव्यक्त रूप से संविधान के सभी उपबन्धों के संशोधन का विधान करती है और यदि ऐसी शक्तिको संविधानमें अन्यत्र किसी उपबन्ध द्वारा कमकर दिया जाना आशयित है तो उक्त उपबन्ध का स्पष्ट और विनिर्दिष्ट होना आवश्यक है। सन् 1831 में ही वारबुर्टन बनाम लवलैण्ड (1) में हाउस ऑफ लार्ड्स का सर्वसम्मत मत व्यक्त करते हुए मुख्य न्यायाधिपति टिण्डाल ने कहा था। 'अर्थान्वयन के किसी भी नियम द्वारा यह अपेक्षा नहीं की जा सकती है कि जब किसी कानून के किसी एक भाग की शब्दावली का अर्थ स्पष्ट है तो उसी कानून के ऐसे उपबन्ध का आश्रय आवश्यक है जो किंचित अस्पष्ट है और जिसकी शब्दावली का ऐसा अर्थान्वयन किया जा सकता हो जिससे अधिनियम के अन्य उपबंधों की कुशलता को कम करना सम्भव हो जाए।' अनुच्छेद 368 के प्रभाव को नियन्त्रित रखने के लिए "आपको उससे अधिक स्पष्ट संदर्भ की सहायता लेनी चाहिए अथवा कम से कम इतने स्पष्ट संदर्भ की सहायता अवश्य ली जानी चाहिए जितनी स्पष्ट स्वयं नियन्त्रित की जाने वाली शब्दावली है [देखिए—बेन्टले बनाम रोथरहम (2) में जेसेल एम० आर० का निष्कर्ष] न तो मूल अधिकार समाहित करने वाले अनुच्छेद के पाठ से ही और न उसके संदर्भ से ही यह दर्शित होता है कि वे (मूल अधिकार) अनुच्छेद 368 के अधीन हैं। साथ ही, किसी कानून के अधीन शक्ति पर विचार करते समय हमें क्वीन बनाम बुराह (3) में (पृष्ठ 904 और 905 पर) लार्ड सेलबोर्न के इस मत को याद रखना चाहिए। 'जब यह प्रश्न विचाराधीन हो कि क्या विहित परिसीमाओं का उल्लंघन हुआ है तो न्यायालय को वह प्रश्न अनिवार्यत: तय करना चाहिए, और उचित रूप से ऐसा करने के लिए एक यही एक मार्ग है कि उस लिखत की शर्तों की परीक्षा की जाए, जिससे सकारात्मक रूप में विधायी शक्ति उत्पन्न हुई हो और, नकारात्मक रूप में वह परिसीमित की गई है। यदि जो कुछ किया गया है वह ऐसा विधान है जो सकारात्मक रूप में विधायी शक्ति प्रदान करने वाले उपबन्ध के अन्तर्गत ही है और यदि वह उन उपबन्धों की, जिनसे उस शक्ति को परिसीमित किया गया है, अभिव्यक्त शर्त या प्रतिबन्ध का अतिक्रमण नहीं करता है तो न्यायालय को न तो किसी अन्य बात की जांच करने की आवश्यकता है और न उन शर्तों और प्रतिबन्धों को आन्वयिक रूप में व्यापक बनाने की ही आवश्यकता है।' ऐसी ही राय अर्ल लोरबर्न ने अटर्नी जनरल फॉर दि प्रॉविन्स ऑफ ओण्टेरियो बनाम अटर्नी जनरल फॉर दि डोमीनियन ऑफ कनाडा (4) में पृष्ठ 583 पर व्यक्त की है—'ऐसे पूर्णत: स्वशासी संविधान का, जो लिखित सजीव लिखत पर आधारित है, उदाहरणार्थ, ब्रिटिश नार्थ अमरीका ऐक्ट, पाठ यदि स्पष्ट है तो उसका निर्वचन करते समय निदेशों और निषेधों, दोनों की ही बाबत, उसे निश्चायक माना जाएगा किन्तु जब पाठ संदिग्ध हो, अर्थात् जब दो पारस्परिक अलग अधिकारिता सृजित करने वाली शब्दावली इतनी व्यापक हो कि वह किसी विशिष्ट शक्ति को उक्त अधिकारिताओं में से किसी के

(1) (1831) II हो एण्ड क्लार्क 480.

(2) (1876-77) 4 चान्सरी डिवीज़न 588,592.

(3) (1878) ए० सी० 905.

(4) (1912) ए० सी० 571.

अन्तर्गत करती हो, तो अधिनियम के संदर्भ और स्कीम का सहारा अवश्य लिया जाना चाहिए। न्यायालय तो केवल अभिव्यक्त या अनिवार्यतः विवक्षित अपवर्जनों को छोड़ कर अभिव्यक्त रूप में दी गई शक्ति का विस्तार ही निश्चित कर सकते हैं। यही मत **वेब** बनाम **ऑउटरिम** ([1]) में प्रिवी काउन्सिल ने अभिव्यक्त किया था। इसके प्रभाव को न्यायाधिपति इसाक ने **अमलगमेटेड सोसायटी ऑफ इन्जीनियर्स** बनाम **एडलेयड स्टीमशिप कम्पनी लिमिटेड और कुछ अन्य** ([2]) में पृष्ठ 150 पर इस प्रकार व्यक्त किया है।

> "......हम यह बात सुस्पष्ट रूप में कह सकते हैं कि अर्थान्वियन के सामान्य नियमों के अनुसार सुनिश्चित किसी शक्ति के प्रयोग पर 'विवक्षित प्रतिषेध के सिद्धान्त' को प्रिवी काउन्सिल ने **वेब बनाम ऑउटरिम** ([1]) में स्पष्टतः अस्वीकार कर दिया है।"

उपरोक्त शक्ति से सम्बद्ध अर्थान्वियन के नियम को ध्यान में रखते हुए हमें यह देखना है कि क्या सम्पत्ति के मूल अधिकार से सम्बन्धित उपबन्ध या संविधान का कोई सम्बन्धित उपबन्ध संशोधन शक्ति पर कोई प्रतिषेध या परिसीमा लगाता है। सम्पत्ति का अधिकार अनुच्छेद 31 के अधीन संरक्षित किया गया है और अनुच्छेद 19 सम्पत्ति, वृत्ति, व्यापार और कारबार से सम्बन्धित स्वतन्त्रता के बारे में है। इन उपबन्धों में ऐसी कोई बात नहीं है जो सम्पत्ति के अधिकार को सांविधानिक-संशोधन द्वारा न्यून बनाने से रोकती हो। दूसरी ओर अनुच्छेद 31(1) 'विधि के प्राधिकार' से सम्पत्ति से वंचन को प्राधिकृत करता है। संविधान के प्रारम्भ के समय अनुच्छेद 31 के खण्ड (2) के अधीन प्रतिकर पाने के अधिकार को उस अनुच्छेद के अन्य खण्डों में विहित उपबन्धों द्वारा बहुत कुछ कम कर दिया गया है। अनुच्छेद 31(4) और (6) का उद्देश्य न केवल जमींदारों के हाथ में भूसम्पत्ति के केन्द्रण को समाप्त करना आदि है वरन् न्यायोचित प्रतिकर दिए बिना ही सम्पत्ति का आहरण भी है। परिणामस्वरूप, अनुच्छेद 14, 19 और 31 का अपवर्जन अनिवार्य हो गया क्योंकि उनके अपवर्जन के बिना सम्पत्ति के आहरण या उसके अधिकार की समाप्ति की स्कीम सफल नहीं हो सकती थी। तत्पश्चात् एक के बाद एक संशोधन होते गए और साम्पत्तिक अधिकार कम होते गए और ऐसा लगता है कि उन संशोधनों में से किसी पर भी आपत्ति इस आधार पर नहीं की गई कि सम्बन्धित उपबन्धों में ही कुछ ऐसी बात है (इस तथ्य के अलावा कि वे अति महत्वपूर्ण मूल अधिकारों को प्रभावित करते हैं) जिससे संशोधन-शक्ति पर विवक्षित या अन्तर्निहित परिसीमा दर्शित होती है। लार्ड लोबर्न के उपरोक्त निर्णयांश के अन्तिम वाक्य में अर्थान्वियन का सुविदित नियम समाविष्ट है। यह नियम उस दशा में सहायक है जब कि सम्बन्धित कानून का पाठ संदिग्ध हो। यदि पाठ स्पष्ट और असन्दिग्ध है तो अधिनियम के संदर्भ या स्कीम का आश्रय नहीं लिया जा सकता है और इस प्रकार स्कीम तथा संदर्भ का आश्रय लेकर स्पष्टता और असंदिग्धता को अस्पष्ट और संदिग्ध नहीं बनाया जा सकता है। साथ ही असंदिग्धता की

(1) (1907) ए० सी० 81

(2) (1920) 28 सी० एल० आर० 129.

दशा में उक्त नियम के अधीन ऐसी स्कीम या संदर्भ का आश्रय नहीं लिया जा सकता है जो संदिग्धता दूर करने में सहायक न हो सकता हो। यदि स्कीम और संदर्भ में, ऐसी कोई बात नहीं है जो अभिव्यक्त रूप में या विवक्षा द्वारा 'संदिग्ध' पाठ में निर्दिष्ट शक्ति को सीमित करती हो तो उक्त नियम द्वारा उसमें ऐसी कोई बात समाविष्ट नहीं की जा सकती है। यही सब नियम अनुच्छेद 368 में प्रयुक्त 'संशोधन' शब्द के अर्थान्वयन के लिए महत्वपूर्ण हैं। हम पहले ही बता चुके हैं कि संविधान के संदर्भानुसार 'संशोधन' शब्द स्पष्ट और असंदिग्ध है। अतः प्रस्तुत मामले में स्कीम और संदर्भ सुसंगत नहीं है। जिस स्कीम और संदर्भ का हमारे समक्ष अवलम्ब लिया गया है उसमें मुख्यतः प्रस्तावना की अभिकथित प्रमुखता और मूल अधिकारों की अभिकथित अत्यधिक महत्वपूर्ण प्रकृति सम्मिलित है। इन दोनों में से कोई भी 'संशोधन' शब्द के विधिक निर्वचन में हमारी सहायता नहीं करता है। उन पर जोर देकर केवल असंदिग्ध को संदिग्ध बनाया जा रहा है। वस्तुतः संदर्भ और स्कीम का प्रयोग 'संविधान के संशोधन' पद के विस्तार और प्रविषय को सीमित करने के लिए किया जा रहा है। यह कार्य उक्त संदर्भ एवं स्कीम को अनआशयित प्रभाव देकर किया जा रहा है जब कि उनमें संशोधन शक्ति पर न तो अभिव्यक्त रूप में और न ही अनिवार्य विवक्षा द्वारा कोई प्रतिषेध या परिसीमा अधिरोपित की गई है अतः अर्थान्वयन की दृष्टि से प्रस्तावना या मूल अधिकारों से, जो संविधान के अन्य उपबन्धों के समान ही उसके भागरूप हैं, किसी भी विवक्षित परिसीमा का अनुमान नहीं लगाया जा सकता है और विधिक अर्थान्वयन की दृष्टि से ही उन पर विचार किया जाना उचित है। स्कीम और संदर्भ के सुसंगत होने के लिए यह आवश्यक है कि उनमें संशोधन-शक्ति के बारे में युक्तियुक्त रूप से कुछ विधान किया गया हो।

श्री पालखीवाला ने अपनी विवक्षित परिसीमाओं के सिद्धान्त के समर्थन में प्रस्तावना का अवलम्ब लिया। उनका कहना था कि प्रस्तावना संविधान के उद्देश्यों का उल्लेख करती है और इसलिए इन उद्देश्यों में किसी भी प्रकार के हस्तक्षेप से संविधान की अनन्यता नष्ट हो जाएगी और चूंकि संविधान में संशोधन, चाहे वह किसी भी रूप में क्यों न किया जाए, इसी प्रकार किया जा सकता है कि उसकी अनन्यता बनी रहे, अतः प्रस्तावना में उल्लिखित उद्देश्यों को स्थाई और असंशोधनीय माना जाना चाहिए। उक्त आधार पर उन्होंने आगे यह भी कहा कि क्योंकि मूल अधिकार प्रस्तावना के उद्देश्यों का ही पृथक् विस्तृत रूप है, अतः यह विवक्षित है कि मूल अधिकार अथवा उनका सार, संशोधन द्वारा क्षतिग्रस्त या नष्ट नहीं किया जा सकता है।

यह कहना कि मूल अधिकार प्रस्तावना का ही व्यापक रूप है, अत्युक्ति है और अर्द्ध-सत्य है। प्रस्तावना के अनुसार भारत की जनता ने स्वयं को संविधान प्रदान किया है और उसके द्वारा भारत के सभी नागरिकों को सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय; विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपासना की स्वतंत्रता; प्रतिष्ठा और अवसर की समानता प्राप्त कराने के लिए तथा उन सब में व्यक्ति की गरिमा और राष्ट्र की एकता सुनिश्चित करने वाली बन्धुता बढ़ाने के लिए वचन दिया है। निस्संदेह संविधान को ऐसा वाहन माना गया है जिसके माध्यम से उसमें विहित लक्ष्यों को प्राप्त करने की आशा की गई है। चूंकि प्रस्तावना संविधान का ही एक भाग है, अतः उसे अनुच्छेद 368 के अधीन

संशोधित किया जा सकता है। किन्तु हम यह मान कर चलते हैं कि भारत की जनता प्रस्तावना की गरिमामय शब्दावली को जल्दबाजी में संशोधित न करेगी और जब तक ऐसी प्रस्तावना विद्यमान रहती है तब तक सरकार को उसका आदर करना होगा और उक्त उद्देश्यों के प्राप्ति के लिए संविधान सदैव ही हमारा नेतृत्व करता रहेगा। किन्तु यह कहना परिहास मात्र है कि मूल अधिकार उक्त उद्देश्यों का ही एक विस्तृत रूप है। अधिकतर मूल अधिकारों का उद्गम स्वतंत्रता और समानता के सिद्धान्तों से है और यह स्वतन्त्रता तथा समानता प्रस्तावना में उल्लिखित है। किन्तु एक ओर जब कि स्वतन्त्रता और समानता के विचार का उल्लेख आत्यन्तिक रूप में प्रस्तावना में किया गया है तो दूसरी ओर मूल अधिकारों का उल्लेख, जिनमें कि भिन्न-भिन्न प्रकार की स्वतन्त्राएं भी सम्मिलित हैं, ऐसे आत्यन्तिक रूप में नहीं किया गया है। मूल अधिकारों में स्वतन्त्रता और समानता के सिद्धान्त का उल्लेख बहुत क्षीण रूप में हुआ है और उन पर व्यवस्थित और शांतिपूर्ण सरकार के हित में अनेक निर्बन्धन अधिरोपित कर दिए गए हैं।

प्रस्तावना में प्रमुख स्थान सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय को दिया गया है और यह स्पष्ट है कि न्याय के बिना स्वतंत्रता, समानता और बन्धुत्व के अन्य तीन सिद्धान्त स्वतः ही भ्रामक हो जाते हैं। सामाजिक और राजनैतिक न्याय से स्वतंत्रता संरक्षित हो जाती है और सामाजिक तथा आर्थिक न्याय से स्वतंत्रता और अवसर की समानता संरक्षित हो जाती है। अतः निदेशक तत्वों में भी सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय को सर्वोच्च महत्व देते हुए अनुच्छेद 38 में उसे प्रमुख स्थान दिया गया है। इस अनुच्छेद द्वारा राज्य को यह निर्दिष्ट किया गया है कि वह ऐसी सामाजिक व्यवस्था की, जिसमें सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय राष्ट्रीय जीवन की सभी संस्थाओं को अनुप्राणित करे, भरसक कार्य साधक रूप में स्थापना और संरक्षण करके लोक-कल्याण की उन्नति का प्रयास करे। जब उक्त निदेश के कार्यान्वयन के लिए वास्तविक और निष्ठापूर्ण प्रयत्न किए जाएंगे तो स्वतन्त्रता और समानता के सिद्धान्त की परिधि में निश्चय ही वृद्धि और विस्तार होगा। वेड ने अपनी कृति 'इण्ट्रोडक्शन टू डाइसीज लॉ ऑफ दि कांस्टिट्यूशन' के पृष्ठ 82 पर यह बताया है कि आज स्वतंत्रता से अभिप्रेत है सरकारी प्राधिकारी से सामाजिक और राजनैतिक परिस्थितियों को व्यवस्थित करना। यह बात ऐसे देशों में भी अनिवार्य हो गई है जहां कि नागरिकों द्वारा राजनैतिक (यदि आर्थिक नहीं) समानता प्राप्त कर ली गई है। उस प्राधिकार में विस्तार के बिना, जिसे प्राप्त करना एकात्मक राज्यों की तुलना में, जैसा कि यूनाइटेड किंगडम में है, परिसंघीय राज्यों के लिए अधिक दुष्कर है, इस बात का अनिवार्य जोखिम है कि संविधान ऐसी शक्ति के समक्ष नष्ट हो जाए, या जिसे सांविधानिक औचित्य का तनिक भी ख्याल नहीं है।" उन्होंने पृष्ठ 24 और 25 पर यह भी बताया है कि आधुनिक हाउस ऑफ कामन्स एक ऐसा स्थल है जिसमें कि दोनों ही दल (पक्ष एवं विपक्ष) सरकार के सक्षम सामाजिक और आर्थिक दोषों को दूर करने के लिए सतत मांगे प्रस्तुत करते हैं—और संसद् के प्रयत्नों से ही उत्तरोत्तर परिवर्तित परिस्थितियां उत्पन्न होती जा रही हैं। वेड ने कहा है कि ऐसा करते हुए इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता है कि विधान ने वैयक्तिक स्वातंत्र्य पर से जोर

हटा कर लोक हित के लिए सेवाओं पर जोर दिया है। हमारे संविधान की, विशिष्टतः प्रस्तावना और अनुच्छेद 38 की, शर्तों के अनुसार जोर वैयक्तिक स्वातन्त्र्य से हटा कर सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय पर दिया गया है।

आधुनिक संगठित समाज में स्वतंत्रता और समानता के आत्यन्तिक विचारों के उद्देश्यों को प्राप्त करना बहुत दुष्कर हो गया है। मूल अधिकार प्रकटतः उन जैसे ही हैं। किन्तु वे (मूल अधिकार) किसी भी रूप में ऐसे नियमों से अधिक नहीं हैं जिनका कि अनुसरण देश के शासन के लिए किसी सभ्य सरकार से अपेक्षित है, भले ही ये नियम मूल अधिकार के रूप में उल्लिखित किए गए हों या नहीं। इंग्लैण्ड में इस नियम का विकास 'विधि शासन' (रूल ऑफ लॉ) के नियम के अधीन सरकार के दैनिक कार्यकरण के परिणामस्वरूप हुआ है। भारत के ब्रिटिश शासकों ने इस देश के शासन में इन नियमों का प्रादुर्भाव करने का प्रयास किया था। ऐसे प्रयासों के सबूत के रूप में हम यह कह सकते हैं कि ब्रिटिश काल में ऐसे बहुत से कानून अधिनियमित किए गए हैं जो हमारे संविधान के अधीन भी, कोई सारभूत परिवर्तनों के बिना ही लागू बनाए रखे गए हैं। इस बात से कोई इन्कार नहीं कर सकता है कि जब देश का शासन ही खतरे में हो तो सुशासन इन नियमों में संशोधन कर दिया जाता है और जब स्वशासन का आन्दोलन बढ़ने लगा तब ब्रिटिश शासकों ने इन नियमों को त्याग कर दमनकारी विधियों का आश्रय लिया। इसी समय इस देश की जनता ने उक्त बुनियादी मानवीय अधिकारों की मांग की थी। उनकी दृष्टि से ऐसे अधिकारों का मूल्य हमारे सामाजिक और राजनैतिक जीवन में इतने महत्व का था कि जब संविधान की रचना हुई तो हमने यह तय किया कि सभ्य सरकारों के ये नियम संविधान में ही उल्लिखित कर दिए जाएं जिससे कि हमारी केन्द्रीय और राज्य सरकारें भी उनकी उपेक्षा न कर सकें। हमारे मूल अधिकारों की यही बुनियाद है। संविधान द्वारा प्रदत्त इन अधिकारों का महत्व यह नहीं है कि वे कोई बहुत असाधारण अधिकार हैं वरन् यह है कि संविधान द्वारा ऐसी विधियों पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया है जो उक्त अधिकारों का उल्लंघन करते हैं। ऐसे प्रतिबन्ध को प्रभावी करने के लिए उपचार के रूप में अनुच्छेद 32 अधिनियमित किया गया है। वस्तुतः संविधान निर्माताओं ने इस बात का ध्यान रखा है कि मूल अधिकारों को आत्यन्तिक रूप में उल्लिखित न किया जाए, क्योंकि ऐसा करना व्यवहारिक नहीं था। चूंकि उन्हें यह ज्ञात था कि जनता ऐसे अधिकारों, और स्वतन्त्रताओं का भी दुरुपयोग कर सकती है, अतः संविधान निर्माताओं ने लोकहित में ऐसे अधिकारों को निर्बन्धित कर दिया और इस प्रकार राज्य की ओर से इस बात पर जोर दिया गया है कि मूल अधिकारों को अर्थात् सभ्य सरकार के नियमों को सामान्य हित और लोक हित में, यदि आवश्यक हो, संशोधित किया जा सकता है।

और फिर भी, जैसा हमने ऊपर बतलाया है, यूनाइटेड किंगडम में भी वैयक्तिक स्वतन्त्रता अब उतनी महत्वपूर्ण नहीं रही है, विशेष रूप से सम्पत्ति के स्वामित्व के सम्बन्ध में, जैसी कि वह एक या दो पीढ़ी पहले समझी जाती थी। आर्थिक और सामाजिक क्षेत्र में बहुत से कानून पारित किए गए हैं जिनके द्वारा निस्संदेह कुछ व्यक्तियों की वैयक्तिक स्वतन्त्रता पर आघात हुआ है, किन्तु उनसे बहुतों के प्रति सामाजिक और आर्थिक न्याय में वृद्धि हुई

है। यदि यूनाइटेड किंगडम हस्तक्षेप न करने की और वैयक्तिक स्वतन्त्रता की विक्टोरिया-कालीन अपनी नीति पर दृढ़ रहा होता तो सामाजिक और आर्थिक न्याय के क्षेत्र में उसने जो प्रगति की है और उसे जो उपलब्धियां पिछली अर्द्धशताब्दी के दौरान प्राप्त हुई हैं वे शायद ही प्राप्त होतीं। इतने पर भी, यद्यपि यूनाइटेड किंगडम हमारे देश से बहुत अधिक समृद्ध है किन्तु वह यह दावा नहीं कर सकता कि उसने अपने सभी नागरिकों के लिए पूर्ण रूप से सामाजिक और आर्थिक न्याय प्राप्त कर लिया है किन्तु इस बारे में कोई संदेह नहीं है कि उन दलों का जो सरकार बनाते हैं, ध्येय हमेशा ही उक्त उद्देश्यों को प्राप्त करने का रहा है। यद्यपि तरीके अलग-अलग हो सकते हैं। हमारे जैसे देश में जहां एक ओर बहुत बड़े पैमाने पर भीषण गरीबी है और दूसरी ओर धन का बहुत अधिक केन्द्रण है, सामाजिक और आर्थिक न्याय की दिशा में प्रगति की गति धीमी होना अनिवार्य है, यदि वैयक्तिक स्वतन्त्रता की पुरानी विचारधारा द्वारा हमारी गति में बाधा पड़े। अन्ततः स्वाधीनता (लिबर्टी) या स्वतन्त्रता जिसकी समुदाय के सम्पन्न व्यक्ति बहुत अधिक प्रशंसा करते हैं, वे जैसा हमने पहले बतलाया है धन इकट्ठा करने की, और सम्पत्ति और उत्पादन साधनों को अपने स्वामित्व में रखने की स्वतन्त्रता है। हमारे संविधान में इसके प्रति सहानुभूति नहीं दिखलाई गई है। यदि सामान्य नियम यह है कि सभ्य सरकार के सभी नियम लोकहित और जनसामान्य के सुख-दुख के लिए होते हैं तो निदेशक तत्वों को कार्यान्वित करने में उन नियमों में नए ढंग से समायोजन करना होगा। स्वतन्त्रता की विचारधारा को आंख मून्द कर अपनाए रहने से धन असमान रूप से इकट्ठा होगा और इस कारण हम प्रस्तावना के महत्वपूर्ण उद्देश्यों को प्राप्त नहीं कर पाएंगे जब कि निदेशक तत्वों के उचित और सहानुभूति पूर्वक कार्यान्वित किए जाने से कम से कम इस बात की सम्भावना है कि इससे हम उन उद्देश्यों की ओर अग्रसर होंगे यद्यपि इस कार्य में कुछ व्यक्तियों की उस असमान स्वतन्त्रता में, जिसका वे आज उपभोग कर रहे हैं, कुछ कमी हो जाएगी। प्रस्तावना, मूल अधिकार और निदेशक तत्वों को एक साथ पढ़ने से उनका अन्तर्निहित दर्शन यही है। मूल अधिकारों को प्रस्तावना के उद्देश्यों का आवश्यक रूप से विस्तार गलत होगा। तथ्य के तौर पर अनुच्छेद 39 (ख) और (ग) में अन्तर्विष्ट निदेशक तत्वों को कार्यान्वित करने के लिए बनाई गई विधि प्रस्तावना के विपरीत होने के बजाए उसके अनुरूप होगी क्योंकि इसके द्वारा कुछ व्यक्तियों की वैयक्तिक स्वतन्त्रता में कमी हो सकती है किन्तु इसके द्वारा कई व्यक्तियों की स्वतन्त्रता का क्षेत्र विस्तृत होता है।

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि विधि की स्कीम की सफलता सुनिश्चित करने के लिए यदि ऐसी विधि के कार्यान्वित किए जाने के दौरान अनुच्छेद 14, 19 और 31 के अधीन व्यक्ति के अधिकारों का अतिलंघन होता है तो ऐसे अतिलंघन को आवश्यक परिवर्तन माना जाएगा और इसलिए वह गौण होगा। प्रस्तावना को समग्र रूप से पढ़ने पर उस में यह विवक्षा अन्तर्विष्ट नहीं है कि निदेशक तत्वों को असल रूप में कार्यान्वित करने में मूल अधिकार में किसी प्रकार की कमी नहीं होगी। कुछ व्यक्तियों के हाथ में सामुदायिक साधनों, धन और उत्पादन साधनों का केन्द्रण और नियन्त्रण संविधान की दृष्टि से एक बुराई है जिसे सामाजिक संगठन से समाप्त किया जाना चाहिए और इसलिए कोई मूल अधिकार उस विस्तार तक, जिससे यह बुराई बढ़ती है, संविधान द्वारा परिकल्पित सामाजिक संरचना के हित में कम किए जाने या छीने जाने योग्य है। संविधान के भाग 3 में मूल अधिकारों की स्कीम से ही यह

ज्ञात होता है कि उन पर लगाए गए निर्बन्धन उनके गलत ढंग से प्रयोग किए जाने के विरुद्ध एहतियात के तौर पर लगाए गए हैं। और न ही प्रस्तावना में यह संकेत देने के लिए कुछ नहीं है कि सम्पत्ति से सम्बन्धित मूल अधिकार को संशोधन करने की शक्ति समाप्त कर दी गई है। वास्तव में प्रस्तावना में सम्पत्ति के अधिकार की बाबत कोई निर्देश नहीं है। इसके विपरीत उन उद्देश्यों को घोषित करते समय जिन्होंने संविधान निर्माताओं को यह संविधान आत्मार्पित करने के लिए प्रेरित किया और जिनके संबंध में उन्हें यह आशा थी कि वे उद्देश्य प्राप्त कर लिए जाएंगे, उन्होंने 'इस संविधान के' संशोधन के लिए उपबन्ध करके सतर्कता से कार्य किया। स्पष्ट रूप से यह विवक्षित है कि यदि हमें उन उद्देश्यों के पथ पर ले जाने में संविधान का प्रवर्तनकारी भाग असफल रहा है तो संविधान समुचित रूप से संशोधित किए जाने योग्य है। प्रस्तावना भी, जैसा कि हम जानते हैं, संविधान (कांस्टिट्यूएण्ट असेम्बली डिबेट्स जिल्द 10, पृष्ठ 456) के एक भाग के तौर पर संविधान सभा द्वारा अंगीकृत की गई थी और उसमें भी संशोधन किया जा सकता है। सम्भवतः सम्पत्ति का अधिकार जानबूझकर प्रस्तावना में नहीं रखा गया क्योंकि वह सभी नागरिकों को सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय और अवसर की समानता प्राप्त करने के उद्देश्यों के, जिन्हें प्राप्त करने के लिए अनुच्छेद 38 से 51 तक में निदेशक तत्व अधिकथित किए गए हैं, विपरीत होता। इतना होने पर भी अब यह सुस्थिर है कि कानून के अधिनियमित भागों में सीधे-सादे और स्पष्ट शब्दों में अनुदत्त की गई शक्ति प्रस्तावना द्वारा न तो बढ़ाई जा सकती है और न घटाई जा सकती है। देखिए—बेरुबारी यूनियन एण्ड एक्सचेंज ऑफ एन्क्लेव्ज़ वाला मामला ([1])। इसके अतिरिक्त विधानमण्डल का यह सही आशय हो सकता है कि अधिनियमित भाग प्रस्तावना की स्पष्ट परिधि से परे विस्तारित हो, देखिए—सेक्रेटरी ऑफ स्टेट बनाम बोबिली के महाराजा ([2])। सच बात तो यह है कि यदि अधिनियमित भाग स्पष्ट है और असंदिग्ध है तो अर्थान्वयन की आवश्यकता नहीं है। स्प्रेग वाले मामले([3]) में अमरीका की सुप्रीम कोर्ट ने अनुच्छेद 5 का अर्थान्वयन किया जो एक संशोधन विषयक खण्ड है। जिससे कि विवक्षा द्वारा संशोधन सम्बन्धी शक्ति कम की जा सके। यह बात स्वतः संविधान के कुछ अन्य उपबंधों से उद्भूत होती है। दलीलों का अवलम्ब लेकर न्यायालय ने यह मत व्यक्त किया कि "यूनाइटेड स्टेट्स यह प्रख्यापित करती है कि अनुच्छेद 5 कथन की दृष्टि से स्पष्ट है और उसमें जो अर्थ अन्तर्विष्ट है उसमें कोई संदिग्धता नहीं है और अर्थान्वयन के किसी नियम का सहारा नहीं लेना है। पढ़ने मात्र से ही यह ज्ञात होता है कि बात सच है।" यह मत संशोधन विषयक खंड अर्थात् अनुच्छेद 368 को और भी लागू होता है क्योंकि अमरीका के संविधान के अनुच्छेद 5 में इस आधार पर दलील के लिए गुंजाइश थी कि प्रस्तावित संशोधन के लिए वैकल्पिक पद्धतियों को अनुज्ञा दी गई है। अनुच्छेद 5 में उपबन्धित है कि वैकल्पिक पद्धतियों के आधार पर जिनमें से एक राज्य विधानमण्डल से सम्बन्धित है और दूसरी राज्य कन्वेन्शन से संबंधित है, यह दलील दी गई कि विधानमण्डल को अपवर्जित करके राज्य-कन्वेन्शन की पद्धति उचित पद्धति थी क्योंकि प्राहिबिशन अमेण्डमेण्ट (अट्ठारहवां संशोधन) से वैयक्तिक स्वतंत्रता

([1]) (1960) 3 एस० सी० आर० 250.

([2]) 43 मद्रास 529, पी० सी० 536.

([3]) 282 यू० एस० 716.

प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित हुई है। जहां वैयक्तिक स्वतंत्रता अन्तर्वलित थी, यह कहा गया कि सिर्फ जनता ही कन्वेंशन के जरिए संशोधन का अनुसमर्थन कर सकती है क्योंकि अनुच्छेद 10 के अधीन जनता ने अपने पास विशेष रूप से उन शक्तियों को आरक्षित रखा था जो परिसंघीय संविधान को अभिव्यक्त रूप से प्रदत्त नहीं की गई थीं। सुप्रीम कोर्ट ने इस दलील को इस आधार पर नामंजूर कर दिया कि अनुच्छेद 5 की भाषा स्पष्ट और असंदिग्ध है और यद्यपि वैकल्पिक पद्धतियों के लिए उपबंध किया गया था, किन्तु कौन सी वैकल्पिक पद्धति अपनाई जानी चाहिए इस संबंध में अंतिम शक्ति निहित थी और यदि कांग्रेस ने राज्य विधानमण्डल द्वारा अनुसमर्थन की पद्धति को चुना तो इससे यह बात समाप्त हो जाती है। न्यायालय ने यह मत व्यक्त किया कि "···संविधान में शब्द और पद तकनीकी अर्थ से भिन्न अपने मामूली और सामान्य अर्थ में प्रयुक्त किए जाते हैं। जब आशय स्पष्ट है तब अर्थान्वयन की कोई गुंजाइश नहीं रहती और अन्तर्वेशन के लिए भी कोई गुंजाइश नहीं रहती। अन्तर्वेशन द्वारा न्यायालय का अभिप्राय अनुच्छेद 5 के परन्तुक में विशिष्ट रूप से कुछ जोड़ना था, जिससे कि कांग्रेस की वह शक्ति सीमित की जा सके जिसके द्वारा उसे अनुसमर्थन के प्रयोजनों के लिए किसी एक निकाय को चुनने की शक्ति है।

यह बताने के लिए कुछ मामलों के प्रति निर्देश किया गया कि यद्यपि किसी शक्ति पर परिसीमा लगाए जाने से संबंधित कोई शब्द नहीं थे, किन्तु न्यायालयों के ध्यान में विवक्षित परिसीमाएं या प्रतिषेध आए थे। विक्टोरिया बनाम कामनवैल्थ([1]) वाले आस्ट्रेलिया के हाल ही के एक मामले में संविधान की धारा 51 (ii) के अधीन कॉमनवैल्थ पार्लियामेंट की शक्ति के संबंध में प्रश्न उद्भूत हुआ। यह प्रश्न पे-रोल टैक्स असेसमेण्ट ऐक्ट, 1941-1969 के अधीन कराधान से संबंधित विधियां बनाने की बाबत था। न्यायालय ने सर्वसम्मति से यह अभिनिर्धारित किया कि कॉमनवैल्थ पार्लियामेण्ट को इस बात की शक्ति थी। बहस के दौरान, ऐसा प्रश्न उद्भूत हुआ जिसके कारण आस्ट्रेलिया के न्यायालय कई वर्षों से परेशान थे। प्रश्न यह था कि इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए कि संविधान की प्रस्तावना में यह परिवर्णित किया गया है कि जनता क्राउन के अधीन एक अविघटनीय परिसंघ में सम्मिलित होने के लिए सहमत हो गई है, क्या संविधान के अधीन कॉमनवैल्थ की विधायी शक्ति पर विवक्षित निर्बन्धन थे। अमेलगमेटेड इन्जीनियर्स वाले मामले ([2]) में जिसके प्रति पहले ही निर्देश किया गया है और जो काफी लम्बे समय से इस प्रश्न के संबंध में अन्तिम रूप में माना जाता रहा है, अभिकथित विवक्षित प्रतिषेध या परिसीमा नामंजूर कर दी गई थी। वह प्रश्न शक्ति के विस्तार की बाबत अर्थान्वयन का एक प्रश्न अभिनिर्धारित किया गया था और यदि वह शक्ति अभिव्यक्त शब्दों से अभिनिश्चित की गई थी तो विवक्षा द्वारा उस पर कोई परिसीमा नहीं लगाई जा सकती थी। किन्तु ऊपर वर्णित मामले में तीन न्यायाधीशों ने उस मत को तब भी वैध बतलाया किन्तु चार अन्य न्यायाधीशों की राय इसके विरुद्ध थी। जो भी दृष्टिकोण सही हो, हमारे समक्ष जो प्रश्न है, उस पर वास्तव में कोई अन्तर नहीं पड़ता है। हमारा संबंध संशोधन करने की शक्ति से है। आस्ट्रेलिया वाले मामले में न्यायाधीशों का संबंध विधायी शक्ति से था और वह बात संविधान के घेरे के भीतर अभिनिश्चित की जानी थी जिसके द्वारा वह शक्ति सृष्ट की गई

([1]) (1971) 45 ए० एल० जे० 241.

([2]) (1920) 28 सी० एल० आर० 129.

थी श्री अधीन उसका प्रयोग किया जाना था। संविधान के शब्दों और संरचना के आधार पर विशेष रूप से प्रस्तावना के आधार पर जो कामनवेल्थ द्वारा संशोधन किए जाने के दायित्वाधीन नहीं था, अर्थान्वयन के लिए गुंजाइश थी। इसके विपरीत चूंकि संविधान को संशोधन करने की शक्ति एक महत्वपूर्ण शक्ति है, अतः यह स्वतः संविधान के किसी उपबन्ध से बंधी नहीं हो सकती। इसका स्पष्ट कारण यह है कि ऐसा उपबन्ध भी संविधान के अधीन संशोधनीय है। **इनिशिएटिव एण्ड रेफरेण्डम ऐक्ट वाले मामले** ([1]) में प्रिवी काउन्सिल ने यह अभिनिर्धारित किया था कि ब्रिटिश नार्थ अमरीका ऐक्ट, 1867, धारा 92, शीर्षक 1 के अधीन की शक्ति जिसके द्वारा किसी प्रान्त के संविधान को संशोधित करने के लिए प्रान्तीय विधानमण्डल सशक्त किया गया था, ले० गवर्नर के पद को छोड़ कर थी और इसमें ऐसी विधि बनाना अपवर्जित किया गया था जो ऐसी शक्ति को निराकृत करती है जो ले० गवर्नर के माध्यम से क्राउन की शक्ति है और ले० गवर्नर प्रत्यक्ष रूप से क्राउन का प्रतिनिधित्व करता है। इनिशिएटिव एण्ड रेफरेण्डम ऐक्ट द्वारा कनाडा के एक प्रान्त मनीटोबा के विधानमण्डल ने ले० गवर्नर को इस बात के लिए विवश किया कि वह मतदाताओं के एक निकाय को प्रस्तावित विधि प्रस्तुत करे। यह निकाय उस विधानमण्डल से बिल्कुल भिन्न था जिसका ले० गवर्नर प्रधान था और इससे वह उस विधि को यदि वह उन मतदाताओं द्वारा अनुमोदित कर दी जाती, तो वास्तविक विधि बनाने से रोकने में पूर्ण रूप से शक्तिहीन होता। यह अभिनिर्धारित किया गया कि इससे विधानमण्डल के एक भाग के तौर पर ले० गवर्नर के पद पर प्रत्यक्ष रूप से प्रभाव पड़ा और चूंकि संविधान के संशोधन से उस पद पर प्रभाव पड़ा जो स्पष्ट रूप से संशोधन करने की शक्ति का अपवाद था, अतः विधि शून्य थी। इस प्रकार यह ज्ञात होता है कि विवक्षित परिसीमा का कोई प्रश्न नहीं था। हमारे समक्ष जो दूसरा मामला उद्धृत किया गया है अर्थात् **जॉन जॉन फ्रैंसिस डगलस लिआंगे और कुछ अन्य बनाम क्वीन** ([2]) उसमें संविधान का संशोधन करने से सम्बन्धित कोई प्रश्न उद्भूत नहीं हुआ था। उसमें सीलोन (कांस्टिट्यूशन एण्ड इण्डिपेण्डेन्स) आर्डर्स इन काउन्सिल 1946-47 की धारा 29(1) के अधीन 1962 में विधायिका ने एक मामूली अधिनियम द्वारा न्यायाधीशों की कार्यपालिका और न्यायिक शक्तियों को भागतः विधानमण्डल में निहित करने का प्रयत्न किया। उस अधिनियम द्वारा न्यायाधीशों में एक पृथक् इम्पीरियल चार्टर अर्थात् दि चार्टर ऑफ जस्टिस, 1833 का प्रभावशाली परिवर्तन निहित किया गया, जिसे 1946-47 के संविधान में मान्यता दी गई थी। यह अभिनिर्धारित किया गया कि अधिनियम संविधान के शक्तिबाह्य था। **राणासिंघे का मामला**([3]) **टेलर बनाम अटर्नी जनरल ऑफ क्वीन्सलैण्ड** ([4]) **मंगलसिंह बनाम भारत संघ** ([5]) जैसे कुछ मामले यह दर्शाने के लिए उद्धृत किए गए कि सांविधानिक विधियों में जहां जरूरी होता है, विवक्षा किया जाना मंजूर किया

([1]) (1919) ए० सी० 935.
([2]) (1967) ए० सी० 259.
([3]) (1965) ए० सी० 172.
([4]) 23 सी० एल० आर० 457.
([5]) (1967) 2 एस० सी० आर० 109, 112.

गया है । इस प्रस्थापना पर आक्षेप कोई भी नहीं करता है । न्यायालयों को ऐसा वहां करना पड़ता है जहां विवक्षा किया जाना जरूरी है । राणासिंघे के मामले([1]) में सीलोन (कांस्टिट्यूशन) के आर्डर इन काउन्सिल 1946 की धारा 29 के अर्थान्वयन के आधार पर प्रिवी काउन्सिल ने यह मत व्यक्त किया कि संविधान के अधीन उपधारा (2) और (3) संशोधन योग्य नहीं हैं । पहली बात यह है कि यह मत इतरोक्ति (ऑबिटर) है और यह संदेहपूर्ण है कि यदि माननीय न्यायाधीशों का आशय यह सूचित करना था कि धारा 29 (4) के अधीन भी वे संशोधन योग्य नहीं थे । पश्चात्‌वर्ती उपबन्धों को साधारण ढंग से पढ़ने पर यह ज्ञात होता है कि वे विशेष बहुमत द्वारा संशोधनीय हैं । दूसरी बात यह है कि निर्णय के पश्चात्‌वर्ती भाग में धारा 29(2) और (3) के उपबन्ध 'बाधा डालने वाले' उपबन्ध के तौर पर वर्णित किए गए हैं जिसका शब्दकोश में स्पष्ट अर्थ यह है कि उन्हें बहुत ही जरूरी परिस्थितियों के सिवाय निरसित नहीं किया जाएगा । वाडेज इण्ट्रोडक्शन टू डाइसी के पृष्ठ 36 से 38 भी देखिए । जेनिंग्स ने कांस्टिट्यूशन ऑफ सीलोन (1949) नामक अपनी पुस्तक के पृष्ठ 22 पर यह बतलाया है कि धारा 29 (4) के अधीन विशेष प्रक्रिया द्वारा धारा 29 (2) और(3) की परिसीमाएं परिवर्तित या न्यून की जा सकती हैं । इसी प्रकार कांस्टिट्यूशन स्ट्रक्चर ऑफ दि कॉमनवैल्थ, 1960 के, जिसका 1963 में पुनः मुद्रण हुआ, पृष्ठ 83-84 पर भी वही मत व्यक्त किया गया है । किसी भी दशा में धारा 29 की उपधारा (1) से (4) को एक साथ पढ़ने पर अर्थान्वयन का वह एक विशुद्ध प्रश्न था । टेलर के मामले([2]) में विचारार्थ प्रश्न कॉलोनियल लॉज वैलीडेशन ऐक्ट, 1865 की धारा 5 में आए 'ऐसे विधानमण्डल का गठन' पद के निर्वचन की बाबत था । प्रश्नगत समय पर विधानमण्डल में निम्न सदन और उच्च सदन थे और यह अभिनिर्धारित किया गया कि 'ऐसे विधानमण्डल का गठन' पद इतना व्यापक है कि उसमें दो सदनीय विधानमण्डल को एक सदनीय विधानमण्डल में परिवर्तित करना सम्मिलित है । न्यायाधिपति इसाक ने भी यह अभिनिर्धारित किया कि विशिष्ट संदर्भ में 'विधानमण्डल' से अभिप्रेत है, विधानमण्डल के सदन और इसके अन्तर्गत क्राउन नहीं आता । मस्त सिंह वाले मामले([3]) में केवल यह अभिनिर्धारित किया गया था कि यदि हमारे संविधान के अनुच्छेद 4 के अधीन बनाई गई विधि द्वारा कोई राज्य निर्मित किया जाता है तो उस राज्य में विधायिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका होनी चाहिए । यह संविधान के अधीन समझे जाने वाले राज्य के लिए प्रसाधन मात्र है । "राज्य" शब्द के अर्थ के अन्तर्गत ये तीनों अंग आते हैं । यह भी विशुद्ध रूप से अर्थान्वयन की बात है । इन मामलों में से किसी भी मामले से उस प्रश्न पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता है जिससे हमारा सम्बन्ध अर्थात् क्या संविधान को, जिसके अन्तर्गत प्रस्तावना और मूल अधिकार आते हैं, संशोधित करने की कोई असंदिग्ध और सर्वसमावेशी शक्ति है और क्या यह शक्ति उस तथ्य से सीमित हो जाएगी कि उन पर कोई उच्च और श्रेष्ठ स्वरूप थोपा गया है ।

इसके विपरीत अमरीका में जहां सांविधानिक संशोधनों से सम्बन्धित मामलों में विवक्षित परिसीमा पर जोर दिया गया है, वहां न्यायालय ने ऐसी दलीलें नामंजूर कर दीं । स्प्रेग वाले मामले ([4]) में सुप्रिम कोर्ट ने स्वतः संविधान

([1]) (1965) ए० सी० 172.
([2]) 23 सी० एल० आर० 457.
([3]) (1967) 2 एस० सी० आर० 119.
([4]) 282 यू० एस० 716.

के कुछ अभिव्यक्त उपबन्धों से उद्भूत हुई विवक्षित परिसीमा की दलील नामंजूर कर दी। इस मामले के प्रति निर्देश करते हुए डाड ने केसिज इन कांस्टिट्यूशनल लॉ, पांचवां संस्करण के पृष्ठ 1375-87 पर यह मत व्यक्त किया कि यह आशा की जाती है कि इस मामले से सांविधानिक संशोधन की विषयवस्तु के सम्बन्ध में इस न्यायालय द्वारा परीक्षा किए जाने के लिए प्रयत्न किया जाना अब समाप्त कर दिया गया है। पहले विनिदिष्ट नेशनल प्राहिबिशन वाले मामले ([1]) में जैसा कि से ज्ञात होता है, संविधान, उसकी स्कीम और उसके इतिहास पर आधारित बहुत सी विवक्षित परिसीमाओं का अभिकथन करते हुए प्राहिबिशन अमेण्डमेण्ट (अट्ठारहवां) पर आक्षेप किया गया था। न्यायालय ने उनमें से किसी को भी नहीं माना। वास्तव में न्यायालय ने उन पर ध्यान तक नहीं दिया। अमरीका के न्यायविदों की यह स्पष्ट राय है कि सुप्रीम कोर्ट ने विवक्षित परिसीमा की दलील नामंजूर कर दी थी। उदाहरण के लिए देखिए कूले का कांस्टिट्यूशनल लॉ, चौथा संस्करण, पृष्ठ 46-47 और वर्डिक का लॉ ऑफ अमरिकन कांस्टिट्यूशन, पृष्ठ 45 से 48।

श्री पालखीवाला की यह दलील कि संविधान के अत्यावश्यक तत्व (जिससे श्री पालखीवाला का आशय सारभूत तत्व, आधारभूत तत्व या मूल सिद्धान्त है) यद्यपि एक सीमित विस्तार तक संशोधन किए जाने योग्य है, किन्तु उन्हें नुकसान नहीं पहुंचाया जा सकता या उन्हें नष्ट नहीं किया जा सकता, उस दलील का केवल बदला हुआ रूप है जो इस न्यायालय के समक्ष तथाकथित 'संविधान की भावना' (स्पिरिट ऑफ दि कांस्टिट्यूशन) के आधार पर दी गई थी और उस दलील को इस न्यायालय ने 1952 में ही नामंजूर कर दिया था। बिहार राज्य बनाम कामेश्वर सिंह ([2]) वाला मामला देखिए। वह मामला बिहार भूमि सुधार अधिनियम, 1950 से उद्भूत हुआ। यह अधिनियम संविधान के प्रारम्भ के समय बिहार विधान सभा में विचाराधीन था। जब वह विधि बन गया तब उसे राष्ट्रपति के विचारार्थ रक्षित किया गया और राष्ट्रपति ने उस पर अपनी अनुमति दे दी। इस प्रकार वह संविधान के अनुच्छेद 31(4) में निर्दिष्ट विधियों में से एक विधि बन गया और उस उपबंध के कारण उस पर इस आधार पर आक्षेप नहीं किया जा सकता जैसे कि वह अनुच्छेद 31 के खंड (2) के उपबंधों का उल्लंघन करता है। उस विधि के अधीन जमींदारी समाप्त कर दी गई थी और भूमियां राज्य में निहित हो गई थीं। जमींदारों को प्रतिकर प्राप्त हुआ जिसे अवास्तविक प्रतिकर कहा गया है। चूंकि अनुच्छेद 14, 19 और 31 के अधीन आक्षेप किए जाने का खतरा था अतः अनुच्छेद 31क और अनुच्छेद 31ख को सम्मिलित करने के लिए संविधान संशोधित किया गया और यह संशोधन संविधान के प्रारम्भ होने की तारीख से प्रभावी हो गया और यह अधिनियम ऐसे ही अन्य अधिनियमों के साथ नवम अनुसूची में सम्मिलित किया गया। शंकरी प्रसाद वाले मामले ([3]) इस संशोधन को विधिमान्य ठहराया गया और जब यह मामला इस न्यायालय के समक्ष आया तो दलीलें सीमित विस्तार में दी गईं। श्री पी० आर० दास ने जो जमींदारों की ओर से उपस्थित हुए सूची 2 की प्रविष्टि 36 और सूची 3 की प्रविष्टि 42 का सहारा लेते हुए अनुच्छेद 31(4) के अधीन वर्जन पर आक्षेप करने का प्रयत्न किया और यह दलील दी कि

([1]) 65 लॉयर्स इडिशन 994.

([2]) (1952) एस० सी० आर० 889.

([3]) (1952) एस० सी० आर० 89.

जहां तक विधि जमींदारी को लोक प्रयोजन के लिए अर्जित नहीं करती है या उसमें उचित प्रतिकर के लिए कोई उपबंध नहीं बनाती है, वह विधि उन प्रविष्टियों के अधीन सक्षम है। डाक्टर अम्बेदकर ने जो कुछ अन्य जमींदारों की ओर से उपसंजात हुए एक दूसरा ही दृष्टिकोण अपनाया। मुख्य न्यायाधिपति पातञ्जलि शास्त्री के शब्दों में उन्होंने यह बात मानी कि लोक प्रयोजन और प्रतिकर के बिना सम्पत्ति के अनिवार्य अर्जन के विरुद्ध संविधान में प्रतिषेध है और यह बात जिसे उन्होंने 'संविधान की भावना' कहा है, उनके अनुसार किसी कानून की सांविधानिकता का निर्णय करने के लिए एक विधिमान्य कसौटी है। संविधान स्पष्टतया स्वतंत्रता, न्याय और समता और स्वतंत्र लोगों की केवल सीमित शक्तियों से युक्त सरकार स्थापित करने के लिए है अतः उसके सम्बन्ध में यह अभिनिर्धारित किया जाना चाहिए कि उसमें उचित प्रतिकर दिए बिना और लोक प्रयोजन न होने पर वैयक्तिक सम्पत्ति छीनने के प्रति विवक्षित प्रतिषेध है (महत्त्व देने के लिए रेखांकित किया गया है)। अमरीका के कुछ विनिश्चयों और पाठ्य पुस्तकों का उन्होंने अपने इस दृष्टिकोण के समर्थन में सहारा लिया कि जहां संविधान में कोई अभिव्यक्त प्रतिषेध अधिनियमित नहीं किया गया है वहां संविधान की भावना से विवक्षा द्वारा सांविधानिक प्रतिषेध निकाला जा सकता है। अनुच्छेद 31क और 31ख द्वारा केवल वे आक्षेप वर्जित किए गए थे जो संविधान के भाग 3 द्वारा प्रदत्त मूल अधिकारों के न्यून किए जाने के अभिकथन पर आधारित थे। किन्तु यदि संविधान के अन्य उपबंधों से केवल यह अनुमान लगाया जा सके कि राज्य द्वारा प्राइवेट सम्पत्ति अनिवार्य रूप से अर्जित किए जाने के पहले कोई लोक प्रयोजन अस्तित्व में था और प्रतिकर संदत्त कर दिया गया था जो उपर्युक्त दोनों अनुच्छेदों में ऐसी कोई बात नहीं थी जिससे इस आधार पर आक्षेप किया जाना प्रवारित किया जाए कि आक्षेपित अधिनियमों द्वारा इन अपेक्षाओं की पूर्ति नहीं की गई है और इसलिए वे असांविधानिक हैं। इस दलील को निम्नलिखित शब्दों में नामंजूर कर दिया गया। राज्य की अनिवार्य रूप से सम्पत्ति अर्जन की शक्ति पर, जिससे केवल सम्पदाएं ही अपवर्जित की गई हैं संविधान में सम्मिलित की गई परिसीमाओं को देखते हुए मेरी राय में उन परिसीमाओं को विवक्षा द्वारा सप्तम अनुसूची की सूची 3 की प्रविष्टि 42 के साथ या अकेले ही सूची 2 की प्रविष्टि 36 में पढ़ना या उनसे संविधान की मंशा का, और वह भी अपवर्जित की गई सम्पत्तियों की बाबत हो, अनुमान करना कानूनी अर्थान्वयन के प्राथमिक सिद्धान्तों के प्रतिकूल होगा। यह दलील दी गई कि प्रस्तावना और मूल अधिकारों को ध्यान में रखते हुए जिनके द्वारा स्वतंत्रता, न्याय और समता और केवल सीमित अधिकारों सहित स्वतंत्र लोगों की सरकार स्थापित की गई है, प्राइवेट सम्पत्ति का उचित प्रतिकर के बिना लिया जाना और लोक प्रयोजन के न होने पर लिया जाना असांविधानिक है और अनुच्छेद 31(4) 31क और 31ख द्वारा अभिव्यक्त रूप से उन्हीं आधारों पर आक्षेप किए जाने के वर्जन के बावजूद विवक्षित प्रतिषेध द्वारा यह निष्कर्ष निकाला जाना चाहिए। दूसरे शब्दों में किसी राज्य विधि को विधिमान्य बनाने वाले संविधान के अभिव्यक्त उपबंध को 'सारभूत तत्त्व और मूल सिद्धान्त' के आधार पर जो प्रस्तावना और मूल अधिकारों में अन्तर्निहित हैं, अकृत करने का प्रयत्न किया गया था। किन्तु उस प्रयत्न को असफल कर दिया गया। मुझे डाक्टर अम्बेदकर द्वारा ऊपर वर्णित मामले में दी गई दलील और हमारे समक्ष के

मामले में दी गई दलील में कोई प्रभेद मालूम नहीं पड़ता है क्योंकि अनुच्छेद 368 के अधीन संशोधन की सर्वांगीण शक्ति को उन विवक्षाओं द्वारा सीमित करने का प्रयत्न किया गया है जिनके सम्बन्ध में 'अत्यावश्यक तत्त्वों और मूल सिद्धान्तों' से उद्भूत होना अनुमानित है।

संविधान के अधीन कृत्य करने वाला विधानमंडल विधि बनाने का हकदार है और इस बारे में विवाद नहीं है कि ऐसी विधि विधानमंडल द्वारा परिवर्धन, परिवर्तन या निरसन करके भी, किसी भी प्रकार से संशोधित की जा सकती है। विधि बनाने की विधान-मण्डल की शक्ति में संशोधन करने की यह शक्ति निहित है। यह कभी भी नहीं कहा जा सकता कि जब प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से कोई विधानमंडल अपने ही कानून में संशोधन करता है, तब उस कानून के किसी महत्वपूर्ण या अत्यावश्यक भाग द्वारा उस पर कोई रोक लग जाती है। यह महत्वपूर्ण और वांछनीय भागों को उतने ही अनौपचारिक रूप से संशोधित कर सकता है जिस प्रकार कि वह कानून के किसी भी महत्वहीन भाग को संशोधित कर सकता है। ऐसी स्थिति में ऐसे निकाय को जिसे विनिर्दिष्ट रूप से संविधान को संशोधित करने की अनिर्बन्धित शक्ति दी गई है, यह ढील न दिए जाने की युक्तियुक्तता का कोई कारण समझ में नहीं आता है। विधानमंडल की संशोधन करने की शक्ति कानून के हर एक उपबंध पर लागू होती है, अतः यह कहना कठिन है कि संविधान में अन्तर्विष्ट संशोधन खण्ड जिसके द्वारा संविधान का संशोधन किया जाना विशिष्ट रूप से प्राधिकृत किया गया है, संविधान के किसी भाग द्वारा सीमित क्यों हो। संविधान के अत्यावश्यक भाग और अत्यावश्यक न होने वाले भाग संशोधन की शक्ति पर कोई अन्तर नहीं डालते हैं। (पृष्ठ 43-44 पर मैक्कॉले वाले मामले के, जो पहले उद्धृत किया गया है, अंश से तुलना कीजिए) कोई विधानमंडल पूरे अधिनियम को ही निरसित कर सकता है और संविधान सभा पूरे संविधान को निरसित नहीं करती है, इससे कोई प्रभेद ज्ञात नहीं होता है। विधानमंडल किसी अधिनियम को तब निरसित करता है जब उसकी उपयोगिता समाप्त हो जाती है किन्तु जहां तक संविधान का सम्बन्ध है, यह एक संघटनात्मक लिखत है, जिसकी उपयोगिता लगातार बढ़ती जाती है और जहां तक व्यवस्थित ढंग से परिवर्तन सम्भव होता है, इसके निरसन का प्रश्न कभी उद्भूत नहीं होता। संविधान के संबंध में उसका स्थायी होना आशयित रहता है। विधानमण्डल के अधिनियमों में यह आकांक्षा नहीं होती है। संविधान के विकासशील, संघटनात्मक स्थायी और सरकार के सर्वोपरि लिखत के तौर पर स्वरूप के ही कारण पूरे संविधान का निरसन अपवर्जित हो जाता है और संशोधन करने की शक्ति के स्वरूप पर यह बात निर्भर नहीं रहती है।

चूंकि श्री पालखीवाला ने जिन सारभूत तत्वों और मूल सिद्धान्तों के प्रति निर्देश किया है, वे संविधान के उपबंधों से छांट कर निकाले गए हैं, अतः यह स्पष्ट है कि वे संविधान को दो भागों में विभाजित करना चाहते हैं। एक भाग में वे उपबंध अन्तर्विष्ट हैं जो सारभूत तत्व हैं और दूसरे भाग में वे उपबन्ध अन्तर्विष्ट हैं,जो अत्यावश्यक तत्व है नहीं। श्री पालखीवाला के मतानुसार पश्चात्वर्ती संसद् द्वारा किसी भी प्रकार से संशोधित किए जा सकते हैं, किन्तु जहां तक पूर्ववर्ती उपबंधों का सम्बन्ध है, यद्यपि वे संशोधित किए जा सकते हैं किन्तु वे इस प्रकार संशोधित नहीं किए जा सकते जिससे सारभूत तत्वों का मर्म विकृत या नष्ट हो। जाए दो कठिनाइयां उत्पन्न होती हैं, इस बात का विनिश्चय कौन करे कि अत्यावश्यक उपबंध और अत्यावश्यक न होने वाले उपबंध कौन से हैं? पालखीवाला के मतानुसार यह कार्य न्यायालय को करना चाहिए। यदि यह बात सही है तो वह कौन सा स्थिर मानदंड है जिससे न्यायालय को इस

बात का विनिश्चय करने में मार्गदर्शन प्राप्त होगा कि कौन सा उपबंध अत्यावश्यक है और कौन सा उपबन्ध अत्यावश्यक नहीं है ? एक अर्थ में प्रत्येक उपबंध ही अत्यावश्यक है। क्योंकि यदि संसद् या राज्य विधान-मण्डलों द्वारा बनाई गई कोई विधि संविधान के सबसे महत्वहीन उपबंध का भी उल्लंघन करती है तो ऐसी विधि शून्य होगी। इस दृष्टिकोण से संविधान के अधीन कार्य करने वाले न्यायालयों को संविधान के उपबंधों को समान दृष्टि से देखना होगा। दूसरी बात यह है कि यदि कोई अत्यावश्यक उपबंध संशोधन किया जाता है और नया उपबन्ध अन्तःस्थापित किया जाता है जो संविधान सभा की राय में निरसित किए गए उपबन्ध से अधिक अत्यावश्यक समझा जाना चाहिए तो इस सम्बन्ध में वह कौन सी कसौटी है जिसे लागू किए जाने की न्यायालय से अपेक्षा की जाती है। इसका केवल यही अर्थ होगा कि संविधान सभा संविधान में जो कुछ भी परिवर्तन करना आवश्यक समझे,वह निकाय नीति-सम्बन्धी जो भी परिवर्तन संविधान में पुरः स्थापित करना चाहे, यदि उसकी जरूरत या नीति की बाबत न्यायालय का समाधान नहीं होता है तो वे न्यायालय द्वारा अभिखण्डित किए जा सकते हैं। यह स्पष्ट है कि न्यायालयों का यह कृत्य नहीं है। यह कठिनाई उस समय और बढ़ जाती है जब किसी संशोधन पर इस आधार पर आक्षेप किया जाता है कि सारभूत तत्व का मर्म या तो विकृत या नष्ट कर दिया गया है। इसका मानदंड क्या है। इस बात का विनिश्चय कौन करेगा कि मर्म कहां है और वह कब आता है। यह दलील समझ में आती है कि संविधान के कुछ विशिष्ट उपबंध जिनमें सारभूत तत्त्व सन्निविष्ट हैं, बिल्कुल भी संशोधित नहीं किए जा सकते। किन्तु कठिनाई तब उत्पन्न होती है जब यह मान लिया जाता है कि उपबंध का संशोधन किया जा सकता है किन्तु वह इस प्रकार संशोधित नहीं किया जा सकता कि उसका मर्म प्रभावित हो जाए। इस कठिनाई के अलावा इस बात का अवधारण करने में कि सारभूत तत्त्व का मर्म कहां है, ऐसा प्रतीत होता है कि यह बात पर्याप्त रूप में अनुभव नहीं की गई है कि इससे संविधान को कार्यान्वित करने में कौन सी विचित्र कठिनाइयां होंगी। यह मान लें कि किसी उपबंध में इस वर्ष कोई संशोधन किया जाता है तो इस तथ्यमात्र से कि कोई संशोधन किया गया है, संशोधन को अकृत करने के लिए इस न्यायालय में आने का किसी निकाय को इस आधार पर कोई अधिकार नहीं मिल जाता है कि संशोधन किसी सारभूत तत्त्व के मर्म को प्रभावित करता है। जब कभी किसी संशोधित उपबंध के अधीन कोई विधि बनाई जाती है और विधि से किसी व्यक्ति के अधिकार प्रभावित होते हैं तब वह न्यायालय में आवेदन कर सकता है। उस समय पहले वह यह बतलाएगा कि संशोधन अवैध है क्योंकि उससे किसी सारभूत तत्त्व का मर्म प्रभावित होता है और यदि वह इसमें सफल हो जाता है तो वह अपने आप सफल हो जाएगा और विधानमंडल द्वारा इस विश्वास के साथ बनाई गई विधि कि वह संशोधित संविधान द्वारा संरक्षित है, शून्य कर दी जाएगी] और संशोधन की बाबत ऐसा आक्षेप संशोधन किए जाने के कई वर्ष पश्चात् भी किया जा सकता है और ऐसा संशोधन उस समय तक संविधान का एक भाग मान लिया जाएगा। दूसरे शब्दों में कोई संशोधन भले ही वह कितना ही सीधा-सादा या हानि न पहुंचाने वाला हो, अपने बनाए जाने के कई वर्ष पश्चात् भी अभिखंडित किया जा सकेगा। यद्यपि यह हो सकता है कि तब तक जनता संशोधित संविधान के आधार पर अपने काम-काज व्यवस्थित कर ले और किसी विशिष्ट संशोधन की बाबत किए गए आक्षेप पर कार्यवाही करने में और अत्यावश्यक तत्त्वों

मर्म का पता लगाने में न्यायालय को या तो मूल संविधान का या ऐसे संविधान का जो अद्यतन संशोधनों द्वारा अपने वर्तमान रूप में हो, सहारा लेना पड़े पूर्ववर्ती प्रक्रिया स्पष्ट रूप से बेतुकी है क्योंकि इस बीच संशोधनों द्वारा संविधान में काफी महत्वपूर्ण परिवर्तन किए जा चुके हैं। अतः आक्षेपित संशोधन का आक्षेपित संशोधन के पहले तक संविधान में किए गए सभी संशोधनों सहित संविधान के आधार पर निर्धारण करना होगा। ऐसे सब पूर्ववर्ती संशोधनों को वैध मानना होगा क्योंकि उन पर आक्षेप नहीं किया गया है और उस आधार पर न्यायाधीशों को आक्षेपित संशोधन पर कार्यवाही करनी पड़ेगी। किन्तु पश्चात्वर्ती कार्यवाहियों में दूसरे संशोधनों पर आक्षेप किए जाने से छूट नहीं मिल जाती है क्योंकि जैसा हमने पहले बतलाया है, संशोधन के अधीन बनाई गई विधि किसी प्राइवेट व्यक्ति को प्रभावित करती है तो प्रत्येक संशोधन पर उसके बनाए जाने के कई वर्ष बाद भी आक्षेप किया जा सकता है। अतः संशोधन किए जाने के पश्चात् लगातार दुविधा की स्थिति बनी रहेगी और जिस समय भी न्यायालय किसी सारभूत तत्व के मर्म का अवधारण करना चाहेगा यह कहने के लिए कि मर्म कहां है, उसे अन्य सभी संशोधनों को नजरअंदाज करना होगा क्योंकि यह संशोधन अस्थिर होने के कारण मर्म का अवधारण करने में सहायक नहीं होगा। दूसरे शब्दों में न्यायालयों को सारभूत तत्व के मर्म का विनिश्चय करने के लिए मूल संविधान का सहारा लेना होगा और इस बीच किए गए सभी संशोधनों की बिल्कुल उपेक्षा करनी होगी। संशोधन किए जाने के पश्चात् अधिकारों के सम्बन्ध में किए गए परिवर्तनों की भी उपेक्षा करनी होगी और जनता द्वारा संशोधनों की विधिमान्यता के आधार पर और उनके पश्चात् बनाई गई सभी विधियों के आधार पर बिना प्रावश्लि किए सभी व्यवस्थाओं की उपेक्षा करनी होगी। ऐसी दलील जिससे ऐसा आपत्तिजनक परिणाम निकलता है ग्रहण नहीं की जा सकती। इस मामले में ही यदि मर्म से सम्बन्धित दलील मान ली जाती है तो पूर्ववर्ती बहुत से संशोधनों को अपास्त करना होगा क्योंकि उनके द्वारा एक या दूसरे मूल अधिकार का मर्म अवश्य ही प्रभावित हुआ होगा। पूर्व निर्णय को भविष्यलक्षी रूप से उलटने का सिद्धान्त (प्रोसपेक्टिव ओवररूलिंग) आए दिन ही लागू करना होगा।

वास्तव में विवक्षित परिसीमाओं की दलील हमसे संविधान के विभिन्न उपबन्धों के गुणागुण का निर्धारण करने की अपेक्षा करती है और ऐसा संविधान में सन्निविष्ट सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक विचारधाराओं को ध्यान में रखते हुए करना होगा और ऐसे निर्धारण के आधार पर यह अवधारित करना होगा कि संविधान के विभिन्न तत्वों का कम न किए जाने योग्य न्यूनतम भाग क्या है। यह दलील दी गई कि कम न किए जाने योग्य न्यूनतम भाग मे मूल तत्वों का मर्म भी कहा गया है—संशोधन द्वारा किया गया कोई प्रयत्न अविधिमान्य होने के कारण नामंजूर किया जाना चाहिए। दूसरे शब्दों में हमसे सांविधानिक संशोधन का निर्वाचन करने में अमरीका के सुप्रीम कोर्ट की अधिष्ठायी सम्यक् प्रक्रिया के सिद्धान्त का सहारा लेने की अपेक्षा की गई है। इस न्यायालय ने बहुत पहले (गोपालन वाले मामले में) उस सिद्धान्त को मामूली विधान को लागू किए जाने के सम्बन्ध में नामंजूर कर दिया था। देखिए 1950 एस० सी० आर० 88 (मुख्य न्यायाधिपति कानिया, 110) (न्यायाधिपति दास, 312)। इस दलील का संविधान का 'संशोधन' पद के अर्थ से कोई सम्बन्ध नहीं है क्योंकि इस दलील के प्रयोजन के लिए यह मान लिया गया है

कि 'संविधान का संशोधन' का अर्थ है, परिवर्धन, परिवर्तन या निरसन द्वारा सभी उपबन्धों का संशोधन। जो दलील दी गई है वह यह है कि संरचना, साधारण सिद्धान्तों और विचारधाराओं की, जो संविधान में सन्निविष्ट हैं, विवक्षाओं में संशोधन इस विस्तार तक ही किया जा सकता है और इससे आगे नहीं किया जा सकता है। दूसरे शब्दों में संशोधन का व्याप्ति क्षेत्र उस बात से सीमित नहीं है जो संविधान सभा सोचती है किन्तु वह इस बात से सीमित है कि अन्ततः न्यायाधीश संशोधन की उचित परिसीमाओं के बारे में क्या सोचते हैं। यह स्पष्ट है कि ये सब परिसीमाएं प्रत्येक न्यायाधीश के अनुसार अलग-अलग होंगी और जैसा कि सम्यक् प्रक्रिया में परिसीमाएं में होंगी जो न्यायाधीशों के बहुमत द्वारा किसी समय नियत की जाएंगी और यदि जरूरी हुआ तो किसी दूसरे समय और अधिक बहुमत से वे परिवर्तित की जाएंगी। हर बार जब भी कोई महत्वपूर्ण संशोधन किया जाएगा जैसा कि पच्चीसवें संशोधन द्वारा किया गया है, तो हमें बिना कुछ किए इस बात पर विचार करना होगा कि संविधान के विभिन्न उपबन्धों की हमारी राय में एक दूसरे के प्रति क्या प्रक्रिया होती है। हमारे दृष्टिकोण के अनुसार उनका महत्व क्या है और स्वतन्त्रता, समता और न्याय जैसी अतिसूक्ष्म विचारधाराओं पर क्या परिसीमाएं हैं और हम उनमें से किन्हें अधिरोपित करना उचित समझते हैं। क्या हम एक मामले में निदेशक तत्वों को प्रधानता देंगे और दूसरे मामले में मूल अधिकारों को प्रधानता देंगे। संक्षेप में हम 'संविधान का सार अवधारित करेंगे और इस बात का विनिश्चय करेंगे कि संशोधन 'सार' के कहां तक अनुरूप है। इस रूप में संविधान के शब्दों का अर्थान्वयन नहीं करेंगे जो हमारा विधिमान्य क्षेत्र है किन्तु संविधान के सार का अवधारण करेंगे—यह ऐसी बात है जिसकी इस न्यायालय ने गोपालन वाले मामले ([1]) में पृष्ठ 120-121 पर निंदा की है। जब संपत्ति के अधिकार से सम्बन्धित उपबन्धों के साथ समाजिक या आर्थिक न्याय की विचारधाराएं हमारे समक्ष परीक्षा किए जाने के लिए पेश की जाती हैं—जो परंपरा से विधायी नीति और बुद्धिमत्ता पर छोड़ी गई है—तब यह निश्चित है कि हम ऐसी भूलभुलैया में फंस जाएंगे जिससे हमें राह दिखाने वाला कोई नहीं है।

यह सच है कि कानून द्वारा अधिरोपित कतिपय निर्बन्धन युक्तियुक्त हैं या नहीं, न्यायाधीश न्यायिक रूप से इसकी अवधारणा करते हैं। हम किसी कार्य विशेष के युक्तियुक्त होने में अन्तर्वलित प्रश्नों का भी विनिश्चय करते हैं। किन्तु न्यायाधीश ऐसा इसलिए करते हैं क्योंकि इस हेतु विषयनिष्ठ मार्गदर्शक सिद्धान्त हैं। संविधान और विधानमण्डल विशेष रूप से इस प्रकार अवधारण किया जाना उच्चतर न्यायालयों के लिए छोड़ देते हैं। ऐसा इस कारण नहीं किया जाता है कि न्यायालय हमेशा सही होते हैं किन्तु यह इस कारण किया जाता है क्योंकि स्वतः विषयवस्तु की परिभाषा करना ही कठिन होता है और न्यायाधीश जो कुछ कहते हैं विधानमण्डल उसे मान लेते हैं। यही बात प्रत्यायोजित विधायन की परिसीमाओं या विधायी शक्तियों की परिसीमाओं के सम्बन्ध में भी सच है, जब वह न्यायिक या किसी अन्य क्षेत्र में अधिक्रमण करती है। चूंकि संविधान और विधि के अधीन इन सभी प्रश्नों का अवधारण उच्चतर न्यायालयों के लिए छोड़ दिया गया है, अतः किसी विधायी कार्य विशेष की विधिमान्यता अवधारित करने के लिए न्यायाधीश सौंपे गए कार्यों को करेंगे, भले ही वे कितने भी कठिन क्यों न हों। किन्तु यह बात संविधान के अधीन बनाई

([1]) (1950) एस० सी० आर० 88.

गई विधियों को लागू होती है और इसकी उस दशा में कोई सुसंगति नहीं है जब हम सांविधानिक संशोधन पर कार्यवाही करते हैं। संविधान के अधीन बनाए गए किसी कानून का निर्धारण करने के लिए संविधान में मार्गदर्शक सिद्धान्त दिए गए हैं। संविधान में सांविधानिक संशोधन के सम्बन्ध में जो पूर्ण रूप से नीति का विषय है, कोई मार्गदर्शक सिद्धान्त नहीं दिए गए हैं।

मर्म से सम्बन्धित दलील और अत्यावश्यक और अत्यावश्यक न होने वाले भाग के विभाजन में बहुत बुराई समाई हुई है और यदि इन्हें मान लिया जाए तो इससे अलंघ्य कठिनाई उत्पन्न होगी और संविधान के उपबन्धों की बाबत अनिश्चितता पैदा हो जाएगी जिनके सम्बन्ध में यह आशयित था कि संविधान के उपबन्ध स्पष्ट और निश्चित रहें और ऐसा न होने पर कभी समाप्त न होने वाली मुकदमेबाजी रूपी पैंडोरा बाक्स खुल जाएगा। हर एक उपबन्ध में एक विचारधारा, एक मानदण्ड, आदर्श या नियम सन्निविष्ट है जिसकी बाबत संविधान निर्माताओं ने यह सोचा कि वह अत्यावश्यक है और उन्होंने संविधान में सम्मिलित किया। संविधान के प्रत्येक संशोधन पर इस आधार पर आक्षेप किया जाएगा कि संविधान का सारभूत तत्व या बुनियादी सिद्धान्त गम्भीर रूप से प्रभावित हुआ है। हमारे देश की जनता मुकदमेबाज होने के लिए वैसे ही बदनाम है। इससे हम इस प्रवृत्ति में और योगदान ही देंगे।

जब कोई संशोधन सफलतापूर्वक पारित हो जाता है तब वह संविधान का भाग बन जाता है और उसकी स्थिति संविधान के शेष उपबन्धों के बराबर हो जाती है। यदि ऐसा संशोधन इस आधार पर अभिखण्डित किए जाने के दायित्वाधीन है कि उससे कोई सारभूत तत्व विकृत या नष्ट हो जाता है तो इस प्रकार दावा की गई शक्ति संविधान पर, जैसा वह रहता है, और भी अधिक प्रबल कारण से लागू होती है। मूल अधिकार के समान प्रत्येक सारभूत तत्व पर गौर करना न्यायालय का काम है और यदि ऐसा तत्व परिसीमाओं से घेर दिया जाता है तो वह सारभूत तत्व को विकृत करने वाला होने के कारण अभिखण्डित किया जा सके। उदाहरण के लिए वैयक्तिक स्वतन्त्रता को ले लें। संविधान के अधीन यह एक मूल अधिकार है। यदि न्यायालय की यह राय है कि अनुच्छेद 22 में निवारक निरोध से सम्बन्धित उपबन्ध वैयक्तिक स्वतन्त्रता के मर्म विकृत करता है तो वह अभिखण्डित कर दिया जायगा। यही बात अनुच्छेद 19 में वर्णित स्वतन्त्रताओं के सम्बन्ध में कही जा सकती है। यदि यह न्यायालय अनुभव करता है कि उदाहरण के लिए, राज्य एकाधिकार से सम्बन्धित उपबन्ध नागरिक के व्यापार करने के मूल अधिकार को विकृत करता है तो वह उसे अभिखण्डित कर सकता है। दूसरे शब्दों में यदि कोई संशोधन जो संविधान का भाग बन गया है, इस कारण अभिखण्डित किए जाने के दायित्वाधीन है कि उससे किसी आवश्यक तत्व को विकृत करता है तो इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि संविधान में उस तत्व पर मूलतः लगाया गया कोई निर्बन्धन अवश्य ही न्यायालयों की काट-छांट करने की शक्ति में आएगा।

संक्षेप में यदि सारभूत तत्वों के मर्म को संशोधित न करने के सिद्धान्त को मान लिया जाता है तो इसका अर्थ यह होगा कि हम अनुच्छेद 368 के नीचे ऐसा कोई परन्तुक जोड़ते हैं—उपर्युक्त संशोधन में की किसी भी बात की बाबत यह नहीं समझा जाएगा कि

इससे संविधान का ऐसा संशोधन किया जाना प्राधिकृत किया गया है जिसका प्रभाव संविधान के सारभूत तत्वों, बुनियादी सिद्धान्तों और मूल तत्वों के, जैसे कि वे न्यायालयों द्वारा अवधारित किए जाएं, मर्म को विकृत या नष्ट करने का हो। यह बिल्कुल भी अनुज्ञेय नहीं है।

हमारे समक्ष पेश की गई विभिन्न नजीरों के प्रति निर्देश करना जरूरी नहीं है जो यह दर्शाने के लिए प्रोद्धृत की गई हैं कि सारभूत तत्वों में से कुछ तत्व कौन से हैं जो संशोधित नहीं किए जा सकते। केवल कुछ के प्रति निर्देश करना ही पर्याप्त होगा। ब्राइस ने अपनी पुस्तक 'दि अमेरिकन कॉमनवैल्थ' नया और पुनरीक्षित संस्करण, जिल्द 1, के पृष्ठ 366-67 पर अमरीका के संविधान के अनुच्छेद 5 की बाबत यह मत व्यक्त किया है' किन्तु संविधान को मामूली तौर पर एक वैध दस्तावेज के रूप में देखने पर ऐसा कुछ भी ज्ञात नहीं होता है जिससे ऐसा उपबन्ध करने वाला संशोधन करने पर कोई रोक हो जिसमें वर्तमान फैडरल सम्बन्ध को समाप्त करने की रीति का उपबन्ध किया गया हो, इसके पश्चात् वह रीति नए संघ बनाने या हर राज्य को पूर्णतया प्रभुत्वसम्पन्न और स्वतन्त्र कॉमनवैल्थ बनने के लिए इजाजत देने के लिए लागू की जाएगी। ऐसा प्रतीत होता है कि यूनाइटेड स्टेट्स की जनता यदि ऐसा करना चाहे तो वह ऐसा पूर्ण रूप से विधिक रीति से करने के लिए सक्षम है। ऐसा वह उसी प्रकार कर सकती है जिस प्रकार कि ब्रिटेन की संसद् ग्रेट ब्रिटेन को 16 या 18 स्वतन्त्र राज्यों में जो 8 वीं शताब्दी में उस द्वीप के भीतर अस्तित्व में थे, पुनः विभाजित करने के लिए विधिक रीति के समान है"। राडल ने अपनी पुस्तक दि कांस्टिट्यूशनल प्रॉब्लम्स अण्डर लिंकन के पुनरीक्षित संस्करण 1964, में अनुच्छेद 5 के प्रति निर्देश करते हुए पृष्ठ 394 पर यह मत व्यक्त किया सीनेट में राज्यों के समान मताधिकार के सम्बन्ध में लगाए गए निर्बन्धन को छोड़ कर 1808 से अब तक संविधान में कोई भी ऐसा भाग अन्तर्विष्ट नहीं था जिसका संशोधन न किया जा सके और उसमें विधान बनाने के ऐसे किसी क्षेत्र का उल्लेख नहीं किया गया है जिसके सम्बन्ध में संशोधन करने की शक्ति का प्रयोग न किया जा सके। सभी प्रयोजनों के लिए उचित रूप से किया गया संशोधन विधिमान्य बन जाता है और इस संविधान का भाग होने के नाते उसमें उतना ही बल रहता है जितना किसी अन्य अनुच्छेद में रहता है। 'स्वतः संविधान' और संशोधनों के बीच कोई विधिमान्य प्रभेद नहीं है। किसी प्रश्नगत समय पर संविधान में अन्तिम संशोधन तक सम्मिलित रहते हैं और उसमें से वह भाग अपवर्जित कर दिया जाता है जो संशोधन की प्रक्रिया के बाद शेष नहीं बचता। हमें 'संविधान और उसके संशोधनों' के बारे में विचार नहीं करना चाहिए किन्तु 'यथा संशोधित संविधान' के बारे में विचार करना चाहिए। यह बात विशेष रूप से तब सही होती है जब हम यह देखते हैं कि संशोधनों में से कुछ मूल दस्तावेज का स्थान ले लेते हैं या उसके भागों का उनके द्वारा अर्थान्वयन किया जाता है। कूले ने अपनी पुस्तक जनरल प्रिन्सिपल्स ऑफ कांस्टिट्यूशनल लॉ इन दि यूनाइटेड स्टेट्स ऑफ अमरीका, चौथा संस्करण, पृष्ठ 46-47 पर यह मत व्यक्त किया है "संविधान के अनुच्छेद 5 द्वारा ऐसे संशोधन पर प्रतिषेध लगाया गया है जिसके द्वारा कोई राज्य बिना उसकी सहमति के सीनेट में समान मताधिकार से वंचित कर दिया जाएगा। इसके सिवाय संशोधन की शक्ति से कोई परिसीमा ज्ञात नहीं होती है बहरहाल तथाकथित मैंशनल

प्राहिबिशन केसिज वाले मामले के विनिश्चय का ही यह परिणाम है....।" संशोधन पर इस आधार पर आक्षेप किया गया था कि उसका स्वरूप विद्रोही है। उससे नैसर्गिक अधिकारों पर हमला होता है और दोहरी सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्नता के मूल सिद्धान्तों का अधिक्रमण होता है, किन्तु वह दलील उलट दी गई थी। उस विनिश्चय में यह दलील पूर्ण रूप से अस्वीकार कर दी गई थी कि 'संशोधन का व्याप्ति क्षेत्र' इस प्रकार के परिवर्तन या बेहतरी तक सीमित होना चाहिए जो संविधान में पहले से ही अन्तर्विष्ट है और उसके बुनियादी ढांचे में परिवर्तन नहीं किया जा सकता जिसके अन्तर्गत परिसंघीय सरकार को शक्ति का दिया जाना सम्मिलित है और ऐसे संशोधन द्वारा राज्य के ऐसे अधिकारों को समाप्त नहीं किया जा सकता जो उसे पहले ही दिए जा चुके हैं। 'एनोटेटिड कांस्टिट्यूशन ऑफ दि आस्ट्रेलियन कॉमनवैल्थ, 1901 नामक पुस्तक में क्वीक और गेरन ने संविधान के संशोधन सम्बन्धी खण्ड के सम्बन्ध में अर्थात् धारा 128 के सम्बन्ध में पृष्ठ 989 पर यह मत व्यक्त किया है 'यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि संविधान को संशोधित करने की शक्ति की कोई परिसीमा नहीं है किन्तु संविधान में संशोधन कुछ तरीकों के अनुसार ही किए जा सकते हैं। हम सांविधानिक सुधारों के तरीकों और शर्तों पर विस्तार से विचार करेंगे। इस बीच इस शक्ति के महत्व और उसकी व्यापकता को समझना अत्यावश्यक है। उदाहरण के लिए संविधान परिसंघीय सरकार को मजबूत बनाने या कमजोर बनाने की दृष्टि से संशोधित किया जा सकता है नई और अतिरिक्त शक्तियां देकर उसे मजबूत किया जा सकता है और उसकी शक्तियां छीन कर उसे कमजोर किया जा सकता है। परिसंघीय संसद् के ढांचे में सुधार करके और दोनों सदनों के सम्बन्ध में उपान्तरण करके, धन विधेयकों के संदर्भ में सीनेट की शक्ति बढ़ाकर या घटाकर और सीनेट को उसी प्रकार विघटन के अध्यधीन करके जिस प्रकार कि हाउस ऑफ रिप्रेसेंटेटिव है, संविधान संशोधित किया जा सकता है। कुछ साहसी निर्वचनकर्ताओं ने यह दलील दी कि सीनेट समाप्त करके संविधान संशोधित किया जा सकता है। निश्चित ही संविधान कार्यपालिका का ढांचा बदल कर उत्तरदायी सरकार को जैसी वह जानी जाती है, समाप्त करके और एक नई पद्धति आरम्भ करके जैसी कि स्विटजरलैण्ड में प्रचलित है, जिसके अनुसार लोक विभागों का प्रशासन परिसंघीय विधानमण्डल द्वारा निर्वाचित अधिकारियों के हाथ में सौंपा जाता है, संशोधित किया जा सकता है। न्यायाधीशों की पदावधि में परिवर्तन करके, उनकी नियुक्ति का अधिकार कार्यपालिका से छीन कर और संसद् या जनता द्वारा न्यायाधीशों के निर्वाचन को प्राधिकृत करके संविधान संशोधित किया जा सकता है। संविधान के बहुत महत्वपूर्ण भाग भी संशोधित किए जा सकते हैं, संशोधन करने की शक्ति भी यह उपबन्धित करके संशोधित की जा सकती है कि स्विस पापुलर इनिशिएटिव योजना के अनुसार परिवर्तनों का सूत्रपात जनता द्वारा किया जा सकता है यह कि प्रस्थापित परिवर्तन कार्यपालिका तैयार करेगी और उन्हें जनता के समक्ष पेश करेगी; और यह कि प्रस्थापित परिवर्तन मत देने वाले निर्वाचकों के बहुमत द्वारा अनुमोदित कर दिए जाने पर कुछ सांविधानिक अपवादों के साथ विधि बन जाएंगे और राज्यों के बहुमत की आवश्यकता समाप्त की जा सकती है।

संशोधन करने की शक्ति के स्वरूप पर और, उस रूप में, जिसमें वह संविधान के अनुच्छेद 368 में बिना किसी शर्त के दी गई है, विचार करने पर मूल अधिकारों को संशोधित करने की शक्ति पर किन्हीं परिसीमाओं की विवक्षा करना असम्भव है। चूंकि संशोधन करने की शक्ति पर अभिव्यक्त या विवक्षित कोई परिसीमाएं नहीं हैं, अतः यह माना जाना चाहिए कि सभी संशोधन जिन पर यहां आक्षेप किया गया है, विधिमान्य समझे जाने चाहिएं। हम उनकी नीति या उनकी विद्वत्ता पर एतराज नहीं कर सकते।

पच्चीसवें संशोधन अधिनियम द्वारा संविधान में किए गए वास्तविक संशोधन पर विचार करने पर सबसे पहले यह ज्ञात होता है कि अनुच्छेद 31 का मूल खण्ड (2) कुछ हद तक फिर से प्राख्पित किया गया है और उसमें लोक प्रयोजन के लिए अनिवार्य अर्जन या अध्यपेक्षा के मामले में 'प्रतिकर' के प्रति किया गया निर्देश निकाल दिया गया है। अब जो मूल अधिकार है वह 'प्रतिकर' प्राप्त करने का नहीं है जिसका इस न्यायालय ने इस प्रकार अर्थान्वयन किया कि उससे 'उचित समतुल्य' अभिप्रेत है, बल्कि ऐसी राशि प्राप्त करना जिसे स्वयं विधानमण्डल नियत करे या जो विधि द्वारा यथा विनिर्दिष्ट सिद्धान्तों के अनुसार अवधारित की जाए, इसके बाद 'राशि' नकद या किसी अन्य रीति से, जो विधि में विनिर्दिष्ट की जाए, दी जा सकती है। संशोधन के सम्बन्ध में मुख्य आक्षेप यह है कि यह खण्ड विधानमण्डल को ऐसी राशि नियत करने की शक्ति देता है जिसे वह उचित समझे और इस प्रकार राशि नियत किया जाना पूर्ण रूप से मनमाना हो सकता है जिसका उस सम्पत्ति से, जिससे वह व्यक्ति वास्तव में वंचित किया गया हो, कोई भी सम्बन्ध न हो। यह कहा गया कि समान मामलों में से एक मामले में नियत की गई राशि अधिक हो सकती है और दूसरे मामले में वह बहुत कम हो सकती है और यह बात विधानमण्डल की इच्छा पर पूर्ण रूप से निर्भर करेगी। ऐसा हो सकता है कि सम्पत्ति के मूल्य को ध्यान में रखते हुए राशि अवास्तविक हो और राशि अवधारित करने का सिद्धान्त भी इसी प्रकार मनमाना हो सकता है और वंचित की गई सम्पत्ति से असम्बद्ध हो सकता है। अतः यह दलील दी गई कि संशोधन अवैध है। यह बात समझ में नहीं आती कि संविधान का कोई संशोधन किस प्रकार अविधिमान्य हो जाता है यदि संविधान विधानमण्डलों को 'राशि' नियत करने के लिए प्राधिकृत करता है या उन सिद्धान्तों को विनिर्दिष्ट करने के लिए प्राधिकृत करता है जिनके आधार पर 'राशि' अवधारित की जाती है और वह प्रतिकर नियत नहीं करता है या 'प्रतिकर' अवधारित करने के लिए सिद्धान्त विनिर्दिष्ट नहीं करता है। प्रतिकर भी अन्ततः 'राशि' ही है। संशोधन द्वारा जो कुछ किया गया है, वह प्रतिकर की विचारधारा के सम्बन्ध में इस न्यायालय द्वारा किए गए निर्वचन को प्रभावहीन करना है। खण्ड (2) में अनिवार्य अर्जन या अधिग्रहण की दशा में राशि प्राप्त करने के मूल अधिकार को मान्यता दी गई है और उसमें जो कुछ स्पष्ट किया गया है वह यह है कि मूल अधिकार प्रतिकर प्राप्त करने का नहीं है जैसा इस न्यायालय ने निर्वचन किया है किन्तु सम्पत्ति से वंचित किए जाने के एवज में ऐसी रकम प्राप्त करने का अधिकार है जो विधानमण्डल उचित समझे। यह दलील नहीं दी गई कि यदि अर्जन के लिए उचित राशि नियत की जाती है या उस राशि को अवधारित करने के लिए उचित सिद्धान्त अधिकथित किए जाते हैं तो उस दशा में भी

संशोधन अविधिमान्य होगा। दलील यह दी गई कि संशोधन इस कारण अविधिमान्य बन जाता है क्योंकि राशि नियत करने की शक्ति के दुरुपयोग की सम्भावना है। ऐसी कोई शक्ति नहीं है जिसका दुरुपयोग न किया जा सके। सभी संविधान विधानमण्डलों को विभिन्न विषयों पर विधि बनाने की शक्ति प्रदत्त करते हैं और इस शक्ति के अबुद्धिमानी से, क्षतिकारक रूप से या अनुचित रूप से भी उपयोग किए जाने की सम्भावना मात्र विधानमण्डल को उसकी शक्ति से वंचित करने का विधिमान्य आधार नहीं है। देखिए—बैंक ऑफ टोरोण्टो बनाम लाम्बे ([1])। यदि विधायी शक्ति की बाबत यह स्थिति है तो इस बात का कोई अच्छा कारण प्रतीत नहीं होता है कि संविधान को संशोधित करने की शक्ति के, जो संविधान द्वारा विधानमण्डल को दी गई है, दुरुपयोग की सम्भावना से ही संशोधन किए जाने पर रोक क्यों लगाई जाए। जब कभी किसी विधि विशेष द्वारा कोई राशि नियत की जाती है जो अवास्तविक है या खण्ड (2) द्वारा विशिष्ट रूप से राशि प्राप्त करने के लिए प्रदत्त किए गए मूल अधिकार से वंचित करने के लिए छल है तो यह बात उस विधि पर निर्भर करेगी जो बनाई गई हो और खण्ड (2) के आधार पर जिसकी जांच की गई हो। ऐसी बातों के सम्बन्ध में पूर्वानुमान कोई भी नहीं कर सकता और ऐसे संशोधन को अभिखण्डित नहीं कर सकता जिसके द्वारा किसी विशिष्ट अर्जन या अधिग्रहण की परिस्थितियों में संदाय किए जाने के लिए उचित राशि नियत करना प्रवारित नहीं किया गया हो। संविधान के संशोधन द्वारा दी गई शक्ति के दुरुपयोग की सम्भावना संविधान की विधिमान्यता के लिए निश्चायक सिद्धान्त नहीं है।

अनुच्छेद 31 में जो नया खण्ड(2ख)जोड़ा गया है, उसका परिणाम अनुच्छेद 31 के खण्ड (2) में विनिर्दिष्ट की गई विधि पर अनुच्छेद 19(1)(च)का लागू किया जाना अपवर्जित करना है। यह संविधान के प्रारम्भ होने के पश्चात् इस न्यायालय द्वारा अधिकथित विधि का एक पुन: कथन मात्र है। इस न्यायालय ने विभिन्न मामलों में अनुच्छेद 19(1)(च) और 31(2) के आपस में अनन्य होने की बात को मान्यता दी है। देखिए—सीतावती देवी और एक अन्य बनाम पश्चिमी बंगाल राज्य और एक अन्य ([2])। वह सिद्धान्त अब नए संशोधन में सन्निविष्ट कर दिया गया है।

पच्चीसवें संशोधन के सम्बन्ध में एक मात्र सारभूत आक्षेप नए अनुच्छेद 31ग पर आधारित है जो पच्चीसवें संशोधन अधिनियम की धारा 3 द्वारा संविधान में अन्तःस्थापित किया गया है। नया अनुच्छेद इस प्रकार है—

> "31ग. अनुच्छेद 13 में किसी बात के होते हुए भी, कोई विधि, जो अनुच्छेद 39 के खण्ड (ख) या खण्ड (ग) में उल्लिखित तत्त्वों को सुनिश्चित करने के लिए राज्य की नीति को प्रभावी करने वाली हो, इस आधार पर शून्य न समझी जाएगी कि वह अनुच्छेद 14, अनुच्छेद 19 या अनुच्छेद 31 द्वारा प्रदत्त अधिकारों में से किसी से असंगत है अथवा उसे छीनती या न्यून करती है; और जिस विधि

([1]) (1887) 12 ए० सी० 557, 586-587.
([2]) (1967) 2 एस० सी० आर० 949.

में यह घोषणा हो कि वह ऐसी नीति को प्रभावी करने के लिए है, उस पर किसी न्यायालय में इस आधार पर आपत्ति नहीं की जाएगी कि वह ऐसी नीति को प्रभावी नहीं करती :

परन्तु जहां ऐसी विधि किसी राज्य के विधानमण्डल द्वारा बनाई जाए, वहां इस अनुच्छेद के उपबन्ध उसे तब तक लागू न होंगे जब तक कि ऐसी विधि को, राष्ट्रपति के विचार के लिए रक्षित किए जाने के पश्चात्, उसकी अनुमति न मिल गई हो।"

थोड़ी देर के लिए परन्तुक की उपेक्षा करने पर यह ज्ञात होता है कि अनुच्छेद का मुख्य खण्ड दो भागों में है। पहले भाग में यह उपबन्धित है कि किसी विशिष्ट प्रकार की विधि इस आधार पर शून्य नहीं समझी जाएगी कि उससे अनुच्छेद 14, 19 और 31 के अधीन किसी व्यक्ति के मूल अधिकारों पर क्षतिकर रूप से प्रभाव पड़ता है। दूसरे भाग में यह उपबन्धित है कि यदि किसी ऐसी विधि में कोई विशिष्ट घोषणा अन्तर्विष्ट है तो न्यायालय में किसी विशिष्ट प्रकार की आपत्ति नहीं की जाएगी।

पहली बात यह है कि यह ध्यान दिया जाना चाहिए कि अनुच्छेद 31ग द्वारा ऐसी विधि व्यावृत्त की गई है जो सक्षम विधानमण्डल द्वारा बनाई गई विधि है। दूसरी बात यह है कि चूंकि अनुच्छेद 31ग, भाग 3 में, जिसमें मूल अधिकारों की बाबत वर्णन किया गया है, 'सम्पत्ति का अधिकार' नामक विशिष्ट शीर्षक के अधीन आता है। अतः यह स्पष्ट है कि ऐसी विधि में सम्पत्ति का अधिकार अन्तर्वलित होना चाहिए। यह बात अवश्य ही होनी चाहिए, अनुच्छेद में दिए गए विधि के वर्णन से यह बात स्पष्ट है। वर्णन यह है कि विधि अनुच्छेद 39 के खण्ड (ख) और (ग) में विनिर्दिष्ट सिद्धान्तों को सुनिश्चित करने के लिए राज्य की नीति को प्रभावी करती है। यह अनुच्छेद राज्य की नीति के निदेशक तत्वों से सम्बन्धित कई अनुच्छेदों में से एक है, जो संविधान के भाग 4 में वर्णित हैं। अनुच्छेद 37 में उपबन्धित है कि यद्यपि निदेशक तत्व किसी न्यायालय द्वारा प्रवर्तनीय नहीं हैं, किन्तु तो भी ये तत्व देश के शासन में मूलभूत हैं और विधि बनाने में इन तत्वों का प्रयोग करना राज्य का कर्तव्य होगा। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि सरकारों और विधानमण्डलों को इन तत्वों को प्रभावी करने वाली विधियां बनाने का आदेश दिया गया है। इस मामले में हमारा सीधा सम्बन्ध अनुच्छेद 39 (ख) और (ग) में अन्तर्विष्ट निदेशक तत्वों से है अर्थात् यह कि राज्य अपनी नीति का ऐसा संचालन, करेगा कि सुनिश्चित रूप से (ख) समुदाय की भौतिक सम्पत्ति का स्वामित्व और नियंत्रण इस प्रकार बंटा हो कि जिससे सामूहिक हित का सर्वोत्तम रूप से साधन हो; और (ग) आर्थिक व्यवस्था इस प्रकार चले कि जिससे धन और उत्पादन साधनों का सर्वसाधारण के लिए अहितकारी केन्द्रण न हो। संक्षेप में खण्ड (ख) में उन अभ्युपायों को सुनिश्चित करना परिकल्पित है जो समुदाय की भौतिक सम्पत्ति के साम्य पूर्ण वितरण के नाम से जाने जाते हैं और खण्ड (ग) में धन के केन्द्रण और कुछ प्राइवेट व्यक्तियों में उत्पादन साधनों के केन्द्रण को रोकने के लिए अभ्युपाय परिकल्पित हैं। अनुच्छेद 38 और इस भाग के अन्य तत्वों को एक साथ पढ़ने पर ग्रेनविल आस्टिन के अपनी पुस्तक 'इण्डियन कांस्टिट्यूशन—कार्नर स्टोन आफ नेशन' में दिए गए ये निष्कर्ष न्यायोचित सिद्ध होते हैं कि हमारा संविधान

सामाजिक, लोकतंत्रात्मक सिद्धान्तों से अनुप्राणित है । देखिए पृष्ठ 41-52 । जिस अन्तिम निष्कर्ष पर वह पहुँचा है, वह इस प्रकार व्यक्त किया गया है —

> "राज्य की इन निश्चित जिम्मेदारियों को तय करके संविधान सभा के सदस्यों ने भविष्य में भारत की सरकारों पर यह जिम्मेदारी डाली कि वे वैयक्तिक स्वतंत्रता और लोक हित के बीच और कुछ व्यक्तियों की सम्पत्ति और विशेषाधिकारों के बनाए रखने और बहुत से व्यक्तियों की सुविधाओं के बीच मध्यम मार्ग निकालें ताकि सामूहिक हित के लिए सभी व्यक्ति अपनी अपनी शक्ति के अनुसार समान रूप से योगदान कर सकें ।" पृष्ठ 52 ।

वह दर्शन, जिससे संविधान अनुप्राणित है, धन और उत्पादन साधनों के केन्द्रण के सामाजिक बुराई के तौर पर देखता है क्योंकि ऐसे केन्द्रण से जो कुछ प्राइवेट व्यक्तियों के हाथों में राजनैतिक, और सामाजिक शक्ति के केन्द्रण में परिणत होता है, न केवल स्वतन्त्रता असमान होती है किन्तु इसके विपरित इसके परिणामस्वरूप बहुतों के मामले में वह कमजोर हो जाती है । ऐसी स्थिति में सभी यह मानते हैं कि समता और सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय के उद्देश्य अवास्तविक बन जाते हैं और चूंकि स्वतः संविधान में ही यह निदेश दिया गया है कि ऐसी स्थितियों पर रोक लगाने के लिए विधियां बनाई जा सकती हैं । यह अपरिहार्य है कि चूंकि विधियों का उद्देश्य कुछ व्यक्तियों द्वारा असमान स्वतन्त्रताओं के उपभोग में कटौती करना है, अतः इनसे अनुच्छेद 14, 19 और 31 के अधीन कुछ व्यक्तियों के मूल अधिकारों में कुछ कमी होगी ही । यह बात श्री पालखीवाला के 'मर्म' के सिद्धान्त से भी न्यायसंगत होगी क्योंकि वह ऐसे ही मामलों में किसी मूल अधिकार के न्यून किए जाने की सम्भावना स्वीकार करते हैं । अतः अनुच्छेद 31ग में उपबन्धित है कि जैसा अनुच्छेद 31क में कई वर्ष पहले यह उपबन्ध किया गया था कि ऐसी विधियों पर अनुच्छेद 14, 19 और 31 द्वारा दिए गए आधारों पर आक्षेप नहीं किया जाएगा । यदि अनुच्छेद 39(ख) और 39 (ग) में वर्णित निदेशक तत्वों को प्रभावी करने की दृष्टि से कोई विधि बनाई जाती है और ऐसी विधि संविधान द्वारा दी गई स्पष्ट आज्ञा के अनुरूप है तो उसे सांविधानिक समझा ही जाना चाहिए । अनुच्छेद 31ग के पहले भाग का प्रभाव ऐसा ही है कि अनुच्छेद 13(2) या विभिन्न अनुच्छेदों, अर्थात् अनुच्छेद 14, 19 और 31 में से प्रत्येक के नीचे एक परन्तुक अन्तःस्थापित कर दिया गया हो जिसके द्वारा अनुच्छेद 31ग में वर्णित प्रकार की विशिष्ट विधि पर इनका लागू किया जाना अपवर्जित कर दिया गया हो । यदि विधि विनिर्दिष्ट निदेशक तत्वों को असल में प्रभावी करने के लिए तात्पर्यित नहीं है तो अनुच्छेद 14, 19 और 31 के अधीन आक्षेप किए जाने से वह सुरक्षित नहीं होगी । वास्तव में चूंकि निदेशक तत्व सामान्य शब्दों में व्यक्त किए गए हैं, अतः उनसे इस बात का निर्णय करने में कुछ कठिनाई हो सकती है कि क्या कोई विशिष्ट विधि अनुच्छेद 31ग में दिए गए वर्णन के व्याप्ति क्षेत्र के अन्तर्गत आती है । किन्तु ऐसी कठिनाई से तो किसी संशोधन की विधिमान्यता से इन्कार नहीं किया जा सकता । न्यायालयों को इस बात का विनिश्चय करने में कोई कठिनाई नहीं हुई है कि क्या कोई विशिष्ट विधि अनुच्छेद 31क के अधीन आती है या नहीं ।

असली कठिनाई अनुच्छेद 31ग के दूसरे भाग से उत्पन्न हुई है जिसमें यह उपबन्धित है कि "जिस विधि में यह घोषणा हो कि वह ऐसी नीति को प्रभावी करने के लिए है उस पर किसी न्यायालय में इस आधार पर आपत्ति नहीं की जाएगी कि यह ऐसी नीति को प्रभावी नहीं करती।" यह दलील दी गई कि जैसा बतलाया गया है यदि किसी विधि में कोई घोषणा की जाती है तो वह इस तथ्य के लिए निश्चायक है कि वह अनुच्छेद 39(ख) या (ग) के अन्तर्गत आती है और न्यायालय इस आधार पर किसी आक्षेप को ग्रहण करने से विवर्जित हो जाएंगे कि वह इस प्रकार नहीं आती। दूसरे शब्दों में यह कहा गया कि जब विधि में कोई घोषणा की जाती है चाहे वह असल में अनुच्छेद 39(ख) या 39(ग) के अधीन आती है या नहीं, इससे यह प्रश्न समाप्त हो जाएगा और न्यायालय घोषणा पर आपत्ति करने से विवर्जित हो जाएंगे। परिणामस्वरूप यह निवेदन किया गया है कि विधानमण्डल संविधान के उपबन्धों का उल्लंघन करने वाली विधि बेरोकटोक बना सकते हैं और घोषणा की एक सीधी सी तरकीब से ऐसी विधि को अनुच्छेद 14, 19 और 31 के अपवाद के तौर पर अन्तःस्थापित कर सकते हैं। दूसरे शब्दों में संविधान को संशोधित कर सकते हैं जो विधानमण्डल अन्यथा नहीं कर सकते। यह बतलाया गया कि संविधान के अनुच्छेद 368 में विहित प्रकार से ही संशोधित किया जा सकता है और किसी अन्य प्रकार से संशोधित नहीं किया जा सकता और इसलिए चूंकि अनुच्छेद 31ग द्वारा संशोधन उस रीति से प्राधिकृत किया गया है जो अनुच्छेद 368 में अधिकथित रीति से, जो अब भी पूरी शक्ति से संविधान का भाग है, भिन्न है, अतः वह अविधिमान्य है।

तथापि भारत संघ की ओर से यह कहा गया कि पिटीशनरों की ओर से अनुच्छेद 31ग पर जिस प्रभाव का आरोप लगाया गया है, वह प्रभाव उस में नहीं है। यह कहा गया कि अनुच्छेद 31ग इस सम्बन्ध में न्यायिक पुनर्विलोकन पर रोक नहीं लगाता है कि क्या उस में निर्दिष्ट विधि उसी प्रकार की है जैसा कि उसमें कहा गया है कि वह है। यदि उसके असली स्वरूप और प्रकृति पर विचार करने के पश्चात् न्यायालय यह सोचता है कि विधान ऐसा नहीं है जिसका अनुच्छेद 39(ख) और (ग) में अन्तर्विष्ट तत्वों से कोई सम्बन्ध है, तो वह अनुच्छेद 31ग के अधीन विधिमान्य नहीं बना रह सकेगा। यह निवेदन किया गया कि घोषणा का एकमात्र प्रयोजन न्यायिक पुनर्विलोकन की व्याप्ति-क्षेत्र से एक राजनैतिक स्वरूप के प्रश्न को हटाना है। इसका कारण जैसा कि व्यूहेरेनिस बनाम इलिनॉयस ([1]) वाले मामले में स्पष्ट किया गया है—"हो सकता है कि विधायी उपचार से व्यवहार में बुराई कम न हो या उससे ही नई समस्याएं पैदा हो जाएं जो सुधार के विरोधाभास में फिर से प्रकट हों। कठिन सामाजिक मुद्दों पर कार्यवाही करने में विधानमण्डल द्वारा किए जाने वाले प्रयत्नों में अन्तर्निहित परीक्षण और गलती के लिए यह कीमत चुकानी पड़ती ही है।"

हमें ऐसा प्रतीत होता है कि भारत संघ की ओर से जो दृष्टिकोण पेश किया गया है, वह अनुच्छेद 31ग का निर्वचन करने के लिए सही दृष्टिकोण है।

राज्य की कार्य सम्बन्धी नीति ऐसी सामाजिक व्यवस्था के लिए प्रयत्न करने की है जिसमें सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक न्याय राष्ट्रीय जीवन की सभी संस्थाओं को

([1]) 343 यू० एस० 250.

अनुप्राणित करे, और भरसक कार्यसाधक रूप में स्थापना और संरक्षण करके लोक कल्याण की उन्नति का प्रयास करना राज्य नीति का ध्येय है (अनुच्छेद 38)। व्यवहारिक कार्यों के रूप में राज्य को अगले अनुच्छेदों अर्थात् अनुच्छेद 39 से 51 तक में यह आज्ञा दी गई है कि वह कुछ ध्येयों को जो सामाजिक लोकतन्त्रात्मक सिद्धान्त की सुज्ञात विचारधाराएं हैं सुनिश्चित करने की दिशा में अपनी नीतियां बनाएं और उन्हें तत्वों के तौर पर विहित किया गया है, उदाहरण के लिए अनुच्छेद 39 का पार्श्व-टिप्पण देखिए। सारभूत रूप में इन्हें भाग 4 के शीर्षक के अन्तर्गत राज्य की नीति के निदेशक तत्व के तौर पर वर्णित किया गया है।

हमारा सम्बन्ध अनुच्छेद 39 (ख) और (ग) से है। राज्य को अपनी नीति को विशेषतया दो उद्देश्यों को सुनिश्चित करने के लिए इस प्रकार संचालन करने का निदेश दिया गया है जिनमें से एक खण्ड (ख) में और दूसरा खण्ड (ग) में वर्णित है। उद्देश्यों को सुनिश्चित करने के लिए अपनी नीति के संचालन के लिए यह स्पष्ट है कि राज्य को विधियां बनानी होंगी। ऐसी विधि का वर्णन अनुच्छेद 3ग के प्रथम भाग में दिया गया है। वह वर्णन ऐसी विधि के तौर पर किया गया है जो अनुच्छेद 39 (ख) या (ग) में विनिर्दिष्ट तत्वों को सुनिश्चित करने के लिए राज्य की नीति को प्रभावी करने के लिए है। यदि कोई विधि सचमुच में उसी प्रकार की है तो उस पर अनुच्छेद 14, 19 और 31 के अधीन आक्षेप नहीं किया जा सकता अन्यथा उस पर आक्षेप किया जा सकता है। जब ऐसा आक्षेप किया जाता है तब विधि पर वस्तुनिष्ठ रूप से विचार करके यह सुनिश्चित करने का कर्तव्य स्पष्ट रूप से न्यायालय का है कि क्या वह उस वर्णन के अनुरूप है। न्यायालय को जिस बात पर विचार करना होगा वह यह है कि क्या वह ऐसी विधि है जिसे युक्तियुक्त रूप से इस प्रकार वर्णित किया जा सके कि उसके द्वारा अनुच्छेद 39(ख) या (ग) के उद्देश्यों को सुनिश्चित करने के लिए राज्य की नीति को प्रभाव देने वाली विधि के तौर पर उसे बताया जा सकता है। यह ऐसा मुद्दा है जो इस दूसरे मुद्दे से सुभिन्न है कि क्या विधि उक्त उद्देश्यों को सुनिश्चित करने के लिए राज्य की नीति को प्रभावी नहीं करती है। यह हो सकता है कि कोई विधि जो युक्तियुक्त रूप से किसी उद्देश्य विशेष या प्रयोजन को पूरा करने के लिए परिकल्पित हो, उस उद्देश्य या प्रयोजन को वास्तव में पूरा न करे और वह पश्चात्वर्ती स्थिति ही है जिसका न्यायिक पुनर्विलोकन नहीं किया जा सकता। ऐसा करते हुए घोषणा से इस बात से अधिक कुछ नहीं हुआ है जैसा कि न्यायालय हमेशा से ही करते आ रहे हैं अर्थात् उनका सम्बन्ध विधि की बुद्धिमता या नीति से नहीं है। उदाहरण के लिए यूनाइटेड स्टेट्स ऑफ अमरीका में और अन्य स्थानों में यद्यपि मद्यनिषेध विषयक विधियां राज्य की इस नीति को सुनिश्चित करने के लिए बनाई गई थीं कि मद्यपान की बुराई को समाप्त किया जाए किन्तु उनका ऐसा प्रभाव नहीं हुआ। ऐसा इस कारण से हो सकता है कि विधि अपर्याप्त थी या विधि द्वारा ऐसी समस्याएं पैदा हुईं जिनके बारे में पहले कल्पना नहीं की गई थी। किन्तु इससे विधि के असलीपन पर कोई बुरा प्रभाव नहीं पड़ा क्योंकि उसके द्वारा कोई निश्चित परिणाम युक्तियुक्त रूप से प्राप्त किया जाना परिकल्पित था। दोनों प्रश्न अलग-अलग हैं। एक में विधान के प्रकार को उसके विस्तार, उद्देश्य और उसके सार और उसके तत्व पर विचार करके पहचानने की प्रक्रिया है। दूसरे में उसके

गुणागुण और त्रुटियों और उसे लागू करने के लिए उठाए जाने वाले कदमों की पर्याप्तता या अपर्याप्तता या वांछित परिणाम देने की उनकी सामर्थ्य का मूल्यांकन किया जाना अन्तर्वलित था। मद्यपान की बुराई का उन्मूलन सुनिश्चित करने की राज्य की नीति को प्रभावी करने के लिए बनाई गई विधि को इस रूप में ठीक से पहचाना ही जा सकता है। इस प्रकार पहचाना जाना न्यायालय द्वारा इस कारण आवश्यक समझा जाता है जिससे कि सांविधानिक उपबन्ध के लागू किए जाने की परीक्षा की जा सके। किन्तु यह कहना एक बिलकुल भिन्न बात होगी कि विधि मद्यपान के समाप्त किए जाने को सुनिश्चित करने की राज्य की नीति को वास्तव में प्रभावी नहीं करती है। इसके लिए जांच किया जाना अपेक्षित होगा। न्यायालय ज्ञान के माध्यमों की अपर्याप्तता और जानकारी के स्रोतों की अपर्याप्तता के कारण ऐसा कार्य नहीं ले सकते हैं। आयोग के समान जांच करने से विधि के उपबन्धों की पर्याप्तता, उनकी खामियों, सरकार के कार्यपालिका पक्ष द्वारा उन्हें प्रभावशाली रूप से लागू करने के दौरान उद्भूत होने वाली समस्याओं और इसी प्रकार की अन्य बातों से जो न्यायालय द्वारा की जाने वाली जांच के व्याप्तिक्षेत्र के अन्तर्गत विधिसम्मत रूप से नहीं आती हैं। वाद-विवाद किए जाने योग्य प्रश्न उद्भूत होंगे। ये समस्याएं विधायी नीति की समस्याएं हैं। इस बात का विनिश्चय करने का विधानमण्डल का है कि उसके प्रयोजन को सुनिश्चित करने के लिए उसकी नीति को प्रभावी करने के लिए विधि में क्या उपबन्ध होने चाहिए। विधानमण्डल को किसी विषय पर विभिन्न मतों पर विचार करना होगा और इस बात का चुनाव करना होगा कि वह किस प्रकार अपनी नीति को प्रभावी कर सकता है। न्यायालयों का मामले के उस पहलू से कोई सम्बन्ध नहीं है और भले ही कोई विधि विफल मानी जाए, न्यायालय उसे प्रभावी करने से इन्कार नहीं कर सकते। घोषणा से न्यायालयों द्वारा ऐसी जांच किए जाने की मनाही के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। स्वतः न्यायालय ही ऐसी जांच करने का कार्य अपने हाथ में नहीं लेते। घोषणा केवल पर्याप्त सावधानी के तौर पर ही है।

अनुच्छेद 31ग के अधीन किसी अन्य आधार पर न्यायिक पुनर्विलोकन प्रवारित नहीं किया गया है। भारत संघ की ओर से यह बात ठीक ही मान ली गई है कि न्यायालय यह विनिश्चय करने में कि क्या कोई विधि अनुच्छेद 31ग में दिए गए साधारण वर्णन के अन्तर्गत आती है, उसकी असली प्रकृति और उसके स्वरूप, उसके ढांचे और उसमें वर्णित मुख्य विषय, उसका उद्देश्य और व्याप्तिक्षेत्र आदि की परीक्षा करने के लिए सक्षम होगा। देखिए चार्ल्स रस्सेल बनाम क्वीन(1)। यदि न्यायालय इस निष्कर्ष पर पहुंचता है कि विधान का उपर वर्णित उद्देश्य एक बहाना मात्र था और असली उद्देश्य विभेद या अनुच्छेद 39 (ख) और (ग) में विनिर्दिष्ट उद्देश्य से अन्यथा कोई उद्देश्य था, तो अनुच्छेद 31ग लागू नहीं होगा और अनुच्छेद 31ग के बिना कानून की विधिमान्यता की जांच की जाएगी। इसी प्रकार जैसा अटर्नी जनरल बनाम क्वीन इन्श्योरेन्स कम्पनी (2) वाले मामले में मत व्यक्त किया है "यदि विधान, संविधान द्वारा प्रदत्त शक्तियों में से एक के अधीन के ढोंग में वास्तव में

(1) (1852) 7 अपील केसिस 829, 838-840.

(2) (1878) 3 अपील केसिस 1090.

श्रयत: और तथ्यत: किसी अप्राधिकृत प्रयोजन को निष्पादित करने के लिए है तो न्यायालय को ऐसे ढोंग को प्रकाश में लाने का हक होगा और कानून की असली प्रकृति के अनुसार वह विनिश्चय करेगा।"

अनुच्छेद 31ग की असली प्रकृति को देखते हुए यह नहीं कहा जा सकता कि संशोधन अविधिमान्य है।

पच्चीसवां संशोधन अधिनियम विधिमान्य है।

उन्तीसवें संशोधन द्वारा केरल के दो अधिनियम नवम अनुसूची में सम्मिलित किए गए और इस पिटीशन में उन पर आक्षेप किया गया है। उस अनुसूची में सम्मिलित किए गए अन्य अधिनियमों के समान ही वे भी अनुच्छेद 31ख द्वारा अनुसूची को दिए संरक्षण के कारण आक्षेप किए जाने से प्रतिरक्षित (इम्यून) हैं। यह दलील देने का प्रयत्न किया गया कि जब तक कि अधिनियम कृषि सम्बन्धी सुधारों से सम्बन्धित न हों, जैसा कि "अनुच्छेद 31क में अन्तर्विष्ट उपबन्धों की व्यापकता पर प्रतिकूल प्रभाव डाले बिना" शब्दों से स्पष्ट है जो अनुच्छेद 31ख के प्रारम्भ में आए हैं संरक्षण उपलब्ध नहीं था। यह दलील पहले ही नामंजूर की जा चुकी है। उदाहरण के लिए एन० बी० जीजीभाई बनाम सहायक कलक्टर, थाना ([1]) वाला मामला देखिए। वास्तव में दलील संशोधन की विधिमान्यता पर आक्षेप करने की कोटि की नहीं है। किन्तु वह केवल यह दर्शाने का प्रयत्न है कि संशोधन के बावजूद दोनों विधियां अनुच्छेद 31ख द्वारा अविधिमान्य होने से नहीं बचाई जा सकतीं। उन्तीसवां संशोधन ऐसे ही विभिन्न संशोधनों से जो पहले किए गए गए हैं और जिनके द्वारा समय-समय पर नवम अनुसूची में कानून जोड़े गए हैं और जिनकी विधिमान्यता इस न्यायालय ने कायम रखी है, भिन्न नहीं है। अतः उन्तीसवां संशोधन विधिमान्य है।

मेरे निष्कर्ष इस प्रकार हैं—

(1) संविधान को संशोधित करने की शक्ति और प्रक्रिया असंशोधित अनुच्छेद 368 में अन्तर्विष्ट थी। उस अनुच्छेद में विहित प्रक्रिया के अनुसार संविधान का संशोधन अनुच्छेद 13 के अर्थान्तर्गत विधि नहीं है। संविधान के भाग 3 द्वारा प्रदत्त मूल अधिकारों को न्यून करने या छीनने वाला संविधान का संशोधन इस कारण शून्य नहीं है कि उससे अनुच्छेद 13(2) के उपबन्धों का उल्लंघन होता है। मेरा सादर यह मत है कि गोलक नाथ बनाम पंजाब राज्य वाले मामले में बहुमत का विनिश्चय सही नहीं है।

(2) मूल अधिकारों पर प्रवर्तित होने के लिए असंशोधित अनुच्छेद 368 के अधीन संशोधन करने की शक्ति पर कोई विवक्षित या अन्तर्निहित परिसीमाएं नहीं थीं। इस अनुच्छेद के संशोधन के पश्चात् तो अब ऐसी कोई परिसीमाएं हो नहीं सकतीं।

(3) चौबीसवां, पच्चीसवां और उन्तीसवां संशोधन अधिनियम विधिमान्य है।

यह मामला विधि के अनुसार निपटाए जाने के लिए अब नियमित न्यायपीठ के समक्ष रखा जाएगा।

([1]) (1965) 1 एस० सी० आर० 636.

न्यायाधिपति खन्ना—

संविधान (चौबीसवां संशोधन) अधिनियम, संविधान (पच्चीसवां संशोधन) अधिनियम और संविधान (उन्तीसवां संशोधन) अधिनियम की विधिमान्यता से सम्बन्धित प्रश्न तथा यह प्रश्न कि क्या संसद् संविधान के अनुच्छेद 368 के अधीन कार्य करते हुए संविधान के भाग 3 के उपबन्धों को इस प्रकार से संशोधित कर सकती है जिससे कि मूल अधिकार छीन लिए जाएं या न्यून हो जाएं, दोनों संविधान के अनुच्छेद 32 के अधीन फाइल किए गए इस पिटीशन में अवधारण के लिए उत्पन्न हुए हैं। अन्य अनेक महत्त्वपूर्ण प्रश्न, जिनका हवाला बाद में दिया जाएगा, विचार-विमर्श के दौरान उठाए गए हैं और उन पर उचित प्रक्रम में विचार किया जाएगा। उसी प्रकार के प्रश्न अन्य अनेक पिटीशनों में उत्पन्न हुए हैं और उन मामलों के पक्षकारों के काउन्सेलों को मध्यक्षेप (इण्टरवीन) करने का इजाजत दे दी गई है।

अब आवश्यक तथ्य उपवर्णित किए जा सकते हैं, जब कि उन बातों को जिनका इस विनिश्चय के प्रयोजन के लिए कोई भी तात्विक महत्त्व नहीं है, छोड़ दिया जा सकता है। जैसा कि केरल लैण्ड रिफार्म्स ऐक्ट, 1963 (केरल भूमि सुधार अधिनियम, 1963) (1964 का ऐक्ट 1) को मूलतः अधिनियमित किया गया था, उसे संविधान की नवम अनुसूची में मद सं० 39 के रूप में अन्तःस्थापित किया गया था। उक्त ऐक्ट को केरल लैण्ड रिफार्म्स (अमेण्डमेण्ट) ऐक्ट, 1969 [केरल भूमि सुधार (संशोधन, 1969) अधिनियम] (1969 का ऐक्ट 35) द्वारा बाद में संशोधित किया गया था। पिटीशनर ने 21 मार्च, 1970 को यह रिट पिटीशन फाइल किया जिसमें उसने केरल लैण्ड रिफार्म्स (अमेण्डमेण्ट) ऐक्ट, 1969 (1969 का ऐक्ट 35) द्वारा यथा संशोधित केरल लैण्ड रिफार्म्स ऐक्ट 1963 (1964 का ऐक्ट 1) की सांविधानिक विधिमान्यता को चुनौती दी है। उपर्युक्त ऐक्ट को केरल उच्च न्यायालय के समक्ष भी अनेक पिटीशनों में चुनौती दी गई थी। केरल उच्च न्यायालय की पूर्ण न्यायपीठ ने वी० एन० नारायणन् नायर बनाम केरल राज्य (1) वाले मामले में दिए गए अपने विनिश्चय के अनुसार, उक्त ऐक्ट की विधिमान्यता को कायम रखा, किन्तु उसने किन्हीं उपबन्धों के सम्बन्धों में ऐसा नहीं किया। उन उपबन्धों को अविधिमान्य घोषित कर दिया गया। केरल राज्य ने केरल उच्च न्यायालय के निर्णय के विरुद्ध इस न्यायालय में वहां तक अपील फाइल की जहां तक कि उस न्यायालय ने ऐक्ट के उपबन्धों को अविधिमान्य घोषित कर दिया गया था। इस न्यायालय ने तारीख 26 अप्रैल, 1972 वाले अपने निर्णय (2) के अनुसार राज्य की अपीलें खारिज कर दीं। केरल उच्च न्यायालय के उस निर्णय के विरुद्ध जिसके द्वारा उसने अन्य उपबन्धों की विधिमान्यता को कायम रखा था, प्राइवेट पक्षकारों द्वारा फाइल की गई अपीलें भी खारिज कर दी गईं। उपर्युक्त ऐक्ट की विधिमान्यता को चुनौती देते हुए, इस न्यायालय में जो अन्य रिट पिटीशन फाइल किए थे, उनका निपटारा उन अपीलों में, जिन्हें केरल राज्य और प्राइवेट पक्षकारों ने फाइल की थीं, इस न्यायालय द्वारा किए गए विनिश्चय के अनुसार कर दिया गया था।

---

(1) आई० एल० आर० 1970 (II) केरल 315.

(2) (1972) 2 एस० सी० सी० 364=[1972] 3 उम० नि० प० 797.

केरल उच्च न्यायालय ने 21 अक्तूबर, 1970 वाले अपने निर्णय द्वारा 1969 के अधिनियम 35 द्वारा यथा संशोधित (केरल लैण्ड एक्विज़िशन ऐक्ट) (केरल भूमि अर्जन अधिनियम) के किन्हीं अन्य उपबन्धों को अविधिमान्य और असांविधानिक घोषित कर दिया। उच्च न्यायालय के उपर्युक्त निर्णय के पश्चात्, केरल भूमि-सुधार अधिनियम को 1971 के अध्यादेश सं० 4 द्वारा संशोधित कर दिया गया, जिसे 30 जनवरी, 1971 को प्रख्यापित (प्रोमलगेट) किया गया था। केरल लैण्ड रिफार्म्स (अमेण्डमेण्ट) बिल, 1971 [केरल भूमि सुधार (संशोधन) विधेयक, 1971] को उसके पश्चात् उक्त अध्यादेश के स्थान पर विधान सभा में पुरःस्थापित किया गया। 26 अप्रैल, 1971 को विधान-सभा ने उस विधेयक को पारित किया और 7 अगस्त, 1971 को राष्ट्रपति ने उसे अपनी अनुमति प्रदान की। उसके पश्चात् केरल लैंण्ड रिफार्म्स ऐक्ट, 1971 (1971 का ऐक्ट 25) 11 अगस्त, 1971 को असाधारण राजपत्र में प्रकाशित किया गया। संविधान (उन्तीसवां संशोधन) अधिनियम, 1972 द्वारा जिसे राष्ट्रपति ने 9 जून, 1972 को अपनी अनुमति प्रदान की थी, केरल लैण्ड रिफार्म्स (अमेण्डमेण्ट) ऐक्ट, 1969 (1969 का ऐक्ट 35) और केरल लैण्ड रिफार्म्स (अमेण्डमेण्ट) ऐक्ट 1971 (1971 का ऐक्ट 25) को संविधान की नवम अनुसूची में शामिल कर लिया गया।

रिट पिटीशन में दो बार संशोधन किया गया। पहला संशोधन इसलिए किया गया जिससे कि पिटीशनर केरल लैण्ड रिफार्म्स (अमेण्डमेण्ड) ऐक्ट (1971 का ऐक्ट 25) की सांविधानिक विधिमान्यता पर आक्षेप कर सके। पिटीशन का दूसरा संशोधन इस दृष्टि से किया गया था जिससे कि पिटीशन में यह प्रार्थना शामिल की जा सके कि संविधान के चौबीसवें, पच्चीसवें और उन्तीसवें संशोधनों को असांविधानिक, अधिकारातीत, बातिल और शून्य (अनकांस्टिट्यूशनल, अलट्रावयर्सनल एण्ड वायड) घोषित किया जाए।

यह बात बताई जा सकती है कि चौबीसवां संशोधन संविधान के संशोधन से सम्बन्धित था। संशोधन अधिनियम की धारा 2 से अनुच्छेद 13 में खण्ड (4) जोड़ा गया है और वह इस प्रकार है—

> "(4) इस अनुच्छेद की कोई बात अनुच्छेद 368 के अधीन किए गए इस संविधान के किसी संशोधन को लागू न होगी।"

संशोधन अधिनियम की धारा 3 निम्नलिखित रूप में है—

> 3. संविधान के अनुच्छेद 368 को उसके खण्ड (2) के रूप में पुनःसंख्यांकित किया जाएगा, और—
>
> (क) उस अनुच्छेद के पार्श्व-शीर्षक के स्थान पर निम्नलिखित पार्श्व-शीर्षक रख दिया जाएगा, अर्थात्—
>
> 'संविधान का संशोधन करने की संसद् की शक्ति और उसके लिए प्रक्रिया।'

(ख) इस प्रकार पुनः संख्यांकित खण्ड (2) के पूर्व निम्नलिखित खण्ड जोड़ दिया जाएगा, अर्थात्:—

'(1) इस संविधान में किसी बात के होते हुए भी, संसद् अपनी संविधायी शक्ति का प्रयोग करते हुए इस संविधान के किसी उपबन्ध का परिवर्धन, परिवर्तन अथवा निरसन के रूप में संशोधन इस अनुच्छेद में दी गई प्रक्रिया के अनुसार कर सकेगी।

(ग) इस प्रकार पुनः संख्यांकित खण्ड (2) में, "वह राष्ट्रपति के समक्ष उसकी अनुमति के लिए रखा जाएगा तथा विधेयक को ऐसी अनुमति दी जाने के पश्चात् विधेयक के निबन्धनों के अनुसार संविधान" शब्दों के स्थान पर "वह राष्ट्रपति के समक्ष रखा जाएगा जो विधेयक को अपनी अनुमति देगा और तब संविधान विधेयक के निबन्धनों के अनुसार" शब्द रख दिए जाएंगे;

(घ) इस प्रकार पुनः संख्यांकित खण्ड (2) के पश्चात् निम्नलिखित खण्ड जोड़ दिया जायगा, अर्थात् :—

'(3) अनुच्छेद 13 की कोई बात इस अनुच्छेद के अधीन किए गए किसी संशोधन को लागू न होगी।"

अब हम अनुच्छेद 13 और 368 को उस रूप में उपवर्णित करना चाहेंगे जैसा कि वे दोनों चौबीसवें संशोधन अधिनियम द्वारा किए गए संशोधन के पूर्व और उसके पश्चात् थे—

संशोधन के पूर्व

"13. (1) इस संविधान के प्रारम्भ होने से ठीक पहिले भारत राज्य-क्षेत्र में सब प्रवृत्त विधियां उस मात्रा तक शून्य होंगी जिस तक कि वे इस भाग के उपबन्धों से असंगत हैं।

(2) राज्य ऐसी कोई विधि नहीं बनाएगा जो इस भाग द्वारा दिए अधिकारों को छीनती या न्यून करती हो और इस खंड के उल्लंघन में बनी प्रत्येक विधि उल्लंघन की मात्रा तक शून्य होगी।

(3) यदि प्रसंग से दूसरा अर्थ अपेक्षित न हो तो इस अनुच्छेद में,—

(क) भारत राज्य-क्षेत्र में विधि के समान प्रभावी कोई अध्यादेश, आदेश, उपविधि, नियम, विनियम, अधिसूचना, रूढ़ि अथवा प्रथा "विधि" अन्तर्गत होगी;

संशोधन के पश्चात्

"13. (1) इस संविधान के प्रारम्भ होने से ठीक पहिले भारत राज्य-क्षेत्र में सब प्रवृत्त विधियां उस मात्रा तक शून्य होंगी जिस तक कि वे इस भाग के उपबन्धों से असंगत हैं।

(2) राज्य ऐसी कोई विधि नहीं बनाएगा जो इस भाग द्वारा दिए अधिकारों को छीनती या न्यून करती हो और इस खंड के उल्लंघन में बनी प्रत्येक विधि उल्लंघन की मात्रा तक शून्य होगी।

(3) यदि प्रसंग से दूसरा अर्थ अपेक्षित न हो तो इस अनुच्छेद में,—

(क) भारत राज्य-क्षेत्र में विधि के समान प्रभावी कोई अध्यादेश, आदेश, उपविधि, नियम, विनियम, अधिसूचना, रूढ़ि अथवा प्रथा "विधि" के अन्तर्गत होगी;

(ख) भारत राज्य-क्षेत्र में किसी विधानमण्डल या अन्य क्षमताशाली प्राधिकारी द्वारा इस संविधान के प्रारम्भ से पूर्व पारित अथवा निर्मित विधि, जो पहिले ही निरसित न हो गई हो, चाहे ऐसी कोई विधि या उसका कोई भाग उस समय पूर्णतया या विशेष क्षेत्रों में प्रवर्तन में न भी हो, "प्रवत्त विधियों" के अन्तर्गत होगी।

368. इस संविधान के संशोधन का सूत्रपात उस प्रयोजन के लिए विधेयक को संसद् के किसी सदन में पुरःस्थापित कर के ही किया जा सकेगा तथा जब प्रत्येक सदन की समस्त सदस्य-संख्या के बहुमत से तथा उस सदन के उपस्थित और मतदान करने वाले सदस्यों के दो-तिहाई से अन्यून बहुमत से वह विधेयक पारित हो जाता है, तब वह राष्ट्रपति के समक्ष उसकी अनुमति के लिए रखा जाएगा तथा विधेयक को ऐसी अनुमति दी जाने के पश्चात् विधेयक के निबन्धनों के अनुसार संविधान संशोधन हो जाएगा :

परन्तु यदि ऐसा कोई संशोधन—

(क) अनुच्छेद 54, अनुच्छेद 55, अनुच्छेद 73, अनुच्छेद 162, या अनुच्छेद 241 में, अथवा

(ख) भाग 5 के अध्याय 4, भाग 6 के अध्याय 5 या भाग 11 के अध्याय 1 में, अथवा

(ग) सप्तम अनुसूची की सूचियों में से किसी में, अथवा

(घ) संसद् में राज्यों के प्रतिनिधित्व में, अथवा

(ङ) इस अनुच्छेद के उपबन्धों में, कोई परिवर्तन करना चाहता है, तो ऐसे

(ख) भारत राज्य-क्षेत्र में किसी विधानमण्डल या अन्य क्षमताशाली प्राधिकारी द्वारा इस संविधान के प्रारम्भ से पूर्व पारित अथवा निर्मित विधि, जो पहिले ही निरसित न हो गई हो, चाहे ऐसी कोई विधि या उसका कोई भाग उस समय पूर्णतया या विशेष क्षेत्रों में प्रवर्तन में न भी हो, "प्रवृत्त विधियों" के अन्तर्गत होगी।

(4) इस अनुच्छेद की कोई बात अनुच्छेद 368 के अधीन किए गए इस संविधान के किसी संशोधन को लागू न होगी।

368. (1) इस संविधान में किसी बात के होते हुए भी, संसद् अपनी संविधायी शक्ति का प्रयोग करते हुए इस संविधान के किसी उपबन्ध का परिवर्धन, परिवर्तन अथवा निरसन के रूप में संशोधन, इस अनुच्छेद में दी गई प्रक्रिया के अनुसार कर सकेगी।

(2) इस संविधान के संशोधन का सूत्रपात उस प्रयोजन के लिए विधेयक संसद् के किसी सदन में पुरःस्थापित करके ही किया जा सकेगा तथा जब प्रत्येक सदन द्वारा उस सदन की समस्त सदस्य-संख्या के बहुमत से तथा उस सदन के उपस्थित और मतदान करने वाले सदस्यों के दो तिहाई से अन्यून बहुमत से वह विधेयक पारित हो जाता है तब वह राष्ट्रपति के समक्ष रखा जाएगा, जो विधेयक को अपनी अनुमति देगा और तब संविधान विधेयक के निबन्धनों के अनुसार संशोधित हो जाएगा :

परन्तु यदि ऐसा कोई संशोधन—

(क) अनुच्छेद 54, अनुच्छेद 55, अनुच्छेद 73, अनुच्छेद 162, या अनुच्छेद 241 में, अथवा

(ख) भाग 5 के अध्याय 4, भाग 6 के अध्याय 5, या भाग 11 के अध्याय 1 में, अथवा

उपबन्ध करने वाले विधेयक के राष्ट्रपति के समक्ष अनुमति के लिए उपस्थित किए जाने के पहिले उस संशोधन के लिए प्रथम अनुसूची के भाग (क) और (ख) में उल्लिखित राज्यों में से कम से कम आधों के विधानमण्डलों का उस प्रयोजन के लिए उन विधानमण्डलों से पारित संकल्पों द्वारा अनुसमर्थन भी अपेक्षित होगा।"

(ग) सप्तम अनुसूची की सूचियों में से किसी में, अथवा

(घ) संसद् में राज्यों के प्रतिनिधित्व में, अथवा

(ङ) इस अनुच्छेद के उपबन्धों में, कोई परिवर्तन करना चाहता है तो ऐसे उपबन्ध करने वाले विधेयक के राष्ट्रपति के समक्ष अनुमति के लिए उपस्थित किए जाने के पहिले उस संशोधन के लिए राज्यों में से कम से कम आधे राज्यों के विधानमण्डलों का उस प्रयोजन के लिए उन विधान-मन्डलों से पारित संकल्पों द्वारा अनुसमर्थन भी अपेक्षित होगा।

(3) अनुच्छेद 13 की कोई बात इस अनुच्छेद के अधीन किए गए किसी संशोधन को लागू न होगी।"

संविधान (पच्चीसवां संशोधन) अधिनियम, 1971 द्वारा संविधान का अनुच्छेद 31 संशोधित किया गया। इस संशोधन का विस्तार संशोधन अधिनियम की धारा 2 से स्पष्ट हो जाएगा। वह धारा इस प्रकार है—

"2. संविधान के अनुच्छेद 31 में,—

(क) खण्ड (2) के स्थान पर निम्नलिखित खण्ड रख दिया जाएगा, अर्थात् :—

'(2) कोई सम्पत्ति, सार्वजनिक प्रयोजन के लिए ही और केवल ऐसी विधि के प्राधिकार से अनिवार्यतः अर्जित या अधिगृहीत की जाएगी, जो सम्पत्ति के अर्जन या अधिग्रहण का, ऐसी राशि के बदले जो उस विधि द्वारा नियत की जाए या जो ऐसे सिद्धान्तों के अनुसार अवधारित की जाए और ऐसी रीति से दी जाए जो उस विधि में विनिर्दिष्ट हों, उपबन्ध करती है; और ऐसी किसी विधि पर किसी न्यायालय में इस आधार पर आपत्ति नहीं की जाएगी कि इस प्रकार नियत या अवधारित राशि पर्याप्त नहीं है अथवा ऐसी पूरी राशि या उसका कोई भाग नकद न दिया जाकर अन्यथा दिया जाना है :

परन्तु अनुच्छेद 30 के खण्ड (1) में निर्दिष्ट किसी अल्पसंख्यक-वर्ग द्वारा स्थापित और प्रशासित किसी शिक्षा-संस्था की सम्पत्ति के अनिवार्य अर्जन के लिए उपबन्ध करने से सम्बद्ध विधि बनाते समय, राज्य यह सुनिश्चित करेगा कि ऐसी सम्पत्ति के अर्जन के लिए ऐसी विधि के अधीन जो राशि नियत या अवधारित की जाए वह ऐसी हो जो उस खण्ड के अधीन प्रत्याभूत अधिकार को निर्बन्धित या निराकृत न करे।'

(ख) खण्ड (2क) के पश्चात् निम्नलिखित खण्ड जोड़ दिया जाएगा, अर्थात्:—

'(2ख) अनुच्छेद 19 के खण्ड (1) के उपखण्ड (च) की कोई बात किसी ऐसी विधि पर प्रभाव नहीं डालेगी जो खण्ड (2) में निर्दिष्ट है।'

संविधान (पच्चीसवां संशोधन) अधिनियम द्वारा अनुच्छेद 31ख के बाद अनुच्छेद 31ग जोड़ा गया, जो कि इस प्रकार है—

"31ग. अनुच्छेद 13 में किसी बात के होते हुए भी, कोई विधि, जो अनुच्छेद 39 के खण्ड (ख) या खण्ड (ग) में उल्लिखित तत्वों को सुनिश्चित करने के लिए राज्य की नीति को प्रभावी करने वाली हो, इस आधार पर शून्य न समझी जाएगी कि वह अनुच्छेद 14, अनुच्छेद 19 या अनुच्छेद 31 द्वारा प्रदत्त अधिकारों में से किसी से असंगत है अथवा उसे छीनती या न्यून करती है; और जिस विधि में वह घोषणा हो कि वह ऐसी नीति को प्रभावी करने के लिए है, उस पर किसी न्यायालय में इस आधार पर आपत्ति नहीं की जाएगी कि वह ऐसी नीति को प्रभावी नहीं करती :

परन्तु जहां ऐसी विधि किसी राज्य के विधानमण्डल द्वारा बनाई जाए वहां इस अनुच्छेद के उपबन्ध उसे तब तक लागू न होंगे जब तक कि ऐसी विधि को, राष्ट्रपति के विचार के लिए रक्षित किए जाने के पश्चात्, उसकी अनुमति न मिल गई हो।"

जैसा कि पहले बताया गया है, संविधान (उन्तीसवां संशोधन) अधिनियम द्वारा निम्नलिखित अधिनियमों को संविधान की नवम अनुसूची में क्रमश: मद सं० 65 और 66 के रूप में अन्त: स्थापित किया गया :

(i) केरल भूमि सुधार (संशोधन) अधिनियम, 1969 (1969 का केरल अधिनियम 35); और

(ii) केरल भूमि सुधार संशोधन अधिनियम, 1971 (1971 का केरल अधिनियम 25)।

इस प्रश्न पर कि क्या संविधान के भाग 3 में दिए गए मूल अधिकार संशोधन द्वारा छीन लिए जा सकते हैं या न्यून किए जा सकते हैं, इस न्यायालय ने श्री शंकरी प्रसाद सिंह देव बनाम भारत संघ और एक अन्य (1) वाले मामले में पहले विचार किया था। उस मामले में अपीलार्थी ने संविधान के प्रथम संशोधन को चुनौती दी थी। प्रथम संशोधन द्वारा संविधान के अनुच्छेद 15 और 19 में तब्दीलियां की गई थीं। इसके अलावा उसके द्वारा भाग 3 में अनुच्छेद 31क और 31ख को जोड़ने के लिए उपबन्ध किया गया था। अनुच्छेद 31क में यह उपबन्ध किया गया था कि किसी सम्पदा के या उसमें किन्हीं अधिकारों के राज्य द्वारा अर्जन के लिए या किन्हीं ऐसे अधिकारों के निर्वापन या उनमें परिवर्तन के लिए उपबन्ध करने वाली विधि इस आधार पर शून्य न समझी जाएगी कि वह भाग 3 में के किसी उपबन्ध द्वारा प्रदत्त अधिकारों में से किसी भी अधिकार से असंगत है अथवा उसे छीनती या न्यून करती है। "सम्पदा" शब्द की परिभाषा अनुच्छेद 31क के प्रयोजन के लिए की गई थी। अनुच्छेद 31ख में ऐसे किन्हीं अधिनियमों और विनियमों की विधिमान्यता के लिए उपबंध किया गया था जो संविधान की नवम अनुसूची में

(1) (1952) एस० सी० आर० 89.

विनिर्दिष्ट किए गए थे। उक्त अनुसूची को संविधान में पहली बार जोड़ा गया था। उस समय नवम अनुसूची में 13 अधिनियम मौजूद थे, तथा उनमें से सभी सम्पदाओं से सम्बन्धित थे और उन्हें प्रान्तों और राज्यों के विभिन्न विधानमण्डलों ने पारित किया था। उनमें यह उपबन्ध किया गया था कि वे अधिनियम और विनियम इस आधार पर शून्य या कभी शून्य हुए न समझे जाएंगे कि वे भाग 3 के किसी उपबन्ध द्वारा प्रदत्त अधिकारों में से किसी से असंगत हैं अथवा उन्हें छीनते या न्यून करते हैं। इसके अलावा उसमें यह भी उपबन्ध किया गया था कि किसी न्यायालय या न्यायाधिकरण के किसी प्रतिकूल निर्णय, आज्ञप्ति या आदेश के होते हुए भी, उक्त ऐसे अधिनियम और विनियम उन्हें निरसित या संशोधित करने की किसी सक्षम विधानमण्डल की शक्ति के अधीन रहते हुए, प्रवृत्त बने रहेंगे।

प्रथम संशोधन की विधिमान्यता को जो चुनौती दी गई थी, वह मुख्यतः तीन आधारों पर पेश की गई थी। पहला यह कि अनुच्छेद 368 के अधीन किए गए संविधान के संशोधनों को अनुच्छेद 13 (2) के अधीन कसौटी पर कसा जाना चाहिए; दूसरी बात यह है किसी भी स्थिति में चूंकि प्रथम संशोधन द्वारा संविधान में जोड़े गए अनुच्छेद 31क और 31ख अनुच्छेद 226 के अधीन उच्च न्यायालय की और अनुच्छेद 132 और 136 के अधीन इस न्यायालय की शक्तियों पर प्रभाव डालते हैं, इसलिए इस संशोधन को अनुच्छेद 368 के परन्तुक के अधीन अनुसमर्थन (रैटीफिकेशन) की अपेक्षा है; और तीसरी बात यह है कि अनुच्छेद 31क और 31ख इस आधार पर अविधिमान्य हैं कि उनका सम्बन्ध ऐसे मामलों से है जो कि राज्य सूची के अन्तर्गत आते हैं। इस न्यायालय ने इन सभी तीनों दलीलों को अस्वीकृत कर दिया। उसने यह अभिनिर्धारित किया कि यद्यपि "विधि" के अन्तर्गत मामूली तौर से सांविधानिक विधि आ जाती है तथापि विधायी शक्ति के प्रयोग में बनाई गई मामूली विधि और संविधायी शक्ति के प्रयोग में बनाई गई सांविधानिक विधि के बीच स्पष्ट रूप से प्रभेद है। अनुच्छेद 13 के संदर्भ में, "विधि" शब्द से ऐसे नियम और विनियम अभिप्रेत होने चाहिएं जो मामूली विधायी शक्ति के प्रयोग में बनाए गए हों न कि संविधायी शक्ति के प्रयोग में किए गए संविधान के संशोधन। जैसे कि अनुच्छेद 13 (2) है, उसके बारे में यह अभिनिर्धारित किया गया कि वह अनुच्छेद 368 के अधीन किए गए संशोधनों को प्रभावित नहीं करता। इसके अलावा इस न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि अनुच्छेद 31क और अनुच्छेद 31ख इस न्यायालय की और उस न्यायालय की शक्ति को न्यून नहीं करते हैं और इस प्रकार से उन्हें अनुच्छेद 368 में दिए गए परन्तुक के अधीन अनुसमर्थन की अपेक्षा नहीं है। अन्त में यह अभिनिर्धारित किया गया कि अनुच्छेद 31क और अनुच्छेद 31ख निश्चित रूप से संविधान के संशोधन थे और संसद् को ऐसे संशोधन करने की शक्ति प्राप्त थी। परिणामतः संविधान के प्रथम संशोधन के बारे में यह अभिनिर्धारित किया गया कि वह विधिमान्य है।

दूसरा मामला जिसमें मूल अधिकारों को संशोधित करने सम्बन्धी संसद् की शक्ति का प्रश्न उठा था, सज्जन सिंह बनाम राजस्थान राज्य([1]) था। इस मामले में 29 जनवरी, 1964 को किए गए सत्रहवें संशोधन को चुनौती दी गई थी। सत्रहवें संशोधन द्वारा, संविधान के अनुच्छेद 31क में तब्दीलियां की गई थीं और संविधान की नवम अनुसूची में

([1]) (1965) 1 एस० सी० आर० 933.

44 अधिनियम इसलिए शामिल किए गए थे जिससे कि उन्हें संविधान के भाग 3 के किसी उपबन्ध के अधीन चुनौती दिए जाने से बचाया जा सके। सज्जन सिंह वाले मामले (1) में जो दलीलें दी गई थीं, उनमें से एक यह थी कि, चूंकि अनुच्छेद 226 का सत्रहवें संशोधन द्वारा प्रभावित होना सम्भाव्य था, इसलिए उसे अनुच्छेद 368 के परन्तुक के अधीन अनुसमर्थन की अपेक्षा थी और यह कि शंकरी प्रसाद वाले मामले (2) में जो विनिश्चय किया गया था और जिसके द्वारा ऐसी दलील अस्वीकृत कर दी गई थी, उस पर पुनर्विचार किए जाने की आवश्यकता है। यह भी दलील दी गई कि सत्रहवां संशोधन भूमि सम्बन्धी विधान था और संसद् को उस मामले में विधान बनाने का कोई भी अधिकार प्राप्त नहीं था। इसके अलावा यह भी दलील दी गई कि चूंकि सत्रहवें संशोधन में यह उपबन्ध किया गया है कि नवम अनुसूची में शामिल किए गए अधिनियम न्यायालयों के विनिश्चय के बावजूद भी विधिमान्य बने रहेंगे, इसलिए वह असांविधानिक है। इस न्यायालय ने दो के मुकाबले तीन के बहुमत से यह अभिनिर्धारित किया कि शंकरी प्रसाद वाले मामले(2)में जो विनिश्चय किया गया था, वह सही है। इस न्यायालय ने एकमत होकर यह भी अभिनिर्धारित किया कि सत्रहवें संशोधन को अनुच्छेद 368 के परन्तुक के अधीन अनुसमर्थन प्राप्त करने की आवश्यकता नहीं है। यह अभिनिर्धारित किया गया कि उक्त संशोधन को अधिनियमित करने में संसद् भूमि सम्बन्धी विधान नहीं बना रही है और यह कि संसद् को यह अधिकार है कि वह ऐसे विधान को विधिमान्य करे जिन्हें न्यायालयों ने अविधिमान्य घोषित कर दिया है। दो के मुकाबले तीन के बहुमत से इस न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि अनुच्छेद 368 द्वारा प्रदत्त शक्ति के अन्तर्गत भाग 3 द्वारा गारण्टी किए गए मूल अधिकारों को छीनने की शक्ति भी आती है और यह कि संशोधन करने की शक्ति इतनी विस्तृत शक्ति है जिसे शब्दकोश में दिए गए "संशोधन" शब्द के शाब्दिक अर्थ द्वारा नियन्त्रित नहीं किया जा सकता। यह अभिनिर्धारित किया गया कि अनुच्छेद 13(2) में आई 'विधि' अभिव्यक्ति के अन्तर्गत अनुच्छेद 368 के अनुसरण में किया गया संविधान का संशोधन नहीं आता। किन्तु न्यायाधीशों के अल्पमत ने शंकरी प्रसाद वाले मामले में व्यक्त किए गए इस मत के सम्बन्ध में संदेह प्रकट किया कि अनुच्छेद 13(2) में आए हुए 'विधि' शब्द के अन्तर्गत अनुच्छेद 368 के अधीन किया गया संविधान का संशोधन नहीं आता।

शंकरी प्रसाद वाले मामले (2) में इस न्यायालय के और सज्जन सिंह वाले मामले (1) में बहुमत के विनिश्चय के सही होने की बात को आई० सी० गोलक नाथ और कुछ अन्य बनाम पंजाब राज्य और एक अन्य (3) वाले मामले में प्रश्नगत बनाया गया था। इस मामले की सुनवाई ग्यारह न्यायाधीशों की एक विशेष न्यायपीठ ने की थी। उस मामले में इस न्यायालय का सम्बन्ध पंजाब सेक्यूरिटि ऑफ लैण्ड टेन्योर्स ऐक्ट, 1953(पंजाब भूधृति संरक्षा अधिनियम 1953) की और मैसूर लैण्ड रिफार्म्स ऐक्ट (मैसूर भूमि सुधार

(1) (1965) 1 एस० सी० आर० 933.
(2) (1952) एस० सी० आर० 89.
(3) (1967) 2 एस० सी० आर० 762.

अधिनियम) की विधिमान्यता से था। संविधान (सत्रहवां संशोधन) अधिनियम, 1964 द्वारा इन दोनों अधिनियमों को संविधान की नवम अनुसूची में शामिल कर दिया गया था। मुख्य न्यायाधिपति सुब्बा राव, न्यायाधिपति शाह, सीकरी, शैलत और वैद्यलिंगम् ने (न्यायाधिपति हिदायतुल्लाह ने सहमति देते हुए) यह अभिनिर्धारित किया कि मूल अधिकारों को संविधान के अनुच्छेद 368 में संशोधन प्रक्रिया द्वारा न्यून नहीं किया जा सकता या छीना नहीं जा सकता। यह मत व्यक्त किया गया कि संविधान का संशोधन अनुच्छेद 13(2) के अर्थान्तर्गत "विधि" है और इसीलिए वह संविधान के भाग 3 के अध्यधीन है। मुख्य न्यायाधिपति सुब्बाराव जिन्होंने कि अपनी ओर से तथा न्यायाधिपति शाह, सीकरी, शैलत और वैद्यलिंगम् की ओर से निर्णय दिया था, अपने निष्कर्षों को निम्नलिखित रूप में पेश किया—

"(1) संविधान को संशोधित करने सम्बन्धी संसद् की शक्ति संविधान के अनुच्छेद 245, 246 और 248 से, न कि उसके अनुच्छेद 368 से प्राप्त होती है, जिसमें केवल प्रक्रिया के सम्बन्ध में उपबन्ध किया गया है। संशोधन विधायी प्रक्रिया होता है।

(2) संशोधन, संविधान के अनुच्छेद 13 के अर्थान्तर्गत 'विधि' है और इसीलिए यदि वह संविधान के भाग 3 द्वारा प्रदत्त अधिकारों को छीनता है या न्यून करता है तो वह शून्य है।

(3) संविधान (प्रथम संशोधन) अधिनियम, 1951, संविधान (चतुर्थ संशोधन) अधिनियम, 1955, और संविधान (सत्रहवां संशोधन) अधिनियम, 1964 मूल अधिकारों के विस्तार को न्यून करते हैं। किन्तु इस न्यायालय द्वारा पहले दिए गए विनिश्चयों के आधार पर वे विधिमान्य है।

(4) जैसा कि हमने पहले ही बताया है, भविष्यलक्षी प्रभाव* (प्रोस्पैक्टिव ओवर रूलिंग) के सिद्धान्त को लागू करने पर, हमारा विनिश्चय भविष्यलक्षी प्रभाव से प्रवृत्त होगा और इसीलिए उक्त संशोधन विधिमान्य बने रहेंगे।

(5) हम घोषित करते हैं कि संसद् को इस विनिश्चय के सुनाए जाने की तारीख से संविधान के भाग 3 के उपबन्धों में से किसी भी उपबन्ध को इस प्रकार संशोधित करने की शक्ति प्राप्त नहीं होगी जिससे कि उस भाग में समाविष्ट मूल अधिकार छीन लिए जाएं या न्यून कर दिए जाएं।

(6) जैसा कि संविधान (सत्रहवां संशोधन) अधिनियम का प्रभाव है, दो आक्षेपित अधिनियमों अर्थात् पंजाब सिक्यूरिटि ऑफ लैण्ड टैन्योर ऐक्ट, 1953 (1953 का 10) और मैसूर लैण्ड रिफार्म्स ऐक्ट, 1962 (1962 का 10) की, जैसा कि उसे 1965 के ऐक्ट 14 द्वारा संशोधित किया गया था, विधिमान्यता को इस आधार पर प्रश्नगत नहीं बनाया जा सकता कि वे संविधान के अनुच्छेद 13, 14 या 31 का अतिक्रमण करते हैं।"

न्यायाधिपति हिदायतुल्लाह ने अपने निष्कर्षों को निम्नलिखित रूप में पेश किया है—

"(i) यह कि यदि कोई संशोधन मूल अधिकारों में से किसी भी अधिकार को न्यून करने या छीनने की ईप्सा करता है, तो ऐसे अधिकार संशोधन करने की प्रक्रिया के बाहर हैं।

(ii) यह कि शंकरी प्रसाद वाले मामले ([1]) में और उसके बाद सज्जन सिंह वाले मामले([2]) में संविधान के भाग 3 को संशोधित करने की शक्ति अनुच्छेद 13(2) और 368 के सम्बन्ध में गलत मत अपनाने के आधार पर मानी गई थी।

(iii) यह कि चूंकि प्रथम, चतुर्थ और सप्तम संशोधन बहुत दिनों तक उपमति द्वारा संविधान का भाग बने रह चुके हैं। इसलिए उन्हें अब चुनौती नहीं दी जा सकती और इनके भीतर सत्रहवें संशोधन के लिए प्राधिकार मौजूद है।

(iv) यह कि चूंकि इस न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया है कि मूल अधिकार अनुच्छेद 368 में दी गई संशोधन करने की प्रक्रिया का प्रयोग करके न्यून नहीं किए जा सकते या छीने नहीं जा सकते, इसलिए जैसा कि ये अधिकार आज विद्यमान हैं, उनमें और अधिक हस्तक्षेप करना तब तक अवैध और असांविधानिक होगा जब तक कि वह संशोधन साधारणतः भाग 3 का और विशिष्टतः अनुच्छेद 13(2) के उपबन्धों के अनुसार न हो।

(v) यह कि मूल अधिकारों को न्यून करने या छीनने के लिए संविधान-सभा समाहूत करनी पड़ेगी।

(vi) यह कि दो आक्षेपित अधिनियम अर्थात् पंजाब सिक्यूरिटी ऑफ लैण्ड टेन्योर्स ऐक्ट, 1953 (1953 का 10) और मैसूर लैण्ड रिफार्म्स ऐक्ट, 1962 (1962 का 10), जैसा कि वह 1965 के ऐक्ट 14 द्वारा संशोधित किया गया था, संविधान के अधीन न केवल इसलिए विधिमान्य हैं क्योंकि वे संविधान की नवम अनुसूची में शामिल कर दिए गए हैं, बल्कि इसलिए क्योंकि उन्हें अनुच्छेद 31क तथा राष्ट्रपति की अनुमति द्वारा संरक्षा प्राप्त है।"

बहुमत के दृष्टिकोण के विपरीत न्यायाधिपति वांचू, बच्छावत, रामस्वामी, भार्गव और मित्तर ने विसम्मत निर्णय दिया था। उनके मतानुसार अनुच्छेद 368 में ऐसी शक्ति मौजूद है जिससे संविधान के भाग 3 में दिए गए मूल अधिकारों सहित, संविधान के सभी भागों को संशोधित किया जा सकता है। इन पांचों विद्वान् न्यायाधीशों के मतानुसार, संशोधन अनुच्छेद 13(2) के प्रयोजन के लिए 'विधि' नहीं है और उसे उस अनुच्छेद के अधीन कसौटी पर नहीं कहा जा सकता। तदनुसार विद्वान् न्यायधीशों ने शंकरी प्रसाद वाले मामले([1]) और सज्जन सिंह वाले मामले ([2]) में दिए गए विनिश्चय के सही होने की अभिपुष्टि की। न्यायाधिपति वांचू ने जिन्होंने अपनी ओर से तथा न्यायाधिपति भार्गव और मित्तर की ओर से निर्णय दिया था, जो निष्कर्ष निकाले थे उनमें से कुछ को नीचे अविकल रूप से दिया जा रहा है—

"(i) संविधान में 'संविधान का संशोधन' शीर्षक देते हुए पृथक् भाग उपबन्धित है और अनुच्छेद 368 उस भाग में एकमात्र अनुच्छेद है। इसलिए इस

([1]) (1952) एस० सी० आर० 89.
([2]) (1965) 1 एस० सी० आर० 933.

इस सम्बन्ध में कोई भी संदेह नहीं हो सकता कि संविधान को संशोधित करने की शक्ति अनुच्छेद 368 में मौजूद होनी चाहिए।

(ii) अनुच्छेद 368 में संशोधन करने की शक्ति पर कोई भी अभिव्यक्त परिसीमा नहीं है तथा उसमें कोई भी परिसीमा विवक्षित नहीं हो सकती या नहीं होनी चाहिए। यदि संविधान बनाने वालों का आशय संविधान में और विशिष्टतः भाग 3 में के किन्हीं आधारिक उपबन्धों के बारे में यह होता कि उनको संशोधित नहीं किया जा सकता तो कोई ऐसा कारण नहीं है जिससे कि अनुच्छेद 368 में इस प्रकार की बात उपबन्धित न की जाती।

(iii) क्योंकि अनुच्छेद 368 के शब्दों द्वारा प्रदत्त शक्ति निर्बन्धित है, इसलिए उस शक्ति और अनुच्छेद 13(2) के उपबन्धों के बीच जो असंगति है, उससे बचा जाना चाहिए। अतः अनुच्छेद 368 में की निर्बन्धित शक्ति को ध्यान में रखते हुए, अनुच्छेद 13(2) में आए 'विधि' शब्द का अर्थ ऐसी विधि के रूप में किया जाना चाहिए जोकि मामूली विधायी शक्ति के अधीन न कि संविधायी संशोधन के अधीन पारित की गई हो।

(iv) यद्यपि जिस कालावधि तक शंकरी प्रसाद वाले मामले(1) को चुनौती नहीं दी गई, वह बहुत लम्बी नहीं है, फिर भी उस विनिश्चय के आधार पर राज्य द्वारा पारित विधियों पर जो प्रभाव पड़े हैं, वे इतने अदम्य (ओवरह् वेल्मिंग) हैं कि उस विनिश्चय में दखल नहीं दिया जाना चाहिए, अन्यथा बड़ी अव्यवस्था फैल जाएगी। यह ऐसा सर्वाधिक उचित मामला है जिसमें कि भूतलक्षी प्रभाव (स्टेयर डिसाइसिस) का सिद्धांत लागू किया जाना चाहिए।

(v) भविष्यलक्षी प्रभाव के सिद्धांत (प्रास्पेक्टिव ओवर रूलिंग) को इस देश में स्वीकार नहीं किया जा सकता। यहां जो सिद्धांत स्वीकार किया गया है, वह यह है कि न्यायालय विधि घोषित करते हैं और यह कि न्यायालय द्वारा की गई घोषणा इस देश की विधि होती है और वह उस तारीख से प्रभावी होती है जिस तारीख को विधि प्रवृत्त होती है। उस सिद्धांत को छोड़ना और उसके स्थान पर भविष्यलक्षी प्रभाव के सिद्धांत को लागू करना अवांछनीय होगा।

न्यायाधिपति बछावत ने जो मुख्य निष्कर्ष निकाले थे, वे इस प्रकार हैं—

(i) अनुच्छेद 368 न केवल प्रक्रिया विहित करता है, बल्कि संशोधन करने की शक्ति भी देता है।

(ii) संविधान को संशोधित करने की शक्ति के बारे में यह नहीं कहा जा सकता कि वह अनुच्छेद 248 और सूची I मद की 97 में निहित है, क्योंकि यदि संशोधन मामूली विधायी प्रक्रिया द्वारा किया जा सकता है, तो अनुच्छेद 368 निरर्थक हो जाएगा।

(iii) यह दलील कि अनुच्छेद 368 के अधीन किया गया सांविधानिक संशोधन अनुच्छेद 13 के अधीन विधि है, अस्वीकृत कर दी जानी चाहिए।

(1) (1952) एस० सी० आर० 89.

(iv) अनुच्छेद 13 (2) और 368 के बीच कोई भी टकराव नहीं है। ये दोनों अनुच्छेद भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में प्रवृत्त होते है, पहला अनुच्छेद विधि के क्षेत्र में प्रवृत्त होता है और बाद वाला अनुच्छेद सांविधानिक संशोधन के क्षेत्र में प्रवृत्त होता है।

(v) यदि प्रथम, चतुर्थ, सोलहवां और सत्रहवां संशोधन अधिनियम शून्य हैं, तो उनका अस्तित्व विधि की दृष्टि में प्रारम्भ से ही नहीं रहता है। वे 1951 से 1967 तक विधिमान्य और उसके बाद अविधिमान्य नहीं बने रह सकते। यह कहना कि वे विगत में विधिमान्य थे और भविष्य में अविधिमान्य होंगे, संविधान में संशोधन करना है। संशोधन करने की ऐसी अनियन्त्रित शक्ति न्यायाधीशों को नहीं दी गई है और इसलिए भविष्यलक्षी प्रभाव का सिद्धांत अपनाया नहीं जा सकता।

अब हम न्यायाधिपति रामस्वामी के कुछ निष्कर्ष वर्णित करेंगे वे निष्कर्ष इस प्रकार हैं—

(i) लिखित संविधान में संविधान का संशोधन ऐसा मुख्य संविधायी कार्य होता है जोकि मामूली विधान से असंबंधित पूर्वकल्पित प्रक्रिया के माध्यम से प्रभुत्वसम्पन्न शक्ति के प्रयोग में किया जाता है। इसलिए अनुच्छेद 368 में संशोधन करने की शक्ति मौजूद है, वह अनन्य (सुई जैनरिस) है और उसकी तुलना सूची I और 3 के साथ पठित अनुच्छेद 246 के अनुसरण में संसद् की विधि बनाने की शक्ति से नहीं की जा सकती। इसका अर्थ यह निकलता है कि अनुच्छेद 13(2) में "विधि" अभिव्यक्ति का अर्थ यह नहीं किया जा सकता कि उसके अन्तर्गत संविधान का ऐसा संशोधन आता है जिसे संसद् अपनी प्रभुत्वसम्पन्न संविधायी शक्ति के प्रयोग में करती है, किन्तु उससे ऐसी विधि अभिप्रेत होनी चाहिए जिसे संसद् ने सप्तम अनुसूची की सूची 1 और सूची 3 के साथ पठित अनुच्छेद 246 के अधीन अपनी विधायी हैसियत में बनाया हो।

(ii) अनुच्छेद 368 की भाषा पूरी तरह से साधारण है और वह संसद् को इस बात के लिए सशक्त करती है कि वह किसी भी प्रकार के अपवाद के बिना, संविधान का संशोधन कर सकेगी। भाग 3 में दिए गए अधिकारों को वर्णित करने की दृष्टि से "मूल" शब्द और अनुच्छेद 30 अनुच्छेद 32 में "प्रत्याभूत" शब्द के प्रयोग से मूल अधिकारों को स्वयं संविधान के ऊपर नहीं उठाया जा सकता।

(iii) अनुच्छेद 368 के अर्थान्वयन में किसी विवक्षा की गुंजाइश नहीं है। यदि संविधान बनाने वाले यह चाहते कि उसके कुछ आधारभूत तत्व संशोधन नहीं किए जाने हैं, तो वे ऐसा कह सकते थे।

(iv) यह बात नहीं मानी जा सकती कि संविधान बनाने वालों का आशय आने वाली पीढ़ियों के लिए राजनीतिक कठोर आवरण सृष्ट करना था। आज उस समय जबकि स्वेच्छाचारिता को कोई महत्व नहीं दिया जा सकता, शीघ्रता के

साथ यह बात नहीं मान ली जानी चाहिए कि संविधान के ऐसे आधारित तत्व हैं जो कि संशोधन करने की शक्ति को नियन्त्रित करते हैं और जो राष्ट्र के सामान्य कल्याण और भूमि-सम्बन्धी तथा सामाजिक सुधार की आवश्यकता के ऊपर अधिमानता प्राप्त करते हैं।

(v) यदि मूल अधिकारों को संशोधित नहीं किया जा सकता है और यदि अनुच्छेद 368 के अन्तर्गत ऐसी कोई शक्ति नहीं आती है, तो उसका अर्थ यह है कि अनुच्छेद 31क और अनुच्छेद 31ख को जोड़कर अनुच्छेद 31 का संशोधन केवल हिंसात्मक क्रान्ति द्वारा ही किया जा सकता है। इस सम्बन्ध में संदेह है कि क्या इस प्रकार समाहूत ऐसी नवीन संविधान-सभा को कोई विधिक विधिमान्यता प्राप्त होगी, क्योंकि यदि संविधान में संशोधन करने की कोई इसकी अपनी ही पद्धति उपबन्धित की गई है तो अन्य पद्धति असांविधानिक और शून्य होगी।

(vi) विधान के भविष्यलक्षी प्रभावी के सिद्धान्त के सम्बन्ध में कोई भी मत अभिव्यक्त करने की आवश्यकता नहीं थी।

अनुच्छेद 368 पर मत व्यक्त करने के पूर्व, हम यह विचार प्रकट कर सकते हैं कि संविधान दो प्रकार के अर्थात् अनम्य और नमनीय होते हैं। अक्सर ऐसी धारणा रही है, किन्तु वह धारणा गलत रही है कि यह बात अदस्तावेजी या दस्तावेजी संविधान कहने के बराबर है जबकि यह बात सही है कि अदस्तावेजी संविधान नमनीय संविधान से भिन्न नहीं हो सकता, दस्तावेजी संविधान के लिए यह बात बिल्कुल ही सम्भव है कि वह अनम्य न हो। तो वह कौन सी बात है जो कि संविधान को नमनीय या अनम्य बनाती है। यहां पर जो मतभेद है, उसका पूरा आधार यह है कि क्या सांविधानिक विधान की प्रक्रिया मामूली विधान की प्रक्रिया के समान होती है या नहीं। जिस संविधान को किसी विशेष तन्त्र के बिना परिवर्तित या संशोधित किया जा सकता है वह नमनीय संविधान होता है। जिस संविधान के परिवर्तन या संशोधन के लिए विशेष प्रक्रिया की आवश्यकता होती है, वह अनम्य संविधान होता है (देखिए—सी० एफ० स्ट्रांग द्वारा लिखित 'माडर्न पोलिटिकल कांस्टिट्यूशन्स' के पृष्ठ 66-68 को)। लार्ड बिर्केनहेड लार्डचांसलर, ने मैक्कॉले बनाम किंग[1] वाले आस्ट्रेलिया (क्वीन्सलैण्ड) के मामले में उसी प्रकार की कसौटी अपनाई थी, यद्यपि उन्होंने नमनीय और अनम्य संविधानों के सम्बन्ध में जो नाम दिया था, वे नियन्त्रित तथा अनियन्त्रित संविधान थे। इस सम्बन्ध में उनका मत इस प्रकार था—

"वह मतभेद जिसका लेखकों द्वारा सांविधानिक विधि के विषय में सावधानी से विश्लेषण किया गया है, मुख्यतः उस राष्ट्र की भावना और प्रकृति के परिणामस्वरूप था जिस में कि किसी संविधान विशेष का निर्माण किया गया है। किन्हीं समुदायों ने और विशेषकर ग्रेट ब्रिटेन ने संविधानों का निर्माण करते समय यह आवश्यक नहीं समझा है या लाभदायक नहीं माना है कि अपने उत्तराधिकारियों की स्वतन्त्रता को पूरी तरह से जकड़ लिया जाए। उन्होंने इस उपधारणा से अपने को बचा लिया है कि उनकी पीढ़ी के बारे में यह स्वीकार

(1) (1920) ए० सी० 691.

किया गया है कि उसमें सबुद्धिमत्ता और भविष्य में झांकने की शक्ति मौजूद है, जो कि इस तथ्य के बावजूद कि उन उत्तराधिकारियों के पास ऐसी परिस्थितियों और आवश्यकताओं सम्बन्धी अधिक अनुभव होगा, जिनमें वे अपना जीवन जी रहे हैं उनके उत्तराधिकारियों में नहीं होगी या नहीं हो सकेगी, जिन संविधान निर्माताओं ने अन्य मत अपनाया है, उनके बारे में यह अवश्य ही माना जाना चाहिए कि उनका विश्वास यह रहा है कि ऐसे मामले में निश्चितता और स्थायित्व अत्यधिक आकांक्षा वाली बात थी। इस विश्वास को प्रभावी बनाते हुए उन्होंने उन लोगों के रास्ते में, जो कि संविधान की नौका का डुबोना चाहते थे, विभिन्न कठिनाइयों की बाधा उत्पन्न कर दी है।"

अब हम संविधान के अनुच्छेद 368 पर विचार करेंगे। चूंकि संविधान के अनुच्छेद 13 और 368 में किए गए संशोधन उस रूप में जिसमें, कि वह चौबीसवें संशोधन द्वारा किए गए संशोधन के पूर्व था, उस अनुच्छेद 368 द्वारा प्रदत्त शक्तियों के तात्पर्यित प्रयोग में किए गए थे, इसलिए हम उस अनुच्छेद पर उसी रूप में विचार करेंगे जैसे कि वह उस संशोधन के पूर्व था। इस संदर्भ में यह बात बताई जा सकती है कि अनुच्छेद 4, अनुच्छेद 169, पंचम अनुसूची का पैरा 7 और षष्ठ अनुसूची का पैरा 21 संसद् को इस बात के लिए सशक्त करते हैं कि वह ऐसी विधियां बना सकेगी जो प्रथम, चतुर्थ, पंचम और षष्ठ अनुसूचियों के उपबन्धों को संशोधित करती है और नए राज्यों के निर्माण के तथा वर्तमान राज्यों के क्षेत्रों, सीमाओं, या नामों के परिवर्तन के, उदाहरणार्थ, राज्यों में विधान परिषदों को समाप्त या सृष्ट करने के परिणामस्वरूप संविधान में संशोधन करती हैं। पंचम अनुसूची में नियन्त्रित क्षेत्रों और अनुसूचित आदिमतियों के प्रशासन के सम्बन्ध में उपबन्ध किया गया है, जबकि षष्ठ अनुसूची में आदिमजाति क्षेत्रों के प्रशासन के बारे में उपबन्ध किया गया है। इसके अलावा अभिव्यक्त रूप से यह उपबन्ध किया गया है कि अनुच्छेद 368 के प्रयोजन के लिए ऐसी किसी भी विधि के बारे में यह नहीं समझा जाएगा कि वह संविधान का संशोधन है। अनेक ऐसे अनुच्छेद हैं जिनमें यह उपबन्ध किया गया है कि वे उस समय तक लागू बने रहेंगे जब तक कि उनसे भिन्न विधि न बना दी जाए। उन अनुच्छेदों में से कुछ अनुच्छेद निम्नलिखित हैं—

10, 53(3), 65(3), 73(2), 97, 98(3), 106, 120(2) 135, 137, 142(1), 146(2), 148(3), 149, 171(2), 186, 187(3), 189(3), 194(3), 195, 210(2), 221 (2), 225, 229(2), 239(1), 241(3), 283 (1) और (2), 285(2), 287, 300 (1), 313, 345 और 373,

संविधान के अन्य उपबन्धों का संशोधन केवल अनुच्छेद 368 का आश्रय लेकर ही किया जा सकता है।

अनुच्छेद 368 संविधान के भाग 20 में दिया गया है और उस भाग में वह एकमात्र अनुच्छेद है। उस भाग का शीर्षक "संविधान का संशोधन" दिया गया है। इसके बारे में कुछ विवाद नहीं है कि अनुच्छेद 368 में संविधान को संशोधित करने की प्रक्रिया के सम्बन्ध में उपबन्ध किया गया है। किन्तु प्रश्न इस बात के बारे में उठता है कि क्या

अनुच्छेद 368 में संविधान को संशोधित करने की शक्ति भी मौजूद है। इस सम्बन्ध में यह बात कही जा सकती है कि जिन पांच न्यायाधीशों अर्थात् न्यायाधिपति बांचू, बछावत, रामास्वामी, भार्गव और मित्तर ने गोलक नाथ वाले मामले, (1) में विमति प्रकट करते हुए निर्णय दिया था, उन्होंने यह मत व्यक्त किया था कि अनुच्छेद 368 में न केवल संविधान को संशोधित करने की प्रक्रिया के बारे में उपबन्ध किया गया है बल्कि उसमें संविधान को संशोधित करने की शक्ति भी मौजूद है। यह दलील कि इस संविधान को संशोधित करने की शक्ति सूची 1 की मद 97 के साथ पठित अनुच्छेद 248 में संसद् की अवशिष्ट शक्ति में मौजूद है, अस्वीकृत कर दी गई। न्यायाधिपति हिदायतुल्लाह ने इस मत से सहमति प्रकट की थी कि संविधान का संशोधन सूची 1 की मद 97 के साथ पठित अनुच्छेद 248 से प्राप्त शक्ति के अधीन नहीं किया जाता। उसके मतानुसार, संशोधन करने की शक्ति अनन्य है। इसके विपरीत, मुख्य न्यायाधिपति सुब्बा राव, न्या० शाह, सीकरी, शेलत और वैद्यलिंगम् ने जो मत व्यक्त किया था, वह यह था कि अनुच्छेद 368 में संविधान के संशोधन के मामले में विभिन्न कदमों के बारे में ही विहित किया गया है और यह कि संविधान को संशोधित करने की शक्ति सूची 1 की मद 97 के साथ पठित अनुच्छेद 243, 246 और 248 से प्राप्त होती है। यह बात कही गई कि संसद् की अवशिष्ट शक्ति संविधान को संशोधित करने की शक्ति में निश्चित रूप से शामिल है।

अनुच्छेद 368 के उपबन्धों के अनुसार, संविधान के संशोधन का सूत्रपात विधेयक को संसद् के किसी सदन में पुरःस्थापित करके ही किया जाता है। वह विधेयक प्रत्येक सदन द्वारा उस सदन की समस्त सदस्य संख्या के बहुमत के तथा उस सदन के उपस्थित और मतदान करने वाले सदस्यों के दो-तिहाई से अन्यून बहुमत से पारित किया जाता है। इस प्रकार से उसके पारित किए जाने के पश्चात्, वह विधेयक राष्ट्रपति के समक्ष उनकी अनुमति के लिए रखा जाता है। जबकि राष्ट्रपति उस विधेयक को अपनी अनुमति दे देते हैं, तो, अनुच्छेद 368 के, विधेयक के निबन्धनों के अनुसार संविधान संशोधित हो जाएगा। अनुच्छेद 368 सहित संविधान के किन्हीं अनुच्छेदों और अन्य उपबन्धों के संशोधन के सम्बन्ध में अनुच्छेद 368 में एक परन्तुक जोड़ा गया है। उन उपबन्धों को केवल तभी संशोधित किया जा सकता है यदि, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, आवश्यक बहुमत से संसद् के दोनों सदनों द्वारा पारित विधेयक को उस प्रयोजन के लिए विधानमण्डलों से पारित संकल्प द्वारा राज्यों में से कम से कम आधे राज्यों के विधानमण्डलों का अनुसमर्थन भी प्राप्त हो जाए। ऐसी दशा में, विधेयक राज्य विधानमण्डलों द्वारा आवश्यक अनुसमर्थन प्राप्त करने के पश्चात् ही राष्ट्रपति के समक्ष उनकी अनुमति के लिए रखा जाएगा। अनुमति दे दिए जाने के पश्चात्, विधेयक के निबन्धनों के अनुसार संविधान संशोधित हो जाएगा।

अनुच्छेद 368 में "विधेयक के निबन्धनों के अनुसार संविधान संशोधित हो जाएगा" शब्द, मेरी राय में, पहले ही यह उपदर्शित करते हैं कि उक्त अनुच्छेद में न केवल संविधान को संशोधित करने की प्रक्रिया के सम्बन्ध में उपबन्ध किया गया है, बल्कि उसमें अनुच्छेद 368 को संशोधित करने की शक्ति भी मौजूद

(1) (1967) 2 एस० सी० आर० 762.

है। यह तथ्य कि "संविधान का संशोधन" शीर्षक के साथ उसमें एक अलग भाग उपबन्धित है, यह दर्शित करता है कि उक्त भाग न केवल संशोधन करने की प्रक्रिया तक ही सीमित है, बल्कि उसमें संशोधन करने की शक्ति भी मौजूद है। यह बात निःसंदिग्ध रूप से सच है कि सूची I की मद 97 के साथ पठित अनुच्छेद 243 का विस्तार व्यापक है, किन्तु उसके व्यापक विस्तार के होते हुए भी, मेरी राय में, उसके अन्तर्गत संविधान को संशोधित करने की शक्ति नहीं आती। विधान बनाने की शक्ति संविधान के अनुच्छेद 245, 246 या 248 में मौजूद है और वह संविधान के उपबन्धों के अध्यधीन है। यदि इस दलील को स्वीकार कर लिया जाए कि संविधान को संशोधित करने की शक्ति सूची I की मद 97 के साथ पठित अनुच्छेद 248 में मौजूद है, तो संविधान को संशोधित करना कठिन होगा, क्योंकि वह संशोधन अधिकांश मामलों में, संशोधित किए जाने के लिए प्रस्थापित अनुच्छेद से असंगत होगा। जो एकमात्र संशोधन ऐसी स्थिति में अनुज्ञेय होगा, वह केवल उन संशोधनों के सदृश होंगे जोकि अनुच्छेद 4 और 169 के अधीन परिकल्पित हैं, जिनमें अभिव्यक्त रूप से यह उपबन्ध किया गया है कि विधि संविधान के विनिर्दिष्ट उपबन्धों से भिन्न प्रयोजन के लिए बनाई जाती है। ऐसी विधि को मामूली विधायी प्रक्रिया द्वारा पारित किया जाता है। अनुच्छेद 368 इस प्रकार न्यूनाधिक रूप में निरर्थक हो जाएगा।

सूची I की मद 97 के साथ पठित अनुच्छेद 248 में विधायी प्रक्रिया के बारे में परिकल्पना की गई है। यदि संविधान का संशोधन ऐसी विधायी प्रक्रिया होता, तो संविधान के किन्हीं संशोधनों के सम्बन्ध में राज्य के कम से कम आधे विधानमण्डलों द्वारा अनुसमर्थन करने सम्बन्धी जो उपबन्ध किया गया है वह निरर्थक हो जाएगा क्योंकि किसी ऐसे विधान के जिसे संसद् ने सूची I की मद 97 के साथ पठित अनुच्छेद 248 द्वारा प्रदत्त शक्ति के प्रयोग में बनाया हो, अनुसमर्थन का कोई प्रश्न ही नहीं है। यह बात ध्यान देने योग्य है कि अनुसमर्थन राज्य विधानमण्डलों द्वारा संकल्पों के जरिए किया जाता है। संकल्पों के पारित करने की बात स्पष्टतः विधि बनाने की विधायी प्रक्रिया नहीं मानी जा सकती। राज्य के राज्यपालों का भी, अनुसमर्थन के प्रयोजन के लिए, कोई भी स्थान नहीं है। यह दलील दी गई है कि अनुसमर्थन करने में राज्य के विधानमण्डल संविधायी कृत्य का प्रयोग करते हैं। ओरफील्ड के मतानुसार, अनुसमर्थन करने की प्रक्रिया राज्यों की हाजिरी लेने के बराबर है। सांविधानिक संशोधन का राज्य द्वारा अनुसमर्थन किया जाना इस शब्द के औचित्यपूर्ण अर्थान्तर्गत विधान बनाने का कार्य नहीं है। यह प्रस्थापित संशोधन के सम्बन्ध में राज्य की सहमति की अभिव्यक्ति मात्र है (देखिए—अमेण्डिंग ऑफ दि फेडरल कांस्टिट्यूशन, पृष्ठ 62-63)।

यह तथ्य कि अनुच्छेद 368 के पार्श्व-टिप्पण में, "संविधान के संशोधन के लिए प्रक्रिया" शब्द मौजूद हैं, उपर्युक्त निष्कर्ष को समाप्त नहीं कर सकता, क्योंकि पार्श्व-टिप्पण स्वयं अनुच्छेद के विस्तार को नियन्त्रित नहीं कर सकता। जैसा कि पहले बताया जा चुका है इस अनुच्छेद में जो ये शब्द हैं कि "विधेयक के निबन्धनों के अनुसार संविधान संशोधित हो जाएगा" उनसे यह उपदर्शित होता है कि इस संविधान को संशोधित करने की शक्ति अनुच्छेद 368 में भी मौजूद है। ऐसी शक्ति के होने की बात को, जोकि स्पष्ट रूप से अनुच्छेद 368

की युक्ति और भाषा में दृष्टिगोचर हो सकती है, अनुच्छेद के पार्श्व-टिप्पण के आधार पर न तो अस्वीकृत किया जा सकता है, और न ही उसे नामंजूर किया जा सकता है।

संविधान की सप्तम अनुसूची की सूची 1, सूची 2 और सूची 3 में की प्रविष्टियों में अन्तर्विष्ट विभिन्न विषय सविस्तार प्रगणित और निर्दिष्ट किए गए थे। इस सम्बन्ध में हमारा संविधान विस्तृत रूप में नहीं लिखा गया था, उसके विपरित गवर्नमेण्ट ऑफ इण्डिया ऐक्ट, 1935 में विधायी सूचियों के वितरण की स्कीम काफी हद तक संविधान में अंगीकृत कर ली गई थी। सूचियों के उक्त वितरण और गवर्नमेण्ट ऑफ इण्डिया ऐक्ट के अवशिष्ट उपबन्धों का हवाला देते हुए मु० न्या० ग्वायर ने सेण्ट्रल प्रॉविन्सेज़ एण्ड बरार सेल्स ऑफ मोटर स्पिरिट एण्ड लुब्रीकेण्ट्स टैक्सेशन ऐक्ट, 1938 के मामले [1] में निम्नलिखित मत व्यक्त किया था :

> "विधायी विषयों की सर्वांगीण प्रगणना द्वारा अवशिष्ट शक्तियों के अन्तिम समनुदेशन को बचाने के प्रयत्न के परिणामस्वरूप इण्डियन कांस्टिट्यूशन ऐक्ट विधायी सूचियों की लम्बाई और विस्तार की दृष्टि से परिसंघीय संविधानों के बीच आश्चर्यजनक बन गया है।"

हमारे संविधान निर्माताओं ने विधायी प्रविष्टियों की सूची को और अधिक सर्वांगीण बनाया था तथा स्पष्ट रूप से उनका यह आशय था कि जिन विषयों के बारे में बताया गया है, विनिर्दिष्ट प्रविष्टियों में से एक या अन्य के अन्तर्गत जाना चाहिए जिससे कि यथासम्भव कम विषय और वे ही जो कि संविधान निर्माताओं के मस्तिष्क में आसानी से नहीं आ सके थे, सूची 1 की अवशिष्ट मद 97 के अन्तर्गत जाएं। मेरी राय में, यदि संविधान निर्माता यह चाहते कि संविधान के संशोधन के सम्बन्ध में संविधान के अनुच्छेद 245, 246 और 248 के अधीन मामूली विधायी अध्युपाय के रूप में किया जाना चाहिए, तो वे संविधान के संशोधन के लिए सप्तम अनुसूची में दी गई सूचियों में इस प्रयोजन के लिए प्रविष्टि करना न भूलते। इस तथ्य से कि उन्होंने संविधान के संशोधन के लिए संविधान में एक अलग भाग उपबन्ध किया था, यह दर्शित होता है कि उन्होंने संविधान के संशोधन विषयक महत्व को समझा था। यह अभिनिर्धारित करना कठिन है कि संविधानिक संशोधन के महत्व का उन्हें पता होने के बावजूद भी उन्होंने उसके सम्बन्ध में सूची 1 की प्रविष्टि 97 के अधीन और उसके उपबन्धों के अनुसार ही कार्यवाही किए जाने के लिए उपबन्ध किया जिसमें केवल "सूची 2 या 3 में से किसी में अवर्णित किसी कर के सहित उन सूचियों में अप्रगणित कोई अन्य विषय" के बारे में उपबन्ध किया गया है।

परिसंघीय संविधान में अवशिष्ट प्रविष्टि आवश्यक होती है और अवशिष्ट प्रविष्ट का एकमात्र उद्देश्य यथा स्थिति परिसंघीय विधान मण्डल या राज्य विधानमण्डलों को किसी ऐसे मामले के सम्बन्ध में जो कि विधान बनाने के लिए किसी अन्य सूची में प्रमाणित न हो, संविधान के अधीन और उसके अनुसार मामूली विधियां बनाने की शक्ति प्रदत्त करना है। जैसी कि स्थिति है, उसको देखते हुए संविधान को संशोधित करने की शक्ति

---

(1) (1939) एफ० सी० आर० 18=ए० आई० आर० 1939 एफ० सी० 18.

परिसंघीय संविधान में अवशिष्ट प्रविष्टि में समाविष्ट नहीं हो सकती, क्योंकि संविधान को संशोधित करने की शक्ति के अन्तर्गत भिन्न-भिन्न प्रविष्टियों में वर्णित विषयों में वितरण को परिवर्तित करने की शक्ति भी आती है।

प्रारम्भ में यह आशयित था कि विधान बनाने की अवशिष्ट शक्ति राज्य में निहित होनी चाहिए। यह बात उद्देश्य सम्बन्धी उस संकल्प से स्पष्ट है जिसे पण्डित नेहरू ने 13 दिसम्बर, 1946 को, देश का बंटवारा होने के पूर्व, संविधान-सभा में पेश किया था (कांस्टिट्यूएण्ट असेम्बली डिबेट्स, खण्ड 1, पृष्ठ 59 देखिए)। बंटवारे के बाद विधान बनाने की अवशिष्ट शक्ति केन्द्र में निहित हो गई और राज्य सूची से बाहर निकाल दी गई। यदि राज्यों में अवशिष्ट शक्तियां निहित करने का आशय अन्ततः बना रहता, तो कदाचित यह दलील न पेश की गई होती कि संविधान को संशोधित करने की शक्ति राज्यों के पास है, न कि संघ के पास। इस तथ्य से कि बाद में संविधान-सभा ने राज्य विधान-मण्डलों द्वारा अनुसमर्थन के अध्यधीन रखते हुए, किन्हीं स्थितियों में केन्द्र की संसद् में अवशिष्ट शक्ति निहित की थी, यह दर्शित नहीं होगा कि अवशिष्ट शक्ति सम्बन्धी खण्ड के अन्तर्गत संविधान को संशोधित करने की शक्ति भी आती है।

इसलिए मेरा यह मत है कि अनुच्छेद 368 में न केवल संविधान के संशोधन की प्रक्रिया विहित की गई है, बल्कि वह संविधान को संशोधित करने की शक्ति भी प्रदत्त करता है।

शक्ति के स्रोत की ओर ध्यान न देते हुए, अनुच्छेद 368 में जो ये शब्द आए हैं कि 'संविधान संशोधित हो जाएगा', उनसे यह उपदर्शित होता है कि अनुच्छेद 368 में विहित की गई संशोधन करने की प्रक्रिया आत्मनिष्पादन प्रक्रिया (सैल्फ एक्जीक्यूटिंग प्रॉसेस) है। इस अनुच्छेद से यह दर्शित होता है कि उसमें विहित प्रक्रिया का अनुपालन कर दिए जाने के पश्चात्, उसका जो परिणाम होता है, वह संविधान का संशोधन है।

तो प्रश्न इस बात के बारे में उत्पन्न होता है कि क्या अनुच्छेद 368 में भाग 3 को संशोधित करने की ऐसी कोई शक्ति है जिससे कि मूल अधिकारों को छीना जा सके या न्यून किया जा सके। इस सम्बन्ध में हमारा यह निष्कर्ष है कि अनुच्छेद 368 में संविधान के संशोधन से सम्बन्धित उपबन्ध मौजूद हैं। अनुच्छेद 368 में ऐसे कोई भी शब्द मौजूद नहीं हैं जिनसे कि यह उपदर्शित हो कि भाग 3 को संशोधित करने की शक्ति पर इस प्रकार परिसीमा अधिरोपित करना आशयित था जिससे कि मूल अधिकार छीन लिए जाएं या न्यून कर दिए जाएं। इसके विपरीत, अनुच्छेद 368 में जिन शब्दों का प्रयोग किया गया है, वे ये हैं—यदि इस अनुच्छेद द्वारा विहित प्रक्रिया का अनुपालन कर दिया जाता है, तो संविधान संशोधित हो जाएगा। 'संविधान संशोधित हो जाएगा' शब्दों के अन्तर्गत संविधान के विभिन्न अनुच्छेद स्पष्ट रूप से आते हैं, और उन स्पष्ट और असंदिग्ध शब्दों को देखते हुए, मुझे यह बात कठिन मालूम पड़ती है कि संविधान के भाग 3 में दिए गए मूल अधिकारों से सम्बन्धित अनुच्छेदों को उनके प्रवर्तन से अपवर्जित कर दिया जाए। अर्थान्वयन का यह प्रारम्भिक नियम होता है कि संविधान पर विचार करते हुए, प्रत्येक शब्द को उसके सहज स्पष्ट और सामान्य रूप में उस समय तक लिया जाना चाहिए जब तक कि संदर्भ से

उसको नियन्त्रित करने, विशेषित करने या परिवर्धित करने के लिए कोई आधार न मिल जाए और ऐसे शब्दों पर कोई दुर्बोध्य अर्थ या असाधारण अर्थान्वयन लादा नहीं जा सकता (देखिए—स्टोरी ऑन कांस्टिट्यूशन ऑफ यूनाइटेड स्टेट्स, खण्ड 1, पैरा 451)। अभी तक सांविधानिक अर्थान्वयन का ऐसा कोई भी विधिक सिद्धान्त प्रतिपादित नहीं किया गया है कि शब्द विचारों को छिपाने के माध्यम होते हैं। यदि संविधान निर्माताओं का यह आशय होता कि भाग 3 में दिए गए मूल अधिकारों से सम्बन्धित उपबन्धों का संशोधन नहीं किया जाना चाहिए, तो यह बात समझ में नहीं आती कि वे अनुच्छेद 368 में या अन्यत्र उस प्रयोजन के लिए उपबन्ध क्यों न करते। मैं यह विश्वास करने में असमर्थ हूं कि संविधान निर्माताओं ने ऐसे शब्दों का प्रयोग जानबूझकर किया जिनके परिणामस्वरूप उनका वास्तविक आशय छिप गया, जबकि उनके आशय को संदेह की किसी भी सम्भावना से परे स्पष्ट करना एक मामूली बात होती।

क्वीन बनाम बुराह(1) वाले मामले में लार्ड सेलबार्न ने यह मत व्यक्त किया था—

"जबकि यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या विहित सीमाओं का अतिलंघन किया गया है, तो स्थापित न्यायालयों को वह प्रश्न आवश्यक रूप से अवधारित करना पड़ता है; और जिस एकमात्र रीति में वे उचित रूप से ऐसा कर सकते हैं, वह उस लिखत के जिसके द्वारा सकारात्मक रूप से, विधायी शक्तियां सृष्ट की गई हों, और जिसके द्वारा नकारात्मक रूप से उन्हें निर्बन्धित किया गया हो निर्बन्धनों के आधार पर करने की रीति है। जो बात की गई है यदि वह उन सकारात्मक शब्दों के, जो शक्ति देते हैं, साधारण विस्तार के भीतर विधान है, और यदि उससे किसी भी ऐसी अभिव्यक्त शर्त या निर्बन्धन का जिसके द्वारा वह शक्ति परिसीमित की गई हो, अतिक्रमण नहीं होता ...तो कोई भी न्यायालय इस बात के सम्बन्ध में और आगे जांच नहीं करेगा या उन शर्तों या निर्बन्धनों का आन्वयिक रूप से अर्थान्वयन बढ़ा चढ़ाकर नहीं करेगा।"

यद्यपि उपर्युक्त मत विधायी शक्ति के संदर्भ में व्यक्त किए गए थे, फिर भी वे संविधान के संशोधन की शक्ति के संदर्भ में, यदि अधिक नहीं तो, समान रूप से संगत थे।

यह भी नहीं कहा जा सकता है कि भले ही संविधान निर्माताओं का आशय यह था कि मूल अधिकारों से सम्बन्धित संविधान के भाग 3 का संशोधन नहीं किया जाना चाहिए, तो भी अनाशयित चूक होने के कारण वे उस प्रयोजन के लिए अभिव्यक्त उपबन्ध नहीं कर सके। संविधान सभा की तारीख 17 सितम्बर, 1949 वाली कार्यवाहियों के प्रति निर्देश करने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि डाक्टर पी० एस० देशमुख ने उस प्रभाव का एक संशोधन पेश किया था। जो संशोधन अनुच्छेद 304 के पश्चात् अनुच्छेद 304-क (जोकि वर्तमान अनुच्छेद 368 का तत्सम है) के जोड़ने से सम्बन्धित था, वह निम्नलिखित शब्दों में था—

"इस संविधान में अन्तर्विष्ट तत्प्रतिकूल किसी बात के होते हुए भी, ऐसा कोई भी संशोधन जिनके परिणामस्वरूप किन्हीं वैयक्तिक अधिकारों, सम्पत्ति के

(1) (1878) 3 ए० सी० 889, पृष्ठ 904-5.

सम्बन्ध में किसी व्यक्ति या किन्हीं व्यक्तियों के किन्हीं अधिकारों, या अन्यथा, के विस्तार का अतिलंघन होता है, निर्बन्धित होता है या न्यून होता है, इस संविधान के अधीन अनुज्ञेय नहीं होगा और ऐसा कोई संशोधन जिसका प्रभाव है या प्रभाव पड़ना सम्भाव्य है, शून्य होगा और किसी भी विधानमण्डल के अधिकारातीत होगा।"

यदि संविधान निर्माताओं का आशय होता कि संविधान का कोई भी संशोधन संविधान के भाग 3 में दिए गए मूल अधिकारों को नहीं छीनेगा या न्यून नहीं करेगा, तो उपर्युक्त संशोधन को जिसेकि बाद में वापस ले लिया गया, संविधान में अवश्य ही समाविष्ट किया जाता।

संविधान के बनाए जाने के पूर्व, सांविधानिक सलाहकार श्री बी॰ एन॰ राव ने केन्द्रीय और प्रान्तीय विधानमण्डलों के सदस्यों के पास 17 मार्च, 1947 को एक पत्र भेजा था जिसके साथ एक प्रश्नावली भी थी। प्रश्न 27 इस बारे में था कि संविधान के संशोधन के सम्बन्ध में क्या उपबन्ध किया जाना चाहिए। केन्द्रीय और प्रान्तीय विधानमण्डलों के सदस्यों का ध्यान इस संदर्भ में, ब्रिटिश, कैनेडियन, आस्ट्रेलियन, साउथ अफरीकन, स्विस यूनाइटेड स्टेट्स और आयरलैण्ड के संविधानों में संशोधन करने के लिए जो उपबन्ध किए गए हैं, उनके प्रति आकृष्ट किया गया। उन संशोधनों में से कुछ में संशोधन करने की शक्ति पर परिसीमाएं लगाई गई थीं और उनमें उन परिसीमाओं के सम्बन्ध में अभिव्यक्त उपबन्ध किए गए थे। उदाहरण के लिए युनाइटेड स्टेट्स ऑफ अमरीका के संविधान के अनुच्छेद 5 में यह परन्तुक था कि "ऐसा कोई भी संशोधन जो 1808 वाले वर्ष के पूर्व किया जाए, किसी भी स्थिति में, प्रथम अनुच्छेद जो नई धारा के प्रथम और चतुर्थ खण्डों पर प्रभाव नहीं डालेगा और यह कि किसी भी राज्य को, उसकी सम्मति के बिना सीनेट में समान मताधिकार से वंचित नहीं किया जाएगा।" यह बात समझ में नहीं आती कि इस तथ्य को जानते हुए भी किअन्य ऐसे देशों के संविधान में जहां संशोधन करने की शक्ति पर निर्बन्धन लगाने की कोशिश की गई थी, उस प्रभाव का अभिव्यक्त उपबन्ध जोड़ा गया था यदि हमारे संविधान निर्माता मूल अधिकारों से सम्बन्धित अनुच्छेदों के सम्बन्ध में संशोधन करने की शक्ति पर वस्तुतः परिसीमा अधिरोपित करना चाहते, तो वे अनुच्छेद 368 में या किसी अन्य अनुच्छेद में ऐसा उपबन्ध करने में चूक क्यों करते उसके विपरीत यह बात बिल्कुल स्पष्ट है कि प्रारूपण समिति इस बात की आवश्यकता के सम्बन्ध में सतर्क थी कि उस दशा में यदि ऐसी परिसीमा वांछनीय है तो संशोधन करने की शक्ति के विषय में परिसीमा सम्बन्धी अभिव्यक्त उपबन्ध किया जाना चाहिए। प्रारूप-संविधान के अनुच्छेद 305 से यह बात स्पष्ट है। वह अनुच्छेद 304 के बिल्कुल ही बाद रखा गया था, जोकि संविधान के अनुच्छेद 368 का, जिसे कि अन्तिम रूप से अंगीकृत कर लिया गया था, तत्सम था। प्रारूप-संविधान के अनुच्छेद 305 में, जिसे बाद में निकाल दिया गया था, निम्नलिखित निबन्धन थे —

"305. संविधान के अनुच्छेद 304 में अन्तर्विष्ट किसी बात के होते हुए भी मुसलमानों, अनुसूचित जातियों, अनुसूचित आदिमजातियों या भारतीय ईसाइयों के लिए प्रथम अनुसूची के भाग 1 में तत्समय विनिर्दिष्ट स्थानों के आरक्षण से सम्बन्धित इस संविधान के उपबन्ध उसके प्रारम्भ से दस वर्ष की कालावधि के

दौरान संसद् में या किसी राज्य के विधानमण्डल में संशोधित नहीं किए जाएंगे और उस कालावधि का पर्यवसान होने पर, जब तक कि उन्हें संविधान का संशोधन करके प्रवृत्त न बनाए रखा जाए, उनका प्रभाव समाप्त हो जाएगा।"

प्रारूप-संविधान के ऊपर उद्धृत अनुच्छेद 305 से यह बात स्पष्ट है कि प्रारूपण समिति ने परिसीमा वांछनीय होने की दशा में संशोधन करने की शक्ति पर परिसीमा लगाने के लिए अभिव्यक्त उपबन्ध किया था। इस तथ्य से कि संविधान में, जैसा कि उसे अन्ततः अंगीकृत किया गया, न तो अनुच्छेद 368 में और न ही किसी ऐसे अन्य अनुच्छेद में कोई ऐसा उपबन्ध था जिसमें संशोधन करने की शक्ति पर परिसीमा लगाने की बात रही हो, दर्शित होता है कि ऐसी कोई भी परिसीमा आशयित नहीं थी। डाक्टर अम्बेदकर ने 17 सितम्बर, 1949 को संविधान के संशोधन से सम्बन्धित उपबन्ध पर अपना विचार प्रकट करते हुए, जो भाषण दिया था, उससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि उन्होंने संविधान के विभिन्न अनुच्छेदों को तीन प्रवर्गों में विभाजित किया था। एक प्रवर्ग में कतिपय ऐसे अनुच्छेद रखे गए थे जिनका संशोधन संसद् साधारण बहुमत से कर सकती थी। उस प्रवर्ग में प्रारूप-संविधान के अनुच्छेद 2 और 3 जो कि वर्तमान राज्यों के निर्माण और पुनर्गठन से सम्बन्धित थे, तथा ऐसे अन्य कुछ अनुच्छेद जिनमें राज्य विधानमण्डलों के उच्च सदन के बारे में उपबन्ध किया गया था, आते थे। दूसरे प्रवर्ग के अनुच्छेद ऐसे अनुच्छेद थे जिनका संशोधन संसद् के प्रत्येक सदन में उपस्थित और मतदान करने वाले सदस्यों के दो-तिहाई बहुमत से किया जा सकता था। तीसरे प्रवर्ग में ऐसे अनुच्छेदों के बारे में उपबन्ध किया गया था जिनके सम्बन्ध में न केवल संसद् के प्रत्येक सदन के दो-तिहाई बहुमत की आवश्यकता थी, बल्कि राज्य के विधानमण्डलों के कम से कम आधे के अनुसमर्थन की भी आवश्यकता थी। डाक्टर अम्बेदकर के भाषण में ऐसी कोई बात नहीं थी कि इन तीनों प्रवर्गों के अनुच्छेदों को छोड़कर भाग 3 में अन्तर्विष्ट अनुच्छेदों का कोई ऐसा चौथा प्रवर्ग है जिसका संशोधन नहीं किया जा सकता और इस प्रकार से वह संशोधन का विषय नहीं हो सकता।

यह बात बताई जा सकती है कि संविधान-सभा के वाद-विवाद सम्बन्धी रिपोर्ट के अनुसार, 17 सितम्बर, 1949 को डाक्टर अम्बेदकर द्वारा किए गए भाषण में निम्नलिखित वाक्य मौजूद है—

> "यदि भावी संसद् किसी ऐसे विशिष्ट अनुच्छेद को संशोधित करना चाहती है जो कि भाग 3 में वर्णित नहीं किया गया है, उदाहरणार्थ अनुच्छेद 304, तो उनके लिए जो बात आवश्यक है, वह केवल दो-तिहाई बहुमत होने की बात है।" (खण्ड 9, पृष्ठ 1661).

उपर्युक्त वाक्य में "भाग 3" शब्द, प्रारूप-अनुच्छेद 304 में (वर्तमान अनुच्छेद 368) जिसके अधीन दो-तिहाई बहुमत तथा राज्य विधानमण्डलों के कम से कम आधे का अनुसमर्थन अपेक्षित था, वर्णित तीसरे प्रवर्ग के अनुच्छेदों के प्रति निर्देश करते हैं। ये शब्द संविधान के भाग 3 के प्रति निर्देश नहीं करते, क्योंकि यदि ऐसी बात होती तो ऊपर उद्धृत वाक्य सम्पूर्ण भाषण के सन्दर्भ में असम्बद्ध प्रतीत होगा और शेष भाषण से असंगत हो जाएगा।

वास्तव में उपर्युक्त भाषण का तथा संविधान सभा में डाक्टर अम्बेदकर द्वारा दिए गए अन्य भाषणों का भी सम्पूर्ण स्वर यही था कि संविधान के सभी अनुच्छेद संशोधन करने वाली प्रक्रिया के अध्यधीन थे।

जो दूसरा तथ्य ध्यान देने योग्य है, वह यह है कि अनन्तिम संसद् ने जिसने संविधान के प्रारूपण के लिए संविधान-सभा के रूप में भी कार्य किया था, संविधान (प्रथम संशोधन) अधिनियम, 1951 को पारित किया था। प्रथम संशोधन द्वारा अनुच्छेद 19 में अन्तर्विष्ट कुछ मूल अधिकारों को न्यून तथा संशोधित किया गया था। प्रथम संशोधन के समर्थन में पंडित नेहरू तथा डाक्टर अम्बेदकर दोनों ने ही भाषण दिए थे। यह बात पहले ही मान ली गई थी कि अनुच्छेद 368 में विहित प्रक्रिया का अनुसरण करते हुए, संसद् को मूल अधिकारों से सम्बन्धित भाग 3 सहित, संविधान का संशोधन करने का अधिकार प्राप्त है। डाक्टर श्याम प्रसाद मुखर्जी ने भी, जिन्होंने कि प्रथम संशोधन का विरोध किया था, अभिव्यक्त रूप से यह स्वीकार किया था कि संसद् को पूर्वोक्त संशोधन करने की शक्ति प्राप्त है। यदि संविधान निर्माताओं का आशय यह होता कि संविधान के भाग 3 में अन्तर्विष्ट मूल अधिकारों से सम्बन्धित उपबन्ध का संशोधन नहीं किया जा सकता, तो यह विश्वास करना कठिन है कि पंडित नेहरू तथा डाक्टर अम्बेदकर, जिन्होंने संविधान के प्रारूपण में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की थी, संविधान के संशोधन को समर्थन देने या किसी भी स्थिति में अपने भाषणों में इस तथ्य के सम्बन्ध में मत व्यक्त करने में असफल रहते कि यह आशय नहीं है कि भाग 3 का संशोधन इस प्रकार से किया जाए जिससे कि मूल अधिकार छीन लिए जाएं या न्यून कर दिए जाएं। परिवर्तनशील सामाजिक और आर्थिक स्थितियों और परिवर्तनशील विचारों के अनुसार संविधान को संशोधित करने की आवश्यकता के प्रति निर्देश करने के पश्चात् पंडित नेहरू ने, प्रथम संशोधन के समर्थन में दिए गए अपने भाषण के दौरान यह मत व्यक्त किया था—

> "यह अत्यन्त महत्त्व की बात है कि लोगों को यह महसूस करना चाहिए कि हमारा यह महान संविधान, जिसके सम्बन्ध में हमने बहुत दिनों तक परिश्रम किया है, अन्तिम तथा अनम्य वस्तु नहीं है जिसे या तो स्वीकार करना होगा या तोड़ना होगा। जो संविधान लोगों की इच्छा के अनुकूल चलता है तथा जो उनके विचारों के अनुसार चलता है, उसमें यत्रतत्र परिवर्तन किया जा सकता है; तो और भी लोग उसका सम्मान करेंगे और जब हम उसमें तब्दीली करना चाहेंगे तो वे उसके विरुद्ध नहीं लड़ेंगे। अन्यथा, यदि आप लोग उन्हें यह महसूस करने के लिए विवश करेंगे कि यह संविधान अपरिवर्तनशील है और इसको कोई छू नहीं सकता तो वे लोग, जो उसे बदलना चाहते हैं, जो एकमात्र बात करेंगे, वह उसे तोड़ने की कोशिश करनी होगी। वह खतरनाक और बुरी बात होगी। अतः यह बात वांछनीय है और लोगों के लिए यह अच्छा भी है कि वे यह महसूस करें कि यह सुन्दर संविधान जिसे हमने वर्षों के परिश्रम के पश्चात् वर्तमान रूप दिया है, वहां तक अच्छा है जहां तक कि वह वर्तमान रूप में है, किन्तु जैसे जैसे

परिस्थितियां और समाज बदलता जाता है हम उसे उचित रूप में संशोधित करते जाएं। यह मीड्स और फारस की अपरिवर्तनशील रूढ़ियों की तरह नहीं है जिसमें तब्दीली न की जा सके भले ही उसके चारों ओर की दुनिया में कैसी भी तब्दीली क्यों न आ गई हो।

प्रथम संशोधन अनुच्छेद 368 के अधीन संशोधन करने की शक्ति की समसामयिक व्यवहारिक अभिव्यक्ति (कण्टैम्पोरेनिअस प्रैक्टिकल एक्सपोजिशन) है। जैसा कि अन्यत्र मत व्यक्त किया गया है, यद्यपि मेरी दृष्टि में, अनुच्छेद 368 के उपबन्ध स्पष्ट और असंदिग्ध हैं और जहां तक कि भाग 3 का सम्बन्ध है उनमें कोई भी निर्बन्धन मौजूद नहीं है यदि यह मान भी लिया जाए कि इस मामले में कुछ संदेह है, तो भी प्रथम संशोधन में इस बात के सम्बन्ध में स्पष्ट साक्ष्य मौजूद है कि अनुच्छेद 368 के उपबन्धों का अर्थान्वयन किस प्रकार किया जाना चाहिए और उनका आशय क्या है तथा उन लोगों ने जिन्होंने कि संविधान का निर्माण किया था, उसके सम्बन्ध में क्या अर्थ लगाया था और उन्होंने संविधान के निर्माण हो जाने के तुरन्त पश्चात् उक्त आशय और उपधारणा के आधार पर किस प्रकार कार्य किया था। उक्त संदेह को सुलझाने में और उक्त अनुच्छेद के उपबन्धों का अर्थान्वयन करने में समसामयिक व्यवहारिक अभिव्यक्ति से काफी सहायता मिलती है। इस सम्बन्ध में विलियम मैकफर्सन बनाम रावर्ट आर० ब्लेकर ([1]) वाले मामले में अमरीका की सुप्रीम कोर्ट की ओर से निर्णय सुनाते हुए मु० न्या० फुलर ने जो मत व्यक्त किया था, उसे अविकल रूप में उद्धृत करना महत्वपूर्ण होगा—

> "संविधान निर्माताओं ने जिन शब्दों का प्रयोग किया था, वे स्वाभाविक अर्थों में वहां किए गए थे जहां कि वे स्पष्ट और असंदिग्ध थे; और निर्वचन करने के लिए साक्ष्यादिर्षक साधनों की सहायता लेना अनावश्यक है तथा किसी भी मूल पाठ को संकुचित करने अथवा संवर्धित करने के प्रयोजन के लिए उसका सहारा नहीं लिया जा सकता; किन्तु जहां अस्पष्टता या संदेह हो, या जहां दो दृष्टिकोणों को ग्रहण किया जा सकता हो, वहां समसामयिक और बाद वाले व्यवहारिक अर्थान्वयन को सर्वाधिक महत्व दिया जाना चाहिए। निश्चित रूप से जिन वादियों ने गलती की है वे युक्तियुक्त रूप से यह दावा नहीं कर सकते कि संविधान के विचाराधीन खण्ड के कारण इनकी स्थिति इस प्रकार स्पष्ट रूप से कायम है कि वे इस बात पर आपत्ति कर सकते हैं कि समसामयिक इतिहास और व्यवहारिक अर्थान्वयन को कोई भी महत्व नहीं दिया जा सके और यह बात मानते हुए कि उनकी दलील के परिणामस्वरूप ऐसा संदेह उत्पन्न होता है जो इस प्रकार से किए गए निर्वचनों का साधनों का सहारा लेने की बात को न्यायोचित ठहराने के लिए पर्याप्त है, हमारी राय यह है कि उनके सम्बन्ध में ऐसा संदेह इस प्रकार समाप्त किया जा सकता है, क्योंकि संविधान की समसामयिक व्यवहारिक अभिव्यक्ति बहुत ही अधिक शक्तिशाली तथा दृढ़ होती है जिसे न तो कमजोर किया जा सकता है और न ही नियन्त्रित किया जा सकता है।"

([1]) 146 यू० एस० 1.

इस सम्बन्ध में मैं विलोबी के कांस्टिट्यूशन ऑफ यूनाइटेड स्टेट्स, खण्ड 1 के पृष्ठ 49-50 पर दिए गए निम्नलिखित लेखांश को अविकल रूप से देना चाहूंगा —

> "लिथोग्रैफिक कम्पनी बनाम सरोनी वाले मामले (1) में न्यायालय ने यह घोषित किया था : 'उन लोगों ने कोंकि संविधान के निर्माण के समसामयिक थे और जिनमें से बहुत से संविधान बनाने वाले कन्वेन्शन के सदस्य थे, 1790 के प्रथम अधिनियम और 1802 के अधिनियम द्वारा संविधान का जो अर्थान्वयन किया था, उसे अत्यधिक महत्व दिया जाना चाहिए और जबकि यह बात स्मरणीय है कि इस प्रकार से स्थापित अधिकारों के सम्बन्ध में लगभग एक शताब्दी की कालावधि के दौरान कोई भी विवाद नहीं उठाया गया है, तो वह लगभग विनिश्चायक ही है।"

जहां तक यह प्रश्न इस बात से सम्बन्धित है कि क्या संविधान सभा में किए गए भाषणों पर विचार किया जा सकता है, वहां तक इस न्यायालय ने इन मुकदमों में अर्थात् आई० सी० गोलकनाथ और कुछ अन्य बनाम पंजाब राज्य और एक अन्य (2) एच० एच० महाराजाधिराज माधव राव जीवाजीराव सिंधिया बहादुर और कुछ अन्य बनाम भारत संघ (3), और भारत संघ बनाम एच० एस० ढिल्लों (4) वाले मामले में, इस न्यायालय ने यह मत व्यक्त किया था कि ऐसे भाषणों को विचार में लिया जा सकता है। गोलकनाथ वाले मामले (2) में मुख्य न्यायाधिपति सुब्बा राव ने, जिन्होंने बहुमत की ओर से निर्णय सुनाया था, पंडित जवाहर लाल नेहरू और डाक्टर अम्बेदकर के पृष्ठ 791 पर दिए गए भाषणों के प्रति निर्देश किया था। न्यायाधिपति बछावत ने भी उस मामले में डाक्टर अम्बेदकर के पृष्ठ 924 पर दिए गए भाषण के प्रति निर्देश किया था। माधव राव वाले मामले (3) में न्यायाधिपति शाह ने जिन्होंने उस महत्वपूर्ण बहुमत का निर्णय सुनाया था, सरदार वल्लभ भाई पटेल द्वारा, जो उस समय गृह मन्त्री थे, संविधान सभा में किए गए भाषण का आश्रय लिया (देखिए—पृष्ठ 83)। न्यायाधिपति मित्तर ने संविधान सभा में दिए गए भाषणों के प्रति, जोकि पृष्ठ 121 और 122 पर थे, निर्देश किया। अभी हाल में, धनकर अधिनियम में संशोधन करने की विधिमान्यता से सम्बन्धित एच० एस० ढिल्लों वाले मामले(4) में दोनों निर्णयों के अर्थात् बहुमत वाले निर्णय तथा अल्पमत वाले निर्णय में निकाले गए निष्कर्षों के समर्थन में संविधान सभा में किए गए भाषणों के प्रति निर्देश किया गया था। इसलिए यह बात कही जा सकती है कि इस न्यायालय ने अब गोलकनाथ वाले मामले में (2) निर्णय के सुनाए जाने के पश्चात् अपने विनिश्चयों में यह मत व्यक्त किया है कि संविधान के उपबन्धों पर विचार करते हुए संविधान-सभा में किए गए भाषणों के प्रति निर्देश किया जा सकता है।

---

(1) 111 यू० एस० 53.

(2) (1967) 2 एस० सी० आर० 762.

(3) (1971) 3 एस० सी० आर० 9=[1971]1 उम० नि० प० 491.

(4) (1972) 2 एस० सी० आर० 33=[1972]1 उम० नि० प० 565.

मेरी राय में संविधान सभा में जो भाषण किए गए थे, उनके प्रति सांविधानिक उपबन्ध के इतिहास तथा उस पृष्ठभूमि का पता लगाने के लिए जिसमें कि उक्त उपबन्ध का प्रारूपण किया गया था, निर्देश किया जा सकता है। उन भाषणों से इस बात को दर्शित करने के सम्बन्ध में भी सहायता मिल सकती है कि वह कौनसी कठिनाई थी जिसको सुलझाने की कोशिश की गई थी और वह कौनसा उद्देश्य था जिसे प्राप्त करने की उस उपबन्ध के प्रारूपण करने में कोशिश की गई थी। किन्तु वे भाषण संविधान के उपबन्धों का अर्थान्वयन करने का आधार नहीं हो सकते। संविधान के उपबन्धों का अर्थान्वयन करने का कार्य स्वतन्त्र रूप से करना होगा और संविधान सभा में किए गए भाषणों के प्रति जो निर्देश किया जाता है, उससे न्यायालय को वह कार्य करने से छुटकारा नहीं मिल सकता। प्रारूपण करने वाले व्यक्तियों के सम्बन्ध में यह उपधारणा की जाती है कि उन्होंने उन उपबन्धों में प्रयुक्त अपने शब्दों द्वारा अपना आशय व्यक्त कर दिया था। वे शब्द उनके आशय की अन्तिम निधि हैं और उस उपबन्ध के शब्दों से ही अन्ततः यह बात पता चलेगी कि प्रारूपण करने वाले लोगों का आशय क्या था।

विचार के लिए जो दूसरा प्रश्न उत्पन्न हुआ है, वह यह है कि क्या अनुच्छेद 13 (2) में "विधि" शब्द के अन्तर्गत संविधान का संशोधन भी आता है। अनुच्छेद 13 (2) के अनुसार, राज्य ऐसी कोई विधि नहीं बनाएगा जो इस भाग द्वारा दिए अधिकारों को छीनती या न्यून करती हो और इस खण्ड के उल्लंघन में बनी प्रत्येक विधि उल्लंघन की मात्रा तक शून्य होगी। "राज्य" शब्द की परिभाषा अनुच्छेद 12 में की गई है, तथा यदि प्रसंग से दूसरा अर्थ अपेक्षित न हो, तो इस भाग में, उसके अन्तर्गत भारत की सरकार और संसद् तथा राज्यों में से प्रत्येक की सरकार और विधानमण्डल, तथा भारत राज्यक्षेत्रों के भीतर अथवा भारत सरकार के नियन्त्रण के अधीन सब स्थानीय और अन्य प्राधिकारी भी हैं। पिटीशनरों की ओर से जो आधार अपनाया गया है, वह यह है कि अनुच्छेद 13 (2) के प्रयोजन के लिए, "विधि" के अन्तर्गत संविधान का संशोधन आता है। इस प्रकार से संविधान का कोई भी संशोधन संविधान के भाग 3 द्वारा प्रदत्त मूल अधिकारों को न तो छीन सकता है और न ही न्यून कर सकता है। अनुच्छेद 13 के खण्ड (1) के प्रति भी निर्देश किया गया है, जिसके अनुसार इस संविधान के प्रारम्भ होने से ठीक पहले भारत राज्य-क्षेत्र में प्रवृत्त सब विधियां उस मात्रा तक शून्य होंगी जिस तक कि वे इस भाग के उपबन्धों से असंगत हैं। यह दलील दी गई है कि अनुच्छेद 13 (2) में आया हुआ "विधि" शब्द का वही अर्थ लगाया जाना चाहिए जो अनुच्छेद 13 (1) में आए हुए शब्द का अर्थ है और यदि अनुच्छेद 13 (1) में आए हुए "विधि" शब्द के अन्तर्गत सांविधानिक विधि आती है, तो अनुच्छेद 13 (2) के प्रयोजन के लिए भी उसका अर्थ वही होना चाहिए। हमारा ध्यान संविधान के अनुच्छेद 372 (1) की ओर आकृष्ट किया गया है जिसमें यह उपबन्ध किया गया है कि अनुच्छेद 395 में निर्दिष्ट अधिनियमितियों का निरसन होने पर भी किन्तु इस संविधान के अन्य उपबन्धों के अधीन रहते हुए, इस संविधान के प्रारम्भ से ठीक पहले भारत राज्य-क्षेत्र में सब प्रवृत्त विधि उसमें तब तक

प्रवृत बनी रहेगी जब तक कि सक्षम विधानमण्डल या अन्य सक्षम प्राधिकारी द्वारा परिवर्तित या निरसित या संशोधित न की जाएं। अनुच्छेद 372 की व्याख्या 1 के अनुसार "प्रवृत्त विधि" पदावली के अन्तर्गत है कोई विधि जो इस संविधान के प्रारम्भ से पूर्व भारत राज्य-क्षेत्र में किसी विधानमण्डल द्वारा या अन्य सक्षम प्राधिकारी द्वारा पारित या बनाई गई हो और पहले ही निरसित न कर दी गई हो, चाहे वह या उसके कोई भाग तब पूर्णतः अथवा किन्हीं विशिष्ट क्षेत्रों में प्रवर्तन में न हो। "प्रवृत्त विधि" की यही परिभाषा अनुच्छेद 13(3) में दी गई है।

मैं इस दलील को स्वीकार करने में कठिनाई महसूस कर रहा हूं कि अनुच्छेद 368 के अनुसार संविधान में किया गया संशोधन अनुच्छेद 13(2) के प्रयोजनों के लिए विधि है, यद्यपि संविधान के अनेक अन्य अनुच्छेदों में निर्दिष्ट "विधि" शब्द के बारे में अनुच्छेद 368 में कोई भी जिक्र नहीं है। इस अनुच्छेद के उपबन्धों के अनुसार, उस अनुच्छेद के उपबन्धों का अनुपालन करते हुए, उस विधेयक को पारित किए जाने के पश्चात् उसके निबन्धनों के अनुसार संविधान संशोधित हो जाएगा। इस प्रकार से अनुच्छेद 368 में ऐसा संकेत मौजूद है कि अनुच्छेद 368 का अनुपालन करने के परिणामस्वरूप जो फल निकलता है, वह संविधान का संशोधन है, न कि मामूली विधान के अर्थ में, विधि है। सामान्य अर्थ में विधि के अन्तर्गत संविधान के संशोधन सहित सांविधानिक विधियां आती हैं किन्तु संविधान के अनुच्छेद 13(2) में प्रयुक्त 'विधि' शब्द की अर्थ-व्याप्ति ऐसी नहीं प्रतीत होती। विधायी शक्ति के प्रयोग में बनाई गई कानूनी विधि और संविधायी शक्ति के प्रयोग में बनाई गई सांविधानिक विधि के बीच स्पष्टतः प्रभेद है और इस प्रभेद को नजरअन्दाज नहीं किया जाना चाहिए। संविधान मूल तथा आधारभूत विधि है और उसमें ऐसे प्राधिकार के सम्बन्ध में उपबन्ध होता है जिसके अधीन मामूली विधि बनाई जाती है। यह बात बताई जा सकती है कि पश्चिमी जर्मनी के संविधान को जर्मनी गणराज्य की आधारभूत विधि कहा जाता है। संविधान साधारणतया उन लोगों से अपना प्राधिकार अभिप्राप्त करता है जो कि अपनी प्रभुत्वसम्पन्न हैसियत में कार्य करते हैं और जो संविधान-सभा या कन्वेन्शन में अपने प्रतिनिधियों के माध्यम से अपना मत व्यक्त करते हैं। उसका सम्बन्ध शासन के ढांचे, उसकी शक्तियों के विस्तार और वितरण और उसके प्रवर्तन की ऐसी पद्धतियों तथा सिद्धान्तों से है जो समय की दृष्टि से, मामूली विधि के पूर्व अस्तित्व में रहते हैं और जिनकी परिधि के भीतर राष्ट्र की सुस्थिर नीति आती है। दूसरी ओर कानून ऐसी विधि होता है जिसे लोगों के उन प्रतिनिधियों ने बनाया हो जो ऐसे उच्च प्राधिकार के अधीन जोकि संविधान है, रहते हुए अपनी विधायी हैसियत में कार्य करते हैं। कानूनी सिविल आचरण के शासन के लिए या प्रशासन के लिए या सरकार की प्रतिरक्षा के लिए अधिनियमितियां या नियम होते हैं। उनका सम्बन्ध विधि और व्यवस्था दाण्डिक अपराधों, सिविल विवादों, ऐसे वित्तीय मामलों और अन्य विषयों से होता है, जिनके सम्बन्ध में विधि बनाना आवश्यक हो सकता है। कानून प्रायः अनन्तिम, प्रासंगिक और अस्थायी औचित्य की प्रकृति के होते हैं। (देखिए—एस० पी० सीवर द्वारा लिखित 'कांस्टिट्यूशनल लॉ एण्ड इट्स एडमिनिस्ट्रेशन' पृष्ठ 3)। अनुच्छेद 13(2)

मामूली विधान के प्रति निर्देश करता है। अनुच्छेद 13(3) के खण्ड क में दी गई परिभाषा को देखते हुए, उसके अन्तर्गत भारत राज्यक्षेत्र में विधि के समान प्रभावी कोई अध्यादेश, आदेश, उपविधि, नियम, विनियम, अधिसूचना, ऐसी रूढ़ि या प्रथा आती है। इस प्रकार से संविधान ने उन मामलों में जिनमें इस बात के बारे में कुछ संदेह हो सकता है कि "विधि" क्या है, बिल्कुल ही स्पष्ट कर दिया है। यदि संविधान निर्माताओं का यह आशय होता कि अनुच्छेद 13 में "विधि" के अन्तर्गत, संविधान के संशोधन से सम्बन्धित विधियों सहित, सांविधानिक विधि आती है, तो यह बात समझ में नहीं आती कि उन लोगों ने अनुच्छेद 13 (3) के खण्ड (क) में यह बात अभिव्यक्त रूप से क्यों नहीं कही। संविधान में ही संविधान तथा संविधान के अधीन बनाई गई विधियों के बीच प्रभेद के सम्बन्ध में संकेत मौजूद है। अनुच्छेद 60 में राष्ट्रपति के पद को ग्रहण करने से पूर्व राष्ट्रपति द्वारा ली जाने वाली शपथ और किए जाने वाले प्रतिज्ञान के लिए तथा उसके बाद उस पर हस्ताक्षर करने के लिए उपबन्ध किया गया है। शपथ और प्रतिज्ञान की बात को जिस भाषा में लिखा गया है, उसका, भले ही वह निर्णायक न हो, कुछ न कुछ प्रभाव अवश्य पड़ता है। शपथ या प्रतिज्ञान का प्ररूप इस प्रकार है —

> "मैं,..................अमुक....................ईश्वर की शपथ लेता हूं सत्यनिष्ठा से प्रतिज्ञान करता हूं कि मैं श्रद्धापूर्वक भारत के राष्ट्रपति-पद का कार्य पालन (अथवा राष्ट्रपति के कृत्यों का निर्वहन) करूंगा तथा अपनी पूरी योग्यता से संविधान और विधि का परिरक्षण, संरक्षण और प्रतिरक्षण करूंगा और मैं भारत की जनता की सेवा और कल्याण में निरत रहूंगा।"

इन तथ्यों से कि "संविधान और विधि" शब्दों का प्रयोग उपर्युक्त प्ररूप में किया गया है, यह दर्शित होता है कि संविधान के प्रयोजन के लिए विधि और संविधान एक ही नहीं हैं।

यह बात बताई जा सकती है कि अनुच्छेद 56 (1) (ख) और अनुच्छेद 61 (1) में, जिनमें राष्ट्रपति के महाभियोग के सम्बन्ध में उपबन्ध किया गया है, "संविधान के अतिक्रमण" के प्रति ही निर्देश किया गया है। उन अनुच्छेदों में विधि के अतिक्रमण के प्रति कोई भी निर्देश मौजूद नहीं है। अनुच्छेद 69 में, जिसमें उपराष्ट्रपति द्वारा ली जाने वाली शपथ विहित की गई है, "विधि द्वारा स्थापित (भारत के) संविधान के प्रति निष्ठा" के प्रति निर्देश किया गया है। "विधि द्वारा स्थापित" शब्द संविधान के विधिक प्रारम्भ की ओर संकेत करते हैं। अनुच्छेद 143 जिसकी ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया गया है, राष्ट्रपति को इस बात के लिए सशक्त करता है कि वह ऐसे महत्व का विधि या तथ्य का प्रश्न उच्चतम न्यायालय को निर्दिष्ट कर सकेगा जिसमें उस न्यायालय की राय प्राप्त करना इष्टकर हो। यह बात बताई जा सकती है कि उस अनुच्छेद में विधि का जो प्रश्न है, उसके अन्तर्गत सांविधानिक विधि से सम्बन्धित प्रश्न आता है। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि यह बात ऐसी ही है, किन्तु यह बात इस तथ्य के कारण है कि "विधि या तथ्य का प्रश्न" शब्द विधिक शब्दावली में भलीभांति ज्ञात हैं और उनका एक विशिष्ट महत्व हो चुका है।

अनुच्छेद 143 में उन शब्दों के प्रयोग से इस बात का अनुमान नहीं निकाला जा सकता कि संविधान निर्माताओं ने संविधान और विधि के बीच प्रभेद नहीं किया था।

अनुच्छेद 245, 246 और 248 में विधियां निर्मित करने के सम्बन्ध में उपबन्ध किया गया है। अनुच्छेद 13 (2) में आए हुए "कोई विधि नहीं बनाएगा" शब्दों से उन शब्दों की 'ध्वनि निकलती है जो संविधान के अनुच्छेद 245, 246 और 248 में, जिनमें कि विधियों को निर्मित करने के सम्बन्ध में उपबन्ध किया गया है, प्रयोग किए गए हैं। मेरी राय में अनुच्छेद 13 में तथा उपर्युक्त तीनों अनुच्छेदों में "कोई विधि बनाना" शब्दों का एक ही अर्थ है अर्थात् यह कि वह ऐसी विधि है जो विधायी शक्ति के प्रयोग में बनाई गई है। उसके अतिरिक्त अनुच्छेद 13(3) में दी गई परिभाषा को देखते हुए, अनुच्छेद 13 में आए हुए "विधि" शब्द के अन्तर्गत खण्ड(3) में वर्णित विशेष उपबन्ध भी आएंगे।

यह बात पहले ही ऊपर बताई जा चुकी है कि संसद द्वारा बनाई गई विधि की दशा में, राज्य विधानमण्डलों द्वारा पारित जिन संकल्पों को उनके द्वारा उसके अनुसमर्थन की कोई बात ही नहीं है। इस तथ्य से कि अनुच्छेद 368 के अधीन किए गए संशोधनों में से किन्हीं संशोधनों की दशा में, ऐसा अनुसमर्थन आवश्यक है, यह दर्शित होता है कि संविधान का संशोधन उस प्रकार से "विधि" नहीं है जिस प्रकार से कि अनुच्छेद 13(2) या अनुच्छेद 245, 246 और 248 द्वारा परिकल्पित किया गया है।

संशोधन या अनुपूरित करने वाली सब अधिनियमितियों के साथ, किन्तु प्रिवी काउन्सिल क्षेत्राधिकार अधिनियम, 1949 को छोड़कर, भारत शासन अधिनियम, 1935 और भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम, 1947 संविधान के अनुच्छेद 395 द्वारा निरसित किए गए थे। अनुच्छेद 372 (1) में वर्णित प्रवृत्त विधि इस अर्थ में किसी सांविधानिक विधि के प्रति निर्देश नहीं करती है कि वह या तो भूतपूर्व ब्रिटिश भारत के राज्यक्षेत्र या भारतीय देशी राज्यों में समाविष्ट राज्यक्षेत्र के संविधान से सम्बन्धित विधि है। जहां तक कि ब्रिटिश भारत के राज्यक्षेत्र का सम्बन्ध था, 26 जनवरी, 1950 के पहले संविधान से सम्बन्धित जो विधि थी, वह भारत शासन अधिनियम, 1935 और भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम, 1947 में थी। जब भारत का संविधान प्रवृत्त हुआ, तो ये दोनों अधिनियम अनुच्छेद 395 द्वारा निरसित कर दिए गए। जहां तक कि भारतीय देशी राज्यों में समाविष्ट राज्यक्षेत्र का सम्बन्ध है, जहां तक कि उनके संविधानों से सम्बन्धित विधि, भारत के संविधान के उपबन्धों से असंगत थी, वहां तक वह 26 जनवरी, 1950 के पूर्व उसी समय समाप्त हो गई जबकि उक्त संविधान प्रवृत्त हो गया। उस तारीख से जो एकमात्र संविधान प्रवृत्त हुआ वह भारत का संविधान था और वह भूतपूर्व भारतीय देशी राज्यों और ब्रिटिश भारत सहित सम्पूर्ण भारत को लागू होता था। 26 जनवरी, 1950 के पूर्व जारी की गई विभिन्न अधिसूचनाओं में यह वर्णित था कि "भारत की संविधान सभा द्वारा शीघ्र ही अंगीकृत किए जाने वाला भारत का संविधान उस तारीख से "देशी राज्यों के लिए तथा भारत के अन्य भागों के लिए संविधान होगा और इसी रूप में प्रवृत्त होगा।" (देखिए – इण्डियन स्टेट्स से सम्बन्धित व्हाइट पेपर, पृष्ठ 365 से 371)। इस

प्रकार से यह प्रतीत होगा कि कोई भी ऐसी विधि, जिसमें भूतपूर्व भारतीय देशी राज्यों के राज्यक्षेत्र के संविधान अन्तर्विष्ट हों, अपने सभी सर्वांगीण उपबन्धों सहित भारत के संविधान के प्रवृत्त हो जाने के पश्चात् प्रवृत्त नहीं बनी रही। यदि अनुच्छेद 372 (1) द्वारा परिकल्पित प्रवृत्त विधि ऐसी होती जोकि 26 जनवरी, 1950 के बाद भी बनी रहती तो उसका अर्थ यह होता है कि अनुच्छेद 372 का सांविधानिक विधि से इस अर्थ में कोई भी सम्बन्ध नहीं है कि वह किसी राज्यक्षेत्र के संविधान से सम्बन्धित विधि है।

यद्यपि अनुच्छेद 372 (1) में निर्दिष्ट प्रवृत्त विधि के अन्तर्गत ऐसी विधि नहीं आती जोकि भूतपूर्व ब्रिटिश भारत या भारतीय देशी राज्यों के राज्यक्षेत्र के संविधानों से सम्बन्धित थी, फिर भी उसके अन्तर्गत ऐसी विधि आती थी जोकि ऐसे विषयों से सम्बन्धित थी जिनमें उन राज्यक्षेत्रों में प्रवृत्त संविधानों के सम्बन्ध में उपबन्ध किया गया था। ऐसी विधि जोकि कानूनी विधि या उन संविधानों के संघटनात्मक उपबन्धों के अधीन बनाए गए आदेश की प्रकृति में है, अनुच्छेद 372(1) के अधीन प्रवृत्त बनी रही। कानूनी विधि या आदेश स्पष्टतः कम महत्वपूर्ण स्वरूप का होता है और उसकी वही हैसियत नहीं हो सकती जोकि संविधान की होती है। अनुच्छेद 372(1) में जैसा कि वह है, ऐसी विधियों के बारे में उपबन्ध किया गया है जोकि भूतपूर्व ब्रिटिश भारत या भारतीय देशी राज्यों में समाविष्ट राज्यक्षेत्र में प्रवृत्त संविधानों के उपबन्धों के अधीन बनाई गई थीं। अनुच्छेद 372 (1) के इन प्रारम्भिक शब्दों "अनुच्छेद 395 में निर्दिष्ट अधिनियमितियों का इस संविधान द्वारा निरसन होने पर भी" से यह दर्शित होता है कि अनुच्छेद 372 द्वारा परिकल्पित प्रवृत्त विधियां वे विधियां हैं जोकि निरसित भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम, 1947 और भारत शासन अधिनियम, 1935 या भूतपूर्व भारतीय देशी राज्यों के संविधान के उपबन्धों के अधीन बनाई गई उसी प्रकार की अन्य विधायी अधिनियमितियों या आदेशों के अधीन बनाई गई थीं। ऐसी विधायी अधिनियमितियां या आदेश संविधान के मुकाबले में कम महत्वपूर्ण हैसियत के थे। इसलिए मेरा यह मत है कि अनुच्छेद 372 में आया हुआ "विधि" शब्द संविधान के अधीन बनाई गई विधि के प्रति, न कि संविधान के उपबन्धों के प्रति, निर्देश करता है।

अनुच्छेद 372(1) भारत शासन अधिनियम, 1935 की धारा 292 के उपबन्धों के समरूप है। जैसा कि मु० न्या० ग्वायर ने संयुक्त प्रान्त बनाम मुसम्मात अतीका बेगम और कुछ अन्य वाले मामले में मत व्यक्त किया था, प्रारूपकार ऐसे उपबन्धों को प्रायः इस दृष्टि से शामिल कर लेते हैं जिससे कि किसी ऐसी विद्यमान विधि के सम्बन्ध में ऐसी सम्भावना न रह जाए कि उसके बारे में यह अभिनिर्धारित किया जाए कि वह ऐसी विधि के, जिसने कि उसकी अधिनियमिति को प्राधिकृत किया था, निरसित कर दिए जाने के कारण अब प्रवृत्त नहीं रह गई है। जिस प्रश्न से यहां पर हमारा सम्बन्ध है, वह यह है कि अनुच्छेद 13 या अनुच्छेद 372 में जो "विधि" शब्द है, क्या वह संविधान के उपबन्धों या उसके संशोधन से सम्बन्धित उपबन्धों से सम्बन्धित हो सकता है। जहां तक कि उस प्रश्न का सम्बन्ध है, मेरी यह राय है कि अनुच्छेद 372 और अनुच्छेद 13 की भाषा से यह दर्शित होता है कि उनमें प्रयुक्त "विधि" शब्द ऐसे उपबन्धों से सम्बन्धित नहीं है। भारत का

संविधान स्पष्टतः ऐसी विधि नहीं है जोकि संविधान के प्रवृत्त होने के समय प्रवृत्त थी। स्वभावतः संविधान का संशोधन संविधान के प्रवृत्त होने के पश्चात् ही किया जा सकता है। इस प्रकार जिस विधि में संविधान के संशोधन के लिए उपबन्ध किया गया हो, वह अनुच्छेद 13(1) या अनुच्छेद 372(1) के प्रयोजन के लिए प्रवृत्त विधि नहीं हो सकती।

अनुच्छेद 13(2) की भाषा से यह दर्शित होता है कि अनुच्छेद 368 के अनुसार किए गए संविधान के संशोधनों को उसके अन्तर्गत लाना आशयित नहीं था। इस दलील को स्वीकार करना कठिन है कि संविधान निर्माताओं ने संशोधन करने की शक्ति पर अनुच्छेद 368 में कोई भी अभिव्यक्त परिसीमाएं अधिरोपित न की हों, फिर भी इन्होंने उस शक्ति को अनुच्छेद 13(2) के अधीन विवक्षा द्वारा न्यून कर दिया था। संशोधन करने की शक्ति पर उसके सम्भावित प्रभाव के सन्दर्भ में अनुच्छेद 13(2) की वास्तविक परिधि का पता लगाने के लिए, हमें उसे पृथक रूप से नहीं पढ़ना चाहिए, बल्कि अनुच्छेद 368 के साथ पढ़ना चाहिए। जेम्स बनाम कॉमनवेल्थ ऑफ ऑस्ट्रेलिया(1) वाले मामले के लार्ड राइट, एम० आर० द्वारा व्यक्त शब्दों में, अर्थान्वयन का नियम प्रयुक्त वास्तविक शब्दों को पृथक रूप से पढ़ने का नहीं है बल्कि ऐसी एकल विषम लिखत में आए हुए शब्दों के रूप में पढ़ा जाना चाहिए, जिसमें एक भाग दूसरे भाग पर रोशनी डालता हो।" मेरी राय में यदि अनुच्छेद 13(2) और अनुच्छेद 368 को साथ-साथ पढ़ा जाए, तो उससे स्पष्ट रूप से यह निष्कर्ष निकलता है कि संविधान के भाग 3 में दिए गए मूल अधिकारों का निर्वापन या न्यूनन अनुच्छेद 368 द्वारा प्रदत्त संशोधन करने की शक्ति के परे नहीं है। अनुच्छेद 13(2) और अनुच्छेद 368 के बीच जो अभिकथित विरोध की बात है, वह ऊपरी है तथा वास्तविक नहीं है, क्योंकि दोनों ही उपबन्ध भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में कार्य करते हैं और उनमें भिन्न-भिन्न उद्देश्यों के सम्बन्ध में उपबन्ध किया गया है।

संविधान में ही मामूली विधान को ऐसी बात के रूप में माना गया है जोकि संविधान के संशोधन से सुभिन्न और अलग हो। सप्तम अनुसूची के साथ पठित अनुच्छेद 245 से 248 में मामूली विधान के सम्बन्ध में उपबन्ध किया गया है, जबकि संविधान का संशोधन अनुच्छेद 368 की विषय-वस्तु है जिसे पृथक भाग में दिया गया है। अनुच्छेद 368 अनाश्रित और स्वयं पूर्ण है। अनुच्छेद 368 में "इस संविधान के उपबन्धों के अधीन रहते हुए" शब्द वैसे नहीं हैं जैसे कि अनुच्छेद 245 के आरम्भ में मौजूद हैं। इस प्रकार से अनुच्छेद 368 में उन शब्दों के अभाव से यह बात प्रकट होती है कि उस अनुच्छेद के अधीन किए गए संविधान के संशोधन की हैसियत विधायी विधि की हैसियत से ऊंची है और वे दोनों असमान गरिमा के हैं। यदि संशोधन करने की शक्ति पर कोई भी परिसीमा अधिरोपित की गई है, तो वह अनुच्छेद 368 में ही, जो कि संशोधन करने की शक्ति का एकमात्र मूल स्रोत है, न कि ऐसे अन्य उपबन्धों में जिनमें मामूली विधान के सम्बन्ध में उपबन्ध किया गया है, खोजी जा सकती है। जैसा कि ओरफील्ड द्वारा लिखित "अमेण्डमेण्ट ऑफ फेडरल कांस्टिट्यूशन" के पृष्ठ 24-26 पर बताया गया है, 'संशोधन करने की परिस्थिति पर जो परिसीमा होनी चाहिए, उसे संशोधन करने वाले खण्ड में लिखित रूप में मौजूद होनी चाहिए और संविधान के अन्य अनुच्छेदों को परिसीमाओं के रूप में

(1) (1936) ए० सी० 578.

नहीं माना जाना चाहिए"। इस तथ्य मात्र से कि संशोधन करने की शक्ति को पृथक भाग (भाग 20) में दिया गया है और उस भाग और अध्याय (भाग 11, अध्याय 1) में नहीं दिया गया है जिसमें विधायी शक्तियों के सम्बन्ध में उपबन्ध किया गया है, यह दर्शित होता है कि ये दोनों शक्तियां स्वरूप में भिन्न हैं और पृथक क्षेत्र में कार्य करती हैं। मामूली विधान पारित करने के लिए जो प्रक्रिया होती है, उसमें तथा अनुच्छेद 368 के अधीन संविधानिक संशोधन करने के लिए जो प्रक्रिया होती है, उसमें महत्वपूर्ण अन्तर है। यह तथ्य कि संशोधन विधेयक संसद् के प्रत्येक सदन द्वारा पारित किया जाता है और वे दोनों सदन ही मामूली विधान को भी पारित करते हैं, संविधायी शक्ति तथा विधायी शक्ति के बीच के अन्तर को समाप्त नहीं कर पाता, और न ही वह इस निष्कर्ष को उचित ठहराता है कि संविधायी शक्ति विधायी शक्ति का एक रूप है।

पिटीशनरों की ओर से हमारा ध्यान संविधान सभा की 29 अप्रैल, 1947 वाली कार्यवाहियों के प्रति आकृष्ट किया गया है। सरदार पटेल ने उस दिन संविधान सभा में यह प्रस्ताव प्रस्तुत किया था कि खण्ड (2) को स्वीकार कर लिया जाए। खण्ड (2), जिसमें अनुच्छेद 13 के खण्ड (1) और (2) के, जैसे कि अन्तिम रूप से उन्हें अंगीकृत किया गया, आधार के सम्बन्ध में उपबन्ध किया गया था, निम्नलिखित शब्दों में था—

> "संघ के राज्य क्षेत्रों के भीतर प्रवृत्त ऐसी सब विद्यमान विधियां, अधिसूचनाएं, विनियम, रूढ़ियां या प्रथाएं, जोकि संविधान के इस भाग के अधीन प्रत्याभूत अधिकारों से असंगत है, उस मात्रा तक निराकृत होंगी जिस तक कि वे इस भाग के उपबन्धों से असंगत है, और न ही संघ या उसका कोई एकक ऐसी कोई विधि बनाएगा जोकि किसी ऐसे अधिकार को छीनती या न्यून करती हो।"

इसके बाद श्री के० संथानम् ने खण्ड (2) के अन्तिम शब्दों के स्थान पर निम्नलिखित शब्द प्रतिस्थापित करने के लिए संशोधन करने का—प्रस्ताव रखा।

> "न ही कोई ऐसा अधिकार संविधान के संशोधन के सिवाय छीना जाएगा या न्यून किया जाएगा।"

सरदार पटेल ने उपर्युक्त संशोधन को स्वीकार कर लिया। उसके पश्चात् संशोधित खण्ड को जो कि निम्नलिखित शब्दों में है, स्वीकार करते हुए यह प्रस्ताव अंगीकृत कर लिया गया।

> "संघ के राज्य-क्षेत्रों के भीतर प्रवृत्त ऐसी सब विद्यमान विधियां, अधिसूचनाएं, विनियम, रूढ़ियां, या प्रथाएं, जोकि संविधान के इस भाग के अधीन प्रत्याभूत अधिकारों से असंगत है, उस मात्रा तक निराकृत होंगी जिस तक कि वे इस भाग के उपबन्धों से असंगत है, और न ही कोई ऐसा अधिकार संविधान के संशोधन के सिवाय छीना जाएगा या न्यून किया जाएगा।"

अक्तूबर, 1947 में, सांविधानिक सलाहकार ने संविधान का प्रारूप तैयार किया, जिसके खंड 9 का उपखंड (2) इस प्रकार था—

> "(2) इस संविधान में की किसी बात के बारे में यह नहीं समझा जाएगा कि वह राज्य को कोई ऐसी विधि बनाने के लिए समक्त करती है जोकि धारा 232

के अधीन इस संविधान के संशोधन के आधार पर न्यून किए जाने या छीने जाने के सिवाय इस भाग के अध्याय 2 द्वारा प्रदत्त अधिकारों में से किसी भी अधिकार को न्यून करती है या छीनती है, और इस उपधारा के उल्लंघन में बनाई गई कोई भी विधि उल्लंघन की मात्रा तक शून्य होगी।"

तारीख 13 अक्तूबर, 1947 वाले प्रारूपण समिति के कार्यवृत्त से यह पता चलता है कि खंड 9 को संशोधित करने की बात विनिश्चित की गई थी। परिशिष्ट में संशोधित खंड 9 इस प्रकार दिया गया था—

"9(1). इस संविधान के प्रारम्भ होने से ठीक पहिले भारत राज्य-क्षेत्रों में प्रवृत्त सब विधियां उस मात्रा तक शून्य होंगी जिस तक कि वे इस भाग के उपबन्ध से असंगत है।

(2) राज्य ऐसी कोई विधि नहीं बनाएगा जो इस भाग द्वारा प्रदत्त अधिकारों को छीनती या न्यून करती हो और इस खंड के उल्लंघन में बनी कोई भी विधि उल्लघंन की मात्रा तक शून्य होगी।

(3) इस धारा में, भारत राज्य-क्षेत्र या उसके किसी भाग में विधि के समान प्रभावी कोई अध्यादेश, आदेश, उपविधि, नियम, विनियम, अधिसूचना, रूढ़ी अथवा प्रथा "विधि" अभिव्यक्ति के अन्तगर्त होगी।"

21 फरवरी, 1948 को डाक्टर अम्बेदकर ने एक पत्र के साथ भारत के संविधान का प्रारूप संविधान सभा के अध्यक्ष के पास भेजा था। संविधान के इस प्रारूप के खंड 9 को खंड 8 के रूप में संख्यांकित किया गया था। खंड 9 के उपखंड (2) को खंड 8 के उपखंड (2) के रूप में बनाए रखा गया था। उस उपखंड में एक परन्तुक भी जोड़ दिया गया था, किन्तु वर्तमान वाद-विवाद के प्रयोजन के लिए वह बात महत्वपूर्ण नहीं है। उसके पश्चात् संविधान अन्तिम रूप से अंगीकृत कर लिया गया और उसमें अनुच्छेद 13 शामिल था, जिसके उपबन्धों को इसके पहले अविकल रूप में दे दिया गया है।

पिटीशनर की ओर से यह दलील दी गई कि प्रारूपण समिति के सदस्यों ने, जोकि भारत के विख्यात वकील थे, सांविधानिक सलाहकार द्वारा तैयार किए गए संविधान के प्रारूप के खंड 9 को इस दृष्टि से जानबूझ कर संशोधित किया था जिससे कि श्री संथानम् द्वारा प्रस्तावित संशोधन के प्रभाव को समाप्त किया जा सके, जिसे संविधान सभा ने स्वीकार कर लिया क्योंकि प्रारूप समिति के सदस्य यह चाहते थे कि मूल अधिकारों को संविधान के संशोधन द्वारा न्यून नहीं किया जाना चाहिए या छीना नहीं जाना चाहिए।

उपर्युक्त दलील को स्वीकार करने में मुझे कठिनाई महसूस हो रही है। यह बात समझ में नहीं आ रही है कि प्रारूपण समिति के सदस्य उस विनिश्चय को उलट देंगे, जिसे संविधान सभा ने उस समय किया था जबकि उसने श्री संथानम् द्वारा प्रस्तावित संशोधन को स्वीकार किया था और उस खण्ड को पारित करने सम्बन्धी प्रस्ताव को अंगीकृत किया था, जिसमें वह संशोधन दिया गया था। श्री संथानम् के भाषण से यह बात प्रतीत होगी कि उन्होंने सन्देह दूर करने की दृष्टि से उस संशोधन के लिए प्रस्ताव रखा था। यद्यपि

कार्यवृत्त में यह दर्शित करने के लिए कोई भी बात मौजूद नहीं है कि प्रारूपण समिति के सदस्यों ने "संशोधित खण्ड में श्री संथानम् के संशोधन को विनिर्दिष्ट रूप से समाविष्ट" क्यों नहीं किया, फिर भी ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने ऐसा किया था क्योंकि उनका दृष्टिकोण यह था कि यह बात अनावश्यक है। डाक्टर अम्बेदकर ने, जो कि प्रारूपण समिति के अध्यक्ष थे, तारीख 21 फरवरी, 1948 को अपने पत्र में संविधान सभा के अध्यक्ष को यह लिखा था—

"प्रारूप तैयार करने में, प्रारूपण समिति से निश्चित रूप से यह आशा की गई थी कि वह उन विनिश्चयों का अनुसरण करेगी जिन्हें संविधान सभा ने या संविधान सभा द्वारा नियुक्त विभिन्न समितियों ने किए थे। जहां तक सम्भव हुआ प्रारूपण समिति ने ऐसा करने की कोशिश की है। किन्तु कुछ ऐसे भी मामले थे जिनके सम्बन्ध में प्रारूपण समिति ने किन्हीं तब्दीलियों के सम्बन्ध में सुझाव देना आवश्यक समझा था। ऐसे सभी तब्दीलियां सुसंगत प्रभारों को रेखांकित करके या पार्श्व रेखांकन द्वारा प्रारूप में उपदर्शित की गई है। प्रारूपण समिति ने प्रत्येक ऐसी तब्दीली के लिए कारण बताते हुए पाद-टिप्पण अन्तःस्थापित करने में सावधानी बरती है।"

अतः यह बात स्पष्ट है कि यदि संविधान सभा के विनिश्चय से दूर हटने की दृष्टि से प्रारूप-अनुच्छेद में महत्वपूर्ण तब्दीली करने का विनिश्चय किया गया था तो वह तब्दीली सुसंगत उपबन्ध को रेखांकित करके या पार्श्व रेखांकन द्वारा और ऐसे पाद-टिप्पण को भी अन्तःस्थापित करके जिसमें तब्दीली के लिए कारण बताए गए हों, उपदर्शित की गई होती। एक बहुत ही महत्वपूर्ण तथ्य जिसे इस सन्दर्भ में नजर-अन्दाज नहीं किया जाना चाहिए, वह टिप्पण है जो कि प्रारूप-अनुच्छेद 8 के नीचे अक्तूबर, 1948 में दिया गया था। उस टिप्पण में यह बात बताई गई थी—

"अनुच्छेद 8 का खण्ड (2) संविधान के अनुच्छेद 304 के उपबन्धों को अध्यारोहित (ओवर-राइड) नहीं करता है। उक्त खण्ड में प्रयुक्त "विधि" अभिव्यक्ति का आशय यह है कि उससे 'मामूली विधान' अभिप्रेत है। किन्तु किसी भी सम्भावित सन्देह को दूर करने की दृष्टि से अनुच्छेद 8 में निम्नलिखित संशोधन किया जा सकता है —

अनुच्छेद 8 खण्ड (2) के परन्तुक में, 'इस खण्ड में कि किसी भी बात के बारे में × × ×' शब्दों के पश्चात् 'इस संविधान के अनुच्छेद 304 के उपबन्धों पर प्रभाव नहीं डालेगी या शब्द अन्तःस्थापित किए जाएं।"

("देखिए—शिव राव द्वारा लिखित दि फ्रेमिंग ऑफ इण्डियाज कांस्टिट्यूशन खण्ड 4 के पृष्ठ 26 को)।

सांविधानिक सलाहकार ने उपर्युक्त टिप्पण और उसी प्रकार के अन्य टिप्पण प्रस्तुत किए थे तथा प्रारूपण समिति के और/या विशेष समिति के विचारों को पूरी तरह से अविकल रूप में प्रस्तुत किया था। (देखिए—शिव राव द्वारा लिखित "दि फ्रेमिंग आफ इंडियाज कांस्टिट्यूशन

खंड I का पृष्ठ 4)। इस प्रकार से यह लगता है कि कोई भी संकेत मौजूद नहीं है कि प्रारूपण समिति के सदस्य मूल अधिकारों से सम्बन्धित उपबन्धों को अनन्य बनाकर संविधान सभा के विनिश्चय से हटना चाहते थे। उसके विपरीत, उस टिप्पण से यह पता चलता है कि उन्होंने संविधान सभा के विनिश्चय में समाविष्ट विचारों को स्वीकार कर लिया था।

इसके अलावा मेरा यह मत है कि यदि मूल अधिकारों का परिरक्षण बहुत ही औचित्यपूर्ण तथा महत्वपूर्ण आवश्यकता थी, तो यह बात तर्कसंगत मालूम होती है कि अनुच्छेद 368 में ऐसा परन्तुक जोड़ दिया गया होता जिसमें मूल अधिकारों के अन्यूनीकृत रूप में बने रहने की गारण्टी अभिव्यक्त रूप से दी गई होती। किन्तु यह बात नहीं की गई थी।

जिस दूसरे प्रश्न की ओर अब हमने ध्यान देना है वह संविधान के संशोधन करने की आवश्यकता तथा उन कारणों के बारे में है जो कि संविधान निर्माताओं की दृष्टि में संविधान के संशोधन सम्बन्धी उपबन्ध करने के लिए महत्वपूर्ण थे। संविधान में किसी देश के प्रशासन की मोटी रूपरेखा के सम्बन्ध में उपबंध किया जाता है और उसका सम्बन्ध सरकार की समस्याओं से ही होता है। ऐसा होता है, भले ही सरकार शक्ति के बलपूर्वक अधिग्रहण के परिणामस्वरूप अस्तित्व में आई है या वह शक्ति के विधिक अन्तरण के परिणामस्वरूप अस्तित्व में आई है। संविधान के निर्माण के समय सर्वाधिक परस्पर विरोधी सिद्धान्तों के परिणामस्वरूप उत्पन्न होने वाले विचारों सहित बहुत से विचार प्रस्तुत किए जाते हैं। अधिकांश मामलों में संविधान विरोधी विचारों के बीच समझौते का परिणाम होता है। जो संविधान बनाते हैं, वे इस तथ्य से अनभिज्ञ नहीं रह सकते कि किसी संविधान को बनाने में अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा और यह कि यह बात एक पीढ़ी की बुद्धि से परे है कि वह ऐसी सभी समस्याओं के लिए, जिनका राज्य को आगे आने वाले दिनों में प्रगति के पथ पर चलते हुए सामना करना पड़ सकता है, स्थायी रूप से कार्यकारी हल निकाल सकेगी। कभी-कभी न्यायिक निर्वचन के कारण संविधान का आधार विस्तृत बन सकता है और संविधान की नीरसता में रस का संचार इस प्रकार से कर सकता है जिससे कि वह राज्य की प्रगति का साधन बन सके। जैसा कि संविधान निर्माताओं ने परिकल्पना की थी। ऐसे अवसर भी आ सकते हैं जब कि न्यायिक निर्वचन के परिणामस्वरूप संविधान या उसके भाग के किसी उपबंध का गुण समाप्त हो जाए, यदि संविधान के संशोधन के लिए कोई भी उपबंध नहीं किया जाएगा तो समय की बदलती हुई आवश्यकता के अनुसार उसे ढालने के लिए लोगों के पास कोई भी उपाय या साधन नहीं रह जाएगा और उन्हें विवश होकर संविधान को बदलने वाले इतर सांविधानिक ढंग अपनाने पड़ेंगे। इतर सांविधानिक ढंग कभी-कभी रक्तहीन हो सकते हैं किन्तु उनके परिणाम स्वरूप अनेक नागरिकों का जीवन भी प्रायः समाप्त हो जाता है और उसके पीछे घुटन पूर्ण कटुता ही बची रहती है। जैसा कि बर्क ने अपनी पुस्तक "रेफ्लेक्शंज आन रेवोल्यूशन" में कहा था, जिस राज्य में तबदीली के लिए कोई साधन मौजूद न हो, वह ऐसा राज्य है जो कि अपने परिरक्षण के साधन के बिना है। ऐसे साधन के बिना संविधान के उस भाग को हानि पहुंचने का खतरा

हो सकता है जिसे कि वह बहुत ही पवित्रता के साथ परिरक्षित रखना चाहता है। डाइसी के मतानुसार, फ्रांस के अनम्य बारह संविधानों में से प्रत्येक संविधान का जीवन-काल औसतन दस वर्ष से कम की कालावधि तक ही रहा और प्रायः हिंसा द्वारा ही समाप्त किया गया। लुई फिलिप्स का राजतन्त्र उस समय से सात वर्ष के भीतर नष्ट कर दिया गया था जबकि टुकविले ने यह बात बताई थी कि चार्टर के अनुच्छेदों को परिवर्तित करने के लिए विधिक रूप से कोई भी शक्ति मौजूद नहीं है। कम से कम एक महत्वपूर्ण उदाहरण है—और उसी प्रकार की बातों के अन्य उदाहरण भी क्रान्तिकारी फ्रांस के इतिहास से प्राप्त किए जा सकते हैं—जब संविधान की अपरिवर्तनीयता उनके हिंसापूर्ण विध्वंस करने का आधार या बहाना बन गई थी। डाइसी के शब्दों में—

"और न तो उन खतरों को जिनमें फ्रांस उस अपरिवर्तनीयता के कारण पड़ा हुआ था, जिसे 1848 के राजनयिकों ने संविधान में विनिहित किया था, आपवादिक खतरों के रूप में माना जाना चाहिए, वे खतरे ऐसी त्रुटि के परिणामस्वरूप उत्पन्न हुए थे जो कि अनम्य संविधान में अन्तर्निहित होती है। ऐसी विधियों को जिनमें तब्दीली नहीं की जा सकती, सृष्ट करने का प्रयत्न प्रभुत्वसम्पन्न शक्ति के प्रयोग में बाधा डालने का प्रयत्न है। इसीलिए इसके परिणामस्वरूप विधि के शब्दों और राज्य की वस्तुतः सर्वोच्च शक्ति की इच्छा शक्ति के बीच टकराव उत्पन्न होता है। फ्रांस के निर्वाचकों का बहुमत संविधान के अधीन फ्रांस की प्रभुत्वसम्पन्न शक्ति था, किन्तु उस नियम के परिणामस्वरूप जिसके द्वारा राष्ट्रपति के वैध पुनर्निर्वाचन को निवारित किया गया था, वस्तुतः देश की विधि और निर्वाचकों के बहुमत की इच्छा शक्ति के बीच टकराव हुआ था, और इसीलिए, जैसा कि अनम्य संविधान का स्वाभाविक परिणाम हुआ करता है, उसके कारण विधि के शब्दों तथा प्रभुत्वसम्पन्न शक्ति की इच्छाओं के बीच टकराव हुआ। यदि फ्रांस के संविधानों की अनम्यता के परिणामस्वरूप क्रान्ति हुई थी, तो दूसरी ओर इंग्लैण्ड के संविधानों की नमनीयता ने कम से कम एक बार हिंसा द्वारा विध्वंस से बचाया था।"

डाइसी ने उपर्युक्त विचारों को निम्नलिखित शब्दों में स्पष्ट किया था :—

"ऐसे छात्र के लिए, जो इतने समय बाद फर्स्ट रिफार्म बिल के इतिहास का मनन अध्ययन करता है, यह बात स्पष्ट है कि 1832 में पार्लियामेण्ट के सर्वोच्च विधायी प्राधिकार के कारण राष्ट्र विधिक सुधार के आवरण में हुई राजनीतिक क्रान्ति को सहन करने में सफल हुआ था। संक्षेप में, संविधान की अनम्यता के परिणामस्वरूप············नवीन प्रक्रिया को लाने में बाधा उत्पन्न होती है, किन्तु चूंकि उसके परिणामस्वरूप तब्दीली लाने में बाधा उत्पन्न होती है, इसलिए विपरीत परिस्थितियों में, उसके परिणामस्वरूप क्रान्ति हो सकती है या क्रान्ति के लिए उकसाया जा सकता है।"

फाइनर के मतानुसार, संशोधन करने वाला खंड संविधान के लिए इतना महत्वपूर्ण होता है कि उसे स्वयं संविधान कहा जा सकता है। (देखिए—थ्योरी एण्ड प्रैक्टिस ऑफ माडर्न गवर्नमेण्ट पृष्ठ 156-157)। यह बात कही गई है कि संशोधन करने वाला खंड संविधान

का सर्वाधिक महत्वपूर्ण भाग होता है। उसके अस्तित्व और उसकी सच्चाई की बात अर्थात् वास्तविक और स्वाभाविक दशाओं के अनुसार उसके होने की बात इस प्रश्न पर निर्भर है कि क्या राज्य का विकास शान्तिपूर्ण वातावरण बनाए रखकर किया जाएगा या उसमें गतिहीनता, प्रतिगमन तथा क्रान्ति के द्वारा परिवर्तन लाया जाएगा। ऐसे संविधान में जिसका भले ही अन्य भाग अपूर्ण तथा गलत हो, उस दशा में आसानी के साथ अनुपूर्णीय बातें जोड़ी जा सकती हैं और उसे उस दशा में ठीक किया जा सकता है, यदि संविधान में राज्य को सच्चाई के साथ संगठित रूप में प्रस्तुत किया गया है, किन्तु यदि यह बात पूरी नहीं होती, तो गलती उस समय तक बढ़ती रहेगी कम से कम क्रान्ति ऐसे राज्य के अस्तित्व को बचाया जा सकेगा। (देखिए—बर्गिस द्वारा लिखित पोलिटिकल साइंस एण्ड कम्पैरेटिव कांस्टिट्यूशनल लॉ, खंड 1 पृष्ठ 137)। बर्गिस ने इसके अलावा निम्नलिखित शब्दों में अपना मत व्यक्त किया—

> उसी प्रकार से यह बात सच है कि राज्य के जीवन के लिए विकास उसी प्रकार आवश्यक है जिस प्रकार कि उसका अस्तित्व। यदि आप पूर्वकथित को प्रतिषिद्ध कर देते है तो पश्चात्कथित उसी प्रकार से है जिस प्रकार शरीर में से आत्मा निकल जाने के बाद शरीर की स्थिति होती है। जबकि किसी लोकतान्त्रिक राजनीतिक समाज में असंदिग्ध बहुमत की पूर्णरूपेण परिपक्व, बहुत दिनों से चली आ रही तथा सोच समझकर सृष्ट की गई इच्छा शक्ति को, उसकी संघटनात्मक विधि के संशोधन में अल्पमत की इच्छा शक्ति द्वारा निरन्तर तथा सफलतापूर्वक निवारित किया जाता है तो राज्य को क्रान्ति तथा हिंसा से उतना ही खतरा होता है जितना कि बहुमत की सनक से वहां होता है जहां साधारण बहुमत की प्रभुसत्ता को अभिस्वीकृत किया गया हो। बहुत ही तेजी के साथ तब्दीली लाने के विरुद्ध जो अभिरक्षाएं होती हैं, उन्हें बढ़ा चढ़ा कर इतना नहीं कर दिया जाना चाहिए जिससे कि वास्तविक प्रभुत्वसम्पन्न सत्ताच्युत होने की सीमा तक पहुंच जाए।" (देखिए—बर्गिस द्वारा लिखित पोलीटिकल साइंस एण्ड कम्पैरेटिव कांस्टिट्यूशनल लॉ, खंड 1 पृष्ठ 152)।

वर्तमान दशाओं, सम्बन्धों और अपेक्षाओं के अनुसार कार्य करने के लिए संविधान के संशोधन को न्यायोचित ठहराते हुए, बर्गिस ने यह मत व्यक्त किया कि जैसा मिराब ने बहुत ही अच्छे ढंग से व्यक्त किया था, हमें निचले स्तर की नैतिकता के लिए ऊंचे स्तर की नैतिकता को खो नहीं देना चाहिए।

जान स्टुअर्ट मिल के मतानुसार, किसी भी संविधान के स्थायी होने की आशा तब तक नहीं की जा सकती जब तक कि वह प्रगति तथा शान्ति की गारण्टी नहीं देता। मानव समाज समय के व्यतीत होने के साथ-साथ प्रगति करता है और उसमें विकास होता है और जब तक कि ऐसे सांविधानिक पुर्नसमायोजनों के लिए ऐसा उपबंध न कर दिया जाए, जो आन्तरिक विकास के सम्बन्ध में अपेक्षित हो, तब तक वे गतिहीन तथा प्रतिगामी बने रहेंगे। (देखिए—जे०डब्ल्यू० गार्नर द्वारा लिखित पोलीटिकल साइंस एण्ड गवर्नमेण्ट पृष्ठ 536-537)।

विलिस ने अपनी पुस्तक कांस्टिट्यूशनल लॉ ऑफ यूनाइटेड स्टेट्स में संविधान के संशोधन के प्रश्न के सम्बन्ध में निम्नलिखित शब्दों में विचार व्यक्त किए हैं—

सांविधानिक विधि के परिवर्तन और प्रगति पर वर्तमान समय में ही क्यों विराम लगा देना चाहिए। हमने उसमें सदैव तब्दीली तथा विकास किया है। विगत समय में भी हमें तब्दीली तथा विकास की आवश्यकता पड़ चुकी है, क्योंकि हमारे आर्थिक और सामाजिक जीवन में तब्दीलियां तथा प्रगति हुई है। हमारे आर्थिक तथा सामाजिक जीवन में कदाचित तब्दीलियां होती ही रहेंगी और ऐसी तब्दीलियों की आवश्यकता की पूर्ति के लिए हमारी सांविधानिक विधि में, भविष्य में, तब्दीलियां ठीक उसी प्रकार होनी चाहिएं जिस प्रकार विगत समय में तब्दीली करने की आवश्यकता थी। कांस्टिट्यूशनल कन्वेन्शन के निर्माताओं को इस बात का आभास था कि भविष्य में तब्दीलियां करनी होंगी, अन्यथा, उन्होंने संशोधन के लिए उपबंध न किया होता। वे हमारे संविधान का स्थायित्व चाहते थे और उस उद्देश्य की पूर्ति के लिए कोई दूसरा रास्ता नहीं था। सन् 1789 के लोगों को वर्तमान समय के लोगों की अपेक्षा अधिक प्रभुत्वसम्पन्न प्राधिकार प्राप्त नहीं था।"

संविधान के संशोधन के लिए किए गए उपबंध के सम्बन्ध में दलील देते हुए तथा साथ ही साथ संशोधन की अत्यधिक सरल पद्धति के विरुद्ध चेतावनी देते हुए विलिस ने यह लिखा है —

"यदि संशोधन के लिए कोई भी उपबंध नहीं किया जाएगा तो क्रान्ति का खतरा निरन्तर बना रहेगा। यदि संशोधन की पद्धति अत्यधिक सरल होगी तो सदैव अत्यधिक जल्दी में कार्यवाही करने का खतरा बना रहेगा। दोनों स्थितियों में हमारे राजनीतिक अंगों के धराशायी होने का खतरा बना रहेगा। संविधान के संशोधन के लिए उपबंध करने का प्रयोजन संविधान को व्यवस्थित ढंग से आहिस्ता-आहिस्ता बदलने के लिए सम्भव बनाना है, क्योंकि सामाजिक परिस्थितियों में जो तब्दीलियां की जाती हैं, उनके परिणामस्वरूप मूल विधि में तब्दीली करना इसलिए आवश्यक हो जाता है जिससे कि वह विधि ऐसी सामाजिक तब्दीली के अनुसार बन सके।"

इस सम्बन्ध में हम हेराल्ड लास्की के उन शब्दों का स्मरण कर सकते हैं जो उन्होंने न्यायाधिपति होम्स की प्रशंसा करते हुए प्रयुक्त किए थे तथा इसके साथ ही, न्यायाधिपति होम्स का संयुक्त राज्य अमरीका के संविधान के सम्बन्ध में जो दृष्टिकोण था, हम उसे भी स्मरण करना चाहेंगे। लास्की का यह मत है कि—

"अमरीका का संविधान बीसवीं शताब्दी के अमरीका के नागरिक को इस बात के सम्बन्ध में विवश करने के लिए निर्मित नहीं किया गया था, कि वह अपने पूर्वजों के विचारों के सीमित दायरे में चले। अमरीका के संविधान को इस प्रकार से बनाया

जाना चाहिए जिससे कि वह नवीन आवश्यकताओं के अनुसार बन सके.........। विधि में तब्दीली तथा विकास के लिए उपबन्ध वहां भी होना चाहिए जहां कि वकील उनकी विवक्षाओं को नापसंद करता है। भले ही वह उनकी विवक्षाओं के प्रति सशंकित हो लेकिन उसे यह अधिकार नहीं है कि वे जो करना चाहते हैं उस के स्थान पर अपने काल्पनिक आदर्श के नमूने प्रतिस्थापित करे।"

आइवर जैनिंग्स के मतानुसार, नमनीयता को गुण माना जाता है और अनम्यता को अगुण, क्योंकि संविधान निर्माताओं लिए उन परिस्थितियों के बारे में जिनमें वह लागू होगा और उन समस्याओं के बारे में जो कि उत्पन्न होंगी, पहले से ही अनुमान लगा लेना असम्भव है, उनमें भविष्यवाणी करने का गुण विद्यमान नहीं होता। संविधान को न केवल उन परिस्थितियों में कार्य करना होता है जिनमें कि उसका प्रारूपण किया जाता है बल्कि शताब्दियों बाद भी उसे कार्य करना होता है। (देखिए—सम करेक्टरिस्टिक्स ऑफ इण्डियन कांस्टिट्यूशन, पृष्ठ 14 और 15)। जैनिंग्स ने इसके बाद यह मत व्यक्त किया है—

"वास्तविक कठिनाई यह है कि जीवन और समाज की समस्याएं अनन्त रूप से परिवर्तनशील हैं। प्रारूपकार उन समस्याओं के बारे में सोचता है जिनके बारे में वह पहले से अनुमान लगाता है किन्तु वह ऐसे चश्मे से देखता है जिससे उसे धुंधला दिखाई पड़ता है। उसे इस बात का ज्ञान नहीं हो सकता कि दस, बीस, पचास या सौ वर्ष में कौन सी समस्याएं उत्पन्न होंगी। विधायी शक्ति पर किसी भी प्रकार के निर्बन्धन से हानि हो सकती है, क्योंकि नवीन परिस्थितियों में उस निर्बन्धन के प्रभाव के बारे में पूर्वानुमान नहीं लगाया जा सकता।"

यह बात कही गई है कि संशोधन का तन्त्र सुरक्षा वाल्व के समान इस प्रकार से बना हुआ होना चाहिए जिससे कि वह यन्त्र न तो बहुत ही आसानी से प्रचालित किया जा सके और न ही उसे सुचारू रूप से चलाने के लिए इतनी शक्ति एकत्र करने की आवश्यकता हो जो कि इसका विस्फोट करने के लिए पर्याप्त हो। इस बात की व्यवस्था करने में एक ओर तो प्रगति की आवश्यकताओं को और दूसरी ओर रूढ़िवादिता की आवश्यकताओं को उचित महत्व दिया जाना चाहिए। संविधान के शब्दों की मूर्तिवत् पूजा न तो पवित्र लिखत के रूप में ऐसी गलत रूढ़िवादितावश इस प्रकार से करनी चाहिए जो कि पुरानी धारणाओं के फटे लबादे को तब तक छोड़ना नहीं चाहती जब तक कि शीत से उसके अस्तित्व का ही अन्त न हो जाए, और न ही उसे राजनीतिज्ञों का खिलौना ही बनने दिया जाना चाहिए जिससे कि वे उसमें ऐसी गड़बड़ी कर सकें या उसे इस स्तर तक नीचे गिरा सकें जितना कि मामूली कानून होता है। (देखिए—जे० डब्ल्यू० गार्नर द्वारा लिखित पोलीटिकल साइन्स एण्ड गवर्नमेण्ट, पृष्ठ 536)।

हमारे संविधान निर्माताओं को, तब्दीली की आवश्यकता के साथ-साथ, अविच्छिन्नता की जरूरत के साथ समन्वय करने की आवश्यकता का ज्ञान था। वे मानव इतिहास के इस स्पष्ट तथ्य के बारे में अनभिज्ञ नहीं थे कि अविच्छिन्नता के बिना तब्दीली अराजकता हो सकती है; अविच्छिन्नता के साथ जो तब्दीली की जाती है उससे प्रगति हो सकती है;

और तब्दीली के बिना अविच्छिन्नता से कोई भी प्रगति नहीं हो सकती। इसलिए संविधान निर्माताओं ने असंशोध्य संविधान के होने के तथा ऐसे संविधान के होने के जिसका बहुत ही सरलता के साथ संशोधन किया जा सकता हो, खतरे के बीच संतुलन कायम किया था। तदनुसार यह उपबन्ध किया गया है कि ऐसे किन्हीं अत्यंत अमहत्वपूर्ण संशोधनों को छोड़कर जो कि साधारण बहुमत द्वारा पारित किए जा सकते हैं, अन्य संशोधन केवल तभी किए जा सकते हैं यदि उन्हें संसद् का प्रत्येक सदन उस सदन की कुल सदस्य संख्या के बहुमत से और प्रत्येक सदन के उपस्थित और मतदान करने वाले सदस्यों के दो-तिहाई से अन्यून बहुमत से पारित किए जाते हैं। इसके अलावा इस बात के लिए भी उपबंध किया गया है कि किन्हीं ऐसे मामलों की बाबत जो राज्य के हित पर प्रभाव डालते हैं, ऐसे संशोधन को राज्यों में कम से कम आधे राज्यों के विधानमण्डलों का उस प्रयोजन के लिए (उन विधानमण्डलों से) पारित संकल्पों द्वारा अनुसमर्थन प्राप्त होना चाहिए। अतः यह बात कही जा सकती है कि जहां संविधान के संशोधन के लिए उपबन्ध किया गया है, संशोधन करने की प्रक्रिया इतनी सरल नहीं है कि वह राजनीतिज्ञों का खिलौना इस प्रकार से हो जाए जिससे वे संविधान में ऐसी गड़बड़ी कर सकें तथा उसे इस स्तर तक नीचे गिरा सकें कि वह मामूली कानून हो जाए। यह तथ्य कि संविधान के प्रवृत्त होने के पश्चात् प्रथम दो शताब्दियों के दौरान, संशोधन-विधेयक अपेक्षित बहुमत से किसी कठिनाई के बिना पारित किए गए थे, इतिहास का संयोग-मात्र है और इस बात का कारण यह है कि केन्द्र में तथा बहुत से राज्यों में एक ही दल का पूर्ण बहुमत बना रहा था। इस परिस्थिति के कारण इस तथ्य के महत्व को समाप्त नहीं किया जा सकता कि सामान्य परिस्थितियों में जबकि सत्तारूढ़ दल तथा विपक्षी दल, दोनों ही संतुलित हों तो संविधान को संशोधित करने की पद्धति इतनी साधारण नहीं है।

जिस दूसरी परिस्थिति को नजर से ओझल नहीं किया जाना चाहिए, वह यह है कि किसी भी पीढ़ी के पास बुद्धि का एकाधिकार नहीं होता है और न ही किसी ऐसी पीढ़ी को इस बात का अधिकार होता है कि वह भावी पीढ़ियों के पांव में अपनी आवश्यकताओं के अनुसार सरकार के तन्त्र तथा विधियों को तब्दील करने के सम्बन्ध में बेड़ियां ही डाल दे। यद्यपि भावी सरकार के संगठन और कार्य करने के लिए जो मार्गदर्शक सिद्धान्त होते हैं, उन्हें अधिकथित किया जा सकता है और यद्यपि विधायी क्रियाकलाप के लिए मानक भी विहित किए जा सकते हैं, फिर भी न तो मार्गदर्शक सिद्धान्तों को इतना अनम्य होना चाहिए और न ही मानकों को इतना अनम्य और अपरिवर्तनशील होना चाहिए जिससे कि उनमें तब्दीली, परिवर्तन या प्रतिस्थापन करना सम्भव न हो सके, भले ही भावी पीढ़ियां उनमें तब्दीली, परिवर्तन या प्रतिस्थापन करना चाहती हैं।

ऐसी स्थिति में, मार्गदर्शक सिद्धान्तों और मानकों को भावी समय में लोगों की प्रभुत्वसम्पन्नता इच्छा-शक्ति के निर्बाध प्रयोग पर बन्धन और बेड़ियों के रूप में माना जाएगा और उन बन्धनों और बेड़ियों को सांविधानिक रीतियों से अन्यथा रीतियों द्वारा तोड़ा जाएगा। यह धृष्टतापूर्ण तथा निरर्थक कार्य ही होगा और एक पीढ़ी द्वारा भावी पीढ़ियों की बुद्धिमत्ता और सुबोध में अविश्वास करना निकटदृष्टीय सम्मोहन के अलावा और कुछ भी नहीं होगा और उसे इस प्रकार से मानने के समान होगा मानो कि आने वाली पीढ़ियां

विधि-सक्षम नहीं होगी । संशोधन करने की शक्ति के अनुदत्त किए जाने की बात इस उपधारणा पर आधारित है कि जिस प्रकार से मनुष्य के अन्य कार्यों में होता है, उसी प्रकार से संविधानों में भी होता है, तथा उनमें सम्पूर्णताएं नहीं होती हैं और यह कि मानव मस्तिष्क और अधिक अच्छी व्यवस्था के लिए किए गए अपने अभियान पर लगाए गए बन्धनों से कभी समझौता नहीं कर सकता। ऐसा कोई बन्धन जो कि सम्पूर्णता तथा अन्तिमता के विचार का परिणाम होता है निश्चित रूप से क्रान्ति करने की भावना को जन्म देता है। सान्तयाना ने एक बार कहा था—"कभी-कभी क्रान्ति करने का अधिकार क्यों होता है ? कभी-कभी वफादारी के प्रति कर्त्तव्य क्यों निभाना पड़ता है ? इसलिए क्योंकि यदि सम्पूर्ण विकल्पातीत दर्शन को अन्तिमता प्रदान की जाती है, तो वह मिथ्या है और स्वार्थपरता से पूर्ण दृष्टिकोण ही अभिभाषी होता है, क्योंकि इच्छाशक्ति न तो व्यक्ति में और न ही मानवता में आत्यंतिक होती है ।" [देखिए—न्यायाधिपति होम, 1931 संस्करण पृष्ठ 117 में फ्रैंक फर्कर द्वारा उद्धृत जर्मन फिलासफी एण्ड पोलीटिक्स (1915)पृष्ठ 645-649] विकल्पातीत दर्शन के लिए जो बात सच है वही बात सांविधानिक उपबन्ध के लौकिक क्षेत्र में भी समान रूप से सच है। मल्फोर्ड के मतानुसार, असंशोध्य संविधान, समय का निकृष्टतम अत्याचार है, या बल्कि समय का अत्याचार ही है। वह किसी ऐसे कन्वेन्शन के लिए जिसे बिना कोई समय निश्चित किए हुए स्थगित कर दिया गया हो, सांसारिक व्यवस्था करता है वह राजदण्ड को स्वतन्त्र लोगों के ऊपर मृतकों के हाथों में दे देता है तथा लोगों के लिए जो एकमात्र बात छूट जाती है, वह उनके ही श्मशानों के पत्थरों में से सिंहासन बनाने की है। (देखिए—जे० डब्ल्यू० गार्नर लिखित पोलीटिकल साइन्स एण्ड गवर्नमेण्ट पृष्ठ 537-538)।

वुडरो विल्सन के मतानुसार, राजनीतिक स्वतन्त्रता उन लोगों का अधिकार होता है जो अपनी ही आवश्यकताओं और हितों के अनुसार, शासन को समायोजित करने की दृष्टि से शासित होते हैं। इस संदर्भ में वुडरो विल्सन ने बर्क के विचारों को उद्धृत किया जिसने यह मत व्यक्त किया था कि प्रत्येक पीढ़ी अपने समक्ष कुछ ऐसे मनपसंद उद्देश्य रखती है जिसका वह स्वतन्त्रता तथा सुखद रूप में ही अनुसरण करती है। स्वतन्त्रता के आदर्शों को पीढ़ी-दर-पीढ़ी नियत नहीं किया जा सकता; केवल उसकी संकल्पना को निश्चित किया जा सकता है और उसके उस व्यापक बिम्ब को ही जो कि वह है, निश्चित किया जा सकता है। अपरिवर्तनशील विधि में निश्चित की गई स्वतन्त्रता, स्वतन्त्रता नहीं होती। शासन जीवन का भाग होता है और जीवन के साथ-साथ उसमें तब्दीली होती रहनी चाहिए और उसी प्रकार से उसके उद्देश्यों में तथा उसकी परिपाटियों में भी तब्दीली होती रहनी चाहिए; केवल इसी सिद्धान्त को अपरिवर्तनशील रहना चाहिए—अर्थात स्वतन्त्रता के इस सिद्धान्त को अपरिवर्तनशील रहना चाहिए कि समायोजन सम्बन्धी सर्वाधिक निर्बाध अधिकार और अवसर विद्यमान होना चाहिए। राजनीतिक स्वतन्त्रता शासन की शक्ति और व्यक्ति के विशेषाधिकार के बीच सर्वाधिक व्यावहारिक समायोजन में ही अन्तर्निहित होती है; और समायोजन को परिवर्तित करने की स्वतन्त्रता उतनी ही महत्वपूर्ण होती है जितनी की नागरिक के कार्यों की प्रगति और उसकी सन्तुष्टि होती है। (देखिए—वुडरो विल्सन द्वारा लिखित कांस्टिट्यूशनल गवर्नमेण्ट इन दि यूनाइटेड स्टेट्स पृष्ठ 4-6)।

जैफर्सन के मतानुसार, प्रत्येक पीढ़ी को पृथक राष्ट्र के रूप में समझा जाना चाहिए, जिसे बहुमत की इच्छा शक्ति के कारण ऐसा अधिकार प्राप्त होता है जो कि उन्हें स्वयं बन्धन में रखता है, किन्तु उन्हें ऐसा कोई अधिकार प्राप्त नहीं होता जो भावी पीढ़ियों को किसी अन्य देश के निवासियों से अधिक बन्धन में रख सके। उपभोग की दृष्टि से, पृथ्वी जीवित व्यक्तियों की होती है; मृतकों को न तो उसके सम्बन्ध में कोई शक्ति प्राप्त होती है और न अधिकार ही। जैफर्सन ने यह दलील दी थी कि संविधान में प्रत्येक 19 वर्ष के बाद संशोधन कर दिया जाना चाहिए या संशोधन के लिए अवसर दिया जाना चाहिए। उसी महान अमरीकी राजनीतिज्ञ ने यह मत व्यक्त किया था—

"यह विचार कि राष्ट्र के उपयोग के लिए स्थापित अंगों में, अपने ही उद्देश्यों की पूर्ति के लिए भी, इसलिए न तो हस्तक्षेप किया जा सकता है और न ही तब्दीली की जा सकती है, क्योंकि उन व्यक्तियों में जो कि जनता के न्यासी के रूप में उनका प्रबन्ध करने के लिए लगाए जाते हैं, इस प्रकार के अधिकारों के निहित होने के सम्बन्ध में उपधारणा करना अकारण ही होता है, राजशक्ति के दुरुपयोगों के विरुद्ध कदाचित अभिनन्दनीय उपबन्ध हो सकता है, किन्तु वह स्वयं राष्ट्र के विरुद्ध सर्वाधिक असंगत प्रतीत होता है। फिर भी हमारे वकील और पुजारी साधारणतः इस सिद्धान्त की वकालत करते हैं और यह मानते हैं कि पूर्ववर्ती पीढ़ियां हमारी अपेक्षा अधिक स्वतन्त्र थीं और उन्हें हम पर ऐसी विधियां अधिरोपित करने का अधिकार प्राप्त था, जिनमें हम तब्दीली नहीं कर सकते और यह कि उसी प्रकार से हम विधि बना सकते हैं और भावी पीढ़ियों पर भार लाद सकते हैं जिसमें परिवर्तन करने का कोई भी अधिकार उन्हें प्राप्त नहीं होगा; संक्षेप में यह कि पृथ्वी मृतकों की है, न कि जीवित व्यक्तियों की।"

उपर्युक्त शब्द संविधान सभा में हुए वाद-विवाद के दौरान उद्धृत किए गए थे। (देखिए—कांस्टिट्यूएण्ट असेम्बली डिबेट्स, खण्ड 2, पृष्ठ 975)।

थॉमस पेन ने उसी प्रकार के विचार निम्नलिखित शब्दों में व्यक्त किए थे—

"कभी भी कोई ऐसी संसद्, या किसी भी प्रकार के व्यक्ति या व्यक्तियों की कोई ऐसी पीढ़ी किसी भी देश में न तो रही है, न होगी और न हो सकती है, जिसे भावी पीढ़ी को अनन्त काल तक बन्धन में डालने या नियन्त्रित करने का, या सदा के लिए यह आदेश देने का कि संसार को कैसे शासित किया जाएगा या कौन शासित करेगा, अधिकार या शक्ति प्राप्त हो। प्रत्येक युग और पीढ़ी को सभी स्थितियों में अपने लिए कार्य करने के लिए उतनी ही स्वतन्त्रता प्राप्त होनी चाहिए जितनी कि उस युग के व्यक्तियों और पीढ़ियों को, जो उसके पहले थीं, प्राप्त थी। मृत्यु होने के बाद भी शासन करने का मिथ्या अभिमान और उपधारणा सर्वाधिक हास्यास्पद और बदतमीजी से भरा अत्याचार है। मनुष्य की मनुष्य में कोई भी सम्पत्ति नहीं होती; और न तो किसी ऐसी पीढ़ी की भावी पीढ़ियों में सम्पत्ति होती है।"

11 नवम्बर, 1948 को पंडित जवाहर लाल नेहरू ने संविधानसभा में जो भाषण दिया था उसे भी हम उद्धृत करना चाहेंगे—

"और इस बात को याद रखिए कि जब हम यह चाहते हैं कि यह संविधान इतना मजबूत और स्थायी रहे जितना कि हम इसे बना सकते हैं, तो भी संविधानों में कोई स्थायित्व नहीं होता। किन्हीं सीमाओं तक उनमें नमनीयता होनी चाहिए। यदि आप किसी वस्तु को अनम्य और स्थायी बना देंगे तो आप राष्ट्रों के विकास को अर्थात जीवित शक्तिशाली सजीव व्यक्तियों के विकास को रोक देंगे। इसलिए उसे नमनीय रहना ही चाहिए।"

जैसा कि पिटीशनरों की ओर से दलील दी गई है, यदि अनुच्छेद 368 के अधीन संविधान को इस प्रकार से संशोधित करना अनुज्ञेय नहीं है जिससे कि भाग 3 में दिए गए मूल अधिकारों को छीना जा सके या न्यून किया जा सके तो उससे यह निष्कर्ष निकलेगा कि मूल अधिकारों को छीनने या उन्हें न्यून करने का एकमात्र रास्ता भले ही जनता का भारी बहुमत, उदाहरणार्थ, उनके 90 प्रतिशत भाग, ऐसा संशोधन क्यों न करना चाहता हो, क्रान्ति जैसी संविधानेतर पद्धतियों का सहारा लेकर ही है यद्यपि मेरी राय में अनुच्छेद 368 की भाषा स्पष्ट है और उसमें संशोधन करने की शक्ति पर इस प्रकार की कोई ऐसी परिसीमा अधिरोपित नहीं की गई है जिससे कि मूल अधिकारों को छीना जा सके या न्यून किया जा सके। भले ही उसके दो ऐसे निर्वचन करना सम्भव हो, जिसमें से एक निर्वचन के अनुसार मूल अधिकारों का न्यून या निर्वापन अनुच्छेद 368 द्वारा विहित प्रक्रिया के अनुसार अनुज्ञेय है और दूसरे निर्वचन के अनुसार ऐसे परिणाम को प्राप्त करने का एक मात्र रास्ता क्रांति जैसी संविधानेतर पद्धति ही है। मेरी राय में न्यायालय को चाहिए कि वह प्रथम निर्वचन के पक्ष में अपना मत दे। यह दर्शित करने के लिए किसी भी बहुत बड़ी दलील की आवश्यकता नहीं है कि संविधान द्वारा उपबंधित उपाय के जरिए किए गए शान्तिपूर्ण संशोधन और ऐसी संविधानेतर पद्धति जिसमें सभी प्रकार की खतरनाक सम्भावनाएं विद्यमान होती हैं, में से पहले वाली पद्धति अधिक अच्छी है। दोनों पद्धतियों के बीच जो अन्तर है वह इतना स्पष्ट है कि हमें दोनों अनुकल्पों के बीच चुनाव करने में किसी भी कठिनाई का अनुभव नहीं हो सकता।

उपर्युक्त विचार-विमर्श से यह बात भी स्पष्ट हो जाएगी कि इस दृष्टिकोण को कि अनुच्छेद 368 के अधीन मूल अधिकारों को न्यून करने या छीनने के लिए कोई भी शक्ति प्रदत्त नहीं की गई है, स्वीकार करने से जो परिणाम निकलेंगे, वे संविधानेतर पद्धतियों का सहारा लेने के कारण उथल-पुथल से भरे हुए होंगे। उसके विपरीत, उसके विरुद्ध जो मत है, उसे स्वीकार करने के ऐसे परिणाम नहीं होंगे। इस दृष्टि से देखने से, मैं पिटीशनर की ओर से दी गई दलील को स्वीकार करने में कठिनाई का अनुभव करता हूं।

इस प्रक्रम में मैं पिटीशनर के विद्वान् काउन्सेल द्वारा निर्दिष्ट इस प्रश्न पर विचार करना चाहूंगा कि संविधान के उपबन्धों का अर्थान्वयन करने में ऐसे परिणामों पर किस सीमा तक विचार करना पड़ता है। इस सम्बन्ध में, मेरा यह मत है कि अर्थान्वयन के

सुस्थापित नियमों में से एक नियम यह है कि यदि कानून के शब्द स्वयं ही निश्चित और असंदिग्ध हों, तो उन शब्दों का स्वभाविक तथा साधारण अर्थ करने के अलावा और किस अधिक बात की आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि ऐसे मामले में शब्द ही विधानमण्डल के आशय को सर्वाधिक अच्छे ढंग से प्रकट करते हैं। यह बात भी उसी प्रकार से सुस्थिर है कि जहां आनुकल्पिक अर्थान्वयन किया जाना समान रूप से सम्भव होता है, वहां उसी अनुकल्प का चुनाव किया जाता है जो कि उस पद्धति के, जिसे कानून द्वारा विनियमित किया जाना तात्पर्यित होता है, सुचारु कार्यकरण से संगत और उस अनुकल्प को अस्वीकृत करना पड़ता है जिसके परिणामस्वरूप उस पद्धति के कार्यकरण में अनिश्चितता, संघर्ष या गड़बड़ उत्पन्न होगी। [देखिए—सीमाशुल्क कलक्टर बड़ोदा बनाम दिग्विजयसिंहजी स्पिनिंग एण्ड वीविंग मिल्स लिमिटेड ([1]) वाला मामला] जब हम किसी संविधान के अर्थान्वियन के उपबन्धों पर विचार करते हैं उस समय अर्थान्वियन के ये सिद्धांत और भी अधिक बल के साथ लागू होते हैं।

मैंने इन्हीं सिद्धान्तों को ध्यान में रखा है और मेरी राय यह है कि जैसा कि अनुच्छेद 368 की भाषा स्पष्ट और असंदिग्ध है उसका यह अर्थान्वियन करना सम्भव नहीं है कि संविधान के भाग 3 के उपबन्धों को इस प्रकार संशोधित करने के लिए संसद की शक्ति पर ऐसा कोई निर्बन्धन लगाया गया है जिससे कि वह मूल अधिकारों को न्यून नहीं कर सकती या छीन नहीं सकती। इसके अलावा मेरी यह राय है कि यदि दो अर्थान्वियन सम्भव हों तो जैसा कि मैंने पहले बताया है, उस अर्थान्वियन के परिणामस्वरूप जिसे मैंने स्वीकार किया है, दुर्व्यवस्थापूर्ण परिणामों से बचा जा सकेगा और उसके परिणामस्वरूप हमारे संविधान के कार्यकरण में अनिश्चितता, संघर्ष या गड़बड़ी होने से बची रहेगी।

मेरी राय में अनुच्छेद 368 की स्पष्ट भाषा को देखते हुए यह सम्भव नहीं है कि किसी ऐसी प्रक्रिया द्वारा, जो हमारी कल्पना के अनुकूल है, संविधान निर्माताओं के अनुमानित आशय को सुनिश्चित किया जा सके। हमें इस सिद्धान्त के अनुसार कार्य करना चाहिए कि यदि शब्द स्पष्ट हैं और किसी भी अस्पष्टता से मुक्त हैं, तो संविधान निर्माताओं के बारे में यह समझा जाना चाहिए कि उन्होंने उन शब्दों में ही अपने आशय को समाविष्ट कर दिया था।

यह बात समझ में नहीं आ रही है कि संविधान निर्माताओं ने, इसके पहले उन फ्रान्सीसी संविधानों की नजीरों के बावजूद, जोकि अपनी असंशोध्यता के कारण हिंसा के परिणामस्वरूप समाप्त हो गए थे, संविधान में ऐसा भाग अन्तःस्थापित किया गया था जिसमें मूल अधिकारों के बारे में उपबन्ध किया गया था जोकि लोगों के एक मत होने पर भी न तो न्यून किए जा सकते थे और न छीने ही जा सकते थे, इसके परिण मस्वरूप लोगों के पास उस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए संविधानेतर पद्धतियों के जरिए ऐसे उद्देश्य प्राप्त करने के सिवाय दूसरा रास्ता नहीं रह गया था। मेरी राय में मूल अधिकारों के निर्वापन या न्यूनन से सम्बन्धित प्रक्रियाओं सहित, संविधान के संशोधन की प्रक्रियाएं स्वयं संविधान में समाविष्ट की गई हैं और उस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए क्रान्ति या अन्य संविधानेतर बाध्यताओं का सहारा लेना आवश्यक नहीं है।

([1]) (1962) एस० सी० आर० 896, 899.

इस स्थिति को समझकर कि यदि पिटीशनरों की इस दलील को कि क्रान्तियों या अन्य संविधानेतर पद्धतियों के जरिए संविधान के भाग 3 में संशोधन करने के सिवाय संसद् उसमें संशोधन नहीं कर सकती, स्वीकार कर लिया जाता है, तो पिटीशनरों के विद्वान् काउन्सेल ने यह दलील दी है कि ऐसा संशोधन संविधान सभा समाहूत करने या लोकमत-संग्रह करने सम्बन्धी विधि बनाकर सम्भव है। इस बात पर जोर दिया गया है कि ऐसी सांविधान सभा को समाहूत करने या लोकमत-संग्रह करने में यह बात विद्यमान है कि लोग उसमें भाग लेंगे और इन्हीं उपायों द्वारा ही संविधान के भाग 3 को इस प्रकार से संशोधित किया जा सकता है जिससे कि मूल अधिकारों को छीना या न्यून किया जा सकता है। मेरी राय में, उपर्युक्त दलील स्वीकार नहीं की जा सकती क्योंकि वह गलत है। यदि संसद् प्रत्येक सदन में दो-तिहाई बहुमत द्वारा और अनुच्छेद 368 में अधिकथित प्रक्रिया का अनुसरण करके संविधान के भाग 3 को इस प्रकार संशोधित नहीं कर सकती जिससे कि मूल अधिकारों को छीना जा सके या न्यून किया जा सके, तो यह बात समझ में नहीं आ रही है कि वही संसद् किस प्रकार से, विधि द्वारा, ऐसा निकाय सृष्ट कर सकती है जो अपेक्षित संशोधन कर सकता है। यदि प्रत्येक सदन में दो तिहाई बहुमत द्वारा भी मूल अधिकारों को छीनना या न्यून करना संसद् की शक्ति के भीतर नहीं है, तो क्या उसी संसद् के लिए यह अनुज्ञेय होगा कि वह संविधान सभा बनाने की दृष्टि से सप्तम अनुसूची की सूची 1 की प्रविष्टि 97 के अधीन प्रत्येक सदन के दो-तिहाई बहुमत से इस प्रकार विधान बनाए जिससे कि वह मूल अधिकारों को छीन या न्यून कर सके। क्या ऐसी संविधान-सभा उस कानून द्वारा सृष्ट की हुई वस्तु नहीं होगी जिसे संसद् ने बनाया था, भले ही ऐसे निकाय को संविधान-सभा जैसा आडम्बरपूर्ण नाम ही क्यों न दिया गया हो। उक्त संविधान-सभा अपनी वास्तविक प्रकृति को इस बात की बाबत छिपा नहीं सकती कि वह ऐसी सभा है जिसे संसद् ने कानून के अधीन सृष्ट किया था। संसद् द्वारा सृष्ट निकाय को संसद् में निहित शक्तियों से अधिक बड़ी शक्तियां प्राप्त नहीं हो सकतीं। इस दलील को स्वीकार करना सम्भव नहीं है कि जो बात स्वयं संसद् वैध रूप से नहीं कर सकती, उसे वह ऐसे निकाय के जरिए करवा सकती है जिसे कि उसने ही सृष्ट किया हो। यदि कोई बात अनुज्ञेय है, तो वह तब भी अननुज्ञेय बनी रहेगी चाहे उस परिणाम को प्राप्त करने के लिए, जो अनुज्ञात नहीं है, एक के बजाय दो कदम ही क्यों न उठाए गए हों। उपर्युक्त बात के अलावा, यदि हमें यह अभिनिर्धारित करना होता कि संसद् मूल अधिकारों को छीनने या उन्हें न्यून करने के लिए संविधान सभा समाहूत करने के सम्बन्ध में सूची की प्रविष्टि 97 के अधीन विधि बनाने की हकदार है तो उससे कुछ आश्चर्यजनक परिणाम निकल सकते हैं। सूची 1 की प्रविष्टि 97 के अधीन बनाई गई विधि को अधिनियमित विधि के रूप में मानने के लिए संसद् के प्रत्येक सदन में साधारण बहुमत की आवश्यकता होती है जबकि संविधान के संशोधन के लिए प्रत्येक सदन के उपस्थित और मतदान करने वाले सदस्यों के दो-तिहाई बहुमत की आवश्यकता होगी। यह बात निश्चित रूप से असंगत होगी कि जो बात संसद् दो-तिहाई बहुमत से नहीं कर सकती उसी बात को वह साधारण बहुमत से कर सकती है। इसके अलावा संविधान के अनेक ऐसे अनुच्छेद हैं जिनके संशोधन के लिए

राज्य के आधे विधानमण्डलों से अन्यून विधानमण्डलों द्वारा अनुसमर्थन किए जाने की आवश्यकता होती है। ऐसी स्थिति में अनुसमर्थन सम्बन्धी उपबन्ध निरर्थक हो जाएगा। संविधान सभा समाहूत करने के लिए विधि बनाते समय संविधान सभा को समाहूत करने में राज्य विधानमण्डलों के प्रभावी प्रतिनिधित्व या आवाज को अपवर्जित करने से संसद् को रोकने के लिए कोई भी बात नहीं रह जाएगी।

यह दलील कि लोकमत-संग्रह के लिए उपबन्ध किया जाना चाहिए, गलत है। हमारे संविधान निर्माताओं ने लोकमत-संग्रह की पद्धति को अस्वीकृत कर दिया था। ऐसे देश में जहां कि धार्मिक और भाषायी अल्पमत के लोग रहते हैं, उनकी महत्वपूर्ण बातें विनिश्चित करने की उचित पद्धति नहीं समझी गई। अल्पमत सम्प्रदायों के नेताओं ने इस पद्धति के सम्बन्ध में सन्देह व्यक्त किया था। यह बात स्पष्ट है कि जब हृदय में उत्तेजना मौजूद रहती है तो लोकमत संग्रह में अल्पमत की राय का गौण होना तथा निष्प्रभाव होना निश्चित है।

यह भी नहीं कहा जा सकता कि लोकमत-संग्रह के जरिए संशोधन करने की पद्धति अधिक कठिन पद्धति है। यह सच है कि आस्ट्रेलिया में 39 से भी अधिक संशोधनों के सम्बन्ध से लोकमत-संग्रह कराया गया था, जिनमें से केवल 4 को अंगीकृत किया गया था और उनमें से दो महत्वहीन प्रकृति के थे। उनके विपरीत, हम यह देखते हैं कि संविधान को संशोधित करने के लिए लोकमत-संग्रह की पद्धति परिणामस्वरूप स्विटजरलैण्ड में कोई अधिक कठिनाई नहीं हुई। परिसंघीय संविधान को संशोधित करने के लिए प्रस्थापित 64 संशोधनों में से, लोकमत संग्रह में 49 को अंगीकृत किया गया था। जहां तक कि केन्द्रीय विधानमण्डल के सदन में दो-तिहाई बहुमत से और राज्य विधानमण्डलों से अनुसमर्थन प्राप्त करके संविधान को संशोधित करने की पद्धति का सम्बन्ध है, हम यह निष्कर्ष निकालते हैं कि संयुक्त राज्य अमरीका के संविधान को अंगीकार किए जाने के प्रथम 140 वर्षों के दौरान, संशोधन करने सम्बन्धी 3,113 प्रस्थापनाएं की गईं और उनमें से, कांग्रेस को केवल 24 संशोधनों ऐसे लगे जिन्हें कांग्रेस का अनुमोदन मिला तथा केवल 19 संशोधन राज्य विधानमण्डलों का अनुसमर्थन प्राप्त करने में सफल हो सके। (देखिए—विलिस द्वारा लिखित कांस्टिट्यूशनल लॉ ऑफ यूनाइटेड स्टेट्स पृष्ठ 128)। इसलिए यह बात नहीं कही जा सकती कि संसद् के प्रत्येक सदन में विहित बहुमत द्वारा संशोधन करने की पद्धति की तुलना में लोकमत-संग्रह की पद्धति संशोधन करने की शक्ति पर प्रभावी रोक लगाती है।

इसके अलावा मेरी राय यह है कि लोकमत-संग्रह की पद्धति का सहारा लेना तब तक अनुज्ञेय नहीं है जब तक कि ऐसा रास्ता अपनाने के लिए संशोधन सम्बन्धी उपबन्ध में सांविधानिक उपबन्ध मौजूद है। जार्ज एस० हॉक्स बनाम हार्वे सी० स्मिथ एज सेक्रेटरी ऑफ स्टेट ऑफ ओहियो([1])वाले मामले में, संयुक्त राज्य अमरीका की सुप्रीम कोर्ट के समक्ष ओहियो राज्य के संविधान के अट्ठारहवें संशोधन के जिसमें लोकमत-संग्रह के लिए उपबन्ध किया गया था, राज्य द्वारा अनुसमर्थन किए जाने के संदर्भ में निर्देश किया गया था। यह दलील दी गई थी कि ऐसे राज्य की दशा में, लोकमत-संग्रह की पद्धति के द्वारा अनुसमर्थन प्राप्त

([1]) 64 लॉयर्स इडिशन 871.

किया जाना चाहिए। इस दलील को अस्वीकृत करते हुए। न्यायालय ने यह मत व्यक्त किया—

"राज्यों के संविधानों और कानूनों के लोकमत-संग्रह सम्बन्धी उपबन्ध परिसंघीय संविधान के संशोधनों का अनुसमर्थन करने में या उस पर आपत्ति करने में ऐसे संविधान के अनुच्छेद 5 की अपेक्षाओं का अतिक्रमण किए बिना लागू नहीं किए जा सकते, यह कि ऐसा अनुसमर्थन कई राज्यों के विधानमण्डलों द्वारा या इनमें किए जाने वाले कन्वेन्शनों द्वारा इस प्रकार किया जाएगा जैसे कि कांग्रेस विनिश्चित करे।"

संयुक्त राज्य अमरीका की सुप्रीम कोर्ट ने उसी मत को स्टेट ऑफ रहोड आइसलैण्ड बनाम ए० माइकल पलमार सेक्रेटरी ऑफ स्टेट (1) वाले मामले में तथा अन्य ऐसे सम्बन्धित मामलों में जो कि नेशनल प्रोहिबिशन केसेज के रूप में भलीभांति ज्ञात हैं, दोहराया था।

पिटीशनर की ओर से यह दलील पेश की गई है कि यदि संशोधन लोकमत-संग्रह करके किया जाता है, तो संसद् के दोनों सदनों में या परिसंघीय विधानमण्डल में संशोधन करने की निहित शक्ति की तुलना में, संविधान का संशोधन करने के लिए शक्ति की परिधि व्यापक होती है, यद्यपि उसे विहित बहुमत द्वारा पारित किए जाने की आवश्यकता होती है और राज्य विधानमण्डलों द्वारा उसका अनुसमर्थन किया जाना होता है। इस सम्बन्ध में हम यह देखते हैं कि विभिन्न संविधानों में संशोधन करने की भिन्न-भिन्न पद्धतियां बनाई गई हैं। आधुनिक सांविधानिक संशोधन की मुख्य पद्धतियां ये हैं—

(1) साधारण विधान द्वारा, किन्तु किन्हीं निर्बन्धनों के अध्यधीन रहते हुए।
(2) लोकमत-संग्रह के जरिए जनता के द्वारा।
(3) परिसंघीय राज्य के सभी संघटकों के बहुमत द्वारा।
(4) विशेष कन्वेन्शन द्वारा।

किन्हीं मामलों में संशोधन की पद्धति इन्हीं पद्धतियों में से दो या अधिक को मिलाकर बनाई जाती है।

उस दशा को छोड़कर जिसमें विधानमण्डल विधान बनाने के साधारण अनुक्रम में संविधान में संशोधन कर सकता है, तीन ऐसे रास्ते हैं जिनमें विधानमण्डल को संविधान का संशोधन करने की अनुज्ञा दी जा सकती है। सबसे सरल निर्बन्धन वह है जिसके अन्तर्गत प्रस्थापित संशोधनों पर विचार किए जाने के लिए सदस्यों की निश्चित गणपूर्ति तथा उनको पारित करने के लिए विशेष बहुमत की आवश्यकता होती है। पश्चात्कथित शर्त रूमानिया के सम्प्रति निष्प्रभाव संविधान में लागू होती थी। यू० एस० एस० आर० के संविधान के अनुच्छेद 146 के अनुसार, संविधान का संशोधन यू० एस० एस० आर० के सुप्रीम सोवियत के प्रत्येक सदन के मतों के दो-तिहाई से अन्य के बहुमत द्वारा अंगीकृत उसके विनिश्चय द्वारा ही किया जा सकता है। दूसरे प्रकार का निर्बन्धन यह है कि किसी विशेष मामले के सम्बन्ध में (विधानमण्डल के) विघटन और साधारण निर्वाचन की आवश्यकता होती है जिससे कि नया विधानमण्डल जिसको कि

(1) 253 एस० सी० आर० 350=64 लॉयर्स इडिशन 946.

सम्बन्धित प्रस्थापना के लिए जनता द्वारा आज्ञापन (मैण्डेट) देकर जिताया गया हो, वस्तुतः संविधान सभा के स्थान पर वहां तक हो जाती है जहां तक कि उस प्रस्थापना का सम्बन्ध है। यह अतिरिक्त रोक बैल्जियम, हालैण्ड, डेन्मार्क और नार्वे (किन्तु जिन में से सभी में निर्वाचन के पश्चात् संशोधन करने के लिए दो-तिहाई संसदीय बहुमत की आवश्यकता होती है) और स्वीडन में लागू की जाती है। विधानमण्डल द्वारा सांविधानिक तब्दीली की तीसरी पद्धति वह होती है जिसे संयुक्त अधिवेशन में अर्थात् एक सदन के रूप में साथ-साथ बैठकर, जैसा कि, उदाहरणार्थ, दक्षिणी अफ्रीका में होता है, दो सदनों के बहुमत की आवश्यकता होती है।

दूसरी पद्धति वह है जिसे जनता के मत की या लोकमत-संग्रह की या जनमत-संग्रह की आवश्यकता होती है। इस युक्ति का प्रयोग क्रान्ति के दौरान फ्रांस में पुनः लुई नैपोलियन द्वारा तथा जर्मनी में हिटलर द्वारा किया गया था। यह पद्धति स्विटजरलैण्ड, आस्ट्रेलिया, आयर, इटली, फ्रांस [पंचम गणराज्य में कतिपय राष्ट्रपतीय परन्तुकों (प्रेसीडेन्शियल प्रॅवाइजोज) सहित] और डेन्मार्क में प्रचलित है।

तीसरी पद्धति परिसंघों के लिए विशिष्ट है। प्रस्थापित अभ्युपाय के सम्बन्ध में जो मतदान होता है, वह या तो जनता द्वारा या सम्बन्धित राज्यों के विधानमण्डलों द्वारा किया जाता है। स्विटजरलैण्ड और आस्ट्रेलिया में लोकमत-संग्रह का प्रयोग होता है। संयुक्त राज्य अमरीका में किसी भी प्रस्थापित संशोधन के लिए, विधानमण्डल द्वारा या कई राज्यों में के तीन-चौथाई विशेष कन्वेन्शनों द्वारा अनुसमर्थन लिए जाने की आवश्यकता होती है।

अन्तिम पद्धति वह पद्धति होती है, जिसमें सांविधानिक संशोधन के प्रयोजन के लिए एक विशेष निकाय तदर्थ रूप में सृष्ट किया जाता है उदाहरण के लिए संयुक्त राज्य अमरीका के किन्हीं राज्यों में यह पद्धति सम्बन्धित राज्यों के संविधान के सम्बन्ध में प्रयोग में लाई जाती है। यदि परिसंघीय कांग्रेस, संयुक्त राज्य अमरीका के संविधान का संशोधन करने के लिए इस पद्धति का प्रयोग करने की प्रस्थापना करती है, तो इस पद्धति को भी अनुज्ञात किया जाता है। यह पद्धति लैटिन अमरीका में भी कुछ राज्यों में प्रचलित है। (देखिए—सी० एफ० स्ट्रांग लिखित माडर्न पोलीटिकल कांस्टिट्यूशन्स, पृष्ठ 153-154)।

यह विनिश्चय कि संविधान को संशोधित करने की कौनसी पद्धति चुनी जानी चाहिए, निश्चित रूप से संविधान सभा का होना चाहिए। यह विनिश्चय राष्ट्रीय आवश्यकताओं, ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, देश की स्थिति और राष्ट्र के लिए शेष महत्व की अन्य बातों या परिस्थितियों को ध्यान में रखने के पश्चात् ही किया जाता है। यदि संविधान में संशोधन करने की कोई पद्धति अपना ली जाती है तो संशोधन किए जाने के लिए वही पद्धति अपनानी पड़ती है। संविधान सभा द्वारा संशोधन करने की पद्धति का चुनाव कर लिए जाने के पश्चात् संशोधन करने की दूसरी पद्धति के पक्ष में न्यायालय को अपना मत व्यक्त नहीं करना चाहिए। संविधान द्वारा विहित एक पद्धति द्वारा किया गया संशोधन वैसे ही प्रभावी होता है जैसे कि वह तब प्रभावी होता यदि संविधान में संशोधन करने की कोई दूसरी पद्धति विहित की गई होती, किन्तु यह बात तब न होती यदि संविधान में कोई ऐसी बात दी गई होती जो कि संशोधन करने की शक्ति पर निर्बन्धन अधिरोपित करती है। इटली

के संविधान के अनुच्छेद 138 में संविधान का संशोधन करने के लिए लोकमत-संग्रह के लिए उपबंध किया गया है। किन्तु उस अनुच्छेद में अभिव्यक्त रूप से यह उपबंधित किया गया है कि यदि कोई विधि प्रत्येक सदन के सदस्यों के दो-तिहाई बहुमत द्वारा द्वितीय चरण (सैकेण्ड वोटिंग) में मत देने के पश्चात् अनुमोदित की गई हो, तो लोकमत-संग्रह नहीं होता। इस प्रकार से इटली के संविधान में प्रत्येक सदन के दो-तिहाई सदस्यों के बहुमत द्वारा द्वितीय चरण में दिए गए मत को उतना ही प्रभावी बनाया गया है जितना कि लोकमत-संग्रह को। उसी प्रकार से फ्रांसीसी पंचम गणराज्य (फ्रैंच फिफ्थ रिपब्लिक) के संविधान के अनुच्छेद 89 में संविधान के संशोधन के लिए लोकमत-संग्रह के लिए उपबंध किया गया है। किन्तु उस अनुच्छेद में यह उपबन्ध किया गया है कि प्रस्थापित संशोधन के सम्बन्ध में तब लोकमत-संग्रह नहीं कराया जाएगा यदि गणराज्य का राष्ट्रपति कांग्रेस में संसद् के समक्ष उसे प्रस्तुत करने के लिए विनिश्चित करता है; उस स्थिति में यदि प्रस्थापित संशोधन डाले गए मतों के 3/5 के बहुमत द्वारा स्वीकार कर लिया जाता है, तो वह अनुमोदित हो जाता है।

इस प्रक्रम में हम संयुक्त राज्य अमरीका के संविधान के अनुच्छेद 5 के प्रति निर्देश कर सकते हैं जो कि इस प्रकार है —

> "जब कभी दोनों सदनों के दो-तिहाई सदस्य आवश्यक समझेंगे तो कांग्रेस इस संविधान में संशोधन करने की प्रस्थापना करेगी, या कई राज्यों के दो-तिहाई विधानमण्डलों द्वारा आवेदन किए जाने पर, कांग्रेस प्रस्थापित संशोधनों के लिए कन्वेन्शन बुलाएगी, जो कि प्रत्येक स्थिति में, सभी आशयों और प्रयोजनों के अनुसार इस संविधान के भाग के रूप में उस दशा में विधिमान्य होंगे जब कई राज्यों के तीन-चौथाई विधानमण्डलों द्वारा या उनके तीन-चौथाई कन्वेन्शनों द्वारा उनका अनुसमर्थन कर दिया जाता है, क्योंकि कांग्रेस अनुसमर्थन की एक या अन्य पद्धति प्रस्थापित कर सकती है; परन्तु कोई ऐसा संशोधन जो कि सन् 1808 के पूर्व किया जाए, प्रथम अनुच्छेद की धारा 9 के प्रथम और चौथे खण्डों पर किसी भी रीति में प्रभाव नहीं डालेगा; और यह कि किसी भी राज्य को, उसकी सम्मति के बिना, सीनेट में उसके समान मताधिकार से वंचित नहीं किया जाएगा।"

उपर्युक्त अनुच्छेद से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि संशोधन विरचित करने और प्रस्थापित करने की दो पद्धतियां होती हैं।

(ए) कांग्रेस स्वयं ही, प्रत्येक सदन में दो-तिहाई मत द्वारा संशोधन तैयार कर सकती है और प्रस्थापित कर सकती है।

(बी) राज्यों के दो-तिहाई विधानमण्डल कांग्रेस से इस बात की मांग कर सकते हैं कि वह सांविधानिक कन्वेन्शन आहूत करे। तदुपरान्त, कांग्रेस को ऐसा करना ही पड़ेगा तथा उसके पास ऐसा करने से इन्कार करने के लिए कोई भी विकल्प नहीं रहेगा, और जब कन्वेन्शन आहूत किया जाएगा तब वह संशोधन का प्रारूप तैयार करेगा और उसे प्रस्तुत करेगा। कन्वेन्शन के निर्वाचन तथा गठन के सम्बन्ध में कोई भी उपबन्ध नहीं किया गया है, जो कि ऐसा प्रतीत होता है, कांग्रेस के विवेक पर छोड़ दिया गया है।

पूर्वगामी रीतियों में से किसी भी रीति में विरचित और प्रस्थापित संशोधनों को अधिनियमित करने की निम्नलिखित दो पद्धतियां हैं। यह बात कांग्रेस पर छोड़ दी गई है कि जैसा वह ठीक समझे वह एक या दूसरी पद्धति विहित करे।

(एक्स) राज्यों के तीन चौथाई विधानमण्डल किसी भी ऐसे संशोधन का अनुसमर्थन कर सकते हैं जो कि उनके समक्ष प्रस्तुत किए जाएं।

(वाई) विभिन्न राज्यों में (कन्वेन्शन) आहूत किए जा सकते हैं और इन सम्मेलनों में से तीन चौथाई उन संशोधनों का अनुसमर्थन कर सकते हैं।

सिवाय इक्कीसवें संशोधन के सम्बन्ध में सभी ऐसे अवसरों पर जिन पर संशोधन करने का प्रयोग किया गया है, पद्धति 'ए' का प्रयोग किया जाता है और अनुसमर्थन के लिए पद्धति 'एक्स' का प्रयोग किया जाता है—अर्थात् सम्पूर्ण संघ के किन्हीं भी प्रारूपण कन्वेन्शन को या अनुसमर्थन करने वाले अनेक राज्यों के कन्वेन्शनों को भी आहूत नहीं किया जाता। सांविधानिक संशोधन के लिए राष्ट्रपति की सम्मति की आवश्यकता नहीं होती। (देखिए—जेम्स ब्राइस लिखित अमरीकन कॉमनवैल्थ, पृष्ठ 365-366)।

संविधान का एक ऐसा उपबन्ध है जिसे इस प्रक्रिया द्वारा तब्दील नहीं किया जा सकता। यह वह उपबन्ध है जो प्रत्येक राज्य के लिए विधानमण्डल के एक शाखा में समान प्रतिनिधित्व सुनिश्चित करता है, क्योंकि अनुच्छेद 5 के परन्तुक के अनुसार, किसी भी राज्य को, उसकी सम्मति के बिना, सीनेट में उसके समान मताधिकार से वंचित नहीं किया जाएगा।

यह प्रश्न कि यदि कोई संशोधन विधानमण्डलों के विहित बहुमत द्वारा पारित किया जाता है तो क्या शक्ति के विस्तार की तुलना में संशोधन करने की शक्ति का विस्तार उस दशा में और अधिक होता है यदि वह संशोधन लोगों के कन्वेन्शन द्वारा पारित किया जाता है; यह प्रश्न संयुक्त राज्य अमरीका की सुप्रीम कोर्ट द्वारा विनिश्चित किए गए यूनाइटेड स्टेट बनाम स्प्रेग ([1]) वाले मामले में उठा था। उस मामले में, अट्ठारहवें संशोधन की सांविधानिक विधिमान्यता पर इस आधार पर आक्षेप किया गया था कि उसका कन्वेन्शनों द्वारा अनुसमर्थन किया जाना चाहिए था, क्योंकि उसके द्वारा राज्यों की शक्तियां छीनी गई थीं और व्यक्तियों पर नवीन प्रत्यक्ष शक्तियां प्रदत्त की गई थीं। विचारण न्यायालय ने इन सभी विचारों को अस्वीकृत कर दिया, किन्तु उसने यह अभिनिर्धारित किया कि फिर अट्ठारहवें संशोधन को "राजनीति विज्ञान", "युग के राजनीतिक विचार" और "सरकार की समस्या के प्रति वैज्ञानिक दृष्टिकोण" के सिद्धान्तों के आधार पर असांविधानिक है। अपील किए जाने पर संयुक्त राज्य अमरीका की सुप्रीम कोर्ट ने अट्ठारहवें संशोधन को कायम रखा। अनुच्छेद 5 के उपबन्धों के प्रति निर्देश करने के पश्चात् न्यायाधिपति राबर्ट्स ने, जिन्होंने कि न्यायालय का विनिश्चय सुनाया था, यह मत व्यक्त किया कि—

"अतः अनुसमर्थन के ढंग को चुनने की बात कांग्रेस के मात्र विवेकाधिकार के भीतर आती है। किन्तु अपीलार्थियों ने यह बात बताई कि संशोधन विभिन्न

([1]) 282 यू० एस० 716.

प्रकार के हो सकते हैं, उदाहरणार्थ, एक ओर तो संघीय साधन या तन्त्र के स्वरूप में मात्र तब्दीलियां लाने और दूसरी ओर ऐसे मामलों का होना जो कि नागरिक की स्वतन्त्रता पर प्रभाव डाल सकते हैं। उनका कहना यह है कि संविधान के निर्माताओं ने इस बात की आशा की थी कि विधानमण्डल पूर्वकथित प्रकार के संशोधन का अनुसमर्थन कर सकते हैं, क्योंकि राज्य, सत्ता के रूप में, ऐसे परिवर्तनों से सहमत होने के लिए पूर्णतः सक्षम होंगे, जबकि उनका आशय यह था कि पश्चात्कथित संशोधन न केवल विधानमण्डलों में अनुसमर्थन करने सम्बन्धी शक्ति के अभाव के कारण बल्कि लोगों का वास्तविक रूप में प्रतिनिधित्व करने के सम्बन्ध में सन्देह होने के कारण भी लोगों को निर्दिष्ट किया जाना चाहिए।"

अपीलार्थियों की ओर से दी गई दलील को अस्वीकृत करते हुए, न्यायालय ने यह मत व्यक्त किया कि—

"यदि लिखत के निर्माता के मन में ऐसा कोई विचार होता कि विभिन्न प्रयोजनों वाले संशोधनों का, भिन्न-भिन्न ढंग से अनुसमर्थन किया जाना चाहिए, तो अनुच्छेद 5 की शब्दावली को इस प्रकार से बनाने से जिससे कि विवक्षा या अटकलबाजी अपवर्जित हो जाए अधिक सरल कोई और बात नहीं हो सकती। यह तथ्य कि ऐसी लिखत में जो कि अत्यधिक सावधानी के साथ और ऐसे व्यक्तियों द्वारा, जो यह बात अच्छी तरह से समझते थे कि अपने विचारों को भाषा में किस प्रकार से अच्छी तरह ढाला जा सकता है, लेखबद्ध की गई हो, परिसीमित करने वाली ऐसी कोई भी बात अन्तर्विष्ट नहीं है जो कि अनुसमर्थन करने सम्बन्धी एक या अन्य आनुकल्पिक पद्धति का चुनाव करने में कांग्रेस द्वारा विवेकाधिकार के प्रयोग किए जाने पर प्रभाव डालती हो, मानने योग्य साक्ष्य है कि कोई भी शर्त आशयित नहीं थी।"

न्यायालय ने दसवें संशोधन के प्रति निर्देश किया जिसमें यह उपबन्ध किया गया था कि "ऐसी शक्तियां जो संविधान के अधीन संयुक्त राज्य को प्रत्यायोजित नहीं की गई हैं और न उसने राज्यों के लिए ही उन्हें प्रतिषिद्ध किया है, क्रमशः राज्यों के लिए या जनता के लिए आरक्षित हैं"। इस दलील के बारे में कि दसवें संशोधन की भाषा से यह मालूम पड़ता है कि लोगों ने अपनी वैयक्तिक स्वतन्त्रता के ऊपर शक्तियां अपने लिए आरक्षित कर दी थीं यह कि विधानमण्डल उस सम्बन्ध में परिसंघीय सरकार की शक्तियों का विस्तार करने के लिए सक्षम नहीं थे और यह कि लोगों ने प्रस्थापित संशोधन का अनुसमर्थन करने सम्बन्धी ढंग का चुनाव करने की अनिर्बन्धित शक्ति कांग्रेस को कभी भी प्रत्यायोजित नहीं की थी, न्यायालय ने यह मत व्यक्त किया कि वह मत पूर्णरूपेण अनिर्णय की कोटि में आता है। यह मत व्यक्त किया गया कि पांचवें अनुच्छेद से यह तात्पर्यित नहीं है कि वह संयुक्त राज्य को कोई भी सरकारी शक्ति प्रत्यायोजित करता है और न वह ऐसा करने से विधारित ही करता है। इसके विपरीत उसे अनुच्छेद के अधीन जनता द्वारा कांग्रेस को,

न कि संयुक्त राज्य को, प्राधिकार दिया गया है। इसके अलावा न्यायालय ने यह मत व्यक्त किया कि—

"उन्होंने (लोग ने) संशोधनों का अनुसमर्थन करने के ढंग का चुनाव करने की बाबत कांग्रेस को जानबूझकर शक्ति प्रदान की थी। जब तक संशोधन द्वारा उस अनुच्छेद को तब्दील न कर दिया जाए, कांग्रेस को चाहिए कि वह अनुसमर्थन की पद्धति का चुनाव करने में लोगों को प्रत्यायोजित अभिकर्ता के रूप में कार्य करे।"

अतः मेरा मत यह है कि इस प्रतिपादन के लिए कोई भी औचित्य नहीं है कि चूंकि अनुच्छेद 368 के अधीन किए जाने वाले संशोधन संसद् के दोनों सदनों के विहित बहुमत द्वारा पारित किए जाते हैं और किन्हीं मामलों में राज्य विधानमण्डलों द्वारा उनका अनुसमर्थन भी किया जाता है, तथा संशोधन लोकमत-संग्रह के जरिए नहीं किए जाते या कनवेन्शन में पारित नहीं किए जाते, इसलिए अनुच्छेद 368 के अधीन संशोधन करने की शक्ति उस कारण से परिसीमाओं के अध्यधीन है।

इसके बाद यह दलील दी गई कि यदि यह अभिनिर्धारित किया जाता है कि अनुच्छेद 368 के अधीन संसद् में यह शक्ति निहित है कि वह मूल अधिकारों को छीन सकती है या उन्हें न्यून कर सकती है, उस शक्ति का प्रयोग इस प्रकार से होता है या किसी भी स्थिति में हो सकता है जिसके परिणामस्वरूप ऐसे सभी उपबन्धों का निरसन हो जाएगा जिनमें मूल अधिकार दिए गए हैं। इस बात पर जोर दिया गया है कि ऐसी स्थिति में, भारत ऐसा पुलिस राज्य रह जाएगा जिसमें स्वतन्त्रता तथा आजादी जैसे युगों-युगों से वांछित सभी मूल्य समाप्त हो जाएंगे। मेरी राय में यह दलील लोक प्रतिनिधियों के बहुमत में भय और अविश्वास की दलील निश्चित रूप से है। यह इस विश्वास पर भी आधारित है कि संसद् के प्रत्येक सदन में उपस्थित और मतदान करने वाले सदस्यों के दो तिहाई को अनुच्छेद 368 के अधीन जो शक्ति है, उसका दुरुपयोग होगा या उसका अनुचित रूप से प्रयोग किया जाएगा। मेरे लिए यह बात सम्भव दिखाई नहीं पड़ती कि मैं शक्ति के दुरुपयोग सम्बन्धी कल्पित भय या सम्भावना के कारण संसद् को संविधान का इस प्रकार संशोधन करने की शक्ति से वंचित कर दूं जिससे कि वह अनुच्छेद 368 की प्रक्रिया का अनुपालन करके मूल अधिकारों को छीन सके। इस संदर्भ में मैं **प्राविडेन्स बैंक बनाम आलफ्युस बिलिंग्स** ([1]) वाले मामले में विधान बनाने की शक्ति के दुरुपयोग और कराधान की सम्भावना के सम्बन्ध में, मुख्य न्यायाधिपति मार्शल के विचारों के प्रति निर्देश करना चाहूंगा —

"इस महत्वपूर्ण शक्ति का दुरुपयोग किया जा सकता है। किन्तु संयुक्त राज्य अमरीका के संविधान के बारे में यह आशयित नहीं था कि उसमें शक्ति के ऐसे दुरुपयोग को, जो राज्य सरकारें कर सकती हैं, ठीक करने वाले कोई उपबन्ध अन्तर्विष्ट किए जाएं। जहां कि अन्यायपूर्ण और अत्यधिक कराधान के विरुद्ध तथा

([1]) 29 यू० एस० 514.

साधारणतः प्रबुद्धिमत्तापूर्ण विधान बनाने के विरुद्ध अभिव्यक्त संविदा न हो, वहां प्रतिनिधि निकाय के हित, बुद्धिमत्ता और न्याय तथा उसके संघटकों के साथ उसके संघटक ये सभी मात्र सुरक्षा प्रदान करते हैं।"

यह कि शक्ति का दुरुपयोग किया जा सकता है, शक्ति के अस्तित्व को अस्वीकार करने का कोई भी आधार उस समय नहीं होता है यदि सरकार को कायम रखना ही है, ऐसा प्रतिपादन है जो कि अब सुस्थापित हो चुका है। [देखिए—**एक्स पारटि जॉन एल० रॅविपर**([1])वाले मामले में यूनाइटेड स्टेट्स की सुप्रीम कोर्ट द्वारा एकमत से दी गई राय] जुडीशियल कमेटी ने क्यूबैक विधानमण्डल की शक्ति से सम्बन्धित ब्रिटिश नार्थ अमरीका ऐक्ट की धारा 92 के उपबन्धों पर अपने विचार प्रकट करते हुए, **बैंक ऑफ टोरोण्टो बनाम लाम्बे** ([2]) वाले मामले में वही मत व्यक्त किया था।

इस तथ्य के अलावा कि शक्ति के दुरुपयोग की सम्भावना शक्ति को छीनने का आधार तब नहीं होती है, यदि यह निष्कर्ष निकाला जाता है कि वह वैध रूप से निहित की गई है, मैं यह निष्कर्ष निकालता हूं कि अनुच्छेद 368 के अधीन संशोधन करने की शक्ति एक व्यक्ति में निहित न की जाकर, संसद् के लोकप्रतिनिधियों के बहुमत में निहित की गई है। इस प्रयोजन के लिए, जो बहुमत होना चाहिए, वह प्रत्येक सदन में उपस्थित और मतदान करने वाले सदस्यों के दो तिहाई से अन्यून का बहुमत होना चाहिए। इसके अलावा यह भी अपेक्षित है कि संशोधन विधेयक को प्रत्येक सदन की कुल संख्या के बहुमत से पारित किया जाना चाहिए। अतः ऐसे सदन में, जिसमें गणपूर्ति के नियम सम्बन्धी अपेक्षा की पूर्ति करने के लिए केवल थोड़े से ही सदस्य उपस्थित हों, आकस्मिक मत से संशोधन विधेयक पारित करना सम्भव नहीं है। यह शर्त कि विधेयक राज्यसभा सहित, विहित बहुमत द्वारा पारित किया जाना चाहिए, यह सुनिश्चित करता है कि उन दोनों सदनों की संयुक्त बैठक में जैसा कि साधारण विधि की दशा में होता है जिसमें कि राज्य सभा के सदस्यों के मतों के प्रभाव को लोक सभा के सदस्यों द्वारा निष्प्रभाव किया जा सकता है, विधेयक पारित करवाना अनुज्ञेय नहीं है, क्योंकि पश्चात्कथित सदन में अधिक संख्या में सदस्य होते हैं। इसके अलावा संशोधन विधेयक को पारित करने में राज्य सभा की प्रभावी आवाज से यह बात सुनिश्चित हो जाती है कि जब तक कि राज्यों के प्रतिनिधियों का बहुमत सहमत नहीं हो जाता, तब तक विधेयक पारित नहीं किया जा सकता। हमारे संविधान के अधीन राज्य सभा शाश्वत निकाय है; उसके सदस्य राज्य विधान सभाओं के सदस्यों द्वारा निर्वाचित किए जाते हैं और प्रत्येक दो वर्ष के पश्चात् उनमें से एक-तिहाई सदस्य निवृत्त हो जाते हैं। इसके अलावा हमारे पास एक उपबन्ध ऐसा भी है जिसके द्वारा राज्य विधानमण्डलों के आधे से अन्यून विधानमण्डलों द्वारा ऐसे संशोधन का अनुसमर्थन करना उस दशा में आवश्यक होता है, यदि वह संशोधन ऐसे किन्हीं उपबन्धों से सम्बन्धित होता है जिनका राज्यों के अधिकारों से टकराव होता है। यह तथ्य कि लोगों के प्रतिनिधियों का विहित बहुमत संशोधन करने के

(1) 15 यू० एस०, 93=26 लॉयर्स इडिशन 110.

(2) (1887) 12 ए० सी० 575.

लिए अपेक्षित है, सामान्यतः ऐसी गारण्टी है कि शक्ति का दुरुपयोग नहीं किया जाएगा। शक्ति के दुरुपयोग या गलत उपयोग के विरुद्ध जो सबसे अच्छी अभिरक्षा होती है, वह लोक मत है, न कि संविधान में ही अधिकथित प्रक्रिया का अनुसरण करके संविधान में तब्दीली लाने सम्बन्धी लोक प्रतिनिधित्व के अधिकार पर रोक लगाना। संसद् के लोक प्रतिनिधियों में प्रारम्भ से ही अविश्वास रखना और यह मानना कि उनमें से अधिकांश लोग स्वतन्त्रताओं के प्रति अरुचि रखें तथा लोकहित के विरुद्ध कार्य करेंगे, सही दृष्टिकोण नहीं होगा। **मिसूरी कन्सास एण्ड टैक्सास रेलवे** बनाम मे ([1]) वाले मामले में न्यायाधिपति होम्स के शब्दों में —

> "बड़े सांविधानिक उपबन्धों के सम्बन्ध में बहुत ही सावधानी के साथ कार्यवाही की जानी चाहिए। मशीन के सुचारु संचालन के लिए पुर्जों में थोड़ी ढील की समुचित व्यवस्था होनी चाहिए और यह बात याद रखनी चाहिए कि विधानमण्डल उतनी ही सीमा तक लोगों की स्वतन्त्रताओं और कल्याण के अन्तिम संरक्षक होते हैं जितनी सीमा तक न्यायालय होते हैं।"

एल० बी० ओरफील्ड ने अपनी पुस्तक "दि अमेण्डिंग ऑफ फेडरल कांस्टिट्यूशन" में शक्ति के दुरुपयोग के प्रश्न पर निम्नलिखित शब्दों में पृष्ठ 123 पर इस प्रकार से मत व्यक्त किया है —

> "संशोधन करने की शक्ति का 'दुरुपयोग' असंगत शब्द है। विवक्षित परिसीमाओं के जो समर्थक हैं, वे उन दुरुपयोगों के सम्बन्ध में, जो उस समय किए जाते हैं जबकि संशोधन करने की शक्ति पर कोई भी परिसीमाएं अधिरोपित की गई हों,.........बताते हुए अनिष्ट प्रदर्शन (*reductio ad absurdum*) की पद्धति का का सहारा लेते हैं। संशोधन करने की शक्ति मामूली शासकीय शक्तियों से पूरी तरह से भिन्न प्रकार की शक्ति होती है। यदि उसका दुरुपयोग होता है, तो वह राष्ट्र के विशेष संगठन द्वारा तथा उन राज्यों द्वारा किया जाता है जो कि लोगों के असाधारण बहुमत का प्रतिनिधित्व इस प्रकार से करते हैं जिससे कि सभी व्यावहारिक प्रयोजनों के लिए उसे लोक की, या कम से कम, लोगों के, सर्वोच्च अभिकर्ता की तथा प्रभुत्वसम्पन्न शक्तियों का प्रयोग करने वाले अभिकर्त्ता की संज्ञा दी जा सके। इस प्रकार से लोगों को अपने ही कार्यों का मात्र परिणाम मिलता है।"

इसके पहले ही यह बात बताई जा चुकी है कि शक्ति के दुरुपयोग के विरुद्ध जो सबसे अच्छी अभिरक्षा है वह लोक मत है। यह बात मानते हुए कि किसी अत्यधिक गहरी भावना के परिणामस्वरूप, ऐसा वातावरण उत्पन्न हो जाता है जिसमें स्वतन्त्रता और आजादी जैसे संजोए गए मूल्य लोगों की और उनके प्रतिनिधियों की दृष्टि में महत्वहीन हो जाते हैं तथा वे संविधान के संशोधन द्वारा सभी मूल अधिकारों को समाप्त करना पसन्द करते हैं, अनुच्छेद 368 का सीमित निर्वचन करने से काफी लाभ नहीं होगा। ऐसी स्थिति में लोग मूल अधिकारों-सम्बन्धी दावे को छोड़ देंगे और जो कुछ भी हो, किसी भी स्थिति में, मूल अधिकार लोगों को राजनीतिक गुलामी, सामाजिक गतिहीनता और मानसिक दासता से

([1]) 194 यू० एस० 267, 270.

नहीं बना सकेंगे। इस संदर्भ में लर्नेड हैंड ने "स्प्रिट ऑफ लिबर्टी" (स्वतन्त्रता की भावना) सम्बन्धी अपने भाषण में जो शब्द प्रयुक्त किए थे मैं उनके प्रति निर्देश करना चाहूंगा—

"प्रायः मैं इस बात पर आश्चर्य करता हूं कि क्या हमारी आशाएं संविधानों पर विधियों पर और न्यायालयों पर बहुत ज्यादा निर्भर नहीं करतीं। ये मिथ्या आशाएं हैं, मुझ पर विश्वास कीजिए ये मिथ्या आशाएं हैं। स्वतन्त्रता पुरुषों और स्त्रियों के हृदयों में निवास करती है, जब वह समाप्त हो जाती है तब न तो कोई संविधान, न कोई विधि और न कोई न्यायालय ही उसे बचा सकता है, न कोई संविधान और न कोई न्यायालय उसकी सहायता करने के सम्बन्ध में ही कुछ कर सकता है। जब स्वतन्त्रता हृदयों में विद्यमान रहती है, तब उसका बचाव करने के लिए न तो किसी संविधान की, न किसी विधि की और न किसी न्यायालय की आवश्यकता होती है और वह कौन सी स्वतन्त्रता है जिसे पुरुषों और स्त्रियों के हृदयों में विद्यमान रहना ही चाहिए? वह क्रूर या अनियन्त्रित इच्छाशक्ति नहीं होती है, जैसा कोई चाहे वैसा करना स्वतन्त्रता नहीं है। यह तो स्वतन्त्रता को न देने के बराबर है और उसके परिणामस्वरूप स्वतन्त्रता की सत्ता ही समाप्त हो जाती है। जैसा कि हमें दुख के साथ मालूम है, जिस समाज में लोग अपनी स्वतन्त्रता पर रोक नहीं लगाते, वह समाज शीघ्र ही ऐसा समाज हो जाता है जिसमें स्वतन्त्रता कुछ बर्बर लोगों के लिए ही रह जाती है।" (देखिए—इर्विंग डिलयार्ड द्वारा सम्पादित स्प्रिट ऑफ लिबर्टी पृष्ठ 189-190)।

लर्नेड हैंड ने "कांट्रिब्यूशन ऑफ एन इण्डिपेण्डेण्ट ज्युडिशयरी टु सिविलाइजेशन" में एक बहुत ही महत्वपूर्ण उद्धरण दिया है जिसमें उन्होंने उसी प्रकार का मत व्यक्त किया है —

"आप यह पूछ सकते हैं कि साम्या और औचित्य के ऐसे मूल सिद्धान्तों का, जो हमारे संविधानों में विद्यमान हैं, फिर क्या होगा और यह कि क्या मैं गम्भीरतापूर्वक यह विश्वास करता हूं कि वे बिना किसी समर्थन के, संयम के परामर्शदाताओं के रूप में ही कार्य करेंगे। मैं यह नहीं समझता कि कोई व्यक्ति यह कह सकता है कि उन सिद्धांतों से क्या मिलेगा, मैं नहीं जानता कि क्या वे परामर्शदाता के रूप में ही कार्य करेंगे, किन्तु मैं इतना अवश्य समझता हूं कि मैं यह जानता हूं कि इस प्रकार से विच्छिन्न समाज जिसमें संयम की भावना समाप्त हो गई हो, उसे कोई भी न्यायालय बचा नहीं सकता, यह कि ऐसे समाज को जिसमें वह भावना पूरी तरह से विद्यमान रहती है, किसी भी न्यायालय द्वारा बचाए जाने की आवश्यकता नहीं होती, यह कि जो समाज न्यायालयों पर इस बात का उत्तरदायित्व अधिरोपित करता है कि वे उस भावना का पोषण करेंगे उसमें अन्ततः वह भावना समाप्त हो जाएगी।" (देखिए—उपर्युक्त पुस्तक का पैरा 164)।

यह कहावत है कि किसी अन्य देश के विरुद्ध युद्ध की घोषणा करके किसी राष्ट्र के युद्धरत होने से उस राष्ट्र के इतिहास के सम्पूर्ण क्रम में तब्दीली आ सकती है। यदि इस

बात के सम्बन्ध में गलत निर्णय लिया जाता है तो उसके परिणामस्वरूप अकथनीय परेशानियां उत्पन्न हो सकती हैं राष्ट्र को अपमान सहना पड़ सकता है, हजारों जानें जा सकती हैं और आने वाली दशाब्दियों तक राष्ट्र की अर्थ-व्यवस्था बिगड़ सकती है। यदि यह मानते हुए कि ऐसी शक्ति का दुरुपयोग नहीं किया जाएगा बल्कि उसका प्रयोग राष्ट्र के हित में युक्तियुक्त रूप से किया जाएगा सरकार और संसद् को ऐसी दूरगामी महत्वपूर्ण शक्ति सौंपी जा सकती है तो यह बात कुछ असंगत प्रतीत होगी कि राज्य के उन्हीं अंगों के प्रति हम अविश्वास का दृष्टिकोण अपनाएं और ऐसी शक्ति के दुरुपयोग की कल्पित सम्भावना के कारण संसद् को मूल अधिकारों में संशोधन करने की शक्ति से वंचित कर दें।

इस मामले का एक दूसरा पहलू भी है जिसे नजरअन्दाज नहीं किया जा सकता। भाग 3 में अनेक मूल अधिकारों के सम्बन्ध में उपबन्ध किया गया है। यह बात मानते हुए कि बहुत से मूल अधिकारों में से सम्पत्ति से सम्बन्धित मूल अधिकार के बारे में यह निष्कर्ष निकाला जाता है कि वह किन्हीं सुधारकारक अध्युपायों को अग्रसर करने में बाधक है और उस मूल अधिकार के न्यून करने की प्रस्थापना की जाती है तथा यह भी विनिश्चित किया जाता है कि किसी भी अन्य मूल अधिकार को न्यून न किया जाए या छीना न जाए तो पिटीशनरों द्वारा अपनाए गए आधार के अनुसार वर्तमान स्थिति यह है कि अनुच्छेद 368 के अधीन बाधक मूल अधिकारों को न्यून करने की कोई भी शक्ति प्रदत्त नहीं की गई है। परिणाम यह है कि भले ही पिटीशनरों की ओर से भाग 3 में दिए गए मूल अधिकारों के प्रति निर्देश क्यों न किया गया हो व्यक्ति की स्वतन्त्रता तथा अभिव्यक्ति का स्वातंत्र्य सम्बन्धी मूल्यवान विचार जिसकी अभिरक्षा करने की वास्तव में कोशिश की गई है सम्पत्ति के मूल अधिकार के लिए है जोकि राष्ट्रीय कल्याण के लिए सुधारकारक अध्युपायों को अग्रसर करने में बाधा उत्पन्न करता है। मेरी राय में यह मानना उचित दृष्टिकोण नहीं है कि यदि संसद् के बारे में यह अभिनिर्धारित किया जाता है कि वह संविधान के भाग 3 का संशोधन करने के लिए इस प्रकार हकदार है जिससे कि वह मूल अधिकारों को छीन सके या उन्हें न्यून कर सके तो उसका परिणाम यह होगा कि सभी मूल अधिकार स्वतः या आवश्यक रूप से निराकृत हो जाएंगे। इस संदर्भ में यह बात बताई जा सकती है कि 1950 से 1967 तक जबकि गोलक नाथ वाले मामले ([1]) में फैसला दिया गया था 17 वर्षों तक स्वीकृत स्थिति यह थी कि संसद् को संविधान के भाग 3 में इस प्रकार से संशोधन करने की शक्ति प्राप्त थी जिससे कि वह मूल अधिकारों को छीन सकती थी या उन्हें न्यून कर सकती थी। संसद् के पास उस शक्ति के होने के बावजूद उसने व्यक्ति की स्वतन्त्रता तथा अभिव्यक्ति के स्वातंत्र्य जैसे संजोए गए मूल्यों से सम्बन्धित मूल अधिकारों को छीनने या न्यून करने की कोई भी कोशिश नहीं की। यदि यह बात विगत में नहीं की गई तो हम यह बात क्यों मान लें कि भविष्य में संसद् के सदस्यों के बहुमत के मन में इन मूल्यों के प्रति अचानक घृणा और अरुचि उत्पन्न हो जाएगी तथा वे संविधान से उन मूल अधिकारों को हटाने के लिए उत्सुक होंगे। मेरी राय में शक्ति के निहित होने शक्ति के प्रयोग करने और उसके प्रयोग के ढंग के बीच महत्वपूर्ण प्रभेद होता

([1]) (1967) 2 एस० सी० आर० 762.

है। जिस बात से हमारा सम्बन्ध है वह यह है कि क्या अनुच्छेद 368 का वास्तविक अर्थान्वयन करने पर संसद् को संविधान में इस प्रकार से संशोधन करने की शक्ति प्राप्त है या नहीं जिससे कि वह मूल अधिकारों को छीन सके या न्यून कर सके। जहां तक कि इस प्रश्न का सम्बन्ध है मेरी राय में उसका उत्तर उस समय तक सकारात्मक होना चाहिए जब तक कि संविधान का मूल ढांचा बनाए रखा जाता है।

संशोधन करने की शक्ति के दुरुपयोग के संदर्भ में, पिटीशनरों की ओर से वेमर रिपब्लिक के संविधान के प्रति निर्देश किया गया है और इस बात पर जोर दिया गया है कि जहां तक कि मूल अधिकारों का सम्बन्ध है, जब तक कि संशोधन की शक्ति पर निर्बन्धन अधिरोपित नहीं किए जाएंगे तब तक खतरा यह रहेगा कि भारतीय संविधान की भी वही दुर्गति हो सकती है जो कि हिटलर द्वारा वेमर संविधान की गई थी। मेरी राय में यह दलील बिल्कुल ही गलत है और ऐसा निष्कर्ष ऐतिहासिक तथ्यों को सही तौर से समझे बिना निकाला गया है। सैनिक हार के बाद, जब कैसर 1918 में हालैण्ड भाग गया तो उसकी विद्रोही प्रजा ने जर्मनी में गणराज्य घोषित कर दिया था। इस प्रकार से प्राधिकार की अविच्छिन्नता भंग हो गई थी और जर्मन गणराज्य को डावांडोल राजनीतिक समस्याओं का सामना करना पड़ा था। उसे अपमानजनक सन्धि करने का बोझ उठाना पड़ा था। बाद में चलकर किन्हीं ऐसे राजनीतिज्ञों ने, जो स्वयं ही 1918 वाले पतन तथा समर्पण के लिए जिम्मेवार थे, हार के लिए मिथ्या ढंग से दोषारोपण किया गया था। गणराज्य को डेढ़ दशाब्दी के भीतर संघर्ष करना पड़ा था और दो विपत्तिपूर्ण संकटावस्थाओं का सामना करना पड़ा था जिनके परिणामस्वरूप समाज के साधारणतया स्थिर तत्व बर्बाद और हताश हो गए। देश के राजनीतिक दल में विभाजनों के कारण जो दुर्व्यवस्था फैली थी, उसका प्रभाव रीशताग (Reichstag) (जर्मन लोकसभा पर भी पड़ा था, क्योंकि किसी भी दल को स्पष्ट बहुमत प्राप्त नहीं हुआ था। चौदह वर्षों के दौरान 21 मन्त्रिमण्डल बनाए गए थे: उन्हीं परिस्थितियों में ही हिटलर का अभ्युदय हुआ था। उसने जर्मन संविधान के अनुच्छेद 48 का उपयोग किया, जिसमें आपातकालीन शक्तियों के बारे में उपबन्ध किया गया था। संविधान के अनुच्छेद 48 के अधीन राष्ट्रपति इस बात के लिए सशक्त था कि यदि आपातकालीन स्थिति द्वारा ऐसा अपेक्षित हो; तो वह मूल विधि द्वारा प्रत्याभूत अधिकारों को निलम्बित करने वाली डिक्रियां जारी कर सकेगा और सेना तथा नौसेना का सीधा प्रयोग कर सकेगा। वस्तुतः उन उपबन्धों का प्रयोजन कार्यपालिका के लिए ऐसे साधनों का उपबन्ध करना था जिससे कि वह किसी गम्भीर राष्ट्रीय आपातकालीन स्थिति में उस दशा में कार्य कर सके, जब कि राज्य की शक्ति का तुरन्त और प्रभावकारी ढंग से प्रयोग करना अचानक आवश्यक हो जाए। किन्तु जो बात हुई, वह यह थी कि लगभग प्रारम्भ से ही सरकार के सामने एक आपात स्थिति के बाद दूसरी आपात स्थिति आती चली गई, जिससे कि सरकार की विधायी-शाखा के कार्यों का स्थान अनुच्छेद 48 द्वारा उपबन्धित प्राधिकार के अधीन जारी की गई कार्यपालक डिक्रियों के जरिए किए गए शासन ने ले लिया। बढ़ती हुई आर्थिक समस्या और राजनीतिक दलों के बीच विभाजन के कारण हुई स्पष्ट असफलता के साथ-साथ, डांवाडोल आर्थिक समस्या और

कार्य करने में संसदीय सरकार की स्पष्ट असफलता—इन सभी के कारण हिटलर के अधीन राष्ट्रीय समाजवादियों की शक्ति में लगातार वृद्धि होती रही। दो वर्षों से कम की कालावधि में, जर्मन गणराज्य को एकदलीय तानाशाही में परिवर्तित कर दिया गया। 23 मार्च, 1933 वाले एनेब्लिंग ऐक्ट (शक्ति प्रदत्त करने वाले अधिनियम) में, जोकि जर्मन लोकसभा में नाज़ियों के बहुत ही थोड़े बहुमत द्वारा पारित किया गया था, सांविधानिक गारण्टियों का ध्यान किए बिना डिक्री द्वारा शासन किए जाने के सम्बन्ध में उपबन्ध किया गया था। उस ऐक्ट में सरकार को इस बात के लिए सशक्त किया गया था कि वह पार्लियामेण्ट (संसद्) की मंजूरी के बिना ही कानून अधिनियमित कर सकेगी। हिटलर ने संविधान का अनुसरण करने का दिखावा किया, किन्तु सरकार में और उसके बाहर उसके दल के कार्यों के जरिए व्यवहार में मूल विधि का अतिक्रमण होता रहा। सरकार पर जो थोड़ी बहुत परिसीमाएं लगाई गई थीं, उनकी भी उपेक्षा की गई और हिटलर द्वारा तीसरा संविधान प्रस्तुत किया गया। (देखिए—आर० एफ० मूर लिखित माडर्न कांस्टिट्यूशन पृष्ठ 86-87 तथा ई० ए० गोयर्नर लिखित कांस्टिट्यूशन आफ यूरोप, पृष्ठ 99-100)। इस प्रकार से यह प्रकट होगा कि संविधान के अनुच्छेद 48 के आवरण के अधीन कार्य करके, जिसमें आपातकालीन शक्तियों के सम्बन्ध में उपबन्ध किया गया था, न कि संविधान के संशोधन करने की शक्ति का प्रयोग करके, हिटलर ने नाज़ी तानाशाही कायम की। इस प्रकार से वह ऐसी शक्ति बन गया जिसे कि "...लोगों के सर्वोच्च राजनीतिक नेता, प्रशासन के सर्वोच्च नेता और सबसे ऊंचे अधिकारी, लोगों के सर्वोच्च न्यायाधीश, सशस्त्र बलों के सर्वोच्च सेनापति और सभी विधियों के स्रोत के रूप में वर्णित किया गया है।"

इसके अतिरिक्त कि संशोधन विषयक शक्ति के दुरुपयोग के विरुद्ध सबसे अच्छी गारण्टी अधिकांश संसद् सदस्यों की सद्बुद्धि है, न कि संविधान के भाग 3 का संशोधन पर रोक, इस विषय का एक और पहलू भी है। भाग 3 को यथावत् बना रहने दिया जाए तो भी अनुच्छेद 85 तथा 172 का संशोधन करके, जो भाग 3 में नहीं है और जिनके अनुसार लोक सभा तथा राज्यों की विधान सभाएं, यदि पहले विघटित न कर दी जाएं तो उनकी कालावधि पांच वर्ष होगी और यह उपबन्ध करके कि वर्तमान लोक सभा तथा विधान सभाओं की अवधि पचास वर्ष होगी, समस्त संसदीय प्रणाली की हंसी की खिल्ली उड़ाई जा सकती है। ऐसा करना संशोधन विषयक शक्ति का खुलमखुला दुरुपयोग होगा और मैं यह विश्वास करने को तैयार नहीं हूं कि हमारे देश के जनमत का इतना नीचे गिर जाएगा तथा राजनैतिक और सांविधानिक नैतिकता का स्तर इतना नीचा हो जाएगा कि ऐसा संशोधन कभी भी पारित हो सकेगा। इस सम्बन्ध में कि ऐसे संशोधन को न्यायालय भी विखण्डित नहीं करेगा मुझे इस मामले में राय देने की कोई आवश्यकता नहीं है। कुछ भी हो, ऐसा संशोधन क्रान्ति के लिए खुला बुलावा तथा उसका अग्रदूत होगा।

किसी भी अनुच्छेद का संशोधन किए बिना, अनुच्छेद 358 और 359 में किए गए संविधान के आपात उपबन्धों का प्रयोग सिद्धान्त रूप में इस प्रकार किया जा सकता है जिससे कि जनता का विश्वास खो देने के बाद, अन्तिम साधारण निर्वाचन से पांच वर्ष की

अवधि के बाद भी, सत्ताधारी दल सत्तारूढ़ रह कर, लोकतान्त्रिक ढांचे को खिलवाड़ बना दे। यदि राष्ट्रपति का समाधान हो जाए कि गम्भीर आपात विद्यमान है जिससे कि युद्ध या बाह्य आक्रमण या सशस्त्र विद्रोह अशान्ति से भारत या उसके राज्यक्षेत्र के किसी भाग की सुरक्षा संकट में है तो राष्ट्रपति द्वारा अनुच्छेद 352 के अधीन आपात की उद्घोषणा जारी की जा सकती है। ऐसी उद्घोषणा संसद् के प्रत्येक सदन के समक्ष रखी जाएगी। इसके बाद उद्घोषणा का समर्थन करने वाला संकल्प संसद् के सदनों द्वारा पारित किया जाएगा। अनुच्छेद 83 के अधीन लोक सभा, यदि पहले ही विघटित न कर दी जाए तो, अपने प्रथम अधिवेशन के लिए नियुक्त तारीख से पांच वर्ष तक चालू रहेगी और इससे अधिक नहीं और पांच वर्ष की उक्त कालावधि की समाप्ति का परिणाम लोक सभा का विघटन होगा परन्तु उक्त कालावधि को, जब तक आपात की उद्घोषणा प्रवर्तन में है, संसद् विधि द्वारा किसी कालावधि के लिए बढ़ा सकेगी जो एक बार में एक वर्ष से अधिक न होगी तथा किसी अवस्था में भी उद्घोषणा के प्रवर्तन का अन्त हो जाने के पश्चात् 6 मास की कालावधि से अधिक विस्तृत न होगी। चूंकि सरकार का तथा संसद् का, उद्घोषणा में तथा आपात के बनाए रखने में मुख्य हाथ है, इसलिए आपात उपबन्धों का सिद्धान्त रूप में प्रयोग, निर्वाचन को टालने के लिए तथा जनसमर्थन समाप्त हो जाने के बाद भी, अनुच्छेद 83 (2) के अनुसार लोक सभा के अवधि बढ़ा कर, सत्तारूढ़ दल को सत्ता में बनाए रखने के लिए किया जा सकता है। सत्ता के ऐसे निर्लज्ज दुरुपयोग के विरुद्ध कारगर रोक, राजनैतिक जिम्मेदारी की भावना, जनमत का दबाव तथा सार्वजनिक विद्रोह का भय है। हमें इस प्रश्न में जाने की जरूरत नहीं है कि क्या ऐसी दशा में न्यायालय भी हस्तक्षेप करेगा। हमारी राय में, यह सोचा ही नहीं जा सकता है कि कोई भी दल आपात उपबन्धों द्वारा दी गई शक्तियों का ऐसा दुरुपयोग करने का साहस करेगा। अनुच्छेद 83 (2) के अधीन पूर्वोक्त शक्ति का अनुदान निस्सन्देह रूप से यह समझ कर किया गया है कि ऐसी शक्ति का दुरुपयोग नहीं किया जाएगा।

पिटीशनरों की ओर से यह दलील दी गई है कि संशोधन विषयक शक्ति का प्रयोग ऐसी रीति में किया जा सकता है जिसका फल यह हो कि अनुच्छेद 368 के अधीन संशोधन की शक्ति ही शेष न रहे या किसी मामले में उस अनुच्छेद का ऐसा संशोधन किया जाए जिससे कि संविधान का संशोधन करना असम्भव हो जाए। हमारी राय में, यह सोचा भी नहीं जा सकता है कि भावी संसद् सदस्यों का बहुमत, यह जानते हुए कि फ्रांस जैसे अन्य देशों में असंशोधनीय संविधानों का क्या भाग्य हुआ है, किसी भी समय संशोधन विषयक शक्ति को समाप्त करने का प्रयास करेगा। मान भी लिया जाए कि संविधान के सारे संशोधन समाप्त करने वाला ऐसा संशोधन किसी समय पारित कर दिया जाता है, तो यह भावी क्रान्ति के या असंशोध्य संविधान से छुटकारा प्राप्त करने के अन्य संविधानेतर ढंगों के बीज बोने से कम नहीं होगा। इस मामले में, ऐसे संशोधन की सांविधानिक विधिमान्यता के प्रश्न की जांच करना आवश्यक नहीं है।

अब हम इस प्रश्न पर विचार करेंगे कि अनुच्छेद 368 के अधीन संशोधन विषयक शक्ति में गुंजाइश कितनी है। इसका आधार "संशोधन" शब्द का अर्थान्वयन है।

बहस के दौरान यह सवाल उठाया गया है कि पूर्वोक्त अनुच्छेद के अधीन संशोधन की शक्ति में, क्या संविधान का पूरा-पूरा निराकरण करने की तथा उसके स्थान पर एक बिल्कुल नया संविधान रख देने की शक्ति सम्मिलित है। मेरी राय में, इस प्रश्न का उत्तर 'नहीं' में दिया जाना चाहिए। इसके अतिरिक्त, मेरी राय यह है कि संविधान के संशोधन के लिए अनिवार्य रूप से आवश्यक यह है कि संविधान का निराकरण नहीं बल्कि उसमें परिवर्तन मात्र किए जाते हैं। "संशोधन" शब्द के लिए यह आवश्यक माना गया है कि पुराने संविधान का अस्तित्व, परिवर्तन हो जाने के बाद भी, बना रहता है तथा उसकी पहचान खत्म नहीं होती है और यह कि पुराना संविधान चाहे बदल जाए फिर भी वह बना रहता है। संशोधन के फलस्वरूप पुराने संविधान को नष्ट नहीं किया जा सकता है और न उसे हटाया जा सकता है; चाहे संशोधित रूप में हो या न हो उसे हरहालत में बनाए रखना है। तब फिर पुराने संविधान को बनाए रखने से क्या अभिप्रेत है? इससे पुराने संविधान के बुनियादी ढांचे या उसकी रूपरेखा को बनाए रखना अभिप्रेत है। पुराने संविधान के कुछ उपबन्धों को रहने देना ही, जब कि संविधान का बुनियादी ढांचा तथा उसकी रूपरेखा नष्ट कर दी गई हो, पुराने संविधान को बनाए रखने की कोटि में नहीं आएगा। यद्यपि इस बात की इजाजत दी जा सकती है कि संशोधन विषयक शक्ति के अधीन बड़े से बड़े महत्वपूर्ण परिवर्तन किए जाएं और और बदलती हुई परिस्थितियों के अनुसार उस प्रणाली का अनुकूलन किया जाए फिर भी इस बात को इजाजत नहीं दी जा सकती है कि आधारभूत संघटनात्मक पैटर्न में तब्दीली की जाए या उसकी बुनियादी में छेड़छाड़ की जाए। "संविधान का संशोधन" शब्दों का फैलाव तथा उनका विस्तार चाहे जितना हो उनके अधिकार से संविधान के बुनियादी ढांचे तथा उसकी रूपरेखा को न तो विनष्ट किया जा सकता है और न उसका निराकरण किया जा सकता है। उदाहरण के लिए संशोधन के परदे में जनतन्त्रात्मक शासन को अधिनायकतन्त्र या आनुवंशिक राजतन्त्र में नहीं बदला जा सकता है और न लोक सभा तथा राज्य सभा को समाप्त करने की आज्ञा दी जा सकती है। इसी प्रकार राज्य का धर्म निरपेक्ष स्वरूप, जिसके अनुसार राज्य किसी नागरिक के विरुद्ध केवल धर्म के आधार पर कोई विभेद नहीं करेगा, समाप्त नहीं किया जा सकता है। संविधान के संशोधन विषयक उपबन्ध को न तो संविधान के ढांचे को ध्वस्त करने का बहाना बनाया जा सकता है और न अनुच्छेद 368 का ऐसा अर्थान्वयन किया जा सकता है जिससे कि उसे संविधान के गले की फांसी बना दिया जाए या उसमें ऐसी मंजूरी का उपबन्ध किया जाए जिसे विधिपूर्ण हराकिरी का नाम दिया जा सके। ऐसे विध्वंस या विनाश को अनुच्छेद 368 द्वारा परिकल्पित संविधान का संशोधन नहीं कहा जा सकता है।

अनुच्छेद 368 में "इस संविधान का संशोधन" तथा "संविधान × × × संशोधित हो जाएगा" शब्द यह बताते हैं कि जिसका संशोधन किया गया है वह वर्तमान संविधान है और संशोधन के फलस्वरूप जो कुछ हमारे सामने है वह नया और कोई दूसरा संविधान नहीं है बल्कि वर्तमान संविधान का ही संशोधित रूप है। इस प्रकार अनुच्छेद 368 की भाषा से इस बात का समर्थन होता है कि उक्त अनुच्छेद के अधीन कार्य करते हुए यह सम्भव

नहीं है कि कोई वर्तमान संविधान को निरसित कर दे और उसके स्थान पर नया संविधान रख दे।

प्रथम संशोधन के समर्थन में अपने भाषण के दौरान पंडित नेहरू ने संविधान के संशोधन का अर्थ साफ कर दिया था जब उन्होंने यह कहा था कि "जो संविधान जनता की इच्छाओं के अनुसार चल सकता है तथा जिसमें जनता के विचारों के लिए इतनी गुंजाइश है कि उसे जहां-तहां बदला जा सकता है, उसका आदर जनता और भी अधिक करेगी और जब हम उसमें तब्दीली करना चाहेंगे तो जनता उसका विरोध नहीं करेगी।" इसलिए यह स्पष्ट है कि संशोधन से पंडित नेहरू जो कुछ समझते थे वह संविधान को "जहां-तहां" बदल देना था, न कि उसके आधारभूत ढांचे को समाप्त कर देना, क्योंकि इसमें कोई सन्देह नहीं कि ऐसा करने से संविधान का स्वरूप ही नष्ट हो जाता।

जहां तक कि इस प्रश्न का सम्बन्ध है कि क्या संयुक्त राज्य अमरीका के संविधान के अनुच्छेद 5 के अधीन संशोधन विषयक शक्ति में संविधान के बुनियादी ढांचे को बदलने की शक्ति भी सम्मलित है, संयुक्त राज्य अमरीका के नजीरों के हवाले से कोई सहायता नहीं मिल सकती है क्योंकि संयुक्त राज्य अमरीका में इस प्रकार का कोई संशोधन किया ही नहीं गया है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि संयुक्त राज्य अमरीका का संविधान पिछली शताब्दी के प्रारम्भ से, प्ररूप की दृष्टि से, चाहे न बदला हो, किन्तु वास्तव में बहुत कुछ बदल गया है और ये तब्दीलियां इतना अधिक औपचारिक रूप से अधिनियमित सांविधानिक संशोधनों द्वारा नहीं की गई हैं जितना कि, संविधान के अनुच्छेदों में कोई भी परिवर्तन किए बिना रूढ़ियों तथा संस्थाओं के विकास द्वारा की गई हैं (देखिए—ए० वी० डाइसी कृत लॉ ऑफ कांस्टिट्यूशन, 10वां संस्करण, पृष्ठ 129)।

8. बहस के दौरान, इस सम्बन्ध में कोई विवाद नहीं खड़ा किया गया है कि अनुच्छेद 368 के अधीन संशोधन विषयक शक्ति में, सम्पूर्ण संविधान को निरसित करने तथा उसके स्थान पर नया संविधान रखने की शक्ति सम्मिलित नहीं है। यदि संशोधन विषयक शक्ति में सम्पूर्ण संविधान को समाप्त करने की शक्ति नहीं है, बल्कि यह माना गया है कि संशोधन रूप में ही सही, वर्तमान संविधान को बनाए रखा जाएगा या चलता रहने दिया जाएगा तो सवाल यह पैदा होता है कि यह अभिनिर्धारित करने के लिए कि वर्तमान संविधान, संशोधन रूप में सही, बनाए रखा गया है और उसे समाप्त नहीं किया गया है, वर्तमान संविधान का वह कम से कम अंश कौन-सा है जिसे यथावत् बने रहने दिया जाना चाहिए। मेरी राय में, संविधान का वह अपेक्षित कम से कम अंश वह है जिसका सम्बन्ध संविधान के बुनियादी ढांचे तथा उसकी रूपरेखा के साथ है। यदि बुनियादी ढांचा बनाए रखा जाता है तो अन्य उपबन्धों के तब्दील हो जाने पर भी यह समझा जाएगा कि पुराना संविधान चल रहा है। इसके विपरीत यदि बुनियादी ढांचा बदल दिया जाता है तो वर्तमान संविधान के कुछ अनुच्छेदों के बनाए रखने मात्र से यह नतीजा नहीं निकाला जाएगा कि वर्तमान संविधान चल रहा है तथा उसका अस्तित्व समाप्त नहीं हुआ है।

कोनराड कृत लिमिटेशंस ऑफ अमेण्डमेण्ट प्रोसीजर एण्ड दि कांस्टिट्यूएण्ड पॉवर" में यद्यपि कुछ ऐसी बातें कही गई हैं जिनका समर्थन करना सम्भव नहीं है

फिर भी निम्नलिखित उक्तियां, मेरी राय में, इस स्थिति को सारवान् रूप से स्पष्ट करती हैं—

> "कानून की स्कीम के अन्दर रहते हुए संगठित संशोधक निकाय की शक्ति, कितनी ही असीमित क्यों न हो, उसका ढांचा ही ऐसा होता है कि वह बुनियाद के उन स्तम्भों को नहीं बदल सकता है जो उसके सांविधानिक प्राधिकार का आधार हैं।"

आगे चल कर यह कहा गया है कि—

> "संशोधन विषयक प्रक्रिया का सम्बन्ध कानूनी ढांचे के साथ है जिसका अंश वह स्वयं भी है। वह ब्यौरे सम्बन्धी तब्दीलियां कर सकती है, अन्तर्निहित सिद्धान्तों की विधिक अभिव्यक्ति को दूसरे सांचे में ढाल सकती है, बदलती हुई परिस्थितियों की आवश्यकताओं के अनुसार प्रणाली को तब्दील कर सकती है, कैलहोन के शब्दों में 'उस प्रणाली का मध्यस्थ' हो सकती है किन्तु उसकी बुनियादों को छू नहीं सकती है।"

ऐसा ही विचार "मैन एण्ड हिज गवर्नमेण्ट" के पृष्ठ 272 पर, कार्ल जे० फ्रेडरिक द्वारा निम्नलिखित पैरे में व्यक्त किया गया है—

> "संविधान एक सजीव प्रणाली है। किन्तु जिस प्रकार जीवधारी शरीर में, जैसे कि मनुष्य का है, विभिन्न अंग विकसित होते हैं और नष्ट हो जाते हैं, फिर भी बुनियादी ढांचा या पैटर्न बना रहता है और हर अंग का अपना-अपना कार्य विशेष होता है जो वे करते रहते हैं उसी तरह सांविधानिक प्रणाली में बुनियादी संघटनात्मक पैटर्न बना रहता है, चाहे फिर विभिन्न संघटक भागों में महत्वपूर्ण परिवर्तन होता रहे क्योंकि किसी भी प्रणाली की विशेषता है कि जब उसका कोई सारभूत तत्व नष्ट कर दिया जाता है तो वह समाप्त हो जाती है। कांग्रेस या शक्तियों के फेडरल विभाजन न रहे तो भी संयुक्त राज्य अमरीका में किसी न किसी प्रकार का सांविधानिक शासन तो बना ही रहेगा किन्तु वह इस समय मौजूद सांविधानिक प्रणाली नहीं होगी। इसका विरोध उन लोगों ने भी नहीं किया है जिनके पास संविधान की ऐसी सूक्ष्म संकल्पना नहीं है जैसे कि इस मामले में सम्बद्ध है।"

काफोर्ड कृत "कंस्ट्रक्शन ऑफ स्टेट्यूट्स" के अनुसार जब सम्पूर्ण विधि या उसके किसी भाग को बने रहने दिया जाता है या उसे और भी सम्पूर्ण या पूरा या कारगर बनाने के लिए उसमें कुछ बढ़ाया जाता है या कुछ घटाया जाता है या उसे किसी प्रकार बदला या तब्दील किया जाता है तो वह विधि संशोधित की जाती है। किन्तु ध्यान देने की बात यह है कि चाहे संशोधन किसी हद तक निरसन हो, फिर भी वही नहीं है जो निरसन है। इस संदर्भ में सदरलैण्ड का कहना है कि वर्तमान कानून के विस्तार या प्रभाव की कोई भी तब्दीली हो, चाहे वह संशोधन, निरसन, पुनरीक्षण या पूर्ति करने वाले अधिनियम द्वारा या स्वतन्त्र या मौलिक अधिनियम द्वारा उपबन्धों में ऐसा परिवर्धन, लोप या प्रतिस्थापन करके की गई हो जो उसके अस्तित्व को पूरी तरह से खत्म न करता हो, संशोधनकारी समझी जाती है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि जो निष्कर्ष मैंने ऊपर निकाला है उसका प्रभाव यह है कि संविधान में ऐसा कोई भी उपबन्ध न मिलेगा जो भिन्न बुनियादी ढांचे तथा रूपरेखा वाला बिल्कुल नया और बुनियादी रूप से भिन्न संविधान बनाने का प्राधिकार देता हो। मेरी राय में इस बात से यह नहीं जाहिर होगा कि हमारे संविधान में कोई कमी है और यह कि वह परिपूर्ण या त्रुटिहीन मूल लिखत नहीं है क्योंकि यह आवश्यक नहीं है कि किसी भी संविधान में ऐसा उपबन्ध होना ही चाहिए जिसमें उसके निराकरण तथा उसके स्थान पर एक बिल्कुल ही नया और भिन्न प्रकार का संविधान प्रतिस्थापित करने का उपबन्ध हो। विश्लेषण किया जाए तो अन्तिम प्रभु (अल्टीमेण्ट सॉवरिन) जनता ही है और यदि वह यह फैसला करती है कि उसके पास बिल्कुल नया संविधान हो तो इस प्रयोजन के लिए उसको वर्तमान संविधान के प्राधिकार की आवश्यकता नहीं होगी।

संविधान के बुनियादी ढांचे तथा उसकी रूपरेखा के अध्यधीन रहते हुए, मुझे इस बात में कोई सन्देह नहीं कि संशोधन विषयक शक्ति परिपूर्ण (प्लेनरी) है और उसमें विभिन्न अनुच्छेदों को, जिनमें मूल अधिकारों से सम्बद्ध अनुच्छेद भी हैं, परिवर्धन, परिवर्तन निरसन करने की शक्ति भी सम्मिलित है। संविधान के प्रवर्तन में आ जाने के बाद जैसे-जैसे समय बीते वैसे-वैसे संविधान के संचालन में कठिनाइयों का अनुभव हो सकता है। उन कठिनाइयों को दूर करने के लिए ही संविधान संशोधित किया जाता है। संशोधन के बहुत से रूप हो सकते हैं। कभी-कभी आवश्यकता इस बात की भी हो सकती है कि संविधान के किसी विशेष उपबन्ध के स्थान पर दूसरा उपबन्ध प्रतिस्थापित किए बिना ही उसको निरसित कर दिया जाए। किसी और अनुच्छेद के बारे में आवश्यकता यह हो सकती है कि उसके स्थान पर नया उपबन्ध रखा जाए। और भी कोई अनुच्छेद ऐसा हो सकता है जिसके बारे में इस बात की आवश्यकता अनुभव हो कि उसमें कुछ और खण्ड बढ़ाए जाएं। नए खण्ड, या तो पुराने कुछ खण्ड निरसित करने के बाद या उन में से किसी का भी निरसन किए बिना, बढ़ाए जा सकते हैं। संविधानों के संचालन के अनुभव से इस बात की आवश्यकता भी अनुभव हो सकती है कि संविधान में कुछ नए अनुच्छेद अन्तःस्थापित किए जाएं। इसी प्रकार अनुभव से कुछ वर्तमान अनुच्छेदों को काट देने की आवश्यकता भी अनुभव हो सकती है। मेरी राय में ये सब उपाय संशोधन विषयक शक्ति की परिधि के अन्दर ही होंगे। इतनी व्यापक तथा विस्तृत शक्ति यदि न दी जाए तो संविधान में ऐसी अनम्यता आ जाएगी जो संविधान को छिन्न भिन्न कर सकती है। ऐसी अनम्यता के विरुद्ध गम्भीर आपत्ति उसी प्रकार हो सकती है जिस प्रकार असंशोध्य संविधान के विरुद्ध।

अनुच्छेद 368 में "संशोधन" शब्द का सम्पर्क, चाहे संविधान भाग 3 के मूल अधिकारों को छीन लेने या उन्हें न्यून करने के साथ हो, या संविधान के भाग 3 के बाहर किसी अन्य उपबन्ध के साथ, "संशोधन" शब्द का अर्थ एक ही होना चाहिए। अनुच्छेद 368 द्वारा प्रदत्त संशोधन विषयक शक्ति के अधीन, भाग 3 वाले अनुच्छेदों को छोड़कर संविधान के अन्य उपबन्धों के निरसन, परिवर्धन या परिवर्तन के विरुद्ध कोई भी गम्भीर आपत्ति नहीं है। मेरी राय में जब हम संविधान के भाग 3 में दिए गए मूल अधिकारों से सम्बन्ध रखने वाले संशोधनों की चर्चा करें उस समय भी हमारा दृष्टिकोण यही रहना चाहिए।

संशोधन विषयक शक्ति में गुंजाइश तथा उसका विस्तार उस समय कितना है, जब उसका प्रयोग मूल अधिकारों के प्रसंग में किया जाता है और उस समय कितना है जब उसका प्रयोग, मूल अधिकारों से सम्बन्ध न रखने वाले उपबन्धों के बारे में किया जाता है, दोनों में विभेद करने वाली नीति अपनाने की इजाजत नहीं दी जा सकती।

हमने "संशोधन" शब्द के शब्दकोशीय अर्थों का हवाला दिया है जिसके अनुसार संशोधन करने से "दोष मुक्त करना, सही करना, ठीक करना, सुधारना, तब्दील करना, मरम्मत करना, बेहतर बनाना, या सबसे आगे निकाल ले जाना अभिप्रेत है। "संशोधन करना" या "संशोधन" शब्द के शब्दकोशीय अर्थ को देखते हुए जिसके अनुसार संशोधन विषयक शक्ति का प्रयोजन सुधार करना होना चाहिए, मेरी राय में, यह उचित नहीं हो, कि उन शब्दों का अर्थान्वयन सीमित रूप में किया जाए। संविधान के हर संशोधन के प्रस्तुतकर्ता आवश्यक है कि यही कहेंगे कि प्रस्थापित संशोधन का उद्देश्य वर्तमान संविधान में सुधार करना है। सच्चाई तो यह है कि हर संशोधन में कुछ न कुछ अंश बन बनाव (इयूफैमिज्म) का होता ही है क्योंकि उसका आधार ही प्रस्तुतकर्ता का यह विचार है कि अमुक संशोधन सुधार करने वाला है। राजनीति की वास्तविकताओं तथा वाद-विवाद में पड़ जाने पर सुधार का पक्ष अनिश्चित हो जाता है जिसका परिणाम यह है कि जब संशोधन शब्द का प्रयोग किसी संविधान के प्रसंग में किया जाता है तब इस शब्द से कानूनी भाषा में तब्दीली या परिवर्तन ही समझा जाता है। कोई संशोधन वास्तव में सुधार है या नहीं यह प्रश्न, मेरी राय में, वादयोग्य विषय नहीं है और किसी संशोधन की विधिमान्यता पर विचार करते समय, न्यायालय इस बहस में नहीं पड़ेंगे कि उस संशोधन ने वास्तव में सुधार किया है या नहीं। यह तय करना संसद् के प्रत्येक सदन की विशेष बहुसंख्या का काम है कि अमुक संशोधन सुधार है या नहीं। इस सम्बन्ध में न्यायालय संसद् की राय के स्थान पर अपनी राय को नहीं थोपेंगे किसी भी संशोधन में बुद्धिमत्ता कितनी है या उसमें सुधार करने का गुण कहां तक है उसके बारे में किसी न्यायाधीश का व्यक्तिगत विचार चाहे जो भी हो उसका काम केवल यही देखना है कि अमुक संशोधन कहां तक वैध है और जब इस पर विचार किया जाएगा तो इसके फैसले का आधार यह प्रश्न होगा कि अनुच्छेद 368 में विहित प्रक्रियाओं का पालन किया गया है या नहीं।

संविधान के संशोधन की विधिमान्यता के सम्बन्ध में निश्चय करते समय जो दृष्टिकोण अपनाया जाना है, वह मेरी राय में, वादपत्र या लिखित कथन के संशोधन की वैधता सम्बन्धी प्रश्न का निर्णय करते समय अपनाए जाने वाले दृष्टिकोण से अवश्य ही भिन्न होगा। संविधान उस वादपत्र या लिखित कथन से बुनियादी रूप से भिन्न है जो मुकदमा लड़ने वाले पक्षकारों द्वारा न्यायालय में फाइल किया जाता है। वादपत्र या लिखित कथन मुकदमा लड़ने वाले प्राइवेट पक्षकारों के दावे तथा प्रतिदावे होते हैं, जब कि संविधान में विधानमण्डल, कार्यपालिका तथा न्यायपालिका अर्थात् राज्य के विभिन्न अंगों के ढांचे के लिए उपबन्ध किया जाता है। संविधान में जनता की आशाएं तथा महत्वकांक्षाएं भी प्रतिबिम्बित होती है। विभिन्न अंगों के संचालन के मानक नियत करने के अतिरिक्त संविधान में इस बात के भी मोटे-मोटे संकेत होते हैं कि राष्ट्र भविष्य में किस प्रकार आगे बढ़ेगा। संविधान

को विल (वसीयत) या करार जैसी विधिक दस्तावेज मात्र नहीं समझा जा सकता है और न दो मुकदमेबाजों के बीच किसी रिट में फाइल किए गए वादपत्र या लिखित कथन की तरह समझा जा सकता है। किसी भी राष्ट्र के जीवन में संविधान की हैसियत निश्चय ही रथ के समान है। यह बात ध्यान में रखने की है कि संविधान प्रवेश द्वार नहीं बल्कि पथ है। संविधान के प्रारूपण की तह में इस बात की जानकारी होती है कि चीजें स्थिर नहीं रहती हैं बल्कि उनमें परिवर्तन होता रहता है और किसी भी प्रगतिशील राष्ट्र या व्यक्ति का जीवन स्थिर तथा गतिहीन नहीं बल्कि गतिशील तथा परिवर्तनीय है। इस लिए संविधान में प्रशासन कार्य सम्बन्धी प्रयोग और परीक्षण की काफी गुंजाइश होनी चाहिए। इस बात पर जोर देना आवश्यक है कि संविधान ऐसा दस्तावेज नहीं है जो दुस्तोष्य द्वन्द्ववाद (फैस्टिडियस डायलेक्टिक्स) के लिए हो बल्कि सार्वजनिक जीवन को व्यवस्थित बनाने का साधन है। भूतकाल में उसकी जड़ें हैं, वर्तमान में उसके बने रहने का प्रतिबिम्ब है तथा अज्ञात भविष्य के लिए वह बनाया गया है। संयुक्त राज्य अमरीका के संविधान के सम्बन्ध में होम्स द्वारा कहे गए शब्द हमारे संविधान के लिए भी उतने ही प्रासंगिक हैं। महान न्यायाधीश ने कहा है—

> "......संविधान के उपबन्ध कोई गणित के सूत्र नहीं हैं जिनका सार उनके प्ररूप में हो, बल्कि वे ऐसी प्राणवान मूल संस्थाएं हैं जो इंग्लैण्ड की जमीन से लाकर रोपी गई हैं। उनके महत्व का सम्बन्ध जीवन-शक्ति के साथ है न कि प्ररूप के साथ। उसका अनुमान केवल शब्दों पर ध्यान देने से तथा शब्दकोश की सहायता मात्र से नहीं किया जा सकता है, बल्कि उनके उद्भव तथा विकास शृंखला को देख कर किया जा सकता है।" [देखिए—गोम्पर्स बनाम युनाइटेड स्टेट्स : 233 यू० एस० 604, 610 (1914)]।

मार्शल के इस महान बुनियादी कथन को ध्यान रखना आवश्यक है कि "यह संविधान है जिसकी व्याख्या हम कर रहे हैं"। होम्स को अर्पित अपनी श्रद्धांजलि में जिन शब्दों का प्रयोग फैलिक्स फ्रैंकफर्टर ने किया है वे इस प्रकार हैं—

> "संविधान को प्राथमिक रूप से निर्वचन की विषय वस्तु माना जाता है या शासन की दस्तावेज के रूप में ग्रहण किया जाता है, इसी पर सब कुछ निर्भर है। मामलों के भाग्य में तथा उनके द्वारा विधान के भाग्य में क्या लिखा है इसका फैसला इस पर निर्भर करता है कि दस्तावेज का अर्थ स्वयं उस दस्तावेज से ही निकाला जाता है या इस आधार पर कि देश के बारे में किसी की कल्पना, उसके विकास, उसकी आवश्यकताओं तथा सभ्य समाज में उस देश का स्थान क्या है इसके बारे में कोई क्या सोचता है। (देखिए—फैलिक्स फ्रैंकफर्टर द्वारा 'सम्पादित श्री जस्टिस होम्स', पृष्ठ 58)।

संविधान का अर्थान्वयन जिन सिद्धान्तों का पालन न्यायालय को करना चाहिए उनका वर्णन ए० के० गोपालन बनाम मद्रास राज्य ([1]) वाले मामले में मुख्य न्यायाधीश कानिया

([1]) (1950) एस० सी० आर० 88, 119-121.

ने इस प्रकार किया है—

"संविधान के अर्थान्वयन के बारे में जेम्स बनाम कॉमनवैल्थ ऑफ आस्ट्रेलिया([1]) में लार्ड राइट ने कहा था कि संविधान का अर्थान्वयन संकुचित तथा पांडित्य-दर्शी (पैडांटिक) अर्थ में नहीं किया जाना चाहिए। अटर्नी जनरल फॉर न्यू साऊथ वेल्स बनाम ब्रूअरि एम्पलाइज यूनियन([2]) में न्यायाधिपति हिगिन्स ने कहा है—"यद्यपि संविधान के शब्दों का निर्वचन, उन्हीं सिद्धान्तों के आधार पर किया जाना है जिनका प्रयोग हम साधारण विधि का निर्वचन करने में करते हैं, फिर भी निर्वचन के ये सिद्धान्त हमको इस पर विवश करते है कि हम उस ऐक्ट की प्रकृति तथा उसके विस्तार को ध्यान में रखें जिसका निर्वचन हम कर रहे हैं, और यह याद रखें कि हमारे सामने संविधान अर्थात् एक ऐसी व्यवस्था है जिसके अधीन विधियां बनाई जाती हैं, न कि एक ऐक्ट मात्र जो यह घोषित करता है कि अमुक कानून क्या होगा।' सैण्ट्रल प्रोविन्सेज एण्ड बरार ऐक्ट, 1938 (1938) का 14) वाले मामले ([3]) में मुख्य न्यायाधिपति सर मोरिस ग्वायर ने इन उक्तियों को स्वीकार करने के पश्चात् कहा : 'यह बात ऐसे फेडरल संविधान के बारे में विशेष रूप से कही जा सकती है जिसमें प्रधिकारिता के सूक्ष्म संतुलन का प्रयोग किया गया हो। मैं समझता हूं कि उन लोगों का दृष्टिकोण बहुत ही विशाल तथा उदार होना चाहिए जिनका काम संविधान का निर्वचन करना है ; किन्तु इससे मेरा अभिप्राय यह नहीं है कि उन्हें किसी कानूनी या सांविधानिक सिद्धान्त के हित में या विलोपों की पूर्ति करने के लिए या अनुमानित गलतियों को सही करने के लिए भी अधिनियमिति की भाषा में खींचतान करने या उसके अर्थ को बिगाड़ने की स्वतन्त्रता है।' कितनी ही नजीरें बताती हैं कि न्यायालयों को यह स्वतन्त्रता नहीं है कि वे किसी भी अधिनियम को इसलिए शून्य घोषित करते हैं कि वह अधिनियम उनकी राय में उस भावना के प्रतिकूल है जिससे संविधान अनुप्राणित समझा जाता है किन्तु जो शब्दों में व्यक्त नहीं किया गया है। जहां कि मूल विधि ने, या तो स्पष्ट शब्दों में या अनिवार्य विवक्षा द्वारा, उन सामान्य शक्तियों को सीमित नहीं किया है, जो विधानमण्डल को प्रदान की गई हैं वहां हम किसी परिसीमा की घोषणा यह मानते हुए नहीं कर सकते हैं कि संविधान की आत्मा में हमने किसी ऐसी बात का पता लगाया है जिसका उल्लेख पूरी दस्तावेज में कहीं नहीं है। प्रभुत्वसम्पन्न विधायी शक्ति की सर्वशक्तिमत्ता (ओमनीपोटेंस) को, सामान्य सिद्धान्तों के आधार पर न्यायिक हस्तक्षेप द्वारा, वहां तक के सिवाय जहां तक कि किसी लिखित संविधान के शब्दों से स्पष्ट रूप से ऐसा प्राधिकार दिया गया हो, सीमित करना कठिन है। यह भी कहा गया है कि यदि ऐसे शब्द निश्चयात्मक तथा असंदिग्ध हों तो केवल इसी आधार पर किसी कानून को शून्य या निरसित घोषित करने के लिए न्यायालय के पास कोई प्राधिकार नहीं है। किसी विधायी अधिनियमिति को शून्य घोषित करने के

([1]) (1936) ए० सी० 578, 614.

([2]) (1908) 6 सी० एल० आर० 469, 611-12.

([3]) (1939) एफ० सी० आर० 18, 37.

लिए निरापद और ठोस आधार न्यायालयों के प्राधिकार के लिए केवल उन अभिव्यक्त सांविधानिक उपबन्धों में ही हो सकता है जो सोच समझकर राष्ट्र द्वारा निर्मित किसी स्थायी तथा सर्वोपरि विधि द्वारा विधायी शक्ति को सीमित करने वाली हो और बहुसंख्या की अस्थायी इच्छा को नियन्त्रित करने वाली हो। इससे अधिक प्राधिकार न्यायपालिका के हाथ में देना इतनी बड़ी और अनिश्चित शक्तियां उसे सौंपना है जिसमें न तो उसकी अपनी सुरक्षा है और न प्राइवेट अधिकारों का संरक्षण है।"

पिटीशनरों की ओर से संविधान की पंचम अनुसूची के पैरा 7 का हवाला दिया गया है जो अनुसूचित क्षेत्रों और अनुसूचित आदिम-जातियों के प्रशासन और नियंत्रण से सम्बन्ध रखने वाली अनुसूची के उपबन्धों में से किसी का, जोड़, फेरफार या निरसन करके, संशोधन करने के लिए, संसद् को सशक्त करता है। उसी प्रकार, षष्ठ अनुसूची का पैरा 21 आदिम-जाति क्षेत्रों के प्रशासन से सम्बन्ध रखने वाली षष्ठ अनुसूची के उपबन्धों में से किसी का, जोड़, परिवर्तन या निरसन करके, संशोधन करने के लिए संसद् को सशक्त करता है। कहा गया है कि अनुच्छेद 368 में तो केवल "संशोधन" शब्द ही आया है जबकि ऊपर के दो पैरे जोड़, फेरफार या निरसन द्वारा संशोधन करने की शक्ति प्रदान करते हैं और इस प्रकार संशोधन विषयक शक्ति का विस्तार बड़ा हो गया है। यह दलील, मेरी राय में, सुआधृत नहीं है। "जोड़, परिवर्तन या निरसन करके" शब्द, "संशोधन" शब्द के अर्थ को केवल विस्तार प्रदान करते हैं और उस शब्द में जो कुछ पहले से विवक्षित है उसी को स्पष्ट करते हैं। किन्तु यह नहीं कहा जा सकता है कि यदि "जोड़, परिवर्तन या निरसन करके" शब्द वहां पर न होते, तो संशोधन की शक्ति में, जोड़ने, परिवर्तन करने या निरसन करने की शक्ति सम्मिलित न होती। यही बात भारत शासन अधिनियम, 1935 की संशोधित धारा 291 के बारे में भी सही है जिसने उस धारा में विनिर्दिष्ट बातों के सम्बन्ध में प्रान्तीय विधानमण्डल की बाबत, उस अधिनियम के या तदधीन किए गए किसी आदेश के उपबन्धों में जोड़, फेरफार या निरसन द्वारा, किसी भी समय, आदेश से ऐसे संशोधन करने की शक्ति गवर्नर-जनरल को दी थी जैसे कि वह आवश्यक समझें। ऐसे स्पष्टीकरण से, जो विशेष सावधानी के रूप में दिया गया हो, यह अभिप्रेत नहीं है कि यदि ऐसा स्पष्टीकरण न होता तो वह शक्ति जो विद्यमान है और अस्पष्ट है अस्तित्व में ही न होती। इसके अतिरिक्त, मैं यह समझता हूं कि पंचम अनुसूचि के पैरा 7 के उप पैरा 2 से यह प्रकट होता है कि "संशोधन" शब्द का प्रयोग ऐसे अर्थ में किया गया है जिससे जोड़, फेरफार या निरसन के रूप में किया गया संशोधन भी उसके अन्तर्गत आ जाए। उस पैरे के अनुसार, उप पैरा (1) में वर्णित कोई भी विधि, अनुच्छेद 368 के प्रयोजन के लिए संविधान का संशोधन नहीं समझी जाएगी। चूंकि उप पैरा (1) जोड़, फेरफार या निरसन के रूप में संशोधन के बारे में है, इसलिए अनुच्छेद 368 के प्रयोजन के लिए जो उप पैरा (2) में निर्दिष्ट है, संविधान के संशोधन का अर्थ इस प्रकार लगाया जाना चाहिए जैसे कि वह इतना सहविस्तृत और व्यापक है कि उसके अन्तर्गत जोड़, फेरफार या निरसन के रूप में किया गया संशोधन भी है। यही तर्क षष्ठ अनुसूची के पैरा 21 के उप पैरा (2) को भी लागू होगा।

ब्रिटिश कोल कॉरपोरेशन बनाम किंग (1) वाले मामले में जुडीशियल कमेटी ने निम्नलिखित नियम निर्धारित किया—

> "इस ऐक्ट के समान अवयव रूप या संघटनात्मक कानून का निर्वचन करते समय वह अर्थान्वयन अपनाया जाना चाहिए जो उसकी शक्तियों को सबसे अधिक विस्तार देने के सबसे अधिक पक्ष में हो।"

जुडीशियल कमेटी ने, ब्रिटिश नार्थ अमरीका ऐक्ट के उपबंध के सम्बन्ध में, क्लैमेण्ट्स कृत कैनेडियन कांस्टिट्यूशन से निम्नलिखित पंक्तियां भी सानुमोदन उद्धृत कीं—

> "किन्तु कानून भी कई तरह के होते हैं और यथावत अर्थान्वयन जो किसी शास्ति सम्बन्धी या कारावास सम्बन्धी कानून या ऐसे कानून के सम्बन्ध में, जो इंग्लैण्ड के पैरिश (पादरी का प्रदेश) के कार्यकलाप का विनियमन करने के लिए पारित किया गया हो उचित जान पड़ेगा, बहुधा देखा जाएगा कि यदि वह शान्ति व्यवस्था तथा सुशासन सुनिश्चित करने के लिए पारित किसी अधिनियम के मामले में लागू किया जाता है तो उसका प्रभाव संसद् के वास्तविक आशय के बिल्कुल विपरीत है......।"

संविधान के संशोधन का उल्लेख करते हुए, ओरफील्ड ने यह कहा है कि संविधान के संशोधन का निर्वचन सदा ही अधिक उदारता के साथ किया जाना चाहिए। "अमेण्डिंग आॅफ फेडरल कांस्टिट्यूशन" (पृ० 158) नामक उसकी पुस्तक में से एक उद्धरण इस प्रकार है—

> "क्या कोई ऐसा निर्बन्धन है कि संशोधन कुछ बढ़ा नहीं सकता है बल्कि परिवर्तन ही कर सकता है? इससे बहुत कुछ मिलती जुलती एक दलील यह है कि संशोधन, परिवर्तन कर सकता है किन्तु बढ़ा कुछ नहीं सकता है। यह दलील "संशोधन" शब्द की परिभाषा को लेकर किया जाने वाला वाक्छल है। इस बात पर आग्रह किया गया है कि संविधान के संशोधन से किसी ऐसी बात को बदलना अभिप्रेत है जो संविधान में पहले से मौजूद हो, न कि ऐसी बात जोड़ना जो बिल्कुल नई तथा असम्बद्ध हो। वादपत्र तथा लिखित कथन सम्बन्धी विधि में संशोधनों के लिए बहुत सीमित अर्थ विहित करने वाले मामलों को नजीर के रूप में पेश किया गया है। किन्तु ऐसी परिभाषा स्वीकार करना उचित नहीं होगा, क्योंकि, संविधानों के संशोधनों का अर्थान्वयन सदा ही अधिक उदारता के साथ तथा उनसे बिलकुल भिन्न सिद्धान्तों पर किया गया है जो वादपत्र तथा लिखित कथन के संशोधनों को लागू होते हैं।"

यहां यह भी बता देना अच्छा होगा कि संयुक्त राज्य अमरीका के संविधान का अनुच्छेद 5 संशोधन विषयक शक्तियां प्रदान करता है। जिस शब्द का प्रयोग उस अनुच्छेद में किया गया वह सीधा सादा "संशोधन" शब्द है न कि परिवर्धन, परिवर्तन या निरसन के रूप में किए जाने वाला संशोधन, अनुच्छेद 5 द्वारा प्रदत्त शक्ति के अनुसरण में, अमरीका के संविधान

(1) (1935) ए० सी० 500.

में अनुच्छेद 18 अट्ठारहवें संशोधन द्वारा बढ़ाया गया था। तत्पश्चात् वह अनुच्छेद (अनुच्छेद 18), इक्कीसवें संशोधन द्वारा निरसित कर दिया गया।

अनुच्छेद 21 की धारा 1 इस प्रकार थी—

"संयुक्त राज्य अमरीका के संविधान के संशोधन का अट्ठारहवां अनुच्छेद एतद्द्वारा निरसित किया जाता है।"

अनुच्छेद 18 के बढ़ाए जाने को यद्यपि चुनौती दी गई फिर भी सुप्रीम कोर्ट ने उसे कायम रखा। अट्ठारहवें अनुच्छेद के निरसन पर किसी ने भी आपत्ति इस आधार पर नहीं की है कि संशोधन विषयक शक्ति में निरसन की शक्ति सम्मिलित नहीं है।

मैं यह मानने के लिए तैयार नहीं हूं कि संविधान के संशोधन के लिए यह आवश्यक है कि वह, उस उपबंध को भी बनाए रखे जिसको वह संशोधित करना चाहता है और यह कि वह, उक्त उपबंध के साथ सुसंगत हो। संविधान के संशोधन का अर्थ बहुत ही व्यापक और विस्तीर्ण होता है और उसके अन्तर्गत कुछ अनुच्छेदों का सम्पूर्ण निरसन या उनके स्थान पर ऐसे नए अनुच्छेदों का रखा जाना सम्मिलित हो सकता है जो पुराने अनुच्छेदों के साथ सुसंगत या उनके अनुरूप न हों। अनुच्छेद 368 में, संशोधन का प्रयोग, परिवर्तन का संकेत करने के लिए किया गया है। यह बात अनुच्छेद 368 के परन्तुक के प्रारम्भिक शब्दों से स्पष्ट है, जिनके अनुसार, यदि संशोधन परन्तुक में वर्णित उपबंधों में कोई परिवर्तन करना चाहता है तो राज्यों में से कम से कम आधों के विधानमण्डलों द्वारा अनुसमर्थन आवश्यक होगा। परिवर्तन शब्द का विस्तार बड़ा व्यापक है और उसके अन्तर्गत पुराने उपबन्धों के निरसन तथा और ही प्रकार के नए उपबंधों से प्रतिस्थापन के मामले अवश्य ही आ जाएंगे। परिवर्तन अच्छा बनाने वाला और खराब करने वाला दोनों तरह का हो सकता है। प्रत्येक संशोधन, उसकी निगाह में जो विरोधी है, सदा खराब करने वाला ही प्रतीत होगा। इसके विपरीत, जो संशोधन रखता है, वह यही कहेगा कि यह परिवर्तन सुधार करने वाला है। संशोधन की विधिमान्यता का फैसला करते समय न्यायालय इस वाद-विवाद में नहीं पड़ेंगे बल्कि इसी बात पर विचार करेंगे कि संशोधन के लिए अपेक्षित सांविधानिक आवश्यकताओं की पूर्ति हो गई है या नहीं। अनुच्छेद 368 द्वारा विहित प्रक्रिया का पालन करते हुए संविधान का जो भी संशोधन किया जाता है वह न्यायालयों द्वारा इस आधार पर अविधिमान्य नहीं घोषित किया जा सकता कि वह खराब करने वाला परिवर्तन है। यदि न्यायालय, संशोधन को इस आधार पर अविधिमान्य घोषित कर देता है, तो इसे, अपेक्षित सांविधानिक संशोधन की बुद्धिमत्ता के बारे में, संसद् की राय के स्थान पर, जिसके पीछे, किन्हीं मामलों में, राज्यों में कम से कम आधे विधानमण्डलों का समर्थन भी है, न्यायालय द्वारा स्वयं अपनी राय को प्रभुत्व देना समझा जाएगा। ऐसा करने की इजाजत नहीं दी जा सकती क्योंकि इस का प्रभाव यह होगा कि सांविधानिक संशोधन करने के सम्बन्ध में, संसद् की बुद्धिमत्ता के खिलाफ अपील की सुनवाई करने के लिए न्यायालय को इस कल्पित मान्यता के आधार पर सशक्त किया गया है कि वह अधिक बुद्धिमान है और इस बात का निर्णय करने के लिए कि राष्ट्र के लिए अच्छा क्या है वह अधिक सक्षम है। ऐसा करना, वास्तव में ऐसे क्षेत्र में अनुचित हस्तक्षेप होगा, जो कुछ मामलों में राज्यों के विधानमण्डलों के अनुसमर्थन के अध्यधीन प्रधान रूप से संसद् के दोनों सदनों में जनता के प्रतिनिधियों का

है। इस प्रसंग में हम लाचनर बनाम न्यू यार्क ([1]) में न्यायाधिपति होम्स के शब्द दोहराएंगे—

> "यह मामला ऐसे आर्थिक सिद्धान्त के आधार पर तय किया गया है जिसको देश का बहुत बड़ा भाग नहीं मानता है। यदि प्रश्न यह होता कि इस सिद्धांत के साथ मैं सहमत हूं या नहीं तो, अपना मत निश्चित करने के पहले, मैं यह पसंद करता कि इसका और अधिक गहराई के साथ तथा कुछ और समय तक निरंतर अध्ययन करूं। किन्तु मैं नहीं समझता हूं कि यह मेरा काम है क्योंकि मेरी सहमति या असहमति का, अपनी राय को विधि का रूप देने के बहुमत के अधिकार के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है।"

उपरोक्त शब्द न्यायाधिपति होम्स के विसम्मत टिप्पण से लिए गए हैं। सही विधि निर्धारित करने के लिए इस विसम्मति को बाद में संयुक्त राज्य अमरीका के उच्चतम न्यायालय ने भी स्वीकार कर लिया [देखिए—फरगुसन बनाम स्क्रूपा ([2])] जिसमें न्यायालय ने यह कहा है कि —

> "यह देखते हुए कि हमने उन विधियों को बातिल ठहराने के लिए जिनको अधिकांश न्यायालय आर्थिक दृष्टि से मूर्खतापूर्ण समझते थे, सम्यक् प्रक्रिया खण्ड (ड्यू प्रासेस क्लाज) की 'धूमिल रूपरेखा' का व्यवहार बन्द कर दिया है, एडम्स बनाम टैन्नर का आश्रय लेना उतना ही गलत है, जितना वैस्ट कोस्ट होटल कम्पनी बनाम पैरिश, 300 यू०एस० 379=81 लॉयर्स इडिशन 703, 57 एस०सीटी० 5 578, 108 ए० एल० आर० 1330 (1937) द्वारा उलट दिए गए एडकिंस बनाम चिल्ड्रेंस हास्पीटल का पल्ला पकड़े रहना..............."विधान में बुद्धिमत्ता कितनी है और कितनी नहीं, इसका निर्णय करने के लिए अतिविधायिका (सुपरलैजिस्लेचर) के रूप में व्यवहार करने से हम इंकार करते हैं और हम उसी युग में पुनः प्रवेश करने से आग्रहपूर्वक इंकार करते हैं जब कारबार तथा औद्योगिक सम्बन्धों का विनियमन करने वाली राज्य विधियों को अविधिमान्य घोषित करने के लिए न्यायालय सम्यक् प्रक्रिया खण्ड का प्रयोग करते थे क्योंकि हो सकता है कि वे विधान मूर्खतापूर्ण हों, बिना समझे बूझे बना दिए गए हों, या ऐसे हों जिनका किसी विशेष विचारधारा के साथ कोई सामंजस्य न हो।"

पिटीशनरों की ओर से यह आग्रह भी किया गया है कि यह नहीं हो सकता है कि संविधान निर्माताओं का आशय यह हो कि अनुच्छेद 368 के परन्तुक में निर्दिष्ट अनुच्छेदों के संशोधन के लिए तो राज्यों के कम से कम आधे विधानमण्डलों का अनुसमर्थन आवश्यक हो और मूल अधिकारों को छीनने या उन्हें न्यून करने के जैसे महत्त्वपूर्ण विषय से सम्बन्ध रखने वाला संशोधन, किसी अनुसमर्थन के बिना ही किया जा सकता हो। मेरी राय में यह दलील मानने वाली नहीं है। इस दलील में अन्तर्निहित दोष यह विश्वास है कि परन्तुक के अधीन राज्य के विधानमण्डलों द्वारा अनुसमर्थन जिन सांविधानिक संशोधनों

([1]) (1904) 198 यू० एस० 45.

([2]) (1963) 372 यू० एस० 726.

के बारे में आवश्यक बनाया गया है वे बहुत महत्त्वपूर्ण हैं, जब कि अपेक्षतः कम महत्त्वपूर्ण संशोधनों के सम्बन्ध में ऐसा कोई अनुसमर्थन आवश्यक नहीं है। किन्तु अनुच्छेद 368 को पढ़ते ही विदित हो जाता है कि राज्यों के विधानमण्डलों द्वारा अनुसमर्थन उन सांविधानिक संशोधनों के सम्बन्ध में आवश्यक बनाया गया है जिनका सम्बन्ध राज्य के अधिकारों के साथ है या उन पर प्रभाव पड़ता है। और किसी मामले में ऐसा अनुसमर्थन आवश्यक नहीं है। अनुच्छेद 368 की योजना यह नहीं है कि संविधान के संशोधनों का विभाजन ऐसे दो प्रवर्गों में किया जाए जिनमें से एक प्रवर्ग महत्त्वपूर्ण अनुच्छेदों का हो तथा दूसरा ऐसे अनुच्छेदों का हो जो इतने महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। अनुच्छेद 368 में कल्पना यह की गई है कि उसमें दी गई संशोधन विषयक शक्ति के अन्तर्गत उनके सिवाय सभी अनुच्छेद आ जाएं जिनका संशोधन संसद् द्वारा साधारण बहुमत से किया जा सकता है। किन्तु ऐसे अनुच्छेदों को, जिनका सम्बन्ध फेडरल सिद्धान्त या राज्य और संघ के आपसी सम्बन्धों के साथ है संविधान निर्माताओं ने परन्तुक में स्थान दिया है और यह आवश्यक बना दिया है कि ऐसा संशोधन तभी किया जा सकेगा जब संसद् के हर सदन के उपस्थित तथा मतदान करने वाले सदस्यों के दो-तिहाई बहुमत के अतिरिक्त राज्यों के कम से कम आधे विधानमण्डलों का अनुसमर्थन प्राप्त किया गया हो। स्पष्ट है कि जहां तक राज्य विधानमण्डलों द्वारा अनुसमर्थन का प्रश्न है। संविधान के निर्माताओं ने व्यक्तिगत अधिकारों की अपेक्षा फेडरल रचना को अधिक महत्त्व दिया है ऐसी नीति का अनुसरण सामान्यतः फेडरल संविधान के संशोधन सम्बन्धी उपबन्ध की दशा में किया जाता है। के० सी० व्हीयर ने फेडरल सरकार सम्बन्धी अपनी पुस्तक के पृष्ठ 55 पर कहा है—

> "फेडरल सरकार के मामले में यह आवश्यक है कि यदि संविधान का संशोधन करने की कोई शक्ति हो तो उसका सम्बन्ध जहां तक संविधान के उन उपबन्धों के साथ हो जो सामान्य तथा प्रादेशिक सरकारों की हैसियत या शक्तियों का विनियमन करने वाले हैं वहां तक वह शक्ति अनन्य रूप से न तो सामान्य सरकार को सौंपी जाए और न स्थानीय सरकारों को।"

इस संदर्भ में हम डा० अम्बेदकर के भाषण का हवाला देंगे जिन्होंने, अनुच्छेदों के उस प्रवर्ग की चर्चा के दौरान जिसके संशोधन के लिए राज्यों द्वारा अनुसमर्थन अपेक्षित है, कहा था—

> "इसमें कोई संदेह नहीं कि हमने कुछ अनुच्छेदों को एक तीसरे प्रवर्ग में रखा है जहां संशोधन के प्रयोजनों के लिए अपनाई गई प्रक्रिया कुछ भिन्न है या दोहरे प्रकार की है। ऐसे संशोधनों के लिए राज्यों द्वारा अनुसमर्थन के साथ-साथ दो-तिहाई बहुमत आपेक्षित हैं। मैं इस बात को स्पष्ट करूंगा कि हम क्यों समझते हैं कि कुछ अनुच्छेदों की दशा में इस प्रक्रिया को अपनाना अधिक वांछनीय है। यदि वे संसद्-सदस्य, जिनकी इस मामले में दिलचस्पी है, उन अनुच्छेदों को देखेंगे जिनको परन्तुक में स्थान दिया गया है, तो वे देखेंगे कि उन अनुच्छेदों का सम्बन्ध, केवल केन्द्र के साथ ही नहीं बल्कि केन्द्र तथा प्रान्तों के आपसी सम्बन्धों के साथ भी है। हम यह नहीं भूल सकते है कि बहुत से मामले ऐसे हैं जिनमें हमने

प्रान्तीय स्वायत्ता के क्षेत्र में हस्तक्षेप किया है फिर भी हमारा यह आशय है और हमने वास्तव में इस बात का ध्यान रखा है कि संविधान का फेडरल ढांचा बिना किसी मूल भूत परिवर्तन के यथावत् बना रहे। कम्पनी विधियों में हमने कुछ अधिकार प्रान्तों को दिए हैं और कुछ अधिकार केन्द्र के लिए आरक्षित किए हैं। हमने विधायी प्राधिकार का विभाजन किया है, कार्यपालिक प्राधिकार का विभाजन किया है तथा प्रशासनिक प्राधिकार का भी विभाजन किया है। स्पष्ट है कि यह कहना कि संविधान के उन अनुच्छेदों को भी प्रशासनिक, विधायी, वित्तीय और अन्य शक्तियों के बारे में हैं, जैसे कि प्रान्तों की कार्यपालिक शक्तियां, ऐसा बना दिया जाए, कि प्रान्तों या राज्यों को कहने सुनने का कोई भी अवसर दिए बिना उसमें परिवर्तन, केन्द्रीय संसद् द्वारा दो-तिहाई बहुमत से किया जा सके, मेरी समझ से संविधान के मूलभूत तत्वों को सम्पूर्ण रूप से निराकृत करना होगा।"

पिटीशनरों के विद्वान् काउन्सेल ने इस विषय पर हमारे सामने बड़ी लम्बी बहस की है कि संविधान विषयक शक्ति पर अभिव्यक्त परिसीमाएं न भी हों तो भी यह शक्ति विवक्षित परिसीमाओं के अध्यधीन है जिन्हें अन्तर्निहित परिसीमाएं भी कहा जाता है। जहां तक अन्तर्निहित परिसीमाओं की संकल्पना की बात है उसके दो पहलू हैं। पहले के अनुसार वे ऐसी परिसीमाएं हैं जिनके बारे में निष्कर्ष संविधान के स्पष्ट उपबन्धों से अनिवार्य रूप से निकलता है। दूसरा ऐसा परिसीमाओं को स्वीकार करता है जिनका अस्तित्व संविधान में, इस बात का ध्यान दिए बिना समझ लिया जाना चाहिए कि वे स्पष्ट उपबन्धों से निकलती हैं या नहीं, क्योंकि उनका आधार कुछ उच्चतर मूल्यों पर है जो मानवमात्र को अति प्रिय हैं और जिन्हें सभ्यता से जीने के लिए आम तौर से अनिवार्य समझा जाता है। यह भी कहा गया है कि वे उच्चतर मूल्य ही संविधान की आत्मा हैं और उन्हीं के आधार पर संविधान की स्कीम तैयार की गई है। विवक्षित परिसीमाओं का यह पहलू नैसर्गिक अधिकारों के अस्तित्व के साथ जुड़ा हुआ है और कहा जाता है कि ऐसे अधिकार, चूंकि सर्वोपरि हैं, इसलिए संविधान का कोई भी संशोधन उनमें कमी नहीं कर सकता है।

इस स्थान पर मैं यह बता देना चाहता हूं कि कुछ परिसीमाएं हैं जो "संशोधन" शब्द के अन्दर ही मौजूद हैं और विवक्षित हैं। ये ऐसी परिसीमाएं हैं जो "संशोधन" शब्द के प्रयोग से उत्पन्न होती हैं और जिनका सम्बन्ध "संशोधन" शब्द के अभिप्राय और अर्थान्वयन के साथ है। इस विषय की चर्चा "संशोधन" शब्द का अर्थान्वयन करते समय अन्यत्र की गई है। इस स्पष्टीकरण के अध्यधीन रहते हुए हम ऊपर निर्दिष्ट विवक्षित परिसीमाओं की संकल्पना के दोनों पहलूओं की चर्चा करेंगे।

जहां तक प्रथम पहलू का सम्बन्ध ऐसी परिसीमा के साथ है जिसका निष्कर्ष संविधान के किसी स्पष्ट उपबन्ध से अनिवार्य विवक्षा द्वारा निकलता है वहां तब इस संकल्पना को कानूनों के निर्वचन के सिद्धान्त से बल प्राप्त होता है और उसी पर आधृत है। जब तक कोई विवश करने वाला कारण न हो, कहा यही जाता है कि कोई भी सांविधानिक उपबन्ध ऐसे सिद्धान्त के प्रवर्तन से मुक्त नहीं है। मैंने यही सिद्धान्त अनुच्छेद 368 पर लागू किया है और इसके बावजूद भी मुझे उस अनुच्छेद या किसी अन्य सुसंगत अनुच्छेद

की भाषा में कोई ऐसी बात नहीं मिली जिससे उक्त अनुसूची में दी गई संशोधन करने की शक्ति पर किसी विवक्षित परिसीमा का संकेत मिलता हो।

अब हम इस प्रश्न के दूसरे पहलू को लेंगे जिसका सम्बन्ध संशोधन करने की शक्ति पर लागू होने वाली परिसीमा के साथ इस कारण है कि ऐसी परिसीमा का निष्कर्ष यद्यपि स्पष्ट उपबन्ध से नहीं निकलता है फिर भी उसका आधार ऐसे उच्चतर मूल्यों पर बताया जाता है जो मानव मात्र को अति प्रिय हैं और जिन्हें सभ्यता से जीने के लिए अनिवार्य समझा जाता है। जहां तक इस पहलू का सम्बन्ध है एक स्पष्ट आपत्ति, जो हर एक को अनुभव होगी, यह है कि भारत का संविधान, संसार का सबसे लम्बा संविधान न भी हो तो भी उसकी गणना सबसे लम्बे संविधानों में ही की जाएगी। संविधान निर्माताओं ने विभिन्न सांविधानिक विषयों की चर्चा विस्तार के साथ की है और उनके बारे में विस्तृत और लम्बे-चौड़े उपबन्ध बनाए हैं। तब क्या यह सोचा जा सकता है कि इतनी गहराई और विस्तार के साथ इस विषय की चर्चा स्पष्ट शब्दों में करने के बाद भी, वे ऐसे महत्वपूर्ण अनुच्छेदों के बारे में, जैसा कि संविधान के संशोधन से सम्बद्ध अनुच्छेद है, विवक्षा सम्बन्धी बातों को छोड़ देंगे? यदि आशय यह था कि संशोधन विषयक शक्ति पर परिसीमाएं होनी चाहिएं तो निश्चय ही प्रश्न यह उत्पन्न होगा कि संविधान निर्माताओं ने संशोधन विषयक शक्ति पर ऐसी परिसीमाओं की व्यवस्था स्पष्ट शब्दों में संविधान में ही क्यों नहीं कर दी। संशोधन विषयक शक्ति पर विवक्षित परिसीमाओं के सिद्धान्त में आकर्षण, राजनीतिक सिद्धान्त के प्रतिपादकों के लिए हो सकता है किन्तु और भी गहराई से ध्यान देने पर यह पता चलेगा कि ऐसे सिद्धान्त का आधार सैद्धान्तिक दृष्टिकोण है न कि वे बातें जो संविधान के क्रियान्वयन तथा संचालन के प्रयोजन के लिए आवश्यक हों जैसे उपयोगी तथा व्यवहारिक दृष्टिकोण सम्भवतः यही कारण है कि विवक्षित परिसीमाओं के पूर्वोक्त सिद्धान्त को किसी भी देश के उच्चतम न्यायालय ने मान्यता नहीं प्रदान की है।

दूसरे पहलू को ध्यान में रखते हुए संशोधन की शक्ति पर विवक्षित परिसीमाओं की संकल्पना का आधार चूंकि संविधान का कोई स्पष्ट उपबन्ध नहीं है इसलिए यह समझना चाहिए कि वह बुनियादी रूप से अस्पष्ट है। इस संकल्पना की कोई स्पष्ट रूपरेखा नहीं है और यदि इसे मान्यता प्रदान की जाती है तो यह आवश्यक है कि उसके द्वारा संविधान के संशोधन जैसे महत्वपूर्ण विषय के सम्बन्ध में अनिश्चितता तथा अस्पष्टता का समावेश हो जाएगा। किसी छोटे संविधान में विवक्षित परिसीमाओं की संकल्पना की दुहाई देने के लिए चाहे जो औचित्य हो, जहां तक भारत के संविधान का सम्बन्ध है जिसमें इतने विस्तृत उपबन्ध हैं, वहां तक इस संकल्पना की सहायता लेने की न कोई गुंजाइश है और न उसके लिए कोई औचित्य है। संविधान निर्माताओं का जो भी आशय था वह स्पष्ट शब्दों में व्यक्त कर दिया गया है और जब तक ऐसे शब्द न हों जिनमें संशोधन विषयक शक्ति पर परिसीमाओं का स्पष्ट और अनिवार्य संकेत हो, तब तक मेरी राय में इस बात की इजाजत नहीं दी जा सकती कि संविधान में ऐसी परिसीमाएं समझ ली जाएं और उन्हें संशोधन विषयक शक्ति पर लागू कर दिया जाए। मैं यह नहीं मान सकता हूं कि विभिन्न विषयों के सम्बन्ध में ऐसे विस्तृत उपबन्ध करने के बाद भी संविधान निर्माताओं ने कुछ बातें ऐसी छोड़ दी जिनके

सम्बन्ध में विनिश्चय विवक्षा के आधार पर किया जाना है और न मैं यह मान सकता हूं कि जो कुछ कहा गया है उसके अतिरिक्त, कुछ बातें ऐसी हैं जो अनकही रह गई हैं किन्तु उन्हें भी इतना ही प्रभावी बनाने का आशय था जितना कि कही गई बातें। यदि हम ऐसी अनकही बातों की खोज करेंगे जिनको इतना ही प्रभावी बनाना है जितना कही गई बातें तो हम कोरी कल्पना तथा सिद्धान्त-प्रतिपादन के संसार में पहुंच जाएंगे और इस प्रकार वही अनिश्चितता पैदा हो जाएगी जो ऐसे विषयों में अनिवार्य रूप से रहती है। इस प्रकार संविधान के उपबन्धों को निश्चित तथा यथावत् बनाने की संविधान निर्माताओं की सब कोशिशें बेकार हो जाएंगी। ऐसा करना इस बुनियादी असूल की उपेक्षा ही नहीं बल्कि अवहेलना करना होगा कि संविधान बारीक तथा सूक्ष्म द्वन्द्ववाद का विषय नहीं है बल्कि उसका संचालन व्यवहारिक स्तर पर किया जाना है जिससे कि उसे राष्ट्र की उन्नति का वास्तविक तथा प्रभावी साधन बनाया जा सके। जैसा कि कांस्टिट्यूशन ऑफ दि यूनाइटेड स्टेट्स जिल्द 1 के पैरा 451 में स्टोरी ने कहा है, संविधान का निर्माण आध्यात्मिक तथा विवादी चातुर्य, अभिव्यक्ति की बारीकियों, बारीक औचित्य, अर्थों के भिन्न-भिन्न प्रकार के भेदों के लिए अथवा दार्शनिक पैनेपन अथवा न्यायिक अनुसन्धान के प्रयोग के लिए नहीं किया जाता है। संविधान तो मानव जीवन के सामान्य कार्यकलाप पर आधारित, सामान्य आवश्यकताओं के लिए अनुकूलित, सामान्य उपयोग के लिए तैयार किए गए तथा सब की समझ में आने वाले व्यवहारिक प्रकार के दस्तावेज होते हैं।

नेशनल प्रोहिबिशन वाले मामलों ([1]) में पिटीशनरों ने मद्य निषेध सम्बन्धी अट्ठारहवें संशोधन की विधिमान्यता को संयुक्त राज्य अमरीका के उच्चतम न्यायालय के सामने चुनौती दी थी। उसमें यह कहा गया था कि उपरोक्त संशोधन का परिणाम यह हुआ है कि राज्यों की नियामक (पुलिस) शक्ति का अतिक्रमण किया गया है। संयुक्त राज्य अमरीका के संविधान के अनुच्छेद 5 के अधीन पिटीशनरों के अनुसार ऐसा संशोधन करने की शक्ति कतिपय विवक्षित परिसीमाओं के अध्यधीन है। यद्यपि उच्चतम न्यायालय ने अपने इस निष्कर्ष के समर्थन में कोई कारण नहीं दिए, फिर भी उसने अट्ठारहवें संशोधन की विधिमान्यता का समर्थन किया है। इस प्रकार संशोधन की शक्ति पर विवक्षित परिसीमाओं से सम्बन्ध रखने वाली दलीलें चुपचाप खारिज कर दी गईं।

राट्टसशेफर तथा विलिस जैसे महान लेखकों ने यह दृष्टिकोण अपनाया है कि विवक्षित परिसीमाओं के सिद्धान्त के सम्बन्ध में यह समझा जाना चाहिए कि यह नेशनल प्रोहिबिशन वाले मामलों([1]) में संयुक्त राज्य अमरीका के उच्चतम न्यायालय द्वारा खारिज कर दिया गया है। हैण्डबुक ऑफ अमरीकन कांस्टिट्यूशनल लॉ में राट्टसशेफर ने पृष्ठ 8 से पृष्ठ 10 पर कहा है—

> "संशोधन विषयक शक्ति के प्रयोग से यह काम नहीं किए जा सकते हैं, ऐसी धारणा केवल तभी अपनाई जा सकती है जब संशोधनों के विषय में स्पष्ट या विवक्षित

([1]) 64 लॉयर्स इडिशन 871=283 यू० एस० 221.

बन्धन मौजूद हों । यह दलील कई बार दी गई है कि फेडरल संविधान को संशोधित करने की शक्ति इस प्रकार सीमित है किन्तु उच्चतम न्यायालय ऐसे हर दावे को अभी तक नामंजूर करता रहा है, यद्यपि केवल एक राज्य न्यायालय ऐसा है जिसने यह माना है कि राज्य संविधान को संशोधित करने की शक्ति इस विषय में विवक्षित परिसीमा के अध्यधीन है । स्पष्ट है कि पूर्वकथित स्थिति अधिक युक्तियुक्त है, चूंकि पश्चात्कथित स्थिति में यह विवक्षित है कि जनता ने, जो अन्ततोगत्वा प्रभुत्वसम्पन्न है, यह तय करने के बारे में, कि स्वयं उसकी मूल विधि में क्या क्या सम्मिलित किया जाएगा, उस प्रभुत्व के एक अंश से जो कभी उसी के पास था अपने आप को वंचित कर लिया है ।"

संशोधन करने की शक्तियों पर विवक्षित परिसीमा का प्रश्न, जेरेमिश रेयान और कुछ अन्य बनाम केप्टन माइकल लेनॉन ([1]) वाले मामले में भी पैदा हुआ था । 6 दिसम्बर, 1922 को प्रवृत्त आयरिश फ्री स्टेट के संविधान का अनुच्छेद 50 अपने मूलतः अधिनियमित रूप में इस प्रकार है—

> "इस संविधान के संशोधन, अनुसूचित संधि के निबन्धनों के अन्दर रहते हुए, एआक्तोस (*Oireachtas*) द्वारा किए जा सकेंगे किन्तु इस संविधान के प्रवर्तन में आने की तारीख से आठ वर्ष की अवधि के अवसान के पश्चात् एआक्तोस के दोनों सदनों द्वारा पारित किसी भी ऐसे संशोधन को तब तक विधि का रूप नहीं प्राप्त होगा जब तक वह संशोधन, एआक्तोस के दोनों सदनों द्वारा पारित किए जाने या पारित समझे जाने के पश्चात्, लोकमत-संग्रह के लिए न भेज दिया गया हो और जब तक कि रजिस्टर पर दर्ज अधिकांश मतदाताओं ने ऐसे लोकमत-संग्रह में मतदान न कर दिया हो तथा या तो रजिस्टर पर दर्ज बहुसंख्यक मतदाताओं के मत या डाले गए मतों में से दो-तिहाई मत उसके पक्ष में न पड़े हों । आठ वर्ष की उक्त अवधि के अन्दर ऐसा कोई भी संशोधन साधारण विधान द्वारा किया जा सकेगा और इस प्रकार उसके अनुच्छेद 47 के उपबन्धों के अधीन होगा ।"

आठ वर्ष की उक्त अवधि के अन्दर पारित संविधान (संशोधन सं० 10) अधिनियम, 1928 द्वारा, संविधान को अन्य बातों के साथ-साथ अनुच्छेद 47 (लोकमत-संग्रह सम्बन्धी, को काट कर तथा अनुच्छेद 50 में से "इस प्रकार उसके अनुच्छेद 47 के उपबन्धों के अधीन होगा" शब्दों को काट कर संशोधित किया गया था । उसी अवधि के अन्दर पारित संविधान (संशोधन सं. 16) अधिनियम, 1929 द्वारा, अनुच्छेद 50 को उसी में "आठ वर्ष" शब्दों के स्थान पर "सोलह वर्ष" शब्द रख कर, संशोधित किया गया । संविधान (संशोधन सं० 17) अधिनियम, 1931 द्वारा, संविधान को अनेक अपराधों के विचारण के लिए रक्षा बलों (डिफेंस फोर्सेज) के अधिकारियों के अधिकरण के लिए स्थापना सम्बन्धी उपबंध अन्तःस्थापित करके संशोधित किया गया । कुछ मामलों में संदेह पर निरोध की शक्ति भी प्रदान की गई थी । ऐसे अधिकरणों की स्थापना की विधिमान्यता के प्रसंग में ही यह सवाल पैदा हुआ था कि संशोधन करने की शक्ति पर कोई विवक्षित परिसीमा है या नहीं । प्रथम दो

([1]) (1935) आयरिश रिपोर्ट्स 170.

संशोधनों की चर्चा करते समय, उच्चतम न्यायालय (न्यायाधिपति फिट्ज गिब्बन तथा मुरनाघन और विसम्मत निर्णय देने वाले मुख्य न्यायाधिपति कैनेडी) ने यह अभिनिर्धारित किया था कि ये अधिनियमितियां अनुच्छेद 50 द्वारा एआरक्तोस को प्रदत्त संशोधन-विषयक शक्ति के अन्दर हैं और संविधान के विधिमान्य संशोधन हैं; और यह कि इसके फलस्वरूप संविधान का वह संशोधन जो, आठ वर्ष की मूल अवधि के अवसान के पश्चात्, अधिनियमित किया गया हो मूलतः यथा अधिनियमित अनुच्छेद 50 या अनुच्छेद 47 के अधीन जनता के सामने लोकमत-संग्रह के लिए प्रस्तुत न किए जाने के कारण अविधिमान्य नहीं था। संविधान (संशोधन सं० 17) अधिनियम, 1931 की चर्चा करते हुए इन्हीं बहुसंख्यक न्यायाधिपतियों ने उसके बारे में यह अभिनिर्धारित किया था कि वह विधिमान्य संशोधन है और इसलिए अधिकारातीत नहीं है कि उसके द्वारा संविधान का आंशिक निरसन किया गया है या दैहिक स्वतंत्रता सम्बन्धी अनुच्छेद 6, न्यायिक शक्ति के प्रयोग सम्बन्धी अनुच्छेद 64 या ज्यूरी की सहायता से परीक्षण सम्बन्धी अनुच्छेद 72 के समान संविधान के विनिर्दिष्ट अनुच्छेदों के साथ उसका टकराव है या संविधान के अन्य अनुच्छेदों का या संविधान के विभिन्न अनुच्छेदों में अन्तर्विहित उन सिद्धान्तों का, जिनके सम्बन्ध में दावा किया गया है कि वे मूल भूत या अपरिवर्तनशील हैं, अतिलंघन या निराकरण करने वाला है। संविधान के विभिन्न अनुच्छेदों का उल्लेख करने के पश्चात्; मुख्य न्यायाधिपति कैनेडी ने यह अभिनिर्धारित किया कि संशोधन की शक्ति को ही संशोधित करने की कोई भी शक्ति न तो स्पष्ट शब्दों में और न अनिवार्य विवक्षा द्वारा है। इस सम्बन्ध में उन्होंने यह कहा है कि—

> "इसमें कोई सन्देह नहीं कि यदि संविधान सभा का ऐसा आशय होता तो वह संविधान के संशोधन करने की शक्ति को संशोधित करने की शक्ति दे सकती थी किन्तु उस हालत में कहीं अधिक सम्भाव्य यह प्रतीत होता कि उसने एआरक्तोस को संविधान में संशोधन करने की सामान्य, खुली तथा अबाध और विस्तार में असीमित शक्ति उसके प्रयोग को सीमाबद्ध तथा निर्बन्धित करने वाली अपेक्षाओं के बिना प्रदान की होती, न कि परिसीमाओं को हटाने की शक्ति के साथ यथावत रूप से सीमित शक्ति देकर उसी बात को अप्रत्यक्ष रूप से किया होता। जहां तक मैं समझता हूं स्पष्ट है कि संविधान सभा का आशय यह नहीं था। मेरी राय में, हमारे सामने विचाराधीन शक्ति जिस खण्ड में विद्यमान है, उसके अभिव्यक्त प्रतिषेध, उसकी परिसीमाओं तथा अपेक्षाओं, किसी भी स्पष्ट प्राधिकार के अभाव, उस शक्ति का प्रयोग करते हुए उठाए गए प्रभावी कदम के सम्पूर्ण जनता को समर्पण पर तथा जिस मामले का उल्लेख मैं कर चुका हूं उसकी सम्बद्ध और परिस्थितियों पर सम्पूर्ण दस्तावेजों और उनकी ध्वनि पर विचार करते हुए उस शक्ति का सही निर्वचन किया जाए तो संशोधन विषयक शक्ति को संशोधित करने की कोई भी शक्ति, न तो स्पष्ट शब्दों में और न अनिवार्य विवक्षा के रूप में, यहां पर विद्यमान है।"

इस प्रश्न पर अपने विचार न्यायाधिपति फिट्ज गिब्बन ने इन शब्दों में व्यक्त किए हैं—

"इसलिए जब तक हमारे संविधान के स्पष्ट उपबन्धों से यह बात स्पष्ट रूप से प्रकट न हो कि ये अधिकार अन्य-असंक्राम्य हैं तथा इस प्रकार के हैं कि इन्हें किसी विधायी कार्यवाई द्वारा उपान्तरित नहीं किया जा सकता है और न यह छीना जा सकता है, तब तक मैं यह नहीं मान सकता कि एआक्टोस उनका परिवर्तन, उपान्तरण या निरसन नहीं कर सकता है। यह हो सकता है कि हमारे संविधान निर्माताओं का आशय यह रहा हो कि संविधान की जंजीरों में बांध कर मनुष्य को रिष्टि (मिसचिफ) से रोका जाए, किन्तु यदि उन्होंने ऐसा किया है तो अनुच्छेद 50 में इससे बच निकलने का मार्ग दिखाकर उन्होंने अपने ही उद्देश्यों को विफल कर दिया है।"

न्यायाधिपति मुरनाघम ने कहा है—

"अनुच्छेद 50 की संरचना जिन शब्दों से हुई है, उनके आधार पर यह संशोधन जो किया गया है प्राधिकृत नहीं है और इस अनुच्छेद में कोई भी ऐसा अभिव्यक्त परिसीमा नहीं है जो अनुच्छेद 50 को संशोधन विषयक शक्ति से अपवर्जित करती हो। इसलिए मेरे पास ऐसा कोई आधार नहीं है जो सुझाई गई परिसीमा के लिए उचित आधार हो सकता हो।"

इस प्रकार संशोधन विषयक शक्ति पर विवक्षित परिसीमाओं का सिद्धान्त, आयरलैण्ड के उच्चतम न्यायालय के अधिकांश न्यायाधीशों द्वारा नामंजूर कर दिया गया। इसके अतिरिक्त यह प्रतीत होता है कि मुख्य प्रश्न जो इस मामले में निर्णय के लिए उठा वह यह था कि संविधान के संशोधन से सम्बन्ध रखने वाले अनुच्छेद को संशोधित करने के लिए कोई शक्ति है या नहीं या इस सम्बन्ध में कोई निर्बन्धन तो नहीं लगाया गया है। ऐसा कोई प्रश्न हमारे संविधान में पैदा नहीं होता है, क्योंकि अनुच्छेद 368 के परन्तुक के खण्ड (ङ) में ऐसे संशोधन की इजाजत देने वाला एक स्पष्ट उपबन्ध मौजूद है। इसके अतिरिक्त मैं देखता हूं कि मूरा और कुछ अन्य बनाम अटर्नी जनरल फार दि आयरिश फ्री स्टेट और कुछ अन्य (1) में अपीलार्थी के काउन्सेल ने 1929 वाले संशोधन की सांविधानिक विधिमान्यता को चुनौती नहीं दी है। काउन्सेल ने यह मान लिया है कि उक्त संशोधन नियमित है तथा पश्चात्वर्ती संशोधनों की विधिमान्यता पर इस आधार पर आपत्ति नहीं की जा सकती कि उन्हें लोकमत-संग्रह के लिए जनता के सामने नहीं रखा गया है। इस रियायत का उल्लेख करते हुए, जुडीशियल कमेटी ने कहा कि काउन्सेल का इस बात को मान लेना ठीक ही था। इस प्रकार जुडीशियल कमेटी ने 1929 के संशोधन अधिनियम की सांविधानिक विधिमान्यता के सम्बन्ध में आयरलैण्ड के उच्चतम न्यायालय के बहुसंख्यक न्यायाधिपतियों के निष्कर्ष के साथ अपनी सहमति प्रकट की।

बहुसंख्यक न्यायाधिशों के इसी मत का समर्थन ए० बी० कीथ ने भी किया है और यह कहा है कि इस सम्बन्ध में मुख्य न्यायाधिपति का मत गलत था। (देखिए—लैटर्स ऑन

(1) (1935) ए० सी० 484.

इम्पीरियल रिलेशन्स, इण्डियन रिफार्म, कांस्टिट्यूशनल एण्ड इण्टरनेशनल लॉ 1916-1935 पृ० 157)। इसी प्रसंग में कीथ ने कहा है कि —

"किन्तु इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि इस विषय में मुख्य न्यायाधिपति का मत गलत था। संविधान के अनुच्छेद 50 ने, जिसने साधारण अधिनियम द्वारा परिवर्तन करने की शक्ति आठ वर्ष तक दे रखी थी, उस अनुच्छेद को तब्दील करने पर कोई रोक नहीं लगाई किन्तु जब संविधान अधिनियमित किया गया तब साम्राज्य की सांविधानिक विधि यह थी कि संविधान द्वारा प्रदान की गई परिवर्तन की शक्ति, जब तक कि उस शक्ति को प्रदान करने वाली धारा के संशोधन पर रोक लगा कर उसे संरक्षण न प्रदान किया गया हो, जैसा कि सामान्यतः किया जाता है, तब तक उसका प्रयोग उसी के प्राधिकार से उस शक्ति को तब्दीली करने के लिए किया जा सकता है। इस प्रकार की सावधानी का आयरिश फ्री स्टेट के संविधान में विलोप अवश्य ही जानबूझ कर किया गया होगा और इसलिए यह स्वभाविक था कि श्री कॉसग्रेव के सुझाव पर और उस समय के विरोधी नेता श्री डी वलेरा के पूर्ण अनुमोदन से, डायल ने, बिना किसी लोकमत-संग्रह के ही परिवर्तन की अवधि को बढ़ा दिया है।"

संशोधन विषयक शक्ति को सीमिति करने वाली विवक्षित परिसीमाओं के सिद्धान्त की चर्चा करते हुए, ओरफील्ड कहता है कि —

"आज जब कि स्वयंभू (एब्सोल्यूट्स) संकल्पना की प्रतिष्ठा समाप्त हो चुकी है, तुरन्त ही यह नहीं मान लेना चाहिए कि संविधान के कुछ मूलभूत प्रयोजन हैं, जो संशोधन विषयक शक्ति को जकड़े हुए हैं और जिनको आज के तथा आने वाले कल के जनकल्याण तथा जन आवश्यकताओं पर प्राथमिकता प्राप्त है।" [देखिए – अमेण्डिंग ऑफ दि फेडरल कांस्टिट्यूशन (1942), पृष्ठ 107]

आगे चल कर वे कहते हैं —

"बहुत ही व्यवहारिक महत्व की दलील यह है कि जो परिसीमाएं अभिव्यक्त हैं उनके अतिरिक्त कोई भी परिसीमाएं निश्चित करना बहुत ही खतरनाक है। संशोधन करने की असीमित शक्ति के आलोचकों ने बहुधा इस पर उचित ध्यान ही नहीं दिया है कि फेडरल संविधान में परिवर्तन साधारण बहुमत या थोड़े भारी बहुमत से नहीं, बल्कि राज्यों में तीन-चौथाई बहुमत से किया जाता है निस्सन्देह रूप से, जब साधारण बहुमत अपेक्षित हो तब न्यायालयों के लिए संशोधन प्रक्रिया पर प्रक्रिया तथा सार दोनों की दृष्टि से कड़ी निगरानी रखना कोई विशिष्टतः गम्भीर मामला नहीं है। किन्तु जब तीन-चौथाई जैसे भारी बहुमत ने क्रान्ति को छोड़ कर सबसे उच्चकोटि के प्ररूप में अपनी इच्छा अन्तिम रूप से व्यक्त की हो, तब हस्तक्षेप करना न्यायपालिका के लिए खतरनाक है।" (देखिए—यथोक्त पृ० 120)

इसी प्रसंग में ओरफील्ड ने एक न्यायिक विनिश्चय से निम्नलिखित पंक्तियां भी उद्धृत की हैं—

"कान्सेल के प्रभावोत्पादक शब्द हमें इस बात की याद दिलाते हैं कि हमारा यह कर्तव्य है कि प्रभुत्वसम्पन्न जनता द्वारा अपनी इच्छा की अभिव्यक्ति पर

निर्धारित परिसीमाओं का पालन करके इस सांविधानिक शासन की एकता को बनाए रखें ········ किन्तु अति सूक्ष्म विवक्षाओं का सहारा लेकर उनके विस्तार को बढ़ाने से इंकार करने का हमारा कर्तव्य कम महत्वपूर्ण नहीं है। कितने ही विनिश्चय ऐसे हैं जो हमें यह बताते हैं कि किसी कानून को शून्य तभी घोषित किया जाएगा जब संविधान के साथ उसका विरोध स्पष्ट तथा असंदिग्ध हो। किन्तु जब समीक्षाधीन अधिनियम साधारण विधान न होकर, संविधान बनाने वाली ऐसी महान शक्ति का अधिनियम हो, जिसने संविधान बनाए हों और इसके बाद उनको उलट सकती हो, तब सतर्कता और संयम का कर्तव्य और भी स्पष्ट है। ऐसे अवसरों पर, विधिसम्मत विवक्षाओं का विस्तार बहुत सीमित होता है।"

(देखिए—यथोक्त पृ० 121)

एच० ई० विल्लिस ने, विवक्षित परिसीमाओं के सिद्धान्त को अपनी पुस्तक "कांस्टिट्यूशनल लॉ ऑफ दि यूनाइटेड स्टेट्स" में इन शब्दों को नामंजूर किया है—

"किन्तु यह दलील दी गई है कि संशोधन विषयक शक्ति पर सभी तरह की विवक्षित परिसीमाएं हैं। इस प्रकार यह सुझाव दिया गया है कि जब तक कोई संशोधन संविधान में किसी और बात के साथ सम्पृक्त न हो तब तक वह विधिमान्य नहीं हो सकता है और न उस दशा में विधिमान्य हो सकता है जिसमें कि उसके द्वारा नई शक्ति प्रदान की गई हो या उसका प्ररूप विधायी हो या शासन के दोहरे रूप (ड्यूल फार्म) के अधीन राज्यों की शक्तियाँ उसके द्वारा नष्ट कर दी गई हों या जब उसके द्वारा दैहिक स्वतंत्रता के संरक्षण में परिवर्तन किया गया हो। संयुक्त राज्य अमरीका के उच्चतम न्यायालय ने इन सब दलीलों को मानने से इंकार कर दिया ······" (देखिए—पृष्ठ 123)

अब हम नैसर्गिक अधिकारों की संकल्पना पर विचार करेंगे। कहा जाता है कि ऐसे अधिकार स्वतन्त्रता, समता तथा लोकतन्त्र जैसे बेशकीमती मूल्यों के साथ सम्बद्ध हैं। यह भी कहा जाता है कि ऐसे अधिकार अन्य-असंक्राम्य हैं और इन पर संविधान के संशोधन का कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता है। पिटीशनरों के विद्वान् काउन्सेल के साथ मैं इस बात से सहमत हूं कि कुछ नैसर्गिक अधिकार ऐसे हैं जिनमें ये बेशकीमती मूल्य निहित हैं तथा वे कुछ ऐसे आदर्शों का प्रतिनिधित्व करते हैं, जिनके लिए मनुष्य ने युगों-युगों से संघर्ष किया है। किन्तु नैसर्गिक अधिकारों को आत्यंतिक नहीं माना गया है बल्कि इस प्रकार का माना गया है कि वे कुछ परिसीमाओं के अध्यधीन हैं। मनुष्य चूंकि सामाजिक प्राणी है इसलिए वह अपने अधिकारों का प्रयोग वहीं तक कर सकता है जहां तक अपने साथ रहने वालों तथा समाज के प्रति उसकी जिम्मेदारियां, उसे ऐसा करने दें और इस प्रकार व्यक्ति के अधिकारों पर सामान्य कल्याण को प्राथमिकता दी गई है। किसी को भी अपने अधिकारों का ऐसा प्रयोग नहीं करने दिया जाता है जिससे दूसरे व्यक्तियों के अधिकारों में हस्तक्षेप हो। यद्यपि भिन्न-भिन्न विचार धाराएं अभी तक प्रचलित हैं, फिर भी बाद के लेखकों ने सामान्य रूप से यही मत अपनाया है कि नैसर्गिक अधिकारों का स्थान संविधान तथा राज्य की विधियों के बाहर नहीं है। नैसर्गिक अधिकारों को या ऐसे नैसर्गिक अधिकारों को,

जो अनिवार्य समझे जाते है, ऐसी परिसीमाओं के अध्यधीन, जो समुचित समझी जाएं संविधान में या उसके द्वारा बनाई गई विधियों में शामिल करना राज्य का कर्तव्य है। किन्तु संविधान तथा राज्य की विधियों से स्वतन्त्र रहते हुए नैसर्गिक अधिकारों के पीछे न तो कानूनी स्वीकृति हो सकती है और न उन्हें प्रवर्तित किया जा सकता है। व्यक्ति के अधिकारों को तय करने के लिए न्यायालय संविधान तथा कानूनी विधि के उपबन्ध खोजता है। सांविधानिक तथा कानूनी उपबन्धों की आबद्धकारी शक्ति न तो छीनी जा सकती है और न नैसर्गिक अधिकारों की संकल्पना की दुहाई देकर उनके विस्तार पर निर्बन्धन लगाए जा सकते हैं। इसके अतिरिक्त चूंकि नैसर्गिक अधिकारों को संविधान तथा कानून के बाहर ऐसा स्थान प्राप्त नहीं है कि उनको कानूनी रूप से प्रवर्तित किया जा सके और सांविधानिक अथवा कानूनी उपबन्धों द्वारा उनकी मंजूरी उस विस्तार तक और ऐसी परिसीमाओं के अध्यधीन, जैसे कि उन उपबन्धों में विहित हो, दिया जाना आवश्यक है इसलिए संविधान या कानून में एक बार सम्मिलित कर लिए जाने के पश्चात् ऐसे अधिकारों को संविधान या कानून के संशोधन द्वारा न्यून किया जा सकता है या छीना जा सकता है। ऐसे अधिकार अपने आप में न तो सर्वोपरि और न राज्य द्वारा बनाई गई अधिनिमितियों से उच्चतर विधिमान्यता के समझे जा सकते हैं और न यह समझा जा सकता है कि ये अधिकार संशोधन विषयक प्रक्रिया के अधीन नहीं हैं।

इस प्रसंग में इस बात पर ध्यान रखना आवश्यक है कि नैसर्गिक सिद्धांतों की प्रवर्तनीयता के सिद्धान्तों को स्वीकार करने से इन्कार करने वाले इस बात से इन्कार नहीं करते हैं जीवन में कुछ मूल्य ऐसे होते हैं जो अनिवार्य है और न वे इस बात से इन्कार करते हैं कि कुछ अपेक्षाएं ऐसी हैं जो सभ्य जीवन के लिए आवश्यक हैं। वे इस बात से भी इन्कार नहीं करते हैं कि कुछ आदर्श ऐसे हैं जो मानवता को कितनी ही शताब्दियों से प्रेरणा प्रदान करते रहे हैं और यह कि कुछ उद्देश्य तथा मांगें ऐसी हैं जिनके लिए मनुष्यों ने संघर्ष किया है तथा बलिदान दिए हैं। उनको भी सुव्यवस्था के लिए लालायित सराहनीय प्रवृत्तियों तथा प्रभावों से संयुक्त स्थिति जहां उमुचतर मूल्य अभिभावी हों और स्वीकार किए जाते हों, प्राप्त करने का अभिलाषा का भान है जिसका अधिकांश व्यक्तियों में देखा जाना स्वाभाविक है। किन्तु जो लोग नैसर्गिक अधिकारों से सम्बन्धित इस सिद्धान्त को नहीं मानते हैं, उनका कहना यह है कि वाद योग्य या प्रवर्तनीय होने के लिए यह आवश्यक है कि अधिकार विधि या संविधान का भाग हों और प्रभावी होने के लिए यह आवश्यक है कि ऐसे अधिकारों को स्वीकृति तथा बल देश की विधियों से प्राप्त होता हो और यह कि जो अधिकार संहितावद्ध नहीं किए गए हैं या अन्यथा विधि का अंग नहीं बनाए गए हैं वे न तो न्यायालयों में प्रवर्तित किए जा सकते हैं और न कानून या संविधान पर उन अधिकारों को अध्यारोही प्रभाव दिया जा सकता है और न वे कानून या संविधान की साधारण भाषा के विस्तार में कमी कर सकते हैं।

कांस्टिट्यूशन ऑफ दि यूनाइटेड स्टेट्स, जिल्द I में नैसर्गिक अधिकारों की संकल्पना की चर्चा करते हुए विलोबी ने कहा है—

"नागरिक के नैसर्गिक, अन्य-असंक्राम्य, अन्तर्निहित अधिकारों को परिभाषित करने वाली तथाकथित 'नैसर्गिक' या अलिखित विधियों में, जिनके बारे में कभी-कभी

यह कहा जाता है कि उनकी उत्पत्ति स्वतन्त्र शासन की प्रकृति से हुई है, इतना अवश्य नहीं है कि वे संविधान के लिखित उपबन्धों को निर्बन्धित कर सकें या उनका विस्तार बढ़ा सकें : अधिक से अधिक उनके सम्बन्ध में यही कहा जा सकता है कि जहां संविधान की भाषा में संदेह की गुंजाइश हो वहां यही माना जाएगा कि न्याय तथा स्वतन्त्रता के मान्यता-प्राप्त सिद्धान्तों का अतिक्रमण करने का प्राधिकार नहीं दिया गया है।" (पृ० 66)

नैसर्गिक अधिकारों की चर्चा करते समय यह प्रासंगिक होगा कि सालमण्ड कृत ज्यूरिसप्रूडेंस, 12वां संस्करण की निम्नलिखित पंक्तियों को उद्धृत किया जाए—

"दोषों या कर्त्तव्यों के समान, अधिकार या तो नैतिक होते है या कानूनी। नैतिक या नैसर्गिक अधिकार ऐसा हित है जिसको नैतिकता के नियम द्वारा मान्यता दी गई हो तथा संरक्षण प्रदान किया गया हो ऐसा हित जिसका अतिक्रमण नैतिक दोष समझा जाएगा तथा जिसका सम्मान करना नैतिक कर्त्तव्य है। इसके विपरीत कानूनी अधिकार ऐसा हित है जिसको विधि के नियम द्वारा मान्यता प्रदान की गई हो तथा संरक्षण दिया गया हो ऐसा हित जिसका अतिक्रमण ऐसे व्यक्ति के प्रति किया गया कानूनी अपराध समझा जाएगा जिसका वह हित है और जिसका सम्मान करना कानूनी कर्त्तव्य है। इस बात से इन्कार करना कि नैसर्गिक अधिकारों जैसी कोई चीज है, बैंथम द्वारा चलाया गया फैशन है जिसका अनुकरण अभी भी अनेक व्यक्तियों द्वारा किया जाता है। सभी अधिकार, कानूनी अधिकार हैं तथा कानून की उत्पत्ति है। वे कहते हैं नैसर्गिक विधि, और नैसर्गिक अधिकार दो प्रकार की ऐसी कल्पनाएं अथवा रूपक हैं जिनकी कानून की पुस्तकों में इतनी बड़ी भूमिका है कि अपने आप में उनकी परीक्षा करना आवश्यक है.............उचित रूप से कहा जाए तो अधिकार वही है जिनकी उत्पत्ति कानून से हुई है; वास्तविक विधियां ही वास्तविक अधिकारों को जन्म देती हैं। नैसर्गिक अधिकारों का जन्म नैसर्गिक विधि से हुआ है; वे ऐसा रूपक हैं जिनकी उत्पत्ति एक अन्य रूपक से हुई है। फिर भी यह दावा कि मनुष्य को नैसर्गिक अधिकार प्राप्त हैं, हमें नैसर्गिक अधिकारों के किसी सिद्धांत में नहीं फंसा सकता है। जहां तक हम नैतिकता के उन नियमों और सिद्धान्तों को स्वीकार करते हैं जो यह विहित करते हैं कि लोगों को कैसा व्यवहार करना चाहिए, वहां तक हम नैतिक या नैसर्गिक अधिकारों की बात करते हैं; और जहां तक ये नियम यह बताते हैं कि मनुष्य के कुछ अधिकार होते हैं, वहां तक हम नैतिक या नैसर्गिक अधिकारों की बात करते हैं। यह तथ्य कि ऐसे नैसर्गिक या नैतिक अधिकार या कर्त्तव्य, अपने कानूनी प्रतिरूपों के समान, लिखित रूप में विहित नहीं है, कानून तथा नैतिकता के बीच के अंतर को प्रकट करता है; न कि इसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि नैतिक अधिकार और कर्त्तव्यों का कोई अस्तित्व ही नहीं है।" (देखिए – पृ० 218-219)

पी० डब्ल्यू० पिटरसन कृत नैचुरल लॉ एण्ड नैचुरल राइट्स के पृष्ठ 61 पर किए गए कथनों से यह प्रकट होता है कि नैसर्गिक अधिकारों का

सिद्धान्त, जिसे जॉन लॉक ने इतना लोकप्रिय बना दिया था, अब सामान्य रूप से स्वीकार नहीं किया जाता है। लॉक ने यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया था कि किसी के भी, यहां तक कि अपने विधायिकों के भी प्रयत्नों और कार्यों से, उस समय जब कभी वे ऐसी मुर्खता या दुष्टता करने लगें कि प्रजा की आजादी और सम्पत्तियों को ही हड़प लेने की तैयारी करने लगें और उन्हें कार्य रूप देने लगें। अपनी रक्षा करने की सर्वोपरि शक्ति समुदाय के पास शाश्वत रूप से बनी रहती है। (देखिए—प्रिंसिपल ऑफ सिविल गवर्नमेण्ट, ग्रंथ 2, पृष्ठ 149)।

नैसर्गिक सिद्धांतों की चर्चा करते समय, रासको पाउण्ड ने अपनी जूरिसप्रूडेंस की जिल्द 1 के पृष्ठ 500 पर कहा है—

> "न्यायालयों तथा विधि एवं संविधानों के प्रति शत्रुता की भावना को पैदा करने तथा उसका पोषण करने में, किसी का भी इतना हाथ नहीं है, जितना इस विचार का कि राज्य तथा सोसाइटी के मुकाबले में, न्यायालय व्यक्तिगत नैसर्गिक अधिकारों के संरक्षक हैं या इस कल्पना का कि कानून को उन व्यक्तिगत नैसर्गिक अधिकारों को घोषित करने वाले अन्तिम तथा आत्यन्तिक सिद्धान्त के रूप में समझा जाना चाहिए या संविधानों के सम्बन्ध में इस सिद्धान्त का कि वे उन कॉमन लॉ सिद्धान्तों को घोषित करने वाले हैं जो राज्य से भी पहले के हैं तथा जिनकी विधिमान्यता राज्य के प्राधिकार से बनाई गई अधिनियमितियों से भी बेहतर है; संविधानों के सम्बन्ध में इस सिद्धान्त का कि उनका प्रयोजन, सरकार तथा उसके सब अभिकरणों के मुकाबले में व्यक्ति के नैसर्गिक अधिकारों की गारण्टी देना तथा उन्हें बनाए रखना है। इसके प्रभावस्वरूप, इस प्रस्थापना ने विधि व्यवसाय के तब तक के परम्परागत सामाजिक और आर्थिक आदर्शों को परम संविधान (सुपर-कांस्टिट्यूशन) का दर्जा दे दिया, जिस पर न्यायिक विनिश्चय के सिवाय किसी को उंगली उठाने का अधिकार नहीं है।"

इस प्रसंग में मैं सी० मेरियम कृत "हिस्टरी ऑफ अमरीकन पोलीटिकल थ्योरीज" में, अन्तर्निहित तथा अन्य-असंक्राम्य अधिकारों से सम्बन्ध रखने वाली निम्नलिखित पंक्तियों का भी हवाला दूंगा—

> "बाद वाले विचारकों ने इस विचार को सामान्य रूप से त्याग दिया है कि मनुष्य को राजनैतिक अथवा राजनैतिक-कल्प प्रकृति के ऐसे अन्तर्निहित तथा अन्य-असंक्राम्य अधिकार प्राप्त हैं, जो राज्य के नियंत्रण से स्वतंत्र हैं। यह माना जाता है कि इन नैसर्गिक अधिकारों का, नैतिक मूल्य को छोड़कर, कोई और मूल्य नहीं है और न राजनीति में इनका कोई उचित स्थान है। बर्गेस का कहना है 'इस धरती पर और मनुष्यों के बीच कोई भी स्वतन्त्रता न तो कभी थी और न हो सकती है जो राज्य संगठन के बाहर हो'। इसलिए, नैसर्गिक अधिकारों की चर्चा करते समय यह याद रखना आवश्यक है कि जब तक इन्हें राज्य द्वारा मान्यता प्रदान न की जाए तथा प्रवर्तित न कराया जाए, तब तक इन तथाकथित अधिकारों का राजनैतिक बल कुछ नहीं हो सकता है। विलोबी का आग्रह है कि कल्पना-जन्य 'प्रकृति के राज्य' में, 'नैसर्गिक अधिकारों' का नैतिक मूल्य भी कुछ नहीं हो सकता था, वास्तव

में उनका अस्तित्व वहां तक होगा जहां तक उनके पीछे बल होगा और इसलिए उनका नैतिक महत्व कुछ नहीं है।" (देखिए—पृष्ठ 310)

इसके बाद, पिटीशनरों की ओर से यह दलील दी गई है कि संविधान के सारभूत तत्वों को संशोधन द्वारा तब्दील नहीं किया जा सकता है। 'सारभूत तत्व' पदावली से जहां तक संविधान का बुनियादी ढांचा तथा उसकी रूपरेखा अभिप्रेत है, वहां तक मैं इस प्रश्न का विवेचन कर चुका हूं कि क्या संविधान में संशोधन करने की शक्ति में संविधान के बुनियादी ढांचे तथा उसकी रूपरेखा को तब्दील करने की शक्ति भी सम्मिलित है। इसके अतिरिक्त, संविधान के सब उपबंध, संशोधन सम्बन्धी प्रक्रिया के अधीन है और सारभूत तत्व कहे जाने से ही वे इस प्रक्रिया से छूट का दावा नहीं कर सकते हैं।

पिटीशनरों की ओर से मूल अधिकार तथा मूल अधिकार के सार के बीच जिसे उसका मर्म भी कहा गया है, विभेद किया गया है। इस पर आग्रह किया गया है कि यद्यपि संसद को अनुच्छेद 398 के अनुसार किसी भी मूल अधिकार को न्यून करने या उसे छीन लेने की शक्ति है, फिर भी वह इस अधिकार के सार को न तो न्यून कर सकती है और न छीन सकती है। मेरी राय में, किसी मूल अधिकार तथा उस मूल अधिकार के सार अथवा मर्म के बीच इस प्रकार का विभेद करना बाल की खाल निकालना है जिसकी न तो इजाजत दी जा सकती है और न न्यायिक जांच की जा सकती है। यदि मूल अधिकार को न्यून करने या उसे छीन लेने की शक्ति है, तो उस शक्ति को इस सिद्धान्त की दुहाई देकर कम नहीं किया जा सकता कि यद्यपि मूल अधिकार को न्यून किया या छीना जा सकता है, उसके सार अथवा मर्म को न तो न्यून किया जा सकता है और न ही छीना जा सकता है। किसी भी मूल अधिकार का सार अथवा उसका मर्म स्वभावतः उसका अभिन्न अंग होना चाहिए और जिस मूल अधिकार का वह सार या मर्म कहा जाता है उससे भिन्न या उससे भी बड़ी हैसियत या संरक्षण का दावा उसके लिए नहीं किया जा सकता है। इस बात का अवधारण करने के लिए कोई वस्तु प्रेरक कसौटी नहीं है कि मूल अधिकार का मर्म कहां पर है और उसमें तथा मूल अधिकार की परिधि में विभेद किस बात से प्रकट होता है। ऐसे मानक के अभाव से ऐसे महत्वपूर्ण विषय में जैसा कि संविधान के संशोधन का है, अनिश्चितता का पैदा हो जाना अनिवार्य है। इसलिए मैं यह दलील नहीं मान सकता हूं कि किसी मूल अधिकार को संशोधनीय मान लेने पर भी उस अधिकार के मर्म या सार के सम्बन्ध में यही अभिनिर्धारित किया जाना चाहिए कि उस पर संशोधन-सम्बन्धी प्रक्रिया लागू नहीं है।

पिटीशनरों की ओर से यह कहा गया है कि संयुक्त राज्य अमरीका के संविधान के चौदहवें संशोधन में, सम्यक् प्रक्रिया खण्ड के परिवर्तन से कोई खास कठिनाई नहीं हुई है और न उसने संयुक्त राज्य अमरीका के न्यायालयों के लिए उन क्षेत्रों के पहचान करने में जहां उस खण्ड का प्रवर्तन होता है कोई रुकावट पैदा की है उनकी दलील यह है कि इस तथ्य से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि संशोधन विषयक शक्ति पर यदि विवक्षित परिसीमा की संकल्पना के लागू की जाए तो उससे भी वास्तविक संचालन में कोई खास कठिनाई नहीं होगी। इस दलील को स्वीकार करना, मेरे लिए, बहुत कठिन है। चौदहवें संशोधन के सम्यक् प्रक्रिया खण्ड का विस्तार तथा अनुच्छेद 368 में

संविधान की संशोधन विषयक शक्ति का विस्तार परस्पर भिन्न है। दोनों उपबंधों के प्रवर्तन के क्षेत्र भिन्न-भिन्न हैं और उनके विषय भिन्न-भिन्न हैं तथा चौदहवें संशोधन और अनुच्छेद 368 के उद्देश्यों में कोई समानता नहीं है। दोनों में कुछ भी समरूपता निकालने का प्रयत्न, मेरी राय में, खींचतान के बिना सफल नहीं हो सकता है।

यहां यह बता देना आवश्यक है कि मूल अधिकार विषयक उपसमिति के प्रारूप प्रतिवेदन में मूलतः खण्ड 11 को स्थान दिया गया था जिसके अनुसार "किसी भी व्यक्ति को अपने प्राण, स्वतन्त्रता या सम्पत्ति से, विधि की सम्यक् प्रक्रिया को छोड़ कर, किसी अन्य प्रकार से, वंचित न किया जाएगा।" इसके बाद यह कहा गया कि "विधि की सम्यक् प्रक्रिया" शब्दों को आधार बनाकर, जिनका उल्लेख संयुक्त राज्य अमरीका के संविधान के पांचवें तथा चौदहवें संशोधन में आया है, कितनी ही नजीरें एकत्रित हो गई हैं। पहले इन शब्दों को केवल प्रक्रिया पर बन्धन के रूप समझा जाता था, न कि विधान के सार के सम्बन्ध में। तत्पश्चात् इन शब्दोंके सम्बन्ध में यह अभिनिर्धारित किया गया कि ये शब्द सारभूत विधि सम्बन्धी विषयों को भी लागू हैं। आगे चल कर यह कहा गया कि "वास्तव में 'विधि की सम्यक् प्रक्रिया के बिना' पदावली 'उचित कारण के बिना' (विदाउट जस्ट काज) पदावली की समनार्थी बन गई है क्योंकि इस बात का निर्णय न्यायालय के हाथ में है कि 'उचित कारण' क्या है और चूंकि अधिकांश विधानों का उद्देश्य, स्वतन्त्रता तथा सम्पत्ति सम्बन्धी व्यक्तिगत अधिकारों को निर्बन्धित तथा विनियमित करके, जनकल्याण को समुन्नत करना है, इसलिए इस खण्ड के अधीन किसी भी विधि की परिवीक्षा करने के लिए न्यायालय को आमंत्रित किया जा सकता है।" एक मत यह भी प्रकट किया गया कि खण्ड 11 की जैसी शब्दावली को देखते हुए यह प्रतीत होता है कि सामाजिक विधान बनाने में उसके द्वारा रुकावट पड़ सकती है। यद्यपि समिति के सदस्यों का यह विचार था कि गम्भीर आपात की दशा के सिवाय, किसी व्यक्ति की 'विधी की सम्यक् प्रक्रिया' के बिना गिरफ्तारी का बेरोक अधिकार (*carte balanche*) सरकार को देने का कोई कारण नहीं है, फिर भी इस मत को भारी समर्थन प्राप्त था कि सम्पत्ति तथा अभिधृति (टैनेन्सी) सम्बन्धी उपबन्ध करने वाले विधान में सम्यक् प्रक्रिया खण्ड से रुकावट पड़ सकती है। श्री पनीकर ने तब एक ऐसा फार्मूला सुझाया जो एक समझौते के रूप में था और श्री मुन्शी, डा० अम्बेदकर तथा श्री राजगोपालाचारी के समर्थन से वह सुझाव कि इस खण्ड से "सम्पत्ति" शब्द निकाल दिया जाए अपना लिया गया। इसी बीच श्री बी० एन० राव को अमरीका जाना पड़ा और वहां जाने पर संयुक्त राज्य अमरीका के उच्चतम न्यायालय के न्यायाधिपति फ्रैंकफर्टर के साथ हुई उनकी बातचीत में, उक्त न्यायाधिपति ने यह राय जाहिर की कि "सम्यक् प्रक्रिया" खण्ड में विवक्षित परिवीक्षा की शक्ति न केवल लोकतंत्र-विरोधी है (क्योंकि राष्ट्र के प्रतिनिधियों द्वारा बनाए गए कानून को निषिद्ध करने की शक्ति इस प्रकार कुछ न्यायाधिशों को मिल जाती है) बल्कि न्यायपालिका पर अनुचित भार भी डालता है। यह मत प्रारूपण समिति के पास भेज दिया गया, जिसने "विधि की सम्यक् प्रक्रिया के बिना" शब्दों के स्थान पर "विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया को छोड़ कर" शब्द रख दिए। इस प्रकार अन्ततः स्थापित

शब्द, जापानी संविधान के अनुच्छेद 31 से लिए गए थे (देखिए—शिवा राव कृत फ्रेमिंग आफ इण्डियाज कांस्टिट्यूशन ए स्टडी, पृष्ठ 232-235) । प्रारूपण समिति की कार्यवाहियों का जो हवाला दिया गया है उससे यह प्रकट होता है कि "विधि की सम्यक् प्रक्रिया" शब्दों को निकाल देने में सबसे बड़ी बात, जिसका प्रभाव पड़ा, यह थी कि इस प्रक्रिया की कोई निश्चित रूपरेखा नहीं थी । यदि यह दृष्टिकोण अब अपना लिया जाता है कि संशोधन की शक्ति कुछ विवक्षित परिसीमाओं के अधीन है तो अनिवार्य रूप से उसका प्रभाव यह होगा कि हमारे संविधान में अस्पष्टता तथा अनिश्चितता के तत्वों का समावेश हो जाएगा, और इसी बात से हमारे संविधान के रचयिता इतना अधिक बचना चाहते थे ।

हमारा ध्यान संयुक्त राष्ट्र चार्टर में दी गई मानवाधिकार—घोषणा की ओर आकर्षित किया गया है । कहा जाता है कि संविधान के भाग 3 में उल्लिखित मूल अधिकारों तथा चार्टर के मानवाधिकारों में परस्पर समानता है । चार्टर के अनुच्छेद 56 के अनुसार सब सदस्य-राष्ट्र यह प्रतिज्ञा करते हैं कि वे अनुच्छेद 55 में उल्लिखित प्रयोजनों की प्राप्ति के लिए संगठन के सहयोग से संयुक्त तथा अलग-अलग उपाय करेंगे । अनुच्छेद 55 में, अन्य बातों के साथ-साथ, यह उपबन्ध किया गया है कि संयुक्त राष्ट्र, ऐसे प्रयत्न करेगा जिससे कि मूलवंश, लिंग, भाषा या धर्म का विभेद किए बिना मानव अधिकारों तथा सबकी मूलभूत स्वतंत्रताओं की, सार्वभौम प्रतिष्ठा समुन्नत हो तथा उसका पालन कराया जाए । पिटीशनरों की ओर से यह दलील दी गई है कि यदि, अनुच्छेद 368 के अधीन संविधान की संशोधन विषयक शक्ति के अन्तर्गत, मूल अधिकारों को कम करने या उन्हें छीन लेने की शक्ति भी हो तो संशोधन के प्रभाव रूप उन मानव अधिकारों में से कुछ को, जो संयुक्त राष्ट्र चार्टर में उल्लिखित हैं, न्यून किया जा सकता है और उन्हें छीना जा सकता है । इस सम्बन्ध में मेरा विचार है कि संविधान में दी गई संशोधन विषयक शक्ति का विस्तार, संविधान के उपबंधों पर निर्भर करेगा । यदि संविधान के उपबन्ध स्पष्ट तथा असंदिग्ध हैं और उनमें ऐसी कोई परिसीमाएं नहीं हैं जो संशोधन की शक्ति पर हों, तो इस मत से कि संशोधन से संयुक्त राष्ट्र चार्टर में उल्लिखित मानवाधिकारों में शायद कहीं कोई हस्तक्षेप न हो, न्यायालय के लिए यह उचित नहीं होगा कि वह संशोधन विषयक शक्ति को परिसीमाओं के अध्यधीन घोषित कर दे । केवल उन्हीं मामलों में, जिनमें कोई सन्देह या गोलमाल हो, न्यायालय किसी कानून का निर्वचन इस प्रकार करेंगे जिससे कि वह कानून राष्ट्रों के सौजन्य या अन्तर्राष्ट्रीय विधि के सुस्थापित नियमों से असंगत न हो जा किन्तु यदि कानून की भाषा स्पष्ट है तो राष्ट्रीय विधि तथा अन्तर्राष्ट्रीय विधि के बीच चाहे जो पैदा भी विरोध हो जाए, अनुपालन कानून का ही किया जाएगा । (देखिए—मैक्सवेल कृत इण्टरप्रेटेशन ऑफ स्टेट्यूट्स, 12वां संस्करण, पृ० 183) । पृष्ठ 185 पर यह कहा गया है कि —

"किन्तु यदि कोई कानून अन्तर्राष्ट्रीय विधि या राष्ट्रों के सौजन्य के साथ स्पष्ट रूप से असंगत है तो उसका अर्थान्वयन यथावत रूप में ही किया जाना चाहिए चाहे फिर ऐसे अर्थान्वयन का प्रभाव कुछ भी हो । उदाहरण के लिए, इसमें कोई

सन्देह नहीं कि कोई भी अधिकार, जो कानून के साथ की गई संधि द्वारा किसी व्यक्ति को प्रदान किया गया है, उसको विधानमण्डल अधिनियम द्वारा उस व्यक्ति से छीन सकता है।"

ऊपर कही गई बातें सांविधानिक उपबन्धों की और भी अधिक लागू हैं क्योंकि ऐसे उपबन्ध सर्वोच्च (पैरामाउण्ट) होते हैं। यह पहले ही बताया जा चुका है कि संशोधन करने की शक्ति के सम्बन्ध में हमारे संविधान के उपबन्ध, स्पष्ट तथा असंदीग्ध हैं और संशोधन करने की शक्ति पर उनमें कोई बन्धन नहीं लगाये गए हैं। इसलिए मैं यह दलील मानने के लिए तैयार नहीं हूं कि संयुक्त राष्ट्र चार्टर में मानवाधिकारों की घोषणा की कारण, संशोधन की शक्ति पर कुछ बन्धन लगाए जाने चाहिए।

इसी प्रसंग में मैं यह भी कहना चाहता हूं कि किसी अन्तर्राष्ट्रीय संधि, करार या कन्वेन्शन के उपबन्धों को कोई भी राज्य अपनी विधियों में किसी भी समय शामिल कर सकता है। भारत में जेनेवा कन्वेन्शनों के उपबन्धों का समावेश जेनेवा कन्वेन्शन अधिनियम, 1960 (1960 का 6) में किया गया है। यूरोपियन समुदायों की संधियों के अनुसार यूरोपियन एकॉनोमिक कम्यूनीटीज़ का सदस्य होने पर, किसी राज्य के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि वह राष्ट्रीय विधियों पर यूरोपियन कम्यूनिटियों की विधियों को प्राथमिकता दे। यूरोपियन कम्यूनिटी की विधि की प्राथमिकता का सिद्धान्त, यूरोपियन कम्यूनिटी के छह देशों ने स्वीकार कर लिया है। इनमें से तीन अर्थात् नीदरलैण्ड्स, लक्जमबर्ग और बैलज्यिम ने यूरोपियन कम्यूनिटी की विधियों की प्राथमिकता के सिद्धान्त को यावत्सम्भव सुनिश्चित बनाने के लिए अपने लिखित संविधानों में विनिर्दिष्ट रूप से संशोधन किए हैं। अन्य तीन अर्थात् फ्रांस, जर्मनी और इटली में भी ऐसे सांविधानिक उपबन्ध हैं जिनके अधीन उन देशों के न्यायालयों के लिए यह सम्भव है कि वे यूरोपियन समुदायों की संधियों की प्राथमिकता को मान्यता प्रदान करें और इस प्रकार कम्यूनिटी विधि की प्राथमिकता को उनके माध्यम से सुरक्षित बनाएं। आयरलैण्ड ने, जो 1 जनवरी, 1973 से यूरोपियन एकॉनोमिक कम्यूनिटी का नया सदस्य बना, कांस्टिट्यूशन बिल तृतीय संशोधन, 1971 द्वारा अपने संविधान को संशोधित किया है। इस विधेयक को लोकमत-संग्रह में अनुमोदन प्राप्त हो चुका है। संशोधन का सुसंगत भाग इस प्रकार है—

> "इस संविधान का कोई भी उपबन्ध राज्य द्वारा अधिनियमित ऐसी विधियों, किए गए ऐसे कार्यों या अपनाए गए ऐसे उपायों को अविधिमान्य नहीं करता है जिनकी आवश्यकता कम्यूनिटीज़ की सदस्यता की जिम्मेदारियों के कारण हुई है अथवा समुदायों या उनकी संस्थाओं द्वारा अधिनियमित ऐसी विधियों, किए गए ऐसे कार्यों या अपनाए गए ऐसे उपायों को, राज्य में विधि का बल प्राप्त करने से नहीं रोकता है।"

यूरोपियन कम्यूनिटीज़ ऐक्ट, 1972 की धारा 2 द्वारा ब्रिटेन में भी स्वदेशी विधि (डोमैस्टिक लॉ) पर, यूरोपियन कम्यूनिटी विधि की प्राथमिकता को मान्यता प्रदान की गई है। इस बात की ओर कि क्या इंग्लैण्ड की पार्लियामेण्ट की विधायी शक्तियों पर परिसीमाएं लगाना

आवश्यक नहीं हो गया है अथवा इसी कारण क्या अब यह आवश्यक नहीं हो गया है कि संयुक्त राज्य (यूनाइटेड किंगडम) के लिए भी लिखित संविधान की व्यवस्था की जाए अब संविधान-विशेषज्ञों का ध्यान लगा हुआ है। (देखिए – संसदीय प्रभुत्व तथा यूरोपियन कम्यूनिटी विधि की प्राथमिकता' के विषय पर मार्डन लॉ रिव्यू, जुलाई, 1972 के पृष्ठ 375 तथा उसके आगे की सामग्री)।

मेरा यह भी विचार है कि मूल अधिकारों को नसर्गिक अधिकार या मानव अधिकार का नाम देकर संविधान के मूल अधिकार सम्बन्धी उपबन्धों को संशोधित करने की शक्ति के अस्तित्व से ही इंकार नहीं किया जा सकता है। मानव की आधारभूत गरिमा मूल अधिकारों के संहितावद्ध करने पर निर्भर नहीं है और न ऐसी संहिता गौरव-पूर्ण जीवन-यापन की पुरोभाव्य शर्त है। 26 जनवरी, 1950 के पहले मूल अधिकारों का कोई भी सांविधानिक उपबन्ध नहीं था, फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि 15 अगस्त, 1947 और 26 जनवरी, 1950 के बीच की अवधि में हालत ऐसी नहीं थी जिसमें भारतवासी अपना जीवन इज्जत के साथ बसर कर सकते। इस न्यायालय ने यह दलील स्वीकार नहीं की है कि भाग 3 के उपबन्धों सहित संविधान के उपबन्धों को भूतलक्षी प्रभाव दिया जाना चाहिए। मूल अधिकारों की व्यवस्था करने वाला अनुच्छेद 19 उन व्यक्तियों को लागू नहीं होता है जो भारत के नागरिक नहीं हैं। क्या इस बात को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि गैर-नागरिक, भारत में अपने निवास के दौरान, सम्मानपूर्ण जीवन व्यतीत नहीं कर सकते हैं। मेरी राय में यह कहना ठीक नहीं है कि मूल अधिकारों को न्यून करने या उन्हें छीन लेने वाले संविधान के संशोधनों के प्रभाव स्वरूप मानव मात्र को उसकी आधारभूत गरिमा में वंचित कर दिया जाएगा तथा इसके फलस्वरूप जीवन के अनिवार्य मूल्यों का खात्मा हो जाएगा।

यहां यह कह देना अच्छा होगा कि अनुच्छेद 19 के उपबन्धों से यह प्रतीत होता है कि संविधान निर्माताओं का आशय मूल अधिकारों को आत्यन्तिक (एब्सोल्यूट) बनाना कभी नहीं था। उन अधिकारों पर युक्तियुक्त निर्बन्धन की व्यवस्था, उन अधिकारों के आत्यन्तिक स्वरूप की परिकल्पना को साफ-साफ गलत साबित करती है। यह तय करने के लिए मूल कि अधिकार क्या हैं कोई आत्यन्तिक कसौटी भी नहीं है। वर्गीकरण के आधार अलग-अलग देशों में अलग-अलग हैं। जो एक देश में मूल अधिकार हैं वही दूसरे देशों में मूल अधिकार नहीं है। एक देश में अपनाए गए मूल अधिकारों तथा दूसरे देश में अपनाए गए मूल अधिकारों के बीच में अन्तर होने के कारण हमारे संविधान निर्माताओं को, मूल अधिकार सम्बन्धी अध्याय में शामिल करने के लिए, उपबन्धों को छांटने में, बड़ी कठिनाई अनुभव हुई। इस प्रसंग में भारत की संविधान सभा द्वारा प्रकाशित कांस्टिट्यूशनल प्रेसिडेण्ट्स—थर्ड सिरीज—ऑन फण्डामेण्टल राइट्स पृष्ठ 25 देखिए।

पिटीशनरों की ओर से संविधान की प्रस्तावना के प्रति निर्देश किया गया है और यह कहा गया है कि संशोधन विषयक शक्ति पर नियन्त्रण प्रस्तावना का है। इसी प्रसंग में यह भी कहा गया है कि प्रस्तावना को संशोधित करने की शक्ति है ही नहीं, क्योंकि

जैसी कि दलील की गई है, प्रस्तावना संविधान का भाग नहीं है बल्कि "संविधान का मार्ग प्रशस्त करने वाली है। मैं यह मानने को तैयार नहीं हूं कि प्रस्तावना संविधान का भाग नहीं है। संविधान सभा के वाद-विवाद को देखने से विदित है कि उक्त सभा में प्रस्तावना के उपबन्धों के बारे में बड़ा लम्बा वाद-विवाद हुआ था। कितने ही संशोधन प्रस्तावित किए गए और नामंजूर कर दिए गए। तब संविधान-सभा ने यह प्रस्ताव स्वीकार किया कि "प्रस्तावना संविधान का भाग है" (देखिए—कांस्टिट्यूएण्ट असेम्बली डिबेट्स जिल्द 10, पृष्ठ 429-456)। इसलिए इस बात का निश्चित सबूत मौजूद है कि प्रस्तावना संविधान सभा का भाग है। अन्य संविधानों के बारे में जो बातें इस सम्बन्ध में कही गई हैं कि प्रस्तावना संविधान का भाग है या नहीं, उनसे कोई भी सहायता, पूर्वोक्त निश्चित सबूत को ध्यान में रखते हुए, नहीं मिल सकती है। इसके अतिरिक्त, मैं देखता हूं कि क्रेज कृत 'स्टेट्यूट लॉ', छठा संस्करण, पृष्ठ 200-201 पर कही गई बातों से यह पता चलता है कि इस पुराने विचार का कि कानून की प्रस्तावना उस कानून का भाग नहीं है, अब चलन उठ चुका है और यह कि प्रस्तावना किसी कानून का भाग उतना ही है जितना उसके अन्य उपबन्ध।

संविधान के अनुच्छेद 394 से यह विदित है कि यह अनुच्छेद और अनुच्छेद 5, 6, 7, 8, 9, 60, 324, 366, 367, 379, 380, 388, 391, 392 और 393 तुरन्त ही अर्थात् 26 नवम्बर, 1949 को उस दिन प्रवृत्त हो गए जब संविधान अंगीकृत किया गया तथा अधिनियमित किया गया और संविधान के अवशिष्ट उपबन्ध 26 जनवरी, 1950 के दिन प्रवृत्त होंगे "जो दिन कि इस संविधान में, इस संविधान के प्रारम्भ के रूप में निर्दिष्ट किया गया है।" इस प्रकार अनुच्छेद 394 से यह प्रकट है कि 16 अनुच्छेदों को छोड़ कर, जिनका उल्लेख उस अनुच्छेद में कर दिया गया था, संविधान के अवशिष्ट उपबन्ध 26 जनवरी, 1950 को प्रवृत्त हो गए। मेरी राय में, "अवशिष्ट उपबन्ध" शब्दों में प्रस्तावना भी आ जाएगी और संविधान का भाग 3 और भाग 4 भी। यहां यह भी बता देना चाहिए कि श्री संथानम् द्वारा संविधान सभा में यह प्रस्तावना रखी गई थी कि प्रस्तावना 26 नवम्बर, 1949 को प्रवृत्त हो जाए किन्तु उक्त प्रस्तावना नामंजूर कर दी गई।

चूंकि प्रस्तावना भी संविधान का भाग है, इसलिए यह दलील दी जा सकती कि बुनियादी ढांचे अथवा रूपरेखा सम्बन्धी उपबन्धों के अतिरिक्त उसके अन्य उपबन्ध, अनुच्छेद 368 में उल्लिखित संशोधन प्रक्रिया के उतने ही अध्यधीन हैं, जितने संविधान के अन्य भाग। इसके अतिरिक्त, प्रस्तावना यदि स्वयं ही संशोधनीय है तो बुनियादी ढांचे सम्बन्धी उपबन्धों के अतिरिक्त उसके उपबन्ध, संशोधन की शक्ति पर कोई भी विवक्षित परिसीमा नहीं अधिरोपित कर सकते हैं। यह दलील कि प्रस्तावना संशोधन विषयक शक्ति पर विवक्षित परिसीमाएं नियत करती है, तब तक नहीं मानी जा सकती, जब तक कि यह न साबित कर दिया जाए कि, प्रस्तावना का सम्बन्ध जहां तक बुनियादी ढांचे से भिन्न अन्य विषयों के साथ है, वहां तक संसद् उसमें संशोधन करने से और उन अनुमानित परिसीमाओं को हटाने से, जो प्रस्तावना द्वारा नियत की गई कही जाती है, अनुच्छेद 368 के उपबन्धों के अनुसार वंचित कर दी गई है। इस विषय पर और अधिक कहने सुनने की कोई

आवश्यकता नहीं है क्योंकि मेरा विचार है कि अर्थान्वयन का सिद्धान्त यह है कि किसी कानून या संविधान के शब्द जब संदिग्ध हों या दो आनुकल्पित अर्थ देने वाले हों, तब अर्थान्वयन के प्रयोजन के लिए प्रस्तावना के प्रति निर्देश किया जा सकता है। प्रस्तावना का प्रयोग कानूनी या सांविधानिक उपबन्ध की भाषा की दुरूहता पर प्रकाश डालने के लिए तथा उसे स्पष्ट बनाने के लिए भी किया जा सकता है। किन्तु जब किसी धारा या अनुच्छेद की भाषा साफ हो और उसमें कोई संदिग्धता या दुरूहता न हो, तब प्रस्तावना की दुहाई देकर उस धारा या अनुच्छेद के शब्दों में कोई मुलम्मा नहीं चढ़ाया जा सकता है। जैसा कि स्टोरी ने संविधान के संबंध में कहा है सामान्य सरकार या उसके किसी विभाग को दी गई शक्तियों का विस्तार करने के लिए, प्रस्तावना का प्रयोग नहीं किया जा सकता है। प्रस्तावना स्वयं ही कोई शक्ति प्रदान नहीं कर सकती है; और न उसे विवक्षा द्वारा ऐसी शक्ति के विस्तारण की कोटि में रखा जा सकता है; जो अभिव्यक्त रूप में दी गई हो। कोई भी विवक्षित शक्ति जब संविधान में से अन्यथा निकाल दी गई हो तब उसके लिए प्रस्तावना विधिसम्मत स्रोत कभी नहीं हो सकती है। उसका मुख्य उद्देश्य यह है कि संविधान द्वारा वास्तव में प्रदत्त शक्तियों की प्रकृति, विस्तार तथा उनके लागू होने की व्याख्या करे, न कि यह कि उसका प्रयोग सारवान् रूप में ऐसी शक्ति को पैदा करने के लिए किया जाए (पैरा 462 देखिए)। प्रस्तावना का काम क्या है; यह बात हाउस ऑफ लार्ड्स ने अटर्नी जनरल बनाम एच० आर० एच० प्रिन्स अरनेस्ट ऑगस्टस ऑफ हैनोवर ([1]) में बताई है। उस मामले में लार्ड नारमण्ड ने यह कहा—

"जब प्रस्तावना होती है तो जिस रिष्टि का उपचार किया जाना होता है उसका तथा इस बात का वर्णन कि अधिनियम का विस्तार क्या है, सामान्य रूप से प्रस्तावना में ही किया जाता है। इसलिए स्पष्ट है कि प्रस्तावना का उपयोग अधिनियमन सम्बन्धी उपबन्धों के अर्थान्वयन में सहायता प्राप्त करने के लिए किया जा सकता है। किन्तु अधिनियम की किसी धारा के अर्थान्वयन में सहायता प्राप्त करना हो तो प्रस्तावना का महत्व वही नहीं है, जो दूसरे सुसंगत अधिनियम सम्बन्धी शब्दों का है, जो उस अधिनियम में या अन्य सम्बद्ध अधिनियमों में मौजूद हों। हो सकता है कि प्रस्तावना तथा अधिनियमिति के बीच यथावत् समरूपता न हो और अधिनियमिति उससे आगे बढ़ जाए या कम रह जाए जिसका संकेत प्रस्तावना में मिलता है। इसके अतिरिक्त, उन उपबन्धों के अर्थान्वयन में, भी या अधिक जो अधिनियम के सामान्य प्रयोजन के प्रवर्तन से अपवादों या विशेषताओं की व्यवस्था करते हैं, प्रस्तावना से कुछ भी या अधिक सहायता नहीं मिल सकती है। प्रस्तावना विधिक रूप से प्रभावी तभी हो सकती है, जब अपेक्षित दुरूह या अनिश्चित अधिनियमन सम्बन्धी शब्दों की तुलना में प्रस्तावना का स्पष्ट तथा निश्चित अभिप्राय हो......यदि उनका (अधिनियमन सम्बन्धी शब्दों का) केवल एक ही अर्थ हो तो वही अर्थान्वयन प्रभावी होगा; चाहे फिर वह प्रस्तावना के साथ असंगत ही क्यों न हो, किन्तु यदि अधिनियमन सम्बन्धी शब्दों का अर्थ पक्षकारों द्वारा सुझाए गए दोनों तरीकों से किया जा सकता हो तो उसी अर्थान्वयन को अंगीकार किया जाएगा जो प्रस्तावना के साथ सुसंगत हो।"

([1]) (1957) ए० सी० 436.

बेरुबारी यूनियन एण्ड एक्सचेंज ऑफ एन्क्लेव्स वाले मामले (1) में राष्ट्रपति की ओर से किए गए निर्देश में जो मामला उठाया गया था वह बेरुबारी यूनियन के विभाजन के सम्बन्ध में तथा कूच बिहार के उन घिरे इलाकों के, जो पाकिस्तान में स्थित हैं और पाकिस्तान के उन घिरे इलाकों के, जो भारत में स्थित हैं, विनिमय के लिए भारत तथा पाकिस्तान के बीच हुए करार के कार्यान्वयन के सम्बन्ध में था। उस मामले में यह दलील पिटीशनर की ओर से पेश की गई थी कि यह करार शून्य है, चूंकि इसके द्वारा भारत के राज्यक्षेत्र का एक भाग परित्यक्त किया गया है, इस संदर्भ में संविधान की प्रस्तावना के प्रति निर्देश किया गया था। इस दलील को नामञ्जूर करते हुए, इस न्यायालय ने, स्टोरी के इन शब्दों का उल्लेख करने के बाद कि संविधान की प्रस्तावना "रचयिताओं के मन्तव्य की कुंजी" है जिसके द्वारा उन प्रयोजनों का पता चल सकता है जिनके लिए विभिन्न उपबन्ध किए गए थे, अमरीका के संविधान की प्रस्तावना के सम्बन्ध में विलोबी द्वारा कही गई निम्नलिखित बातों का आश्रय लिया –

> "उसे किसी भी ऐसी सारवान शक्ति का स्रोत, जो संयुक्त राज्य अमरीका की सरकार या उसके किसी विभाग को प्रदान की गई हो, कभी नहीं समझा गया। ऐसी शक्तियों में केवल वही शक्तियां शामिल हैं, जो संविधान में स्पष्ट रूप से प्रदान की गई हों, और ऐसी शक्तियां हैं जो इस प्रकार प्रदान की गई शक्तियों में विवक्षित समझी जा सकती हों।"

इस कथन के साथ इस न्यायालय ने जो कुछ अपनी ओर से बढ़ाया वह इस प्रकार था—

> "जो कुछ शक्तियों के सम्बन्ध में सही है, वही समान रूप से प्रतिबंधों तथा परिसीमाओं के सम्बन्ध में भी सही है।"

संशोधन विषयक शक्ति पर प्रस्तावना का क्या प्रभाव है उसके सम्बन्ध में जो कुछ ऊपर कहा गया है, उसके बाद हमें चाहिए कि हम प्रस्तावना के उपबन्धों पर विचार करें। भारत को एक सम्पूर्ण-प्रभुत्वसम्पन्न लोकतन्त्रात्मक गणराज्य बनाने के सम्बन्ध में, भारत के लोगों के दृढ़संकल्प का उल्लेख करने के पश्चात्, प्रस्तावना ऐसे विभिन्न उद्देश्यों का उल्लेख करती है जो उसके समस्त नागरिकों को प्राप्त कराए जाने हैं। ये उद्देश्य इस प्रकार हैं—

सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय,
विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म
और उपासना की स्वतन्त्रता
प्रतिष्ठा और अवसर की समता
प्राप्त कराने के लिए,
तथा उन सब में
व्यक्ति की गरिमा और राष्ट्र की
एकता सुनिश्चित करने वाली बन्धुता

इन शब्दों से स्पष्ट है कि पहला उद्देश्य जिसका उल्लेख प्रस्तावना में किया गया है वह भारत के सब नागरिकों को सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक न्याय प्राप्त कराना है। राज्य की नीति के निदेशक तत्वों से सम्बन्ध रखने वाले भाग 4 में अनुच्छेद 38 में यह कहा गया है कि राज्य ऐसी सामाजिक व्यवस्था की, जिसमें सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय राष्ट्रीय जीवन की सभी संस्थाओं को अनुप्राणित करे, भरसक कार्यसाधक रूप में स्थापना और संरक्षण करके लोक कल्याण की उन्नति का प्रयास करेगा।

(1) (1960) एस. सी. आर. 250.

अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से, जब कि व्यक्तियों की राजनैतिक समता के विचार ने जोर पकड़ा और उसके प्रभावस्वरूप लोकतंत्रात्मक सरकारें बनीं, समता के विचार राजनैतिक क्षेत्र से निकल कर आर्थिक तथा सामाजिक क्षेत्रों में और भी ज्यादा फैल गया। ऊंचे तबकों तथा निचले तबकों के जीवन-स्तर में, अत्यधिक वैषम्य और घृणित निर्धनता के वातावरण में, धन का भारी केन्द्रीकरण सामाजिक दुर्व्यवस्था की सूचना देते हैं। बहुत दिनों तक यही हाल रहा तो इन बातों से जनव्यापी असंतोष पैदा हो जाएगा और निचले तबकों वालों में सामाजिक व्यवस्था को मूल रूप से बदलने और, आवश्यक हुआ तो, एकदम से उखाड़ फेंकने की इच्छा जन्मेगी। अधिकांश जनता चूंकि निचले तबके वालों की ही है, इसलिए विषमताओं की पृष्ठभूमि में क्रान्तिकारी उथल-पुथल और भी जल्दी होती है। ऐसे विस्फोटों का निवारण सोसाइटी के शान्तिपूर्ण विकास के लिए ही आवश्यक नहीं है, बल्कि उन लोगों की भी भलाई जो ऊपर के तबके के हैं, यह सुनिश्चित करने में है कि हिंसापूर्ण विस्फोट के सम्भावित कारणों को शेष न रहने दिया जाए। इसके लिए उपचार बहुत बताए गए हैं किन्तु खास जोर उस पर दिया गया है जो कल्याणकारी राज्य कहलाता है। इसका नतीजा है कि वर्तमान राज्यों को ऐसे कदम उठाने पड़ते हैं जिनका उद्देश्य गरीबों की हालत को सुधारना है और उस खाई को पाटना है जो उन्हें आबादी के धनी वर्गों से अलग करती है। इसी प्रयोजन के लिए राज्य को सामाजिक सुरक्षा, आर्थिक नियोजन तथा औद्योगिक एवं कृषि सम्बन्धी कल्याण की समस्याओं का सामना करना पड़ता है। इन नीतियों को कार्यान्वित करते समय राज्य को बहुधा एक ओर व्यक्ति के अधिकारों और हितों और दूसरी ओर जनता के बड़े-बड़े वर्गों के अधिकारों एवं उनके कल्याण के बीच विद्यमान संघर्ष की समस्या का सामना करना पड़ता है। इस संघर्ष से निपटने के लिए जिस पद्धति की सिफारिश अब आम तौर से की जाती है वह यह समझने की है कि व्यक्तियों के अधिकार सामाजिक उत्तरदायित्व पर आश्रित हैं। 'एनसाइक्लोपीडिया ऑफ दि सोशल साइन्सेज' में इस विषय पर हेरोल्ड लास्की ने कहा है—

> "स्वतंत्रता का संघर्ष अब राजनैतिक अधिकारों के क्षेत्र से निकल कर बहुत कुछ आर्थिक अधिकारों के क्षेत्र में आ गया है। लोगों को दिलचस्पी अब इस तथ्य में इतनी नहीं है कि व्यक्ति के पास राजनैतिक शक्ति कितनी है, जितनी इस बात में है कि सामाजिक उत्पादन के ज्यादा से ज्यादा भाग पर कब्जा करने के लिए उन समूहों का सामूहिक दबाव कितना काम दे सकता है जिनमें से वे लोग आए हैं... कहा जाता है कि जब तक विषमता रहेगी, तब तक स्वतंत्रता नहीं हो सकती। इस विकास की ऐतिहासिक अनिवार्यता का आभास 100 साल पहले, डी टोकेविली को पहले ही हो चुका था। लार्ड ऐक्टन के इस तर्क की कि स्वतंत्रता तथा समता परस्पर विरोधी हैं, इस आग्रह के साथ तुलना करना दिलचस्पी से खाली नहीं है कि राजनैतिक सत्ता को लोकतंत्र का रूप देना ही समता है और इसके अभाव को जनता अत्याचार समझेगा। लार्ड ऐक्टन के लिए स्वतंत्रता बड़े आदमियों का आदर्श है, एक-जैसी परिस्थितियों के लिए प्रयत्न करके लोकतंत्र ने व्यक्तिगत विशेषता समाप्तकर दी है और व्यक्तिगत विशेषता ही स्वतंत्रता का सार थी।

आजकल का आग्रह इस बात पर है कि धन दौलत की समता से तो अब बचना असम्भव होता जा रहा है इसलिए व्यक्ति की छाप किसी अभौतिक स्तर पर ही प्रभावी हो सकती है।" (जिल्द IX, पृष्ठ 445 देखिए)।

मैं यहां पर हेरोल्ड लास्की कृत 'ग्रामर ऑफ पोलीटिक्स' के पृष्ठ 99 से निम्नलिखित पंक्तियां भी उद्धृत करना चाहता हूं—

"इसलिए उस राज्य को, जो जीवित रहना चाहता है, अपने को उनकी मांगों के अनुसार निरंतर बदलते रहना चाहिए जो उस सामान्य कल्याण के बराबर के दावेदार हैं जिसको आगे बढ़ाना राज्य का आदर्श है।

हमारा सम्बन्ध यहां इस बात से नहीं है कि अराजकता के पक्ष में क्या कहा जाए बल्कि इस बात से है कि अराजकता से बचने के लिए क्या आवश्यक है। लोगों को चाहिए कि वह सामान्य कल्याण के मुकाबले में स्वयं अपने हित को कम महत्व देना सीखें। कुछ के विशेषाधिकारों को सब के अधिकारों के सामने झुकना ही पड़ेगा। कहा तो वास्तव में यहां तक जा सकता है कि थोड़े से लोगों का हित वस्तुतः इसी में है कि उन अधिकारों को प्राप्त कराया जाए क्योंकि स्थायित्व को किसी अन्य वातावरण में सुनिश्चित नहीं बनाया जा सकता है।"

आधुनिक राज्य का काम है कि वह सामाजिक तथा आर्थिक कार्यक्रमों वाली बड़ी-बड़ी स्कीमें तैयार करे और उन्हें चलाने की व्यवस्था करे। उसका काम चुनौती से भरा हुआ है इसको सामाजिक इंजीनियरी कहते हैं जिसका मुख्य उद्देश्य गरीबी को दूर करना, गिरे हुओं को उठाना, बड़े-बड़े जनसमूहों के जीवन-स्तर को ऊंचा उठाना तथा गरीबों और अमीरों के बीच का फर्क कम करना है। चूंकि ऐसे मौके अकसर आते हैं जबकि व्यक्तिगत अधिकारों की सोसाइटी के बड़े-बड़े हितों के साथ टक्कर होती है। इसलिए राज्य को यह शक्ति है कि वह सामाजिक न्याय को अग्रसर करने के लिए व्यक्तिगत अधिकारों को उतना महत्व न दे जितना सोसाइटी के बड़े-बड़े वर्गों के हितों को। जैसा कि रास्को पाउण्ड ने ज्यूरिसप्रूडेंस की जिल्द 1 के पृष्ठ 434 पर "सम्पत्ति के उपयोग पर बंधन" शीर्षक के अधीन कहा है—

"आज कानून ऐसे सामाजिक बंधन लगा रहा है जिनका सामाजिक जीवन के साथ गहरा सम्बन्ध है। वह इस बात का प्रयास कर रहा है कि सामाजिक हितों को ध्यान में रखते हुए, व्यक्तिगत हितों का बेहतर परिसीमन किया जाए तथा कानूनी हक या स्वतंत्रता या विशेषाधिकार को वहां तक सीमित कर दिया जाए जहां इस प्रकार परिसीमित हित की आरम्भ सीमा होती है।"

'लीगल थ्योरी' में फ्राइडमैन के अनुसार—

"किन्तु आधुनिक लोकतंत्र सम्पत्ति के अधिकार कौन सा अधिकार समझता है जिसका प्रयोग सामाजिक जिम्मेदारी, सोसाइटी की आवश्यकताओं और 'हित-संतुलन' पर आश्रित है जो आधुनिक न्यायशास्त्र (जुरिस्प्रूडेंस) पर छाया हुआ है न कि पूर्वनिर्धारित तथा इस प्रकार का प्राइवेट अधिकार जिसको कोई छू भी न सके।" (पांचवां, संस्करण पृष्ठ 406).

आर्थिक पुनरुज्जीवन के लिए राज्य कितने ही ढंग अपनाता है और कुछ सामाजिक आर्थिक उपाय करता है। ऐसे तरीकों और उपायों के प्रवर्तन में सम्भव है कि व्यक्तियों के सम्पत्ति के अधिकारों का अतिलंघन हो। न्यायालयों को इन तरीकों तथा उपायों की बुद्धिमानी में शक हो सकता है किन्तु उन तरीकों और उपायों की विधिमान्यता के सम्बन्ध में फैसला देने में यह विचार बिल्कुल विषयांतर होगा। इस सम्बन्ध में हमें और कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि हमारा सम्बन्ध प्रस्तावना के प्रभावमात्र से है। इस सम्बन्ध में, मैं देखता हूं, कि यद्यपि प्रस्तावना में प्रमुख स्थान नागरिकों को सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय दिलाने को दिया गया है, फिर भी उसमें कोई बात ऐसी नहीं है जिससे पता चलता हो कि सम्पत्ति के व्यक्तिगत अधिकार को सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय के दावों से ऊंचा स्थान दिया गया है। वास्तव में न कोई खण्ड और प्रस्तावना में ऐसा संकेत है जो सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय की प्राप्ति के लिए सम्पत्ति के अधिकार में कमी करने के रास्ते में रुकावट डालता हो। वास्तव में, व्यक्ति की गरिमा, जिस पर प्रस्तावना में बहुत जोर दिया गया है, सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय के उद्देश्य की प्राप्ति के बाद ही सुनिश्चित हो सकती है।

यह दिखाने के लिए कि स्वतन्त्रता पूर्व युग में राष्ट्रीय नेताओं का यह उद्देश्य था कि मानव-अधिकारों का कोई न कोई चार्टर तैयार किया जाए, पिटीशनरों की ओर से नेहरू रिपोर्ट का उल्लेख किया गया है। मेरी राय में जो मतभेद हमारे सामने प्रस्तुत है उस पर इसका कोई खास असर नहीं पड़ता है। हमारे संविधान निर्माताओं ने कुछ अधिकारों को संविधान के भाग 3 में स्थान दिया है और उन्हें मूल अधिकारों की संज्ञा दी है। इसके अतिरिक्त संविधान निर्माताओं ने संविधान के भाग 4 में कुछ निदेशक तत्वों को स्थान दिया है। यद्यपि ये निदेशक तत्व किसी न्यायालय द्वारा प्रवर्तनीय नहीं है, फिर भी अनुच्छेद 37 यह घोषित करता है कि निदेशक तत्व देश के शासन में मूलभूत हैं और विधि बनाने में उन तत्वों का प्रयोग करना राज्य का कर्त्तव्य है। निदेशक तत्वों के रूप में वह प्रतिबद्धता (कमिटमेण्ट) है जो संविधान निर्माताओं ने राज्य पर अधिरोपित की है और जिसके अनुसार राज्य को उन लाखों आदमियों का आर्थिक तथा सामाजिक पुनरुद्धार करना है जो गरीबी, जिहालत तथा सामाजिक पिछड़ेपन में डूबे हुए हैं। आने वाली पीढ़ियों को उन निदेशक तत्वों के रूप में दिया गया यह वचन है कि उस युग को समीप लाने के लिए राज्य को क्या करना होगा। निदेशक तत्वों में संशोधन करने का अवसर अभी तक नहीं आया है, फिर भी भाग 3 में मूल अधिकारों को संशोधित करने के प्रयत्न समय-समय पर, किए जाते रहे हैं। हमारे सामने प्रश्न यह है कि अनुच्छेद 368 के अधीन संशोधन करने की क्या ऐसी शक्ति दी गई है, जिसका प्रयोग करते हुए मूल अधिकारों को छीना जा सके या उन्हें न्यून किया जा सके। इस प्रश्न का निपटारा अवश्य ही इस पर निर्भर है कि अनुच्छेद 368 की भाषा कैसी है तथा अनुच्छेद 368 के अधीन संशोधन विषयक शक्ति में गुंजायश कितनी है और उसका विस्तार कहां तक है और इस संदर्भ में नेहरू रिपोर्ट पर विचार करने से कोई भी सहायता नहीं मिल सकती है। यदि अनुच्छेद 368 की भाषा से संशोधन की ऐसी विस्तृत शक्ति का समर्थन होता हो, जिसमें मूल अधिकारों को छीन लेने या न्यून करने की शक्ति भी शामिल हो तो यह नहीं कहा जा सकता कि उक्त शक्ति का अस्तित्व नहीं

है और न उसकी परिधि, नेहरू रिपोर्ट का हवाला देकर, कम की जा सकती है। ऐतिहासिक सामग्री की सहायता कहां तक ली जा सकती है, यह बात मैक्सवेल कृत "इण्टरप्रेटेशन ऑफ स्टेट्यूट्स" के पृष्ठ 47-48 पर इन शब्दों में व्यक्त की गई है—

> "कानूनों का निर्वचन करते समय, निर्वचनकर्ता उन सब बाहरी अथवा ऐतिहासिक तथ्यों की सहायता ले सकता है, जो उस विषय को समझने के लिए आवश्यक हों, और इस पर भी विचार कर सकता है कि अमुक कानून का आशय उस कानून को बदल देना है या उसे यथावत् बना रहने देना है। किन्तु यद्यपि हम उन परिस्थितियों को, जिनमें वह अधिनियम पारित किया गया था, और उस रिष्टि को जो उस समय प्रचलित थी जहां तक कि उसकी जानकारी सामान्य हो, ध्यान में रख सकते हैं ... फिर भी सहायता के रूप में इनका उपयोग हम उन शब्दों के अर्थान्वयन में कर सकते हैं, जिनका प्रयोग संसद् द्वारा किया गया है। उन शब्दों में ऐसी किसी परिसीमा का अनुमान करके, जिसे हम सम्भवतः आशयित समझ लें, किन्तु जिनका अनुमान अधिनियम के शब्दों से न किया जा सकता हो, हम संसद् के विधायी कृत्य में हस्तक्षेप नहीं कर सकते हैं।"

ऊपर वाली बातें, तब भी समान रूप से कही जा सकती है, जब हम संविधान के उपबन्धों का अर्थान्वयन करते हैं। इन बातों को ध्यान में रखा जाए, तो नेहरू रिपोर्ट से हमें कोई ऐसी सहायता नहीं मिल सकती है जो पिटीशनरों की दलील का समर्थन करती हो।

जो कुछ ऊपर कहा गया है उसके अतिरिक्त हम देखते हैं कि स्वतन्त्रता का उदय होने के पहले और संविधान-सभा के वाद-विवाद के दौरान भी, देश के नेताओं ने इस पर जोर दिया था कि आर्थिक पुनरुत्थान लाने को, और इस प्रकार सामाजिक तथा आर्थिक न्याय को सुनिश्चित बनाने की, बड़ी आवश्यकता है। सामाजिक तथा आर्थिक तब्दीलियों के बारे में 1929 की कांग्रेस के संकल्प में कहा गया था कि "भारतीय जनता की भीषण निर्धनता तथा दुर्दशा का कारण भारत में विदेशी शोषण ही नहीं है, बल्कि सोसाइटी का आर्थिक ढांचा भी है, अन्यदेशीय शासक जिसका पोषण करते रहते हैं, ताकि उनका शोषण चलता रहे। इसलिए इस गरीबी तथा दुर्दशा को दूर करने के लिए तथा भारतीय जनता की दशा सुधारने के लिए यह आवश्यक है कि सोसाइटी के वर्तमान आर्थिक तथा सामाजिक ढांचे में परिवर्तन किए जाएं और विषमताओं को दूर किया जाए।" 1931 में कांग्रेस द्वारा पारित संकल्प में यह कहा गया था कि जनता का शोषण समाप्त करने के लिए राजनैतिक स्वतन्त्रता में भूखों मरने वाले करोड़ों मनुष्यों की सच्ची आर्थिक स्वतन्त्रता भी सम्मिलित है। उद्देश्य-सम्बन्धी संकल्प में, जिसे पण्डित नेहरू ने 13 दिसम्बर, 1946 को संविधान सभा में प्रस्तुत किया था और जो बाद में संविधान सभा द्वारा पारित किया गया था, कहा गया था कि भारत के सब लोगों को "सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक न्याय; विधि के समक्ष प्रतिष्ठा और अवसर की समता; विधि तथा सार्वजनिक नैतिकता के अध्यधीन, विचारों की स्वतन्त्रता, अभिव्यक्ति, विश्वास, आस्था, उपासना, व्यवसाय, सम्मेलन तथा कार्रवाई करने की स्वतन्त्रता" की गारण्टी दी जाएगी। इसलिए यह स्पष्ट है कि उद्देश्य सम्बन्धी संकल्प में

भी, पहला स्थान सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक न्याय को दिया गया अपने एक भाषण में, पण्डित नेहरू ने कहा था —

"भारत की सेवा से उन करोड़ों मनुष्यों की सेवा अभिप्रेत है जो पीड़ा भोग रहे हैं। उसका तात्पर्य गरीबी और अज्ञान तथा रोग और अवसर की विषमता को समाप्त करना है। हमारी पीढ़ी के सबसे महान पुरुष की अभिलाषा यही रही है कि दुःख भोगने वाले हर व्यक्ति का हर एक आंसू पोंछा जाए। यह बात हमारी शक्ति के बाहर हो सकती है, किन्तु जब तक दुःख और पीड़ा वर्तमान हैं, तब तक हमारा काम कभी समाप्त नहीं होगा।"

पण्डित नेहरू के इन शब्दों को उद्धृत करने के पश्चात् ग्रैनबील ऑस्टिन ने अपनी पुस्तक "एक्सट्रैक्ट्स फ्राम दि इण्डियन कांस्टिट्यूशन : कॉरनरस्टोन ऑफ ए नेशन" में कहा है —

"प्रथम विश्व-युद्ध का अन्त जब से हुआ है, तब से भारत में राष्ट्रीय तथा सामाजिक, दो समानान्तर क्रान्तियां चल रही हैं। स्वतन्त्रता की प्राप्ति के साथ, राष्ट्रीय क्रान्ति समाप्त हो जाएगी, किन्तु सामाजिक क्रान्ति फिर भी चलती रहेगी। जैसा कि नेहरू जी ने कहा था, स्वतन्त्रता अपने आप में कोई लक्ष्य नहीं है, लक्ष्य को प्राप्त करने का साधन मात्र है, और वह लक्ष्य है जनता को उठाकर ऊंचे स्तर पर ले जाना और इस प्रकार मानवता को आगे बढ़ाना।

इस सभा का पहला काम (नेहरू जी ने सदस्यों से कहा था) यह है कि एक नया संविधान बना कर भारत को स्वतन्त्र बनाएं, भूखों मरने वाली जनता को खाना दें, और नंगे रहने वाली जनता को कपड़ा दें तथा भारत के हर निवासी को, अपनी क्षमता के अनुसार अपना विकास करने का पूरा-पूरा अवसर दें।"

संविधान-सभा के एक प्रतिष्ठित दक्षिणी सदस्य तथा एक बड़े अखबार के सम्पादक, के० संथानम् ने उसी अवस्था का वर्णन तीन क्रान्तियों के रूप में किया है। इन्होंने लिखा है कि राजनैतिक क्रान्ति स्वतन्त्रता के साथ समाप्त हो जाएगी। सामाजिक क्रान्ति का अर्थ जन्म, धर्म, रूढ़ि तथा जाति पर आधारित मध्ययुगीनता से (भारत) को निकालना तथा कानून व्यक्तिगत योग्यता तथा धर्मनिरपेक्ष शिक्षा की आधुनिक बुनियादों पर उसका सामाजिक ढांचा फिर से खड़ा करना है। तीसरी क्रान्ति आर्थिक क्रान्ति है अर्थात् : 'प्राचीन कृषि-प्रधान अर्थव्यवस्था से निकल कर, वैज्ञानिक तथा सुनियोजित कृषि तथा उद्योग में संक्रान्त होना' है। राधाकृष्णन् (इस समय भारत के राष्ट्रपति) का यह विश्वास था कि भारत में एक ऐसी 'सामाजिक-आर्थिक-क्रान्ति' होनी चाहिए जिसका उद्देश्य 'साधारण मनुष्य की बुनियादी आवश्यकताओं को वास्तविक तुष्टि मात्र' प्रदान करना नहीं बल्कि और भी गहराई में जाना और 'भारतीय सोसाइटी के ढांचे में बुनियादी परिवर्तन करना होना चाहिए।'

भारत का अस्तित्व इस महान परिवर्तन की सफलता पर निर्भर था। नेहरू जी ने विधान-सभा को चेतावनी दी कि 'यदि हम इस समस्या को तेजी के साथ नहीं सुलझा सकते हैं, तो हमारे सब कागजी संविधान व्यर्थ और निष्प्रयोजन हो जाएंगे × × ×।'

× × ×

संथानम् लिखते हैं कि 'भारत को..............तीव्रगामी विकास तथा हिंसापूर्ण क्रान्ति में से किसी न किसी को पसंद करना है......क्योंकि अपनी न्यूनतम आवश्यकताओं को पूरा कराने के लिए भारत की जनता बहुत समय तक इन्तजार न तो कर सकती है और न करेगी।'

× × ×

संविधान-सभा के अधिकांश सदस्यों के लिए सबसे अधिक महत्व इस बात का नहीं था कि समाजवाद को संविधान में स्थान दिया जाए, बल्कि इस बात का था कि संविधान ऐसा तैयार किया जाए जो लोकतन्त्रात्मक हो और जिसका झुकाव समाजवाद की ओर हो, ताकि राष्ट्र भविष्य में वहां तक समाजवादी बन सके, जहां तक कि उसके नागरिक चाहें या, उसकी आवश्यकताओं को देखते हुए आवश्यक हो। संविधान-सभा के सदस्यों ने इस प्रकार का संविधान, सामान्यतः सामाजिक-लोकतन्त्रात्मक विचारधारा के उद्देश्यों, मानवीयता-प्रधान बुनियादों तथा कुछ प्रविधियों से ओत-प्रोत होने के बाद ही बनाया था।"

राज्य की नीति के निदेशक-तत्वों की चर्चा करते हुए ग्रैनवील ऑस्टिन ने लिखा है—

"किन्तु नीति के निदेशक तत्वों में सामाजिक क्रान्ति का और भी स्पष्ट कथन मौजूद है। उनका उद्देश्य यह है कि भारतीय जन को सोसायटी तथा प्रकृति के सदियों के उत्पीड़न से पैदा होने वाले चुपचाप सहते रहने के अभ्यास से तथा उस घृणित दुर्दशा से, जिसके कारण वे अपना सर्वोत्तम विकास नहीं कर सके थे, निस्संदेह रूप से मुक्ति प्रदान करें। राज्य को ऐसी विनिर्दिष्ट जिम्मेदारियां निर्धारित करके संविधान सभा के सदस्यों ने आने वाली भारतीय-सरकारों पर यह जिम्मेवारी रखी कि वे, सामान्य फायदे में बराबर का अंशदान करने के लिए हर एक की शक्तियों को मुक्त करने के उद्देश्य से, व्यक्तिगत स्वातंत्र्य और लोक कल्याण के बीच तथा कुछ की सम्पत्ति तथा विशेषाधिकारों की रक्षा और बहुतों के फायदे के बीच किसी माध्यम की खोज करें।"

× × ×

निदेशक तत्वों के रूप में, आर्थिक स्वतन्त्रता घोषित की गई थी और यह घोषित किया गया था कि औपनिवेशिक युग के विशेषाधिकार समाप्त हो गए हैं, और यह कि भारत के लोगों ने (संविधान की लोकतन्त्रात्मक संस्थाओं के माध्यम से) देश की आर्थिक तथा राजनैतिक बागडोर अपने हाथ में सम्भाल ली है तथा यह कि भारतीय पूंजीपति ब्रिटिश उपनिवेशवादियों के साम्राज्य के वारिस न बन जाएं।"

संविधान (प्रथम संशोधन) विधेयक का समर्थन करते हुए, अपने भाषण के दौरान पंडित नेहरू ने कहा था—

"जैसा कि मैं पिछले मौके पर कह चुका हूं, असल मुश्किल जो हमारे सामने है, वह नीति के निदेशक तत्वों के क्रान्तिकारी विचारों और मूलभूत कही जाने

वाली कुछ विशेषताओं की गतिहीन स्थिति के बीच का संघर्ष है, चाहे वे सम्पत्ति के सम्बन्ध में हों या किसी अन्य बात के। दोनों ही निस्संदेह रूप से महत्वपूर्ण हैं। सवाल यह है कि उन पर नियंत्रण कैसे रखा जाए ? जो संविधान अपरिवर्तनशील तथा स्थिर है वह, चाहे कितना ही अच्छा हो या चाहे कितना ही सम्पूर्ण हो, फिर भी ऐसा है, जिसका उपयोग समाप्त हो चुका है।"

इसके पश्चात्, संविधान (चतुर्थ संशोधन) विधेयक के समर्थन में अपने भाषण के दौरान, पंडित नेहरू ने कहा—

"किन्तु मैं कहता हूं कि यदि यह बात सही है तो मूल अधिकारों तथा राज्य की नीति के निदेशक-तत्वों के बीच, संविधान में, परस्पर अन्तर्निहित द्वन्द्व है। इसलिए, एक बार फिर यही कहना होगा कि यह संसद् का काम है कि वह इस द्वन्द्व को दूर करे तथा मूल अधिकारों का उपयोग, राज्य की नीति के निदेशक-तत्वों को पूरा करने के लिए करे।"

अतः यह नहीं कहा जा सकता कि अमीर और गरीब के बीच के अन्तर को कम करके, आर्थिक ढांचे को बदलने पर जो जोर संविधान के अपेक्षित संशोधनों में दिया गया वह कोई नई बात है। इसके विपरीत, ऊपर के उद्धरण से यह स्पष्ट है कि स्वतन्त्रता के उदय के पहले से, राष्ट्रीय नेताओं का यही उद्देश्य रहा है और संविधान के प्रथम तथा चतुर्थ संशोधनों के पीछे अन्तर्निहित कारणों में से एक कारण यह भी था। उन्हीं से यह भी प्रकट है कि इसके लिए रास्ता यह अपनाया गया था कि यदि आर्थिक ढांचे को बदलने तथा निदेशक-तत्वों में दिए गए उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए, ऐसा आवश्यक प्रतीत हो, तो सम्पत्ति विषयक मूल अधिकारों को कम करने या उनका विनियमन करने में कोई हिचक नहीं होना चाहिए।

जहां तक सवाल यह है कि क्या यह कहा जा सकता है कि सम्पत्ति का अधिकार संविधान के बुनियादी ढांचे तथा उसकी रूपरेखा के साथ सम्बद्ध है, मेरी राय में, इसका उत्तर, स्पष्ट रूप से, 'नहीं' में दिया जाएगा। बुनियादी ढांचे तथा रूपरेखा से यह पता चलता है कि संविधान के मोटे-मोटे आधार क्या हैं, जब कि सम्पत्ति का अधिकार, ब्यौरे की बात है। ऊपर की गई चर्चा से स्पष्ट है कि संविधान निर्माताओं का दृष्टिकोण यह था कि सम्पत्ति के व्यक्तिगत अधिकार को, सामाजिक कल्याण के नीचे स्थान दिया जाए। सम्पत्ति का अधिकार भी समय-समय पर बदलता रहा है। जैसा कि हेरोल्ड लॉस्की ने 'ग्रामर ऑफ पॉलिटिक्स' में कहा है कि ऐतिहासिक दलील यदि यह है कि निजी सम्पत्ति के युग में सम्पत्ति का रूप साधारण तथा अपरिवर्तनशील बना रहा है, तो ऐसी ऐतिहासिक दलील भ्रान्तिमूलक है। सबसे बड़ी बात यह है कि निजी सम्पत्ति का इतिहास ऐसी अनेकानेक पाबन्दियों का इतिहास है, जो सम्पत्ति से प्राप्त होने वाली शक्तियों के उपयोग पर लगाई गई थीं। यूनान तथा रोम में किसी युग में दास के रूप में सम्पत्ति को विधिमान्यता प्राप्त थी, किन्तु आज ऐसा नहीं है। इस प्रसंग में लास्की ने जॉन स्टुअर्ट मिल के निम्नलिखित शब्द उद्धृत किए हैं—

"सम्पत्ति की कल्पना का सारे इतिहास में सदा एक ही रूप नहीं रहा, जिसमें कभी कोई परिवर्तन न किया जा सके............किसी भी विनिर्दिष्ट समय में

सम्पत्ति केवल संक्षिप्त नाम है जो उस समय की सोसाइटी के कानून या रूढ़ि द्वारा किसी चीज पर दिए गए अधिकारों का द्योतक है किन्तु न तो इस बात में न किसी अन्य बात में किसी भी समय या स्थान विशेष के कानून या रूढ़ि का, यह दावा स्वीकार किया जा सकता है कि वह सदा-सर्वदा के लिए अनुकरणीय है। यह जरूरी नहीं है कि कानूनों अथवा रूढ़ियों में प्रस्थापित सुधार को, इस आधार पर आपत्तिजनक समझा जाए कि उसको स्वीकार करने का मतलब मानव कार्य-कलाप को सम्पत्ति की वर्तमान कल्पना के अनुकूल बनाना नहीं, बल्कि सम्पत्ति की वर्तमान कल्पना को मानव कार्यकलाप के विकास तथा उन्नयन के अनुकूल बनाना है।"

यह दलील कि संसद् संशोधन द्वारा अपनी शक्तियों को बढ़ा नहीं सकती, मानी नहीं जा सकती है। संविधान के संशोधन की प्रकृति ही ऐसी है कि उसके जरिए राज्य के किसी भी अंग को शक्तियां प्रदान की जा सकती हैं या उसकी शक्तियों में वृद्धि की जा सकती है। इसी प्रकार उसके जरिए उन शक्तियों को, जो पहले राज्य के किसी भी अंग में निहित थीं छीना जा सकता है या न्यून किया जा सकता है। वास्तविकता यह है कि संघ सरकार को दी गई शक्तियों का या उसके कृत्यों का जब भी विस्तार किया जाएगा तब उसका फल यह होगा कि राज्य सरकारों की शक्तियों तथा उनके कृत्यों में आनुषंगिक कमी करनी पड़ेगी। इसके विपरीत जो स्थिति है यदि उस पर विचार किया जाए तब भी यही सच निकलेगा। संविधान की कोई बात, संविधान के संशोधन द्वारा संसद् की शक्तियों के बढ़ाने पर न तो प्रतिषेध लगाती है और न सांविधानिक संशोधन के परिणामस्वरूप संसद् की शक्तियों का बढ़ाना किसी अन्य रीति से रोकती है और, मेरी राय में, ऐसे संशोधन के बारे में यह नहीं अभिनिर्धारित किया जा सकता है कि वह अनुज्ञेय नहीं है या अनुच्छेद 368 की परिधि के बाहर है। आयरलैण्ड का मॉरेनिश रेयन वाला मामला (1) हमारे सामने एक ऐसी नजीर है, जिसमें एआरुतोस (आयरलैण्ड की संसद् का नाम) द्वारा किए गए एक ऐसे संशोधन को विधिमान्य घोषित किया गया जिसके परिणामस्वरूप एआरुतोस ने अपनी शक्तियां इस प्रकार बढ़ाई कि लोकमत-संग्रह के बिना संविधान संशोधित करने की उसकी शक्ति, जहां आठ वर्ष के लिए विधिमान्य थी, वहां अवधि को बढ़ाकर उसे सोलह वर्ष के लिए विधिमान्य बना दिया गया। मुख्य न्यायाधिपति कैनेडी ने भी, जिसने विसम्मत निर्णय दिया था, इस संशोधन की विधिमान्यता पर आपत्ति इस आधार पर नहीं की कि एआरुतोस में इस संशोधन द्वारा अपनी शक्ति को बढ़ा लिया है। यह संशोधन इस आधार पर अविधिमान्य घोषित किया गया कि संशोधन खण्ड को संशोधित करने की कोई भी शक्ति नहीं है। हमारे संविधान के अधीन चूंकि स्पष्ट उपबन्ध मौजूद है इसलिए इस प्रकार की कोई कठिनाई पैदा नहीं होती है। मैं यह दलील भी नहीं मान सकता हूं कि संविधान का ऐसा संशोधन, जिसके परिणामस्वरूप राष्ट्रपति पर यह पाबन्दी है कि वह अनुच्छेद 368 के उपबन्धों के अनुसार पारित संविधान के संशोधन को अपनी अनुमति प्रदान करे, विधिमान्य नहीं है। अन्य बातों के साथ-साथ, अनुच्छेद 368 को संशोधित करने की शक्ति इसी अनुच्छेद में दी गई है और अनुच्छेद 368 का जो भी संशोधन उस रीति में किया गया है जो उस अनुच्छेद में विहित है उसमें कोई भी सांविधानिक या विधिक कमजोरी नहीं समझी जाएगी। इस प्रसंग में मैं यह बता देना चाहता हूं कि, संयुक्त राज्य अमरीका के संविधान के अनुच्छेद 5 के अनुसार, उस संविधान

(1) (1935) आयरिश रिपोर्ट्स 170.

के किसी भी संशोधन के लिए, राष्ट्रपति की अनुमति की कोई आवश्यकता नहीं है। भारत के संविधान में, चौबीसवें संशोधन द्वारा किए गए परिवर्तन ने, जिसकी ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया गया है, राष्ट्रपति की अनुमति को समाप्त नहीं किया है, बल्कि राष्ट्रपति के लिए यह बाध्यकर बना दिया है कि, जब कोई संशोधन अनुच्छेद 368 के अनुसार पारित हो जाए, तो वह संविधान संशोधन विधेयक को अपनी अनुमति प्रदान करे। चूंकि, सम्यक् रूप से पारित हो जाने के बाद, किसी भी सांविधानिक संशोधन से सम्बन्ध रखने वाले विधेयक को अपनी अनुमति न देना, राष्ट्रपति के लिए सम्भव नहीं है इसलिए राष्ट्रपति के व्यक्तिगत विवेक वाला अंश सर्वथा लुप्त हो गया है। इसके अलावा भी, हमारे संविधान के अधीन राष्ट्रपति की स्थिति सांविधानिक प्रधान की स्थिति है और अपने व्यक्तिगत विवेक का प्रयोग करते हुए कार्य करने के लिए, यदि कोई गुंजाइश उसके लिए है तो वह बहुत ही अल्प तथा सीमित है।

बहस के दौरान, भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम, 1947 की धारा 6 के उपबन्धों का हवाला दिया गया था। उस धारा की उपधारा (1) के अनुसार हर नए डोमिनियम विधान-मण्डल को इस बात के लिए पूर्ण रूप से सशक्त किया गया था कि वह डोमिनियम के लिए विधियां बना सकता है, जिसमें राज्य क्षेत्रातीत प्रवर्तन रखने वाली विधियां भी सम्मिलित हैं। उस धारा की उपधारा (6) में यह उपबंधित था कि इस धारा की उपधारा (1) में निर्दिष्ट शक्ति का विस्तार ऐसी विधियां बनाने तक है, जिनके द्वारा डोमिनियन के विधान-मण्डल की शक्तियों पर भविष्यवर्ती परिसीमाएं लगाई गई हों। मेरी राय में इन उपबन्धों से कोई भी सहायता नहीं प्राप्त की जा सकती है, क्योंकि संविधान सभा ने संविधान को किसी ऐसी शक्ति के आधार पर, जो भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम की धारा 6 से प्राप्त की गई हो बनाया या अंगीकृत नहीं किया था। इसके विपरीत, संविधान सभा के सदस्यों ने भारत के लोगों की ओर से और उनके प्रतिनिधियों के रूप में संविधान को बनाया था और अंगीकृत किया था। यह बात संविधान की प्रस्तावना के प्रारम्भिक तथा अन्तिम शब्दों से स्पष्ट है। संविधान के अनुच्छेद 395 में जो निर्देश भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम के प्रति है उसके सिवाय संविधान में, भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम के प्रति कोई भी निर्देश नहीं है।

इसके अतिरिक्त मैं यह भी देखता हूं कि भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम की धारा 6 की उपधारा (6) में यह उपबन्धित था कि उपधारा (1) में निर्दिष्ट शक्ति ऐसी विधियां बनाने तक है, जिनके द्वारा डोमिनियन विधानमण्डल की शक्तियों पर भविष्यवर्ती परिसीमाएं लगाई गई हों। वास्तव में अस्थायी संसद् ने, संविधान-सभा के रूप में कार्य करते हुए, संविधान को बनाया था, जिसने भावी संसदों की मामूली विधायी शक्ति को यह उपबन्ध बना कर सीमित कर दिया कि जो भी विधियां बनाई जाएं, उनके द्वारा संविधान के उपबन्धों का उल्लंघन न किया जाए। उसी के साथ-साथ संविधानसभा ने संविधान में अनुच्छेद 368 को स्थान दिया जिसके द्वारा उस अनुच्छेद में निर्धारित प्रक्रिया के अनुसार संविधान को संशोधित करने की शक्ति भावी संसदों के दोनों सदनों को प्रदान की गई। भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम की धारा 6 में कोई ऐसी बात नहीं है जो संशोधन की व्यापक शक्ति प्रदान करने वाले अनुच्छेद संविधान में रखने के विरुद्ध, उस संविधान सभा के रास्ते में, रुकावट हो और

मैं इस बात पर तैयार नहीं हूं कि भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम की धारा 6 में कही गई किसी बात के कारण अनुच्छेद 368 के विस्तार को किसी प्रकार निर्बन्धित करूं।

पिटीशनरों की ओर से रखी गई यह दलील, कि हमारा संविधान एक ऐसे करार का प्रतिनिधित्व करता है, जिसके आधार पर भारत के लोग भारतीय संघ में शामिल हुए और उन्होंने संविधान को स्वीकार किया, बिल्कुल गलत है। उस भाग को छोड़ कर, जो तब तक की देशी रियासतों में शामिल थे, भारत का शेष भाग 15 अगस्त, 1947 को उस समय भी एक राज्य-क्षेत्र था जब कि भारत स्वतंत्र हुआ। जहां तक कि इन देशी रियासतों की बात थी, वे 26 नवम्बर, 1949 से भी पहले, जब कि संविधान अंगीकृत किया गया था, अथवा 26 जनवरी, 1950 से पहले, जब कि संविधान प्रवृत्त हुआ, भारतीय संघ में शामिल हो गई थीं। इसलिए इस प्रकार का कोई प्रश्न ही नहीं पैदा हुआ कि, भारत के राज्यक्षेत्र में सम्मिलित, भारत का कोई भी भाग भारतीय संघ में ऐसे किसी आश्वासन के भरोसे पर शामिल हुआ, जो संविधान के उपबन्धों द्वारा दिया गया हो। कुछ आश्वासन अल्पसंख्यकों को दिए गए थे और उनको ध्यान में रखते हुए उन्होंने अपनी कुछ मांगे छोड़ दी थी। अल्पसंख्यकों के अधिकारों को अब जो संरक्षण प्राप्त है, वह अनुच्छेद 25 से लेकर 30 में दिया गया है। अल्पसंख्यकों के संरक्षण सम्बन्धी अनुच्छेदों को छोड़ कर, संविधान के भाग 3 में दिए गए विभिन्न अनुच्छेद सब नागरिकों को लागू हैं। ऐसी कोई भी बात नहीं है जिससे यह प्रकट होता हो कि, यदि मूल अधिकारों सम्बन्धी अनुच्छेद संविधान में शामिल न होते, तो विभिन्न धर्मों के मानने वाले लोगों ने, या तो भारत संघ में शामिल होने से या भारत संघ में बने रहने से इंकार कर दिया होता। मूल अधिकारों सहित यह संविधान भारत के सभी लोगों द्वारा अपने प्रतिनिधियों की मार्फत बनाया गया था और अपने प्रतिनिधियों की मार्फत कार्य करते हुए यदि भारत के सभी लोग सम्पत्ति-सम्बन्धी मूल अधिकारों को कायम करने या उन्हें छीन लेने का फैसला करते हैं तो मेरी समझ में किसी भी विश्वास भंग या किसी भी तथाकथित करार के अतिक्रमण का कोई प्रश्न नहीं पैदा होता है।

इसके अतिरिक्त, करार से जो पारस्परिक रूप से किया गया ऐसा आदान-प्रदान या करार जिसको देखने से उस करार के पक्षकार की पसंद या उसकी मर्जी के आवश्यक रूप से शामिल होने का पता चलता है। करार की संकल्पना, संयुक्त राज्य अमरीका के संविधान के संदर्भ में, जहां विभिन्न राज्य, संयुक्त राज्य अमरीका का निर्माण करने के लिए एकत्रित हुए और बाद में फिलैडेलफिया कन्वेन्शन के तैयार हो जाने के प्रत्येक राज्य ने उस संविधान का अनुसमर्थन किया था, चाहे जितनी प्रासंगिक या महत्वपूर्ण हो, उक्त संकल्पना की भारतीय संविधान के संदर्भ में कोई भी स्पष्ट प्रासंगिकता नहीं है। संविधान के अंगीकृत किए जाने के बहुत पहले ही, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, सम्पूर्ण भारत एक देश था। संविधानसभा द्वारा संविधान के अंगीकृत हो जाने के बाद, हर राज्य द्वारा उनके अनुसमर्थन का भी कोई अवसर नहीं पैदा हुआ।

पिटीशनरों की ओर से मंगल सिंह और एक अन्य बनाम भारत संघ [1] के प्रति निर्देश किया गया है, जिसका सम्बन्ध पंजाब पुनर्गठन अधिनियम, 1966 के साथ था। उस अधिनियम की विधिमान्यता का समर्थन करते हुए, इस न्यायालय ने अनुच्छेद 4 का उल्लेख किया, जिसके अनुसार अनुच्छेद 2 या अनुच्छेद 3 में निर्दिष्ट किसी विधि में प्रथम अनुसूची और चतुर्थ अनुसूची के संशोधन के लिए, ऐसे उपबन्ध अन्तर्विष्ट होंगे जो उस विधि के उपबन्धों को प्रभावी बनाने के लिए आवश्यक हों तथा ऐसे अनुपूरक का प्रासंगिक और आनुषंगिक उपबन्ध (जिनके अन्तर्गत ऐसी विधि से प्रभावित राज्य या राज्यों के संसद् या विधानमण्डल या विधानमण्डलों के प्रतिनिधित्व के बारे में उपबन्ध भी हैं) भी हो सकेंगे जिन्हें संसद् आवश्यक समझे और यह कहा कि—

> "अनुच्छेद 2 तथा 3 द्वारा जो शक्ति संसद् को दी गई है, वह ऐसे नये राज्यों के प्रवेश, स्थापना या बनाने की शक्ति है, जो संविधान द्वारा परिकल्पित लोकतन्त्रात्मक नमूने के अनुकूल हो और जिस शक्ति का प्रयोग संसद् विधि द्वारा कर सकेगी वह शक्ति संसद् द्वारा यथा—परिकल्पित किसी राज्य के प्रवेश, स्थापना या बनाने के अनुपूरक, प्रासंगिक या आनुषंगिक शक्ति है, न कि सांविधानिक स्कीम पर अध्यारोही होने की शक्ति। अतः ऐसे किसी भी राज्य को जिसमें प्रभावी विधानमण्डल, कार्यपालिका तथा न्यायिक अंग न हों संसद् द्वारा अनुच्छेद 4 के अधीन विधि से न तो बनाया जा सकता है, न उसे प्रवेश दिया जा सकता है और न स्थापित किया जा सकता है।"

मेरी राय में ऊपर वाली पंक्तियों से संशोधन विषयक शक्ति पर ऐसी किसी भी विवक्षित परिसीमा के निष्कर्ष का समर्थन नहीं होता है जिसका दावा पिटीशनरों की ओर से किया गया है। इस न्यायालय ने ऊपर वाली पंक्तियों में "अनुपूरक, प्रासंगिक तथा आनुषंगिक उपबन्ध" शब्दों का अर्थान्वयन किया है और यह अभिनिर्धारित किया है कि इन उपबन्धों द्वारा संसद् को सांविधानिक स्कीम की अवहेलना करने के लिए समर्थ नहीं बनाया गया है। स्पष्ट है कि "सांविधानिक स्कीम" शब्दों से संविधान के उन उपबन्धों के प्रति निर्देश है, जिनमें राज्य, उसके विधानमण्डल, न्यायपालिका तथा भाग 6 में दी गई अन्य बातों का उल्लेख हो। हरियाणा राज्य जब एक बार बन गया तो यह आवश्यक था कि भाग 6 के विभिन्न अनुच्छेदों द्वारा परिकल्पित राज्य की विशेषताएं उसमें उसी प्रकार हों जैसे कि अन्य राज्यों में हो रहा है। उस मामले में, अनुच्छेद 368 के अधीन संशोधन विषयक शक्ति पर किसी परिसीमा का कोई प्रश्न ही नहीं पैदा हुआ और इसलिए उस मामले से पिटीशनरों को कोई सहायता नहीं मिल सकती है।

पिटीशनरों के विद्वान् काउन्सेल ने हमारा ध्यान इस बात की ओर आकर्षित किया है कि सिविल स्वतन्त्रताओं के संदर्भ में सांविधानिक स्थिति कनाडा में क्या थी। इस संदर्भ में हम देखते हैं कि ब्रिटिश नार्थ अमरीका ऐक्ट, 1867 की प्रस्तावना के प्रारम्भिक शब्द इस प्रकार हैं—

> "यतः कनाडा, नोवा स्कोटिया, और न्यू ब्रनस्विक प्रान्तों ने, यूनाइटेड किंगडम ऑफ ग्रेट ब्रिटेन एण्ड आयरलैण्ड के क्राउन के अधीन सिद्धान्त रूप में यूनाइटेड

[1] (1967) 2 एस० सी० आर० 109.

किंगडम के ही जैसे संविधान के साथ, फेडरल रूप से एक ही डोमिनियन में सम्मिलित होने की इच्छा प्रकट की है :"

पूर्वोक्त अधिनियम की धारा 91 में कनाडा की संसद् के विधायी प्राधिकार का उल्लेख है। धारा 91 के प्रारम्भिक शब्द इस प्रकार है—

"क्वीन के लिए यह विधिपूर्ण होगा कि वह कनाडा के सीनेट तथा हाउस ऑफ कॉमन्स के परामर्श या सहमति से, इस अधिनियम द्वारा प्रान्तों के विधानमण्डलों को अनन्य रूप से सौंपे गए विषय-वर्गों के अन्तर्गत न आने वाली सब बातों के सम्बन्ध में कनाडा की शान्ति, व्यवस्था तथा सुशासन के लिए विधियां बनाए और इसे और भी अधिक सुनिश्चित बनाने के लिए किन्तु इस प्रकार नहीं, जिससे इस धार के पूर्वगामी उपबंधों की व्यापकता प्रतिबन्धित हो (इस अधिनियम में किसी बात के होते हुए भी), एतद्द्वारा यह सूचित किया जाता है कि अर्थात्..."

इसके बाद, विभिन्न विषयों की एक सूची दी गई है। इन विषयों में से सबसे पहला विषय, जो ब्रिटिश नार्थ अमरीका ऐक्ट, 1949 द्वारा अन्तःस्थापित किया गया था, इस प्रकार है—"उन विषयों को छोड़कर जो इस अधिनियम द्वारा प्रान्तों के विधानमण्डलों को अनन्य रूप से सौंपे गए हों; अन्य विषयों के बारे में कनाडा के संविधान का समय-समय पर संशोधन या.........."। संशोधन विषयक शक्ति पर अन्य परिसीमाओं के ब्यौरे देना आवश्यक नहीं है। ब्रिटिश नार्थ अमरीका ऐक्ट की धारा 92 में वे विषय दिए गए हैं जो प्रान्तीय विधान के लिए अनन्य रूप से अलग कर दिए गए हैं। इस धारा के अनुसार, हर प्रान्त में विधान-मण्डल ऐसे विषयों के बारे में विधियां बना सकेगा जो इसमें इसके पश्चात् प्रगणित विषय-वर्गों में आते हों। इसके बाद विषयों की एक सूची दी गई है, जिनमें पहला विषय इस प्रकार है—"लैफ्टीनेण्ट गवर्नर के पद को छोड़ कर, प्रान्त के संविधान का, इस अधिनियम में किसी बात के होते हुए भी, समय-समय पर संशोधन।" इस बात पर ध्यान देते हुए, कि संविधान का संशोधन भी विधायन के विषयों में है, यह कहा गया है कि संसद् द्वारा मामूली विधायन तथा सांविधानिक विधि के बीच कनाडा में एक मात्र विभेद यही है कि प्रथमोल्लिखित का सम्बन्ध उन सब विषयों के साथ है जिनके बारे में विशेष रूप से यह न कहा गया हो कि वे प्रान्तीय विधायन की परिधि में आते हैं, जब कि पश्चादोल्लिखित का सम्बन्ध, अधिकारों के विभाजन में होने वाले किसी भी मूलभूत परिवर्तन के साथ है। इसके अतिरिक्त यद्यपि राज्य के फेडरल स्वरूप के कारण कनाडा के संविधान को नमनीय नहीं कहा जा सकता है, फिर भी कनाडा का संविधान आधुनिक फेडरल राज्यों में से किसी भी राज्य के संविधान से, सम्भवतः, सबसे कम अनम्य है (देखिए—सी० एफ० स्ट्रांग लिखित "माडर्न पोलीटिकल कांस्टिट्यूशन्स")।

ऐसा प्रतीत होता है कि, आधारभूत स्वतन्त्राओं की सांविधानिक स्थिति के सम्बन्ध में कम से कम 6 विभिन्न विचारधाराएं कनाडा में प्रचलित हैं। अभी तक कनाडा के उच्चतम न्यायालय ने इनमें से किसी को अनुमोदन नहीं प्रदान किया है। न्यायालय के विभिन्न न्यायाधीशों ने इस विषय पर अलग-अलग मत व्यक्त किए हैं किन्तु उनमें से सभी

इस प्रकार के हैं कि उनसे इस विषय का कोई भी निपटारा नहीं होता है। यह भी बात ध्यान देने की है कि बुनियादी सवाल यह नहीं है कि जनता को आधारभूत स्वतन्त्रताएं कौन दे सकता है, संसद् या विधानमण्डल, बल्कि यह कि इनमें हस्तक्षेप कौन कर सकता है या उन्हें छीन कौन सकता है (देखिए—डी० ए० श्री मीअर कृत सिविल लिबर्टीज इन कनाडा, पृष्ठ 13)।

एक महत्वपूर्ण मामला, जिसका नागरिक स्वतन्त्रताओं के प्रश्न के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध था, अल्बरटा प्रेस वाला मामला(1) था। उस मामले का सम्बन्ध एक ऐसे अधिनियम की विधिमान्यता के साथ था, जिसने प्रेस स्वतन्त्रता को परिसीमाबद्ध कर दिया था। कनाडा के उच्चतम न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि यह अधिनियम अधिकारातीत है क्योंकि यह अल्बरटा सोशल क्रेडिट ऐक्ट का आनुषंगिक है और उसी पर निर्भर है जो स्वयं ही अधिकारातीत है। मुख्य न्यायाधिपति डफ सहित तीन न्यायाधीशों ने तो और भी आगे बढ़ कर वाक्-स्वातन्त्र्य तथा प्रेस स्वातन्त्र्य की चर्चा की। कहा गया कि सार्वजनिक वाद-विवाद के अधिकार का प्रयोग सीमित करने से कनाडा की संसदीय संस्थाओं के संचालन में अड़चनें पैदा होंगी। मुख्य न्यायाधिपति डफ के मत का आधार, दण्ड विधि सम्बन्धी शक्ति नहीं, बल्कि लोकतंत्रात्मक सोसाइटी को बनाए रखने की आवश्यकता थी जिसका उल्लेख संविधान में भी किया गया है। वाक्-स्वातन्त्र्य से सम्बन्ध रखने वाला एक निर्णय, कुछ समय बाद, जॉन स्विट्जमैन बनाम फ्रीडा एल्बलिंग एण्ड अटर्नी जनरल ऑफ क्यूबेक (2) वाले मामले में भी दिया गया था। इस मामले में उच्चतम न्यायालय ने क्यूबेक कम्यूनिस्टिक प्रोपेगण्डा ऐक्ट को अविधिमान्य घोषित कर दिया। एक को छोड़ कर सभी न्यायाधिपति इस पर सहमत थे कि यह कानून, सम्पत्ति तथा सिविल अधिकारों या प्रान्त के केवल स्थानीय या प्राइवेट किस्म के मामलों के अधीन प्रान्तीय सक्षमता के अन्तर्गत नहीं आता है। न्यायाधिपति एबट ने यह अभिनिर्धारित किया कि संसद् भी वाद-विवाद तथा विचार विमर्श के अधिकार को निराकृत नहीं कर सकती है।

मैकगिल लॉ जर्नल, जिल्द 12-1966-67 में डेल गिबसन के एक लेख में कहा गया है कि यद्यपि मुख्य न्यायाधिपति डफ द्वारा प्रतिपादित प्रस्थापना का कितने ही न्यायाधीशों द्वारा सम्मान किया जाता था और उन्होंने उसे अन्तिम रूप से खारिज नहीं किया था, फिर भी कनाडा के उच्चतम न्यायालय या किसी अन्य न्यायालय के अधिकांश न्यायाधिपतियों ने उसे स्वीकृति भी कभी प्रदान नहीं की। कुछ न्यायाधिपतियों ने यह मान लिया है कि किसी अन्य विषय से पृथक् करके आधारभूत स्वतन्त्रताओं को भी विधान का विषय बनाया जा सकता है। अन्य न्यायाधिपतियों का विचार यह है कि असीमित अधिकारिता "कनाडा की शान्ति, व्यवस्था तथा सुशासन के लिए" विधियां बनाने की सामान्य शक्ति के अधीन डामिनियन के नियंत्रण में है। दूसरा दृष्टिकोण जो अपनाया गया है, वह यह है कि संसद् की संरचना तथा "सिद्धान्त रूप में यूनाइटेड किंगडम का जैसा ही संविधान" के प्रति

(1) (1938) एस० सी० आर० 100 (कनाडा).

(2) (1957) कनाडा लॉ रिपोर्ट्स 285.

प्रस्तावना में निर्देश यह बताता है कि विधायी निकाय का निर्वाचन और संचालन वाक् स्वातंत्र्य वातावरण में ही किया जाएगा। अन्य दृष्टिकोणों का उल्लेख या विभिन्न दृष्टिकोणों की चर्चा आवश्यक नहीं है। न्यायाधिपति ऐबट की प्रस्थापना की चर्चा करते समय, बोरा लॉस्किन ने 'कैनेडियन कांस्टिट्यूशनल लॉ' में अपना मत इस प्रकार व्यक्त किया है—

> "स्विट्ज़मैन वाले मामले (यथोक्त) में न्यायाधिपति ऐबट की प्रस्थापना के अतिरिक्त कोई भी ऐसी उत्कृष्ट नजीर नहीं है जो सिविल स्वतंत्रताओं को संसद् तथा प्रान्तीय विधानमण्डल दोनों की पहुंच के बाहर बताती हो। ब्रिटिश नार्थ अमरीका ऐक्ट में सिविल स्वतंत्रताओं की कोई अभिव्यक्त गारण्टी नहीं है और न संयुक्त राज्य अमरीका के संविधान में बिल ऑफ राइट्स (पहले दस संशोधन) के साथ तुलना करने योग्य ऐसी कोई चीज है जो संविधान के अर्थ तथा उसके विस्तार के अन्तिम निर्वचनकर्ता के रूप में, उच्चतम न्यायालय द्वारा विहित सीमाओं के अन्दर और शर्तों पर, फेडरल तथा राज्य कार्रवाई, दोनों के बारे में, यह प्रतिषेध लगाती हो कि उनके द्वारा अन्य बातों के साथ-साथ धर्म की तथा वचन की तथा प्रेस की और सम्मेलन की स्वतन्त्रता का अतिलंघन नहीं किया जाएगा।" (देखिए—पृष्ठ 970)

पूर्वोक्त पंक्तियों से यह विदित है कि जो विभिन्न मत कनाडा में अभिव्यक्त किए गए हैं उनका प्रसंग, ब्रिटिश नार्थ अमरीका ऐक्ट की प्रस्थापना तथा उसकी धाराएं हैं, जिनके उपबंध हमारे संविधान से सारवान् रूप से भिन्न हैं। ब्रिटिश नार्थ अमरीका ऐक्ट के संदर्भ में भी न्यायाधिपति ऐबट का मत, जिसका आश्रय पिटीशनरों की ओर से लिया गया है, कनाडा के उच्चतम न्यायालय के अधिकांश न्यायाधीशों द्वारा स्वीकार नहीं किया गया है और मेरी राय में विवक्षित परिसीमाओं के सिद्धान्त का प्रतिपादन करने के लिए उनका आधार बहुत कमजोर है।

यहां यह बता देना आवश्यक है कि कनाडा की संसद् ने कनाडा का बिल ऑफ राइट्स अगस्त, 1960 में पारित किया। उस विधेयक की धारा 1 में कुछ मानव अधिकारों तथा मूलभूत स्वतंत्रताओं की घोषणा की गई है वह धारा इस प्रकार है—

> "1. इस बात को एतद्द्वारा मान्यता प्रदान की जाती है और यह घोषणा की जाती है कि, मूलवंश, राष्ट्रीय उद्भव, रंग, धर्म या लिंग, के आधार पर किसी विभेद के बिना, निम्नलिखित मानव-अधिकार तथा मूलभूत स्वतन्त्रताएं कनाडा में विद्यमान रही हैं और विद्यमान् रहेंगी, अर्थात्—
>
> (क) प्राण, स्वतन्त्रता, दैहिक सुरक्षा तथा सम्पत्ति के उपभोग का अधिकार और विधि की सम्यक् प्रक्रिया के सिवाय उससे वंचित न किए जाने का अधिकार;
>
> (ख) विधि के समक्ष समता तथा विधि के संरक्षण का व्यक्ति का अधिकार;
>
> (ग) धर्म-स्वातंत्र्य;
>
> (घ) वाक्-स्वातंत्र्य;

(ङ) सम्मेलन की तथा संघ बनाने की स्वतंत्रता; और

(च) प्रेस-स्वातंत्र्य ।"

इस विधेयक की धारा 2 के अनुसार कनाडा की हर विधि का, जब तक कि कनाडा की संसद् के अधिनियम द्वारा यह स्पष्ट घोषणा न कर दी गई हो कि वह, कनाडा के बिल ऑफ राइट्स के होते हुए भी प्रवृत्त होगी, अर्थान्वयन इस प्रकार किया जाएगा और वह इस प्रकार लागू की जाएगी जिससे कि वह उसमें स्वीकृत तथा घोषित किसी भी अधिकार या स्वातंत्र्य को न तो निराकृत करे, न कम करे और न उसका उल्लंघन करे और न उसका निराकरण, कम करना या उल्लंघन प्राधिकृत करे। धारा 2 का सुसंगत भाग इस प्रकार है—

"कनाडा की हर विधि का, जब तक कि कनाडा की संसद् के किसी अधिनियम द्वारा यह स्पष्ट घोषणा न की गई हो कि उसका प्रवर्तन कनाडा के बिल ऑफ राइट्स के होते हुए भी होगा, निर्वचन इस प्रकार किया जाएगा और वह इस प्रकार लागू होगी जिससे कि वह, इसमें मान्यता-प्राप्त तथा घोषित किसी भी अधिकार या स्वतंत्रता को, न तो निराकृत करे, न उसे कम करे और न उसका अतिलंघन करे और न उसके निराकरण, कम करने या अतिलंघन को प्राधिकृत करे और विशिष्टतः कनाडा की किसी भी विधि का अर्थान्वयन इस प्रकार नहीं किया जाएगा या इस प्रकार लागू नहीं किया जाएगा जिससे कि..............." (रेखांकन हमारी ओर से किया गया है)

धारा 2 को, जिसका उद्धरण ऊपर दिया गया है, पढ़ने से यह प्रकट होता है कि विधेयक की धारा 1 में उल्लिखित मानव-अधिकार तथा मूलभूत स्वतन्त्रताएं आत्यंतिक नहीं हैं बल्कि इस आशय की कोई स्पष्ट घोषणा कनाडा की किसी विधि में की जाए तो निराकरण या कम करने के अध्यधीन है। विधेयक की धारा 2 यह बताती है कि इस आशय की कोई स्पष्ट घोषणा की गई हो, तो संसद् का अधिनियम बिल ऑफ राइट्स के उपबन्धों पर अध्यारोही हो सकता है। इस प्रकार धारा 2 कनाडा की संसद् की शक्तियों पर विवक्षित परिसीमाओं के सिद्धान्त के साथ असंगत है जो मानव-अधिकारों पर अधिरोपित हैं।

कनाडा का एक और मामला, जिसके प्रति निर्देश पिटीशनरों की ओर से किया गया है और जो मेरी राय में उनके लिए उतना ही निरर्थक है, **अटर्नी जनरल ऑफ नोवा स्कोटिया तथा अटर्नी जनरल ऑफ कनाडा** (1) वाला मामला है, जिसका फैसला कनाडा के उच्चतम न्यायालय द्वारा किया गया था। उस मामले में यह अभिनिर्धारित किया गया था कि यदि कोई अधिनियम कनाडा की संसद् से नोवा स्कोटिया के विधानमण्डल को और विलोमतः किए जाने वाले अधिकारिता-प्रत्यायोजन (डेलीगेशन ऑफ जूरिस्डिक्शन) के सम्बन्ध में अधिनियमित किया जाए, तो वह सांविधानिक दृष्टि से विधिमान्य नहीं होगा, क्योंकि उसमें नोवा स्कोटिया के विधानमण्डल को संसद् में निहित उन शक्तियों के प्रत्यायोजन की, जो ब्रिटिश नार्थ अमरीका ऐक्ट की धारा 91 द्वारा अनन्य रूप से संसद् में निहित हैं और

(1) (1950) एस० सी० आर० 31 (कानाडा)

और उन शक्तियों के, जो उस अधिनियम की धारा 92 के अधीन अनन्य रूप से प्रान्तीय विधानमण्डल में निहित हैं, उस विधानमण्डल द्वारा संसद् को प्रत्यायोजन की व्यवस्था होगी। कनाडा के उच्चतम न्यायालय के अनुसार, कनाडा की संसद् तथा प्रत्येक प्रान्तीय विधानमण्डल, अपने-अपने क्षेत्र में प्रभुत्वसम्पन्न है और उसको, यथास्थिति, धारा 91 या धारा 92 के अधीन, अपने को सौंपे गए विषयों के सम्बन्ध में विधान बनाने की अनन्य अधिकारिता प्राप्त है। इसलिए न तो, जो शक्तियां उसमें निहित की गई हैं, उन्हें वह दूसरे को प्रत्यायोजित करने के लिए और न दूसरे से उन शक्तियों को प्राप्त करने के लिए समर्थ है जो दूसरे में निहित हैं। स्पष्ट है कि वह मामला ऐसी शक्तियों के प्रत्यायोजन के सम्बन्ध में था, जो ब्रिटिश नार्थ अमरीका ऐक्ट के अधीन, या तो संसद् को, या प्रान्तीय विधानमण्डलों को, अनन्य रूप से सौंपी गई थीं। ऐसे प्रत्यायोजन के सम्बन्ध में यह अभिनिर्धारित किया गया कि वह अनुज्ञेय नहीं है। ऐसा कोई भी प्रश्न इस मामले में पैदा नहीं हुआ है।

अब हम कुछ अन्य मामलों का उल्लेख करेंगे, जिनके प्रति निर्देश पिटीशनरों की ओर से किया गया है। उनमें से दो मामले सिलोन के हैं। वहां की सांविधानिक स्थिति के अनुसार सिलोन (कांस्टिट्यूशन) आर्डर इन काउन्सिल, 1946 की धारा 29 द्वारा विधियां बनाने की तथा संविधान को संशोधित करने की दोनों प्रकार की शक्तियां दी गई थीं, यद्यपि दोनों के लिए विहित प्रक्रिया अलग-अलग थी। धारा 29 इस प्रकार है—

"29.×(1) संसद् को, इस आदेश के उपबन्धों के अधीन रहते हुए, इस द्वीप की शान्ति, व्यवस्था, तथा सुशासन के लिए विधियां बनाने की शक्ति होगी;

(2) कोई भी ऐसी विधि—

(क) किसी भी धर्म के अबाध पालन पर न तो प्रतिषेध लगाएगी और न उसे निर्बन्धित करेगी; या

(ख) किसी भी समुदाय या धर्म के व्यक्तियों को ऐसी निर्योग्यताओं या निर्बन्धनों के अधीन नहीं करेगी, जिनके अधीन अन्य समुदायों या धर्मों के व्यक्ति न किए गए हों; या

× अंग्रेजी में इस प्रकार से है

"29. (1) Subject to the provisions of this Order, Parliament shall have power to make laws for the peace, order and good government of the Island,

(2) No such law shall—

(a) prohibit or restrict the free exercise of any religion, or

(b) make persons of any community or religion liable to disabilities or restrictions to which persons o other Communities or religions are not made liable; or

(ग) किसी भी समुदाय या धर्म के व्यक्तियों को ऐसा कोई विशेषाधिकार या फायदा नहीं प्रदान करेगी, जो अन्य समुदायों या धर्मों के व्यक्तियों को न प्रदान किया गया हो; या

(घ) किसी धार्मिक संस्था के गठन को, उस संस्था के शासी प्राधिकारी की सहमति के सिवाय, परिवर्तित नहीं करेगी किन्तु इस प्रकार जिससे, उस दशा में जिसमें कि धार्मिक संस्था विधि द्वारा निगमित की जाती है, कोई भी ऐसा परिवर्तन, उस संस्था के शासी प्राधिकारी की प्रार्थना पर, किए जाने के सिवाय न किया जाए :

परन्तु इस उपधारा के उपबन्ध, इण्डियन एण्ड पाकिस्तानी रेजीडेण्ट्स (सिटीजनशिप) ऐक्ट के अधीन, सिलोन के नागरिक के रूप में रजिस्ट्रीकृत व्यक्तियों का प्रतिनिधित्व करने वाले, हाउस ऑफ रेप्रिजेण्टेटिव्ज के सदस्यों के निर्वाचन के लिए, सम्बन्ध में या संसंग में, उपबन्ध करने वाली किसी विधि को लागू नहीं होंगे ।

इस परन्तुक का प्रभाव, किसी भी ऐसी तारीख को खत्म हो जाएगा, जो गवर्नर-जनरल ने राजपत्र में प्रकाशित उद्घोषणा से नियत की हो ।

(3) कोई भी विधि जो इस धारा की उपधारा (2) का उल्लंघन करके बनाई गई हो वहां तक शून्य होगी । जहां तक ऐसा उल्लंघन किया गया हो ।

(4) इस धारा के अधीन अपनी शक्तियों का प्रयोग करते हुए, संसद्, इस आदेश के या सपरिषद् हिज मैजिस्टि के किसी अन्य आदेश के किसी उपबन्ध को वहां तक संशोधन या निरसित कर सकेगी जहां तक कि वह इस द्वीप पर लागू है :

(c) confer on persons of any community or religion any privilege or advantage which is not conferred on persons of other communities of religions; or

(d) alter the constitution of any religious body except with the consent of the governing authority of that body. so, however, that in any case where a religious body is in corporated by law, no such alteration shall be made except at the request of the governing authority of that body.

Provided, however, that the preceding provisions of this, sub-section shall not apply to any law making provisions for, relating to, or connected with, the election of Members of the House of Representatives, to represent persons registered as citizens ot Cylon under the Indian and Pakistani Residents (Citizenship) Act.

This proviso shall cease to have effect on a date to be fixed by the Governor-General by Proclamaition published in the Gazette.

(3) Any law made in contravention of sub-section (2) of this section shall, to the extent of such contraventian, be void.

(4) In the exercise of its powers under this section, Parliament may amend or repeal any of the provisions of this Order, or of any other Order of Her Majesty in Council in its application to the Island :

परन्तुक इस आदेश के किसी उपबन्ध को संशोधित या निरसित करने वाला कोई विधेयक, शाही अनुमति के लिए तब तक पेश नहीं किया जाएगा, जब तक कि स्पीकर के हस्ताक्षर वाला यह प्रमाणपत्र उस पर पृष्ठांकित न हो कि हाउस ऑफ रेप्रिजेण्टेटिव्ज में, उसके पक्ष में दिए गए मतों की संख्या (उनको मिलाकर जो उपस्थित न हों) हाउस के सदस्यों की कुल संख्या के दो-तिहाई से अन्यून के बराबर था।

इस उपधारा के अधीन स्पीकर का हर प्रमाणपत्र सब प्रयोजनों के लिए निश्चायक होगा तथा उस पर किसी भी न्यायालय में आपत्ति नहीं की जाएगी।"

लियांगे और कुछ अन्य बनाम क्वीन ([1]) में अपीलार्थियों पर कुछ ऐसे अपराधों का आरोप लगाया गया जो 27 जनवरी, 1962 के सत्ता अपहरण (कूप डी टेट) के असफल काण्ड से उत्पन्न हुए थे। सत्ता अपहरण की कहानी सिलोन सरकार द्वारा निकाले गए श्वेत पत्र में प्रकाशित की गई थी। 16 मार्च, 1962 को दण्ड विधि (विशेष उपबन्ध) अधिनियम [क्रिमिनल लॉ (स्पेशल प्रोविजन्स) ऐक्ट] पारित किया गया और उसे 1 जनवरी, 1962 से भूतलक्षी प्रभाव दे दिया गया। उस अधिनियम का प्रवर्तन उन्हीं लोगों तक सीमित था जिन पर 27 जनवरी, 1962 को या उसके लगभग राज्य के विरुद्ध अपराधों के अभियोग लगाए गए थे। उस अधिनियम द्वारा अपीलार्थियों के तब के कारावास को विधिवत् बनाया गया था, जब कि वे विचारण की प्रतीक्षा कर रहे थे और पीनल कोड की एक धारा का, इस प्रकार रूपान्तरण किया गया, जिससे सत्ता अपहरण के असफल काण्ड की परिस्थिति का सामना करने के लिए वारदात हो जाने के बाद एक नए अपराध की रचना की जाए। इस अधिनियम ने न्यायमन्त्री को इस बात के लिए सशक्त किया कि वह, जूरी बिना अपीलार्थियों के मामले का विचारण करने के लिए, तीन न्यायाधीश नाम निर्देशित करे। अधिनियम की विधिमान्यता तथा उस नामनिर्देशन की चुनौती दी गई, जो न्यायमन्त्री द्वारा तीन न्यायाधीशों के लिए किया गया था। सिलोन के उच्चतम न्यायालय ने अधिनियम के कुछ उपबन्धों की अधिकारिता के साथ-साथ न्यायाधीशों के नामनिर्देशन के सम्बन्ध में की गई आपत्ति मंजूर कर ली। तत्पश्चात् यह अधिनियम संशोधित किया गया और न्यायाधीशों की

Provided that no Bill for the amendment or repeal of any of the provisions of this Order shall be presented for the Royal Assent unless it has endorsed on it a certificate under the hand of the speaker that the number of votes cast in favour thereof in the House of Representatives amounted to not less than two-thirds of the whole number of Members of the House (including those not present).

Every certificate of the Speaker under this sub-section shall be conclusive for all purposes and shall not be questioned in any court of law."

([1]) (1966) ऑल० इंग्लैण्ड रिपोर्ट्स 650.

नामनिर्देशित करने की शक्ति, मुख्य न्यायाधिपति को प्रदान की गई। अपीलार्थियों ने, संशोधित अधिनियम के अधीन नामनिर्देशित, तीन न्यायाधिपतियों के न्यायालय के समक्ष विचारण में सिद्धदोष किए जाने पर, जुडीशियल कमेटी के सामने अपील की। अपीलार्थियों की दोषसिद्धि को तीन आधारों पर चुनौती दी गई, किन्तु जुडीशियल कमेटी ने केवल दो आधारों पर ही विचार किया। पहला आधार यह था कि सिलोन की संसद्, ऐसा विधान पारित करने के लिए, जो न्याय के मूलभूत सिद्धान्तों के प्रतिकूल हो, असमर्थ थी। 1962 के दोनों अधिनियमों के सम्बन्ध में, यह कहा गया कि वे ऐसे सिद्धान्तों के प्रतिकूल हैं, क्योंकि उनमें केवल व्यक्तियों को ही लक्ष्य नहीं बनाया गया है, बल्कि वारदात हो जाने के बाद, ऐसे अपराध भी विरचित किए गए हैं, जिनसे उनको अन्यथा संरक्षण मिला होता। दूसरी दलील यह थी कि 1962 के अधिनियम, संविधान के विरुद्ध थे, क्योंकि वे ऐसे निदेश के बराबर थे जो अपीलार्थियों को सिद्धदोष ठहराने के लिए दिया गया हो और ऐसी विधायी योजना के समान थे, जो अपीलार्थियों की दोषसिद्धि सुनिश्चित करने तथा उन्हें कड़ा दण्ड दिलाने के लिए बनाई गई हो और इस प्रकार यह काम, विधानमण्डल द्वारा न्यायिक शक्ति को, अनुचित रूप से अपने हाथ में ले लेना या न्यायिक शक्ति में हस्तक्षेप है, जिसके लिए विधानमण्डल सक्षम नहीं है और जो विधानमण्डल, कार्यपालिका तथा न्यायपालिका के बीच, संविधान द्वारा, आदेशित शक्ति-विभाजन के साथ असंगत है। पहली दलील का उल्लेख करते हुए, जुडीशियल कमेटी ने सिलोन(कांस्टिट्यूशन)आर्डर इन काउन्सिल, 1946 तथा सिलोन इण्डिपेण्डेन्स ऐक्ट, 1947 के उपबन्धों का उल्लेख किया और कहा कि उक्त आदेश तथा अधिनियम का संयुक्त प्रभाव सिलोन की संसद् को स्वतन्त्र प्रभुत्व सम्पन्न राज्य की सम्पूर्ण विधायी शक्तियां प्राप्त कराना था और उनकी रचना का आशय भी यही था। सिलोन की संसद् की विधायी शक्ति के सम्बन्ध में यह अभिनिर्धारित किया गया कि वह इस कारण सीमित नहीं थी कि वह ऐसी विधियां पारित करने के लिए सक्षम नहीं थी जो न्याय के मूलभूत सिद्धान्तों के विरुद्ध हों। दूसरे आधार का जहां तक सम्बन्ध है; जुडीशियल कमेटी ने 1962 के अधिनियमों के बारे में यह अभिनिर्धारित किया कि वे इसलिए अविधिमान्य हैं, कि उनमें न्यायिक शक्तियों पर विधानमण्डल द्वारा अनधिकृत कब्जे या सिलोन के लिखित संविधान के साथ असंगत हस्तक्षेप सम्मिलित है जिससे न्यायपालिका को न्यायिक कृत्य, स्पष्ट शब्दों में न सौंपे जाने पर भी, राजनैतिक, विधायी या कार्यपालिका नियन्त्रण से न्यायपालिका की स्वतन्त्रता सुनिश्चित करने का आशय प्रकट है।

इस प्रकार विदित है कि इस विनिश्चय, का आधार सिलोन संविधान के अधीन, विधानमण्डल, न्यायपालिका तथा कार्यपालिका के बीच शक्तियों का पृथक्करण है और यह संसद् की शक्तियों पर विवक्षित परिसीमाओं के सिद्धान्त की कोई भी समर्थन नहीं प्रदान करता है। इसके विपरीत, पहली दलील कि चर्चा करते समय, न्याय के आधारभूत सिद्धान्तों के उल्लंघन में विधि बनाने के सम्बन्ध में, संसद् की शक्ति पर परिसीमाओं के सिद्धान्त को जुडीशियल कमेटी ने नामंजूर कर दिया। यह भी बात ध्यान देने की है कि जुडीशियल कमेटी ने यह बात स्पष्ट शब्दों में बताई है कि संविधान का कोई भी संशोधन ऐसा नहीं है जो

संविधान की धारा 29 (4) के अनुसार दो-तिहाई बहुमत से किया गया हो और इसलिए उन्हें इसके सम्बन्ध में कुछ नहीं कहना है।

एक और मामला, जिसके प्रति निर्देश पिटीशनरों की ओर से किया गया है, ब्राइबरि कमिश्नर बनाम पेद्रिक राणासिंघे ([1]) वाला मामला है। उस मामले में यह देखा गया था कि ब्राइबरि ट्रिब्यूनल के सदस्यों का नियुक्ति, ब्रोइबरि अमेण्डमेण्ट ऐक्ट के अनुसार, किन्तु सिलोन (कांस्टिट्यूशन) आर्डर-इन-काउन्सिल, 1946 की धारा 55 का उल्लंघन करते हुए, जिसके अनुसार जुडीशियल आफिसरों की नियुक्ति का अधिकार जुडीशियल सर्विस कमीशन में निहित था, न्यायमन्त्री के परामर्श पर, गवर्नर जनरल द्वारा की गई थी। उस मामले में यह अभिनिर्धारित किया गया था कि विधानमण्डल को विधान बनाने की उन शर्तों की उपेक्षा करने की कोई शक्ति नहीं है, जो विधान बनाने की उसकी शक्ति को विनियमित करने वाली लिखत द्वारा प्राधिकृत की गई हों। इस निर्बन्धन के अस्तित्व का आधार इस बात पर नहीं है कि वह विधानमण्डल सिलोन के विधानमण्डल की तरह प्रभुत्वसम्पन्न है या नहीं है।

ऊपर के कथन से यह बात स्पष्ट हो गई होगी कि जिस बात के बारे में इस मामले में वाद विवाद है वह कुछ और उससे बिल्कुल भिन्न है जिसका प्रश्न इस मामले में हमारे सामने पैदा हुआ है क्योंकि इस मामले में हमें विधानमण्डल द्वारा विरचित किसी ऐसी विधि पर विचार नहीं करना है जो सांविधानिक उपबन्धों का उल्लंघन करते हुए बनाई गई हो। पिटीशनरों की ओर से निर्णय के उस अंश का हवाला दिया गया है जिसमें सिलोन संविधान की धारा 29 की उपधारा (2) पर, जिसके उपबन्ध ऊपर दिए जा चुके हैं, विचार करते समय, जुडीशियल कमेटी ने कहा था कि उपधारा (2) के विभिन्न खण्डों में ऐसे सुरक्षित किए गए धार्मिक तथा मूलवंश सम्बन्धी विषयों का वर्णन किया गया है, जिसके बारे में विधान नहीं बनाए जा सकेंगे। इसके अतिरिक्त यह भी कहा गया कि, इन उपबन्धों के रूप में, सिलोन के नागरिकों के बीच को आपसी अधिकार-संतुलन व्यक्त किया गया है, जो बहुत महत्वपूर्ण है। इन आधारभूत शर्तों के आधार पर ही उन्होंने संविधान को स्वीकार किया था और इसलिए संविधान के अधीन उन्हें तब्दील नहीं किया जा सकता। यह दलील दी गई है कि इन उक्तियों से यह प्रकट होता है कि सिलोन संविधान की धारा 29 (2) में वर्णित अधिकारों को, जो भारतीय संविधान के भाग 3 में दिए गए मूल अधिकारों के साथ मिलते-जुलते हैं, जुडीशियल कमेटी ने संविधान के अधीन अपरिवर्तनीय अभिनिर्धारित किया था। इसके आगे यह भी दलील दी गई है कि सिलोन संविधान की धारा 29 (3) तथा भारतीय संविधान के अनुच्छेद 13 (2) के उपबन्धों के बीच समानता है, क्योंकि धारा 29(3) में यह उपबन्धित था कि धारा 29 (2) का उल्लंघन करते हुए बनाई गई कोई विधि ऐसे उल्लंघन की सीमा तक शून्य होगी।

मैं यह मानने के लिए तैयार नहीं हूं कि ऊपर वाले मामले में जुडीशियल कमेटी ने अभिनिर्धारित किया था कि धारा 29 (2) तथा 29 (3) ने, संविधान की धारा 29 (4)

([1]) (1965) ए० सी० 172.

के अधीन, संविधान के संशोधन की शक्ति पर निर्बन्धन लगाया है। जिस प्रश्न पर जुडीशियल कमेटी को विचार करना था वह ब्राइबरि ट्रिब्यूनल के सदस्यों की नियुक्ति की विधिमान्यता के सम्बन्ध में थी। ऐसी नियुक्ति, ब्राइबरि अमेण्डमेण्ट ऐक्ट के उपबन्धों का पालन करते हुए किए जाने पर भी, सिलोन संविधान की धारा 55 की अपेक्षाओं का उल्लंघन करती थी। उस मामले में कोई भी प्रश्न ऐसे सांविधानिक संशोधन की विधिमान्यता के सम्बन्ध में नहीं था, जो संविधान की धारा 29 (4) का अनुपालन करते हुए किया गया हो। उस मामले की रिपोर्ट के पृष्ठ 187 के ऊपर वाले सिरे पर, प्रत्यर्थी के काउन्सेल की जिस दलील का जिक्र किया गया है, उससे यह प्रकट है कि उसकी ओर से यह बात मान ली गई कि "संशोधन या निरसन के अधिकार पर, अपेक्षित बहुमत की अपेक्षा को छोड़कर इस समय कोई भी पावन्दी नहीं है।" जुडीशियल कमेटी ने यह बात कभी नहीं कही कि वे प्रत्यर्थी के काउन्सेल के पूर्वोक्त कथन के साथ सहमत नहीं हैं। निर्णय को देखने से यह प्रकट होता है कि जुडीशियल कमेटी ने धारा 18 और धारा 29 पर एक साथ विचार किया और यह बताया कि साधारण विधि, जिसका संविधान की धारा 18 के अधीन साधारण बहुमत से पारित किया जाना अपेक्षित है तथा सांविधानिक संशोधन सम्बन्धी विधि के बीच, जिसका धारा 29 (4) के अधीन दो-तिहाई बहुमत से पारित किया जाना अपेक्षित है क्या अन्तर है। प्रभुत्व (सॉवरेण्टी) के प्रश्न की चर्चा करते हुए, जुडीशियल कमेटी ने अपना मत इस प्रकार व्यक्त किया —

> "जब कभी संसद् को गठित करने वाले सदस्यों का बहुमत इतना नहीं होता जितना अपेक्षित है, उदाहरण के लिए जब साधारण विधान के मामले में, मत विभाजन समान हो या जब संविधान को संशोधित करने वाले विधान के मामले में बहुत साधारण ही हो, यद्यपि संविधान की अपेक्षा अधिक बहुमत की हो, तो इसका यह अर्थ नहीं है कि संसद् प्रभुत्वसम्पन्न नहीं रही। सिलोन के संविधान के अधीन अल्पमत इसका हकदार है कि वह संविधान का ऐसा कोई संशोधन न होने दे जो दो-तिहाई बहुमत द्वारा पारित न किया गया हो। इस प्रकार सदस्यों के अपेक्षतः न्यूनतर बहुमत पर अधिरोपित पावन्दी से संसद् की स्वयं अपनी प्रभुत्व सम्बन्धी शक्ति सीमित नहीं हो जाती है और वह तो सदा ही जब भी चाहे अपेक्षित बहुमत से संशोधन को पारित कर सकती है।"

प्रत्यर्थियों की ओर से यह कहा गया है कि जुडीशियल कमेटी ने यह तय किया था कि सिलोन संविधान के सभी उपबन्धों के संशोधन, जिसके अन्तर्गत धारा 29 की उपधारा (2) और (3) के उपबंध भी हैं, दो-तिहाई बहुमत से पारित किए जा सकते हैं। यह भी कहा गया था कि सिलोन संविधान की धारा 29 की उपधारा (2) द्वारा अधिरोपित निर्बन्धन, संविधान की धारा 29 (4) का अनुपालन करते हुए, साधारण बहुमत द्वारा, साधारण कानूनों को बनाने की शक्ति पर लगाए गए थे, न कि दो-तिहाई बहुमत द्वारा सांविधानिक संशोधन करने की शक्ति पर। इस दलील के अनुसार जुडीशियल कमेटी ने सुरक्षित किए गए (एण्ट्रैंच्ड) शब्दों का प्रयोग इसी अर्थ में किया था। हमारा ध्यान के० सी० व्हीयर कृत 'कांस्टिट्यूशनल स्ट्रक्चर' (1963 का पुनर्मुद्रण) के पृष्ठ 83 और 84 पर दर्ज इन

उक्तियों की ओर भी आकर्षित किया गया है कि 'समुदायों तथा धर्मों के अधिकारों के (धारा 29 में दिए गए) इन संरक्षणों को, सिलोन की संसद् द्वारा निरसित या संशोधित किया जा सकता था, परन्तु यह तब जब कि संसद् ने संविधान के संशोधन के लिए विहित प्रक्रिया का पालन किया हो।"

इन दलीलों में बल हो सकता है, किन्तु इस विषय पर और अधिक विचार करना तथा सिलोन संविधान के उपबन्धों की ओर भी गहराई के साथ चर्चा करना मेरी राय में आवश्यक नहीं है। वाद-विवाद का जो विषय हमारे सामने है, उसका निपटारा स्वयं हमारे ही संविधान के उपबंधों की रोशनी में करना होगा। यहां पर इतना कहना ही पर्याप्त है कि पिटीशनरों की ओर से प्रस्तुत पक्ष को राणासिंघे के मामले([1]) से कोई खास सहायता नहीं मिलती है।

अब हम मैक्कावे बनाम किंग ([2]) पर विचार करेंगे। यह मामला आस्ट्रेलिया में क्वीन्सलैण्ड के संविधान के सम्बन्ध में था। क्वीन्सलैण्ड को संविधान 6 जून के एक सपरिषद् आदेश द्वारा 1859 में प्रदान किया गया था। सपरिषद् आदेश ने उस राज्य-क्षेत्र में एक विधानमण्डल की स्थापना की, जिसका गठन क्वीन, विधायी परिषद् तथा विधायी सभा से मिलकर हुआ था तथा विधान बनाने की शक्ति परिषद् तथा सभा के परामर्श और सहमति से कार्य करते हुए, क्वीन में निहित थी। "उपनिवेश की शान्ति, कल्याण तथा सुशासन" के लिए जो प्रभुत्वसम्पन्न विधायी शक्ति की पूर्णता दर्शित करने के लिए, चाहे वह शक्ति कुछ विषयों तक ही या कुछ आरक्षणों के अन्दर ही सीमित हो सामान्यतः प्रयुक्त वाक्यांश है, कोई भी विधि बनाई जा सकती है। विधानमण्डल ने संविधान अधिनियम 1867 में पारित किया। उस अधिनियम की धारा 2 द्वारा यह घोषित किया गया कि विधायी मण्डल (लेजिस्लेटिव बाडी) को किसी भी मामले में "उपनिवेश की शान्ति, कल्याण तथा सुशासन के लिए" विधियां बनाने की शक्ति प्राप्त है। इस व्यापक शक्ति पर एकमात्र अभिव्यक्त निर्बन्धन धारा 9 में था। परिषद् के गठन को तब्दील करने वाले विधान की विधिमान्यता की पुरोभाव्य शर्त के रूप में उसकी अपेक्षा परिषद् का तथा सभा का दो-तिहाई बहुमत था। 1916 में औद्योगिक मध्यस्थता अधिनियम (इण्डस्ट्रियल आर्बिट्रेशन ऐक्ट) पारित किया गया। उक्त अधिनियम में, क्वीन्सलैण्ड के उच्चतम न्यायालय का न्यायाधीश होने के लिए, प्रेसीडेण्ट या कोर्ट ऑफ इण्डस्ट्रियल आर्बिट्रेशन के किसी न्यायाधीश को नियुक्त करने के लिए, सपरिषद् गवर्नर को प्राधिकृत किया गया। यह भी उपबन्ध किया गया कि इस प्रकार नियुक्त न्यायाधीश को दोनों पदों की अधिकारिता प्राप्त होगी और वह जब तक अच्छी तरह काम करेगा (ड्यूरिंग गुड बिहेवीयर) उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश के रूप में अपना पद धारण करता रहेगा। सपरिषद् गवर्नर ने अपीलार्थी को, जो कोर्ट ऑफ इण्डस्ट्रियल आर्बिट्रेशन का प्रेसीडेण्ट था, अच्छी तरह काम करने की शर्त पर, उच्चतम न्यायालय का न्यायाधीश होने के लिए नियुक्त किया। क्वीन्सलैण्ड के उच्चतम न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि अपीलार्थी इस बात का हकदार नहीं है कि उसे अपने पद की शपथ दिलाई जाए या वह उच्चतम न्यायालय के सदस्य के रूप में अपना स्थान ग्रहण करे। पश्चात् क्वीन्सलैण्ड के उच्चतम न्यायालय

([1]) (1965) ए० सी० 172.
([2]) (1920) ए० सी० 691.

ने अपीलार्थी को पदच्युत करने का फैसला किया। इण्डस्ट्रियल आर्बिट्रेशन ऐक्ट, 1916 की धारा 6 के उपबन्धों के सम्बन्ध में, जिसके अधीन अपीलार्थी उच्चतम न्यायालय का न्यायाधीश नियुक्त किया गया था, यह अभिनिर्धारित किया गया कि वे संविधान अधिनियम के उपबन्धों के साथ असंगत हैं और इसलिए शून्य हैं। अपील होने पर आस्ट्रेलिया के उच्च न्यायालय के सात में से चार न्यायाधीशों ने क्वीन्सलैण्ड के उच्चतम न्यायालय के साथ सहमति प्रकट की, जब कि उनमें से तीन न्यायाधीशों ने विरोधी मत प्रकट किया और यह राय दी कि यह अपील मंजूर की जानी चाहिए। इसके बाद इस मामले की अपील प्रिवी काउन्सिल के सामने की गई। लार्ड बर्केनहेड ने जुडीशियल कमेटी की राय देते हुए, यह अभिनिर्धारित किया (1) कि क्वीन्सलैण्ड के विधानमण्डल को कलोनियल लॉज़ वैलिडिटी ऐक्ट, 1865 के अधीन तथा उसके अलावा भी, दोनों तरह से, सीमित काल के लिए उच्चतम न्यायालय के न्यायाधिपति की नियुक्ति प्राधिकृत करने की शक्ति थी और (2) यह कि औद्योगिक मध्यस्थता अधिनियम की धारा 6 द्वारा उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश के रूप में नियुक्ति केवल उतने समय के लिए प्राधिकृत की गई थी जिसके दौरान वह व्यक्ति, जो नियुक्त किया गया हो, कोर्ट ऑफ इण्डस्ट्रियल आर्बिट्रेशन का न्यायाधीश रहा हो। अपीलार्थी के सम्बन्ध में, इसके अतिरिक्त यह भी अभिनिर्धारित किया गया कि वह विधिमान्य रूप से नियुक्त किया गया था। ऊपर वाले मामले में यद्यपि यह कहा गया था कि किसी भी विधानमण्डल को विधान बनाने की उन शर्तों की उपेक्षा करने की शक्ति नहीं है जो विधान बनाने की उसकी शक्ति का विनियमन करने वाली लिखत द्वारा अधिरोपित की गई हों, फिर भी उसमें यह प्रस्थापना प्रतिपादित की गई थी कि जब तक कोई निर्बन्धन न हो तब तक विधायी शक्ति पर कोई पाबन्दी नहीं लगाई जा सकती। इसके आगे यह कहा गया कि—

> "उसको छोड़ कर, जहां क्वीन्सलैण्ड के विधानमण्डल की शक्तियां विशेष मामलों में निर्बन्धित की गई हों, क्वीन्सलैण्ड का विधानमण्डल अपने घर का स्वामी है। ऐसे मामले में, जैसा कि अब अपील में विचाराधीन विवाद्यकों के सम्बन्ध में हमारे सामने प्रस्तुत है, ऐसा कोई भी निर्बन्धन साबित नहीं किया गया है और न वास्तव में विद्यमान है।"

इसके आगे यह भी कहा गया है कि—

> "इस दलील को मानने के लिए, जो पहले भी उसके सामने रखी गई थी, बोर्ड और भी कम तैयार है कि जिन विषयों की चर्चा ऐक्ट में की गई है उनके बीच ऐसा विभेद किया जाए, जिससे कि एक धारा के बारे में यह कहा जा सके : 'यह धारा आधारभूत है और उसका संशोधन केवल अमुक रीति में ही किया जा सकता है' और दूसरी धारा के सम्बन्ध में यह कहा जा सके : कि यह धारा इस प्रकार की नहीं है, इसलिए इसका संशोधन बिना किसी झंझट के इसी प्रकार किया जा सकता है जैसे किसी अन्य कानूनी उपबन्ध का'।"

ऊपर वाले मामले में जो निर्णय किया गया है उससे पिटीशनरों को कोई सहायता नहीं मिल सकती है। उसके विपरीत, उस निर्णय में ऐसे अंश भी हैं जो पिटीशनरों की ओर से प्रस्तुत किए गए पक्ष का विरोध करते हैं।

कॉलोनियल लॉज् वैलिडिटी ऐक्ट, 1865 की धारा 5 जिसका जिक्र मैक्कॉले वाले मामले (1)में किया गया था इस प्रकार है —

"प्रत्येक औपनिवेशिक विधानमण्डल को अपनी अधिकारिता के अन्दर अधिकार-सम्पन्न न्यायालय स्थापित करने, उन्हें समाप्त करने तथा पुनर्गठित करने, और उनके गठन को तब्दील करने तथा उनमें न्याय के प्रशासन के लिए उपबन्ध बनाने की पूरी-पूरी शक्ति होगी और यह समझा जाएगा कि ऐसी शक्ति उनको हर समय प्राप्त थी तथा प्रत्येक प्रतिनिधि विधानमण्डल को, अपनी अधिकारिता के अन्दर के उपनिवेश के सम्बन्ध में ऐसे विधानमण्डल के गठन तथा शक्तियों और प्रक्रिया के सम्बन्ध में विधियां बनाने की पूरी शक्ति होगी और यह समझा जाएगा कि उसको ऐसी शक्ति हर समय प्राप्त थी, परन्तु यह तब जब कि ऐसी विधियां ऐसी रीति में और ऐसे प्रारूप के अनुसार, पारित की गई हों, जैसी रीति तथा जैसा प्ररूप उक्त उपनिवेश में तत्समय प्रवृत्त संसद् के किसी अधिनियम, लैटर्स पेटेण्ट, सपरिषद् आदेश या औपनिवेशिक विधि से समय-समय पर अपेक्षित हो।"

बहस के दौरान अटर्नी जनरल फॉर न्यू साउथ वेल्स बनाम ट्रेथोवन(2) वाले मामले में प्रिवी काउन्सिल द्वारा दिए गए विनिश्चय के प्रति निर्देश किया गया। उक्त मामला न्यू साउथ वेल्स की संसद् द्वारा पारित एक विधेयक से सम्बन्धित था जिसके द्वारा लोकमत-संग्रह का उपबन्ध करने वाली धारा निरसित की गई थी। उक्त मामले में एक दूसरा विधेयक भी अन्तर्वलित था जो विधान परिषद् के समाप्त किए जाने के लिए था। प्रिवी काउन्सिल ने आस्ट्रेलिया के उच्च न्यायालय के विनिश्चय की पुष्टि कर दी। उच्च न्यायालय ने बहुमत से यह अभिनिर्धारित किया था कि विधेयक, कालोनियल लॉज वैलिडिटी ऐक्ट की धारा 5 के अर्न्तगत "रीति और प्ररूप" में पारित नहीं किया गया था और इस कारण वे शाही अनुमति के लिए पेश नहीं किए जा सकता। प्रिवी काउन्सिल ने अपना विनिश्चय उपर्युक्त धारा की भाषा और उस धारा में आए "पारित" शब्द के अर्थ के आधार पर किया। प्रस्तुत मामले में हमारा सम्बन्ध उपर्युक्त उपबन्धों से नहीं है। मैं जिन निष्कर्षों पर पहुंचा हूं वे ट्रेथोवन वाले मामले (2) में अधिकथित सिद्धान्तों के प्रतिकूल हैं, यह बात भी नहीं है।

अतः बहस के दौरान आस्ट्रेलिया के जिस दूसरे मामले के प्रति निर्देश किया गया वह स्टेट ऑफ विक्टोरिया बनाम कॉमनवैल्थ (3) है। उस मामले में आस्ट्रेलिया के उच्च न्यायालय ने यह अधिकथित किया है कि संविधान की धारा 51 (ii) के अधीन अपनी शक्तियों का प्रयोग करने में कॉमनवेल्थ की पार्लियामेण्ट ऐसे कानून के प्रवर्तन में जिसके द्वारा कर अधिरोपित किया गया हो या जिसके द्वारा कर के निर्धारण के लिए उपबन्ध किया गया हो, राज्य के रूप में क्राउन को सम्मिलित कर सकती है। न्यायालय के मतानुसार पे-रोल टैक्स असेसमेण्ट ऐक्ट में 'नियोजक'की परिभाषा में राज्य के रूप में क्राउन को सम्मिलित किया जाना आता है। इस प्रकार राज्य के रूप में क्राउन को ऐसी मजबूरी के सम्बन्ध में, जो कर्मचारियों को संदत्त की गई हो, जिसके अन्तर्गत विभागों के ऐसे कर्मचारी भी आते हैं जो

(1) (1920) ए० सी० 691.
(2) (1932) ए० सी० 526.
(3) (1971) 45 ए० एल० जे० 251.

पूर्ण रूप से सरकारी कृत्य करते हैं, कर संदत्त करने के दायित्वाधीन बनाया गया है। संविधान के उपर्युक्त उपबन्धों के अधीन ऐसा किया जाना कॉमनवेल्थ की शक्ति का विधिमान्य प्रयोग है। बहस के दौरान संविधान के अधीन कॉमनवेल्थ की विधायी शक्ति पर विवक्षित परिसीमा पर भी चर्चा हुई। यह बात संविधान की फेडरल प्रकृति से उद्भूत हुई और विभिन्न मत व्यक्त किए गए। मुख्य न्यायाधिपति बारविक सहित तीन न्यायाधीशों ने यह मत व्यक्त किया कि ऐसी कोई परिसीमा नहीं है। इसके विपरीत चार न्यायाधीशों की यह राय थी कि संविधान के अधीन कॉमनवेल्थ की विधायी शक्ति पर विवक्षित परिसीमा है। किन्तु आक्षेपित अधिनियम द्वारा ऐसी परिसीमा का अतिवर्तन नहीं किया गया है। यह मत भी व्यक्त किया गया कि कराधान से सम्बन्धित विधायी प्रविष्टि के अधीन कार्य करते हुए कॉमनवेल्थ की संसद् कराधान की शक्ति का इस प्रकार प्रयोग नहीं कर सकती जिससे कि फेडरल ढांचे में सम्मिलित राज्य नष्ट हो जाएं। इस मामले में इस प्रश्न पर कि संशोधन की शक्ति का व्याप्ति-क्षेत्र क्या है, विचार नहीं किया गया है। अतः उपर्युक्त मामला इस बात का अवधारण करने में अधिक सहायता नहीं कर सकता है कि क्या सांविधानिक संशोधन करने की शक्ति पर कोई विवक्षित परिसीमाएं हैं।

अतः मेरी यह राय है कि गोलक नाथ वाले मामले[1] में बहुमत की यह राय कि संसद् की संविधान के भाग 3 के उपबन्धों में से किसी को इस प्रकार संशोधित करने की शक्ति नहीं है जिससे कि मूल अधिकार छीन लिए जाएं या न्यून कर दिए जाएं, सही नहीं मानी जा सकती है। मेरी राय है कि हमारे संविधान के भाग 3 में अन्तर्विष्ट मूल अधिकार अनुच्छेद 368 में विहित प्रक्रिया का अनुपालन करते हुए तब तक न्यून किए जा सकते हैं या छीने जा सकते हैं जब तक संविधान के बुनियादी ढांचे पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है।

अब हम चौबीसवें संशोधन पर विचार करेंगे। यह संशोधन उन बातों को स्पष्ट करने के लिए किया गया था जिनकी बाबत सन्देह उत्पन्न हो गया था और इस न्यायालय ने परस्पर-विरोधी मत व्यक्त किए थे। इस संदर्भ में हम संविधान (चौबीसवां संशोधन) विधेयक के उद्देश्यों और कारणों के कथन को उपवर्णित करते हैं। उद्देश्यों और कारणों का कथन इस प्रकार है—

उद्देश्यों और कारणों का कथन

> उच्चतम न्यायालय ने गोलक नाथ वाले सुविख्यात मामले (1967) 2 एस० सी० आर०, 762 में अल्प बहुमत द्वारा अपने ही उन पूर्व विनिश्चयों को उलट दिया जिनमें संविधान के सभी भागों को, जिनके अन्तर्गत मूल अधिकारों से सम्बद्ध भाग 3 भी है, संशोधित करने की संसद् की शक्ति की पुष्टि की गई थी। इस निर्णय का परिणाम यह हुआ कि संसद् के बारे में अब यह समझा जाता है कि उसे संविधान के भाग 3 द्वारा गारण्टी किए गए किसी भी मूल अधिकार को छीन लेने या घटाने की शक्ति नहीं है चाहे राज्य की नीति के निदेशक तत्वों को प्रभावी करने के लिए और संविधान की प्रस्तावना में अवर्णित उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए भी ऐसा करना आवश्यक क्यों न हो। अतः यह अभिव्यक्ततः उपबन्ध करना आवश्यक समझा गया है कि संसद् को संविधान के

(1) (1967) एस० सी० आर० 762.

किसी भी उपबन्ध को संशोधित करने की शक्ति है जिससे कि संशोधन करने की शक्ति के व्याप्ति-क्षेत्र के भीतर भाग 3 के उपबन्ध भी आ जाएं।

2. यह विधेयक इस प्रयोजनके लिए अनुच्छेद 368 का यथोचित संशोधन करने के लिए है और यह इस बात को भी स्पष्ट करता है कि अनुच्छेद 368 संविधान के संशोधन का तथा साथ ही साथ उसकी प्रक्रिया का भी उपबन्ध करता है। विधेयक में आगे यह उपबन्ध भी किया गया है कि जब कोई संविधान संशोधन विधेयक संसद् के दोनों सदनों से पारित हो जाए और राष्ट्रपति के समक्ष उनकी अनुमति के लिए रखा जाए तो उन्हें उस पर अपनी अनुमति दे देनी चाहिए। यह विधेयक संविधान के अनुच्छेद 13 को भी संशोधित करने के लिए है जिससे कि वह अनुच्छेद 368 के अधीन संविधान के किसी संशोधन को लागू न रहे।"

विधेयक की, जो संविधान (चौबीसवां संशोधन) अधिनियम के आधार पर अन्ततः पारित हो गया था, धारा 2 द्वारा अनुच्छेद 13 में एक खण्ड यह जोड़ा गया कि अनुच्छेद की कोई बात अनुच्छेद के अधीन किए गए इस संविधान के किसी संशोधन को लागू न होगी। संशोधन अधिनियम की धारा 3 के परिणामस्वरूप अनुच्छेद 368 को उसके खण्ड (2)के रूप में पुनः संख्यांकित किया गया और पार्श्व-शीर्षक अब "संविधान का संशोधन करने की संसद् की शक्ति और उसके लिए प्रक्रिया" कर दिया गया है। इस अनुच्छेद में विफलीकरण (नॉन आब्सटेण्टे) खण्ड (1) इस तथ्य पर जोर देने के लिए अन्तःस्थापित कर दिया गया है कि इस अनुच्छेद के अधीन प्रयोग की गई शक्ति संविधायी शक्ति है और वह संविधान के अन्य उपबन्धों के अध्यधीन नहीं है और इसके अन्तर्गत संविधान के किसी उपबन्ध का परिवर्धन, उपान्तरण अथवा निरसन आता है। इस सम्बन्ध में भी उपबन्ध किया गया है जिससे कि इस अनुच्छेद के अनुसार पारित किए जाने के पश्चात् संशोधन विधेयक पर राष्ट्रपति द्वारा अनुमति देना बाध्यकर हो जाए। अनुच्छेद 368 में खण्ड 3 इस प्रभाव के लिए जोड़ा गया है। अनुच्छेद 13 की कोई बात इस अनुच्छेद के अधीन किए गए किसी संशोधन को लागू न होगी। यद्यपि हमारे समक्ष इस सम्बन्ध में बहुत दलीलें दी गई हैं कि क्या अनुच्छेद 368 के अधीन संशोधन की शक्ति के अन्तर्गत भाग 3 को इस प्रकार संशोधित करने की शक्ति सम्मिलित है जिससे कि मूल अधिकार छीने या न्यून किए जा सकें। हमारे समक्ष इस बाबत कोई विवाद नहीं किया गया है कि संविधान (चौबीसवां संशोधन) अधिनियम संविधान के अनुच्छेद 368 में, जैसा वह उक्त अधिनियम के पारित किए जाने के पहले अस्तित्व में था, अधिकथित प्रक्रिया के अनुसार पारित किया गया था। ऊपर की सविस्तार चर्चा को ध्यान में रखते हुए मुझे चौबीसवें संशोधन अधिनियम में कोई खामी नहीं मालूम पड़ती है। अतः मैं उक्त अधिनियम को विधिमान्य ठहराता हूं।

अब हम संविधान पच्चीसवां संशोधन अधिनियम 1971 पर विचार करते हैं। पच्चीसवें संशोधन द्वारा तीन तात्त्विक परिवर्तन किए गए हैं—

(i) इसके द्वारा अनुच्छेद 31 (2) को दो प्रकार से संशोधित किया गया है—

(क) इससे अर्जित या अधिगृहीत सम्पत्ति के लिए 'प्रतिकर' शब्द के स्थान पर "राशि" शब्द प्रतिस्थापित किया गया है।

(ख) इसमें यह उपबन्ध किया गया है कि अर्जन या अधिग्रहण के प्रयोजन के लिए बनाई गई विधि पर इस आधार पर आपत्ति नहीं की जाएगी कि पूरी "राशि" या उसके किसी भाग को नकद दिए जाने से अन्यथा दिए जाने का उपबन्ध किया गया है।

(ii) इसके द्वारा यह उपबन्ध किया गया है कि अनुच्छेद 19 (1) (च) के अधीन किसी सम्पत्ति के अर्जन, धारण और व्ययन से सम्बन्धित मूल अधिकार ऐसी किसी विधि के सम्बन्ध में, जो अनुच्छेद 31 (2) में निर्दिष्ट है, लागू नहीं किया जा सकता।

(iii) इसके द्वारा अनुच्छेद 31 (ग) (1) अध्यारोही अनुच्छेद के तौर पर अन्तःस्थापित किया गया है जिसके द्वारा संसद् या राज्य के किसी विधानमण्डल द्वारा पारित की गई कुछ प्रकार की विधि को अनुच्छेद 14, 19 और 31 द्वारा प्रदत्त मूल अधिकार लागू नहीं होंगे।

जहां तक अनुच्छेद 31 (2) में अर्जित या अधिगृहीत सम्पत्ति के लिए "प्रतिकर" शब्द के स्थान पर "राशि" शब्द प्रतिस्थापित किए जाने का सम्बन्ध है, हमें यह ज्ञात है कि इस न्यायालय ने श्रीमती बेला बनर्जी (1) वाले मामले में यह अभिनिर्धारित किया है कि अनुच्छेद 31 (2) के अधीन, संविधान (चतुर्थ संशोधन) अधिनियम द्वारा संशोधित किए जाने के पहले, अनिवार्य अर्जन के लिए प्रतिकर के अधिकार की गारण्टी द्वारा स्वामी "उचित समतुल्य" या "पूर्ण क्षतिपूर्ति" के लिए हकदार था। पी० वज्रवेलु मुदालियर (2) वाले मामले में इस न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया है कि संविधान (चतुर्थ संशोधन) अधिनियम द्वारा अनुच्छेद 31 (2) के संशोधन के बावजूद और "ऐसी किसी विधि पर किसी न्यायालय में इस आधार पर आपत्ति नहीं की जाएगी कि उस विधि द्वारा उपबन्धित प्रतिकर पर्याप्त नहीं है" शब्दों के जोड़े जाने के बाद भी "प्रतिकर" पद का वही अर्थ बना रहा जो अनुच्छेद 31 (2) के संशोधित किए जाने के पहले उसका अर्थ था अर्थात् उचित समतुल्य या पूर्ण क्षतिपूर्ति। इसके पश्चात् शान्ति लाल मंगल दास वाले मामले (3) में इस न्यायालय ने कुछ भिन्न मत अपनाया। पी० वज्रवेलु मुदालियार वाले मामले (2) में यह मत व्यक्त किया गया था कि सांविधानिक गारण्टी केवल उसी दशा में पूरी हो सकती है यदि स्वामी को सम्पत्ति का उचित समतुल्य दिया जाता है। शान्ति लाल मंगल दास वाले मामले (3) में यह अभिनिर्धारित किया गया था क्योंकि स्वतः "प्रतिकर" शब्द के सम्बन्ध में कोई निश्चित अवधारणा किया जाना मुश्किल है। अतः "समतुल्य" या "पूर्ण क्षतिपूर्ति" कहकर उसका कोई अनुचित अर्थ नहीं किया जा सकता। और अनुच्छेद 31 (2) के संशोधन के पश्चात् अधिनिर्मित अधिनियमों के अधीन प्रतिकर के लिए उपबन्ध करने वाली विधि पर न्यायालय को इस आधार पर आपत्ति करने का अधिकार नहीं है कि प्रतिकर अपर्याप्त है चाहे प्रतिकर की राशि विधि द्वारा नियत की गई हो या उसमें विनिर्दिष्ट सिद्धान्तों के आधार

(1) (1954) एस० सी० आर० 558.

(2) (1965) 1 एस० सी० आर० 614.

(3) (1969) 3 एस० सी० आर० 341=[1969]3 उम० नि० प० 753.

पर अवधारित की जानी हो (देखिए—आर० सी० कूपर बनाम भारत संघ ([1]) वाले मामले न्यायाधिपति शाह द्वारा पृष्ठ 596 पर व्यक्त किए गए मत । उन दो मामलों में अभिव्यक्त किए गए मत पर और चर्चा करने के पश्चात् बहुमत की ओर से निर्णय देते हुए न्यायाधिपति शाह ने यह मत व्यक्त किया—

> "अन्ततः दोनों ही विचारधाराओं से इस मत की पुष्टि होती है कि प्रतिकर अवधारण के लिए विनिर्दिष्ट सिद्धान्तों पर आक्षेप नहीं किया जा सकता यदि वह प्रतिकर के अवधारण के लिए सुसंगत और अनिवार्य रूप से अर्जित सम्पत्ति के लिए प्रतिकर के अवधारण में लागू होने वाला एक सुमान्य सिद्धान्त है और वह सिद्धान्त उस प्रकार की सम्पत्ति का, जिसे अर्जित किया जाना चाहा गया है, मूल्य अवधारित करने के लिए उपयुक्त है। पी० वज्रवेलु मुदालियार वाले मामले में या शांतिलाल मंगलदास वाले मामले में अभिव्यक्त किए गए मत को लागू करने पर हमारी राय में यदि वह ऐसे बैंकों को, जिनकी सम्पत्ति ले ली गई हो, सुसंगत सिद्धान्तों के अनुसार प्रतिकर अवधारित किए जाने का उपबन्ध करने में असफल है तो वह अधिनियम अभिखण्डित किए जाने के दायित्वाधीन है।"

संविधान के अनुच्छेद 31 (2) में पच्चीसवें संशोधन द्वारा संशोधन किया गया है और "प्रतिकर" शब्द के स्थान पर "राशि" शब्द रखा गया है। ऐसा करने का आवश्यक रूप से आशय "प्रतिकर" शब्द के उपयोग किए जाने से जो कठिनाइयां उत्पन्न हुई थीं उन्हें दूर करना था; क्योंकि इस न्यायालय ने उक्त शब्द के सम्बन्ध में यह अभिनिर्धारित किया कि उसका एक विशिष्ट अर्थ है और उसका समभूल्य या पूर्ण क्षतिपूर्ति के अर्थ में अर्थान्वयन किया। अतः संशोधन द्वारा उस शब्द के स्थान पर "राशि" प्रतिस्थापित किया गया है। 'प्रतिकर' शब्द के स्थान पर 'राशि' शब्द रख कर संशोधन से यह संशोधित करने की वांछा की गई कि सम्पत्ति के अर्जन या उसके अधिग्रहण के लिए अवधारित की जाने वाली 'राशि' का, उचित समभूल्य या पूर्ण प्रतिपूर्ति के बराबर 'राशि' होना जरूरी नहीं है और यदि विधान मण्डल ऐसा चाहता है तो वह स्पष्ट रूप से अपर्याप्त हो सकती है। इस प्रश्न पर और अधिक विचार करने की जरूरत नहीं है, क्योंकि "राशि" शब्द का जो भी अर्थ हो, उससे अनुच्छेद 31 (2) में किए गए संशोधन की विधिमान्यता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा।

अनुच्छेद 31 (2) में जो दूसरा परिवर्तन किया गया है वह यह है कि अर्जन या अधिग्रहण प्रयोजन के लिए विधि पर इस आधार पर आक्षेप नहीं किया जाएगा कि सम्पत्ति के अर्जन या अधिग्रहण के लिए नियत या अवधारित "पूर्ण राशि" या उसका कोई भाग नकद के बजाय किसी अन्य प्रकार से दिया जाएगा। अनुच्छेद 31 (2) में ऊपर वर्णित जो परिवर्तन किया गया है उसमें मुझे कोई खामी मालूम नहीं होती है।

खण्ड (2ख) के अनुसार जो अनुच्छेद 31 में पच्चीसवें संशोधन के परिणामस्वरूप जोड़ा गया है, अनुच्छेद 19 के खण्ड (1) के उपखण्ड (च) की कोई बात किसी ऐसी विधि

([1]) (1970) 3 एस० सी० आर० 530.

पर प्रभाव नहीं डालेगी जो खण्ड (2) में निदिष्ट है। इस सम्बन्ध में हमें यह ज्ञात है कि इस न्यायालय ने कुछ मामलों में यह अभिनिर्धारित किया कि अनुच्छेद 19 (1) (च) और अनुच्छेद 31 (2) अनन्य हैं। ए० के० गोपालन बनाम मद्रास राज्य (1) वाले मामले में निवारक निरोध अधिनियम द्वारा प्रदत्त शक्ति का प्रयोग करते हुए दिए गए एक आदेश के अनुसरण में एक व्यक्ति निरुद्ध किया गया। उसने यह दावा करते हुए कि अधिनियम द्वारा संविधान के अनुच्छेद 19, 21 और 22 के अधीन दी गई गारण्टियों का उल्लंघन होता है, इस न्यायालय में हैबियस कार्पस रिट के लिए निवेदन किया। इस न्यायालय के न्यायाधीशों के बहुमत (मुख्य न्यायाधिपति कानिया और न्यायाधिपति पातञ्जलि शास्त्री, महाजन, मुकर्जी और दास) ने यह अभिनिर्धारित किया कि चूंकि निवारक निरोध के सम्बन्ध में अनुच्छेद 22 के एक पूर्ण संहिता है, अतः निरोध के आदेश को विधिमान्यता अनुच्छेद के शब्दों और उसकी परिधि के अनुसार ही अवधारित की जानी चाहिए। उन्होंने यह अभिनिर्धारित किया कि जो व्यक्ति निरुद्ध किया जाता है, वह इस बात का दावा नहीं कर सकता कि उसे निरुद्ध करने से अनुच्छेद 19 (1) (घ) में गारण्टी की गई उसकी स्वतन्त्रता कम होती है और निरोध के लिए आदेश करने का उपबन्ध करने वाली विधि की विधिमान्यता संचरण की स्वतन्त्रता पर अधिरोपित निर्बन्धनों के युक्तियुक्त होने के आधार पर नहीं परखी जाएगी और न उसकी परख इस आधार पर की जाएगी कि उस विधि से उसकी वैयक्तिक स्वतन्त्रता विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया से अन्यथा निवारित की गई है। न्यायाधिपति फ़ज़लअली ने इसके प्रतिकूल मत व्यक्त किया। यह मामला इस सिद्धान्त का केन्द्र बिन्दु बना कि मूल अधिकार की गारण्टी के संरक्षण की वैयक्तिक अधिकार के सम्बन्ध में राज्य की कार्यवाही के उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए अभिनिर्णीत किया जाना चाहिए और इस बात का निर्णय मूल स्वतन्त्रता की गारण्टी पर पड़ने वाले प्रभाव को ध्यान में रख कर नहीं किया जाना चाहिए और इसके सहज परिणाम के तौर पर कि अनुच्छेद 19, 21 और 31 के अधीन की स्वतन्त्रताएं अनन्य हैं और प्रत्येक अनुच्छेद में एक सुभिन्न अधिकार को संरक्षित करने से सम्बन्धित उपबन्ध है। (देखिए—आर० सी० कूपर वाले मामले का पृष्ठ 571) गोपालन के मामले में जो मत व्यक्त किया गया है, उसको राम सिंह और कुछ अन्य बनाम दिल्ली राज्य (2) वाले मामले में पुष्टि की गई। बहुमत के निर्णय में अन्तर्निहित सिद्धान्त सम्पत्ति के अधिकार के संरक्षण तक विस्तरित किया और यह अभिनिर्धारित किया गया कि अनुच्छेद 19 (1) (च) और अनुच्छेद 31 (2) अपने प्रवर्तन में आपस में अनन्य हैं। मुम्बई राज्य बनाम भाञ्जी, मुन्जी और एक अन्य (3) वाले मामले में इस न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि अनुच्छेद 19 के खण्ड (5) के साथ पठित खण्ड (1) (च) में सम्पत्ति के, जिसका उपभोग किया जा सकता है और जिस पर अधिकार का उपयोग किया जा सकता है, अस्तित्व की कल्पना की गई है क्योंकि अन्यथा खण्ड (5) से अनुज्ञात युक्तियुक्त निर्बन्धन लागू नहीं किया जा सकता। यदि ऐसी कोई सम्पत्ति नहीं है

(1) (1950) एस० सी० आर० 88.

(2) (1951) एस० सी० आर० 451.

(3) (1955) 1 एस० सी० आर० 777.

जो अर्जित, धारित या व्ययनित की जा सके तो सम्पत्ति अर्जित करने, उसे धारित करने या उसे व्ययनित करने के अधिकार के प्रयोग पर कोई निर्बन्धन नहीं लगाया जा सकता। कवलप्पारा कोट्टारथिल कोचुन्नी वाले मामले(1) में न्यायालय के बहुमत की ओर से न्यायाधिपति सुब्बा राव ने निर्णय सुनाया था। उन्होंने यह मत व्यक्त किया कि अनुच्छेद 31 के केवल खण्ड (2) में ही राज्य द्वारा लोक प्रयोजन के लिए राज्य द्वारा सम्पत्ति के अनिवार्य रूप से अर्जित किए जाने के सम्बन्ध में उपबन्ध किया गया है और ऐसा उपबन्ध अनुच्छेद 31 (1) में नहीं है। उन्होंने आगे यह अभिनिर्धारित किया कि "विधि का प्राधिकार" का अर्थ किसी विधिमान्य विधि का प्राधिकार है और ऐसी विधि पर, जो किसी व्यक्ति को उसकी सम्पत्ति से वंचित करने के लिए हो, इस आधार पर आक्षेप किया जा सकता है उससे अन्य मूल अधिकारों अर्थात् अनुच्छेद 19 (1) (च) के अधीन के मूल अधिकारों का अतिलंघन होता है। यह भी कहा गया है कि संविधान (चतुर्थ संशोधन) अधिनियम 1955 के पश्चात् भानजी मुन्जी वाला(2) मामला इस विषय में आबद्धकर नजीर नहीं रहा। के० के० कोचुन्नी (1) के मामले में विनिश्चय के पश्चात् मत दो दिशाओं में बट गए। एक मत के अनुसार अनुच्छेद 31 (1) में आए "विधि के प्राधिकार" के आधार पर इस बात की परीक्षा की जा सकती थी कि उससे अन्य मूल अधिकारों और स्वतन्त्रताओं का, जिसके अन्तर्गत अनुच्छेद 19 (1) (च) के अधीन सम्पत्ति धारण करने का गारण्टी किया गया अधिकार भी सम्मिलित है, उल्लंघन होता है। दूसरा मत यह है कि अनुच्छेद 31 (2) के अन्तर्गत "विधि के प्राधिकार" शब्द इस आधार पर जांच किए जाने के दायित्वाधीन नहीं थे कि उससे जहां तक अधिष्ठायी निर्बन्धन अधिरोपित किए गए हैं, अनुच्छेद 19 (1) (च) में दी गई गारण्टी को नुकसान पहुंचता है यद्यपि उसकी अन्य गारण्टियों के नुकसान पहुंचाने के आधार पर आर० सी० कूपर वाले मामले(3) में बहुमत की ओर से निर्णय सुनाते हुए न्यायाधिपति शाह ने यह अभिनिर्धारित किया कि सांविधानिक गारण्टियों पर, जो मूलभूत हैं, राज्य द्वारा की गई कार्यवाहियों का जो मूल अधिकारों को क्षीण करने के विरुद्ध संरक्षण के विस्तार का अवधारण न तो विधानमण्डल के उद्देश्य से और न अनुयोजन के प्ररूप से अवधारित किया जाता है किन्तु उसके लागू किए जाने से व्यक्ति के अधिकारों पर उसका, जो प्रभाव पड़ता है उसके द्वारा अवधारित किया जाता है। आगे यह मत व्यक्त किया गया है —

> "अतः हम यह अभिनिर्धारित करने में असमर्थ हैं कि अर्जन के लिए उपबन्ध की विधिमान्यता पर किया गया आक्षेप अनुच्छेद 31 (2) के पालन न किए जाने के आधार पर ही जांच के योग्य है। अनुच्छेद 31 (2) में अपेक्षित है कि सम्पत्ति लोक प्रयोजन के लिए अर्जित की जानी चाहिए और यह कि ऐसा अर्जन उस अनुच्छेद में उपवर्णित विशिष्टियों वाली विधि के अधीन किया जाना चाहिए। अनुच्छेद 31 (2) के अधीन शर्तों का प्ररूपिक अनुपालन सम्पत्ति अधिकार को दी गई गारण्टी के संरक्षण का निषेध करने के लिए पर्याप्त नहीं है। अर्जन विधि के प्राधिकार के अधीन होना चाहिए और "विधि पद का अर्थ ऐसी विधि है

(1) (1960) 3 एस० सी० आर० 887.

(2) (1955) 1 एस० सी० आर० 777.

(3) (1970) 3 एस० सी० आर० 530.

जो विधानमण्डल की क्षमता के अन्तर्गत हो और जो भाग (iii) में दिए गए अधिकारों के सम्बन्ध में गारण्टी को क्षीण न करती हो। अतः हम इस बात से सहमत होने में असमर्थ हैं कि अनुच्छेद 19 (1) (च) और 31 (2) परस्पर असंगत हैं।"

पच्चीसवां संशोधन आर० सी० कपूर० वाले ऊपर वर्णित मामले से उत्पन्न कठिनाई को दूर करने के लिए किया गया है। यह इस न्यायालय के निर्णयों में जो परस्पर विरोध मालूम पड़ा, उसे दूर करने के लिए किया गया। तदनुसार यह उपबन्ध किया गया कि अनुच्छेद 31(2) में निर्दिष्ट किसी ऐसी विधि के सम्बन्ध में अनुच्छेद 19(1)(च) के अधीन सम्पत्ति अर्जित करने, धारण करने अथवा उसका व्ययन करने का मूल अधिकार लागू नहीं किया जा सकता। पहले जिस बात की चर्चा की गई है उसको देखते हुए चौबीसवें संशोधन पर चर्चा करते हुए अनुच्छेद 31(2) में खण्ड (2ख) जोड़ कर जो परिवर्तन किया गया, वह अनुच्छेद 368 के अधीन अनुज्ञेय है और उसे अविधिमान्य अभिनिर्धारित नहीं किया जा सकता।

अब हम अनुच्छेद 31ग पर विचार करेंगे जैसा कि वह पच्चीसवें संशोधन के परिणामस्वरूप पुरःस्थापित किया गया है। इस अनुच्छेद का अनुशीलन करने पर जैसा वह इस निर्णय के पूर्ववर्ती भाग में उद्धृत किया गया है, यह ज्ञात होता है कि इस अनुच्छेद में दो भाग हैं। पहले भाग में वर्णित है कि अनुच्छेद 13 में किसी बात के होते हुए भी कोई विधि जो अनुच्छेद 39 के खण्ड (ख) या खण्ड (ग) में उल्लिखित तथ्यों को सुनिश्चित करने के लिए राज्य की नीति को प्रभावी करने के लिए हो, इस आधार पर शून्य न समझी जाएगी कि वह अनुच्छेद 14, अनुच्छेद 19 या अनुच्छेद 31 द्वारा प्रदत्त अधिकारों में से किसी से असंगत है अथवा उसे छीनती अथवा न्यून करती है। इस अनुच्छेद के दूसरे भाग के अनुसार जिस विधि में यह घोषणा हो कि वह ऐसी नीति को प्रभावी करने के लिए है, उस पर किसी न्यायालय में इस आधार पर आपत्ति नहीं की जाएगी कि वह ऐसी नीति को प्रभावी नहीं करती। इसके पश्चात् एक परन्तुक है जिसके अनुसार जहां ऐसी विधि किसी राज्य के विधानमण्डल द्वारा बनाई जाए, वहां इस अनुच्छेद के उपबन्ध उसे तब तक लागू न होंगे जब तक कि ऐसी विधि को राष्ट्रपति के विचार के लिए रक्षित किए जाने के पश्चात् उसकी अनुमति न मिल गई हो।

अनुच्छेद 31ग का पहला भाग विषयवस्तु के सिवाय अनुच्छेद 31क के समान है। अनुच्छेद 31क संविधान (प्रथम संशोधन) अधिनियम 1951 द्वारा अन्तःस्थापित किया गया था। अनुच्छेद 31क का खण्ड (1), जैसा वह अन्तःस्थापित किया गया था, इस प्रकार है —

"(1) इस भाग के पूर्ववर्ती उपबन्धों में किसी बात के होते हुए भी, किसी सम्पदा के या उसमें किन्हीं अधिकारों के राज्य द्वारा अर्जन के लिए या किन्हीं ऐसे अधिकारों के निर्वापन या उनमें परिवर्तन के लिए उपबन्ध करने वाली कोई विधि केवल इस कारण कि वह इस भाग के किन्हीं उपबन्धों द्वारा प्रदत्त अधिकारों में से किसी से असंगत है या उसको छीनती या न्यून करती है, शून्य नहीं समझी जाएगी।:

परन्तु जहां ऐसी विधि किसी राज्य के विधानमण्डल द्वारा निर्मित विधि है, वहां जब तक कि ऐसी विधि को राष्ट्रपति के विचार के लिए रक्षित किए जाने के पश्चात् उसकी अनुमति न मिल गई हो, इस अनुच्छेद के उपबन्ध उस विधि के सम्बन्ध में लागू नहीं होंगे।"

इसके पश्चात् अनुच्छेद 31क का खण्ड (1) संविधान (चतुर्थ संशोधन) अधिनियम, 1955 द्वारा संशोधित किया गया था। नया खण्ड (1) इस प्रकार है—

(1) अनुच्छेद 13 में अन्तर्विष्ट किसी बात के होते हुए भी,

(क) किसी सम्पदा के या उसमें किन्हीं अधिकारों के राज्य द्वारा अर्जन के लिए या किन्हीं ऐसे अधिकारों के निर्वापन या उसमें परिवर्तन के लिए, या

(ख) किसी सम्पत्ति का प्रबन्ध या तो लोक हित में या उस सम्पत्ति का उचित प्रबन्ध सुनिश्चित करने के उद्देश्य से राज्य द्वारा मर्यादित कालावधि के लिए ले लिए जाने के लिए, या

(ग) दो या अधिक निगमों को या तो लोक हित में या उन निगमों में से किसी का उचित प्रबन्ध सुनिश्चित करने के उद्देश्य से समामेलित करने के लिए, या

(घ) निगमों के प्रबन्ध अभिकर्ताओं, सचिवों और कोषाध्यक्षों, प्रबन्ध निदेशकों, निदेशकों या प्रबन्धकों के किन्हीं अधिकारों या अंशधारियों के किन्हीं मतदान अधिकारों के निर्वापन या उनमें परिवर्तन के लिए, या

(ङ) किसी खनिज या खनिज तेल को खोजने या लब्ध करने के प्रयोजन के लिए किसी करार, पट्टे या अनुज्ञप्ति के बल पर प्रोद्भूत होने वाले किन्हीं अधिकारों के निर्वापन या उनमें परिवर्तन के लिए या किसी ऐसे करार, पट्टे या अनुज्ञप्ति को समय से पूर्व पर्यवसित करने या प्रतिसंहृत करने के लिए,

उपबन्ध करने वाली विधि इस आधार पर शून्य न समझी जाएगी कि यह अनुच्छेद 14, अनुच्छेद 19 या अनुच्छेद 31 द्वारा प्रदत्त अधिकारों में से किसी से असंगत है अथवा उसे छीनती या न्यून करती है,

परन्तु जहां ऐसी विधि किसी राज्य के विधानमण्डल द्वारा निर्मित विधि है वहां जब तक कि ऐसी विधि को, राष्ट्रपति के विचार के लिए रक्षित किए जाने के पश्चात् उसकी अनुमति न मिल गई हो, इस अनुच्छेद के उपबन्ध उस विधि के सम्बन्ध में लागू नहीं होंगे।

अनुच्छेद 31ग में निर्दिष्ट अनुच्छेद 39 के खण्ड (ख) और (ग) इस प्रकार है —

"× × ×

(ख) समुदाय की भौतिक सम्पत्ति का स्वामित्व और नियंत्रण इस प्रकार बंटा हो कि जिससे सामूहिक हित का सर्वोत्तम रूप से साधन हो।

(ग) आर्थिक व्यवस्था इस प्रकार चले कि जिस से धन और उत्पादन-साधनों का सर्वसाधारण के लिए अहितकारी केन्द्रण न हो।

× × ×"

ऊपरवर्णित बातों से यह ज्ञात होगा कि अनुच्छेद 31क में ऐसी विधि के बारे में उपबन्ध किया गया है जिसके द्वारा राज्य सरकार किसी सम्पदा या उसमें के किसी अधिकार का अर्जन कर सकती है या ऐसे अधिकारों का निर्वापन या उपान्तरण या उस अनुच्छेद के खण्ड (ख) और (ग) में वर्णित अन्य बातें कर सकती है। अनुच्छेद 31ग उन उद्देश्यों को सुनिश्चित करने से सम्बन्धित है कि समुदाय की भौतिक सम्पत्ति का स्वामित्व और नियंत्रण इस प्रकार बंटा हो कि जिससे सामूहिक हितों का सर्वोत्तम रूप से साधन हो और आर्थिक व्यवस्था इस प्रकार चले कि जिससे धन और उत्पादन साधनों का सर्वसाधारण के लिए अहितकारी केन्द्रण न हो, विषयों में अन्तर के अलावा अनुच्छेद 31क के पहले खण्ड की भाषा और अनुच्छेद 31ग के पहले भाग की भाषा समान ही है। अनुच्छेद 31क और 31ग दोनों ही सम्पत्ति के अधिकार से सम्बन्धित हैं। अनुच्छेद 31क में कतिपय प्रकार की सम्पत्ति का वर्णन है और मोटे तौर पर उसका प्रभाव इस प्रकार की सम्पत्तियों को उन व्यक्तियों से लेने के सम्बन्ध में उपबन्ध करना है जिनका उक्त सम्पत्ति पर अधिकार है। अनुच्छेद 31ग का उद्देश्य धन और उत्पादन साधनों के केन्द्रण को रोकना और सामूहिक हित का सर्वोत्तम रूप से साधन हो। इस हेतु समुदाय की भौतिक सम्पत्ति के स्वामित्व और नियन्त्रण के बटवारे को सुनिश्चित करना है। इस प्रकार अनुच्छेद 31ग उस सिद्धान्त का विस्तार ही है जो अनुच्छेद 31क में माना गया है। इस तथ्य से कि अनुच्छेद 31ग के उपबन्ध और अधिक व्यापक हैं और उनका विस्तार क्षेत्र अनुच्छेद 31क की तुलना में अधिक है कोई तात्विक अन्तर नहीं पड़ेगा। इसी प्रकार इस तथ्य से कि अनुच्छेद 31क में कतिपय विषयों के लिए उपबन्ध करने वाली विधि का वर्णन है जब कि अनुच्छेद 31ग में अनुच्छेद 39 के खण्ड (ख) या (ग) में विनिर्दिष्ट सिद्धान्तों को सुनिश्चित करने के लिए नीति को प्रभावी करने वाली विधि का उल्लेख है, इस निष्कर्ष में कोई बाधा नहीं पड़ती है कि अनुच्छेद 31ग उस सिद्धान्त का विस्तार है जो अनुच्छेद 31क में माना गया है। वास्तव में विधानमण्डल अनुच्छेद 39 के खण्ड (ख) या (ग) में विनिर्दिष्ट सिद्धान्तों को सुनिश्चित करने के लिए राज्य की नीति को प्रभावी करने के लिए अनुच्छेद 37 में अन्तर्विष्ट आज्ञा के अनुसार ही कार्य करता है जिसके अनुसार नीति के निदेशक तत्व देश के शासन में मूल-भूत हैं और विधि बनाने में इन तत्वों का प्रयोग करना राज्य का कर्त्तव्य है। यदि संविधान का संशोधन जिसके द्वारा अनुच्छेद 31क अन्तःस्थापित किया गया था, विधिमान्य था तो मुझे कोई आधार प्रतीत नहीं होता है कि पच्चीसवें संशोधन को, जो अनुच्छेद 31ग के प्रथम भाग के अन्तःस्थापन से सम्बन्धित है, किस प्रकार अविधिमान्य अभिनिर्धारित किया जा सकता है। शंकरी प्रसाद बनाम भारत संघ[1] वाले मामले में, इस न्यायालय ने 1952 में प्रथम संशोधन की विधिमान्यता कायम रखी थी। उसके द्वारा अनुच्छेद 31क अन्तः स्थापित किया गया था। अनुच्छेद 31क इन सब वर्षों के दौरान विधिमान्य ठहराया जाता रहा, अतः 'निर्णीतानुसरण' (स्टेयर डेसाइसिस) के सिद्धान्त के आधार पर अब उसकी विधिमान्यता पर आक्षेप नहीं किया जा सकता। यद्यपि वह कालावधि जिसके दौरान शंकरी प्रसाद वाले मामले[1] में आक्षेप नहीं किया गया, बहुत लम्बी नहीं थी किन्तु उस विनिश्चय के आधार पर राज्य द्वारा पारित की गई विधियों का

(1) (1952) एस० सी० आर० 89.

जो परिणाम हुआ, वह जैसा कि गोलक नाथ वाले मामले ([1])में न्यायाधिपति वांचू ने बताया है, इतना अधिक हो गया था कि हमें उस मामले के विनिश्चय को जिसमें प्रथम संशोधन की विधिमान्यता कायम रखी गई थी, उलटना नहीं चाहिए। इस बारे में विवाद नहीं किया जा सकता कि लाखों एकड़ भूमि का क्रय-विक्रय हुआ है और कृषि भूमियों की बाबत लाखों नए हक सृष्ट हुए। कृषि भूमि से सम्बन्धित राज्य की विधियां द्वारा जो शंकरी प्रसाद वाले मामले ([2])के वर्षों पश्चात् पारित की गईं, कृषि क्रान्ति का जन्म हुआ। इस देश की बहुत अधिक जनता कृषि पर निर्भर है। इन परिस्थितियों में मेरी राय में अब यह अभिनिर्धारित करना गलत होगा कि प्रथम संशोधन को कायम रखने वाला विनिश्चय सही नहीं था और इस प्रकार उस सब में, जो इन वर्षों के दौरान हो चुका है, उथल-पुथल करना और हमारे लाखों देशवासियों के जीवन में अस्त व्यस्तता पैदा करना उचित नहीं होगा, क्योंकि इन व्यक्तियों को कृषि सुधारों से सम्बन्धित इन विधियों द्वारा लाभ पहुंचा है। अतः मैं यह अभिनिर्धारित करता हूं कि यह सबसे अच्छे मामलों में से एक मामला है जिसमें निर्णीतानुसरण का सिद्धान्त लागू किया जाना चाहिए। वह आधार जिसके कारण अनुच्छेद 31ग का खण्ड (1) विधिमान्य ठहराया गया, अनुच्छेद 31ग के प्रथम भाग की विधिमान्यता कायम रखने के लिए लागू होगा। इस संदर्भ में लेसर बनाम गारनेट ([3])वाले मामले में न्यायाधिपति ब्रेण्डीज ने उन्नीसवें संशोधन की विधिमान्यता को कायम रखते हुए जो मत व्यक्त किया गया था, उसके प्रति निर्देश करना उचित होगा। उस मत के अनुसार यूनाइटेड स्टेट्स के नागरिकों को मत देने का अधिकार यूनाइटेड स्टेट्स द्वारा खत्म या न्यून नहीं किया जाएगा या राज्यों द्वारा लिंग के आधार पर यह अधिकार खत्म या समाप्त नहीं किया जाएगा। इस मामले में यह दलील अस्वीकार कर दी गई कि निर्वाचक गणों में बहुत अधिक वृद्धि से सामाजिक संगठन और राज्य के अवशिष्ट अधिकार नष्ट हो गए। न्यायाधिपति ब्रेण्डीज ने यह मत व्यक्त किया —

> "स्वरूप और शब्दावली में यह संशोधन स्पष्ट रूप से पन्द्रहवें संशोधन के समान है। प्रत्येक को अपनाने के लिए एक सी पद्धति का अनुसरण किया गया। अतः एक विधिमान्य और दूसरा अविधिमान्य नहीं हो सकता। यह बात मान ली गई है और उसके आधार पर करीब अर्द्ध शताब्दी तक कार्य भी किया गया है कि पन्द्रहवां संशोधन विधिमान्य है। यह दलील कि पन्द्रहवां संशोधन संविधान में विधि के अनुसार सम्मिलित नहीं किया गया था किन्तु वह युद्ध के अभ्युपाय के तौर पर सम्मिलित किया गया था, जो उपमति द्वारा विधिमान्य की गई थी, नहीं मानी जा सकती।"

अब हम अनुच्छेद 31ग के दूसरे भाग पर चर्चा करेंगे जिसके अनुसार कोई विधि जो अनुच्छेद 39 के खण्ड (ख) या खण्ड (ग) में उल्लिखित तत्वों को सुनिश्चित करने के लिए राज्य की नीति को प्रभावी करने वाली हो, उस पर किसी न्यायालय में इस आधार पर आपत्ति नहीं की जाएगी कि वह ऐसी नीति को प्रभावी नहीं करती। दूसरे भाग का प्रभाव यह है कि जब उस अनुच्छेद में अनुज्ञात घोषणा कर दी जाती है तो ऐसी विधि को विधिमान्यता पर किसी न्यायालय में इस आधार पर आक्षेप नहीं किया जाएगा कि वह

([1]) (1967) 2 एस० सी० आर० 762.

([2]) (1952) एस० सी० आर० 89.

([3]) 66 लॉयर्स इडिशन 595=258 यू० एस० 13.

संविधान के अनुच्छेद 14, 19 या 31 द्वारा प्रदत्त अधिकारों में से किसी से असंगत है अथवा उसे छीनती या न्यून करती है। इस प्रकार घोषणा विधि के ऐसे उपबंधों को पूर्ण संरक्षण देती है जिनके सम्बन्ध में घोषणा की गई हो और इन उपबन्धों पर अनुच्छेद 14, 19 या 31 का उल्लंघन करने के आधार पर आक्षेप नहीं किया जा सकता। अनुच्छेद 39 के खण्ड (ख) और खण्ड (ग) में वर्णित उद्देश्यों से सम्बन्धित विधि कितनी भी सूक्ष्म क्यों न हो और वह संविधान के अनुच्छेद 14, 19 और 31 के उपबन्धों का कितना भी उल्लंघन क्यों न करती हो; उस पर उक्त आधार पर न्यायालय में आक्षेप नहीं किया जा सकता क्योंकि प्रश्नगत विधि में घोषणा अन्तःस्थापित कर दी गई है। इसका परिणाम यह है कि यदि किसी अधिनियम में 100 धाराएं हैं और इनमें से 95 ऐसी धाराएं से सम्बन्धित हैं जिनका अनुच्छेद 39 के खण्ड (ख) और (ग) में वर्णित उद्देश्यों से कोई सम्बन्ध नहीं है किन्तु शेष पांच धाराओं का इन उद्देश्यों से कोई सम्बन्ध है और विधानमण्डल में सम्पूर्ण विधि की बाबत घोषणा कर दी गई है तो 95 धाराओं को, जिनका अनुच्छेद 39 के खण्ड (ख) और (ग) के उद्देश्यों से कोई वास्ता नहीं है, संरक्षण मिल जाएगा। यह जानी-मानी बात है कि राज्य विधानमण्डल स्थानीय और क्षेत्रीय कारणों से अक्सर प्रभावित हो जाते हैं। ऐसी विधियों की कल्पना करना कठिन नहीं है जो राज्य विधानमण्डल द्वारा बनाई गई हों ऐसी विधियां भारत के ऐसे नागरिकों के विरुद्ध हो सकती हैं जो अन्य राज्यों से आए हों। ऐसा इस आधार पर किया जा सकता है कि प्रश्नगत राज्य के निवासी आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए हैं। उदाहरण के लिए, ऐसी विधि बनाई जा सकती है कि चूंकि राज्य के पुराने निवासी आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए हैं और ऐसे निवासी जो उस राज्य में तीन पीढ़ियों से अधिक समय से नहीं रह रहे हैं, और जिसका राज्य में समृद्ध कारबार है या जिन्होंने राज्य में सम्पत्ति अर्जित कर ली है, वे अपने कारबार और सम्पत्ति से इस हेतु से वंचित कर दिए जाएंगे जिससे कि वह सम्पत्ति राज्य के पुराने निवासियों में निहित की जा सके। ऐसी विधि यदि उसमें अपेक्षित घोषणा अन्तर्विष्ट है तो वह संरक्षित रहेगी और संविधान के अनुच्छेद 14, 19 और 31 का उल्लंघन करने के आधार पर उस पर आक्षेप किए जाने की मंजूरी नहीं दी जा सकती, भले ही ऐसी विधि से देश की अखण्डता और एकता पर आघात पहुंचता हो। ऐसी विधि से अन्य राज्यों के विधानमण्डल भी ऐसी विधियां बनाने के लिए उत्प्रेरित हो सकते हैं जो अन्य राज्यों से जो ऐसी विभेदकारी विधि बनाने में पहल करें, आने वाले व्यक्तियों के विरुद्ध आर्थिक क्षेत्र में विभेद करने वाली विधियां बनाएं। इस तरह विधियों की एक प्रतिक्रियात्मक शृंखला शुरू हो जाएगी जिसके कारण विभिन्न राज्यों के व्यक्तियों में विभेद किया जाएगा और जो अपनी प्रकृति के कारण ही राष्ट्रीय दृष्टि से पृथकता के दृष्टिकोण को जन्म देगी। इस प्रकार अनुच्छेद 31ग का दूसरा भाग क्षेत्रीय या स्थानीय पक्षपात के आधार पर विधियां बनाने के लिए आवरण का कार्य करेगा भले ही ऐसी विधियां, राष्ट्र की एकता को खतरा पहुंचाए और उनमें राष्ट्रीय विघटन के बीज मौजूद हों। न्यायमूर्ति होम्स के उत्कृष्ट शब्द ऐसी स्थिति में स्पष्ट रूप से लागू होते हैं। उक्त महान न्यायाधीश ने यह मत व्यक्त किया —

"मेरा यह विचार नहीं है कि यदि कांग्रेस की किसी विधि को शून्य करने की हमारी शक्ति क्षीण हो जाती है तो यूनाइटेड स्टेट्स समाप्त हो जाएगी। मेरा यह

विचार है कि यदि विभिन्न राज्यों की विधियों के सम्बन्ध में ऐसी घोषणा करने की हमें शक्ति न हो तो संघ को खतरा पैदा हो जाएगा।" [होम्स—कलेक्टेड लीगल पेपर्स—(1929) 295-96]

इस तथ्य से कोई प्रभावशाली रक्षोपाय का उपबन्ध नहीं होता है कि ऐसी विधि के लिए राष्ट्रपति की अनुमति प्राप्त करनी होगी, क्योंकि ऐसे अवसरों की सहज ही कल्पना की जा सकती है जब सम्बन्धित राज्य केन्द्र पर दबाव डाले और इस प्रकार राष्ट्रपति की अनुमति प्राप्त कर ले। ऐसे अवसर उस समय और भी अधिक होंगे जब केन्द्र में शासन सम्भालने वाले दल को क्षेत्रीय दल के राजनैतिक समर्थन पर निर्भर करना हो और ऐसा क्षेत्रीय दल राज्य विधानमण्डल द्वारा पारित प्रश्नगत विधि के लिए जिम्मेदार हो।

ऐसा प्रतीत होता है कि अनुच्छेद 31ग में घोषणा से सम्बन्धित भाग को सम्मिलित करते समय इस भाग में अन्तर्विष्ट खोटी विवक्षाओं पर और उसके द्वारा राष्ट्र की एकता पर पड़ने वाले परिणामों पर विचार नहीं किया गया और उसकी कल्पना नहीं की गई। मेरी राय है कि अनुच्छेद 31ग के इस भाग की विधिमान्यता से सम्बन्धित प्रश्न का विनिश्चय करने में हमें बहुत अधिक विधिपरायण दृष्टिकोण नहीं अपनाना चाहिए। यदि विधिपरायण निर्णय से देश की एकता पर प्रभाव पड़ता है तो ऐसा निर्णय वास्तव में बिल्कुल भी लाभदायक नहीं होगा। इस संदर्भ में कांस्टिट्यूशन ऑफ दि यूनाइटेड स्टेट्स से सम्बन्धित स्टोरी की टीका से एक अंश उद्धृत करना बहुत उपयुक्त होगा। उसमें उसने बर्क द्वारा दी गई चेतावनी को थोड़ा बदल कर अपनाया है —

> "मुहावरे में थोड़ा सा परिवर्तन करके बर्क द्वारा की गई टिप्पणी उन सब व्यक्तियों को, जिनसे संविधान का निर्माण करने या उसका निर्वचन करने की अपेक्षा की जाए, चेतावनी के रूप में सम्बन्धित की जा सकती है। सरकार एक व्यवहारिक माध्यम है जो मानवसमाज के सुख के लिए बनाई जाती है और वह कल्पनाशील राजनीतिज्ञों की एकरूपता से सम्बन्धित स्कीमों को पूरा करने के लिए नहीं है। उन सब व्यक्तियों का, जिनसे उस पर अमल करने की अपेक्षा की गई है, काम शासन करना है न कि वितण्डा बनाना है। यह बहुत कम संतोष की बात होगी कि कोई किसी विवाद में विजयी हो जाए जब कि हम साम्राज्य ही खो दें। यह कि हमने शक्ति नष्ट कर दी और इसके साथ ही लोकतन्त्र को नष्ट कर दिया। (पैरा 456)"

लेकिन अनुच्छेद 31ग के दूसरे भाग के जो बुरे परिणाम होंगे वे इस मामले में अवधारक नहीं हैं। अतः मैं इस मामले की परीक्षा विधिक दृष्टिकोण से करूंगा। इस सम्बन्ध में मेरा यह अभिमत है कि संविधान में तीन प्रकार के संशोधन किए जा सकते हैं जिनका उद्देश्य विधायी अभ्युपायों को संरक्षण देना और उन्हें न्यायिक समीक्षा से उन्मुक्त करना या उन्हें न्यायालय में आक्षेप किए जाने से उन्मुक्त करना हो।

पहले प्रकार के संशोधन विधानमण्डल द्वारा किसी कानून के पारित कर दिए जाने पर अनुच्छेद 368 के अनुसार सांविधानिक संशोधन किया जाता है और उक्त कानून अनुच्छेद 31ख के अधीन नवम अनुसूची में अन्तर्विष्ट कर दिया जाता है। ऐसा कानून या उसका

कोई भी उपबन्ध न्यायालय में अविधिमान्य नहीं ठहराया जा सकता और इस आधार पर शून्य या कभी शून्य हुआ नहीं समझा जाएगा कि वह कानून या उसका कोई भाग, संविधान के भाग 3 के किन्हीं उपबंधों द्वारा प्रदत्त अधिकारों से असंगत है अथवा उसे छीनता है या न्यून करता है। ऐसे मामले में सम्पूर्ण कानून के उपबन्ध संसद् के प्रत्येक सदन के समक्ष रखे जाते हैं। प्रत्येक सदन के सदस्यों में से आधे से कम न होने वाले और प्रत्येक सदन के मत देने वाले और उपस्थित रहने वाले सदस्यों के दो-तिहाई से कम न होने वाले सदस्यों को यह अधिकार है कि वे ऐसे कानून पर विचार करने के पश्चात् उस कानून को या तो पूरा का पूरा या उसका कोई भाग नवम अनुसूची में रख दें या ऐसा न करें। यदि संसद् के प्रत्येक सदन के कुल सदस्यों के आधे से अन्यून और प्रत्येक सदन में उपस्थित और मत देने वाले दो-तिहाई से अन्यून सदस्य यह विनिश्चय करते हैं कि किसी कानून विशेष के उपबंध या तो पूरे के पूरे या भागतः अनुच्छेद 31ख के अधीन संरक्षित किए जाने चाहिएं, तब उक्त उपबन्ध नवम अनुसूची में अन्तःस्थापित किया जाता है। इस प्रकार का सांविधानिक संशोधन किसी विद्यमान विधि से सम्बन्धित रहता है। उसके उपबन्धों की संसद् के दोनों सदनों द्वारा परीक्षा की जा सकती है ऐसा सांविधानिक संशोधन कानून पर यह आक्षेप किए जाने से संरक्षण देता है कि वह संविधान के भाग 3 के किसी उपबन्ध का उल्लंघन करता है और ऐसा संशोधन, संविधान (प्रथम संशोधन) अधिनियम, 1951 द्वारा पुरःस्थापित किया गया था और शंकरी प्रसाद वाले मामले (1) में उसकी विधिमान्यता कायम रखी गई थी।

दूसरे प्रकार का सांविधानिक संशोधन वह है जिसके सांविधानिक संशोधन में वे विषय विनिर्दिष्ट किए जाते हैं जिसके सम्बन्ध में विधानमण्डल द्वारा विधि बनाई जा सकती है और ऐसे संशोधन में यह भी उपबन्ध किया जाता है कि उस विषय से सम्बन्धित बनाई गई विधि इस आधार पर शून्य नहीं समझी जाएगी कि वह संविधान के भाग 3 द्वारा प्रदत्त अधिकारों में से किसी अधिकार से असंगत है या उसे छीनती है या न्यून करती है। ऐसे मामले में विधि तब भी संरक्षित रहती है जब वह संविधान के भाग 3 के उपबन्धों का उल्लंघन करती है। तथापि ऐसे किसी मामले में व्यथित पक्षकार द्वारा आवेदन किए जाने पर न्यायालय को इस बात की जांच करने का अधिकार है कि क्या विधि उस प्रयोजन के लिए बनाई गई है जिसके लिए सांविधानिक संरक्षण उपलब्ध है। इस प्रकार विधि न्यायिक पुनर्विलोकन के अध्यधीन है और यदि उस प्रयोजन के लिए नहीं है जिसके लिए सांविधानिक संशोधन द्वारा संरक्षण दिए गए हैं तो वह अविधिमान्य की जा सकती है। इस प्रवर्ग में संविधान के अनुच्छेद 31क के अधीन बनाई गई विधियां आती हैं। संविधान में वे विषय विनिर्दिष्ट किए गए हैं जिनके लिए विधियां बनाई जा सकती हैं और वह इन विधियों को संरक्षण देता है। पक्षकार को ऐसी किसी विधि की विधिमान्यता पर इस आधार पर हमेशा ही आक्षेप करने का अधिकार है कि वह अनुच्छेद 31क में उल्लिखित विषयों में से किसी से भी सम्बन्धित नहीं है। यदि न्यायालय को यह ज्ञात होता है कि आक्षेपित विधि अनुच्छेद 31-क में वर्णित विषयों से सम्बन्धित है तो वह उस आक्षेपित विधि को उस अनुच्छेद द्वारा अनुज्ञात संरक्षण देगा अन्यथा नहीं। अनुच्छेद 31क संविधान (प्रथम संशोधन)

(1) (1952) एस० सी० आर० 89.

अधिनियम, 1951 द्वारा पुरःस्थापित किया गया था और जैसा पहले बतलाया गया है, शंकरी प्रसाद वाले मामले (1) में प्रथम संशोधन की विधिमान्यता कायम रखी गई थी।

तीसरे प्रकार का सांविधानिक संशोधन वह है जिसके अनुसार किसी उद्देश्य विशेष के लिए बनाई गई विधि आक्षेप किए जाने से संरक्षित रहती है भले ही ऐसी विधि अनुच्छेद 14, 19 और 31 का उल्लंघन करती हो। सांविधानिक संशोधन में आगे यह और उपबन्धित है कि क्या कोई विधि किसी विनिर्दिष्ट उद्देश्य के लिए बनाई गई है, वाद-योग्य नहीं है और इस प्रयोजन के लिए विधानमण्डल द्वारा की गई घोषणा पर्याप्त है और उससे न्यायालय इस प्रश्न पर विचार करने से प्रवारित हो जाएगा कि क्या विधि सांविधानिक संशोधन द्वारा विहित उद्देश्य के लिए बनाई गई है। इस कोटि में पच्चीसवें संशोधन का वह भाग आता है जिसके द्वारा अनुच्छेद 31ग अन्तःस्थापित किया गया। यह बात उसके दूसरे भाग के बारे में भी कही जा सकती है। अनुच्छेद 31ग के अधीन बनाई गई विधि भी संसद् के प्रत्येक सदन के आधे सदस्यों से अन्यून द्वारा और प्रत्येक सदन में उपस्थित और मत देने वाले सदस्यों के दो-तिहाई से अन्यून सदस्यों द्वारा संरक्षण देने के लिए अपेक्षा नहीं की जाती है जैसा कि संविधान की नवम अनुसूची में अन्तः स्थापित विधियों की दशा में जरूरी है। और न ही अनुच्छेद 31ग के अधीन बनाई गई विधि इस बात का पता लगाने के लिए कि क्या वह विधि वास्तव में अनुच्छेद 31ग में वर्णित उद्देश्य के लिए बनाई गई है, न्यायिक पुनर्विलोकन के अध्यधीन होगी। इस प्रकार अनुच्छेद 31ग, अनुच्छेद 31क की स्कीम से पृथक् है क्योंकि अनुच्छेद 31क में इस बात का पता लगाने के लिए कि क्या कोई विधि अनुच्छेद 31क में वर्णित उद्देश्यों में से किसी के लिए बनाई गई है, न्यायिक पुनर्विलोकन किया जा सकता है। किन्तु अनुच्छेद 31ग के अधीन ऐसा न्यायिक पुनर्विलोकन अभिव्यक्त रूप से प्रतिषिद्ध कर दिया गया है। इसका परिणाम यह है कि यदि अनुच्छेद 31ग के अधीन बनाई गई किसी विधि के सम्बन्ध में न्यायालय में यह भी बतला दिया जाए कि वह अनुच्छेद 31ग में वर्णित प्रयोजन के लिए अधिनियमित नहीं की गई है किन्तु किसी अन्य प्रयत्न के लिए अधिनियमित की गई है तब भी वह विधि संरक्षित रहेगी और उस पर इस आधार पर आक्षेप नहीं किया जा सकता कि वह संविधान के अनुच्छेद 14, 19 और 31 का उल्लंघन करती है क्योंकि अनुच्छेद 31ग के दूसरे भाग द्वारा यथा अनुध्यात घोषणा विधानमण्डल द्वारा कर दी गई है। इस संदर्भ में यह भी बतला दिया जाए कि ऐसी विधि किसी विधानमण्डल में बहुमत मात्र से ही पारित की जा सकती है भले ही कोरम के लिए अपेक्षित न्यूनतम सदस्य सदन में हों। कोरम के लिए विधानमण्डल की कुल सदस्य संख्या का दसवां अंश अपेक्षित होता है और विधि पारित किए जाने के समय इतने सदस्य उपस्थित रहने से ही विधि पारित की जा सकती है।

ऊपर वर्णित संशोधन का प्रभाव यह है कि भले ही विधि सारतः अनुच्छेद 39(क) और 39(ख) में वर्णित उद्देश्यों को अग्रेषित करने के लिए न हो और उसका इन दोनों उद्देश्यों से बहुत थोड़ा सम्बन्ध हो किन्तु विधानमण्डल द्वारा की गई घोषणा, उस पर इस आधार पर किए गए आक्षेप के लिए कि वह विधि उन उद्देश्यों को पूरा करने के लिए नहीं है, रास्ते का पत्थर बन जाएगी। इस प्रकार इस उपबन्ध के परिणामस्वरूप केन्द्र और राज्य विधानमण्डलों को इस बात के लिए सशक्त किया जा रहा है कि वे अपने द्वारा बनाई गई किसी विधि के सम्बन्ध में घोषणा कर सकें जो अनुच्छेद 14, 19 और 31

(1) (1952) एस० सी० आर० 89.

के उपबन्धों का उल्लंघन करती हो और इस प्रकार उसी आधार पर न्यायालय में आक्षेप किए जाने से संरक्षण दिया जा सकता है। परिणाम यह है कि भले ही संविधान में संशोधन करने के प्रयोजन के लिए अनुच्छेद 368 में एक विस्तृत प्रक्रिया का उपबन्ध किया गया है, किन्तु राज्य या केन्द्र विधानमण्डल के साधारण बहुमत को यह शक्ति दी गई है कि यदि कोरम की अपेक्षा पूरी करने के लिए न्यूनतम संख्या में सदस्य उपस्थित हों और वे ऐसी विधि बनाएं जिसमे अनुच्छेद 14, 19 और 31 के उपबन्धों का उल्लंघन होता हो तो उस विधि में एक घोषणा अन्तः स्थापित करके उसे आक्षेप किए जाने से उन्मुक्त बना दें। उन व्यक्तियों की, जो विधि पारित करते हैं, यह इच्छा होना स्वभाविक है कि वह विधि अविधिमान्य न ठहराई जाए। अतः ऐसी घोषणा अन्तःस्थापित करके अधिनियम को आक्षेप से उन्मुक्त बनाने की प्रवृत्ति होगी भले ही अधिनियम के एक या दो उपबन्धों का ही अनुच्छेद 39 (ख) और (ग) में वर्णित उद्देश्यों से सम्बन्ध हो। इस प्रकार अनुच्छेद 14, 19 और 31 संविधान के निर्जीव, अमल में न आने वाले और प्रयोजनहीन दिखावे के उपबन्ध मात्र बने रह जाएंगे।

संशोधन करने की शक्ति महत्वपूर्ण शक्तियों में से एक है जो संविधान के अधीन प्रदत्त की जा सकती है। जैसा पहले बतलाया गया है, फाइनर के मतानुसार संशोधन से संबंधित खण्ड इतना मूलभूत है कि स्वतः उसे ही संविधान कहा जा सकता है जब कि बर्गीस के मत के अनुसार संशोधन सम्बन्धी खण्ड संविधान का अत्यन्त महत्वपूर्ण भाग है। इस परिस्थिति से इस तथ्य की पुष्टि होती है कि संविधान का संशोधन करने के लिए एक व्यापक प्रक्रिया विहित की गई है। संशोधन की शक्ति इतनी महत्वपूर्ण है कि वह न तो प्रत्यायोजित की जा सकती है और न वे प्राधिकारी जिनमें संशोधन करने की शक्ति निहित है उस शक्ति को किसी अन्य के पक्ष में त्याग ही सकते हैं। इसके अतिरिक्त जब एक बार ऐसी शक्ति सांविधानिक संशोधन द्वारा राज्य विधानमण्डलों को या तो प्रत्यक्षतः या वस्तुतः प्रदत्त कर दी जाती है तो उस शक्ति को वापस लेना कठिन होगा क्योंकि ऐसा सांविधानिक संशोधन द्वारा ही किया जा सकता है और ऐसी शक्ति प्राप्त करके राज्य सरकारें उसे छोड़ने के लिए बिल्कुल भी रजामन्द नहीं होंगी। किसी राज्य विधानमण्डल को संविधान के अनुच्छेद 14, 19 और 31 का उल्लंघन करके विधियां बनाने के लिए सशक्त करने में और राज्य विधानमण्डल को ऐसी विधियां बनाने में सशक्त करने में जिन पर अपेक्षित घोषणा अन्तःस्थापित किए जाने के आधार पर आक्षेप नहीं किया जा सकता कि वे अनुच्छेद 14, 19 और 31 का उल्लंघन करती हैं, अनुच्छेद 368 (उदाहरणतः संसद् के प्रत्येक सदन में विहित बहुमत) के अधीन संशोधन करने की शक्ति से निहित प्राधिकारी ने वास्तव में महत्वपूर्ण पहलुओं के सम्बन्ध में राज्य विधानमण्डल को संशोधन करने की शक्ति प्रत्यायोजित कर दी है। यद्यपि वे उद्देश्य जिनके लिए ऐसी विधियां बनाई जा सकती हैं, विनिर्दिष्ट कर दिए गए हैं, किन्तु घोषणा से सम्बन्धित अनुच्छेद 31ग के पश्चात्‌वर्ती भाग का प्रभाव यह है कि प्रश्नगत विधि ऐसे उद्देश्यों से भी सम्बन्धित हो सकती है जो विनिर्दिष्ट न किए गए हों। अनुच्छेद 31ग में घोषणा से सम्बन्धित दूसरा भाग अनुच्छेद 31क की स्कीम के विपरीत है क्योंकि अनुच्छेद 31क द्वारा दिया गया संरक्षण ऐसी विधियों को उपलब्ध है जो विनिर्दिष्ट विषयों

के लिए है। अनुच्छेद 31ग के अधीन दी गई उन्मुक्ति का लाभ ऐसी विधियों को भी मिल सकता है जो विनिर्दिष्ट उद्देश्य के लिए नहीं बनाई गई हैं। राज्य विधानमण्डलों द्वारा इस प्रकार बनाई गई विधि का संविधान को उस सीमा तक संशोधन करने का प्रभाव होगा। जैसा पहले बतलाया गया है ऐसी शक्ति का प्रयोग राज्य विधानमण्डल सदन के साधारण बहुमत से ही कर सकता है। ऐसी शक्ति के प्रयोग के समय कोरम के नियम के अनुसार न्यूनतम संख्या में सदस्यों का उपस्थित रहना ही अपेक्षित है।

इनिशिएटिव एण्ड रिफरेण्डम ऐक्ट वाले मामले(1) में जुडीशियल कमेटी ने एक पूर्ववर्ती विनिश्चय के प्रति निर्देश करने के पश्चात् जिसमें यह अभिनिर्धारित किया गया था कि ओण्टेरियो का विधानमण्डल कमिश्नरों के बोर्ड की टैवर्न्स के सम्बन्ध में अधिनियमित करने का प्राधिकार न्यस्त करने का हकदार था। जुडीशियल कमेटी ने पृष्ठ 945 पर यह मत व्यक्त किया —

> "किन्तु इससे यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि वह स्वयं अपनी सामर्थ्य से उस अधिनियम द्वारा सृष्ट नहीं की गई नई विधायी शक्ति सृष्ट और विन्यस्त कर सकता है जिससे वह स्वयं अस्तित्व में आया है। माननीय न्यायाधीशों ने इस प्रकार उद्भूत होने वाले सांविधानिक प्रश्नों की गम्भीरता पर ध्यान आकर्षित करने के सिवाय और कुछ नहीं किया।"

यदि किसी विधानमण्डल के लिए अपनी सामर्थ्य से ही ऐसी विधायी शक्ति को, जो ऐसे अधिनियम द्वारा सृष्ट नहीं है, जिसके कारण वह स्वयं अस्तित्व में आया है, सृष्ट और विन्यस्त करना अनुज्ञेय नहीं है तो मेरी राय है कि अनुच्छेद 368 को देखते हुए जैसा वह वर्तमान में हमारे संविधान के अन्तर्गत है राज्य विधानमण्डल जैसे अन्य प्राधिकरण में संशोधन करने वाला प्राधिकार निहित करना किसी प्रकार भी अनुज्ञेय नहीं होगा। इस सन्दर्भ में इस बात पर जोर दिया जाता है कि अनुच्छेद 368 के अनुसार इस संविधान का संशोधन संसद् के किसी भी सदन में इस प्रयोजन के लिए एक विधेयक का सूत्रपात करके और उसे पुरःस्थापित करके ही किया जा सकता है। "ही" शब्द का महत्त्व है और इससे यह ज्ञात होता है कि जब तक अनुच्छेद 368 अपने वर्तमान प्ररूप में अस्तित्व में है, संशोधन की अन्य पद्धतियों की कोई गुंजाइश नहीं है।

यह वर्णित कर दिया जाए कि विधायी क्षमता के प्रश्न के अलावा, वे अनुच्छेद जिनके उल्लंघन के लिए बहुत अधिक संख्या में कानून अभिखण्डित किए गए हैं, अनुच्छेद 14, 19 और 31 हैं। यह प्रश्न कि क्या आक्षेपित कानून विधायी क्षमता से परे है, अनुच्छेद 31ग के संरक्षण के बावजूद भी चुनौती दिए जाने योग्य है। ऐसा उसी प्रकार किया जा सकता है जिस प्रकार कि अनुच्छेद 31क द्वारा दिए गए संरक्षण के होते हुए भी किसी विधि पर आक्षेप किया जा सकता है, किन्तु अन्य बातों में ऊपर बतलाए अनुसार ऐसा ज्ञात होता है, कि अनुच्छेद 31ग अनुच्छेद 31क और 31ख के व्याप्ति क्षेत्र से बहुत परे है।

---

(1) (1919) ए० सी० 935.

फेडरल पद्धति में जहां विधायी शक्तियों के क्षेत्र केन्द्रीय विधानमण्डल और राज्य विधानमण्डल के बीच बंटे होते हैं, विवाद की दशा में निपटारा करने के लिए और साथ ही इस विवाद का निपटारा करने के लिए कि क्या केन्द्रीय विधानमण्डल द्वारा बनाई गई विधि में उस विषय का वर्णन है जिसके सम्बन्ध में राज्य विधानमण्डल द्वारा अनन्य रूप से कार्यवाही की जा सकती है, ऐसे तन्त्र के लिए उपबन्ध करना होता है जिससे कि यह विनिश्चित किया जा सके कि राज्य विधानमण्डल द्वारा बनाई गई विधि केन्द्रीय विधानमण्डल के लिए अलग रखे गए क्षेत्र का अतिक्रमण तो नहीं करती है यह बात न केवल फेडरल पद्धति के लिए सच है किन्तु हमारे देश में जो सांविधानिक ढांचा है उसमें भी लागू होती है। हमारे संविधान निर्माताओं ने यद्यपि यथावत् रूप से फेडरल पद्धति नहीं अपनाई किन्तु विधायन के क्षेत्रों का केन्द्रीय विधानमण्डल और राज्य विधानमण्डलों के बीच अलग-अलग विभाजन करके फेडरल पद्धति के तत्वों को अपनाया है। इस प्रकार के विवादों को कि क्या केन्द्रीय विधानमण्डल ने राज्य विधानमण्डलों के विधायी क्षेत्र का अतिचार किया है या क्या राज्य विधानमण्डलों ने केन्द्रीय विधानमण्डल के विधायी क्षेत्र का अधिक्रमण किया है, सुलझाने के लिए व्यवस्था न्यायालय द्वारा की जाती है और विधानमण्डलों द्वारा पारित किए गए अधिनियमों की विधिमान्यता का अवधारण करने के लिए न्यायालयों में न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्तियां निहित की गई हैं। तथापि न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति केवल इस बात का विनिश्चय करने तक ही सीमित नहीं है कि क्या आक्षेपित विधियां बनाने में केन्द्रीय विधानमण्डल या राज्य विधानमण्डलों ने अपने लिए निश्चित विधायी सूचियों की परिधि के भीतर काम किया है। न्यायालय इस प्रश्न पर भी विचार करते हैं कि क्या विधियां संविधान के अनुच्छेदों के अनुरूप बनाई गई हैं और उनसे संविधान के अन्य उपबन्धों का उल्लंघन तो नहीं होता है। हमारे संविधान निर्माताओं ने भाग 3 में मूल अधिकारों के लिए उपबन्ध किया है और उन्हें वादयोग्य (जस्टिशिएबल) बनाया है। जब तक कुछ मूल अधिकार अस्तित्व में रहते हैं और वे संविधान के भाग हैं, न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति का प्रयोग इस बात का पता लगाने के लिए किया जाएगा कि उन अधिकारों द्वारा दी गई गारण्टियों का उल्लंघन नहीं किया जाता है। प्रारूप अनुच्छेद 25 द्वारा मूल अधिकारों को प्रवृत्त करने के लिए उच्चतम न्यायालय में आवेदन करने का अधिकार दिया गया है। प्रारूप अनुच्छेद 25 संविधान के वर्तमान अनुच्छेद 32 के समान है। प्रारूप 25 पर विचार करते हुए डा० अम्बेदकर ने संविधान सभा में बोलते हुए 9 दिसम्बर, 1948 को यह मत व्यक्त किया—

> "यदि मुझसे इस संविधान का सबसे अधिक महत्वपूर्ण कोई विशिष्ट अनुच्छेद पूछा जाए—ऐसा अनुच्छेद जिसके बिना यह संविधान अकृत हो जाएगा तो मैं इस अनुच्छेद से अन्य किसी अनुच्छेद के प्रति निर्देश नहीं करूंगा। यह अनुच्छेद संविधान की आत्मा और संविधान का हृदय है और मुझे इस बात की प्रसन्नता है कि सदन ने उसके महत्व को समझा है।" (कांस्टिट्यूएण्ट असेम्बली डिबेट्स, खण्ड 7,90 पृष्ठ 953)

इस प्रकार न्यायिक पुनर्विलोकन हमारे सांविधानिक पद्धति का एक अभिन्न अंग बन गया है और कानूनों के उपबन्धों की सांविधानिक विधिमान्यता विनिश्चित करने के लिए उच्च न्यायालय और उच्चतम न्यायालय में शक्ति निहित की गई है। यदि यह पाया

जाए कि कानून के उपबन्ध संविधान के, जो सभी विधियों की विधिमान्यता परखने की कसौटी है, किसी उपबन्ध का उल्लंघन करते हैं तो उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालय उक्त उपबन्धों को अविधिमान्य घोषित करने के लिए सशक्त हैं। एक क्षेत्र ऐसा है जहां न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति इस बात का पता लगाने के लिए नहीं दी गई है कि क्या संविधान के भाग 3 के उपबन्धों का उल्लंघन किया गया है और किसी अधिनियम, विनियम या उपबन्ध को अविधिमान्य करने की शक्ति नहीं है भले ही वह संविधान के भाग 3 द्वारा प्रदत्त अधिकारों में से किसी अधिकार से असंगत हो या उसे छीनता या न्यून करता हो। यह क्षेत्र नवम अनुसूची सहित अनुच्छेद 31ख है। जैसा ऊपर वर्णित किया गया है, अनुच्छेद 31ख संविधान (प्रथम संशोधन) अधिनियम द्वारा अन्तःस्थापित किया गया था। अनुच्छेद 31ख के अनुसार, न तो नवम अनुसूची में विनिर्दिष्ट अधिनियमों और विनियमों में से कोई और न उसके उपबन्धों में से किसी की बाबत इस कारण से कि ऐसा अधिनियम, विनियम या उपबन्ध संविधान के भाग 3 के किन्हीं उपबन्धों द्वारा प्रदत्त अधिकारों में से किसी से असंगत है या उसके द्वारा प्रदत्त अधिकारों में से किसी को छीनता है या न्यून करता है, यह न समझा जाएगा कि वह शून्य है या कभी शून्य हो गया था तथापि ध्यान देने योग्य एक महत्वपूर्ण बात यह है कि अनुच्छेद 31ख के अधीन न्यायिक पुनर्विलोकन के अपवर्जन की शक्ति का, जो इस बात का पता लगाने के लिए प्रयुक्त की जा सकती है कि क्या भाग 3 के किसी उपबन्ध का उल्लंघन हुआ है, प्रयोग उस विधानमण्डल द्वारा नहीं किया जाता है जिसने आक्षेपित विधि निर्मित की है किन्तु ऐसा उस प्राधिकरण द्वारा किया जाता है जो अनुच्छेद 368 के अधीन सांविधानिक संशोधन करता है, अर्थात् संसद् के प्रत्येक सदन में विहित बहुमत। ऐसी शक्ति का प्रयोग विद्यमान कानून के सम्बन्ध में किया जाता है जिससे कि नवम अनुसूची में रखे जाने के पहले उसके उपबन्धों की संवीक्षा की जा सके। इस बात का विनिश्चय करना प्रत्येक सदन में विहित बहुमत का काम है कि क्या कोई कानून विशेष नवम अनुसूची में रखा जाना चाहिए। और यदि रखा जाना चाहिए तो क्या वह पूरे का पूरा रखा जाना चाहिए या भागतः रखा जाना चाहिए। इसके विपरीत अनुच्छेद 31ग के अधीन स्थिति यह है कि यद्यपि सांविधानिक संशोधन करने वाले प्राधिकरण द्वारा न्यायिक पुनर्विलोकन अपवर्जित कर दिया गया है किन्तु वह विधि जिसके सम्बन्ध में न्यायिक पुनर्विलोकन अपवर्जित कर दिया गया है, विधानमण्डलों द्वारा पारित की जानी है। यद्यपि वह उद्देश्य जिसके लिए ऐसी विधि अधिनियमित की जा सकती है अनुच्छेद 31ग में विनिर्दिष्ट है किन्तु यह विनिश्चित करने की शक्ति कि क्या अधिनियमित विधि उस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए है, न्यायालय में निहित नहीं है किन्तु उस विधानमण्डल में ही निहित है जो विधि पारित करता है। अनुच्छेद 31ग में खामी यह है कि भले ही अधिनियमित विधि अनुच्छेद 31ग में वर्णित उद्देश्य के लिए न हो किन्तु विधानमण्डल द्वारा की गई घोषणा से प्रभावित पक्षकार यह दर्शाने से प्रवारित कर दिया जाता है कि विधि उस उद्देश्य के लिए नहीं है और इससे न्यायालय पर उस प्रश्न पर विचार करने से रोक लगा दी जाती है कि क्या [अधिनियम वास्तव में उस उद्देश्य के लिए है। इस बात का पता लगाने के लिए अनुच्छेद 31क के अधीन अनुज्ञेय सीमित न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति कि क्या अधिनियमित विधि अनुच्छेद 31क में वर्णित उद्देश्य के लिए है, अनुच्छेद 31ग के अधीन नष्ट कर दी

गई है। इस प्रकार का सीमित न्यायिक पुनर्विलोकन यद्यपि अनुच्छेद 31क के अधीन अनुज्ञेय है, अनुच्छेद 31ग में वर्णित घोषणा का प्रभाव विधानमण्डल द्वारा अधिनियमित विधि को इस आधार पर चुनौती दिए जाने से संरक्षण देना है कि उसमें अनुच्छेद 14, 19 और 31 का उल्लंघन होता है भले ही न्यायालय में ऐसी विधि के सम्बन्ध में यह दर्शा दिया जाए कि वह अनुच्छेद 31ग में वर्णित उद्देश्यों के लिए अधिनियमित नहीं की गई थी। हमारे संविधान में विधि शासन की कल्पना इस अर्थ में की गई है कि मनमानेपन के विपरीत संविधान और विधियां सर्वोपरि हैं। मेरे मतानुसार वास्तव में न्यायिक पुनर्विलोकन के अपवर्जन की शक्ति विधानमण्डल को, जिसके अन्तर्गत राज्य विधानमण्डल भी हैं, निहित करके संविधान के मूलभूत ढांचे पर प्रहार किया गया है, और अनुच्छेद 31ग में ऐसा किया जाना अनुध्यात है। इस प्रकार अनुच्छेद 31ग का दूसरा भाग अनुच्छेद 368 के अधीन होने वाले संशोधन से भी अनुज्ञेय सीमा से परे हो जाता है।

प्रत्यर्थियों की ओर से यह दलील दी गई कि अनुच्छेद 31ग में निर्दिष्ट घोषणा से न्यायालय इस बात का पता लगाने से प्रवारित नहीं हो जाएगी कि क्या विधि अनुच्छेद 39 के खण्ड (ख) और (ग) में विनिर्दिष्ट सिद्धान्तों को सुनिश्चित करने के लिए राज्य की नीति को प्रभावी करने के लिए है और यदि न्यायालय किसी अधिनियमिति के सम्बन्ध में इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि वह उपर्युक्त प्रयोजनों को सुनिश्चित करने के लिए नहीं है तो ऐसे विधान को अनुच्छेद 31ग का संरक्षण उपलब्ध नहीं होगा।

इस सम्बन्ध में घोषणा से सम्बन्धित अनुच्छेद 31ग की भाषा को ध्यान में रखते हुए मैं यह दलील स्वीकार नहीं कर सकता। उपर्युक्त दलील अवश्य ही महत्वपूर्ण हो जाती यदि अनुच्छेद का दूसरा भाग, जो घोषणा से सम्बन्धित है, नहीं होता। प्रश्नगत घोषणा के न होने की दशा में, न्यायालय को इस बात का पता लगाने का अधिकार होगा और न्यायालय को इस बात का पता लगाना वास्तव में जरूरी होगा और यह कि न्यायालय अनुच्छेद 31ग के अधीन आक्षेपित विधि की विधिमान्यता कायम रखने के पहले इस बात पर विचार करेगा, क्या आक्षेपित विधि अनुच्छेद 39 के खण्ड (ख) या (ग) में विनिर्दिष्ट सिद्धान्तों को सुनिश्चित करने के लिए राज्य की नीति को प्रभावशील करने के लिए है लेकिन यदि एक बार किसी विधि में ऐसी घोषणा अन्तर्विष्ट रहती है तो वह घोषणा वर्जन के तौर पर होगी और न्यायालय को इस बात का पता लगाने की अनुज्ञा नहीं होगी कि क्या आक्षेपित विधि अनुच्छेद 31ग में वर्णित नीति को प्रभावी करने के लिए है। अनुच्छेद 31ग ऐसी विधि को संरक्षित करता है जो अनुच्छेद 39 के खण्ड (ख) या (ग) में विनिर्दिष्ट सिद्धान्तों को सुनिश्चित करने के लिए राज्य नीति को प्रभावी करने के लिए हो साथ ही उसमें यह भी उपबन्धित है कि ऐसी किसी विधि पर जिसमें यह घोषणा अन्तर्विष्ट हो कि वह ऐसी नीति को प्रभावी करने के लिए है, किसी न्यायालय में इस आधार पर आक्षेप किया जाना उचित नहीं होगा कि वह ऐसी नीति को प्रभावी नहीं करती है। अतः यह स्पष्ट है कि जब एक बार किसी विधि में अपेक्षित घोषणा अन्तर्विष्ट होती है तो न्यायालय इस प्रश्न पर विचार करने से प्रवारित होगा कि विधि अनुच्छेद 39 के खण्ड (ख)

या (ग) में विनिर्दिष्ट सिद्धान्तों को सुनिश्चित करने के लिए राज्य की नीति को प्रभावी करती है या नहीं। घोषणा के निश्चायक स्वरूप को देखते हुए मेरी राय में यह अभिनिर्धारित करना कि अपेक्षित घोषणा के बावजूद न्यायालय इस प्रश्न पर विचार कर सकता है कि क्या वह विधि अनुच्छेद 39 के खण्ड (ख) या (ग) में विनिर्दिष्ट सिद्धान्तों को सुनिश्चित करने के लिए राज्य की नीति को प्रभावी करती है या नहीं, अनुच्छेद 31ग की भाषा में खींचतान करके अर्थ निकालने के समान होगा। परिणाम यह है कि यदि अनुच्छेद 31ग की अनुज्ञात घोषणा विधि में अन्तर्विष्ट रहती है तो भले ही तथ्य के होते हुए भी कि क्या विधि अनुच्छेद 39 के खण्ड (ख) या (ग) में विनिर्दिष्ट सिद्धान्तों को सुनिश्चित करने के लिए राज्य की नीति को प्रभावी करने के लिए हो या न हो, वह संविधान के अनुच्छेद 14,19 और 31 का उल्लंघन करने के आधार पर आक्षेप किए जाने से पूर्ण रूप से संरक्षित होगी। दूसरे शब्दों में वे विधियां भी, जो अनुच्छेद 39 के खण्ड (ख) या (ग) में विनिर्दिष्ट सिद्धान्तों को सुनिश्चित करने के लिए राज्य की नीति को प्रभावी नहीं करती हैं, संरक्षित रहेंगी, यदि उनमें अनुच्छेद 31ग में वर्णित घोषणा अन्तर्विष्ट है।

मेरा भी यह मत है कि घोषणा से सम्बन्धित अनुच्छेद 31ग में अन्तर्विष्ट पश्चात्वर्ती भाग की विधिमान्यता प्रत्यर्थियों द्वारा बहस के दौरान दी गई किसी रियायत के आधार पर विनिश्चित नहीं की जा सकती। ऐसी रियायत यदि आक्षेपित उपबन्ध की भाषा द्वारा न्यायोचित नहीं है तो वह अधिक लाभदायक नहीं होगी। संविधान के किसी अनुच्छेद या किसी आक्षेपित उपबन्ध की सांविधानिक विधिमान्यता के अर्थान्वयन से सम्बन्धित बातें सुसंगत उपबन्धों को ध्यान में रखते हुए विनिश्चित की जानी चाहिए और राज्य के काउन्सेल या विरोधी पक्ष के काउन्सेल द्वारा कोई रियायत दिये जाने से न्यायालय को रियायत को ध्यान में रखे बिना स्वतन्त्र रूप से अवधारण करने से छूट नहीं मिल पाएगी। कभी-कभी कोई काउन्सेल किसी महत्वपूर्ण मुद्दे पर अपने पक्ष में अभिमत प्राप्त करने की दृष्टि से कोई रियायत दे देता है, लेकिन ऐसी रियायत दूसरे काउन्सेल पर आबद्धकर नहीं होती। यह सुस्थिर है कि काउन्सेल द्वारा विधि के किसी प्रश्न पर की गई स्वीकारोक्ति या रियायत दूसरे काउन्सेल द्वारा प्रतिनिधित्व किए जाने वाले दूसरे पक्ष पर आबद्धकर नहीं है। ऐसी स्वीकारोक्ति या रियायत दूसरे पक्षकारों को यह बात बताने से प्रवारित करने में और भी कम असरदार है कि रियायत गलत या न्यायसंगत नहीं थी। अतः मोटे सिद्धान्त के तौर पर यह अधिकथित किया जा सकता है कि सांविधानिक मामले पक्षकारों के बीच हुए करार या समझौते के अनुसार नहीं निपटाए जा सकते हैं और न ही अन्य पक्षकारों पर निर्णय आबद्धकर होने के लिए ऐसे विवादों का विनिश्चय किसी रियायत पर आधृत हो सकता है भले ही ऐसी रियायत राज्य के काउन्सेल द्वारा दी जाए। रियायत उचित होनी चाहिए और सुसंगत उपबन्धों को देखते हुए न्यायसंगत होनी चाहिए।

जो स्थिति प्रकट होती है वह यह है कि संविधान को संशोधित करने वाले प्राधिकरण को यह अधिकार है कि वह किसी विद्यमान विधि की विधिमान्यता की बाबत न्यायिक पुनर्विलोकन अपवर्जित कर दे। इसी प्रकार उक्त प्राधिकरण को यह अधिकार है कि वह ऐसे कानून की विधिमान्यता की बाबत न्यायिक पुनर्विलोकन अपवर्जित कर दे जो किसी

विनिर्दिष्ट विषय के सम्बन्ध में भविष्य में विधानमण्डल द्वारा अधिनियमित किया जाए। ऐसी दशा में, इस बात का पता लगाने के लिए न्यायिक पुनर्विलोकन अपवर्जित नहीं किया गया है कि क्या कानून किसी विनिर्दिष्ट विषय की बाबत अधिनियमित किया गया है। उपर्युक्त दोनों प्रकार के सांविधानिक संशोधन अनुच्छेद 368 के अधीन अनुज्ञेय हैं तथापि जो कुछ अनुज्ञेय नहीं है वह तीसरे प्रकार का सांविधानिक संशोधन है जिसके अनुसार संशोधन करने वाला प्राधिकरण किसी ऐसे कानून की जो किसी विनिर्दिष्ट विषय की बाबत विधानमण्डल द्वारा भविष्य में अधिनियमित किया जाए, विधिमान्यता की बाबत न केवल न्यायिक पुनर्विलोकन अपवर्जित करता है, किन्तु उसके द्वारा इस बात का पता लगाने की न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति भी अपवर्जित की जाती है कि क्या विधानमण्डल द्वारा अधिनियमित कानून ऐसे विषय की बाबत है जिसके लिए न्यायिक पुनर्विलोकन अपवर्जित किया गया है।

यह बतला दिया जाए कि न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति का प्रयोग करने में न्यायालय विधायी अभ्युपाय की बुद्धिमता के प्रश्न पर विचार नहीं करते और न कर सकते हैं। आवश्यक रूप से ही नीति सम्बन्धी विनिश्चय विधानमण्डल द्वारा किए जाएंगे। यह विनिश्चित करना विधानमण्डल का काम है कि उन्हें कौन सी विधियां अधिनियमित करके कानूनी पुस्तक में लानी चाहिएं। न्यायालयों का कार्य विधियों का निर्वचन करना और उनकी विधिमान्यता अधिनिर्णीत करना है। वे विधायी नीति का न तो अनुमोदन करते हैं और न अननुमोदन। न्यायालय का काम यह बात सुनिश्चित करना और घोषित करना है कि क्या आक्षेपित विधि संविधान के उपबन्धों के अनुरूप है या उससे संविधान के उपबन्धों का उल्लंघन होता है। ऐसा करने के बाद न्यायालय का काम समाप्त हो जाता है। न्यायालय अधि-विधानमण्डल (सुपर-लेजिस्लेचर) के तौर पर काम नहीं करते हैं। उनका काम उन बातों को दबाना नहीं है जिन्हें वे गैर बुद्धिमत्तापूर्ण विधान समझते हैं क्योंकि यदि वे ऐसा करते तो विधानमण्डल की ओर से न्यायालयों की आलोचना होगी। यह शक्ति विधानमण्डल की है और इससे जनता के निर्वाचित प्रतिनिधियों की जिम्मेदारी पर आघात पहुंचेगा। जैसा श्री अल्लादी कृष्णस्वामी अय्यर ने संविधान सभा में 12 सितम्बर, 1949 को अपने भाषण में मत व्यक्त किया था कि "विधानमण्डल बुद्धिमानी से या गैर बुद्धिमानी से कार्य कर सकता है।" विधानमण्डल द्वारा बनाए गए सिद्धान्त न्यायालय को अच्छे लग सकते हैं या अच्छे न लगें। न्यायालय का अधिकार-क्षेत्र समानतः अपनी शक्तियों के भीतर विधानमण्डल द्वारा अधिनियमित विधि को लागू करना है।"

न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति का प्रयोग करते हुए न्यायालय सरकार की व्यावहारिक जरूरतों के प्रति बेपरवाह नहीं हो सकते। भूल और सुधार की गुंजाइश रखनी होगी। सांविधानिक विधि को अन्य कष्ट होने वाले साधनों के समान जोखम उठाना पड़ता है। अनुभव द्वारा युक्तियुक्त विश्वास को ठीक प्रकट करने का अवसर दिया ही जाना चाहिए। न्यायिक पुनर्विलोकन से न्यायिक अभिजाततन्त्र आस्टोक्रेसी ऑफ दि रोब, कोर्ट लेजिसलेशन या न्यायाधीश द्वारा निर्मित विधि कही जाने वाली कोई चीज सृष्ट करना

आशयित नहीं है। विधायी प्राधिकार का उचित रूप से प्रयोग किए जाने के लिए संघर्ष करने का उचित विचार स्थल जनता की राय जहां मत और विधानमण्डल हैं। यह संघर्ष न्यायिक क्षेत्र को अन्तरित नहीं किया जा सकता। इस बात से कि सभी सांविधानिक निर्वचनों का राजनैतिक परिणाम होता है, यह तथ्य नष्ट नहीं हो जाना चाहिए कि विनिश्चय न्यायालय के शान्त भवन और निष्पक्ष वातावरण में किया जाना चाहिए और यह कि न्यायाधीशों के विनिश्चय में विधिसम्मतता का समावेश हो, इसलिए उन्हें राजनैतिक वाद-विवादों से दूर रहना चाहिए और यह कि प्रतिद्वन्द्वी राजनैतिक पार्टियों के भाग्य में उतार-चढ़ाव से उनका सम्बन्ध केवल बौद्धिक क्षेत्र तक ही रहना चाहिए। उनका प्राथमिक कार्य भय या पक्षपात के बिना संविधान और विधियों को कायम रखना है और ऐसा करने में उन्हें ऐसी किसी राजनैतिक विचारधारा या आर्थिक सिद्धान्तों से जो उन्हें अच्छे लगें, अपने विनिश्चय को प्रभावित नहीं होने देना चाहिए। उनके निर्णय में हमेशा ही संजीदगी होनी चाहिए और यह कि संविधान केवल उनकी विचारधारा के समान विचारधारा वाले व्यक्तियों के लिए ही नहीं बना है किन्तु वह ऐसे व्यक्तियों के लिए भी है जिनके विचार मूलतः उनसे भिन्न हैं। संयुक्त राज्य अमरीका के चौदहवें संशोधन के सम्बन्ध में विचार करते हुए न्यायाधीश होम्स ने यह मत व्यक्त किया—

"चौदहवां संशोधन श्री हर्बट स्पेन्सर के सामाजिक, स्थैतिकी X X X को अधिनियमित नहीं करता है। इन विधियों में से कुछ विधियों में ऐसे दृढ़ विश्वास और पूर्वाग्रह सम्मिलित हैं जिनसे सम्भवतः कुछ न्यायाधीश सहमत हों और कुछ न हों किन्तु संविधान किसी विशिष्ट अर्थ में सिद्धांत को अन्तर्विष्ट करने के लिए आशयित नहीं है चाहे वह सिद्धान्त पैतृक वाद का हो और नागरिक का राज्य के साथ संघटनात्मक सम्बन्ध का हो या हस्तक्षेप न करने की नीति का हो। संविधान मूलतः अलग-अलग मत वाले व्यक्तियों के लिए है और संयोग से हमें कुछ मत स्वाभाविक और जाने-पहचाने या नूतन मालूम होते हैं और कुछ निन्दनीय भी प्रतीत हो सकते हैं इससे हमें इस प्रश्न पर कि ऐसे कानून, जिनमें वे सन्निविष्ट हैं, यूनाइटेड स्टेट्स के संविधान के विरुद्ध हैं अपने निर्णय का निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिए। । [देखिए—न्यायाधिपति होम्स पृष्ठ 82-83 (1931) का संस्करण]

इस संदर्भ में मद्रास राज्य बनाम वी० जी० राव (1) वाले मामले में मुख्य न्यायाधिपति पातञ्जली शास्त्री द्वारा व्यक्त किए गए मत को पुरोद्धृत करना उचित होगा। युक्तियुक्त निर्बन्धनों पर विचार करते हुए उन्होंने यह मत व्यक्त किया है—

"पकड़ में न आने वाले ऐसे तथ्यों का मूल्यांकन करने में और इस सम्बन्ध में अपनी राय बनाने में कि युक्तियुक्त क्या है, किसी विशिष्ट मामले की सभी परिस्थितियों में यह अपरिहार्य है कि निर्णय में भाग लेने वाले न्यायाधीशों का सामाजिक दर्शन और उनकी मान्यताएं महत्वपूर्ण भाग अदा करती हैं और ऐसे

(1) (1952) एस० सी० आर० 597.

मामलों में विधायकों द्वारा किए गए निर्णय में वे किस सीमा तक हस्तक्षेप कर सकते हैं यह बात उनकी जिम्मेदारी की भावना और आत्म संयम पर और इस गम्भीर मान्यता पर कि संविधान केवल ऐसे व्यक्तियों के लिए नहीं है जिनकी विचारधारा उनसे मिलती है, किन्तु सभी व्यक्तियों के लिए है, इस बात पर कि जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियों के बहुमत ने निर्बन्धनों को अधिरोपित करते समय उन्हें युक्तियुक्त समझना निर्भर रहेगी।"

मेरी राय में अनुच्छेद 31ग का दूसरा भाग निम्नलिखित आधारों पर अभिखण्डित किए जाने योग्य है—

(1) इसके द्वारा विधानमण्डल को अनुच्छेद 14, 19 और 31 का उल्लंघन करते हुए कोई विधि बनाने का पूर्णाधिकार दिया गया है और ऐसी विधि अपेक्षित घोषणा अन्तः स्थापित किए जाने पर आक्षेप किए जाने से उन्मुक्त कर दी गई है। दूसरे भाग के साथ-साथ अनुच्छेद 31ग पर विचार करने पर यह ज्ञात होता है कि वास्तव में उसके द्वारा विधानमण्डल को, जिसके अन्तर्गत राज्य विधानमण्डल भी है, संविधान संशोधन की शक्ति दी गई है।

(2) इस बात पर विनिश्चय करने के लिए विधानमण्डल अन्तिम प्राधिकरण बनाया गया है कि क्या उसके द्वारा बनाई गई विधि अनुच्छेद 31ग में वर्णित उद्देश्यों के लिए है या नहीं। अनुच्छेद 31ग के दूसरे भाग में जो दोष हैं वे इस तथ्य के कारण हैं कि भले ही अधिनियमित विधि अनुच्छेद 31ग में वर्णित उद्देश्य के लिए अधिनियमित न की गई हो फिर भी विधानमण्डल द्वारा की गई घोषणा से पक्षकार यह दर्शाने से प्रवारित कर दिए जाते हैं कि विधि उस उद्देश्य के लिए नहीं है और ऐसी घोषणा से न्यायालय इस प्रश्न पर विचार नहीं कर सकता कि क्या अधिनियमित विधि वास्तव में उस उद्देश्य के लिए है। विधानमण्डल द्वारा जिसके अन्तर्गत राज्य विधानमण्डल भी है उस सीमित न्यायिक पुनर्विलोकन पर रोक लगाने से संविधान के मूलभूत तत्त्व पर आघात पहुंचता है। अनुच्छेद 368 के अधीन जो बात संशोधन समझी जाती है उसकी अनुज्ञेय सीमा से अनुच्छेद 31ग का दूसरा भाग परे है।

अनुच्छेद 31ग के दूसरे भाग को अनुच्छेद 31ग के शेष भाग से पृथक् किया जा सकता है और उसकी विधिमान्यता से शेष भाग की विधिमान्यता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। अतः मैं अनुच्छेद 31ग के निम्नलिखित शब्दों को अविधिमान्य घोषित करता हूं—

"और जिस विधि में यह घोषणा हो कि वह ऐसी नीति को प्रभावी करने के लिए है, उस पर किसी न्यायालय में इस आधार पर आपत्ति नहीं की जाएगी कि वह ऐसी नीति को प्रभावी नहीं करती।"

अब हम संविधान (उन्तीसवां संशोधन) अधिनियम पर विचार करते हैं। जैसा पहले वर्णित किया गया है, इस अधिनियम द्वारा 1969 का केरल अधिनियम संख्या 35

और 1971 का केरल अधिनियम संख्या 15, संविधान की नवम अनुसूची में संख्या 65 और 66 के तौर पर अन्तःस्थापित किया गया है। मुझे संविधान (उन्तीसवां संशोधन) अधिनियम में कोई खामी मालूम नहीं हुई। यह बतला दिया जाए कि हमारे समक्ष यह दलील दी गई कि अनुच्छेद 31ख और 31क आपस में जुड़े हुए हैं, और केवल ऐसी अधिनियमितियां ही नवम अनुसूची में डाली जा सकती हैं जो अनुच्छेद 31क के व्याप्ति-क्षेत्र के अन्तर्गत आए। ऐसी दलील एन० बी० जीजीभाई बनाम सहायक कलेक्टर थाना प्रान्त थाना ([1]) वाले मामले में दी गई थी। न्यायाधिपति सुब्बा राव (जैसे वह तब थे) ने उक्त दलील को नामंजूर कर दिया और उस न्यायालय की संविधान न्यायपीठ की ओर से बोलते हुए यह मत व्यक्त किया —

> "विद्वान् महान्यायवादी ने यह दलील दी कि अनुच्छेद 31क और 31ख को एक साथ पढ़ा जाना चाहिए और यदि इस प्रकार पढ़ा जाए तो अनुच्छेद 31ख से ऐसे मामलों का ही ज्ञान होगा, जो अन्यथा अनुच्छेद 31क के अन्तर्गत आते हैं और इसलिए वही अर्थान्वियन, जैसा अनुच्छेद 31ख का किया गया है, संविधान के अनुच्छेद 31क पर भी लागू होगा। इस अर्थान्वियन को अनुच्छेद 31ख के प्रारम्भिक शब्दों पर आधारित करने का प्रयत्न किया गया था जो इस प्रकार हैं, अर्थात् "अनुच्छेद 31क में अन्तर्विष्ट उपबन्धों की व्यापकता पर प्रतिकूल प्रभाव डाले बिना" हम इस दलील को स्वीकार नहीं कर सकते। "उपबन्धों की व्यापकता पर प्रतिकूल प्रभाव डाले बिना" शब्द इसके द्योतक हैं कि नवम अनुसूची में विनिर्दिष्ट अधिनियम और विनियम प्रतिरक्षित रहेंगे भले ही उन पर संविधान का अनुच्छेद 31क लागू न होता हो। यदि नवम अनुसूची का प्रत्येक अधिनियम अनुच्छेद 31क के अन्तर्गत आ जाएगा तो यह अनुच्छेद निरर्थक बन जाएगा। यह सच है कि उसमें वर्णित कुछ अधिनियम जैसे मद 14 से 20 और नवम अनुसूची में जोड़े गए बहुत से अन्य अधिनियम ऐसी सम्पदाओं से सम्बन्धित प्रतीत नहीं होते हैं जैसा कि संविधान के अनुच्छेद 31क (2) में परिभाषित की गई हैं। अतः हम यह अभिनिर्धारित करते हैं कि अनुच्छेद 31ख, अनुच्छेद 31क से शासित नहीं है और यह कि अनुच्छेद 31ख विनिर्दिष्ट कानूनों को इस आक्षेप से कि वे संविधान के भाग 3 का अतिलंघन करते हैं प्रतिरक्षित किए जाने के लिए अनुसूची में सम्मिलित करने की एक सांविधानिक युक्ति है।"

इससे भिन्न मत अपनाने के लिए मुझे कोई प्रबल आधार दिखाई नहीं पड़ता है। परिणामस्वरूप मैं संविधान (उन्तीसवां संशोधन) अधिनियम की विधिमान्यता कायम रखता हूं।

अब मैं संविधान के अनुच्छेद 368 के अधीन संशोधन करने की शक्ति के विषय में जैसे कि वह संविधान (चौबीसवां संशोधन) अधिनियम द्वारा संशोधित किए जाने के पहले अस्तित्व में थी एवं संविधान (चौबीसवां संशोधन) अधिनियम और (पच्चीसवां संशोधन)

([1]) (1965) 1 एस० सी० आर० 636.

अधिनियम और संविधान (उन्तीसवां संशोधन) अधिनियम की विधिमान्यता के सम्बन्ध में अपने निष्कर्ष प्रस्तुत करता हूं —

(i) अनुच्छेद 368 में न केवल संविधान को संशोधित करने की प्रक्रिया अन्तर्विष्ट है बल्कि उसके द्वारा संविधान को संशोधित करने की शक्ति भी प्रदत्त की गई है।

(ii) संविधान की सप्तम अनुसूची की सूची की प्रविष्टि 97 के अन्तर्गत संविधान का संशोधन नहीं आता है।

(iii) अनुच्छेद 13 (2) में "विधि" शब्द के अन्तर्गत संविधान का संशोधन नहीं आता है। उसमें साधारण विधान के प्रति निर्देश है। अनुच्छेद 13(3) के खण्ड (क) में अन्तर्विष्ट परिभाषा को ध्यान में रखते हुए उसके अन्तर्गत भारत राज्यक्षेत्र में विधि के समान प्रभावी कोई अध्यादेश, आदेश, उप-विधि, नियम विनियम, अधिसूचना, रूढ़ि या प्रथा होगी।

(iv) संविधान को संशोधित करने के लिए उपबन्ध उन कठिनाइयों को दूर करने की बात को ध्यान में रखते हुए किए गए हैं जो भविष्य में संविधान को अमल में लाने के दौरान उत्पन्न हों। ज्ञान पर किसी भी पीढ़ी का एकाधिकार नहीं होता। और न किसी पीढ़ी का यह अधिकार है कि वह सरकार के तन्त्र को सुधारने के सम्बन्ध में भविष्य में आने वाली पीढ़ियों पर कोई बन्धन लगा दे। यदि संविधान को संशोधित करने के लिए कोई उपबन्ध नहीं किए गए होते तो जनता को संविधान में परिवर्तन करने के लिए क्रान्ति के समान संविधानेत्तर पद्धति का सहारा लेना पड़ता।

(v) यह दलील कि मूल अधिकारों को छीनने या न्यून करने के लिए संविधान के भाग 3 का संशोधन करने के प्रयत्न करने के लिए संसद् संविधान-सभा बुलाने या लोकमत-संग्रह करने के लिए सप्तम अनुसूची की सूची (1) की प्रविष्टि 97 के अधीन विधान अधिनियमित हो सकता है, मान्य नहीं है। इस प्रतिस्थापना के लिए कोई औचित्य नहीं है कि चूंकि अनुच्छेद 368 के अधीन किए गए संशोधन लोकमत-संग्रह द्वारा नहीं किए गए या कन्वेंशन में पारित नहीं किए गए हैं, अतः इस कारण से अनुच्छेद 368 के अधीन संशोधन की शक्ति कुछ परिसीमाओं के अध्यधीन है।

(vi) यह सम्भावना कि संशोधन की शक्ति का दुरुपयोग किया जा सकता है, उसके अस्तित्व से इन्कार करने के लिए कोई आधार नहीं है। शक्ति के दुरुपयोग का सर्वोत्तम रक्षोपाय लोकमत और संसद् के बहुसंख्यक सदस्यों की विवेकबुद्धि है। यह अनुमान करना भी सही नहीं है कि यदि यह अभिनिर्धारित कर दिया जाए कि संसद् संविधान के भाग 3 का संशोधन करने की हकदार है तो उससे आप से आप और आवश्यक रूप से सभी मूल अधिकार निराकृत हो जाएंगे।

(vii) अनुच्छेद 368 के अधीन संशोधन की शक्ति के अन्तर्गत संविधान को निराकृत करने की शक्ति नहीं आती और न उसके अन्तर्गत संविधान के मूलभूत तत्व या ढांचे को बदलने की शक्ति ही सम्मिलित है। मूलभूत तत्व या ढांचे को बनाए रखने के अध्यधीन संशोधन की शक्ति सर्वागीण है और इसके अन्तर्गत संविधान के विभिन्न अनुच्छेदों को संशोधित करने की शक्ति आती है जिसके अन्तर्गत मूल अधिकारों को संशोधित करने की शक्ति एवं उन अनुच्छेदों को संशोधित करने की शक्ति सम्मिलित है जिन्हें सारभूत

तत्त्व कहा जा सकता है। मूल अधिकार का कोई भाग इस आधार पर संशोधन की प्रक्रिया से उन्मुक्त नहीं है कि वह उस अधिकार का तत्त्व या मर्म कहा जाता है। संशोधन की शक्ति के अन्तर्गत विभिन्न अनुच्छेदों को परिवर्धित करना, उनमें परिवर्तन करना या उनका निरसन करना भी सम्मिलित होगा।

(viii) सम्पत्ति का अधिकार संविधान के मूलभूत तत्त्व या ढांचे से सम्बन्धित नहीं है।

(ix) उन परिसीमाओं के अलावा जो "संशोधन" में अन्तर्निहित हैं और उससे स्पष्ट है, संशोधन करने की शक्ति पर कोई भी विवक्षित या अन्तर्निहित परिसीमाएं नहीं हैं। उक्त शक्ति पर नैसर्गिक या मानव अधिकारों के प्रति निर्देश करके भी कोई निर्बन्धन नहीं लगाया जा सकता। न्यायालय में इन अधिकारों के प्रवर्तनीय हो सकने के लिए उन्हें कानून या संविधान का एक भाग बन जाना चाहिए।

(x) संविधान के उस भाग को छोड़ कर जो संविधान के मूलभूत तत्व या ढांचे से सम्बन्धित है, प्रस्तावना में संशोधन की शक्ति पर कोई निर्बन्धन नहीं लगाया गया है।

(xi) संविधान (चौबीसवां संशोधन) अधिनियम में कोई खामी नहीं है और इसलिए वह विधिमान्य है।

(xii) अनुच्छेद 31 संविधान (पच्चीसवां संशोधन) अधिनियम द्वारा किए गए संशोधन विधिमान्य हैं।

(xiii) अनुच्छेद 31ग का प्रथम भाग जो संविधान (पच्चीसवां संशोधन) अधिनियम द्वारा पुरःस्थापित किया गया है विधिमान्य है। उक्त भाग इस प्रकार है—

> "31ग. अनुच्छेद 13 में किसी बात के होते हुए भी, कोई विधि, जो अनुच्छेद 39 के खण्ड (ख) या खण्ड (ग) में उल्लिखित तत्वों को सुनिश्चित करने के लिए राज्य की नीति को प्रभावी करने वाली हो, इस आधार पर शून्य नहीं समझी जाएगी कि वह अनुच्छेद 14, अनुच्छेद 19 या अनुच्छेद 31 द्वारा प्रदत्त अधिकारों में से किसी से असंगत है अथवा उसे छीनती या न्यून करती है।
>
> परन्तु जहां ऐसी विधि किसी राज्य के विधानमण्डल द्वारा बनाई जाए, वहां इस अनुच्छेद के उपबन्ध उसे तब तक लागू न होंगे जब तक कि ऐसी विधि को, राष्ट्रपति के विचार के लिए रक्षित किए जाने के पश्चात्, उसकी अनुमति न मिल गई हो।"

(xiv) अनुच्छेद 31ग के दूसरे भाग में राष्ट्रीय विघटन के बीच अंतर्विष्ट हैं और वह निम्नलिखित दो आधार पर अविधिमान्य है —

(1) इसके द्वारा विधानमण्डल को अनुच्छेद 14, 19 और 31 का उल्लंघन करते हुए कोई विधि बनाने का पूर्णाधिकार दिया गया है और ऐसी विधि अपेक्षित घोषणा अन्तःस्थापित किए जाने पर आक्षेप किए जाने से उन्मुक्त कर दी गई है। अनुच्छेद 31ग के दूसरे भाग पर भी साथ-साथ विचार करने पर यह ज्ञात होता है कि वास्तव में उसके द्वारा विधानमण्डल को जिसके अन्तर्गत राज्य विधानमण्डल है, संविधान के महत्वपूर्ण पहलुओं को भी संशोधित करने की शक्ति दी गई है।

(2) इस बात पर विनिश्चय करने के लिए विधानमण्डल अन्तिम प्राधिकारी बनाया गया है कि क्या उसके द्वारा बनाई गई विधि अनुच्छेद 31ग में वर्णित उद्देश्यों के लिए है या नहीं। अनुच्छेद 31ग के दूसरे भाग में जो दोष हैं वे इस तथ्य के कारण है कि भले ही अधिनियमित विधि अनुच्छेद 31ग में वर्णित उद्देश्यों के लिए अधिनियमित नहीं की गई हो फिर भी विधानमण्डल द्वारा की गई घोषणा से पक्षकार यह दर्शाने से प्रवारित कर दिए जाते हैं कि विधि उस उद्देश्य के लिए नहीं है और घोषणा से न्यायालय इस प्रश्न पर विचार नहीं कर सकता कि क्या अधिनियमित विधि वास्तव में उस उद्देश्य के लिए है। विधानमण्डल द्वारा, जिसके अन्तर्गत राज्य विधानमण्डल भी हैं, उस सीमित न्यायिक पुनर्विलोकन पर रोक लगाने से संविधान के मूलभूत तत्व पर आघात पहुंचता है। अनुच्छेद 368 के अधीन जो बात संशोधन समझी जाती है उसकी अनुज्ञेय सीमा अनुच्छेद 31ग के दूसरे भाग से परे हैं। अनुच्छेद 31ग के दूसरे भाग को अनुच्छेद 31ग के शेष भाग से पृथक किया जा सकता है और उसकी अविधिमान्यता से शेष भाग की विधिमान्यता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। अतः मैं अनुच्छेद 31ग के निम्नलिखित शब्दों को अविधिमान्य घोषित करता हूं।

"और जिस विधि में यह घोषणा हो कि वह ऐसी नीति को प्रभावी करने के लिए है, उस पर किसी न्यायालय में इस आधार पर आपत्ति नहीं की जाएगी कि वह ऐसी नीति को प्रभावी नहीं करती—"

(xv) संविधान (उन्तीसवां संशोधन) अधिनियम में कोई खामी नहीं है और वह विधिमान्य है।

हमारे निष्कर्षों को ध्यान में रखते हुए निपटाए जाने हेतु यह पिटीशन अब संविधान न्यायपीठ के समक्ष सुनवाई के लिए रखा जाए।

न्यायमूर्ति मैथ्यू—

हमारे समक्ष प्रस्तुत इन मामलों में हमारे देश के संविधान के सर्वाधिक महत्वपूर्ण भागों पर विचार किया जाना है और जो राय अभिव्यक्त की जाएगी वह आवश्यक रूप से इस देश के नियति को प्रभावित करेगी। बिना इसके महत्व और इस संकल्प में अन्तर्वलित गुरुतर उत्तरदायित्व की गहरी अनुभूति किए इस प्रश्न का उत्तर देना कठिन है।

हमें इस बात में कुछ भी सन्देह नहीं है कि महत्वपूर्ण मामलों में विधि के भविष्य के विकास के लिए यह वांछनीय है कि एक राय न दी जाए चाहे निष्कर्ष एक ही हों। केवल एक राय के होने में खतरे हैं। "इसमें किए गए कथन परिभाषाओं के रूप में मान लिए जाते हैं और यह न्यायालय का कृत्य नहीं है कि वह परिभाषाओं को विरचित करे। भविष्य के विकास के लिए कुछ छूट छोड़ देनी चाहिए। किसी विनिश्चय का सही निर्णयाधार विभिन्न शब्दों में किए गए दो या अधिक ऐसे कथनों की तुलना से साधारणतया अधिक स्पष्ट प्रतीत होता है जिसके लिए कि वे एक दूसरे को अनुपूरित करने के लिए आशयित थे।

थे।" (¹) कैसल एण्ड कं० लि० बनाम ब्रूम और एक अन्य (²) वाले मामले में लार्ड चांसलर लार्ड हेल्शम ने कहा था कि रूक्स बनाम बर्नर्ड (³) वाले मामले में विधि का जो कथन है विशिष्टतया उसके आलोचकों द्वारा गलत समझ लिया गया है और हाउस ऑफ लार्ड्स का मत इस तथ्य के कारण कुछ सीमा तक प्रतिकूल रूप से प्रभावित हुआ है कि एक ही भाषण में उसके कारण दिए गए थे और एक स्वर द्वारा दिए गए निर्णय का चाहे जो भी फायदा हो किन्तु उसका परिणाम प्रयुक्त की गई वास्तविक भाषा के प्रति असम्यक् रूप से मूलवादी दृष्टिकोण अपनाना हो सकता है। ग्रेव्स बनाम न्यूयार्क (⁴) वाले मामले में न्यायाधिपति फ्रेंकफर्टर ने अपनी सहमति वाले निर्णय में न्यायाधिपतियों की वैयक्तिक रायों की अभिव्यक्ति को एक स्वस्थ पद्धति माना था क्योंकि उससे न्यायालय के कार्य की मात्रा में वृद्धि ही नहीं हो सकती।

चूंकि दलीलें 1970 की संख्या 135 वाली रिट पिटीशन में मुख्य रूप से दी गई हैं इसलिए मैं उन्हीं पर विचार करूंगा। इस रिट पिटीशन में पिटीशनर ने केरल भूमि सुधार संशोधन अधिनियम, 1969 तथा केरल भूमि सुधार संशोधन अधिनियम, 1971 पर इस कारण से उसकी विधिमान्यता को चुनौती दी है कि उसके कुछ उपबन्ध संविधान के अनुच्छेद 14, 19(1)(च), 25, 26 तथा 31 का उल्लंघन करते हैं।

इस रिट पिटीशन के लम्बित रहने के दौरान संविधान के अधीन संशोधन करने वाले निकाय ने तीन सांविधानिक संशोधन पारित किए हैं अर्थात्, संविधान चौबीसवां, पच्चीसवां तथा उन्तीसवां संशोधन अधिनियम।

चौबीसवें संशोधन द्वारा अनुच्छेद 368 में यह स्पष्ट करने के लिए कुछ परिवर्तन किए गए हैं कि संसद् अपनी संविधायी शक्ति का प्रयोग करते हुए ऐसे संशोधन में अधिकथित प्रक्रिया के अनुसार संविधान के उपबन्धों में से किसी में परिवर्धन, परिवर्तन या निरसन द्वारा संशोधन करने के लिए सक्षम है। पच्चीसवें संशोधन द्वारा अनुच्छेद 31 के खण्ड (2) में 'प्रतिकर' शब्द के स्थान पर 'राशि' शब्द को प्रतिस्थापित किया गया है। यह, यह स्पष्ट करने के लिए किया गया कि सम्पत्ति के अर्जन या अधिग्रहण के लिए विधि के लिए केवल राशि निश्चित करना या उस राशि को अवधारित करने के लिए सिद्धान्त अधिकथित करना ही आवश्यक है और अर्जित या अधिगृहीत सम्पत्ति के बाजार मूल्य के ठीक समतुल्य धन के रूप में उसका नियत करना आवश्यक नहीं है। संशोधन यह भी स्पष्ट करता है कि कोई ऐसी विधि इस आधार पर किसी न्यायालय के समक्ष आक्षेपित नहीं की जाएगी कि ऐसी राशि का कुल या कोई भाग नकदी से अन्यथा दिया जाना चाहिए। उन्तीसवें संशोधन द्वारा प्रश्नगत दो अधिनियम अर्थात् केरल भूमि सुधार (संशोधन) अधिनियम, 1969 तथा केरल भूमि सुधार (संशोधन) अधिनियम, 1971 इस दृष्टि से नवम अनुसूची में शामिल किए गए कि उन्हें इस आधार पर उन उपबन्धों को आक्षेपित किए जाने से निर्मुक्त किया जाए कि वे अधिनियम या उसके उपबन्ध किसी मूल अधिकार का उल्लंघन करते हैं।

पिटीशनर ने इन संशोधनों की विधिमान्यता को चुनौती दी है।

(¹) लार्ड रीड का मत—गुली बनाम मिश्रा (1970) 3 डब्ल्यू० एल० आर० 1078.

(²) (1972) 1 ऑल इंग्लैण्ड रिपोर्ट्स 801,821.

(³) (1964) 1 ऑल इंग्लैण्ड रिपोर्ट्स 367.

(⁴) 306 यू० एस० 466.

चूंकि पच्चीसवें और उन्तीसवें संशोधनों की विधिमान्यता आवश्यक रूप से चौबीसवें संशोधन की विधिमान्यता पर निर्भर है इसलिए उस प्रश्न पर पहले विचार करना और उसका विनिश्चय करना आवश्यक है। इसलिए मैं उन परिस्थितियों पर विचार करता हूं जिसके कारण चौबीसवें सांविधानिक संशोधन अधिनियम की आवश्यकता पड़ी।

संविधान (प्रथम संशोधन) अधिनियम, 1951 संसद् द्वारा 18 जून, 1951 को पारित किया गया। इस अधिनियम की धारा 2, 3 और 4 द्वारा संविधान के भाग 3 के कुछ अनुच्छेदों में संशोधन किए गए। इस संशोधन की विधिमान्यता को इस न्यायालय के समक्ष शंकरी प्रसाद बनाम भारत संघ ([1]) वाले मामले में चुनौती दी गई और एक प्रश्न जो विनिश्चय के लिए था वह यह था कि अनुच्छेद 13 के खण्ड (2) को ध्यान में रखते हुए क्या संसद् को मूल अधिकारों में इस प्रकार संशोधन करने की शक्ति है कि वह उन्हें छीन सके या न्यून कर सके। दलील यह दी गई थी कि अनुच्छेद 13 के खण्ड(2)में "राज्य" शब्द के अन्तर्गत संसद् आती है और 'विधि' शब्द के अन्तर्गत संविधान का संशोधन है और इसलिए संसद् को यह शक्ति नहीं है कि वह संविधान का संशोधन करते हुए विधि पारित कर सके जो मूल अधिकारों को छीने या न्यून करे। न्यायाधिपति पातञ्जलि शास्त्री ने न्यायालय की ओर से निर्णय देते हुए यह कहा था कि यद्यपि 'विधि' शब्द के अन्तर्गत मामूली तौर से सांविधानिक विधि भी है किन्तु विधायी शक्ति का प्रयोग करते हुए बनाई गई मामूली विधि तथा संविधान शक्ति का प्रयोग करते हुए बनाई गई सांविधानिक विधि में अन्तर है और अनुच्छेद 13 के खण्ड (2) के प्रसंग में 'विधि' शब्द के अन्तर्गत संविधान का संशोधन नहीं आएगा।

इस विनिश्चय का सज्जन सिंह बनाम राजस्थान राज्य ([2]) वाले मामले में अनुसरण किया गया। वहां मुख्य न्यायाधिपति गजेन्द्रगडकर ने अपनी ओर से तथा अपने दो सहयोगियों की ओर से निर्णय देते हुए तात्विक रूप से शंकरी प्रसाद बनाम भारत संघ ([1]) वाले मामले में न्यायाधिपति पातञ्जलि शास्त्री के तर्क से सहमति प्रकट की। न्यायाधिपति हिदायतुल्लाह तथा मधोलकर ने इस बाबत कुछ सन्देह प्रकट किया था कि क्या मूल अधिकार अनुच्छेद 368 के अधीन संविधान के संशोधन द्वारा कम किए जा सकते हैं या छीने जा सकते हैं।

पुनः यह प्रश्न इस न्यायालय के समक्ष गोलकनाथ बनाम पंजाब राज्य ([3]) जिसे यहां आगे गोलक नाथ वाला मामला कहा गया है,के समक्ष विचारार्थ आया जिसमें कि सत्रहवें संशोधन की विधिमान्यता को उन्हीं आधारों पर चुनौती दी गई थी। न्यायपीठ को गठित करने वाले बहुमत ने यह विनिश्चय किया था कि संसद् को मूल अधिकारों में इस प्रकार की संशोधन करने की शक्ति नहीं है जिससे कि वह उन्हें छीन सके या न्यून कर सके,

([1]) (1952 एस० सी० आर० 89.
([2]) (1965) 1 एस० सी० आर० 933.
([3]) (1967) 2 एस० सी० आर० 762.

किन्तु प्रथम, चतुर्थ और सत्रहवां संशोधन भविष्यलक्षी अविधिमान्यकरण सिद्धान्त के आधार पर सदैव के लिए विधिमान्य माने गए और इन मामलों में आक्षेपित अधिनियम इन संशोधनों द्वारा संरक्षित किए गए।

इस महत्वपूर्ण बहुमत का (जिसमें मुख्य न्यायाधिपति सुब्बा राव तथा उनके उन सहयोगियों का जिन्होंने कि उनके द्वारा दिए गए निर्णय के प्रति सहमति प्रकट की थी,) तर्क यह था कि अनुच्छेद 368 जैसा कि यह उस समय था संविधान के उपबन्धों को संशोधन करने की तात्विक शक्ति प्रदत्त नहीं करता है अपितु उसके लिए प्रक्रिया ही विहित करता है, संशोधन करने की तात्विक शक्ति सप्तम अनुसूची की सूची 1 की प्रविष्टि 97 के साथ पठित अनुच्छेद 245, 246 और 248 में है। यह कि संविधान को संशोधन करने वाली विधि तथा संसद् की विधायी शक्ति का प्रयोग करते हुए बनाई गई मामूली विधि में कोई अन्तर नहीं है और यह कि अनुच्छेद 13 के खण्ड (2) में प्रयुक्त 'विधि' शब्द के अन्तर्गत संविधान का संशोधन आएगा।

न्यायाधिपति हिदायतुल्लाह का, जिन्होंने कि प्रमुख बहुमत के निष्कर्ष से सहमति प्रकट करते हुए पृथक् निर्णय दिया था, यद्यपि यह मत था कि अनुच्छेद 368 संविधान को संशोधन करने की तात्विक शक्ति प्रदत्त करता है किन्तु उस अनुच्छेद के अधीन मूल अधिकार इस प्रकार संशोधित नहीं किए जा सकते कि उन्हें छीना जाए या न्यून किया जाए। उन्होंने कहा था कि सांविधानिक विधि और मामूली विधि में कोई अन्तर नहीं है। दोनों विधियां हैं। संविधान ने सरकार की शक्तियों को परिसीमित कर दिया है किन्तु राज्य की सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्नता को नहीं। राज्य अपनी सर्वोपरिता का प्रयोग करते हुए अपनी सर्वोपरिता पर परिसीमा लगा सकता है और इस विचार की प्रभाव रूप में प्रतिध्वनि मिल सकती है कि सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न अपनी सर्वोपरि शक्ति पर स्वतः परिसीमा लगा सकता है और यह कि अनुच्छेद 13 के खण्ड (2) द्वारा संशोधन करने वाले निकाय सहित राज्य तथा उसके समस्त अधिकरणों को इस बात से प्रतिषिद्ध किया गया कि वे संविधान संशोधित करने की विधि सहित इस प्रकार कोई विधि न बनाएं कि मूल अधिकार छीने जाएं या न्यून किए जाएं।

हम सर्वप्रथम इस प्रश्न पर विचार करते हैं कि क्या अनुच्छेद 368 जैसा कि वह चौबीसवें संशोधन के पूर्व था संसद् को भाग 3 द्वारा प्रदत्त मूल अधिकारों में इस प्रकार संशोधन करने की शक्ति प्रदत्त करता है जिससे कि वे छीने जाएं या न्यून किए जाएं।

गोलक नाथ वाले मामले (1) में न्यायाधिपति हिदायतुल्लाह ने कहा था कि 'संशोधन' शब्द के बारे में ऐसा संकुचित दृष्टिकोण अपनाना कठिन है कि उसके अन्तर्गत केवल साधारण ढांचे के अधीन रहते हुए नगण्य परिवर्तन ही आते हैं। संशोधन द्वारा नया विषय जोड़ा जा सकता है और पुराना विषय हटाया जा सकता है या परिवर्तित किया जा सकता है-और सिवाय भाग 3 के दो दर्जन अनुच्छेदों के संविधान के समस्त उपबन्ध संशोधित किए जा सकते हैं। उस मामले में प्रमुख अल्पमत की ओर से निर्णय देते हुए

(1) (1967) 2 एस० सी० आर० 762.

न्यायाधिपति चांचू ने यह मत दिया था कि अनुच्छेद की रचना में 'संशोधन' शब्द का अधिकतम विस्तार है और संविधान का कोई उपबन्ध संशोधित किया जा सकता है। न्यायाधिपति बछावत भी उस शब्द को व्यापकतम अर्थ देने के लिए प्रवृत्त थे। न्यायाधिपति रामस्वामी ने यद्यपि विनिर्दिष्ट रूप से इस विषय का उल्लेख नहीं किया किन्तु उनके निर्णय की शब्दावली से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि उनका भी यही मत था।

पिटीशनर की ओर से श्री पालखीवाला ने यह दलील दी है कि अनुच्छेद में 'संशोधन' शब्द से केवल सुधार करने की दृष्टि से किया जाने वाला परिवर्तन अभिप्रेत है यह कि इस प्रसंग में इस शब्दावली का केवल यह अर्थबोध है कि यह ऐसे परिवर्तनों को करने की शक्ति है जो संविधान की प्रकृति और प्रयोजन से संगत हो, यह कि संविधान का बुनियादी ढांचा और उसके आधारभूत तत्व संशोधन द्वारा परिवर्तित नहीं किए जा सकते। और इन न्यायाधीशों की यह धारणा कि अनुच्छेद में 'संशोधन' शब्द इतना अधिक व्यापक है कि उसके अन्तर्गत संविधान के किसी उपबन्ध का परिवर्धन, परिवर्तन या निरसन द्वारा कोई परिवर्तन किया जाता है इसका कोई आधार नहीं है। उन्होंने कहा था जहां तक उस विषय वस्तु, जिसकी बाबत संशोधन किए जा सकते हैं या उसकी सीमा और विस्तार का सम्बन्ध है कि वह निम्न धरातल पर लिखा गया है कि क्योंकि उसमें परिवर्धन, परिवर्तन या निरसन द्वारा 'संशोधन' शब्द अन्तर्विष्ट नहीं हैं। इन परिस्थितियों से 'संशोधन' शब्द को व्यापकतम अर्थ दिए जाने में रुकावट पड़ती है और प्रसंग में इस शब्द का एक सीमित अर्थ है।

मेरा यह विचार है कि इस दलील में कोई बल नहीं है।

आक्सफोर्ड इंगलिश डिक्शनरी में 'संशोधन' शब्द का यह अर्थ दिया गया है—

"(संसद् के समक्ष किसी अध्युपाय में) प्रकट रूप में सुधार करना; औपचारिक रूप से विस्तृत रूप में परिवर्तन करना यद्यपि व्यावहारिक रूप से यह इसके सिद्धान्त को ही बदल दे जिससे कि वह निष्फल हो जाए।"

स्टैण्डर्ड डिक्शनरी" फंक एण्ड वगनाल्स (1894) के अनुसार "संशोधन" का यह अर्थ है—

मूल विधि को जैसे कि किसी राजनीतिक संविधान को परिवर्तित करने का कार्य, या विहित प्रक्रिया के अनुसार उसमें किया गया कोई परिवर्तन; जैसे संशोधन द्वारा विधि को बदलना; संविधान का संशोधन।"

अनुच्छेद 368 के परन्तुक में 'परिवर्तन' पद प्रयुक्त किया गया है इससे यह दर्शित होता है कि वास्तव में 'संशोधन शब्दों' से 'परिवर्तन' अभिप्रेत है। अनुच्छेद 368 का मुख्य भाग इस प्रकार संविधान में संशोधन करने या परिवर्तन करने की शक्ति प्रदत्त करता है। प्रसामान्यतया कोई परिवर्तन सुधार करने के उद्देश्य से किया जाता है। किसी भी सूरत में यही वह प्रकट उद्देश्य है जिसके लिए कोई संशोधन करना चाहा जाता है। यह तथ्य कि इससे उद्देश्य की प्राप्ति नहीं हुई है, विषय से संगत नहीं है। संशोधन में प्रस्थापक की मंगलयोक्ति के अहंकार का तत्व रहता है अर्थात् यह धारणा कि प्रस्थापना एक सुधार है। इस

संगलयोक्ति के पुट के परे संशोधन जैसा कि शब्दकोष के अनुसार विधि के परिवर्तन के लिए लागू किया जाता है उससे 'परिवर्तन करना' 'बदलना' अभिप्रेत है।([1])

नेशनल प्रोहिबिशन केसेस ([2]) वाले मामले में यूनाइटेड स्टेट्स सुप्रीम कोर्ट के समक्ष यह दलील दी गई कि यूनाइटेड स्टेट्स संविधान के अनुच्छेद 5 के अधीन संशोधन को उसके विस्तार को बात के परिवर्तन या सुधार तक सीमित रखना चाहिए, जो संविधान में पहले से अन्तर्विष्ट है और वह उसके बुनियादी तत्वों में परिवर्तन नहीं कर सकता, किन्तु इस दलील को अमान्य कर दिया गया।

रैयन वाले मामले में ([3]) आयरलैण्ड की सुप्रीम कोर्ट ने यह बहुमत से अभिनिर्धारित किया था कि आयरिश संविधान के अनुच्छेद 50 में प्रयुक्त 'संशोधन' शब्द का व्यापकतम विस्तार है। न्यायाधिपति फिट्ज गिब्बन ने यह मत संशोधन शब्द के विभिन्न अर्थों को पढ़ने के पश्चात् न्यायाधिपति फिट्ज गिब्बन ने यह मत लिया था कि यह शब्द जैसे कांस्टिट्यूशन ऐक्ट में प्रयुक्त हुआ है इसको व्यापकतम अर्थ देना चाहिए। न्यायाधिपति मुरनाघन ने यह मत दिया था कि यद्यपि बिना प्रतिस्थापित उपबंधों के संविधान का पूर्णतया विनाश विधि में उचित रूप से 'संशोधन' नहीं कहा जा सकता। किन्तु यह शब्द इतना व्यापक है कि इसमें संविधान के किसी भी संख्या के अनुच्छेद चाहे वे कितने ही महत्वपूर्ण क्यों न हों उनका निरसन अनुज्ञेय है। मुख्य न्यायाधिपति कैनेडी ने विनिर्दिष्ट रूप से इस शब्द के अर्थ पर विचार नहीं किया।

इस प्रसंग में 'संशोधन' जैसे शब्द का निर्वचन करने के लिए, जो उस संविधायी अधिनियम में प्रयुक्त हुआ है जैसा कि भारत का संविधान है, अर्थान्वयन के साधारण नियमों को ध्यान में रखना सुसंगत है।

सेंट्रल प्राविन्सेज एण्ड बरार सेल्स ऑफ मोटर स्प्रिट एण्ड लुब्रीकेंट्स टैक्सेशन ऐक्ट, 1938 ([4])इत्यादि वाले मामले में सर मोरिस ग्वायर ने कहा था कि जिन्हें संविधान के निर्वचन करने का कर्त्तव्य सौंपा गया है उन्हें व्यापक और उदारवादी भावना से प्रेरित होकर ऐसा करना चाहिए। न्यायालय को संकीर्ण एवं रूढ़िवादी दृष्टिकोण से बचना चाहिए और यह कि जब बिना किसी निर्बन्धन के कोई शक्ति प्रदत्त की जाती है तो उस लिखत के कुछ अभिव्यक्त उपबन्ध या उस लिखत की स्कीम द्वारा ही यह नियन्त्रित की जा सकती है। क्वीन बनाम बुराह ([5]) वाले मामले में प्रिवी काउन्सिल ने अर्थान्वयन के बुनियादी

([1]) मैक्कोवने "इज दि एटीन्थ अमेण्डमेण्ट वायड बिकाज ऑफ इट्स कण्टेण्ट्स" कोलिम्बयर लॉ रिव्यू, वाल्यूम 20.

([2]) रहोड आइसलैण्ड बनाम पलमार, 253 यू० एस० 360.

([3]) स्टेट (जेरेमियाह रेयन तथा कुछ अन्य के अभियोजन पर) बनाम कैप्टन माइकल और कुछ अन्य (1935) आइरिश रिपोर्ट्स 170.

([4]) (1939) एफ० सी० आर० 18.

([5]) (1878) 3 ए० सी० 889, 904-905.

सिद्धान्तों को निश्चित रूप से प्रतिपादित किया था और उन सिद्धान्तों को अटर्नी जनरल फॉर ओण्टेरियो बनाम अटर्नी जनरल फॉर कनाडा (1) वाले मामले में अर्ल लोरबर्न ने स्वीकार किया था और लागू किया था। पूर्व मामले में लार्ड मेलबोर्न ने यह कहा था कि यह प्रश्न कि क्या शक्ति की विहित सीमाओं का अतिक्रमण किया गया है यह उस लिखत के निर्बन्धनों को देखने के पश्चात् निश्चित किया जाएगा जिसके द्वारा सकारात्मक रूप से यह शक्ति सृजित की गई है और जिसके द्वारा नकारात्मक रूप से यह निर्बन्धित की गई है और यह कि जो कुछ भी किया गया है वह सकारात्मक शब्दों के उस विस्तार के अन्तर्गत है जो शक्ति प्रदत्त करता है और यदि यह निर्बन्धन के किसी अभिव्यक्त ऐसे शर्त का उल्लंघन नहीं करता है जिसके द्वारा यह शक्ति परिसीमित की गई है तो किसी न्यायालय को अधिकार नहीं है कि वह अर्थान्वयन से उन शर्तों और निर्बन्धनों की और छानबीन करे या उनको विस्तारित करे। दूसरे शब्दों में संविधान का निर्वचन करने में जैसा कि लार्ड लोरबर्न ने पश्चात्वर्ती मामले में कहा था कि यदि पाठ स्पष्ट है तो पाठ उसी रूप में विनिश्चायक है जिस रूप में वह निदेश करता है और जिसके लिए वह प्रतिषेध करता है।

मैं समझता हूं कि ऐसे मामलों में यह उस न्यायाधीश की भावना पर निर्भर करता है जो अपने समक्ष प्रश्न के उत्तर के लिए दृष्टिकोण अपनाता। जिन शब्दों का वह अर्थान्वयन करता है साधारणतया यदि कहा जाए तो वे मात्र पात्र हैं जिसमें कि वह लगभग कोई भी ऐसी बात रखता है जो कि वह चाहता है। "मनुष्य भटकटैया से अंजीर नहीं प्राप्त कर सकते न ही वे न्यायाधीशों के उन दृष्टिकोणों को संस्थाओं में समाविष्ट कर सकते हैं जो स्थानीयता एवं वर्गवाद के कारण परिसीमित है। उन्हें यह जानकारी होनी चाहिए कि उनके समक्ष शाब्दिक समस्याओं से अधिक महत्वपूर्ण समस्याएं हैं और प्रत्येक समाज में साधारण रूप से फैले हुए ऐसे अन्तिम समाधानों से भी अधिक समाधानों की अपेक्षा है जिसके द्वारा उसे यह संघटनवाद बनते हैं और जिसके लिए अनुकूलन की नई योजना की आवश्यकता होती है। यदि इसे कठोर रूप से परिसीमित कर दिया गया तो यह भंग हो जाएगी।"(2) इसी कारण राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने कहा था कि सुप्रीम कोर्ट के न्यायाधीशों को न केवल महान न्यायाधिपति होना चाहिए अपितु उन्हें महान रचनात्मक राजनेता भी होना चाहिए।(3)

इसलिए यद्यपि 'संशोधन' शब्द के अनेक अर्थ हैं, हमें अनुच्छेद में इसके उस अर्थ को देना है जो उसके उस कृत्य के लिए समुचित हो जो उस लिखित में उसे पूरा करना है और जो प्रकट रूप में आने वाले दिनों तक इसे बने रहने तथा राष्ट्र के समक्ष खड़ी होने वाली समस्याओं के समाधान के लिए आशयित है। उस लिखत की प्रकृति को समझने के

(1) (1912) ए० सी० 571, 583.

(2) "केसेज एण्ड मटेरियल्स ऑन दि लीगल प्रासेस" में उद्धृत लर्नेड हैण्ड का लेखांश देखिए—एफ० के० एच० माहेर एण्ड आदर्स द्वितीय संस्करण पृष्ठ 498.

(3) 13 येल लॉ जरनल पृष्ठ 333 पर फ्रेडरिक आर० कोडर्ट द्वारा उद्धृत लेखांश।

लिए यह आवश्यक है कि कतिपय पूर्वधारणाओं की जानकारी प्राप्त की जाए। निस्सन्देह संविधान की जड़ें भूतकाल में हैं किन्तु यह मुख्यत: अज्ञात भविष्य के लिए परिकल्पित है। इस विचारधारा का विस्तार न्यायाधिपति होम्स की इस भाषा से दर्शित होता है जो आज भी सही है : जो विषय बहुधा दुहराया जाता है।(1)

> ..."जब हम शब्दों पर विचार करते हैं जो यूनाइटेड स्टेट्स के संविधान की तरह संविधायी अधिनियम भी हैं हमें यह अनुभव करना चाहिए कि उन्होंने जिस बात को जन्म दिया है उसके सर्वाधिक प्रतिभाशाली जनकों द्वारा पूर्णतया उसके विकास के बारे में भविष्य की कल्पना नहीं की जा सकती थी..."

इसलिए भली प्रकार बनाए गए संविधान में उसके स्वयं के संशोधन के लिए इस प्रकार उपबन्ध होगा कि मानवीय रूप से यथा सम्भव समस्त क्रान्तिकारी उथल-पुथलों की पहले से रोक थाम की जाए (2)। यह कि संविधान महान सरकारी शक्तियों का एक ऐसा ढांचा है जिसका कि प्रयोग महान जन उद्देश्यों के लिए किया जाना चाहिए। यह बुझी हुई बौद्धिक धारणा नहीं है अपितु यह एक ऐसी गतिशील विचारधारा है जो संशोधन की शक्ति के विस्तार की किसी भी विचारधारा को शासित करती है। कोई भी वर्तमान संविधान अपनी पूर्णता पर नहीं पहुंचा है और न ऐसा हो गया है जैसे कि ऐसी जड़ वस्तु जिसमें कि आगे विकास न हो सके। मनुष्य,समाज बदलते रहते हैं, आवश्यकताएं उभरती हैं, पहले उनका अस्पष्ट रूप से अनुभव होता है और उन्हें व्यक्त नहीं किया जा सकता। बाद में अदृश्य रूप से वे बदलती जाती हैं धीरे-धीरे वे अधिक से अधिक अत्यावश्यक हो जाती हैं और ऐसी शक्ति को जन्म देती रहती हैं जिस पर कि यदि ध्यान न दिया जाए या उसकी उपेक्षा की जाए और उसके दबाव का समाधान न किया जाए तो तीव्रता के साथ फट पड़ती हैं और युक्तियुक्त समाधान की अपेक्षा एक बारगी सब कुछ हड़प कर लेती है (3) जैसा कि विलसन ने कहा था कि एक जीवित संविधान को अपने ढांचे और पद्धति में डारविन की विकास वादी पद्धति का होना चाहिए (4)। किसी राष्ट्र का संविधान बाह्य और प्रकट रूप में उसकी जनता के जीवन की अभिव्यक्ति होता है। उसे अपने अन्दर के परिवर्तन की गहरी अनुभूतियों के अनुरूप होना चाहिए। "संविधान एक प्रयोग है जैसे कि जीवन एक प्रयोग है' (5)। यदि प्रयोग असफल होता है तो दूसरा प्रयोग करने के लिए उपबन्ध होना चाहिए। जफरसन ने कहा था कि संविधान के बारे पूंजीवादिता जैसी कोई बात नहीं है और किसी को उसे प्रसंविदाओं की ऐसी तिजोरी के रूप में नहीं मानना चाहिए जो इतनी पवित्र है कि उसे स्पर्श नहीं किया जा सकता न ही हमें पूर्वकाल के लोगों में मनुष्य से अधिक प्रतिभा का आरोपण करना चाहिए और यह नहीं मानना चाहिए कि जो उन्होंने किया है वह संशोधन के परे है। संविधान स्वत: में उद्देश्य नहीं है अपितु यह राष्ट्र के जीवन को व्यवस्थित करने का साधन है। विगत पीढ़ी आज की आवश्यकताओं के बारे में नहीं जान सकती। यदि विगत पीढ़ी को वर्तमान को गतिहीन नहीं करना है तो सर्वोत्तम यही प्रतीत होता है कि प्रत्येक पीढ़ी को यह अनुज्ञा दी जाए कि वह अपनी चिन्ता करे। जो भावना

(1) मिसौरी बनाम हालैण्ड 252 ए० एस० 416, 433.
(2) कार्ल जे फ्रेडरिक का "कांस्टिट्यूशनल गवर्नमेन्ट एण्ड डेमोक्रेसी" पृष्ठ 135.
(3) देखिए—फेलिक्स फ्रेंकफर्टर कृत 'लॉ एण्ड मेन' पृष्ठ 35.
(4) कांस्टिट्यूशनल गवर्नमेन्ट इन दि यूनाइटेड स्टेट्स पृष्ठ 25 देखिए
(5) अब्राम बनाम यूनाइटेड स्टेट्स 250 यू०एस० 616 में जस्टिस होम का कथन देखिए।

जफरसन ने इस निमित्त व्यक्त की थी उसकी प्रतिध्वनि डा० अम्बेदकर के कथन में मिलती है ([1])। यदि डा० अम्बेदकर के भाषण से जो एक मात्र निष्कर्ष निकाला जा सकता है वह यह है कि उन्होंने संशोधन की शक्ति पर किसी परिसीमा के लिए कोई कल्पना नहीं की थी। किस प्रकार वह यह कह सकते थे जब कि उन्होंने यह कहा कि जो जफरसन ने कहा "वह सत्य ही नहीं है अपितु पूर्णतया असत्य है"। उन्होंने यह तभी कहा जब कि उन्होंने जफरसन के मत का समर्थन किया कि "प्रत्येक पीढ़ी को सुभिन्न राष्ट्र के रूप में बहुमत की इच्छा द्वारा अपने को आबद्ध करने के लिए अधिकार होना चाहिए किन्तु किसी को आने वाली पीढ़ियों को दूसरे राष्ट्र के निवासियों से अधिक आबद्ध करने की शक्ति नहीं होनी चाहिए", इसका परिणाम यह है कि जैसे कि रात्रि दिन के बाद आती है उसी प्रकार प्रत्येक पीढ़ी को अपने संविधान के ढांचे को जिसके अधीन वह रहती है अवधारित करने की शक्ति होनी चाहिए। यह तब तक नहीं किया जा सकता जब तक कि संशोधन की शक्ति सर्वांगीण न हो क्योंकि यह योजना निरर्थक होगी कि डा० अम्बेदकर ने आवश्यकताओं और अभिलाषाओं के अनुकूलन में संविधान में परिवर्तन करने के लिए प्रत्येक पीढ़ी में क्रान्ति के लिए अनुध्यात किया था। मैं सोचता हूं कि यदि किसी शक्ति पर कोई विवक्षित परिसीमा है तो वह परिसीमा यह है कि संशोधन करने वाले निकाय को संशोधन करने वाली शक्ति का प्रयोग करते हुए भविष्य की पीढ़ी का संशोधन करने वाली शक्ति को परिसीमित नहीं करना चाहिए। श्री पालखीवाला ने कहा है कि यदि संशोधन करने की शक्ति सर्वांगीण है तो एक पीढ़ी उस शक्ति का प्रयोग करके भविष्य की पीढ़ियों से संविधान में संशोधन करने का अधिकार छीन सकती है और इसका प्रयोग करने के लिए सदैव के लिए इसे वंचित कर सकती है। मैं सोचता हूं कि यह दलील मानने के लिए यह बहुत ही अव्यावहारिक है। यह उसी प्रकार की दलील है कि यदि स्त्रियों और पुरुषों को जीवन में अपना व्यवसाय चुनने की स्वतन्त्रता दे दी जाए तो वे सब मठों और विहारों में, जैसा मामला हो, भर्ती हो जाएंगे और नई पीढ़ी के जन्म को निवारित कर देंगे; या कुछ राजनीतिक चिन्तकों की यह दलील कि यदि वाक्-स्वातन्त्र्य ऐसे व्यक्तियों को दिया जाता है जो उसमें विश्वास नहीं करते तो वे जब शक्ति प्राप्त करेंगे तब वे दूसरों को उससे वंचित कर देंगे और इसलिए इस उद्देश्य से कि वे कल दूसरों को इससे वंचित न कर सकें उन्हें आज वह स्वतन्त्रता नहीं दी जानी चाहिए।

इसलिए यह देखते हुए कि यह वह संविधान है जिसका हम व्याख्या कर रहे हैं और यह कि संविधान निर्माताओं के समक्ष विभिन्न संविधान थे जहां कि 'संशोधन' या 'परिवर्तन' शब्द संविधान के मूल तत्वों को परिवर्तन करने की सर्वांगीण शक्ति को द्योतित करने के लिए प्रयुक्त हुआ था, मैं अनुच्छेद 368 में प्रयुक्त 'संशोधन' शब्द का अर्थान्वयन अनुदारता या दकियानूसी भावना से नहीं करना चाहता और उसे एक संकीर्ण अर्थ नहीं देना चाहता; अपितु एक परिचित अभिव्यक्ति के रूप में होने के कारण यह एक परिचित विधिक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

श्री पालखीवाला ने यद्यपि यह दलील दी है कि संविधान में ऐसे उपबन्ध हैं जो अनुच्छेद में 'संशोधन' शब्द को व्यापक अर्थ देने के विरुद्ध रोक पैदा करते हैं और उन्होंने

([1]) कांस्टिट्यूएण्ट असेम्बली डिबेट्स, खण्ड 10, पृष्ठ 296-297.

अनुसूची 5 के पैरा 7 (1) तथा अनुसूची 6 के पैरा 21 (1) की शब्दावली के प्रति निर्देश किया है। ये पैरे 'संशोधन' शब्द करने के साथ यह अभिव्यक्ति "परिवर्धन, परिवर्तन या निरसन द्वारा" प्रयुक्त करते हैं। काउन्सेल ने कहा है कि इन शब्दों को यह दर्शित करने के लिए चुना गया कि संशोधन की शक्ति का विस्तार क्या है और यह कि यह अनुच्छेद 368 की शब्दावली के तीव्र रूप में विषम है जहां कि केवल 'संशोधन' शब्द प्रयुक्त हुआ है। किन्तु अनुसूची 5 का पैरा 7 (2) तथा अनुसूची 6 का पैरा 21 (2) स्वयं यह दर्शित करते हैं कि इन उपबन्धों के बिना परिवर्धन, परिवर्तन या निरसन द्वारा अनुसूची का संशोधन अनुच्छेद 368 के अधीन संविधान का संशोधन होता है। दूसरे शब्दों में उप-पैरा स्पष्ट रूप से यह दर्शित करता है कि अनुसूची 5 के पैरा 7 (1) में तथा अनुसूची 6 के पैरा 21 (1) में प्रयुक्त यह अभिव्यक्त "परिवर्धन, परिवर्तन या निरसन के द्वारा संशोधन' की वही विषय-वस्तु है जो अनुच्छेद 368 में 'संशोधन' शब्द की है।

काउन्सेल ने यर्ड अमेण्डमेण्ट ऐक्ट, 1939 द्वारा यथा संशोधित गवर्नमेण्ट ऑफ इण्डिया ऐक्ट, 1935 की धारा 291 का अवलम्ब लिया है जिसमें यह उपबन्ध है कि "जैसा कि वह आवश्यक समझे अधिनियम में परिवर्धन, परिवर्तन या निरसन द्वारा ऐसे संशोधन किए जा सकेंगे।" इन शब्दों के प्रयोग से अनुच्छेद 368 में प्रयुक्त 'संशोधन' शब्द को दिए जाने वाले अर्थ और उसके विस्तार के बारे में कोई अनुमान नहीं किया जा सकता क्योंकि यह सुविज्ञात है कि प्रारूपकार विभिन्न शब्द लालित्य के प्रयोजन के लिए या जिसे शैली की शालीनता, कहा गया है या उसी शब्द के प्रयोग को बचाने की अपनी इच्छा से या कभी-कभी परिस्थितिवश कि अधिनियम विभिन्न स्रोतों से संकलित किया गया है और कभी-कभी विभिन्न शक्तियों के द्वारा किए गए परिवर्तन या परिवर्धन द्वारा जैसे कि अधिनियम को संसद् के विभिन्न प्रक्रमों से गुजरना पड़ता है विभिन्न शब्दों को एक ही विचारधारा दर्शित करने के लिए प्रयुक्त करते हैं।

यह दलील दी गई है कि यदि 'संशोधन' शब्द को असीमित विस्तार दिया जाता है तो सम्पूर्ण संविधान निराकृत और निरसित किया जा सकता है और निश्चित रूप से यह संविधान निर्माताओं का आशय नहीं हो सकता। यह प्रश्न कि क्या संशोधन शक्ति अनुच्छेद 368 में, जैसा कि वह संशोधन के पूर्व था, इस सीमा तक है कि उससे संविधान का पूर्णतया निराकरण हो सकता है और उसके स्थान पर पूर्णतया नया संविधान प्रतिस्थापित हो सकता है। यह बात सन्देह के परे नहीं है। मैं सोचता हूं कि उस अनुच्छेद के अधीन संशोधन की शक्ति के अन्तर्गत संविधान में कोई उपबंध जोड़ने, किसी उपबंध को परिवर्तित करने, उसके स्थान पर कोई दूसरा उपबंध प्रतिस्थापित करने तथा किसी उपबंध को निकाल देने की शक्ति है। किन्तु जब अनुच्छेद यह कहता है कि संविधान के संशोधन के विधेयक पर राष्ट्रपति की अनुमति प्राप्त हो जाने के बाद "संविधान संशोधित हो जाएगा," यह बिल्कुल स्पष्ट प्रतीत होता है कि निरसित संविधान के स्थान पर कोई चीज स्थापित किए बिना संविधान का साधारण निरसन या निराकरण संशोधन की शक्ति के विस्तार के बाहर होगा क्योंकि यदि संविधान साधारण तौर पर निरसित किया जाता है तो यह संशोधित नहीं होगा। ऐसा संशोधन जो मंत्रिमण्डलीय पद्धति की सरकार के स्थान पर राष्ट्रपतिय पद्धति की सरकार को लागू करने जैसा, संविधान में युगान्तकारी परिवर्तन लाता

है या गणराज्य के स्थान पर राजतंत्र लाता है तो वह संविधान का निराकरण या निरसन नहीं होगा। यद्यपि चाहे कितने ही महत्वपूर्ण परिवर्तन किए जाए संशोधन के पश्चात् एक व्यवस्था विद्यमान रहनी चाहिए जिसके द्वारा राज्य गठित हो सके या संगठित हो सके। जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है कि बिना अधिक किए सारा निरसन या निराकरण अनुच्छेद 368 के निबन्धनों के प्रतिकूल होगा क्योंकि यह सांविधानिक उपबंध "संविधान संशोधित हो जाएगा" का उल्लंघन करता है।

चाहे यदि अनुच्छेद 368 में प्रयुक्त 'संशोधन' शब्द जैसा कि वह मूल रूप में था इतना व्यापक है कि संशोधन करने वाले निकाय को किसी उपबंध करने की शक्ति प्रदत्त करता है पिटीशनर ने यह दलील दी है कि अनुच्छेद 13 (2) संसद् द्वारा इस रूप में किए गए मूल अधिकारों के संशोधन के जिससे कि वे छीने जाते हैं या न्यून किए जाते हैं लिए वर्जन है —

> "13(2). राज्य ऐसी कोई विधि नहीं बनाएगा जो इस भाग द्वारा दिए अधिकारों को छीनती या न्यून करती हो और इस खण्ड के उल्लंघन में बनी प्रत्येक विधि उल्लंघन की मात्रा तक शून्य होगी।"

इस प्रसंग में यह आवश्यक है कि इस दलील को कि संविधान का संशोधन उप-अनुच्छेद की परिधि के अन्तर्गत 'विधि' समझने के लिए नमनीय और अनम्य संविधान के बीच का बुनियादी अन्तर समझ लिया जाए।

जैसा कि हमारा संविधान है एक अनम्य संविधान की तुलना में ब्रिटिश संविधान की तरह नमनीय संविधान की प्रमुख विशेषता उस संसद् का जिसे बिना किसी निर्बन्धन के विधि पारित करने के लिए वह असीमित प्राधिकार है जिसमें वह लागू किया जाता है। अनम्य संविधान में संविधान के बाहर से किसी बात द्वारा विधानमण्डल की शक्ति पर परिसीमा रहती है। वहां मामूली विधानमण्डल की विधि की अपेक्षा अधिक महान् विधि होती है और वह संविधान की ऐसी विधि होती है वह जो नमनीय संविधान में न पाई जाने वाली विशेष बाध्यता की होती है। इसका अर्थ यह नहीं है कि क्योंकि संविधान लिखित है इसलिए यह अनम्य है। ऐसा लिखित संविधान हो सकता है जो नमनीय हो। अनम्य संविधान का सम्पूर्ण मानदण्ड यह है कि क्या वह संविधान सभा जिसने कि संविधान विरचा था उसने कोई ऐसे विशिष्ट निदेश छोड़े हैं कि इसे कैसे बदला जा सकता है।"(1) यदि संशोधन के लिए संविधान द्वारा विशिष्ट प्रक्रिया विहित है और यह मामूली विधि पारित करने की प्रक्रिया भिन्न है तो संविधान अनम्य है।

यह कहा गया है कि अनुच्छेद 4 और 169 पंचम अनुसूची का पैरा 7 तथा षष्ठ अनुसूची का पैरा 21 यह दर्शित करते हैं कि संविधान का संशोधन मामूली विधि बनाने वाली प्रक्रिया द्वारा किए जा सकते हैं। ये उपबंध स्वतः यह दर्शित करते है कि ऐसे किए गए संशोधनों के बारे में यह नहीं समझा जाएगा कि वे अनुच्छेद 368 के प्रयोजन

(1) देखिए सी० एफ० स्ट्रांग कृत माडर्न पोलीटिकल कांस्टिट्यूशन्स (1963), पृ० 152-153.

के लिए संशोधन है। यह इस कारण है कि उनके द्वारा विहित प्रक्रिया अनुच्छेद 368 में अधिकथित प्रक्रिया से भिन्न है।

श्री पालखीवाला ने यह दलील नहीं दी कि संशोधन की शक्ति सप्तम अनुसूची की सूची I की प्रविष्टि 97 के साथ पठित अनुच्छेद 245, 246, तथा 248 में पाई जाती है। उन्होंने केवल यही दलील दी है कि यह तात्विक नहीं है कि क्या यह शक्ति सप्तम अनुसूची की सूची I की प्रविष्टि 97 के साथ पठित अनुच्छेद 245, 246 तथा 248 में पाई जाती है या अनुच्छेद 368 में पाई जाती है। मैं समझता हूं कि इस बात में कोई संदेह नहीं हो सकता कि अनुच्छेद 368 जैसा कि चौबीसवें संशोधन के पूर्व था उसमें न केवल प्रक्रिया अपितु मुख्य संशोधन की शक्ति भी अन्तर्विष्ट है। चूंकि उस अनुच्छेद द्वारा मामूली विधि बनाने वाली प्रक्रिया से भिन्न प्रक्रिया अधिकथित की गई है और हमारा संविधान एक अनम्य संविधान है और संशोधन की शक्ति संविधायी शक्ति है।

अनम्य संविधान में सांविधानिक विधि और मामूली विधि के बीच जो महत्वपूर्ण अन्तर है, वह मामूली विधि की विधिमान्यता के मानदण्ड में स्थित है। मामूली विधि को जब चुनौती दी जाती है तो संविधान में समाविष्ट उच्चतर विधि के निर्देश द्वारा उसका औचित्य बताया जाता है किन्तु संविधान की दशा में साधारणतया यदि कहा जाए तो उसकी विधिमान्यता अन्तर्निहित है और स्वतः उसी में स्थित है। कैलसन ने कहा है कि बुनियादी मानदण्ड (संविधान) विधि बनाने के अंग द्वारा विधिक प्रक्रिया द्वारा नहीं सृजित किया जाता। यह एक ऐसा बुनियादी मानदण्ड है जो इस कारण विधिमान्य नहीं है कि यह किसी विधिक कृत्य द्वारा किसी रूप में सृजित किया जाता है। यह इसलिए विधिमान्य है क्योंकि यह पूर्वधारित करता है कि यह विधिमान्य है और क्योंकि बिना इस पूर्वधारणा के किसी भी मानवीय कृत्य के बारे में यह निर्वचन नहीं किया जा सकता कि यह विधिक है, विशिष्टतया ऐसा मानदण्ड जो कृत्य सृजित करता है। दूसरे शब्दों में संविधान की विधिमान्यता साधारणतया इस सामाजिक तथ्य में स्थित है कि समुदाय ने इसको स्वीकार किया है और इसके मानदण्ड प्रभावोत्पादक हो गए हैं। इसकी विधिमान्यता विधिकतः के परे है। ([1])

क्या कैलसन के मत हमारे संविधान को लागू होंगे यह इस प्रश्न के उत्तर पर निर्भर करेगा कि क्या संविधान के विधिक स्रोत इण्डियन इण्डिपेण्डेन्स ऐक्ट, 1947 में पाए जाते हैं या संविधान जनता की क्रान्तिकारी संविधायी शक्ति के प्रयोग का परिणाम है।

जो यहां कहा गया है उसका यह अर्थ नहीं है कि ग्रेट ब्रिटेन के संविधान के सदृश्य किसी नमनीय संविधान में कोई बुनियादी नियम नहीं है। इंग्लैण्ड के संविधान का सिद्धान्त, अर्थात्, यह कि न्यायालय संसद् के कृत्यों को प्रवर्तित करेगा यह साधारण विधि के किसी सिद्धान्त में नहीं प्राप्त किया गया किन्तु यह इंग्लैण्ड की सांविधानिक विधि का स्वतः में अन्तिम सिद्धान्त है। ([2])

एक बार जब यह अनुभव किया जाता है कि संविधान विधि से इस बात में पृथक् है कि संविधान सदैव विधिमान्य है जब कि विधि केवल तभी विधिमान्य है जब कि वह संविधान के अनुरूप रहती है और वह निकाय जो संविधान बनाता है सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न

([1]) हंस कैलसन कृत "सैण्ट्रल थीयरि ऑफ लॉ एण्ड स्टेट" पृष्ठ 116.

([2]) एच० डब्ल्यू० आर० वेड कृत "दि बेसिस ऑफ लीगल सॉवरिनटि" (1955) कैम्ब्रिज लॉ जनरल 172.

निकाय है और साधारणतया उसे किसी विधिक प्राधिकार की आवश्यकता नहीं होती जब कि वह निकाय जो मामूली विधि बनाता है सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न नहीं है, अपितु संविधान से अपनी शक्ति प्राप्त करता है। संविधान का संशोधन वही विधिमान्यता रखता है जैसे कि स्वतः संविधान, यद्यपि यह प्रश्न कि क्या संशोधन उस रीति और प्ररूप में तथा संविधान द्वारा प्रदत्त शक्तियों के भीतर किया गया है। यह प्रश्न सदैव न्याय्य है। जिस प्रकार मामूली विधि संविधान के अनुकूलन से अपनी विधिमान्यता प्राप्त करती है उसी प्रकार संविधान का संशोधन भी संविधान से अपनी विधिमान्यता प्राप्त करता है। संविधान का संशोधन भी मामूली विधि की तरह अधिकारातीत हो सकता है।

जबकि यह विधायी निकाय सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न विधान बनाने वाला निकाय भी होता है तो स्पष्ट है कि संविधान और मामूली विधि के बीच का अन्तर केवल धारणात्मक हो जाता है और वास्तव में समाप्त हो जाता है जैसे ही वह निकाय प्रभुत्वसम्पन्न की संविधायी शक्ति तथा विधायी शक्ति दोनों प्राप्त करता है। ब्रिटिश संविधान जिसके अधीन ब्रिटिश संसद् को सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्नता के सिद्धान्त के कारण सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न तथा मामूली विधानमण्डल के बीच का जो अन्तर समाप्त हो गया है वह निश्चित रूप से एक ऐसा आदर्श संविधान नहीं है कि उसे हमारे संविधान के अधीन संविधायी विधि और मामूली विधि के बीच अन्तर समझने के लिए चुना जाए। सर आइवर जैनिंग्ज ने कहा है कि इंग्लैण्ड की सांविधानिक विधि और मामूली विधि में कोई स्पष्ट अन्तर नहीं है केवल यही एक मूल विधि है कि संसद् उच्चतम है। (1) इसलिए यथार्थतः यदि कहा जाए तो ब्रिटेन में कोई सांविधानिक विधि नहीं है वहां केवल संसद् की अबाध शक्ति है।

यह कहा गया है कि बिल ऑफ राइट्स (1689), ऐक्ट ऑफ सैटलमेण्ट (1701), इत्यादि सांविधानिक विधि का स्वरूप ग्रहण करते हैं और इसमें कोई कारण नहीं है कि अनुच्छेद 13 के खण्ड(2) में 'विधि' शब्द के क्षेत्र से विधि के ऐसे प्रकार को क्यों अपवर्जित किया जाए।

ब्रिटिश संविधान की तरह नमनीय संविधान में सांविधानिक विधि और मामूली विधि में केवल यही सीमांकन है कि वह सांविधानिक विधि विशिष्ट विषय-वस्तु से संबंधित है अर्थात् राज्य के विभिन्न अंगों के बीच सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न शक्ति का वितरण तथा दूसरे विषय; किन्तु भारत में जैसा कि हमने कहा है यह अन्तर बिल्कुल सुसंगत नहीं है क्योंकि हमारे प्रयोजन के लिए केवल मात्र सुसंगत बात यह है कि इस बात को देखा जाए कि क्या भारत के संविधान में कोई उपबंध सन्निविष्ट है। कोई उपबन्ध चाहे यह यथार्थतः राज्य के विभिन्न अंगों के बीच सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न शक्ति के वितरण से संबंधित है या नहीं है यदि वह विधिमान्य रूप से उस दस्तावेज में जिसे भारत का संविधान कहा गया है सन्निविष्ट है तो वह संविधान से संबंधित विधि होगा। दूसरे शब्दों में विषय-वस्तु का ध्यान किए बिना जिस क्षण कोई उपबंध विधिमान्य रूप से संविधान में सन्निविष्ट हो जाता है वह अपनी स्वतः

(1) देखिए—"दि लॉ एण्ड दि कांस्टिट्यूशन" (1935), पृष्ठ 54.

विधिमान्यता अर्जित कर लेता है जो कि चुनौती के परे है और यह प्रश्न कि क्या यह विषय-वस्तु के निर्देश से सांविधानिक विधि से संबंधित है पूर्णतया असंगत है। "जहां लिखित संविधान विद्यमान रहता है वहां लगभग यह कहना सही है कि संविधान स्वतः ऐसा उच्चतम मानदण्ड उपबंधित करता है···इस प्रकार भी संविधान उस उच्चतम मानदण्ड के पूर्णतया अनन्य नहीं हो सकता क्यों कि वहां भी निर्वचन के ऐसे नियम हो सकते हैं जैसे न्यायधीशों ने आवद्धकर रूप में स्वीकार किया है किन्तु जो संविधान में विहित नहीं है। इसलिए प्रभावकारी रूप से संविधान का वह परम्परागत न्यायिक निर्वचन यह है जो कि उच्चतम मानदण्ड है। (1)" जैसे कि बिशप होडले ने अपने उपदेश में यह कहा था "जिस किसी को किसी लिखित या वाचित विधियों का निर्वचन करने का आत्यंतिक प्राधिकार होता है वह वही व्यक्ति है जो समस्त आशयों और प्रयोजनों के लिए विधि का दाता है और न कि वह व्यक्ति जिसने कि प्रथमतः उसको लिखा था या उसको कहा था"। (2)

जैसा कि हमने कहा है कि अनुच्छेद 13 (2) के प्रयोजन के लिए मात्र सुसंगत प्रश्न यह है कि क्या संविधान का संशोधन 'विधि' है। चूंकि संविधान का संशोधन और मामूली विधि अपनी विधिमान्यता संविधान से प्राप्त करते हैं इसलिए यह मानदण्ड कि कोई मामूली विधि को संविधान की कसौटी पर उसकी विधिमान्यता के लिए परीक्षा की जा सकती है यह समान रूप से संविधान के संशोधन को भी लागू होना चाहिए। इसलिए मोटे तौर पर अनम्य संविधान में संविधान को संशोधित करने वाली विधि तथा एक मामूली विधि के बीच मात्र अन्तर यह है कि संविधान का संशोधन संविधान द्वारा विशिष्ट रूप से विहित रीति और प्ररूप में सदैव किया जाता है।

श्री पालखीवाला ने यह दलील दी है कि जब अनुच्छेद-13 (1) तथा 372 में संविधान के प्रारम्भ होने के ठीक पूर्व भारत के राज्यक्षेत्र में 'प्रवृत्त विधि' कथित करते हैं तो इस अभिव्यक्ति के अन्तर्गत संविधान के प्रवृत्त होने के ठीक पूर्व भारत राज्यक्षेत्र में विद्यमान समस्त सांविधानिक विधि भी आती है और इसलिए अनुच्छेद 13 खण्ड (2) में 'विधि' शब्द के अन्तर्गत सांविधानिक विधि भी है। यह मानते हुए कि अनुच्छेद 13(1) और 372 में 'प्रवृत्त विधियां' अभिव्यक्ति ऐसी व्यापक है जिसके अन्तर्गत सांविधानिक विधि भी आती है तो प्रश्न यह है कि उस सांविधानिक विधि का प्रकार क्या होगा जो इसके अन्तर्गत आएगी ? जहां तक ब्रिटिश भारत का सम्बन्ध है अनुच्छेद 395 के द्वारा इण्डियन इण्डिपेण्डेन्स ऐक्ट, 1947 तथा गवर्नमेण्ट ऑफ इण्डिया ऐक्ट, 1935 पश्चात्वर्ती अधिनियम को संशोधित करने वाले तथा अनुपूरित करने वाले समस्त अधिनिमितियों के सहित निरसित किए जा चुके हैं। मैं निश्चित नहीं हूं कि क्या ये ऐसे आदेश हैं जो गवर्नमेण्ट ऑफ इण्डिया ऐक्ट के अधीन पारित किए गए हैं और जो सांविधानिक विधि कहे जा सकते हैं। इसके

(1) डब्ल्यू० जे० स्टेंकेविच द्वारा सम्पादित 'इन दि डिफेन्स ऑफ सॉवरिनटि' नामक पुस्तक में स्टेनले आई० बेन्न का लेख 'दि यूथिज ऑफ सॉवरिनटि', पृष्ठ 67,70.

(2) ग्रे कृत "नेचर एण्ड सोर्सेज ऑफ दि लॉ", 102, 125, 172 (द्वितीय संस्करण) (1921).

अतिरिक्त मुझे सन्देह है कि अधिनियम क्या गवर्नमेण्ट ऑफ इण्डिया ऐक्ट, 1935 तथा इण्डियन इण्डिपेण्डेन्स ऐक्ट, 1947 भारत के संविधान की तरह इस देश की उच्चतम विधि के रूप में उसी अर्थ में सांविधानिक विधियां हैं क्योंकि दोनों विधि सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न अर्थात् ब्रिटिश संसद् द्वारा निरसित किए जा सकते हैं और यह कारण कि क्यों इन उपबन्धों को विधि के न्यायालय में चुनौती नहीं दी जा सकती। यह इसलिए नहीं कि वह इस देश की उच्चतम विधि है अपितु इसलिए कि वे उस उच्चतम विधि अर्थात् ब्रिटिश संसद् की इच्छा के अनुरूप बनाई गई विधि हैं। जहां तक देशी रियासतों का सम्बन्ध है यह तथ्य कि उनमें के न्यायालय संविधान के उपबन्धों की विधिमान्यता को चुनौती नहीं दे सकते थे जो आत्यन्तिक सम्राट द्वारा प्रख्यापित किया गया था। इससे यह दर्शित नहीं होता है कि यह उपबन्ध भारत के संविधान के उपबन्धों के समान माने जा सकते हैं। आत्यन्तिक सम्राट द्वारा स्थापित संविधान राज्य के न्यायालय द्वारा इस कारण नहीं प्रवर्तित किया जाएगा कि संविधान राज्य की उच्चतम विधि है अपितु इस कारण कि यह उच्चतम विधि के अनुरूप है अर्थात् सम्राट की उच्चतम इच्छा जोकि केवल उच्चतम विधि है, नहीं तो जैसा कि अल्फ रास ने कहा था कि संविधान इस आशय के साथ सम्राट द्वारा प्रदत्त किया गया था कि यह प्रतिसंहृत नहीं किया जाएगा।(1) इसलिए उन सांविधानिक विधियों को उस अर्थ में जिसमें कि हम भारत के संविधान को कहते हैं सांविधानिक विधियों के रूप में चित्रित नहीं किया जा सकता क्योंकि देशी रियासतों में उस संविधान के ऐसे उपबन्ध भारत के संविधान के प्रारम्भ के पूर्व विद्यमान थे जो भाग 3 के उपबन्धों का उल्लंघन करते थे और जो अनुच्छेद 13 (1) द्वारा शून्य हो गए और दूसरे जो बने रहे वे संविधान के उपबन्धों के अध्यधीन बने रहे (अनुच्छेद 372)। दूसरे शब्दों में अनुच्छेद 13 (2) के प्रयोजनों के लिए जो सुसंगत है वह यह है कि क्या 'विधि' शब्द इतना अधिक व्यापक है कि उसके अन्तर्गत संविधान में सन्निविष्ट ऐसी विधि के अर्थ में सांविधानिक विधि है जो इस देश की उच्चतम विधि है और जिससे समस्त दूसरी विधियां अपनी विधिमान्यता प्राप्त करती हैं। संविधान के प्रारम्भ के ठीक पूर्व भारत के राज्यक्षेत्र में प्रवृत्त सांविधानिक विधियां ऐसी विधि के अर्थ में सांविधानिक विधि का स्वरूप नहीं रखतीं जो कि उच्चतम है; अन्यथा इनमें से किसी को अनुच्छेद 13(1) के अधीन शून्य न किया गया होता और उनमें से किसी को अनुच्छेद 372 के अधीन संविधान के उपबन्धों के अध्यधीन न किया गया होता।

हमें यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि अनुच्छेद 13 (2) में 'विधि' शब्द के प्रसंग में केवल मामूली विधि का ही अर्थ होता है जब कि अनुच्छेद 13(2) में यह कहा गया है कि राज्य ऐसी कोई विधि नहीं बनाएगा जिस 'विधि' अभिव्यक्ति का अर्थ प्रसंग से निकालना पड़ेगा। यद्यपि विश्लेषण करने पर यह कहना सम्भव हो सकता है कि 'विधि' शब्द के अन्तर्गत संविधान का संशोधन भी आता है किन्तु प्रसंग से यह स्पष्ट होगा कि इससे केवल मामूली विधि ही अभिप्रेत है। शब्द स्वतः में स्पष्ट नहीं होता है। यह वह प्रसंग होता है जो उसको स्वरूप देता है। अनुच्छेद 13 (2) की रचना में जो बात प्रतिषिद्ध की गई है वह यह है कि संसद् भाग 2 के अध्याय 1 या किसी दूसरे उपबन्ध के अनुसरण में ऐसी विधि नहीं बनाएगा जो उसे इस बात के लिए सशक्त करती है कि वह ऐसी विधि पारित करे जो कि

(1) अल्फ रास कृत "ऑन लॉ एण्ड जस्टिस" पृष्ठ 82.

विधायी प्रकृति की हो। संविधान निर्माताओं ने केवल मामूली विधान द्वारा मूल अधिकारों के अधिक सामान्य अतिक्रमण के विरुद्ध ही उपबन्ध करना चाहा था।

यदि संशोधन की शक्ति अनुच्छेद 368 के अन्तर्गत पाई जाती है और सप्तम अनुसूची की सूची 1 की प्रविष्टि 97 के साथ पठित अनुच्छेद 248 में नहीं पाई जाती तो यह अभिनिर्धारित करना ही तर्कसंगत लगता है कि संविधान के संशोधन करने की संविधायी शक्ति विधायी शक्ति से सुभिन्न है। गोलक नाथ वाले मामले(1) में प्रमुख बहुमत ने संशोधन करने की शक्ति को यह दर्शित करने के लिए कि संविधान मामूली विधि द्वारा संशोधित किया जा सकता है और ऐसी विधि अनुच्छेद 13 (2) के क्षेत्र के अन्तर्गत होगी, सप्तम अनुसूची की सूची 1 की प्रविष्टि 97 के साथ पठित अनुच्छेद 248 में प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया था। किन्तु यदि संविधान के संशोधन की शक्ति विधायी शक्ति है और सप्तम अनुसूची की सूची 1 की अवशिष्ट प्रविष्टि 97 में स्थित है तो उस शक्ति के आधार पर संविधान का संशोधन करने वाली कोई विधि संविधान के उपबन्धों के अध्यधीन रह कर ही पारित की जा सकती है जैसा कि अनुच्छेद 245 में उल्लिखित किया गया है। "संविधान के उपबन्धों के अध्यधीन रहते हुए" मामूली विधि द्वारा संशोधन की शक्ति के बारे में हमें प्रतीत होता है कि यह एक तार्किक विरोध है क्योंकि आप किस प्रकार ऐसी मामूली विधि द्वारा संविधान के उपबन्धों का संशोधन कर सकते हैं जो कि केवल संविधान के उपबन्धों के अध्यधीन रह कर ही पारित की जा सकती है ?

यह आश्चर्यजनक है कि जब सम्पूर्ण अध्याय "संविधान का संशोधन" के लिए रखा गया है और जब कि संशोधन का प्रश्न संविधान निर्माताओं के दिमाग में भयंकर रूप से गूंजा था और यह कि यदि संविधान के संशोधन की शक्ति के बारे में यह सोचा गया होता कि वह विधायी स्वरूप की है तो यह सूची I में किसी विनिर्दिष्ट प्रविष्टि के रूप में नहीं रखी गई अपितु यह अवशिष्ट प्रविष्टि से निकाल दी गई और अवशिष्ट प्रविष्टि के विधायी इतिहास पर विचार करने के पश्चात् यह असम्भव है कि संशोधन की शक्ति को उस प्रविष्टि में प्रतिष्ठित किया जाए। सप्तम अनुसूची की सूची 1 की प्रविष्टि 97 के अधीन की विधायी शक्ति अनन्य है और संशोधन की शक्ति उस प्रविष्टि में नहीं पाई जा सकती क्योंकि अनुच्छेद 368 के परन्तुक के अन्तर्गत आने वाले विषयों की बाबत संसद् को संविधान में संशोधन की कोई अनन्य शक्ति नहीं है।

इसके अतिरिक्त अनन्य संविधान को बदलने की शक्ति मामूली विधायी शक्ति नहीं है अपितु एक संविधायी शक्ति है। यह आश्चर्यजनक होगा कि संविधान निर्माताओं ने इसे अदृश्य रूप में अवशिष्ट विधायी प्रविष्टि में रखा हो।

अनुच्छेद 368 से स्पष्ट है कि जब अनुच्छेद द्वारा विहित प्रक्रिया अनुसरित की जाती है तो जो परिणाम निकलता है वह संविधान का संशोधन होता है। अनुच्छेद 100 के साथ पठित अनुच्छेद 107 से 111 में विहित विधायी प्रक्रिया से भिन्न प्रक्रिया विहित की गई है। अनुच्छेद 100 इस प्रकार है—"इस संविधान में अन्यथा उपबन्धित अवस्था को

(1) (1967) 2 एस० सी० आर० 762.

छोड़ कर किसी सदन की किसी बैठक में अथवा सदनों की संयुक्त बैठक में सब प्रश्नों का निर्धारण उपस्थित तथा मत देने वाले सदस्यों के बहुमत से किया जाएगा।" जैसा कि अनुच्छेद 368 से स्पष्ट है कुछ प्रकार के संशोधनों के लिए अनुसमर्थन भी अपेक्षित है। अनुच्छेद 368 के प्रथम भाग द्वारा यह अपेक्षित है कि विधेयक को प्रत्येक सदन में (1)उस सदन के कुल सदस्यों के बहुमत द्वारा तथा (2) उस सदन के उपस्थित तथा मतदान देने वाले दो-तिहाई सदस्यों के अन्यून बहुमत द्वारा पारित होना चाहिए। इन उपबन्धों में अनुच्छेद 108 के अधीन दोनों सदनों के मतभेद को दूर करने के लिए संयुक्त बैठक का उपबन्ध नहीं है। पुनः प्रत्येक सदन में विधेयक को पारित करने के लिए जो बहुमत अपेक्षित है वह उस सदन के उपस्थित और मतदान वाले सदस्यों का बहुमत नहीं है अपितु प्रत्येक सदन के कुल सदस्यों का बहुमत है तथा उस सदन के उपस्थित तथा मतदान देने वाले दो-तिहाई सदस्यों का अन्यून बहुमत है। जहां तक परन्तुक के अन्तर्गत आने वाले विषयों का सम्बन्ध है उसमें अनुच्छेद 107 से 111 द्वारा संसद् के लिए विहित विधायी प्रक्रिया से महत्वपूर्ण विचलन है, जहां कि मामूली विधायी मामलों में विधियां अधिनियमित करने की संसद् की शक्ति राज्य विधानमण्डलों पर निर्भर नहीं है वहां अनुच्छेद 368 के परन्तुक के अन्तर्गत आने वाले विषयों में यदि दोनों सदन अपेक्षित बहुमतों से विधेयक पारित करते हैं तो वह विधेयक तब तक राष्ट्रपति के समक्ष उसकी अनुमति के लिए नहीं प्रस्तुत किया जा सकता जब तक कि कुल राज्यों के आधे से अन्यून विधानमण्डलों द्वारा पारित उस भाव के संकल्पों द्वारा वह विधेयक अनुसमर्थित नहीं किया जाता।

गोलक नाथ वाले मामले ([1]) में अपने निर्णय में न्यायाधिपति सुब्बा राव ने मैक्कालि बनाम किंग([2]) और कांइवरि कमिश्नर बनाम पैड्रिक राणासिंघे ([3]) का यह दर्शित करने के लिए अवलम्ब लिया है कि संविधान का संशोधन करने की शक्ति एक विधायी शक्ति है। मैक्कालि वाले मामले([2])में लार्ड बिरकनहैड ने कहा था कि इस पर ध्यान देना सर्वाधिक महत्वपूर्ण है कि जहां संविधान अनियन्त्रित रहता है वहीं इसकी स्वतन्त्रता के परिणाम यह होते हैं कि इसमें कोई शर्तें नहीं होतीं और वह प्रारम्भिक सामान्योक्ति यह होती है कि विधि की दृष्टि में संविधायी दस्तावेज या वे दस्तावेजें जो इसको परिभाषित करते हैं उनकी वही स्थिति होती है जैसे कि डाग ऐक्ट या किसी दूसरे ऐक्ट की, चाहे कितना ही तुच्छ उसका विषय हो तथाकथित सांविधानिक विधि (मैं इसको इसलिए इस प्रकार पुकारता हूं क्योंकि यह एक विषय-वस्तु के निर्देश में केवल सांविधानिक विधि है न कि उसके उच्चतर स्वरूप के निर्देश में) डाग ऐक्ट द्वारा संशोधित हो जाएगी यदि यह किसी प्रकार विधायी दस्तावेज या दस्तावेजों से असंगत है।

राणासिंघे वाले मामले में प्रिवी काउन्सिल के समक्ष यह प्रश्न अवधारण के लिए था कि क्या जुडीशियल सर्विस कमीशन द्वारा की अपेक्षा अन्यथा ब्राइबरि ट्रिब्यूनल के पंचमण्डल के सदस्यों की नियुक्ति के लिए कानूनी उपबन्ध कांस्टिट्यूशन आर्डर की धारा 55

([1]) (1967) 2 एस० सी० आर० 762.

([2]) (1920) ए० सी० 691.

([3]) (1964) 2 डब्ल्यू० एल० आर०, 1301. (1965)=एस० सी० 172.

का उल्लंघन करता है, यदि यह इस प्रकार है तो क्या वह उपबन्ध शून्य है। आर्डर की धाराएं 18 और 29 इस प्रकार हैं :—

*"धारा 18. धारा 29 की उपधारा (4) में उपबन्धित से अन्यथा को छोड़ कर किसी सदन द्वारा विनिश्चय के लिए स्थापित कोई प्रश्न उपस्थित तथा मत देने वाले सिनेटरों या सदस्यों के, जैसी भी स्थिति हो, मतों के बहुमत से अवधारित किया जाएगा। प्रेसीडेण्ट या स्पीकर या पीठासीन कोई व्यक्ति पहली बार कोई मत नहीं देगा किन्तु मतों के बराबर-बराबर होने की दशा में उसे निर्णायक मत देने का अधिकार होगा और वह निर्णायक मत का प्रयोग करेगा।"

"धारा 29 (1). इस आदेश के उपबन्धों के अध्यधीन संसद् को द्वीप की शान्ति, व्यवस्था एवं सुशासन के लिए विधियां बनाने की शक्ति होगी। (2) कोई ऐसी विधि—(क) किसी धर्म के स्वतन्त्र पालन को प्रतिषिद्ध या निर्बन्धित नहीं करेगी; या (ख) किसी समुदाय या धर्म के व्यक्तियों की ऐसी अनर्हताओं या निर्बन्धनों के दायित्वाधीन दूसरे समुदाय या धर्म के व्यक्ति नहीं किए गए हैं; या (ग) किसी समुदाय या धर्म के किसी व्यक्ति को कोई विशेषाधिकार या फायदा नहीं प्रदत्त करेगी जो कि दूसरे समुदायों या धर्मों के व्यक्तियों को नहीं प्रदत्त किया गया है; (घ) सिवाय उस धर्म को शासित करने वाले निकाय की सहमति के किसी धार्मिक निकाय के संविधान को प्रवर्तित नहीं करेगी; परन्तु यह कि किसी मामले में जहां कोई धार्मिक निकाय विधि द्वारा समाविष्ट किया जाता है वहां ऐसा परिवर्तन सिवाय

---

*अंग्रेजी में यह इस प्रकार है—

"S. 18. Save as otherwise provided in sub section (4) of S. 29, any question proposed for decision by either Chamber shall be determined by a majorty of vote of the Senators or Members, as the case may be present and voting. The President or Speaker or other person presiding shall not vote in the firstinstance but shall have and exercise a casting vote in the event of an equality of votes".

"S 29 (1). Subject to the provisions of this Order, Parliament shall have power to make laws for peace order and good government of the Island. (2) No such law shall—(a) prohibit; restrict the free exercise of any religion; or (b) make persons of any community or religion liable to disabilities or restrictions to which persons of other communities or religions are not made liable; or confer on persons of any community or religion any privilege or advantages which is not conferred on persons of other communities or religions; or (d) alter the constitution of any religious body except with the consent of the governing authority of that body: Providsd that, in any case where a religious body is incorporated by law, no such alteration shall be made

उस निकाय को शासित करने वाले प्राधिकारी के निवेदन के नहीं करेगी, (3) इस धारा की उपधारा (2) के उल्लंघन में बनाई गई विधि उल्लंघन की मात्रा तक शून्य होगी। (4) इस धारा के अधीन अपनी शक्तियों का प्रयोग करते हुए संसद् इस आदेश या हिज मैजिस्टि इन काउन्सिल के किसी दूसरे आदेश के किसी उपबन्ध को इस द्वीप में लागू होने के लिए संशोधित या निरसित कर सकेगी; परन्तु यह कि इस आदेश के उपबन्धों का कोई संशोधन या निरसन का विधेयक तब तक सम्राट की अनुमति के लिए नहीं रखा जाएगा जब तक कि इस पर स्पीकर ने अपने हस्ताक्षर के अन्तर्गत इस आशय का प्रमाणपत्र पृष्ठांकित न किया हो कि प्रतिनिधि सभा में इसके पक्ष में दिए गए मतों की संख्या सदन के कुल सदस्यों के दो-तिहाई से (अनुपस्थित रहने वालों को भी सम्मिलित करते हुए) अन्यून है। इस उपधारा के अधीन स्पीकर का प्रत्येक ऐसा प्रमाणपत्र समस्त प्रयोजनों के लिए निर्णायक होगा और किसी विधि के न्यायालय में इस पर आपत्ति नहीं की जाएगी।"

अपीलार्थी ने यह दलील दी है कि जहां धारा 29 (3) अभिव्यक्त रूप से यह उपबन्धित करती है कि ऐसी विधि जो धारा 29 (2) का उल्लंघन करती है वह शून्य है। वहां धारा 29(4) के उल्लंघन के लिए कोई ऐसा उपबन्ध नहीं है जो कि मात्र प्रक्रियात्मक है और यह कि जैसे कि सिलोन, एक सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न राज्य है और उसे संविधान को संशोधन करने की शक्ति है और विधानमण्डल द्वारा पारित कोई विधि उस दशा में भी विधिमान्य है चाहे वह संविधान का उल्लंघन करती है और मैक्कॉले वाला मामला(1) इस दलील के समर्थन के रूप में जो उद्धृत किया गया था। किन्तु प्रिवी काउन्सिल ने कहा था कि मैक्कॉले वाले मामले में जो अपेक्षित विधि थी उसे विशिष्ट प्रक्रिया द्वारा पारित होना अपेक्षित नहीं था किन्तु प्रस्तुत मामले में जो विधि है और जो धारा 55 का उल्लंघन करती है वह संविधान के संशोधन के लिए धारा 29(4) द्वारा अपेक्षित रूप में ही पारित की जा सकती है और चूंकि यह इस प्रकार नहीं पारित की गई थी इसलिए वह अधिकारातीत और शून्य थी।

---

except at the request of the governing authorithy of that body; (3) Any law made in contravention of sub-section (2) of this section shall, to the extent of such contravention, be void. (4) In the exercise of its powers under this section, Parliament may amend or repeal any of the provisions of this Order, or of any other Order of His Majesty in Council in its application to the Island : Provided that no Bill for the amendment or repeal of any of the provisions of this order shall be presented to the Royal Assent unless it has endorsed on it a certificate under the hand of the speaker that the number of votes cast in favour thereof in the House of Representatives amounted to not less than two-thirds of the whole number of members of the House (including those not present). Every certificate of this Speaker under this sub-section shall be conclusive for all purpose and shall not be questioned in any court of law."

(1) (1920) ए० सी० 691.

यह सम्भव नहीं है कि ऐसा अनुमान किया जाए जैसा कि इन दो मामलों में मुख्य न्यायमूर्ति सुब्बा राव ने किया था। विधान बनाने की साधारण शक्ति तथा विशिष्ट विधायी प्रक्रिया द्वारा विधान बनाने की शक्ति में अन्तर है और दोनों शक्तियों के प्रयोग के परिणाम भी भिन्न हैं। मैक्कावले वाले मामले ([1]) में यह मत दिया गया था कि यदि किसी विधान-मण्डल को विधि बनाने की ऐसी पूर्ण शक्ति है जो संविधान से असंगत होती है तो वह विधि विधिमान्य होगी क्योंकि वह उतने तक के लिए संविधान के संशोधन के रूप में मानी जाएगी जो कि न तो इस अर्थ में अपरिवर्तनीय रूप में मूल मानी जाती है न ही उसका ऐसा अर्थान्वयन किया जाना चाहिए कि उसके लिए उससे सम्बन्धित विषयों को पारित करने के लिए किसी विशिष्ट प्रक्रिया की अपेक्षा है और संविधान की असंगति में ऐसी किसी मामूली विधि को ऐसी स्थिति में विवक्षित रूप से संविधान के परिवर्तन के रूप में माना जाना चाहिए। राणा-सिंघे वाले मामले([2])में प्रिवी काउन्सिल ने कहा था कि जहां परिवर्तन करने की विधानमण्डल की अभिव्यक्त शक्ति भी प्रयुक्त की जाती है वह भी संविधान में अधिकथित विशिष्ट विधायी प्रक्रिया के पालन द्वारा ही की जाती है। ऐसे विधानमण्डल को संविधान के संशोधन करने के लिए विधान बनाने की साधारण शक्ति नहीं है और ऐसी साधारण शक्ति के प्रयोग में बनाई गई विधि उसी प्रकार शून्य है जैसे कि कोई विधि संविधान का उल्लंघन करती है। जहां विधायी शक्ति संविधान के उपबन्धों के अध्यधीन है वहां ऐसे उपबन्धों के उल्लंघन में उसका कोई प्रयोग इसे अविधिमान्य और अधिकारातीत बना देता है। जैसे पहले ही कहा जा चुका है कि एक नियन्त्रित संविधान में संविधान के उपबन्धों के अध्यधीन साधारण विधायी शक्ति प्रदत्त करता है, वह संविधान के संशोधन के लिए विशिष्ट प्रक्रिया उपबन्धित करता है। ऐसी साधारण शक्ति के प्रयोग में पारित की गई विधि, जो कि संविधान से असंगत है, शून्य होगी क्योंकि संविधान केवल विशिष्ट प्रक्रिया द्वारा ही संशोधित किया जा सकता है। ऐसा संविधान, जो संविधान का संशोधन करने की शक्ति सहित साधारण शक्ति प्रदत्त करता है, अनियन्त्रित संविधान होता है और यह वह मूल दस्तावेज नहीं है जिसके द्वारा उसके अधीन बनाई गई विधियों की परीक्षा की जाती क्योंकि असंगति में बनाई गई विधि विवक्षित रूप में उसको परिवर्तित कर देती है। परिणाम यह है कि अनियंत्रित संविधान के अधीन पारित की गई कोई विधि अधिकारातीत नहीं होती।

राणासिंघे वाले मामले ([2]) के विनिश्चय का सार यह है कि यद्यपि सिलोन की संसद् को अपनी संविधायी शक्ति के प्रयोग में मामूली विधान बनाने की सर्वांगीण शक्ति प्राप्त है किन्तु यह धारा 29 (4) में अधिकथित विशिष्ट प्रक्रिया के अध्यधीन है। इसलिए इस विनिश्चय से विधायी और संविधायी शक्तियों का अन्तर स्पष्ट होता है।

यह दलील दी गई है कि संविधायी शक्ति एक विधायी शक्ति भी हो सकती है जैसे कि कनाडा में है और इसलिए गोलक नाथ वाले मामले ([3]) में प्रमुख बहुमत के उस विनिश्चय में कोई गलती नहीं है जिससे कि उन्होंने संशोधन की शक्ति को अव विशिष्ट प्रविष्टि में प्रतिष्ठित किया।

ब्रिटिश नार्थ अमरीका ऐक्ट की धारा 91(1) में संविधान के संशोधन की निर्बन्धित शक्ति के लिए उपबन्ध किया गया है। निस्सन्देह वह शक्ति एक विधायी शक्ति है और

([1]) (1920) ए० सी० 691.
([2]) (1965) ए० सी० 172.
([3]) (1967) 2 एस० सी० आर० 762.

इसलिए उस सीमा तक संविधान एक अनियन्त्रित या नमनीय संविधान है। कनाडा में संशोधन की शक्ति, जो विधायी स्वरूप की है और अनुच्छेद 368 के अधीन संशोधन की शक्ति, जो एक संविधायी शक्ति है, के बीच कोई सादृश्य नहीं है। जैसा कि हमने उपदर्शित किया है कि चाहे सप्तम अनुसूची की सूची 1 में संविधान को संशोधित करने के लिए कोई प्रविष्टि होती उसके द्वारा संसद् इस बात के लिए समर्थ नहीं हो सकती थी कि वह संविधान का कोई संशोधन कर सके क्योंकि अनुच्छेद 245 के प्रारम्भिक ये शब्द "इस संविधान के उपबन्धों के अध्यधीन" उसे संविधान के अधीन विधायी शक्ति के प्रयोग द्वारा संविधान के किसी उपबन्ध को संशोधित करने के लिए वर्जन लगा देते। जैसा कि हमारा संविधान है एक नियंत्रित संविधान के अधीन संशोधन की शक्ति विधायी शक्ति नहीं हो सकती; यह केवल संविधायी शक्ति हो सकती है अन्यथा संविधान नियंत्रित नहीं रह जाएगा।

यह दलील दी गई है कि यदि संविधान निर्माताओं का यह आशय था कि मूल अधिकार इस रूप में संशोधित किए जा सकते हैं कि वे न्यून किए जाएं या छीने जाएं तो इन अधिकारों के सर्वाधिक महत्व पर विचार करते हुए कम से कम अनुच्छेद 368 के परन्तुक द्वारा जो प्रक्रिया अपेक्षित है उसे लब आज्ञापक बनाया गया होता; किन्तु ऐसा न होने पर संविधान निर्माताओं का यह आशय नहीं हो सकता कि मूल अधिकार इस प्रकार संशोधित किए जाएं कि वे न्यून किए जाए या छीने जाएं। इस दलील में परन्तुक के प्रयोजन को दृष्टि से ओझल कर दिया गया है। यह परन्तुक मुख्य रूप से संघ में व्यक्तियों के रूप में उनके न्यायिक स्वरूप में राज्यों के अधिकारों और शक्तियों की सुरक्षा के लिए आशयित है। इस परन्तुक का प्रयोजन यह है कि राज्यों के अधिकार, शक्तियां और विशेषाधिकार या राज्यों के रूप उनके स्वरूप बिना संशोधन की प्रक्रिया में किसी सीमा तक उन्हें सम्मिलित किए छीना न जाए या नष्ट न किया जाए। मूल अधिकार व्यष्टियों और अल्पसंख्यकों के अधिकार होते हैं और उनका प्रतिनिधित्व संसद् में होता है। राज्यों के रूप में राज्य मूल अधिकारों के संशोधन से विशिष्ट रूप से प्रभावित नहीं होते हैं। जैसा कि व्हीयर ने कहा था कि फेडरल सरकार में यह आवश्यक है कि यदि संविधान को संशोधित करने की कोई शक्ति हो तो कम से कम जहां तक उस शक्ति का सम्बन्ध संविधान के उन उपबन्धों से है जो साधारण और क्षेत्रीय सरकारों के स्वरूप और शक्तियों को विनियमित करते हैं तो ऐसी साधारण सरकारों या क्षेत्रीय सरकारों पर अनन्य रूप से उनके विश्वास पर इनको नहीं छोड़ देना चाहिए। (1)

संविधान (प्रथम संशोधन) अधिनियम द्वारा अनुच्छेद 15 और 19 में मूल अधिकारों को इस प्रकार संशोधित किया गया कि उन्हें कम करे। पंडित जवाहरलाल नेहरू ने संशोधन को पेश करते हुए जो भाषण दिया था तथा वे व्यक्ति जो संशोधन के प्रारूपण के उत्तरदायी थे यह स्पष्ट किया था कि उन्हें इस बात में कोई सन्देह नहीं है कि मूल अधिकार इस प्रकार बदले जा सकते कि उन्हें न्यून किया जाए। एस०पी० मुकर्जी जैसे संशोधनों के प्रबल विरोधियों ने अपने भाषणों में ऐसे सुझाव की कोई झलक भी नहीं दी कि मूल अधिकार इस रूप में संशोधित नहीं किए जा सकते कि उन्हें न्यून किया जा सके। समकालीन

---

(1) व्हीयर कृत "फैडरल गवर्नमेण्ट", चौथा संस्करण, पृष्ठ 55.

व्यवहारिक व्याख्याएं संविधान के उपबन्ध के अर्थ के लिए या उसके स्वरूप निर्धारण के लिए मूल्यवान रूप में सहायक हैं। ([1])

श्री पालखीवाला ने संविधान सभा में 17 सितम्बर, 1949 को दिए गए डा० अम्बेदकर के भाषण पर यह दर्शित करने के लिए भी अवलम्ब लिया है कि मूल अधिकार संविधान के संशोधन द्वारा न तो छीने जा सकते हैं और नहीं न्यून किए जा सकते हैं।

प्रश्न यह है कि क्या संविधान सभा में दिए गए भाषण संविधान के उपबन्धों के पीछे छिपे हुए प्रयोजन को अभिनिश्चित करने के लिए अनुज्ञेय हैं यह बात संदिग्ध है। ए० के० गोपालन बनाम मद्रास राज्य ([2]) वाले मामले में मुख्य न्यायाधिपति कानिया ने कहा था कि संसद् या सम्मेलन के सदस्यों की व्यष्टिक रायों को किसी विशिष्ट खण्ड के अर्थ का अर्थान्वियन करने के लिए ध्यान में रखना उचित नहीं है किन्तु जब प्रश्न यह उठाया जाए कि क्या कुछ शब्दावली या अभिव्यक्ति विचार के लिए कभी उठी भी थी या नहीं तो डिबेट्स के प्रति निर्देश किया जा सकता है। उसी मामले में न्यायाधिपति पातञ्जलि शास्त्री ने कहा था कि किसी अधिनियम के उपबन्धों का अर्थान्वयन करने में विधेयक पर वाद-विवाद के दौरान दिए गए भाषणों को वक्ता के अमूर्त आशय को जानने के लिए उसका प्रयोग किया जा सकता है किन्तु उससे बहुमत के मत के पीछे कौन सी वह अव्यक्त मानसिक प्रक्रिया निहित थी जिसकी झलक नहीं मिल सकती जिसके द्वारा विधेयक पारित किया गया था। न्यायाधिपति मुखर्जी ने कहा था कि संविधान के उपबन्ध का अर्थान्वयन करने में यह अच्छा है कि संविधान सभा के वाद-विवाद के विवरणों को छोड़ दिया जाए और उसके स्थान पर प्रारूपण समिति की रिपोर्ट पर अधिक महत्व दिया जाए। त्रावनकोर कोचीन राज्य और कुछ अन्य बनाम बॉम्बे कम्पनी लिमिटेड ([3]) वाले मामले में न्यायालय का निर्णय देते हुए मुख्य न्यायाधिपति पातञ्जलि शास्त्री ने कहा था कि प्रारूपित संविधान पर वाद-विवाद के दौरान संविधान सभा में सदस्यों द्वारा दिए गए भाषणों को संविधान के निर्वचन के लिए सहमित के रूप में प्रयुक्त नहीं किया जा सकता। गोलक नाथ वाले मामले ([4]) में न्यायाधिपति सुब्बा राव ने 30 अप्रैल, 1947 को दिए गए पण्डित जवाहरलाल नेहरू के उस भाषण का, जिसमें कि उन्होंने मूल अधिकारों पर अनन्तिम रिपोर्ट के अंगीकृत किए जाने के लिए प्रस्थापना की थी तथा डा० अम्बेदकर के उस भाषण का जो, उन्होंने प्रारूपित संविधान के अनुच्छेद 304 (वर्तमान अनुच्छेद 368) पर श्री कामथ द्वारा प्रस्थापित किए गए संशोधन पर 18 सितम्बर, 1949 को दिया था, हवाला दिया था और यह मत दिया था कि ये निर्देशित भाषण अनुच्छेद 368 के उपबन्धों का निर्वचन करने के लिए नहीं हैं अपितु मूल अधिकारों की लोकोत्तर प्रकृति को दर्शाने के लिए है। हमें यह स्पष्ट नहीं है कि क्या डा० अम्बेदकर के भाषण से मूल अधिकारों की

([1]) मैकफरसन बनाम ब्लैकर, 146 यू० एस० 1, 27.

([2]) (1950) एस० सी० आर० 88.

([3]) (1952) एस० सी० आर० 1112.

([4]) (1967) 2 एस० सी० आर० 762, 791.

लोकोत्तर प्रकृति पर कोई प्रकाश पड़ता है। यह भाषण यदि किसी प्रयोजन के लिए उपयोगी है तो केवल यह दर्शित करने के लिए उपयोगी है कि मूल अधिकार संशोधित किए जा सकते हैं। प्रिवीपर्स वाले मामले ([1]) में न्यायाधिपति शाह ने संविधान के अनुच्छेद 291 के प्रयोजन को समझने के लिए सरदार वल्लभभाई पटेल के भाषण के प्रति निर्देश किया था। संविधान सभा में सदस्यों द्वारा दिए गए भाषणों को भारत संघ बनाम हरभजन सिंह ढिल्लों ([2]) वाले मामले में बहुतायत से बहुमत वाले निर्णय तथा अल्पमत वाले निर्णय दोनों में उद्धृत किया गया है। बहुमत वाले निर्णय में यह कहा गया है कि उन्हें यह जानकर खुशी है कि सप्तम अनुसूची की सूची 1 की वर्तमान प्रविष्टि 97 के समरूपी प्रारूपित संविधान में प्रविष्टि 91 के विस्तार पर उनके द्वारा किया गया अर्थान्वियन उन भाषणों में अभिव्यक्त किए गए मत के अनुरूप है जो उनके द्वारा निर्देशित किए गए हैं। अल्पमत ने विभिन्न सदस्यों द्वारा दिए गए भाषणों को यह दर्शित करने के लिए उनके प्रति निर्देश किया गया है कि उनका अर्थान्वियन सही अर्थान्वियन है। कूली ने कहा है कि "जब किसी फेडरल सांविधानिक विधि का प्रश्न अन्तर्वलित होता है तो संविधान का प्रयोजन एवं विशिष्ट शक्ति के प्रदान किए जाने से प्राप्त किए जाने वाले उद्देश्य का प्रयोजन वास्तविक आशय समझने के लिए सर्वाधिक महत्वपूर्ण मार्गदर्शक सिद्धान्त हैं और सांविधानिक सम्मेलन में किए गए वाद-विवाद तथा संसद् में और राज्य के सम्मेलनों में किए गए वाद-विवाद संविधान के ऐसे खण्डों पर महत्वपूर्ण प्रकाश डालने के लिए बहुधा निर्देशित किए जाते है जो अस्पष्ट और सन्दिग्ध अर्थ देते हैं ([3])।" आस्ट्रेलिया के विधिवेत्ता जूलियस स्टोन ने यह राय अभिव्यक्त की है कि सिद्धान्ततः न्यायालयों को यह छूट होनी चाहिए कि वे उनके समक्ष अन्तर्वलित समस्याओं के सामाजिक प्रसंग से सम्बन्धित बातों को समस्त विश्वस्त स्रोतों से प्राप्त करें और सिद्धान्ततः यह समझना कठिन है कि क्यों इंग्लैण्ड के न्यायालय विधायी प्रक्रिया से सम्बन्धित वाद-विवाद का आश्रय लेने से उन्हें पूर्णतया अपवर्जित कर देते हैं। उन्होंने यह प्रश्न रखा है कि किस आधार पर यह बात कही जा सकती है कि वकील ऐसे मामलों में जहां न्यायाधीश बिना स्रोत के (*ex-cathedre*) निर्णय देते हैं उसे शान्तिपूर्वक इस बात के लिए मान लेते हैं कि अमुक-अमुक बात स्पष्ट रूप से विधायकों के मन में नहीं थी। जब कि संसदीय वाद-विवाद जो प्रत्यक्ष होता है उससे यह दर्शित होता है कि यथार्थ रूप से उनके मस्तिष्क में क्या था। ([4])

तात्विक रूप में इस बात में कोई औचित्य नहीं है कि हम क्यों व्यक्तिगत सदस्यों द्वारा संविधान सभा में दिए गए उन भाषणों को उस दशा में एकदम अपवर्जित कर दें। यदि वे इस पर कोई प्रकाश डालते हैं जिससे कि संविधान के किसी उपबन्ध में छिपा

([1]) माधव राव बनाम भारत संघ (1971) 3 एस० सी० आर० 9, 83=[1971] 1 उम० नि० प० 491.

([2]) (1972) 2 एस० सी० आर 33=[1972] 1 उम० नि० प० 565= (1971) 2 एस० सी० सी० 779.

([3]) कूली आॅन कांस्टिट्यूशनल लॉ, चौथा संस्करण (1931), पृष्ठ 195-196।

([4]) जूलियस स्टोन कृत "लीगल सिस्टम एण्ड लॉयर्स रीजनिंग", पृष्ठ 351; एच० सी०एल० मैरीलत कृत "साउण्ड प्रूफ रूम; ए मैटर आॅफ इण्टरप्रिटेशन" (1967) 9, जरनल आॅफ दि इण्डियन लॉ इंस्टिट्यूट, पृष्ठ 521.

हुआ संदिग्धार्थ का समाधान किया जा सके । मुख्य न्यायाधिपति मार्शल ने इसी विषय के मर्म पर प्रहार किया था । उन्होंने इस प्रकार कहा था (1) —

> "जहां इस बात का प्रयत्न किया जाता है कि विधानमण्डल का आशय जाना जाए तो इसके अन्तर्गत प्रत्येक बात आ जाती है जिसकी सहायता से यह प्राप्त किया जा सकता है ।"

यदि अर्थान्वयन का प्रयोजन अर्थ का विनिश्चय है तो जो भी कुछ तात्विक रूप में सुसंगत है उसे सिद्धान्त रूप में नहीं छोड़ना चाहिए । इंग्लैण्ड के न्यायालयों द्वारा केवल उसे पढ़कर भाषा का निर्वचन करने की उनकी हठवादिता इस तथ्य को दृष्टि से ओझल कर देती है कि ये अधिनियमितियां जैसी कि वे थीं, वे संघटनाएं हैं, जो अपने परिवेश में विद्यमान हैं । वास्तव में यह कहना कठिन है कि वे न्यायाधीश, जो समस्त विजातीय स्रोतों को अपने ध्यान में रखने से अपवर्जित करने की बात कहते हैं, केवल मनोवैज्ञानिक रूप से अपने को सीमित रखते हैं जैसा कि वे विधिक रूप में होना तात्पर्यित रखते हैं । एक न्यायाधीश जो बिना उसमें उसके अंगीकरण के इतिहास को जाने संविधान के उपबन्धों के मात्र पढ़ने तक अपने को सीमित रखने के लिए सोचता है वह अर्थान्वयन के कार्य के प्रति एक यन्त्रवत् दृष्टिकोण अपनाता है । (2)

यदि संविधान सभा के वाद-विवाद उसकी व्युत्पत्ति सहित संविधान के उपबन्ध के विधायी इतिहास को समझने के लिए देखे जा सकते हैं अर्थात् संविधान निर्माताओं के आशय को अभिनिश्चित करने के लिए उसकी अधिनियमिति से सम्बन्धित तथा अधिनियमित करने में उठाए जाने वाले विभिन्न कदमों को यह समझना कठिन है कि क्यों यह वाद-विवाद उपबन्ध के प्रयोजन और साधारण आशय पर प्रकाश डालने के लिए अनुज्ञेय नहीं है । अन्ततोगत्वा विधायी इतिहास से उपबन्ध को अधिनियमित करने का विधायी प्रयोजन ही प्रकट होता है और उसके द्वारा विधायी आशय पर प्रकाश पड़ता है । इस प्रकार यह एक अदृश्य अन्तर करना होगा कि यदि वाद-विवाद का आशय विधायी इतिहास को दर्शित करने मात्र के लिए अनुज्ञेय है तो वह क्यों उपबन्ध के छिपे हुए संदिग्धार्थ के मामले में विधायी आशय को दर्शित करने के लिए अनुज्ञेय नहीं है । श्री डब्ल्यू० एण्डरसन ने कहा था—"जो मनुष्य परिवेश के निकट रहता है वह उस बात को अच्छी तरह जानता है कि क्या आशय था । वास्तव में आशय की खोज उस अर्थ की खोज के रूप में पूर्ण औचित्य रखती है कि विधान निर्माताओं के मस्तिष्क में प्रयुक्त किए गए शब्दों के बारे में क्या बात थी । किन्तु यह ऐसी खोज है जिसे इसकी महान कठिनाइयों का बोध रखते हुए तथा अत्यन्त विनम्रता के साथ की जानी चाहिए । (3) इस जानकारी में हमें उस अवसर की गरिमा की जांच करनी चाहिए कि जिस अवसर पर वह भाषण दिया

(1) यूनाइटेड स्टेट्स बनाम फिशर, 2 क्रांच 358, 386 यू० एस० 1805.

(2) फ्रैंकफर्टर कृत "ऑन रीडिंग दि स्टेट्यूट" में "ऑफ लॉ एण्ड मेन", पृष्ठ 64.

(3) "दि इण्टेन्शन ऑफ दि फ्रेमर्स : ए नोट ऑन दि कांस्टिट्यूशनल इण्टरप्रिटेशन ।' अमरीकन पोलीटिकल साइन्स रिव्यू; जिल्द X L I X, जून 1955.

गया था तथा उस प्रयोजन के, जिसके लिए वह भाषण दिया गया था, साथ ही उस तैयारी और सावधानी के बारे में भी जांच करनी चाहिए जिसके साथ वह भाषण दिया गया था और जिस व्यक्ति ने भाषण दिया था उसकी प्रतिष्ठा और विद्वता की जांच की जानी चाहिए। परिश्रम करके दिया गया विस्तृत भाषण जो तात्कालिक प्रश्न से प्रत्यक्षतः सम्बन्धित है उस पर "सार्वभौम पत्र" के रूप में महत्व देना चाहिए और इससे मामला एक न एक प्रकार से सुलझ सकता है; किन्तु वाद-विवाद की गरमागरमी में बिना तैयारी के किए गए ढीले ढाले कथन का निर्णय करने वाली प्रक्रिया में विनिश्चायक भूमिका नहीं प्रदत्त की जानी चाहिए। मैं समझ सकता हूं कि यदि संविधान सभा में डा० अम्बेदकर जैसे व्यक्ति द्वारा किया गया कोई निश्चित कथन है तो उससे विवाद के मामलों पर पर्याप्त प्रकाश पड़ेगा। काउन्सेल ने डा० अम्बेदकर के जिस भाषण का अवलम्ब लिया है उसमें उन्होंने यह कहा (1)—

"हम संविधान के अनुच्छेदों को तीन श्रेणियों में बांटते हैं। पहली श्रेणी में ऐसे अनुच्छेद आते हैं जिन्हें मात्र बहुमत द्वारा संसद् संशोधित कर सकती है। अनुच्छेदों की दूसरी श्रेणी में वे अनुच्छेद हैं जिन्हें दो-तिहाई बहुमत की अपेक्षा होती है। यदि भविष्य की संसद् किसी ऐसे विशिष्ट अनुच्छेद को जो कि भाग 3 या अनुच्छेद 304 में उल्लिखित नहीं है, संशोधित करना चाहती है तो उनके लिए जो कुछ भी आवश्यक है वह दो-तिहाई बहुमत है। तब वे इसे संशोधित कर सकते हैं।"

सभापति महोदय उपस्थित सदस्यों के—

"हां। हमें इसमें कोई सन्देह नहीं है कि तीसरी श्रेणी में कुछ ऐसे अनुच्छेद हैं जहां संशोधन के प्रयोजनों के लिए प्रक्रिया कुछ भिन्न या दोहरी है। इसे दो-तिहाई बहुमत तथा राज्यों के अनुसमर्थन की अपेक्षा होती है।"

इस बात में सन्देह की गुंजाइश है कि क्या यह भाषण सही तौर से रिपोर्ट किया गया है। इसके अतिरिक्त जैसे कि रिपोर्ट किया गया है उस भाषण से यह प्रतीत होता है कि डा० अम्बेदकर के कथनानुसार भाग 3 और अनुच्छेद 368 में उल्लिखित अनुच्छेदों के संशोधन के लिए दो-तिहाई बहुमत तथा राज्यों के अनुसमर्थन की अपेक्षा होती है। यह प्रतीत होता है कि उन्होंने यह माना था कि भाग 3 के उपबन्ध भी अनुच्छेद 368 के परन्तुक के अन्तर्गत रहेंगे किन्तु उन्होंने यह कभी नहीं कहा था कि भाग 3 असंशोधनीय है। यह कि उनका यह मत था कि सभी अनुच्छेद संशोधित किए जा सकते हैं यह संविधान सभा में दिए गए उनके दूसरे भाषणों से स्पष्ट है। उन्होंने 4 नवम्बर, 1948 को इस प्रकार कहा था (2)—

"............यह केवल विनिर्दिष्ट मामलों के संशोधनों के लिए है...और वे केवल थोड़े से हैं। जहां कि राज्य विधानमण्डलों का अनुसमर्थन अपेक्षित है। संविधान के समस्त दूसरे अनुच्छेद संसद् द्वारा संशोधित किए जाने के लिए छोड़

(1) कान्स्टिट्यूएण्ट असेम्बली डिबेट्स, जिल्द 9, पृष्ठ 1661.

(2) कान्स्टिट्यूएण्ट असेम्बली डिबेट्स, जिल्द 7, पृ० 43.

दिए गए हैं। मात्र परिसीमा यह है कि प्रत्येक सदन के उपस्थित और मतदान देने वाले सदस्यों के दो-तिहाई से अन्यून बहुमत तथा प्रत्येक सदन के कुल सदस्यों के बहुमत द्वारा यह किया जाएगा······"

प्रारूपित अनुच्छेद 25 (वर्तमान अनुच्छेद 32) पर बोलते हुए डा० अम्बेदकर ने निम्न लिखित शब्दों में इसके महत्व पर बल देते हुए 9 दिसम्बर, 1948 को कहा था—

"यदि मुझे यह कहा जाए कि मैं इस संविधान का कोई ऐसा विशिष्ट अनुच्छेद बतलाऊं जो अत्यधिक महत्वपूर्ण है ऐसा अनुच्छेद जिसके बिना संविधान अकृत होगा—तो मैं सिवाय इस अनुच्छेद के किसी दूसरे अनुच्छेद का हवाला नहीं दे सकता। यह तो संविधान की आत्मा तथा उसका साक्षात हृदय ही है और मुझे इस बात की प्रसन्नता है कि सदन ने इसके महत्व को जान लिया है।" (1)

किन्तु यह कहने के पश्चात् उन्होंने आगे कहा था—

"··········संविधान ने उच्चतम न्यायालय में इन अधिकारों और इन रिटों को निहित किया है और ये रिटें तब तक छीनी नहीं जा सकतीं जब तक कि स्वयं संविधान का उस रीति द्वारा संशोधित नहीं कर दिया जाता जिसके लिए कि विधान-मण्डल को प्राधिकृत किया गया है।" (महत्व देने के लिए रेखांकित किया गया है)

25 नवम्बर, 1949 को डा० अम्बेदकर ने इस सुझाव को अमान्य कर दिया था कि मूल अधिकारों को आत्यन्तिक और अपरिवर्तनीय होना चाहिए। उन्होंने जेफरसन के, मत को जिसे पहले ही निर्देशित किया जा चुका है, हवाला देने के पश्चात् कि संविधान सभा ने कनाडा की तरह संविधान को संशोधित करने के अधिकार से जनता को वंचित करते हुए या अमरीका या आस्ट्रेलिया की तरह संविधान के संशोधन पर असाधारण निबन्धनों और शर्तों को पूरा करने के लिए अध्यधीन करते हुए संविधान पर अन्तिमता और शुद्धता की मोहर लगाने से न केवल अपने को विरत रखा है अपितु संविधान को संशोधित करने के लिए सर्वाधिक सरल प्रक्रिया का उपबन्ध किया है। (2)

यह समझना कठिन है कि संविधान निर्माताओं ने यदि वे चाहते थे कि मूल अधिकार इस प्रकार न संशोधित किए जाएं कि वे छीने जाएं या न्यून किए जाएं तो अनुच्छेद 368 में अपवाद के लिए विनिर्दिष्ट रूप से उपबन्ध क्यों नहीं किया। प्रारूपित संविधान का अनुच्छेद 304 संविधान के अनुच्छेद 368 का समरूपी है। प्रारूपित संविधान के अनुच्छेद 305 में इस प्रकार उपबन्ध है—

"अनुच्छेद 305 : अल्पसंख्यकों के लिए स्थानों का आरक्षण केवल 10 वर्षों के लिए तभी तक प्रवर्तित बना रहेगा जब कि संविधान के संशोधन द्वारा वह प्रवर्तन में न बना रहे।"

(1) कांस्टिट्यूएण्ट असेम्बली डिबेट्स, जिल्द 7, पृष्ठ 953.

(2) कांस्टिट्यूएण्ट असेम्बली डिबेट्स, जिल्द 11, पृष्ठ 975-976.

"संविधान के अनुच्छेद 304 में किसी बात के होते पर भी, प्रथम अनुसूची के भाग 1 में विनिर्दिष्ट तत्समय के लिए संसद् या किसी राज्य विधानमण्डल में मुसलमानों, अनुसूचित जातियों, अनुसूचित आदिमजातियों या भारतीय इसाइयों के स्थानों के आरक्षण की बाबत संविधान के उपबन्धों को संविधान के प्रारम्भ से दस वर्ष की अवधि तक संशोधित नहीं किया जाएगा और तब तक उस अवधि की समाप्ति के पश्चात् उसका प्रभाव नहीं रहेगा जब तक संविधान के संशोधन द्वारा वह प्रवर्तन में न बना रहे।'

यदि प्रारूपण समिति का यह आशय होता कि संविधायी शक्ति के क्षेत्र से मूल अधिकारों को अपवर्जित किया जाए जो अनुच्छेद 304 द्वारा प्रदत्त होने के लिए आशयित थी तो अनुच्छेद 305 का उदाहरण अनुसरित करते हुए उक्त अधिकारों की बाबत यह एक समुचित उपबन्ध किया होता।

ए० के० गोपालन बनाम मद्रास राज्य (1) वाले मामले में मुख्य न्यायाधिपति कानिया ने कहा था कि अनुच्छेद 13 अत्यधिक सावधानी के रूप में अन्तःस्थापित किया गया है और यदि यह अनुच्छेद न होता तो भी परिणाम वही होता। श्री पालखीवाला ने यह दलील दी है कि विद्वान् मुख्य न्यायाधिपति का यह मत गलत है कि चौबीसवें संशोधन के पूर्व अनुच्छेद 368 के प्रसंग में अनुच्छेद 13 को संविधान की स्कीम में एक कृत्य की एक भूमिका है अर्थात् इसमें उन प्राधिकारियों को कथित किया गया है जिनके विरुद्ध अनुच्छेद 31(2) में रुकावट प्रचालित होती है तथा विधि की श्रेणियों को,जिन्हें यह रुकावट लागू होती है, तथा रुकावट के उल्लंघन के प्रभाव को कथित किया गया है। चाहे अनुच्छेद 13(2)का पश्चात्वर्ती भाग अत्यधिक सावधानी के साथ अधिनियमित किया गया हो या न किया गया हो यह इस प्रश्न के उत्तर पर निर्भर करेगा कि क्या उस अनुच्छेद में प्रयुक्त 'विधि' शब्द के अन्तर्गत संविधान का संशोधन भी है। यदि 'विधि' शब्द के अन्तर्गत संविधान का संशोधन है तो यह नहीं कहा जा सकता कि अनुच्छेद का पश्चात्वर्ती भाग अनावश्यक है। मुख्य न्यायाधिपति कानिया का सिद्धान्त वाक्य अनुच्छेद में 'विधि' शब्द के अर्थ के लिए उनके अर्थान्वयन को दर्शित करने के लिए ही सहायक है। यदि विद्वान् मुख्य न्यायाधिपति ने अनुच्छेद में 'विधि' शब्द को इस रूप में पढ़ा होता कि उसके अन्तर्गत संविधान का संशोधन भी है तो उन्होंने निश्चय ही यह न कहा होता कि यह अनुच्छेद अनावश्यक है। सर आइवर जैनिंग्ज ने यह मत दिया है कि यह बिल्कुल अनावश्यक है कि अनुच्छेद 13(2) को अधिनियमित किया जाता क्योंकि अन्यथा भी अधिकारातीत के साधारण सिद्धान्त के अधीन कोई विधि, जो संविधान के उपबन्धों से असंगत है, वह असंगति की मात्रा तक शून्य और अप्रभावी होगी।

यद्यपि मैं सोचता हूं कि अनुच्छेद 13(2) भिन्न प्रयोजन के लिए आवश्यक है अर्थात् मूल अधिकार के अतिक्रमण की सीमा उपदर्शित करने के लिए जिससे कि आक्षेपित विधि शून्य हो जाएगी। अमरीका की सांविधानिक विधि ने विधान में 'न्यून करने' का एक विशिष्ट अर्थबोध है और यह मानना उचित ही है कि जब उन संविधान निर्माताओं ने, जो कि यूनाइटेड स्टेट्स के संविधान के प्रथम संशोधन की भाषा से पूर्णतया अवगत थे इस अभिव्यक्ति

(1) (1950) एस० सी० आर० 88.

का प्रयोग किया था तब उनका आशय था कि वे उस अर्थ को अंगीकार करें जो उस शब्द को वहां मिल चुका था। मूल अधिकार पर प्रत्येक परिसीमा उसको न्यून करने वाली नहीं होगी। क्या कोई विनिर्दिष्ट विधि विनिर्दिष्ट रूप से दिए गए मूल अधिकारों को कम करती है, इसका उत्तर किसी सिद्धान्तवादिता से नहीं दिया जा सकता। यह सिद्धान्तवादिता चाहे महत्त्वपूर्ण धारणा पर हो या तन्त्रवादिता के विधि-विधान पर हो; न्यायालय को ऐसे मूल्यांकन करने वाला निर्णय देना चाहिए कि वह क्या बात है जिसको कि न्यून करने से संरक्षण देना चाहा गया है और तब उसे आगे यह पुनः मूल्यांकन करने वाला निर्णय देना चाहिए कि क्या आक्षेपित विधि ऐसी उस अधिकार को न्यून करती है। पाठिक वाचन सदैव विनिश्चायक नहीं होते। एक न्यायाधीश के समक्ष जब यह प्रश्न होता है कि क्या एक विशिष्ट विधि मूल अधिकार को न्यून करती है। अपने न्यायिक कृत्य के प्रयोग में उसे मूल अधिकार में अन्तर्विष्ट नैतिक अधिकार की ओर भी ध्यान देना चाहिए और तब यह निष्कर्ष निकालना चाहिए कि क्या यह विधि उस अधिकार को न्यून करती है। इस प्रक्रिया में न्यायालय को यह देखने के लिए भाग 4 में दिए गए निदेशक तत्वों की ओर दृष्टिपात करना चाहिए कि वास्तव में मूल अधिकारों की विषय-वस्तु क्या है और क्या उस विधि जिसके बारे में यह अभिकथित किया गया है कि वह उस अधिकार को घटाती है या न्यून करती है वह वास्तव में ऐसी है। न्यायालय को साधारणतः सम्पत्ति के अधिकारों की अपेक्षा वैयक्तिक अधिकारों की संरक्षा में अधिक विदग्ध होना चाहिए। दूसरे शब्दों में वैयक्तिक स्वाधीनता या स्वतन्त्रता से सम्बन्धित मूल अधिकारों को न्यायालय द्वारा विधिक सम्पत्ति अधिकारों की अपेक्षा अधिक संरक्षा मिलनी चाहिए क्योंकि ये अधिकार प्रत्येक आर्थिक व्यवस्थाओं के मामले में स्थायी संवेग के साथ उत्पन्न होते हैं। यदि उसे दूसरे प्रकार से कहा जाए तो इस प्रकार का निर्बन्धन जिससे न्यूनन होता हो, वह वैयक्तिक तथा साम्पत्तिक अधिकारों के लिए भिन्न-भिन्न हो सकते हैं, जैसा कि अधिमानित स्वतन्त्रता के सिद्धान्तों द्वारा स्पष्ट किया गया है। यद्यपि यह अनावश्यक है कि इस मामले के प्रयोजन के लिए इस विषय में आगे विचार किया जाए।

श्री पालखीवाला ने यह दलील दी है कि चाहे अनुच्छेद 368 में 'संशोधन' शब्द का, जैसा कि वह अपने संशोधन के पूर्व था, व्यापकतम अर्थ लगाया जाए तो भी अनुच्छेद 13(2) में 'विधि' शब्द को यह माना गया है कि इसके अन्तर्गत संविधान का संशोधन नहीं है। तीन बुनियादी तत्वों के अनुसार इसमें कुछ अन्तर्निहित और विवक्षित परिसीमाएं थीं और हैं जो संशोधन की शक्ति के ऊपर हैं और ये प्रत्येक गणराज्य के संविधान में विद्यमान रहती हैं। काउन्सेल के कथनानुसार इन परिसीमाओं का जन्म इस स्थिति से होता है कि अन्तिम विधिक सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्नता जनता में निहित है और यह कि संसद् संविधान की एक सृष्टि है न कि एक गठित निकाय और यह कि संविधान के आधारभूत तत्वों को परिवर्तित या नष्ट करने की शक्ति केवल जनता में ही है जो कि अन्तिम रूप से विधिक सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न। काउन्सेल ने यह दलील दी है कि यदि संसद् को संविधान के आधारभूत तत्वों को परिवर्तित करने या विनिष्ट करने की शक्ति है तो यह संविधान की सृष्टि नहीं होगी

और यह उसकी स्वामिनी हो जाएगी और यह कि इस संशोधन करने वाले निकाय की तरह कोई गठित निकाय संविधान का परिवर्तन इतने महत्वपूर्ण ढंग से नहीं कर सकती कि बुनियादी संविधानिक ढांचा विकृत या नष्ट हो जाए क्योंकि बुनियादी ढांचे को तो जनता ने अपनी संविधायी क्रान्तिकारी शक्ति के प्रयोग में विनिश्चित किया था। काउन्सेल ने यह भी दलील दी है कि यह सांविधानिक रूप से एक संविधान सभा के लिए अनुज्ञा नहीं है कि वह राष्ट्र के ऊपर उसके बुनियादी तत्वों को परिवर्तित करने की शक्ति के साथ एक दूसरी शाश्वत संविधान सभा सृजित करे और यह कि मूल अधिकार संविधान के सारभूत तत्वों को गठित करते हैं।

काउन्सेल की दलील का बुनियादी आधार वाक्य है कि संविधान के अधीन अन्तिम विधिक प्रभुत्वसम्पन्नता जनता में निहित है। भारत के संविधान की प्रस्तावना में यह कथन है कि "हम भारत के लोग इस संविधान को अंगीकृत, अधिनियमित और आत्मार्पित करते हैं।" प्रत्येक व्यक्ति जानता है कि ऐतिहासिक रूप से यह एक तथ्य नहीं है। यह संविधान ऐसी सभा द्वारा विरचित किया गया जो परिसीमित एकाधिकार के आधार पर प्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित की गई थी और वह सभा देश की जनता के विशाल समूह का प्रतिनिधित्व नहीं करती थी। अधिक से अधिक यह प्रान्तों के व्यस्क जनसंख्या के 28.5 प्रतिशत का ही प्रतिनिधित्व करती थी। देशी राज्यों की जनसंख्या इसमें सम्मिलित नहीं थी। ([1]) और कौन यह मानने का साहस कर सकता है कि यह अकेले संविधान के विरचित करते समय देश की 'जनता' को गठित करती थी। ([2]) संविधान सभा ने संविधान को विरचित करने की विधिक सक्षमता इण्डियन इण्डिपेण्डेन्स ऐक्ट, 1947 की धारा 8 से प्राप्त की थी। केन्द्रीय संसद् ने भारत को अपने सम्पूर्ण विधिक प्रभुत्वसम्पन्नता के आधार पर उक्त अधिनियमिति पास की थी और उसमें संविधान बनाने की शक्ति विनिहित की थी इस सिद्धान्त से जन्म देने वाले संविधानिक परिवर्तन चाहे जो कुछ भी रहे हों, कि सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्नता अहस्ताक्ष्य है और यह कि भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम स्वत: संसद् द्वारा निरसित किया गया था। स्वतन्त्रता जब एक बार प्राप्त की जाती है तो तत्समय के सम्पूर्ण प्रभुतासम्पन्न के द्वारा उसका प्रतिसंहरण नहीं किया जा सकता। किसी भी दशा में उस देश के न्यायालयों द्वारा जिसको कि स्वतन्त्रता प्राप्त है ऐसे प्रतिसंहरण को मान्यता नहीं दी जाएगी। सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न का अंतरण जो बाधकर है वह मात्र इस बात के कारण है कि अन्तरिती के पास उस शक्ति का और बल का कब्जा है, जो अन्तरण को पुन: प्राप्त करने से प्रवारित कर सकता है।([3]) कुछ संविधान निर्माताओं के ये प्राख्यान कि संविधान का जन्म जनता से हुआ है, यह केवल अलंकृत भाषा के रूप में ही माना जाना चाहिए। कदाचित् लोकप्रिय इच्छा के अधिक सुदृढ़ आधार पर प्रतिष्ठितकरण

([1]) ग्रैनविल आस्टिन द्वारा लिखित "दि इण्डियन कांस्टिट्यूशन" (1972) पृष्ठ 10 तथा अपेण्डिक्स I, पृष्ठ 331-332.

([2]) ब्राइस द्वारा लिखित "माडर्न डमोक्रेसी" के अध्याय (दि पिपुल, जिल्द I, पृष्ठ 161-169.

([3]) विलोबी द्वारा लिखित 'नेचर ऑफ स्टेट' (1896) पृष्ठ 229 तथा 'डाइसीज लॉ ऑफ दि कांस्टिट्यूशन' 5वां संस्करण (1897, 65 एन और 66 एन.

के लिए और इसको चुनौती विहीन सर्वोपरिता प्रदान करने के लिए ही ऐसा कहा गया है। ऑस्टिन के काल से ही यह सोचा गया था कि संविधान को विरचित करने की शक्ति में सम्मिलित अंतिम विधायी शक्ति जनता में निवास करती है और इसलिए किसी विधि या संविधान को परोक्ष या प्रत्यक्ष रूप से जनता द्वारा प्राप्त होना चाहिए। आजकल यह एक रूढ़िगत बात हो गई कि संविधान की वैधता तथा सर्वोपरिता बताया जाए। सचाई यह है कि दोनों एक ही बात के दो पक्ष हैं एक सही है और दूसरा इसके विपरीत है। अनन्य रूप से यह तथ्य कि अपनी स्वयं की शब्दावली में यूनाइटेड स्टेट्स की जनता द्वारा यही विहित किया गया है। दो विचारधाराएं कार्य करती हैं। एक मानवीय इच्छा के कृत्यों की शृंखला के रूप में मनुष्य विधिदाता के विशिष्ट आदेशों को मात्र साधारण अभिव्यक्ति के रूप में विधि की सकारात्मक धारणा है जो दूसरी मनुष्य की इच्छा उच्चतम सम्भव मूर्त रूप अर्थात् जनता है। ये दोनों विचारधाराएं ऑस्टिन के पाठ्य में, जिसे बहुधा उद्धृत किया जाता है, जुड़ी हुई पाई जाती है, "राजकुमार के प्रसाद का चाहे जो भी कारण रहा हो, उसमें विधि का बल है।" चूंकि रोम के लोगों ने उनके साम्राज्य से सम्बन्धित एक अधिनियमिति सम्राट के विधि के प्रति अपनी समस्त शक्ति और प्राधिकार के साथ समर्पण कर दिया है। यूनाइटेट स्टेट्ट के संविधान तथा साम्राज्यिक विधानों में जो मात्र अन्तर है, वह इस प्रसिद्ध पाठ्य पुस्तक में दर्शित किया गया है। वह यह है कि पूर्ववर्ती के बारे में यह माना जाता है कि वह जनता में प्रत्यक्ष रूप से पैदा हुआ जब कि पश्चात्‌वर्ती उसी प्रकार के स्रोत से केवल परोक्ष रूप में उत्पन्न हुआ है। ([1])

यह कहा गया है कि प्रस्तावना का यह प्राख्यान कि यह यह जनता थी जिसने कि इस संविधान को अधिनियमित किया, इससे अखंडनीय उपधारणा का जन्म होता है और न्यायालय सत्य की खोज करने से प्रवारित हो जाता है। यूनाइटेड स्टेट्स के संविधान में इसी प्रकार की एक प्रस्तावना है। फिर भी जब मुख्य न्यायाधिपति मार्शल को यह प्रश्न विनिश्चित करना पड़ा कि क्या संविधान का जन्म जनता से हुआ है तो उन्होंने इस बात पर बल देते हुए कहा कि न्यायालय इसके उद्धरण से परिसीमित है। प्रस्तावना के अधीन कही गई बातों का आश्रय लेना नहीं चाहा अपितु उन्होंने उन ऐतिहासिक तथ्यों के, कि संविधान राज्य कन्वेन्शनों में जनता द्वारा अनुसमर्थित किया गया था, प्रति निर्देश करते हुए यह निष्कर्ष निकालने के लिए परिश्रम किया कि प्ररूप और तत्त्व से उसका जन्म स्वतः जनता से हुआ है। इसका यह अर्थ नहीं है क्योंकि भारत की जनता ने संविधान को विरचित नहीं किया और उसे अनुसमर्थित नहीं किया, इसलिए संविधान की कोई विधिक मान्यता नहीं है। संविधान की विधिमान्यता एक बात है और वह स्रोत जिससे इसका जन्म हुआ एक भिन्न बात है। इण्डियन इण्डिपेण्डेन्स ऐक्ट से प्राप्त इसकी विधिक विधिमान्यता के अतिरिक्त इसके मानदण्ड अमिट हो चुके हैं। और न्यायालय जो संविधान की सृष्टि है, इसकी विधिमान्यता की दलील को ग्रहण नहीं करेगा यदि संविधान की विधिमान्यता का स्रोत यह नहीं है कि

([1]) एडवर्ड कोरविन द्वारा लिखित "दि हायर लॉ बैकग्राउण्ड ऑफ अमेरीकन कांस्टिट्यूशनल लॉ", पृष्ठ 3-4.

जनता द्वारा विरचित किया गया था तो संशोधन करने वाले उपबन्ध का बिना किसी विजातीय विचार के निर्देश के उसके स्वयं की भाषा का ऐसा अर्थान्वयन किया जाना चाहिए कि क्या जनता ने संशोधन करने वाले निकाय को अपनी समस्त संविधायी शक्तियों को प्रत्यायोजित किया था या नहीं किया था अथवा यह कि जनता ने मूल अधिकारों को अपने पास आरक्षित रखा।

अब हम इस विधिक कल्पना पर विचार करते हैं और यह मानते हैं जैसा कि प्रस्तावना द्वारा कहा गया है कि जनता ने ही संविधान को विरचित किया है। इससे क्या निष्कर्ष निकलता है, क्या यह कहा जा सकता है कि जब संविधान विरचित किया गया, उसके पश्चात् भी अपनी विधि सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्नता के आधार पर संविधान के ढांचे या सारभूत तत्वों में संशोधन या उपान्तरण करने के लिए अपनी सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न विधायी शक्ति अपने पास रखा है और उसका प्रयोग कर सकती है।

ऑस्टिन के कथनानुसार एक व्यक्ति या निकाय के बारे में तभी यह कहा जा सकता है कि वह विधिक सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्नता है जबकि वह या यह असीमित विधि बनाने की शक्ति रखता हो और उससे या इससे कोई भी व्यक्ति या निकाय उच्चतर न हो। कदाचित् यह कहना सही होगा कि असीमित विधि बनाने की शक्ति रखना ही किसी राज्य में विधिक सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्नता का मानदण्ड है क्योंकि यह समझना कठिन है कि कैसे ऐसे व्यक्ति या ग्रुप से कोई व्यक्ति उच्चतर हो सकता है जो समस्त विषयों पर विधियां बना सकता हो। क्योंकि वह व्यक्ति या ग्रुप ऐसी विधि बना सकता है, जो वह मान्य उच्चतर शक्तियों को नष्ट कर सकती है, अर्द्धसंघीय संविधान में, जैसा कि हमारा है, सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्नता की खोज करना किसी वकील के लिए सर्वाधिक कठिन काम है, मैं इसके खोजने का प्रयत्न नहीं करूंगा। बहुत से लेखकों का यह मत है कि ऑस्टिन के भाव में सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्नता किसी राज्य में विद्यमान नहीं है। ([1])और यह कि किसी भी सूरत में किसी फेडरल राज्य में उस अर्थ में सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्नता की धारणा को लागू नहीं किया जा सकता। ([2]) इस न्यायालय ने पश्चिमी बंगाल राज्य बनाम भारत संघ([3]) वाले मामले में यह कहा है कि वह विधिक सिद्धान्त, जिस पर संविधान आधारित है, इस देश की जनता में सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्नता की समस्त शक्तियों का प्रत्याहरण या पुनरारम्भ के रूप में है और यह कि भारतीय राष्ट्र की प्रभुत्वसम्पन्नता भारत की जनता में विनिहित है। जैसा कि प्रस्तावना में कहा गया है कि "हम दृढ़ संकल्प होकर भारत को सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न लोकतंत्र गणराज्य बनाने के लिए अंगीकृत करते हैं। हम इस सिद्धान्त वाक्य के विवक्षता से इस धारणा की विधिमान्यता के प्रति पूर्ण रूप से निश्चित नहीं हैं। यूनाइटेड स्टेट्स की सुप्रीम कोर्ट ने यह अभिनिर्धारित किया है कि सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्नता जनता में विनिहित थी। ([4]) जेमसन, विल्स तथा विल्सन और अन्य ऐसे लेखकों ने भी यही मत अपनाया है। किन्तु यह समझना

([1]) डब्ल्यू० जे० स्टेंकीविक्ज द्वारा लिखित पुस्तक 'इन डिफेन्स ऑफ सॉवरिनटि' पृष्ठ 209 पर डब्ल्यू० जे० रीस का लेख थीयरि ऑफ सॉवरिनटि रि-स्टेटेड.

([2]) सेलपाण्ड्स जुरिस प्रूडेन्स, 7वां संस्करण पृष्ठ 531.

([3]) (1964) 1 एस० सी० आर० 371, 396-398.

([4]) (1793) 2 डलास 419,470471 चिसहोम बनाम जार्जिया.

कठिन है कि किस प्रकार जनता का असंगठित समूह विधिक रूप से सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न हो सकता है। सिवाय कदाचित् प्रत्यक्ष लोकतंत्र में किसी देश में जनता का समूह के रूप में विधिक सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न नहीं कहा जा सकता। यह केवल अधिक स्पष्ट रूप से व्यक्त करना है जिसे ऑस्टिन ने यह अर्थ दिया था जबकि उसने यह कहा था कि राजनीतिक शक्ति किसी निश्चित व्यक्ति या व्यक्तियों के निकाय में होनी चाहिए क्योंकि जनसमूह अर्थात् सम्पूर्ण जनता विशिष्ट व्यक्ति या व्यक्तियों से सुभिन्न है और वह आयोजित कार्य को नहीं कर सकती। इसलिए राजनीतिक शक्ति के प्रयोग की आवश्यकता है और इसलिए विधिक सर्वोपरिता होती है।(1) जब कि तात्पयित सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न कोई ऐसा व्यक्ति है जो वास्तव में एकल व्यक्ति नहीं है तो उसके पदाभिधान के अंतर्गत नियमों के कारण आते हैं, जो उसकी इच्छा को अभिनिश्चित करते हैं और चूंकि ये नियम और उनका पालन उसके विधि की विधिमान्यता की शर्त है, वे विधि के नियम कहे जाते हैं, जो तर्क पूर्ण रूप में उससे अधिक महत्वपूर्ण होते हैं। यह असम्भव नहीं है कि नियमों की सहायता के बिना किसी व्यक्ति की इच्छा को अभिनिश्चित किया जाए। उसके बारे में यह अभिधारणा की जाएगी कि वह वही अर्थ रखता है जो वह कहता है। और वह एक समय में एक से अधिक बात नहीं कह सकता, किन्तु जैसा कि समस्त यथार्थवादी कहते हैं उसके बावजूद भी असंख्य मनुष्यों से जन्म लेने वाली इच्छा की निश्चित अभिव्यक्ति को जानना एक कृत्रिम प्रक्रिया होगी। और वह ऐसी बात है जो बिना मनमाने नियमों के नहीं की जा सकती। इसलिए यह कहना अधूरी बात होगी कि किसी राज्य में मनुष्यों की अमुक-अमुक सभा सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न है। यह केवल तभी प्रभुत्वसम्पन्न हो सकती है जब विधि द्वारा विहित किसी निश्चित रीति में कृत्य करती है। कम से कम कुछ प्राथमिक रीति और प्ररूप इसके लिए आवश्यक होते हैं। मनुष्यों की छोटी या बड़ी भीड़ की असंगत चिल्लपों विधि नहीं हो सकती। क्योंकि यह अबोधगम्य है।(2) जबकि यह सही है कि विधि के पालन की अपेक्षा अन्यथा कोई प्रभुत्वसम्पन्न कृत्य नहीं कर सकता है। यह समान रूप से सही है कि यह उसके अनुसार जिसके कि अनुसार उसे कृत्य करना होता है, विधि की सृष्टि करता है।(3) और जनता के लिए विधिक सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न के रूप में कृत्य करने के लिए या उन रीतियों या प्ररूपों के बारे में जब वे विधिक प्रभुत्वसम्पन्न के रूप में करते हैं, संविधान और विधि के उपबन्ध क्या हैं।

संविधान की सर्वोपरिता के कारण कुछ लोग यह समझते हैं कि इस दस्तावेज को सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न के रूप में माना जाना चाहिए। वे विधियों की सरकार के बारे में बात करते हैं न कि मनुष्य की सरकार के बारे में किन्तु परिभाषा द्वारा सम्पूर्ण

(1) 1 हारवर्ड लॉ रिव्यू में इरविंग बी० रिमैन द्वारा लिखित 'फ्रॉम जॉन ऑस्टिन टू जॉन सी हर्ड जिल्द 14, पृष्ठ 360.

(2) लाथेम द्वारा लिखित "ह्वाट इज एन ऐक्ट ऑफ पार्लियामेण्ट (1939) किंग्स काउन्सिल, पृष्ठ 152.

(3) आरफील्ड द्वारा लिखित 'दि अमेण्डिंग ऑफ दि फेडरल कांस्टिट्यूशन" पृष्ठ, 255.

प्रभुत्वसम्पन्नता को व्यक्ति या व्यक्तियों के निकाय में विनिहित होना चाहिए। संविधान स्वत: कोई कृत्य नहीं कर सकता विलोबी ने कहा है कि जनता की सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्नता लोकप्रिय प्रभुत्वसम्पन्नता और राष्ट्रीय प्रभुत्वसम्पन्नता के बारे में यह अर्थ देते हुए यह अभिनिर्धारित नहीं किया जा सकता कि स्थापित सरकार के अधीन सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्नता जनता में रहती है। यद्यपि इसका यह अर्थ है कि राज्य का सांविधानिक विधि विधान जिसको कि यह लागू किया जाता है यह इस सिद्धान्त के बारे में कहा गया है कि कोई राजनीतिक या व्यष्टिक सरकार का अंग स्रोत के रूप में नहीं माना जाना चाहिए कि जबकि प्रत्यायोजन द्वारा समस्त दूसरी लोक शक्तियां प्राप्त की जाती हैं। किन्तु फिर भी तत्प्रतिकूल समस्त विधिक प्राधिकार को सम्पूर्ण नागरिकों के निकाय या शासिता का प्रतिनिधित्व करने वाले निर्वाचक मण्डल मूल स्रोत है।([1]) कदाचित् यदि विधिक शब्दावली के रूप में सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्नता को छोड़ दिया जाता है और इसे राजनीति की शब्दावली के रूप में देखा जाए तो यूनाइटेड स्टेट्स ऑफ अमरीका की सुप्रीम कोर्ट का तथा उन लेखकों का, जो यह मानते हैं कि जनता सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न है, मत सही हो सकता है। किसी भी ऐसी धारणा द्वारा इतनी परस्पर विरोधी समस्याएं नहीं उत्पन्न हुई हैं जिसमें विधिवेत्ता और राजनैतिक सिद्धान्तवादी सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्नता के वास्तविक और उचित अर्थ के रूप में इतनी निराश और विस्मय में रहे हों।

लेकिन यह देखते हुए कि जनता को संविधान के अधीन उनको समनुदेशित कोई सांविधानिक या विधिक शक्ति नहीं है और अपनी राजनैतिक सर्वोपरिता के आधार पर वे ऐसी रीति द्वारा ही जो न्यायिक रीति द्वारा मंजूर नहीं की गई है, संविधान को नष्ट कर सकते हैं अर्थात् क्रांति द्वारा इसलिए काउन्सेल की इस प्रतिपादना से सहमत होना कठिन है कि संविधान के अधीन विधिक संपूर्ण प्रभुत्वसम्पन्नता जनता में विद्यमान है या जनता अन्तिम विधिक पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न के रूप में संविधान के बुनियादी ढांचे में भी उस दशा में सांविधानिक परिवर्तन कर सकती है जब कि संविधान में इसके संशोधन के लिए एक विनिर्दिष्ट प्रक्रिया उपबन्धित है। कदाचित् अन्तिम विश्लेषण में यह कहना सही है कि यदि सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्नता के बारे में यह कहा जाता है कि वह किसी भी अर्थ में यदि विद्यमान है तो वह उस संशोधन करने वाले निकाय में विद्यमान है जैसा कि विलोबी ने कहा था कि उन समस्त मामलों में जिनमें शासन करने वाली शक्ति के वितरण के कारण यह संदेह होता है कि वह कौन सा राजनैतिक निकाय है जिसमें सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्नता विद्यमान हो। जो कसौटी प्रयोग में लाई जानी चाहिए वह यह है कि अन्तिम रूप से अपनी सक्षमता तथा दूसरों की सक्षमता अवधारित करने के लिए किस प्राधिकारी को यह विधिक शक्ति प्राप्त है। जर्मनी के अन्तर्राष्ट्रीय विधिवेत्ताओं ने इसी प्रकार के सिद्धान्त को विरचित किया है जिसे काम्पीटेन्ज़-काम्पीटेन्ज़ थीयरि" अर्थात् सक्षमता का सिद्धान्त कहा जाता है।([2])

([1]) विलोबी द्वारा लिखत 'फन्डामेण्टल कॉन्सेप्ट्स ऑफ पब्लिक लॉ' पृष्ठ 99-100.

([2]) मैरियम कृत "हिस्ट्री ऑफ दि थीयरि ऑफ सॉवरिन्टि सिंस रूसो" (1900), 190-196.

यद्यपि इसका अर्थ यह नहीं है कि जनता को उस संविधान के विरचित करने का कोई अधिकार नहीं है जिसके द्वारा वे शासित किए जाएंगे। जनता के लिए साथ ही उस राष्ट्र के लिए जो कुछ भी कोई व्यक्ति कह सकता है वह यह है कि वे सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न नहीं हैं अपितु उन्हें पूर्ण स्वायत्त शासन एवं स्वशासन का नैसर्गिक अधिकार प्राप्त है। जनता तब इस अधिकार का प्रयोग करती है जब वह संविधान की स्थापना करती है। ([1]) और हमारे संविधान के अधीन जनता ने उस लिखत को संशोधित करने की शक्ति जिसे कि उन्होंने सृजित किया था संशोधित करने वाले निकाय को प्रत्यायोजित किया है।

जब कोई व्यक्ति किसी मूल्यवान वस्तु को धारण करता है तो उसका दूसरा स्वामी नहीं हो सकता है। जब तक कि वह इसका कब्जा न खो दे तब तक वह इसे दूसरे को नहीं दे सकता। और यह तभी जबकि केवल स्वामित्व के अन्तरण या दान का प्रश्न रहता है। किन्तु जब यह प्रश्न नैतिक या आध्यात्मिक प्रकृति का होता है जिसे कि इस अधिकार या शक्ति को कोई व्यक्ति इस अधिकार या शक्ति को कब्जा खोए बिना दूसरे में उस दशा में विनिहित कर सकता है यदि वह व्यक्ति उसे प्रतिनिधिक रीति में प्राप्त करता है अर्थात उस व्यक्ति के प्रतिनिधि के रूप में जिसने कि इसे अन्तरित किया था। जनता को अपने को शासित करने का अन्तर्निहित एवं स्थायी रीति में अधिकार है उनके प्रतिनिधियों में वह शक्ति विनिहित होती है जो जनता में विद्यमान है। किन्तु वह प्रतिनिधिक रूप में विनिहित होती है।([2])

प्रत्यायोजन के अन्तर्गत उस व्यक्ति द्वारा शक्तियों का छोड़ना विवक्षित नहीं है जो कि उस प्रत्यायोजन को करता है। अपितु अपेक्षाकृत कुछ बातों को करने के लिए किसी प्राधिकार का प्रदत्त करना यह बताता है कि अन्यथा जैसे उन बातों का उस व्यक्ति को स्वयं करना पड़ता। इसका अर्थ यह नहीं है कि प्रत्यायोजित करने वाला स्वयं व्यक्ति अपने अधिकारों को इस प्रकार छोड़ देता है कि वह अपने अधिकारों द्वारा निरावृत हो जाए।([3])

मैं मानता हूं कि जनता ने अपने प्रतिनिधियों को पदाभिहित करते हुए तथा संविधान के संशोधन की शक्ति को उन्हें प्रदत्त करते हुए अपनी अन्तर्निहित संविधायी शक्ति के कब्जे को न तो खोया और न ही छोड़ा है। मध्ययुग में सिविल प्राधिकारियों के बीच इस बात का बड़ा विवाद था कि क्या जब कि रोमन जनता ने विधान बनाने का अपना प्राधिकार सम्राट को अन्तरित कर दिया है वे उसके पश्चात् भी उसे अपने पास रखते हैं या वे उसका पुनः दावा कर सकते हैं।([4]) किसी अधिकार या शक्ति के कब्जे तथा उसके प्रयोग के बीच सदैव से अन्तर रहा है। सांविधायी शक्ति के प्रयोग में जनता ने संविधान विरचित किया था और साथ ही उस लिखत को संशोधित करने की शक्ति को तथा उस शक्ति को संशोधित करने

([1]) जैक्स मैरीटेन का "मैन एण्ड दि स्टेट" पृष्ठ 25.

([2]) उपरोक्त, पृष्ठ 134-135.

([3]) हुथ बनाम क्लार्क (1890) 25 क्यू० बी० डी० 391, 395 ; जोह्न विल्स, "डेलीगेटस नॉन-पाटेस्ट डेलीगेयर कैनेडियन बार रिव्यू 259.

([4]) कारलाईल कृत "ए हिस्ट्री ऑफ मेडिईवल पोलीटीकवल थीयरि इन दि वेस्ट", वाल्यूम 6, पृष्ठ 514-15.

के लिए और जोड़ी गई शक्ति के साथ सृजित किया था, संशोधन करने वाले निकाय में विनिहित किया था। जो लिखत उन्होंने सृजित किया था वह आवश्यक विवक्षा द्वारा उनके द्वारा आगे की शक्ति को प्रयोग करने को परिसीमित करता है यद्यपि उस पर कब्जा रखने के लिए परिसीमित नहीं करता है। जब यह विद्यमान रहता है संविधान जनता पर सर्वोपरि है। चूंकि जनता ने स्वेच्छा से इसके संशोधन करने की प्रक्रिया में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष या तात्कालिक रूप से भाग लेने के लिए अपने को अपवर्जित किया है और बिना किसी शर्त के अपने प्रतिनिधियों को उस शक्ति को प्रत्यक्षत: प्रदत्त किया है यह समझना कठिन है कि कैसे जनता न्यायिक रूप में इस शक्ति का प्रयोग करना जारी रखने की शक्ति का पुन: आरम्भ कर सकती है। (1) यह सोचना व्यर्थ होगा कि उसी बात को करने के लिए संविधान के अधीन दो निकाय हो सकते हैं। संविधान में उसके संशोधन के लिए उपबन्ध समाविष्ट करना उसके सामने बहुत ही असंगत होगा जबकि संशोधन के लिए उपबन्धित प्रक्रिया के अतिरिक्त जनता के समूह द्वारा उसी समय संशोधन की शक्ति को प्रत्यायोजित किया गया है और उस शक्ति का प्रयोग उस रीति की अपेक्षा, जो विहित की गई है, या उस करण की अपेक्षा जो संविधान द्वारा उस प्रयोजन के लिए पदाभिहित किया गया है, किसी अन्य रीति द्वारा उसका प्रयोग नहीं किया जा सकता। बहुत से ऐसे संविधान हैं जिनमें संशोधन की प्रक्रिया में चाहे सूत्रपात द्वारा या लोकमत संग्रह के द्वारा जैसा कि स्विटजरलैण्ड, आस्ट्रेलिया, और आयर में है, जनता को सक्रिय रूप से भाग लेने के उपबन्ध हैं किन्तु हमारे संविधान में ऐसी लोकप्रिय प्रक्रिया के लिए कोई उपबन्ध नहीं है और संशोधन की शक्ति केवल संशोधन करने वाले निकाय में विनिहित की गई है।

कहा जाता है कि "जिस जनता ने संविधान बनाया है, उसी की शक्ति में बिगाड़ना भी है, यह कि संविधान जनता की अपनी इच्छा से ही बनता है और तभी तक जीवित रहता है, जब तक इस प्रश्न का कि जनता की शक्ति का विस्तार कहां तक है और कहां तक नहीं, इस सूत्र के साथ कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है। यह तो जॉन लाक के इस दर्शन की ओर संकेत मात्र है कि जनता को कुछ परिस्थितियों में क्रान्ति करने तथा अपनी क्रान्तिकारी संविधान-निर्मात्री शक्ति का प्रयोग करते हुए, संविधान बनाने का राजनीतिक अधिकार है।

फ्रांस के राजनीतिक विचारकों ने, जहां यह कहा कि संविधान-निर्मात्री शक्ति केवल राष्ट्र को ही प्राप्त है और राष्ट्र के बनाए हुए संविधान से स्थापित प्राधिकारी को वह लिखत जनता द्वारा मूल रूप से अंगीकृत सीमाओं के अन्दर रहते हुए, संशोधित करने की शक्ति के सिवाए, कोई और संविधान-निर्मात्री शक्ति प्राप्त नहीं है, वहां, इससे अभिप्रेत यह है कि राष्ट्र, संविधान-निर्मात्री शक्ति का परित्याग नहीं बल्कि संविधान की मूल योजना के अन्दर रहते हुए, छोटी-छोटी बातों में ही, संविधान को केवल मात्र संशोधित करने का शक्ति का परित्याग कर सकता है। कुछ विधि-विशेषज्ञों ने इन दोनों शक्तियों अर्थात्

(1) डॉज बनाम वुल्से (1856) 18 एचओडब्ल्यू 331,348.

'संविधान-निर्मात्री शक्ति" तथा "संशोधन-शक्ति" का उल्लेख इस प्रकार किया है", जैसे कि ये दोनों शक्तियां भिन्न-भिन्न हैं। कार्ल जे० फेडरिक के अनुसार, संविधान-निर्मात्री शक्ति, ऐसी शक्ति है जिसका उद्देश्य संविधान स्थापित करना है और जिसे, ठीक-ठीक अर्थों में, इस प्रकार समझना चाहिए जैसे कि वह पहले से स्थापित व्यवस्था को तब्दील करने या उस के बजाए नया संविधान स्थापित करने की समुदाय के बड़े भारी भाग की वास्तविक अवशिष्ट शक्ति है। संविधान-निर्मात्री शक्ति वह शक्ति है जिसका उपयोग संविधान की स्थापना करने में किया जाता है अर्थात् वह बुनियादी निर्णय है जो नए शासन को गठित करने तथा परिसीमित करने के क्रान्तिकारी उपायों के बारे में लिया जाता है। इस संविधान-निर्मात्री शक्ति और उस संशोधन-शक्ति के बीच का विभेद समझ लेना आवश्यक है, जो वर्तमान संविधान को उस प्ररूप के अनुसार तब्दील करती है जो उसी संविधान में उपबन्धित है, क्योंकि संशोधन-शक्ति स्वयं ही गठित किया हुआ प्राधिकार है। इसके पश्चात् वे कहते हैं कि फ्रांस की सांविधानिक विधि में बहुधा ऐसा होता है कि "संविधान बनाने की शक्ति" (*Pouvoir constituent*) अभिव्यक्ति का प्रयोग 'संशोधनकारी प्राधिकार' तथा संविधान-निर्मात्री शक्ति दोनों के लिए कर दिया जाता है, किन्तु संविधान निर्मात्री शक्ति वाली जिस अभिव्यक्ति का प्रयोग उसने किया है वह वही नहीं है जो फ्रांस की सांविधानिक विधि का 'संविधान बनाने की शक्ति' है ([1]) किन्तु जिसे लिंकन ने 'घातक कल्पना' का नाम दिया है और जहां एक पत्ती भी नहीं पैदा होती है, उस शुष्क प्रदेश में प्रवेश करना या आध्यात्मिक बारीकियों को सुलझाना, बिल्कुल व्यर्थ है; क्योंकि हमारे संविधान के अधीन, संशोधनकारी निकाय को संशोधन-शक्ति एक बार प्रत्यायोजित कर देने के बाद इसकी कोई गुंजाइश ही नहीं रहती कि जनता संशोधन की संविधान-निर्मात्री शक्ति का प्रयोग करे। संविधान के सब उपबन्धों में या किसी उपबन्ध में संशोधन करने की सम्पूर्ण शक्ति, यदि संशोधनकारी निकाय को देना नहीं था, तो उस लिखत ने संशोधन-शक्ति का ही संशोधन करने की शक्ति, संशोधनकारी निकाय को किस लिए प्रदान की। इसमें कोई सन्देह नहीं कि कुछ जर्मन विचारकों ने जर्मनी के वेमर संविधान के अधीन संशोधन-शक्ति के अविवेकपूर्ण प्रयोग के विरुद्ध प्रतिवाद करते हुए, कहा था कि संशोधन-शक्ति वहीं तक है जहां तक परिवर्तन, सांविधानिक पाठ के अधीन हो और यह कि उसका उपयोग संविधान के बुनियादी ढांचे को बदलने के लिए नहीं किया जा सकता। किन्तु, जैसा कि मैं कह चुका हूं, यह कहना कि संविधान के अधीन संशोधन की सम्पूर्ण शक्ति, किसी पृथक् निकाय में, विहित करने वाला संविधान बन जाने के बाद भी, कोई राष्ट्र असीमित संविधान-निर्मात्री शक्ति का प्रयोग कर सकता है, केवल यही कहना है कि चालू व्यवस्था को, क्रान्ति द्वारा तब्दील करने की क्रान्तिकारी शक्ति जनता को प्राप्त है। किन्तु इस सिद्धान्त का प्रयोग लिखित संविधान में उपबन्धित संशोधन-शक्ति को विवक्षित परिसीमाओं के अध्यधीन करने के लिए किया जा सकता है।

([1]) कार्ल जे० फेडरिक कृत "कॉंस्टिट्यूशनल गवर्नमेण्ट एण्ड पॉलिटिक्स" (1937) पृष्ठ 113, 118, 162 और 521,

इसलिए संविधान-निर्मात्री शक्ति तथा संशोधन-शक्ति के बीच विभेद केवल क्रान्ति के अर्थ में ही किया जा सकता है। इस विभेद का आधार इस मान्यता पर है कि संविधान-निर्मात्री शक्ति को संविधान के ढांचे के अन्दर नहीं लाया जा सकता है। "इसमें कोई सन्देह नहीं, कि संशोधन करने वाले सत्ता की स्थापना इस आशा से कि क्रान्ति होने से पहले ही कानूनी तब्दीली कर दी जाएगी, और इसलिए की जाती है कि यह शक्ति वर्तमान सरकार पर अतिरिक्त निर्बन्धन के रूप में है। किन्तु यदि संशोधन करने वाली सत्ता काम न करे तो नाजुक समय आ जाने पर संविधान-निर्मात्री शक्ति आगे आ सकती है" ([1]) यह प्रस्थापना कि असीमित संशोधनकारी प्राधिकारी कोई भी बुनियादी परिवर्तन नहीं कर सकता है और यह कि बुनियादी परिवर्तन सिर्फ क्रान्ति द्वारा ही किया जा सकता है, कानून के बाहर का विषय है और कोई भी न्यायालय इस पर विचार नहीं कर सकता है। दूसरे शब्दों में, परम्परागत भाषा का प्रयोग किया जाए, तो वास्तव में प्रभु, शतप्रतिशत प्रभु—जनता—ही संविधान बना सकती है, किन्तु, जब तक कि अन्यथा उपबन्ध न हो, उस प्रभु का अस्तित्व तत्पश्चात् क्रान्ति द्वारा ही हो सकता है। इसलिए उसकी शक्ति, छोटे-छोटे और कम ताकत वाले ऐसे प्रभुओं को जन्म देकर, जो कोई भी आदेश दे सकें, समाप्त हो जाती है। भारतीय संविधान के अधीन, मूल प्रभु (जनता) ने, संविधान के संशोधन खण्ड द्वारा, अपने से छोटा एक ऐसा प्रभु बना दिया, जिसका विस्तार, शक्ति की दृष्टि से, लगभग इतना ही है, जितना स्वयं उसका है। पूरे या सम्पूर्ण प्रभु के क्रान्तिकारी कदम द्वारा स्थापित इस प्रभु को, मैक्स रेडिन ने "प्रति-प्रभु" (pro-sovereign) या संविधान के अधीन संशोधन-शक्ति का धारणकर्ता कहा है। शतप्रतिशत प्रभु का जन्म क्रान्ति द्वारा ही होता है और दूसरी बार उसका जन्म तभी हो सकता है जब फिर कोई दूसरी क्रान्ति हो ([2])। जैसा कि ह्वियर (Wheare) ने साफ-साफ कहा है, एकबार जब संविधान का अधिनियमन हो जाता है, तब—चाहे अभी वह अनुमोदन के लिए जनता के सामने रखा ही गया हो—वह न केवल उन संस्थाओं के लिए आबद्धकर है, जिनकी स्थापना उसके द्वारा की गई है, बल्कि स्वयं जनता के लिए भी। संविधान का संशोधन यदि वह कर भी सकती है तो केवल उसी ढंग से जिसकी व्यवस्था उस संविधान में की गई हो ([3])। इसी का उदाहरण विधान बनाने के बारे में जनता के प्रभुत्व के मामले में भी मिलता है। एक बार जब संविधान बन गया है और विधान बनाने की जो शक्ति जनता की है, वह संविधान के अधीन गठित किसी अंग को अन्तरित या प्रत्यायोजित कर दी गई, तब ऐसा होने के बाद जनता उस शक्ति का प्रयोग नहीं कर सकती है। इस कानूनी धारणा को कि प्रभुता अन्ततः जनता में निहित है, ऐसी प्रभुता वाली शक्ति के जनता द्वारा प्रत्यक्ष प्रयोग के लिए, जिसका प्रत्यक्ष प्रयोग अभिव्यक्ततः या विवक्षित रूप से आरक्षित कर दिया गया है कानूनी आधार नहीं बनाया जा सकता है। इस प्रकार जनता को प्रत्यक्ष रूप से

([1]) कार्ल जे० फ्रेडरिक कृत "कान्स्टिट्यूशनल गवर्नमेण्ट एण्ड डिमोक्रसि" (1950) पृष्ठ 130.

([2]) मैक्स रेडिन लिखित "इण्टरमिटेण्ट सॉवरिन", 39 येल लॉ जनरल 514.

([3]) ह्वियर कृत "माडर्न कान्स्टिट्यूशन" (1965) पृष्ठ 62.

विधान बनाने की शक्ति केवल उसी दशा में है, जिसमें उनके संविधान में ऐसा उपबन्ध किया गया हो।(1)

कहा जाता है कि यद्यपि संविधान में, संशोधन के काम में जनता द्वारा भाग लेने का कोई उपबन्ध नहीं है, फिर भी संविधान में ऐसी कोई बात नहीं है, जो मूल अधिकारों के संशोधन के विषय में, जनता की इच्छा का पता लगाने के लिए सप्तम अनुसूची की सूची I की अवशिष्ट प्रविष्टि के अधीन, संविधान-सभा आहूत करने की विधि बनाने से रोकती हो। होर कहता है कि "समस्त जनता, अपनी प्रभुत्व वाली हैसियत में विधि की व्यवस्था के प्रयोग द्वारा, नियमित निर्वाचन के दौरान अपनी सरकार के ढांचे के साथ, जो चाहे कर सकती है, चाहे फिर सरकार की व्यवस्था में ऐसा करने की स्पष्ट अनुज्ञा न दी गई हो और चाहे फिर सरकार के ढांचे में ऐसी कार्यवाही को प्रतिषिद्ध करने का प्रयत्न किया गया हो।" (2) आगे चलकर वह कहता है, "इस प्रकार लौटकर हम इसी तथ्य पर पहुंच जाते हैं कि यदि कन्वेन्शन, किसी नियमित निर्वाचन में, निर्वाचकों की मार्फत जनता द्वारा आहूत किए गए हैं, तो ऐसे सब कन्वेन्शन विधिमान्य होंगे। संविधान में उन पर प्रतिषेध लगाने का या प्राधिकृत करने का प्रयास किया गया है, या इस विषय पर उसमें केवल मौन धारण किया गया है यह बात हर हालत में सही है। उनकी विधिमान्यता सांविधानिक उपबंधों पर या विधायी कार्यों पर नहीं, बल्कि स्वयं जनता के आधारभूत प्रभुत्व पर निर्भर है" (3) जहां तक इस विषय का संबंध है, मैं समझता हूं कि विलोबी ने उत्तर दिया था वह पर्याप्त है। उन्होंने कहा "यह बात बराबर मानी गई है कि ऐसे ढंग में, जिनके लिए उपबंध वर्तमान संविधानों में नहीं हैं, अंगीकृत सांविधानिक संशोधन या नए संविधान वर्तमान विधायी रूप से विधिमान्य तब तक नहीं माने जा सकते, जब तक कि उन्हें पुरानी विद्यमान सरकार का औपचारिक अनुमोदन प्राप्त न हो गया हो। इस प्रकार, स्टेट ऑफ होड आइलैण्ड के मामले (4)में, जिसके पुराने संविधान में कोई भी उपबंध उस संविधान को संशोधित करने का नहीं था, संयुक्त राष्ट्र अमरीका के राष्ट्रपति ने नए संविधान के अधीन जो पुरानी सरकार के अनुमोदन के बिना उस राज्य के अधिकांश व्यस्क पुरुष नागरिकों द्वारा तैयार किया गया था और अंगीकृत किया गया था, स्थापित की गई सरकार को विधिवत् मान्यता प्रदान करने से इंकार कर दिया। किन्तु जब कुछ समय बाद नया संविधान ऐसे उपबंधों के अनुसार, जो पुरानी सरकार द्वारा नियत और अनुमोदित किए गए थे, अंगीकृत कर लिया गया तब उसको, राज्य की जनता तथा संयुक्त राज्य अमरीका की राष्ट्रीय सरकार, दोनों ने विधिमान्य लिखत मान लिया और तब से मानते हैं।" (5)

मैं समझता हूं कि संशोधनकारी निकाय यह कह सकता है कि वह अनुच्छेद 368 का ही संशोधन करे और मूल अधिकारों या संविधान के किसी अन्य उपबंध के संशोधन के

(1) 'रौटशैफर ऑन कांस्टिट्यूशनल लॉ' (1939) पृष्ठ 8.

(2) होर कृत "कांस्टिट्यूशनल कन्वेन्शन : देयर नेचर, पावर एण्ड लिमिटेशन्स" पृष्ठ 115 देखिए।

(3) पूर्वोक्त पृष्ठ 52.

(4) 64 लायर्स इडिशन 946.

(5) विलोबी कृत—"दि फण्डामेण्टल कॉन्सेप्ट्स ऑफ पब्लिक लॉ" पृष्ठ 96.

विषय में जनता की राय का पता लगाने के लिए लोकमत-संग्रह या किसी अन्य तरीके का उपबंध करे। यदि संविधान के मूल तथा सारभूत तत्वों में तब्दीली, जनता द्वारा ही की जा सकती है और संशोधनकारी निकाय जैसे किसी गठित प्राधिकारी द्वारा नहीं की जा सकती है, तो क्या संशोधनकारी निकाय ऐसा कर सकता था, या आज कर सकेगा कि वह अनुच्छेद 368 को इस प्रकार संशोधित करे, जिससे कि लोकमत-संग्रह द्वारा या किसी अन्य लोकप्रिय ढंग से प्रयोग में लाने के लिए जनता को वह शक्ति प्राप्त हो जाए ? यदि पिटीशनर के काउन्सेल का यह कहना ठीक है कि संशोधन-शक्ति को संशोधित करने की शक्ति सीमित है, तो ऐसा नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि संशोधनकारी निकाय के गठन में यदि इतना मौलिक परिवर्तन किया जाता है तो संविधान अपनी पहचान को ही खो देगा और इसलिए संशोधन-शक्ति को इस प्रकार संशोधित करने की शक्ति, जिससे संशोधन करने की शक्ति का स्थान यथा-गठित संशोधनकारी निकाय को छोड़कर किसी अन्य निकाय पर जिसमें जनता भी है, चला जाए, विवक्षित परिसीमा के अध्यधीन है। इसका परिणाम यह है कि जैसा कि प्रकल्पित है अनुच्छेद 368 के अधीन मूल अधिकारों या अन्य सारभूत या बुनियादी तत्वों को इस प्रकार संशोधित करने की शक्ति, जिससे कि उनको असलियत या उनका हृदयस्थल नष्ट या क्षतिग्रस्त हो जाए, न तो थी और न है। और न, इस अनुच्छेद को इस प्रकार संशोधित किया जा सकता है जिससे यही कार्य करने की शक्ति, जनता पिटीशनर के काउन्सेल के अनुसार, कानूनी प्रभु—में निहित हो जाए। यह ऐसी स्थिति है जो मुझे असम्भव प्रतीत होती है।

पिटीशनर के काउन्सेल ने कहा है कि संविधान की प्रस्तावना संशोधन की शक्ति पर विवक्षित परिसीमा है और यह कि प्रस्तावना में जनता उन महान उद्देश्यों का उल्लेख किया गया है, जिन के लिए संविधान की स्थापना की गई है, यह कि उसमें एक ऐसे प्रभुत्वसम्पन्न लोकतंत्रात्मक गणराज्य की कल्पना की गई है, जिसका आधार सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक न्याय, विचार, विश्वास तथा अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता, हैसियत तथा अवसर की समता तथा बंधुत्व को बनाया गया है और यह कि आने वाली कोई भी पीढ़ी, संविधान के उपबंधों को ऐसी रीति में संशोधित नहीं कर लेगी जिससे कि वह सरकार के उस स्वरूप के सारभूत तत्व को या संविधान की स्थापना में जनता के महान उद्देश्यों को बुनियादी रूप से बदल दे या रूपांतरित कर दे। काउन्सेल ने यह भी कहा कि प्रस्तावना संशोधित नहीं की जा सकती है, क्योंकि वह संविधान का भाग नहीं है, और इस प्रकार संविधान के किसी भी उपबन्ध में कोई भी ऐसा संशोधन नहीं किया जा सकता, जो शासन के बुनियादी ढांचे या महान उद्देश्यों को नष्ट कर दे या उन्हें क्षति पहुंचाए। संविधान-सभा की कार्यवाही से यह स्पष्ट है कि प्रस्तावना पर मतदान प्रस्ताव के रूप में कराया गया था जिसमें कहा गया था, "प्रस्तावना संविधान का भाग है" और यह प्रस्ताव स्वीकार किया गया था ([1])। संविधान के अनुच्छेद 394 से यह विदित है कि संविधान के उपबन्धों का भाग होने के कारण प्रस्तावना, 26 जनवरी, 1950 को प्रवृत्त हुई, क्योंकि उस अनुच्छेद में यह बात साफ-साफ नहीं कही गई है कि प्रस्तावना इससे भी पहले प्रवृत्त हुई। इसका

([1]) कांस्टिट्यूएण्ट असेम्बली डिबेट्स, जिल्द 1, पृष्ठ 429.

कोई उचित कारण समझ में नहीं आता है कि प्रस्तावना, जो संविधान का भाग है, संशोधित नहीं की जा सकती है।

प्रस्तावना, जैसा कि डा० वाइन्स ने कहा है, अधिक से अधिक, उस आशय की अभिव्यक्ति मात्र है, जिसे प्रभावी बनाना अधिनियम का प्रयास है और वर्तमान आशय ही उसका वृत्तान्त है ([1])। बेरुबारी वाले मामले ([2]) में यह बहस की गई थी कि संविधान की प्रस्तावना में यह बात साफ-साफ कही गई है कि शासन के लोकतन्त्रात्मक गणराज्यीय स्वरूप के समान ही भारत का सम्पूर्ण राज्यक्षेत्र संसद् की पहुंच के बाहर है और उस पर प्रभाव न तो साधारण कानून का और न संविधानिक संशोधन का पड़ सकता है, फिर भी न्यायालय ने कहा "इस धारणा को स्वीकार करना आसान नहीं है कि प्रस्तावना के पहले ही भाग में प्रभुता की एक अत्यंत महत्वपूर्ण विशेषता पर बहुत गम्भीर परिसीमा प्रकल्पित है।" इस मामले में ऐसे किसी भी बन्धन को मानने से साफ इन्कार कर दिया गया जो प्रस्तावना में दिए गए उद्देश्य के आधार पर सामान्य रूप से प्रभुत्व का अनिवार्य विशेषता समझी जाती है।

प्रस्तावना का काम क्या है, इस सम्बन्ध में स्टोरी के इस विचार के बारे में कोई विवाद नहीं है कि प्रस्तावना से इस बात का पता लगता है उन दुष्टियों के बारे में, जिनका उपचार किया जाना था, तथा उद्देश्यों के बारे में, जो अधिनियम या संविधान के उपबन्धों द्वारा पूरे किए जाने थे, विधान के निर्माताओं का आशय क्या था। इस सम्बन्ध में भी कोई विवाद नहीं है कि प्रस्तावना स्वयं ही कोई शक्ति प्रदान नहीं कर सकती है, न वह अभिव्यक्त रूप से प्रदान की गई किसी शक्ति के विस्तार को बढ़ा सकती है और न उसे किसी भी विवक्षित शक्ति का साधन बनाया जा सकता है। और न इस प्रस्तावना के संबंध में तर्क-वितर्क करना आवश्यक है कि यदि अधिनियमन वाला भाग संदिग्ध हो तो अधिनियम वाले भाग का निर्वचन करने में असंदिग्ध प्रस्तावना से सहायता प्राप्त की जा सकती है।

सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय, समता और स्वतंत्रता को जिन स्थूल संकल्पनाओं की प्रस्तावना में शाश्वत शक्ति के रूप में स्थान दिया गया है, वे नैतिक आदेश मात्र हैं, उनका आशय वही होगा जो हर पीढ़ी स्वयं अपने अनुभव पर नए सिरे से उन्हें प्रदान करेगी। "स्वतंत्र न्यायपालिका उनको कोई भी अर्थ अपने मन से नहीं दे सकती, क्योंकि, यदि न्यायपालिका ऐसा करती है तो अन्त में वह स्वतंत्र नहीं रहेगी।" "और उसकी स्वतंत्रता नष्ट हो जाएगी, क्योंकि उसका मत इतना बड़ा नहीं हो सकता कि उसमें हर प्रकार के मनुष्यों की आशाएं और निराशाएं आ जाएं और न उसके उत्तर ऐसे उत्तर हो सकते हैं जो उन लोगों के उत्तर हों।" इस सम्बन्ध में कि इन संकल्पनाओं से क्या अभिप्रेत है होने वाले संघर्ष से, न्यायपालिका को दूर रहना चाहिए और उसे चाहिए कि संघर्ष का यह क्षेत्र जनता के प्रतिनिधियों के लिए छोड़ दे"। ([3])

([1]) वाइन्स कृत "लेजिसलेटिव, एक्जेक्यूटिव एण्ड जुडीशियल पॉवर्स इन आस्ट्रेलिया" (चौथा संस्करण पृष्ठ 506).

([2]) (1960) 3 एस० सी० आर० 250, 281-282.

([3]) लर्नेड हैण्ड कृत "दि स्पिरिट ऑफ लिबर्टी" पृष्ठ 125.

इस कैलसन की दृष्टि से न्याय तर्कहीन आदर्श है और तर्कपूर्ण ज्ञान की दृष्टि से विचार किया जाए तो उनके अनुसार हितों के सिवाय कुछ नहीं है और इसलिए हितों का संघर्ष है। उनके अनुसार उन हितों के संघर्ष का निपटारा ऐसे आदेश द्वारा किया जा सकता है, जो या तो एक हित को समाप्त करके दूसरे की तुष्टि करता है या फिर दोनों परस्पर विरोधी हितों के बीच समझौता कराने का प्रयत्न करता है। (1) एलन का कहना है कि "सामाजिक न्याय" अभिव्यक्ति का कोई निश्चित अभिप्राय नहीं है। उसका मतलब अलग-अलग व्यक्तियों के लिए अलग-अलग हो सकता है (2)। स्वतंत्रता के सम्बन्ध में, अब्राहम लिंकन ने कहा है कि संसार में इस शब्द की कोई अच्छी परिभाषा अभी तक देखने में नहीं आई। कितने ही लोगों को समता का विचार दंत कथा मात्र प्रतीत होता है और वे कहते हैं कि सामाजिक तथा आर्थिक क्षेत्र में समता का विचार का कोई अर्थ हो सकता है तो, जो मनुष्य अन्यथा असमान हैं, उन्हें समान बनाने के लिए राज्य को उनके बीच विभेद करना चाहिए। इसका अर्थ यह नहीं है कि चूंकि इन विचारों का कोई निश्चित खाका नहीं है इसलिए इसका कोई अस्तित्व भी नहीं है, क्योंकि यह समझना पुरानी भूल है कि चूंकि कोई चीज स्थूल रूप में नहीं है या उसे बारीकी के साथ तौला या नापा नहीं जा सकता है तो इसलिए उनका अस्तित्व ही नहीं है। (3) किन्तु ऐसे देश के लिए जो, अपने करोड़ों निरीह जनों को निर्धनता और अभाव के जुए से मुक्ति दिलाने के लिए, किसी सामाजिक व्यवस्था के निर्माण में लगा हुआ है, प्रस्तावना से इस बात का कोई संकेत नहीं मिल सकता है कि इन संकल्पनाओं में आपस में कौन सी ऐसी है जिसका पूर्विकता-मूल्य अधिक है। न्यायाधिपति जानसन ने, जैसा कि यकायक उनको नजर आया, शासन के विज्ञान को "प्रयोग के विज्ञान" की संज्ञा दी है (4)। और उस सामाजिक व्यवस्था के निर्माण का प्रयोग करने के लिए, जिसे समुदाय का भारी बहुमत चाहता है, इन आकाशवाणी जैसी संकल्पनाओं से कोई सहायता इस सम्बन्ध में नहीं मिलती है कि इनमें पूर्विकता-मूल्य किसका अधिक है। वे इस सम्बन्ध में कोई मार्गदर्शन नहीं करती हैं कि उनमें से हर एक का अनुदान कितना होना चाहिए या उस सामाजिक व्यवस्था में किसका स्थान गौण होना चाहिए और किसका प्रमुख। जब कि संशोधन का उद्देश्य उनमें से एक या दूसरे को अधिक पूर्विकता-मूल्य देना हो तब उनमें से कोई भी संकल्पना संशोधन की शक्ति पर विवक्षित परिसीमा के रूप में कैसे प्रवर्तित हो सकती है ?

विवक्षित परिसीमाओं के बारे में अपनी दलीलों की व्याख्या करते हुए श्री पालखीवाला ने यह कहा कि हमारे जैसे संविधान में मूल अधिकारों के अतिरिक्त अन्य सारभूत तत्व भी हैं, अर्थात् भारत का प्रभुत्व तथा अखण्डता, मतदान करने का तथा संसद् या राज्य विधान-मण्डलों में अपने प्रतिनिधि निर्वाचित करने का जनता का अधिकार, सरकार का गणतंत्रात्मक स्वरूप, धर्म-निरपेक्ष राज्य, स्वतंत्र न्यायपालिका, संघ का दोहरा ढांचा (ड्यूअल स्ट्रक्चर), कार्यपालिक, विधायी तथा न्यायपालिक शक्तियों का पृथक्करण आदि और इन सारभूत

(1) कैलसन कृत "जनरल थीयरि ऑफ लॉ एण्ड स्टेट" (1946), पृष्ठ 13.

(2) एलन कृत "आस्पेक्ट्स ऑफ जस्टिस", पृष्ठ 31.

(3) लार्ड रीड : रिज बनाम बाल्डविन (1964) ए० सी० 40, 64.

(4) एण्डरसन बनाम डन्न, 6 व्हीट 204; 206 यू० एस० 1821.

तत्वों को तब्दील करने के लिए संसद् को कोई शक्ति प्राप्त नहीं है चूंकि वह गठित किया गया प्राधिकार है।

संशोधन की शक्ति पर विवक्षित परिसीमा का प्रश्न, जब-जब संयुक्त राज्य अमरीका में उठाया गया, तब-तब सुप्रीम कोर्ट ने इस दलील को मंजूर नहीं किया।

लैसर बनाम गारनेट (1) में संयुक्त राज्य अमरीका के सुप्रीम कोर्ट ने उन्नीसवें संशोधन की विधिमान्यता की पुष्टि की और यह दलील नामंजूर कर दी कि फ़ेडरल संविधान द्वारा प्रदान की गई संशोधन-शक्ति की प्रकृति ऐसी है कि उसकी परिधि में यह संशोधन नहीं आता है, चूंकि निर्वाचकों की संख्या में इतनी बड़ी अभिवृद्धि, यदि राज्य की सहमति के बिना की जाती है, तो राजनैतिक निकाय के रूप में उसकी स्वायतता नष्ट हो जाएगी। (महत्व देने के लिए रेखांकित किया गया है) यूनाइटेड स्टेट्स बनाम स्प्रेग (2) में सुप्रीम कोर्ट ने यह दलील नामंजूर कर दी कि संयुक्त राज्य अमरीका को व्यक्तियों पर शक्ति प्रदान करने वाला संशोधन, राज्य विधानमण्डलों के बजाए, कन्वेन्शनों में अनुसमर्थित किया जाना चाहिए। न्यायालय के सामने दलील यह दी गई कि यद्यपि कांग्रेस को अनुसमर्थन का एक या दूसरा तरीका पसन्द करने का आत्यन्तिक विवेकाधिकार प्राप्त है, फिर भी जब सीधा प्रभाव व्यक्तियों के अधिकारों पर पड़ने वाला हो तब उस विवेकाधिकार पर विवक्षित परिसीमाएं लागू हैं और यह कि ऐसे मामले में संशोधन का अनुसमर्थन कन्वेन्शन द्वारा होना चाहिए। न्यायालय ने कहा कि संशोधन का अनुसमर्थन, कन्वेन्शन या राज्य विधानमण्डलों द्वारा कराने के बारे में कांग्रेस को जो आत्यंतिक विवेकाधिकार प्राप्त है उस पर कोई भी परिसीमा नहीं है। नैशनल प्रोहिबिशन वाले मामलों (3) में, जिनमें संयुक्त राज्य अमरीका के संविधान के अठारहवें संशोधन की विधिमान्यता की पुष्टि की गई थी, सुप्रीम कोर्ट ने यह दलील खारिज कर दी कि संशोधन-शक्ति विवक्षित परिसीमाओं के अधीन है। यद्यपि बहुमत के अनुसार दिए गए निर्णय में यह नहीं बताया गया कि उनके निष्कर्षों के कारण क्या हैं, फिर भी बहस क्या की गई थी और फैसला क्या किया गया यह समझने के लिए विभिन्न मामलों में, काउन्सेल द्वारा फाइल की गई विस्तारपूर्ण बहस तथा मौखिक दलीलों की जांच की जा सकती है। (3) नैशनल प्रोहिबिशन वाले मामलों (3) में सुप्रीम कोर्ट के सामने दलीलें ये पेश की गईं कि संशोधन वह है जो ऐसे तत्व का परिवर्तन या सुधार है जो संविधान में पहले से मौजूद है, यह कि संशोधन वास्तव में ऐसा विधान है जो व्यक्तियों के अधिकारों पर प्रत्यक्ष प्रभाव डालने वाला कोई हो, यह कि संविधान में चूंकि कल्पना राज्यों के अमिट संघ की की गई थी, इसलिए राज्य संघ के मूलभूत आधार को बदलने का कोई भी प्रयत्न, संशोधनकारी निकाय को अनुच्छेद 5 द्वारा प्रत्यायोजित शक्ति के परे है और यह कि संशोधन उस विनियामक शक्ति (पुलिस पॉवर

(1) 258 यू० एस० 130=66 लॉयर्स इडिशन 595.

(2) 282 यू० एस० 716.

(3) रहोड आइस लैण्ड बनाम पलमार, 253 यू० एस० 350.

का उल्लंघन है, जो वहां के निवासियों के स्वास्थ्य, सुरक्षा तथा आचार के संरक्षण के लिए राज्यों में निहित है। संशोधन की विधिमान्यता की पुष्टि करने वाले न्यायालय के कथन से निकलने वाला एक मात्र निष्कर्ष यह है कि इस मामले में पेश की गई किसी भी दलील को न्यायालय ने मन्जूर नहीं किया।

नेशनल प्रोहिबिशन वाले मामलों (1) का निष्कर्ष यह प्रतीत होता है कि संविधान को संशोधित करने की शक्ति पर और कोई बन्धन नहीं है, सिवाय इसके कि किसी भी राज्य को, सिनेट में उसके समान मताधिकार (इक्वल सफ्रेज) से वंचित न किया जाए। इसका अर्थ है कि कांग्रेस के दोनों सदनों के दो-तिहाई तथा तीन-चौथाई राज्यों के विधानमण्डलों की कार्रवाई से, राष्ट्रीय सरकार की सब शक्तियां, राज्यों को दी जा सकती हैं तथा राज्यों को सब आरक्षित शक्तियां, फेडरल सरकार को अन्तरित की जा सकती हैं। (2)

नेशनल प्रोहिबिशन वाले मामलों (1) में सुप्रीम कोर्ट के फैसले के प्रभाव का उल्लेख करते हुए, डाड ने कहा कि न्यायालय ने, संशोधन-शक्ति पर लगाई गई विवक्षित परिसीमाओं के पक्ष में पेश की गई सब दलीलों को, निस्सन्देह रूप से खारिज कर दिया है, यद्यपि यह कथन अनिवार्य रूप से इतना प्रभावशाली नहीं है कि सिवाय उन परिसीमाओं के, जो संविधान की भाषा में स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त हैं, सब परिसीमाओं को खारिज कर दिया जाए। (3)

"संविधान का अनुच्छेद 5 किसी भी ऐसे संशोधन को प्रतिषिद्ध करता है, जिसके द्वारा किसी राज्य को 'सिनेट में उसके समान मताधिकार से, उसकी मर्जी के बिना, वंचित कर दिया जाए।' इसके अतिरिक्त, संशोधन-शक्ति पर कोई और बन्धन प्रतीत नहीं होता है। कुछ भी हो, तथाकथित नेशनल प्रोहीबिशन वाले मामलों (1) में विनिश्चय का यही परिणाम है।" (4)

डोक्करसन बनाम यूनाइटेड स्टेट्स ऑफ अमरीका (5) में नेशनल प्रोहिबिशन वाले मामलों(1)के प्रति निर्देश करने के पश्चात्, न्यायाधिपति मर्फी ने यह कहा कि अनुच्छेद 5 में, संशोधन द्वारा सांविधानिक परिवर्तन के ऐसे प्रक्रिया विषयक उपबन्ध हैं, जो सिनेट में समान मताधिकार सम्बन्धी परिसीमाओं के सिवाय किसी विद्यमान परिसीमा के अधीन नहीं हैं।

यूनाइटेड स्टेट्स ऑफ अमरीका बनाम डेनिस(6) में लर्नेड हैण्ड की यह राय थी कि संशोधनों के सम्बन्ध में संविधान के उपबन्ध का अनुपालन करते हुए पारित संविधान का कोई भी संशोधन, इस अपवाद के अध्यधीन कि किसी भी राज्य को सिनेट में उसके समान

---

(1) रहोड आईसलैण्ड बनाम पलमार (1919) 253 यू० एस० 350.

(2) वुडिक कृत "दि लॉ ऑफ दि अमरीकन कांस्टिट्यूशन", पृष्ठ 44-49.

(3) 30 येल लॉ जरनल 329.

(4) थामस एम० कूले कृत "दि जनरल प्रिंसिपल्स ऑफ कांस्टिट्यूशनल लॉ इन दि यू० एस० ए०" चौथा संस्करण, पृष्ठ 46-47.

(5) 320 यू० एस० 118, 137-145.

(6) 103 फेडरल रिपोर्टर 200,201.

मताधिकार से वंचित नहीं किया जाएगा, उसी प्रकार विधिमान्य है, जैसे कि वह संविधान में मूल रूप से सम्मिलित किया गया हो।

अद्यतन नजीर व्हाइटहिल बनाम एलकिंस(1) में सुप्रीम कोर्ट के बहुमत की ओर से न्यायाधिपति डगलस की इतरोक्ति है—

"यदि हमारा पथप्रदर्शक फेडरल संविधान है तो जो भी हमारे शासन के स्वरूप को भी 'बदलना' चाहे उसे यह इसके लिए धरती को छोड़ कर कहीं और नहीं जाना पड़ेगा चूंकि संविधान ने संशोधन प्रक्रिया द्वारा 'परिवर्तन' का तरीका अनुच्छेद 5 में विहित कर दिया है और संशोधन की प्रक्रिया तो निर्बन्धित है परन्तु किस प्रकार के संशोधन पेश किए जा सकेंगे इस बाबत कोई निर्बन्धन नहीं है।"

संयुक्त राज्य अमरीका के संविधान के विद्वान् लेखकों ने यह दृष्टिकोण भी अपनाया है कि संशोधन-शक्ति पर कोई भी विवक्षित परिसीमाएं नहीं हैं, यह कि संशोधन शासन के दोहरे स्वरूप या बिल ऑफ राइट्स को तब्दील कर सकता है और यह कि संविधान के रचयिताओं का आशय शासन का ऐसा असंशोधनीय ढांचा तैयार करने का नहीं है, जिसमें मामूली-मामूली बातों के परिवर्तन भी संशोधन द्वारा किए जा सकें।(2)

रेयन वाले मामले (3) में आयरलैण्ड के सुप्रीम कोर्ट को दो प्रश्नों पर ध्यान देने और उनके सम्बन्ध में अपना निर्णय देने का अवसर मिला था : (1) आयरलैण्ड के संविधान के अनुच्छेद 50 में, जिसमें संविधान के संशोधन के लिए उपबन्ध किया गया था, 'संशोधन' शब्द को क्या अर्थ दिया जाए तथा (2) किन्हीं ऐसी विवक्षाओं का निष्कर्ष क्या संविधान से निकाला जा सकता है, जिनसे अनुच्छेद 50 के अधीन हो सकने वाले संशोधन का विस्तार कम हो जाता हो। जहां तक इस मामले का सम्बन्ध पहले प्रश्न के साथ है वहां तक मैं इस मामले में किए गए विनिश्चय की चर्चा कर चुका हूं।

दूसरे प्रश्न के सम्बन्ध में, मुख्य न्यायाधिपति कैनेडी की राय यह थी कि संशोधन-शक्ति कुछ विवक्षित बन्धनों के अध्यधीन है, जब कि अन्य दो विद्वान् न्यायाधिपतियों ने अभिनिर्धारित किया कि ऐसे कोई भी बन्धन नहीं हैं। किन्तु जिन विवक्षित बन्धनों का सुझाव दिया गया है और जिनका आश्रय विद्वान् न्यायाधिपति ने लिया है, उन पर, उनके

(1) (1967) 389 यू० एस० 54, 57.

(2) विलिस, "कांस्टिट्यूशनल लॉ" (1936), पृष्ठ 123-124; मारफील्ड, "दि अमेण्डिग ऑफ दि फेडरल कांस्टिट्यूशन" (1942), पृष्ठ 99; लिविंगस्टोन "फेडरलिज्म एण्ड कांस्टिट्यूशनल चेंज" (1956), पृष्ठ 240-241; राट्सशैफर, "कांस्टिट्यूशनल लॉ" पृष्ठ 8-9; जॉन डब्ल्यू० बर्गेस, "पोलिटिकल साइन्स एण्ड कम्पैरेटिव कांस्टिट्यूशनल लॉ" जिल्द 1, पृष्ठ 153; कूली, "कांस्टिट्यूशनल लिमिटेशन्स" पृष्ठ 41-43; डी० ओ० मैकगोवनी, "इज दि एट्टींथ अमेण्डमेण्ट वायड बिकाज ऑफ इट्स कन्टेण्ट्स ?" कोलम्बिया लॉ रिव्यू, जिल्द 20, मई 1920, नं० 5; डब्ल्यू एफ डाड, "अमेण्डिग दि फेडरल कांस्टिट्यूशन", 30 येल लॉ जरनल 329 डब्ल्यू० डब्ल्यू० विलोबी, "कांस्टिट्यूशनल लॉ ऑफ दि यूनाइटेड स्टेट्स", द्वितीय संस्करण, जिल्द 1, 598.

(3) (1935) आयरिश रिपोर्ट्स, 170.

इस कथन की रोशनी में विचार करना आवश्यक नहीं है कि : "इस बात के समर्थन में दी गई एक मात्र दलील यह है कि संविधान को संशोधित करने की शक्ति, संशोधन-शक्ति को भी संशोधित करने की शक्ति देती है। निस्सन्देह रूप से, यह बात कही नहीं गई है। आशा की जा सकती थी कि (यदि ऐसा आशय होता तो) उस शक्ति ने "इस संशोधन-शक्ति का संशोधन सम्मिलित करते हुए" जैसे कुछ शब्दों द्वारा उसी आशय वाला उपबन्ध अन्तःस्थापित करके यह आशय अभिव्यक्त किया होता, किन्तु ऐसा कोई भी आशय अभिव्यक्त नहीं है और न कोई ऐसी बात है जिससे उस आशय की विवक्षा की जा सके। मुख्य न्यायाधिपति कैनेडी के इस मत के लिए कुछ औचित्य हो सकता है कि "संविधान को संशोधित करने की शक्ति ऐसी बात है जो संविधान के बाहर की है, यद्यपि संविधान ही सम्पार्श्विक है" और यह कि जब तक संशोधन-शक्ति को संशोधित करने की स्पष्ट शक्ति न हो, तब तक संशोधन-शक्ति का विस्तार नहीं किया जा सकता। स्कैण्डिनेवियन के विधिवेत्ता अल्फ रास ने कहा है कि संयुक्त राज्य अमरीका में उच्चतम प्राधिकारी वह संविधान-निर्मात्री सत्ता है, जिसका गठन संविधान के अनुच्छेद 5 के नियमों द्वारा किया गया हो। इन नियमों में अमरीका की विधि प्रणाली (अमरीकन लॉ सिस्टम) की उच्चतम दिमागी उड़ान का समावेश है। किन्तु उनके बारे में यह नहीं समझा जा सकता कि वे किसी प्राधिकारी द्वारा अधिनियमित हैं और न उन्हें किसी प्राधिकारी द्वारा संशोधित किया जा सकता है। संविधान के अनुच्छेद 5 का कोई भी संशोधन, जो वस्तुतः पारित हो जाता है, विधिक तथ्य है, न कि निर्धारित प्रक्रिया सम्बन्धी विधि की उत्पत्ति ([1])। अब आयरलैण्ड के संविधान के अनुच्छेद 50 में जहां उस अनुच्छेद को संशोधित करने की कोई शक्ति नहीं थी, वहां अनुच्छेद 368 का परन्तुक (ङ) यह बताता है कि अनुच्छेद 368 स्वयं संशोधित किया जा सकता है; इसलिए मुख्य न्यायाधिपति कैनेडी की सम्पूर्ण तर्कशैली हमारे प्रयोजन के लिए असंगत है। यह बात ध्यान देने की है कि मूरे बनाम अटर्नी जनरल फोर दि आयरिश स्टेट ([2]) में, जिसमें 1933 में आयरलैण्ड की संसद् द्वारा किए गए सांविधानिक संशोधन (संशोधन सं० 22) को चुनौती दी गई थी, श्री ग्रीन ने प्रिवी काउन्सिल के सामने यह मान लिया था कि 1929 का संशोधन सं० 16 (जिस संशोधन को रेयान वाले मामले में चुनौती दी गई) नियमित है। संशोधन सं० 16 की विधिमान्यता या अविधिमान्यता, उनके मुवक्किल के मामले की सफलता के लिए बहुत महत्वपूर्ण थी और माननीय न्यायाधीशों की दृष्टि में काउन्सेल ने जो रियायत की वह "ठीक ही" की गई थी।

यह साबित करने के लिए कि विधायी शक्ति, विवक्षित परिसीमा के अध्यधीन हो सकती है, पिटीशनर ने लियांगे बनाम क्वीन ([3]) वाले मामले में प्रिवी काउन्सिल के फैसले का आश्रय लिया है। उस मामले में विचारणीय प्रश्न यह था कि सिलोन की संसद् द्वारा पारित 1962 का क्रिमिनल लॉ (स्पेशल प्रोविजन्स) ऐक्ट सं० 1 क्या विधिमान्य है। उस ऐक्ट का अभिप्राय, वारदात हो जाने के बाद नए अपराधों की सृष्टि करना तथा उस अपराध के किए जाने के समय सामान्य विधि के अधीन प्रवृत्त साक्ष्य के नियमों तथा दण्ड प्रक्रिया

([1]) अल्फ रास कृत "लॉ एण्ड जस्टिस", पृष्ठ 81.

([2]) (1935) ए० सी० 184.

([3]) (1967) 1 ए० सी० 259.

को परिवर्तित करना तथा अधिक दण्ड देना भी था। अपीलार्थियों ने कहा कि यह अधिनियम उन व्यक्तियों के विचारण की व्यवस्था करने के लिए पारित किया गया था, जिन्होंने सत्ता हथियाने के उस असफल विद्रोह में भाग लिया था और प्रिवी काउन्सिल के सामने कहा गया था कि चूंकि यह अधिनियम कुछ व्यक्तियों को लक्ष्य करके बनाया गया था और उसके द्वारा अपराधों और उनके दण्ड की व्यवस्था, वारदात हो जाने के बाद की गई थी तथा यह अधिनियम, उन व्यक्तियों की दोषसिद्धि को सुनिश्चित करने के लिए बनाई गई विधायी योजना थी, इसलिए 1962 का अधिनियम न्याय के बुनियादी सिद्धान्तों के प्रतिकूल था और इसका अर्थ यह होता था कि इस अधिनियम के द्वारा विधानमण्डल ने न्यायपालिका की शक्ति का अपहरण कर लिया है।

प्रिवी काउन्सिल ने यह दलील नामंजूर कर दी कि सिलोन विधानमण्डल की शक्तियों में ब्रिटिश विधि के बुनियादी सिद्धान्त के जैसे अस्पष्ट तथा अनिश्चित पदों का हवाला देकर, कमी की जा सकती है और यह कहा कि यद्यपि सिलोन संविधान में ऐसे कोई भी स्पष्ट उपबन्ध नहीं हैं जो न्यायपालिका में न्यायिक शक्ति निहित करते हों, फिर भी सिलोन की विधायी प्रणाली, 1833 के 'चार्टर ऑफ जस्टिस' द्वारा स्थापित की गई है और यह कि प्रभुता के बदलने से न्यायपालिका के कार्यसंचालन में कोई तब्दीली नहीं हुई और यह कि सिलोन संविधान के उपबन्धों के अधीन शक्तियों का मोटे तौर पर विभाजन कर दिया गया है और यह कि यद्यपि कभी-कभी यह समझ पाना कठिन होता है कि विधायी शक्ति कहां तक है और न्यायिक शक्ति कहां से आरम्भ होती है, फिर भी न्यायिक शक्ति का प्रयोग विधानमण्डल नहीं कर सकता है। उसी समय से जब कि जॉन लॉक ने "सैकेण्ड ट्रीटाइज ऑन सिविल गवर्नमेण्ट"(1) नामक अपनी पुस्तक लिखी, तब से यह स्वयंसिद्ध माना जाता था कि विधायी शक्ति में न्यायपालिका की शक्ति सम्मिलित नहीं है। और मैं समझता हूं कि जो कुछ प्रिवी काउन्सिल का कहना था, वह वास्तव में यही था कि सिलोन के संविधान की धारा 29(1) के अधीन शान्ति, व्यवस्था या सुशासन के लिए विधि पारित करने की शक्ति में, सम्पत्ति (ब्लैक एकड़) के बारे में दो व्यक्तियों (रिचर्ड डो और जॉन डो) के बीच आपसी झगड़े को तय करने की तथा उसको कानून का नाम देने की शक्ति सम्मिलित नहीं है। यह समझ में आना कठिन है कि विवक्षित परिसीमा के सिद्धान्त का, इस सुविख्यात सिद्धान्त के साथ भी कोई सम्बन्ध हो सकता है कि विधि पारित करने की शक्ति में, न्यायिक शक्ति सम्मिलित नहीं होगी।(2)

मेरी समझ में यह नहीं आता कि विवक्षित परिसीमाओं के सिद्धान्त को इस तथ्य से बल कैसे पहुंच सकता है कि यद्यपि "सहायता करने और सलाह देने" पद को अपने आप में लेने पर, प्रेजीडेण्ट या गवर्नर के लिए, सलाह के अनुसार कार्य करने की विवशता नहीं प्रकट होती है, फिर भी प्रेजीडेण्ट या गवर्नर, काउन्सिल ऑफ मिनिस्टर्स के परामर्श के अनुसार, कार्य करने के लिए विवश है। इंग्लैण्ड से उठा कर हमारे संविधान में देखे जाने पर इस अभिव्यक्ति

(1) "ऑफ दि एक्सटेण्ट ऑफ लैजिस्लेटिव पॉवर" का अध्याय देखिए।

(2) विधायी शक्ति तथा न्यायिक शक्ति के बीच के अन्तर के लिए प्रेंटिस बनाम एटलांटिक कोस्ट लाइन कम्पनी, (1908) 211 यू० एस० 210 में होम्स का मत देखिए।

ने एक निश्चित अभिप्राय अर्जित कर लिया और हम इस अभिव्यक्ति को उस रूप नहीं ग्रहण कर सकते हैं, जिसमें उस अभिप्राय की उपेक्षा हो।

किसी शक्ति के प्रयोग की बाबत विवक्षित परिसीमा का सिद्धान्त जिसका निष्कर्ष निर्वचन के नियमों के अनुसार निकाला गया था वेब बनाम औटरिम (1) में प्रिवी कौंसिल द्वारा नामंजूर कर दिया गया था।

अपनी इस प्रस्थापना का समर्थन करने के लिए कि संशोधन की शक्ति विवक्षित परिसीमाओं के अध्यधीन है, पिटीशनर के काउन्सेल ने कनाडा के कुछ मामलों का आश्रय लिया है। अल्बरटा प्रेस वाले मामले (2) में मुख्य न्यायाधिपति, सर लैमेन पी० डफ ने कहा कि ब्रिटिश नार्थ अमरीका ऐक्ट, कुछ महत्वपूर्ण सिविल स्वतंत्रताओं का प्रान्तीय विधान-मण्डलों द्वारा निराकरण, विवक्षित रूप से प्रतिषिद्ध करता है। उन्होंने कहा कि इसका कारण यह है कि ब्रिटिश नार्थ अमरीका ऐक्ट के अनुसार, कनाडा के लिए एक संसद् की स्थापना अपेक्षित है और 'संसद्' शब्द का निर्वचन प्रस्तावना के उस निदेश की रोशनी में किए जाने पर जिसका संकेत "ऐसे संविधान की" ओर है "जो सिद्धान्ततः यूनाईटेड किंगडम के संविधान जैसा हो" चूंकि इससे ऐसा विधायी निकाय अभिप्रेत है जो वाक्-स्वातंत्र्य के वातावरण में निर्वाचित हुआ हो और काम करता हो। इसलिए किसी प्रान्त विशेष में वाक्-स्वातंत्र्य का निराकरण करने वाली विधि, फेडरल संसद् की प्रकृति में हस्तक्षेप होगी, इसलिए प्रान्तीय विधानमण्डल के लिए अधिकारातीत होगी। तर्क की दृष्टि से इस सूत्र में डोमीनियन संसद् की शक्तियों पर निर्बन्धन भी सम्मिलित है, जैसा कि पैडलाक लॉ केस (3) में न्यायाधिपति एबट ने कहा था। उस मामले में, उन्होंने जो मत व्यक्त किया यद्यपि ऐसा करना आवश्यक नहीं था, वह यह था कि, वाद-विवाद के अधिकार का निराकरण संसद् इसलिए स्वयं नहीं कर सकती थी, क्योंकि ब्रिटिश नार्थ अमरीका ऐक्ट के उपबन्ध संसद् के लिए भी उतने ही बाध्यकर हैं जितने प्रान्तीय विधान-मण्डल के लिए।

सामूर बनाम सिटी ऑफ क्यूबेक (4) में ब्रिटिश नार्थ अमरीका ऐक्ट की प्रस्तावना का उल्लेख, न्यायाधिपति रैण्ड ने यह दिखाने के लिए किया कि उससे धार्मिक स्वतंत्रता की सांविधानिक अपेक्षा का समर्थन विशिष्ट रूप से होता है। बुनियादी सवाल उस मामले में यह था कि धार्मिक स्वतंत्रता के सम्बन्ध में कानून बनाने का प्रान्तों को विधायी प्राधिकार था या नहीं और यह कि क्या सिटी ऑफ क्यूबेक के लिए, प्रान्तीय अधिनियम के अधीन बनाई गई अपनी उपविधियों में से एक के अधीन यह उचित था कि उसने चीफ ऑफ पुलिस की लिखित आज्ञा के बिना, सड़कों में छोटी-छोटी पुस्तकों आदि के वितरण को प्रतिषिद्ध कर दिया। पिटीशनर ने, जो जेहोवाज नामक संस्था का सदस्य था, यह दलील दी कि ब्रिटिश

(1) (1907) ए० सी० 81 (पी०सी०).

(2) (1938) 2 डी० एल० आर० 81 = (1938) एस० सी० आर० 100 (कनाडा).

(3) स्विट्ज़मैन बनाम एल्बलिंग, (1957) 7 डी० एल० आर० 337.

(4) (1953) 4 डी० एल० आर० 641.

नार्थ अमरीका ऐक्ट की प्रस्तावना में यह कहा गया है कि पुस्तक आदि के वितरण के अधिकार की गारन्टी दी जाती है और यह कि धर्म की स्वतंत्रता, संयुक्त राज्य के संविधान द्वारा सुनिश्चित की गई है और यह कि प्रस्तावना की विवक्षा द्वारा, उस संविधान के बुनियादी सिद्धान्तों को कनाडा के संविधान का भाग बना दिया गया है और तदनुसार आक्षेपित क्यूबेक उप-विधि बातिल और शून्य है। यह दलील न्यायालय के बहुमत वाले निर्णय द्वारा खारिज कर दी गई। मुख्य न्यायाधिपति रिनफ्रेट तथा न्यायाधिपति सी० टैसचैरू ने सहमति प्रकट करते हुए यह कहा कि प्रिवी काउन्सिल कई अवसरों पर यह घोषित कर चुकी है कि संसद् और विधानमण्डलों के बीच जिन शक्तियों का विभाजन किया गया है, उनके अन्तर्गत वे सब शक्तियां जिनका प्रयोग राजनैतिक इकाई के रूप में कनाडा कर सकता या आत्यंतिक रूप से सम्मिलित हैं। न्यायाधिपति कारविन ने यह कहा कि ब्रिटिश नार्थ अमरीका ऐक्ट द्वारा विधायी शक्तियों का सम्पूर्ण विभाजन कर दिया गया है। न्यायाधिपति कार्टराइट (न्यायाधिपति फाटे की सहमति के साथ) तो इससे भी आगे बढ़ गए—उन्होंने यह कहा कि कनाडा के नागरिकों को एक भी ऐसा अधिकार प्राप्त नहीं है जिसका उपान्तरण या तो संसद् द्वारा या प्रान्तों के विधानमण्डलों द्वारा न किया जा सकता हो। न्यायाधिपति रैण्ड ने यह निष्कर्ष निकाला कि वाक्-स्वातंत्र्य के लिए प्रस्तावना में कुछ समर्थन है, किन्तु उन्होंने इस प्रसंग में धर्म-स्वातंत्र्य का कोई उल्लेख नहीं किया। न्यायाधिपति एस्टे तथा लाक ने प्रस्तावना को उद्धृत किया, किन्तु यह नहीं बताया कि उस प्रस्तावना से वे किस निष्कर्ष पर पहुंचे।

यह बात ध्यान देने की है कि यह मत कि न तो प्रान्त और न डोमीनियन संसद् ही सिविल स्वतंत्रताओं के बारे में ऐसे कानून बना सकती थी, जो उन पर प्रतिकूल प्रभाव डालने वाले हों, प्रिवी काउन्सिल के इस मत के प्रतिकूल था कि कनाडा को आन्तरिक स्वायत्त-शासन के किसी भी विषय से वंचित नहीं किया गया है। "यह मान लेना कि आन्तरिक स्वायत्त-शासन का एक भी विषय, कनाडा से अलग रखा गया है, इस अधिनियम की सारी स्कीम और नीति के विरुद्ध होगा।" (1)

किन्तु इस प्रस्थापना के विरुद्ध कि ब्रिटिश नार्थ अमरीका ऐक्ट में कोई बिल ऑफ राइट्स विवक्षित है, मुख्य आपत्ति यह है कि यह कथन संसदीय सर्वोपरिता के सिद्धान्त के साथ असंगत है। यदि संविधान ग्रेट ब्रिटेन के संविधान के साथ सिद्धान्त रूप में मिलता जुलता है तो उसका निष्कर्ष यही होगा कि विधानमण्डल सर्वोच्च है, चूंकि इंग्लैण्ड के संविधान की बुनियादी विधि यही है। इसलिए कोई भी विषय ऐसा नहीं हो सकता, जो संसद् और प्रान्तीय विधानमण्डल दोनों की विधायी क्षमता के बाहर हो। संसद् की शक्ति, किन्हीं विवक्षित परिसीमाओं के अध्यधीन, चाहे हो या न हो, यह स्पष्ट है कि स्विट्ज़मैन वाले मामले (2) में न्यायाधिपति ऐबट के सिद्धान्त का आधार कोई ऊंची नजीर नहीं है, चूंकि यह बात ब्रिटिश नार्थ अमरीका एक्ट की किसी बात से नहीं प्रकट होती है कि सिविल स्वतंत्रताएं संसद् तथा प्रान्तीय विधानमण्डल की विधायी पहुंच के बाहर है। ब्रिटिश नार्थ अमरीका ऐक्ट में सिविल स्वतंत्रताओं के बारे में कोई भी ऐसी स्पष्ट गारन्टी नहीं दी गई है जिसकी

---

(1) अटर्नी जनरल आफ ओण्टेरियो बनाम अटर्नी जनरल ऑफ कनाडा (1912) ए०सी० 571.
(2) (1957) 7 डी० एल० आर० 337.

तुलना अमरीका के संविधान के बिल ऑफ राइट्स के साथ या हमारे संविधान के मूल अधिकारों के साथ की जा सके।

किन्तु यह नहीं समझ में आता है कि जहां तक अनुच्छेद 368 के निर्वचन का सम्बन्ध है ये सिद्धान्त कहां तक संगत हैं, क्योंकि इनमें से कोई भी मामला ऐसा नहीं है, जिसका सम्बन्ध किसी संविधान की संशोधन शक्ति पर लागू विवक्षित परिसीमा के साथ हो। सिविल स्वतंत्रताओं को प्रभावित करने के लिए, विधानमण्डलों की विधायी सहायता से सम्बन्धित बहुत से मामले हैं। कनैडियन बिल ऑफ राइट्स, 1960 में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि कनाडा की संसद्, जिस विधान के सम्बन्ध में उचित समझे, कनाडा के बिल ऑफ राइट्स की उपेक्षा कर सकती है। कनाडा के बिल ऑफ राइट्स की धारा 2 में किया गया उपबन्ध इस प्रकार है—

*"2. कनाडा की हर विधि का, जब तक कि कनाडा की संसद् के अधिनियम में यह स्पष्ट घोषणा न की गई हो कि वह कनाडा के बिल ऑफ राइट्स के होते हुए भी, प्रवर्तित होगा, इस प्रकार अर्थ किया जाएगा और उसको इस प्रकार लागू किया जाएगा, जिससे वह किसी भी अधिकार या स्वतंत्रता को, जो उसमें मान्यता-प्राप्त तथा घोषित है, न तो छीने, न न्यून करे, न उसका उल्लंघन करे और न उसका छीना जाना, न्यून किया जाना या उल्लंघन प्राधिकृत करे और विशिष्टतः कनाडा की किसी भी विधि का न तो इस प्रकार अर्थ किया जाएगा और न वह इस प्रकार लागू किया जाएगा जिससे कि...।"

और न इनिशिएटिव एण्ड रेफरेन्डम ऐक्ट वाले मामले[1] में प्रिवी काउन्सिल के वास्तविक विनिश्चय में कोई बात ऐसी है, जिससे यह विदित हो कि संविधान के किसी भी उपबन्ध को संशोधित करने की शक्ति पर, विवक्षित परिसीमाएं हैं। उस मामले में एक ही बात तय की गई थी और वह यह कि जब तक ब्रिटिश नार्थ अमरीका ऐक्ट की धारा 92(1) की भाषा से यह बात स्पष्टतः तथा असंदिग्ध रूप से न कह दी गई हो, तब तक क्राउन की वह शक्ति, जिस पर क्राउन का अधिकार अपने प्रति प्रत्यक्ष रूप से जिम्मेदार किसी व्यक्ति की मार्फत हो, निराकृत नहीं की जा सकती। इसका कारण यह है कि धारा 92(2) संशोधन की शक्ति की बाबत, स्पष्ट अपवाद का उपबन्ध करती है और ठीक-ठीक अर्थान्वयन करने पर, प्रश्नगत अधिनियम उस अपवाद के अन्तर्गत आता है। यह मामला पूर्वोक्त ऐक्ट की

---

*अंग्रेजी में यह इस प्रकार है—

"2. Every law of Canada shall, unless it is expressly declared by an Act of the Parliment of Canada that it shall operate, notwithstanding the Canadian Bill of Rights, be so construed and applied as not to abrogate, abridge or infringe or to authorize the abrogation, abridgment or infringment of any of the rights or freedoms herein recongnized and declared and in particular, no law of Canada shall be construed or applied so as to......".

(1) (1919) ए० सी० 935, 945.

धारा 92 (1) में केवल मात्र "लैफ्टीनेण्ट गवर्नर के पद के सिवाय" अभिव्यक्ति के सही अर्थ के सम्बन्ध में नजीर है। लार्ड हाल्डेन की इस आशय वाली इतरोक्ति से मेरा कोई सरोकार नहीं है कि कोई भी प्रान्तीय विधानमण्डल किसी भी "उस अधिनियम द्वारा, जिस पर वह स्वयं अपने अस्तित्व के लिए निर्भर है, पैदा न की गई किसी नई विधायी शक्ति को, न तो पैदा कर सकता है और न उसे स्वयं अपनी सामर्थ्य से सुशोभित कर सकता है।"

किन्तु इस संदर्भ में वोरा लास्किन की उस टिप्पणी का हवाला देना सुसंगत नहीं है जो उन्होंने, पूर्वोक्त मामले में लार्ड हाल्डेन की इतरोक्ति के सम्बन्ध में की है—'यह बहुत उद्धृत पंक्तियां, सांविधानिक परिसीमा से बढ़कर, सांविधान करने वाली सलाह अधिक हैं"। इसके बाद उन्होंने ऊपर वाला खण्ड उद्धृत किया और अपना कथन जारी रखते हुए कहा—"यह प्रस्थापना, संसद् द्वारा और प्रान्तीय विधानमण्डल द्वारा, उन अभिकरणों को, जो स्वयं उन्हीं के बनाए हुए या उनके अधीन हैं, किए गए महानतम प्रत्यायोजन पर कोई प्रभाव नहीं डालती है। रेगुलेशन्स (कैमिकल्स) रेफरेन्स (1943) डी० एल० आर० 248, शैनॉन बनाम लोअर मेनलैण्ड डेरि प्रॉडक्ट्स बोर्ड (1938) ए० सी० 708 देखिए (1)।"

इस प्रस्थापना की कि संशोधन-विषयक शक्ति विवक्षित परिसीमा के अध्यधीन हो सकती है, नजीर के रूप में पिटीशनर के काउन्सेल ने टेलर बनाम अटर्नी जनरल ऑफ क्वीन्सलैण्ड(2) के प्रति निर्देश किया है। इस मामले में जिन प्रश्नों पर न्यायालय को विचार करना था वे इस प्रकार हैं—(1) क्या पार्लियामेण्टरी बिल्स रेफरेन्स ऐक्ट, 1908, संसद् का बनाया हुआ विधिमान्य तथा प्रभावशाली ऐक्ट था? और (2) पार्लियामेण्टरी बिल्स रेफरेन्डम ऐक्ट, 1908 के उपबन्धों के अनुसार पारित किसी अधिनियम द्वारा क्या क्वीन्सलैण्ड की विधायी परिषद् को समाप्त करने की शक्ति विद्यमान थी? इन अधिनियमों ने, न तो कलोनियल लॉज वैलीडिटी ऐक्ट, 1865 की धारा 1 में यथा परिभाषित विधानमण्डल के 'प्रतिनिधि' स्वरूप में कोई तब्दीली की और न क्राउन की स्थिति को प्रभावित किया। अतः इस प्रश्न का कोई फैसला नहीं करना था कि विधानमण्डल का 'प्रतिनिधि' स्वरूप बदला जा सकता है या नहीं या यह कि क्राउन के स्थान को समाप्त किया जा सकता है या नहीं। यह बात पृष्ठ 447 पर न्यायाधीश गैवन डफी तथा रिचर्ड के कथनों से स्पष्ट हो जाएगी।

न्यायाधिपति आइजक्स के निर्णय से यह स्पष्ट है कि विधानमण्डल के "प्रतिनिधि" स्वरूप के बारे में उसके द्वारा व्यक्त की गई राय का आधार वह अर्थ है, जो कलोनियल लॉज वैलीडिटी ऐक्ट की धारा 5 का सही अर्थान्वियन करने पर, 'ऐसे विधानमण्डल का गठन' अभिव्यक्ति को दिया जाना है। न्यायाधीश आइजक्स ने यह अभिनिर्धारित किया कि 'विधानमण्डल' शब्द के अन्तर्गत क्राउन नहीं आता है। कलोनियल लॉज वैलीडिटी ऐक्ट की भाषा में क्या स्पष्ट है इस बाबत इस निष्कर्ष पर पहुंचने के बाद, उन्होंने अपना मत इस प्रकार व्यक्त किया —

> "जब विधानमण्डल के गठन को तब्दील करने की शक्ति औपनिवेशिक विधानमण्डल को दी जाती है, तब उसे इस मूलभूत संकल्पना के अधीन समझा जाना

(1) कैनेडियन बार रिव्यू, जिल्द 34, (1956), पृष्ठ 219 पर शीर्ष-टिप्पण देखिए।
(2) 23 सी० एल० आर० 457.

चाहिए कि साम्राज्य के रूप में हमारे संविधान की प्रकृति के साथ सुसंगतता का ध्यान रखा जाए तो कानून ऐसी शक्ति की परिधि में नहीं आता है।"

यह कथन कलोनियल लॉज वैलीडिटी ऐक्ट के उन उपबन्धों के संदर्भ में किए गए हैं, जिनमें "उपनिवेश" की परिभाषा करते हुए कहा गया है कि उसके अन्तर्गत—

*"चैनल आइलैण्ड्स तथा आइल ऑफ मैन के सिवाय, हर मैजिस्टि के कब्जाधीन समुद्र-पार वाले वे सब स्थान हैं, जिनमें ऐसा विधानमण्डल हो, जैसा कि इसमें पश्चात् परिभाषित है।"

न्यायाधिपति आइजक्स के कथन का अभिप्राय केवल इतना ही हो सकता है कि जब विधान-मण्डल के गठन को तब्दील करने की शक्ति, किसी ऐसे उपनिवेश को प्रदान की जाती है,जो हर मैजिस्टि के समुद्र-पार वाले कब्जाधीन प्रदेशों (साम्राज्य) का भाग है, तब यह मान लेना उचित है कि औपनिवेशिक विधानमण्डल के एक भाग के रूप में क्वीन का स्थान समाप्त कर देने की शक्ति ऐसी शक्ति के अन्तर्गत नहीं है। यह बात ध्यान देने की है कि न्यायाधिपति आइजक्स, कलोनियल लॉज वैलीडिटी ऐक्ट के इस सही अर्थान्वयन पर कि 'विधानमण्डल' शब्द के अन्तर्गत क्राउन नहीं आता है, इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे।

इस प्रस्थापना के लिए, कि संशोधन की शक्ति विवक्षित परिसीमा के अध्यधीन हैं, नजीर के रूप में, मंगल सिंह बनाम भारत संघ ([1]) का भी आश्रय लिया गया था। एक ही प्रश्न, जिस पर उस मामले में विचार किया गया था, यह था कि जब कोई राज्य संविधान के अनुच्छेद 4 के अधीन बनाई गई किसी विधि द्वारा बनाया जाता है तब उस राज्य के पास विधायी, कार्यपालिक तथा न्यायपालिक, तीनों अंग होने चाहिएं। न्यायालय ने कहा—

"......यह शक्ति, जो संसद् में अनुच्छेद 2 और 3 द्वारा निहित की गई है, ऐसे नए राज्यों का प्रवेश या स्थापना करने की या उन्हें बनाने की शक्ति है जो संविधान द्वारा परिकल्पित लोकतन्त्रात्मक नमूने के अनुरूप हो और वह शक्ति, जिसका प्रयोग संसद् विधि द्वारा कर सकेगी, संविधान द्वारा यथापरिकल्पित किसी राज्य को प्रविष्ट या स्थापित करने या उसे बनाने की अनुपूरक, प्रासंगिक या आनुषंगिक है, न कि सांविधानिक स्कीम की अवहेलना करने की शक्ति है।"

मेरी समझ में यह नहीं आता कि इस मामले से पिटीशनर को सहायता कैसे मिल सकती है, क्योंकि, किसी भी ऐसे आधुनिक राज्य की कल्पना नहीं की जा सकती है, जिनमें ये अंग न हों।

आस्ट्रेलियन कांस्टिट्यूशन ऐक्ट की धारा 128 में संविधान के परिवर्तन का उपबन्ध है। संशोधन की शक्ति पर कुछ निर्बन्धन लगाए गए हैं। हमें इस मतभेद से कोई सरोकार

*अंग्रेजी में यह इस प्रकार है :

"All of Her Majesty's possessions abroad in which there shall exist a legislature as hereinafter defined except the channel islands the isle of Man".

([1]) (1967) 2 एस० सी० आर० 109, 112

नहीं हैं कि क्या ये निर्बन्धन, संशोधन की शक्ति का प्रयोग करते हुए हटाए जा सकते हैं क्योंकि अनुच्छेद 368 के परन्तुक (ङ) में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि संशोधन-शक्ति स्वयं ही संशोधित की जा सकती है। आस्ट्रेलिया के संविधान के प्रमुख टीकाकारों का यह मत है कि परिवर्तन की शक्ति पर, कोई और परिसीमाएं नहीं हैं और यह कि संविधान के सब उपबन्ध, संशोधित किए जा सकते हैं। ([1])

इस प्रस्थापना के समर्थन में कि आस्ट्रेलिया में जो कॉमनवैल्थ पार्लियामेण्ट है उसकी शक्ति पर विवक्षित परिसीमाएं हैं और इसलिए संशोधन की शक्ति पर विवक्षित परिसीमा हो सकती है, विक्टोरिया बनाम कॉमनवैल्थ ([2]) वाले मामले का हवाला दिया गया है। पे-रोल टैक्स ऐक्ट, 1941 (कॉमनवैल्थ) द्वारा अधिरोपित पे-रोल टैक्स, पे-रोल टैक्स असेसमेण्ट ऐक्ट, 1941-69 के अनुसार उद्ग्रहणीय तथा नियोजक द्वारा संदत्त या संदेय था। पे-रोल टैक्स असेसमेण्ट ऐक्ट की धारा 3 (1) में 'नियोजक' की परिभाषा इस प्रकार की गई थी जिसके अनुसार; राज्य के अधिकार से कार्यशील क्राउन भी, उसके अन्तर्गत आता है। विक्टोरिया राज्य यह घोषित कराना चाहता था कि विभिन्न विभागों में अधिकारियों तथा कर्मचारियों को, राज्य के अधिकार से कार्य करते हुए क्राउन द्वारा अदा की गई मजदूरी पर, कर (टैक्स) उद्गृहीत करना कॉमनवैल्थ की विधायी सक्षमता के परे था। न्यायाधिपति मेन्ज़ीज, विंडेयर, वाल्श तथा गिब्ज़ ने यह अभिनिर्धारित किया कि संविधान के अधीन, कॉमनवैल्थ की विधायी शक्ति, विवक्षित परिसीमा के अधीन है, किन्तु ऐसी परिसीमा का इस ऐक्ट ने उल्लंघन नहीं किया है। मुख्य न्यायाधिपति बारविक तथा न्यायाधिपति ओवन ने यह अभिनिर्धारित किया कि वह विधि जिसका विषय सारत:राज्य या उसकी शक्तियां या शासन सम्बन्धी उसके कृत्य हैं, वह अविधिमान्य है, क्योंकि उसका समर्थन किसी भी प्रदत्त विधायी शक्ति के आधार पर नहीं किया जा सकता, किन्तु संविधान के अधीन कॉमनवैल्थ की विधायी शक्ति किसी भी ऐसी विवक्षित परिसीमा के अधीन नहीं है जिसकी उत्पत्ति संविधान के फैडरल स्वरूप से होती हो। न्यायाधिपति मैकटिएरनन ने यह अभिनिर्धारित किया कि कोई भी ऐसी अनिवार्य विवक्षा नहीं है जो कामनवैल्थ को विधि बनाने से रोकती हो।

जहां तक रहा यह सामान्य सिद्धान्त कि कॉमवैल्थ की गैर-विभेदकारी विधियां भी, जहां तक कि उनसे, राज्यों के सांविधानिक कृत्यों के, उनके द्वारा अनुपालन में हस्तक्षेप होता

([1]) ए० पी० कैनावे, के० सी०, "दि सेफ्टी वाल्व ऑफ दि कॉमनवैल्थ कांस्टिट्यूशन", आस्ट्रेलियन लॉ जरनल, जिल्द 12, (1938-39), पृष्ठ 108-109; ए० पी० कैनावे, के० सी० (एन० एस० डब्ल्यू०), "दि फेल्योर ऑफ दि फेडरेलिज्म इन आस्ट्रेलिया", अर्पेण्डिक्स पॉवर टु आल्टर दि कांस्टिट्यूशन, ए आर्यट लीगल ओपीनियन, पृष्ठ 211, जॉन क्विक एण्ड रोबर्ट रैंडाल्फ गैरन, एनोटेटेड कांस्टिट्यूशन ऑफ दि आस्ट्रेलियन कॉमनवैल्थ", पृष्ठ 988-9 डब्ल्यू० एंर्स्ट वाइन्स, "लेजिस्लेटिव एग्जेक्यूटिव एण्ड जुडीशियल पॉवर्स इन आस्ट्रेलिया", थर्ड इडिशन पृष्ठ 695-698; कोलिन हावर्ड, "आस्ट्रेलियन फेडरल कांस्टिट्यूशनल लॉ" (1968)।

([2]) 45 आस्ट्रेलिया लॉ जरनल 251.

हो, अविधिमान्य हो सकती हैं, यह बात देने है कि यह दावा नहीं है कि उसका आधार कोई ऐसा आधार है जो इन्जीनियर्स वाले मामले (1) के दौरान प्रतिपादित सामान्य सिद्धान्त के पक्ष में किया गया है। यह बात भी ध्यान देने की है कि न्यायाधिपति मैंजीज, वाल्श तथा गिब्ज इस प्रस्थापना को, एकमात्र कसौटी के रूप में, ठीक-ठीक और व्यापक शब्दों में, सूत्रबद्ध करें, इसके लिए तैयार नहीं थे और यह कि उनको इस बात का ज्ञान था कि ऐसे प्रयत्नों में कैसी बड़ी-बड़ी कठिनाइयां हो सकती हैं।

यदि समुचित कसौटी तैयार करने में कठिनाइयां हैं, तो क्या यह पूछा नहीं जा सकता है कि प्रस्थापित सिद्धान्त क्या इस प्रकार का है कि उसे सूत्रबद्ध किया जा सके ? क्या यह पूछना उचित नहीं है कि क्या न्यायिक रूप से प्रयोक्तव्य कोई ऐसा कसौटी-संवर्ग उपलब्ध है, जिस पर परखने के बाद, प्रस्थापित सामान्य सिद्धान्त सूत्रबद्ध किया जा सके ? विवक्षित परिसीमा का जो भी सिद्धान्त हो इसके बारे में यह टीका की जा सकती है कि "यह ऐसी विवक्षा के आधार पर किया गया संविधान का निर्वचन है जो, करार की भावना की अस्पष्ट, व्यक्तिगत संकल्पना के अनुसार की गई हो।" इन न्यायाधीशों के निर्णयों के आधार पर स्पष्ट शब्दों में यह कहना कठिन है कि कॉमनवेल्थ द्वारा किस प्रकार की विधायी कार्यवाही सामान्य सिद्धान्त को लागू करने के कारण अविधिमान्य हो जाएगी।

सामान्य सिद्धान्त का कथित प्रयोजन, राज्यों के निरन्तर अस्तित्व तथा स्वतन्त्रता का संरक्षण करना है। न्यायाधिपति मैंजीज, वाल्श तथा गिब्ज के निर्णय क्या कोई कारण बताते हैं कि इस विवक्षित सामान्य सिद्धान्त के अभाव में, राज्यों का अस्तित्व तथा उनकी स्वतन्त्रता खतरे में कैसे पड़ जाएगी ?

न्यायाधिपति विंडेयर का निर्णय थोड़ा अस्पष्ट है। उन्होंने कहा है कि एक बार जब कोई विधि कर अधिरोपित करती है तब वह कराधान सम्बन्धी विधि है और यदि वह अविधिमान्य है तो उसके लिए कारण ऐसे होने चाहिएं जिनका आधार, अन्य सांविधानिक प्रतिषेधों, अर्थात् कर की बाबत ऐसे विवक्षित प्रतिषेध पर हो, जो राज्य के विरुद्ध विभेदकारी है। किन्तु ऐसे कितने ही मामले आए हैं जिनमें कॉमनवेल्थ विधि के परस्पर विरोधी निर्वचन किए जा सकते हैं, जिनमें से एक के आधार पर वह विधिमान्य है, तो दूसरे के आधार पर अविधिमान्य। ऐसे परस्पर विरोधी सम्भाव्य निर्वचनों का मामला होने पर, यह हो सकता है कि न्यायालय किसी विधि को इसलिए विधिमान्य घोषित न करे, क्योंकि एक सम्भाव्य निर्वचन यह है कि वह विधि, विधायी शक्ति के प्रगणित शीर्षकों में से एक के विषय में है।

न्यायाधिपति विंडेयर ने यह कहा है कि जो कॉमनवेल्थ विधि इसलिए बनाई गई है कि राज्य अपने कृत्यों का पालन न कर सकें, उसका सम्बन्ध किसी विषय के साथ हो सकता है किन्तु वह कॉमनवेल्थ की शान्ति, व्यवस्था तथा सुशासन के लिए नहीं है।

(1) अमेलग्मेटेड सोसाइटी ऑफ इन्जीनियर्स बनाम एडलायड स्टीमशिप कम्पनी लिमिटेड (1920) 28 सी० एल० आर० 129.

अर्थान्वयन का जो बुनियादी सिद्धान्त, न्यायालय द्वारा निश्चित रूप में प्रतिपादित किया गया, वह वैसा ही था जैसा कि क्वीन बनाम बुराह (1) में लार्ड सेलबोर्न द्वारा अपनाया गया। जिन न्यायाधीशों ने यह दृष्टिकोण अपनाया कि कॉमनवैल्थ की शक्ति इस विवक्षित परिसीमाओं के अधीन है कि अपने विधान का रुख वे राज्य के विरुद्ध मोड़ दें, उनके मत में और उस सिद्धान्त में सारतः कोई अन्तर नहीं था, जो मुख्य न्यायाधिपति बारविक तथा न्यायाधिपति ओवन द्वारा प्रतिपादित किया गया और जिसके अनुसार उन्होंने यह कहा था कि यह शक्ति के अभाव का प्रश्न है, क्योंकि इस विधान का विषय नहीं है जो आस्ट्रेलियन कांस्टिट्यूशन की धारा 51 द्वारा प्रदत्त कराधान की शक्ति के अन्दर हो। (2)

इस विनिश्चय की सुसंगति, मेरी समझ में नहीं आती है। किन्तु फेडरल या फेडरल-कल्प राज्य में, जब कि उसका संविधान अपरिवर्तनशील हो, फेडरेशन से मिलाए गए राज्यों का निरन्तर अस्तित्व मूलभूत पूर्वानुमान है और फेडरल विधानमण्डल की विधायी शक्ति का प्रयोग इस प्रकार नहीं किया जा सकता जिससे उनका निरन्तर अस्तित्व समाप्त हो जाए। किन्तु संशोधन-शक्ति पर विचार करते समय भी क्या उसी मूलभूत अनुमान की आवश्यकता है? फेडरल विधानमण्डल की विधायी शक्ति पर परिसीमा विवक्षित समझने में कोई तर्क हो सकता है, क्योंकि उस शक्ति का प्रयोग फेडरल राज्य में अन्तर्निहित मूलभूत अनुमान अर्थात् राज्यों के निरन्तर अस्तित्व के अधीन ही किया जा सकता है। किन्तु संशोधन-शक्ति जो संविधान को ही बदल देने की शक्ति है पर विवक्षित परिसीमा विचार करते समय उसकी सुसंगति क्या है?

इस सन्दर्भ में, साधनों (इन्स्ट्रूमेन्टैलिटीज) की उन्मुक्ति के सिद्धान्त के, भाग्य के चढ़ाव-उतार पर जिसका आधार विवक्षित प्रतिषेध का सिद्धान्त था, ध्यान देना सुसंगत है। मैक कुलोच बनाम मैरीलैण्ड (3) में मुख्य न्यायाधिपति मार्शल ने कहा—"इस प्रकार प्रतिपादित नियम का आधार, इस विवक्षित प्रतिषेध के अस्तित्व पर था कि फेडरल तथा राज्य सरकारें चूंकि प्रभुत्वसम्पन्न तथा स्वतन्त्र हैं, इसलिए एक को दूसरे नियन्त्रण से मुक्त होना चाहिए; इस प्रकार इस सिद्धान्त के पीछे फेडरल प्रणाली में पैदा होने वाली आवश्यकता इस सिद्धान्त से, जैसा कि वह अपने मूल में था, उत्तरोत्तर हटते रहने का वृत्तान्त, न्यायाधिपति डिक्सन द्वारा एसेन्डन कॉरपोरेशन बनाम आस्ट्रेलियन थियेटर्स (4) में दिया गया है। उन्होंने कहा है—

> "न्यायिक मत के बदलते रहने का ऊपर किया गया उल्लेख ग्रेव्ज बनाम न्यूयार्क 306 यू० एस० 466 में, न्यायालय के निर्णय की भूमिका है, जिसमें न्यायालय ने "फेडरल शासन के साधन के एक नियोजिती के वेतन भत्ते में राज्य

(1) (1878) 3 ए० सी० 889.

(2) फज्मनबोम और हंस, "आस्ट्रेलियन कांस्टिट्यूशनल लॉ" (1972), पृष्ठ 576-585

(3) (1819) 4 व्हीटन 316.

(4) (1947) 74 सी० एल० आर० 19, 22.

व्यापकर्ता से, छूट पर फिर से विचार करना आवश्यक समझा और यह विनिश्चय किया कि कोई भी छूट नहीं होनी चाहिए।' न्यायाधिपति फ्रैंकफर्टर ने कहा—"इस न्यायालय में, विसम्मतियां ही धीरे-धीरे बहुमत के निर्णय बन गईं और यह विनिश्चय अभी हुआ भी नहीं था कि इस सिद्धान्त का आधार खोखला हो चुका था।' (पृष्ठ 491) इस मामले से तो पुराने सिद्धान्त की इतिश्री हो गई।"

मैं इतना और कहूंगा कि साधनों की उन्मुक्ति के सिद्धान्त को यह न्यायालय पश्चिम बंगाल राज्य बनाम भारत संघ ([1]) में निश्चित रूप से खारिज कर चुका था।

श्री पालखीवाला ने इस बात पर बहुत जोर दिया है कि यदि संशोधन की शक्ति पर परिसीमाएं नहीं लगाई गई तो इसके परिणाम बड़े व्यापक होंगे। उन्होंने यह कहा कि ऐसी परिसीमाएं न हुई तो संसद् को अपने अस्तित्व की अवधि बढ़ा लेने से, भारत को किसी पराए देश का पिछलग्गू बना देने से, उच्चतम न्यायालय तथा उच्च न्यायालयों को समाप्त करने से, शासन की संसदीय प्रणाली को खत्म करने और संशोधन का शक्ति छीन लेने से और कुछ न सही, तो इस शक्ति का प्रयोग इतना मुश्किल बना देने से जिससे एक भी संशोधन न किया जा सके, कोई नहीं रोक सकेगा। जैसा कि मैं कह चुका हूं, यह समझने का कोई कारण नहीं है कि अनुच्छेद 368 में 'संशोधन' शब्द का सीमित प्रयोग किया गया है कि और न यह समझने का कि इस अनुच्छेद के अधीन संशोधन करने की शक्ति किसी भी प्रकार सीमित की गई है। यदि शक्ति है तो उसका विस्तार केवल इस आधार पर कम नहीं किया जा सकता कि उसके दुरुपयोग की सम्भावना है।

वाचर एण्ड सन्स बनाम लन्दन सोसाइटी ऑफ कम्पोजिटर्स ([2]) में लार्ड ऐटकिंसन ने कहा कि यह सुस्थापित तथ्य है कि किसी कानून के एक से अधिक अर्थ देने वाले शब्दों का अर्थ करने में किसी अर्थान्वयन विशेष से निकलने वाले परिणामों पर विचार करना वाजिब है क्योंकि बहुत सी बातें ऐसी हैं, जिनके सम्बन्ध में धारणा यह है कि, विधानमण्डल का आशय उन्हें प्रभावी करना नहीं था, इसलिए ऐसे अर्थान्वयन के बजाए जिससे उनमें से एक या अधिक की परिणति हो, उस अर्थान्वयन को तर्जीह दी जानी चाहिए जिससे उनमें से एक के भी प्रभावी होने की सम्भावना न हो। उसी मामले में लार्ड मैकनाटन ने कहा कि न्यायिक अधिकरण को अधिनियम की नीति से कोई सरोकार नहीं है और यह कि न्यायालय का कर्त्तव्य एवं एकमात्र कर्त्तव्य, अधिनियम की भाषा की व्याख्या अर्थान्वयन के स्थापित नियमों के अनुसार करना है।

बैंक ऑफ टोरेण्टो बनाम लाम्बे([3])में प्रिवी काउन्सिल को इस बात पर विचार करना था कि किसी प्रान्त का विधानमण्डल, बैंक के पूंजी-स्टाक पर कर क्या इसलिए उद्गृहीत नहीं कर सकता है कि उस शक्ति का प्रयोग इस प्रकार हो सकता है, कि वह बैंक ही समाप्त

([1]) ए० आई० आर० 1963 एस० सी० 1241.

([2]) (1913) ए० सी० 107, 121 और 118.

([3]) (1887) 12 ए० सी० 575, 586.

हो जाए। प्रिवी काउन्सिल ने कहा कि ब्रिटिश नार्थ अमरीका ऐक्ट की धारा 92 का सही अर्थान्वयन करने पर, यदि वह शक्ति इस धारा की परिधि में आती हो, तो इसलिए किन्तु न कुछ यह सम्भावना है कि उसका दुरुपयोग किया जाए या उसका क्षेत्र, जो डोमीनियन संसद के लिए अन्यथा खुला रहता, सीमित कर दिया जाए उसके अस्तित्व से इन्कार करना गलत होगा। प्रिवी काउन्सिल ने अपना मत व्यक्त करते हुए कहा कि "माननीय न्यायाधिपति यह सोच नहीं सकते हैं कि क्यूबेक जैसे महान देशों को स्थानीय स्वायत्त शासन की बड़ी-बड़ी शक्तियां प्रदान करते समय इम्पीरियल पार्लियामेण्ट का आशय, उन शक्तियों को इस विचार से सीमित कर देने का है कि उनका प्रयोग हानिकारक रूप में किया जाएगा। सम्पत्ति तथा सिविल अधिकारों के लिए कानून बनाने की महान शक्ति जिस जनता को दी जा सकती है, उस पर कर उद्गृहीत करने के मामले में भी भरोसा किया जा सकता है।"

एक्स-पार्टी कासमैन ([1]) में यह अभिनिर्धारित किया गया था कि समझा यही जाता है कि राज्य का हर अंग दूसरे के साथ सहयोग करेगा, यह कि यद्यपि एक अंग अपने कार्य से अन्य अंगों के कार्यों को ठप कर सकता है और संविधान का संचालन रोक सकता है, फिर भी कोई संविधान ऐसा नहीं है जो यह समझ कर चलता है कि एक अंग ऐसा व्यवहार करेगा जिससे दूसरे का कार्य विफल हो जाए।

हमारे संविधान की प्रस्तावना में लोकतन्त्रात्मक प्रभुत्वसम्पन्न गणराज्य की स्थापना परिकल्पित है। लोकतन्त्र का काम इस बुनियादी धारणा पर चलता है कि संसद में भेजे गए जनता के प्रतिनिधि जो बात कहेंगे उसमें जनता की इच्छा प्रतिबिम्बित होगी और यह कि वे अपनी शक्तियों का प्रयोग जनता के साथ विश्वासघात करने के लिए या उस भरोसे तथा विश्वास के प्रतिकूल व्यवहार करने के लिए नहीं करेंगे, जो जनता ने उनके प्रति प्रकट किया है। राज्य-प्रभुता सम्बन्धी कुछ भारी-भारी शक्तियां, जनता के प्रतिनिधियों में निहित है। उन्हें युद्ध घोषित करने की शक्ति है। उनको सिक्का-निर्माण तथा करेंसी की शक्ति प्राप्त है। इन शक्तियों को जिनमें विनाश की क्षमता है न्यायिक नियन्त्रण से अलग कर दिया गया है। यदि इन शक्तियों का प्रयोग बुद्धिमानी से न किया जाए तो इनके इतने व्यापक परिणाम हो सकते हैं कि अपने साथ वे वह सब बहा ले जाएं जो हमारे लिए मूल्यवान् हैं। युद्ध तथा मुद्रा-स्फीति ने ऐसी अनिष्टकारी शक्तियों को जन्म दिया, जिन्होंने स्वतन्त्रता ही नष्ट कर दी। यदि इस आशा और विश्वास के साथ कि इन शक्तियों का दुरुपयोग नहीं किया जाएगा, वे भारी-भारी शक्तियां, जनता के प्रतिनिधियों के सुपुर्द की जा सकती हैं, तो यह मान लेना कहां तक उचित है कि संशोधन करने की निर्बाध शक्ति का दुरुपयोग होगा? यदि इन शक्तियों का दुरुपयोग होता है तो उसका जो उपाय जनता के हाथ में है वह मतदान केन्द्र तथा मतपेटी है।

यह दलील कि यदि मूल अधिकारों को इस प्रकार संशोधित करने की शक्ति, जिससे कि उन्हें छीना जा सके या न्यून किया जा सके, संसद् में निहित होती, तो उसके औचित्य

([1]) 267 यू० एस० 120, 121.

परिणाम होते जब उस अनुभव की रोशनी में देखी जाती हैं, जो 1951, जब शंकरी प्रसाद वाले मामले ([1]) में मूल अधिकारों को संशोधित करने की संसद् की शक्ति स्वीकार की गई थी, और 1967 के बीच की जब गोलक नाथ वाले मामले ([2]) का फैसला हुआ था, घटनाओं से हुआ था, तब इससे अवास्तविकता का आभास होता है। इस संदर्भ में यह बात याद रखने की है कि, मूल अधिकारों को संशोधित करने की अपनी शक्ति का प्रयोग करते समय, संसद् जनता की स्वतन्त्रताओं की संरक्षक उतना ही है जितना कि न्यायालय।

यदि संविधान के सारभूत तत्वों का पता लगाने की एक पहचान, वह कठिनाई है, जिसके साथ कि उन तत्वों को संशोधित किया जा सकता है, तो यह स्पष्ट है कि वे तत्व जो मोटे तौर पर अनुच्छेद 368 के परन्तुक के खण्ड (क) से (ङ) तक में "फेडरल तत्वों" के रूप में निर्दिष्ट हैं, संविधान के सारभूत तत्व हैं। खण्ड (क) से (ङ) में निर्दिष्ट अनुच्छेदों में, संविधान के कुछ ऐसे सारभूत तत्वों की चर्चा की गई है, जैसे संघ की न्यायपालिका, उच्च न्यायालय, संघ तथा राज्यों के बीच विधायी सम्बन्ध, अवशिष्ट शक्ति का प्रदान आदि-आदि। विधायी सूचियों को संशोधित करने की शक्ति के साथ अवशिष्ट प्रविष्टि को, संघ सूची से निकाल कर, राज्य सूची में रखने की शक्ति भी सम्मिलित है। इस शक्ति से भी संसद् को, प्रविष्टियां राज्य सूची या समवर्ती सूची से संघ सूची में अन्तरित करके, अपनी शक्ति बढ़ाने की सामर्थ्य प्राप्त हो जाएगी। अनुच्छेद 368 के परन्तुक से इस प्रकार यह स्पष्ट है कि संविधान निर्माताओं ने संविधान के सारभूत तत्वों के संशोधन की कल्पना की थी।

श्री पालखीवाला ने यह कहा है कि मूल अधिकार संविधान के सारभूत तत्व हैं और यह कि उनकी स्थिति उस चट्टान के समान है जिस पर संविधान की इमारत खड़ी की गई है, यह कि ये अधिकार प्राण, स्वतन्त्रता तथा समता के नैसर्गिक अधिकारों का ही विस्तार, मेल तथा उलट-पलट हैं जो बड़ी हद तक मानव प्राणी होने के नाते जनसाधारण को प्राप्त हैं और यह कि उस समय जब जनता ने संविधान बनाया, उसने ये अधिकार अपने लिए आरक्षित कर लिए तथा संसद् का जैसा गठित प्राधिकारी (कांस्टिट्यूटेड अथॉरिटी) इन अधिकारों को न तो छीन सकता है और न न्यून कर सकता है। उन्होंने कहा कि विवक्षित परिसीमाएं अधिकारों की प्रकृति पर, तथा उस प्राधिकारी की प्रकृति पर, जिसके बारे में समझा जाता है कि शक्ति उसको प्रदान की गई है, निर्भर हैं।

दूसरी ओर, प्रत्यर्थियों ने कहा कि भारत के लोगों को केवल ऐसे अधिकार प्राप्त हैं जैसे कि संविधान द्वारा उन्हें प्रदान किए गए हैं, यह कि संविधान के प्रवृत्त होने के पूर्व, उनको एक भी मूल अधिकार प्राप्त नहीं था, यह कि ये अधिकार संविधान के भाग 3 द्वारा उन्हें अभिव्यक्त रूप से प्रदान किए गए थे और यह कि संयुक्त राज्य अमरीका के अनुच्छेद 10 के जैसा कोई भी उपबन्ध हमारे संविधान में नहीं है जिसके द्वारा जनता के अधिकार

([1]) (1952) एस० सी० आर० 89.

([2]) (1967) 2 एस० सी० आर० 762.

जनता के लिए आरक्षित किए गए हों। उन्होंने यह भी कहा कि यह समझते हुए कि मूल अधिकार "आज या कल के नहीं, बल्कि शाश्वत हैं और कोई नहीं कह सकता है कि उनका जन्म कब हुआ था", उन्हें अनुभवातीत, पावन या आदिकालीन बताने से ऐसी भावुकता का आभास होता है, जिसका उद्देश्य चेतना को पिछड़े हुए राजनीतिक दर्शन की धुन्ध में भटकने के लिए छोड़ देना है। इसका फल यह होगा कि इस मामले की वास्तविक कठिनाइयों का विश्लेषण ठण्डे दिमाग से नहीं किया जा सकेगा।

जिस प्रश्न का निर्णय हमें करना है वह, आंशिक रूप से, राजनीति का है, किन्तु इसका बहाना करके न्यायालय उसका निर्णय करने से इन्कार नहीं कर सकते हैं। जैसा कि डी टोकेविली ने लिखा है—"संयुक्त राज्य अमरीका में शायद ही कोई राजनैतिक प्रश्न उभरता हो, जो तत्काल या कुछ ही समय बाद, न्यायिक प्रश्न न बन जाता हो।" (1) श्री पालखीवाला की बात समझने के लिए कि मूल अधिकारों को संशोधित करने की संसद् की शक्ति अन्तर्निहित परिसीमा के अध्यधीन है, यह समझना आवश्यक है कि इन अधिकारों की उत्पत्ति कहां से होती है और उनकी मौलिकता का कारण क्या है।

यह बात हमें पहले ही समझ लेनी चाहिए कि 'नैसर्गिक अधिकारों से मेरा अभिप्राय उन अधिकारों से है जो तर्कप्रिय तथा नैतिकताप्रिय प्राणी होने के नाते मनुष्य के लिए समुचित हैं और सुखी जीवन के लिए आवश्यक हैं। 'अधिकार' कहे जाने पर भी उनका प्रवर्तन न्यायालय में अपने आप तब तक नहीं हो सकता है जब तक कि राज्य की निश्चित विधि ने उन्हें मान्यता न प्रदान की हो। मैं इस बात से सहमत हूं कि 'अधिकार' शब्द का प्रयोग केवल उन दावों तथा विशेषाधिकारों के लिए किया जाना चाहिए, जिनको विधि की मान्यता प्राप्त हो चुकी है तथा संरक्षण प्राप्त है किन्तु यह कहना कि अधिकार वही हैं जिन्हें कानून की मान्यता प्राप्त है सत्ताधारी राज्य के सामने घुटने टेक देना है। इस सिद्धान्त के अनुसार, आपके अधिकार केवल वही हैं, जो राज्य ने आपको दिए हैं और उनके अतिरिक्त कोई अधिकार नहीं हैं। इस दृष्टि से यह कहना कि आपके वही अधिकार हैं, जिनको राज्य द्वारा मान्यता दी जानी चाहिए, भाषा का स्पष्ट दुरुपयोग है। "किन्तु स्वतन्त्रता की घोषणा (डेक्लेरेशन ऑफ इण्डिपेण्डेन्स) के दृष्टिकोण से राजनैतिक अधिनियमन के भी पहले तथा उससे बिना अधिकारों के अस्तित्व की स्वीकृति ही राजनैतिक चेतना का अभ्युदय है। यदि इन अधिकारों को प्राप्त कराने' के लिए सरकारें स्थापित की जाती हैं तो इन अधिकारों का पहले से अस्तित्व रखना (प्री-एक्जीस्टेंस) ही राजनीतिक सिद्धान्त का का आधार है। (2), हमारे संविधान की प्रस्तावना यह बताती है कि इन अधिकारों को प्राप्त कराने लिए ही संविधान की स्थापना की गई थी और यह कि, मोटे तौर पर, मूल अधिकार पहले से विद्यमान नैसर्गिक अधिकारों को ही स्वीकार करना है। "उनकी मान्यता संविधान से नहीं है, बल्कि ऐसी मान्यता के होने पर ही संविधान को सम्पूर्ण समझा जा सकता है।" (3)

---

(1) डी टोकेविली कृत "डिमोक्रेसि इन अमरीका" (1948), ब्राडले इडिशन पृष्ठ 280.
(2) हाकिंग "फ्रीडम ऑफ दि प्रेस", पृष्ठ 59 का पाद-टिप्पण.
(3) कॉरविन "दि हायर बैकग्राउण्ड ऑफ दि अमरीकन कांस्टिट्यूशनल लॉ", पृष्ठ 5.

मानव अधिकारों का दार्शनिक आधार नैसर्गिक विधि है और मानव अधिकारों का इतिहास नैसर्गिक विधि के इतिहास के साथ जुड़ा हुआ है (1)। इस विधि का निष्कर्ष किसी काल्पनिक शून्य से नहीं, बल्कि सोसाइटी में मनुष्य जाति की सामान्य स्थिति से निकाला गया है। सेंट थामस एक्वीनास के अनुसार नैसर्गिक विधि की आज्ञाओं का दर्जा वही है जो प्राकृतिक प्रवृत्तियों का है, क्योंकि उस प्रकृति के अनुसार जो उसकी तथा सबकी है, सबसे पहले उसका झुकाव भलाई की ओर ही होता है, क्योंकि अपनी प्रकृति के अनुसार अपने अस्तित्व की रक्षा सभी करना चाहते हैं; और इसी प्रवृत्ति के कारण मानव जीवन को बनाए रखने और उसकी राह की रुकावटें दूर करने के जो भी साधन हैं वही नैसर्गिक विधि बनाते हैं (2)। किसी और सन्दर्भ में, यही सिद्धान्त स्पिनोज़ा ने जिन शब्दों में घोषित किया वे प्रसिद्ध हैं और उनके अनुसार "हर प्राणी यह प्रयास करता है कि उसका अस्तित्व बना रहे (3)।" दूसरी बात यह है, कि सेंट थामस एक्वीनास के अनुसार, मनुष्य की प्रवृत्ति उन्हीं चीजों की होती है जो उस प्रकृति के अनुसार, जो उसकी भी है तथा अन्य प्राणियों की भी, उनके साथ विशेष रूप से सम्बद्ध हैं; और इस प्रवृत्ति के आधार पर यह कहा जाता है कि उन्हीं बातों से नैसर्गिक विधि बनी है जो प्रकृति ने सब प्राणियों को सिखाई है, उदाहरण के लिए लैंगिक सम्भोग, संतति की शिक्षा आदि आदि (4)। और तीसरी बात यह है कि प्रकृति विवेक-बुद्धि के अनुसार हर आदमी की प्रवृत्ति भलाई की तरफ होती है और यही प्रवृत्ति उसे सत्य की खोज करने तथा सोसाइटी के साथ रहने की प्रेरणा प्रदान करती है।

नैसर्गिक विधि यथार्थता की अभिव्यक्ति है और निश्चित विधि (पाज़िटिव लॉ) के औचित्य तथा न्याय-संगतता की माप का साधन भी है। नैसर्गिक न्याय तथा कामन लॉ विवेकपूर्ण मनुष्य की धारणा पर, विधि के विवाद पर भारत के कामन लॉ का विशेष ध्यान रखते हुए, भारत के कामन लॉ व्यापारियों की विधि तथा संविदाकल्प विधि पर नैसर्गिक विधि का प्रभाव कहां तक पड़ा है, इसका इतिहास, सर फ्रेड्रिक पोलक ने "हिस्ट्री ऑफ दि लॉ ऑफ नेचर" विषयक अपने निबन्ध में बड़ी विद्वता के साथ बताया है (5)।

यह सही है कि नैसर्गिक न्याय पर बनावटी तथा काल्पनिक होने का आरोप लगाया जाता है और नैसर्गिक न्याय का समर्थन करने वाले अनेक सिद्धान्तों पर, किसी कारणवश विश्वास नहीं किया गया। श्री मैक्स एम० लैसरसन ने यह ठीक ही कहा है कि नैसर्गिक न्याय के सिद्धान्तों को स्वयं नैसर्गिक न्याय के साथ उलझाना नहीं चाहिए अन्य राजनैतिक तथा विधिक सिद्धान्तों के समान, नैसर्गिक न्याय के सिद्धान्त भी नैसर्गिक न्याय का समर्थन

---

(1) जैक्स मैरीटेन कृत "मैन एण्ड दि स्टेट", पृष्ठ 80-81.

(2) सुम्मा थ्योलाजीका, भाग 2, धारा 1, प्रश्न 91, अनुच्छेद 2 (ट्रांसलेटेड बाई दि इंग्लिश डोमीनियन्स), जिल्द 3.

(3) "एथिक्स", भाग 3, प्रापोजीशन सं० 6.

(4) सुम्मा थ्योलाजी का, भाग 2, धारा 1, प्रश्न 91, अनुच्छेद 2 (ट्रांसलेटेड बाई दि इंग्लिश डोमीनियन्स), जिल्द 3.

(5) "एसेज इन लॉ", पृष्ठ 31.

करने तथा उसे न्यायानुमत ठहराने के लिए तरह-तरह के तर्क या सिद्धांत प्रतिपादित कर सकते हैं, किन्तु इन सिद्धान्तों के उलट जाने का अर्थ नैसर्गिक न्याय का ही उलट जाना नहीं हो सकता है, जैसे कानून के दर्शन के किसी सिद्धान्त के उलट जाने से, स्वयं कानून ही नहीं उलट सकता है। ([1])

मनुष्य का सामाजिक स्वभाव, उसके भौतिक तथा मानसिक गठन की जातीय न्याय के बारे में उसकी भावनाएं तथा आन्तरिक सदाचार, व्यक्तित्व तथा सामूहिक बचाव की उसकी प्रवृत्ति, सुख के लिए उसकी लालसा, मानव गरिमा का उसका आभास, जीवन में मनुष्य के स्थान तथा प्रयोजन की बाबत उसकी चेतना—ये सब, कल्पना की उत्पत्ति नहीं है, बल्कि यथार्थता के क्षेत्र के वस्तु-परक तत्व हैं ([2])। जैसा कि नैसर्गिक विधि के इतिहास का ज्ञान न होने के कारण, इंग्लैण्ड के उपयोगितावादी (यूटेलिटेरियनस) का विचार था, नैसर्गिक विधि मनमौजी व्यक्तिगत पसंद का दूसरा नाम नहीं है, बल्कि, इसके विपरीत, सभ्य मानवता के समूहगत विवेक का जीता जागता प्रतिरूप है, और इसी अर्थ में उसको कामन ला ने सारूप में अंगीकृत किया है, चाहे सदा-सर्वदा उसका उल्लेख नाम ले कर न किया हो ([3])। "मानवता के उन पावन अधिकारों की खोज करना है तो वे अप्रचलित अभिलेखों के पुराने पत्रों में नहीं मिलेंगे। उनको तो भगवान ने स्वयं, मानव स्वभाव की किताब के पन्ने-पन्ने पर सूर्य रश्मी से, अंकित किया है और मनुष्य की शक्ति में नहीं है कि उस पर धुंध का पर्दा डाल दे"। ([4])

पश्चिमी बंगाल राज्य बनाम सुबोध गोपाल ([5]) में न्यायाधिपति पातञ्जलि शास्त्री ने कहा कि उस अनुच्छेद (अनुच्छेद 19) में "स्वातन्त्र्य-अधिकार" शीर्षक के अधीन कुछ स्वातन्त्र्य उल्लिखित हैं और उसमें उन महान तथा आधारभूत अधिकारों की व्यवस्था है, जो स्वतंत्र देश के नागरिक की हैसियत के साथ अनिवार्यतः सहयोजित नैसर्गिक अधिकारों के रूप में मान्यताप्राप्त तथा प्रथाभूत हैं।

संयुक्त राज्य अमरीका में, मनुष्य की आर्थिक स्वतंत्रता का विरोध करने वाले निहित स्वार्थों की ओर से जो आश्रय नैसर्गिक विधि का लिया गया वह उन्नसवीं शताब्दी की विशेषता बन गया। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में, निजी सम्पत्ति तथा संविदा की स्वतन्त्रता के अधिकारों में, राज्य की ओर से होने वाले हस्तक्षेप के विरोध में नैसर्गिक न्याय तथा नैसर्गिक अधिकारों के विचारों का आश्रय लिया गया। नैसर्गिक न्याय तथा

([1]) "पाजीटिव एण्ड नैचुरल लॉ एण्ड देयर को-रीलेशन इन इण्टरप्रेटेशन ऑफ मॉडर्न लीगल फीलासफीज" एसेज इन ऑनर ऑफ रासको पाउण्ड (न्यूयार्क आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस) (1947).

([2]) लाटरपाक्ट कृत "इण्टरनेशनल लॉ एण्ड ह्यू मन राइट्स", पृष्ठ 101.

([3]) सर फ्रेड्रिक पोलक, कृत "दि एक्सपेंशन ऑफ दि कामन लॉ" (1904), पृष्ठ 128.

([4]) लार्ड एक्टन कृत "दि हिस्ट्री ऑफ फ्रीडम एण्ड अदर एसेज" (1907), पृष्ठ 587 पर उद्धरण।

([5]) (1954) एस० सी० आर० 587, 596.

नैसर्गिक अधिकारों के विचारों का, इसी प्रयोजन के लिए, पुनरीक्षण किया गया और उन्हें नई शक्ति प्रदान की गई ([1]) । काम-काज की मानवोचित दशाओं को सुनिश्चित करने के लिए, महिलाओं तथा बच्चों के नियोजन के संरक्षण के लिए, उपभोक्ताओं के हितों की रक्षा के लिए तथा न्यासों तथा निगमों की शक्तियों को नियन्त्रण में रखने के लिए बनाए गए कानूनों को संयुक्त राज्य अमरीका के न्यायालय, बहुधा मनुष्य के नैसर्गिक अधिकारों का हवाला दे कर, असांविधानिक घोषित किया करते थे। इसके पुराने इतिहास से पता चलता है कि क्या कारण था कि नैसर्गिक अधिकारों को कुछ विचारक संदेह की दृष्टि से देखते थे और विधान-मण्डल या संविधान के भी ऊपर किसी उच्चतर विधि की सर्वोपरिता साबित करने वाले लेखक, नैसर्गिक अधिकारों की भार-स्वरूप विरासत (डैमनोसा हेरिडिटास) का उल्लेख व्यग्रता के साथ क्यों किया करते थे। तुच्छ उद्देश्यों तथा अन्यायी उद्देश्यों, दोनों के पक्ष में नैसर्गिक विधि का उपयोग देखकर, कितनों ही ने नैसर्गिक विधि को तत्काल नामंजूर कर दिया। जेरमी बेंथम के जैसे महान व्यवहारिक सुधारक, न्यायाधिपति होम्स जैसे महान न्यायाधीश तथा हैंस केलसन जैसे महान कानूनी द्रष्टा ने, जिनमें से सभी सामाजिक प्रगती में विश्वास करने वाले हैं, नैसर्गिक विधि का कोई आदर नहीं किया है और उसे कपोल-कल्पित कह कर खारिज कर दिया है। न्यायाधिपति होम्स ने कहा—"नैसर्गिक विधि में विश्वास करने वाले विधिवेत्ता मुझे इतने भोले-भाले मालूम होते हैं कि कुछ भी हो यदि वह उनको तथा उनके पड़ोसियों की जानकारी में है तथा उनके द्वारा स्वीकार किया जाता है, उसे वे ऐसी मान्यता देने के लिए तैयार हैं, जैसे कि यही बातें सब लोगों को सब जगह स्वीकार कर लेनी चाहिए"([2]) । प्रोफेसर केलसन का विचार है कि नैसर्गिक विधि के अनुयायियों का सिर्फ एक मात्र प्रयोजन, स्थापित प्राधिकार तथा स्थापित सरकारों की, निजी सम्पत्ति की दासता की तथा विवाह की संस्थाओं का पक्ष समर्थन करना है। ([3])

नैसर्गिक न्याय पर यद्यपि इतने आक्रमण हुए और उसके भाग्य में इतने उतार-चढ़ाव आए फिर भी बीसवीं शताब्दी ने उसे नया जीवन प्रदान किया और इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि इन अधिकारों की मान्यता को और भी प्रभावशाली बनाने तथा संसार को यह बताने के लिए कि कोई भी राज्य इन अधिकारों का अतिक्रमण न करे अन्तर्राष्ट्रीय 'बिल ऑफ ह्यूमन राइट्स' में मूर्तिमान मानवाधिकारों की कल्पना की आड़ और टेक नैसर्गिक न्याय का सिद्धान्त ही था ([4]) । इन अधिकारों को आप नैसर्गिक अधिकार कहें या न कहें इनकी उत्पत्ति 'नैसर्गिक विधि से हुई हो या न हुई हो, जैसा मैं कह चुका हूं ये ऐसे अधिकार हैं, जो विवेकी तथा नैतिकता प्रधान प्राणी के रूप में मनुष्य को प्राप्त हैं। अन्तिम विश्लेषण होने पर पता यह चलता है कि मनुष्य का एकमात्र अधिकार मनुष्य होने का या मनुष्य के रूप में जीवन बिताने का अधिकार है। विनिर्दिष्ट मानव-अधिकारों में से सभी का

([1]) हैंस "दि रिवाइवल ऑफ नेचुरल लॉ कंसैप्ट्स", पृष्ठ 117-123.

([2]) होम्स कृत "कोलैक्टेड लीगल पेपर्स", पृष्ठ 312.

([3]) कैलसन कृत "जनरल थीअरि ऑफ लॉ एण्ड स्टेट", पृष्ठ 413-418.

([4]) लाटरपाक्ट कृत "इन्टरनैशनल लॉ एण्ड स्टेट ह्यूमन राइट्स", पृष्ठ 112-113.

आधार मनुष्य के रूप में जीवन बिताने का मनुष्य का अधिकार है (1) हैरोल्ड लास्की ने कहा है (2)—

> "मुझे वे अधिकार प्राप्त हैं जो सोसाइटी सदस्य के हैसियत से मुझ में अन्तर्निहित हैं, और सोसाइटी की मूलभूत संस्था के रूप में मैं राज्य की पहचान उस रीति से करता हूं जिसमें वह मुझे ये अधिकार साररूप में प्राप्त कराता है।..... ये अधिकार ही इस अर्थ में, राज्य का मूल आधार हैं। इन्हीं के रूप में वह गुण है जो राज्य शक्तियों के प्रयोग को नैतिकता का रंग प्रदान करते हैं और ये इस अर्थ में नैसर्गिक अधिकार हैं कि ये सुखद जीवन के लिए आवश्यक हैं।"

श्री सीरवाई ने कहा कि संविधान के अनुच्छेद 33 से, जिसमें कहा गया है कि संसद् विधि द्वारा निर्धारण कर सकेगी कि मूल अधिकारों को, सशस्त्र बलों अथवा सार्वजनिक व्यवस्था-भार वाले बलों के सदस्यों के लिए प्रयोग होने की अवस्था में, किस मात्रा तक, निर्बन्धित या निराकृत किया जाए ताकि उनके कर्त्तव्यों का उचित पालन तथा उनमें अनुशासन बना रहना सुनिश्चित रहे, यह प्रकट होता है कि हमारे संविधान में किसी भी नैसर्गिक अधिकार को मान्यता नहीं प्रदान की गई है. क्योंकि अन्यथा मूल अधिकारों के प्रयोग पर संसद् द्वारा नियत की गई परिसीमा असमर्थित होती। इस स्थिति के समर्थन में उन्होंने उस मत का आश्रय लिया है जो न्यायाधिपति एस० के० दास ने बशेशर नाथ बनाम आयकर आयुक्त दिल्ली (3) में व्यक्त किया है, जिसमें उन्होंने कहा है —

> "मेरी राय में संविधान के भाग 3 में ही इस बात के स्पष्ट संकेत हैं कि उनके उपबन्धों की तैयारी में "नैसर्गिक अधिकारों" के सिद्धान्त में कोई हाथ नहीं है। अनुच्छेद 33, 34 तथा 35 को ही लीजिए, जो भाग 3 द्वारा प्रदत्त अधिकारों को उपान्तरित करने की शक्ति, संसद् को देते हैं। यदि वे नैसर्गिक अधिकार होते, तो संविधान, उन्हें उपान्तरित करने की शक्ति, संसद् को नहीं दे सकता था।"

मैं नहीं समझता हूं कि श्री पालखीवाला की दलील यह है कि नैसर्गिक अधिकार ऐसे हैं जो निश्चित विधि के समर्थन के बिना न्यायालयों द्वारा मूल रूप में प्रवर्तनीय हैं या यह कि उन पर किन्हीं परिस्थितियों में बन्धन नहीं लगाए जा सकते हैं।

यह बात कि सभी नैसर्गिक अधिकार ऐसे हैं जो सीमित किए जा सकते हैं, यहां तक कि सामान्य कल्याण के लिए छीने भी जा सकते हैं, स्वयं ही ऐसा सिद्धान्त है, जिसे नैसर्गिक विधि के सभी लेखक मान्यता देते हैं। "किन्तु मनुष्य के नैसर्गिक अधिकार, यद्यपि सामान्यतः आत्यन्तिक तथा अनतिक्रमणीय कहे जाते हैं, उस सार्वभौम व्यवस्था की अपेक्षाओं से सीमित हैं, जिनके अध्यधीन उन्हें स्थान मिला है। विनिर्दिष्ट रूप से कहा जाए तो मनुष्य के नैसर्गिक अधिकारों पर दो प्रकार के बन्धन हैं, जिनमें एक आन्तरिक है जो

(1) रोममेन कृत "दि नेचुरल लॉ" के पृष्ठ 243 के पाद-टिप्पण पर उद्धृत, थामस पी०नील कृत 'वेपन्स' फार पीस.

(2) हैरोल्ड लास्की कृत "ग्रामर ऑफ पोलीटिक्स"(न्यू हैवन) (1925), पृष्ठ 39-40.

(3) (1959) सप्लीमेण्ट 1 एस० सी० आर० 528, 605.

उस उद्देश्य से पैदा है जिसके लिए वे अधिकार उसे दिए गए हैं और दूसरा वाह्य है जो अन्य व्यक्तियों के समान अधिकारों तथा अन्य व्यक्तियों के प्रति उसके कर्तव्यों का है ।"(1) और जब संसद् सैनिक कर्मचारियों या शान्ति बनाए रखने के कर्तव्य-भार वाली पुलिस द्वारा मूल अधिकारों के प्रयोग को, निर्बन्धित करती है या उन्हें छीन लेती है, तो इसका यह अर्थ नहीं है कि नैसर्गिक अधिकार ही नहीं हैं या यह कि, मोटे तौर से कहा जाए तो, मूल अधिकार का होना नैसर्गिक अधिकारों की स्वीकृति नहीं है। इससे केवल यही प्रतीत होता है कि नैसर्गिक अधिकारों के समान, मूल अधिकारों को भी सोसाइटी के सामान्य कल्याण के लिए सीमित किया जा सकता है। जॉन लॉक स्वयं यह नहीं मानते थे कि नैसर्गिक अधिकार आत्यन्तिक हैं और न कहीं भी उन्होंने ऐसा कहा है। दूसरे शब्दों का प्रयोग किया जाए तो सैनिक कर्मचारियों या विधि द्वारा शान्ति बनाए रखने के कर्तव्य-भार वाली पुलिस के मूल अधिकारों के प्रयोग को चूंकि संसद् निर्बन्धित कर सकती है, यहां तक कि उन्हें छीन भी सकती है, इसलिए इसका यह अर्थ नहीं है कि मोटे तौर पर कहा जाए तो मूल अधिकारों का होना आधारभूत मानव अधिकारों की स्वीकृति नहीं है या यह कि इन अधिकारों को सामान्य कल्याण के लिए निश्चित विधि द्वारा सीमित नहीं किया जा सकता है। नैसर्गिक विधि, निश्चित विधि (पोज़िटिव लॉ) का स्थान नहीं ले सकती है, निश्चित विधि को यह बताना चाहिए कि किसी स्थिति विशेष में कौन सा उपाय करना व्यवहारिक होगा। सर फ्रेड्रिक पोलक ने कहा है कि नैसर्गिक न्याय के पास कोई साधन नहीं है जिनसे वह संख्या या माप के साथ परिभाषित शब्दों पर किसी नियम को लागू नहीं कर सके और न ऐसे साधन हैं जिनसे वह समान रूप से ठीक जंचने वाले दो या दो से अधिक व्यवहारिक सुझावों में से किसी एक को पसन्द कर ले। ऐसे मामलों में हमें निश्चित विधि की ही सहायता लेनी होगी, चाहे फिर वह अधिनियमित विधि हो या रूढ़िजन्य। नैसर्गिक विवेक का यह बताना कोई बड़ी बात नहीं है कि मार्ग पर चलने के नियम का पालन करना चाहिए, किन्तु नैसर्गिक विवेक यह नहीं बता सकता है कि हमें दाहिने ओर चलना चाहिए या बाएं ओर, वास्तविकता यह है कि इसका उत्तर रूढ़ि के अनुसार विभिन्न देशों में, यहां तक कि यूरोप के कुछ भागों में, अथवा एक ही राज्य के विभिन्न प्रान्तों में विभिन्न तरीकों से दिया गया है (2)।

न मेरी निगाह में इस दलील में कोई जान है कि चूंकि गैर-नागरिकों को सभी मूल अधिकार नहीं दिए गए हैं, इसलिए मोटे तौर पर समझना चाहिए कि इन अधिकारों का होना मानवोचित या नैसर्गिक अधिकारों की स्वीकृति नहीं है। यह बात कि संविधान गैर-नागरिकों के लिए उनको न तो मान्यता देता है और न मूल अधिकारों के रूप में प्रवर्तित करता है, इन अधिकारों के अस्तित्व के विरुद्ध कोई दलील नहीं है। इससे केवल यह प्रकट होता है कि हमारे संविधान ने, पसंद यह किया है कि राज्य की नीति के अनुसार इन अधिकारों को गैर-नागरिकों के लिए मूल अधिकारों के रूप में स्वीकार न करे। इस तर्क में भी, कि मूल अधिकारों को आपात में निलम्बित किया जा सकता है और इसलिए उनकी उत्पत्ति नैसर्गिक अधिकारों से नहीं है, वही तर्कदोष है, अर्थात् यह कि नैसर्गिक

---

(1) [illegible] दि नैचुरल लॉ" (1947) के पृष्ठ 243 पर पाद-टिप्पण 49.

(2) पालेक कृत "दि एक्सपेंशन ऑफ दि कॉमन लॉ" (1904), पृष्ठ 128.

अधिकारों के लिए कोई बन्धन नहीं है या यह कि उनका प्रयोग सामाजिक व्यवस्था या सामान्य कल्याण की अपेक्षाओं पर कोई ध्यान दिए बिना, मनुष्य मात्र की शाश्वत् गुणों के रूप में किया जा सकता है।

श्री पालखीवाला ने यह दलील दी कि बहुत से मानव अधिकार ऐसे हैं जो यथार्थ रूप में अन्य-संक्राम्य हैं, क्योंकि उनका आधार ही मनुष्य का स्वभाव है, जिसको कोई भी न तो अपने से अलग कर सकता है और न खो सकता है। यद्यपि यह बात सामान्य अर्थ में सही हो सकती है, इसका अर्थ यह नहीं है कि इन अधिकारों के लिए कोई बन्धन नहीं है।

प्रत्येक विधि, विशिष्टतः नैसर्गिक विधि का आधार, अरस्तु की यह बुनियादी मान्यता है कि मनुष्य राजनैतिक प्राणी है और यह कि अपने स्वभाव से वह समाज में ही रहना चाहता है। चूंकि मानव-प्राणी न तो द्वीप के समान है और न अपने आप से जीवित रह सकता है, इसलिए किसी भी मानव-अधिकार का, जो सोसाइटी के सामान्य कल्याण के साथ आन्तरिक सम्बन्ध न रखता हो, अस्तित्व नहीं रह सकता। प्राणों के तथा सुख की खोज करने के अधिकार के समान, कुछ अधिकार इस प्रकार के हैं कि यदि राज-निकाय (बाडी-पोलोटिक) यथोचित कारण के बिना मनुष्यों को उन अधिकारों से वंचित कर दे, जो उन्हें स्वभावतः प्राप्त हैं तो सामान्य कल्याण को धक्का पहुंचेगा। ऐसे अधिकार किसी हद तक अन्य-असंक्राम्य हैं। वाक्-स्वातंत्र्य अथवा सम्मेलन स्वातंत्र्य के अधिकार के समान दूसरे अधिकार इस प्रकार के हैं कि यदि राज-निकाय उन अधिकारों को तथा उनके प्रयोग को निर्बन्धित न कर सकता हो और उन्हें छीन न सकता हो तो सामान्य कल्याण को धक्का पहुंचेगा। ऐसे अधिकारों को अन्य-असंक्राम्य नहीं कहा जा सकता। आत्यन्तिक रूप से अन्य-असंक्राम्य अधिकारों पर भी, उनके कब्जे अथवा उनके प्रयोग की दृष्टि से, बन्धन लगाए जा सकते हैं। वे ऐसी शर्तों तथा परिसीमाओं के अध्यधीन हैं, जो हर मामले में, न्याय की दृष्टि से या राज्य की सुरक्षा या सोसाइटी के सामान्य कल्याण की दृष्टि से, आवश्यक हों। किसी भी सोसाइटी ने यह बात कभी स्वीकार नहीं किया है कि अपने अस्तित्व के लिए वह व्यक्तिगत कल्याण को किसी भी न्यायोचित युद्ध में बलिदान नहीं कर सकती है। जैसा कि होम्स ने कहा है, यदि सेना के लिए उसे जबरिया भर्ती की आवश्यकता होती है तो वह रंगरूटों को बलात् पकड़ लेती है और संगीनों की नोक पर आगे बढ़ाते हुए मौत की ओर ले जाती है। ([1]) अपराधी को यदि फांसी की सजा दी जा सकती है, तो इसका कारण यह है कि उसने अपराध के कारण यह अधिकार उचित रूप में जताने की सम्भावना से अपने को वंचित कर लिया है। जहां तक उसके इस अधिकार की बात है उसने अपने को मानव समाज से काट कर अलग कर लिया है ([2])।

विद्वान् लेखकों ने, यह दिखाने के लिए कि विशेष परिस्थितियों में मानवाधिकारों में से किसी के भी दावे की उपेक्षा की जा सकती है, सदा ही यह दृष्टिकोण अपनाया है कि मानव

([1]) कॉमन लॉ, पृष्ठ 43.

([2]) जैक्स मैरीटैन कृत 'मैन एण्ड स्टेट', पृष्ठ 102.

अधिकार, प्रथम-दृष्टया अधिकार (प्राइमा फेसी राइट्स) मात्र हैं। जैसा कि मैं कह चुका हूं, युद्ध छिड़ जाने पर इन पूर्ववर्ती अधिकारों (प्री-एग्जिस्टिंग राइट्स) में से सबसे महत्वपूर्ण अधिकार अर्थात् जीने के अधिकार की बलि निस्संकोच चढ़ा दी जाती है। प्रथम-दृष्टया अधिकार वह होता है जिसके पास न्यायानुमतता है अर्थात् एक विशिष्ट स्थिति में जिस में वह दावा किया गया है जब तक उससे भी बढ़कर प्रतिदावे न हों, वह दावा न्यायानुमत है, जिसमें सबूत का भार हमेशा प्रतिदावों पर रखा जाता है। यह कहना कि नैसर्गिक अधिकार या मानव-अधिकार ही प्रथम-दृष्टया अधिकार है, यह कहने के बराबर है कि कुछ स्थितियां ऐसी होती हैं जिनमें उनके दावे को नामंजूर करना पूर्ण रूप से उचित है। जब तक कि हमें इस बात का ठीक-ठीक आश्वासन न मिल जाए कि इस प्रकार की उपेक्षा कहां तक की जा सकेगी नहीं तो, तब तक हम यह नहीं कह सकते कि इन प्रथम-दृष्टया अधिकारों को पाने के बाद हमारी दशा अच्छी होगी या इनको प्राप्त किए बिना। "न्याय के विचार, विशेष परिस्थितियों में नैसर्गिक अधिकार को अपवाद को बनाने की इजाजत उसी प्रकार देते हैं जैसा कि इन्हीं विचारों की हमसे यह अपेक्षा होती है कि सामान्यतः हम इनका समर्थन करें।" (¹)

सामाजिक सम्बन्धों की जटिलता के कारण हो सकता है कि एक प्रकार के सम्बन्धों पर आधारित अधिकारों का, दूसरे प्रकार के सम्बन्धों पर आधारित अधिकारों के साथ टकराव हो। यह बात स्पष्ट है कि मनुष्य को, न केवल मानव तथा नश्वरीय प्राणी के रूप में अपने अधिकारों का, बल्कि अपने सामाजिक तथा आर्थिक अधिकारों का भी उदाहरण के लिए किसी कर्मकार का ऐसी उचित मजदूरी का अधिकार जो उस कर्मकार के कुटुम्ब के जीवनयापन के लिए पर्याप्त हो, या बेकारी के भत्ते या बेकारी के बीमे के अधिकार का, रुग्णता सम्बन्धी प्रसुविधाओं का, सामाजिक सुरक्षा तथा अन्य न्यायानुमत प्रसुविधाओं का, संक्षेप में उन सब नैतिक अधिकारों का पता हो चुका है जिनका उपबन्ध संविधान के भाग 4 में किया गया है। किन्तु स्वाभाविक प्रवृत्ति यह रही है कि सुपरिचित मूल अधिकारों को बढ़ाया जाए और आत्यंतिक बनाया जाए तथा हर प्रकार से निर्बाध बना दिया जाए, साथ ही इसकी कसर अन्य अधिकारों से निकाली जाए और संतुलन कायम रखने के लिए उनको कम कर दिया जाए। मनुष्य के आर्थिक तथा समाजिक अधिकारों को वास्तव में मान्यता कभी नहीं मिली जब तक कि मूल अधिकारों के विरुद्ध संघर्ष नहीं किया गया, उसके तीव्र विरोध का मुकाबला नहीं किया गया और उसे परास्त नहीं कर दिया गया। अबाध पारस्परिक करार के अधिकार तथा निजी स्वामित्व के अधिकार के मुकाबले में, उचित मजदूरी के अधिकार तथा इसी प्रकार के अधिकारों की यही कहानी है।

यह तय करने के लिए कि अन्तिम रूप से सही कौन है, परस्पर विरोधी दावों का एक दूसरे के साथ संतुलन करना आवश्यक है। नैतिक दृष्टि से यही कहा जा सकता है कि कोई भी विशेष अधिकार किसी भी दी हुई स्थिति में ऐसे रूपान्तरण के अध्यधीन है, जो अन्य अधिकारों या कुल अधिकारों से उत्पन्न होने वाले दावों को देखते हुए, आवश्यक हो। चूंकि

(¹) ग्रेगरी वलास्टस कृत "जस्टिस एण्ड इक्वेलिटी" में रिचर्ड बी० ब्राण्डट कृत "सोशल जस्टिस", पृष्ठ 31.

कोई भी एकल अधिकार, चाहे वह नैसर्गिक हो या न हो, आत्यंतिक नहीं होता है, इसलिए किसी एक अधिकार पर आधारित दावे, ऐसे विशेषणों (क्वालिफिकेशन्स) के अध्यधीन किए जा सकते हैं, जो अन्य अधिकारों पर आधारित दावों या सम्पूर्ण व्यवस्था या जीवन पद्धति की अपेक्षाओं अर्थात् सामान्य कल्याण के सिद्धान्त को ध्यान में रखते हुए आवश्यक हों [1]। यह बात ध्यान देने योग्य है कि मानव अधिकारों की घोषणा का अनुच्छेद 29 (2) इस प्रकार है —

> "अपने अधिकारों तथा स्वातन्त्र्यों का प्रयोग करते हुए, हर व्यक्ति केवल ऐसी परिसीमाओं के अध्यधीन होगा, जैसी कि एकल रूप से दूसरों के अधिकारों तथा स्वातन्त्र्यों को सम्यक् मान्यता तथा आदर प्राप्त कराने के, तथा लोकतन्त्रात्मक सोसायटी में नैतिकता, सार्वजनिक व्यवस्था तथा जन-कल्याण की यथोचित अपेक्षाओं को पूरा करने के प्रयोजन के लिए विधि द्वारा निर्धारित की गई हो।"

इसी निर्णय के बाद वाले हिस्से में, मैं यह दिखाने की कोशिश करूंगा कि हमारी लोकतन्त्रात्मक सोसायटी के जन-कल्याण के लिए कुछ परिस्थितियों में मूल अधिकारों को सीमित करने, यहां तक कि उन्हें छीन लेने की भी आवश्यकता होगी।

हमारे संविधान के निर्माताओं ने इस बात का अनुभव किया था कि नैसर्गिक अधिकारों के समान, मूल अधिकार आत्यंतिक नहीं हैं और यही कारण है कि इन अधिकारों के प्रयोग के विरुद्ध विधि द्वारा निर्बन्धन आरोपित करने का उपबन्ध उन्होंने किया था। यह पहले से समझ पाना कि सोसायटी की बदलती हुई आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए किस प्रकार के निर्बन्धन आवश्यक होंगे, उनके लिए असम्भव था और किसी भी व्यक्ति के लिए, चाहे वह कितना ही विद्वान् क्यों न हो, यह काम असम्भव है। अधिक से अधिक आगे की सोचने वाले लोग भी, सोसायटी में आगे चलकर होने वाले हर प्रकार के विकास को पहले से नहीं समझ सकते थे और न यह समझ सकते थे कि उनको पूरा करने के लिए मूल अधिकारों पर किस प्रकार के निर्बन्धन आवश्यक होंगे। इस प्रश्न का फैसला कि कोई मूल अधिकार विशेष, सोसायटी के सामान्य कल्याण के लिए छीन लिया जाना चाहिए या उसमें कमी की जानी चाहिए या नहीं, हर एक पीढ़ी को अपने अनुभव के अनुसार करना चाहिए, न कि उसके अनुसार जो संविधान बनाते समय कहा गया था या निर्धारित किया गया था। किसी भी पीढ़ी से यह आशा नहीं की जा सकती है कि वह ऐसा शासन तैयार करे, जो जीवन के हर क्षेत्र में सारे क्रान्तिकारी परिवर्तनों के होने पर भी वैसा ही बना रहे।

अब हम यह देखेंगे कि क्या गत वर्षों में कुछ मूल अधिकारों को संशोधित करना संसद् के लिए उचित था और क्या पिटीशनर के काउन्सेल का यह भय प्रकट करना उचित था कि यदि मूल अधिकारों को सांविधानिक संशोधनों द्वारा न्यून करने की इजाजत दी गई तो इसके बड़े गम्भीर परिणाम होंगे।

---

(1) मोरिस गिंसबर्ग, 'जस्टिस इन सोसायटी' पृष्ठ 77.

पहले संशोधन ने अनुच्छेद 15 में, जो धर्म मूलवंश, जाति, लिंग या जन्म-स्थान के आधार पर विभेद का प्रतिषेध करता है, कुछ परिवर्तन किए। अनुच्छेद 15 के खण्ड (3) ने स्त्रियों तथा बालकों के लिए राज्य को विशेष उपबन्ध करने की इजाजत दी। इस संशोधन द्वारा एक नया खण्ड भी बढ़ाया गया जो इस प्रकार है—

> "(4) इस अनुच्छेद की या अनुच्छेद 29 के खण्ड (2) की किसी बात से राज्य को सामाजिक और शिक्षात्मक दृष्टि से पिछड़े हुए किन्हीं नागरिक-वर्गों की उन्नति के लिए या अनुसूचित जातियों और अनुसूचित आदिमजातियों के लिए कोई विशेष उपबन्ध करने में बाधा न होगी।"

इस संशोधन की आवश्यकता उस निर्णय के कारण हुई जो इस न्यायालय ने मद्रास राज्य बनाम चम्पाकम दोरायराजन([1])में दिया था। उस निर्णय में यह कहा गया था कि सार्वजनिक संस्थाओं में पिछड़े हुए वर्गों, अनुसूचित जातियों एवं अनुसूचित आदिमजातियों के पक्ष में स्थानों का आरक्षण अविधिमान्य था, क्योंकि वह अनुच्छेद 29(2) के अधीन प्रत्याभूत मूल अधिकारों का उल्लंघन करके किया गया था। जब इस न्यायालय ने यही कह दिया कि इन वर्गों के लिए स्थानों का आरक्षण, अनुच्छेद 29(2) के अधीन प्रत्याभूत मूल अधिकार का उल्लंघन करता है, तो संशोधन करने के सिवाय संसद् के पास कौन सा रास्ता रह गया था। इसका कारण यह था कि सामाजिक न्याय की दृष्टि से कमजोर वर्ग के लोगों और विशेष रूप से अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित आदिमजातियों के शैक्षणिक तथा आर्थिक हितों को प्रोन्नत करने के लिए तथा उन्हें बराबरी का दर्जा देने के लिए इस बात की आवश्यकता थी कि उनके पक्ष में विभेदकारी व्यवहार किया जाए। जो लोग इस बात का रोना रोते हैं कि इस मामले में, किया गया विनिश्चय, अपने पैर पर कुल्हाड़ी मारने के बराबर था, उनके साथ सहानुभूति ही प्रकट की जा सकती है। किन्तु जब पांच न्यायाधीशों की न्यायपीठ ने यह फैसला कर दिया तो संसार की कोई भी शक्ति उसके एक भी शब्द को बदल नहीं सकती थी। ऐसी दशा में संसद् द्वारा किया गया संशोधन ही काम आ सकता था, क्योंकि इस फैसले का उलट दिया जाना दूर की बात थी और टेढ़ी समस्या थी।

अनुच्छेद 19 के दूसरे और छठे खण्ड भी प्रथम संशोधन द्वारा संशोधित किए गए। अनुच्छेद 19(1)(क) यह उपबन्ध करता है कि सब नागरिकों को वाक्-स्वातंत्र्य और अभिव्यक्ति-स्वातंत्र्य का अधिकार होगा। संशोधन के पहले, अनुच्छेद 19(2) इस प्रकार था—

> "(2) खण्ड (1) के उपखण्ड (क) की कोई बात अपमान-लेख, अपमान-वचन, मानहानि, न्यायालय-अवमान से अथवा शिष्टाचार या सदाचार पर आघात करने वाले, अथवा राज्य की सुरक्षा को दुर्बल करने अथवा राज्य को उलटने की प्रवृत्ति वाले किसी विषय से, जहां तक कोई वर्तमान विधि सम्बन्ध रखती हो,

---

([1]) (1951) एस० सी० आर० 525.

वहां तक उसके प्रवर्तन पर प्रभाव, अथवा सम्बन्ध रखने वाली किसी विधि को बनाने में राज्य के लिए रुकावट, न डालेगी।"

संशोधन के पश्चात् वही खण्ड इस प्रकार था—

"(2) खण्ड (1) के उपखण्ड (क) की कोई बात उक्त उपखण्ड द्वारा दिए गए अधिकारों के प्रयोग पर"""राज्य की सुरक्षा, विदेशी राज्यों के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों, सार्वजनिक व्यवस्था, शिष्टाचार या सदाचार के हित में, या न्यायालय-अवमान, मानहानि या अपराध, उद्दीपन के सम्बन्ध में युक्तियुक्त निर्बन्धन जहां तक कोई वर्तमान विधि लगाती हो वहां तक उसके प्रवर्तन पर प्रभाव, अथवा वैसे निर्बन्धन लगाने वाली कोई विधि बनाने में राज्य के लिए कोई रुकावट, न डालेगी।"

इस संशोधन की आवश्यकता उस निर्णय के कारण हुई जो इस न्यायालय ने रमेश थापर बनाम मद्रास राज्य (1) में दिया था। उस निर्णय में यह अभिनिर्धारित किया गया था कि सार्वजनिक व्यवस्था को भंग करना "राज्य की सुरक्षा को दुर्बल करना" अभिव्यक्ति के अन्तर्गत नहीं आता है। इसमें कोई संदेह नहीं कि बिहार राज्य बनाम शैलबाला देवी (2) में इस न्यायायय ने कहा था कि उसका आशय रमेश थापर वाले मामले (1) में यह अभिनिर्धारित करना नहीं था कि सार्वजनिक व्यवस्था के विरुद्ध किया गया अपराध किसी भी दशा में ऐसे अपराध की कोटि में नहीं आ सकता है जो राज्य की सुरक्षा को प्रभावित करने वाली हो, किन्तु इस संशोधन को देखते हुए इस विषय में अब कोई दिलचस्पी शेष नहीं है। जब इस न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि 'सार्वजनिक व्यवस्था' शब्द "राज्य की सुरक्षा को दुर्बल करना" अभिव्यक्ति के अन्दर नहीं आते हैं, तो संशोधन करने के सिवाय संसद् के पास कोई रास्ता ही नहीं था। "विदेशी राज्य के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध" शब्दों द्वारा वाक्-स्वातंत्र्य में एक और कमी कर दी गई, लेकिन यह कोई भी नहीं कह सकता है कि विदेशी राज्यों के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों का बनाए रखना आवश्यक है और यदि कोई ऐसी बात कही जाती है जिससे इन सम्बन्धों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता हो उस पर कोई अंकुश नहीं लगाया जाना चाहिए। इस प्रकार के अंकुश तो इंग्लैण्ड और अमरीका ने भी लगाए हैं।

सोलहवें संशोधन ने अनुच्छेद 19 के खण्ड (2), (3) और (4) में """सार्वजनिक व्यवस्था"""के हित में" शब्दों के पहले "भारत की प्रभुता और अखण्डता" शब्द बढ़ा दिए। इसका अर्थ है कि वाक्-स्वातंत्र्य तथा सम्मेलन-स्वातंत्र्य के मूल अधिकार को, भारत की प्रभुता और अखण्डता बनाए रखने के लिए कम कर दिया गया था। वाक्-स्वातंत्र्य ऐसा सांचा है जिसमें सभी दूसरी स्वतंत्रताएं ढल जाती हैं और इस बात से कोई इन्कार नहीं करेगा कि यह संविधान का सारभूत तत्व है। किन्तु और बड़े कल्याण अर्थात् भारत की प्रभुता और अखण्डता को बनाए रखने के लिए उस अधिकार को क्षति पहुंचाना आवश्यक

(1) (1950) एस० सी० आर० 594.
(2) (1952) एस० सी० आर० 654.

था। यह कौन कह सकता है कि वह संशोधन अनावश्यक था ? ये संशोधन इस बात का दृष्टान्त प्रस्तुत करते हैं कि ऐसी परिस्थितियां, जिनकी कोई भी कल्पना संविधान के बनाने वालों ने नहीं की थी, पैदा हो सकती है और ऐसे मौकों पर सामान्य कल्याण के लिए या उच्चतर मूल्यों को प्राप्त करने के लिए मूल अधिकारों में कमी करना आवश्यक हो सकता है।

पिटीशनर के काउन्सेल ने इस बात का अनुभव किया कि कुछ परिस्थितियों में मूल अधिकारों का ऐसा संशोधन करने की आवश्यकता हो सकती है जो उनको कम करने वाला हो और इसीलिए उन्होंने यह कहा कि यदि संसद् को मूल अधिकारों को संशोधित करने की शक्ति दी ही जानी है तो वह शक्ति इस विवक्षित परिसीमा के अध्यधीन है कि मूल अधिकारों का संशोधन इस प्रकार किया जाए जिससे उनका मर्म या सार नष्ट न हो और न उसे कोई क्षति पहुंचे। इसीलिए उन्होंने यह भी कहा कि ऐसे हर संशोधन के मामले में न्यायालय को चाहिए कि वह इस प्रश्न पर विचार करे कि क्या अमुक संशोधन ने मूल अधिकारों के मर्म या सार को नष्ट किया है या उन्हें क्षति पहुंचाई है। काउन्सेल ने यह कहा कि यदि न्यायालय इस बात का अनुमान सफलता के साथ कर सकता है कि "सार्वजनिक हित में युक्तियुक्त निर्बन्धन क्या है" तो कोई कारण नहीं है कि न्यायालय, मूल अधिकार के हृद्यस्थल या उसके सार के पता लगाने का और यह देखने का काम क्यों नहीं कर सकता है कि अमुक संशोधन ने मूल अधिकार को नष्ट किया है या उसे क्षति पहुंचाई है या नहीं।'

केरल राज्य की ओर से श्री सीरवाई ने कहा कि यह विनिश्चित करने के लिए कि सम्बन्धित अधिकार का मर्म या सार क्या है, न्यायालय के समक्ष उसके प्रशिक्षित न्यायिक मस्तिष्क के अनुभूत-ज्ञान के अलावा कोई अन्य वस्तु-परक मानक नहीं रखा गया है और जब कि इस प्रश्न का, कि विधि द्वारा लगाए गए निर्बन्धन युक्तियुक्त हैं या नहीं, न्यायिक पुनर्विलोकन तर्क के वस्तु-परक (आब्जेक्टिव) मानक पर आधारित है, अधिकार के मर्म का पता लगाने के लिए न्यायालय के पास कोई स्पष्ट विभाजन रेखा नहीं है। उन्होंने लोकनर बनाम न्यूयार्क ([1]) वाले मामले में न्यायाधिपति होम्स के निर्णय और मद्रास राज्य बनाम वी० जी० राव ([2]) वाले मामले में न्यायाधिपति पातञ्जलि शास्त्री के अभिमत का हवाला देते हुए कहा कि 'युक्तियुक्त व्यक्ति' का विचार जो बहुत सी विधिक शंकाओं को दूर कर देता है या अनुच्छेद 19 के खण्ड (2) से खण्ड (6) में उल्लिखित 'सार्वजनिक हित में युक्तियुक्त निर्बन्धन' या अनुच्छेद 304 (ख) में 'युक्तियुक्त निर्बन्धन' पदों की प्रकृति वस्तुपरक है, भले ही उन विचारों को किसी विशिष्ट मामले में लागू करने की बाबत मतभेद क्यों न हो; किन्तु मूल अधिकार के मर्म का पता लगाने का कार्य पारस मणि की खोज के समान है और संशोधन-प्राधिकारी को संशोधन करते समय कोई भी मार्गदर्शन उपलब्ध न होगा। श्री सीरवाई ने आगे यह कहा कि हमारे संविधान निर्माताओं ने अनुच्छेद 21 में 'सम्यक् प्रक्रिया' (ड्यू प्रासेस) का जानबूझकर प्रयोग नहीं किया है क्योंकि वे वार्षिक विधान के उच्चतर विधिक

() (1904) 198 यू० एस० 45.
([2]) (1952) एस० सी० आर० 597.

दर्शन पर आधारित अस्थायी विचारों के प्रति न्यायालय के आकर्षण से बचना चाहते थे अब अमरीका में भी सारभूत सम्यक् प्रक्रिया के उल्लंघन के आधार पर विधान को अविधिमान्य घोषित करने की प्रथा व्यावहारिक दृष्टि से समाप्त सी हो गई है।

जब न्यायालय यह निर्णय देता कि अमुक विधान इस कारण अवैध है कि वह अयुक्तियुक्त निर्बन्धन लगाता है तो यह विभिन्न साधनों से अपने निष्कर्षों के लिए भ्रामक तत्वों की खोज निकालने के समान होगा। वस्तुतः विधि द्वारा लगाए गए निर्बन्धन की युक्तियुक्तता की परख 'विशिष्ट विधान' (स्पेशल लेजिसलेशन) (1) के प्राधिकृत नियन्त्रण में छानबीन करके ही की जाती है। 'युक्ति' (रीज़न) और 'युक्तियुक्त' शब्द कॉमन लॉ के विधिव्यवसायी के समक्ष वह विचार प्रस्तुत करता है जिसे 'सिविलियन' और 'धर्मशास्त्री' 'नैसर्गिक विधि' मानते हैं। इस प्रकार नैसर्गिक विधि सैद्धान्तिक रूप में (अपने नाम के आधार पर नहीं) अंग्रेजी और अमरीकी विधि के युक्तियुक्त व्यक्ति और उसकी सभी कृतियों का, जो अनेक हैं, अन्तिम रूप में दावा कर सकती है (2)। डाक्टर बोनहम वाले मामले (3) में लार्ड कोक ने कहा है कि कामन लॉ सामान्य अधिकारों और तर्क के विरुद्ध संसद् के अधिनियम को शून्य अधिनिर्णीत करेगा और सारभूत 'सम्यक् प्रक्रिया' की अन्तर्वस्तु से अभिप्रेत है किसी अधिनियम या विधान की तर्क के आधार पर परख। 'सम्यक् प्रक्रिया' कभी भी परिभाषित नहीं की गई है इसका कारण यह है कि उससे निष्पक्षता आशयित है जिसकी बाबत विनिश्चय सम्बन्धित मामले के तथ्यों और परिस्थितियों तथा जिस समाज को उक्त सिद्धान्त लागू किया जाता है उसमें तत्समय प्रवृत्त रीतियों के आधार पर किया जाता है। न्यायाधिपति फ्रैंकफर्ट ने कहा है—"सम्यक् प्रक्रिया" कोई ऐसा तकनीकी विचार नहीं है जो अपरिवर्तनीय या समय, स्थान और परिस्थितियों से असम्बद्ध हो (4)। संविधान के अनुच्छेद 19 में विहित परिसीमाएं भारतीय विधान के न्यायिक पुनर्विलोकन का मार्ग लगभग उसी प्रकार खोल देता है जिस प्रकार कि पुलिस-शक्ति (पुलिस पॉवर) का सिद्धान्त और उससे सम्बद्ध 'सम्यक् प्रक्रिया' खण्ड संयुक्त राज्य अमरीका में खोल देता है। लोक हित सुनिश्चित करने के लिए विधानमण्डल पर लगाए गए निर्बन्धनों का युक्तियुक्त होना अनिवार्य है और इस कारण न्यायालय को विधान की युक्तियुक्तता निर्धारित करने के लिए उसकी परख 'युक्ति' की कसौटी पर करनी होगी। यदि आप विधि द्वारा लगाए गए निर्बन्धनों से सम्बन्धित मामलों में उनकी युक्तियुक्तता की परीक्षा करें तो आप यह पाएंगे कि उन सभी मामलों में उन्हीं मानकों को अंगीकार किया गया है जिन्हें कि संयुक्त राज्य अमरीका के सुप्रीम कोर्ट ने सम्यक् प्रक्रिया खण्ड के अधीन विधान की युक्तियुक्तता तय करने में अंगीकार किया है। नगरपालिका समिति बनाम पंजाब राज्य(5) में इस न्यायालय ने कहा है कि

---

(1) लर्नेड हैण्ड कृत 'बिल ऑफ राइट्स' पृष्ठ 26.

(2) पोलाक कृत 'हिस्ट्री ऑफ दि लॉ ऑफ नेचर', पृष्ठ 57-59.

(3) 8 रिपब्लिकन, 107,118 (ए)

(4) ज्वायण्ट एण्टी-फासिस्ट रेफ्यूजी कमेटी बनाम मैक्ग्राथ, (1950)341 यू० एस० 123.

(5) (1969) 3 एस० सी० आर० 447, 453=[1970]1 उम० नि० प० 49.

सम्यक् प्रक्रिया खण्ड भारत में लागू नहीं होता है और यह कि किसी भी विधि को अवैध घोषित केवल इस आधार पर नहीं किया जा सकता है कि उसकी शर्तें अस्पष्ट हैं और मूल अधिकारों पर अयुक्तियुक्त निर्बन्धन लगाती हैं। न्यायालय ने कहा कि अमरीका में ऐसी विधि को, जो सम्यक् प्रक्रिया का उल्लंघन करती है, अवैध घोषित कर दिया जाता है, किन्तु फिर भी यह सिद्धान्त यहाँ लागू नहीं होता है क्योंकि हमारे संविधान में कोई भी 'सम्यक् प्रक्रिया खण्ड' नहीं है। सादर मेरा यह निवेदन है कि उक्त विचार ठीक नहीं है क्योंकि सम्यक् प्रक्रिया का विचार अनुच्छेद 19 के खण्ड (2) से (6) के निर्बन्धनों की युक्तियुक्तता के अर्थों में समाविष्ट है। सीमाशुल्क कलक्टर बनाम सम्पथु ([1]) में न्यायाधिपति राजगोपाल आय्यंगर ने कहा था कि यद्यपि अनुच्छेद 19 के खण्ड (2) से (5) में अधिकथित 'युक्तियुक्तता' की कसौटी विस्तृत सीमा तक सम्यक् प्रक्रिया की कसौटी के अनुरूप ही है तथापि उपधारणा यह नहीं की जा सकती है कि वे एकरूप हैं क्योंकि संविधान निर्माताओं ने 'सम्यक् प्रक्रिया' पद का, जो अति व्यापक, नमनीय और संदिग्ध पद है, जानबूझ कर बहिष्कार किया है और उसके स्थान पर अधिक निश्चित शब्द युक्तियुक्त' का प्रयोग किया है। किन्तु मैंने जो कुछ ऊपर कहा है उसके अनुसार मैं यह समझ नहीं पा रहा हूं कि किस प्रकार 'युक्तियुक्त' शब्द 'सम्यक् प्रक्रिया' से अधिक स्पष्ट एवं सुनिश्चित है। जिस प्रकार कि 'सम्यक् प्रक्रिया' के विचार का पोषण नैसर्गिक या उच्चतर विधि से होता है उसी प्रकार 'युक्ति' और 'युक्तियुक्तता' का पोषण तर्क से, जिसे कॉमन लॉ का विधिव्यवसायी 'नैसर्गिक विधि' मानता है, होता है ([2])। अब्बास बनाम भारत संघ ([3]) में मुख्य न्यायाधिपति हिदायतुल्लाह ने न्यायालय का निर्णय सुनाते हुए कहा : "......आत्यन्तिक सिद्धान्त के रूप में यह नहीं कहा जा सकता है कि कोई भी विधि केवल अस्पष्ट होने के कारण अवैध नहीं हो जाती है। इस मत के लिए पर्याप्त आधार मौजूद हैं कि मूल अधिकारों को प्रभावित करने वाली विधि को ऐसी विधि माना जा सकता है।" जब किसी विधि द्वारा मूल अधिकारों पर लगाया गया निर्बन्धन अस्पष्ट है तो उसे अनुच्छेद 19 के खण्ड (2) से (6) के अधीन अयुक्तियुक्त मान कर उसी प्रकार अवैध घोषित कर दिया जाएगा जिस प्रकार कि अमरीकी न्यायालय किसी विधि को सम्यक् प्रक्रिया के उल्लंघन के आधार पर अवैध घोषित कर देता है। उदाहरणार्थ किसी व्यक्ति को उसके मूल अधिकार से ऐसी विधि द्वारा वंचित नहीं किया जा सकता है जिसके निदेश अनिश्चित हैं और जो प्रभावित व्यक्ति को यह सुस्पष्ट नहीं करती है कि किस प्रकार वह ऐसी विधि के लागू होने से बच सकता है। मूल अधिकारों पर किसी विधि द्वारा लगाए गए निर्बन्धनों की युक्तियुक्तता परखने के बहाने हमारे संविधान निर्माताओं ने अप्रत्यक्ष रूप में उसी सिद्धान्त को अपना लिया है जिसे प्रत्यक्षतः अस्वीकार कर लिया गया था।

मैं इस सुझाव से निराश नहीं हूं कि अधिकार के मर्म या सार या संविधान के सारभूत तत्वों का पता लगाने के लिए प्रशिक्षित न्यायिक अनुभूति के अलावा न्यायालय के समक्ष कोई अन्य कसौटी पेश नहीं की गई है। उदाहरण के तौर पर संयुक्त राज्य अमरीका

([1]) (1962) 3 एस० सी० आर० 786, 816.

([2]) पोल्लाक कृत 'दि एक्सपेन्शन ऑफ कामन लॉ', पृष्ठ 108-109.

([3]) (1971) 2 एस० सी० आर० 446, 470.

में नागरिकता निश्चित करने के लिए यह कसौटी है कि विदेशी के लिए 'अच्छे नैतिक शील' का होना आवश्यक है, 'नैतिक अधमता' वाले अपराधों के लिए कसौटी, 'संविदा का मर्म' के सुविदित विचार के अवधारण की कसौटी, विधान के सिद्धान्त में विधान के, 'तत्त्व एवं सार या आवश्यक विधायी कृत्य' है। कुछ सांविधानिक प्रश्नों को लिखित रूप में पेश किया जा सकता है। संविधान के सारभूत और गौण तत्त्व क्या हैं ? अधिकार का मर्म कहां समाप्त होता है और कहां से शुरू होता है ? ये विषय प्रकाट्य रूप से निश्चित नहीं हैं, किन्तु इस कारण मैं यह अभिनिर्धारित करना उचित नहीं समझता कि विद्यमान नहीं हैं या वे न्यायिक जांच के लिए अति व्यापक हैं। जीवन की अधिकतर चर्चित विषय मात्रा (डिग्री) के विषय हैं और न्यायाधीश वे ही महान् हैं जो यह परख सकें कि सम्बन्धित विषय किस श्रेणी में आता है और उनका पारस्परिक अन्तर क्या है।

मेरे विचार से संविधान के सभी उपबन्ध समान रूप से आवश्यक हैं। ग्लैडस्टन ने कहा है कि मनुष्य के मस्तिष्क और प्रयोजन से अवेध घोषित की गई कृतियों में सब से महत्वपूर्ण कृति है संयुक्त राज्य अमरीका का संविधान। लार्ड ब्राइस का भी यही आशय था जब उन्होंने कहा था कि व्यवहारिक दावपेच के रूप में राजनीति में सर्वोत्तम योगदान यही है। फिर भी इसमें, संशोधनों सहित सात अनुच्छेद ही हैं। संविधान के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह संहिता की तरह से विस्तृत हो। हमारे संविधान में से बहुत से उपबन्ध आसानी से हटाए जा सकते थे। चूंकि संविधान के सभी उपबन्ध एक दृष्टि से, अर्थात् वे सब एक ही दस्तावेज में समाविष्ट हैं और उन्हें अनुच्छेद 368 में विहित प्रक्रिया द्वारा ही संशोधित किया जा सकता है, समान महत्व के हैं, अतः इसका यह मतलब नहीं है कि वे अन्य सभी दृष्टियों से उस दस्तावेज के सारभूत तत्त्व हैं।

मूल अधिकारों के मर्म या सार के पता लग जाने पर भी प्रश्न यही विचारणीय रह जाता है कि क्या संशोधन-निकाय (अमेण्डिंग बाडी) उसे इस प्रकार संशोधित कर सकता है कि उससे उक्त मर्म क्षतिग्रस्त या नष्ट हो जाए। मैं पहले ही कह चुका हूं कि न्याय की दृष्टि से अथवा सामान्य हित या 'प्रजातन्त्रीय समाज के सामान्य कल्याण' की दृष्टि से मूल अधिकारों को न्यून करने या छीन लेने की अपेक्षा की जा सकती है।

मैंने संशोधन-शक्ति पर विवक्षित परिसीमा के सिद्धान्त की जांच ठीक उसी प्रकार की है जिस प्रकार कि ओल्ड टेस्टामेण्ट में जेकब ने एन्जेल से सारी रात संघर्ष किया है। मैं अभी तक नहीं समझ सका हूं कि इस परिसीमा का स्रोत क्या है। क्या इसका कारण यह है कि संविधान निर्माताओं का ऐसा आशय था और उन्होंने इसे (आशय) अपरिवर्तनीय रूपरेखा में उसे समाविष्ट कर दिया है। यदि ऐसा है तो इससे एक आधारिक प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि क्या ऐसा आशय माने वाली पीढ़ियों को हमेशा ही शासित करता रहेगा। यदि आप जेफर्सन के सिद्धान्त से सहमत हैं, जिसका उल्लेख मैं ऊपर कर चुका हूं और जिसे डा० अम्बेडकर ने, जो हमारे संविधान के प्रधान निर्माता हैं, पूर्णतः स्वीकार किया है, और जो मेरे विचार से एकमात्र बुद्धिमत्तापूर्ण सिद्धान्त है, तो विवक्षित परिसीमाओं का सिद्धान्त निराधार है। यदि ऐसा न होता तो वास्तविकता इस प्रकार होती—कुछ व्यक्तियों के प्रतिनिधि – हमारे संविधान निर्माता - सम्पूर्ण जनता को सदैव

के लिए आबद्ध कर देते और उन्हें अपने प्रतिनिधियों के माध्यम से संविधान के ढांचे में परिवर्तन करने से रोक देते। साथ ही संविधान के बुनियादी ढांचे की पवित्रता क्या है? गणतन्त्रीय सरकार का, जिसे सम्पूर्ण ढांचे का अपरिहार्य आधार माना जाता है, उदाहरण दिया जा सकता है। क्या इतिहास के पृष्ठों में भटकने के पश्चात् मानवजाति का अन्तिम और अपरिवर्तनीय अभिमत यही है कि वही (गणतन्त्रीय) सर्वोत्तम सरकार है? क्या इतिहास से यह दर्शित नहीं होता है कि मानवजाति की धारणा सरकार की किस्म के बारे में पीढ़ी-दर-पीढ़ी बदलती जा रही है? क्या महान दार्शनिकों एवं विचारकों ने इस विषय पर सदैव ही भिन्न मत व्यक्त नहीं किए हैं? क्या प्लेटो ने संरक्षकों (गार्जियन) के शासन को अधिमान नहीं दिया है? क्या विद्वान् अरस्तु को उस समय भय हो गया था जब कि उन्होंने मिश्रित सरकार को अधिक अच्छा बताया है? जब पहले कभी एकमत नहीं था तो भविष्य में ऐसे एकमत की आशा कैसे की जा सकती है।]

संविधान लागू करने का उद्देश्य सामाजिक और आर्थिक न्याय, स्वाधीनता और समानता बढ़ाना था। इन उद्देश्यों की प्राप्ति का मार्ग संविधान के भाग 3 और 4 में उल्लिखित है। उक्त दोनों ही भागों में कतिपय नैतिक अधिकारों का उल्लेख है। इन भागों में से प्रत्येक में मुख्यतः कतिपय ऐसी आकांक्षाओं के एक पक्ष का प्रतिनिधित्व हुआ है जिसकी पूर्ति के लिए ऐसी समाज, जिसे संविधान निर्माता बनाना चाहते थे, अत्यावश्यक माना गया है। भाग 3 या भाग 4 में के बहुत से अनुच्छेदों में उन नैतिक अधिकारों का उल्लेख है जिनके बारे में उन्होंने यह माना है कि वे इस देश के प्रत्येक मानव में अन्तर्निहित हैं। इन अधिकारों के संरक्षण और निष्पत्ति का दायित्व राज्य के सभी अंगों अर्थात् विधानमण्डल, कार्यपालिका और न्यायपालिका पर डाला गया है। अतः इस तथ्य का क्या महत्व है कि भाग 3 के उपबन्ध न्यायालय में प्रवर्तनीय हैं और भाग 4 के नहीं? तो क्या इसका मतलब यह है कि भाग 3 के उपबन्धों में समाविष्ट अधिकार, भाग 4 के उपबन्धों में दर्शित नैतिक दावों और आकांक्षाओं से कुछ उच्चतर हैं। अनुच्छेद 45 के अधीन निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा निश्चय ही उसी प्रकार महत्वपूर्ण है जिस प्रकार कि अनुच्छेद 25 के अधीन धार्मिक-स्वातन्त्र्य है। भुखमरी से मुक्ति उसी प्रकार महत्वपूर्ण है जिस प्रकार जीवन का अधिकार है। साथ ही भाग 3 के उपबन्ध इस दृष्टि से आत्यन्तिक नहीं हैं कि उक्त उपबन्धों में विहित अधिकारों का सदैव ही और सभी परिस्थितियों में पूर्ण कार्यान्वयन किया जाएगा, क्योंकि व्यावहारिक आवश्यकताओं के कारण कभी-कभी भाग 4 में विनिर्दिष्ट नैतिक दावों के कार्यान्वयन के लिए उन्हें (मूल अधिकारों को) प्रतिबन्धित करना पड़ सकता है। जब आप इन अधिकारों को सामाजिक-राजनैतिक वास्तविकताओं में बदलेंगे तो निश्चय ही किसी सीमा तक उन पर प्रतिबन्ध लगाना होगा। संविधान के भाग 4 द्वारा नैतिक दावों को सरकारी कर्तव्यों में बदल दिया गया है किन्तु यह उपबन्धित कर दिया गया है कि इन कर्तव्यों को न्यायालय के माध्यम से प्रवृत्त नहीं कराया जा सकता है (1)। विचारणीय प्रश्न यह उत्पन्न हुआ है कि उस दशा में क्या होगा जब कि भाग 4 में विहित दावों और भाग 3 में विहित मूल अधिकारों के बीच विरोध उत्पन्न हो जाता

(1) ए० आर० ब्लैकशील्ड, "फण्डामेंटल राइट्स एण्ड एकोनोमिक वायाबिलिटि ऑफ दि इण्डियन नेशन" जरनल ऑफ इण्डियन लॉ इंस्टिट्यूट, खण्ड 10 (1968), पृष्ठ 26-28.

है और यह कि क्या राज्य जन-जीवन के लक्ष्य की प्राप्ति के लिए किसी भी सम्बन्धित समय दोनों के बीच सामंजस्य या एक की तुलना में दूसरे को अधिमान दे सकता है और क्या ऐसा करना उसके लिए न्यायोचित होगा। भाग 3 में गारण्टी किए गए अधिकारों और भाग 4 में विहित नैतिक अधिकारों के बीच क्या सम्बन्ध है? मद्रास राज्य बनाम चम्पाकम दोरायराजन ([1])में इस न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया है कि चूंकि मूल अधिकार पवित्र अधिकार हैं, अतः राज्य की नीति के निदेशक तत्व उनसे ऊपर नहीं माने जा सकते। वे तो उनके अनुपूरक ही माने जा सकते हैं। इस मत की पुष्टि इस न्यायालय ने कुरेशी बनाम बिहार राज्य ([2]) में की है। मुख्य न्यायाधिपति एस० आर० दास ने न्यायालय का निर्णय सुनाते हुए कहा कि यह तर्क कि चूंकि विधियां निदेशक तत्वों द्वारा राज्य पर लगाई गई मूल बाध्यता के निर्वहन में बनाई जाती हैं, अतः वे राज्य की विधायी शक्ति पर अनुच्छेद 13 (2) द्वारा लगाए गए निर्बन्धनों से ऊपर मानी जा सकती हैं या अधिनियम के उपबन्धों का सामंजस्यपूर्ण निर्वचन किया जाना चाहिए, स्वीकार नहीं किया जा सकता है। अभिनिर्धारित यह किया गया था कि राज्य को निदेशक तत्व लागू करने चाहिएं किन्तु उसे यह कार्य इस प्रकार करना चाहिए कि उसकी विधियां मूल अधिकारों को न्यून न कर दें या छीन न लें। अन्यथा भाग 3 के संरक्षक उपबन्ध बालू के ढेर मात्र बन जाएंगे। गोलक नाथ वाले मामले ([3]) में मुख्य न्यायाधिपति सुब्बा राव ने कहा था कि मूल अधिकार और निदेशक तत्व एक ही रचना के अंगरूप हैं और वे समाज की परिवर्तनशील आवश्यकताओं के अनुसार पूर्णतः परिवर्तनीय हैं। उक्त मामले में यह मत व्यक्त किया गया है कि भाग 3 और 4 के बीच सामंजस्य स्थापित करना सम्भव है। भाग 4 के बारे में महत्वपूर्ण बात यह है कि यद्यपि उसके उपबन्धों को अभिव्यक्त रूप से अप्रवर्तनीय बना दिया गया है तथापि उसके मूल स्वरूप पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। यह कहना न्यायिक दृष्टि से सुसंगत है कि निदेशक तत्व भारत की सांविधानिक विधि के भाग रूप हैं और वे किसी भी प्रकार मूल अधिकारों के अधीनस्थ नहीं हैं। प्रोफेसर एस० एल० गुडहार्ट ने कहा है—

> "...यदि किसी सिद्धान्त को विधानमण्डल पर आबद्धकर मान लिया गया है तो उसे विधिक नियम कहना उचित है भले ही कोई भी न्यायालय उसे प्रवृत्त न करा सके। इस प्रकार ब्रिटिश संविधान के बारे में डायसी की कृति का अधिकतर भाग कुछ ऐसे सामान्य सिद्धान्तों से सम्बन्धित है जिन्हें पार्लियामेण्ट स्वयं पर आबद्धकर मानती है।([4])

([1]) (1951) एस० सी० आर० 525.

([2]) (1959) एस० सी० आर० 629.

([3]) (1967)2 एस० सी० आर० 762.

([4]) जगत नारायण कृत 'ईक्विल प्रोटेक्शन गारन्टी एण्ड दि राइट टू प्रापर्टी अण्डर दि इण्डियन कांस्टिट्यूशन' उद्धृत पैरा, इण्टरनेशनल एण्ड कम्पेरेटिव लॉ क्वार्टरली, जिल्द 15, (1966) पृष्ठ 106-7.

न्यायालय द्वारा प्रवर्तनीयता विधि की वास्तविकता कसौटी नहीं है (1)। अंग्रेजी संविधान के कन्वेन्शन न्यायालयों द्वारा प्रवर्तनीय नहीं हैं किन्तु फिर भी वे आबद्धकर हैं और ब्रिटेन की सांविधानिक विधि के अंग हैं। इंग्लैण्ड में सांविधानिक कन्वेन्शनों और भारत में राज्य के निदेशक तत्वों के बीच समता है—इस बाबत कोई विवाद नहीं हो सकता है।

अनुच्छेद 37 का एकमात्र उद्देश्य यही है कि कोई भी नागरिक निदेशक तत्वों द्वारा राज्य पर अधिरोपित कर्तव्यों के विनिर्दिष्ट पालन के लिए उसे बाध्य नहीं कर सकता है। किन्तु यदि राज्य निदेशक तत्वों को स्वेच्छा से लागू करना चाहता है तो यदि न्यायालय ऐसे विधान के अधीन अधिकार प्राप्त व्यक्ति के कहने पर ऐसे विधिक उपबन्धों को प्रभावी नहीं बनाता है तो वह अपने कर्तव्य से च्युत माना जाएगा। चूंकि निदेशक तत्वों के कार्यान्वयन से सरकार के वित्तीय वायदे सम्बद्ध हैं और वे राज्य के वित्तीय साधनों पर आधारित हैं, अतः यह सोचा गया था कि किसी भी नागरिक को यह मौका न दिया जाए कि वह उनके कार्यान्वयन के लिए राज्य को बाध्य कर सके। किन्तु फिर भी यदि राज्य अपनी मूल बाध्यताओं के पालन में विधि द्वारा उन्हें कार्यान्वित करता है तो वह विधि देश की विधि हो जाती है और न्यायपालिका ऐसी विधि को प्रवृत्त करने के लिए बाध्य होगी। यदि राज्य निदेशक तत्वों के प्रतिकूल कोई विधि नहीं बनाता है तो उस दशा में क्या होगा? क्या न्यायालय द्वारा ऐसी विधि को इस आधार पर अवैध घोषित कर देना न्यायोचित होगा कि वह संविधान के उपबन्धों के प्रतिकूल है या किस आधार पर भाग 3 और भाग 4 के बीच विरोध दूर किया जाएगा? इस प्रश्न पर गम्भीरतापूर्वक विचार किया जाना चाहिए।

'राज्य शब्द की परिभाषा भाग 3 और भाग 4 दोनों के ही प्रयोजनों के लिए समान है। आयरलैण्ड के संविधान का अनुच्छेद 45 निदेशनों को केवल 'एजाक्तोस' अर्थात् विधानमण्डल के मार्गदर्शन के लिए प्रस्तुत करता है, किन्तु हमारे संविधान के सभी निदेशक तत्व (अनुच्छेद 38 से 51 तक) अनुच्छेद 12 में यथा परिभाषित 'राज्य' को सम्बोधित किए गए हैं। इससे यह स्पष्ट है कि न्यायिक प्रक्रिया भी 'राज्य की कार्यवाही' ही है। न्यायपालिका अनुच्छेद 20(2) का, जिसमें यह उपबन्धित है कि कोई व्यक्ति एक ही अपराध के लिए एक बार से अधिक अभियोजित और दण्डित न किया जाएगा, आमतौर से अतिक्रमण करती है और ऐसे आदेश को अभिखण्डित कराने के लिए अनुच्छेद 32 के अधीन रिट किया जा सकता है। नरेश बनाम महाराष्ट्र राज्य (2) में न्यायमूर्ति हिदायतुल्लाह ने विसम्मत निर्णय देते हुए यह मत—मेरे विचार से ठीक है—व्यक्त किया है कि संविधान के अनुच्छेद 12 में 'राज्य' शब्द की परिभाषा के अन्तर्गत न्यायपालिका भी

(1) आइवर जेनिंग्स कृत 'ए नोट ऑन दी थीयरि ऑफ 'लॉ' लॉ एण्ड दि कांस्टिट्यूशन' पांचवां संस्करण, पृष्ठ 330.

(2) (1966) 3 एस० सी० आर० 744.

आती है (1) न्यायाधिपति फ्रैंकफर्ट ने यह प्रश्न किया था कि यदि किसी राज्य का सर्वोच्च न्यायालय निष्पक्ष भाव से किसी पक्षकार को विधि-शासन का लाभ नहीं देता है और वैसी स्थिति में अन्य सभी पक्षकारों को वह ऐसा लाभ उपलब्ध करता है तो क्या उस पर इस आधार पर आपत्ति नहीं की जा सकती है कि उसने अन्यायोचित विभेद किया है और परिणामस्वरूप उसने 'विधियों के समान संरक्षण' के सिद्धान्त का उल्लंघन किया है (2)। कार्टर बनाम टेक्सास (3) में न्यायालय ने यह मत व्यक्त किया है कि जब कभी राज्य की कार्यवाही द्वारा, चाहे वह कार्यवाही विधानमण्डल के माध्यम से की गई हो चाहे राज्य के न्यायालयों या कार्यपालक या प्रशासनिक अधिकारियों के माध्यम से की गई हो, मूलवंश या एकमात्र रंग के आधार पर अफ्रीकी मूलवंश के सभी व्यक्तियों को किसी अफ्रीकी मूलवंशीय व्यक्ति के दाण्डिक अभियोजन में जुरर के रूप में कार्य करने से अपवर्जित कर दिया जाता है तो इससे विधि के समान संरक्षण के सिद्धान्त का उल्लंघन होता है। यदि निर्णय अभिखण्डित कराने के लिए अनुच्छेद 32 के अधीन पिटीशन फाइल करने के लिए किसी व्यक्ति को समर्थ बनाने की दृष्टि से किसी व्यक्ति को किसी अपराध के लिए निर्णय द्वारा दो बार सिद्धदोष ठहराना और दण्डित करना 'राज्य द्वारा भाग 3 द्वारा प्रदत्त अधिकारों के उल्लंघन में विधि पारित करने' के बराबर है, तो मेरे विचार से—जबकि अनुच्छेद 37 के पश्चात्वर्ती भाग में यह कहा गया है कि 'विधि बनाने में इन तत्वों का प्रयोग करना राज्य का कर्तव्य होगा'—यह अभिनिर्धारित करना असंगत न होगा कि न्यायिक प्रक्रिया 'राज्य-कार्यवाही' ही है और यह कि न्यायपालिका अपना निर्णय देने में निदेशक तत्वों को लागू करने के लिए बाध्य है।

विधान के अनुरूप न्यायपालिक कृत्यों से भी विधि का सृजन और उसे लागू करना, दोनों ही कार्य होते हैं। न्यायिक कृत्यों का अवधारण साधारणतः कुछ सामान्य नियमों द्वारा जो प्रक्रिया और सर्जित नियमों की अन्तर्वस्तु—दोनों ही के बारे में होते हैं—होता है, किन्तु विधान का अवधारण आमतौर से संविधान के आधार पर होता है और वह भी विधान की अन्तर्वस्तु के बारे में ही। किन्तु यह अन्तर मात्रा का है। गतिशीलता की दृष्टि से न्यायिक निर्णय द्वारा सृष्ट एकाकी नियम उस प्रक्रिया का एक क्रम है जो प्रथम संविधान की स्थापना से प्रारम्भ होकर, विधान एवं प्रथाओं द्वारा विद्यमान रह कर न्यायिक विनिश्चयों तक पहुंचती है। न्यायालय केवल पहले से ही विद्यमान विधि को सूत्रबद्ध नहीं करता है यद्यपि आमतौर पर ऐसा कहा जाता है। वह अपने विनिश्चय से पूर्व विद्यमान विधि की खोज या उसका पता मात्र ही नहीं करता है। वह अपने निर्णय से पूर्व सक्रिय रूप से विद्यमान एवं उपलब्ध विधि की घोषणा मात्र नहीं करता है। परिस्थितियों की

(1) शैले बनाम क्रेमर, 334 यू० एस० 1; बुढन बनाम महाराष्ट्र राज्य : (1955) 1 एस० सी० आर० 1045.

(2) बेकस बनाम फोर्ट स्ट्रीट यूनियन डिपो कम्पनी, 169 यू० एस० 557, 571 और स्नोडन बनाम ह्यूस, 321 यू० एस० 1.

(3) 177 यू० एस० 442, 447.

विद्यमानता स्थापित करने और उसकी मंजूरी का पता लगाने की दृष्टि से न्यायिक विनिश्चय की गठनात्मक प्रकृति होती है । न्यायालयों का विधि-सर्जन कृत्य विशिष्टत: उस समय दर्शित होता है जब कि न्यायिक विनिश्चय की प्रकृति पूर्वनिर्णय (प्रेसिडेण्ट) की होती है, अर्थात् जब कि न्यायिक विनिश्चय कोई सामान्य नियम प्रतिपादित करता है। जहां कि न्यायालय न केवल अपने विनिश्चयों में उससे पूर्व विद्यमान मूल विधि लागू करने के ही हकदार होते हैं, वरन् विशिष्ट मामलों के लिए नई विधि बनाने के भी हकदार होते हैं, वहां बोधगम्य आशय इन न्यायिक विनिश्चयों की प्रकृति पूर्व-निर्णय जैसी बनाने की होती है । ऐसी विधि प्रणाली में न्यायालय ठीक उसी प्रकार के विधायी अंग होते हैं जिस प्रकार का कि वह अंग होता है जिसे,सीमित और साधारण अर्थों में, विधानमण्डल कहा जाता है। न्यायालय सामान्य विधिक नियमों के सृष्टा हैं (1) । लार्ड रीड ने कहा है (2) ।

> "एक समय था जब कि यह कहना अशिष्टतापूर्ण ही समझा जाता था कि न्यायाधीश विधि बनाते हैं व्यवस्थित नहीं करते हैं । कल्पना में विश्वास करने वाले यह सोचा करते थे किसी अल्लादीन की घाटी में दीप्तमान सामान्य (कॉमन) विधि छिपी हुई है और न्यायाधीश की नियुक्ति होने पर 'ओपन सीसम' नामक जादुई पद का ज्ञान उसे प्राप्त हो जाता है.......किन्तु अब हम कल्पनाओं में विश्वास नहीं करते हैं ।"

मैं नहीं समझता हूं कि वास्तविकता में तनिक भी विश्वास करने वाला व्यक्ति ब्लैकस्टन की भांति इस बात में विश्वास करता होगा कि न्यायालय द्वारा प्रतिपादित विधि का अफलातूनी आदर्श अस्तित्व है और वह उक्त प्रतिपादन से पूर्व विद्यमान थी । जान चिपमन ग्रे ने कहा है कि यह तो कहा ही जा सकता है कि न्यायालय भी हमारी कानूनी विधि निर्मित करते हैं और उन्होंने बिशप होडिले के प्रसिद्ध उपदेशों में से एक पैरा उद्धृत करते हुए कहा कि जिसे विधि के निर्वचन की आत्यन्तिक शक्ति प्राप्त है वही विधि सर्जित करता है । विधि का मूल लेखक उसे सृष्ट नहीं करता है (3) ।

यह बड़ी विचित्र सी बात है कि विधि-निर्माण से सम्बन्धित न्यायिक प्रक्रिया को 'विधि का पता लगाने' (फाइन्डिंग दि लॉ) वाला कहा जाए । कुछ सरल-हृदय व्यक्ति इस बात में विश्वास करते हैं कि अमुक वस्तु का क्या नाम है किन्तु यह महत्वपूर्ण नहीं है । यद्यपि गुलाब को कोई अन्य नाम दे देने से उसकी सुवास में कोई अन्तर नहीं पड़ता है, तथापि सभ्यता के इतिहास से यह प्रकट होता है कि नामों का अति महत्वपूर्ण प्रभाव होता है । चाहे जो भी हो, न्यायिक विधान की प्रक्रिया को विधि का पता लगाने या उसका सर्जन

---

(1) केलसेन 'जनरल थीयरि ऑफ लॉ एण्ड स्टेट' पृष्ठ 134-135 और 149-150.

(2) लार्ड रीड का तत्कालिक भाषण 'दि जजेज ऐज लॉ मेकर' (1972) 12 जे० एस० पी० टी० एल० (एन० एस०) 22, 29.

(3) 'नेचर एण्ड सोर्सेज ऑफ दि लॉ' पृष्ठ 102, 125, 172.

करने वाली प्रक्रिया ही क्यों न कहा जाए, वह व्यवहारिक दृष्टि से अति महत्वपूर्ण है (¹)। अब किसी को भी इस बात में सन्देह नहीं है कि स्वविवेक के विस्तृत दायरे में न्यायाधीश को पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त है और इसी कारण उसकी कार्यवाही से सर्जन होता है। विधि, जो पारिणामिक उत्पाद है, मिलती नहीं है निर्मित की जाती है। "यह प्रक्रिया विधायी प्रक्रिया है अतः इसके लिए विधायक की बुद्धिमत्ता अपेक्षित होती है (²)।"

इस संदर्भ में यह बात याद रखना सुसंगत है कि न्यायसंगत सामाजिक व्यवस्था स्थापित करने के लिए यह लगभग अनिवार्य ही है कि मूल अधिकारों को निदेशक तत्वों के अधीन कर दिया जाए। संविधान निर्माताओं की दृष्टि उस भविष्य पर टिकी थी जब कि हर एक नागरिक के लिए स्वाधीनता, समानता और न्याय सार्थक आदर्श हो। यह धारणा बनाना कुछ अवास्तविक सा है कि मूल अधिकारों का अस्तित्व भूखी जनता के लिए सार्थक है। यदि समाज जनता को सम्पत्ति अर्जित करने, धारण करने और व्ययनित करने सहित अन्य मूल अधिकारों के निकट आने का अवसर प्रदान नहीं करता है तो ऐसी जनता को यह सुन कर कैसा लगेगा कि उसे उक्त अधिकार उपलब्ध होने का गौरव प्राप्त है अथवा यदि किसी भिखारी से यह कहा जाए कि संविधान द्वारा ऐसी गरिमामयी समानता सृष्टि की गई है जो उसकी वनजाति और धनिक वर्ग, दोनों को ही, भीख मांगने, रोटी चुराने या पुल के नीचे सोने से प्रतिषिद्ध करती है, तो उसे कैसा लगेगा ? इसका यह मतलब नहीं है कि न्यायोचित आर्थिक व्यवस्था स्थापित करने के आन्दोलन को व्यक्ति की स्वार्थपरता की अधिक अमूर्त आकांक्षाओं के आन्दोलन पर पूर्विकता दी जाए। किन्तु किन्हीं विशिष्ट संदर्भों में, मूल अधिकारों और स्वतन्त्रताओं को भौतिक और व्यवहारिक आवश्यकताओं के सामने झुकना ही पड़ता है। आर्थिक लक्ष्यों का पारलौकिक लक्ष्यों पर पूर्विकता का दावा इस आधार पर अविवादित है कि अस्तित्व में आ जाने के पश्चात् ही किसी वस्तु में उत्कर्ष होता है (³)। व्यक्ति के अस्तित्व में आ जाने के बाद ही मूल अधिकारों का जन्म होता है। मरुस्थल में खोए हुए किसी अभागे से कहो कि वह खाने, पीने, नहाने और पढ़ने के लिए स्वतन्त्र है......उसे ऐसा करने से कोई भी रोकेगा नहीं......। उक्त बातों की पूर्ति के लिए उसका कारागार में होना अधिक लाभप्रद होता। सज्जा रहित स्वच्छन्दता ऐसे किसी भी लक्ष्य के लिए, जिसके लिए सज्जा आवश्यक है, स्वाधीनता नहीं है।......बेरोजगारी शाब्दिक अर्थों में स्वतन्त्रता है और वह दैनिक श्रम के दबाव से स्पष्ट स्वतन्त्रता है किन्तु चूंकि ऐसी स्थिति में साधनों का अभाव होता है अतः यह स्वतन्त्रता का प्रतिकूल रूप है......तात्कालिक जागृति के लिए यह एक स्थिर सिद्धान्त हो गया था कि साधनों के अभाव में स्वतन्त्रता का कोई अर्थ नहीं है (⁴)।"

बीसवीं शताब्दी की न्यायशास्त्रीय विचारधारा ने दो न्यायशास्त्रीय सिद्धान्त सूचित किए हैं। ये सिद्धान्त हैं—(1) हर व्यक्ति यह उपधारणा कर सकता है कि सामाजिक जीवन

(¹) एम० आर० कोहन कृत 'लॉ एण्ड दि सोशल आर्डर' (1933), पृष्ठ 121-124.

(²) बेनजामिन एन० कारडोजो कृत 'दि नेचर ऑफ दि जुडीशियल प्रोसेस' पृष्ठ 115.

(³) ए० आर० ब्लैकशील्ड कृत 'फण्डामेण्टल राइट्स एण्ड इकनामिक वायबिलिटी ऑफ दि इण्डियन नेशन'।

(⁴) हॉकिंग, फ्रीडम ऑफ दि प्रेस' पृष्ठ 55-56.

के ग्रानुषंगिक दायित्वों का भार समाज वहन करे; (2) हर व्यक्ति यह उपधारणा कर सकता है कि उसे कम से कम मानक मानवीय-जीवन सुनिश्चित होना चाहिए; भौतिक सन्तोष उपलब्ध करने या प्राप्त करने के लिए अवसर की समानता ही नहीं वरन् उसकी अव्यवहित उपलब्धि होनी चाहिए ([1]) ।

स्वतन्त्रता और समानता का विचार अर्थपूर्ण तभी हो सकता है जब कि मानव-जीवन वर्तमान में विद्यमान हो और भविष्य में उसके बने रहने की आशा हो । उदाहरणार्थ ध्यान देने योग्य तो बात यह है कि कितने से भारतीयों को यह जानकारी है कि उनके संविधान में बुनियादी अधिकारों की व्यवस्था है कि ये अधिकार क्या हैं और सरकार द्वारा अतिक्रमण किए जाने पर इनकी रक्षा कैसे की जा सकती है ([2]) ? इसलिए भारत में जनता के लिए स्वतन्त्रता की समस्या आर्थिक-स्तर पर है ।

रॉसको पाउण्ड, जिसने न्याय की कसौटी के रूप में अपना हित सिद्धान्त प्रतिपादित किया है, अशर्त रूप में इस पक्ष पर जोर दिया है कि जिन 'हितों' या 'मांगों' या 'दावों' से उसका सम्बन्ध है वे तथ्य विषयक मनोवैज्ञानिक वाते हैं जो पहले से ही विद्यमान हैं और जो विधिक व्यवस्था द्वारा सृष्ट हुई हैं ।

अन्तिम विश्लेषण करने पर पाउण्ड की प्रस्थापना उस सुविज्ञ विचारधारा को कार्यान्वित करने वाली लगती है कि सम्बन्धित समय में सम्बन्धित समाज के व्यक्ति द्वारा की गई मांगों और उस समाज की तात्कालिक विधि के बीच सामंजस्य स्थापित किया जाना चाहिए ।

हितों की स्कीम में वस्तुत: किए गए सभी तथ्य विषयक दावों को सम्मिलित किया जाना चाहिए । किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि हर एक तथ्य सम्बन्धी दावे या हित को, जिसका हितों की स्कीम में कोई स्थान है, सभी परिस्थितियों में प्रभावी बनाया जाएगा । विधिक व्यवस्था के अन्दर दावे, जो अनिवार्यत: परस्पर विरोधी नहीं हैं, किन्हीं विशिष्ट परिस्थितियों में परस्पर विरोधी साबित हो सकते हैं । वस्तुत: ऐसे बहुत से विवाद, जिनमें न्याय किए जाने की मांग की जाती है, ऐसे ही तथ्य सम्बन्धी दो या अधिक दावों में टकराव से उत्पन्न होते हैं । इनमें से किसी को भी, दूसरे को प्रतिकूलत: प्रभावित किए बिना, प्रभावी नहीं बनाया जा सकता है । हितों की स्कीम, जो न्यायशास्त्रीय विषयों के साधन ही है, विधायक के मस्तिष्क में किसी सामयिक समाज के व्यक्ति के वास्तविक दावे की धूमिल तस्वीर प्रस्तुत करने की एक युक्ति है । न्याय इन दावों को यथा सम्भव रूप में प्रभावी बनाने की कोशिश करता है ([3]) । इस देश की असंख्य जनता हित तथ्य विषयक किन दावों को हितों के रूप में मान्य किए जाने की मांग चिल्ला-चिल्ला कर कर रही है ? इसका कदाचित एक ही उत्तर हो सकता है और वह उत्तर वही व्यक्ति दे सकता है जो देख सकता है और सुन सकता है । इस देश की असंख्य जनता के वास्तविक दावों की धूमिल तस्वीर को और विधि द्वारा संरक्षित हितों के रूप में मान्यता दी जाने की बाबत उसके दावे को संविधान के भाग 4 में मूर्तमान किया गया है । न्याय-निर्णयन की आवश्यकता तभी होती है जब कि

([1]) रॉसको पाउण्ड "जूरिसप्रूडेन्स" जिल्द 1, भाग 46 (बीसवीं सदी) ।

([2]) कार्ल जे० फिडरिक, 'मैन एण्ड हिज गवर्नमेण्ट', पृष्ठ 272.

([3]) जूलियस स्टोन कृत ह्यूमन लॉ एण्ड ह्यूमन जस्टिस' पृष्ठ 269-270.

उक्त दावे, जिनकी बाबत हितों के रूप में विधिक-मान्यता की मांग की जाती है, अन्य अधिकारों और हितों से टकराते हैं। ऐसा निर्णय देश में व्याप्त मत के अनुसार जैसा कि लर्नेड हैण्ड ने कहा है न्यायाधीश के लिए ही किया जाना चाहिए। जनता के अनुभवी सलाहकार के रूप में सेवा करना उसके कर्तव्यों में बड़ी संशयात्मक वृद्धि है और इससे उनके समुचित पालन में हस्तक्षेप हो सकता है। न्यायालय से यह आशयित या अपेक्षित नहीं है कि वह निरापद विश्व के मार्ग को प्रशस्त करे क्योंकि प्रजातन्त्र में यह कार्य राजनैतिक शाखा का, अर्थात्, जन-प्रतिनिधियों का, होता है चाहे वे सुखमय जीवन की अपनी विचारधारा का अनुसरण आंख बन्द करके या अस्पष्ट रूप में क्यों न करें।

जब समाज परिवर्तन चाहता है और पुरानी हस्तक्षेप न करने की नीति की जो गरीब और अमीर दोनों के लिए ही एक ऐसा स्वर्णिम पारितोषिक रहा है जिसके लिए दोनों ही प्रयत्नशील हो सकते हैं, किन्तु जिसे सभी व्यक्ति प्राप्त नहीं कर सकते हैं और जो विशिष्टतः अमीरों को असीम विस्तार की मनमोहक कल्पना प्रदान करता है, पुरानी परम्परा को तोड़ डालना चाहता है और यह ऐसी नई सामाजिक व्यवस्था स्थापित करना चाहता है जिसमें वैयक्तिक कामनाओं की तुष्टि एवं विस्तार के दावे को सामान्य हित के अधीन कर दिया गया हो तो निश्चय ही उसमें वैमनस्य पैदा होता है।

यदि चर्चा के इस पक्ष को संक्षेप में तैयार किया जाए तो मैं समझता हूं कि यह स्पष्ट है कि कुछ ऐसे अधिकार हैं जो मानव में मानव होने के नाते अन्तर्निहित हैं। यह महत्वपूर्ण नहीं है कि इन अधिकारों को आप नैसर्गिक अधिकार कहें या उन्हें कोई अन्य नाम दें। प्रस्तावना से यह वर्णित होता है कि बुनियादी स्वतन्त्रता और समानता जैसे मानवीय अधिकारों को सुनिश्चित करने के लिए ही जनता ने स्वयं को संविधान अर्पित किया है और ये बुनियादी अधिकार संविधान के सारभूत तत्व हैं। जनता ने राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक न्याय सुनिश्चित करने के उद्देश्य से ही संविधान अधिनियमित किया है। अतः संविधान के भाग 4 में समाविष्ट नैतिक अधिकार भी संविधान के सारभूत तत्व हैं। अन्तर केवल यह है कि भाग 4 में समाविष्ट नैतिक अधिकारों को न्यायालय की सहायता से नागरिक राज्य के विरुद्ध प्रवृत्त नहीं करा सकता है, भले ही राज्य अपने कर्तव्यों से विमुख क्यों न हो जाए, किन्तु फिर भी वे देश के शासन के लिए अति आवश्यक हैं और राज्य के सभी अंग, जिनमें न्यायपालिका भी सम्मिलित है, उन निदेशक तत्वों को प्रवृत्त करने के लिए बाध्य है। स्वयं मूल अधिकारों की कोई अन्तर्वस्तु नहीं है; उनमें से अधिकतर ऐसे खाली बरतनों के समान हैं जिनमें प्रत्येक पीढ़ी अपने अनुभवों के अनुसार अन्तर्वस्तु भरती जाती है। संविधान निर्माताओं की दृष्टिगोचरता से परे वाली परिस्थितियों में इन अधिकारों का निर्बन्धन, न्यूनीकरण, उनमें कटौती (यहां तक कि) उनका निराकरण आवश्यक हो सकता है। भाग 4 में समाविष्ट नैतिक दावों से राष्ट्र के इतिहास के किसी विशिष्ट प्रक्रम में सर्वोपरिता या पूर्विकता की बाबत उनका दावा अस्वीकार किया जा सकता है। राष्ट्र के इतिहास में किसी विशिष्ट प्रक्रम पर भाग 4 में समाविष्ट नैतिक दावों पर किसी विशिष्ट मूल अधिकार को पूर्विकता मिलनी चाहिए या नहीं अथवा उनके समक्ष उन्हें (मूल अधिकारों को) झुकना चाहिए या नहीं यह एक ऐसा विषय है जिस पर विनिश्चय सम्बन्धित पीढ़ी पर छोड़ दिया जाना चाहिए। वही पीढ़ी ऐसा विनिश्चय

अपने अनुभव और अपनी मान्यताओं के आधार पर करेगी । यदि संशोधन-निकाय के रूप में संसद् संविधान को इस प्रकार संशोधित करने का विनिश्चय करती है कि जिससे मूल अधिकार छिन जाए या न्यून हो जाए और संविधान के भाग 4 में विहित नैतिक दावों को पूर्विकता मिल जाए तो न्यायालय ऐसे संशोधन को इस आधार पर अवैध निर्णीत नहीं कर सकता है कि संविधान निर्माताओं ने जिस पक्ष को गौण स्थान दिया जाता था उसे संशोधन द्वारा प्रमुख स्थान दे दिया गया है । सांविधानिक संशोधन का इस आधार पर न्यायिक पुनर्विलोकन, कि वह भाग 4 में विहित नैतिक दावों को मूल अधिकारों पर पूर्विकता देता है, अनुज्ञेय नहीं है । यह मान कर चलने का, कि मूल अधिकार इस निर्णय में स्पष्ट किए गए रूप में नैसर्गिक अधिकारों का विस्तारित क्रम परिवर्तन एवं संयोजित रूप ही हैं, यह अर्थ नहीं है कि उनके प्रारम्भ और प्रकृति के कारण सामान्य हित के लिए उनके छीने जाने या न्यून कर दिए जाने पर कोई अन्तर्निहित निर्बन्धन हैं । नैसर्गिक विधि, जो उक्त अधिकारों के नैतिक बल और सर्वोच्चता का साधन है, स्वयं यह मानती है कि नैसर्गिक अधिकार केवल प्रकट अधिकार हैं जो उच्चतर सामाजिक मान्यताओं या सामान्यहित सुनिश्चित करने के लिए विशिष्ट परिस्थितियों में छीने भी जा सकते हैं। किन्तु मूल अधिकार छीनने या न्यून करने में संसद् का दायित्व एक कठिन दायित्व है और जब कभी सांविधानिक संशोधन का, जिसका ऊपर उल्लिखित प्रभाव होता हो, प्रश्न विचारार्थ उत्पन्न होता है तो संसद् को यह पता होना चाहिए कि वह जनता के अधिकारों और दायित्वों के लिए न्यायालय की तुलना में उच्चतर संरक्षक है क्योंकि न्यायालय किसी भी संशोधन की विधिमान्यता की जांच किसी भी मूल आधार पर नहीं कर सकते हैं।

मैंने ऊपर जो कुछ भी कहा है उसके प्रकाश में मेरा यह मत है कि मूल अधिकारों को इस प्रकार संशोधित करने की, जिससे कि अधिकारों का मर्म या सार नष्ट या क्षतिग्रस्त हो जाए, संसद् की शक्ति पर कोई भी अभिव्यक्त या विवक्षित निर्बन्धन नहीं है और चौबीसवें संशोधन की भाषा से यह बात पूर्णतः स्पष्ट हो जाती है कि संविधान के किसी भी अन्य उपबन्ध में ऐसा कोई अदृश्य विवरण नहीं खोजा जा सकता है जो संशोधन-शक्ति पर विवक्षित निर्बन्धन का कार्य करता हो । साथ ही संशोधित अनुच्छेद 368 से यह पूर्णतः स्पष्ट है कि संविधान के उपबन्ध संशोधित करने की शक्ति स्वयं अनुच्छेद में विद्यमान है, अर्थात् यह कि इस शक्ति में इस संविधान के किसी उपबन्ध का परिवर्धन परिवर्तन अथवा निरसन सम्मिलित है; यह कि यह शक्ति संविधायी शक्ति है; यह कि संशोधन विधेयक पर राष्ट्रपति अपनी अनुमति देने के लिए बाध्य हैं और यह कि अनुच्छेद 13(2) की कोई भी बात इस अनुच्छेद के अधीन किए गए संशोधन को लागू न होगी ।

असंशोधित अनुच्छेद 368 संविधान के सभी उपबन्धों को संशोधित करने की बाबत सर्वांगीण शक्ति प्रदान करता है और चौबीसवें संशोधन की (केवल एक विषय की बाबत छोड़ कर, अर्थात् संशोधन-विधेयक पर राष्ट्रपति की अनुमति का अनिवार्य होना) प्रकृति घोषणात्मक है । दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि चूंकि गोलक नाथ वाले मामले ([1]) में बहुमत निर्णय से मूल अधिकार इस प्रकार

([1]) (1967) 2 एस० सी० आर० 762.

संशोधित करने की कि वे छिन जाएं या न्यून हो जाएं, संसद् की संविधायी शक्ति को अस्वीकार कर दिया गया है और जिस निर्णय को संशोधन-निकाय (अमेण्डिंग बाडी) ने गलत बताया है; अतः संशोधन-निकाय ने यह स्पष्ट करने के लिए संशोधन पारित कर दिया कि संशोधन-शक्ति स्वयं अनुच्छेद में विहित है, यह कि यह शक्ति संविधायी शक्ति है न कि विधायी शक्ति जैसा कि गोलक नाथ वाले मामले(1)में बहुमत ने निर्णय दिया है; यह कि शक्ति सर्वांगीण है और यह कि अनुच्छेद 13(2) अनुच्छेद 368 के अधीन मूल अधिकारों के इस प्रकार संशोधन पर रोक नहीं लगाता है कि वे छिन जाएं या न्यून हो जाएं; यह कि संशोधन का उद्देश्य घोषणात्मक है। यह बात संशोधन के उद्देश्यों के कथन से स्पष्ट है। उसमें कहा गया है कि संशोधन अभिव्यक्त रूप में यह उपबन्धित करने के लिए किया गया है कि संसद् अपनी संशोधन-शक्ति के प्रयोग में, मूल अधिकारों को छीन लेने या न्यून कर देने के लिए सक्षम है क्योंकि गोलक नाथ वाले मामले(1)में बहुमत से यह तय किया गया है कि संसद् को ऐसी कोई शक्ति प्राप्त नहीं है। जैसा कि मैं पहले ही कह चुका हूं कि संशोधन द्वारा अनुच्छेद की अन्तर्वस्तु में केवल एक बात ही जोड़ी गई है और वह यह है कि संशोधन-विधेयक पर राष्ट्रपति को अपनी अनुमति देनी होगी। यह मेरे विचार से स्पष्ट है कि संशोधन-निकाय, अपनी संशोधन-शक्ति के प्रयोग में (जब कि संशोधन-शक्ति सर्वांगीण है) यह स्पष्ट करने के लिए कि अनुच्छेद का अन्तर्निहित विषय क्या है और अनुच्छेद की बाबत न्यायिक निर्वचन गलत है, संशोधन कर सकती है।

श्री पालखीवाला ने यह दलील दी कि चूंकि चौबीसवें संशोधन से पूर्व विद्यमान अनुच्छेद 368 के अधीन संशोधन-शक्ति सीमित थी, अतः उस संशोधन शक्ति के प्रयोग में संशोधन-शक्ति में वृद्धि नहीं की जा सकती है।

न तो यह कोई अवैध कार्य होगा और न तर्कहीन ही यदि दाता सीमित शक्ति के अनुदान के साथ प्राप्तिकर्ता को अपने विवेकानुसार अपनी सीमित शक्ति में वृद्धि कर लेने की शक्ति भी दे देता है। यह उपधारणा भी गलत है कि असंशोधित अनुच्छेद 368 के अधीन वास्तविक संशोधन-शक्ति सीमित थी। जैसा कि मैंने पहले भी कहा है, यदि यह मान भी लें कि अनुच्छेद के अधीन वास्तविक संशोधन शक्ति सीमित थी, तो भी यह स्पष्ट है कि उस अनुच्छेद के अधीन संशोधन-निकाय को ऐसी प्रभावशाली शक्ति दी गई थी कि वह उसमें वृद्धि या कमी कर सकता था। संशोधन-निकाय जब अपनी संशोधन-शक्ति का प्रयोग करता है तो उसमें उसकी वास्तविक शक्ति में या तो वृद्धि होती है या कमी होती है। अनुच्छेद 368 के परन्तुक की इस शब्दावली से "यदि ऐसा कोई संशोधन...(ङ) इस अनुच्छेद के उपबन्ध में, कोई परिवर्तन करना चाहता है" से यह स्पष्ट हो जाता है कि अनुच्छेद में संशोधन का उद्देश्य अनुच्छेद 368 में परिवर्तन करना है। किस आधार पर यह उपधारणा की जा सकती है कि अनुच्छेद में परिवर्तन करने से शक्ति के क्षेत्र में, यदि वह वस्तुतः सीमित है; वृद्धि नहीं की जा सकती है? मुझे संशोधन-शक्ति में किए जाने वाले परिवर्तनों की प्रकृति की बाबत कोई निर्बन्धन नजर नहीं आता है। गोलक नाथ वाले मामले (1)में न्यायाधिपति हिदायतुल्लाह ने अपने निर्णय में यह विचार व्यक्त किया था कि संविधान इस प्रकार संशोधित किया जा सकता है कि मूल अधिकार संशोधित करने के लिए

(1) (1967) 2 एस० सी० आर० 762.

संविधान-सभा बुलाई जा सके। यदि पिटीशनर का यह तर्क ठीक है कि संशोधन-शक्ति को संशोधित करने की शक्ति का प्रयोग इस प्रकार नहीं किया जा सकता है कि संशोधन-शक्ति का केन्द्र या विस्तार परिवर्तित हो जाए तो क्या उक्त अनुच्छेद में ऐसा संशोधन हो सकता है ? अपेक्षित केवल यही है कि संशोधन-शक्ति में संशोधन स्वयं अनुच्छेद में विहित रीति एवं प्ररूप में ही किया जा सकता है। दलील यह नहीं है कि ऐसा नहीं किया गया है।

काउन्सेल ने यह भी कहा कि संशोधन द्वारा अनुच्छेद 13(2) के प्रवर्तन को समाप्त नहीं किया जा सकता है। उन्होंने कहा कि यद्यपि अनुच्छेद 13(2) या अनुच्छेद 368 में ऐसी कोई बात नहीं है जो अनुच्छेद 13(2) के प्रवर्तन को समाप्त किए जाने को रोकता हो, तथापि उसमें इस दृष्टि से विवक्षित निर्बन्धन अन्तर्निहित है कि यदि अनुच्छेद 13(2) में यह उल्लिखित है कि मूल अधिकारों को इस प्रकार संशोधित नहीं किया जा सकता है कि वे छिन जाएं या न्यून हो जाएं तो इसी अन्तर्निहित निर्बन्धन को अनुच्छेद 368 और अनुच्छेद 13(2) संशोधित करके अप्रत्यक्ष रूप में दूर नहीं किया जा सकता है। दूसरे शब्दों में; तर्क यह था कि चूंकि अनुच्छेद 13(2) में प्रयुक्त 'विधि' शब्द में सांविधानिक-संशोधन भी सम्मिलित है; अतः वह मूल अधिकारों में ऐसे संशोधन को प्रतिषिद्ध करता है जो उन्हें समाप्त कर दे या कम कर दे और इसलिए संशोधन-निकाय जिस कार्य को एक प्रक्रम में करने से प्रतिषिद्ध करता है उसे वह दो प्रक्रमों में भी नहीं कर सकता है। यदि यह मान भी लें कि अनुच्छेद 13(2) में प्रयुक्त 'विधि' शब्द में सांविधानिक-संशोधन भी सम्मिलित है तो भी; मेरे विचार से, उसमें ऐसी कोई बात नहीं है जो संशोधन-निकाय को अनुच्छेद 368 और अनुच्छेद 13(2) को इस प्रकार संशोधित करने से रोकती हो जिससे अनुच्छेद 13(2) का प्रवर्तन समाप्त हो जाए क्योंकि उसमें ऐसा करने पर कोई प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष निर्बन्धन विहित नहीं है।

विचारणीय अगला प्रश्न यह है कि क्या पच्चीसवां संशोधन विधिमान्य है ? उस संशोधन से अनुच्छेद 31(2) संशोधित किया गया है संशोधित अनुच्छेद में यह उल्लिखित है कि "कोई सम्पत्ति, सार्वजनिक प्रयोजन के लिए ही और केवल ऐसी विधि के प्राधिकार से ही अनिवार्यतः अर्जित या अधिगृहीत की जाएगी, जो सम्पत्ति के अर्जन या अधिग्रहण का ऐसी राशि के बदले जो उस विधि द्वारा नियत की जाए या जो ऐसे सिद्धान्तों के अनुसार अवधारित की जाए और ऐसी रीति से दी जाए जो उस विधि द्वारा विनिर्दिष्ट हो; उपबन्ध करती है, और ऐसी किसी भी विधि पर किसी भी न्यायालय में इस आधार पर आपत्ति नहीं की जाएगी कि इस प्रकार नियत या अवधारित राशि पर्याप्त नहीं है अथवा ऐसी पूरी राशि या उसका कोई भाग नगद न दिया जा कर अन्यथा दिया जाना है।" अनुच्छेद 30(1) में निर्दिष्ट अल्पसंख्यक वर्ग द्वारा स्थापित या प्रशासित शिक्षा संस्थाओं की सम्पत्तियों के अर्जन के बारे में यह उपबन्धित करके अपवाद विहित किया गया है कि राज्य यह सुनिश्चित करेगा कि ऐसी सम्पत्ति के अर्जन के लिए ऐसी विधि के अधीन जो राशि नियत या अवधारित की जाए वह ऐसी हो जो उस खण्ड के अधीन प्रत्याभूत अधिकार को निर्बन्धित या निराकृत न करे'। अनुच्छेद 31 का खण्ड 2 (ख) में यह उपबन्ध किया गया है कि अनुच्छेद 31(2) में निर्दिष्ट विधि को अनुच्छेद 19 (1) (च) लागू न

होगा । एक नया अनुच्छेद भी जोड़ा गया है, अर्थात्; अनुच्छेद 13 में अन्तर्विष्ट किसी बात के होते हुए भी, कोई विधि, जो अनुच्छेद 39 के खण्ड (ख) या खण्ड (ग) में उल्लिखित तत्वों को सुनिश्चित करने के लिए राज्य की नीति को प्रभावी करने वाली हो, इस आधार पर शून्य न समझी जाएगी कि वह अनुच्छेद 14, अनुच्छेद 19 या अनुच्छेद 31 द्वारा प्रदत्त अधिकारों में से किसी से असंगत है अथवा उसे छीनती या न्यून करती है, और जिस विधि में यह घोषणा हो कि वह ऐसी नीति को प्रभावी करने के लिए है, उस पर किसी न्यायालय में इस आधार पर आपत्ति नहीं की जाएगी कि वह ऐसी नीति को प्रभावी नहीं करती; परन्तु जहां ऐसी विधि किसी राज्य के विधानमण्डल द्वारा बनाई जाए वहां इस अनुच्छेद के उपबन्ध उस तब तक लागू न होंगे जब तक कि ऐसी विधि को, राष्ट्रपति के विचार के लिए रक्षित किए जाने के पश्चात् उसकी अनुमति न मिल गई हो ।

श्री पालखीवाला ने यह दलील दी कि सम्पत्ति अर्जित, धारण और व्ययनित करने का मूल अधिकार संविधान का सारभूत तत्व है यह कि किसी राज्य में कोई भी व्यक्ति तब तक सम्मानित नागरिक नहीं हो सकता जब तक कि उसे सम्पत्ति अर्जित और धारण करने का अधिकार प्राप्त न हो; यह कि सभी अन्य मूल अधिकारों के उपभोग के लिए यह आवश्यक है कि सम्पत्ति अर्जित और धारण करने का अधिकार प्राप्त हो, क्योंकि यही एक आधार है जिस पर अन्य सभी अधिकार आश्रित हैं; यह कि अल्पसंख्यक वर्ग को प्रत्याभूत मूल अधिकार निष्फल हो जाएंगे यदि सम्पत्ति अर्जित और धारण करने के अधिकार को छीना जा सकता है और चूंकि सम्पत्ति के अपर्याप्त या भ्रामक 'राशि' के बदले में अर्जन की शक्ति संसद् या राज्य विधानमण्डल को दी गई है, अतः उससे सम्पत्ति के मूल अधिकार के सार या तत्व को क्षति पहुंचेगी । काउन्सेल ने कहा कि यदि सम्पत्ति अर्जित और धारण करने के अधिकार के सार या मर्म को विधि द्वारा छीना जा सकता है तो अनुच्छेद 19(1) (क) के अधीन प्रेस की स्वतन्त्रता का अधिकार अर्थहीन हो जाएगा, क्योंकि प्रकाशक को नाममात्र की रकम देकर उसका मुद्रणालय छीना जा सकता है और यह कि कर्मकारों का संगम बनाने का मूल अधिकार और धार्मिक सम्प्रदायों का धार्मिक और खैराती प्रयोजनों के लिए संस्थाएं स्थापित करने और उन्हें कायम रखने का मूल अधिकार निरर्थक हो जाएगा ।

संविधान निर्माता सम्पत्ति अर्जित करने एवं धारण करने के अधिकार मूल अधिकार मानते थे क्योंकि उसके बिना सम्पत्ति मानव-जीवन सम्भव नहीं है । क्या उक्त अधिकार सब से कमजोर मूल अधिकार है—यह प्रश्न मूल अधिकारों के पारस्परिक मूल्यांकन पर आधारित है । अधिमानित स्वतन्त्रताओं के विचार से यह दर्शित होता है कि कुछ न्यायाधीश सम्पत्ति धारण करने के अधिकार को मूल्यांकन की दृष्टि से निम्नतर मानते हैं । नैसर्गिक विधि के अरस्तू, सेण्ट थामस एक्युनास और हाब्स जैसे प्रतिपादक और यहां तक कि व्यवहारवादी भी, इस मत से सहमत हैं कि जीवन एवं सम्पत्ति के अधिकार अच्छी विधिक व्यवस्था की पूर्वपेक्षा हैं । अरस्तू के अनुसार सम्पत्ति सर्वोत्तम एवं उच्चतम जीवन का आधार है । सम्पत्ति स्वतन्त्रता का आवश्यक परिणाम एवं शर्त है । स्वतन्त्रता एवं सम्पत्ति एक दूसरे की मांग एवं समर्थन करते हैं ।

नैसर्गिक अधिकारों के सिद्धान्त ने निजी सम्पत्ति के विचार को व्यापक रूप में प्रभावित किया है। उसकी आधुनिक प्रतिपादना के अनुसार सम्पत्ति मनुष्य के वैयक्तिक विकास और उपलब्धियों के लिए अपरिहार्य है। यदि वस्तुओं पर मनुष्य का अधिकार नहीं है तो वह दास है (1)।

सामाजिक विकास के सभी प्रक्रमों को लागू होने वाले सामान्य सिद्धान्त के रूप में अधिक से अधिक हम यही दावा कर सकते हैं कि कुछ सम्पत्ति के बिना या उसे अर्जित करने की सामर्थ्य के बिना वैयक्तिक स्वतन्त्रता उपलब्ध नहीं हो सकती और यह कि कुछ स्वातन्त्र्य के बिना समुचित चारित्रिक विकास सम्भव नहीं है। (2)

सम्पत्तिहीन व्यक्ति ऐसा बेसहारा व्यक्ति है जिसे सम्मानित वैयक्तिक जीवन प्राप्त नहीं होता है। उनका जीवन जल पर उतरती हुई वस्तु के समान होता है। वे तह तक नहीं पहुंच सकते हैं और उन्हें स्थायित्व की प्राप्ति नहीं हो सकती। (3)

संक्षेप में, सम्पत्ति कोई मनमाना आदर्श नहीं है। वह तो मनुष्य के अपने व्यक्तित्व के विकास की नैसर्गिक भावना का आधार है। यदि मनुष्य को सम्पत्ति अर्जित करके उस पर स्वामित्व का अधिकार नहीं है तो आगे चल कर उसका न तो अस्तित्व रहेगा और न विवाह करने या परिवार बनाने के उसके अधिकार को पूर्णता ही प्राप्त हो सकेगी।

किन्तु सम्पत्ति के बारे में यह कहना एक आम भूल है है कि सम्पत्ति स्वयं में एक संस्था है जिसकी अन्तर्वस्तु सदा एक ही रहती है। वस्तुतः अब सम्पत्ति के भिन्न-भिन्न रूप हो गए हैं और भविष्य में भी उसमें अप्रत्याशित रूपान्तरण होने की सम्भावना है।

समस्या की जड़ यह है कि आमतौर से चर्चाओं में निजी सम्पत्ति के विचार को बहुत अस्पष्ट रूप में प्रस्तुत किया जाता है। निजी सम्पत्ति के कम से कम तीन रूपों के बीच अन्तर समझ लेना आवश्यक है—(1)टिकाऊ एवं गैरटिकाऊ उपभोक्ता सामग्री सम्पत्ति; (2) स्वामियों की उनके उत्पादन साधनों में सम्पत्ति; और (3) उत्पादन के ऐसे साधनों में सम्पत्ति जिनका स्वयं स्वामी न तो कार्यान्वियन करते हैं और न प्रबन्ध ही करते हैं। तृतीय वर्ग में विशिष्टतः वह सम्पत्ति आती है जो सापेक्षतः छोटे से वर्ग के हाथों में बहुत बड़ी मात्रा में जमा हो जाती है। प्रथम दो वर्गों में आने वाली सम्पत्ति स्वतन्त्र एवं सोद्देश्य जीवन की आवश्यकता के रूप में न्यायोचित माना जा सकता है, किन्तु तृतीय वर्ग में आने वाली सम्पत्ति को नहीं। क्योंकि इस प्रकार की सम्पत्ति न केवल वस्तुओं पर ही नियन्त्रण प्रदान करती है वरन् वस्तुओं के माध्यम से व्यक्तियों पर भी नियन्त्रण प्रदान करती है। यह आरोप ठीक ही है कि यदि सम्पत्ति के माध्यम से एक व्यक्ति अन्य व्यक्ति पर शासन करता है तो ऐसी सम्पत्ति स्वतन्त्रता को नहीं दासता को सृष्ट करती है। (4)

---

(1) जॉन मोफ्फत मेकलिन कृत 'ऐन इण्ट्रोडक्शन टू सोशल एथिक्स' पृष्ठ 302-321.

(2) रशडाल कृत प्रापर्टी : इट्स ड्यूटीज एण्ड राइट्स पृष्ठ 52-64.

(3) हालैण्ड, 'प्रापर्टी : इट्स ड्यूटीज एण्ड राइट्स, पृष्ठ 183-192.

(4) प्रोफेसर मोरिस गिन्सबर्ग कृत 'जस्टिस इन सोसाइटी' पृष्ठ 101.

हमारा समाज कृत्यों पर आधृत होकर अधिकारों पर आधृत है; यह कि कृत्यों के सम्पादन से अधिकारों की उत्पत्ति नहीं हुई है। परिणामस्वरूप धन-अर्जन और सम्पत्ति उपभोग सेवा करने पर आश्रित नहीं है और यह कि व्यक्ति संसार में ऐसी सम्पत्ति के स्वतन्त्र व्ययन के तथा अपने आर्थिक हितों को अग्रसर करने के अधिकारों से सज्जित हो कर ही जन्म लेता है और यह कि ये अधिकार उसके द्वारा की जाने वाली सेवा से पूर्व ही विद्यमान तथा उससे स्वतन्त्र होते हैं। दूसरे शब्दों में, 'सम्पत्ति का उपभोग और उद्योगों का निदेशन सामाजिक-न्याय की अपेक्षा नहीं करते हैं (¹)।"

संविधान निर्माताओं ने सम्पत्ति अर्जित, धारण और व्ययनित करने के अधिकार को यह सोच कर मूल अधिकार बना दिया है कि इस देश के प्रत्येक नागरिक को इस अधिकार की उपलब्धि का अवसर मिल सके। अतः जैसा कि विद्वान् महान्यायवादी ने ठीक ही कहा है, सम्पत्ति धारण करने एवं उस पर स्वामित्व के अधिकार का समर्थन सुवितरित सम्पत्ति के आधार पर ही किया जा सकता है। सम्पत्ति का अधिकार कोई भावना का विषय नहीं है, जिसका व्यवहारिक दृष्टि से उपभोग कुछ व्यक्ति ही कर सकें।

अनुच्छेद 39(ख) में उपबन्धित है कि राज्य अपनी नीति का ऐसा संचालन करेगा कि समुदाय की भौतिक सम्पत्ति का स्वामित्व और नियंत्रण इस प्रकार बंटा हो कि जिससे सामूहिक हित का सर्वोत्तम रूप से साधन सुनिश्चित हो। अनुच्छेद 39(ग) में उपबन्धित है कि राज्य अपनी नीति का ऐसा संचालन करेगा कि आर्थिक व्यवस्था इस प्रकार चले कि जिस से धन और उत्पादन-साधनों का सर्वसाधारण के लिए अहितकारी केन्द्रण न हो सके।

सर आइवर जेनिंग्ज़ ने कहा है कि इन उप-अनुच्छेदों में उल्लिखित प्रस्थापनाएं आयरलैंड के संविधान के अनुच्छेद 45 से ली गई हैं जो 'पेपल बुल्स' पर आधारित हैं (²)।

महामहिम पोप पाल VI ने इस विषय से सम्बन्धित अपने पूर्व-परिचालित परिपत्रों का अनुसरण करते हुए कहा (³) है कि—

> "सेण्ट एम्ब्रोस के शब्दों में :......विश्व सभी के लिए है केवल धनिकों के लिए नहीं'। अर्थात्, निजी सम्पत्ति किसी व्यक्ति की आत्यन्तिक और अनिर्बन्धित सम्पत्ति नहीं हो सकती है। किसी व्यक्ति को यह अधिकार नहीं है वह आवश्यकता से अधिक सम्पत्ति अपने कब्जे में रखे और अन्य जरूरतमन्द व्यक्ति उससे वंचित रहें। 'संक्षेप में (गिरजाघर के संस्थापकों और महान् धार्मिकों

(¹) रिचर्ड हेनरी तावनी 'दि एक्विज़िटिव' सोसाइटी अध्याय II और IV

(²) सर आइवर जेनिंग्ज़ कृत 'सम करेक्टरिस्टिक्स ऑफ दि इण्डियन कान्स्टिट्यूशन' पृष्ठ 31-32.

(³) एनसाइक्लिकल लैटर ऑफ पोप पाल VI (1967), 'ऑन दि डेवेलपमेण्ट ऑफ पीपल्स' पृष्ठ 18, 58 और पृष्ठ पाद टिप्पण.

के पारम्परिक सिद्धान्त के अनुसार) सम्पत्ति के अधिकार का प्रयोग सामान्य-हित के प्रतिकूल कभी भी नहीं किया जाना चाहिए।"

"ईश्वर ने पृथ्वी और उसके सभी वस्तुओं को प्रत्येक और सभी व्यक्तियों के उपभोग के लिए बनाया है। अतः न्याय एवं पदार्थ की दृष्टि से उक्त रूप में सृष्ट वस्तुओं का वितरण इस प्रकार से होना चाहिए कि वे सभी व्यक्तियों को यथावश्यक रूप में प्राप्त हो सकें।"

"साथ ही सभी व्यक्तियों को यह अधिकार है कि वे सांसारिक वस्तुएं अपनी और अपने परिवार की आवश्यकताओं के अनुसार प्राप्त कर सकें।"

"अत्यधिक आवश्यकता पड़ने पर समस्त वस्तुएं बांटी भी जा सकती हैं।"

सम्पत्ति का बुनियादी स्वरूप वही नहीं है जो विभिन्न कालों या क्षेत्रों में उसका विशिष्टतः हो जाता है। सम्पत्ति का न्योचित स्वरूप वही है जिससे यह दर्शित हो कि उसका सामान्य उद्देश्य मानवीय जीवन के लिए हितकारी है। सम्पति के नैसर्गिक अधिकार का अतिक्रमण तभी होता है जब कि व्यवहारिक दृष्टि से अधिकतर व्यक्ति, भले ही सैद्धान्तिक दृष्टि से वे स्वतन्त्र हों, सम्पत्ति अर्जित न कर सकते हों (1)।

जब सम्पत्ति का अर्जन अनुच्छेद 39(ख)या39 (ग)के अधीन निदेशक तत्वों के कार्यान्वयन के लिए किया जाता है तो क्या राज्य के लिए ऐसी कोई नैतिक बाध्यता होती है कि वह उसका पूरा बाजार-मूल्य अदा करे। सभी सभ्य विधिक प्रणालियों में सम्पत्ति का न्यायोचित विनियोजन या आहरण कोई प्रत्यक्ष प्रतिकर दिए बिना ही किया जाता है। वस्तुतः किसी में इतना साहस नहीं है कि वह कहे कि राज्य व्यक्ति को उसकी ऐसी सम्पत्ति से वंचित नहीं कर सकता है जिससे कि वह इतना आसक्त है कि वह किसी कीमत पर उसे देने को तैयार नहीं है। अनुच्छेद 31(2क)के अधीन धारणा यह की गई है कि राज्य सम्बन्धित वंचित व्यक्ति को प्रतिकर देने के लिए बाध्य नहीं है। सम्पत्ति से वंचित व्यक्ति के लिए यह निरर्थक विषय है कि वंचन के पश्चात् सम्पत्ति पर हक राज्य को या राज्य के स्वामित्व या नियन्त्रण के अधीन किसी निगम को प्राप्त हुआ है ? राज्य द्वारा हर अर्जन की पूर्वधारणा स्वामी को सम्पत्ति से वंचित करने की होती है। व्यक्ति को उसकी सम्पत्ति से वंचित करते समय यदि राज्य प्रतिकर देने के लिए दायी नहीं है तो यह न्याय का कौन सा सिद्धान्त है जो यह मांग करता है कि केवल इस आधार पर, कि वंचन के पश्चात् सम्पत्ति राज्य या यथापूर्वोक्त निगम को अन्तरित हो जाती है, उसे बाजार मूल्य के अनुसार प्रतिकर दिया जाए। न्याय का कोई भी आत्यन्तिक सिद्धान्त ऐसी अपेक्षा नहीं करता है। राज्य का सम्पूर्ण कारबार करों के रूप में किसी धन व्यक्ति की सम्पत्ति लेने और किसी निर्धन व्यक्ति के पोषण के लिए उसे उपयोग में लाने की उसकी न्यायोचित शक्ति पर आधारित है। जब अमरीका में विधि द्वारा दासता समाप्त की

(1) विलियम जे० मैक्डोनाल्ड कृत 'दि सोशल वेल्यू ऑफ प्रापर्टी एकार्डिंग टू सेण्ट थॉमस एक्वीनास, पृष्ठ 183'

गई थी तो स्वामियों की सम्पत्ति छीन ली गई थी। राज्य ने उन्हें उनके दासों का पूरा बाजार मूल्य देने के लिए स्वयं को नैतिक दृष्टि से आबद्ध नहीं माना था। समाज के लिए यह एक निश्चय ही बहुत बड़ा धक्का था कि बड़ी संख्या में दासों के स्वामियों को, जिनके धन से वह समाज संस्कृति का मार्गदर्शक बना था, उनकी सम्पत्ति से वंचित कर दिया गया। क्या स्वयं दासों के लिए यह हितकर था कि बिना प्रतिकर के उन्हें उनके मालिकों से अचानक अलग करके स्वतन्त्रता रूपी सागर पर बिना लंगर छोड़ दिया गया—यह एक अलग विषय है। "जब अमरीका में मद्य निषेध लागू किया गया था तो वहां लाखों डालरों की सम्पत्ति वस्तुतः जब्त कर ली गई थी। क्या भट्टी के स्वामी आदि अपनी हानियों के लिए प्रतिकर पाने के हकदार थे? धक्का भट्टियों आदि के स्वामियों को अधिक गम्भीर नहीं लगा था। गम्भीर धक्का तो अन्य व्यक्तियों को अर्थात् जैसे सेल्समैन वाले और कर्मचारियों आदि को लगा था। कारण इसका यह था कि यद्यपि उनकी कोई विधिक सम्पत्ति अर्जित नहीं की गई थी तथापि अधिक आयु हो जाने के कारण नई नौकरी पाना उनके लिए कठिन हो गया था। बिना प्रतिकर के न्यायोचित अधिहरण के उक्त और अन्य उदाहरण निजी सम्पत्ति के आत्यंतिक सिद्धान्त के प्रतिकूल हैं [1]।"

सामाजिक-न्याय के पूर्ण सिद्धान्त के आधार पर अधिहरण के न्यायोचित एवं अन्यायोचित मामलों के बीच रेखा खींची जाना आवश्यक है।

चौबीसवें अनुच्छेद [मूल अनुच्छेद 31(2)] के प्रारूपण के समय संविधान-निर्माताओं का आशय पं० जवाहरलाल नेहरू के उस भाषण से स्पष्ट हो जाता है जो उन्होंने संविधान सभा में 10 सितम्बर, 1949 को दिया था [2]—

> "......प्रख्यात विधि व्यवसाइयों ने मुझ से कहा है कि यदि इस खण्ड का उपयुक्त रूप में अर्थान्वयन किया जाए तो उसमें सामान्यतः न्यायपालिका को न तो हस्तक्षेप करना चाहिए और न वह करेगी ही। संसद् या तो स्वयं ही प्रतिकर निश्चित कर देती है या फिर ऐसे प्रतिकर के लिए सिद्धान्त तय कर देती है और उस पर आपत्ति केवल इस आधार पर ही की जा सकती है कि ऐसा करने में विधि का गम्भीर रूप से दुरुपयोग किया गया है या यह कि संविधान के साथ छल किया गया है।"

प्रारूप-अनुच्छेद 24 के विषय में संविधान सभा में 12 सितम्बर 1949 को भाषण देते हुए श्री के० एम० मुन्शी ने कहा था [3] —

> "अंग्रेजी विधान में ऐसे बहुत से अधिनियम हैं, (लैण्ड एक्वीजिशन ऐक्ट, लैण्ड क्लाजेज ऐक्ट, दि हाउसिंग ऐक्ट) जिनमें से सभी में प्रतिकर के लिए ऐसे विभिन्न

---

(1) एम० आर० कोहन कृत 'प्रापर्टी एण्ड सॉवरिनटि', लॉ एण्ड सोशल आर्डर, पृष्ठ 45.

(2) कांस्टिट्यूएण्ट असेम्बली डिबेट्स जिल्द 9, पृष्ठ 1193.

(3) कांस्टिट्यूएण्ट असेम्बली जिल्द 9, पृष्ठ 1299.

आधार विहित किए गए हैं जो न केवल सम्पत्ति की प्रकृति पर ही आधारित हैं वरन् अर्जन के उद्देश्य पर भी आधारित हैं। अतः संसद् ही यह तय कर सकती है या तय करने के लिए सशक्त है कि प्रत्येक मामले में कौन से सिद्धान्त अपनाए जाएं।"

पश्चिमी बंगाल राज्य बनाम श्रीमती बेला बनर्जी (1) में संविधान-सभा की इस आकांक्षा को झुठला दिया गया है कि संसद् द्वारा नियत प्रतिकर में न्यायालय हस्तक्षेप नहीं करेंगे। उस मामले में न्यायालय ने कहा था कि वंचित सम्पत्ति के स्वामी को अर्जित सम्पत्ति न्यायोचित समतुल्य दिया जाना चाहिए और यह चूंकि वंचित स्वामी की पूर्ण क्षतिपूर्ति की इस बुनियादी अपेक्षा की सीमा के अन्दर रहते हुए संविधान में विधायी-निर्णय को इस बाबत पूरी छूट दी गई है कि देय रकम का अवधारण किस सिद्धान्त पर किया जाना चाहिए।

अनुच्छेद 31(2) को संविधान निर्माताओं के स्पष्ट आशय के अनुरूप बनाने के लिए संविधान का चौथा संशोधन पारित किया गया है और वह 27 अप्रैल, 1955 को प्रवृत्त हुआ है। अनुच्छेद 31(2) के अन्त में उक्त संशोधन द्वारा निम्नलिखित शब्दावली जोड़ दी गई है।"... और ऐसी किसी विधि पर किसी न्यायालय में इस आधार पर आपत्ति नहीं की जाएगी कि इस प्रकार नियत या अवधारित राशि पर्याप्त नहीं है।" उक्त संशोधन का क्या प्रभाव पड़ा है इस प्रश्न पर विचार इस न्यायालय ने पी० वजवेलु मुदालियर बनाम विशेष उप कलक्टर, मद्रास(2)में विचार किया है। न्यायाधिपति सुब्बा राव(जैसे कि वे उस समय थे) ने कहा है कि इस तथ्य से कि संसद् ने 'प्रतिकर' और 'सिद्धान्त' जैसी उन अभिव्यक्तियों का ही प्रयोग किया गया है जो अनुच्छेद 31 में संशोधन से पूर्व ही विद्यमान थीं, यह स्पष्टतः दर्शित होता है कि इस न्यायालय ने बेला बनर्जी वाले मामले(1)में उक्त अभिव्यक्तियों का जो अर्थ लगाया है वही संसद् ने स्वीकार कर लिया है और यह कि इसका मतलब यह हुआ कि अर्जन या अधिग्रहण सम्बन्धी विधि विरचित करते समय विधानमण्डल वंचित स्वामी को या तो अर्जित सम्पत्ति का न्यायोचित समतुल्य सुनिश्चित करें या ऐसा समतुल्य सुनिश्चित करने के लिए सिद्धान्त विनिर्दिष्ट करे।

भारत संघ बनाम मेटल कारपोरेशन (3) में यह निर्णय किया गया है कि मशीनरी का घटा कर लिखा गया (रिटिन डाउन) मूल्य (जैसा कि आयकर अधिनियम में समझा जाता है) की बाबत व्यवस्था कर देने से अनुच्छेद 31(2) का पालन नहीं हो जाता है क्योंकि वह मशीनरी का न्यायोचित समतुल्य नहीं होता है, अर्थात् ऐसा मूल्य अर्जन के समय या उसके लगभग मशीनरी की कीमत के बराबर नहीं होता है। न्यायाधिपति सुब्बा राव ने कहा कि विधि के न्यायोचित होने के लिए यह आवश्यक है कि वह अर्जित भूमि के लिए कोई सिद्धान्त नियत करे।

दो वर्ष बाद गुजरात राज्य बनाम शान्तीलाल (4) में इस न्यायालय में मेटल कारपोरेशन वाला निर्णय उलटते हुए न्यायाधिपति शाह ने यह मत व्यक्त किया कि यदि

(1) (1954) एस० सी० आर० 558, 563-4.
(2) (1965) 1 एस० सी० आर०, 614, 626.
(3) (1967) एस० सी० आर० 255.
(4) (1969) 3 एस० सी० आर० 341=[1969]3 उम० नि० प० 753.

विधानमण्डल द्वारा नियत प्रतिकर की मात्रा पर न्यायालय में इस आधार पर आपत्ति नहीं की जा सकती है कि वह न्यायोचित समतुल्य नहीं है तो प्रतिकर अवधारित करने के लिए नियत सिद्धान्तों पर भी इस आधार पर आपत्ति नहीं की जा सकती कि उक्त सिद्धान्तों के आधार पर अवधारित प्रतिकर न्यायोचित समतुल्य नहीं है।

बैंक राष्ट्रीयकरण वाले मामले ([1]) में गुजरात राज्य बनाम शान्तीलाल वाले मामले([2])के निर्णय को बहुमत से उलट दिया गया। बहुमत का दृष्टिकोण यह था कि चतुर्थ संशोधन के पश्चात् भी 'सुसंगत सिद्धान्तों' के अनुसार 'प्रतिकर' का अर्थ "अनिवार्यतः अर्जित सम्पत्ति का नकदी के रूप में समतुल्य" है। इन सिद्धान्तों का अर्जित सम्पत्ति के विशिष्ट वर्ग के लिए प्रतिकर के अवधारण से उपयुक्त सम्बन्ध होना चाहिए।

उक्त परिस्थितियों में पच्चीसवें संशोधन द्वारा उप अनुच्छेद में 'प्रतिकर'के स्थान पर 'राशि' शब्द रखा गया है।

पिटीशनर की ओर से यह कहा गया है 'राशि' शब्द से उसके नियत किए जाने के लिए एक सिद्धान्त आशयित है और जब 'राशि' तय करने के लिए सिद्धान्तों का हवाला दिया जाए तो ऐसे सिद्धान्त की नियत की जाने वाली राशि से सुसंगति होना आवश्यक है।

संशोधन का एकमात्र उद्देश्य यही था कि न्यायालय इस प्रश्न की जांच न कर सके कि विधि द्वारा नियत 'राशि' या उल्लिखित सिद्धान्त क्रमशः पर्याप्त या सुसंगत है या नहीं।

राय साहब राम जवाया कपूर बनाम पंजाब राज्य ([3]) मुख्य न्यायाधिपति मुकर्जी या ने कहा कि मन्त्रिपरिषद्, जिसका विधानमण्डल में बहुमत होता है(और है भी), विधायी एवं कार्यपालक दोनों ही कार्यों पर अपना ही नियन्त्रण रखती है; और चूंकि मन्त्रिपरिषद् के मंत्री आधारिक बातों पर एकमत ही होते है और सामूहिक दायित्व के सिद्धान्त का अनुसरण करते हैं; अतः नीति के अत्यधिक महत्वपूर्ण प्रश्नों पर विनिश्चय वे ही करते हैं।

बहुत कुछ ऐसा ही विचार न्यायाधिपति हेगडे ने व्यक्त किया है ([4])।

> "मंत्रिमण्डलीय सरकार में कार्यपालिका से यह अपेक्षा की जाती है कि वह विधानमण्डल के दृष्टिकोण को ही अपनाए। तथ्यतः वह अधिकतर विषयों में विधानमण्डल का मार्गदर्शन करती है किन्तु कार्यपालिका की 'नई निरंकुशता से जिसे चाहे कितना बुरा भला क्यों न कहा जाए, आधुनिक समाज की पेचीदगियों और अपनी सरकार से उसकी मांगों से ऐसी विचारधारा का जन्म हुआ है जिसके कारण विधानमण्डल के लिए यह अत्यावश्यक हो गया है कि वह कार्यपालिका को दिन पर दिन अधिक शक्तियां सौंपे। पाठ्य पुस्तकों से उन्नीसवीं शताब्दी में जम्मी विचारधारा का अन्त हो गया है।"

([1]) आर० सी० कपूर बनाम भारत संघ, (1970) 3 एस० सी० आर० 530.

([2]) (1969) 3 एस० सी० आर० 341=[1969] 3 उम० नि० प० 753.

([3]) (1955) 2 एस० सी० आर० 225, 237.

([4]) सीता राम बिशम्भर दयाल बनाम उत्तर प्रदेश राज्य (1972) 29 सेल्स टैक्स केसेज, 206.

जब मंत्रिपरिषद् सम्पत्ति अर्जन के लिए कोई प्रस्ताव तैयार करती है तो स्वामी को दी जाने वाली राशि या उसे तय करने के लिए सिद्धान्त निश्चित करने के लिए उसके समक्ष आवश्यक सामग्री मौजूद होती है। राशि निश्चित करने या सिद्धान्त तय करने के लिए विभिन्न आवश्यक बातों को ध्यान में रखना होता है अर्थात्, अर्जन की जाने वाली सम्पत्ति की प्रकृति, अर्जन का उद्देश्य, स्वामी का वास्तविक विनिधान, जिसमें से अनर्जित वृद्धियों जैसी दैनिक परिस्थितियां निकाल दी जाएंगी, और स्वामी को अर्जित सम्पत्ति का सीमान्त तुष्टिगुण (मार्जिनल यूटीलिटी)। सामाजिक न्याय के सिद्धान्त ही राशि तय करने या सिद्धांत अधिकथित करने के लिए उपयुक्त आधार हैं। यदि प्रस्ताव वाले विधेयक को संसद् की सहमति मिल जाती है तो प्रस्ताव विधि का रूप धारण कर लेता है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि राशि नियत करने या नियत करने के लिए कोई सिद्धांत अधिकथित करने की बाबत संसद् या राज्य विधानमण्डलों को आत्यंतिक विवेकाधिकार दिया गया है और वे इस अधिकार का प्रयोग सामाजिक न्याय के आधार पर करेंगे। राशि नियत करने की बाबत संसद् या राज्य विधानमण्डलों का विवेकाधिकार आत्यंतिक है, यह बात इस अधिकथन से और भी स्पष्ट हो जाती है कि "ऐसी किसी विधि पर किसी न्यायालय में इस आधार पर आपत्ति नहीं की जाएगी कि इस प्रकार नियत या अवधारित राशि पर्याप्त नहीं है।" यदि संसद् राज्य विधानमण्डल सामाजिक न्याय के सिद्धांतों के आधार पर कोई राशि नियत कर सकते हैं तो वे उक्त आधार पर ही राशि नियत करने के लिए सिद्धांत सूचित कर सकते हैं, और सामाजिक न्याय का सिद्धांत राशि की पर्याप्तता या सिद्धांत की सुसंगतता की परख के लिए न्यायिक रूप से उपयुक्त मानक प्रस्तुत नहीं कर सकता है।

यथा संशोधित अनुच्छेद राशि की पर्याप्तता या सिद्धांत की सुसंगतता की परख के लिए न्यायालय के समक्ष कोई नियम प्रस्तुत नहीं करता है। चतुर्थ संशोधन के पश्चात् भी 'प्रतिकर' शब्द के बारे में यही सोचा जाता था कि वह कोई नियम प्रतिपादित करता है (अर्थात्, अर्जित सम्पत्ति का नकदी के रूप में न्यायोचित समतुल्य या स्वामी की सम्पूर्ण क्षतिपूर्ति) किन्तु 'राशि' शब्द से ऐसा कोई सिद्धांत या नियम अनुध्यात नहीं है। वह कोई भी मापमान प्रस्तुत नहीं करता है। वह कोई कसौटी विहित नहीं करता है। निरपेक्ष शब्द 'राशि' का प्रयोग सप्रयोजन किया गया है। मेरे विचार से उप अनुच्छेदों में 'प्रतिकर' शब्द के स्थान पर 'राशि' शब्द रखने का एकमात्र उद्देश्य यही है कि विधि द्वारा विहित राशि की पर्याप्तता और सिद्धांतों की सुसंगतता की परख के लिए न्यायालय कोई मापमान या नियम प्रतिपादित करने से वंचित हो जाएं। मेरा विचार तो यह है कि उक्त आशय के अलावा नियत या अवधारित राशि की पर्याप्तता की परख से निस्संदेह यह प्रकट होता है कि राशि का नियतन या ऐसे नियतन के लिए सिद्धांतों का अवधारण संसदीय विषय है और न्यायालय इसमें हस्तक्षेप नहीं कर सकते हैं।

शान्तीलाल वाले मामले ([1])में इस न्यायालय ने कहा है—

"·······किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि विनिर्दिष्ट सिद्धान्तों को लागू करके जो कुछ नियत या अवधारित किया जाए उसकी न्यायालय इस बात के बावजूद भी

([1]) (1969) 3 एस० सी० आर० 341, 366.

पुष्टि कर दे कि वह भ्रामक है या किसी भी दृष्टि से मनमानी करने की खुली छूट मिल जाएगी।"

उक्त मत पच्चीसवें संशोधन से पूर्व अर्थात् 'प्रतिकर' शब्द के स्थान पर 'राशि' शब्द प्रतिस्थापित करने से पूर्व, यथा विद्यमान उप अनुच्छेद के बारे में व्यक्त किया गया था यदि यह मान भी लिया जाए कि शांतीलाल वाले मामले[1]में दिया गया निर्णय ठीक है तो भी वह, मनमानी के आधार पर राशि की पर्याप्तता की परख के बारे में न्यायालय की अधिकारिता की बाबत अनुच्छेद 31(2) में 'राशि' शब्द के प्रतिस्थापन के पश्चात् वह सुसंगत नहीं रह गया है।

न तो मैं यह तय करना आवश्यक समझता हूं और न पच्चीसवें संशोधन की विधिमान्यता के अवधारण के लिए इस बाबत निर्णय आवश्यक ही है कि क्या न्यायालय ऐसी विधि को, जो भ्रामक राशि नियत करती है या जो संविधान के साथ छल है, अवैध घोषित कर सकता है। यह कहा गया है कि जिन दशाओं में न्यायालय प्रतिकर की पर्याप्तता या उसके अवधारण के लिए सिद्धान्तों की सुसंगतता की परख कर सकते हैं वे बैंक राष्ट्रीयकरण वाले मामले [2] में अधिकथित कर दी गई हैं और जब पच्चीसवें संशोधन से उस खण्ड में अर्थात् 'ऐसी किसी भी विधि पर किसी न्यायालय में इस आधार पर आपत्ति नहीं की जाएगी कि इस प्रकार नियत या अवधारित राशि पर्याप्त नहीं है" कोई परिवर्तन नहीं किया गया है और उसे मूल रूप में ही बने रहने दिया गया है तो यही अनुमान लगाया जा सकता है कि संसद् ने इस खण्ड का वही निर्वचन स्वीकार कर लिया है जो इस न्यायालय ने किया है। परिणामस्वरूप, न्यायालय इस प्रश्न की जांच कर सकता है कि विधि द्वारा नियत राशि पर्याप्त है या भ्रामक या यह कि राशि नियत करने के लिए अधिकथित सिद्धान्त उपयुक्त हैं या नहीं। मैं इस बाबत निश्चित नहीं हूं कि उप-अनुच्छेद में से 'प्रतिकर' शब्द निकालने और उसके स्थान पर 'राशि' शब्द रखने का आशय क्या था।

रायल कोर्ट डरबी पोर्सलेन कम्पनी लिमिटेड बनाम रेमॉण्ड रसेल[3] में लार्ड जस्टिस डेनिंग ने कहा है—

> "मुझे इस बात पर विश्वास नहीं होता है कि जब संसद् किसी कानून के किसी उपबन्ध का पुनः अधिनियमन करती है तो वह तद्द्वारा उस उपबंध के प्रत्येक त्रुटिपूर्ण निर्वचन को कानूनी मान्यता दे देती है। सही दृष्टिकोण यह है कि न्यायालय कानून के निर्वचन से सम्बन्धित पूर्वविनिश्चय को, जब कि काफी समय तक उसके अनुसार कार्य किया जाता रहा हो, आमतौर से उलटती नहीं है और ऐसा कार्य वह उस दशा में और भी नहीं करेगा जबकि संसद् ने ऐसे विनिश्चय के पश्चात्, कानून को मूल रूप में ही पुनः अधिनियमित कर दिया हो।"

गैलोवे बनाम गैलोवे[4] में लार्ड क्लिफ का भाषण देखिए। यदि कोई उपधारणा की भी जा सकती है तो वह प्रतिकूल आशय के अधीन भी हो सकती है।

---

(1) (1969) 3 एस० सी० आर० 341, 366.
(2) (1970) 3 एस० सी० आर० 530.
(3) (1949) 2 के० बी० 417 429.
(4) (1956) ए० सी० 299.

पिटीशनर के काउन्सेल ने तर्क दिया कि चूंकि अनुच्छेद 19(1)(च) अब भी विद्यमान रखा गया है, अतः यह विरोधाभासी है कि विधि अपर्याप्त या भ्रामक राशि देकर सम्पत्ति के अर्जन या अधिग्रहण के लिए उपबन्ध करे। उन्होंने कहा कि यदि दी गई राशि अर्जित सम्पत्ति के मूल्य के अनुसार धन के रूप में उसका न्यायोचित समतुल्य नहीं भी है तो भी राशि ऐसी होनी चाहिए जिसका उसके मूल्य से युक्तियुक्त सम्बन्ध हो क्योंकि संविधान द्वारा संसद् का यह आशय नहीं लगाया जा सकता है कि वह ऐसी विधि अधिनियमित करेगी जो अयुक्तयुक्ततः बहुत कम राशि नियत करती हो क्योंकि अनुच्छेद 19 के अधीन सम्पत्ति अर्जित एवं धारण करने का अधिकार अब भी एक मूल अधिकार है। यदि हम 'राशि' में सम्बन्धित सम्पत्ति के बाजार मूल्य के सन्दर्भ में विवक्षित युक्तियुक्तता अन्तर्वलित मान लेंगे तो इससे नियत या अवधारित राशि की पर्याप्तता के प्रश्न के न्यायोचित के लिए मार्ग खुल जाएगा और उप-अनुच्छेद में न्यायालय पर अभिव्यक्त रूप से लगाया गया प्रतिबन्ध निष्फल हो जाएगा।

सम्पत्ति से सम्बन्धित मूल अधिकार किसी सीमा तक कम कर दिया गया है। किन्तु वह पूर्णतः छीना नहीं गया है। यह अधिकार अब भी विद्यमान है कि सम्पत्ति ऐसी विधि के अधीन ही अर्जित की जा सकती है जो कोई राशि नियत करती हो या ऐसे नियतन के लिए कोई सिद्धान्त विहित करती हो और ऐसा अर्जन सार्वजनिक प्रयोजन के लिए ही किया गया हो। यह न्यायालय सांविधानिक संशोधन केवल इस आधार पर ही अवैध घोषित कर सकता है कि संशोधन अनुच्छेद 368 द्वारा अपेक्षित रीति और प्ररूप में नहीं किया गया है या यह कि संशोधन, संशोधन-शक्ति पर अभिव्यक्त या विवक्षित रूप में लगाए गए निर्बन्धनों का उल्लंघन करके किया गया है।

सांविधानिक संशोधन को, जो ऐसी विधि के लिए उपबन्ध करता है जो प्रतिकर या उसके अवधारण के सिद्धान्तों के स्थान पर कोई 'राशि' या 'राशि' तय करने के लिए कोई सिद्धान्त अधिकथित करती हो, और जो न्यायालय को इस प्रश्न के पुनर्विलोकन की शक्ति से वंचित करती हो कि क्या विधि द्वारा नियत 'राशि' या ऐसी राशि तय करने के लिए विहित सिद्धान्त क्रमशः अपर्याप्त या विसंगत है, इस आधार पर अवैध घोषित नहीं किया जा सकता है कि इस सिद्धान्त के, कि सम्पत्ति अर्जित या व्ययनित या धारण करने का अधिकार मूल अधिकार है, किसी अदृश्य आशय के प्रतिकूल है।

यदि पूर्ण प्रतिकर दिया जाता है तो जंगम या स्थावर सम्पत्ति के रूप में धन के केन्द्रण का स्थान नकदी के रूप में धन का केन्द्रण ले लेगा। परिणामस्वरूप अनुच्छेद 39 (ख) और (ग) में विहित उद्देश्य की पूर्ति असम्भव हो जाएगी। साथ ही राज्य के खजाने में भी पूरा प्रतिकर देने के लिए रकम नहीं है।

चूंकि चौबीसवें संशोधन को, जो संसद् को मूल अधिकार छीन लेने या न्यून कर देने के लिए सशक्त करता है, मैंने विधिमान्य निर्णीत कर दिया है, अतः ऐसे कोई बोधगम्य आधार नहीं है जिनके आधार पर मैं अनुच्छेद 31 (2) में किए गए संशोधन को अवैध अभिनिर्धारित कर दूं। मेरे विचार से 'राशि' शब्द से भी यह विवक्षित नहीं है कि वह युक्तियुक्त हो अन्यथा उससे भी एक मानक आशयित हो जाएगा। शब्द 'राशि' की निरपेक्ष

और स्पष्ट प्रकृति को ध्यान में रखते हुए और राशि की पर्याप्तता की बाबत प्रश्न पर न्यायिक पुनर्विलोकन पर रोक लगाने वाले स्पष्ट उपबन्धों के कारण राशि की युक्तियुक्तता या सिद्धान्तों की सुसंगतता का प्रश्न न्यायिक अधिकार-क्षेत्र से पूर्णत: बाहर है।

अब मैं अनुच्छेद 31ग की विधिमान्यता के प्रश्न पर विचार करूंगा।

पिटीशनर के काउन्सेल ने कहा कि मूल अधिकारों को इस प्रकार संशोधित करने, कि वे छिन जाएं या न्यून हो जाएं, और संविधान में ऐसा संशोधन करने के बीच, जो संसद् को (अपनी विधायी हैसियत में) और राज्य विधानमण्डलों को मूल अधिकारों का अतिक्रमण करने वाली विधि पारित करने और उसे विधिमान्य बना देने की शक्ति प्रदान करता हो, मौलिक अन्तर है। काउन्सेल के अनुसार अनुच्छेद 31ग संसद् और राज्य-विधानमण्डलों को संविधान भंग करने वाली विधि बनाने की शक्ति प्रदान करता है और ऐसी विधि पर किसी भी न्यायालय में आपत्ति की जाने को वारित करता है। परिणामस्वरूप ऐसी विधियां, जो इस आधार पर शून्य हैं कि वे मूल अधिकारों के प्रतिकूल हैं, विधिक-कल्पना के आधार पर, शून्य नहीं मानी जाएंगी और यह कि इससे संविधान की सर्वोच्चता, जो उसका सारभूत तत्व है, नष्ट होती है। काउन्सेल ने यह भी कहा कि संविधान निर्माताओं का आशय निदेशक तत्वों को मूल अधिकारों से नीचे रखने का था किन्तु संशोधन द्वारा उन्हें अब मूल अधिकारों के ऊपर रख दिया गया है, और अनुच्छेद 39 (ख) और (ग) में उल्लिखित निदेशक तत्वों को कार्यान्वित करने वाली विधियों को आपत्तियों से संरक्षित कर दिया गया है, भले ही वे अनुच्छेद 14, 19 और 31 के अधीन मूल अधिकारों का अतिक्रमण करती हों। उन्होंने यह भी कहा है कि संसद् या राज्य विधानमण्डल द्वारा इस घोषणा को, कि विधि अनुच्छेद 39 (ख) एवं (ग) में उल्लिखित तत्व सुनिश्चित करने के लिए राज्य की नीति को प्रभावी बनाने वाली है, अन्तिम बना दिया गया है। इसका परिणाम यह हुआ कि संसद् और राज्य विधानमण्डल अपनी विधायी शक्ति के प्रयोग में कोई भी विधि बना सकते हैं, भले ही वह अनुच्छेद 39 (ख) और (ग) में उल्लिखित तत्वों को सुनिश्चित करने के लिए राज्य की नीति को प्रभावी बनाती हो या नहीं और अनुच्छेद 14, 19 और 31 के अधीन उन विधियों को आपत्ति से परे कर दिया गया है।

मेरे विचार से अनुच्छेद 31ग, अनुच्छेद 13(2) का परन्तुक है क्योंकि पूर्वकथित अनुच्छेद संसद या राज्य विधानमण्डल को ऐसी विशिष्ट प्रकार की विधियां बनाने के लिए सशक्त करता है जो अनुच्छेद 14, 19, और 31 के उपबन्धों का अतिक्रमण करने वाली होते हुए भी शून्य नहीं मानी जाएंगी।

निस्सन्देह अनुच्छेद 31ग में प्रयुक्त 'विधि' शब्द से संसद् या राज्य विधानमण्डल द्वारा पारित विधि अभिप्रेत है। शब्द का अर्थ संदर्भानुसार ही लगाया जाना चाहिए।

संविधान निर्माताओं ने अनुच्छेद 13(2) से 'राज्य' को ऐसी विधि बनाने से वारित कर दिया है जो भाग 3 द्वारा प्रदत्त अधिकारों का अतिक्रमण करती हो। यदि चौबीसवां संशोधन, जो संसद् को मूल अधिकार छीन लेने या न्यून कर देने की शक्ति प्रदान करता है, विधिमान्य है तो संसद् को ऐसा सांविधानिक संशोधन करने से रोका नहीं जा सकता है, जो संसद् या राज्य विधानमण्डलों को अनुच्छेद 39(ख) और 39(ग) में

उल्लिखित निदेशक तत्वों के कार्यान्वयन के लिए विधियां बनाने की शक्ति देता हो और जो ऐसी विधि को अनुच्छेद 14, 19 और 31 के अतिक्रमण के आधार पर आपत्ति को वार्जित करता हो। क्या संशोधन-निकाय इस प्रभाव का संशोधन नहीं कर सकता है कि यद्यपि संसद् और राज्य विधानमण्डलों द्वारा पारित सभी विधियां, जो मूल अधिकारों का अतिक्रमण करती हैं, शून्य हैं तथापि अनुच्छेद 39 (ख) और (ग) में उल्लिखित निदेशक तत्व सुनिश्चित करने के लिए राज्य की नीति को प्रभावी करने वाली विधियां शून्य नहीं होंगी, भले ही वे कुछ मूल अधिकारों का अर्थात् अनुच्छेद 14, 19 और 31 के अधीन वाले मूल अधिकार, उल्लंघन करती हों। अनुच्छेद 31ग किसी विशिष्ट प्रकार की विधि की बाबत ही विधायी क्षेत्र सृष्ट करता है और ऐसी विधि को, किसी सीमा तक, अनुच्छेद 13(2) की परिधि से परे रखता है। संसद् और राज्य विधानमण्डल अनुच्छेद 39 (ख) और (ग) में उल्लिखित निदेशक तत्वों को प्रभावी बनाने के लिए विधियां अनुच्छेद 31ग के आधार पर नहीं वरन् उपयुक्त विधायी प्रविष्टियों के अधीन अपनी शक्ति के आधार बनाते हैं। अनुच्छेद 31ग का उद्देश्य तो केवल यही है कि ऐसी विधियों पर अनुच्छेद 14, 19 और 31 के उपबन्धों के अतिक्रमण के आधार पर आपत्ति न की जा सके।

अनुच्छेद 31क का तात्विक अंश अनुच्छेद 31ग के प्रथम भाग के अनुरूप ही है। अनुच्छेद 31क को इस न्यायालय ने शंकरी प्रसाद वाले मामले (1) में विधिमान्य निर्णीत किया है। यह तथ्य कि इस समय दिया गया तर्क काउन्सेल या उस समय विनिश्चय करने वाले विद्वान् न्यायाधिपतियों के मस्तिष्क में नहीं आता था, उसकी विधिमन्यता निर्धारित करने के दृष्टि से महत्वपूर्ण है। मेरे विचार से अनुच्छेद 31क अनुच्छेद 31ग के बीच इस आधार पर अन्तर दर्शित करना कि अनुच्छेद 31क केवल कतिपय उल्लिखित विषयों से सम्बन्धित विधियों के बारे में है और अनुच्छेद 31ग और अनुच्छेद 39(ख) और (ग) में उल्लिखित निदेशक तत्व सुनिश्चित करने की राज्य की निति को प्रभावी बनाने वाली विधियों के अधिनियमन के लिए उपबन्ध करता है नागनाथ और सांपनाथ के बीच अन्तर करने के समान होगा। कोई भी व्यक्ति यह भली प्रकार कह सकता है कि अनुच्छेद 31ग में उल्लिखित विधि की विषयवस्तु वह है जो अनुच्छेद 39(ख) और (ग) में वर्णित है या यह कि अनुच्छेद 31क उसमें उल्लिखित उद्देश्यों को सुनिश्चित करने वाली विधियों को अनुच्छेद 14, 19 और 31 के अतिक्रमण के आधार पर की जाने वाली आपत्तियों से संरक्षण के लिए उपबन्ध करता है। क्या उद्देश्य या विषय के संदर्भ में विधि के कृत्रिम वर्गीकरण से प्रस्तुत संदर्भ में कोई अन्तर पड़ता है। मेरे विचार से नहीं पड़ता है।

यह मान लेना कुछ मुश्किल है कि अनुच्छेद 31ग किस प्रकार संसद् को उसकी विधायी हैसियत में और राज्य विधानमण्डलों को संविधान संशोधित करने की शक्ति निहित (यही कहना अधिक उपयुक्त होगा) या प्रत्यायोजित करता है। केवल इस बात का कि अनुच्छेद 39(ख) और (ग) में उल्लिखित निदेशक तत्व सुनिश्चित करने वाली राज्य की नीति को प्रभावी बनाने के लिए सप्तम अनुसूची की उपयुक्त सूचियों की विधिमान्य विधायी

(1) (1952) एस० सी० आर० 89.

प्रविष्टियों के अनुसरण में उनके द्वारा पारित विधि अनुच्छेद 14, 19 और 31 के अधीन मूल अधिकारों का अतिक्रमण कर सकती है और ऐसी विधि अनुच्छेद 31ग के आधार पर शून्य नहीं मानी जाएगी, परिणाम यह है कि अनुच्छेद 31ग के अधीन संसद् को, उसकी विधायी हैसियत में, और राज्य विधानमण्डलों को संविधान संशोधित करने की शक्ति दे दी गई है। यह तो पच्चीसवें संशोधन के आधार पर हुआ है कि अनुच्छेद 14, 19 और 31 के अधीन मूल अधिकारों का अतिक्रमण करने वाली विधि भी शून्य नहीं मानी जाएगी। जब कभी संसद् या राज्य विधानमण्डल ऐसी कोई विधि पर अनुच्छेद 14, 19 और 31 के अधीन मूल अधिकारों का अतिक्रमण करने के आधार पर आपत्ति नहीं की जा सकती, क्योंकि अनुच्छेद 31ग से अनुच्छेद 13(2) में उस वर्ग की विधियों की बाबत उस सीमा तक परिवर्तन कर दिए गए हैं। यह धारणा गलत है कि जब कभी अपनी विधायी हैसियत में संसद् या राज्य विधानमण्डल ऐसी विधि बनाते हैं और यदि ऐसी विधि अनुच्छेद 14, 19 और 31 के अधीन मूल अधिकारों का अतिक्रमण करती है तो यह वही विधि होती है जो संविधान संशोधित करती है और उसे विधिमान्य बनाती है। संविधान के सुसंगत उपबन्ध, अर्थात् अनुच्छेद 13(2) को पच्चीसवें संशोधन द्वारा संशोधित किया जा चुका है और जैसा कि मैंने कहा है, यह वही संशोधन है जो सम्बन्धित विधि को उक्त अनुच्छेदों के अधीन मूल अधिकारों के अतिक्रमण के आधार पर आपत्तियों से संरक्षण प्रदान करता है।

अपनी विधायी हैसियत में संसद् और राज्य के विधानमण्डल अपने द्वारा पारित विधियों को आपत्तियों से उक्त संरक्षण प्रदान नहीं कर सकते और वे ऐसा करते भी नहीं हैं। वे इस बाबत उपरोक्त प्रयोजन सुनिश्चित करने के लिए राज्य की नीति प्रभावी बनाने वाली विधि के संरक्षण के लिए उक्त पच्चीसवें संशोधन का अवलम्ब लेते हैं। मेरे विचार से अनुच्छेद 13(2) के कारण को बेअसर करने वाले सांविधानिक संशोधन के अनुसरण में बनाई गई विधि और ऐसे संशोधन के, जिसके आधार पर ऐसी विधि उस कारण शून्य नहीं समझी जाएगी कि वह भाग 3 में उल्लिखित अनुच्छेदों द्वारा प्रदत्त अधिकारों के प्रतिकूल है या उन्हें छीनती या न्यून करती है, अनुसरण में पारित विधि के बीच कोई अन्तर नहीं है। यदि कोई अन्तर है तो वह अदृश्य है। उदाहरणार्थ अनुच्छेद 15(4) में कहा गया है—

> "इस अनुच्छेद की या अनुच्छेद 29 के खण्ड (2) की किसी बात से राज्य को सामाजिक और शिक्षात्मक दृष्टि से पिछड़े हुए किन्हीं नागरिक वर्गों की उन्नति के लिए या अनुसूचित जातियों और अनुसूचित आदिमजातियों के लिए कोई विशेष उपबन्ध करने में बाधा न होगी।"

यदि उक्त अनुच्छेद में यह कहा गया होता कि—

> "इस अनुच्छेद या अनुच्छेद 29 के खण्ड(2) में किसी बात के होते हुए भी राज्य सामाजिक और शिक्षात्मक दृष्टि से पिछड़े हुए किन्हीं नागरिक वर्गों की या अनुसूचित जातियों और अनुसूचित आदिमजातियों की उन्नति के लिए विशेष उपबन्ध करने के लिए सक्षम है और ऐसी विधि अनुच्छेद 13(2) के अधीन शून्य न होगी।"

दोनों ही दशाओं में संशोधन का समान प्रभाव हुआ है, अर्थात् अनुच्छेद 15 या अनुच्छेद 29(2) द्वारा प्रदत्त अधिकारों के उल्लंघन के कारण ऐसी विधि शून्य नहीं समझी जाएगी, भले ही

उक्त प्रभाव देने के लिए प्रयुक्त शब्दावली भिन्न-भिन्न है। दोनों ही दशाओं में सांविधानिक संशोधन ही भाग 3 द्वारा प्रदत्त अधिकारों के उल्लंघन के आधार पर आपत्तियों से ऐसी विधि को संरक्षण प्रदान करता है।

यदि अनुच्छेद 31ग के बारे में यह धारणा बना ली जाए कि वह विधायी हैसियत संसद् और राज्य विधानमण्डलों को प्रश्नगत विधि, जो अनुच्छेद 14, 19 और 31 के अधीन मूल अधिकारों को इस प्रकार संशोधित कर दे कि मूल अधिकार छिन जाएं या न्यून हो जाएं, जैसी विधि पारित करने की शक्ति देता है तो क्या ऐसी शक्ति देना विधिमान्य होगा ? उत्तर इसका बहुत सरल है। यदि अनुच्छेद 31ग का प्रभाव यथा पूर्वोक्त होता है तो किसी सीमा तक यह अनुच्छेद 368 का संशोधन होगा। यह आवश्यक नहीं है कि ऐसी स्थिति में अनुच्छेद 31ग का ऐसा आशय होगा (1)। साथ ही यह भी आवश्यक नहीं है कि अनुच्छेद 31ग "अनुच्छेद 368 में किसी बात के होते हुए भी" पद से प्रारम्भ हो। जिस प्रकार अनियन्त्रित संविधान के अधीन डाग ऐक्ट तथाकथित संविधान को, यदि वह अधिनियम के प्रतिकूल है, संशोधित कर देता है, उसी प्रकार नियन्त्रित संविधान के अधीन संविधान का संशोधन, यदि वह संविधान के किसी उपबन्ध के प्रतिकूल है, किसी सीमा तक उसे संशोधित कर देता है। पच्चीसवां संशोधन उसी रीति और प्ररूप में पारित किया गया है जैसा कि अनुच्छेद 368 के अधीन संशोधन के लिए अपेक्षित है। मेरे विचार से संशोधन शक्ति को संशोधित करने की शक्ति पर ऐसा कोई प्रतिबन्ध नहीं है जो अनुच्छेद 368 को इस प्रकार संशोधित करने से रोकता हो कि उसके परिणामस्वरूप संशोधन-शक्ति का एक ऐसा भाग अपनी साधारण विधायी हैसियत में संसद् में या राज्य विधानमण्डल में निहित हो जाए, जिसका प्रयोग वे अनुच्छेद 368 में विहित प्ररूप और रीति से भिन्न प्ररूप और रीति में कर सकें।

अनुच्छेद की बाबत अनुमानित दुराभास के कारण संशोधन की सांविधानिकता निर्णीत करने में हमारे निर्णय में गड़बड़ी नहीं हो सकती है। संविधान के अधीन हमें ऐसी कोई शक्ति प्राप्त नहीं है कि हम किसी सांविधानिक संशोधन को इस आधार पर असांविधानिक घोषित कर दें कि उससे संसद् और राज्य विधानमण्डलों को अनुच्छेद 14, 19 और 31 का अतिक्रमण करने वाली विधियां पारित करने की व्यापक शक्ति मिल जाएगी।

पिटीशनर के काउन्सेल ने यह प्रश्न किया कि क्या अनुच्छेद 31ग द्वारा अनुच्छेद 19(1)(क) के अधीन प्रत्याभूत वाक्-स्वातन्त्र्य का अतिक्रमण करने वाली विधियां पारित करने की शक्ति विधायी हैसियत में संसद् को और राज्य विधानमण्डलों को दी गई है, जब कि यह स्पष्ट है कि अनुच्छेद 39(ख) और (ग) ऐसे विषयों के बारे में है जिनका उक्त स्वातन्त्र्य से कोई वास्ता नहीं है।

बेनेट कोलमेन एण्ड कम्पनी और कुछ अन्य बनाम भारत संघ और कुछ अन्य(2) में मुझे अपने विसम्मत निर्णय में आधुनिक प्रेस के कतिपय पहलुओं पर विचार करने का अवसर

(1) मोहम्मद सम्सुदीन करियाप्पर बनाम एस० एस० विजेसिन्हा (1968) ए० सी० 717, 739-744.

(2) (1972) 2 एस० सी० सी० 788.

मिला था। श्री सीरवाई ने उसकी वाणिज्यिक प्रकृति पर और किस प्रकार उस पहलू पर, यद्यपि यह भाषण स्वातन्त्र्य से सम्बन्धित है, नियन्त्रण अपेक्षित हो सकता है, ठीक ही बल दिया है। यद्यपि प्रेस सचाई का पोषक और जनता का निःस्वार्थ परामर्शी समझा जाता है तथापि वह अब प्रधानतः कारबारी उद्यम है जो अन्य उद्यमों के समान ही लाभ कमाने के लिए चलाया जाता है। उसका मालिक कारबारी व्यक्ति होता है और यद्यपि उसे शक्ति और धन दोनों की ही वांछा होती है तथापि लाभ राजनैतिक मत के कारण ही होता है। लार्ड ब्राइस के अनुसार समाचार पत्र की शक्ति की दो विचित्र विशिष्टताएं हैं। उसमें विवशता या दायित्व का तत्व नहीं होता है। जो कोई उसके प्रभाव में आना चाहता है वह अपनी इच्छा से ऐसा करता है, उसके लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह समाचार पत्र खरीदे, पढ़े या उस पर विश्वास करे। यदि वह अपने मार्गदर्शन के लिए उसे लेता है तो यह उसका ही कार्य है। चूंकि समाचारपत्र का कोई विधिक कर्त्तव्य नहीं है, अतः उसका कोई दायित्व भी नहीं है। उसकी विधिक जिम्मेदारी तो केवल इतनी है कि वह निजी शील पर आक्षेप न करे या अवैध आचरण को उकसावा न दे। आर्थिक हितों के साधन के लिए समाचारपत्र के प्रभाव के उपयोग का आकर्षण, चाहे वह स्वामी को हो चाहे किन्हीं अन्य व्यक्तियों को हो, अब बढ़ गया है। समाचारपत्र अब ऐसा सर्वाधिक उपलब्ध साधन हो गया है जिसके माध्यम से धन की शक्ति का प्रभाव राजनीति पर दर्शित हो सकता है और उसकी शक्ति व्यावहारिक दृष्टि से अनुत्तरदायी है क्योंकि उसे एक मात्र डर अपने विक्रय में कमी का ही होता है और उसके पाठकों में से अधिकतर (बड़ा बहुमत) को, जो कारबार और खेलकूद में रुचि रखते हैं, उसकी राजनैतिक भूलों की कोई जानकारी या चिन्ता नहीं होती है। (1)

समाचारपत्र की समाचार सम्बन्धी सामग्री जनता की विचार-प्रक्रिया में तुरन्त रम जाती है। इस प्रकार समाचार की पूर्णता और अनम्य अखण्डता गम्भीर रूप से सामाजिक विषय हो जाता है। कर्त्तव्य के पालन के लिए आवश्यक शर्त अधिकार है; अतः हम कह सकते हैं कि जनता का यह एक नैतिक अधिकार है कि प्रेस उसकी भली प्रकार सेवा करे। चूंकि नागरिक का राजनैतिक कर्त्तव्य खतरे में है, अतः समाचार की पर्याप्त सेवा प्राप्त करने का अधिकार सार्वजनिक दायित्व भी हो जाता है। परिणामस्वरूप अब प्रेस स्वातन्त्र्य में एक की बजाए दो प्रकार के अधिकार सम्मिलित हैं। सम्पादक और प्रकाशक के अभिव्यक्ति-अधिकार के साथ ही जनता का सार्वजनिक अधिकार यह भी जुड़ा हुआ है कि उसे सार्वजनिक क्रियाकलापों की बाबत अपना निर्णय लेने के लिए तथ्य के सारभूत और निष्पक्ष आधारों की भी जानकारी मिले। इन दो अधिकारों में से आज पश्चात्कथित अधिकार को ही अधिक महत्व दिया जा रहा है। प्रेस-स्वातन्त्र्य का आकर्षण-बिन्दु अब सम्पादक न होकर नागरिक हो गया है। प्रश्न के इस पक्ष पर विचार संयुक्त राज्य के सुप्रीम कोर्ट ने यूनाइटेड स्टेट्स बनाम एसोसिएटेड प्रेस (2) में किया है। बहुमत निर्णय में न्यायाधिपति ब्लैक ने लोक

(1) लार्ड ब्राइस कृत 'माडर्न डिमोक्रसीज' खण्ड 1, अध्याय 'दि प्रेस इन ए डिमोक्रसि' पृष्ठ 104-124.

(2) 326 यू० एस० 20.

कल्याण को अति महत्वपूर्ण विषय माना है। इस आधारिक मान्यता से कि प्रेस के कृत्य अब विधिक एवं सामन्य अनुभव दोनों की ही दृष्टि से सार्वजनिक हित से विभूषित हैं, सरकार पर स्वीकारात्मक बाध्यता दर्शित होती है।

जब खाद्य पदार्थों में मिलावट रोकने के लिए विधि पारित की जाती है तो उस पर कोई आपत्ति नहीं करता है। क्या समाचारों में, जो नागरिक का प्रतिदिन का मानसिक आहार है, मिलावट का गम्भीर विषय है? पर्याप्त एवं विशुद्ध मानसिक आहार पाने की उपभोक्ता की आवश्यकता की पूर्ति आज उसका कर्तव्य हो गया है। इस कर्तव्य के कारण उसके हित अधिकार बन जाते हैं क्योंकि उपभोक्ता अब उपभोग के बिना नहीं रह सकता है और उसको अपेक्षित मात्रा में प्राप्ति वह केवल विद्यमान प्रेसों के माध्यम से ही कर सकता है। समाचार देने वाले व्यक्ति के स्वातन्त्र्य का संरक्षण उपभोक्ता या समाज के स्वतः संरक्षण के लिए अब पर्याप्त नहीं रह गया है। इस बाबत हस्तक्षेप न करने (लेसेज् फेयर) की सामान्य नीति पर पुनः विचार किया जाना चाहिए। प्रेस निजी हाथों में सार्वजनिक उपादेयता की वस्तु है और उसे सभी प्रकार के विनियमन से मुक्त नहीं रखा जा सकता है। उसके विपरीत प्रेस के अधिकार में हस्तक्षेप न करने की नीति और उस पर पूर्णतः सरकारी प्रवर्तन एवं नियन्त्रण रखने की बात समाज के लिए अवास्तविक है। अतः प्रश्न यह उठता है कि क्या प्रेस के क्रियाकलापों में हस्तक्षेप किए बिना राज्य उन परिस्थितियों को जिनमें कि उक्त क्रियाकलाप होते हैं, विनियमित करके लोक हित में अधिक प्रगति कर सकता है। जैसा कि मैंने अपने निर्णय में कहा है, शक्तियों के केन्द्रण से अनेक स्वतन्त्र नियन्त्रक नीतियों का स्थान एक नियन्त्रक नीति ले लेती है, परिणामस्वरूप प्रतियोगिता दूर हो जाती है। राष्ट्रीय प्रेस का महत्वपूर्ण भाग बड़े पैमाने का उद्यम है और जो वित्त और उद्योग की पद्धति से निकटस्थम रूप में सम्बद्ध है। वह उस स्वाभाविक पक्षपात से बच नहीं सकता है जिससे कि वह बना है। फिर भी यदि स्वतंत्रता सुनिश्चित करनी है तो पक्षपात का पता लगाना चाहिए और उसे दूर किया जाना चाहिए। यदि लोकमत को किसी विशिष्ट दुरुपयोग द्वारा दूषित किया जा रहा हो तो राज्य के लिए आवश्यक हो जाता है कि वह वर्तमान विधिक उपचारों के विस्तार में वृद्धि करे। अनुच्छेद 39(ख) और (ग) में उल्लिखित निदेशक तत्व सुनिश्चित करने वाली राज्य की नीति को प्रभावी करने के लिए विधि पारित करते समय प्रेस के वाणिज्यिक पक्ष पर विचार करना आवश्यक हो सकता है और चूंकि वह पक्ष वाक् स्वातंत्र्य से सम्बद्ध है, अतः विधि के लिए उस स्वातन्त्र्य को न्यून करना भी आवश्यक हो सकता है।

अनुच्छेद 31ग के महत्व के बारे में वैयक्तिक दृष्टिकोण चाहे कुछ भी हो, चाहे किसी को आर्थिक उलटफेर द्वारा भले ही कोई इसे यदि अपायकर नहीं तो निरर्थक ही क्यों न समझे, समाज की प्रगति के लिए प्रयासों में कितना ही अविश्वास क्यों न हो, हमारा यह काम नहीं है कि हम समाज के लिए कोई विधि निषेध करें या व्यापक परिसीमाओं के भीतर प्रयोग करने के उसके अधिकार से उसे वंचित करें।

यह कहा गया था कि चूंकि अनुच्छेद 31ग इस प्रश्न की कि विवादग्रस्त विधि राज्य की नीति को प्रभावी बनाती है या नहीं, न्यायिक संवीक्षा वारित करता है, अतः संसद् और

राज्य विधानमण्डल ऐसी भी विधि पारित कर सकते हैं जिसका अनुच्छेद 39(ख) या (ग) से कोई सम्बन्ध ही न हो और तद्द्वारा अनुच्छेद 14, 19 और 31 के अधीन मूल अधिकारों का निःशंक होकर अतिक्रमण कर सकते हैं।

अनुच्छेद 31ग का उद्देश्य अनुच्छेद 39(ख) और (ग) के अधीन निदेशक तत्व सुनिश्चित करने के लिए राज्य की नीति को प्रभावी बनाने वाली विधि को अनुच्छेद 14, 19 और 31 के अतिक्रमण के आधार पर आपत्तियों से बचाना है। इन तत्वों को सुनिश्चित करने वाली राज्य की नीति को प्रभावी न बनाने वाली विधि को, यदि उसका कोई भी उपबन्ध उक्त अनुच्छेदों का अतिक्रमण करता है, कोई संरक्षण प्राप्त न होगा। अनुच्छेद 39(ख) और (ग) में उल्लिखित तत्व सुनिश्चित करने वाली राज्य की नीति को प्रभावी बनाने वाली विधि में ही यह घोषणा हो सकती है कि उसका उद्देश्य ऐसी नीति को प्रभावी बनाना है और ऐसी घोषणा के कारण ही न्यायालय इस प्रश्न की संवीक्षा करने से रोक दिए जाएंगे कि वह विधि उक्त नीति को प्रभावी नहीं करती है। अनुच्छेद 31ग के अन्तिम भाग में प्रयुक्त 'जिस विधि' (नो लॉ) पद का अर्थ 'ऐसी कोई विधि' (नो सच लॉ) ही हो सकता है जिसका जिकर प्रारम्भिक भाग में किया गया है। यदि इसके प्रतिकूल स्थिति हो तो बड़ी विचित्र बात होगी। यदि कोई भी अन्य अर्थ लगाया जाता है तो घोषणा उक्त अनुच्छेदों के अतिक्रमण के आधार पर आपत्तियों से किसी भी विधि को संरक्षित कर सकती है, भले ही उसका कोई भी सम्बन्ध अनुच्छेद 39(ख) या (ग) में उल्लिखित तत्वों से न हो। किसी भी विधि की धूप रूपी आपत्तियों से रक्षा करने के लिए घोषणा रूपी छाता लगाया जा सकता है। अतः जैसा कि मैं कह चुका हूं, अनुच्छेद 39(ख) और (ग) में उल्लिखित तत्व सुनिश्चित करने वाली राज्य की नीति को प्रभावी बनाने वाली विधि में ही ऐसी घोषणा हो सकती है। यदि घोषणा ऐसी किसी विधि में है जो उक्त खण्डों में उल्लिखित निदेशक तत्व सुनिश्चित करने वाली राज्य की नीति को प्रभावी नहीं बनाती है तो न्यायालय इस प्रश्न पर विचार कर सकता है कि प्रश्नगत विधि उक्त नीति को प्रभावी बनाती है या नहीं। जब कभी यह आपत्ति उठाई जाए कि संसद् या राज्य विधानमण्डलों ने अपनी शक्ति का दुरुपयोग किया है और घोषणा ऐसी विधि में कर दी है जो अनुच्छेद 39(ख) या (ग) में उल्लिखित निदेशक तत्व सुनिश्चित करने वाली राज्य की नीति को प्रभावी नहीं बनाती है तो निश्चय ही न्यायालय उस आपत्ति पर विचार कर सकते हैं और विवाद निपटा सकते हैं। दूसरे शब्दों में, यह घोषणा कि विधि राज्य की नीति को प्रभावी बनाने वाली है, जोड़ देने की विधायी अधिकारिता इन परिस्थितियों पर आश्रित है कि वह विधि अनुच्छेद 39(ख) और (ग) में उल्लिखित निदेशक तत्व सुनिश्चित करने वाली राज्य की नीति को प्रभावी बनाने वाली विधि है। यदि ऐसा है तो यह घोषणा, कि प्रश्नगत विधि राज्य की नीति को प्रभावी बनाती है इस प्रश्न पर, कि प्रश्नगत विधि उक्त नीति को प्रभावी बनाती है या नहीं, विचार करने की न्यायालय की अधिकारिता को समाप्त नहीं करती है। घोषणा कभी भी न्यायालय की इस प्रश्न पर विचार करने की अधिकारिता को समाप्त नहीं करती है कि क्या विधि ऐसी किसी नीति को प्रभावी बनाती है, क्योंकि घोषणा करने की विधायी अधिकारिता इसी बात पर आधारित है कि विधि उक्त तत्व सुनिश्चित करने के लिए राज्य की नीति को प्रभावी बनाने वाली हो।

यह विनिश्चित करने के लिए, कि अमुक विधि अनुच्छेद 39(ख) या (ग) में उल्लिखित निदेशक तत्व सुनिश्चित करने के लिए राज्य की नीति प्रभावी बनाती है या नहीं, न्यायालय को सम्पृक्त विधि के मर्म एवं सार की वास्तविक प्रकृति एवं प्रकार की उसकी विषय-वस्तु तथा उसके उद्देश्य एवं प्रविषय की जांच करनी होगी। यदि न्यायालय इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि घोषणा एक बहाना मात्र है और यह कि विधि का वास्तविक उद्देश्य अनुच्छेद 39(ख) और (ग) में उल्लिखित निदेशक तत्व सुनिश्चित करने के लिए राज्य की नीति प्रभावी बनाने से भिन्न कुछ और है तो घोषणा न्यायालय को उस विधि के ऐसे किसी भी उपबन्ध को जो अनुच्छेद 14, 19 या 31 का अतिक्रमण करता हो, अवैध घोषित करने से रोक न सकेगी। दूसरे शब्दों में, यदि विधि दिखाने के लिए राज्य की नीति को प्रभावी बनाने के लिए पारित की गई हो किन्तु (मर्म एवं सार की दृष्टि से) उसका वास्तविक उद्देश्य कोई अनधिकृत लक्ष्य की पूर्ति हो तो न्यायालय घोषणा रूपी परदे को हटा कर विधि की वास्तविक प्रकृति की जांच कर सकता है।

न्यायिक संवीक्षा द्वारा संरक्षण के अलावा अनुच्छेद 31ग में पर्याप्त रूप में यह गारण्टी भी की गई है कि राज्य के विधानमण्डल शक्ति का दुरुपयोग नहीं करेंगे क्योंकि उसके द्वारा पारित विधि तभी विधिमान्य होगी जब कि उसे राष्ट्रपति की अनुमति के लिए आरक्षित रखा गया हो और उस पर उनकी ऐसी अनुमति प्राप्त हो गई हो। मैंने जो कुछ कहा है उसके प्रकाश में किन्हीं क्षेत्रों में व्यक्त यह आशंका निर्मूल हो जाती है कि यदि न्यायालय की इस प्रश्न पर विचार करने की अधिकारिता समाप्त कर दी जाती है कि प्रश्नगत विधि उक्त निदेशक तत्व सुनिश्चित करने के लिए राज्य की नीति को प्रभावी बनाती है या नहीं, तो इससे देश की अखण्डता नष्ट हो जाएगी। साथ ही इस सन्दर्भ में न्यायाधिपति की यह उक्ति भी सुसंगत है—"मैं यह नहीं मानता हूं कि यदि सुप्रीम कोर्ट को कांग्रेस के किसी अधिनियम को शून्य घोषित करने की शक्ति नहीं रह जाती है तो संयुक्त राज्य अमरीका का अन्त हो जाएगा। किन्तु मैं यह अवश्य सोचता हूं कि यदि हम विभिन्न राज्यों की विधियों की बाबत, वैसी घोषणा नहीं कर सकते हैं तो संघ के लिए खतरा उत्पन्न हो जाएगा।"

यह कहा गया है कि संविधान निर्माताओं का यह आशय कदापि नहीं था कि मूल अधिकारों को निदेशक तत्वों के अधीन होना चाहिए और यह कि उनकी दृष्टि ऐसे समाज पर थी जिसमें कि भाग 3 में विहित अधिकार और भाग 4 में निहित आकांक्षाएं परस्पर सहयोगी हों। (सामंजस्यपूर्ण अर्थान्वयन के सिद्धान्त से हमारी बहुत सी बुराइयां दूर हुई हैं, किन्तु मुझे उसकी क्षमता पर विश्वास नहीं है)। आने वाली पीढ़ी मूल अधिकारों और निदेशक तत्वों के सापेक्ष महत्व को भिन्न दृष्टिकोण या प्रकाश में देख सकती है। इन अधिकारों और आकांक्षाओं की सापेक्ष गुरुता एवं महत्व के बारे में आने वाली पीढ़ी का मूल्यांकन उस मूल्यांकन से पूर्णतः भिन्न हो सकता है जो संविधान निर्माताओं ने किया है और उक्त प्रश्न का उत्तर यह कह कर नहीं दिया जा सकता है कि मूल अधिकारों पर निदेशक तत्वों के सापेक्ष पूर्विकता की कल्पना नहीं की गई थी या यदि की भी गई थी तो संविधान के निर्माण के समय उसे प्रभावी नहीं बनाया गया था अथवा इस बात पर जोर दिया गया था कि निदेशक तत्वों का जो अर्थ इस समय लगाया जा रहा है वही अर्थ आगे भी (हमारे समय में) लगाया जाना चाहिए।

उन्तीसवें संशोधन की विधिमान्यता के बारे में मेरे मस्तिष्क में कोई शंका नहीं रह गई है। मेरे विद्वान् साथी न्यायाधिपति रे के निर्णय में वर्णित कारणों के आधार पर मैं यह निर्णय करता हूं कि उन्तीसवां संशोधन विधिमान्य है।

इन मामलों में बहस लगभग छः महीने तक हुई है। न्यायालय के समक्ष सभी साधनों से सामग्री जुटाने के लिए बहस से पूर्व और उसके दौरान मनों कागज और स्याही प्रयुक्त हुई है। यदि हमारे निष्कर्ष इन मामलों के निपटारे के लिए न्यायपीठ के समक्ष पर्याप्त मार्गदर्शन प्रस्तुत करने में असफल होते हैं तो यह बड़े दुर्भाग्य की बात होगी। मैं यह नहीं चाहता हूं कि मेरे निष्कर्ष अस्पष्ट रह जाएं। अतः मैं अपने निष्कर्षों का संक्षेप भी दे रहा हूं।

मैं यह अभिनिर्धारित करता हूं कि गोलक नाथ वाले मामले ([1]) में दिया गया यह निर्णय गलत है कि संसद मूल अधिकारों को इस प्रकार संशोधित नहीं कर सकती है कि वे छिन जाएं या न्यून हो जाएं, यह कि चौबीसवें संशोधन से पूर्व यथा विद्यमान अनुच्छेद 368 के अधीन संशोधन-शक्ति की प्रकृति सर्वांगीण है और वह संविधान के सभी उपबन्धों को लागू होती है, यह कि चौबीसवें संशोधन से असंशोधित अनुच्छेद 368 की अन्तर्वस्तु में कोई भी परिवर्धन नहीं किया गया है, यह कि संशोधन-विधेयक पर राष्ट्रपति की अनुमति की अनिवार्यता के सिवाय उसकी प्रकृति घोषणात्मक ही है और यथा संशोधित अनुच्छेद से यह स्पष्ट है कि संविधान के सभी उपबन्धों में परिवर्धन, परिवर्तन या निरसन द्वारा संशोधित किए जा सकते हैं। निर्बन्धन केवल यह है कि संशोधन शक्ति के प्रयोग में ऐसे तन्त्र के, जिसके अधीन राज्य गठित और संगठित होता है, प्रतिस्थापन के बिना संविधान निरसित या निराकृत नहीं किया जा सकता है। उक्त निर्बन्धन स्वयं अनुच्छेद की भाषा से दर्शित होता है।

मेरे विचार से अनुच्छेद के अधीन संशोधन-शक्ति पर कोई भी विवक्षित या अन्तर्निहित निर्बन्धन न तो थे और न हैं।

चौबीसवां संशोधन विधिमान्य है।

अनुच्छेद 31ग सहित पच्चीसवां संशोधन विधिमान्य है। यथा संशोधित अनुच्छेद 31(2) में प्रयुक्त 'राशि' शब्द किसी सिद्धान्त (नार्म) का आभासी नहीं है। राशि का नियतन या राशि के अवधारण के लिए सिद्धान्तों का अधिकथन पूर्णतः संसद या राज्य विधानमण्डलों के स्वविवेक का विषय है। न्यायालय इस प्रश्न पर विचार नहीं कर सकते कि विधि द्वारा नियत राशि या राशि अवधारित करने के लिए अधिकथित सिद्धान्त क्रमशः पर्याप्त या सुसंगत है या नहीं।

अनुच्छेद 31ग में आशयित यह घोषणा कि सम्बन्धित विधि संविधान के अनुच्छेद 39 (ख) और (ग) में उल्लिखित तत्व सुनिश्चित करने के लिए राज्य की नीति को प्रभावी करती है, इस प्रश्न पर विचार करने की न्यायालय की अधिकारिता समाप्त नहीं करती है कि विधि उस नीति को प्रभावी बनाती है या नहीं। विधि में घोषणा उल्लिखित करने की संसद या राज्य विधानमण्डलों की अधिकारिता इस बात पर आश्रित है कि सम्पृक्त विधि पूर्वोक्त तत्व सुनिश्चित करने के लिए राज्य की नीति को प्रभावी करती हो।

उन्तीसवां संशोधन विधिमान्य है।

मैं रिट पिटीशनों का निपटारा उक्त निष्कर्षों के आधार पर करना चाहूंगा। मैं यहां खर्चे के बारे में कोई आदेश नहीं करना चाहूंगा।

([1]) (1967) 2 एस० सी० आर० 762.

न्यायाधिपति एम० एच० बेग—

यह निर्देश तेरह न्यायाधीशों की विशेष न्यायपीठ को किया गया। यह न्यायपीठ पिछली उन सभी न्यायपीठों से वृहत है जिन्होंने इस न्यायालय में किसी मामले की सुनवाई की है। यह निर्देश इसलिए किया गया है जिससे कि उस मत की जो इस न्यायालय के ग्यारह न्यायाधीशों के विनिश्चय के परिणामस्वरूप गोलक नाथ और कुछ अन्य बनाम पंजाब राज्य और कुछ अन्य([1]) वाले मामले में अल्प बहुमत से किया गया था और जो इस देश में आबद्धकर विधि बन गया है सत्यता पर, यदि आवश्यक हो तो, फिर से विचार किया जाए। वह मत यह था कि हमारे संविधान के अनुच्छेद 13(2) में अन्तर्विष्ट प्रतिषेध के उल्लंघन में राज्य द्वारा बनाई गई ऐसी विधि के, जो मूल अधिकार से सम्बन्धित अध्याय द्वारा प्रदत्त अधिकारों को छीनती या न्यून करती है, उल्लंघन में उल्लंघन की मात्रा तक शून्य है और यह बात सांवैधानिक संशोधनों की भी लागू होती है। यद्यपि वह विनिश्चय संविधान के अनुच्छेद 368 में अन्तर्विष्ट संशोधन की शक्ति पर ऐसी परिसीमा की बावत था, जो हमारे संविधान के अधीन जैसा वह तब था अस्तित्ववान मानी गई थी, फिर भी उसमें यह विनिश्चित नहीं किया गया था कि यदि संविधान के अनुच्छेद 368(2) के परन्तुक के खण्ड (ङ) द्वारा मान्य संशोधन करने की अभिव्यक्त शक्ति के अधीन अनुच्छेद 368 भी संशोधित कर दिया जाए तो स्थिति क्या होगी। यद्यपि वह प्रश्न न तो उस समय उद्भूत हुआ था और न विनिश्चित किया गया था। वही प्रश्न अब हमारे समक्ष प्रत्यक्ष रूप से विनिश्चय के लिए आया है फिर भी मेरा विचार है कि हम गोलक नाथ वाले मामले ([1]) में बहुमत के विनिश्चय के सही होने के सम्बन्ध में अपना निर्णय नहीं टाल सकते क्योंकि गोलक नाथ वाला मामला ([1]) असंशोधित अनुच्छेद 368 में अन्तर्विष्ट संशोधन की शक्ति के विस्तार से सम्बन्धित है।

हमारे समक्ष के मामलों में अन्तर्विष्ट सभी प्रश्नों की बावत विधि का प्रतिपादन प्रत्यक्ष रूप से या अप्रत्यक्ष रूप से बहुत विद्वता से और बुद्धिमता से किया गया है। हमारे देश के भविष्य के सांविधानिक इतिहास की दृष्टि से यह कार्य बहुत महत्वपूर्ण समझा गया अतः मेरे विद्वान् भ्राताओं और इस न्यायालय के बार के सदस्यों ने इस मामले को बहुत महत्वपूर्ण माना और इस मामले में उठाए गए बहुत से प्रश्नों पर विचार किया गया है। उठाए गए सभी प्रश्नों पर विचार करने का प्रयत्न करना गुस्ताखी करना होगा। वास्तव में मैं उन मतों को दोहराना जरूरी नहीं समझता जिन्हें मेरे विद्वान् भ्राताओं ने अभिव्यक्त किया है और जिन्हें मैं सही मानता हूं और जिन निष्कर्षों से मैं सहमत हूं। मेरे विद्वान् भ्राताओं में से कुछ के जिनके निष्कर्षों से मैं सादर असहमत हूं उनके सम्बन्ध में इस निर्णय के दौरान में कुछ कारण स्पष्ट करूंगा और अपने निष्कर्ष अभिलिखित करने के पहले मैं यह कार्य पूरा करूंगा। मैं यह मत इसलिए व्यक्त कर रहा हूं क्योंकि जैसा मेरे विद्वान् भ्राता मैथ्यू ने बतलाया है कि ऐसे मामलों में, जैसे हमारे समक्ष हैं, स्वस्थ्य पद्धति हाउस ऑफ लार्ड्स के उदाहरण का अनुसरण करना है चाहे मतों की विविधता से शब्दजाल सा उत्पन्न हो जाए जिसे न्यायाधीश लर्नेड हैण्ड के मतानुसार हटाना न्यायिक ज्ञान और विद्वता का कार्य है। मेरा विश्वास है कि

([1]) 1967 (2)एस० सी० आर० 762.

मेरे द्वारा व्यक्त किए गए मतों से यह सघनता बिना कुछ उपयोगी प्रयोजन पूरा किए और अधिक साधन नहीं होगी। मेरा विचार है कि ऊपर वर्णित परिस्थितियों में हमारे सामने यह खतरा है कि हम विस्तार में जाने के कारण समान्य रूप से दिखाई पड़ने वाले तथ्यों को भी आंखों से ओझल न कर जाएं और यदि हम वृक्ष की कुछ डालियों में ही अटक गए तो हम गन्तव्य स्थान तक नहीं पहुंच पाएं, अर्थात् सही निष्कर्ष या विनिश्चय पर न पहुंच पाएं। मेरा विचार है कि मैं अपनी एवम् अपने विद्वान् भ्राताओं की ओर से यह बात कह सकता हूं कि हम सभी उस गम्भीर भार के प्रति सचेत हैं जो हमारे कंधों पर डाला गया है। हमें देश के सामने प्रश्नों के ऐसे हल प्रस्तुत करने हैं जो न केवल सही हों बल्कि उपयोगी भी हों और जो हमारे संविधान में अन्तर्विष्ट विधि का, जिसके प्रति हमने निष्ठा की शपथ ली है, उल्लंघन भी न करें।

अब मैं प्रोफेसर फ्रीडमान द्वारा लिखित "लॉ इन चेंजिंग सोसाइटी", पृष्ठ 61 पर दिए गए मत उद्धृत करता हूं—

"वर्तमान समय में न्यायाधीश पर कार्य का बढ़ता हुआ दबाव बड़ा जटिल है। परस्पर-विरोधी मूल्यों और हितों का जिनके सम्बन्ध में पूर्ववर्ती पृष्ठों में कुछ उदाहरण दिए गए हैं, सावधानी से मूल्यांकन किए बिना शायद ही कोई महत्वपूर्ण निर्णय किया जा सके। एक दलीय सरकार के इस प्रकार के आदेश से कि क्या किया जाना चाहिए, बहुत से विवाद अपने आप समाप्त हो जाते हैं। लोकतान्त्रिक देश के न्यायाधीश का कार्य गुरुतर और गरिमामय है। वह वैयक्तिक दायित्व के भार से बच नहीं सकता और मेरा विचार है कि सक्षम न्यायाधीशों से सुभिन्न महान न्यायाधीश वे ही हुए हैं जिन्होंने उस भार का निर्वहन किया है और अपने समक्ष के मामलों में इतने स्पष्ट विनिश्चय किए हैं कि उनसे विवाद यथा सम्भव स्पष्ट रूप से प्रतिबिम्बित होते हैं। ऐसी बात नहीं है कि वे विधि की कार्य प्रणाली का ध्यान नहीं रखते हैं किन्तु वे इस बात के प्रति जागरूक हैं कि स्वतः विधि की कार्य प्रणाली से ही सामाजिक विवादों का कोई हल नहीं मिलता है। ऐसे विवादों का प्रतिबिम्ब तो विधि में ही मिलता है।"

इसके पश्चात् पृष्ठ 62 पर उन्होंने यह मत व्यक्त किया—

विधि का ध्येय निश्चितता, न्याय और प्रगतिशीलता होना चाहिए। किन्तु ये उद्देश्य हमेशा ही एक दूसरे के विरोधी होते हैं। महान न्यायाधीशों और विधि-वेत्ताओं ने हमें जो कुछ सिखाया है वह ऐसा ज्ञान नहीं है जिसमें भूलें न होती हों या जिसमें सभी विधिक प्रश्नों के कुछ निश्चित उत्तर प्राप्त हो जाते हों, किन्तु वह समकालीन समाज के प्रश्नों के प्रति जागरूकता है और विनिश्चय के भार को स्वीकार करना है जो कितना भी तकनीकी विधिक ज्ञान हमसे छीन नहीं सकता।"

"मर्म" शब्द और विचारधारा के प्रति श्री पालखीवाला ने न्यायालय में बहस करने की अपनी असाधारण योग्यता और वाक्-पटुता से हमें लगातार प्रभावित करने का प्रयत्न किया और उन्होंने हमारे समक्ष की समस्या के सार को बुक 3 के पैरा 10 में लिखित रूप में

वर्णन किया। उसके अन्त में श्री पालखीवाला ने अपने लिखित निवेदन में इस बात का उल्लेख किया कि—

"यह निवेदन किया जाता है कि एक अत्यधिक महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर विचार किए बिना इन पिटीशनों का निपटारा करना असम्भव होगा। वह महत्त्वपूर्ण प्रश्न संशोधन शक्ति का असली व्याप्ति-क्षेत्र है। इस प्रश्न का विनिश्चय या तो असंशोधित अनुच्छेद 368 में प्रयुक्त किए गए "संशोधन" शब्द के अर्थ के आधार पर या अन्तर्निहित और विवक्षित परिसीमाओं के आधार पर या दोनों ही आधारों पर किया जा सकता है क्योंकि ये दोनों एक ही बिन्दु पर आकर मिलते हैं।"

"सादर यह निवेदन है कि संशोधन करने की शक्ति के असली व्याप्ति-क्षेत्र का अवधारण किए बिना, चौबीसवें और पच्चीसवें संशोधनों से सम्बन्धित प्रश्नों पर कार्यवाही करना असम्भव होगा।"

"चौबीसवें संशोधन के सही अर्थान्वयन के प्रश्न का और उस संशोधन की विधिमान्यता का विनिश्चय तब तक नहीं किया जा सकता जब तक कि यह न्यायालय पहले इस निष्कर्ष पर न पहुंच जाए कि मूल शक्ति सीमित थी या असीमित थी। यदि वह मूलतः सीमित थी तो यह प्रश्न उठेगा कि क्या चौबीसवें संशोधन का अर्थान्वयन संकीर्ण रूप से किया जाना चाहिए या उसे असांविधानिक ठहराया जाना चाहिए। चौबीसवें संशोधन के सही अर्थान्वयन का प्रश्न भी तब तक विनिश्चित नहीं किया जा सकता जब तक कि मूल प्रश्न अर्थात् संशोधन की मूल शक्ति का असली व्याप्ति-क्षेत्र पहले स्थापित न हो जाए।"

"पुन: जब तक पहले यह विनिश्चय नहीं कर दिया जाता है कि क्या संसद् सम्पत्ति के अधिकार को निराकृत करने का अधिकार है इस प्रश्न का विनिश्चय करना भी असम्भव होगा कि क्या अनुच्छेद 31(2) का, जो पच्चीसवें संशोधन द्वारा परिवर्तित कर दिया गया है, अर्थान्वयन संकीर्ण रूप से इस प्रकार किया जाना चाहिए जिससे कि सम्पत्ति का अधिकार परिरक्षित रहे या सम्पत्ति के अधिकार को निराकृत करने के कारण उसे असांविधानिक घोषित किया जाना चाहिए। इसमें प्रत्यक्ष रूप से यह प्रश्न अन्तर्विष्ट है कि क्या संशोधन की शक्ति सीमित है या असीमित।"

"जब कोई अनुच्छेद 31ग पर विचार करता है तब संशोधन करने की शक्ति की सीमाओं का विनिश्चय करना स्पष्ट हो जाता है, यह अनुच्छेद संविधान के सात अत्यावश्यक तत्वों का उल्लंघन करता और इससे संविधान का रूप ही नष्ट हो जाता है। अतः अनुच्छेद 31ग के संकीर्ण अर्थान्वयन का कोई प्रश्न ही उत्पन्न नहीं हो सकता। वह केवल इस आधार पर ही असांविधानिक ठहराया जा सकता है कि संसद् की संशोधन-शक्ति सीमित है।"

"अनुच्छेद 31ग की विधिमान्यता के प्रश्न का केवल इस आधार पर विनिश्चय करना कि उसमें वास्तव में अनुच्छेद 368 द्वारा विहित रीति और प्ररूप से भिन्न तरीके से संशोधन करने के लिए उपबन्ध किया गया है, बहुत ही असंतोषजनक बात होगी। मुख्य रूप से महत्त्वपूर्ण प्रश्न संशोधन शक्ति पर परिसीमा है संशोधन-शक्ति की अधिष्ठायी परिसीमा के प्रश्न से तुलना करने पर रीति और प्ररूप का प्रश्न बहुत ही महत्त्वहीन हो जाता है।"

"बहुत आदर सहित यह निवेदन है कि यदि बहुत अधिक महत्त्व के असली प्रश्नों को अर्थात् संशोधन-शक्ति के व्याप्ति-क्षेत्र को टालकर रीति और प्ररूप के प्रश्न मात्र पर ही निर्णय आधारित किया गया तो सुनवाई की जो कार्रवाई 69 दिन हुई है वह वस्तुतः व्यर्थ हो जाएगी। यह ही वह महत्त्वपूर्ण प्रश्न है जिसमें इस न्यायालय का करीब-करीब पांच मास का समय लग गया है।"

इस मामले के मर्म या मुख्य प्रश्न को सुलझाने के पहले, जैसे कि श्री पालखीवाला ने ठीक ही कहा है, संविधान के अनुच्छेद 368 में संशोधन-शक्ति की परिसीमाओं का प्रश्न है, संविधान के सिद्धान्तों और उसमें अन्तर्विष्ट विधिक सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न शक्ति के सिद्धान्तों के सम्बन्ध में मेरे जो विचार हैं उन्हें मैं व्यक्त करूंगा। मेरे निर्णय के इस भाग और अन्य भागों से यह बात भी प्रकट हो जाएगी, जिसकी बाबत मैं समझता हूं कि खोज करने और कलई खोलने के सम्बन्ध में न्यायाधीशों को संकोच नहीं करना चाहिए और उनकी बाबत "अप्रकट महत्त्वपूर्ण आधार वाक्यों" के तौर पर निर्णय से ही अनुमान लगाए जाने के लिए नहीं छोड़ देना चाहिए। मेरी राय है कि ये सिद्धान्त क्या हैं, इस बात को नागरिकों को बतलाना और उन्हें न्यायसंगत ठहराना न्यायिक कृत्य का एक भाग है।

मेरा विचार है कि प्रस्तावना और साथ ही हमारे संविधान के भाग 3 और 4 के उपबन्धों से यह बात स्पष्ट है कि उसमें यह सिद्धान्त अभिव्यक्त किया गया है—"जनहित सर्वोपरि विधि है"—दूसरे शब्दों में हमारे संविधान में हमारे देश के नागरिकों का हित सर्वोच्च विधि के तौर पर प्रस्तावना के शुरू में ही सन्निविष्ट किया गया है। प्रस्तावना एक ऐसी कुञ्जी है जो हमारे संविधान के प्रथम चार उद्देश्यों में से "सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय" को प्रथम स्थान देती है। संविधान के माध्यम से भारत की जनता ने भारत को "एक सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न लोकतन्त्रात्मक गणराज्य" बनाया है।

मेरे मतानुसार वर्तमान युग में लोकतान्त्रात्मक संविधान जनता की सर्वोपरि इच्छा की अभिव्यक्ति है। यद्यपि जैसा हम सभी जानते हैं, हमारा संविधान, संविधान-सभा ने बनाया था जो वयस्क मताधिकार द्वारा गठित नहीं हुई थी। भारत स्वतन्त्रता अधिनियम की, जो ब्रिटिश पार्लियामेण्ट द्वारा पारित किया गया था, धारा 8 द्वारा इस संविधान-सभा को हमारा संविधान बनाने की विधिक शक्ति और प्राधिकार प्रदत्त किया गया था। चाहे हम यह बात पसन्द करें या न करें, ब्रिटिश पार्लियामेण्ट के ऐक्ट की धारा 6 और 8 द्वारा, विधिक दृष्टि से, वह विधिक सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्नता भारतीय संसद् को अन्तरित की गई, जो पहले ब्रिटिश पार्लियामेण्ट में निहित थी। भारतीय संसद् को (हमारा) संविधान बनाने के लिए संविधान-सभा की शक्तियां दी गईं।

इसके परिणाम को एक राष्ट्र द्वारा दूसरे राष्ट्र को विधितः प्राधिकृत माध्यमों से राजनैतिक एवं विधिक सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्नता का अन्तरण कहा जा सकता है। यह अन्तरण विधि के तौर पर और इससे भी अधिक तथ्य के तौर पर अप्रतिसंहरणीय बन गया। ब्रिटिश पार्लियामेण्ट की विधिक सर्वोपरि शक्ति के विरोधियों ने जो भी सिद्धान्त प्रतिदित किए हों, ब्रिटेन में भी आजकल यह मत है कि एक राष्ट्र द्वारा दूसरे राष्ट्र को जो कुछ इस प्रकार अन्तरित किया जाता है वह विधितः प्रतिसंहृत नहीं किया जा सकता। तथापि इस प्रकार गठित संविधान-सभा में संविधान बनाने की शक्ति विधितः निहित की गई थी और उसे मान्यता दी गई थी और यह शक्ति "भारत के लोगों" में निहित नहीं थी जिनके नाम का संविधान-सभा ने संविधान की प्रस्तावना में उल्लेख किया है। इस प्रकार

संविधान सभा ने भारत की जनता से ही किसी विनिर्दिष्ट या प्रत्यक्ष विधिक प्राधिकार प्राप्त किए बिना इस कार्य को करने में सम्पूर्ण भारत के लोगों का प्रतिनिधित्व किया।

संविधान-सभा के माध्यम से भारतीय जनता का मत व्यक्त करते हुए संविधान-सभा ने नया गणराज्य गठित किया जो सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न और लोकतन्त्रात्मक दोनों था। निस्सन्देह उसके द्वारा प्रस्तावना में अधिकथित उत्तम उद्देश्य सुनिश्चित करने का, मूलतः मूल अधिकारों द्वारा जो भाग 3 में हैं और राज्य की नीति के निदेशक तत्वों द्वारा जो संविधान के भाग 4 में हैं, प्रयत्न किया गया। तथापि मेरी राय में इन्हें इस प्रकार वर्णित करना जैसा कि श्री पालखीवाला ने कहा है उचित नहीं होगा कि भाग 3 में अन्तर्विष्ट मूल अधिकार साधन मात्र हैं जबकि भाग 4 में अन्तर्विष्ट निदेशक तत्व संविधान के उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए जनता के प्रयत्नों के साध्य के तौर पर हैं। इसके विपरीत मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि निदेशक तत्वों को इस प्रकार वर्णित करना अधिक सही होगा कि उनके अन्दर वह पथ अधिकथित किया गया है जिसका हमारी संसद् और राज्य विधानमण्डलों द्वारा अनुसरण किया जाना है जिससे कि प्रस्तावना में अन्तर्विष्ट उद्देश्यों की ओर बढ़ा जा सके। वास्तव में प्रस्तावना की दृष्टि से मूल अधिकार और निदेशक तत्व, दोनों ही उन उद्देश्यों को प्राप्त करने के साधन हैं जो मूल अधिकारों और निदेशक तत्वों, दोनों, द्वारा ही पूरे किए जाने के लिए तात्पर्यित हैं। यदि साध्य या साधनों के बीच के अन्तर के कारण मूल अधिकारों और निदेशक तत्वों के बीच कोई अन्तर करने का वास्तव में प्रयत्न किया गया था तो मेरी राय में मूल अधिकारों को भारतीय जनता के प्रयत्नों के साध्य के तौर पर मानना अधिक उपयुक्त होगा। निदेशक तत्वों द्वारा भारतीय जनता के लिए पथ-प्रदर्शन किया गया है। मूल अधिकारों और मूल निदेशक तत्वों को मार्ग-दर्शक सिद्धान्त मानना और भी अच्छा होगा।

शायद नागरिकों के वैयक्तिक मूल अधिकारों जिनके द्वारा राज्य पर तत्समान बाध्यताएं अधिरोपित की गई हैं और निदेशक तत्वों के बीच के सम्बन्ध को वर्णित करने का सबसे अच्छा तरीका यह होगा कि निदेशक सिद्धान्तों (तत्त्वों) को इस प्रकार पढ़ा जाए जैसा कि प्रस्तावना में वर्णित सम्बद्ध उद्देश्यों की ओर राष्ट्र का प्रगति पथ उनमें अधिकथित किया गया है और मूल अधिकार उस पथ को उसी प्रकार सीमा है जैसी कि बहने वाली नदी के तट होते हैं जो सुधारे जा सकते हैं या मिटा कर, तब्दीली करके या कमी करके या नष्ट करके इस प्रकार सुधारे जा सकते हैं कि वे उन व्यक्तियों की जरूरतों के अनुरूप हो जाएं जिन्हें पथ का उपयोग करना होता है। दूसरे शब्दों में स्वतः पथ की अपेक्षाएं अधिक महत्वपूर्ण थीं। संविधान-सभा के वाद-विवादों को सावधानी से पढ़ने पर मैं इस निष्कर्ष या अनुमान पर पहुंचा हूं। यदि पथ को चौड़ा करना या संकरा करना या बदलना जरूरी है तो सीमाएं बदली जा सकती हैं। यह कहना असम्भव प्रतीत होता है कि निदेशक तत्वों द्वारा अधिकथित पथ उस पथ की सीमाओं से कम महत्वपूर्ण है, भले ही निदेशक तत्व इस अर्थ में वाद योग्य न हों कि वे न्यायालय के माध्यम से प्रवृत्त न किए जा सकें। अनुच्छेद 13 में उन्होंने ऐसे सिद्धान्त घोषित किए हैं जो देश के शासन में मूलभूत हैं। अनुच्छेद 37 में यह आज्ञा दी गई कि विधि बनाने में इन तत्वों का प्रयोग करना राज्य का कर्तव्य होगा। प्राथमिक तौर पर यह आज्ञा संसद् और राज्य विधान-मण्डलों को दी गई थी किन्तु जहां तक

न्यायालय संविधान या किसी कानून के अन्तर्गत न्यायिक विधि निर्मित करने का कार्य करता है जो इनके समक्ष अर्थान्वयन के लिए आए, वह आज्ञा न्यायालय पर भी आबद्धकर है।

दूसरा अन्तर जो मुझे विधिमान्य और बहुत महत्वपूर्ण प्रतीत होता है, यह है कि जहां मूल राज्य की तत्सम्बन्धी बाध्यताओं सहित अधिकार नागरिकों को प्रदत्त किए गए हैं, निदेशक तत्वों में राज्य के अंगों के विनिर्दिष्ट कर्त्तव्य अधिकथित किए गए हैं। मूल अधिकारों को प्रदत्त करने में नागरिकों की स्वतन्त्रता को वैयक्तिक तौर पर संरक्षित करने का प्रयत्न किया गया है। किन्तु राज्य के अंगों को विनिर्दिष्ट निदेश देने में समाज कल्याण की जरूरतों को जिसके प्रति वैयक्तिक स्वतन्त्रता को झुकना पड़ सकता है, सबसे अधिक महत्व दिया गया है। निस्सन्देह इन दोनों के बीच मेल बनाए रखने का, जब कभी भी ऐसा करना युक्ति-युक्त सम्भव हुआ, हमेशा ही प्रयत्न किया गया। किन्तु इस बारे में कोई सन्देह नहीं हो सकता कि सम्भाव्य टकराव की दशा में, इन में से किसे अधीनस्थ कहा जाए—जब कि ऐसा उचित रूप से बनाई गई विधियों में सन्निविष्ट कर दिया जाए।

अनुच्छेद 38 से यह ज्ञात होता है कि राज्य को दी गई विनिर्दिष्ट आज्ञा में से पहली आज्ञा यह है—

> "38. राज्य ऐसी सामाजिक व्यवस्था की, जिसमें सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय राष्ट्रीय जीवन की सभी संस्थाओं को अनुप्राणित करे, भरसक कार्यसाधक रूप में स्थापना और संरक्षण करके लोक कल्याण की उन्नति का प्रयास करेगा।"

दूसरे शब्दों में ऐसी सामाजिक व्यवस्था की उन्नति जिसमें राज्य के सभी अंगों का पहला कर्त्तव्य सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय हो।

राज्य के विभिन्न अंगों को दी गई दूसरी विनिर्दिष्ट आज्ञा अनुच्छेद 39 में है। उसमें वह सिद्धान्त अन्तर्विष्ट है जो समाजवादी "कल्याणकारी राज्य" के तौर पर जाना जाता है। इससे राष्ट्रीयकरण के माध्यम से सामाजिक न्याय की उन्नति करने का प्रयत्न किया जाता है और देश के नागरिकों के बीच भौतिक साधनों का और अच्छा बंटवारा करने के लिए और कमजोर और असहाय के शोषण को रोकने के लिए राज्य कार्यवाही करता है—

> "39. राज्य अपनी नीति का विशेषतया ऐसा संचालन करेगा कि सुनिश्चित रूप से—
>
> (क) समान रूप से नर और नारी सभी नागरिकों को जीविका के पर्याप्त साधन प्राप्त करने का अधिकार हो;
>
> (ख) समुदाय की भौतिक सम्पत्ति का स्वामित्व और नियंत्रण इस प्रकार बंटा हो कि जिससे सामूहिक हित का सर्वोत्तम रूप से साधन हो;
>
> (ग) आर्थिक व्यवस्था इस प्रकार चले कि जिससे धन और उत्पादन-साधनों का सर्वसाधारण के लिए अहितकारी केन्द्रण न हो;
>
> (घ) पुरुषों और स्त्रियों दोनों का समान कार्य के लिए समान वेतन हो;

(ङ) श्रमिक पुरुषों और स्त्रियों का स्वास्थ्य और शक्ति तथा बालकों की सुकुमार अवस्था का दुरुपयोग न हो तथा आर्थिक आवश्यकता से विवश होकर नागरिकों को ऐसे रोजगारों में न जाना पड़े जो उनकी आयु या शक्ति के अनुकूल न हों;

(च) शैशव और किशोर अवस्था का शोषण से तथा नैतिक और आर्थिक परित्याग से संरक्षण हो।"

ऊपर वर्णित मत के आधार पर यह अभिनिर्धारित करना कठिन होगा कि उस पथ की आवश्यक रूप से परिवर्तनीय सीमाएं, जो निदेशक तत्वों में अन्तर्विष्ट हैं, स्वतः उस पथ से ही अधिक महत्वपूर्ण हैं। यहां मैं यह बतला दूं कि इलाहाबाद उच्च न्यायालय की पूर्ण न्यायापीठ के शुरू के एक विनिश्चय, मोतीलाल और कुछ अन्य बनाम उत्तर प्रदेश राज्य और कुछ अन्य ([1]) वाले मामले में न्यायाधिपति मलू ने निम्नलिखित मत व्यक्त किया था—

"मैं राज्य के निदेशक तत्वों के बारे में भी दो शब्द कहूंगा निदेशक तत्व यद्यपि वाद-योग्य नहीं हैं किन्तु पूरे संविधान पर विचार करते समय उन पर भी विचार किया जाना चाहिए। इन निदेशक तत्वों में वे सिद्धान्त अधिकथित हैं जिनको कानून बनाने में और उनके निष्पादन में लागू करना राज्य का कर्त्तव्य होगा। अनुच्छेद 38 में कहा गया है कि राज्य ऐसे सामाजिक व्यवस्था की, जिसमें सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय, राष्ट्रीय जीवन की सभी संस्थाओं को अनुप्राणित करे, भरसक कार्यसाधक रूप में स्थापना और संरक्षण करके लोक कल्याण की उन्नति का प्रयास करेगा।"

"अनुच्छेद 39 में वे सिद्धान्त अधिकथित किए गए हैं जिनसे राज्य की नीति प्रेरित होगी। अनुच्छेद 40 से 51 अन्य बातों के साथ-साथ ऐसे प्रश्नों से सम्बन्धित हैं, जैसे उदाहरण के लिए काम, शिक्षा और लोक सहायता पाने का अधिकार, अनुसूचित जातियों की शिक्षा और अर्थ सम्बन्धित हितों की उन्नति और आहारपुष्टि-तल को ऊंचा करने तथा सार्वजनिक स्वास्थ्य के सुधार करने का राज्य का कर्त्तव्य।"

"इन उद्देश्यों की प्रकृति के प्रति ध्यान आकर्षित करने में मेरा उद्देश्य यह बतलाना है कि संविधान निर्माताओं का जिस बात को स्थापित करने का इरादा था उसे इस देश में अब साधारणतया "कल्याणकारी" या "समाजसेवी राज्य" कहा जाता है, उन्होंने राज्य की गतिविधियों पर व्यापक दृष्टिकोण अपनाया और यह बहुत स्पष्ट है कि उन पर पिछली शताब्दी के हस्तक्षेप न करने की नीति का विशेष प्रभाव नहीं था। निदेशक तत्वों का प्रभाव बहुत अधिक था। अब हम मूल अधिकारों पर विचार करते हैं।"

([1]) ए० आई० आर० (1951) इलाहाबाद 257, 296.

"जहां तक संविधान को पढ़कर मैं इन मूल अधिकारों के उद्देश्य को समझ सका हूं, वह इस देश में रहने वाले व्यक्तियों की नागरिकता को सुरक्षित करने का उपबन्ध करना और नागरिकों में समानता का उपबन्ध करना और इस प्रकार राष्ट्र निर्माण की प्रक्रिया में मदद करना मात्र ही नहीं था किन्तु इनके साथ ही उनका उद्देश्य आचरण, नागरिकता, न्याय और ऋजु व्यवहार के कुछ मानदण्डों का उपबन्ध करना भी था और यह उद्देश्य किसी भी प्रकार से कम महत्वपूर्ण नहीं था। भारतीय संविधान की पृष्ठभूमि में वे सभी नागरिकों और व्यक्तियों द्वारा यह बात समझे जाने के लिए आशयित थे कि देश की सर्वोपरि विधि द्वारा विशेषाधिकार समाप्त कर दिए गए हैं और उसमें यह अधिकथित है कि उसमें उन सभी अधिकारों की बाबत जो व्यक्ति की भौतिक और नैतिक पूर्णता के लिए अत्यावश्यक हैं, समुदाय के एक भाग और दूसरे भाग के बीच पूर्ण समता रहेगी।"

बलवन्त राय बनाम भारत संघ (1) वाले मामले में न्यायाधिपति धवन ने यहां तक अभिनिर्धारित कर दिया कि अनुच्छेद 37 के अधीन यह उपबन्ध किया गया है कि "विधि बनाने में इन तत्वों का प्रयोग करना राज्य का कर्तव्य होगा"। अतः जब कभी दो सम्भाव्य अर्थान्वयनों में से एक को चुनने का प्रश्न न्यायपालिका के समक्ष आए तब वह विधि बनाने की न्यायिक प्रक्रिया हाथ में लेकर अनुच्छेद 37 की उक्त आज्ञा को लागू कर सकती है।

अगला विषय जिस पर मैं कुछ मत व्यक्त करना चाहूंगा वह "सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न" (सॉवरिन) शब्द का महत्व और अर्थ है। भारत के लोगों की ओर से बोलते हुए संविधान-सभा द्वारा जो कुछ गठित किया गया था वह सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न लोकतन्त्रात्मक गणराज्य था।

अब मैं राजनैतिक सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्नता और विधिक सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्नता के बीच सुसंगत अन्तर बतला दूं। डाइसी ने "लॉ ऑफ दि कांस्टिट्यूशन" (दसवां संस्करण) नामक अपनी पुस्तक में संसदीय सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्नता की प्रकृति के सम्बन्ध में विवेचन करते हुए पृष्ठ 73 पर यह मत व्यक्त किया है —

"इस विषय पर और भी थोड़ा विचार किया जाए तो हम दृढ़तापूर्वक यह कह सकते हैं कि संविधान में अब इस प्रकार की व्यवस्था कर दी गई है जिससे यह बात सुनिश्चित हो जाए कि देश में प्रबल प्रभावयुक्त होने के कारण नियमित और सांविधानिक तरीके से अब मतदाताओं की इच्छा की अंत में हमेशा ही विजय होगी, किन्तु यह एक राजनैतिक तथ्य है न कि विधिक तथ्य। मतदाता अन्ततः हमेशा ही अपनी इच्छा प्रवृत्त करा सकते हैं। किन्तु न्यायालय मतदाताओं की इच्छा पर कोई ध्यान नहीं देंगे। न्यायाधीश जनता की इच्छा के सम्बन्ध में कुछ नहीं जानते। वे उस इच्छा को इतना ही जानते हैं जितनी वह संसद् के अधिनियम द्वारा अभिव्यक्त होती है और वे किसी कानून की विधिमान्यता पर इस आधार पर आक्षेप किए जाने को कभी भी बर्दाश्त नहीं करेंगे कि वह मतदाताओं की इच्छा के विरुद्ध पारित

(1) ए० आई० आर० 1968 इलाहाबाद 14.

किया गया है या प्रवृत्त रखा गया है। यह सच है कि "सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्नता" शब्द का राजनैतिक अर्थ उतना ही या उससे भी अधिक महत्वपूर्ण है जितना कि उसका विधिक अर्थ : किन्तु यद्यपि दोनों अर्थ काफी हद तक घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध हैं; किन्तु वे आवश्यक रूप से अलग-अलग हैं और आस्टिन ने अपने ग्रन्थ के कुछ भागों में एक अर्थ को दूसरे अर्थ से उलझा दिया है।"

विधितः ब्रिटिश पार्लियामेण्ट ने ब्रिटिश इण्डिया की जनता और उसके राज्यक्षेत्र पर अपनी सम्पूर्ण विधिक प्रभुसत्ता संविधान-सभा को अन्तरित कर दी जिसने भारत की जनता की ओर से मत व्यक्त किया। देशी रियासतें अनुवृद्धि के लिखत के जरिए अस्तित्व में आईं। इसका अर्थ यह है कि विधिक प्रभुसत्ता संविधान-सभा में निहित की गई जब कि भारतीय जनता केवल राजनैतिक दृष्टि से सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न कही जा सकती है। उनके मत विभिन्न दृष्टिकोणों से संविधान-सभा के सदस्यों द्वारा सावधानी से अभिनिश्चित किए गए और अभिव्यक्त किए गए। इस प्रकार राजनैतिक प्रभुसत्ता विधि के क्षेत्र के बाहर प्रवृत्त हुई, किन्तु उसने विधिक प्रभुसत्ता पर, अर्थात् संविधान-सभा पर अपनी छाप और प्रभुत्व छोड़ा। इस तथ्य को मानते हुए और इस बात को उजागर करने के लिए कि संविधान-सभा वास्तव में भारत की जनता की ओर से बोल रही थी, संविधान-सभा ने प्रस्तावना "हम भारत के लोग" शब्दों से शुरू की। मेरे मतानुसार इसका अर्थ इस बात से अधिक कुछ नहीं है कि संविधान-सभा ने भारत के लोगों की ओर से मत व्यक्त किया, यद्यपि इस देश के भाग्य का निर्माण करने के लिए उसके द्वारा बनाए गए संविधान के माध्यम से ही उसमें विधिक प्राधिकार निहित किया गया था। हमारे संविधान में यह बात कहीं भी नहीं मिल सकती कि विधिक प्रभुसत्ता भारत के लोगों को अन्तरित की गई थी।

भारत के लोग संसद् के दोनों सदनों में अपने प्रतिनिधियों के माध्यम से बोलते हैं। वे अपने अधिकारों के लिए हक जताने के लिए न्यायालय की शरण में जाते हैं। न्यायालय उनके द्वारा दावा किए गए अधिकारों का निर्णय करते हैं और संविधान की ओर से न कि प्रत्यक्षतः जनता की ओर से मत व्यक्त करते हैं। न्यायाधीश और राज्य के अन्य महत्वपूर्ण व्यक्ति एवम् संसद् सदस्य संविधान के प्रति निष्ठा की शपथ लेते हैं। वे भारत के लोगों के प्रति निष्ठा की शपथ नहीं लेते हैं। दूसरे शब्दों में, संविधान "विधिक प्रभुसत्ता" है जिसे न्यायालयों द्वारा मान्यता प्राप्त है यद्यपि सर्वोपरि राजनैतिक प्रभुसत्ता "लोगों में निहित" हो सकती है और निहित है।

मेरा विचार है कि हमें "प्रभुसत्ता" शब्द के अर्थ के सम्बन्ध में किसी शैक्षिक चर्चा को शुरुआत नहीं करनी है। "प्रभुसत्ता" शब्द ने राजनैतिक विचारकों ड्यूगेट, गिरके, मिटलैंड, लास्की, कोल और कुछ अन्य विधि वेत्ताओं को काफी परेशान किया है। प्रोफेसर अरनेस्ट बारकर द्वारा अपनी "प्रिंसिपल्स ऑफ सोशल एण्ड पालिटिकल थीयरि नामक पुस्तक में व्यक्त किए गए मत को ही उद्धृत करके मैं संतोष करूंगा। उन्होंने "प्रभुसत्ता" शब्द के जैसा उसे वकील लोग साधारणतया समझते हैं, स्वरूप और अर्थ के सम्बन्ध में अपने मत व्यक्त किए हैं। पृष्ठ 59 पर उन्होंने कहा है —

"विधिक संगम के तौर पर राज्य में सभी विधिक विवादों का जो उसके व्याप्ति-क्षेत्र में उद्भूत हों, अन्तिम विधिक समायोजन करने की शक्ति होनी चाहिए।

विधिक संगम एक यूनिट नहीं होगा और विधि में एकरूपता नहीं होगी जब तक कि कहीं न कहीं एक प्राधिकरण न हो जिसके समक्ष महत्वपूर्ण विवाद अन्ततः रखे जाएं, और वह अन्तिम प्राधिकरण के तौर पर अंतिम रूप से विनिश्चय करे। विभिन्न सामाजिक ग्रुप विभिन्न मतों पर जोर दे सकते हैं कि विधि क्या है या विधि क्या होनी चाहिए। यह भी सम्भव है कि राज्य के विभिन्न विभाग विधिक दृष्टि से क्या सही है, इस संबंध में अलग-अलग विचार रखें और उन्हें प्रवृत्त करने का प्रयत्न करें। एक अन्तिम समायोजन-केन्द्र होना ही चाहिए। वह अन्तिम समायोजन-केन्द्र, सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न सत्ता है जो शृंखला की प्रथम कड़ी है, सुपरैनस या सोव्रेनो, अर्थात् ऐसा प्राधिकरण जिसका शब्द अन्तिम हो। सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न सत्ता साधारण राज्य प्राधिकरण या जनशक्ति (प्यूसेन्स पब्लिक्यू) जैसी ही नहीं है। सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न सत्ता विशिष्ट प्रभुत्व का राज्य प्राधिकरण है जिसे अन्तिम विनिश्चय करने की शक्ति और अधिकार है।"

"एक अर्थ में सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्नता असीमित है—असीमित और असीम। विधिक संगम में कोई ऐसा प्रश्न उद्भूत नहीं होता जिसका प्रवर्तन ऐसे क्षेत्र से सम्बद्ध न हो जो सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न सत्ता के समक्ष न आए और उसके समक्ष आने पर उसका अन्तिम रूप से विनिश्चय वह न कर सके। समायोजन-केन्द्र इतना सक्षम होना चाहिए कि वह बिना किसी अपवाद के प्रत्येक ऐसे प्रश्न का जिसका समायोजन किया जाना जरूरी हो, समायोजन कर सके। किन्तु अन्य बातें भी हैं जिन पर ध्यान दिया जाना चाहिए और उनसे हमें यह ज्ञात होगा कि सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न सत्ता यदि वह विशिष्ट प्रश्नों और निश्चित उद्देश्यों तक ही सीमित नहीं है (सीमित अर्थात् उन बातों के सम्बन्ध में जिनकी बाबत वह कार्यवाही करती है) तो वह अपनी प्रकृति से और अपने कार्य करने की रीति से तो और भी सीमित और परिभाषित नहीं है।"

"पहली बात यह है कि अपनी प्रकृति के सम्बन्ध में सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न सत्ता का आदेश अन्तिम आदेश होता है। अतः उसके समक्ष ऐसे प्रश्न ही लाए जाएंगे जिन पर अन्तिम रूप से विचार किया जाना चाहिए। बहुत से प्रश्न नीचे की श्रेणियों में ही और साधारण राज्य प्राधिकरण के कार्य करने के मामूली अनुक्रम में ही तय कर दिए जाएंगे। उसके कार्य करने की रीति की बाबत दूसरी बात यह है कि सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न सत्ता विधिक संगम का एक भाग और एक अंग है। अतः सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न सत्ता के समक्ष ऐसी कोई बात नहीं आएगी जो विधिक-संगम की प्रकृति और प्रवर्तन से इस प्रकार सम्बन्धित न हो। सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न सत्ता विधिक संगम के क्षेत्र में ही रहती है और वह उस क्षेत्र में ही विधिक महत्व के प्रश्नों का विनिश्चय करती है और केवल उन्हीं प्रश्नों का ही विनिश्चय करती है। उस क्षेत्र के भीतर और उन प्रश्नों का विनिश्चय करते हुए ही सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न सत्ता केवल विधिक निर्णय करेगी और वह विधिक प्रक्रिया के नियमित नियमों के अनुसार ऐसा ही करेगी। यह किसी भी कार्य को किसी भी प्रक्रिया से

करने की अनियमित शक्ति नहीं है । यह विधिक तरीके से विधिक प्रश्नों को अन्तिम रूप से तय करने की विधिक शक्ति है।

प्रोफेसर इरनैस्ट बारकर ने (पृष्ठ 61-63 पर) यह मत व्यक्त किया—

"(क) अन्ततः और अन्तिम सहारे के तौर पर सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न सत्ता स्वतः संविधान ही है—वह संविधान जो संगम का निमित्त और प्ररूपिक हेतुक है । सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न शक्ति से ही वह अस्तित्व में आता है और उसके द्वारा उसके प्रवर्तन के लिए (यदि संविधान में 'अधिकारों की घोषणा' अन्तर्विष्ट या संलग्न रहती है तो) अंग और पद्धतियां बनायी और परिभाषित की जाती हैं और उसके प्रवर्तन के प्रयोजनों का प्ररूप बनाया और परिभाषित किया जाता है । इस मत पर इस प्रकार आक्षेप किया जा सकता है कि सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न सत्ता जीवित व्यक्तियों का एक निकाय है और वह एक अवैयक्तिक स्कीम नहीं और अन्ततः सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न सत्ता संविधान में अधिरोपित नहीं की जानी चाहिए किन्तु संविधान बनाने वाले निकाय में अधिरोपित की जानी चाहिए जो उसके उपबन्धों में परिवर्तन और संशोधन कर सकता है । किन्तु इस आपत्ति का भी उत्तर दिया जा सकता है । संविधान की अवैयक्तिक स्कीम स्थायी रूप से दिन प्रति दिन और वर्ष प्रति वर्ष मौजूद रहती है । उस स्कीम के अनुसार राज्य के पूर्ण प्रवर्तन पर स्थायी नियन्त्रण के तौर पर लगातार और बिना किसी व्यवधान के कार्य किया जाता है । ऐसे व्यक्तियों का निकाय जो संविधान में परिवर्तन और संशोधन कर सकता है, (और जो प्रसंगवश केवल संविधान के अधीन हो और संविधान के आधार पर ही कार्य कर सकता है) ऐसा निकाय है जो व्यवधान पड़ने पर ही कार्य करता है और इसलिए कभी-कभी ही वह कार्य करता है । लगातार नियन्त्रण को यदाकदा व्यवधान की अपेक्षा सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न सत्ता अधिक उपयुक्त रूप से कहा जा सकता है और तदनुसार हम यह कह सकते हैं कि संविधान स्वतः ऐसे नियंत्रण के आधार पर अन्तिम सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न सत्ता है ।"

"(ख) तथापि संविधान की परम सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न सत्ता के अधीन दूसरी बात जो हम कह सकते हैं, वह यह है कि वह निकाय जो दिन प्रति दिन और वर्ष प्रति वर्ष विधिक आचरण से सम्बन्धित नियम जारी करता है और मामूली विधि बनाता है, वह आसन्न सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न सत्ता है । वह निकाय विभिन्न राजनैतिक तन्त्रों में अलग-अलग ढंग से गठित किया जा सकता है । उदाहरण के लिए यूनाइटेड स्टेट्स में वह कांग्रेस और प्रेसीडेण्ट से मिलकर बनती है जो स्वतन्त्र रूप से कार्य करते हैं । (यद्यपि आपसी नियन्त्रण और एक दूसरे के प्राधिकार को अध्यारोपित करने की आपसी शक्ति सहित कांग्रेस और प्रेसीडेण्ट समन्वय की पद्धति के आधार

पर कार्य करते हैं। यूनाइटेड किंगडम में वह निकाय पार्लियामेण्ट और हिज मैजिस्टि के मन्त्रियों से मिलकर बनता है जो आपस में मिलकर कार्य करते हैं और आपसी ले-दे के सिद्धान्त के अनुसार कार्य करते हैं यद्यपि यहां भी आपसी नियन्त्रण रहता है, समन्वय की अपेक्षा सम्बन्ध की पद्धति पर कार्य करते हुए पार्लियामेन्ट प्रतिकूल मत द्वारा मंत्रियों को पदच्युत कर सकती है और इसके विपरीत मंत्री हिज मैजिस्टि को विघटन की अपनी शक्ति का उपयोग करने की सलाह देकर पार्लियामेण्ट को पदच्युत कर सकते हैं)। तथापि वह निकाय देश की मामूली विधि बनाता है, किसी प्रकार भी गठित हो, वह आसन्न सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न सत्ता होता है जो मामूली सामयिक प्रश्नों पर अन्तिम विधिक घोषणाएं संविधान द्वारा प्राधिकृत, विस्तार और पद्धति द्वारा करता है, यूनाइटेड किंगडम में आसन्न सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न सत्ता मामूली विधि बनाती है और वह संविधान द्वारा कार्य करने के लिए काफी हद तक प्राधिकृत है। वह आसन्न सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न सत्ता की तुलना में सहज और तीव्रतर पद्धतियों से कार्य करने के लिए भी प्राधिकृत है। यूनाइटेड स्टेट्स में आसन्न सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न सत्ता मामूली विधि बनाती है। किन्तु प्रत्येक दशा में आसन्न सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न सत्ता संविधान द्वारा प्राधिकृत एक निकाय है जो इस प्रकार प्राधिकृत किए जाने के कारण कार्य करता है और कार्य करने में समर्थ है।"

"यहां जो दलील दी गई है कि संविधान स्थायी स्कीम या स्थायी अभिव्यक्ति के कारण परम सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न सत्ता है और उसे राजनैतिक संगम की प्रमुख विधि कहा जा सकता है और विधि और नियम बनाने वाला निकाय आसन्न सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न सत्ता है क्योंकि वह देश की द्वितीयक विधि कही जा सकती है जो ऐसी विधि का निरन्तर और सतत सक्रिय स्रोत है। इस दलील पर दो प्रकार से आक्षेप किया जा सकता है। इसमें से एक बहुत हद तक प्रकल्पिक है किन्तु दूसरा अधिक सारभूत है। प्रथम और बहुत हद तक प्रकल्पिक कठिनाई यह है कि चरम सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न सत्ता संविधान बनाने वाले निकाय में अधिरोपित करने की बजाय संविधान में अधिरोपित करना और उसके पश्चात् आसन्न सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न सत्ता को विधि में अधिरोपित करने की बजाय विधि और नियम बनाने वाले निकाय में अधिरोपित करना असंगत होगा। क्या अनुरूपता की दृष्टि से यह अपेक्षित नहीं है कि या तो दोनों सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न सत्ताएं अवैयक्तिक पद्धति हों या दोनों वैयक्तिक निकाय हों; या तो "संविधान का नियम चरम सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न सत्ता होना चाहिए और "विधि का शासन" आसन्न सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न सत्ता होना चाहिए या यह कि चरम सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न सत्ता संविधान बनाने वाला निकाय होना चाहिए और आसन्न सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न सत्ता विधि और नियम बनाने वाला निकाय होना चाहिए। हमारा उत्तर यह है कि इस मामले की प्रकृति में ही असंगतता: अन्तर्निहित है। राज्य की मुख्य विधि की स्थिति द्वितीयक विधि से भिन्न है।

मैंने प्रोफेसर भरनेस्ट बारकर के विचार काफी विस्तार से उद्धृत किए हैं क्योंकि हमारे संविधान के सुसंगत उपबन्धों को समझने के लिए वे मुझे विशेष महत्वपूर्ण लगे। यह सच है कि प्रोफेसर अरनेस्ट बारकर ने अपनी विवेचना. हमारे संविधान की प्रस्तावना उद्धृत करके शुरू की है और पुस्तक की शुरूआत इस प्रकार करने के लिए उन्होंने अपना स्पष्टीकरण इस प्रकार दिया है—

> "प्रस्तावना समाप्त करने के पहले मुझे यह बात स्पष्ट कर देनी चाहिए कि संविधान की प्रस्तावना, विषय-सूची के पश्चात् क्यों मुद्रित की गई है। जब मैं उसे पढ़ता हूं तो मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि उसमें इस पुस्तक में प्रस्तुत की गई तर्क श्रृंखला का अधिकांश भाग संक्षेप में वर्णित किया गया है और तदनुसार वह महत्वपूर्ण टिप्पण के तौर पर सहायक हो सकती है। मैं उसे उद्धृत करने के लिए इस कारण से और प्रेरित हुआ हूं क्योंकि मुझे इस बात का गर्व है कि भारत के लोगों ने उन राजनैतिक परिपाटियों के सिद्धान्तों को स्वीकार करके अपना स्वतन्त्र जीवन आरम्भ किया है जिन्हें हम पश्चिम में पश्चिमी कहते हैं किन्तु जो अब पश्चिमी से कुछ अधिक हैं।

"संविधान की सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्नता" जैसा मैं समझता हूं "एक तत्व" है जैसा बोसानक्वे ने अपनी 'थीयरि ऑफ दी स्टेट' नामक पुस्तक में "असली सम्पूर्ण में अन्तर्निहित" (इनहेरेण्ट इन दि जेन्युइन होल) कहा है। इसका अर्थ है कि यह राज्य के तीन अंगों में से किसी भी अंग में अपने सब पहलुओं के साथ निहित नहीं है किन्तु उनके बीच में विभाजित की जा सकती है। ऐसी सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्नता का चिह्न निश्चित ही 'सांविधानिक शक्ति' को अपने कब्जे में रखना है, यद्यपि सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्नता अपने समग्र रूप में विभाजित की जा सकती है। लास्की ने अपनी पुस्तक "ग्रामर ऑफ पालिटिक्स" के पृष्ठ 296-297 पर लिखा है—

> "यह दलील बहुत उचित रूप से दी जा सकती है कि प्रत्येक राज्य में स्वतंत्रता बनाए रखने के लिए तीनों शक्तियों के बीच कुछ अन्तर अनिवार्य है। लॉक और मान्टेस्क्यू के ग्रन्थों के पश्चात् से, हम साधारणतया मैडिसन की इस उक्ति की सच्चाई को मानने लगे हैं कि एक ही स्थान पर सभी शक्तियों के संचयन को बहुत ही उपयुक्त रूप से निरंकुशता' कहा जा सकता है।"

ऐसी अत्यधिक शक्ति के कुछ हाथों में केन्द्रण न होने देने के लिए, जिससे वे व्यक्ति जिनके पास वह शक्ति है, भ्रष्ट न हो जाएं या उसका दुरुपयोग न करें, हमारे संविधान में विधिक सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्नता तीन श्रेणियों या राज्य के तीन अंगों में बांटी गई है—विधानमण्डल, कार्यपालिका और न्यायपालिका। हमारे संविधान द्वारा प्रत्येक की सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्नता का क्षेत्र इस प्रकार सीमांकित किया गया है कि "असली सम्पूर्ण" तीनों अन्तर्भेदी क्षेत्रों के रूप में प्रतीत होता है। इन क्षेत्रों के उन भागों में जहां

न्यायिक शक्ति, विधायी और कार्यपालिका शक्तियों के बीच अन्तर्भेद करती है वहां न्यायपालिका एक पर्यवेक्षक या संविधान के संरक्षक के तौर पर कार्य करती है और वह विधायी या कार्यपालिक कार्य की जांच पड़ताल कर सकती है।

यहां हमारा सम्बन्ध केवल न्यायिक और विधायी अंगों के बीच है। जहां तक मामूली विधि बनाने का सम्बन्ध है, हमारे संविधान द्वारा न्यायपालिका संविधान के संरक्षक के तौर पर परीक्षा करने के लिए अन्तिम प्राधिकरण बनाई गई है। संविधान की प्राथमिक मूल विधि के क्षेत्र में संविधान के अनुच्छेद 368 में अन्तर्विष्ट संशोधन की शक्ति भी आती है। इस शक्ति पर न्यायपालिका का नियन्त्रण केवल यह बात देखने तक सीमित है कि संशोधन के प्ररूप और रीति का उचित रूप से पालन हो। इसके अतिरिक्त संविधान के अनुच्छेद 368 में वर्णित सांविधानिक निकायों या अंगों में निहित सांविधानिक शक्ति पर न्यायपालिका का प्राधिकार समाप्त हो जाता है। निस्सन्देह न्यायपालिका को विवाद की दशा में सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न प्राधिकरण एवम् अन्य प्राधिकरणों की सीमाओं के प्रश्न का विनिश्चय करना होता है। किन्तु जब ये प्राधिकरण अपनी सीमाओं के भीतर कार्य करते हैं तब न्यायपालिका हस्तक्षेप नहीं कर सकती।

संविधान की सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न सत्ता के स्वरूप और उससे सम्बन्धित न्यायिक कृत्य के स्वरूप की बाबत कुछ मत व्यक्त करने के पश्चात् अब मैं प्रगतिशील परिवर्तनों के सम्बन्ध में जो संविधान सभा में दिए गए भाषणों से स्पष्ट रूप से प्रकट होते हैं, और जो संविधान की प्रस्तावना एवम् निदेशक तत्वों में पाए जाते हैं, अपना मत व्यक्त करूंगा। ग्रेनविले आस्टिन ने "इण्डियन कांस्टिट्यूशन: कारनर स्टोन ऑफ ए नेशन" के पृष्ठ 43 पर यह मत व्यक्त किया—

> "तथापि सभा के अधिकांश सदस्यों के लिए जो सबसे अधिक महत्व की बात थी, वह यह नहीं थी कि संविधान में समाजवाद की विचारधारा सन्निविष्ट की जाए किन्तु यह थी एक लोकतंत्रात्मक संविधान बनाया जाए जिसका झुकाव समाजवाद की ओर हो जिससे कि भविष्य में राष्ट्र उस हद तक समाजवादी बन सके जितना नागरिक चाहें या जिस हद तक राष्ट्र की जरूरतों के अनुसार आवश्यक हो। साधारण तौर पर मानवतावाद पर आधारित उद्देश्यों से और समाजवादी प्रजातंत्रात्मक विचारधारा के कुछ खास तरीकों से प्रभावित होने के कारण संविधान सभा के सदस्यों ने इस प्रकार का संविधान बनाया।"

इस प्रकार से जिस दिशा की ओर राष्ट्र को प्रगति करनी थी, उसके प्रति संकेत किया गया था, किन्तु जिन निश्चित ढंगों द्वारा उन लक्ष्यों को समाजवाद के या राज्य द्वारा की गई कार्यवाही के जरिए प्राप्त करना था उन्हें भविष्य में राज्य के अंगों द्वारा अवधारित किए जाने के लिए छोड़ दिया गया था। उन सिद्धान्तों को अधिकथित करने में जिन के जरिए से गरीबी से कुचली हुई शोषित पददलित, अज्ञान, धार्मिक तथा अंधविश्वासी भारत की ऐसी जनता को, जिसमें विभिन्न प्रकार के तत्व मौजूद हैं, शक्तिशाली, एकताबद्ध उन्नत, आधुनिक राष्ट्र के रूप में परिवर्तित किया जाना था, यह उपधारणा की गई थी और

बार-बार कहा गया था कि भारत की अर्थव्यवस्था में जो सामंतवादी स्वरूप मौजूद है, उसे तब्दील करना होगा। उसके सामाजिक नमूने, विचारों और भावनाओं के ढंगों को वैज्ञानिक विचारधारा तथा प्रयत्न द्वारा इस प्रकार से तब्दील किया जाना तथा मोड़ा जाना था जिससे कि उसके लोग प्रत्येक दिशा में उन्नति के उच्च से उच्चतर शिखर की ओर अग्रसर हो सकें।

हमारे संविधान निर्माता, जिनमें भारत के सर्वाधिक विख्यात विधि शास्त्रियों में से कुछ शामिल थे, हमारे प्राचीन विधि शास्त्रियों, मनु और पाराशर की शिक्षाओं से अनभिज्ञ नहीं रह सकते थे, जिन्होंने यह बात बताई थी कि प्रत्येक युग की विधियां भिन्न-भिन्न होती हैं। इस मत के समर्थन में, स्वर्गीय डाक्टर गंगा नाथ झा ने हिन्दू विधि पर लिखी गई अपनी पुस्तक में मनु और पाराशर के मूल उद्धरणों को ओद्धृत किया है, जोकि निम्नलिखित रूप में हैं—

(1) अन्ये कृतयुगे धर्मास्त्रितायां द्वापरेऽपरे अन्ये कलियुगे नृणां युग रूपानुसारतः।

—पाराशर—मनु

(2) अन्ये कृतयुगे धर्मास्त्रितायां द्वापरेऽपरे अन्य कलियुगे नृणां युग रूपानुसारतः।

—पाराशर—मनु

उपर्युक्त उद्धरण का हिन्दी रूपान्तर इस प्रकार से है—

> "मूल विधियां (जो मूल कर्त्तव्यों को अधिरोपित करती हैं या मूल अधिकारों को प्रदत्त करती हैं) प्रत्येक युग में भिन्न-भिन्न होती हैं; वे कृत के रूप में ज्ञात युग में द्वापर युग की मूल विधियों से भिन्न होती हैं कलियुग की मूल विधियां सभी विगत कालों से भिन्न होती हैं; प्रत्येक युग की विधियां उस युग के सुभिन्न स्वरूप के अनुसार होती है (युग रूपः अनुसारतः)।"

अन्य शब्दों में हमारे प्राचीन विधि शास्त्रियों ने भी इस सिद्धान्त को माना था कि एक पीढ़ी को यह अधिकार प्राप्त नहीं होता है कि वह मूल सिद्धान्तों के संबंध में भी अपने विचारों या विधियों को भावी पीढ़ियों पर लादे। मूल सिद्धान्त न केवल एक समाज और दूसरे समाज के बीच भिन्न हो सकते हैं, बल्कि वे एक ही समाज या राष्ट्र की एक पीढ़ी तथा दूसरी पीढ़ी के बीच भी भिन्न हो सकते हैं।

जो कुछ भी हो, मुझे विश्वास हो गया है कि हम असंशोधित अनुच्छेद 368 की भाषा में की किसी भी बात से संविधान के कम और अधिक आधारिक भागों के बीच किसी प्रभेद के सम्बन्ध में इस बात के सिवाय निष्कर्ष नहीं निकाल सकते, जोकि किन्हीं अनुच्छेदों के संशोधन के लिए विहित कठिन प्रक्रिया में दिखाई पड़ती है। कोई भी अनुच्छेद, इस अर्थ में

कि उन्हें अनुच्छेद 368 में बताई गई संशोधन की प्रक्रिया से छूट प्राप्त है या वे उसके बाहर हैं, न तो पवित्र ही है और न ही सर्वोत्तम जब कि, अन्य अनुच्छेद उसके संशोधन के पूर्व भी उसके अध्यधीन तथा उसकी परिधि के भीतर हैं।

मेरे विद्वान् भ्राता न्यायाधिपति द्विवेदी ने संविधान द्वारा परिकल्पित प्रगति के ढंग की तुलना चक्र की गति से बहुत ही उचित रूप से की है। ऐसी गति में स्वभावतः यह बात अन्तर्निहित होती है कि राष्ट्र का एक ऐसा भाग जोकि किसी समय उन्नति के शिखर पर था, अवनति के गर्त में जा सकता है और उसके बाद, उन्नति के शिखर पर पुनः पहुंच सकता है। ऐसे संविधान में संशोधन करने वाले उपबन्धों का अनिवार्यतः काम हमारे संविधान निर्माताओं के परिकल्पित भविष्य में गतिशील और आधारिक परिवर्तनों के माध्यम रूप में होना चाहिए। सम्पूर्ण संविधान इस उपधारणा पर आधारित है कि वह किन्हीं लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए भारत के सभी लोगों की प्रगति का साधन है। दो बुराइयों में से कम बुरी बात का चयन करने की दृष्टि से, जनता की आर्थिक मुक्ति प्राप्त करने की दृष्टि से, जिसके बिना वह किन्हीं भी मूल अधिकारों का वास्तविक अर्थों में उपभोग करने में असमर्थ है, प्रगति के अनुक्रम में किन्हीं मूल अधिकारों का यदाकदा निराकरण या बलिदान अन्तर्निहित है। उन लक्ष्यों को प्राप्त करने की गति इतनी धीमी हो सकती है जोकि बैलगाड़ी की गति के समान मालूम पड़े। किन्तु स्वचालित यान और वायुयानों के इस युग में गति और अधिक तेज हो सकती है।

ऐसे संविधान में, सांविधानिक कृत्य द्वारा जो न्यायपालिका को सौंपा गया हो, यह बात देखी जानी है कि जिस मार्ग का चुनाव किया गया है, वह निश्चित किए गए क्रम या पथ से विमुख तो नहीं होता है या किसी भी विशिष्ट समय पर संविधान द्वारा विहित सीमाओं का अतिलंघन तो नहीं करता है। जैसा कि मैंने पहले ही कहा है, मूल अधिकारों को ऐसी ही परिसीमाओं के रूप में माना जा सकता है। जैसा कि हमारा संविधान है, उसमें संशोधन करने की शक्ति के अन्तर्गत प्रत्येक युग और पीढ़ी की आवश्यकताओं के अनुसार इन परिसीमाओं में तब्दीली करने की शक्ति भी आती है। जैसा कि प्रख्यात न्यायमूर्ति होम्स ने अपने ग्रन्थ "कामन लॉ" में "मत व्यक्त किया था, विधि का जीवन-स्रोत तर्क न होकर, समय की ऐसी आवश्यकता है जो महसूस की जाए। हर प्रकार की विधि, को चाहे वह मूल विधि हो या साधारण विधि, विशिष्ट समय पर लोगों की आवश्यकताओं के अनुसार बनाने की कोशिश करनी पड़ती है। अतः ऐसे प्रगतिशील राष्ट्र में जिसके पास ऐसा संविधान हो, जिसमें समाजवाद की ओर प्रगति करने की परिकल्पना की गई है, अनुकूलन की शक्ति का अर्थान्वयन उन प्रेरणाओं की सम्पूर्ण पृष्ठभूमि के सन्दर्भ में, जोकि संविधान में मौजूद हैं और उस बात के सन्दर्भ में जिससे कि उन प्रेरणाओं के अनुसार कार्य किया जा सके, किया जाना चाहिए। यदि इस प्रकार से अर्थ किया जाता है तो उन मूल बातों में भी जिन्हें हम आज आधारिक समझते हैं, तब्दीलियां करनी पड़ सकती हैं।

मैं समझता हूं कि अटर्नी जनरल श्री निरेन डे और महाराष्ट्र के महाधिवक्ता श्री सीरवाई ने उचित रूप से ही यह बात बताई है कि संविधान में अनुच्छेद 368 का उचित कृत्य हिंसक क्रान्ति के विरुद्ध रक्षा-कवच के रूप में है। यह रक्षा-कवच के रूप में केवल तभी कार्य कर सकता है, यदि हम अनुच्छेद 368 में अन्तर्विष्ट संविधान की शक्तियों का

अर्थान्वयन, उसकी अभिव्यक्त भाषा के स्पष्ट अर्थ के विपरीत, इतना संकुचित होकर नहीं करते हैं, जिससे कि अपने संविधान के किसी ऐसे तत्व के जिसे कि आधारिक कहा जा सकता है, परिवर्तन या तब्दीली पर ही कोई वर्जन अधिरोपित हो जाए।

हमारे संविधान जैसे दस्तावेज सहित, जिसमें कि हमारे देश की मूल विधि अन्तर्विष्ट है, दस्तावेजों के निर्वचन के और अर्थान्वयन के अनेक सिद्धान्त हमें बताए गए। यह बात उचित रूप से बताई गई है कि ऐसे विस्तृत संविधान में संशोधन करने की शक्ति द्वारा उसके किसी भी भाग के संशोधन की शक्ति को उसकी परिधि या विस्तार से सम्भवतः नहीं निकाला जा सकता; इस प्रकार से चौबीसवां संशोधन अनुच्छेद 368 की परिधि के भीतर संशोधन करने की विस्तृत शक्ति प्रदान करने सम्बन्धी मूल आशय का मात्र स्पष्टीकरण ही करता है। यह बात सही तौर से बताई गई है कि जिस सावधानीपूर्ण रीति से संविधान और विशेषकर अनुच्छेद 368 को संशोधित करने का उपबन्ध विरचित किया गया था, उससे जानबूझकर किसी बात को छोड़ देने की सम्भावना इस प्रकार समाप्त हो जाती है जिससे कि किसी ऐसे उपबन्ध को जोकि मूल अधिकार या किसी अन्य आधारिक मुख्य बात को छीन ले या न्यून करे या उस पर प्रभाव डाले, उसकी परिधि से बाहर निकाला जा सके। किसी भी स्थिति में, ऐसे संविधान में जैसा कि हमारा है, हमें ऐसे अर्थान्वयन के विरुद्ध जो कि हमें यह अभिनिर्धारित करने में समर्थ बनाता हो कि संविधान का कोई भी भाग अनुच्छेद 368 की, जैसा कि वह मूल रूप से विचरित किया गया था, परिधि से बाहर है, बहुत ही जोर देकर विचार प्रकट करना चाहिए। अनुच्छेद 368 में उस प्रभाव के अभिव्यक्त शब्दों के बिना, मैं मात्र यह उपधारणा करने या अनुमान लगाने के लिए तैयार नहीं हूं कि उसमें जानबूझकर कोई बात छोड़ी गई है।

उपर्युक्त गोलक नाथ वाले मामले के आधारपर, यह दलील निस्संदिग्ध रूप से दी गई कि अनुच्छेद 368 के अधीन संशोधन द्वारा मूल अधिकारों का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष न्यून करने या छीनने की बात संविधान के अनुच्छेद 13 (2) की भाषा द्वारा अभिव्यक्त रूप से वर्जित हैं। मैं अपने उन विद्वान् भ्राताओं के मत से सहमत हूं जो यह अभिनिर्धारित करते हैं कि अनुच्छेद 13(2) से मामूली विधियों के सम्बन्ध में या संसद् के और राज्य विधानमण्डलों के उनकी मामूली विधि बनाने की हैसियतों से किए जाने वाले कृत्य के सम्बन्ध में उपबन्ध करना अभिप्रेत है। यह आशयित नहीं था कि अनुच्छेद 368, जिसमें उस मूल विधि के, जिसका कि अनुच्छेद 13(2) एक भाग है; संशोधन के बारे में उपबन्ध किया गया है, अप्रत्यक्ष रूप से उसकी परिधि के भीतर है। उसकी भाषा और संदर्भ तथा उसकी विषयवस्तु, जो कि संविधान के अनुच्छेद 13(2) में ही वर्णित है, मुझे यह अभिनिर्धारित नहीं करने देते कि यह अनुच्छेद चौबीसवें संशोधन द्वारा अनुच्छेद 368 के संशोधित किए जाने के पूर्व भी, संविधान के अनुच्छेद 368 में अंतर्विष्ट संविधान के किसी भाग में संशोधन की शक्तियों पर निर्बन्धन के रूप में, सम्भवतः, कार्य कर सकता है।

उपर्युक्त गोलक नाथ वाले मामले में इस न्यायालय के विद्वान् न्यायाधीशों ने बहुमत से यह अभिनिर्धारित किया था कि संविधान के अनुच्छेद 368 में न केवल प्रक्रिया अन्तर्विष्ट है, बल्कि उसमें उसके संशोधन की शक्ति भी मौजूद है। उन्होंने यह भी अभिनिर्धारित किया कि संशोधन करने की यह शक्ति विस्तृत है। किन्तु न्यायाधिपति हिदायतुल्ला ने यह मत व्यक्त

किया था कि जैसा कि संविधान के अनुच्छेद 13(2) में प्रयुक्त है, "विधि" पद की परिधि इतनी अधिक विस्तृत है कि उसके अन्तर्गत उस मूल विधि में की जाने वाली तब्दीली आ जाती है, जिसको अनुच्छेद 368 अनन्य रूप से लागू होता है। न्यायमूर्ति हिदायतुल्ला के इस दृष्टिकोण से इस राय के पक्ष में कि अनुच्छेद 13 (2) अनुच्छेद 368 में अन्तर्विष्ट शक्तियों पर अभिव्यक्त निर्बन्धन के रूप में कार्य करता है, यद्यपि उसमें ऐसी बात अभिव्यक्त रूप से नहीं कही गई है, एक के नगण्य बहुमत से पासा पलट गया। "विधि" पद का जो विस्तृत अर्थ किया गया उससे परिसीमा का यह अनुमान लगाया गया किन्तु इस न्यायालय के उन अधिकांश न्यायाधीशों का दृष्टिकोण जिन्हें प्रश्न पर विचार करने का अवसर मिला था, अर्थात् यह कि यदि हम उन सभी न्यायाधीशों की संख्या को शामिल करें या जोड़ें जिन्होंने सज्जन सिंह बनाम राजस्थान राज्य (1) और श्री शंकरी प्रसाद सिंह देव बनाम भारत संघ और बिहार राज्य(2) वाले मामले में विनिश्चय दिए थे, मत अब भी इस मत के पक्ष में है कि "विधि" शब्द जैसा कि संविधान के अनुच्छेद 13(2) में प्रयुक्त है, मूल विधि या संविधान को लागू नहीं होता। यदि वास्तव में ऐसा लागू करने का आशय रहता तो कम से कम अनुच्छेद 13(2) में यह बात स्पष्ट कर दी गई होती।

इस दलील से मैं प्रभावित नहीं हुआ हूं कि अनुच्छेद 13(2) जैसे कि संविधान सभा द्वारा मूलतः पारित किया गया था, उसमें संविधान के अनुच्छेद 368 के अधीन प्रयोग किए जाने वाली संशोधन की शक्तियों के सम्बन्ध में विनिर्दिष्ट रूप से छूट प्राप्त थी, जिसे बाद में चलकर निकाल दिया गया। यदि संविधान निर्माताओं के विचार के अनुसार, इस खंड को निकाल देने से बहुत ही बड़ी तब्दीली लाना आशयित था, जैसा कि इस संबंध में याचिकादारों के काउन्सेल ने दलील दी है, तो ऐसी तब्दीली के प्रारूपण समिति ने कोई न कोई स्पष्टीकरण अवश्य ही दिया होता। इसके अलावा हमें यह नहीं बताया गया है कि प्रारूपण समिति को ऐसी भाषा ग्रहण करने का कौनसा प्राधिकार प्राप्त था, जिससे कि वह ऐसी बड़ी तब्दीली को संविधान-सभा के ध्यान में लाए बिना, संविधान-सभा के आशय में ऐसी तब्दीली कर सकती थी। खतरे से खाली उपधारणा यह है कि प्रारूपण समिति ने श्री संथानम् द्वारा प्रस्थापित और विधानसभा द्वारा स्वीकृत परिवर्धन को केवल इसलिए निकाल दिया था, क्योंकि उसने अतिरिक्त शब्दों के बारे में यह सोचा कि वे अव्यवहारिक और अनावश्यक हैं।

स्वयं हमारे संविधान में ही अनेक स्थानों पर संविधान और विधि के बीच प्रभेद के बारे में अनेक उपबन्ध मौजूद हैं। उसमें "संविधान" और "विधि" दोनों ही बातों के बारे में जिक्र किया गया है, जिससे कि यह ध्वनित होता है कि उनके बीच ऐसा अन्तर अवश्य है जिसे कि स्वयं संविधान द्वारा ही किया गया है। उदाहरण के लिए देखिए—

1. संविधान के अनुच्छेद 60 द्वारा विहित राष्ट्रपति के लिए शपथ का प्ररूप जिसमें "संविधान और विधि का परिरक्षण, संरक्षण और प्रतिरक्षण करने" के सम्बन्ध में उपबन्ध किया गया है।

---

(1) (1965) 1 एस० सी० आर० 933.
(2) (1952) एस० सी० आर० 89.

2. संविधान के अनुच्छेद 159 द्वारा विहित राज्य के राज्यपाल के लिए शपथ का प्ररूप जिसमें "संविधान और विधि के संरक्षण और प्रतिरक्षण करने के सम्बन्ध में उपबन्ध किया गया है।

3. अनुच्छेद 75(4) द्वारा विहित अनुसूची 3 के प्ररूप 1 में दिए गए संघ के मंत्री के लिए शपथ का जिसमें "सब प्रकार के लोगों के प्रति संविधान और विधि के अनुसार न्याय करने" के सम्बन्ध में उपबन्ध किया गया है।

4. संविधान के अनुच्छेद 124(6) के अधीन तृतीय अनुसूची के प्ररूप 4 में दिए गए उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश के लिए विहित शपथ का प्ररूप जिसमें "संविधान और विधि की मर्यादा बनाए रखने" के सम्बन्ध में उपबन्ध किया गया है। संविधान के अनुच्छेद 148(2) के अधीन भारत के नियंत्रक-महालेखापरीक्षक के लिए भी वही प्ररूप लागू होता है।

5. संविधान के अनुच्छेद 164(4) के अधीन विहित तृतीय अनुसूची के प्ररूप 5 में दिए गए राज्य के मंत्री के लिए शपथ का प्ररूप जिसमें "सब प्रकार के लोगों के प्रति संविधान और विधि के अनुसार न्याय करने" के सम्बन्ध में उपबंध किया गया है।

6. संविधान के अनुच्छेद 219 द्वारा विहित तृतीय अनुसूची के प्ररूप 7 में दिए गए उच्च न्यायालय के न्यायाधीश के लिए शपथ का प्ररूप जिसमें "संविधान और विधियों की मर्यादा बनाए रखने" के सम्बन्ध में उपबन्ध किया गया है।"

संविधान की पंचम अनुसूची के भाग-घ के खण्ड 7 में केवल "संशोधन" शब्द के अर्थ को स्पष्ट किया गया है, जिसके अन्तर्गत "जोड़, फेरफार या निरसन आता है और वही बात षष्ठ अनुसूची के खण्ड 21 के मामले में भी है। मेरे मत पर उन संशोधनों के जिनके बारे में यह समझा जाएगा कि वे संशोधन नहीं हैं और जो अनुच्छेद 368 के भीतर आते हैं तथा पंचम और षष्ठ अनुसूचियों में वर्णित हैं तथा अनुच्छेद 368 के अन्तर्गत आने वाले वास्तविक संशोधनों के बीच किए गए प्रभेद का कोई भी प्रभाव नहीं पड़ा है। इन उपबंधों में और अनुच्छेद 4 तथा 169 में "समझी जाएगी" शब्दों का प्रयोग केवल यह उपदर्शित करने के लिए ही किया गया था कि अनुच्छेद 368 द्वारा अपेक्षित प्रक्रिया की यहां पर आवश्यकता नहीं है। संविधान में जहां कहीं भी "संशोधन,' शब्द का प्रयोग किया गया है, उसके अभिप्राय के अर्थान्वयन तथा उसे निश्चित करने में इन उपबंधों से निस्संदिग्ध रूप से मदद मिलती है और जैसा कि मैं पहले ही अभिनिर्धारित कर चुका हूं, सम्पूर्ण संविधान के संदर्भ में संशोधन के परिधि को निश्चित रूप से विस्तृत होनी चाहिए।

यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि संविधान के अनुच्छेद 13 के उप-अनुच्छेद (3) में 'विधि" पद की जिसका प्रयोग अनुच्छेद 368 में बिल्कुल ही नहीं किया गया है, अभिव्यक्त रूप से परिभाषा करने की कोशिश यह कथन करने के पश्चात् की गई है कि "यदि प्रसंग से दूसरा अर्थ अपेक्षित न हो "। मैंने अनुच्छेद 368 के संदर्भ में अपना विचार पहले ही प्रकट कर दिया है जिसमें कि संशोधन करने की ऐसी शक्ति मौजूद है जो कि निश्चित रूप से

संविधान के प्रत्येक भाग को उस समय तक लागू होती है जब तक कि अभिव्यक्त रूप से यह अपवर्जित न कर दिया जाए कि वह अमुक भाग को लागू नहीं होता।

किन्तु इस संदर्भ को जिसमें अनुच्छेद 13(3) आता है और अन्य पूर्वगामी कारणों को नजरअन्दाज करते हुए भी, यदि हम, भले ही दलील के लिए ही सही, इस बात की उपधारणा करें कि, चूंकि संविधान के अनुच्छेद 13(3) द्वारा विधि की सर्वांगीण परिभाषा नहीं की गई है, इसलिए यहां पर अर्थान्वयन का एक दूसरा सिद्धान्त भी लागू हो सकता है। वह सिद्धान्त यह है कि पहले ही किया गया ऐसा साधारण उपबन्ध जिसके पश्चात् ऐसा कोई अभिव्यक्त उपबंध हो और जिसमें विशिष्ट प्रकार की विधि के बारे में जिक्र मौजूद हो, विशिष्ट और विशेष प्रकार के उपबंध को साधारण उपबंध की परिधि और विषय क्षेत्र से अपवर्जित कर सकता है। यदि साधारण उपबंध ऐसे उपबंध के पूर्व जिसमें कि विशेष विधि अन्तर्विष्ट हो, कोई साधारण उपबंध किया गया है, तो यह अमहत्त्वपूर्ण है। वास्तव में इसका प्रभाव उस सिद्धान्त के आधार पर नहीं पड़ सकता जो कि लागू होता हो।

ऊपर बताया गया सिद्धान्त विभिन्न प्रकार के विधानों के बीच या भिन्न-भिन्न अधिनियमों को सामान्यतः लागू होता है। इसमें कोई संदेह नहीं है कि जब बाद वाला अधिनियम साधारण होता है और पहले वाला अधिनियम विशेष अधिनियम होता है तब साधारण अधिनियम के उपबंध इस सिद्धान्त के लागू होने के कारण कि "साधारण उपबंधों का निराकरण नहीं करेंगे" (जनरलिया स्पेशलीबस नाम डेरोगेंट)" विशेष अधिनियम को निरसित नहीं करते।" (देखिए—क्रेज लिखित स्टेट्यूट लॉ, पृष्ठ 376)। पुनः, "यदि विशेष अधिनियमिति, चाहे वह लोक या प्राइवेट अधिनियम ही क्यों न हो, तथा बाद वाला साधारण अधिनियम परस्पर पूरी तरह से विरुद्ध या असंगत हों, तो यह कहा गया है कि 'न्यायालयों के पास यह घोषित करने के अलावा कोई भी विकल्प नहीं रह जाता है कि बाद वाले साधारण अधिनियम से पहले वाली विशेष अधिनियमिति निरसित कर दी गई है" (देखिए—क्रेज लिखित स्टेट्यूट लॉ, पृष्ठ 380)। उसी सिद्धान्त के आधार पर यह अभिनिर्धारित किया गया है कि बाद वाले विशिष्ट अधिनियम का प्रभाव यह हो सकता है कि पहले वाला साधारण अधिनियम भागतः निरसित हो गया है। [मिकिन बनाम एडबुक (1), हेस्टन एण्ड आयलवर्थ अर्बन डिस्ट्रिक्ट काउन्सिल बनाम ग्रोउट (2), और हरि शंकर बागला बनाम मध्य प्रदेश राज्य (3) वाले मामले देखिए]।

उपर्युक्त सिद्धान्त साधारण तौर से वहां लागू किया गया है जहां कि यह प्रश्न उत्पन्न हुआ है कि क्या विशिष्ट विधि अभिभावी है और इसलिए क्या वह साधारण विधि को निरसित करती है। किन्तु यह भी अभिनिर्धारित किया गया है कि वह सिद्धांत उन विशेष मामलों को जिनमें विशिष्ट विधि के बारे में विनिश्चय किया गया हो, साधारण विधि की परिधि से निकाल कर उसके लागू

(1) (1869) 4 क्यू०बी० 333.

(2) (1897) 2 चान्सरी डिवीजन 306.

(3) ए० आई० आर० 1954 एस० सी० 465.

होने की बात को मात्र कम कर सकता है। [विलियम्स का मामला([1]) लॉफिन बनाम एडवुड([2]) हरि शंकर बागला बनाम मध्य प्रदेश राज्य ([3]) वाले मामले देखिए] । अन्य शब्दों में, यह सिद्धान्त इस प्रकार से लागू हो सकता है जिससे कि साधारण विधि के लागू होने के विस्तार या प्रविषय को कम किया जा सके या छोटा किया जा सके । इस सिद्धान्त के लागू होने की बात से यह दर्शित होता है कि सांविधानिक विधि को, विशेष विधि के रूप में, उस "विधि" की परिधि से, जैसी कि वह संविधान के अनुच्छेद 13 में है, अपवर्जित किया जा सकता है, भले ही कल्पना करने पर, "विधि" पद के विस्तार का, जैसा कि वह संविधान के अनुच्छेद 13 में प्रयुक्त है, अर्थान्वियन करना, वस्तुतः, इस प्रकार सम्भव होता कि उसके अन्तर्गत, उस दशा में के सिवाय जब कि ऐसा सिद्धान्त न होता, संविधान के संशोधन आ जाते हैं । किन्तु प्रथमदृष्ट्या, संविधान के संशोधन संविधान के प्रत्येक उपबन्ध को तब तक लागू होते हैं जब तक कि उसका कोई भी भाग ऐसे प्रवर्तन के विस्तार में अभिव्यक्त रूप से अपवर्जित न कर दिया गया हो । ऐसे परिकल्पित टकराव को हटाने की दृष्टि से ऐसे सिद्धान्त का उपयोग आवश्यक प्रतीत नहीं होता ।

गोलक नाथ वाले मामले([4]) में दिए गए बहुत ही नगण्य बहुमत के विनिश्चय का इस के पक्ष में पूरी तरह से सहारा लेने में कि अनुच्छेद 13(2) संविधान के अनुच्छेद 368 में अन्तर्विष्ट संशोधन की शक्ति पर निर्बन्धन के रूप में कार्य करता है, श्री पालखीवाला को कदाचित काफी बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ा है और उन्होंने मुख्यतः विवक्षित परिसीमाओं के सिद्धान्त का सहारा लिया है । एकमात्र ऐसी "विवक्षित" परिसीमा जिसका अर्थान्वियन संशोधन शब्द के सम्बन्ध में, मैं "कदाचित" आवश्यक रूप से विवक्षित के रूप में या "संशोधन" शब्द के अर्थ के भाग के रूप में कर सकता हूं, ऐसी परिसीमा है जिसका जिक्र न्यायाधिपति वांचू ने (उपर्युक्त) गोलक नाथ वाले मामले में किया था । अन्य शब्दों में, उसके अन्तर्गत संविधान को एक ही बार में पूरी तरह से निराकृत करने की शक्ति नहीं आ सकती है । किन्तु यह पद इतना काफी विस्तृत प्रतीत होता है कि वह शनैः शनैः संविधान को पूरी तरह से ऐसे क्षीण कर देता है जिससे कि उसके स्थान पर दूसरा संविधान प्रतिस्थापित किया जा सके ।

स्वयं महान्यायवादी ने ही बहुत ही सही ढंग से यह स्वीकार किया था कि संशोधन की परिधि इतनी विस्तृत नहीं हो सकती जिससे कि शेष संविधान को इस प्रकार निराकृत करके कि उसके पीछे कुछ भी न बचे, रिक्तता उत्पन्न कर दी जाए । महान्यायवादी की दलील यह थी कि ऐसी रिक्तता उत्पन्न करने की बात को छोड़कर, वह शक्ति इतनी काफी विस्तृत है कि उसके अन्तर्गत वर्तमान संविधान के स्थान पर दूसरे संविधान को प्रतिस्थापित करने की बात भी आ जाती है । मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि "संशोधन" शब्द की आवश्यक विवक्षा या इस पद का अर्थ वर्तमान संविधान के सम्भावित पूर्णरूपेण निराकरण को

([1]) (1887) 36 चान्सरी डिवीजन 573,577.

([2]) (1869) 4 क्यू० बी० 333.

([3]) आई० सी० आर० 1954 एस० सी० 465.

([4]) (1967) 2 एस० सी० आर० 762.

अपवर्जित कर सकता है, यद्यपि यह बात संशोधन करने के लिए सशक्त निकायों द्वारा शनैः शनैः उस दशा में की जा सकती है, यदि वह ऐसा करना चाहें और उचित प्रक्रिया का अनुसरण करें।

मेरे भ्राता न्यायाधिपति रे, पालेकर, मैथ्यू और द्विवेदी ने, जिनसे कि मैं सहमत हूं, जो कारण पहले ही सविस्तार बताए हैं, उनके सम्बन्ध में मैं यह निष्कर्ष निकालता हूं कि प्रोद्धृत मामलों में कोई ऐसी बात मौजूद नहीं है जोकि ऐसे संविधान में, जैसा कि हमारा है, अनुच्छेद 368 पर जिसमें संविधान के प्रत्येक भाग के संशोधन करने सम्बन्धी प्रभुत्वसम्पन्न विधि बनाने की शक्ति अन्तर्विष्ट है, ऐसी विवक्षित परिसीमाएं अधिरोपित करने में हमें समर्थ बना सके। इन मामलों का ऐसे उपबंध के जिसमें संविधायी शक्ति अन्तर्विष्ट हो, निर्वचन पर वस्तुतः कोई भी प्रभाव नहीं पड़ता। जैसा कि उन्हें हमारे समक्ष प्रोद्धृत किया गया और हमने उनकी परीक्षा की, मैं उन उद्धृत मामलों में से मुख्य मामलों का हवाला बहुत ही संक्षेप में दूंगा।

अमरीका के जो मामले पेश किए गए हैं, वास्तव में वे इस दलील के विरुद्ध हैं कि विवक्षित परिसीमाएं अभिव्यक्त रूप से अधिरोपित सांविधानिक शक्तियों पर लगाई जा सकती हैं। वे मामले ये थे—लैसर बनाम गारनेट ([1]), यूनाइटेड स्टेट्स ऑफ अमरीका बनाम विलियम एच० स्प्रेग एण्ड विलियम जे० हावे([2]), स्टेट ऑफ रहोड आइलेंड बनाम ए० माइकल पलमार ([3]), और ऑण्डरसन बनाम यूनाइटेड स्टेट्स ऑफ अमरीका([4])। प्रिवी काउन्सिल ने आस्ट्रेलिया के जिन मामलों विनिश्चित किया था, वे ये थे: मैकॉले बनाम किंग ([5]) और टेलर बनाम अटर्नी जनरल ऑफ क्वीन्सलैण्ड ([6]) जिनमें कालोनियल लॉ वैलिडिटी ऐक्ट की धारा 5 का निर्वचन इस उपधारणा की रोशनी में किया गया था कि ब्रिटिश उपनिवेशी विधानमण्डल को प्रत्यरित शक्ति का यह अर्थान्वयन किया जाना चाहिए कि वह ब्रिटिश साम्राज्य के संविधान में अन्तर्निहित इस मूल उपधारणा के अध्यधीन है कि क्राउन की स्थिति पर कोई भी प्रभाव नहीं पड़ा है; वेब बनाम ऑउटरिम([7])वाले मामले को जिसमें शक्तियों पर विवक्षित निर्बन्धन का सिद्धान्त का उपयोग कॉमनवेल्थ पार्लियामेण्ट ऐक्ट में दिया गया था, अस्वीकृत कर दिया गया था; विक्टोरिया बनाम कॉमनवेल्थ ([8]) वाले मामले में, जिसमें कि विधान बनाने की अन्तर्निहित शक्तियां अनुकल करने सम्बन्धी उस मूल सिद्धान्त को प्रश्नगत किए बिना, जिसे लार्ड सेल्बार्न ने क्वीन बनाम बुराह([9]) वाले मामले में

([1]) 258 यू० एस० 13.

([2]) 282 यू० एस० 716.

([3]) 253 यू० एस० 350.

([4]) 320 यू० एस० 118, 137-145.

([5]) (1920) ए० सी० 691.

([6]) 23 सी० एल० आर० 457.

([7]) (1907) ए० सी० 81.

([8]) 45 आस्ट्रेलिया एल० जे० आर० 251.

([9]) (1878) 3 ए० सी० 889.

अधिकथित किया था, यह विनिश्चय किया गया था कि परिसंघीय विधानमण्डल को ऐसे विषय के सम्बन्ध में जो कि आस्ट्रेलिया के संविधान की धारा 51 की जिसमें परिसंघीय विधानमण्डल की कर लगाने सम्बन्धी शक्तियां अधिकथित की गई थी, परिधि के बाहर हो; राज्य पर कर लगाने की शक्तियां प्राप्त नहीं है जिसके अनुक्रम में परिसंघवाद की, जो कि इस बात की उपधारणा करता है कि राज्यों का अस्तित्व बना रहना चाहिए, विवक्षाओं के सम्बन्ध में कुछ मत व्यक्त किए गए थे।

कनाडा के जिन मामलों को हमारे समक्ष प्रस्तुत किया गया, उनसे प्रभुत्वसम्पन्न ब्रिटिश पार्लियामेंट की अधिनियमिति द्वारा प्रदत्त शक्ति के अनुदत्त करने की विवक्षाओं को कुछ समर्थन प्राप्त हो सकता है। किन्तु मुझे ऐसा नहीं प्रतीत होता है कि वे मामले संविधान की जिसका अनुच्छेद 368 बहुत ही महत्वपूर्ण भाग है और जिसको हमने अंगीकृत किया है, प्रभुत्वसम्पन्नता के सिद्धान्त के संदर्भ में सहायक होंगे। हमारे समक्ष कनाडा के जो मामले प्रोद्धृत किए गए, वे ये हैं -- अलबरटा प्रेस का मामला[1], स्विटज़मैन बनाम एल्बलिंग एण्ड अटर्नी जनरल ऑफ क्यूबेक[2], संमूर बनाम सिटी ऑफ क्यूबेक [3], ए० जी० फार दि प्राविन्स ऑफ ओण्टेरियो और कुछ अन्य बनाम ए० जी० फार दि डोमिनियम ऑफ कनाडा और एक अन्य [4], जिनमें किन्हीं विनिश्चयों में अन्तर्निहित यह उपधारणा कि कनाडा में पूरी तरह से विकसित विधायी शक्ति मौजूद नहीं है, अस्वीकृत कर दी गई मालूम पड़ती है ; इनिशिएटिव एण्ड रेफरेण्डम ऐक्ट के मामले में जिसमें उस विधान के बारे में जो कि ब्रिटिश नार्थ अमरीका ऐक्ट, 1867 की धारा 92, शीर्ष 1 के प्रतिकूल था, यह अभिनिर्धारित किया गया था कि वह अविधिमान्य है।

जहां तक कि रेयन वाले मामले [5] का सम्बन्ध है, श्री पालखीवाला मुख्य न्यायाधिपति कैनेडी के अल्पमत निर्णय का आश्रय ही ले सकते थे। मूरे बनाम अटर्नी जनरल फार दि आयरिश फ्री स्टेट [6] वाले मामले में पिटीशनर की ओर से जिसने कि आयरिश पार्लियामेण्ट के एक अधिनियम की विधिमान्यता को चुनौती दी थी, यह स्वीकार किया गया था कि रेयन वाले मामले [5]में जो बहुमत का निर्णय था वह सही था। मैं यह नहीं समझता कि आयरलैंड वाले मामलों से पिटीशनरों की विवक्षित परिसिमा संबंधी दलील को अधिक साहायता प्राप्त होती।

सिलोन के जिन मामलों को हमारे समक्ष प्रस्तुत किया गया है, उनसे भी पिटीशनरों को कोई भी साहायता प्राप्त नहीं होती। ब्राइबरि कमिश्नर बनाम रनसिंघे [7] वाले मामले में ब्राइबरि अमेण्डमेण्ट ऐक्ट, 1958 के उपबंध

---

[1] (1938)2 डी०एल० आर० 81.
[2] (1957)7 डी० एल० आर० 337.
[3] (1953)4 डी० एल० आर० 461.
[4] (1912) ए० सी० 571.
[5] (1935) आयरिश रिपोर्ट्स 170.
[6] (1935) ए० सी० 484.
[7] (1965) ए० सी० 172.

के बारे में यह अभिनिर्धारित किया गया था कि वह अवैध है, क्योंकि वह सिलोन (कांस्टिट्यूशन) आर्डर इन काउन्सिल, 1946 की धारा 29 के उपबंध के प्रतिकूल है, जिसके द्वारा सिलोन का संविधान शासित होता था।

इसलिए यह अधीनस्थ विधि प्राधिकारी की अधिनियमिति और सरकार की उस लिखित के बीच टकराव का सीधा मामला है जो अधीनस्थ विधि बनाने की शक्ति को विनियमित करती है। उस मामले में अटर्नी जनरल फार न्यू साउथ वेल्स और कुछ अन्य बनाम ट्रेथोवान और कुछ अन्य(1) वाले मामले में यथा अधिकथित रीति और प्ररूप की अपेक्षाओं के बारे में यह अभिनिर्धारित किया गया था कि उनकी पूर्ति नहीं की गई है। डॉन जॉन फ्रांसिस डगलस लियाँगे और कुछ अन्य बनाम क्वीन (2) वाले मामले में उन अधिनियमों के सम्बन्ध में जिनकी विधिमान्यता को चुनौती दी गई थी, यह अभिनिर्धारित किया गया था—

> "......इन अधिनियमों को इस आधार पर चुनौती नहीं दी जा सकती कि वे न्याय के मूल सिद्धांतों के प्रतिकूल हैं। दि कलोनियल लॉज़ वैलिडिटी ऐक्ट, 1865 में जिसमें यह उपबंधित था कि "उपनिवेशी विधियां उस सीमा तक शून्य होनी चाहिएं जिस सीमा तक कि वे उपनिवेश को लागू यूनाइटेड किंगडम के किसी अधिनियम के विरुद्ध हों, किन्तु अन्यथा ऐसी नहीं होगी, और उन्हें इस आधार पर शून्य नहीं होना चाहिए कि वे इंग्लैण्ड की विधि के विरुद्ध हैं" नैसर्गिक न्याय की किसी अस्पष्ट और विनिर्दिष्ट विधि पर विरुद्धता सम्बन्धी बंधन के लिए कोई भी स्थान नहीं छोड़ा गया था; वे उदारवादी उपबंध ब्रिटिश पार्लियामेण्ट के सिलोन इण्डिपेण्डेन्स ऐक्ट, 1947 में अन्तर्विष्ट थे तथा उस ऐक्ट द्वारा उनको व्यापक बनाया गया था, जिनका संयुक्त प्रभाव, सिलोन (कांस्टिट्यूशन) आर्डर इन काउन्सिल, 1946 के होने के साथ ही, सिलोन की संसद् को, प्रभुत्वसम्पन्न स्वतंत्र राज्य की पूर्ण विधायी शक्तियां प्रदत्त करना था।"

इस मामले से यह बात दर्शित होती है कि नैसर्गिक न्याय के किसी अस्पष्ट सिद्धान्त के विरुद्ध होने के कारण पूर्ण रूपेण सक्षम विधायी प्राधिकारी की अधिनियमितियों को अविधिमान्य नहीं ठहराया जा सकता।

जैसा कि मैंने पहले ही बता दिया है, यदि मैं यह अभिनिर्धारित करता हूं कि संविधान प्रधान है और विधि की दृष्टि में, सांविधानिक प्रधान रूप से विधिमान्य सभी शक्ति और प्राधिकार का स्रोत है, तो संशोधन करने की शक्ति के प्रत्यायोजन का कोई प्रश्न ही नहीं उठ सकता। यह सिद्धान्त कि (डेलीगेटस नान पोटेस्ट डेलीगेयर) प्रत्यायोजिती अपनी शक्तियां प्रत्यायोजित नहीं कर सकता, प्रत्यायोजिती के विरुद्ध ही लागू होता है, न कि प्रधान के विरुद्ध। जबकि कोई संशोधन किसी समुचित प्रक्रिया द्वारा किया जाता है, तो ऐसा संशोधन प्रधान की अपनी इच्छाशक्ति और आशय तथा कार्य का भाग हो जाता है। किन्तु

---

(1) [1932] ए० सी० 526.

(2) (1967) 1 ए० सी० 259.

यदि प्रधान आवश्यक रूप से कोई मानव प्राधिकारी है या होना चाहिए, तो संविधान के अनुच्छेद 368 के अधीन संशोधन करने के लिए व्यक्तियों के प्राधिकृत निकायों को विधायी प्रभुसत्ता प्राप्त होती है और वे ऐसे 'प्रधान' होते हैं, जिसकी इच्छाशक्ति संशोधन में अभिव्यक्त की गई है।

संसद् जैसे विधि बनाने वाले वैधरूप से अप्रभुत्वसम्पन्न निकाय द्वारा शक्ति के दुरुपयोग पर रोक लगाने की दृष्टि से परिणामों की कसौटी का उपयोग करना वहां सम्भव हो सकता है, जहां कि वह, जैसा कि संविधान के अनुच्छेद 368 द्वारा अपेक्षित है, संसद् के दोनों सदनों के दो-तिहाई बहुमत के उपयोग द्वारा संविधायी शक्ति का प्रयोग नहीं करता है। कानूनी या सांविधानिक विधि द्वारा भी अविकथित विशिष्ट प्रकार के गैर-विधायी कृत्यों पर नैसर्गिक न्याय के नियमों को लागू करके विवक्षित परिसीमाओं के सिद्धान्त का प्रयोग करना भी सम्भव हो सकता है। किन्तु यह बात केवल यह उपधारणा करके ही की जा सकती है कि संविधान का आशय नैसर्गिक न्याय के मूल नियमों का निराकरण करना नहीं है। यदि यह कोशिश की जाती है कि इन नियमों को किसी विशिष्ट मामूली अधिनियमिति द्वारा समाप्त किया जाए, तो उस अधिनियमिति की विधिमान्यता पर आक्षेप करना उस समय सम्भव हो सकता है जबकि संविधान के अनुच्छेद 14 और 19 लागू होते हों। सांविधानिक रूप से विधिमान्य संशोधन द्वारा अनुच्छेद 14 और 19 का अपवर्जन कर दिए जाने के परिणामस्वरूप ऐसे उपबन्ध द्वारा ऐसा नवीन विधायी क्षेत्र निर्मित या सृष्ट हो जाता है, जोकि उस संशोधन के लिए संविधान का भाग ऐसे हो जाता है जिससे कि उसके सर्जन की सांविधानिक विधिमान्यता को किसी भी न्यायालय में तब तक चुनौती नहीं दी जा सकती जब तक कि संविधान के अनुच्छेद 368 द्वारा विहित प्ररूप और रीति का अनुपालन आवश्यक संशोधन करते समय किया गया हो। ऐसी अधिनियमितियों को जोकि उचित रूप से इस क्षेत्र के भीतर आती हैं इस आधार पर चुनौती नहीं दी जा सकेगी कि वे अनुच्छेद 14, 19 और 31 का कोई अभिकथित अतिक्रमण करती हैं।

इसके बाद श्री पालखीवाला ने उस नैसर्गिक विधि और उन नैसर्गिक अधिकारों के सिद्धान्तों के प्रति जिन्हें वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय विधियों तथा सांविधानिक विधियों में समाविष्ट करने की कोशिश की गई है, बहुत ही विनम्रतापूर्वक निर्देश किया। मेरे लिए विभिन्न तथा परस्पर विरोधी नैसर्गिक न्याय के ऐसे सिद्धान्तों के, जैसा कि स्पिनोजा, आर्जे, लॉक या रूसो के सिद्धान्त हैं, और जिनके बारे में टी० एच० ग्रीन ने अपनी पुस्तक "प्रिंसिपल्स ऑफ पोलिटीकल आब्लीगेसंस" में विवेचन किया है, राजनीतिक दर्शन या विधिशास्त्रीय विवक्षाओं पर विचार करना आवश्यक प्रतीत नहीं होता। मुझे यह बात भी आवश्यक नहीं मालूम पड़ती कि मैं नैसर्गिक न्याय के प्राचीन और मध्यकालीन सिद्धान्तों के शास्त्रीय विवाद में पड़ूं। किन्तु मैं फ्रीडमन के लीगल थीयरि (5वां संस्करण पृष्ठ 95-96) में से एक उद्धरण प्रस्तुत करना चाहता हूं जिसमें "नैसर्गिक विधि" के सिद्धान्तों की स्थिति, स्थान और प्रयोगों के बारे में संक्षेप में निम्नलिखित रूप में बताया गया है —

> नैसर्गिक न्याय का इतिहास आत्यन्तिक न्याय के लिए मानव की खोज की तथा उसकी असफलता की कथा है। विगत 2,500 वर्षों के दौरान, बार-बार नैसर्गिक विधि का विचार अन्तराल में अस्वीकृत कर दिए जाने तथा उसका परिहास किए जाने के

वाद, किसी न किसी रूप में, सकारात्मक विधि से अधिक ऊंचे आदर्श की खोज की अभिव्यक्ति के रूप में अन्तराल में अस्वीकृत कर दिए जाने तथा प्रकट हुआ है। सामाजिक और राजनीतिक स्थितियों में तब्दीली होने के साथ-साथ नैसर्गिक विधि के बारे में जो विचार थे, उनमें भी तब्दीली आई है। जो एकमात्र बात अपरिवर्तित रह गई है, वह सकारात्मक विधि से अधिक ऊंची किसी बात का आह्वान करना है। उस आह्वान का उद्देश्य विद्यमान प्राधिकार को जितना न्यायोचित ठहराना रहा है, प्रायः उतना ही उसके विरुद्ध विद्रोह करना भी रहा है।"

"नैसर्गिक विधि ने अनेक कृत्य किए हैं। यह रोम के निवासियों की पुरानी सिविल विधि को विस्तृत तथा सर्वदेशीय स्थिति में परिवर्तन करने का मुख्य साधन रही है; यह ऐसा हथियार रहा है जिसका उपयोग दोनों ही पक्षों ने मध्यकालीन चर्च और जर्मन सम्राटों के बीच हुए संघर्ष में किया है; उसके आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय विधि की विधिमान्यता पर जोर दिया गया है और निरपेक्षतावाद के विरुद्ध व्यक्ति की स्वतन्त्रता के लिए आह्वान किया गया है। पुनः, नैसर्गिक विधि के सिद्धान्तों का आह्वान करके ही उन अमरीकी न्यायाधीशों ने, जिनका यह दावा था कि वे संविधान का निर्वचन कर रहे हैं, राज्यों के उस विधान का विरोध किया था, जिसे व्यक्ति के अनियन्त्रित आर्थिक स्वतन्त्रता को रूपान्तरित और निर्बन्धित करने के लिए पेश करने की कोशिश की गई थी।"

"नैसर्गिक विधि के सम्पूर्ण विचार को ठोस राजनीतिक आकांक्षाओं के लिए पाखण्डपूर्ण आवरण मानकर अस्वीकृत करना सरल होगा और इसमें कोई सन्देह नहीं है कि कभी-कभी इस कृत्य से कुछ अधिक उसका प्रयोग किया गया है। किन्तु इसमें अधिक अनिश्चितता मौजूद है नैसर्गिक विधि समय की मुख्य प्रगतिशील शक्तियों के सन्दर्भ में विभिन्न राष्ट्रों और विधियों के आदर्शों और आकांक्षाओं को मूर्तरूप देने का मुख्य, यद्यपि एकमात्र नहीं, साधन रही है। जबकि सामाजिक ढांचा स्वयं ही अनम्य और आत्यन्तिक हो जाता है, जैसा कि स्कूलमेन के समय में था, तो आदर्श भी स्थैतिक (स्टेटिक) हो जाता है और उसमें आत्यन्तिक का तत्व विद्यमान हो जाता है। जैसा कि आधुनिकतम नैसर्गिक विधि के सिद्धान्तों के सम्बन्ध में होता है, अन्य समय पर नैसर्गिक विधि के आदर्श सापेक्ष और मात्र औपचारिक होते हैं, जिनमें ऐसी पीढ़ी की जो कि अपने से तथा संसार से असंतुष्ट होते हुए कुछ ऊंची बात की खोज में हो रहता है, आकांक्षा से कुछ अधिक व्यक्त नहीं किन्तु जो मूल्यों की सापेक्षता के सम्बन्ध में सचेत है। नैसर्गिक विधि का परिहास करना उतना ही सरल है जितना कि ऐसे अन्याय और अपूर्णता में से जिसके लिए पश्चिमी सभ्यता ने कोई भी अन्य हल नहीं निकाला है, किन्तु जो एक अन्तिम छोर से दूसरे अन्तिम छोर की ओर ही बढ़ती रही है, रास्ता निकालने के लिए निरन्तर, किन्तु अभी तक व्यर्थ, खोज करते हुए मानव के साधारणतः सामाजिक और राजनीतिक जीवन की निरर्थकता का परिहास करना है।"

"किसी आत्यन्तिक आदर्श के प्रति जो आह्वान किया जाता है, वह मनुष्यों में विशेषकर भ्रम दूर होने के और संदेह के समय तथा सिमसिमाती हुई क्रान्ति के समय दिखाई पड़ता है। इसलिए नैसर्गिक विधि के उन सिद्धान्तों के परिणामस्वरूप जो कि सैद्धान्तिक संकल्पनाएं नहीं हैं, प्राय: शक्तिशाली राजनीतिक और विधिक परिवर्तन हुए हैं।"

मैं संविधान के अनुच्छेद 368 का कोई ऐसा अर्थान्वयन करने के लिए किसी भी नैसर्गिक विधि के ऐसे सिद्धान्त का प्रयोग करने के लिए तैयार नहीं हूं, जिसके परिणामस्वरूप संविधान का स्पष्ट अर्थ तथा ऐसे उद्देश्य जो कि प्रस्तावना तथा राज्य की नीति के निदेशक तत्व' शीर्ष के अधीन दिए गए हैं समाप्त हो जाएं। मुझे ऐसे किसी भी मामले के बारे में जानकारी नहीं है जिसमें कि यह बात की गई है। गोलक नाथ वाले उपर्युक्त मामले में भी मुख्य न्यायाधिपति सुब्बा राव ने अपने उन विचारों को जो कि वास्तव में अनुच्छेद 13(2) में अन्तर्विष्ट अनुमानित अभिव्यक्त वर्जन के लागू होने पर आधारित थे, बल प्रदान करने के लिए नैसर्गिक विधि के सिद्धान्त का आश्रय लिया था।

मैंने अपने इस दृष्टिकोण को पहले ही बता दिया है कि हमें उन प्रश्नों पर, जो कि हमारे समक्ष प्रस्तुत किए हैं, ऐसे लोगों द्वारा जो कि संविधायी शक्तियों के अन्तिम निर्णायक थे, या हैं, निर्णीत सामाजिक और आर्थिक व्यवस्थाओं की परिवर्तनशील उन आवश्यकताओं के व्यावहारिक दृष्टिकोण से देखना चाहिए। ऐसी शक्तियों के सम्भावित दुरुपयोगों पर जो रोकें लगाई जाती हैं वे न्यायालयों में कार्यवाही करके नहीं लगाई जा सकतीं। लोकमत का दबाव, और संशोधन करने की ऐसी शक्तियों के दुरुपयोग के कारण क्रान्ति होने का जो भय होता है, वह —ये दोनों ही एकमात्र ऐसी व्यावहारिक संभावित रोकें हैं जोकि उस दशा में और तब लगाई जा सकती हैं यदि और जब ऐसी आकस्मिकताएं उत्पन्न होती हैं। ये रोकें कार्यवाही के राजनितिक क्षेत्रों में ही देखी जा सकती हैं। न्यायालय उनका पुनर्विलोकन या नियंत्रण नहीं कर सकता। अन्य शब्दों में जिसे डायसी ने बाह्य और अन्तरिक सीमाओं की संज्ञा दी है वे ऐसी शक्ति के संभावित दुरुपयोग को नियंत्रित कर सकती हैं, तथा उस पर रोक लगा सकती हैं। न्यायालयों के पास संविधान द्वारा जो कि वैध रूप से प्रभुत्व सम्पन्न है, अभिव्यक्तरूप से अनुज्ञात ऐसी शक्ति पर नियन्त्रण करने का कोई भी साधन नहीं है। वे केवल संविधान के पक्ष में अपना मत व्यक्त कर सकते हैं। उनके निर्णय द्वारा संविधान की आवाज ही सुनाई पड़नी चाहिए; उसके अलावा और कोई बात नहीं।

यद्यपि न्यायालयों को चाहिए कि वे वैधरूप से प्रभुत्वसम्पन्न संविधायी शक्ति के प्रयोग की विधिमान्यता को मान्यता दें, फिर भी ऐसी शक्ति वांछित परिणामों को प्राप्त करने की दृष्टि से वास्तव में अप्रभावी हो सकती है। यह बात कि क्या उस दिशा में जिसे कि अच्छी दिशा कहा जा सके, कोई तब्दीली की गई है, स्वयं विवाद का विषय हो सकती है। ऐसे प्रश्नों और विवादों के जो उत्तर हैं, वे ऐसी अनेक परिस्थितियों पर निर्भर करते हैं, जो कि न्यायालयों के नियन्त्रण के बाहर हैं। ऐसी परिस्थितियों के

अस्तित्व या अभाव का अन्वेषण या अवधारण न्यायालयों में उचित रूप से नहीं किया जा सकता। इसलिए जब कोई तब्दीली विहित प्रक्रिया के अनुसार संविधायी या प्रभुत्वसम्पन्न शक्ति का प्रयोग करके की जाती है तो ऐसे अन्वेषण न्यायालय के क्षेत्र के बाहर होते हैं।

समाजवादी राज्य को ऐसी नई सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था का निर्माण करने की, जो कि शोषण, दैन्य और दरिद्रता से मुक्त हो, शक्ति प्राप्त होनी चाहिए और उसे उसके लिए इस रीति से कोशिश करनी चाहिए जिससे कि वे लोग, जो नीति विरचित करने और उचित विधि बनाने के लिए जिम्मेदार हैं, लोक कल्याण करने के लिए सर्वाधिक रूप से अच्छा समझते हों। हम आज लोक कल्याण या प्रगति के बारे में "संविदा करने की हैसियत से आन्दोलन" के रूप में न सोचकर व्यक्तियों द्वारा आर्थिक तथा अन्य प्रकार की शक्तियों के शोषण के नियन्त्रण के लिए आन्दोलन के रूप में इस प्रकार सोचते हैं जिससे कि यह बात इस प्रकार सुनिश्चित हो जाए जिससे कि लोक कल्याण न केवल किया गया प्रतीत हो बल्कि सभी व्यक्ति, वे जहां भी हों और जिस स्थिति में भी हों, उसे उचित रूप से करते भी हों। आज जिस बात पर जोर दिया जा रहा है, वह व्यक्तियों द्वारा किसी ऐसे अधिकार का, वह अधिकार चाहे कितना भी मौलिक या महत्वपूर्ण क्यों न हो, दावा किए जाने के पूर्व अपने सामाजिक दायित्वों का सम्यक् रूप से पालन करने की बात है, क्योंकि अधिकार और कर्तव्य अन्योन्याश्रयी हैं।

जो दूसरी दलील पेश की गई थी, वह यह थी कि संविधान द्वारा सृष्ट वस्तु के पास संविधान को सृष्ट या पुनः सृष्ट करने की शक्ति सम्भवतः नहीं हो सकती। इसलिए यह दलील दी गई कि संशोधन करने की शक्ति का विस्तार करने के लिए अनुच्छेद 368 का सहारा नहीं लिया जा सकता। मैं संविधान के अनुच्छेद 368(2) के परन्तुक के खण्ड(ङ) में दिए गए अभिव्यक्त उपबन्ध के कारण इस दलील को स्वीकार करने में असमर्थ हूं। उसमें अनुच्छेद 368 में संशोधन करने की शक्तियों की परिधि को बढ़ाने या कम करने के लिए अभिव्यक्त रूप से उपबन्ध किया गया था। इसलिए युक्तियुक्त रूप से यह दलील नहीं दी जा सकती कि अनेक चरणों में सम्पूर्ण संविधान को पुनः सृष्ट करने की भी शक्ति असंशोधित अनुच्छेद 368 में पहले ही मौजूद नहीं थी। परन्तुक के इस भाग से भी यह बात दर्शित होती है कि संविधान निर्माताओं ने संशोधन करने की विस्तृत शक्ति के सम्बन्ध में इस प्रकार से परिकल्पना कर ली थी जिससे कि वह समय की उन चुनौतियों का मुकाबला कर सके, जो कि तेजी से बदलती हुई सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों और स्थितियों के परिणामस्वरूप पेश आती हैं। हम संविधान निर्माताओं द्वारा आशयित उन बातों को संकुचित नहीं बना सकते जिन्हें लचीला और विस्तारशील बनाने के लिए उनका स्पष्ट आशय था।

पूर्वगामी कारणों से, मैं यह अभिनिर्धारित करता हूं कि संविधान का चौबीसवां संशोधन विधिमान्य है। इसलिए, मैं यह मत व्यक्त करना चाहूंगा कि पच्चीसवां और उन्तीसवां संशोधन भी विधिमान्य हैं। इन संशोधनों में से प्रत्येक की विधिमान्यता के जो कारण हैं, उनके बारे में मेरे विद्वान् भ्राताओं न्यायाधिपति रे, पालेकर, मैथ्यू और द्विवेदी ने पूरी तरह से विचार-विमर्श किया है, और जिनसे मैं सादर सहमत हूं कि मुझे इनमें से

किसी का विवेचन करने या दोहराने की यहां पर आवश्यकता नहीं। और इसी कारण से ही, मैंने न तो बहुत से उन मामलों पर भी, जो कि भारतीय और विदेशी दोनों प्रकार के हैं, और न बहुत से विधिशास्त्रीय विचारों पर, जो कि हमारे समक्ष प्रस्तुत किए गए हैं, और जिनको हमने बहुत ही बारीकी से परीक्षा की है, विवेचन करने की कोशिश की है। किन्तु अपना निर्णय समाप्त करने के पूर्व मैं उन विशेष कारणों की बाबत बताऊंगा, जिनसे कि मैंने संविधान (पच्चीसवां) संशोधन अधिनियम, 1971 की धारा 3 के बारे में भी जिसके द्वारा संविधान में अनुच्छेद 31ग जोड़ा गया है, यह अभिनिर्धारित किया है कि वह विधिमान्य है।

अनुच्छेद 31ग के दो भाग हैं। पहला भाग उन विधियों में से, जो कि संविधान के अनुच्छेद 39 के खण्ड (ख) या (ग) में विनिर्दिष्ट सिद्धान्तों को सुनिश्चित करने की दृष्टि से राज्य की नीति को प्रभावी बनाने के लिए पारित की गई हो, इस आधार पर अविधिमान्य ठहराने की बुराई दूर करने से सम्बन्धित है कि वह अनुच्छेद 14, 19 या 31 द्वारा प्रदत्त अधिकारों में से किसी से भी असंगत है अथवा उसे छीनता है या न्यून करता है। यदि हम और आगे कुछ न कहें तो यह प्रश्न कि क्या विधि वास्तव में अनुच्छेद 39 के खण्ड (ख) या (ग) में विनिर्दिष्ट सिद्धान्तों को प्रभावी बनाने के प्रयोजन के लिए है, उस समय भी न्याय्य (जस्टीशिएबल) होगा जबकि इस उपबन्ध के अधीन पारित विधियां न्यायालय के समक्ष पेश की जाएंगी। अन्य शब्दों में न्यायालय इस प्रश्न की परीक्षा कि पारित विधियां विनिर्दिष्ट सिद्धान्तों से सुसंगत हैं या नहीं, फिर भी कर सकेंगे यद्यपि इस अभिकथित आधार पर कि अनुच्छेद 14, 19 या 31 का अतिक्रमण किया गया है, अविधिमान्य ठहराने का जो प्रभाव होगा वह उस सीमा तक समाप्त हो जाएगा जिस तक कि उस विधि से अनुच्छेद 39(ख) और (ग) के सिद्धान्तों को प्रभावी बनाना वस्तुतः अभिप्रेत था। अन्य शब्दों में ऐसा कृत्रिम विधान जिसका कि उद्देश्य बिल्कुल ही भिन्न हो, किन्तु जिस पर विनिर्दिष्ट सिद्धान्तों को प्रभावी बनाने के लिए आशयित विधि के रूप में मात्र आवरण चढ़ा हुआ हो, प्रथम भाग द्वारा अधिकथित कसौटी पर खरा नहीं उतरेगा। अनुच्छेद 31ग के दूसरे भाग में यह उपबंध किया गया है कि, यदि ऐसी विधि में यह घोषणा मौजूद हो कि वह ऐसी नीति को प्रभावी करने के लिए है तो उस पर न्यायालयों द्वारा बिल्कुल ही विचार नहीं किया जाएगा। ऐसी विधियों की दशा में जिन्हें राज्यों के विधानमण्डलों ने पारित किया हो, इसके अलावा यह अभिरक्षा मौजूद है कि ऐसी विधियां राष्ट्रपति द्वारा विचार किए जाने के लिए तथा उसके द्वारा अनुमति दिए जाने के लिए आरक्षित की जानी चाहिए। इसलिए ऐसी घोषणा का प्रयोजन इस आधार पर न्यायिक अभिमत का स्थान लेना है कि अनुच्छेद 39 के खण्ड (ख) और (ग) में जो सिद्धान्त दिए गए हैं, उनसे वह असंगत है, तथा यह कि आशयित प्रयोजनों के लिए ऐसी विधियां प्रभावकारी हैं। फिर भी महान्यायवादी और महासॉलिसिटर, जो कि भारत संघ की ओर से उपस्थित हुए थे, दोनों ने ही अपने लिखित आवेदनों में तथा दलीलों के दौरान यह बात स्वीकार की है कि न्यायालय इस प्रश्न की कि पारित विधियों के सम्बन्ध में की गई वे घोषणाएं विनिर्दिष्ट सिद्धान्तों से सुसंगत या सम्बन्धित हैं या नहीं हैं संवीक्षा कर सकेगा।

मेरे विद्वान् भ्राता न्यायाधिपति खन्ना ने, उपर्युक्त छूट के बावजूद, अनुच्छेद 31ग के दूसरे भाग के बारे में यह घोषणा करने का कष्ट किया है कि वह अन्य बातों के साथ इस आधार पर शून्य है कि वह भाग न्यायालय के अधिकार क्षेत्र में हस्तक्षेप करता है। यह बात कही गई है कि संशोधन करने की शक्ति के प्रयोग करने की आड़ में संविधान के स्तंभों में से एक या उसके मौलिक ढांचे के आवश्यक तत्वों में से एक को अर्थात् न्यायालयों द्वारा पुनर्विलोकन किए जाने की शक्ति को हटा दिया गया है।

मैं सोचता हूं कि भारत संघ की ओर से जो छूट दी गई है वह इस आधार पर बिल्कुल न्यायोचित है जिसे मैं अब प्रस्तुत करने जा रहा हूं। वह आधार यह है कि कोई घोषणा बनाई गई विधि का अपने-आप ही में भाग नहीं होती है, किन्तु वह केवल ऐसी बात होती है जोकि विधि से सम्बन्धित होती है, भले ही ऐसी सम्बद्धता तात्पर्यित विधि द्वारा ही क्यों न की गई हो। अन्य शब्दों में, भले ही ऐसी घोषणा के लिए विधि में उपबन्ध क्यों न किया गया हो, फिर भी, वह घोषणा न्यायालयों द्वारा उस पर विचार किए जाने की बात का स्थान लेती है और उसमें इस प्रश्न पर विचार करने की बात अन्तर्वलित है कि क्या ऐसी घोषणा को विशिष्ट विधि के साथ सम्बद्ध करना युक्तियुक्त और आवश्यक है।

मैं यह नहीं समझता हूं कि मेरे लिए यह विनिश्चित करना आवश्यक है कि घोषणा करने में जो कार्य होता है, उसकी वास्तविक प्रकृति क्या है या यह कि विवक्षा द्वारा उससे यह प्रतिपादन अभिप्रेत है कि नैसर्गिक न्याय के किन्हीं नियमों का पालन अवश्य किया जाना चाहिए। किसी भी पक्षकार ने हमारे समक्ष ऐसे प्रश्नों पर दलीलें पेश नहीं की हैं। फिर भी मैं सोचता हूं कि यह छूट केवल इस विचार के आधार पर दी जा सकती कि स्वयं घोषणा के परिणामस्वरूप यह बात कि न्यायालय विधि की उस सम्बद्धता की परीक्षा कर सकेंगे, प्रवारित नहीं हो जाती तथा न्यायालय यह अवधारित कर सकेंगे कि क्या पारित की गई विधि वस्तुतः ऐसी विधि है जिसके अन्तर्गत अनुच्छेद 31ग द्वारा सृष्ट क्षेत्र आ जाता है या यह कि वह ऐसी घोषणा के आवरण के अधीन बनी रह कर इस प्रकार संरक्षित होने का बहाना मात्र है। अतः मैं ऐसी छूट देने के लिए इस कारण को पूरी तरह से उचित कारण मानता हूं। इसलिए मैं यह अभिनिर्धारित करता हूं कि अनुच्छेद 31ग के दोनों भाग विधिमान्य हैं।

संविधान के अनुच्छेद 31(2) के संशोधन और उन्तीसवें संशोधन से सम्बन्धित प्रश्न के सम्बन्ध में मैं उन्हीं कारणों को स्वीकार करता हूं जिन्हें मेरे विद्वान् भ्राता न्यायाधिपति रे, मैथ्यू और द्विवेदी ने बताया है, जिनके निष्कर्षों से मैं इन और अन्य प्रश्नों के सम्बन्ध में सहमत हूं।

जो मेरे निष्कर्ष हैं उन्हें निम्नलिखित रूप में अब प्रस्तुत किया जा सकता है—

(1) उपर्युक्त गोलक नाथ वाले मामले में यह अभिनिर्धारित करते हुए बहुमत ने जो राय दी थी कि अनुच्छेद 13 अनुच्छेद 368 में अन्तर्विष्ट सांविधानिक संशोधन सम्बन्धी

शक्ति पर परिसीमा अधिरोपित करता है, वह गलत थी। उसमें जो अल्पमत था, वह, इस प्रश्न के सम्बन्ध में, सही था।

(2) चौबीसवां संशोधन विधिमान्य है।

(3) अनुच्छेद 31ग को जोड़ने की बात सहित, पच्चीसवां संशोधन विधिमान्य है।

(4) जैसा कि अनुच्छेद 31(2) संशोधित किया गया है, उसमें आए हुए "राशि" शब्द से कोई विहित मानक अभिप्रेत नहीं है। राशि को नियत करना तथा राशि को अवधारित करने के सिद्धान्त अधिकथित करना ऐसे मामले हैं जो संसद या सम्बन्धित राज्य के विधानमण्डल की अनन्य शक्ति के भीतर आने वाले मामले हैं। अन्य शब्दों में इस प्रश्न के सम्बन्ध में कि क्या प्रतिकर पर्याप्त है या यह कि वह युक्तियुक्त है, ऐसे मानक तथा उन मानकों की पूर्ति, ऐसे मामले हैं जोकि अवधारित करने वाले विधायी प्राधिकारियों की अनन्य सक्षमता के भीतर आने वाले मामले हैं।

(5) अनुच्छेद 31ग द्वारा अनुध्यात घोषणा ऐसे प्रमाणपत्र के समान है जो कि इस बात पर विचार करने के बाद दिया गया हो कि क्या वह संविधान के अनुच्छेद 39(ख) और (ग) में विनिर्दिष्ट सिद्धान्तों से सुसंगत है और इसलिए न्यायालय की अधिकारिता समाप्त नहीं हो गई है। न्यायालय इस बात पर अब भी विचार सकते हैं और विनिश्चित कर सकते हैं कि क्या ऐसी घोषणा वास्तव में ठीक है या कि वह ऐसा बहाना मात्र है जोकि कृत्रिम विधान के तथा ऐसी विधि के सम्बन्ध में है जो कि संविधान के अनुच्छेद 39(ख) और (ग) में दिए गए सिद्धांतों से असंगत है या असम्बद्ध है। विधिक सम्बन्ध के प्रश्न पर भी समान रूप से स्वीकार्य दो मतों में से जो मत विधायी अभिमत के अनुसार हो, उसे अभिभावी होना चाहिए।

(6) उन्तीसवां संशोधन विधिमान्य है।

(7) मैं उपर्युक्त विनिश्चयों की रोशनी में इन पिटीशनों का निपटारा करता हूं। मैं सुनवाई के इस प्रक्रम के लिए पक्षकारों द्वारा किए गए खर्चे के संबंध में कोई भी आदेश नहीं देता हूं।

—शेष अगले अंक से

गतांक से आगे—

न्यायाधिपति द्विवेदी—

मैं अपने भाई रे के चौबीसवें, पच्चीसवें और उन्तीसवें संशोधनों की विधिमान्यता की बाबत निकाले गए निष्कर्षों से सहमत हूं। किन्तु इस मामले के महत्व को ध्यान में रखते हुए मेरी इच्छा है कि मैं उन निष्कर्षों के समर्थन के लिए स्वयं अपने कारण दूं।

जो विचारधाराएं स्टुअर्ट काल में अंग्रेजों के मस्तिष्क को वश में नहीं कर सकीं और असफल हो कर मृत हो गईं वे अब भारत के संविधान में पुनर्जन्म लेना चाहती हैं। कुछ मिलती-जुलती बातें इस प्रकार हैं—

स्टुअर्ट कालीन विचारधाराएं	श्री पालखीवाला द्वारा दी गई दलीलें
1. "संसद् के कार्य क्राउन के फूल और आभूषण छीन सकते हैं किन्तु स्वयं क्राउन नहीं (1)।	1. अनुच्छेद 368 के आधार पर संसद् संविधान का संशोधन इस प्रकार नहीं कर सकती कि संविधान के सारभूत तत्वों को छीन ले या न्यून करे।
2. संसद् इंग्लैण्ड की स्वतंत्र जनता पर विदेशी सरकार की स्थापना नहीं कर सकती न ही उनको विदेशियों द्वारा अधिरोपित विधियों को लागू कर सकती है (2)।	2. संसद् संविधान का इस प्रकार संशोधन नहीं कर सकती कि भारत के गणराज्य को किसी विदेशी देश का उपनिवेश बना दे।
3. संसद् सामन्तों, नागरिकों और नगर के प्रतिनिधियों को उनके निर्वाचित करने के लिए सहज अधिकारों से इंग्लैण्ड की स्वतंत्र जनता को वंचित नहीं कर सकती। इन बातों में उनकी प्रकृति मूल अधिकारों तथा जनता के व्यक्तियों की ओर प्रवृत्त होती है और संसद्	3. संसद् संविधान का इस रूप में संशोधन नहीं कर सकती जिससे कि संविधान के भाग 3 में मूल अधिकारों का मर्म विकृत या नष्ट हो।

(1) सर जोन्स फिन मु० न्या० फण्डामेण्टल लॉ इन इंग्लिश कॉन्स्टिट्यूशनल हिस्टरी डब्ल्यू० गफ, 1955 संस्करण पुनर्मुद्रित पृष्ठ 73.

(2) विलियम बाल ऑफ मरखम इलक्वायर पृष्ठ 107.

किसी भी रूप में जनता या राष्ट्र का उल्लंघन नहीं कर सकती। न तो उसे उल्लंघन करना चाहिए(1)।

4. 'सम्पत्तियां संविधानों के आधार हैं और संविधान सम्पत्तियों के आधार नहीं हैं या यदि ऐसा हो कि कोई संविधान न हो तब भी नैसर्गिक विधि प्रत्येक व्यक्ति को ऐसा सिद्धान्त प्रदत्त करती है कि वह उस सम्पत्ति को अपने पास रखे जो उसके पास है या उसके पास हो सकती है और जो दूसरे मनुष्य की सम्पत्ति नहीं है(2)।'

5. 'जैसे कोई प्रतिनिधि जिसे केवल मूल तत्व के परिरक्षण का न्यास है किन्तु वह ऐसा प्रतिनिधि है जो इस मूल विधि के आधार पर विधियां बनाता है उदाहरणार्थ, जनता को विधान बनाने की शक्ति है। क्या उसे उस मूल तत्व को हटाने या नष्ट करने का अधिकार है। मूल तत्व द्वारा जनता स्वतंत्र होती है। यह स्वतंत्र जनता प्रतिनिधित बनाती है। क्या यह सृष्टि अपने सृजक को अनर्ह कर सकती है'(3)?

6. 'जब संसद् का कोई कृत्य किसी सामान्य अधिकार या व्यक्ति के विरुद्ध होता है तो सामान्य विधि उसे नियंत्रित करेगी और उस कृत्य को शून्य के रूप में न्याय-निर्णीत करेगी'(4)।

7. 'वे मामले जो प्रजा के जीवन या विरासत या कल्याण या सम्पत्ति से संबंधित हैं उन्हें नैसर्गिक तर्क द्वारा विनिश्चित नहीं किया जा सकता अपितु उन्हें कृत्रिम तर्क और विधि के निर्णय द्वारा विनिश्चित किया जा सकता है। यहां विधि एक ऐसा कृत्य है कि पूर्व इसके कि कोई

4. सम्पत्ति का अधिकार एक मानवीय अधिकार है और दूसरे अधिकार के उपभोग के लिए यह आवश्यक है। यह नैसर्गिक विधि पर आधारित है। यह संविधान के संशोधन द्वारा यह न तो छीना जा सकता है और न ही न्यून किया जा सकता है।

5. संसद् संविधान की सृष्टि है। यह अपने सृजक अर्थात् संविधान के ऊपर नहीं हो सकती। इस प्रकार यह मूल अधिकारों के मर्म को विकृत या नष्ट नहीं कर सकती।

6. नैसर्गिक विधि के सिद्धान्तों द्वारा अनुच्छेद 368 में संशोधन की शक्ति परिसीमित है और इन संशोधनों द्वारा इन सिद्धान्तों का उल्लंघन शून्य होगा।

7. अनुच्छेद 368 में संशोधन की शक्ति पर अन्तर्निहित और विवक्षित परिसीमाओं का अवधारण ऐसा न्यायाधीश करेगा जिसमें प्रशिक्षित और अनुभूमिक्षम न्यायिक मेधा हो।"

(1) विलियम वाल ऑफ बरव्हम इन्क्वायर, गफ, पृष्ठ 107.
(2) कौप्टन क्लार्क, गफ, पृष्ठ 115.
(3) स्वेकर विलियम पेन, पूर्वोक्त पृष्ठ 155.
(4) सी० जी० हेनाइनस द्वारा रचित रिवाइवल ऑफ नैचुरल लॉ कन्सेप्ट्स 1930 संस्करण स उद्धृत में डॉ० बूझ के मामले में कोक का लेख, पृष्ठ 33-34.

व्यक्ति उसका संज्ञान कर सके. उसके लिए
दीर्घकालीन अध्ययन और अनुभव प्राप्त करना
अपेक्षित है([1])।

उस स्टुअर्ट काल में, जिसमें सम्राट, संसद् और सामान्य विधि की प्राथमिकता के लिए विवाद था, संसद् विजयी हुई ([2])। सम्राट और सामान्य विधि ने उसकी सर्वोपरिता को स्वीकार कर लिया। स्टुअर्ट कालीन इंग्लैंड संक्रामण काल से गुजर रहा था। भारत भी आज गुजर रहा है। "हम बहुत बड़े संक्रामण काल से गुजर रहे हैं जब कि हम इस बड़े संक्रामण काल से गुजर रहे हैं, तो विभिन्न पद्धतियां—चाहे वे विधि की पद्धतियां हों, उनमें भी परिवर्तन होगा। जो धारणाएं हमें बुनियादी प्रतीत होती हैं उनमें परिवर्तन होंगे ([3]) (महत्व देने के लिए रेखांकित किया गया है)। इन मामलों के मूल में जो विवाद है वह यह है कि क्या संविधान का अर्थ उसके अस्तित्व में रहने के कारण है या उसके होने के कारण। न्यायालय को यह विनिश्चित करना है कि क्या यह एक कारागृह है या मुक्त देश या यह कुछ लोगों के लिए उपबंधित है या अनेकों के लिए। इन समस्याओं का समाधान विदेशी विधि की जानकारी की सहायता से नहीं हो सकता है। विदेशी न्यायालयों के निर्णय तथा विदेशी लेखकों द्वारा विभिन्न संविधानों पर लिखी गई पुस्तकें और लेख हमारे संविधान का अर्थान्वयन करने के लिए निरापद मार्गदर्शक नहीं होंगे।" अंतिम विश्लेषण में इसका विनिश्चय संविधान की शब्दावलि पर निर्भर करेगा और चूंकि कोई दो संविधान अनन्य निबंधनों के नहीं हैं। अतः यह मानना बहुत ही भयावह है कि उनमें से किसी पर किया गया विनिश्चय बिना किसी शर्त के दूसरे को लागू किया जा सकता है। यह उस स्थिति में भी हो सकता है जब कि दोनों मामलों में प्रयोग की गई शब्दावलि और अभिव्यक्तियां समान हैं। क्योंकि कोई शब्द या प्रयोग अपने प्रसंग द्वारा स्वरूप प्राप्त करता है और तदनुसार भिन्न-भिन्न भाव रखता है [सी० पी० एण्ड बरार सेल्स ऑफ मोटर स्प्रिट लुब्रीकैण्ट्स टैक्सेशन ऐक्ट, 1938 वाला मामला([4])] उदाहरण के लिए कनाडा और सिलोन में विधि बनाना और संविधान को संशोधित करना दोनों को विधि कहा जाता है। क्योंकि वास्तव में वहां सांविधानिक संशोधन ब्रिटिश संसद् के कानून के अधीन या आर्डर-इन-काउन्सिल (सपरिषद् आदेश) के अधीन पारित एक अधीनस्थ अधिनियमिति है जो कि एक प्रत्यायोजित विधान है। हमारा संविधान कुछ नए प्रकार का है और उस भाव में अद्वितीय है। इसलिए हमें यह प्रतीत होता है कि इस पर दूसरे देश के दृष्टिकोण या उनके न्यायालयों के दृष्टिकोण के माध्यम से विचार करना व्यर्थ है([5])।

([1]) जे० आर० टनर के इंगलिश कांस्टिट्यूशनल कॉन्फ्लिक्ट्स ऑफ दि सेवनटीन्थ सेन्चुरी 1603—1689, 1961 स्टूडेंट संस्करण पृष्ठ 37। पर उद्धृत कोक का लेख।

([2]) एफ० डब्ल्यू० मेटलैण्ड कांस्टिट्यूशनल हिस्टरी ऑफ इंगलैण्ड (पेपर बैक रिप्रिण्ट 1963) पृष्ठ 300—301।

([3]) जवाहर लाल नेहरू कांस्टिट्यूएण्ट असेम्बली डिबेट्स, जिल्द 9, पृष्ठ 1194.

([4]) (1939) एफ० सी० आर० 18, 39.

([5]) (1951) एस० सी० आर० 747, पृष्ठ 1112.

संविधान जनता की प्रकृति के राष्ट्रीय जीवन की अभिव्यक्ति है। यह युग की प्रवृत्तियों को प्रस्तुत करती है और उस देश में, जिसमें कि संविधान को प्रचालित करने का आशय किया गया है, व्याप्त भावनाओं के स्वरूप को ध्यान में रखते हुए भाषा को बिना तोड़े-मरोड़े अनुच्छेदों का निर्वचन करना चाहिए। [मोतीलाल बनाम उत्तर प्रदेश राज्य (1)] वे संविधान जो 17वीं, 18वीं और 19वीं शताब्दियों में पनपे उनमें उस काल के मनुष्यों की आशाओं और अभिलाषाओं की झलक मिलती है। भारत के संविधान में 20वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध की उपनिवेशवादी अर्थ-व्यवस्था से उभरने वाली भारत की जनता की आशाओं और अभिलाषाओं की झलक मिलती है। राजनैतिक लोकतंत्र के संगठित करने के लिए भूतकाल में विरचित संविधान सामाजिक और आर्थिक लोकतंत्र में समर्थ करने के लिए विरचित भारत के संविधान का अर्थान्वयन करने के लिए निरापद मार्गदर्शक रूप में उपयोगी नहीं हो सकते।

वे संविधान जो गत तीन शताब्दियों में विकसित हुए उनके बारे में यह समझा जाता था कि वे सम्पत्ति की सर्वोपरिता को पवित्रीकृत करते थे। टाकविले ने कहा था कि फ्रांस की राजक्रांति में अनन्य रूप से एक अधिकार को रहने दिया गया था और वह अधिकार सम्पत्ति का अधिकार है। और राजनीति की मुख्य केवल ये समस्याएं थीं कि सम्पत्तिधारकों के अधिकार में कैसे परिवर्तित किया जाए" (2)। हमारे संविधान को एक युगान्तकारी भिन्न परम्परा में जन्म मिला है। हमारे पूर्वज सुख की वस्तुओं (प्रिय) के अर्जन में विश्वास नहीं करते थे। वे उत्तम और कल्याणकर (श्रेय) पर आस्था रखते थे। उन्होंने अपने सम्राटों को इसलिए राजन् कह कर संबोधित किया क्योंकि उसका यह कार्य था कि जनता के कल्याण को प्राप्त करावे (3)। विधि का यह नियम (धर्म) से यह आशय था कि शक्तिहीनों की सहायता की जाए और शक्तिशालियों को नियंत्रण में रखा जाए। उनके विधि का नियम (रीति) एक धारा थी न कि एक कीचड़। उन्होंने यह मान्यता दी थी कि परिवर्तन अपरिहार्य है। वे इस नैतिक नियम में विश्वास करते थे कि सारा धन बांट दो और अवशिष्ट का उपभोग करो (4)।

संविधान में स्वराज्य के लिए हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन के दर्शन की छाप है। उस दर्शन को दो प्रसिद्ध नेता महात्मा गांधी और जवाहरलाल नेहरू ने रूप दिया था। महात्मा गान्धी ने उस आन्दोलन को अहिंसा का दर्शन दिया उनकी अहिंसा के आधारभूत तत्व इस प्रकार हैं—(1) समता तथा (2) भोग की इच्छा का अभाव। (अपरिग्रह) उन्होंने घोषणा की थी कि एक गरीब देश के अनुरूप साधनों के ऊपर जीवनयापन करना चुराए हुए भोजन पर जीवनयापन करना है (5) और उन्होंने यह भी कहा था कि "मैं कुछ के हाथों में शक्ति और धन के केन्द्रीयकरण

---

(1) ए० आई० आर० 1951 इलाहाबाद 251, 297.

(2) रोगर हेनरी सोल्टाऊ द्वारा रचित फ्रेंच पोलीटिकल थॉट इन दि नाइन्टीन्थ सेन्चुरी में उद्धृत पृष्ठ 55.

(3) महाभारत शान्ति पर्व, 57 : 11.

(4) महाभारत, शान्ति पर्व 60 : 11.

(5) डा० पी० सीतारमय्या, दि हिस्टरी ऑफ दि इण्डियन कांग्रेस वाल्यूम 1 पृष्ठ 386.

के प्रयोजन के लिए यंत्र के प्रयोग को पाप और अन्याय मानता हूं। आज यह यंत्र किस प्रकार प्रयुक्त होता है (1)।

जब कि महात्मा गान्धी ने आन्दोलन के धार्मिक पक्ष पर बल दिया था। जवाहरलाल नेहरू ने उसकी आर्थिक विषयवस्तु को समृद्ध किया। 1929 के लाहौर कांग्रेस अधिवेशन में अपने अध्यक्षीय भाषण में उन्होंने कहा था—"समाजवाद का दर्शन सम्पूर्ण विश्व के समाज के सम्पूर्ण ढांचे में धीरे-धीरे व्याप्त हो गया है और लगभग जो केवल प्रश्न विवादग्रस्त है वह यह है कि इसके पूर्ण रूप से अनुभव किए जाने की कौन-सी अवस्था और कौन-सी रीतियां होंगी। यदि भारत अपनी गरीबी और असमानता को घटाना चाहता है तो उसे भी उसी मार्ग पर चलना होगा यद्यपि वह स्वयं अपनी रीति विकसित कर सकता है और अपनी वंशजात प्रकृति के अनुरूप आदर्श अंगीकृत कर सकता है (2)।

राष्ट्रीय स्वतंत्रता और सामाजिक स्वतंत्रता के बीच घनिष्ट और अभिन्न संबंधों पर जोर देते हुए उन्होंने कहा था कि यदि कोई देशी सरकार विदेशी सरकार का कब्जा करती है और सारे स्थिर स्वार्थों को अक्षुण रखती है तो यह स्वतंत्रता की छाया भी नहीं होगी। भारत का तात्कालिक उद्देश्य उसकी जनता के शोषण समाप्त करने के शब्दों में समझा जा सकता है। राजनैतिक रूप से इसका अर्थ स्वतंत्रता और ब्रिटिश संबंधों का अन्त होगा किन्तु आर्थिक और सामाजिक रूप से इसका अर्थ समस्त विशिष्ट वर्गों, विशेषाधिकारों और स्थिर स्वार्थों का अन्त होना चाहिए (3)।

महात्मा गान्धी का दर्शन हमारी प्राचीन परम्परा के मूल में पाया जाता है। जवाहरलाल नेहरू का दर्शन आधुनिक विचारधाराओं से प्रभावित है। किन्तु उनके दर्शनों में जो समान प्रतीक है वह मानवतावाद है। पश्चिम के विद्वान् मानववाद को केवल राजनैतिक समानता ही मानते हैं किन्तु महात्मा गांधी और जवाहरलाल नेहरू का मानववाद सामाजिक और आर्थिक समानता के लक्ष्यों के साथ है। पूर्ववर्ती ने मनुष्य को राजनैतिक नागरिक बनाया और पश्चात्वर्ती का उद्देश्य उसे पूर्ण नागरिक बनाने का था। यही मानववाद का दर्शन स्वराज के लिए चलाए जाने वाले राष्ट्रीय आन्दोलन की प्रेरणा बन गया।

1929 में अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी ने यह संकल्प किया था कि भारतीय जनता की अत्यंत गरीबी और दुख समाज की आर्थिक ढांचे के भी कारण है (4)। मूल अधिकार तथा आर्थिक कार्यक्रम पर करांची कांग्रेस का प्रस्ताव जो 1921 में बम्बई के अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के अधिवेशन में पुनरीक्षित किया गया था यह घोषित करता था कि जनता के शोषण को समाप्त करने केलिए राजनीतिक स्वतंत्रता के अन्तर्गत भूखे के लिए आर्थिक स्वतंत्रता भी होनी चाहिए[5]।—इसमें यह उपबंध था—"कि सिवाय विधि के अनुसार सम्पत्ति से किसी को

(1) जवाहरलाल नेहरू, डिस्कवरी ऑफ इंडिया, सिगनेट प्रेस, 1956 पृष्ठ 432.

(2) आर० डी० अग्रवाल इकॉनामिक आस्पेक्ट ऑफ ए वलफेयर स्टेट इन इण्डिया पृष्ठ 32.

(3) जवाहरलाल नेहरू, विदर इण्डिया, 1933.

(4) इण्डियन नेशनल कांग्रेस रिजोल्यूशन्स ऑन इकॉनामिक पालिसी प्रोग्राम एण्ड अलाइड मैटर्स 1924—1969, पृष्ठ 3.

(5) पूर्वोक्त, पृष्ठ 6—9.

अलग नहीं किया । जाए या सम्पत्ति का अधिहरण न किया जाए ।" (1) (महत्व देने के लिए रेखांकित किया गया है) । इसमें यह उपबन्ध था कि राज्य महत्वपूर्ण उद्योगों तथा सरकारी सेवाओं, खनिज स्रोतों, रेलवे, जल मार्गों, पोत परिवहनों तथा अन्य लोक परिवहनों के साधनों को अपने स्वामित्व में रखेगा और उन पर उसका नियन्त्रण होगा (2) । 1945 के कांग्रेस के चुनाव घोषणा पत्र के अनुसार—

"भारत की सर्वाधिक महत्वपूर्ण और आवश्यक समस्या यह है कि कैसे गरीबी के अभिशाप को मिटाया जाए और जनता का जीवन स्तर ऊंचा किया जाए ।"(3) ।

यह घोषित करता था कि उस प्रयोजन के लिए "यह आवश्यक है कि व्यक्तियों और ग्रुपों के हाथ में धर्म और शक्ति का केन्द्रण होने से निवारित किया जाए (4) । और समाज के तद्रूप स्थिर स्वार्थों को बढ़ने से रोका जाय (5) । इसमें प्रस्थापित था कि साम्यपूर्ण प्रतिकर के संदाय पर मध्यवर्तियों की भूमि को अर्जित किया जाए ।

नवम्बर, 1947 में अखिल भारतीय कांग्रेस ने दिल्ली के अधिवेशन में इस भाव का एक संकल्प पारित किया था कि कांग्रेस का यह उद्देश्य होना चाहिए कि वह ऐसा आर्थिक ढांचा निर्मित करे जो बिना प्राइवेट एकाधिकार के सृजित किए गए तथा धन का केन्द्रीयकरण किए बिना अधिकतम उत्पादन दे सके (6) । यह सोचा गया कि ऐसा सामाजिक ढांचा आर्थिक और राजनैतिक समानता की प्राप्ति के लिए विकल्प दे सकता है ।

संक्षेप में राष्ट्रीय आन्दोलन इन बातों के लिए वचनबद्ध था—(1) जनता के निर्बल वर्गों की सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक स्वतन्त्रता के लिए कार्य करना; (2) कुछ व्यक्तियों के हाथ में से किसी रूप में छुपे धन के केन्द्रण को वितरित करना; (3) विधि के अनुसार सम्पत्ति अर्जित करना । प्रतिकर का संदाय साम्यपूर्ण विचारणीय बातों के आधार पर अवधारित किया जाएगा न कि बाजार-मूल्य द्वारा । वे व्यक्ति जिन्होंने संविधान को विरचित करने में प्रमुख भाग लिया था इन उदात्त आदर्शों द्वारा प्रभावित थे । उन्होंने संविधान की प्रस्तावना में उन बातों को समाविष्ट किया जो कि राज्य-नीति के निदेशक तत्वों में प्रचुर मात्रा में बिखर गई । उन्होंने इन्हें अनुच्छेद के भाग 3 के अधिकारों के ऊपर आधिपत्य प्रदान किया [देखिए— अनुच्छेद 15(3), 16(4), 17, 19(2) से (6), 24, 25, 25(क) और (ख), 31(4), (5) और (6)] । उन्होंने इन्हें देश के शासन के लिए आधार मूल तत्व बताया । पण्डित गोविन्द वल्लभ पन्त ने इन्हें महत्वपूर्ण सिद्धान्तों की संज्ञा दी और वास्तव में वे इसी प्रकार के हैं । क्योंकि

---

(1) पूर्वोक्त

(2) पूर्वोक्त

(3) पूर्वोक्त पृष्ठ 14

(4) पूर्वोक्त पृष्ठ 14.

(5) पूर्वोक्त, पृष्ठ 15–16.

(6) पूर्वोक्त, पृष्ठ 18–19.

जब वे कार्य रूप में परिणत किए जाएंगे तो वे उन मूल अधिकारों से बहुत से स्वामी उत्पन्न करेंगे और स्वतन्त्रता और समता को विशेषाधिकार से सार्वभौम मानवीय अधिकार के रूप में रूपान्तरित करेंगे।

यद्यपि चाहे जितना सुखद उसका नाम और उसकी ध्वनि हो, प्रत्येक केन्द्रित शक्ति के बारे में संविधान निर्माताओं की दृष्टि में सन्देह था। उनको आशंका थी कि उत्पादन के साधनों और कच्चे माल के स्रोतों के स्वामित्व का केन्द्रण हो सकता है और उसका परिणाम यह होगा कि कुछ मुनाफाखोर व्यक्तियों के हाथों में धन का केन्द्रण हो जाएगा और ऐसी आर्थिक शक्ति को जन्म मिलेगा जो सर्वग्राही और सर्वसक्षम होगी जैसे कि हेगेलियन राज्य। यह कच्चे मालों की कीमतों में गिरावट में छलपूर्ण तरीका अपना सकती है। यह कम उत्पादन द्वारा और जखीरेबाजी द्वारा तैयार माल की कीमतों को बढ़ा सकती है। यह बेरोजगारी बढ़ा सकती है और मजदूरी की दर घटा सकती है। इसके द्वारा विनिधान में रुकावट पड़ सकती है और यही राष्ट्र की औद्योगिक प्रगति को नियंत्रित कर सकती है (1)। यह राजनीति और जनता की विचारधारा को प्रभावित कर सकती है (2)। यह अपने स्वार्थवश सरकारों को भयभीत करने तथा उस पर रोक लगाने या उसे परिवर्तित करने की कोशिश कर सकती है (3)। इससे स्वतन्त्रता, विधि का नियम एवं शान्ति खतरे में पड़ सकती है (4)। इससे राष्ट्रीय एकता तथा संस्कृति और शिक्षा के विकास में गिरावट आ सकती है (5)। इन बहुमुखी आर्थिक शक्ति के दुरुपयोगों को बचाने के लिए संविधान निर्माताओं ने अनुच्छेद 39(ख) और (ग) अधिनियमित किया था। संविधान के समझने में भाग 4 के पूर्वतर प्राप्त होने वाले महत्व को दिमाग में रखना न्यायसंगत होगा।

यह अब आवश्यक है कि इस पर विचार किया जाए कि क्या गोलक नाथ वाले मामले(6) में बहुमत का विनिश्चय सही है ?

संशोधन शक्ति की विद्यमानता

गोलक नाथ वाले मामले (6) में न्यायाधिपति वांचू तथा दो उन दूसरे न्यायाधीशों ने जिन्होंने अपने को उनसे सम्बद्ध किया था और न्यायाधिपति हिदायतुल्लाह, बछावत और रामस्वामी ने यह मत दिया था कि संविधान को संशोधित करने की शक्ति अनुच्छेद 368 में पाई जाती है। मुख्य न्यायाधिपति सुब्बा राव तथा चार अन्य उन विद्वान् न्यायाधीशों ने जिन्होंने उनके साथ अपने को सम्बद्ध किया था, तत्प्रतिकूल यह अभिनिर्धारित किया था कि

(1) जे० के० गेलब्रेथ, अमेरिकन कैपटेलिज्म, पृष्ठ 31, 40 और 64 ; रिपोर्ट ऑफ दि मोनोपलीज इन्क्वायरी कमीशन (1965), जिल्द 1, पृष्ठ 125, 128, 132 और 134.

(2) जे० के० गेलब्रेथ, पूर्वोक्त, पृष्ठ 123, बरटरेण्ड रसल : पॉवर (अनविन बुक्स) पृष्ठ 85, मोनोपलीज इन्क्वायरी कमीशन रिपोर्ट, पृष्ठ 136.

(3) वही० रसल, पूर्वोक्त, पृष्ठ 86, 88 और 124, मोनोपलीज इन्क्वायरी कमीशन रिपोर्ट, पृष्ठ 1, 135 और 193.

(4) जे० के० गेलब्रेथ, पूर्वोक्त, पृष्ठ 67, और 79 ; डब्ल्यू० फ्राइडमैन : एन इन्ट्रोडक्शन टू वर्ल्ड पालिटिक्स : (लन्दन मैकमिलन एण्ड कम्पनी लिमिटेड) 1962, पृष्ठ 4.

(5) मोनोपलीज इन्क्वायरी कमीशन रिपोर्ट, पृष्ठ 136.

(6) (1967) 2 एस० सी० आर० 762.

अनुच्छेद 368 संविधान को संशोधित करने की शक्ति प्रदत्त नहीं करता है। यह केवल संशोधन के लिए प्रक्रिया के लिए उपबन्ध करता है। मैं आदरपूर्वक इस मत से सहमत हूं कि संशोधन की शक्ति मूल अनुच्छेद 368 में विद्यमान है।

अनुच्छेद 368 के पार्श्व-टिप्पण के होते हुए भी, जोकि यह उपदर्शित करता है कि अनुच्छेद 368 संशोधन के लिए प्रक्रिया विहित करता है, अनेक विचारणीय बातें स्पष्ट रूप से यह दर्शित करती हैं कि संशोधन शक्ति अनुच्छेद 368 में पाई जाती है। अनुच्छेद 368 विनिर्दिष्ट रूप से संविधान के संशोधन के लिए प्रक्रिया के लिए उपबन्ध करता है। जब विहित प्रक्रिया यथार्थतः अनुसरित की जाती है तो संविधान 'विधेयक के निबन्धनों के अनुसार संशोधित हो जाएगा'। संसद् विहित प्रक्रिया को यथार्थ रूप से अनुसरित करके इस परिणाम को जन्म दे सकती है। जो भी कोई किसी परिणाम को जन्म दे सकता है उसके बारे में सही रूप से यह कहा जा सकता है कि उसे उस परिणाम को जन्म देने की शक्ति है। तदनुसार संविधान के संशोधन की शक्ति आवश्यक रूप से अनुच्छेद 368 में विवक्षित है।

अनुच्छेद 368 संविधान के भाग 20 में पाया जाता है। इस भाग में यह अकेला अनुच्छेद है। यदि संसद् द्वारा संविधान को संशोधित करने के लिए प्रक्रिया के लिए केवल अनुच्छेद 368 में उपबन्ध किया गया था तो संविधान निर्माताओं ने तर्कसंगत रूप से इसे संविधान के भाग 5 में 'विधायी प्रक्रिया' के शीर्षक के अधीन रखा होता। भाग 20 का शीर्षक 'संविधान का संशोधन' है न कि 'संविधान के संशोधन के लिए प्रक्रिया' है। इस शीर्षक के अन्तर्गत शक्ति और प्रक्रिया दोनों आती हैं। अनुच्छेद 368 के परन्तुक से भी यही दर्शित होता है कि उसमें संशोधन की शक्ति स्थित है। संविधान के संशोधन की शक्ति संविधान के अनुच्छेद 248 के साथ पठित अनुसूची 7 की सूची 1 की प्रविष्टि 97 में युक्तियुक्त रूप से नहीं पाई जाती है। संविधान को संशोधित करने के लिए उपबन्ध का निर्विवाद रूप से संविधान निर्माताओं के दिमाग में विद्यमान रहा होगा। यदि उन्होंने यह सोचा होता कि संविधान को संशोधित करने की शक्ति अपनी प्रकृति में विधायी है तो उन्होंने निश्चित रूप से अभिव्यक्त रूप से इस शक्ति को सूची 1 की किसी विनिर्दिष्ट प्रविष्टि में सम्मिलित किया होता। अनुच्छेद 248 और सूची 1 की प्रविष्टि 97 संसद् को अवशिष्ट शक्ति प्रदत्त करते हैं। अनुच्छेद 246 और सूची 1 संसद् को विनिर्दिष्ट शक्तियां प्रदत्त करते हैं। अवशिष्ट शक्ति को ऐसे मामलों को सम्मिलित करने के लिए आशयित किया गया था जिसका कि संविधान की विरचना के समय संविधान निर्माताओं ने पूर्वानुमान नहीं किया था। चूंकि संविधान के संशोधन के प्रकरण का उन्होंने पूर्वानुमान कर लिया था इसलिए इसे अवशिष्ट शक्ति में नहीं रखा जा सकता था। अनुच्छेद 245(1) संसद् को 'इस संविधान के उपबन्धों के अध्यधीन' शक्ति प्रदत्त करते हैं। अनुच्छेद 246 और 248 अनुच्छेद 245 के अध्यधीन हैं। तदनुसार अनुच्छेद 248 और सूची 1 की प्रविष्टि 47 के अधीन बनाई गई कोई विधि संविधान के किसी उपबन्ध के असंगत नहीं हो सकती। किन्तु संविधान के किसी उपबन्ध का संशोधन करने के लिए प्रविष्टि 97 के अधीन बनाई गई विधि में उपबन्ध से असंगत होगी। तदनुसार यह अविधिमान्य होगी। किन्तु अनुच्छेद 368 में विहित प्रक्रिया का अनुसरण करने के पश्चात् एक विधिमान्य संविधान के संशोधन का जन्म होता है। उसी प्रकार अनुच्छेद 248 और प्रविष्टि 97 के अन्तर्गत संविधान के संशोधन की शक्ति नहीं आ सकती। हमारे देश में अवशिष्ट शक्ति के

इतिहास से भी यह दर्शित होता है कि संविधान को संशोधित करने की शक्ति अवशिष्ट शक्ति में परिसीमित नहीं की जा सकती। भारत शासन अधिनियम, 1935 की धारा 104 में अवशिष्ट शक्ति के लिए उपबन्ध है। गवर्नर जनरल लोक अधिसूचना के द्वारा संघीय विधानमण्डल, प्रान्तीय विधानमण्डल को ऐसे किसी विषय की बाबत, जो अनुसूची 7 की सूची में से किसी में प्रगणित नहीं है, विधि अधिनियमित करने के लिए सशक्त कर सकेगा। गवर्नर जनरल किसी विधानमण्डल को भारत शासन अधिनियम के संशोधन के लिए विधि बनाने के लिए सशक्त नहीं कर सकेगा। उक्त अधिनियम को संशोधित करने की शक्ति अनन्य रूप से ब्रिटिश संसद् में विनिहित है। जब संविधान पर विवेचन हो रहा था, अवशिष्ट शक्ति के बारे में यह प्रस्थापित किया गया था कि वह राज्यों में विनिहित की जाए। यदि उस शक्ति को राज्यों में विनिहित किया गया होता तो यह दलील देना सम्भव न होता कि संविधान अवशिष्ट शक्ति के आश्रय लेकर संशोधित किया जा सकता है क्योंकि संशोधन करने वाले विधेयक का सूत्रपात संसद् में किया जाना होता है न कि राज्यों में। यह बात बाद के प्रक्रम की थी कि अवशिष्ट शक्ति को सूची 1 में सम्मिलित किया गया। इन पूर्व कही गई विचारणीय बातों से स्पष्ट है कि संसद् की शक्ति अनुच्छेद 248 तथा सूची 1 की प्रविष्टि 47 में निवास नहीं करती है। जैसा कि पहले ही कथित किया गया है यह संविधान के अनुच्छेद 368 में स्थित है। प्रारूपित संविधान का अनुच्छेद 304(1) अनुच्छेद 368 के समान है। अनुच्छेद 304(2) राज्यों को संविधान को उस सीमा तक संशोधित करने के लिए समर्थ बनाते हैं जहां तक कि राज्यपाल के चुनाव की रीति या राज्य विधानमण्डल के सदनों की संख्या का सम्बन्ध है। संविधान सभा के अध्यक्ष को भेजे गए अपने तारीख 21 फरवरी, 1948 के पत्र के खण्ड 18 में प्रारूपित संविधान को अग्रेषित करते हुए डाक्टर अम्बेदकर ने यह कहा था कि राज्य विधानमण्डलों को सीमित संविधायी शक्ति प्रदत्त करने वाला उपबन्ध अनुच्छेद 304 में अन्तःस्थापित किया गया है।

अनुच्छेद 368 में विहित प्रक्रिया संविधान के संशोधन के लिए अनन्य प्रक्रिया है। अनुच्छेद 368 में प्रयुक्त 'ही' (ओनली) शब्द संशोधन की समस्त दूसरी प्रक्रिया के होने की बात समाप्त कर देता है इस प्रकार लोकमत-संग्रह या संविधान सभा के लिए कोई विधि नहीं बनाई जा सकती। लोकमत-संग्रह या संविधान सभा से अनुच्छेद 368 अनावश्यक हो जाएगा। संविधान निर्माताओं ने लोकमत-संग्रह को स्वीकार नहीं किया था। डाक्टर बी० आर० अम्बेदकर ने कहा था कि 'प्रारूपित संविधान द्वारा विस्तृत और कठिन प्रक्रिया को हटा दिया गया, जैसे कि सम्मेलन या लोकमत-संग्रह द्वारा कोई विनिश्चय संशोधन की शक्तियां उन विधान मण्डलों को दी गई हैं, चाहे वे केन्द्रीय हों या प्रान्तीय'।(1)

संशोधन करने की शक्ति की प्रकृति

आदर के साथ मैं न्यायाधिपति हिदायतुल्लाह के इस मत से सहमत होने के लिए कठिनाई का अनुभव कर रहा हूं कि अनुच्छेद 368 के संशोधन की शक्ति एक विधायी शक्ति है (देखिए—गोलक नाथ वाला मामला, पृष्ठ 900)।

ब्रिटिश काल में न तो इस देश की जनता और न ही इसके निर्वाचित प्रतिनिधियों को उनके संविधान अधिनियम बनाने या संशोधन करने की शक्ति

(1) कांस्टिट्यूएण्ट असेम्बली डिबेट्स जिल्द 7, पृष्ठ 43.

प्रदत्त की गई। 14 अगस्त, 1947 तक वे जिस संविधान अधिनियम द्वारा शासित थे वह ब्रिटिश संसद् द्वारा अधिनियमित किया गया था। उस अधिनियम को संशोधित करने की शक्ति उस संसद् में विनिहित थी। उस तारीख तक जनता के निर्वाचित प्रतिनिधि केवल संविधान के अधिनियम के अन्तर्गत विधायी विधियां बनाते थे। संविधान अधिनियम द्वारा उन्हें विधायी शक्ति प्रदत्त की गई थी। भारत शासन अधिनियम, 1935 की धारा 99 और 100 के अधीन संघ और प्रान्तीय विधानमण्डल विधायी विधियां बनाते थे। धारा 42, 43 और 44 तथा नवम अनुसूची की सूची 32 के अधीन गवर्नर जनरल अध्यादेश निकालते थे। गवर्नर धारा 88, 89 और 90 के अधीन अध्यादेश और अधिनियम बनाते थे। उन समस्त उपबन्धों के शीर्षक विधि बनाने की उस शक्ति को 'विधायी शक्ति' के रूप में वर्णित करते हैं। संविधान निर्माता इस देश में 'विधायी शक्ति' अभिव्यक्ति के ऐतिहासिक अर्थ से परिचित थे। वे संविधायी शक्तियों और मामूली विधायी क्रियाकलाप के प्रयोग से भी परिचित थे। तदनुसार यह विश्वास करना युक्तियुक्त है कि उन्होंने 'विधायी शक्ति' तथा 'संविधायी शक्ति' के बीच अन्तर किया है। वास्तव में उन्होंने विधान बनाने की शक्ति को 'विधायी शक्ति' के रूप में वर्णित किया है। भाग 11 का शीर्षक 'विधायी शक्तियों का वितरण' है। अनुच्छेद 123 का शीर्षक 'राष्ट्रपति की विधायी शक्ति' है। अनुच्छेद 213 का शीर्षक 'राज्यपाल की विधायी शक्ति' है। यह मत दिया जा सकता है कि विधान निर्माताओं ने भाग 11 की 'विधायी शक्ति' शीर्षक के अधीन या संविधान के भाग 5 में विधायी प्रक्रिया से सम्बन्धित उपबन्धों के साथ अनुच्छेद 368 को सम्मिलित नहीं किया था। उन्होंने इसे पृथक् भाग में रखा था। यह लोप इस तथ्य से स्पष्ट होता है कि वे 'विधायी शक्ति' का 'संविधायी शक्ति' के बीच अन्तर कर रहे थे।

मोटे तौर पर यह कहा जाए तो 'संविधायी शक्ति' सरकार के प्राथमिक अंगों के ढांचे को अवधारित करती है और उनके व्यवहार के लिए प्राधिकृत मानक स्थापित करती है। उसके मामूली अर्थ में 'विधायी शक्ति' से उन प्राधिकृत मानकों के अनुसार विधि बनाना अभिप्रेत है। विधायी शक्ति सरकार के गौण अंगों के रूप को अवधारित कर सकती है और उनके सामाजिक व्यवहार के लिए गौण मानक स्थापित कर सकती है। गौण मानक संविधायी शक्ति द्वारा स्थापित प्राधिकृत मानकों से व्युत्पन्न होते हैं। 'विधायी शक्ति' की धारणा पर विचार-विमर्श करते हुए न्यायाधिपति बोस ने यह कहा था—हमें यह प्रयत्न करना होगा और स्वतः संविधान से यह खोजना होगा कि उस संविधान सभा की दृष्टि में जिसने कि इसे प्रदत्त किया, संविधायी शक्ति की अभिधारणा क्या थी। जब उस निकाय ने प्रथम बार भारतीय संसद् को सृजित किया और उसे जीवन दिया तो उन्होंने क्या सोचा कि वे क्या कर रहे हैं। उनके मस्तिष्क में विधायी शक्ति की क्या धारणा थी। प्रथम और सर्वोपरि रूप में उनकी दृष्टि में ब्रिटिश नमूना था जहां संसद् इस अर्थ में उच्चतम है कि वह जो चाहे कर सकती है और कोई विधि का न्यायालय उनके कृत्यों के ऊपर निर्णय नहीं दे सकता। संघ लागू करके तथा विधायी प्राधिकार के क्षेत्र का वितरण करके इसने नमूने को अमान्य कर दिया। इसने संविधायी शक्ति तथा मामूली विधायी क्रियाकलाप के प्रयोग के बीच अन्तर करते हुए इसे अमान्य कर दिया। [इन दिल्ली लॉज ऐक्ट, 1912, (1951) एस० सी० आर० 747, 1112]।

संसद् को मामूली विधि द्वारा संविधान के कुछ उपबन्धों को संशोधित करने की अतिरिक्त शक्ति प्राप्त है। इससे संविधायी शक्ति और विधायी शक्ति का अन्तर नहीं मिट सकता। संविधान ब्रिटिश संविधान की तरह अनियन्त्रित हो सकते हैं या यूनाइटेड स्टेट्स ऑफ अमरीका के संविधान की तरह नियन्त्रित हो सकते हैं। संविधानों का ऐसा भी वर्ग हो सकता है जो भागतः नियन्त्रित हो और भागतः अनियन्त्रित हो। अनियन्त्रित संविधान में संविधायी और असंविधायी शक्तियों का अन्तर समाप्त हो जाता है क्योंकि विधानमण्डल विधि बनाने की प्रक्रिया द्वारा उसी प्रकार संविधान के किसी भाग को संशोधित कर सकता है जैसे कि यह कोई कानून हो। नियन्त्रित संविधान में विधियां बनाने की तथा संविधान को संशोधित करने की प्रक्रिया सुभिन्न और पृथक् है। संविधान का कोई भाग विधि बनाने की प्रक्रिया द्वारा संशोधित नहीं किया जा सकता। नियन्त्रित संविधान में संविधायी और विधायी शक्ति के बीच का अन्तर इस आधार पर है कि यहां विधि बनाने की प्रक्रिया तथा संविधान संशोधन करने की प्रक्रिया में अन्तर है। हमारा संविधान एक मिश्रित प्रकार का संविधान है। यह भागतः नियन्त्रित है और भागतः अनियन्त्रित। यह संविधान के उन उपबन्धों की बाबत अनियन्त्रित हैं जो कि मामूली विधि द्वारा विधायी प्रक्रिया के माध्यम से संशोधित किए जा सकते हैं और यह शेष उपबन्धों की बाबत नियन्त्रित है क्योंकि अनुच्छेद 368 में विहित प्रक्रिया द्वारा ही संशोधित किए जा सकते हैं। जब संविधान का कोई भाग विधायी प्रक्रिया का अनुसरण करके संशोधित किया जाता है तो ऐसा संशोधन विधायी शक्ति के प्रयोग का परिणाम है और जब यह अनुच्छेद 368 में विहित प्रक्रिया के माध्यम से संशोधित किया जाता है तो यह संशोधन संविधायी शक्ति के प्रयोग का परिणाम है। अनुच्छेद 368 द्वारा प्रदत्त संशोधन की शक्ति संविधायी शक्ति है न कि विधायी शक्ति।

संशोधन शक्ति का अधिकार क्षेत्र

'संविधान में संशोधन' शब्द अनुच्छेद 368 का शक्ति संचार का केन्द्र है। यह संशोधन की शक्ति, उसके अधिकार क्षेत्र और उसके विस्तार दोनों को अवधारित करता है। 'यह संविधान' शब्दों के अन्तर्गत सम्पूर्ण संविधान आता है, क्योंकि अनुच्छेद 393 के अनुसार 'यह संविधान' भारत का संविधान कहा जाता है। यह शब्द अनुच्छेद 133(2) तथा अनुच्छेद 367(1), (2) तथा (3) में भी प्रयुक्त हुए हैं। उन उपबन्धों में इन शब्दों के अन्तर्गत संविधान का प्रत्येक उपबन्ध आता है। वे अनुच्छेद 368 में भी वही अर्थ देते हैं। तदनुसार संशोधन की शक्ति के नियंत्रण के अन्तर्गत भाग 3 के सहित संविधान का प्रत्येक उपबन्ध आता है।

बेरूबारी यूनियन एण्ड एक्सचेंज ऑफ एन्क्लेव्स वाले मामले [1] में यह कहा गया है कि "प्रस्तावना संविधान का एक भाग नहीं है।" यह टीका इस दलील की सहायता नहीं कर सकता कि प्रस्तावना को संशोधित नहीं किया जा सकता। मुझे यह प्रतीत होता है कि न्यायालय का वास्तव में यह कहने का आशय था कि प्रस्तावना

(1) (1960) 3 एस० सी० आर० 250, 282.

संविधान को अधिनियमित करने वाला भाग नहीं है। 17 अक्तूबर, 1949 को संविधान-सभा ने इस आशय का संकल्प पारित किया था कि "प्रस्तावना संविधान का भाग है।" (1)

अनुच्छेद 394 के अनुसार वह अनुच्छेद तथा अनुच्छेद 5 से 9, अनुच्छेद 60, 324, 366, 367, 379, 380, 388, और अनुच्छेद 391 से 393, 26 नवम्बर, 1949 को प्रवृत्त हुए थे जब कि इस 'संविधान के शेष भाग' 26 जनवरी, 1950 को प्रवर्तन में आए थे। 'इस संविधान के शेष उपबन्ध' शब्दों से स्पष्ट है कि प्रस्तावना 26 जनवरी, 1950 को प्रभावी हुई थी। प्रस्तावना के प्रवृत्त होने की तारीख की बाबत श्री के० संथानम के प्रश्न का उत्तर देते हुए श्री अलादिकृष्णस्वामी अय्यर ने कहा था 'जब कि संविधान प्रवृत्त हुआ, उसी समय प्रस्तावना अपनी समस्त पूर्णता के साथ प्रवृत्त हुई।' (2)

किसी कानून के चार भाग होते हैं--नाम, प्रस्तावना, अधिनियमित करने वाला खंड और मुख्यांश या ढांचा। (3) यूनाइटेड स्टेट्स ऑफ अमेरिका के संविधान की प्रस्तावना को संविधान के भाग के रूप में माना जाता है। (4) 'भारत का संविधान' शीर्षक के ऊपर प्रस्तावना यह दर्शित करती है कि प्रस्तावना इसका एक भाग है।

चूंकि प्रस्तावना संविधान का एक भाग है, इसलिए यह अनुच्छेद 368 के अधीन संशोधन के लिए दायित्वाधीन है। प्रस्तावना के वे भाग जो पहले प्रचलित थे जैसे कि '26 नवम्बर, 1949' में, कदाचित उसमें कोई रूपान्तरण नहीं किया जा सकता। यहां तक कि जोव को भी भूतकाल के ऊपर कोई शक्ति नहीं है। किन्तु इसमें कोई संदेह नहीं है कि ऐसे भाग संशोधन की शक्ति के प्रयोग द्वारा निकाले जा सकते हैं।

संक्षेप में संविधान का कोई उपबन्ध संशोधन की शक्ति के नियंत्रण से निर्मुक्त नहीं है। संशोधन की शक्ति प्रस्तावना तथा भाग 3 के सहित संविधान के प्रत्येक उपबन्ध का संशोधन कर सकती है।

संशोधन शक्ति का विस्तार

संशोधन की शक्ति के विस्तार को अनुच्छेद 368 में प्रयुक्त व्यापक शब्द 'संशोधन' द्वारा आंका जा सकता है। न्यायाधिपति वांचू के मतानुसार 'संशोधन' शब्द को उसी प्रकार पूर्ण अर्थ देना चाहिए जैसा कि विधि में यह प्रयुक्त होता है और उसका अर्थ यह है कि वर्तमान संविधान के संशोधन द्वारा यह परिवर्तित हो सकता

(1) कांस्टिट्यूएण्ट असेम्बली डिबेट्स, जिल्द 10, पृष्ठ 456.

(2) कांस्टिट्यूएण्ट असेम्बली डिबेट्स जिल्द 10, पृष्ठ 418.

(3) क्राफोर्ड स्टेट्यूटरी कंस्ट्रक्शन, (1948 संस्करण), पृष्ठ 123, सदरलैंड, स्टेट्यूटरि कंस्ट्रक्शन (1943 संस्करण), वालयूम 2 पृष्ठ 348-349 हल्सबरीज लाज ऑफ इंगलैंड, जिल्द 36, पृष्ठ 370 क्रेज्ज ऑन स्टेट्यूट ला (1963 संस्करण) पृष्ठ 190 और 201.

(4) विलोबी कांस्टिट्यूशनल लॉ ऑफ दि यूनाइटेड स्टेट्स (1929 संस्करण) जिल्द 1, पृष्ठ 62.

है और यह परिवर्तन वर्तमान उपबन्धों में कुछ जोड़ कर, या वर्तमान उपबन्धों में कुछ परिवर्तन करके और दूसरों के द्वारा उनको प्रतिस्थापित करके या कुछ उपबन्धों को पूर्णतया निकाल कर करने का रूप ले सकता है (उपर्युक्त गोलक नाथ का मामला, पृष्ठ 834) न्यायाधिपति हिदायतुल्लाह ने कहा था कि मैं 'संशोधन' शब्द के प्रति इस प्रकार का संकीर्ण दृष्टिकोण नहीं अपनाता हूं कि उसके अन्तर्गत केवल साधारण ढांचे के अन्तर्गत मामूली परिवर्तन आते हैं। संशोधन द्वारा नए विषय जोड़े जा सकते हैं पुराने विषय हटाए या परिवर्तित किए जा सकते हैं (उपर्युक्त गोलक नाथ वाला मामला, पृष्ठ 862)। न्यायाधिपति बछावत और रामस्वामी ने 'संशोधन' शब्द को उसी प्रकार व्यापक अर्थ दिया था। इस प्रकार गोलक नाथ वाले मामले में 11 न्यायाधिपतियों में से 6 न्यायाधिपतियों के मतानुसार 'संशोधन' शब्द से परिवर्धन, परिवर्तन या निरसन द्वारा संशोधन करना अभिप्रेत है। शार्टर आक्सफोर्ड डिक्शनरी, के अनुसार 'संशोधन' से 'दोषों और गलतियों को दूर करना, किसी रिट या प्रक्रिया में विशिष्टतया विधि की पुनर्रचना करना' अभिप्रेत है। वेब्स्टर थर्ड न्यू इण्टरनैशनल डिक्शनरी के अनुसार इससे संकल्प, विधेयक, कृत्य या संविधान के रूप में, जिसमें कि उसके संशोधन के लिए उपबन्ध होगा, संशोधन की प्रक्रिया के दोष या दोषों, शुद्धि एवं उत्तमतर बनाने के लिए विशिष्टतया संशोधन का कृत्य अभिप्रेत है। अंग्रेजी भाषा की रेण्डम हाउस डिक्शनरी (विस्तृत संस्करण) के अनुसार 'संशोधन' से औपचारिक प्रक्रिया द्वारा किसी संकल्प, विधेयक, संविधान इत्यादि में परिवर्तन करना, उपान्तरण करना, पुनर्रचना करना या जोड़ना, उत्तमतर के लिए परिवर्तन करना, सुधार करना तथा गलतियों को दूर करना या शुद्ध करना अभिप्रेत है। क्राफोर्ड (स्टेट्यूटरि कंस्ट्रक्शन, 1943 संस्करण) पृष्ठ 170 के अनुसार इसमें 'संशोधन' शब्द की भिन्न परिभाषाएं दी गई हैं क्योंकि यह विधान को लागू होता है। साधारणतया किसी विधेयक या विधि के रूप में स्थापित एवं प्रस्थापित कुछ परिवर्तन करना, या बदलना के रूप में परिभाषित है। यद्यपि हम स्थापित विधेयकों के संशोधन से सम्पृक्त नहीं हैं अपितु वर्तमान विधियों के संशोधन से हैं। इस प्रकार जैसा कि किसी को उपयुक्त लगे इस प्रकार परिसीमित परिभाषित संशोधन को कानून की वर्तमान विधियों में परिवर्तन के रूप में परिभाषित करती है या यदि इसे विस्तृत रूप में कहा जाए कि कोई विधि तभी संशोधित की जाती है जब कि यह भागतः या सम्पूर्णतया बनी रहे और कुछ बातें जोड़ी जाती हैं या कुछ बातें छीनी जाती हैं या उसे अधिक पूर्ण या सर्वांगीण या प्रभावकारी बनाने के लिए किसी रीति में उसे बदला जाता है या परिवर्तित किया जाता है। इन परिभाषाओं के अनुसार संशोधन की शक्ति से पाठ में कुछ जोड़ने या उसमें परिवर्तन करने या उससे कुछ निकाल लेने की शक्ति से अभिप्रेत है। जोड़, परिवर्तन या प्रतिस्थापन भिन्न हो सकते हैं या पाठ को या उसके कुछ भाग को अधिक पूर्ण या सर्वांगीण या प्रभावकारी बनाने के लिए हो सकते हैं। यह भी प्रतीत होता है कि विधि का सम्पूर्ण पाठ एक बार में न निरसित किया जा सकता है न निराकृत किया जा सकता है जब कि कोई भाग निरसित किया जाता है तो कुछ भाग को बने रहना चाहिए।

संविधान में 'संशोधन' शब्द की परिभाषा नहीं दी गई है। अनुच्छेद 367(1) के अनुसार संविधान के निर्वचन के लिए साधारण खण्ड अधिनियम लागू होता है। वह अधिनियम भी संशोधन को परिभाषित नहीं करता है यद्यपि धारा 6 क में यह उपबन्ध है कि जहां कहीं कोई केन्द्रीय अधिनियम किसी अधिनियमिति को इस प्रकार निरसित करता है कि जिसके द्वारा केन्द्रीय अधिनियम का पाठ किसी विषय के अभिव्यक्त लोप, अन्तःस्थापन या प्रतिस्थापन द्वारा संशोधित किया जाता है तो जब तक कि भिन्न आशय न प्रतीत होता हो निरसन इस प्रकार निरसित अधिनियमिति द्वारा किए गए किसी ऐसे संशोधन के बने रहने को प्रभावित नहीं करेगा। धारा 6 क से यह दर्शित होता है कि 'संशोधन' के अन्तर्गत परिवर्धन, प्रतिस्थापन और लोप आते हैं। क्या कारण है कि इस परिभाषा को, जिसे कि संविधान निर्माता जानते थे, अनुच्छेद 368 में 'संशोधन' को न लागू किया जाए।

पिटीशनरों के कथनानुसार अनुच्छेद 368 में संशोधन, सुधारों को करने के सीमित अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। अब कोई सुधार जोड़ कर ही नहीं किया जा सकता अपितु लोप और निरसन के द्वारा भी किया जा सकता है। इस प्रकार पाठ में गलती को शुद्ध करने से निस्संदेह उसमें सुधार होता है। न्यायाधिपति हिदायतुल्लाह के मतानुसार यह गलती भाग 3 में (सम्पत्ति का अधिकार को) सम्मिलित करने में थी। (उपर्युक्त गोलक नाथ वाला मामला, पृष्ठ 887)। अनुच्छेद 368 के अधीन संशोधन द्वारा यह गलती को हटाए जाने से निश्चित रूप से संविधान के पाठ में सुधार होगा। इससे संविधान के भाग 4 को कार्यान्वित करने के मार्ग में जो बाधा है वह दूर होगी। यह और भी कि किसी संशोधन को पेश करने वाला अपनी प्रस्थापना को वर्तमान पाठ में सुधार के रूप में मानता है और न्यायालय को संशोधन के पेश करने वाले के आशय के स्थान पर अपना मूल्यांकन प्रतिस्थापित नहीं करना चाहिए।

विधायी शक्ति मामूली तौर से अपने व्यापकतम विस्तार में प्रदत्त की जाती है और अनुच्छेद 368 में संविधायी शक्ति का उसी उदारतापूर्वक अर्थान्वयन किया जाना चाहिए क्योंकि ऐसा करने के लिए इस बात में और बल है 'संशोधन' शब्द का इस प्रकार अर्थान्वयन करना चाहिए कि जिससे वह अनुच्छेद 368 में निहित प्रयोजन को पूरा कर सके। संविधान निर्माताओं ने अनेक कारणवश अनुच्छेद 368 को अधिनियमित किया है। पहली बात यह है कि संविधान के प्रभावी होने के पश्चात् ऐसी बहुत सी गलतियां और लोप प्रकट होंगे जिनके बारे में उनके द्वारा पूर्वानुमान नहीं किया जा सकता था। अनुच्छेद 368 का यह उद्देश्य है कि वह इन गलतियों और लोपों को ठीक करे। दूसरी बात यह है कि संविधान का अर्थान्वयन संविधान निर्माताओं के आशय के अनुरूप न हो या वह व्यवस्थित रूप की सरकार की प्रक्रिया को कठिन बना दे। संविधान का प्रथम संशोधन मद्रास राज्य बनाम श्रीमती चम्पाकम दोरायराजन (1) वाले मामले में इस न्यायालय के तथा कामेश्वर सिंह बनाम बिहार राज्य(2)

(1) (1951) एस० सी० आर० 525.

(2) ए० आई० आर० 1951 पटना 91.

वाले मामले में पटना उच्च न्यायालय के विनिश्चयों के कारण आवश्यक हुआ था। तीसरी बात यह है कि संविधान सभा जिसने कि संविधान को विरचित किया था, वह वयस्क मताधिकार पर नहीं चुनी गई थी और वास्तव में वह सम्पूर्ण जनता का पूर्ण प्रतिनिधित्व नहीं थी। 22 जनवरी, 1947 को जवाहर लाल नेहरू ने कहा था "हम संविधान को विरचित करेंगे और मुझे आशा है कि यह एक उत्तम संविधान होगा किन्तु इस सदन का कोई भी व्यक्ति इस बात की कल्पना नहीं कर सकता कि जब स्वतन्त्र भारत उदित होगा तो वह उस बात के लिए बाध्य होगा जिसे इस सदन ने इसके लिए अधिकथित किया हो। स्वतन्त्र भारत में एक सशक्त राष्ट्र की शक्ति का उदय दिखाई पड़ेगा। यह क्या करेगा और यह क्या नहीं करेगा मैं नहीं जानता हूं किन्तु मैं यह अवश्य जानता हूं कि यह किसी बात से बाध्य होने के लिए अपनी सहमति नहीं देगा। यह हो सकता है कि जिस संविधान को यह सदन बना रहा है, वह उस भारत को अर्थात् स्वतन्त्र भारत को संतुष्ट न कर सके। यह सदन आने वाली पीढ़ी या जनता को इस प्रकार बांध नहीं सकता जो कि किसी कार्य के लिए सम्यक् रूप से हमारे उत्तराधिकारी होंगे"। 8 नवम्बर, 1948 को उन्होंने जोर दिया था "जब कि हम लोग जो कि इस सदन में एकत्रित हैं निस्संदेह रूप में भारत की जनता का प्रतिनिधित्व करते हैं फिर भी मैं सोचता हूं कि यह कहा जा सकता है और यह सत्य है कि जब नया सदन संविधान के निबन्धनों के अनुसार निर्वाचित होता है चाहे उसका नाम जो भी हो, और भारत का प्रत्येक नागरिक जब मत देने का अधिकार रखता है तब जिस सदन का जन्म होगा वह निश्चित रूप से भारतीय जनता के प्रत्येक वर्ग का पूर्ण प्रतिनिधित्व करेगा। यह सही है कि उस सदन को जो इस प्रकार निर्वाचित होगा जैसा वह चाहे वैसे परिवर्तन करने के लिए उसे सरल अवसर होने चाहिएं" ([1])। संविधान निर्माताओं ने संसद् को बहुत ही व्यापक संशोधन शक्ति प्रदत्त की थी क्योंकि यह विश्वास किया गया कि वयस्क मताधिकार पर निर्वाचित संसद् सम्पूर्ण जनता का पूर्ण प्रतिनिधित्व करेगी और ऐसे संसद् को संविधान को नए सिरे से जांचने का तथा उसमें ऐसे परिवर्तन करने का जैसे कि सम्पूर्ण जनता, जिसका कि वह प्रतिनिधित्व करती है, इच्छा करे, परिवर्तन करने का अधिकार होना चाहिए। चौथा समस्त मानवीय अधिकारों के शीर्ष पर स्वपरिरक्षण का अधिकार है। जनता को भी सामूहिक रूप से उस प्रकार का स्वपरिरक्षण के अधिकार हैं। स्वपरिरक्षण में यह परिवर्तनशीलता विवक्षित है अर्थात् बदलते हुए परिवेश के अनुकूलन होना। यह मनुष्य की प्रकृति पर है कि वह इस देश की बदलती हुई सामाजिक, आर्थिक, और राजनैतिक दशा में अपने को समायोजित करे। बिना ऐसे अनुकूलन के जनता की अधोगति हो सकती है और कोई प्रगति नहीं हो सकती है। कांट ने कहा था "एक युग चाहे जितना आबद्ध हो आगे आने वाले युग को ऐसी स्थिति में रखने के लिए शपथबद्ध नहीं हो सकता कि उसके ज्ञान को विस्तृत और शुद्ध करने या कोई प्रगति करने के लिए उसके लिए असंभाव्य हो। यह मनुष्य प्रकृति के विरुद्ध एक अपराध

([1]) कांस्टिटयूएण्ट असेम्बली डिबेट्स, जिल्द 1, पृष्ठ 322-323.

होगा जिसकी मूल नियति निश्चित रूप से ऐसी प्रगति में विद्यमान है। इस प्रकार बाद की पीढ़ियां पूर्ण रूप से इस बात की हकदार हैं कि वे ऐसी व्यवस्थाओं को अप्राधिकृत एवं आपराधिक रूप में अमान्य कर दे।"(1)

उसी री में बोलते हुए जवाहर लाल नेहरू ने कहा था "किसी भी दशा में हमें इस प्रकार का संविधान नहीं बनाना चाहिए जैसा कि कुछ अन्य बड़े देशों ने किया है और जो इतनी अनम्य है कि वे बदलती हुई दशाओं में अनुकूलित नहीं करते और न अनुकूलित हो सकते हैं। आज विशिष्टतया जब कि विश्व में अशान्ति है और हम द्रुतगामी संक्रमण काल से गुजर रहे हैं इसलिए जो आज हमें करना है वह हो सकता है कल के लिए पूर्णतया उपयोगी न रहे इसलिए जब कि हम ऐसा संविधान बनाते हैं उसे यथा सम्भव सुदृढ़ और बुनियादी होना चाहिए कि इसे नमनीय भी होना चाहिए। (2)

अनुच्छेद 368 को इस दर्शन द्वारा इसे रूप दिया गया है कि प्रत्येक पीढ़ी को अपने समय की सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक दशाओं के अनुरूप संविधान को अनुकूलित करने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए। अधिकांश संविधान निर्माता स्वतन्त्रता के सैनानी थे। यह विश्वास करना कठिन है कि वे व्यक्ति जिन्होंने कि अपने काल के सामाजिक, आर्थिक संगठन को बदलने की स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष किया था, वे अपने उत्तराधिकारियों को उनके काल की सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक संगठन को बदलने की उनको उसी प्रकार की स्वतन्त्रता से वंचित करेंगे। भविष्य की पीढ़ी को संविधान में महत्वपूर्ण परिवर्तन करने की शक्ति से वंचित करना संविधान के सांविधानिक परिवर्तनों से परे के खतरे को बुलाना होगा। यदि कुछ परिवर्तनों के साधनों के बिना कोई राज्य है तो वह राज्य अपने संरक्षण के साधनों के बिना है। बिना ऐसे साधनों के वह संविधान के उस भाग को खोने का खतरा भी ले सकता है जिसे कि वह संरक्षित करने के लिए सर्वाधिक धार्मिक रूप से इच्छा करता है।(3)

प्रसंग से भी 'संशोधन' शब्द का व्यापकतम अर्थ निकलता है। अनुच्छेद 368 का परन्तुक यह कहता है कि यदि संविधान का कोई संशोधन उसमें विनिर्दिष्ट उपबन्धों में कोई परिवर्तन करना चाहता है ऐसे संशोधन को राज्य विधानमण्डलों के आधे की संख्या से अन्यून का अनुसमर्थन भी अपेक्षित होगा। इस प्रकार इस परन्तुक में संविधान के कुछ उपबन्धों में परिवर्तन द्वारा संशोधन अनुध्यात है। शार्टर ऑक्सफोर्ड इंग्लिश डिक्शनरी, दूसरा संस्करण, जिल्द 1, पृष्ट 291 के अनुसार परिवर्तन से दूसरे के स्थान पर किसी बात के प्रतिस्थापन या उत्तराधिकार से अभिप्रेत है किसी चीज की दशा या क्वालिटी में परिवर्तन, फेरफार या बदलना वह जो भी है या दूसरे

(1) हंस रीस द्वारा सम्पादित कोट्स पालिटिकल राइटिंग्स, कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, 1970 पृष्ठ 57.

(2) कांस्टिट्युएण्ट असेम्बली डिबेट्स, जिल्द 7, पृष्ठ 322.

(3) बर्क, रिफ्लेक्शनस ऑन दि रेवोल्यूशन इन फ्रांस एण्ड अदर राइटिंग्स, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1958 रिप्रिण्ट पृष्ठ 23.

के लिए है या उसी प्रकार के दूसरे के लिए प्रतिस्थापित किया जा सकता है। तदनुसार संशोधन शक्ति के अन्तर्गत एक उपबन्ध का दूसरे उपबन्ध के लिए प्रतिस्थापित करने की शक्ति है। उदाहरण के लिए संसद् को यह अधिकार होगा कि वह अनुसूची 7 की सूची 2 निकाल दे और अनुच्छेद 368 तथा उसके परन्तुक में विहित प्रक्रिया का यथार्थतः पालन करते हुए उसके लिए दूसरी सूची प्रतिस्थापित कर दे। 'संशोधन' तथा 'संशोधन करना' शब्द अनुच्छेद 107(2), 108(1) और(4), 109(3), 110(1) (ख), अनुच्छेद 111 का परन्तुक, अनुच्छेद 147, 196 (2), 197(1) (ग), और 2(ग), 198 (3), 199 (1) (ख), 200, 201 तथा 395 में प्रयुक्त हुए हैं। इन समस्त उपबन्धों में इन शब्दों के अन्तर्गत निरसन या निराकरण की शक्ति आती है। अनुच्छेद 110(1)(ख) में उपबन्ध है कि उस विधेयक के बारे में यह नहीं समझा जाएगा कि वह धन विधेयक है यदि उसमें इस बात से सम्बन्धित उपबन्ध अन्तर्विष्ट है कि भारत सरकार द्वारा दिए गए अथवा लिए जाने वाले किन्हीं विधायी आभारों से सम्बन्ध विधि का संशोधन। निस्संदेह 'संशोधन' शब्द के अन्तर्गत भारत सरकार द्वारा लिए गए अथवा लिए जाने वाले किन्हीं विधायी आभारों से सम्बद्ध विधि का संशोधन की बाबत विधि का निरसन या निराकरण आता है। 'संशोधन' शब्द को मात्र नगण्य परिणामों तक ही सीमित नहीं किया जा सकता। उसी भाव का राज्यों से सम्बन्धित अनुच्छेद 199(1) (ख) है। अनुच्छेद 147 में उपबन्ध है कि इस अध्याय में तथा भाग 6 के अध्याय 5 में इस संविधान के निर्वचन के सारवान् विधि प्रश्न के बारे में जो निर्देश हैं उनका अर्थ ऐसा किया जाएगा मानो उनके अन्तर्गत भारत शासन अधिनियम, 1935 के (जिसके अन्तर्गत उस अधिनियम को संशोधित या अनुपूरित करने वाली कोई अधिनियमिति भी है) निर्वचन के सारवान् विधि प्रश्न के निर्देश भी हैं। यहां भी 'संशोधन' शब्द के अन्तर्गत ऐसी कोई अधिनियमिति आती है जिसके द्वारा भारत शासन अधिनियम, 1935 के किसी उपबन्ध का निरसन किया गया है। अनुच्छेद 395 में यह उपबन्ध है कि भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम, 1947 तथा भारत शासन अधिनियम, 1935 संशोधन या अनुपूरण करने वाली सब अधिनियमितियों के साथ एतद्द्वारा निरसित किए जाते हैं। यहां भी 'संशोधन करने वाला' शब्दों के अन्तर्गत ऐसी अधिनियमिति आती है जिसके द्वारा भारत शासन अधिनियम, 1935 का कोई उपबन्ध निरसित किया गया है। यह नहीं कहा जा सकता कि संविधान निर्माताओं का यह आशय था कि वे उस अधिनियमिति को बनाए रखें जिससे भारत शासन अधिनियम, 1935 का सारभूत उपबन्ध निरसित किया गया है।

संविधान की अनुसूची 5 का पैरा 7 इस प्रकार है—(1) संसद्, समय-समय पर विधि द्वारा, जोड़, फेरफार या निरसन करके, इस अनुसूची के उपबन्धों में से किसी का संशोधन कर सकेगी तथा जब अनुसूची इस प्रकार संशोधित हो जाए तब इस संविधान में इस अनुसूची के प्रति किसी निर्देश का अर्थ ऐसा किया जाएगा मानो वह निर्देश इस प्रकार संशोधित ऐसी अनुसूची के प्रति हो। (2) ऐसी कोई

विधि जैसी कि इस कण्डिका की उपकण्डिका (1) में वर्णित है इस संविधान के अनुच्छेद 368 के प्रयोजनों के लिए इस संविधान का संशोधन नहीं समझी जाएगी।

पैरा 7(1) के 'परिवर्धन, परिवर्तन या निरसन' शब्द संशोधन करने के अर्थ को विस्तारित नहीं करते हैं। यह वर्णात्मक है। यदि अनुच्छेद 368 में 'संशोधन' शब्द के अन्तर्गत संविधान के उपबन्ध को निरसित करने की शक्ति नहीं आती है तो उप-पैरा (2) को अधिनियमित नहीं किया गया होता। इस न्यायालय द्वारा यह अभिनिर्धारित किया गया है कि संसद् अनुच्छेद 3 के अधीन अधिनियमित विधि द्वारा या अनुच्छेद 368 के अधीन संविधान के संशोधन द्वारा राज्य की सीमाओं को बदल सकती है. (देखिए—उपर्युक्त वेरूबारी यूनियन वाला मामला)। इस विनिश्चय से यह अर्थ निकलता है कि संसद् अनुसूची 5 के पैरा 7 के अधीन अधिनियमित मामूली विधि द्वारा या अनुच्छेद 368 के अधीन संशोधन द्वारा किसी उपबन्ध को निरसित कर सकती है। अनुच्छेद 368 के अधीन संशोधन की शक्ति जिसमें अनुसूची 5 के किसी उपबन्ध के संशोधन की अपेक्षा है अधिक कठिन प्रक्रिया उपवर्णित है। पैरा 7 के अधीन वह निरसित की जा सकती है। वह अनुसूची 5 के पैरा 7 के अधीन वाली शक्ति की अपेक्षा अधिक सीमित नहीं हो सकती। यही विचार संविधान की अनुसूची 6 के पैरा 21 को सामान्य रूप से लागू होता है।

अनुच्छेद 33 के अनुसार संसद् विधि द्वारा निर्धारण कर सकेगी कि इस भाग द्वारा दिए गए अधिकारों में से किसी को सशस्त्र बलों अथवा सार्वजनिक व्यवस्था भार वाले बलों के सदस्यों के लिए प्रयोग होने की अवस्था में किस मात्रा तक निर्बन्धित या निराकृत किया जाए ताकि उनके कर्तव्यों का उचित पालन तथा उनमें अनुशासन बना रहना सुनिश्चित रहे। संसद् तत्समय सेना में नियोजित और सार्वजनिक व्यवस्था भार वाले बलों के लिए नागरिकों के मूल अधिकारों को निराकृत करने की विधि बना सकती है। उदाहरण के लिए उसे यह अधिकार है कि वह सेना में नियोजित व्यक्तियों के वाक् स्वातन्त्र्य को निराकृत करने की विधि बनाए। अनुसूची 5 के पैरा 7 के सम्बन्ध में पहले विचार-विमर्श किए गए कारणों से इस बात में विवाद नहीं हो सकता कि संसद् को अनुच्छेद 368 के अधीन संशोधन शक्ति का प्रयोग करते हुए सशस्त्र बलों या सार्वजनिक व्यवस्था भार वाले बलों के लिए नियोजित नागरिकों के मूल अधिकारों को निराकृत कर सकती है।

संविधान सभा की शक्ति जो संविधान विरचित करने के लिए प्रतिनिधि निकाय है, असीमित और अमर्यादित है। उसकी आत्यन्तिक शक्ति इस तथ्य के कारण है कि उसे देश की सरकार के लिए व्यवस्था करनी पड़ती है। इस कार्य को करने में उसे उच्च नीति के विषयों पर विनिश्चय करना होता है। इस उच्च प्रयोजन के अनुरूप उच्च शक्ति बनाई जाती है। अनुच्छेद 368 द्वारा संसद् को प्रदत्त शक्ति की प्रकृति संविधान-सभा द्वारा प्रयोग की जाने वाली शक्ति के समान है इसलिए अनुच्छेद 368

में संशोधन की शक्ति इस प्रकार असीमित और अबाधित है जैसे कि संविधान सभा की शक्ति वास्तव में यह सही रूप से कहा जा सकता है कि संसद् बनी रहने वाली संविधान सभा के रूप में कृत्य करती है

अनुच्छेद 368 का इतिहास भी 'संशोधन' के व्यापक अर्थान्वयन का समर्थन करता है। अनुच्छेद 368 प्रारूपित संविधान के अनुच्छेद 304 का समरूपी है। प्रारूपित संविधान का अनुच्छेद 305 हमारे प्रयोजन के लिए तात्विक है। यह तात्विक रूप से इस प्रकार है—

> "अनुच्छेद 304 में किसी बात के होते हुए भी मुसलमानों, अनुसूचित जातियों या अनुसूचित आदिम-जातियों या भारतीय ईसाइयों के संसद् या किसी राज्य के विधानमण्डल में स्थानों के आरक्षण की बाबत इस संविधान का उपबन्ध इस संविधान के प्रारम्भ होने से 10 वर्ष की अवधि तक संशोधित नहीं किया जाएगा।"

प्रारूपित संविधान के भाग 14 द्वारा मुसलमानों, अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित आदिम-जातियों, भारतीय ईसाइयों के लिए संसद् और राज्य विधानमण्डलों में स्थानों के आरक्षण किए गए थे। अनुच्छेद 305 में 'संशोधन' शब्द के अन्तर्गत असंदिग्ध रूप से आरक्षणों को विहित करने वाले उपबन्धों का निरसन आता है। चूंकि अनुच्छेद 305 अनुच्छेद 304 का अपवाद था, इसलिए अनुच्छेद 304 में 'संशोधन' शब्द के अन्तर्गत आरक्षणों को निराकृत करने की शक्ति है या आती है जैसा कि अनुच्छेद 304 में है उसी प्रकार अनुच्छेद 368 में 'संशोधन' के अन्तर्गत निरसन और निराकरण का भाव का अर्थ होना चाहिए।

पालखीवाला के कथनानुसार जब कभी संविधान निर्माताओं का यह आशय हुआ कि वे किसी प्राधिकारी को निरसन की शक्ति प्रदत्त करें तब उन्होंने उस प्रकार अनुच्छेद 35(ख), 252(2), 254(2), अनुच्छेद 254(2) का परन्तुक तथा अनुच्छेद 372(1) और (2) में अभिव्यक्त रूप से वैसा कहा है। इन सभी उपबन्धों में 'परिवर्तन, निरसन या संशोधन' शब्द सम्पूर्ण विधि का पूर्णरूपेण निरसन के लिए प्राधिकृत नहीं करता है इसलिए संविधान निर्माताओं ने सम्पूर्ण विधि की निरसन की शक्ति को अभिव्यक्त रूप से मान लिया है। यह उपबन्ध श्री पालखीवाला की इस दलील की कोई सहायता नहीं करता कि अनुच्छेद 368 में 'संशोधन' को संकुचित अर्थ देना चाहिए।

संक्षेप में यदि कहा जाए तो संशोधन की शक्ति की प्रकृति, उसके उद्देश्य तथा उसके इतिहास तथा अनुच्छेद 368 के प्रसंग से इस बात में कोई संदेह नहीं रहता कि 'संशोधन' शब्द के अन्तर्गत संविधान के प्रत्येक उपबन्ध को निरसित या निराकृत करने की शक्ति है। यह हो सकता है कि संसद् एक बार भी सम्पूर्ण संविधान को विनष्ट करने योग्य न हो सके किन्तु यह निश्चित रूप से भाग 3 के समस्त

उपबन्धों को निरसित या निराकृत कर सकती है। अनुच्छेद 368 न केवल संसद् को चिकित्सक की सुई का प्रयोग करने के लिए अनुज्ञा देता है अपितु शल्य चिकित्सक की छुरी को भी प्रयोग करने की यदि कभी संविधान के दूसरे भागों के ठीक से बने रहने या उसके जीवित रहने के लिए आवश्यक हो तब यह संविधान के किसी भाग को काट सकती है।

अनुच्छेद 13(2) में 'विधि' का अर्थ

'संविधान' और 'विधि' में अन्तर है। मामूली तौर से संविधान एक राजनैतिक और विधिक दस्तावेज को बताता है। राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने एक बार कहा था कि यूनाइटेड स्टेट्स का संविधान एक बहुत बड़ी सीमा तक राजनैतिक दस्तावेज है न कि केवल 'वकीलों की दस्तावेज (1)'। इसके विपरीत मामूली अर्थ में विधि किसी कानून या विधायी अधिनियमिति को संज्ञापित करती है। पुनः संविधान द्वारा सर्वोपरि मानदण्ड या मानदण्डों को विहित किया जाता है। विधि द्वारा व्युत्पन्न मानदण्ड विहित किए जाते हैं। उन्हें सर्वोपरि मानदण्डों से प्राप्त किया जाता है। विधि की दृष्टि में सांविधानिक संशोधनों को समझना वैसे ही है जैसे कि संविधान स्वतः इसलिए मामूली तौर पर सांविधानिक संशोधन विधि नहीं है। महत्वपूर्ण बात यह है कि अनुच्छेद 368 में 'विधि' शब्द का एक मंद स्वर भी नहीं है।

अनुच्छेद 13(2) में 'विधि' शब्द के प्रसंग में यह दर्शित नहीं होता है कि इसमें अनुच्छेद 368 के अधीन किया गया संविधान का संशोधन आता है। अनुच्छेद 13(1) में 'विधि' शब्द के अन्तर्गत स्पष्ट रूप से संविधान नहीं आता है। हमारे संविधान के प्रारम्भ के समय कोई विद्यमान संविधान और संविधान के भाग 3 द्वारा प्रदत्त जनता के मूल अधिकारों को छीनने वाली या न्यून करने वाली बात पालखीवाला के अध्यवसायपूर्ण गवेषणा की बात भी हमारे समक्ष नहीं आई है। अनुच्छेद 13(3)(क) में 'विधि' शब्द की ऐसी व्यापक परिभाषा का उपबन्ध है जिसके अन्तर्गत ऐसी बातें हैं जिनके बारे में मामूली तौर से यह नहीं माना जाता है कि ये उसके अन्तर्गत है। इसमें अध्यादेश, आदेश, उपविधि, नियम, विनियम, अधिसूचना, रूढ़ि जिन्हें विधि का बल प्राप्त है, उल्लेख है। किन्तु उसके अन्तर्गत संविधान नहीं आता है जो मामूली अर्थ में विधि का अर्थ नहीं रखता है।

स्वतः संविधान में 'संविधान' और 'विधि' के बीच अन्तर किया गया है। अनुच्छेद 60 के अनुसार भारत के राष्ट्रपति को यह शपथ लेनी पड़ती है कि वह संविधान और विधि का परिरक्षण संरक्षण और प्रतिरक्षण करेगा। अनुच्छेद 159 द्वारा राज्य के राज्यपाल द्वारा इसी प्रकार की शपथ लेने के लिए अपेक्षा की गई है। संघ तथा राज्य के मंत्री उच्चतम तथा उच्च न्यायालयों के न्यायाधीश, महालेखा अधिकारी

(1) सी०जी० हेन्स, रोल ऑफ दि सुप्रीम कोर्ट इन अमरीकन गवर्नमेण्ट एण्ड पॉलिटिक्स 1944 इडिशन, पृष्ठ 44.

भी उसी प्रकार की शपथ लेते हैं। यदि संविधान निर्माताओं ने संविधान को विधि के रूप में माना होता तो उन्होंने विभिन्न शपथों में पृथक् रूप से संविधान का उल्लेख न किया होता।

संविधान के विभिन्न उपबन्ध दर्शित करते हैं कि अनुच्छेद 107 से 111 तक में विहित विधायी प्रक्रिया के अनुसरण द्वारा जो बात पैदा होती है उसे विधि कहा जाता है। अनुच्छेद 107 तथा 196 के ऊपर जो शीर्षक है वह "विधायी प्रक्रिया के रूप में" है। जब विहित प्रक्रिया अनुसरित की जाती है तो जो बात पैदा होती है वह विधि है। किन्तु जब अनुच्छेद 368 में विहित प्रक्रिया को यथार्थ रूप में अनुसरित किया जाता है तो इसका परिणाम संविधान का संशोधन होता है। संविधान निर्माताओं ने इसको विधि के नाम से नहीं पुकारा।

मामूली तौर से मूल अधिकार राज्य के अंगों के विरुद्ध उपभोग किए जाते हैं अर्थात् राज्य के विधानमण्डल, कार्यपालिका एवं नगरपालिका तथा अन्य अभिकरणों के विरुद्ध । जब कि अनुच्छेद 368 के अधीन संशोधन करते समय संसद् संविधायी प्राधिकारी के रूप में कृत्य करती है न कि राज्य के अंग के रूप में। वह निकाय जो अनुच्छेद 107 से 111 के अधीन विहित प्रक्रिया के अनुसार विधि बनाता है तथा वह निकाय जो अनुच्छेद 368 में विहित प्रक्रिया के अनुसार संशोधन करता है, एक ही हो सकता है। किन्तु दोनों कृत्य प्रकृति में मूलतः भिन्न हैं। यह सभी जानते हैं कि बहुधा एक ही निकाय में विभिन्न कृत्यों का सामंजस्य होता है उदाहरण के लिए ग्रेट ब्रिटेन में हाउस ऑफ लार्ड्स विधायी कृत्य तथा न्यायिक कृत्य दोनों का प्रयोग करता है। यह किसी विशिष्ट सत्र में एकत्रित लार्डों के मात्र बहुमत द्वारा किसी विधेयक को पारित कर सकता है । किन्तु लार्ड चांसलर तथा लॉ लार्ड्स को छोड़कर समस्त लार्ड्स जो कि उच्च न्यायिक पदों को धारित करते थे या धारित करते हैं किसी सिविल अपील का विनिश्चय नहीं कर सकते । इसके विपरीत लार्डों के अन्तिम तीन वर्गों से चुने गए तीन लार्ड सिविल अपील का विनिश्चय कर सकते हैं। यह जो कार्य करने का अन्तर है वह स्पष्ट रूप से इन सदस्यों की पृथकता में निहित है। भारत की डोमिनियन पार्लियामेंट के सदस्य सर्वसम्मत मत द्वारा भारत का संविधान नहीं बना सकते थे किन्तु संविधान सभा के रूप में कृत्य करते हुए उन्हीं सदस्यों के मात्र बहुमत द्वारा संविधान को बनाया । विधायी विधि तथा संविधान का संशोधन करने में जो कृत्यकारी अन्तर है वह समान रूप से अनुच्छेद 107 से 111 में विहित प्रक्रिया तथा अनुच्छेद 368 की प्रक्रिया के बुनियादी अन्तर को स्पष्ट करता है। लोक सभा तथा राज्य सभा के बीच किसी विधेयक पर मतभेद होने की दशा में दोनों सदन एकसदनीय रूप से बैठ सकते हैं और उस विधायी प्रस्ताव को पारित कर सकते हैं। राष्ट्रपति ऐसे विधेयक पर जो कि सदनों के द्विसदनीय या एकल सदनीय रूप में पारित किया है, अपनी अनुमति देने से इन्कार नहीं कर सकते । किन्तु अनुच्छेद 368 के अधीन संविधान का संशोधन दोनों सदनों की संयुक्त बैठक के मत

द्वारा नहीं किया जा सकता। दोनों सदनों को पृथक् रूप से बैठना चाहिए और अपेक्षित बहुमत द्वारा संशोधित करने वाले विधेयक को पारित करना चाहिए। राष्ट्रपति संविधान को संशोधित करने वाले विधेयक को अपनी अनुमति देने से रोक सकता है। यह विधि बनाने तथा संविधान को संशोधन करने वाली कृत्यकारी अन्तर के कारण है कि अनुच्छेद 107 से 111 में प्रक्रिया के अनुसार संसद् के सर्वसम्मत मत द्वारा पारित विधि किसी मूल अधिकार का अध्यारोहण नहीं कर सकती। कोई विधेयक जो पृथक् रूप से प्रत्येक सदन के उपस्थित सदस्यों के आधे से अधिक सदस्यों द्वारा तथा उपस्थित तथा मत देने वाले सदस्यों के दो-तिहाई द्वारा पारित विधेयक का जो परिणाम होता है वह मूल अधिकारों में संशोधन होता है।

अनुच्छेद 245 में विधायी शक्ति 'इस संविधान के उपबन्धों के अध्यधीन' की गई है। किन्तु अनुच्छेद 368 इस संविधान के अध्यधीन नहीं किया गया है। अनुच्छेद 368 द्वारा केवल संशोधन की शक्ति पर एक अभिव्यक्त बन्धन लगाया गया है अर्थात् प्रक्रियात्मक बन्धन। अनुच्छेद 368 द्वारा तदनुसार संशोधन की शक्ति पर कोई तात्विक बन्धन के लिए अनुध्यात नहीं किया गया है। संविधान निर्माता इस तथ्य को जानते थे कि कुछ विषयों पर संविधान में संशोधन की शक्ति पर तात्विक बन्धन लगाए गए हैं। वास्तव में अनुच्छेद 305 द्वारा प्राक्-पित अनुच्छेद 304 में ऐसा बन्धन लगाया जाना चाहा गया था (अनुच्छेद 304 का समरूपी अनुच्छेद 368 है)। मैं अनुच्छेद 13(2) में व्यापक अर्थान्वयन के लिए विधि के अर्थ को विस्तृत करने में असमर्थ हूं क्योंकि इससे भारत के सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक ढांचे में वैध रूप से सुधार करने की सम्भावनाएं सदैव के लिए समाप्त हो जाएंगी। मद्रास राज्य बनाम श्रीमती चम्पाकम दोरीराजन(1) वाले मामले में इस न्यायालय के विनिश्चय को अनुसरित करते हुए संविधान के प्रथम संशोधन पर बोलते हुए 29 मई, 1947 को पंडित जवाहर लाल नेहरू ने इस प्रकार कहा था 'हमें उन्हें (समाज के निर्बल वर्गों को) आर्थिक अवसर तथा शैक्षणिक अवसर तथा अन्य इसी प्रकार के अवसर प्रदान करते हैं। ऐसा करने में हमें यह बताया गया है कि हम संविधान के कुछ उपबन्धों के विरुद्ध कार्य करेंगे जो समानता के सिद्धान्त अधिकथित करते हैं या भेदभाव, हीनता इत्यादि के कुछ सिद्धान्त अधिकथित करते हैं। इस प्रकार एक विचित्र स्थिति में पहुंचते हैं। हमें समानता प्राप्त नहीं हो सकती क्योंकि समानता प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करने में हमें समानता के कुछ सिद्धान्तों का सामना करना पड़ता है। यह बड़ी विचित्र स्थिति है कि हम समानता नहीं रख सकते क्योंकि हम भेदभावहीनता नहीं रख सकते। यदि हम उन व्यक्तियों को, जो पददलित हैं, उठाने के भाव में सोचते हैं तो किसी न किसी रूप में हम निस्संदेह रूप में वर्तमान यथा पूर्व स्थिति को प्रभावित करते हैं। इसलिए यदि यह दलील सही है तो हम यथा पूर्व स्थिति में कोई महत्वपूर्ण परिवर्तन नहीं कर सकते चाहे वह आर्थिक, या लोक के किसी क्षेत्र का या प्राइवेट क्रिया-कलाप का हो। (2)

(1) (1951) एस० सी० आर० 525.
(2) कांस्टिट्यूएण्ट असेम्बली डिबेट्स, जिल्द 12-13, भाग 2-1951, पृष्ठ 9616-9617.

इस न्यायालय ने असंशोधित अनुच्छेद 31(2) में 'प्रतिकर' शब्द का इस प्रकार अर्थान्वयन किया है कि उससे अर्जित सम्पत्ति का पूर्ण बाजार मूल्य अभिप्रेत है। इस अर्थान्वयन से अनुच्छेद 31(2) तथा अनुच्छेद 39(ग) के बीच प्रत्यक्ष विरोध होता है। अनुच्छेद 39(ग) राज्य को यह आज्ञा देता है कि वह अपनी नीतियों को इस बात को प्राप्त करने के लिए संचालित करे कि आर्थिक व्यवस्था इस प्रकार चले जिससे धन और उत्पादन साधनों का सर्वसाधारण के लिए अहितकारी केन्द्रण न हो। यह उद्देश्य तब तक नहीं प्राप्त किया जा सकता यदि अर्जित सम्पत्ति के पूर्ण बाजार मूल्य को उसके स्वामी को संदत्त करना है। स्वामी को पूर्ण बाजार मूल्य के संदाय से धन के केन्द्रण का रूप सम्पत्ति से नकदी में परिवर्तित हो जाएगा, केन्द्रण बना रहेगा। राष्ट्रीय आन्दोलन का इतिहास स्पष्ट रूप से यह दर्शित करता है कि संविधान निर्माता संविधान के भाग 4 में विनिर्दिष्ट उद्देश्यों को पूरा करने के लिए वचनबद्ध थे। उन्होंने अभिव्यक्त रूप से यह घोषित किया था कि देश के शासन में वे उद्देश्य मूल हैं। तदनुसार यह सोचना अयुक्तियुक्त है कि उन्होंने अनुच्छेद 31(2) तथा अनुच्छेद 39(ग) या अनुच्छेद 29 तथा 46 के बीच के विरोध का समाधान करने के साधनों का उपबन्ध किया है। उन्होंने यह आशय किया होगा कि जब भाग 3 के अधिकारों तथा भाग 4 में राज्य की बाध्यताओं में विरोध हो तो उस विरोध का अनुच्छेद 368 के अधीन संविधान का संशोधन करके समाधान किया जा सकता है। "मूल अधिकार की मेरी धारणा कुछ इस प्रकार की है कि संसद् सिवाय बिना संविधान के संशोधन के उन पर हाथ नहीं लगा सकती"। (महत्व देने के लिए रेखांकित किया गया है) [एस० कृष्णन् बनाम मद्रास राज्य ([1])]

'इस संविधान में किसी बात के होते हुए भी' शब्दावली उस उपबन्ध में इसलिए प्रयुक्त की गई है कि शक्ति प्रदत्त करने वाले उपबन्ध को संविधान के किसी निर्बन्धकारी उपबन्ध से उसको मुक्त रखा जाए। चूंकि अनुच्छेद 13(2) में 'विधि' शब्द के बारे में यह आशयित नहीं है कि इसके अन्तर्गत संविधान का संशोधन आता है इसलिए अनुच्छेद 368 का प्रारम्भ अविशर्णेय्य (नॉन ऑब्स्टैंण्टे) खंड से नहीं होता।

'विधि' शब्द के अर्थ के रूप में अनुच्छेद 13(2) के इतिहास से असंदिग्ध अर्थ निकाला जा सकता है। मूल अधिकारों पर गठित उपसमिति की तारीख 3 अप्रैल, 1947 की प्रारूपित रिपोर्ट में मूल अधिकारों से सम्बन्धित एक उपावन्ध अन्तर्विष्ट है ([2])। इस उपावन्ध के खण्ड (2) में सुसंगत रूप से यह उपबन्धित किया गया है कि—"इसके पश्चात् यदि राज्य द्वारा बनाई गई कोई ऐसी विधि इस अध्याय या संविधान के उपबन्धों के असंगत होती है तो वह ऐसी असंगति की मात्रा तक शून्य होगी"। मूल अधिकारों की उपसमिति के अध्यक्ष ने तारीख 16 अप्रैल, 1947

([1]) (1951) एस० सी० आर 621, 652.

([2]) शिव राव कृत फ्रेमिंग ऑफ इण्डियाज कांस्टिट्यूशन, वाल्यूम 2, पृष्ठ 137

के अपने पत्र द्वारा मूल अधिकारों पर गठित परामर्शी समिति के अध्यक्ष को मूल अधिकारों पर एक उपाबन्ध अग्रेषित किया था। उस उपाबन्ध के खण्ड (2) का तात्विक रूप इस प्रकार है —

"तत्समय प्रवृत्त समस्त विद्यमान विधियां या प्रथाएं, जो इस संविधान के अधीन गारण्टी किए गए अधिकारों के असंगत हैं, ऐसी असंगति की मात्रा तक निराकृत हो जाएंगी न संघ न ही कोई उसकी इकाई ऐसी कोई विधि बनाएगी जो ऐसे अधिकार को छीनती हो या न्यून करती हो"।(1)

23 अप्रैल, 1947 को मूल अधिकारों पर गठित परामर्शी समिति ने संविधान सभा के अध्यक्ष को अपनी अन्तरिम रिपोर्ट प्रस्तुत की थी। उस रिपोर्ट में मूल अधिकारों के लिए उपबन्ध करते हुए एक उपाबन्ध अन्तर्विष्ट था। उपाबन्ध का खण्ड (2) तात्विक रूप से इस प्रकार है:—

*"······जो संविधान के इस भाग के अधीन गारण्टी किए गए अधिकारों से असंगत हैं तत्समय प्रवृत्त विद्यमान विधियां, अधिसूचनाएं विनियम, रूढ़ियां या प्रथाएं, ऐसी असंगति की मात्रा तक निराकृत हो जाएंगी और न संघ या उसकी कोई इकाई ऐसी कोई विधि बनाएगी जो ऐसे अधिकार को छीनती है या न्यून करती है।" (2)

श्री के० संथानम् ने खंड (2) के अन्तिम शब्दों के लिए इन शब्दों को कि "सिवाय संविधान के संशोधन के ऐसा अधिकार न छीना जाएगा या न न्यून किया जाएगा" प्रतिस्थापित करते हुए एक संशोधन की प्रस्थापना की थी। उन्होंने अपने भाषण में स्पष्ट किया था कि यदि यह खण्ड जैसे कि यह रहता है तो संविधान के संशोधन द्वारा भी हम इन अधिकारों को उस दशा में बदलने के लिए समर्थ नहीं होंगे यदि वे असंतोषजनक या असुविधाजनक पाए जाते हैं। ऐसे किसी संदेह का निराकरण करने के उद्देश्य से मैंने यह संशोधन पेश किया है (3)। इस प्रकार उनके कथनानुसार कि यह संशोधन अत्यधिक सावधानी रखते हुए किया गया था। सरदार वल्लभ भाई पटेल ने इस संशोधन को स्वीकार कर लिया था। इस पर मतदान हुआ और इसको अंगीकृत किया गया (4)। इस प्रकार संविधान सभा ने इस स्थिति को स्वीकार किया कि मूल अधिकार सांविधानिक संशोधन के द्वारा निराकृत किए जा सकते हैं। अक्तूबर, 1947 में सांविधानिक सलाहकार द्वारा प्रारूपित संविधान तैयार किया गया। (5) उनके प्रारूपित संविधान की धारा 9(2) तात्विक रूप से इस प्रकार है —

"इस संविधान की किसी बात से यह नहीं समझा जाएगा कि वह राज्य को कोई ऐसी विधि बनाने के लिए सशक्त करती है जो धारा 232 के अधीन

(1) पूर्वोक्त, पृष्ठ 171.

(2) पूर्वोक्त, पृष्ठ 290.

(3) कांस्टिट्यूएण्ट असेम्बली डिबेट्स, जिल्द 3, पृष्ठ 415–416.

(4) कांस्टिट्यूएण्ट असेम्बली डिबेट्स, जिल्द 3, पृष्ठ 415.

(5) शिव राव, उपरोक्त, पृष्ठ 7.

सिवाय इस संविधान के संशोधन द्वारा इस संविधान के अध्याय 2 द्वारा प्रदत्त किन्हीं अधिकारों को न्यून करती है या छीनती है और इस धारा के उल्लंघन में बनाई गई कोई ऐसी विधि ऐसे उल्लंघन की मात्रा तक शून्य होगी।"

यद्यपि संविधान सभा ने श्री के० संथानम् के संशोधन को अभिव्यक्त रूप से स्वीकार कर लिया था किन्तु प्रारूपण समिति ने 'सिवाय इस संविधान के संशोधन द्वारा' शब्द लुप्त कर दिए। प्रारूपित संविधान का अनुच्छेद 8(2) का सुसंगत भाग इस प्रकार है —

> "राज्य कोई ऐसी विधि नहीं बनाएगा जो इस भाग द्वारा प्रदत्त अधिकारों को छीनती है या न्यून करती है और इस भाग के उल्लंघन में बनाई गई कोई ऐसी विधि उल्लंघन की मात्रा तक शून्य होगी।"

इन शब्दों "सिवाय इस संविधान के संशोधन द्वारा" जो कि संविधान सभा द्वारा अनुमोदित किए गए थे, को अपवर्जित किए जाने का कोई स्पष्टीकरण अभिलेखों में नहीं पाया जाता है। यद्यपि इस पर ध्यान देना महत्वपूर्ण है कि जब "सिवाय इस संविधान के संशोधन द्वारा" शब्द श्री के० संथानम् के संशोधन से लुप्त किए गए हैं तो शेष ये शब्द "कोई ऐसा अधिकार न छीना जाएगा या न न्यून किया जाएगा," इस बात के लिए बहुत ही व्यापक है कि सांविधानिक संशोधन द्वारा भी मूल अधिकारों को निराकृत करने या न्यून करने से प्रतिषिद्ध करे। इन शब्दों "इस संविधान की कोई बात" जो सांविधानिक सलाहकार द्वारा तैयार किए गए प्रारूपित संविधान की धारा 9(2) में है, से भी वही प्रभाव निकलता है, किन्तु प्रारूपण समिति ने प्रारूपित संविधान के अनुच्छेद 8(2) द्वारा धारा 9(2) को प्रतिस्थापित किया। प्रारूपित संविधान के अनुच्छेद 8(2) के अन्तर्गत स्पष्ट शब्दों में अनुच्छेद 304 सहित संविधान के सारे उपबन्ध नहीं आते हैं। इससे कदाचित प्रारूपित संविधान के अनुच्छेद 8(2) से 'सिवाय इस संविधान के संशोधन द्वारा' शब्दों के लोप का स्पष्टीकरण मिलता है। किसी भी दशा में अनुच्छेद 13(2) के इतिहास से यह सिद्ध नहीं होता है कि प्रारूपण समिति का संविधान के संशोधन करने की शक्ति पर मूल अधिकारों को सर्वोच्चता देने का आशय था। इस संबंध में सांविधानिक सलाहकार के कार्यालय द्वारा दिए गए इस टिप्पण के प्रति निर्देश करना महत्वपूर्ण है कि धारा 9(2) में विधि के अन्तर्गत संविधान का संशोधन नहीं आता है।[1]

डाक्टर अम्बेदकर के भाषणों को पढ़ने से यह दर्शित होगा कि संविधान के संशोधन करने की शक्ति को मूल अधिकारों को निराकृत करने या कम करने के लिए प्रयुक्त किया जा सकता है। 4 नवम्बर, 1948 को उन्होंने इस प्रकार कहा था —

> "संविधान के संशोधन से सम्बन्धित संविधान के उपबन्ध संविधान के अनुच्छेदों को दो ग्रुपों में बांटते हैं। एक ग्रुप में वे अनुच्छेद हैं जो (क) केन्द्र और राज्य के बीच की विधायी शक्तियों के वितरण से सम्बन्धित हैं,

[1] शिव राव, फ्रेमिंग ऑफ इण्डियाज कांस्टिट्यूशन, वाल्यूम 4, पृष्ठ 26.

(ख) जो संसद् में राज्यों के प्रतिनिधित्व से सम्बन्धित हैं, तथा (ग) न्यायालयों की शक्तियों से सम्बन्धित हैं। समस्त दूसरे अनुच्छेद दूसरे ग्रुप में रखे गए हैं। दूसरे ग्रुप में रखे गए अनुच्छेदों के अन्तर्गत संविधान का बहुत ही विस्तृत भाग आता है और वह संसद् द्वारा दोहरे बहुमत द्वारा संशोधित किया जा सकता है अर्थात् प्रत्येक सदन में उपस्थित तथा मतदान देने वाले दो-तिहाई सदस्यों के अन्यून बहुमत द्वारा तथा प्रत्येक सदन के कुल सदस्यों के बहुमत द्वारा। इन अनुच्छेदों के संशोधन के लिए राज्यों द्वारा अनुसमर्थन अपेक्षित नहीं है। (महत्व देने के लिए रेखांकित किया गया है) (1)

उन्होंने पुनः कहा—

"यह केवल विनिर्दिष्ट विषयों के संशोधनों के लिए है और वे केवल थोड़े से हैं जिनके लिए कि राज्य विधानमण्डलों का अनुसमर्थन अपेक्षित है। संविधान के समस्त दूसरे उपबन्ध संसद् द्वारा संशोधित किए जाने के लिए छोड़ दिए गए हैं। (महत्व देने के लिए रेखांकित किया गया है) (2)

दूसरे अवसर पर उन्होंने इस प्रकार यह दोहराया था —

"अब हमें क्या करना है? हम संविधान के अनुच्छेदों को तीन श्रेणियों में बांटते हैं। प्रथम श्रेणी में वे हैं जिसमें ऐसे अनुच्छेद सम्मिलित हैं जो मात्र बहुमत द्वारा संसद् द्वारा संशोधित किए जा सकते हैं अनुच्छेदों की दूसरी श्रेणी में वे अनुच्छेद हैं जिनके लिए दो-तिहाई बहुमत की अपेक्षा होती है। यदि भविष्य की संसद् ऐसे किसी विशिष्ट अनुच्छेद को संशोधित करने की इच्छा रखती है जो भाग 3 या अनुच्छेद 304 में उल्लिखित नहीं है तो उसके लिए जो कुछ भी आवश्यक है वह दो-तिहाई का बहुमत है। तत्पश्चात् वे इसे संशोधित कर सकते हैं।"

अध्यक्ष महोदय : उपस्थित रहने वाले सदस्यों के।

माननीय डाक्टर बी० आर० अम्बेदकर : जी हां। अब हमें निस्संदेह रूप से तीसरी श्रेणी में कुछ ऐसे अनुच्छेदों को रखना है जहां संशोधन के प्रयोजन के लिए प्रक्रिया कुछ भिन्न या दोहरी है। इसके लिए दो-तिहाई का बहुमत तथा राज्यों का अनुसमर्थन अपेक्षित है।"(3)

इन भाषणों से यह प्रतीत होता है कि संशोधन के प्रयोजन के लिए डाक्टर अम्बेदकर ने संविधान के सभी अनुच्छेदों को तीन श्रेणियों में वर्गीकृत किया है। अनुच्छेदों को तीन श्रेणियों में से किसी एक या दूसरी में आना चाहिए। क्योंकि उनके कथनानुसार कोई चौथी श्रेणी नहीं है। संविधान के भाग 3 के अनुच्छेदों को

(1) कांस्टिट्यूएण्ट असेम्बली डिबेट्स, जिल्द 7, पृष्ठ 36.

(2) कांस्टिट्यूएण्ट असेम्बली डिबेट्स, जिल्द 7. पृष्ठ 43.

(3) कांस्टिट्यूएण्ट असेम्बली डिबेट्स, जिल्द 9, पृष्ठ 660–663.

तदनुसार इन तीन श्रेणियों में से किसी एक के अन्तर्गत आना चाहिए। हमें यह प्रतीत होता है कि अनुच्छेदों को उनके तेहरे वर्गीकरण को ध्यान में रखते हुए उनके भाषणों का निर्वचन इस प्रकार करना उचित नहीं है कि वे यह दर्शित करते हैं कि भाग 3 के अनुच्छेद बिल्कुल संशोधनीय नहीं हैं। इस वाक्य में "यदि भविष्य की संसद् किसी ऐसे विशिष्ट अनुच्छेद को संशोधित करने के लिए इच्छा रखती है जो भाग 3 या अनुच्छेद 304 में उल्लिखित नहीं है" 'नहीं' शब्द का प्रयोग या तो कदाचित बोलने में भूल के कारण या मुद्रण की गलती के कारण हुआ है। जब जवाहर लाल नेहरू ने यह कहा था कि यह आशयित है कि मूल अधिकार 'संविधान में स्थायी' हैं तो वास्तव में उनका आशय नहीं था कि वे संशोधनीय नहीं हैं। उनके भाषणों से जो मैंने पहले ही उद्धृत कर दिए हैं स्पष्ट रूप से यह दर्शित होगा कि उन्होंने सम्पूर्ण संविधान को किसी भविष्य की संसद् द्वारा किए जाने वाले संशोधन के अध्यधीन होने के लिए माना था।

श्री कामत ने अनुच्छेद 304 में ऐसा एक संशोधन पेश किया था जिसमें भाग 3 के उपबन्धों में संशोधन के लिए अभिव्यक्त रूप से उपबन्ध था। किन्तु संविधान सभा ने उस संशोधन को अमान्य कर दिया। इस प्रस्ताव के अमान्य ठहराए जाने से यह अनुमान नहीं किया जा सकता कि वे उपबन्ध असंशोधनीय हैं क्योंकि संविधान सभा के सदस्यों ने यह सोचा होगा कि प्रारूपित संविधान के अनुच्छेद 304 की भाषा पर्याप्त रूप से व्यापक है कि उसके अन्तर्गत भाग 3 के उपबन्धों के संशोधन आते हैं और तदनुसार श्री कामत का यह प्रस्ताव अनावश्यक था।

राष्ट्रपति की शपथ में यह शब्दावली कि "विधि द्वारा यथा स्थापित संविधान" से यह सिद्ध नहीं होता कि इस शब्दावली के मामूली भाव में संविधान एक विधि है। हमारे मत में शब्दावली में 'विधि' शब्द से वैध अभिप्रेत है। इस शब्दावली से 'वैध रीति में स्थापित संविधान' अभिप्रेत है अर्थात् उनके प्रतिनिधियों के माध्यम से जनता द्वारा।

संविधान तथा विधि 'की रक्षा करने की राष्ट्रपति की शपथ' संविधान जैसा कि वह उस दिन था जिस दिन कि उन्होंने शपथ ली, उनको बाध्य नहीं करता है। निस्संदेह 'विधि' शब्द से तत्समय प्रवृत्त विधि अभिप्रेत है। विधि के किसी भाग के परिवर्तन या निरसन द्वारा शपथ नियन्त्रित नहीं की जा सकती। विधि के प्रसंग में 'संविधान' से समय-समय पर परिवर्तित या निरसित रूप में संविधान अभिप्रेत है।-

श्री पालखीवाला ने प्रबल रूप से यह दलील दी है कि जनता ने मूल अधिकारों को स्वयं में आरक्षित कर रखा है और वे अधिकार पवित्र एवं अलंघ्य नैसर्गिक अधिकार हैं। हमें यह प्रतीत होता है कि 'परम पवित्र' या 'लोकोत्तर' के रूप में या 'नैसर्गिक अधिकारों' या 'आदिम अधिकारों' के रूप में उन्हें रोमांचकारी भाषा में कहना

या असंक्राम्य अलंघ्य और अपरिवर्तनीय ढांचे से निकाल कर उसे इस आशय से सुसंधित करने के लिए संविधान के भाग 3 में प्रगणित अधिकारों को पवित्र बनाना गलत होगा।

उन्हें परम पवित्र के रूप में मानना हमारे संविधान के असाम्प्रदायिक भावना के अनुकूल नहीं है। उन्हें नैसर्गिक अधिकारों या आदिम अधिकारों के रूप में मानना इस तथ्य को दृष्टि से ओझल करना है कि अनुच्छेद 15, 16, 17, 18, 21, 22, 23, 24, 25, 27, 28, 29, 30 और 32 में विनिर्दिष्ट अधिकार हमारे विनिर्दिष्ट राष्ट्र के अनुभव द्वारा जन्मे थे। वे संविधान के पूर्व भारत में विद्यमान नहीं थे।

संविधान निर्माताओं ने भाग 3 में उल्लिखित अधिकारों को परम पवित्र रूप में या असंक्राम्य रूप में तथा अननुलंघनीय या अपरिवर्तनीय नहीं माना था। जवाहर लाल नेहरू ने कहा था कि "इस प्रकार यदि आप इस संविधान को नष्ट करना चाहते हैं तो इसे निश्चित रूप से पावन और परम पवित्र बनाएं। किन्तु यदि आप चाहते हैं कि यह एक मृत वस्तु, विकासहीन जड़, भारी-भरकम अपरिवर्तनीय वस्तु रहे तो सब प्रकार से यह अनुभव करते हुए आप वैसा कर सकते हैं कि यह सामने से छुरा भोंकने का सर्वोत्तम तरीका है न कि पीछे से। क्योंकि चाहे 18वीं शताब्दी के दार्शनिकों या 19वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के दार्शनिकों के जो भी विचार रहे हों फिर भी यह विश्व 100 वर्षों के भीतर बदल चुका है बल्कि प्रबल रूप से बदल चुका है (1)।

अनुच्छेद 15(3), 16(4) और (5), और 19(2) से (6), 21, 22(3), 4(ख) और 7(क) और (ख), 23(2), 25(1) और (2), 26, 28(2), 31(4), (5) और (6) द्वारा इन अधिकारों पर बहुमुखी अननुमेय परिसीमाएं लगाई गई हैं। अनुच्छेद 19(2) द्वारा वाक् स्वातन्त्र्य अर्थात् विदेशी राज्यों के साथ मैत्री सम्बन्धों पर पूर्णतया नया निर्बन्धन लगाया गया। अनुच्छेद 33 द्वारा संसद् को सशक्त किया गया है कि वह सेना तथा लोक व्यवस्थाओं को बनाए रखने के लिए भारित बलों को लागू होने वाले उनके अधिकारों को निर्बन्धित करे या निराकृत करे। 14 मई, 1954 से 5 वर्षों की अवधि के लिए अनुच्छेद 19 में विनिर्दिष्ट अधिकारों पर लगाए गए युक्तियुक्त निर्बन्धनों को जम्मू और कश्मीर राज्य में न्याय नहीं किया गया। राष्ट्रपति द्वारा अनुच्छेद 19 में जोड़े गए खण्ड (7) में यह उपबन्ध है कि खण्ड (2), (3), (4) तथा (5) में लगाए गए युक्तियुक्त निर्बन्धनों के बारे में यह अर्थ लगाया जाएगा कि उनसे ऐसे निर्बन्धन अभिप्रेत हैं जैसा कि जम्मू और कश्मीर राज्य का समुचित विधानमण्डल युक्तियुक्त समझता है। राष्ट्रपति द्वारा उस राज्य को लागू किए गए अनुच्छेद 35 द्वारा राज्य के अधीन नियोजन के अधिकारों, सम्पत्ति को अर्जित करने के अधिकार, बसने के अधिकार, छात्रवृत्तियों के अधिकार तथा राज्य में दूसरी सहाय्यों के अधिकारों का अतिक्रमण होता है। अनुच्छेद 303(2) संसद् को इसके लिए सशक्त करता है कि यदि वह देश के किसी भाग में मालों के अभाव के कारण

(1) पार्लियामेंट्री डिबेट्स, जिल्द 12-13, भाग 2, पृष्ठ 9624-9625.

उत्पन्न हुई स्थिति को सुलझाने के लिए यदि ऐसा आवश्यक है तो अन्तर्राज्यीय वाणिज्य के मामले में अधिमानों को देते हुए तथा विभेद करते हुए कोई विधि बना सकती है। अनुच्छेद 358 अनुच्छेद 352 के अधीन आपात की उद्घोषणा के प्रवर्तन में अनुच्छेद 19 के अधीन अधिकारों को निलम्बित कर सकता है। अनुच्छेद 359 राष्ट्रपति को इसके लिए सशक्त करता है कि वह आपात की अवधि में अनुच्छेद 32 के अधीन अधिकारों को इस प्रकार निलम्बित करे जिससे कि सभी मूल अधिकार निष्क्रिय हो जाएं। इन सभी उपबन्धों से यह सिद्ध होता है कि मूल अधिकारों को जनता के कल्याण के लिए छीना जा सकता है या न्यून किया जा सकता है। [बशेशर नाथ बनाम आयकर आयुक्त (1)] 1

भाग 3 के अधिकारों को प्रत्यक्ष मनुष्य ने बनाया है। डाक्टर बी० आर० अम्बेदकर के कथनानुसार वे विधि की देन हैं (2)। अनुच्छेद 13(2), 32(1) तथा (2) और 359 अभिव्यक्त रूप से भाग 3 द्वारा यथा प्रदत्त मूल अधिकारों के लिए उपबन्ध करते हैं। इस प्रकार वे संविधान की सृष्टियां हैं। उन्हें मूल अधिकार इसलिए नहीं कहा जाता कि वे जनता द्वारा स्वयं में आरक्षित हैं अपितु इस कारण कि वे विधायी विधियों तथा कार्यपालिक कार्यवाहियों द्वारा अध्वंस्य हैं। यूनाइटेड स्टेट्स आँफ अमरीका के संविधान के 10वें संशोधन, जिसमें अभिव्यक्त रूप से जनता द्वारा शक्तियों के आरक्षण की बात कही गई है, हमारे संविधान में इसके समतुल्य कोई तत्व नहीं है। यह अच्छी तरह स्मरण रखना है कि कुछ अधिकारों को कम करने तथा उन्हें निराकृत करने वाला प्रथम संशोधन उस संविधान सभा द्वारा पारित किया गया था जो अस्थायी रूप में कार्य कर रही थी। इससे संविधान निर्माताओं के आशय की झलक मिलती है कि ये अधिकार निराकृत किए जा सकते हैं।

अनुच्छेद 368 के परन्तुक में विनिर्दिष्ट उपबन्धों में परिवर्तन करने के लिए अधिक कठिन प्रक्रिया के विहित करने से इस तथ्य का पता चलता है कि संविधान निर्माताओं ने भाग 3 के उपबन्धों की अपेक्षा उन्हें अधिक मूल्यवान माना था। उन्होंने मूल अधिकारों की अपेक्षा संघवाद पर अधिक महत्व दिया था।

संशोधन शक्ति पर अन्तर्निहित तथा विवक्षित परिसीमाएं

न्यायाधिपति वांचू तथा उन दो दूसरे विद्वान् न्यायाधिपतियों ने, जिन्होंने कि अपने को उनसे सम्बद्ध किया था, यह अभिनिर्धारित किया था कि अनुच्छेद 368 में संशोधन की शक्ति पर कोई अन्तर्निहित या विवक्षित परिसीमाएं नहीं हैं (उपर्युक्त गोलक नाथ वाला मामला पृष्ठ 836)। न्यायाधिपति बछावत तथा रामस्वामी ने उनकी राय से सहमति प्रकट की थी (उपर्युक्त मामला पृष्ठ 910 तथा 933)। हमें यह प्रतीत होता है कि न्यायाधिपति हिदायतुल्लाह ने भी इस दलील को नहीं माना था कि संशोधन की शक्ति पर अन्तर्निहित या विवक्षित परिसीमाएं हैं। क्योंकि उन्होंने

(1) (1959) सप्लीमेंट 1 एस० सी० आर० 528, 604-605.

(2) कांस्टिट्यूएण्ट असेम्बली डिबेट्स, जिल्द 7, पृष्ठ 40

कहा था "सम्पूर्ण संविधान में संशोधन किया जा सकता है।" केवल दो दर्जन अनुच्छेद, अनुच्छेद 368 के विस्तार के बाहर हैं। यह भी इसलिए है कि संविधान ने उन्हें मूल अधिकार बनाया है (उपर्युक्त मामला पृष्ठ 878)।

इस प्रकार अन्तर्निहित और विवक्षित परिसीमाओं वाली पालखीवाला की दलील एक निगमनिक तर्क बन कर रह जाती है। समस्त विधायी शक्तियां अन्तर्निहित और विवक्षित परिसीमाओं के अध्यधीन हैं। अनुच्छेद 368 में संविधायी शक्ति एक विधायी शक्ति है।

अतः संविधायी शक्ति अन्तर्निहित और विवक्षित परिसीमाओं के अधीन है।

यदि निगमनिक तर्क बड़े और छोटे आधार विधिमान्य होते हैं तो निष्कर्ष को भी विधिमान्य होना चाहिए। किन्तु दोनों आधार गलत हैं। कुछ विधायी शक्तियां किसी अन्तर्निहित और विवक्षित परिसीमाओं के अध्यधीन नहीं हैं। उदाहरणार्थ, युद्ध शक्ति को लीजिए। बहस के दौरान मैंने श्री पालखीवाला से कहा कि वे युद्ध करने की शक्ति अन्तर्निहित और विवक्षित परिसीमाएं बताएं, किन्तु वे कोई परिसीमा नहीं बता सके। जब राष्ट्रपति अनुच्छेद 352 के अधीन आपात की उद्घोषणा जारी करता है, उस समय संघवाद के महत्वपूर्ण सिद्धान्त अस्त हो जाते हैं। संसद् राज्य सूची में परिगणित विषयों में से किसी की बाबत भारत के सम्पूर्ण राज्य क्षेत्र या उसके किसी भाग के लिए विधियां बना सकती हैं [देखिए—अनुच्छेद 250(1)]। संघ की कार्यपालिका शक्ति किसी राज्य को ऐसे निर्देशों को देने के लिए विस्तारित की जाएगी कि किसी रीति में उसकी कार्यपालिक शक्ति प्रयुक्त की जा सकती है। संसद् संघ के अधिकारियों तथा प्राधिकारियों को संघ सूची में अप्रगणित मामले की बाबत शक्तियां प्रदत्त कर सकती है तथा कर्तव्य अधिरोपित कर सकती है या शक्तियों को प्रदत्त करते हुए और कर्तव्यों को अधिरोपित करते हुए प्राधिकृत कर सकती है (देखिए—अनुच्छेद 353)। अनुच्छेद 19 की प्रभावकारिता कुण्ठित हो जाती है (देखिए—अनुच्छेद 358)। राष्ट्रपति मूल अधिकारों के प्रवर्तन के लिए किसी न्यायालय को समायोजित करने के अधिकार को निलम्बित कर सकता है (देखिए—अनुच्छेद 359)। यह तात्विक रूप में आपात के दौरान मूल अधिकारों को निलम्बित कर सकता है। अनुच्छेद 83(2) में यह उपबन्ध है कि लोक सभा अपनी प्रथम बैठक के लिए नियत तारीख से 5 वर्ष के लिए बनी रहेगी। इसके परन्तुक के अनुसार जब कि आपात की उद्घोषणा प्रवर्तन में हो संसद् द्वारा 5 वर्ष की अवधि विधि द्वारा एक बार में एक वर्ष से अन्यून अवधि के लिए बढ़ाई जा सकती है। संसद् और राष्ट्रपति को युद्ध सम्बन्धी शक्ति अपनी पराकाष्ठा में है तथा असीमित है। पहले यह दर्शित किया जा चुका है कि अनुच्छेद 368 में संविधायी शक्ति विधायी शक्ति नहीं है चूंकि इस तर्क के दोनों आधार गलत हैं इसलिए निष्कर्ष विधिमान्य नहीं हो सकता।

श्री पालखीवाला के कथनानुसार अन्तर्निहित परिसीमा वह है जो संसद् के ढांचे में अन्तर्निहित है। संसद् के दोनों सदन तथा राष्ट्रपति सम्मिलित हैं। लोक सभा वयस्क मताधिकार द्वारा निर्वाचित होती है। यह दलील दी गई है कि

संसद् अपने ढांचे को नष्ट करने के लिए कोई संशोधन नहीं कर सकती। इसके ढांचे द्वारा इसके संशोधन करने की प्रभावकारिता परिसीमित हो जाती है। यह बहुत बड़ी मान्यता होगी तथा संशोधन के पाठ के सबूत के बिना इसे स्वीकार नहीं किया जाना चाहिए। संविधान में कोई अमूर्त दर्शन समाविष्ट नहीं है। इस पर भी गम्भीरता के साथ बहस की गई है कि क्या पक्षी इसलिए उड़ते हैं क्योंकि उनके डैने हैं या क्या पक्षी के डैने हैं इसलिए वे उड़ते हैं। अनेकों की मान्यता है कि कृत्य ढांचे में परिवर्तन करता है। अनुच्छेद 83(2) के परन्तुक, अनुच्छेद 250, 253, 358 तथा 359 यह दर्शित करते हैं कि हमारी नीति और हमारी संसद् का ढांचा आपात के कार्यों के कारण परिवर्तित हो जाते हैं। अनुच्छेद 368 स्वतः संशोधन की शक्ति को विस्तारित करने के लिए संशोधित किया जा सकता है। संशोधन की शक्ति का विस्तार उन प्रयोजनों द्वारा आंका जा सकता है जिसको कि प्राप्त करने के लिए यह सुविचारित है न कि संसद् के ढांचे द्वारा।

प्रस्तावना से अस्पष्ट भावुक सामान्यता द्वारा विवक्षित परिसीमाओं का अर्थ नहीं निकाला जा सकता। 'जनता', 'सम्पूर्ण प्रभुसत्वसम्पन्न', 'लोकतांत्रिक गणराज्य' 'न्याय', 'स्वतंत्रता', 'समानता' तथा 'बंधुता' ये परिवर्तनशील शब्द हैं और भिन्न-भिन्न लोग इनके भिन्न-भिन्न अर्थ करते हैं। दासता लोकतंत्र तथा गणराज्य के साथ रही है। स्वतंत्रता और धार्मिक उत्पीड़न साथ-साथ रहे हैं। कभी यह विश्वास किया जाता था कि संपत्ति-हीन को मत देने के अधिकार से वंचित रखकर समता खतरे में नहीं पड़ती है। प्रस्तावना न तो शक्तियों का स्रोत है न ही शक्ति के ऊपर परिसीमाएं (बेरूबारी यूनियन वाले उपर्युक्त मामले का पृष्ठ 282)।

श्री पालखीवाला के कथनानुसार विवक्षित परिसीमा वह है जो संविधान के विभिन्न उपबंधों की स्कीम में विवक्षित है। विभिन्न उपबंधों की स्कीम राज्य के प्राथमिक अंगों को सृजित करती है तथा उनकी शक्तियों और कृत्यों को परिभाषित, सीमांकित तथा परिसीमित करती है। इसके विपरीत अनुच्छेद 368 की स्कीम राज्य के प्राथमिक अंगों को पुनः सृजित करना है तथा उसकी शक्तियों और कृत्यों को जब कभी जनता के कल्याण के लिए इस प्रकार करना अनिवार्य हो जाता है तो पुनः परिभाषित, पुनःसीमांकित तथा पुनःपरिसीमित करना है। तदनुसार संविधान निर्माताओं का स्पष्ट रूप से यह आशय होना चाहिए कि अनुच्छेद 368 संविधान के दूसरे उपबंधों को नियंत्रित और शर्तों के अध्यधीन करता है न कि उनके द्वारा नियंत्रित होता है या उनके द्वारा नियंत्रित या शर्तों के अध्यधीन होता है। अनुच्छेद 368 दूसरे उपबंधों का स्वामी है न कि उनका दास। अनुच्छेद 368 के अधीन कार्य करते हुए संसद् सृजक है न कि संविधान की सृष्टि। एक शब्द में, वह सर्वोच्च है। जैसा कि लार्ड हैलीफाक्स ने कहा है "मूल तत्व को जो सम्मान दिया जाता है वह उस सर्वोच्चता तथा शक्ति को और भली प्रकार लागू होता है जो विभिन्न रूपों में प्रत्येक राष्ट्र में प्रतिष्ठित होती है और वह वही है जब कि जनकल्याण की अपेक्षा होती है तो वह बहुधा संविधान का परिवर्तन करती है। मैं तब उसे प्रथम मूल तत्व के

रूप में अधिकथित करता हूं कि प्रत्येक संविधान में कुछ ऐसी शक्ति होती है जो न तो परिसीमित होती है और न ही उसे परिसीमित होना चाहिए(1)। जवाहर लाल नेहरू ने भी कहा था, "अन्ततोगत्वा सम्पूर्ण संविधान संसद् की सृष्टि है"(2)।

यह कहा गया है कि अनुच्छेद 368 को संविधान के किसी बुनियादी तत्व या आधारभूत तत्व को निराकृत करने या किसी मूल अधिकार के मर्म को विकृत या नष्ट करने के लिए प्रयुक्त नहीं किया जा सकता। किन्तु बुनियादी, मूल या आधारभूत या मूल अधिकार के मर्म को अभिनिश्चित करने के लिए कोई ठीक-ठीक कसौटी पालखीवाला ने अपने सुझाव में नहीं दी है। प्रशिक्षित और ज्ञानग्राही न्यायिक मेधावी को अपील की गई है कि वे संविधान के आधारभूत तत्वों तथा उसके मर्म को खोजें। इंग्लैण्ड में स्टुअर्ट काल के दौरान सम्राट तथा संसद् दोनों अंग्रेजी राज्यतंत्र के मूल तत्वों की रक्षा करने का दावा करते थे। चार्ल्स प्रथम ने यह घोषणा की थी कि इस राज्य की मूल विधियों की रक्षा के लिए ही मैंने शस्त्र उठाए हैं(3)। इसके विपरीत संसद् के सदस्य यह मानते थे कि जनता का अधिकार उसकी अपेक्षा कहीं अधिक सही रूप में मूल है जो मात्र परम्परा या चिरभोगाधिकार पर आधारित है(4)। मुख्य न्यायाधिपति सर जान फिंच के उल्लेख पर टीका-टिप्पणी करते हुए (जो इस निर्णय के प्रारंभ में उद्धृत किया गया है) मैटलैण्ड ने इस प्रकार कहा था "यह कौन विनिश्चय करेगा कि क्या आभूषण है और क्या राज मुकुट का मुख्य भाग है। संविधान की यह धारणा कि यह सम्राट और संसद् दोनों के ऊपर है एक उचित सीमा तक सम्राट के कृत्यों को परिसीमित करता है तथा एक उचित सीमा तक कानूनों को परिसीमित करता है। यह बात यथार्थ शब्दों में कहीं भी अभिव्यक्त की गई नहीं पाई जाती और न ही इससे सम्राट का, न ही राष्ट्र का, समाधान होगा(5)"।

17वीं शताब्दी के अन्त में लार्ड हैलीफाक्स ने विनिश्चायक रूप से यह टीका की थी "मूल तत्व वह स्तम्भ है जिसे प्रत्येक के ऊपर रखा गया है और जिसे वह तोड़ नहीं सकते। यह वह कील है जिसे प्रत्येक व्यक्ति गाड़ कर प्रयोग करेगा क्योंकि सभी मनुष्यों के लिए वह ऐसा सिद्धान्त है जो अलंघ्य है क्योंकि समय पर उनके काम आता है"।

मूल तत्व ऐसा शब्द है जिसे सामान्य जन (लेंइटि) ने इस प्रकार प्रयोग किया है जैसे कि एक पादरी का शब्द पवित्र होता है जिसके द्वारा उन सभी का अर्थ किया जाता है जो उनके मस्तिष्क में रहता है और दूसरा कोई व्यक्ति उसे छू नहीं पाता(6)।

संविधान के वे निर्माता जो कि इंग्लैण्ड के सांविधानिक इतिहास से परिचित थे, उन्होंने गौण तत्वों या उसके मर्म से आधारभूत तत्वों को प्रभेदित करने की कसौटी

(1) गौफ, उपरोक्त, पृष्ठ 170.
(2) कांस्टिट्यूएण्ट असेम्बली डिबेट्स, जिल्द 9, पृष्ठ 1195.
(3) गौफ, उपरोक्त, पृष्ठ 78.
(4) पूर्वोक्त, पृष्ठ 99.
(5) इंग्लैंड का सांविधानिक इतिहास, उपरोक्त, पृष्ठ 300.
(6) गौफ, उपरोक्त, पृष्ठ 169-170.

को अनवधारित रूप में प्रकटतः नहीं छोड़ सकते थे । कसौटी स्वतः अनुच्छेद 368 के व्यापक शक्ति में है। संविधान का प्रत्येक उपबंध जो अनुच्छेद 368 में विहित प्रक्रिया द्वारा ही संशोधित किया जा सकता है संविधान का आधारभूत तत्व है क्योंकि विधायी विधियों की अपेक्षा सुरक्षित है। दूसरी कसौटी कठिन प्रक्रिया है। जितनी अधिक कठिन प्रक्रिया होगी उसके द्वारा संशोधनीय उपबंध उतने ही आधारभूत उपबंध होंगे। इस प्रकार अनुच्छेद 368 के परन्तुक में विनिर्दिष्ट उपबंध भाग 3 के अधिकारों की अपेक्षा अधिक आधारभूत हैं। पहले यह दर्शित किया जा चुका है कि मूल अधिकार चाहे संविधान के आधारभूत तत्व हों अनुच्छेद 368 के संशोधन की शक्ति के नियंत्रण में हैं। इस तर्क की परीक्षा करने पर विधान का न्यायिक पुनर्विचार भी संशोधनीय है। संविधान विधान के न्यायिक पुनर्विलोकन को विस्तारित करता है उसको निर्बन्धित करता है तथा उसको अपवर्जित करता है। [देखिए—अनुच्छेद 32(2), 138, 139, 143, 77(2), 166(2), और 31(4), (5) और (6)]। अनुच्छेद 32(2) उसी प्रकार संशोधनीय है जैसे कि भाग 3 के मूल अधिकार। अनुच्छेद 32(1) में 'प्रत्याभूत' शब्द इसकी असंशोध्य प्रकृति का द्योतक नहीं है। गारण्टी सरकारी अंगों के विरुद्ध शक्तिशाली है न कि संविधायी शक्ति के समक्ष। यह स्मरण रखना होगा कि 9 दिसम्बर, 1948 को प्रारूपित संविधान के अनुच्छेद 25 (वर्तमान अनुच्छेद 32) पर बोलते हुए डाक्टर बी० आर० अम्बेदकर ने कहा था "संविधान ने उच्चतम न्यायालय में इन रिटों को विनिहित किया है और ये रिटें तब तक छीनी नहीं जा सकतीं जब तक कि विधानमंडल को प्राप्त अधिकार द्वारा संविधान स्वतः संशोधित नहीं हो जाता[1]। यह बात उन्होंने अनुच्छेद 25 के अपने इस प्रतिज्ञान के बाद भी कही थी कि यह संविधान की साक्षात आत्मा तथा उसका साक्षात हृदय है।

अनुच्छेद 368 द्वारा संशोधन की शक्ति पर कोई अभिव्यक्त परिसीमाएं नहीं हैं। वास्तव में अभिव्यक्त रूप से यह अपने स्वतः संशोधन के लिए उपबंध करता है। संसद् तथा आधे से अधिक राज्य अनुच्छेद 368 को संयुक्त रूप से निरसित कर सकते हैं और इस प्रकार वे मूल अधिकारों को यदि वह ऐसी इच्छा रखते हैं असंशोध्य बना सकते हैं। अर्थान्वयन द्वारा संशोधन की शक्ति पर परिसीमाओं का विस्तारण अनुज्ञेय नहीं है। न्यायालय यह घोषित करने के लिए स्वतंत्र नहीं हैं कि संशोधन इस कारण शून्य है कि उनकी राय में न कि शब्दों द्वारा अभिव्यक्त रूप में यह उस भावना के प्रतिकूल है जो संविधान में व्याप्त है। देखिए-ए० के० गोपालन बनाम मद्रास राज्य[2] राजा सूर्य पाल सिंह बनाम उत्तर प्रदेश राज्य[3]। बाबू लाल पाराटे बनाम मुम्बई राज्य[4] वाले मामले में राज्य पुनर्गठन अधिनियम, 1956 की विधिमान्यता को इस न्यायालय में चुनौती दी गई थी। उस अधिनियम में पूर्ववर्ती मुम्बई राज्य से

(1) कांस्टिट्यूएण्ट असेम्बली डिबेट्स जिल्द, 7, पृष्ठ 953.

(2) (1950) एस० सी० आर० 88.

(3) (1952) एस० सी० आर० 1056, 1068.

(4) (1960) 1 एस० सी० आर० 605.

दो पृथक् इकाइयां बनाने के लिए उपबंध था—(1) महाराष्ट्र राज्य, (2) गुजरात राज्य। इसमें एक राज्य से दूसरे राज्य को कुछ राज्यक्षेत्रों को भी अन्तरित करने का उपबंध था। यह अधिनियम संविधान के अनुच्छेद 3 के अधीन पारित किया गया था। अनुच्छेद 3 में इस भाव का एक परन्तुक है कि अनुच्छेद 3 के मुख्य भाग के अधीन कोई विधेयक किसी सदन के समक्ष तब तक पुरःस्थापित नहीं किया जाएगा जब तक कि विधेयक में अन्तर्विष्ट प्रस्थापना किसी राज्य के क्षेत्र, सीमा या नाम को प्रभावित करती है। इस विधेयक को राष्ट्रपति ने उस पर अपनी राय अभिव्यक्त करने के लिए राज्य के विधानमंडल को निर्देशित किया था। विधेयक द्वारा मुम्बई राज्य से तीन इकाइयों को बनाया गया था किन्तु अधिनियम द्वारा केवल दो ही इकाइयां बनाई गई। यह दलील दी गई है कि अनुच्छेद 3 में प्रयुक्त शब्द 'राज्य' को इस प्रकार का व्यापक अर्थबोध देना चाहिए जिससे कि उसका अभिप्राय न केवल राज्य से हो बल्कि जनता से भी हो। दलील के अनुसार यह अनुच्छेद 3 में अन्तर्विष्ट लोकतांत्रिक प्रक्रिया का सिद्धान्त है। इस लोकतांत्रिक प्रक्रिया के अनुसार मुम्बई राज्य की जनता के प्रतिनिधियों को जो विधानमंडल में एकत्र हैं उन्हें यह अवसर प्राप्त होना चाहिए कि वे न केवल विधेयक में अन्तर्विष्ट प्रस्थापना पर अपने मतों को अभिव्यक्त कर सकें अपितु उसके पश्चात्वर्ती किसी उपान्तरण पर भी। इस दलील को अमान्य करते हुए न्यायाधिपति एस० के० दास ने इस प्रकार कहा था —

> "यह अनुचित बात होगी कि दूसरे देशों में पाए जाने वाले लोकतांत्रिक वाद तथा पद्धति के सिद्धान्त को अर्थान्वयन के प्रश्न के लिए प्रयुक्त किया जाए जो कि उन उपबंधों के अभिप्राय की स्कीम तथा शब्दावली से असंबंधित है जिनका कि हमें अर्थान्वयन करना है। हमें यह प्रतीत नहीं होता कि लोकतांत्रिक पद्धति का कोई विशिष्ट या दुरूह सिद्धान्त इसमें अन्तर्वलित है।"

साउथ इण्डिया कारपोरेशन (प्राइवेट) लिमिटेड बनाम सेक्रेटरी, बोर्ड, ऑफ रेवेन्यू, त्रिवेंद्रम[1] में न्यायाधिपति सुब्बा राव ने अनुच्छेद 372 का अर्थान्वयन करते हुए इस प्रकार मत दिया था —

> "चाहे जो भी हो संविधान के दूसरे उपबंधों से असंगति का भाव निकलना चाहिए और इसको संविधान में निहित अन्य राजनैतिक दर्शन के आधार पर इसकी रचना नहीं की जा सकती।"

78. मंगल सिंह बनाम भारत संघ[2] वाले मामले का पिटीशनरों के काउन्सेल ने अवलम्ब लिया है। पंजाब पुनर्गठन अधिनियम, 1966 पंजाब राज्य को पुनर्गठित करने के उद्देश्य से अधिनियमित किया गया था। इसकी विधिमान्यता को इस न्यायालय में चुनौती दी गई थी। प्रत्यर्थी की यह दलील थी कि अनुच्छेद 2, 3 और 4 के अधीन बनाई गई विधि द्वारा अनुपूरक, प्रासंगिक एवं आनुषंगिक ऐसे उपबंध भी

---

(1) (1964) 4 एस० सी० आर० 280, 295.

(2) (1967) 2 एस० सी० आर० 109.

बनाए जा सकते हैं जिनके अन्तर्गत राज्य की विधायी, कार्यपालिक और न्यायिक अंगों की स्थापना से संबंधित उपबंधित सम्मिलित होंगे। इस दलील का खंडन अपीलार्थी ने इस दलील के साथ किया है कि ऐसी व्यापक शक्ति द्वारा संसद् राज्य के विधायी एवं न्यायिक अंगों को पूर्णतया समाप्त करने के लिए प्रकट रूप में प्रयोग कर सकती है। इस विरोधी दलील को अमान्य करते हुए न्यायाधिपति शाह ने इस प्रकार कहा था —

"हम यह नहीं समझते हैं कि अनुच्छेद 4। द्वारा किसी ऐसी शक्ति के लिए अनुध्यात किया गया है। अनुच्छेद 2 और 3 द्वारा संसद् में जो शक्ति विनिहित की गई है वह नए राज्यों को प्रविष्ट करने या उनकी स्थापना करने या उन्हें गठित करने की ऐसी शक्ति है जो संविधान के अन्तर्गत सोचे गए लोकतांत्रिक पद्धति के अनुरूप है और संसद् की वह शक्ति जिसे संसद् विधि द्वारा प्रयुक्त कर सकती है संविधान के अन्तर्गत सोचे गए राज्य के सम्मिलित करने, उसकी स्थापना करने या उसके गठन करने के लिए अनुपूरक, प्रासंगिक या आनुषंगिक है और यह ऐसी शक्ति नहीं है जो सांविधानिक स्कीम का अध्यारोहण कर सके। इसलिए कोई राज्य संसद् द्वारा अनुच्छेद 4 के अधीन न तो गठित किया जा सकता है और न ही सम्मिलित किया जा सकता है और न ही उसकी स्थापना की जा सकती है जिसमें कोई प्रभावकारी विधायी, कार्यपालिक और न्यायिक अंग नहीं है।"

अनुच्छेद 2 और 3 के अधीन संसद् विधि द्वारा नए राज्य का निर्माण तथा किसी राज्य के क्षेत्र को बढ़ा या किसी राज्य के क्षेत्र को घटा सकती है तथा किसी राज्य की सीमा या नाम को बदल सकती है। इसलिए इस शक्ति का प्रयोग राज्य के निर्देश के प्रति किया जा सकता है। न्यायाधिपति शाह के मत को अध्याय 2 और 3 तथा भाग 5 के अध्याय 4 के प्रसंग में पढ़ा जाना चाहिए। भाग 2 और भाग 6 राज्य के कार्यपालिक ढांचे के लिए उपबंध करते हैं। अनुच्छेद 155 यह कहता है कि प्रत्येक राज्य के लिए एक राज्यपाल होगा। भाग 6 का अध्याय 3 राज्य विधानमंडल के ढांचे से संबंधित है। अनुच्छेद 168 में यह उपबंध है कि प्रत्येक राज्य के लिए एक विधानमंडल होगा। विधानमंडल का गठन उसकी शक्तियां तथा कृत्य इस अध्याय में अधिकथित हैं। भाग 5 में राज्य की न्यायपालिका के लिए ढांचे का उपबंध है। अनुच्छेद 214 में यह उपबंध है कि प्रत्येक राज्य के लिए एक उच्च न्यायालय होगा। इन अध्यायों के उपबंध आज्ञापक हैं। अनुच्छेद 2, 3 और 4 के अधीन विधि बनाते समय संसद् राज्य के विधायी, कार्यपालिका और न्यायिक प्रसंग में महत्वपूर्ण परिवर्तन नहीं कर सकती क्योंकि इसको विधि बनाने की शक्ति अध्याय 2, 3 और भाग 6 के अध्याय 5 के अध्यधीन है।

श्री पालखीवाला ने अनुच्छेद 368 की संविधायी शक्तियों पर शर्त लगाते हुए उच्चतर विधि के रूप में नैसर्गिक विधि का आश्रय लिया है। अनेक राजनैतिक और सांविधानिक चिन्तकों ने नैसर्गिक विधि को धर्म का एक रूप माना है। किन्तु उन्होंने कभी भी एकेश्वर वाद में विश्वास नहीं किया है। यह निरन्तर बढ़ते रहने वाला

सर्वदेवों का मन्दिर है। आप सर्वदेव के मन्दिर की ओर दृष्टिपात करें आप पाएंगे कि वहां 'प्रकृति की दशा' मनुष्य की प्रकृत, तर्क, ईश्वर, समता, स्वतंत्रता, संपत्ति, सहजीकरण, सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न लोकतंत्र, सभ्य शिष्टाचार, न्याय तथा यहां तक कि युद्ध की मूल धारणाएं हैं।

इस नैसर्गिक विधि के धर्म के क्रुषिपस, सिसेरा, सिनेका, सेंट थोमस, एक्वूनस, ग्रोटियस, ओवस्, लोक, पेन, हैमिल्टन, जेफरसन और ट्रिस्वेक जैसे लब्धप्रतिष्ट धर्म प्रधान ह। यह सर्वदेव मन्दिर शान्ति का स्वर्ग नहीं है। इसके देवता सतत्, परस्पर सांघातिक टकराव में लगे रहते हैं।

नैसर्गिक विधि एक बहुत ही अवास्तविक और विवादग्रस्त विश्वास है। इसके परस्पर विरोधी देवताओं के विस्मयकारी वर्ग ने केलसन को यह कहने के लिए उत्तजित किया "नैसर्गिक विधि के सिद्धान्त के प्रमुख प्रतिनिधियों ने न्याय या नैसर्गिक विधि के सिद्धान्तों को उद्घोषित किया है जो केवल परस्पर विरोधी ही नहीं है अपितु अनेक मूल विधिक व्यवस्थाओं के प्रत्यक्ष विरोधी भी हैं। कोई भी ऐसी मूल विधि नहीं है जो इस सिद्धान्त के या दूसरे सिद्धान्त से न टकराती हो और यह अभिनिश्चित करना असंभव है कि उनमें से किसको किस की अपेक्षा अधिक मान्यता देनी चाहिए। ये सभी सिद्धान्त उन विभिन्न ग्रंथकारों के जैसा कि वे जो कुछ उचित और नैसर्गिक समझते हैं, उनके बहुत ही काल्पनिक मूल्य के निर्णयों का प्रतिनिधित्व करते हैं (1)।

अनुच्छेद 368 को बिना किसी पूर्वधारित मान्यता के पढ़ना चाहिए। संविधान निर्माताओं ने "विधि की सम्यक् प्रक्रिया" की विचारधारा को अमान्य कर दिया था और उन्होंने अनुच्छेद 21 में "विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया" की विचारधारा को अंगीकृत किया था। इसलिए यह विश्वास करना युक्तियुक्त है कि उन्होंने सांविधानिक संशोधन की विधिमान्यता की परीक्षा करने के लिए विधि के सम्यक् प्रक्रिया जैसे अस्पष्ट मानक को अमान्य कर दिया था। विधि की सम्यक् प्रक्रिया नैसर्गिक विधि का एक दूसरा नाम है। संविधान निर्माता सरलता से संशोधन की शक्ति की विषय-वस्तु पर किसी अभिव्यक्त परिसीमा का अधिरोपण कर सकते थे। किसी अभिव्यक्त परिसीमा के अभाव से मुझे सोचने को विवश होना पड़ता है कि उन्होंने संशोधन की शक्ति पर कोई अन्तर्निहित या विवक्षित परिसीमाओं को नहीं लगाया।

सांविधानिक संशोधनों पर न्यायिक पुनर्विलोकन

उपर्युक्त गोपालन वाले मामले से उपर्युक्त गोलक नाथ वाले मामले तक इस न्यायालय के इतिहास से चार विभिन्न न्यायिक दृष्टिकोण प्रकट होते हैं। गोपालन वाले मामले में न्यायालय ने बहुमत द्वारा अभिव्यक्त एवं प्रकट रूप से सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न, 'विधायी शक्ति की सर्वसमितमानता' को स्वीकार किया था। न्यायालय ने इसमें अपनी नम्रता तथा आत्मसंयम प्रदर्शित किया था। किन्तु दो वर्ष

(1) वॉट इज जस्टिस? यूनिवर्सिटी आफ कैलफोर्निया प्रेस, 1960, पृष्ठ 259.

के पश्चात् न्यायालय ने चौकसी का दृष्टिकोण अपनाया। **मद्रास राज्य बनाम वी० जी० राव** (¹) वाले मामले में न्यायालय ने इस प्रकार सर्वसम्मत निर्णय दिया था "जहां तक मूल अधिकारों का संबंध है, इस न्यायालय को संविधान की रक्षा की भूमिका सौंपी गई है"। जब कि न्यायालय इस बात को सुनिश्चित करने के लिए सावधानी बरतेगा कि उसकी कोई इच्छा नहीं है कि वह धर्म-युद्ध की भावना में विधायी प्राधिकारी के पीछे पड़े किन्तु चेतावनी के रूप में यह जोड़ा कि यह आक्षेपित कानून की विधिमान्यता को अन्तिम रूप से अवधारित करने के अपने कर्त्तव्य का परित्याग नहीं कर सकता। न्यायालय नम्रता और आत्मसंयम के अपने गोपालन वाले मामले के दृष्टिकोण से जागरूकता की भूमिका की ओर मुड़ा जो कि आत्मसंयम और आत्मचेतना से युक्त था। 1954 में न्यायालय एक कदम आगे बढ़ा। **वीरेन्द्र सिंह बनाम उत्तर प्रदेश राज्य** (²) वाले मामले में न्यायालय ने जनता को अपनी बात कहने का साधन बनाया "हमें सरकार की इच्छा से निष्कर्ष नहीं निकालना है, हमें ऐसे संविधान का सम्पूर्ण कवच मिला है जिसमें इसको संरक्षित करने वाले उपबंधों के कवच धारित हैं तथा इसकी प्रेरणाओं की तलवारें चमक रही हैं"। कदाचित यह लेखांश धर्म-युद्ध करने वाले का सही चित्र प्रस्तुत करता है किन्तु यह चित्र वह चित्र है जब कि एक धर्म-युद्ध करने वाला नए मार्ग पर आरूढ़ होकर जाने के लिए तैयार होता है। यह न्यायालय का तीसरा दृष्टिकोण है। इसके द्वारा आत्मसंयम की अपेक्षा आत्मप्रभुता की अभिव्यक्ति अधिक है। 1967 तक गोपालन वाले मामले के नम्र एवं आत्मसंयमी दृष्टिकोण प्रयोग में नहीं रह गया। 'नैसर्गिक', 'परमपवित्र' तथा 'लोकोत्तर' का झंडा हाथ में लिए तथा दूसरे हाथ में संविधान के प्रेरणा की चमकती तलवार लिए, न्यायालय ने गोलक नाथ वाले मामले में यह घोषणा की "संसद् भाग 3 के मूल अधिकारों को न तो छीन सकती है और न ही न्यून कर सकती है। न्यायिक पुनर्विचार के संबंध में न्यायालय का यह चौथा दृष्टिकोण है। गोपालन वाले मामले से गोलक नाथ वाले मामले तक यह न्यायालय एक उद्देश्य से दूसरे उद्देश्य की ओर अपनी विचारधारा बदलता रहा है और अन्त में संसद् की सर्वोच्चता से अपनी स्वयं की सर्वोच्चता स्थापित की है।

न्यायालय के इस विधिक दर्शन के केन्द्र में व्यक्ति की ऐसी इच्छा है जो तर्कसंगत नहीं है। मूल अधिकारों के ऊपर संरक्षता के लिए न्यायालय का दावा प्लेटो की संरक्षता का पुनः उदय है जिसमें कि दार्शनिक सम्राटों को गणराज्य प्रशासन करने के लिए आमंत्रित किया जाना चाहिए। न्यायालय द्वारा मूल अधिकारों को उच्चता प्रदान करना लोके का स्मरण दिलाता है जिसकी स्वतंत्रता की धारणा संपत्ति की सुरक्षा की अपेक्षा कोई भी आध्यात्मिकता नहीं है और जो आस्था और उत्पीड़न से संगत है। जब न्यायालय मूल अधिकारों को पवित्र और परमपवित्र की संज्ञा देता है तो हमें ग्रोसियस और पफेंडर्स के सिद्धान्तों का स्मरण आता है। अर्थात् उनके वे

(¹) (1952) एस० सी० आर० 597.

(²) (1955) 1 एस० सी० आर० 415.

सिद्धान्त जिनमें पौराणिक परम्पराओं की कड़ी है । जब न्यायालय यह घोषणा करता है कि मूल अधिकार आदिम, अपरिवर्तनीय एवं असंक्राम्य हैं तो इस अन्तर के साथ वह बहुत ही अधिक रूप में उस ब्लैकस्टोन की बात कहता है जो कि संसद् की सर्वशक्तिमानता को नकारता है। जब यह दावा किया जाता है कि मूल अधिकारों को संविधान में लोकोत्तर स्थिति प्रदान की गई है तो यह कांट के लोकोत्तर आदर्शवाद के सिद्धान्त को संविधान में खोजना है ।

इस दर्शन के लिए राज्य के निदेशक तत्वों को मूल अधिकारों के नीचे रहना आवश्यक है। 26 जनवरी, 1950 को एक महान् विभाजन हुआ। एक ओर वे थे जिनको मूल अधिकार प्रदत्त किए गए थे और जिन्होंने उसके वरदानों का उपभोग किया और दूसरी ओर वे थे जिन्हें औपचारिक रूप में मूल अधिकार प्रदत्त किए गए थे किन्तु उनके वरदानों का उपभोग करने के लिए उनके पास साधन और सामर्थ्य नहीं था। आने वाले समय के लिए सदैव यह अन्तर बना रहेगा किन्तु संविधान निर्माताओं का इसके विपरीत आशय था। जवाहर लाल नेहरू ने कहा था "जैसा कि संविधान कहता है यह राज्य के निदेशक तत्व देश के शासन के लिए मूल तत्व हैं । अब मैं सोचता हूं कि यह सदन इस पर विचार करे कि कैसे आप उस देश में इन सिद्धान्तों को प्रभावी कर सकते हैं यदि यह दलील जैसे कि बहुधा दी जाती है यदि आप उस पर निष्ठा रखते हैं तो आप नहीं कर सकते। आप कह सकते हैं कि हमें उच्चतम न्यायालय के संविधान के निर्वचन को स्वीकार करना चाहिए। किन्तु मैं कहता हूं कि यदि यह सही है तो मूल अधिकारों तथा राज्य के निदेशक तत्वों में संविधान में अन्तर्निहित विरोध है। इसलिए पुनः यह संसद् का अधिकार है कि वह उस विरोध को दूर करे और मूल अधिकारों को राज्य के निदेशक तत्वों के लिए सहायक बनाए (1)।"

अनुच्छेद 31(4), (5) और (6) असंदिग्ध रूप से यह सिद्ध करते हैं कि संविधान निर्माताओं का आशय मूल अधिकारों के ऊपर राज्य के निदेशक तत्वों को उच्चता प्रदान करना था। यह निरर्थक बात है कि व्यक्तिगत स्वतंत्रता या प्राइवेट संपत्ति की आत्यंतिक पवित्रता के बारे में जो धारणाएं हैं उन पर विश्वास रखा जाए और इस प्रकार इच्छाजनित विश्वास द्वारा यह सोचा जाए कि हमारे संविधान निर्माताओं ने व्यष्टिक स्वतंत्रता तथा प्राइवेट संपत्ति की उन धारणाओं को जो कि 16वीं शताब्दी में जब कि ह्यूगो ग्रोटियस का उत्कर्ष या 18वीं शताब्दी में जब कि ब्लैकस्टोन ने अपनी टीकाओं को लिखा और जब कि यूनाइटेड स्टेट्स ऑफ अमरीका का संविधान विरचित किया गया प्रचलित था, हमारे संविधान में प्रतिष्ठित किया है । हमें इस सादे सत्य के साथ समझौता कर लेना चाहिए कि असंदिग्ध रूप से व्यक्ति पर दिया जाने वाला महत्व अब समुदाय पर दिया जाने लगा है। हम संविधान के इस प्रकट प्रयोजन को दृष्टि से ओझल नहीं कर सकते कि इसके द्वारा ऐसे लोक कल्याणकारी राज्य की स्थापना करना है जिसमें समुदाय के अधिकारों के सामाजिक हित नीचे धरातल पर रखे गए हैं। सामाजिक

(1) लोक सभा डिबेट्स, 1955, जिल्द 2, पृष्ठ 1955.

हित सदैव बढ़ते रहते हैं और यह इतने अधिक हैं कि उन्हें गिनाना या उनके बारे में पूर्वानुमान रखना भी कठिन है। यह संभव नहीं है कि राज्य द्वारा प्रयोग किए जाने वाले सामाजिक नियंत्रण की परिसीमाएं कम की जाएं। यह राज्य पर छोड़ देना चाहिए कि वह यह विनिश्चित करे कि कब कैसे और किस सीमा तक उसे इस सामाजिक नियंत्रण का प्रयोग करना चाहिए। (1)

संविधान द्वारा इस न्यायालय को संसद् के ऊपर सर्वोच्चता की मान्यता नहीं दी गई है। हम संविधान द्वारा स्थापित प्राधिकार पूर्ण मानदंडों की कसौटी पर ही विधायी विधियों की परीक्षा कर सकते हैं। इसकी प्रक्रियात्मक परिसीमाएं अलग हैं। न तो अनुच्छेद 368 न ही संविधान के कोई दूसरे भाग द्वारा सांविधानिक संशोधन के तत्व की परीक्षा करने के लिए कोई प्राधिकारपूर्ण मानदंड स्पष्ट भाषा में स्थापित किया गया है। मैं समझता हूं कि यह हमारे लिए नहीं है कि हम जनता के निमित्त अन्तिम मूल्यवान चुनाव करें। संविधान द्वारा न्यायाधीशों की सरकार की स्थापना इस देश में नहीं हुई है। इसके द्वारा संसद् को ही सर्वोपरि मानदंडों को अवधारित करने का कर्त्तव्य सौंपा गया है। न्यायालयों को केवल सांविधानिक मूल्यवान चयनों के परिमापी के भीतर सीमित मूल्यवान विवेकाधिकार की अनुज्ञा दी गई है। न्यायालय संशोधन की आवश्यकता का तथा इसके अभाव में राज्य के खतरे का अनुमान नहीं लगा सकते। क्योंकि सभी साक्ष्य उसके समक्ष पेश नहीं किए जा सकते। इसके विपरीत संसद् समस्त सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक, वित्तीय, राष्ट्रीय, अन्तर्राष्ट्रीय दबावों को जो कि संशोधन के लिए होते हैं अच्छी तरह जानती है और इसलिए यह उसकी समीचीनता को विनिश्चित करने के लिए अधिक अच्छी स्थिति में है।

ढांचे संबंधी सामाजिक आर्थिक मूल्यों की खोज के लिए तर्क एक स्थिर मार्गदर्शक नहीं है। श्री शंकरी प्रसाद सिंह बनाम भारत संघ (2), सज्जन सिंह बनाम राजस्थान राज्य (3) तथा गोलक नाथ वाले मामले (उपरोक्त) के विरूप वाले मामलों में 7 न्यायाधिपतियों की राय 13 न्यायाधिपतियों की राय के ऊपर अभिभावी हो गई। निचमयन धर्मशास्त्र के ग्रंथकार के मत में दासता के लिए भी कारण है। बिना अनुज्ञप्ति के मुद्रण में के उग्र समर्थकों ने इस बात में कारण देखा है कि कैथिलिकों को वाक्-स्वातंत्र्य से वंचित किया जाए। इसी प्रकार शापनहावर ने कहा है कि "हम इसलिए किसी बात को नहीं चाहते क्योंकि उसके लिए सुदृढ़ कारण हैं। हम उसके लिए कारण खोजते हैं क्योंकि हम उसे चाहते हैं"। शुद्ध कारण एक मनगढ़न्त बात है। जो कारण बनाया जाता है वह भी परिकल्पना, समीचीनता, गणना तथा कठिन संतुलनों में फंसे हुए विशिष्ट समय, विशिष्ट स्थान तथा विशिष्ट दशाओं में परस्पर विरोधी मूल्यों को जोड़ने या घटाने के बाद आता है।

(1) पश्चिमी बंगाल राज्य बनाम सुबोध गोपाल: (1954) एस० सी० आर० 587, 655; न्यायाधिपति दास द्वारा अभिव्यक्त मत।

(2) (1952) एस० सी० आर० 89.

(3) (1965) 1 एस० सी० आर० 933.

रचना संबंधी सामाजिक, आर्थिक मूल्यवान चयनों में जटिल और पेचीदा राजनैतिक प्रक्रिया अन्तर्वलित है। यह न्यायालय उस कृत्य को पूरा करने के योग्य नहीं है। स्पष्ट सांविधानिक मानदंडों के अभाव में तथा सम्पूर्ण सांक्ष्य के अभाव में न्यायालय के रचना संबंधी मूल्यवान चयन अधिकांश रूप में काल्पनिक होंगे। हमारे निजी संस्कार बलपूर्वक उस मानदंड में प्रवेश कर जाएंगे और हमारे निर्णय को प्रभावित करेंगे। काल्पनिकता का उद्देश्य उस विधिक निश्चितता का महत्व घटाना है जो विधि के नियम में आधारभूत तत्व है।

सांविधानिक संशोधनों के न्यायिक पुनर्विलोकन द्वारा जनता की जागरूकता, उसकी स्पष्टोक्ति तथा उसकी प्रभावकारिता कुंठित हो जाएगी। सही लोकतंत्र तथा सही गणराज्यवाद में यह पूर्वधारणा होती है कि जनता के विचार-विमर्श द्वारा तथा जनता के निर्वाचित प्रतिनिधियों के मत द्वारा सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक समस्याएं तय की जाएंगी, न कि न्यायिक राय के द्वारा। संविधान के बारे में यह आशयित नहीं है कि वह बड़े वैलीशाहों के विधिक बकवास का अखाड़ा है। यह सामान्य जनता के लिए बना है। साधारणतया इसका इस प्रकार अर्थान्वयन करना चाहिए कि वे इसे समझ सकें और इसका मूल्यांकन कर सकें। जितना ही वे समझेंगे उतना ही वे इससे प्रेम करेंगे और उतना ही वे इसको मूल्य देंगे।

मैं विश्वास नहीं करता हूं कि असीमित संशोधन की शक्ति से देश के धार्मिक, भाषिक एवं सांस्कृतिक, अल्पसंख्यकों के हित खतरे में पड़ेंगे। जब तक वे राजनैतिक प्रक्रिया में प्रवेश करने के लिए तथा दूसरों के साथ सहयोग करने एवं परिवर्तन करने के लिए तैयार हैं वे स्थायी रूप से तथा पूर्ण रूप से उपेक्षित या शक्ति के बाहर नहीं रह सकते उदाहरण के लिए संसद् ने उत्तराधिकार की हिन्दू विधि को संशोधित किया है। 1950 से आज तक किसी विधानमंडल का साहस नहीं हुआ कि वह उत्तराधिकार की मुस्लिम विधि को संशोधित कर सके। अल्पसंख्यक दल अनेकों वर्षों से एक राज्य में सत्तारूढ़ रहा है। न्यायिक पुनर्विलोकन द्वारा अल्पसंख्यक लोकतांत्रिक प्रक्रिया की मुख्य धारा से अलग हो जाएंगे। वे दूसरों के साथ संबंधों को बनाने या उनमें सुधार करने की नमनीयता खो देंगे। उनका आत्मविश्वास मिट जाएगा और वे उसी प्रकार न्यायालय के परित्राण पर निर्भर होंगे जैसा कि एक बार वे सरकार के परित्राण पर निर्भर थे। हमें यह प्रतीत होता है कि संसद का दो-तिहाई का बहुमत उन्हें अधिक सुरक्षा प्रदान करेगा अपेक्षा उसके कि उनको प्रभावित करने वाली महत्वपूर्ण समस्या पर इस न्यायालय का गुप्त मत।

महान शक्तियों को जनता के कल्याण और उसके अहित दोनों के लिए प्रयोग किया जा सकता है। शक्ति के दुरुपयोग की आशंका एक वैध कारण नहीं होगा कि संसद् को अनिर्बन्धित संशोधन की शक्ति से वंचित किया जाए जबकि अनुच्छेद 368 बिना किसी तोड़मरोड़ और खींचतान के वैसा करने के लिए अनुज्ञा देती है। संविधान का अर्थान्वयन करते समय यह उपधारणा करनी चाहिए कि शक्ति

का दुरुपयोग नहीं होगा [ए० के० गोपालन बनाम राज्य (पूर्वोक्त) पृष्ठ 320-321 पर न्यायाधिपति दास द्वारा व्यक्त मत] [डा० एन० बी० खरे बनाम दिल्ली राज्य (1), दिल्ली लाज् ऐक्ट वाला मामला (2)। सत्यनिष्ट तथा युक्तियुक्त शक्ति के प्रयोग के पक्ष में साधारण उपधारणा मानी जाती है [पश्चिमी बंगाल राज्य बनाम अन्वर अली सरकार (3)]। हमें संसद् में विश्वास रखना चाहिए। यह जनता के प्रति उत्तरदायी है। यह सदैव उनके किसी वर्ग की उपेक्षा नहीं कर सकते।

शक्ति के दुरुपयोग वाली दलील को अमान्य करते हुए न्यायाधिपति दास ने इस प्रकार मत व्यक्त किया था--

> "जिस बात के लिए मैं पूछता हूं वह कराधान की शक्ति के प्रयोग द्वारा संपत्ति के वंचन के मामले में विधानमंडल के विरुद्ध दिया जाने वाला हमारा संरक्षण है। विधि द्वारा अपनी कराधान की शक्ति का प्रयोग करते हुए राज्य हमारी आय के एक रुपये में से लगभग सोलह आने तक वंचित कर सकता है। जो बात मैं पूछता हूं वह उस संरक्षण के बारे में है जो कि जीवन या व्यक्तिगत स्वतंत्रता के वंचन के मामले में विधानमंडल के विरुद्ध किसी व्यक्ति को संविधान देता है। सिवाय अनुच्छेद 21 की अपेक्षाओं के कोई भी बात नहीं है अर्थात् स्वतः विधान-मंडल द्वारा स्थापित की जाने वाली प्रक्रिया और अनुच्छेद 22 में विहित ढांचे संबंधी प्रक्रिया। जो बात अप्रसामान्य है वह यह है कि यदि जैसे की हमारे संविधान ने विधानमंडल में विश्वास किया है जैसे कि ग्रेट ब्रिटेन की जनता ने अपनी संसद् पर विश्वास किया है वही जीवन तथा व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का अधिकार तथा प्राइवेट संपत्ति के अधिकार अब भी संसद् की सर्वोच्चता के बाद भी ग्रेट ब्रिटेन में विद्यमान है। हमें क्यों यह मानना चाहिए या यह आशंका करनी चाहिए कि हमारी संसद् पागल व्यक्ति की तरह कृत्य करेगी और बिना किसी तुक और कारण के हमें अपनी संपत्ति से वंचित करेगी। कुछ भी हो हमारी कार्यपालिक सरकार विधानमंडल के प्रति उत्तरदायी है और विधानमंडल जनता के प्रति उत्तरदायी है। यदि विधानमंडल कभी सनक में पड़ जाता है तो हमें कुछ समय के लिए उसको झेलना पड़ेगा। यह वह कीमत है जो हमें लोकतंत्र के लिए चुकानी चाहिए। किन्तु ऐसी सनकों की आशंका का इस बात में कोई औचित्य नहीं हो सकता कि अपने उन विचारों को कि कैसे एक आदर्श संविधान होना चाहिए, अनुरूप करने के लिए संविधान की भाषा में खींचतान की जाए। ऐसा करना संविधान का निर्वचन करना नहीं है अपितु उस संविधान

(1) (1950) एस० सी० आर० 519, 526.

(2) (1951) एस० सी० आर० 747, 1079.

(3) (1952) एस० सी० आर० 284, 301

को बिगाड़कर जो कि भारत के लोगों ने अपने को आत्मार्पित किया था, नया संविधान बनाना है। मुझे आशंका है कि यह न्यायालय का कृत्य नहीं है (¹)।''

इसलिए भय वाली यह दलील विधिमान्य दलील नहीं है। संसद् विधान-मंडल के रूप में कम से कम युद्ध और मुद्रा की बाबत दो विशाल शक्तियों से लैस की गई है। इन दो शक्तियों के गलत प्रयोग से कुछ क्षणों में सम्पूर्ण राष्ट्र नष्ट हो सकता है किन्तु किसी न्यायालय से अब तक आशंकित शक्ति के दुरुपयोग के लिए इन शक्तियों पर निर्बन्धन लगाने के लिए नहीं चाहा गया है। लोकतंत्र जनता द्वारा अपनी आत्मालोचना एवं आत्म सुधार के विश्वास पर आधारित है। इस प्रकार की आलोचना वाले लोकतंत्र से कोई खतरा नहीं है।

मध्ययुगीन पोप तथा सम्राट के बीच जो संघर्ष हुआ था उससे उनकी शक्तियां तथा उनके नैतिक प्राधिकार कम हो गए। आज भारत की जो दशा है वह इस न्यायालय के लिए हिल्डरब्रैंड के रूप में कृत्य करने के लिए अनुज्ञेय नहीं है। पोप और सम्राट के विपरीत राज्य सभा, जो कि जनता द्वारा निर्वाचित है, शक्ति की वास्तविक थान है। यह जनता के प्रति उत्तरदायी है और उन्हें इस संबंध में विश्वास है। न्यायालय जनता द्वारा नहीं चुना जाता है और यह उस अर्थ में जैसा कि लोक सभा है उनके प्रति उत्तरदायी नहीं है। तब भी यह जनता के हृदयों में अपना स्थायी स्थान बना सकती है और उसके द्वारा अपने नैतिक प्राधिकार को बढ़ा सकती है यदि वह अल्पसंख्यकों के संरक्षण की औपचारिक उपधारणा से न्यायिक पुनर्विचार का केन्द्र बिन्दु हटाकर जनता के निर्बल वर्गों के संरक्षण के मानवतावादी विचारधारा के संरक्षण के प्रति केन्द्रित करे।

वास्तव में यह उन करोड़ों निर्धनों भूखों और भोले-भाले लोगों के लिए है जिन्हें मानवीय अधिकारों के अपने उपभोग के लिए न्यायालय के संरक्षण की आवश्यकता है। स्पष्ट आशा के अभाव में न्यायालय को ऐसे सांविधानिक संशोधन को अभिखंडित करने से अलग रहना चाहिए जिसके द्वारा प्रत्येक आंसू को पोंछने के लिए प्रयत्न किया जाता है। ऐसा करने में न्यायालय को राष्ट्रीय परम्परा से अलग नहीं रहना चाहिए अपितु उसे कायम रखना चाहिए। बृहद्दर्णयक यह कहता है कि "तब धर्म (विधि) की उत्पत्ति हुई जिससे कल्याण का कार्य होता है। विधि द्वारा निर्बल, शक्तिशाली पर नियंत्रण कर सकता है।" (I. IV, 14)।

राष्ट्रीय चिह्न पर दृष्टिपात कीजिए अर्थात् चक्र और सत्यमेव जयते। चक्र गति का प्रतीक है। सत्यम बलिदान का प्रतीक है। चक्र यह संज्ञापित करता है कि संविधान एक गतिमान संतुलन है। सत्यमेव संविधान के बलिदान तथा मानवतावाद के आदर्श का प्रतीक है। न्यायालय न्यायिक पुनर्विलोकन के प्रयोग में उस दशा में अपने कर्तव्य का पालन तथा संविधान की राज्यभक्ति की शपथ को पूरा करता है जो कि संविधान में ये दो आदर्श परिलक्षित हैं।

(¹) (1954) एस० सी० आर० 587.

चौबीसवां संशोधन

इसमें दो सुसंगत धाराएं धारा 2 और धारा 3 सम्मिलित हैं। ये धाराएं उपर्युक्त गोलक नाथ वाले मामले के विभिन्न निर्णयों को ध्यान में रखते हुए बनाई गई हैं। धारा 2 द्वारा अनुच्छेद 13 में खंड (4) जोड़ा गया है। क्योंकि गोलक नाथ वाले मामले में उच्चतम न्यायालय के विनिश्चय द्वारा यह मत व्यक्त किया गया है कि वह मूल अधिकारों को न छीन सकती है न कम कर सकती है। खंड (4) उस परिसीमा को हटाता है। धारा 3 में चार खंड सम्मिलित हैं। खंड (क) द्वारा असंशोधित अनुच्छेद 368 में पार्श्व टिप्पण प्रतिस्थापित किया गया है। प्रतिस्थापित पार्श्व टिप्पण इस प्रकार है "संविधान का संशोधन करने की संसद् की शक्ति और उसके लिए प्रक्रिया"। खंड (ख) अनुच्छेद 368 को खंड (2) के रूप में पुनःसंख्यांकित करता है और उसमें खंड (1) जोड़ता है। नया खंड (1) संशोधन की शक्ति को 'संविधायी शक्ति' के रूप में संज्ञा देता है। यह संसद् को सशक्त करता है कि वह विहित प्रक्रिया के अनुसार संविधान के किसी उपबंध को 'परिवर्धन, परिवर्तन या निरसन' द्वारा संशोधित कर सकती है। यह इस सुविज्ञात शब्दावली "इस संविधान में किसी बात के होते हुए भी" से प्रारंभ होता है। पुनःसंख्यांकित खंड (2) अर्थात् असंशोधित अनुच्छेद 368 में भी एक संशोधन है। यह कहता है कि राष्ट्रपति विधेयक पर अपनी अनुमति देगा। खंड (घ) अनुच्छेद 368 में खंड (3) जोड़ता है। इसमें यह उपबन्धित है कि अनुच्छेद 13 की कोई बात अनुच्छेद 368 के अधीन किए गए किसी संशोधन को लागू न होगी।

यह देखा जा सकता है कि सिवाय जहां तक विधेयक पर राष्ट्रपति की अनुमति का संबंध है, चौबीसवें संशोधन में प्रत्येक दूसरी बात असंशोधित अनुच्छेद 368 में पहले से विद्यमान थी। मैंने अपने निर्णय में पहले उस भाव की बाबत अभिनिर्धारित किया है। तदनुसार संशोधन वास्तव में प्रकृति में घोषणाकारक है। यह गोलक नाथ वाले उपर्युक्त मामले के बहुमत वाले निर्णय द्वारा संशोधन की शक्ति पर किए गए संदेहों को दूर करता है। मेरी यह राय है कि चौबीसवां संशोधन विधिमान्य है।

असंशोधित अनुच्छेद 368 द्वारा संशोधन की शक्ति पर प्रक्रियात्मक परिसीमा अधिरोपित की गई थी। संशोधन विधेयक तब तक संविधान का भाग नहीं हो सकता जब तक राष्ट्रपति की अनुमति प्राप्त न हो जाए। मैंने पहले ही यह अभिनिर्धारित किया है कि राष्ट्रपति अपनी अनुमति को रोक सकता है। संशोधन के पश्चात् राष्ट्रपति अपनी अनुमति नहीं रोक सकता। प्रक्रियात्मक निर्बन्धन अनुच्छेद 368 का भाग है। असंशोधित अनुच्छेद 368 अपने स्वयं के संशोधन के लिए उपबंध करता है। तदनुसार यह संसद् का अधिकार है कि वह प्रक्रिया में संशोधन करे इसलिए हमें इस संशोधन को कायम रखने में कोई कठिनाई नहीं है कि राष्ट्रपति विधेयक पर अपनी अनुमति देगा।

एक बात और है। हम दलील के तौर पर यह बात मान लें कि असंशोधित अनुच्छेद 368 में संशोधन की शक्ति कतिपय अन्तर्निहित और विवक्षित

परिसीमाओं के अध्यधीन थी। हम यह भी बात मान लें कि अनुच्छेद 13(2) के उपबंधों द्वारा यह निर्बन्धित थी। असंशोधित अनुच्छेद 368 विवक्षित रूप में इस प्रकार होगा "अनुच्छेद 13(2) तथा किसी अन्तर्निहित विवक्षित परिसीमाओं के अध्यधीन।" इस प्रकार अनुच्छेद 13(2) द्वारा तथा अन्तर्निहित और विवक्षित परिसीमाओं द्वारा अधिरोपित निर्बन्धन अनुच्छेद 368 की रचना के भाग थे। चूंकि अनुच्छेद 368 स्वतः संशोधित किया जा सकता है इसलिए यह निर्बन्धन अब संसद् द्वारा दूर कर दिए गए हैं क्योंकि वे 'संशोधन' शब्द के क्षेत्र के अन्तर्गत आते हैं। अनुच्छेद 368 के खंड (क) में नए रूप से जोड़ी गई शब्दावली "इस संविधान में किसी बात के होते हुए भी" समस्त इन निर्बन्धनों को दूर करने के लिए सक्षम है। परिणामस्वरूप संशोधन की शक्ति अब अनुच्छेद 13(2) तथा अन्तर्निहित और विवक्षित परिसीमाओं, यदि कोई हों, की अशुभ छाया से मुक्त है।

हमारी राय में संपूर्ण चौबीसवां संशोधन पूर्ण रूप से विधिमान्य है।

पच्चीसवें संशोधन की धारा 2

धारा 2 अनुच्छेद 31(2) को संशोधित करती है। असंशोधित अनुच्छेद 31(2) राज्य को उसके द्वारा अर्जित या अधिगृहीत किसी संपत्ति के लिए प्रतिकर का संदाय करने के लिए बाध्य करती है। धारा 2 द्वारा 'प्रतिकर' शब्द के स्थान पर 'राशि' शब्द प्रतिस्थापित किया गया है। इसमें यह भी उपबंध है कि विधि द्वारा नियत या विधि द्वारा विहित सिद्धांतों के अनुसार अवधारित राशि ऐसी रीति में दी जा सकेगी जैसे कि ऐसी विधि द्वारा विनिर्दिष्ट की जाए।

संशोधित अनुच्छेद 31(2) के मुख्य भाग का अन्तिम भाग भी यह कथित करता है कि "ऐसी किसी विधि पर किसी न्यायालय में इस आधार पर आपत्ति नहीं की जाएगी कि इस प्रकार नियत या अवधारित राशि पर्याप्त नहीं है अथवा ऐसी पूरी राशि या उसका कोई भाग नकद न दिया जा कर अन्यथा दिया जाना है।"

अनुच्छेद 31(2) में एक परन्तुक भी जोड़ा गया है। परन्तुक के अनुसार अनुच्छेद 30 के खंड (1) में निर्दिष्ट किसी अल्पसंख्यक वर्ग द्वारा स्थापित और प्रशासित किसी शिक्षा संस्था की संपत्ति के अनिवार्य अर्जन के लिए ऐसी विधि के अधीन जो राशि नियत या अवधारित की जाए वह ऐसी हो जो उस खंड के अधीन प्रत्याभूत अधिकार को निर्बन्धित या निराकृत न करे।

धारा 2 द्वारा अनुच्छेद 31 में खंड (2ख) जोड़ा गया है। खंड (2ख) यह कहता है कि "अनुच्छेद 19 के खण्ड (1) के उपखण्ड (च) की कोई बात किसी ऐसी विधि पर प्रभाव नहीं डालेगी जो संशोधित खंड 31(2) में निर्दिष्ट है।

धारा 2 का जन्म अनुच्छेद 31(2) के इतिहास से हुआ है। प्रारूपित संविधान का अनुच्छेद 24, अनुच्छेद 31(2) बन गया है। श्री जवाहरलाल नेहरू ने अनुच्छेद 24 10 सितम्बर, 1949 को संविधान सभा में पेश किया था। तब उन्होंने

यह कहा था कि प्रतिकर पर आपत्ति नहीं की जा सकती "सिवाय जहां यह समझा जाता है कि विधि का घोर दुरुपयोग हुआ है और जहां वास्तव में संविधान के साथ छल किया गया है(1)।" उन्होंने अनुच्छेद 24 का जो अर्थान्वयन किया था उसका समर्थन श्री अलादिकृष्णस्वामी अय्यर तथा के० एन० मुंशी ने किया था। श्री के० एन० मुंशी ने अपना व्यक्तिगत अनुभव वर्णित किया था। सन् 1948 में मुम्बई की सरकार ने बारदोली की भूमियों को अर्जित किया था। एक मामले में अर्जित की गई सम्पत्ति का मूल्य 5 लाख रुपये से अधिक था। यह असहयोग आन्दोलन के दौरान एक देशी रियासत के पुराने दीवान को 6,000 रुपये में बेच दी गई थी। उस संपत्ति से होने वाली आय लगभग 80,000 रुपये वार्षिक थी। दीवान ने लगभग 10 वर्षों तक उस आय को प्राप्त किया था। मुम्बई के विधान-मंडल ने दीवान द्वारा संपत्ति में विनिहित राशि के बराबर प्रतिकर का संदाय करते हुए तथा उसमें 6 प्रतिशत जोड़कर संपत्ति को अर्जित किया था। इस न्यायालय ने संविधान निर्माताओं के प्रकट आशय के प्रत्यक्ष विरोध में यह अभिनिर्धारित किया कि अनुच्छेद 31(2) में 'प्रतिकर' शब्द से 'पूर्ण नकद समतुल्य' अभिप्रेत है। [पश्चिमी बंगाल राज्य बनाम श्रीमती बेला बनर्जी(2)]।

संविधान निर्माताओं के आशय को प्रभावी करने के 1955 में संविधान चतुर्थ संशोधन द्वारा अनुच्छेद 31(2) संशोधित किया गया। चतुर्थ संशोधन द्वारा अनुच्छेद 31(2) में ये शब्द जोड़े गए थे कि "और ऐसी किसी विधि पर किसी न्यायालय में इस आधार पर आपत्ति नहीं की जाएगी कि विधि द्वारा उपबंधित प्रतिकर पर्याप्त नहीं है।" चतुर्थ संशोधन के प्रभाव पर इस न्यायालय ने पी० वज्रवेलु बनाम विशेष उप कलक्टर, मद्रास (3) वाले मामले में विचार किया था। न्यायाधिपति सुब्बाराव ने निम्न प्रकार कहा था—

> "यह तथ्य कि संसद ने उन्हीं अभिव्यक्तियों अर्थात् 'प्रतिकर' और 'सिद्धांत' जो कि संशोधन के पूर्व अनुच्छेद 31 में पाई जाती थीं प्रयुक्त किया है। यह स्पष्ट रूप से इस बात का द्योतक है कि इसमें इस न्यायालय द्वारा श्रीमती बेला बनर्जी वाले मामले में उन अभिव्यक्तियों को दिया गया अर्थ स्वीकार किया है। इसका अर्थ यह है कि विधानमंडल जो अर्जन या उद्ग्रहण की विधि बना रहा है वह उस प्रतिकर के ठीक समतुल्य के लिए उपबंध करेगा जिससे स्वामी को वंचित किया गया है या उस 'ठीक समतुल्य' को विनिश्चित करने के प्रयोजन के लिए सिद्धांतों को संशापित करेगा जिससे कि स्वामी वंचित किया गया है। यदि संसद् का यह आशय है कि वह विधानमंडल को इस बात के लिए समर्थ करे कि इस प्रकार परिभाषित प्रतिकर के लिए उपबंध के बिना ऐसी विधि बनाए तो इस में 'कीमत' या 'प्रतिफल' इत्यादि जैसी दूसरी अभिव्यक्तियों को प्रयोग किया गया होता (4)।"

(1) कांस्टिट्यूएण्ट असेम्बली डिबेट्स, जिल्द 9, पृष्ठ 1193.
(2) (1954) एस० सी० आर० 558.
(3) (1965) 1 एस० सी० आर० 614.
(4) पूर्वोक्त, पृष्ठ 626.

संशोधन की बाबत उन्होंने कहा था—

"अधिक युक्तियुक्त निर्वचन यह है कि न तो 'ठीक समतुल्य' विहित करने वाले सिद्धांत और न ही 'ठीक समतुल्य' को, नियत या सिद्धांतों के आधार पर निकाले गए प्रतिकर की अपर्याप्तता के आधार पर किसी न्यायालय में आपत्ति की जाएगी। इसको यदि स्पष्ट किया जाए तो यदि किसी गृह को अर्जित करने के लिए विधि बनाई जाती है तो अर्जन के समय इसके मूल्य को नियत करना होता है। मूल्यांकन की कई रीतियां हैं अर्थात् किसी अभियंता द्वारा किया गया प्राक्कलन, तुलनात्मक विक्रयों द्वारा प्रकट मूल्य, किराए के पूंजीकरण द्वारा तथा इसी प्रकार की दूसरी रीतियों द्वारा। भिन्न सिद्धांतों के लागू होने से भिन्न परिणाम निकल सकते हैं। किसी सिद्धांत को अंगीकार करने पर उच्चतर मूल्य मिलेगा और दूसरे सिद्धांतों को अंगीकार करने पर कम मूल्य मिलेगा किन्तु फिर भी ये वे सिद्धांत हैं जिनके आधार पर और जिस रीति में प्रतिकर को अवधारित किया जाता है। यह स्पष्ट है कि न्यायालय यह नहीं कह सकता कि विधि द्वारा इस सिद्धांत को अंगीकृत करना चाहिए न कि दूसरे को, क्योंकि यह केवल पर्याप्तता के प्रश्न से संबंध रखता है।"

इसके विपरीत, यदि सम्पत्ति के अर्जित किए जाने के समय या अर्जित किए जाने के समय के आस-पास किसी विधि में वे सिद्धांत अधिकथित हैं जो अर्जित सम्पत्ति से या सम्पत्ति के मूल्य से सुसंगत नहीं हैं तो यह कहा जा सकता है कि वे अनुच्छेद 31(2) द्वारा अनुज्ञात सिद्धांत नहीं हैं ([1])।

भारत संघ बनाम मेटल कारपोरेशन ([2]) वाले मामले में चतुर्थ संशोधन की विवक्षाओं के सम्बन्ध में मत व्यक्त करते हुए न्यायाधिपति सुब्बा राव ने कहा—

"न्यायोचित होने के लिए अर्जित की गई भूमि के लिए विधि में उचित समतुल्य के संदाय का उपबन्ध होना चाहिए या उसमें वे सिद्धांत अधिकथित होने चाहिएं जिनके परिणामस्वरूप वह नतीजा निकले। यदि प्रतिकर नियत किए जाने के लिए अधिकथित सिद्धांत सुसंगत हैं और मनमाने नहीं हैं तो उसके परिणाम की पर्याप्तता पर किसी न्यायालय में आक्षेप नहीं किया जा सकता। ऊपर वर्णित कसौटियों पर परखने से सिद्धांतों की विधिमान्यता न्यायिक समीक्षा के अन्तर्गत आती है और यदि वे इन कसौटियों पर खरे उतरते हैं तो उसके परिणाम की पर्याप्तता न्यायालय की अधिकारिता से परे हो जाती है।"

ये दो विनिश्चय चतुर्थ संशोधन के उद्देश्य को बेअसर कर देते हैं। गुजरात राज्य बनाम शांतिलाल मंगलदास ([3]) वाले मामले में इस न्यायालय ने मेटल कारपोरेशन

([1]) (1965) 1 एस० सी० आर० पृष्ठ 627.

([2]) (1967) 1 एस० सी० आर० 255 पृष्ठ 264-265.

([3]) (1969) 3 एस० सी० आर० 341, (1969) 3 उम० नि० प० 753.

वाले मामले को व्युत्सृत कर दिया। न्यायाधिपति शाह ने रिपोर्ट के पृष्ठ 363(1) पर यह मत व्यक्त किया—

"इस न्यायालय की दृष्टि में, प्रतिकर के अधिकार का आशय, संविधान के अनुसार उस सम्पत्ति का न्यायसंगत समतुल्य पाने का अधिकार है जिससे कि किसी व्यक्ति को वंचित किया गया हो। किन्तु न्यायसंगत समतुल्य का ठीक-ठीक अवधारण किन्हीं मान्य नियमों को लागू करके ज्ञात नहीं किया जा सकता। अतः श्रीमती बेला बनर्जी (2) और सुबोध गोपाल बोस (3) वाले मामलों में दिए गए दो विनिश्चयों से अनेक विकट समस्याएं उत्पन्न हो जाना संभव है जबकि विधानमंडल द्वारा विनिर्दिष्ट सिद्धांतों और उन सिद्धांतों को लागू करके अवधारित रकमों को वादयोग्य घोषित कर दिया गया था। "समतुल्य" शब्द को "न्यायसंगत" विशेषण से विशेषित करके जांच को और भी संविवादास्पद बना दिया गया है; और व्यावहारिक कठिनाइयों के अलावा, इस न्यायालय द्वारा घोषित विधि के कारण भी अनुच्छेद 39 में अन्तर्विष्ट राज्य नीति के निदेशक सिद्धान्तों (तत्वों) को प्रभावी करने में गम्भीर बाधाएं उत्पन्न हुई हैं।" (महत्त्व देने के लिए रेखांकित किया गया है)।

न्यायाधिपति शाह ने (4) आगे यह मत व्यक्त किया—

"यदि विधानमंडल द्वारा नियत प्रतिकर की मात्रा पर इस आधार पर न्यायालय के समक्ष आपत्ति न की जा सकती हो कि वह न्यायसंगत समतुल्य नहीं है तो प्रतिकर के अवधारण के लिए विनिर्दिष्ट सिद्धांतों पर भी इस आधार पर आपत्ति न की जा सकेगी कि उन सिद्धान्तों को लागू करके अवधारित प्रतिकर न्यायसंगत समतुल्य नहीं है।............ किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि यदि कोई प्रतिकर नियत कर दिया जाए या विनिर्दिष्ट सिद्धान्तों को लागू करके अवधारित कर दिया जाए जो भ्रामक हो या जिसको किसी भी दृष्टि से प्रतिकर न माना जा सकता हो, तो उसकी भी पुष्टि न्यायालयों को कर देनी चाहिए, क्योंकि ऐसा करना मनमानी करने का अधिकार दे देना और ऐसी युक्ति अनुज्ञात करना होगा जिससे कि सांविधानिक प्रत्याभूति विफल हो जाएगी।..... किसी अधिनियमिति पर इस आधार पर आपत्ति से कि उसमें जिन सिद्धान्तों को विनिर्दिष्ट किया गया है, उनके अनुसार न्यायसंगत समतुल्य अधिनिर्णित नहीं होता है, इस सांविधानिक घोषणा का स्पष्टतः अतिक्रमण होगा कि उपबन्धित प्रतिकर की अपर्याप्तता वादयोग्य नहीं है।"(4)।

(1) (1969) 3 उम० नि० प० 782.
(2) (1954) एस० सी० आर० 558.
(3) (1954) एस० सी० आर० 587.
(4) (1969) 3 उम० नि० प० 785.

शान्तिलाल मंगलदास वाले मामले([1]) से चतुर्थ संशोधन को कुछ शक्ति प्राप्त हुई। वज्रवेलू और मेटल कारपोरेशन वाले मामलों में उक्त संशोधन की शक्ति कम कर दी गई थी, किन्तु उसके शीघ्र बाद ही आर० सी० कूपर बनाम भारत संघ ([2]) वाले मामले में बहुमत निर्णय प्रकाश में आया। इस मामले के द्वारा शान्तिलाल मंगलदास वाला मामला सारतः उलट दिया गया और पुरानी स्थिति फिर से कायम हो गई। इससे भी अधिक यह हुआ कि इस मामले के द्वारा सम्पत्ति के विधिमान्य अर्जन के लिए अनुच्छेद 19 (1) (च) की कसौटी जोड़ दी गई। न्यायालय के इन विनिश्चयों के कारण संसद् पर पच्चीसवें संशोधन की धारा 2 अधिनियमित करने पर अवरोध लग गया।

इस इतिहास को ध्यान में रखते हुए अनुच्छेद 31 (2) में प्रतिकर की विचारधारा ले आना उचित नहीं होगा। धारा 2 द्वारा 'प्रतिकर' शब्द के स्थान पर अनुच्छेद 31 (2) में प्रत्येक सुसंगत स्थान पर 'राशि' शब्द रखा गया है। न्यायालय को पुराने अनुच्छेद 31 (2) द्वारा अन्तर्विष्ट विचारों या उससे प्रेरित विचारों को प्रविष्ट करके उसके प्रवर्तन को कम या बेअसर नहीं करना चाहिए। धारा 2 के शब्द अनुच्छेद 31(2) को निराकृत करने के लिए आशयित हैं और वे निराकृत करते भी हैं।

वेबस्टर की डिक्शनरी ऑन सिनानिम्स (प्रथम संस्करण पृष्ठ 47) के अनुसार 'राशि' शब्द से अभिप्रेत है 'रकम', योग, परिमाण, संख्या योग, सम्पूर्ण। शॉर्टर आक्सफोर्ड इंगलिश डिक्शनरी के अनुसार 'सिद्धान्त' शब्द से अभिप्रेत है वह जिससे कोई वस्तु उद्भूत होती है, शुरू होती है या व्युत्पन्न होती है। इसी शब्दकोष के अनुसार 'पर्याप्त' शब्द से अभिप्रेत है परिमाण या मात्रा में बराबर, उपयुक्तता में समानुपातिक, पर्याप्त, उचित। वर्डस एण्ड फ्रेजेज (परमानेण्ट संस्करण, जिल्द 2, पृष्ठ 363) के अनुसार 'पर्याप्त' शब्द से कभी-कभी अभिप्रेत होता है वह जो मूल्य के बराबर हो किन्तु अपना प्राथमिक और अधिक उपयुक्त महत्त्व के अनुसार किसी भी ऐसी चीज को पर्याप्त नहीं कहा जा सकता है जो मामले या अवसर के अनुसार ... के अनुसार उपयुक्त न हो, पूर्ण रूप से पर्याप्त, समानुपातिक, और संतोषजनक न हो।

'प्रतिकर' शब्द के विपरीत 'राशि' शब्द कला का शब्द नहीं है। इसका कोई विशिष्ट विधिक अर्थ नहीं है। विधि द्वारा नियत राशि या विधि द्वारा विनिर्दिष्ट सिद्धान्तों के अनुसार अवधारित राशि भागतः नकदी में और भागतः वस्तु रूप में संदत्त की जा सकती है। ऐसी दशा में नकद और दी गई वस्तु का कुल मूल्य निकालना अक्सर कठिन होगा। पुनः, राशि ऐसी रीति से संदत्त की जा सकती है जो विधि में विनिर्दिष्ट हो। इस प्रकार बहुत लम्बी अवधि में रकम के संदत्त किए जाने का उपबन्ध विधि द्वारा किया जा सकता है। अब अनुच्छेद 19 (च) का अनुच्छेद 31 (2) पर कोई प्रभाव नहीं रहेगा। इन सब परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए, मेरा विचार है कि धारा 2 द्वारा यथा संशोधित अनुच्छेद 31(2) में युक्तियुक्तता की विचारधारा ले आना अनुज्ञेय नहीं है। पुरानी धारा 31(2) में "उन सिद्धान्तों और रीति का उल्लेख है जिनमें प्रतिकर निर्धारित होना है और दिया जाना है" इन शब्दों के स्थान पर अब

([1]) (1969) 3 एस० सी० आर० पृष्ठ 365–366.

([2]) (1970) 3 एस० सी० आर० 530.

"ऐसी राशि के बदले जो उस विधि द्वारा नियत की जाए और ऐसी रीति से दी जाए जो उस विधि में विनिर्दिष्ट हो" शब्द या वाक्यांश प्रतिस्थापित किए गए हैं। चूंकि 'प्रतिकर' शब्द पूर्ववर्ती वाक्यांश में था, अतः न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि सिद्धान्त 'प्रतिकर' से सुसंगत होना चाहिए, अर्थात् वे अर्जित सम्पत्ति के "उचित सममूल्य' से सुसंगत होना चाहिए। यह वाक्यांश अब अनुच्छेद 31(2) में नहीं है।" प्रतिकर से सिद्धान्तों की सुसंगतता के विचार को अब धारा 2 द्वारा निकाल दिया गया है। यह स्पष्ट है कि जहां विधि द्वारा राशि नियत की जाती है, तब उस पर इस आधार पर किसी भी न्यायालय में आक्षेप नहीं किया जा सकता कि यह पर्याप्त नहीं है, अर्थात् अर्जित या अधिगृहीत सम्पत्ति के मूल्य के बराबर नहीं है। विधायी विकल्प निश्चायक है। तदनुसार यह निष्कर्ष निकलेगा कि विधि में विनिर्दिष्ट सिद्धान्तों द्वारा अवधारित राशि पर भी न्यायालय में इसी प्रकार आक्षेप नहीं किया जा सकता।

अनुच्छेद 31(2) में हाल ही में जोड़ा गया परन्तुक इस अर्थान्वयन की पुष्टि करने वाला प्रतीत होता है। परन्तुक के अनुसार किसी शिक्षा संस्था को जिसे अनुच्छेद 30 के खण्ड (1) का संरक्षण प्राप्त हो, किसी सम्पत्ति के अनिवार्य रूप से अर्जन का उपबन्ध करने वाली विधि द्वारा यह सुनिश्चित किया जाना चाहिए कि उसके द्वारा या अधीन नियत या अवधारित की गई राशि उस खण्ड द्वारा गारण्टी किए गए अधिकार को निर्बन्धित या निराकृत न करे। अब परन्तुक का उद्देश्य ऐसी किसी चीज को निकाल देना है जो परन्तुक के मुख्य भाग में अन्तर्विष्ट है। अतः संशोधित अनुच्छेद 31(2) के मुख्य भाग के अधीन संदेय रकम ऐसी हो सकती है जो सभी के सम्पत्ति के अधिकार को निराकृत करती हो। तदनुसार संशोधित अनुच्छेद 31 (2) में 'मनमानी राशि' या 'अवास्तविक राशि' या 'कपटपूर्ण राशि' का आशय व्यक्त करना अनुज्ञेय नहीं है। चूंकि कुछ राशि संदत्त की ही जानी चाहिए अतः विधि वस्तुतः अधिहरणात्मक हो सकती है किन्तु वह शाब्दिक तौर पर अधिहरणात्मक नहीं हो सकती। स्थिति अब संविदा अधिनियम की धारा 25 में वर्णित विधिक स्थिति के समान ही है। उस उपबन्ध के अधीन संविदा करने वाले पक्षकारों द्वारा प्रतिफल की पर्याप्तता के सम्बन्ध में की गई बातचीत पर न्यायालय में आक्षेप नहीं किया जा सकता। बहुत कम फायदा या अहित पर्याप्त है। तथापि धारा 25 और अनुच्छेद 31(2) में यही अन्तर है। जबकि संविदा करने वाले पक्षकारों द्वारा प्रतिफल तय किया जाता है, सम्पत्ति के अर्जन या अधिग्रहण के लिए संदेय राशि का अवधारण विधानमण्डल द्वारा किया जाता है। पूर्ववर्ती के समान पश्चात्वर्ती पर भी न्यायालय में आक्षेप नहीं किया जा सकता।

अनुच्छेद 31(2), अनुच्छेद 31क, 31ख और 31ग से प्रभेदनीय है। अनुच्छेद 31(2) द्वारा संरक्षित किसी विधि के अधीन कुछ राशि संदेय है जब कि अनुच्छेद 31क, 31ख और 31ग द्वारा संरक्षित किसी विधि के अधीन कोई भी राशि संदत्त नहीं की जा सकती। पूर्ववर्ती वस्तुतः अधिहरणात्मक हो सकती है और पश्चात्वर्ती पूर्णतः अधिहरणात्मक हो सकती है। विधि द्वारा नियत राशि या ऐसी किसी विधि के सिद्धान्तों के अनुसार अवधारित राशि अब वादयोग्य नहीं है भले ही वह प्रतिकर के माप द्वारा 'मनमानी राशि' या 'अवास्तविक राशि' या 'कपटपूर्ण राशि' प्रतीत हो। न्यायिक संवीक्षा समाप्त कर देने से यह विवक्षित नहीं है कि विधानमण्डल सनक के अनुसार काम करेगा। अर्जित या अधिगृहीत की गई सम्पत्ति का मूल्य अर्जित या अधिगृहीत सम्पत्ति का स्वरूप और वे परिस्थितियां जिनमें सम्पत्ति अर्जित या अधिगृहीत की जा रही है और अर्जन

या अधिग्रहण का उद्देश्य राशि अवधारित करने में विधानमण्डल के लिए पथ-प्रदर्शक सिद्धान्त होंगे। अन्य बातों के साथ दूसरे सिद्धान्त में सम्पत्ति के स्वामी द्वारा पहले ही प्राप्त की गई आय पर भी विचार किया जा सकता है और ब्याज की कम दर पर दिए गए लोक ऋणों पर राज्य द्वारा सस्ती दर पर ऊर्जा और कच्चे माल का प्रदाय सहायकियों और विभिन्न प्रकार के संरक्षण आदि पर सम्पत्ति के मूल्य हेतु सामाजिक अभिदाय के तौर पर भी विचार किया जा सकता है। यह ध्यान रखना चाहिए कि सम्पत्ति का मूल्य स्वामी के श्रम और सामाजिक अभिदाय का परिणाम है। स्वामी को समाज द्वारा अभिदत्त मूल्य के लिए कोई राशि प्राप्त नहीं करनी चाहिए। वह अपने स्वयं के अभिदाय के संदाय का हकदार है। तीसरे सिद्धान्त में सामाजिक न्याय का तत्व आएगा। मैंने अनुच्छेद 31(2) का जैसा निर्वचन किया है उसके अनुसार यह कहना गलत है कि राशि का अवधारण करने में विधानमण्डल मनमानी तौर पर कार्य करेंगे। संशोधित अनुच्छेद 31(2) से अनुच्छेद 14 का वर्जन समाप्त नहीं होता है। यदि सम्पत्ति के स्वामी को संदत्त की गई राशि अनुच्छेद 14 के सिद्धान्तों के उल्लंघन में है तो अब भी वह विधि अभिखण्डित की जा सकती है। यद्यपि संशोधित अनुच्छेद 31(2) का जिस प्रकार मैंने अर्थान्वयन किया है उससे सम्पत्ति का अधिकार निराकृत हो जाएगा, किन्तु वह संविधानिक है क्योंकि वह चौबीसवें संशोधन के, जिसे मैंने सांविधानिक अभिनिर्धारित कर दिया है, व्याप्ति-क्षेत्र के अन्दर आता है।

पच्चीसवें संशोधन की धारा 3

धारा 3 द्वारा संविधान के भाग 3 में अनुच्छेद 31ग जोड़ा गया है। वह इस प्रकार है—

> "31ग. अनुच्छेद 13 में किसी बात के होते हुए भी, कोई विधि, जो अनुच्छेद 39 के खंड (ख) या खंड (ग) में उल्लिखित तत्वों को सुनिश्चित करने के लिए राज्य की नीति को प्रभावी करने वाली हो, इस आधार पर शून्य न समझी जाएगी कि वह अनुच्छेद 14, अनुच्छेद 19 या अनुच्छेद 31 द्वारा प्रदत्त अधिकारों में से किसी से असंगत है अथवा उसे छीनती या न्यून करती है; और जिस विधि में यह घोषणा हो कि वह ऐसी नीति को प्रभावी करने के लिए है, उस पर किसी न्यायालय में इस आधार पर आपत्ति नहीं की जाएगी कि वह ऐसी नीति को प्रभावी नहीं करती :
>
> परन्तु जहां ऐसी विधि किसी राज्य के विधानमंडल द्वारा बनाई जाए वहां इस अनुच्छेद के उपबंध उसे तब तक लागू न होंगे जब तक कि ऐसी विधि को, राष्ट्रपति के विचार के लिए रक्षित किए जाने के पश्चात्, उसकी अनुमति न मिल गई हो।"

धारा 2 के समान धारा 3 चौबीसवें संशोधन द्वारा यथा संशोधित अनुच्छेद 368 के अधीन बनाई गई है। अनुच्छेद 31ग के उपबन्ध संशोधित अनुच्छेद 368 के व्याप्ति-क्षेत्र के अन्तर्गत आते हैं और उसकी विधिमान्यता पर भी आक्षेप नहीं किया जा सकता। श्री पालखीवाला ने यह बताया कि विधायी निकाय के तौर पर राज्य विधानमण्डल और संसद् को अनुच्छेद 14, 19 और 31 द्वारा प्रदत्त अधिकारों का उल्लंघन करते हुए विधि बनाने के लिए अनुच्छेद 31ग के अधीन प्राधिकृत किया गया है और वास्तव में वह अनुच्छेद उन अनुच्छेदों में संशोधन करने की शक्ति प्रत्यायोजित करती है। विशेष रूप से दलील यह है कि संसद ने संविधायी शक्ति के तौर पर संसद् और राज्य विधानमण्डलों को संविधायी शक्ति प्रत्यायोजित कर दी है।

इस बात पर भी जोर दिया गया कि धारा 3 का दूसरा भाग उन विधियों को जो अनुच्छेद 14, 19 और 31 का उल्लंघन करती है, और जिनका अनुच्छेद 39 (ख) और (ग) में विनिर्दिष्ट सिद्धान्तों से कोई सम्बन्ध नहीं है, संरक्षण देने की आत्यन्तिक शक्ति विधानमण्डलों को देता है।

यदि किसी विधि में यह घोषणा अन्तर्विष्ट है कि वह अनुच्छेद 39(ख) और (ग) में विनिर्दिष्ट नीति प्रभावी करती है और अनुच्छेद 31ग द्वारा संरक्षित विधि अनुच्छेद 39(ख) और(ग) से सुसंगत है, तो उक्त धारा के दूसरे भाग के अनुसार कोई भी न्यायालय इस बात की जांच नहीं कर सकता। यह बात भले ही कितनी भी उद्वेगकारी प्रतीत हो किन्तु यह कोई नई बात नहीं है इससे बहुत अधिक मिलते-जुलते बहुत से अनुच्छेद हैं। अनुच्छेद 77(2) में उपबन्धित है कि इस अनुच्छेद में उपबन्धित तौर पर प्रमाणीकृत आदेश या लिखत की मान्यता पर आपत्ति इस आधार पर नहीं की जाएगी कि वह राष्ट्रपति द्वारा दिया गया या निष्पादित आदेश या लिखत नहीं है। ऐसा ही उपबन्ध राज्यपाल के सम्बन्ध में अनुच्छेद 166(2) में किया गया है। अनुच्छेद 103(1) में उपबन्धित है कि यदि कोई प्रश्न उठता है कि संसद् के किसी सदन का सदस्य अनुच्छेद 102 के खण्ड (1) में वर्णित अनर्हताओं का भागी हो गया है या नहीं तो वह प्रश्न राष्ट्रपति के विनिश्चय के लिए सौंपा जाएगा तथा उसका विनिश्चय अन्तिम होगा। उपबन्ध राज्य विधानमण्डल के सदस्यों की बाबत राज्यपाल के विनिश्चय के सम्बन्ध में ऐसा ही एक उपबंध अनुच्छेद 192(1) में है। अनुच्छेद 311(2) ऐसे कर्मचारी को जिसे पदच्युत करने या हटाने या पंक्तिच्युत करने की कार्यवाही की जानी है, सुनवाई का अधिकार देता है। इस अनुच्छेद के परन्तुक के खण्ड (ख) में अधिनियमित है कि जहां नियुक्ति करने वाले प्राधिकारी का यह समाधान हो जाता है कि किसी कारण से युक्तियुक्त रूप से ऐसी जांच करना व्यवहार्य नहीं है, वहां सुनवाई का अवसर देने की पूर्वापेक्षा का त्याग किया जा सकता है। अनुच्छेद 311 के खण्ड (3) में यह और अधिनियमित है कि यदि कोई प्रश्न पैदा होता है कि क्या जांच कराना युक्तियुक्त: व्यवहार्य है, वहां उस प्राधिकारी का विनिश्चय उस पर अन्तिम होगा। अनुच्छेद 329(क) में अधिनियमित है कि इस संविधान में किसी बात के होते हुए भी, अनुच्छेद 327 या अनुच्छेद 328 के अधीन निर्मित या निर्मातुमभिप्रेत किसी विधि की, जो निर्वाचन-क्षेत्रों के परिसीमन या ऐसे निर्वाचन क्षेत्रों के स्थानों के बांटने से सम्बद्ध है, मान्यता पर किसी न्यायालय में आपत्ति नहीं की जाएगी। इन अनुच्छेदों के समान ही, धारा (3) के द्वितीय भाग द्वारा सीमित विस्तार तक न्यायिक पुनर्विलोकन अपवर्जित किया गया है।

अनुच्छेद 31ग का मुख्य भाग दो भागों में बंटा हुआ है। पहले भाग में उपबन्धित है कि कोई विधि, जो अनुच्छेद 39 के खण्ड (ख) या खण्ड (ग) में उल्लिखित तत्वों का सुनिश्चित करने के लिए राज्य की नीति को प्रभावी करने वाली हो, इस आधार पर शून्य नहीं समझी जाएगी कि वह अनुच्छेद 14, अनुच्छेद 19 या अनुच्छेद 31 द्वारा प्रदत्त अधिकारों में से किसी से असंगत है अथवा उसे छीनती या न्यून करती है। पहले भाग को दो हिस्सों में बांटा जा सकता है—(क) अनुच्छेद 39 (ख) और (ग) में उल्लिखित तत्वों को (ख) सुनिश्चित करने के लिए राज्य की नीति को प्रभावी करना। पहले भाग के अधीन किसी विधि विशेष को अनुच्छेद 31ग का संरक्षण दिए जाने

के पहले न्यायालय को दो बातें देखनी चाहिए। पहली यह कि विधि अनुच्छेद 39(ख) और (ग) में उल्लिखित तत्वों से सुसंगत होनी चाहिए और दूसरी बात यह है कि विधि उन तत्वों को प्रभावी करने वाली होनी चाहिए। अनुच्छेद 39(ख) में उपबन्धित है कि राज्य इस बात को सुनिश्चित करने का प्रयत्न करेगा कि समुदाय की भौतिक सम्पत्ति का स्वामित्व और नियन्त्रण इस प्रकार बंटा हो कि जिससे सामूहिक हित का सर्वोत्तम रूप से साधन हो। अनुच्छेद 39(ग) में राज्य से यह बात सुनिश्चित करने का प्रयत्न करने के लिए जोर दिया गया है कि आर्थिक व्यवस्था इस प्रकार चले कि जिससे धन और उत्पादन-साधनों का सर्वसाधारण के लिए अहितकारी केन्द्रण न हो। यह ध्यान देने योग्य बात है कि खण्ड (ख) में 'सामूहिक हित का...साधन' और खण्ड (ग) में 'सर्वसाधारण के लिए अहितकारी' शब्दों से तथ्य के प्रश्न उद्भूत होते हैं। अब राज्य के इस प्रकार के कार्यकलापों की कल्पना की जा सकती है जिनमें अनुच्छेद 39(ख) और (ग) में उल्लिखित तत्व किसी विधि से सुसंगत हों, किन्तु न्यायालय को यह प्रतीत न हो कि वे सामूहिक हित का साधन करने के लिए हैं या सर्वसाधारण का अहित रोकने के लिए हैं। ऐसी विधि अनुच्छेद 14, 19 और 31 पर अभिभावी नहीं होगी। इस प्रकार पहले भाग द्वारा अनुच्छेद 39(ख) और (ग) में उल्लिखित तत्वों के विधि से सुसंगत होने के विधिक प्रश्न का विनिश्चय करने की शक्ति न्यायालय के पास बनी रहती है और साथ ही सर्वसाधारण के हित का साधन करने या सर्वसाधारण के अहित को रोकने की विधि की प्रभावकारिता के तथ्य की परख करने की शक्ति न्यायालय के पास बनी रहती है। वह विधि के साध्य एवम् साधनों की परख कर सकती है।

दूसरे भाग पर विचार करते समय यह ज्ञात होता है कि उसके द्वारा न्यायिक पुनर्विलोकन इस आधार पर अपवर्जित किया गया है कि 'विधि ऐसी नीति को प्रभावी नहीं करती'। अतः विधि पर इस आधार पर आक्षेप नहीं किया जा सकता कि विधि द्वारा अपनाए गए साधन सर्वसाधारण के हित को रोकने के लिए पर्याप्त नहीं हैं। दूसरे शब्दों में विधि की प्रभावकारिता पर्याप्त मात्रा ही अनिर्णेय (नान-जस्टिसिएबल) बनाई गई है। न्यायालय को अब भी इस बात का अवधारण करने की शक्ति है कि क्या विधि समुदाय की भौतिक सम्पत्ति के स्वामित्व और नियन्त्रण से और आर्थिक व्यवस्था के इस प्रकार चलाने से, जिससे धन और उत्पादन साधनों का केन्द्रण न हो सके, सुसंगत है। यदि न्यायालय इस निष्कर्ष पर पहुंचता है कि विधि सुसंगत नहीं है तो यदि ऐसी विधि अनुच्छेद 14, 19 और 31 के उपबन्धों का अतिवर्तन करती है, तो न्यायालय ऐसी विधि को शून्य घोषित कर देगा।

अपेक्षित घोषणा अन्तर्विष्ट करने वाली विधि में सम्मिलित उपबन्ध की, जो सुसंगत न हो, ऊपर चर्चा किए गए अनुसार, स्थिति किसी प्रकार से भी अच्छी नहीं है। यदि वह अनुच्छेद 14, 19 और 31 का अतिवर्तन करता है तो वह शून्य होगा जब तक कि वह ऐसे किसी उपबन्ध का अधीनस्थ, आनुषंगिक या प्रासंगिक न हो जो सुसंगत हो या जो ऐसे उपबन्ध की स्कीम के अभिन्न भाग का अंग न हो।

संशोधन शक्ति का प्रत्यायोजन

अब यथा संशोधित अनुच्छेद 368(2) में उपबन्धित है कि विहित प्रक्रिया द्वारा केवल संसद् ही संविधान संशोधित कर सकती है। यह कहा गया है कि संसद्

किसी बाहरी प्राधिकरण को संविधायी शक्ति प्रत्यायोजित नहीं कर सकती। इस प्रश्न का विनिश्चय करना जरूरी नहीं है। यह मान लें कि संसद् संविधायी शक्ति का प्रत्यायोजन न करे, तब भी यह प्रश्न बना रहता है कि क्या अनुच्छेद 31ग विधायी निकाय के तौर पर राज्य विधानमण्डलों और संसद् को संविधान के किसी भी भाग को संशोधित करने के लिए प्राधिकृत करता है।

अनुच्छेद 39 (ख) और (ग) में विनिर्दिष्ट सिद्धान्तों के सम्बन्ध में संसद् और राज्य विधानमण्डलों की विधि बनाने की शक्ति सप्तम अनुसूची की सूची 1, 2 और 3 के साथ पठित अनुच्छेद 246 से व्युत्पन्न होती है। तथापि उनकी विधायी शक्ति आत्यन्तिक नहीं है वह अनुच्छेद 14, 19 और 31 सहित विभिन्न मूल अधिकारों द्वारा निर्बन्धित है। क्योंकि अनुच्छेद 13(2) में विधानमण्डलों को ऐसी विधि बनाने से अभिव्यक्त रूप से प्रतिषिद्ध किया गया है जो उन अधिकारों का उल्लंघन करता हो।

अनुच्छेद 31ग से क्या करने का प्रयास किया गया है ? पहली बात यह है कि अनुच्छेद 31ग में अन्तर्विष्ट विफलीकारक खण्ड, अनुच्छेद 39(ख) और (ग) में अन्तर्विष्ट विशिष्ट सिद्धान्तों की बाबत विधि बनाने के विरुद्ध अनुच्छेद 13 (2) द्वारा लगाए गए वर्जन को हटाता है। तथापि यह वर्जन सभी मूल अधिकारों के सम्बन्ध में नहीं हटाया गया है। यह केवल अनुच्छेद 14, 19 और 31 में अन्तर्विष्ट अधिकारों की बाबत हटाया गया है। दूसरी बात यह है कि अनुच्छेद 14, 19 और 31, अनुच्छेद 39(ख) और (ग) में विनिर्दिष्ट सिद्धान्तों के अलावा अन्य सभी बातों के सम्बन्ध में विधि बनाने के विरुद्ध वर्जन के तौर पर प्रवृत्त बने रहते हैं। जहां तक अनुच्छेद 39 (ख) और (ग) में विनिर्दिष्ट सिद्धान्तों से सुसंगतता का प्रश्न है, वे उन विधियों की बाबत भागतः फीके पड़ जाते हैं। अनुच्छेद 31ग का यही असली स्वरूप और प्रकृति है। हमें उस बात से मार्गदर्शन प्राप्त करना चाहिए जो वास्तव में उसके द्वारा कही जाती है न कि इस बात से कि वह किस प्रकार दिखाई देती है या उसका प्रभाव क्या होता है और उसके शब्दों के आवरण से क्या अर्थ ज्ञात होता है। इस दृष्टि से देखने पर अनुच्छेद 31ग अनुच्छेद 14, 19 और 31 के व्यावृत्ति खण्ड के स्वरूप का है। इनमें से प्रत्येक अनुच्छेद के अन्त में रखे जाने की बजाय प्रारूपण, लालित्य और प्रमितता की दृष्टि से यह संविधान में रखा गया है। व्यावृत्ति खण्ड के तौर पर, अनुच्छेद 31ग अनुच्छेद 14, 19 और 31 द्वारा नष्ट किए जाने से कतिपय विधियों को बचाता है।

यह प्रभाव अनुच्छेद 31ग में अभिव्यक्त संविधायी शक्ति के कारण से न कि उन विधियों से जो उसका संरक्षण प्राप्त करने का दावा करती हैं, प्रत्यक्षतः और तत्काल लाया गया है। वे विधियां अनुच्छेद 14, 19 और '31 में के अधिकारों को अभिव्यक्ततः या विवक्षित रूप से न तो छीनती हैं और न न्यून करती हैं। ऐसा प्रभाव अनुच्छेद 31ग के जरिये स्वतः संविधायी शक्ति द्वारा ही अस्तित्व में लाया गया है। अतः कोई संविधायी शक्ति प्रत्यायोजित नहीं की गई है। हरि शंकर बागला

बनाम मध्य प्रदेश राज्य [1] वाले मामले में इस न्यायालय ने विधायी शक्ति के प्रत्यायोजन के प्रश्न पर विचार किया। इसेन्शल सप्लाईज (टेम्परेरी पॉवर्स) ऐक्ट, 1946 की धारा 3 द्वारा केन्द्रीय सरकार किसी भी अत्यावश्यक वस्तु के प्रदाय के कायम रखने या बढ़ाने का आदेश करने के लिए या उचित मूल्य पर उसका साम्यिक वितरण और उसकी उपलभ्यता सुनिश्चित करने के लिए और उसके उत्पादन, प्रदाय और वितरण का नियमन करने या उसे प्रतिषिद्ध करने और उसमें व्यापार और वाणिज्य करने के लिए समर्थ बनाई गई थी। धारा 6 में उपबन्ध किया गया है कि धारा 3 के अधीन किया गया कोई भी आदेश, इस अधिनियम से असंगत अन्य किसी अधिनियमिति में या किसी लिखित में, अन्तर्विष्ट असंगत किसी बात के होते हुए भी प्रभावी होगा। उच्च न्यायालय के समक्ष यह दलील दी गई कि धारा 6 ने केन्द्रीय सरकार को विधायी शक्ति प्रत्यायोजित कर दी है क्योंकि धारा 3 के अधीन किए गए आदेश का प्रभाव किसी विद्यमान विधि को निरसित करने का है। न्यायालय ने यह मत व्यक्त किया—

> "निश्चित ही धारा 6 का प्रभाव उन विधियों में से किसी विधि को निरसित करने या उन्हें निराकृत करने का नहीं है। उसका उद्देश्य उन्हें केवल वहां नजरअन्दाज करना है जहां वे इसेन्शल सप्लाईज (टेम्परेरी पॉवर्स) ऐक्ट, 1946 या उसके अधीन किए गए आदेशों के उपबन्धों से असंगत हैं। दूसरे शब्दों में टैक्सटाइल कण्ट्रोल आर्डर के अन्तर्गत आने वाली अत्यावश्यक वस्तु के सम्बन्ध में धारा 3 के अधीन किया गया आदेश प्रवृत्त रहेगा और जब कभी यह आदेश विद्यमान विधियों के विरुद्ध हो तब उस विस्तार तक उन वस्तुओं की बाबत विद्यमान विधियां प्रवृत्त नहीं होंगी। किसी विधि को नजरअन्दाज करना आवश्यक रूप से उस विधि के निरसन या निराकरण की कोटि का नहीं होता। वह विधि अनिरसित बनी रहती है किन्तु धारा 3 के अधीन किए गए आदेश के चालू रहने के दौरान वह उस क्षेत्र में तत्समय प्रवृत्त नहीं रहती। उसके उपबन्धों में से किसी को निरसित किए बिना उसके प्रवृत्त होने के व्याप्ति-क्षेत्र को सीमित ही कर दिया जाता है। बहस के लिए यदि इस बात को मान भी लें कि धारा 3 के अधीन किए गए आदेश और किसी विद्यमान विधि के उपबंधों के बीच असंगतता के विस्तार तक.......विवक्षा द्वारा विद्यमान विधि निरसित हो जाती है, तो हमें ऐसा प्रतीत होता है कि निरसन प्रत्यायोजिती के किसी कार्य के कारण नहीं हुआ है किन्तु निरसन स्वतः संसद् के विधायी कार्य के कारण हुआ है। धारा 6 अधिनियमित करके स्वतः संसद् ने यह घोषित किया है कि धारा 3 के अधीन किया गया आदेश, इस अधिनियम से अन्य किसी अधिनियमिति में इस आदेश से किसी असंगति के बावजूद प्रभावी होगा। यह घोषणा प्रत्यायोजिती द्वारा नहीं की गई है किन्तु स्वतः विधानमण्डल ने ही धारा 6 में अपनी इच्छा घोषित की है।

[1] (1955) 1 एस० सी० आर० 380.

निराकरण या विवक्षित निरसन धारा 6 में अन्तर्विष्ट विधायी घोषणा के बल पर हुआ है न कि धारा 3 के अधीन प्रत्यायोजिती द्वारा किए गए आदेश के बल पर। प्रत्यायोजिती की शक्ति धारा 3 के अधीन केवल आदेश करने की है। जब एक बार प्रत्यायोजिती वह आदेश कर देता है तो उसकी शक्ति निश्शेष हो जाती है। धारा 6 वहां लागू हो जाती है जहां इस अधिनियम से अन्य किसी अधिनियमिति में अन्तर्विष्ट किसी असंगति के होते हुए भी संसद् यह घोषित कर देती है कि जैसे ही ऐसा आदेश अस्तित्व में आएगा, वह प्रभावी हो जाएगा ...... धारा 6 के उपबंधों में कोई प्रत्यायोजन बिल्कुल भी अन्तर्वलित नहीं है।"(1)

ये सम्प्रेक्षण अनुच्छेद 31ग के उपबन्धों को पूर्ण रूप से लागू होते हैं तदनुसार मैं यह अभिनिर्धारित करता हूं कि संविधायी शक्ति का प्रत्यायोजन नहीं किया गया है।

चूंकि अनुच्छेद 31ग के संरक्षण का दावा करने वाली विधियों द्वारा अनुच्छेद 14, 19 और 31 में संशोधन नहीं हो जाते हैं, अतः यह आवश्यक नहीं है कि वे अनुच्छेद 368 में विहित प्रक्रिया में से गुजरें।

अनुच्छेद 39ख में आए "बंटा हो" शब्द का अर्थ

श्री पालकीवाला ने यह दलील दी कि अनुच्छेद 39ख में आए "बंटा हो" शब्दों से सम्पत्ति का राष्ट्रीयकरण अनुज्ञात नहीं है। किन्तु यह प्रश्न इस प्रक्रम में प्रत्यक्षतः नहीं उठता है। इस विषय पर उस समय गम्भीरता से विचार किया जाएगा जब अनुच्छेद 31ग द्वारा दिए गए संरक्षण का दावा करने वाले विभिन्न अधिनियमों की सांविधानिकता की इस न्यायालय द्वारा परीक्षा की जाएगी। तदनुसार मैं "बंटा हो" शब्दों के अर्थ की बाबत कोई अन्तिम मत व्यक्त नहीं करूंगा। इस प्रक्रम में कुछ पहलुओं के प्रति संक्षेप में निर्देश कर देना ही पर्याप्त होगा। राज्य जनता का प्रतिनिधि और न्यासी है। राष्ट्रीयकृत सम्पत्ति राज्य में निहित हो जाती है। यह कहा जा सकता है कि राज्य के जरिये सम्पूर्ण जनता सामूहिक रूप से सम्पत्ति की स्वामी बन जाती है। यह कहा जा सकता है कि इस प्रकार राष्ट्रीयकृत सम्पत्ति का स्वामित्व राज्य द्वारा प्रतिनिधित्व की गई जनता के बीच बंट जाता है (देखें ऐसेज इन फेबियन सोशलिज्म कान्सटेबल एण्ड कम्पनी लिमिटेड, 1949 का संस्करण, पृष्ठ 40 ; सी० ई० एम० जोड, इन्ट्रोडक्शन टु माडर्न पोलीटिकल थीयरि, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1959, पृष्ठ 49-50 ; डब्ल्यू० ए० रोबसन, नेशनलाइज्ड इण्डस्ट्री एण्ड पब्लिक ओनरशिप, जार्ज ऐलन एण्ड लेनविन लिमिटेड, 1960, पृष्ठ 461, 462, 476, 477 और 485)।

प्रारूप अनुच्छेद 31 (ii), अनुच्छेद 39ख बना दिया गया। प्रो० के० टी० शाह ने प्रारूप अनुच्छेद की बाबत इस प्रभाव का एक संशोधन पेश किया : "खानों

(1) 1955 1, एस० सी० आर० 380, 391-392.

और खनिजों, धन, वन, नदियों और बहते पानी एवम् देश के समुद्री किनारे के पास बहने वाले समुद्र जैसे प्राकृतिक स्रोतों का स्वामित्व, नियन्त्रण और प्रबन्ध सामूहिक रूप से देश में निहित होगा और जैसा कि प्रत्येक मामलों में संसद् के अधिनियम द्वारा उपबन्ध किया जाए। केन्द्रीय या प्रांतीय सरकारों या स्थानीय प्राशासी प्राधिकरण या कानूनी निगम द्वारा प्रतिनिधित्व किए गए राज्य द्वारा उनका विदोहन और विकास समुदाय की ओर से किया जाएगा। [1]

प्रो० के० टी० शाह को उत्तर देते हुए डाक्टर बी० आर० अम्बेदकर ने कहा—

"उनके अन्य संशोधन के बारे में अर्थात् अनुच्छेद 31 के उप-खण्ड (ii) के लिए उनके खण्ड के प्रतिस्थापन की बाबत मैं जो कुछ कहना चाहता हूं वह यह है कि मैं प्रो० शाह के संशोधन पर विचार करने के लिए पूर्णरूप से सहमत हो गया होता यदि वे यह दर्शा देते कि वे अपने खण्ड को प्रतिस्थापित करके जो कुछ करना चाहते थे वह वर्तमान में जो भाषा है, उसके अनुसार किया जाना सम्भव नहीं है। जहां तक मैं सोच-विचार कर सका हूं मेरा विचार है कि जो भाषा प्रारूप में प्रयुक्त की गई है वह बहुत अधिक विस्तृत भाषा है जिसके अन्तर्गत वे प्रस्थापनाएं भी आ जाती हैं जो प्रो० शाह ने पेश की हैं और इसलिए मुझे इसकी कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती [2]।

डा० अम्बेदकर के मतानुसार अनुच्छेद 39(ख) में आए "बंटा हो" शब्दों के अन्तर्गत सम्पत्ति का राष्ट्रीयकरण भी आता है।

उन्तीसवां संशोधन

इस संशोधन द्वारा नवम अनुसूची में केरल लैंड रिफार्म्स (अमेण्डमेण्ट) ऐक्ट, 1969 (1969 का केरल ऐक्ट संख्या 35) और केरल लैंड रिफार्म्स (अमेण्डमेण्ट) ऐक्ट, 1971 (1971 का केरल ऐक्ट संख्या 25) जोड़ा गया है। नवम अनुसूची में इन अधिनियमों के सम्मिलित किए जाने का प्रभाव यह है कि इन अधिनियमों को अनुच्छेद 31ख का संरक्षण प्राप्त हो जाता है। श्री पालकीवाला ने दो प्रकार की दलील दी। उनकी पहली दलील यह है कि अनुच्छेद 31ख, अनुच्छेद 31क से जटिल और अभिन्न रूप से जुड़ा हुआ है और तदनुसार कोई विधि जो नवम अनुसूची में सम्मिलित है, कृषि सुधारों से सम्बन्धित होनी चाहिए। अनुच्छेद 31क का यही उद्देश्य है। यदि नवम अनुसूची में सम्मिलित विधि कृषि सुधारों से सम्बन्धित नहीं है तो वह अनुच्छेद 14, 19 और 31 की उपेक्षा नहीं कर सकती। इस दलील को स्वीकार करना सम्भव नहीं है। बिहार राज्य बनाम महाराजाधिराज सर कामेश्वर सिंह [3] वाले मामले में मुख्य न्यायाधिपति पातञ्जली शास्त्री ने अनुच्छेद 31ख के इस सीमित अर्थ को नामंजूर कर दिया। विद्वान् मुख्य न्यायाधिपति ने यह मत व्यक्त किया —

"अनुच्छेद 31ख में यह दर्शाने के लिए ऐसा कुछ नहीं है कि अनुच्छेद 31क के साधारण शब्दों के लागू होने के लिए विशेष कानूनों का विशिष्ट

(1) कांस्टिट्यूएण्ट असेम्बली डिबेट्स, जिल्द 7, पृष्ठ 506.
(2) कांस्टिट्यूएण्ट असेम्बली डिबेट्स, जिल्द 7, पृष्ठ 518.
(3) (1952) एस० सी० आर० 889.

रूप से वर्णन किया जाना आशयित था । अनुच्छेद 31ख के आरम्भिक शब्दों का आशय न केवल इस बात को स्पष्ट करना है कि अनुच्छेद 31ख में किसी बात के अन्तर्विष्ट होते हुए भी अनुच्छेद 31क का लागू किया जाना निर्बन्धित नहीं किया जाना चाहिए और वे किसी भी प्रकार से अनुच्छेद 31ख पर लागू किए जाने को या समुदाय के अर्जन के लिए उसमें निर्दिष्ट अधिनियमितियों को निर्बन्धित करने के लिए प्रकल्पित नहीं हैं ।"(1)

विश्वेश्वर राव बनाम मध्य प्रदेश राज्य (2) वाले मामले में न्यायाधिपति महाजन ने यह मत व्यक्त किया—

"मेरी राय है कि यह सम्प्रेक्षण दलील का समर्थन करना तो दूर रहा, उसे रद्द कर देता है । अनुच्छेद 31क के उपबन्ध के बावजूद अनुसूची में वर्णित कुछ अधिनियमों को अनुच्छेद 31ख विशिष्ट रूप से विधिमान्य करता है और यह अनुच्छेद 31क का दृष्टांत नहीं है किन्तु उससे स्वतन्त्र है ।"

[देखिए—एन० बी० जोजीभाई बनाम सहायक कलक्टर, थाना] (3)

दूसरी दलील यह है कि दो केरल अधिनियम, जो सम्पत्ति के मूल अधिकारों को निराकृत करते हैं, शून्य हैं क्योंकि अनुच्छेद 368 में सन्निविष्ट संशोधन शक्ति उस प्रयोजन के लिए प्रयुक्त नहीं की जा सकती । चौबीसवें और पच्चीसवें संशोधनों के सम्बन्ध में मैंने इस दलील को पहले ही नामंजूर कर दिया है । अतः इस सम्बन्ध में और कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है । मैं अभिनिर्धारित करता हूं कि उन्तीसवां संशोधन विधिमान्य है ।

मैं अपने विचार संक्षेप में इस प्रकार वर्णित करता हूं—

(1) गोलक नाथ वाले मामले में बहुमत का विनिश्चय सही नहीं है और वह व्युत्सृत किया जाता है ।

(2) अनुच्छेद 368 में आया "संशोधन" शब्द इतना व्यापक है कि वह भाग 3 सहित संविधान के प्रत्येक उपबंध में फेर-फार करने, उसका निरसन करने या उसे निराकृत करने के लिए प्राधिकृत करता है ।

(3) अनुच्छेद 368 में अन्तर्विष्ट संशोधन करने की शक्ति पर कोई अन्तर्निहित और विवक्षित परिसीमाएं नहीं हैं ।

(4) चौबीसवां, पच्चीसवां और उन्तीसवां संशोधन पूर्णतः विधिमान्य है ।

(1) (1952) एस० सी० आर० 914-915.

(2) (1952) 1 एस० सी० आर० 1020, 1037.

(3) (1965) 1 एस० सी० आर० 636 पृष्ठ 648, न्या० सुब्बाराव के अनुसार ।

(5) अर्जित या अधिगृहीत सम्पत्ति के लिए अनुच्छेद 31(2) के अनुसार विधि द्वारा नियत या ऐसी विधि द्वारा विहित सिद्धान्तों के अनुसार अवधारित राशि पर किसी न्यायालय में आपत्ति नहीं की जाएगी।

(6) अनुच्छेद 31ग का अन्तिम भाग इस बात की जांच करने की न्यायालय की अधिकारिता नहीं छीनता है कि क्या आक्षेपित विधि समुदाय की भौतिक सम्पत्ति के स्वामित्व और नियंत्रण के बांटे जाने या आर्थिक व्यवस्था के चलाए जाने और धन और उत्पादन साधनों के केन्द्रण, से सुसंगत है।

न्यायाधिपति चन्द्रचूड़—

मैं अपना पृथक् निर्णय नहीं देना चाहता था किन्तु ऐसा लगता है कि मैं अब ऐसा नहीं कर सकता। इस मामले की सुनवाई के लिए हम लोग 13 न्यायाधिपति इकट्ठे बैठे थे और मेरा यह विश्वास था कि विचारों के मुक्त और स्पष्ट आदान-प्रदान के पश्चात् मैं अपने सम्मानित भ्राताओं में से किसी न किसी के मत से सहमति प्रकट कर सकूंगा। किन्तु हम आकस्मिक परिस्थितियों में घिर गए थे। काउन्सेलों ने अपने-अपने दृष्टिकोण स्पष्ट करने के लिए इतना अधिक समय ले लिया था कि हमारे पास अपने दृष्टिकोण का विषद् विवेचन करने के लिए बहुत ही कम समय रह गया था। और समय के तत्व ने एक प्रक्रम पर इतना गम्भीर आंतक उत्पन्न कर दिया था जितना कि इस मामले में उत्पन्न होने वाले विवाद्यक गम्भीर थे। यह न्यायालय शीघ्र ही विद्वान मुख्य न्यायाधिपति के सेवा-निवृत्त होने से निर्धन हो जाएगा और इसी कारण से निर्णय देने के लिए एक निर्धारित समय रेखा लग गई है। बहस के समाप्त होने के पश्चात् इतना समय नहीं रह गया था कि हम लोग आपस में निर्णयों के प्रारूपों का आदान-प्रदान कर सकते और मुझे पूरी तरह से केवल चार न्यायाधिपतियों के दृष्टिकोण जानने का लाभ प्राप्त हुआ था। मुझे अत्यधिक खेद है कि मैं विद्वान् मुख्य न्यायाधिपति और न्यायाधिपति हेगडे के मतों से इस मामले में अन्तर्वलित महत्वपूर्ण कुछ बातों पर सहमति प्रकट नहीं कर सकता। न्यायाधिपति रे और न्यायाधिपति पालेकर के दृष्टिकोण मेरे अपने दृष्टिकोण से बहुत ही मिलते-जुलते हैं किन्तु मैं अपने कारण कुछ भिन्न रूप से देना चाहूंगा। यह विचार करना दम्भपूर्ण होगा कि हम में से अधिकांश न्यायाधिपतियों ने जो कुछ भी कहा है उसके बावजूद मैं कुछ विलक्षण मत प्रकट कर सकूंगा; किन्तु इस निर्णय का यह उद्देश्य नहीं है। विचाराधीन विषय के महत्व के अनुसार यह न्यायोचित होगा कि मैं अपने व्यक्तिगत विचार प्रकट करूं और गलत राजनैतिक धारणाओं से भरपूर विषय पर दृढ़ और निष्पक्ष रूप से अपनी राय अभिव्यक्त करने का संतोष प्राप्त करूं जिससे कि किसी भय या पक्षपात के बिना अपनी स्थिति मजबूत बना सकूं।

मैं यदा-कदा इस बात का संकेत नहीं करना चाहूंगा कि विभिन्न काउन्सेलों ने हमारे समक्ष क्या-क्या कहा था क्योंकि मुझे इस बात की आशंका है कि जो कुछ कहा गया है उसे यथार्थता उद्धृत करने से निर्णय का आकार बढ़ जाएगा किन्तु उससे उसका

महत्व नहीं बढ़ेगा। लेकिन पूर्व इसके कि मेरे प्रति यह गलत धारणा बन जाए, विशेषतया जबकि मैंने पहले यह उल्लेख किया है कि काउन्सेलों ने बहुत समय ले लिया था, मैं स्पष्ट रूप से यह बता देना चाहता हूं कि विनिश्चय के लिए उत्पन्न जटिल समस्याओं के समाधान के लिए विद्वान् काउन्सेलों ने जो अपना महत्वपूर्ण अंशदान किया है उसे मैं कृतज्ञतापूर्वक स्वीकार करता हूं। श्री पालखीवाला, महाराष्ट्र के विद्वान् माहधिवक्ता और विद्वान् महासॉलिसिटर ने बहस के दौरान जो प्रतिभा, उद्यम, विद्वता और यथार्थता दिखाई है उससे अधिक उत्कृष्टता शायद कभी भी नहीं दिखाई जा सकेगी। मेरे इस निर्णय में जो कुछ भी है वह सचमुच उनका ही है यदि इसमें कुछ अच्छाई है तो उनकी बड़ाई ही की जानी चाहिए न कि मेरी।

अमरीका के संविधान के अनुच्छेद ४ के अधीन संशोधन करने की शक्ति की प्रभुता के उत्कट व्याख्याकार लेस्टर बारनहार्डट ओरफील्ड ने उस शक्ति को 'विशिष्ट' शक्ति (स्यू जेनरिस) के रूप में वर्णित किया है। मैं यह कहने के लिए उस अभिव्यक्ति का प्रयोग करूंगा कि हमारे समक्ष सम्पूर्ण विषय सचमुच 'विशिष्ट' विषय है। सब से बड़ी न्यायपीठ सब से अधिक समय के लिए उन विवाद्यकों को विनिश्चित करने के लिए बैठी जिनके बारे में यह कहा गया है कि वे न केवल इस देश के भविष्य के लिए बल्कि स्वयं प्रजातन्त्र के भविष्य के लिए बहुत ही गम्भीर विषय है। हमारे संविधान के अनुच्छेद 368 में अंतर्विष्ट संशोधन करने वाले उपबन्धों के अर्थ और प्रविषय को उचित रूप से समझने के लिए हम से यह अपेक्षा की गई थी कि हम दूर-दूर तक फैले हुए और प्रतिविरोधी सामाजिक और राजनैतिक, दार्शनिक सिद्धांतों वाले संसार के 71 देशों के संविधानों के समानान्तर खंडों पर विचार करें। अतः हमें बोलिविया, कोस्टारिका एल सेलवेडर, ग्वाटेमाला, होंडूरस, लिबिया, निकारागुआ, पैरागुआए, उरुगुआए और वेनेज्यूला जैसे नए देशों के संविधानों से परिचित कराया गया। आस्ट्रेलिया, कनाडा, सिलोन, फ्रांस, जर्मनी, आयरलैंड, स्विटजरलैंड, यू०एस०एस०आर० और यू०एस०ए० के संविधानों का उल्लेख तो कई बार किया गया। ये निर्देश उपयोगिता के मुकाबले में रोचक अधिक हैं, क्योंकि मेरा यह विश्वास है कि संशोधन करने की शक्ति की व्यापकता मापने के लिए कोई अन्तर्राष्ट्रीय मापदण्ड नहीं है।

इसके बाद हमारे समक्ष अनेक विद्वानों के लेख रखे गए थे। उनमें से कुछ विद्वानों ने अपने विश्वास इतनी कट्टरता से अभिव्यक्त किए हैं कि उन्हें कोई न्यायाधीश समझ नहीं पाता है। उनमें से कुछ ही प्रामाणिकता पर थोड़ा सा विवाद हुआ था। किन्तु मैं केवल उनका ही वर्णन करूंगा जिन्हें कई बार उद्धृत किया गया है जिससे कि यह दर्शित हो सके कि कितने भिन्न-भिन्न प्रकार के और परस्पर विरोधी मत हमारे समक्ष रखे गए थे। वे विद्वान् हैं—ग्रेनविल, आस्टिन, जेम्स ब्राइस, चार्ल्स बुरडिक, जान डब्ल्यू० बरगेस, ए० पी० कनावे, डाक्टर डी० कोनराड, थॉमस एम० कूले, एडवर्ड एस० कॉविन, एस० ए० डी० स्मिथ, डी टोक्वेविल्ले, ए० वी० डाइसी, हरमैन फाइनर, डब्ल्यू० फ्रेडमैन, कार्ल जे० फ्रेडरिक, जेम्स डब्ल्यू० गार्नर, सर आइवर जेनिंग्ज, आर्थर बेरीडेल कीथ, लियो कोहन, हारोल्ड जे० लास्की, बोरा लास्किन, ए० एच० एफ० लेफराय, विलियम एस० लिविंगस्टोन, विलियम मरबरी, सी० एम० मैक्लवैन, चार्ल्स इ० मेरियम, विलियम बी० मुनरो, लेस्टर बी० ओरफील्ड, हेनरी रोट्टसचैफर जार्ज स्किनर, जोसेफ स्टोरी, सी०एफ० स्ट्रांग, एण्ड्रे टंक, सैम्यूल पी०

व्हीवर, के० सी० व्हीवर, ह्यूग इ० विल्लीज, वैस्टल डब्ल्यू० विलोबी, बुड्रो विल्सन, डब्ल्यू० एनस्टे वाइन्स और आरनोल्ड जूरचेर।

एक ओर तो जेम्स गार्नर ('पोलटिकल साइंस एण्ड गवर्नमेण्ट') और विलियम बी० मुनरो ('दि गवर्नमेण्ट ऑफ दि यूनाइटेड स्टेट्स') जैसे लेखकों द्वारा प्रतिपादित यह मत है कि असंशोधनीय संविधान समय का सब से बड़ा अत्याचार है अथवा समय का साक्षात् अत्याचार ही है और यह कि ऐसा संविधान तो कब्रिस्तान का ही राज्य होता है। दूसरी ओर डाक्टर कोनराड ('लिमिटेशन ऑफ अमेण्डमेण्ट प्रोसीजर्स एण्ड दि कांस्टिट्यूएण्ट पावर') विलियम मरबरी ('दि लिमिटेशन्स अपॉन दि अमेण्डिंग पावर')—हार्वर्ड लॉ रिव्यू, जिल्द 33—और जार्ज स्किनर ('इण्ट्रिन्जिक लिमिटेशन्स आन दि पावर आफ कांस्टिट्यूशनल अमेण्डमेण्ट्स—मिचिगन लॉ रिव्यू, जिल्द 18') जैसे लेखकों ने उतने ही विश्वास और बल से यह मत व्यक्त किया है कि कानूनी स्कीम के भीतर संगठित कोई भी संशोधन करने वाला निकाय, चाहे मौखिक रूप से उसकी शक्ति कितनी भी असीमित क्यों न हो, अपनी संरचना के अनुसार उस कानूनी स्कीम के सांविधानिक प्राधिकार के आधारभूत मूल स्तम्भों में परिवर्तन नहीं कर सकता है; यह है कि 'संविधान-सभा राष्ट्र के ऊपर कोई दूसरी शाश्वत संविधान बनाने की शक्ति' (पोवयर कांस्टिट्यूएण्ट) खड़ी नहीं कर सकती है; यह कि भूमिका के रूप में यह सुरक्षित रूप से कहा जा सकता है कि संविधान को संशोधित करने की शक्ति के भीतर उसे नष्ट करने की शक्ति नहीं आ सकती; यह कि आधुनिक राजनीतिक संसार का सब से बड़ा प्रपंच लोक प्रसिद्ध प्रभुता का प्रपंच है—यह एक ऐसी कल्पना है जिसके आधार पर सभी तानाशाह उत्पन्न हुए और फले-फूले; और यह है कि लोगों को इस बात का डर होना चाहिए कि जो न्यायाधीश संविधान में ऐसी फायदाप्रद शक्ति, जोकि प्रत्यक्षतः उसमें नहीं है, खोजने के लिए वश्य होता है, वह किसी दूसरे मौके पर उसमें अपनी स्वतन्त्रताओं की कोई प्रत्याभूति या सभी प्रत्याभूतियां खोजने के लिए वश्य हो सकता है क्योंकि जो न्यायाधीश उदार शासक से आदेश देने के लिए राजी हो सकता है वह अपकारी शासक का समान रूप से अनुसेवी भी हो सकता है। किसी ने हंसी-मजाक में यह कहा है कि 'विधि पश्चिम से आती है और रोशनी पूर्व से' आती है। किन्तु ऐसी विचारधाराओं की उपेक्षा करने पर भी इन लेखकों के, चाहे वे कितने भी नामी क्यों न हों, परस्पर विरोधी मतों से हमारे समक्ष संविवाद समाप्त नहीं हो सकता जिसका विनिश्चय हमारे संविधान के निबन्धनों और हमारे राष्ट्र की प्रतिभा के अनुसार किया जाना चाहिए। इन विद्वानों की विद्वता से मुझे प्रकाश मिला है और उनके मतों को सम्यक् महत्व दिया जाना चाहिए और उन पर सम्यक् रूप से विचार किया जाना चाहिए। किन्तु इनमें से हर लेखक द्वारा व्यक्त किए गए हर एक विवक्षित दृष्टिकोण को निर्विवाद स्वीकार कर लेने का जो खतरा है वह 'गवर्नमेण्ट अण्डर लॉ': 'ए सिविलियन व्यू' पर एण्ड्रे टंक के भाषण की समाप्ति के पश्चात् उससे पूछे गए प्रश्न के उत्तर से स्पष्ट हो जाता है। उसने यह स्वीकार किया था कि एक समय पर जो उसने फ्रांस की विधि का चित्र खींचा था वह बहुत ही लुभावना था और मिथ्या धारणा के आधार पर वह अमरीका की विधि और अमरीका के जीवन का बहुत धुंधला चित्र था और यह कि फ्रांस के लोगों ने हर प्रकार से कुछ सीमा तक अपनी प्रथम धारणा

को ठीक कर लिया था कि प्रसिद्ध नारे के अनुसार 'न्यायाधीशों की सरकार' (गवर्नमेंट ऑफ जजिज़) रखना अत्यधिक खतरनाक हो सकता है। इससे मुझे उस बात की याद आ गई है जो सर आइवर जेनिंग्स ने अपनी पुस्तक 'सम कैरेक्टरस्टिक्स ऑफ दि इण्डियन कांस्टिट्यूशन' में कही थी कि 'यह एक लाभदायक सिद्धान्त है कि किसी को राजनीतिज्ञों पर विश्वास नहीं करना चाहिए; किन्तु यह भी उतना ही सत्य है कि भविष्य के संदर्भ में किसी को सांविधानिक वकीलों पर कभी भी विश्वास नहीं करना चाहिए। जो भी हो कल के राजनीतिज्ञ के बारे में यह सम्भावना अधिक है कि वह आज के सांविधानिक वकील से ठीक हो'। अतः मैं विद्वान् व्यक्तियों में से कुछ के मतों का धीरे-धीरे और अच्छी प्रकार अध्ययन करके उपयोग करूंगा। किन्तु डाक्टर कोनराड की शैली के अनुसार आलोचना किए बिना रह नहीं सकता कि इस सभी पाण्डित्य पूर्ण बातों पर विषद् विवेचन करने के पश्चात् इस क्षितिज के भ्रमण से वाल्टर बेगहाट के प्रसिद्ध ग्रंथ का उद्धरण देकर अच्छी प्रकार समाप्त किया जा सकता है। श्री मिल का कहना है कि सभी महत्वपूर्ण विषयों पर बहुत कुछ कहना बाकी रह जाता है (ऑन ऑल ग्रेट सब्जैक्ट्स, सेज मिस्टर मिल, मच रिमेंस टू बी सैड)।

राजनीतिक शास्त्र, सामाजिक शास्त्र, आर्थिक शास्त्र, और दर्शन के अनेक सिद्धान्त विस्तृत रूप से हमारे समक्ष उद्धृत किए गए थे। इनमें से कुछ सिद्धांतों में सम्पत्ति के अधिकार की प्रतिरक्षा पर जोर दिया गया है जिसके बिना, यह कहा गया है कि अन्य सभी मूल स्वतन्त्रताएं क्षणभंगुर हैं। अन्य सिद्धान्तों में यह मत प्रतिपादित है कि सभी मूल अधिकारों में से सम्पत्ति का अधिकार सब से कमजोर है। इसके बारे में यह कहा गया कि यह निष्कर्ष निकलता है कि इसे मूल अधिकारों के अध्याय में शामिल करने की गलती की गई थी। इस अनिर्णीत प्रश्न पर हमारा निश्चय हमारे संविधान की मूल कल्पना पर निर्भर करता है, जिसका उद्देश्य 'मूल अधिकारों' और 'राज्य की नीति के निदेशक तत्वों' के बीच, पूर्वकथित को ऊंचा स्थान देकर पश्चात्कथित को स्थाई स्थान देकर सामंजस्य लाना है। ये दोनों एक साथ, न कि अलग-अलग संविधान का मर्म हैं। ये दोनों एक साथ, न कि अलग-अलग संविधान की सच्ची अन्तर्भावना हैं।

चार्टर ऑफ यूनाइटेड नेशन्स, यूनिवर्सल डिक्लेरेशन ऑफ ह्यूमन राइट्स और यूरोपियन कनवेन्शन्स ऑफ 1950 यह दर्शित करने के लिए उद्धृत किए गए थे कि व्यक्तियों के अधिकारों के संबंध में संसार की विचारधारा में महत्वपूर्ण परिवर्तन आए हैं, उन अधिकारों को इन दस्तावेजों के माध्यम से अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर मान्यता दी गई है। क्या भारत, जोकि संसार का सब से बड़ा प्रजातन्त्र है, इन तीन बहुमूल्य स्वतन्त्रताओं के प्रति दिखावटी सेवा करेगा और क्या वह उन्हीं लोगों के जीवन में और राष्ट्र के जीवन में उचित स्थान नहीं दिलाएगा? यही है वह द्वन्द्वात्मक प्रश्न। इसके अलावा कि क्या तथाकथित बुद्धिजीवि—सामूहिक रूप में या अलग-अलग रूप में (classe-non-classe)—मार्क्स के साम्यवादी सतयुग में या बस्तियात के व्यक्तिनिष्ठ सुखराज्य में विश्वास करते हैं, इस प्रश्न का उत्तर व्यक्तियों के अधिकारों और समाज की सामान्य हित के बीच संतुलन लाने की अत्यन्त आवश्यकता पर निर्भर करता है।

हमारा ध्यान ग्रोटियस (1583-1645), हाब्स (1588-1679), लॉक (1632-1704), वुल्फ(1679-1784), रूसो(1712-1778), ब्लैकस्टोन (1723-1780), केण्ट(1724-1804), बेन्थम(1748-1832) और हीगल (1770-1831) के सामाजिक और राजनीतिक दर्शन की झलक देखने के लिए आकृष्ट किया गया था। गत समय के इन अभिज्ञात महान् व्यक्तियों ने—इनके मत विश्वास दिलाने के लिए बहुमूल्य हैं—'नैसर्गिक विधि' (नेचुरल लॉ) और 'नैसर्गिक अधिकार'(नेचुरल राइट्स) के विवादास्पद सिद्धान्त का प्रतिपादन सतर्कता और सोच-विचार से किया है। इस प्रश्न के संबंध में हर एक का अपना-अपना मत है। किन्तु उनके लेखों से जो कुछ पाया जाता है यह बहुत ही गहरा तर्क है कि कुछ ऐसे अधिकार मौजूद हैं जो हर व्यक्ति में विवेकी और नैतिक व्यक्ति के रूप में निहित हैं; कि ये अधिकार अन्य-संक्राम्य और अनुलंघनीय हैं; और यह कि इन अधिकारों का, जैसे कि संविधान द्वारा प्रत्याभूत किए गए हैं, मर्म विकृत या नष्ट नहीं किया जा सकता। इस दलील का उत्तर पाने के लिए इन-इन बातों की जांच-पड़ताल करनी होगी—प्रथमतः, जहां तक मर्म की विधिमान्यता का संबंध है और परिणामतः नैसर्गिक विधि की विचार-धारा के संबंध में और द्वितीयतः, क्या संगठनात्मक दस्तावेज से इस धारणा को यह समर्थन मिलता है कि क्या नैसर्गिक अधिकारों को—सुस्पष्ट या अस्पष्ट—मान्यता दी गई थी और यदि ऐसा है तो क्या ऐसे अधिकारों में से किन्हीं अधिकारों को किसी शर्त के बिना लोगों द्वारा उन्हें रक्षित करने की अनुज्ञा दी गई थी जिससे कि कोई व्यक्ति सामाजिक विचारधाराओं द्वारा अप्रभावित ऐसे अधिकारों के न्यूनतम मर्म का संरक्षण पाने और पोषण के लिए हकदार होगा।

संविधान सभा और प्रथम अनंतिम संसद् के वाद-विवादों से, जिनका अवलम्ब लेने से किसी ने भी इन्कार नहीं किया है, यथार्थ अनुभव हुआ है। मूल अधिकारों की अन्य संक्राम्यता (इनएलियनेबिल्टी) तथा उन दिनों के, जिनका 'प्रभुता अधिकार' (एमिनेण्ट डोमेन) की शक्ति के रूप में प्रायः उल्लेख किया जाता था, प्रश्न से मुख्यतः संबंधित विरोधी आधारों के समर्थन में पंडित जवाहरलाल नेहरू, सरदार वल्लभभाई पटेल, डाक्टर राजेन्द्र प्रसाद, डाक्टर एस० राधाकृष्णन, डाक्टर अम्बेदकर, गोविन्द वल्लभ पन्त, डाक्टर के०एम० मुन्शी, अलादी कृष्णस्वामी अय्यर, डाक्टर श्यामा प्रसाद मुखर्जी, आचार्य कृपलानी, रेवरेण्ड जेरोम डी' सोजा, के० सन्थानम, डाक्टर पंजाब राव देशमुख, एच० वी० कामथ और अन्य व्यक्तियों के भाषण हमारे समक्ष पढ़े गए थे। उनमें से कुछ भाषणकर्ता ऊंचे दर्जे के अभिज्ञात राष्ट्रीय नेता थे। कुछ ख्यातिप्राप्त वकील थे और कुछ लोगों ने राजनीतिक और सामाजिक सुधार के अछूते क्षेत्र में महानता प्राप्त की हुई थी। उनके भाषण बहुत उत्साहजनक हैं और वे उस समय की स्थिति का आभास प्रकट करते हैं। किंतु हम संविधान का संशोधन करने की शक्ति के महत्व की उपेक्षा, यह विचार करके नहीं कर सकते कि कौन से संशोधन संविधान के तत्समान अनुच्छेद 13 के संबंध में प्रस्तावित किए गए थे और संशोधन के लिए वे प्रस्तावनाएं क्यों खत्म कर दी गई थीं या उनका अनुशीलन क्यों नहीं किया गया था। इसी प्रकार तथ्य से कि संविधान का प्रथम संशोधन अनन्तिम संसद् के रूप में संविधान सभा के सदस्यों द्वारा 1951 में फाइल किया गया था, इस दलील की विधिमान्यता का न्यायिक रूप से निर्वाचन करने के कार्य से हम मुक्त नहीं हो सकते

कि मूल अधिकारों को न्यून नहीं किया जा सकता या उन्हें छीना नहीं जा सकता या यह कि संविधान के सारभूत तत्वों के मर्म को विकृत या नष्ट नहीं किया जा सकता। निस्सन्देह पंडित जवाहरलाल नेहरू ने संविधान सभा में यह कहा था कि 'हमारे असंख्य लोग हमारी ओर देखते हैं और असंख्य अन्य लोग भी हमारी ओर देखते हैं; और यह याद रखना है कि जब हम इस संविधान का इतना ठोस और इतना स्थाई ढांचा बनाना चाहते हैं जितना कि हम बना सकते हैं तथापि संविधान में कोई स्थायित्व नहीं हो सकता। इसमें कुछ नमनीयता होनी चाहिए। यदि आप कोई चीज अनम्य और स्थाई बना देते हैं तो आप राष्ट्र के विकास को जीवित महत्वपूर्ण संरचनात्मक लोगों के विकास को रोक देते हैं; और इसके अतिरिक्त अनन्तिम संसद् में उन्होंने यह कहा था—'जो संविधान अपरिवर्तनशील और गतिहीन है, इससे कोई प्रभाव नहीं पड़ता, चाहे वह कितना अच्छा क्यों न हो, चाहे वह कितना परिपूर्ण क्यों न हो, वह ऐसा संविधान होता है जिसका उपयोग समाप्त हो चुका होता है। वह पहले ही वृद्ध हो चुका होता है और धीरे-धीरे अपनी समाप्ति की ओर बढ़ रहा होता है। कोई संविधान जीवित रहे इसके लिए उसे विकासशील होना चाहिए वह ऐसा होना चाहिए जिसे अनुकूल बनाया जा सके; वह नमनीय होना चाहिए और परिवर्तनशील होना चाहिए और यदि कोई ऐसी चीज है जिसकी ओर राजनीतिक विकास के इतिहास में संकेत किया गया है तो मैं बलपूर्वक कहता हूं कि यह वह है कि ब्रिटिश राष्ट्र और ब्रिटिश जनता ने अपने नमनीय संविधान में बहुत बल दिया है। उन्हें यह मालूम हो गया है कि परिवर्तनों, सांविधानिक रूप से बड़े-बड़े परिवर्तनों के अनुसार अपने-आप को कैसे अनुकूल बनाया जाए। कभी-कभी उन्हें अस्त्र-शस्त्र और क्रांति की प्रक्रियाओं से भी गुजरना पड़ा है।' किंतु पंडित नेहरू ने, जबकि संविधान (प्रथम संशोधन) विधेयक, 1951 विचाराधीन था, यह भी कहा कि जहां तक इस सदन का संबंध है यदि यह सदन चाहे तो वह संविधान द्वारा उपबंधित रीति में उसका संशोधन कर सकता है।

'अब इसमें कोई संदेह नहीं है कि इस सदन को प्राधिकार प्राप्त है। इसमें कोई संदेह नहीं है, यहां मैं विधिक या सांविधानिक प्राधिकार के संबंध में बात नहीं कर रहा हूं बल्कि नैतिक प्राधिकार की बात कर रहा हूं क्योंकि यही वह सदन है जिसने संविधान बनाया था।' हमारा काम यह नहीं है कि संविधान का संशोधन करने के संसद् के 'नैतिक प्राधिकार' की उपेक्षा कर दे किन्तु हमारा काम तो यह है कि क्या उसे ऐसा करने का विधिक या सांविधानिक प्राधिकार प्राप्त है। उसी कसौटी को लागू करने से संविधान के अन्य दो प्रमुख निर्माताओं ने—डाक्टर अम्बेदकर—जो भाषण संविधान सभा में दिए थे उनसे कोई विबंध नहीं हो सकता। और उनसे कोई सांविधानिक विवाद्यक विनिश्चित नहीं हो सकता। डाक्टर अम्बेदकर ने यह कहा 'अब हमें क्या करना होगा? हम संविधान के अनुच्छेदों को तीन कोटियों में बांटते हैं। पहली कोटि वह है जिसमें वे अनुच्छेद शामिल हैं जिन्हें संसद् द्वारा मात्र बहुमत से संशोधित किया जा सकता है। दूसरी कोटि के अनुच्छेद वे अनुच्छेद हैं जिन्हें संशोधित करने के लिए दो-तिहाई बहुमत की आवश्यकता है। यदि कोई भावी संसद् किसी विशिष्ट अनुच्छेद का, जो भाग 3 में वर्णित नहीं है, या अनुच्छेद 304 का (प्रस्तुत अनुच्छेद 368 के तत्समान) संशोधन करना चाहती

है तो उसके लिए जो कुछ आवश्यक है वह दो-तिहाई बहुमत प्राप्त करना है। इस प्रकार वे उसे संशोधित कर सकते हैं। सम्भवतः 'भाग 3' के प्रति निर्देश में कुछ भूल हो गई है—ऐसा होमर का भी कहना है। सम्भवतः टाइपिस्ट की ओर से यह गलती हो गई है—वे प्रायः ऐसे कहते हैं। किन्तु यदि यह मान लें कि महान् व्यक्ति कभी गलती नहीं करते हैं, डाक्टर अम्बेदकर तथा अन्य व्यक्तियों ने संविधान सभा और संसद् में जो कुछ भी कहा था वह सर्वोत्तम रूप से विधि संबंधी उनकी अपनी राय थी। सही विधिक स्थिति क्या है इसका विनिश्चय हमें ही करना है न कि किसी अन्य ने करना है, यद्यपि यह विनिश्चय संविधान द्वारा लगाई गई परिसीमाओं के भीतर ही किया जाना है।

बहस के दौरान विभिन्न न्यायालयों के बहुत से निर्णय हमारे समक्ष उद्धृत किए गए हैं। जब बहस आरम्भ हुई तो—मुझे याद है कि क्योंकि मामले को प्रारम्भ हुए बहुत समय नहीं हुआ—मैंने सोचा था कि इस न्यायालय के निर्णय ही विचार-विमर्श के केन्द्र होंगे और विदेशी निर्णयों के प्रति तो संक्षेप में निर्देश किया जाएगा, किन्तु अब मैं सोचता हूं कि मैं गलत था। भाषा की तरह विद्वता किसी का एकाधिकार नहीं है और काउन्सेलों को इस पक्ष पर विचार करने के लिए हमसे निवेदन करने का हक था कि विश्व भर के न्यायालयों ने मूल स्वतन्त्रताओं की रक्षा के लिए कितना शौर्यपूर्ण युद्ध लड़ा है और साथ ही दूसरी ओर कितनी ही बार दुष्परिणामों की उपेक्षा करते हुए विधि की शब्दावली को प्रभावी बनाया गया है। उक्त दो पराकाष्ठाओं के बीच चयन हमेशा ही दुष्कर एवं नाजुक होता है किन्तु फिर भी चयन करना ही पड़ता है क्योंकि प्रजा की प्रतिपोषित स्वतन्त्रताओं से संबंधित विषय और संसद् की शक्ति के बारे में मैं वह सब कुछ कहना नहीं चाहता हूं जो अमरीका के सुप्रीम कोर्ट के न्यायाधिपति मैकरेनाल्ड ने अमरीका के संविधान के 18वें संशोधन की विधिमान्यता से संबंधित नैशनल प्रोहिबिशन वाले मामले में कहा है, अर्थात् यह कि मैं किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुंच पा रहा हूं। किन्तु मुझे यह पूर्णतः स्पष्ट है कि वाल्टर बर्न्स (फ्रीडम, वर्च्यू एण्ड दि फर्स्ट अमेण्डमेण्ट ऐक्ट, 1957) की यह सलाह हमारे लिए उपयोगी नहीं है कि चूंकि स्वतन्त्रता समाप्त करने का स्वातन्त्र्य उस दशा में भी प्राप्त नहीं है जब कि स्वयं जनता दासता स्वीकार करने के लिए तत्पर हो, अतः 'प्रजातन्त्र के अनुरक्षण के लिए उच्चतम न्यायालय को अप्रजातांत्रिक रूप में कार्य करना चाहिए।' साथ ही मैं डाले गिब्सन (कांस्टिट्यूशन अमेण्डमेण्ट एण्ड दि इम्पलाइड बिल ऑफ राइट्स, मैकगिल लॉ जर्नल, वाल्यूम 12) द्वारा प्रशस्त इस उद्यान-पथ पर ही चलना चाहूंगा कि जब नागरिक स्वतन्त्रताओं के संरक्षण जैसा महत्वपूर्ण विषय विचाराधीन हो और जब विधानमंडल ने उनके लिए पर्याप्त संरक्षण उपबंधित न किए हों तो न्यायालय के लिए यह पूर्णतः न्यायोचित (कदाचित नैतिक दृष्टि से वह ऐसा करने के लिए बाध्य है) होगा कि वह वैयक्तिक अधिकारों की रक्षा के लिए अपनी सम्पूर्ण प्रवीणता और दूरदर्शिता से काम लें।' ऐसी प्रेरणाओं में क्रांतिकारी भाव रहता है जो शुष्क विधान को रंजित कर देता है किन्तु वह इस मौलिक उपक्रम की उपेक्षा कर देता है कि न्यायाधीश, मनु के अनुरूप, विधि दाता नहीं हैं। इसके अलावा इस तथ्य पर भी जोर देना अनुचित न होगा कि अमरीका के संविधान के 14वें संशोधन के अधीन उपलब्ध 'विधि की सम्यक् प्रक्रिया' (ड्यू प्रासेस ऑफ लॉ) की प्रमुख शक्ति को हमारी संविधान सभा ने, जिसमें अनेक सुप्रसिद्ध विधिवेत्ता मौजूद थे, विचार करने

के पश्चात् अस्वीकार कर दिया था। 'सम्यक् प्रक्रिया' खण्ड के अधीन अमरिका में एक समय था जबकि अमरिका की सुप्रीम कोर्ट विधियां इस आधार पर अविधामान्य घोषित कर देता था कि ये किसी विशिष्ट आर्थिक या सामाजिक दर्शन की दृष्टि से अबुद्धिमत्तापूर्ण या उसके प्रतिकूल हैं। अतः लाक्नेर बनाम न्यूयार्क[1] में बेकरियों में कार्य के घंटे प्रति दिन दस और प्रति सप्ताह साठ तक सीमित करने वाली विधि की बाबत यह अभिनिर्धारित किया गया था कि वह वयस्क श्रमिकों के, जो विधि-सक्षम हैं, अपनी जीविका की बाबत संविदा करने के अधिकार में असांविधानिक हस्तक्षेप करता है। काफी समय पश्चात् न्यायालय ने न्यायाधिपति होम्स के निम्नलिखित विसम्मत निर्णय के महत्व और विधिमान्यता को मान्यता दी है।

"यह मामला उस आर्थिक-सिद्धान्त के अनुसार विनिश्चित किया गया है जिसे देश का बृहत्तर भाग स्वीकार नहीं करता है। यदि मुझसे यह पूछा जाता कि मैं उस सिद्धान्त से सहमत हूं या नहीं तो मैं उसे सम्यक् रूप से और भी अध्ययन करता और उसके बाद ही कुछ तय करता। किन्तु मैं इसे अपना कर्त्तव्य नहीं मानता हूं क्योंकि मुझे यह दृढ़ विश्वास है कि उस सिद्धान्त से मेरी सहमति या असहमति का अपने मत को विधि का स्वरूप देने के बहुसंख्यक वर्ग के अधिकार से कोई सम्बन्ध नहीं है। इस न्यायालय के अनेक विनिश्चयों से यह सुस्थिर हो गया है कि राज्य के संविधान और राज्य की विधियां विभिन्न प्रकार से जीवन विनियमित कर सकती हैं जिन्हें विधायक के रूप में हम विवेकहीन या यदि आप चाहें तो, अत्याचारी, मान सकते हैं और जो प्रश्नगत विधि के अनुरूप ही संविदा-स्वातंत्र्य में हस्तक्षेप करने वाली है। ....चौदहवें संशोधन द्वारा श्री हरबर्ट स्पेंसर की कृति 'सोशल स्टेटिक्स' की तरह विधान नहीं किया गया है।......किन्तु संविधान मूलतः भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण रखने वाले व्यक्तियों के लिए होता है और हमें कुछ मत अनायास ही नैसर्गिक और सुपरिचित या नवीन और यहां तक कि स्तब्धकारी लगे हैं इससे यह प्रश्न कि क्या इन मतों को समाविष्ट करने वाला कानून संविधान के प्रतिकूल है, हमारा निर्णय अन्तिम नहीं हो जाना चाहिए।"

कुछ समय पश्चात् ऐसा स्पष्ट विमत बहुमत बन गया और सम्यक् प्रक्रिया खण्ड का अर्थान्वयन यह किया गया कि वह खानों में काम करने वाले श्रमिकों के कार्य-घण्टे सीमित करने वाली, जोखिम वाली उपजीविका में बालकों के नियोजन को प्रतिषिद्ध करने वाली, मजदूरी के संदाय को विनियमित करने वाली, स्त्रियों और बालकों के लिए न्यूनतम मजदूरी अनुरक्षित करने वाली विधियां और 'ब्लू स्काई लॉज' और 'मैन्स वेस्ट फेण्ड (डोग) लॉज' जैसी विधियां बनाना अनुज्ञात करता है। केन्टुकी स्टेट्यूट्स को, जिनके अधीन बैंकों से अपेक्षा की गई थी कि वे राज्य के उन निक्षेपों को, जो 10 या 25 साल से असक्रिय थे, अपनी संरक्षक-अभिरक्षा में ले लें, यह मान कर वैध अभिनिर्धारित कर दिया गया कि वे बैंक की सम्पत्ति छीनने वाली विधियां नहीं हैं। अमरीका की इसी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में हमारी संविधान सभा की प्रारूप-समिति ने हमारे

(1) 49 लॉयर्स इडिशन 937.

संविधान के अनुच्छेद 21 में 'विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया' जैसी निश्चित पदावली प्रयुक्त की है और 'विधि की सम्यक् प्रक्रिया' जैसी अस्पष्ट पदावली का बहिष्कार किया है।

हमारे समक्ष प्रिवी काउन्सिल, संयुक्त राज्य अमरीका के सुप्रीम कोर्ट, अमरीकी राज्यों के सुप्रीम कोर्ट, आस्ट्रेलिया के हाई कोर्ट, आयरलैण्ड के सुप्रीम कोर्ट, दक्षिण अफ्रीका के सुप्रीम कोर्ट और हमारे ही उच्चतम न्यायालय, फेडरल न्यायालय और उच्च न्यायालयों के अनेक निर्णय उद्धृत किए गए हैं। जैसा कि अमरीका में होता है, हमारा ध्यान उन संक्षेपों की ओर भी आकर्षित किया गया है जो काउन्सेलों ने रहोड आइलैण्ड वाले मामले में सुप्रीम कोर्ट के समक्ष पेश किए थे। हमने स्प्रेग वाले मामले में न्यू जरसी के डिस्ट्रिक्ट कोर्ट के उस निर्णय पर भी, जिसे यद्यपि सुप्रीम कोर्ट ने अपील में उलट दिया था, तथापि किसी दृष्टि से उसे सुसंगत समझा गया है, कुछ समय तक विचार किया है।

हमने, कालानुसार, अमरीकी उच्चतम न्यायालय द्वारा **विलियम मरबरी** बनाम **जेम्स मैडीसन**[1] में, 1803 में दिए गए विनिश्चय से प्रारम्भ किया था जिसमें न्यायालय की राय मुख्य न्यायाधिपति जॉन मार्शल द्वारा ऐसे शब्दों में गई थी, जिनका महत्व प्रथा द्वारा भी अभी तक पुराना नहीं पड़ा है।

> "निश्चय ही वे सब, जिन्होंने लिखित संविधान विरचित किए हैं, उन्हें राष्ट्र की मूल और प्रमुख विधि के रूप में अनुध्यात करते हैं, और परिणाम-स्वरूप, ऐसी प्रत्येक सरकार का सिद्धान्त यह होना चाहिए कि विधानमण्डल का यह अधिनियम शून्य होगा जो संविधान के प्रतिकूल हो।"

हमने इस न्यायालय के बहुत ही हाल के विनिश्चय समाप्त किए हैं, जैसे **बैंक राष्ट्रीयकरण वाला मामला**[2] जिसमें ग्यारह न्यायाधीशों की न्यायपीठ ने 10 और 1 के बहुमत से यह अभिनिर्धारित किया था कि बैंककारी कम्पनी (उपक्रमों का अर्जन और अन्तरण) अधिनियम, 1969 से अनुच्छेद 13(2) के अधीन प्रतिकर की प्रत्याभूति का अतिक्रमण होता है, क्योंकि इसमें ऐसे सिद्धांतों के अनुसार अवधारित कतिपय रकम देने के लिए उपबन्ध था, जो कि अंकित बैंकों के उपक्रम के प्रतिकर के अवधारण में सुसंगत नहीं थी और विहित पद्धति द्वारा इस प्रकार घोषित रकम को प्रतिकर नहीं माना जा सकता था। बीच में अनेक विनिश्चय आए जिसमें से प्रमुख ये हैं :— (1) बुराह वाले मामले (1878) में, अटर्नी जनरल ऑफ ओण्टेरियो वाले मामले (1911) में, वाचर एण्ड संस वाले मामले (1912) में, मैक्कोलि वाले मामले (1919) में, दि इनिशियेटिव एण्ड रेफरेण्डम ऐक्ट वाले मामले (1919) में, ट्रथोवान वाले मामले (1932) में, मूरा वाले मामले (1935) में, इब्रालबी वाले मामले (1964) में, राणासिंघे वाले मामले (1965)— डॉन जॉन लियांगे वाले मामले (1965), और करि-अप्पर वाले मामले (1967) में, प्रिवि काउन्सिल के विनिश्चय, (2) सी०पी० एण्ड बरार

(1) 2 लॉयर्स इडिशन 69.

(2) (1970) एस० सी० आर० 530.

रेफरेंस (1938) में, सुब्रमण्यम चेट्टियर वाले मामले (1940) और सूरज नारायन आनन्द वाले मामले (1941) में फेडरल कोर्ट के विनिश्चय; (3) लोकनर वाले मामले (1904), हॉक्स बनाम स्मिथ (1920) में, रहोड आइलैण्ड (1920) वाले मामले; डिल्लों बनाम ग्लोस (1920), लैसर बनाम गारनेट (1922), एक्स पार्टि ग्रोसमैन (1924), स्प्रेग वाले मामले (1931), रौण्डरमैन वाले मामले (1943) और स्कूपा वाले मामले (1963) में अमरीकी उच्चतम न्यायालय के विनिश्चय; (4) लीवरमोरे बनाम वेंटे (1894), एडवर्डस बनाम लेस्यूर (1896), एक्स पार्टी डिल्लों (1920) और गइंगनस्पान बनाम बोर्डिंग (1920) में अमरीकी राज्य उच्चतम न्यायालयों के विनिश्चय; (5) रेयन वाले मामले (1935) में आयरिश उच्चतम न्यायालय का विनिश्चय; (6) हेरी वाले मामले (1952) और हाई कोर्ट ऑफ पार्लियामेंट वाले मामले में दक्षिणी अफ्रीका के उच्चतम न्यायालय के अपील डिवीजन के विनिश्चय; (7) अल्बरटा प्रेस वाले मामले (1938), अटर्नी जनरल आफ नोवा स्कोटिया (1950) वाले मामले में, सैमूर वाले मामले (1953); और स्विट्जमैन वाले मामले (1957) में कनेडियन उच्चतम न्यायालय के विनिश्चय और (8) इंजीनियर वाले मामले (1920), वेस्ट बनाम कॉमनवैल्थ ऑफ आस्ट्रेलिया (1937) वाले मामले में, साउथ आस्ट्रेलिया बनाम कॉमनवैल्थ (1942), और स्टेट ऑफ विक्टोरिया बनाम कॉमनवैल्थ (1970) वाले मामले में आस्ट्रेलिया के उच्च न्यायालय के विनिश्चय।

ऊपर अंकित प्रिवी काउन्सिल के अधिकांश विनिश्चयों का हमारे समक्ष उत्पन्न विवाद्यकों से महत्वपूर्ण सम्बन्ध है और उनमें से कुछ विनिश्चय तो हमारे सांविधानिक उपबन्धों से, जिनका निर्वचन अपेक्षित है, लगभग समतुल्य हैं। उनसे नियंत्रित और अनियंत्रित संविधानों के बीच अन्तर को और अधिक स्पष्ट रूप से समझने में मदद मिलती है, जिनके परिणामस्वरूप, संविधायी शक्ति का प्रयोग करते हुए बनाई गई विधियों और संविधान द्वारा प्रदत्त साधारण विधायी शक्ति का प्रयोग करते हुए बनाई गई विधियों के बीच मुख्य अन्तर पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। संविधान के अनुच्छेद 13 और 368 के निर्वचन के सम्बन्ध में पिटीशनर की आधारभूत दलीलों में से कुछ का उत्तर इसी अन्तर में दिखाई पड़ता है।

अमरीका के न्यायालयों के विनिश्चयों की परीक्षा की जा सकती है, किन्तु हमारे संविधान के अधीन उत्पन्न समस्याओं पर उनके लागू होने में उन परिस्थितियों के बीच के सूक्ष्म अन्तर को जो दोनों संविधानों के जन्म के समय विद्यमान थीं, उनके संविधान की सप्रयोजन अस्पष्टता और हमारे संविधान की परिष्कृत विषयवस्तु को और उनके अनुच्छेद 5 तथा हमारे अनुच्छेद 368 के ढांचे में एक महत्वपूर्ण भिन्नता को निरन्तर दृष्टिगत रखना होगा। अमरीका में, सांविधानिक स्वाधीनता का एक महत्वपूर्ण सिद्धान्त यह है कि प्रभुता जनता में निहित है और चूंकि वे अपने सामूहिक स्वरूप के कारण सरकारी शक्तियों का प्रयोग नहीं कर सकते, एक लिखित दस्तावेज प्रत्येक राज्य से सहमति-प्राप्त करके सामान्य सम्मति द्वारा बनाया गया। इस प्रकार अमरीका का संविधान उन व्यष्टियों से, जो राष्ट्र को गठित करते हैं, युक्त प्रभुत्वसम्पन्न जनता की

एक प्रसंविदा है। अमरीका का उच्चतम न्यायालय, जैसा कि सर हेनरी मेन ने कहा था, संविधान निर्माताओं की केवल एक रोचक ही नहीं बल्कि एक अद्वितीय रचना है। "इस प्रयोग की सफलता ने मनुष्यों को उसकी नवीनता की चकाचौंध में जला दिया है। इसके लिए या तो प्राचीन विश्व में या आधुनिक विश्व में कोई भी यथार्थ पूर्वोदाहरण नहीं है।" वस्तुतः यह कहा जाता है कि संयुक्त राज्य का इतिहास केवल कांग्रेस के हाल में या युद्ध स्थल में नहीं लिखा गया बल्कि बहुत बड़ी मात्रा तक उच्चतम न्यायालय के चैम्बरों में लिखा गया है। राष्ट्र के विकास में इस न्यायालय द्वारा निबाही गई एक विशिष्ट प्रकार की भूमिका, 'सम्यक् प्रक्रिया' (ड्यू प्रोसेस) खण्ड के कारण उत्पन्न जटिलताओं के अलावा, संविधान में रूपरेखा सम्बन्धी कुछ वाक्यांशों के प्रयोग करने में निहित है। हमारा संविधान भिन्न प्रकार से तैयार किया गया है। तथापि, यह सुसंगत है कि समय-समय पर अमरीकी न्यायालयों से संशोधन शक्ति पर अन्तर्निहित निर्बन्धन पारित करने के लिए कहा गया और इस प्रश्न के प्रति उनके दृष्टिकोण के बारे में एडवर्ड कोरविन जैसे लेखकों के इस दावे की परीक्षा अपेक्षित है कि ऐसे तर्कों को न्यायालय ने गंभीर चिन्तन के अयोग्य मानकर ठुकरा दिया। अमरीकी विनिश्चयों का एक अन्य पहलू जो इस विषय में सुसंगत है वह लीवर मोरे (केलीफोर्निया, 1894), मैक्कोलि (इंडियाना, 1917) और एक्स पार्टि डिल्लों (केलीफोर्निया, 1920) जैसे मामलों में संशोधन की संकल्पना का अर्थ-विस्तार है।

आस्ट्रेलियाई उच्च न्यायालय के इंजीनियर वाले, स्टेट ऑफ विक्टोरिया वाले और मेलबोर्न कॉरपोरेशन जैसे मामलों का पिटीशनर की बहस के मुख्य कथानक पर यह प्रभाव है कि संसद, जो कि संविधान की रचना है, अपनी शक्तियों का प्रयोग करते हुए संविधान की परिसंघीय प्रकृति से प्राप्त की जाने वाली विवक्षाओं के अल्पीकरण में कार्य नहीं कर सकती। यानी, कुछ विवक्षाएं स्वयं संविधान के ढांचे से उत्पन्न होनी चाहिए।

दक्षिणी अफ्रीकी उच्चतम न्यायालय के दो विनिश्चयों (हैरीज और हाई कोर्ट ऑफ पार्लियामेंट वाले मामलों) से इस संकल्पना पर कुछ प्रकाश पड़ सकता है कि किसी विधानमण्डल की प्रभुता लिखत द्वारा विहित प्ररूप और रीति की, जो विधि बनाने की उसकी शक्ति को विनियमित करती है, अपेक्षाओं को पूरा करने की उसकी बाध्यता से असंगत नहीं है, क्योंकि विधानमण्डल को विधि बनाने की शर्तों की अवहेलना करने की शक्ति नहीं होती।

कनेडियन मामलों से, वास्तव में, व्यष्टिक स्वतंत्रताओं के बारे में और आपराधिक विषयों के बारे में प्रांतीय विधान मण्डलों की विधायी क्षमता पर प्रभाव पड़ता है। कनाडा में नागरिक स्वाधीनताओं के बारे में छः विभिन्न मत प्रतिपादित किए गए हैं और ऐसा प्रतीत होता है कि यद्यपि विभिन्न न्यायाधीशों ने अपनी राय इन मतों में से एक या दूसरे के पक्ष में दी है फिर भी किसी ने अन्तिम रूप से किसी विशिष्ट मत के पक्ष में निर्णय नहीं सुनाया। रैयन वाले मामले के बारे में विशेषतः कहना चाहूंगा। यह मामला आयरिश उच्चतम न्यायालय द्वारा विनिश्चित किया गया था। यह हमारे समक्ष विस्तारपूर्वक पढ़ा गया और मैं यह स्वीकार कर सकता हूं कि इसने मुझे तुरन्त एक उत्तर सुझा दिया।

इस मामले में, आयरिश उच्च न्यायालय के तीन न्यायाधीशों और उनके उच्चतम न्यायालय के तीन न्यायाधीशों में से दो ने यहां के पिटीशनर जैसी दलीलों को नामंजूर कर दिया था किन्तु मुख्य न्यायाधिपति ने, यद्यपि उन्होंने 'संशोधन' शब्द के अर्थ पर प्रत्यक्षतः विचार नहीं किया था, आयरिश संविधान से प्राप्त विभिन्न विवक्षाओं के परिणामस्वरूप इस शब्द के अर्थ पर कुछ निर्बन्धन बताए थे। पिटीशनर ने मुख्य न्यायाधिपति की एक मात्र आवाज का अवलम्ब लिया है। यह एक मात्र है, यह बात हमारे प्रयोजनार्थ महत्वहीन है, क्योंकि, अन्ततः विनिश्चय का केवल परिशीलनात्मक मूल्य है। प्रत्यर्थियों ने विद्वान् मुख्य न्यायाधिपति के निर्णय से प्रभेद ही नहीं बतलाया बल्कि यह दलील दी कि वह निर्णयाधार निस्सन्देह उनके पक्ष में है। रेयन वाला मामला दोनों पक्षकारों के लिए 'आयरिश गोलक नाथ' हो गया।

मैंने विनिश्चयों का यह संक्षिप्त सारांश, पहले तो, यह उपदर्शित करने के लिए दिया है, कि हमारे समक्ष जो विशाल संख्या में विनिश्चय पेश किए गए थे उनमें से ये ही विनिश्चय ऐसे हैं जिन पर गहन विचार आवश्यक है, और दूसरे, हमारे समक्ष जोरदार शब्दों में प्रस्तुत किए गए प्रश्नों के बारे में न्यायिक चिन्तन की व्यापक प्रवृत्ति को दर्शित करने के लिए इनमें से प्रत्येक विनिश्चय पर विस्तारपूर्वक विचार करना है इस निर्णय की, मेरे विचारानुसार सही व्याप्ति होने के लिए, असंभव है और जो मैं इसका वास्तविक प्रयोजन समझता हूं उसके लिए प्रत्येक विनिश्चय पर सविस्तार विचार करना क्रमशः मैं समझता हूं अनावश्यक है। मेरे विचार में, यह कार्य सांविधानिक लेखकों के हाथों में पाण्डित्यपूर्ण विवेचन के लिए भली-भांति छोड़ा जा सकता है। न्यायाधीशों के रूप में हमारे सामने व्यावहारिक समस्याएं आती हैं और उन्हीं से हमारा सम्बन्ध होता है और अपने आप को यह स्मरण कराना उचित होगा कि हमारा मुख्य कार्य संविधान का अर्थान्वयन करना है, निर्णयों का अर्थान्वयन करना नहीं। ये निर्णय, निस्सन्देह, स्वतंत्रता के मार्ग पर दीप-स्तम्भ की भांति है और जिन न्यायाधीशों ने अपने ज्ञान का प्रकाश इस मार्ग पर डाला है और अपनी स्वाधीनता से इसे प्रभावित किया है, उन्होंने नागरिक स्वाधीनताओं के इतिहास में अपने लिए एक स्थान बना लिया है। देखिए—जो न्या० फ्रैंकफर्टर ने ज्वाइंट एण्टी-फासिस्ट रेफ० कम० बनाम मेकग्रेथ(1) में कहा था——

> "जैसा कि मनुष्य है उस पर अन्य व्यक्तियों को उनके अधिकारों से वंचित करने के बाह्य उत्तरदायित्व से पूर्ण उन्मुक्तिमय विश्वास करना खतरनाक है।" या जो न्या० जैकसन ने अमरीकन कोमम एसो० बनाम डाउड्स(2) में कहा था——

"उन सभी प्रकार के कट्टरवादियों और उग्रवादियों के विरुद्ध, जिनमें से किसी पर भी दूसरों के ऊपर असीमित शक्ति न्यस्त नहीं की जा सकती, हमारा संरक्षण उनकी सहनशीलता में निहित नहीं है बल्कि हमारे संविधान की सीमाओं में है" या जो

(1) 341 यू० एस० 123, 171.

(2) 339 यू० एस० 382, 439.

न्या० पेटरसन ने वान होर्न्स लेजी बनाम डोरेंस(1) में जूरी के प्रति अपने प्रसिद्ध कार्यभार में कहा था—"संविधान स्थिर और स्थायी होता है, इस पर समय का रंग नहीं चढ़ता और न ही घटनाओं की तरंग के साथ इसमें उतार-चढ़ाव आते हैं.........। एक अतिक्रमण दूसरे अतिक्रमण को जन्म देता है; पूर्वोदाहरण पूर्वोदाहरण को जन्म देता है, जो कुछ हो चुका है वह पुनः हो सकता है; इस प्रकार, कठोर सिद्धान्त सामान्यतया टूट जाते हैं और अन्ततः संविधान नष्ट हो जाता है।" ये दोषपूर्ण शब्द हैं और ये काल-वीथी में प्रतिध्वनित होते रहेंगे। किन्तु विधि के विकास में इन युगान्तकारी घटनाओं को, हमारे बहुप्रसवी लाखों लोगों, जो आधे नंगे हैं, आधे भूखे हैं और अर्धशिक्षित हैं, की आशाओं और महत्वाकांक्षाओं को विफल करने के लिए, शस्त्रों में बदलने नहीं दिया जा सकता। जनता की इच्छा का प्रतिनिधित्व करने वाली ये आशाएं और महत्वकांक्षाएं केवल उनके द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियों द्वारा ही व्यक्त हो सकती हैं। यदि वे जनता को धोखा देते हैं तो राष्ट्र का अन्त और विनाश हो जाएगा। तब न तो न्यायालय और न ही संविधान देश को बचा पाएगा। संकट और आपदा के उन क्षणों में सही और गलत का विनिश्चय, अंधे न्याय के समक्ष नहीं हो सकता, और न ही बराबर में खड़े हुए मार्शल युक्त अध्यक्ष (स्पीकर) की सावधान दृष्टि के नीचे हो सकता है, बल्कि अफसोस है, सड़कों पर और गलियों में होगा। अतः हम यह सुनिश्चित करने के लिए कि स्वाधीनता का सब लाभ उठाएं, संसद् को संविधान के ढांचे के अन्तर्गत स्वतंत्रता दे दें। इस उद्देश्य के लिए यह आवश्यक है कि संविधान का अर्थ 'संकीर्ण और पांडित्यवादी अर्थ' में नहीं करना चाहिए" (2) जो निर्वचन के सिद्धान्त अन्य कानूनों को लागू होते हैं वे ही सांविधानिक कानून को भी लागू होते हैं किन्तु वे "निर्वचन के वही सिद्धान्त हमें इस बात के लिए विवश करते हैं कि उस अधिनियम की प्रकृति और व्याप्ति को भी ध्यान में रखा जाए जिसका हम निर्वचन कर रहे हैं—यह स्मरण रखा जाए कि यह संविधान है, एक ऐसा यंत्र, जिसके अधीन विधियां बनाई जाती हैं और यह मात्र अधिनियम नहीं है जो उस विधि को घोषित करता है(3)। इसे मुख्य न्यायाधिपति के शब्दों में यों कह सकते हैं, "जिनका कर्तव्य इसका निर्वचन करना है उन्हें व्यापक और उदार भावना से प्रेरित होना चाहिए, किन्तु इससे मेरा यह अभिप्राय नहीं है कि वे किसी भी विधायी या संविधायी सिद्धान्त के हित में अथवा लोपों को भरने या कल्पित त्रुटियों को शुद्ध करने के प्रयोजनार्थ भी, अधिनियमित की भाषा का अर्थ-विस्तार या अर्थ-विपर्यास करने के लिए स्वतंत्र हैं। यदि परिसंघीय न्यायालय विधि की घोषणा के अलावा कोई बात करना चाहता है तो वह अपनी स्थिति को दृढ़ नहीं करेगा बल्कि उसे क्षीण करेगा; किन्तु उससे यह ठीक प्रतिबिम्बित हो सकता है कि सरकार का संविधान एक सप्राण और सशरीर वस्तु होती है जो कि सभी लिखतों में विनष्ट होने की अपेक्षा चीज़ बनी रहे (अट रैस मेजिस-वेलैट क्वाम पेरीट) के रूप में

(1) 1 लॉयर्स इडिशन 391.

(2) जेम्स बनाम कॉमनवैल्थ ऑफ आस्ट्रेलिया में लार्ड राइट के अनुसार।

(3) अटर्नी जनरल, साउथ वेल्स बनाम ब्रुअरि एम्पलाईज यूनियम (1908) 6 कॉमनवैल्थ एल० आर० 469, 611–12 में न्या० हिगिन्स के अनुसार।

अर्थान्वियन का सर्वाधिक दावा रखता है।"([1]) अतः न्यायिक समीक्षा की अपनी शक्तियों का प्रयोग करते हुए हमें वर्तमान और भविष्य पर भूतकाल के प्रतिबन्ध के रूप में कार्यवाही नहीं करनी चाहिए। "·······जनता की इच्छा का प्रतिनिधित्व तो वर्तमान करता है और प्रजातंत्र में अन्ततः इसी इच्छा को प्रभाव दिया जाना चाहिए।"([2]) सामाजिक प्रतिबद्धता का केन्द्रबिन्दु हमारे संविधान का पंचम-स्वर-सार है और हमें इसे उसी दृष्टिकोण से देखना चाहिए जिसमें यह सोचा गया था। हमने अपने संविधान का भवन इस आशा में बनाया था कि यह, फ्रैंच से भिन्न स्थायी रहेगा, जिन्होंने 1875 में तृतीय गणतंत्र की स्थापना होने पर इस आशा में संविधान की रचना की थी कि यह असफल रहेगा क्योंकि संविधान निर्माताओं में से अधिकांश रिपब्लिकन नहीं थे बल्कि रोयलिस्ट थे। उन विशिष्ट दशाओं में, जिनमें फ्रैंच रिपब्लिक की आधारशिला रखी गई थी, सिंहासन एक था किन्तु उस पर बैठने के लिए तीन दावेदार थे। हमारे संविधान का समाजदर्शन अभिव्यक्त रूप से उन दशाओं को परिभाषित करता है जिनके अन्तर्गत हमारे देश में स्वाधीनता का उपयोग करना है और न्याय प्रशासन होना है; और मैं अपने देश के बारे में वही कहूंगा जो न्यायाधिपति फिट्जगिब्बन ने रेयन वाले मामले में कहा था: "यह अन्य एडन अर्धस्वर्ग-लोक, चांदी के सागर में स्थित यह मूल्यवान पत्थर, यह पवित्र भूमि, यह पृथ्वी, यह राज्य यह" भारत। यदि आज यह ऐसा नहीं है तो आओ हम विधि को सामाजिक व्यवस्था की नमनीय लिखत के रूप में प्रयुक्त करके इसे ऐसा बनाएं। न्यायाधिपति होम्स के शब्दों में विधि "हवाई कल्पना करने की परमशक्ति नहीं है"।

मामले की समस्त सुनवाई के दौरान एक भी बात ऐसी नहीं हुई जिस पर कोश और लॉ लेक्सिकन प्रोद्धृत न किए गए हों। इस लम्बी सूची को देखिए—दि शार्टर आक्सफोर्ड डिक्शनरी ऑन हिस्टोरिकल प्रिंसीपल्स, तृतीय संस्करण; शार्टर आक्सफोर्ड डिक्शनरी; वेब्सटर्स थर्ड न्यू इण्टरनैशनल डिक्शनरी ऑफ दि इंगलिश लैंगुएज; वेब्सटर्स इंगलिश डिक्शनरी 1952; दि रैंडम् हाउस डिक्शनरी ऑफ दि इंगलिश लैंगुएज, दि रीडर्स डाइजेस्ट ग्रेट एन्साइक्लोपिएडिक डिक्शनरी; दि डिक्शनरी ऑफ इंगलिश लॉ; अर्ल जोविट; फ्रैंक डी० मूरे कृत साइक्लोपिएडिक लॉ डिक्शनरी; प्रेम की जूडिशियल डिक्शनरी—वर्ड्स एण्ड फ्रेजेज जूडीशियली डिफाइंड इन इण्डिया, इंगलैण्ड, यू०एस०ए० और आस्ट्रेलिया; बूवियर की लॉ डिक्शनरी यूनीवर्सल इंगलिश डिक्शनरी; चेम्बर्स टवंटीएथ सैंचुरी डिक्शनरी; ओगिलवी कृत इम्पीरियल डिक्शनरी; स्ट्राउड्स जूडिशियल डिक्शनरी; जूडीशियल एण्ड स्टेचुटरी डेफिनीशन्स ऑफ वर्ड्स एण्ड फ्रेजेज, सेकेण्ड सीरीज; वर्ड्स एण्ड फ्रेजेज लीगली डिफाइंड; जान बी० साउन्डर्स की लॉ लेक्सिकन; वेंकटारमैय्या लॉ लेक्सिकन; लॉ लैक्सिकन ऑफ ब्रिटिश इंडिया—पी० रामानाथ अय्यर द्वारा संकलित और सम्पादित वर्ड्स एण्ड फ्रेजेज परमानेण्ट इडिशन; अर्ल टी० क्राफोर्ड कृत कंस्ट्रक्शन ऑफ स्टेचूट; कारपस जूरिस सेकंडम और अमेरिकन ज्यूरिसप्रूडेंस। ये प्रोद्धरण

([1]) सेण्ट्रल प्रॉविन्सेज एण्ड बरार ऐक्ट सं० XIV ऑफ 1938 वाला मामला।

([2]) स्वार्टज: 'ए बेसिक हिस्ट्री ऑफ दि यू० एस० सुप्रीम कोर्ट'।

मुख्यतः "संशोधन" 'संविधान', 'संविधायी', 'सांविधानिक विधि', 'वितरण', और 'विधि' के अर्थ स्पष्ट करने के लिए दिए गए थे। यह ठीक है कि यह उन अनेक विनिश्चयों के अलावा है जिनमें इन शब्दों और वाक्यांशों का किसी न किसी संदर्भ में उल्लेख हुआ है। कोश को अपने साथ रखना उपयोगी है। अनुभव यह है कि ठीक समय पर कोश को देखने से व्यक्ति की कुछ शब्दों के अर्थ की घोर भ्रांति का निवारण करके अत्यन्त उलझन में डालने वाली स्थिति से छुटकारा पाने में मदद मिलती है। किन्तु मैं यह नहीं समझता कि मात्र कोशों से अनुच्छेद 368 में 'संशोधन' अथवा अनुच्छेद 13(2) में 'विधि' शब्दों के सही अर्थ और व्याप्ति को समझने में मदद मिलेगी। ये शब्द किसी स्कूल की पाठ्य पुस्तक में आए हुए शब्द नहीं हैं जिससे कि कोई भी व्यक्ति अपनी दायीं ओर रखे कोश से और बायीं ओर रखी व्याकरण की पुस्तक से उनका अर्थ ढूंढ सके। ये शब्द संविधान में आए हैं और स्कूल मास्टर के तरीकों से, कोशकार की शांत दृष्टि से उन्हें नहीं देखना चाहिए बल्कि यह समझते हुए देखना चाहिए कि वह "एक एकल संश्लिस्ट लिखत में, जिसमें एक भाग दूसरे भाग पर प्रकाश डाल सकता है, आए हैं", ताकि "अर्थान्वियन से उसके सभी भागों में संतुलन बना रहे"। चूंकि ऐसे शब्दों को संविधान में संशोधन करने की शक्ति जैसी महत्वपूर्ण शक्ति पर महत्वपूर्ण प्रभाव है इसलिए उन्हें शून्य में नहीं पढ़ा जा सकता। जिस लिखत में ये शब्द प्रयुक्त होते हैं उसके समाजदर्शन की विवक्षा और उस लिखत की सामान्य स्कीम को, जिसके अधीन भाग 3 में स्वतंत्रताओं के प्रदत्त करने का यह उद्देश्य भाग 4 में वर्णित आदर्शों की प्राप्ति है, ऐसे शब्दों के अर्थान्वियन में महत्वपूर्ण भूमिका निभानी चाहिए। "कोई शब्द पूरी तरह स्पष्ट पारदर्शी और अपरिवर्तित नहीं होता; यह जीवंत विचार का परिधान होता है और उन परिस्थितियों और समय के अनुसार जिनमें उसे प्रयुक्त किया जाता है, उसके रंग और अन्तर्वस्तु में बहुत अधिक फेरफार हो सकता है(¹)"।

मैं इस मामले को 'अपनी एक विशेष किस्म' कहता हूं। मुझे आशा है कि मैंने इसकी अद्वितीयता के बारे में अतिशयोक्ति नहीं की है। यह प्रत्यक्ष है कि इस मामले में एक विशेष सूक्ष्मता है और अब 71 संविधानों, दर्जनों कोशों, कोडियों ग्रंथों और अनेकों मामलों की भूल-भुलैया में मुझे अपने समक्ष उठाए गए प्रश्नों का एक विनिर्दिष्ट उत्तर खोजना चाहिए और यथा सम्भव उसका संक्षेप में उल्लेख करना चाहिए।

मुख्य बहस 1970 के सं० 135 वाले रिट पिटीशन में की गई थी। केरल लैण्ड रिफार्म्स अमेण्डमेण्ट ऐक्ट (1969 का 35) केरल राज्य में 1 जनवरी, 1970 को प्रवृत्त हुआ था। केरल लैण्ड रिफार्म्स अमेण्डमेण्ट ऐक्ट (1971 का 25) 7 अगस्त 1971 को प्रवृत्त हुआ था। केरल उच्च न्यायालय ने 1969 के अधिनियम के कुछ उपबन्धों को अवैध घोषित कर दिया और कुंजुकुट्टी साहिब आदि बनाम केरल राज्य और एक अन्य(²) वाले मामले में इस न्यायालय ने 26 अप्रैल को वह निर्णय बहाल कर दिया था।

(¹) टाने बनाम आइसनर 62 लॉयर्स इडिशन 372, 376.

(²) (1972) 2 एस० सी० सी० 364-[1972]3 उम०नि०प० 797.

1970 की सं० 135 वाला रिट पिटीशन इस न्यायालय में संविधान के अनुच्छेद 32 के अधीन 21 मार्च, 1970 को फाइल किया गया था। इस पिटीशन के लंबित रहने के दौरान, संविधान के चौबीसवें, पच्चीसवें, छब्बीसवें और उन्तीसवें संशोधन अधिनियम संशोधन निकाय अर्थात् संसद् द्वारा पारित कर दिए गए। चौबीसवें संशोधन अधिनियम को राष्ट्रपति की अनुमति 5 नवम्बर, 1971 को मिली थी। लोक सभा के 518 सदस्यीय सदन में 384 सदस्यों ने चौबीसवें संशोधन के पक्ष में मत दिया और 23 सदस्यों ने उसके विपक्ष में मत दिया। राज्य सभा के 243 सदस्यों के सदन में 177 सदस्यों ने उसके पक्ष में मत दिया और 8 ने उसके विपक्ष में। जहां तक पच्चीसवें संशोधन का सम्बन्ध है, लोक सभा में 355 सदस्यों ने पक्ष में मत दिया और 20 ने विपक्ष में; जबकि राज्य सभा में 166 ने पक्ष में और 20 ने विपक्ष में मत दिया। लोक सभा में उन्तीसवें संशोधन पर मतदान पक्ष में 286 था और विपक्ष में 4। राज्य सभा में 170 ने पक्ष में मत दिया और उसके विपक्ष में एक भी मत नहीं पड़ा।

अगस्त, 1972 में पिटीशनरों को संविधान के चौबीसवें, पच्चीसवें और उन्तीसवें संशोधनों की विधिमान्यता को संशोधन द्वारा चुनौती देने के लिए अनुज्ञात कर दिया गया। ये संशोधन राष्ट्रपति की अनुमति प्राप्त करने के पश्चात् 5 नवम्बर, 1971, 20 अप्रैल, 1972 और 9 जून, 1971 को प्रवृत्त हुए थे।

संविधान (चौबीसवां संशोधन) अधिनियम, 1971 की धारा 2 द्वारा संविधान के अनुच्छेद 13 में एक नया खण्ड (4) जोड़ा गया है और यह उपबन्ध किया गया है कि इस अनुच्छेद की कोई बात "अनुच्छेद 368 के अधीन किए गए इस संविधान के किसी संशोधन को लागू नहीं होगी"। संशोधन अधिनियम की धारा 3(क) अनुच्छेद 368 में पुराने के स्थान पर एक नया पार्श्व शीर्षक प्रतिस्थापित करती है। असंशोधित अनुच्छेद 368 का पार्श्व शीर्षक था—"संविधान के संशोधन के लिए प्रक्रिया"। नया शीर्षक है "संविधान का संशोधन करने की संसद् की शक्ति और उसके लिए प्रक्रिया"। संशोधन अधिनियम की धारा 3 (ख) अनुच्छेद 368 में एक नई उपधारा (1) अन्तःस्थापित करती है "इस संविधान में किसी बात के होते हुए भी, संसद् अपनी संविधायी शक्ति का प्रयोग करते हुए इस संविधान के किसी उपबंध का परिवर्धन, परिवर्तन अथवा निरसन के रूप में संशोधन इस अनुच्छेद में दी गई प्रक्रिया के अनुसार कर सकेगी"। धारा 3(ग) राष्ट्रपति के लिए संशोधन विधेयक पर अपनी अनुमति देना बाध्यताकारी बनाती है। धारा 3(घ) अनुच्छेद 368 में एक नया खंड (3) जोड़ती है जो यह उल्लेख करता है कि "अनुच्छेद 13 की कोई बात इस अनुच्छेद के अधीन किए गए किसी संशोधन को लागू नहीं होगी"।

संविधान (पच्चीसवां संशोधन) अधिनियम, 1971 अनुच्छेद 31 में महत्वपूर्ण परिवर्तन करता है और एक नए अनुच्छेद 31ग को पुरःस्थापित करता है। संशोधन अधिनियम, 1971 की धारा 2(क) द्वारा अनुच्छेद 31 का खण्ड (2) एक नए खण्ड द्वारा प्रतिस्थापित किया गया है जो कोई संपत्ति सार्वजनिक प्रयोजन के लिए ही और केवल ऐसे विधि के प्राधिकार से अनिवार्यतः अर्जित या अधिगृहीत करने के लिए

अनुज्ञात करता है, जो संपत्ति के अर्जन या अधिग्रहण का "ऐसी राशि के बदले जो उस विधि द्वारा नियत की जाए या जो ऐसे सिद्धांतों के अनुसार अवधारित की जाए और ऐसी रीति से दी जाए जो उस विधि में विनिर्दिष्ट हो, उपबन्ध करती है" ऐसी किसी विधि पर किसी न्यायालय में इस आधार पर आपत्ति नहीं की जाएगी कि वह राशि पर्याप्त नहीं है अथवा ऐसी पूरी राशि या उसका कोई भाग नकद न दिया जाकर अन्यथा दिया जाना है। अनुच्छेद 31(2) में नया जोड़ा गया परन्तुक अल्प संख्यकों की शिक्षा संस्थाओं की सम्पत्तियों के बारे में एक अपवाद बनाता है। यदि ऐसी सम्पत्तियां अनिवार्यतः अर्जित की जाती हैं तो राज्य को यह सुनिश्चित करना होगा कि अर्जन के लिए नियत राशि ऐसी हो जो संविधान के अनुच्छेद 30(1) के अधीन प्रत्याभूत अधिकार को निर्बंधित या निराकृत न करे। संशोधन अधिनियम, 1971 की धारा 2(ख) अनुच्छेद 31 में एक नया खण्ड (2ख) जोड़ती है जो यह उपबन्ध करता है कि अनुच्छेद 19(1)(च) की कोई बात किसी ऐसी विधि पर अपना प्रभाव नहीं डालेगी जो यथा प्रतिस्थापित खण्ड 31(2) में निर्दिष्ट है। संशोधन अधिनियम, 1971 की धारा 3 एक नया अनुच्छेद 31ग पुरःस्थापित करती है जो यह उपबन्ध करता है कि अनुच्छेद 13 में किसी बात के होते हुए भी, कोई विधि, जो अनुच्छेद 39(ख) या (ग) में उल्लिखित तत्वों को सुनिश्चित करने के लिए राज्य की नीति को प्रभावी करने वाली हो, इस आधार पर शून्य न समझी जाएगी कि वह अनुच्छेद 14, 19 और 31 द्वारा प्रदत्त अधिकारों को छीनती या न्यून करती है। जिस विधि में यह घोषणा हो कि वह ऐसी नीति को प्रभावी करने के लिए है, उस पर किसी न्यायालय में इस आधार पर आपत्ति नहीं की जाएगी कि वह ऐसी नीति को प्रभावी नहीं करती। यदि ऐसी विधि किसी राज्य के विधानमण्डल द्वारा बनाई जाए तो अनुच्छेद 31ग के उपबन्ध उसे तभी लागू हो सकते हैं जबकि ऐसी विधि को राष्ट्रपति की अनुमति मिल गई हो।

संविधान (उन्तीसवां संशोधन) अधिनियम, 1972 द्वारा दो केरल अधिनियम—1969 का अधिनियम 35 और 1971 का अधिनियम 25—नवम अनुसूची में शामिल किए गए हैं जिसके द्वारा उन्हें अनुच्छेद 31(ख) का संरक्षण दिया गया है। इस प्रकार शामिल करने से, पिटीशनरों ने जो मार्च, 1970 में फाइल किए गए अपने रिट पिटीशन द्वारा इन दो अधिनियमों को चुनौती दी है वह उन्तीसवें संशोधन की विधिमान्यता पर निर्भर करते हुए निष्फल हो गई।

मोटे तौर पर, विनिश्चय के लिए उत्पन्न मुख्य प्रश्न ये हैं—'(1) गोलक नाथ वाले मामले के विनिश्चय का वास्तविक आधार और प्रभाव क्या है ? (2) क्या वह आधार बहाल रखा जाए ? (3) यदि गोलक नाथ वाले मामले में बहुमत का विनिश्चय गलत था तो अनुच्छेद 368 के अधीन संसद् की शक्ति के फलस्वरूप संविधान में संशोधन करने की उसकी शक्ति पर अन्तर्निहित या विवक्षित निर्बंधन, यदि कोई हों, की क्या सीमा है ? और (4) क्या चौबीसवां, पच्चीसवां और उन्तीसवां संविधान संशोधन अधिनियम विधिमान्य हैं ?

भारत का संविधान 26 जनवरी, 1950 को प्रवृत्त हुआ था और 18 जून, 1951 को संविधान (प्रथम संशोधन) अधिनियम, 1951 संसद् द्वारा पारित किया गया था। संशोधन अधिनियम की धारा 2, 3, 4 और 5 से महत्वपूर्ण संशोधन किए गए थे जिनके परिणामस्वरूप संविधान के भाग 3 द्वारा प्रदत्त मूल अधिकारों का अत्यधिक सीमा तक न्यूनन हो गया था। धारा 4 द्वारा एक नया अनुच्छेद 31क अन्तःस्थापित किया गया था और कतिपय अधिनियमों और विनियमों के विधिमान्यकरण के लिए धारा 4 द्वारा एक नया अनुच्छेद 31ख अन्तःस्थापित किया गया था। यह अधिनियम और विनियम संविधान की नवम अनुसूची में गिनाए गए थे, जो स्वयं संशोधन अधिनियम की धारा 14 द्वारा जोड़ी गई थी।

संशोधन अधिनियम, 1951 की विधिमान्यता को इस न्यायालय में **श्री शंकरी प्रसाद सिंह देव बनाम भारत संघ और बिहार राज्य** (1) वाले मामले में चुनौती दी गई थी। उस मामले में इस बात पर जोर दिया गया था कि जहां तक संशोधन अधिनियम भाग 3 द्वारा प्रदत्त अधिकारों को छीनता या न्यून करता है वहां तक अनुच्छेद 13(2) के प्रतिशेध के अन्तर्गत आता है, और इसलिए असांविधानिक है। न्या० पातंजली शास्त्री जिन्होंने सर्वसम्मत न्यायालय की ओर से निर्णय दिया था, यह अभिनिर्धारित करते हुए इस तर्क को नामंजूर कर दिया कि यद्यपि साधारणतया "विधि" के अंतर्गत सांविधानिक विधि भी आती है तो भी विधायी शक्ति के प्रयोग में बनाई गई साधारण विधि और संविधायी शक्ति के प्रयोग में बनाई गई सांविधानिक विधि के बीच एक स्पष्ट सीमांकन है; और इसलिए इसके प्रतिकूल किसी स्पष्ट संकेत के अभाव में मूल अधिकार सांविधानिक संशोधन से उन्मुक्त नहीं हैं। संशोधन अधिनियम, 1951 को दी गई चुनौती इन आधारों पर नामंजूर कर दी गई।

संविधान (चतुर्थ संशोधन) अधिनियम, 1955 जिसके द्वारा अनुच्छेद 31 में प्रत्याभूत मूल अधिकार न्यून किए गये थे, 27 अप्रैल, 1955 को पारित किया गया था। इस अधिनियम की धारा 2 से यह उपबंधित करके एक आमूल परिवर्तन पुरःस्थापित कर दिया गया था कि जिस विधि को अनुच्छेद 31(2) लागू हो उस पर किसी भी न्यायालय में इस आधार पर आपत्ति नहीं की जाएगी कि उस विधि द्वारा उपबंधित प्रतिकर पर्याप्त नहीं है। संशोधन अधिनियम की धारा 3 द्वारा एक नया और विस्तृत खण्ड (1) अनुच्छेद 31क के पुराने खण्ड (1) के स्थान पर भूतलक्षी प्रभाव से प्रतिस्थापित किया गया। नया जोड़ा गया उपबंध ऐसा खंड है, जिससे अन्यत्र किसी बात के होते हुए भी कोई दूसरी बात कही जाए प्रभाव से और ऐसे खण्ड "अनुच्छेद 13 में अन्तर्विष्ट किसी बात के होते हुए भी" से आरम्भ होता है तथा यह उपबंध करता है कि अनुच्छेद 31क(1) के नए खण्ड (क) से (ङ) में वर्णित विषयों के लिए उपबंध करने वाली विधि इस आधार पर शून्य न समझी जाएगी कि वह अनुच्छेद 14, अनुच्छेद 19 या अनुच्छेद 31 द्वारा प्रदत्त अधिकारों में से किसी से असंगत है, अथवा उसे छीनती है या न्यून करती है। इन संशोधनों को कभी भी कोई चुनौती नहीं दी गई।

---

(1) (1952) एस० सी० आर० 89.

संविधान (सत्रहवां संशोधन) अधिनियम, 1964, 2 जून, 1964 को प्रवृत्त हुआ था। इस अधिनियम में धारा 2 (ii) द्वारा 31क (2) (क) में 'सम्पदा' की नई परिभाषा भूतलक्षी प्रभाव से अन्तःस्थापित की थी और नवम अनुसूची में 44 अधिनियम जोड़े गए और इस प्रकार अनुसूची का संरक्षण कुल 64 अधिनियमों तक विस्तारित कर दिया गया था।

सत्रहवें संशोधन अधिनियम की विधिमान्यता को इस न्यायालय के समक्ष सज्जन सिंह बनाम राजस्थान राज्य ([1]) वाले मामले में चुनौती दी गई थी। उस मामले में जो अनेकों तर्क दिए गए थे उनमें से वर्तमान प्रयोजन के लिए केवल एक यह तर्क सुसंगत है कि संशोधन अधिनियम अनुच्छेद 13(2) के उपबन्धों की दृष्टि से शून्य था, क्योंकि अधिनियम भाग 3 द्वारा प्रत्याभूत मूल अधिकारों को न्यून करने के लिए तात्पर्यित था। बहुमत का निर्णय देते हुए मुख्य न्यायाधिपति गजेन्द्रगडकर ने अपनी ओर से और न्या० वांछू और रघुबर दयाल की ओर से यह मत व्यक्त किया था कि 'संविधान का संशोधन' अभिव्यक्ति का स्पष्ट और असंदिग्ध अर्थ संविधान के सब उपबंधों का संशोधन है और इसलिए अनुच्छेद 368 द्वारा प्रदत्त संशोधन की शक्ति संविधान के सब उपबंधों को लागू होती है। बहुमत के निर्णय ने इस दलील को नामंजूर कर दिया कि अनुच्छेद 13(2) में "विधि" शब्द के अन्तर्गत अनुच्छेद 368 के अधीन पारित संविधान संशोधन अधिनियम भी होंगे, क्योंकि अनुच्छेद 368 द्वारा प्रदत्त संविधायी शक्ति और साधारण विधायी शक्ति के बीच एक स्पष्ट अन्तर है तथा अनुच्छेद 13(2) के अन्तर्गत केवल पश्चात्कथित शक्ति के प्रयोग में बनाई गई विधियां आएंगी। न्या० हिदायतुल्लाह और न्या० मधोलकर ने अन्तिम विनिश्चय से सहमति प्रकट की थी किन्तु उन्होंने पृथक् निर्णयों द्वारा बहुमत पर संदेह किया और यह मत दिया कि यह संभव है कि अनुच्छेद 368 केवल संविधान में संशोधन करने के लिए प्रक्रिया अधिकथित करता हो किन्तु संविधान में संशोधन करने की शक्ति प्रदत्त न करता हो। तथापि, विद्वान् न्यायाधीशों ने अभिव्यक्त रूप से यह कहा था कि इससे यह नहीं समझना चाहिए कि हमने इस प्रश्न पर कोई अन्तिम राय व्यक्त की है। आई० सी० गोलक नाथ और कुछ अन्य *बनाम* पंजाब राज्य और एक अन्य ([2]) में विवादास्पद विनिश्चय के बीज न्या० हिदायतुल्लाह और न्या० मधोलकर द्वारा इस प्रकार व्यक्त की गई आशंका द्वारा बोए गए थे।

गोलक नाथ वाले मामले ([2]) में विनिश्चय इस न्यायालय के 11 न्यायाधीशों की न्यायपीठ द्वारा 27 फरवरी, 1967 को दिया गया था। उसमें पिटीशनरों ने 1953 के पंजाब अधिनियम 10 और 1965 के अधिनियम 14 द्वारा यथा संशोधित 1962 के मैसूर अधिनियम 10 की विधिमान्यता को इस आधार पर चुनौती दी थी कि ये अधिनियम उनके मूल अधिकारों का अतिक्रमण करते हैं और यह अभिकथित किया कि यद्यपि आक्षेपित अधिनियम नवम अनुसूची में शामिल कर लिए

([1]) (1965) 1 एस० सी० आर० 933.
([2]) (1967) 2 एस० सी० आर० 762.

गए हैं तो भी उन्हें प्रथम, चतुर्थ और सत्रहवें संशोधन अधिनियमों का संरक्षण प्राप्त नहीं हुआ है। सामान्य कथन यह है कि यदि सत्रहवां संशोधन, जिसके द्वारा आपेक्षित अधिनियमों को नवम अनुसूची में शामिल किया गया था, विधिमान्य है तो इन अधिनियमों को किसी भी आधार पर चुनौती नहीं दी जा सकती।

मुख्य न्यायाधिपति सुब्बा राव ने अपनी ओर से और न्या० शाह, सीकरी, शैलत और वैद्यलिंगम् की ओर से प्रमुख बहुमत निर्णय दिया। न्या० हिदायतुल्लाह ने उनके विनिश्चय से सहमति प्रकट की किन्तु पृथक् निर्णय दिया। न्या० वान्चू ने अपनी ओर से न्या० भार्गव और मित्तर की ओर से प्रमुख अल्पमत निर्णय दिया। न्यायाधिपति बछावत और न्यायाधिपति रामस्वामी ने अपने पृथक्-पृथक् निर्णय द्वारा प्रमुख अल्पमत निर्णय में व्यक्त किए गए मत से सहमति प्रकट की।

प्रमुख बहुमत निर्णय में निम्नलिखित विनिश्चय लेखबद्ध किए गए थे—

1. कि मूल अधिकार वे मूलभूत अधिकार हैं जो मानव व्यक्तित्व के विकास के लिए आवश्यक हैं और इसी रूप में वे संविधान द्वारा परिरक्षित जनता के अधिकार हैं।

2. संविधान ने अपनी स्कीम द्वारा मूल स्वतंत्रताओं को स्थायी स्थान दिया है। अपने को संविधान देते हुए जनता ने मूल स्वतंत्रताएं अपने लिए आरक्षित रखी हैं। अतः भाग 3 में दी हुई मूल स्वतन्त्रताओं को उपान्तरित, निर्बंधित या कम करने की अपनी संशोधन की शक्ति के प्रयोग में संसद् की असमर्थ संविधान की स्कीम से और स्वतन्त्रताओं की प्रकृति से उत्पन्न होती है।

3. अनुच्छेद 368 अन्यत्र पाई गई संशोधन करने की शक्ति धारण करता है। दूसरे शब्दों में अनुच्छेद 368 संविधान में संशोधन करने की शक्ति संसद् पर प्रदत्त नहीं करता बल्कि केवल संशोधन की ऐसी शक्ति का प्रयोग करने के लिए प्रक्रिया विहित करता है।

4. संशोधन करने की शक्ति संविधान की सप्तम अनुसूची की सूची 1 में प्रविष्टि 97 के साथ पठित अनुच्छेद 245 और 248 में पाई जाती है।

5. संशोधन की शक्ति का प्रयोग करते हुए संविधान संसद् के ढांचे को नष्ट नहीं कर सकती बल्कि केवल मूल लिखत के ढांचे के अन्तर्गत उसके उपबन्धों को, उन्हें और अधिक प्रभावशील बनाने के लिए, केवल उपान्तरित कर सकती है। दूसरे शब्दों में, संविधान के उपबन्धों में निस्सन्देह संशोधन किया जा सकता है किन्तु इस प्रकार नहीं कि मूल अधिकार छीन लिए जाएं या न्यून कर दिए जाएं।

6. संविधान में संशोधन करने की शक्ति और विधियां बनाने की साधारण शक्ति के बीच कोई अन्तर नहीं है।

7. अनुच्छेद 13(2) जिसमें एक सम्मिलित करने वाली परिभाषा अन्तर्विष्ट है प्रथमदृष्ट्या, सांविधानिक विधि को भी शामिल करता है।

8. नया संविधान बनाने के लिए अथवा उसमें आमूल परिवर्तन करने के हेतु संविधान सभा बुलाने के लिए संसद् की अवशिष्ट शक्ति का अवलम्ब लिया जा सकता है (किन्तु यह राय अनन्तिम थी और अन्तिम नहीं)।

9. इस न्यायालय के समक्ष आक्षेपित सत्रहवां संशोधन अधिनियम और प्रथम, चतुर्थ और सोलहवां संशोधन भी सांविधानिक दृष्टि से अविधिमान्य है। तथापि इन संशोधनों को अविधिमान्य घोषित करने से परेशानी और अव्यवस्था होने की संभावना है इसलिए यह संशोधन भविष्यलक्षी अविधिमान्यकरण के सिद्धान्त को लागू करके भावी प्रयोजनों के सिवाय विधिमान्य समझे जाएंगे।

10. भविष्य में, संसद् को संविधान के भाग 3 को इस प्रकार संशोधित करने की शक्ति नहीं होगी जिससे कि मूल अधिकार छीने या न्यून किए जाएं।

न्यायाधिपति हिदायतुल्लाह ने प्रमुख बहुमत निर्णय में व्यक्त किए गए अन्तिम विनिश्चय से सहमति प्रकट की। उनके मत का सारांश इस प्रकार दिया जा सकता है—

1. संशोधन की शक्ति राज्य के पास होनी चाहिए। 'संशोधन' शब्द का इस प्रकार संकीर्ण दृष्टिकोण नहीं अपनाया जा सकता कि इसके अन्तर्गत साधारण ढांचे के अन्तर्गत केवल छुट पुट परिवर्तन शामिल हैं। संशोधन द्वारा नई सामग्री जोड़ी जा सकती है और पुरानी सामग्री निकाली या परिवर्तित की जा सकती है।

2. अनुच्छेद 368 में उस प्रक्रिया की रूप रेखा दी गई है जो यदि यथावत अनुसरित की जाए तो उसके परिणामस्वरूप संविधान में संशोधन हो जाता है। यह अनुच्छेद किसी विशेष व्यक्ति या व्यक्तियों को शक्ति नहीं देता है।

3. यदि संशोधन की प्रक्रिया को, शक्ति कहा जा सकता है तो यह एक विधायी शक्ति है किन्तु यह अपनी एक विशेष किस्म की शक्ति है और संविधान की सप्तम अनुसूची की तीनों सूचियों से बाहर है।

4. साधारण तौर पर बनाई गई विधियों और संविधान में संशोधन के लिए समय-समय पर बनाई गई विधियों के बीच हमारे संविधान में कोई अन्तर नहीं है। अतः सांविधानिक संशोधन अनुच्छेद 13(2) की परिधि के अन्तर्गत आने चाहिएं।

5. सम्पूर्ण संविधान का संशोधन किया जा सकता है, केवल दो दर्जन अनुच्छेद ही अनुच्छेद 368 की परिधि से बाहर हैं; वह भी इसलिए कि संविधान ने उन्हें मूल बनाया है।

6. मूल अधिकारों को साधारण संशोधन प्रक्रिया द्वारा छीना या न्यून नहीं किया जा सकता। संसद् को एक अन्य संविधान सभा बुलाने के लिए अनुच्छेद 368 में संशोधन करना चाहिए, संविधान सभा को बुलाने के लिए सूची एक के मद 7 के अधीन विधि पारित करनी चाहिए और तब

वह सभी मूल अधिकारों को न्यून कर सकेगी या छीन सकेगी। संसद् का गठन विधान की शक्ति सहित किया गया था जिसके अन्तर्गत संविधान का संशोधन भी है किन्तु केवल वहीं तक जहां तक अनुच्छेद 13(2) अनुज्ञात करता है।

7. संसद् को अनुच्छेद 368 में से संशोधन करने की कोई शक्ति नहीं है जिससे कि वह अपने ऊपर मूल अधिकारों के बारे में संविधायी शक्तियां प्रदत्त कर ले। यह गलत होगा और अनुच्छेद 13(2) के प्रतिकूल होगा।

8. प्रमुख बहुमत निर्णय द्वारा लेखबद्ध किया गया विनिश्चय विधियों के भविष्यलक्षी अविधिमान्यकरण के आधार पर सही नहीं है बल्कि उपमति के आधार पर सही है। प्रथम, चतुर्थ और सत्रहवें संशोधन एक लम्बे समय तक उपमति द्वारा संविधान के भाग बन गए हैं और इसलिए उन्हें चुनौती नहीं दी जा सकती। उनमें सत्रहवें संशोधन के लिए भी प्रामाणिकता अन्तर्विष्ट है।

न्यायाधिपति वांचू ने, जिन्होंने प्रमुख अल्पमत निर्णय दिया था, निम्नलिखित निष्कर्ष निकाले—

1. संविधान में संशोधन करने की प्रक्रिया और शक्ति, दोनों, अनुच्छेद 368 में उपलभ्य हैं न कि सूची 1 की प्रविष्टि 97 में।

2. 'संशोधन' शब्द को उसका पूरा अर्थ दिया जाना चाहिए अर्थात् यह कि वह शक्ति ब्योरों के सुधार तक निर्बन्धित नहीं है बल्कि विद्यमान उपबंधों में परिवर्तन या प्रतिस्थापन या विलोप करने तक है।

3. अनुच्छेद 368 द्वारा प्रदत्त शक्ति का प्रयोग करते हुए संसद् उसमें विहित प्रक्रिया का पालन करके संविधान के किसी भी उपबंध का संशोधन करने के लिए सक्षम है।

4. अनुच्छेद 13(2) में 'विधि' शब्द में केवल वे विधियां शामिल हैं जो संसद् द्वारा और राज्य विधानमण्डल द्वारा अपनी साधारण विधायी शक्ति के प्रयोग में बनाई जाती है किन्तु अनुच्छेद 368 के अधीन किया गया संशोधन उसमें शामिल नहीं है।

5. चूंकि संशोधन करने की शक्ति एक संविधायी शक्ति है इसलिए यह अभिनिर्धारित नहीं किया जा सकता कि यह इस कल्पित आधार पर किन्हीं विवक्षित निर्बन्धनों के अधीन है कि संविधान के मूल तत्वों में संशोधन नहीं किया जा सकता।

न्यायाधिपति बछावत ने न्यायाधिपति वांचू से सहमति प्रकट की और कथित किया—

1. संशोधन शक्ति पर कोई भी निर्बन्धन अनुच्छेद 368 की भाषा से प्राप्त नहीं किया जा सकता। अतः इस अनुच्छेद के अधीन संविधान के प्रत्येक भाग में संशोधन किया जा सकता है।

2. संविधान और विधियों के बीच अन्तर इतना मूलभूत है कि संविधान को विधि या विधायी अधिनियम नहीं माना जा सकता ।

3. अनुच्छेद 368 से यह उपदर्शित होता है कि "संशोधन" शब्द से "परिवर्तन" अभिप्रेत है । परिवर्तन अनिवार्यतः सुधार नहीं होता है।

4. इस दलील का विनिश्चय करना अनावश्यक है कि क्या संविधान के मूल तत्वों में उदाहरणार्थ, सरकार के गणतान्त्रिक स्वरूप या उसके परिसंघीय ढांचे में, संशोधन किया जा सकता है, क्योंकि यह प्रश्न विनिश्चय के लिए उत्पन्न नहीं हुआ ।

न्यायाधिपति रामस्वामी ने भी ऐसा ही तर्क अपनाया और यह अभिनिर्धारित किया—

1. कि अनुच्छेद 13(3) में "विधि" की परिभाषा के अन्तर्गत उसके शब्दों में सांविधानिक संशोधन शामिल नहीं है। यदि संविधान निर्माताओं का यह आशय होता कि भाग 3 द्वारा प्रत्याभूत मूल अधिकार अनुच्छेद 368 की व्याप्ति से पूर्णतया बाहर होने चाहिएं तो यह अनुमान करना युक्तियुक्त होगा कि वे इस आशय का अभिव्यक्त उपबंध करते।

2. संविधान की प्रस्तावना, जो भारत को एक प्रभुत्वसम्पन्न प्रजातांत्रिक गणतन्त्र घोषित करती है, संशोधन शक्ति की व्याप्ति से परे नहीं है, संविधान के कुछ अन्य मूलभूत तत्व हैं, जैसे विधायी शक्ति का वितरण, सरकार की संसदीय शक्ति और उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालयों के स्थापन से संबंधित मूलभूत तत्व भी संशोधन की शक्ति से परे नहीं हैं ।

3. संविधान के अनुच्छेदों में से प्रत्येक अनुच्छेद 368 के अधीन संशोधनीय है और उस अनुच्छेद के अर्थान्वयन में किसी विवक्षा के लिए कोई गुंजाइश नहीं है ।

इस प्रकार यह बात स्पष्ट है कि गोलक नाथ वाले मामले (1) में बहुमत वाले न्यायाधीशों ने, जिनमें न्यायाधिपति वांचू, हिदायतुल्लाह, भार्गव, मित्तर, बछावत और रामस्वामी थे, यह तर्क नामंजूर कर दिया था कि अनुच्छेद 368 केवल संविधान का संशोधन करने में अनुसरण की जाने वाली प्रक्रिया विहित करता है । उन्होंने यह अभिनिर्धारित किया कि अनुच्छेद 368 संविधान को संशोधित करने की शक्ति भी प्रदत्त करता है। उन्होंने यह तर्क अस्वीकार कर दिया कि संशोधन की शक्ति सूची 1 की प्रविष्टि 97 में है। बहुमत वाले न्यायाधीशों मु० न्या० सुब्बा राव, और उनके चार सहयोगियों और न्या० हिदायतुल्लाह ने यह अभिनिर्धारित किया कि संविधायी शक्ति और विधायी शक्ति के बीच कोई भेद नहीं है और यह कि अनुच्छेद 13(2) में प्रयुक्त 'विधि' शब्द के अन्तर्गत संविधान को संशोधित करने के लिए संसद् द्वारा पारित विधि आती है । मुख्य न्यायाधिपति सुब्बा राव और उनके चार सहयोगियों ने यह सुझाव दिया कि यदि संविधान को मूल रूप से परिवर्तित करना है तो संविधान सभा आहूत करने के लिए विशिष्ट शक्ति का अवलम्ब लिया जाना चाहिए । न्यायाधिपति

(1) (1967) 2 एस० सी० आर० 762.

हिदायतुल्लाह ने भिन्न दृष्टिकोण अपनाया और यह मत व्यक्त किया कि मूल अधिकारों को न्यून करने हेतु मूलभूत परिवर्तन करने के लिए अनुच्छेद 368 को उपयुक्त रूप से संशोधित करना होगा और अनुच्छेद 368 के संशोधित उपबन्धों को ध्यान में रखते हुए प्रविष्टि 97 के अधीन विधि पारित करने के पश्चात् संविधान सभा बुलाई जानी चाहिए। यह उल्लेख करना महत्वपूर्ण है कि न्यायपीठ गठित करने वाले सभी 11 न्यायाधीश इस बात पर सहमत थे कि मूल अधिकार छीने जा सकते हैं किन्तु उन्होंने उस प्रयोजन की प्राप्ति के लिए भिन्न तरीकों का सुझाव दिया है। मुख्य न्यायाधिपति सुब्बा राव और उनके चार सहयोगियों ने संविधान सभा बुलाने का सुझाव दिया; प्रविष्टि 97 के अधीन विधि पारित करने के बाद संविधान सभा बुलाने के लिए संविधान के अनुच्छेद 368 के संशोधन का सुझाव दिया; शेष पांच न्यायाधीशों ने यह अभिनिर्धारित किया कि मूल अधिकारों को न्यून करने अथवा उनको छीनने हेतु संसद् को संविधान को संशोधित करने की शक्ति प्राप्त है।

प्रमुख बहुमत वाले निर्णय ने यह विनिश्चित नहीं किया था कि क्या संविधान के हर एक उपबंध को संशोधित करने के लिए शक्ति प्रदत्त करने हेतु स्वयं अनुच्छेद 368 का संशोधन किया जा सकता है। इसका कारण यह था कि गोलक नाथ वाला मामला (1) असंशोधित अनुच्छेद 368 के आधार पर विनिश्चित किया गया था। न्यायालय के समक्ष यह प्रश्न नहीं था कि क्या अनुच्छेद 368 के संशोधन द्वारा मूल अधिकार छीने जा सकते हैं। यह प्रश्न भी न्यायालय के समक्ष विवाद्य नहीं था कि क्या भविष्य में संसद् अनुच्छेद 368 के संशोधन द्वारा संविधान के हर एक भाग और उपबन्ध को संशोधित करने की शक्ति ग्रहण कर सकती है। ऐसा प्रश्न प्रत्यक्षतः तब उठ सकता है जब अनुच्छेद 368 में वस्तुतः संशोधन कर दिया जाए, जैसा कि अब प्रश्न उत्पन्न हुआ है, और उस संशोधन के निर्बन्धन मालूम हों। अतः प्रमुख बहुमत निर्णय में ये मत, जिनमें मूल अधिकारों को छीनने की संसद् की भावी शक्ति पर निर्बन्धन लगाया गया है, बहुमत वाले निर्णय का आधार नहीं गठित करते। विद्वान् न्यायाधीशों ने सुव्यक्ततः इस बात पर विचार नहीं किया कि भविष्य में मूल अधिकारों वाले अध्याय को पहले अनुच्छेद 368 का संशोधन करके संशोधन की विषयवस्तु बनाया जा सकता है, जैसा कि अब चौबीसवें संशोधन में किया गया है।

यह देखना होगा कि गोलक नाथ वाले मामले में पिटीशनरों ने जो विजय पाई है वह नाशात्मक है। उन्होंने किसी वास्तविक विवाद के विनिश्चय के लिए न्यायालय से समावेदन नहीं किया बल्कि इस बात की घोषणा अभिप्राप्त करने के लिए समावेदन किया कि वे विधियां, जो उनके मूल-अधिकारों को प्रभावित करती हैं, असांविधानिक हैं। न्यायालय ने उन विधियों को कायम रखा किन्तु मैं यह मानता हूं कि वे न्यायालय से इस बात से सन्तुष्ट होकर गए कि आने वाली पीढ़ियां उनके द्वारा लगाए गए अखरोट पौदे के फलों का उपभोग कर सकेंगी। किन्तु यह प्रतीत होता है कि मानो उस पौदे के अस्तित्व को समाप्त करने के लिए कोई तूफान उमड़ रहा है।

(1) (1967) 2 एस० सी० आर० 762.

जैसा कि कहा जा चुका है गोलक नाथ वाले मामले में 11 विद्वान् न्यायाधीशों में से 6 ने यह अभिनिर्धारित किया था कि अनुच्छेद 368 न केवल संशोधन करने की प्रक्रिया से विहित करता है बल्कि वह संविधान को संशोधन करने की शक्ति प्रदत्त करता है और संशोधन शक्ति संविधान के अनुच्छेद 245, 246 और 248 के साथ पठित सप्तम अनुसूची की सूची 1 की अवशिष्ट प्रविष्टि 97 में नहीं खोजा जा सकता।

संविधान के भाग 20 का शीर्षक "संविधान का संशोधन" है न कि "संविधान के संशोधन के लिए प्रक्रिया" अतः अनुच्छेद 368 की बाबत, जो कि भाग 20 में एकमात्र अनुच्छेद है, यह अभिनिर्धारित करना होगा कि वह प्रक्रिया और प्रक्रिया के परिणाम, दोनों, के ही बारे में है। "संविधान के संशोधन के लिए प्रक्रिया" नामक अनुच्छेद 368 का पार्श्व टिप्पण केवल एक सूचक शब्द है और वस्तुतः भासतः सही है। इसमें प्रक्रिया को अपनाने के परिणाम का उल्लेख नहीं है क्योंकि इस भाग के शीर्षक में इसका स्पष्टतः उल्लेख कर दिया गया है। अनुच्छेद 368 के बहुत कुछ अनुपयुक्त पार्श्व टिप्पण का न्यायौचित्य इस तथ्य पर आधारित है कि वह अनुच्छेद किसी नामित प्राधिकारी को शक्ति प्रदत्त नहीं करता बल्कि स्वनिष्पादी प्रक्रिया विहित करता है जिसका यदि यथार्थ रूप से अनुसरण किया जाए तो यह परिणाम होता है कि "संविधान संशोधित हो जाएगा"। गवर्नमैण्ट ऑफ इंडिया ऐक्ट, 1935 के समय से अवशिष्ट शक्ति के इतिहास और विधायी शक्ति के वितरण की स्कीम से यह पता चलता है कि यदि संविधान निर्माताओं के मस्तिष्क में विधायी शक्ति के विषय की बात विशेष रूप से थी तो उसे अवशिष्ट प्रविष्टि में नहीं डाला गया होता बल्कि उसे अविभक्त रूप से विधायी सूची—और अधिक संभाव्य रूप से सूची 1 में सम्मिलित किया गया होता। यह कि संविधान के संशोधन का प्रश्न संविधान के रचयिताओं के मस्तिष्क में प्रमुख रूप से था यह "संविधान के संशोधन" की बाबत प्रथम भाग—भाग 20 के आवंटन से स्पष्ट हो जाती है। इसके पश्चात् सूची I की प्रविष्टि 97 के अधीन विधायी शक्ति अनन्यतः संसद् को प्राप्त है। संविधान को संशोधित करने की शक्ति उस प्रविष्टि में नहीं है क्योंकि अनुच्छेद 368 के परन्तुक के अन्तर्गत आने वाले विषयों के बारे में संसद् को संविधान का संशोधन करने की अनन्य शक्ति प्राप्त नहीं है। भारत के संविधान का प्रारूप भी इसी दिशा में संकेत करता है कि संशोधन की शक्ति अवशिष्ट प्रविष्टियों में नहीं खोजी जा सकती। प्रारूप अनुच्छेद 304 में, जो अनुच्छेद 368 का समविषयक है, उप-अनुच्छेद 2 द्वारा राज्य विधानमण्डलों को भी संशोधन की सीमित शक्ति प्रदत्त की थी और उन विधानमण्डलों को न तो विधान सम्बन्धी अवशिष्ट शक्ति प्राप्त थी और न ही राज्य सूची—सूची 2, में संविधान के संशोधनों के रूप में विधायी शक्ति सम्मिलित है। अन्तिम रूप से अनुच्छेद 245 के अधीन विधान बनाने की शक्ति "इस संविधान के उपबन्धों के अध्यधीन है", जिससे कि अवशिष्ट शक्ति के अधीन संविधान के किसी भी भाग का संशोधन नहीं किया जा सकता क्योंकि कुछ विस्तार तक किसी संशोधन का संशोधित किए जाने वाले अनुच्छेद से असंगत होना अवश्यम्भावी है।

अनुच्छेद 368 में संशोधन की शक्ति को अवस्थित करने और इस तर्क को अपवर्जित करने के पश्चात् कि इसे सूची I की प्रविष्टि 97 में खोजा जा सकता है, उस शक्ति के विस्तार और प्रविषय को अवधारित करना आवश्यक हो जाता है। क्या वह शक्ति अनियन्त्रित और पूर्ण है अथवा क्या उसके प्रयोग पर कोई निर्बन्धन हैं चाहे वे अभिव्यक्त, विवक्षित अथवा अन्तर्निहित हों ?

पिटीशनर के काउन्सेल ने यह निवेदन किया है—(1) कि 'संविधान' शब्द कला का शब्द नहीं है, इसका कोई ठीक-ठीक और निश्चित अथवा मुख्य एवम् मूल अर्थ नहीं है ; (2) यह कि अनुच्छेद 368 के निबन्धनानुसार उसकी महत्वपूर्ण विवक्षाएं हैं और उस अनुच्छेद में यह दर्शित करने के लिए अन्तर्निहित साक्ष्य है कि उसके संदर्भ में 'संशोधन' शब्द के अन्तर्गत संविधान के सारभूत तत्वों के लिए अपायकर अथवा विनाशी परिवर्तन नहीं आते हैं ; (3) यह कि सांविधानिक संशोधनों सहित अनुच्छेद 13(2) संशोधनों की शक्ति पर अभिव्यक्त निर्बन्धन है ; (4) यह कि संशोधन शक्ति पर विवक्षित और अन्तर्निहित निर्बन्धन हैं जो संसद् को संविधान के सारभूत तत्वों, आधारभूत तत्वों अथवा उसके मूल सिद्धान्तों में से किसी को हानि पहुंचाने या विनष्ट करने से रोकते हैं ; और (5) यह कि संशोधन शक्ति के विस्तार का अर्थान्वयन करते समय उस शक्ति के पूर्ण और अनियन्त्रित अभिनिर्धारण के परिणामों को ध्यान में रखा जाना चाहिए। काउन्सेल का यह कहना है कि अनुच्छेद 368 को इस रूप में नहीं पढ़ा जाना चाहिए जैसे कि वह संविधान की समाप्ति की अभिव्यक्ति अथवा उसके विधिक रूप से अस्तित्व में न रहने के लिए उपबन्ध है। उसका यह कहना है कि संसद् अनुच्छेद 368 के अधीन अनधिकारपूर्वक संविधान के शासकीय समापक की भूमिका नहीं अपना सकती। प्रत्यर्थियों ने इनमें से हर एक प्रस्थापना पर उतना ही जोरदार रूप से विवाद किया है जितना जोरदार रूप से इनका प्राख्यान किया गया है।

निस्सन्देह 'संविधान' शब्द कला का शब्द नहीं है और हमारे समक्ष उद्धृत बहुत से शब्दकोषों, पाठ्य पुस्तकों और विधि शब्दावलियों से यह पता चलता है कि इस शब्द के अर्थ के बहुत से भाव हैं। उदाहरणस्वरूप शार्टर आक्सफोर्ड इंगलिश डिक्शनरी ऑन हिस्टोरीकल प्रिंसिपिल्स, तीसरा संस्करण, वेबस्टर्स थर्ड न्यू इण्टरनेशनल डिक्शनरी ऑफ दि इंगलिश लैंगवेज, दि रैण्डम हाउस डिक्शनरी ऑफ इंगलिश लैंगवेज, अर्ल जोविट कृत दि डिक्शनरी ऑफ इंगलिश लॉ, जुडिशियल एण्ड स्टेट्यूटरी डैफेनीशनस ऑफ वर्डस एण्ड फ्रेजेज ; दूसरी ग्रन्थमाला जौन बी० सौन्डार्स कृत वर्डस एण्ड फ्रेजेज लीगली डिफाइण्ड, स्ट्राउड्स लॉ लैक्सीकन, चौदहवां संशोधन, वर्ड एण्ड फ्रेजेज परमानेण्ट एडिशन; अर्ल टी० क्राफोर्ड कृत दी कन्सट्रक्शन ऑफ स्टेट्यूट्स।

कुछ अमरीकी राज्यों के सुप्रीम कोर्टों ने यह दृष्टिकोण अपनाया है कि 'संशोधन' पद में मूल लिखत के अनुसार ऐसा परिवर्धन या तब्दीली विवक्षित है, जो उसके उस प्रयोजन में सुधार करे अथवा उसको बेहतर रूप से क्रियान्वित करे जिसके लिए यह विरचित किया गया था [देखिए—लीवरमोर बनाम सेंटे[1], मैकफेडन बनाम जौर्डन[2],

---

(1) (1894) 102 कैलीफोर्निया, 118.

(2) 32 कैलीफोर्निया संक्षेप 330.

फोस्टर बनाम इवाट([1])] विनिश्चयों की दूसरी श्रेणी में पुनः अमरीकी राज्य के सुप्रीम कोर्ट ने 'संविधान' शब्द का विस्तृत अर्थ स्वीकार किया है जिससे कि इसके अन्तर्गत सांविधानिक दस्तावेज का 'पुनरीक्षण' भी सम्मिलित किया जा सके। [देखिए—एडवर्ड्स बनाम लेस्सर([2]), एक्स पार्टि डिल्लों([3]), स्टेपल्स बनाम गिलमर([4])]।

संक्षेप में यह कहना सही होगा 'संशोधन' शब्द को साधारणतः कम से कम तीन भिन्न-भिन्न अर्थ दिए गए हैं—

(क) सुधार करना या बेहतर बनाना; गलती दूर करना;

(ख) ऐसी तब्दीलियां करना जो लिखत में सुधार न करें किन्तु जो संशोधित की जाने वाले लिखत के आधारभूत तत्वों, सारभूत तत्वों और मूल सिद्धांतों में परिवर्तन न करें, हानि न पहुंचाएं या उन्हें नष्ट न करें; और

(ग) किसी भी प्रकार की कोई तब्दीली करना।

ये पाठ्य पुस्तकें और नजीरें इसलिए उपयोगी हैं क्योंकि यह देखने में सरल लगने वाले 'संशोधन' जैसे शब्द के निर्वचन में अन्तर्वलित अर्थान्वयन संबंधी कठिनाई के बारे में एक जागरूकता की भावना लाती हैं। किन्तु ऐसी जागरूकता के बाद भी अंतिम विश्लेषण में हमें यह अवधारित करने के लिए कि क्या अनुच्छेद 368 में 'संशोधन' शब्द अस्पष्ट और अनिश्चित अर्थ वाला है, अपने संघठनात्मक दस्तावेज का ही आश्रय लेना चाहिए।

'संशोधन' शब्द के अर्थ के बहुत से भाव भिन्न संदर्भों में भिन्न रूप से लागू हो सकते हैं किन्तु यह प्रतीत होता है कि अनुच्छेद 368 में वह जिस संदर्भ में आता है वह न तो अस्पष्ट है और न ही अनियत है बल्कि उसका एक निश्चित अर्थ है।

अनुच्छेद 368 का परन्तुक यह दर्शित करने के लिए आन्तरिक साक्ष्य प्रस्तुत करता है कि 'संशोधन' शब्द उस अनुच्छेद में संकीर्ण अथवा अनुदार भाव में नहीं प्रयुक्त हुआ है बल्कि उसका आशय वृहत्तम विस्तार है। अनुच्छेद 368 में यह उपबन्ध है कि "इस संविधान के संशोधन का सूत्रपात उस प्रयोजन के लिए विधेयक संसद् के किसी सदन में पुरःस्थापित करके ही किया जा सकेगा" और विहित बहुमत द्वारा विधेयक के पारित करने के पश्चात् "विधेयक के निबन्धनों के अनुसार संविधान संशोधित हो जाएगा"। परन्तुक में यह कहा गया है कि यदि "ऐसा कोई संशोधन" परन्तुक के खण्ड (क) से (ङ) में वर्णित विषयों में "कोई परिवर्तन करना चाहता है" तो उस संशोधन का राज्यों में से आधे राज्यों के विधानमण्डलों द्वारा उसका अनुसमर्थन भी अपेक्षित होगा। "ऐसा कोई संशोधन" का अर्थ प्रकटतः ऐसा "संशोधन" है जिसे

([1]) 144 ओहियो स्टेट 65.

([2]) साउथवेस्टर्न रिपोर्टर, वाल्यूम 33, पृष्ठ 1120.

([3]) फैडरल रिपोर्टर नं० 262, पृष्ठ 563.

([4]) अमेरिकन लॉ रिपोर्टर एनोटेटिड, जिल्द 158, पृष्ठ 495.

अनुच्छेद 368 के मुख्य भाग में निर्दिष्ट किया गया है और इस प्रकार स्वयं यह अनुच्छेद यह परिकल्पित करता है कि यह संशोधन 'परिवर्तन' का रूप ले सकता है। इस मामले में हर एक शब्द के हर एक कोने पर एक शब्दकोष निर्दिष्ट किया गया है और हमारे समक्ष 'चेंज' (तब्दीली) के बहुत से अर्थों के प्रति निर्देश किया गया है। आक्सफोर्ड इंगलिश डिक्शनरी (जिल्द I पृष्ठ 291) से इस शब्द का अर्थ उद्धृत कर देना पर्याप्त होगा--"तब्दीली : एक चीज के स्थान पर दूसरी चीज रख देना किसी चीज की स्थिति अथवा उसकी क्वालिटी में परिवर्तन कर देना"। वेबस्टर्स थर्ड न्यू इन्टरनैशनल डिक्शनरी (जिल्द III पृष्ठ 373-74) पर भी वही अर्थ दिया गया है। यह बात सन्देहातीत रूप से स्पष्ट है कि 'चेंज' (तब्दीली) से केवल मूल लिखत के अनुरूप ऐसा परिवर्धन............अभिप्रेत नहीं है जो उस प्रयोजन में सुधार करे या बेहतर रूप से क्रियान्वित करे जिसके लिए वह विरचित किया गया था।

पंचम अनुसूची के भाग ध के पैरा 7 और षष्ठ अनुसूची का पैरा 21 भी "संशोधन" शब्द के अर्थ का वैसा ही सबूत प्रस्तुत करता है। ये दोनों पैरा एक सी ही भाषा में इन-इन अनुसूचियों के संशोधन का उपबन्ध करते हैं--

> "अनुसूची का संशोधन—संसद्, समय-समय पर विधि द्वारा, जोड़, फेरफार या निरसन करके, इस अनुसूची के उपबन्धों में से किसी का संशोधन कर सकेगी तथा जब अनुसूची इस प्रकार संशोधित हो जाए तब इस संविधान में इस अनुसूची के प्रति किसी निर्देश का अर्थ ऐसा किया जाएगा कि मानो वह निर्देश इस प्रकार संशोधित ऐसी अनुसूची के प्रति हो।
>
> (2) ऐसी कोई विधि जैसी कि इस कण्डिका की उप-कण्डिका में वर्णित है इस संविधान के अनुच्छेद 368 के प्रयोजनों के लिए इस संविधान का संशोधन नहीं समझी जाएगी।"

पंचम और षष्ठ अनुसूची के पैरा 7 और 21 के इन उपबन्धों से दो चीजें सामने आती हैं, पहली यह कि "संविधान" जैसा कि खण्ड (1) में दर्शित किया गया है उसके अन्तर्गत "जोड़, फेरफार या निरसन" आते हैं और दूसरे यह कि "जोड़ फेरफार या निरसन" के रूप में भी कोई संशोधन अनुच्छेद 368 के निर्बन्धन के भीतर आएगा। इसे उस अनुच्छेद के प्रविषय से अभिव्यक्त रूप से अपवर्जित किया गया है जिससे कि यह उसके भीतर न आए जो कि यह अन्यथा उसके भीतर आता।

मूल रूप से अधिनियमित संविधान के बहुत से अनुच्छेदों में 'संशोधन' शब्द का प्रयोग किया गया था—अनुच्छेद 4 (1) (2), 108(4), 109(3) और (4), 111, 114(2), 169(2), 196(2), 198(3) और (4), 200, 201, 204(2), 207(1) (2) (3), 240(2), 274(1), 304 (ख) और 349। इन अनुच्छेदों की अन्तर्वस्तु और विषयवस्तु पर निर्देश करने पर यह पता चलेगा कि इन अनुच्छेदों के अन्तर्गत आने वाले हर एक मामले में 'संशोधन' जोड़, फेरफार या निरसन द्वारा होगा।

मूल संविधान के बहुत से उपबंधों में संशोधन की शक्ति प्रदत्त करने का उपदर्शन करने के लिए भिन्न पदों का प्रयोग किया गया था। अनुच्छेद 35(ख) में उसे "परिवर्तित, निरसित, संशोधित" कहा गया है, अनुच्छेद 243(1) में इसे "निरसन या संशोधन" के रूप में वर्णित किया गया है। अनुच्छेद 254(2) के परन्तुक में इसे संशोधन करने, फेरफार करने या निरसन करने के रूप में उल्लिखित किया गया है; और अनुच्छेद 392(1) में "ऐसे अनुकूलन चाहे वे उपान्तरण, परिवर्धन या लोप के रूप में हों" पद का प्रयोग किया गया है। आंग्ल भाषा की शब्दावली समृद्ध है और उसमें भिन्न शब्दों के अर्थों के भावों में ऐसे उत्तम और बारीक भेद हैं कि यह कहा जाता है कि उस भाषा में कोई पर्यायवाची नहीं है किन्तु मैं यह विश्वास करना असंभव समझता हूं कि ऊपर प्रगणित बहुत से पदों के पीछे कोई प्रकल्पित प्रयोजन अथवा परिकल्पना है। यदि कुछ उदारता से देखा जाए तो आसानी से यह माना जा सकता है कि इनका प्रयोग, भाषा की उत्कृष्टता प्राप्त करने की सामान्य कमजोरी के कारण किया गया है। अपने समक्ष किसी लिखत में इससे अधिक भाव लगाने का परिणाम वही होगा जो सर राबर्ट ब्राउनिंग की कविताओं का हुआ है। जब उसने उन्हें लिखा तो केवल दो ही व्यक्ति उसका अर्थ जानते थे—वह और ईश्वर। किन्तु आलोचकों को सुनने के पश्चात् केवल ईश्वर यह जानता है कि उसका कविता लिखने का क्या आशय था।

विश्व के बहुत से देशों के संविधानों से यह पता चलता है कि 'संशोधन', 'परिवर्तन', 'पुनरीक्षण' और 'तब्दीली' शब्दों का मिश्रित रूप में प्रयोग किया गया है। लाइबेरिया, ट्रिनीडाड और टोबेगो के संविधानों से यह पता चलता है कि 'संशोधन' और 'परिवर्तन' के अर्थ के बीच कोई भेद नहीं है। सोमालिया, जोर्डन, कुवैत, लेबनान और वियतनाम जनवादी गणतन्त्र के संविधानों से यह पता चलता है कि 'संशोधन' और 'पुनरीक्षण' के बीच कोई भेद नहीं है। बैल्जियम के संविधान से यह दर्शित होता है कि 'पुनरीक्षण' और 'परिवर्तन' शब्द एक ही भाव में प्रयुक्त किए गए हैं। बरुण्डी के संविधान से यह पता चलता है कि 'संशोधन' से 'तब्दीली' व्यञ्जित होती है। मोनाको, कोस्टारिका, क्यूबा और निकारगुआ के संविधानों से यह पता चलता है कि 'संशोधन' पूर्ण अथवा आंशिक हो सकता है।

डॉक्टर डी० कानरैड का अनुच्छेद 368 के बारे में यह कहना है कि "संशोधन की प्रक्रिया और संविधायी शक्ति पर परिसीमा के विषय में संशोधन शब्द के अर्थ को 'सुधार' तक निर्बन्धित करना संभव नहीं है और न ही इस बात से इंकार किया जा सकता है कि संशोधन द्वारा पूरे के पूरे अनुच्छेद हटाए जा सकते हैं या प्रतिस्थापित किए जा सकते हैं।" लेखक का यह दृष्टिकोण न्यायोचित है। भारतीय संविधान न तो विश्व का पहला लिखित संविधान और न ही वास्तव में अंतिम है। उस समय से जब पहला लिखित संविधान अर्थात् अमरीकी संविधान 1787 में विरचित किया गया था, आज तक 'संशोधन' पद 71 संविधानों में से कम से कम 57 संविधानों में आ चुका है। यह बात नहीं समझी जा सकती कि यदि 'संशोधन' शब्द संदिग्ध अर्थ वाला है

तो मूल महत्व के लिखित को तब्दील करने की शक्ति उतने लम्बे समय तक और उतने देशों के संविधानों में किस प्रकार अभिव्यक्त की जाती रही है।

तारीख 21 अगस्त, 1946 को संविधान सभा ने गवर्नमेंण्ट ऑफ इंडिया (थर्ड अमेण्डमेण्ट) ऐक्ट, 1949 पारित किया, जिसने गवर्नमेंण्ट ऑफ इंडिया, ऐक्ट 1935 में एक नई धारा 291 प्रतिस्थापित की, जिसने गवर्नर जनरल को ऐसे संशोधन करने की शक्ति दी जो वह आवश्यक समझे, चाहे वे कतिपय उपबन्धों में "जोड़, उपान्तरण, अथवा निरसन" के रूप में हों। उसके शीघ्र पश्चात् ही अर्थात् 17 सितम्बर, 1949 को संविधान सभा ने वर्तमान अनुच्छेद 368 के समविषयक् अनुच्छेद 304 पर बहस की जिसमें सदा 'संशोधन' शब्द प्रयुक्त हुआ था। अनुच्छेद 304 विषयक उस बहस में श्री एच० वी० कामथ द्वारा प्रस्तुत किया गया संशोधन संख्या 3239 नामन्जूर कर दिया गया था, जो उस अनुच्छेद में "फेरफार, जोड़, अथवा निरसन के रूप में हो" शब्द जोड़ने के लिए था।

मैं इस विधायी इतिहास में ऐसा अनुमान समझ पाने में असमर्थ हूं कि अनुच्छेद 304 में "संशोधन" शब्द का प्रयोग संशोधन शक्ति के अविषय को सीमित करने की दृष्टि से किया गया था। यह बात महत्वपूर्ण है कि गवर्नमेंण्ट ऑफ इंडिया (थर्ड अमेण्डमेण्ट) ऐक्ट, 1949 को उसके शीर्षक में "गवर्नमेण्ट ऑफ इंडिया ऐक्ट, 1935 को और संशोधित करने के लिए अधिनियम" के रूप में उल्लिखित किया गया था और उद्देशिका में यह कहा गया था कि गवर्नमेण्ट ऑफ इंडिया ऐक्ट, 1935 को संशोधित करना समीचीन है। धारा 4 द्वारा पुरानी धारा 291 पूर्ण रूप से "संशोधित" कर दी गई थी और नई धारा 291 'प्रतिस्थापित' कर दी गई थी। धारा 3 द्वारा एक नई उपधारा 'अन्तःस्थापित' की गई थी। धारा 5 द्वारा एक नई मद 'प्रतिस्थापित' की गई थी और पूर्णतः नई मद संख्याएं 31बी और 31सी 'अन्तःस्थापित' की गई थीं। अतः 1949 वाला अधिनियम इस संदेह की कोई गुंजाइश नहीं छोड़ता कि 'संशोधन' शब्द में जोड़ने, परिवर्तन करने और निरसन करने की शक्ति सम्मिलित है। इसके अलावा यह बात सुविदित है कि भिन्न शब्दों के प्रयोग से अर्थ में आवश्यक रूप से भेद नहीं पड़ता [देखिए मैक्सवैल कृत 'इण्टरप्रिटेशन ऑफ स्टेट्यूट्स' 12वां संस्करण, पृष्ठ 286 से 289; न्या० छागला और न्या० गजेन्द्रगडकर द्वारा निर्णीत मुम्बई राज्य बनाम हेयस अल्वरजा](1)।

अंतिम रूप से यह बात महत्वपूर्ण है कि गोलक नाथ वाले मामले में 11 न्यायाधीशों में से 5 ने यह दृष्टिकोण अपनाया था कि "संशोधन" शब्द को विस्तृत अर्थ दिया जाना चाहिए। प्रमुख बहुमत निर्णय में उस प्रश्न पर इस आधार पर विचार नहीं किया गया था कि जहां तक मूल अधिकारों का संबंध है, उस प्रश्न का संकुचित आधार पर उत्तर दिया जा सकता है। न्या० रामस्वामी ने भी 'संशोधन' शब्द के अर्थ पर विचार नहीं किया था। तथापि न्या० वांचू ने, जिसने प्रमुख अल्पमत

(1) ए० आई० आर० 1952 मुम्बई 16, 20

निर्णय सुनाया, न्या० हिदायतुल्लाह और न्या० बछावत ने यह दृष्टिकोण अपनाया था कि उस शब्द को विस्तृत अर्थ दिया जाना चाहिए। न्या० हिदायतुल्लाह के अनुसार "किसी संशोधन द्वारा नया विषय जोड़ा जा सकता है, पुराना विषय हटाया जा सकता है या परिवर्तित किया जा सकता है"।

इस प्रकार अनुच्छेद 368 में "संशोधन" शब्द का स्पष्ट और निश्चित अर्थ है और यह जोड़ने, परिवर्तन करने अथवा फेरफार करने से संबंधित वृहत्तम विस्तार की शक्ति का अर्थबोधक है। अनुच्छेद 368 में संविधान को संशोधित करने की शक्ति वस्तुतः इतनी विस्तृत है कि यह परन्तुक के खण्ड (ङ) द्वारा स्वयं संशोधन शक्ति को संशोधित करने की शक्ति अभिव्यक्त रूप से प्रदत्त करता है। संशोधन शक्ति के संशोधन पर कोई अभिव्यक्त रोक अधिरोपित न की जाने के कारण हमारे संविधान के अधीन संशोधन की शक्ति के विस्तार का वृहत्तर साक्ष्य ढूंढना अनावश्यक है।

प्रकटतः अनुच्छेद 368 कोई अभिव्यक्त परिसीमा अधिरोपित नहीं करता। इसका कारण स्पष्ट है। संशोधन की शक्ति सारतः और वस्तुतः ऐसे मूल आशय को, जो भाषा अथवा अनुभव की परिसीमाओं के कारण, दुर्बोध हो स्पष्ट करने वाली शक्ति है जिससे कि नई चुनौती का सामना करने के लिए मूलतः अभिव्यक्त आशय से तालमेल बैठ सके। जब कोई राष्ट्र अपने भाग्य का निर्माण करता है तो उसके सामने नई सीमाएं आती हैं, नई चुनौतियां सामने आती हैं और इसलिए नए उत्तर ढूंढने होते हैं। किसी ऐसे प्रभावशून्य दस्तावेज की शक्ति के आधार पर, जिसका प्रादुर्भाव ऐसे संदर्भ में हुआ हो, जिसकी प्रायः अब कोई संगति नहीं रह गई है, नई और अदृश्य मांगों का मुकाबला करना असंभव है। संशोधन की शक्ति सुरक्षा वाल्व (सेफ्टी वाल्व) है और इसकी सही प्रकृति और प्रयोजन को ध्यान में रखते हुए इसका अर्थान्वयन, संशोधन की आवश्यकता के समान ही किया जाना चाहिए। शक्ति अवसर के अनुरूप—कार्यशील होनी चाहिए। फैड्रिक के अनुसार संविधायी शक्ति का क्रान्ति से घनिष्ठ संबंध है[1]। जब संशोधनकारी उपबंध परिवर्तित आवश्यकताओं के अनुरूप सांविधानिक दस्तावेज के साथ तालमेल बैठाने में असमर्थ रहते हैं तो उसके परिणामस्वरूप क्रांति हो सकती है। यही कारण है कि यथार्थ अर्थान्वयन का सिद्धान्त, जो दण्डात्मक अथवा कराधान स्टेटयूट को लागू होता है, सांविधानिक अधिनियम में उसके लिए कोई स्थान नहीं होता और उसकी शक्तियों का "ऐसा अर्थान्वयन" अपनाया जाना चाहिए—"जो संभावित वृहत्तर विस्तार के लिए हितकर हो।"[2]

यदि अनुच्छेद 368 के निबन्धनों के अनुसार संशोधन की शक्ति विस्तृत और अनियंत्रित है तो क्या अनुच्छेद 13(2) उस शक्ति पर कोई अवरोध लगाता है? यह प्रश्नास्पद विषय है। गोलक नाथ वाले मामले में न्यायाधीशों ने बहुमत से यह

---

(1) देखिए—कांस्टीट्यूशनल गवर्नमेंट एण्ड डिमोक्रेसि चौथा संस्करण, पृष्ठ 139.

(2) ब्रिटिश कोल कॉर्पोरेशन बनाम रेक्स, (1935) ए० सी० 500, 518.

अभिनिर्धारित किया कि संशोधन की शक्ति अनुच्छेद 368 में मिलती है। किन्तु, भिन्न रूप से गठित बहुमत ने यह अभिनिर्धारित किया कि संविधान का संशोधन अनुच्छेद 13(2) के अर्थ के भीतर 'विधि' है और इसलिए संसद् को संविधान के भाग 3 द्वारा प्रदत्त अधिकारों को छीनने या न्यून करने की कोई शक्ति नहीं है। प्रमुख बहुमत और न्या० हिदायतुल्लाह के निर्णय में यह निष्कर्ष गोलक नाथ वाले विनिश्चय का प्रमाण है। अतः उस प्रश्न पर गंभीरता से विचार करना आवश्यक है।

मैं अनुच्छेद 13(2), 245 और 368 को पास-पास रखूंगा जिससे कि उनके परस्पर संबंध पर प्रकाश डाला जा सके।

अनुच्छेद 13(2)	अनुच्छेद 245	अनुच्छेद 368
राज्य ऐसी कोई विधि नहीं बनाएगा जो इस भाग द्वारा दिए अधिकारों को छीनती या न्यून करती हो और इस खंड के उल्लंघन में बनी प्रत्येक विधि उल्लंघन की मात्रा तक शून्य होगी।	इस संविधान के उपबन्धों के अधीन रहते हुए, संसद् भारत के संपूर्ण राज्यक्षेत्र अथवा उसके किसी भाग के लिए विधि बना सकेगी, तथा किसी राज्य का विधानमंडल उस सम्पूर्ण राज्य के अथवा उसके किसी भाग के लिए विधि बना सकेगा।	इस संविधान के संशोधन का सूत्रपात उस प्रयोजन के लिए विधेयक को संसद् के किसी सदन में पुरःस्थापित कर के ही किया जा सकेगा तथा जब प्रत्येक सदन द्वारा उस सदन की समस्त सदस्य संख्या के बहुमत से तथा उस सदन के उपस्थित और मतदान करने वाले सदस्यों के दो-तिहाई से अन्यून बहुमत से वह विधेयक पारित हो जाता है तब वह राष्ट्रपति के समक्ष उसकी अनुमति के लिए रखा जाएगा तथा विधेयक को ऐसी अनुमति दी जाने के पश्चात् विधेयक के निबंधनों के अनुसार संविधान संशोधित हो जाएगा।

(महत्त्व देने के लिए रेखांकित किया गया है।)

अनुच्छेद 13(2) स्पष्ट रूप से अनुच्छेद 245 की भाषा को प्रतिध्वनित करता है। अनुच्छेद 245 विधियां बनाने की शक्ति देता है, जबकि अनुच्छेद 13(2) विधि बनाने के शक्ति का प्रयोग करने पर परिसीमा अधिरोपित करता है। दो अनुच्छेदों के बीच अनुच्छेद 13(2) सर्वोपरि विधि है क्योंकि अनुच्छेद 245 अभिव्यक्तत: संविधान के सभी उपबंधों, जिसमें अनुच्छेद 13(2) सम्मलित है, के अध्यधीन है।

अनुच्छेद 368 में 'विधि' शब्द के प्रयोग को अत्यन्त सावधानी के साथ बचाया गया है, क्योंकि सांविधानिक विधि और मामूली विधि के बीच मौलिक अन्तर है। 'सांविधानिक विधि' का प्रयोग कभी भी इस भाव में नहीं किया जाता जिसके अन्तर्गत संविधान के अधीन बनाई गई विधियां हों (देखिए—जैनिंग्स—दि लॉ एण्ड दि कांस्टिट्यूशन, पांचवां संस्करण पृष्ठ 62–65) सांविधानिक विधि मूलभूत, वरिष्ठ और सर्वोपरि विधि है। इसकी प्रामाणिकता और अनुशास्ति मामूली विधियों से उच्चतर है (एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका, जिल्द 6, कांस्टिट्यूशन एण्ड कांस्टिट्यूशनल लॉ, पृष्ठ 314) जैसा कि डायसी ने 'इण्ट्रोडक्शन टू दि स्टेडी ऑफ दि लॉ ऑफ दि कांस्टिट्यूशन' (दसवां संस्करण, पृष्ठ 149–151) नामक अपनी पुस्तक में कहा है, परिसंघीय संविधान में विधानमण्डल अधीनस्थ विधियां बनाने वाला निकाय होता है जिसकी विधियां संविधान द्वारा प्रदत्त प्राधिकार के भीतर उप-विधियों की प्रवृत्ति की होती है।

अनुच्छेद 3,4,169, पंचम अनुसूची का पैरा 7 और षष्ठ अनुसूची का पैरा 21 सांविधानिक विधि और मामूली विधि के बीच सुभिन्नता के पहलू पर जोर देता है। किन्तु उपबन्धों द्वारा जो कुछ किया जाने के लिए प्राधिकृत है वह सामान्यत: अनुच्छेद 368 के प्रविषय के भीतर आएगा। किन्तु उस अनुच्छेद के प्रविषय से ऐसे विषय को बाहर निकालने और उन विषयों को मामूली विधायी क्षेत्र के भीतर रखने की दृष्टि से इन अनुच्छेदों में विशेष उपबन्ध किए गए हैं, जिससे कि उनके अधीन पारित कोई विधि अनुच्छेद 368 के प्रयोजनों के लिए संविधान का संशोधन नहीं समझी जाएगी।

अनुच्छेद 13(1) में यह उपबन्धित है—

"मूल अधिकारों से असंगत अथवा उनका अल्पीकरण करने वाली विधियां—(1) इस संविधान के प्रारंभ होने से ठीक पहिले भारत राज्यक्षेत्र में सब प्रवृत्त विधियां उस मात्रा तक शून्य होंगी जिस तक कि वे इस भाग के उपबन्धों से असंगत हैं।"

यह अनुच्छेद भाग 3 के उपबन्धों के और संविधान से पूर्व की विधियों के बीच असंगति के प्रभाव के बारे में है और यह उपबन्ध करता है कि ऐसी असंगति तक संविधान से पूर्व की विधियां शून्य होंगी। अनुच्छेद 13(2) संविधान के बाद वाली विधियों को भाग 3 के उपबन्धों से असंगति की सीमा तक शून्य बनाते हुए उसी विचारधारा का अनुसरण करता है। संविधान के पूर्व और संविधान के पश्चात् की इन विधियों के बारे में अनुच्छेद 13 के इन दो खण्डों में चर्चा की गई है वे एक ही प्रकृति और स्वरूप की हैं। सांविधानिक विधियों से सुभिन्नता रखते हुए वे मामूली विधियां हैं।

पिटीशनर के काउन्सिल ने यह निवेदन किया है कि संविधान के अनुच्छेद 395 में केवल "इण्डियन इण्डिपेण्डेन्स ऐक्ट, 1947 और गवर्नमेण्ट ऑफ इण्डिया ऐक्ट, 1935 का ही निरसन किया था और अनुच्छेद 372 के अधीन, इन दो अधिनियमितियों के निरसन के बावजूद भी, संविधान के प्रवृत्त होने से ठीक पहिले भारत के राज्यक्षेत्र में सब प्रवृत्त विधियां परिवर्तित, निरसित या संशोधित किए जाने तक प्रवृत्त रहीं। यह निवेदन किया गया कि तारीख 26 जनवरी, 1950 को तत्कालीन देशी राज्यों की बहुत सी सांविधानिक विधियां प्रवृत्त थीं और अनुच्छेद 13(1) का उद्देश्य भागतः उन विधियों की व्यावृत्ति करना भी था। इस दलील में कोई सार नहीं है। प्रथमतः यह संदिग्ध प्रस्थापना है कि देशी राज्यों का सम्मिलित रूप में कोई संविधान था। किन्तु यह भी उपाधारणा कर लें कि ऐसे संविधान किसी विशेष समय प्रवृत्त थे तो वे भारत संघ के साथ उन राज्यों के एकीकृत हो जाने पर प्रवर्तित नहीं रह जाएंगे। अतः अनुच्छेद 13(1) के अन्तर्गत कोई सांविधानिक विधियां नहीं हैं।

अनुच्छेद 13(3) (क) में 'विधि' की एक समावेशी परिभाषा है जिसके अन्तर्गत भारत के राज्यक्षेत्र में विधि का बल रखने वाला कोई अध्यादेश, आदेश, उपविधि, नियम, विनियम, अधिसूचना, रूढ़ि अथवा प्रथा है। यह बात आश्चर्यजनक है कि 'विधि' शब्द की समावेशी परिभाषा के भीतर संविधान के संशोधनों को सम्मिलित करने की आवश्यकता की उपेक्षा की गई हो और वास्तव में अनुच्छेद 13(2) का आशय सांविधानिक संशोधनों का सम्मिलित करना था। इस दृष्टिकोण के लिए उच्च और संगत प्रमाण हैं कि संविधान मूलभूत अथवा आधारभूत विधि है और यह वरिष्ठ बाध्यता वाली विधि है जिसके अनुरूप मामूली विधियां होनी चाहिएं। [कारपस जूरिस सेकण्डम, जिल्द 16 पृष्ठ 22–25; वीवर—कांस्टिट्यूशनल लॉ एण्ड इट्स एडमिनिस्ट्रेशन (1946) पृष्ठ 3; बरगीज–पालिटिकल साइंस एण्ड कांस्टिट्यूशनल लॉ, जिल्द I, पृष्ठ (145–146)]। अतः जब तक सांविधानिक विधि को अनुच्छेद 13(3)(क) में अभिव्यक्त रूप से सम्मिलित नहीं कर लिया जाता तब तक यह अनुच्छेद 13(2) के क्षेत्र से बाहर रहेगा।

अमरीका में इस बात के बहुसंख्यक प्रमाण हैं कि विभिन्न राज्यों के विधान-मंडल सांविधानिक संशोधनों का सूत्रपात करने में मामूली विधायी शक्ति का प्रयोग नहीं करते। यह सुभिन्नता यह बात कहकर स्पष्ट कर दी गई है कि अमरीका के परिसंघीय संविधान के संबंध में किसी राज्य का सांविधानिक उपबन्ध और संशोधन परिसंघीय संविधान के अर्थ के भीतर 'विधि' है और संविधान के अनुच्छेद 5 के अधीन कांग्रेस के संशोधन के लिए कोई प्रस्ताव रखते समय और राज्य का अनुसमर्थन करते समय न तो कांग्रेस ही और न राज्य ही विधायी शक्ति का प्रयोग करते हैं [कारपस जूरिस सेकण्डम, जिल्द 16 पृष्ठ 48, 49; चार्ल्स के बरडिक—दि लॉ ऑफ दि अमरीकन कांस्टिट्यूशन, पृष्ठ (40–42)]।

सांविधानिक और मामूली विधि के बीच मूलभूत अन्तर विधिमान्यता की कसौटी में है। सांविधानिक विधि के मामले में उसकी विधिमान्यता अन्तर्निहित होती है जब

कि मामूली विधि के मामले में इसकी विधिमान्यता को संविधान की कसौटी पर विनिश्चित करना होता है। ससम्मान मैं यह कहना चाहूंगा कि गोलक नाथ वाले मामले में बहुमत वाले दृष्टिकोण में अनुच्छेद 13(2) के अर्थान्वयन की बाबत विधायी शक्ति और संविधायी शक्ति के बीच इस आवश्यक प्रभेद को सम्यक् महत्व नहीं दिया गया था। हमारे संविधान सदृश नियन्त्रित संविधान में विधानमण्डलों को मामूली शक्तियों के अन्तर्गत संविधान को संशोधित करने की शक्ति नहीं होती है क्योंकि वह निकाय जो संविधान को अधिनियमित और संशोधित करता है वह संविधान सभा की हैसियत से कार्य करता है। संसद् अनुच्छेद 368 के अधीन अपने कर्तव्य का सम्पादन करने में संसद् के रूप में नहीं बल्कि संविधायी हैसियत में कार्य करती है।

मामूली विधियां पारित करने की प्रक्रिया के और संविधान में संशोधन करने के लिए अनुच्छेद 368 द्वारा विहित प्रक्रिया के बीच मौलिक अन्तर है। अनुच्छेद 368 के अधीन संविधान को संशोधित करने के अभिव्यक्त प्रयोजन के लिए किसी विधेयक का सूत्रपात करना होता है और इसे हर एक सदन के उपस्थित और मतदान करने वाले सदस्यों के दो-तिहाई से अन्यून बहुमत द्वारा पारित किया जाना होता है और परन्तुक के अधीन आने वाले मामले में उस संशोधन का आधे से अन्यून विधान-मण्डलों द्वारा अनुसमर्थन किया जाना होता है। मामूली विधि का सूत्रपात करने वाले किसी विधेयक को हर एक सदन की बैठक में अथवा दोनों सदनों की संयुक्त बैठक में उपस्थित और मतदान करने वाले सदस्यों के सादे बहुमत से पारित किया जा सकता है। अनुच्छेद 368 दोनों सदनों के संयुक्त बैठक का उपबन्ध नहीं करता। परन्तुक के अधीन राज्यों द्वारा अनुसमर्थन की प्रक्रिया को सम्भवतः मामूली विधायी प्रक्रिया नहीं कहा जा सकता क्योंकि अनुसमर्थन उस भाव के 'संकल्पों' द्वारा किया जाना अपेक्षित होता है। मामूली विधेयक संकल्पों द्वारा पारित नहीं किए जाते।

संविधायी शक्ति और मामूली विधायी शक्ति के बीच प्रभेद, का संविधान की उस प्रकृति के संबंध में सर्वोत्तम रूप से अधिमूल्यन किया जा सकता है, जिसका न्यायालय को संशोधन शक्ति के बारे में निर्वचन करना होता है। मैंककॉले बनाम किंग(1) में लार्ड बैकनहैड ने इसी सुभिन्नता को बताने के लिए 'नियन्त्रित' और 'अनियन्त्रित' शब्दों का प्रयोग किया था। जो प्रभेद पहले ब्राइस और उसके बाद डायसी ने 'अनम्य' और 'नमनीय' संविधान के बीच किया था। 'नियन्त्रित' अथवा 'अनम्य' संविधान का संशोधन करने के लिए मामूली विधियां बनाने के लिए विहित प्रक्रिया से भिन्न प्रक्रिया विहित की जाती है।

'अनियन्त्रित' अथवा 'नमनीय' संविधान में संविधान का संशोधन करने के लिए वही प्रक्रिया है जो मामूली विधियां बनाने के लिए होती है। ऐसे संविधान में सांविधानिक विधियों और मामूली विधियों के बीच प्रभेद बहुत मामूली रह जाता है, क्योंकि संविधान के विरुद्ध कोई विधि उस सीमा तक संविधान का निरसन कर देती है [मैंककॉले बनाम किंग(1)]।

(1) (1920) ए० सी० 691.

इस प्रकार संविधान को प्रकृति के आधार पर विभाजन का सही आधार यह है कि क्या यह नमनीय है अथवा अनम्य । यह इस बात को निर्धारित करता है कि क्या सांविधानिक विधि बनाने की प्रक्रिया मामूली विधियां बनाने की प्रक्रिया के समान होती है अथवा नहीं । नमनीय संविधान का एक अनूठा उदाहरण (यूनाइटेड किंगडम का संविधान, है इटली के भूतपूर्व राज्य का संविधान भी नमनीय था । वास्तव में वह इतना नमनीय था कि मुसोलिनी उस संविधान को रद्द किए बिना संविधान की अन्तर्निहित भावना का अत्यधिक रूप से अतिक्रमण कर सका । युनाइटेड स्टेट्स का संविधान अनम्य है क्योंकि इसे संविधान के प्रयोजन के लिए विशेष तन्त्र कार्यशील बनाए बिना संशोधित नहीं किया जा सकता । "अतः संक्षेप में, हम यह कह सकते हैं कि वह संविधान जिसे तोड़े बिना झुकाया नहीं जा सकता वह अनम्य संविधान है" (देखिए—सी एफ स्ट्रांग कृत माडर्न पोलिटिकल कांस्टिट्यूशन ; एन इण्ट्रोडक्शन टू दि कम्परेटिव स्टडी ऑफ देयर हिस्ट्री एण्ड एक्सजिस्टिंग फार्म 1970 पुनः मुद्रित) । संपूर्ण रूप से विचार करने पर भारतीय संविधान 'नियन्त्रित' अथवा 'अनम्य' संविधान है क्योंकि मोटे तौर पर उस संविधान के अनुच्छेदों के नाम को अनुच्छेद 368 द्वारा विहित विशेष प्रक्रिया से अन्यथा संशोधित किया जा सकता है । उसके कतिपय उपबन्ध जैसे कि अनुच्छेद 2 और 3 के साथ पठित अनुच्छेद 4 अनुच्छेद 169, पंचम अनुसूची का पैरा 7 और षष्ठ अनुसूची का पैरा 21 विधियां बनाने की मामूली प्रक्रिया द्वारा संविधान के संशोधनों को संशोधित करने की शक्ति प्रदत्त करते हैं किन्तु ये संशोधन उन-उन उपबन्धों द्वारा अनुच्छेद 368 के क्षेत्र से अभिव्यक्त रूप से अपवर्जित हैं । संविधान की अनुसूची 5 और 6 वस्तुतः संविधान के भीतर एक संविधान हैं ।

'नमनीय' और 'अनम्य' संविधानों के बीच प्रभेद विधायी और संविधायी शक्ति के बीच के प्रभेद को तीव्र रूप से सामने लाता है । ससम्मान मैं यह कहना चाहूंगा कि यह ऐसा प्रभेद है जिसे गोलक नाथ वाले मामले में बहुमत द्वारा सम्यक् महत्व नहीं दिया गया था । अनम्य संविधान में विधियां बनाने की शक्ति जाति है जिसकी कि विधायी और संविधायी शक्तियां प्रजातियां हैं और प्रभेद केवल संशोधन की प्रक्रिया ही है । यदि प्रक्रिया मामूली है तो शक्ति विधायी है ; यदि यह विशेष है तो शक्ति संविधायी है ।

इस विचार-विमर्श से यह पता चलेगा कि 'अनम्य' अथवा 'अनियंत्रित' संविधान में—जैसा कि हमारा है—संविधान का संशोधन करने वाली विधि संविधायी शक्ति का प्रयोग करते हुए बनाई जाती है और यह पूर्ण रूप से सांविधानिक विधि का स्वरूप ले लेती है । संविधान के अधीन पारित विधियां, जिनकी विधिमान्यता को संविधान की निहाई—पर परखा जाना होता है, एक मात्र रूप से ऐसी विधियां हैं जो अनुच्छेद 13(2) के अंदर आती हैं ।

इस विचार-विमर्श का महत्व अनुच्छेद 13(2) के इस व्यादेश में है कि राज्य ऐसी कोई 'विधि' नहीं बनाएगा, जो भाग 3 द्वारा प्रदत्त अधिकारों को छीनती हो या उन्हें न्यून करती हो । संविधान का संशोधन अनुच्छेद 368 के निबन्धनों के

भीतर अनुच्छेद 13(2) के अर्थान्तर्गत विधि न होने के कारण इस आधार पर शून्य नहीं हो सकता कि यह भाग 3 द्वारा प्रदत्त अधिकारों को छीनता या न्यून करता है।

निस्संदेह मूल अधिकारों का सभ्य समाज में एक अद्वितीय स्थान है, चाहे आप उन्हें 'अलंघ्य' जो अन्यसंक्रामणीय न हों "अनतिक्रम्य" के नाम से पुकारें अथवा जैसा कि लिबर ने उन्हें 'मौलिक' कहा है। इन शब्दों में कोई जादू नहीं है क्योंकि इन अधिकारों की शक्ति और महत्व संविधान में उनके 'मूल' के रूप में वर्णन से ही विवक्षित है। किन्तु संविधान की स्कीम में उन्हें जो महत्व का विशेष स्थान प्राप्त है, स्वयं उससे यह निष्कर्ष न्यायोचित नहीं ठहर सकता है कि वे संशोधन शक्ति से परे हैं। अनुच्छेद 13(2) स्पष्ट रूप से संशोधन शक्ति को सम्मिलित नहीं करता और अनुच्छेद 368 मूल अधिकारों को अपने प्रविषय से वर्जित नहीं करता।

किन्तु उनमें हस्तक्षेप नहीं किया जा सकता और संविधान में यह बात सुनिश्चित करने की सावधानी बरती है कि वे किसी विशेष बहुमत के हाथ का 'खिलौना' न बन जाएं। लोक सभा के सदस्य राज्य की जनता द्वारा वयस्क मताधिकार के आधार पर चुने जाते हैं। जब कि मामूली विधियां उपस्थित सदस्यों के बहुमत से पारित की जा सकती हैं, सांविधानिक संशोधन अनुच्छेद 368 के अधीन प्रत्येक सदन द्वारा उस सदन की समस्त सदस्य संख्या के बहुमत से और प्रत्येक सदन के अलग-अलग उपस्थित और मतदान करने वाले सदस्यों के दो-तिहाई से अन्यून बहुमत से पारित किए जाने अपेक्षित होते हैं। परन्तुक के भीतर आने वाले विषयों में संशोधन राज्यों के आधे से अन्यून विधानमण्डलों द्वारा भी अनुसमर्थित किए जाने होते हैं। लोक सभा के विपरीत राज्य सभा एक शाश्वत निकाय है जो हर दो वर्ष में अपनी एक-तिहाई सदस्यता को बदलता है। राज्य सभा के सदस्य राज्य के उन विधान सभाओं द्वारा चुने जाते हैं, जिन्हें जनता द्वारा प्रत्यक्षत: चुना जाता है। राज्य सभा के लिए चुनाव की पद्धति किसी सीमा तक लोक मत के झोंकों और तरंगों के विरुद्ध एक आश्वासन है।

अब मैं पिटीशनर के तर्क के एक महत्वपूर्ण भाग पर विचार करूंगा जो स्पष्टत: मुझे प्रथम दृष्टि में कुछ रोचक लगा था, किन्तु संवीक्षा करने पर मैं उस तर्क को नामन्जूर करता हूं। विद्वान् काउन्सेल ने यह निवेदन किया है कि यह बात सारहीन है कि चाहे संशोधन की शक्ति अनुच्छेद 368 में हो अथवा सूची 1 की प्रविष्टि 97 में हो क्योंकि जहां कहीं भी वह शक्ति हो, उसका प्रयोग अन्तर्निहित और विवक्षित परिसीमाओं के अध्यधीन है।

यह तर्क इस रूप में है कि संविधान आवश्यक रूप से विस्तृत और व्याख्यावादी होने की बजाय साधारण होना चाहिए और इसलिए सांविधानिक अर्थान्वयन में विवक्षा की एक महत्वपूर्ण भूमिका होनी चाहिए। विवक्षित परिसीमाएं वे हैं जो संविधान की स्कीम में विवक्षित हैं जबकि अन्तर्निहित परिसीमाएं वे हैं जो अपनी प्रकृति, स्वभाव और गठन से किसी प्राधिकारी में अन्तर्निहित होती हैं। विवक्षित परिसीमाएं परिस्थितियों और ऐतिहासिक घटनाओं से उत्पन्न होती हैं जिनके कारण हमारे संविधान का

अधिनियमन हुआ, जो भारत के विभिन्न राज्य के नागरिकों के अधिकारों के और समाज के बहुत से वर्गों के बीच सत्यनिष्ठ संतुलन बताता है। संविधान के अधिकांश सारभूत तत्व आधारभूत मानव अधिकार हैं जिन्हें कभी-कभी नैसर्गिक अधिकार कहा जाता है जो 'यूनिवर्सल डिक्लेरैशन ऑफ ह्यूमन राइट्स' में प्रगणित विषयों के समविषयक हैं जिन पर भारत एक हस्ताक्षरकर्ता है। अन्तिम प्रभुसत्ता जनता में निहित है और संविधान के सारभूत तत्वों को परिवर्तित या विनष्ट करने की शक्ति प्रभुसत्ता का सहजगुण है। अनुच्छेद 368 में जनता संशोधन प्रक्रिया से बिल्कुल भी सम्पृक्त नहीं है। संविधान संशोधन की शक्ति संसद् को देता है, जो स्वयं संविधान की सृष्टि है। यदि संसद् को सारभूत तत्वों को विनष्ट करने की शक्ति है तो यह संविधान की सृष्टि नहीं रहेगी, संविधान सर्वोपरि नहीं रहेगा और संसद् संविधान के ऊपर सर्वोच्च बन जाएगी। संविधान द्वारा दी गई शक्ति का ऐसा अर्थान्वयन नहीं किया जा सकता कि वह उसी लिखत द्वारा प्रदत्त की गई अन्य शक्तियों को विनष्ट करना प्राधिकृत करती है। यदि संसद् की संशोधन शक्ति पर कोई अन्तर्निहित परिसीमा नहीं है तो उस शक्ति का प्रयोग न्यायिक शक्ति और शासकीय शक्ति को और यहां तक कि संसद् और राज्य विधानमंडलों की मामूली विधायी शक्ति को विनष्ट करने के लिए भी किया जा सकता है। हमारे संविधान की प्रस्तावना, जो बहुत ही अर्थपूर्ण और प्रबोधक है संशोधन की शक्ति के परे है और इसलिए संविधान में ऐसा कोई संशोधन नहीं किया जा सकता जो प्रस्तावना से असंगत हो। प्रस्तावना संविधान से पहले आती है और यह उसका परिचय-पत्र है।

काउन्सेल ने आनुकल्पिक रूप से यह निवेदन किया है कि यदि तर्क के प्रयोजन के लिए यह उपधारणा कर ली जाए कि संशोधन की शक्ति ऐसी शक्ति है, जिसमें मूल अधिकार आ जाते हैं तो भी इसका प्रयोग उन अधिकारों के मर्म को हानि पहुंचाने अथवा सारभूत तत्वों अथवा संविधान के मूल सिद्धान्तों को हानि पहुंचाने अथवा उन्हें विनष्ट करने के लिए नहीं किया जा सकता। अंतिम रूप से काउन्सेल ने यह निवेदन किया है कि विवक्षित और अन्तर्निहित परिसीमाओं का सिद्धान्त संयुक्त राज्य अमरीका, कनाडा, आस्ट्रेलिया और आयरलैंड जैसे देशों के सर्वोच्च न्यायालयों ने स्वीकार किया है। यह भी कहा गया है कि उस सिद्धान्त को इस न्यायालय, फैडरल कोर्ट और प्रिवी काउन्सिल ने भी मान्यता दी है।

इन दलीलों के उत्तर में प्रत्यर्थियों की ओर से यह निवेदन किया गया है कि संशोधन शक्ति पर विवक्षित अथवा अन्तर्निहित परिसीमाएं मानने की कोई गुंजाइश नहीं है, कि यदि संशोधन शक्ति में ऐसी परिसीमाएं मान ली जाएं तो संशोधनों की विधिमान्यता के बारे में बड़ी अनिश्चितता आ जाएगी, यह कि प्रस्तावना संविधान का भाग है और संसद् द्वारा उसे संशोधित किया जा सकता है, यह कि हमारे संविधान में आधारभूत मानवीय अथवा नैसर्गिक अधिकारों को कोई मान्यता नहीं दी गई है और विश्व का बहुमत संशोधन शक्ति पर अन्तर्निहित परिसीमाओं के विरुद्ध है, तो सांविधानिक संशोधनों की विधिमान्यता के बारे में महान अनिश्चितता उत्पन्न हो जाएगी।

इन विरोधी दलीलों पर विचार करने से पूर्व मैं यह उपदर्शित करना चाहूंगा कि गोलक नाथ वाले मामले (1) में अन्तर्निहित परिसीमाओं के प्रश्न पर विचार किया गया था। मु० न्या० सुब्बा राव ने, जिन्होंने प्रमुख बहुमत निर्णय दिया है, यह कहा कि इस तर्क में पर्याप्त बल है, किन्तु इसे विनिश्चित करना अनावश्यक है (पृष्ठ 805)। न्या० हिदायतुल्लाह के अनुसार, सम्पूर्ण संविधान का संशोधन किया जा सकता है। केवल दो दर्जन अनुच्छेद ही अनुच्छेद 368 के प्रविषय से बाहर हैं। वे भी केवल इस कारण क्योंकि संविधान में उन्हें मूल बनाया गया है (पृष्ठ 877)। न्या० वांचू ने जिन्होंने प्रमुख अल्पमत निर्णय दिया, यह मत व्यक्त करते हुए तर्क नामंजूर कर दिया कि "संशोधन करने की शक्ति संविधायी शक्ति होने के कारण हमारी यह राय है कि उसके बारे में यह अभिनिर्धारित नहीं किया जा सकता है कि वह इस आधार पर किसी विवक्षित परिसीमा के अध्यधीन है कि संविधान के कतिपय आधारभूत तत्वों को संशोधित नहीं किया जा सकता (पृष्ठ 836)। न्या० बछावत ने यह मत व्यक्त किया कि उस प्रयोजन को विनिश्चित करना अनावश्यक है क्योंकि मामले के निपटारे के लिए यह कहना पर्याप्त है कि मूल अधिकार संशोधन शक्ति के भीतर हैं (पृष्ठ 906)। न्या० रामास्वामी ने विचार किया और यह मत व्यक्त करते हुए तर्क नामंजूर कर दिया कि अनुच्छेद 368 के अर्थान्वयन में किसी विवक्षा की गुंजाइश नहीं है और यह बात असंभाव्य है कि यदि कतिपय आधारभूत तत्वों का असंशोधनीय होना आशयित था तो संविधान निर्माताओं ने अनुच्छेद 368 में अभिव्यक्त रूप से वैसा न कहा होता (पृष्ठ 933)।

इस तर्क को स्वीकार करना कठिन है कि संशोधन शक्ति पर अन्तर्निहित परिसीमाएं इस आधार पर मान ली जाएं कि मूल अधिकार नैसर्गिक अधिकार हैं, जो प्रत्येक व्यक्ति को प्राप्त हैं। संविधान के भाग 3 में यह दर्शित करने के लिए अनेक साक्ष्य हैं कि हमारे संविधान निर्माताओं ने नैसर्गिक अधिकारों के सिद्धान्त को मान्यता नहीं दी थी।

अनुच्छेद 13 (2) भाग 3 द्वारा 'प्रदत्त' अधिकारों के बारे में चर्चा करता है और राज्यों को यह आदेश देता है कि वे उससे असंगत विधियां न बनाएं। संविधान का अनुच्छेद 32 यह कहता है कि भाग 3 द्वारा 'प्रदत्त' अधिकारों के प्रवर्तन के लिए उच्चतम न्यायालय से समावेदन करने का अधिकार प्रत्याभूत है। संविधान द्वारा इस प्रकार मूल अधिकार प्रदत्त किए जाने से पूर्व ऐसा कोई प्रकट साक्ष्य नहीं है कि भारतीय जनता को ये अधिकार प्राप्त थे। संविधान का अनुच्छेद 19 भारत के नागरिक को सात स्वतंत्रताएं देने तक सीमित है। अनागरिकों को इन अधिकारों से वंचित रखा गया था क्योंकि भारतीय नागरिकों को कुछ अधिकार प्रदत्त किया जाना पूर्व विद्यमान, नैसर्गिक अधिकारों की मान्यता के अनुसार नहीं है। अनुच्छेद 33 संसद् को यह अवधारित करने की शक्ति प्रदत्त करता है कि भाग 3 द्वारा प्रदत्त अधिकार किस सीमा तक सशस्त्र सेनाओं के सदस्यों को लागू होने के बारे में सीमित अथवा निराकृत किए

(1) (1967) 2 एस० सी० आर० 762.

जा सकते हैं। अनुच्छेद 339 (1) आपात की उद्घोषणा के दौरान भाग 3 द्वारा 'प्रदत्त' अधिकारों को निलम्बित करने के लिए राष्ट्रपति को सशक्त करता है। अनुच्छेद 25 और 26 उनके आरम्भिक शब्दों द्वारा यह दर्शित करते हैं कि धर्म की स्वतंत्रता का अधिकार नैसर्गिक अधिकार नहीं है, किन्तु समाज के सर्वोपरि हित के अध्यधीन है और उस अधिकार का कोई भी भाग, चाहे वह कितना भी महत्वपूर्ण हो, जो सभ्य समाज में विनियमित नहीं किया जा सकता और बहुत से मामलों में विनियमित किया भी नहीं गया है। समुदाय के किसी वर्ग को पूजा के स्थान में प्रवेश करने के अधिकार से इन्कार करना धर्म का भाग हो सकता है, किन्तु यह सुविदित है कि ऐसी इन्कारियां संविधान द्वारा समाप्त कर दी गई हैं। [देखिए—न्या० वेंकटराम अय्यर द्वारा निर्णीत श्री वेंकटरमन देवारू और अन्य बनाम मैसूर राज्य और अन्य (1) और लार्ड चांसलर बर्किन हैड द्वारा निर्णीत बोर्न बनाम कौन(2)। इस प्रकार भारत वर्ष में नागरिक और अनागरिक को उच्च महत्व के अधिकार प्राप्त हैं और वे उनका प्रयोग करने के लिए मात्र इस कारण हकदार हैं कि वे उन्हें संविधान द्वारा प्रदत्त किए गए हैं।

अधिकांश रूप में 'नैसर्गिक अधिकार' का सिद्धान्त आज समाप्त हो गया है। यह धारणा कि यह समाज और सरकार स्वतंत्र व्यक्तियों के बीच किसी मानी हुई संविदा के आधार पर चलते हैं और यह कि ऐसी संविदा राजनीतिक बाध्यताओं का एक मात्र स्रोत होती है, अब अमान्य समझी जाती है। कलहान और उसके अनुगामियों ने इस सिद्धान्त की उपेक्षा कर दी है जबकि स्टोरी जैसे सिद्धान्तवादियों ने इसे विस्तृत रूप से उपान्तरित किया है। अब विस्तृत रूप से यह विश्वास है कि नैसर्गिक अधिकारों का राजनीतिक मूल्य से भिन्न कोई मूल्य नहीं है। बरमीज के अनुसार, इस पृथ्वी पर मानव मात्र के बीच कभी कोई ऐसी स्वतंत्रता नहीं थी और न ही राज्य संगठनों के बाहर हो सकती है। विलोबी के अनुसार, नैसर्गिक अधिकारों का उपकल्पित "प्राकृतिक-स्थिति" में कोई नैतिक मूल्य भी नहीं है; वे तो वस्तुतः में बल के समान ही बात है और इसलिए उनका कोई राजनीतिक महत्व नहीं है। इस प्रकार नैसर्गिक अधिकार के विचारकों ने जो एक बार मानव जाति के जिस खोए हुए हक-विलेखों को खोज निकाला था अब ऐसा लगता है कि हक-विलेख फिर खो गया है और संभवतः अब कभी नहीं मिलेगा।

प्रस्तावना के बारे में तर्क यह है कि वह संविधान का एक भाग हो सकती है किन्तु उसे संविधान का उपबन्ध नहीं माना जा सकता है और इसलिए संविधान को इस प्रकार संशोधित नहीं किया जा सकता है कि उसकी प्रस्तावना नष्ट हो जाए। प्रस्तावना में इतिहास के कतिपय उज्जवल विचारों एवं सिद्धान्तों का उल्लेख है और तर्क यह है कि अपनी प्रकृति के अनुसार वह असंशोधनीय है, क्योंकि न तो कोई वर्तमान में और न भविष्य में ही, चाहे वह कितना ही शक्तिशाली क्यों न हो, भूतकाल के सच्चे ऐतिहासिक तथ्यों को संशोधित नहीं कर सकता है। उक्त तर्क के एक अंश

(1) (1958) एस० सी० आर० 895, 919.
(2) (1919) ए० सी० 815, 861.

के समर्थन में काउन्सेल ने बेरुबारी वाले मामले (1) में किए गए विनिश्चय का अवलम्ब लिया है। हमारा ध्यान जोसेफ स्टोरी की कृति 'कमेन्ट्रीज ऑन दि कांस्टिट्यूशन ऑफ दि यूनाइटेड स्टेट्स' में 'प्रियेम्बल' से संबंधित अध्याय से कुछ पैराओं की ओर आकर्षित किया गया है।

मैं यह दलील स्वीकार नहीं कर सकता हूं कि प्रस्तावना संविधान का उपबन्ध नहीं है। संविधान सभा के अभिलेख से यह दलील निराधार साबित हो जाती है। संविधान सभा की कार्यवाही से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रस्तावना पर मतदान हुआ था और वस्तुतः मतदान इसी उद्देश्य से हुआ था कि उसे संविधान का अंग बना दिया जाए या नहीं (कांस्टिट्यूएण्ट असेम्बली, खंड 10, पृष्ठ 429, 456)। संविधान के भाग रूप और उपबन्ध के रूप में प्रस्तावना 26 जनवरी, 1950 को प्रभावी हुई। आमतौर से यह मत स्वीकार किया गया है कि प्रस्तावना अधिनियमिति का भाग होती है (क्रैरीज़ की कृति 'स्टेट्यूट लॉ' सातवां संस्करण, पृष्ठ 201; हेल्जबरी, खंड 36, तृतीय संस्करण, पृष्ठ (370)।

अन्तर्निहित निर्बन्धनों की बाबत पिटीशनर के तर्क पर विचार करते समय निर्वचन के कुछ बुनियादी सिद्धान्तों को ध्यान में रखना आवश्यक है। अभिव्यक्त प्रतिषेध के अभाव में यह तर्क देने की गुंजाइश रह ही जाती है कि संशोधन शक्ति पर विवक्षित या अन्तर्निहित निर्बन्धन विद्यमान हैं। किन्तु अभिव्यक्त प्रतिषेध का अभाव यह अनुमान लगाने के लिए भी अत्यन्त सुसंगत है कि ऐसा कोई भी विवक्षित प्रतिषेध नहीं है। क्वीन बनाम बुराह (2) में प्रिवी काउन्सिल के विनिश्चय से यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है। इस न्यायालय ने प्रिवी काउन्सिल के उक्त विनिश्चय का अनुसरण मुम्बई राज्य बनाम नवरतन दास जेठाभाई (3) और सरदार इन्द्र सिंह बनाम राजस्थान राज्य (4) में किया है। उपरोक्त मत व्यक्त करते हुए मैंने इस तथ्य की उपेक्षा नहीं की है कि उक्त बुराह वाला मामला और वे दो मामले, जिनमें बुराह वाले मामले का अनुसरण किया गया है, प्रधानतः सशर्त (कंडीशनल) विधान से संबंधित हैं।

निर्वचन का दूसरा सिद्धान्त यह है कि न्यायालय इस आधार पर किसी अधिनियम को शून्य घोषित नहीं कर सकते हैं कि वह ऐसी 'भावना' के प्रतिकूल है जिसकी बाबत यह माना जाता है कि वह संविधान में सन्निहित है किन्तु शब्दों में अभिव्यक्त नहीं है। गोपालन वाले मामले (5) में, मुख्य न्यायाधिपति कानिया ने यह मत व्यक्त किया है कि अर्थान्वयन की शक्ति के अतिव्यापक हो जाने से न्यायपालिका के हाथ में बहुत महान और असीमित शक्ति केन्द्रीत हो जाती है जिसके द्वारा या तो न्यायालय की सुरक्षा होती है या निजी अधिकारों का संरक्षण होता है। 'भावना' का तर्क बहुत आकर्षक लगता है और उस तर्क पर बहुत बल दिया जा सकता है। किन्तु यह नहीं

(1) (1960) 3 एस० सी० आर० 250, 282.
(2) 5 आई० ए० 178, 195.
(3) (1951) 2 एस० सी० आर० 51, 81.
(4) (1957) एस० सी० आर० 605, 616-17.
(5) (1950) एस० सी० आर० 88, 121.

भूलना चाहिए कि केशव माधव मेनन (1) वाले मामले में न्यायाधिपति एस० आर० दास ने क्या कहा है, अर्थात् संविधान की 'भावना' का अनुमान संविधान में प्रयुक्त शब्दावली या भाषा के आधार पर ही लगाया जा सकता है। मैंने यह अभिनिर्धारित किया है कि अनुच्छेद 368 की भाषा स्पष्ट और असंदिग्ध है । परिणामस्वरूप उसे उस दिशा में भी, जबकि रिष्टिकारी परिणाम उत्पन्न होते हों पूरी तरह से प्रभावी बनाया जाना चाहिए क्योंकि न्यायाधीशों का सम्बन्ध विधि निर्माण संबंधी नीति से नहीं होता है और 'आप विधानमंडल की किसी आड़ में निन्दा नहीं कर सकते हैं ।' [बावर एण्ड सन्स लिमिटेड बनाम लन्दन सोसाइटी ऑफ कम्पोजिटर्स (2)] । इस बात का महत्व कि अनुच्छेद 368 की भाषा असंदिग्ध और अस्पष्ट है, यह है कि ऐसी भाषा के विद्यमान होते हुए कोई भी विवक्षा के लिए स्थान नहीं रह जाता है बशर्ते कि सम्पूर्ण अधिनियमिति के संदर्भ में, जिसमें कि ऐसी भाषा प्रयुक्त हुई हो, ऐसी विवक्षा अनिवार्य न हो जाती हो । मुझे यह कहना रुचिकर लगता है कि 'संदर्भ' का अर्थ केवल यह नहीं है कि जिस शब्द का अर्थान्वयन किया जाना है उसकी स्थिति अन्य सम्बद्ध शब्दों के सम्बन्ध में क्या है वरन् उससे ऐसे समय का संदर्भ भी अभिप्रेत है जिसमें कि मूल अधिनियमिति का अर्थान्वयन किया जाता है ।

मेरे विचार से अन्तर्निहित निर्बन्धनों से सम्बन्धित पिटीशनर के तर्कों पर प्रत्यक्ष प्रभाव डालने वाले निर्वचन का महत्वपूर्ण नियम यह है कि यदि पाठ स्पष्ट है तो उसके निदेशनों और प्रतिषेधों को समान रूप से निश्चायक माना जाना चाहिए । यदि संबंधित उपबंध का पाठ स्पष्ट है तो किसी विशिष्ट अर्थान्वयन के परिणाम का प्रभाव सांविधानिक उपबन्धों के अर्थान्वयन पर नहीं पड़ सकता है, अटर्नी जनरल, ओन्टेरियो बनाम अटर्नी जनरल, कनाडा (3) । जैसा कि मुख्य न्यायाधिपति मार्शल ने प्राविडेन्स बैंक बनाम एलफेयस बिलिंग्ज (4) में अपना मत व्यक्त किया है, किसी शक्ति का दुरुपयोग किया जा सकता है किन्तु सरकार द्वारा की जाने वाली शक्ति के प्रत्येक दुरुपयोग के लिए संविधान सुधार प्रस्तुत नहीं कर सकता है । हमें इस अनुमान के लिए कोई आधार उपलब्ध नहीं हो सका है कि संसद् संविधान द्वारा उसे स्पष्टतः दी गई शक्तियों का अर्थान्वयन विपरीत रूप में करेगी और जहां तक कि शक्तियों के दुरुपयोग का सवाल है तो क्या संविधान के अन्य अनेकों उपबन्धों के अधीन शक्ति के दुरुपयोग के लिए अत्यधिक गुंजाइश नहीं है । युद्ध और शान्ति से संबंधित शक्तियों, वित्तीय शक्तियों और निवारक निरोध से संबंधित शक्तियों का अधिकतम दुरुपयोग किया जा सकता है और फिर भी संविधान निर्माताओं ने ये शक्तियां संसद् को दी हैं । जब हम संविधान के अनुच्छेद 22 में उल्लिखित उपबन्धों पर विचार करते हैं तो मेरे अन्दर एक विप्लव होने लगता है । किन्तु संविधान के उपबन्धों के अर्थान्वयन में वैयक्तिक भावनाओं का कोई स्थान नहीं होता है । अनुच्छेद 22 का खंड 7 संसद् को ऐसी विधि अधिनियमित

(1) (1951) एस० सी० आर० 228, 231.

(2) (1913) ए० सी० 107, 112, 117, 121.

(3) (1892) ए० सी० 571.

(4) 7 लॉयर्स इडिशन 939, 957.

करने की शक्ति प्रदान करता है जिसके अधीन किसी व्यक्ति को सलाहकार बोर्ड ने राय प्राप्त किए बिना ही तीन महीने से अधिक की कालावधि तक अवरुद्ध रखा जा सकता है। निवारक निरोध से संबंधित कतिपय विधियों को अधिनियमित करते समय सरकार ने इस बात की उदारता दिखलाई है कि उसने निवारक निरोध की अधिकतम सीमा नियत कर दी है, भले ही यह सीमा कुछ अनिश्चित सी है। यह भी स्पष्ट है कि सरकार ऐसा करने के लिए बाध्य नहीं थी। अतः जब मूल संविधान तैयार किया गया था तो संसद् को, जिसे पिटीशनर के काउन्सेल के अनुसार संविधान द्वारा सृष्ट किया गया है, ऐसी बहुत-सी शक्तियां प्रदान की गई हैं जिनका गंभीरतम रूप में दुरुपयोग किया जा सकता है। इस तर्क के महत्व को समझने के लिए कि सांविधानिक उपबन्धों के निर्वचन में परिणामों की गंभीरता सुसंगत विषय है, मुझे लाकर बनाम न्यूयार्क (1) में न्यायाधिपति होल्मस का प्रभावशाली विसम्मत निर्णय याद आ जाता है। यह निर्णय किसी श्रम अधिनियम से संबंधित था। विद्वान् न्यायाधिपति के अनुसार कसौटी यह नहीं है कि वह उस विधि को युक्तियुक्त मानते हैं या नहीं वरन् कसौटी यह है कि अन्य युक्तियुक्त व्यक्ति उसे अयुक्तियुक्त मानते हैं या नहीं। बैंक ऑफ टोरोन्टो बनाम लाम्बे (2) में लार्ड हाबहाउस ने यह मत व्यक्त किया है कि 'संपत्ति और सिविल अधिकारों की बाबत विधि बनाने की महान् शक्ति जिन व्यक्तियों को दी गई हैं उन्हें कर उद्गृहीत करने की शक्ति भी दी जा सकती है।' निर्वाचित प्रतिनिधियों पर विश्वास करना प्रजातन्त्र का मूल आधार है। जब यह विश्वास निष्फल होता है तो सब कुछ निष्फल हो जाता है। 'ए स्पिरिट ऑफ लिबर्टी' में न्यायाधिपति लर्नेड हैण्ड ने कहा है—'मुझे अक्सर आश्चर्य होता है कि क्या हम संविधान से अत्यधिक आशाएं नहीं करते हैं और क्या हम विधियों और न्यायालयों पर अत्यधिक आश्रित नहीं हैं'। आप मुझ पर विश्वास करें कि ये सब झूठी आशाएं हैं। मानव-हृदय में स्वतंत्रता का वास है। जब यह स्वतंत्रता उनके हृदय में नहीं रह जाती है तो कोई भी संविधान, कोई विधि और कोई भी न्यायालय उस स्वतंत्रता की रक्षा नहीं कर सकता है; उसकी रक्षा के लिए कोई भी संविधान, कोई भी विधि और कोई भी न्यायालय अधिक सफल नहीं हो सकते हैं: जब ऐसी स्वतंत्रता हृदय में विद्यमान है तो उसके संरक्षण के लिए किसी भी न्यायालय की आवश्यकता नहीं है।"

निर्वचन के विषय पर लिखे गए मान्य ग्रन्थों में भी यह मत व्यक्त किया गया है कि 'जब अधिनियम की भाषा स्पष्ट और सुव्यक्त है तो हमें उसे प्रभावी बनाना चाहिए, उसके चाहे जो भी परिणाम क्यों न हों क्योंकि उस स्थिति में संबंधित अधिनियमिति की शब्दावली विधानमंडल का आशय व्यक्त करती है। (3)

अतः यह स्पष्ट है कि सांविधानिक निर्बन्धनों के अलावा किसी भी विधि को इस आधार पर अवैध घोषित नहीं किया जा सकता है कि वह अयुक्तियुक्त या

(1) 49 लायर्स इडिशन 937.

(2) (1887) 12 ए० सी० 575, 586.

(3) करिज की कृति 'स्टेट्यूट लॉ' छठा संस्करण पृष्ठ 66.

अन्यायोचित है । यही मत इस न्यायालय ने बिहार राज्य बनाम कामेश्वर सिंह (1) में व्यक्त किया है । न्यायाधिपति महाजन ने बिहार भूमि व्यवस्था अधिनियम को, जो उक्त मामले में विचाराधीन था, न्यायालय की न्यायिक दृष्टि से प्रतिकूल माना है । वस्तुतः विद्वान् न्यायाधिपति ने अपने निर्णय में यह कहा है कि महान्यायवादी ने इस बाबत कोई गंभीर विवाद नहीं उठाया है कि संबंधित विधि अत्यन्त अन्यायोचित और अनुचित है और कुछ दशाओं में विहित प्रतिकर पूर्णतः भ्रामक है । किन्तु न्यायालय ने स्वयं संविधान द्वारा सृष्ट 'अन्याय' को दूर करने के लिए स्वयं को अशक्त पाया । संविधान के मूल अधिनियमन के समय उसमें विहित किसी भी उपबंध को असांविधानिक घोषित नहीं किया जा सकता है। यही बात संविधान में किए गए पश्चात्‌वर्ती संशोधनों को भी, जो संविधान के ही भागरूप हो जाते हैं, लागू होती है, बशर्ते कि ऐसे संशोधन जिन शर्तों के अनुसार किए जाने चाहिए उन्हीं शर्तों के अनुसार यथावत् रूप में किए गए हों । इस दृष्टि से संशोधन स्वयं संविधान की जीवन-शक्ति को बल प्रदान करते हैं ।

इस सिद्धान्त का सही न्यायौचित्य यह है कि, जैसा कि सीमाशुल्क कलक्टर, बड़ौदा बनाम दिग्विजयसिंह जी स्पिनिंग एण्ड वीविंग मिल्स लिमिटेड (2) में न्यायाधिपति सुब्बा राव ने कहा है, ऐसे अर्थान्वयन से बचना चाहिए जो विधि में अनिश्चितता उत्पन्न करता हो । पिटीशनरों ने यह स्वीकार किया है कि संविधान को संशोधित करने की शक्ति का प्रत्येक संविधान में होना अनिवार्य है । वस्तुतः संविधान (प्रथम संशोधन) अधिनियम, 1951 द्वारा अनुच्छेद 15 और 19 में जो संशोधन किए गए हैं उन पर कभी भी आपत्ति नहीं की गई है और हमारे समक्ष यह स्वीकार किया गया है कि वे संशोधन विहित रूप में किए गए हैं । विद्वान् काउन्सेल ने यह दलील दी है कि अनुच्छेद 19 के खंड (2) के स्थान पर नए खंड (2) की स्थापना से मूल अधिकार निराकृत नहीं हुए हैं वरन् उसके द्वारा प्रत्येक नागरिक को मूल स्वतन्त्रताओं का भली प्रकार लाभ उठाने का अवसर प्रदान किया गया है । मेरे विचार से विषय की यही निष्पत्ति है । काउन्सेल ने प्रथम संशोधन अधिनियम द्वारा प्रस्थापित अनुच्छेद 19 (2) के बारे में जो कुछ कहा है वही सब कुछ विचाराधीन संशोधनों के बारे में भी समान रूप से सही है । उक्त संशोधनों का वास्तविक उद्देश्य और प्रयोजन समाज को स्वतन्त्रता का आशीर्वाद देना है । तर्क यह है कि संसद् भाग 3 के उपबन्ध संशोधित कर सकती है किन्तु वह उनका संशोधन इस प्रकार नहीं कर सकती है कि जिससे वे अधिकार या संविधान का सारभूत तत्व या मर्म क्षतिग्रस्त या नष्ट हो जाए । मैं यह अवधारित करने के लिए कि मर्म क्या है और संविधान के सारभूत तत्वों का प्रविषय एवं विस्तार क्या है, कोई वस्तुपरक मानक विहित नहीं कर पा रहा हूं । मेरे विचार से उक्त दो विषयों को पृथक्-पृथक् रखना संभव है ।

काउन्सेल का कहना था कि यदि संसद् को संविधान संशोधित करने के लिए अति व्यापक और अनियन्त्रित शक्ति दे दी जाती है तो इसके परिणाम बहुत

---

(1) (1952) एस० सी० आर० 889, 936-937.
(2) (1962) 1 एस० सी० आर० 896, 899.

कष्टकर होंगे । किन्तु मुझे ये परिणाम कष्टकर नहीं लगते हैं । यह सच है कि हमें अपने द्वारा चुने गए प्रतिनिधियों में विश्वास है किन्तु इस विश्वास के कारण अपने अधिकारों की सुरक्षा की बाबत हमारा डर दूर नहीं हो जाता है । किन्तु प्रजातान्त्रिक पद्धति में जनता को यह तय करने का अधिकार है कि वह क्या चाहती है और वह अपनी इच्छा की अभिव्यक्ति अपने निर्वाचित प्रतिनिधियों के माध्यम से इस आशा और विश्वास के साथ करती है कि उक्त प्रतिनिधि विश्वासघात नहीं करेंगे । ऐसा देखा गया है कि विश्वस्त व्यक्ति भी विश्वासघात करते हैं किन्तु इस कारण न्यास-संस्थाएं समाप्त नहीं कर दी गई हैं । क्या हम संसदीय पद्धति की सरकार के स्थान पर राष्ट्रपतीय पद्धति की सरकार अपना सकते हैं ? क्या हम राजतंत्र अपना सकते हैं अथवा क्या हम धर्म राज्य स्वीकार कर सकते हैं ? क्या हम संसद् को यह अधिकार दे सकते हैं कि वह पहले संविधान के सारभूत तत्व नष्ट कर दे और तत्पश्चात् अपनी संशोधन-शक्ति को इस प्रकार संशोधित कर ले कि यह उपबन्धित हो जाए कि भविष्य में 99 प्रतिशत बहुमत द्वारा ही संशोधन किए जा सकेंगे । क्या संसद् अपने कार्यकाल को पांच वर्ष से बढ़ाकर पचास वर्ष कर सकती है और इस प्रकार अपने हक में विधायी एकाधिकार सृष्ट कर सकती है ? इन प्रश्नों का उत्तर बहुत सरल है । इतिहास से यह बात साबित होती है कि कठिनाइयों के समय में जनता एवं संसद् दोनों ने ही ऐसी कार्यवाहियां की हैं । जब 1640 में इंग्लैंड पर स्काट वालों ने हमला किया था तो चार्ल्स प्रथम संसद् की बैठक करने के लिए और एतद्द्वारा युद्ध के लिए धन जुटाने के लिए बाध्य हो गया था । 'लघु' संसद् धन के लिए मतदान करने से पूर्व अपनी व्यथाओं को राजा के समक्ष रखने में लग गई थी । परिणामस्वरूप वह संसद् हटा दी गई । इसके पश्चात् तुरन्त ही चार्ल्स ने नई संसद् बुलाई और इस 'बड़ी' संसद् ने, जो 1660 तक बनी रही थी, राजा द्वारा अपनी वैयक्तिक सरकार की स्थापना को असंभव कर दिया था । ऐसे राजनैतिक अपराधों के पीछे बल जनता का हृदय और मस्तिष्क है । यही स्थल है जहां तक स्वातन्त्र्य सुनिश्चित है । अतः मैं स्वयं से, निरुत्साहित होकर नहीं, निस्सहाय होकर भी नहीं, चित्त-विकृत हो कर भी नहीं वरन् प्रजातंत्र की सही भावना को लेकर यह कहता हूं "यदि जनता संसद् के माध्यम से कार्य करती हुई राजा के ताज को ऐसे व्यक्ति को पहनाना चाहती है जिसे वह पसन्द करती है अथवा, यदि आप चाहें तो, ऐसे व्यक्ति को पहनाना चाहती है जिसे वह पसन्द नहीं करती है (क्योंकि ताज पहनने वाला व्यक्ति अशान्त बना रहता है) तो ऐसी जनता को ऐसे स्वातन्त्र्य प्राप्त होने दिया जाए । जब कभी ऐसी जनता को अपने ही द्वारा सृष्ट मुसीबत का आभास होगा तो वह तुरन्त ऐसे व्यक्ति से ताज छीन लेगी और उसकी बहुमूल्य मणियों को वह हवा में इधर-उधर बिखेर देगी । इस समय मुझे न्यायाधिपति होम्स की इस सुविदित उक्ति का ध्यान आ गया है कि 'लगभग 75 वर्ष पहले मैंने यह समझा कि मैं ईश्वर नहीं हूं और इसलिए जब जनता····कुछ करना चाहती है तो मुझे संविधान में ऐसा कोई उपबन्ध नहीं मिलता है जो उसे ऐसा करने से अभिव्यक्त रूप से रोकता हो, भले ही मैं जनता के ऐसे कार्य को पसन्द करता हूं या न करता हूं ।'

अमरीकी प्रजातन्त्र के इतिहास में थॉमस जेफरसन का नाम जितने आदर से लिया जाता है, उतने आदर से और किसी का नाम नहीं लिया जाता है। अमरीकी प्रजातन्त्र के आरंभिक विकास में वे अति महत्वपूर्ण व्यक्ति थे और उनकी मृत्यु होने पर उन्हें राजनैतिक सन्त मान लिया गया था। व्यापक संशोधन-शक्ति की आवश्यकता की बावत जेफरसन ने कहा था कि 'पृथ्वी के उत्पाद जीवधारी के लिए हैं, मृतक का उन पर न तो कोई अधिकार है और न कोई नियंत्रण ही।' यदि एक पीढ़ी किसी अन्य पीढ़ी को आबद्ध कर सकती है तो मृतकों का न कि जीवित व्यक्तियों का राज्य हो जाएगा। चूंकि परिस्थितियां और व्यक्ति परिवर्तनशील हैं, अतः राजनैतिक अंगों में तत्समान परिवर्तन होना आवश्यक है और इसी प्रकार शासितों की सम्मति से सरकारी सिद्धान्तों में भी परिवर्तन आवश्यक है। राष्ट्रपति विलसन के अनुसार, "संविधान को अनिवार्य रूप से जीवन-यान होना चाहिए ; यह कि उसका सार राष्ट्र की विचारधारा और आदर्श हैं और इसलिए जब राष्ट्र जीवन में परिवर्तन हो रहा है तो उसे विकसित एवं उन्नत होना ही चाहिए।

विवक्षित निर्बन्धनों की बावत अपने तर्क के समर्थन में पिटीशनर के विद्वान् काउन्सेल ने हमारा ध्यान 'अंगों की उन्मुक्ति' (इम्युनिटी ऑफ दि इन्स्ट्रूमेंटेलिटीज) के सिद्धांत पर कतिपय विनिश्चयों की ओर आकर्षित किया, अर्थात्, राज्य सरकारों के साधनों और अंगों को स्वतन्त्र और अबाध छोड़ दिया जाना चाहिए। इस न्यायालय ने पश्चिमी बंगाल बनाम भारत संघ (1) में उक्त सिद्धान्त अस्वीकार करते हुए कहा कि न्यायालय के समक्ष जो तर्क दिया गया है वह यह है—'अंगों की उन्मुक्ति के नए विस्फोटित सिद्धान्त के, जिसका जन्म मैक-क्यूलोच बनाम मेरीलैण्ड वाले मामले में मुख्य न्यायाधिपति मार्शल के मत से हुआ है, पुनर्प्रचार को प्रिवी काउन्सेल ने निश्चय ही अस्वीकार कर दिया है....और व्यावहारिक दृष्टि से संयुक्त राज्य तक में उसे त्याग दिया गया है।" उक्त सिद्धान्त का मूलतः प्रादुर्भाव इस विवक्षित निषेध के अनुमानित अस्तित्व से हुआ था कि परिसंघीय और राज्य सरकारें प्रभुत्वसम्पन्न और स्वतन्त्र हैं, अतः प्रत्येक को एक दूसरे के नियंत्रण से स्वतन्त्र होना चाहिए। डा० वीनीज ने अपनी कृति 'लेजिसलेटिव, एक्जीक्यूटिव एण्ड जुडीशियल पॉवर्स इन आस्ट्रेलिया (चतुर्थ संस्करण)' में कहा कि संयुक्त राज्य में उक्त सिद्धान्त में सारभूत परिवर्तन कर दिए गए हैं और उसके क्रमिक प्रत्यागमन की बात न्यायाधिपति डिक्सन ने एसेण्डन कॉरपोरेशन वाले मामले में (2) कही है। उस मामले में मुख्य न्यायाधिपति डिक्सन ने उक्त सिद्धान्त के इतिहास का हवाला न्यायाधिपति मार्शल द्वारा उसके प्रतिपादन के समय से देने के पश्चात् कहा है कि—"मैं समझता हूं कि अब यह भली प्रकार कहा जा सकता है कि संयुक्त राज्य के सुप्रीम कोर्ट ने उक्त सिद्धान्त अब तक पूरी तरह से त्याग दिया है।"

हमारे समक्ष संयुक्त राज्य अमेरिका, कनाडा, आस्ट्रेलिया, दक्षिण अफ्रीका और सिलोन के अन्तर्निहित या विवक्षित निर्बन्धनों से सम्बन्धित बहुत से मामले प्रस्तुत

---

(1) (1964) 1 एस० सी० आर० 371, 394, 407.

(2) (1947) 74 सी० एल० आर० 1, 19.

किए गए हैं । उन मामलों पर सावधानीपूर्वक विचार करने के पश्चात् मेरे लिए यह कहना मुश्किल है कि विवक्षित या अन्तर्निहित निर्बन्धनों के सिद्धान्त को व्यापक रूप से मान्यता प्राप्त हुई है । मैक्कॉले बनाम किंग (1) में प्रिवी काउन्सेल ने आस्ट्रेलिया उच्च न्यायालय के न्यायाधिपति आइज़क और रीश के विसम्मत निर्णय को, उस विषय की बाबत, जो यहां सुसंगत नहीं है, छोड़कर, पुष्ट कर दिया । उक्त विद्वान् न्यायाधिपतियों के निर्णय से, जिसकी प्रिवी काउन्सेल ने बड़ी प्रशंसा की है (कॉमनवैल्थ लॉ रिपोर्ट का पृष्ठ 112), यह दर्शित होता है कि शक्ति के निर्बन्धित होने की विवक्षा का अनुमान सामान्यतः नहीं किया जाना चाहिए । उनका अनुमान तो अभिव्यक्त या अनिवार्यतः विवक्षित निर्बन्धनों के आधार पर ही किया जाना चाहिए । इससे यह भी दर्शित होता है कि उपनिवेशीय विधानमंडलों को शक्ति देने में ब्रिटिश संसद् ने 1865 में ही इस बात से इन्कार कर दिया था कि ऐसी शक्ति पर कोई अस्पष्ट निर्बन्धन लगाए जाएं । ब्राइबरी कमिश्नर बनाम राणासिंघे (1965) ए० सी० 172 में प्रिवी काउन्सिल के विनिश्चय का उल्लेख दोनों ही पक्षकारों ने सविस्तार किया है । मामला सिलोन के संविधान के अधीन उत्पन्न हुआ था । सिलोन के संविधान के उपबन्ध कुछ हमारे संविधान जैसे ही हैं । किन्तु इस साम्यता को गोलक नाथ वाले मामले में बहुमत के समक्ष प्रस्तुत नहीं किया गया था । राणा सिंघे वाले मामले में प्रत्यर्थियों ने यह तर्क पेश नहीं किया था कि सिलोन के संविधान का कोई भी उपबन्ध संशोधनीय नहीं है । इस बात का भी ध्यान रखना आवश्यक है कि अपील में सिलोन के संविधान के अनुच्छेद 29(2) और (3) द्वारा संरक्षित धार्मिक अधिकारों की बाबत कोई प्रश्न नहीं उठाया गया था । यह स्पष्ट है कि प्रत्यर्थियों के काउन्सिलों ने वहां कहा था (पृष्ठ 185) कि संशोधन शक्ति पर कोई भी निर्बन्धन नहीं हैं । निर्बन्धन केवल वे ही हैं जो धारा 29(4) में विहित प्रक्रिया के आधार पर लगाए गए हैं । इन निर्बन्धनों को भी धारा 29(4) का अनुसरण करते हुए संशोधन करके दूर किया जा सकता है । प्रिवी काउन्सिल ने इस मत को पुष्ट कर दिया (पृष्ठ 198) और संशोधन-शक्ति को बहुत व्यापक रूप प्रदान किया । वस्तुतः इस बाबत संकुचित दृष्टिकोण की बाबत कोई तर्क पेश नहीं किया गया था ।

अमरीका के सुप्रीम कोर्ट के विनिश्चयों में से केवल तीन विनिश्चयों को ध्यान में लेना ही पर्याप्त है : रहोड आइलैण्ड बनाम पलमार (2); यू० एस० बनाम स्प्रेग (3) और शैण्डरमैन बनाम यू० एस० ए० (4)।

रहोड आइलैंड वाल मामले (2) में बहुमत निर्णय में कोई कारण नहीं दिए गए हैं । उसमें बहुमत ने अपने निष्कर्षों का संक्षेप दे दिया है । महाराष्ट्र के विद्वान् महाधिवक्ता ने हमारे समक्ष वे विस्तृत संक्षेप प्रस्तुत किए हैं जो विभिन्न काउन्सेलों ने उक्त निर्णय में दिए थे । उक्त संक्षेपों से यह दर्शित होता है कि 'मादक शराब के प्रतिषेध' (प्रोहिबीशन

(1) (1920) ए० सी० 691; 28 सी० एल० आर० 105.
(2) 64 लायर्स इडिशन 946.
(3) 75 लॉयर्स इडिशन 640.
(4) 87 लॉयर्स इडिशन 1796.

ऑफ इण्टाक्सिकेटड लिकर्स) से सम्बन्धित 18वें संशोधन पर आपत्ति, अन्य आधारों के अलावा, इस आधार पर की गई थी कि अमरीका के संविधान के अनुच्छेद 5 के अधीन संशोधन शक्ति पर विवक्षित और अन्तर्निहित निर्बन्धन लगाए गए हैं। सुप्रीम कोर्ट ने इन दलीलों को स्वीकार नहीं किया। यह बात उसके विनिश्चय से ही स्पष्ट हो जाती है। न्यायालय ने संशोधन को वैध मान लिया।

हमारे समक्ष स्प्रेग वाले मामले (1) में न्यू जरसी के जिला न्यायालय ने जो निर्णय दिया है उसकी एक प्रति प्रस्तुत की गई है। जिला न्यायालय ने 18वें संशोधन को इस आधार पर अवैध घोषित कर दिया है कि संशोधन-शक्ति में अन्तर्निहित निर्बन्धन लगाए गए हैं अर्थात् इस शक्ति का प्रयोग राजनीतिशास्त्र, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र आदि के सिद्धान्तों के अनुसार किया जाना चाहिए। सुप्रीम कोर्ट के निर्णय से यह दर्शित होता है कि जिला न्यायालय के निर्णय का समर्थन अन्तर्निहित निर्बन्धनों के आधार पर एक बार भी करने का प्रयत्न नहीं किया गया था। स्प्रेग की अपील के खारिज किए जाने के कारण कुछ और ही थे अर्थात्—क्या 'संशोधन' से अभिप्रेत है 'सुधार'। क्या दसवें संशोधन का प्रभाव अमरीका के संविधान के अनुच्छेद 5 पर पड़ता है और क्या कन्वेन्शन या विधानमंडलों द्वारा वैकल्पिक अनुसमर्थन से यह दर्शित होता है कि जब संशोधन से जनता के अधिकार प्रभावित होते हों तो क्या विधिमान्य अनुसमर्थन के लिए कन्वेन्शन पद्धति का अपनाया जाना अनिवार्य है? यह स्पष्ट है कि सुप्रीम कोर्ट की दृष्टि से सैद्धान्तिक निर्बन्धनों में कोई सार नहीं था, जिससे कि जिला न्यायालय ने स्वीकार कर लिया था क्योंकि ऐसे गम्भीर महत्व के मामले में सुप्रीम कोर्ट जिला न्यायालय के निर्णय को कदापि न उलटता यदि उसे उस आधार पर पुष्ट किया जा सकता होता जिस पर कि वह निर्णय किया गया है।

शॉन्डर मैन वाले मामले(2) में सरकार ने अपीलार्थी के देशीयकरण को इस आधार पर रद्द करने की कार्यवाही की थी कि देशीयकरण के लिए आवेदन करते समय वह कम्युनिस्ट था और तद्द्वारा उसने यह दुर्व्यपदेशन किया था कि वह 'संयुक्त राज्य के संविधान के सिद्धांतों से सम्बद्ध है'।

शॉन्डर मैन की अपील सुप्रीम कोर्ट ने मंजूर कर दी। निर्णय का मुख्य आधार यह था कि विधिपूर्ण प्रक्रिया द्वारा संविधान के सारभूत तत्वों को भी संशोधित किया जा सकता है।

विद्वान् सांविधानिक लेखकों का यह मत है कि अमरीका के सुप्रीम कोर्ट ने कभी भी यह तर्क स्वीकार नहीं किया है कि अनुच्छेद 5 में उल्लिखित संशोधन शक्ति पर कोई विवक्षित या अन्तर्निहित परिसीमाएं हैं। एडवर्ड एस० कारविन ने, जिसे संयुक्त राज्य अमरीका की लेजिसलेशन रेफ्रेंस सर्विस, लायब्रेरी ऑफ कांग्रेस ने अमरीकी संविधान पर कुछ लिखने के लिए बुलाया था, अन्तर्निहित निर्बन्धनों के आधार पर 18वें और 19वें संशोधनों पर की गई आपत्तियों पर विचार करने के पश्चात् "उन तर्कों

(1) 75 लायर्स इडिशन 640.

(2) 87 लायर्स इडिशन 1796.

को नामंजूर करते हुए यह कहा था कि उक्त तर्कों पर गंभीर रूप से विचार किया जाना आवश्यक नहीं है और परिणामस्वरूप सुप्रीम कोर्ट ने दोनों ही संशोधन विधिमान्य घोषित कर दिए ।"(1)

थॉमस एम० कूले का कहना है कि अनुच्छेद 5 में विहित निर्बन्धनों के अलावा संशोधन-शक्ति पर और कोई निर्बन्धन नहीं है, अर्थात् 'किसी राज्य को उसकी सम्मति के बिना सीनेट के लिए समान मतदान करने से वंचित न किया जाएगा'। लेखक का कहना है कि यह न्यायालय द्वारा नैशनल प्रोहिबीशन वाले मामले (जिसमें कि रहोड आइलैंड वाला मामला भी सम्मिलित है) में दिए गए विनिश्चयों का परिणाम है। कूले के मतानुसार उक्त विनिश्चय में यह दलील पूरी तरह से अस्वीकार कर दी गई है कि 'संशोधन द्वारा संविधान में पहले से ही विद्यमान उपबन्धों में परिवर्तन या सुधार किया जा सकता है और उसके द्वारा संविधान के बुनियादी ढांचे में परिवर्तन नहीं किया जा सकता है । संशोधन द्वारा परिसंघीय सरकार को नई शक्तियां प्रदान नहीं की जा सकती हैं और न राज्यों से वे शक्तियां छीनी ही जा सकती हैं जो उन्हें संविधान के अधीन प्राप्त हैं (2)' हैनरी राशफर के अनुसार कई मौकों पर यह दलील दी गई है कि परिसंघीय संविधान संशोधित करने की शक्ति अभिव्यक्त और विवक्षित निर्बन्धनों के अध्यधीन है, "किन्तु सुप्रीम कोर्ट ने अभी तक ऐसी प्रत्येक दलील को अस्वीकार किया है ।"(3)

कनाडा वाले मामले के बारे में मेरे विचार से इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि पिटीशनर द्वारा उद्धृत मामलों में से कोई भी मामला संविधान संशोधित करने की शक्ति से सम्बन्धित नहीं है । वे मामले वैयक्तिक स्वतन्त्रता या दाण्डिक विषयों के सम्बन्ध में प्रांतीय विधानमंडलों की विधायी क्षमता से सम्बन्धित हैं । उक्त मामलों में से अधिकतर मामलों में विवाद्य विषय यही था कि क्या प्रान्तीय विधानमंडलों ने ब्रिटिश नार्थ अमरीका ऐक्ट, 1867 की धारा 92 के अधीन अपनी शक्तियों के प्रयोग में डोमीनियन के अधिकार-क्षेत्र में हस्तक्षेप किया है। कनाडा के बिल ऑफ राइट्स 1960 के विधेयक में उल्लिखित अधिकारों को इस अभिव्यक्त घोषणा द्वारा समाप्त करने की व्यवस्था कर दी गई थी कि संसद् का अधिनियम बिल ऑफ राइट्स के होते हुए भी लागू होगा । इन अधिकारों के मौलिक महत्व पर कनाडा में कम-से-कम छः दृष्टिकोण प्रतिपादित किए गए हैं । शमीशार के अनुसार कनाडा की सुप्रीम कोर्ट ने उक्त छः मतों में से किसी को भी न्यायिक अनुमोदन प्रदान नहीं किया है । इस बात पर भी ध्यान दिया जाना चाहिए कि बुनियादी समस्या यह नहीं है कि क्या संसद् या राज्य विधानमंडल हमें हमारी बुनियादी स्वतन्त्रताएं प्रदान करें वरन् बुनियादी समस्या यह है कि उक्त दोनों प्राधिकारियों में से कौन-सा प्राधिकारी उन स्वतन्त्रताओं में

(1) एडवर्ड एस० कारविन द्वारा प्रस्तुत संयुक्त राज्य अमरीका का संविधान, 1953, पृष्ठ 712.

(2) थॉमस एम० कूले कृत : 'दि जनरल प्रिंसिपल्स ऑफ कांस्टिट्यूशनल लॉ इन' दि यू० एस० ए०, चतुर्थ संस्करण, पृष्ठ 46-47.

(3) हैनरी रॉशफर कृत हैण्डबुक ऑफ अमरीकन कांस्टिट्यूशनल लॉ, पृष्ठ 8-10.

हस्तक्षेप कर सकता है या उन्हें छीन सकता है। (1)

अतः मैं यह समझता हूं कि हैस (4, डी० एल० आर० 199); सामूर (4 डी० एल० आर० 641), स्विटज़र्मन [7 डी० एल० आर० (द्वितीय) 337] या चौबोट [12 डी० एल० आर० (द्वितीय) 796] वाले मामलों पर विचार करने में समय लगाना लाभकर नहीं होगा।

यह दृष्टिकोण, कि ब्रिटिश नार्थ अमरीका ऐक्ट की धारा 17 से 50 में विवक्षित निर्बन्धनों का उल्लेख है, मुख्य न्यायाधिपति डफ ने अल्बरटा प्रेस वाले मामले (2) में और सामूर वाले मामले में, तीन विद्वान् न्यायाधिपतियों ने अपनाया था। किन्तु यह महत्वपूर्ण है कि अल्बरटा प्रान्त की विधायी क्षमता अस्वीकार करते हुए मुख्य न्यायाधिपति डफ इस अधिकार के संरक्षण के लिए विधान करने की अधिकारिता पालियामेण्ट को देने के हक में थे।

पिटीशनर ने अटर्नी जनरल ऑफ नोवा स्कोटिया बनाम अटर्नी जनरल ऑफ कनाडा (3) में दिए गए विनिश्चय का गम्भीरतापूर्वक अवलम्ब लिया है किन्तु उक्त मामले का वास्तविक निर्णयाधार यह है कि परिसंघ और प्रांतों को क्रमशः अलग-अलग शक्तियां दी गई हैं और एक प्राधिकारी दूसरे प्राधिकारी की शक्तियों के किसी भी अंश का प्रयोग नहीं कर सकता है और प्रत्यायोजन द्वारा भी ऐसी शक्तियों का, जो उन्हें नहीं दी गई हैं, प्रयोग वे नहीं कर सकते हैं। चौबोट बनाम स्कूल कमिश्नर (4) वाला मामला क्यूबेक कोर्ट ऑफ अपील का है। इस मामले में न्यायाधिपति केसे ने यह मत व्यक्त किया है कि धार्मिक अधिकारों का अस्तित्व मनुष्य की पद्धति प्रकृति में ही अन्तर्निहित है; उन्हें छीना नहीं जा सकता है। सुप्रीम कोर्ट के किसी भी न्यायाधिपति ने इस मत का समर्थन नहीं किया है और हैनरी बिर्क्स एण्ड सन्स बनाम मांण्टेरियल (5) में दिया गया विनिश्चय इस मत के प्रतिकूल है।

मेरे विचार से हमारे समक्ष विभिन्न देशों के बहुत बड़ी संख्या में उद्धृत विनिश्चयों पर विचार करना अधिक लाभकर न होगा। जैसा कि अक्सर कहा भी जाता है, कि संविधान एक सजीव तत्व है और इस बाबत कोई सन्देह नहीं किया जा सकता है कि संविधान राष्ट्र के इतिहास और उत्पत्ति के अनुरूप विकसित होता है। अतः मैं थोड़े-से महत्वपूर्ण विनिश्चयों पर ही संक्षेप में विचार करूंगा।

रेयन वाले मामले (6) से कुछ उथल-पुथल सी हो गई है और उस मामले में उन सब महत्वपूर्ण मदों पर विचार किया गया है जो हमारे समक्ष विद्यमान हैं। आयरलैंड के हाई कोर्ट ने इज्राक्तोस के उस संशोधन को पुष्ट कर दिया है जिसके द्वारा

(1) शमीशर कृत 'सिविल लिबर्टीज इन कनाडा' पृष्ठ 13.
(2) (1938) एस०सी०आर० 100, 146 (कनाडा)।
(3) (1951) एस० सी० आर० 31 (कनाडा)।
(4) (1947) 12 डी०एल० आर०, (संख्या 2) 796.
(5) (1965) एस० सी० आर० 799 (कनाडा)।
(6) (1935) आयरिश रिपोर्ट्स 170.

संविधान के अनुच्छेद 46 को हटा दिया गया है। उक्त अनुच्छेद में लोकमत-संग्रह की बाबत उपबन्ध किया गया था। उक्त संशोधन द्वारा अनुच्छेद 50 में भी संशोधन किया गया था। उक्त अनुच्छेद (50) द्वारा एजाक्तोस को शेड्यूल्ड ट्रीटी की शर्तों के अनुसार संविधान संशोधित करने की शक्ति दी गई थी। संविधान की उद्घोषणा के पश्चात् से आठ वर्ष की कालावधि के अवसान से पहले किए गए संशोधन का लोकमत-संग्रह के लिए प्रस्तुत किया जाना आवश्यक था। संशोधन द्वारा इस आठ वर्ष की कालावधि को बढ़ा कर सोलह वर्ष कर दिया गया था। आयरलैंड के हाई कोर्ट ने उक्त संशोधन पुष्ट कर दिया और इसी प्रकार 2 : 1 के बहुमत से सुप्रीम कोर्ट ने भी उक्त संशोधन पुष्ट कर दिया। मुख्य न्यायाधिपति कनेडी ने अपना विसम्मत निर्णय देकर संशोधन को इस आधार पर अविधिमान्य घोषित कर दिया कि संशोधन शक्ति पर कुछ विवक्षित निर्बन्धन हैं। हमारे संविधान और आयरलैंड के संविधान के बीच एक महत्वपूर्ण अन्तर यह है कि आयरिश संविधान का अनुच्छेद 50 उस अनुच्छेद को संशोधित करने की बाबत कोई शक्ति प्रदान नहीं करता है किन्तु हमारे संविधान के अनुच्छेद 368 के परन्तुक का खंड (ङ) उक्त अनुच्छेद को संशोधित करने के लिए अभिव्यक्त रूप से शक्ति प्रदान करता है। परिणामस्वरूप वर्तमान मामले में विद्वान् मुख्य न्यायाधिपति का तर्क विसंगत है। मैं यह भी बताना चाहूंगा कि मूरा बनाम अटर्नी जनरल फॉर दि आयरिश स्टेट([1]) में, जिसमें कि सन् 1933 में किए ग सांविधानिक संशोधन पर आपत्ति की गई थी, प्रिवी काउन्सिल के समक्ष यह बात स्वीकार की गई थी कि जिस संशोधन पर रेयान वाले मामले([2]) में गम्भीर आपत्ति उठाई गई थी वह विधिमान्यतः अधिनियमित किया गया था। प्रिवी काउन्सिल ने उक्त रियायत को 'ठीक' मान कर उसे और महत्व दे दिया है।

पिटीशनर ने बहुत से आस्ट्रेलिया के विनिश्चयों का अवलम्ब लिया है किन्तु मैं केवल उस एक विनिश्चय पर विचार करूंगा जिसका कि अवलम्ब पिटीशनर के काउन्सेल ने अपना उत्तर प्रस्तुत करते समय लिया है। टेलर बनाम अटर्नी जनरल ऑफ क्वीन्सलैंड)([3]) । न्यायाधिपति आइज़क का मत, जिसका कि विद्वान् काउन्सिल ने अवलम्ब लिया है, मेरे विचार से कालोनियल लॉज़ वैलिडिटी ऐक्ट के उपबन्धों के संदर्भ में व्यक्त किया गया है। उक्त मत का वास्तविक आशय यह है कि जब संविधान संशोधित करने की शक्ति उपनिवेश के विधानमंडल को दी गई है तो यह मान लिया जाना चाहिए कि उस शक्ति के अधीन उपनिवेश के विधानमंडल के भाग रूप में क्राउन को हटाया नहीं जा सकता है। यह उल्लेखनीय है कि सुविख्यात सांविधानिक लेखकों ने यह मत व्यक्त किया है कि आस्ट्रेलिया के संविधान के सभी उपबन्ध (जिनमें अनुच्छेद 128 भी सम्मिलित हैं, जो संविधान संशोधित करने की शक्ति प्रदान करता है) संशोधन-शक्ति के अन्तर्गत हैं। यह मत उस दशा में भी अभिव्यक्त किया गया है जबकि अनुच्छेद 128 स्वयं उस अनुच्छेद को संशोधित करने की शक्ति प्रदान नहीं करता है।

([1]) (1935) ए० सी० 484.

([2]) 1935 आयरिश रिपोर्ट्स 170.

([3]) 23 सी० एल० आर० 457.

उक्त विनिश्चय पर विचार-विमर्श को समाप्त करने से पूर्व लियांगे बनाम क्वीन (1) में प्रिवी काउन्सिल ने जो विनिश्चय किया है उस पर विचार कर लेना भी आवश्यक है। उक्त मामले में प्रिवी काउन्सिल ने यह अभिनिर्धारित किया है कि सिलोन के विधानमण्डल की शक्तियों में कटौती 'ब्रिटिश विधि के मौलिक सिद्धांत' और अनिश्चित अभिव्यक्ति के आधार पर नहीं की जा सकती है।

उपरोक्त निष्कर्षों से यही परिणाम निकलता है कि चौबीसवां संशोधन अधिनियम विधिमान्य है। मेरा यह मत है कि अनुच्छेद 368 के अधीन किए गए सांविधानिक संशोधन अनुच्छेद 13(2) की परिधि से बाहर है। यही बात चौबीसवें संशोधन अधिनियम की धारा 2 द्वारा अनुच्छेद 13 में एक नया खंड (4) जोड़कर दोहराई गई है—"इस अनुच्छेद की कोई बात अनुच्छेद 368 के अधीन किए गए इस संविधान के किसी संशोधन को लागू न होगी।" मेरा मत यह भी है कि मूल अनुच्छेद 368 न केवल संविधान के संशोधन के लिए प्रक्रिया विहित करता है वरन् वह संशोधन शक्ति भी प्रदान करता है। यह बात चौबीसवें संशोधन की धारा 3 से, जिसके खण्ड (क) द्वारा अनुच्छेद 368 के हाशिये का शीर्षक (जो पूरी तरह से अभिव्यक्त है) प्रतिस्थापित किया गया है, और भी स्पष्ट हो जाती है। मैं यह कह चुका हूं कि अनुच्छेद 368 द्वारा प्रदत्त संशोधन-शक्ति व्यापक एवं अबाध है। साथ ही यह भी कि सांविधानिक संशोधन संविधायी-शक्ति के प्रयोग में किए जाते हैं। वे साधारण विधायी शक्ति के अधीन नहीं किए जाते हैं। इस बात को धारा 3 के खंड (ख) में दोहराया गया है। उक्त खंड के अधीन राष्ट्रपति को सांविधानिक संशोधन विधेयक पर अपनी अनुमति देने के लिए बाध्य कर दिया गया है। चौबीसवें संशोधन की धारा 368 के खंड (घ) से अनुच्छेद 368 के अधीन किए जाने वाले संशोधनों को अनुच्छेद 13 का लागू होना समाप्त कर दिया गया है। अनुच्छेद 13 और 368 का यही ठीक निर्वचन है और यही बात इस निर्णय में कही गई है।

अतः संविधान (चौबीसवां संशोधन) अधिनियम, 1971 यही स्पष्ट करता है कि सही विधि क्या है और इसलिए उसे विधिमान्य ही अभिनिर्धारित किया जाना चाहिए।

पच्चीसवां संशोधन

संविधान (पच्चीसवां संशोधन) अधिनियम, 1971 में, जो 20 अप्रैल, 1972 को प्रवृत्त हुआ है, दो महत्वपूर्ण धाराएं—धारा 2 और 3 हैं। धारा 2(क) से संविधान के अनुच्छेद 31 के खंड (2) के स्थान पर नया खंड (2) रख दिया गया है। मूल अनुच्छेद 31(2) के अधीन किसी भी विधि के अधीन सार्वजनिक प्रयोजन के लिए कोई भी सम्पत्ति तब तक अर्जित नहीं की जा सकती है जब तक कि उस विधि में उस सम्पत्ति के लिए, जिस पर कब्जा प्राप्त किया गया है या जिसे अर्जित किया गया है, प्रतिकर उपबन्धित नहीं कर दिया जाता है। और या तो उस में प्रतिकर की रकम नियत कर

(1) (1967) 1 ए० सी० 259.

दी गई हो या फिर वे सिद्धान्त या वह रीति, जिसके आधार पर प्रतिकर अवधारित किया जाना है या दिया जाना है, विहित न कर दी गई हो। **पश्चिमी बंगाल बनाम बेला बनर्जी** (1) वाले मामले में एक मत न्यायपीठ ने, जिसके पीठासीन न्यायाधिपति मुख्य न्यायाधिपति पातंजली शास्त्री थे, यह अभिनिर्धारित किया है कि प्रतिकर के सिद्धान्तों द्वारा ऐसा प्रतिकर निश्चित किया जाना चाहिए जो वंचित स्वामी की अर्जित सम्पत्ति का न्यायोचित समतुल्य हो। संविधान (चतुर्थ संशोधन) अधिनियम 27 अप्रैल, 1955 को उक्त विनिश्चय को निष्फल करने के लिए पारित किया गया था। चतुर्थ संशोधन से अनुच्छेद 31(2) में यह उपबन्धित कर दिया गया है कि "......... किसी ऐसी विधि पर किसी न्यायालय में इस आधार पर आपत्ति नहीं की जाएगी कि उस विधि द्वारा उपबन्धित प्रतिकर पर्याप्त नहीं है।" इस संशोधन के प्रभाव पर इस न्यायालय ने **पी० वजवेलू मुदालियर** बनाम **विशेष उप कलक्टर** (2) में विचार किया था। मद्रास विधानमंडल ने गृह-निर्माण स्कीम के लिए भूमियों के अर्जन के लिए एक अधिनियम पारित किया और उसमें प्रतिकर नियत करने के सिद्धान्त अधिकथित किए किन्तु वे सिद्धान्त भूमि अर्जन अधिनियम, 1894 में उल्लिखित सिद्धान्तों से भिन्न थे। न्यायालय का निर्णय देते हुए न्यायाधिपति सुब्बा राव ने यह अभिनिर्धारित किया है इस बात से, कि संशोधन से पूर्व अनुच्छेद 31 में जो दो अभिव्यक्तियां अर्थात् 'प्रतिकार' और 'सिद्धान्त' प्रयुक्त हुई थीं वे ही संशोधन के पश्चात् भी बनी रहीं हैं, यह स्पष्टतः दर्शित होता है कि संसद् ने **बेला बनर्जी वाले मामले** (1) में इस न्यायालय द्वारा उन दो अभिव्यक्तियों के किए गए अर्थान्वयन को स्वीकार कर लिया है। परिणामस्वरूप विधानमंडल को वंचित स्वामी की सम्पत्ति का न्यायोचित समतुल्य उपबन्धित करना चाहिए था अथवा ऐसा न्यायोचित समतुल्य निश्चित करने के प्रयोजन के लिए सुसंगत सिद्धान्त अधिकथित करने चाहिएं थे। चतुर्थ संशोधन द्वारा जो नया खंड जोड़ा गया है, जिसके अधीन प्रतिकार की पर्याप्तता पर विचार करने की न्यायालय की अधिकारिता समाप्त कर दी गई है, उसका अर्थ यह लगाया गया है कि न तो 'न्यायोचित समतुल्य' विहित करने के सिद्धान्त और 'न्यायोचित समतुल्य' पर ही किसी भी न्यायालय में इस आधार पर आपत्ति की जा सकती है कि नियत प्रतिकर या विहित सिद्धान्तों के अनुसार निकाला गया प्रतिकर अपर्याप्त है। इस दृष्टिकोण को लागू करते हुए इस न्यायालय ने मद्रास अधिनियम के अधीन विहित प्रतिकर के सिद्धान्तों को अनुच्छेद 31(2) का अतिक्रमण करने वाला नहीं माना। किन्तु उक्त अधिनियम को अनुच्छेद 14 के अधीन इस आधार पर अवैध घोषित कर दिया गया कि तत्समान विधि (भूमि अर्जन अधिनियम) के अधीन पूरा प्रतिकर फिर भी दिया जाना चाहिए था।

भारत संघ बनाम मैटल कॉरपोरेशन (3) में मुख्य न्यायाधिपति सुब्बा राव और न्यायाधिपति शैलत से मिलकर बनी न्यायपीठ ने यह अभिनिर्धारित किया कि अर्जन की विधि न्यायोचित तभी हो सकती है जबकि वह या तो 'न्यायोचित समतुल्य'

(1) (1954) एस० सी० आर० 558.

(2) (1965) 1 एस० सी० आर० 614.

(3) (1967) 1 एस० सी० आर० 255.

के भुगतान के लिए उपबन्ध करे या फिर ऐसे सिद्धान्त अधिकथित करे जिनके आधार पर न्यायोचित समतुल्य निकाला जा सकता हो। पारिणामिक प्रतिकर की पर्याप्तता पर किसी भी न्यायालय में आपत्ति तभी की जा सकती है जबकि उस विधि में अधिकथित सिद्धान्त प्रतिकर नियत करने के लिए सुसंगत न होकर मनमाने हों। यह ध्यान देने की बात है कि यह निर्णय वज्रवेलू वाले मामले (1) में दिए गए निर्णय से कुछ अलग है।

गुजरात राज्य बनाम शान्तीलाल मंगलदास (2) में न्यायाधिपति शाह ने अपनी ओर से तथा तीन अन्य विद्वान् न्यायाधिपतियों की ओर से यह मत व्यक्त किया था कि वे मेट्रल कॉरपोरेशन वाले मामले (3) में मुख्य न्यायाधिपति सुब्बा राव के मत से सहमत नहीं हैं और अभिव्यक्त रूप से विनिश्चय को उलट दिया। अभिनिर्धारित यह किया गया कि यदि प्रतिकर की मात्रा पर इस आधार पर आपत्ति नहीं की जा सकती है कि वह न्यायोचित समतुल्य नहीं है तो प्रतिकर अवधारित करने के लिए उल्लिखित सिद्धान्तों पर भी इस आधार पर आपत्ति नहीं की जा सकती है कि उन सिद्धांतों को लागू करके निकाला गया प्रतिकर न्यायोचित समतुल्य नहीं है किन्तु विद्वान् न्यायाधिपति ने यह मत व्यक्त किया कि इसका यह अर्थ नहीं है कि जो कुछ भी नियत किया गया है या विहित सिद्धान्तों को लागू करके अवधारित होता है वह यदि भ्रामक भी है अथवा वह किसी भी दृष्टि से प्रतिकर नहीं है तो भी न्यायालयों को उसकी पुष्टि करनी चाहिए क्योंकि यदि ऐसा किया जाता है तो यह विधानमण्डल के लिए एक खुली छूट हो जाती है और तद्द्वारा विधानमण्डल सांविधानिक प्रत्याभूतियों को निष्फल करने के लिए सक्षम हो जाता है। अतः सिद्धान्तों पर आपत्ति इस आधार पर की जा सकती है कि वे प्रतिकर के अवधारण के लिए विसंगत हैं किन्तु इस आधार पर सिद्धांतों पर आपत्ति नहीं की जा सकती है कि उन सिद्धांतों को लागू करके निकाला गया प्रतिकर न्यायोचित नहीं है अथवा उचित प्रतिकर नहीं है।

आर० सी० कूपर (बैंक राष्ट्रीयकरण) वाले मामले (4) में शान्तीलाल मंगलदास वाले मामले (2) में दिए गए निर्णय को ग्यारह न्यायाधिपतियों की न्यायपीठ द्वारा 10:1 के बहुमत से सारतः उलट दिया गया है। बहुमत ने प्रतिकर का कार्य अर्थ अर्जित सम्पत्ति के समतुल्य के रूप में लगाया है। यह अभिनिर्धारित किया गया था कि यदि सम्बन्धित अधिनियमिति में प्रतिकर की बाबत उपबन्ध करने में बन्धपत्रों के रूप में प्रतिकर के भुगतान की स्कीम विहित की गई है और जो कुछ देना तय किया गया है उसका वर्तमान मूल्य तद्द्वारा सारतः कम हो गया है तो ऐसी अधिनियमिति से प्रतिकर की प्रत्याभूति नष्ट हो जाती है।

अनुच्छेद 31(2) के अर्थान्वयन से सम्बन्धित उक्त विनिश्चयों के कारण विधि में अनिश्चितता उत्पन्न हो गई थी और उससे संशोधित अनुच्छेद 31(2) का स्पष्ट अभिव्यक्त आशय एक विस्तार तक निष्फल हो गया था, अर्थात्, यह कि प्रतिकर

(1) (1965) 1 एस० सी० आर० 614.
(2) (1969) 3 एस० सी० आर० 341-[1969] 3-उम० नि० प० 753.
(3) (1967) 1 एस० सी० आर० 255.
(4) (1970) 3 एस० सी० आर० 530.

के लिए उपबन्ध करने वाली विधि पर किसी भी न्यायालय पर इस आधार पर आपत्ति नहीं की जा सकती है कि तद्द्वारा उपबन्धित प्रतिकर पर्याप्त नहीं है। न्यायाधिपति शाह ने शान्तीलाल मंगलदास वाले मामले ([1]) में बेला बनर्जी ([2]) और सुबोध गोपाल वाले मामले ([3]) में दिए गए विनिश्चयों का हवाला देते हुए यह मत व्यक्त किया कि उक्त विनिश्चयों से जितनी समस्याएं हल हुई हैं उससे अधिक उत्पन्न हो गई हैं और उन्होंने अनुच्छेद 39 में उल्लिखित राज्य के निदेशक तत्वों को प्रभावी बनाने वाली विधियों के मार्ग में गम्भीर बाधाएं उत्पन्न कर दी हैं। न्यायाधिपति सुब्बा राव ने वज्रवेलु वाले मामले ([4]) में यह भी मत व्यक्त किया है कि यदि संसद् का यह आशय होता है कि विधानमण्डल प्रतिकर के लिए उपबन्ध किए बिना ही विधि बना सके तो उसने निश्चय ही 'कीमत', 'प्रतिफल', आदि जैसी अभिव्यक्तियां प्रयुक्त की होतीं। संसद् ने यही बात नए अनुच्छेद 31(2) में 'प्रतिकर' शब्द के स्थान पर 'राशि' शब्द रख कर व्यवहारिक दृष्टि से कर दी है।

अनुच्छेद 31 में जोड़े गए नए खण्ड 2ख में ये उपबन्ध कि अनुच्छेद 19(1)(च) में की कोई बात अनुच्छेद 31(2) में निर्दिष्ट किसी भी विधि को प्रभावित नहीं करेगी; स्पष्टतः इसी उद्देश्य से जोड़े गए हैं कि बैंक राष्ट्रीयकरण वाले मामले में दिए गए विनिश्चय से ऐसे बहुत से विनिश्चय उलट दिए गए थे कि अनुच्छेद 19(1)(च) और अनुच्छेद 31(2) पारस्परिक पृथक्-पृथक् हैं जहां तक कि अर्जन या अधिग्रहण का सम्बन्ध है [देखिए—उदाहरण के लिए गोपालन वाला मामला, 1950 एस० सी० आर० 88; चिरंजीत लाल चौधरी वाला मामला, 1950 एस० सी० आर० 869, 919; सीताबाई देवी वाला मामला, (1967) 2 एस० सी० आर० 949; शान्तीलाल मंगलदास वाला मामला, (1969) (3)—एस० सी० आर० 341-[1969] 3 उम० नि० प० 753 और एस० एन० राव वाला मामला, (1969) 2 एस० सी० आर० 392]।

पिटीशनर के विद्वान् काउन्सेल ने पच्चीसवें संशोधन पर, विशिष्टतः अनुच्छेद 31ग के उपबन्धों पर, गम्भीर रूप से आपत्ति की है। उन्होंने यह दलील दी कि अनुच्छेद 31ग संविधान के सात सारभूत तत्वों को नष्ट करता है और वह दस मूल अधिकारों को समाप्त करता है। उक्त सभी बातें प्रजातन्त्र के अस्तित्व के लिए अति महत्वपूर्ण हैं। ये सभी तत्व विधि-शासन और गणराज्य की अखण्डता और एकता की दृष्टि से भी अति महत्वपूर्ण हैं। काउन्सेल के अनुसार उक्त मूल अधिकारों में से सात, साम्पत्तिक अधिकारों से असम्बद्ध हैं। दलील जारी रखते हुए यह बात कही गई कि अनुच्छेद 31ग संसद् को तथा सभी राज्य विधानमंडलों को संविधान को चुनौती देने तथा उसकी उपेक्षा करने का अनियंत्रित अधिकार देकर संविधान की सर्वोच्चता को नष्ट करता है; वह मूल अधिकारों को राज्य की नीति के निदेशक तत्वों से कम महत्व प्रदान

(1) (1969) 3 एस० सी० आर० 341 पृष्ठ 362, 363-[1969] 3 उम० नि० प० 753.

(2) (1954) एस० सी० आर० 558.

(3) (1954) एस० सी० आर० 587.

(4) (1965) 1 एस० सी० आर० 614, 626.

करता है और उसके द्वारा संविधान के आधारों में से एक आधार को नष्ट करता है; यह वस्तुतः राज्य विधानमण्डलों और संसद् को साधारण बहुमत द्वारा पारित मामूली विधि के जरिए महत्वपूर्ण मूल अधिकारों को छीन लेने के लिए सशक्त करके अनुच्छेद 368 में अधिकथित संशोधन की 'रीति और प्ररूप' को निराकृत करता है; यह कि वह घोषणा को निश्चायक बनाकर न्यायालयों द्वारा पुनर्विलोकन किए जाने की महत्वपूर्ण अभिरक्षा को तथा मूल अधिकारों के प्रवृत्त करने संबंधी अधिकार को नष्ट करता है और यह कि वह निदेशक तत्वों को प्रभावी बनाने के बहाने से, विधानमण्डलों को इस बात के लिए समर्थ बनाता है कि वे ऐसे कदम उठा सकते हैं जोकि धार्मिक, क्षेत्रीय, भाषायी, सांस्कृतिक और अन्य अल्पमत की स्थिति को प्रभावी करते हैं। काउन्सेल की शिकायत यह है कि यह अनुच्छेद न केवल वैयक्तिक स्वतन्त्रता तथा वाक्-स्वातन्त्र्य संबंधी सर्वाधिक संजोए गए अधिकारों को निराकृत करता है, बल्कि वह विधि के समक्ष समता के अधिकार को भी निराकृत करता है, जोकि गणतन्त्रवाद का मूल सिद्धान्त है। अनुच्छेद 31(4) को अधिनियमित करके, संसद् ने मूल अधिकार को असंशोधित बनाए रखने की विचित्र प्रक्रिया का सहारा लिया है, किन्तु उसने ऐसी विधियों की अधिनियमिति को प्राधिकृत किया है जोकि उन अधिकारों के विरुद्ध होने के कारण शून्य हैं तथा इस विधिक कथा द्वारा उनको विधिमान्य ठहराया है कि वे शून्य नहीं समझी जाएंगी। आज, अनुच्छेद 31 ने अनुच्छेद 14, 19 और 31 के निराकरण में पारित विधियों के अधिनियमन को अनुज्ञात किया है, तो उसमें ऐसी कौन सी गारण्टी मौजूद है कि कल सभी मूल्यवान स्वतन्त्रताएं अनुच्छेद 31ग के अधीन पारित विधियों की परिधि से बाहर नहीं निकाल दी जाएंगी? विद्वान् काउन्सेल ने अनुच्छेद 31ग के विरुद्ध अपनी तीखी आलोचना को यह कहते हुए समाप्त किया कि यह अनुच्छेद संविधान के अस्तित्व पर जबरदस्त हमला करता है और उसका सम्पूर्ण उद्देश्य और प्रयोजन निरंकुशता को वैध बनाना है।

इन दलीलों पर बहुत ही गम्भीरतापूर्वक विचार करने के पश्चात् मैं इस निष्कर्ष पर पहुंचा हूं कि यद्यपि अनुच्छेद 31ग में गड़बड़ी होने की संभावनाएं हैं, फिर भी, सुस्थिर न्यायिक कसौटियों में से किसी भी कसौटी पर कसने पर उसे असांविधानिक घोषित नहीं किया जा सकता।

अनुच्छेद 31ग के उपबंधों को अच्छी तरह से समझने के लिए, प्रथमतः संविधान के अनुच्छेद 39 (ख) और (ग) के पूरे अर्थ तथा महत्व को समझना पड़ेगा। अनुच्छेद 39 संविधान के भाग 4 में मौजूद है, जिसमें राज्य की नीति के निदेशक तत्व अधिकथित किए गए हैं। निदेशक तत्वों का विचार आयरलैंड से लिया गया था, जिसने स्वयं भी उस विचार को गणतन्त्रीय स्पेन के संविधान से उधार लिया था। जैसा कि सर आइवर जैनिंग्स ने अपनी पुस्तक "सम करैक्टरिस्टिक्स ऑफ दि इण्डियन कांस्टिट्यूशन 1953" (पृष्ठ 30–32) में अपने विचार व्यक्त किए हैं, ये पूर्ववर्ती उदाहरण महत्वपूर्ण हैं, क्योंकि वे ऐसे देशों के उदाहरण हैं जिनके लोग बहुधा रोमन कैथोलिक हैं, और "रोमन कैथोलिक के जो सिरआधार होते हैं, वे रोमन कैथोलिक लोगों को न केवल

धर्म की दीक्षा देते हैं, बल्कि उन्हें उसके दर्शन का भी ज्ञान कराते हैं"। धर्म और दर्शन के मामलों के सम्बन्ध में—चाहे वह सामाजिक हों या राजनीतिक—सदैव मत-वैभिन्य रहा है और वास्तव में, जबकि गणतन्त्रीय स्पेन का संविधान अधिनियमित किया जा रहा था, उस समय उसे युद्ध लड़ना पड़ा था और आयरलैंड में डी० वेलेरा पर खुल्लमखुल्ला यह आरोप लगाया गया था कि वह संविधान के अपने ही दल की नीतियों को थोप रहा है। हमारे संविधान के अनुच्छेद 38 और 39 मुख्यतः आयरलैंड के संविधान के अनुच्छेद 45 पर आधारित हैं, जिसने पायल दुल्स से उसके सम्बन्ध में प्राधिकार प्राप्त किया है। अनुच्छेद 39 में खण्ड (ख) द्वारा यह उपबन्ध किया गया है कि राज्य अपनी नीति का विशेषतया ऐसा संचालन करेगा कि सुनिश्चित रूप से "समुदाय की भौतिक सम्पत्ति का स्वामित्व और नियन्त्रण इस प्रकार बंटा हो कि जिससे सामूहिक हित का सर्वोत्तम रूप से साधन हो"। अनुच्छेद 39 का खण्ड (ग) इस बात के लिए व्यादिष्ट करता है कि राज्य अपनी नीति का ऐसा संचालन करेगा कि सुनिश्चित रूप से "आर्थिक व्यवस्था इस प्रकार चले कि जिससे धन और उत्पादन-साधनों का सर्वसाधारण के लिए अहितकारी केन्द्रण न हो"। अनुच्छेद 31ग को पच्चीसवें संशोधन द्वारा इस दृष्टि से पुरःस्थापित किया गया है जिससे कि अनुच्छेद 39(ख) और (ग) में उपवर्णित प्रयोजन सिद्ध हो सके।

मैंने अपने निर्णय के पहले वाले भाग में यह बताया है कि संविधान मूल अधिकारों को गौरव का स्थान तथा निदेशक तत्वों को स्थायित्व का स्थान प्रदान करता है। मैंने जो बात कही थी, मैं उस पर कायम हूं। हमारे संविधान की प्रस्तावना में यह बात कही गई है कि संविधान का उद्देश्य "भारत को एक सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न लोकतन्त्रात्मक गणराज्य बनाना तथा उसके समस्त नागरिकों को" सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय, स्वतन्त्रता तथा समता प्राप्त कराना है। जो मूल अधिकार संविधान के भाग 3 द्वारा प्रदत्त और प्रत्याभूत किए गए हैं, वे निस्संदिग्ध रूप से संविधान के स्तम्भ हैं और उनके बिना मनुष्य की आकांक्षा की पूर्ति नहीं हो सकती। किन्तु इस बात के कहने की जरूरत नहीं है कि राज्य की नीति के निदेशक तत्व देश का शासन चलाने में मौलिक हैं। जो बात देश का शासन चलाने में मौलिक है, वही बात उस बात से कम महत्वपूर्ण नहीं हो सकती जोकि किसी व्यक्ति के जीवन में मौलिक है। इस बात से कि एक तत्व न्याय (जस्टीशिएबुल) है, और दूसरा नहीं है, विधिक प्रक्रियाओं के माध्यम से पश्चात्कथित को प्रवृत्त बनाने में आन्तरिक कठिनाइयों का पता चल सकता है, किन्तु वह प्रभेद से उनके सापेक्ष महत्व पर कोई भी प्रभाव नहीं पड़ता। स्त्रियों और पुरुषों की जीविका के पर्याप्त साधन सम्बन्धी समान अधिकार; कार्य की मानवोचित दशाएं प्राप्त करने सम्बन्धी ऐसा अधिकार जिससे कि अच्छा जीवन स्तर तथा खाली समय का पूर्ण आनन्द उठाने की बात सुनिश्चित की जा सके, और स्वास्थ्य तथा आहारपुष्टि-तल को ऊंचा उठाना – ये सभी ऐसे मामले नहीं हैं जिनका अनुपालन न्यायालय के रिट के जरिए किया जा सकता है। जबकि मैं भाग 3 और 4 के उपबंधों पर विचार कर सकता हूं, तो मेरे मन में कोई भी संदेह नहीं रह जाता कि व्यक्तियों को स्वतन्त्रताएं प्रदत्त करने का उद्देश्य भाग 4 में उपवर्णित आदेशों को

अन्तिम रूप से प्राप्त करना है। भाग 3 द्वारा प्रत्याभूत स्वतन्त्रताओं के सतर्कतापूर्ण उपयोग के कारण सामान्य जनता का कल्याण होना अनिवार्य है, किन्तु जो निर्बन्धन अधिरोपित किए जाते हैं, उनको स्वेच्छा से स्वीकार कर लेने की बात दार्शनिक के स्वप्न के समान है। इसलिए अनुच्छेद 37 के अधीन राज्य को इस बात के लिए व्यादिष्ट किया गया है कि वह विधि बनाने में निदेशक तत्वों को लागू करे। कुछ की स्वतन्त्रताओं को सभी की स्वतन्त्रता सुनिश्चित करने की दृष्टि से न्यून करना होगा जैसा कि गार्नविल ऑस्टिन ने "इण्डियन कांस्टिट्यूशन—कार्नर स्टोन ऑफ ए नेशन, संस्करण 1966" में कहा था, इसी अर्थ में ही, भाग 3 और 4, साथ-साथ, "संविधान की अन्तरात्मा" हैं। आज राष्ट्र इतिहास के चौराहे पर खड़ा हुआ है और प्रत्येक समय में जिस बात को महत्व दिया गया है, उसके सम्बन्ध में मैं कहना चाहूंगा कि राज्य की नीति के निदेशक तत्वों को बालू की दीवार होने नहीं दिया जाना चाहिए। यदि राज्य ऐसी परिस्थितियां उत्पन्न करने में असफल रहता है जिनमें सभी लोग मूल स्वतन्त्रताओं का उपभोग कर सकें, तो कुछ की स्वतन्त्रताएं अनेक की हो जाएंगी और तब सभी स्वतन्त्रताएं समाप्त हो जाएंगी। इसीलिए उनकी स्वतन्त्रता को परिरक्षित करने की दृष्टि से विशेषाधिकार प्राप्त थोड़े से व्यक्तियों को उसके एक भाग का त्याग करना ही पड़ेगा।

मैं नवीन अनुच्छेद 31(2) पर पहले विचार करना चाहूंगा ; "प्रतिकर" के स्थान पर तटस्थ अभिव्यक्ति "राशि" का प्रतिस्थापन कर दिए जाने के कारण विधानमण्डल इस बात के लिए बाध्य हो गया है कि वह (सम्पत्ति के) स्वामी को धन की राशि नकद या अन्यथा अदा करे। विधानमण्डल या तो राशि के अवधारण के लिए सिद्धान्त अधिकथित कर सकेगा या उस राशि को स्वयं ही नियत कर सकेगा। किन्तु अनुच्छेद 31(2) में ऐसा उपबंध अन्तर्निहित है कि वह राज्य को सम्पत्ति का अधिग्रहण या स्वत्वहरण करने के लिए सशक्त नहीं करता और अनुच्छेद 31 (2) विधानमण्डल को न केवल "ऐसे सिद्धान्तों के अनुसार, जैसे कि वह सुसंगत समझे," "ऐसी रकम जिसे वह ठीक समझता है" नियत करने के लिए प्राधिकृत नहीं करता, बल्कि वह अभिव्यक्त शब्दों द्वारा विधानमण्डल को इस बात के लिए व्यादिष्ट भी करता है कि वह स्वामी को अदा की जाने वाली "राशि" नियत करे या उसे अदा की जाने वाली राशि का अवधारण करने के लिए "सिद्धान्त" अधिकथित करे। यदि विधानमण्डल को अनुच्छेद 31(2) के अधीन स्वत्वहरण करने संबंधी विधियां पारित करने के लिए प्राधिकृत करना होता, तो यह उपबंध करने की अपेक्षा कि राज्य को यह अधिकार होगा कि वह किसी भी समय किसी भी प्रकार की अदायगी किए बिना, लोक प्रयोजन के लिए सम्पत्ति का अर्जन कर सकेगा, संविधान-सभा के लिए अधिक सरल बात और कोई न होती। "राशि" की अदायगी करने का जो दायित्व होता है, उससे किसी भी रकम की बिल्कुल अदायगी न करने सम्बन्धी शक्ति अभिप्रेत नहीं है। ऐसी राशि अवधारित करने वाले सिद्धान्तों को प्रतिपादित करने का जो आनुकल्पिक दायित्व होता है, उससे यह दर्शित होता है कि अदायगी न करने के लिए कोई भी स्थान नहीं है। विधानमण्डल के लिए जो विकल्प

है, वह यह है कि ऐसी राशि स्वयं विधि द्वारा या उसके अधीन या आनुकल्पिक रूप से सीधे ही नियत की जा सकती है, या विधि के अधीन ऐसे सिद्धान्त नियत किए जा सकते हैं जिनके अनुसार ऐसी राशि का अवधारण किया जाएगा। वस्तुतः ऐसी राशि की अदायगी नकद या अन्यथा की जा सकती है।

ऐसी "राशि" की अदायगी करने सम्बन्धी विनिर्दिष्ट दायित्व और विकल्प स्वरूप उसका अवधारण करने के लिए "सिद्धान्त" शब्द के उपयोग से यह अभिप्रेत होना चाहिए कि अदा की जाने के लिए नियत या अवधारित की गई राशि भ्रामक नहीं हो सकती। यदि संविधान में सम्पत्ति का अधिकार अब भी मौजूद है, तो आप व्यक्ति का मजाक नहीं उड़ा सकते और उसके अधिकार का परिहास नहीं कर सकते। आप उससे यह नहीं कह सकते कि मैं आपकी सम्पत्ति कौड़ियों के भाव ले लूंगा।

किन्तु इस बात के साथ एक महत्वपूर्ण, या यूं कहिए बहुत ही महत्वपूर्ण, शर्त जुड़ी हुई है। स्वामी को अदा की जाने के लिए जो राशि नियत की जाती है, वह इस चुनौती की सीमा से परे है कि वह राशि अपर्याप्त है। पर्याप्त होने का विचार सम्पत्ति के बाजार मूल्य से सीधे ही सम्बन्धित है और इसीलिए ऐसे मूल्य को चुनौती नहीं दी जा सकती। उसी कसौटी द्वारा और उसी प्रकार के कारणों से, ऐसी राशि का अवधारण करने के लिए जो सिद्धांत प्रतिपादित किए जाते हैं, उनको इस आधार पर चुनौती नहीं दी जा सकती कि उन सिद्धांतों को लागू करके, अदा की जाने के लिए अवधारित रकम इस अर्थ में अपर्याप्त है कि उसका संबंध सम्पत्ति के बाजार मूल्य से युक्तियुक्त नहीं है। इस प्रकार से ये प्रश्न कि क्या राशि या सिद्धांत अनुज्ञेय सांविधानिक परिसीमाओं के भीतर हैं, इस बात की ओर ध्यान दिए बिना अवधारित किए जाने चाहिएं कि क्या उनका सम्बन्ध सम्पत्ति के बाजार मूल्य से युक्तियुक्त है। उनका संबंध युक्तियुक्त नहीं भी हो सकता, किन्तु फिर भी वे विधिमान्य हो सकते हैं। किन्तु यह कहना कि किसी राशि का संबंध बाजार मूल्य से युक्तियुक्त नहीं है, इस बात के कहने से भिन्न बात है कि उसका संबंध (बाजार मूल्य से) किसी भी प्रकार का नहीं है। पश्चात्कथित दशा में जो अदायगी की जाती है, वह भ्रामक होती है और ऐसी अदायगी अनुज्ञेय चुनौती के भीतर आ सकती है।

इस मामले पर और अधिक विचार करना अनावश्यक है, क्योंकि वास्तव में हमारा सम्बन्ध अनुच्छेद 31(2) के संशोधन की सांविधानिकता से है, न कि उसके अधीन पारित विधि की विधिमान्यता से। यदि और जब ऐसी विधि न्यायालय के समक्ष प्रस्तुत की जाती है, तो उस मामले पर बारीकी से विचार करना आवश्यक हो सकता है। जैसा कि इस समय मुझे सलाह दी गई है, मेरा यह मत है और उस पर पूरी तरह से विचार-विमर्श करना, जैसा कि मैं कह चुका हूं, अनावश्यक है, कि यद्यपि न्यायालय को यह अधिकार नहीं है कि वह अनुच्छेद 31(2) के अधीन किसी विधि को इस आधार पर प्रश्नगत बनाए कि नियत या अवधारित राशि पर्याप्त नहीं है, तथापि न्यायालयों को यह अधिकार प्राप्त होगा कि वे ऐसी विधि को तब प्रश्नगत बना सकेंगे यदि उसके अधीन नियत की गई राशि भ्रामक है यदि ऐसी रकम का अवधारण

करने के लिए कोई सिद्धांत, यदि कोई हों, अधिकथित किए गए हैं, तो वे राशि को नियत करने के लिए पूरी तरह से असंगत हैं; यदि अनिवार्य अर्जन या अधिग्रहण की शक्ति का प्रयोग सांपार्श्विक (कोलेट्रल) प्रयोजन के लिए किया गया है; यदि ऐसी विधि अनुच्छेद 19(1)(च) में अन्तर्विष्ट सांविधानिक अभिरक्षा से भिन्न सांविधानिक अभिरक्षाओं के प्रतिकूल है; या तब यदि ऐसी विधि संविधान के साथ धोखामात्र हो। स्पष्टीकरण के तौर पर, मैं केवल यह बात और कहना चाहूंगा कि यदि राशि के नियतन के बारे में यह दर्शित किया जाता है कि वह ऐसे सिद्धांतों के आधार पर किया गया है, जिनका कि सामाजिक कल्याण से सम्बन्ध होता है, तो यह कहना संभव नहीं हो सकेगा कि वे सिद्धांत सुसंगत हैं।

जहां तक कि नवीन अनुच्छेद 31(2क) का संबंध है, पिटीशनर के इस निवेदन में कोई भी सार नहीं है कि अनुच्छेद 31(2) के अधीन पारित विधि को अनुच्छेद 19(1)(च) के अधीन चुनौती दिए जाने से अपवर्जित करना अवैध है, क्योंकि वह नैसर्गिक न्याय के सिद्धांतों का अतिक्रमण करती है। मैंने इससे पहले ही यह बता दिया है कि सांविधानिक संशोधनों में स्वयं संविधान की शक्ति मौजूद रहती है, परन्तु यह तब जब कि वे संविधान द्वारा अधिरोपित परिसीमाओं के भीतर होते हैं। अतः अनुच्छेद 31(2) के अधीन पारित विधि के सम्बन्ध में अनुच्छेद 19 (1)(च) के अधीन चुनौती दिए जाने से अपवर्जित करने को असांविधानिक नहीं समझा जा सकता इसके अलावा यह मानने के लिए कोई भी कारण नहीं है कि विधानमण्डल इस प्रकार मनमाने रूप से कार्य करेगा कि वह नैसर्गिक न्याय के सिद्धांतों का उचित अनुपालन किए बिना सम्पत्ति के अर्जन या अधिग्रहण को प्राधिकृत कर देगा। सामाजिक कल्याण इस बात की अपेक्षा नहीं करता कि किसी व्यक्ति की सुनवाई किए बिना उसे फांसी दे दी जाए।

अनुच्छेद 31ग फ्रीजिया के राजा गार्डियस द्वारा लगाई गई गांठ के समान है। फ्रीजिया के राजा गार्डियस ने एक ऐसी गांठ बांध दी थी जिसके बारे में एक भविष्यवाणी की गई थी कि उसे एशिया के भावी स्वामी द्वारा ही खोला जा सकेगा। जब कि सिकन्दर महान् उस गांठ को नहीं खोल सका, तो उसने अपनी तलवार से उसे काट दिया। अफसोस तो यह है कि कोई भी न्यायाधीश कठिन समस्याओं का इतना तीव्र और संक्षिप्त हल नहीं निकाल सकता। अनुच्छेद 31ग निम्नलिखित रूप में है —

> "31ग. अनुच्छेद 13 में किसी बात के होते हुए भी, कोई विधि, जो अनुच्छेद 39 के खंड (ख) या खंड (ग) में उल्लिखित तत्वों को सुनिश्चित करने के लिए राज्य की नीति को प्रभावी करने वाली हो, इस आधार पर शून्य न समझी जाएगी कि वह अनुच्छेद 14, अनुच्छेद 19 या अनुच्छेद 31 द्वारा प्रदत्त अधिकारों में से किसी से असंगत है अथवा उसे छीनती या न्यून करती है; और जिस विधि में यह घोषणा हो कि वह ऐसी नीति को प्रभावी करने के लिए है, उस पर किसी न्यायालय में इस आधार पर आपत्ति नहीं की जाएगी कि वह ऐसी नीति को प्रभावी नहीं करती :

परन्तु जहां ऐसी विधि किसी राज्य के विधानमण्डल द्वारा बनाई जाए, वहां इस अनुच्छेद के उपबंध उसे तब तक लागू न होंगे जब तक कि ऐसी विधि को राष्ट्रपति के विचार के लिए रक्षित किए जाने के पश्चात् उसकी अनुमति न मिल गई हो।"

इस अनुच्छेद की परिधि के सम्बन्ध में जो गलतफहमी है, पहले उसे दूर कर दिया जाए। इस अनुच्छेद के अधीन "विधि" को ही, न कि कार्यपालक कार्यवाही को, संरक्षा प्रदान की गई है। "विधि" पद का प्रयोग अनुच्छेद 13(3) में कुछ अधिक विस्तृत अर्थों में इस प्रकार किया गया है जिससे कि उसके अन्तर्गत अध्यादेश, आदेश, उपविधि, आदि आ जाएं किन्तु वह परिभाषा अनुच्छेद 13 के प्रयोजनों तक ही सीमित है। इसलिए अनुच्छेद 31ग के बारे में यह नहीं कहा जा सकता कि वह अनुच्छेद 31(1) के, जिसके अधीन कोई व्यक्ति विधि के प्राधिकार के बिना अपनी सम्पत्ति से वंचित नहीं किया जा सकता, उपबंधों का अतिक्रमण करता है। किन्तु इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि अनुच्छेद 31ग में आए हुए "विधि" शब्द के अन्तर्गत विधि बनाने के सभी आनुषंगिक बातें और पहलू आ जाते हैं।

अनुच्छेद 31ग की परिधि को उचित रूप से समझने के लिए संविधान के तत्सम्बन्धी उपबंधों के इतिहास के प्रति निर्देश करना आवश्यक होगा। चतुर्थ सांविधानिक संशोधन से पूर्व जो कि 27 अप्रैल, 1955 को प्रवृत्त हुआ था, अनुच्छेद 31क और 31ख के अधीन जो प्रथम संशोधन अधिनियम, 1951 द्वारा पुरःस्थापित किए गए थे, उन विधियों के संबंध में जिनमें सम्पत्ति के या उसमें के किन्हीं अधिकारों के अर्जन के लिए उपबंध किया गया हो, भाग 3 के उपबंधों को पूरी तरह से अपवर्जित कर दिया गया था। उस नियम का कारण यह था कि समाज के अधिकार सर्वोच्च हैं और उन्हें व्यक्ति के अधिकारों के ऊपर स्थान देना होगा।

अनुच्छेद 31ग की भाषा से यह बात स्पष्ट है कि केवल ऐसी विधियों को उनकी संरक्षा प्राप्त होगी जो कि अनुच्छेद 39(ख) या (ग) में विनिर्दिष्ट सिद्धांतों को सुनिश्चित करने के लिए राज्य की नीति को प्रभावी बनाने के लिए हों। खंड (ख) के अधीन राज्य अपनी नीति का ऐसा संचालन करेगा कि सुनिश्चित रूप से समुदाय की भौतिक सम्पत्ति का स्वामित्व और नियंत्रण इस प्रकार बंटा हो कि जिससे सामूहिक हित का सर्वोत्तम रूप से साधन हो। खंड (ग) के अधीन राज्य को ऐसे कदम उठाने होंगे कि सुनिश्चित रूप से आर्थिक व्यवस्था इस प्रकार से चले कि जिससे धन और उत्पादन—साधनों का सर्वसाधारण के लिए अहितकारी केन्द्रण न हो। अनुच्छेद 31ग के बाद वाले भाग में अन्तर्विष्ट घोषणा के अलावा मुझे यह बात स्पष्ट मालूम पड़ती है कि अनुच्छेद 31ग के अधीन पारित विधि और अनुच्छेद 39(ख) और (ग) में उपवर्णित उद्देश्य के बीच जो संबंध है, वह अनुच्छेद 31ग के लागू होने की पूर्ववर्ती शर्त है। घोषणा का उपयोग ऐसी विधियों के संरक्षा-कवच के रूप में नहीं किया जा सकता, जिनका कोई भी संबंध अनुच्छेद 39 के दोनों खंडों में वर्णित उद्देश्य से न हो।

जहां तक संविधान के भाग 4 में वर्णित उद्देश्यों के लागू होने का सम्बन्ध है, वहां तक वे कृषि सम्बन्धी सुधार तक ही सीमित नहीं हैं। चतुर्थ और सत्रहवें संशोधनों में, अनुच्छेद 31 और अनुच्छेद 31क में तबदीलियां पुरःस्थापित करके प्रथम संशोधन में अन्तर्निहित मूल सिद्धान्त को लागू किया गया था और पच्चीसवें संशोधन द्वारा इस सिद्धांत को और अधिक विस्तृत क्षेत्रों में लागू करके एक कदम आगे बढ़ाया गया है। अनुच्छेद 31ग उसी प्रकार से, मुख्यतः, प्रवृत्त होगा जिस प्रकार से अनुच्छेद 31क कृषि के क्षेत्र में प्रवृत्त हुआ है। वास्तव में अनुच्छेद 31ग में उन सिद्धान्तों को युक्तियुक्त रूप से लागू किया गया है जो कि अनुच्छेद 31(4) और (6) तथा अनुच्छेद 31क में अन्तर्निहित हैं।

यद्यपि इस दलील पर हमारे समक्ष बहुत अधिक जोर दिया गया है, फिर भी मैं इस दलील को स्वीकार करने में कठिनाई का अनुभव कर रहा हूं कि अनुच्छेद 31ग राज्य विधानमण्डलों को संशोधन करने की शक्ति का प्रत्यायोजन करता है और उनको इस बात के लिए सशक्त करता है कि वे अनुच्छेद 368 द्वारा विहित प्ररूप और रीति का अनुपालन किए बिना संविधान का संशोधन कर सकते हैं। मैं यह बात भी समझने में असमर्थ हूं कि यह अनुच्छेद संसद् को भी उसी प्रकार से सशक्त करता है। अनुच्छेद 31ग की वास्तविक प्रकृति और स्वरूप यह है कि वह विधान के एक वर्ग के प्रति निर्देश करता है और उसको अनुच्छेद 14, 19 और 31 के प्रवर्तन से छूट देता है, अनुच्छेद 31(4) और (6) में विधियों के अधिनियमित किए जाने की कालावधि के संदर्भ में उपबंध किया गया है। अनुच्छेद 31(2) और 31क में विधि की विषयवस्तु के संदर्भ में विधायी क्षेत्र के बारे में उपबंध किया गया है। अनुच्छेद 15(4) और 33 में विधान के उद्देश्य के संदर्भ में विधियों के बारे में निर्देश किया गया है। इस प्रक्रिया में संशोधन करने की शक्ति का कोई भी प्रत्यायोजन अन्तर्वलित नहीं है। अनुच्छेद 31ग की तरह इन विभिन्न उपबंधों से ऐसे क्षेत्र का निर्माण होता है जिसको कतिपय मूल अधिकार लागू नहीं होते। विधान बनाने का क्षेत्र अनुच्छेद 31ग द्वारा स्पष्ट नहीं किया गया है। विधान बनाने की शक्ति का अस्तित्व उस पर निर्भर नहीं करता। इस अनुच्छेद द्वारा जिस उद्देश्य की भी पूर्ति होती है, वह विधान के पहले से विद्यमान क्षेत्र में विनिर्दिष्ट मूल अधिकारों के प्रवर्तन के विरुद्ध छूट सृष्ट करना है। सिद्धान्ततः मुझे एक ओर तो अनुच्छेद 31ग और दूसरी ओर अनुच्छेद 15(4), 31(4), 31(5) (ख) (ii) और 31(6) के बीच कोई भी प्रभेद दिखाई नहीं पड़ता। मैं प्रथम संशोधन अधिनियम, 1951 द्वारा पुरःस्थापित अनुच्छेद 31क की ओर ध्यान दिलाना चाहूंगा, जिसके अधीन "अनुच्छेद 13 में अन्तर्विष्ट किसी बात के होते हुए भी", खंड (क) से (ङ) में वर्णित मामलों के लिए उपबंध करने वाली कोई भी विधि इस आधार पर शून्य न समझी जाएगी कि वह अनुच्छेद 14, 19 या 31 द्वारा प्रदत्त अधिकारों में से किसी से असंगत है अथवा उसे छीनती है या न्यून करती है। इस तथ्य से कि अनुच्छेद 31क के पांच खण्डों में विधान की विषयवस्तु के प्रति निर्देश किया गया है जबकि अनुच्छेद 31ग में उनके

उद्देश्य से सम्बन्धित विधियों के प्रति निर्देश किया गया है, मेरी राय में, इस सिद्धांत में कोई भी अन्तर नहीं पड़ता।

इस दलील में कि अनुच्छेद 31ग अनुच्छेद 368 द्वारा विहित प्ररूप और रीति का घोर अतिक्रमण करने की इजाजत देता है, यह बात नजरअन्दाज कर दी गई है कि यह अनुच्छेद अनुच्छेद 368 में बताए गए प्ररूप और रीति का पूर्ण रूपेण और पूरी तरह से अनुपालन करने के पश्चात् अस्तित्व में आया था। इसके अलावा अनुच्छेद 368 को संशोधित करने सम्बन्धी अधिकार में जो बात विवक्षित है वह, अनुच्छेद 368 के प्ररूप और रीति का अनुपालन करके, सांविधानिक उपबंधों में वांछित संशोधन करने के सम्बन्ध में किसी अन्य निकाय को प्राधिकृत करने की शक्ति है। गोलक नाथ वाले मामले में महत्वपूर्ण बहुमत के निर्णय में तथा न्यायाधिपति हिदायतुल्लाह द्वारा यह सुझाव देते हुए उसी प्रकार के समीचीन मत के बारे में सोचा गया था कि संविधान-सभा मूल अधिकारों को न्यून करने के लिए समाहूत की जा सकती है। संविधान सभा जैसे प्राधिकारी को संविधान का संशोधन करने की शक्ति सृष्ट करने और किसी अन्य नाम से किसी प्राधिकारी या किन्हीं प्राधिकारियों को उसी शक्ति का प्रयोग करने, के बीच जो सिद्धांत है, उसमें मुझे कोई भी प्रभेद नहीं दिखाई पड़ता, किन्तु मामले के इस पहलू पर और आगे विचार करने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि अनुच्छेद 31ग संशोधन करने की शक्ति का प्रत्यायोजन नहीं करता।

अनुच्छेद 31ग के बाद वाले इस भाग से मेरे सामने कोई भी कठिनाई उत्पन्न नहीं हुई है: "जिस विधि में यह घोषणा हो कि वह ऐसी नीति को प्रभावी करने के लिए है, उस पर किसी न्यायालय में इस आधार पर आपत्ति नहीं की जाएगी कि वह ऐसी नीति प्रभावी नहीं करती"। स्पष्टत: इसके अन्तर्गत यह बात अवधारित करने सम्बन्धी न्यायालय की अधिकारिता नहीं आती कि क्या वह विधि अनुच्छेद 39(ख) या (ग) में विनिर्दिष्ट सिद्धांतों को सुनिश्चित करने की दृष्टि से राज्य की नीति को प्रभावी बनाने के लिए है। मेरी राय में अनुच्छेद 31ग के अधीन पारित विधियां तभी और केवल तभी कायम रखी जा सकती हैं यदि उस विधि और अनुच्छेद 39(ख) या (ग) में अभिव्यक्त राज्य की नीति के निदेशक तत्वों के बीच सीधा युक्तियुक्त सम्बन्ध हो। विधि को इस आधार पर चुनौती नहीं दी जा सकती कि वह ऐसी नीति को प्रभावी नहीं करती है किन्तु मैं यह मानता हूं कि कोई भी न्यायालय यह निष्कर्ष निकालने का दायित्व कभी भी अपने ऊपर नहीं ले सकता कि क्या विधि वास्तव में उसकी वास्तविक नीति को प्रभावी बनाती है। यदि न्यायाधीशों को ऐसी छूट दी गई होती तो मद्यनिषेध और द्यूत (गैम्बलिंग) सम्बन्धी विधियां कभी की कानून के क्षेत्र से समाप्त कर दी गई होतीं।

इसलिए मेरी राय में पच्चीसवें संशोधन की धारा 3, जो कि अनुच्छेद 31ग को पुन:स्थापित करती है, विधिमान्य है।

संविधान (उन्तीसवां संशोधन) अधिनियम, 1972

उन्तीसवें संशोधन द्वारा नवम अनुसूची में केरल के दो अधिनियमों, 1969 का 33 और 1971 का 25, को शामिल किए जाने के संबंध में, पिटीशनर के काउन्सेल ने

इस बात पर जोर दिया है कि यदि दोनों अधिनियमों के उपबंध अनुच्छेद 31क(1) (क) के निबंधनों के भीतर नहीं आते हैं, तो उन अधिनियमों को अनुच्छेद 31ख का संरक्षण प्राप्त नहीं होगा।

इस न्यायालय ने अनुच्छेद 31ख की विधिमान्यता को अनेक विनिश्चयों में स्वीकार किया है और मैं यह मानता हूं कि उस प्रश्न पर अब पुनर्विचार करना उचित नहीं है, और न तो पिटीशनर के विद्वान् काउन्सेल ने ही वास्तव में इस अनुच्छेद की विधिमान्यता को चुनौती दी है। बिहार राज्य बनाम कामेश्वर सिंह (1) वाले मामले में, इसी प्रकार की दलील पर विचार किया गया था और उसे मुख्य न्यायाधिपति पातंजलि शास्त्री ने, जिन्होंने कि न्यायालय की ओर से निर्णय सुनाया था, नामंजूर कर दिया था। यही मत विस्वेश्वर राव बनाम मध्य प्रदेश राज्य(2) वाले मामले में भी न्यायाधिपति महाजन ने दोहराया था। एक बार पुनः उसी दलील पर एन० बी० जीजीभाई बनाम सहायक कलक्टर, थाना प्रान्त थाना (3) वाले मामले में विचार किया गया था, किन्तु न्यायाधिपति सुब्बा राव ने पहले वाले मामले में अपनाए गए मत की भी पुष्टि की थी। इन मामलों में लगातार यह अभिनिर्धारित किया जाता रहा है कि अनुच्छेद 31ख के इन प्रारंभिक शब्दों से "अनुच्छेद 31क में अन्तर्विष्ट उपबंधों की व्यापकता पर प्रतिकूल प्रभाव डाले बिना", केवल यही बात उपदर्शित होती है कि नवमं अनुसूची में विनिर्दिष्ट अधिनियमों और विनियमों को उस समय भी छूट प्राप्त होगी यदि उन्हें अनुच्छेद 31क लागू न भी होता। यदि नवम अनुसूची में दिया गया प्रत्येक अधिनियम अनुच्छेद 31क के अन्तर्गत आता है, तो अनुच्छेद 31ख अनावश्यक हो जाएगा। इसलिए अनुच्छेद 31ख के बारे में यह अभिनिर्धारित किया गया था कि वह अनुच्छेद 31क द्वारा शासित नहीं होता है तदनुसार उन्तीसवें संशोधन के बारे में यह अभिनिर्धारित किया जाना चाहिए कि वह विधिमान्य है।

संविधान सभा के और प्रथम अनन्तिम संसद् के वाद-विवादों की दलील के दौरान हमारे समक्ष सविस्तार पढ़कर सुनाया गया। मैंने उन भाषणों को बहुत ही दिलचस्पी के साथ पढ़ा, किन्तु मेरी राय में ये वाद-विवाद सांविधानिक उपबंधों के अर्थान्वयन में सहायक के रूप में ग्राह्य नहीं हैं। गोपालन वाले मामले में(4) मुख्य न्यायाधिपति कानिया ने, म्यूनिसिपल काउन्सिल ऑफ सिडनी बनाम कॉमनवेल्थ(5) और युनाइटेड स्टेट्स बनाम वोंग किम आर्क(6) वाले मामले में दिए गए विनिश्चयों का अनुसरण करते हुए यह मत व्यक्त किया था कि जब किसी विशिष्ट खंड का अर्थान्वयन करने के लिए संसद् के सदस्यों की व्यक्तिगत राय को विचार में लेना उचित नहीं है, उन वाद-विवादों का हवाला उस समय दिया जा सकता है जबकि यह प्रश्न

(1) (1952) एस० सी० आर० 889.
(2) (1952) एस० सी० आर० 1020.
(3) (1965) 1 एस० सी० आर० 636.
(4) (1950) एस० सी० आर० 88, 110.
(5) (1904) 1 कामनवेल्थ लॉ रिपोर्ट 208.
(6) 169 यू०एस० 649, 699.

उत्पन्न होता है कि क्या किसी वाक्यांश या अभिव्यक्ति का प्रयोग किया गया था और उस पर विचार किया गया था या नहीं। न्यायाधिपति मुखर्जी के मतानुसार (पृष्ठ 274), संविधान में दिए गए शब्दों का अर्थ निकालने के संबंध में संविधान सभा के वाद-विवादों का सहायक के रूप में मूल्य संदिग्ध है। विद्वान् न्यायाधीश ने यह मत व्यक्त किया कि उन वाद-विवादों का सहारा बहुत ही सावधानी के साथ तथा केवल तभी लिया जाना चाहिए जब कि छिपी हुई अस्पष्टताओं को सुलझाना हो। इस न्यायालय ने त्रावनकोर कोचीन राज्य और कुछ अन्य बनाम बॉम्बे कम्पनी लिमिटेड(1) वाले मामले में उसी प्रकार का मत व्यक्त किया था। उपर्युक्त गोलक नाथ वाले मामले में, मुख्य न्यायाधिपति सुब्बा राव ने यह बात स्पष्ट कर दी थी कि उन्होंने अनुच्छेद 368 के उपबंधों का निर्वचन करने के प्रयोजन के लिए संविधान सभा में किए गए भाषणों का हवाला नहीं दिया है। न्यायाधिपति बछावत ने भी उसी प्रकार का मत अपनाया था।

महाराष्ट्र के विद्वान् महाधिवक्ता ने इस बात पर जोर दिया कि गोपालन वाले मामले में दिए गए विनिश्चय के पश्चात् इस संसदीय वाद-विवाद के प्रति इस न्यायालय के रुख में महत्वपूर्ण तब्दीली आई है और यह कि गोलक नाथ वाले मामले में सबसे पहले उस प्रकार का रुख स्पष्ट हुआ था और उसके बाद देशी राजाओं की प्रिवि पर्स वाले मामले में (2) भी विनिश्चायक रूप से स्पष्ट हुआ था। देशी राजाओं के प्रिवि पर्स वाले मामले में जिस परिपाटी का अनुसरण किया गया था, उसके बारे में यह कहा गया है कि उसे भारत संघ बनाम हरभजन सिंह ढिल्लों (3) वाले मामले में बहुमत तथा अल्पमत दोनों ने ही अपनाया था।

मैं इस बात से सहमत होने में असमर्थ हूं कि प्रिवि पर्स वाले मामले में या ढिल्लों वाले मामलों में विधिक उपबंधों का निर्वचन करने के प्रयोजन के लिए संसदीय भाषणों का आश्रय लिया गया था। न्यायाधिपति शाह ने, प्रिवि पर्स वाले मामले में, उनको दर्शित करने के लिए सरदार वल्लभ भाई पटेल के भाषण का हवाला दिया था, जिनमें भूतपूर्व देशी राजाओं को कुछ गारण्टियां दी गई थीं। महाधिवक्ता का मत यह है कि न्यायाधिपति मित्तर ने अनुच्छेद 363 का अर्थान्वयन करने के लिए इस प्रकार के भाषण का उपयोग किया था, किन्तु वह उपयोग भाषण की ग्राह्यता से सम्बन्धित प्रश्न पर विचार किए बिना ही किया गया था। ढिल्लों वाले मामले में विद्वान् मुख्य न्यायाधिपति के निर्णय से यह बात स्पष्ट है कि किसी विधिक उपबंधों का अर्थान्वयन करने के लिए संविधान सभा में किए गए भाषणों का कोई भी उपयोग नहीं किया गया था। वास्तव में विद्वान् मुख्य न्यायाधिपति ने यह मत व्यक्त किया था कि इन वाद-विवादों को पढ़ने के बाद मुझे इस बात की प्रसन्नता है कि उन्होंने तथा उनके दोनों सहयोगियों ने विधिक उपबंधों का जो निर्वचन किया था, वह उसके अनुसार था जोकि उन वाद-विवादों में आशयित था।

---

(1) (1952) एस० सी० आर० 1112.

(2) (1971) 3 एस० सी० आर० 9, 83-[1971] 1 उम० नि० प० 491.

(3) (1971) 2 एस० सी० सी० 779, 784, 829-30-[1972] 1 उम०नि०प० 565.

कानूनी अर्थान्वयन के सहायक के रूप में संसदीय वाद-विवादों का आश्रय लेना ख़तरनाक है। भिन्न-भिन्न वक्ताओं के भिन्न-भिन्न हेतु (मोटिव) होते हैं और 'दलीय सचेतक' (पार्टीह्विप) की पद्धति के कारण यह मानने के लिए कोई भी औचित्य नहीं रह जाता कि जिन लोगों ने उस मत के पक्ष में मत दिया था, किन्तु जिन्होंने भाषण नहीं किया था, उनका भी वही विचार था। यह उपधारणा उन लोगों के संबंध में भी जो भाषण करते हैं, करनी कठिन है। सर्वाधिक ख़तरे से खाली जो रास्ता है, वह उस भाषा के, जो कि विधानमण्डल प्रयोग में लाता है, आशय का पता लगाना है। अतः संसदीय कार्यवाहियों का उपयोग, जैसा कि गोपालन वाले मामले में स्पष्ट किया गया है, सीमित प्रयोजन के लिए ही किया जा सकता है।

अपने निष्कर्षों का संक्षिप्त में वर्णन करने के पूर्व, मैं यह कहना चाहूंगा कि बहुत ही सम्मान के साथ, साथ ही हिचकिचाहट के बिना नहीं, मैंने उन प्रख्यात न्यायाधीशों से भिन्न मत प्रकट करने का विनिश्चय किया है, जोकि गोलक नाथ वाले मामले में बहुमत का प्रतिनिधित्व करते थे। उनमें से दो आज भी इस न्यायपीठ के अन्य विद्वान् श्रोताओं से जिनके साथ सहमत होना सम्भव नहीं हुआ है, मैं यह कहना चाहूंगा कि इस मामले के एक भाग के संबंध में, कुछ समय तक उनके साथ रहने के पश्चात् उनसे मतभेद प्रकट करने में मुझे तनिक भी प्रसन्नता नहीं हुई है। मैं सोचता हूं कि सार्वजनिक कल्याण के लिए जितनी चिन्ता मुझे है, उससे कम चिंता उन्हें नहीं है और इसलिए मैं यह आशा करता हूं कि यह लम्बी बहसें और ये विस्तृत मत कम से कम जिस एक वरदान को सुनिश्चित करेंगे, वह साधारण व्यक्ति का कल्याण है। हम सभी को इस बात का ज्ञान है कि इस विशाल देश में बड़ी बड़ी समस्याएं हैं और प्रत्येक आंख से प्रत्येक अश्रु को पोंछने सम्बन्धी राष्ट्रपिता के स्वप्न को साकार करना सरल नहीं है। किन्तु संसद् को जो व्यापक शक्तियां अब दे दी गई हैं, उनके बावजूद यदि सामाजिक उद्देश्य निरर्थक भावनाओं तक ही सीमित रहते हैं, तो उन्हें लानत है जिनमें देश ने ऐसा बड़ा विश्वास प्रकट किया है।

मेरे निष्कर्ष संक्षेप में निम्नलिखित हैं —

1. गोलक नाथ वाले मामले में बहुमत का जो यह विनिश्चय था कि संविधान के तत्समय अनुच्छेद 368 में संविधान के संशोधन करने की प्रक्रिया ही विहित की गई है और यह कि संशोधन करने की शक्ति अनुच्छेद 245, 246 और 248 के साथ पठित अनुसूची 7 की सूची 1 की प्रविष्टि 97 से प्राप्त होती है, वह सही नहीं है।

2. बहुमत का तथा न्यायाधिपति हिदायतुल्लाह का यह विनिश्चय कि मामूली विधि और संविधान को संशोधित करने वाली विधि के बीच कोई भी प्रभेद नहीं है, गलत है। अनुच्छेद 13(2) के अधीन केवल मामूली विधियां, न कि अनुच्छेद 368 के अन्तर्गत किए गए संविधान के संशोधन, आती हैं।

3. बहुमत का और न्यायाधिपति हिदायतुल्लाह का यह विनिश्चय है कि संसद् को संविधान में संशोधन करने की शक्ति इस प्रकार प्राप्त नहीं है कि वह मूल अधिकारों को निराकृत कर सके या छीन सके, गलत है।

4. तत्समय अनुच्छेद 368 द्वारा प्रदत्त संविधान के संशोधन की शक्ति विस्तृत और अनियन्त्रित थी। संविधान का प्रत्येक भाग और उपबन्ध उसकी परिधि में आता था।

5. प्रस्तावना संविधान का भाग है और अनुच्छेद 368 के अधीन संशोधन करने की शक्ति की परिधि के बाहर नहीं है।

6. संशोधन करने की शक्ति पर अन्तर्निहित परिसीमाएं इस अर्थ में अधिरोपित नहीं है कि संशोधन करने वाले निकाय को इस प्रकार से संशोधन करने की शक्ति प्राप्त नहीं है जिससे कि संविधान के मूल तत्वों या मूल सिद्धान्तों को नुकसान पहुंचे या वे नष्ट हो जाएं।

7. चौबीसवां संशोधन उस वास्तविक विधिक स्थिति को ही घोषित करता है जो कि संशोधन से पहले थी और इसलिए वह विधिमान्य है।

8. पच्चीसवें संशोधन की धारा 2(क) और धारा 2(ख) विधिमान्य हैं। यद्यपि न्यायालय को यह अधिकार नहीं है कि वह संशोधन अधिनियम की धारा 2(क) द्वारा प्रतिस्थापित उस विधि को जो कि अनुच्छेद 31(2) में वर्णित है, इस आधार पर प्रश्नगत बनाए कि अनिवार्य अर्जन या अधिग्रहण के लिए नियत या अवधारित राशि पर्याप्त नहीं है या यह कि ऐसी पूरी राशि या उसका कोई भाग नकद न दिया जाकर अन्यथा दिया जाना है, तथापि न्यायालयों को यह अधिकार प्राप्त होगा कि वे ऐसी विधि को तब प्रश्नगत बना सकेंगे (i) यदि नियत की गई राशि भ्रामक है, या (ii) यदि ऐसी रकम का अवधारण करने के लिए सिद्धान्त, यदि कोई हों, अधिकथित किए गए हैं, तो वे राशि को नियत करने के लिए पूरी तरह से असंगत हैं, या (iii) यदि अनिवार्य अर्जन या अधिग्रहण की शक्ति का प्रयोग सांम्पार्श्विक प्रयोजन के लिए किया गया है, या (iv) यदि अनिवार्य अर्जन या अधिग्रहण संबंधी ऐसी विधि संविधान के उस सिद्धान्त अर्थात् अनुच्छेद 19(1)(च), से भिन्न सिद्धांतों के प्रतिकूल है, जो कि पच्चीसवें संशोधन अधिनियम की धारा 2(ख) द्वारा पुरःस्थापित अनुच्छेद 31(2ख) के अधीन अभिव्यक्त रूप से अपवर्जित है या (v) तब यदि ऐसी विधि संविधान के साथ धोखा मात्र हो।

9. पच्चीसवें संशोधन की धारा 3 जिसने संविधान में अनुच्छेद 31ग को पुरःस्थापित किया था, विधिमान्य है। किन्तु, उसमें वर्णित घोषणा की तात्पर्यित निश्चायकता के बावजूद, न्यायालय को यह अभिनिश्चित करने की शक्ति तथा अधिकारिता प्राप्त है कि क्या ऐसी विधि अनुच्छेद 39(ख) या (ग) में विनिर्दिष्ट सिद्धान्तों को सुनिश्चित करने की दृष्टि से राज्य की नीति को प्रभावी बनाने के लिए है। यदि ऐसी विधि तथा अनुच्छेद 39(ख) या (ग) के उपबन्धों के बीच सीधा तथा युक्तियुक्त संबंध नहीं है, तो जैसा कि अनुच्छेद 31ग में उपबन्ध किया गया है, ऐसी विधि को अनुच्छेद 14, 19 या 31 के अधीन चुनौती दिए जाने से छूट प्राप्त नहीं होगी।

10. उन्तीसवां संशोधन अधिनियम विधिमान्य है। उसमें वर्णित दो केरल अधिनियमों को नवम अनुसूची में शामिल किया गया है और उनको संविधान के अनुच्छेद 31ख का संरक्षण प्राप्त है।

मैं यह निदेश देता हूं कि प्रत्येक पक्षकार अपना-अपना खर्चा उठाएंगे।

जब कि मैं अपने निर्णय को समाप्त करने जा रहा हूं, उस समय मेरे अनेक प्रख्यात सहयोगियों के निर्णयों के प्रारूप शनैः-शनैः मेरे सामने आते जा रहे हैं जब कि मैं उन्हें देख रहा हूं, तो मुझे लार्ड ड्युण्डिन की हल्की सी यह आवाज मेरे कानों में गूंज रही है—और तब मैंने सोचा: मैंने इस बात के साथ इस निर्णय को आरम्भ किया कि मैं अपना निर्णय अलग से नहीं लिखना चाहता था। क्या वे विचार जो मन में पहले उठते हैं, सर्वाधिक अच्छे होते हैं ?

इन रिट पिटीशनों में बहुमत का जो निर्णय है, वह निम्नलिखित रूप में है —

1. गोलक नाथ वाले मामले को उलट दिया गया है;

2. अनुच्छेद 368 संसद् को इस बात के लिए समर्थ नहीं बनाता कि वह संविधान के मूल ढांचे या स्वरूप को परिवर्तित कर सके;

3. संविधान (चौबीसवां संशोधन) अधिनियम, 1971 विधिमान्य है;

4. संविधान (पच्चीसवां संशोधन) अधिनियम, 1971 की धारा 2 (क) और 2(ख) विधिमान्य है;

5. संविधान (पच्चीसवां संशोधन) अधिनियम, 1971 की धारा 3 का प्रथम भाग विधिमान्य है। दूसरा भाग अर्थात् "और जिस विधि में यह घोषणा हो कि वह ऐसी नीति को प्रभावी करने के लिए है, उस पर किसी न्यायालय में इस आधार पर आपत्ति नहीं की जाएगी कि वह नीति को प्रभावी नहीं करती", अविधिमान्य है;

6. संविधान (उन्तीसवां संशोधन) अधिनियम, 1971 विधिमान्य है;

संविधान न्यायपीठ (संविधान छब्बीसवां संशोधन) अधिनियम, 1971 की विधिमान्यता को विधि के अनुसार अवधारित करेगी।

इन मामलों को विधि के अनुसार निपटाए जाने के लिए संविधान न्यायपीठ के पास भेजा जा रहा है। इस प्रक्रम तक जो भी खर्चे किए गए हैं, उनके सम्बन्ध में कोई भी आदेश नहीं दिया जा रहा है।